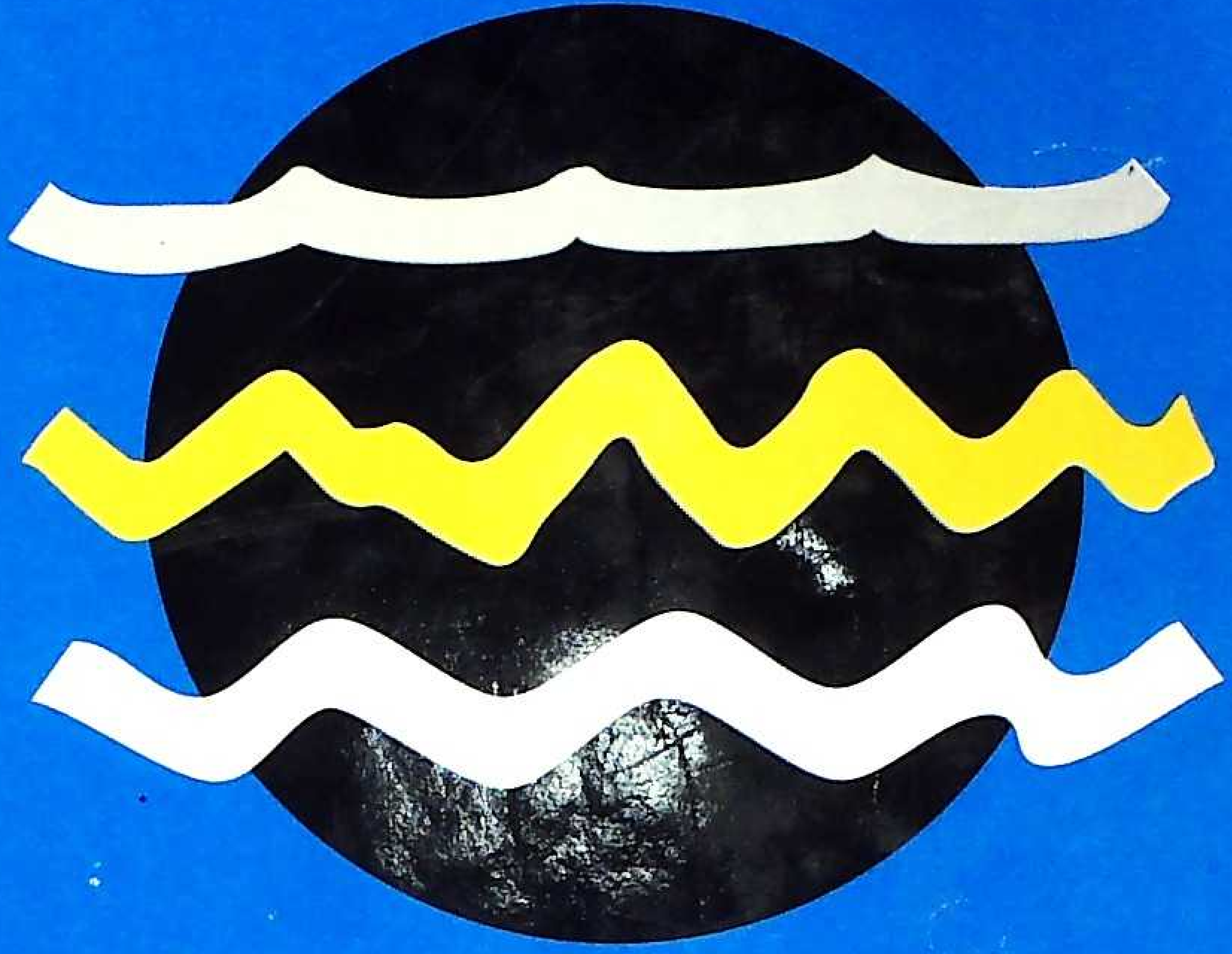

चरकसंहिता

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

© सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे-इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

चरक संहिता (भाग 1) – ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

ISBN : 978-93-81484-75-3

प्रकाशक :
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542) 2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

संस्करण : 2016
₹ 550

वितरक :
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए
अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली 110002
दूरभाष : (011) 32996391, टेलीफैक्स : 23286537
e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

अन्य प्राप्तिस्थान :
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर
पोस्ट बॉक्स न. 2113
दिल्ली 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069
वाराणसी 221001

मुद्रक :
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली,

THE
CHAUKHAMBA AYURVIJNANA GRANTHAMALA
11

CARAKA-SAṀHITĀ

[As precepted by the great sage Ātreya Punarvasu]

Of

AGNIVEŚA

(Vol. I)

Elaborated by

CARAKA & DṚḌHABALA

Edited with

'CARAKA-CHANDRIKA' Hindi Commentary
along with special deliberation & appendices etc.

by

Dr. Brahmanand Tripathi
Sahityacharya, Ayurvedacharya
M.A., Ph D., D. Sc. A.

Foreword by

Dr. Ganga Sahay Pandey
Former Professer and Physician
Ayurveda Deptt., B.H.U., Varanasi.

Chaukhamba Surbharati Prakashan
Varanasi

© All rights reserved.
No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronical or mechanical, including photocopying, recording or any information storage or retrieval system, without prior permission in writing from the publisher.

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. : 2335263

Also can be had from :

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor
Gali No. 21-A, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002
Tel. : 32996391
e-mail : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Tel. : 23856391

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. : 2420404

समर्पणम्

श्रीलालचन्द्र ! गुरुवर्य्य ! सतां शरण्य !
शिष्येषु पुत्र इव वत्सलभावयुक्त ! ।
आयुर्विदांवर ! करे तव चन्द्रिकाऽऽख्यां
व्याख्यामिमां प्रणतिपूर्वकमर्पयामि ॥

—ब्रह्मानन्दत्रिपाठी

व्याख्याओं का समुचित सारांशरूप में परिचय देते हुए हिन्दी भाषा में चरक-चन्द्रिका नाम की व्याख्या विशिष्ट वक्तव्य के साथ उपस्थित की है। डा० त्रिपाठी आयुर्वेद के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हैं ही; ज्यौतिष, साहित्य, षड्दर्शन के भी आचार्य हैं। आधुनिक चिकित्सा साहित्य तथा अंग्रेजी भाषा के भी अभिज्ञ हैं तथा संस्कृत साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद का अध्यापन आपने अनेक विशिष्ट संस्थाओं में किया है। अनेक सम्भाषा-परिषदों के मान्य क्रियाशील सदस्य भी रहे हैं तथा अपने विशाल ज्ञान एवं गम्भीर अध्ययन द्वारा प्राप्त प्रतिभावैदुष्य से आपने अनेक सम्भाषा-परिषदों में व्यापक रूप से सहयोग दिया है। अनेक आतुरालयों में आपने अपने चिकित्सा ज्ञान को सुफल क्रियारूप में आतुरजनों को देकर सही अर्थों में चिकित्सा के अध्ययन की उपयोगिता उद्घाटित की है।

ऐसे बहुश्रुत, बहुज्ञ, प्रतिभासम्पन्न आचार्य की लेखनी से जिस महान् कृति का 'चन्द्रिका' टीका हिन्दी व्याख्या के रूप में प्रकाशन किया जारहा है, वह आज के वैद्यक शास्त्र के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। प्रस्तुत टीका में स्पष्ट पद व्याख्या देते हुए विस्तार से विशेष वक्तव्य द्वारा प्राचीन व्याख्याओं का सारतत्त्व लेकर तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साहित्य को आवश्यकतम, सन्तुलित, संवर्धित कर विषय-वस्तु को सुप्रकाशित करने का महान् उद्यम किया है।

यद्यपि हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएँ इस महान् चिकित्सा संहिता पर प्रकाशित हो चुकी हैं, सभी का अपना-अपना विशिष्ट महत्व है। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित व्याख्या-ग्रन्थ हैं तथा अंग्रेजी एवं जर्मन आदि देशान्तरीय भाषाओं में अनुवाद व्याख्यान भी प्रकाशित हो चुके हैं। तथापि प्रस्तुत टीका में प्रायः सभी प्रकाशित साहित्य का सम्यक् पर्य्यालोचन कर सारांश रूप में आधुनिक शब्दावली में और नव्य-पाश्चात्य चिकित्सा के तुलनात्मक परिचय के साथ प्रस्तुत करने के कारण यह परम उपादेय हो गयी है। अतः चन्द्रिका हिन्दी टीका एवं विशिष्ट विवेचन के अध्ययन द्वारा आज का व्यस्त जिज्ञासु चरकसंहिता का भावार्थ हृदयंगम कर सकेगा।

प्रस्तुत व्याख्यान में आचार्य पं० त्रिपाठी ने यथावश्यक सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, भेलसंहिता, भोजसंहिता, हारीतसंहिता एवं विभिन्न पुराणों में प्राप्त चिकित्सा के सूत्रों का समीकरण तुलनात्मक परिचय देते हुए विषय-प्रतिपादन किया है, जिससे यह रचना अधिक उपादेय बन पड़ी है।

डॉ० त्रिपाठी द्वारा लिखी गयी इस टीका को देखने से स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि टीकाकार ने इसमें अपनी विद्वत्ता, प्रतिभा तथा चिरन्तन अनुभवों का पूर्ण परिचय दिया है। जहाँ कहीं क्लिष्ट-पदावली तथा दुर्बोधस्थलों का तन्त्रकार द्वारा प्रयोग हुआ है, उन्हें शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से पाठकों के लिये सरल तथा सरस बनाने का यथासम्भव सफल प्रयत्न किया है।

इस उपयोगी कृति के प्रणयन के लिए मैं आचार्य डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी को हृदय से उनका स्वागत एवं शतशः साधुवाद प्रदान करता हूँ। विश्वास है, अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण वैद्यक के विद्यार्थियों में इस रचना का परम आदर एवं श्रद्धा के साथ अध्ययन का प्रचार-प्रसार होकर इससे आयुर्वेद का परिज्ञान अधिक सुलभ एवं विषयोपलब्धि अधिक सुकर होगी।

महर्घता के इस काल में इस कृति के प्रकाशक चौखम्बा सुरभारती के व्यवस्थापक परम साधुवाद के पात्र हैं। भगवान् विश्वनाथ उनको समृद्ध एवं समुन्नत कर भविष्य में उपयोगी साहित्य का प्रकाशन, अप्रकाशित-अनुपलब्ध चिकित्सा-ग्रन्थों का अनुसन्धान कराकर ऐसे ही प्रतिभासम्पन्न विद्वानों द्वारा सम्पादित कराकर चिकित्सा साहित्य को समृद्ध कर यश के भागी बनें।

—गंगासहाय पाण्डेय

योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै।

भूमिका

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।
ऐतिह्यज्ञानविद्याङ्गी भूमिकेयं विलिख्यते॥

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है, इस तथ्य को समस्त सुधी समाज समान रूप से स्वीकार करता है। केवल 'चरणव्यूह' में इसको ऋग्वेद का उपांग कहा गया है। अतः इसका प्रभाव लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का स्वीकृत है। इसके आदिम उपदेष्टा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा थे। प्रारम्भ में यह ज्ञान देवलोक तक ही सीमित था। कालान्तर मे प्राणिमात्र के हित की दृष्टि से इन्द्रादि देवों ने इस ज्ञान को प्राप्त कर उसका प्रसार मृत्युलोक में किया। इस सम्बन्ध की कथा चरक में वर्णित है[1]। यह आयुर्वेद त्रिस्कन्धात्मक था।

प्रस्तुत त्रिस्कन्धात्मक आयुर्वेद कालान्तर में मेधाशक्ति की कमी के कारण मनुष्यमात्र के लिये दुरूह हो गया था। फलतः ब्रह्मा ने उक्त लक्षश्लोकात्मक आयुर्वेदशास्त्र को आठ अंगों में विभाजित कर दिया[2]। इन अंगों अथवा तन्त्रों के नाम हैं—१. शल्य, २. शालाक्य, ३. कायचिकित्सा, ४. भूतविद्या, ५. कौमारभृत्य, ६. अगदतन्त्र, ७. रसायन, ८. वाजीकरण। आयुर्वेदीय विभिन्न संहिताओं में ये नाम कुछ परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं[3]।

चरकसंहिता के आरम्भ में दिये गये आयुर्वेदावतरण के अनुसार ब्रह्मा से प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने और इन्द्र से भरद्वाज ने आयुर्वेद की सम्पत्ति को अर्जित किया और इनसे अन्य ऋषियों को उक्त ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त हुई[4]।

चरक सूत्रस्थान अ० १।८-१३ में जिन महर्षियों की चर्चा है उनके अतिरिक्त भी अनेक महर्षि उस विचारगोष्ठी में सम्मिलित थे। उनमें एक 'पुनर्वसु आत्रेय' भी थे, जिन्होंने अपने निम्नोक्त छः शिष्यों को यह ज्ञानराशि प्रदान की[5]। उनके क्रमशः ये नाम हैं—१. अग्निवेश २. भेल, ३. जतूकर्ण, ४. पराशर, ५. हारीत तथा ६. क्षारपाणि।

---

१. च० सू० अ० १ श्लोक ८-१३।

२. सुश्रुतसंहिता—सूत्रस्थान १।६।

३. चरकसंहिता—सूत्रस्थान ३०।२८। सुश्रुतसंहिता—सूत्रस्थान १।७। काश्यपसंहिता पृ० ४२ निर्णय सागर प्रेस।

४. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्॥ च० सू० १।४-५।
ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम्॥ च० सू० १।२७।

५. अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया॥
अग्निवेशश्च भेल(ड)श्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥ च० सू० १।३०-३१।

पुनर्वसु आत्रेय के उपदेशों को तन्त्र (संहिता) का रूप सबसे पहले अग्निवेश ने दिया। तदनन्तर भेल(ड) आदि महर्षियों ने अपने-अपने तन्त्रों को रचना की[1]।

आयुर्वेद की दूसरी अवतरणिका का क्रम यह है—ब्रह्मा ने ऋग्, यजुः, साम, अथर्ववेदों के अर्थों का सम्यग् विवेचन करके आयुर्वेद का उपदेश भास्कर को दिया[2]। तदनन्तर भास्कर ने भी किसी स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया था, जो आज उपलब्ध नहीं है। इन्हीं के सम्प्रदाय में सोलह आयुर्वेदशास्त्र-प्रवर्तकों के तथा उनकी संहिताओं के नामों का उल्लेख भी ब्रह्मवैवर्तपुराण के १६ वें अध्याय में मिलता है।

अतः यह सिद्ध होता है कि वेदों में प्रारम्भ से ही सूत्ररूप में किंवा बीज रूप में आयुर्वेद कृतपद था। इसकी पुष्टि में वेदों में उपलब्ध होने वाली आयुर्वेद सम्बन्धी कतिपय प्रमुख प्रकरणों की सूचना नीचे उद्धृत की जारही है।

वेदों में आयुर्वेद—सामान्य औषधवर्णन, दैवौषधवर्णन, सामुद्रिक औषधद्रव्य, प्राणिज औषधद्रव्य, खनिज औषधद्रव्य पीड़ानाशनयोग, कृमिनाशन, विष (स्थावर-जंगम) नाशन, रक्षोघ्न (भूतप्रेतादिनाशक) उपाय, यक्ष्मानाशक उपाय, दुःस्वप्ननाशक उपाय, गर्भाधानचर्चा, सामान्य रोगचिकित्सा, जलचिकित्सा, वाजीकरणयोग, दीर्घायुष्यप्रकरण, कृत्यादूषण, मणियों से रोगशान्ति आदि। इस प्रकार हमको प्रायः सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित आयुर्वेदीयज्ञान के सूत्र वेदों में मिलते हैं।

उपर्युक्त ऋषियों द्वारा निर्मित तन्त्रों में विषयों का प्रतिपादन सूत्ररूप में हुआ था[3]। सूत्र, तन्त्र आदि शब्दों को चरक में परस्पर पर्यायवाचक कहा है[4]। इसी काल में सूत्ररूप से लिखे गये अग्निवेशतन्त्र पर चरक ने भाष्य लिखा तदनन्तर वह संग्रहयुक्त भाष्य **चरकसंहिता** नाम से विख्यात हुआ। कुछ समय बीतने के बाद दृढबल ने इसका प्रतिसंस्कार किया।

पुनर्वसु आत्रेय

'तथा चाऽन्ये महर्षयः' के आधार पर हम यह कहने का प्रयास करते हैं कि पुनर्वसु आत्रेय ने भरद्वाज से प्रत्यक्षतः अथवा परम्परया आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की, किन्तु इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता, फिर भी चरकसंहिता के 'आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद' के अनुसार इन्द्र के पास गये हुए महर्षियों में एक अत्रि भी थे[5] जिन्होंने उनसे आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। **'आत्रः कृतयुगे वैद्यः'** सूक्ति के अनुसार ये सत्ययुग में रहे हैं। ऐसा भी संकेत मिलता है। पुनर्वसु आत्रेय अत्रि के पुत्र एवं शिष्य दोनों थे। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार उपनयन-काल में ब्राह्मण पिता मन्त्रोपदेश के लिये अपने पुत्र का स्वयं आचार्य होता है।

१. तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रम्—॥ च० सू० १।३२।

२. ऋगयजुःसामाथर्वाऽऽख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
विचिन्त्य तेषामथस्त्रैवायुर्वेदमर्वावदत् ॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः—॥ ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १६।

३. श्रुत्वा सूत्रणमर्थानाम्। च० सू० १।३४ ॥ सूत्रकृतामृषीणाम्। च० शा० ६।१८।

४. तत्राऽऽयुर्वेदः शाखा, विद्या, सूत्रं, ज्ञानं, शास्त्रं, लक्षणं, तन्त्रमित्यर्थान्तरम्। चरक सूत्रस्थान। ३०।२९

५. हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः। चरक चिकित्सास्थान अ० १; रसायनपाद ४।३।

चरकसंहिता में 'आत्रेय' शब्द से उपलब्ध होने वाले तीन आचार्य हैं। यथा—१. पुनर्वसु-आत्रेय, २. कृष्णात्रेय तथा ३. भिक्षु आत्रेय। चरकसंहिता में कृष्णात्रेय का नाम एक स्थान पर वह भी संग्रहश्लोकों में मिलता है[1]। प्रतिसंस्कर्ता की सूक्तियों का ग्रन्थकार की रचना के समान आदर नहीं होता, अतः हम इसको प्रमाणकोटि में नहीं रख रहे हैं। महाभारत में, भेडसंहिता में तथा अन्यत्र भी कायचिकित्सक के रूप में कृष्णात्रेय की सूचना उपलब्ध होती है किन्तु पुनर्वसु आत्रेय ही कृष्णात्रेय हों ऐसा प्रबल प्रमाण कहीं दृष्टिपथ में नहीं आता। चक्रपाणि आदि ने जिस कृष्णात्रेय की चर्चा की है, वे हमारी विवेचना परिधि से सर्वथा भिन्न हैं। पुनर्वसु आत्रेय के साथ जुटा हुआ आत्रेय शब्द गोत्रवाची न होकर पुत्रवाची है[2]। ये कायचिकित्सा के विशेषज्ञ तथा प्रस्तुत संप्रदाय के जन्मदाता भी थे।

अग्निवेश

पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश अन्यतम किंवा सर्वाग्रणी थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम आत्रेय के उपदेशों को तन्त्र रूप में प्रतिष्ठित किया, अतएव 'अग्निवेशकृते तन्त्रे' यह प्रसिद्धि है। सुश्रुत भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि पुनर्वसु आत्रेय के छः शिष्यों ने अपनी-अपनी कायचिकित्साप्रधान संहितायें लिखीं उनमें अग्निवेश भी एक थे[3]। सम्प्रति उपलब्ध चरकसंहिता का स्वरूप हमें गुरुसूत्र, शिष्यसूत्र और प्रतिसंस्कर्तृसूत्र के रूप में उपलब्ध होता है।

अब हम प्रस्तुत चरकसंहिता को इस दृष्टि से देखते हैं—पुनर्वसु आत्रेय कुलपति के रूप में इसके मूल उपदेष्टा थे। अग्निवेश द्वारा उन उपदेशों का सूत्र रूप में निबन्धन हुआ, तत्पश्चात् चरक द्वारा उन सूत्रों का भाष्य रूप में विस्तार हुआ। इसकी झलक हमें सिद्धिस्थान में दृढबल द्वारा उल्लिखित अनेक ऋषियों के मतमतान्तरों से प्रतीत होती है[4]। चरक के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपलभ्यमान तत्र श्लोकः, श्लोकौ, श्लोकाः इस प्रकार के वचन प्रतिसंस्कर्ताओं की देन प्रतीत होती है। प्रसादगुण युक्त भाषा तथा सर्वाङ्गपूर्ण इस चरकसंहिता के बाद अग्निवेश कृत तन्त्र का महत्व रहा होगा या नहीं? इस प्रकार की आशंका हो सकती है। परन्तु इसका समाधान अत्यन्त सरल है। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी के निर्माण के बाद भी कतिपय प्राचीन व्याकरण आज भी जीवित हैं। अष्टाध्यायी पर कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के महाभाष्य लिखे जाने पर भी आज जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण का अपना एक विशिष्ट स्थान है, ठीक वैसी ही स्थिति चरकसंहिता के सद्भाव होने पर भी सूत्र रूप में निबद्ध अग्निवेशतन्त्र की है। यही कारण है कि परवर्ती शिवदाससेन, वाग्भट आदि ने अग्निवेश के सूत्रों को प्रमाण रूप में यत्र-तत्र उद्धृत किया है।

अग्निवेश का समय

अग्निवेशतन्त्र के काल-निर्णय का एक दूसरा आधार भी है। भारतवर्ष में सूर्य, चन्द्र, भौम आदि वारों की गणना जब से आरम्भ हुई उसके पूर्व अग्निवेश ने अपनी संहिता की रचना की, ऐसा सप्रमाण कहा जा सकता है। क्योंकि अग्निवेशतन्त्र में जिस प्रकार तिथि, नक्षत्र, करण आदि के शुभाशुभ प्रभाव वर्णित हैं, उस प्रकार वारों का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। जैसा कि चरक सूत्रस्थान में निर्देश किया है—'इष्टे तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रे'।

१. त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता। चरक सूत्र० अ० ११।६५।

२. चरक चिकित्सास्थान अ० ३।३४७; १२।३-४; २०।३; २१।६८; ३०।५८।

३. षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः। सुश्रुत उ० अ० १।६।

४. चरक, सिद्धिस्थान, फलमात्रासिद्धि अ० ११ श्लोक ३–१५।

इसी प्रकार चरक विमानस्थान के ८वे अध्याय में—'उदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्य-हस्तश्रवणाऽश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे करणे, मैत्रे मुहूर्ते' इति।

इसके आगे चरक इन्द्रियस्थान के १२ वें अध्याय में—'अदारुणेषु नक्षत्रेषु, अनुग्रेषु ध्रुवेषु च। विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम्॥ मध्याह्नमर्धरात्रञ्च भूकम्पं राहुदर्शनम्।'......'दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक्'॥

इत्यादि प्रसंगों में तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त आदि का ही वर्णन मिलता है, न कि वार आदि का। यदि उस समय सूर्य आदि वारों की गणना का प्रचार होता तो, जैसे आधुनिक ग्रन्थों में—'न वैद्यो बुधसोमयोः' इस प्रकार से वार आदि का निर्देश मिलता है उसी प्रकार अग्निवेशतन्त्र में भी दृष्टिगोचर होता, अथवा उसके परवर्ती चरक या दृढबल अवश्य कहीं न कहीं वारों का प्रयोग किये होते।

भारतवर्ष में वारगणना की प्रवृत्ति शक संवत् के आरम्भ काल से हजार वर्ष पहले से है। इस प्रकार का उल्लेख श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने द्वारा लिखित भारतीय ज्योतिःशास्त्रेतिहास नामक ग्रन्थ के १३९ वें पृष्ठ में किया है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इसमें वार सम्बन्धी शुभाऽशुभ फलों के वर्णन का न होना अग्निवेशतन्त्र के ३००० वर्ष पूर्व होने की सूचना देता है।

महर्षि पाणिनि ने 'तिककितवादि' तथा 'गर्गादि' गण में अग्निवेश और उनके समकालिक आचार्यों का नाम लिया है[1]। आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक पाणिनि का समय २९०० विक्रम पूर्व मानते हैं और उन्होंने अनेक स्वस्थ प्रमाणों से इसका यथाशक्ति समर्थन किया है[2] किन्तु अन्य विद्वान् अपने-अपने विभिन्न मत देते हैं। कुछ विद्वान् इनका समय ईसवी पूर्व ७ वीं शती तथा दूसरे विद्वान् ईसवी पूर्व ४ थी अथवा ५ वीं शती निर्धारित करते हैं। अतः निश्चित ही अग्निवेश पाणिनि के पूर्ववर्ती रहे होंगे। ऐतिहासिकों का सुनिश्चित मत है कि भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से पहले वैदिक वाङ्मय की संरचना पूर्ण हो चुकी थी। विदेशीय विद्वान् विंटरनित्ज का मत है कि वेदों का समय ३००० अथवा २५०० ई० पूर्व से ७५० ई० पूर्व के लगभग होना चाहिये[3]। इस गणना के अनुसार उपनिषदों का समय १००० ई० पूर्व स्थिर किया जाता है और यही समय आचार्य अग्निवेश का भी स्वीकार किया जाता है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तक्षशिला का तो उल्लेख किया ही है किन्तु चरक, दृढबल पर इनका ध्यान नहीं गया अथवा परिचित न रहे हों। यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय पर पैनी दृष्टि तथा एकाधिकार रखने वाले पाणिनि चरक तथा उनकी कृति से अनभिज्ञ रहे हों।

भाषा तथा शैली

प्रस्तुत चरकसंहिता अग्निवेश, चरक तथा दृढबल की शेवधि है। इसी क्रम से इनके साहित्य में भी कालक्रम का भेद दृष्टिगोचर होता है। 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' इस प्रकार की वाक्य-योजना चरक के प्रत्येक अध्याय में लिपिबद्ध है, जो हमें ब्राह्मणकाल के अन्तिम चरण तथा उपनिषत्काल का स्मरण दिलाती है। उपनिषदों में शिष्यों के लिये प्रयुक्त होने वाला 'सौम्य' शब्द चरक में अग्निवेश के लिये प्रयुक्त है। विभाग अर्थ में छान्दोग्य-उपनिषद् में स्कन्ध शब्द आता है। आयुर्वेद को त्रिस्कन्ध कहा ही गया है और चरक के रोगभिषग्जितीय विमानाध्याय में मधुरादि षड् स्कन्धों का वर्णन इसी की स्पष्ट छाप है। उपनिषद् गद्य-पद्य शैली पूर्ण उपलब्ध होते

१. तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे २।४।६८। गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५।
२. द्रष्टव्य—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पहला भाग, पृ० १८२।
3. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol I. Part 1 Page 271.

हैं और उनके अन्त में उपसंहार के रूप में पद्यों का होना एक लम्बी परम्परा है, जिसकी अविकल छाप चरकसंहिता में दृष्टिगोचर होती है।

उपनिषद् काल से प्रभावित होकर चरक ने 'तदिह सङ्ग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः'[1] लिखा है। यहाँ पर कल्पस्थान शब्द का प्रयोग न करके कल्पोपनिषद् लिख गये, क्या यह सामान्य संकेत है?

देश

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं कि अग्निवेशतन्त्र पर उपनिषदों का अधिकाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः इनके देश की परिसीमा भी पाञ्चाल्य, काम्पिल्य क्षेत्रों का अन्यतम भाग रहा होगा, क्योंकि इन प्रदेशों के नाम उपनिषदों में बहुचर्चित हैं किन्तु 'इदमित्थम्' यह ऐसा ही है. कहने में हम असमर्थ हैं। उपनिषदों में उन ऋषियों के नामों की भी चर्चा है जो प्रायः आयुर्वेद की गोष्ठियों में गिनाये गये हैं।

आयुर्वेद-निरुक्ति—'आयुषो वेदः = आयुर्वेदः' अर्थात् जो आयु का वेद हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु के सम्बन्ध में चरक की धारणा यह है—शरीर, इन्द्रिय (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय), मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। इसके पर्यायवाची शब्द हैं—धारि, जीवित, नित्यग और अनुबन्ध[2]।

दूसरा शब्द है **वेद** इसकी सिद्धि निम्ननिर्दिष्ट अनेक धातुओं से होती है, यथा—विद् ज्ञाने = वेत्ति। विद् विचारणे = विन्ते। विद् सत्तायाम् = विद्यते। विदॢ लाभे = विन्दति, विन्दते वा। अर्थात् जो आयु के सम्बन्ध में जाने, विचार कर सके, जो आयु के लिये है और जिससे आयु का लाभ हो उसको आयुर्वेद कहते हैं। इन्हीं सब आशयों का समर्थन चरक सूत्रस्थान से उद्धृत यह पद्य करता है—

'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ च० सू० १।४१॥

शाश्वत आयुर्वेद—महर्षि चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है,[3] क्योंकि इसका सम्बन्ध आयु के आरम्भ से अन्त तक है। आचार्य सुश्रुत की मान्यता इस प्रकार है—'यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है। इसकी रचना स्वयंभू (ब्रह्मा) ने प्रजाओं को उत्पन्न करने के पूर्व ही कर ली थी[4]।

आयुर्वेद-परम्परा—इतिहास का अध्ययन करने से यह भलीभांति विदित होता है कि आयुर्वेद की विभिन्न परम्परायें हैं—१. भास्कर सम्प्रदाय, २. धान्वन्तर-सम्प्रदाय तथा ३. आत्रेय सम्प्रदाय। इन सबके आदिम उपदेष्टा थे ब्रह्मा।

त्रिदोषसिद्धान्त—भूः, भुवः, स्वः, ये तीन व्याहृतियाँ क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौस् की प्रतिनिधि हैं। इनके देवता अग्नि, वायु, आदित्य हैं। ये तत्व हमें वेदों में दृष्टिगोचर होते हैं। अन्यत्र भी देवत्रय—(ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तथा अग्नित्रय आदि के दर्शन होते हैं। आगे चलकर सोम, सूर्य, वायु को आधार मानकर कफ, पित्त, वात के रूप में आयुर्वेदीय त्रिदोष-सिद्धान्त की स्थापना

१. चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० ४।४।
२. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ चरक सू० १।४२।
३. 'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च'। चरक सू० ३०।२५॥
४. 'इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः'। सुश्रुत सू० १।३।

भी हुई। इस त्रिदोष-सिद्धान्त के पूर्व हमें **अग्निषोमीय-सिद्धान्त** के दर्शन होते हैं। इसका समन्वय प्राणियों के जीवन में इस प्रकार किया गया है—आर्तव-आग्नेय और शुक्र-सौम्य होता है।

उक्त दो (अग्नि और सोम) तत्व ही पित्त और कफ के रूप में व्यवस्थित हैं, तीसरा वात यह योगवाही होने के कारण दोनों का गुणग्राही है। चरकसंहिता सूत्रस्थान के 'वातकलाकलीय' अध्याय में वायु का ही विशेष वर्णन किया गया है। पित्त, कफ की उतनी चर्चा नहीं है। उपनिषत् कालिक (**तेजोऽबन्नाख्यास्तिस्रो देवताः** । शांकरभाष्य।) इस त्रिवृत्करण सिद्धान्त से भी आयुर्वेदीय त्रिदोषसिद्धान्त अनुप्राणित होता है।

चतुष्पादसिद्धान्त—'भिषग् = वैद्य, द्रव्य, उपस्थाता, रोगी इन चारों को आधार मानकर आयुर्वेदीय चिकित्सा को चतुष्पाद स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त का बीज वैदिककालिक है, जो आगे चलकर ब्राह्मणकाल में विकास को प्राप्त हुआ। माण्डूक्य-उपनिषद् में वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय इन चार पादों से युक्त ब्रह्म का वर्णन है। मनु और चरक ने धर्म को भी चतुष्पाद स्वीकार किया है।

पञ्चमहाभूतसिद्धान्त—आयुर्वेद में 'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे' यह कह कर पञ्चमहाभूत सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। यह सिद्धान्त भी उपनिषत् काल में स्थिर हो चुका था, जिसका सुविशद प्रतिपादन सांख्य तथा न्यायवैशेषिक प्रभृति दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

ऋषिपरिषद्—चरकसंहिता में उपलब्ध ऋषि-परिषदों का स्वरूप पूर्ववर्ती उपनिषदों का स्मारक है। उपनिषदों में वर्णित ऋषि-परिषदों में प्रायः वे सभी ऋषि दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका वर्णन चरकसंहिता में आया है।

शास्त्रावतरण—सभी प्रकार के शास्त्रों का अथवा चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का कारण ब्रह्मा ही हैं। भले ही बीच की परम्परा किसी ओर बही हो। इसी प्रकार इस आयुर्वेद की उत्पत्ति के मूल भी ब्रह्मा ही हैं, इसमें किसी का मतभेद नहीं है।

पुरुष की परमायु—ऐतरेय ब्राह्मण[1], ईशावास्योपनिषद्[2], कठोपनिषद्[3] तथा महाभाष्य[4] में पुरुष की परमायु १०० (एक सौ) वर्ष निर्दिष्ट है। ज्योतिषशास्त्र भी पुरुष की परमायु १०० वर्ष बतला कर अन्य प्रमुख प्राणियों की आयु का पृथक्-पृथक् निर्देश करता है। उपर्युक्त ब्राह्मण, उपनिषद् तथा महाभाष्य की परमायु से चरक भी सहमत है[5]। इस विषय पर चरक ने अन्यत्र और भी समसामयिक विचार किया है। जिस युग में प्राणिमात्र की जितनी आयु का निर्देश किया गया है, उस आयु में उस युग का सौवाँ भाग समाप्त होने पर प्राणियों की आयु एक वर्ष घट जाती है[6]। चरकसंहिता में मनुष्य की आयु का जो निर्देश किया है और उसके ह्रास का जो वैज्ञानिक संकेत प्रस्तुत किया है, उसकी चर्चा बाइबल में इस प्रकार है[7]—

'हमारी आयु के बरस सत्तर तो होते हैं और चाहे बल के कारण अस्सी बरस भी हों, तो भी उन पर का घमण्ड कष्ट और व्यर्थ बात ठहरती है'।

१. शतायुर्वै पुरुषः। ऐ० ब्रा० २।२।१७।

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। ईशावा० २।

३. शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। कठ० १।१।२३।

४. किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति (सः) वर्षशतं जीवति। महाभाष्य प्रथमाह्निक।

५. वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। च० चि० ८।१२१।

६. संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥ चरक विमानस्थान अ० ३।२६।

७. पुराना नियम, भजनसंहिता अ० ९० पृष्ठ ५९७, मिशन प्रेस, इलाहाबाद सन् १९१९।

'इससे स्पष्ट है कि ईसामसीह के समय मनुष्य की प्रायिक आयु ७० वर्ष की मानी जाती थी। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार ईसामसीह का काल कलि संवत् ३१०० में है। इस प्रकार कलि आरम्भ से लेकर ईसामसीह तक ३००० वर्ष में चरक के प्रति सौ वर्ष में १ वर्ष के ह्रास के नियमानुसार ३० वर्ष का ह्रास होना स्वाभाविक है। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि चरकसंहिता ईसामसीह से ३००० वर्ष प्राचीन तो अवश्य है[1]।'

चरक

चरक शब्द अथवा नाम के सम्बन्ध में जितनी भी साधिकार कल्पनायें हो सकती हैं, उनका सर्वेक्षण नेपालराजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा ने इस प्रकार काश्यपसंहिता के उपोद्घात में किया है, जिसको यहाँ साभार उद्धृत किया जा रहा है।

गोत्र अथवा शाखा नाम से भी चरक शब्द की प्रसिद्धि हो सकती है। अथवा चरक नाम संकेत के लिये रूढ हो। या पश्चिम प्रदेश में नागजाति का इतिहास उपलब्ध होता है, हो सकता है **भावप्रकाश** में कथित रीति के अनुसार शेषावतार चरक को माना हो? बृहज्जातक के व्याख्याकार रुद्र के मतानुसार यह वैद्य-विद्या का विशेष विद्वान् था। भिक्षावृत्ति द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करता हुआ गाँव-गाँव में घूमकर वैद्य-विद्या का उपदेश देकर और रोगियों की चिकित्सा द्वारा लोकोपकार करता था। इसलिये घूमने वाले भिक्षु रूप अर्थ का सहारा लेकर ही इसकी चरक नाम से प्रसिद्धि हुई हो।

आचार्य वराहमिहिर ने प्रव्रज्यायोगवर्णन प्रसंग में 'शाक्या जीविकभिक्षु-वृद्ध-चरका निर्ग्रन्थ-वन्याशनाः' इस प्रकार चरक शब्द का उल्लेख किया है। भट्टोत्पल ने 'चरकश्चक्रधरः' और उपर्युक्त रुद्र ने 'चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणाः पाखण्डभेदाः' इस प्रकार व्याख्यान किया है। अतः चरक शब्द के विविध प्रयोग यत्र-तत्र सुलभ रहे हैं किन्तु हमें जो चरक अभीष्ट है, वह है अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता।

सम्प्रति उपलब्ध चरकसंहिता महर्षि चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत कृति है किन्तु इसमें अग्निवेश और दृढबल का महत्त्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय योगदान रहा है। इस समय बुद्ध का आविर्भाव हो चुका था परन्तु चरक इससे पूर्णतः प्रभावित नहीं थे। यद्यपि चरक में कहीं-कहीं बौद्ध-दर्शन प्रतीक रूप में दृष्टिगोचर होता है तथापि उसमें देवता, गो, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु तथा वृद्धजनों की पूजा का विधान विविध प्रसंगों में प्राप्त होता है[2]। इसमें बौद्ध-सम्प्रदाय में प्रचलित देवी, देवताओं को उद्धृत नहीं किया गया है।

चरक ने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, विष्णु, प्रजापति, कार्तिकेय शिव, मातृगण, गङ्गा आदि की पूजा, वन्दना को अपने ग्रन्थ में सादर स्थान दिया है[3]। ज्वर शान्ति के लिये शिव-पूजन का अन्य चिकित्साओं के साथ निर्देश किया गया है[4]। चरकसंहिता में दिये गये सद्वृत्तों का अपने में एक विशेष महत्त्व है। इनके आधार प्राचीन धर्मसूत्र हैं। चरक ने धन्वन्तरि को देवत्व का स्वरूप प्रदान किया है।

चरकसंहिता का प्राशस्त्य—आज आयुर्वेद की जितनी भी संहिताएँ पूर्ण अथवा अपूर्ण

१. युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास से साभार।

२. चरक सू० ८।२८। चरक वि० ८।११, १३। चरक शा० १२।८४। चरक चि० १।१।२३; १।४।३१; १।४।३८ आदि।

३. च० शा० ८।४१। च० नि० ३।३११-३१४; ९।९८; २३।९१-९५।

४. च० नि० अ० १।१७। च० चि० ३।१४-२५।

उपलब्ध हैं उन सब में कायचिकित्सा के क्षेत्र में चरकसंहिता का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि चरक के सम्बन्ध में समसामयिक तथा परवर्ती सभी आचार्यों की धारणा है कि चिकित्सा-क्षेत्र में चरकसंहिता का स्थान सर्वोपरि है।

यद्यपि आचार्य वाग्भट ने अपनी कृति को **युगानुरूपसन्दर्भं** कहा है किन्तु यह उनकी अपनी उक्ति है, न कि समष्टि की। लोक-व्यवहार में तब और आज भी जो आदर चरकसंहिता का था तथा है और रहेगा वह स्थिति वाग्भट की रचनाओं की सर्वत्र नहीं है। अतएव वाग्भट की यह सूक्ति आज भी विद्वानों को विस्मृत नहीं होती—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक-सुश्रुतौ।
भेलाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

यही कारण है कि महाकवि श्रीहर्ष ने भी उत्तम चिकित्सक होने के लिये चरक-सुश्रुत के अध्ययन का परामर्श अपने काव्य द्वारा समाज को दिया है—

कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाऽऽकर्णय सुश्रुतेन चरकेनोक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥

नैषधीयचरित ४।११६ ॥

श्रेष्ठता की शृंखला—आयुर्वेदीय सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के उत्तम अंशों का संकेत करते हुए किसी आलोचक ने लिखा है—

'निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः।
शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः चरकस्तु चिकित्सिते' ॥

सम्भाषा-विधि—यह दो प्रकार की होती है—१. सन्धायसंभाषा, २. विगृह्यसंभाषा। विषय विशेष के ज्ञान की समृद्धि के लिये वैद्य वैद्य के साथ विचार-विनिमय कर किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचे, इसको **तद्विद्यसम्भाषाविधि** कहते हैं। इसके लिये परिषद् (सभा) दो प्रकार की होती है—१. ज्ञानवती २. मूढा। इसका मूल उद्देश्य नास्तिकों को अपनी सभा में आमन्त्रित करके तर्कों द्वारा उनको पराजित कर सत् मार्ग में प्रवृत्त कराना था।

चरक का अष्टांगविभाग—सुश्रुत ने अपनी संहिता के आरम्भ में 'भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्'[1]। लिखकर आठ अङ्गों के नामों का उल्लेख किया है और चरक में सूत्रस्थान के अन्त में उन अङ्गों के नाम दिये हैं, वे भी कुछ परिवर्तन के साथ[2]। इस स्थिति को देखकर ऐसा विश्वास होता है कि यह अष्टांगविभाग प्रतिसंस्कर्ता चरक ने बाद में जोड़ दिया होगा।

आतुरालय—चरकसंहिता के उपकल्पनीय अध्याय में जो वर्णन मिलता है वह मौर्यकालिक आतुरालय का प्रतिरूप समक्ष में आता है। चरक ने इस प्रकार के आतुरालय राजाओं तथा उनके समान सम्पन्न व्यक्तियों के लिये है, ऐसा निर्देश किया है[3]। इसका विस्तार तात्कालिक दृष्टि से विस्तृत कहा जा सकता है।

देश—चरकसंहिता में ग्रन्थकार ने देश, काल आदि के निर्देश की इसलिये चिन्ता नहीं की

१. सुश्रुत सू० अ० १।६।
२. कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनानि, वाजीकरणमिति। चरक सू० अ० ३०।
३. इह खलु राजानं राजमात्रं वाऽन्यं विपुलद्रव्यं··· । चरक सू० १५।२।

कि उसको विश्वास था, यदि मेरी रचना सारगर्भित होगी तो अवश्य सम्मानित होगी। प्राचीन लेखकों की परम्परा भी इसी प्रकार की रही है। यदि हम चरकसंहिता में चर्चित प्रदेशों में से कोई एक देश चरक का मानने का दुःसाहस करें तब तो हमें बाध्य होकर यह कहना पड़ेगा कि सुप्रसिद्ध कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट विन्ध्याटवी-निवासी कोई भील रहे होंगे, पर ऐसा निर्णय लेना विडम्बना मात्र कहा जायगा।

कतिपय विशिष्ट द्रव्य—विदेशीय विद्वान् तथा उनके मानसिक भक्त पदे-पदे अपने देश की आदिसम्यता से परिचित न होकर इस द्रव्य को अमुक व्यक्ति, अमुक समय, अमुक स्थान से लाया, अतः यह भारतीय नहीं है, ऐसा स्वीकार करते हैं। जैसे आलू नामक कन्द को २-३ सौ वर्ष पूर्व अमेरिका से आयातित किया गया था—ऐसा कहा, सुना और माना जाता है। परन्तु 'तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वाच्च मुखप्रियम्[1]।' पिण्ड-आलुक=आलू जो सदैव सबके मुखों को प्रिय लगता है, वह तब जैसा था आज भी वैसा ही है। इसकी सूचना केवल चरक को ही नहीं थी, सुश्रुत ने भी इस प्रकार के अनेक कन्दों का एक साथ वर्णन किया है[2]। इससे चरक-सुश्रुत-संहिताओं के काल-निर्धारण में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता ?

अमेरिका भले ही कोलम्बस की खोज मान ली जाय किन्तु भारतीय मानव उससे पूर्व भी अमेरिका आदि देशों से परिचित था। इसके लिये प्रमाण ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, आप देखें चरक सूत्रस्थान के दीर्घञ्जीवितीयाध्याय में कांकायन, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, पैङ्गि आदि ऋषि कहाँ-कहाँ से आये थे। अस्तु, कुछ भी हो उक्त संहितायुग विज्ञापनबाजी का न होकर मूक साधना का युग था। इसी प्रकार के कुछ द्रव्य चरक में भी ऐसे है जो विद्वानों के लिये आज भी चर्चा के विषय बने हुए हैं।

चरक के सम्बन्ध में मतभेद

कुछ विद्वान् चरक व्यक्ति विशेष का नाम मानते है, दूसरे लोगों का कथन है कि यह सम्प्रदाय विशेष का नाम है[3]। अतः इस सम्प्रदाय में होने वाला कोई व्यक्ति इस संहिता का रचयिता होगा। अथर्ववेद की एक शाखा का नाम 'चरकचारण' है, यह आजकल प्राप्त नहीं है। एक प्रसिद्ध मत यह भी है कि चरक शेषनाग के प्रतिअवतार थे, इस मत की पुष्टि में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र बहुत कुछ लिख रखा है। क्योंकि चरकसंहिता और महाभाष्य की सूत्ररूपा वर्णनशैली तथा अन्य अनेक समानतायें दोनों ग्रन्थों में सविशेष उपलब्ध होती हैं[4] और इनके समर्थन में पश्चाद्वर्ती विद्वानों की सूक्तियाँ भी सहयोग देती हैं। यथा—

(क) **आप्तो नामानुभवेन वस्तुतत्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्।**
रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स इति चरके पतञ्जलिः।। व्याकरणमञ्जूषा।

(ख) **योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।**
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु।

(ग) **शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जलेः कुर्वता**
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।

१. चरक, सूत्र० अ० २७।
२. सुश्रुत, सूत्र० अ० ४६।२९८।
३. 'चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्च चरका इत्युच्यन्ते'। काशिका ४।३।१०४ ॥
४. द्रष्टव्य—'चरकचिन्तन' आचार्य प्रियव्रत शर्मा।

वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥ भोज ।

(घ) पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः ।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥ चक्रपाणि ।

जैसा उपर्युक्त सूक्ति से विदित होता है कि इन्होंने योगसूत्र, महाभाष्य और वैद्यकशास्त्र की रचना की; अतः चरकसंहिता और योगसूत्र में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें साम्य दृष्टिगोचर होता है किन्तु अधिकांश स्थल ऐसे भी हैं जिनमें किसी प्रकार की समानता ढूँढने पर भी प्राप्त नहीं होती।

इससे यह प्रतीत होता है कि चरक तथा पतञ्जलि को एक मानने में दोनों की समकालिकता ही भ्रामक है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि चरक तथा पतञ्जलि अपने काल के उद्भट, बहुश्रुत तथा अप्रतिमप्रतिभावान् व्यक्ति थे। अतः देश, काल की परिस्थितियों का प्रभाव उनकी रचनाओं में आना स्वाभाविक ही था। इस भ्रम का सूत्रपात छठी शती के अन्त में होने वाले चरकपंजिका के रचयिता स्वामिकुमार से हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

चरक-पतञ्जलि में भिन्नता—विभिन्न विद्वानों के रचना-साम्य को देखकर काल-निर्धारण कर लेना समीचीन नहीं होता। महाभाष्य के अनेक स्थलों में अन्य विषयों की भांति आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों का भी उल्लेख मिलता है, इससे यह मान लेना कि पतञ्जलि आयुर्वेदविद् भी थे असंगत नहीं होता, किन्तु महाभाष्य में निर्दिष्ट 'उत्कन्दन' नामक रोग तथा 'दधित्रपुषज्वर' का चरकसंहिता में कहीं भी उल्लेख नहीं है। चरकसंहिता शारीरस्थान के १ व ५वें अध्यायों में जो योग और मोक्ष की चर्चा की गयी है, वह पातञ्जलयोगसूत्र से समानता नहीं रखती है। अतः इन दोनों को एक सिद्ध करने का प्रयास अपने-अपने क्षेत्र में दिग्गज होने के रूप में भले ही कुछ अर्थ रखता हो, वैसे एकता वाली बात बुद्धिगम्य नहीं होती। काल-निर्धारण में कहीं भी सुभाषित सहायक नहीं होते।

चरक का प्रादुर्भाव

भावप्रकाश आयुर्वेद-प्रकरण के पूर्वखण्ड में ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीसुत, इन्द्र, आत्रेय, भरद्वाज, चरक, धन्वन्तरि तथा सुश्रुत के प्रादुर्भाव की चर्चा है[1]। चरक के सम्बन्ध में भावमिश्र ने इस प्रकार लिखा है—

'जब भगवान् विष्णु ने मत्स्यावतार धारण कर वेदों का उद्धार किया तब शेषनाग ने साङ्गोपाङ्ग वेद के साथ अथर्ववेद के उपाङ्गभूत आयुर्वेद का भलीभांति अध्ययन कर लिया था। एक बार शेषनाग भूलोक की दशा का अवलोकन करने के लिये चर (यात्री) की भांति भूमण्डल पर अवतरित हुए और प्राणियों को रोगों से पीड़ित तथा व्याकुल देखकर दुःखी हुए और उनको रोगों से मुक्त कराने का उपाय सोचने लगे, तदनुसार वे किसी सुप्रसिद्ध वेदज्ञ ऋषि के पुत्र हो गये। क्योंकि वे 'चर' के समान आये अतः उनका नाम 'चरक' प्रसिद्ध हो गया। ये ही चरकाचार्य नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध हुए। ये शेषनाग के अंशावतार थे। इन्होंने चरकसंहिता की रचना द्वारा प्राणियों के रोगों का विनाश किया, जो सम्प्रति अग्निवेश कृत तन्त्र चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत रूप में उपलब्ध है'।

चरक का समय

पाणिनि की अष्टाध्यायी में जहाँ-जहाँ चरक शब्द का प्रयोग हुआ है[2] वह कृष्णयजुर्वेदीय शाखा विशेष के लिये हुआ होगा या अन्य किसी कारण विशेष से, क्योंकि विदेशीय तथा अधिकांश

१. भावप्रकाश, आयुर्वेदप्रकरण, पूर्वखण्ड, श्लोक ५७–६५।

२. कठचरकाल्लुक् ४।३।१०७ तथा माणवचरकाभ्यां खञ् ५।१।११। अष्टाध्यायी।

भारतीय विद्वान् भी पाणिनि का काल ७वीं शती मानते हैं और चरक पाणिनि के परवर्ती सिद्ध होते हैं। सचमुच काल-निर्णय वाला रोग साहित्य रसास्वाद में काल से भी अधिक भयावह होता है।

ध्यान दें—आज के इतिहासज्ञ अवसरोचित तथ्यों का ग्रहण कर शेष विषय का अपलाप कर जाते हैं। **कीथ** ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में जनसाधारणोपयोगी संस्कृत शब्दों का निर्देश करके बिना किसी भारतीय विद्वान् के दबाव में आये यह स्वीकार किया है कि पाणिनि के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी[1]। इसके विपरीत भारतीय विद्वान् अभी तक यही लिखते आ रहे हैं कि संस्कृत भाषा कभी बोलचाल के रूप में व्यवहार में आने वाली भाषा नहीं थी[2]। अस्तु हम प्रसङ्गान्तर में न जाकर पाणिनि के समय-निर्धारण कर्ताओं का ध्यान भारतीय विचारों के पोषक युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पहला भाग की ओर आकृष्ट कर यह जानना चाहते हैं कि उनको मीमांसक जी के पाणिनि के काल-निर्धारण में दिये गये अन्तःसाक्ष्यों के सम्बन्ध में कुछ कहना है? अथवा 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' चुप रहना है? जिनसे वे पाणिनि को २९०० वर्ष विक्रम पूर्व स्वीकार करते हैं।

यदि मीमांसक जी का उक्त मत स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती है, तब तो अन्य विचारकों द्वारा निर्धारित २री शती ई० पूर्व चरक का समय स्वीकार किया ही जासकता है।

चरक में वर्णित देश

१. बाह्लीक, २. पह्लव, ३. चीन, ४. शूलीक, ५. यवन, ६. शक, ७. प्राच्य, ८. सैन्धव, ९. अश्मक, १०. आवन्तिक, ११. मलय, १२. दक्षिण, १३. उत्तरपश्चिम, १४. मध्यप्रदेश।

चरकसंहिता-परिचय

क्रम	स्थान	अध्याय	सूत्रसंख्या
१	सूत्र	३०	१९५२
२	निदान	८	२४७
३	विमान	८	३५४
४	शारीर	८	३८२
५	इन्द्रिय	१२	३७८
६	चिकित्सा	३०	४९०४
७	कल्प	१२	३७८
८	सिद्धि	१२	७००
योग—		१२०	९२९५

१. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० मंगलदेव शास्त्री कृत भाषानुवाद, पृ० ११–१३।

२. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४० सन् १९६०।

अन्य आयुर्वेदीय संहिताओं की अध्याय संख्या

क्रम	स्थान	भेड	काश्यप	सुश्रुत	अष्टाङ्गसंग्रह
१	सूत्र	३०	३०	४६	३०
२	निदान	८	८	१६	१६
३	विमान	८	८	×	×
४	शारीर	८	८	१०	६
५	इन्द्रिय	१२	१२	×	×
६	चिकित्सा	३०	३०	४०	२२
७	कल्प	८(१२)	१२	८	६
८	सिद्धि	८(१२)	१२	×	×
९	उत्तरतन्त्र या	×	×	×	×
	खिलतन्त्र	×	८०	६६	४०
योग—		१२०	१२०+८०	१२०+६६	१२०

चरकसंहिता में वर्णित ऋषि, आचार्य तथा भिषक्

अगस्त्य—सू० अ० १, चि० अ० १,
अङ्गिरा—सू० अ० १, चि० अ० १,
अत्रि—चि० अ० १,
अभिजित्—सू० अ० १,
असित—सू० अ० १, चि० अ० १, सि० अ० ११,
आत्रेय पुनर्वसु—सू० अ० १, १२, २५, २६,
शा० अ० ३,
आश्वरथ्य—सू० अ० १,
आश्वलायन—सू० अ० १,
कपिञ्जल (कपिष्ठल)—सू० अ० १,
कश्यप—सू० अ० १, चि० अ० १,
काङ्कायन—सू० अ० १, १२, २५, २६,
शा० अ० ६,
कात्यायन—सू० अ० १,
काप्य—सू० अ० १, १२, सि० अ० ११,
कुमारशिरा भारद्वाज—सू० अ० १२, २६,
शा० अ० ६,
कुश (साङ्कृत्यायन)—सू० अ० १२,
कुशिक—सू० अ० १,
कैकशेय—सू० अ० १,
कौण्डिन्य—सू० अ० १,
कौशिक—सि० अ० ११,
गार्ग्य—सू० अ० १,
गालव—सू० अ० १,
गौतम (साङ्ख्य)—सू० अ० १, चि० अ० १,
सि० अ० ११,
जनक (विदेह)—शा० अ० ६,
जमदग्नि—सू० अ० १,

देवल—सू० अ० १,
धन्वन्तरि—शा० अ० ६,
धौम्य—सू० अ० १,
नारद—सू० अ० १,
निमि (विदेह)—सू० अ० २६,
पारि(री)क्षि (मौद्गल्य)—सू० अ० १, २५,
पुलस्त्य—सू० अ० १, चि० अ० १,
सि० अ० ११,
पूर्णाक्ष (मौद्गल्य)—सू० अ० २६,
पैङ्गि—सू० अ० १,
बादरायण—सू० अ० १,
भद्रकाप्य—सू० अ० २५, २६, शा० अ० ६,
भद्रशौनक—शा० अ० ६, सि० अ० ११,
भरद्वाज (कपिष्ठल)—सू० अ० १,
भरद्वाज—सू० अ० २५, शा० अ० ३,
भार्गव (च्यवन)—सू० अ० १, चि० अ० १,
भिक्षु आत्रेय—सू० अ० १, २५,
भृगु (कश्यप)—सू० अ० १, चि० अ० १,
सि० अ० ११,
मार्कण्डेय—सू० अ० १,
मारीचि (कश्यप)—सू० अ० १, १२,
शा० अ० ६,
मैत्रेय (मैमतायनि)—सू० अ० १, १०,
लौगाक्ष (लोकाक्ष)—सू० अ० १,
वडिश (धामार्गव)—सू० अ० १, १२, २६
शा० अ० ६, सि० अ० ११,
वसिष्ठ—सू० अ० १, चि० अ० १,
वामक (काशिपति)—सू० अ० २५,
सि० अ० ११,
वामदेव—सू० अ० १, चि० अ० १,
वार्क्षि—सू० अ० १,
वार्योविद (राजर्षि)—सू० अ० १२, २५, २६,
वालखिल्य—सू० अ० १, चि० अ० १,
विश्वामित्र—सू० अ० १,
वैखानस—सू० अ० १, चि० अ० १,
वैजवापि—सू० अ० १,
शर्कराक्ष—सू० अ० १,
शरलोमा—सू० अ० १, २५,
शाकुनेय—सू० अ० १,
शाकुन्तेय (ब्राह्मण)—सू० अ० २६,
शाण्डिल्य—सू० अ० १,
शौनक—सू० अ० १, २५, सि० अ० ११,
साङ्कृत्य—सू० अ० १,
हिरण्याक्ष (कुशिक)—सू० अ० १, २५, २६।

दृढबल

सम्प्रति प्राप्त चरकसंहिता चिकित्सास्थान के ३० वें अध्याय तथा सिद्धिस्थान के १२ वें अध्याय के अन्त में दृढबल ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। ये अपने को परम शैव, कपिलबलि का पुत्र और पंचनद देश का निवासी कहते हैं। अग्निवेश द्वारा रचित तथा चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत किन्तु कालकवलित उक्त संहिता के अंशों की दृढबल ने पूर्ति की, जिसकी सूचना इन्होंने अत्यन्त ईमानदारी के साथ स्थान-स्थान पर दी है। इन्होंने अनेक तन्त्रों (आयुर्वेदिक संहिता-ग्रन्थों) की सहायता से चरक के खंडित अंशों की पूर्ति उञ्छ और शिलवृत्ति के माध्यम से की। इस चरकसंहिता का एक तिहाई भाग दृढबल के सामने खण्डित था, जिसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है और यह भी सूचना दी है कि कौन-कौन से अंश उस समय खंडित थे जिनकी पूर्ति मैंने (दृढबल ने) की[1]।

---

१. अस्मिन् सप्तदशाऽध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्याऽस्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥ चरक चि० ३०।२८९-२९०।

रचयिताओं की दृष्टि से चरक चिकित्सास्थान के अध्याय

चरक कृत अध्याय	११. विसर्प	२१. श्वास
१. रसायन	१२. मदात्यय	२२. कास
२. वाजीकरण	१३. द्विव्रणीय	२३. छर्दि
३. ज्वर	दृढबल कृत अध्याय	२४. तृष्णा
४. रक्तपित्त	१४. उन्माद	२५. विष
५. गुल्म	१५. अपस्मार	२६. त्रिमर्मीय
६. प्रमेह	१६. क्षत	२७. ऊरुस्तम्भ
७. कुष्ठ	१७. शोथ	२८. वातव्याधि
८. राजयक्ष्मा	१८. उदर	२९. वातशोणित
९. अर्श	१९. ग्रहणी	३०. योनिव्यापत्
१०. अतिसार	२०. पाण्डु	

विशेष—जिस प्रकार यहाँ अध्यायों का उल्लेख किया गया है यह संहिता का क्रम नहीं है। यह केवल चरक तथा दृढबल की कृतियों के निर्देश का क्रम है।

चरकसंहिता के खंडित अंश—चिकित्सास्थान के १७ वें अध्याय और **'कल्पाः सिद्धय एव च'** इस पंक्ति में ध्यान देने योग्य है—उक्त कल्प और सिद्धि शब्दों में बहुवचन की संगति। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि ये पूरे के पूरे खंडित थे और इनके नाम मात्र अवशेष थे। उक्त कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को कितने अध्यायों में पूर्ण किया जाय, इसका संकेत दृढबल को निम्नलिखित पद्य से मिला होगा—

'द्वे त्रिंशके द्वादशकत्रयं च त्रीण्यष्टकान्येषु समासिरुक्ता।
श्लोकौषधारिष्टविकल्पसिद्धिनिदानमानाश्रयसंज्ञकेषु' ॥ च० सू० ३०।३२।

इसके अनुसार चरकसंहिता में वर्णित विषयों का ८ स्थानों और १२० अध्यायों का विवेचन इस प्रकार किया गया है। यथा—

१. सूत्रस्थान	३०	अध्याय	५. इन्द्रियस्थान	१२	अध्याय
२. निदानस्थान	८	,,	६. चिकित्सास्थान	३०	,,
३. विमानस्थान	८	,,	७ कल्पस्थान	१२	,,
४. शारीरस्थान	८	,,	८. सिद्धिस्थान	१२	,,

अतस्तन्त्रोक्तमिदं चरकेणातिवुद्धिना।
संस्कृतं तत्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते॥
तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्।
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे॥
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम्।
सप्तदशौषधाध्याय-सिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥ चरक सिद्धिस्थान १२।३७-३९।
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः॥
चिकित्सा वह्निवेशस्य सुस्थातुरहितं प्रति।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ चरक सि० अ० १२।५२-५३।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि चिकित्सास्थान के १७ अध्याय खंडित थे, वे कौन-कौन थे इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। चरकसंहिता के विभिन्न संस्करणों में अध्यायों के पौर्वापर्य क्रम में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध में चरक के प्रतिष्ठित टीकाकारों ने एक-मत होकर यह स्वीकार कर लिया है कि चिकित्सास्थान के आरम्भ के १३ अध्याय चरक-प्रतिसंस्कृत तथा शेष १७ अध्याय दृढबल द्वारा पूरित हैं।

इस प्रकार १७ अध्याय चिकित्सास्थान के, १२ अध्याय कल्पस्थान के और १२ अध्याय सिद्धिस्थान के कुल मिलाकर ४१ अध्याय तो पूर्णरूपेण दृढबल की देन हैं ही, किन्तु हमारे विचार से इन्होंने यत्र-तत्र-सर्वत्र सम्पूर्ण ग्रन्थ को अपनी प्रतिभा-ज्योत्स्ना से आलोकित किया होगा।

दृढबल का समय

चरक चिकित्सास्थान तथा सिद्धिस्थान में जैसा दृढबल ने अपना परिचय दिया है उसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं किन्तु समय के सम्बन्ध में इन्होंने कहीं कोई चर्चा नहीं की है। वृद्ध वाग्भट का समय इतिहासविदों ने छठी शती स्वीकार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में 'कपिलबल का स्मरण किया है'[1]। इससे हम इस निर्णय की ओर बढ़ते हैं कि दृढबल ४थी अथवा ५वीं शती में रहे होंगे। इस समय गुप्तकाल अपनी सर्वतोमुखी समृद्धि का अनुभव कर रहा था। इसका विस्तार काश्मीर से काबुल पर्यन्त था। भारतीय समस्त वाङ्मय ने इस काल में पुनः अपने सुदिन देखे। आयुर्वेदीय संहिताएँ भी परिष्कृत हुई। इसी समय दृढबल ने प्रामाणिक तन्त्रों की सहायता से चरक को चमत्कृत कर डाला[2]। यही कारण है कि चरक में अनेक गुप्तकालिक तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं।

शैली—कल्पस्थान में दृढबल ने पाञ्चाली रीति से समृद्ध अपने गद्य में चिकित्सा के अतिरिक्त साहित्यिक स्वारस्य भी उपस्थित किया है। जहाँ एक ओर इनका दृष्टिकोण स्वास्थ्य-सम्पादक-द्रव्यों का वर्णन रहा है, वहाँ दूसरी ओर गुप्तकाल की अतुलनीय सम्पन्नता का भी इन रचनाओं में दर्शन होता है। चरक चिकित्सास्थान में यद्यपि कल्पस्थान आदि की पूर्ति दृढबल ने की है। ऐसा उल्लेख मिलता है, किन्तु मेरा आग्रह है स्वाध्याय-व्यसनी विद्वान् चरक सूत्रस्थान वातकलाकलीय अ० १२ के गद्य भाग की भाषा-शैली पर ध्यान दें और विचार करें कि दोनों स्थलों में कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है या नहीं ? अस्तु।

महाभारत की एक पंक्ति हमें अविकल रूप से चरकसंहिता के अन्त में इस प्रकार मिलती है—**'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'**। इसका अभिप्राय है कि जो विषय यहाँ है वह दूसरे स्थानों पर भी प्राप्त हो सकता है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी सुलभ नहीं हो सकता। इसका अनुगमन हम चरकसंहिता के सम्बन्ध में इस प्रकार करते हैं—यह संहिता कायचिकित्सा-प्रधान है, अतः कायचिकित्सा सम्बन्धी उपदेश, योग, उपचार आदि सभी इसमें उपलब्ध हैं और जिनका वर्णन इसमें नहीं है वे अन्यत्र भी दुर्लभ होंगे। दूसरा कारण यह भी है—इनकी यह प्रतिज्ञा है 'पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिः' ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने विषय में पूर्णता का दावा करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार अग्निवेश, चरक और दृढबल इन मुनित्रय की रचना आयुर्वेदशास्त्र के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत चरकसंहिता का सुसंस्कृत रूप जो आज उपलब्ध है, आचार्य दृढबल की अनुपम देन है।

१. कपिलबलस्त्वेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश। अष्टाङ्गसङ्ग्रह सू० २०।२१॥

२. कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यः। चरक सि० १२।३९। तत्र चक्रपाणिः, आयुर्वेददीपिका व्याख्यायामाह—'तन्त्रेभ्यः सुश्रुतविदेहादितन्त्रेभ्यः'।

एक भ्रामक विचार—चरक सिद्धिस्थान में एक श्लोक ऐसा है जिसके कारण यह भ्रम उत्पन्न होता है कि सुश्रुतसंहिता की भांति चरकसंहिता में उत्तरतन्त्र अग्निवेश के काल में रहा होगा,[1] जो आधुनिक चरकसंहिता में नहीं है अथवा जिसकी पूर्ति बाद में दृढबल ने भी नहीं की। चरक के जितने संस्करण आज उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश में यह श्लोक प्राप्त नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि चक्रपाणि इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि अग्निवेश तन्त्र में उत्तरतन्त्र की आवश्यकता ही नहीं है, वह तो अपने पूर्वोक्त आठ स्थानों में ही पूर्ण है[2]।

चरकसंहिता के टीकाकार

आयुर्वेदीय ग्रन्थ-मणिमाला में चरकसंहिता का स्थान सुमेरु की भांति सर्वोच्च है, अतएव सभी देशों के विद्वानों ने अपनी-अपनी ज्ञानज्योति से इसकी नीराजना की है, किन्तु कालक्रम के परिवर्तनों से अनेक टीकाकार अपनी टीकाओं के साथ आज तिरोहित हो गये हैं फिर भी जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपलब्ध हैं अथवा ग्रन्थ के रूप में प्राप्त हैं उनकी चर्चा यहाँ यथासम्भव प्रस्तुत की जारही है—

(१) गौड़ाधिपति शशांकदेव (नरेन्द्रदेव) के राजवैद्य, आर्द्रदेव के पुत्र **भट्टारहरिचन्द्र** छठी शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे। इनकी टीका का नाम **'चरकन्यास'** है। उक्त टीका की प्रशंसा परवर्ती टीकाकारों ने मुक्तकंठ से की है।

(२) नवीं शताब्दी के **आषाढवर्मा** द्वारा रचित **'परिहारवार्तिक'** टीका का उल्लेख १८ वीं शताब्दी तक परवर्ती आचार्य करते आये हैं।

(३) **स्वामिकुमार** ने **'चरक-पंजिका'** नाम की टीका लिखी है। ये सर्वात्मना भट्टारहरिचन्द्र के अनुगामी थे। इनकी टीका में चरक-न्यास की छाप देखने योग्य है। ये स्वामिकुमार हरिचन्द्र के परवर्ती परम शैव थे।

(४) ९ वीं शती के आचार्य **हिमदत्त** की टीका के उद्धरण जेज्जट ने अपनी टीका में उद्धृत किये हैं।

(५) **जेज्जट** या **जैयट** ने चरक पर **'निरन्तरपदव्याख्या'** लिखी थी। इनका कार्यकाल ९-१० वीं शताब्दी का मध्य है। इनके पिता का नाम कैयट था। जेज्जट ने अपनी टीका में निम्नोक्त आचार्यों का टीकाकार के रूप में स्मरण किया है—शिवसैन्धव, आषाढ़वर्मा, स्वामिदास, क्षीरस्वामिदत्त, वैष्णव, पैतामह और चेल्लदेव।

(६) **सुधीर** अथवा **सुधीश्वर** इनका समय १० वीं शती का उत्तरार्ध है। चरक पर लिखी गयी इनकी टीका को चन्द्रट ने भट्टारहरिचन्द्र तथा जेज्जट की टीका की श्रेणी में रखा है।

(७) **अमृतप्रभ** का समय भी १० वीं शती का उत्तरकाल है। आचार्य चन्द्रट ने इनकी गणना भी चरक के टीककारों में की है।

(८) **नरदत्त** की सूचना ११वीं शती के आचार्य 'चक्रपाणि दत्त' ने दी है। **'बृहत्तन्त्रप्रदीप'** नामक चरक की टीका इन्होंने लिखी थी। ये **चक्रपाणिदत्त** के गुरु थे।

(९) **ब्रह्मदेव** ११ वीं शती के आचार्य थे। डल्हणाचार्य ने इनका उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है। इन्होंने चरक तथा सुश्रुत पर टीकाएँ लिखीं थीं।

---

१. तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरणोत्तरे पुनः।
तत्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः॥ चरक सि० १२।५०।

२. 'तस्मादेता इत्यादिकं श्लोकमुत्तरे तन्त्रे तन्त्रयुक्तिव्याकरणे प्रतिपादकं पठन्ति, तं चानार्षं वृद्धा वदन्ति। अग्निवेशतन्त्रे उत्तरतन्त्रस्यैवानार्षत्वात्'। चक्रपाणिः।

(१०) **ईश्वरसेन** ११ वीं शती में थे, चरक के टीकाकारों में इनकी भी गणना है।

(११) **चक्रपाणिदत्त** ११ वीं शती के आचार्य थे। चरकसंहिता पर लिखी **'आयुर्वेददीपिका'** नाम की इनकी टीका आज भी पूर्ववत् लोकप्रिय है, यह इनकी टीका का वैशिष्ट्य है। इनकी अप्रतिम प्रतिभा को देखकर इनके समकालिक आयुर्वेदविदों ने इनको **'चरक-चतुरानन'** की उपाधि से विभूषित किया था। इनकी सुश्रुतसंहिता पर लिखी गयी **'भानुमती'** टीका भी सुप्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त और भी आयुर्वेद की अनेक अविस्मरणीय सेवायें इन्होंने कीं।

(१२) **श्रीकृष्ण वैद्य** ११ वीं शती के आचार्य थे। इनकी कृति **'चरकभाष्य'** है।

(१३-१४) **भासदत्त** तथा **भीमदत्त**—११ वीं शती के इन दो आचार्यों का चक्रपाणिदत्त ने चरक के टीकाकारों की नाममालिका में परिगणन किया है।

(१५) **जिनदासगणिमहत्तर** १२ वीं शती के आचार्य थे। चक्रदत्त की रत्नप्रभा टीका के उल्लेख से विदित होता है कि इन्होंने भी चरक की टीका लिखी थी।

(१६) **सुदान्तसेन** ने १३ वीं शती में चरक का व्याख्यान किया था। इसकी सूचना विजयरक्षित और शिवदाससेन ने दी है।

(१७) **कार्तिक-कुण्ड** ने १३ वीं शती में चरक पर व्याख्या लिखी थी।

(१८) **गदाधर** १३ वीं शती के आचार्य थे। इनके पिता का नाम बंगसेन था। इनके नाम से भी चरक की टीका का उल्लेख मिलता है।

(१९) **वाप्यचन्द्र** ने १३ वीं शती में अपने नाम से **'वाप्यचन्द्रतन्त्र'** की रचना की थी।

(२०) **बकुलेश्वर सेन** या **बकुल** ने १३ वीं शती में चरक पर टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में सुलभ है।

(२१) **ईशानदेव** ने १३ वीं शती में चरक पर टीका लिखी थी। इसके अनेक उद्धरण मधुकोष टीका में उद्धृत किये गये हैं।

(२२) **गुणाकर** १३ वीं शती मे विद्यमान थे। डा० कार्डियर के निर्देशानुसार यह ज्ञात होता है कि इन्होंने **चरकवृत्ति'** लिखी थी।

(२३-२४) **निश्चलकर** तथा **वाचस्पति** ये दो आचार्य १३ वीं शती में और प्राप्त होते हैं, जिनकी गणना इतिहासकारों ने चरक टीकाकारों के साथ की है।

(२५) **शिवदाससेन**—१६ वीं शती के आचार्य थे। चरकसंहिता पर आपकी सुप्रसिद्ध टीका **'चरकतत्त्वप्रदीपिका'** है। इसके अतिरिक्त आपने अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर भी मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है।

(२६) **गंगाधर राय** अथवा **गंगाधरकविराज** १८ वीं शताब्दी के आरम्भ के आचार्य थे। चरक पर लिखी गयी आपकी टीका का नाम **'जल्पकल्पतरु'** सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, फलतः आपने अपनी ज्ञानरश्मि से अन्यविषयक भारतीय साहित्य को भी आलोकित किया।

(२७) **अविनाशचन्द्र**—१९ वीं शती के अन्त में आपने चरकसंहिता का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर उसको प्रकाशित किया था।

(२८) **योगीन्द्रनाथ सेन** २० शताब्दी के आरम्भ के आचार्य थे। आप द्वारकानाथ सेन के पुत्र थे। आपकी टीका का नाम **'चरकोपस्कार'** है। आपकी यह टीका चरक चिकित्सास्थान के १४ वें अध्याय तक ही लिखी गयी थी जो उस समय प्रकाशित हो चुकी थी।

(२९) यादवजी त्रिकमजी आचार्य २० वीं शताब्दी के जाने माने आचार्यों में अन्यतम थे। आपने चरक के मूलपाठों का संशोधन कर चक्रपाणिदत्त द्वारा लिखित टीका के साथ चरक का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया था। आयुर्वेदीय साहित्य के अन्य ग्रन्थों पर भी आपकी प्रतिभा का प्रयास प्रभाव पड़ा है।

(३०) ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने २० वीं शताब्दी में चरक पर एक संस्कृत टीका लिखनी प्रारम्भ की थी किन्तु वह पूर्ण नहीं हो सकी, ऐसा प्रतीत होता है। उपर्युक्त टीका का नाम 'चरकप्रदीपिका' था।

(३१) ए० सी० कविरत्न कृत चरकसंहिता का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

(३२) हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती भाषाओं में अनूदित चरकसंहिता का एक संस्करण ६ खण्डों में डा० प्राणजीवन मेहता की देख रेख में जामनगर से प्रकाशित हुआ है।

(३३) इनके अतिरिक्त निम्नलिखित विद्वानों की भाषा टीकायें सम्प्रति प्रचलित हैं— १–रामप्रसाद शर्मा, २–[illegible], ३–जयदेव विद्यालंकार, ४–अत्रिदेव गुप्त, ५–काशीनाथ पाण्डेय तथा गोरखनाथ चतुर्वेदी।

(३४) चरकसंहिता का कुछ समय पूर्व अरबी तथा फारसी भाषा में भी अनुवाद हो चुका है, इसकी सूचना प्रो० विल्सन ने दी है। इसका प्रथम अनुवाद (तर्जुमा) फारसी तथा बाद में अरबी में हुआ है।

(३५) इन्हीं चरक चिन्तन चतुर चतुरस्र प्रतिभावान् मनीषियों की मणिमाला के अन्यतम [illegible] आयुर्वेदीय वृहत्त्रयी तथा लघुत्रयी के यशस्वी व्याख्याता सम्प्रति स्वर्गीय श्रद्धेय गुरुवर **पण्डित लालचन्द्र जी वैद्य**, प्रधानाचार्य, श्री अर्जुन आयुर्वेद महाविद्यालय, वाराणसी, द्वारा रचित चरक की 'सर्वाङ्गसुन्दरी' व्याख्या उनके उत्तराधिकारियों की उपेक्षा तथा असावधानी से आजतक प्रकाशित न हो सकी।

मेरे प्रति गुरुचरणों की सदैव वात्सल्यपूर्ण कृपा सुलभ रही। चरकसंहिता उनका अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ था। उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में चरक की टीका पूर्ण की, साथ ही अपने जीवन के चरम लक्ष्य की पूर्ति समझकर वे इस असार-संसार को छोड़कर सहसा चल बसे। तदनन्तर अध्यापन के समय उपदिष्ट (गुरूपदिष्ट) भावों का यथामति संकलन कर एवं **'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'**। कालिदास की इस सूक्ति के अनुसार चरक-संहिता के व्याख्याता भट्टार-हरिचन्द्र प्रभृति महामनीषियों द्वारा क्षुण्ण मार्ग का अनुसरण करते हुए पूज्य गुरुचरणों की इच्छा पूर्ति की दृष्टि से मैंने भी **'चरक-चन्द्रिका'** नामक हिन्दी टीका लिखने का दुष्कर प्रयास किया।

चन्द्रिका नाम की सार्थकता

१ श्रद्धेय बीज—गुरुजनों के अभिवादन में उनका चरण-स्पर्श करना शास्त्रसम्मत है। इसी पवित्र आशय से प्रेरित हो पूज्य गुरुजी के नाम के अन्तिम पद 'चन्द्र' को लेकर 'चन्द्रस्य इव चन्द्रिका', इस आशय से प्रस्तुत टीका का नामकरण **'चन्द्रिका'** किया गया है।

२. ऐतिहासिक हेतु—चरक के सर्वप्रथम यशस्वी व्याख्याकार श्री भट्टारहरिचन्द्र के नाम का अन्तिम पद भी 'चन्द्र' है। यह **'चन्द्रिका'** नाम रखने का दूसरा कारण है।

३. साहित्यिक कारण—जिस प्रकार चन्द्रमा की सुखद एवं नयनाभिराम चांदनी से सकल पदार्थ अनायास दृष्टिगोचर हो जाते हैं, उसी प्रकार इस **चन्द्रिका** टीका से चरकसंहिता के समस्त पदार्थ करामलकवत् प्रतीत हों, यह तीसरा कारण है **'चन्द्रिका'** पद प्रयोग का।

समर्पण

पूज्यपाद गुरुवर की दिवंगत आत्मा के तोष-पोषार्थं अपनी इस विविध वक्तव्य आदि से समृद्ध रचना **चरक-चन्द्रिका** को निवापाञ्जलि के रूप में उन्हीं को सादर समर्पित करते हुए मैं आज कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूँ।

आभार

मुझे आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अध्ययन, अध्यापन, लेखन, विषय-विवेचन आदि की दिशा को दिखाने का सम्पूर्ण श्रेय आत्रेयकल्प संप्रति स्वर्गीय गुरुवर्य **पण्डित लालचन्द्र जी वैद्य** को ही है, जिनसे मैंने पिता का प्रेम, गुरु का ज्ञान, अभिभावक का संरक्षण, पूज्य का प्रोत्साहन, आत्मीय का अवलम्बन, आचार्य का निर्देश तथा शास्त्रीय गुत्थियों का समाधान प्राप्त किया। जिनको मेरी सफलता पर मुझसे भी अधिक प्रसन्नता होती थी। काशी विद्वन्मण्डली के पूज्य, सारस्वत समाज के सम्माननीय, उन गुरुचरणों के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ जिनका मैं जन्म-जन्मान्तरों तक अधमर्ण हूँ।

खेद है कि आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्यरत्न **पण्डित शिवशर्मा** जी आज हम लोगों के बीच नहीं रहे। उन्होंने इसकी भूमिका लिखने का सहर्ष वचन दिया था, अतः उनका भी मैं आभारी हूँ।

भेड़वंश परम्परा के परवर्ती अप्रतिम प्रतिभावान् पीयूषपाणि, प्रकाशानन्द आयुर्वेदिक हास्पीटल, जुहू, बम्बई के जन्मदाता, बम्बई महानगरी के सुप्रतिष्ठित वैद्य तथा अनेक समृद्ध कुलों (बिड़ला, डालमिया, सोमानी आदि) में गृहचिकित्सक के रूप में चिरकाल से समादृत, श्रद्धेय आचार्य **वैद्य कन्हैयालाल जी भेड़ा** की प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद से ही आज मैं चरकसंहिता को **'चरक-चन्द्रिका'** टीका के साथ जोड़ने में सफल हो सका हूँ। इस अवसर पर आपका स्मरण कर मैं कृतार्थता का अनुभव कर रहा हूँ।

परममाहेश्वर महाकवि, न्यायपञ्चानन, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **पण्डित वसन्त त्र्यम्बक शेवडे** जी से मुझे चरकसंहिता सम्बन्धित व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने में कल्पनातीत सहायता प्राप्त हुई है, एतदर्थं पूज्यचरणों में नतमस्तक हो अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ।

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ कविता-कामिनी-कान्त, राष्ट्रपति पुरस्कार से अलंकृत, पूज्य गुरुवर **पण्डित बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते**, भू० पू० साहित्यविभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी, का मैं सदैव कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे अध्ययन काल में संस्कृत साहित्य का सदुपदेश प्रदान किया, जिससे प्रस्तुत संहिता के सम्पादन में मुझे साहाय्य प्राप्त हुआ है।

प्राच्य-पाश्चात्य उभयविध चिकित्सा क्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ श्रद्धेय **डॉ० गंगासहाय पाण्डेय** जी भू० पू० प्राध्यापक तथा चिकित्सक, आयुर्वेदीयविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी सहज कृपा से मेरी प्रस्तुत कृति को अपने वचनामृतों द्वारा चिरजीवन प्रदान किया।

इस प्रसंग में अपनी सह-धर्मिणी के चिरकालिक त्याग-तपस्या को भी भुलाया नहीं जासकता, जिन्होंने मेरे अभाव में (घर से काशी चले आने पर) समस्त घरेलू उलझनों को झेलते हुए मुझे लिखने-पढ़ने का अवसर प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप आज मैंने इस **चरकसंहिता** की टीका लिखने का दुःसाहस किया; उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ, मौन रहना भी तो **'स्वीकार लक्षण'** होता है।

प्रूफ-संशोधन, सूची-निर्माण आदि में सहयोग के लिये मेरे आत्मज **चि० मदन तथा जयकृष्ण त्रिपाठी, बी० ए०** को तथा लेखन के अवसर पर इधर-उधर से पुस्तकों को निकालकर देने-रखने

आदि के रूप में चि० **संजयकुमार** एवं **तरुणकुमार त्रिपाठी ने** जो तत्परता दिखलायी इसके लिये इन सभी की चिरायुष्मत्ता और अभ्युदय की कामना करता हूँ।

साधुवाद—चौखम्बा सुरभारती परिवार ने इस गुरुतर ग्रन्थ के प्रकाशन भार को सादर एवं सहर्ष स्वीकार किया है, एतदर्थ भगवान् से प्रार्थना है कि इनकी श्रीवृद्धि के साथ ही साथ स्वास्थ्य-समृद्धि भी हो।

अन्त में उन सभी विद्वानों तथा उनकी कृतियों का चिर ऋणी हूँ, जिनसे इस ग्रन्थ के टीका कार्य में कुछ भी सहायता प्राप्त हुई है। भूल होना मानव-स्वभाव-सुलभ विषय है, एतदर्थं यथासंभव सावधानी रखने के बाद भी यदि इसके लेखन, सम्पादन प्रूफ-संशोधन तथा छपाई आदि में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि रह गयी हो तो गुणैकपक्षपाती सहृदय सुधीजन मुझे अवश्य क्षमा करेंगे।

टीकाकार का निवेदन—

ब्रह्मानन्दकृतामेतां 'चन्द्रिकां' रसयन्त्वलम्।
चकोरा इव विद्वांसः सर्वदा शुद्धबुद्धयः॥

जगन्मंगल की भावना—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

निर्मत्सराणां सतां वशंवदः—
ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

प्रकाशकीय निवेदन

आयुर्विज्ञान के अध्येताओं के कर-कमलों में 'चरक-संहिता' के इस महनीय संस्करण को समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। आयुर्वेद के इतिहास में चरक-संहिता का परिगणन आकर-ग्रन्थों में होता है। वर्तमान समय में रोगों की बहुलता ने पाश्चात्य चिकित्सकों का ध्यान भारतीय चिकित्सा-पद्धति की ओर आकृष्ट कराया है। जिसके फलस्वरूप काय-चिकित्सा के क्षेत्र में मौलिक अनुसन्धान बड़ी संख्या में किये जा रहे हैं। कायचिकित्सा में चरक-संहिता का सर्वोपरि स्थान है। इस सम्बन्ध में समसामयिक तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने चरक-संहिता को ही उपजीव्य ग्रन्थ माना है। उसका प्रमुख कारण यह है कि चिकित्सा के सैद्धान्तिक पक्ष का चूड़ान्त निदर्शन चरक-संहिता में किया गया है। प्राचीन चिकित्सा सिद्धान्त के मानदण्ड को स्थापित करने में चरक-संहिता का योगदान सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

आवश्यकता इस बात की रही कि चरक-संहिता का अध्येता सरलता के साथ उसकी गहराई तक कैसे पहुँचे? इस उद्देश्य की पूर्ति में प्रस्तुत संस्करण के टीकाकार लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने पूरी सफलता प्राप्त की है। इसका प्रमुख कारण डॉ० त्रिपाठी की बहुज्ञता तथा प्रतिभा-पूर्ण वैदुष्य है। इस 'चन्द्रिका' के षोडश-कला-युक्त प्रकाश में डॉ० त्रिपाठी ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद को द्विगुणित समुद्भासित कर दिया है। प्रस्तुत टीका में व्याख्याकार ने स्पष्ट पद-व्याख्या देते हुए विस्तार से विशेष वक्तव्य द्वारा प्राचीन व्याख्याओं का सारतत्त्व लेकर तथा आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के साहित्य को सन्तुलित एवं संवर्धित कर विषय-वस्तु को आलोकित करने का सफल प्रयास किया है। इतना ही नहीं, प्रस्तुत टीका की उपादेयता इस कारण और भी बढ़ गयी है कि टीकाकार ने प्रायः समग्र उपलब्ध चिकित्सा-वाङ्मय का सम्यक् पर्यालोचन कर नव्य-पाश्चात्य चिकित्सा के तुलनात्मक परिचय के साथ आधुनिक शब्दावली को प्रस्तुत किया है।

टीकाकार के इस प्रयास की सफलता के सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य प्रणालियों के सफल चिकित्सक लब्धप्रतिष्ठ डॉ० गंगासहाय पाण्डेय ने व्याख्याकार की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने आशीर्वचन से अभिनन्दित किया है तथा प्रकाशक को आज के इस महर्घता के युग में प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रचार एवं प्रसार में सतत प्रयत्नशील रहने के लिये साधुवाद से अनुगृहीत किया है।

हमें दृढ़ विश्वास है कि 'चन्द्रिका' टीका एवं उसमें प्रतिपादित विशिष्ट विवेचन के अध्ययन द्वारा आज का व्यस्त जिज्ञासु अल्पकाल में ही चरक-संहिता का भावार्थ हृदयङ्गम अवश्य कर सकेगा।

हम अपने इष्टदेव श्रीगोकुलेश के चरणों में नमन करते हुए यही प्रार्थना करते हैं कि हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त संस्कृत-साहित्यरूपी धरोहर की सुरक्षा एवं उसकी श्रीवृद्धि में सर्वदा लगे रहने की शक्ति प्रदान करते रहें, तभी हम अपने लक्ष्य के उच्चतम सोपान पर आरूढ़ हो सकेंगे।

वाराणसी—
आश्विन-शुक्ला
विजया दशमी, वै० सं० २०४०

निवेदक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

विविध मान-तालिकाएँ

मनुसम्मत मान

८ त्रसरेणु	= १ लिक्षा
३ लिक्षा	= १ राई (राजसर्षप)
३ राई	= १ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	= १ यव (मध्यम)
३ मध्यम यव	= १ गुञ्जा (कृष्णल)
५ कृष्णल	= १ माषक (माशा)
१६ माषक	= १ सुवर्ण
४ सुवर्ण	= १ पल
१० पल	= १ धरण
२ कृष्णल	= १ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	= १ धरण (राजत)
१६ माषक (८० र०)	= १ ताम्रिककार्षापण
१० रौप्य धरण	= १ राजत शतमान
४ सुवर्ण	= १ रजतनिष्क

विष्णुसम्मत मान

८ त्रसरेणु	= १ लिक्षा
३ लिक्षा	= १ राई
३ राई	= १ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	= १ यव
३ यव	= १ गुञ्जा
५ गुञ्जा	= १ माषक
१२ माषक	= १ अक्षार्द्ध
१६ माषक	= १ सुवर्ण
४ सुवर्ण	= १ निष्क
२ गुञ्जा	= रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	= १ धरण
१६ माषक (८०र०)	= १ ताम्रिककर्ष

याज्ञवल्क्यसम्मत मान

८ त्रसरेणु	= १ लिक्षा
३ लिक्षा	= १ राजसर्षप (राई)
३ राजसर्षप	= १ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	= १ मध्यम यव
३ मध्यम यव	= १ कृष्णल (रत्ती)
५ कृष्णल	= १ माषक
१६ माषक	= १ सुवर्ण
४-५ सुवर्ण	= १ पल
२ कृष्णल	= रौप्यक माषक
१६ रौप्यमाषक	= १ धरण
१० धरण	= १ राजत शतमान
४ सुवर्ण	= १ निष्कपल

कौटिल्यसम्मत मान

१० धान्यमाष	= १ सुवर्णमाषक
५ रत्ती	= १ सुर्णमाषक
१६ सुवर्णमाषक	= १ सुवर्ण या कर्ष
४ कर्ष	= १ पल
८८ श्वेतसर्षप	= १ रूप्यमाषक
१६ रूप्यमाषक	= १ धरण
२० शैम्ब्य (सेम का बीज)	= १ धरण
२० चावल	= १ वज्र धरण

चरकसम्मत मान

६ वंशी	= १ मरीचि
६ मरीचि	= १ सर्षप (राई)
८ सर्षप	= १ तण्डुल
२ तण्डुल	= १ धान्यमाष
२ धान्यमाष	= १ यव
४ यव	= १ अण्डका (रत्ती)
४ अण्डका	= १ माषक
३ माषक	= १ शाणक
२ शाण	= १ द्रंक्षण
२ द्रंक्षण	= १ कर्ष
२ सुवर्ण (कर्ष)	= १ पलार्द्ध
२ पलार्द्ध	= १ पल
२ पल	= १ प्रसृत
२ प्रसृत	= १ कुडव
२ कुडव	= १ मानिका
४ कुडव	= १ प्रस्थ
४ प्रस्थ	= १ आढक
४ आढक	= १ द्रोण
२ द्रोण	= १ शूर्प
२ शूर्प	= १ गोणी
३२ शूर्प	= १ वाह
१०० पल	= १ तुला

सुश्रुतसम्मत मान

१२ मध्यमधान्यमाष	= १ सुवर्णमाषक
१६ सुवर्णमाषक	= १ सुवर्ण
१९ निष्पावमध्यम	= १ धरण
२½ धरण	= १ कर्ष
४ कर्ष	= १ पल
४ पल	= १ कुडव
४ कुडव	= १ प्रस्थ
४ प्रस्थ	= १ आढक
४ आढक	= १ द्रोण

१०० पल = १ तुला
२० तुला = १ भार

लीलावती-निर्दिष्ट मान

२ यव = १ गुञ्जा
३ गुञ्जा = १ वल्ल
८ वल्ल = १ धरण
२ धरण = १ गद्याणक
१० वल्ल = १ घटक
५ गुञ्जा = १ माषक
१६ माषक = १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल

मागधमान

३० परमाणु = १ त्रसरेणु, वंशी, ध्वंसी
६ त्रसरेणु = १ मरीचि
६ मरीचि = १ राई
३ राई = १ सर्षप (सरसों)
८ सर्षप = १ जौ
४ जौ = १ रत्ती, घुंघची
६ रत्ती = १ माशा, हेम, धान्यक
४ माशा = १ शाण, धरण, टंक
२ शाण = १ कोल, क्षुद्रक, बटक, द्रंक्षण
२ कोल = १ कर्ष, पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्पाणि, तिन्दुक, बिडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह, उदुम्बर (१ कर्ष=१ तोला)
२ कर्ष = अर्धपल, शुक्ति, अष्टमिका
२ अर्धपल = १ पल, मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी, बिल्व
२ पल = १ प्रसृति, प्रसृत
२ प्रसृत = १ अञ्जलि, कुडव, अर्धशरावक, अष्टमान
२ अञ्जलि = १ मानिका, शराव, अष्टपल
२ मानिका = १ प्रस्थ
४ प्रस्थ = १ आढक, भाजन, कंसपात्र
४ आढक = १ द्रोण, कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट, राशि
२ द्रोण = १ शूर्प, कुम्भ, चतुष्षष्टिशराव
२ शूर्प = १ द्रोणी, वाह, गोणी
४ द्रोणी = १ खारी (४०९६ पल)
२ हजार पल = १ भार
१०० पल = १ तुला

सूचना—माषक, टंक, अक्ष, बिल्व, कुडव, प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी और खारी ये उत्तरोत्तर चौगुने होते हैं।

कालिंगमान

१२ गौरसर्षप = १ जौ
२ जौ = १ रत्ती
३ रत्ती = १ बल्ल
८ रत्ती = १ माषा (कहीं ७ रत्ती=१ माषा)
४ माषा = १ शाण, निष्क, टंक
६ माषा = १ गद्याण
१० माषा = १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल
४ पल = १ कुडव

सूचना—प्रस्थ, आढक आदि का मान मागधमान के अनुसार ही समझने चाहिए।

भैषज्यरत्नावली में निर्दिष्ट मान

६ सर्षप = १ यव
३ यव = १ रत्ती, गुंजा (घुंघची)
१० रत्ती = १ माषक, हेम, धान्यक
४ माषक = १ शाण
२ शाण = १ कोल
२ कोल = १ कर्ष
२ कर्ष = १ शुक्ति
२ शुक्ति = १ पल
२ पल = १ प्रसृति, प्रसृत
२ प्रसृति = १ अञ्जलि, कुडव, अर्धशरावक
२ अञ्जलि = १ शराव, माणिका, अष्टपल
२ शराव = १ प्रस्थ
४ प्रस्थ = १ आढक
४ आढक = १ द्रोण
२ द्रोण = १ सूर्प
२ सूर्प = १ द्रोणी
४ द्रोणी = १ खारी (४०९६ पल)
२००० पल = १ भार
१०० पल = १ तुला

भारतीय मान

८ खशखश = १ चावल
८ चावल = १ रत्ती
८ रत्ती = १ माशा
१२ माशा = १ तोला
५ तोला = १ छटाँक
४ छटाँक = १ पाव
४ पाव = १ सेर
४० सेर = १ मन

चरकसंहिता-विषयानुक्रमणिका

सूत्रस्थान

विषय	पृष्ठ
(१) दीर्घंजीवितीयाध्याय	**१–४९**
टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्	१
आयुर्वेदावतरण	४
आयुर्वेदाध्ययन परम्परा	”
महर्षियों की हिमालय में उपस्थिति	५
सम्मिलित महर्षि	६
रोगोपशमन विषय में चर्चा	”
शाश्वत आयुर्वेद की परम्परायें	८
इन्द्र द्वारा भरद्वाज को उपदेश	९
त्रिसूत्र आयुर्वेद	१०
आत्रेय द्वारा आयुर्वेद का उपदेश	११
विविध तन्त्रों का निर्माण	१२
मुनियों द्वारा उक्त तन्त्रों का अनुमोदन	१३
उक्त तन्त्रों का सर्वत्र समादर	”
आयुर्वेद की परिभाषा	”
आयु के लक्षण तथा पर्याय	१४
उभय लोकहित साधक आयुर्वेद	”
सामान्य-विशेष की निरुक्ति	१५
सामान्य-विशेष परिचय	१६
मन, आत्मा, शरीर के आधारस्तम्भ	१७
आयुर्वेद का अधिकरण	”
सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय द्रव्यसंग्रह	१८
गुण-गणना	१९
कर्म का लक्षण	२०
समवाय का लक्षण	२१
द्रव्य का लक्षण	२२
गुण का लक्षण	२३
कर्म का लक्षण	२४
आयुर्वेद का प्रयोजन	२५
समस्त रोगों में त्रिविध हेतु	२६

विषय	पृष्ठ
रोगों का आश्रय	२६
आत्मा-परिचय	२७
दोष भेद (शारीर-मानस)	२८
शारीरिक और मानसिक रोगों का चिकित्सा-सूत्र	३१
वात का लक्षण	३२
पित्त का लक्षण	”
कफ का लक्षण	३३
सामान्य चिकित्सा-सूत्र	”
गुण-कर्म निर्देश	३४
रस का लक्षण	३५
रस भेद (Parts of Rasas)	”
रसों के कार्य	३६
द्रव्यों के भेद	”
उत्पत्ति-भेद से द्रव्य-भेद	३७
चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाले जांगम द्रव्य	”
पार्थिव औषध द्रव्य	”
पार्थिव द्रव्यों के अनन्तर औद्भिद् द्रव्यों का वर्णन	३८
औद्भिद् द्रव्यों के ग्राह्य अंग	”
द्रव्यों की परिगणना	३९
मूल प्रधान सोलह द्रव्यों की गणना	”
मूलिनी द्रव्य प्रयोग	४०
फल प्रधान द्रव्यों की गणना	”
फलिनी द्रव्यों के प्रयोग	”
चार प्रकार के महास्नेह	४१
पाँच नमकों के नाम तथा उनके सामान्य गुण-निर्देश	”
मूत्र संख्या तथा नाम	”
मूत्रों के सामान्य गुणों का निर्देश	४२
अलग-अलग मूत्रों के गुण	”
आठ प्रकार के दूध	४३
दूध के सामान्य गुणों का वर्णन	”
दुग्धों के गुण	४४

विषय	पृष्ठ
शोधनार्थ प्रयुक्त तीन वृक्ष	४४
शोधनोपयोगी तीन वृक्ष	”
उक्त वृक्षों की त्वचाओं का चिकित्सा में प्रयोग	४५
द्रव्य-गणना का उपसंहार	”
ओषधियों के ज्ञाता	”
नाम मात्र का परिचय पर्याप्त नहीं	४६
तत्ववेत्ता विषयक प्रश्न	”
उत्तम चिकित्सक के लक्षण	”
अज्ञात, ज्ञात औषध-सेवन का परिणाम	४७
उचित औषध-प्रयोग का महत्व	”
उचित प्रयोग का फल	”
मूर्ख वैद्य-निन्दा	”
मूर्ख वैद्य से सम्पर्क न करें	४८
छद्मवेशी वैद्य से सावधान	”
वैद्य आरोग्यदान के लिये प्रयत्न करे	”
औषध एवं चिकित्सक परिभाषा	”
चिकित्सा में सफलता, वैद्य का लक्षण	४९
उपसंहार	”
(२) अपामार्गतण्डुलीयाध्याय	**५०–६०**
पञ्चकर्मोपयोगी द्रव्य (Drugs used in Panchakarma)	५०
शिरोविरेचक द्रव्य	”
वमनकारक द्रव्य	५१
विरेचक द्रव्य	”
आस्थापनबस्ति के द्रव्य	५२
अनुवासनबस्ति के द्रव्य	”
स्नेहन-स्वेदन का निर्देश	”
युक्ति की उपयोगिता	५३
यवागू वर्णन (Medicated Gruels)	”
शूलनाशक यवागू	५४
पाचनी तथा ग्राहणी पेया	”
पित्तश्लेष्मातिसारनाशक पेया	”
रक्तातिसारनाशक पेया	५५
आमातिसारनाशक पेया	”
मूत्रकृच्छ्रनाशक पेया	”
कृमिनाशक यवागू	”
पिपासानाशक तथा विषनाशक यवागू	५६
बृंहणी यवागू	”
कर्शनीया यवागू	”
स्नेहनी यवागू	”
रूक्षणी यवागू	”

विषय	पृष्ठ
श्वास-कासनाशक यवागू	५७
पक्वाशयगत वातनाशक यवागू	”
रेचनी यवागू	”
सांग्राहिकी यवागू	”
भेदिनी यवागू	”
वातानुलोमनी यवागू	५८
घृतव्यापत्तिनाशिनी यवागू	”
तैलव्यापत्तिनाशिनी यवागू	”
विषमज्वरनाशिनी यवागू	”
कण्ठरोगनाशिनी यवागू	”
शुक्रवहस्रोतस् की शूलनाशिनी यवागू	”
वृष्या यवागू	”
मदरोगनाशिनी यवागू	५९
क्षुधारोगनाशिनी यवागू	”
उपसंहार	”
पुनः प्रयुक्त द्रव्य	”
(३) आरग्वधीयाध्याय	**६०–६७**
सिद्धचूर्ण तथा प्रदेह (Effective Powders & Unguents)	६०
कुष्ठादि लेप	६२
कुष्ठादि चूर्ण	”
मनःशिलादि लेप (प्रथम)	”
तुत्थादि लेप	”
रसाञ्जनादि लेप	६३
करञ्जादि लेप	”
हरिद्रादि लेप	”
मनःशिलादि लेप (द्वितीय)	”
आरग्वधादि लेप	६४
कोलादि लेप	”
वातव्याधिविनाशक लेप (प्रथम)	”
वातव्याधिविनाशक लेप (द्वितीय)	”
उदरशूलनाशक लेप	६५
वातव्याधिविनाशक लेप	”
वातरक्तहर लेप	”
वातरक्तपीड़ानाशक लेप	”
गोधूमादि लेप	”
शिरःशूलशामक लेप	६६
शिरःशूलनाशक प्रपौण्डरीकादि लेप	”
पार्श्वशूलनाशक रास्नादि लेप	”
दाहशान्तिकारक शैवालादि लेप	”
दाहशामक शीतादि लेप	”

विषय	पृष्ठ
शीतनाशक शैलेयादि लेप	६७
विषनाशक शिरीषादि लेप	”
त्वग्दोषादिहर शिरीषादि लेप	”
शरीरदुर्गन्धिहर पत्रादि प्रदेह	”
(४) षड्विरेचनशताश्रितीयाध्याय	**६८–१०१**
अध्यायारम्भ	६८
६०० वमन-विरेचन योग	६९
ओषधि अंग-निर्देश	”
पञ्च-कषाय योनियाँ	”
पञ्चकषाय-कल्पना	७०
स्वरस (Expressed Juice)	७१
कल्क (Paste)	”
शृत (Decoction)	”
शीत (Cold Infusion)	”
फाण्ट (Hot Infusion)	७२
कषायकल्पना का उपयोग	”
पचास महाकषाय एवं पाँच सौ कषाय	७३
जीवनीय (Nutrients) महाकषाय	७६
बृंहणीय महाकषाय	”
लेखनीय महाकषाय	७७
भेदनीय कषाय (Purgatives)	”
सन्धानीय महाकषाय	७८
दीपनीय महाकषाय	”
बल्य महाकषाय (Tonics)	७९
वर्ण्य महाकषाय	”
कण्ठ्य महाकषाय (Voice Promoters)	८०
हृद्य महाकषाय (Cardiac tonics)	”
तृप्तिघ्न महाकषाय (Appetizers)	”
अर्शोघ्न महाकषाय	८१
कुष्ठघ्न महाकषाय (Anti-Dermatosis)	८२
कण्डूघ्न महाकषाय (Anti-prurities)	”
कृमिघ्न महाकषाय	”
विषघ्न महाकषाय (Anti-dotes)	८३
स्तन्यजनन महाकषाय (Golactogogues)	८४
स्तन्यशोधन महाकषाय	”
शुक्रजनन महाकषाय (Spermo-Poietic)	”
शुक्रशोधन महाकषाय	८५
स्नेहोपग महाकषाय	८६
स्वेदोपग महाकषाय	”
वमनोपग महाकषाय	”

विषय	पृष्ठ
विरेचनोपग महाकषाय	८७
आस्थापनोपग महाकषाय	”
अनुवासनोपग महाकषाय	”
शिरोविरेचनोपग महाकषाय	”
छर्दिनिग्रहण महाकषाय (Anti-Emetics)	”
तृष्णानिग्रहण महाकषाय	८८
हिक्कानिग्रहण महाकषाय	”
पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय	”
पुरीषविरजनीय महाकषाय	८९
मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय	”
मूत्रविरजनीय महाकषाय	९०
मूत्रविरेचनीय महाकषाय (Diuretics)	”
कासहर महाकषाय	९१
श्वासहर महाकषाय	”
शोथहर महाकषाय	”
ज्वरहर महाकषाय (Anti Pyretics)	९२
श्रमहर महाकषाय	”
दाहप्रशमन महाकषाय	९३
शीतप्रशमन महाकषाय (Calefacients)	”
उदर्दप्रशमन महाकषाय	९४
अङ्गमर्दप्रशमन महाकषाय (Restoratives)	”
शूलप्रशमन महाकषाय (Analgesics)	”
शोणितस्थापन महाकषाय (Haemostatics)	९५
वेदनास्थापन महाकषाय (Anodynes)	९६
संज्ञास्थापन महाकषाय	९७
प्रजास्थापन महाकषाय (Procreants)	”
वयःस्थापन महाकषाय (Rejuvenators)	९८
उपसंहार	”
मध्यममार्ग से उपदेश	९९
समस्त कषायों के सम्बन्ध में प्रश्न	”
पुनरुक्त द्रव्यों का समाधान	१००
पाँच प्रकार की कषाय योनियाँ	१०१
(५) मात्राशितीयाध्याय	**१०२–१४३**
आहार सम्बन्धी विचार (Thoughts about Diet)	१०२
उचित आहार मात्रा	”
मात्रापेक्षी गुरु-लघु द्रव्य	१०४
आहार-द्रव्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण (Scientific explanation of diets)	”
आहार मात्रा अग्निबल की अपेक्षा करती है	१०५

विषय	पृष्ठ
मात्रानुसार आहार का लाभ	१०५
गुरु आहार द्रव्यों का प्रयोग	१०६
सेवन के अयोग्य आहार पदार्थ	”
निरन्तर सेवन का निषेध	१०७
प्रतिदिन प्रयोग करने योग्य आहार द्रव्य	”
सन्तुलित आहार (Balanced-Diet)	१०८
स्वस्थवृत्त-निरूपण (Personal Hygiene)	११४
अञ्जन (Eye-Salves)	११५
नेत्ररक्षा का उपाय	”
दिन में अञ्जन-प्रयोग-निषेध	११६
अञ्जन-प्रयोग का आलंकारिक वर्णन	”
धूमपान (Smoking)	११८
स्नैहिकी धूमवर्ति	१२०
शिरोवैरेचनिकी धूमवर्ति	”
धूमपान की फलश्रुति (Advantage of Smoking)	”
प्रायोगिक धूमपान का काल-निर्देश	१२१
धूमपानों का काल निर्णय	१२२
सम्यक् धूमपानों का लक्षण	”
धूमपान के उपद्रव (Complications of Smoking)	”
धूमपानजनित उपद्रवों की शान्ति के उपाय—(Management of Complications)	१२३
धूमपान के अयोग्य व्यक्ति (Contra-Indications)	”
नासिका से धूम न निकालें	१२४
नासिका से धूमपान विधि	१२५
धूमनेत्र परिमाण (Size of Cigarette)	”
धूमनेत्र द्वारा धूमपान की उपयोगिता	१२६
सम्यक् धूमपान के लक्षण (Symptoms of Proper Smoking)	”
अपीत धूमपान के लक्षण (Symptoms of Non Smoking)	१२७
अधिक धूमपान के लक्षण (Symptoms of Over Smoking)	”
नस्य सेवन से लाभ	”
अणुतैल-निर्माण-विधि	१२८
दन्तपवन (दातौन) का वर्णन	१३०
दातौन के लाभ	१३१
दातौन के लिए उत्तम वृक्ष	”

विषय	पृष्ठ
जिह्वा-निर्लेखन (Tongue-Scraper)	१३२
सुगन्धित द्रव्यों को मुख में धारण करना	१३२
तैलगण्डूष-धारण से लाभ	”
प्रतिदिन शिर पर स्नेह-धारण का विधान	१३३
कान में तेल डालना	१३४
स्नेहाभ्यंगमर्दन-उपाङ्ग	”
अभ्यंग का वैज्ञानिक आधार (Scientific basis of massage)	१३५
अभ्यंग से लाभ	”
पाद अभ्यंग से लाभ	१३६
शरीर-मार्जन (Wash with a sponge)	१३७
स्नान से लाभ	”
निर्मल वस्त्र-धारण	१३८
सुगन्धित द्रव्य तथा माला-धारण	”
रत्न-आभूषणों का धारण	”
पैरों तथा मल-मार्गों की शुद्धि से लाभ	१३९
क्षौर-कर्म से लाभ	”
जूता-खड़ाऊँ-धारण से लाभ	१४०
छाता-धारण से लाभ	”
दण्ड-धारण से लाभ	१४१
दैनिक कृत्यों के प्रति सावधान रहें	”
स्वस्थवृत्त का उपसंहार	१४२
अध्यायोक्त विषय संग्रह	”
(६) तस्याशितीयाध्याय	**१४३–१६२**
तस्याशितीय अध्याय की प्रस्तावना	१४३
आदान तथा विसर्गकाल से अनुसार छः ऋतुओं का विभाजन	१४४
विसर्गकाल का वर्णन	१४५
आदानकाल का वर्णन	”
षड् ऋतुओं में प्राकृतिक एवं शारीरिक स्थिति (Condition of Nature and body in Six Seasons)	१४६
आदानकाल का वर्णन	”
विसर्गकाल का वर्णन	”
हेमन्त ऋतुचर्या	१५०
हेमन्त ऋतु में वात का प्रकोप	”
हेमन्त ऋतु में आहार	१५१
हेमन्त ऋतु में विहार	”
हेमन्त ऋतु में त्याज्य आहार-विहार	१५२

विषय	पृष्ठ
शिशिर ऋतुचर्या (Regimen of dewy season)	१५२
शिशिर ऋतु में निषिद्ध आहार	१५३
वसन्त ऋतुचर्या (Regimen of spring season)	”
वसन्त ऋतु में निषिद्ध आहार-विहार	”
सेवनीय आहार-विहार	”
ग्रीष्म ऋतुचर्या (Regimen of summer season)	१५४
निषिद्ध आहार-विहार	”
ग्रीष्म ऋतु में विहार	१५५
वर्षा ऋतुचर्या (Regimen of rainy season)	१५६
निषिद्ध आहार-विहार	”
प्रशस्त आहार विहार	१५७
शरद् ऋतुचर्या (Regimen of beginning of autumn season)	१५८
प्रशस्त आहार-विहार	”
निषिद्ध आहार-विहार	१५९
हंसोदक परिचय	”
प्रशस्त विहार	१६०
ओक सात्म्य (Acquired Homologation)	१६१
सात्म्य वर्णन	१६२
उपसंहार	”
(७) नवेगान्धारणीयाध्याय	**१६३–१८९**
अधारणीय वेगों का वर्णन (Description of non-suppressible urges)	१६३
उक्त वेगों के धारण से रोगोत्पत्ति	”
मूत्र-निग्रह से होने वाले रोग	१६४
चिकित्सा	”
पुरीषवेगावरोधज रोग	”
चिकित्सा	१६५
शुक्रवेगावरोधज रोग	”
चिकित्सा	१६६
अपानवायु-वेगरोधज रोग	”
चिकित्सा	१६७
वमनवेगनिरोधज रोग	”
चिकित्सा	”
क्षवथुवेगनिरोधज रोग	”
चिकित्सा	१६८

विषय	पृष्ठ
उद्गारवेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	१६८
जृम्भावेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	१६९
क्षुधावेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	”
पिपासावेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	१७०
बाष्पवेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	”
निद्रावेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	१७१
श्रमज निःश्वासवेगरोधज रोग एवं चिकित्सा	१७२
वेगों को न रोकने की अपील	१७३
धारणीय वेगों का वर्णन (Description of Suppressible urges)	१७३
धारणीय मानसिक वेग	१७४
धारणीय वाचिक वेग	”
धारणीय शारीरिक वेग	”
उक्त वेगों के धारण से लाभ	”
व्यायाम (Exercise)	१७५
व्यायाम की परिभाषा	”
व्यायाम से लाभ	”
अधिक व्यायाम से हानि	१७६
व्यायाम के लक्षण	१७७
व्यायाम आदि के अधिक सेवन का निषेध	”
व्यायाम के अयोग्य मानव	१७८
हिताहित का सेवन एवं उसकी त्याग विधि	”
पादांशिक क्रम से लाभ	१८०
जन्म से शारीरिक प्रकृति का वर्णन (Description of constitution of body by birth)	”
स्वास्थ्यवर्धक विधि	१८१
रोग प्रतिरोधक प्रकरण (Preventive methods for diseases)	१८२
व्याधि हेतु विपरीत चिकित्सा	१८३
स्वस्थवृत्त सेवन का निर्देश	”
दोषनिर्हरण काल	”
पंचकर्म रसायन वाजीकरण प्रयोग	१८४
पंचकर्म रसायन वाजीकरण सेवन से लाभ	१८५
रोग प्रतिरोधक प्रकरण का उपसंहार	”
आगन्तुज एवं मानसिक रोगों के अन्तर्गत कारण (Aetiology of Endogenous and Mental Diseases)	”
आगन्तुज रोगों की अनुत्पत्ति के उपाय	१८६
आप्तोपदेश सेवन से लाभ	”

विषय	पृष्ठ
सहवास के अयोग्य पुरुष	१८६
सहवास के योग्य पुरुष	१८७
हित सेवन-निर्देश	,,
दधि-भक्षण विचार	,,
दधि-प्रिय के नियम	१८८
उपसंहार	१८९
(८) इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय	**१८९–२०६**
पञ्च-पञ्चक (Group of Five)	१८९
मन सम्बन्धी विचार	१९०
मन के एकत्व का विवेचन	,,
सत्वादि प्रकृति का निर्धारण	१९१
इन्द्रियों के विषय-ग्रहण की विधि	१९२
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Five Senses)	,,
पाँच इन्द्रियों के द्रव्य (Five Sense Materials)	,,
ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान (Five Sense Organs)	१९३
ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय (Five Sense Objects)	,,
पाँच इन्द्रिय बुद्धियाँ (Five Sense Perceptions)	१९४
अध्यात्म द्रव्यगुणसंग्रह	,,
इन्द्रियों की विषय-ग्रहण-क्षमता	१९५
अतियोग-योग-अयोग-मिथ्यायोग का परिणाम	१९६
मन के अतियोगादि का विचार	,,
मन सहित इन्द्रियों को स्वस्थ रखना चाहिये	,,
सद्वृत्त वर्णन (Description of Right Conducts–partly code of Pharmaceutical)	१९७
कुछ और सद्वृत्त वर्णन	१९९
सद्वृत्त के अनुसार भोजन विधि	२००
सद्वृत्त के अनुसार मल-त्याग-विधि	२०१
सद्वृत्त के अनुसार स्त्रियों के साथ व्यवहार	२०२
सद्वृत्त के अनुसार पूज्यजनों का समादर	,,
सद्वृत्त के अनुसार अध्ययन निषेध	२०३
व्यावहारिक क्षेत्र में सद्वृत्त	,,
मानसिक व्यवहार में सद्वृत्त	२०४
सामान्य कार्यक्षेत्र में सद्वृत्त	,,
सद्वृत्त में हवन-विधि	२०५
सद्वृत्त का उपसंहार	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२०६
अनुक्त सद्वृत्त सेवन की आज्ञा	,,
(९) खुड्डाकचतुष्पादाध्याय	**२०७–२१५**
चिकित्सा के चार चरण (Four basic factors of treatment)	२०७
विकृति तथा प्रकृति के लक्षण	२०८
चिकित्सा की परिभाषा	,,
चिकित्सक के गुण (Qualities of Physicians)	२०९
द्रव्यों के गुण (Qualities of Drugs)	,,
परिचारक के गुण (Qualities of Nursing Staffs)	२१०
रोगी के गुण (Qualities of Patient)	,,
चिकित्सक की प्रधानता	२११
प्रधानता के उदाहरण	,,
अन्य उदाहरण	,,
अन्तिम उदाहरण	,,
मूर्ख वैद्य से चिकित्सा का निषेध	२१२
मूर्ख वैद्य निन्दा	,,
प्राणाभिसर वैद्य	२१३
राजवैद्य की परिभाषा	,,
शस्त्रादि प्रयोग के लिये पात्र की आवश्यकता	,,
उत्तम चिकित्सक के गुण	२१४
अन्य गुण	,,
उक्त गुणों की फलश्रुति	,,
शास्त्र और बुद्धि से युक्त वैद्य	,,
चिकित्सक के कर्तव्य	,,
वैद्य की वृत्तियाँ	,,
उपसंहार	२१५
(१०) महाचतुष्पादाध्याय	**२१५–२२२**
चिकित्सा चतुष्पाद की उपयोगिता पर विवाद (Controversy about the utility of four limbs of treatment)	२१५
मैत्रेय का दृष्टिकोण (Views of Maitreya)	२१६
मैत्रेय की शंका के निराकरण में आत्रेय का दृष्टिकोण (Views of Atreya)	२१७
उक्त सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण	२१८
साध्यासाध्य विचार की फलश्रुति	,,
साध्य-असाध्य रोगों में भेद	२१९

विषय	पृष्ठ
व्याधिभेदों की पर्याय तालिका	२१९
सुखसाध्य रोगों के लक्षण	२२०
कृच्छ्रसाध्य रोगों के लक्षण	२२१
याप्य रोगों के लक्षण	,,
साध्य रोगों की चिकित्सा का विधान	२२२
साध्यासाध्यनिर्णय से लाभ	,,
उपसंहार	,,
(११) तिस्रैषणीयाध्याय	**२२३–२५२**
तीन एषणायें (Three Wishes)	२२३
प्राणैषणा (Wishes of Life)	२२४
धनैषणा (Wishes of Welth)	,,
परलोकैषणा (Wishes of the Next World)	२२५
पुनर्जन्म का सहेतुक समाधान	२२६
प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधक कारण	,,
आगम तथा माता-पिता को जन्म-कारण मानने-वालों की शंका का समाधान	२२७
प्रकारान्तर से समाधान	,,
स्वभाववादी का समाधान	२२८
परनिर्माणवादी की शंका का समाधान	२२९
यदृच्छावादी की शंका का समाधान	,,
सत्य-असत्य की परीक्षा का निर्देश	,,
चतुर्विध परीक्षा (Four fold Methods of test of Investigation)	२३०
आप्त परिचय	,,
प्रत्यक्ष का लक्षण	२३१
अनुमान का लक्षण	२३१
युक्ति प्रमाण का उदाहरण	२३२
युक्ति प्रमाण की परिभाषा	,,
चतुर्विध परीक्षा का उपसंहार	२३३
पुनर्जन्म की सिद्धि (Establishment of Rebirth theory)	,,
दूसरे प्रमाण	,,
अन्य महर्षियों का मत	२३४
प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि	,,
अनुमान प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि	२३५
युक्ति प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि	२३६
धर्म-साधन के उपाय	२३७
तीन-तीन दूसरे सात विषय (Seven other triads)	२३८
तीन उपस्तम्भ	२३८
त्रिविध बल	२४०
रोगों के त्रिविध कारण	२४१
स्पर्शनेन्द्रिय की व्यापकता	२४२
कर्म का लक्षण तथा अतियोगादि	,,
कर्म का मिथ्यायोग	२४३
प्रज्ञापराध की परिधि	,,
काल का लक्षण, उसके अतियोगादि	,,
रोग तथा निरोग के कारण	२४४
युक्ति की प्रधानता	,,
रोगों की त्रिविधता	,,
मानस रोग चिकित्सा	२४५
त्रिविध रोगमार्ग	२४६
शाखानुसारी रोग	२४७
मध्यममार्गानुसारी रोग	,,
कोष्ठानुसारी रोग	,,
भिषक् छद्मचर के लक्षण	,,
सिद्धसाधित वैद्य के लक्षण	२४७
वास्तविक वैद्य की परिभाषा	२४८
त्रिविध-औषध	,,
त्रिविध-औषध	२५०
अन्तःबहिःपरिमार्जन तथा शस्त्रप्रणिधान	,,
अन्य उदाहरण	२५१
(१२) वातकलाकलीयाध्याय	**२५२–२६१**
वातदोषविषयक तद्विद्य सम्भाषा-परिषद् (Symposium on Vata Dosha)	२५३
'किं गुणो वायुः' प्रश्न का उत्तर	,,
'किमस्य प्रकोपणम्' प्रश्न का उत्तर	,,
'उपशमनानि वास्य कानि' प्रश्न का उत्तर	२५४
'कथं चैनमसङ्घातवन्तमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा' प्रश्न का उत्तर	,,
'कानि चास्य कुपिताऽकुपितस्य शरीराऽशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि' प्रश्न का उत्तर	२५५
'कानि चास्य कुपितस्य शरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि' प्रश्न का उत्तर	२५६
'कानि चास्य अकुपितस्य अशरीरचरस्य बहिः-शरीरेषु चरतः कर्माणि' प्रश्न का उत्तर	२५७
'कानि चास्य कुपितस्य अशरीरचरस्य बहिः-शरीरेषु चरतः कर्माणि' प्रश्न का उत्तर	,,

विषय	पृष्ठ
वायु-वर्णन	२५८
वार्योविद का मत	२५९
पित्तदोषविषयक तद्विद्य सम्भाषा-परिषद् (Symposium on Pitta Dosha)	,,
कफदोषविषयक तद्विद्य सम्भाषा-परिषद् (Symposium on Kapha Dosha)	२६०
आत्रेय का त्रिदोष सम्बन्धी निर्णय (Conclusion of Atreya on Tri-Dosha)	,,
त्रिदोष-सिद्धान्त का समर्थन	२६१
(१३) स्नेहाध्याय	**२६२–२८५**
अग्निवेश का प्रश्न	२६२
स्नेहविषयक प्रश्न	,,
'किं योनयः' प्रश्न का उत्तर	२६३
स्थावर स्नेहों की योनियाँ	,,
जंगम स्नेहों की योनियाँ	,,
तिल तथा एरण्ड तैल की विशेषता	२६४
'कति स्नेहाः' प्रश्न का उत्तर	,,
'के च स्नेहगुणाः पृथक्' प्रश्न का उत्तर	,,
तैल के सामान्य गुण	२६५
वसा के गुणों का वर्णन	,,
मज्जा के गुणों का वर्णन	,,
'कालानुपाने के कस्य' इन प्रश्नों का उत्तर	,,
स्नेह-पान में काल-निर्देश	२६६
विपरीत समय में स्नेहपान से हानि	,,
किस स्नेहपान का क्या अनुपान है, ५वें प्रश्न का उत्तर	,,
'कति काश्च विचारणाः' स्नेह की विचारणायें कितने प्रकार की होती हैं, प्रश्न का उत्तर	२६८
अच्छपेय की विशेषता	२७०
स्नेह की ६४ प्रविचारणायें	,,
स्नेह की मात्रा तथा प्रमाण क्या है ?	,,
स्नेह की कौन सी मात्रा किनके सम्बन्ध में कही गयी है, इस प्रश्न का उत्तर	२७१
स्नेह की प्रधान मात्रा के सेवन योग्य रोगी एवं रोग	,,
प्रधान मात्रा सेवन के लाभों को सुनिये	,,
मध्यम मात्रा सेवन योग्य रोग एवं रोगी	,,
मध्यम स्नेह मात्रा के लाभ	,,
स्नेह की ह्रस्व मात्रा के योग्य रोग तथा रोगी	२७२
ह्रस्व स्नेह मात्रा के लाभ	,,

विषय	पृष्ठ
उक्त चार प्रकार के स्नेहों में कौन किसके लिये लाभदायक हैं ?	२७२
तैल-पान निर्देश	२७३
वसा-पान के योग्य रोग तथा रोगी	,,
मज्जा सेवन निर्देश	२७३
स्नेहन का प्रकर्षकाल कौन-सा है ?	२७४
कौन से पुरुष स्नेहन के योग्य होते हैं ?	,,
किन पुरुषों को स्नेहन नहीं कराना चाहिये ?	२७५
भलीभाँति स्नेहन हो जाने पर क्या लक्षण होते हैं ?	,,
अस्निग्ध पुरुष के क्या लक्षण हैं ?	२७६
अतिस्निग्ध के क्या लक्षण होते हैं ?	,,
स्नेहपान के पहिले क्या हित है और क्या अहित है ?	,,
संशमन स्नेहपान का काल	,,
संशोधन स्नेहपान का काल	,,
स्नेहपान करने के बाद और उसके पचने पर क्या हित है और क्या अहित है ?	२७७
मृदु तथा क्रूरकोष्ठ के व्यक्ति कौन होते हैं ?	,,
मृदुकोष्ठ का परिचय	२७८
क्रूरकोष्ठ का परिचय	,,
मृदु-कोष्ठ पुरुष के विरेचन में सरलता	,,
स्नेह का यथाविधि सेवन न करने से कौन से उपद्रव होते हैं ?	२७९
स्नेहाजीर्ण तथा तृष्णा (प्यास) की चिकित्साविधि	,,
आमदोष युक्त पित्त में घृतपान का निषेध	२८०
स्नेहव्यापदों का वर्णन	,,
स्नेहव्यापदों की चिकित्सा क्या है ?	२८१
स्नेहजनित रोगों के होने में कारण	,,
संशोधनार्थ जो अच्छस्नेहपान किया जाता है उसकी क्या विधि है ?	,,
वमनार्थ स्नेहपान	,,
संशमन स्नेहपान की विधि	,,
उक्त विचारणाओं का किनमें किस विधि से प्रयोग करना चाहिए	२८२
स्नेहन क्रिया में मांसरसादि का प्रयोग	,,
पाञ्चप्रसृतिकी पेया-निर्माण-विधि	२८३
रोग विशेष के अनुसार स्नेहन द्रव्यों का निषेध	,,
कुष्ठ आदि रोगों में स्नेहन का प्रकार	,,
अविधि स्नेहपानजनित दोषों का वर्णन	२८४
स्नेहन-स्वेदन आदि का क्रम	२८५
इस अध्याय में आये हुए विषयों का उपसंहार	,,

विषय	पृष्ठ
(१४) स्वेदाध्याय	**२८५–३०५**
स्वेदों का वर्णन	२८६
स्नेहन के बाद स्वेदन से लाभ	,,
स्वेदन क्रिया की प्रशंसा	,,
रोगी की शरीरस्थिति के अनुसार स्वेद के भेद	२८७
स्वेदों के तीन भेद	,,
स्थानभेद से स्वेदविधि भेद	,,
स्थानभेद से स्वेद कल्पना	,,
स्वेदनकाल में नेत्र-सुरक्षा के उपाय	२८८
स्वेदनकाल में हृदय-सुरक्षा के उपाय	,,
भलीभाँति स्वेदन हो जाने के लक्षण	,,
अतिस्वेदन के लक्षण	२८९
स्वे न के अधिक हो जाने पर चिकित्सा	,,
स्वेदन के अयोग्य रोगी एवं रोग	२९०
स्वेदन के योग्य रोग एवं रोगी	२९१
पिण्ड स्वेदोपयोगी द्रव्य	,,
प्रस्तरस्वेद	२९२
स्थानभेद से स्वेदन	,,
नाड़ी स्वेदोपयोगी द्रव्य	,,
अवगाह स्वेदोपयोगी द्रव्य	२९३
उपनाह स्वेदोपयोगी द्रव्य	,,
उपनाह को बाँधने का प्रकार	२९४
उपनाह-बंधन खोलने का निर्देश	,,
स्वेदन के तेरह प्रकार (Thirteen methods of Sudation)	२९५
संकरस्वेद-विधि (Mixed fomentation)	,,
प्रस्तरस्वेद-विधि (Hot bed Sudation)	,,
नाड़ीस्वेद-विधि (Steam Kettle Sudation)	२९६
परिषेकस्वेद-विधि (Affusion Sudation)	२९७
अवगाहस्वेद-विधि (Bath Sudation)	,,
जेन्ताकस्वेद-विधि (A dry hot Sudation or a heated chamber for inducing perapiration)	२९८
अश्मघनस्वेद-विधि (Stone Bed Sudation)	३००
कर्षूस्वेद-विधि (Trench Sudation)	,,
कुटीस्वेद-विधि (Cabin Sudation)	३०१
भूस्वेद-विधि (Ground Bed Sudation)	३०२
कुम्भीस्वेद-विधि (Pitcher Sudation)	,,
कूपस्वेद-विधि (Pit Sudation)	,,
होलाकस्वेद-विधि (Under bed Sudation)	३०३

विषय	पृष्ठ
दस निरग्निस्वेद (Ten non-thermal Sudation)	३०३
स्वेदों का उपसंहारात्मक परिगणन	३०४
स्वेदनों का वर्गीकरण (Classification of Sudations)	,,
स्वेदनकाल में अपथ्य	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३०५
(१५) उपकल्पनीयाध्याय	**३०५–३२१**
सम्भार द्रव्यों की उपकल्पना (Collection of equipments)	३०६
अग्निवेश का प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	३०७
चिकित्सोपयोगी सामग्री	३०८
संशोधन की प्रक्रिया (Purifactory Measures)	३११
वमन-कर्म (Emesis)	,,
मदनफल-कषाय की मात्रा	३१२
वमनविधि	,,
अयोग के लक्षण	३१४
सम्यक् योग के लक्षण	,,
अतियोग के लक्षण	३१५
वमन के उपद्रव	,,
सम्यग् वमन के पश्चात् धूमपान विधि	३१६
धूमपान कराने के पश्चात् की विधि	,,
पथ्य-विधि (Dietetic Regimen)	३१७
विरेचन-विधि (Purgation)	३१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३२१
(१६) चिकित्साप्राभृतीयाध्याय	**३२१–३३२**
चिकित्साप्राभृत (Fully Equipped Physician)	३२१
भलीभाँति विरिक्त पुरुष के लक्षण	३२२
अविरिक्त के लक्षण	,,
विरेचन के अतियोग के लक्षण	,,
वमन के अतियोग के लक्षण	३२३
चिकित्साप्राभृत की प्रशंसा	,,
संशोधन योग्य पुरुष के लक्षण	,,
संशोधन-क्रिया से लाभ	,,
अन्य चिकित्साओं से संशोधन चिकित्सा की विशेषता	३२४
संशोधन चिकित्सा पर दृष्टान्त	,,

विषय	पृष्ठ
संशोधनोपचार से कृशों का बृंहण	३२७
संशोधन के अतियोग की चिकित्सा	३२८
अयोग की चिकित्सा	,,
स्नेहन आदि उपद्रवों की चिकित्सा	,,
स्वभावोपरमवाद (Theory of Natural Destruction)	,,
स्वभावोपरमवाद पर अन्य आचार्यों का मत	३२९
भगवान् आत्रेय के ऐसा कहने पर महर्षि अग्निवेश ने पूछा	,,
आत्रेय का उत्तर	३३०
चिकित्सा की परिभाषा और चिकित्सकों का कार्य क्षेत्र	३३१
चिकित्सा का उद्देश्य	,,
धातुसाम्य की युक्ति	,,
चिकित्साप्राभृत वैद्य का महत्व	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३३२
(१७) कियन्तःशिरसीयाध्याय	**३३२–३६५**
अग्निवेश के प्रश्न	३३३
आत्रेय का उत्तर	,,
प्रारम्भ में सूत्र रूप में उत्तर	,,
शिरोरोग (Diseases of the Head)	,,
शिर का परिचय	३३५
शिर के रोगों का परिचय	,,
पाँच प्रकार के शिरोरोगों की प्रस्तावना	३३६
वातज शिरोरोगों का निदान	,,
वातज शिरोरोग के लक्षण	,,
पित्तज शिरोरोग का निदान	३३७
पित्तज शिरोरोग के लक्षण	,,
कफज शिरोरोग का निदान	,,
कफज शिरोरोग के लक्षण	,,
सन्निपातज शिरोरोग के लक्षण	३३८
क्रिमिजनित शिरोरोग का निदान	,,
क्रिमिजनित शिरोरोग के लक्षण	,,
वातज हृद्रोग (Cardiac Diseases) का निदान	३३९
वातज हृदयरोग के लक्षण	,,
पित्तज हृद्रोग का निदान	,,
पित्तज हृद्रोग के लक्षण	३४०
कफज हृद्रोग का निदान	,,
कफज हृद्रोग के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
त्रिदोषज हृद्रोग का निदान-लक्षण	३४०
क्रिमिज हृद्रोग का निदान	,,
क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण	३४१
तेरह प्रकार के सन्निपात	३४२
क्षीण हुए दोषों के कारण व्याधियों के २५ भेद	३४३
वृद्धि तथा क्षय के प्रभाव से बारह भेद	३४५
एक साथ सम, क्षीण, वृद्धदोष-विकल्पों के लक्षण	३४६
सम, क्षीण, अधिक दोषविकल्पजनित लक्षण	,,
क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण	३४७
सम, क्षीण, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण	,,
क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण	,,
क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण	,,
वात क्षीण और कफ-पित्त के लक्षण	३४८
पित्त क्षीण और कफ-वायु वृद्ध के लक्षण	,,
कफ-क्षीण और वायु पित्त वृद्ध के लक्षण	,,
वातपित्त का क्षय तथा कफ-वृद्ध के लक्षण	३४९
वात-कफ का क्षय तथा पित्त वृद्ध के लक्षण	,,
पित्त-कफ का क्षय तथा वात-वृद्ध के लक्षण	,,
दोषों के क्षय, वृद्धि, सम को जानने की विधि	,,
क्षय के १८ भेद (Eighteen varieties of Kshaya)	३५०
रस-क्षय के लक्षण	,,
रक्त-क्षय के लक्षण	,,
मांस-क्षय के लक्षण	,,
मेद क्षय के लक्षण	,,
अस्थि-क्षय के लक्षण	३५१
मज्जा-क्षय के लक्षण	,,
शुक्र-क्षय के लक्षण	,,
पुरीष-क्षय के लक्षण	,,
मूत्र-क्षय के लक्षण	३५२
नाक, कान, आँख, मुख एवं रोमकूपों के मलों के क्षय के लक्षण	,,
ओजःक्षय के लक्षण	,,
ओजस् का लक्षण	३५३
शरीर में ओज की उत्पत्ति का स्वरूप	,,
क्षयों के कारण	३५४
मधुमेह का निदान (Diagnosis of Diabetes) एवं सम्प्राप्ति	३५५
सात पिडकायें (Seven Inflammatory Swellings)	,,

विषय	पृष्ठ
शराविका का लक्षण	३५६
कच्छपिका का लक्षण	,,
जालिनी का लक्षण	३५७
सर्षपी का लक्षण	,,
अलजी का लक्षण	,,
विनता का लक्षण	,,
विद्रधि के भेद	,,
अन्तर्विद्रधि-निदान एवं सम्प्राप्ति	३५८
विद्रधि की परिभाषा	,,
वातज तथा पित्तज अन्तर्विद्रधि के लक्षण	,,
कफज अन्तर्विद्रधि के लक्षण	३५९
पच्यमान विद्रधि के लक्षण	,,
स्राव के आधार पर दोष-निर्णय	,,
कफज विद्रधि में	३५९
अन्तर्विद्रधियों का निदान (Differential Diagnosis of Internal Abscess)	३६०
अन्तर्विद्रधियों के स्रावमार्ग	३६१
मृत्युकारक तथा शीघ्र शान्त करने योग्य विद्रधियाँ	,,
अतिरिक्त पिडकायें	३६२
असह्य पिडकायें	,,
साध्य पिडकायें	,,
असाध्य पिडकायें	,,
कुछ अन्य पिडकायें	३६३
पिडकाओं के उपद्रव	,,
दोषों की त्रिविध गति (Three Pathways of Doshas)	,,
दोषों की ऋतुओं के अनुसार गतियाँ	३६४
दोषों की दो गतियाँ	,,
पित्त की गतियाँ	३६५
कफ की गतियाँ	,,
वात की गतियाँ	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	
(१८) त्रिशोथीयाध्याय	**३६६–३८०**
निज (अन्तर्जात) आगन्तुज-शोथ (Endogenous & Exogenous Oedemas)	३६६
आगन्तुज शोथ के कारण (Causes of Exogenous Oedemas)	,,
आगन्तुज शोथ की सम्प्राप्ति तथा उपशय	,,
निजशोथ के कारण (Causes of Endogenous Oedemas)	३६७

विषय	पृष्ठ
वातज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	३६८
पित्तज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति एवं लक्षण	,,
कफज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	३६९
द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक शोथों के निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	,,
शोथ के अनेक स्वरूप	,,
वातज शोथ के लक्षण	३७०
पित्तज शोथ के लक्षण	,,
कफज शोथ के लक्षण	३७१
द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक शोथ	,,
शोथ की कष्टसाध्यता, असाध्यता	,,
शोथ के उपद्रव	,,
देशीय-शोथ (Local Swellings) उपजिह्विका	३७२
गलशुण्डी	,,
गलगण्ड	३७३
गलग्रह	,,
विसर्प	,,
पिडका	,,
तिलक, पिप्लु, व्यङ्ग्य, नीलिका	३७४
शंखक	,,
कर्णमूलिक शोथ	,,
प्लीहावृद्धि	,,
गुल्म	३७५
वृद्धिरोग	,,
उदररोग	,,
आनाह	,,
उत्सेध सामान्य रोग	३७६
रोहिणी	,,
रोगों की साध्यासाध्यता	,,
असाध्य-याप्य रोग	,,
रोगों की विविधता	३७७
सभी रोगों का नाम-निर्धारण असम्भव	३७८
दोषों के परिचय की आवश्यकता	,,
प्राकृत वायु के कार्य	,,
प्राकृत पित्त के कार्य	३७९
प्राकृत कफ के कार्य	,,
संक्षेप में क्षीण दोषों के लक्षण	,,
संक्षेप में दोषवृद्धि के लक्षण	३८०
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	,,

विषय	पृष्ठ
(१९) अष्टोदरीयाध्याय	**३८०–३८६**
सामान्य ४८ व्याधियाँ (48 General Diseases)	३८१
आठ भेद वाले रोग	,,
सात भेद वाले रोग	३८२
छः भेद वाले रोग	,,
पाँच भेद वाले रोग	,,
चार भेद वाले रोग	३८३
तीन भेद वाले रोग	,,
दो भेद वाले रोग	,,
एक भेद वाले रोग	३८४
बीस भेद वाले रोग	,,
त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना	३८५
निज तथा आगन्तुज व्याधियाँ	३८६
निज तथा आगन्तुज व्याधियों का सम्बन्ध	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	,,
(२०) महारोगाध्याय	**३८७–३९७**
चार प्रकार के रोग	३८७
आगन्तुज तथा निज रोगों के कारण	,,
आगन्तुज और निज रोगों के प्रेरक होते हैं	३८८
रोग भेदों का परस्पर सम्बन्ध	,,
आगन्तुज तथा निज के लक्षण भेद	,,
तीन दोषों के शरीर में स्थान	,,
दोषों की विभिन्न स्थितियाँ	३८९
रोगों के सामान्यज और नानात्मज स्वरूप	,,
वातजविकार	३९०
वात के रूप एवं कर्म	३९२
वातविकार की सामान्य चिकित्सा	,,
चालीस पित्त विकार	३९३
पित्त के रूप एवं कर्म	३९४
पित्त-विकारों की सामान्य चिकित्सा	,,
बीस कफज विकार	३९५
कफ के रूप एवं कर्म	,,
कफ विकार की सामान्य चिकित्सा	३९६
चिकित्सा का क्रम	,,
चिकित्सा में अकस्मात् सफलता	३९७
निःसन्देह सफल चिकित्सक	,,
उपसंहार	,,
(२१) अष्टौनिन्दितीयाध्याय	**३९७–४११**
निन्दनीय पुरुष (Censurable Persons)	३९८

विषय	पृष्ठ
अतिस्थूल पुरुष (Obese Persons)	३९९
अतिस्थूल पुरुष के दोष, कारण तथा स्वरूप	४०१
अतिकृश पुरुष (Emaciated Persons)	,,
अतिकृशता के दोष	४०२
अतिकृश के लक्षण	,,
अतिस्थूल, अतिकृश के चिकित्सा-सिद्धान्त	,,
उक्त दोनों में कौन अच्छा	,,
प्रशंसनीय पुरुष	४०३
स्वस्थ पुरुष के कुछ और लक्षण	,,
स्थूल तथा कृश पुरुषों के चिकित्सा-सूत्र	४०४
अतिस्थूलता (मेदोरोग) की चिकित्सा	,,
पथ्य आहार	४०५
पथ्य एवं विहार	,,
अतिकृशता की चिकित्सा	,,
कृश को स्वस्थ करने में निद्रा आदि का महत्व	,,
मनुष्य कब सोता है	४०६
निद्रा से लाभ	४०७
निद्रा का सम्यक् योग करना चाहिये	,,
निद्रा के सम्यक् प्रयोग से लाभ	,,
दिन में सोने के अधिकारी पुरुष	,,
दिन में निद्रा से लाभ	,,
ग्रीष्मऋतु में दिन में शयन का वर्णन	४०८
दिवा-शयन का निषेध	,,
दिवा-शयन के अयोग्य रोगी	,,
दूषीविष का परिचय	,,
दिन में सोने से हानियाँ	,,
जागरण तथा निद्रा का प्रभाव	४०९
जीवन में निद्रा का महत्व	,,
अनिद्रा (Insomnia) चिकित्सा	,,
अतिनिद्रानाशक उपाय	४१०
निद्रानाश के हेतु	,,
निद्रा के भेद	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	४११
(२२) लङ्घनबृंहणीयाध्याय	**४१२–४२१**
चिकित्सा के छः प्रकार	४१२
अग्निवेश के प्रश्न	,,
लंघन आदि की परिभाषा	४१३
लंघनकारक द्रव्य	,,
बृंहणकारक द्रव्य	,,
रूक्षणकारक द्रव्य	,,

विषय	पृष्ठ
स्नेहनकारक द्रव्य	४१४
स्वेदनकारक द्रव्य	,,
स्तम्भनकारक द्रव्य	,,
लंघन के भेद	४१५
शोधन-विधियों से लंघन के योग्य रोगी	,,
पाचन द्रव्यों द्वारा लंघनीय पुरुष	,,
अल्पबल रोगों की चिकित्सा	४१६
बलवान् पुरुषों के रोगों की चिकित्सा	,,
लंघन का काल	,,
बृंहण द्रव्य	४१७
बृंहण के योग्य पुरुष	,,
मांसरस से बृंहणीय पुरुष	,,
सामान्य बृंहण द्रव्य	,,
रूक्षताकारक द्रव्य	,,
रूक्षणीय रोग	४१८
प्रतिज्ञा निर्वाह	,,
स्तम्भन द्रव्य	,,
स्तम्भनीय पुरुष	,,
लंघन के सम्यक् योग के लक्षण	,,
अतिलंघन के लक्षण	४१९
बृंहण के समयोग तथा अतियोग के लक्षण	,,
लंघित तथा रूक्षित के लक्षणों की समानता	,,
स्तम्भन का अतियोग	,,
लंघन आदि के अयोग के लक्षण	४२०
छः प्रकार की चिकित्सा	,,
उपसंहार	४२१
(२३) सन्तर्पणीयाध्याय	**४२१–४२७**
सन्तर्पण से होने वाले रोगों में कारण	४२१
सन्तर्पणजनित व्याधियाँ	४२२
उक्त रोगों की सामान्य चिकित्सा	,,
त्रिफलादि क्वाथ	,,
मुस्तकादि क्वाथ	४२३
कुष्ठादि चूर्ण	,,
प्रमेह आदि की चिकित्सा	,,
त्र्यूषणादिमन्थ	,,
व्योषाद्य-सक्तु	४२४
सन्तर्पणजनित रोगों में आहार-विहार	,,
अपतर्पण-वर्णन	,,
अपतर्पणजनित रोग	४२५
सन्तर्पण के भेद	,,

विषय	पृष्ठ
अभ्यासतर्पण निर्देश	४२५
चिर दुर्बलों की चिकित्सा	४२६
तर्पण मन्थ-प्रयोग	,,
अनुलोमक तर्पण	,,
उपसंहार	४२७
(२४) विधिशोणितीयाध्याय	**४२७–४४१**
रक्त शुद्धि का उपक्रम	४२७
शुद्ध रक्त का महत्व	४२९
रक्त दूषित होने के कारण	४३०
रक्तजनित रोग	४३१
रक्तज रोगों का निर्णय	,,
रक्तज रोगों की विशिष्ट चिकित्सा	,,
रक्तमोक्षण में रक्त का प्रमाण	४३२
वातादि दोषों से दुष्ट रक्त का स्वरूप	,,
शुद्ध रक्त का स्वरूप	४३३
रक्तस्रावण के बाद पथ्य	,,
शुद्ध रक्त वाले पुरुषों के लक्षण	४३४
मद-मूर्च्छा-सन्यास की सम्प्राप्ति	,,
मद रोग की सामान्य सम्प्राप्ति	४३५
वातज मदरोग के लक्षण	,,
पित्तज मदरोग के लक्षण	,,
कफज मदरोग के लक्षण	४३६
सन्निपातज मदरोग के लक्षण	,,
दूसरे मदरोग	,,
वातज मूर्च्छा रोग के लक्षण	,,
पित्तज मूर्च्छा रोग के लक्षण	,,
कफज मूर्च्छा रोग के लक्षण	४३७
सन्निपातज मूर्च्छा रोग के लक्षण	,,
मद-मूर्च्छा में सन्यास रोग की विशेषता	,,
सन्यासरोग की सम्प्राप्ति	४३८
सन्यासरोग की चिकित्सा में सावधानी	,,
सन्यासरोग में शीघ्र प्रभावकारी चिकित्सा (Emergency Treatment)	४३८
अन्य उपाय	४३९
अन्य उपाय	,,
मद-मूर्च्छा में पञ्चकर्म चिकित्सा	४४०
अन्य औषधोपचार	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४४१
(२५) यज्जःपुरुषीयाध्याय	**४४१–४६४**
पुरुषोत्पत्ति एवम् उसके रोगोत्पत्ति सम्बन्धी	

विषय	पृष्ठ
सम्भाषा परिषद् (Symposium on Origin of Man and his Disease)	४४१
सम्भाषा-परिषद् का लक्ष्य	,,
काशिपति वामक का प्रश्न	४४२
मौद्गल्य पारीक्षि का मत	४४३
शरलोमा का मत	,,
वार्योविद् का मत	,,
हिरण्याक्ष का मत	,,
कौशिक का मत	,,
भद्रकाप्य का मत	४४५
भद्रकाप्य के मत का प्रतिवाद करते हुए भारद्वाज ने कहा	,,
भरद्वाज के मत का प्रतिपाद करते हुए कांकायन ने कहा	४४६
कांकायन के मत का खंडन करते हुए भिक्षुरात्रेय ने कहा	,,
पुनर्वसु का महर्षियों से अपने-अपने मत का दुराग्रह छोड़कर तत्वचिन्ता के प्रति आग्रह	४४७
पुनर्वसु का समन्वयात्मक दृष्टिकोण	४४८
पुरुष और रोगों की वृद्धि में कारण (Factors for the Growth of Man and Diseases)	,,
काशिपति वामक का दूसरा प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	,,
अग्निवेश का प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	४४९
अग्निवेश सूत्ररूप में उपदिष्ट हित-अहित आहार की व्याख्या चाहते हैं	,,
आत्रेय का उत्तर	४५०
आहार के भेद	,,
आहार के दो प्रधान भेद	४५१
प्रकृति से ही हितकर आहार	,,
प्रकृति से अहितकर आहार	४५२
हितकर तथा अहितकर औषध-द्रव्यों के प्रधान कर्मों का वर्णन	४५५
अग्रय द्रव्यों का योग	४६०
पथ्य-अपथ्य की परिभाषा	४६१
आसव द्रव्यों का निर्दिष्ट-लक्षण	,,
अग्निवेश की आसवसम्बन्धी जिज्ञासा	,,
आसव योनियाँ	४६२

विषय	पृष्ठ
चौरासी आसव (Eighty four Fermentative Products)	४६२
आसव शब्द की निरुक्ति	४६३
आसवों के गुण	४६४
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	,,
(२६) आत्रेयभद्रकाप्यीयाध्याय	**४६४-५००**
रस एवं आहार सम्बन्धी सम्भाषा-परिषद् (Symposium on Rasas and taking Food)	४६४
सम्भाषा-परिषद् में सम्मिलित सदस्य	,,
भद्रकाप्य का मत	४६५
शाकुन्तेय का मत	,,
मौद्गल्य पूर्णाक्ष का मत	,,
कौशिक हिरण्याक्ष का मत	,,
कुमारशिरा भरद्वाज का मत	,,
वार्योविद का मत	४६६
निमि का मत	,,
वडिश धामार्गव का मत	,,
कांकायन का मत	,,
पुनर्वसु का समीक्षात्मक निष्कर्ष	,,
एकरस मत का प्रतिवाद	,,
दूसरे तथा तीसरे मतों का प्रतिवाद	४६७
चौथे मत का प्रतिवाद	,,
पाँचवें मत का प्रतिवाद	,,
छठे मत का प्रतिवाद	४६८
सातवें मत का प्रतिवाद	,,
आठवें मत का प्रतिवाद	,,
नवें मत का प्रतिवाद	४६९
द्रव्य प्रकरण (Topic of Dravyas)	४७०
द्रव्य-विवेचन	,,
पार्थिव द्रव्य	,,
जलीय (आप्य) द्रव्य	,,
आग्नेय द्रव्य	,,
वायव्य द्रव्य	४७१
आकाशीय द्रव्य	,,
द्रव्यों की कर्मठता का स्वरूप	४७२
रसानुसार द्रव्यों के ६३ भेद (Sixty three Varieties of Dravyas according to Rasas)	४७३
द्रव्यों के भेद	,,

विषय	पृष्ठ
दो रसों के योग से १५ स्वादु द्रव्य	४७३
तीन रसों के योग से २० द्रव्य	,,
चार रसों के योग से १५ द्रव्य	४७४
पाँच रसों के योग से ६ द्रव्य	,,
एक रसवाले ६ द्रव्य तथा छः रसवाला १ द्रव्य	,,
रसविकल्पों के अनुसार द्रव्य-भेदों का उपसंहार	,,
रस एवं दोष के ज्ञान से लाभ	४७६
रस तथा अनुरस के लक्षण	,,
परादि गुणों की संख्या	,,
परत्वादि के लक्षण	४७७
संख्या, संयोग के लक्षण	,,
विभाग एवं पृथक्त्व के लक्षण	,,
परिमाण, संस्कार एवम् अभ्यास के लक्षण	४७८
परत्वादि गुणों का उपसंहार	,,
गुणों के आश्रय द्रव्य हैं, न कि रस	,,
तन्त्रकर्त्ता के अभिप्राय-ज्ञान की विधि	४७९
षड्रस-प्रकरण (Topic of Six Rasas)	,,
पञ्चमहाभूतों से छः रसों की उत्पत्ति	४७९
रस के रूप में परिवर्तित आन्तरिक्ष जल	,,
पञ्चमहाभूतों में रसों का उत्पत्ति-क्रम	४८०
रसों की गति में महाभूतों का प्रभाव	,,
रसों के गुण-कर्मों की व्याख्या का प्रस्ताव	४८१
मधुर रस के गुण-कर्म	,,
मधुर रस के अधिक सेवन से दोष	,,
अम्ल रस के गुण-कर्म	४८२
अम्ल रस के अधिक सेवन से दोष	,,
लवण रस के गुण-कर्म	,,
लवण रस के अधिक सेवन से दोष	४८३
कटु रस के गुण-कर्म	,,
कटु रस के अधिक सेवन से दोष	,,
तिक्त रस के गुण-कर्म	४८४
तिक्त रस के अधिक सेवन से दोष	,,
कषाय-रस के गुण-कर्म	,,
कषाय-रस के अधिक सेवन से दोष	,,
रस-विवेचन का उपसंहार	४८५
द्रव्य का रसादि के साथ सम्बन्ध	,,
उदाहरणस्वरूप कुछ द्रव्य	,,
विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य	४८६
रसों में गुण सम्बन्धी उत्तम-मध्यम अधमता	,,

विषय	पृष्ठ
वीर्य के विचार से	४८६
गुरुता के विचार से	,,
लघुता के विचार से	,,
विपाक-प्रकरण—	
विपाक लक्षण	४८७
स्निग्धता तथा रूक्षता को प्राप्त रसों के कार्य	४८८
विपाकों के पृथक्-पृथक् लक्षण	,,
विपाक का अनुमान	,,
वीर्य-प्रकरण—	
वीर्य के भेद	४८९
वीर्य का लक्षण	,,
रस विपाक वीर्य परिचय	,,
प्रभाव-प्रकरण—	
परिचय	४९०
द्रव्यों की कार्यप्रणाली	४९१
रसादि का स्वाभाविक बल	,,
षड्रस-विज्ञान—	
मधुररस की परिभाषा	,,
अम्लरस की परिभाषा	,,
लवणरस की परिभाषा	४९२
कटुरस की परिभाषा	,,
तिक्तरस की परिभाषा	,,
कषायरस की परिभाषा	,,
परस्पर विरोधी आहार (Dietetic Incompatibilities)	,,
वैरोधिक आहार-सम्बन्धी प्रश्न	,,
वैरोधिक आहारों का वर्णन	,,
वैरोधिक आहार	४९३
भद्रकाप्य का मत	४९४
चिलचिम मछली का परिचय	,,
भद्रकाप्य के मत का आत्रेय द्वारा खंडन	,,
कतिपय परस्पर विरोधी आहारों के उदाहरण	,,
संयोग विरुद्ध-द्रव्य	४९५
उपसंहार	,,
वैरोधिक आहार के भेद	४९६
देश विरुद्ध	४९७
काल विरुद्ध	,,
अग्नि विरुद्ध	,,
मात्रा विरुद्ध	,,

विषय	पृष्ठ
सात्म्य विरुद्ध	४९७
दोष विरुद्ध	,,
संस्कार विरुद्ध	,,
वीर्य विरुद्ध	,,
कोष्ठ विरुद्ध	,,
अवस्था विरुद्ध	४९८
क्रम विरुद्ध	,,
परिहार विरुद्ध	,,
उपचार विरुद्ध	,,
पाक विरुद्ध	,,
संयोग विरुद्ध	,,
हृदय विरुद्ध	,,
सम्पद् विरुद्ध	,,
विधि विरुद्ध	,,
विरुद्ध अन्न-सेवन से उत्पन्न रोग	४९९
विरुद्ध आहार-सेवन से उत्पन्न रोगों का उपचार	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	५००
(२७) अन्नपानविध्यध्याय	**५००–५४४**
अन्नपान का सामान्य परिचय	५००
अन्नपान का महत्व	,,
हितकर तथा अहितकर आहार का सामान्य उपदेश	५०१
आहार द्रव्यों का वर्गीकरण (Classification of Diets)	,,
शूकधान्य वर्ग—	
शूकधान्य तथा उनके सामान्य गुण	५०२
षष्टिकधान्य के गुण	५०३
व्रीहिधान्य	,,
पाटलधान्य	,,
कोदों, सावाँ आदि के गुण	,,
जौ के गुण	,,
वेणुयव के गुण	,,
गेहूँ के गुण	,,
शमीधान्य वर्ग (Class of Pulses)—	
मूँग के गुण	५०४
उड़द के गुण	,,
राजमाष (Vigna unguiculata) के गुण	,,
कुलथी के गुण	,,
मोठ के गुण	,,
चना आदि के गुण	,,

विषय	पृष्ठ
तिल के गुण	५०५
विविध शमीधान्यों के गुण	,,
शिम्बी धान्य के गुण	,,
अरहर के गुण	,,
मांसवर्ग (Class of Fleshes)—	
प्रसह (झपट कर खाने वाले) पशु-पक्षी	,,
भूमिशय प्राणी	५०६
आनूप वर्ग	,,
वारिशय प्राणी	,,
वारिचर प्राणी	,,
जाङ्गल पशु	,,
विष्किर पक्षी	५०७
प्रतुद पक्षी	,,
प्रसह आदि की परिभाषा	,,
प्रसह आदि प्राणियों के मांसों के गुण	५०८
बकरा-मांस के गुण	,,
भेड़-मांस के गुण	,,
मयूर-मांस के गुण	५०९
हंस-मांस के गुण	,,
कुक्कुट-मांस के गुण	,,
तीतर-मांस के गुण	,,
गौरतीतर-मांस के गुण	,,
लाव-मांस के गुण	,,
गोधा-मांस के गुण	,,
साही-मांस के गुण	,,
कबूतर-मांस के गुण	,,
जंगली कबूतर-मांस के गुण	,,
शुक (तोता) मांस के गुण	५१०
चटक-मांस के गुण	,,
शश-मांस के गुण	,,
एण-मांस के गुण	,,
शूकर-मांस के गुण	,,
गो-मांस के गुण	,,
महिष-मांस के गुण	,,
मत्स्य-मांस के गुण	,,
रोहितमत्स्य-मांस के गुण	,,
कूर्म-मांस के गुण	५११
खड्ग-मांस के गुण	,,
हंस आदि के अण्डों के गुण	,,

विषय	पृष्ठ
मांस का महत्व	५११
शाकवर्ग (Class of Vegetables)—	
शाकों के सामान्य गुण	,,
कलाय शाक के गुण	५१२
तण्डुलीयक शाक के गुण	,,
सूप्यशाक	,,
खीरा और ककड़ी	५१३
कमलों के गुण	५१४
कमलबीज शाक के गुण	,,
अम्लिका कन्द	५१५
फलवर्ग (Class of Fruits)—	
मुनक्का	,,
खर्जूर	,,
फल्गु (Fig)	,,
आम्रातक	,,
पके ताड़ तथा नारियल के फल	,,
भव्य का फल	५१६
अम्लपरूषक आदि के सामान्य गुण	,,
आरुक	,,
पारावत	,,
गम्भारी का फल	,,
टंकफल	,,
पका हुआ बेल	५१७
आम का टिकोरा	,,
पका जामुन	,,
ताजा बेर	,,
सिञ्चितिका फल	,,
तिन्दुक फल	,,
विभीतक	५१८
मधुर दाड़िम	,,
पकी इमली का फल	,,
मातुलुङ्ग केशर	,,
कचूर	,,
नारङ्गी का फल	,,
श्लेष्मातक	५१९
आक्षिकीफल	,,
हरितवर्ग (Class of Greens)—	
आर्द्रक	,,
जम्बीरीनीबू	५२०

विषय	पृष्ठ
बालमूली	५२०
सुरसा	,,
भूतृण	५२१
धान्यक (हरा धनियाँ) अजगन्धा और सुमुख (तुलसी भेद)	,,
गृञ्जनक	,,
पलाण्डु	,,
लहसुन	,,
उपसंहार	,,
मद्यवर्ग (Class of Wines)—	
मद्यों के सामान्य गुण	,,
सुरा	,,
मदिरा	५२२
जगल	,,
अरिष्ट	,,
शार्कर	,,
पक्वरस	,,
शीतरस	,,
गौड	,,
सुरासव (Tincturds)	,,
धातकी (धाय) के फूलों से निर्मित मद्य	५२३
मधु-मद्य	,,
मण्ड सहित जौ की सुरा	,,
सौवीरक और तुषोदक	,,
अम्लकाञ्जिक	,,
नवीन मद्य	,,
यथाविधि सेवित मद्य के गुण	,,
जलवर्ग (Class of Waters)—	
जल का मूलरूप	५२४
जल की विविधता में कारण	,,
आन्तरिक्ष जल के प्राकृतिक गुण	,,
उत्तम जल के गुण	५२५
ऋतु के अनुसार बरसने वाले जल के गुण	,,
हेमन्त ऋतु का जल	,,
शरद जल की महत्ता	,,
बरसाती नदियों के जल	५२६
अहितकारक जल	,,
सामुद्रजल	,,

विषय	पृष्ठ

गोरसवर्ग (Class of Milks)—
गाय का दूध ५२६
महिषी दुग्ध "
उष्ट्री दुग्ध "
एक खुरवाले पशुओं का दूध ५२७
छाग दुग्ध "
आविक दुग्ध "
स्त्री-दुग्ध "
दही के गुण "
तक्र के गुण "
नवनीत के गुण "
घृत के गुण ५२८
जीर्णघृत के गुण "
इक्षुवर्ग (Class of Sugarcane)—
दाँतों से चूसा हुआ ईख का रस "
इक्षु-विकारों का वर्णन ५२९
छोटा गुड़ "
गुड़ शर्करा "
मधु के भेद "
मधु के सामान्य गुण ५३०
उष्णता से मधु का विरोध "
कृतान्नवर्ग (Class of Cooked Foods)—
पेया
विलेपी ५३१
मण्ड "
लाजपेया "
लाजमण्ड "
सुसंस्कृत लाजमण्ड ५३२
लाज सत्तू "
भुने हुए चावलों का भात "
कुल्माष "
यूषभेद "
सत्तू "
यवापूप (जौ का मालपुआ) ५३३
संस्कृत भक्ष्य "
वेशवार "
गेहूँ के आटे से बनाये गये पदार्थ "
धान का पृथुक ५३४
सूप्य (दाल बनाने के योग्य) अन्न "
गुरु तथा बलवर्धक "

विषय	पृष्ठ

गुरुता आदि का निर्देश ५३४
विमर्दक "
रसाला "
पानक "
रागषाडव ५३५
आम, आँवला की चटनी "
शुक्त के गुण "
आहारोपयोगिवर्ग (Class of useful of Foods)—
तैलमात्र के सामान्य गुण "
रेड़ी का तेल ५३६
सार्षप-तैल
प्रियाल-तैल "
अतसी-तैल "
कुसुम्भ-तैल "
तैलयोनि गुण-धर्म "
वसा तथा मज्जा "
सोंठ "
कच्ची पीपल "
सूखी पीपल ५३७
कालीमिर्च "
हींग "
सैंधा नमक "
सौंचर नमक "
विड नमक "
उद्भिज्ज नमक "
काल लवण "
समुद्री नमक "
यवक्षार "
क्षार ५३८
निषिद्ध मांस "
मांस रस "
असेवनीय शाक ५३९
असेवनीय फल "
अनुपान "
उत्तम अनुपान "
अनुपान से लाभ ५४०
भोजन के बाद जिन्हें जल नहीं पीना चाहिये "

विषय	पृष्ठ

अन्नपान की परीक्षा ५४१
चर-परीक्षा "
शरीर के अवयवों के अनुसार परीक्षा "
स्वभाव-परीक्षा ५४२
धातु-परीक्षा "
क्रिया-परीक्षा "
लिङ्ग-परीक्षा "
प्रमाण-परीक्षा "
संस्कार-परीक्षा "
मात्रा-परीक्षा "
उपसंहार ५४४
(२८) विविधाशितपीतीयाध्याय ५४४–५५३
आहार के पाचन का प्रक्रम (Process of Digestion of Diet) ५४५
आहार का परिणाम और उसके कार्य ५४६
हित आहार-सम्बन्धी प्रश्न (Doubts regarding wholesome Diet) "
हिताहित आहार सम्बन्धी प्रश्न "
आत्रेय द्वारा अग्निवेश की शंका का समाधान ५४७
अनेक प्रकार के शरीर "
दोषों का रोगों से सम्बन्ध ५४८
दूषित रसादिजनित व्याधियाँ "
दूषित रसज रोग "
दूषित रक्तज रोग "
दूषित मांसज रोग "
दूषित मेदोज रोग "
दूषित अस्थिज रोग ५४९
दूषित मज्जाजनित रोग "
दूषित शुक्रज रोग "
इन्द्रिय दोषज रोग "
दूषित स्नायु आदि जनित रोग "
दूषित मलज रोग "
अहित अशितादि विषयों का उपसंहार "
रसज रोगों का चिकित्सा-सूत्र ५५०
रक्तज रोगों का चिकित्सा सूत्र "
मांसज रोगों का चिकित्सा-सूत्र "
मेदोज रोगों का चिकित्सा-सूत्र "
अस्थिज रोगों का चिकित्सा सूत्र "
मज्जा तथा शुक्रज रोगों का चिकित्सा-सूत्र "

विषय	पृष्ठ

इन्द्रियज रोगों का चिकित्सा-सूत्र ५५०
मलज रोगों का चिकित्सा सूत्र "
दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में जाने का कारण "
दोषों का शाखाओं से कोष्ठगत होने में कारण ५५१
सुखद विधि का निर्देश "
विद्वान् और मूर्ख की कार्यविधि में भेद "
परीक्षकों के गुण ५५२
लौकिक व्यक्ति के दोष "
हित आहार का ही सेवन करें "
अपथ्य त्याग का परिणाम "
अशोचनीय स्थिति "
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार ५५३
(२९) दशप्राणायतनीयाध्याय ५५३–५५८
दश प्राणायतन (Ten Life Spots) ५५३
प्राणाभिसर के लक्षण ५५४
प्राणाभिसर एवं रोगाभिसर चिकित्सक "
अग्निवेश का प्रश्न "
प्राणाभिसर चिकित्सक के लक्षण "
रोगनाशक प्राणरक्षक वैद्य ५५५
रोगाभिसर की परिभाषा ५५६
रोगाभिसर के लक्षण "
छद्मभिषक् की कार्यप्रणाली ५५७
मृत्यु के दूत वैद्य "
वर्जनीय वैद्य "
पूज्य वैद्य के लक्षण "
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार ५५८
(३०) अर्थेदशमहामूलीयाध्याय ५५८–५७६
हृदय प्रकरण (Topic of Heart) ५५८
हृदय का स्वरूप "
हृदय के आश्रित षडंग आदि ५५९
शरीर में हृदय का स्थान "
हृदय के सुकुमारता आदि गुण ५६०
ओजस् आदि का स्थान "
रक्तवाहिनियों का केन्द्र "
ओजस् का वर्णन ५६१
धमनी आदि का नामकरण "
हृदय की रक्षा के लिये आवश्यक "
प्राणवर्धन आदि में श्रेष्ठ ५६२
आयुर्वेदविद् के लक्षण (Signs of Knowers of Ayurveda) "

विषय	पृष्ठ
आयुर्वेदश के लक्षण	५६२
वाक्यशः का उदाहरण	,,
वाक्यार्थशः का उदाहरण	,,
अर्थावयवशः का उदाहरण	५६३
कतिपय सम्भावित प्रश्न	,,
आयुर्वेद किस वेद का अङ्ग है ?	,,
आयु क्या है ?	,,
इसका नाम आयुर्वेद क्यों ?	,,
सुख-असुख आयु के लक्षण	५६४
सुखायु युक्त पुरुष	,,
हित अहित आयु के लक्षण	,,
आयु का प्रमाण	५६५
आयुर्वेद का क्या प्रयोजन है ?	,,
आयुर्वेद शाश्वत है या अशाश्वत	५६६
अनादित्व का विवरण	,,
भावों के स्वभाव की नित्यता	,,
शाश्वत आयुर्वेद	५६७
आयुर्वेद के कितने और कौन अंग हैं ?	५६८
आयुर्वेद किसको पढ़ना चाहिये	,,
आयुर्वेद क्यों पढ़ना चाहिए ?	,,
अष्टविध प्रश्न	,,
आयुर्वेद के पर्याय	५६९
तन्त्रार्थ	,,
चरकसंहिता के अध्यायों का वर्णन (Exposition of Chapters of Charaka Samhita)	,,
चरकसंहिता के आठ स्थान	,,
अध्यायों की प्रकारान्तर से गणना	,,

विषय	पृष्ठ
स्थान के अर्थों का उपदेश	५६९
सूत्रस्थान के अध्याय	५७०
सूत्रस्थान की निरुक्ति	,,
निदानस्थान के अध्याय	,,
विमानस्थान के अध्याय	५७१
शारीरस्थान के अध्याय	,,
इन्द्रियस्थान के अध्याय	,,
चिकित्सास्थान के अध्याय	,,
कल्पस्थान के अध्याय	,,
सिद्धिस्थान के अध्याय	५७२
अध्यायार्थ	,,
प्रश्न का लक्षण	,,
प्रश्नार्थ का लक्षण	,,
तन्त्रादि शब्दों का निर्वचन	५७३
पल्लवग्राही वैद्य	,,
अन्य उदाहरण	५७४
दूसरा दृष्टान्त	,,
सच्चरित्र वैद्य का सम्मान करें	,,
पाखंडी आदि वैद्य की निन्दा	५७५
सद्वैद्य प्रशंसा	,,
शास्त्रार्थ महारथी वैद्य	,,
मूर्खता छिपाने के प्रकार	,,
त्याज्य वैद्य	,,
सेवनीय वैद्य	,,
अज्ञान के आश्रित	,,
विज्ञान के आश्रित	,,
शास्त्रज्ञान का महत्व	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५७६
सूत्र शब्द की निरुक्ति	,,

सूत्रस्थान समाप्त ।

निदानस्थान

विषय	पृष्ठ
(१) ज्वरनिदानाध्याय	**५७७–५९६**
निदान-प्रकरण (Chapter of Diagnosis)	५७७
त्रिविध रोग	५७९
व्याधि के पर्यायवाचक शब्द	,,
निदान-पञ्चक	५८०
निदान के पाँच भेद	,,
निदान	५८१
पूर्वरूप	,,
लिङ्ग अथवा रूप	५८२
उपशय	,,
उपशय के भेद तथा विभिन्न उपयोग	५८४
सम्प्राप्ति	,,
सम्प्राप्ति के भेद	,,
संख्यासम्प्राप्ति	,,
प्राधान्यसम्प्राप्ति	५८५
विधिसम्प्राप्ति	,,
विकल्पसम्प्राप्ति	५८६
बल तथा कालसम्प्राप्ति	,,
निदानपञ्चक की उपयोगिता	,,
निदानस्थान के विषय	५८७
लोभादि रोग	,,
ज्वर-निदान (Diagnosis of Fever)	,,
ज्वर की प्रधानता	,,
ज्वर के भेद	,,
ज्वर का निदानपञ्चक	५८८
वातज्वर का निदान	,,
सम्प्राप्ति	,,
वातज्वर के लक्षण	५८९
पित्तज्वर का निदान	,,
सम्प्राप्ति	५९०
पित्तज्वर के लक्षण	,,
कफज्वर का निदान	,,
कफज्वर की सम्प्राप्ति	,,
कफज्वर के लक्षण	५९१
द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर-निदान	,,
सम्प्राप्ति	,,
दोषों के अनुसार ज्वर का निर्णय	५९२
आगन्तुज ज्वर	,,

विषय	पृष्ठ
आगन्तुज ज्वर की विशेषता	५९२
ज्वर के मूल भेद	५९३
ज्वर के विभिन्न प्रकार	,,
ज्वर-भेद-तालिका	,,
ज्वर के पूर्वरूप	,,
संक्षेप-विस्तार से ज्वर-वर्णन	५९४
ज्वर-परिचय	,,
ज्वर-चिकित्सा-सूत्र	५९५
जीर्णज्वर में घृतपान	,,
घृतप्रयोग सम्बन्धी सूक्ति	,,
घृत का महत्व	५९६
भवन्ति चात्र का औचित्य	,,
अध्याय उपसंहार	,,
(२) रक्तपित्तनिदानाध्याय	**५९७–६०३**
रक्तपित्त संज्ञा में कारण	५९७
रक्तपित्त-निदान	,,
सम्प्राप्ति	५९८
रक्तपित्त का नामकरण	,,
रक्तपित्त के पूर्वरूप	,,
रक्तपित्त के उपद्रव	५९९
रक्तपित्त के प्रमुख दो मार्ग	,,
साध्य-असाध्य विवेचन	६००
विप्रकृष्ट कारण	,,
चिकित्सा-सूत्र	,,
साध्यता में हेतु	६०१
याप्यता में हेतु	,,
असाध्यता में हेतु	६०२
साध्य के असाध्य होने में हेतु	,,
असाध्य का लक्षण	,,
रक्त-परीक्षा द्वारा निर्णय	,,
उपसंहार	६०३
(३) गुल्मनिदानाध्याय	**६०४–६११**
संख्या-सम्प्राप्ति	६०४
अग्निवेश की गुल्म सम्बन्धी जिज्ञासा	,,
गुल्म के भेद	६०५
वातगुल्म का निदान	,,
वातगुल्म की सम्प्राप्ति	,,

विषय	पृष्ठ
वातगुल्म के लक्षण	६०६
पित्तगुल्म का निदान	,,
पित्तगुल्म की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	६०७
कफजगुल्म का निदान	,,
कफजगुल्म की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	६०८
सन्निपातजगुल्म	,,
रक्तजगुल्म	,,
रक्तजगुल्म-निदान एवं सम्प्राप्ति	६०९
गर्भाशय की विकृत-वृद्धि	,,
मिथ्या गर्भ के लक्षण	,,
गुल्म के पूर्वरूप	६१०
गुल्मों में वायु की प्रधानता	६११
चिकित्सा-सूत्र	,,
उपसंहार	,,
(४) प्रमेहनिदानाध्याय	**६१२–६२३**
प्रमेह के भेद	६१२
निदान-दोष-दूष्य-विचार	,,
रोगों के उत्पादक, अनुत्पादक कारण	,,
प्रमेह-निदान	६१३
प्रमेहों के दूष्य	६१४
कफ की प्रधानता	,,
दस-कफज प्रमेह	६१५
साध्य प्रमेह	,,
उदकमेह (Diabetes Insipidus)	६१६
इक्षुवालिकारसमेह (Glycosuria)	,,
सान्द्रमेह (Phosphaturia)	,,
सान्द्रप्रसादमेह	,,
शुक्लमेह (Chyluria=वसालसीकामेह)	,,
शुक्रमेह (Spermaturia)	,,
शीतमेह (Renal glycosuria–वृक्कीय-ग्लाइकोसूरिया)	,,
सिकतामेह (Urates in Urine)	६१७
शनैर्मेह	,,
आलालमेह (Albumin-Uria)	,,
पित्तजप्रमेह-निदान	,,
पित्तजप्रमेह-सम्प्राप्ति	,,
छः पित्तज प्रमेह	,,
याप्यप्रमेह	६१८
क्षारमेह (Alkaline Urin)	,,
कालमेह	,,
	,,

विषय	पृष्ठ
नीलमेह	६१८
रक्तमेह (Hemat-Uria)	,,
माञ्जिष्ठमेह (Haemoglobin-Uria)	,,
हारिद्रमेह (Bilirubin-Uria)	६१९
वातजप्रमेह-निदान	,,
वातजप्रमेह-सम्प्राप्ति	,,
असाध्यप्रमेह	,,
वातजप्रमेह	६२०
वसामेह	,,
मज्जमेह	,,
हस्तिमेह	,,
मधुमेह	,,
बृहत्त्रयी में प्रमेहों के नाम-भेद	६२१
प्रमेहों के पूर्वरूप	,,
प्रमेहों के उपद्रव	,,
कफजप्रमेहों के उपद्रव	,,
पित्तजप्रमेहों के उपद्रव	६२२
वातजप्रमेहों के उपद्रव	,,
चिकित्सा-सूत्र	,,
प्रमेहरोग किनको होता है ?	,,
प्रमेह के रूप में मृत्यु का आगमन	,,
नीरोग पुरुष	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६२३
(५) कुष्ठनिदानाध्याय	**६२३-६२९**
कुष्ठों के कारण	६२३
कुष्ठों में चिकित्सा-भेद	६२४
कुष्ठ के भेद	,,
कुष्ठों में वातादि सम्बन्ध	,,
कुष्ठों का संक्षिप्त निदान	६२५
कुष्ठ के पूर्वरूप	६२६
कपालकुष्ठ के लक्षण	,,
उदुम्बरकुष्ठ के लक्षण	,,
मण्डलकुष्ठ के लक्षण	६२७
ऋष्यजिह्वकुष्ठ के लक्षण	,,
पुण्डरीककुष्ठ के लक्षण	,,
सिध्मकुष्ठ के लक्षण	,,
काकणककुष्ठ के लक्षण	६२८
साध्यासाध्यनिर्णय	,,
दोषानुसार कुष्ठों में परिवर्तन	,,
कुष्ठ के उपद्रव	६२९
अध्याय-उपसंहार	,,

विषय	पृ०
(६) शोषनिदानाध्याय	**६३०-६३९**
शोष के चार कारण	६३०
साहस की व्याख्या	६३१
साहसजनित क्षय की सम्प्राप्ति	,,
साहसजनित क्षय के लक्षण	,,
सन्धारण की व्याख्या	६३२
सन्धारणजनित क्षय की सम्प्राप्ति	,,
सन्धारणजनित क्षय के लक्षण	,,
शरीर-रक्षा-निर्देश	६३३
क्षय की व्याख्या	,,
क्षयज शोष की सम्प्राप्ति	६३४
शुक्ररक्षा-निर्देश	,,
विषमाशन की व्याख्या	६३५
विषमाशन का निषेध	,,
राजयक्ष्मा की परिभाषा	६३६
राजयक्ष्मा के पूर्वरूप	,,
यक्ष्मा के ग्यारह रूप	६३७
साध्य क्षय-रोगी	६३८
असाध्य क्षय-रोगी	,,
उपसंहार	६३९
(७) उन्मादनिदानाध्याय	**६३९-६४६**
उन्माद के पाँच भेद	६३९
उन्माद की सम्प्राप्ति	६४०
उन्माद-परिचय	,,
उन्माद के पूर्वरूप	,,
वातज उन्माद के लक्षण	६४१
पित्तज उन्माद के लक्षण	,,
कफज उन्माद के लक्षण	,,
त्रिदोषज उन्माद के लक्षण	६४२
साध्य उन्मादों का चिकित्सा-सूत्र	,,
चिकित्सक का कर्त्तव्य	,,
आगन्तुज उन्माद	,,
आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप	,,
भूतज उन्माद की उत्पत्ति	६४३
आगन्तुज उन्माद के लक्षण	,,
ग्रहों के आवेश का स्थान एवं समय	६४४
आवेश का कारण और साध्यासाध्य निर्णय	,,

विषय	पृष्ठ
साध्यग्रहों की चिकित्सा	६४५
उन्मादों का परस्पर सम्बन्ध	,,
आगन्तुज उन्माद का प्रधान कारण	,,
कर्म की प्रधानता, ग्रहों का निषेध	,,
उक्त तथ्य का समर्थन	६४६
मनुष्य ही सुख-दुःख का कारण	,,
सत्-असत् कर्म मनुष्य के अधीन	,,
अध्याय-उपसंहार	,,
(८) अपस्मारनिदानाध्याय	**६४७-६५४**
अपस्मार के चार भेद	६४७
अपस्मार की सम्प्राप्ति	६४८
अपस्मार का स्वरूप	,,
अपस्मार के पूर्वरूप	,,
अपस्मार की उत्पत्ति	,,
वातज अपस्मार के लक्षण	,,
पित्तज अपस्मार के लक्षण	,,
कफज अपस्मार के लक्षण	६४९
सन्निपातज अपस्मार	,,
आगन्तुज अपस्मार	,,
चिकित्सा-सूत्र	६५०
रोगों की उत्पत्ति	,,
उपसंहार	,,
रोगविशेषज्ञ-प्रशंसा	६५१
निदान सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त (General Principles regarding Diagnosis)	,,
निदानार्थक-रोग	,,
रोग-संकर	,,
उत्तम चिकित्सा	,,
हेतु-व्याधि का सम्बन्ध	६५२
लिंग-व्याधि का सम्बन्ध	,,
व्याधि-चिकित्सा का सम्बन्ध	,,
साध्य-असाध्य-विवेचन	,,
दोषों की अवस्थाओं का महत्व	६५३
चिकित्सा-विधि निर्देश	,,
व्याधि और लक्षण का विवेचन	,,
विकृति और प्रकृति का महत्व	,,
उपसंहार	६५४

निदानस्थान समाप्त ।

विषय	पृष्ठ
(१) रसविमानाध्याय	**६५५-६६९**
दोष आदि के मान-ज्ञान का महत्व	६५५
रसादि प्रभाव वर्णन	६५६
रस-वर्णन	"
दोषों के भेद	"
रसों के मिश्रण का प्रभाव	"
रसों के कारण दोषों की वृद्धि-शान्ति	६५७
रस-दोषों की असंख्येयता	"
द्रव्य-रोग प्रभाव का निश्चय	"
उक्त सिद्धान्त का अपवाद	"
तत्वनिर्णय-निर्देश	६५८
चार प्रकार के प्रभाव	"
द्रव्य-प्रभाव-वर्णन	६५९
तैल-प्रभाव-वर्णन	"
घृत-प्रभाव-वर्णन	"
मधु-प्रभाव-वर्णन	"
सामान्य निर्देश	"
अधिक सेवन न करने योग्य द्रव्य	६६०
पिप्पली वर्णन	"
क्षार-वर्णन	६६१
लवण-वर्णन	"
पिप्पली आदि के त्याग का क्रम	६६२
सात्म्य के लक्षण	"
आहार-विधि-विशेषायतन	"
प्रकृति (Natural Form)	६६३
करण (Preparation)	"
संयोग (Combination)	६६४
राशि (Quantity)	"
देश (Haleitat)	"
काल (Time)	"
उपयोग-संस्था (Direction of use)	६६५
उपयोक्ता (User)	"
अष्टविध आहारविधि-विशेषों के ज्ञान का फल	"
आहारविधि-विधान	"
आहारविधि	६६६
उष्ण भोजन से लाभ	"
स्निग्ध भोजन से लाभ	"
मात्रायुक्त भोजन से लाभ	६६७
पचने पर भोजन करने से लाभ	६६७
वीर्याविरुद्ध भोजन से लाभ	"
अभीष्ट स्थान में भोजन से लाभ	६६८
अतिशीघ्र भोजन करने से हानि	"
अतिविलम्बित भोजन से हानि	"
मन लगाकर भोजन करने से लाभ	"
अपने अनुसार भोजन करने से लाभ	"
उत्तम चिकित्सक	६६९
उपसंहार	"
(२) त्रिविधकुक्षीयविमानाध्याय	**६६९-६७५**
कुक्षि के तीन भाग	६६९
अष्टविध आहारविधि का महत्व	६७०
मात्रा-अमात्रा-फलनिश्चय	"
मात्रायुक्त आहार का लक्षण	"
हीन मात्रायुक्त आहार से हानि	६७१
अति मात्रायुक्त आहार से हानि	"
आम की उत्पत्ति में कारण	"
श्लोक द्वारा उक्त विषय का निरूपण	६७२
दो प्रकार का आमदोष	"
विसूचिका का स्वरूप	"
अलसक, दण्डालसक का स्वरूप	"
आमविष की असाध्यता	"
अलसक-चिकित्सा-सूत्र	६७३
विसूचिका-चिकित्सा-सूत्र	"
आमदोष में आहार-विधि	"
आमदोष में चिकित्सा-सूत्र	"
निराम पुरुष के लिये चिकित्सा-सूत्र	६७४
आत्मविवेक का निर्देश	"
अग्निवेश आदि के प्रश्न तथा उत्तर	"
उपसंहार	६७५
(३) जनपदोध्वंसनीयविमानाध्याय	**६७५-६८९**
आत्रेय का अग्निवेश को उपदेश	६७५
जनपदोद्ध्वंस प्रकरण (Chapter of Epidemic Fall-down)	६७६
जनपदोद्ध्वंस का पूर्वरूप	"
अग्निवेश का प्रश्न	६७७
भगवान् आत्रेय का उत्तर	"
विकृत वात के लक्षण	६७७
विकृत जल के लक्षण	"
विकृत देश के लक्षण	"
विकृत काल के लक्षण	६७८
जनपदोद्ध्वंस के लक्षण	"
सामान्य चिकित्सा-सूत्र	"
देश आदि की उत्तरोत्तर प्रधानता	"
चिकित्सासौकर्य-निर्देश	६७९
सामान्य चिकित्सा-सूत्र	"
चिकित्सा के योग्य पुरुष	"
संक्षिप्त चिकित्सा	"
अग्निवेश का प्रश्न	"
भगवान आत्रेय का उत्तर	६८०
अधर्ममूलक जनपदोद्ध्वंस	"
अन्य प्रकार	"
एक और भेद	६८१
सत्ययुग का वर्णन	"
उत्तरोत्तर धर्म का ह्रास	६८२
युग-क्रम से धर्म तथा आयु का ह्रास	"
नियत-अनियत आयु सम्बन्धी प्रश्न	६८३
आयु-निर्धारण में युक्ति	"
दैव तथा पुरुषकार की परिभाषा	"
त्रिविध कर्म	"
आयु-विचार	"
कर्मफल में युक्ति	६८४
आयु-निर्णय में उदाहरण	६८५
काल-अकाल-मृत्युविषयक प्रश्न	६८६
कालमृत्यु में प्रमाण	"
मिथ्योपचार विषयक प्रश्न	६८७
ज्वर में उष्णजल की उपयोगिता	"
निदान-विपरीत औषध	"
दूसरा उदाहरण	६८८
अपतर्पण के भेद	"
अपतर्पण के भेदों से लाभ	"
चिकित्सा के अयोग्य पुरुष	"
उत्तम चिकित्सकों का मत	६८९
उपसंहार	"
(४) त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय०	**६९०-६९४**
रोग विज्ञान के साधन	६९०
आप्तोपदेश के लक्षण	"
प्रत्यक्ष का लक्षण	६९०
अनुमान का लक्षण	"
त्रिविध प्रमाणों की आवश्यकता	६९१
त्रिविध-रोगविज्ञान विचार	"
आप्तोपदेश का क्षेत्र	६९२
प्रत्यक्ष-परीक्षा का क्षेत्र	"
अनुमान द्वारा परीक्षा	६९३
त्रिविध परीक्षा का फल	६९४
उपसंहार	"
(५) स्रोतोविमानाध्याय	**६९५-७०१**
स्रोतस् विवेचन	६९५
स्रोतस् सम्बन्धी ऊहापोह	"
संख्या मतभेद	६९६
स्रोतों के भेद	"
दूषित प्राणवहस्रोतों के लक्षण	"
दूषित उदकवहस्रोतों के लक्षण	६९७
दूषित अन्नवहस्रोतों के लक्षण	"
दूषित रसादिवहस्रोतों के लक्षण	"
दूषित मूत्रवहस्रोतों के लक्षण	६९८
दूषित पुरीषवहस्रोतों के लक्षण	"
दूषित स्वेदवहस्रोतों के लक्षण	"
स्रोतस् के पर्याय	"
प्राणवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	६९९
रसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
अन्नवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
रसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
रक्तवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
मांसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
मेदोवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
अस्थिवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
मज्जवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
शुक्रवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	७००
मूत्रवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
मलवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
स्वेदवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण	"
स्रोतों के दूषित होने के सामान्य कारण	"
दूषित स्रोतों के सामान्य लक्षण	"
स्रोतों की आकृतियाँ	"
सामान्य चिकित्सा	"
रसादिवाही स्रोतों की चिकित्सा	७०१

विषय	पृष्ठ
मूत्रवाही आदि स्रोतों की चिकित्सा	७०१
उपसंहार	,,
(६) रोगानीकविमानाध्याय	**७०१-७०९**
रोगों के भेद (Classification of Diseases)	७०२
रोग-समूह के भेद	,,
विविध वर्गीकरणों के मूल (Roots of various Classifications)	७०३
दोष-विचार	,,
सभी रोगों के मूल तीन दोष	७०४
रोगों की अनुबन्धकता	,,
रजस्-तमस् का सम्बन्ध	,,
दोष-दूष्यों की समानता	,,
अनुबन्ध्य तथा अनुबन्ध भेद	,,
चार प्रकार की अग्नि	७०५
प्रकृति के सम्बन्ध में विविध मत	,,
प्रकृति-भेदों का वर्णन	७०६
तीन प्रकार के रोगी	,,
वातलपुरुष के रोग और चिकित्सा	७०७
पित्तलपुरुष के रोग और चिकित्सा	,,
श्लेष्मलपुरुष के रोग और चिकित्सा	७०८
राजवैद्य-परिचय	७०९
उपसंहार	,,
(७) व्याधितरूपीयविमानाध्याय	**७०९-७२२**
विषय-प्रवेश	७१०
विज्ञान का लाभ	,,
मूर्ख तथा विद्वान् वैद्य में भेद	७११
कृमि-प्रकरण	,,
चार प्रकार के कृमि	,,
दो प्रकार के मलजकृमि	७१२
रक्तज कृमि निदान	,,
कफज कृमियों का निदान	७१३
पुरीषज कृमियों का निदान	,,
संक्षिप्त चिकित्सा	७१४
अपकर्षण	,,
प्रकृतिविघात	,,
निदानपरिवर्जन	,,
अपकर्षण की विशेष विधि	७१५
परिषेचन	७१७
शिरोविरेचन	,,

विषय	पृष्ठ
प्रकृतिविघात की विशेष विधि	७१७
दूसरा प्रयोग	७१८
तीसरा प्रयोग	,,
चौथा प्रयोग	७१९
अन्य प्रयोग	,,
दूसरा प्रयोग	७२०
उपसंहार	७२१
निदानपरिवर्जन का पुनः संकेत	,,
उपसंहार	७२२
(८) रोगभिषग्जितीयविमानाध्याय	**७२२-७८८**
अध्यायोक्त-विषय	७२२
शास्त्र-परीक्षा (Selection of the branch of Medical Science)	७२३
आचार्य-परीक्षा (Search for Preceptor)	७२४
शास्त्रज्ञान के उपाय (Means of Learning for Medical Science)	,,
शास्त्रज्ञान में दृढ़ता प्राप्ति के उपाय	७२५
अध्ययन-विधि (Method of Study)	,,
अध्यापन-विधि (Method of Teaching)	७२६
शिष्य-परीक्षा (Test of Student)	,,
अध्यापन-सत्र का प्रारम्भ (Begining of Teaching Session)	,,
शिष्य के कर्तव्य	७२७
अनन्त आयुर्वेद	७२९
तद्विद्यसम्भाषा-परिषद् (Seminars & Symposia of Experts)	७३१
सम्भाषाविधि-वर्णन	,,
सम्भाषा के भेद	,,
सन्धाय-सम्भाषा (Friendly Discussion)	,,
सन्धायसम्भाषा-प्रकार	,,
विगृह्य-सम्भाषा (Un-friendly Discussion)	७३२
विगृह्य-सम्भाषा-प्रकार	,,
प्रतिवादी के भेद	७३३
परिषद् के भेद (Types of Assembly)	,,
परिषद् के प्रकार (Kind of Assembly)	,,
वाद-निर्देश	७३४
दूसरा प्रकार	७३५
शास्त्र का आदेश	,,
वाद का प्रारम्भ	७३६

विषय	पृष्ठ
वादमर्यादा-लक्षण (Guide-lines of Debate)	७३६
वाद के ४४ पद (Fortyfour Terms for Debate)	,,
वाद के भेद	,,
वाद की परिभाषा	७३७
प्रतिज्ञा	,,
स्थापना	,,
प्रतिष्ठापना	७३८
हेतु	,,
दृष्टान्त	,,
उपनय, निगमन	,,
उत्तर	७३९
सिद्धान्त	,,
शब्द	७४०
प्रत्यक्ष	७४१
अनुमान	,,
ऐतिह्य	,,
उपमान	,,
संशय	७४२
प्रयोजन	,,
सव्यभिचार	,,
जिज्ञासा	,,
व्यवसाय	७४३
अर्थप्राप्ति	,,
सम्भव	,,
अनुयोज्य	,,
अननुयोज्य	७४४
अनुयोग	,,
प्रत्यनुयोग	,,
वाक्यदोष	७४५
वाक्यप्रशंसा	,,
छल	७४६
अहेतु	७४७
अतीतकाल	७४८
उपालम्भ	,,
परिहार	,,
प्रतिज्ञा-हानि	,,
अभ्यनुज्ञा	७४९
हेत्वन्तर	,,

विषय	पृष्ठ
अर्थान्तर	७४९
निग्रहस्थान	७५०
वाद के स्थल	,,
दसविध-परीक्ष्य विषय (Ten Topics for Investigation)	,,
दस प्रकार के अनुसन्धेय विषय	७५१
कारण	,,
करण	,,
कार्ययोनि	,,
कार्य	,,
कार्यफल	,,
अनुबन्ध	७५२
देश	,,
काल	,,
प्रवृत्ति	,,
उपाय	,,
परीक्षा के बाद कार्यारम्भ करे	,,
वमनादि सम्बन्धी प्रश्न	७५३
पृच्छक वञ्चना प्रकार	,,
परीक्षा के प्रकार	७५४
दसविध-परीक्षा का चिकित्सा में प्रयोग (Applied aspect of Ten Topics Investigation in Medicine)	,,
दसविध परीक्षा-प्रयोग	,,
कारण	७५५
करण	,,
कार्ययोनि	७५६
कार्य	,,
कार्यफल	७५७
अनुबन्ध	,,
देश	,,
भूमि-परीक्षा	,,
रोगी-परीक्षा	,,
दसविध रोगी-परीक्षा (Ten Investigations regarding Patients)	७५८
रोगी-परीक्षा	,,
प्रकृति-परीक्षा (Test of Constitution)	,,
कफ-प्रकृति के लक्षण	७५९
पित्त-प्रकृति के लक्षण	७६०
वात-प्रकृति के लक्षण	७६१

विषय	पृष्ठ
समधातु-प्रकृति	७६२
विकृति-परीक्षा (Pathological Investigation)	७६३
सार-परीक्षा (Investigation for the Strength)	,,
त्वचासार के लक्षण	७६४
रक्तसार के लक्षण	,,
मांससार के लक्षण	,,
मेदःसार के लक्षण	,,
अस्थिसार के लक्षण	७६५
मज्जसार के लक्षण	,,
शुक्रसार के लक्षण	,,
सत्वसार के लक्षण	७६६
सर्वविधसारयुक्त पुरुष	,,
मध्यमसार	,,
सार-सारांश	७६७
सार-परीक्षा का उद्देश्य	,,
संहनन-परीक्षा (Investigation for the Compactness of the Body)	,,
प्रमाण-परीक्षा (Investigation for the Proportionate Relation of the Different Organs)	७६८
सात्म्य परीक्षा (Investigation for the Homologation)	७६९
सत्व-परीक्षा (Investigation for Mental State)	७७०
आहार-परीक्षा (Investigation for Intake and Digestive Capacity)	,,
आहार-परीक्षा	,,
व्यायाम-परीक्षा (Investigation for the Body-Power)	,,
वयः-परीक्षा (Investigation for the Age)	,,
दसविध परीक्षा की उपयोगिता	७७२

विषय	पृष्ठ
वयः-परीक्षा	,,
काल-परीक्षा	,,
संशोधनकाल-निर्देश	७७३
प्रधान ऋतु-विवेचन	७७४
भेषज के काल-अकाल	७७५
प्रवृत्ति	,,
उपाय	,,
उपसंहार	,,
परीक्षा का प्रयोजन	,,
वमन आदि निर्देश	७७६
प्रवृत्ति-निवृत्ति विचार	,,
पञ्चकर्म के लिये द्रव्यसङ्ग्रह (Drugs for Panch-Karma Therapy)	,,
वमनद्रव्यकल्पसंग्रह	,,
विरेचनद्रव्यकल्पसंग्रह	७७८
विरेचनोपयोगी द्रव्य	,,
आस्थापनद्रव्यकल्पसंग्रह	,,
आस्थापनोपयोगी द्रव्य	,,
मधुरादि-स्कन्ध	७७९
मधुरस्कन्ध	७८०
अम्लस्कन्ध	७८१
लवणस्कन्ध	,,
कटुकस्कन्ध	७८२
तिक्तस्कन्ध	,,
कषायस्कन्ध	७८३
उपसंहार	,,
दोषप्रकोप-विचार	७८४
द्रव्यग्रहण-विचार	,,
अनुवासनद्रव्यकल्पसंग्रह	,,
अनुवासनोपयोगी द्रव्य	,,
शिरोविरेचनद्रव्यकल्पसंग्रह	७८५
शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य	,,
अध्यायगत विषय गणना	७८७
उपसंहार (Conclusions)	७८८

विमानस्थान समाप्त।

शारीरस्थान

विषय	पृष्ठ
(१) कतिधापुरुषीयशारीराध्याय	**७८९-८३७**
अग्निवेश के पुरुषसम्बन्धी प्रश्न	७८९
अन्य प्रश्न	,,
क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र-विवेचन	७९०
उक्त प्रश्नों का समाधान	७९१
धातुभेद से पुरुषभेद	,,
मन का लक्षण	७९३
मन के गुण	७९५
मन के विषय	७९६
मन के कर्म	,,
ज्ञान का क्रम	७९७
इन्द्रियों का क्रमशः वर्णन	७९८
पाँच कर्मेन्द्रियाँ	,,
महाभूतों के गुण तथा नाम	७९९
महाभूतों के गुणों में गुणान्तर प्रवेश-क्रम	,,
पञ्चमहाभूतों के लक्षण	८००
अर्थ परिभाषा	८०१
बुद्धि का नाम-भेद	,,
बुद्धि का भेद	८०२
संयोगज बुद्धि का स्वरूप	,,
राशिपुरुष-परिचय	८०३
राशि का अनन्त संयोग	,,
चिकित्सा आदि का आधार पुरुष	८०४
पुरुष को कारण क्यों माना जाता है ?	,,
आत्मा की कारणता के दृष्टान्त	,,
आत्मा की कारणता	८०५
निरात्मवादी मत का विवेचन	,,
उक्त मत का खण्डन	८०६
आत्रेय का मत	,,
दूसरा प्रमाण	,,
अन्य प्रमाण	८०७
पुरुष की उत्पत्ति किससे होती है ?	,,
आत्मा ज्ञानी है या अज्ञानी ?	,,
करण आत्मा संयोगफल का विवेचन	८०८
सभी भाव सहेतुक हैं	,,
पुरुष नित्य है या अनित्य ?	८०९
आत्मा की नित्यता	,,
अन्य विचार	,,

विषय	पृष्ठ
प्रकृति किसे कहते हैं ?	८१०
क्षेत्रज्ञ परिचय	,,
सृष्टि-क्रम	८११
प्रलय-परिचय	,,
पुरुष के क्या लक्षण हैं ?	८१२
पञ्चत्व की निरुक्ति	८१४
निष्क्रिय आत्मा सक्रिय कैसे ?	,,
यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्ट योनियों में क्यों जन्म लेती है ?	,,
यदि आत्मा वशी है तो उसे कष्टप्रद भाव बलात् कैसे दबा लेते हैं ?	८१५
सर्वगत आत्मा सभी पीड़ाओं को क्यों नहीं जानती ?	८१६
विभु पर्वत आदि की ओट में स्थित पदार्थों को क्यों नहीं देखता ?	,,
मन से आत्मा का सम्बन्ध	,,
क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्र में पहले किसकी उत्पत्ति हुई ?	८१७
आत्मा के अतिरिक्त जब अन्यकर्ता नहीं है तो यह किसका साक्षी है ?	,,
निर्विकार (आत्मा) को वेदनाविशेष का ज्ञान कैसे होता है ?	८१८
वैद्य त्रैकालिक वेदनाओं में किस की चिकित्सा करता है ?	,,
वैद्य अतीतकाल की वेदनाओं की चिकित्सा करता है ?	८१९
वैद्य भविष्यत् काल की वेदनाओं की चिकित्सा करता है ?	,,
वैद्य वर्तमान काल की वेदनाओं की चिकित्सा करता है ?	,,
दुःख का कारण उपधा	८२०
वेदनाओं का क्या कारण है ?	८२१
बुद्धिविभ्रंश का लक्षण	,,
धृतिभ्रंश का लक्षण	८२२
स्मृतिभ्रंश का लक्षण	,,
प्रज्ञापराध की निरुक्ति	,,
प्रज्ञापराध-परिचय	८२३
प्रज्ञापराध-परिधि	,,
कालसम्प्राप्ति-निर्देश	,,
पित्तादि के चय, प्रकोप, प्रशम का विवरण	८२४

विषय	पृष्ठ
प्रकारान्तर से विचार	८२४
कालज रोग	८२५
अन्य कालज रोग	,,
स्वाभाविक कालज रोग	,,
जन्मान्तरीय कर्मज रोग	८२६
भोग से कर्मों का क्षय	,,
शब्द के अतियोग तथा अयोग	८२७
शब्द के मिथ्यायोग	,,
स्पर्श के अयोग तथा अतियोग	,,
स्पर्श के मिथ्यायोग	,,
रूप के अतियोग तथा अयोग	८२८
रूप के मिथ्यायोग	,,
रस के अतियोग आदि का वर्णन	,,
गन्ध के अयोग तथा अतियोग	,,
गन्ध के मिथ्यायोग	,,
उपसंहार	८२९
असात्म्य-परिभाषा	,,
असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगज रोग	,,
वेदनाओं के कारण	,,
प्रकारान्तर से निर्देश	८३०
सुख-दुःख के कारण	,,
प्रकारान्तर से विवेचन	,,
तृष्णा सुख-दुःख का कारण	८३१
तृष्णा के अभाव में वेदनाओं का अभाव	,,
वेदनाओं का अधिष्ठान किसको कहा गया है ?	,,
ये सभी वेदनाएँ पूर्णरूप से कहाँ समाप्त होती हैं ?	,,
योग-परिचय	८३२
योगियों में अलौकिक शक्ति	,,
मोक्ष की परिभाषा	८३३
मोक्ष के उपाय	,,
स्मृति से दुःख का अभाव	८३४
स्मृति के आठ कारण	८३५
मोक्षमार्ग	,,
पारमार्थिक तत्व	८३६
समस्त दुःखों की निवृत्ति	,,
प्रशान्तभूतात्मा का किन लक्षणों से ज्ञान हो सकता है ?	,,
उपसंहार	८३७
(२) अतुल्यगोत्रीयशारीराध्याय	**८३७-८५८**
गर्भ सम्बन्धी प्रश्न	८३८
शुक्र सम्बन्धी प्रश्न	८३८
गर्भ सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न	८३९
सम्पूर्णदेह समयपर सुखसे किससे कैसे होता है ?	,,
वन्ध्या न होने पर भी वह विलम्ब से गर्भ को क्यों प्राप्त करती है ?	८४०
गर्भ होकर किससे नष्ट हो जाता है ?	८४१
भ्रूण सम्बन्धी नौ प्रश्न	८४२
१ से ७ तक के प्रश्नों के उत्तर	८४३
स्त्री देर से गर्भ को जन्म क्यों देती है ?	८४४
यमलगर्भ में एक पुष्ट दूसरा कृश क्यों होता है ?	८४५
आठ प्रश्न	,,
द्विरेता किस कारण से होता है ?	,,
पवनेन्द्रिय किस कारण से होता है ?	,,
संस्कारवाही षण्ड क्यों होता है ?	८४७
नरषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है ?	,,
नारीषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है ?	,,
वक्री सन्तान कैसे होती है ?	८४८
ईर्ष्यारति सन्तान कैसे होती है ?	,,
वातिकषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है ?	,,
सन्ततिविषयक प्रश्न	८४९
सद्योगृहीतगर्भा का क्या लक्षण है ?	,,
गर्भाशय में स्त्री, पुरुष, नपुंसक गर्भ के क्या लक्षण हैं ?	८५०
क्या कारण है कि सन्तानें परस्पर सदृश पैदा होती हैं ?	,,
गर्भ-प्रकार-चर्चा	८५१
किस कारण से स्त्री विकृत आदि सन्तानों को जन्म देती है ?	८५२
उक्त विषय का आलंकारिक वर्णन	,,
आत्मा एक देह से दूसरे देह में कैसे जाती है ?	,,
आत्मास्वरूप वर्णन	८५३
आत्मा तथा महाभूतों का सम्बन्ध	,,
आत्मा सदा किन भावों से बंधी रहती है ?	८५४
पाँच प्रश्न	८५५
रोग कैसे होते हैं ?	,,
रोगों का संशमन क्या है ?	,,
हर्ष का क्या कारण है ?	,,
शोक का क्या कारण है ?	,,
शरीर तथा मन से उत्पन्न रोग शान्त हो जाने पर फिर क्यों नहीं होते ?	,,

विषय	पृष्ठ
शरीर-मनविषयक विचार	८५६
रोगोत्पत्ति में दैव की प्रबलता	,,
प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण	,,
रोगोत्पत्ति से पहले प्रतिकार	८५७
नीरोग कौन रहता है ?	,,
किसको रोग नहीं होते ?	,,
उपसंहार	८५८
(३) खुड्डिकागर्भावक्रान्तिशारीरा०	**८५९-८७४**
गर्भावक्रमण-प्रकरण	८५९
गर्भोत्पत्ति-प्रकार	,,
भरद्वाज द्वारा आत्रेय के मत का खण्डन	८६०
सन्तानोत्पत्ति में माता आदि भाव कारण नहीं होते	,,
मातृज, पितृज गर्भ-कारणों का खण्डन	,,
आत्मज गर्भ-कारण का खण्डन	,,
सात्म्यज गर्भ-कारण का खण्डन	८६१
रसज गर्भ-कारण का खण्डन	,,
गर्भोत्पत्ति में मन की कारणता का खण्डन	,,
भरद्वाज के मत का निष्कर्ष	८६२
आत्रेय द्वारा पर-मत-खण्डन और स्वमत-स्थापन	,,
आत्रेय का सिद्धान्त	,,
मातृज भावों से गर्भोत्पत्ति का प्रमाण	,,
पितृज भावों से गर्भोत्पत्ति का प्रमाण	८६३
गर्भोत्पत्ति में आत्मा तथा आत्मज भावों का समर्थन	,,
गर्भ की उत्पत्ति में माता, पिता, आत्मा की परतन्त्रता	८६५
आत्मज भावों का व्याख्यान	८६६
गर्भोत्पत्ति में सात्म्य तथा सात्म्यज भावों का समर्थन	,,
गर्भोत्पत्ति में रस तथा रसज भावों का समर्थन	८६७
गर्भोत्पत्ति में मन तथा मन के भावों का समर्थन	८६८
समुदाय-प्रभव गर्भ	८६९
गर्भोत्पादक भावों का परिगणन	,,
गर्भोत्पादक भावों के सम्बन्ध में भरद्वाज की शंका	८७०
भरद्वाज द्वारा उक्त भावों का पुनः खण्डन	,,
आत्रेय द्वारा भरद्वाज की शंकाओं का उत्तर	८७१
चार प्रकार की योनियाँ	,,
मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति का विवेचन	८७२
आत्मा का ज्ञत्व-अज्ञत्व	८७३
आत्मज्ञान-विवेचन	,,
प्रकारान्तर से समर्थन	८७३
आत्मज्ञान और विषयज्ञान	८७४
निष्कर्ष	,,
उपसंहार	,,
(४) महतीगर्भावक्रान्तिशारीरा०	**८७४-८९६**
गर्भ सम्बन्धी ८ प्रश्न (Eight Questions regarding Foetus or Embryo)	८७५
जिससे गर्भ उत्पन्न होता है	,,
जिस स्थिति में गर्भ संज्ञा होती है	,,
गर्भ का निर्माण किससे होता है	,,
जिस क्रम से गर्भोत्पत्ति होती है	८७६
गर्भस्थ आत्मा के कार्य	८७७
प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप	८७८
द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप	,,
तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप	,,
महाभूतों के भाव	८७९
पञ्चमहाभूतात्मकभाव-परिचय-तालिका	,,
लोक तथा पुरुष की समानता	८८०
जन्म के बाद पैदा होने वाले अंग	,,
दोहद-विवेचन	८८१
गर्भवती के लक्षण (Signs of Pregnant)	८८३
दोहद की पूर्ति आवश्यक	८८४
गर्भनाशक भाव	,,
दोहद की पूर्ति न करने से हानि	८८५
चौथे मास में गर्भ का स्वरूप	,,
पाँचवें मास में गर्भ का स्वरूप	,,
छठे मास में गर्भ का स्वरूप	,,
सातवें मास में गर्भ का स्वरूप	८८६
आठवें मास में ओज की अस्थिरता	,,
प्रसवकाल की सीमा	,,
उपसंहार	८८७
जो गर्भ की वृद्धि का कारण है	,,
जिससे गर्भ उत्पन्न होते हुए गर्भाशय में नष्ट हो जाता है	,,
जिससे सम्पूर्ण रूप से नष्ट न होता हुआ गर्भ भी विकृत हो जाता है	८८८
विकृत बीज का प्रभाव	८८९
मातृज आदि विकृतियों का वर्णन	,,
आत्मा का स्वरूप	,,
शारीरिक तथा मानसिक दोष	८९०

विषय	पृष्ठ
शरीर के भेद	८९०
सोलह मानस प्रकृतियाँ (Sixteen Mental Constitutions)	,,
सात्विक सत्व के ७ भेद	,,
ब्राह्मसत्व-परिचय	,,
आर्षसत्व-परिचय	८९१
ऐन्द्रसत्व-परिचय	,,
याम्यसत्व-परिचय	,,
वारुणसत्व-परिचय	,,
कौबेरसत्व-परिचय	८९२
गान्धर्वसत्व-परिचय	,,
सात्विक सत्वों का उपसंहार	,,
राजससत्व के ६ भेद	८९३
आसुरसत्व-परिचय	,,
राक्षससत्व-परिचय	,,
पैशाचसत्व-परिचय	,,
सार्पसत्व-परिचय	८९४
प्रैतसत्व-परिचय	,,
शाकुनसत्व-परिचय	,,
राजससत्वों का उपसंहार	,,
तामससत्व के तीन भेद	,,
पाशवसत्व-परिचय	,,
मात्स्यसत्व-परिचय	८९५
वानस्पत्यसत्व-परिचय	,,
तामससत्वों का उपसंहार	,,
सत्वों की गणना	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८९६
(५) पुरुषविचयशारीराध्याय	**८९७-९०४**
लोक से पुरुष की समानता	८९७
अग्निवेश का प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	,,
लोक-पुरुष का साम्य विवेचन	८९८
लोक-पुरुषगत कतिपय प्रमुख भाव	,,
आत्रेय से अग्निवेश का प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	८९९
मोक्ष-प्राप्ति-परम्परा	,,
अग्निवेश का प्रश्न	,,
आत्रेय का उत्तर	९००
मोक्ष का लक्षण	९०१
मोक्ष-प्राप्ति के उपाय	,,

विषय	पृष्ठ
शुद्ध सत्व-स्वरूप	९०२
सत्याबुद्धि का स्वरूप	,,
लोक-पुरुष में समानता का फल	९०३
मुक्त-परिचय	,,
मुक्ति के पर्याय	,,
शरीरविचय का महत्व	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९०४
(६) शरीरविचयशारीराध्याय	**९०४-९१८**
शरीरविचय-प्रकरण	९०४
प्रस्तुत अध्याय की उपयोगिता	,,
शरीर-परिचय	,,
धातुओं के वृद्धि-ह्रास में कारण	९०५
औषधद्रव्य का सदुपयोग	,,
धातु-साम्य का महत्व	९०६
धातु-साम्यकर स्वस्थवृत्त	,,
धातुओं का वृद्धि-ह्रास-क्रम	९०७
शरीरस्थ धातुओं के गुण	,,
वृद्धि-ह्रासकारक पदार्थ	९०८
समानगुणभूयिष्ठ प्रतिनिधि द्रव्य	९०९
शरीरवृद्धिकर भाव	,,
बलवर्धक भाव	,,
आहारपरिणामकर भाव	९१०
आहारपरिणामकारक भावों के कर्म	,,
अनुकूल-प्रतिकूल आहार-गुण	,,
दो प्रकार से शरीर-गुण	९११
वातादि ही रोग तथा स्वास्थ्यकर	,,
शरीरज्ञान का महत्व	९१२
गर्भविषयक प्रश्न	,,
सबसे पहले गर्भाशय में कौन-सा अंग पैदा होता है ?	९१३
गर्भ का मुख किधर रहता है और वह कैसे अन्दर रहता है ?	९१४
किसी आहार से वह जीवित रहता है ?	,,
किस प्रकार वह निकलता है ?	९१५
रोगरहित होकर कैसे बढ़ता है ?	,,
किन आहार-उपचारों से यह जातक शीघ्र मर जाता है ?	,,
क्या इसको देवादिप्रकोपनिमित्तक विकार होते हैं, या नहीं ?	९१६

विषय	पृष्ठ
काल तथा अकालमृत्यु पर विचार (Thought of timely and untimely Death)	९१६
गर्भ की कालमृत्यु और अकालमृत्यु के बारे में आपका क्या विचार है ?	,,
इसकी परमायु क्या है ?	९१७
कौन इसके परमायु के कारण हैं ?	९१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(७) शरीरसंख्याशारीराध्याय	**९१९-९२९**
अग्निवेश का शरीरविषयक प्रश्न	९१९
छः त्वचाओं का वर्णन	,,
शरीर-अंग-विभाग	९२१
शरीर में अस्थियों की संख्या	,,
इन्द्रिय-विवेचन	९२३
इन्द्रियों के ५ अधिष्ठान	,,
हृदय	९२४
दस प्राणायतन	,,
पन्द्रह कोष्ठांग	९२५
५६ प्रत्यंग	,,
शरीर के नौ बड़े छिद्र	,,
दृश्यशरीर का स्वरूप	९२६
स्नायु आदि की संख्या	,,
रस आदि का परिमाण	९२७
पार्थिव-भाव	९२८
आप्यभाव	,,
तैजसभाव	,,
वायवीयभाव	,,
आन्तरिक्षभाव	,,
आत्मजभाव	,,
शरीरावयवों की असंख्यता	९२९
शरीरावयव-ज्ञान से लाभ	,,
उपसंहार	,,
(८) जातिसूत्रीयशारीराध्याय	**९३०-९८२**
गर्भाधान-प्रकरण (Chapter of Conception)	९३०
उत्तम सन्तानोत्पत्ति का उपदेश	,,
गर्भाधान से पहले स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य	,,
ऋतुकाल में नारी का कर्त्तव्य	९३१
गर्भाधान-विधि	,,
सहवास के अयोग्य स्त्री	९३२

विषय	पृष्ठ
शय्यारोहण-क्रम	९३३
गर्भाधान-काल में पठनीय मन्त्र	,,
पौराणिक मन्त्र	,,
गर्भ एवं गर्भिणी परिचर्या (Care of Product of Conception & Pregnant Women)	९३४
उत्तम सन्तान-प्राप्ति के उपाय	,,
यज्ञवेदी-विधान	९३५
पुत्रेष्टि-यज्ञ की विधि	,,
इच्छित पुत्रोत्पत्ति के अन्य उपाय	९३६
शूद्रा के लिये विधान	९३७
देश-विशेष के पुरुषों के अनुरूप पुत्र-कामना	,,
गौर-श्याम आदि वर्णों का कारण	,,
मन की भिन्नता में कारण	९३८
शुक्र-शोणित का गर्भरूप में परिवर्तन	,,
गर्भ का स्त्री-पुरुष होने में हेतु विभाग	८३९
पुंसवनसंस्कार की अवधि	,,
पुंसवन-संस्कार-विधि	९४०
गर्भस्थापक-ओषधियाँ	९४२
गर्भविनाशक-भाव	९४३
गर्भिणी-परिचर्या	९४४
दूसरे-तीसरे मास में पुष्पदर्शन	९४५
पुनः गर्भस्थापन-विधि	९४६
आमदोषज मासिकस्राव	९४७
उपविष्टकरोग-सम्प्राप्ति-लक्षण	,,
नागोदर-सम्प्राप्ति-लक्षण	९४८
उपविष्टक, नागोदर की चिकित्सा	,,
लीनगर्भ-लक्षण और चिकित्सा	९४९
गर्भिणी की उदावर्तरोग	९५०
उदावर्तनाशक निरूह-अनुवासन	,,
गर्भ-मृत्यु के कारण तथा मृतगर्भा के लक्षण	९५१
मृतगर्भा की चिकित्सा में विभिन्न मत	९५२
गर्भशल्य को निकालने के बाद चिकित्सा	,,
स्नेह-चिकित्सा-निर्देश	९५३
मासानुसार गर्भिणी-उपचार (Monthly Treatment of Pregnant Women)	,,
प्रथम मास से सप्तम मास तक	,,
किक्किशरोग-चिकित्सा	९५४
अष्टम तथा नवम मास में	९५५
मासानुसार गर्भिणी के उपचार का फल	,,

विषय	पृष्ठ
सूतिकागार की रचना (Construction of Maternity Ward)	९५६
प्रसव के पूर्व का कर्म	,,
प्रसव के पूर्व संग्रहणीय वस्तुएँ	९५७
प्रसव की प्रारम्भिक स्थिति (First Stage of Labour)	९५८
प्रसव की द्वितीय स्थिति (Second Stage of Labour)	९५९
गर्भाशय के जड़त्व में कर्त्तव्य (Management of Uterine Inertia)	९६०
प्रसवकाल में मन्त्र-प्रयोग	९६१
गर्भिणी को निर्देश (Instructions to Pregnant Women)	९६३
तृतीय अवस्था (Third stage) अपरा पातन	,,
सद्योजात शिशु-परिचर्या (Care of Child just after Delivery)	९६४
अन्य परिचर्या	९६५
नाल-छेदन (Cutting of Umbilical Cord)	९६६
अविधि नाल-छेदन से होने वाले रोग तथा उनका उपचार	९६७
जातकर्म-विधि	,,
बालक का रक्षा-विधान (Protection of the New-born)	९६९
प्रसवोत्तर काल के लिये व्यवस्था (Management of Puerperium)	९७०
सूतिका-चिकित्सा-सूत्र	९७१
नामकरण-संस्कार (Proper Name Ceremony)	९७२
बालक के दीर्घायु लक्षण	९७३
धात्री-परीक्षा (Examination of the Wet Nurse)	९७६
उत्तम-स्तन	,,
उत्तम दूध	९७७
अशुद्ध दूध के लक्षण	,,
दुग्ध-विकार-चिकित्सा	९७८
दुग्धोत्पादक खान-पान	,,
धात्री का कर्त्तव्य	९७९
कुमारागार (Pediatric Ward) विधि	,,
बालक की शयन-व्यवस्था	९८०
धूपन-द्रव्य	,,
धारणीय मणियाँ	,,
बालकों के लिये खिलौने (Playthings of Babies)	९८१
बालक की देखभाल	,,
बालकों की चिकित्सा	,,
युवावस्था तक पालनीय कर्म	९८२
नियम-पालन की फलश्रुति	,,
उपसंहार	,,

शारीरस्थान समाप्त ।

इन्द्रियस्थान

विषय	पृष्ठ
(१) वर्णस्वरीयेन्द्रियाध्याय	**९८३-९९४**
इन्द्रियस्थानोक्त विषय-सूची	९८४
प्रकृति-विकृति द्वारा परीक्षा	९८७
प्रकृति-भेद	,,
विकृति-भेद	९८८
लक्षणनिमित्ता-विकृति	,,
लक्ष्यनिमित्ता-विकृति	,,
निमित्तानुरूपा-विकृति	९८९
वर्ण पर आधारित पूर्वानुमान (वर्णाधिकार) (Prognosis based on Colour)	,,
प्राकृतिक वर्ण	,,
वैकारिक वर्ण	९९०
वर्ण-विचार	,,
वर्णजनित-अरिष्ट	,,
मुख के अरिष्ट	,,
नखादि पर अरिष्ट-लक्षण	९९१
वर्णाधिकार की समाप्ति	,,
स्वर पर आधारित पूर्वानुमान (स्वराधिकार) (Prognosis based on Voice)	,,
प्राकृतिक-स्वर	,,
वैकारिक-स्वर	,,
स्वराधिकार की समाप्ति	९९२
उपसंहार	९९३
अरिष्ट-लक्षण	,,
उपसंहार	९९४
(२) पुष्पितकेन्द्रियाध्याय	**९९५-९९९**
गन्ध पर आधारित पूर्वानुमान (गन्धाधिकार) (Prognosis based on Flower like Smell)	९९५
पुष्प तथा अरिष्ट में समानता	,,
अरिष्ट मृत्यु का परस्पर सम्बन्ध	,,
प्रज्ञापराधज-अरिष्ट	९९६
पुष्पित-अरिष्ट	,,
पुष्पित का पहला भेद	,,
पुष्पित का दूसरा भेद	९९७
पुष्पित का तीसरा भेद	,,
पुष्पित का चौथा भेद	,,
शुभ-अशुभ गन्ध द्रव्य	९९७
अरिष्ट सामान्य संकेत	,,
गन्धविज्ञान की समाप्ति	९९८
रस पर आधारित पूर्वानुमान (रसाधिकार) (Prognosis based on Taste of the Body)	,,
रस सम्बन्धी अरिष्ट	,,
रसविकृति के भेद	,,
रसविकृति-परिचय	,,
अनुमान से रसारिष्ट का ज्ञान	,,
विरसता का अनुमान	,,
सरसता का अनुमान	९९९
उपसंहार	,,
(३) परिमर्शनीयेन्द्रियाध्याय	**९९९-१००२**
पूर्व वर्णित विषय	९९९
स्पर्श द्वारा जानने योग्य अरिष्ट	१०००
अरिष्टों के उदाहरण	,,
अन्य अवयवों द्वारा अरिष्ट-ज्ञान	१००१
उपसंहार	१००२
(४) इन्द्रियानीकेन्द्रियाध्याय	**१००३-१००७**
इन्द्रिय-परीक्षा-निर्देश	१००३
अनुमान से इन्द्रिय-परीक्षा	,,
इन्द्रिय-ज्ञान से अरिष्ट-ज्ञान	,,
नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट	,,
विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट	१००४
शब्द सम्बन्धी अरिष्ट	१००५
गन्ध सम्बन्धी अरिष्ट	१००६
जीभ सम्बन्धी अरिष्ट	,,
त्वचा सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अतिशक्तिजनित इन्द्रिय-अरिष्ट	,,
प्रकारान्तर से इन्द्रियारिष्ट	१००७
स्वस्थ स्थिति का अरिष्ट	,,
उपसंहार	,,
(५) पूर्वरूपीयेन्द्रियाध्याय	**१००८-१०१५**
पूर्वरूप पर आधारित पूर्वानुमान (Prognosis based on Prodromal)	१००८

विषय	पृष्ठ
पूर्वरूप सम्बन्धी अरिष्ट	१००८
ज्वर सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्यत्र अरिष्ट संकेत	,,
पूर्वरूपैकदेशज अरिष्ट	,,
यक्ष्मा सम्बन्धी अरिष्ट	१००९
स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
रक्तपित्त सम्बन्धी अरिष्ट	,,
गुल्म सम्बन्धी अरिष्ट	,,
गुल्म में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
कुष्ठ सम्बन्धी अरिष्ट	,,
कुष्ठ में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
प्रमेह सम्बन्धी अरिष्ट	१०१०
प्रमेह में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
उन्माद सम्बन्धी अरिष्ट	,,
उन्माद में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अपस्मार सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अपस्मार में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
वहिरायाम सम्बन्धी अरिष्ट	१०११
वहिरायाम में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अरिष्टज्ञान का फल	,,
अन्य स्वप्नों का निर्देश	,,
स्वप्न पर आधारित पूर्वानुमान (Prognosis based on Dreams)	,,
अरिष्टकारक स्वप्न-वर्णन	१०१२
स्वप्नों का दोषों से सम्बन्ध	१०१३
स्वप्न-दर्शन में मन की प्रधानता	,,
स्वप्न के सात भेद (Seven Types of Dreams)	,,
स्वप्नफल-निर्देश	१०१४
फल-प्राप्ति की अवधि	,,
स्वप्नों का पौर्वापर्य फल	,,
उपसंहार	१०१५

(६) कतमानि शरीरेन्द्रियाध्याय १०१५-१०१८

विषय	पृष्ठ
रोगयुक्त शरीर सम्बन्धी प्रश्न	१०१५
चिकित्सा के अयोग्य रोगी	,,
अतिसार तथा हिक्का के अरिष्ट	१०१६
आनाह आदि के अरिष्ट	,,
ज्वर-कास सम्बन्धी अरिष्ट	,,
कफज-कास सम्बन्धी अरिष्ट	,,
मूत्र-पुरीष सम्बन्धी अरिष्ट	१०१६
शोथ सम्बन्धी अरिष्ट	,,
श्लेष्मा सम्बन्धी अरिष्ट	१०१७
कास-ज्वर सम्बन्धी अरिष्ट	,,
चिकित्सा-निषेध	,,
ज्वर-अतिसार-शोथ सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्य चिकित्स्य रोगी	,,
उपसंहार	१०१८

(७) पन्नरूपीयेन्द्रियाध्याय १०१९-१०२४

विषय	पृष्ठ
प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट	१०१९
छाया सम्बन्धी अरिष्ट	,,
छाया-प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट	,,
संस्थान (Shape) परिचय	१०२०
छाया-प्रतिच्छाया-परिचय	,,
छाया के पाँच भेद	,,
वायवी छाया	१०२१
आम्भसी छाया	,,
छायाओं की फलश्रुति	,,
प्रभा की उत्पत्ति का कारण, भेद तथा फल	,,
छाया तथा प्रभा में अन्तर (Difference between Shadow and Lustre)	१०२२
अरिष्ट-लक्षण	,,
सात दिन के भीतर मृत्यु के लक्षण	,,
पन्द्रह दिन के भीतर मृत्यु के लक्षण	,,
सामान्य अरिष्ट-लक्षण	१०२३
बल-वर्ण-हानिजनित अरिष्ट	,,
दीर्घ श्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट	,,
क्षीण श्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट	,,
ऊर्ध्व श्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट	,,
नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट	,,
विविध विषयक अरिष्ट	१०२४
अन्य अरिष्ट	,,
लिंग-वृषण सम्बन्धी अरिष्ट	,,
एक मास के भीतर मृत्यु के लक्षण	,,
उपसंहार	,,

(८) अवाक्शिरसीयेन्द्रियाध्याय १०२५-१०२९

विषय	पृष्ठ
शिर-प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट	१०२५
नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट	,,

विषय	पृष्ठ
तीन या छः दिन में मृत्यु के लक्षण	१०२५
केश सम्बन्धी अरिष्ट	१०२६
नासिका सम्बन्धी अरिष्ट	,,
विविध-विषयक अरिष्ट	,,
दाँत सम्बन्धी अरिष्ट	,,
जीभ सम्बन्धी अरिष्ट	,,
श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी अरिष्ट	१०२७
आयुःक्षय के लक्षण	,,
अन्य अरिष्ट	,,
उपसंहार	१०२९

(९) यस्य श्यावनिमित्तेन्द्रियाध्याय १०२९-१०३२

विषय	पृष्ठ
नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट	१०२९
अन्य अरिष्ट	,,
राजयक्ष्मा सम्बन्धी अरिष्ट	१०३०
विविध रोग सम्बन्धी अरिष्ट	,,
आनाह सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्य अरिष्ट	,,
अरिष्ट में चिकित्सा-निर्देश	१०३१
थूक, शुक्र, मल सम्बन्धी अरिष्ट	,,
शंखक-रोग-सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्य अरिष्ट	१०३२
पैतालीस दिन का अरिष्ट	,,
उपसंहार	,,

(१०) सद्योमरणीयेन्द्रियाध्याय १०३२-१०३६

विषय	पृष्ठ
प्रस्तुत अध्याय की प्रस्तावना	१०३३
अन्य अरिष्ट	,,
उपसंहार	१०३६

(११) अणुज्योतीयेन्द्रियाध्याय १०३६-१०४१

विषय	पृष्ठ
एक वर्ष के भीतर मृत्यु के लक्षण	१०३६
बलि सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अरुन्धती सम्बन्धी अरिष्ट	,,
एक वर्ष के भीतर मृत्यु का लक्षण	१०३७
छः मास के भीतर मृत्यु का लक्षण	,,
शुक्र, मल, मूत्र सम्बन्धी अरिष्ट	,,
एक मास के भीतर मृत्यु का लक्षण	१०३८
शीघ्रमारक अरिष्ट	,,
मसूरिका सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्य अरिष्ट	१०३८
नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट	१०३९
अन्य अरिष्ट	,,
पञ्चमहाभूत सम्बन्धी अरिष्ट	,,
अन्य अरिष्ट	,,
यम के वशीभूत रोगी	१०४०
त्याज्य रोगी	,,
चतुष्पाद सम्बन्धी अरिष्ट	,,
आयुपरीक्षा का महत्त्व	,,
अरिष्ट-लक्षण की निरुक्ति	१०४१

(१२) गोमयचूर्णीयेन्द्रियाध्याय १०४१-१०५२

विषय	पृष्ठ
एक मास के भीतर मृत्यु का लक्षण	१०४१
गति सम्बन्धी अरिष्ट	,,
आधे मास के भीतर मृत्यु का लक्षण	,,
औषध-निर्माण सम्बन्धी अरिष्ट	१०४२
सिद्ध-औषध की असफलता सम्बन्धी अरिष्ट	,,
आहार सम्बन्धी अरिष्ट	,,
दूत पर आधारित पूर्वानुमान (दूताधिकार) (Prognosis based on Messenger)	,,
दूताधिकार का निर्देश	,,
वैद्य के अनुसार अरिष्ट-लक्षण	,,
वैद्य की अन्य स्थितियों का वर्णन	१०४३
दूत तथा रोगप्रकृति की समानता निषिद्ध	,,
दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट	,,
दूताधिकार का उपसंहार	१०४४
मार्ग में घटित अमंगलकारी लक्षणों पर आधारित पूर्वानुमान (Prognosis based on Inauspicious Marks Occuring in Way)	,,
मार्ग में होने वाले अरिष्ट	,,
आतुरकुल में अमंगलकारी लक्षणों पर आधारित पूर्वानुमान (Prognosis based on Inauspicious Marks in the Home of the Patient)	१०४५
अरिष्टसूचक लक्षण	,,
सामान्य अरिष्ट-लक्षण	,,
शयन आदि सम्बन्धी अरिष्ट	१०४६
मित्रों की उपेक्षारूपी अरिष्ट	,,
अन्नव्यापत्ति आदि अरिष्ट	,,

विषय	पृष्ठ
पात्र सम्बन्धी अरिष्ट	१०४६
संक्षेप में मुख्य अरिष्ट-लक्षण (Resume of the Main Prognostic Points)	"
समस्त अरिष्ट-लक्षणों का उपसंहार	"
शास्त्र तथा उद्देश के अनुसार विनाश के लक्षण	१०४७
मुमूर्षु पुरुष के लक्षण	"
इन्द्रिय आदि का शक्ति-ह्रास	"
स्मृति आदि का क्षय	"
शील आदि में विकार की उत्पत्ति	"
अन्य अरिष्ट	"
स्पन्दनशील अवयवों में जड़ता	१०४८
गुणविपरीतता सम्बन्धी अरिष्ट	"
अन्य अरिष्ट	"
औषधयोगों की प्रभावहीनता	१०४८
अन्य अरिष्ट	"
प्रकृति-विकृति सम्बन्धी अरिष्ट	१०४९
प्रमुख अरिष्ट लक्षणों का उपसंहार	"
रोगी की मृत्यु-सूचना कैसे देनी चाहिये ?	"
लक्षणों के आधार पर स्वास्थ्य या मृत्यु-निर्णय	"
शुभ दूत के लक्षण	१०५०
मांगलिक द्रव्य	१०५१
अन्य शुभ लक्षण	"
सुख-साध्य रोगी	१०५२
आरोग्य-लाभ का फल	"
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	"
इन्द्रियस्थान की फलश्रुति	"

इन्द्रियस्थान समाप्त ।

चरकसंहिता

(प्रथम भाग)

॥ श्रीः ॥

महर्षिपुनर्वसु-आत्रेयेणोपदिष्टा श्रीमदग्निवेशेन प्रणीता

चरकदृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता

चरक-संहिता

चरक-चन्द्रिका-हिन्दीव्याख्यया, विशेषवक्तव्यादिभिश्च विभूषिता

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

यल्लीलायितविश्वमेतदखिलं यस्मिन् पुनर्लीयते
यस्मात् स्थावरजङ्गमात्मकमिदं लोकं दरीदृश्यते।
भासा यस्य विभान्ति सर्वजगतो ज्योतींषि सर्वात्मना
तं देवं जगदेककारणमयं वन्दे त्रिलोकीश्वरम्॥ १॥

ब्रह्माप्रजापतिमुखा अश्विदेवेन्द्रसत्तमाः।
आयुर्वेदोपदेष्टारः प्रणम्याः पूर्वसूरयः॥ २॥

आयुर्वेदगतं रहस्यमखिलं जानाति वागीश्वरो
श्रीमानत्रिमुनिश्चिकित्सकवरो धन्वन्तरिर्वा स्वयम्।
ज्ञाता तस्य गुरोः कुशाग्रधिषणाद् विद्यार्थिकल्पद्रुमाद्
दृष्टः कोऽपि न लालचन्द्रविबुधादन्यो धरित्रीतले॥ ३॥

काशीपण्डितमण्डलीनुतपदः सर्वागमानां निधिः
शास्त्राध्यापननैपुणी स्तुतिपदं याता यदीयाऽनिशम्।
यट्टीका सुधियां धियां सुखकरी मन्मानसं निर्मलं
सोऽस्माकं महनीय आर्यचरितः श्रीलालचन्द्रो गुरुः॥ ४॥

कृपाकटाक्षतो यस्य प्रवृत्तोऽस्म्यल्पधीरपि।
टीकायां चरकस्यास्य वन्दे तं गुरुपुङ्गवम्॥ ५॥

तारादत्ततनूजस्य ब्रह्मानन्दत्रिपाठिनः।
टीकया विदुषां तोषः परं स्यादिति कामये॥ ६॥

'अथ' इस मंगल वाचक शब्द के प्रयोग के पश्चात् हम 'दीर्घञ्जीवितीय' नामक चरक के प्रथम अध्याय का व्याख्यान करेंगे अथवा व्याख्यान करते हैं।

वक्तव्य—अथ—'ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ' ॥ स्मृति ।
और—'अर्थान्तरप्रयुक्तः, अथ शब्दः श्रुत्या मङ्गलमारचयति' शाङ्करभाष्य ।
'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते' । महाभाष्य ।

इस प्रकार चरकसंहिता के आरम्भ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द प्राचीन शास्त्रीय मङ्गलाचरण का निर्वाह करने में पूर्णतः सक्षम है । उक्त स्मृतिवचन में 'कण्ठं भित्वा' से यह अभिप्राय है कि वैदिक वाङ्मय के लिये ॐकार और लौकिक वाङ्मय के लिये 'अथ' ये दो शब्द सर्वप्रथम अथवा क्रमशः ब्रह्मा के मुख से आविर्भूत हुए अत एव ग्रन्थ के आरम्भ में अथ का प्रयोग किया गया है ।

वैदिक काल से ही ग्रन्थ के आदि, मध्य, अन्त में मङ्गलाचरण की परम्परा ग्रन्थ पूर्ति तथा उसकी प्रसिद्धि आदि सद्भावनाओं के दृष्टिकोण से होती आयी है, जिसका समादर महर्षि अग्निवेश ने प्रस्तुत **चरक-संहिता** में 'अथ' शब्द के प्रयोग द्वारा किया है, क्योंकि ॐकार तथा अथ इन दो शब्दों को माङ्गलिक स्वीकार किया गया है । यह परम्परा हमको वेदों के परवर्ती साहित्य में भी पुष्कल रूप से दृष्टिगोचर होती है । यथा—अथ निर्वचनम्, अथ योगानुशासनम्, अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, अथ शब्दानुशासनम्, अथ प्रजानामधिपः प्रभाते, अथ मैत्रीपरः पुण्यम्, इत्यादि स्थलों में 'अथ' शब्द का प्रयोग मंगल के लिये ही किया गया है ।

दूसरा अभिप्राय—उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द से ऐसा भी संकेत मिलता है कि चरकसंहिता की रचना पौराणिक युग से पहले हुई है, क्योंकि पौराणिक काल में गणेश, सरस्वती, विष्णु आदि देवताओं के नमस्कारात्मक मंगलाचरण दृष्टिगोचर होते हैं । इसके पूर्व वेदों में ॐकार और तत्परवर्ती वाङ्मय में अथ शब्द द्वारा ही मङ्गलाचरण देखा जाता है ।

अतः—पञ्चम्यन्ताद् एतद् शब्दात् तसिल् प्रत्यये—'अतः' इति रूपम् । यह अतः शब्द किसी वृत्तविशेष की अभिव्यञ्जना करता हुआ सहेतुक अर्थ का अभिधान करता है । एतद् शब्द सर्वनाम होने के कारण प्रसंग प्राप्त प्राणिमात्र की दीर्घायु की इच्छा से सम्बन्धित है ।

दीर्घञ्जीवितीयम्—शब्द की निरुक्ति—'दीर्घञ्जीवितमित्यधिकृत्य दीर्घञ्जीवितशब्दोऽस्मिन्निति, मत्वर्थे 'अध्यायानुवाकयोर्लुक्' ५।२।६०, इति छः प्रत्ययः ततः छस्य ईय इति शब्दः साधुः । अथवा—
दीर्घञ्जीवितशब्दमधिकृत्य कृतोऽध्यायरूपो ग्रन्थरूपस्तन्त्ररूपो वा, इत्यर्थे 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' ४।३।८७। इत्यधिकारात् 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' । ४।३।८८ । इति छ प्रत्यये ईयि रूपम् ।

न्यायशास्त्र के अनुसार 'अङ्गुलिग्रहणेन देवदत्तोऽपि गृहीतो भवति' अर्थात् अंगुली को पकड़ने (अङ्ग विशेष के ग्रहण करने) से अङ्गी का भी जिस प्रकार ग्रहण मान लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार 'दीर्घञ्जीवितीय' नामक इस अध्याय का नाम ग्रहण करने से इस अध्याय विशेष का तथा इससे सम्बन्धित आयुर्वेद शास्त्र का ग्रहण हो जाता है । इसी अध्याय के तीसरे पद्य में 'दीर्घञ्जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्' का निर्देश किया गया है । आयुर्वेद का आयु (हितायु, सुखायु, दीर्घायु) शब्द भी दीर्घजीवन से निश्चित ही सम्बन्धित है । आयुर्वेद की निम्नोक्त परिभाषा पर ध्यान दें—

हिताऽहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताऽहितम् ।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ इति ।

दीर्घजीवन—इसी को दीर्घायु कहते हैं, व्यञ्जना वृत्ति का अनुसरण करने पर दीर्घायु शब्द से अल्पायु का भी संकेत मिलता है, जिससे अथवा जिसकी आशंका से भयभीत हो हमारे आचार्यों ने इस प्रकार का उद्योग प्रारम्भ किया । यह दीर्घजीवन युगानुसार ज्योतिःशास्त्र में विभक्त हमको विभिन्न जीवधारियों के अनुसार इस प्रकार मिलता है ।

शतायुर्वै पुरुषः—इसके अनुसार पुरुष (स्त्री-पुरुष) की आयु १०० वर्ष की कही गयी है, इसी की प्राप्ति के लिये वह प्रतिदिन 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' के आधार पर भगवान सूर्य से प्रार्थना करता है 'जीवेम शरदः शतम्' ।

युगानुसार आयु का प्रमाण—चरक विमान-स्थान अध्याय ३ के अनुसार सत्ययुग में मनुष्यों की आयु

४०० वर्ष, त्रेता में ३०० वर्ष, द्वापर में २०० वर्ष और कलियुग १०० वर्ष होती है । इसका विशेष विवरण च० वि० अ० ३ में देखें ।

अध्याय—'अधीयतेऽस्मिन् इति अध्यायः' अधि+इङ्+अधिकरणे घञ् । अथवा चरक सूत्रस्थान अध्याय ३० में 'अधिकृत्येयमध्यायनाम संज्ञा प्रतिष्ठिता' । यह अध्याय संज्ञा योगरूढ संज्ञा है । 'करणाधिकरणयोर्श्च'—**अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च** । ३।३।१२२ ॥ इस सूत्र से अधिकरण अर्थ में निपातनात् अध्याय पद की सिद्धि हुई है ।

व्याख्यास्यामः—कदा गमिष्यसि, एष गच्छामि गमिष्यामि वा, इति वद् भविष्यत् कालः 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' । ३।३।१३१ ॥ वि+आ+ख्यास्यामः = विशेष रूप से वर्णन करते हैं और आगे विषय की समाप्ति पर्यन्त करेंगे ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

भगवान् आत्रेय ने ऐसा कहा था ॥ २ ॥

इति ह—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था यह सुप्रसिद्ध है, इसको चरितार्थ करने के लिये, **इति ह** का प्रयोग किया गया है । इति शब्द—१-इतिहास वाचक, २-किसी कथन को प्रकट करनेवाला, ३-यह अर्थवाला और ४-निम्नलिखित अर्थ का सूचक देखा जाता है । **ह** इति प्रसिद्धौ, 'ह' का अर्थ है प्रसिद्ध ।

स्म—'लट् स्मे' ३।२।११८ । 'अपरोक्षे च' ३।२।११९ । स्म का प्रयोग भूतकाल में लिट् लकार के अर्थ में होता है, किन्तु आचार्य चक्रपाणिदत्त ने अपनी टीका में लिखा है 'न-भूताऽनद्यतनपरोक्षे, आत्रेयोपदेशस्याग्निवेशं प्रत्यपरोक्षत्वात्' अर्थात् यहाँ भूताऽनद्यतन परोक्ष में **स्म** का प्रयोग नहीं मानना चाहिये, क्योंकि आत्रेय का उपदेश जो अग्निवेश को हुआ था वह परोक्ष में न होकर प्रत्यक्ष में हुआ था ।

आचार्य चक्रपाणिदत्त की चिन्ता का सुसमाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है । ऊपर जो **अपरोक्षे** च सूत्र उद्धृत किया है उसका उदाहरण है—**एवं स्म पिता ब्रवीति** । ध्यान दें—जिस प्रकार **स्म** के रहने पर भी **पिता ब्रवीति** प्रयोग पाणिनि ने किया है, उसी का सर्वथा समानार्थक प्रयोग है **स्म आह** । 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' । ३।४।८४ । परस्मैपदी ब्रू धातु लट् लकार के प्रथम पाँच (तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्) को णल् आदि पाँच लिट् लकार के प्रत्यय और **ब्रू** को **आह** का आदेश हो । इस स्थिति में सिद्ध **आह** क्रिया लट् लकार के ब्रवीति का ही विकल्प रूप है । अतः **आह** क्रिया में णल् प्रकृति सम्बन्धित भूतकाल का आभास मात्र ही है, वास्तव में स्म पूर्वक आह क्रिया से आत्रेय और अग्निवेश के प्रत्यक्ष उपदेश में कालसम्बन्धित व्यवधान उत्पन्न न होकर समाधान ही प्राप्त होता है ।

भगवान्—भगं पूजितं ज्ञानं तद्वानिति, तथा—'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' । अथवा—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' । इन अर्थों से युक्त भगवान् शब्द का विशेषण के रूप में आत्रेय के लिये प्रयोग किया गया है । इस प्रकार की परम्परा अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है, यथा—**अथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः** । सुश्रुतसंहिता प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में देखें ।

आत्रेयः—अत्रेः अपत्यम् पुमान् आत्रेयः । पुनर्वसु आत्रेय अत्रि के पुत्र तथा शिष्य थे । पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश का नाम सर्वप्रथम आया है । यथा—'अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः' आदि । अग्निवेश ने आत्रेय के उपदेशों को तन्त्र का रूप दिया ।

सूत्रस्थान—चरकसंहिता के प्रथम विभाग को सूत्रस्थान कहते हैं । उपलब्ध चरकसंहिता में विषयों का प्रतिपादन गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है किन्तु कहीं कहीं अन्य व्यक्ति का समावेश भी देखा जाता है । अतएव इसमें वर्ण्य विषय को गुरु सूत्र, शिष्य सूत्र और प्रतिसंस्कर्ता सूत्रों के माध्यम से विभाजित किया गया है । शास्त्रों में चार प्रकार के सूत्रों का सामान्यतः उल्लेख मिलता है, यथा—गुरुसूत्र, शिष्यसूत्र, प्रतिसंस्कर्तृसूत्र और एकीयसूत्र । 'श्रुत्वा सूत्रणमर्थानाम्' । च० सू० अ० १।३४ । तथा 'सूत्रकृतामृषीणाम्' । च० शा० अ० ६।१८ । इनसे ज्ञात होता है कि इनमें विषयों का प्रतिपादन सूत्र रूप से हुआ था । चरक सूत्रस्थान अध्याय ३० में आयुर्वेद, सूत्र तथा तन्त्र शब्दों को पर्यायवाचक शब्द के रूप में निर्दिष्ट किया गया है । यथा—'तत्राऽऽयुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्' ।

चतुर्विधसूत्र—१. **गुरुसूत्र**—शास्त्रपरम्परा द्वारा प्राप्त निश्चयात्मक ज्ञान को गुरुसूत्र कहते हैं। जैसा चरक
सूत्रस्थान अध्याय ४ में-**नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यम् अग्निवेश'**। २. **शिष्यसूत्र**—गुरु द्वारा उपदिष्ट वह विषय
जिससे किसी कारण शिष्य आश्वस्त किंवा सन्तुष्ट न हो सके। जैसा चरक सूत्रस्थान अध्याय ४ में—**नैतानि**
भगवन्! पञ्च कषायशतानि पूर्यन्ते। ३. **प्रतिसंस्कर्तृसूत्र**-मूल ग्रन्थ का संस्कार (संशोधन, परिवर्धन करने
वाले को प्रतिसंस्कर्ता कहते हैं। जैसा इस अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता चरक है, चरक द्वारा कथित सूत्रात्मक
उपदेशों को प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र कहेंगे। इसी प्रकार पाणिनि के व्याकरण शास्त्र में वररुचि और पतञ्जलि प्रतिसंस्कर्ता
के रूप में संस्मृत आचार्य हैं। चरक सूत्र० अध्याय ४ में—**तमुवाच भगवानात्रेयः**। ४. **एकीयसूत्र**—जहाँ
विषय विशेष के समर्थन के लिये किसी आचार्य की उक्ति को प्रमाण रूप से उद्धृत किया जाता है उसको
एकीयसूत्र कहा गया है। यथा चरक शारीरस्थान अध्याय ४ में—**'कुमारस्य शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तत इति,**
कुमारशिरा भरद्वाजः।'

दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्। इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम् ॥ ३ ॥

दीर्घजीवन प्राप्ति के उपदेश, रहस्य, विज्ञान को जानने की इच्छा से महातपस्वी महर्षि भरद्वाज देवताओं के स्वामी, शरण में गये हुए का हित करने वाला जानकर इन्द्र (परम ऐश्वर्यशाली देवता) के पास गये ॥ ३ ॥

वक्तव्य—'शरणं गृहरक्षित्रोः', इत्यमरः। शरणे साधुः, इत्यर्थे शरणशब्दात् यत् प्रत्यये रूपम्। शरणागत का सर्वतोभावेन हित चिन्तन करना इन्द्र का स्वभाव था। अतः भरद्वाज सदेह इन्द्र के समीप आयुर्विज्ञान की जिज्ञासा से पहुँचे।

उग्रतपा—भरद्वाज महान् तपस्वी थे, ये अपने तपोबल के प्रभाव से सदेह स्वर्ग पहुँचे थे, क्योंकि तपोबल से मानव में लोकोत्तर शक्ति का सञ्चार होता है, जिससे वह विलक्षण कार्यों के करने में सक्षम हो जाता है। जैसा अगस्त्यमुनि का समुद्र शोषण आदि-आदि। प्राचीन काल में इक्ष्वाकुवंशीय राजा भी सदेह स्वर्ग में जाकर देवराज इन्द्र की दानवों से रक्षा करते थे। भूलोक में यह आयुर्वेद के अवतरण का प्रथम अवसर था। यह प्रकरण इसी अध्याय के १८ वें श्लोक से विस्तार को प्राप्त होता है।

यहाँ भरद्वाज जिस दीर्घजीवन की जिज्ञासा से इन्द्र के समीप गये थे वह इच्छा युगानुरूप दीर्घजीवन की रही है। जैसा कि हमने इसके पूर्व प्रत्येक युग की आयु का निर्देश किया है। विमानस्थान अध्याय ३ में इसका व्याख्यान इस प्रकार से उपलब्ध होता है—'संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्। देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते' ॥ और 'वर्षशतमायुषः प्रमाणमस्मिन् काले'। च० वि० अ० ३।

चक्रपाणि भरद्वाज का परिचय देते हुए लिखते हैं—'भरद्वाज इति गोत्रनाम'। इसी भरद्वाज का चरक में सर्वत्र ग्रहण किया गया है। श्रीमद्भागवत में भरद्वाज की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—'अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः। प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवाऽसृजत् ॥ तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम्। नाम निर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुराः जगुः ॥ मूढे भर द्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते। यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥ भा० ९, स्क० अ० २० श्लो० ३६-३८ ॥

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥ ४ ॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्। ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ॥ ५ ॥

इस सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को सर्वप्रथम ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति ने अक्षरशः ग्रहण किया, उसके पश्चात् दक्षप्रजापति से अश्विनीकुमारों ने, अश्विनीकुमारों से भगवान् इन्द्र ने इस उपदेश को प्राप्त किया। तदनन्तर ऋषियों के कहने पर महर्षि भरद्वाज इन्द्र के समीप आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये गये ॥ ४-५ ॥

वक्तव्य—इसके पूर्व हम व्याख्यान कर चुके हैं कि भरद्वाज ने अग्निवेश को आयुर्वेद का उपदेश दिया किन्तु यह परम्परा कहाँ से आरम्भ हुई, इसका संकेत उक्त पद्यों से प्राप्त होता है और यह भी सिद्ध होता है कि यह आयुर्वेद शास्त्र अनादि है इसका युगान्तरों में बारम्बार आविर्भाव होता रहा है। इसका संकेत वेदों में इस प्रकार मिलता है—'भिषक् ब्रह्मा'। ऋग्० ९।११२।१ तथा 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्'। यजु० १६।५। इसके अतिरिक्त अन्य भी देवभिषजों के नाम वेदों में इस प्रकार मिलते हैं। यथा—**अग्नि**—(अथ० ५।२९।

१)। **रुद्र**—(ऋ० २।३३।७)। **वरुण**—(यजु० २१।४० तथा ५८)। **इन्द्र**—(यजु० २८।९)। **अश्विनौ**—(ऋग्०—८।१८।८) **मरुत्**—(ऋग्० २।३३।१३)। **सरस्वती**—(यजु० २१।३०)। चरकसंहिता में भी देखें—'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च'। च० सू० अ० ३०।२५।

उक्त श्लोक संख्या ४ में दो शब्द **यथा प्रोक्तम्** और **निखिलेन** इनका सम्बन्ध प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र और भरद्वाज सबके साथ है, यदि ऐसा हम नहीं करेंगे तो उपदेश का अविकल ज्ञान प्राप्त न होकर आंशिक हानि की अनर्थकारी सम्भावना होती जायगी, जो हमको अभीष्ट नहीं है।

मनु आदि स्मृतिकर्ता महर्षियों ने गुरुऋण की निवृत्ति का एक ही उपाय बतलाया है, अपनी अधीतविद्या का योग्य छात्र को विधिवत् अविकल उपदेश देना—'यो हि गुरुभ्यः सम्यगादाय विद्यां न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः स खलु ऋणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दतीति'। अतएव सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता परम गुरु ब्रह्मा से दक्षप्रजापति ने ज्ञान प्राप्त कर उत्तरोत्तर शिष्य-प्रशिष्यों में इसका प्रसार किया, वे भी अगली पीढ़ियों को इसका अविकल उपदेश देते रहे। यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने आयुर्वेद के अवतरण के अलग-अलग सोपानों का वर्णन किया है, परन्तु कायचिकित्सा के आचार्य अग्निवेश का यही अभिमत है।

इस अवतरणिका का समर्थन हमें सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १ में इस प्रकार उपलब्ध होता—'अनुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः'। महर्षि वाग्भट अपने अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय १ में उक्त विषय को इस प्रकार समर्थन दे रहे हैं—'ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्। तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे'। अस्तु।

[1]विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताःशरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्य [2]व्रतायुषाम् ॥ ६ ॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥ ७ ॥

जब (जिस समय) तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत आदि पवित्र कार्यों में सम्पूर्ण आयु को समाप्त करनेवाले शरीरधारियों (पुरुषों) में विघ्न-बाधा उत्पन्न करने वाले रोग उत्पन्न होने लगे, उस समय पुण्यात्मा महर्षिगण प्राणियों पर कृपा करने की सदिच्छा से हिमालय के समीप शुभस्थान पर आकर एकत्रित हुए ॥ ६-७ ॥

वक्तव्य—देवलोकस्थित भूमि में आयुर्वेद की अवतारणा पर विचार। रुजन्तीति रोगाः। **विघ्नभूताः** अर्थात् विघ्नरूप, जो सत् कार्यों में बाधक हों। चरक के कुछ संस्करणों में **'विघ्नीभूताः'** पाठ का आदर किया है, हम नहीं समझ पाते कि क्या कभी रोगों का संक्रमण सुख, आनन्द या परोपकार के लिये भी होता रहा है? नहीं तो यहाँ पर 'च्वि' प्रत्यय के प्रयोग की क्या उपादेयता थी? विद्वज्जन विचार करें।

विमानस्थान अध्याय ३ में चरक की दिव्य दृष्टि हमको संकेत करती है कि—'भ्रश्यति तु कृतयुगे', अर्थात् सत्ययुग की समाप्ति के बाद ही रोगों का प्रादुर्भाव हुआ, उसके पूर्व नहीं था। आविर्भाव उसी का होता है, जिसकी सत्ता पूर्वकाल में रही हो।

शरीरिणाम्—शॄ हिंसायाम्, शीर्यते इति शरीरम्, तदस्यास्तीति—शरीरी, स्वयं विनाशशील शरीरवाले प्राणियों के शरीरों को रोग के सम्बन्ध से और भी शीघ्र विनष्ट होते हुए देखकर महर्षिगण चिन्तित होकर उनकी शान्ति का उपाय ढूंढने के लिये हिमालय के समीप एकत्रित हुए। क्योंकि रोगग्रस्त प्राणी तप, उपवास आदि को करने में असमर्थ हो जाते थे। उपवास की परिभाषा—

उपावृत्तस्य पापेभ्यः सहवासो गुणे हि यः।
उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम् ॥ इति।

महर्षयः—महर्षियों के ४ भेद कहे गये हैं—१-ऋषिकाः, २-ऋषिपुत्राः, ३-देवर्षयः, ४-महर्षयः। उक्त तीनों भेद महर्षियों के अनुगामी होते हैं।

भूतेष्वनुक्रोशम्—यहाँ पर **भूतेषु** शब्द का अर्थ प्राणिमात्र का बोधक है, अतः मनुष्य, पशु-पक्षी
अथवा सम्पूर्ण स्थावर-जंगम की चिकित्सा का उपदेश किया था। तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत

---

१. 'विघ्नीभूताः' पा०। २. 'व्रताजुषाम्' पा० तपोपवासेत्याद्यजुषामित्यर्थः।

रोगों तथा तप, उपवास आदि को करने वाले पुरुषों के
आदि में उपयोगी समस्त पदार्थों को विघ्नित करने वाले
रोगों का निराकरण करने के लिये पुण्यकर्मा महर्षियों ने हिमालय की उपत्यकाओं का आश्रय लिया।

अङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः। आत्रेयो गौतमः साङ्ख्यः पुलस्त्यो नारदोऽसितः ॥ ८ ॥
अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ। पारीक्षिर्भिक्षुरात्रेयो भरद्वाजः कपिञ्जलः[1] ॥ ९ ॥
विश्वामित्राश्वरथ्यौ च भार्गवश्च्यवनोऽभिजित्। गार्ग्यः शाण्डिल्यकौण्डिन्यौ[2] वार्क्षिर्देवलगालवौ ॥१०॥
साङ्कृत्यो वैजवापिश्च कुशिको बादरायणः। बडिशः [3]शरलोमा च काप्यकात्यायनावुभौ ॥११॥
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो [4]मारीचकाश्यपौ। शर्कराक्षो हिरण्याक्षो [5]लोकाक्षः पैङ्गिरेव च ॥१२॥
शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः। वैखानसा [6]बालखिल्यास्तथा चान्ये महर्षयः ॥१३॥
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो [7]दमस्य नियमस्य च। तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः ॥१४॥

अंगिरा जमदग्नि वसिष्ठ काश्यपगोत्रीय भृगु (अथवा कश्यप, भृगु) आत्रेय (अत्रिपुत्र तथा शिष्य) गौतम सांख्य पुलस्य नारद असित अगस्त्य वामदेव मार्कण्डेय आश्वलायन पारीक्षि भिक्षुआत्रेय भरद्वाज कपिजल विश्वामित्र आश्मरथ्य भार्गव च्यवन अभिजित् गार्ग्य शाण्डिल्य कौण्डिन्य देवल गालव सांकृत्य वैजवापि कुशिक बादरायण वडिश शरलोमा काप्य कात्यायन कांकायन कैकशेय धौम्य मारीचि काश्यप शर्कराक्ष हिरण्याक्ष लोकाक्ष पैङ्गि शौनक शाकुनेय मैमतायनि वैखानस बालखिल्य तथा इनके अतिरिक्त अन्य लब्धप्रतिष्ठ महर्षि भी सम्मिलित हुए थे। ये सभी महर्षि ब्रह्मज्ञान दम और नियम के समुद्र थे और तपस्या के तेज से हूयमान अग्नि (यज्ञकुण्ड की अग्नि) के समान देदीप्यमान (प्रकाशयुक्त) थे। उस सम्मेलन में सुखपूर्वक (एकाग्रचित्त) हो बैठकर इस पुण्य (लोकोपकारक) वार्ता पर परस्पर विचार करने लगे ॥ ८–१४ ॥

वक्तव्य—गङ्गाधरमते–आत्रेयोऽत्र कृष्णात्रिपुत्रः पुनर्वसुः। गौतमः साङ्ख्य इति। बौद्धविशेषगौतमव्यावृत्त्यै साङ्ख्य, इति। पुलस्त्यो नारदोऽसित इति। यस्यौरसः शूद्रायां देवर्षिर्नारदो जातः। अगस्त्यः सतीदेहोद्भवो वामदेवः। पारिक्षिर्नाम भिक्षुर्दण्डी स आत्रेय एव नत्वन्यस्य पुत्रः। भरद्वाजः कपिष्ठलो न तु कुमारशिरः प्रभृतिर्भरद्वाजः। शुनकपुत्रः शौनकः, शाकुनेयो नाम ब्राह्मणः। मैत्रेयो मैमतायनिः। बालखिल्या वैखानसा वानप्रस्थाः। अन्ये महर्षयो भद्रकाप्यादयः।

उपर्युक्त गंगाधर के मत का उल्लेख करने के बाद अब हम इन महर्षियों के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—**अगस्त्य**—दक्षिण भारत का प्रतिनिधि महर्षि। **काङ्कायन**—बलख या अरब देश का प्रतिनिधि था। **हिरण्याक्ष**—सोने की सदृश आंखों वाला सम्भवतः यूरोपीय ऋषि था। **पैङ्गि**—यह सम्भवतः चीन का प्रतिनिधि था। **वैखानस**—वानप्रस्थानश्रमसेवी। **बालखिल्य**– शिशुऋषि। **यम**—'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसादानमार्जवम्। प्रीतिः प्रसादश्चाचौर्यं मार्दवं च यमा दश' ॥ ये **दस** यम होते हैं। **नियम**—शौच-मिज्या तपो ध्यानं स्वाध्यायेन्द्रियनिग्रहौ। व्रतमौनोपवासाश्च स्नानञ्च **नियमा** दश ॥ ये **दस** नियम होते हैं।

सुखोपविष्टास्ते तत्र पुण्यां चक्रुः कथामिमाम्।
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥ १५ ॥
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ॥ १६ ॥
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः।
अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा ॥ १७ ॥
स वक्ष्यति शमोपायं यथावदमरप्रभुः।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार भेदों में विभक्त पुरुषार्थों (अर्थात् पुरुष का जिसके लिये जन्म हुआ है, दूसरे शब्दों में जिन उपर्युक्त धर्म आदि चारों की उपासना द्वारा प्राप्ति मात्र मानव देहधारी प्राणी ही कर सकता है न कि भोगयोनि में उत्पन्न प्राणी) का आरोग्य ही प्रधान कारण है (अर्थात् अनारोग्य=अस्वास्थ्य

१. 'कपिष्ठलः' पा०। २. 'कौण्डिल्यौ' ग०। ३. 'शवलोमा' पा०। ४. 'मारीचिकाश्यपौ' ग०।
५. 'लौगाक्षिः' पा०। ६. वानप्रस्थाः'। ७. 'यमस्थ' ग०।

इनकी प्राप्ति में बाधक होता है)। रोग उस श्रेयस् (अलौकिकसुख) तथा जीवित (लौकिकसुख=प्रेयस्) को हरने वाले हैं।

यह रोग समवाय (समूह) धर्म आदि पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन में विघ्न रूप में उत्पन्न है। इसके निराकरण का कौन सा उपाय है, ऐसी जिज्ञासा व्यक्त करके वे सभी ध्यानमग्न हो गये, अपनी दिव्यदृष्टि से उसके कारण को देखने लगे क्योंकि इनके लिये भूत, वर्तमान और भविष्यत् सदैव करामलकवत् था।

तदनन्तर इन्होंने दिव्यदृष्टि से देखा कि देवराज इन्द्र की शरण में जाना चाहिये क्योंकि देवताओं के राजा इन्द्र ही रोग निवारण का विधिवत् उपाय बतलायेंगे ॥ १५–१७ ॥

वक्तव्य—धारणात्—धर्मः। अर्थः—स्वर्णरजतादिः। कामः—काम्यत इति कामः, सुखाद्युपभोगः। मोक्षः—मोक्ष अवसाने, अवसानं क्षेपः—**एरच्** ३।३।५६। इति घञ् प्रत्यये रूपम्। निःश्रेयः, अपवर्गः त्यागः च।

रोगशमन का उपाय इन्द्र के पास से प्राप्त करना चाहिये, इस सामूहिक निर्णय को लेने के पश्चात् यह प्रश्न उठा कि देवराज इन्द्र के पास कौन जाय? यह सुनकर महर्षि भरद्वाज ने निवेदन किया कि इस कार्य के लिये मुझे नियुक्त किया जाय। इस पर सभी ने अपनी सहमति प्रकट की और वे इन्द्र के पास गये वहाँ जाकर उन्होंने महर्षि समूह का निर्णय 'प्राणियों को रोगों ने आक्रान्त कर रखा है आप उनकी शान्ति का उपाय निर्देश करें' सुनाया।

इन्द्र ने इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर प्राणियों के कष्टनिवारणार्थ भरद्वाज को आयुर्वेद का उपदेश यथावत् दिया तदनन्तर भरद्वाज ने वहाँ से लौटकर ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। कुछ समय के पश्चात् महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने अपने जिन शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश दिया उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१, अग्निवेश, २. भेल या भेड, ३. जतूकर्ण, ४. पराशर, ५. हारीत और ६. क्षारपाणि। इनमें महर्षि अग्निवेश ने **अग्निवेश-तन्त्र** की संरचना की जिसको अनेक परिवर्तनों के पश्चात् **चरकसंहिता** की संज्ञा मिली है। अग्निवेश-तन्त्र की पूर्ति **दृढबल** ने और प्रतिसंस्कार **चरक** ने किया।

महर्षि भेल ने **भेलसंहिता** का निर्माण किया, यह संहिता आज सुलभ है किन्तु इसका स्वरूप छिन्न-भिन्न अतएव अपूर्ण मिलता है। जतूकर्ण, पराशर तथा क्षारपाणि ने भी पृथक्-पृथक् तन्त्रों का निर्माण किया था, जो कालकवलित होने के कारण सम्प्रति अप्राप्य हैं।

हारीत की कृति **हरीतसंहिता** है। विद्वानों में आज उपलब्ध होने वाली हारीत संहिता के सम्बन्ध में एकमत नहीं है कि यह वही संहिता है जिसकी रचना महर्षि हारीत ने की थी। संक्षेप में पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों का यही इतिवृत्त उपलब्ध होता है।

हमारी धारणा है कि **कांकायन** ऋषि को भी भरद्वाजने आयुर्वेद का उपदेश दिया था, इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि कांकायन ऋषि उस सम्मेलन में उपस्थित थे, दूसरा—चरकसंहिता में कांकायन को **वाह्लीकभिषक्** कहा गया है। प्राचीनकाल में वाह्लीकदेश के अन्तर्गत बलख, तुर्किस्तान एवं ईरान आदि प्रान्त सम्मिलित थे। उस देश में प्रचलित **तिब्ब** या यूनानी चिकित्सा पद्धति जो आज एक भिन्न-भिन्न चिकित्सा पद्धतियों में उच्चकोटि की चिकित्सा पद्धति मानी जाती है, उसके प्रथम आचार्य **कांकायन** ही थे।

चीन में प्रचलित पुरातन चिकित्सा-पद्धति का आदिम आचार्य महर्षि **पैङ्गि** था और यूरोप में प्रचलित प्राचीन चिकित्सा-पद्धति का प्रथम आचार्य **महर्षि हिरण्याक्ष** था।

महर्षि अगस्त्य रचित चिकित्सा-पद्धति का प्रचार दक्षिणभारत (मद्रास आदि) में है। वहाँ उक्त पद्धति का विपुल साहित्य भी सुलभ है।

यद्यपि महर्षि पुलस्त्य कृत कोई ग्रन्थ न तो उपलब्ध है न किसी प्रामाणिक सूचीपत्र द्वारा उसकी किसी प्रकार की सूचना ही मिलती है फिर भी उनके पौत्र लंकाधीश रावण के **नाड़ीविज्ञान** आदि अनेक ग्रन्थ सुलभ हैं।

महर्षि बादरायण जो वेदव्यास के नाम से सुप्रसिद्ध हैं, इनकी कृतियों (अग्निपुराण, गरुड़पुराण आदि) में आयुर्वेदीय विषयों का यत्र-तत्र पर्याप्त वर्णन मिलता है।

महर्षि कश्यप द्वारा रचित **'काश्यपसंहिता'** मैसूर राजधानी के पुस्तकालय में सुरक्षित तथा आचार्य हेमराज शर्म्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित द्रष्टव्य है।

महर्षि च्यवन द्वारा निर्मित **'जीवदान'** नामक ग्रन्थ का उल्लेख स्वर्गीय पण्डित परशुरामशास्त्री जी ने अपने द्वारा संशोधित **शार्ङ्गधरसंहिता** के उपोद्घात में किया है और आपने वहीं पर **'विश्वामित्रसंहिता'**, **गार्ग्यतन्त्र**, **वसिष्ठतन्त्र** और **पाराशरसंहिता** की भी चर्चा की है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रकार के अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का अभाव बुद्धिजीवियों का दुर्भाग्य ही कहा जायगा, जो अन्य महर्षियों की रचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

चरक चिकित्सास्थान अध्याय १ के चतुर्थ पाद में भी एक आयुर्वेदावतरण की चर्चा है। सुश्रुतसंहिता का आयुर्वेदावतरण अपने ढंग का भिन्न ही है। स्वाभाविक भी था कि वह चरक (कायचिकित्सा) की परम्परा से सर्वथा भिन्न हो।

इसके अतिरिक्त उक्त लोकोपकारक महर्षि संसद में उपस्थित कतिपय आचार्यों की कृतियों का इतिहास द्वारा उपलब्ध साहित्य यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

आचार्य	कृतियाँ	आचार्य	कृतियाँ
१. अश्विनीकुमार	चिकित्सासारतन्त्र	९. जावाल	तन्त्रसार
२. यम	ज्ञानार्णव	१०. जाजलि	वेदांगसार
३. धन्वन्तरि	चिकित्सातत्वविज्ञान	११. कवथ	सर्वधर
४. दिवोदास	चिकित्सादर्पण	१२. नकुल	वैद्यकसर्वस्व
५. काशिराज	चिकित्साकौमुदी	१३. सहदेव	व्याधिसिन्धुविमर्दन
६. अगस्त्य	द्वैधनिर्णय	१४. बुध	सर्वसार
७. च्यवन	जीवदान	१५. पैल	निदान
८. जनक	वैद्यसन्देहभंजन		

शाश्वत आयुर्वेद की परम्परायें

१. आत्रेयसम्प्रदाय, २. धान्वन्तरसम्प्रदाय, ३. भास्करसम्प्रदाय।

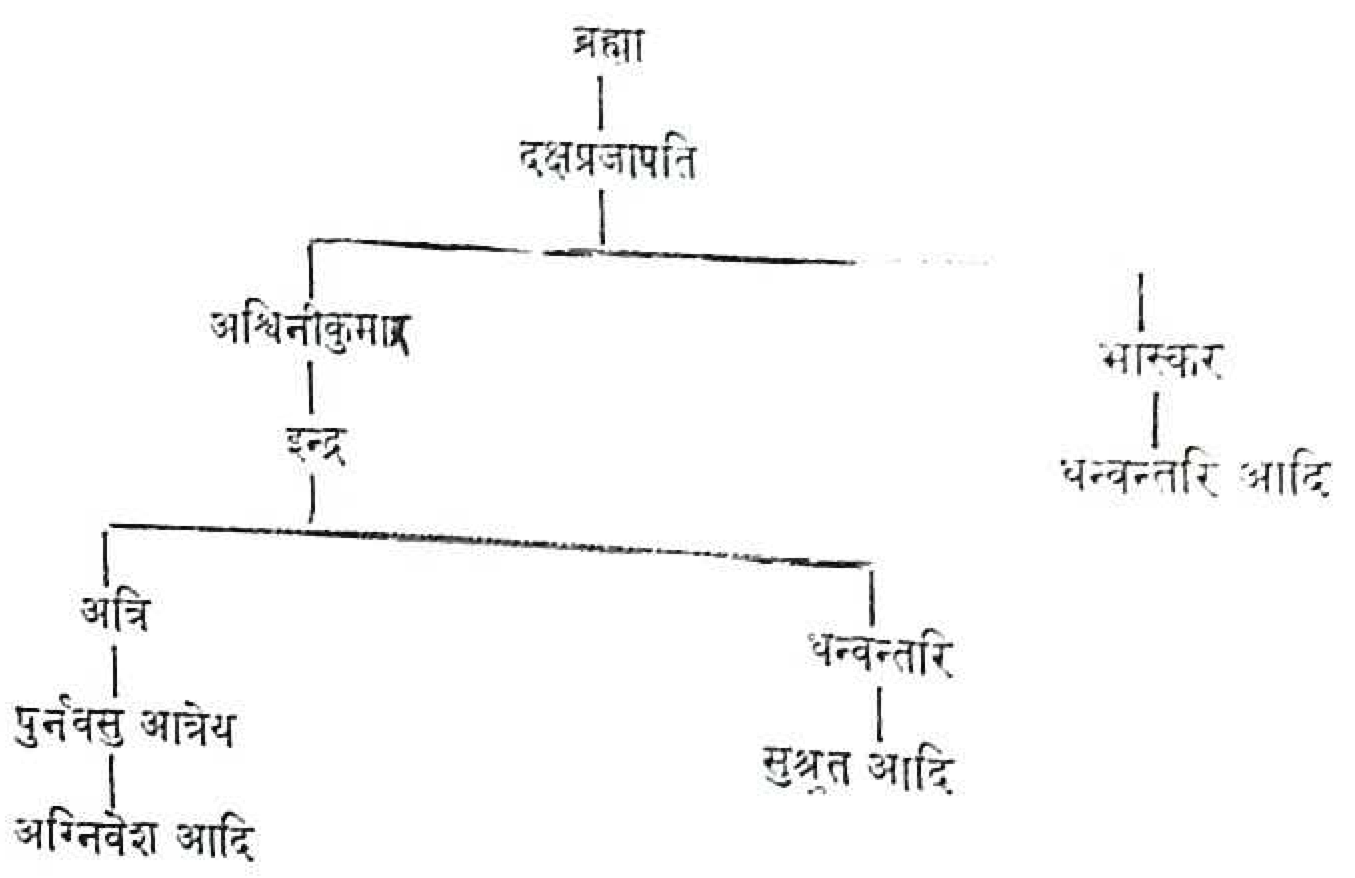

कः सहस्राक्षभवनं गच्छेत् प्रष्टुं शचीपतिम् ॥ १८ ॥
अहमर्थे नियुज्येऽयमत्रेति प्रथमं वचः। भरद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभिः स नियोजितः ॥१९॥
स शक्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम्। ददर्श [1]बलहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥२०॥
सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम्। प्रोवाच भगवान् धीमानृषीणां वाक्यमुत्तमम् ॥२१॥
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयङ्कराः। तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदामरप्रभो ! ॥२२॥
तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये ॥२३॥

१. बलनाम्नोऽसुरस्य हन्तारमिन्द्रम्।

जब ऋषियों की उक्त सभा में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि देवराज इन्द्र के पास हममें से रोगशमन के उपायस्वरूप आयुर्वेद के उपदेशों को पूछने के लिये कौन जाय? तब सर्वप्रथम भरद्वाज ने कहा कि इस पवित्र कार्य के लिये मुझे नियुक्त करना चाहिये, यह सुनकर सभी महर्षियों ने एकमत होकर महर्षि भरद्वाज को इन्द्र से उपदेश प्राप्त करने के लिये नियुक्त किया।

भरद्वाज ने इन्द्र के भवन में पहुँचकर ऋषि तथा देव समाज के बीच में बैठे हुए बल नामक दैत्य के नाशक (बलारातिः शचीपतिः) इन्द्र को प्रदीप्त अग्नि के समान तेजोमय देखा।

तदनन्तर इन्द्र के समीप जाकर जयपूर्वक आशीर्वचनों से देवराज इन्द्र का अभिनन्दन कर बुद्धिमान् एवं ऐश्वर्यशाली भरद्वाज ने ऋषियों का लोककल्याणकारक संकल्प कह सुनाया, कि हे देवराज इन्द्र ! इस समय संसार के प्राणिमात्र को भयभीत करने वाले विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं, अतः आप विधिवत् उनके शमन के उपायों को बतलाइये।

इस प्रार्थना के पश्चात् इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को पुष्कल बुद्धिमान् समझकर ही परिमित शब्दों द्वारा (सूत्र रूप से) आयुर्वेद का प्रवचन किया ॥ १८–२३ ॥

वक्तव्य—भरद्वाज ने कहा—'सर्वप्राणिभयङ्कराः व्याधयः समुत्पन्नाः'। अर्थात् व्याधियां उत्पन्न हो चुकी हैं, अतः रोगवृद्धि प्रतिरोधक तथा उत्पन्न रोगशामक दो प्रकार के उपदेश कीजिये। यह सारगर्भ प्रार्थना देवराज से की गयी। इसका समर्थन हमको सुश्रुत में इस प्रकार मिलता है—'इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणञ्च'।

पदैरल्पैः—विपुलमतिमान भरद्वाज को इन्द्र ने आयुर्वेद का संक्षेप में उपदेश दिया, युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। यह **पदैरल्पैः** हमको यह कहने के लिये बाध्यकर रहा है कि देवराज इन्द्र ने जो उपदेश दिया था वह निश्चय ही सूत्रात्मक था, क्योंकि सूत्र का लक्षण है—'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्'। चक्रपाणिदत्त विपुलाबुद्धि की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणोहापोहतत्त्वाभिनिवेशवतीह विपुला बोद्धव्या।' इति।

बलहन्तारम्—बल नामक दैत्य का इन्द्र ने जब से वध किया तब से इनको बलहन्ता, बलाराति कहते हैं। इनके लिये बलाराति शब्द का प्रयोग अमरसिंह ने अपने कोष में किया है।

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्। त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥ २४ ॥

देवराज इन्द्र ने उपर्युक्त आयुर्वेद शास्त्र का उपदेश महर्षि भरद्वाज को दिया। जो स्वस्थ तथा आतुर = रोगी से सम्बन्धित है और यह आयुर्वेद १. हेतु, २. लिङ्ग = लक्षण, ३. औषध ज्ञानरूपी त्रिसूत्रों से युक्त, शाश्वत = सनातन एवं पुण्यकारक है और जिस आयुर्वेद के शाश्वत ज्ञान को जगत स्रष्टा ब्रह्मा ने साक्षात किया (जाना) था ॥ २४ ॥

वक्तव्य—जिस शाश्वत आयुर्वेदीय ज्ञान की ब्रह्मा को स्वयं अनुभूति हुई वह (आयुर्वेदीयज्ञान) त्रिसूत्रात्मक, शाश्वत एवं पुण्यजनक था। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे वेदों का ज्ञान शाश्वत है और समय-समय पर मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने उस वेदज्ञान को साक्षात् किया ठीक उसी प्रकार इस आयुर्वेद की भी स्थिति रही है। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने इसको प्रत्यक्ष किया और पूर्वोक्त क्रम से इसका विस्तार हुआ।

यह आयुर्वेदशास्त्र त्रिसूत्रात्मक है अथवा त्रिस्तम्भात्मक है जिस पर यह टिका हुआ है। इसका प्रथमस्तम्भ है—१. हेतु (Causes) अर्थात् स्वस्थ = नीरोग, तथा आतुर = रुग्ण = अस्वस्थ होने के क्या कारण हैं। २. द्वितीयस्तम्भ है—स्वस्थ तथा आतुर के लक्षण (Symptoms.) ३. तृतीयस्तम्भ है—औषध (Medicine or Manner of applying Remedies) अर्थात् वह औषधद्रव्य जो परम पथ्य हो। औषधद्रव्य दो प्रकार के होते हैं—एक स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले और दूसरे सम्बन्धित रोग को दूर करने वाले।

'बुबुधे यं पितामहः' का आशय यह है कि जिस ज्ञान को ब्रह्मा जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से प्रत्यक्ष किया था, बिना किसी टीका टिप्पणी के उस ज्ञान का उपदेश उन्होंने देवराज इन्द्र को किया और इन्द्र ने उसी प्रकार उस ज्ञान का उपदेश महर्षि भरद्वाज को दिया। यहाँ तक उस आदि ज्ञान की अविच्छिन्न धारा का प्रवाह हुआ।

'बुबुधे' इसका आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'बुबुध इति न कृतवान्। अत एवोक्तं शाश्वतं नित्यमित्यर्थः'।

यह आयुर्वेदीय ज्ञान स्वस्थ और आतुर से सम्बन्धित है। यथा—'स्वस्थस्य

स्वस्थातुरपरायणम्—यह आयुर्वेदीय ज्ञान स्वस्थ और आतुर से सम्बन्धित है। त्रिसूत्र-आयुर्वेद में—१. हेतुसूत्र, २. लिङ्गसूत्र, ३. औषधद्रव्यसूत्र की

स्वास्थ्यरक्षणं व्याधितानां व्याधिपरिमोक्षः। त्रिसूत्र-आयुर्वेद में—१. हेतुसूत्र, २. लिङ्गसूत्र, ३. औषधद्रव्यसूत्र की गणना की गयी है। इनका क्रमिक परिचय—१. **हेतुसूत्र**—कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वया- श्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः। २. **लिङ्गसूत्र**—लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन। तद्यथा—निदानं पूर्व- रूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा मतम्। यहाँ भी दोषों की विषमता को रोग तथा दोषों की साम्यावस्था को नीरोग कहा गया है। इन रोगों को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है। यथा— १. शारीर और २. मानस—'वातपित्तकफैश्चोक्तः **शारीरो** दोषसङ्ग्रहः। **मानसः** पुनरुद्दिष्टो रजसस्तम एव च' ॥ ३. **औषधद्रव्य सूत्र**—'किञ्चिद् दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातुप्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते' ॥

त्रिसूत्र-आयुर्वेद

- हेतुसूत्र
- लिंगसूत्र
- द्रव्य (औषध) सूत्र

हेतुसूत्र

- काल
  - अतियोग
  - अयोग
  - मिथ्यायोग
  - परिणाम
    - जरा, क्षुधा, तृषा
    - मृत्यु
- असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग
  - अतियोग
  - अयोग
  - मिथ्यायोग
- कर्म
  - अतियोग
  - अयोग
  - मिथ्यायोग
  - प्रज्ञापराध
    - धीभ्रंश
    - धृतिभ्रंश
    - स्मृतिभ्रंश

लिंगसूत्र

- पूर्वरूप
- रूप
- उपशय
- अनुपशय
- सम्प्राप्ति
  - शारीरिक
    - वात
    - पित्त
    - कफ
  - मानसिक
    - रज
    - तम

द्रव्य (औषध) सूत्र

- दोषशामक
- धातुप्रकोपक
- स्वस्थहितकारक

सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः। यथावदचिरात् सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥२५॥

तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः [1]सुखान्वितम्। ऋषिभ्योऽनधिकं तच्च [2]शशंसानवशेषयन् ॥२६॥

महामति भरद्वाज मुनि ने दत्तचित्त होकर थोड़े ही समय में निःसीम तथा त्रिस्कन्ध (हेतु-लिङ्ग-औषध इन तीन भागों में विभक्त) आयुर्वेद शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान विधिवत् प्राप्त किया ॥ २५ ॥

उस आयुर्वेद के सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने से भरद्वाज ने सुखमय दीर्घायु को प्राप्त किया। तदनन्तर भर- द्वाज ने उस ज्ञान को ऋषियों को न कम न अधिक अर्थात् जितना उन्होंने सुना था उतना अविकल रूप से उपदेश दिया ॥ २६ ॥

१. 'सुखान्वितः' पा०। २. 'शशास' पा०।

वक्तव्य—यह **अनन्तपारं** आयुर्वेद का विशेषण है। इसका अर्थ यह है—अनन्त=मोक्ष, पारम्=उत्कृष्टफल मोक्ष तथा यहाँ पर पारशब्द नदी तट का वाचक है, इसकी विशेषता यह होती है कि नदी के दोनों तटों का नाम पार है, इसलिये पार का अर्थ आदि और अन्त होता है। इस प्रकार तात्पर्य यह निकलता है कि यह आयुर्वेद अनादि और अनन्त है।

तन्मना—आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने में लगा है मन जिसका।

अमितं आयुः लेभे—१. शास्त्र का श्रवण दीर्घायु में कारण होता है। २. आयुर्वेद में दिनचर्या, सद्- वृत्त तथा रसायन के आचरण और सेवन के उत्तमोत्तम विधान हैं जिनसे भारद्वाज को दीर्घायुष्य प्राप्त हुई।

सुखान्वितम् आयुः लेभे—चरक सूत्रस्थान अध्याय ३० में सुखायु का लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट है— 'शरीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनतिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्ययशःपौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञाने- न्द्रियार्थबलसमुदये वर्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते' ॥

अनधिकम्—इन्द्र द्वारा प्राप्त उपदेश से कुछ भी बढ़ाकर नहीं कहा। **अनवशेषयन्**—इन्द्र से जितना जिस प्रकार का उपदेश भरद्वाज को मिला था उसमें से कुछ भी उन्होंने कपट भाव से अथवा विस्मरण से छिपाया नहीं अपितु सम्पूर्ण उपदेश ऋषियों को सुना दिया।

ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम्। दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥२७॥

दीर्घ आयु की इच्छा करते हुए प्रजा के हितकारक और आयु को बढ़ाने वाले वेद = आयुर्वेद को ऋषियों ने भी भरद्वाज से ग्रहण किया ॥ २७ ॥

वक्तव्य—आयुषः वर्धनं वेदम्—इस वाक्य में **दीर्घञ्जीवितीय** अध्याय का रहस्य निहित है।

[1]महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा। सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥२८॥

समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः। लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्[2] ॥२९॥

उन महर्षियों ने भी अपनी दिव्य दृष्टि से १—सामान्य, २—विशेष, ३—गुण, ४—द्रव्य, ५—कर्म और ६—समवाय को देखा, इनको भलीभाँति जानकर आयुर्वेद-तन्त्रोक्त-विधि का सहारा लेकर उत्कृष्ट सुख तथा अविनाशी जीवन को प्राप्त किया ॥ २८-२९ ॥

वक्तव्य—उक्त महर्षियों ने अपने ज्ञानचक्षुओं से सामान्य आदि को देखा और समझा तो उनकी आयु- र्वेद के प्रति दृढ़ निष्ठा हुई। आयुर्वेदोक्त सामान्य आदि को ही दूसरे (दार्शनिक) पदार्थ कहते हैं। नैयायिकों तथा वैशेषिकों का देवताविषयक मतभेद न होने पर भी पदार्थ सम्बन्धी मतभेद बना है। महर्षि कणाद के मत में— १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य ५. विशेष और ६. समवाय ये छः पदार्थ हैं। परन्तु वैशेषिकदर्शन में अभाव को लेकर वे ही पदार्थ सात माने गये हैं। देखें कारिकावली प्रत्यक्षखण्ड—

'द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः' ॥ २ ॥

किन्तु हरिभद्र वैशेषिकसूत्र १।१।४ के अनुसार छः पदार्थों की ही गणना करते हैं। अभाव पदार्थ के निर्णयात्मक परिचय के लिये महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज का ग्रन्थ द्रष्टव्य है— Gleanings from the History & Bibliography of the Nyaya Vaisesika Lite- rature pp. 25-26 Calcutta, Nov. 1961.

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः। शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥३०॥

अग्निवेशश्च भेल(ड)श्च जतूकर्णः पराशरः। हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥३१॥

तदनन्तर सबके प्रति मित्रता (आत्मीयता) रखने वाले महर्षि भरद्वाज के शिष्य पुनर्वसु आत्रेय ने सभी प्राणियों पर दया करने की इच्छा से ६ शिष्यों को पुण्यफलदायक आयुर्वेद का उपदेश दिया ॥ ३० ॥

उक्त उपदेश को महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के जिन ६ शिष्यों ने ग्रहण किया उनके क्रमशः ये नाम हैं—१. अग्निवेश, २. भेल(ड), ३. जतूकर्ण, ४. पराशर, ५. हारीत और ६. क्षारपाणि ॥ ३१ ॥

१. 'तेनर्षयस्ते' ग०। २. 'चाप्यनश्वरम्' इति यो०।

वक्तव्य—पञ्चमहाभूतों के संयोग वाले सभी प्राणियों का भला हो इस परम पवित्र लोककल्याण बुद्धि से **आत्रेय** ने इस आयुर्वेद का उपदेश अपने शिष्यों को दिया।

कतिपय ऐतिहासिकों का मत है कि भरद्वाज और आत्रेय एक ही व्यक्ति थे किन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा निराधार है। क्योंकि इस प्रकार का प्रामाणिक उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत हारीतसंहिता में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि भरद्वाज के शिष्य पुनर्वसु आत्रेय थे। यथा—'शक्रादहमधीतवान्' इत्यादि, तत्पश्चात्—'मत्तः पुनरसङ्ख्येयास्त्रिसूत्रं त्रिप्रयोजनम्। अत्राऽऽत्रेयादिपर्यन्ता विदुः सप्तमहर्षयः॥ आत्रेयाद् हारीतऋषिः'।

इस सम्बन्ध में वाग्भट ने अपना मत इस प्रकार दिया है—'ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्॥ तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे' ॥ वा० सू० अ० १ ॥ इससे यह सिद्ध होता है कि आत्रेय इन्द्र के शिष्य थे और आत्रेय आदि ने अग्निवेश आदि को आयुर्वेद का उपदेश दिया था।

चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय १ के वर्णन के विपरीत चरक चिकित्सास्थान अध्याय १ पाद १ में लिखा है कि—भृगु अंगिरा अत्रि वसिष्ठ कश्यप अगस्त्य पुलस्त्य वामदेव असित एवं गौतम आदि महर्षि आयुर्वेद का उपदेश सुनने के लिए देवराज इन्द्र के पास गये थे।

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १ में लिखा है कि धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था और धन्वन्तरि ने सुश्रुत आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश दिया था।

काश्यपसंहिता में उक्त आयुर्वेदावतरणक्रम प्रायः यही होते हुए भी कुछ प्रकारान्तर से दिया गया है। इसके अनुसार अत्रि ने इन्द्र से आयुर्वेदीय ज्ञान प्राप्त कर अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उक्त ज्ञान का उपदेश किया।

आत्रेय, यह नाम अनेक विशेषणों के साथ देखा जाता है। यथा पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय, प्रस्तुत चरकसंहिता में पुनर्वसु आत्रेय का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है। केवल चरक सूत्रस्थान अध्याय ११ श्लोक ६३ में संग्रह-श्लोक के रूप में एक स्थान पर ही कृष्णात्रेय शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा—'त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता'। इति।

महाभारत में कायचिकित्सा के आचार्य के रूप में कृष्णात्रेय का स्मरण किया गया है। यथा—'कृष्णाऽऽत्रेयश्चिकित्सितम्'।

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः। तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥३२॥
अथ भेला(डा)दयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं, कृतानि च। श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः ॥३३॥

मुनि आत्रेय पुनर्वसु के उपदेश में कोई अन्तर न होने पर भी अग्निवेश में बुद्धि की विशेषता थी अतएव उन्होंने सर्वप्रथम अपने तन्त्र (जो बाद में चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ) की रचना की।

तदनन्तर शेष अन्य भेल आदि शिष्यों ने भी अपने-अपने नामों से तन्त्रों की रचना की। तत्पश्चात् उन बुद्धिमान् शिष्यों ने अपने द्वारा रचित तन्त्रों को ऋषि समूह में उपस्थित पुनर्वसु आत्रेय को सुनाया ॥३२-३३॥

वक्तव्य—इनकी रचनाओं के क्रमशः ये नाम थे—१. भेल (ड) (तन्त्र) संहिता, २. जतूकर्णसंहिता, ३. पराशरसंहिता, ४. हारीतसंहिता, ५. क्षारपाणिसंहिता।

बुद्धेर्विशेषस्तत्राऽऽसीत्—सर्वप्रथम अग्निवेशतन्त्र के उपलब्ध होने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य और विशेष का जो भेद शास्त्रकारों ने स्वीकारा है तदनुसार अन्य (बाद में अपने तन्त्रों की रचना करने वाले) आचार्यों से इनकी बुद्धि में कुछ वैशिष्ट्य अवश्य ही रहा होगा जिस कारण वे इसकी सर्वप्रथम रचना कर सके।

स्वं स्वं तन्त्रम्—अपने-अपने नाम से युक्त तन्त्र। **कृतानि**—तन्त्राणि से सम्बन्धित है। **सर्षिसङ्घम् आत्रेयं श्रावयामासुः**—प्राचीन काल का यह ऐतिहासिक क्रम रहा है कि स्वरचित ग्रन्थ अथवा अधीत विषय की परीक्षा इसी प्रकार हुआ करती थी, उस समय आज का जैसा परीक्ष्य-परीक्षकता का विधान नहीं था। पूर्ण सफलता प्राप्ति के लिये आज भी यही उपयुक्त मार्ग है।

श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम्। यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥३४॥
सर्व एवास्तुवंस्तांश्च सर्वभूतहितैषिणः। साधु [1]भूतेष्वनुक्रोश इत्युच्चैरब्रुवन् समम् ॥३५॥

पुण्यकर्मों को करने वाले उक्त शिष्यों द्वारा अपनी-अपनी संहिताओं में किये गये विषयों के सूत्ररूप में समावेश को सुनकर उन समस्त ऋषियों ने प्रसन्न होकर उनका अनुमोदन किया, अर्थात् उन ऋषियों द्वारा रचित संहिताओं के सर्वांश शुद्ध होने पर उनको साधुवाद दिया। प्राणिमात्र के हितैषी उन सभी ऋषियों ने उनकी प्रशंसा की और जोरदार शब्दों में कहा कि आपने इन ग्रन्थों की रचना करके सभी प्राणियों पर अपार दया की।

वक्तव्य—यथावत् सूत्रितमिति—जिस प्रकार हमने उपदेश दिया था और संहिता रचना का जो प्रकार है, तदनुरूप आपने सूत्र रूप में संहिताओं की रचना की है। इन महर्षियों के जीवन तथा कृतियों में—**आत्मवत्सर्वभूतेषु** तथा **वसुधैव कुटुम्बकम्** के भाव सन्निहित हैं ॥ ३४-३५ ॥

तं पुण्यं शुश्रुवुः शब्दं दिवि देवर्षयः स्थिताः। सामराः परमर्षीणां श्रुत्वा मुमुदिरे परम् ॥३६॥
अहो साध्विति [2]निर्घोषो लोकांस्त्रीनन्ववादयत्। नभसि स्निग्धगम्भीरो हर्षाद् भूतैरुदीरितः ॥३७॥
शिवो वायुर्ववौ सर्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः। निपेतुः सजलाश्चैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥३८॥

उक्त महर्षियों के उस पुण्य (परोपकारपूर्ण) शब्द (आयुर्वेदोपदेश) को सुरलोक में स्थित देवर्षियों के साथ देवताओं ने सुना, उससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस प्रकार अभिनव आयुर्वेद की उपलब्धि को सुनकर तीन लोकों में, अहो! साधु! यह स्निग्ध (सुखदायक) और प्रसन्नता से प्राणियों द्वारा कही गयी गम्भीर ध्वनि आकाश में गूँजने लगी। उस समय कल्याणकारक हवा चलने लगी, सभी दिशायें प्रकाशपूर्ण हो गयीं, आकाश से जल की फुहार सहित स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥ ३६-३८ ॥

वक्तव्य—आयुर्वेद अनादि-अनन्त है, यह शास्त्रों में वर्णित है। इस प्रकार की अलौकिक निधि की प्रशंसा देवता-ऋषि-महर्षियों ने की, अतः यह शास्त्र विश्वसनीय है। **शिवो...कुसुमवृष्टयः**—यह प्राचीन पौराणिक परम्परा रही है, किसी शुभ कार्य के होने पर दिशाओं का स्वच्छ होना और आकाश से फूलों की वर्षा आदि का वर्णन किया ही जाता रहा है। यह सब वर्णन आयुर्वेद के महत्व को बढ़ा रहा है।

अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः। बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः[3]कीर्तिः क्षमा दया ॥३९॥
तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्षिभिः। भावाय भूतसङ्घानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ॥४०॥

तदनन्तर पुनर्वसु आत्रेय के अग्निवेश आदि शिष्यों के शरीरों में बुद्धि, सिद्धि, स्मृति, मेधा, धृति, कीर्ति, क्षमा, दया आदि ८ ज्ञान देवताओं ने प्रवेश किया। अग्निवेश द्वारा रचित तन्त्र साहित्य का महर्षियों ने अनुमोदन किया और प्राणिसमूह के कल्याण के लिये वे भूलोक में प्रतिष्ठापित हुए ॥ ३९-४० ॥

वक्तव्य—'अग्निवेशप्रमुखान् विविशुः' यहाँ पर अत्यन्त संयोग के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। ऊपर जिन ८ ज्ञान देवताओं का वर्णन किया है, वे शिव, विष्णु जैसे देवता नहीं हैं अपितु उक्त आठ धर्म जिस चिकित्सक में होते हैं उसको देवतुल्य अथवा कान्तिमान (यशस्वी) निश्चित रूप से बना देते हैं।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥४१॥

आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति—हित आयु, अहित आयु, सुख आयु और दुःख आयु तथा उस आयु के लिये जो हितकर = पथ्य (द्रव्य, गुण, कर्म) अथवा अहितकर = अपथ्य, आयु का मान = प्रमाण = अवधि और उसके लक्षणों का वर्णन जिसमें होता है, उसको 'आयुर्वेद' कहा गया है ॥ ४१ ॥

वक्तव्य—चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय ३० में भी इसी विषय का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के उपर्युक्त लक्षण में हित आयु आदि सभी लक्षण विवेचनीय हैं। यद्यपि उक्त लक्षण अत्यन्त सरल भाषा द्वारा प्रस्तुत हैं तथापि कहीं कहीं साधारण भ्रम हो जाता है। जैसे—हित आयु और सुख आयु आदि का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सत्व-गुण-प्रधान तथा दैवीसंपदा युक्त प्राणी की आयु **हित**

१. 'सर्वभूतेष्वनुक्रोशः' पा०। २. 'घोषश्च' ग०।
३. 'कीर्तिः कीर्तनं वक्तं ज्ञानमित्यर्थः, न तु कीर्तिर्यशोरूपा, तस्या अज्ञानरूपत्वात्' चक्रः।

आयु कही जाती है। देखें—गीता अध्याय १७। इसके सर्वथा विपरीत **अहित आयु** को समझें। **सुख आयु—**
आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का विधिवत् सेवन करने के प्रतिफलस्वरूप प्राप्त सुखमय जीवन-काल ही सुख आयु है।
इसके विपरीत **दुःख आयु** है।

हित-अहित—आयुर्वेद में मुख्य रूप से हित-अहित शब्द पथ्य-अपथ्य के लिये प्रयुक्त हुए हैं। **आयु का**
मान—चरकसंहिता के इन्द्रिय स्थान में इसका विस्तृत वर्णन सुलभ है। आयु के उक्त भेदोपभेदों का जिसमें
विस्तृत विवेचन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब आयु के लक्षण को
प्रस्तुत किया जा रहा है।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते ॥४२॥

आयु के लक्षण—शरीर इन्द्रिय सत्व (मन) और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। **आयु के**
पर्याय—धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध ये आयु के पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ ४२ ॥

वक्तव्य—जब तक शरीर में इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय), **मन** और आत्मा का संयोग रहता है तब
तक उस प्राणी को आयुष्मान् या दीर्घायु, तदनन्तर उसको गतायु = मृत कहते हैं। इसीलिये आयु के पर्यायों में
प्रथम पर्याय **धारणात् = धारि** कहा गया है। प्रायः **जीवित** का भी यही अभिप्राय है। **नित्यग**—'नित्यं गच्छ-
तीति नित्यगः' प्राणी में जो गतिशीलता है उसका मात्र कारण है 'आयु'। **अनुबन्ध**—'अनुबध्नाति शरीरा-
न्तराणि, इति', इस परिभाषा के अनुसार इसका सम्बन्ध दूसरे-दूसरे शरीर के साथ होता रहता है, अतः इसको
अनुबन्ध भी कहते हैं।

शृ हिंसायाम् धातु से 'शरीर' शब्द निष्पन्न होता है और **दिह उपचये धातु** से 'देह' शब्द की रचना
होती है। जब तक अङ्ग-प्रत्यङ्गों की वृद्धि होने का क्रम चलता रहता है तब तक उसकी संज्ञा देह है और तद-
नन्तर उसी को शरीर कहते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह भी है कि प्राणी जन्म के बाद दिनों दिन मृत्यु की ओर
अग्रसर होता है अतः सभी शरीर कहे जा सकते हैं।

अनुबन्धश्च—जैसा कि ऊपर कहा गया है आयु का सम्बन्ध पर-अपर शरीर से सदा रहता है। इस
शब्द के साथ प्रयुक्त 'च' अव्यय पादपूर्त्यर्थक न होकर **चेतनानुवृत्ति** का सूचक है। **अर्थे दशमहामूलीय**
अध्याय में इस प्रकार निर्देश मिलता है—'तत्रायुश्चेतनानुवृत्ति जीवितम् अनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः'। चेतनानु-
वृत्ति का तात्पर्य है—जन्म से मृत्युपर्यन्त चेतनता का निरन्तर रहना। शेष (जीवित, अनुबन्ध, धारि) का
व्याख्यान किया जा चुका है।

आचार्य सुश्रुत इसका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—'पञ्चभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते'। जो यह
कहते हैं कि केवल शरीर और आत्मा के संयोग को आयु कहा जाना चाहिये, यह परिभाषा चिकित्सा के क्षेत्र में
अमान्य है, क्योंकि इस लक्षण की पाषाणादि अचिकित्स्य वस्तुओं में अतिव्याप्ति हो जायगी और हमारा उक्त
लक्षण निर्दुष्ट नहीं रह सकेगा। आयु का उपर्युक्त लक्षण 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगः—आयुः' केवल चिकित्स्य पुरुष
का लक्षण है। इस लक्षण से वृक्ष, पाषाणादि का निषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां [1]लोकयोरुभयोर्हितम् ॥४३॥

उस आयु का वेद (वेदयतीति=वेदः। ज्ञान कराने वाला) आयुर्वेद शास्त्र पुण्यतम है, अर्थात् उससे बढ़कर
और कोई पुण्य कार्य नहीं है, ऐसा वेद विदों (विद्वानों) का मत है और यह मनुष्यों के लिये दोनों (इहलोक-
परलोक) लोकों में हितकारक है। अतः इसका वर्णन किया जाता है ॥ ४३ ॥

वक्तव्य—उक्त पद्य में आयुर्वेद को 'पुण्यतमः', 'वेदविदांमतः' और 'लोकयोरुभयोर्हितम्' विशेषण दिये
गये हैं, इनकी सम्पुष्टि हम अन्यत्र उपलब्ध प्रमाणों द्वारा करेंगे।

सुश्रुतसंहिता में—'समानत्वाद्धि वेदानामक्षरत्वात्तथैव च। तथा दृष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम् ॥
वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः। चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुम' ॥

चरकसंहिता में—'नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते'। तथा—धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूल-
मुत्तमम्। रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य तु ॥

१. 'लोकयोरुभयोर्हितः' ग०।

स्कन्दपुराण में—'ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रान् रोगार्तान् परिपाल्य च। यत्पुण्यं महदाप्नोति न तत्सर्वं महा-
मखैः ॥ तस्माद् भोगापवर्गार्थं रोगार्तं समुपाचरेत्। योऽनुगृहीतमात्मानं मन्यमानो दिने दिने ॥ उपसर्पेत रोगार्ता-
स्तीर्णस्तेन भवार्णवः' ॥

तन्त्रान्तर में—क्वचिद् धर्मः क्वचिन् मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः। कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा
नास्ति निष्फला ॥ इस प्रकार अन्य शास्त्रों ने भी इसके महत्व का वर्णन किया है।

जिस प्रकार चारों वेदों के स्वाध्याय से तदनुसार यज्ञ-यागादि के करने से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह
शास्त्रसिद्ध है; ठीक उसी प्रकार यथावत् आयुर्वेद द्वारा लोकोपकार करने से भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह
उक्त शास्त्र वचनों से स्पष्ट है।

[1]सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ ४४ ॥

सामान्य विशेष की निरुक्ति—यह त्रिकाल सत्य है कि सभी भावों (द्रव्य, गुण, कर्म) की वृद्धि का
कारण सामान्य (समानता) होता है और विशेष (सामान्य स्थिति से वैशिष्ट्य) ह्रास का कारण होता है। शरीर
के साथ सम्बन्ध तो दोनों (सामान्य और विशेष) का ही रहता है ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—सामान्य-विशेष का संक्षेपतः उल्लेख इसी अध्याय के २८ वें पद्य में हो चुका है। तथापि यहाँ
उसकी परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। **सर्वदा**—सब समय में। **सर्वभावानाम्**—भवन्ति सत्ताम् अनुभवन्तीति=
भावाः। अर्थात्—द्रव्य, गुण, कर्म। अथवा भवन्ति उत्पद्यन्ते इति भावः, पृथिवी आदि परमाणु। **सामान्यम्**—
समानस्य भावः सामान्यम्। 'सामान्यमेकत्वकरम्', वृद्धिकारणम्-वृद्धिः अधिकता, तत्र हेतुभूता। जिस प्रकार
द्रव्य, गुण, कर्म की **समानता** सदैव वृद्धि का कारण होती है उसी प्रकार **विशेष** सदैव ह्रास का कारण होता
है। अब यहाँ इसके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सामान्यं वृद्धिकारणम्—क्षय चिकित्सा के लिये सूत्र रूप में निर्देश है कि रस, रक्त आदि जिस धातु का
क्षय हुआ है उसके समान लक्षणों वाले पदार्थों का सेवन उस उस पदार्थ की पूर्ति करता है। सचमुच उक्त पद्य
चिकित्सा सूत्र के रूप में ही यहाँ प्रस्तुत है। आगे भी इसी का वर्णन किया गया है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्र-
स्यास्य प्रयोजनम्'। अर्थात् इस तन्त्र का प्रयोजन है बढ़े हुये दोष तथा रस आदि धातुओं का ह्रास और
ह्रास को प्राप्त धातुओं को समान अवस्था को पहुँचाना। इसीलिये कहा है—'न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान्
ह्रासयामः'। इसी की सम्पुष्टि मांसक्षय चिकित्सा प्रकरण में इस प्रकार की गयी है—'द्द्यान्मांसादमांसानि
बृंहणानि विशेषतः'। महर्षि चाणक्य के अनुसार—'मांसात् मांसं प्रवर्धते'। इस पद्यांश का भी यही आशय है।
अन्यत्र भी इसकी सम्पुष्टि मिलती है—'शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते'। और भी देखें—'समान-
गुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धिकारणम्'।

ह्रासहेतुर्विशेषश्च—'गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्'। गुरु पदार्थों के सेवन से
गुरु धातुओं की वृद्धि और लघु धातुओं का ह्रास होता है। चरक विमानस्थान प्रथम अध्याय में वर्णित द्रव्य के
प्रभाव को देखें—

'द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः—तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्मप्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति ॥ १३ ॥
तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानं, वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्ध-
गुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्।
सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च।
मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च, श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च।
यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात् तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम्' ॥ १४ ॥

इस प्रकार सामान्य—विशेष का द्रव्य सम्बन्धित परिचय उपस्थित कर दिया है किन्तु जब तक इनका
उपयोग नहीं किया जाता ये सामान्य गुणवाले मांसादि वृद्धि कारण नहीं होते और न विशेष गुण वाले पदार्थ

१. योगीन्द्रनाथसेनस्तु सत्त्वमात्मा शरीरं चेत्यात्वायुर्वेदाधिकरणप्रतिपादकं ग्रन्थं प्राक पठित्वाऽनन्तरं
सर्वदा सर्वभावानामित्यादिग्रन्थं पठति।

ह्रास के कारण ही होते हैं। इसीलिये कहा है—'प्रवृत्तिरुभयस्य तु'। दोनों (सामान्य और विशेष) की प्रवृत्ति ही वृद्धि और ह्रास में कारण होती है।

इस उपर्युक्त सामान्य-विशेष का तात्पर्य यह होता है कि 'आरोग्यार्था भेषजप्रवृत्तिः'। चिकित्सा का मूल उद्देश्य है आरोग्य प्राप्ति। आरोग्यता के लिये धातुसाम्य होना आवश्यक होता है। चिकित्सा का प्रयोजन भी यही है—

'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते' ॥ प्रस्तुत श्लोक का आशय अत्यन्त स्पष्ट है।

शास्त्रकारों ने इन सामान्य विशेषों के ३-३ भेद इस प्रकार किये हैं—१. द्रव्य सामान्य २. गुण सामान्य, और ३. कर्म सामान्य। फिर इसके अवान्तर भेद किये गये है—१. अत्यन्त सामान्य, २. मध्य सामान्य और ३. एकदेश सामान्य।

इसी प्रकार विशेष के भी ३ भेद हैं—१. द्रव्य विशेष, २. गुण विशेष, ३. कर्म विशेष। इस प्रकार इसका उपयोग चिकित्सा शास्त्र में धातुसाम्य के लिये होता है।

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्। तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥४५॥

सामान्य—एकत्व (एकता=समानता) कारक होता है। **विशेष**—पृथक्त्व (भेद बुद्धि) कारक होता है। समानार्थकता को सामान्य और इसके विपरीत भावों को विपर्यय कहते हैं ॥ ४४ ॥

वक्तव्य—महर्षि ने सूत्र रूप में ऊपर सामान्य और विशेष की दो-दो परिभाषायें देकर विषय-वस्तु को स्पष्ट करने का पूर्ण तथा सफल प्रयास किया है। उसी को यहाँ दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है। यथा—घट पदार्थ का परिचय हो जाने के बाद संसार में जहाँ-जहाँ जो घट दिखलायी देगा वह घटत्वजातिविशिष्ट होने के कारण **सामान्य** कहा जायेगा, क्योंकि उन सब घटों में द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों की समानता है।

और 'सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धिकारणम्' पद्य के अनुसार वे सभी घट एक घट के रूप में कहे जायेंगे। दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—गेहूँ के ढेर में यदि कुछ गेहूँ और मिला दिये जायँ तो फिर उन्हीं गेहूँ के बीजों को पुनः अलग करना कथमपि सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि 'सामान्यमेकत्वकरम्' समान होने से वे आपस में मिल गये और **वृद्धि कारण** भी हो गये, पहले वाले गेहूँ के ढेर की अपेक्षा अब गेहूँ की राशि अधिक हो गयी है।

तुल्यार्थता हि सामान्यम्—तन्त्रकार द्वारा प्रदत्त यह सामान्य का द्वितीय लक्षण है। **एकत्वविशिष्टा जातिः**—जिस नियम से एक का नाम ग्रहण करने पर उस प्रकार की सभी वस्तुओं का ग्रहण कर लिया जाता है, उसको जाति कहते हैं। अर्थात् सजातीयविषयता ही सामान्य है। जिस प्रकार समस्त गायों में **गोत्व** धर्म समान होने से सभी गायें सजातीय कही जाती हैं। सजातीय होने से ही समानता का होना स्वभाव सिद्ध है।

कुछ आचार्य सामान्य के दो भेद मानते हैं—१. उभयवृत्ति सामान्य और २. एकवृत्ति सामान्य। इनके समर्थन में कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं किन्तु ये सिद्धान्त रूप से स्वीकृत नहीं किये जा सकते। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य पर जब हम विचार करते हैं तो अनेक विसंगतियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिये स्थान-स्थान पर महर्षियों ने तत् तत् विषय से सम्बन्धित विशेष वाक्यों का ग्रन्थ में समावेश किया है। **द्रव्यसामान्य**—यथा—'मांसमाप्यायते मांसेन'। **गुणसामान्य**—'सामान्यगुणानामाहारविहाराणामुपयोगः'। इस प्रकार द्रव्य, गुण सामान्य का निर्देश तो प्राप्त होता है किन्तु **कर्म सामान्य** के लिये 'कर्मापि हि यद्यस्य धातोवृद्धिकरं तत्तदाऽऽसेव्यम्' ऐसा उल्लेख मिलता है।

तर्कभाषा के अनुसार सामान्य का लक्षण—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्'। तच्च द्विविधं परम् अपरञ्च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। अपरं द्रव्यत्वादि अल्पविषयत्वात्'।

चक्रपाणि ने चरक टीका में सामान्य का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'अन्ये तु व्याख्यानयन्ति यत् त्रिविधं सामान्यं, विशेषश्च त्रिविधः। यथा—द्रव्यगोचरो, गुणगोचरः, कर्मगोचरश्च। तत्र सर्वदा इत्यादिना द्रव्यसामान्यम् उच्यते। गुणसामान्यम् यथा—पयः शुक्रयोर्भिन्नजातीययोरपि मधुरत्वादिसामान्यं तत्र एकतां करोति। एवं विशेषेऽपि उदाहार्यम्।

विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्—अलगाव कराना विशेष का लक्षण है। अतएव यह सामान्य से विपरीत कहा गया है। जैसे ऊपर घट का उदाहरण प्रस्तुत किया था उसी प्रकार यदि यहाँ हम घट-पट दो शब्दों का एक काल में उच्चारण करेंगे तो भिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें पृथक् बुद्धि का होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

विशेषस्तु विपर्ययः—विशेष को विशेष रूप से समझाने के लिये आचार्य ने यहाँ दूसरा विशेषण प्रस्तुत किया है—'**विपर्यय**'=विपरीतस्थिति। अर्थात् जो सामान्य से सर्वथा विपरीत हो। जैसे—गेहूँ और गेहूँ को मिला देना सामान्य कहा गया है, यदि हम गेहूँ के साथ जौ मिला दें तो वह विपर्यय कहा जायगा अर्थात् दोनों द्रव्य एक दूसरे से गुण, आकृति और कर्म द्वारा भिन्न-भिन्न होते हैं।

द्रव्यविशेष का लक्षण—'ह्रासहेतुर्विशेषश्च'। **गुणविशेष का लक्षण**—'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्'। **कर्मविशेष का लक्षण**—'विशेषस्तु-विपर्ययः'। यह आचार्यपरम्परा की मान्यता है।

द्रव्य विशेष—यदि किसी के देह में मांस द्रव्य की वृद्धि हो गयी है तो मांस के विपरीत गुणों वाले रूक्ष औषधद्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि उसके मांसद्रव्य का ह्रास करना है।

गुणविशेष—देह में वात (रूक्षता) की वृद्धि होने पर तद् विपरीत गुण वाले तेल (स्निग्ध) का सेवन कराया जाता है, यह सबका अनुभव है। रूक्ष और स्निग्ध सर्वदा परस्पर विरोधी गुण वाले होते हैं।

कर्मविशेष—जब रोगी के देह में चल कर्मप्रधान वात की वृद्धि हो जाती है तो उससे विपरीत गुण वाले कफ की वृद्धि के लिये उसको **आस्यासुख**-विश्राम=आराम=बैठना=लेटना आदि का आदेश चिकित्सक देता है। और प्रमेह रोग में **आस्यासुख** को चाहने वाले रोगी को आचार्य सुश्रुत का आदेश है कि—'योजनशतम् अधिकं वा गच्छेत्'। अर्थात् कफ का विपर्यय चल कर्मवान् वायु है, जिसकी उपलब्धि अधिक चलने से होगी।

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥४६॥

मन, आत्मा, शरीर ये तीनों त्रिदण्ड (लकड़ी द्वारा निर्मित तिपाई) के समान हैं। इन तीनों के संयोग से लोक (जीवात्मा) की स्थिति है। इसी (लोक) में सब कुछ प्रतिष्ठित है। अर्थात् मन, आत्मा और शरीर ये तीन ही आधार स्तम्भ हैं ॥ ४६ ॥

वक्तव्य—इसी अध्याय के 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्' ॥ च० सू० अ० १।२२ वें श्लोक में आयु के सम्बन्ध में कहा गया है, यहाँ उसी का विशद विवेचन पुनः किया जा रहा है। ऊपर जो **मन**, आत्मा और शरीर को त्रिदण्ड (तिपाई) की उपमा दी गयी है उसका तात्पर्य है, ये तीनों अपने-अपने स्थानों पर महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी सहायता से वह तिपाई अपेक्षित भार धारण कर सकती है, यदि इनमें से एक पाद की भी कमी हो तो भार धारण सम्भव नहीं होगा। यही स्थिति उपर्युक्त त्रिदण्ड की भी है।

यहाँ पर **लोक** शब्द का प्रयोग 'जीवात्मा' के लिये किया गया है किन्तु चरक शारीरस्थान अध्याय में—'षड् धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते' ॥ ४ ॥ इसके पूर्व भगवान आत्रेय ने यह स्वीकार किया है—'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः'। अर्थात् यह पुरुष लोक तुल्य ही है। अर्थात् यह त्रिदण्डात्मक जीवात्मा, लोक अथवा मन, आत्मा, शरीर पर आश्रित है। यहाँ आत्मा से चेतना धातु अर्थात् आत्मा युक्त मन और शरीर से पञ्चमहाभूत समुदाय का ग्रहण किया गया है। यहाँ मन और आत्मा का पृथक् भाव स्वीकार्य नहीं है। शरीर शब्द से इन्द्रियां आदि (शरीर के सभी अवयवों) का ग्रहण किया गया है।

तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्—इस लोकसम्मित पुरुष में कर्म, फल, ज्ञान, मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण और स्वता (आत्मीयता) ये भाव प्रतिष्ठित हैं। जैसा कि निम्नलिखित पद्य में निर्दिष्ट है—

'अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता' ॥

१६ विकार ८ प्रकृति इन २४ तत्वों से युक्त आत्मा को कुछ आचार्य शरीर मानते हैं। परन्तु यहाँ १० इन्द्रियाँ (५ कर्मेन्द्रियाँ+५ ज्ञानेन्द्रियाँ), पृथिवी आदि ५ महाभूत और ८ प्रकृतियों से युक्त शरीर का ही ग्रहण किया गया है।

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्। वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥४७॥

वह (पूर्व श्लोक द्वारा कथित लोक) ही पुमान् (पुरुष) है और उसे ही चेतन कहते हैं। वह चेतन ही इस आयुर्वेद का अधिकरण है। उस पुमान् के लिये ही इस आयुर्वेद शास्त्र को प्रकाशित किया गया है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—सत्व (मन), आत्मा शरीर से युक्त त्रिदण्डात्मक पुरुष को ही चेतन और आयुर्वेद का आधार कहा गया है। यहाँ पर पुरुष शब्द से चतुर्विध प्राणिसमूह का निर्देश किया गया है, क्योंकि जिस प्रकार हाथी के पैर में अन्य सभी प्राणियों के पद चिह्न ढँक जाते हैं उसी प्रकार चार प्रकार के प्राणिसमूह में मनुष्य की ही सब में प्रधानता है। प्राणियों के चार भेद—१. स्वेदज–जूं आदि। २. अण्डज–सर्प, पक्षी आदि। ३. उद्भिज (उद्भिद्य जायन्ते) पेड़ पौधे आदि। ४. जरायुज–मनुष्य, पशु आदि। यह पुरुष ही इस आयुर्वेद के प्रयोग का क्षेत्र है।

सुश्रुत के मतानुसार—'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। कस्मात् लोकस्य द्वैविध्यात्। लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्। तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्'। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १।२२।

इस आयुर्वेद शास्त्र में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच महाभूतों के और आत्मा के संयोग का नाम **पुरुष** है। मोक्ष शास्त्र में २५ तत्वों के संयोग को पुरुष कहते हैं। यही पुरुष भेषज, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म तथा स्वास्थ्यकारक कर्मों का अधिकरण है। यह पुरुष ही इसका अधिष्ठान इसलिये है कि लोक स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार का माना गया है। अतः यहाँ निर्दिष्ट 'पुरुष' प्राणिमात्र का बोधक न होकर केवल 'मनुष्य' है।

आयुर्वेद वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा ओषधि की चिकित्सा का तथा हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु एवं पक्षी आदि की चिकित्सा का भी उपदेश करता है और उत्तरदायी भी है। परन्तु इन सब में पुरुष=मानव प्रधान है। अतः पुरुष शब्द से केवल मानव का ग्रहण न करके—'खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः'। चरक। इस समष्टि का ग्रहण करना प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

इसीलिये सुश्रुत संहिता में पुरुष शब्द को प्राणिमात्र का प्रतिनिधि मानते हुए निर्देश किया है—'प्राणिनां पुनर्मलमाहारो बलवर्णौजसां च'। अग्निपुराण, शालिहोत्रसंहिता आदि में हाथी, घोड़े, वृक्षलता, गुल्मों की चिकित्सा का विधान है, जो सर्वथा आयुर्वेद के क्षेत्र का विषय है।

स पुमान्—सत्वादित्रय समवाय को **पुमान्** कहा गया है। यद्यपि यहाँ सत्वादित्रय शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'तथापि वक्ष्यमाणलिङ्गग्रहणात् लिङ्गसङ्केतो बोध्यः।' इस नियम के अनुसार यहाँ पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है, जो उचित ही है।

श्लोक संख्या ४६ में 'त्रयम् **एतत्** त्रिदण्डवत्' एतत् शब्द का प्रयोग वर्तमानकाल का निर्देशक है। इस पर अनेक टीकाकारों ने आपत्ति उठायी है किन्तु सर्वनामों का प्रयोग सार्वकालिक होता है। यथा—'प्रत्यक्षे च परोक्षे च सामीप्ये दूर एव च। एतेष्वर्थेषु विद्वद्भिः सर्वनाम प्रयुज्यते' ॥ और जहाँ तक **स पुमान्** यहाँ पर तत् शब्द की बात है, उसके लिये शास्त्र का स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्' ॥ इति।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् ॥४८॥

आकाश आदि पञ्चमहाभूत, (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी), आत्मा, मन, काल और दिशायें ये नौ द्रव्यों का संग्रह है। इस द्रव्य संग्रह को दो भागों में विभक्त किया जाता है—१. सेन्द्रिय (इन्द्रियों से युक्त) द्रव्य को चेतन कहते हैं और २. निरिन्द्रिय (इन्द्रियों से रहित) द्रव्य को अचेतन कहते हैं ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—न्याय शास्त्र (तर्कसंग्रह) में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गयी है—'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव'। अर्थात् पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य होते हैं।

इनके भेदोपभेद—१. कारणद्रव्य, २. कार्यद्रव्य। कारण द्रव्यों के ९ भेद ऊपर दिये गये हैं। कार्य द्रव्यों का विभाजन पुनः इस प्रकार किया गया है—१. चेतन २. अचेतन। पुनः चेतन के भेद—बहिरन्तश्चेतन, अन्तश्चेतन। बहिरन्तश्चेतन के ४ भेद—१. जरायुज २. अण्डज, ३. स्वेदज, ४. उद्भिज। अन्तश्चेतन के ४ भेद—१. वनस्पति, २. वानस्पत्य, ३. वीरुध, ४. ओषधि। अचेतन के २ भेद—१. प्राकृत और २. कृत्रिम।

यहाँ पर सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय भेद से सभी द्रव्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है। यह द्रव्य-समवाय हमको स्थावर-जङ्गम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, इन्द्रियाँ और शरीर जड़ हैं, आत्मा का संयोग होने पर इनमें चेतनता आती है। इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। अतः हम इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—आत्मा साधक, इन्द्रियाँ साधन और ज्ञान साध्य के रूप से शरीर में अवस्थित होता है। जैसे—घट के प्रति कुम्हार **साधक,** मिट्टी, दण्ड, चाक, सूत्र आदि **साधन** हैं।

इस विषय को चरक शारीरस्थान अध्याय १ में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते'। आत्मा का ज्ञान (प्राप्ति साधन) इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने से ही इनमें चेतनता होती है और इन्द्रियों के दोषग्रस्त होने पर अथवा आत्मा से सम्पर्क होने पर उनकी चेतनता नष्ट हो जाती है। अतः 'सेन्द्रिय द्रव्य' तभी चेतन कहा जायगा जब उसके साथ आत्मा का संयोग होगा अन्यथा (आत्मा के संयोग के बिना) सेन्द्रिय भी अचेतन है और निरिन्द्रिय तो सदैव अचेतन है ही।

दूसरा पक्ष—

आत्मा विभु=सर्वत्र व्यापक है, अतएव उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार सभी द्रव्यों को चेतन न मान लिया जाय, इसीलिये उक्त पद्य में—'सेन्द्रियं द्रव्यं **'चेतनम्'**। ऐसा कहा गया है। द्रव्यों में ज्ञान शक्ति का उदय ही चेतनता है वह चक्षुरादि इन्द्रियों के सहयोग से ही सम्भव है। यही कारण है कि जड़ द्रव्यों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों के अभाव के कारण ज्ञान प्राप्ति नहीं होती, अतएव वे द्रव्य जड़ किंवा अचेतन कहे जाते हैं।

भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्रवसु ने **रसोनेण्ट रेकार्डर** नामक यन्त्र द्वारा यह सिद्ध करके विश्व के वैज्ञानिकों को दिखला दिया था कि मनुष्य, मछली, मेंढक आदि की भाँति ही वृक्षों में भी जीवनी शक्ति है और दूसरे **'क्रसकोग्राफ'** नामक यन्त्र का निर्माण कर यह दिखला दिया कि मनुष्य आदि की भाँति वृक्षों में भी प्रतिक्षण विकास दिखलायी देता है। इसकी चर्चा हम अपने प्राचीन शास्त्रों में भी पाते हैं।

सुश्रुत ने चतुर्विध भूतग्राम में उद्भिज्जों (जमीन को चीर कर जो पौधे आदि निकलते हैं) का भी वर्णन किया है, समस्त वनस्पतियाँ उद्भिज हैं। आचार्य चक्रपाणि ने उद्भिज्जों के अन्तर्गत सूर्य पुष्प की प्रकृति का वर्णन करते हुए लिखा है—'तथा हि सूर्यभक्ताया यथा यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते'। सूर्यमुखी फूल का मुख (अग्रभाग) सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य की ओर होता रहता है, इससे अनुमान किया जाता है कि यह पुष्प चक्षुरिन्द्रिय से युक्त है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी लोक-शास्त्र में दिखलायी देते हैं। यथा—

'लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति। बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद् भवति। वृन्ताकानां मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनेन्द्रियत्वमनुमीयते। अशोकस्य कामिनीपादतलाहतिसुखिनः स्तबकितस्य स्पर्शनानुमानम्'। इति।

उपर्युक्त पंक्तियों का आशय यह है कि लवली (हरफारेवड़ी) मेघ शब्द को सुनकर फलवती होती है। गीदड़ आदि की चर्बी की गन्ध से बिजौरा नीबू फलयुक्त होता है। मछली की चर्बी का आस्वादन करने से वृन्ताक (बैंगन) में अधिक फल लगते हैं। कामिनी (युवती स्त्री) के चरण प्रहार (लात) से अशोक वृक्ष कुसुमित हो जाता है। इन उदाहरणों से क्रमशः लवली लता में श्रवण सामर्थ्य, बिजौरा वृक्ष में घ्राणशक्ति, वृन्ताक (बैंगन) में रसनाशक्ति और अशोक वृक्ष में स्पर्शन क्षमता प्रतीत होती है, जिससे वृक्षों को सेन्द्रिय कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य वृक्ष, लता, गुल्म आदि के सम्बन्ध में भी गवेषणा की जा सकती है। अस्तु।

दूसरा कारण यह भी है हमारे धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में ऐसे अनेक जन्मान्तरों से सम्बन्धित आख्यान मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता कि पूर्वजन्म के दुराचारों से वे मनुष्य वृक्षादि के रूप में परिणत हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध यमलार्जुन वृक्ष ऐसे ही थे।

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः—

उपर्युक्त श्लोक में द्रव्यों का निर्वचन करने के पश्चात् यहाँ पर उन द्रव्यों में आश्रित गुणों का निर्देश किया जा रहा है। वे गुण हैं—गुरु आदि, बुद्धि, प्रयत्नान्त और परादि। **सार्थाः**—आकाश आदि के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। 'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः'। च० शा० अ० १ ॥ **गुर्वादिगुण—** गुरु,

वह (पूर्व श्लोक द्वारा कथित लोक) ही पुमान् (पुरुष) है और उसे ही चेतन कहते हैं। वह चेतन ही इस आयुर्वेद का अधिकरण है। उस पुमान् के लिये ही इस आयुर्वेद शास्त्र को प्रकाशित किया गया है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—सत्व (मन), आत्मा शरीर से युक्त त्रिदण्डात्मक पुरुष को ही चेतन और आयुर्वेद का आधार कहा गया है। यहाँ पर पुरुष शब्द से चतुर्विध प्राणिसमूह का निर्देश किया गया है, क्योंकि जिस प्रकार हाथी के पैर में अन्य सभी प्राणियों के पद चिह्न ढँक जाते हैं उसी प्रकार चार प्रकार के प्राणिसमूह में मनुष्य की ही सब में प्रधानता है। प्राणियों के चार भेद—१. स्वेदज–जूं आदि। २. अण्डज–सर्प, पक्षी आदि। ३. उद्भिज (उद्भिद्य-जायन्ते) पेड़ पौधे आदि। ४. जरायुज–मनुष्य, पशु आदि। यह पुरुष ही इस आयुर्वेद के प्रयोग का क्षेत्र है।

सुश्रुत के मतानुसार—'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। कस्मात् लोकस्य द्वैविध्यात्। लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः। स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्। तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्'। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १।२२।

इस आयुर्वेद शास्त्र में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच महाभूतों के और आत्मा के संयोग का नाम **पुरुष** है। मोक्ष शास्त्र में २५ तत्वों के संयोग को पुरुष कहते हैं। यही पुरुष भेषज, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म तथा स्वास्थ्यकारक कर्मों का अधिकरण है। यह पुरुष ही इसका अधिष्ठान इसलिये है कि लोक स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार का माना गया है। अतः यहाँ निर्दिष्ट 'पुरुष' प्राणिमात्र का बोधक न होकर केवल 'मनुष्य' है।

आयुर्वेद वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा ओषधि की चिकित्सा का तथा हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु एवं पक्षी आदि की चिकित्सा का भी उपदेश करता है और उत्तरदायी भी है। परन्तु इन सब में पुरुष=मानव प्रधान है। अतः पुरुष शब्द से केवल मानव का ग्रहण न करके—'खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः'। चरक। इस समष्टि का ग्रहण करना प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

इसीलिये सुश्रुत संहिता में पुरुष शब्द को प्राणिमात्र का प्रतिनिधि मानते हुए निर्देश किया है—'प्राणिनां पुनर्मलमाहारो बलवर्णौजसां च'। अग्निपुराण, शालिहोत्रसंहिता आदि में हाथी, घोड़े, वृक्षलता, गुल्मों की चिकित्सा का विधान है, जो सर्वथा आयुर्वेद के क्षेत्र का विषय है।

स पुमान्—सत्वादित्रय समवाय को **पुमान्** कहा गया है। यद्यपि यहाँ सत्वादित्रय शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'तथापि वक्ष्यमाणलिङ्गग्रहणात् लिङ्गसङ्केतो बोध्यः।' इस नियम के अनुसार यहाँ पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है, जो उचित ही है।

श्लोक संख्या ४६ में 'त्रयम् **एतत्** त्रिदण्डवत्' एतत् शब्द का प्रयोग वर्तमानकाल का निर्देशक है। इस पर अनेक टीकाकारों ने आपत्ति उठायी है किन्तु सर्वनामों का प्रयोग सार्वकालिक होता है। यथा—'प्रत्यक्षे च परोक्षे च सामीप्ये दूर एव च। एतेष्वर्थेषु विद्वद्भिः सर्वनाम प्रयुज्यते' ॥ और जहाँ तक **स पुमान्** यहाँ पर तत् शब्द की बात है, उसके लिये शास्त्र का स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्' ॥ इति।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् ॥४८॥

आकाश आदि पञ्चमहाभूत, (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी), आत्मा, मन, काल और दिशायें ये नौ द्रव्यों का संग्रह है। इस द्रव्य संग्रह को दो भागों में विभक्त किया जाता है—१. सेन्द्रिय (इन्द्रियों से युक्त) द्रव्य को चेतन कहते हैं और २. निरिन्द्रिय (इन्द्रियों से रहित) द्रव्य को अचेतन कहते हैं ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—न्याय शास्त्र (तर्कसंग्रह) में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गयी है—'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव'। अर्थात् पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य होते हैं।

इनके भेदोपभेद—१. कारणद्रव्य, २. कार्यद्रव्य। कारण द्रव्यों के ९ भेद ऊपर दिये गये हैं। कार्य द्रव्यों का विभाजन पुनः इस प्रकार किया गया है—१. चेतन २. अचेतन। पुनः चेतन के भेद—बहिरन्तश्चेतन, अन्तश्चेतन। बहिरन्तश्चेतन के ४ भेद—१. जरायुज २. अण्डज, ३. स्वेदज, ४. उद्भिज। अन्तश्चेतन के ४ भेद—१. वनस्पति, २. वानस्पत्य, ३. वीरुध, ४. ओषधि। अचेतन के २ भेद—१. प्राकृत और २. कृत्रिम।

यहाँ पर सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय भेद से सभी द्रव्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है। यह द्रव्य-समवाय हमको स्थावर-जङ्गम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, इन्द्रियाँ और शरीर जड़ हैं, आत्मा का संयोग होने पर इनमें चेतनता आती है। इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। अतः हम इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—आत्मा साधक, इन्द्रियाँ साधन और ज्ञान साध्य के रूप से शरीर में अवस्थित होता है। जैसे—घट के प्रति कुम्हार **साधक**, मिट्टी, दण्ड, चाक, सूत्र आदि **साधन** हैं।

इस विषय को चरक शारीरस्थान अध्याय १ में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते'। आत्मा का ज्ञान (प्राप्ति साधन) इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने से ही इनमें चेतनता होती है और इन्द्रियों के दोषग्रस्त होने पर अथवा आत्मा से सम्पर्क होने पर उनकी चेतनता नष्ट हो जाती है। अतः 'सेन्द्रिय द्रव्य' तभी चेतन कहा जायगा जब उसके साथ आत्मा का संयोग होगा अन्यथा (आत्मा के संयोग के बिना) सेन्द्रिय भी अचेतन है और निरिन्द्रिय तो सदैव अचेतन है ही।

दूसरा पक्ष—

आत्मा विभु=सर्वत्र व्यापक है, अतएव उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार सभी द्रव्यों को चेतन न मान लिया जाय, इसीलिये उक्त पद्य में—'सेन्द्रियं द्रव्यं 'चेतनम्'। ऐसा कहा गया है। द्रव्यों में ज्ञान शक्ति का उदय ही चेतनता है वह चक्षुरादि इन्द्रियों के सहयोग से ही सम्भव है। यही कारण है कि जड़ द्रव्यों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों के अभाव के कारण ज्ञान प्राप्ति नहीं होती, अतएव वे द्रव्य जड़ किंवा अचेतन कहे जाते हैं।

भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्रवसु ने **रसोनेण्ट रेकार्डर** नामक यन्त्र द्वारा यह सिद्ध करके विश्व के वैज्ञानिकों को दिखला दिया था कि मनुष्य, मछली, मेंढक आदि की भाँति ही वृक्षों में भी जीवनी शक्ति है और दूसरे **'क्रसकोग्राफ'** नामक यन्त्र का निर्माण कर यह दिखला दिया कि मनुष्य आदि की भाँति वृक्षों में भी प्रतिक्षण विकास दिखलायी देता है। इसकी चर्चा हम अपने प्राचीन शास्त्रों में भी पाते हैं।

सुश्रुत ने चतुर्विध भूतग्राम में उद्भिजों (जमीन को चीर कर जो पौधे आदि निकलते हैं) का भी वर्णन किया है, समस्त वनस्पतियाँ उद्भिज हैं। आचार्य चक्रपाणि ने उद्भिजों के अन्तर्गत सूर्य पुष्प की प्रकृति का वर्णन करते हुए लिखा है—'तथा हि सूर्यभक्ताया यथा यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते'। सूर्यमुखी फूल का मुख (अग्रभाग) सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य की ओर होता रहता है, इससे अनुमान किया जाता है कि यह पुष्प चक्षुरिन्द्रिय से युक्त है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी लोक-शास्त्र में दिखलायी देते हैं। यथा—

'लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति। बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद् भवति। वृन्ताकानां मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनेन्द्रियत्वमनुमीयते। अशोकस्य कामिनीपादतलाहतिसुखिनः स्तबकितस्य स्पर्शनानुमानम्'। इति।

उपर्युक्त पंक्तियों का आशय यह है कि लवली (हरफारेवड़ी) मेघ शब्द को सुनकर फलवती होती है। गीदड़ आदि की चर्बी की गन्ध से बिजौरा नीबू फलयुक्त होता है। मछली की चर्बी का आस्वादन करने से वृन्ताक (बैंगन) में अधिक फल लगते हैं। कामिनी (युवती स्त्री) के चरण प्रहार (लात) से अशोक वृक्ष कुसुमित हो जाता है। इन उदाहरणों से क्रमशः लवली लता में श्रवण सामर्थ्य, बिजौरा वृक्ष में घ्राणशक्ति, वृन्ताक (बैंगन) में रसनाशक्ति और अशोक वृक्ष में स्पर्शन क्षमता प्रतीत होती है, जिससे वृक्षों को सेन्द्रिय कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य वृक्ष, लता, गुल्म आदि के सम्बन्ध में भी गवेषणा की जा सकती है। अस्तु।

दूसरा कारण यह भी है हमारे धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में ऐसे अनेक जन्मान्तरों से सम्बन्धित आख्यान मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता कि पूर्वजन्म के दुराचारों से वे मनुष्य वृक्षादि के रूप में परिणत हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध यमलार्जुन वृक्ष ऐसे ही थे।

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः—

उपर्युक्त श्लोक में द्रव्यों का निर्वचन करने के पश्चात् यहाँ पर उन द्रव्यों में आश्रित गुणों का निर्देश किया जा रहा है। वे गुण हैं—गुरु आदि, बुद्धि, प्रयत्नान्त और परादि। **सार्थाः**—आकाश आदि के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। 'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः'। च० शा० अ० १ ॥ **गुर्वादिगुण**— गुरु,

वह (पूर्व श्लोक द्वारा कथित लोक) ही पुमान् (पुरुष) है और उसे ही चेतन कहते हैं। वह चेतन ही इस आयुर्वेद का अधिकरण है। उस पुमान् के लिये ही इस आयुर्वेद शास्त्र को प्रकाशित किया गया है ॥ ४७ ॥

वक्तव्य—सत्व (मन), आत्मा शरीर से युक्त त्रिदण्डात्मक पुरुष को ही चेतन और आयुर्वेद का आधार कहा गया है। यहाँ पर पुरुष शब्द से चतुर्विध प्राणिसमूह का निर्देश किया गया है, क्योंकि जिस प्रकार हाथी के पैर में अन्य सभी प्राणियों के पद चिह्न ढँक जाते हैं उसी प्रकार चार प्रकार के प्राणिसमूह में मनुष्य की ही सब में प्रधानता है। प्राणियों के चार भेद—१. स्वेदज–जूं आदि। २. अण्डज–सर्प, पक्षी आदि। ३. उद्भिज (उद्भिद्य-जायन्ते) पेड़ पौधे आदि। ४. जरायुज–मनुष्य, पशु आदि। यह पुरुष ही इस आयुर्वेद के प्रयोग का क्षेत्र है।

सुश्रुत के मतानुसार—'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। कस्मात् लोकस्य द्वैविध्यात्। लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः। स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्। तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्'। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १।२२।

इस आयुर्वेद शास्त्र में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच महाभूतों के और आत्मा के संयोग का नाम **पुरुष** है। मोक्ष शास्त्र में २५ तत्वों के संयोग को पुरुष कहते हैं। यही पुरुष भेषज, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म तथा स्वास्थ्यकारक कर्मों का अधिकरण है। यह पुरुष ही इसका अधिष्ठान इसलिये है कि लोक स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार का माना गया है। अतः यहाँ निर्दिष्ट 'पुरुष' प्राणिमात्र का बोधक न होकर केवल 'मनुष्य' है।

आयुर्वेद वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा ओषधि की चिकित्सा का तथा हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु एवं पक्षी आदि की चिकित्सा का भी उपदेश करता है और उत्तरदायी भी है। परन्तु इन सब में पुरुष=मानव प्रधान है। अतः पुरुष शब्द से केवल मानव का ग्रहण न करके—'खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः'। चरक। इस समष्टि का ग्रहण करना प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

इसीलिये सुश्रुत संहिता में पुरुष शब्द को प्राणिमात्र का प्रतिनिधि मानते हुए निर्देश किया है—'प्राणिनां पुनर्मलमाहारो बलवर्णौजसां च'। अग्निपुराण, शालिहोत्रसंहिता आदि में हाथी, घोड़े, वृक्षलता, गुल्मों की चिकित्सा का विधान है, जो सर्वथा आयुर्वेद के क्षेत्र का विषय है।

स पुमान्—सत्वादित्रय समवाय को **पुमान्** कहा गया है। यद्यपि यहाँ सत्वादित्रय शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'तथापि वक्ष्यमाणलिङ्गग्रहणात् लिङ्गसङ्केतो बोध्यः।' इस नियम के अनुसार यहाँ पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है, जो उचित ही है।

श्लोक संख्या ४६ में 'त्रयम् **एतत्** त्रिदण्डवत्' एतत् शब्द का प्रयोग वर्तमानकाल का निर्देशक है। इस पर अनेक टीकाकारों ने आपत्ति उठायी है किन्तु सर्वनामों का प्रयोग सार्वकालिक होता है। यथा—'प्रत्यक्षे च परोक्षे च सामीप्ये दूर एव च। एतेष्वर्थेषु विद्वद्भिः सर्वनाम प्रयुज्यते' ॥ और जहाँ तक **स पुमान्** यहाँ पर तत् शब्द की बात है, उसके लिये शास्त्र का स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्' ॥ इति।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् ॥४८॥

आकाश आदि पञ्चमहाभूत, (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी), आत्मा, मन, काल और दिशायें ये नौ द्रव्यों का संग्रह है। इस द्रव्य संग्रह को दो भागों में विभक्त किया जाता है—१. सेन्द्रिय (इन्द्रियों से युक्त) द्रव्य को चेतन कहते हैं और २. निरिन्द्रिय (इन्द्रियों से रहित) द्रव्य को अचेतन कहते हैं ॥ ४८ ॥

वक्तव्य—न्याय शास्त्र (तर्कसंग्रह) में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गयी है—'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव'। अर्थात् पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य होते हैं।

इनके भेदोपभेद—१. कारणद्रव्य, २. कार्यद्रव्य। कारण द्रव्यों के ९ भेद ऊपर दिये गये हैं। कार्य द्रव्यों का विभाजन पुनः इस प्रकार किया गया है—१. चेतन २. अचेतन। पुनः चेतन के भेद—बहिरन्तश्चेतन, अन्तश्चेतन। बहिरन्तश्चेतन के ४ भेद—१. जरायुज २. अण्डज, ३. स्वेदज, ४. उद्भिज। अन्तश्चेतन के ४ भेद—१. वनस्पति, २. वानस्पत्य, ३. वीरुध, ४. ओषधि। अचेतन के २ भेद—१. प्राकृत और २. कृत्रिम।

यहाँ पर सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय भेद से सभी द्रव्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है। यह द्रव्य-समवाय हमको स्थावर-जङ्गम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, इन्द्रियाँ और शरीर जड़ हैं, आत्मा का संयोग होने पर **इनमें** चेतनता आती है। इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। अतः हम इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—आत्मा साधक, इन्द्रियाँ साधन और ज्ञान साध्य के रूप से शरीर में अवस्थित होता है। जैसे—घट के प्रति कुम्हार **साधक,** मिट्टी, दण्ड, चाक, सूत्र आदि **साधन** हैं।

इस विषय को चरक शारीरस्थान अध्याय १ में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगा-ज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते'। आत्मा का ज्ञान (प्राप्ति साधन) इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने से ही इनमें चेतनता होती है और इन्द्रियों के दोषग्रस्त होने पर अथवा आत्मा से सम्पर्क होने पर उनकी चेतनता नष्ट हो जाती है। अतः 'सेन्द्रिय द्रव्य' तभी चेतन कहा जायगा जब उसके साथ आत्मा का संयोग होगा अन्यथा (आत्मा के संयोग के बिना) सेन्द्रिय भी अचेतन है और निरिन्द्रिय तो सदैव अचेतन है ही।

दूसरा पक्ष—

आत्मा विभु=सर्वत्र व्यापक है, अतएव उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार सभी द्रव्यों को चेतन न मान लिया जाय, इसीलिये उक्त पद्य में—'सेन्द्रियं द्रव्यं 'चेतनम्'। ऐसा कहा गया है। द्रव्यों में ज्ञान शक्ति का उदय ही चेतनता है वह चक्षुरादि इन्द्रियों के सहयोग से ही सम्भव है। यही कारण है कि जड़ द्रव्यों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों के अभाव के कारण ज्ञान प्राप्ति नहीं होती, अतएव वे द्रव्य जड़ किंवा अचेतन कहे जाते हैं।

भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्रवसु ने **रसोनेण्ट रेकार्डर** नामक यन्त्र द्वारा यह सिद्ध करके विश्व के वैज्ञानिकों को दिखला दिया था कि मनुष्य, मछली, मेंढक आदि की भाँति ही वृक्षों में भी जीवनी शक्ति है और दूसरे **'कसकोग्राफ'** नामक यन्त्र का निर्माण कर यह दिखला दिया कि मनुष्य आदि की भाँति वृक्षों में भी प्रतिक्षण विकास दिखलायी देता है। इसकी चर्चा हम अपने प्राचीन शास्त्रों में भी पाते हैं।

सुश्रुत ने चतुर्विध भूतग्राम में उद्भिजों (जमीन को चीर कर जो पौधे आदि निकलते हैं) का भी वर्णन किया है, समस्त वनस्पतियाँ उद्भिज हैं। आचार्य चक्रपाणि ने उद्भिजों के अन्तर्गत सूर्य पुष्प की प्रकृति का वर्णन करते हुए लिखा है—'तथा हि सूर्यभक्ताया यथा यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते'। सूर्यमुखी फूल का मुख (अग्रभाग) सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य की ओर होता रहता है, इससे अनुमान किया जाता है कि यह पुष्प चक्षुरिन्द्रिय से युक्त है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी लोक-शास्त्र में दिखलायी देते हैं। यथा—

'लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति। बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद् भवति। वृन्ताकानां मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनेन्द्रियत्वमनुमीयते। अशोकस्य कामिनीपादतलाहतिसुखिनः स्तबकितस्य स्पर्शनानुमानम्'। इति।

उपर्युक्त पंक्तियों का आशय यह है कि लवली (हरफारेवड़ी) मेघ शब्द को सुनकर फलवती होती है। गीदड़ आदि की चर्बी की गन्ध से बिजौरा नीबू फलयुक्त होता है। मछली की चर्बी का आस्वादन करने से वृन्ताक (बैंगन) में अधिक फल लगते हैं। कामिनी (युवती स्त्री) के चरण प्रहार (लात) से अशोक वृक्ष कुसुमित हो जाता है। इन उदाहरणों से क्रमशः लवली लता में श्रवण सामर्थ्य, बिजौरा वृक्ष में घ्राणशक्ति, वृन्ताक (बैंगन) में रसनाशक्ति और अशोक वृक्ष में स्पर्शन क्षमता प्रतीत होती है, जिससे वृक्षों को सेन्द्रिय कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य वृक्ष, लता, गुल्म आदि के सम्बन्ध में भी गवेषणा की जा सकती है। अस्तु।

दूसरा कारण यह भी है हमारे धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में ऐसे अनेक जन्मान्तरों से सम्बन्धित आख्यान मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता कि पूर्वजन्म के दुराचारों से वे मनुष्य वृक्षादि के रूप में परिणत हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध यमलार्जुन वृक्ष ऐसे ही थे।

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः—

उपर्युक्त श्लोक में द्रव्यों का निर्वचन करने के पश्चात् यहाँ पर उन द्रव्यों में आश्रित गुणों का निर्देश किया जा रहा है। वे गुण हैं—गुरु आदि, बुद्धि, प्रयत्नान्त और परादि। **सार्थाः**—आकाश आदि के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। 'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः'। च० शा० अ० १ ॥ **गुर्वादिगुण**— गुरु,

लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र द्रव ये २० पृथिवी आदि के सामान्य गुण हैं। **बुद्धि**—इस शब्द से ज्ञान, स्मृति, चेतना, धृति अहंकार आदि का ग्रहण किया गया है। **प्रयत्नान्त**—इससे इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, आदि का बोध होता है। **परादि**—पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार, अभ्यास, ये १० परादि सामान्य गुण हैं।

वक्तव्य—तर्क शास्त्र ने निम्नलिखित २० गुणों का उल्लेख किया है—'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा–धर्माऽधर्म–संस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः ॥' कारिकावली।

इन चतुर्विंशति गुणों में **गुरु** से लेकर **द्रव्य** तक २० गुण और रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द ये ५ गुण ही चिकित्साक्षेत्र में अधिक उपयोगी हैं। वैशेषिक दर्शन के मत से इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः-सङ्ख्याः-परिमाणानि-पृथक्त्वं-संयोग-विभागौ-परत्वाऽपरत्वे-बुद्धयः-सुख-दुःखेच्छा-द्वेषौ-प्रयत्नाश्च गुणाः ॥' वैशेषिकदर्शन १-१-६ ॥ यहाँ **प्रयत्नाश्च** में प्रयुक्त **च** शब्द से गुरुत्व द्रवत्व स्नेह संस्कार अदृष्ट (धर्म-अधर्म) शब्द, इनका ग्रहण किया गया है। इसका समर्थन प्रशस्तपादभाष्य इस प्रकार देता है—'च शब्दसमुच्चितास्तु गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्काराऽदृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः'।

चरक सूत्रस्थान अध्याय २६ में इस प्रकार परादि गुणों का निर्देश किया गया है—'परापरत्वे युक्तिश्च सङ्ख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥ संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः ॥

इस प्रकार इन्द्रिय गुण ५, द्रव्यगुण २०, आत्मा के गुण ६, और सामान्यगुण १० कुल मिलाकर ४१ गुण चरक ने स्वीकार किये हैं, जिनकी ऊपर गणना की गयी है। वाग्भट के मत में इनका स्वरूप इस प्रकार है—'गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण, सान्द्र-मृदु-स्थिराः। गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः' ॥ वा० सू० अ० १ ॥

अनेक टीकाकारों ने आयुर्वेदोक्त गुणों का समन्वय वैशेषिकदर्शनोक्त गुणों के साथ करने का दुःसाहस किया है, वास्तव में ऐसी आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोनों के अधिकार क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं।

—प्रयत्नादि[1] कर्म चेष्टितमुच्यते ॥ ४९ ॥

प्रयत्न आदि चेष्टाओं को कर्म कहा जाता है ॥ ४९ ॥

वक्तव्य—'प्रवृत्तिस्तु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया प्रयत्नः कार्यसमारम्भश्च।' चरक विमान० अ० ८। कार्यार्थं प्रवृत्तिः प्रयतनं वा प्रयत्नः, सा चैव चेष्टापदवाच्या तया चेष्टया प्रयत्नेन वा कार्यारम्भो भवतीति सिद्धान्तः।

प्रयत्न—शब्द से आत्मा की आदि प्रवृत्ति का ग्रहण किया जाता है। यहाँ पर **आदि** शब्द संस्कारादि-जनित क्रिया का बोध कराता है। **चेष्टित** शब्द उत्क्षेपणादि व्यापारों का संकेतक है। **'चलनात्मकं कर्म'**। कर्म का यह लक्षण भी मिलता है।

कर्म के चलनात्मक रूप लक्षण का अभिप्राय है 'गति' और गति का अर्थ होता है पूर्व सम्बन्ध विच्छेद उत्तर सम्बन्ध स्थापन। इसको उक्त पद्यांश में चेष्टित शब्द द्वारा कहा है। ये चेष्टाएँ व्यवहार में इन भेदों द्वारा देखी जाती हैं—१. उत्क्षेपण, २. अवक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण और ५. गमन। क्रमशः इनके लक्षण यहाँ दिये जा रहे हैं।

१—उत्क्षेपणम्—'तत्रोत्क्षेपणं शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च यदूर्ध्वभाग्भिः प्रदेशैः संयोगकरणम्, अधोभाग्भिश्च प्रदेशैः विभागकरणं कर्मोत्पद्यते गुरुत्व-प्रयत्नसंयोगेभ्यः तदुत्क्षेपणम्'।

शरीरावयवों तथा उनसे सम्बद्ध द्रव्यों में गुरुत्वादि द्वारा जो ऊपरी भागों का संयोग और निचले भागों से अलग करना रूप जो कर्म होता है, उसे उत्क्षेपण कहते हैं।

१. प्रयत्नादीनि प्रयतनं प्रयत्नः, कर्मैवाद्यमात्मनः। अत्रादिशब्दः प्रकारवाची, तेन संस्कारगुरुत्वादिजन्यकृत्स्नक्रियावरोधः' । चक्रः। 'प्रयत्नो नाम गुणविशेषः प्रकृतिगुणमध्ये पठितः, स चात्मन इच्छाजन्या निवृत्तिः, स आदिः कारणं यस्य तत्कर्म' । इति गङ्गाधरः।

२—अवक्षेपणम्—'तद्विपरीतसंयोगविभागकरणं कर्मावक्षेपणम्'।

उत्क्षेपण की परिभाषा से विपरीत अर्थात् अधोदेश के संयोग का कारण और ऊर्ध्व प्रदेशों से विभाग का कारण रूप कर्म को अवक्षेपण कहते हैं।

३—आकुञ्चनम्—'ऋजुनो द्रव्यस्याग्रावयवानां तद्देशैर्विभागः संयोगश्च मूलप्रदेशैर्येन कर्मणाऽवयवी कुटिलः सञ्जायते तदाकुञ्चनम्'।

जिस कर्म द्वारा ऋजु (सीधे) शरीरावयवों में संकोचन हो, उसे आकुञ्चन कहते है।

४—प्रसारणम्—'तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येन कर्मणाऽवयवी ऋजुः सञ्जायते तत् सम्प्रसारणम्'।

आकुञ्चन के विपरीत क्रिया को प्रसारण या सम्प्रसारण कहते हैं। इच्छा अथवा आवश्यकतानुसार शरीर के अवयवों को जो सिकोड़ने की क्रिया की जाती है, वह आकुञ्चन और जो फैलाने की क्रिया की जाती है, उसे प्रसारण कहते हैं।

५—गमनम्—'यदनियतदिग्देशविभागकरणं तद्गमनमिति'।

जो अनियत दिशा एवं देश से विभाग (पृथक्त्व) करने में कारण होता है उसे गमन कहते हैं। इस **गमन** के भी अनेक प्रकार होते हैं। १. भ्रमण, २. रेचन, ३. स्यन्दन, ४. ऊर्ध्वज्वलन तथा ५. तिर्यग्गमन।

इस प्रकार हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि **प्रयत्न-जनित-शरीरव्यापार** का नाम **कर्म** है।

आयुर्वेद में पञ्चकर्म—१. वमन, २. विरेचन, ३. निरूहण, ४. अनुवासन और ५. नस्य। प्रकारान्तर से तीन कर्म—१. पूर्वकर्म, २. प्रधान कर्म, ३. पश्चात् कर्म। चरक विमानस्थान अध्याय ८ में कर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यः समारम्भश्च'।

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः। स नित्यो यत्र हि [1]द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥५०॥

भूमि आदि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ अपृथक्भाव (मिला जुला रहना) ही **समवाय है**। वह (समवाय) नित्य है, क्योंकि जहां द्रव्य रहेता है वहाँ गुण की अनियतता (अनिश्चितता) नहीं होती ॥ ५० ॥

वक्तव्य—कारण के भेदों में पहला भेद है 'समवायिकारण', इसका लक्षण है—'यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा—तन्तवः, पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः'। इसका अभिप्राय यह है—जिस पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते हैं। जैसे—तन्तु (तागे) पट (वस्त्र) के समवायिकारण है। इसी समवायिकारण को वेदान्ती **'उपादानकारण'** कहते है। इसी को चरक ने अपृथग् भाव कहा है। अर्थात्—अपने उपादान कारण से सम्बन्धित रहना ही समवाय है। तन्तुओं की पट संज्ञा तभी तक रहेगी जब तक वे परस्पर वस्त्र के रूप में जुड़े हैं न कि तन्तुओं के ढेर रूप में और जब उनका पृथग् भाव (प्रत्येक तन्तु को अलग-अलग) कर दिया जायगा तो समवायत्व नष्ट होकर उसकी पट संज्ञा का भी नाश हो जायगा। इसी के समर्थन में निम्नलिखित न्यायशास्त्र का सिद्धान्त उद्धृत किया जा रहा है—

कथम्? यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययसम्बन्धे सति दृष्टः, तथेह तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्माणि, इह द्रव्यगुणकर्मस्वपि सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम्, इह नित्येऽन्त्यविशेषाः, इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते। न चासौ संयोगः सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात्। अन्यतरकर्मजादिनिमित्तभावाद् बिभागान्तत्वाद् दर्शनाधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भावादिति। स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं भाववल्लक्षणभेदात्। यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारे स्वात्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावस्तथा समवायस्यापि पञ्चस्वपि पदार्थेषु इहेति प्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति।

यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वेऽपि भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमस्तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदाधाराधेयभावनियमः।

१. 'नित्यं' इति शेषः।

उक्त पद्य में 'भूम्यादीनां गुणैर्मतः' यह वाक्यांश 'समवायोऽपृथग्भावः' का सम्पोषण मात्र कर रहा है। इससे भूमि आदि के आधार तथा आधेय रूप में स्थित द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का ग्रहण किया जाता है। वैशेषिक दर्शन में इसका समर्थन इस प्रकार किया गया है।

'अयुतसिद्धानाम् आधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः, इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः'। अथवा अयुतानां पृथक् पृथक् स्थितानां सिद्धानां कारणानां किञ्चिदाधार्यं किञ्चिदाधाररूपं भविष्यदित्येवं भूतानां कार्यत्वमापन्नानां तेषामिह कार्ये खल्विदमित्येवं प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स कार्यकारणयोः सम्बन्धः समवायः।

यहाँ अयुतसिद्ध से तात्पर्य है अपृथग्भूत। जैसे—इह तन्तुषु पटः। इस वाक्य में तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं। क्योंकि तन्तुओं के विना पट (कपड़ा) का निर्माण सम्भव नहीं होता। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—'इह कुण्डे दधि' अर्थात् इस कुण्ड में दही है, यहाँ भी समवाय सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, इस आधाराधेय भाव से स्थित दधि और कुण्ड में समवाय सम्बन्ध की निवृत्ति के लिये ही उपर्युक्त लक्षण में 'अयुतसिद्धानां' पद का समावेश किया गया है।

'गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्', यहाँ पर पृथिवीत्व और गन्धवत्व ये दोनों सदा एक साथ ही रहते हैं, इनमें तन्तु और पट के समान संयोगज सम्बन्ध न होकर नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि द्रव्य और उसमें आश्रित गुण का सर्वदा नित्य सम्बन्ध होता है। यथा—

'समवायो नित्याऽकारत्वात् भाववत्, यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युच्यते, तथा समवायोऽपि न ह्यस्य कारणं किञ्चित् प्रमाणत उपलभ्यत' इति।

'स नित्यः'—अर्थात् वह समवाय सम्बन्ध नित्य होता है, अत एव वह अविनाशी है। इसमें दृष्टान्त है—'भूम्यादीनां गुणैर्मतः', यहाँ भूमि आदि से भूमि जैसे अन्य द्रव्यों से भी तात्पर्य है।

यत्र हि द्रव्यं न तत्राऽनियतो गुणः—जहाँ द्रव्य नियत = नित्य है, वहाँ नित्य (आकाश) में कोई अनियत (विनाशशील) गुण नहीं है। यहाँ **यत्र अनियतो गुणः न तत्र स नित्यः**—ऐसा अन्वय है, अतः दो नकारों (निषेधार्थक प्रत्ययों) के प्रयोग वस्तु के सद्भाव का संकेत करते है।

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यं—

द्रव्य लक्षण—सामान्य, विशेष और समवायों के लक्षणों का निर्देश करने के अनन्तर अब यहाँ द्रव्य के लक्षणों का निर्देश किया जा रहा है—जिस (द्रव्य) में कर्म और गुण आश्रित (समवेत) हों और जो द्रव्य, गुण, कर्म का समवायिकारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं।

वक्तव्य--वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य का लक्षण—'क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्', वै० द० अ० १ सू० २५। श्रीमान् अन्नम्भट्ट ने पदार्थ भेदों में सर्वप्रथम द्रव्य की गणना की है, तदनन्तर द्रव्य के पृथिवी आदि मन पर्यन्तभेद किये गये हैं।

अन्य शास्त्रकारों के मत से द्रव्य के लक्षण--

१. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नैवव'। तर्कसंग्रह।

२. खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः'। चरक सू० अ० १।

३. 'क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्'। सुश्रुत सू० अ० ४०।

४. 'द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्'। तै०।

५. 'रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम्'। भावप्रकाशः।

६. 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'। वैशेषिकदर्शन १।२५।

यत् समवायिकारणं तद् द्रव्यम्—इस सहेतुक परिभाषा का व्याख्यान इस प्रकार है—समवायी कारण उसको कहते हैं, जो अपने में समवाय सम्बन्ध से स्थित (पट आदि) कार्य का कारण रूप हो। जैसे तन्तु (कार्पास सूत्र, ऊर्णा सूत्र आदि) पट रूप कार्य के प्रति कारण होते हैं। अतएव वैशेषिक दर्शन की उक्त पंक्ति यहाँ चरितार्थ होती है। क्योंकि गुणों के बिना केवल द्रव्य किसी प्रकार कारण नहीं हो सकता।

द्रव्य में कर्म, गुण और समवायिकारणों का समन्वय—

१. पृथिवी द्रव्य है, इसका कर्म घट और गन्धवान् होना गुण है। इस प्रकार कर्म, गुण इन दोनों का समवायिकारण भी पृथिवी है।

२. जल द्रव्य है, इसका कर्म पिण्डीकरण (मिलाना, इससे मृत्तिका आदि द्रव्यों को मिलाकर एकाकार किया जाता है) और शीतत्व गुण है। इस प्रकार कर्म, गुण इन दोनों का समवायिकारण भी जल है।

३. तेज द्रव्य है, इसका कर्म जलाना और उष्णत्व गुण है। इस प्रकार कर्म, गुण इन दोनों का समवायिकारण भी तेज है।

४. वायु द्रव्य है, इसका कर्म शोषण (सुखाना) आदि है और गुण स्पर्श है। इस प्रकार कर्म, गुण इन दोनों का समवायिकारण भी वायु है।

५. आकाश द्रव्य है, इसका कर्म अप्रतिघात है और गुण शब्द है। इस प्रकार कर्म, गुण इन दोनों का समवायिकारण भी आकाश है।

६. काल द्रव्य है, 'कलयति, कालयति वा भूतानीति कालः' इस परिभाषा के अनुसार प्राणियों को कवलित (समाप्त) करना इसका कर्म है और शीत, उष्ण, वर्षा का होना तथा एक, नित्य, व्यापक होना गुण है, इनका समवायिकारण भी काल है।

७. दिशा द्रव्य है, इसका कर्म पूर्व दक्षिण आदि दिशा व्यवहार का निर्देश है और एक, विभु (व्यापक) नित्य गुण है। इन दोनों का समवायिकारण भी दिशा है।

८. आत्मा द्रव्य है, इसके कर्म गमन, आगमन, निमेष, उन्मेष आदि हैं और गुण निर्विकार, अनादि, मध्य, निधन होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि हैं। इनका समवायिकारण भी आत्मा है। देखें—चरकशारीरस्थान अ० १ श्लो० ७३।

९. मन द्रव्य है, इसके कर्म हैं चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, सङ्कल्प्य और इसके गुण हैं अणुत्व तथा एकत्व। इन दोनों का समवायिकारण भी मन है।

विशेष—कुछ आचार्य तम को १० वां द्रव्य मानते हैं किन्तु इसका अन्तर्भाव तेज के अभाव में हो जाता है, अतः यह सर्व सम्मत नहीं है।

कारण—जो जिस कार्य को करवाता है अथवा जिस कार्य की उत्पत्ति उसके विना सम्भव न हो सके उसे कारण कहते हैं। जैसे—पट रूप कार्य के प्रति तन्तु, वेमा, तन्तुवाय आदि और घट रूप कार्य के प्रति मिट्टी, दण्ड, चक्र, आदि।

द्रव्यों की यह नैसर्गिक शक्ति है कि ये दूसरे-दूसरे द्रव्यों के उत्पादन में सहायता करते है। ये अकाशादि द्रव्य सजातीय द्रव्यों के उत्पादन में ही सहायक देखे जाते हैं न कि विजातीय द्रव्यों के। जब आकाशादि द्रव्यों से सजातीय दूसरे द्रव्यों की उत्पत्ति होती है तो उस स्थिति में उनके गुणों में अन्तर आ जाना स्वाभाविक होता है। क्योंकि वैशेषिक दर्शन में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेषु अकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्'। इसकी व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध है—'रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निष्क्रियत्वं निर्गुणत्वञ्च'।

इसका आशय है रूप आदि गुणों में गुणता (अर्थात् उस-उस गुण का भाव), द्रव्याश्रितता, निष्क्रियता एवम् निर्गुणता विद्यमान रहती है।[1]

—समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥५१॥

गुण का लक्षण--द्रव्य लक्षण निर्देश के पश्चात् गुण का लक्षण प्रस्तुत है—जो समवायी (समवाय का आधेय = आधारस्थं वस्तु किंवा आश्रितः पदार्थः) अर्थात् किसी के आधार पर रहने वाला पदार्थ, निष्क्रिय (स्वयं निश्चेष्ट अर्थात् पञ्चविध कर्मों से रहित) और कारण हो, उसे गुण कहते हैं ॥ ५१ ॥

वक्तव्य—गुण के लक्षणों में दिये गये शब्दों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार किया जाता है—**समवायी** समवाय का आधेय, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं किन्तु आचार्य चक्रपाणि समवायी पद से आधार और आधेय

१. 'समवायी समवायाधेयः' चक्रः। 'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं, पटस्य'—तर्कसंग्रह।

दोनों को स्वीकार करते हैं, अस्तु, यहाँ पर समवायी शब्द का आशय है, गुण द्रव्य के आश्रय में रहता है। दूसरा लक्षण है—**निश्चेष्टः**—अर्थात् चेष्टा=कर्म रहित। न्यायशास्त्र में पञ्चविध कर्म स्वीकृत हैं—१. उत्क्षेपण, २. अपक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण और ५. गमन। इस प्रकार की समस्त क्रिया से रहित गुण होता है। तीसरा लक्षण है—**कारणम्**—गुण में कारणता भी होती है। गुण अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ में कारणता का अभाव भी होता है किन्तु अधिकांश गुणों में कारणता होती ही है।

कारणम्—'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। कार्य (उत्पन्न होने वाले पदार्थ) से जो निश्चित रूप से पूर्ववृत्ति है, उसे कारण कहते हैं। जैसे घट रूप कार्य से अवश्य होने वाली पूर्ववृत्ति वाला दण्ड घट का कारण है। इसी कारण के भाव को कारणता कहते हैं। यह कारण मूल रूप से तीन प्रकार का होता है—१. समवायिकारण, २. असमवायिकारण, ३. निमित्तकारण।

श्रीमद् अन्नम्भट्ट ने २४ गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग ९. विभाग, १०. परत्व ११. अपरत्व, १२ गुरुत्व १३ द्रवत्व १५ स्नेह १५ शब्द १६ बुद्धि १७ सुख १८ दुःख १९ इच्छा २० द्वेष २१ प्रयत्न २२ धर्म २३ अधर्म और २४ संस्कार।

गुण का न्याय शास्त्रोक्त लक्षण—'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यत्वं गुणसामान्यलक्षणम्'। द्रव्य और कर्म से भिन्न होने पर भी जिसमें सामान्यत्व रहता है, उसे गुण कहते हैं।

ऊपर सामान्य २४ गुणों का वर्णन करने के पश्चात् अब १६ विशेष गुणों का उल्लेख किया जा रहा है—

'बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः।
अदृष्टभावना शब्दा अमी वैशेषिका गुणाः॥ भा० प० ९०॥

अर्थात् बुद्धि आदि पूर्वोक्त छः (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न) स्पर्श तक (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) स्नेह, सांसिद्धिक (स्वाभाविक), द्रव, अदृष्ट (धर्म, अधर्म) भावना और शब्द ये १६ विशेष गुण हैं। इसलिये रूप विशेष गुण है परन्तु संयोग संख्या आदि विशेष गुण नहीं हैं।

लक्षण समन्वय—विशेष गुणों में सर्वप्रथम कहे गये रूप गुण के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत हैं—उदाहरण के लिये हम किसी कलाकार के उत्तम चित्र को ले लेते हैं। इसमें विशिष्ट रंगों से सजाया हुआ रूप **गुण** है, पृथक्-पृथक् रंगों का मिश्रण कागज, शिला, काष्ठ फलक आदि जिसमें वह चित्र रचा गया है वह वस्तु **द्रव्य** है। उस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला रूप है। जब तक उक्त द्रव्य रहेगा तब तक उसमें वह रूप रहेगा, अतः यहाँ रूप गुण समवायी है। यदि किसी ने उक्त द्रव्य (जिस पर चित्र अङ्कित किया गया है, को ले लिया या हटाया बढ़ाया तो वह रूप गुण भी उसके साथ इधर-उधर होगा किन्तु वह (रूप) अपनी ओर से कोई (मैं नहीं आता, या मुझे मत ले जाओ अथवा किसी प्रकार की) चेष्टा नहीं करता, अतः वह निश्चेष्ट भी है और इस रूप गुण में **समवायिकारणता** भी है। ऐसे ही अन्यत्र भी समझें।

समवायि कारण का लक्षण—'यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा—तन्तवः पटस्य पटश्च स्वगतरूपादेः'। अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहकर कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायिकारण कहते हैं। जैसे—तन्तु पट के और पट अपने रूप आदि के समवायिकारण हैं।

यहाँ काष्ठफलक रूप द्रव्य में समवायिसम्बन्ध से रहकर चित्ररूप कार्य उत्पन्न हुआ है, अतः उक्त चित्र में समवायिकारणता है।

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥५२॥

कर्म का लक्षण—गुण लक्षण वर्णन के पश्चात् कर्म लक्षण की प्रस्तावना की जारही है—संयोग और विभाग में कर्म ही कारण है। वह कर्म द्रव्य में आश्रित होता है। कर्तव्य की क्रिया को कर्म कहते हैं। पूर्वोक्त संयोग और विभाग के लिये कर्म किसी अन्य साधन की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं रखता॥ ५२॥

वक्तव्य—कर्म शब्द दैव, अदृष्ट का वाचक भी है किन्तु यहाँ इस कर्म से कोई तात्पर्य नहीं है, इसको स्पष्ट करने के लिये ही ऊपर दिया गया है **'कर्तव्यस्य क्रिया कर्म'** कुछ विद्वानों का कथन है कि पहला कर्म का लक्षण ऐहलौकिक है और दूसरा ('कर्तव्यस्य क्रिया कर्म') पारलौकिक कर्म का लक्षण है। ऐहलौकिक कर्म के तीन भेद किये गये हैं—१–सत्प्रत्यय, २–असत्प्रत्यय, और ३–अप्रत्यय।

कर्म नान्यत् अपेक्षते—कर्म भविष्यत् कालिक कारण अथवा कारणों पर निर्भर नहीं रहता। वैशेषिक दर्शन में कर्म का लक्षण—'एकं द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्'। अर्थात् एक द्रव्य में रहने वाला, निर्गुण (गुणरहित) तथा संयोग-विभाग में किसी की अपेक्षा न रखने वाले को कर्म कहते हैं।

१. **सत्प्रत्यय**—बुद्धिपूर्वक किया गया कार्य। २. **असत्प्रत्यय**—प्रथम लक्षण के सर्वथा विपरीतकार्य, जिसको आयुर्वेद में प्रज्ञापराधजन्य कार्य कहते हैं। ३. **अप्रत्यय**—इसके तीन कारण हैं—प्रेरण, गुरुत्व, वेग या अभ्यास। जैसे—बालकों का शय्यामूत्र आदि संस्कार या वेग वश हो जाता है।

आयुर्वेद में सद्वृत्त, आचाररसायन आदि को कर्म की दूसरी (पारलौकिक) परिभाषा के अन्तर्गत माना है किन्तु संयोग-विभाग की परिभाषा इसमें भी चरितार्थ होती है। इसीलिये महर्षि ने कहा है कृतकर्म फल प्राप्ति के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि शास्त्र का निर्देश है—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'। और भी 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाऽशुभम्'। इस परिप्रेक्ष्य में महर्षि चरक की स्पष्ट वादिता दर्शनीय है—**'नहि तद्धि महद् कर्म फलं यस्य न भुज्यते।'**

लक्षण समन्वय—कर्म को संयोग और विभाग में एक साथ कारण कहा गया है। जैसे—उत्क्षेपण आदि लौकिक कर्मों में जिस काल में जिस वस्तु का आप उत्क्षेपण (ऊपर को फेंकना) करके ऊपरी देश से उस वस्तु का संयोग करेंगे ठीक उसी समय में उस वस्तु का अधोदेश से विभाग=विभाजन पृथक्करण होगा, यह त्रिकाल सत्य है। इसी प्रकार धर्मादि का भी समझें—जिस क्षण में जिस कार्य द्वारा हमारा संयोग धर्म से होगा उसी क्षण में अधर्म से विभाग होना सुनिश्चित है।

इत्युक्तं कारणं—

उक्त पद्यांश में सांसारिक सृष्टि के कारणों का उपसंहार किया जा रहा है—इस प्रकार जगत् के कारणभूत सामान्य आदि छः पदार्थों का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—पूर्वोक्त सामान्य आदि छः पदार्थों का जिस प्रकार दर्शन ग्रन्थों में अपना एक विशिष्ट महत्व है ठीक उसी प्रकार इनका क्रिया शारीर में भी महत्व है। जैसा ऊपर तत्-तत् प्रसंग में निर्दिष्ट है। **छः कारण**—१. सामान्य, २. विशेष, ३. समवायि, ४. द्रव्य, ५. गुण और ६. कर्म। इनका व्याख्यान पुनरुक्ति के कारण यहाँ नहीं किया।

....कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते। धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ ५३॥

आयुर्वेद का प्रयोजन—उक्त सामान्यादि कारणों का उपयोग यहाँ (चिकित्सा शास्त्र में) धातु साम्यरूपी कार्य के लिये किया गया है। क्योंकि इस तन्त्र (आयुर्वेद शास्त्र) का प्रयोजन ही धातु साम्य क्रिया (धातुओं को सम रखना) है॥ ५३॥

वक्तव्य—कुछ आचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'इह सत्वादित्रयात्मके पुरुषे, धातुसाम्यं समधातूनां रक्षणं, किंवा धातुसाम्यक्रिया विषमधातौ पुरुषे धातुसाम्यकरणमेव धातुसाम्यक्रिया कथ्यते। अस्य तन्त्रस्य (आयुर्वेदशास्त्रस्य) प्रयोजनमुच्यते।

यह दूसरी व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य च विकारपरिमुक्तिः'। यह सिद्धान्त उक्त व्याख्या से अन्वर्थ हो जाता है। इसी आशय का समर्थन करते हुए सुश्रुत ने लिखा है—'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च'॥ सु० सू० अ० ९॥ आयुर्वेद में धातु शब्द की परिभाषा इस प्रकार है—'धारणाद् धातवः स्मृताः'। अथवा 'धातवो देहधारणात्'। दोनों का आशय समान है अर्थात् जिन पदार्थों से शरीर की स्थिति बनी रहती है उनको धातु कहते हैं। आयुर्वेद में धातु नाम से जिनकी परिगणना की जाती है उनके नाम हैं—वात, पित्त, कफ, रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र और स्वेद, मल, मूत्र। इनकी साम्यावस्था स्वस्थता है और विकृतावस्था रोग है।

इसी विषय को सुश्रुत संहिता में इस प्रकार कहा गया है—'त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च। देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हि ते'॥ सु० सू० अ० १५।

धातु शब्द का ऊपर केवल 'धारण करने वाला' यह अर्थ किया गया है किन्तु इतना ही अर्थ करके सन्तोष कर लेना उचित नहीं है अपितु बल, स्थिरता, दृढ़ता और पोषण प्रदान करना भी धातु शब्द के अर्थ

की परिसीमा है। आयुर्वेद में धातु शब्द से जिन भाव विशेषों का ग्रहण किया गया है उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं। जैसे उपर्युक्त वात आदि से लेकर मूत्र पर्यन्त। इनकी अन्यत्र वातादि तीनों की दोष संज्ञा, रस से लेकर शुक्र तक की दूष्य संज्ञा और स्वेद से लेकर मूत्र तक की मल संज्ञा अन्वर्थ है। देखें—'रसासृङ्मासमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः। अ० हृ० सू० अ० १ ॥

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः ॥५४॥

समस्त रोगों के त्रिविध हेतु—काल, बुद्धि और इन्द्रियों के विषयों का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग होना शरीर और मन के आधारभूत व्याधियों का त्रिविध संग्रह यहाँ निर्दिष्ट है ॥ ५४ ॥

वक्तव्य—इसके पहले दार्शनिक दृष्टि से सामान्य जगत् सम्बन्धी रोग के कारणों का वर्णन करने के पश्चात् आयुर्वेदशास्त्र की दृष्टि से व्याधि के कारणों का निर्देश किया जारहा है। **हेतु सङ्ग्रह—**आयुर्वेदोक्त 'हेतुलिङ्गौषधज्ञानम्' चिकित्सा के इन तीन सूत्रों में सर्वप्रथम यहाँ 'हेतु' का सङ्ग्रह तीन प्रकार से निर्दिष्ट है। १—**काल** के शीत, उष्ण, वर्षा भेद से तीन भाग किये गये हैं। इसका **मिथ्यायोग—**अनुचित प्रकार से व्यवहार होना। **अयोग—**सर्वथा अभाव का होना और **अतियोग—**आवश्यकता से अधिक प्रयोग, ये सभी स्थितियाँ हानिकारक हैं। २—**बुद्धि—**ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नासिका, जीभ, त्वचा) इन के प्रतिनिधि रूप में यहाँ बुद्धि का ग्रहण किया गया है। ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग का होना। इसी को प्रज्ञापराध भी कहते हैं। ३—**इन्द्रियार्थ—**ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श) का अपने-अपने विषयों के साथ मिथ्यायोग, अयोग, अतियोग का होना रोगों की उत्पत्ति का कारण होता है। इसकी विस्तृत-व्याख्या 'तिस्रैषणीय, नामक चरक सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में की जायगी।

शंका—उक्त पद्य में जब 'बुद्धि' का मिथ्यायोग, अयोग, अतियोग का वर्णन कर ही दिया था तो पुनः प्रज्ञापराध नामक हेतु की अलग कल्पना महर्षि ने क्यों की?

समाधान—'प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते'। च० सू० अ० २८।३९। अर्थात् मूर्ख पुरुष प्रज्ञापराध से अहित पाँच इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है। अतः असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग का समावेश प्रज्ञापराध में ही हो जाता है। फिर भी प्रज्ञापराध असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग में परम्परागत कारण के रूप में आता है और असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग रोगों की उत्पत्ति में साक्षात् कारण हो जाता है। अतएव इसकी चर्चा पृथक् रूप से की गयी है। प्रज्ञापराध से ही असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग होता है, इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी का अपराध भी प्रज्ञापराध के परिवेश में समाविष्ट होता है, इसीलिये प्रज्ञापराध का पृथक् निर्देश चरक को अभीष्ट था।

द्वयाश्रयाणाम्—रोगों के दो आश्रय १. मन, और २. शरीर हैं। मानसिक रोगों की चिकित्सा को ही 'सत्त्वावजय' कहते हैं। शारीरिक रोग तो सुप्रसिद्ध ही हैं।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः। तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥५५॥

जिस प्रकार शरीर और मन (पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से) ये दोनों ही रोगों के आश्रयस्थान माने गये हैं, उसी प्रकार उक्त शरीर तथा मन सुखों का आश्रय स्थान भी है और काल बुद्धीन्द्रियों का समयोग भी सुखों का कारण माना गया है ॥ ५५ ॥

वक्तव्य—पाञ्चभौतिक शरीर और मन इनको रोगों का आश्रय कहा है। शारीरिक रोग—कुष्ठ, अभिघात, नेत्र, कर्ण, नासादि स्थानीय रोगों का आधार शरीर है। मन के आश्रय में होने वाले रोग—जैसे कामज्वर, आदि—'कामजे चित्तविभ्रंशः'। कुछ रोग उभयाश्रित होते हैं—जैसे-उन्माद। उन्माद को 'मानसोऽयमिति व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः'। कहा गया है। कारण यह है कि उन्माद रोग में सर्वप्रथम मन पर प्रभाव पड़ता है तदनन्तर बढ़े हुए रजोगुण और तमोगुण के कारण सत्त्वगुण दब (ढक) जाता है, तब वात आदि दोष बुद्धिस्थान, हृदय एवं मनोवहस्रोतों को दूषित कर देते हैं। वास्तव में सभी रोग अपने-अपने (शरीर अथवा मन) अधिष्ठानों में उत्पन्न होने के बाद एक दूसरे (शारीरिक रोग मन को और मानसिक रोग शरीर) को पीड़ित करते ही हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इसके पहले काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थों के मिथ्यायोग, अयोग, अतियोग को व्याधि का कारण बतलाया था किन्तु इस प्रकरण में काल, बुद्धि, इन्द्रियार्थों के समयोग को सुखों का कारण बतलाया जारहा है। यहाँ सुख

शब्द से आरोग्य का अभिप्राय है। इसी का समर्थन प्रस्तुत पंक्ति द्वारा किया गया है—'सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः'।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं—शरीर अर्थात् पञ्चमहाभूत समवाय युक्त क्रियाशरीर और सत्त्वसंज्ञ = मन, अथवा सत्त्व शब्द के द्वारा मन और संज्ञा शब्द से यहाँ आत्मशरीरसंबद्ध मन का ग्रहण किया गया है क्योंकि शरीरादि से असम्बद्ध मन में रोगों के उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

मन का लक्षण—'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च' ॥ तर्कसंग्रहः।

अर्थात् सुख दुःख आदि की प्राप्ति साधन इन्द्रिय को मन कहते हैं। वह प्रत्येक आत्मा में नियत (निश्चित रूप से) होने से अनन्त, परमाणुरूप और नित्य भी है।

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥५६॥

आत्मा-परिचय—आत्मा निर्विकार है, पर है, यह मन, भूत गुण (शब्द, स्पर्श आदि) तथा इन्द्रियों के साथ ही चेतनता में कारण होता है। यह नित्य तथा द्रष्टा (साक्षी) होकर समस्त क्रियाओं को देखता है ॥ ५६ ॥

वक्तव्य—लोक (जीवात्मा) का आधार सत्व, आत्मा और शरीर है। यहाँ सत्व (मन) और शरीर ये दो तो व्याधियों के आश्रय हो जाते हैं और आत्मा को निर्विकार कहा गया है इससे आत्मा का नीरोगत्व सिद्ध होता है। निर्विकार का दूसरा आशय है, तटस्थ सुख एवं दुःख समानभाव से रहने वाला।

आत्मा के पर्यायवाचक शब्दों की गणना करते हुए निम्नकारिका उद्धृत की जारही है—'ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनो धृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च। तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद् द्वादशस्विङ्गित आत्मशब्दः' ॥ इसका आशय है कि आत्मा शब्द निम्नोक्त १२ भावों का वाचक है—(१) ब्रह्म, (२) इन्द्र, (३) वायु, (४) अग्नि, (५) मन, (६) धृति, (७) धर्म, (८) कीर्ति, (९) यश, (१०) श्री, (११) शरीर और (१२) शरीरी।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा शब्द शरीर का भी वाचक है। लोक व्यवहार में भी आज आत्मा सुखी है अथवा अनेक कारणों से आत्मा दुःखी है ऐसा कहा देखा सुना जाता है। आत्मा में सत्त्व आदि के संयोग के विना द्रष्टात्व नहीं रहता। देखिये—"आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते"। च० शारीरस्थान अ० १। इसीलिये कहा गया है कि आत्मा इन्द्रियादि के संयोग से **ज्ञाता** और इन्द्रियों के असंयोग से **अज्ञाता** होता है।

उक्त कारिका में आत्मा को नित्य निर्दिष्ट किया गया है किन्तु ऊपर **ज्ञाता** और **अज्ञाता** के रूप में विभाजित यह आत्मा **नित्य** और **अनित्य** रूप में प्रतीत होता है। यह सार्वकालिक सत्य नहीं है कि आत्मा अनित्य भी होता है क्योंकि आत्मा की नित्यता ही शास्त्र सम्मत है। जैसे—कार्यरूप (घट) पृथ्वी के **नष्ट** होने पर परमाणु रूप पृथ्वी का नित्यत्व निर स्थिर रहता ही है।

आचार्य अन्नम्भट्ट ने आत्मा का लक्षण इस प्रकार दिया है—'ज्ञानाधिकरणम् आत्मा। स द्विविधो जीवात्मा परमात्मा च। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ॥' तर्कसंग्रह।

अर्थात् ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहते हैं। वह जीवात्मा, परमात्मा भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें परमात्मा सर्वज्ञ, ईश्वर एक ही है। जीव प्रत्येक शरीर में अलग-अलग, व्यापक, और नित्य भी है।

द्रष्टा क्रियाः पश्यति हि—द्रष्टा=देखनेवाला, या साक्षी = गवाह है। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दों) का देखने वाला है। अधिक क्या कहा जाय यह आत्मा गृहाधिपति की भांति समस्त कार्यकलापों का तटस्थ द्रष्टा है। इसीलिये कहा है 'क्रियाः पश्यति' वह केवल क्रियाओं को देखता है।

इस पद्य का हम इस प्रकार भी अर्थ कर सकते हैं—पर आत्मा (असंयोगि पुरुष, मन और (शरीर से तटस्थ), निर्विकार शरीर के धर्म सुख, दुःख आदि से रहित होता हुआ अचेतन मन और शरीर की चेतना में

१. 'सत्त्व मनः, भूतगुणाः शब्दादयः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, एतैः कारणभूतैश्चैतन्ये कारणं भवत्यात्मा, चैतन्यं चात्मनि जायते व्यज्यते वा; अत एव सत्त्वादीनां ज्ञानकारणानां सर्वत्रासंभवात्सर्वगतेऽप्यात्मनि न सर्वत्र ज्ञान भवति'। इति चक्रः।

कारण है। इसी विषय को चरकसंहिता शारीरस्थान अ० १ में इस प्रकार कहा गया है—'शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥—अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः'। द्रष्टा के सम्बन्ध में देखें—'ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः। सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः' ॥ चरक शा० अ० १।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तमएव च ॥५७॥

दोष भेद—वात, पित्त, कफ ये तीनों **शारीर** (शरीरसम्बन्धी) दोष हैं और **मानस** दोष है रज तथा तम।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ की दोष, धातु, मल ये तीन संज्ञायें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने स्वीकृत की हैं। यथा—'शरीरदूषणाद् **दोषाः, धातवो** देहधारणात्।······मलिनीकरणात् **मलाः**। अ० हृ० सू० अ० १। आयुर्वेदशास्त्र वैज्ञानिक है उसमें भी ये प्राचीन संहितायें तो सर्वमान्य हैं। विशेषतः इनके शब्द प्रयोगों पर भी ध्यान दें! जहाँ पर वे वात, पित्त, कफ शरीर को दूषित कर क्षीण कर रहे हैं, वहाँ आचार्य ने इसको शरीर (शॄ हिंसायाम् धातु से **शरीर** शब्द की निष्पत्ति होती है विनाश = क्षीणता की ओर प्रवृत्त होना) संज्ञा दी है और जहाँ पर वे ही वातादि धातु संज्ञा को प्राप्त होकर इसकी रक्षा कर रहे हैं वहाँ उसी शरीर को देह (दिह उपचये, धातु से **देह** शब्द बनता है, जिसका अर्थ है वृद्धि = स्वस्थ एवं पुष्ट होना) कहा है। अस्तु।

ऊपर हमने 'शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः'। च० सू० अ० १ श्लोक ५५। उक्त श्लोक की व्याख्या में निर्देश कर दिया है कि शरीर और मन ये दोनों पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त रूप में व्याधियों के आश्रय होते हैं। यहाँ रोगोत्पादक हेतुओं का विवेचन प्रस्तुत है। वातादि शारीरिक रोगों के कारण हैं और रज, तम मानसिक रोगों के कारण हैं। जैसे दोषों में वातादि तीनों की ही विषमावस्था में रोगोत्पादक हेतु माना गया है उसी प्रकार सत्त्वादि तीनों गुणों को नहीं लिया गया है। कारण यह है सत्त्व शुद्ध एवं अविकारी (विकार रहित) होता है। इसीलिये हमारे प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में इसी चरकसंहिता में लिखा है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलम्'। च० सू० अ० ११।

ध्यान दें! इस प्रकरण के उपयुक्त यहाँ केवल इतना ही है कि वे महर्षि रजोगुण और तमोगुण से मुक्त थे अतएव उनका त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) अमल=निर्मल=शुद्ध अथवा अमल = निर्दोष (वातादिदोष रहित) था। यह सब प्रभाव उनमें सत्त्व गुण का था। गीता में देखें—'सत्त्वं सुखे सञ्जयति'। यही सत्त्व गुण यथार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतएव हमारे आदिम आचार्यों ने बिना किसी प्रयोग शाला (Laboratories) के जिन योगों तथा द्रव्यों के गुण धर्मों का व्याख्यान किया है वे आज भी सत्य हैं। इसमें कारण है उन महर्षियों का सत्त्वगुणवान् होना। गुणों की सत्ता सर्वदा होने पर भी सत्त्व गुण रजस् और तमस् को अपने प्रभाव विशेष से अधरीकृत कर देता है, यही सत्त्वगुण मोक्ष की प्राप्ति भी कराता है। इसीलिये सत्त्वगुण की गणना मानस दोषों में नहीं की गयी है।

उक्त श्लोक में शारीर दोष वात, पित्त, कफ निर्दिष्ट है किन्तु चतुर्थ दोष के रूप में रक्त की भी गणना आचार्यों ने की है। वे इसका निदान, लक्षण, रोग और चिकित्सा का विवरण देते हैं—

निदान—'काले चानवसेचनात्'। उचित समय पर शिरावेधन, जलौकावचारण आदि विधियों द्वारा रक्त-मोक्षण न कराने से।

शुद्ध रक्त का लक्षण—'तपनीयेन्द्रगोपाभम्'। जिस रक्त का वर्ण सुवर्ण (सोना) अथवा बीरवहूटी के सदृश हो वह शुद्ध होता है।

रक्त का स्थान—'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय जायते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि च देहिनाम्' ॥ च० चि० अ० ४। और भी—'द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः तस्यां शोणितं विशेषतः शिरासु यकृत्-प्लीह्नोश्च भवति'। सु० शा० अ० ४।

रक्त प्रकोपक हेतु—'छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्। श्रमाभिघातात् सन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ॥ शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

रक्तज रोग—'कण्ड्वरुःकोठपिडकाकुष्ठचर्मदलादयः। विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

रक्तजरोग चिकित्सा—'कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्। विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

इस सम्बन्ध में महर्षि चरक का वचन भी उद्धरणीय है—'कफे वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा। यदि कुप्यति वातस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥ यथोल्वणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्'। यदि कफ और वात के लगभग शान्त हो जाने पर किसी कारण से वात की चिकित्सा करते हुए पित्त अथवा रक्त कुपित हो जाय तो बढ़े हुए पित्त दोष अथवा रक्त दोष की चिकित्सा करे। उक्त पद्य में रक्त को भी दोष स्वीकृत किया है।

इसी का प्रतिपादन सुश्रुत में इस प्रकार किया गया है—'शारीरास्तु-वात-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपात-निमित्ताः'। कारण यह है कि व्रण आदि में रक्त दूषित होता है अतः शल्य चिकित्सा प्रकरण में रक्त की गणना दोषों में की गयी है।

रक्त का दोषत्व परिहार—रक्त वातादि के समान स्वयं दोष नहीं है इस सम्बन्ध में सुश्रुत के वचनों पर ध्यान दें—'यस्माद् रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति। तस्मात् तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥' सुश्रुत ॥ रक्त दूष्य है न कि दोष क्योंकि 'विना दोषैः न प्रकुप्यति', यह दोषों के संयोग के बिना कभी भी दूषित नहीं होता है। और भी देखें—'दोषाः कदाचित् एकैश द्विशः समस्ताः शोणितसहिताः वा अनेकधा प्रसरन्ति', इसमें भी दोष और रक्त को अलग-अलग निर्दिष्ट किया है। आगे ध्यान दें—'सर्वेषां च व्याधीनां वात-पित्त-श्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वाद् आगमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते'। सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २४। 'तत्र त्रयः शरीरदोषाः वातपित्तश्लेष्माणः'। चरक शा० अ० ४ ॥

वृद्ध वाग्भट भी उक्त विवेचन को समर्थन देते हुए लिखते हैं—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। तथा—रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ' ॥ वाग्भट लिखते हैं—'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः'। अ० हृ० सू० अ० १। अर्थात् रसादि सात धातुएँ हैं। ये जब वातादि से दूषित की जाती हैं, तब इनकी संज्ञा दूष्य हो जाती है। यही कारण है कि उपर्युक्त रसादि द्रव्यों के वर्णन प्रसङ्ग में दोषों द्वारा किये गये कार्यों को भी दूष्यों के माध्यम से कहा गया है। यथा—ये रसज हैं, ये रक्तज हैं आदि इस प्रकार का विवेचन वैसा निराधार है जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं पानी से जल गया हूँ। यहाँ यह स्पष्ट है कि पानी में दाहकत्व गुण नहीं है, वह अग्नि के संयोग का अस्थिर प्रभाव मात्र था। अस्तु।

जो विद्वान् रक्त के दोषत्व प्रतिपादन के लिये उपर्युक्त चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं के प्रकरण वश लिखे गये वचनों का उल्लेख करते हैं, उनको यह भी विचार करना चाहिये कि सुश्रुत ने दोषों की जो संचय-प्रकोपादि छः अवस्थाओं का निरूपण किया है वे अवस्थाएँ मात्र वात-पित्त-कफ की होती हैं न कि रक्त आदि दूष्यों की।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी समस्त रोगों में यद्यपि प्रमुख रूप में रक्त दूषित हो जाता है किन्तु विवेचना करने पर यह निर्णय हो जाता है कि यह रक्त अमुक दोष से दूषित है। शल्यशास्त्र में समस्त औषधोपचार वातादि दोषों के अनुसार ही किया जाता है। सन्निपातज व्याधियों में भी वातादि का ही ग्रहण होता है, रक्त का नहीं।

रक्त दोष समर्थक विद्वानों का यह कथन कि पञ्चकर्म में रक्तमोक्षण भी होता है अतः उसको दोष मानना चाहिये उचित नहीं है। देखें—पञ्चकर्म के अवसर पर उसी परिस्थिति में रक्त मोक्षण करने की आवश्यकता पड़ती है जब कि रक्त वातादि दोषों से दूषित हो, अन्यथा नहीं। कायचिकित्सा सिद्धान्त के अनुसार वातादि दोषों के निर्हरण के लिये जिन पञ्चकर्मों का निर्देश किया गया है, उनका परिचय इस प्रकार है।

पञ्चकर्म—१. वमन (कफ का निर्हरण), २. विरेचन (पित्त का निर्हरण), ३. निरूहणवस्ति (वायु का निर्हरण), ४. अनुवासनवस्ति (वायु का निर्हरण), ५. शिरोविरेचन (शिरः प्रदेशस्थ दोषों का निर्हरण), ये चरकोक्त पञ्चकर्म है किन्तु उक्त कर्मों में भी रक्तमोक्षण या रक्त निर्हरण का निर्देश नहीं किया गया है। अष्टांगसंग्रह सूत्र स्थान श्लोक संख्या ७ में पञ्चकर्मों की गणना इस प्रकार है—'वमन, विरेचन, नस्य, वस्ति और रक्तमोक्षण। यहाँ भी रक्तमोक्षण का समाधान वही है जो रक्तदोष के प्रकरण में निर्देश किया गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्राचीन महर्षियों को रक्त का दोषत्व स्वीकार्य नहीं था।

कारण है। इसी विषय को चरकसंहिता शारीरस्थान अ० १ में इस प्रकार कहा गया है—'शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥—अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः'। द्रष्टा के सम्बन्ध में देखें—'ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः। सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः' ॥ चरक शा० अ० १।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तमएव च ॥५७॥

दोष भेद—वात, पित्त, कफ ये तीनों **शारीर** (शरीरसम्बन्धी) दोष हैं और **मानस** दोष है रज तथा तम।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ को दोष, धातु, मल ये तीन संज्ञायें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में शास्त्रकारों ने स्वीकृत की हैं। यथा—'शरीरदूषणाद् **दोषाः, धातवो** देहधारणात्।······मलिनीकरणात् **मलाः**। अ० हृ० सू० अ० १। आयुर्वेदशास्त्र वैज्ञानिक है उसमें भी ये प्राचीन संहितायें तो सर्वमान्य हैं। विशेषतः इनके शब्द प्रयोगों पर भी ध्यान दें! जहाँ पर वे वात, पित्त, कफ शरीर को दूषित कर क्षीण कर रहे हैं, वहाँ आचार्य ने इसको शरीर (शॄ हिंसायाम् धातु से **शरीर** शब्द की निष्पत्ति होती है विनाश = क्षीणता की ओर प्रवृत्त होना) संज्ञा दी है और जहाँ पर वे ही वातादि धातु संज्ञा को प्राप्त होकर इसकी रक्षा कर रहे हैं वहाँ उसी शरीर को देह (दिह उपचये, धातु से **देह** शब्द बनता है, जिसका अर्थ है वृद्धि = स्वस्थ एवं पुष्ट होना) कहा है। अस्तु।

ऊपर हमने 'शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः'। च० सू० अ० १ श्लोक ५५। उक्त श्लोक की व्याख्या में निर्देश कर दिया है कि शरीर और मन ये दोनों पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त रूप में व्याधियों के आश्रय होते हैं। यहाँ रोगोत्पादक हेतुओं का विवेचन प्रस्तुत है। वातादि शारीरिक रोगों के कारण हैं और रज, तम मानसिक रोगों के कारण हैं। जैसे दोषों में वातादि तीनों की ही विषमावस्था में रोगोत्पादक हेतु माना गया है उसी प्रकार सत्त्वादि तीनों गुणों को नहीं लिया गया है। कारण यह है सत्त्व शुद्ध एवं अविकारी (विकार रहित) होता है। इसीलिये हमारे प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में इसी चरकसंहिता में लिखा है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलम्'। च० सू० अ० ११।

ध्यान दें! इस प्रकरण के उपयुक्त यहाँ केवल इतना ही है कि वे महर्षि रजोगुण और तमोगुण से मुक्त थे अतएव उनका त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) अमल=निर्मल=शुद्ध अथवा अमल = निर्दोष (वातादिदोष रहित) था। यह सब प्रभाव उनमें सत्त्व गुण का था। गीता में देखें—'सत्त्वं सुखे सञ्जयति'। यही सत्त्व गुण यथार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतएव हमारे आदिम आचार्यों ने बिना किसी प्रयोग शाला (Laboratories) के जिन योगों तथा द्रव्यों के गुण धर्मों का व्याख्यान किया है वे आज भी सत्य हैं। इसमें कारण है उन महर्षियों का सत्त्वगुणवान् होना। गुणों की सत्ता सर्वदा होने पर भी सत्त्व गुण रजस् और तमस् को अपने प्रभाव विशेष से अधरीकृत कर देता है, यही सत्त्वगुण मोक्ष की प्राप्ति भी कराता है। इसीलिये सत्त्वगुण की गणना मानस दोषों में नहीं की गयी है।

उक्त श्लोक में शारीर दोष वात, पित्त, कफ निर्दिष्ट हैं किन्तु चतुर्थ दोष के रूप में रक्त की भी गणना आचार्यों ने की है। वे इसका निदान, लक्षण, रोग और चिकित्सा का विवरण देते हैं—

निदान—'काले चानवसेचनात्'। उचित समय पर शिरावेधन, जलौकावचारण आदि विधियों द्वारा रक्त-मोक्षण न कराने से।

शुद्ध रक्त का लक्षण—'तपनीयेन्द्रगोपाभम्'। जिस रक्त का वर्ण सुवर्ण (सोना) अथवा बीरबहूटी के सदृश हो वह शुद्ध होता है।

रक्त का स्थान—'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय जायते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि च देहिनाम्' ॥ च० चि० अ० ४। और भी—'द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः तस्यां शोणितं विशेषतः शिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति'। सु० शा० अ० ४।

रक्त प्रकोपक हेतु—'छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्। श्रमाभिघातात् सन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ॥ शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

रक्तज रोग—'कण्ड्वरुःकोठपिडकाकुष्ठचर्मदलादयः। विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

रक्तजरोग चिकित्सा—'कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्। विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च' ॥ च० सू० अ० २४ ॥

इस सम्बन्ध में महर्षि चरक का वचन भी उद्धरणीय है—'कफे वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा। यदि कुप्यति वातस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥ यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्'। यदि कफ और वात के लगभग शान्त हो जाने पर किसी कारण से वात की चिकित्सा करते हुए पित्त अथवा रक्त कुपित हो जाय तो बढ़े हुए पित्त दोष अथवा रक्त दोष की चिकित्सा करे। उक्त पद्य में रक्त को भी दोष स्वीकृत किया है।

इसी का प्रतिपादन सुश्रुत में इस प्रकार किया गया है—'शारीरास्तु-वात-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपात-निमित्ताः'। कारण यह है कि व्रण आदि में रक्त दूषित होता है अतः शल्य चिकित्सा प्रकरण में रक्त की गणना दोषों में की गयी है।

रक्त का दोषत्व परिहार—रक्त वातादि के समान स्वयं दोष नहीं है इस सम्बन्ध में सुश्रुत के वचनों पर ध्यान दें—'यस्माद् रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति। तस्मात् तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥' सुश्रुत ॥ रक्त दूष्य है न कि दोष क्योंकि 'विना दोषैः न प्रकुप्यति', यह दोषों के संयोग के बिना कभी भी दूषित नहीं होता है। और भी देखें—'दोषाः कदाचित् एकैश द्विशः समस्ताः शोणितसहिताः वा अनेकधा प्रसरन्ति', इसमें भी दोष और रक्त को अलग-अलग निर्दिष्ट किया है। आगे ध्यान दें—'सर्वेषां च व्याधीनां वात-पित्त-श्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वाद् आगमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते'। सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २४। 'तत्र त्रयः शारीरदोषाः वातपित्तश्लेष्माणः'। चरक शा० अ० ४ ॥

वृद्ध वाग्भट भी उक्त विवेचन को समर्थन देते हुए लिखते हैं—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। तथा—रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ' ॥ वाग्भट लिखते हैं—'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः'। अ० हृ० सू० अ० १। अर्थात् रसादि सात धातुएँ हैं। ये जब वातादि से दूषित की जाती हैं, तब इनकी संज्ञा दूष्य हो जाती है। यही कारण है कि उपर्युक्त रसादि द्रव्यों के वर्णन प्रसङ्ग में दोषों द्वारा किये गये कार्यों को भी दूष्यों के माध्यम से कहा गया है। यथा—ये रसज हैं, ये रक्तज हैं आदि इस प्रकार का विवेचन वैसा निराधार है जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं पानी से जल गया हूँ। यहाँ यह स्पष्ट है कि पानी में दाहकत्व गुण नहीं है, वह अग्नि के संयोग का अस्थिर प्रभाव मात्र था। अस्तु।

जो विद्वान रक्त के दोषत्व प्रतिपादन के लिये उपर्युक्त चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं के प्रकरण वश लिखे गये वचनों का उल्लेख करते हैं, उनको यह भी विचार करना चाहिये कि सुश्रुत ने दोषों की जो संचय-प्रकोपादि छः अवस्थाओं का निरूपण किया है वे अवस्थाएँ मात्र वात-पित्त-कफ की होती हैं न कि रक्त आदि दूष्यों की।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी समस्त रोगों में यद्यपि प्रमुख रूप से रक्त दूषित हो जाता है किन्तु विवेचना करने पर यह निर्णय हो जाता है कि यह रक्त अमुक दोष से दूषित है। शल्यशास्त्र में समस्त औषधोपचार वातादि दोषों के अनुसार ही किया जाता है। सन्निपातज व्याधियों में भी वातादि का ही ग्रहण होता है, रक्त का नहीं।

रक्त दोष समर्थक विद्वानों का यह कथन कि पञ्चकर्म में रक्तमोक्षण भी होता है अतः उसको दोष मानना चाहिये उचित नहीं है। देखें—पञ्चकर्म के अवसर पर उसी परिस्थिति में रक्त मोक्षण करने की आवश्यकता पड़ती है जब कि रक्त वातादि दोषों से दूषित हो, अन्यथा नहीं। कायचिकित्सा सिद्धान्त के अनुसार वातादि दोषों के निर्हरण के लिये जिन पञ्चकर्मों का निर्देश किया गया है, उनका परिचय इस प्रकार है।

पञ्चकर्म—१. वमन (कफ का निर्हरण), २. विरेचन (पित्त का निर्हरण), ३. निरूहणवस्ति (वायु का निर्हरण), ४. अनुवासनवस्ति (वायु का निर्हरण), ५. शिरोविरेचन (शिरः प्रदेशस्थ दोषों का निर्हरण), उक्त कर्मों में भी रक्तमोक्षण या रक्त निर्हरण का निर्देश नहीं किया गया है। ये चरकोक्त पञ्चकर्म हैं किन्तु अष्टांगसंग्रह सूत्र स्थान श्लोक संख्या ७ में पञ्चकर्मों की गणना इस प्रकार है—'वमन, विरेचन, नस्य, वस्ति और रक्तमोक्षण। यहाँ भी रक्तमोक्षण का समाधान वही है जो रक्तदोष के प्रकरण में निर्देश किया गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्राचीन महर्षियों को रक्त का दोषत्व स्वीकार्य नहीं था।

त्रिदोष सिद्धान्त—आयुर्वेद की आधार शिला त्रिदोष-सिद्धान्त है। यह शारीर क्रिया तथा द्रव्य-गुण आदि पञ्चभूत वाद पर आधारित है। इन सभी के आदि स्रोत वेद हैं। ऋग्वेद में उपर्युक्त सिद्धान्तों का सूक्ष्म रूप दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद के 'य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे'। १।२४।१। इस मन्त्र में **ओज** के सप्तात्मक तीन द्रव्यों का उल्लेख है। वेदों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार सायणाचार्य ने **त्रेधा** शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'वात-पित्त-श्लेष्म-लक्षण-दोषत्रयकारिदेवतात्मना'।

सुश्रुत संहिता के अनुसार सोम, सूर्य और वायु अर्थात् कफ, पित्त, वायु की देह धारण के लिये स्थापना की गयी है। इसका तात्पर्य है कि इन वातादि दोषों के आद्यदेवता वात के वायु, पित्त के सूर्य और कफ के चन्द्रमा हैं।

वैदिक वाङ्मय में बहुचर्चित भूः, भुवः और स्वः अर्थात् भूः=पृथिवी, भुवः=अन्तरिक्ष और स्वः=द्युलोक। क्रमशः इनके तीन देवता अग्नि, वायु, आदित्य माने जाते हैं। उपनिषदों में उपलब्ध त्रिवृत् हैं—तेज, जल और अन्न। इस क्रम को आयुर्वेदोपयोगी बनाने के लिये अनुसन्धान अपेक्षित है किन्तु यह ध्रुव सत्य है, कि हमारे आयुर्वेदीय त्रिदोष की अवतरणिका यही रही है।

वैदिक साहित्य में भूः, भुवः, स्वः, अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौस् इन तीन लोकों के लिये अग्नि, वायु, आदित्य ये तीन देवता माने गये हैं।[1] उपनिषदों में **'तेजोबन्न'** इस त्रिवृत् करण में भी तेज, जल, अन्न है[2]। इसी के आधार प्र दोषों के वर्ण का निरूपण किया गया। जैसे—कफ का श्वेतवर्ण, पित्त का रक्तवर्ण और वायु का कृष्णवर्ण[3]। निश्चय ही पूर्वोक्त त्रिवृत्करण से त्रिदोषसिद्धान्त का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। इसी से आयुर्वेद का त्रिविधात्मक वर्गीकरण[4] और त्रेधा विभाग[5] (पोषक, पोष्य, मल) भी प्रभावित लगता है।

आयुर्वेद में ऋतु सन्धियों का भी अत्यन्त महत्व है। इनकी संख्या ३ है। यथा—१. वसन्त २. ग्रीष्म ३. वर्षा। व्याकरण की दृष्टि से वर्षाः शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। निम्नोक्त शतपथ ब्राह्मण के मन्त्र को देखकर वर्षा शब्द की व्याकरण सम्बन्धी निरुक्ति सार्थक प्रतीत होती है। १—स्त्रीलिंग होने के कारण सांसारिक समस्त वस्तुओं का उत्पत्ति साधन। २—बहुवचनान्त होने के कारण सभी ऋतुओं के समावेश की क्षमता का होना। निम्नलिखित मन्त्र पर ध्यान दें—

'स वै वर्षास्वादधीत, वर्षा वै सर्वऋतवः।······यदेव पुरस्ताद् वाति तद् वसन्तस्य रूपं, यत्स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य, यद् वर्षति तद्वर्षाणां, यद् विद्योतते तच्छरदो, यद् वृष्ट्योद्गृह्णाति तद् हेमन्तस्य'।' शतपथ ब्रा० २।२।१।७–८॥

वर्षा ऋतु में यज्ञ करें। इस ऋतु में सभी ऋतुओं का अस्तित्व है। इसमें जो हवा बहती है वह **वसन्त** का लक्षण है, जो गरजता है वह **ग्रीष्म** का, जो बरसता है वह **वर्षा** का, जो बिजली चमकती है वह **शरद्** का और जो वर्षा के अनन्तर शीतता आती है वह **हेमन्त** का रूप है। हेमन्त शीत ऋतु है इसीसे **शिशिर** का भी आक्षेप किया जायगा। इन ऋतु सन्धियों में होने वाले रोग प्रतीकार के लिये यज्ञों का विधान है।

इसके अनन्तर एक ही दिन में छहों ऋतुओं का जो आयुर्वेद में वर्णन है, उसका अस्तित्व शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार दिया गया है—

'आदित्यस्त्वेव सर्वऋतवः। यदैवोदेत्यथ वसन्तो, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा, यदाऽपराह्णः शरद्, यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः'। श० ब्रा० २।१।१।९।

आयुर्वेद के साथ तुलना करें—'चयकोपशमाः पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गम्, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकम्, शारदम् अर्धरात्रे, प्रत्युषसि हेमन्तमुपलक्षयेत्। एवम् अहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षाः। दोषोपचयप्रकोपोपशमाः, जानीयादिति सुश्रुतः'।

१. प्रश्नोपनिषद् १।४ तथा उस पर शाङ्करभाष्य।
२. छान्दोग्योपनिषद् ६।८।४।
३. छान्दोग्योपनिषद् ६।४।१।
४. चरक सूत्र० ११।३४॥
५. छान्दोग्य उपनिषद् ६।५।१–३।

आचार्य सुश्रुत तथा शार्ङ्गधर ने दोषों के संचय, प्रकोप एवं प्रशम का विचार करते समय शिशिर ऋतु का नहीं अपितु प्रावृट् का उल्लेख किया है। गङ्गा नदी के दक्षिण भाग में वृष्टि अधिक दिनों तक होने के कारण कतिपय आचार्यों ने प्रावृट् तथा वर्षा नाम की दो ऋतुएँ मानी हैं। उत्तर भाग में शीत अधिक दिन होने के कारण कुछ विद्वानों ने शिशिर और हेमन्त नाम की दो ऋतुएँ मानी हैं। इसको हम भौगोलिक दृष्टि से इस प्रकार भी कह सकते हैं—जिन भागों में वर्षा ४ मासतक होती है वहाँ प्रावृट् और वर्षा ऋतु तथा जहाँ ४ मासतक शीत अधिक पड़ता हो वहाँ हेमन्त और शिशिर ऋतु होती हैं।

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥५८॥

शारीरिक और मानसिक रोगों का चिकित्सासूत्र—शरीर सम्बन्धी दोष अथवा रोग दैवव्यपाश्रय औषधयोगों से शान्त होते हैं अथवा किये जाते हैं और मनसम्बन्धी दोष अथवा रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि आदि द्वारा शान्त होते हैं, अथवा किये जाते हैं॥ ५८॥

वक्तव्य—शारीरिक रोगों की चिकित्सा के भेदों का विवेचन—

त्रिविधमौषधम्—'दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्चेति, तत्र दैवव्यपाश्रयम् मन्त्रौषधमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयम्—पुनराहारविहारौषधद्रव्याणां योजना। सत्त्वावजयः—पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः'। च० सू० अ० ११।५२॥ इसका व्याख्यान आगे यथा स्थान किया जायगा।

(१) दैवव्यपाश्रय—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः'। अमरकोष। ये ६ नाम भाग्य के हैं। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—'दैवम् आश्रित्य यद् व्याधिप्रतीकारः करोति तद् दैवव्यपाश्रयम्। 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् **दैवमिति** कथ्यते'। पूर्व जन्म कृत शुभ-अशुभ कर्मों का नाम **दैव** है, इसका आश्रय लेकर जो व्याधि का प्रतीकार किया जाता है, उसको दैवव्यपाश्रय चिकित्सा कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक देवों (वरुण, इन्द्र, सूर्य, विष्णु आदि) की प्रार्थना की जाती है, इसके अतिरिक्त सूर्य रश्मि, जल, वायु का उपयोग तथा बलि, मङ्गल आदि भी इसी की सीमा है। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' इसी परम्परा का अंग है। ऋग्वेद काल में **दैवव्यपाश्रय चिकित्सा** की अधिकता थी और **युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा** प्रायः उपेक्षित थी।

कतिपय दैवव्यपाश्रय के उद्धरण—'तन्वङ्गि! गङ्गोत्तरतीरभूमौ ममार हा! कोऽप्यसुतस्तपस्वी। जलाञ्जलिं तस्य कृते ददातु सैकाह्निकः स्यादिति तेज्जुजन्मा'॥ **वैद्यजीवन**। 'नारायणं भजत रे! जठरेण युक्ता नारायणं भजत रे! पवनेन युक्ताः। नारायणं भजत रे! भवतीतियुक्ता नारायणात् परतरं नहि किञ्चिदस्ति'॥ वही। 'सहस्रनेत्रस्य सहस्रबाहोः सहस्रवक्त्रस्य सहस्रमूर्ध्नः। सहस्रपादस्य सहस्रनाम्नः सहस्रनाम्नां पठनं ज्वरघ्नम्'॥ **चमत्कार चिन्तामणि'**॥ 'गणेश्वरो वा गरुडेश्वरो वा गौरीश्वरो वा द्विजेश्वरो वा। माहेश्वरी वा कुलदेवता वा सम्पूजनीया ज्वरिणा प्रयत्नात्'॥ वही। **अन्यत्र**—

'दानैर्दयाभिरपि च द्विजदेवतागोगुर्वर्चना प्रणतिभिश्च जपैस्तपोभिः।
इत्युक्तपुण्यनिचयैरपचीयमानाः प्राक् पापजा अपि रुजः प्रशमं प्रयान्ति'॥

दैवव्यपाश्रय के अन्तर्गत आने वाली सभी व्याधियाँ पूर्व शरीर सम्बन्धी मानी गयी हैं, क्योंकि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'। और—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्'। अतः इसको **पूर्वकर्मज** व्याधि का क्षेत्र माना गया है, क्योंकि पूर्व जन्म में किये गये दोषों से ही हम यहाँ पीड़ित होते हैं। दोषज व्याधियों की चिकित्सा को युक्तिव्यपाश्रय कहते हैं।

चरक आदि प्राचीन संहिताओं में भी इस प्रकार के पर्याप्त उदाहरण दैवव्यपाश्रयचिकित्सा के सुलभ हैं।

(२) युक्तिव्यपाश्रय—'युक्तिः = योजना, शरीरभेषजोहितो यो योगः तदपेक्षं संशोधनसंशमनादिकं युक्तिव्यपाश्रयमुच्यते'। अर्थात् दोष आदि की विवेचना के अनुसार औषधयोगों का हितकारक प्रयोग करना युक्तिव्यपाश्रय है। आयुर्वेदीय समस्त ग्रन्थ युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का ही प्रधानतया निर्देश करते हैं। क्योंकि उनमें हितकर आहार, विहार और औषधद्रव्यों की योजना का ही निर्देश है। चिकित्सा सम्बन्धी अन्य पद्धतियों का समावेश भी इसी के अन्तर्गत हो जाता है।

(३) सत्त्वावजय (मानसरोग)—इसकी चिकित्सा आध्यात्मिक ज्ञान, शास्त्रविज्ञान,[1] धीरता (स्थिर प्रज्ञता), स्मरणशक्ति और समाधि (मन को एकाग्र करना) द्वारा की जाती है। महर्षि वाग्भट ने—'धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्'। अष्टाङ्गहृदय सू० अ० १। मानस रोगों की चिकित्सा का संकेत किया है। चरक के ११वें अध्याय में सत्त्वावजय का जो निर्देश है वह मानस रोग से ही सम्बन्धित है। आधुनिक चिकित्साविद् इसको Psycho-therapy (साइको थेरापी) कहते हैं।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः। विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥५९॥

वात का लक्षण—रूखा, शीत, लघु (हलका), सूक्ष्म (सर्वत्र प्रसरणशक्तिमान्), चल, विशद और खर ये (सात) वायु के गुण हैं। इनसे विपरीत गुणवान् द्रव्यों के प्रयोग से वायु का शमन होता है अथवा किया जा सकता है ॥ ५९ ॥

वक्तव्य—दोष निरूपण के अनन्तर क्रमशः वात लक्षण—चिकित्सा का निर्देश प्रारम्भ है—'पित्तः पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥ अर्थात् पित्त तथा कफ बिना वायु के सहयोग के गतिशील नहीं हो सकते, अतः सबका नायक वायु है। इसीलिये वायु की प्रमुखता होने के कारण इसका सर्वप्रथम वर्णन संहिताकार को अभीष्ट रहा होगा। अस्तु।

इसका समर्थन चरक संहिता चिकित्सास्थान अ० ३ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—'योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्' ॥

आचार्य सुश्रुत ने वायु के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः। तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ॥ अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्' ॥ सु० नि० अ० १।७–८ ॥ उक्त पद्य में 'अव्यक्त' से सूक्ष्म और द्विगुण से शब्द तथा स्पर्श गुणवान् कहा है। शेष स्पष्ट है।

तर्कशास्त्र में वायु का स्वरूप—'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः, अनित्यः कार्यरूपः।······शरीरान्तः सञ्चारी वायुः प्राणः, स चैकोऽपि उपाधिभेदात् प्राणाऽपानादिसंज्ञां लभते'। तर्कसंग्रह। शरीर में सञ्चरण शील वायु के स्थान भेद से नाम भेद—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः' ॥ विशेष विवरण सुश्रुतसंहिता निदानस्थान अ० १ श्लोक १३ से २० तक देखें।

विपरीतगुणैर्द्रव्यैः—उपर्युक्त वायु के सात गुणों के विपरीत द्रव्यों तथा कर्मों से वात की शान्ति होती है। यहाँ क्रमशः रूक्षादि से विपरीत गुणों वाले द्रव्यों की परिगणना की जा रही है—स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, मृदु, पिच्छिल और श्लक्ष्ण (चिकना), यहाँ पर गुण शब्द से महर्षि अग्निवेश को रस, वीर्य, विपाक, प्रभावों का ग्रहण भी अभीष्ट है क्योंकि जो द्रव्य रस वीर्यादि से विपरीत होगा निश्चय ही वह भी वातशामक होगा। 'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्'।

कतिपय वैशेषिक आदि दर्शन ग्रन्थों में वायु का गुण 'अनुष्णाशीत' न उष्ण न शीत माना है किन्तु शरीरगत वायु के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वह वायु शीत के संसर्ग से बढ़ता है और उष्ण पदार्थों के सेवन से उसका शमन होता है। अतः यह वह वायु है जिसके लिये 'शरीरं वायुलोके' ऐसा भी अन्नभट्ट ने प्रयोग किया है क्योंकि बहिश्चर वायु स्वयं में सचमुच 'अनुष्णाशीत' है। उससे ऋतु जनित शीतता अथवा उष्णता होती है। आयुर्वेद में तो वात प्रधान श्वास रोग का एक उदाहरण देखें—'मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते'। ऐसा लिखा है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव श्वास का रोगी करता है।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रव्यमम्लं सरं कटु। विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥६०॥

पित्त का लक्षण—थोड़ा स्नेहवाला, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु ये पित्त के गुण हैं। उक्त गुणों से विपरीत गुणवाले द्रव्यों से पित्त का शीघ्र शमन होता है ॥ ६० ॥

वक्तव्य—यहाँ वायु के बाद पित्त के गुण और उनके शमन के उपायों की चर्चा प्रस्तुत है। 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वञ्च पित्तस्यात्मरूपाणि'।

१. विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः। अमरकोष।

चरक सू० अ० २०। के अनुसार उपर्युक्त श्लोकांश **सस्नेह** का अर्थ = अनतिस्नेह माना गया है। यही महर्षि अग्निवेश को भी अभीष्ट रहा होगा अन्यथा विपरीत गुणों में वर्णित—पूर्णस्निग्ध, शीत, मृदु, सान्द्र, कषाय, तिक्त अथवा मधुर द्रव्यों से पित्त का प्रशमन कैसे सम्भव हो सकता?

अम्लं कटु—पित्त उभयरसात्मक वर्णित है, इसका समाधान इस प्रकार है—स्वभावतः पित्त कटुरसयुक्त होता है और यही पित्त जब विदग्ध हो जाता है तब इसका परिपाक अम्ल रस युक्त हो जाता है। देखें—अम्लपित्त रोग निदान में। सुश्रुतसंहिता में पित्त का स्वरूप निम्न प्रकार निर्दिष्ट है—'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसश्चैव विदग्धं चाम्लमेव च' ॥ सु० सू० अ० २१ ॥ इस पित्त को महर्षि अग्निवेश तेजःप्रधान द्रव्य होने के कारण स्वभावतः अम्लरसयुक्त स्वीकार करते हैं। उक्तश्लोक में 'प्रशाम्यति' क्रिया का आशय है प्रशमन करना न कि संशोधन करना। यदि 'प्रशाम्यति' क्रिया का अर्थ संशोधन किया जायगा तो **सर** का विपरीत **स्थिर** अर्थात् स्तम्भन (मलादि अवरोधक) द्रव्य् का सेवन होना चाहिये था परन्तु पित्त की सम्यक् शान्ति विरेचन द्वारा ही प्रशस्त कही गयी है। यहाँ संशमन द्रव्यों से ही पित्तशमन का निर्देश किया गया है।

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः। श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥६१॥

कफ का लक्षण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल ये श्लेष्म (कफ) के गुण हैं। इनसे विपरीत गुणों द्वारा कफ के पूर्वोक्त गुण शान्त होते हैं ॥ ६१ ॥

वक्तव्य—श्लोक संख्या ५९ से ६१ तक की क्रियाओं के प्रयोगों पर ध्यान दें—५९ सम्प्रशाम्यति, ६० प्रशाम्यति और ६१ में प्रशमं यान्ति सर्वथा समान आशय है। कारण यह है कि सबका दृष्टिकोण प्रसङ्गानुसार एक ही रहा है। शब्दार्थ की उद्भावना के अवसर पर प्रकरण और साहचर्य्य का अवश्य ध्यान देना ही चाहिये।

विपरीतगुणैर्गुणाः—कफ के पूर्वोक्त सहज गुणों के विपरीत निम्नगुण होते हैं—लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, स्थिर और विशद। जैसे हमने श्लोक संख्या ५९ के वक्तव्य में निर्देश किया है कि न केवल द्रव्यों के गुण ही प्रशमन में कारण होते हैं अपितु इनके रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव भी कारण होते हैं। वही स्थिति यहाँ भी समझें। अर्थात् वहाँ गुण से गुणी का भी ग्रहण किया गया है। जैसे—शीत गुण और शीत गुणवान् जल। अतएव गुणों से गुणों का प्रशमन होता है ऐसा निर्देश किया है। क्योंकि गुणों के शमन से गुणी का स्वयं शमन हो जाता है। और गुण की वृद्धि से गुणी की वृद्धि होती है।

विपाक—कभी-कभी विपाक के कारण रसों में परिवर्तन होता हुआ देखा जाता है। जैसे—आँवला का रस कषाय है, उसका विपाक मधुर होता है। उसी प्रकार मधु (शहद) स्वाद में मीठा होनेपर भी इसका विपाक कटु होता है अतएव यह कफ का प्रशमन करता है। इसीलिये गुण के साथ रसादि के ग्रहण का आग्रह है। ऐसा भी देखा जाता है कि कोई द्रव्य रस प्रधान होने के कारण रस से, तो दूसरा विपाक से, अगला गुण से, कोई विपाक से और कोई प्रभाव से अपना कार्य करता है। यही कारण है कि मधु रस से समर्थ न होकर विपाक से बलवान् होता है, अतः वह अपने कटु विपाक के कारण कफ का प्रशमन करता है।

स्वरूप—शुद्ध कफ का स्वरूप श्वेत है। यही चरक एवं सुश्रुत का अभिमत है[1]। सुश्रुत ने इतना अधिक कहा है—अविदग्ध कफ मधुर रस वाला तथा विदग्ध कफ लवण रसवान् होता है।

विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः। भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः ॥६२॥
साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते।

सामान्य चिकित्सा सूत्र—देश (उष्ण कटिबन्ध, शीत कटिबन्ध तथा जांगल, आनूप आदि), मात्रा (रोगी की अवस्था, बल, शरीर, अग्नि के अनुसार), काल (ऋतु भेद से तथा शारीरिक स्थिति) के विपरीत गुणवाले, औषध संयोग से महर्षियों द्वारा साध्य कहे गये विकार (रोग) निवृत्त होते हैं (किये जा सकते हैं)। क्योंकि असाध्य व्याधियों के साधनों का उपदेश नहीं किया जा सकता ॥ ६२ ॥

वक्तव्य—साध्य कहे गये रोगों में औषध सेवन कराने के पूर्व चिकित्सक को जिन देश, काल आदि के विचार करने का निर्देश उक्त श्लोक में दिया गया है, वे उपलक्षण मात्र हैं। चिकित्सक को चाहिये कि वह

१. चरक सू० अ० २० तथा सुश्रुत सू० अ० २१।

देश कालादि के साथ-साथ दोषों के बलाबल, सत्त्व, सात्म्य, असात्म्य, औषध, अन्न, विहार, वय आदि का भी सम्यक् विचार करे। देश शब्द से जांगल, आनूप आदि का भी ग्रहण चिकित्सा क्षेत्र में किया जाता है। इनके अतिरिक्त जिनका ग्रहण देश शब्द द्वारा किया जाता है उन (मात्रा, काल, भेषज) का उल्लेख उपर्युक्त कारिका में स्पष्टतः किया गया है।

संहिताकार ने साध्य व्याधियों की चिकित्सा का निर्देश करने की प्रतिज्ञा की है न कि असाध्य रोगों की। यह साध्य-असाध्य का विचार प्रायः सभी रोगों में लक्षणानुसार करना चाहिये। १-चरकसंहिता में इन्द्रिय स्थान में मुमूर्षुओं (निश्चित समय की अवधि पर मरने वालों के लक्षणों) का विशद वर्णन किया है। २-त्रिदोषज व्याधियां भी असाध्य होती हैं। चिकित्सा क्षेत्र में यह क्रम इस प्रकार देखा जाता है—सर्वप्रथम कोई भी रोग **साध्य** तदनन्तर **याप्य** जो कुछ दिनों तक चिकित्सा द्वारा चलाया जा सकता हो, अन्तिम स्थिति **है असाध्य**। इसमें अरिष्ट किं वा रिष्ट लक्षण अथवा लक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है, जिनको देखकर चिकित्सक रोगी की मृत्यु का अनुमान कर लेते हैं, तदनुसार मृत्यु भी होती देखी गयी हैं। क्योंकि **'ध्रुवं त्वरिष्टे मरणम्'** किन्तु **'कदाचित् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति'**। कभी कभी दैवयोग से अरिष्टलक्षणों के दिखलायी देने के बाद भी तपस्वी ब्राह्मणों द्वारा जप, यज्ञ, होम, दान कराने से तथा कुशल चिकित्सकों द्वारा विधिवत् रसायन प्रयोग कराने से भी अरिष्टों की निवृत्ति हो जाती है।

इसका समर्थन हमको महर्षि अगस्त्य के वचनों में इस प्रकार सुलभ है—

'रसायनतपोजप्ययोगसिद्धैर्महात्मभिः ।
कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयतेऽनलसैर्नरैः' ॥

सुश्रुतसंहिता में इसका समर्थन अधोनिर्दिष्ट है—

'ध्रुवं त्वरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।
रसायनतपो जप्यतत्परैर्वा निवार्यते' ॥

ज्योतिषशास्त्र में **अल्पमृत्यु** (अकालमृत्यु) और **महामृत्यु** (कालमृत्यु) भेद से दो प्रकार की मृत्यु स्वीकार की गयी है। जिनको **ग्रहारिष्ट** तथा **मारकेश** के रूप में विभाजित किया गया है। इसमें ग्रहारिष्ट अकालमृत्यु है जो जप, दान आदि द्वारा दूर की जा सकती है, दूसरा है मारकेश के रूप में प्राप्त महामृत्यु। इसी प्रकार के दो भेद आयुर्वेदशास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—१. **अनियत अरिष्ट** और २. **नियत अरिष्ट**।

नियत अरिष्ट के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का अभिमत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते'। क्योंकि—

अरिष्टं चापि तन्नास्ति यद् विना मरणं भवेत् ।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥

[1]भूयश्चातो यथाद्रव्यं गुणकर्माणि वक्ष्यते ॥६३॥

गुण-कर्म निर्देश—तदनन्तर और भी द्रव्यों के अनुसार उनके गुण-कर्मों का वर्णन किया जायगा। अथवा द्रव्यों के गुणों एवं कर्मों के विस्तारपूर्वक वर्णन भिन्न-भिन्न स्थलों में किये जायेंगे।

वक्तव्य—योगीन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में उक्त पद्यार्ध को 'किञ्चिद् दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातुप्रदूषणम्'। ६८ ॥ च० सू० अ० १। इसके पूर्व रखा है। और 'गुणकर्मापि वक्ष्यते' के स्थान पर 'गुणकर्म प्रवक्ष्यते' पाठ भेद किया है। अस्तु।

भूयश्चातः—इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम दोषों के गुणों का निर्देश किया गया है, तत्पश्चात् चिकित्सा के सामान्य नियमों का वर्णन किया है, जैसे—साध्य विकार शान्त होते हैं और असाध्यों की कोई चिकित्सा नहीं है। चिकित्सोपयोगी समस्त ओषधियों में उनका रस ही प्रधान होता है। जैसा कि उपनिषद् कार लिखते हैं—'पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, इत्युक्तम्, तेन

१. योगीन्द्रनाथसेनस्तु 'भूयश्चात' इत्याद्यर्धश्लोकं कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्' इत्यनन्तरं पठति।

पुरुषो रसमय इत्यवगम्यते। तथा च रसमयस्य पुरुषस्य रसेनैव दोषसाम्यं करणीयम्। अतोऽपि रसस्य प्राधान्यं, वीर्यविपाकादयोऽपि प्रायशो रसाश्रिता एव'।

इस प्रकार रस की प्रधानता सुनिश्चित है, अत एव सर्वप्रथम रस का लक्षण ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

[1]रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥६४॥

रस लक्षण

रस का लक्षण—रसना (जीभ) द्वारा ग्राह्य विषय का नाम **रस** है। जल और पृथिवी ये दोनों इसके द्रव्य द्रव्य हैं। रस की निर्वृत्ति (अभिव्यक्ति) में जल तथा पृथिवी प्रधान कारण हैं और विशेषज्ञान (मधुर आदि भेद ज्ञान) में आकाश, वायु एवं अग्नि अप्रधान कारण हैं।

वक्तव्य—रस के सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों के मत यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। सर्वप्रथम वैशेषिककार का मत प्रस्तुत है—'रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः, पृथिव्युदकवृत्तिः, जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तं रसनसहकारी मधुराम्ल-लवणकटुतिक्तकषायभेदभिन्नः। अतः वैशेषिककारोऽपि पृथिव्युदके आधारकारणे वक्ति। अतः सुश्रुते यद् आप्यो रस इत्युक्तं तदसाधु। न आपो हि निसर्गेण रसवत्यः, क्षितिस्त्वपामेव रसेन नित्यानुषक्तेन रसवतीत्युच्यते। यतो नित्यः क्षितेर्जलसम्बन्धः'।

उपनिषद् में—'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। अतः आकाशवाय्वग्निजलक्षितीनाम् उत्तरोत्तरे भूते पूर्वभूतस्य नित्यमनुप्रवेशः, तत्कृतश्चाकाशादिषु गुणोत्कर्षः'।

अन्नम्भट्ट के मत में—'रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव'। तर्कसङ्ग्रह।

वास्तव में ऊपर जो रस का जल एवं पृथिवी से संयोग दिखाया गया है उसका कारण यह है कि जल एव पृथिवी आधार कारण हैं और रस आधेय है। इस प्रकार इनका परस्पर आधाराधेय भाव है। आकाश आदि भी कारण रूप में पर्यवसित होते हैं। उपर्युक्त व्यवस्था होने पर भी निर्वृत्ति (अभिव्यक्ति) में पृथिवी कारण है। क्योंकि जल का रस अव्यक्त है। इसका जब पृथिवी से सम्बन्धित द्रव्यों से सम्पर्क होता है तब यह मधुर आदि भेदों को धारण करता है। आयुर्वेद में जलज रस को अव्यक्त रस स्वीकार किया है।

रस शब्द की व्याख्या—'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'। रसना (जीभ) द्वारा जिसका स्वाद लिया जाय उसको रस कहते हैं। इसका विशेष व्याख्यान हम चरक सूत्रस्थान अ० २६ में ३९ कारिका ('Topic of six Rasas and their Karmas') में करेंगे। इसके आगे षड्रसों का विवेचन प्रस्तुत है।

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च। कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां सङ्ग्रहः स्मृतः ॥६५॥

रस भेद (Parts of Rasas)

रस भेद—१. स्वादु (मधुर), २. अम्ल (खट्टा), ६. लवण (नमकीन), ४. कटु (कड़ुआ मिर्चा आदि), ५. तिक्त (तीता नीम आदि) और ६. कषाय (कसैला आंवला आदि) ये छः रसों का संग्रह माना गया है।

वक्तव्य—चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० २६ में तथा सु० सू० अ० ४२ में रस सम्बन्धी विशेष विचार किया गया है जिसके आधार पर रसों के ६३ भेद माने गये हैं। कुछ आचार्य छठवें रस के रूप में क्षार की गणना करते हैं। महर्षि अग्निवेश को यह मत स्वीकार नहीं है। वे लिखते हैं—'क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः'। इति। कौन रस किस दोष का शमन करता है इसकी चर्चा अगले पद्य द्वारा उपस्थित की जा रही है।

यद्यपि **'रस'** आप्य (जलीय) द्रव्य है। तथापि शेष महाभूतों के विलक्षण संयोग से ही छः रसों की उत्पत्ति हो जाती है। देखिये—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४२ एवं चरक सूत्र स्थान अ० २६।

१. 'रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्यः, द्रव्यमाधारकारणं, निर्वृत्तौ अभिव्यक्तौ, विशेषे मधुरादिविशेषनिर्वृत्तौ-प्रत्ययाः निमित्तकारणं, निर्वृत्तौ चेति चकाराद् विशेषेऽपि मधुरादिलक्षणेऽप्क्षिती प्रत्ययौ, विशेषे चेति चकारादभिव्यक्ताकाशादीनां कारणत्वं दर्शयति' इति चक्रः।

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः । जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः ॥६६॥

कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम् । कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्[1] ॥६७॥

रसों के कार्य—मधुर, अम्ल, लवण रस वात दोष को, कषाय, मधुर, तिक्त रस पित्त को और कषाय, कटु, तिक्त कफ को जीतते हैं।

उक्त क्रम से मधुरादि रस दोषों को जीतते हैं और इसके विपरीत होने पर वे दोषों को प्रकुपित करते हैं। यथा—कटु, अम्ल, लवण रस पित्तको, मधुर, अम्ल, लवण रस कफ को और कटु, तिक्त, कषाय रस वात को प्रकुपित करते हैं।

वक्तव्य—संक्षेप में दोष शमन अथवा दोष प्रकोपण को इस प्रकार समझें—जो-जो रस जिस-जिस दोष को शान्त करने की क्षमता नहीं रखता निश्चय ही वह उसका प्रकोपक होता है। इसको महर्षि वाग्भट्ट ने सूत्र रूप में इस प्रकार कहा है—

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथा पूर्वं बलावहाः॥
'तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥' अष्टांग सं० सू० अ० १

रस परिचय

क्रम सं० नाम	उत्पादक तत्व	दोष शमन	दोष प्रकोपण	विशेष
१. मधुर	जल, पृथिवी	वात, पित्त	कफ	प्रस्तुत परिचय सामान्य स्थिति का है। चिकित्सा काल में दोषों के तर-तम भाव से कहीं कहीं परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है।
२. अम्ल	पृथिवी, अग्नि	वात	पित्त, कफ	
३. लवण	जल, अग्नि	वात	पित्त, कफ	
४. कटु	वायु, अग्नि	कफ	पित्त, वात	
५. तिक्त	वायु, आकाश	पित्त, कफ	वात	
६. कषाय	वायु, पृथिवी	पित्त, कफ	वात	

सूचना—प्रस्तुत तालिका ६६ वें तथा ६७ वें पद्य का स्पष्टीकरण है।

किञ्चिद् दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातुप्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥६८॥

द्रव्यों का वर्गीकरण (Classification of Drugs)

द्रव्यों के भेद—१. कुछ द्रव्य दोष प्रशमन कारक होते हैं, २. कुछ धातुप्रदूषण कारक होते हैं और ३. कुछ स्वस्थवृत्त में हितकारक होते हैं। इस प्रकार द्रव्यों के तीन भेद कहे गये हैं।

वक्तव्य- दोषप्रशमनद्रव्य—जो द्रव्य दुष्ट वात, पित्त, कफ को शान्त करते हैं, १. यथा—स्निग्ध (तैल), उष्ण, गुरु गुण वाले पदार्थ क्रमशः रूक्ष, शीत, लघु गुण वाले वायु के शमन कारक होते हैं। इसी प्रकार घृत पित्त का और मधु कफ का शमन करता है।

धातुप्रदूषण द्रव्य—जो द्रव्य शरीर धारण समर्थ अर्थात् प्रकृतिस्थ वातादि धातुओं को दूषित करते हैं। २. यथा—माष (उड़द), सरसों, दही, विरुद्ध भोजन (दूध के साथ खिचड़ी आदि)।

स्वस्थवृत्त में हितकारक द्रव्य—स्वस्थवृत्त Hygiene के लिये उपयोगी हो। अर्थात् जो सम अवस्था में स्थित (अदुष्ट) वात, पित्त, कफ तथा रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातुओं को दूषित न होने दें। ३. यथा—रक्तशालि, सांठी के चावल, जौ, गेहूँ, जांगल पशुओं के मांस, गाय का दूध, रसायन तथा वाजीकरण द्रव्य।

[1]. श्लोक सं० ६६ के नीचे दिया गया पद्य सभी संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता।

यहाँ पर दोषप्रशमन और धातुप्रदूषण पदों से यह भी सूचित हो जाता है कि वातादि शरीर को दूषित करने से **दोष** और शरीर को धारण करने से **धातु** कहे जाते हैं। अन्यत्र 'शरीरदूषणाद् दोषाः, धातवो देह-धारणात्-मलिनीकरणात्-मलाः'। तथा—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। इत्यादि सूक्तियाँ इसी सिद्धान्त का समर्थन करती हैं।

उक्त पद्य के सम्बन्ध में चक्रपाणि का दृष्टिकोण—**'किञ्चिद् दोष'** इस पद्यांश से एक दोष, दो दोष अथवा तीन दोषों का भी ग्रहण किया जा सकता है। दोष शब्द के ग्रहण से दुष्ट रस आदि का भी ग्रहण हो जाता है। यदि ऐसा करते हैं तो उस द्रव्य की महिमा से वातादि दोषों के दुष्ट रसादियों के अथवा धातुओं के शमन कर्ता आँवला, दुरालभा आदि का भी ग्रहण होगा, क्योंकि आँवला त्रिदोष नाशक और दुरालभा भी वात, पित्त, कफ नाशक कही गयी है। इत्यादि सुविशद विचार किया है जो चरक की चक्रपाणि टीका में द्रष्टव्य है।

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं [1]जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम्।

उत्पत्ति भेद से द्रव्य भेद—उक्त द्रव्यों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है—१—जांगम, २—उद्भिद, और ३—पार्थिव।

वक्तव्य—जाङ्गम—गच्छतीति जङ्गमः, अर्थात् चलने फिरने वाले (पशु, पक्षी आदि के अङ्गों) को जाङ्गम द्रव्य कहते हैं। इसी के अन्तर्गत जरायुज, अण्डज और स्वेदज द्रव्यों की गणना की जाती है।

औद्भिद—उद्भिद्य जायन्ते, इति। अर्थात् भूमि के भीतर से जो (वृक्ष, लता, गुल्म आदि) उत्पन्न होते हैं, उनको **उद्भिद्** या **उद्भिज्ज** कहते हैं। इनके पत्र, पुष्प, त्वचा, मूल, अन्तःसार भाग आदि का ग्रहण किया जाता है।

पार्थिव—पृथिव्याः विकारः पार्थिवम्, अर्थात् पृथिवी की खान आदि से निकलने वाले द्रव्यों (रत्न, पारा, गन्धक, सुवर्ण आदि धातु, उपधातु आदि) को पार्थिव द्रव्य कहते हैं। इनका प्रयोग रस, रसायनों के लिये किया जाता है।

मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जाऽसृगामिषम् ॥६९॥

विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखाः खुराः। जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः ॥७०॥

चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले जाङ्गम द्रव्य—मधु, गोरस, पित्त, (Bile) वसा, मज्जा, रक्त, मांस, मल, मूत्र, चर्म, वीर्य, अस्थि, स्नायु, (Ligaments) सींग, नख, खुर, केश, रोम और रोचना (सूखा पित्त, अथवा गोरोचन)।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **'मधूनि'** इस शब्द से सभी प्रकार का माक्षिक, (मक्खियों द्वारा बनाया हुआ), भ्रामरं (भ्रमर नामक बड़ी मक्खियों द्वारा निर्मित), क्षौद्र (क्षुद्राभिर्निर्मितं=छोटी मक्खियों द्वारा रचित) तथा पौत्तिक (पुत्तिका नाम की अत्यन्त छोटी मक्खियाँ जो नैनीताल आदि पर्वतीय क्षेत्रों की नदियों के किनारे पायी जाती हैं, द्वारा निर्मित) मधु का ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार **गोरसाः** शब्द से दूध से बनने वाले दही, मठा, मक्खन, घृत, किलाट, मलाई, रबड़ी आदि आदि का ग्रहण करना चाहिये। शेष पित्त आदि द्रव्य जिन-जिन प्राणियों के शास्त्रानुमोदित हैं, उनका ग्रहण करें।

सुवर्णं समलाः पञ्च लोहाः ससिकताः सुधा। मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने ॥७१॥

भौममौषधमुद्दिष्टम्—

पार्थिव औषध द्रव्य—सोना, मल (मण्डूर=लौह किट्ट) के साथ पाँच लौह (चांदी, तांबा, त्रपु, कलई (Tin), सीसा (Lead), लोहा), बालू, चूना, मैनसिल, हरताल, मणियाँ (सभी रत्न तथा उप-रत्न), नमक, गेरू, अञ्जन (Antimony)।

वक्तव्य—पार्थिव द्रव्यों की जो गणना उक्त पद्य में की गयी है, उनके अतिरिक्त भी कुछ पार्थिव औषध

[1]. 'प्रोक्तं' 'जाङ्गमं भौमपार्थिवम्'। पाठभेद।

द्रव्य हैं। यथा—कांसा, पीतल, जस्ता, पारा, रस, महारस, उपरस, उपधातु, मिश्रधातु गोदन्ती, शिलाजीत आदि। महारस, उपरस आदि में जो जांगम द्रव्य (अग्निजार, शुक्ति, शङ्ख आदि) हैं तथा औद्भिद कंकुष्ठ आदि का पार्थिवद्रव्यों में परिगणन करना चाहिये।

चक्रपाणि ने मल शब्द से शिलाजीत का ग्रहण किया है, क्योंकि शिलाजीत का वर्णन हमको इस प्रकार मिलता है—'हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः। जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु' ॥ यह शिलाजतु धातु भेद से चार प्रकार का कहा गया है। यथा—'हेम्नोऽथ रजतात् ताम्राद् वरं कृष्णायसादपि'। च० चि० अ० १। मेदिनी कोषकार ने सभी तैजस पदार्थों की संज्ञा लौह दे रखी है। यथा—'लोहोऽस्त्री शस्त्रके लोहं जोङ्गके सर्वतैजसे' ॥ इति मेदिनी। उक्त पद्य में **लौह** शब्द प्रयुक्त है जो **धातु** वाचक है और धातु शब्द से किन-किन भौम द्रव्यों का परिगणन किया गया है। ध्यान दें—

'सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला। गैरिकाञ्जनकासीससीसलोहाः सहिङ्गुलाः ॥ गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसम्भवाः'। इससे प्रतीत होता है महर्षि अग्निवेश ने प्रतीकद्रव्यों का सूत्र रूप में निर्देश दिया है।

—औद्भिदं तु चतुर्विधम्। वनस्पतिर्वीरुधश्च वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥७२॥
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि। ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥७३॥

पार्थिव द्रव्यों के अनन्तर औद्भिद द्रव्यों का वर्णन—औद्भिद औषध द्रव्य चार प्रकार के होते हैं—१. वनस्पति, २. वीरुध, ३. वानस्पत्य, और ४. ओषधि। क्रमशः इनका विवेचन—जिनमें पुष्प दर्शन के विना फलों की उत्पत्ति होती है उसको **वनस्पति** कहते हैं, जैसे—गूलर आदि। जिनमें फूल के लगने (दिखलायी देने) के बाद फल लगते हैं, उन्हें **वानस्पत्य** कहते है। जैसे—आम, केला आदि। फलों के पकने पर जिनका विनाश हो जाता है, उन्हें **ओषधि** कहते हैं। जैसे—गेहूँ जौ, चना आदि। क्योंकि फलपाक के साथ ये फसलें समूल सूख जाती हैं। जिनके लता प्रतान फैले हों उन्हें **वीरुध** कहते हैं। जैसे—गिलोय आदि। इसी में गुल्मों का भी समावेश किया जाता है।

वक्तव्य—उक्त औद्भिद द्रव्यों का विवेचन अमरकोषकार ने इस प्रकार किया है—'वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्, तैरपुष्पाद् वनस्पतिः। लताप्रतानिनी वीरुत्, ओषध्यः फलपाकान्ताः' ॥ अमरकोष, वनौषधि वर्ग।

सुश्रुत संहिता में तथा अमरकोष में वनस्पति का विशेषण अपुष्पा दिया हुआ है। अपुष्पा शब्द की व्युत्पत्ति है—'न पुष्पा=अपुष्पा'। नञ् समास। नञ् का प्रयोग निम्नलिखित छः अर्थों में होता है—

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' ॥

यहाँ पर अपुष्पा शब्द से सर्वथा पुष्प का अभाव न समझकर **तदल्पता** अथवा अप्राशस्त्य समझना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है। आप गूलर जाति के फलों का सम्यक् निरीक्षण करें। फल के भीतर की ओर पुष्प के सभी अवयव आपको अविकसित रूप में दृष्टिगोचर होंगे।

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः। क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः ॥७४॥
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः।

औद्भिद् द्रव्यों के ग्राह्य अंग—जड़, छाल, सार (बीच की लकड़ी), निर्यास (गोंद), कमलनाल आदि, स्वरस, नये पत्ते (किसलय), क्षार, दूध, फल, फूल, भस्म, तैल, कांटे, पत्ते, शुङ्ग (पत्रांकुर या टूसा), कन्द और प्ररोह (वटजटा या वरोह आदि) की गणना औद्भिदगण में की जाती है।

वक्तव्य—उद्भिद्य जायन्ते, इति इस विग्रह के अनुसार जमीन को तोड़-फोड़कर निकलने वाले औषध-द्रव्यों के उक्त अङ्ग प्रयुक्त होते हैं। इनका उल्लेख अन्यत्र इस प्रकार मिलता है—

'द्रव्याणि पुनरोषधयस्ता द्विविधाः स्थावरा जङ्गमाश्च। तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो वृक्षा वीरुध ओषधय इति। तास्वपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः। पुष्पफलवन्तो वृक्षाः। प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः। फलपाकनष्टा ओषधय इति। जङ्गमास्त्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र मनुष्यपशुव्यालादयो

जरायुजाः। खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः। कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः। इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः।

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः। पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः इति।

यानि द्रव्याणि स्थावरसंज्ञया सुश्रुते—उक्तानि तान्येव औद्भिदसंज्ञया चरके, इति न विशेषः।

मूलिन्यः षोडशैकोना फलिन्यो विंशतिः स्मृताः ॥७५॥
महास्नेहाश्च चत्वारः पञ्चैव लवणानि च। अष्टौ मूत्राणि सङ्ख्यातान्यष्टावेव पयांसि च ॥७६॥
शोधनार्थाश्च षड्वृक्षाः पुनर्वसुनिदर्शिताः। य एतान् वेत्ति संयोक्तुं विकारेषु स वेदवित् ॥७७॥

द्रव्यों की परिगणना—मूलिनी (जिन द्रव्यों के औषधप्रयोगार्थ मूल=जड़ ग्रहण किये जाते हैं उनको मूलिनी कहा है, ऐसे प्रमुख द्रव्य) सोलह हैं। फलिनी (जिन द्रव्यों के औषध प्रयोगार्थ फलों का ग्रहण किया जाता है, उनकी संख्या) उन्नीस हैं। महास्नेह चार हैं। लवण पाँच हैं। मूत्र आठ हैं और दूध भी आठ है। आत्रेय पुनर्वसु ने संशोधन के उपयोगी छः वृक्षों का निर्देश किया है। जो चिकित्सक तत्-तत् रोगों में उपर्युक्त द्रव्यों का समुचित प्रयोग करना जानता है वही आयुर्वेद का परिज्ञाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त निर्धारण जाङ्गल, औद्भिद तथा पार्थिव द्रव्यों में से किया गया है। **मूलिन्यः**—प्रशस्ततमं मूलं यासां ताः। अर्थात् जिन ओषधियों के अन्य अङ्गों की अपेक्षा औषध प्रयोग में जड़ का विशेष महत्व है, इनकी मूलिनी संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार **फलिनी** शब्द भी है। **महास्नेहाः**—स्नेहाध्याय में दूध, मांस आदि का भी स्नेह के रूप वर्णन उपलब्ध होने के कारण इन अगले पद्यों में गिनाये गये द्रव्यों की महास्नेह संज्ञा है। **पञ्चैव लवणानि**—चरक विमान स्थान अध्याय ८ लवणस्कन्ध में वर्णित अन्य अनेक लवणों में पाँचों को ही गुण विशेष के कारण प्रधानता दी गयी है। यही स्थिति मूत्र-दुग्ध आदि की भी है।

शोधनार्था—यहाँ शोधन से अभिप्राय है वमन, विरेच, नस्य, निरूहण, अनुवासन द्वारा शरीर शुद्धि है।

स वेदवित्—इन चिकित्सा के प्रकारों का ज्ञाता ही आयुर्वेदज्ञ कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि अग्निवेश का यह निर्देश सूत्र रूप में है, तथापि प्रारम्भिक स्थिति में अत्यन्त उपादेय है।

हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृदधोगुडा। सप्तला श्वेतनामा च प्रत्यक्श्रेणी गवाक्ष्यपि ॥७८॥
ज्योतिष्मती च बिम्बी च शणपुष्पी विषाणिका। अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोडशी ॥७९॥

मूल प्रधान सोलह द्रव्यों की गणना इस प्रकार है—१. हस्तिदन्ती (नागदन्ती), २. हैमवती (बालवच) ३. श्यामा (काली निशोथ), ४. त्रिवृत् (सफेद निशोथ), ५. अधोगुडा (वृद्धदारक, विधारा), ६. सप्तला (सातला, सेहुंड) ७. श्वेतनामा (सफेद अपराजिता, सफेद कोयल), ८. प्रत्यक् श्रेणी (दन्ती), ९. गवाक्षी (इन्द्रायण), १०. ज्योतिष्मती (मालकांगनी), ११. बिम्बी (कड़वी कुन्दरु), १२. शणपुष्पी (जंगली सनई), १३. विषाणिका (मरोडफली, काकड़ासिंगी), १४. अजगन्धा (काकांडी, जंगली अजवायन), १५. द्रवन्ती (दन्ती भेद), १६. क्षीरिणी (स्वर्णक्षीरी, चोक अथवा दुधिका)।

वक्तव्य—सिद्धान्ततः ऊपर गिनाये गये द्रव्यों का औषधार्थ मूल प्रधान माना गया है किन्तु कतिपय द्रव्य ऐसे हैं जो सन्देह उत्पन्न कर रहे कि उनका मूल = जड़ ग्राह्य है अथवा अन्य अङ्ग?। इस प्रकार के द्रव्यों में सर्वप्रथम हम १३ वें द्रव्य के रूप में **विषाणिका** को प्रस्तुत करते हैं। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इसके भिन्न-भिन्न पर्याय दिये हैं। यथा—१ आवर्तकी, २ मरोड़फली, ३. काकड़ासिंगी। **आवर्तकी** के गुण धर्मों का वर्णन करते हुए श्रीनरहरि पण्डित ने राजनिघण्टु में कहीं भी इसके विरेचक गुणों का वर्णन नहीं किया है। यही स्थिति **मरोडफली** की भी है। **काकड़ासिंगी** विरेचक अवश्य है किन्तु इसको मूलिनी कहते संकोच होता है।

विषाणिका—इसके पर्यायों के प्रसंग में मेदिनी कोषकार निम्नलिखित नामों को सन्दर्भित करता है—'विषाणी क्षीरकाकोल्यामजशृङ्ग्यां च योषिति। कुष्ठनामौषधे क्लीबम्'। यही समस्या **ज्योतिष्मती** द्रव्य के साथ भी है, क्योंकि इसके फलों का प्रयोग शिरोविरेचन में किया जाता है, तथापि कहीं कहीं इसकी जड़ का भी व्यवहार देखा जाता है।

अजगन्धा—के पर्याय टीकाकारों ने इस प्रकार दिये हैं—१. जंगली अजवायन, २. काकांडी, ३. फोकान्दी। यदि अजगन्धा के स्थान पर 'गन्धपुष्पा' पाठ किया जाय तो प्रसंगोचित होगा। क्योंकि यहाँ पर ग्रन्थकार को विरेचक द्रव्य अभीष्ट हैं गन्धपुष्पा (नीलिनी) का मूल विरेचक होता है।

शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने हैमवत्यपि । श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्षविरेचने ॥८०॥
एकादशावशिष्टा याः प्रयोज्यास्ता विरेचने । इत्युक्ता नामकर्मभ्यां मूलिन्यः—

मूलिनी द्रव्य प्रयोग—शणपुष्पी (जंगली सनई), बिम्बी (कुन्दरु) और हैमवती (बालवच) इनका प्रयोग वमन के लिये किया जाता है। श्वेता (सफेद कोयल), ज्योतिष्मती (मालकांगनी) का उपयोग शिरोविरेचन के लिये होता है। इनके अतिरिक्त जो ग्यारह ओषधियां हैं उनका प्रयोग विरेचन के लिये करें। इस प्रकार मूलिनी ओषधियों के नाम तथा कर्म का निर्देश कर दिया गया है।

—फलिनीः शृणु ॥८१॥

शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च । धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम् ॥८२॥
आनूपं स्थलजं चैव क्लीतकं द्विविधं स्मृतम् । प्रकीर्या चोदकीर्या च प्रत्यक्पुष्पी तथाऽभया ॥८३॥
अन्तःकोटरपुष्पी च हस्तिपर्ण्याश्च शारदम् । कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत् कुटजस्य च ॥८४॥

फल प्रधान द्रव्यों की गणना इस प्रकार है, सुनिये—१-शंखिनी (यवतिक्ता अथवा चोरपुष्पी), २-विडङ्ग (वायविडङ्ग), ३-त्रपुष (खीरा), यहाँ तिक्त रस प्रधान खीरा का ग्रहण करें। ४-मदन (मैनफल), ५-धामार्गव (घिया तरोई), ६-इक्ष्वाकु (तितलौकी), ७. जीमूल (देवदाली), ८-कृतवेधन (कोषातकी या मालकांगनी), ९-आनूप क्लीतक (जल में उत्पन्न मुलेठी), १०-स्थलज क्लीतक, ११-प्रकीर्या (लताकरञ्ज) १२-उदकीर्या (वृक्षकरञ्ज, डिठौरी), १३-प्रत्यक् पुष्पी (अपामार्ग, चिरचिटा), १४-अभया (हरीतकी), १५-अन्तः कोटरपुष्पी (नीलवुध्ना), १६-हस्तिपर्णी (कडुई ककड़ी) का फल जो शरद् ऋतु में होता है। १७-कम्पिल्लक (कबीला), १८-आरग्वध (अमलतास) और १९-कुटजफल (इन्द्र जौ)।

वक्तव्य—सुश्रुत में आरग्वध (अमलतास) के पत्रों के ग्रहण का निर्देश है किन्तु यहाँ फल लेना ग्रन्थकार को अभीष्ट है। इसकी संगति इस प्रकार लगानी चाहिये। सुश्रुत में व्रणों के शल्यकर्म के अनन्तर उनको धोने आदि के लिये प्रधानतया पत्रों का ग्रहण किया गया है। कायचिकित्सा में पञ्चकर्म के अवसर पर विरेचन के लिये फल का उपयोग करना ही उचित प्रतीत होता है।

आचार्य चक्रपाणि हस्तिपर्णी से मोरट का ग्रहण करते हैं, परन्तु धन्वन्तरि आदि निघण्टुओं में हस्तिपर्णी= कर्कटी त्रपुष का पर्यायवाची स्वीकार किया है। यहाँ त्रपुष का पाठ पृथक् किया गया है अतः इसकी कडुई ककड़ी अर्थ प्रशस्त है।

धामार्गवमथेक्ष्वाकुजीमूतं कृतवेधनम् । मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी ॥८५॥
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च । नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यक्पुष्पी विधीयते ॥८६॥
दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने । नामकर्मभिरुक्तानि फलिन्येकोनविंशतिः ॥८७॥

फलिनी द्रव्यों के प्रयोग—धामार्गव (घिया तरोई), इक्ष्वाकु (तित लौकी), जीमूत (बन्दाल), कृतवेधन (कडवी तरोई), मदन (मैनफल), कटुज (इन्द्र जौ), त्रपुष (तीता खीरा), हस्तिपर्णिनी (शरद् ऋतु में होनेवाली कडुई ककड़ी) इन ओषधियों का प्रयोग वमन तथा आस्थापन वास्ति के लिये करना चाहिये। अपामार्ग का प्रयोग नस्य तथा शिरोविरेचन के लिये करना चाहिये। इनके अतिरिक्त और जो दस द्रव्य हैं उनका प्रयोग विरेचन के लिये करें। इस प्रकार उन्नीस द्रव्यों के नाम तथा कर्मों का निर्देश कर दिया है।

वक्तव्य—मुलहठी मूल के रूप में ही प्रसिद्ध है और उसी का प्रयोग भी होता है, आचार्य सुश्रुत भी इसी को समर्थन देता है किन्तु विरेचन के लिये फल तथा मूल दोनों का ही प्रयोग प्रशस्त है।

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः । पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ॥८८॥
स्नेहना जीवना बल्या वर्णोपचयवर्धनाः । स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः ॥८९॥

चार प्रकार के महास्नेह—१. सर्पि (घृत), २. तैल, ३. वसा (चर्बी), ४. मज्जा (marrow) इस तरह चार प्रकार का स्नेह (Fat) देखा जाता है। इनका प्रयोग पान (पीने) अभ्यञ्जन (मालिश), बस्ति तथा नस्य के लिये प्रयोग होता है। ये स्नेह शरीर को स्निग्ध करते हैं, जीवनीय शक्ति (vilality) को बढ़ाते हैं, बलकारक होते हैं, वर्ण प्रसादन, करते हैं तथा स्वास्थ्य वृद्धि कारक होते हैं। इनका उपयोग वात, पित्त, कफ नाशक होता है।

वक्तव्य—चरक निदान स्थान अ० १२ श्लोक ४० में घृत को सर्वोत्तम स्नेह कहा गया है, अतएव इसकी सर्वप्रथम गणना की गयी है।

सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च । सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ॥९०॥

पाँच नमकों के नाम—१. सौवर्चल (चोहार कोड़ा, काला नमक), २. सैन्धव (सेन्धा नमक), ३. विड (विरिआ, सोंचर), औद्भिद (रेहका नमक), ५. सामुद्र (पांगा नमक)।

वक्तव्य—सामुद्रनमक—यह समुद्र के जल को सुखा कर बनाया जाता है। चक्रपाणि लिखता है कि दूसरे टीकाकार औद्भिद लवण को ही सांभर लवण मानते हैं। अन्यत्र पञ्चलवणों का निर्देश निम्नोक्त मिलता है—

'सैन्धवं रुचकं चैव विडमौद्भिदमेव च ।
सामुद्रेण समायुक्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम् ॥

स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णानि दीपनीयतमानि च । आलेपनार्थे युज्यन्ते स्नेहस्वेदविधौ तथा ॥९१॥
अधोभागोर्ध्वभागेषु निरूहेष्वनुवासने । अभ्यञ्जने भोजनार्थे शिरसश्च विरेचने ॥ ९२ ॥
शस्त्रकर्मणि वर्त्यर्थमञ्जनोत्सादनेषु च । अजीर्णानाहयोर्वाते गुल्मे शूले तथोदरे ॥ ९३ ॥
उक्तानि लवणानि—

उक्त नमकों का सामान्य गुण निर्देश—ये नमक शरीर में स्निग्धता प्रदान करने वाले, उष्ण (गरम), तीक्ष्ण (क्षार होने के कारण तेज प्रभाव करने वाले) और दीपनीयतम (जठराग्नि को प्रज्वलित करने में अत्यधिक सहायता प्रदान करने वाले) होते हैं। आलेपन (मलहम) आदि के लिये तथा शरीर के निचले एवम् उपरी भागों में स्नेहन, स्वेदन के लिये, निरूहणवस्ति (रूक्षवस्ति, आस्थापन वस्ति) में, अनुवासन (स्निग्ध वस्ति) में, अभ्यञ्जन (मालिश) में, भोजन के पदार्थों में डालने के लिये, शिरोविरेचन में, शस्त्रकर्म (लेखन, भेदन जैसे नाड़ी व्रण आदि में), वर्ति (Suppositories) के लिये, अञ्जन में, उत्सादन (उबटन) में, अजीर्ण (अनपच), आनाह (अफरा), वातव्याधि, गुल्म, शूल और उदररोग में नमकों का उपयोग होता है। इस प्रकार नमक के नाम, गुण, कर्मों का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है।

—ऊर्ध्वं मूत्राण्यष्टौ निबोध मे । मुख्यानि यानि दिष्टानि सर्वाण्यात्रेयशासने ॥ ९४ ॥
अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं च यत् । हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ॥ ९५ ॥

मूत्र संख्या तथा नाम—लवणों के अनन्तर जिन प्रमुख आठ मूत्रों का आत्रेय शासन (संहिता) में वर्णन है, उन (मूत्रों) को मुझसे समझें।

आठ मूत्रों के नाम—१. अवि (भेड) मूत्र, २. अजा (बकरी) मूत्र, ३. गो (गाय) मूत्र, ४. माहिष (भैंस) मूत्र, ५. हस्ति (हाथी) मूत्र, ६. उष्ट्र (ऊंट) मूत्र, ७. हय (घोड़ा) मूत्र और ८. खर (गधा) मूत्र।

वक्तव्य—'अविमूत्रमित्यादौ स्त्रीमूत्रमेव प्रशस्तं लिङ्गविपरिग्रहाद् दर्शयति यतः स्त्रीणां लघ्वङ्गत्वान्मूत्रमपि लघु भवति। तथा—'लाघवं जातिसामान्ये स्त्रीणां पुंसां च गौरवम्' ॥ चक्रपाणिः।

आठ प्रकार के मूत्रों में अधिकांश नाम पुरुष प्राणियों के हैं किन्तु प्रारम्भिक अवि, अजा, गो स्त्रीलिङ्ग शब्दों के ग्रहण से आगे के प्राणियों को भी स्त्री जाति का ही ग्रहण करना चाहिये। ऐसा **चक्रपाणि** का मत है। अन्यत्र भी मूत्रों का हाँ-जहाँ वर्णन मिलता है, वहाँ वहाँ गज आदि का पुल्लिग प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है इसलिये **भावप्रकाश**कार ने स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

'गोऽजाविमहिषीणान्तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥ भावप्रकाश।

ऐसी परिस्थिति में शास्त्र वचन को ही प्रमाण मानकर जहाँ पुरुष मूत्र का निर्देश हो वहाँ पुरुप मूत्र का शेष स्थानों में स्त्री मूत्र का ग्रहण करना चाहिये।

उष्णं तीक्ष्णमथोऽरूक्षं[1] कटुकं लवणान्वितम्। मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च ॥ ९६ ॥
युक्तमास्थापने मूत्रं युक्तं चापि विरेचने। स्वेदेष्वपि च तद्युक्तमानाहेष्वगदेषु च ॥ ९७ ॥
उदरेष्वथ चार्शःसु गुल्मकुष्ठकिलासिषु। तद्युक्तमुपनाहेषु परिषेके तथैव च ॥ ९८ ॥
दीपनीयं विषघ्नं च क्रिमिघ्नं चोपदिश्यते। पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं शर्म[2] चोच्यते ॥ ९९ ॥
श्लेष्माणं शमयेत्पीतं मारुतं चानुलोमयेत्। कर्षेत्पित्तमधोभागमित्यस्मिन् गुणसङ्ग्रहः ॥१००॥
सामान्येन मयोक्तस्तु—

मूत्रों के सामान्य गुणों का निर्देश—उष्ण गुण प्रधान तीक्ष्ण, रूक्ष, लवण रस युक्त कटु रस वाले होते हैं। मूत्रों का उत्सादन (मलना Inunction), आलेपन, आस्थापन (रूक्षवस्ति), विरेचन एवं स्वेदन (Fomentation), आनाह (अफरा), अगद (विष शमन) उदररोग, अर्श (बवासीर Piles), गुल्म, कुष्ठ (त्वचा सम्बन्धी रोग Skin disease) एवम् किलास (श्वेतकुष्ठ Leucoderma) में प्रयोग होता है।

इनके अतिरिक्त मूत्रों का प्रयोग उपनाहों (विभिन्न प्रकार के पुल्टिसों Poultices) एवम् परिषेक में किया जाता है। ये दीपनीय, विषनाशक और क्रिमिनाशक कहे गये हैं। मूत्र का सेवन पाण्डुरोगियों के लिये उत्तम तथा सुख का कारण कहा गया है। इसके सेवन (पीने) से कफ का शमन, वायु का अनुलोमन और विकृत-पित्त का अधोभाग से निर्हरण करता है। ये मूत्रों के सामान्य गुण हैं। इनका मैं (तन्त्रकार) ने संक्षेप रूप में वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—मूत्रों के सामान्य गुणों में एक गुण **'कटुकं लवणान्वितम्'** भी है। इसका एक सरल अर्थ यह है कि मूत्र लवण तथा कटु रस से युक्त होते हैं किन्तु मूत्र में प्रधान रस कटु है और अनुरस लवण है। देखें—**पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु।** वाग्भट। महर्षि सुश्रुत के मत से—**'तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु'** ॥ सुश्रुत सूत्र स्थान अ० ४५। सभी प्रकार के मूत्र तीक्ष्ण, उष्ण तथा कटुरस प्रधान होते हैं उनका अनुरस लवण होता है, ये लघुता कारक होते हैं। कुछ भी हो मूत्रों का रासायनिक विश्लेषण करने पर नमक (Sodium chloride) की उपलब्धि होती ही है। पसीने में भी नमक का अस्तित्व पाया जाता है, क्योंकि सेक (Fomentation) द्वारा भी मूत्र के उपयोग की प्रतीति होती है। इसमें पसीना लाने वाली शक्ति (Diaphoratic action) भी होती है। शेष विवेचन वाग्भट के सामान्य मूत्र गुण वर्णन तथा विशिष्ट मूत्र गुण वर्णन में तथा राजनिघण्टु में वर्णित मूत्रों के गुण वर्णन प्रसङ्गों में देखें।

—पृथक्त्वेन प्रवक्ष्यते। अविमूत्रं सतिक्तं स्यात्स्निग्धं पित्ताविरोधि च ॥१०१॥
आजं कषायमधुरं पथ्यं दोषान्निहन्ति च। गव्यं समधुरं किञ्चिद् दोषघ्नं क्रिमिकुष्ठनुत् ॥१०२॥
कण्डूं च शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम्। अर्शःशोफोदरघ्नं तु सक्षारं माहिषं सरम् ॥१०३॥
हास्तिकं लवणं मूत्रं हितं तु क्रिमिकुष्ठिनाम्। प्रशस्तं बद्धविण्मूत्रं विषश्लेष्मामयार्शसाम् ॥१०४॥
सतिक्तं श्वासकासघ्नमर्शोघ्नं चौष्ट्रमुच्यते। वाजिनां तिक्तकटुकं कुष्ठव्रणविषापहम् ॥१०५॥
खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहविनाशनम् । इतीहोक्तानि मूत्राणि यथासामर्थ्ययोगतः ॥१०६॥

अलग-अलग मूत्रों के गुण—सामान्य गुणों का वर्णन करने के बाद अब यहाँ उक्त मूत्रों का अलग-अलग वर्णन करते हैं। १. **अविमूत्र** (भेड़ी का मूत्र)—तिक्त रस वाला, स्निग्ध, और पित्त का विरोध न करने वाला होता है। २. **बकरी का मूत्र**—कषाय तथा मधुर रस वाला होता है, पथ्य है और दोषों को दूर करने वाला

१. 'रूक्षम्' इति पा०।
२. 'सर्वथोच्यते' ग०।

है। ३. **गाय का मूत्र**—थोड़ा मधुर (शेष कषाय) रस वाला होता है, वातादि दोषों का नाशक, क्रमि, कुष्ठ, खुजली और दोषज उदर रोगों में इसको पीने से लाभ होता है। ४. **भैंस का मूत्र**—अर्श, (लिंगार्श, नासार्श Polypus आदि), शोफ (सूजन Dropsy, Anasarca) और उदर रोगों का नाश करता है। यह क्षार युक्त तथा सर होता है। ५. **हस्तिमूत्र**—लवण रस प्रधान होता है। क्रमि तथा कुष्ठ रोगियों के लिये हितकारक होता है। मलबन्ध (कब्ज के रोगियों), बद्ध मूत्र के रोगियों (जिनका पेशाब खुलासा न होती हो) विष के प्रभाव से युक्त रोगियों, कफ तथा बवासीर के रोगियों के लिये प्रशस्त कहा गया है। **ऊँट का मूत्र**—तिक्तरस प्रधान, श्वास, कास एवम् अर्शस् रोग का विनाशक होता है। ७. **घोड़ा का मूत्र**—तिक्त एवं कटु रस युक्त होता है। यह कुष्ठ (समस्त त्वचागत रोगों), व्रण, तथा विषजविकारों का विनाश करता है। ८. **गधा का मूत्र**—अपस्मार (मिर्गी), उन्माद (पागलपन) तथा ग्रहजनित बाधा को नष्ट करता है। इस प्रकार शक्तियोग के अनुसार मूत्रों के गुण कर्मों का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—राजनिघण्टु के मिश्रकादि वर्ग में मूत्रों का पृथक्-पृथक् वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'मूत्राणि हस्तिमहिषोष्ट्रगवाजकानां, मेषाश्वरासभकमानुषमानुषीणाम् ।
यत्नेन यत्र मिलितानि दशेति तानि, शास्त्रेषु मूत्रदशकाह्वयभाञ्जि भान्ति' ॥

और इसी के क्षीरादि वर्ग में ९ मूत्रों की विस्तृत जानकारी भी दी है। क्रमशः—१. गो, २. महिष, ३. अजा, ४. अवि, ५. हस्ति, ६. अश्व, ७. गर्दभ, ८. उष्ट्र, ९. मनुष्य। विशेष विवरण उक्त प्रकरण में देखें।

पित्ताविरोधि—उक्त पद्य में 'पित्ताविरोधि' शब्द का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से सभी मूत्र पित्तवर्धक होते हैं किन्तु अवि (भेड़ी) का मूत्र न तो पित्त को बढ़ाता है और न पित्त शामक ही है।

यद्यपि सभी मूत्र अपने अपने स्थान पर गुणानुसार कार्य करते ही हैं किन्तु इन सबमें अधिक गुणवान् एवं सुलभ होने के कारण गो मूत्र का ग्रहण किया जाता है, इस प्रकार इसकी प्रशस्ति ग्रन्थान्तरों में भी उपलब्ध है।

अतः क्षीराणि वक्ष्यन्ते कर्म चैषां गुणाश्च ये। अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषञ्च यत् ॥१०७॥
उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायाः स्त्रियास्तथा।

आठ प्रकार के दूध—मूत्र वर्णन के अनन्तर पूर्वप्रतिज्ञानुसार दूधों के गुण कर्मों का वर्णन किया जा रहा है। दूध आठ प्रकार के होते हैं—१. भेड़ी का दूध, २. बकरी का दूध, ३. गाय का दूध, ४. भैंस का दूध, ५. ऊँटनी का दूध, ६. हथिनी का दूध, ७. घोड़ी का दूध, और ८. स्त्री का दूध।

प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम् ॥ १०८ ॥
प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम्। जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम् ॥१०९॥
हन्ति शोणितपित्तं च सन्धानं विहतस्य च। सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा ॥११०॥
तृष्णाघ्नं दीपनीयञ्च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च। पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे ॥१११॥
अतीसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विशेषतः। योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च ॥११२॥
पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम्। नस्यालेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु च ॥११३॥
विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते।

दूध के सामान्य गुणों का वर्णन—प्रायः दूध मधुर, स्निग्ध, शीतल, स्तन्य माना गया है। यह तुष्टि-कारक, मांस को बढ़ाने तथा पुष्ट करने वाला, वीर्य वर्धक, बुद्धि के लिये हितकर, बलवर्धक, मनको प्रसन्न करने वाला, जीवनीयशक्ति (Vitality) को बढ़ाने वाला, थकावट को दूर करने वाला, श्वास तथा कास का विनाशक है। यह रक्तपित्त का नाशक, टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने तथा घाव को भरने में सहायक होता है। और सभी प्राणियों के लिये सात्म्य (अनुकूल) दोष शामक एवं स्रोतसों का शोधक है। तृष्णा (पिपासा) को मिटाता है। जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है, क्षीण पुरुषों के लिये तथा क्षत (घाव को भरने) में श्रेष्ठ कहा गया है। पाण्डु, अम्लपित्त, शोष, गुल्म, उदररोग, अतीसार, ज्वर दाह तथा सूजन में दूध का सेवन शास्त्र सम्मत है। योनिरोगों, शुक्र सम्बन्धी रोगों, मूत्ररोगों, सभी प्रकार के प्रदरों में, मल की गांठे पड़ जाने पर, वातविकारों एवं

पित्तविकारों में दूध हितकर होता है। नस्य, आलेपन, द्रोणी अवगाहन, वमन, आस्थापन, विरेचन तथा स्नेहन कर्मों में दूध का प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त दूध के गुणों को देख कर निश्चय ही इसको अमृत कहना चाहिये। वास्तव में यह प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों मतों से पूर्ण भोजन (Complete food) की श्रेणी में आता है। देखा गया है कि दूध के सेवन से मनुष्य जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। दूध की प्रशंसा प्राचीन साहित्य में इस प्रकार प्राप्त होती है। 'एतद् वै पय एव अन्नं मनुष्याणाम्'। शतपथब्राह्मण २।५।१६। अर्थात् मनुष्यों का सर्वप्रधान अन्न (अद् भक्षणे धातु से क्त प्रत्यय होने पर अन्न शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है जो वस्तु खायी जाय) दूध ही माना गया है। दूध में पाये जाने वाले रासायनिक तत्त्व इस प्रकार हैं—मांसतत्त्व (प्रोटीन Protein), वसा (Fat), शर्करा (Sugar), चूना (Calcium कैल्सियम) तथा जीवनीय तत्त्व (Vitamins) अतः इसके सेवन से क्रमशः रसादि सप्त धातुओं का पोषण होता है। अतएव शोष (राजयक्ष्मा) रोग में इसके सेवन का निर्देश है। यह राज्यक्ष्मा (क्षय) रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र किसी धातु का भी हो सकता है, दूध सबकी पूर्ति करने में सक्षम है। क्योंकि शास्त्र का निर्देश है जो क्षय का रोगी जिस (रसादि उक्त सात धातुओं में जिस धातु के अभाव) की पूर्ति करना चाहता है उसको उस-उस धातु की पूर्ति करानी चाहिये, ऐसी स्थिति में निरामिष भोजियों के लिये दूध से बढ़कर दूसरा कोई पदार्थ (इतने गुणों से युक्त) उपलब्ध नहीं है।

स्तन्यम्—स्तनाय स्तनेभ्यो वा हितम्। अर्थात् जो स्तनों के लिये हितकर हो उसे **स्तन्य** कहते हैं। चरक का सिद्धान्त है—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। च० सू०। अतः दूध से दूध की वृद्धि होना नितान्त स्वाभाविक है।

यथाक्रमं क्षीरगुणानेकैकस्य पृथक् पृथक्। अन्नपानादिकेऽध्याये भूयो वक्ष्याम्यशेषतः॥११४॥

दुग्धों के गुण—अब यहाँ क्रमानुसार एक-एक दूध के अलग-अलग गुणों को (आगे आने वाले) **अन्नपानादि** नामक अध्याय में विस्तार से पुनः कहेंगे।

अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग्ये फलमूलिभिः। स्नुह्यर्काश्मन्तकास्तेषामिदं कर्म पृथक् पृथक्॥११५॥
वमनेऽश्मन्तकं विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने। क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने॥११६॥

शोधनार्थ प्रयुक्त तीन वृक्ष—तदनन्तर यहाँ पर उन तीन वृक्षों का वर्णन किया जा रहा है जो कि पूर्वोक्त मूलिनी और फलिनी वृक्षों से अतिरिक्त हैं। उनके नाम हैं—१. स्नुही (सेहुण्ड), २ अर्क (मदार) तथा ३. अश्मन्तक[1] (ढौर)। इनके पृथक्-पृथक् कर्मोका निम्नोक्त पद्य द्वारा निर्देश किया जा रहा है।

अश्मन्तक का दूध वमन में, सेहुंड का दूध विरेचन (दस्त) में और मदार का दूध वमन तथा विरेचन में प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—मूलिनी और फलिनी के अन्तर्गत जिस प्रकार उक्त वृक्षों की गणना की गयी थी उसी दृष्टिकोण से इसको **क्षीरिणी** की संज्ञा दी जा सकती है। मदार के दूध को वामक और विरेचक दोनों कहा गया है किन्तु इसका वर्णन इस प्रकार है—

'क्षीरमर्कस्य तीक्ष्णोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु। कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद् विरेचनम्॥ अर्कमूलं कफोत्सारि स्वेदनं वामनं तथा' ॥अभिनवनिघण्टु।

इमांस्त्रीनपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः। पूतीकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तथा तरुः॥११७॥

शोधनोपयोगी तीन वृक्ष—उक्त क्षीरी वृक्षों के अनन्तर उनसे अतिरिक्त इन तीन वृक्षों का वर्णन किया जा रहा है। जिनकी त्वचा (छाल) का शोधनार्थ उपयोग किया जाता है। **इनके नाम हैं**—१. पूतीक (कण्टकी करञ्ज, पूतीक करञ्ज), २. कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन, सहजन), ३, तिलक (शावरलोध)।

विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीकस्तिल्वकस्तथा। कृष्णगन्धा परीसर्पे शोथेष्वर्शःसु चोच्यते॥११८॥

१. 'अश्मन्तक' द्रष्टव्य—राजनिघण्टु प्रभद्रादिवर्ग में।

दद्रुविद्रधिगण्डेषु कुष्ठेष्वप्यलजीषु च। षड्वृक्षाञ्छोधनानेतानपि विद्याद् विचक्षणः॥११९॥

उक्त वृक्षों की त्वचाओं का चिकित्सा में प्रयोग—पूतीक और तिलक की त्वचा का प्रयोग विरेचन के लिये किया जाता है। कृष्णगन्धा (सहजन) की त्वचा का प्रयोग विसर्प, सूजन, अर्श (बवासीर), दद्रु (दाद), विद्रधि (बड़ा फोड़ा), गण्ड (घेघा तथा ग्रन्थियाँ Glands), कुष्ठ (Skin disease) तथा अलजी आदि रोगों में प्रयोग करो और स्नुही आदि तीन क्षीरी तथा पूतीक आदि तीन त्वचा (कुल मिलाकर) छः वृक्षों को भी विद्वान् वैद्य शोधक समझें।

वक्तव्य—कृष्णगन्धा के बाहरी प्रयोग की आज्ञा आचार्य ने दी है, परन्तु इसका भीतरी प्रयोग **अन्तविद्रधि** (भीतरी फोड़ा) में भी लाभ करता है। यह त्वचा के दोषों का उत्तम शोधक है।

पूतीक को हिन्दी में कण्टकीकरञ्ज कहते हैं, इसके पत्ते तथा फल चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं किन्तु ऊपर इसकी त्वचा ग्रहण करने का निर्देश है। **अभिनव निघण्टु** का मत इस प्रकार है—

'**तत्पत्रं** कफवातार्शः कृमिशोथहरं परम्। **तत्फलं** कफवातघ्नं मेहार्शः कृमिकुष्ठजित्'।

तिल्वक को निघण्टुकारों ने शावरलोध माना है। सामान्यतः इसका प्रयोग विरेचन के लिये किया जाता है किन्तु **धन्वन्तरि निघण्टु** ने इसको ग्राही तथा **अभिनवनिघण्टु** ने ग्राही एवम् अतिसार हृत् कहा है। इन्हीं विपरीत गुण धर्मों के कारण और चरक की मान्यता को दृष्टि में रखते हुए श्री जयदेव विद्यालङ्कार ने **पूतीक** शब्द का अर्थ प्रसारणी तथा तिल्वक शब्द से तिलक नामक वृक्ष का ग्रहण करने की बात लिखी है। अस्तु।

विचार यह करना है कि यहाँ विरेचन शब्द का तात्पर्य मलनिःसारण से है अथवा दोष निराकरण मात्र से यदि ऐसा है, तब आचार्य के पाठ में कहीं कोई विकृति नहीं है, उक्त वृक्षों की त्वचा के लेप से दुष्ट रक्त का संशोधन होकर विसर्प, शोथ आदि में लाभ होता देखा ही जाता है। देखें—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३९।

इस प्रसङ्ग पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने **विरेचन** शब्द को दृष्टि में रखकर ही निम्नोक्त विचार किया है न कि दोष निर्हरण को दृष्टि में रखकर।

आचार्य डल्हण तिल्वक को लोध और पूतीक को चिरबिल्व मानते हैं। **चक्रपाणि** पूतीक को कण्टकी करञ्ज कहते हैं। गङ्गाधर भी तिल्वक को लोध स्वीकारते हैं।

इत्युक्ताः फलमूलिन्यः स्नेहाश्च लवणानि च।
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड् ये दिष्टाः[1] पयस्त्वचः॥१२०॥

द्रव्यगणना उपसंहार—पूर्वोक्त मूलिनी आदि ओषधियों का इस पद्य द्वारा उपसंहार किया जा रहा है। इस प्रकार फलिनी, मूलिनी ओषधियाँ, स्नेह, लवण, मूत्र, क्षीर (दूध), तथा वे वृक्ष जिनके दूध और त्वचा (छाल) का उपदेश किया गया है।

ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने। अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः॥१२१॥

ओषधियों को ज्ञाता—ओषधियों (जड़ी-बूटी आदि) को जानने वालों की जातियों का निर्देश—अजपा (बकरियों को पालने वाले, गडरिये), अविपा (भेड़ पालने वाले) गोप (गाय-भैंस को चराने वाले ग्वाले) और भी जो वनवासी हैं, वे भी नाम तथा रूप द्वारा वनमें इनको जानते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कुछ ओषधियों का नाम गुण आदि निर्देश करने के अनन्तर महर्षि आत्रेय विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये अथवा जिनका शास्त्रों में वर्णन है किन्तु आकृति आदि का सम्यक् ज्ञान नहीं है, उनके परिचय आदि में गड़रिये, ग्वाले आदि वनवासी सहायक सिद्ध होते हैं, ऐसा इस पद्य का आशय है। इसी प्रकार के विचार सुश्रुत के भी प्राप्त होते हैं—

'गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः। मूलहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते'॥

आज द्रव्यों (Drugs) के सम्बन्ध में मतभेद तथा द्रव्यों की अनुपलब्धि का जो प्रश्न खड़ा है, उसमें नागरिक चिकित्सकों की उपेक्षा और उसी परम्परा में शिक्षित अध्यापकों की अज्ञानता मूल कारण है। इसका एक ही

१. 'येषां दृ(दि)ष्टाः पयस्त्वचः' इति पा०।

समाधान है कि उक्त वनवासियों द्वारा प्राप्त नाम गुण कर्म आदि उपदेशों का आप शास्त्रीय वचनों के साथ समन्वय स्थापित करें।

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन[1] वा पुनः। ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥१२२॥

नाम मात्र का परिचय पर्याप्त नहीं—केवल नाम अथवा रूप ज्ञान मात्र से ओषधियों के सम्बन्ध में कोई भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

वक्तव्य--जैसा कि इसके पूर्व पद्य में कहा गया है कि ओषधियों के सम्बन्ध में गडरियों, ग्वालों आदि से उनका परिचय प्राप्त करें। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नाम तथा स्वरूपरिचय मात्र ही पर्याप्त होता है अपितु ओषधियों का सम्यग्योग, रोग के अनुसार परस्पर संयोग तथा उनके गुण, कर्म आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी अनुभवी शास्त्रज्ञ चिकित्सक से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

योगवित्त्वप्यरूपज्ञस्तासां[2] तत्त्वविदुच्यते। किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ॥१२३॥

तत्त्ववेत्ता विषयक प्रश्न—ओषधियों के स्वरूप आदि को न जानने वाला भी व्यक्ति यदि उनके प्रयोग का ज्ञान रखता है तो उसको ओषधि का **तत्त्ववित्** कहा जाता है। जो वैद्य भली भाँति ओषधियों के सम्बन्ध मे जानता है उसके बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है। अर्थात् वही उत्तम चिकित्सक है।

वक्तव्य—उत्तम चिकित्सक (Physician) के लक्षणों का विवेचन उक्त पद्य में किया गया है। इसमें पाठभेदों के कारण कुछ अर्थ भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। ध्यान दें--१. योगविन्नामरूपज्ञः, २. योगविद् रूपमात्रेण ३. योगवित्त्वप्यरूपज्ञः यहाँ तीसरे पाठ भेद की व्याख्या की गयी है।

इस पाठ की संस्कृत व्याख्या इस प्रकार है—'अरूपज्ञः, रूपम् अजानन्नपि यः योगवित् सम्यक् प्रयोगं जानाति चेदेव कश्चित् सोऽपि तासाम् ओषधीनां तत्त्वविदुच्यते। यो भिषक् ओषधीः सर्वथा नामरूपयोगैर्विजानीयात् स तत्त्वविदेव, अत्र किं पुनर्वक्तव्यमिति शेषः'।

गङ्गाधर की व्याख्या इस प्रकार है—नाम और रूप को जानते हुए जो वैद्य ओषधियों के कर्म एवं गुण के अनुसार परस्पर संयोग और प्रयोग को जानता है वह ही उनके तत्त्व को जानने वाला कहा जाता है किन्तु जो पुरुष रोगी की परीक्षा एवं देश काल की विवेचना के बिना नाम, रूप, गुण, रस, वीर्यादि जानते हुए अन्य द्रव्य से संयोग तथा रोग के अनुसार ओषधियों के प्रयोग को जानता है, वह भिषक् (साधारण वैद्य) कहा जाता है, इस विवेचन पर ध्यान दें।

योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्। पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः ॥१२४॥

उत्तम चिकित्सक के लक्षण—जो चिकित्सक प्रत्येक पुरुष (चिकित्स्य पुरुष, स्त्री, बाल, वृद्ध) की परीक्षा करके देश, काल के अनुसार इन ओषधियों के (मात्रानुसार) योग को जानता है, उसे उत्तम चिकित्सक (Physician) जानना चाहिये।

वक्तव्य—ग्वाले, गड़रिये आदि नाम, रूप के उपदेष्टा अथवा परिचायक मात्र कहे गये हैं, शेष निर्देश शास्त्र का अपेक्षित है। नाम, रूप के ज्ञान के साथ ही साथ उनके देश (शीत, उष्ण कटिबन्ध), काल (ऋतु भेद), दोष, बल, विकार, सात्म्य, असात्म्य आदि का भी भली भाँति विचार करना उत्तम चिकित्सक का परम कर्तव्य है।

पाठभेद—भिषक्तमः, अथवा भिषगुत्तमः में अर्थ में कोई अन्तर नहीं है, केवल प्रयोग भिन्न-भिन्न है।

पुरुषं-पुरुषं वीक्ष्य—शास्त्र का यह निर्देश सर्वथा अविस्मरणीय है। चिकित्सा की सफलता भी अधिकांश इसी पर निर्भर करती है। यही कारण है कि उसी रोग से निर्दिष्ट एक प्रकार का औषध योग दूसरे प्रकृति आदि वाले पुरुष में असफल सिद्ध होता है।

१. 'रूपमात्रेण' इति पा०।
२. 'योगविन्नामरूपः' इति यो०।

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा। तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥१२५॥

अज्ञात, ज्ञात औषध सेवन का परिणाम—संहिताकार चिकित्सक तथा रोगी दोनों को सावधान करते हुए उपदेश दे रहे हैं। अविज्ञात औषध विष, शस्त्र, अग्नि, वज्र के समान घातक है और विज्ञात अमृत के समान सुखद है।

वक्तव्य--जिस प्रकार असावधानी से प्रयुक्त विष आदि उपर्युक्त द्रव्य हानिकारक होते हैं, उसी प्रकार नाम, रूप, गुण, सम्यक् योग, अतियोग आदि का ज्ञान किये बिना औषध का प्रयोग भी है। ओषधियों के मिश्रण का नाम औषध है। उक्त पद्य में औषध शब्द का ही ग्रहण किया गया है। जब तक चिकित्सक योग में मिलायी गयी ओषधियों से सम्यक् परिचित नहीं होगा वह स्वयं तथा रोगी को धोखा देता है। फलतः स्वयं अपयश का भागी होता है और रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है। यही सम्पूर्ण पद्य का आशय है।

औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः। विज्ञातं चापि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते ॥१२६॥

उचित औषध प्रयोग का महत्त्व—जिस औषध के द्रव्यों का नाम रूप और गुण सुविदित न हो उसका यदि सेवन किया जाता है तो वह अनर्थकारी होती है और यदि भली भांति नाम, रूप, गुण मालूम हों फिर भी उनका ठीक प्रकार से मिश्रण न किया गया हो तो भी वह अनर्थकारी होती है।

वक्तव्य—इस पद्य में प्रत्येक ओषधि का सम्यक् परिचय जानने के बाद उनका सम्यक् योग जानना भी महत्त्वपूर्ण है, इस ओर महर्षि आत्रेय का निर्देश है। कभी-कभी कुछ औषध द्रव्य दूसरे का मिश्रण पाकर बलवान् हो जाते हैं और कभी इसके विपरीत हीन शक्ति वाले हो जाते हैं, इसका विचार करें। प्रतिनिधि द्रव्यों के प्रसङ्ग में भी यह निर्देश अविस्मरणीय है। यह कार्य द्रव्यों के गुण, धर्म जानने वाले चिकित्सक ही कुशलता के साथ कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम् ॥१२७॥
तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्। धीमता किञ्चिदादेयं जीवितारोग्यकाङ्क्षिणा ॥१२८॥

उचित प्रयोग का फल—दुर्युक्त की निन्दा के पश्चात् सुयुक्त औषध योग की प्रशंसा की जा रही है। योगात् (गुण-धर्मों को जानने के बाद) ओषधियों को मिलाने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषध का रूप धारण कर लेता है। जीवनोपयोगी (प्रतिदिन सेवन करने योग्य) ओषधि का भी यदि दुरुपयोग अर्थात् ठीक-ठीक सम्मिश्रण न किया जाय तो वह तीक्ष्ण विष का रूप धारण कर लेता है। इसलिये दीर्घजीवन और अरोग्य की कामना करने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह चिकित्सक द्वारा युक्ति बाह्य सम्मिश्रित औषध का ग्रहण न करे।

वक्तव्य—तीक्ष्णविषों में वत्सनाभ (Aconite) और संखिया (Arsenic) का ग्रहण किया जाता है। भली भांति शुद्ध करके योगों में मिलाये हुए इनके गुणों की प्रशंसा एवं प्रभाव से चिकित्सक समाज चिर परिचित है। इनके सम्बन्ध की विशेष चर्चा निघण्टुओं में देखें।

युक्तिबाह्य—सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र को दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय के रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है। ओषधों के सम्यक् योग से की जाने वाली चिकित्सा का नाम युक्तिव्यपाश्रय है। इसमें युक्ति (शास्त्र निर्दिष्ट किंवा शास्त्रज्ञ एवं चिकित्सा कुशल वैद्य द्वारा निर्दिष्ट योग अथवा योगों) की ही प्रधानता होती है। किस द्रव्य का, किस योग में, कितना कब किसलिये प्रयोग करना चाहिये इस व्यवस्था का नाम ही युक्ति है। इस प्रकार युक्तियुक्त विष भी अमृत का कार्य करता है। जैसे चरक चिकित्सा स्थान अ० १ में वर्णित ऐन्द्र रसायन में देखें—**'द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद् विषस्य च'**। मात्रा, देश, काल, बलाबल आदि का विचार **युक्ति** है। इसके अतिरिक्त **युक्ति बाह्य** है। युक्ति का विशेष परिचय चरक सू० अ० २ श्लोक २६ के वक्तव्य में देखें।

कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः। सशेषमातुरं कुर्यान्नत्वज्ञमतमौषधम् ॥१२९॥

मूर्ख वैद्य निन्दा—देवराज इन्द्र का अमोघवज्र यदि शिर पर गिर जाय तो शायद मनुष्य का जीवन

शेष रह सकता है किन्तु मूर्ख वैद्य द्वारा सम्मत औषध का प्रयोग करने वाले रोगी का जीवन शेष नहीं रह सकता।

वक्तव्य—उक्त पद्य में व्यतिरेक अलंकार के माध्यम से मूर्ख वैद्य की तथा उस द्वारा दी गयी औषधि की निन्दा की गयी है। यह दिखाया गया है कि इन्द्र के वज्र के प्रहार से भी मूर्ख वैद्य द्वारा प्रयुक्त चिकित्सा अधिक घातक होती है। अतः रोगी सावधान रहे।

दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे। यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति ॥१३०॥
त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मतेः। नरो नरकपाती स्यात्तस्य सम्भाषणादपि ॥१३१॥

मूर्ख वैद्य से सम्पर्क न करे—दुःखी, रोग के कारण शय्या पर पड़े हुए और वैद्य पर श्रद्धा रखने वाले रोगी के लिये जो अपने को विद्वान् वैद्य समझने वाला (मूर्ख वैद्य) व्यक्ति बिना समझे-बूझे औषध देता है इस प्रकार के अधर्मी, पापी, साक्षात् यमराज का स्वरूप धारण करने वाले तथा दुर्बुद्धि के साथ सम्भाषण करने मात्र से भी मनुष्य नरकगामी होता है।

वक्तव्य—इससे पहले के श्लोकों में मूर्ख वैद्य से चिकित्सा नहीं करानी चाहिये ऐसा निर्देश था, इस पद्य में मूर्ख वैद्य को निर्देश है कि वह किसी की चिकित्सा न करे।

यदि ऐसे वैद्य चिकित्सा के लिये प्रवृत्त होते हों तो इनका सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) करें। ऐसे वैद्यों को **छद्मचर** कहा गया है।

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा। पीतमत्यग्निसंतप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः ॥१३२॥
न तु श्रुतवतां वेषं बिभ्रता शरणागतात्। गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ॥१३३॥

छद्मवेशी वैद्य से सावधान—भयङ्कर सर्प विष अथवा उबाला हुआ तांबा (नीलाथोथा, तूतिया) पी लेना अच्छा है, अथवा आग में तपाये हुए लोहे के गोलों का खा लेना अच्छा है किन्तु शास्त्रज्ञ चिकित्सकों का वेश धारण करने वाले कपटी वैद्य को अपने शरण में आये हुए रोग पीड़ित व्यक्ति से अन्न, पीने के पदार्थ (दूध आदि) अथवा धन लेना उचित नहीं है।

वक्तव्य—इस पद्य में छद्मचर (ढोंगी वैद्य) को चिकित्सा द्वारा आजीविका करने का अधिकार नहीं है, यह स्पष्ट कहा गया है। दूसरी ओर जनता को सम्बोधित किया जा रहा है कि ऐसे चिकित्सक परोपकार की दृष्टि से नहीं अपितु स्वार्थ की दृष्टि से संसार में विचरते हैं, इनसे सावधान रहें। महर्षि आत्रेय ने मूर्ख वैद्यों का जीवन संसार के लिये अभिशाप है यह सिद्ध करते हुए उनके लिये विषपान आदि की व्यवस्था दी है।

आचार्य गङ्गाधर ने 'बिभ्रता' के स्थान पर 'बिभ्रतः' पाठ स्वीकार किया है। ऐसा करने से वह 'रोगपीडितात्' का विशेषण हो जायगा।

भिषग्बुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसम्पदि। परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद् यथा नृणाम् ॥१३४॥

वैद्य आरोग्य दान के लिये प्रयत्न करे—इसलिये चिकित्सक बनने के इच्छुक मतिमान मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी गुण रूपी सम्पत्ति के प्रति अत्यन्त प्रयत्न शील रहे, जिससे वह मनुष्यों को प्राणदान देने वाला बन सके।

वक्तव्य—इसके पूर्व उत्तम चिकित्सक के जो लक्षण कहे गये हैं, वे समस्त लक्षण ही चिकित्सक की गुणसम्पत्ति है। शास्त्र और व्यवहार ज्ञान से सम्पन्न चिकित्सक ही योग्य होता है।

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते। स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥१३५॥

औषध एवं चिकित्सक-परिभाषा—वही औषध (भिन्न-भिन्न गुण धर्म वाले द्रव्यों का योग) ठीक है, जो आरोग्य (स्वास्थ्य) दान में सक्षम हो। और वही चिकित्सकों में श्रेष्ठ है जो विभिन्न रोगों से मुक्ति प्रदान करा दे।

वक्तव्य—औषध (Medicine) और चिकित्सक (Physician) की जो संक्षिप्त परिभाषा चरक ने प्रस्तुत की **है**, वह अन्यत्र सुलभ **नहीं है**। इस परिभाषा के अन्तर्गत चिकित्सक के लिये निबन्धन

(Registration) आदि बन्धन सब व्यर्थ हैं और औषध का जो लक्षण दिया गया है उसके अन्तर्गत सभी पद्धतियों के बीच में अत्यन्त ही आत्मीयता स्थिर हो जाती है।

सम्यक्प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम्। सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥१३६॥

चिकित्सा में सफलता, वैद्य का लक्षण—सभी कर्मों की सिद्धि में सम्यक् प्रयोग ही कारण होता है। और चिकित्सा में सफलता चिकित्सक के सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने की सूचना देती है।

वक्तव्य—समुचित औषध योग चिकित्सा में सफलता देता है और समुचित औषध का प्रयोग ही चिकित्सक की श्रेष्ठता का भी सूचक होता है।

[1]तत्र श्लोकाः—

आयुर्वेदागमो हेतुरागमस्य प्रवर्तनम्। सूत्रणस्याभ्यनुज्ञानमायुर्वेदस्य निर्णयः ॥१३७॥
सम्पूर्णं कारणं कार्यमायुर्वेदप्रयोजनम्। हेतवश्चैव दोषाश्च भेषजं सङ्ग्रहेण च ॥१३८॥
रसाः सप्रत्ययद्रव्यास्त्रिविधो द्रव्यसङ्ग्रहः। मूलिन्यश्च फलिन्यश्च स्नेहाश्च लवणानि च ॥१३९॥
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड् ये क्षीरत्वगाश्रयाः। कर्माणि चैव सर्वेषां योगायोगगुणागुणाः ॥१४०॥
वैद्यापवादो यत्रस्थाः सर्वे च भिषजां गुणाः। सर्वमेतत् समाख्यातं पूर्वाध्याये महर्षिणा ॥१४१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के
दीर्घञ्जीवितीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—प्रस्तुत अध्याय के विषयों की गणना निम्नोक्त श्लोकों द्वारा की जा रही है—आयुर्वेद का आगम (ब्रह्मा से लेकर भरद्वाज तक) अर्थात् आयुर्वेद के इतिहास का वर्णन, आयुर्वेद के आगम का हेतु, आगम (शास्त्र) की संसार में प्रवृत्ति (किस प्रकार भरद्वाज इन्द्र के पास गये और उनसे उपदेश ग्रहण करके परवर्ती ऋषियों को उसका उपदेश दिया), सूत्रण (प्रवर्तन) का अभ्यनुज्ञान (अग्निवेश आदि द्वारा तन्त्र रचना करके उनको ऋषि-संसद में सुनाना और उनकी अनुमति प्राप्त करना आदि), आयुर्वेद का निर्णय (आयुर्वेद की परिभाषा, उसके लक्षण आदि), सम्पूर्ण कारण और कार्य, आयुर्वेद का प्रयोजन (धातुसाम्य क्रिया आदि), व्याधि आदि के कारण, तीनों दोष, संक्षेप से औषध वर्णन (प्रशाम्यत्यौषधैः आदि), रसों का निर्देश, त्रिविध द्रव्य संग्रह (किञ्चिद्दोषप्रशमनं आदि), मूलिनी फलिनी, स्नेह, लवण, मूत्र, दूध, छः प्रकार के वृक्ष जिनके दूध तथा त्वचा चिकित्सा में उपयोगी हैं, इन सबके भिन्न-भिन्न कर्म, योग-अयोग, गुण-अवगुण (इनको क्रमशः इस प्रकार समझें—योग के गुण और अयोग के अवगुण), वैद्यापवाद (वैद्य कहने के अयोग्य व्यक्ति तथा मूर्ख वैद्यनिन्दा) और जिनमें वैद्यों के सभी गुण हों (श्रेष्ठ वैद्य की परिभाषा), इन सबका सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में महर्षि अग्निवेश ने वर्णन किया है।

वक्तव्य—तन्त्रकार अग्निवेश की यह शैली है कि वे सम्पूर्ण अध्याय में कहे गये विषयों को अध्यायान्त में 'तत्र श्लोकः, श्लोकौ, श्लोकाः' इस प्रकार देकर पुनः उनका संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत करते हैं। और कहीं-कहीं 'भवति चात्र' शीर्षक का भी प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार श्री **वैद्यरत्न पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में दीर्घञ्जीवितीय नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

१. 'तन्त्रकारस्य रीतिरियं यत्—यत्रोक्तमर्थं संग्रहेणाभिधत्ते तत्र 'तत्र श्लोकाः' इति करोति, यत्र तूक्तादनधिकमुच्यते तत्र 'भवति चात्र' इति करोति' इति चक्रः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽ[1]पामार्गतण्डुलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब दीर्घजीवितीय अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अपामार्गतण्डुलीय नामक अध्याय का वर्णन करेंगे, ऐसा भगवान् अत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत तन्त्र के अध्यायों का नाम उस अध्याय के प्रारम्भ होने वाले वाक्यांश के अनुसार ही रखा है किन्तु इस अध्याय का आरम्भ 'अपामार्गस्य बीजानि' से हो रहा है, जब कि अध्याय का नाम रखा गया है—'अपामार्गतण्डुलीय' इसका तात्पर्य यह है कि तन्त्रकार को छिलके रहित बीजों की अपेक्षा रही होगी, क्योंकि तण्डुल शब्द की यही चरितार्थता है।

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च। विडङ्गान्यथ शिग्रूणि सर्षपांस्तुम्बुरूणि च ॥ ३ ॥
अजाजीं चा[2]जगन्धां च पीलून्येलां हरेणुकाम्। पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिज्झकौ ॥ ४ ॥
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयम्। ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्या[3]च्छीर्षविरेचने ॥ ५ ॥
गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्धावभेदके। क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहके ॥ ६ ॥

पञ्चकर्मोपयोगी द्रव्य
(Drugs used in Panchkarma)

शिरोविरेचक द्रव्य—अपामार्ग (चिरचिटा) के बीज, पिप्पली, कालीमिर्च, वायविडंग, सहिजन के बीज, सरसों, तुम्बुरु (नेपाली धनिया, तिमूर के बीज), अजाजी (जीरा), अजगन्धा (अजमोद), पीलुबीज, एला (छोटी इलायची), हरेणुका (सुगन्ध द्रव्य), पृथ्वीका (बड़ी इलायची), सुरसा (तुलसी), श्वेता (सफेद कोयल), कुठेरक (तुलसी भेद), फणिज्झक (तुलसी भेद), शिरीषबीज, लशुन, हल्दी, दारुहल्दी, लवणद्वय, (सैंधानमक, कालानमक), ज्योतिष्मती (मालकांगनी) और सोंठ, इनको शिरोविरेचन के लिये देना चाहिये। इनका प्रयोग शिर के भारीपन, शिरःशूल, प्रतिश्याय (जुकाम), अर्धावभेदक (अधकपाली), शिरोगत क्रमिरोग, अपस्मार (मृगी), घ्राणनाश (सूँघने की शक्ति क्षीण होने पर) तथा मूर्च्छा में करना चाहिये।

वक्तव्य—शिरोविरेचक द्रव्यों में अपामार्ग (प्रत्यक् पुष्पी, चिरचिटा) का ही सर्वप्रथम नामोल्लेखन में हेतु है कि यह शिरोविरेचनीय द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। यथा—'प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानाम्'। चरक सू० अ० २५। उपर्युक्त द्रव्यों में श्वेता तथा ज्योतिष्मती का मूल, सहजन की त्वचा तथा तुलसी के बीज और पत्र दोनों का ग्रहण किया जाता है।

इस अध्याय में श्लोक संख्या ३ से १४ तक पाञ्चकर्मिक (पञ्चकर्मोपयोगी) द्रव्यों का संग्रह है। पञ्चकर्म से—१. वमन, २. विरेचन, ३. आस्थापन, ४ अनुवासन और ५. शिरोविरेचन का ग्रहण होता है। वाग्भट के मत से—१. वमन, २. विरेचन, ३. नस्य, ४. बस्ति, ५. रक्तमोक्षण ये पञ्चकर्म हैं। अ० सू० २४।७। साधारणतया सभी पञ्चकर्मों के आरम्भ में वमन कराने की ही व्यवस्था है। इसका पूर्वापर क्रम कुशल चिकित्सक के विवेक पर निर्भर होता है, अतः दोष विशेष को ध्यान में रखकर शिरोविरेचन को भी प्राथमिकता दी जाती है, अत-एव यहाँ शिरोविरेचनीय द्रव्यों का उल्लेख महर्षि आत्रेय ने किया है।

---

१. (अध्यायारम्भे प्रथमम् 'अपामार्गस्य बीजानि' इति पदं, ततश्च) 'अपामार्गबीजीय' इति संज्ञायाम् प्राप्तायाम् 'अपामार्गतण्डुलीय' इति संज्ञाकरणमपामार्गादिबीजानां निस्तुषाणामेव ग्रहणार्थम्' इति चक्रः।
२. 'चाजमोदाम्' इति यो०।
३. 'विद्यान्मूर्धविरेचने' इति वा पाठः।

दूसरा तर्क यह है कि शिर का एक पर्याय उत्तमाङ्ग है। कायचिकित्सा प्रधान अङ्ग में उत्तमाङ्ग की चिकित्सा को प्राथमिकता देनी ही चाहिये थी। इसकी सम्पुष्टि में हम निम्नोक्त कारिका को उद्धृत कर रहे हैं—

अनामये यथा मूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्द्धते।
अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्द्धते ॥

शिर वातनाड़ियों का केन्द्रस्थल है, इसी के कारण शरीरगत सम्पूर्ण चेष्टायें होती हैं अतः इस केन्द्र-स्थल को नीरोग रखने का प्रयास शिरोविरेचनीय द्रव्यों के प्रथम वर्णन से रहा है। इसके आगे आमाशय में स्थित दोषों को निकालने के लिये वमनोपयोगी द्रव्यों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर पक्वाशयगत दोषों को दूर करने के लिये विरेचन तथा वस्ति प्रयोग की व्यवस्था है।

पञ्चकर्म—इसका दूसरा नाम संशोधन चिकित्सा भी है। महर्षि चरक के समय में इसका अत्यधिक महत्त्व था। प्रत्येक चिकित्सा के आरम्भ में संशोधन तदनन्तर संशमन, यह उस काल की वैज्ञानिक पद्धति थी। इसमें पूर्व कर्म के रूप में स्नेहन, स्वेदन का महत्व भी अनुपेक्षणीय रहा है। इसका विवरण चरक कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान में सुलभ है। सुश्रुत ने भी इस पद्धति का आश्रय लिया है, वाग्भट में यह क्रम ह्रास को प्राप्त है।

षट्कर्म—संशमन चिकित्सा में अन्य अनेक कर्मों की चर्चा है। परन्तु उन सब में—१. रूक्षण, २. स्नेहन, ३. लंघन, ४. बृंहण, ५. स्वेदन, ६. स्तम्भन ये विशेष चर्चित हैं।

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्। पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च ॥ ७ ॥
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये। वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन् ॥ ८ ॥

वमनकारक द्रव्य—शिरोविरेचक द्रव्यों के पश्चात् वमनकारक द्रव्य तथा उनके प्रयोगों का उल्लेख किया जा रहा है। मदन (मैनफल), मधुक (मुलहठी), नीम, जीमूत (देवदाली), कृतवेधन (कड़वी तोरई) पिप्पली, कुटज, इक्ष्वाकु (कडुतुम्बी), छोटी इलायची और धामार्गव (पीतघोषा) इन द्रव्यों का कफ और पित्त की वृद्धि होने पर अथवा आमाशय में आश्रित कोई व्याधि हो तो वैद्य वमनार्थ प्रयोग करायें किन्तु इस बात का पूर्ण ध्यान दें कि शरीर को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो।

वक्तव्य—किसको वमन कराना चाहिये और किसको नहीं कराना चाहिये तथा इनके अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग आदि का विवरण आगे दिया जायगा, किन्तु सावधान यहाँ भी करा दिया जा रहा है कि इन पञ्चकर्मों का प्रयोग दोषनिर्हरण मात्र के लिये बलाबल का विचार करके ही करना चाहिये। वमन कराने से आमाशय में स्थित दूषित कफ तथा पित्त का ही निर्हरण होता है।

उपर्युक्त द्रव्यों के कौन-कौन से अङ्ग ग्रहण करने चाहिये इस सम्बन्ध में आचार्यों के मत भिन्न-भिन्न हैं। गङ्गाधर के मत से मदन, मुलहठी, जीमूत, कृतवेधन, कुटज, इक्ष्वाकु और धामार्गव के फलिनी वर्ग में नामोल्लेख होने के कारण इनका फल लेना चाहिये। पिप्पली और इलायची का भी फल तथा नीम की छाल का ग्रहण करना चाहिये।

योगीन्द्रनाथ सेन के मत से मदन, जीमूत, कृतवेधन, इक्ष्वाकु और धामार्गव के फल, फूल तथा पत्ते, पिप्पली, कुटज, इलायची के फल, मुलहठी और नीम की जड़ का ग्रहण करना चाहिये। यथा—'कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु'। च० क० २।

मदन फल को वामक द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यथा—'वमनद्रव्येषु मदनफलानि'। च० क० अ० १।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलां वचाम्। कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम् ॥९॥
पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च। पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥१०॥

विरेचक द्रव्य—निशोथ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्ती, नीलिनी, सातला, बालवच, कबीला, गवाक्षी (इन्द्रायण), क्षीरिणी (दुग्धिका स्वर्णक्षीरी), उदकीर्यका (वृक्षकरञ्ज) पीलु, अमलतास मुनक्का, बड़ी-दन्ती और निचुल (समुद्र फल) इन द्रव्यों का प्रयोग पक्वाशयगत दोषों को विरेचन द्वारा निकालने के लिये करना चाहिये।

वक्तव्य—प्रथम अध्याय में मूलिनी तथा फलिनी आदि जो ओषधियों की संज्ञायें निर्धारित की हैं, उनका ध्यान यहाँ भी रखना आवश्यक है। तदनुसार त्रिवृत्, दन्ती, नीलिनी, सातला, वचा, गवाक्षी, क्षीरिणी और द्रवन्ती की जड़ तथा इनसे अतिरिक्त के फलों का प्रयोग करना चाहिये।

यहाँ पर मल शब्द से सञ्चित पुरीष (stool), दोष रूप में परिणत कफ, एवं पित्त को मल समझना चाहिये। आचार्य चक्रपाणि **'पक्वाशयगते दोषे'** का विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"पक्वश्चासौ आशयगतश्चेति पक्वाशयगतः। नेन पित्ताशय एवामाशयाधोभागलक्षणे दोषो विरेचनविषयो भवति न पक्वाशयगतः। यदि वा पक्वाशयसमीपगतत्वेनाधः प्रवृत्त्युन्मुखो दोषः पक्वाशयगत इत्युच्यते, यथा—गङ्गायां घोषः।" इत्याह। परं नातिसमीचीनोऽयं पक्षः। विरेचने पक्वाशयगतदोषनिर्हरणशक्तेरपि विद्यमानत्वात्।

त्रिवृता—विरेचनार्थ द्रव्यों में त्रिवृत् (निशोथ) का सर्वप्रथम ग्रहण संहिताकार ने उचित ही किया है। क्योंकि आगे चरक कल्पस्थान अ० ७ में भी इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध है। यथा—'विरेचने त्रिवृन्मूलम्'।

पाटलां चाग्निमन्थं च बिल्वं श्योनाकमेव च। काश्मर्यं शालपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ॥११॥
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम्। यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च ॥१२॥
पलाशं कत्तृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च। उदावर्ते विबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च ॥१३॥

आस्थापनवस्ति के द्रव्य—पाटला (पाढल), अरणी, बेल, श्योनाक (अरलू), गम्भारी, शालपर्णी, (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), निदिग्धिका (भटकटैया), बला (बरियारा), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), बृहती (बड़ीकटेरी), एरण्ड, पुनर्नवा, जौ, कुलथी, कोल (बेर), गिलोय, मदनफल, पलाश (ढाक), गन्धतृण, स्नेह (घी, तेल, वसा, मज्जा) और लवण (पाँचों नमक) इनका उदावर्त (Gastic trouble) तथा विबन्ध (मलबन्ध) में आस्थापन (निरूहण) वस्ति के लिये प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'तत्र द्विविधो वस्तिः, नैरूहिकः स्नैहिकश्च' आस्थापनम् निरूह इति अनर्थान्तरम्। स दोषनिर्हरणात् शरीरनीरोहणाद् वा निरूहः। वयः स्थापनाद् आयुः स्थापनाद् वा आस्थापनम्' ॥ सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० ३५।१८ ॥

अत एवौषधगणात् सङ्कल्प्यमनुवासनम्। मारुतघ्नमिति प्रोक्तः सङ्ग्रहः पाञ्चकर्मिकः ॥१४॥

अनुवासन वस्ति के द्रव्य—उपर्युक्त ओषधि समूह से वातनाशक अनुवासन वस्ति की सम्यक् कल्पना करनी चाहिये। इस तरह पञ्चकर्म सम्बन्धी ओषधों के संग्रह का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—'अनुवसन् अपि न दुष्यति, अनुदिवसं दीयते, इति अनुवासनः'। सुश्रुत चि० अ० ३५।१८ तथा—

'कषायक्षारतैलैर्यो दीयते स निरूहणम्।
यः स्नेहैर्दीयते स स्याद्-अनुवासननामकः' ॥ शार्ङ्गधर सं० ३ खं० अ० ५।

अर्थात् द्रव्य भेद से वस्ति दो प्रकार की है—१. निरूहण और २. स्नेहन। जो कषाय, क्षार, तैल मिलाकर दी जाती है, उसका नाम **अनुवासन** है।

उत्तरवस्ति—जो वस्ति मूत्रमार्ग एवं भगमार्ग में दी जाती है, उसका नाम **उत्तरवस्ति है**, यह भी दो प्रकार की होती है। १. निरूहण और २. अनुवासन।

व्रणवस्ति—इससे व्रण (घाव) धोये जाते हैं, इसी से कान भी धोये जाते हैं। नेत्रों में औषध द्रव डालने का ड्रापर भी व्रणवस्ति का छोटा रूप है। वस्ति अर्थात् पिचकारी।

तान्युपस्थितदोषाणां[1] स्नेहस्वेदोपपादनैः। पञ्च कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥१५॥

स्नेहन-स्वेदन का निर्देश—जिन रोगियों के शरीर में वातादि दोष उपस्थित (अर्थात् रहे अथवा बढ़रहे) हों उनको स्नेहन तथा स्वेदन (इसी क्रम से) कराकर मात्रा एवम् काल का (रोगी की स्थिति के अनुसार) विचार करते हुए (उपर्युक्त) पञ्चकर्मों को करे।

१. 'उपस्थितदोषाणामिति शाखां त्यक्त्वा कोष्ठगमनेन तथा लीनत्वपरित्यागेन प्रधानावस्थाप्राप्तदोषाणाम्' इति चक्रः।

वक्तव्य—यह **'उपस्थितदोषाणाम्'** रोगिणाम् का विशेषण है। यहाँ प्रयुक्त षष्ठी निर्धारणार्थक है। पञ्चकर्मों में उक्त स्नेहन-स्वेदन **पूर्वकर्म** के रूप में वर्णित है। इनके सहयोग से दोष निकलने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, अतएव इनके सम्बन्ध में ग्रन्थान्तर में इस प्रकार वर्णन मिलता है—'स्वेदमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथान्तरम् ॥ कर्मणां वमनादीनामन्तरे त्वन्तरे पुनः। स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत संशोधनमनन्तरम्' ॥ वस्ति प्रयोग के अनन्तर संहिता ग्रन्थों में पश्चात् कर्म का भी निर्देश है। देखें—अष्टांगहृदय सू० अ० १९।

मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता। तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥१६॥

युक्ति की उपयोगिता—प्रायः सभी औषधों की युक्ति (योजना, सन्मिश्रण) उनके मात्रा, काल आदि के विवेचन पर निर्भर होती है। चिकित्सा की सिद्धि का आधार युक्ति है। इसलिये द्रव्यों के गुण-धर्म आदि को जानने वाले चिकित्सक से भी युक्तिज्ञ (योजना को जानने वाला) चिकित्सक सदैव श्रेष्ठ होता है।

वक्तव्य—युक्ति के अन्तर्गत विचारणीय विषयों का वर्णन च० सू० अ० १ के १२१ श्लोक से १२६ तक किया गया है। अतएव युक्तियुक्त की प्रशंसा और युक्तिबाह्य की निन्दा की गयी है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधौषधाः। विविधानां विकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये ॥१७॥

यवागू वर्णन (Medicated gruels)—पञ्चकर्म विधि वर्णन के पश्चात् अनेक साध्य विकारों (रोगों) की निवृत्ति के लिये विविध औषध द्रव्यों से साधित (निर्मित) यवागुओं का वर्णन करेंगे।

वक्तव्य—पञ्चकर्म के सम्यक् योग न होने से पाचकाग्नि मन्द पड़ जाती है, वायु प्रतिकूल हो जाता है, शूल, अतिसार, ज्वर आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इनके शमन के लिये उसी प्रसंग में अनेक प्रकार के औषधसिद्ध यवागुओं का वर्णन किया गया है। वमन, विरेचन के बाद में पेया के सेवन का शास्त्रीय निर्देश है। इन हलके (सुपच) पदार्थों के सेवन कराने का यह तात्पर्य है कि जैसे सामान्य अग्नि जब बुझने लगती है तो, तृण, गोबर का कण्डा आदि हलकी वस्तुओं को उसमें डालकर अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है, ठीक उसी प्रकार पाचकाग्नि के क्षीण होने पर सुपच पदार्थों द्वारा उसका सन्धुक्षण (सुलगाने) का प्रयास किया जाता है, जिससे वह सर्वपच (अर्थात् सभी प्रकार के लघु, गुरु भोजनों को पचाने में समर्थ) हो जाता है। देखें चरक सिद्धिस्थान अ० १—

'यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्षमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः' ॥

यवागू आदि की निर्माण विधि—

षड्ङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता। यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादिप्रयुज्यते ॥
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ ॥

परिभाषा—
यवागूमुचिताद् भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत्।
सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा ॥

सेवन विधि—
पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥ चरक सि० अ० १।

शार्ङ्गधरसंहिता में यवागूनिर्माण विधि इस प्रकार है—१६ तोला औषध द्रव्यों को ३ सेर १६ तोला जल में पकायें, आधा शेष रहने पर खीर जैसी गाढ़ी यवागू तैयार करें।

यवागू के विधान में ओषधियों की मात्रा १६ तो बहुत अधिक बतलायी है। इसलिये 'स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः' इसका खूब ध्यान रखना चाहिये। और 'वृद्धवैद्याः पलं द्रव्यं ग्राह्यन्त्याढकेऽम्भसि। भेषजस्यातिबाहुल्यात् कदाचिदरुचिर्भवेत्' ॥ आचार्य वृन्द के अनुसार एक पल देने का भी विधान किया गया है। तथापि आम्रादि के वल्कल जैसी सौम्य वस्तुएँ १६ तोला भी हानिकर नहीं होतीं।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। यवागूर्दीपनीया स्याच्छूलघ्नी चोपसाधिता ॥१८॥

(१) शूलनाशक-यवागू -पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और नागर (सोंठ) इन ओषधियों द्वारा साधित यवागू जाठराग्नि को दीप्त और शूल का नाश करती है।

वक्तव्य—ये पाँच द्रव्य **'पञ्चकोल'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। **उपसाधिता**—इससे संहिताकार का तात्पर्य है कि पेया, विलेपी, यवागू आदि के निर्माण का जो शास्त्रीय प्रकार है तदनुसार निर्माण कर प्रयोग कराना चाहिये।

उक्त पद्य में किस द्रव्य को कितना लेना चाहिये आदि का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु सूत्र रूप से जिन संहिताओं का निर्माण किया जाता है, उनमें सम्बन्धित प्रसङ्गों से विषय की अनुवृत्ति ले ली जाती है। यहाँ मात्रा आदि का स्पष्ट निर्देश न करने का प्रधान कारण यह रहा है जैसा कि पहले च० सू० अ० १ श्लो० १२३ में **पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य** निर्देश किया है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की पाचन शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इसीलिये शास्त्र की आज्ञा है—'मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः। व्याधिं द्रव्यं च कोष्ठं च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत्' ॥ अनेक स्थानों पर परिभाषायें दी भी गयी हैं, फिर भी शास्त्र और वृद्ध (अनुभवी एवं शास्त्रज्ञ) वैद्य की अनुमति के अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

द्रव्यों की दृष्टि से यवागू साधन के सम्बन्ध में प्रकारान्तर से विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। यवागू निर्माण के द्रव्यों को हम दो भागों में विभाजित करते हैं—१. वीर्यप्रधान औषध द्रव्य, तथा २. रसप्रधान आहार द्रव्य। वीर्य भेद से पुनः औषध द्रव्यों को ३ भागों में विभाजित किया जाता है। १-तीक्ष्णवीर्य, सोंठ, पिप्पली आदि। २-मध्यवीर्य, बेल, अग्निमन्थ आदि और ३. मृदुवीर्य, आँवला आदि। तीक्ष्णवीर्य द्रव्यों की मात्रा १ कर्ष= १ तोला। मध्यमवीर्य वाले द्रव्यों की मात्रा आधा पल=२ तोला, तथा मध्यवीर्य द्रव्यों की मात्रा १ पल=४ तोला ग्रहण करनी चाहिये।

महर्षि अग्निवेश ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—'कर्षार्धं वा कणाशुण्ठयोः कल्कद्रव्यस्य वा पलम्। विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम्' ॥ इस पद्य में यद्यपि मध्यमवीर्य वाले द्रव्यों की अर्धपल मात्रा नहीं कही गयी है फिर भी उसका मध्य प्रमाण स्वीकार कर लेना चाहिये।

दधित्थबिल्वचाङ्गेरीतक्रदाडिमसाधिता । पाचनी ग्राहिणी पेया सवाते पाञ्चमूलिकी ॥१९॥

(२-३) पाचनी तथा ग्राहणी पेया—कैथ का फल, बेल की गिरी, चाङ्गेरी (नोनियां) और दाडिम (अनारदाना) इन को मठा डालकर पकायें। यह पेया पाचक तथा संग्राहक (मलावरोधक) होती है। लघु पञ्चमूल के क्वाथ द्वारा निर्मित पेया वातज अतिसार में देनी चाहिये।

वक्तव्य—उक्त एक श्लोक में २ पेया वर्णित हैं। **दाडिम** शब्द से **श्री शिवदास** का मत है कि यहाँ अनार के छिलका का प्रयोग होना चाहिये। उक्त चार ओषधियाँ मृदु द्रव्य हैं अतः इन चारों को १ पल=४ तोला लेकर मठा द्वारा सिद्ध करें। इसमें मठा की मात्रा २ प्रस्थ = १२८ तोला हो जायगी जो प्रायोगिक दृष्टि से उचित इसलिये प्रतीत नहीं होती कि इतने मठा में बनायी गयी पेया में अत्यन्त अम्लता आ जायगी, अतः कुशल चिकित्सक ६४ तो० मठा और उतना ही (६४ तोला) जल मिलाकर पेया का निर्माण करते हैं।

वात प्रधान अतिसार तथा ग्रहणी रोग में लघु पञ्चमूल दोनों (छोटी और बड़ी) कटेरी, सरिवन, पिठवन और गोखरू) द्वारा सिद्ध की हुई पेया का प्रयोग कराया जाता है। आचार्य गङ्गाधर का मत है—बृहत्पञ्चमूल से यवागू और लघुपञ्चमूल से पेया की रचना करनी चाहिये।

पेया निर्माण विधि—आहार द्रव्य से १४ गुने जल में बनायी हुई अत्यन्त पतली बहुत थोड़ी सीठी से युक्त पीने योग्य पदार्थ को पेया कहते हैं। पेया और यवागू में केवल सिक्थक (चावलों) के कम ज्यादा का अन्तर है। इसको आप यों समझें—पतली **पेया** उससे कुछ गाढ़ी **यवागू** होती है। इसीलिये महर्षि अग्निवेश ने यवागू प्रकरण में इसका भी समावेश किया है। इनमें पहली पेया पाचनी और दूसरी ग्राहिणी है। द्रव्यों के गुणों पर ध्यान दें।

शालपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता । दाडिमाम्ला हिता पेया पित्तश्लेष्मातिसारिणाम् ॥२०॥

(४) पित्त-श्लेष्मातिसारनाशक पेया—शालपर्णी (सरिवन), बला (खिरैंटी की जड़), बेलगिरि इनसे सिद्ध की हुई पेया को दाडिम के रस से खट्टा करके पित्त-कफज अतिसार के रोगियों को सेवन करायें।

वक्तव्य—यद्यपि अनार शब्द से संस्कृत साहित्य में ...
लिये केवल दाडिम शब्द ही मिलता है। तथापि व्यवहार में अनार ...
पृथक्-पृथक् फल हैं। इन दोनों के वृक्षों की लम्बाई में भी विशेष अन्तर ...
आदि पर्वतीय भागों में दोनों की पर्याप्त उपलब्धि होती है। यहाँ दाडिम के वृ...
के सामान्यतः १०-२५ फुट ऊँचे होते हैं। दोनों की पत्तियों में भी छोटे बड़े का अन्त...
पत्तियां छो... और अनार की अपेक्षाकृत कुछ लम्बी और चौड़ी होती हैं। दाडिम प्रारम्भ ...
पकने पर कुछ कम खट्टा होता है तथा अनार आरम्भ में खट्टा, पकने पर सर्वथा मीठा होता है। उक्त
खट्टे दाडिम के रस को लेने का निर्देश है।

पयस्यर्धोदके च्छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः । पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्ण्या च साधिता ॥२१॥

(५) रक्तातिसार नाशक पेया—आधा जल मिले बकरी के दूध में ह्रीबेर (गन्ध वाला), उत्पल (नीलोफर), नागर (मोथा) तथा पृश्निपर्णी (पिठवन) द्वारा निर्मित पेया (पातुं योग्या = पीने लायक) रक्तातिसार का विनाश करती है।

वक्तव्य—नागर शब्द से सोंठ और मोथा दोनों का ग्रहण होता है। **जतूकर्णसंहिता** में उक्त पेया का पाठ इस प्रकार है—'रक्तातिसारेऽजाक्षीरकोष्ट्रीघनजलोत्पलैः'। इसमें घन शब्द दिया है, इसी के अनुसार यहाँ **नागर** का अर्थ **मोथा** किया गया है। वैसे नागरमोथा रक्तातिसार में हितकर भी है।

वाग्भट में रक्तातिसार के रक्त को रोकने के लिये 'शुण्ठ्युदीच्योत्पलैरपि' पाठ मिलता है, जिसमें सोंठ का स्पष्ट उल्लेख है। भावप्रकाश में शुण्ठी के गुणों का वर्णन ग्राही के रूप में किया है और इसको उष्णवीर्य स्वीकार किया है। अतएव शुण्ठी की अपेक्षा नागरमोथा का ग्रहण अधिक युक्ति युक्त है। क्योंकि नागरमोथा शीतवीर्य है।

पृश्निपर्ण्या च साधिता—'च' का अर्थ होता है, जो दो वाक्यों को जोड़ने का कार्य करता है किन्तु कहीं-कहीं 'च' का अर्थ अन्य = पृथक् भी होता है। इसी को देखकर कुछ आचार्यों ने इस पद्य में दो पेयाओं की कल्पना की है जो सर्वथा निराधार है। परवर्ती वाग्भटसंहिता का निम्नलिखित पाठ देखें—

'पयस्यर्धोदके च्छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः। पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्णीरसान्विता' ॥

दद्यात् सातिविषां पेयां सामे साम्लां सनागराम् ।

(६) आमातिसार नाशक पेया—अतीस और सोंठ से युक्त तथा अनार (दाडिम) के रस से खट्टी की हुयी पेया का प्रयोग आमातिसार में करना चाहिये।

वक्तव्य—व्यापारिक दृष्टिकोण से अनार के बीजों को सुखा कर रखते हैं। इनमें से रस निकालना सम्भव नहीं होता अतः पेया सिद्ध करते समय उसी में अनारदाना डाल देना चाहिये। ध्यान रहे अधिक खट्टा न हो जाय।

श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां मूत्रकृच्छ्रे सफाणिताम् ॥ २२ ॥

(७) मूत्रकृच्छ्र नाशक पेया—गोखरू, छोटी कटेरी द्वारा सिद्ध की गयी पेया में फाणित (राब) मिलाकर मूत्रकृच्छ्र में देना चाहिये।

विडङ्गपिप्पलीमूलशिग्रुभिर्मरिचेन च । तक्रसिद्धा यवागूः स्यात् क्रिमिघ्नी ससुवर्चिका ॥२३॥

(८) क्रिमिनाशक यवागू—वायविडंग, पिप्पलीमूल, शिग्रु (सहजन) और कालीमिर्च इन ओषधियों से मठा में बनायी हुयी यवागू में सज्जीखार मिलाकर सेवन कराने से उदरस्थ क्रिमि नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—यहां भी आधा मठा और आधा जल मिलाकर यवागू साधन पूर्वोक्त पेया की भांति करें नहीं तो यवागू अधिक खट्टी (अरुचिकर) हो जायगी।

प्रस्तुत यवागू का पाठ अष्टाङ्गसंग्रह में इस प्रकार है—'विडंगकृष्णामरिचपिप्पलीमूलशिग्रुभिः। पिबेत् ससर्जिकाक्षारैर्यवागूं तक्रसाधिताम्'—अ० चि० अ० २२ ॥ इसमें पिप्पली से छोटी पिप्पली और मूल शब्द से पिप्पलामूल का ग्रहण किया गया है, जो निघण्टु सम्मत है।

मृद्वीकासारिवालाजपिप्पलीमधुनागरैः । पिपासाघ्नी विषघ्नी च सोमराजीविपाचिता ॥२४॥

(९) पिपासा नाशक यवागू—मृद्वीका (मुनक्का), अनन्तमूल, धान का लावा, मधु और नागरमोथा द्वारा साधित यवागू का मधु मिलाकर सेवन करने से तृष्णा (पिपासा) रोग की शान्ति होती है।

(१०) विष नाशक यवागू—सोमराजी (बाकुची) द्वारा साधित (बनायी हुयी) यवागू के सेवन से विष का नाश होता है। अर्थात् विष सेवन से उत्पन्न कष्ट दूर होता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में दो यवागुओं का उल्लेख है। प्रथम यवागू में मधु मिलाकर सेवन करने का निर्देश है, अतः यवागू के स्वांग शीतल होने पर ही मधु को मिलायें, पहले नहीं।

सिद्धा वराहनिर्यूहे यवागूर्बृंहणी मता ।

(११) बृंहणी यवागू—सूअर के मांसरस (शोरवा) से पकायी हुई यवागू बृंहण कारक होती है।

वक्तव्य—जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल (घना), स्थूल, पिच्छिल, मन्द (चिरकारी), स्थिर तथा श्लक्ष्ण होता है, वह **बृंहण** (शरीर को बृहत् अर्थात् बड़ा बनाने वाला) होता है। शार्ङ्गधर। ४ अ०। बृहि वृद्धौ+ल्युट्=बृंहणम्।

यवागू निर्माण के लिये मांस रस साधन विधि—

'क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णां श्रपयित्वा जलाढके ।
अर्धशृतेन तेनाथ यवागूमुपकल्पयेत्' ॥

अर्थात् क्वाथ करने योग्य द्रव्य का ४ पल लेकर कूट लें। तदनन्तर २ आढक जल में काढ़ा करें, आधा जल शेष रह जाने पर उससे यवागू का निर्माण करें। उक्त परिभाषा मात्र रसप्रधान द्रव्यों के लिये यवागूनिर्माणार्थ प्रयुक्त होती है, न कि सभी द्रव्यों के लिये। द्रव्य मूलतः वीर्य तथा रस भेद से २ प्रकार के होते हैं। इनमें प्रायः भेषज द्रव्य वीर्य प्रधान और आहार द्रव्य रस प्रधान होते हैं। वीर्य प्रधान द्रव्यों द्वारा जब पेया का निर्माण करना हो तो षडङ्गपानीयोक्त परिभाषा का प्रयोग किया जाता है। यथा—

'क्षुण्णं द्रव्यपलं साध्यं चतुःषष्टि पले जले ।
अर्धावशिष्टं तद्देयं पाने भक्तादिसंविधौ ॥ शार्ङ्गधर ॥

एक पल द्रव्य को जौकुट कर ६४ पल जल में पकायें और आधा शेष रहने पर पीने, भात, पेया, यूष आदि बनाने के लिये काम में लायें।

गवेधुकानां भृष्टानां कर्शनीया समाक्षिका ॥ २५ ॥

(१२) कर्शनीया यवागू—भुने हुए गवेधुक धान्य (जुन्हरी, मक्का, बाजरा आदि) की यवागू में (शीतल हो जाने पर) मधु (शहद) डालकर पीने से शरीर कृश (स्थूलता का नाश) होता है।

सर्पिष्मती बहुतिला स्नेहनी लवणान्विता ।

(१३) स्नेहनी यवागू—घी युक्त अधिक मात्रा में तिलों से बनी हुई और नमक मिली हुई यवागू शरीर का स्नेहन करती है।

वक्तव्य—यहाँ बहुतिला से तात्पर्य यह है कि अधिकांश तिल और थोड़ी मात्रा में चावल डालने चाहिये। आचार्य सुश्रुत को भी यही अभिमत है—

'सर्पिष्मती पयः सिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला ।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनमुच्यते' ॥

वृन्द भी इसको अपने शब्दों से समर्थन देते हैं—'सर्पिष्मतीं बहुतिलां स्वल्पतण्डुलाम्'।

कुशामलकनिर्यूहे श्यामाकानां विरूक्षणी ॥ २६ ॥

(१४) रूक्षणी यवागू—कुश की जड़ और आँवलों के क्वाथ और साँवा के चावलों से निर्मित यवागू शरीर में रूक्षता लाती है।

दशमूलीशृता कासहिक्काश्वासकफापहा ।

(१५) श्वास-कास नाशक यवागू—दशमूल द्वारा बनायी गयी यवागू खांसी, हिचकी, दमा और कफ का नाश करती है।

वक्तव्य—लघु पञ्चमूल और बृहत् पञ्चमूल दोनों को मिलाकर दशमूल होता है। इसी भेद से यवागू निर्माण भी किया जाता है। अन्तर यह है कि लघु पञ्चमूल से साधित यवागू का प्रयोग हिचकी, श्वास तथा कास के रोगियों पर किया जाता है और बृहत् पञ्चमूल से साधित यवागू का प्रयोग कफज व्याधियों में किया जाता है। इस कथन को वाग्भट भी समर्थन दे रहे हैं। यथा—'पेया दीपनपाचनीम्। ह्रस्वेन पञ्चमूलेन हिक्काऽरुक्कासश्वासवान्। महता पञ्चमूलेन कफार्तः'। इत्यादि।

ह्रस्व पञ्चमूल—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, पृश्निपर्णी, शालपर्णी।

बृहत् पञ्चमूल—पाढल, अग्निमन्थ, गम्भारी, बेल, श्योनाक (अरलू)।

यमके मदिरासिद्धा पक्वाशयरुजापहा ॥ २७ ॥

(१६) पक्वाशयगत वातनाशक यवागू—यमक (समभाग घी-तैल) और मदिरा द्वारा रचित यवागू पक्वाशय (Large Intestines) गत वातज शूल का नाश करती है।

वक्तव्य—यमक शब्द को लेकर प्राचीन व्याख्याकारों में मतभेद है। यथा—१. समभाग घी तथा तैल में चावलों को भूनकर उसमें मदिरा (उत्तम कोटि की शराब ब्राण्डी, ह्स्की, रम आदि) डालकर यवागू तैयार करें। २. द्रव के स्थान पर आधा घी-तैल तथा आधी मदिरा डालनी चाहिये। ३. यमक (मूंग की दाल और शालि चावल), शेष सं० १ के समान।

शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः सिद्धा वर्चो निरस्यति ।

(१७) रेचनी यवागू—शाक (पत्रशाक बथुआ आदि), मांस, तिल तथा उड़द द्वारा निर्मित यवागू मल (stool) को निकालती है।

वक्तव्य—प्रायः सभी पत्रशाक मल को पतला करते हैं और मल को निकालते हैं। मांस में आंतों (अम् गतौ धातु से अन्त्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है गतिशील) की स्वाभाविक गति को और अधिक उत्तेजित करने की क्षमता होती है। यद्यपि शाक में भी आंतों की गति को बल देने की क्षमता है किन्तु मांस की तुलना में वह न्यूनतर है।

रेचन द्रव्य परिभाषा—जो द्रव्य पके हुए अथवा न पके हुए मल आदि को पतला कर देता है और निकाल भी देता है, उसे **रेचन** कहते हैं।

जम्ब्वाम्रास्थिदधित्थाम्लबिल्वैः साङ्ग्राहिकी मता ॥ २८ ॥

(१८) सांग्राहिकी यवागू—जामुन की गुठली, आम की गुठली, और बेल की गिरी, इन द्रव्यों द्वारा साधित यवागू ग्राहिणी (मलस्तम्भक, मल को रोकने वाली) होती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्य संग्राहक हैं, इनमें मल को बांधने की क्षमता होती है। **दधित्थाम्ल** का अर्थ टीकाकारों ने खट्टी कैथ किया है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता। निघण्टुओं को देखिये—कैथ का एक नाम **दन्तशठ** भी है फिर इसको अम्ल विशेषण देना रुचता नहीं। अतः अम्ल शब्द से **अनारदाना** का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि यह ग्राही होता है। **अम्लवर्ग** में दाड़िम का पाठ है। राजनिघण्टु, मिश्रकादिवर्ग में देखें—

'चाङ्गेरी लिकुचाम्लवेतसयुतं जम्बीरकं पूरकं, नारङ्गं **फलशाडव**स्त्विति तु पिण्डाम्लञ्च वीजाम्लकम्।
अम्बष्ठासहितं द्विरेतदुदितं पञ्चाम्लकं तद्द्वयं, विज्ञेयं करमर्दनिम्बुकयुतं स्यादम्लवर्गाह्वयम्' ॥

इसके पूर्व श्लोक १९ में ग्राहिणी पेया का जो उल्लेख किया गया है वह इससे सर्वथा भिन्न है।

क्षारचित्रकहिङ्ग्वम्लवेतसैर्भेदिनी मता ।

(१९) भेदिनी यवागू—जवाखार, चित्रक, हींग, अम्लवेत इन द्रव्यों से साधित यवागू मल का भेदन करती है।

भेदन द्रव्य परिभाषा—जो द्रव्य ढीले अथवा बँधे हुए अथवा दोषों द्वारा पिण्डित (अर्थात् गांठ के

समान बने हुए) मल को तोड़-फोड़कर मलद्वार से बाहर गिरा देता है, उसे **भेदन** कहते हैं। देखें—शार्ङ्गधर संहिता अ० ४। अनुलोमक, स्रंसक, भेदक और रेचक ये चारों द्रव्य दस्त कराते हैं, अतः ये दस्तावर कहे जाते हैं।

अभयापिप्पलीमूलविश्वैर्वातानुलोमनी ॥ २९ ॥

(२०) वातानुलोमनी यवागू—हरीतकी, पिप्पलीमूल और सोंठ के क्वाथ से बनायी हुयी यवागू वात का अनुलोमन करती है।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह चिकित्सास्थान अ० ११ में वातानुलोमनी यवागू का पाठ इस प्रकार है—'बिल्वशलाटुहरीतकीपिप्पलीमूलैर्मूढवातस्य'। यहाँ **विश्व** के स्थान पर **बिल्व** पाठ दिया गया है। अतः कुछ टीकाकार चरकोक्त पाठ में भी **विश्व** के स्थान पर **बिल्व** पाठ मानते हैं।

तक्रसिद्धा यवागूः स्याद् घृतव्यापत्तिनाशिनी।

(२१) घृतव्यापत्तिनाशिनी यवागू—अधिक घी के सेवन से होने वाले अजीर्ण आदि उपद्रवों का मठा से साधित यवागू विनाश करती है।

वक्तव्य—यहाँ भी आधा मठा और जल लेना चाहिये, नहीं तो अधिक खट्टी यवागू अरुचिकर हो जायगी।

तैलव्यापदि शस्ता स्यात् तक्रपिण्याकसाधिता ॥ ३० ॥

(२२) तैलव्यापत्तिनाशिनी यवागू—अधिक तैल के सेवन से उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति के लिये मठा और तिल की खली से बनायी गयी यवागू का सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—चक्रपाणि ने तिलकल्क से पिण्याक (तिल की खली) लिखा है। लोक में खली उसको कहते हैं जिससे तेल सर्वथा निकाल लिया जाता है। यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि रूक्ष मठा और रूक्ष खली तैल व्यापत्ति का निराकरण करने में समर्थ होगी।

उपर्युक्त घृत-तैल व्यापत्ति स्नेहन काल में परिचारक की असावधानियों से ही सम्भव होती है।

गव्यमांसरसैः साम्ला विषमज्वरनाशिनी।

(२३) विषमज्वरनाशिनी यवागू—गाय के मांस रस से निर्मित तथा दाड़िम के रस से खट्टी की हुई यवागू विषमज्वर का नाश करती है।

वक्तव्य—विषम ज्वर का परिचय चरक निदानस्थान ज्वर प्रकरण में देखें। **'गव्यमांसरसैः'** यह समस्त पद है। गव्य को अलग करके इसका अर्थ दूध, दही आदि करना प्रमाद है। ऐसी व्याख्या करने वाले विद्वान् का दृष्टिकोण धार्मिक ही हो सकता है, उनकी दृष्टि में गव्य का अर्थ दूध तथा मांस रस का अर्थ सामान्य बकरी आदि का मांस रस रहा होगा किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। आयुर्वेद का तो यह डिण्डिम घोष है कि **'धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आरोग्यं मूलमुत्तमम्'**। इस स्थिति में धर्माधर्म की चिन्ता छोड़कर स्वास्थ्य का चिन्तन ही परम लक्ष्य है। अतः चरक सूत्रस्थान अध्याय २७ में निर्दिष्ट गोमांस के गुणों पर दृष्टिपात करें—**'गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे……हितं हि तत्'**।

कण्ठ्या यवानां यमके पिप्पल्यामलकैः शृता ॥ ३१ ॥

(२४) कण्ठरोगनाशिनी यवागू—समभाग मिले हुए घी-तेल में जौ के जौकुट चूर्ण को भूनकर पिप्पली तथा आँवला के क्वाथ से बनायी हुई यवागू कण्ठगत रोगों में लाभकारक होती है।

ताम्रचूडरसे सिद्धा रेतोमार्गरुजापहा।

(२५) शुक्रवहस्रोतस् की शूलनाशिनी यवागू—ताम्रचूड (मुर्गा) के मांस रस से बनायी गयी यवागू शुक्रवाही स्रोतों में होने वाले विकारों का शमन करती है।

समाषविदला वृष्या घृतक्षीरोपसाधिता ॥ ३२ ॥

(२६) वृष्या यवागू—घी में भूँज कर दूध में पकाकर उड़द (माष) की दाल मिलाकर बनायी गयी यवागू वीर्यवर्धक होती है।

वक्तव्य—वृषः अनड्वान्, तस्मै हितम्, वृष+यत्=वृष्यम्। अर्थात् जिन द्रव्यों के सेवन से सामान्य पुरुष भी वृष (वीर्यवर्षणशील) साँड के समान हो जाय उन द्रव्यों को वृष्य कहते हैं।

उपोदिकादधिभ्यां तु सिद्धा मदविनाशिनी।

(२७) मदरोगनाशिनी यवागू—पोई का शाक तथा दही से बनायी हुई यवागू मद नाशक होती है।

वक्तव्य—उपोदिका के गुण-धर्मों पर ध्यान दें—**'मदघ्नी चाप्युपोदिका'**। चरक सू० २७। तथा 'स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा। उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरा हिमा' ॥ सुश्रुत। यह मद रोग (मदात्यय) अधिक मद्यपान करने के कारण होता है।

क्षुधां हन्यादपामार्गक्षीरगोधारसैः शृता ॥ ३३ ॥

(२८) क्षुधारोगनाशिनी यवागू—दूध तथा गोधा के मांस रस से बनायी हुई अपामार्ग (चिरचिटा) के निस्तुष (भूसी रहित) बीजों की यवागू भूख का नाश करती है।

वक्तव्य—यह **अपामार्गतण्डुलीय** अध्याय अपामार्ग तण्डुल से आरम्भ होकर अपामार्गतण्डुल के प्रयोग वर्णन करते हुए समाप्त हुआ है। **तत्र श्लोकाः** शीर्षक तो प्रत्येक अध्याय के उपसंहार मात्र हैं।

क्षुधा (भूख) प्रतिदिन लगती है और उचित आहार द्वारा इसकी शान्ति भी हो जाती है, इस रूप से यह याप्य रोगों की श्रेणी में आ सकती है। अस्तु। उक्त यवागू प्रतिदिन की भूख शान्ति के लिये नहीं है। **भस्मक** रोग को क्षुधा रोग कहते हैं। इसमें खाना खाने के तत्काल बाद पुनः भूख लग जाती है। इसमें रोगी की स्थिति दयनीय तथा हास्यास्पद हो जाती है, इसी के लिये उक्त यवागू का निर्देश है। प्रसङ्गवश अपामार्ग के गुण-धर्मों पर ध्यान दें—'अपामार्गोऽग्रणी वातविष्टम्भी कफकृद्धिमः। अपामार्गफलं स्वादु रसे पाके च दुर्जरम्'। अभिनव नि०।

विशेष—अपामार्ग के चावलों की खीर को खाने से बहुत दिनों तक भूख नहीं लगती, यह प्रायः सभी चिकित्सकों का चिरन्तन अनुभव है। अतएव भस्मक रोग (अधिक भूख लगने) वाले व्यक्ति को इसका प्रयोग प्रतिदिन कराने का विधान है।

तत्र श्लोकाः—

अष्टाविंशतिरित्येता यवाग्वः परिकीर्तिताः। पञ्चकर्माणि चाश्रित्य प्रोक्तो भैषज्यसङ्ग्रहः ॥३४॥

उपसंहार—इस अध्याय में यहाँ तक अट्ठाईस यवागुओं का वर्णन किया गया है और इसके पूर्व पञ्चकर्म सम्बन्धी औषधियों के संग्रह का निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—अध्यायान्त में इस प्रकार की परिगणना का उद्देश्य यह रहता है कि कालान्तर में ग्रन्थ में वर्णित विषयों का ह्रास अथवा प्रक्षिप्तांशों द्वारा परिवर्धन न हो, अन्यथा इसकी आवश्यकता ही कुछ नहीं।

पूर्वं मूलफलज्ञानहेतोरुक्तं यदौषधम्। पञ्चकर्माश्रयज्ञानहेतोस्तत् कीर्तितं पुनः ॥३५॥

पुनः प्रयुक्त द्रव्य—प्रथम दीर्घञ्जीवितीय अध्याय में मूल तथा फल आदि की जानकारी के लिये जिन ओषधियों का वर्णन किया है, उनका इस अध्याय में पञ्चकर्म सम्बन्धी ज्ञान के लिये पुनः वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—तन्त्र-कर्ता पुनरुक्ति दोष के निवारण के लिये स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है—मूलिनी, फलिनी गण में पठित अपामार्ग आदि द्रव्यों का यहाँ पुनः वर्णन का दृष्टिकोण पूर्व दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। प्रथम अध्याय में किस द्रव्य का मूल और किसका फल लेना चाहिये यह उद्देश्य था किन्तु इस अध्याय में उक्त ओषधियों के वर्णन का उद्देश्य पञ्चकर्म सम्बन्धी ज्ञान रहा है।

स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान्। भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥३६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्केऽपामार्ग-

तण्डुलीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

स्मृतियुक्त (यादगार वाला), हेतु (कारण, निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) युक्ति (औषध-योजना प्रकार) को जानने वाला, जितात्मा (जितेन्द्रिय) तथा प्रतिपत्तिमान् (सूझ-बूझ वाला अर्थात् प्रत्युपन्न-मति) चिकित्सक औषधों के मिश्रण से चिकित्सा कर सकता है।

वक्तव्य—चिकित्सक के विशिष्ट गुणों का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है। शास्त्रज्ञान के साथ चिकित्सक का उत्तम चरित्र आदि भी चिकित्सा में सहायक होता है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में अपामार्गतण्डुलीय नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथात आरग्वधीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

द्वितीय अध्याय में पञ्चकर्मोपयोगी औषधों तथा २८ प्रकार की यवागुओं के वर्णन के पश्चात् हम आरग्वधीय नामक अध्याय का वर्णन करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति। १. अन्तःपरिमार्जनं, २. बहिःपरिमार्जनं, ३. शस्त्रप्रणिधानं चेति'। चरक सू० अ० ११। अर्थात् शरीरगत दोषों के प्रकोप होने पर उक्त तीन प्रकार से उनका प्रतीकार किया जाता है। यथा—अपामार्गतण्डुलीय नामक द्वितीय अध्याय में पञ्चकर्म तथा यवागुओं द्वारा अन्तःपरिमार्जन का निर्देश करने के अनन्तर प्रस्तुत आरग्वधीय अध्याय द्वारा बहिःपरि-मार्जन का निर्देश किया जा रहा है।

बहिःपरिमार्जन की दृष्टि से कुष्ठ रोग की चर्चा स्मरण हो आती है। यद्यपि राजयक्ष्मा भी महारोगों में परिगणित है तथापि इसमें बहिःसंशोधन की उतनी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, अतः कुष्ठ के सम्बन्ध में चर्चा प्रस्तुत है। यद्यपि **'खदिरः कुष्ठहराणाम्'**। चरक सू० अ० २५, में खैर कुष्ठहर द्रव्यों में प्रमुख माना गया है किन्तु इसका प्रयोग अन्तःशोधन के लिये होता है, इसीलिये कुष्ठरोग के बहिःपरिमार्जन द्रव्यों में आरग्वध (अमलतास) की प्रमुखता दिखाने के लिये निम्नलिखित पद्यों का प्रारम्भ **आरग्वध** शब्द से किया जा रहा है।

आरग्वधः सैडगजः करञ्जो वासा गुडूची मदनं हरिद्रे।
श्रयाह्वः सुराह्वः खदिरो धवश्च निम्बो विडङ्गं करवीरकत्वक् ॥ ३ ॥
ग्रन्थिश्च भौर्जो लशुनः शिरीषः सलोमशो गुग्गुलुकृष्णगन्धे।
फणिज्झको वत्सकसप्तपर्णौ पीलूनि कुष्ठं सुमनःप्रवालाः ॥ ४ ॥
वचा हरेणुस्त्रिवृता निकुम्भो भल्लातकं गैरिकमञ्जनं च।
मनःशिलाले गृहधूम एला काशीसलोध्रार्जुनमुस्तसर्जाः ॥ ५ ॥
इत्यर्द्धरूपैर्विहिताः षडेते गोपित्तपीताः पुनरेव पिष्टाः।
सिद्धाः परं सर्षपतैलयुक्ताश्चूर्णप्रदेहा भिषजा प्रयोज्याः ॥ ६ ॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नवं किलासं सुरेशलुप्तं किटिभं सदद्रु।
भगन्दरार्शास्यपचीं सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम् ॥ ७ ॥

सिद्ध चूर्ण तथा प्रदेह (Effetive powders & unguents)

(१) अमलतास के पत्ते, एडगज (चकवड़ के बीज), करञ्ज के बीज, वासा (अडूसा), गिलोय, मैनफल, हल्दी और दारुहल्दी।

(२) श्रयाह्व (नवनीतखोटी, गन्धाविरोजा), सुराह्व (देवदारु), खदिर (खैर की लकड़ी अथवा कत्था), धव की लकड़ी, नीम की छाल, वायविडंग और कनेर की छाल।

(३) भोजपत्र वृक्ष की गांठ, लहसन, सिरस की छाल, लोमश (हीरा काशीश), गुग्गुल और कृष्ण-गन्धा (लाल सहजन) की छाल।

(४) फणिज्झक (वनतुलसी), वत्सक (कुटज) की छाल, सप्तपर्ण (छतिवन) की छाल, पीलु, कूठ और चमेली की पत्तियाँ।

(५) वच, हरेणु (रेणुका), त्रिवृता, निशोथ, निकुम्भ (दन्ती की जड़), भिलावा, गेरू और अञ्जन (रसाञ्जन)।

(६) मैनशिल, हरताल, गृहधूम (घर का धुंआँ), इलायची, काशीश, लोध, अर्जुन की छाल, नागर-मोथा एवम् सर्ज (राल)।

उपर्युक्त आधे-आधे श्लोकों द्वारा निर्दिष्ट इन छः औषधियों का चूर्ण करके गोपित्त (गोलोचन) की भावनायें देकर जब चूर्ण पीले रंग के हो जाय तब उनको पुनः पीसकर सरसों के तैल में मिलाकर (मलहम जैसा बनाकर) इनका लेप करायें।

फलश्रुति—इस लेप के प्रयोग से मनुष्यों के कष्टसाध्य कुष्ठ (Leprosy) नया किलास (New Leucoderma) इन्द्रलुप्त (Falling of hair, or Alopecia), किटिभ (Psoriasis), दाद (Ring worm or Tinea). भगन्दर (Fistula in Ano). अर्श (Piles), अपची (Scrofula or Cervical adenitis) तथा पामा (Eczema or Scabies) रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने **'हरेणु'** द्रव्य का अर्थ सम्भालू (सिंदुवार) लिख रखा है जब कि निघण्टु ग्रन्थों में हरेणु शब्द सम्भालू के पर्यायवाची शब्दों द्वारा गृहीत नहीं है। हरेणु, हरेणुका–रेणुका के पर्यायवाची हैं। राजनिघण्टु आदि में इसके पर्यायों तथा गुण-धर्मों पर ध्यान दें।

चन्द्रोदयाकार के पाठ में **हरेणुमात्रां संघृष्य** ऐसा पाठ उपलब्ध है। सुश्रुतसंहिता के भाष्यकार श्री डल्हणाचार्य तथा शार्ङ्गधरसंहिता के व्याख्याकार श्री आढमल्ल ने **हरेणु** का अर्थ मटर किया है। **वैद्यकशब्द-सिन्धु**— रेणु के पर्यायों में पित्तपापड़ा अथवा रेणुका का नामोल्लेख करता है। सुधी पाठक विचार करें।

गोपित्त-पीताः—'पीतगोपित्ताः, मयूरव्यंसकादिसमासत्वात् गोपित्तशब्दस्य पूर्वनिपातः। किं वा गोपित्त-(गोरोचन) भावनया पीताः (चूर्ण प्रदेहाः) सञ्जातपीतवर्णाः। भावना च सप्ताहं यावत्, इति चक्रपाणिः'।

अर्थात् गोरोचन से पीले किये हुए अथवा सात बार गोरोचन की भावना देने से पीले किये हुए चूर्ण अथवा प्रदेह।

चूर्णप्रदेहाः—'चूर्णानि प्रदेहाः च = चूर्णप्रदेहाः। यदि वा चूर्णीकृतानाम् औषधद्रव्याणां प्रदेहाः, चूर्ण-प्रदेहाः'। इसका आशय है चूर्ण तथा प्रदेह अथवा औषध द्रव्यों को चूर्ण करके सरसों के तेल से प्रदेह (मलहम) बनाये हुए। वास्तव में ये प्रदेह के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, न कि चूर्ण के रूप में, अतः चूर्ण और प्रदेह ऐसा अर्थ प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता।

अञ्जनम्—यद्यपि दूसरे टीकाकारों ने अञ्जन का अर्थ **काला सुरमा** किया है किन्तु यहाँ पर अञ्जन शब्द से रसाञ्जन का ग्रहण अधिक युक्ति-युक्त है। निर्णय के लिये काला सुरमा तथा रसाञ्जन के गुण-धर्मों का अवलोकन करें।

प्रदेह—लेप के तीन पर्याय उपलब्ध होते हैं—१. लिप्त, २. लेप और ३. लेपन। यह लेप पुनः दो रूपों में परिणत देखा जाता है—१. प्रलेप और २. प्रदेह। यथा—

'द्वौ तस्य भेदौ कथितौ प्रलेपाख्य-प्रदेहकौ। चर्मार्द्रं माहिषं यद् वत् प्रोन्नतं सा मितिस्तयोः ॥
शीतस्तनुर्विशोषी च **प्रलेपः** परिकीर्तितः। आर्द्रो घनस्तथोष्णः स्यात् **प्रदेहः** श्लेष्मवातहा ॥
रोगाभिमुखमादेयौ प्रलेपाख्यप्रदेहकौ। वीर्यं सम्यग् विशत्याशु रोमकूपैः शिरामुखैः ॥
न रात्रौ लेपनं कुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत। शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥
रात्रावपि प्रलेपादि-विधिः कार्यो विचक्षणैः। सुश्रुत सू० अ० १८ ॥

इन दोनों की मोटाई भैंस के गीले चमड़े के समान होती है। इनमें शीत, तनु, विशोषी अथवा अविशोषी की **प्रलेप** संज्ञा है। और आर्द्र (गीला), मोटा तथा उष्ण गुण युक्त को **प्रदेह** कहते हैं। उक्त ६ प्रदेहों का प्रयोग करने के बाद सूखने से पहले ही इनको उतार दें।

कुष्ठं हरिद्रे सुरसं पटोलं निम्बाश्वगन्धे सुरदारुशिग्रू।
ससर्षपं तुम्बुरुधान्यवन्यं चण्डां च चूर्णानि समानि कुर्यात् ॥ ८ ॥
तैस्तक्रपिष्टैः प्रथमं शरीरं तैलाक्तमुद्वर्तयितुं यतेत।
तेनास्य कण्डूः पिडकाः सकोठाः कुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजन्ति ॥ ९ ॥

(७) कुष्ठादि लेप—कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, तुलसी, परवल के पत्ते, नीम की छाल, असगन्ध, देवदारु, सहजन की छाल, सरसों, तुम्बुरु (तेजबल, तिमूर), धनियाँ, वन्य (केवटी मोथा) और चण्डा (चोर पुष्पी) इनके चूर्णों को समभाग में लेकर मठा से घोटें तदनन्तर कुष्ठ रोगी के शरीर में सरसों के तेल की मालिश करके इसको उबटन की भाँति लगायें। इससे उस रोगी के कण्डू (Itching), पिडका (फुन्सियाँ Pimples) कोठ (Kind of Urticaria), कुष्ठ (Leprosy) तथा शोथ (Swelling or Oedema) रोगों का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—कोठ का ही एक भेद शीतपित्त भी है। **कोठ परिचय**—वमन के अधिक होने या रुक जाने से अथवा उभड़े हुए कफ-पित्त एवं अन्न (वमन) के वेग को रोकने से खुजली एवं लालिमा युक्त मण्डल (बर्रे के काटने के समान उभार युक्त चकत्ते), शरीर पर निकल आते हैं। बार-बार निकलते रहने के कारण इनको उत्कोठ या कोठ कहते हैं। देखें—माधवनिदान शीतपित्तोदर्दकोठनिदान प्रकरण।

कुष्ठामृतासङ्गकटङ्कटेरी-कासीस-कम्पिल्लक-मुस्त-लोध्राः।
सौगन्धिकं सर्जरसो विडङ्गं मनःशिलाले करवीरकत्वक् ॥ १० ॥
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णान्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम्।
दद्रूः सकण्डूः किटिभानि पामा विचर्चिका चैव तथैति शान्तिम् ॥ ११ ॥

(८) कुष्ठादि चूर्ण—कूठ, गिलोय, नीलाथोथा (तूतिया), कटंकटेरी (दारुहल्दी), काशीस, कम्पिल्लक (कबीला), नागरमोथा, लोध, गन्धक, राल, वायविडङ्ग, मैनशिल, हरताल तथा कनेर के जड़ की छाल इन सभी को समभाग लेकर चूर्ण कर लें। तदनन्तर रोगी के शरीर पर सरसों के तेल की मालिश करके इस चूर्ण को घावों पर अवचूर्णन करना (बुरकना Dusting) चाहिये। इसके प्रयोग से दद्रु (दाद), कण्डू (खुजली), किटिभ (कुष्ठ भेद), पामा तथा विचर्चिका (Pemphigus) रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—कुष्ठादि चूर्ण में निर्दिष्ट तूतिया आदि द्रव्यों का अशुद्ध ही प्रयोग होता है, क्योंकि इनका प्रयोग मात्र अवचूर्णन के लिये है। अन्तःप्रयोग के लिये नहीं।

मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।

(९) मनःशिलादि लेप (प्रथम)—मैनसिल, आल (हरिताल), कालीमिर्च, सरसों का तेल और अर्क पयः (मदार का दूध) इन सबको एक साथ मिलाकर घोटें। यह लेप कुष्ठ (Skin disease) का विनाशक है।

वक्तव्य—'तिलोद् भवं तैलम्'। अर्थात् मूल रूप से तैल शब्द तिल से सम्बन्धित है किन्तु रोगादि के क्रम से भिन्न-भिन्न रोगों में उन-उन तेलों का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि तिल तैल के गुण—'**खर्जूव्रण-कण्डूतिहरम्**' कहे गये हैं तथापि कुष्ठ के विनाश का यहाँ लक्ष्य है, अतः सरसों के तेल का ग्रहण किया गया है क्योंकि सरसों के तेल के गुण—'**कृमिकुष्ठघ्नं**' हैं। देखें—राजनिघण्टु क्षीरादिवर्ग।

तुत्थं विडङ्गं मरिचानि कुष्ठं लोध्रं च तद्वत् समनःशिलं स्यात् ॥ १२ ॥

(१०) तुत्थादि लेप—तुत्थ (तूतिया), वायविडङ्ग, कालीमिर्च, कूठ, लोध और मैनसिल यह तुत्थादि लेप है। इसको मनःशिलादि लेप के समान (सरसों के तेल में घोटकर) बनायें तथा कुष्ठ रोगी पर प्रयोग करें।

रसाञ्जनं सप्रपुनाडबीजं युक्तं कपित्थस्य रसेन लेपः।

(११) रसाञ्जनादि लेप—रसाञ्जन (रसवत्) और पँवाड़ (चनाड़) के बीजों को कूट पीस कर कैथ के रस में घोट कर लेप करने से कुष्ठ रोग की निवृत्ति होती है।

वक्तव्य—अञ्जन शब्द का अन्यत्र प्रयोग केवल सुरमा के लिये होता है किन्तु **रसाञ्जन** की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। देखें—

'दार्वीक्वाथसमं क्षीरं द्वयं पक्त्वा यदा घनम्।
तदा रसाञ्जनाऽऽख्यं तन्नेत्रयोः परमं हितम्' ॥ अभिनव निघण्टु।

आगे इसको **व्रणदोषहृत्** कहा गया है।

करञ्जबीजैडगजं सकुष्ठं गोमूत्रपिष्टं च परं प्रदेहः ॥ १३ ॥

(१२) करञ्जादि लेप—करञ्ज के बीज, पँवाड़ के बीज और कूठ इनको कूट पीस कर गोमूत्र से घोटें, यह लेप कुष्ठ रोग नाशन के लिये सर्वोत्तम होता है।

वक्तव्य--प्रदेह मोटे लेप को कहते हैं। प्र उपसर्ग पूर्वक दिह उपचये धातु से घञ् प्रत्यय करने पर प्रदेह शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है=अधिक मोटा लेप। शेष श्लोक ७ के वक्तव्य में देखें।

उभे हरिद्रे कुटजस्य बीजं करञ्जबीजं सुमनःप्रवालान्।
त्वचं समध्यां हयमारकस्य लेपं तिलक्षारयुतं विदध्यात् ॥ १४ ॥

(१३) हरिद्रादि लेप--दोनों हल्दी (हल्दी और दारुहल्दी), कुटजबीज (इन्द्र जौ), करञ्ज के बीज, हयमारक (कनेर) के छिलके तथा भीतरी लकड़ी और तिलनाल का क्षार इन सबके चूर्णों को गोमूत्र में पीसकर रख लें। इसका लेप कुष्ठ पर करें।

वक्तव्य—उक्त योग को किस तरल द्रव्य में घोटना है और इसका प्रयोग कहाँ करना चाहिये, नहीं लिखा है। अतः ये दोनों अर्थ प्रसङ्गानुसार उपर्युक्त श्लोक से ग्रहण किये गये हैं।

मनःशिला त्वक्कुटजात् सकुष्ठात् सलोमशः सैडगजः करञ्जः।
ग्रन्थिश्च भौर्जः करवीरमूलं चूर्णानि साध्यानि तुषोदकेन ॥ १५ ॥
पलाशनिर्दाहरसेन[1] चापि कर्षोद्धृतान्याढकसम्मितेन।
दर्वीप्रलेपं प्रवदन्ति लेपमेतत् परं कुष्ठनिसूदनाय ॥ १६ ॥

(१४) मनःशिलादि लेप (द्वितीय)—मैनसिल, कुरैया की छाल, कूठ, काशीस, पँवाड़ के बीज (इसकी पत्तियाँ मूंगफली के आकार की होती हैं और बीज मेथी के सदृश होते हैं), करंज के बीज, भोज पत्र के वृक्ष की गाँठ, कनेर की जड़, प्रत्येक ओषधि का चूर्ण १-१ कर्ष (२-२ तोला)। इनको पकाने के लिये तुषोदक अथवा पलाशनिर्दाह रस १ आढक (६ सेर ६ छटांक २ तोला) लें। तदनन्तर धीरे-धीरे विधिपूर्वक इसको पकायें। पकते-पकते जब यह करछुल में लगने लगे उस समय उतार कर रख लें। यह लेप कुष्ठ नाशक योगों में सर्वोत्तम है।

वक्तव्य--तुषोदक अथवा तुषाम्बु निर्माण विधि—'तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः'। शार्ङ्गधरसंहिता अ० १०। अर्थात् कच्चे दले हुए जौ धान्य का सन्धान (विशेष प्रकार के रस एवं गन्ध आदि की उत्पत्ति) करने से जो द्रव तैयार किया जाता है उसे **तुषोदक** कहते हैं। हमारे विचार में यह जौ मद्य 'बीयर' (Beer) ही है। कुछ लोग इसको **काञ्जी** का भेद मानते हैं। इस सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार इस प्रकार प्राप्त हैं—'**षड्रात्रात् सप्तरात्राद् वा ते च पेये प्रकीर्तिते**'। सु० सू० अ० ४४ श्लो० ४४।

काञ्जी--कुल्माष (उबाले हुए गेहूँ, मटर तथा चना आदि) और धान्यों (चावल, जौ आदि) के मण्ड (मांड) आदि में (राई, नमक, हल्दी, हींग आदि) के सन्धान से बना हुआ द्रव पदार्थ काञ्जी या काञ्जिक है।

पलाश निर्दाह रस- पलाश (ढाक) के एक या दो वर्ष के पेड़ की मोटी जड़ को चारों ओर से खोदकर काट दें। जड़ के नीचे घड़ा रख दें घड़ा के मुख को सुरक्षित कर पुनः उस गड्ढा को भर दें। उसके चारों ओर

1. 'पलाशस्य निर्दाहेन गृहीतो रसः पलाशनिर्दाहरसः, स च पलाशस्य प्रधानमूले छिन्नेऽधः कुम्भं दत्त्वोपरि वृक्षदाहाद्यो गलति स्वरसः स गृह्यते' इति चक्रः।

कंडों की आग जला दें। ऐसा करने से उस पेड़ का अधिकांश रस उस घड़ा में एकत्रित हो जायगा। इसी को पलाश निर्दाह रस कहते हैं। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ **पलाशक्षारोदक** किया है। इसको चक्रपाणि के शब्दों में ऊपर टिप्पणी में देखें।

पर्णानि पिष्ट्वा चतुरङ्गुलस्य तक्रेण पर्णान्यथ काकमाच्याः।
तैलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्ठान्युद्वर्तयेदश्वहनच्छदैश्च ॥ १७ ॥

(१५) आरग्वधादि लेप--कुष्ठ रोगी के शरीर पर सरसों के तेल को लगाने के बाद चतुरंगुल (अमलतास) के पत्ते काली मकोय के पत्ते और कनेर के पत्ते इन सबको एकत्रित करके मठा में पीसकर लेप तैयार करें। इससे कुष्ठ द्वारा प्रभावित शरीरावयवों पर उबटन करें।

वक्तव्य--अमलतास के पर्यायों में एक नाम चतुरंगुल भी है। प्रायः अमलतास की फली १२ इञ्च से १८-२० इञ्च तक की देखी जाती है किन्तु **चतुरंगुल** नाम निर्धारण कैसे हुआ विचारणीय विषय है।

कोलं कुलत्थाः सुरदारुरास्नामाषातसीतैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः ॥ १८ ॥

(१६) कोलादि लेप—बेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उड़द, अलसी, तैल फल (वे फल जिनमें से तेल निकलता हो। जैसे—एरण्ड, तिल, सरसों, अलसी आदि), कूठ, वच, सोया और यवचूर्ण (जौ का आटा) इन सबको कांजी आदि अम्ल पदार्थों से घोंटकर गाढ़ा लेप तयार करें। इस प्रदेह को गरम करके वात रोगियों पर प्रयोग करें।

वक्तव्य- तैलफलानि—इसका विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है। यथा—तैलबहुलानि फलानि, किंवा तैलमयानि फलानि। दोनों ही परिस्थितियों में यह 'मध्यमपदलोपी समास होता है।

आनूपमत्स्यामिषवेसवारैरुष्णैः प्रदेहः पवनापहः स्यात्।

(१७) वातव्याधि विनाशक लेप (प्रथम)--आनूपदेशज प्राणियों का मांस तथा मछली के मांस से बनाये हुये वेसवार का गरम-गरम लेप करने से वात रोगों का नाश होता है।

वक्तव्य--आनूपदेश का परिचय—परिस्थितिभेद से सम्पूर्ण भूतल को तीन भागों में विभक्त किया गया है। यथा--१. आनूप, २. जांगल और ३. साधारण। जिस देश में जल (वर्षा, झील, तालाब, पोखरे, नदी, नाले, गीली भूमि और उथले कुंए आदि) अधिक हों, वृक्ष तथा पर्वत अधिक हों और कफ एवं वायुजनित रोग अधिक होते हों वह **आनूप** देश कहा जाता है।

वेसवार—हड्डी रहित मांस को भलीभांति कूटकर पानी में उबाल लें, फिर इसमें गुड़, घी, पिप्पली और कालीमिर्च का चूर्ण मिलाने से वेसवार बनता है। यथा—

'निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं **वेसवार** इति स्मृतः' ॥

स्नेहैश्चतुर्भिर्दशमूलमिश्रैर्गन्धौषधैश्चानिलहः प्रदेहः ॥ १९ ॥

(१८) वातव्याधि विनाशक लेप (द्वितीय)—ज्वरचिकित्सा में निर्दिष्ट अगरु, एला (इलायची), कुंकुम आदि एवम् दशमूल से पकाये गये चारों स्नेहों का प्रदेह वातव्याधि की शान्ति करता है।

वक्तव्य—चारस्नेह—घी, तेल, वसा और मज्जा। **गन्धौषध**—भैषज्यरत्नावली के ज्वर प्रकरण में गन्धौषधों का उल्लेख इस प्रकार है—

'एलाचन्दनकुङ्कुमागुरुमुराककोलमांसीवरी,
श्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशशभृत् क्षौणीध्रजोशीरकम्।
कस्तूरीनखपूतितैलजलमुङ्मेथीलवङ्गादिकं, गन्धद्रव्यमिदं···।

आचार्य चक्रपाणि ने उक्त श्लोकार्ध से तीन भिन्न-भिन्न योगों की कल्पना इस प्रकार की है—१. दशमूल द्वारा साधित गन्ध द्रव्यों में स्नेह मिलाकर लेप करें। २. दशमूल तथा गन्ध द्रव्यों के कल्क से चारों स्नेहों को सिद्ध करके बिना छाने गुनगुना लेप करें। ३. दशमूल के क्वाथ तथा दशमूल के ही कल्क से तेल को पकाकर उसमें गन्ध द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण मिलाकर लेप करें।

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमर्तिं जठरे निहन्यात्।

(१९) उदरशूलनाशक लेप—जवाखार युक्त जौ का आटा को मठा में मिलाकर (लेप के समान गीला कर) उसको गरम करके पेट पर लेप करने से उदरशूल का शमन होता है।

वक्तव्य—इस योग का उल्लेख अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इस प्रकार किया है—'यवचूर्णश्च सक्षारतक्रः कोष्ठार्तिजित्परम्'।

कुष्ठं शताह्वां सवचां यवानां चूर्णं सतैलाम्लमुशन्ति वाते ॥ २० ॥

(२०) वातव्याधि विनाशक लेप—कूठ, सोया, बालवच और जौ का आटा इनमें प्रथम तीन द्रव्यों को कूट-पीसकर सरसों के तेल तथा कांजी में मिलाकर गरम करके लेप करना चाहिये।

उभे शताह्वे मधुकं मधूकं बलां प्रियालं च कशेरुकं च।
घृतं विदारीं च सितोपलां च कुर्यात् प्रदेहं पवने सरक्ते ॥ २१ ॥

(२१) वातरक्तहर लेप—दोनों शताह्वा (सोया और सौंफ), मधुक (महुए के फूल), खिरेंटी की जड़, चिरौंजी, कसेरू, घी, विदारीकन्द और सितोपला (मिश्री)। इन सब द्रव्यों को कूट, पीस, कपड़छान कर घी में मिलाकर वातरक्त (Gout) में लेप करें।

वक्तव्य—भावप्रकाश निघण्टु उत्तरखण्ड में यही योग महुआ के फूल को छोड़कर वातरक्त में प्रयोगार्थ निर्दिष्ट है।

रास्ना गुडूची मधुकं बले द्वे सजीवकं सर्षभकं पयश्च।
घृतं च सिद्धं मधुशेषयुक्तं रक्तानिलार्तिं प्रणुदेत् प्रदेहः ॥ २२ ॥

(२२) वातरक्त पीडानाशक लेप—रास्ना, गिलोय, मुलेठी, बला, नागबला (अथवा अतिबला), जीवक, ऋषभक, उक्त द्रव्यों का दूध से कल्क बनाकर घृतपाक करें, अन्त में भलीभाँति छानकर इस घी में मोम मिलाकर रख लें। यह लेप वातरक्तजनित पीड़ा का शमन करता है।

वक्तव्य—लेप निर्माण विधि—घृत १ सेर, दूध ४ सेर और कल्क १/४ सेर, मोम १/४ सेर। इसको शार्ङ्गधरसंहिता अ० ९ के अनुसार इस प्रकार समझें—

'कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा।
चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता' ॥

अर्थात् घी अथवा तेल को कल्क से चौगुना लेकर चौगुने द्रव पदार्थ में सिद्ध करना चाहिये। इसके सेवन की पूर्णमात्रा १ पल (४ तोला) है। इसका उल्लेख सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अध्याय ३१ में देखें।

सावधान ! जब कभी घी या तेल का पाक किया जाता है तो अन्त में वह (घी या तेल) प्रायः चतुर्थांश घट जाता है क्योंकि उसका बहुत सा अंश वाष्प के साथ उड़ जाता है और कुछ कल्क द्रव्य में लगा रह जाता है। इस प्रकार का अनुभव कर्माभ्यास से होता है।

वाते सरक्ते सघृतं प्रदेहो गोधूमचूर्णं छगलीपयश्च।

(२३) गोधूमादि लेप—गेहूँ का आटा, बकरी का दूध और घी इनको मिलाकर लेप तयार करें। यह लेप वातरक्त में प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—प्रदेह का अर्थ पुल्टिस भी होता है, अतः इन द्रव्यों की पुल्टिस बनाकर गरम-गरम ही इसको बाँधा जाता है। वाग्भट ने अपने इस योग में घी को छोड़ दिया है। यथा—**'गोधूमचूर्णो वा छागक्षीरयुक्तो लेपः'**। आचार्य वृन्द के सिद्धयोग में उक्त योग के दर्शन इस प्रकार होते हैं—

'गोधूमचूर्णं छगलीपयश्च सच्छागदुग्धो रुबुबीजकल्कः।
लेपो विधेयः शतधौतसर्पिः सेके पयश्चाविकमेव शस्तम्' ॥ सिद्धयोग, वातरक्त चि०।

वृन्द ने उक्त एक श्लोक में तीन लेपों तथा एक सेक विधि का निर्देश किया है।

नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतं प्रदेहः ॥ २३ ॥

(२४) शिरःशूलशामक लेप—नत (तगर), उत्पल (नीलोफर), सफेद चन्दन और कूठ इन सब द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को घी में मिलाकर शिर पर लेप करें। इससे शिरःशूल शान्त होता है।

वक्तव्य—निघण्टु ग्रन्थों में चन्दन के अनेक (वेट्ट, सुकड़ि, पीत, रक्त, हरित, शवर, बरबर) भेद हैं। **दत्तक मटेरिया मेडिका में**—तीन प्रकार के चन्दनों का वर्णन है। जैसे—१. श्रीखण्ड (सफेद चन्दन) २. पीत चन्दन और ३. लाल चन्दन। लाल चन्दन ग्राही और पौष्टिक होता है। इसका प्रयोग सूजन की शान्ति तथा शिरःशूल के शमन के लिये होता है। बाहरी प्रयोग में लाल चन्दन और भीतरी प्रयोग में सफेद चन्दन को श्रेष्ठ माना जाता है।

प्रपौण्डरीकं सुरदारु कुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च।
शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो लौहैरकापद्मकचोरकैश्च ॥ २४ ॥

(२५) शिरःशूलनाशक प्रपौण्डरीकादि लेप—पुण्डरिया काठ, देवदारु, कूठ, मुलेठी, छोटी इलायची, सफेद कमल, नीलोफर, लोह (अगरु), सरका (तृणविशेष, होगल), पद्माख और चोरपुष्पी इन सबके कपड़छन चूर्ण को घी में मिलाकर शिरःशूल में लेप करना चाहिये।

वक्तव्य—लौह शब्द का अर्थ पूर्ववर्ती टीकाकारों ने काष्ठादि ओषधियों के प्रसङ्ग को देखकर **अगरु** किया है। क्योंकि यह योगवाही है, अन्यथा इसके गुण-धर्मों में शूलनाशकता का उल्लेख नहीं है अपितु **लौह** तथा **कान्तलौह** में शूलनाशकता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, विद्वान् ध्यान दें।

पुनश्च वृद्धवाग्भट्ट द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित शिरोवेदनाहर योग पर ध्यान दें। इसमें अगरु, एरका, पद्माख को छोड़ कर अधिकांश उन्हीं द्रव्यों का ग्रहण किया गया है—**'चन्दनोत्पलतगरकुष्ठैः सघृतैर्लेपः। देवदारुकुष्ठचोरकयष्टिमधुककमलनीलोत्पलैलाप्रपौण्डरीकैश्च'** ॥ अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० २८।

रास्ना हरिद्रे नलदं शताह्वे द्वे देवदारूणि सितोपला च।
जीवन्तिमूलं सघृतं सतैलमालेपनं पार्श्वरुजासु कोष्णम् ॥ २५ ॥

(२६) पार्श्वशूलनाशक रास्नादि लेप—रास्ना, हल्दी, दारुहल्दी, नलद (जटामांसी), सोया, सौंफ, देवदारु, सितोपला (मिसरी) और जीवन्तीमूल इनके कपड़छन चूर्ण को घी तथा तेल में मिला कर पसलियों के दर्द में गुनगुना लेप करना चाहिये।

वक्तव्य—नलद शब्द उशीर (खस) का पर्यायवाचक है। **अभिनव निघण्टु** के अनुसार यह जटामांसी का बोध नहीं कराता किन्तु **राजनिघण्टु** अमलतास के पर्यायों में नलद का उल्लेख करता है। **नलदं** के नपुंसकलिंग होने के कारण यह **उशीरं** का ही पर्यायवाचक होना चाहिये। चक्रपाणि के अनुसार पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने नलदं का अर्थ जटामांसी स्वीकार किया है। इसका प्रयोग पार्श्वशूल में प्रशस्त है।

शैवालपद्मोत्पलवेत्रतुङ्गप्रपौण्डरीकाण्यमृणाललोध्रम्
प्रियङ्गुकालेयकचन्दनानि निर्वापणः स्यात् सघृतः प्रदेहः ॥ २६ ॥

(२७) दाहशान्तिकारक शैवालादि लेप—शैवाल (सिंवार), कमल, नीलकमल, बेत की जड़, तुङ्ग (पुंनाग, नागकेसर), पुण्डरीककाष्ठ (पुंडरिया काठ), अमृणाल (खस), लोध, प्रियंगु, कालेयक (कालिया काठ, अगरु भेद) तथा सफेद चन्दन इन सबको कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण करके घी में घोट कर लेप तैयार करें। इसके प्रयोग से दाह की निवृत्ति होती है।

वक्तव्य—उक्त सभी द्रव्य शीत वीर्य हैं, अतः स्वानुरूप इनका फल होता है। **निर्वापणः**—इसका अर्थ है दाह की उठती हुई लपटों को बुझाना।

सितालतावेतसपद्मकानि यष्ट्याह्वमैन्द्री नलिनानि दूर्वा।
यवासमूलं कुशकाशयोश्च निर्वापणः स्याज्जलमेरका च ॥ २७ ॥

(२८) दाहशामक शीतादि लेप—सिता (मिश्री), लता (मजीठ), बेतकी जड़, पद्माख, मुलेठी, इन्द्रायण, नलिन (कमल), दूब, जवासा की जड़, कुशमूल, काशमूल, जल (सुगन्ध वाला) और एरका (तृण-

विशेष), इन सबको बारीक पीसकर (घी अथवा जल के साथ) लेप करने से दाह की शान्ति होती है। निर्वापण का आशय पूर्वश्लोक की भाँति ही समझें।

शैलेयमेलागुरुणी सकुष्ठे चण्डा नतं त्वक्सुरदारु रास्ना।
शीतं निहन्यादचिरात् प्रदेहो—

(२९) शीतनाशक शैलेयादि लेप—शैलेय (छरीला), छोटी इलायची, अगरु, कूठ, चण्डा (चोरपुष्पी), नत (नगर), त्वक् (दालचीनी), देवदारु और रास्ना, इन सबका कपड़छन चूर्ण कर (घी अथवा जल के साथ) लेप करने से शीत का विनाश हो जाता है।

—विषं शिरीषस्तु ससिन्धुवारः ॥ २८ ॥

(३०) विषनाशक शिरीषादि लेप—सिरस की छाल तथा निर्गुण्डी (सिवाली, मेवड़ी) का लेप विष का नाश करता है।

शिरीषलामज्जकहेमलोध्रैस्त्वग्दोषसंस्वेदहरः प्रघर्षः।

(३१) त्वग्दोषादिहर शिरीषादि लेप—शिरीष (सिरस की छाल), लामज्जक (खश), हेम (नागकेसर) और लोध, इनके चूर्णों को त्वचा पर मलने से त्वचा के रोग (Skin disease) और पसीना तथा उससे उत्पन्न दुर्गन्धि का नाश होता है।

पत्राम्बु लोध्राभयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रदेहः ॥ २९ ॥

(३२) शरीरदुर्गन्धिहर पत्रादि प्रदेह—पत्र (तेजपत्ता), अम्बु (गन्धबाला), लोध, अभय (खस) तथा सफेद चन्दन इन सबको मिलाकर बनाया हुआ प्रदेह (लेप) शरीर की दुर्गन्धि का नाश करता है। उक्त सभी सुगन्धित द्रव्य हैं। अतः इनका आलेपन दुर्गन्धिनाशक होता है।

तत्र श्लोकः—

इहात्रिजः सिद्धतमानुवाच द्वात्रिंशतं सिद्धमहर्षिपूज्यः।
चूर्णप्रदेहान् विविधामयघ्नानारग्वधीये जगतो हितार्थम् ॥ ३० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के
आरग्वधीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

आरग्वधीय नामक इस अध्याय में सिद्ध गणों तथा महर्षियों से पूज्य आत्रेय मुनि ने संसार के कल्याण के लिये विविध व्याधियों के विनाशक सिद्धतम (जिनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता अर्थात् महर्षियों द्वारा अनुभूत) चूर्ण तथा प्रदेहों का उपदेश किया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित ताराद्त्त त्रिपाठी** पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में आरग्वधीय नामक तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातः षड्विरेचनशता[1]श्रितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

आरग्वधीय अध्याय के पश्चात् षड्विरेचनशताश्रितीय नामक अध्याय का वर्णन करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—'आश्रीयते, इति आश्रितीयम् = आश्रयः, इत्यर्थः। षट्सङ्ख्याऽवच्छिन्नानि विरेचनशतानि आश्रितानि च अधिकृत्य कृतोऽध्यायः षड्विरेचनशताश्रितीयः। यद्यपि च अध्यायादौ इह खलु इति पदं श्रूयते तथापि गुणप्रधानत्वात् नाध्यायसंज्ञा प्रणयने निवेशितम्।

इस अध्याय का विषय है ६०० विरेचनों का वर्णन, इन्हीं का उल्लेख आगे होगा। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार भेषजचतुष्क का यह अन्तिम अध्याय है। इसके पूर्व द्वितीय अध्याय अन्तःशोधक तथा तृतीय अध्याय बहिःशोधक के रूप में वर्णित है। प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में अन्तः तथा बहिःशोधक द्रव्यों का वर्णन किया जायगा।

इह खलु षड् विरेचनशतानि भवन्ति, षड् विरेचनाश्रयाः, पञ्चकषायशतानि, पञ्चकषाययोनयः, पञ्चविधं कषायकल्पनम्, पञ्चाशन्महाकषायाः, इति सङ्ग्रहः ॥ ३ ॥

अध्यायारम्भ—अग्निवेश कृत इस तन्त्र में निश्चय करके ६०० विरेचन हैं, विरेचनों के आश्रय ६ हैं, ५०० कषाय हैं, कषायों की पाँच योनियाँ अर्थात् उत्पत्ति स्थान हैं। कषायों की ५ प्रकार की कल्पनायें हैं और ५० महाकषाय हैं। यह इस अध्याय के विषयों की संक्षिप्त तालिका है।

वक्तव्य—अग्निवेश की यह परम्परा रही है कि जिस वाक्य से अध्याय का आरम्भ होता है उसी वाक्यांश से उस अध्याय का नामकरण वे करते हैं किन्तु इस चतुर्थ अध्याय का आरम्भ **इह खलु** इन दो पदों द्वारा हुआ है किन्तु अध्याय का नाम इसके आगे वाले पदों (षड्विरेचनशतानि) से रखा गया है। इसका समाधान चक्रपाणि के शब्दों में देखें—'यद्यपि च अध्यायादौ **इह खलु** इति पदं श्रूयते, तथाऽपि तदप्रधानत्वान्नाध्यायसंज्ञाप्रणयने निवेशितम्। इह इति अग्निवेशतन्त्रे अनतिसङ्क्षेपविस्तरे। एतेन वक्ष्यमाणविरेचनषट्शतानां तथा पञ्चाशन्महाकषायाणां तथा पञ्चकषायशतानां विस्तरकल्पनायामधिकत्वमपि भवतीति सूच्यते'।

विरेचन शब्द वि पूर्वक रिचिर् विरेचने रुधादिगणीय धातु से ल्युट् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। 'उत्तेजितं रेचितं स्यान्मध्यवेगेन या गतिः'। इति हैमनाममाला। अर्थात् मध्य वेग से जो गति होती है उसी को रेचित या रेचन कहते हैं। इसका तात्पर्य है ऊपर तथा नीचे मार्ग से दोषों का निर्गमन। यही उद्देश्य इस अध्याय में कहे गये कषायों का है। महर्षि अग्निवेश के शब्दों में—**'तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते'**। चरक कल्प० अ० १।४। इससे यह सिद्ध होता है कि अग्निवेश को विरेचन से दोनों (वमन, विरेचन) का ग्रहण अभीष्ट था। क्योंकि दोनों ही प्रकार से मल तथा मलयुक्त दोष शरीर से बाहर आते हैं। शिरोविरेचन का इससे पृथक् उल्लेख इसीलिये किया गया है कि यह सामान्य विरेचनों की सीमा में नहीं आता।

षड्विरेचनशत—ऊपर जो ६०० विरेचनों की एक निश्चित संख्या का अध्याय के रूप में निर्देश किया गया है, यह तन्त्रकार का उद्देश्य मात्र है, जिसका समर्थन हम चरकसंहिता कल्पस्थान अ० १२ में इस प्रकार देखते हैं—'उद्देश्यमात्रमेतावद् द्रष्टव्यमिह षट्शतम्। स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वा सम्प्रकल्पयेत् ॥ बहुद्रव्यविकल्पत्वाद् योगसङ्ख्या न विद्यते'। कुशल चिकित्सकों के लिये यह (६००) संख्या नहीं है, वे अपनी योग्यता से रोग को दृष्टि में रखकर द्रव्यों के गुणों के तर-तमभाव का विचार कर हजारों करोड़ों भेदों की कल्पना कर सकते हैं।

षड् विरेचनशतानीति यदुक्तं, तदिह सङ्ग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः।

१. 'षड्विरेचनशतीयं' इति पा०।

छः सौ वमन, विरेचन योग—जो ६०० विरेचन हैं, ऐसा कहा गया है—उनको यहाँ संक्षेप से कहकर उनका कल्पस्थान में विस्तार से व्याख्यान करेंगे।

कल्पोपनिषदि—'कल्प एव कल्पोपनिषद्'। जिस प्रकार अत्यन्त उपयुक्त (ठीक-ठीक) रहस्य (गुप्त) विद्या के उपदेश करने वाले साहित्य को वेद में उपनिषद् संज्ञा दी गयी है, उसी प्रकार यहाँ भी कल्पस्थान के वर्ण्य-विषय के अति उपयुक्त रहस्य रूप वमन-विरेचन के प्रयोग का उपदेश होने के कारण इसको भी कल्पोपनिषद् कहा गया है।

(तत्र) त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं फलेषु, एकोनचत्वारिंशज्जीमूतकेषु योगाः, पञ्चचत्वारिंशदिक्ष्वाकुषु, धामार्गवः षड्विधा भवति योगयुक्तः, कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति, कृतवेधनं षड्विधा भवति योगयुक्तं, श्यामात्रिवृद्योगशतं प्रणीतं दशापरे चात्र भवन्ति योगाः, चतुरङ्गुलो द्वादशधा योगमेति, लोध्रं विधौ षोडशयोगयुक्तं, महावृक्षो भवति विंशति योगयुक्तः, एकोनचत्वारिंशत्सप्तलाशङ्खिन्योर्योगाः, अष्टचत्वारिंशद्दन्तीद्रवन्त्योः, इति षड्विरेचनशतानि ॥ ४ ॥

६०० वमन-विरेचन योग

(Six hundred Emetic & Purgative preparations)

योग नाम तथा संख्या निर्देश—अब यहाँ वमन तथा विरेचन कारक योगों के नाम तथा संख्या का उल्लेख किया जा रहा है—

प्रमुख वामक द्रव्य	योग संख्या	प्रमुख विरेचक द्रव्य	योग संख्या
मदन फल से	१३३	काली तथा लाल निसोत से	१००
देवदाली से	३९	इन्हीं के और	१०
कड़वी तुम्बी से	४५	अमलतास से	१२
घीया तोरई से	६०	लोध से	१६
इन्द्र जौ से	१८	थूहर से	२०
कड़वी तोरई से	६०	सप्तला (शीकाकाई) तथा शङ्खिनी से	३९
	३५५	दन्ती तथा द्रवन्ती से	४८
			२४५

षड्विरेचनाश्रया इति क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानीति ॥ ५ ॥

ओषधि अंग निर्देश—विरेचनार्थ प्रयुक्त होने वाले औषध द्रव्यों के निम्ननिर्दिष्ट अङ्गों का ग्रहण किया जाता है। यथा—१. दूध, २. जड़, ३. छाल, ४. पत्ता, ५. फूल और फल।

वक्तव्य—उक्त विरेचक द्रव्यों में से किस का कौन सा अङ्ग चिकित्सोपयोगी है, उसका विवरण वाग्भट सूत्र स्थान अध्याय १४ में देखें। उक्त गद्यांश में कथित विरेचन द्रव्यों में सर्वप्रथम दूध का उल्लेख किया गया है—'स्नुक् पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्'। चरक० सू० अ० २५। सेहुंड का दूध तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में सर्वोत्तम होता है। यहाँ **त्वक्** शब्द से लोध वृक्ष की छाल, **मूल** से इन्द्रायण की जड़ और **पत्र** से कड़वी तुम्बी आदि अभीष्ट हैं।

पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायोऽम्लकषायः कटुकषायस्तिक्तकषायः कषायकषायश्चेति तन्त्रे संज्ञा ॥ ६ ॥

पञ्च कषाय-योनियाँ

(Five sources of Decoctives)

कषायों की योनियाँ—इनके उत्पत्ति स्थान पाँच हैं। यथा—१. मधुरकषाय, २. अम्लकषाय, ३. कटुकषाय, ४. तिक्तकषाय और ५. कषायकषाय। इन पाँचों की प्रस्तुत तन्त्र में कषाय संज्ञा है।

वक्तव्य—ध्यान दें, रस ६ होते हैं। उक्त ५ कषायों में ५ रसों का ग्रहण हुआ है, केवल लवण रस छूटा

है। इसका कषायों में ग्रहण क्यों नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि के विचार द्रष्टव्य हैं—'कषायसंज्ञेयं भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेषु आचार्येण निवेशिता। अत्र च केवलस्य लवणस्य प्रयोगो नास्ति, मधुरादीनां तु केवलानामपि प्रयोगोऽस्ति लवणं तु द्रव्यान्तरसंयुक्तमेवोपयुज्यते। मधुरादिषु स्वरसकल्कादिलक्षणा कल्पना सम्भवति, न लवणे। यतो न तावल्लवणस्य स्वरसोऽस्ति, कल्कोऽपि द्रव्यस्य द्रवेण पेषणात् क्रियते। तच्च न संभवति लवणे, लवणं तु पानीययोगात् पानीयमेव भवति'।

अर्थात् लवण का किसी भी कषाय में यदि प्रयोग किया जायगा तो वह पूर्ण रूपेण उसमें आ जायगा किन्तु अन्य द्रव्यों की स्थिति ऐसी नहीं होती, क्योंकि उनमें कुछ न कुछ अपद्रव्य शेष रहता ही है अतएव लवण रस का समावेश उक्त कषायों में नहीं किया गया है। इसका समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। यथा—'तत्र लवणवर्ज्याः रसाः कल्पनायां कषायाः, इत्युच्यन्ते तद्योनित्वात्। लवणस्य यतो निर्यासादिकल्पनानामसम्भवः। पृथगुपयोगोपकाररहितत्वाच्च नैरर्थक्यमिति'।

स्पष्टीकरण—महर्षि अग्निवेश ने भेषजरूप से व्याप्त रसों को ही कषाय कहा है। मधुर आदि रसों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है और लवण रस का प्रयोग दूसरे द्रव्यों के साथ होता है। दूसरी युक्ति—मधुर आदि रस वाले पदार्थों की स्वरस, कल्क, फाण्ट आदि कल्पनायें की जा सकती हैं, लवण रस में ये सब सम्भव नहीं हैं। यदि हम यह कहें कि लवण की दूसरी कल्पना चूर्ण है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'संस्कारो हि गुणान्तराधानम्'। लवण के ढेले को चूर्ण कर देने के बाद उसके किसी भी गुण में परिवर्तन नहीं देखा जाता। स्वरस आदि की कल्पना द्वारा उस द्रव्य को सम्पूर्ण लेने का अभिप्राय नहीं रहता किन्तु लवण के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।

वास्तव में चतुर्विध औद्भिद (वनस्पति, वीरुध्, वानस्पत्य, ओषधि) द्रव्यों में जो इस प्रकरण का प्रधान विषय है लवण अनुरस है न कि प्रधान रस, अनुरस प्रधान रस से अभिभूत (आवृत या ढका) रहता है। अत एव वह गौण (अप्रधान) माना जाता है। यद्यपि क्षारों की योनियाँ (उत्पत्ति स्थान) वनस्पति हैं किन्तु क्षार रूप में परिणत होने के बाद उनकी वनस्पति संज्ञा नहीं रह जाती। और भी देखें—

मधुरस्कन्ध आदि में वनस्पति द्रव्यों का उल्लेख है किन्तु लवण स्कन्ध में **'सैन्धवादीनि क्षारान्तानि त्रपुसीसप्रभृतीनि'** पाठ उपलब्ध होता है। इससे भी उक्त अनुरस की चर्चा को समर्थन प्राप्त होता है कि वनस्पतियों में लवण रस प्रधान नहीं होता। अतएव लक्षण रस का छठी कषाय योनि के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है।

लवण द्रव्य (Sodium chloride) में लवण रस के प्रधान होने पर भी यह भूमिज द्रव्य है, भूमिज द्रव्य तन्त्रकार को अभीष्ट नहीं थे, नहीं तो **'षड्विरेचनाश्रयाः'** में धातु द्रव्य भी समाविष्ट होते। अतः यहाँ पर केवल औद्भिद द्रव्यों से ही महर्षि का तात्पर्य प्रतीत होता है।

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति तद्यथा—स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टः, कषाय इति।

पञ्च कषाय-कल्पना

(Five varieties of Pharmaceutical preparation)

कषायों की कल्पना (रचना) पाँच प्रकार की होती है। वह इस प्रकार है—१. स्वरस (Juice) २. कल्क (Powdered paste drugs), ३. शृत (Decoction), ४. शीत (Cold Infusion), ५. फाण्ट (Hot Infusion) इनकी कषाय संज्ञा है।

वक्तव्य—कष हिंसायाम्, (भ्वादि) धातु से बाहुलकात् आयः प्रत्यय होकर कषाय शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—कषति कण्ठम्, कण्ठगत अथवा कण्ठ के अन्तर्गत दोषों (रोगों) की हिंसा करना। उक्त पञ्च कषायों का जो क्रम वर्णित है, तदनुसार ये उत्तरोत्तर लघु (हल्के) होते हैं। स्वरस तथा कल्क के बाद **शृत** का उल्लेख किया गया है। इसके पर्याय वाचक शब्द हैं—क्वाथ, कषाय और निर्यूह।

कषाय कल्पना—क्लृपू सामर्थ्ये धातु से ण्यन्त युच् टाप् प्रत्यय होकर कल्पना शब्द निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है, संस्कारान्तराधान, अर्थात् अभीष्ट द्रव्यों का कषाय के लिये किया जाने वाला संस्कार ही कषाय कल्पना है। अतः **यन्त्र** से **परिकीर्तितम्** तक के ३ पद्यों को चक्रपाणि प्रक्षिप्त मानते हैं।

(यन्त्रनिष्पीडिताद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते।[1]

(१) स्वरस (Expressed juice)—अभीष्ट द्रव्य को यन्त्र विशेष से निचोड़ कर जो रस निकाला जाता है, उसको स्वरस कहते हैं। फलों के स्वरसों को 'जूस' कहते हैं।

वक्तव्य—'स्वस्य द्रव्यस्य स्वतन्त्रभूतस्य यो रसः, स स्वरसपदवाच्यो भवति, इति। अर्थात् स्वतन्त्र (एकल) द्रव्य को पीसने, निचोड़ने, दबाने आदि प्रकारों से जो रस निकाला जाता है या प्राप्त होता है, उसको स्वरस कहते हैं।

शार्ङ्गधरसंहिता के स्वरसाध्याय में इसका विशद विवेचन उपलब्ध है। द्रव्य सदा ताजा मिलना सम्भव नहीं होता, उस स्थिति में स्वरस निकालने के प्रकारों को भी उक्त संहिता में देखें। स्वरस आदि की एक संक्षिप्त किन्तु विशद परिभाषा यहाँ दी जा रही है—'स्वो रसः स्वरसः प्रोक्तः, कल्को दृषदि पेषितः। क्वथितस्तु शृतः शीतः शर्वरीमुषितो मतः॥ क्षिप्तोष्णतोये मृदितः फाण्ट इत्यभिधीयते'। अर्थ स्पष्ट है।

यः पिण्डो रसपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः॥

(२) कल्क (Paste)—रस (जल आदि) द्वारा पीसकर जो पिण्ड जैसा बनाया जाता है, उसे कल्क कहते हैं। भांग, चटनी आदि उन-उन द्रव्यों द्वारा निर्मित कल्क ही हैं।

वक्तव्य—सरस द्रव्य को पत्थर पर पीसकर अथवा सूखा द्रव्य हो तो जल डाल-डालकर पीस कर तैयार किया हुआ कल्क, प्रक्षेप, आवापसंज्ञक होता है। इसकी मात्रा १ तोला होती है। यदि कल्क में मधु, घी या तेल मिलाना हो तो कल्क से दूना मिलाना चाहिये, यदि चीनी या गुड़ मिलाना हो तो समभाग मिलायें, यदि कोई द्रव (दूध, गोमूत्र आदि) मिलाना हो तो इनका प्रमाण चौगुना होता है।

वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः।

(३) शृत (Decoction)—अग्नि में (विधिवत्) पकाये हुए द्रव्य को चिकित्सक शृत कहते हैं।

वक्तव्य—जौ कुट किये हुए एक पल (४ तोला) औषध द्रव्य में १६ गुना पानी डालकर मन्द-मन्द अग्नि से काढ़ा करें, आठवां भाग शेष रहने पर उतार लें, उसके बाद इसे छानकर गुनगुना होने पर विद्वान् चिकित्सक रोगी को दिलायें, इसी का नाम शृत, क्वाथ या कषाय है।

उक्त विधि शास्त्रीय है किन्तु इसके आगे शास्त्र का यह भी निर्देश है कि 'वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम्'। अर्थात् क्वाथादि की कल्पना का भार वृद्ध (अनुभवी, बुद्धिमान्) चिकित्सक को सौंपा है। अतः क्वाथ्य द्रव्य जितने जल में भली भाँति कोमल या मृदु हो जाय उतना जल देना चाहिये। क्वाथ करने से ओषधियों के घुलनशील अंश जल में मिल जाते हैं फिर भी क्वाथ को छानते समय भली प्रकार मसल कर छानें, ऐसा करने से अवशिष्ट अंश भी जल में मिल जाता है।

क्वाथों द्वारा अरिष्ट, तैल, घृत आदि का निर्माण किया जाता है और इनकी भावनायें देकर रसों का निर्माण भी किया जाता है।

क्वाथ के सम्बन्ध की अधिक जानने की इच्छापूर्ति सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० ३१ से तथा शार्ङ्गधरसंहिता दूसरे अध्याय के अध्ययन से करें।

द्रव्यादापोथितात्तोये तत्पुनर्निशि[2] संस्थितात्॥
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः।

(४) शीत (Cold Infusion)—कूटे हुए द्रव्य को अपेक्षित जल में रात भर भिगोकर मसलकर छाने हुए (ओषधि के सार भाग से युक्त) द्रव की शीत संज्ञा है।

वक्तव्य—एक पल (४ तोला) द्रव्य को भलीभाँति कूट पीसकर मिट्टी के पात्र में डालकर ६ पल (२४ तोला) जल में भिगो कर रात भर रहने दें और प्रातःकाल छान कर पी लें। इसे हिम तथा शीत कषाय कहते हैं। इसकी एक मात्रा ८ तोला होती है। फाण्ट (चाय) तथा मन्थ में १६-१६ तोला जल और हिम मे २४

१. 'यन्त्रप्रपीडनात्' इति ग.।   २. 'प्रतप्ते निशि' इति पा.।

है। इसका कषायों में ग्रहण क्यों नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि के विचार द्रष्टव्य हैं—'कषायसंज्ञेयं भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेषु आचार्येण निवेशिता। अत्र च केवलस्य लवणस्य प्रयोगो नास्ति, मधुरादीनां तु केवलानामपि प्रयोगोऽस्ति लवणं तु द्रव्यान्तरसंयुक्तमेवोपयुज्यते। मधुरादिषु स्वरसकल्कादिलक्षणा कल्पना सम्भवति, न लवणे। यतो न तावल्लवणस्य स्वरसोऽस्ति, कल्कोऽपि द्रव्यस्य द्रवेण पेषणात् क्रियते। तच्च न संभवति लवणे, लवणं तु पानीययोगात् पानीयमेव भवति'।

अर्थात् लवण का किसी भी कषाय में यदि प्रयोग किया जायगा तो वह पूर्ण रूपेण उसमें आ जायगा किन्तु अन्य द्रव्यों की स्थिति ऐसी नहीं होती, क्योंकि उनमें कुछ न कुछ अपद्रव्य शेष रहता ही है अतएव लवण रस का समावेश उक्त कषायों में नहीं किया गया है। इसका समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। यथा—'तत्र लवण-वर्ज्याः रसाः कल्पनायां कषायाः, इत्युच्यन्ते तद्योनित्वात्। लवणस्य यतो निर्यासादिकल्पनानामसम्भवः। पृथगु-पयोगोपकाररहितत्वाच्च नैरर्थक्यमिति'।

स्पष्टीकरण—महर्षि अग्निवेश ने भेषजरूप से व्याप्त रसों को ही कषाय कहा है। मधुर आदि रसों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है और लवण रस का प्रयोग दूसरे द्रव्यों के साथ होता है। दूसरी युक्ति—मधुर आदि रस वाले पदार्थों की स्वरस, कल्क, फाण्ट आदि कल्पनायें की जा सकती हैं, लवण रस में ये सब सम्भव नहीं हैं। यदि हम यह कहें कि लवण की दूसरी कल्पना चूर्ण है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'संस्कारो हि गुणा-न्तराधानम्'। लवण के ढेले को चूर्ण कर देने के बाद उसके किसी भी गुण में परिवर्तन नहीं देखा जाता। स्वरस आदि की कल्पना द्वारा उस द्रव्य को सम्पूर्ण लेने का अभिप्राय नहीं रहता किन्तु लवण के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।

वास्तव में चतुर्विध औद्भिद (वनस्पति, वीरुध्, वानस्पत्य, ओषधि). द्रव्यों में जो इस प्रकरण का प्रधान विषय है लवण अनुरस है न कि प्रधान रस, अनुरस प्रधान रस से अभिभूत (आवृत या ढका) रहता है। अत एव वह गौण (अप्रधान) माना जाता है। यद्यपि क्षारों की योनियाँ (उत्पत्ति स्थान) वनस्पति हैं किन्तु क्षार रूप में परिणत होने के बाद उनकी वनस्पति संज्ञा नहीं रह जाती। और भी देखें—

मधुरस्कन्ध आदि में वनस्पति द्रव्यों का उल्लेख है किन्तु लवण स्कन्ध में **'सैन्धवादीनि क्षारान्तानि त्रपुसीसप्रभृतीनि'** पाठ उपलब्ध होता है। इससे भी उक्त अनुरस की चर्चा को समर्थन प्राप्त होता है कि वनस्पतियों में लवण रस प्रधान नहीं होता। अतएव लक्षण रस का छठी कषाय योनि के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है।

लवण द्रव्य (Sodium chloride) में लवण रस के प्रधान होने पर भी यह भूमिज द्रव्य है, भूमिज द्रव्य तन्त्रकार को अभीष्ट नहीं थे, नहीं तो **'षड्विरेचनाश्रयाः'** में धातु द्रव्य भी समाविष्ट होते। अतः यहाँ पर केवल औद्भिद द्रव्यों से ही महर्षि का तात्पर्य प्रतीत होता है।

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति तद्यथा—स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टः, कषाय इति।

पञ्च कषाय-कल्पना

(Five varieties of Pharmaceutical preparation)

कषायों की कल्पना (रचना) पाँच प्रकार की होती है। वह इस प्रकार है—१. स्वरस (Juice)
२. कल्क (Powdered paste drugs), ३. शृत (Decoction), ४. शीत (Cold Infusion),
५. फाण्ट (Hot Infusion) इनकी कषाय संज्ञा है।

वक्तव्य—कष हिंसायाम्, (भ्वादि) धातु से बाहुलकात् आयः प्रत्यय होकर कषाय शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—कषति कण्ठम्, कण्ठगत अथवा कण्ठ के अन्तर्गत दोषों (रोगों) की हिंसा करना। उक्त पञ्च कषायों का जो क्रम वर्णित है, तदनुसार ये उत्तरोत्तर लघु (हल्के) होते हैं। स्वरस तथा कल्क के बाद **शृत** का उल्लेख किया गया है। इसके पर्याय वाचक शब्द हैं—क्वाथ, कषाय और निर्यूह।

कषाय कल्पना—कृपू सामर्थ्ये धातु से ण्यन्त युच् टाप् प्रत्यय होकर कल्पना शब्द निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है, संस्कारान्तराधान, अर्थात् अभीष्ट द्रव्यों का कषाय के लिये किया जाने वाला संस्कार ही कषाय कल्पना है। अतः **यन्त्र से परिकीर्तितम्** तक के ३ पद्यों को चक्रपाणि प्रक्षिप्त मानते हैं।

(यन्त्रनिष्पीडिताद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते।[1]

(१) स्वरस (Expressed juice)—अभीष्ट द्रव्य को यन्त्र विशेष से निचोड़ कर जो रस निकाला जाता है, उसको स्वरस कहते हैं। फलों के स्वरसों को 'जूस' कहते हैं।

वक्तव्य—'स्वस्य द्रव्यस्य स्वतन्त्रभूतस्य यो रसः, स स्वरसपदवाच्यो भवति, इति। अर्थात् स्वतन्त्र (एकल) द्रव्य को पीसने, निचोड़ने, दबाने आदि प्रकारों से जो रस निकाला जाता है या प्राप्त होता है, उसको स्वरस कहते हैं।

शार्ङ्गधरसंहिता के स्वरसाध्याय में इसका विशद विवेचन उपलब्ध है। द्रव्य सदा ताजा मिलना सम्भव नहीं होता, उस स्थिति में स्वरस निकालने के प्रकारों को भी उक्त संहिता में देखें। स्वरस आदि की एक संक्षिप्त किन्तु विशद परिभाषा यहाँ दी जा रही है—'स्वो रसः स्वरसः प्रोक्तः, कल्को दृषदि पेषितः। क्वथितस्तु शृतः शीतः शर्वरीमुषितो मतः॥ क्षिप्तोष्णतोये मृदितः फाण्ट इत्यभिधीयते'। अर्थ स्पष्ट है।

यः पिण्डो रसपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः॥

(२) कल्क (Paste)—रस (जल आदि) द्वारा पीसकर जो पिण्ड जैसा बनाया जाता है, उसे कल्क कहते हैं। भांग, चटनी आदि उन-उन द्रव्यों द्वारा निर्मित कल्क ही हैं।

वक्तव्य—सरस द्रव्य को पत्थर पर पीसकर अथवा सूखा द्रव्य हो तो जल डाल-डालकर पीस कर तैयार किया हुआ कल्क, प्रक्षेप, आवापसंज्ञक होता है। इसकी मात्रा १ तोला होती है। यदि कल्क में मधु, घी या तेल मिलाना हो तो कल्क से दूना मिलाना चाहिये, यदि चीनी या गुड़ मिलाना हो तो समभाग मिलायें, यदि कोई द्रव (दूध, गोमूत्र आदि) मिलाना हो तो इनका प्रमाण चौगुना होता है।

वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः।

(३) शृत (Decoction)—अग्नि में (विधिवत्) पकाये हुए द्रव्य को चिकित्सक शृत कहते हैं।

वक्तव्य—जौ कुट किये हुए एक पल (४ तोला) औषध द्रव्य में १६ गुना पानी डालकर मन्द-मन्द अग्नि से काढ़ा करें, आठवां भाग शेष रहने पर उतार लें, उसके बाद इसे छानकर गुनगुना होने पर विद्वान् चिकित्सक रोगी को दिलायें, इसी का नाम शृत, क्वाथ या कषाय है।

उक्त विधि शास्त्रीय है किन्तु इसके आगे शास्त्र का यह भी निर्देश है कि 'वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम्'। अर्थात् क्वाथादि की कल्पना का भार वृद्ध (अनुभवी, बुद्धिमान्) चिकित्सक को सौंपा है। अतः क्वाथ्य द्रव्य जितने जल में भली भाँति कोमल या मृदु हो जाय उतना जल देना चाहिये। क्वाथ करने से ओषधियों के घुलनशील अंश जल में मिल जाते हैं फिर भी क्वाथ को छानते समय भली प्रकार मसल कर छानें, ऐसा करने से अवशिष्ट अंश भी जल में मिल जाता है।

क्वाथों द्वारा अरिष्ट, तैल, घृत आदि का निर्माण किया जाता है और इनकी भावनायें देकर रसों का निर्माण भी किया जाता है।

क्वाथ के सम्बन्ध की अधिक जानने की इच्छापूर्ति सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० ३१ से तथा शार्ङ्गधरसंहिता दूसरे अध्याय के अध्ययन से करें।

द्रव्यादापोथितात्तोये तत्पुनर्निशि[2] संस्थितात्॥
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः।

(४) शीत (Cold Infusion)—कूटे हुए द्रव्य को अपेक्षित जल में रात भर भिगोकर मसलकर छाने हुए (ओषधि के सार भाग से युक्त) द्रव की शीत संज्ञा है।

वक्तव्य—एक पल (४ तोला) द्रव्य को भलीभाँति कूट पीसकर मिट्टी के पात्र में डालकर ६ पल (२४ तोला) जल में भिगो कर रात भर रहने दें और प्रातःकाल छान कर पी लें। इसे हिम तथा शीत कषाय कहते हैं। इसकी एक मात्रा ८ तोला होती है। फाण्ट (चाय) तथा मन्थ में १६-१६ तोला जल और हिम मे २४

१. 'यन्त्रप्रपीडनात्' इति ग.। २. 'प्रतप्ते निशि' इति पा.।

तोला जल डालने का विधान है और पीने के लिये ८ तोला की शास्त्रीय आज्ञा है। अतः इसका तात्पर्य है कि फाण्ट तथा मन्थ दिन में दो बार और हिम का तीन बार सेवन करना चाहिये।

क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत् फाण्टं परिकीर्तितम् ॥)[1]

(४) फाण्ट (Hot Infusion)—कूटे हुए द्रव्य को गरम जल में डालकर मसलने से उक्त द्रव्य का जो सारभाग जल में आ जाता है, उसको फाण्ट कहते हैं।

वक्तव्य—उचित रूप से कूटे हुए ४ तोला द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख दें और उसमें १६ तोला खौलता हुआ जल डाल दें पुनः उसको कपड़े से छान लें। इसका नाम चूर्ण द्रव तथा फाण्ट (चाय) है। इसकी मात्रा ८ तोला है। इसमें चीनी, मधु, गुड आदि प्रक्षेप द्रव्य क्वाथ में बतलाये गये अनुपात से डालने चाहिये।

यह आपकी इच्छा पर निर्भर है कि द्रव्य में जल डालिये अथवा जल में द्रव्य डालिये। आजकल चाय का निर्माण इसी प्रकार होता है। द्रव्यों को इतना कूट पीस लेना चाहिये कि गरम पानी में डालते ही उनके समस्त गुण-धर्म पानी में आ जायँ। इसीलिये इसका दूसरा नाम 'चूर्ण द्रव' रखा गया है कि द्रव्य पूर्ण रूप से चूर्ण बना लिये जायँ जिससे निर्माण में विलम्ब न हो।

तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी, नत्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति ॥ ७ ॥

कषायकल्पना का उपयोग—पञ्चकषायों में अन्तिम से पहला क्रमशः अधिक बलवान् होता है। यथा—फाण्ट से शीत, शीत से शृत, शृत से कल्क और कल्क से स्वरस। इसलिये कषायकल्पना रोग तथा रोगी के बल की अपेक्षा रखती है। उक्त पाचों कषाय सब जगह सबके लिये उपयोगी नहीं होते।

वक्तव्य—उक्त कषाय कल्पना के उपयोग के सम्बन्ध में **चक्रपाणि** के विचार—'बलवति पुरुषे व्याधौ च द्रव्यसारभागमयत्वेनात्यर्थं गुरुः स्वरसो युज्यते, नायमल्पबले पुरुषे रोगे वा योगवान् भवति। तथा न सर्वाणि स्वरसादीनि सर्वत्र पुरुषे योग्यानि भवन्ति। यतः केचित् स्वरसद्विषः, केचित् स्वरसप्रिया इतरकल्पनाद्विष एवमादि। न चात्यर्थं द्विष्टभेषजस्य प्रयोग इष्यते, तत्क्षणवमनारुच्यादिदोषकर्तृत्वात्। तथा कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणीत्येतदुदाहरणार्थं, तेन द्रव्योपेक्षिणीत्येतदपि बोद्धव्यम्'। यतो द्रव्यनियमेन कल्पनानियमं वक्ष्यति रसायने। यथा—"मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः, क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्। रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः, कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः"। च० चि० अ० १।

पञ्चविध कषायों की कल्पना रोग एवं रोगी के बल को दृष्टि में रखकर ही करनी चाहिये। यदि रोगी निर्बल हो और गुरु कषाय का उसको सेवन करा दिया जाय तो हानि हो सकती है। क्योंकि निर्बल रोगी वीर्याधिक औषध को सहन नहीं कर सकता। कषायों की अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ होती हैं। दूसरा कारण यह भी है कि प्रायः सभी व्यक्तियों की रुचि परस्पर भिन्न होती है, किसी को स्वरस रुचिकर लगता है तो दूसरे को उसके प्रति अरुचि होती है, अरुचिकर कषाय का प्रयोग वमन, उत्क्लेश (जी मिचलाना) आदि विकारों को उत्पन्न करता है।

पञ्चकषायों में **कल्क** की भी गणना है, यह कल्क सद्रव (गीला), अद्रव (सूखा चूर्ण रूप) भेद से दो प्रकार का होता है, अतः चूर्ण का अन्तर्भाव भी कल्क में हो जाता है। यथा—**'निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता चूर्णमथो शृता वा।'** चरक चि० अ० ४।

जहाँ कषायों के सम्बन्ध में यह विचार किया गया है कि कौन सा कषाय किसके लिये हितकर और किसके लिये अहितकर है, वहाँ उसकी मात्रा आदि का भी विचार करना अत्यावश्यक है। इस सम्बन्ध में महर्षि वाग्भट का निर्देश देखें—

'युञ्ज्याद् व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः। मात्राया न व्यवस्थास्ति व्याधिं कोष्ठं बलं वयः ॥
आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना। मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुष्पलम् ॥
पेष्यस्य कर्षमालोड्यं तद् द्रव्यस्य पलत्रये। क्वाथं द्रव्यपले कुर्यात् प्रस्थार्धं पादशेषितम् ॥

१. अयं कोष्ठस्थः पाठश्चक्रासम्मतः।

शीतं पले पलैः षड्भिश्चतुर्भिश्च ततोऽपरम्। अष्टाङ्गहृदय क० अ० ६।११-१४।

अर्थात् मात्रा की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। रोग, कोष्ठ, बल, आयु, देश तथा काल आदि का विचार कर ही मात्रा का निर्णय करना चाहिये। स्वरस की सामान्य मात्रा (Average dose) ४ पल (१६ तोला) होती थी। परन्तु इस उत्तरोत्तर ह्रास युग में यह मात्रा अत्यधिक है। आजकल स्वरस की मात्रा १ तोला से २ तोला वय आदि को देखकर दी जाती है। इस प्रकार अन्य कषायों की मात्रा का भी बुद्धिपूर्वक निर्धारण करें।

पञ्चाशन्महाकषाया इति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—जीवनीयो बृंहणीयो लेखनीयो भेदनीयः सन्धानीयो दीपनीय इति षट्कः कषायवर्गः, बल्यो वर्ण्यः कण्ठ्यो हृद्य इति चतुष्कः कषायवर्गः, तृप्तिघ्नो[1]ऽर्शोघ्नः कुष्ठघ्नः कण्डूघ्नः क्रिमिघ्नो विषघ्न इति षट्कः कषायवर्गः, स्तन्यजननः स्तन्यशोधनः शुक्रजननः शुक्रशोधन इति चतुष्कः कषायवर्गः, स्नेहोपगः[2] स्वेदोपगो वमनोपगो विरेचनोपग आस्थापनोपगोऽनुवासनोपगः शिरोविरेचनोपग इति सप्तकः कषायवर्गः, छर्दिनिग्रहणस्तृष्णानिग्रहणो हिक्कानिग्रहण इति त्रिकः कषायवर्गः, पुरीषसङ्ग्रहणीयः, पुरीष[3]विरजनीयो मूत्रसङ्ग्रहणीयो मूत्रविरजनीयो मूत्रविरेचनीय इति पञ्चकः कषायवर्गः, कासहरः श्वासहरः शोथहरो ज्वरहरः श्रमहर इति पञ्चकः कषायवर्गः, दाहप्रशमनः शीतप्रशमन उदर्दप्रशमनोऽङ्गमर्दप्रशमनः शूलप्रशमन इति पञ्चकः कषायवर्गः, शोणितस्थापनो[4] वेदनास्थापनः संज्ञास्थापनः प्रजास्थापनो वयःस्थापन इति पञ्चकः कषायवर्गः, इति पञ्चाशन्महाकषाया महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति।

तेषामेकैकस्मिन् महाकषाये दश दशावयविकान् कषायाननुव्याख्यास्यामः, तान्येव पञ्च कषायशतानि भवन्ति ॥ ८ ॥

पचास महाकषाय एवं पाँच सौ कषाय (Fifty classes of Decoctives & five hundred Decoctives)—जो इसके पूर्व पचास महाकषाय हैं, ऐसा कहा गया था, उसकी यहाँ व्याख्या करेंगे। वह इस प्रकार है—

१. **जीवनीय**—'जीवनाय हिता' जीवन + छ प्रत्यय। अर्थात् जिन द्रव्यों में जीवनशक्ति (Vitality) को बढ़ाने की क्षमता हो, उन्हें जीवनीय कहते हैं।

२. **बृंहणीय**—'बृंहणं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्'। चरक सू० अ० २२। अर्थात् वे द्रव्य जिनके सेवन से मांस आदि की वृद्धि होती है।

३. **लेखनीय**—'लिख अक्षरविन्यासे' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर **लेखन** शब्द की निष्पत्ति होती है। ध्यान देने की बात है कि **लिपि** वह है जो स्याही आदि की सहायता से लिखा (लीपा) जाता है। लिप उपदेहे, तुदादि से लिपि शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है, नियम विशेष के अनुसार लीपना। लेखन कर्म वह है, जो पत्थर आदि पर खोद कर लिखा जाता है। इसीलिये शिक्षालेखों के लिये **उत्कीर्ण लेख** शब्द का प्रयोग होता है। ठीक इसी प्रकार आयुर्वेद का भी यह लेखन कर्म है। लेखनीय वे द्रव्य हैं जो देहगत श्लेष्म (कफ) जनित उपलेपों को काट करके अथवा छील करके निकाल दें।

यथा—'धातून्मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्।
लेखनं तद् यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः'॥ शार्ङ्गधरसंहिता अ० ४।

१. 'तृप्तिः श्लेष्मरोगः, येन तृप्तमिवात्मानं मन्यते, तद्घ्नं तृप्तिघ्नम्' चक्रः। २. स्नेहोपगानीति स्नेहस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छन्तीति स्नेहोपगानि, एवं वमनोपगादौ व्याख्येयं, शिरोविरेचनोपगे तु शिरोविरेचनप्रधानान्येव द्रव्याणि बोद्धव्यानि' चक्रः। ३. 'पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धनिरासं करोतीति पुरीषविरजनीयः, एवं मूत्रविरजनीयेऽपि व्याख्येयम्' चक्रः। ४. शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य तं प्रकृतौ स्थापयतीति शोणितस्थापनं, वेदनायां सम्भूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनं, संज्ञां ज्ञानं च स्थापयतीति संज्ञास्थापनं, प्रजोपघातकं दोषं हत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनं, वयस्तरुणं स्थापयतीति वयःस्थापनम्' चक्रः। 'शोणितं स्थापयति अतिप्रवृत्तं स्तम्भयतीति शोणितस्थापनम्' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

४. **भेदनीय**—'मलादिकमबद्धं यद् बद्धं वा पिण्डितं मलैः। भित्वाधः पातयति तद् भेदनं कटुकी यथा'॥ शार्ङ्गधरसंहिता, चतुर्थ अध्याय। जो द्रव्य न बँधे हुए अथवा बँधे हुए अथवा दोषों द्वारा पिण्डित या ग्रथित (गाँठ बने हुए) मल को तोड़-फोड़ कर नीचे निकाल देता है उसे 'भेदन' या फोड़ने वाला कहा जाता है। जैसे—कुटकी आदि।

५. **सन्धानीय**—भग्न (टूटे हुए) का सन्धान (संयोग) करने वाले द्रव्यों को सन्धानीय कहते हैं।

६. **दीपनीय**—'पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद् यथा मिशिः'। शार्ङ्गधर अ० ४। जो द्रव्य आम को नहीं पकाता है किन्तु अग्नि (पाचक शक्ति या पाचक रसों) को बढ़ाता है, वह दीपन कहा जाता है। जैसे—सौंफ। इन ६ का समूह प्रथम कषाय वर्ग कहा जाता है।

१. **बल्य**—'बलाय (बलवर्धनाय) हितं=बल्यम्। अर्थात् बल को बढ़ाने वाले पदार्थ।

२. **वर्ण्य**—वर्ण के लिये हितकर (Complexion) रूप प्रसादन कारक द्रव्य।

३. **कण्ठ्य**—कण्ठ के लिये हितकारक पदार्थ। इनको स्वर्य भी कहा गया है।

४. **हृद्य**—हृदय के लिये हितकर द्रव्य। सरस साहित्य एवं प्रसादगुण पूर्ण रचना को हृद्य कहते हैं। इन ४ का समूह द्वितीय कषाय वर्ग है।

१. **तृप्तिघ्न**—'तृप्तिः श्लेष्मजो रोगः, यस्मिन् मानवः अतृप्तोऽपि तृप्तमिव आत्मानं मन्यते, तम् (रोग-विशेषं) हन्ति, इति तृप्तिघ्नः'। इति चक्रपाणिः। अर्थात् जब बिना भोजन किये ऐसा मालूम पड़े कि पेट भरा है, इस प्रकार की तृप्ति (भोजन में अरुचि) को नष्ट करने वाले पदार्थों को तृप्तिघ्न कहते हैं।

२. **अर्शोघ्न**—अर्श (बवासीर Piles) तथा शरीर में उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के मांसांकुरों के विनाशक द्रव्यों को अर्शोघ्न कहते हैं।

३. **कुष्ठघ्न**—अठारह प्रकार के कुष्ठों (Leprosy) तथा अन्य समस्त त्वचा रोगों (Skin disease) को नष्ट करने वाले गण को कुष्ठघ्न कहते हैं।

४. **कण्डूघ्न**—कण्डू (Kind of Eczema) को नष्ट करने वाला द्रव्यसमूह।

५. **कृमिघ्न**—कृमियों (Worms) कीड़ों (ये बाह्य और आभ्यन्तर भेद से २ प्रकार के होते हैं, इनकी कुल संख्या आयुर्वेद में २० है) के विनाशक गण को कृमिघ्न कहते हैं।

६. **विषघ्न**—विष (Poison) को नष्ट करने वाला गण। विष के भेद-उपभेदों का विस्तृत वर्णन चरक-संहिता के अगदतन्त्र में देखें। इन ६ का समूह तीसरा कषाय वर्ग है।

१. **स्तन्यजनन**—स्तने भवं=स्तन्यम्। अर्थात् दूध (Milk) को पैदा करने वाले द्रव्य।

२. **स्तन्यशोधन**—स्तन्य दुष्टि निदान माधवनिदान में देखें। जब निर्दिष्ट कारणों से दूध दूषित हो जाता है, तो उसके शोधन के लिये जिन औषधद्रव्यों का उपयोग किया जाता है, उनका वर्णन इस गण में है।

३. **शुक्रजनन**—शुक्र=वीर्य (Semen) को उत्पन्न करने वाला औषध वर्ग।

४. **शुक्रशोधन**—शुक्र में अनेक प्रकार के जब विकार उत्पन्न हो जाते हैं तो उनको दूर करने के लिये जिन औषधों का प्रयोग होता है, उनको शुक्रशोधन वर्ग कहते हैं। इन ४ का समूह चौथा कषाय वर्ग है।

१. **स्नेहोपग**—'स्नेहस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेन उपगच्छतीति, स्नेहोपगानि। अर्थात् स्नेहन क्रिया में सहायता देने वाले द्रव्य।

२. **स्वेदोपग**—स्वेद = पसीना (Sweat) निकालने में सहायता देने वाला औषध वर्ग।

३. **वमनोपग**—वमन = उल्टी या कै (Vomiting) में सहायता देने वाला औषध वर्ग।

४. **विरेचनोपग**—विरेचन = मल (Stool) के निकलने या निकालने में सहायक द्रव्य समूह।

५. **आस्थापनोपग**—आस्थापन में सहायता प्रदान करने वाला औषधवर्ग। निरूहण वस्ति का दूसरा नाम **आस्थापन** है। यह नाम दोष तथा धातुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर देने के कारण रखा गया है। व्यवहार के लिये अथवा उनकी विशेषताओं को सूचित करने के लिये एक वस्तु के कई नाम रख दिये जाते हैं। तदनुसार निरूहण वस्ति के भी कई नाम निश्चित कर दिये गये हैं। यथा—दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन तथा पिच्छिल।

६. **अनुवासनोपग**—अनुवासन (स्निग्ध वस्ति) में सहायता देने वाला औषधवर्ग।

७. **शिरोविरेचनोपग**—शिरोविरेचन में सहायता प्रदान करने वाला औषधवर्ग।

इन ७ का समूह पाँचवा कषाय वर्ग है।

१. **छर्दिनिग्रह**—छर्दि (Vomiting) उल्टी को रोकने वाला औषधवर्ग।

२. **तृष्णानिग्रह**—अतितृषा=प्यास (Thirst) को रोकने वाला औषधवर्ग।

३. **हिक्कानिग्रह**—हिक्का = हिचकी (Hiccup) को रोकने वाला औषधवर्ग। इन ३ का समूह छठा कषायवर्ग है।

१. **पुरीषसंग्रहणीय**—पुरीष=मल (Stool) का संग्रह करने वाला, पुरीष को बाँधने वाला अथवा रोकने वाला औषधवर्ग। क्योंकि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्'।

२. **पुरीषविरजनीय**—मल को वातादि दोषों के सम्बन्ध से हटाने वाला, मल के विकृत रङ्ग को दूर करके स्वाभाविक रूप प्रदान करने वाला औषधवर्ग।

३. **मूत्रसंग्रहणीय**—मूत्र=पेशाब (Urine) को अति प्रवृत्ति से रोकने वाला अथवा कम करने वाला औषधवर्ग।

४. **मूत्रविरजनीय**—मूत्र के दोषों को दूर करने वाला अथवा मूत्र के दुष्ट वर्ण को दूर करके उसको स्वाभाविक रंग प्रदान करने वाला औषधवर्ग।

५. **मूत्रविरेचनीय**—रुके हुए मूत्र को निकालने वाला द्रव्य समूह।

इन ५ का समूह सातवाँ कषाय वर्ग है।

१. **कासहर**—खाँसी (Cough) को हटाने वाला द्रव्य समूह।

२. **श्वासहर**—श्वास = दमा (Asthma) रोग का नाश करने वाला द्रव्य समूह।

३. **शोथहर**—शोथ = सूजन (Swelling) रोग को हरने वाला द्रव्य समूह।

४. **ज्वरहर**—ज्वर (Fever) रोग का नाश करने वाला औषधवर्ग। यद्यपि ज्वरों के अनेक भेद, उपभेद होते हैं किन्तु यहाँ सामान्य ज्वर के लिये इसका उल्लेख किया गया है।

५. **श्रमहर**—श्रम (थकावट) को हरण करने वाला औषधवर्ग।

इन ५ का समूह आठवाँ कषाय वर्ग है।

१. **दाहप्रशमन**—दाह = जलन (Hotness) को शान्त करने वाला द्रव्य समूह।

२. **शीतप्रशमन**—शीत (Coldness) को शान्त करनेवाला औषधवर्ग।

३. **उदर्दप्रशमन**—उदर्द (रोगविशेष) को शान्त करने वाला द्रव्य समूह।

४. **अङ्गमर्दप्रशमन**—अङ्गों की वेदना (Muscular pain) का शामक द्रव्यवर्ग।

५. **शूलप्रशमन**—शूल (Colic pain) को शान्त करने वाला औषधवर्ग।

इन ५ का समूह नवाँ कषाय वर्ग है।

१. **शोणितास्थापन**—शोणित (रक्त, खून) को रोकने वाला अथवा दूषित रक्त शुद्ध करके प्रकृतिस्थ करने वाला द्रव्य समूह।

२. **वेदनास्थापन**—वेदना (पीड़ा) का शमन कर शरीर स्थिति को प्रकृतिस्थ करने वाला द्रव्य।

३. **संज्ञास्थापन**—संज्ञा (होश, स्मृति, ज्ञान) को स्थिर करने वाला द्रव्य समूह।

४. **प्रजास्थापन**—प्रजा (सन्तान) उत्पन्न होने में बाधक दोषों को दूर करके उसकी उत्पत्ति में सहायक औषधवर्ग।

५. **वयःस्थापन**—वय (Age) की स्थापना करने (देर तक युवा बनाये रखने) वाला द्रव्य समूह। अर्थात् जिनके सेवन से मनुष्य में देर तक बली, पलित लक्षण न दिखलायी दें।

इन ५ का समूह दसवाँ कषाय वर्ग है।

ये पचास महाकषाय हैं। इनका यहाँ उल्लेख लक्षण और उदाहरण के लिये किया गया है। इनमें से एक-एक महाकषाय हैं। दस-दस अवयवों (कषायों) की व्याख्या आगे करेंगे। वे ही (आगे कहे जाने वाले) ५०×१०=५०० (पाँच सौ) कषाय होते हैं।

वक्तव्य—उक्त दस कषाय वर्गों की व्यवस्था से (६+४+६+४+७+३+५+५+५+५ = ५०) पचास कषायों की सूत्ररूपेण परिगणना की गयी है। रोग और ओषधियाँ अनन्त हैं अतः इन कषायों की संख्या भी अनन्त हो सकती है। आगे इन्हीं महाकषायों के उदाहरण के लिये वर्ग कहे गये हैं।

तद्यथा—जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति (१),

(१) जीवनीय (Nutrients) **महाकषाय**—वे इस प्रकार हैं—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (वनमूंग), माषपर्णी (वन उड़द), जीवन्ती और मुलेठी, ये दस ओषधियां जीवनीय हैं।

वक्तव्य—जीवन के लिये हितकारक द्रव्य विशेष को जीवनीय कहते हैं। जीवन का अर्थ है आयु। **'प्रवरं जीवनीयानां क्षीरम्'**। चरक सू० २५। डां० वा० ग० देसाई के मत से जीवनीय का तात्पर्य है—Restoratives क्षीण शक्ति की पुनः प्राप्ति। सचमुच महर्षि च्यवन ने उक्त द्रव्यों से अपनी क्षीण शक्ति को Restore (पुनः संग्रह) कर लिया था। कुछ विद्वान् जीवनीय को विटामिन्स (Vitamins) कहने लगे हैं।

क्षीरिणी राजक्षवकाश्वगन्धाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति (२),

(२) बृंहणीय महाकषाय—(Weight-promoting drugs) क्षीरिणी (क्षीरविदारी), राजक्षवक (दुग्धिका), बला (खिरेंटी), काकोली क्षीरकाकोली, वाट्यायनी (श्वेतबला), भद्रौदनी (पीतबला), भारद्वाजी (वनकपास), पयस्या (विदारीकन्द), ऋष्यगन्धा (विधारा) ये दस ओषधियाँ बृंहणीय होती हैं।

वक्तव्य—क्षीरिणी का क्षीरविदारी नाम चक्रपाणि के अनुसार लिखा गया है। निघण्टु में क्षीरिणी शब्द निम्नलिखित तीन द्रव्यों का वाचक है—१. दुग्धिनी, २. शिखिनी ३. सारिवा। इनमें से सारिवा के गुण-धर्म अधिक बृंहणीय हैं। अथवा क्षीरिणी से **खिरनी** द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि धन्वन्तरि निघण्टु में क्षीरिणी (खिरनी) का वर्णन इस प्रकार प्राप्त है—'वृष्यास्थौल्यकरी हृद्या सुस्निग्धा मेहनाशकृत्।'

राजक्षवक—के पर्यायवाचीशब्द राजनिघण्टुशाल्यादिवर्ग में इस प्रकार दिये हैं—'राजक्षवकः कृष्णस्तीक्ष्णफला राजराजिका राज्ञी। सा कृष्णसर्षपाख्या विज्ञेया राजसर्षपाख्या च। राजसर्षपकस्तिक्तः कटूष्णो वातशूलनुत्। पित्तदाहप्रदो गुल्मकण्डूकुष्ठव्रणापहः' ॥ श्लोक १२१–२२ ॥

वृद्धवाग्भट में भद्रौदनी एवम् ऋष्यगन्धा, इनके स्थान पर ईख तथा असगन्ध का ग्रहण किया गया है। महर्षि अग्निवेश बृंहणद्रव्यों की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत् तच्च बृंहणम्'। चरक सूत्र० अ० २२। बृंहणद्रव्यों की गणना—'गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्। प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते'। चरक सू० अ० २२। इन सबसे सूक्ष्म परिभाषा हमको सुश्रुत में इस-प्रकार उपलब्ध होती है—'बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्'। सुश्रुत सू० अ० ४१।६। बृंहण द्रव्यों में पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता रहती है किन्तु चरक ने मांस को बृंहण द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत उक्ति के आधार पर—**'मांसं बृंहणीयानाम्'**। चरक सू० अ० २५। इस प्रसंग पर हम महर्षि चाणक्य के वचनों का भी सादर स्मरण इसलिये कर रहे हैं कि इनकी यह उक्ति आयुर्वेदिक सिद्धान्तों से विरोध नहीं रखती; ध्यान दें—'अन्नाद् दशगुणं पिष्टं पिष्टाद् दशगुणं पयः। पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद् दशगुणं घृतम्'। अर्थात् अन्न (भात) से दस गुना पिष्ट (आटा), आटा से दस गुना दूध, दूध से आठ गुना मांस और मांस से भी दस गुना घृत शक्तिशाली (बृंहण) होता है।

बृंहण द्रव्यों का प्रयोग—क्षीण, क्षत, कृश, वृद्ध, दुर्बल, अधिक तथा प्रतिदिन रास्ता चलने वालों, प्रतिदिन मैथुन करने वालों तथा मद्यपान करनेवालों को करना चाहिये। देखें—चरक सू० अ० २२।

मुस्तकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रावचातिविषाकटुरोहिणीचित्रकचिरबिल्वहैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति (३),

(३) लेखनीय महाकषाय (Weight-reducing drugs) नागरमोथा, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, बालवच, अतीस, कटुरोहिणी (कुटकी), चित्रक, चिरबिल्व (करंज, कंजू) हैमवती (सफेद वच) ये दस ओषधियाँ लेखनीय होती हैं।

वक्तव्य—लेखन का तात्पर्य हम इसी प्रसंग में कषाय गणना के अवसर पर कर चुके हैं। उसकी परिभाषा इस प्रकार है—'यत् किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लघनं स्मृतम्'। चरक सू० अ० २२। इसी लंघन के पर्याय हैं—कर्शन तथा लेखन। लेखन द्रव्यों के मूल तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार है—'लेखनम्—अनिलाऽनलभूयिष्ठम्।' सुश्रुत सू० अ० ४१। अर्थात् ये द्रव्य वायु तथा अग्नितत्व प्रधान होते हैं। इन पदार्थों की गणना चरक में इस प्रकार उपलब्ध है—'लघूष्णं तीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्। कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्' ॥ चरक सू० अ० २२। इनकी व्याख्या यथा स्थान देखें। उक्त श्लोक में प्रायः शब्द महत्वपूर्ण है। अर्थात् ये द्रव्यान्तर के योग से अपने गुणों को छोड़ भी देते हैं अथवा इनके गुणों में वृद्धि भी हो जाती है।

सुवहा[1]र्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीशकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति, (४)

(४) भेदनीय कषाय (Purgatives)—सुवहा (त्रिवृत्), अर्क (मदार), उरुबुक (एरंड), अग्निमुखी (लाङ्गली, कलिहारी), चित्रा (दन्ती), चित्रक, चिरबिल्व (करञ्ज), शंखिनी (यवतिक्ता), शकुलादनी, कटुकी, स्वर्णक्षीरी (चोक) ये दस ओषधियाँ भेदनीय होती हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट में उक्त कषाय में प्रयुक्त **सुवहा** शब्द के स्थान पर **सरला** शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ भी त्रिवृत् ही होता है। मात्र पाठभेद है न कि तात्पर्यभेद।

शार्ङ्गधरसंहिता में भेदनीय द्रव्यों में कुटकी को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है। **भिदिर् द्वैधीकरणे** धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर भेदन शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य है जो पक्वाशय में मल की गाँठें पड़ गयी हों उनको तोड़-फोड़कर टुकड़े-टुकड़े बना देना, जिससे मल निकल सके।

हम पहले लिख चुके हैं कि अनुलोमक, स्रंसक, भेदक और रेचक द्रव्य दस्तावर होते हैं, अतः यहाँ पर प्रसंग प्राप्त रेचनीय द्रव्यों के सम्बन्ध में भी कुछ विचार व्यक्त किये जा रहे हैं। 'विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्। रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ॥' शार्ङ्गधर अ० ४। अर्थात् जो द्रव्य पके हुए या अधपके हुए मल को पतला कर देता है और दस्त के रूप में निकाल भी देता है उसे रेचक द्रव्य और उस क्रिया को रेचन कहते हैं। जैसे—निसोत। चरक की दृष्टि में रेचक द्रव्यों का स्वरूप—'तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि।' चरक कल्पस्थान अ० १। प्रायः ये सभी रेचक द्रव्य उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकाशी गुणों संयुक्त होते हैं। ये पार्थिव तथा आप्य (जल) गुण भूयिष्ठ होते हैं, अतः इनकी प्रवृत्ति अधोमार्गानुसारिणी होती है। इसका समर्थन हम निम्नपंक्तियों में पाते हैं—'विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि पृथिव्यापो गुर्व्यस्ताः गुरुत्वादधोगच्छन्ति, तस्माद् विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्'। सुश्रुत सू० अ० १४। केवल गुरुत्व मात्र को ही यदि कारण मानेंगे तो इस शास्त्रवचन की अव्याप्ति हो जायगी अतः गुरुत्व आदि के साथ ही उनका प्रभाव भी मानना आवश्यक है। इसके लिये भावप्रकाशनिघण्टु में वर्णित चेतकी (हरीतकी [illegible]) को देखें—'चेतकीपादपच्छायामुपसर्पन्ति ये जनाः। भिद्यन्ते तत्क्षणादेव पशुपक्षिमृगादयः' ॥ अतः प्रत्येक द्रव्य का पृथक्-पृथक् प्रकार से भेदन अथवा रेचन के लिये उपयोग किया जाता है। देखें—शिवा नामक हरीतकी का वर्णन—'काचिदास्वादमात्रेण काचिद् गन्धेन भेदयेत्। काचित् स्पर्शेन दृष्ट्यान्या चतुर्धा भेदयेच्छिवा'। भावप्रकाश।

चरक ने विरेचक द्रव्यों को तीन भागों में विभक्त किया है। १. सुखविरेचन, २. मृदुविरेचन, ३. तीक्ष्णविरेचन। यथा—'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्' ॥ चरक सू० अ० २५।४० ॥

आधुनिक दृष्टिकोण से विरेचन भेद—१. लवणविरेचन (Saline purgatives) २. मृदुविरेचन (Laxative purgatives), ३. सुखविरेचन (Simple purgatives), ४. तीक्ष्णविरेचन (Strong purgatives) और ५. पित्तविरेचन (Cholagogue purgatives)।

---

१. 'सरला' इति यो०।

मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकीसमङ्गामोचरसधातकीलोध्रप्रियङ्गुकट्फलानीति दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति (५),

(५) सन्धानीय महाकषाय (Union promoters)—मुलेठी, मधुपर्णी (जलज मधुयष्टी या गिलोय), पृश्निपर्णी (पिठवन), अम्बष्ठकी (पाठा),) समङ्गा (मजीठ या लज्जालू), मोचरस, धातकी, लोध्र, प्रियङ्गु, कट्फल (कायफल), ये दस ओषधियाँ सन्धानीय होती हैं।

वक्तव्य—भग्न, पिच्चित, छिन्न अस्थि मांसादि को जोड़ने में सहायता प्रदान करने वाले द्रव्यसमूह को **सन्धानीय** कहते हैं। इसका विग्रह इस प्रकार है—'सन्धानाय (भग्नादियोजनाय) हितम् = सन्धानीयम्' सन्धानीय गण में प्रायः सभी द्रव्य कषायरसप्रधान हैं। इसका अनुमोदन सुश्रुत के वचनों में देखें—'व्रणं कषायः सन्धत्ते'। सुश्रुत सू० अ० १५। अर्थात् व्रण (घाव) का सन्धान (जोड़ना या भरना) कषाय द्रव्य विशेष के माध्यम से करते हैं।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति (६),

इति षट्कः कषायवर्गः ॥ १ ॥

(६) दीपनीय महाकषाय (Stomachics & Digestives)—पिप्पली, पिप्पलीमूल (पीपरामूल) चव्य, चित्रक (चीता), शृंगवेर (अदरख), अम्लवेतस कालीमिर्च अजमोदा, भल्लातकास्थि (भिलावा की गुठली), हिंगुनिर्यास (हींग वृक्षकी गोंद अर्थात् शुद्धहींग) ये दस ओषधियाँ दीपनीय होती हैं। यह ६ महाकषायों का (प्रथम) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—दीपन तथा पाचन में मौलिक भेद होते हुए भी दोनों ही क्रियायें स्वास्थ्यवर्धन में परम हितकारक हैं। इनके परस्पर भेद इस प्रकार हैं—जो द्रव्य **दीपन** अर्थात् अग्निवर्धक है वह आम रस को अवश्य पकायेगा फिर उसे पाचन क्यों न माना जाय? और उसी प्रकार जो द्रव्य **पाचन** कहा जाता है, वह अग्नि को बिना बढ़ाये आमरस का पाचन कैसे कर सकेगा?

समाधान—जो द्रव्य केवल अग्नि को बढ़ाता है वह भले ही अग्निको बढ़ाकर उसके द्वारा पाचन करता हुआ **पाचन** कहा जा सकता है किन्तु वास्तविक रूप में वह दीपन ही है न कि पाचन, क्योंकि यदि कोई किसी के द्वारा किसी कार्य को करवाता है तो वह सीधा कर्त्ता नहीं कहा जा सकता, वह कर्त्ता तभी कहा जायगा, जब वह स्वयं उस कार्य को करेगा।

अच्छा, अब आप इसको इस तरह समझें—चूल्हे में डाली हुई लकड़ी **दीपन** (अग्निवर्धक) है, पाचक नहीं क्योंकि वह सुपारी आदि द्रव्यों को पका नहीं सकती, जब तक उसमें कोई क्षार (नमक आदि) न डाला जाय। इसके अनुसार लकड़ी **दीपन** और क्षार **पाचन** कहा जायगा। महर्षि वाग्भट भी उक्त मत को समर्थन देते हैं। यथा—'यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। दीपनं ह्यग्निकृत्त्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा'। अष्टांगहृदय।

दीपनीय शब्द की निरुक्ति—'दीपनम् (अन्तः अग्नेः सन्धुक्षणम्) तस्मै हितं दीपनीयम्'। तथा—'दीपनाय (जाठराग्नेः उद्दीपनाय) हितम्—दीपनीयम्। अर्थात् जिन औषधद्रव्यों से जाठराग्नि प्रदीप्त होती है अथवा की जाती है, उनको **दीपन** कहते हैं।

प्रश्न—अब विचार यह करना है कि अन्य संहिताकार **दीपन** और **पाचन** का विचार अलग-अलग करते हैं किन्तु महर्षि अग्निवेश ने इस प्रसंग में **दीपनीय महाकषाय** का वर्णन ही किया है नकि पाचनीय महाकषाय का; इसका क्या कारण है? **उत्तर**—दीपन द्रव्यों का काम पाचकाग्नि को प्रज्ज्वलित करना है और पाचन द्रव्यों का काम भुक्त अन्नादि का पाचन करना है। आयुर्वेद में कुछ ऐसे द्रव्यों का भी उल्लेख है जो एक साथ दीपन और पाचन (दोनों ही) हैं। उन दीपनीय महाकषाय में **चित्रक** आदि ऐसे ही द्रव्यों का समावेश किया ही गया है। अतः पाचनीय महाकषाय का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।

दूसरा कारण—'समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनं न तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये'। चरक चि० अ० १५। जाठराग्नि समानवायु से प्रज्ज्वलित होकर आयु की वृद्धि के लिये भुक्त पदार्थों का समीचीन ढंग से परिपाक करता है। लोक व्यवहार में भी वायु ही अग्नि को प्रज्वलित करने में साधक होता है और वही दूषित वायु बाधक होता है। दीपन के बाद पाचन का क्रम है अतः दीपन और पाचन वास्तव में एक ही कर्म की पृथक्-पृथक् अवस्थायें मात्र हैं। प्रथम अवस्था दीपन और द्वितीय अवस्था पाचन है।

एक कारण और है—दीपन में वायु की प्रधानता होती है और पाचन में अग्नि की, अर्थात् वायु मन्द अग्नि को प्रज्वलित करता है और प्रज्वलित अग्नि पाचन-क्रिया का सम्पादन करता है, अतः इस क्रमिक व्यापार का मूल दीपन ही है।

ऐन्द्र्यृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्तापयस्याश्वगन्धास्थिरारोहिणीबलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति (७),

(७) बल्य महाकषाय (Tonics)—ऐन्द्री (गोरक्षकर्कटी, इन्द्रायण), ऋषभी (किंवाच के बीज), अतिरसा (शतावरी), ऋष्यप्रोक्ता (मासपर्णी), पयस्या (विदारीकन्द या क्षीरकाकोली), असगन्ध, स्थिरा (शालपर्णी), रोहिणी (जटामांसी), बला, अतिबला ये दस ओषधियाँ बलवर्धक होती हैं।

वक्तव्य—आचार्य जयदेव विद्यालंकार अपनी टीका में ऐन्द्री का पर्याय एक दिव्य ओषधि देते हैं, जिससे कुछ भी तात्पर्य नहीं निकलता। दूसरे टीकाकार चक्रपाणि ने ऐन्द्री का पर्याय गोरक्षकर्कटी दिया है जिसका दूसरा नाम है इन्द्रायण। चिकित्सक-समाज इसके गुण-धर्मों से सुपरिचित है। यह दस्तावर ओषधि है और दस्त तो मनुष्य को पस्त कर देता है, बल देना तो दूर रहा। इसी प्रकार आयुर्वेद दीपिकाकार ने ऋष्यप्रोक्ता को माषपर्णी कहा है, जब कि अभिनवनिघण्टु में इसको शतावरी के पर्यायों में गिना गया है और चक्रपाणि ने अतिरसा को शतावरी का पर्यायवाचक माना है निघण्टु इसकी प्रामाणिकता में सर्वथा मौन है। हाँ महाशतावरी का एक पर्याय सुरसा अवश्य है, यदि इतने परिवर्तन के बाद भी उनको यह स्वीकार है तो फिर शतावरी की ऋष्यप्रोक्ता के रूप में पुनरुक्ति अग्निवेश जैसे महर्षि के तन्त्र में शोभा नहीं देती, विद्वान् विचार करें।

यही स्थिति रोहिणी के पर्याय जटामासी अथवा कुटकी के सम्बन्ध में है। वास्तव में रोहिणी का पर्याय जटामासी नहीं है (अभिनवनिघण्टु)। अब रही बात कुटकी की, इसका एक पर्याय रोहिणी अवश्य है परन्तु इसके गुण-धर्मों में साक्षात् बल्य होने की चर्चा नहीं आती, इसके अनन्तर एक रोहिणी और शेष है जिसको **मांसरोहिणी** कहते हैं, इसके गुण धर्मों पर ध्यान देकर विद्वान् अपने दृष्टिकोण को स्थिर करें।

सभी बल्य पदार्थ (Tonics) शक्ति (Vitality) का संवर्धन करते हैं, ये दो प्रकार के होते हैं—१. सामान्य बलवर्धक तथा—२. धातु बलवर्धक।

चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमञ्जिष्ठासारिवापयस्यासितालता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति (८),

(८) वर्ण्य महाकषाय (Complexion promoters)—चन्दन (सफेदचन्दन), तुंग (नागकेशर, पुन्नाग), पद्मक (पद्माख), उशीर (खश), मुलेठी, मजीठ, अनन्तमूल, पयस्या (विदारीकन्द या क्षीरकाकोली), सिता (सफेद दूब), लता (काली दूब) ये दस ओषधियाँ वर्णप्रसादनकारक होती हैं।

वक्तव्य—'वर्णाय (रूपसौन्दर्याय) हितानि = वर्ण्यानि'। अर्थात् वे औषधद्रव्य जिनके प्रयोग से वर्ण की स्वाभाविक (काला, सांवला, गोरा) स्थिति सुरक्षित रह सके। **तप सन्तापे** धातु से पित्त शब्द की निष्पत्ति होती है। जिससे शरीर संतप्त या गरम रहता है, वह पित्त कहा जाता है। एक ही पित्त कार्य तथा स्थान भेद से पांच प्रकार का होता है। उनमें भ्राजकपित्त (भ्राजयति (प्रकाशयति) वर्णम् इति भ्राजकम्) वर्ण को प्रकाशित करता है। 'त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादि···'। शार्ङ्गधर अ० ५। यह लेप तथा अभ्यङ्ग-आदि का व्यवहार प्रथम त्वचा में होता है, इसका नाम 'अवभासिनी' है। यह कृष्ण, गौर, रक्त, पीत आदि वर्णों को अवभासित करनेवाली है। यथा—'ज्ञेयाऽवभासिनी पूर्वं सिध्मस्थानं च सा मता'। इसी प्रथम त्वचा (जो शरीर का संवरण करती है या उसे ढकती है) में सिध्म या सेहुँआ होता है। इस सम्बन्ध की विशेष जानकारी सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४ तथा चरक शारीरस्थान अ० ७ से प्राप्त करें।

वर्ण्य-द्रव्य—वाग्भट ने शोधनादिगणसंग्रह नामक १५ वें अध्याय के रोध्रादिगण में तथा सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान अ० ३८ में कहे गये रोध्रादि तथा एलादिगण को वर्ण्य (वर्णप्रसाधन के लिये हितकर) कहा है।

सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारीकैटर्यहंसपादीबृहतीकण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति (९),

(९) कण्ठ्य महाकषाय (Voice promoters)—सारिवा (अनन्तमूल), इक्षुमूल (ईख की जड़), मुलेठी, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का) विदारीकन्द, कैडर्य (कायफल), हंसपदी (हंसराज), बड़ीकटेरी (वनभंटा) कण्टकारी (छोटी कटेरी) ये दस ओषधियाँ कण्ठ प्रसादन कारक होती हैं।

वक्तव्य—'कण्ठाय हितम् = कण्ठ्यम्'। इन्हीं द्रव्यों को **स्वर्य** भी कहते हैं। अतएव स्वरभेद आदि विकारों में उक्त ओषधियों के प्रयोग से सफलता प्राप्त होती है, क्योंकि सारिवा आदि द्रव्य कफ को निकालते तथा कफ के निर्माण को रोकते हैं।

आम्राम्रातकलिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति (१०),

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ १० ॥

(१०) हृद्य महाकषाय (Cardiac tonics)—आम, आम्रातक (आमड़ा), लिकुच (बड़हल), करमर्द (करौंदा), वृक्षाम्ल (विषांबिल), अम्लवेतस, कुवल (बड़ाबेर), बदर (बेर), दाड़िम (खट्टा अनार), मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) ये दस ओषधियाँ हृदय के लिये हितकारक होती हैं। यह चार महाकषायों का (द्वितीय) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—हृदयाय हितं = हृद्यम्। जो औषध समूह हृदय के लिये हितकारक हो उसे हृद्य कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने हृदय को चेतना का स्थान कहा है। यथा—'हृदय चेतनास्थानम्, उक्तम्'। सुश्रुत शा० अ० ४।३४। और 'शोणितकफप्रसादजं हृदयम्'। सु० शा० अ० ४।३१। अर्थात् यह हृदय शरीरारम्भक रक्त एवं कफ के प्रसाद से निर्मित होता है। रक्तवाहिनी शिराओं में यहीं से धमन क्रिया का आरम्भ होता है, जिसके कारण उन रक्तवाहिनियों को **धमनी** कहा जाता है। हृदय का पर्यायवाची हृत् शब्द ही हार्ट (Heart) है। इसका अर्थ है—'हरति रक्तम् तथा ह्रियते रक्तम् अनेन हृदयम्' अर्थात् जो रक्त को लेता है तथा जिसके द्वारा रक्त लिया जाता है, शरीर में प्राप्त किया जाता है। इस हृत् का यही काम है। इसकी स्थिति वक्षस् के फुफ्फुसों के बीच में है। इसमें चेतना का विशेष निवास है। यह हृदय शिरामर्म है। देखें—सुश्रुत शा० अ० ६।

यह हृदय का स्वरूप विवेचन है। इस हृदय को बल देने वाले द्रव्य विशेषों को आयुर्वेद में हृद्य कहा है। यथा—अर्जुन की छाल से निर्मित औषध योग, स्वर्ण तथा मुक्तावटित रस-रसायन। इनसे हृदय को ओजो-गुण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के द्रव्य शीतवीर्य होते हैं। इसके विपरीत कुछ द्रव्य उष्ण वीर्य भी हैं जो अपनी गरमी से हृदय को कार्यक्षमता प्रदान करते हैं। जैसे—कनेर की जड़ आदि।

इसके विपरीत कुछ द्रव्य हृदयावसादक (Cardiac depressant) अर्थात् हृदय को भारी करने वाले होते हैं। जैसे—अफीम आदि। कुछ द्रव्य रक्तभारशामक होते हैं। जैसे—सर्पगन्धा आदि। इस प्रकार क्रिया भेद से उक्त द्रव्यों का प्रभाव हृदय पर पड़ता है।

नागरचव्यचित्रकविडङ्गमूर्वागुडूचीवचामुस्तपिप्पलीपटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति (११),

(११) तृप्तिघ्न महाकषाय (Appetizers)—नागर (सोंठ), चित्रक, चव्य, वायविडंग, मूर्वा, गिलोय, वच, नागरमोथा, पिप्पली, परवल ये दस ओषधियाँ तृप्तिघ्न होती हैं।

वक्तव्य—भोजन करने के अनन्तर होनेवाली तृप्ति से भिन्न यह तृप्ति कफज विकार युक्त है, इसके कारण मनुष्य को भूखा रहते हुए भी मैं तृप्त हूँ, मेरा पेट भरा है, खाने की इच्छा नहीं है आदि-आदि अनुभूतियाँ होती हैं, उस तृप्ति का विनाश करने वाली उक्त १० ओषधियाँ हैं। संक्षेप में इस प्रकार के कफ विकार का नाश करने वाले द्रव्य उष्ण वीर्य, रूक्ष, कटु, तिक्त, कषाय होते हैं। अन्य आचार्यों ने इस प्रकार की तृप्ति को **भक्त-द्वेष** अथवा **अरोचक** संज्ञा की दी है।

भोजन के प्रति रुचि (Relish or enjoyment of taste) का होना महास्रोत, आमाशय तथा मुख इन शरीरावयवों पर निर्भर करता है। क्योंकि वातादि दोषों का मुख पर निम्न प्रकार से प्रभाव पड़ता है, जिसका वर्णन रोगी इस प्रकार करता है। यथा—वातविकार से मुख का स्वाद कषैला, कड़ुआ, खट्टा, गरम, विरस (फीका); पित्त विकार से दुर्गन्ध युक्त और कफ से नमकीन होता है। इन वातादि विकारों के अतिरिक्त अरोचक का एक लक्षण यह भी है कि जबरदस्ती मुख में डाला हुआ भोजन स्वादिष्ट (रुचिकर) जैसा स्वस्थ स्थिति में लगता था, इस समय नहीं लगता।

कभी-कभी ऐसी स्थिति रोग युक्त व्यक्ति की भी हो जाती है। चिकित्सक द्वारा बतलाया हुआ पथ्य कई दिनों तक लगातार खाने से उसके प्रति द्वेष हो जाता है व्यक्ति उस भोजन के नाम से चिढ़ने लगता है, फलतः उसको अरुचि हो जाती है, ऐसी स्थिति में परिचारक को चाहिये कि वह उन्हीं पदार्थों की रचना नये-नये ढङ्ग से करके रोगी की रुचि उस भोजन के प्रति बढ़ाये।

आम्र, आम्रातक आदि जिन दस द्रव्यों का वर्णन चरक ने सू० अ० ४ हृद्य गण में किया है वे सभी द्रव्य रुचिवर्धक अथवा अरोचकहर हैं।

तन्त्रार्थदीपिका व्याख्या के लेखक श्रीजयदेव विद्यालङ्कार लिखते हैं कि 'वृद्ध वाग्भट' में **पाटला** की जगह **पटोल** पढ़ा गया है। चरक में प्रतिलिपिकर्ता के प्रमाद से **पाटला** लिखा गया है, ऐसा प्रतीत होता है'।

खिस्ताब्द १९४१ की निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित चक्रपाणिदत्त विरचित व्याख्या युक्त चरकसंहिता, जो मेरे सामने प्रामाणिक पाठों के आधार रूप में है, उसमें **पाटला** पाठ नहीं है अपितु **'पटोलानीति'** ही पाठ है। यदि **पाटला** पाठ को स्वीकार कर भी लिया जाय तो दोनों के प्रमुख गुण-धर्मों में अन्तर क्या है? देखें—

पाटला	पटोल
गुण—कषैली, कड़ुवी, त्रिदोषनाशक, अरुचि, श्वास, रक्तविकार, वमन और प्यास नाशक है।	**गुण**—पाचक, हृद्य, वृष्य, हलका, दीपन, स्निग्ध, गरम, खांसी, रक्तविकार, ज्वर, कृमिरोग तथा वातादि दोषों को दूर करता है। **परवल की जड़**—दस्तावर। **नाल**—कफनाशक। **पत्ते**—पित्तनाशक।
पाटला का फूल—कषैला, मधुर, शीतल, हृद्य, कफनाशक तथा कण्ठ्य है।	**फल**—त्रिदोषनाशक।

निष्कर्ष—इस प्रकार ध्यान देने से दोनों ही द्रव्य हृद्य (हृदय = मन के लिये हितकारक) हैं, अतएव रुचिकारक, कण्ठ्य और त्रिदोषनाशक है। यदि पटोल में पाचक गुण अधिक है तो प्रकारान्तर से पाटला में अरुचि नाशक गुण है। तथापि महर्षि का पाठ क्या था विचारणीय विषय है।

कफ परिचय—१. क्लेदन, २. स्नेहन, ३. रसन, ४. अवलम्बन और ५. श्लेष्मक। कर्म भेद से ये पाँच नाम कफ के हैं। नामों की व्याख्या—क्लेदयति, क्लिद्यते वा अनेन अन्नम् इति **क्लेदनः** = आहार को क्लिन्न या गीला करता है। स्नेहयति, स्निह्यते वा अनेन शिरः इति **स्नेहनः** = यह शिर को स्निग्ध या तर करता है। रसयति रसं ज्ञापयति अथवा रस्यते रसो मधुरादिः अनेन इति **रसनः** = रस का बोध (अनुभव) कराता है। ग्रन्थान्तरों में **रसनः** को ही **बोधकः** कहा गया है। इसकी विकृति से ही रस ज्ञान का लोप हो जाता है। अवलम्बयति धारयति हृदयम् अथवा अवलम्ब्यते धार्यते हृदयम् अनेन इति, **अवलम्बनः** = हृदय यन्त्र को धारण करता है, इसके घट जाने से हृदय धड़कने लगता है। श्लेषयति (योजयति) सन्धीन् इति **श्लेष्मकः** = सन्धियों को सटाता या जोड़ता है। विशेष विवेचन सुश्रुत सू० अ० २१ में देखें। यही रसन अथवा बोधक कफ विकृत होने पर अरोचकता (तृप्ति) में कारण होता है और समभाव में रहने पर रुचिवर्धक होता है।

कुटजबिल्वचित्रकनागरातिविषाभयाधन्वयासकदारुहरिद्रावचाचव्यानीति दशेमान्यर्शोघ्नानि भवन्ति (१२),

(१२) अर्शोघ्न महाकषाय (Anti-Hemorrhoidals)—कुटज (कुरैया), बेल, चित्रक, सोंठ, अतीस, हरीतकी, धन्वयास (धमासा) दारुहल्दी, वचा, चव्य ये दस ओषधियाँ अर्शोघ्न (बवासीर नाशक) होती हैं।

वक्तव्य—वादी, खूनी भेद से अर्श (Piles) दो प्रकार के होते हैं और ये शरीर के सभी अंगों में हो सकते हैं तथा देखे भी जाते हैं। गुदवलियों में होने वाले अर्श प्रधान माने जाते हैं। वातादि भेद से तीन सन्निपातज, रक्तज और सहज (जन्म से) इस प्रकार से ये छः प्रकार के होते हैं। इसी का एक भेद चर्मकील भी है।

आधुनिक मत से यकृत की विकृति से जब रक्तसंवहन (Blood-circulation) में रुकावट उत्पन्न होती है तो गुदगत सिराओं में रक्त संचित हो जाता है फलतः गुदवलियों में अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं को अर्श कहते हैं। अर्शों के विकारों को नाश करने वाले द्रव्य समूह को अर्शोघ्न कहते हैं। उपर्युक्त ६ प्रकार के अर्शों के लिये विविध प्रकार के अर्शोघ्न द्रव्यों का उल्लेख चिकित्साशास्त्र में उपलब्ध होता है।

खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातीप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति (१३),

(१३) कुष्ठघ्न महाकषाय (Anti-Dermatosis)—खदिर (खैर की लकड़ी), अभया (हरीतकी), आँवला, हल्दी, अरुष्कर (भिलावा), सप्तपर्ण (छतिवन), आरग्वध (अमलतास), कनेर, वायविडङ्ग, जाती (चमेली की पत्तियाँ), ये दस ओषधियाँ कुष्ठघ्न (कुष्ठ रोग के विविध भेदों का नाश करने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्'। चरक सू० अ० २५। खदिर (खैर) कुष्ठ नाशक द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। सुश्रुत के अनुसार त्रिफला, त्रिकटु, आरग्वधादिगण तथा लाक्षादिगण का भी कुष्ठ रोग में प्रयोग किया जाता है। और भी—'तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत'। सुश्रुत चि० अ० ९। तथा—'पूर्वरूपेष्वेव कुष्ठिनं स्नेहपानेन उपक्रमेत'। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१। और—'वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं वाग्र्ये' ॥ चरक चि० अ० ७॥

कुष्ठ की निरुक्ति—'कुत्सितं तिष्ठति त्वक् यस्मिन् तद्, कुष्ठम्'। इस परिभाषा के अनुसार सभी प्रकार के त्वचागत रोग (Skin diseases) कुष्ठ की सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि कोई भी त्वचा का रोग पामा, विचर्चिका, पाददारी, सिध्म, किलास आदि ऐसा नहीं है जिसके कारण त्वचा का स्वरूप विकृत न होता हो। यह पापरोग चिरकालानुबन्धी (Chronic) होता है। इससे मुक्ति प्राप्ति में चिकित्सा के साथ ईश्वर की सहायता भी परम अपेक्षित है।

चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बकुटजसर्षपमधुकदारुहरिद्रामुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति (१४),

(१४) कण्डूघ्न महाकषाय (Anti-Prurities)—सफेदचन्दन, नलद (जटामांसी, बालछड़) कृतमाल (अमलतास), नक्तमाल (लताकरञ्ज), नीम, कुटज (कुरैया), सरसों, मुलेठी, दारुहल्दी, नागरमोथा ये दस ओषधियाँ कण्डूघ्न (खुजली रोग की नाशक) होती हैं।

वक्तव्य—जैसा कि ऊपर कुष्ठ शब्द की व्युत्पत्ति में संकेत किया है कि त्वचा को विकृत करने वाले समस्त रोग कुष्ठ के अन्तर्गत आते हैं। तदनुसार ही तर-तम भेद से इन रोगों की चिकित्सा भी होती है। अष्टाङ्गहृदय चि० अ० १९ देखें—'लाक्षा व्योषं प्रापुनाटं च बीजं, सश्रीवेष्टं कुष्ठसिद्धार्थकाश्च। तक्रोन्मिश्रः स्याद्धरिद्रा च लेपो दद्रूघ्नो मूलकोत्थं च बीजम्' ॥ अर्थ स्पष्ट है। इसी प्रकार सुश्रुतसंहिता में एलादि, पटोलादि तथा आरग्वधादि गणों का निर्देश किया गया है। वे सभी द्रव्य कण्डूघ्न होते हैं, जो त्वचा के लिये हितकारक और कफ नाशक हैं।

अक्षीवमरिचगण्डीरकेबुकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणिहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिकाखुपर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि भवन्ति (१५),

(१५) कृमिघ्न महाकषाय (Anthelmintics or Vermicide)—अक्षीव (सहजन), कालीमिरच, गण्डीर (स्नुही), केबुक (केऊ), वायविडङ्ग, निर्गुण्डी (सम्भालू), किणिही (अपामार्ग), गोखरू, वृषपर्णी, आखुपर्णी (चूहाकन्नी) ये दस ओषधियाँ कृमिघ्न (सभी प्रकार के कृमियों की नाशक) होती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों का मतभेद—'**अक्षीवोऽब्दकः** शोभाञ्जनो वा'। '**गण्डीरः** शमठशाकमिति'। उभयत्रापि चक्रपाणिः। योगीन्द्रनाथस्तु **केम्बुकः पूग** इति व्याचष्टे'। चरक तात्पर्यटीकायां **किणही** कटभीति स्वीकृता। **वृषपर्णी** मूषिकपर्णीभेदः, राढायां पञ्चिपत्रिकेति प्रसिद्धा'।

आयुर्वेद में २० प्रकार के कृमियों तथा उनसे होने वाले रोगों का विस्तृत वर्णन है। देखें—चरक विमानस्थान अ० ७। मूल रूप में ये अन्तःकृमि तथा बाह्यकृमि भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार इनकी चिकित्सा का भी व्याख्यान किया गया है। **प्रमुख निर्देश**—चरक सू० अ० १९ तथा चरक विमान अ० ७। सुश्रुत उ० तं० अ० ५४ और अष्टाङ्गसंग्रह अ० २२ में कृमियों से सम्बन्धित विशेष जानकारी प्राप्त करें। शिर के भीतरी भाग को खाने वाले कृमियों में शिरोरोग प्रतिषेधाध्याय अष्टाङ्गसंग्रह उ० तं० अ० २४ में कही गई चिकित्सा करनी चाहिये।

कृमि रोग में जिन वस्तुओं को अपथ्य कहा गया है, उनका पूर्णरूपेण परित्याग नहीं हो पाता अथवा रोगी करना नहीं चाहता अतः जीवन भर कृमियों की परम्परा बनी रह जाती है। चिकित्सा करते रहने से कृमिजनित कष्ट कम हो जाता है, यह कथा अन्तःकृमियों की है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान में कृमियों का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—१. विशिष्ट कृमि (Specific worm) इसके अन्तर्गत स्फीत कृमि (Tape worm) तथा गण्डूपदकृमि (Round worm) आते हैं। २. सामान्य कृमि (General worm) होते हैं। तथा कृमि चिकित्सा (Tretment of worm) को तीन भागों में विभक्त किया है। यथा—१-अन्तःकृमिघ्न (Anthelmintic or Vermicide), २-बाह्यकृमिघ्न (Insecticide) तथा ३-कृमिनिःसारक या अपकर्षक (Vermifuge)।

बाह्यकृमि, व्रणजकृमि तथा शीर्षाद कृमियों को नष्ट होते देखा गया है। भगवान् पुनर्वसु ने चरक वि० अ० ७ में निर्देश किया है कि—'तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यम्। ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानाम् (आहारविहारादीनाम्) अनुपसेवनम् ॥ तत्र अपकर्षणम्—हस्तेन अभिगृह्य (यूकादीनां) विमृश्य उपकरणवता अपनयनम् उपकरणेन, स्थानगतानां तु भेषजेन अपकर्षणं न्यायतः। तद् (अपकर्षणम्) चतुर्विधम्, तद्यथा—१. शिरोविरेचनम् (शिरोगतानां नस्यम्)। २. वमनम् (आमाशयगतानाम्)। ३. विरेचनम् (मलाशयगतानाम्)। ४. आस्थापनं च (निरूहवस्तिः)। इति अपकर्षणविधिः। प्रकृतिविघातस्तु एषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानाम् द्रव्याणाम् उपभोगः, यत् च अन्यत् अपि किञ्चित् श्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तद् (सेवनीयं) स्यात्, इति प्रकृतिविघातः।

अनन्तरं निदानोक्तानाम् भावानाम् अनुपसेवनम् इति यत् उक्तम् निदानविधौ तस्य वर्जनं तथा प्रायाणां च अपरेषां द्रव्याणाम् इति। चरक वि० अ० ७॥ इसका व्याख्यान यथास्थान देखें।

हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकतकशिरीषसिन्धुवारश्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति (१६),

इति षट्कः कषायवर्गः ॥ ११ ॥

(१६) विषघ्न महाकषाय (Anti-dotes)—हल्दी, मजीठ, सुवहा (निशोथ, रास्ना अथवा हाफरमाली), छोटी इलायची, पालिन्दी (श्यामलता), चन्दन, कतक (निर्मली), शिरीष (सिरस), सिन्धुवार (सम्भालू), श्लेष्मातक (लिसोड़ा), ये दस ओषधियाँ विषघ्न (विषनाशक) होती हैं। यह ६ महाकषायों का (तृतीय) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—सुवहा के पर्याय के रूप में चक्रपाणि ने रास्ना अथवा हाफरमाली दो नाम दिये हैं। राजनिघण्टु के अनुसार सुवहा का पर्याय विश्वग्रन्थि अथवा हंसपादी है। दूसरे आचार्य इसके पर्याय के रूप में गोधापदी अथवा शेफालिका का नाम दिये हैं। इसी प्रकार **पालिन्दी** के पर्यायों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। यथा—चक्रपाणि ने इसको श्यामलता कहा है। अन्य विद्वान् कालीसारिवा अथवा कुन्दरु मानते हैं।

चक्रपाणि ने इसी अध्याय के चतुर्थ भेदनीय महाकषाय के आरम्भ में प्रयुक्त सुवहा का पर्याय निशोथ दिया है और यहाँ **'रास्ना, हाफरमाली वा'** दिया है। सुश्रुतसंहिता में लोध्रादि अनेक गणों को विष नाशक कहा है।

संक्षेप में संकेत सूत्र—विषघ्न द्रव्यों का वर्णन चरक चि० अ० २३। सुश्रुत कल्प० अ० २ तथा अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४० में देखें। वाग्भट ने अगदतन्त्र (विष-विषयकशास्त्र) सूत्र अध्याय १ में आयुर्वेद के आठ अङ्गों का निर्देश करते समय **दंष्ट्रा अङ्ग** (प्राणिज-विष-विशेष) कहा है।

वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति (१७),

(१७) स्तन्यजनन महाकषाय (Golactogogues)—वीरण (खस), शालि, षष्टिक (साठी के चावल), इक्षुवालिका (खागलिका), दर्भ (डाभ), कुश, काश, गुन्द्रा (जलजदर्भ अथवा गुलुच), इत्कट (शर या सरकण्डा), कत्तृण, इन सब की जड़ें, ये दस ओषधियाँ स्तन्यजनन (दूध को उत्पन्न करने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—'स्तनति कथयति यौवनोदयम्। स्तन्यते शब्द्यते वा कामुकैः'। ष्टन शब्दे धातु से अच् प्रत्यय होकर स्तन शब्द की निष्पत्ति होती है। 'स्तनोद्भवं स्तन्यम्'। अर्थात् स्तन्य=दूध को उत्पन्न करने में सहायक औषधसमूह को 'स्तन्यजनन' कहते हैं।

आयुर्वेद का उद्देश्य **'अथ भूतदयाम्प्रति'** है। अतः सभी प्रकार के दुग्धों के सम्बन्ध में विचार करना है, ।स्थान किया भी गया है। सुश्रुत सू० अ० ३८ में काकोल्यादि गण को वृष्य तथा स्तन्यवर्धक कहा है; आग ४५ वें अध्याय में समस्त प्रकार के दूधों का वर्णन किया गया है : हृदयस्थ सिराओं द्वारा स्तनों में प्राप्त रक्तमिश्रित रस से स्तन्य की उत्पत्ति होती है और वह स्तन्य (दुग्ध) अपत्य (पुत्र एवं पुत्री) के स्पर्श से, देखने से, स्मरण करने से अथवा गोद लेने से प्रवृत्त होता है। यथा—'स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुः उच्यते'। सुश्रुत नि० अ० १०। स्तन्य (दुग्ध) आप्य (जलीय प्रधान द्रव्य) होता है। अतएव सुश्रुत सू० अ० १५ में निर्देश है—'स्तनक्षये······श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः'।

आधुनिक मत—हमारे शरीर में अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं, जो विभिन्न प्रकार के रसों को उत्पन्न करती हैं। उन्हीं में से स्तन्य ग्रन्थियाँ (Anamary glands) भी अन्यतम हैं। ये मुक्त रस में से दूधरूपी स्राव उत्पन्न करती हैं। इस रसस्राव के ऊपर भी काम-क्रोध आदि मानसिक विकारों का प्रभाव पड़ता है, जिससे दूध दूषित या कम हो जाता है। इसलिये इन अवस्थाओं से सावधान रहें।

पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणीसारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति (१८),

(१८) स्तन्यशोधन महाकषाय (Galacto purifiers)—पाठा (पाढल), महौषध (सोंठ), सुरदारु (देवदारु), नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, वत्सकफल (इन्द्र जौ), किराततिक्त (चिरायता), कटुरोहिणी (कुटकी), सारिवा (अनन्तमूल) ये दस ओषधियाँ स्तन्यशोधन (दूध के विकारों को दूर करने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता सू० अ० ३५ में सुरसादिगण को कफनाशक और वचादि, हरिद्रादि गणों को स्तन्य विशोधन बताया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है स्तन्य आप्य होता है, अतः उससे कफज विकारों का होना सम्भव है। इसीलिये सुरसादिगण का भी प्रयोग इसमें प्रशस्त माना गया है। जो द्रव्य दूषित स्तन्य को शुद्ध करें उनको स्तन्यशोधक की संज्ञा दी जाती है। उपर्युक्त महाकषाय में वर्णित द्रव्य अपने-अपने गुणों से तीनों दोषों का शमन करके स्तन्य शुद्धि करते हैं। विशेष-द्रव्यों के गुण-धर्मों पर ध्यान दें।

जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति (१९),

(१९) शुक्रजनन महाकषाय (Spermo-poietic)—जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (मुंगवन), मासपर्णी, मेदा, वृद्धरुहा (शतावरी), जटिला (जटामांसी अथवा उच्चटा), कुलिंगा (उच्चटा भेद), ये दस ओषधियाँ शुक्रजनन (वीर्य को उत्पन्न करने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—शुक्र के प्रवर्तक तथा जनक द्रव्यों के लक्षण—दूध, उड़द, शुद्धभिलावा, बादाम, अखरोट आदि फलों की मींगी या गिरी तथा आँवले ये द्रव्य वीर्य को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उक्त द्रव्यों के सेवन से स्वप्नदोष काल में तथा मैथुन में शीघ्र तथा अधिक वीर्य निकलता है।

प्रवर्तक द्रव्य के लक्षण—अभीष्ट स्त्री के दर्शन-स्पर्शन आदि से शुक्र प्रवृत्त या चलित होता है। बनभंटा का फल शुक्र का रेचक (निकालने वाला) होता है। जायफल शुक्र को रोकता है और हरीतकी शुक्र को सुखाती है। शार्ङ्गधरसंहिता अ० ४। उक्त द्रव्यों के सेवन से शुक्र पर पड़ने वाले ये भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव कहे गये हैं। इन्हें भली भाँति समझ लेना चाहिये। कुछ ऐसे मनुष्य देखे गये हैं, जो अपने को नपुंसक समझते थे किन्तु जब उन्हें अभीष्ट (अपनी इच्छा के अनुरूप) स्त्री मिली तो पूर्ण पुरुष सिद्ध हुए। एक ऐसा भी मनुष्य देखा गया जो परस्त्री में सफल नहीं होता था किन्तु वह घर में अर्थात् अपनी स्त्री के साथ सहवास करने में पूर्ण पुरुष था और बहुत से प्रथम सङ्गम में असफल किन्तु पारस्परिक स्नेह के बढ़ जाने पर बाद में सफल हो जाते हैं। अनेक ऐसे भी देखे गये हैं, जिनका प्रयत्न करने पर भी वीर्यपात नहीं होता। बहुत से शीघ्रपतन से पीडित होकर स्तम्भन द्रव्यों को ढूँढते फिरते हैं और कुछ का वीर्य पतला होता है इन तीनों को क्रमशः रेचन, स्तम्भन और शोषण द्रव्यों की आवश्यकता होती है।

जिन द्रव्यों से वीर्य की वृद्धि होती है उन्हें शुक्रल अथवा शुक्रजनन द्रव्य कहते हैं। जैसे—नागौरी असगन्ध, सफेद मुसली और काली मुसली, शर्करा (खाँड़ या चीनी) और शतावरी।

विशेष—उक्त शुक्रजनक दस द्रव्यों में प्रथम चार और ७ वाँ मेदा द्रव्य अष्टवर्ग से लिये गये हैं। जो महर्षिच्यवन के पश्चात् किसी भाग्यवान् को मिले हों, सप्रमाण कहा नहीं जा सकता। यदि मिले होते तो वह व्यक्ति भी च्यवन की भाँति ख्याति प्राप्त होता अथवा वह चिकित्सक जिसके पास ये द्रव्य मिलते वह देवता की भाँति श्रीमानों द्वारा पूजा जाता। अस्तु, इसीलिये निघण्टुकारों ने लिख दिया है—**'राज्ञामप्यष्टवर्गस्तु यतोऽयमतिदुर्लभः'**। अभिनवनि०।

उक्त पाँच (अष्टवर्ग में कहे गये) द्रव्यों के-अनन्तर वृद्धरुहा (शतावरी) अष्टवर्गोक्त द्रव्यों के अभाव को पूर्ण करने में अन्यतम प्रमुख द्रव्य है, वृद्धवाग्भट में माषपर्णी के स्थान में महामेदा पाठ मिलता है। इस प्रकार शेष तीन द्रव्य भी अपने विशिष्ट गुणों के कारण शुक्रजनन हैं।

शुक्रस्वरूप—'स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रम्'। सुश्रुत शा० अ० २। 'सामान्यं वृद्धिकारणम्' के अनुसार शुक्र की अभिवृद्धि शुक्र द्वारा करने की आज्ञा महर्षि अग्निवेश की है—**'शुक्रं शुक्रेण'**, चरक शा० अ० ६।९। तथा **'नक्ररेतो वृष्याणाम्'**, चरक सू० अ० २५।३९।

कुष्ठैलवालुककट्फलसमुद्रफेनकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्षिक्षुरकवसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति (२०),

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ १२ ॥

(२०) शुक्रशोधन महाकषाय (Sdermo-purifiers)—कूठ, एलवालुक (एलुआ), कट्फल (कायफल या काफल का छिलका), समुद्रफेन, कदम्बनिर्यास (कदम्ब वृक्ष की गोंद), ईख, काण्डेक्षु (ईख का ही एक भेद), इक्षुरक (कोकिलाक्ष, तालमखाना), वसुक (वसुहट्टक) उशीर (खस) ये दस द्रव्य शुक्रशोधन होते हैं। यह ४ महाकषायों का (चतुर्थ) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—आचार्य जतूकर्ण ने अपनी संहिता में कट्फल के स्थान पर **एलवालुक** का ग्रहण किया है। **'वसुको वसुहट्टः बकपुष्पमिति लोके'**, इति गङ्गाधरः। अन्ये—वसुको राजार्कः, इति।

शुद्ध शुक्र का लक्षण—'स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च। रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्'॥ चरक चि० अ० ३०।१४५।

अष्टाङ्गहृदय शारीरस्थान अ० १ में शुक्रशोधन के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था दी गयी है। वायु आदि द्वारा दूषित शुक्र के शमन के लिये चिकित्सा—**कुणपगन्धि में**—धाय के फूल, खैरसार, अनार तथा अर्जुन की छाल के क्वाथ एवं कल्क से पकाये हुए घी अथवा असनादिगण द्वारा साधित घी पिलाना चाहिये। इसी

प्रकार अन्य विकारों की चिकित्सा का वर्णन भी यहाँ देखें। सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ० ३८ में मुष्ककादि-गण, वल्लीपञ्चमूल तथा कण्टकपञ्चमूल ये शुक्रशोधन अर्थात् शुक्रदोषनाशक कहे गये हैं।

मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति (२१)

(२१) स्नेहोपग महाकषाय (Adjuvants in Oleation therapy)—मुनक्का, मुलेठी, मधुपर्णी (गिलोय), मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालिपर्णी ये दस ओषधियाँ स्नेहोपग (स्नेहन में सहायता देने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—स्नेहनं स्नेहः, ष्णिह प्रीतौ धातु से घञ् प्रत्यय करने पर **स्नेह** शब्द निष्पन्न होता है। स्नेहस्य (गुण-धर्मस्वभावादिभिः) उप समीपं गच्छतीति = स्नेहोपगः, 'स्नेहः प्रेम्णि घृतादिके', अर्थात् वे द्रव्य जो अपने स्नेहांश से स्नेहन क्रिया में सहायक होते हैं। स्नेहन द्रव्य के लक्षण—

'द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्। मन्दं मृदु च यत्प्रायस्तद् द्रव्यं स्नेहनं मतम्' ॥

चरक सू० अ० १२ ॥

शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति (२२),

(२२) स्वेदोपग महाकषाय (Adjuvants in Sudation therapy)—शोभाञ्जन (सह-जन), एरण्ड, अर्क (मदार), वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), जौ, तिल, कुलत्थ (कुलथी), माष (उड़द), बेर ये दस ओषधियाँ स्वेदोपग (स्वेदन में सहायता देनेवाली) होती हैं।

वक्तव्य—स्वेदोपग—'ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे। धर्मस्नुतावित्यर्थः। स्विद्यते अनेन अङ्गम्। स्विद्+घञ् = स्वेदः। 'स्वेदो धर्मे स्वेदने च', इति हैमः। स्वेदस्य (गुणधर्मादिभिः) उप समीपं गच्छतीति = स्वेदोपगः। अर्थात् वे द्रव्य जो अपने गुण-धर्मों से स्वेदन क्रिया में सहायक होते हैं। उपर्युक्त द्रव्य अपने प्रभाव विशेष से स्वेदन कार्य करते हैं।

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, धूमपान, गण्डूषधारण, अञ्जन, तर्पण आदि के हीन, मिथ्या, अतियोग के कारण अनेक रोगों की सम्भावना रहती है, जिनको शास्त्र में **स्नेहादिव्यापद्** की संज्ञा दी गयी है।

स्वेदन द्रव्य के लक्षण—'उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्। द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते'। शार्ङ्गधर सं० ४ अ०।

मधुमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्प्य इति दशेमानि वमनो-पगानि भवन्ति (२३),

(२३) वमनोपग महाकषाय (Adjuvants in Emetic therapy)—मधु (शहद), मुलेठी, कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (श्वेतकचनार), नीप (कदम्ब), विदुल (हिज्जल, समुद्रफल अथवा जलवेतस), बिम्बी (कुन्दरु, परवल के आकार की लता से होने वाला फल), शणपुष्पी (वनसनई), सदापुष्पी (मदार), प्रत्यक् पुष्पी (अपामार्ग) ये दस ओषधियाँ वमनोपग (वमन, उलटी, कै कराने की प्रक्रिया में सहायता देने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—वमनोपग—वम उद्गिरणे—धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर **वमन** शब्द की निष्पत्ति होती है। वमनस्य (सहायत्वेन) उप समीपं गच्छतीति = वमनोपगः, ऊपरी मार्गों (मुख, नासिका) से जो रेचन होता है, उसे उद्गिरण, वमन, वमथु, वमि, छर्दि, विच्छर्दिका आदि नामों से जाना जाता है।

वमन क्रिया का प्रधान लक्ष्य आमाशय तक के कफ प्रधान दोषों का निर्हरण है। इनमें शहद और सैंधा नमक का योग अधिक लाभकारी होता है। देखें—'सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्' चरक क० अ० १। और भी—'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते'। चरक क० अ० १।

द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकबिभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति (२४),

(२४) विरेचनोपग महाकषाय (Adjuvants in Purgative therapy)—द्राक्षा (मुनक्का), काश्मर्य (गम्भारी), परूषक (फालसा), हरीतकी, आँवला, बहेड़ा (अर्थात् त्रिफला), कुवल (बड़ा बेर), बदर (बेर), कर्कन्धु (झड़बेर), पीलू ये दस ओषधियाँ विरेचनोपग (दस्त कराने में सहायक) होती हैं।

वक्तव्य—विरेचन शब्द की निरुक्ति इसी अध्याय के प्रारम्भ में दी गयी है। विरोचनोपग शब्द की व्याख्या पूर्णवर्णित वमनोपग आदि के अनुसार समझें। विरेचक द्रव्य मल प्रवहण की क्रिया में सहायक होते हैं और विभिन्न कारणों से उत्पन्न मलावरोध की व्यापत्तियों को दूर करते हैं।

त्रिवृद्बिल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति (२५),

(२५) आस्थापनोपग महाकषाय (Adjuvants in Non-oily Enemata)—त्रिवृत् (निशोथ), बेल, पिप्पली, कुठ, सर्षप (सरसों), वचा, इन्द्रजौ, शतपुष्पा (सोया), मधुक (मुलेठी), मैन-फल ये दस ओषधियाँ आस्थापनोपग (निरूहणवस्ति में सहायक) होती हैं।

वक्तव्य—आस्थापन शब्द का परिचय प्रारम्भ में दे दिया है। आस्थापन कर्म में सहायक द्रव्यों को आस्थापनोपग कहते हैं। प्रसिद्ध द्रव्यों के नाम ऊपर दिये गये हैं।

रास्नासुरदारुबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राग्निमन्थश्योनाका इति दशेमान्यनुवासनो-पगानि भवन्ति (२६),

(२६) अनुवासनोपग महाकषाय (Adjuvants in Oily Enemata)—रास्ना, देवदारु, बेल, मैनफल, शतपुष्पा (सोया), वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), पुनर्नवा (लाल पुनर्नवा), गोखरू, अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (सोनापाठा) ये दस ओषधियाँ अनुवासनोपग (अनुवासन कर्म में सहायक) होती हैं। ये सभी द्रव्य वातशमनकारक है।

ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति (२७),

इति सप्तमः कषायवर्गः ॥ १३ ॥

(२७) शिरोविरेचनोपग महाकषाय (Adjuvants in Errhines)—मालकांगनी, क्षवक (नकछिकनी), कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडंग, सहिजन के बीज, सरसों, अपामार्ग के चावल, श्वेता (अपरा-जिता), महाश्वेता (अपराजिता भेद), ये दस ओषधियाँ शिरोविरेचनोपग (शिरोविरेचन कार्य में सहायता देने वाली) होती हैं। ये ७ महाकषायों का (पञ्चम) वर्ग समाप्त हुआ। शेष अष्टाङ्गहृदय सू० १५ अ० श्लोक ४ में देखें।

जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गाम्लबदरदाडिमयवयष्टिकोशीरमृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रह-णानि भवन्ति (२८),

(२८) छर्दिनिग्रहण महाकषाय (Anti-Emetics)—जामुन, आम्रपल्लव (आम के नये पत्ते), बिजौरानीबू, अम्लबदर (खट्टे बेर), दाडिम (खट्टा अनार), जौ, साँठी के चावल, खस, मिट्टी, लाजा (धान का लावा, खील) ये दस ओषधियाँ छर्दिनिग्रहण (वमन, कै, उल्टी को रोकने में सहायक) होती हैं।

वक्तव्य—उक्त छर्दिनिग्रहकारक द्रव्यों में अधिकांश कषाय तथा अम्लरस की प्रधानता होती है। कषाय रस जीभ की स्तब्धता तथा जड़ता को दूर करता है और अम्लरस का प्रमुख गुण यह है कि वह रसना की जड़ता को दूर करके उसको प्रबुद्ध कर देता है, जो छर्दिनिग्रहण में प्रधान कारण है।

'छर्दिं (वमिं) निगृह्णातीति छर्दिनिग्रहणम्', ऊपर कही गयी मिट्टी से कुछ चिकित्सक मुलतानी

मिट्टी लेते हैं। यह चिकनी (बालू रहित) होती है। सुश्रुतसंहिता में आरग्वध, पटोल तथा गुडूच्यादिगणों का निर्देश वमिग्रहण के लिये किया गया है।

नागरधन्वयवासकमुस्तपर्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीह्रीवेरधान्यकपटोलानीति दशेमानि तृष्णा-निग्रहणानि भवन्ति (२९),

(२९) तृष्णानिग्रहण महाकषाय (Anti-thirst drugs)—सोंठ, धन्वयवासक (जवासा), मोथा, पितपापड़ा, चन्दन, चिरायता, गुरुच, ह्रीवेर (सुगन्धवाला), धान्यक (धनिया), पटोल ये दस ओषधियाँ तृष्णा निग्रहण (विकारजनित तृषा=प्यास को दूर करने) में सहायक होती हैं।

वक्तव्य—वातादि दोष जनित तृष्णा (प्यास) के निग्रहण (दूर करने) के लिये ही उक्त निर्देश है। श्लेष्मल ग्रन्थियों के स्राव से मुख की कला गीली बनी रहती है कफ के क्षीण होने और वात-पित्त की वृद्धि से तृष्णा की अनुभूति होती है। अतः उक्त सभी द्रव्य वात-पित्तशामक ही वर्णित हैं। बर्फ के सेवन से क्षणिक शान्ति इसलिये मिलती है कि वह शीतगुणप्रधान होता है किन्तु वह वातवृद्धिकारक होता है, अतएव कुछ देर बाद ही पुनः प्यास प्रतीत होने लगती है।

सुश्रुतसंहिता सू० अ० ३८ में सारिवादि, उत्पलादि, परूपकादि तथा त्र्यम्वादि गण को पिपासानाशक कहा है। ज्वरजनित दाह से उत्पन्न तृष्णानिग्रह के लिये चिकित्सक समाज द्वारा आदर प्राप्त एक सुप्रसिद्ध योग—'मुस्तपर्पटकोदीच्यचन्दनोशीरनागरैः। शृतं शीतं जलं दद्यात् पिपासा-ज्वरशान्तये' ॥

शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षरुहाभयापिप्पलीदुरालभाकुलीरशृङ्ग्यश्च इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति (३०),

इति त्रिकः कषायवर्गः ॥ १४ ॥

(३०) हिक्कानिग्रहण महाकषाय (Anti-hicough drugs)—शटी (कचूर), पोहकरमूल, बेर की गुठली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वृक्षरुहा (वन्दाक), अभया (हरड़), पिप्पली, दुरालभा (जवासा), कुलीरशृङ्गी (काकड़ासिंगी) ये दस द्रव्य हिक्का (हिचकी) को रोकते हैं। यह ३ महाकषायों का (षष्ठ) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—उदानवायु प्राणवायु के साथ शब्द करता हुआ यकृत, प्लीहा तथा आन्त्रों को मानो मुख से बाहर फेंकता हो इस प्रकार बार-बार हिक्-हिक् ध्वनि के साथ मुख से निकलता है। यह प्राणों को नष्ट कर देता है। अतएव इसको विद्वान् हिक्का कहते हैं। यह हिक्का नाम भेद से ५ प्रकार की होती हैं। इनकी उत्पत्ति कफ युक्त वायु से होती है। अतः कफ तथा वात को शान्ति करने वाले द्रव्य हिक्कानिग्रहण में प्रयुक्त होते हैं।

प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मापद्मकेशराणीति दशेमानि पुरीष-सङ्ग्रहणीयानि भवन्ति (३१),

(३१) पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय (Intestinal Astringents)—प्रियंगु, अनन्ता (दुरालभा), आम की गुठली, कट्वङ्ग (सोनापाठा), लोध, मोचरस (सेमल की गोंद), समंगा (मंजिष्ठा अथवा लज्जालु), धाय के फूल, पद्मा (भारङ्गी), कमल का केशर ये दस द्रव्य पुरीषसंग्रहण (मल को बाँधने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेददीपिका में अनन्ता को अनन्तमूल लिखा है। यथा—'अनन्तोऽनन्तमूलमित्यायुर्वेद-दीपिका'। समङ्गा को दूसरे टीकाकारों ने लज्जालु लिखा है और पद्मा को चक्रपाणि ने ब्राह्मणयष्टिका स्वीकारा है। इनके सम्बन्ध में निर्णय अपेक्षित है।

पुरीषसंग्रहण—मल को बाँधने की शक्ति वाले द्रव्यों को पुरीषसंग्रहण या संग्राहक कहते हैं। अतिसार आदि विकारों में पुरीष (मल) पतला पड़ जाता है, अतः गुदवलियाँ उसको रोकने में अक्षम हो जाती हैं, फलतः अपान वायु के निःसरण के साथ मल भी बाहर निकल जाता है, ऐसी स्थिति में मलसंग्रहण आवश्यक हो जाता है। इस क्रिया को आयुर्वेद में दो शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। यथा—१. ग्राही तथा २. स्तम्भन। इनका विश्लेषण शार्ङ्गधरसंहिता के अनुसार देखें।

ग्राही—दीपनं पाचनं यत् स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम्।
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली ॥

अर्थात् जो द्रव्य दीपन (अग्निवर्धक) हो, पाचक हो तथा उष्ण होने के कारण द्रव (मल के पतलेपन) को सुखाने वाला हो, उसे **ग्राही** कहते हैं। जैसे—सोंठ, जीरा, गजपीपल।

स्तम्भन—रौक्ष्याच्छैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद् भवेत्।
वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद् यथा वत्सकटुण्डुकौ ॥

अर्थात् जो द्रव्य रूक्ष, शीत, कसैला और शीघ्रपाकी (जल्दी पचने वाला) होने के कारण वातवर्धक होता है, उसे **स्तम्भन** कहते हैं। जैसे—कुटज की छाल और सोनापाठा।

शार्ङ्गधरसंहिता के यशस्वी व्याख्याकार आढमल्ल ने संग्राहक द्रव्यों के—१. आमसंग्राहक = ग्राही तथा २. पक्वसंग्राहक = स्तम्भक, इस प्रकार दो भेद किये हैं।

सामान्य रूप से आमदोष का संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि बलात् संगृहीत आमदोष अन्य अनेक व्याधियों को जन्म देता है किन्तु क्षीणधातु तथा क्षीणबल वाले रोगियों के आमदोष का संग्रहण न करने से कदाचित् मृत्यु भी हो सकती है।

चरकसंहिता में पुरीषसंग्रहणीय महाकषायों की प्रकृति दो प्रकार की देखी जाती है। यथा—१. पक्व-संग्राहक तथा २. शीतसंग्राहक। सुश्रुत में इसके तीन स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—१. संग्राही, २. स्तम्भन और ३. पक्वातिसारनाशक।

जम्बुशल्लकीत्वक्कच्छुरामधूकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत्पयस्योत्पलतिलकणा इति दशेमानि पुरीष-विरजनीयानि भवन्ति (३२),

(३२) पुरीषविरजनीय महाकषाय (Correctives of Fecal-pigment)—जामुन, शल्लकी-त्वक्[1] (सर्जभेद, सालई की छाल), कच्छुरा (किवांच), मधूक (महुआ), सेमल, श्रीवेष्टक (गन्धाविरोजा), भृष्टमृत् (भुनी हुई मिट्टी), पयस्या (क्षीरिणी अथवा विदारीकन्द), नीलोत्पल (नीलकमल), तिलकण (तिल के बीज) ये दस द्रव्य पुरीषविरजनीय होते हैं।

वक्तव्य—पुरीषविरजनीयम्—पिपर्ति शरीरम्। पॄ पालनपूरणयोः, पालनपूरणार्थक पॄ धातु से 'कॄतॄभ्या-मीषन्' तथा शॄपॄभ्यां किच्च'। उ० ४।२६, २७। ईषन् और कित् एवम् 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'। ७।१।१०२ से ॠ को उ होने पर पुरीष शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ होता है, पालन करना और शक्ति का स्थिरीकरण। यथा—'**मलायत्तं बलं पुंसाम्**'। इसके आगे विरजनीय शब्द की व्युत्पत्ति को देखें—रज्यते अनेन। ल्युट्। 'रजकरजनरजःसूपसङ्ख्यानम्'। वार्तिक। इससे रञ्ज धातु के 'न' का लोप होकर **रजन** शब्द बनता है, इसमें **वि** उपसर्ग है जिसका अर्थ है विगत = हीन अथवा रहित। अर्थात्—पुरीषस्य विरजनं (रागराहित्यं) तस्मै हितं (अर्थ में छ प्रत्यय और उनके स्थान पर ईय प्रत्यय होने पर) **पुरीषविरजनीयम्**। अर्थात् पुरीष के विकार जनित राग (वर्ण विशेष) को दूर करने वाला द्रव्य समूह। शरीर में रञ्जन क्रिया पाँच प्रकार के पित्तों में रञ्जक पित्त का कार्य है। उक्त सभी द्रव्य पित्त का शमन करते हैं।

जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसङ्ग्रहणी-यानि भवन्ति (३३),

(३३) मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय (Urinary Astringents)—जामुन, आम, प्लक्ष (पिलखन या पाकड़), बरगद, कपीतन (आम्रातक), गूलर, पीपल, भिलावा, अश्मन्तक, सोमवल्क (खैर) ये दस द्रव्य मूत्रसंग्रहणीय होते हैं।

वक्तव्य—कपीतन के पर्याय के रूप में आम्रातक का नाम आता है। आम्रातक भी जामुन की ही भाँति कषाय गुण प्रधान होने के कारण यह भी मूत्रसंग्राहक है। **यथा**—'आम्रातकः पीतनश्च मर्कटाम्रः कपीतनः।

---

१. 'शल्लकीगजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा'। अभिनवनिघण्टु, वटादिवर्ग।

आम्रातमम्लं वातघ्नं गुरूष्णं रुचिकृत् सरम् । पक्वं तु तुवरं स्वादु रसे पाके हिमं स्मृतम्' ॥ अभिनवनिघण्टु आम्रादिवर्ग ।

मूत्रसंग्रहणीय—मूत्र का अधिक आना सम्बन्धी अनेक रोगों का वर्णन प्रमेह रोग प्रकरण में आया है। उक्त द्रव्य रूक्ष एवं कषाय गुण प्रधान होने के कारण मूत्र का शोषण करते हैं, फलतः मात्रा तथा संख्या में मूत्र कम आता है, इसीलिये इन महाकषायों का नाम मूत्रसंग्रहणीय है।

पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधुकप्रियङ्गुधातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति (३४),

(३४) मूत्रविरजनीय महाकषाय (Corrective of urinary pigments)—पद्म (सफेद कमल), उत्पल (नीलकमल), नलिन (कमल का ही भेद), कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, मधूक (महुआ , प्रियङ्गु (फूल प्रियंगु), धाय के फूल ये दस द्रव्य मूत्रविरजनीय (मूत्र के दूषित वर्ण को दूर करके उसको वास्तविक वर्ण प्रदान करने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—पद्म से लेकर शतपत्र तक कमल के भेदों का ही संग्रह है। कोषकारों ने कमलों का परिचय विभिन्न प्रकार से दिया है। यहाँ अमरसिंह के अनुसार कमल के भेदोपभेदों का परिचय दिया जा रहा है—'सौगन्धिकं तु कह्लारं, हल्लकं रक्तसन्ध्यकम् । स्यादुत्पलं कुवलयमथ नीलाम्बुजन्म च ॥ इन्दीवरं च नीलेऽस्मिन् सिते कुमुदकैरवे । वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् ॥ सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् । पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् ॥ बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च । पुण्डरीकं सिताम्भोजमथ रक्तसरोरुहे । रक्तोत्पलं कोकनदम्' ॥ इससे उक्त सभी का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। ऐसा ही मत अभिनवनिघण्टुकार का भी है। उक्त दस द्रव्यों के फूलों का ही ग्रहण किया जाता है।

कुमुद के सम्बन्ध में दूसरे कोषकार अपना भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। यथा—'कुमुदं कैरवे रक्तपद्मे स्त्री कुम्भिकौषधौ । गम्भार्यां पुंसि दिङ्नागे नागे शाखामृगान्तरे' ॥ इसमें कुमुद शब्द से **कुम्भिका** नामक जिस ओषधि का ग्रहण किया है, वह भी प्रकरणोचित प्रतीत होती है।

प्रमेह के हारिद्रमेह आदि अनेक भेद हैं जिनके कारण मूत्र का वर्ण पीला, लाल, काला आदि हो जाता है। **विरजनीय** शब्द की व्याख्या हम पुरीषविरजनीय नामक ३२ वें महाकषाय के प्रकरण में कर चुके हैं, वही तात्पर्य यहाँ भी है।

वृक्षादनीश्वदंष्ट्रावसुकवशिरपाषाणभेददर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति (३५),

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ १५ ॥

(३५) मूत्रविरेचनीय महाकषाय (Diuretics)—वृक्षादनी (वन्दाक), गोखरू, वसुक (वसु), वशिर (सूरजमुखी), पाषाणभेद, दर्भमूल (डाभ की जड़), कुश की जड़, काश की जड़, गुन्द्र की जड़, इत्कट (शरमूल) ये दस द्रव्य मूत्रविरेचनीय (मूत्र को अधिक मात्रा में निकालने वाले) हैं। यह ५ महाकषायों का (सप्तम) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—'वसुक' द्रव्य के पर्याय पूर्ववर्ती टीकाकारों ने **वकपुष्प** तथा **पुनर्नवा** दिये हैं, जब कि वसुक एक स्वतन्त्र द्रव्य है। जिसके पर्यायवाची शब्द निघण्टकारों ने इस प्रकार दिये हैं—'वसुक, वसु, शैव, वस, शिवमल्लिका, पाशुपत, शिव, सुरेष्ट, शिवशेखर । और इसके गुण-धर्म भी प्रसङ्गानुरूप हैं। देखें—अभिनवनिघण्टु गुडूच्यादिवर्ग ।

क्रम संख्या २४ में विरेचनोपग द्रव्यों का वर्णन है, वहाँ **विरेचन** शब्द की व्याख्या की गयी है उसी प्रकार यहाँ भी समझें। मूत्रविरेचनीय द्रव्यों को मूत्रल तथा वस्तिशोधक भी कहते हैं। सामान्यतया सभी मूत्र जलतत्व प्रधान तथा क्षार होने के कारण अग्नितत्व प्रधान होते हैं। अतः वे सभी औषध द्रव्य जो जलतत्व प्रधान और अग्नितत्व प्रधान होते हैं वे सब मूत्रवर्धक होते हैं। इन मूत्रविरेचनीय द्रव्यों का प्रयोग हृदय अथवा फुफ्फुस के विकारों में मूत्रक्षय की उस स्थिति में जब रक्तगत विषैले पदार्थों अथवा मलों को बाहर निकालने की आवश्यकता हो, जलोदर में, फुफ्फुसावरणादिशोथ की अवस्था में, वस्तिशोधन में तथा मूत्र सम्बन्धी विकारों में होता है।

द्राक्षाभयामलकपिप्पलीदुरालभाशृङ्गीकण्टकारिकावृश्चीरपुनर्नवातामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति (३६),

(३६) कासहर महाकषाय (Bronchial Sedatives)—द्राक्षा (मुनक्का), हरीतकी, आँवला, पिप्पली, दुरालभा (हिंगुआ), शृंगी (काकड़ासिंगी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), लाल पुनर्नवा, तामलकी (भुईं आँवला), ये दस द्रव्य कासहर (खाँसी को दूर करने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ, क्षत तथा क्षय भेद से कास के पाँच भेद होते है। कास वेग को शान्त करके जो द्रव्य उसके दोषों का शमन करे उन द्रव्यों को कासहर कहते हैं। कास की सम्प्राप्ति का वर्णन सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार उपलब्ध है—

'प्रायो क्षुदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः । निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः' ॥ सुश्रुत उ० अ० ६२ ।

अर्थात् उदानानुगत प्राणवायु ही कास की उत्पत्ति में कारण होता है और उपर्युक्त समस्त द्रव्य वायु के अनुलोमक हैं। आधुनिक दृष्टिकोण से कास के कुछ स्वरूपभेद—१. कास (Cough), २. श्वास (Bronchitis), ३. तीव्र कास (Acute Bronchitis), ४. जीर्णकास (Chronic catarrhal Bronchitis), ५. श्वास युक्त चिरस्थायी कास (Spasmodic Bronchitis), ६. पित्ताधिक कास (Suppurative Bronchitis) इसके दो भेद होते हैं—(i) चिरस्थायीपूयकास (Bronchiectasis) (ii) क्षतजकास (Bronchitis due to Pulmonary Abscess) ।

शटीपुष्करमूलाम्लवेतसैलाहिङ्ग्वगुरुसुरसातामलकीजीवन्तीचण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति (३७),

(३७) श्वासहर महाकषाय (Bronchial Anti Spasmodics)—कचूर, पोहकरमूल, अम्लवेतस, छोटी इलायची, हींग, अगर, सुरसा (तुलसी), तामलकी (भुईं आँवला), जीवन्ती, चण्डा (चोरपुष्पी) ये दस ओषधियाँ श्वासहर (श्वास रोग को दूर करने वाली) होती हैं।

वक्तव्य—श्वास रोग सुश्रुत के मत से पाँच प्रकार का होता है। कुछ आचार्य 'प्रतमक' नामक एक भेद की इनके अतिरिक्त कल्पना करते हैं। इसमें श्वास की गति धौंकनी के समान ऊर्ध्वगामी होती हैं।

सम्प्राप्ति—जब कफ संयुक्त वायु प्राणवाही स्रोतों को रोक कर चारों ओर गतिशील होने लगता है तब वह श्वास रोगों की उत्पत्ति कर देता है। इस सम्बन्ध में विशेष चरक चि० अ० १७ में देखें।

श्वासहर महाकषायों के प्रयोग क्षेत्र तमक और क्षुद्र श्वास हैं, शेष को तो असाध्य कहा गया है। श्वास को लौकिक भाषा में दम फूलना या दमा कहते हैं। अंग्रेजी में इसी को Asthma (तमक श्वास) कहते हैं। सामान्य श्वास रोग को Dyspnoea, क्षुद्रश्वास को Breathlessness तथा महाश्वास को Respiration कहते हैं। यह कफ-वात प्रधान व्याधि हैं। उक्त कषाय में वर्णित सभी द्रव्य वीर्य एवं कफ नाशक तथा वातहर हैं।

पाटलाग्निमन्थश्योनाकबिल्वकाश्मर्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि श्वयथुहराणि भवन्ति (३८),

(३८) शोथहर महाकषाय (Anti-Dropsy & Swelling drugs)—पाढ़ल, अरणी, बेल, अरलु, गम्भारी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, सरिवन, पिठवन, गोखरू ये दस द्रव्य शोथहर (सूजन को घटाने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—उक्त दस द्रव्यों को दशमूल (अर्थात् क्रमशः प्रथम ५ बृहत् पञ्चमूल तथा दूसरे ५ द्रव्य लघु पञ्चमूल) कहा गया है। **दशमूल** के सम्मिलित गुण-धर्मों का निर्देश—

'उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम् । दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः ॥ तन्द्राशोथज्वराऽऽनाहपार्श्वपीडाऽरुचीर्हरेत्' ॥ अभिनवनिघण्टु तथा भावप्रकाश ।

सम्प्राप्ति—दूषित वायु अपने कारणों से दूषित रक्त, पित्त एवं कफ को बाहरी सिराओं में ले जाकर और

रुककर त्वचा तथा मांस में कठोर उत्सेध (ऊँचाई) पैदा कर देता है। इन तीनों दोषों के मिश्रण से होने वाले रोग को शोथ अथवा सूजन कहते हैं। यह सूजन कारण तथा लक्षण भेद से नौ प्रकार का होता है।

चरकोक्त शोथहर द्रव्य तथा सुश्रुतोक्त दशमूल द्रव्य परस्पर एक ही है। ये मधुकोषकार की भाषा में—'शीतगुणतोऽतिवृद्धवातशोथे दशमूलमुष्णं शीतहेतुविपरीतं वातशोथविपरीतं च'। निघण्टु ग्रन्थों के अनुसार तो जो द्रव्य त्रिदोषहर हैं उनके शोथहर होने में कोई शंका ही नहीं रह जाती।

रस वैशेषिक में श्वयथु विलायन द्रव्य में जो शीत गुण होने की चर्चा की है, वह निश्चय ही व्रणशोथ से सम्बन्धित है क्योंकि श्रीनागार्जुन सुश्रुत के अनुयायी थे, अन्यथा वे ऐसी चर्चा नहीं करते, जब कि शोथ रोग में—'रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः। नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात् त्वङ्मांससंश्रयम् ॥ उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः'। माधवनिदान शोथ रोग। इससे सिद्ध होता है कि शोथ रोग में वात की ही प्रधानता होती है।

सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकविभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति (३९),

(३९) ज्वरहर महाकषाय (Anti Pyretics)—सारिवा (अनन्तमूल), शर्करा (चीनी या खांड), पाठा, मजीठ, मुनक्का, पीलु, फालसा, हरीतकी, आँवला, बहेड़ा (त्रिफला), ये दस ओषधियाँ ज्वर विनाशक होती हैं।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह में यह ज्वरहर महाकषाय इस प्रकार उपलब्ध होता है—'द्राक्षापीलुपरूषकमञ्जिष्ठा-सारिवामृतापाठाः। त्रिफला चेति गणोऽयं ज्वरस्य शमनाय निर्दिष्टः'। अ० सं० सूत्र० अ० १५। इसमें भी प्रायः सभी द्रव्य वही हैं किन्तु शर्करा के स्थान पर अमृता (गिलोय) का ग्रहण किया गया है, जो ज्वर नाशकता की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।

चीनी के गुण धर्म—'खण्डं तु सिकतारूपं सुश्वेतं शर्करा सिता। सिता सुमधुरा रुच्या वातपित्तास्रदाह-नुत्' ॥ अभिनवनि०। गिलोय के गुण ज्वरनाशक सुप्रसिद्ध हैं। चरक ने जो शर्करा का ग्रहण किया है उसका मात्र दृष्टिकोण है सन्ताप निवारण (Anti pyretic), क्योंकि शर्करा पित्तनाशक होती है और पित्त के विना दाह का होना असम्भव है।

प्रारम्भिक सात द्रव्य स्वतन्त्र हैं, अन्तिम तीन द्रव्य त्रिफला के रूप में निर्दिष्ट हैं। कायचिकित्सा जगत् में त्रिफला का विशेष महत्व है।

ज्वर—ज्वर शब्द का व्यापक अर्थ होता है। यदि हम ज्वर शब्द से 'दक्षापमानसङ्क्रुद्धरुद्रनिःश्वास-सम्भव' **ज्वर** का ही ग्रहण करें तो भी वह प्राचीन आचार्यों के मत से आठ प्रकार का होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने उसके और भी अवान्तर भेदों की कल्पना की है जिनका वर्णन एवं व्याख्यान हम ज्वर-निदान प्रकरण में विस्तारपूर्वक करेंगे।

निष्कर्ष—यहाँ जिन ज्वरहर द्रव्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी महर्षि अग्निवेश की दृष्टि में विशेष महत्व रखते हैं।

द्राक्षाखर्जूरप्रियालबदरदाडिमफल्गुपरूषकेक्षुयवषष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति (४०),

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ १६ ॥

(४०) श्रमहर महाकषाय (Anti Fatigue drugs)—द्राक्षा (मुनक्का), पिण्डखजूर, पियाल, बेर, अनार, फल्गु (अञ्जीर या कठगूलर) फालसा, ईख, जौ, सांठी के चावल ये दस द्रव्य श्रमहर (थकावट को दूर करने वाले) होते हैं। यह ५ महाकषायों का (अष्टम) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—श्रमहर महाकषाय में वर्णित सभी द्रव्य खट-मिठे, चट-पटे अतएव सुस्वादु हैं, रुचिकर हैं, अवश्य ही इससे थकावट दूर हो जाती है। जो ज्ञातास्वाद (जिन्होंने इनका एक वार भी स्वाद लिया) है उनके मुख से इनका नाम सुनने मात्र से लार चूने लगेगी।

पियाल—'आम के आम गुठली के दाम' वाली कहावत को चरितार्थ करता है। पियाल के बहुत बड़े पेड़ विन्ध्य गिरि में पाये जाते हैं। इसका एक नाम राजादन भी है। जिसका अर्थ होता है राजाओं के खाने

की वस्तु। मूल फल पियाल है, इसका बाहर का छिलका खटमिठा होता है, उसके भीतर एक बादाम का जैसा छिलका होता है और उसके भीतर की मींगी को **चिरौंजी** कहते हैं, जो सुप्रसिद्ध है।

फल्गु—कठगूलर का ही दूसरा नाम फल्गु है। कोषकारों ने फल्गु का एक पर्याय असार (जिसमें भीतर से कोई शक्ति=ठोसपन न हो) कहा है। सचमुच यह किसी प्रकार का शक्तिवर्धक न होकर केवल मल को निकालने में सहायक होता है। कुछ टीकाकारों ने फल्गु का अर्थ अञ्जीर किया है जिसको अंग्रेजी में Fig कहते हैं। नैनीताल आदि शीत प्रदेशों में इसकी एक बहुत बड़ी जाति होती है, जिसको पकने पर अन्य फलों की भाँति स्थानीय लोग खाते हैं। इसका नाम वहाँ की भाषा में **'तिमिल'** है। यह प्रारम्भ में हरा, पकने पर लाल और खाने में मधुर होता है।

चरक सूत्रस्थान अ० ५ में अभ्यङ्ग (तैलमालिश) सुरापान तथा स्नान को भी श्रमहर कहा है। च० सू० अ० २५ में **'सुरा श्रमहराणाम्'** का निर्देश है। स्वस्थवृत्त में स्नान तथा अभ्यङ्ग को प्रतिदिन का कृत्य कहा गया है—**'अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा'**। परिश्रम से सेल्स् टूट जाते हैं। फलतः मांसपेशियों में थकावट का अनुभव होता है। इसीलिये व्यायाम की व्यवस्था देते हुए शास्त्र का निर्देश है—**'प्राक् श्रमाच्च विवर्जयेत्'**। थकावट आने के पूर्व व्यायाम को छोड़ दे। श्रम=थकावट (Fatigue) को दूर करने वाले द्रव्यों का नाम **श्रमहर** है।

लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूचीह्रीवेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति (४१),

(४१) दाहप्रशमन महाकषाय (Anti Burnig Syndrome drugs)—लाजा (लावा या खील), सफेद चन्दन, गम्भारी का फल, महुआ, शर्करा (खांड़), नीलकमल (नीलोफर), खस, अनन्तमूल, गिलोय, ह्रीबेर (सुगन्धवाला) ये दस द्रव्य दाहप्रशमन (जलन को शान्त करने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह में **दाहहा गण** इस प्रकार है—'पद्मकलाजोशीरमधुकोत्पलसारिवासितोदीच्यम्। काश्मर्यफलं चन्दनमेष गणो दाहहा प्रोक्तः' ॥ अ० सं० सू० अ० १५। इसके अनुसार मधूक के स्थान पर मधुक (मुलेठी) और शर्करा के स्थान पर पद्मक (पद्माख) पाठ दिया है। जतूकर्णसंहिता मे गिलोय के स्थान पर पद्मक द्रव्य को लिया है, शेष पाठ चरक सम्मत ही है।

सुश्रुतसंहिता में सारिवादि, अञ्जनादि, न्यग्रोधादि, गुडूच्यादि, उत्पलादि गणों को दाह शामक माना है। आतपज्वर (Heat Strok) जिसको 'लू लगना' भी कहते हैं उसमें पित्तज विकारों में रोगी को तथा उसके परिचारक को दाह की अनुभूति होती है। वाग्भट तथा लोलिम्बराज आदि विद्वानों ने दाह प्रशमन के अनेक सरस, साहित्यिक प्रकारों का भी निर्देश किया है। औषध द्रव्यों का वर्णन तो सभी आचार्यों ने किया ही है।

दाह पूर्व ज्वर लक्षण—'करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च'। सुश्रुत उ० त० अ० ३९। त्वचा में स्थित पित्त आरम्भ में अत्यन्त दाह करता है। यही बाहरी दाह है।

दाह बाह्य तथा आभ्यन्तरिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। बाहरी दाह शीतोपचार से प्रियजनों के स्पर्श, आलिङ्गन आदि से और अन्तस्ताप शीतल पेय आदि से, मित्रों के शान्तिप्रद वार्तालाप से महापुरुषों के धर्मोपदेशों अथवा भगवद्गीता के इस निर्देश **'उद्धरेद् आत्मनाऽऽत्मानं, नात्मानम् अवसादयेत्'** से ही शान्त होता है।

तगरागुरुधान्यकशृङ्गवेरभूतीकवचाकण्टकार्यग्निमन्थश्योनाकपिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति (४२),

(४२) शीतप्रशमन महाकषाय (Calefacients)—तगर, अगरु, धनियाँ, शृङ्गवेर (अदरख अथवा सोंठ), भूतीक (अजवायन) बालवच, छोटीकटेरी, अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (सोना पाठा), पिप्पली ये दस द्रव्य शीतप्रशमन (ज्वर में होने वाले शीत=जाड़ा=कँपकँपी का शमन करने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—**शृंगवेर** शब्द से अदरख अथवा सोंठ दोनों का ग्रहण निघण्टु ग्रन्थों में किया गया है। देखें—'ऊषणं कटुभद्रं च शृङ्गवेरं महौषधम्'। अभिनवनिघण्टु—**सोंठ** के पर्याय। तथा 'आर्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात् कटुभद्रम्' वहीं। अन्यत्र भी इसकी पुष्टि देखी जाती है। सामयिक निर्णय चिकित्सक पर निर्भर है।

भूतीक को चक्रपाणि ने अजवायन लिखा है। जो समीचीन है, परन्तु कुछ निघण्टुकारों ने अजवायन के अन्य पर्यायों में भूतीक नाम का उल्लेख नहीं किया है, अतः सन्देह न करें।

शीतपूर्व ज्वर लक्षण—'त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे'। सुश्रुत उ० तं० अ० ३९। त्वचा में स्थित कफ और वायु दोष ज्वर के प्रारम्भ में शीत का प्रकोप करते हैं। इसी के लिये यह चरक का उपक्रम है। वैसे सामान्य स्थिति (ऋतुजनित शीत) में भी उक्त शीतप्रशामक द्रव्यों का सेवन कल्पना भेद से करने पर शीत का शमन होता है। ये सभी द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं।

तिन्दुकप्रियालबदरखदिरकदरसप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति (४३),

(४३) उदर्दप्रशमन महाकषाय (Anti-Urticarials)–तिन्दुक (तेंदू), पियालमज्जा (चिरौंजी), बेर, खदिर, कदर (खदिर भेद, सफेद खैर, जिससे कत्था बनाया जाता है), सप्तपर्ण (छतिवन), अश्वकर्ण (शाल, साखू), अर्जुन (कोह, कौव), असन (विजयसार), अरिमेद (विट्खदिर) ये दस ओषधियाँ उदर्द रोग को शान्त करने वाली होती हैं।

वक्तव्य—कदर—'खदिरः श्वेतसारोऽन्यः कदरः सोमवल्कलः'। अभिनवनि०। **अरिमेद** का ग्रन्थान्तरों में 'इरिमेद' नाम भी है। आचार्य माधवकर ने शीतपित्त, उदर्द, कोठ रोगों का परस्पर निदान लक्षण आदि में सामान्य भेद होने के कारण एक साथ वर्णन किया है। उदर्द का स्वरूप विवेचन प्रारम्भ में इसी प्रसंग के साथ कर चुके हैं। शीतपित्त तथा उदर्द में अन्तर केवल इतना है—**शीतपित्त** में वायु की अधिकता होती है और **उदर्द** में कफ प्रधान होता है।

विदारीगन्धापृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकैरण्डकाकोलीचन्दनोशीरैलामधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति (४४),

(४४) अङ्गमर्दप्रशमन महाकषाय (Restoratives)—विदारीगन्धा (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन) बृहती (बड़ीकटेरी), छोटीकटेरी, एरण्ड, काकोली, सफेदचन्दन, खस, छोटी इलायची, मधुक (मुलेठी), ये दस द्रव्य अंगमर्द (मांसपेशियों में होने वाली वातजनित अकड़न को दूर करने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—अंगमर्द (शरीरावयवों में जो वेदना होती है, उस) में वायु का प्रकोप प्रधान कारण होता है।

वायुप्रकोपक आहार-विहार—'लघुरूक्षमिताहारादतिशीताच्छ्रमात्तथा। प्रदोषे कामशोकाभ्यां भीचिन्तारात्रिजागरैः। अभिघातादपाङ्गाहाज्जीर्णेऽन्ने धातुसंक्षयात्। वायुः प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति'॥ शार्ङ्गधरसंहिता अ० २।

लघु तथा रूक्ष द्रव्यों के सेवन, थोड़ा भोजन करने या भूखा रहने, अत्यन्त शीतल द्रव्यों के सेवन करने, परिश्रम, कामवासना, शोक, भय, चिन्ता, रात्रिजागरण, चोटलगने, देर तक पानी में रहने, धातुओं के क्षीण होने और भोजन के पचने से रात्रि के अन्तिम भाग में वायु प्रकुपित होता है। इनके विपरीत उसका शमन होता है। अतः ये उपर्युक्त दस द्रव्य वायु का प्रशमन करने वाले (मधुर-स्निग्ध आदि), गुणों से परिपूर्ण होने के कारण अङ्गमर्द का भी प्रशमन करते हैं। अर्थात् जिन अभावों के कारणों से अंगों में मर्द (पीड़ा) होता है उस कमी को ये द्रव्य पूर्ण कर देते हैं।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदाजगन्धाजाजीगण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति (४५),

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ १७ ॥

(४५) शूलप्रशमन महाकषाय (Analgesics)—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक (चीता), शृंगवेर (सोंठ अथवा अदरख), कालीमिर्च, अजमोदा, अजगन्धा (अजमोदा भेद, वनयवानी) अजाजी (जीरा), गण्डीर (शमठशाक) ये दस ओषधियाँ शूल को शान्त करने वाली होती हैं। यह ५ महाकषायों का (नवम) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—अजगन्धा को चक्रपाणि ने **फोकान्दी** तथा अन्य टीकाकारों ने वनयवानी लिखा है। आधुनिक द्रव्यगुण के विशेषज्ञ इसको **हुरहुर** कहते हैं। इसके तीन भेद किये हैं—१. श्वेतपुष्पा, २. पीतपुष्पा, ३. बैंगनी फूलोंवाली, यह वरुण कुल का वानस्पतिक क्षुप है। इसके उपयोगी अंग—बीज, पत्र तथा मूल होते हैं।

उक्त महाकषाय के प्रथम पाँच द्रव्यों की संज्ञा **पंचकोल** है। शेष सामान्य हैं। शूलरोग में वायु की प्रधानता रहती है। यथा—**'सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः।'** माधवनि०।

मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियङ्गुशर्करालाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति (४६),

(४६) शोणितस्थापन महाकषाय (Haemostatics —मधु, मुलेठी, रुधिर (कुंकुम, केसर), मोचरस, मृत्कपाल (मिट्टी के घड़े का फूटा टुकड़ा), लोध, गेरू, प्रियंगु, शर्करा (खांड) लाजा (धान का लावा या खील) ये दस द्रव्य शोणितस्थापन (बहते हुए खून को रोकने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—'स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति'। सुश्रुत सू० अ० १४। वह जलीय (श्वेत) रस यकृत् तथा प्लीहा में पहुँचकर लाल हो जाता है। आजकल भी पाण्डुरोग में या रक्त की कमी में यकृत् का उपयोग किया जाता है। सुश्रुत ने भी अतिरक्तस्राव में यकृत् के खाने का निर्देश किया है—'यकृद् वा भक्षयेद् आजमामं पित्तसमायुतम्'। इति।

रस को आप्य इसलिये कहा गया है कि वह व्याप्तिशील है। रसधातु पहले रक्त के साथ मिल जाता है तदनन्तर रक्त के साथ-साथ यकृत् एवं प्लीहा में आ जाता है और वहाँ रञ्जक पित्त की रासायनिक क्रिया से लाल हो जाता है। रक्त में जो श्वेत कण होते हैं, वे रस के ही होते हैं और वे ही यहाँ आकर लाल हो जाते हैं। यथा—

'रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्, अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते'॥ सुश्रुत सं० शा० अ० १४। प्राणियों के शरीरस्थ शुद्ध तेज (रञ्जकपित्त) से रंगे (लाल हुए) अदूषित जल (रस) को रक्त कहते हैं। इसी का समर्थन शार्ङ्गधरसंहिता में इस प्रकार दिया है—'यदा रसो यकृद्याति तत्र रञ्जकपित्ततः। रागं पाकं च सम्प्राप्य स भवेद् रक्तसंज्ञकः'॥ अर्थात् जब रस यकृत् एवं प्लीहा में पहुँचता है, वहाँ रञ्जकपित्त द्वारा राग (रंग या लालिमा) तथा पाक को प्राप्त होकर वह रस **रक्त** बन जाता है। यहाँ तक शोणित अथवा रक्त का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जो द्रव्य रक्तस्राव को रोकने तथा वृद्धि करने में समर्थ हों उन्हें **शोणितस्थापन** कहते हैं।

रक्त के सम्बन्ध में मान्यता—'पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः। यथा—'विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते'॥ सुश्रुत सू० अ० १४। इस प्रकार विस्रता (आमगन्धि) पृथिवी का गुण, द्रवता जल का गुण, राग अग्नि का गुण, स्पन्दन (हिलना, डुलना) वायु का गुण, लघुता आकाश का गुण, ये पञ्चमहाभूतों के गुण रक्त में दृष्टिगोचर होते हैं। इतना होने पर भी रक्त में अग्नि और जलतत्व की विशेषता होती ही है। अतएव रक्त को अनुष्णाशीत कहा गया है।

'सामान्यं वृद्धिकारणम्'—इस सिद्धान्त के अनुसार **'लोहितं लोहितेन आप्यायते'** चरक शारीर अ० ६।९। आज भी रक्त का पान करने तथा सूचीवेध द्वारा रक्त देने से रक्त की वृद्धि एवं आपूर्ति की जाती है। इसके विपरीत जब रक्त का ह्रास हो गया हो तो उस स्थिति में शास्त्र का निर्देश इस प्रकार है—'धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः। पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः॥ तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः। ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्'॥ सुश्रुत सू० अ० १४।

इसी का समर्थन चरकसंहिता में इस प्रकार दिया है—'नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्। तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः'॥ चरक० सू० अ० २४। किसी कारण से रक्त स्राव हो जाने पर लघु और समशीतोष्ण अन्नपान हितकर होता है। उस समय देह में रक्त स्थिर नहीं होता और पाचकाग्नि की विशेष रूप से रक्षा करनी होती है। अतः रक्त को स्थिर करने के लिये न अधिक गरम और न अधिक शीतल अन्नपान का सेवन करना चाहिये। यदि इसके विपरीत रोगी अत्युष्ण भोजन का सेवन करता है तो अनेक प्रयत्नों से स्थिर किया हुआ रक्त पुनः निकलने लगेगा। यदि अतिशीत पदार्थों का सेवन करता है तो पहले से ही मन्द अग्नि और भी मन्द पड़ जाती है। अतः समशीतोष्ण अन्नपानों का सेवन रक्तवर्धक होता है।

पूर्णशुद्ध रक्त पुरुष-परिचय—'प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्। सुखान्वितं पुष्टि-

बलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति' ॥ चरक सू० अ० २४। उक्त श्लोक में शुद्ध रक्त से पूर्ण पुरुष के लक्षणों का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की मान्यता इससे सर्वथा स्वतन्त्र है। वह आप्य रस (**श्वेत कण**) को और रञ्जक पित्त अर्थात् जो उन श्वेतकणों को रङ्ग देता है उसको रञ्जक पदार्थ (Haemoglobin) कहते हैं। आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की ही अधिकांश छाप अन्त तक हमको आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी दृष्टिगोचर होती है। इसमें केवल नाम और प्रक्रिया का अन्तर है।

शालकट्फलकदम्बपद्मकतुम्बमोचरसशिरीषवञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति (४७),

(४७) **वेदनास्थापन महाकषाय** (Anodynes)—शाल, कट्फल, (कायफल, काफल), कदम्ब, पद्मक (पद्मकाठ या पद्माख), तुम्ब (तेजबल, तिमूर), मोचरस, सिरस, वञ्जुल (जलवेतस), एलवालुका (एलुआ), अशोक ये दस द्रव्य वेदनास्थापन करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—श्री जयदेवविद्यालंकार द्वारा सम्पादित संस्करण में **तुम्ब** के स्थान पर **तुङ्ग** पाठ उपलब्ध है, दूसरी (निर्णयसागर वाली) प्रति में **तुम्ब** पाठ है।

वेदना—विद ज्ञाने धातु से '**घट्टिवन्दिविदिभ्यश्च**'। इस वार्तिक से युच् प्रत्यय और **लघूपधगुण** होकर 'वेदना' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है सुख-दुःख आदि का अनुभव। यही आयुर्वेदशास्त्र का भी अभिमत है। चरकसंहिता शारीरस्थान प्रथम अध्याय में इसके समस्त भेदोपभेदों का विशद वर्णन उपलब्ध है। तथापि वेदनाओं के निम्न प्रकार से दो भेद किये गये हैं—'स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च। द्विविधः सुख-दुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः' ॥ अर्थात् सुख-दुःख रूप वेदनाओं का प्रवर्तक स्पर्श दो प्रकार का होता है। १. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का स्पर्श, तथा २. मानसस्पर्श।

स्पर्शनेन्द्रिय का जब मन के साथ सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। यथा—'त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्'। विश्वनाथकारिका। किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय से सम्बन्धित जो वेदना की (अनुभूति) होती है, वह **बाह्येन्द्रियविषयक** होती है और चिन्तन आदि जो मन के विषय हैं उनसे होने वाली वेदना **मानस** होती है। उक्त प्रकार की दुःखात्मक वेदनाओं का शमन करने वाले द्रव्यों को **वेदनास्थापन** कहते हैं। इस सम्बन्ध की अन्य परिभाषायें भी प्रस्तुत हैं। १. 'वेदनायां सम्भूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम्'। च० द० २। 'वेदनायाश्चिच्छक्तेः सन्तर्पकं वेदनास्थापकम्'। इ०।

यहाँ तक हमने जो वेदनास्थापन शब्द पर विचार किया है, इसके विपरीत भी एक दृष्टिकोण आचार्य गङ्गाधर का प्रस्तुत है—'वेदनानां यत्र निवृत्ता व्यापत् स्यात् तत्र वेदनां स्थापयन्ति प्रभावात्' इति। गङ्गाधरः। अर्थात् स्त्रियों में वेदनाओं के निवृत्त होने पर जो विकृति होती है उनको दूर करने के लिये वेदनाओं का स्थापन करना उक्त द्रव्यों का कार्य है। इस प्रसङ्ग में स्त्रियों को होने वाली प्रसव वेदना का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

वेदना से पूर्णमुक्ति की चर्चा करते हुए महर्षि अग्निवेश ने लिखा है—'योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्। मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः'। चरक शा० अ० १। अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर सभी प्रकार की वेदनाओं की निवृत्ति हो जाती है और योग मोक्ष का प्रवर्तक होता है।

वेदनाओं की उत्पत्ति—चरक के वातकलाकलीय अध्याय में प्राकृत अर्थात् अकुपित वायु को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। यथा—'वायुः···प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता'। चरक सू० अ० १२। सभी प्रकार की चेष्टाओं का प्रवर्तक तथा नियन्ता वायु को कहा गया है और वायु के बिना शोथ (व्रणशोथ = सूजन) में पीड़ा नहीं होती। यथा—'**वाताद् ऋते नास्ति रुजा**'। सुश्रुत सू० अ० १७। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदना (दुःख के अनुभव) में वात का सम्बन्ध कारणरूप से रहता है, फलतः वेदनास्थापन द्रव्य वातनाशक भी होते हैं। आयुर्वेद में वे समस्त द्रव्य वातविकार का शमन करने वाले माने गये हैं, जो उष्णवीर्य तथा स्निग्ध गुण प्रधान होते हैं।

हिङ्गुकैटर्यारिमेदावचाचोरकवयस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति (४८),

(४८) **संज्ञास्थापन महाकषाय** (Resuscitatives)—हींग, कैटर्य (पर्वतनिम्ब), अरिमेद (विट्खदिर), वच, चोरक (चोरपुष्पी), वयस्था (ब्राह्मी), गोलोमी (भूतकेशी), जटिला (जटामांसी), पलङ्कषा (गुग्गुलु), अशोकरोहिणी (कुटकी) ये दस द्रव्य संज्ञास्थापनकारक होते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागर से प्रकाशित चक्रपाणि व्याख्या से युक्त चरकसंहिता के उक्त पाठ में **कैटर्य** मिलता है अन्यत्र **कैडर्य**। वास्तव में ये दोनों द्रव्य एक ही हैं किन्तु कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ मीठा नीम किया है, जब कि **कैडर्य** को **महानिम्ब** का पर्याय निघण्टुकारों ने माना है। **गिरिनिम्ब** अर्थात् **पर्वतनिम्ब** का सर्वाङ्ग कटुक कहा गया है। इसके विपरीत **मीठी नीम** में मधुरता होती है। इसके फल पकने पर काले, स्वाद में मधुर होते हैं। अतः वे खाये जाते हैं। दोनों द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं।

वयस्था—चरक के यशस्वी व्याख्याकार चक्रपाणि ने **वयस्था** का पर्याय **ब्राह्मी** प्रस्तुत किया है। जब कि ब्राह्मी के पर्याय इस प्रकार हैं—'ब्राह्मी कपोतवंका च सोमवल्ली सरस्वती। मण्डूकपर्णी माण्डूकी त्वाष्ट्री दिव्या महौषधी' ॥ और **गुडूची के पर्याय**—'चन्द्रहासा वयस्था च मण्डली देवनिर्मिता' हैं तथा **हरीतकी** को भी वयस्था कहा गया है। चक्रपाणि का समर्थन हमें **वैद्यकशब्दसिन्धु** में प्राप्त होता है। राजनिघण्टु के अनुसार गोलोमी का पर्याय भूतकेशी नहीं है किन्तु चक्रपाणि ने गोलोमी और भूतकेशी को एक ही माना है, विद्वान् स्वयं विचार करें।

संज्ञा—'संज्ञा स्याच्चेतना' इत्यमरः। 'संज्ञां स्थापयन्तीति संज्ञास्थापनम्'। अर्थात् वे द्रव्य जो संज्ञा (ज्ञान=होश) को स्थापित=स्थिर करते हैं, उनको **संज्ञास्थापन** कहते हैं। निःसंज्ञ (बेहोश) को संज्ञावान् करने वाले द्रव्यों का यहाँ वर्णन किया गया है, उक्त सभी द्रव्य उष्णवीर्य एवम् आशुगुणकारी होते हैं।

ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवाऽरिष्टावाट्यपुष्पीविष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति (४९),

(४९) **प्रजास्थापन महाकषाय** (Procreants)—ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या (दूब), सहस्रवीर्या (दूब का ही एक भेद) अमोघा (पाटला), अव्यथा (हरीतकी) शिवा (हल्दी), अरिष्टा (कुटकी), वाट्यपुष्पी (महाबला), विष्वक्सेनकान्ता (प्रियंगु) ये दस द्रव्य प्रजास्थापन करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने ऐन्द्री को **दिव्य औषधि** लिखकर अपना पिण्ड छुड़ाया है, शेष केवल **ऐन्द्री** लिखकर आगे बढ़ गये हैं। वास्तव में **ऐन्द्री बकोपा मोनिएरी** लै०-Bacopa monnieri (Linn) Pennell है। इसके अन्य भाषाओं में नाम आचार्य प्रियव्रत शर्मा कृत 'द्रव्यगुणविज्ञान' द्वितीय भाग में देखें। यह इन्द्रायण लै०—कोलिसिंथिस (Colocynthis) से सर्वथा भिन्न है। इसको केवल दिव्य ओषधि लिखकर चिकित्सक अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि दिव्य ओषधि की प्राप्ति का प्रयास रोगी को करना होगा या चिकित्सक को? यदि '**दिव्य प्रभाववाली**' आप कहने लगेंगे तब तो किसी द्रव्य विशेष का ग्रहण करना ही कठिन हो जायगा?

दूसरे टीकाकारों ने **कुटकी** को **अरिष्टा** स्वीकार किया है और कुछ ने वाट्यपुष्पी का पौर्वापर्य क्रम स्थापित करने के लिये **अरिष्टा** का पर्याय **नागबला** और **वाट्यपुष्पी** का पर्याय **महाबला** लिखा है। जबकि बलाचतुष्टय में **अरिष्टा** नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में **अरिष्ट** शब्द का प्रयोग निघण्टुशास्त्र में लहसुन, नीम, तक्र (मठा) के लिये किया गया मिलता है।

अव्यथा के बाद **शिवा** शब्द का प्रयोग हुआ है ये दोनों ही नाम **हरीतकी** के पर्यायों में परिगणित हैं। अतः **अव्यथा** को **हरीतकी** और **शिवा** को **हरिद्रा** स्वीकार किया गया है।

विष्वक्सेनकान्ता—'विष्वक्सेनो जनार्दनः'। यह विष्णु का नाम है इनकी कान्ता लक्ष्मी है। **लक्ष्मी** का अर्थ **शोभा** भी है। सचमुच '**प्रियंगु पुष्प**' का यह सौभाग्य ही है कि इसका सम्बन्ध भगवान् से जुटा हुआ है।

प्राचीन व्याख्याकारों की उक्त द्रव्यों के सम्बन्ध में धारणा—'शतवीर्यासहस्रवीर्ये दूर्वे'। '**अमोघा** पाटला, आमलकी वा'। '**अव्यथा**—कदली, गुडूची, हरीतकी वा'। 'अरिष्टा—कटुरोहिणी'। '**विष्वक्सेनकान्ता**—प्रियङ्गुः'। इति आयुर्वेददीपिका।

अन्यथा—आमलकी। **शिवा**-हरीतकी। इति योगीन्द्रनाथसेनः। अन्ये तु-**शतवीर्या-सहस्रवीर्ये**-शतावर्यौ। **अमोघा**—'पद्मभेदे स्यात् पाटल्यां च विडङ्गके'। **अन्यथा**—हरीतकी। **शिवा**—हरिद्रा। **अरिष्टा**—गांगेरुकी। **विष्वक्सेनकान्ता**—वाराहीकन्दः।

प्रजास्थापन—'प्रजा स्यात् सन्ततौ'। इति अमरः। प्रजायते, इति प्रजा। अर्थात् जो द्रव्य गर्भ धारण क्रिया के अवरोधों को दूर करके गर्भ धारण क्रिया में समर्थ हों उन्हें प्रजास्थापन कहते हैं। यथा—'गर्भगतान् दोषान् निरस्य प्रजां (तत्र) स्थापयति (तत्) प्रजास्थापनम्'। उक्त सभी द्रव्य सौम्य (कषाय, मधुर, स्निग्ध, शीतल एवं बलवर्धक होते हैं। इनका गर्भधारण के पूर्व प्रयोग गर्भाशय को स्वस्थ तथा सशक्त करने के लिये होता है और गर्भधारण के बाद गर्भच्युति न हो इसलिये भी होता है। इनसे भ्रूण को भलीभाँति पोषण मिलता है।

अमृताऽभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति (५०),

॥ इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ १८ ॥

(५०) वयःस्थापन महाकषाय (Rejuvenators)—अमृता (गुरुच), अभया (हरीतकी), धात्री (आँवला), मुक्ता (रास्ना), श्वेता (अपराजिता), जीवन्ती, अतिरसा (शतावरी), मण्डूकपर्णी, स्थिरा (शालपर्णी), पुनर्नवा ये दस द्रव्य वयःस्थापनकारक होते हैं। यह ५ महाकषायों का (१०वाँ) वर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—उक्त कषाय के प्रथम तीन द्रव्य **त्रिफला** के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। **मुक्ता** को चक्रपाणि ने रास्ना का पर्याय माना है किन्तु भावप्रकाश आदि निघण्टुकार इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। यदि 'मुक्ता' के स्थान पर **'युक्ता'** पाठभेद स्वीकार कर लिया जाय तो एक समाधान की किरण दृष्टिगोचर होती है। यथा—'नामैकदेशग्रहणात् तन्नामग्रहणम्', अर्थात् नाम के एक देश (भाग) का ग्रहण करने से पूरे नाम का ग्रहण कर लिया जाता है। **रास्ना** का एक नाम **युक्तरसा** भी है, हो सकता है आचार्य को यही अभीष्ट रहा हो। इसके आगे चक्रपाणि लिखते है—**'श्वेता'** स्थाने **'श्रेयसी'** इति केचित्, सा रास्ना भेदः' एव।

अतिरसा—इसको प्रायः सभी टीकाकारों ने 'शतावरी' माना है। भावप्रकाश में **शतावरी** के पर्यायों में **अतिरसा** शब्द का ग्रहण नहीं हुआ है। डॉ० रामसुशील सिंह द्वारा लिखित 'वनौषधि-निर्दशिका' में **शतावरी** का पर्याय **अतिरसा** (पृ० ३२१ में) दिया है, साथ ही (पृ० २८८ में) **मूर्वा** के पर्यायों में भी इसकी गणना की है। जब कि भावप्रकाश **मूर्वा** का पर्याय **मधुरसा** देता है, न कि **अतिरसा**।

वयःस्थापन—'वयः पक्षिणि बाल्यादौ **यौवने** च'। इति मेदिनी। अन्यच्च—'वयः पक्षिणि बाल्यादौ वयो **यौवनमात्रके**',। इति विश्वः। वयस् अर्थात् गये हुए यौवन को जो पुनः स्थापित (ष्ठा गतिनिवृत्तौ = स्था धातु का प्रयोग जाकर लौट आने के अर्थ में होता है) कराने में समर्थ होता है, उसे **वयःस्थापन** कहते हैं। जो द्रव्य जरा (बुढ़ापा) तथा रोगों का नाश करने में समर्थ हो उसको **रसायन** भी कहते हैं, इस दृष्टि से उक्त द्रव्य रसायन भी कहे जा सकते हैं। **यथा**—'रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी'॥ शार्ङ्गधर सं० अ० ३।

इति पञ्चकषायशतान्यभिसमस्य पञ्चाशन्महाकषाया महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति ॥ १९ ॥

उपसंहार—पूर्वोक्त प्रकार से पांच सौ (५००) कषायों का दस-दस संख्या से वर्गीकरण करके यहाँ पचास (५०) महाकषायों का वर्णन किया गया है। उक्त ५० महाकषाय क्वाथ, लक्षण तथा उदाहरण के लिये कहे गये हैं।

वक्तव्य—'अभिसमस्य'—यहाँ पर अभि उपसर्गपूर्वक षष्ठ्यन्त समशब्द का अर्थ है प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जिन कषायों में द्रव्यों की संख्या (दस-दस के रूप में) समान है, उसे **अभिसम** कहा गया है।

लक्षणोदाहरणार्थम्—इन दो शब्दों के प्रयोग पर चक्रपाणि ने अपनी टिप्पणी इस प्रकार दी है—१. **'लक्षणस्य उदाहरणम्'**—लक्षण का उदाहरण। अर्थात् कषाय शब्द का लक्षण और उसका उदाहरण। यथा—जीवनीयादि महाकषाय 'लक्षण' हैं और जीवक आदि द्रव्य उसके उदाहरण हैं। २. **लक्षणार्थम्-उदाहरणार्थं च**—लक्षण और उदाहरण दोनों के लिये उक्त महाकषायों का निर्देश किया गया है। अर्थात् मन्दबुद्धि (दूसरे शास्त्रों के ज्ञाता किन्तु आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक अथवा उपदेश देने पर जिनमे धारणा शक्ति का अभाव हो ऐसे) पुरुषों के लिये ५० महाकषायों अथवा ५०० कषायों का उपर्युक्त निर्देश लक्षण के रूप में किया है किन्तु बुद्धिमानों (युक्ति कुशल पुरुषों) के लिये इस प्रसंग में वर्जित कषायों का उल्लेख उदाहरण मात्र के लिये है।

निष्कर्ष—शास्त्र का मुख्य उद्देश्य दिशा ज्ञान कराना होता है, तदनन्तर शास्त्र के अध्ययनकर्ताओं पर उसके संक्षेप अथवा विस्तार का उत्तरदायित्व होता है। यही स्थिति अन्य विषयों की भी है। देश, काल, बल, सात्म्य, रोग, प्रकृति आदि परिस्थितियों के आधार पर कषायों की कल्पना अनन्त की जा सकती है। महर्षि अग्निवेश जैसे त्रिकालज्ञ मनीषियों का इतना ही संकेत महान् उपकारक है। इसी कारण आ[illegible] निर्देश किया है।

नहि विस्तरस्य प्रमाणमस्ति, न चाप्यतिसङ्क्षेपोऽल्पबुद्धीनां सामर्थ्यायोपकल्पते, तस्मादनतिसङ्क्षेपेणानतिविस्तरेण चोपदिष्टाः। एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानायेति ॥ २० ॥

मध्यममार्ग से उपदेश—विषय का विस्तार करने की कोई सीमा नहीं है और अतिसंक्षेप भी अल्पबुद्धि वाले पुरुषों के लिये व्यवहार संचालन योग्य नहीं होता। इसलिये महर्षि आत्रेय ने न अतिसंक्षेप से और न अतिविस्तार से (कषायों का) उपदेश किया है। इतने ही (कषाय तथा महाकषाय) अल्पबुद्धि वाले वैद्यों के व्यवहार के लिये पर्याप्त हैं। स्वालक्षण्य, अनुमान तथा युक्तिकुशल बुद्धिमान् चिकित्सक तो अनुक्तविषय को भी अपनी बुद्धि से जान लेते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार विस्तार की कोई सीमा नहीं है उसी प्रकार संक्षेप का भी कोई अन्त नहीं है, जिस प्रकार प्रलयकाल में **'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'** हो जाता है, यह संक्षेप की चरम सीमा है। अस्तु अल्पबुद्धि की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

स्वालक्षण्य—स्वलक्षण का भाव अथवा स्वस्वरूपता, अर्थात् समान लक्षण वाले द्रव्य तथा समान गुण वाले द्रव्य स्वालक्षण्य की परिधि में आते हैं।

अनुमान—परामर्श से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को **अनुमिति** कहते हैं और अनुमिति के असाधारण कारण को **अनुमान** कहते हैं। पुनः यह अनुमान स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। इस अनुमान द्वारा सर्वत्र विषय के निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है। यथा—द्राक्षा स्निग्ध, शीत आदि गुणोंवाली थी, अब भी है, इत्यादि।

युक्ति—युक्ति का तात्पर्य है कि किस स्थिति में किस द्रव्य की योजना हितकारिणी होगी अथवा किस की नहीं होगी, इसका विचार करने में कुशल विद्वान् चिकित्सक कषायों की स्वयं कल्पना करने का अधिकारी है।

उक्त कषायों तथा महाकषायों के निर्देश से चिकित्सक समाज को यह विशद दृष्टि प्राप्त हुई है कि किस प्रकार के रोगों में किस प्रकार के औषध द्रव्यों का संयोजन एवं निर्धारण करना चाहिये, जिसके लिये बुद्धिमान् चिकित्सक को शास्त्र ने पूरी छूट दे दी है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह है कि द्रव्यों के गुण-धर्मों को जानने वाला चिकित्सक जिस किसी देश में हो वहाँ उपलब्ध होने वाली ओषधियों का परिस्थिति के अनुकूल चयन कर सकेगा। क्योंकि—**'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'**।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतानि भगवन्! पञ्चकषायशतानि पूर्यन्ते, तानि तानि ह्येवाङ्गान्युपप्लवन्ते तेषु तेषु महाकषायेष्विति ॥ २१ ॥

समस्त कषायों के सम्बन्ध में प्रश्न (Question about all Decoctives)—इस प्रकार (५०० कषाय तथा ५० महाकषायों) का वर्णन करने वाले भगवान् आत्रेय मुनि से (उनके शिष्य) अग्निवेश ने कहा (प्रश्न किया)। भगवन्! आपने ये जो उपदेश दिये हैं, ये कषाय पाँच सौ (५००) पूरे नहीं होते। वे-वे ही पदार्थ (अधिकांश रूप से) उन-उन महाकषायों में दिखाई देते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के उपदेशों को सुनकर और उक्त (५००) कषायों के द्रव्यों को ध्यान में रखते हुए उनके शिष्य अग्निवेश ने यह प्रश्न किया कि एक ही द्रव्य को अनेक बार पृथक्-पृथक् कषायों में वर्णन करके आपने उन द्रव्यों की गणना उतनी बार कर दी है। वास्तव में एक द्रव्य की गणना एक ही बार होनी चाहिये थी, इस दृष्टि से ये ५०० कषाय पूर्ण नहीं होते हैं। जैसे—क्षीरकाकोली और काकोली का ग्रहण **जीवनीय महाकषाय** में भी किया गया है और इन्हीं द्रव्यों का ग्रहण **बृंहणीय महाकषाय** में भी किया गया है। इस प्रकार और भी अनेक ओषधियाँ ऐसी हैं जिनका ग्रहण पृथक्-पृथक् महाकषायों में कई बार हुआ है। पाठक स्वयं ध्यान दें। उक्त शंका का उत्तर भगवान् आत्रेय इस प्रकार दे रहे हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—**नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश ! एकोऽपि ह्यनेकां संज्ञां लभते कार्यान्तराणि कुर्वन्, तद्यथा—पुरुषो बहूनां कर्मणां करणे समर्थो भवति, स यत्कर्म करोति तस्य तस्य कर्मणः**[1] **कर्तृकरणकार्यसम्प्रयुक्तं तत्तद् गौणं नामविशेषं प्राप्नोति, तद्वदौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम्। यदि चैकमेव किञ्चिद्द्रव्यमासादयामस्तथागुणयुक्तं यत्सर्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात्, कस्ततोऽन्यदिच्छेदुपधारयितुमुपदेष्टुं वा शिष्येभ्य इति ॥ २२ ॥**

पुनरुक्त द्रव्यों का समाधान—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को इस प्रकार उत्तर दिया—हे अग्निवेश ! बुद्धिमान् पुरुषों को इस प्रकार उक्त विषयों को नहीं देखना चाहिये, क्योंकि एक ही द्रव्य पृथक्-पृथक् कार्यों को करता हुआ भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को धारण करता है। उक्त विषय को इस प्रकार समझें—जैसे एक पुरुष अनेक कार्यों को करने में समर्थ होता है, वह जो-जो कार्य करता है, उस-उस कर्म के कर्ता, करण और कार्य के अनुसार उसके तद्-तद् गुण विशिष्ट नामों को वह प्राप्त करता है। इसी प्रकार औषध द्रव्यों को भी देखना चाहिये, यदि हम एक ही किसी ऐसे गुणवान् द्रव्य को ग्रहण करें जो सभी कार्यों को करने में समर्थ हो, तो कौन ऐसा (गुरु) होगा जो उससे भिन्न द्रव्य का शिष्यों के लिये उपदेश करेगा या उनको याद करने के लिये कहेगा।

वक्तव्य—गौणनाम का स्पष्टीकरण—जैसे कोई पुरुष जब वह भोजन बनाता है तो हम उसे **पाचक** कहते हैं। वही जब अध्यापन कार्य करता है तो उसे **अध्यापक** कहा जाता है। इसी प्रकार जब जो ओषधि जीवन के लिये हितकर होगी तो वह **जीवनीय** कही जायगी और जब बृंहण (कृश को स्थूल करने का कार्य) करेगी तो **बृंहणीय** कही जायगी। अर्थात् इन कार्यों से उस ओषधि का गुणकृत (गौण) नाम परिवर्तित होता जाता है।

महर्षि आत्रेय ने इस संहिता की रचना सूत्ररूप में की है। अर्थात् व्यर्थ विस्तार की इस तन्त्र में सर्वथा उपेक्षा की गयी है। उक्त कषायों में उन महत्वपूर्ण ओषधियों का संग्रह किया गया है जो अपने गुण, धर्म, वीर्य, विपाक, प्रभाव विशेष से अनेक रोगों में कार्य करने में समान रूप से समर्थ हैं। अतः अग्निवेश के प्रश्न का यह उत्तम समाधान है कि जन्मजात नाम से गुणकृत (गौण) नाम का भेद होने से ५०० की संख्या के पूर्ण होने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता है। चक्रपाणि ने गौण शब्द की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—**गुणयोगप्रवृत्तं गौणम्'**।

एक ही ओषधि का अनेक कषायों में पाठ होने में एक कारण यह भी है कि चिकित्सक का संग्रहालय जितना छोटा होगा उतना ही सुव्यवस्थित होगा, जिन विशेष प्रभावकारी द्रव्यों के सम्बन्ध में उसकी पूर्ण जानकारी होगी उसका प्रयोग वह पूर्ण दक्षता के साथ कर सकेगा। ये ५०० कषाय रोगों की व्यापकता तथा द्रव्यों की असंख्येयता को दृष्टि में रखकर न तो अधिक संक्षिप्त कहे जा सकते हैं और न अत्यन्त विस्तृत।

तत्र श्लोकाः—

यतो यावन्ति यैर्द्रव्यैर्विरेचनशतानि षट्। उक्तानि सङ्ग्रहेणेह तथैवैषां षडाश्रयाः ॥ २३ ॥

इस अध्याय में जिन-जिन औषधद्रव्यों द्वारा जितने (त्र्यस्त्रशत योगशतं प्रणीतं फलेषु) तथा जिन

१. 'कर्मणः सम्पादनात्' इति यो.।

(मदन फल आदि) द्रव्यों के ६०० सौ विरेचन होते हैं, संक्षेप से उन सबका वर्णन यहाँ किया है और इन (विरेचन द्रव्यों) के ६ आश्रयों का भी निर्देश कर दिया गया है।

रसा लवणवर्ज्याश्च कषाया इति संज्ञिता। तस्मात्[1] **पञ्चविधा योनिः कषायाणामुदाहृता ॥२४॥**

लवण (नमक) को छोड़कर शेष रसों की कषाय संज्ञा है। इसलिये कषायों की योनि (उत्पत्ति-स्थान, स्वरूप-भेद) पाँच प्रकार की कही गयी है।

वक्तव्य—कषाय की ५ योनियों का वर्णन शार्ङ्गधरसंहिता मध्यम खण्ड अ० १ में इस प्रकार है—'अथातः स्वरसः कल्कः क्वाथश्च हिम-फाण्टकौ। ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम्' ॥

तथा कल्पनमप्येषामुक्तं पञ्चविधं पुनः। महतां च कषायाणां पञ्चाशत् परिकीर्तिता ॥२५॥
पञ्च चापि कषायाणां शतान्युक्तानि भागशः। लक्षणार्थं, प्रमाणं हि विस्तरस्य न विद्यते ॥२६॥
न चालमतिक्षेसङ्क्षेपः सामर्थ्यायोपकल्पते। अल्पबुद्धेरयं तस्मान्नातिसङ्क्षेपविस्तरः ॥२७॥
मन्दानां व्यवहाराय बुधानां बुद्धिवृद्धये। पञ्चाशत्को ह्ययं वर्गः कषायाणामुदाहृतः ॥२८॥

इस प्रकार इन कषायों की पाँच प्रकार की कल्पनायें (निमार्ण विधियाँ) भी कही गयी हैं और महाकषायों के ५० भेदों का भी वर्णन किया गया है।

और इन महाकषायों को अलग-अलग करके लक्षण के लिए पाँच सौ (५००) कषाय कहे गये हैं। अल्पबुद्धि चिकित्सकों के लिए इससे अधिक संक्षेप करना उनकी बुद्धिसामर्थ्य से दूर की बात है। अर्थात् वे समझ नहीं पायेंगे। अतः मन्दबुद्धि वैद्यों के व्यवहार के निर्वाह के लिए तथा बुद्धिमानों की बुद्धि की अभिवृद्धि के लिये न अधिक संक्षिप्त और न अधिक विस्तृत ये ५० कषायों के वर्ग कहे गये हैं।

तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च। संयोगं च प्रयोगं च यो वेद स भिषग्वरः ॥२९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के षड्विरेचनशताश्रितीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

जो पुरुष ऊपर कहे गये कषायों (महाकषायों) के बाह्ययोग (External application) प्रलेप आदि तथा आभ्यन्तर योग (Enternal application) पान अथवा अन्तःप्रवेशक औषध आदि की योजना को देश, काल आदि का विचार कर प्रयोग करना जानता है, वही श्रेष्ठ चिकित्सक है।

वक्तव्य—उक्त कारिका में योग, संयोग, प्रयोग शब्द दिये गये हैं, उनकी व्याख्या इस प्रकार है। **योग**—देश,काल, परिस्थिति आदि का विचार, **संयोग**—किस द्रव्य को किस द्रव्य के साथ मिलाने से उसकी परस्पर गुणों में वृद्धि या हानि होती है और **प्रयोग**—बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। १. बाह्य प्रयोग–प्रलेप आदि, २. आभ्यन्तर प्रयोग–वमन, विरेचन, पाचन, वस्ति आदि।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में षड्विरेचनशताश्रितीय नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

१. 'तेषाम्' इति यो.।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब (भेषज चतुष्क का वर्णन करने के बाद) मात्राशितीय (परिणाम के अनुसार भोजन करना चाहिये इस) नाम के अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—आयुर्वेद शास्त्र के प्रधानतया दो प्रयोजन हैं। यथा—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य-विकार प्रशमनं च'। अर्थात् १. स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना और २. रोगी के विकारों को शान्त करना। इसमें रोगी के रोग-निवृत्ति का संक्षेपतः पूर्व अध्यायों में निर्देश किया जा चुका है। अब स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी विषयों का निर्देश इन स्वस्थचतुष्क नामक अध्यायों में करेंगे। इसकी प्रतिज्ञा अग्निवेश 'स्वस्थातुरपरायणम्' के रूप में चरकसंहिता के प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। स्वस्थ रहने के लिये सर्वप्रथम आहार पर नियन्त्रण रखना परमावश्यक होता है। देखें—'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च'। सुश्रुत सू० अ० १।

मात्राशितीयम्—मीयते-अनया, इति मात्रा। माङ्माने धातु। मा + ष्ट्रन् + टाप् = मात्रा। मात्राशितम् (मात्रया = परिमाणेन यत् अशितम्) अधिकृत्य कृतोऽध्यायो मात्राशितीयः। परिमाण के अनुसार जो भोजन किया जाता है उसे 'मात्राशितम्', कहते हैं। जैसा कि चरकसंहिता की परम्परा है, अध्याय के प्रारम्भिक शब्द को लेकर ही उस अध्याय का नामकरण किया जाता है, तदनुसार इस अध्याय का नाम **मात्राशीयः** ऐसा होना चाहिये था किन्तु शब्द की सरलता को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया गया है। ऐसा ही विवेचन **नवेगान्धारणीयं** नामक सूत्रस्थान के ७ वें अध्याय में भी समझें।

अशित अर्थात् खाये हुए या खाये जाने वाले अन्न के सम्बन्ध में चरक के विचार देखें—'प्राणाः प्राणभृतामन्नम्, अन्नं लोकोऽभिधावति। वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभासुखम् ॥ तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्। लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥ कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्'। चरक सू० अ० २७। ३४९-५० ॥

उपर्युक्त समस्तगुण **मात्राशित** के हैं। इसके विपरीत निम्नोक्त गीता के वचन पर भी ध्यान दें—'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः'। गीता ६।१६।

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी ॥ ३ ॥

आहार सम्बन्धी विचार (Thoughts about Diet)—मात्राशी-पुरुष को उपयुक्त परिमाण से भोजन करने वाला होना चाहिये और आहार की मात्रा का निर्धारण जाठराग्नि के बलाबल की अपेक्षा रखता है।

वक्तव्य—इसी विषय को अष्टाङ्गसंग्रह में इस प्रकार कहा गया है—'मात्रा पुनरग्निबलाहारद्रव्यापेक्षिणी'। आचार्य वाग्भट के इस कथन से यह भी संकेत मिलता है कि मात्रा का निर्धारण अग्निबल (Digestive capacity) को देखकर ही नहीं करना चाहिये अपितु आहार द्रव्यों के गुरु-लाघव का भी उसमें विचार अवश्य करें, क्योंकि शास्त्र का निर्देश है—**'गुरूणाम् अर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते'**। अर्थात् गुरु (तेल, घी में पके हुए पदार्थ अथवा वे पदार्थ जो जल्दी नहीं पचते) पदार्थों के भोजन से आधी तृप्ति का होना पूर्ण भोजन समझें और लघु (जल्दी पचने वाले) पदार्थों का तृप्ति से अधिक सेवन न करें।

आहार के भेद—१. भोज्य, २. भक्ष्य, ३. चर्व्य, ४. लेह्य, ५. चोष्य ६. पेय। इनके क्रमशः सामान्य उदाहरण—भात तथा दाल भोज्य, लड्डू रोटी आदि भक्ष्य, च्यूड़ा, दाना, फरवी, लावा, खील, चने आदि चर्व्य (चबाने योग्य), सिखरन, चटनी आदि लेह्य (चाटने योग्य), आम, ईख आदि चोष्य (चूसने योग्य) और शर्बत, दूध आदि पेय (पीने योग्य) कहे जाते हैं। इन सब का सम्मिलित नाम आहार है। यह वर्णन शार्ङ्गधर संहिता के अनुसार है। अब अन्य आचार्यों का मत उद्धृत किया जा रहा है।

अष्टविध आहार—'तत्र खलु इमानि अष्टौ आहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तद्यथा—प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-काल-उपयोग-संस्था-उपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति'। चरक. वि. अ. १।१८। इसी का समर्थन निम्न-श्लोक में देखें—

'आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः।
शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्य प्रयोजयेत्' ॥ चरक सू० अ० २८।४०।

चतुर्विध आहार—'तस्याशितपीतलीढखादितस्य'। सुश्रुत सू. अ. ४६।१। इस पर डल्हण की टीका इस प्रकार है—'अशितं भोज्यमोदनादि, पीतं पेयं क्षीरादि, लीढं लेह्यं मध्वादि, खादितं भक्ष्यं मोदकादि। इसी का अनुमोदन चरक के शब्दों में—'विविधमशितं पीतं लीढं खादितम्'। चरक सू. २८।३।

आहार द्रव्य—आह्रियते (पोषणार्थम् अन्ननलिकया) इति आहारः, जो विचार आहार के घटकों के सम्बन्ध में आज किया जा रहा है उसे हमारे आचार्यों ने बहुत समय पूर्व लिपिबद्ध कर दिया है। यथा—

'षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके तथा।
आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्' ॥ चरक सू० अ० ५।

इस पद्य की विशेष व्याख्या इसी प्रकरण में यथास्थान की जायगी, यहाँ इन द्रव्यों का आधुनिकता की दृष्टि से समीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है, १. षष्टिक, शालि—कार्बोहाइड्रेट। २. मुद्ग—प्रोटीन, ३. सैन्धव—लवण, ४. आमलक—विटामिन सी, ५. जौ—पुरीषजनन और स्नेहव्यापत् प्रतिषेधक, ६. आन्तरीक्षजल—शुद्ध जल, ७. पय—दूध इसमें प्रोटीन, स्नेह, शर्करा आदि पोषक तत्व होते हैं। ८. घृत—घी (स्नेह), ९. मधु—शर्करा। यह एक अपने में पूर्ण भोजन है।

कौटिल्य ने संतुलित आहार का परिचय **आर्यभक्त** के नाम से दिया है। इसमें सर्वग्रह और परिग्रह शब्दों का प्रयोग किया है। इनकी व्याख्या चरक के शब्दों में देखें—

'सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन **सर्वग्रहः**।
परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकत्वेनाहारद्रव्याणाम्' ॥ चरक वि० १।२२ ॥

आहार तालिका—कौटिल्य

१. ओदन	(भात)	१ प्रस्थ (७०० ग्राम)
२. सूप	(दाल)	१ कुडव (१७५ ग्राम)
३. लवण	(नमक)	$\frac{१}{६}$ कुडव (१० ग्राम)
४. घृत-तैल		$\frac{१}{४}$ कुडव (४० ग्राम)

अर्थशास्त्र २।३१।२५-२६

आहार तालिका—चक्रपाणि

१. अन्न	(भात)	१ कुडव (१७५ ग्राम)
२. सूप	(दाल)	१ पल (४० ग्राम)
३. मांस	(मांस)	२ पल (८० ग्राम)

नोट—इसी अनुपात में घी-तैल भी समझें।

चरक विमान स्थान १।२२ की व्याख्या में।

भोजन के कुछ शास्त्रीय विशिष्ट आदेश—१. उष्णमश्नीयात्, २. स्निग्धमश्नीयात्, ३. मात्रावदश्नीयात्, ४. जीर्णे अश्नीयात्, ५. वीर्याविरुद्धमश्नीयात् (Incompatible), ६. इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्, ७. नातिद्रुतमश्नीयात्, ८. नातिविलम्बितमश्नीयात् ९. अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जीत, १०. आत्मानम् अभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्।

डा० घोष आदि कुछ आधुनिक चिकित्सकों ने सामान्य रूप से जिस आहार तालिका का निर्देश किया है, उसमें भी उत्तम चिकित्सक को देश, काल, व्यक्ति आदि के बलाबल को देखकर परिवर्तन करना ही पड़ता है। अतः इसका निर्धारण चिकित्सक स्वयं करें।

यही स्थिति गवर्नमेंट आफ इण्डिया द्वारा प्रसारित बुलेटिन सं० २३ की भी है। कोई भी विचारशील व्यक्ति देश, काल, परिस्थिति आदि का बिना विचार किये आगे दी हुई तालिकाओं को लागू कर सकेगा? हाँ सामान्य रूप से उक्त तालिकाओं को स्वीकार किया ही गया है।

यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ ४ ॥

उचित आहारमात्रा—भोक्ता (भोजन करने वाला) द्वारा किया हुआ (पूर्वोक्त षड्विध) जितना भोजन प्रकृति (वात-आदि प्रकृति अथवा Physiological actions) का उपघात न करके ठीक समय में पच जाता है, उतना ही उसके लिये (उस प्रकार के) आहार की मात्रा का प्रमाण समझना चाहिये।

वक्तव्य—जितना खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पच जाय उतने को उस व्यक्ति की आहारमात्रा मान लेनी चाहिये। इस आहार मात्रा का एक विशेषण है—**अनुपहत्य**-इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—'कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातः सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति।' चरक वि० अ० २। इसकी विशेष व्याख्या यथास्थान देखें।

यथाकालम्—गुरु लघु भेद से आहार द्रव्यों के पचने के भिन्न-भिन्न काल होते हैं, अत एव यथाकाल शब्द का प्रयोग किया गया है।

आचार्य सुश्रुत का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—'बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद् विदितागमः।… नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा॥ हीनमात्रमसन्तोषं करोति च बलक्षयम्। आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्॥ सुश्रुत सू० अ० ४६।

आधुनिक दृष्टि से आहार पदार्थों का विवेचन शरीर में दैनिक होने वाली क्षति की पूर्ति के लिये इस प्रकार माना गया है—१. मांसतत्त्व (Protien) २. शाकतत्त्व (Carbohydrates) ३. वसा तत्त्व (Fat) ४. लवण (Salts) ये पदार्थ रसादिधातुओं तथा शरीर को पोषण प्रदान करते हैं।

तत्र शालिषष्टिकमुद्गलावकपिञ्जलैणशशशरभशम्बरादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिलघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति; तथा पिष्टेक्षुक्षीरविकृतितिलमाषानूपौदकपिशितादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिगुरूण्यपि मात्रामेवापेक्षन्ते॥ ५॥

मात्रापेक्षी गुरु-लघुद्रव्य—आहार में शालि, षष्टिक (सांठी के चावल), मूंग, लावक (लावा पक्षी), कपिंजल (गौरैया) एण (हरिण), शश (खरगोश), शरभ (अष्टापद मृग या बारहसिंघा), शंबर (सांभर-मृग) आदि आहारद्रव्य स्वभाव से ही लघु (शीघ्र पचनेवाले) होते हैं, फिर भी इनकी मात्रा की अपेक्षा की जाती है। **पिष्टविकृति**—रोटी, पूड़ी हलुआ आदि, **इक्षुविकृति**—गुड़, चीनी आदि के संयोग से निर्मित पदार्थ। **क्षीरविकृति**—दूध से बने हुए (रबड़ी, खोआ, किलाट आदि) पदार्थ, माष (उड़द), आनूपदेश के पशु, पक्षियों के मांस तथा औदक (जल-जन्तुओं के) मांस आदि आहार द्रव्य स्वभाव से ही गुरु होने पर भी मात्रा की अपेक्षा रखते हैं।

वक्तव्य—'शरभ' को यद्यपि चक्रपाणि ने 'महाशृङ्गीहरिणः' लिखा है परन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि—Fabulous animal said to have eight legs and to be stronger than a lion. यथा—'अष्टापदः शरभः सिंहघाती'—महाभारत। विद्वान् विचार करें।

उक्त गद्य के प्रारम्भ में शालि-षष्टिक आदि धान्यों का तदनन्तर पक्षी, पशुओं के शीघ्र पचने वाले मांसों का वर्णन है। दूसरे पक्ष में पिष्ट (आटा), इक्षु, क्षीरविकृतियों तथा उन पशु-पक्षियों के मांसों का वर्णन किया गया है जो स्वभावतः गुरु हैं। अतः इन सबके गुरु-लाघव आदि का विचार करके ही विद्वान् चिकित्सक को आहार मात्रा का निर्धारण करना चाहिये।

आनूपदेश—'बहूदकनगोऽनूपः कफमारुतरोगवान्'। शार्ङ्गधरसंहिता अ० १। अर्थात् जिस देश में जल, पहाड़, वृक्ष अधिक हों और कफ तथा वात से सम्बन्धित रोग अधिक होते हों, उसे अनूप देश कहते हैं। इसमें उत्पन्न होने वाले पदार्थों एवं प्राणियों को आनूपज कहते हैं।

न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघवमकारणं मन्येत; लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति, पृथ्वीसोमगुणबहुलानीतराणि; तस्मात् स्वगुणादपि लघून्यग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यल्पदोषाणि चोच्यन्तेऽपि सौहित्योपयुक्तानि, गुरूणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्यात्, अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौहित्योपयुक्तान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात्; सैषा भवत्यग्निबलापेक्षिणी मात्रा॥ ६॥

आहार द्रव्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण (Scientific explanation of Diets)—लघु द्रव्य तथा गुरु द्रव्य दोनों ही मात्रा की अपेक्षा करते हैं, इस प्रकार कहने पर द्रव्यों की स्वाभाविक गुरुता तथा लघुता व्यर्थ है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि लघुद्रव्य वात तथा अग्निगुण-प्रधान होते हैं। दूसरे गुरु द्रव्य

पृथिवी तथा सोम (जल) गुण प्रधान होते हैं। इसलिये उपर्युक्त लघुद्रव्य अपने अग्निगुण-प्रधान होने के कारण पाचकाग्नि को प्रदीप्त करने वाले तथा सौहित्य (मात्रा से अधिक) खाये हुए भी स्वल्पदोषकारक कहे जाते हैं, और गुरु द्रव्य असामान्य (अग्निवर्धक न होने तथा पृथिवी, सोमगुणबहुल) होने के कारण अग्नि को उद्दीप्त नहीं करते और व्यायाम (Exercise) से होने वाले अग्निबल को छोड़कर तृप्तिपर्यन्त खाये हुए ये गुरु पदार्थ अत्यन्त दोषकारक होते हैं। अतः आहारमात्रा अग्नि के बल पर निर्भर रहती है।

वक्तव्य—सन्धुक्षण (Stimulata) अर्थात् प्रदीप्त करना। आहारमात्रा निर्धारण की दृष्टि से ही उपर्युक्त द्रव्यों के लघु तथा गुरु भेद करके चिकित्सक समाज को अग्निवेश ने एक विशिष्ट दृष्टि दी है और उनके उपयोग से लाभ-हानि भी समझा दी है कि लघु द्रव्यों तथा अग्नि की प्रकृति समान है, अतः इनसे अग्नि की वृद्धि होती है और गुरु द्रव्य अग्नि की प्रकृति के विपरीत हैं, अतः इनके सेवन से अग्निमान्द्य होना स्वाभाविक है।

इसी का विवेचन चरक सूत्रस्थान के अन्न-पानविधि अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। यथा—'दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः। ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरु-लाघवम्॥ अर्थात् जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त है, कठिन पदार्थों को खाने वाले, प्रतिदिन परिश्रम करने वाले तथा अधिक भोजन करने वालों के लिये लघु-गुरु पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इसीलिये कहा गया है कि **'आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी'**।

सौहित्यम्—'मात्रातिक्रमेण तृप्तिः' = सौहित्यम्। **'सौहित्यं तर्पणं तृप्तिः'**। इत्यमरः। जिसकी जितनी मात्रा कही गयी है उससे अधिक खाने में से जो तृप्ति होती है, उसको **सौहित्य** (Satisfaction) कहते हैं।

न च नापेक्षते द्रव्यं, द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते, लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम्॥ ७॥

आहारमात्रा अग्निबल की अपेक्षा करती है—ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह (आहारमात्रा) द्रव्य की अपेक्षा नहीं करती। (अभिप्राय यह है कि आहारमात्रा द्रव्यों की अपेक्षा भी करती है और द्रव्य पर आश्रित भी रहती है।) क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से ही गुरुद्रव्यों द्वारा (उदर के चार भागों में से) तीन भाग की तृप्ति अथवा आधे (दो) भाग मात्र की तृप्ति का उपदेश दिया गया है। लघु पदार्थों की भी अधिक तृप्ति अग्नि के लिये हितकर नहीं होती। (अर्थात् लघुपदार्थों का सेवन भी उचित मात्रा में ही करना चाहिये।)

वक्तव्य—इस विषय का विशेष विवेचन चरकसंहिता के २७ वें अध्याय में देखें। अब यहाँ पर हम आचार्य भेड़ के वचनों को उद्धृत करके विषय को स्पष्ट कर रहे हैं—'मात्रालघुः स्यादाहारः कश्चिद् द्रव्यलघुः स्मृतः। मात्रागुरुस्तथैव स्याद् द्रव्यतश्च सदा गुरुः॥ पुराणशालयो मुद्गाः शशतित्तिरलावकाः। एवं प्रकारं यच्चान्यत्तद्द्रव्यं लघुसम्मतम्॥ ग्राम्यानूपौदकं मांसं दधि पिष्टं तिलाह्वयम्। एवं प्रकारं यच्चान्यत् तद् द्रव्यं गुर्विति स्मृतम्॥ तत्र यो मात्रया भुङ्क्ते द्रव्यं गुर्वपि मानवः। आहारं यस्य पश्यन्ति लघुमेव चिकित्सकाः॥ शाल्यादीन्यपि योऽत्यर्थमश्नाति सुलघून्यपि। आहारः स तथा रूपो व्यक्तं सम्पद्यते गुरुः॥ द्रव्यस्य लघुनो युक्त्या सौहित्यं योऽधिगच्छति। एकान्तपथ्यं तं विद्यादाहारं कुशलो लघुम्॥ यो युक्त्यापि हि सौहित्यं द्रव्यस्यालघुनो व्रजेत्। तथाविधमिहाहारं गुरुमेव ब्रवीम्यहम्॥ तस्मात् त्रिभागसौहित्यमर्द्धसौहित्यमेव वा। आहारं लघुमन्विच्छेद् गुरुणा सेवितं यदा॥ लघु नाम समासाद्य द्रव्यं यो ह्यति सेवते। तल्लघ्वप्यति संयुक्तं कोष्ठे सम्पद्यते गुरुः॥ गुरुलाघवविद् वैद्यो नराणां वर्द्धयत्यसून्। तस्मादेवं विजानीयाद् द्रव्याणां गुरुलाघवम्'॥' भेड़संहिता सूत्रस्थान। प्रायः उन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन आचार्य भेड़ ने भी अपनी संहिता में किया है। स्वाभाविक भी था क्योंकि अग्निवेश के बाद ही भेड़ की गणना शिष्यमण्डली में है। और 'बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीत् नोपदेशान्तरं मुनेः'। महर्षि आत्रेय के उपदेश में जब किसी प्रकार का अन्तर नहीं था तो शिष्यों की विचार परम्परा में ही अन्तर कहाँ से आयेगा।

महर्षि चाणक्य ने भी इस विषय पर विचार किया है—'द्वौ भागौ पूरयेदन्नं तोयमेकेन पूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्'। इसी का समर्थन हम निम्नलिखित पाठ में भी पाते हैं—**'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्। आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्॥** वाग्भट सू० अ० ८। ये सभी विचार चिर-स्थिर एवं पूर्ण वैज्ञानिक हैं।

मात्रावद्ध्यशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति॥ ८॥

मात्रानुसार आहार का लाभ—इसलिये यथोचित मात्रा के अनुसार खाया हुआ पूर्वोक्त षडविध

भोजन प्रकृति का उपघात किये बिना उपयोक्ता (भोजन का उपयोग करने वाले अर्थात् खाने वाले) को बल, वर्ण, सुख तथा आयु से अवश्य (ही) युक्त करता है।

वक्तव्य—इस प्रकरण में **'मात्रावद् अश्नीयात्'** यह आदेश दिया गया है, उसी की यह फलश्रुति है। आयुर्वेद प्रयोगात्मक शास्त्र है, उसके उपदेशों की कसौटी प्रधानतया मानव शरीर है। वह यह सूचित करता है कि इस आदेश का यथावत् पालन करने से बल (शारीरिकबल, विद्याबल, बुद्धिबल) एवं उत्तम (सात्त्विक) पदार्थों के सेवन से आध्यात्मिक बल, वर्ण (कान्ति, प्रभा, तेज युक्त वर्ण), सुख (शारीरिक तथा मानसिक सुख), आयु (चरक सूत्रस्थान अध्याय १।४१ में आयुर्वेद शब्द की परिभाषा देते हुए आयु के अनेक भेदों का वर्णन प्रस्तुत किया है। उसमें हितायु और सुखायु का जो वर्णन आया है, उसी आयु से यहाँ भी सम्बन्ध है) की वृद्धि होती है। मात्रा के अनुसार किये हुए भोजन का इतना व्यापक क्षेत्र है।

'कलौ-अन्नगताः प्राणाः', 'सर्वम् अन्ने प्रतिष्ठितम्' इत्यादि वाक्यों को दृष्टि में रखने पर सम्पूर्ण आयुर्वेद के क्रियाकलाप अन्न = आहार पर ही निर्भर हैं, ऐसा निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है।

भवन्ति चात्र—

गुरु पिष्टमयं तस्मात् तण्डुलान् पृथुकानपि। न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः ॥९॥

गुरु आहार द्रव्यों का प्रयोग—इसके पूर्व लघु-गुरु भेद से आहार द्रव्यों को दो भागों में विभक्त किया है। अतः पिष्टमय (आटा अथवा उड़द आदि की पीठी) से बने हुए पदार्थों, चावल तथा चिउड़े आदि गुरु भोज्य-पदार्थों का भी भोजन करने का इच्छुक पुरुष मात्रा के अनुसार ही खाये। ध्यान रहे कि भोजन कर लेने के बाद उक्त पदार्थों को पुनः न खाये।

वक्तव्य—उक्त पद्य का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'गुरुपदार्थान् बुभुक्षितः मात्रां खादेत्, न जातु भुक्तवान् खादेत्' इति। इस प्रकार संहिताकार के दो अभिप्राय सामने आते हैं, एक तो यह कि उक्त श्लोक में कहे गये पदार्थ गुरु हैं जो अभी आपने खाये हैं, अभी उनके पचने में विलम्ब है अतः पुनः उनको न खायें। दूसरा यह कि आयुर्वेद में एक शब्द **अध्यशन** नाम से प्रसिद्ध है, उसकी परिभाषा है—'भुक्तस्यो परिभोजनम्-अध्यशनम्', इसी का निषेध उक्त श्लोक में किया गया है।

तण्डुलान् पृथुकानपि—यहाँ पर नये चावल और नये धान से बनने वाले, पृथुक (च्यूड़ा) का ग्रहण उनकी गुरुता को प्रदर्शित करने के लिये किया गया है, इस स्थिति में ये दोनों ही पदार्थ गुरुपाकी होते हैं, अर्थात् देर में पचते हैं। इसका समर्थन अन्यत्र इस प्रकार है—'पृथुका गुरवो भृष्टान् भक्षयेदल्पशस्तु तान्'। चरक सू० अ० २७। 'मात्रागुरुपरिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः। पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः'॥ सुश्रुत सू० अ० ४६। तथा—'कुकूलभृष्टपृथुकान् सम्पिष्टकृततण्डुलान्। न जातु भुक्तवानद्यान्मात्रामद्यात् बुकाङ्क्षितः'॥ अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० १०।

इसके दुष्परिणामों का वर्णन माधवकर ने इस प्रकार किया है—'अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि'॥ माधवनिदान अजीर्ण प्रकरण। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय न होने के कारण पशुओं के समान अपरिमित भोजन कर लेते हैं, वे रोगों के समूह अजीर्ण को प्राप्त होते हैं। इसी विषय को प्रकारान्तर से सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है—'न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः। मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः'॥ सुश्रुत उ० अ० ४६। अर्थात् शास्त्र को जानने के कारण परिमित आहार करने वाले व्यक्तियों पर इस विसूची (Cholera) का प्रभाव नहीं होता। इसका प्रकोप जिनकी इन्द्रियाँ (जीभ) अपने वश में न होने के कारण भोजन के लोभी बने रहते हैं, उन्हीं के ऊपर होता है। विसूची का प्रभाव संक्रमण काल में निरपराधों पर भी होते देखा जाता है। अस्तु।

वल्लूरं शुष्कशाकानि शालूकानि बिसानि च। नाभ्यसेद् गौरवान् मांसं कृशं नैवोपयोजयेत् ॥१०॥

सेवन के अयोग्य आहार पदार्थ—वल्लूर (सुखाया हुआ मांस, इसका प्रयोग तिब्बत प्रदेश की ओर बहुधा देखा जाता है); शुष्क शाक (सुखाये शाक आलू, गोभी, मूली आदि को सुखाकर सुगृहिणियां रख देती हैं), शालूक (कमल की जड़ को शालूक कहते हैं, भसींडा या भें) बिस, ये आहार द्रव्य गुरु होते हैं अतः इनका अभ्यास (निरन्तर सेवन) न करे, कृश (दुर्बल) पुरुष को मांस का सेवन नहीं करना चाहिये।

वक्तव्य—शालूकानि—अमरसिंह लिखते हैं 'शालूकमेषां कन्दः स्यात्', अर्थात् सौगन्धिक आदि जितने कमलभेद बतलाये गये हैं, उनके कन्द का नाम **शालूक** है। आचार्य सायण भी अमरसिंह का अनुमोदन करते हैं। कौशिकसूत्र में शालूक का उल्लेख पितृमेध की सामग्रियों के बीच किया गया है और अथर्वपरिशिष्टमें 'असिपत्रवनं यत्र शालूकाः शाल्मली तथा'। ९।४।२। इस प्रकार निर्दिष्ट है। अस्तु, संहिताकार ने शालूक शब्द का जो बहुवचनान्त प्रयोग किया है, यह भी ध्यान देने योग्य है। निश्चित ही इसका तात्पर्य है सभी प्रकार के कन्द गुरुपाकी होते हैं। देखें—'रक्तपित्तहराण्याहुः शीतानि मधुराणि च। गुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च'॥ सु० सू० अ० ४६।

बिसानि—चक्रपाणि 'बिस' की व्याख्या में मौन हैं। दूसरे टीकाकार कमलनाल (जो जल की सतह से ऊपर निकली रहती है) का निर्देश करते हैं। अमरकोषकार का कथन है—'बिसप्रसूनम्' कमल का एक भेद बिस है उसी का यह एक भेद है, क्योंकि उसने कमल के पर्यायों में ही इसको गिना है। दूसरी जगह 'बिसनी' शब्द का उल्लेख करके उसकी व्याख्या इस प्रकार दी है—'बिसम् (पुष्पम्) अस्ति, अस्याः' इति बिसिनी। इससे सिद्ध होता है **बिस** एक प्रकार का कमल-पुष्प-भेद है। **'मृणालं बिसम्', अब्जादीनां मूलस्यैकम्।**

सायण ने भी इसका अर्थ **पद्मकन्द** किया है। सूत्रावरोध में इसके फाण्ट का विधान किया गया है। यथा—'आलबिसोलं फाण्टं पाययति'। कौ० सू० २५।१८। तथा—'बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणो वृद्धिकर्मणो वा'। यास्क २।२४। इस प्रसंग में विचारणीय यह है कि शालूक और बिस ये द्रव्य निश्चित ही भिन्न-भिन्न हैं। अन्यथा महर्षि आत्रेय ऐसा उपदेश क्यों देते?।

चरक की उक्त पदावली प्रायः उन्हीं द्रव्यों से युक्त सुश्रुत में भी दृष्टिगोचर होती है। यथा—'मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च। पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुक्ते कथञ्चन'॥ सु० सू० अ० ४६। अर्थात् मृणाल, बिस, शालूक, अन्य कन्द, ईख आदि गुरु पदार्थों का सेवन भोजन से पहले करना चाहिये, न कि भोजन करने के पश्चात्।

कूर्चिकांश्च किलाटांश्च शौकरं गव्यमाहिषे[1]। मत्स्यान् दधि च माषांश्च यवकांश्च न शीलयेत् ॥११॥

निरन्तर सेवन का निषेध—कूर्चिका (दही या मठा के साथ दूध को पकाने से निर्मित पदार्थ), किलाट (फटे हुए दूध का घना भाग जो कि पानी से अलग हो जाता है अथवा दधिकूर्चिका, तक्रकूर्चिका का मिश्रण), सूअर का मांस, गोमांस, भैंस का मांस, मछली, दही, माष (उड़द), यवक (जई) इनका भी निरन्तर सेवन न करे।

वक्तव्य—कूर्चिका आदि द्रव्यों की आयुर्वेदीय परिभाषा—'पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्चिका। तक्रेण तक्रकूर्चा स्यात् तयोः पिण्डः किलाटकः'॥ भावप्रकाश। **शीलयेत्**—शीलन अथवा परिशीलन निरन्तर सेवन या अभ्यास किया का नाम है। भोजन कर लेने के पश्चात् पुनः किन-किन पदार्थों का सेवन न करे। इस सम्बन्ध में वाग्भट का मत भी द्रष्टव्य है—

'किलाटदधिकूर्चीका क्षारयुक्तामकमूलकम्। कृशशुष्कवराहाविगोमत्स्यमहिषामिषम्॥ माषनिष्पावशालूकबिसपिष्टविरूढकम्। शुष्कशाकानि यवकान् फाणितं च न शीलयेत्॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ८।४०-४१। चरक से वाग्भट ने कुछ अधिक पदार्थों का निर्देश किया है।

यवक—'यवकाः शूकधान्यानाम् अपथ्यतमत्वे प्रकृष्टतमा भवन्ति'। चरक सू० अ० २५। यवक (जई) शूकधान्यों में अपथ्यतम (अर्थात् सबसे अधिक अपथ्य) कहे गये हैं।

षष्टिकाञ्छालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्। आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत् ॥ १२ ॥

प्रतिदिन प्रयोग करने योग्य आहार द्रव्य—षष्टिक (साठी के चावल), शालि चावल, मूंग, सेंधा-नमक, आमलक, जौ, आन्तरीक्ष (आकाश का) जल, दूध, घी, जांगल देश में होनेवाले पशु-पक्षियों का मांस तथा मधु इनका लगातार सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—आन्तरीक्षम्—इस संबन्ध में निघण्टुकार का मत है—'अनभिष्यन्दिनिर्दोषम्—आन्तरीक्षम्'। निघण्टुकारों ने अलग २ महिनों में भिन्न २ प्रकार के जलों के सेवन की आज्ञा दी है। देखें—भावप्रकाशनिघण्टु वारिवर्ग।

---

१. 'गव्यमामिषम्' यो०।

चरक के ही समान कुछ द्रव्यों को निरन्तर सेवन करने का आदेश वाग्भट ने भी दिया है। यथा—'शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम्। पथ्यामलकमृद्वीका पटोलीमुद्गशर्करा ॥ घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम्। त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ॥ स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद् यच्च रोगोच्छेदकरं च यत्' ॥ अष्टांगसंग्रह सू० अ० ८।४२-४३।

जाङ्गल--यह शब्द देश विशेष वाचक है। शास्त्र में तीन प्रकार के देशों का वर्णन है यथा—१. आनूप, २. जाङ्गल और ३. साधारण। यहाँ पर जाङ्गल शब्द उस देश विशेष के पशु-पक्षियों के मांसों के लिये प्रयुक्त है।

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥१३॥

सन्तुलित आहार (Balanced-diet)—यहाँ तक वर्णित विषयों का निष्कर्ष—जिस पदार्थ के सेवन से स्वास्थ्य की अनुवृत्ति (Maintanance) हो, अर्थात् स्वास्थ्य बना रहे, और जो आहार-विहार अजात (अनुत्पन्न) विकारों को न होने दें, उनका प्रतिदिन सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—'शृहिंसायाम्' धातु से शरीर शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है प्रतिदिन क्षीण होने वाला। इस प्रकार के शरीर को यदि प्रतिदिन पोषण पदार्थों की प्राप्ति न होगी तो स्वास्थ्यलाभ नहीं हो सकता। वे पोषक पदार्थ ऐसे हों जो केवल स्वास्थ्यवर्धक हों न कि किसी प्रकार के विकार को पैदा करने वाले हों।

आधुनिक दृष्टिकोण से आहार सम्बन्धी विचार--जीवन यापन करने के लिये आहार की अनिवार्यता सर्वविदित है। यह आहार शरीर में तीन प्रकार के कार्यों को करता है। यथा--१. शारीरिक कार्य २. मनोवैज्ञानिक कार्य, ३. सामाजिक कार्य। (१) शारीरिक कार्य के पुनः तीन विभाग हैं--(i) ऊर्जा प्रदान करना, (ii) ऊतकों का निर्माण एवं उनकी क्षतिपूर्ति, (iii) रोगों से शरीर की रक्षा। (२) मनोवैज्ञानिक कार्य–भोजन से एक प्रकार का सन्तोष होता है। यदि किसी कारण उस व्यक्ति को दूसरे प्रकार का भोजन मिलने लगे तो उसकी भूख तो शान्त हो जाती है किन्तु मानसिक तृप्ति नहीं होती। अतः उसे एक विशेष प्रकार के भोजन की आवश्यकता बनी रहती है। यही कारण है कि उसको पौष्टिक तत्वों की गोली भी सन्तोष प्रदान नहीं कर सकती, जब कि उसमें सब कुछ शक्ति विद्यमान है। (३) सामाजिक कार्य—उत्सव आदि में भोजन के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थिर होना, आदि-आदि।

आहार-विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली—

१. पौष्टिक तत्त्व (Nutrient) यथा–कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, विटामिन, लवण।

२ पोषण (Nutrition) यथा—पाचन (Digestion), अवशोषण (Absorption) सही उपभोग (Proper utilisation)।

३. पथ्यापथ्य (Dietetics), **४. ऊर्जा** (Energy), **५. कैलोरी** (Calorie) परिभाषा–एक लीटर जल के तापमान को एक डिग्री सेण्टीग्रेट (1°C) तक पहुँचाने के लिये जितनी ऊष्मा की आवश्यकता होती है, उसे कैलोरी कहते है। पोषण कैलोरी, भौतिक कैलोरी (Physical caloric) से 'एक हजार गुना बड़ी होती है।

निम्नलिखित खाद्यपदार्थों में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा

खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्य-पदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्य-पदार्थ	१०० ग्राम में
१. शक्कर	९९.८	११. कच्चा चावल	७६.२	२०. मसूर की दाल	५९.७
२. गुड़	९५.०	१२. गेहूँ (खड़ा)	७१.२	२१. अरहर की दाल	६०.२
२. शहद	७९.५	१३. मैदा	७४.१	२२. आलू	२२.९
४. साबूदाना	८७.२	१४. गेहूँ का आटा	७४.१	२३. शकरकन्द	३१.०
५. आरारोट	८३.१	१५. चना की दाल	५९.९	२४. खजूर (सूखा)	६७.३
६. बाजरा	६७.१	१६. उड़द की दाल	६०.३	२५. किशमिश	७७.७
७. जौ	६९.३	१७. सफेद चना	५५.७	२६. बेर (सूखा)	७१.०
८. ज्वार	७०.३	१८. सेम के सूखे बीज	६०.१	२७. अंजीर (सूखा)	६८.०
९. मकई	६६.२	१९. मूंग की दाल	६०.७	२८. ताजे फल	१५.२५
१०. जई का आटा	६२.८				

भोजन में कार्बोहाइड्रेट की कमी से प्रमुख हानियाँ—१. शारीरिक विकास में रुकावट, २. स्वास्थ्य में गिरावट। भोजन में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक हो जाने से हानियाँ—१. मोटापा होना, २. कार्यक्षमता में न्यूनता, ३. आहार का भली भांति न पचना।

प्रोटीन (Protein)

'प्रोटीन' शब्द ग्रीक भाषा के 'प्रोटीआस' शब्द से बना है, जिसका तात्पर्य है, खाद्य पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ वस्तु। यह हमारे अंग-प्रत्यंगों के निर्माण, विकास और पूर्ण होने में परमसहायक तत्व है।

प्रोटीन का वर्गीकरण—१. उत्तम अथवा पूर्ण प्रोटीन (Complete protein) २. मध्यम अथवा द्वितीय श्रेणी की प्रोटीन (Partial complete protein) ३. अपूर्ण अथवा अनुपयोगी प्रोटीन (Incomplete protein)।

प्रोटीन के जैविकमूल्य (Biological value of Protein) १. शारीरिक वृद्धि, २. शक्तिप्रदान करना, ३. एंजाइमों का निर्माण, ४. हारमोनों का निर्माण, ५. रोगनिवारण क्षमता को उत्पन्न करना। इसी से एण्टीबाडीज (Anti-bodies) का निर्माण होता है, यह रोगों के संक्रमण (Infection) से हमारी रक्षा करते हैं, ६. शरीर में जल वितरण की व्यवस्था को नियमित करना, ७. शरीर के तापमान को स्थिर रखना।

अतः प्रत्येक प्रकार के भोजन में प्रोटीन का होना आवश्यक है। इसके न होने से उपर्युक्त अनेक प्रकार के अभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। सामान्य रूप से प्रोटीन की उपलब्धि हमको दो स्रोतों से होती है। १. प्राणिज प्रोटीन तथा २. वानस्पतिक प्रोटीन।

निम्नलिखित खाद्य-पदार्थों में प्रोटीन की मात्रा

खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में
१. बाजरा	११.६	१३. पिश्ता	१९.८	२५. सेम के सूखे बीज	२४.९
२. जौ	११.५	१४. अखरोट	१५.६	२६. मूंग की दाल	२४.०
३. ज्वार	१०.४	१५. तिल	१८.३	२७. लोबिया	२२.०
४. मकई	११.१	१६. अंडा	१३.३	२८. मसूर की दाल	२५.१
५, कच्चा चावल	७.७	१७. अंडे की सफेदी	१३.३	२९. सूखी मटर	१९.७
६. मार्जित चावल	७.०	१८. अंडा का पीला भाग	१३.७	३०. अरहर की दाल	२२.३
७. गेहूँ (खड़ा)	११.८	१९. मछली	२१.५	३१. सोयाबीन	४३.२
८. मैदा	१०.२	२०. बकरा का मांस	१८.५	३२. गाय का दूध	३.५
९. बादाम	२०.८	२१. चना की दाल	२२.५	३३. भैंस का दूध	४.३
१०. काजू	२१.२	२२. चना	१७.१	३४. बकरी का दूध	३.७
११. कच्चा नारियल	४.५	२३. उड़द की दाल	२४.०	३५. स्त्री का दूध	१.०
१२. मूंगफली	२६.७	२४. सफेद चना	२४.६	३६. दुग्ध चूर्ण	३८.०

वसा (Fat)

कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन के अतिरिक्त हमारे दैनिक आहार का एक अंग वसा भी है। शरीर को ऊर्जा-प्रदान करने में इसका एक अपना विशिष्ट स्थान है। वसा कार्बोहाइड्रेट को तुलना में अत्यधिक ऊर्जा प्रदान करती है, रासायनिक प्रयोगों में वसा को ग्लिसरोल (Glycerol) तथा वसा अम्ल (Fatty acid) यौगिक माना गया है।

वसा अम्लों का रासायनिक संगठन—वैज्ञानिकों का मत है कि इसमें लगभग २५ प्रकार के अम्ल पाये जाते हैं, उनमें निम्नलिखित अम्ल प्रमुख हैं—१. पामिटिक (Palmitic), २. स्टीयरिक (Stearic), ३ ओलीक (Oleic), ४. लाइनोलीक (Linoleic), ५. ब्यूटिरिक (Butyric) और ६. ऐरेकीडोनिक (Areachidonic)।

निम्नलिखित खाद्य-पदार्थों में वसा की मात्रा

खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में	खाद्यपदार्थ	१०० ग्राम में
१. घी	१००.०	९. काजू	४६.९	१६. गाय का दूध	३.६
२. वनस्पति घी	१००.०	१०. नारियल	६५.०	१७. भैंस का दूध	८.८
३. तिल तेल	१००.०	११. तिल	४३.३	१८. अमथित दुग्धचूर्ण	२६.८
४. सरसों तेल	१००.०	१२. मूंगफली	४०.१	१९. मुर्गी का अंडा	१३.३
४. नारियल ,,	१००.०	१३ पिस्ता	५३.५	२०. बकरा का मांस	१३.३
६. मूंगफली ,,	१००.०	१४. अखरोट	६४.५	२१. बकरा का जिगर	७.५
७. मक्खन	८१.०	१५. सोयाबीन	१९.५	२२. मछली	१.५ से १०.२ तक
८. बादाम	५८.९				

वसा की पूर्ण प्राप्ति न होने से शरीर कृश एवं शक्तिहीन होने लगता है और अधिकता होने से स्थूलता आदि विकार उत्पन्न होने लगते हैं। अतः पूर्ण पुरुष के लिए लगभग २५ प्रतिशत कैलोरी वसा का उपयोग आवश्यक है।

विटामिन

कुछ समय पहले तक आहार द्रव्यों में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, जल तथा खनिज लवणों की ही आवश्यकता समझी जाती थी। इधर वैज्ञानिकों ने विटामिन नामक तत्व को भी आहार द्रव्यों में सम्मिलित किया है, क्योंकि इनके अभाव से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। ये विटामिन दो प्रकार के होते हैं—१. वसा में घुलनशील, २. जल में घुलनशील। १. वसा में घुलनशील विटामिन ए० डी० ई० हैं और २. जल में घुलनशील विटामिन बी१, बी२, बी६, बी१२, बी१३ और सी० हैं।

खनिज-लवण

हमारे दैनिक आहार की पूर्ति में खनिज लवणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, शरीर में लगभग १८ प्रकार के खनिज पाये जाते हैं। यथा—१. कैल्सियम, २. फास्फोरस, ३. पोटाशियम, ४. क्लोराइड, ५. सोडियम, ६. क्लोरीन, ७. मैगनीशियम, ८. लोहा, ९. ताँबा, १०. जस्ता, ११. आयोडीन, १२. कोबाल्ट, १३. अल्यूमीनियम, १४. आरसेनिक, १५. फ्लोरीन, १६. मालिबडेनम, १७ मैंगनीज, १८. जीशीन।

अधिक मात्रा में मिलने वाले खनिज लवण—१. कैल्शियम (Calcium) २. क्लोराइड (Chloride), ३. फास्फोरस (Phosphorus), ४. मैग्नीशियम (Magnesium), ५. सोडियम (Sodium), ६. पोटाशियम (Potassium), ७. क्लोराइड (Chloride), ८. सल्फर (Sulphor)।

कम मात्रा में मिलने वाले खनिज लवण—१. लोहा (Iron), २. आयोडीन (Iodine), ३. ताँबा (Copper), ४. मैंगनीज (Manganese), ५. फ्लोरीन (Fluorine), ६. कोबाल्ट (Cobalt), ७. जस्ता (Zinc), ८. मालिबडेनम (Malybdenum) आदि हैं। इनके अभाव से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। **यथा**—लोहा की कमी से रक्ताल्पता (Anaemia), हुकवर्म (Hook-worm) आदि तथा आयोडीन की कमी से गलगण्ड (Goitre) रोग हो जाते हैं।

पोषक गुणों की दृष्टि से—१. अस्थियों के निर्माण तथा शारीरिक वृद्धि में सहायक के रूप में **कैलिसयम, तथा फास्फोरस** आते हैं। २. एसिड-बेस (Acid-base) शारीरिक सन्तुलन बनाये रखने में सहायक के रूप में **सोडियम** तथा **पोटाशियम** आते हैं। ३. रक्त-निर्माण में सहायक के रूप में **कापर** तथा **कोबाल्ट** आते हैं। ४. आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के निर्माण, थाइरोक्सिन के निर्माण तथा दाँतों के इनेमल को स्वस्थ बनाये रखने में सहायक के रूप में **क्लोरीन, आयोडीन** तथा **फ्लूओरीन** आते हैं। ५. हार्मोन उत्पादक में उत्प्रेरक के रूप में **मैगनीशियम, जिंक, मैगनीज** तथा **सल्फर** आते हैं।

कैल्शियम की मात्रा—हमारे कुल शारीरिक भार की १.५ से २ प्रतिशत मात्रा कैल्शियम की होती है इसमें से ९९ प्रतिशत मात्रा अस्थियों एवं दाँतों में होती है और शेष १ प्रतिशत अन्य अंगों तथा द्रवों में होती है।

जल

हमारे शरीर का भार ६५ से ७० प्रतिशत तक जल से बना होता है। प्रौढ व्यक्तियों की अपेक्षा यह जल की मात्रा बालकों के शरीर में अधिक होती है। शरीर के विभिन्न अंगों में जल की निम्नलिखित मात्रा होती है—

अंग	जल-प्रतिशत	अंग	जल-प्रतिशत
अस्थियाँ	३०	रक्त	८०
गुर्दे	८३	मांसपेशियाँ	७२
मस्तिष्क	७९	जिगर	७०

जल के कार्य—१. शरीर का निर्माण, २. शरीर के तापमान को समान बनाये रखने में सहायक, ३. शारीरिक अंगों की रक्षा—हमारे शरीर में अस्थियों के चारों ओर के ऊतकों में यह **श्लेष्मक** तरल (Synorial Fluid) के रूप में रहता है, जो हड्डियों को आपस में रगड़ से बचाता है। ४. मल, मूत्र, पसीना आदि के रूप में शारीरिक गन्दगी को बाहर निकालना।

जल सन्तुलन—हमारे शरीर से जल का निकालना तथा उसकी प्रति-पूर्ति का कार्य चलता रहता है, भीतर की गन्दगियों को बाहर निकालने में जल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जल का प्रतिस्थापन जल, दूध, मठ, लस्सी, चाय, काफी, शिकंजवी, फलों के रस, शर्बत आदि से होता है।

१. अपेक्षित कैलोरी प्राप्त करने के लिये कतिपय आवश्यक पोषक आहार (तौल—ग्राम में)

क्रम	अवस्था	स्वरूप	अन्न	दाल तथा मेवे	हरे शाक	कन्द शाक	अन्य शाक	फल	चीनी व गुड़	घी व तेल	दूध	मांस मछली	अंडा
१.	वयस्क (सामान्य वर्ग)	शाका०	४००	११४	११	८५	८५	८५	५७	५७	२८४	—	—
		मांसा०	४००	८५	११	८५	८५	८५	५७	५७	२८४	८५	१
२.	गर्भवती	शाका०	३४२	८५	८५	५७	८५	८५	४३	४३	४५७	—	—
		मांसा०	३४२	५७	८५	५७	८५	८५	४३	४३	३४२	८५	१
३.	स्तन-पान के समय	शाका०	३१५	८५	८५	५७	८५	८५	४३	४३	९१४	—	—
		मांसा०	३१५	५७	८५	५७	८५	८५	४३	४३	६४८	—	१
४.	औद्योगिक वर्ग	शाका०	४५७	१४३	८५	११४	८५	—	५७	५७	२८४	—	—
		मांसा०	४५७	११४	८५	११४	८५	—	५७	५७	२८४	८५	—
५.	२ से ५ वर्ष तक के बच्चे	शाका०	११४	२८	५७	४३	४३	४३	४३	१४	२६८	—	—
		मांसा०	११४	२८	५७	४३	४३	४३	४३	१४	४५७	२८*	१
६.	६ से ११ वर्ष तक के बच्चे	शाका०	२२८	७१	५७	४३	४३	४३	४३	२८	४५७	—	—
		मांसा०	२२८	५७	५७	४३	४३	४३	४३	२८	३४२	५७	—
७.	१२वर्ष के अधिक आयु के	शाका०	३५२	१००	११४	८५	८५	४३	४३	४३	४५७	—	—
		मांसा०	३५२	८५	११४	८५	८५	४३	४३	४३	३४२	—	१

* सप्ताह में केवल तीन बार।

२. बच्चों के लिये संतुलित आहार (तौल—ग्राम में)

क्रम	खाद्य पदार्थ	१–३ वर्ष		४–६ वर्ष		७–९ वर्ष		१०–१२ वर्ष	
		शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०
१.	अनाज	१५०	१५०	२००	२००	२५०	२५०	३२०	३२०
२.	दालें	५०	४०	६०	५०	७०	६०	७०	६०
३.	हरी सब्जियाँ	५०	५०	७५	७५	७५	७५	१००	१००
४.	कन्द शाक	३०	३०	५०	५०	५०	५०	७५	७५
५.	फल	५०	५०	५०	५०	५०	५०	५०	५०
६.	दूध	३००	२००	२५०	२००	२५०	२००	२५०	२००
७.	घी, तेल	२०	२०	२५	२५	३०	३०	३५	३५
८.	मांस, मछली, अंडा	–	३०	–	३०	–	३०	–	३०
९.	चीनी, गुड़	३०	३०	४०	४०	५०	५०	५०	५०

३. सन्तुलित आहार (तौल—ग्राम में)

क्रम	खाद्य पदार्थ	१३–१५ वर्ष के लड़के		१६–१८ वर्ष के लड़के		१३–१८ वर्ष की लड़कियां	
		शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०
१	अनाज	४३०	४३०	४५०	४५०	३५०	३५०
२.	दालें	७०	५०	७०	५०	७०	५०
३.	हरी सब्जियाँ	१००	१००	१००	१००	१५०	१५०
४.	अन्य ,,	७५	७५	७५	७५	७५	७५
५.	जड़ वाली ,,	७५	७५	१००	१००	७५	६५
६.	फल	३०	३०	३०	३०	३०	३०
७	दूध	२५०	१५०	२५०	१५०	२५०	१५०
८.	घी व तेल	३५	४०	४५	५०	३५	४०
९.	मांस, मछली	–	३०	–	३०	–	३०
१०.	अण्डा	–	३०	–	३०	–	३०
११.	चीनी व गुड़	३०	३०	४०	४०	३०	३०
१२.	मूंगफली	–	–	५०	५०	–	–

सूचना—मूंगफली के स्थान पर घी-तेल की ३० ग्राम मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

४. स्तनपान करानेवाली स्त्री के लिये दैनिक आहार-तालिका

स्त्रियों का वर्गीकरण	कैलोरियाँ	प्रोटीन (ग्राम में)	कैल्शियम (ग्राम में)	लोहा (मि० ग्रा० में)	विटामिन ए रेटिनोल B, कैरो० (ug) (ug)	थायमिन (मि० ग्रा० में)	राइबो फ्लेविन (मि. ग्रा)	नायसिन (मि० ग्रा०)	विटामिन सी (मि. ग्रा.)	फोलिक अम्ल (ug)	कोबालामिन (ug)	विटामिन डी I. U.
साधारण श्रमिका	२,६००	·६५	१·०	३०	२,२५०–४,६००	१·४	१·४	१८	·८०	१५०	१·५	२००
मध्यम ,,	२,९००	·६५	१·०	·३०	२,२५०–४,६००	१·५	१·६	·२०	·८०	१५०	१·५	२००
अधिक ,,	३,७००	·६५	१·०	·३०	२,२५०–४,६००	१·५	२·२	·२५	·८०	१५०	१·५	२००

५. स्तनपान कराने वाली स्त्री के लिये दैनिक आहार-तालिका

(तौल–ग्राम में)

क्रम	खाद्य सामग्री	साधारण श्रमिका		मध्यम श्रमिका		अधिक श्रमिका	
		शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा०	शाका०	मांसा
१.	अनाज	४००	४००	४५०	४५०	५७५	५७५
२.	दाल	७०	५५	८०	६५	८०	६५
३.	हरी सब्जियाँ	१५०	१५०	१५०	१५०	१५०	१५०
४.	कन्द शाक	५०	५०	७५	७५	१००	१००
५.	अन्य सब्जियाँ	७५	७५	७५	७५	१००	१००
६.	फल	३०	३०	३०	३०	३०	३०
७.	दूध	३२५	२२५	[illegible]	२२५	३२५	२२५
८.	घी, तेल	४५	५०	५०	५५	५५	६०
९.	चीनी, गुड़	५०	५०	५०	५०	६०	६०
१०.	मांस, मछली	—	३०	—	३०	—	३०
११	अंडे	—	३०	—	३०	—	३०
१२.	मूंगफली	—	—	—	—	४०	४०

सूचना—मूंगफली के स्थान पर २५ ग्रा. घी, तेल लिया जा सकता है। फास्फोरस की मात्रा इससे स्वतः मिल जायगी।

६. १४०० कैलोरियाँ प्रस्तुत करनेवाली आहार-तालिका

क्रम संख्या	खाद्य पदार्थ	औसत कैलोरी दर प्रति १०० ग्राम	शाकाहारी		मांसाहारी	
			ग्राम	कैलोरी	ग्राम	कैलोरी
१	अनाज	३५०	२७५	९६२	२७५	९६२
२	दालें	३५०	६०	२१०	५०	१७५
३	हरी सब्जियाँ	४५	१००	४५	७५	३४
४	कन्द शाक	६०	—	—	—	—
५	अन्य सब्जियाँ	३०	५०	२५	५०	२५
६	फल	६०	३०	१८	३०	१८
७	दूध	६७	—	—	—	—
८	मक्खन रहित दूध	२९	२००	५८	१००	२९
९	मांस, मछली	१२०	—	—	३०	३६
१०	अंडा	१७३	—	—	३०	५२
११	घी	९००	—	—	—	—
१२	वनस्पति	९००	—	—	—	—
१३	तेल	९००	१५	१३५	१५	१३३
१४	चीनी, गुड़	३९८	—	—	—	—
१५	मूंगफली	५७०	—	—	—	—
योग	× × ×	×	—	१४४३	—	१४५३

विशेष—अतिरिक्त कैलोरियाँ खाद्य पदार्थों का संसाधन (Processing) करते समय कम हो जायेंगी।

अत ऊर्ध्वं शरीरस्य कार्यमक्ष्यञ्जनादिकम् । स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य गुणतः सम्प्रवक्ष्यते ॥१४॥

स्वस्थवृत्त-निरूपण (Personal Hygiene)—इसके बाद स्वस्थवृत्त को ध्यान में रखकर शरीर के लिये (नेत्रों के लिये) अञ्जन आदि विधियों को उनके गुणों सहित आचार्य द्वारा कहा जायगा।

वक्तव्य—प्रस्तुत अध्याय में दैनिक उपयोग में आने वाले अञ्जन, अभ्यङ्ग आदि विषयों का आगे वर्णन किया जायगा, उनमें सर्वप्रथम अञ्जन का वर्णन यहाँ इसलिये किया जा रहा है कि 'सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्'। सभी इन्द्रियों में आँखों की प्रधानता होती है। वाग्भट के शब्दों में देखें—'चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा। व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते'॥ अष्टांगहृ० उ० अ० १३।९७ अर्थात् आँख नहीं तो जहान सूना है। सामान्य रूप से अञ्जन के तीन भेद देखे जाते हैं। यथा—१. लेखन, २. रोपण, ३. दृष्टिप्रसादन, जिनका आगे वर्णन किया जायगा।

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत् । पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थे रसाञ्जनम् ॥१५॥

अञ्जन (Eye-Salves)—आँखों के हितकारक सौवीर नामक अंजन का प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिये। नेत्रों में संचित कफ आदि दोषों को स्रावण करने (निकालने) के लिये पाँचवे अथवा आठवें दिन रसाञ्जन का भी प्रयोग करें।

वक्तव्य—'सुवीरानदीभवं सौवीरम्'। चक्र०। **अक्ष्णोः**—इस द्विवचनान्त प्रयोग का तात्पर्य है कि दोनों आँखों में अञ्जन का प्रयोग करें। **पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा**—इस वाक्य द्वारा महर्षि ने चिकित्सक को अधिकार दिया है कि वह दोषों का विचार कर काल-निर्धारण करे। वह इस अवधि को दोषों के अनुसार कम ज्यादा कर सकता है।

किन्तु आचार्य **गङ्गाधर** अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—'पञ्चदिने अष्टदिने वेति न कृत्वा रात्रान्तत्वेन निर्देशात् स्रावणार्थाञ्जनस्य रात्रावेव प्रयोग इति ज्ञापितम्'॥ अर्थात् पाँच दिन में अथवा आठ दिन में ऐसा निर्देश न करके पाँचवीं रात्रि में अथवा आठवीं रात्रि में ऐसा निर्देश करना चाहिये, क्योंकि स्रावण के लिये अञ्जन का प्रयोग रात्रि में ही किया जाता है न कि दिन में। जिसका स्पष्ट उल्लेख महर्षि आत्रेय ने रात्रि शब्द द्वारा किया है।

अञ्जन की विशेष विधि—'अथ सम्पक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत्। हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते॥ पूर्वाह्णे चापराह्णे च ग्रीष्मे शरदि चेष्यते। वर्षासु नात्रे नात्युष्णे वसन्ते च सदैव हि'॥ शार्ङ्गधर सं० अ० १३।

अञ्जनों के भेद—'सौवीरमञ्जनं प्रोक्तं रसाञ्जनमतः परम्। स्रोतोऽञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च॥ नीलाञ्जनं च'। रसरत्नसमुच्चय में इस प्रकार पाँच अंजनों का उल्लेख मिलता है, साथ ही इन अञ्जनों का स्वरूप परिचय भी वहाँ दिया गया है। आधुनिक दृष्टि से इनका नामकरण—१. **सौवीराञ्जन**—यह एण्टीमनी (Antimony) तथा गन्धक (Sulphur) का यौगिक द्रव्य है। २. **रसाञ्जन**—इसी को एलोपैथी में 'यलो आक्साइड ऑफ मर्करी' (Yellow oxide of Mercury) कहते हैं। ३. **स्रोतोऽञ्जन**—इसको एण्टीमनी सल्फाइड (Antimony Sulphide) कहते हैं। ४. **पुष्पाञ्जन**—इसको जिंक आक्साइड (Zinc oxide) कहते हैं। ५. **नीलाञ्जन**—इसको लेड सल्फाइड (Lead sulphide) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त **अञ्जनत्रितय** की भी चर्चा देखने को मिलती है। यथा—'कालाञ्जनसमायुक्ते पुष्पाञ्जनरसाञ्जने। अञ्जनत्रितयं प्राहुस्त्र्यञ्जनं चाञ्जनत्रयम्'॥ राजनि०।

अञ्जन लगाने की विधि भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में इस प्रकार है—'वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः। शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम्॥ आपाङ्ग्यं वा यथा योगं कुर्याद् चापि गताऽऽगतम्। वर्त्मोपलेपि वा यत् तत् अङ्गुल्यैव प्रयोजयेत्'॥ सुश्रुत उ० अ० ८।६४–६५।

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् । ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम् ॥१६॥

चक्षु (नेत्र) तेजोमय होता है उसको श्लेष्म = कफ (जलीय तत्व) से विशेषकर भय है। इसलिये कफनाशक कर्म (चिकित्सा) नेत्र के प्रसादन (साफ, शुद्ध, निर्मल) करने में हितकारक होता है।

वक्तव्य—'चक्षु तेजोमय हैं', तेज शब्द से मयट् प्रत्यय जुड़कर **तेजोमय** शब्द की निष्पत्ति हुई है, इसका अर्थ है नेत्रशरीर का वह भाग जिससे देखा जाता है या जिसमें संसार की समस्त वस्तुयें प्रतिभासित होती हैं, वह सम्पूर्ण तेज से बना है या तेजःस्वरूप है। जैसे—घड़ा को मृण्मय (सम्पूर्ण मिट्टी से बना हुआ) कहते हैं।

सत्य यह है कि वह पदार्थ हमारे नेत्र गोलक के भीतर रहने वाला **आलोचक पित्त है**। आधुनिक विद्वान् भी नेत्रबुद्बुद (Eye-ball) में एक पीत बिन्दु को देखकर उसी में सबसे अधिक दर्शन **शक्ति मानते हैं**। यहाँ पर धन्वन्तरि का यह पद्य अविस्मरणीय है—

'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थन्तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः'॥

विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्—तेजो गुण प्रधान चक्षु में विपरीत गुणवाले कफ का आक्रमण **निश्चय ही दोष**

कारक होता है, अतः नेत्रगत कफ वृद्धि से आँखों में विकार का आ जाना स्वाभाविक है। इसलिये प्रतिदिन नेत्र प्रसादक अञ्जनों का प्रयोग करें।

वाग्भटाचार्य ने **'निशि स्वप्ने च मध्याह्ने'**, अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २३, सूत्र द्वारा चरक के विपरीत अपनी धारणा व्यक्त की है। इसका तात्पर्य यह है कि तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग दिन में न करें क्योंकि सभी तीक्ष्ण अंजन नेत्र के कफज विकारों को निकालकर नेत्र को दुर्बल कर देते हैं, ऐसी स्थिति में नेत्रों में बाधा उत्पन्न हो सकती है और रात्रि में सोने से तथा रात्रिकाल सम्बन्धी शीतता रहने के कारण तीक्ष्ण अंजन द्वारा विरिक्त नेत्र भी पुनः सबल हो जाते हैं। क्योंकि नेत्र अग्नि (तेज) तत्व प्रधान होते हैं, फलतः वे तीक्ष्ण अंजन लगाने पर भी पुनः स्थिरता को प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि कफ की अधिकता में अथवा दूसरे-दूसरे लेखनीय रोगों में तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग दिन में भी किया जाता है फिर भी अत्यन्त उष्णकाल में तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग कभी न करे।

सुश्रुत ने शोफ (व्रण शोथ) की चर्चा करते हुए सूत्रस्थान के १७ वें अध्याय में लिखा है कि 'कफात् (ऋते नास्ति) च पूयः'। अर्थात् नेत्ररोग में कफदोष के कारण जो विकार (Inflammatory diseases) उत्पन्न होते हैं, ये औपसर्गिक (Infectious) होते हैं। इसका समर्थन सुश्रुतसंहिता के अध्याय ५ में देखें।

दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्। विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति ॥१७॥
तस्मात् स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते।

उन (रसाञ्जन आदि) तीक्ष्ण अञ्जनों को दिन में आंखों में नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि नेत्रों का विरेचन हो जाने से दुर्बल हुई दृष्टि सूर्य की गर्मी को पाकर कष्ट का अनुभव करती है। अतः रात्रि में स्रावक अञ्जनों का निश्चयपूर्वक प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—'तन्न' यहाँ प्रसङ्ग प्राप्त तत् सर्वनाम से तीक्ष्ण अञ्जनों की पुनरावृत्ति है। **ध्रुवम् अञ्जनम् इष्यते**—इस वाक्यांश का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से आचार्यों ने लगाया है। यथा—कुछ आचार्य **ध्रुव** शब्द का अन्वय **इष्यते** क्रिया के साथ करते हैं, इस स्थिति में उक्त वाक्य का अर्थ होता है—रात्रि में ही तीक्ष्णांजन का प्रयोग करना चाहिये। दूसरे आचार्यों का मत है कि उक्त **ध्रुव** शब्द **अञ्जन** का विशेषण है, इस स्थिति में **ध्रुव अञ्जन** वे हैं जिनका नित्यप्रति प्रयोग किया जाता है। यथा—सौवीराञ्जन आदि। क्योंकि रात्रि में श्लेष्मा (कफ) की वृद्धि होती है, अतः रात्रि में इसका प्रयोग शास्त्रसम्मत है। इसका समर्थन चक्रपाणि इस प्रकार करते हैं—'ध्रुवमवश्यं निशायामेव, अञ्जनं प्रत्यासन्नत्वात् स्रावणाञ्जनम्' इति। दूसरों के मत का उल्लेख वे इस प्रकार करते हैं—'अन्ये तु व्याख्यानयन्ति—ध्रुवं नित्यकर्तव्यं सौवीराञ्जनं यत् तन्निशि कर्तव्यं, स्रावणाञ्जनं तु श्लेष्मोद्रेकविषये वमनवद् पूर्वाह्ण एव कर्तव्यम्'।

जतूकर्ण संहिता में—'सप्ताहाद् रसाञ्जनं नक्तम्' इति, सातवें-सातवें दिन रात्रि में रसाञ्जन का प्रयोग करना चाहिये ऐसा निर्देश उपलब्ध होता है। अस्तु, सौवीराञ्जन में केवल नेत्रप्रसादन (आँख को साफ = निर्मल) करने की शक्ति है, यह नेत्र विरेचक (आँखों से कफ सहित आँसुओं को चुआने वाला) नहीं है। अतः इसका प्रयोग दिन में भी किया अथवा कराया जा सकता है।

यथा हि कनकादीनां मलिनां विविधात्मनाम् ॥१८॥
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः। एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योतनादिभिः ॥१९॥
दृष्टिर्निराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत्।

अञ्जन प्रयोग का आलंकारिक वर्णन—जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातुओं और विविध प्रकार के मणि, रत्न आदि तेल, वस्त्र, बाल, ब्रश (Brush) द्वारा साफ करने से निर्मल हो जाते हैं तथा उनमें अपनी नैसर्गिक शोभा (चमक) आ जाती है। ठीक उसी प्रकार अञ्जन, आश्च्योतन आदि नेत्रशोधन द्रव्यों अथवा संस्कारों द्वारा शुद्ध (कफ आदि दोष रहित) नेत्र गोलक के बीच में रहने वाली मनुष्यों की दृष्टि उस प्रकार निर्मल दिखलाई देती है, जिस प्रकार निर्मल आकाश में चन्द्रमा।

वक्तव्य—उक्त पद्य में सुवर्ण, मणि आदि तैजस् पदार्थों की उपमा से तेजोमय नेत्र गोलक को स्वच्छ रखने का निर्देश महर्षि आत्रेय का है। इसमें **'अञ्जनाश्च्योतनादिभिः'** पद्यांश चिकित्सा की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है।

नेत्र-शरीर का सम्बन्ध बाह्य वातावरण (External atmosphere) तथा आभ्यन्तरिक वातावरण (Internal atmosphere) से रहता है। इनमें बाह्य वातावरण का प्रभाव अधिक रहता है। इसके लिये सुश्रुत ने 'तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाऽञ्जने'। इन पाँच क्रियाओं का निर्देश किया है। तदनन्तर शार्ङ्गधराचार्य ने—'सेक आश्च्योतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणं तथा। पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत्'। शा० सं० १३ अ०। १. सेक, २. आश्च्योतन, ३. पिण्डी, ४. बिडाल, ५. तर्पण, ६. पुटपाक, ७. अञ्जन, इन सात उपचारों का वर्णन किया है।

१. सेक विधि—'सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन् नयने हितः। मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलात् ॥ स चापि स्नेहनो वाते, रक्ते पित्ते च रोपणः। लेखनश्च कफे कार्यः'। शा० सं० अ० १३। सेक को टकोर भी कहते हैं। आज सामान्य रूप से बोरिक एसिड (Boric acid) को गरम पानी में डालकर शीशे के अनडाइन (Undine) पात्र से सेक कार्य में सहायता ली जाती है। यह सामान्य उपक्रम है। आयुर्वेद भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के लिये भिन्न-भिन्न चिकित्सा का निर्देश करता है।

२. आश्च्योतन—'अथाश्च्योतनकं कार्यं निशायां न कथञ्चन। उन्मीलितेऽक्षिण दृङ्मध्ये बिन्दुभिर्द्व्यङ्गुलाद्धितम् ॥ बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु स्नेहने दश बिन्दवः। रोपणे द्वादशप्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः ॥ उष्णे च शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवेष निश्चयः'॥ शा० सं० अ० १३॥ इसमें रोगी को चित्त लेटाकर उसकी आँख में औषधद्रव की बूंदें ड्रापर (Dropper) से डालकर ३–४ मिनट तक धारण करना चाहिये।

३. पिण्डी—'पिण्डी कवलिका प्रोक्ता बध्यते पट्टवस्त्रकैः। नेत्राभिष्यन्दयोग्या सा व्रणेष्वपि निबध्यते'॥ शा. सं. अ. १३। पिण्डी तथा कवलिका ये दोनों ही नाम पोटली के हैं। **विधि**—औषधचूर्ण को रेशमी या मुलायम कपड़ा में बांधकर नेत्राभिष्यन्द (दुःखती आँखों) पर इसका प्रयोग किया जाता है। इस पोटली का गुलाब-जल अथवा सामान्य जल में भिगोकर ही प्रयोग किया जाता है। दुःखती आँखों की यह उत्तम चिकित्सा है।

४. बिडालक—'बिडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जितः। तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखलेपविधानवत्'॥ शा० सं० अ० १३। पक्ष्मों को छोड़कर नेत्र के बाहरी भाग में वर्त्मों पर (कपूर, हरड़ तथा अफीम आदि द्रव्यों का पानी में पीसकर) जो लेप किया जाता है, उसका नाम **बिडालक** है। उसकी मात्रा (मोटाई तथा धारण काल) मुखलेप के समान है।

मुखलेप—यह तीन प्रकार का होता है—१. दोषनाशक, २. विषनाशक और ३. वर्ण्य। इसकी मोटाई के तीन प्रकार हैं—१. चौथाई अंगुल मोटा, २. तिहाई अंगुल मोटा, ६. आधा अंगुल मोटा। सभी लेपों को सूखने के पहले उतार देना चाहिये।

५. तर्पण—'अथ तर्पणकं वच्मि नेत्रतृप्तिकरं परम्। यद् रूक्षं परिशुष्कं च नेत्रं कुटिलमाविलम् ॥ शीर्णपक्ष्मशिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम्। तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः ॥ शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युक्तं वातविपर्ययैः। तन्नेत्रं तर्पणे योज्यं नेत्ररोगविशारदैः'॥ शा० सं० अ० २३। उपर्युक्त रोगों में नेत्रचिकित्सक तर्पण योगों का प्रयोग करें।

निषेधकाल—आकाश में जब बादल छाये हों, ऐसे समय में, अधिक गर्मी पड़ने पर, अधिक सर्दी पड़ने पर, चिन्ता में, शोक में, भ्रमरोग से पीड़ित रोगी की आँखों में तथा आम दोषजनित उपद्रवों से युक्त रोगी की आँखों में तर्पण चिकित्सा न करें। तर्पण क्रिया में पूर्व कर्म तथा पश्चात् कर्म की विधियों पर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिये। अति तर्पण तथा हीन तर्पण की स्थिति पर भी नियंत्रण रखें।

६. पुटपाक—आयुर्वेदोक्त पुटपाकविधि से पकाकर निकाले हुए रस को आँखों के चारों ओर थाला जैसा बनाकर उसमें भर दिया जाता है, इस विधि को पुटपाक कहते हैं। यह पुटपाक तीन प्रकार का होता है—१. स्नेहन, २. लेखन, ३. रोपण। यथा—अतिरूक्ष नेत्र में स्नेहन, अतिस्निग्ध में लेखन तथा रक्तजव्रणों को नष्ट करने के लिये रोपण पुटपाक का प्रयोग विहित है।

७. अञ्जन—'अथ सम्पक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत्। हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते ॥ पूर्वाह्णे चापराह्णे च ग्रीष्मे शरदि चेष्यते। वर्षासु नाभ्रे नात्युष्णे वसन्ते च सदैव हि'॥ शा० सं० अ० १३। दोषों का पाक हो जाने पर भिन्न-भिन्न ऋतुओं में निर्दिष्ट समयों में अञ्जनों का प्रयोग करना चाहिये।

दोषपाक का लक्षण—'मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रु प्रशान्तता। प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः सम्पक्वं दोषमादिशेत्' ॥ जब तक ये लक्षण दिखाई न दें तब तक अञ्जन लगाना उचित नहीं है। ये अञ्जन—१. गुटिका, २. रस, ३. चूर्ण भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

आँखों में अञ्जन लगाने के लिये शलाका (सलाई) सोना, चांदी, हाथीदांत, तांबा, कांसा, आदि धातुओं की बनायी जाती है। इसकी लम्बाई आठ अंगुल, बीच में कुछ पतली तथा चमेली के फूल की कली के समान अगला हिस्सा होना चाहिये। उक्त सभी धातुओं से यशद (जस्ता) की शलाका उत्तम होती है। रोपण कार्य में अंगुली शलाका का प्रतिनिधित्व करती है।

ऊपर जिन शलाकाओं का उल्लेख किया गया है उनका आचार्य शार्ङ्गधर ने इस प्रकार प्रयोग बतलाया है। यथा—'ताम्रलोहाश्मसञ्जाता शलाका लेखने मता। सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहने मता ॥ अङ्गुली च मृदुत्वेन कथिता रोपणे बुधैः' ॥ शा० सं० अ० १३।

शलाका-निर्माण-विधि—'त्रिफलाभृङ्गशुण्ठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा। गोमूत्रमध्वजाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः ॥ तच्छलाका हरत्येव सर्वान् नेत्रभवान् गदान्। शा० सं० अ० १३ ॥

अञ्जन-निषेध—'श्रान्ते प्ररुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे। अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रशस्यते' ॥ शा० सं० अ० १३। थकने पर, रोने के तत्काल बाद, डरने पर, शराब पी लेने के बाद, नवज्वर में, अजीर्ण में, मल-मूत्रादि के वेग को रोकने से आक्रान्त मनुष्य की आँखों में अञ्जन न डालें।

हरेणुकां प्रियङ्गुं च पृथ्वीकां केशरं नखम् ॥ २० ॥
ह्रीवेरं चन्दनं पत्रं त्वगेलोशीरपद्मकम्। ध्यामकं मधुकं मांसी गुग्गुल्वगुरुशर्करम् ॥२१॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वचः शुभाः। वन्यं सर्जरसं मुस्तं शैलेयं कमलोत्पले ॥२२॥
श्रीवेष्टकं शल्लकीं च शुकबर्हमथापि च। पिष्ट्वा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्ति यवसन्निभाम् ॥२३॥
अङ्गुष्ठसम्मितां कुर्यादष्टाङ्गुलसमां भिषक्। शुष्कां निगर्भां तां वर्ति धूमनेत्रार्पितां नरः ॥२४॥
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां पिबेत् प्रायोगिकीं सुखाम्।

धूमपान (Smoking)—हरेणुका (रेणुका), प्रियंगु, बड़ी इलायची, नागकेसर, नखी, सुगन्धवाला, चन्दन, तेजपत्र, दालचीनी, छोटी इलायची, खस, पद्माख, ध्यामक (सुगन्धतृण), मुलेठी, जटामासी, गुग्गुल, अगरु, शर्करा, बरगद, गूलर, पीपल, पाकड़ तथा लोध इन ५ वृक्षों की उत्तम छालें; वन्य (केवटी मोथा), सर्ज-रस (राल), नागरमोथा, छरीला, सफेदकमल, नीलकमल, गन्धाबिरोजा, शल्लकी (कुन्दुरु) और शुकबर्ह इन ओषधियों को भली भांति पीस करके सरकण्डे की सींक के ऊपर इसका जौ के आकार का लेप करें। यह लेप अंगूठा के बराबर मोटा और आठ अंगुल लम्बा होना चाहिये। इस वर्ति का निर्माण चिकित्सक स्वयं करे अथवा अपनी देख रेख में कुशल कार्यकर्ताओं से कराये। जब वह लेप उक्त सींक के ऊपर सूख जाय तब उस सींक को निकाल लें। तदनन्तर घी आदि से स्निग्ध करके उस वर्त्ती का एक भाग धूमनेत्र (Cigarette holder) में लगायें दूसरी ओर आग लगाकर इस सुखकारी प्रायोगिक धूम का पान करे।

वक्तव्य—'पृथ्वीका' द्रव्य का कुछ व्याख्याकार **बड़ी इलायची** तथा दूसरे **कालाजीरा** पर्याय मानते हैं। हम यहाँ निर्णयार्थ दोनों के गुण धर्मों को उद्धृत कर तदनन्तर अपनी बात प्रस्तुत करेंगे।

कालाजीरा—रूक्ष, कटु, उष्ण, अग्निदीपक, ‥ और चक्षुष्य होता है।

बड़ी इलायची—रस और पाक में कटु (चरपरी), अग्निकारक, हल्की रूक्ष और उष्ण होती है।

विशेष—दोनों द्रव्यों में पर्यायवाचक शब्द **पृथ्वीका** समान है, अतएव भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपना-अपना निर्णय लिया है।

इदमित्थम्—इस रूप में कहना तो सर्वथा कठिन है कि महर्षि आत्रेय को इन दोनों में से अमुक द्रव्य ही अभीष्ट था दूसरा नहीं, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उक्त दोनों ही द्रव्य धूमवर्ति के लिये उपयोगी हैं, हानिकारक कोई नहीं है।

शल्लकी—इस द्रव्य के बारे में चक्रपाणि मौन हैं। कुछ व्याख्याकार **शल्लकीत्वक्** लिखते हैं, दूसरे शल्की का पर्याय **कुन्दुरु** प्रस्तुत करते हैं। यह भी भ्रम उत्पन्न करता है, क्योंकि कुन्दुरु अथवा कुंदरू नाम

से पाया जानेवाला एक **बिम्बीफल** भी है, जिसे लैटिन में कॉक्सिनिया इण्डिका (Coccinia Indica) कहते हैं। अब रह गयी बात **शल्लकीत्वक्** की; जहाँ ऊपर अनेक वृक्षों की छालें गिनायी हैं वहाँ एक यह भी हो सकती है, अथवा श्रीवेष्टक (गन्धाबिरोजा) के अनन्तर इसका उल्लेख किया गया है अतः इसको शल्की स्वीकार किया हो। आप्टे ने सल्की अथवा शल्की को एक ही स्वीकार करते हुए लिखा है—A kind of tree. 'महेरणा कुन्दुरुकी सल्की'। अमरसिंह वनौ० २ का०।

शल्लकी—(Boswellia Serrata Roxb) इसका उल्लेख चरक, सुश्रुत, वाग्भट तीनों ने किया है। यह उक्त वृक्ष का निर्यास है। यद्यपि गुग्गुलु आदि निर्यासों का प्रचलन आयुर्वेदशास्त्र में बहुत्र मिलता है तथापि शल्लकीनिर्यास चरक चि० अ० २६।६४ तथा अ० २८।१५१ में ही दृष्टिगोचर होता है, यही स्थिति अन्य संहिताओं की भी है।

शुकबर्ह—इसको चक्रपाणि ने ग्रन्थिपर्णक स्वीकार किया है। अन्यत्र शुकबर्ह से **स्थौणेयक** का ग्रहण किया गया है। समर्थन के लिये देखें धन्वन्तरिनिघण्टु। यथा—'स्थौणेयकं बर्हिचूडं शुकपुच्छं शुकच्छदम्। विकर्णं शुकबर्हं च हरितं शीर्णरोमकम्' ॥ इति।

इसी अध्याय के ३५ वें श्लोक में कहा गया है कि 'नावनाऽञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्'। इसी निर्देश के अनुसार तन्त्रकार ने अञ्जन निर्देश के पश्चात् धूमपान का विधान किया है। दूसरा कारण शालाक्यतन्त्र के अनुसार यह भी है—

'तीक्ष्णाञ्जनेनाऽञ्जितलोचनस्य यः सम्प्रदुष्टो न निरेति नेत्रात्।
श्लेष्मा शिरःस्थः स तु पीतमात्रे धूमे प्रशान्तिं लभते क्षणेन' ॥ इति।

अर्थात् तीक्ष्णाञ्जनों के प्रयोग से भी जो शिर में स्थित दूषित कफ नेत्रों से नहीं निकल पाता वह धूम-पान करने मात्र से निकल जाता है। अतएव अञ्जन प्रयोग के पश्चात् धूमपान की व्यवस्था दी गयी है।

धूमवर्ति (Just like Cigarette)—इसके सम्बन्ध में विदेह का मत—'अङ्गुल्याः परिणाहेन मध्ये स्थूलोऽन्तयोस्तनुः। षड्भागो धूमनेत्रस्य वर्त्या मानं प्रशस्यते' ॥ यह परिमाण चरकोक्त मान से २ अंगुल कम है। महर्षि आत्रेय ने इस धूमपान को तीन भागों में बाँटा है। यथा—१. प्रायोगिकी, २. स्नैहिकी, ३. शिरोवैरेचनिकी। सुश्रुत में इसके पाँच भेदों का वर्णन इस प्रकार है—'प्रायोगिकः, स्नैहिकः, वैरेचनिकः, कासघ्नः, वामनीयश्चेति, पञ्चविधो भवति'।

प्रायोगिकीं सुखाम्—'प्रतिदिनं प्रयोगाय योग्या तां = प्रायोगिकीम्। अर्थात् प्रतिदिन प्रयोग के लायक (सामान्य धूमपान) और **सुखाम्** का तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार की हानि न करने वाली।

प्रयोगिक धूम—जो प्रतिदिन स्वस्थ पुरुषों द्वारा धूमपान किया जाता है। यथा—स्वस्थवृत्त प्रकरण में भगवान् पुनर्वसु ने कहा है—'धूमपः', च० सू० अ० ८।

स्नैहिक धूम—जो स्नेहन के लिये पीया जाता है। **वैरेचनिक धूम**—जो शिरोविरेचन के लिए पीया जाता है। **कासघ्न धूम**—जो कास, श्वास, स्वरभेद आदि कण्ठगत दोषों को दूर करने के लिये सेवन किया जाता है। **वामनीय धूम**—जो वमन के लिये पीया जाता है। इसके सेवन से वमन होकर दुष्ट कफ निकल जाता है।

धूमनेत्र—इसके निर्माण की विधि सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० ४०।५ में देखें। यह धूमपान हमारे चिकित्साशास्त्रों की अनुपम देन है। आज जो तमाखू के रूप में धूमपान किया जाता है, यह सचमुच ही निन्दनीय प्रकार है किन्तु हुक्का-चिलम के माध्यम से जो धूमपान किया जाता है वह शुद्ध शास्त्रीय विधि है। चरक चिकित्सास्थान अ० १७ में जो **मल्लक सम्पुटे** पाठ दिया है, भाषावैज्ञानिक मल्लक का अपभ्रंश **चिलम** मानते हैं। सुश्रुत चि० अ० ४०।१० में निर्दिष्ट **शराव** आजकल का **चिलम** है और चरक चि० अ० १८।६५-७५ में भी **शराव सम्पुट** का जो विधान है, वह भी **चिलम** ही है। अधिक विवेचन अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अ० २१ तथा सुश्रुत चि० अ० ४० में देखें।

वाग्भट ने धूमवर्ति के निर्माण के लिये १२ अंगुल लम्बी इषीका (शरकांड) लेने का निर्देश दिया है। यह मात्र रचनासौकर्य के लिये है, क्योंकि इसमें आगे पीछे २-२ अंगुल छोड़कर बीच (आठ अंगुल) में औषध द्रव्य को पाँच बार लेप करना चाहिये, यह निर्देश है।

वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युक्तियुक्तैर्वरौषधैः ॥ २५ ॥
वर्ति मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत् ।

स्नैहिकी धूमवर्ति—वसा (चरबी Fat), घी, मोम, मधुरक (मधुरस्कन्ध में कथित जीवक, ऋषभक आदि) उत्तम औषधियों द्वारा युक्तपूर्वक स्नैहिकी वर्ति का निर्माण करके उसका स्नेहनार्थ धूमपान करे।

वक्तव्य—चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० ४ में जीवनीयगण में जीवक, ऋषभक आदि का उल्लेख आया है। इस गण के सभी द्रव्य चरकसंहिता विमानस्थान अ० ८ में वर्णित मधुरस्कन्ध में आये हैं। चक्रपाणि का यह आग्रह है कि मधुरक द्रव्य ही जीवनीय हैं। तब 'मधुरकैः' का यह अर्थ लगाना चाहिये कि मधुरस्कन्ध में कथित द्रव्य अधिक युक्ति-युक्त होंगे। सुश्रुतोक्त स्नैहिक धूमपान देखें—सु० चि० अ० ४०।

श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला ॥ २६ ॥
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमं[1] मूर्धविरेचने ।

शिरोवैरेचनिकी धूमवर्ति—अपराजिता, मालकांगनी, हरताल, मैनसिल, अगर, तेजपत्र आदि गन्धवर्ग की औषधियों का धूम शिरोविरेचन के लिये प्रयुक्त होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में गन्धद्रव्य नाम से चन्दन, कुंकुम, कर्पूर आदि का ग्रहण होता है। अन्यत्र गन्धोदक, गन्धौषधि तथा गन्धाहुति शब्दों के भी उद्धरण मिलते हैं।

अगुरुपत्राद्याः—यह 'अगुरुकुष्ठतगरपत्रादि' गण चरक चिकित्सास्थान अ० ३।२६७ में द्रष्टव्य है। उक्त पद्य में कुष्ठ, तगर द्रव्यों का समावेश इसलिये नहीं किया गया है कि ये द्रव्य अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं। यदि इनका प्रमादवश प्रयोग कर दिया जाय तो मस्तुलुंग का स्राव होने लगता है। यथा 'नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते। मस्तुलुङ्गं विशेषेण तस्मात् ते नैव योजयेत्' ॥ शालाक्यतन्त्र। इसका समर्थन सुश्रुतादि आचार्यों ने भी किया है—'एलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन', सुश्रुत चि० अ० ४०। तथा—'गन्धाश्चाऽकुष्ठतगराः'। वाग्भट सू० अ० २१।

सुश्रुत ने कासघ्न और वामनीय धूमवर्तियों का भी वर्णन किया है, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं कि चरक ने इनका अन्तर्भाव शिरोवैरेचनिकधूमवर्ति में कर दिया है। अष्टाङ्गसंग्रह में वाग्भट ने शमन, मध्यम, बृंहण, मृदु, शोधन, तीक्ष्ण भेदों से चरकोक्त तीन धूमवर्तियों के क्रमशः दो-दो नाम रखे हैं।

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्धावभेदकौ ॥२७॥
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः। दन्तदौर्बल्यमास्रावः श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः ॥२८॥
पूतिर्घ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः। हनुमन्याग्रहः कण्डूः क्रिमयः पाण्डुता मुखे ॥२९॥
श्लेष्मप्रसेको वैस्वर्यं गलशुण्ड्युपजिह्विका। खालित्यं[2] पिञ्जरत्वं च केशानां पतनं तथा ॥३०॥
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता। धूमपानात् प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ॥३१॥
शिरोरुहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च। न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥३२॥
धूम[3]वक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः।

धूमपान की फलश्रुति (Advantage of smoking)—शिर का भारीपन, (Head-ache), पीनस, अर्धावभेदक या अधकपारी (Hemicrania), कान का शूल, आँख की वेदना, खाँसी, हिचकी, श्वास, गलग्रह, दाँतों की कमजोरी, कान तथा आँख के विकार और उनसे होने वाले स्राव, पूतिघ्राण (Ozoena), मुख की दुर्गन्धि (Foul smell of mouth), दन्तशूल, अरुचि, हनुग्रह (Trismus), मन्यास्तम्भ (Stifneck), कण्डू, कृमि, पाण्डुरोग (Anaemia), मुख से लार का चूना, वैस्वर्य, (स्वरभेद) गल-

१. 'धूमो मूर्धविरेचनम्' यो० सो०।
२. 'पालित्यम्' इति पा०।
३. 'धूमरक्तकपालस्य' इति 'धूमरिक्तकपालस्य' इति च पा०।

शुण्डी, (Tonsillitis), उपजिह्विका, खालित्य (Falling of hair), पिञ्जरत्व (बालों का अकाल में सफेद हो जाना), बालों का झड़ना, छींकें आना, अतितन्द्रा (उँघाई का अधिक आना), बुद्धि में जड़ता, अधिक नींद का आना, ये विकार धूमपान से शान्त हो जाते हैं और बालों की जड़ों, मस्तिष्क, इन्द्रियों तथा स्वर के बल की वृद्धि होती है। जत्रु-सन्धि से ऊपरी भागों में होने वाले वात-कफजनित बलवान् शिरोरोग धूमपान करने वाले पुरुषों को नहीं होते।

वक्तव्य—'ऊर्ध्वजत्रुगताः'—जत्रुसन्धि से ऊपर के मर्म स्थान—४ धमनियाँ, ८ मातृकायें, २ कृकाटिकायें, २ विधुर, २ फणा, २ अपाङ्ग, २ आवर्त, २ उत्क्षेप, २ शंख, १ स्थपनी, ५ सीमन्त, ४ शृङ्गाटक और १ अधिपति, इन मर्मों में होने वाली व्याधियों का शमन धूमपान से होता है अथवा धूमपान करने वाला व्यक्ति इन स्थानों में होने वाले रोगों से पीड़ित नहीं होता। जब बलवान् रोगों का यह धूमपान शमन कर देता है तो साधारण रोगों की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

धूमवक्त्रकपानस्य—'वक्त्रम् एव वक्त्रकं = मुखं, तद्गतत्वात् नासाऽपि। वक्त्रकेण पानं वक्त्रकपानम् (तृतीयातत्पुरुषः)। धूमेन वक्त्रकपानं यस्य तस्य पुंसः', इति योगीन्द्रनाथसेनः। गङ्गाधरस्तु—'धूमस्य वक्त्रकपानं वक्त्रकेण पानं यस्य, तस्य तथा'। इति, मुखेन धूमं पीतवतो नासया वमनात्, इत्याह, परं तन्न समीचीनम्। 'आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत्' इति निषेधात्, धूमरिक्तकपालस्येति पाठान्तरे तु धूमेन विरिक्तशिरःकपालस्येत्यर्थः।

उक्त **धूमवक्त्रकपानस्य** पद्यांश का कुछ व्याख्याकार ऐसा भी अर्थ कर बैठे हैं कि मुख से धूमपान करके नासिका से धुआँ निकालना किन्तु यह प्रकार शास्त्रविरुद्ध है। मुख से पिये हुए धूम को मुख से ही निकालना चाहिये। देखें—सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ४० श्लोक ७-८।

प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः सम्परिकीर्तिताः ॥३३॥
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते। स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च ॥३४॥
नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्। तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥३५॥
रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रयस्त्रयः।

प्रायोगिक धूमपान का काल-निर्देश—प्रायोगिक धूमपान के आठ समय आचार्य ने कहे हैं। क्योंकि निम्नलिखित कालों में ही वातज तथा कफज विकार उभड़ कर सामने आते हैं। **धूमपान के काल**—१. स्नान करने के बाद, २. खाना खाकर, ३. वमन करने के पश्चात्, ४. छींक आने के बाद, ४. दातून करने के अनन्तर, ६. नस्य (सुंघनी सूंघने) के बाद, ७. अञ्जन लगाने के बाद और ८. सोकर उठने के बाद आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष को चाहिये कि वह (प्रतिदिन) धूमपान करे। इस प्रकार धूमपान करने से वात-कफ जनित ऊर्ध्वजत्रुगत (जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है) रोग नहीं होते।

धूमपान का एक समय में मात्रा निर्देश—इस धूम के ३+३+३ आपान एक बार में पीने चाहिये।

वक्तव्य—आचार्य भेड़ महर्षि अग्निवेश को अपने निम्नोक्त मत से समर्थन देते हैं—'अष्टौ धूमस्य कालाः स्युर्यस्याऽन्ते यं प्रशंसति। उत्थितस्य शयानस्य दन्तप्रक्षालने कृते। जलक्रीडानिवृत्तस्य तथा भुक्तवतोऽशनम्। क्षुतोच्चारव्यवायान्ते भुक्तवान्तकृतस्तथा ॥ इति।

चरक ने जिन आठ धूमपान के कालों का निर्देश किया है वे केवल प्रायोगिक धूमपान के हैं। सुश्रुतसंहिता में जो १२ कालों का निर्देश है, उनको क्रमशः इस प्रकार समझें—१. स्नैहिक धूमपान के ५ काल, २. वैरेचनिक धूमपान के ३ काल और ३. प्रायोगिक धूमपान ने ४ काल निर्दिष्ट हैं। यथा—

'क्षुतदन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरुषितशस्त्रकर्मान्तेष्विति'। तत्र विभागो मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरुषितमैथुनान्तेषु **स्नैहिकः**, स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषु **वैरेचनिकः**, दन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषु **प्रायोगिकः**, इति। सु० चि० अ० ४०। अर्थ स्पष्ट है।

आत्मवान्—वाग्भट ने इस शब्द का प्रयोग निम्न प्रकार से किया है—'जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने। उच्छेदाय च जातानां पिबेद् धूमं सदाऽऽत्मवान्' ॥ अ० हृ० सू० अ० २१।१। यहाँ पर आत्मवान् कहने

का तात्पर्य यह है कि धूमपान प्रायः व्यसन का रूप धारण कर लेता है, अतः आत्मवान् पुरुष रोग की निवृत्ति के पश्चात् फिर इसका सेवन न करे।

आपान—'आ सम्भूय पिबन्ति अत्र', यह आपान शब्दकोष में मद्यपान के लिये ही प्रयुक्त है। यह धूम-पान भी भोजन आदि के पश्चात् उक्त अर्थ में आपान कहा जा सकता है किन्तु आचार्य चक्रपाणि ने आपान का अर्थ **धूमाभ्यवहारमोक्ष** किया है जो प्रसङ्गोचित है। इसका अर्थ होता है—धूम का अभ्यवहार = ग्रहण करना और मोक्ष = धुंआँ को छोड़ना या मुख से निकालना। इसी को पफ (Puffs.) कहते हैं। वृद्धवाग्भट के मत में भी—'आक्षेपविसर्गौ आपानः'।

स्युः आपानाः त्रिः त्रयः त्रयः—'त्रयः त्रयः त्रिः आपानाः स्युः' इति व्यवस्था, अर्थात् एक बार में तीन-तीन घूंट (कश) लें, कुछ रुककर फिर उसी प्रकार धूम पान करें, इस प्रकार नौ बार धूमपान एक काल में करना चाहिये। इसका समर्थन सुश्रुत के शब्दों में देखें—'प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत'। सु० चि० अ० ४०।१८। आचार्य निमि का भी यही मत है—'धूमपाने तु विज्ञेयमुच्छ्वासस्त्रिगुणः कलाः'। इति।

परं द्विकालपायी स्यादह्नः कालेषु बुद्धिमान् ॥ ३६ ॥
प्रयोगे, स्नैहिके त्वेकं, वैरेच्यं त्रिचतुः पिबेत् ।

धूमपानों का काल-निर्णय—किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह (उपर्युक्त आठ कालों में से) प्रायोगिक धूम का सेवन दिन में केवल दो बार करे, स्नैहिक धूम का एक बार और वैरेचनिक धूम का तीन य चार बार सेवन करे।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **परम्** शब्द महत्वपूर्ण है क्योंकि ऊपर जो धूमपान के विशद कालों का वर्णन किया गया है, उनका लक्ष्य कफज और वातज विकारों की उत्पत्ति किन-किन कार्यों के संयोगों से हो सकती है, इसका निर्देश करना था। अब आचार्य बुद्धिमान् चिकित्सक अथवा युक्तिज्ञ पुरुष पर निर्णय छोड़ते हुए कहते हैं—परं = किन्तु आवश्यकतानुसार धूमों का पान करना चाहिये।

अह्नः कालेषु—शब्द के प्रयोग से रात्रि में धूमपान का स्पष्ट निषेध करते हैं। **वैरेच्यं त्रिचतुः—** यहाँ पर बुद्धिमान् मनुष्य देश-काल, परिस्थिति के अनुसार तीन अथवा चार बार या इससे कम ज्यादा भी प्रयोग कर सकता है। यह धूम (रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और विशद होने के कारण) कफ को निकालने में सहायता करता है।

स्नेहन धूम—वात का शमन करता है। ऊपर १,२,३ अथवा ४ मात्राओं का जो निर्देश किया गया है, इसका वास्तविक निर्धारण बुद्धिमान् को करना है, यह तन्त्रकार का अभिप्राय है।

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिर्लघुत्वं शिरसः शमः ॥ ३७ ॥
यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ।

सम्यक् धूमपान का लक्षण—विधिपूर्वक धूमपान करने के बाद जो लक्षण दिखलाई देते हैं, उनका निर्देश—हृदय, कण्ठ आदि ज्ञानेन्द्रियों की शुद्धि, शिर का हलकापन और बढ़े हुए दोषों की शान्ति, ये सम्यक धूमपान के लक्षण हैं।

वक्तव्य—इस विषय को सुश्रुत ने इस प्रकार लिखा है—'नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः। दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः'। सु० चि० अ० ४०।१५। आयुर्वेदोक्त यह धूम भूतनाशक (Anti-septic) है। अतः इसकी गन्ध से नाक, मुंह तथा फुफ्फुस आदि में प्रविष्ट रोगों के कीटाणु मर जाते हैं।

बाधिर्यमान्ध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ॥ ३८ ॥
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ।

धूमपान के उपद्रव (Complications of Smoking)—ऊपर धूमपान के जो-जो समय कहे गये हैं, उनके आगे-पीछे अथवा निर्दिष्ट समय में ही मात्रा से अधिक धूमपान करने पर वह धूम बाधिर्य (बहरा-पन), अन्धा होना (अथवा दृष्टि का मन्द पड़ जाना), गूंगापन अथवा स्पष्ट उच्चारण करने में असमर्थता, रक्तपित्त और शिर में चक्कर आना आदि उपद्रवों को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के मतानुसार अकालपीत धूमपान के निम्नलिखित उपद्रव होते हैं—'अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम्। घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम्'॥ सु० चि० अ० ४०।२०।

अतिपीत धूमपान के उपद्रव—'तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्या-न्यतियोगो जनयति'। सु० चि० अ० ४०।१७।

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥ ३९ ॥
स्नैहिकं धूमजे दोषे वायुः पित्तानुगो यदि। शीतं तु रक्तपित्ते स्याच्छ्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ॥४०॥

धूमपानजनित उपद्रवों की शान्ति के उपाय—(Management of Sompications)—अतिपीत और अकालपीत धूम से उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति की विधि का निर्देश किया जा रहा है, यदि वायु पित्त का अनुगामी (वात-पित्त) हो तो घी पिलाना चाहिये, स्नैहिक नस्य, अञ्जन और तर्पण करना चाहिये, रक्तपित्त में शीतल चिकित्सा करें और कफपित्त में विरूक्षण क्रिया करनी चाहिये।

वक्तव्य—स्नेहपान, नस्य, अञ्जन और तर्पण उक्त उपद्रवों की चिकित्सा कही गयी है। प्रकुपित दोषों में वात, रक्त और कफ की प्रधानता होती है, पित्त सभी का अनुगामी है। अतः चिकित्सा काल में इन दोषों का विवेचन अवश्य कर लें।

परं त्वतः प्रवक्ष्यामि धूमो येषां विगर्हितः। न विरिक्तः पिबेद्धूमं न कृते बस्तिकर्मणि ॥४१॥
न रक्ती न विषेणार्तो न शोचन्न च गर्भिणी। न श्रमे न मदे नामे न पित्ते न प्रजागरे ॥४२॥
न मूर्च्छाभ्रमतृष्णासु न क्षीणे नापि च क्षते। न मद्यदुग्धे पीत्वा च[1] न स्नेहं न च माक्षिकम् ॥४३॥
धूमं न भुक्त्वा दध्ना च[2] न रूक्षः क्रुद्ध एव च। न तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च ॥४४॥
न शङ्खके न रोहिण्यां न मेहे न मदात्यये। एषु धूममकालेषु मोहात् पिबति यो नरः ॥४५॥
रोगास्तस्य प्रजायन्ते[3] दारुणा धूमविभ्रमात् ।

धूमपान के अयोग्य व्यक्ति (Contra-Indications)—इसके पश्चात् अब उनका वर्णन किया जा रहा है, जिनके लिये धूमपान का निषेध किया गया है। विरेचन करने के तत्काल बाद तथा बस्ति-कर्म के पश्चात् धूमपान न करे, रक्तपित्त का रोगी, विष सेवन कर लेने से पीडित व्यक्ति, शोकसन्तप्त पुरुष तथा गर्भिणी स्त्री धूमपान न करे। थकावट होने पर, मद (नशे) की स्थिति में, आमदोष में, पित्त प्रकोप में, रात्रि जागरण होने पर, मूर्च्छा, भ्रम, तृष्णा आदि रोगों में, क्षयजनित विकारों में तथा उरःक्षत आदि में धूमपान निषिद्ध है। मद्यपान, दुग्धपान, स्नेहपान एवं शहद खाने के बाद धूमपान न करे। दही के साथ भोजन करने के पश्चात्, रूक्ष प्रकृति वाले व्यक्ति को और क्रोध की स्थिति में भी धूमपान नहीं करना चाहिये। तालुशोष में, तिमिर रोग में (Cataract) शिरमें चोट लगने पर, शंखक, (शिरोरोग), रोहिणी (मुखरोग), प्रमेह तथा मदात्यय रोगों में धूमपान न करे। उपर्युक्त रोगों में तथा निषिद्ध कालो में मूर्खतावश जो मनुष्य धूमपान करता है, वह धूमपान के दुरुपयोग के फलस्वरूप रोगों से आक्रान्त हो जाता है।

वक्तव्य—शार्ङ्गधरसंहिता के अनुसार 'धूमस्तु द्वादशाद् वर्षाद् गृह्यतेऽशीतिकान्न च'। शा० सं० अ० ९।९। अर्थात् धूमपान १२ वर्ष की अवस्था के पूर्व तथा ८० वर्ष के बाद नहीं करना चाहिये। अधिक धूमपान जनित हानि का वर्णन अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ३० में देखें। इस सन्दर्भ में सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १२ में **धूमोपहत** लक्षणों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

भगवान् धन्वन्तरि धूमपान के अयोग्य रोगियों की इस प्रकार सूचना दे रहे हैं—'तत्र शोकश्रमभयामर्षोष्-ण्यविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्गारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववा-तार्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीताल्पकफाश्च न धूममासेवेरन्'। सु० अ० ४०।११।

1. 'न मद्यं न पयः पीत्वा' इति यो.।
2. 'न चापि भुक्तवान् दध्ना' यो.।
3. 'प्रवर्धन्ते' इति पा.।

आचार्य शार्ङ्गधर धूमपान के आयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः। दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा ॥ पिपासितश्च दाहार्तस्तालुशोषी तथोदरी। शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्याध्मानप्रपीडितः ॥ क्षतोरस्कः प्रमेहार्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी। रूक्षः क्षीणोऽप्यनहत-क्षीरक्षौद्रघृतासवः ॥ भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा'। शा० सं० अ० ९।

इसके पश्चात् अकालपीत तथा अतिपीत धूम के उपद्रवों का उल्लेख इस प्रकार है—'अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्। बाधिर्यमान्ध्यमूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ॥ तत्रेष्टं सर्पिषःपानं नावनाञ्जनतर्पणम्। सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्करान्बु वा ॥ मधुराम्लौ रसौ वापि शमनाय प्रदापयेत्'। शा० सं० अ० ९।

धूमविभ्रमात्—'मदरागहर्षजनितो विपर्यासो, विभ्रमः'। अमरकोष-रामाश्रमी टीका में द्रष्टव्य। यहाँ पर विभ्रम का अर्थ है विपर्यास अर्थात् व्यतिक्रम।

धूमयोग्यः पिबेद् दोषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रये ॥ ४६ ॥
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे मुखेन घ्राणपो वमेत्। आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत् ॥४७॥
प्रतिलोमं गतो ह्याशु-धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी।

नासिका से धूम न निकालें—धूमपानयोग्य पुरुष को चाहिये कि वह शिर, नासिका तथा आँखों में वात-कफ आदि से सम्बन्धित कोई दोष हो तो नासिका से धूमपान करे, यदि वातादि विकार कण्ठप्रदेश में स्थित हों तो मुख से धूमपान करे। नासिका के धूमपान करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह निश्चितरूप से उस धुंआँ को मुख से निकाले, क्योंकि प्रतिलोम (विपरीत मार्ग से) गया हुआ धूम नेत्रों का विनाश कर देता है।

वक्तव्य—धूमपान की दो विधियाँ उक्त पद्य में कही गयी हैं—१. मुख से तथा २. नाक से। ध्यान इस बात पर देना है कि किसी स्थिति में भी पिये हुए धुंआँ को नाक से न निकालें, क्योंकि नासिका मार्ग की ओर जब आप उस धूम को प्रवृत्त करेंगे तो निश्चित ही वह धूम अपना दुष्प्रभाव दृष्टि-मंडल पर डालता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत का मत भी द्रष्टव्य है—'मुखेन तं पिबेत् पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत्। मुखपीतं मुखेनैव वमेत् पीतं च नासया। मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत्। तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते। विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां, नासिकया वैरेचनिकं, मुखे-नैवेतरौ'। सुश्रुत चि० अ० ४०।७-९। उक्त गद्य में जो प्रायोगिक धूम को नासिका से पीने का विधान किया है, वह विचारणीय है।

चरकसंहिता में धूम के उपयोग भेद से उसके नाम भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। ये भेद शार्ङ्गधरसंहिता में इस प्रकार हैं—१. शमन, २. बृंहण, ३. रेचन, ४. कासनाशक, ५. वमनकारक, ६. व्रण-धूपन। शमनधूम के दो नाम हैं—१. मध्य, २. प्रायोगिक। इसी प्रकार बृंहण धूम के भी दो नाम हैं—१. स्नैहिक, २. मृदु और रेचनधूम के ये नाम हैं—१. शोधन, २. तीक्ष्ण।

सुश्रुत ने इनकी चर्चा इस प्रकार की है—'धूमः पञ्चविधो भवति, तद्यथा—१. प्रायोगिकः, २. स्नैहिको, ३. वैरेचनिकः, ४. कासघ्नो, ५. वामनीयश्चेति', सुश्रुत चि० अ० ४०। **प्रायोगिक धूम**—जो प्रतिदिन स्वस्थ-पुरुषों द्वारा सेवन किया जाता है। जैसा कि स्वस्थवृत्त प्रकरणमें भगवान् पुनर्वसु ने निर्देश किया है—'धूमपः', चरक सू० अ० ८। **स्नैहिक धूम**—जो स्नेहन के लिये प्रयुक्त होता है। **वैरेचनिक धूम**—जो शिरोविरेचन के लिये सेवन किया जाता है। **कासघ्नधूम**—जो कास, श्वास, स्वरभेद आदि कण्ठरोगों के शमन के लिये अनुमोदित है। **वामनीयधूम**—जिसके सेवन करने मात्र से वमन हो जाता है। उक्त चार धूम रोगनिवृत्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं और प्रायोगिक धूम के सम्बन्ध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—'स्वस्थस्य सततोपयोगः, तत्र साधुः प्रायोगिकः। स च श्लेष्माणम् उत्क्लेशयति, उक्लिष्टं च अपकर्षति, शमयति वातं, स्नेहनविरेच-नाभ्यां तुल्यत्वात्, इति'। यही विषय सुश्रुत सं० चि० अ० ४० के १४ वें गद्य में देखें। इसका कुछ वर्णन हम इसी अध्याय में २०-२४ श्लोकों के वक्तव्य में भी कर चुके हैं।

चरक में धूम का प्रयोग नस्य के रूप में करने का भी स्पष्ट निर्देश है। यथा—'विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः नागुक्तः शमनादिकः'। च० सि० अ० ९।

ऋज्वङ्गचक्षुस्तच्चेताः सूपविष्टस्त्रिपर्ययम् ॥ ४८ ॥
पिबेच्छिद्रं पिधायैकं नासया धूममात्मवान्।

नासिका से धूमपान विधि—आत्मवान् पुरुष को चाहिये कि वह सभी अंगों, विशेषतया आँखों को ऋजु (सीधा) रखकर, सुख से बैठकर, उसी ओर मन लगाकर नासिका के एक छिद्र को बन्द करके दूसरे छिद्र द्वारा तीन पर्यय (आवृत्ति) में धूमपान करे।

वक्तव्य—आत्मवान् शब्द की व्याख्या हम इसी अध्याय के ३५ वें श्लोक में कर चुके हैं, वहाँ देखें। **पर्यय**—यद्यपि अमरसिंह 'पर्ययोऽतिक्रमः' लिखते हैं, तथापि आयुर्वेद में पर्यय—आदान-प्रक्षेप अर्थात् एक बार धूम का आदान (कश खींचना) तथा प्रक्षेप (धुंआँ को निकालना) को कहते हैं। इसको यदि सावधानी से देखें तो पर्यय का पर्याय—अतिक्रम भी समीचीन प्रतीत होगा। पाठक स्वयं विचार करें।[1]

अन्यत्र धूमपान विधि—'वदनेन पिबेद् धूमं वदनेनैव सन्त्यजेत्। नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव वमेत् सुधीः'। शा० सं० अ० ९।१८। आवश्यकतानुसार नासिका द्वारा धूमपान तो किया जा सकता है किन्तु नासिका से धुंआँ बाहर को न निकाले। 'ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम्। पिधायच्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत्' ॥ अ० हृ० सू० अ० २१।९। और भी—'अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत्'। सुश्रुत चि० अ० ४०।६। सभी प्रकार के धूमपानों का यह सामान्य नियम है।

चतुर्विंशतिकं नेत्रं स्वाङ्गुलीभिर्विरेचने ॥ ४९ ॥
द्वात्रिंशदङ्गुलं स्नेहे प्रयोगेऽध्यर्धमिष्यते। ऋजु त्रिकोषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम् ॥५०॥
बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते।

धूमनेत्र परिमाण (Size of cigarette)—विरेचनार्थ धूमपान के लिये धूमपानकर्ता व्यक्ति के अंगुलों की नाप से २४ अंगुलों का, स्नैहिक धूमपान के लिये ३२ अंगुलों का और प्रायोगिक धूमपान के लिये (स्नैहिक धूमपान की नाप से) डेढ़ गुना (३६ अंगुलों का) धूमनेत्र होना चाहिये।

धूमनेत्र की नली सरल, तीन कोषों से युक्त तथा कोलास्थि (बेर की गुठली) के समान आगे की ओर छिद्रवाली होनी चाहिये। बस्तिनेत्र के निर्माण में जिन धातुओं (सोना, चाँदी अथवा तांबा आदि) का प्रयोग किया गया हो उसी धातु से धूमनेत्र का भी निर्माण करना उत्तम होता है।

वक्तव्य—यहाँ पर उन कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों के मत उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनके आदेशानुसार आज भी धूमनेत्रों का निर्माण किया अथवा कराया जाता है।

शार्ङ्गधर का मत—धूमपान के लिये नेत्र (नली या नैचा) तीन खंडों (Three curves) में विभक्त (बंटा हुआ, जिससे आवश्यकतानुसार इसको मोड़कर छोटा अथवा खींचकर लम्बा बनाया जा सके) तथा तीन पर्व (पोर, पोरी या गांठ) वाला होना चाहिये। उसकी मोटाई कनिष्ठिका (कानी) अंगुली के बराबर हो और उसका छिद्र (जहाँ से धूमपान किया जायगा) राज-माप के आने जाने योग्य हो। **शमन धूमपान** के लिये उस नेत्र की लम्बाई रोगी के अंगुल से ४० अंगुल। **मृदुधूमपान** के लिये ३२ अंगुल। **तीक्ष्णधूमपान** के लिये २४ अंगुल। **कासघ्नधूमपान** के लिये १६ अंगुल। **वामनीयधूमपान** तथा **व्रणधूपन** के लिये १० अंगुल का नेत्र होना चाहिये। व्रणधूपन के लिये निर्मित नेत्र की मोटाई मटर जैसी और इसका छिद्र कुरथी के आने जाने योग्य होना चाहिये।

जतूकर्ण का मत—'सार्द्धस्त्र्यंशयुतः पूर्णो हस्तः प्रायोगिकादिषु'। अर्थात् त्रिविध धूमपान (प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक) के धूमनेत्रों की रचना पूर्ण हाथ (२४ अंगुल) में क्रमशः डेढ़ गुना तृतीयांश युक्त कर देने पर होती है। इसके अनुसार **प्रायोगिक** का धूमनेत्र ३६ अंगुल, **स्नैहिक** का ३२ अंगुल और **वैरेचनिक** का २४ अंगुल होता है।

---

१. 'ऋजु त्रिकोषमच्छिद्रं' यो.।

वाग्भट का मत—धूमनेत्र उन्हीं स्वर्ण आदि धातु अथवा काष्ठ आदि का बनाया जाता है, जिनसे बस्तिनेत्र के निर्माण का विधान है। इसमें तीन कोष (पर्व) हों, वह सीधा हो, मूल भाग में (जहाँ धूमद्रव्य भरे जाते हैं) अंगूठा के प्रवेश योग्य छिद्र हो और अग्रभाग (जहाँ से धूमपान किया जाता है उस) में बेर की गुठली के प्रवेश योग्य छिद्र हो।

धूमनेत्र की लम्बाई तीक्ष्णधूमपान के लिये २४ अंगुल, स्नेहधूमपान के लिये ३२ अंगुल और मध्य-धूमपान के लिये ४० अंगुल हो। यह अंगुलमान धूमपानकर्ता के अंगुल से लिया गया है। अ० हृ० अ० २१।७-८।

सुश्रुत का मत—धूमनेत्र निर्माण के साधन बस्तिनेत्र के समान स्वर्ण, चांदी, काष्ठ आदि हैं। धूमनेत्र का अग्रभाग कनिष्ठिका अंगुली के समान और सदृश, मटर के आने जाने योग्य छिद्र से युक्त, मूल में अंगूठा के समान मोटाई वाला, धूमवर्ति के प्रवेश होने योग्य छिद्रवाला ४८ अंगुल लम्बाई वाला प्रायोगिक धूमपान के लिये होना चाहिये। स्नैहिक धूमपान के लिये ३२ अंगुल, वैरेचनिक धूमपान के लिये २४ अंगुल, कासघ्न धूमपान के लिये १६ अंगुल और वामनीय धूमपान के लिये भी १६ अंगुल होना चाहिये। इनके अग्रभाग में स्थित छिद्र बेर की गुठली के आने जाने योग्य प्रमाण का होना चाहिये। व्रणधूपन नेत्र की लम्बाई ८ अंगुल मोटाई मटर के बराबर और इसका अगला छिद्र कुलथी के जाने योग्य होता है। सु० चि० अ० ४०।

वृन्द का मत—'षड्भागो धूमनेत्रस्य वर्त्यामानं प्रशस्यते', ये भी सुश्रुत का अनुकरण कर प्रायोगिक धूमपान के लिये ४८ अंगुल का धूमनेत्र प्रशंसनीय मानते हैं।

महाविदेह का मत—'चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च प्रमाणेनाङ्गुलानि हि। नेत्रं प्रायोगिकं कार्यं द्वात्रिंशत् स्नैहिकं भवेत्। चतुर्विंशत्यङ्गुलकं वैरेचनिकमिष्यते। इनका क्रम इस प्रकार है—१. प्रायोगिक ४८ अंगुल, २. स्नैहिक ३२ अंगुल और ३. वैरेचनिक २४ अंगुल।

वास्तव में ये सब पुराने **आर्डर सप्लायर** हैं। इन्होंने अपनी-अपनी कम्पनी की नापें दे रखी हैं। आजकल अमीरों, रईसों के घरानों में जिस प्रकार के धूमनेत्रों (हुक्कों) के दर्शन होते हैं, उनकी विभिन्न नापें हैं। मजलिसों से बीच में रखा हुआ हुक्का अत्यन्त लम्बी नली द्वारा सबके मुखों को चूमता है, अथवा सब उसका मुख चूमते हैं।

दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः ॥ ५१ ॥
नेन्द्रियं बाधते धूमो मात्राकालनिषेवितः।

धूमनेत्र द्वारा धूमपान की उपयोगिता—दूर से निकला हुआ, पर्व भागों से टकराने के कारण मन्द वेग वाला, नाली से आने के कारण जो पतला हो चुका है, ऐसे धूम का उचित मात्रा में तथा ठीक समय पर सेवन करने से इन्द्रिय को बाधा नहीं पहुँचती।

वक्तव्य—यहाँ पर केवल **इन्द्रिय** शब्द का प्रयोग किया गया है। धूमपान के ऊपर तीन भेदों का वर्णन किया गया है, उसमें एक शिरोविरेचन भी है। इसके पूर्व इसी अध्याय में ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों के प्रशमन के लिये धूमपान का विधान बतलाया गया है, इन सबको दृष्टि में रखते हुए यहाँ **इन्द्रिय** शब्द से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण तन्त्रकार को अभीष्ट है उनमें भी आँखों का विशेषरूप से ग्रहण करना चाहिये।

यदा चोरश्च कण्ठश्च शिरश्च लघुतां व्रजेत् ॥ ५२ ॥
कफश्च तनुतां प्राप्तः सुपीतं धूममादिशेत्।

सम्यक् धूमपान के लक्षण (Symptoms of proper smoking)—जब उर (छाती), कण्ठ (गला) और शिर हलका प्रतीत हो तथा कफ पतला (ढीला) हो जाय तो धूमपान का पूर्ण लाभ हुआ है, ऐसा समझें।

वक्तव्य—'तनोः भावः तनुता ताम्'। कोषकारों ने तनु शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। यथा—'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे'। इति विश्वमेदिन्यौ'। अर्थात् तनु शब्द शरीर, अल्प, विरल और कृश अर्थों में यथास्थान प्रयुक्त होता है। यहाँ पर तन्त्रकार का अभिप्राय अल्प, विरल तथा कृश अर्थों से है। भाषाशास्त्रविद् ध्यान दें।

अविशुद्धः स्वरो यस्य कण्ठश्च सकफो भवेत् ॥ ५३ ॥
स्तिमितो मस्तकश्चैवमपीतं धूममादिशेत्।

अपीत धूमपान के लक्षण (Symptoms of smoking)—धूमपान करने से जिसका स्वर शुद्ध (स्पष्ट) न हो, कण्ठ में कफ फँसा रहे और मस्तक (शिरःप्रदेश) स्तिमित (क्लिन्न अथवा गीला अतएव भारी) प्रतीत हो रहा हो तो समझना चाहिये कि धूमपान शास्त्रोक्त विधि से नहीं हुआ है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **अपीत** शब्द ध्यान देने योग्य है। नञ् समास के कारण यहाँ इसका अर्थ होना चाहिये **अल्पपीत** = अर्थात् धूमपान पूर्णरूप से नहीं करने से उक्त विकारों का अनुभव होता है। दूसरा कारण यह भी है कि इसके बाद ही अधिक धूमपान के उपद्रवों का निर्देश किया गया है।

तालु मूर्धा च कण्ठश्च शुष्यते परितप्यते ॥ ५४ ॥
तृष्यते मुह्यते जन्तू रक्तं च स्रवतेऽधिकम्। शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं मूर्च्छा चास्योपजायते ॥५५॥
इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते धूमेऽत्यर्थं निषेविते।

अधिक धूमपान के लक्षण (Symptoms of over smoking)—धूमपान के अतियोग से तालु, मूर्धा और कण्ठ सूखने और तपने लगते हैं। उस व्यक्ति को प्यास लगती है, बेहोशी आती है और रक्तस्राव होने लगता है। शिर में चक्कर आने लगते हैं तथा वह मूर्च्छित होने लगता है और सभी इन्द्रियाँ सन्तप्त अर्थात् व्याकुल हो जाती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्यों मे धूमपान के अयोग तथा अतियोग के सम्बन्ध में चरक के मत का निर्देश किया गया है। इस संदर्भ में सुश्रुत का दृष्टिकोण देखें—'तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोगो रोगाऽप्रशमनः, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यानि अतियोगो जनयति' ॥ सुश्रुत चि० अ० ४०।

वर्षे वर्षेऽणुतैलं च कालेषु त्रिषु ना चरेत् ॥ ५६ ॥[1]
प्रावृट्-शरद्-वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले। नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते ॥५७॥
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते। न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः ॥५८॥
न च केशाः प्रमुच्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः। मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसङ्ग्रहः ॥५९॥[2]
पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति। सिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्डराः ॥६०॥
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम्।
मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान् ॥ ६१ ॥
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्। न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥६२॥
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गेषु जरा न लभते बलम्।

नस्य सेवन से लाभ—प्रत्येक पुरुष को प्रतिवर्ष जब आकाश स्वच्छ (मेघाच्छादित न) हो, ऐसी स्थिति में प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतुओं में अणुतैल का नस्य रूप में सेवन करना चाहिये।

नस्य की फलश्रुति—जो व्यक्ति शास्त्रोक्तविधि से समय पर नस्य का सेवन करता है, उसके आँख, नासिका, तथा कानों की (क्रमशः दर्शन, घ्राण, श्रवण) शक्ति नष्ट नहीं होने पाती, उसके सिर आदि के बाल एवम् दाढ़ी मूंछ सफेद तथा कपिल (Brown) वर्ण के नहीं होते, और न गिरते ही हैं, अपितु विशेष प्रकार से बढ़ने लगते हैं।

रोगप्रतीकार क्षमता—इसके विधिवत् सेवन से मन्यास्तम्भ—(Torticollis), शिरःशूल (Headache), अर्दित (Facial Paralysis), हनुस्तम्भ (Lock-jaw), पीनस (Chronic Coryza), अर्धावभेदक=आधासीसी (Hemicrania), एवम् शिरःकम्पः (ये लक्षण प्रायः वातवहा नाड़ियों की दुर्बलता

१. 'वत्सवर्षे' ग.।
२. 'प्रलुच्यन्ते' ग. 'प्रलुप्यन्ते' यो.।

से दृष्टिगोचर होते हैं) शान्त हो जाते हैं। साथ ही शिरःकपाल से सम्बन्धित सिरायें, संधियाँ, स्नायु और कण्डरायें इस तेल के सेवन से तृप्त होने पर अधिक बल को प्राप्त करती हैं। मुखमंडल प्रसन्नता से पूर्ण अथवा भरा हुआ दिखायी देता है। स्वर स्थिर, स्निग्ध (खर-दरापन अथवा रूक्षता रहित) तथा गम्भीर हो जाता है। सभी इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) निर्मल एवं बलसम्पन्न हो जाती हैं। नस्य सेवन करने वाले पुरुष को सहसा (एकाएक) ऊर्ध्वजत्रु में होने वाले रोग नहीं होते और वृद्धावस्था आने पर भी शिरःप्रदेश में बुढ़ापे का प्रभाव (बाल सफेद होना, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ना आदि) सबल नहीं होने पाता।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में **'कालेषु त्रिषु नाऽऽचरेत्'** ऐसा पाठ उपलब्ध होता है जो सर्वथा भ्रामक है। ना के बाद ये दो अवग्रह (ऽऽ) के चिह्न नहीं होने चाहिये।

प्रावृड्-शरद्-वसन्तेषु—कुछ व्याख्याकारों ने **प्रावृट्** का अर्थ **वर्षाऋतु** किया है, अतः यह विषय विवेचनीय है। सुश्रुत के मत से ऋतुविभाजन देखें—'इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति, ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृड्, इति'। सुश्रुत सू० अ० ६।१०।

शल्यशास्त्र में वात, पित्त एवं कफ के संचय, प्रकोप, प्रशम को ध्यान में रखकर उक्त ऋतुओं की व्याख्या की गयी है। कायचिकित्सा के ग्रन्थ चरक में प्रावृट् को न मानकर उधर शिशिर ऋतु को स्वीकार किया है। देखें—चरक सू० अ० ६। परन्तु चरक विमानस्थान अ० ८ गद्य १२७ में संशोधन कर्म को ध्यान में रखकर शिशिर ऋतु को न मानकर सुश्रुतोक्त व्याख्या के अनुसार प्रावृट् ऋतु को ही स्वीकार किया है।

इस प्रसंग में चरक सिद्धिस्थान अ० ९ के 'प्राक्सूर्ये' 'स्त्यायते पुनः'। तक के पद्यों का भी अनुसन्धान आवश्यक है। तथा सुश्रुत चि० अ० ४०।२५–२७ को भी देखें।

स्वस्थवृत्त में—नस्य ग्रहण की व्याख्या इस प्रकार है—'शीते मध्याह्ने, शरद्-वसन्तयोः पूर्वाह्णे, वर्षासु आदित्यदर्शने, पञ्चकर्माण्याचरतो वस्तिकर्मानन्तरकालमेव'।

अन्य सम्पर्कसूत्र—इस विषय का वर्णन चरक सि० अ० १, २, ९ में तथा अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय २९ में देखें।

नासारन्ध्रों में जिस औषध का प्रयोग होता है उसे 'नस्य' कहते हैं। इसी के पर्याय हैं—नावन तथा नस्तःकर्म। वास्तव में नासारन्ध्र शिरःप्रदेश के द्वार हैं, उस मार्ग से प्रवेश कराये गये औषध द्रव्य शृंगाटक नामक मर्मस्थल में पहुँचकर और समस्त शिर, नेत्र, कर्ण तथा कण्ठ आदि की शिराओं के मुखों में व्याप्त दोष समूह का निर्हरण करते हैं।

चन्दनागुरुणी पत्रं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम् ॥ ६३ ॥
प्रपौण्डरीकं सूक्ष्मैलां विडङ्गं बिल्वमुत्पलम्। ह्रीवेरमभयं वन्यं त्वङ्मुस्तं सारिवां स्थिराम् ॥ ६४ ॥
जीवन्तीं पृश्नीपर्णीं च सुरदारु शतावरीम्। हरेणुं बृहतीं व्याघ्रीं सुरभीं पद्मकेशरम् ॥ ६५ ॥
विपाचयेच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि। तैलाद्दशगुणं शेषं कषायमवतारयेत् ॥ ६६ ॥
तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत्। अथास्य दशमे पाके समांशं छागलं पयः ॥ ६७ ॥
दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधिः। अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत तैलस्यार्धपलोन्मिताम् ॥ ६८ ॥
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनैस्त्रिभिः। त्र्यहात् त्र्यहाच्च सप्ताहमेतत्कर्म समाचरेत् ॥ ६९ ॥
निवातोष्णसमाचारी[1] हिताशी नियतेन्द्रियः। तैलमेतत् त्रिदोषघ्नमिन्द्रियाणां बलप्रदम् ॥ ७० ॥
प्रयुञ्जानो यथाकालं यथोक्तानश्नुते गुणान्।

अणुतैल-निर्माणविधि—लालचन्दन, अगुरु, तेजपत्ता, दारुहल्दी की छाल, मुलेठी, बलामूल, पुण्डरीक-काष्ठ, छोटी इलायची, वायविडंग, बेल, नीलोफर गन्धबाला, अभय (खस), वन्य (कैवटीमोथा), दालचीनी नागरमोथा, अनन्तमूल, शालपर्णी, देवदारु, शतावर, रेणुका, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी (शूकशिम्बी अथवा किवाँच के बीज), कमलकेसर इन द्रव्यों को समभाग में लेकर जौकुट कर लें। तदनन्तर उक्त द्रव्यों के जौकुट चूर्ण

१. 'समाचारो' इति पा.।

को तेल से सौ गुने निर्मल माहेन्द्र जल में डालकर क्वाथ करें। जब वह क्वाथ (तेल से) दस गुना मात्र शेष रह जाय तो इसको उतार कर कपड़े से छानकर रख लें। पुनः इस क्वाथ के साथ उक्त तेल का पाक करें, पुनः उक्त क्वाथ को देकर तैल पाक करें। इस प्रकार क्वाथ दे-देकर दस बार पकायें। दसवीं बार पाक होते समय तेल के बराबर उसमें बकरी का दूध डालकर पाक करें। नस्य के लिये प्रयुक्त होने वाले **अणुतैल** के निर्माण की यही विधि है।

अणुतैल-प्रयोग-विधि—सबसे पहले सिर का स्नेहन और स्वेदन करके रूई का फाहा (Cotton Swab) को तैल में भिगोकर तीन नस्य लें। इसकी इन नस्यों की मात्रा आधा पल (२ तोला) है। इस प्रकार के तीन नस्य सप्ताह में प्रति तीसरे दिन अर्थात् एक दिन का अन्तर देकर दें। नस्य कर्म करने वाला व्यक्ति खुली हवा वाले तथा उष्ण स्थान में निवास न करे, हितकर आहार-विहार करे और अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। यह तैल तीनों दोषों का नाश करने वाला तथा इन्द्रियों को बलप्रदान करने वाला है। इसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति समयानुसार जिन गुणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन सबसे लाभान्वित होता है।

वक्तव्य—'विपाचयेत् शतगुणे'—सामान्य तैल साधन की विधि नीचे दी जा रही है, उससे इसमें जल की मात्रा अत्यधिक है। **तैल-साधन-विधि**—'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहः चतुर्थांशो भेषजकल्कः तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्, इत्येषः स्नेहपाककल्पः'। सुश्रुत चि० अ० ३१। **दूसरा मत**—'कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा। चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता'॥ शार्ङ्गधर सं० अ० ९ श्लो० १। तैल अथवा घृतपाक में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि जैसे आपने ४ सेर घी या तेल का पाक किया तो आप ३ सेर के लगभग घी या तेल ही प्राप्त कर सकेंगे। कुछ वाष्प द्वारा उड़ जाता है और कुछ कल्क द्रव्यों में लगा रह जाता है। क्योंकि नस्य के लिये **मृदुपाक** का विधान है, अतः इसका खरपाक न करें।

माहेन्द्रजल—वर्षा का वह जल जो भूमि में गिरने से पहले किसी स्वच्छ पात्र में रख लिया गया हो उसे माहेन्द्रजल कहते हैं।

विपाचयेच्छतगुणे—इस सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि का मत है कि 'क्वाथ्यात् चतुर्गुणं वारि'। अर्थात् क्वाथ्य द्रव्यों के परिणाम से चौगुना जल तैलपाक के लिये लेना चाहिये। इसके अनुसार जल से चतुर्थांश क्वाथ्य द्रव्य लेने चाहिये। अथवा—**'स्नेहाच्चतुर्गुणं क्वाथ्यम्'**, स्नेह से चौगुने क्वाथ्य द्रव्यों (चन्दन आदि) का ग्रहण करना चाहिये।

अष्टाङ्गसङ्ग्रहकार—क्वाथ्य (चन्दन आदि) द्रव्यों के मान से शतगुण माहेन्द्रजल-ग्रहण की संस्तुति करते हैं। यथा—'चन्दनागुरुपत्रदार्वीत्वङ्मधुकबलाद्वयबिल्वोत्पलपद्मकेसरप्रपौण्डरीकविडङ्गोशीरह्रीबेरवन्यत्वङ्मुस्ताशारिवाबृहतीद्वयांशुमतीद्वयजीवन्तीदेवदारुसुरभिशतावरीः शतगुणे दिव्येऽम्भसि दशभागावशिष्टं क्वाथयेत्। ततस्तस्य क्वाथस्य दशमांशेन समांशं तैलं साधयेत्। दशमे चात्र पाके तैलतुल्यमाजमपि पयो दद्यात्। एतदप्यणुतैलं पूर्वस्माद् विशेषेणेन्द्रियदार्ढ्यकरं केश्यं त्वच्यं कण्ठ्यं प्रीणनं बृंहणं दोषत्रयघ्नञ्च'। अ० सं० अ० २९।

इस तैल का नाम **'अणुतैल'** है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पाक करने से क्वाथ्य द्रव्यों के समस्त गुणों का समावेश निश्चित ही तैल के अणु-अणु में हो जायगा। इस प्रकार के तैल-निर्माण से तैलों की शक्ति (Potency) बढ़ जाती है।

वृद्धवाग्भट ने नस्य प्रयोग का निर्देश इस प्रकार किया है—अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्याद् आसम्यग् योगाद् वा'। अष्टाङ्गसं० सू० अ० २९। भोज भी इसी का समर्थन इस प्रकार करते हैं—'एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सम्यग् दद्याद् विचक्षणः। सप्ताहं तु परं देयं विश्रान्तस्य पुनः पुनः॥ पञ्चविंशतिरात्रं वा यावद् वा साधु मन्यते'। भोजसंहिता।

नस्य के भेद—१. नावन—इसे मर्श भी कहते हैं, २. अवपीड, ३. ध्मापन, ४. धूम और ५. प्रतिमर्श। इसके भेदोपभेदों को अग्रलिखित तालिका द्वारा समझें।

नस्य-विभाग-तालिका

- नस्य
  - कर्मभेद से
    - रेचन
    - तर्पण
    - शमन
  - स्वरूपभेद से
    - नावन — स्नेहन, शोधन,
    - अवपीड — शोधन, स्तम्भन,
    - ध्मापन — शोधन
    - धूम — स्नेहन, शोधन, शमन,
    - प्रतिमर्श — स्नेहन, शोधन

आपोथिताग्रं द्वौ कालौ कषायकटुतिक्तकम् ॥ ७१ ॥
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ।

दन्तपवन (दातौन) का वर्णन—कषाय, कटु, तिक्त रसप्रधान वृक्षों की पतली शाखा के अग्रभाग को (दाँतों अथवा पत्थर आदि से) कूट कर कूची (Brush) बनाकर प्रतिदिन दो समय (प्रातःसायम्) दन्तमांसों = मसूड़ों (Gums) को बचाते हुए दन्तपवन (दातौन) करे।

वक्तव्य—'आपोथिताग्रं'—आ+पुथि+णिच्+क्त=आपोथित, अर्थात् जिसका अगला हिस्सा हिंसित अथवा क्लेशित (काटा और कूचा गया) हो।

द्वौ कालौ—'द्विकालं सायं प्रातरिति' चक्रपाणिः। और भी—'द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्', च. चि. अ. ८। किं च—'प्रातर्भुक्त्वा च यतवाग् भक्षयेद् दन्तधावनम्'। वृद्धवाग्भट। अन्यच्च—'प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्'। वाग्भटसंहिता।

कषायकटुतिक्तकम्—आजकल लोक-व्यवहार में कटु तथा तिक्त शब्दों का व्यवहार प्रायः विपरीत देखा जाता है, अतः ध्यान दें–कटु तथा तिक्त रसों की उत्पत्ति क्रमशः चरक सू. अ. २६ में और सुश्रुत सू. अ. ४२ में देखें। कटुरस–मिर्चा, और तिक्तरस–करेला को उक्त रसों का प्रतिनिधि समझें। और भी—

'निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा।
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा' ॥ सुश्रुत चि. अ. २४।

भक्षयेत्—चरकसंहिता की भाषा जितनी परिष्कृत है, उसके अनुसार यहाँ निश्चित ही **चर्वयेत्** किं वा **घर्षयेत्** क्रियाओं में किसी एक का प्रयोग होना चाहिए था क्योंकि **भक्षयेत्** क्रिया के प्रसिद्ध अर्थ (खाना अथवा 'गलविलाधः संयोगानुकूलव्यापारो भक्षणम्') के विपरीत यह कार्य है, अथवा भोजन की प्रारम्भिक क्रिया चर्वण है, यदि एकदेशमात्र से ही यहाँ सम्बन्ध हो तो महर्षि की आत्मा जाने। परन्तु आश्चर्य है अन्य आचार्यों ने भी 'भक्षयेद्' क्रिया का ही प्रयोग किया है।

दन्तपवनम्—पूञ् पवने धातु से ल्युट् प्रत्यय करके **पवन** शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है, पवित्र करना। वे सभी काष्ठ तथा चूर्णद्रव्य दन्तपवन (दातौन या मंजन) कहे जाते हैं, जो दाँतों को साफ करने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।

सुश्रुतोक्त दातौन का प्रकार—सरसों के तेल अथवा शहद द्वारा दातौन की कूची को भिगोकर उसमें त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), त्रिजात (दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता), सैंधानमक और तेजबल के चूर्णों को लगाकर दाँतों पर एक एक करके मलें। सु. चि. अ. २४।

वाग्भट का मत—उपर्युक्त प्रकार से दातौन की कूची बनाकर उसमें शहद लगाकर दन्तशोधक चूर्णों के साथ उसको दन्तमूल से दन्तशिखर की ओर फिर ऊपर से नीचे की ओर प्रत्येक दाँत में घिसे। ध्यान रहे कि दाँतों के अगल-बगल में स्थित मांस में उसकी रगड़ न लगे। अ. सं. सू. अ. ३। महामना मदनमोहन मालवीय जी द्वारा प्रयोग किया जाने वाला एक उत्तम मञ्जन—

'त्रिफला, त्रिकुटा तूतिया पाँचों लवण पतंग।
दाँत वज्र सम होत हैं माजूफल के संग' ॥

निहन्ति गन्धं वैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम् ॥ ७२ ॥
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम् ।

दातौन के लाभ—प्रतिदिन दातौन का प्रयोग मुख की दुर्गन्धि को दूर करता है तथा जीभ, दाँत, मुख के मल को निकालकर तत्काल रुचि (भोजन करने की इच्छा) को बढ़ाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **जिह्वामलं निष्कृष्य** पाठ ऐसा ध्यान दिला रहा है कि सुश्रुतसंहिता चि. अ. २४।१३ में निर्दिष्ट **वार्क्ष** वृक्ष से सम्बन्धित भी जिह्वा-निर्लेखन (जीभी) होती है, जिसे आजकल दातौन करने वाले उसी दातौन को चीर कर बना लेते हैं। यद्यपि जिससे दातौन किया जाय उसी को बाद में चीर कर जीभी बनाना कभी-कभी हानिप्रद भी सिद्ध हो चुका है; क्योंकि वह खुरदरा होने से जीभ को भी खुरच देता है, अतः उससे सावधान रहें।

सुश्रुत के मत में—'तद्दौर्गन्ध्योपदेही तु श्लेष्माणं चापकर्षति, वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च'। दातौन का प्रयोग मुख दुर्गन्धि, मैल तथा कफ को निकालता है। विशदता, अन्न के प्रति रुचि को पैदा कर चित्त को प्रसन्न रखता है।

करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः ॥ ७३ ॥
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः ।

दातौन के लिए उत्तम वृक्ष—करञ्ज (कंजू), कनेर, अर्क (आँक), मालती, अर्जुन, असन (विजयसार), इस प्रकार के (गुणधर्मों वाले) अन्य वृक्ष भी दातौन (दतवन) के लिये शुभ होते हैं।

वक्तव्य—उक्त वृक्षों की शाखा को तोड़कर दातौन बनाने का शास्त्रनिर्देश है, किन्तु यह दातौन कितनी लम्बी तथा कितनी मोटी होनी चाहिए, इस दिशा में सुश्रुत के वचन आदरणीय हैं। यथा—'तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्। कनिष्ठिका परीणाहमृज्वग्रथितमव्रणम् ॥ अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम्' ॥ सु. चि. अ. २४।४। अर्थात् दातौन १२ अंगुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटी तथा सीधी होनी चाहिये। उसमें गांठें न हों और अच्छी भूमि पर उगे हुए वृक्ष से ली गयी हो।

इस प्रसंग में अष्टाङ्गसंग्रहकार एक सावधानी की ओर संकेत करते हैं कि—'विज्ञातवृक्षन्', उक्त वृक्षों की दातौन होने पर भी वृक्ष की जानकारी भी होनी चाहिये अन्यथा उसके विषाक्त होने का भय भी हो सकता है। वाग्भट ने कुछ अन्य वृक्षों का भी उल्लेख किया है—'वटासनार्कखदिरकरञ्जकरवीरजम्। सर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभोद्भवम्' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह। खदिर के समान ही कषायगुण प्रधान मौलसिरी वृक्ष की दातौन तथा छाल का क्वाथ दाँतों के लिये परमहितकर होता है। पर्वतीय प्रदेशों में तेजबल, (तुम्बल या तिमूर) की दातौन करने की परम्परा है, इससे दन्तशरीर लाभन्वित होता है। दातौन के लिये निषिद्ध वृक्षों का नाम निर्देश भी वाग्भट ने किया है। देखें—अष्टांगसंग्रह सू. अ. ३।

धार्मिक दृष्टि से दातौन—इसका सम्बन्ध धर्मशास्त्र से भी है, अतः इसकी चर्चा पुराणों तथा स्मृतियों में भी प्राप्त होती है। यथा—'सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः'। और भी—खदिरश्च कदम्बश्च करञ्जश्च तथा वटः। तिन्तिडी वेणुपृष्ठं च चूतनिम्बौ तथैव च ॥ अपामार्गश्च बिल्वश्च मन्दारोदुम्बरस्तथा। एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि' ॥

दातौन-निषेध—किन-किन परिस्थितियों में दातौन नहीं करना चाहिये। देखें—'न खादेद् गलताल्वोष्ठजिह्वारोगसमुद्भवे। अथास्यपाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च ॥ दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्तो मदपीडितः। शिरोरुगार्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः ॥ अर्दिती कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः'। सुश्रुत चि. अ. २४। उपर्युक्त जिन परिस्थितियों में दातौन न करने की आज्ञा दी गयी है, उसके अतिरिक्त भी अनेक व्रत, उपवास एवं धार्मिक कृत्य ऐसे हैं जिनमें दातौन करने का निषेध है। ऐसी परिस्थिति में गण्डूष (Gargle) करने का विधान शास्त्रों में मिलता है। यथा—'अलाभे दन्तकाष्ठस्य निषिद्धदिवसेषु च। अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्विधीयते ॥

सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च ॥ ७४ ॥

जिह्वानिर्लेखनानि स्युरतीक्ष्णान्यनृजूनि च। जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च ॥७५॥
दौर्गन्ध्यं [1]भजते तेन तस्माज्जिह्वां विनिर्लिखेत् ।

जिह्वानिर्लेखन (Tongue-scraper)—जिह्वानिर्लेखन (जीभ में जमी हुई मैल को निकालने वाली शलाका (जीभी) सोना, चांदी, ताँबा, रांगा, अथवा पीतल की बनानी चाहिये। यह अतीक्ष्ण = कुंठित किनारों वाली (Blunt edged) तथा टेढ़ी (Curved) होनी चाहिये। उक्त जीभी के प्रयोग से जीभ के मूल में स्थित श्वास-प्रश्वास में रुकावट डालने वाला तथा मुख में दुर्गन्धि पैदा करने वाला कफरूपी मैल निकल जाता है, अतः जिह्वानिर्लेखन (जीभी से) करना चाहिये।

वक्तव्य—हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, जो दातौन करने के बाद उसी (दातौन) को दातों से चीर कर जीभी बना लेते हैं, वह प्रायः हानिप्रद होती है, उसके खुरदरी होने के कारण जीभ के खुरच जाने का भय बना रहता है। अतः अपनी शक्ति के अनुसार सोना, चांदी आदि की जीभी का ही प्रयोग निरापद होता। इस युग में सभी वस्तुयें प्लास्टिक (Plastic) की सुलभ हैं, इसी की जीभी भी मिलती है।

इस प्रसंग में सुश्रुत का वचन उपादेय है—'जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव वा। तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम्' ॥ सु. चि. अ. २४। इस पद्य में चरक के सिद्धान्तों को समर्थन देते हुए सुश्रुत ने इसकी लम्बाई १० अंगुल होनी चाहिये, यह विशेष निर्देश किया है।

धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता ॥ ७६ ॥
जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च। कक्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा ॥७७॥
तथा कर्पूरनिर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च ॥

सुगन्धित द्रव्यों को मुख में धारण करना—मुख शुद्धि, भोजन के प्रति रुचि तथा मुख को सुगन्धित करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह जायफल, कटुक (लताकस्तूरी का फल), सुपारी, लौंग, कंकोल (शीतलचीनी), शुभ ताम्बूल पत्र (मघई पान का पत्ता), कपूर वृक्ष का गोंद (कर्पूर), छोटी इलायची इन सबको मुख में रखना चाहिये।

वक्तव्य—चरक का मुख-शुद्धि प्रकार प्राचीन होते हुए भी आज के मुख-शुद्धिप्रद द्रव्यों से भिन्न नहीं है किन्तु उक्त द्रव्यों को अलग अलग ग्रहण करने के लिये कहा है। आधुनिक दृष्टि से ये सब पान के मसाले हैं। इस विषय को सुश्रुत के शब्दों में देखें—'कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः। सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम् ॥ मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम्। हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् ॥ प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम्। पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे ॥ रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम्। रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम् ॥ सुश्रुत चि० अ० २४।२१–२४। सुश्रुत ने ताम्बूल भक्षण कैसे करना चाहिये, इसके क्या-क्या लाभ हैं, कब-कब खाना चाहिये और किस-किस को नहीं खाना चाहिये इस प्रकार विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है।

मुख-शुद्धि—मुखवैशद्य के लिये सुपारी के सेवन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अन्यत्र केवल सुपारी भक्षण का निषेध इस प्रकार किया गया है—'अनिधाय मुखे पर्णं पूगमत्ति च यो नरः। मतिभ्रंशो दरिद्री स्यादन्ते स्मरति नो हरिम्' ॥ सुषेणदेव। और भी—'विना पर्णं मुखे दत्वा गुवाकं भक्षयेद् यदि। तावद् भवति चाण्डालो यावद् गङ्गां न गच्छति ॥ ताम्बूलं विधवास्त्रीणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। तपस्विनां च विप्रेन्द्र! गोमांससदृशं ध्रुवम् ॥ ब्रह्मवैवर्तपुराण १ ब्रह्मखण्ड अ० २७।

हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनोपचयः परः ॥ ७८ ॥
स्यात् परं च रसज्ञानमन्ने च रुचिरुत्तमा। न चास्य कण्ठशोषः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम् ॥७९॥
न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृढमूला भवन्ति च। न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च ॥८०॥
परानपि खरान् भक्ष्यांस्तैलगण्डूषधारणात् ।

तैलगण्डूषधारण के लाभ—तेल के गण्डूष (कुल्ली या कुल्ला) धारण करने से दोनों जबड़े बलवान् हो जाते हैं। स्वर गम्भीर, दूर तक सुनायी देने लायक सुस्पष्ट तथा मुखप्रदेश सुपुष्ट हो जाता है, रसों के स्वाद

[1] 'मुखम्' इति शोध.।

की सम्यक् अनुभूति और भोजन में अभिरुचि होती है। तैलगण्डूष धारण करने वाले व्यक्ति का कभी मुख-शोष नहीं होता। न होंठ फटने का भय होता है, न दन्तक्षय होता है, अपितु दातों की जड़ें मजबूत हो जाती हैं। खट्टे पदार्थों के खाने से न दन्तहर्ष (Morbid sensitiveness of the teeth) होता है, न दाँतों की जड़ों में दर्द होता है और उसके दाँत अत्यन्त कठिन भक्ष्य पदार्थों को चबाकर खाने में समर्थ हो जाते हैं।

वक्तव्य—'चतुर्विधः स्याद् गण्डूषः स्नैहिकः शमनस्तथा। शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तद्विधः ॥ स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः। पित्ते कट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे। कषायतिक्तमधुरैः कदुष्णो रोपणो व्रणे। चतुष्प्रकारो गण्डूषः···' ॥ शा० सं० अ० १०।१–३। गण्डूष (कुल्ला) चार प्रकार का माना जाता है—१. स्नैहिक, २. शमन, ३. शोधन, तथा ४. रोपण।

गण्डूष और कवल में भेद—'असंचारी मुखे पूर्णे गण्डूषः कवलश्चरः। तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः'। शा० सं० अ० १०।४। अर्थात् जिसको मुख में डालकर हिला न सकें वह गण्डूष है और जिसको मुख में डालकर हिलाया जा सके वह कवल है। गण्डूष में तेल आदि द्रवों का प्रयोग होता है और कवल में औषध द्रव्यों के कल्क का प्रयोग किया जाता है। **'गण्डूषो मुखपूर्तिः'**। इति घोषपालितः। **'ग्रासस्तु कवलः'**। इति अमरसिंहः।

उक्त चार प्रकार के गण्डूषों के उपयोग—१. स्नैहिकगण्डूष वायु की वृद्धि में, २. शमनगण्डूष पित्त की वृद्धि में, ३. शोधनगण्डूष कफ की वृद्धि में और ४. रोपणगण्डूष का प्रयोग मुखगत मसूड़ा, जीभ, तालु आदि के व्रणों की पूर्ति के लिये किया जाता है।

प्रयोग—१. स्नैहिकगण्डूष मधुर द्रव्यों, अम्लद्रव्यों तथा लवणों के संयोग से सिद्ध किये गये तैल आदि स्नेह पदार्थों से किया जाता है। २. शमनगण्डूष तिक्त, कषाय तथा मधुर औषध द्रव्यों के क्वाथ आदि से किया जाता है। ३. शोधनगण्डूष तिक्त, कटु, अम्ल, लवण रस वाले औषध द्रव्यों से किया जाता है। रोपणगण्डूष कषाय तथा तिक्त द्रव्यों से।

उक्त गण्डूषों में घृत आदि स्निग्ध पदार्थ, दूध, मधु, जल इनका घोल अथवा ये स्वतन्त्र द्रव, सिरका, मधु, मांसरस, विभिन्न औषधों के स्वरस, गोमूत्र, कांजी आदि रोगानुसार द्रव पदार्थ, कल्कों के साथ मिलाकर अथवा स्वतन्त्ररूप से गरम अथवा ठंडे (आवश्यकतानुसार) प्रयुक्त किये जाते हैं। विशेष विवरण देखें—अष्टांगहृदय सू० २२।१–४।

गण्डूष-धारण की अवधि—जन्म से ४ वर्ष तक की अवस्था को छोड़कर इसके आगे गण्डूष तथा कवल धारण की अवस्था मानी गयी है। यह गण्डूष मुख में तब तक रोके रखना चाहिये जब तक आँख और नासिका से पानी न चूने लगे तथा प्रकुपित दोषों का शमन न हो जाय।

सम्पर्क सूत्र—इस विषय का वर्णन सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० २४ और ४० तथा सुश्रुत उत्तरतन्त्र अ० १८ एवम् अष्टाङ्गसङ्ग्रह सू० अ० ३१ देखिये।

नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते ॥ ८१ ॥
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च। बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्धते ॥८२॥
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च। इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम् ॥८३॥
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात् ।

प्रतिदिन शिर पर स्नेह धारण का विधान—जो मनुष्य प्रतिदिन अपने शिर को तैल (तिल तैल) के मर्दन से गीला (तर) रखते हैं, उनको कभी भी शिरःशूल नहीं होता न खालित्य (Baldness गंजापन), न पालित्य (Prematured grey hair) और न उनके असमय में बाल ही झड़ते हैं। शिरःकपालों में विशेष रूप से बल की अभिवृद्धि होती है। बालों की जड़ें मजबूत होती हैं और बाल लम्बे तथा काले होते हैं। इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) प्रसन्न (शक्ति सम्पन्न) हो जाती हैं, त्वचा सुन्दर और निर्मल हो जाती है तथा सुखपूर्वक नींद (शिर पर तैल मर्दन करने से) आती है।

वक्तव्य—अनुलोम तथा विलोम शब्द मूलतः मालिश की प्रक्रिया को व्यक्त करते हैं। जिस ओर बालों का झुकाव हो उसी ओर यदि मालिश की जायगी तो वह मालिश अनुलोम कही जायगी, इसका

प्रभाव बालों के ऊपर ही होगा, इससे बाल उखड़ भी सकते हैं और यदि विलोम (विपरीत-लोम, जिधर बाल मुड़े हैं उससे विपरीत दिशा में) मालिश करेंगे तो तेल बालों की जड़ों में पहुँचेगा, यही मालिश करने का सही ढंग है।

वाग्भट ने—'मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्' को 'मूर्धतैल' संज्ञा दी है और इसके चार भेद बतलाये हैं। यथा—१. अभ्यङ्ग अर्थात् शिर पर तैल लगाना, पोतना या मलना। २. सेक (सेचन) शिर पर तैल की धारा गिराना। ३. पिचु (रूई का फोहा या फाहा) रुई को तेल में भिगोकर माथे में रखना तथा ४. वस्तिप्रयोग (शिरोवस्ति) ये उत्तरोत्तर अधिक लाभकारक होते हैं।

प्रयोग भेद से लाभ—१. अभ्यङ्ग का प्रयोग शिर की रूक्षता, खुजली तथा मलिनता आदि में करना चाहिये। २. सेक, परिषेक या सेचन—अरूंषिका (शिर में होनेवाली छोटी-छोटी पिटिकाओं) में, शिर की वेदना में, दाह में, पाक में तथा व्रणों में करना चाहिये। ३. पिचु केशों के झड़ने, टूटने, शिरकी त्वचा के फटने, शिर से धुआँ निकलने की-सी प्रतीति होने पर और जब आँखों में स्तब्धता आ जाय तब करना चाहिये। ४. वस्ति प्रयोग—शिरकी शून्यता में, अर्दित (Facial Paralysis) में, निद्रानाश में, नासिका तथा मुख के शोष में, तिमिर (नेत्र) रोग एवम् भयावह शिरोरोग में करना चाहिये।

शिरोवस्ति—ऊँची बाढ वाली छत (चन्दक) रहित चमड़े की टोपी बनाकर शिरपर कसकर बांध दी जाती है और उसमें उपयुक्त स्नेह भर दिया जाता है। इसी को शिरोवस्ति कहते हैं। चमड़ा के अभाव में गत्ते (दफ्ती) की टोपी से भी काम चलाया जा सकता है। यह वस्ति पाँच या सात दिन तक उक्त विधि से प्रयुक्त की जाती है। बाद में वस्ति को सावधानी से हटाकर रोगी को गुनगुने जल से स्नान करवा दें। इसका प्रयोग किसी ऋतु में किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में देखें—सु० चि० अ० २४।

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसङ्ग्रहः। नोच्चैःश्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ॥८४॥

कान में तेल डालना—प्रतिदिन कानों को तेल द्वारा तृप्त रखने (कानों में तेल डालते रहने) से वातज कर्णरोग मन्यास्तम्भ तथा हनुग्रह रोग नहीं होते हैं। न उच्चैःश्रुति (ऊँचा सुनना भी श्रवण यन्त्र की असामर्थ्य का लक्षण है) और न बधिरता = बहरापन (Deafness) ही होती है।

वक्तव्य—कानों में तेल डालने का प्रकार निम्ननिर्दिष्ट है। यथा—'धारयेत् पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन्। रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदनम्' ॥ अ० सं० सू० अ० ३१। कान में अर्थात् एक बार में एक कान में तेल डालकर कान की जड़ के पास वेदना की शान्ति होने तक हाथ से मलते रहें। स्वस्थवृत्त के अनुसार भी यदि कान में तेल डाला जाय तो ३ मिनट तक उसको धारण करना चाहिये।

कर्णपूरणविधि—'स्वेदयेत् कर्णदेशन्तु किञ्चित्तु: पार्श्वशायिनः। मूत्रैः स्नेहै रसैः कोष्णैस्ततः श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥ कर्णं च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्चशतानि वा। सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरो गदे' ॥ शार्ङ्गधरसंहिता अ० ११।१३२–३३।

स्नेहाभ्यङ्गाद् यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्। भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा ॥८५॥
तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् च जायते। प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम् ॥८६॥

स्नेहाभ्यङ्ग-मर्दन-उपाङ्ग—जिस प्रकार स्नेह (तेल) के अभ्यङ्ग से मिट्टी का घड़ा अथवा स्नेह के मर्दन से चमड़ा (चमड़ा से निर्मित पदार्थ), उपाङ्ग (तेल डालने) से गाड़ी के पहिये का अक्ष (Axis) सुदृढ तथा आघातों को सहने की क्षमता वाला हो जाता है, उसी प्रकार निरन्तर अभ्यङ्ग का सेवन करने से शरीर सुदृढ़, सुन्दर (चिकनी कोमल) त्वचा वाला हो जाता है और उसका शरीर वातव्याधि की बाधा से मुक्त होकर सभी प्रकार के कष्टों तथा व्यायाम (Exercise) जनित थकावट को सहने की उसमें क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ पर जिन तीन प्रकार के स्नेह प्रयोगों का वर्णन किया गया है। इनका अन्यत्र अभ्यङ्ग, सेक, स्नेहावगाहन के रूप में भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है।

अभ्यङ्ग—(Massage)—'अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः। धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबल-

प्रदः' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४। स्नेह का अभ्यंग त्वचा को सुकोमल बनाता है, कफ और वायु को रोकता है। रसादि सप्त धातुओं को पुष्ट करता है तथा त्वचा की शुद्धि कर बल-वर्ण को प्रदान करता है।

सेक—'सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसाधकः। क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥ जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते' ॥ सु० चि० अ० २४। सम्पूर्ण अंगों का स्निग्ध पदार्थों द्वारा परिषेक श्रमनाशक, वायुनाशक, हृद्रोगशामक, भग्नसन्धिका प्रसाधक, क्षत, अग्निदग्ध, चोट लगने तथा रगड़ लगने से उत्पन्न कष्टों को दूर करता है। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर पानी से सींचने पर बढ़ते हैं, उसी प्रकार तेल आदि स्नेह से सिक्त पुरुष के रस आदि धातुओं की अभिवृद्धि होती है।

स्नेहावगाहन (Tub bath)—'सिरामुखैः रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन्। शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने' ॥ सु० चि० अ० २४। अवगाहन के लिये प्रयुक्त स्नेह सिराओं के मुखों से रोमकूपों तथा धमनियों को तृप्त करता हुआ शरीर में बल को उत्पन्न करता है। यहाँ पर अवगाहन शब्द से डुबकी लगाना अथवा स्नेहपूर्ण पात्र में बैठना यह तात्पर्य है।

टब (Tub) आदि में रखे हुए स्नेह में अवगाहन (डुबकी लगाने या बैठने) से स्नेह द्रव्य रोमकूप, त्वचा, रक्त आदि में कितनी-कितनी देर में पहुँचता है। देखें—'रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम् ॥ रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पञ्चभिरेव तु। षड्भिर्मांसं प्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च ॥ शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत्। तत्रस्थान् नाशयेद् रोगान् वातपित्तकफात्मकान्' ॥ इसका आशय निम्नतालिका से स्पष्ट हो जायगा—

शरीरावयव	प्राचीन समय-मान	आधुनिक समय-मान
१. रोम कूपों में	३०० मात्रा	९ मिनट
२. त्वचा में	४०० ,,	१२ ,,
३. रक्त धातु में	५०० ,,	१५ ,,
४. मांस धातु में	६०० ,,	१८ ,,
५. अस्थि धातु में	८०० ,,	२४ ,,
६. मज्जा धातु में	९०० ,,	२७ ,,

सामान्य रूप से अभ्यङ्ग का स्वरूप—'अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जरा-श्रम-वातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्' ॥ शार्ङ्गधरसंहिता अ० ६।

स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्। त्वच्यश्च परमभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥८७॥

अभ्यङ्ग का वैज्ञानिक आधार (Scientific basis of massage)—स्पर्शेन्द्रिय=त्वचा (Skin) में वायु प्रधान रूप से रहती है और स्पर्शन-क्रिया का आश्रय त्वचा है। तथा अभ्यङ्ग (Massage) को उत्तम त्वच्य (त्वचा का हितकारक) कहा गया है। अतः प्रतिदिन अभ्यङ्ग (तैल मर्दन) करना या करवाना चाहिये।

वक्तव्य—श्रीमदन्नम्भट्टने तर्कसंग्रह में निर्देश किया है—'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणस्पर्शः'। अर्थात् त्वक् इन्द्रिय मात्र से ग्रहण किये जाने वाले गुण को **स्पर्श** कहते हैं। ऊपर पद्य में वक्तव्य रूप से दिये गये शार्ङ्गधरसंहिता के पद्य से भी इसको समर्थन प्राप्त हो रहा है कि अभ्यङ्ग अन्य गुणों के साथ वातनाशक भी है; आधुनिक चिकित्साशास्त्र वायु की समता Nervous system से करता है। उनकी मान्यता है कि त्वचा में Sensory nerve endings रहती हैं और इन्हीं के माध्यम से स्पर्शनेन्द्रिय अपना कार्य संचालन करती है। अतएव अभ्यङ्ग से सभी प्रकार के वातविकारों का प्रशमन होता है।

न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः। विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित् ॥८८॥
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः। भवत्यभ्यङ्गनित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च ॥८९॥

अभ्यङ्ग से लाभ—प्रतिदिन तेल मालिश करने का जिनको अभ्यास है उनके शरीर में अभिघात (चोट)

जनित कोई विशेष विकार उत्पन्न नहीं होते और बलकर्मों (श्रम अथवा शक्ति साध्य) कार्यों को करने पर भी किसी प्रकार की विकृति नहीं होती।

प्रतिदिन अभ्यङ्ग करने वाला पुरुष सुखद स्पर्श वाला, परिपुष्ट (भरे-पुरे) अंगों वाला बलवान्, प्रियदर्शन (देखने में अच्छा लगने वाला) तथा देर में बुढ़ापे के लक्षणों (शरीर पर झुर्रियों) वाला होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में अभिघातज विकार तथा बलकर्म का प्रभाव नहीं पड़ता ऐसा जो कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि जो पुरुष अभ्यंग का सेवन नहीं करते उनके शरीर में पड़ने वाले उक्त प्रभावों से अभ्यंगशील पुरुष के शरीर में अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ता है। अन्यथा आप देखें चरक चिकित्सास्थान अध्याय ११ में **उरःक्षत** किन-किन कारणों से हो रहा है। इस प्रकार के प्रज्ञापराधों से बचाने की पूर्ण क्षमता अभ्यंग में नहीं है। अभ्यंग की गणना दैनिक सदाचारों में अपना प्रमुख स्थान रखती है।

अभ्यंग का निषेध—'केवलं सामदोषेषु न कथञ्चन योजयेत्। तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथञ्चन ॥ तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः। पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥ शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः। सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्' ॥ सुश्रुत चि० २४।३५-३७ ॥ उक्त रोगों में तथा **सन्तर्पणजनित** रोगों में भी अभ्यंग नहीं करना चाहिये, ऐसा सुश्रुत को भगवान् धन्वन्तरि का निर्देश है। अब हम यहाँ चरकोक्त सन्तर्पणजनित रोगों का उल्लेख करते हैं।

सन्तर्पणजनित रोग—'रोगास्तस्योपजायन्ते सन्तर्पणनिमित्तजाः। प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकाः। तन्द्राक्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता। इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः'। चरक सू० अ० २३।४-५।

खरत्वं स्तब्धता[1] रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः। सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात् ॥९०॥
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः। दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति ॥९१॥
न च स्याद्गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च। न सिरास्नायुसङ्कोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः ॥९२॥

पाद-अभ्यङ्ग से लाभ—पैरों में अभ्यंग (मालिश) करने से उनका खुरदरापन, स्तब्धता (कड़ापन), रूक्षता (रूखापन), थकावट (जल्दी थक जाना) तथा पैरों की शून्यता (सुन्न पड़ जाना) ये सभी विकार शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

और उनमें सुकुमारता (बच्चों के पैरों के समान मुलायमपन), बल प्राप्ति (देर में थकावट का होना), स्थिरता (पैरों का न लड़खड़ाना), दृष्टि प्रसाद (पैरों के तलुओं में तेलमालिश करने से दृष्टि सबल होती है), और वायु का शमन होता है।

एवम् पैरों में मालिश करने से गृध्रसी (Sciatica) आदि वातजनित व्याधियाँ नहीं होतीं; पैरों में बिवाई आदि नहीं फटतीं और पैरों की शिराओं (Veins) तथा स्नायु-मण्डल (Ligaments) में संकोच नहीं होता।

वक्तव्य—पैरों में तेलमालिश से भी अधिक पैरों के तन्तुओं पर तेल लगाने की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। देखें—'उपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्याम् उच्चासन उपविष्टा तिष्ठति'। मृच्छकटिकनाटक चतुर्थ अंक।

पाद-तल में तेल मालिश करने से नेत्रों को लाभ और न करने से हानि होती है, इसीलिये ऊपर मृच्छकटिक नाटक की उक्ति का समर्थन सुश्रुत के चिकित्सास्थान अध्याय २४ श्लोक ७२ में देखें। यही कारण है तेल मालिश के पश्चात् पैरों को धूलि से बचाने के लिये जूता (न कि चप्पल) धारण किया जाता है। पाद-तल का नेत्रों से संबन्ध निम्न पद्य से भी स्पष्ट हो रहा है—'निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत्। पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः' ॥ सु० चि० अ० २४।७०। इसी का समर्थन अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ३ में भी देखें।

पादतल की शिराओं का नेत्र से सम्बन्ध—इसके पहले जितना वर्णन किया गया है, उन सबका वैज्ञानिक समर्थन वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे शिरे गते ते बहुधा च नेत्रे। ताम्रक्षणोद्वर्तनलेपनादीन् पादप्रयुक्तान्नयनं नयन्ति' ॥ अष्टाङ्गहृदय उ० अ० १६।६५।

१. 'शुष्कता' ग०।

पैरों पर मेंहदी आदि का लेप, तैल तथा नवनीत का अभ्यङ्ग नेत्रों एवम् मस्तिष्क को अत्यन्त शान्ति देता है तथा अभिष्यन्द आदि नेत्रविकारों में लाभ करता है। यथा—निद्रानाश में पैरों के तलुओं पर अभ्यंग करने से लाभ होता देखा गया है।

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूमलमरोचकम्। स्वेदबीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्जनम् ॥९३॥

शरीरमार्जन (Wash with a Sponge)—नहाते समय जो उबटन लगाया जाता है और नहाने के बाद जो रोआँदार तौलिया (Towel) अथवा स्पञ्ज (Sponge) द्वारा शरीर को रगड़ कर पोंछा जाता है उसको शरीरपरिमार्जन कहते हैं। इससे शरीर की दुर्गन्धता, भारीपन, तन्द्रा (उँघाई), कण्डू (खुजली), मैल, भोजन तथा अन्य दैनिक कार्यों के प्रति अरुचि और पसीने द्वारा उत्पन्न विकृति अथवा मलिन अवस्था का विनाश होता है।

वक्तव्य—'परिमार्जनम्, उद्वर्तनम्' इति, चक्रः। गीता के माहात्म्य में निर्दिष्ट है—'मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने'। शीतकटिबन्ध वाले प्रदेशों में पसीना न होने के कारण वहाँ के निवासी स्नान नहीं करते अथवा स्नान करने की उनको आवश्यकता नहीं पड़ती।

एक संस्मरण—उत्तरप्रदेशीय शासन द्वारा नियुक्त मुझको सन् १९६५ में अलमोड़ा जिला से तिब्बत की सीमा तक औषधि अन्वेषण के निमित्त जाने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय हिम-प्रदेशों का भ्रमण तथा वहाँ के दर्शनीय प्राकृतिक दृश्य अविस्मरणीय हैं। शरीर परिमार्जन के सम्बन्ध में उक्त विश्वास वहाँ के निवासियों के रहन-सहन को देखकर ही हुआ है। उन लोगों का पेय स्वनिर्मित मद्य और भक्ष्य था स्वयं मरी हुई भेड़ों का सुखाया हुआ मांस। अस्तु।

उद्वर्तन—'उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोऽनिलापहम्। स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४।५१। शरीर परिमार्जन शब्द से उद्घर्षण और उत्सादन कर्मों का भी ग्रहण किया जाता है। इसका उल्लेख सु० चि० अ० २४ में श्लोक ५२ से ५६ तक देखें।

उद्घर्षण—'अस्नेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम्'। जैसे—चना अथवा मसूर के सने हुए आटा से शरीर को मलना, घिसना। इस क्रिया से रोमकूपों में जमा हुआ मैल निकल जाता है। इसके अन्य प्रकार भी देखे जाते हैं। यथा—ईंट (विशिष्ट प्रकार की ईंट जिसको **झामा** कहते हैं) से आजकल पैरों को घिसा जाता है। रबड़ तथा स्पञ्ज से भी शरीर को रगड़ते हैं, खद्दर के मोटे कपड़े से भी स्नान के समय शरीर को रगड़ते हैं।

उत्सादन—'स्नेहकल्केन उद्घर्षणम्, उद्वर्तनम्, उत्सादनम्'। यथा—चना के आटा में तेल और दही मिलाकर मलना। पैदा होने के बाद बहुत समय तक सरसों पीस कर अथवा जौ के आटा में तेल लगाकर मातायें बच्चों को उबटन लगाया करती हैं।

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ॥९४॥

स्नान से लाभ—स्नान से शरीर एवं अन्तरात्मा पवित्र होता है। यह वीर्यवर्धक तथा आयु को बढ़ाने वाला है। स्नान से श्रम (थकावट), पसीना तथा मल का नाश होता है और यह शरीर के बल एवम् ओजस् को बढ़ाता है।

वक्तव्य—धार्मिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रातःकाल का **स्नान** दैनिक कृत्य है। उष्णप्रदेशों में तो पसीना की गन्दगी दूर करने के लिये दिन में अनेक बार स्नान करते देखे जाते हैं। **शास्त्रीय दृष्टिकोण**—'प्रातःस्नानमलं च पापहरणं दुःस्वप्नविध्वंसनम्। शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसाम् ॥ रूपद्योतकरं शरीरसुखदं कामाग्निसन्दीपनम्। स्त्रीणां मन्मथगाहने श्रमहरं स्नाने दशैते गुणाः' ॥ योगरत्नाकर, दिनचर्या प्रकरण। प्रातःस्नान की पुष्टि मनुस्मृति आदि ग्रन्थों द्वारा भी होती है।

सुश्रुत का मत—'निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्। हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम् ॥ तन्द्रापाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्। रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४।५७-५८।

वाग्भट का मत—'दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्' ॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २। अर्थ स्पष्ट है।

उष्ण जल से स्नान—'उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा । शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ॥ श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् । काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ॥ अति- शीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम् । अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्धनम्' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४।५९- ६१ । तथा—'उष्णाम्बुनाऽधः कायस्य परिषेको बलावहः । तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत् केशचक्षुषाम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० २।१७ । स्नान के अनन्तर बालों में कंघी करके स्वच्छ वस्त्र से या अंगोछा से शरीर पोंछ कर वस्त्र धारण करे ।

स्नान के अयोग्य व्यक्ति—'तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु । आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् । सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम् । स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम् ॥ स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम्' ॥ सु० चि० अ० २४।६२-६३ । तथा—'स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु । आध्मानपीन- साजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० २।१८ ।

वाग्भट के अनुसार—ब्राह्ममुहूर्त में उठना, शौचादि करना, दन्तधावन, अञ्जन, गण्डूष, ताम्बूल सेवन, अभ्यंग, व्यायाम, उबटन, स्नान तथा भोजन करना, यह दैनिक क्रम है ।

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् । श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ॥९५॥

निर्मल वस्त्र-धारण—निर्मल (स्वच्छ) वस्त्रों को धारण करने से सौन्दर्य, यश एवम् आयुष्य की वृद्धि होती है, अलक्ष्मी (दरिद्रता) का नाश होता है (लक्ष्मी की वृद्धि होती है), मन प्रसन्न होता है तथा श्रीमत् पारिषदं अर्थात् निर्मल वस्त्र धारण करने वाले व्यक्ति को सभ्यों की सभा (Cultured assembly) के योग्य माना जाता है ।

वक्तव्य—निर्मलवस्त्र आभूषण से भी श्रेष्ठ होता है, ऐसा सुभाषितकारों का मत है । देखें—'वस्त्रहीन- स्त्वलङ्कारो घृतहीनं च भोजनम् । स्तनहीना च या नारी विद्याहीनं च जीवनम्' ॥ अन्यत्र भी—'पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां, दिगम्बरत्वेन विषं समुद्रः' ॥ आदि । अन्य सभी गुणों के अतिरिक्त निर्मलवस्त्र-धारण सभ्य (Civilized) पुरुष का एक प्रधान लक्षण है ।

वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् । सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम् ॥९६॥

सुगन्धित द्रव्य तथा माला धारण—सुगन्धित द्रव्यों (चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि) का अनुलेपन तथा मालाओं (सुगन्धित पुष्पों की माला-स्तवक आदि) का धारण करने से वृषता, सुगन्धि, आयु की वृद्धि, सुन्दरता अथवा कमनीयता, पुष्टि (अङ्गों का पोषण) एवम् बल की प्राप्ति होती है, चित्त प्रसन्न रहता है और अलक्ष्मी (दरिद्रता) का विनाश होता है ।

वक्तव्य—'गन्धमाल्यनिषेवण' का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उसके अनुसार इनके कुछ स्पर्शजनित गुण हैं, शेष प्रभावजनित । स्पर्शजनित गुण ये हैं—सुगन्धि, सौन्दर्य, मन का प्रसन्न होना । इनसे अवशिष्ट सभी गुण प्रभावजनित हैं ।

धर्मशास्त्र की दृष्टि से यज्ञ, व्रत, पूजा आदि के अन्त में पुरोहित केसर-कस्तूरी का तिलक यजमान को लगाते हैं, तदनन्तर पुष्पमाला अथवा पुष्प यजमान को दिया जाता है, जिसका फल उक्त श्लोक के अनुसार यजमान को युगों से प्राप्त होता आ रहा है । आवश्यकता है धैर्यपूर्वक श्रद्धा-विश्वास की ।

धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद्व्यसनसूदनम् । हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम् ॥९७॥

रत्न-आभूषणों का धारण—रत्नों तथा सुवर्ण आदि के आभूषणों को धारण करने से धन्य (धन-धान्य से परिपूर्ण अथवा पुण्यवान्), मङ्गल (कल्याण), आयुर्वर्धक तथा शारीरिक शोभा की वृद्धि होती है । व्यसनसूदन (त्रिविध कष्टों का विनाशक), चित्त की प्रसन्नता, सौन्दर्य-वृद्धि और ओज-गुण की वृद्धि होती है ।

वक्तव्य—'रत्नाभरणधारणम्' का जो विद्वान् रत्नजटित आभूषण अर्थ करते हैं वे रत्नों के तथा आभूषणों के पृथक्-पृथक् महत्त्व को घटाते हैं, क्योंकि निघण्टुओं तथा रत्न एवम् आभूषण-वर्णनपरक ग्रन्थों में इनका स्वतन्त्र महत्त्व वर्णित है । कोषकारों ने रत्नों और मणियों का अलग-अलग वर्णन करने के बाद कहीं-कहीं दोनों को एक भी स्वीकार किया है ।

और भी—'रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् । सुमनोऽम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्' ॥ सुश्रुत० चि० अ० २४।६४ । इसी प्रकार का वर्णन चरक चि० में भी है ।

रत्न-परिचय—'रमणीयतरं यस्माद् रमन्तेऽस्मिन्नतीव वा । तस्माद् रत्नमिदं ख्यातं शब्दशास्त्रविशारदैः' ॥ रसतरङ्गिणी ।

रत्न-संख्या—१. हीरा, २. पन्ना, ३. लहसुनिया, ४. गोमेद, ५. माणिक्य, ६. नीलम, ७. पुखराज, ८. मोती और ९. प्रवाल । भावप्रकाश ।

उपरत्न—१. वैक्रान्त, २. सूर्यकान्त, ३. स्फटिक, ४. चन्द्रकान्त, ५. राजावर्त (लाजवर्त), ६. फिरोजा, ७. अकीक, ८. कहरवा ९. जहरमोहरा और १०. संगयशब । भावप्रकाश ।

आभरण—श्रीमानों के घरों में आभूषणों के लिये सुवर्ण का ही अधिक प्रयोग होता है । कहीं-कहीं चांदी का भी । अस्तु । समस्त धातुओं में सुवर्ण की प्रधानता है, अतएव उसका एक नाम **अष्टापद** भी है ।

उपर्युक्त सुगन्धित द्रव्य तथा मालाधारण के जो दो प्रकार के गुण वक्तव्य में कहे गये हैं, उनका अनु- सन्धान 'रत्नाभरणधारण' में भी कर लेना चाहिये ।

मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् । पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ॥९८॥

पैरों तथा मलमार्गों की शुद्धि से लाभ—दोनों पैरों तथा मल निकलने के मार्गों (नाक, नेत्र, कान, गुद, लिंग तथा योनि) को प्रतिदिन बार-बार (जब-जब उनसे मल निकले तब-तब) साफ करने अथवा रखने से मेध्य (मेधायै हितं = बुद्धि को बढ़ाने के लिये हितकारक), पवित्र, आयुष्य (आयुषे हितम् = आयु को बढ़ाने के लिये हितकारक), दरिद्रता तथा कलि (पाप) का नाश होता है ।

वक्तव्य—पैरों के निचले भाग में १. कूर्चशिर, २. तलहृदय, ३. कूर्च और ४. क्षिप्र नामक मर्म होते हैं । पैरों का निचला भाग ही प्रायः सामान्य लोगों का धूल तथा अन्य प्रकार की गन्दगी से आक्रान्त रहता है । इसको साफ रखने का आदेश महर्षि पुनर्वसु आत्रेय का है । इसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उल्लेख हम इसी अध्याय के श्लोक सं० ९०-९२ के वक्तव्य में कर चुके हैं ।

वाग्भट का मत—'मलौष्ण्यसङ्घट्टनपीडनाद्यैस्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः । भजेत् सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनधावनानि' ॥ अष्टाङ्गहृ० उ० १६ । अर्थात् मैल की तह जम जाने से पैरों के रोमकूप अवरुद्ध हो जाते हैं, फलतः नेत्र आदि में विकार होने लगते हैं । अतः सदा जूता (उपानह = जिससे पैरों के अगल बगल बँधे रहें) धारण करें, तेल लगायें और प्रतिदिन उनको साफ रखें ।

प्लास्टिक के जूते—आजकल युग की पुकार के अनुसार प्लास्टिक के जूते, चप्पल आदि चमड़े के जूतों के स्थान पर चल पड़े हैं, जो सर्वथा पैरों तथा उससे सम्बन्धित अवयवों के लिये अहितकर हैं । जूतों का निर्माण पशुओं के चर्मों से किया जाता है । इनमें त्वचा का संवरणात्मक गुण विद्यमान रहता है । इस त्वचा का एक नाम है 'असृग्धरा' जो रक्त को बहने से रोकती है और यह सर्दी तथा गर्मी से बचाती है । जूता धारण करने के तीन उद्देश्य हैं—१. पैरों को धूल, कंकड़, पत्थर, कांटों से बचाना । २. सर्दी से बचाना तथा ३. गर्मी से बचाना । इनमें से प्लास्टिक के जूते केवल धूल आदि से बचा सकते हैं । ये गर्मियों में आवश्यकता से अधिक गरम हो जाते हैं और सर्दियों में उतने ही ठण्डे हो जाते हैं, अतः उभयथा अग्राह्य होते हैं । इसी प्रकार अन्य हवाई चप्पल आदि उपकरण भी पैरों की हित की दृष्टि से अग्राह्य हैं ।

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् । केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम् ॥९९॥

क्षौर-कर्म से लाभ—केश (सिर के बाल), श्मश्रु (दाढ़ी, मूंछ) नख आदि (अन्य अनावश्यक केश) को काटने (क्षौर-कर्म करने) एवम् इनको संवारने से शरीर की पुष्टि, वृष्यता, आयुष्य, पवित्रता तथा रूप की शोभा होती है ।

वक्तव्य—क्षौर-कर्म से शुचिता और स्वरूप-सौन्दर्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं, शेष पुष्टता आदि इसके प्रभावजनित गुण हैं । **श्मश्रु**—पुरुष के मुख के अगल-बगल उगने वाले बालों का नाम **श्मश्रु** है । अतः इसका अर्थ दाढ़ी मूंछ दोनों ही किया जा सकता है । **कल्पनम्**—'कृपू सामर्थ्ये धातु से ल्युट् प्रत्यय करके उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है और इसी धातु से युच् प्रत्यय करनेपर **कल्पना** शब्द; इन दोनों का अर्थ होता है **सजाना** ।

आचार्य चक्रपाणि कल्पना का अर्थ **छेदन** करते हैं और लिखते हैं—केशानां प्रसाधनं सम्यग्बन्धनादि, श्मश्रूणां कल्पनमेव, नखस्य तु कल्पनम्, अलक्तकादिदानेन प्रसाधनं च'। अस्तु।

इनके ऊपर और नीचे के विवेचन में साम्य नहीं है, पाठक ध्यान दें। चक्रपाणि ऊपर 'कल्पनं छेदनं, सम्प्रसाधनं मण्डनम्' लिखते हैं और नीचे 'नखस्य तु कल्पनम् अलक्तादिदानेन प्रसाधनम्'। **कल्पनं** का ही अर्थ **प्रसाधनं** भी स्वीकार करते हैं।

वास्तव में कोषकारों ने **कल्पन** का अर्थ **सजाना** (सज्जीकरण) स्वीकार किया है किन्तु अभियुक्तोक्ति के रूप में कल्पन अर्थ कर्तनं या काटना इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कि सिर, दाढ़ी आदि के बालों तथा नखों की काट-छांट द्वारा ही सजावट सम्भव होती है। जैसा चक्रपाणि 'अलक्तादिदानेन प्रसाधनम्' लिखते हैं। आलता आदि का प्रयोग सीमित नखों पर ही किया जाता है, न कि अत्यन्त बढ़े हुए नखों पर।

चरक सूत्रस्थान ८वें अध्याय में 'त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्'। ऐसा निर्देश किया गया है। अर्थात् ४५ दिन के बाद क्षौर-कर्म कराना चाहिये जो आधुनिक 'सद्वृत्त' के सर्वथा विपरीत है।

सुश्रुत ने क्षौर-कर्म का वर्णन इस प्रकार किया है—'पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्। हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्'॥ सुश्रुत चि० अ० २४। इसी प्रकार केशप्रसाधन का वर्णन भी मिलता है, जिससे बालों में स्थित जूँ, लीख तथा इनकी मैल दूर होती है।

चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्। बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ॥१००॥

जूता, खड़ाऊँ धारण से लाभ—पादत्र (पावों की रक्षा के साधन जूता-खड़ाऊँ आदि) का धारण करना दृष्टि तथा पैरों की त्वचा के लिये हितकारक, पैरों के समस्त कष्टों का नाश करने वाला, बलवर्धक, पराक्रम (चलने) में सुखदायक और वृष्य होता है।

वक्तव्य—'पादयोर्व्यसनापहम्'—पैरों से सम्बन्धित सभी प्रकार के कष्टों को दूर करने की क्षमता जूता, खड़ाऊँ आदि में होती है। सुश्रुत के मत से जूता धारण करने के लाभ—'पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्द्धनम्। सुखप्रचारमोजस्यं सदा पादत्रधारणम्'॥ सु० चि० अ० २४।७१।

नंगे पैरों चलने से हानि—'अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत्। पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्'॥ सु० चि० अ० २४।७२। शेष विवरण इसी अध्याय के श्लोक संख्या ९८ के वक्तव्य से देखें।

'ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्। घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते ॥१०१॥

छाता धारण से लाभ—छत्र (छाता) धारण करना ईति (विप्लव-शारीरिक तथा आधिभौतिक) को शान्त करता है, बल्य है, रक्षक है, आच्छादनकारक है, शुभकारक है, घाम (धूप), वायु, धूलि तथा पानी से बचाता है, ऐसा कहा गया है।

वक्तव्य—'ईतिर्डिम्बे प्रवासेऽतिवृष्ट्यादिषट्सु च'। इति मेदिनी। डिम्बो विप्लवः। विप्लवो रोगविशेषः। यहाँ ईति शब्द से रोग का ग्रहण किया गया है और छः प्रकार की (१. अतिवृष्टि, २. अनावृष्टि, ३. मूषिका, ४. शलभ (टिड्डी), ५. शुक और ६. राजाओं का आक्रमण करने के लिये चढ़ आना) ईतियाँ शास्त्र में वर्णित हैं।

१. गुप्ति और आवरण—गुपू रक्षणे धातु से गुप्ति शब्द की रचना हुई है, जिसका आशय है, दूसरे से बचाना। इस दृष्टि से छाता रक्षा करने में सहायक होता है। आवरण अर्थात् चारों तरफ से घेर लेना। मानव के शरीर के व्यास को यह घेर लेता है। कभी-कभी यह मुँह छिपाने में भी सहायक होता है।

२. शंकर—छत्र का धारण शं=शुभ, कर=करने वाला होता है। उपनयन, विवाह आदि में बटु तथा वर को छत्र धारण करने का शास्त्र आदेश देता है।

सुश्रुत का मत—'वर्षानिलरजो घर्महिमादीनां निवारणम्। वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शङ्करं छत्रधारणम्'॥ सु० चि० अ० २४।७५।

स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्। अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम् ॥१०२॥

१. 'ईतेर्विधमनं' यो.। इति दुर्दैवम्।

२. गुप्तिः पिशाचादिभ्यो रक्षा।

दण्ड धारण से लाभ—दण्ड (लाठी, छड़ी) फिसलते हुए पुरुष को सहारा देता है, शत्रुओं को हटाता, मारता तथा भगाता है, शरीर का सहायक अथवा पैरों का सहायक, आयु को बढ़ाने वाला तथा सब प्रकार के (सर्प आदि के) भयों का नाश करने वाला होता है।

वक्तव्य—दण्ड धारण सबके लिये हितकर होता है। चिकित्सक का तो यह लक्षण ही है—'दण्डी मौली सहायवान्'। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गिरिधर कविराय की उक्ति भी इस सन्दर्भ में अविस्मरणीय है—'लाठी में गुण बहुत हैं सदा राखिये संग'।

सुश्रुतसंहिता में जूता पहनने के गुणों का वर्णन करने के पश्चात् **उष्णीष**=साफा=पगड़ी धारण करने का विधान करते हुए उसके गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—'पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोपहम्'॥ सु० चि० अ० २४।७५।

इसके आगे छत्रधारण तथा दण्डधारण की चर्चा की गयी है—'शुनःसरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम्। श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते॥ सत्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम्। अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम्'॥ सु० चि० अ० २४।७६-७७॥ इसमें पहला भय कुत्ता, साँप, शेर, बाघ आदि हिंसक प्राणियों का है, दूसरा भय शब्द का प्रयोग, कहीं पैर लड़खड़ाने लगें तो वहाँ दण्ड (लाठी) तीसरे पैर के रूप में सहायता देकर गिरने से बचाता है, के लिये है।

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥१०३॥

दैनिक कृत्यों के प्रति सावधान रहें—जिस प्रकार नगर का स्वामी नगर की रक्षा में और रथ का स्वामी रथ की देख-रेख में सदा तत्पर रहता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने शरीर के उपर्युक्त दैनिक कृत्यों को पूर्ण करने में सावधान रहे।

वक्तव्य—नगरी अर्थात् नगर का स्वामी (नगर पालिकाध्यक्ष) जिस प्रकार नगर को तथा रथ का स्वामी रथ को बाहर भीतर से देख-भाल कर उसकी सुरक्षा में तत्पर रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने शरीर की देख-रेख प्रतिदिन करनी चाहिये। प्रमाद करने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकृत होने लगते हैं।

बृहत्त्रयी में दिनचर्या का क्रम

चरक	सुश्रुत	वाग्भट (अ० हृ०)
अञ्जन	दन्तपवन, दन्तशोधन चूर्ण	ब्राह्म मुहूर्त में उठना
धूम्रपान	दतवन का निषेध, जिह्वानिर्लेखन	शौचविधि, दन्तपवन,
नस्य	मुख प्रक्षालन	दन्तधावन निषेध,
अणुतैल	आँवला के जल से नेत्रप्रक्षालन	अञ्जन, नस्य, गण्डूष, धूम
दन्तधावन	नेत्रांजन तथा निषेध	ताम्बूलभक्षण तथा निषेध
जिह्वा निर्लेखन	ताम्बूल भक्षण तथा निषेध	तैलाभ्यंग तथा निषेध
ताम्बूलभक्षण	शिर का प्रतिपूरण, चक्रतैल	व्यायाम तथा निषेध,
तैलगण्डूष	केशप्रसाधनी, कर्णपूरण, तैलाभ्यङ्ग	मात्रानुसार व्यायाम
शिरःस्नेहधारण	सर्वांगतैलपरिषेक, स्नेहावगाहन	देहमर्दन
कान में तेल डालना	अभ्यंगनिषेध, व्यायाम, देहमर्दन	अतिव्यायाम से हानि
तैलाभ्यंग	अतिव्यायामनिषेध, उद्वर्तन, उद्घर्षण	उद्वर्तन, स्नान
पादाभ्यंग	उत्सादन, स्नान, स्नाननिषेध	उष्णाम्बु, शीताम्बु स्नान
उद्वर्तन	अनुलेपन, पुष्प, वस्त्र,	स्नाननिषेध, हित-मित भोजन
स्नान	रत्नधारण मुखलेप, अञ्जन,	वेगविधारण, सद्वृत्त कथन
स्वच्छ वस्त्र धारण	देवता-अतिथिपूजन, आहार,	रत्न, सिद्धमन्त्र धारण
गन्धमाल्य सेवन	पादप्रक्षालन, पादाभ्यंग, पादत्रधारण	महौषधि धारण
रत्न धारण	न धारण करने योग्य वेग	आतपत्र (छाता) धारण
बार-बार हाथ-पैरों को साफ रखना	केश, नख, लोमकर्तन,	पादत्राण (जूता) धारण

चरक	सुश्रुत	वाग्भट (अ० हृ०)
केश-श्मश्रु आदि कर्तन	कवच, उष्णीष, छत्र, दण्डधारण	केश, श्मश्रु, नखकर्तन
,, ,, ,, प्रसाधन	आस्यासुख, अधिक मार्ग चलना	पादप्रक्षालन, श्रोत्रादिमलसंहार
पादत्राण धारण	चंक्रमण, सुखशय्यासन	प्रातः, सायं स्नान
छत्र धारण	बालव्यजन सेवन	सुवेश, दण्ड, उष्णीष धारण
दण्ड धारण	व्यजनानिल, संवाहन,	चैत्यादि छायात्याग
धार्मिक वृत्तियों का सेवन।	प्रवात, अप्रवात, आतप, अग्निसेवन	सद्वृत्तानुष्ठान।
	कालनिद्रा, सद्वृत्त।	

भवति चात्र—

वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः। शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते ॥१०४॥

स्वस्थवृत्त का उपसंहार—धर्म सम्बन्धी नियमों के साथ विरोध न करने वाले जो वृत्ति (आजीविका) के उपाय हों, स्वस्थ रहने के इच्छुक पुरुष को चाहिये कि वह सदा उन्हीं का सेवन करे, साथ ही उसको चाहिये कि वह शान्ति तथा स्वाध्याय में तत्पर रहे, इस प्रकार व्यवहार करने से सुख का उपभोग करता है।

वक्तव्य—ऊपर अञ्जन, धूम्रपान, नस्य आदि का विधान पुरुष को स्वस्थ रखने के लिये निर्दिष्ट है, अन्त में उपसंहार के रूप में तीन बातों का उपदेश और कर दिया है—१. धर्माविरोधी वृत्ति के उपायों का सेवन, २. शान्ति तथा ३. स्वाध्याय में तत्पर रहना, इनका फल बतलाया है—'सुख'।

प्राणिमात्र सुख चाहता है, उस ओर जाने का प्रयास करता है जहाँ से सुख प्राप्ति की आशा दिखती है, उक्त सन्देश शाश्वत सुख के हैं। धर्म विरोधी उपायों (जुआ, चोरी आदि) से आजीविका के लिये प्राप्त धन क्षणिक सुख तथा बाद में कष्ट का कारण होता है। इस प्रसङ्ग में वाग्भट के निम्न वाक्य अविस्मरणीय हैं—'उत्तिष्ठेत ततोऽत्यर्थमर्थेष्वर्थानुबन्धिषु। निन्दितं दीर्घमप्यायुरसन्निहितसाधनम् ॥ कृषिं वणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिनं नृपम्। लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम्' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह ॥ और भी—सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः। सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भव' ॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २।

तत्र श्लोकाः—

मात्रा द्रव्याणि मात्रां च संश्रित्य गुरुलाघवम्। द्रव्याणां गर्हितोऽभ्यासो येषां येषां च शस्यते ॥
अञ्जनं धूमवर्तिश्च त्रिविधा वर्तिकल्पना। धूमपानगुणाः कालाः पानमानं च यस्य यत् ॥१०६॥
व्यापत्तिचिह्नं भैषज्यं धूमो येषां विगर्हितः। पेयो यथा यन्मयं च नेत्रं यस्य च यद्विधम् ॥१०७॥
नस्यकर्मगुणा नस्तः कार्यं यच्च यथा यदा। भक्षयेद् दन्तपवनं यथा यद्यद्गुणं च यत् ॥१०८॥
यदर्थं यानि चास्येन धार्याणि कवलग्रहे। तैलस्य ये गुणा दिष्टाः शिरस्तैलगुणाश्च ये ॥१०९॥
कर्णतैले तथाऽभ्यङ्गे पादाभ्यङ्गेऽङ्गमार्जने। स्नाने वाससि शुद्धे च सौगन्ध्ये रत्नधारणे ॥११०॥
शौचे संहरणे लोम्नां पादत्रच्छत्रधारणे। गुणा मात्राशितीयेऽस्मिंस्तथोक्ता दण्डधारणे ॥१११॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के

मात्राशितीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अध्यायोक्त विषय संग्रह—इस मात्राशितीय नामक अध्याय में महर्षि अग्निवेश ने जिन-जिन विषयों का वर्णन किया है, उनकी संक्षेप में परिगणना प्रस्तुत की जा रही है—मात्रा, द्रव्य और मात्रा को आधार मान कर द्रव्यों की गुरुता तथा लघुता, किन-किन द्रव्यों का निरन्तर सेवन निन्दित है और किन-किन का शुभ है, अञ्जन, धूमवर्ति, धूमवर्ति की त्रिविध रचना, धूमपान के गुण, धूमपान के काल, धूम का पान मान (कौन धूम कितना पीना चाहिये), अधिक मात्रा तथा अकाल (अनुचित समय) में धूमपान करने से होने वाले उपद्रव

(Complications), इनकी चिकित्सा, धूमपान के अयोग्य व्यक्ति, किस प्रकार से धूमपान करना चाहिये, धूमनेत्र किस धातु से बना होना चाहिये, किसका किस प्रकार का धूमनेत्र होना चाहिये, नस्य के कर्म और उसके गुण, नस्य द्वारा किस द्रव्य का प्रयोग करना चाहिये, इसकी प्रयोग विधि तथा समय, दातौन के गुण, दातौन के लिये ग्राह्य वृक्ष, कवलग्रह (मुख में धारण करने) के योग्य द्रव्य, इनका उपयोग, तैल के कवल धारण के गुणों का वर्णन, सिर पर तैल प्रयोग के गुण, कान में तैल डालने के गुण, शरीर अभ्यंग के गुण, पाद अभ्यंग के गुण, अङ्गपरिमार्जन (उबटन लगाना) के गुण, स्नान के गुण, स्वच्छवस्त्र धारण के गुण, सुगन्धित पदार्थों (केसर, कस्तूरी आदि) के तथा माला आदि के धारण के गुण, रत्न-आभूषण धारण के गुण, पादतलों को साफ रखने के गुण, केश, श्मश्रु, लोम, नख आदि को काटने तथा संवारने के गुण, जूता पहनने के गुण, छत्र तथा दण्ड धारण के गुण।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्र-स्थान में मात्राशितीय नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातस्तस्याशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

'मात्राशितीय' अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अब 'तस्याशितीय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—मात्राशितीय अध्याय में निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार भोजन करने से बल-वर्णादि के उपचय होने की चर्चा की गयी है, इसके विपरीत हेमन्त आदि ऋतुओं में मात्रा पूर्वक आहार करने पर भी क्यों रोगों की वृद्धि होती है ? इसका समाधान इस अध्याय में दिया जा रहा है।

तस्याशिताद्यादाहाराद् बलं वर्णश्च वर्धते। यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम् ॥ ३ ॥

तस्याशितीय अध्याय की प्रस्तावना—जो मनुष्य ऋतुसात्म्य (किस ऋतु में कौन सा आहार-विहार अनुकूल होता है और कौन सा प्रतिकूल, इन सब बातों) को ठीक-ठीक जानकर उसके अनुसार अपनी ऋतुचर्या को चलाता है उसी मनुष्य के अशित, पीत, लीढ़ तथा खादित आहार से बल-वर्ण आदि की अभिवृद्धि होती है।

वक्तव्य—'तस्याशित' शब्द को लेकर ही इस अध्याय का नामकरण हुआ है, यह भगवान् आत्रेय की परम्परा है, यद्यपि 'चेष्टा' शब्द से चक्रपाणि व्यवाय = मैथुन, व्यायाम = शारीरिक श्रम और अभ्यङ्ग आदि का ग्रहण करते हैं किन्तु यहाँ पर चेष्टा शब्द का अर्थ विहार होना चाहिये जिसके अन्तर्गत उक्त सभी का समावेश हो जाता है।

ऋतुसात्म्य—इयर्ति अथवा ऋच्छति अर्थ में ऋतु शब्द का प्रयोग होता है, दोनों का ही अर्थ गमन अर्थात् चलना है। इसके साथ जुड़ा हुआ सात्म्य शब्द अनुकूलता अर्थ का वाचक है, अर्थात् आहार-व्यवहार के क्षेत्र में उस प्रकार चलना चाहिये जो सर्वथा अनुकूल हो।

सात्म्य की परिभाषा—'आत्मना सह वर्तते, इति सात्म, तद्भावः सात्म्यम्' अत्र आत्मशब्दो मनःपरमात्मदेहादिवृत्तिरपि शरीरे वर्तते। सात्म्यं पुनरष्टविधम्—जाति-रोगाऽऽतुर-धान्य-रस-देश-ऋतु-उदकसात्म्य-संज्ञम्। ऋतुसात्म्यं नाम—'यस्मिन् यस्मिन् ऋतौ यद् यद् उचितं पथ्यं वा तत् तस्मिन्-तस्मिन् सात्म्यम्।'

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तात् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च ॥ ४ ॥

आदान तथा विसर्ग काल के अनुसार छः ऋतुओं का विभाजन—इस आयुर्वेदशास्त्र में अथवा इस ऋतुसात्म्य के प्रकरण में ऋतु विभाग के अनुसार संवत्सर (सम्पूर्ण वर्ष) को छः अङ्गों में विभाजित समझना चाहिये। अर्थात् ऋतुएँ छः होती हैं। इसमें सूर्य का उत्तर की ओर जाने का समय (उत्तरायण) आदान काल शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं तक समझना चाहिये। वर्षा, शरद्, हेमन्त ये तीन ऋतुओं वाला समय दक्षिणायन तथा विसर्गकाल कहा जाता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा पूरे वर्ष को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। यथा—१. आदानकाल, विसर्गकाल। २. उत्तरायण, दक्षिणायन। ३. शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त। इस काल-विभाजन के तर-तम भेद से विभिन्न संहिताओं में इसके भिन्न-भिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। उनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सुश्रुत का मत—'तत्र माघादयो द्वादशमासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्ऋतवो भवन्ति। ते शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-हेमन्ताः। तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहः सहस्यौ हेमन्त इति' ॥ सुश्रुत सू० अ० ६।६। इस मत का उल्लेख करने के बाद भगवान् धन्वन्तरि इसी प्रकरण में आगे लिखते हैं—

'इह तु वर्षा-शरद्-हेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृषः, षड्ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तं, ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृड् इति' ॥ सुश्रुत सू० अ० ६।१० ॥

सम्भव है सुश्रुतसंहिता के रचना-काल में माघ मास से १२ मास गिने जाते हों, जैसे वैदिक-काल में शरद् ऋतु से गिने जाते थे और ज्योतिःशास्त्र वैशाख मास को सर्वप्रथम मास मानता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने पहले ज्योतिःशास्त्रीय ऋतु विभाग का उल्लेख करके आगे उन्होंने आयुर्वेदीय शल्य-शास्त्र की दृष्टि से दोषों के संचय-प्रकोप को ध्यान में रखकर वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् छः ऋतुओं की विशेष व्यवस्था की है। चरक ने प्रावृट् को न मानकर शिशिर ऋतु को उपर्युक्त ढंग से स्वीकार किया है। परन्तु आगे चलकर आत्रेय ने भी चरक वि० अ० ८ में संशोधन कर्म को ध्यान में रख कर शिशिर को न मान कर प्रावृट् को स्वीकार किया है।

विशेष—वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं और बारह मास। ये सौर मास हैं न कि चान्द्रमास। प्रत्येक चान्द्र मास २७-२८ दिन का होता है, अतः ३२ मास के बाद एक चान्द्र मास वर्ष में अधिक हो जाता है, उसी को मलमास, अधिकमास या पुरुषोत्तम मास कहते हैं।

सुश्रुत में—'इह तु···प्रावृड् इति' गद्य द्वारा जिन छः ऋतुओं का उल्लेख किया है, उनका विवेचन इस प्रकार है—ये ६ ऋतुएँ वात आदि दोषों के सञ्चय, प्रकोप तथा उपशम का कारण होती हैं। जिन देशों में शीत अधिक पड़ता है, वहाँ हेमन्त और शिशिर नामक दो ऋतुएँ शीतकाल की होती हैं, जिन देशों में वर्षा अधिक होती है वहाँ वर्षा तथा प्रावृट् नामक दो ऋतुएँ वर्षाकाल की मानी जाती हैं। यद्यपि अनेक भूभाग ऐसे भी हैं जहाँ वर्ष भर शीत रहता है, जैसे हिमप्रदेश वहाँ भी अन्य ऋतुओं का प्रभाव तर-तम भाव से प्रतीत होता ही है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं के सम्बन्ध में भी समझें।

संक्षिप्त संकेत सूत्र—ऋतुचर्या का वर्णन चरक विमानस्थान अ० ८ में, सुश्रुत सू० अ० ६ में तथा सु० चि० अ० २४ में एवं सु० उ० त० अ० ६४ में, अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ३ तथा अष्टांगसंग्रह अ० ४ में देखें।

ताड़ पत्र पर लिखी गयी नेपाल देशस्थ सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'ते द्वे अयने वर्षः। संवत्सरः, परिवत्सरः, इदावत्सरः, इद्वत्सरः, वत्सरः इत्येवं पञ्च वत्सराः। ते पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते'। इसका समर्थन देखें—कौटिल्य अर्थशास्त्र ४१।

आदान काल की परिभाषा—'आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनां च बलम्, इति आदानम्'। चरक। 'आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्'। अष्टाङ्गहृदय।

विसर्गकाल की परिभाषा—विसृजति जनयति आप्यम् अंशं प्राणिनां च बलम्, इति विसर्गः कालः'। चरक।

संवत्सर-विभाग

- आदानकाल (उत्तरायण)
  - शिशिर
  - वसन्त
  - ग्रीष्म
  - आग्नेय
  - (अग्निगुणप्रधान)
- विसर्गकाल (दक्षिणायन)
  - वर्षा
  - शरद्
  - हेमन्त
  - सौम्य
  - (सोम (चन्द्र) गुण-प्रधान)

ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त—इसके अनुसार महिनों के दो विभाग हैं—१. सौर तथा २. चान्द्र। ऋतुओं का विभाजन सौर मासों के आधार पर होता है। इस प्रकार मेष से मीन तक के बारह मासों के नाम क्रमशः वैशाख, ज्येष्ठ आदि हैं। मकर संक्रान्ति से मिथुन संक्रान्ति के समाप्ति तक के काल को **उत्तरायण** कहते हैं और कर्क संक्रान्ति से धनु संक्रान्ति के समाप्ति तक के काल को **दक्षिणायन** कहते हैं।

ऋतु-विभाजन—मकर (माघ), कुम्भ (फाल्गुन) = शिशिर, मीन (चैत्र), मेष (वैशाख)=वसन्त, वृष (ज्येष्ठ), मिथुन (आषाढ़) = ग्रीष्म, कर्क (श्रावण), सिंह (भाद्रपद) = वर्षा, कन्या (आश्विन), तुला (कार्तिक) = शरद्; वृश्चिक (मार्गशीर्ष), धनु (पौष) = हेमन्त, ये छः ऋतुएँ होती हैं। शेष विवेचन पूर्ववत् ही समझें।

विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति, इतरे पुनरादाने; सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः।

विसर्गकाल का वर्णन—विसर्गकाल में अर्थात् दक्षिणायन में वायु अधिक रूक्ष नहीं बहता, इसके विपरीत आदानकाल (उत्तरायण) में वायु अधिक रूक्ष बहता है। विसर्गकाल में चन्द्रमा पूर्ण बलवान् होता है, वह अपनी शीतल किरणों से सम्पूर्ण भूमण्डल को निरन्तर आप्यायित करता रहता है, इसलिये विसर्गकाल सौम्य (सोम = चन्द्रमा के गुणों से युक्त) होता है।

आदानं पुनराग्नेयं; तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबल-निर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ ५ ॥

आदानकाल का वर्णन—पुनः आदानकाल (उत्तरायण) को आग्नेय (अग्निगुण प्रधान) कहा जाता है। वे सुप्रसिद्ध सूर्य, वायु तथा चन्द्रमा भी समय की स्वाभाविक गति से अपने मार्ग पर चलते हुए काल, ऋतु, रस, दोष, देहबल की निवृत्ति में कारण होते हैं, ऐसा उपदेश दिया जायगा।

वक्तव्य—स्थूल रूप से उक्त छः ऋतुओं के शीत, उष्ण, वर्षा ये तीन लक्षण हैं। यूनानी चिकित्साशास्त्र के अनुसार—१. मौसिमे सरदी, २. मौसिमे गरमी और ३. मौसिमे बरसात, इस प्रकार का विभाजन है। इसका चरक ने विमानस्थान अ० ८।१२५ में इस प्रकार निर्देश किया है—'कालः पुनः संवत्सरः च आतुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत् तत् कार्यमभिसमीक्ष्य। अत्र खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते—हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय एव ऋतवो भवन्ति'।

विसर्ग तथा आदानकाल—भारतवर्ष में उक्त दोनों (विसर्गकाल = दक्षिणायन, तथा आदानकाल = उत्तरायण) कालों तथा अयनों एवम् तीनों मौसिमों का प्रभाव अन्य देशों की अपेक्षा अधिक स्पष्टरूप से यहाँ दृष्टिगोचर होता है। इस भूतल पर ऐसे भी देश हैं जहाँ वर्ष भर अथवा अधिक समय तक एक ही मौसम का प्रभाव देखा एवम् अनुभव किया जाता है। यथा—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता'। तथा शीतकटिबन्ध के रूस आदि देशों में शीत का, उष्णकटिबन्ध के अफ्रीका आदि देशों में उष्ण का एवम् ब्रह्मा, जावा, सुमात्रा आदि देशों में वर्षा के प्रभाव की अधिकता देखी जाती है। इनके अतिरिक्त इस भारतवर्ष में भी ऐसे

प्रदेश है जहाँ शीत, उष्ण, वर्षा का प्रभाव अधिक समय तक होता है, वहाँ का ऋतु-विभाग चिकित्सकों के विवेक पर निर्भर करता है।

'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः'—यह प्राचीन सिद्धान्त है किन्तु आज का वैज्ञानिक इस सिद्धान्त के विपरीत पृथ्वी को निरन्तर गतिशील मानता है। इसके परिभ्रमण के फल-स्वरूप काल-विभाग में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, जिससे उत्तरायण-दक्षिणायन आदि उसके नामकरण किये गये हैं। दिन-रात के स्वामी के रूप में सूर्य एवम् चन्द्रमा को स्वीकारा गया है। इन्हीं के प्रभाव से आग्नेय और सौम्यरूप काल का विभाजन किया गया है। स्वास्थ्य की वृद्धि-हानि भी इनके कारण निर्दिष्ट है, वायु का भी योगदान इनमें महत्वपूर्ण है। देखें—'योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्' ॥ चरक चि० अ० ३।३८॥

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति ॥ ६ ॥

षड्ऋतुओं में प्राकृतिक एवम् शारीरिक स्थिति
(Condition of Nature and Body in Six Seasons)

आदान-काल का वर्णन—इस काल में सूर्य अपनी तीव्र किरणों से संसार के स्नेह (जलीय) भाग को आचूषित करता हुआ और तीव्र तथा रूक्ष वायु उस (जलीय अंश) को सुखाता हुआ शिशिर, वसन्त ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकाधिक रूक्षता को उत्पन्न करते हुए, रूक्षता प्रधान तिक्त, कषाय, कटु रसों की वृद्धि करता हुआ मनुष्यों के शरीर में दुर्बलता का संचार कर देता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार समझें—शिशिर ऋतु में वनस्पतियों तथा प्राणियों में अल्प रूक्षता, द्रव्यों में तिक्त रस की उत्पत्ति, अल्प दुर्बलता, वसन्तऋतु में वनस्पतियों तथा प्राणियों में मध्यम रूक्षता, द्रव्यों में कषाय रस की उत्पत्ति, मध्यम दुर्बलता एवम् ग्रीष्म ऋतु में वनस्पतियों तथा प्राणियों में तीव्र रूक्षता, द्रव्यों में कटु रस की अभिवृद्धि, तीव्र दुर्बलता होती है, यही अभिप्राय 'यथाक्रम' शब्द का है।

ऊपर जो अल्प, मध्यम, तीव्रक्रम से वनस्पतियों एवम् प्राणियों में आदान-काल का क्रमशः प्रभाव पड़ने की चर्चा की गयी है, उसका कारण है सूर्य का क्रमिक-संक्रमण तथा वायु का साहचर्य, अर्थात् शिशिर ऋतु अपनी पूर्व ऋतु से अल्प मात्रा में रूक्ष होती है, इससे कुछ अधिक रूक्षता वसन्त ऋतु में देखी जाती है और ग्रीष्म ऋतु में ये सब लक्षण अपनी चरम सीमा में पहुँच जाते हैं। उक्त विषय का प्रतिपादन सुश्रुत तथा वाग्भटसंहिता में निम्नप्रकार से निर्दिष्ट है।

आदानकाल पर सूर्य तथा वायु का पूर्ण अधिकार है, इसीलिये 'तौ एतौ अर्कवायू' ऐसा पाठ ऊपर दिया गया है और 'सोमश्च' इसका अलग निर्देश किया गया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि विसर्ग काल का स्वामी चन्द्रमा सौम्य है, अत एव यह काल आदान की अपेक्षा सुखावह है।

सुश्रुत का मत—'उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति। उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते'। सु० सू० अ० ६।७।

वाग्भट का मत—'तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे सङ्क्षिपतीव यत्। प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते' ॥ अष्टाङ्गहृदय अ० ३।२६।

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति ॥ ७ ॥

विसर्गकाल का वर्णन—वर्षा, शरद्, हेमन्त इन ऋतुओं में जब सूर्य दक्षिणाभिमुख अर्थात् दक्षिण की ओर बढ़ता है और काल (उक्त तीन ऋतुओं से प्रभावित काल), मार्ग (दक्षिणायन), मेघवात (Monsoon) और वर्षा के कारण जब इस (आदानकाल) का प्रभाव घट जाता है तथा जब चन्द्रमा अव्याहत बल (पूर्ण शक्ति सम्पन्न) होता है. जब माहेन्द्र सलिल (वर्षा के जल) द्वारा भूतलस्थ समस्त प्राणियों का सन्ताप

(गर्मी) शान्त हो जाता है, तब अरूक्ष (रूक्षता रहित), अम्ल, लवण तथा मधुर रसों की वृद्धि और क्रमशः मनुष्यों के बल की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—वर्षाऋतु में—अल्प स्निग्धता, अम्लरस की वृद्धि, अल्पबल की वृद्धि; शरद् ऋतु में—मध्यस्निग्धता, लवण रस की वृद्धि, मध्यम बल की वृद्धि; हेमन्त ऋतु में—पर्याप्त स्निग्धता, मधुररस की वृद्धि, पर्याप्त बल की वृद्धि होती है। इस काल का नाम 'विसर्ग' है। इसका तात्पर्य है—विसृजति = ददाति बलम् इति विसर्गकालः।

क्षारपाणि का मत—'शिशिरश्च वसन्तश्च ग्रीष्मप्रावृट्शरद्धिमाः। ऋतवः षट् क्रमादेते कालः संवत्सरात्मकः ॥ द्विधा त्वयनभेदेन स्मृतः संवत्सरस्त्वसौ। तच्चादानं विसर्गाऽऽख्यं रविचाराद् द्विधायनम् ॥ उत्तरायणमादानं शिशिराद्यमृतुत्रयम्। वर्षादितु विसर्गाख्यं सवितुर्दक्षिणायनम् ॥ स्नेहादानविसर्गाच्च तत्संज्ञमयनद्वयम्। आग्नेयं विद्धि चादानं विसर्गं सौम्यमत्र तु ॥ आदाने तु जगत्स्नेहमाददानो दिवाकरः। रूक्षत्वाच्छोषयेद् वायुः शिशिराद्यर्तुषु क्रमात् ॥ रूक्षो निर्वर्तयन् तिक्तकषायकटुकान् रसान्। नृणां क्रमेणा वहति दौर्बल्यमृतुषु त्रिषु विसर्गे विसृजन् स्नेहं सदा स्निग्धश्च मारुतः। सोमश्चाऽव्याहतबलः स्निग्धो निर्वर्तयेद् रसान् ॥ क्रमेणैवाम्ललवणमधुरान् ऋतुषु त्रिषु। बलं न वर्द्धयत्येषां क्रमेणाश्रागमादिषु ॥ हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं ग्रीष्मे वर्षासु चावरम्। शरद्वसन्तयोर्मध्यं बलं स्यात् प्राणिनां मतम्' ॥

सांवत्सरिक विधि का अहोरात्र में वर्णन—'तत्र पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदम् अर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तलक्षणम् उपलक्षयेत्। एवम् अहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्' ॥ सुश्रुत सू० अ० ६।१४। अर्थात् दिन के पूर्वार्ध में वसन्त ऋतु के लक्षण (कफ का प्रकुपित होना), मध्याह्न में ग्रीष्म के लक्षण (वायु का संचय), अपराह्ण में प्रावृट् के लक्षण (वात-प्रकोप), रात्रि के पूर्वभाग में वर्षा के लक्षण (पित्त संचय), आधी रात में शरद् ऋतु के लक्षण (पित्त का प्रकोप), रात्रि के अन्तिम भाग उषःकाल में हेमन्त के लक्षण (कफ संचय) होते हैं। इस प्रकार वर्ष भर की ऋतुओं में होने वाले दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन का अहोरात्र (दिन-रात २४ घंटे में) वर्णन किया गया है।

काल के सम्बन्ध में विभिन्न चर्चाएँ—'कालः कलयतामहम्'। गीता। 'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूः अनादिनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते, स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति कालः' ॥ सुश्रुत सू० अ० ६।३।

'कालो हि नाम भगवान् अनादिनिधनो यथोपचितकर्मानुसारी यदनुरोधादादित्यः खादयश्च महाभूतविशेषाः, तथा तथा विपरिणमन्तो जन्मवतां जन्ममरणस्यर्तुरसवीर्यदोषदेहबलव्यापत्सम्पदां च कारणत्वं प्रत्ययतांप्रतिपद्यन्ते' ॥ अष्टाङ्गसङ्ग्रह ऋतुचर्याध्याय सू० अ० ४।

'न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते। स्वभावं च समासाद्य न किञ्चिदतिवर्तते ॥ न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः। न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनोऽवशः' ॥ वाल्मीकिरा० किष्किन्धाकाण्ड सर्ग २५।

'काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पिताऽऽसीत् प्रजापतेः' ॥ अथर्ववेद ११-५३-८ ॥

'अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन। मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता' ॥ महाभारत वनपर्व ३१३।

काल-विभाजन

सुश्रुत के अनुसार

१५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
२० कला	=	$\frac{१}{१०}$ कला = मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष

अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार

१५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
२० $\frac{१}{१०}$ कला	=	१ नाडिका
२ नाडिका	=	१ मूहूर्त
३ $\frac{३}{४}$ मूहूर्त	=	१ याम

२ पक्ष	=	१ मास
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष (संवत्सर)
५ संवत्सर	=	१ युग

४ याम	=	१ अहोरात्र
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ मास
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ संवत्सर

सुश्रुत के मत से ऋतु-विभाग—

सामान्य ऋतु-विभाग

माघ–फाल्गुन	—	शिशिर
चैत्र–वैशाख	—	वसन्त
ज्येष्ठ–आषाढ	—	ग्रीष्म
श्रावण–भाद्रपद	—	वर्षा
आश्विन–कार्तिक	—	शरद्
मार्गशीर्ष–पौष	—	हेमन्त

दोषानुसारी ऋतु-विभाग

भाद्रपद–आश्विन	—	वर्षा
कार्तिक–मार्गशीर्ष	—	शरद्
पौष–माघ	—	हेमन्त
फाल्गुन–चैत्र	—	वसन्त
वैशाख–ज्येष्ठ	—	ग्रीष्म
आषाढ–श्रावण	—	प्रावृट्

शार्ङ्गधरसंहिता के अनुसार ऋतु विभाग—

'ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृड् मिथुन-कर्कटौ ।
सिंहकन्ये स्मृता वर्षास्तुलावृश्चिकयोः शरत् ॥
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ।

मेष–वृष	—	ग्रीष्म
मिथुन–कर्क	—	प्रावृट्
सिंह–कन्या	—	वर्षा
तुला–वृश्चिक	—	शरद्
धनु–मकर	—	हेमन्त
कुंभ–मीन	—	वसन्त

आदान-काल (Period of Low Nutrition)

१. माघ-फाल्गुन, चैत्र-वैशाख, ज्येष्ठ-आषाढ़ मास होते है।
२. शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म ऋतुएँ होती हैं।
३. सूर्य उत्तरायण होता है।
४. यह काल अग्निगुण-प्रधान होता है।
५. वायु अत्यन्त रूक्ष होती है।
६. चन्द्रमा का बल क्षीण रहता है।
७. सूर्य का बल पूर्ण रहता है।
८. सूर्य-वायु सांसारिक वस्तुओं का शोषण करते हैं।
९. रूक्ष, तिक्त, कषाय, कटु रसों की वृद्धि होती है।
१०. क्रमशः दुर्बलता की प्राप्ति होती है।

विसर्ग-काल (Period of Liberation)

१. श्रावण-भाद्रपद, आश्विन-कार्तिक, मार्गशीर्ष-पौष मास होते हैं।
२. वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुएँ होती हैं।
३. सूर्य दक्षिणायन होता है।
४. यह काल सौम्य (शीतगुण-प्रधान) होता है।
५. वायु में रूक्षता की अधिकता नहीं होती है।
६. चन्द्रमा का बल पूर्ण रहता है।
७. सूर्य का बल क्षीण रहता है।
८. चन्द्रमा सांसारिक वस्तुओं को तृप्त करता है।
९. स्निग्ध, अम्ल, मधुर, लवण रसों की वृद्धि होती है।
१०. क्रमशः बल की प्राप्ति होती है।

किस ऋतु में किन महाभूतों के संयोग से किस रस की उत्पत्ति होती है—

ऋतु	पञ्चमहाभूत संयोग	रस उत्पत्ति
शिशिर	वायु+आकाश	तिक्त
वसंत	वायु+पृथ्वी	कषाय
ग्रीष्म	वायु+अग्नि	कटु
वर्षा	पृथ्वी+अग्नि	अम्ल
शरद्	जल+अग्नि	लवण
हेमन्त	पृथ्वी+जल	मधुर

वातादि दोषों का चय-प्रकोप-प्रशम

दोष	चय	प्रकोप	प्रशम
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद्	हेमन्त
कफ	हेमन्त	वसन्त	ग्रीष्म

सुभाषित

वैद्यानां शारदीमाता पिता च कुसुमाकरः ।
यमदंष्ट्रा स्वसा प्रोक्ता हितभुग् मितभुग् रिपुः ॥

भवन्ति चात्र—

आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम् । मध्ये मध्यबलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत् ॥८॥

विसर्गकाल के आदि (वर्षा ऋतु) में और आदानकाल के अन्त (ग्रीष्म ऋतु) में मनुष्य (समस्त-प्राणियों) में दुर्बलता होती है। विसर्ग तथा आदानकाल के मध्य (शरद् ऋतु एवम् वसन्त ऋतु) में पुरुषों का बल मध्यम (सामान्य स्थिति में) रहता है। विसर्गकाल के अन्त (हेमन्त ऋतु) में तथा आदानकाल के आरम्भ (शिशिर ऋतु) में पुरुषों के बल की पूर्णरूप से अभिवृद्धि होती है।

वक्तव्य—उक्त मत को समर्थन देते हुए वाग्भट ने लिखा है—'हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गाऽऽदानयोर्बलम् । शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः' ॥ अष्टाङ्गसं० सूत्रस्थान। इस अध्याय में यहाँ तक कहे गये विषयों का स्पष्ट चित्रण निम्नलिखित तालिका में किया गया है, सुविधा की दृष्टि से इसका अवलोकन करें।

(१) काल-विभाग

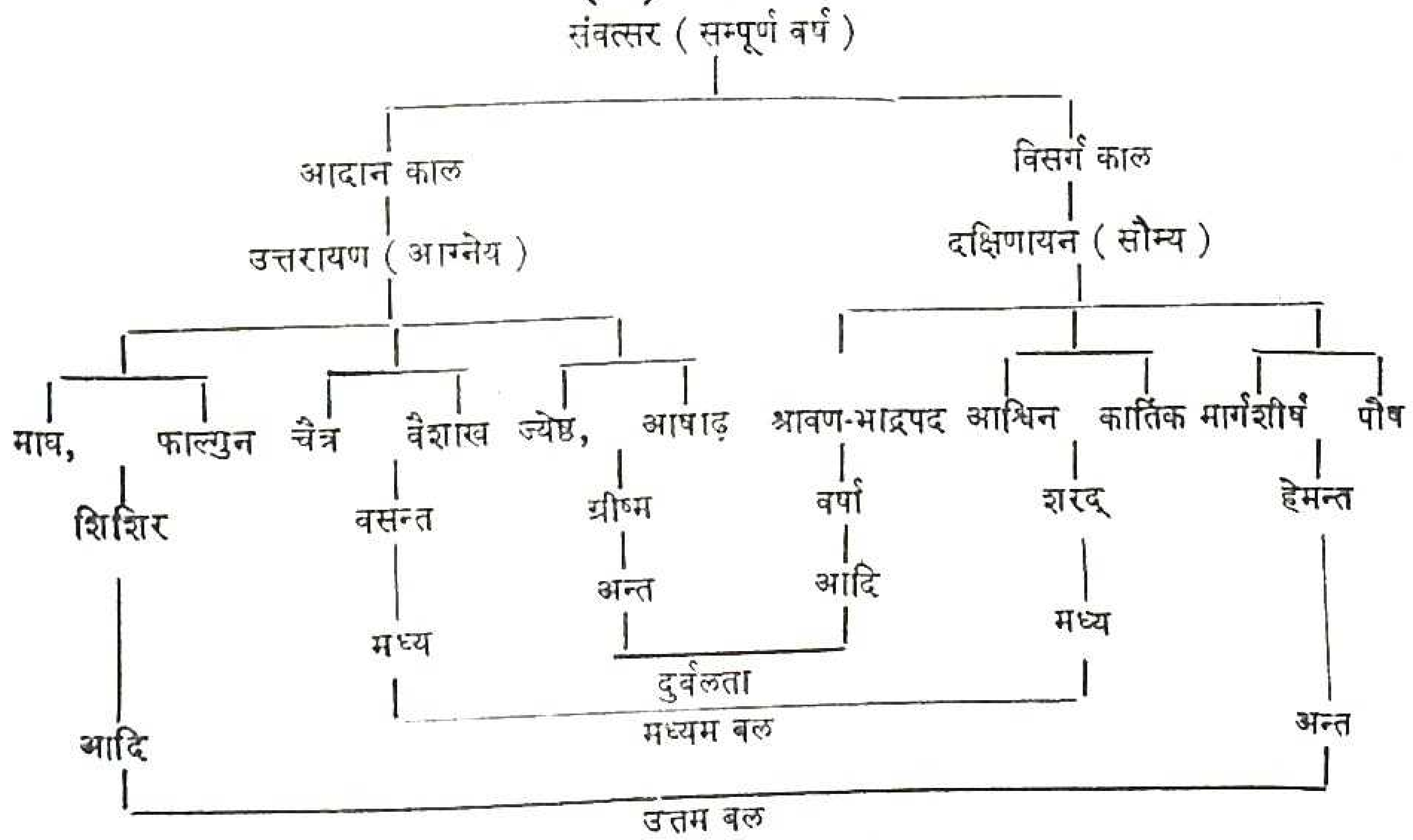

(२) काल-विभाग (तैत्तरीयसंहिता)

'मधुश्च माधवश्च, शुक्रश्च शुचिश्च, नभश्च नभस्यः ।
इषश्चोर्जश्च, सहश्च सहस्यश्च, तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोऽसि' ॥

(३) काल-विभाग (काव्यमीमांसा)

'नभो नभस्यः वर्षाः, इष ऊर्जश्च शरत्, सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपः तपस्यश्च, शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः' ॥

शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली । पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः ॥ ९ ॥

हेमन्त ऋतुचर्या (Regimen of Winter Season)—शीतकाल (हेमन्त ऋतु) में शीतल वायु के स्वाभाविक स्पर्श होने से बल सम्पन्न पुरुषों की चिरकाल से रुकावट को प्राप्त जाठराग्नि प्रबल (शक्तिशाली) हो जाती है। अतएव वह (जाठराग्नि) मात्रा गुरु एवम् द्रव्य गुरु आहारों को पचाने में सक्षम हो जाती है।

वक्तव्य—कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने 'ऋतुचर्या' का अंग्रेजी अनुवाद Regimen किया है जिसको सर्वथा ठीक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसका तात्पर्य तो है Prescribed Course of Diet किन्तु 'ऋतुचर्या' का वास्तविक अर्थ है—'ऋतौ चर्या='ऋतुचर्या'। चर्या शब्द 'चरगतिभक्षणयोः' धातु से निष्पन्न हुआ है जो उस-उस ऋतु (काल विशेष) में गति तथा भक्षण (आहार-विहार) का स्पष्ट निर्देश करता है।

हेमन्तः—'हन्ति तापम्, इति' 'हन्तेर्मुट् हि च' उणादिः। इति हिरादेशः, मुडागमः, गुणः. झच् प्रत्ययः, तस्य अन्तादेशः च। तथा—'हिनोति वर्धयति बलम्'। इति हि गतौ वृद्धौ च, स्वा० प० अ०। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति मनिन् प्रत्यये **हेमा** इति पदं साधु।

शीतानिलस्पर्शसंरुद्धः—यह पाठ हमको शारीरिक क्रिया का ज्ञान (Physiological action) कराता है। अर्थात् शरीर पर शीत ऋतु का प्रभाव पड़ने से शिराओं के मुख भागों में संकोचन क्रिया हो जाती है, जिससे शारीरिक ऊष्मा बाहर नहीं निकल पाती। यदि इस ऋतु में यह क्रिया न हो तो शीत के कारण मानव की मृत्यु हो सकती है। इसका उल्लेख वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'देहोष्माणो विशन्तोऽन्तः शीते शीतानिलाहताः। जठरे पिण्डितोष्माणं प्रबलं कुरुतेऽनलम्'॥ अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ४।

बलिनाम्—शारीरिक शक्ति सम्पन्न पुरुषों की जाठराग्नि इस (विसर्ग) काल में स्वभावतः और भी बलवान् (प्रदीप्त) हो जाती है। चक्रपाणि ने इस सन्दर्भ में हस्तिवैद्यक का एक पद्य उद्धृत किया है। यथा—'अव्याहतादभिप्रायात्, प्रीतिः प्रीतेर्बलं, बलादग्निः, अग्नेश्च धातूनां बलं, नाशस्ततो रुजाम्'। और वे लिखते हैं कि विसर्गकाल में पहले बल की वृद्धि होती है तत्पश्चात् जाठराग्नि की।

मात्राद्रव्यगुरुक्षमः—यह प्रदीप्त जाठराग्नि **मात्रागुरु** (भोजन की जितनी मात्रा निर्धारित की गयी है उससे कुछ अधिक) तथा **द्रव्य गुरु** (भोज्य द्रव्यों में जिन पदार्थों के पचने में विलम्ब लगता है) उन पदार्थों को पचाने में भी सक्षम होता है, ऐसा तन्त्रकार का कथन है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस काल में पूर्वोक्त भोजन के समस्त नियमों का उल्लंघन कर देना चाहिये अपितु प्रदीप्त जाठराग्नि को यथोचित आहार देकर उससे पूर्णरूपेण स्वास्थ्य लाभ करना चाहिये।

स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा । रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति ॥१०॥

हेमन्त (शीत) ऋतु में वात का प्रकोप—वह बलवान् जाठराग्नि जब आहाररूपी उचित ईंधन को प्राप्त नहीं करती, तब वह क्षुधित अग्नि शरीर में स्थित रस धातु का विनाश कर देती है, तदनन्तर वायु का प्रकोप होता है।

वक्तव्य—उदर-मध्यस्थित जाठराग्नि को सामान्य अग्नि का स्वरूप देकर भोजन को ईंधन का रूप देकर रूपक अलंकार के ढंग से समझाया गया है।

उक्त पद्य में वायु के प्रकुपित होने की चर्चा की है। इसका कारण यह है कि शरीर में स्थित रस धातु का अग्नि द्वारा शोषित हो जाने पर शरीर में रूक्षता का होना तथा वायु का शीत गुण विशिष्ट होने के कारण शीतकाल में वायु का प्रकोप हो जाता है। क्योंकि—**'वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्'** तथा **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** नियमों के अनुसार रूक्ष-शीतगुण विशिष्ट वायु का शीतकाल में शरीर के रूक्ष होने पर प्रकोप हो जाता है। अतः इसका एक ही समाधान है कि हेमन्त ऋतु के अनुकूल आहार-विहार करें

अथवा शीत प्रधान स्थानों से हट कर उष्ण प्रदेशों का निवास तथा वात विरोधी आहारों का सेवन करें। क्योंकि **'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'।**

सुश्रुत का मत—'हेमन्तः शीतलो रूक्षो मन्दसूर्योऽनिलाकुलः। ततस्तु शीतमासाद्य वायुस्तत्र प्रकुप्यति ॥ कोष्ठस्थः शीतसंस्पर्शादन्तःपिण्डीकृतोऽनिलः। रसमुच्छोषयत्याशु तस्मात् स्निग्धं सदा हितम्' ॥ सुश्रुत उ० त० अ० ६४।

तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान् । औदकानूपमांसानां मेद्यानामुपयोजयेत् ॥११॥
बिलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृतानि च । भक्षयेन्मदिरां शीधुं मधु चानुपिबेन्नरः ॥१२॥
गोरसानिक्षुविकृतीर्वसां तैलं नवौदनम् । हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णं चायुर्न हीयते ॥१३॥

हेमन्तऋतु में आहार—इसलिये हेमन्त ऋतु में स्निग्ध (घी-तेल-वसा आदि से युक्त), अम्ल तथा लवण रस युक्त भोज्य पदार्थों का एवम् औदक (उदक = जल में होने वाले प्राणियों मछली, कछुआ आदि) और अनूपदेश ('बहूदकनगोऽनूपः'-शार्ङ्गधर) में पैदा होने वाले शूकर आदि मे [illegible] (अधिक चर्बी वाले पशु-पक्षियों) के मांसों का सेवन करें।

और बिलेशय (बिल में रहने वाले गोह, चूहा आदि) तथा प्रसह (कौआ, बाज आदि) पशु-पक्षियों का मांस, भृत (भुना हुआ, कबाब, या शूल पक्वमांस) का सेवन कर बाद में मदिरा, शीधु (ईख के रस से तैयार की हुई शराब) तथा मधु का अनुपान करे।

हेमन्त ऋतु में दूध तथा उससे बनने वाले पदार्थ, इक्षुविकार (चीनी, गुड़, खांड आदि), वसा (चरबी), तैल, नये चावलों का भात एवम् गरम जल का सेवन करने वाले पुरुष की आयु क्षीण नहीं होती।

अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्ध्नि तैलं जेन्ताकमातपम् । भजेद् भूमिगृहं चोष्णमुष्णं गर्भगृहं तथा ॥ १४ ॥
शीतेषु[1] संवृतं सेव्यं यानं शयनमासनम् । प्रावाराजिनकौषेयप्रवेणीकुथकास्तृतम् ॥ १५ ॥
गुरूष्णवासा दिग्धाङ्गो गुरुणाऽगुरुणा सदा । शयने प्रमदां पीनां विशालोपचितस्तनीम् ॥ १६ ॥
आलिङ्ग्यागुरुदिग्धाङ्गीं सुप्यात् समदमन्मथः । प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ १७ ॥

हेमन्तऋतु में विहार—हेमन्तऋतु में तेलमालिश, स्निग्धपदार्थों से उबटन, शिर में तेल लगाना जेन्ताकस्वेद विधि से स्वेदन करना, धूप का सेवन, गरम भूमिगृह (Uuderground) में निवास तथा उष्ण गर्भगृह (बीच के कमरे) में निवास करे।

शीतकाल में यान (वाहन), शयन-कक्ष, एवं बैठने का स्थान चारों ओर से घिरा या ढका हुआ होना चाहिये। शय्या आदि पर प्रावार (ओढ़ने के कम्बल, रजाई आदि), अजिन (व्याघ्र, मृग आदि का चर्म), कौशेय (रेशमी वस्त्र), प्रवेणी, कुथक (चित्रित, रंग-बिरंगा कम्बल) आदि वस्त्र बिछे रहने चाहिये।

भारी तथा गरम वस्त्रों को धारण करना चाहिये। अगुरु का गाढ़ा लेप शरीर पर लगाना चाहिये। बिस्तर पर सुपुष्ट अंगों तथा विशाल स्तनों वाली अगुरु, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप की हुई यौवन-मद से उन्मत्त पत्नी का आलिंगन कर कामक्रीडा से तृप्त होकर शयन करे। शीतकाल में अथवा शिशिर-ऋतु के आने पर यथेष्ट सहवास करना चाहिये।

वक्तव्य—यह समय आनन्द प्राप्त करने का है, अतः सभी प्रकार के सुख भोगों की पूर्ति, मात्रा और नियम के अनुसार इस काल में की जा सकती है, ऐसा आचार्यों का निर्देश है, केवल स्वस्थों के लिये।

गुरुणाऽगुरुणा—अगुरु की भारी लकड़ी अधिक सुवासित होती है। देखें अगुरु के लक्षण—'काकतुण्डाकृतिः स्निग्धो गुरुश्चैवोत्तमोऽगुरुः। असारं पाण्डुरं रूक्षं लघुश्चाधममादिशेत् ॥ नादेयं नाप्युपादेयं त्तित्तिरीपक्षकागुरुः। शाल्मलीकाष्ठसंकाशो नैव ग्राह्यः कदाचन' ॥ भैषज्यर० ॥

ऊपर शिशिरागम में पर्याप्त मैथुन करने की शास्त्रकार की आज्ञा है परन्तु किसी भी शास्त्र वचन का अनुसरण करने के पूर्व उसके विधि-निषेध पर भलीभांति ध्यान देना आवश्यक है। ऊपर मैथुन की मात्र आज्ञा दी गयी है, इसके निषेध की चर्चा इस प्रकार है, दोनों का विचार करके ही कार्य में प्रवृत्त होना

१. 'शीते सुसंवृतम्' इति यो.।

हितकर होगा। देखें भगवान् धन्वन्तरि की आज्ञा—'अतिस्त्रीसम्प्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान्। शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः। अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः'॥ सुश्रुत।

जेन्ताकस्वेद की विधि चरक सूत्रस्थान के १४ वें अध्याय में अन्य स्वेदों के साथ देखें।

हेमन्त चर्या—'हसन्तीं च हसन्तीं च हसन्तीं वामलोचनाम्। हेमन्ते ये न सेवन्ते ते नूनं दैववञ्चिताः'॥ सुभाषित। हसन्तीं च हसन्तीं = धधकती अंगीठी, हसन्तीं वामलोचनाम् = मन्द मुस्कराहटयुक्त मुग्धा नायिका। शेष स्पष्ट है।

वर्जयेदन्नपानानि वातलानि लघूनि च। प्रवातं प्रमिताहारमुदमन्थं हिमागमे॥ १८॥

हेमन्तऋतु में त्याज्य आहार-विहार—इस समय लघु तथा वातवर्धक अन्न-पान, प्रवात (हवा के झोंके के सामने रहना आदि का) सेवन, थोड़ा भोजन करना तथा उदमन्थ (ठंडा जल-चीनी मिलाकर घोला हुआ सत्तू) का सेवन सर्वथा वर्जित है।

वक्तव्य—श्रुति-स्मृति तथा आयुर्वेदीय संहिताओं में तर-तम भेद से ऋतुचर्याओं का उल्लेख मिलता है। दृष्टिकोण सब का एक ही है—मानवमात्र का स्वस्थ एवम् सुखी रहना।

वाग्भट का मत—'धूम्रधूम्ररजोमन्दास्तुषाराविलमण्डलाः। दिगादित्यमरुच्छैत्यादुत्तरो रोमहर्षणः॥ लोध्रप्रियङ्गुपुन्नागलवल्यः कुसुमोज्ज्वलाः। दृप्तागजाजमहिषवाजिवायससूकराः॥ हिमानीपटलच्छन्ना लीनमीनविहङ्गमाः। नद्यः सबाष्पाः सोष्माणः कूपाश्च हिमागमे॥ देहोष्माणो विशन्तोऽन्तः शीते शीतानिलाहताः। जठरे पिण्डितोष्माणं प्रबलं कुरुतेऽनलम्॥ विसर्गे बलिनां प्रायः स्वभावादिगुरुक्षमम्। बृंहणान्यन्नपानानि योजयेत्तस्य युक्तये॥ अनिन्धनो यथा सीदेदत्युदीर्णतयाऽथवा। धातूनपि पचेदस्य ततस्तेषां क्षयान्मरुत्॥ तेजः सहचरः कुप्येच्छीतः शीते विशेषतः। अतो हिमे भजेत् स्निग्धान् स्वाद्वम्ललवणान् रसान्॥ विलेशयौदकानूपप्रसहानां भूतानि च। मांसानि गुडपिष्टोत्थमद्यान्यभिनवानि च॥ माषेक्षुक्षीरविकृति वसातैलनवौदनान्। व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्वेदधूमाञ्जनातपान्। सुखोदकं शौचविधौ भूमिगर्भगृहाणि च। साङ्गारयानां शय्यां च कुथकम्बलसंस्तृताम्॥ कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गो गुरुणाऽगुरुणापि वा। लघूष्णैः प्रावृतः स्वप्यात् काले धूपाधिवासितः॥ पीनाङ्गनाङ्गसंसर्गनिवारितहिमानिलः'। अष्टाङ्गसं० सू० अ० ४।

सुश्रुत का मत सू० अ० ६ श्लोक २२-२३ में तथा अष्टांगहृदयोक्त वाग्भट का मत सू० अ० ३ में देखें।

हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ शिशिरेऽल्पं विशेषणम्। रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम्॥ १९॥
तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते। निवातमुष्णं त्वधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत्॥ २०॥

शिशिर-ऋतुचर्या (Regimen of Dewy Season)—हेमन्त और शिशिर ऋतु का प्रभाव प्रायः समान ही रहता है। इसलिये शिशिर ऋतु में हेमन्तऋतु के कुछ आहार-विहारों में अन्तर है। इस काल में आदानकालिक रूक्षता, मेघ, वायु तथा वृष्टि के कारण शीत की वृद्धि हो जाती है। फिर भी प्रायः हेमन्तऋतु में जिस आहार-विहार के सेवन का निर्देश किया गया है उसी का व्यवहार करना चाहिये। केवल शीतल वायु का जहाँ सम्बन्ध न हो, जहाँ उष्णता प्राप्त हो सके ऐसे घर में निवास करे।

वक्तव्य—उक्त पद्य में आये हुए 'मेघमारुत' को बादलों के सम्पर्क से शीतल वायु समझना चाहिये। आजकल इसी को मानसून (Monsoon) कहते हैं। वेदव्यास ने इस वायु को 'उद्वह' संज्ञा प्रदान की है। यथा—'यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम्। उद्धृत्य ददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः॥ योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति। उद्वहो नाम बंहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः'। महाभारत।

वाग्भट ने चरक के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर अष्टांगहृदय में 'हेमन्त-शिशिर' का विवेचन एक साथ ही किया है। और अष्टांगसंग्रह में अतिसंक्षेप से, सुश्रुत में एक पद्य द्वारा सूत्ररूप में शिशिरऋतुचर्या का निर्देश कर दिया है।

शिशिर-वर्णन—'पीनोत्तुङ्गपयोधराः परिलसत् सम्पूर्णचन्द्राननाः, कान्ता नैव गृहे गृहे न च दृढं आर्त्यं न काश्मीरजम्। ताम्बूलं न च तूलिका न च पटी तैलं न गन्धाविलं, सद्यो गोघृतपाचिता न बटकाः शीतं कथं गम्यते'॥ सुभाषित।

शिशिर-निरुक्ति—शशन्ति धावन्ति (शीतभीताः) यस्मिन् पथिकाः, स शिशिरः। 'शश-प्लुतगतौ' किरचि, शशेरुपधाया इत्वम्।

कटुतिक्तकषायाणि वातलानि लघूनि च। वर्जयेदन्नपानानि शिशिरे शीतलानि च॥ २१॥

शिशिरऋतु में निषिद्ध आहार—शिशिरऋतु में कटु (चरपरे, सोंठ, कालीमिर्च अथवा लालमिर्चा पिप्पली मिश्रित) तिक्त (करेला आदि) तथा कसैले, वातकारक, लघु (सत्तू आदि) तथा शीतल (शरबत आदि) अन्नपानों का प्रयोग न करें। शेष हेमन्तऋतु के अनुसार ही विधि-निषेध का ध्यान रखें।

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः। कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥२२॥
तस्माद् वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।

वसन्तऋतु-चर्या (Regimen of Spring Season)—हेमन्त (तथा शिशिर) ऋतु में इकट्ठा हुआ कफ वसन्तकाल (पहले की अपेक्षा कुछ गर्मी) के आने पर सूर्य की गरम किरणों से पिघलकर (स्रोतों द्वारा शरीर में फैलकर) कायाग्नि (जाठराग्नि) को दूषित कर देता है, तदनन्तर वह (पाचन आदि कार्यों में असमर्थ अग्नि) विविध प्रकार के रोगों को पैदा कर देता है। इस कफ को निकालने के लिये वसन्तऋतु में वमन आदि पञ्चकर्मों को कराना चाहिये।

वसन्तनिरुक्ति—'वसन्ति अत्र मदनोत्सवाः, इति = वसन्तः'। 'वसन्तः पुष्पसमयः सुरभिः'। इत्यमरः। 'सुरभिः-सुष्ठु रमन्ते रभस (वेग) युक्ता भवन्ति कामुकाः, अत्र'।

गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत्॥ २३॥

वसन्तऋतु में निषिद्ध आहार-विहार—वसन्त ऋतु में गुरु (देर में पचने वाले), अम्लरस प्रधान, स्निग्ध (घी, तेल, वसा आदि से युक्त अथवा निर्मित भोज्य पदार्थ) तथा मधुर पदार्थों का सेवन और दिवास्वप्न (दिन में सोना) वर्जित है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में गुरु, स्निग्ध, मधुर पदार्थों के सेवन का निषेध इसलिये किया है कि ये सभी कफवर्धक होते हैं, अतः वसन्तकाल में ये अपथ्य हैं और दिवास्वप्न के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि निर्देश करते हैं—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धः, अन्यत्र ग्रीष्मात्'। सुश्रुत। ग्रीष्मऋतु के अतिरिक्त सामान्य स्थिति में दिन में सोना कफ की वृद्धि करता है।

व्यायामोद्वर्तनं धूमं कवलग्रहमञ्जनम्। सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत् कुसुमागमे॥ २४॥
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो यवगोधूमभोजनः। शारभं शाशमैणेयं मांसं लावकपिञ्जलम्॥ २५॥
भक्षयेन्निर्गदं सीधु पिबेन्माध्वीकमेव वा। वसन्तेऽनुभवेत्स्त्रीणां काननानां च यौवनम्॥ २६॥

सेवनीय आहार-विहार—वसन्तऋतु में व्यायाम (कसरत करना), उबटन, धूमपान, कवलधारण, अञ्जन लगाना, गुन-गुने जल से स्नान करना चाहिये, इनसे स्वास्थ्यलाभ होता है। चन्दन, अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप करना चाहिये। पुराने जौ, गेहूँ, शरभ (हरिणविशेष), खरगोश, एण (हरिण), लवा तथा सफेद तीतर के मांसों का सेवन करे। निर्गद (उत्तम कोटि की शराब), शीधु (ईख के रस की शराब) अथवा माध्वीक (महुआ के रस से बनी शराब) का सेवन करे और वसन्त ऋतु में पुष्पित-पल्लवित-वनों, उद्यानों तथा स्त्रियों के यौवनसुख का आनन्द लें।

वक्तव्य—'शरभ तथा एण'—अमरसिंह अपने कोष में शरभ का **मृगेन्द्र** = सभी मृगों में महान् तथा **अष्टापद** (आठ पैरों वाला) पर्यायों से परिचय कराता है तथा **एण** को श्वेतवर्णविशेष मृग मानता है। आजकल ये दोनों ही प्रकार के मृग दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः 'शशक' खरगोश का मांस ही सबके प्रतिनिधि के रूप में ग्राह्य है।

निर्गदम्—इसका अर्थ है गद (रोग, विकार, दोष) रहित और यह शब्द सीधु तथा माध्वीक का विशेषण है। अतः शीधु अथवा माध्वीक का उतनी मात्रा में सेवन करें जो किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न कर सके। अन्यथा **'मदाय हितं मद्यम्'** सभी प्रकार के मद्य नशीले होते हैं और इनका स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। देखें—सुश्रुत उ० त० अ० ४७। **पाठभेद**—निगद अथवा निर्गद दोनों पाठ मिलते हैं।

वसन्तेऽनुभवेत् स्त्रीणां यौवनम्—इस प्रसंग में आचार्य चक्रपाणि अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'अनुभवेद् इति भाषया श्लेष्मक्षयार्थं स्तोकं मैथुनमनुजानाति'। चक्रपाणि के इस वचन को चरक भी समर्थन दे रहे हैं—'प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे'। च० सू० अ० ६।१७। इसकी अपेक्षा वसन्तऋतु में सामान्य मैथुन करने का आदेश दिया गया है।

वमनादीनि कारयेत्—वसन्तऋतु में शोधन कर्म के लिये वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्मों का विधान किया गया है। यहाँ पर वसन्तऋतु से फाल्गुन तथा चैत्र मासों का ही ग्रहण करना चाहिये। देखें—'तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति'। चरक सि० अ० ६।

यवगोधूमभोजनः—जौ, गेहूँ, मधुर रस वाले होते हैं, अतः वसन्तऋतु में नये जौ, गेहूँ का सेवन नहीं करना चाहिये। 'प्रायो मधुरं श्लेष्मलमन्यत्र पुराणयवगोधूमात्'। चरक सू० अ० २५। वाग्भट ने चरक की अपेक्षा स्पष्ट निर्देश किया है—'पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक्' ॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ३।२०।

वाग्भट का मत—'वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः। नवप्रवालत्वक्पत्राः पादपाः ककुभोऽमलाः ॥ किंशुकाऽशोकचूतादिवनराजिविराजिताः। कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाऽऽकुलाः ॥ शिशिरे सञ्चितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः। तदा प्रबाधमानोऽग्निं रोगान् प्रकुरुते बहून् ॥ अतोऽस्मिंस्तीक्ष्णवमनधूमगण्डूषनावनम्। व्यायामोद्वर्तनक्षौद्रयवगोधूमजाङ्गलान् ॥ सेवेत सुहृदुद्यानयुवतीश्च मनोरमाः। स्नातः स्वलङ्कृतः स्रग्वी चन्दनागरुरूषितः ॥ विचित्रामत्रविन्यस्तान् सहकारोत्पलाङ्कितान्। निगदांश्चासवारिष्टशीधुमार्द्वीकमाधवान् ॥ क्वथितं मुस्तशुण्ठ्यम्बु साराम्भः क्षौद्रवारि वा। गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह अ० ४। अत्र साराम्भशब्दग्रहणेन असन-खदिर-चन्दनादिसारसंस्कृताम्भः गृह्यते। अमत्रं=पात्रम्।

वसन्तऋतु-महिमा—'न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्। न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः' ॥ सुभाषित।

मयूखैर्जगतः [1]स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः। स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ॥२७॥
शीतं सशर्करं मन्थं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः। घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ॥२८॥

ग्रीष्मऋतु-चर्या (Regimen of Summer Season)—ग्रीष्मऋतु में सूर्य अपनी किरणों से संसार के द्रव्यों तथा प्राणियों के जलीय सार भाग का अत्यधिक पान (शोषण) करता रहता है। अतः इस ऋतु में स्वादु (मधुर रस प्रधान), शीतल द्रव्य (शरबत, पानक, मन्थ आदि तरल (Liquid) पदार्थ) और स्निग्ध (घृत, तैल आदि से बने हुए) अन्न-पानों का सेवन हितकारक होता है।

शीतल चीनी मिला हुआ तथा पानी में घोला सत्तू, जांगलदेश में होने वाले मृग तथा पक्षियों के मांस-रस, घी, दूध, और शालिचावलों के भात का सेवन करने वाला पुरुष इस ऋतु में ऋतु सम्बन्धी विकारों से पीड़ित नहीं होता।

वक्तव्य—ग्रीष्म—ग्रसते रसान्। ग्रसु अदने। तथा—निदाघ = नितरां दह्यते अत्र। दह भस्मीकरणे। जो वनस्पतियों के तथा प्राणियों के रस का आहार करे उसे ग्रीष्म कहते हैं और जो इनके रस को अपनी ऊष्मा से जला डाले उसे निदाघ कहते हैं।

मन्थ परिचय—सत्तू में थोड़ा घी मिलाकर उसमें ठंडा पानी इतना मिलाये जिससे वह न अधिक पतला और न अधिक गाढ़ा हो। तदनन्तर उसको थोड़ा-सा मथकर भलीभाँति मिला लें। इसी को मन्थ कहते हैं। इसका प्रयोजन तर्पण करना होता है। यथा—'सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः। नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्यभिधीयते' ॥ सुश्रुत सू० अ० ४६।३८५।

मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम्। लवणाम्लकटूष्णानि व्यायामं [2]चात्र वर्जयेत् ॥ २९ ॥

निषिद्ध आहार-विहार—ग्रीष्मकाल में प्रतिदिन मद्य पीने के अभ्यासी पुरुष को चाहिये कि वह अल्पमात्रा में मद्यपान करे या सम्भव हो तो न पीये अथवा थोड़े से मद्य में पर्याप्त पानी मिलाकर ले। इस ऋतु में लवण, अम्ल, कटुरसप्रधान तथा गरम पदार्थों का सेवन और विशेष व्यायाम न करे।

१. 'सारं' ग.।
२. 'च विवर्जयेद्' च,।

वक्तव्य—जिन द्रव्यों से मद्य बनाया जाता है उन द्रव्यों को मद्याकर अथवा मद्ययोनि कहते हैं। उत्तम मद्याकर के पाँच द्रव्य हैं—द्राक्षा, इक्षु, मधु, शालि, व्रीहि। अन्य पदार्थों से जो मद्य बनता है वह उत्तम नहीं कहा जाता। देखें अष्टाङ्गसं० सू० ६।

मद्य के भेद—अरिष्ट, आसव, सुरा, वारुणी, धान्याम्ल, शुक्त, सीधु। इनके सम्बन्ध में यह निर्णय है कि सभी मद्य तर-तम भाव से विष के समान हानिकारक होते हैं किन्तु विष इनसे कुछ अधि **बलवत्तर** होता है। देखें—चरक चिकित्सा० अ० २४।

मद्यपान की विधि—अन्न, पान, वय, व्याधि, बल, काल, दोष तथा सत्त्व इन आठ भावों का भलीभांति विचार करके ही मद्यपान करना चाहिये। देखें—चरक चि० अ० २४।

वाग्भट का मत—'मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहु वारि वा। अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्' ॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ३। वाग्भट ने विधि, निषेध तथा तज्जनित विकारों की उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश किया है।

दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले। भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ ३० ॥
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चन्दनोदकशीतलैः। सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणिविभूषितः ॥ ३१ ॥
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च। ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद् विरतो नरः ॥३२॥

ग्रीष्म-ऋतु में विहार—ग्रीष्म ऋतु में दिन में शीतलगृह में और रात में चन्द्रमा की किरणों से शीतल तथा प्रवात युक्त (खुली हवा जहाँ सुलभ हो ऐसे) मकान की छत पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का शरीर पर लेप करके शयन करे।

मुक्ता-मणि आदि आभूषणों से अलंकृत होकर, चन्दन के घोल से सुशीतल ताड़ के पंखे की हाथ के स्पर्श (डुलाने) से प्राप्त वायु का सेवन करता हुआ चौकी या आराम-कुर्सी (Easy Chair) पर सुख पूर्वक बैठे।

ग्रीष्मकाल में मैथुन का पूर्णरूप से त्याग करके शीतल वनों (उद्यानों = बगीचों), जलों तथा फलों का सेवन करे। अर्थात् वन अथवा बगीचे की छाया से सुशीतल जलों तथा फूलों के बीच बैठकर भीषण दोपहर की गर्मी से अपनी सुरक्षा करे।

वक्तव्य—शीतगृह शब्द से तन्त्रकार का अभिप्राय यह है कि जिस घर के चारों ओर फुंहारे चल रहे हों (इसी को धारागृह भी कहते हैं) अथवा जिस घर के सभी दरवाजों एवम् खिड़कियों (वातायनों) पर पानी से तर की हुई खस की टट्टियाँ लगी हों।

इस वैज्ञानिक युग में विद्युत द्वारा सभी प्रकार के सुख-साधन उपलब्ध हैं। इसके आगे धारागृह, फुंहारे और खस की टट्टियाँ पुरानी पड़ गयी हैं। आज तो वातानुकूलित कक्ष (Airconditioned room) गर्मी तथा सर्दी की परेशानी दूर करने में सक्षम हैं।

पाणिसंस्पर्शैः—इस पद्यांश की व्याख्या करते हुए प्रायः पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने भूल की है। हमने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—**पाणिसंस्पर्शैः चन्दनोदकशीतलैः व्यजनैः सेव्यमानः'।**

मैथुनाद् विरतो नरः - इसका तात्पर्य है नर तथा नारी दोनों ही मैथुन की अभिलाषा न करें क्योंकि ग्रीष्मऋतु पूर्णरूप से आदान काल है, आग्नेय है, रस तत्त्व का आचूषण करता है। अतः भुक्त पदार्थों के सर्वोत्तम प्रतिफल रूप शरीरावयवों में स्थित वीर्य की हानि, इस समय जीवन हानि के समान ही प्रतीत होती है, अत सावधान रहें।

सुश्रुत का मत—'व्यायाममुष्णमायासं मैथुनं परिशोषि च। रसांश्चाग्निगुणोद्रिक्तान् निदाघे परिवर्जयेत् ॥ सरांसि सरितो वापीर्वनानि रुचिराणि च। चन्दनानि परार्घ्याणि स्रजः सकमलोत्पलाः ॥ तालवृन्तानिलाहारांस्तथा शीतगृहाणि च। घर्मकाले निषेवेत वासांसि सुलघूनि च ॥ शर्कराखण्डदिग्धानि सुगन्धीनि हिमानि च। पानकानि च सेवेत मन्थांश्चापि सशर्करान् ॥ भोजनं च हितं शीतं सघृतं मधुरद्रवम्। शृतेन पयसा रात्रौ शर्करामधुरेण च ॥ प्रत्यग्रकुसुमाकीर्णे शयने हर्म्यसंस्थिते। शयीत चन्दनाज्ञार्द्रैः स्पृश्यमानोऽनिलैः सुखैः ॥ सुश्रुत उ० त० अ० ६४।४०-४५।

ग्रीष्मऋतु का स्वरूप—'यत्र प्रचण्डतरभानुकरप्रतापैः संशोषितद्रुमलतातृणवारिपूरः। उज्जृम्भते पवनवेगविकीर्णरेणुच्छन्ना भवन्ति च दिशः स निदाघकालः॥ सुभाषित।

आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः। स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः॥ ३३॥
भूबाष्पान्मेघनिस्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः॥ ३४॥
तस्मात् साधारणः सर्वो विधिर्वर्षासु शस्यते।

वर्षाऋतु-चर्या (Regiman of Rainy Season)—आदानकाल में स्नेह तथा रस के आचूषित (शोषित) हो जाने के कारण शरीर में स्थित जाठराग्नि भी दुर्बल हो जाती है। वह दुर्बल (क्षीण शक्ति) जाठराग्नि वर्षाकाल में वात आदि के दोष से और भी दूषित (मन्द) हो जाती है।

वर्षाऋतु में ग्रीष्मऋतु में तपी हुई भूमि पर वर्षा का जल पड़ने से जो वाष्प (भाप) निकलती है, उसके कारण लगातार वर्षा होने से, जल के अम्लविपाकशील होने से और जाठराग्नि के मन्द पड़ जाने से वात आदि दोष कुपित (क्षुभित) हो जाते हैं। इसलिये वर्षाऋतु में सभी साधारण विधियाँ (जिनसे वात, पित्त, कफ का शमन हो सके और अग्नि प्रदीप्त हो सके ऐसी क्रियायें) प्रशंसनीय मानी जाती हैं।

वक्तव्य—'प्रकृष्टा वृट् अत्र', इति=**प्रावृट्**। वर्षणं वृट् (भ्वा० प० से०) क्विप्। वर्ष वर्षणम् अत्र अस्ति 'अर्श आद्यच्' ५।२।१२७। टाप् = वर्षाः।

वर्षा काल में केवल वायु का प्रकोप होता है किन्तु यहाँ पर **'कुप्यन्ति पवनादयः'** कहकर तीनों दोषों के कुपित होने की चर्चा की गयी है। इन विरोधमूलक वचनों का मात्र समाधान यह है कि वर्षा में वायु कुपित होकर वह अन्य पित्त, कफ दोषों को भी अपने प्रभाव से दूषित कर देता है। क्योंकि ऐसा देखा जाता है जब कफ क्षीण हो और पित्त सम अवस्था में हो किन्तु वात दोष प्रकुपित हो तो, यह वायु कफ-पित्त को लेकर जिस-जिस अंग में विचरण करता है वहाँ वहाँ वेदना, दाह, थकावट और कमजोरी को पैदा कर देता है।

इसी प्रकार शरद् में पित्त और वसन्त में कफ का प्रकोप प्रधान रूप से होता है, और दूसरे दो दोष उसके सहचर होते हैं या हो सकते हैं। जो प्रमुख दोष होता है उसको स्वतन्त्र और जो उसके सहारे से चलते हैं, उनको परतन्त्र कहते हैं। इस सन्दर्भ में वाग्भट का मत द्रष्टव्य है। यथा—**'वह्निनैव च मन्देन तेष्वित्यन्योऽन्यदूषिषु। भजेत् साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत्'**॥ अष्टाङ्गहृ० अ० ३।४४।

वर्षाऋतु में धूप पड़ने के पश्चात् जब पानी बरसता है तो भूमि में से वाष्प (भाप) निकलती है, यह दोष-प्रकोपण में सहायक होती है। अतएव बरसात के दिनों में प्राणियों का स्वास्थ्य अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक अनियमित हो जाता है। वर्षाऋतु में जंगल, साधारण देश भी अनूपदेश हो जाते हैं और **'अनूपोऽहितदेशानाम्'**। चरक सू० अ० २५। अर्थात् सभी अनूपदेश अहितकारक होते हैं। अतः इसमें नंगे पैरों से न चलें। जूता, खड़ाऊँ, हाथी, घोड़ा, रथ आदि सवारियों पर ही चलें। बरसाती पानी, कीचड़ आदि के लगने से पैरों में अलसक (खिरही) नामक रोग हो जाता है। इसमें अंगुलियों के बीच में सड़न पैदा हो जाती है, खुजलाने पर दाह एवं पीड़ा होती है। देखें—सुश्रुत नि० अ० १३।

उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्॥ ३५॥
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।

निषिद्ध आहार-विहार—वर्षाऋतु में जल में घोले हुए सत्तू, दिन में सोना, अवश्याय (ओस) का सेवन (रात्रि में छत के ऊपर सोना), नदियों का जल, व्यायाम, धूप का सेवन तथा स्त्री-सहवास (Sexual Indulgence) का सर्वथा परित्याग कर दे।

वक्तव्य—नदी जल से वर्षाऋतु के कारण दूषित जल का निषेध किया गया है। इसके सेवन का विधान इस प्रकार **है**—'वार्षिकं तदहर्वृष्टं भूमिस्थमहितं जलम्। त्रिरात्रमुषितं तत्तु प्रसन्नममृतोपमम्'॥ निघण्टु। और भी देखें—'वर्षाजलवहानद्यः सर्वदोषसमीरणाः'। चरक सू० अ० २७।

पानभोजनसंस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत्॥ ३६॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं वातवर्षाकुलेऽहनि। विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिलशान्तये॥ ३७॥

अग्निसंरक्षणवता यवगोधूमशालयः। पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः॥ ३८॥
पिबेत् क्षौद्रान्वितं चाल्पं माध्वीकारिष्टमम्बु वा। माहेन्द्रं तप्तशीतं वा कौपं सारसमेव वा॥
प्रघर्षोद्वर्तनस्नानगन्धमाल्यपरो भवेत्। लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेदक्लेदि वार्षिकम्॥ ४०॥

प्रशस्त आहार-विहार—इस ऋतु में खाने-पीने के सभी पदार्थों के साथ यथोचित रूप में शहद का उपयोग अवश्य करे। जिस दिन हवा-पानी के कारण अधिक शीत का अनुभव होता है, उस दिन शरीरस्थ वायु भी प्रकुपित हो सकता है। अतः उस प्रकुपित वायु की शान्ति के लिये विशेषतया खट्टे, नमकीन तथा स्निग्ध (चिकने) पदार्थों का भोजन में उपयोग करे।

वर्षाऋतु में पाचकाग्नि की रक्षा करने के इच्छुक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह पुराने जौ, गेहूँ तथा शालिचावलों को जांगल देश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के संस्कृत (शास्त्रोक्तविधि से पकाये हुए) मांसों तथा संस्कृत यूषों के साथ सेवन करे।

वर्षाऋतु में मधु मिलाकर थोड़ी महुआ की शराब, अरिष्ट अथवा जल का पान करना चाहिये। अथवा माहेन्द्र (वर्षा) जल, गरम करके ठंडा किये हुए जल या कूपजल या सरोवर के जल का पीने के लिये उपयोग करें।

प्रघर्ष (स्नान के समय मोटे तौलिये (Towel) से शरीर को मलना, स्निग्ध औषध चूर्णों को शरीर पर मलना आदि) उबटन, स्नान, सुगन्धित पदार्थों का अनुलेपन, सुवासित मालाधारण एवम् हलके साफ वस्त्रों को धारण करे और ऐसे स्थान पर निवास करे जहाँ क्लेद [क्लिन्नता = गीलापन (Wetness)] न हो।

वक्तव्य—वर्षाऋतु के आहारों की चर्चा में मधु सेवन पर विशेष बल दिया गया है, अतः हम यहाँ पर उसका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिससे महर्षि अग्निवेश का दृष्टिकोण स्पष्ट हो सके।

अग्निवेश का मत—'वातलं गुरु शीतञ्च रक्तपित्तकफापहम्। सन्धानं छेदनं रूक्षं कषायं मधुरं मधु'॥ चरक सू० २७। उक्त पद्य में मधु को वातल (वातवर्धक) गुणवाला सामान्य रूप से कहा गया है न वि प्रधान रूप से, क्योंकि आगे इसी अध्याय में उसका सहेतुक ऐसा उल्लेख है। ध्यान दें—'नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु'॥ च० सू० अ० २७। इसका स्पष्टीकरण हम सुश्रुत के निम्नोक्त पद्य द्वारा कर रहे हैं—'विशेषात् पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात्। वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदकृन्मधु'॥ सुश्रुत सू० अ० ४५।१३४। इन परस्पर सापेक्ष वचनों से यह सिद्ध होता है कि मधु परिस्थिति विशेष में ही 'वातल' होता है, सर्वदा और सर्वथा नहीं।

भगवान् धन्वन्तरि का निर्देश—'मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं बल्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं सन्धानं शोधनं रोपणं वाजीकरणं सङ्ग्राहि चक्षुःप्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारि पित्तश्लेष्ममेदोमेहहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनञ्च तत्तु लघुत्वात् कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम्'॥ सुश्रुत सू० अ० ४५॥

सुश्रुत के इस वचन से सिद्ध होता है कि मधु त्रिदोशनाशक है। अतः वर्षाकाल में सेवन करने से यह वात तथा इससे होने वाले अन्य विकारों का भी शमन करता है। इसी के समर्थन में एक उद्धरण और दिया जा रहा **है**—'मधु स्वादुरसं शीतं व्रणशोधनरोपणम्। कषायानुरसं रूक्षं बल्यं दीपनलेखनम्॥ सन्धानं लघु चक्षुष्यं स्वर्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्। श्वासहिक्काविषहरमुष्णखाम्बुनिरोधि च'॥ 'द्रव्यगुणसंग्रह' चक्रपाणिदत्त कृत। यद्यपि अन्यत्र (हारीतसंहिता आदि में) भी मधु को अल्पवातल कहा गया है, वह सामान्य निर्देश है। तथापि प्रयोग के पूर्व मधु का परीक्षण सुश्रुत की दृष्टि से अपेक्षित है।

विशेष वक्तव्य—हिमालय आदि पर्वत प्रदेशों के निवासी आज भी भोजन में तथा अतिथि-सत्कार में चीनी, गुड़ की भांति मधु को परोसते हैं। शास्त्रों में वर तथा आचार्य का मधुपर्क (मधु, घृत, दधि) द्वारा स्वागत करने का विधान है, जिसका अनुभव हिन्दू-संस्कृति में पला हुआ व्यक्ति एक (अपने विवाह के) दिन अवश्य करता है। आज भले ही उस मधुपर्क को सुंघा देने मात्र से कार्य की इतिश्री मान ली जाती है किन्तु शास्त्र कहता **है**—**'मधुपर्कप्राशने विनियोगः'** यहाँ पर प्राशन = प्र कर्षेण अशनं = प्राशनं, भरपूर खाना लिखा है। अस्तु।

इस प्रकार भरपूर मधु खाने से यदि अजीर्ण हो जाता है तो यह अन्य अजीर्णों की अपेक्षा घातक सिद्ध होता है। देखें—सुश्रुतसंहिता सू० अ० ४५।१४७। वनवासी आज भी मधु की उक्त जातियों से सुपरिचित होते हैं। ये हिंसक (प्राणहर) जाति की बड़ी मक्खियों से कभी छेड़खानी नहीं करते। ऐसी मक्खियों के छाते चारों ओर गोल (कोहड़ा के आकार के) होते हैं। अन्य कुछ मक्खियाँ ऐसी हैं जिनसे मधु प्राप्त कर उपयोग में लाया जाता है। उनके नाम इस प्रकार है—१. छात्रमधु, २. माक्षिकमधु, ३. दालमधु, ४. क्षौद्रमधु, ५. अर्घ्यमधु, ६. पौत्तिकमधु, ७. भ्रामरमधु, ८. औद्दालकमधु। इनका विशेष विवरण सुश्रुत सू. अ. ४५ में देखें।

चरक में केवल **'अक्लेदि स्थानं भजेत्'** 'ऐसा निर्देश किया है। किन्तु वाग्भट का यह वचन अधिक उपादेय है। देखें—असरीसृपभूवाष्पशीतमारुतशीकरम्। साग्नियानं च भवनं निर्दंशमशकोन्दुरम् ॥ प्रवर्षोद्वर्तनस्नानधूमः न्यागुरुप्रियः। यायात् करेणुमुख्याभिश्चित्रस्रग्वस्त्रभूषितः ॥ नदीजलोदमन्थाहः स्वप्नातिद्रवमैथुनम्। तुषारपादचरणव्यायामार्ककरांस्त्यजेत्' ॥ अष्टांगसंग्रह सू० अ० ८। इसी अध्याय में ऋतुचर्या सम्बन्धी विषयों का वर्णन भी दिया गया है। सुश्रुत उत्तरतन्त्र ६४ वें अध्याय में प्रावृट् तथा वर्षा ऋतुचर्या का सम्पूर्ण वर्णन किया गया है।

वर्षाकालिक दृश्य—'महीमण्डली मण्डपीभूतपाथोधरारब्धवर्षासु हर्षासु सद्यः। कदम्बे प्रसूनं प्रसूने मरन्दो मरन्दे मिलिन्दो मिलिन्दे मदोऽभूत्' ॥ सुभाषित (लोलिम्बराजकृत हरिविलास)।

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः। तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥ ४१ ॥

शरद्-ऋतुचर्या (Regimen of beginning of Autumn Season)—वर्षाऋतु में जब शरीरावयव शीत (भीगने) के अभ्यस्त हो जाते हैं उसके बाद ही सहसा (एकाएक) शरद्-ऋतु में सूर्य की किरणों द्वारा तपे हुए प्राणियों के शरीरों में वर्षाकाल में संचित हुआ पित्त शरद्-ऋतु में प्रकुपित हो जाता है।

परिभाषा—'शीर्यन्ते अस्यां पाकेन ओषधयः' इति शरद्। शॄ हिंसायाम्।

वक्तव्य—उक्त पद्य में वर्षाऋतु में संचित पित्त का शरद् ऋतु में प्रकोप होता है, कहा गया है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के वचन अनुकरणीय हैं। यथा—'तत्र वर्षा-हेमन्त-ग्रीष्मेषु सञ्चितानां दोषाणां शरद्-वसन्त-प्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्'। सुश्रुत सू० अ० ६। इसी को आगे और भी सरल प्रकार से कहा गया है। यथा—'हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्। वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्' ॥ सु० सू० अ० ६। अर्थात् रोगोत्पत्ति के पहले ही दोषों का शमन करना चाहिये। यथा—वसन्त में कफ का, शरद् में पित्त का और वर्षा में वायु का शमन करें।

तत्रान्नपानं मधुरं लघु शीतं सतिक्तकम्। पित्तप्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्क्षितैः ॥४२॥
लावान् कपिञ्जलानेणानुरभ्राञ्छरभाञ्छशान्। शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये ॥४३॥
तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम्। धाराधरात्यये कार्यम्—

प्रशस्त आहार-विहार—शरद् ऋतु में मधुर, लघु (जल्दी पच जाने वाला), शीतल, तिक्तरसप्रधान (करेला आदि) तथा जिससे प्रकुपित पित्त का शमन हो सके ऐसे अन्न-पान का भलीभांति भूख लगने पर उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये।

वर्षा ऋतु की समाप्ति हो जाने पर अर्थात् जब वर्षाकालिक घन = बादलों का अत्यय = विनाश हो जाय (शरद् ऋतु के आने पर) लवा, सफेद गौरेया, एण जाति का मृग, उरभ्र (दुम्बा नामक भेड़), शरभ (अष्टापद मृग) तथा खरगोश, इनके मांसों का एवम् शालिचावल, जौ, गेहूँ का सेवन करे।

धाराधरात्यये (वर्षा के अन्त में) तिक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए (अष्टांगहृदय कुष्ठ चिकित्सा अ० १४ में कहे गये) तिक्तक अथवा महातिक्त घी का पान, विरेचन तथा रक्तमोक्षण कराना हितकर होता है।

वक्तव्य—चरक में 'सुप्रकांक्षित' तथा अष्टांगहृदय में 'क्षुधितः' शब्दों का प्रयोग सर्वसामान्य को इस ऋतु में कब भोजन करना चाहिये, इसके लिये सावधान करता है। कारण यह है कि इन दिनों पाचकाग्नि मन्द पड़ जाती है। यदि भलीभांति भूख लगने के पूर्व ही आप भरपूर भोजन कर लेंगे तो वह अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर अस्वास्थ्य का कारण हो जायगा। अतः भूख लगने पर भी लघु भोजन ही करें, जैसा ऊपर निर्दिष्ट है।

भूख के मन्द पड़ने में हेतु—'कट्वजीर्णविदाह्यम्लैः क्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्' ॥ चरक चि० अ० १५ ॥ अर्थात् कटु, अजीर्णकारक, विदाही, अम्ल, क्षार आदि पदार्थों के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त उस प्रकार पाचकाग्नि को बुझा देता है, जैसे गरम पानी आग को।

घनात्यये—यद्यपि 'घनात्यय' शब्द का स्थूल अभिप्राय वर्षा ऋतु के समाप्त होने से है किन्तु दोषों के चय, कोप, प्रशम की दृष्टि से ऋतु परिवर्तन हो जाना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु पूर्व ऋतु का प्रभाव समाप्त हो जाना और आने वाली ऋतु के लक्षणों का प्रकट होना महत्व रखता है। अतः जब तक वर्षाकालिक घन = बादलों का अत्यय=विनाश नहीं हो जाता तब तक महिने बदल जाने मात्र से शरद् का आगमन न समझें। यही तात्पर्य 'धाराधरात्यये' का भी है।

इसकी सम्पुष्टि में हम सुश्रुत के वचनों को उद्धृत करते हैं 'स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः। विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम्' ॥ सुश्रुत सू० अ० ६।३७। अर्थात् ऋतुओं के जो स्वाभाविक गुण हैं उन गुणों में अत्यधिकता होने से अथवा स्वाभाविक गुणों में विपरीत गुणों के आने से (जैसे–वर्षा ऋतु में वर्षा के न होने से) या ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों में विषमता (गरमी में सरदी अथवा सरदी में गरमी तथा इस प्रकार की अनेक ऋतु व्यापत्तियाँ) होने से प्राणियों के वात आदि दोष कुपित हो जाते हैं। अतः इन स्थितियों में जब जिस ऋतु के लक्षण (विपरीत काल में भी) दृष्टिगोचर हों तदनुसार व्यवहार करना चाहिये।

पित्तप्रशमनं सेव्यम्—यहाँ पित्तशामक आहारों के सेवन का निर्देश किया गया है। उत्तम तो यह है कि इस ऋतु में 'पित्तं शरदि निर्हरेत्' उभड़े हुए पित्त का निर्हरण कर देना चाहिये। उसके लिये सर्वोत्तम साधन है—**विरेचनं पित्तहराणाम्'**। पित्तशामक क्रियाओं में सर्वोत्तम क्रिया विरेचन है। यह कार्य कार्तिक (अर्थात् शरद् ऋतु के अन्त) में करना चाहिये। देखें—'श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह।

रक्तमोक्षणम्—पित्त के ही कारण रक्त में भी उष्णता आ जाती है। इसकी शान्ति के लिये रक्तमोक्षण का शास्त्रीय आदेश है—'शरत्काले स्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति'। चरक सू० अ० २४। इसके लिये तिक्त घृतपान आदि का विधान किया गया है। इनसे सन्तोषजनक लाभ न होने पर ही रक्तमोक्षण करें।

—आतपस्य च वर्जनम् ॥ ४४ ॥

वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम्। क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातं चात्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

निषिद्ध आहार-विहार—शरद्-ऋतु में धूप के सेवन (धूप = घाम में बैठना), वसा (चरबी), तैल, ओस, औदक (उदक से उत्पन्न मछली आदि), आनूप, (जलप्रधान देश) के पशु-पक्षियों के मांस, क्षार, दही, दिन में सोना और प्राग्वात (पूरब से बहने वाली हवा) का सेवन त्याग देना चाहिये।

वक्तव्य—इस ऋतु में धूप में एक विशेष प्रकार की तेजी रहती है, अतः इसका सेवन न करें। शेष वस्तुओं के प्रयोग का निषेध इस लिये किया गया है कि ये पदार्थ प्रायः गुरु होते हैं और इस समय पाचकाग्नि दुर्बल रहती है। प्राग्वात में नमी रहती है, अतः यह रोगों को उत्पन्न कर देती है तथा कुछ पुराने सन्धिवात (Arthritis) तथा श्वास (Asthma) आदि रोगों को भी यह उभाड़ देती है। यथा—'मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च प्रवर्धते' ॥ चरक चि० अ० १७।

दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्। कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम् ॥ ४६ ॥
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि। स्नानपानावगाहेषु शस्यते तद्यथाऽमृतम् ॥ ४७ ॥

हंसोदक परिचय—दिन में सूर्य की किरणों से तपा हुआ, रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल, समय के परिपाक से सुपक्व अत एव निर्दोष जल और अगस्त्य के उदय होने के कारण जो विष (विकार) रहित हो गया हो उसे **हंसोदक** कहते है। शरद्-ऋतु का यह जल निर्मल अत एव पवित्र होता है। इसका प्रयोग नहाने, पीने तथा अवगाहन करने के लिये अमृत के समान होता है।

वक्तव्य—वर्षाऋतु में जल अभिनव रहता है। उसमें पार्थिव तत्व, भारीपन तथा देर में पचना आदि दोष होते हैं, और जल में कृमि, लूता सर्प आदि के कारण विषाक्तता रहती है। यही जल ऋतु परिवर्तन होने

पर काल प्रभाव से निर्दोष और अगस्त्य के उदय होने के कारण निर्विष हो जाता है। चरक का उक्त पाठ ही कुछ परिवर्तन द्वारा भावप्रकाश में इस प्रकार प्राप्त है। यथा—'शरत्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम्। दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः ॥ ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम्' ॥ भावप्र० वारिवर्ग ५।

हंसोदक—हंस शब्द सूर्य तथा पक्षिविशेष का वाचक है, अतः सूर्य की किरणों से शुद्ध (जिस प्रकार अग्नि के ताप से स्वर्ण शुद्ध होता है), अथवा हंस पक्षी के वर्ण के समान स्वच्छ जल को हंसोदक कहते हैं। अथवा वह जल जिसका वर्षाऋतु के पश्चात् शुद्ध होने पर हंस सेवन करते हों। **अंशूदक**—इस शब्द का भी प्रायः वही अर्थ है। अंशु=किरण उनसे शुद्ध जिसका उदक=जल।

शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च। शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ॥४८॥

प्रशस्त विहार—शरद्-ऋतु में उत्पन्न होने वाले फूलों की मालायें तथा निर्मल वस्त्रों का धारण करना इस ऋतु में उत्तम होता है और रात्रि के प्रथम प्रहर में चन्द्रमा की किरणों का सेवन करना स्वास्थ्यप्रद होता है।

वक्तव्य—शरद्-ऋतु में सायंकाल ही चन्द्रमा की किरणों का सेवन करना चाहिये। रात्रि में बाहर सोने से जो ओस पड़ती है, वह हानिकारक होती है। इस सम्बन्ध में वाग्भट की यह सूक्ति अविस्मरणीय है—'ऋत्वोरन्तादिसप्ताहाद् ऋतुसन्धिरिति स्मृतः। तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात्' ॥ अष्टांगसं० सू० अ० ४।६२। प्रथम ऋतु के अन्तिम सात दिन, आने वाली ऋतु के आरम्भ के सात दिन मिलकर ये ऋतुसन्धि कहे जाते है। इस काल में पूर्व ऋतुचर्या के नियमों का क्रमशः त्याग आने वाली ऋतु के नियमों का शनैः शनैः अभ्यास सुखावह होता है। सहसा परित्याग करने से असात्म्यज रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

सुश्रुत का मत—'सेव्या शरदि यत्नेन कषायस्वादुतिक्तकाः। [illegible]क्षुविकृतिक्षौद्रशालिमुद्गादिजाङ्गलाः। श्वेतस्रजश्चन्द्रपादाः प्रदोषे लघु चाम्बरम्। सलिलं च प्रसन्नत्वात् सर्वमेव तदा हितम् ॥ सरःस्वाप्लवनं चैव कमलोत्पलशालिषु। प्रदोषे शशिनः पादाश्चन्दनं चानुलेपनम् ॥ तिक्तस्य सर्पिषः पानैरक्तस्रावैश्च युक्तितः। वर्षास्पूचितं पित्तं हरेच्चापि विरेचनैः ॥ नोपेयात् तीक्ष्णमम्लोष्णं क्षारं स्वप्नं दिवातपम्। रात्रौ जागरणं चैव मैथुनं चापि वर्जयेत् ॥ स्वादुशीतजलं मेध्यं शुचिस्फटिकनिर्मलम्। शरच्चन्द्रांशुनिर्धौतमगस्त्योदयनिर्विषम् ॥ प्रसन्नत्वाच्च सलिलं सर्वमेव तदा हितम्। सचन्दनं सकर्पूरं वासश्चामलिनं लघु ॥ भजेच्च शारदं माल्यं सीधोः पानं च युक्तितः। पित्तप्रशमनं यच्च तच्च सर्वं समाचरेत् ॥ सु० उ० अ० ६४।१३-२०।

ऋतुचर्या सम्बन्धी अन्य निर्देश—१. 'हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान् न जातु ॥ चरक शा० अ० २।४५।

२. 'माधवप्रथमे मासि नभस्य प्रथमे पुनः। सहस्य प्रथमे चैव हारयेद् दोषसञ्चयम्' ॥ च. सू. अ. ७।४६।

३. 'निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः। प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः' ॥ चरक चि० अ० ३०।३१०।

४. 'जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः। श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम्' ॥ चरक चि० अ० ३०।३१२।

५. ऋतौ ऋतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः। घोरान् ऋतुकृतान् रोगान् नाप्नोति स कदाचन' ॥ सुश्रुत उ० अ० ६४।५५।

६. 'तामालोच्य प्रयुञ्जीत व्याधिकालबलाबलम्। शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् ॥ कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्'। सुश्रुत सू० अ० ३६।२१।

शारदश्रीः—'अथ प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा समाययावुत्पलपत्रलोचना। सपङ्कजा श्रीरिव गां निषेवितुं सहंसबालव्यजना शरद्वधूः'॥ सुभाषित।

उक्त छः ऋतुओं का संक्षिप्त कार्यक्रम

हेमन्तऋतु-चर्या—यह आदानकाल की प्रथम ऋतु है। इसमें शारीरिक बल उत्तम तथा जाठराग्नि तीव्र रहती है, अतः स्निग्ध एवं गुरु द्रव्यों का सेवन करना चाहिये। आनूपदेशज पशु-पक्षियों का मांस भक्षण करना चाहिये। भोजनोत्तर उत्तम कोटि की मदिरा, सीधु तथा मधु का सेवन करे। गोरस, गुड़, चीनी, खांड़, वसा, तेल, नये चावलों का भात तथा गरम जल का प्रयोग सुखद होता है। अभ्यङ्ग, स्वेद, धूप का सेवन,

उष्ण गृह में निवास, रुई से भरे गद्दे, लिहाफ, कम्बल, मृगचर्म, रेशमी, वस्त्रों का धारण, अगरु आदि सुगन्धित पदार्थों का अनुलेपन, आग का सेकना, प्रमदा स्त्री का आलिंगन प्रशस्त हैं। **अपथ्य**—वातवर्धक पदार्थों का सेवन अहितकर है।

शिशिर-ऋतुचर्या—शिशिर ऋतु में काल आदि की प्रकृति अधिकांश हेमन्त के अनुरूप ही होती है, अतः इन दोनों की चर्या समान है। इसमें रूक्षता तथा शीत की प्रतीति हेमन्त से अधिक प्रतीत होती है। अतः निवात स्थान अर्थात् आधुनिक उपकरणों से शीत-नियन्त्रित घर में निवास करे। पूर्वोक्त समस्त उष्णता प्राप्ति के उपकरणों का सेवन करे। **अपथ्य**—कटु, तिक्त, कषाय, वातवर्धक तथा शीतल पेय तथा भक्ष्य पदार्थ वर्जित हैं।

वसन्त-ऋतुचर्या—हेमन्तऋतु में संचित कफ इस समय प्रकुपित होकर पाचकाग्नि को मन्द कर देती है, फलतः शारीरिक बल मन्द पड़ जाता है। अतः वमनादि द्वारा कफ का निर्हरण करे। व्यायाम, उबटन, धूमपान कवलग्रह, अञ्जन, उष्णजल से स्नान, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन, पुराने जौ, गेहूँ, अन्न, खरगोश, हरिण, लाव, तीतर आदि का मांस, यौवन सुख का सामान्य लाभ, उपवनों के यौवन का पूर्ण लाभ, इस ऋतु में लें। **अपथ्य**—गुरु, मधुर, स्निग्ध, अम्ल अन्नपान तथा दिन में सोना हानिकर है।

ग्रीष्म-ऋतुचर्या—इस ऋतु में सूर्य अपनी किरणों द्वारा संसार के प्राणियों तथा द्रव्यों के स्नेह को खींच लेता है, अतः रूक्षता एवं शारीरिक दुर्बलता बढ़ जाती है। इस समय मधुर रस तथा शीतप्रधान अन्न-पान, चीनी मिले पानी में घुले सत्तू, घी एवम् दूध सहित शालिचावलों का भात, जांगलदेश के पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करें। यदि मद्यपान करना आवश्यक हो तो थोड़ा-सा मद्य में अधिक मात्रा में जल या सोडावाटर मिलाकर ही सेवन करें। दिन में शीतल-गृह (तापनियन्त्रित घर) में शयन करें। रात्रि में सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन कर छत के ऊपर सोयें। चन्दन के जल का छिड़काव किये हुए ताड़ के पंखे की हवा का आनन्द लें। बहुमूल्य रत्नाभूषणों को धारण करें। **अपथ्य**—अम्ल, लवण, कटुरसप्रधान अन्न-पान, विशेष व्यायाम तथा स्त्री-सहवास वर्जित है।

वर्षा-ऋतुचर्या—इस ऋतु में आदानकाल के तथा वायु के कारण जाठराग्नि दुर्बल हो जाती है, इसी के कारण शारीरिक बल में भी कमी आ जाती है। इसमें भूवाष्प से, बादलों के बरसने से, जल के अम्लविपाकवान् होने से और अग्निबल के क्षीण होने से वातदोष तथा इसके कारण अन्य दोष भी प्रकुपित हो जाते हैं। अतः वायु के शमन के लिये अम्ल, लवणरसप्रधान तथा स्निग्ध पदार्थों का सेवन करे। जौ, गेहूँ, पुराने शालिचावलों का सेवन जांगल पशु-पक्षियों के मांस-यूष के साथ करें। मधु का सेवन सब प्रकार लाभदायक होता है। अरिष्ट, आसव, सीधु का सेवन करें। वर्षाजल को शुद्ध करके लें। स्वच्छ हलके वस्त्र, उबटन, प्रघर्ष सुगन्धित द्रव्य तथा गन्धवाले फूलों की मालायें धारण करें। **अपथ्य**—जल में घोले हुए सत्तू, दिन में सोना, रात्रि में ओस में सोना, नदी का जल, व्यायाम, धूप का सेवन तथा स्त्री-सहवास निषिद्ध है।

शरद्-ऋतुचर्या—वर्षा ऋतु में संचित पित्त शरद् ऋतु के सूर्य की किरणों की ऊष्मा को सहसा पाकर प्रकुपित हो जाता है। अतः पित्त को शमन करने वाले अन्न-पान का प्रयोग करे। तिक्त-द्रव्यों से सिद्ध घी का पान करे। यदि इनसे भी शमन न हो तो विरेचन द्वारा पित्त को निकालने का प्रयत्न करे। इस समय जौ, गेहूँ, शालिचावलों के साथ जांगलप्रदेश के पशु-पक्षियों के मांस-रस का सेवन करे। इन दिनों रक्त भी कुपित हो जाता है। इसकी उत्तम चिकित्सा है—रक्तमोक्षण। **अपथ्य**—वसा, तैल, ओस, क्षार, दधि, दिन में सोना, प्राग्वात तथा अनूपदेश के प्राणियों का मांस-भक्षण त्याज्य है।

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्। उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं[1] तदुच्यते ॥४९॥

ओकसात्म्य (Acquired Homologation)—इस प्रकार (अग्निवेश) ने आहार तथा विहार से सम्बन्धित ऋतुसात्म्य का वर्णन कर दिया है। इसके पश्चात् अब ओकसात्म्य का उपदेश किया जायगा, जिसके अनुसार आहार-विहार का सतत सेवन करने से उपशय अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—सात्म्य उसको कहते हैं जो शरीर में उपकार के लिये शयन करे अथवा निवास कर ले।

---

१. गङ्गाधरस्तु 'ओकसात्म्यम्' इति पठति, ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम्।

सात्म्य का ही दूसरा नाम उपशय है। यह तीन प्रकार का होता है—१. प्रवर, २. अवर तथा ३. मध्य। पुनः यह विधिभेद से सात प्रकार का होता है। मधुर आदि रसों के भेद से ६ प्रकार का और सब रसों के योग से ७ वें प्रकार का। इसमें सब रसों का सेवन प्रवरसात्म्य है, केवल एक रस का सेवन अवरसात्म्य है और केवल एक रस या दो-चार रसों का सेवन मध्यसात्म्य है। अच्छा यह है कि मध्य और अवरसात्म्य को छोड़कर प्रवरसात्म्य का सेवन करें। चरक वि० अ० १। और भी देखें—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्', चरक सू० अ० २५। अर्थात् सभी रसों का अभ्यास बलवर्द्धक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ होता है और एक रस का अभ्यास दुर्बलकारक होता है।

संखिया, अफीम आदि के सतत सेवन से भी उन-उन पुरुषों को सात्म्य होते देखा गया है, जब कि ये द्रव्य दोष पूर्ण होते हैं। आजकल इस प्रकार के दुर्व्यसनों की आदत जिनको पड़ जाती है, उसे अंग्रेजी में Habit कह देते हैं, यह भी एक प्रकार का सात्म्य कहा जायगा। इस प्रकार की विषाक्त वस्तुओं का परित्याग वे सहसा नहीं कर सकते, जिनको ये द्रव्य सात्म्य हो चुके हैं।

देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च ॥५०॥

सात्म्य-वर्णन—देश एवम् रोगों के गुणों से विरुद्ध गुण वाले और विपरीत अर्थ को करने वाले समस्त चेष्टित (विहार) और आद्य (आहार) आदि उन-उन (देशों तथा रोगों) के लिये सात्म्य की परिभाषा को समझने वाले विद्वान् सात्म्य चाहते (कहते) हैं।

वक्तव्य—'सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः'। चरक नि० अ० १। अर्थात् सात्म्य का ही पर्यायवाचक शब्द 'उपशय' है। **माधवकर की दृष्टि में**—'हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्॥ विद्यादुपशयं व्याधेः, स हि सात्म्यमिति स्मृतः॥ अर्थात् हेतु (निदान) विपरीत, व्याधि (रोग) विपरीत, हेतु व्याधि विपरीत एवं विपरीत अर्थ (प्रभाव) को करने वाले औषध (हरीतकी, शुण्ठी आदि), अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चूष्य आदि पदार्थ), विहार (नहाना, घूमना आदि) के सुखदायक उपयोग को व्याधि का **उपशय** कहा गया है, इसी को **सात्म्य** भी कहते हैं। डाक्टर हैनिमैन की होमियोपैथिक चिकित्सा विपरीतार्थकारी चिकित्सा पद्धति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

यहाँ पर सात्म्य के चार भेदों का उल्लेख किया गया है—१. ऋतुसात्म्य, २. ओकसात्म्य, ३. देशसात्म्य, ४. रोगसात्म्य। ये चारों सात्म्य उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं। इन सबका विवेचन अष्टाङ्गसङ्ग्रहनि० अ० १। में विस्तार पूर्वक देखें।

तत्र श्लोकः—

ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किञ्चन। तस्याशितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च ॥५१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
तस्याशितीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—जो जिस ऋतु में मनुष्यों द्वारा (सेवन करने) योग्य हैं और जो (सेवन करने के) अयोग्य हैं अर्थात् प्रत्येक ऋतु में जो आहार-विहार पथ्य हैं अथवा अपथ्य हैं उनका यहाँ सकारण निर्देश किया गया है और अन्त में सात्म्य का वर्णन भी कर दिया गया है।

वक्तव्य—इस पद्य द्वारा तन्त्रकार ने प्रस्तुत अध्याय का उपसंहार करते हुए, अध्यायोक्त विषयों का संक्षेप में परिगणन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में तस्याशितीय नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातो न वेगान् धारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

तस्याशितीय नामक अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अब यहाँ से 'न वेगान् धारणीय' (वेगों को नहीं रोकना चाहिये) नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इससे पूर्ववर्ती पाँचवे तथा छठे अध्यायों में आहार-विहार का वर्णन किया गया है। उचित विधि से किया गया आहार रसादि सात-धातुओं का भलीभाँति पोषण करता है और उसका शेष अथवा सारहीन अंश मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकलना चाहता है, इनकी प्रवृत्ति जब होती है उस समय एक विशेष प्रकार के वेग = दबाव (Pressure) की अनुभूति होती है, इसको रोकना नहीं चाहिये। इसी विषय का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत है।

न वेगान् धारयेद् धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः। न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः[1] क्षवथोर्न च ॥३॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः। न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥४॥

अधारणीय वेगों का वर्णन (Description of Non-Suppressible Urges)—धीमान् (शास्त्रज्ञ) पुरुष को चाहिये कि वह निम्नलिखित मूत्र, पुरीष, वीर्य, अपानवायु, वमन, छींक, उद्गार (डकार), जँभाई, भूख, प्यास, आँसू, निद्रा और परिश्रम से उत्पन्न श्वास-उच्छ्वास के वेगों को न रोकें।

वक्तव्य—शास्त्र की आज्ञा का पालन सर्वथा करना ही चाहिये, फिर भी लोकव्यवहार तथा शिष्ट-परम्परा का ध्यान देने पर कुछ वेग ऐसे हैं जिनको रोक दिया जाता है अथवा रोकना उचित समझा जाता है। जैसे—यात्रा के समय छींक का वेग, ऐसी ही बात अपानवायु की भी है, विशेषतः नारी समाज तो इस वेग को रोकना ही उचित समझता है।

ऊपर श्रमजनित श्वास-उच्छ्वास का निर्देश किया है। इनका सम्बन्ध श्वासनलिका से है, अतएव वाग्भट ने 'कास' के वेग को न रोकने का भी आदेश दिया है। देखें—अ० हृ० सू० अ० ४। वाग्भट ने इस अध्याय का नाम 'रोगानुत्पादनीय' रखा है। इन्होंने अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय २२ श्लोक १९ में स्पष्ट किया है—**'न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्'**। अर्थात् मल-मूत्रादि के वेग उत्पन्न होने पर दूसरे किसी कार्य में न लगे क्योंकि सर्वप्रथम उस वेग से निवृत्त होना आवश्यक है।

प्रवाह, संचार, प्रवृत्ति अथवा गति का नाम वेग है। अपानवायु आदि के वेगों को रोकने से ही 'उदावर्त' नाम का भयंकर रोग होता है। उदावर्त का अर्थ होता है = ऊपर की ओर (उलटा) घुमाव। अर्थात् जिस ओर अपानवायु आदि को जाना चाहिये, उस ओर न जाने देना, वेगरोध का फल होता है।

चरक द्वारा निर्दिष्ट वेगरोधों के पृथक्-पृथक् उदावर्तों की चर्चा सुश्रुत ने इस प्रकार की है—अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः। न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः॥ वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गार-वमीन्द्रियैः। व्याहन्यमानरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते॥ क्षुत्तृष्णाश्वासनिद्राणामुदावर्तो विधारणात्। तस्याभिधास्ये व्यासेन लक्षणं च चिकित्सितम्॥ त्रयोदशविधश्चासौ भिन्न एतैस्तु कारणैः'॥ सु० उ० अ० ५५। उदावर्तों के सम्बन्ध में सुश्रुत से चरक का मत भिन्न है, इसको चरक के अष्टोदरीय नामक १९ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक देखें। इसमें चरक ने ६ उदावर्त पृथक्-पृथक् माने हैं, शेष ७ वें का वातज उदावर्त में समावेश कर लिया है।

एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये।
पृथक् पृथक् चिकित्सार्थं तान् मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥

उक्त वेगों के धारण से रोगोत्पत्ति—इन उपर्युक्त अधारणीय वेगों को उत्पन्न होने पर जो रोकता है, उसको जो-जो रोग उत्पन्न होते हैं, चिकित्सा के लिये उन-उन रोगों का वर्णन मैं कर रहा हूँ, तुम मुझसे सुनो।

[1] 'वम्याः' ग.।

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा । विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ६ ॥

मूत्रनिग्रह से होने वाले रोग—मूत्र के वेग को रोकने से मूत्राशय, मेहन (मूत्रेन्द्रिय) में शूल, मूत्रकृच्छ्रता (Dysuria = मूत्र का कष्ट से आना), शिरःप्रदेश मे पीड़ा, विनाम (वेदना के समय विशेष प्रकार से मूत्राशय को दबाकर झुक जाना) और वङ्क्षण प्रदेश का आनाह (मूत्राशय में मूत्र के भरे रह जाने के कारण होने वाली तनाव सम्बन्धी वेदना) ये लक्षण प्रकट होते हैं।

वक्तव्य—पेय पदार्थों का निस्सार द्रव मूत्राशय में मूत्र रूप में क्रमशः एकत्रित होता है। किसी प्रकार के विकार का दूर हो जाना या दूर कर देना ही स्वास्थ्य का लक्षण है। इसके विपरीत उस विकृति को रोकना अस्वास्थ्य का लक्षण है। **'बस्तिमेहनयोः शूलम्'** का तात्पर्य यह है कि बस्ति का जितना आकार (लम्बाई-चौड़ाई = व्यास) होगा, वहाँ तक तो उसमें मूत्र इकट्ठा होता रहेगा उसके बाद जो तनाव होने लगेगा, यही बस्ति और मूत्रेन्द्रिय के लिये शूल (कष्टप्रद) होता है।

मूत्रकृच्छ्रम्—चरक चिकित्सास्थान अ० २६ श्लोक ३२ में 'व्यायाम'' 'मिहाष्टौ' आदि जिन कारणों का उल्लेख मूत्रकृच्छ्र के लिये किया है, वे चिरकाल व्यापी लक्षण हैं किन्तु यह मूत्रकृच्छ्र मात्र वेगरोध के कारण ही हो जाता है। वृद्धावस्था में इसके लक्षण इस प्रकार देखे-सुने जाते हैं। मूत्र के वेग को रोकने के बाद पुनः मूत्रप्रवृत्ति तभी होती है जब मल (शौच) के लिये व्यक्ति तैयार होता है। इसके बिना मूत्र अलग से नहीं हो पाता। क्योंकि मूत्राशय का दबाव गुदा (Rectum) पर भी पड़ता है। इसके दबाव से अण्डकोष भी प्रभावित होते हैं। इसके विपरीत बाल्य तथा युवावस्था में इस प्रकार का मूत्रकृच्छ्र प्रायः नहीं देखा जाता।

विनामः—वेदना स्थान को पकड़ कर झुक जाना। **आनाहः**—आ उपसर्ग पूर्वक णहबन्धने धातु से घञ् प्रत्यय करने पर **आनाह** शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है मल अथवा मूत्र का निरोध (Binding or Constipation), इस आनाह को दूसरे शब्दों में तनाव (Tension) कहते हैं।

सुश्रुत का मत—'मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम्। मेढ्रे गुदे वङ्क्षणबस्तिमुष्कनाभिप्रदेशेष्वथवाऽऽदिमूर्ध्नि ॥ आनद्धबस्तिश्च भवन्ति तीव्राः शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमूर्तेः' ॥ सुश्रुत उ० तं० अ० ५५। इस पद्य में सुश्रुत ने उस सञ्चित मूत्र के वेग को रोकने से कांटा चुभने की-सी वेदना का वर्णन किया है। शल्यशास्त्र के आचार्य का यह वचन युक्तियुक्त है क्योंकि इन्होंने गर्भ को भी शल्य की संज्ञा दी है।

स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम्। मूत्रे प्रतिहते कुर्यात् त्रिविधं बस्तिकर्म च ॥ ७ ॥

चिकित्सा—मूत्र के वेग को रोकने से उत्पन्न मूत्राघात में स्वेदन (Fomentation) अवगाहन (Tub-bath) अभ्यङ्ग (Smearing with oil) करना, घी का अवपीडक के रूप में प्रयोग और तीन प्रकार का बस्तिकर्म करना चाहिये।

वक्तव्य—सामान्य रूप से स्वेदन, अवगाहन का प्रयोग मूत्र प्रवृत्ति के लिये और अभ्यंग तथा अवपीडक वेदना-शान्ति के लिये निर्दिष्ट है, स्वेदन से भी वेदना-शान्ति होती है।

अवपीडक परिचय—'मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्। जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम् ॥ अवपीडकमिति' ॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ४।८। अर्थात् मूत्रज रोगों में घृत का प्रयोग भोजन के पूर्व और भोजन के पच जाने पर, इस प्रकार दिन में दो बार जो किया जाता है, उसका नाम 'अवपीडक' है।

त्रिविधं बस्तिकर्म—इसका तात्पर्य है—१. आस्थापन, २. अनुवासन एवम् ३. उत्तरबस्ति का प्रयोग करें।

पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम्[1]। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद् विधारिते ॥ ८ ॥

पुरीषवेगाऽवरोधज रोग—मल (Stool) के वेग को रोकने से पक्वाशय तथा शिर में शूल, अपान-वायु का अवरोध और मल का न निकलना, जांघ की पिंडलियों में ऐंठन का होना तथा आध्मान (अफारा) रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से मल तथा मूत्राशय प्रदेश में स्थित वायु भी विलोम हो

१. 'वातवर्चोनिरोधनम्' ग.।

जाता है। अर्थात् जिस अपानवायु को गुद-मार्ग से निकलना चाहिये था तथा मल-मूत्र को नीचे के मार्ग की ओर प्रवृत्त करना चाहिये था वह वायु अब (वेगों को रोकने पर) ऊर्ध्वगामी होकर किन-किन विकारों को उत्पन्न करता है, भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'आटोपशूलौ परिकर्तनं च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः। पुरीषमास्यादपि वा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य' ॥ सु० उ० तं० अ० ५। अर्थात् पुरीष के वेग को रोकने से आध्मान (अफारा), शूल, काटने की-सी पीड़ा, मल का गुद-मार्ग से अवरोध (रुकावट), अपान वायु का ही डकार के रूप में निकलना, इसी के वेग के साथ कभी-कभी मल भी मुख मार्ग से निकलने लगता है। यह अत्यन्त कष्टप्रद स्थिति होती है।

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च वर्तयो बस्तिकर्म च। हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रमाथि[1] च ॥ ९ ॥

चिकित्सा—पुरीष के वेगों को रोकने से होने वाले रोगों में स्वेदन, अभ्यङ्ग (तेल-मालिश), अवगाहन, वर्तिप्रयोग (Suppositories), बस्तिकर्म (Enema) और प्रमाथी (मल को मथकर = ऊपर गये मलों को अधोमार्ग की ओर प्रवृत्त = अनुलोमन) करने वाले अन्न-पान की व्यवस्था करें।

वक्तव्य—जो द्रव्य अपनी शक्ति से शरीर में से संचित दोषसमूह को निकाल बाहर कर देता है, उस द्रव्य को 'प्रमाथी' कहते हैं। यथा—मरिच और वच। शार्ङ्गधर पू० खं० अ० ४।२३।

मेढ्रे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा। भवेत् प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च ॥ १० ॥

शुक्रवेगाऽवरोधज रोग—शुक्र के वेग को रोकने से मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) और वृषणों (अण्डकोषों) में शूल, शरीर में जोर से दबा देने की-सी पीड़ा, हृदय में वेदना तथा मूत्र में विबद्धता हो जाती है। अर्थात् मूत्र वेग के साथ नहीं निकल पाता।

वक्तव्य—शुक्र की प्रवृत्ति चरक के अनुसार निम्नलिखित आठ कारणों से होती है—'हर्षात् तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते। चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते' ॥ चरक चि० अ० २ पा० ४।४८-४९।

शुक्र का स्वरूप—'स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा' ॥ सुश्रुत शा० अ० २।११। शुद्ध शुक्र स्फटिकमणि के समान सफेद, द्रव, स्निग्ध, रस में मधुर और मधु की-सी गन्धवाला होता है। दूसरे आचार्य तेल और मधु के समान वर्ण वाला मानते हैं।

वात्स्यायन-कामसूत्र में केवल शुक्रक्षरण के लिये जो मैथुन किया जाता है, उसको **'विसृष्टि सुख'** कहा गया है। इस कार्य के लिये प्रवृत्त पुरुष किसी प्रकार की बाधा पड़ने पर बीच में ही शुक्र के वेग को रोक लेते हैं अथवा चिरकाल तक योनि स्पर्श सुख प्राप्ति की कामना से भी शुक्र के वेग को रोकने का प्रयास किया जाता है, ये सब प्रवृत्तियाँ हानिकारक होती हैं। ये शुक्रनिरोधज विकार न केवल पुरुषों को अपितु स्त्रियों को भी होते हैं। देखें—सु० शा० अ० २।४७।

आधुनिक विचार—११ वर्ष की आयु से १४ वर्ष तक की अवस्था के बीच इस अण्ड (Sex Glands) सम्बन्धी सूक्ष्म रस की उत्पत्ति होने लगती है। इसी के कारण इस बीच क्रमशः यौवन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अर्थात् जननेन्द्रिय, अण्ड, प्रोटेस्ट आदि की वृद्धि होने लगती है। इसी सूक्ष्म रस से कोष्ठ में से अण्डों की अण्डकोष में उतरने की प्रवृत्ति होती है। वास्तव में यौवन के लक्षण १२ वें वर्ष से आरम्भ होकर १७-१८ वर्ष तक तीव्र गति से दिखलायी देते हैं।

पुरुष की अण्ड-ग्रन्थियों की वक्राकृति नालियों (Convoluted Tubes) के अन्दर उपकला (Epithelium) के सेलों के विकसित होने से वीर्यकण (Spermatozoa) उत्पन्न होते हैं और अपवाही वाहिनियों (Efferent ducts) अथवा अधिवृषणिकाओं (Epididymis) में जमा होते रहते हैं। वीर्यद्रव एक अल्ब्यूमिन प्रकृति का द्रव होता है। वीर्य के कणों की उत्पत्ति अग्रिम पिट्यूटरी के पुटक उद्दीपक हार्मोन (Follicle Stimulating Hormone) के अधीन होती है।

वंश संचालन के निमित्त विवाह, उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये शास्त्रीय विधि से स्त्री-पुरुष का परस्पर सहवास प्रशंसनीय होता है। इसके विपरीत भोग-विलासमय जीवन के हानि-लाभ का दायित्व व्यक्ति पर निर्भर करता है। ऐसी ही स्थिति में शुक्र के वेग के रुकने अथवा रोकने की संभावना हो सकती है। इस प्रकार

१. प्रमाथि अनुलोमनम्।

के शुक्र-वेग-रोध का प्रभाव शुक्रप्रणाली, वृषणग्रन्थि तथा पौरुषग्रन्थियों पर पड़ सकता है। तथा समीपवर्ती अन्य अवयवों में भी पीड़ा आदि का अनुभव होता है। शुक्र का गाढ़ा और चिकनापन मूत्र की प्रवृत्ति में भी बाधा उपस्थित कर देता है। हस्तमैथुन आदि अप्राकृत कुरीतियों से प्रमेह आदि विकार भी अविवाहित तथा विवाहित जीवन में इसके कारण होते देखे जाते हैं।

सुश्रुत का मत--'मूत्राशये पायुनि मुष्कयोश्च शोफो रुजो मूत्रविनिग्रहश्च। शुक्राश्मरी तत् स्रवणं भवेद् वा, ते ते विकारा विहते तु शुक्रे'॥ सु० उ० तं० अ० ५५।१५॥ शुक्र के वेग को रोकने से मूत्राशय, गुद और अण्डकोषों में सूजन, विविध प्रकार की पीड़ायें, मूत्र में रुकावट, शुक्राश्मरी, शुक्र का क्षरण, हृदय-पीड़ा, अङ्गमर्द आदि विकार होते हैं।

तत्राभ्यङ्गोऽवगाहश्च मदिरा चरणायुधाः। शालिः पयो निरूहश्च शस्तं मैथुनमेव च ॥११॥

चिकित्सा--शुक्र के वेग को रोकने से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा के लिए अभ्यङ्ग, अवगाहन, मदिरा-पान, कुक्कुट (मुर्गा का) मांस, शालिचावल एवम् दूध का सेवन, निरूहण (आस्थापन) वस्ति का प्रयोग करें तथा इस स्थिति में मैथुन करना हितकर है।

वक्तव्य—शुक्र के वेग को रोकने से जो उदावर्त हो जाता है, उसमें वस्ति को शुद्ध करने वाले पञ्चतृण-मूल आदि द्रव्यों का प्रक्षेप देकर दूध से चार गुना में दूध का पाक करे। जब पानी जल जाय केवल दूध बच जाय तब उसको पीकर प्रिय पत्नी के साथ रमण करे। इससे विपरीत मार्ग की ओर प्रवृत्त शुक्र प्रिय (अनुकूल स्वभाव वाली) पत्नी के अंगस्पर्श से अनुलोम हो जाता है। सु० सू० अ० ५५। इसी का समर्थन वाग्भट ने भी किया है—**'वस्तिशुद्धिकरः सिद्धं भजेत् क्षीरम्'**। अष्टांगसंग्रह सू० अ० ५।

शस्तं मैथुनमेव च--वास्तव में मैथुन शब्द से नर-नारी (मिथुन) का बोध होता है। क्योंकि पुरुष की भांति स्त्री में भी शुक्र होता है। देखिये—'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यः शुक्रमन्योन्यमन-स्थिस्तत्र जायते'। सुश्रुत शारीरस्थान अ० २।४७। उसका वेग रोकने से स्त्रियों को भी वे ही हानियां होती हैं या हो सकती हैं जिनका वर्णन पुरुषों के लिये ऊपर किया गया है। अतः उक्त चिकित्सा समान रूप से स्त्री तथा पुरुष के लिये लाभकारक होती है। अतः शुक्र के वेग को रोकने का दुष्परिणाम मिथुन (स्त्री तथा पुरुष) को भोगना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य का महत्व नर-नारी दोनों के लिये समान है। देखें—सुश्रुत शा० अ० २।२८। इस स्थिति में मैथुन शब्द से दोनों का ग्रहण अवश्य ही करना चाहिये।

सङ्गो विण्मूत्रवातानामाध्मानं वेदना क्लमः। जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥१२॥[1]

अपानवायुवेगरोधज रोग—अपानवायु (मल-वात) के वेग को रोकने से वात (अपानवायु Flatus) मल, मूत्र का अपने-अपने मार्गों से प्रवृत्त न होना, आध्मान (पेट का फूलना), क्लम (थकावट) का प्रतीत होना, उदर में पीड़ा और वात सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में मूत्र, पुरीष की प्रवृत्ति में वात ही प्रधान कारण होता है। जब यही विलोम अथवा विकृत हो जायगा तो मूत्र, पुरीष अपने स्वभाव के अनुसार जड़, अचल तथा गतिहीन हो जायेंगे। और जब यह वायु उदावर्त का रूप धारण कर लेगा, ऐसी स्थिति में डकार के रूप में अपानवायु मुख से निकलने लगेगा। उसका वर्णन सुश्रुत में इस प्रकार उपलब्ध है—'आध्मानशूलौ हृदयोपरोधं शिरोरुजं श्वासमतीव हिक्काम्। कासप्रतिश्यायगलग्रहांश्च बलासपित्तप्रसरं च घोरम्॥ कुर्यादपानोऽभिहतः स्वमार्गे हन्यात् पुरीषं मुखतः क्षिपेद् वा'॥ सु० उ० तं० अ० ५५।७॥ आप ध्यान दें—यह कितनी दुःखद स्थिति होगी जब मुख से मल, मूत्र तथा अपानवायु निकलने लगेगी। अतः मल-मूत्र आदि के वेगों का विरोध कभी न करें।

अपानवायु—वस्तिस्थान (Pelvis) में स्थित उस वायु को, जो मल-मूत्र को प्रवृत्त करता है, अर्थात Cerebropudendal Nerve Path में स्थित है, अपानवायु कहते हैं।

वातजाश्चान्ये रोगाः--उक्त श्लोक में कुछ वातज विकारों का उल्लेख करने के बाद पुनः वातज रोग कहने का तात्पर्य है कि कुछ रोग सीधे तथा कुछ परम्परया हो जाते हैं। जैसे—शूल, आटोप, आनाह, विविध प्रकार के अजीर्ण एवम् अग्नि की विषमता आदि रोगों में वात का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

१. 'वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा' ग.।

स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च। पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥१३॥

चिकित्सा--अपानवायु के वेग को रोकने से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, ग्लिसरीन आदि की वर्तिका प्रयोग, वायु को अनुलोम करने वाले अन्न-पान का सेवन तथा वातहर बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये।

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥१४॥

वमनवेगनिरोधज-रोग--छर्दि (वमन) के वेग को रोकने से कण्डू (खुजली), कोठों की उत्पत्ति (शरीर पर छोटे-छोटे चकत्तों का हो जाना), अरुचि (भोजन के प्रति अथवा प्रत्येक दैनिक कार्य के प्रति), व्यङ्ग (चेहरे पर झांइयों का पड़ जाना) शोथ (सूजन), पाण्डुरोग (Anaemia), ज्वर, कुष्ठ (Skin diseases), हृल्लास = जी मिचलाना (Nausea) और विसर्प (Erysipelas) रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य--'प्रच्छर्दिका वमिश्च स्त्री पुमांस्तु वमथुःसमाः'। इति अमरः। छर्दि, वमि, वमन, वमथु ये शब्द समानार्थक हैं। 'वरटीदष्टसंस्थान' अर्थात् वर्रे के काटी जगह पर जो सूजन हो जाती है, उसे 'कोठ' कहा गया है। देखें—माधवनिदान का 'शीतपित्तोदर्दकोठनिदान' प्रकरण।

सुश्रुत का मत—'छर्देर्विघातेन भवेच्च कुष्ठं येनैव दोषेण विदग्धमन्नम्'। सु० उ० त० अ० ५५।१४। अर्थात् छर्दि के वेग को रोकने से जिस दोष के कारण अन्न विदग्ध हुआ होता है, उसी दोष की अधिकता वाला कुष्ठ उत्पन्न होता है। चकार से अरोचक आदि रोगों का ग्रहण करें। इस दृष्टिकोण से ऊपर की पंक्ति में निर्दिष्ट कोठ शब्द को **मण्डलकुष्ठ** का भी सूचक मानना चाहिये।

वाग्भट का मत—विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः। सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः'॥ अष्टांगहृदय सू० अ० ४। इस प्रकार वाग्भट ने कुछ अधिक रोगों की गणना छर्दिनिग्रह से स्वीकार की है। इससे अधिक युक्ति-युक्त वचन सुश्रुत का प्रतीत होता है, क्योंकि उसने रोगों को प्रधानता न देकर **'येनैव दोषेण विदग्धमन्नम्'** कहकर दोष की प्रधानता सिद्ध की है और उस दोष की विकृति से जो भी रोग सम्भव हो या हो सकता है, यह सारगर्भ वचन है।

भुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमो लङ्घनं रक्तमोक्षणम्।
रूक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्र शस्यते ॥ १५ ॥

चिकित्सा—वमन के वेग को रोकने से उत्पन्न रोगों में भोजन कराकर तत्काल वमन कराना, धूमपान, लंघन (पूर्ण उपवास अथवा लघु भोजन), रक्तमोक्षण (जोंक, तुम्बी, पच्छ आदि द्वारा रक्त को निकालना), रूक्ष पदार्थों का खाने-पीने में सेवन, व्यायाम तथा विरेचन कराना शुभ होता है।

वक्तव्य—'भुक्त्वा प्रच्छर्दनम्'—इस क्रिया में सावधानी इस बात की रखें कि जिस भोजन का तत्काल वमन कराना है, उसमें नमक, मिर्च आदि स्वरयन्त्र को बाधा पहुँचाने वाले पदार्थ न डालें और इसके बाद ही धूमपान का उल्लेख चरक सूत्रस्थान अ० ५ में निर्दिष्ट **'स्नात्वा भुक्त्वा'** आदि पद्य का स्मरण करा रहा है।

सुश्रुत का मत—'छर्द्याघातं यथादोषं सम्यक् स्नेहादिभिर्जयेत्। सक्षारलवणोपेतमभ्यङ्गं चात्र दापयेत्'॥ सु० उ० तं० अ० ५५।३१। सुश्रुत के इस संक्षिप्त निर्देश के अनन्तर वाग्भट का मत उद्धृत किया जा रहा है—'गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः। व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम्॥ सक्षारलवणं तैलम-भ्यङ्गार्थं च शस्यते'॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ४।१९।

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद् विधारणात् ॥ १६ ॥

क्षवथुवेगनिरोधज रोग—क्षवथु (छींक) के वेग को रोकने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित (Facial Paralysis), अर्धावभेदक (Hemicrania) तथा ज्ञानेन्द्रियों में कमजोरी आ जाती है।

वक्तव्य—छींक ऊर्ध्वजत्रु सम्बन्धी वेग है। इसको रोकने से तत्सम्बन्धित सभी अवयव प्रभावित होते हैं। क्योंकि अधिकांश ज्ञानेन्द्रियाँ जत्रुसन्धि के ऊपरी भाग में हैं। अतएव **'इन्द्रियाणां च दौर्बल्यम्'** कहा गया है।

स्थित है। त्वचा तो सम्पूर्ण शरीर के आवरण के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। इस भाग में मन्या, अपाङ्ग, स्थपनी, अधिपति, आवर्त, उत्क्षेप, शंख नाम के मर्म भी हैं। छींक के वेग को रोकने से इनमें विकार आना भी स्वाभाविक है। अतः इसके वेग को रोकना नहीं चाहिये।

क्षवथु (छींक) की उत्पत्ति—नासिका में स्थित शृंगाटक नामक मर्म के दूषित होने पर वायु कफ से मिलकर बहुत बार शब्द के साथ नासिका से निकलती है, इस रोग का नाम छींक है। इसकी सम्पुष्टि सुश्रुत के शब्दों में देखें—'घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकया निरेति। कफानुयातो बहुशः स शब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः' ॥ सु० उ० तं० अ० २२।११।

तीक्ष्ण पदार्थों को खाने, सूंघने से, सूर्य की ओर देखने तथा नाक में सींक या कोई कड़ा पदार्थ डालने से जो छींक आती है, उसे आगन्तुज छींक कहते हैं। इसी के एक भेद को **'भ्रंशथु'** कहते हैं। देखें सुश्रुत उ० तं० अ० २२।

सुश्रुत के उ० तं० अ० ३९ ज्वरमुक्त के लक्षणों में छींक का आना भी वर्णित है। अर्थात् छींक का आना सिर के भारीपन का होना सूचित करता है। छींक के वेग को रोकने से होने वाले विकारों का वर्णन सुश्रुत में इस प्रकार दिया है—'भवन्ति गाढं क्षवथोर्विघाताच्छिरोक्षिनासाश्रवणेषु रोगाः। कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव-तोदः कूजश्च वायोरुत वा प्रवृत्तिः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५।१३।

फलित ज्योतिष में छींक के आधार पर शुभाऽशुभ शकुनों का निर्धारण भी किया गया है, इसलिये भी इसके वेग को नहीं रोकना चाहिये। यथा—'छिक्का प्रश्नं प्रवक्ष्यामि पूर्वस्यामशुभं फलम्। आग्नेय्यां शोक-दुःखं स्यादरिष्टं दक्षिणे तथा ॥ नैर्ऋत्यां च शुभं प्रोक्तं पश्चिमे मिष्टभक्षणम्। वायव्ये धनलाभस्तु चोत्तरे कल-हस्तथा ॥ ईशान्यां च शुभं ज्ञेयमात्मच्छिक्का महद्भयम्। ऊर्ध्वे चैव शुभं ज्ञेयं मध्ये चैव महद्भयम्' ॥

शुभ छिक्का—आसने शयने चैव दाने चैव तु भोजने। वामाङ्गे पृष्ठतश्चैव षट् छिक्काश्च शुभावहाः' ॥ ज्योतिषसारः।

तत्रोर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदो धूमः सनावनः।
हितं वातघ्नमाद्यं[1] च घृतं चोत्तरभक्तिकम् ॥ १७ ॥

चिकित्सा—छींक के वेग को रोकने से उत्पन्न विकारों में जत्रुसन्धि के ऊपरी भागों में अभ्यङ्ग (मालिश), स्वेदन, धूमपान, नस्य प्रयोग, वातनाशक उपचारों तथा अन्न-पानों का सेवन और भोजन के बाद घी पिलाना हितकर होता है।

वक्तव्य—धूमपान तथा नस्य सेवन के जिन लाभों का वर्णन पूर्व प्रसङ्गों में किया गया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही विधियाँ ऊर्ध्वजत्रुविकारों के प्रशमन के लिये प्रशस्त एवम् चिकित्सक समाज में सर्वत्र आदृत हैं।

आद्यम्—यद्यपि संस्कृत साहित्य में **'आद्य'** शब्द 'आदौ भवम् आद्यम्' प्रथम (First) अर्थ का बोधक है किन्तु चरक ने इसका प्रयोग खाद्य (Food) अर्थ में किया है। इसकी व्युत्पत्ति पाणिनीय व्याकरण से इस प्रकार की जा सकती है—'अत्तुं योग्यम्', अद् धातु से ण्यत् प्रत्यय करने से 'आद्य' शब्द निष्पन्न होगा।

सुश्रुत का मत—'तीक्ष्णाञ्जनावपीडाभ्यां तीक्ष्णगन्धोपशिङ्घनैः। वर्तिप्रयोगैरथवा क्षवसक्तिं प्रवर्तयेत् ॥ तीक्ष्णौषधप्रधमनैरथवाऽऽदित्यरश्मिभिः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५।२९।

वाग्भट का मत—'तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः। प्रवर्तयेत् क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शील-येत्' ॥ अष्टांगसं० सू० अ० ४।

हिक्काः श्वासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः।
उद्गारनिग्रहात् तत्र हिक्कायास्तुल्यमौषधम् ॥ १८ ॥

उद्गारवेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—उद्गार (डकार) को रोकने से होने वाले रोग—हिक्का = हिचकी (Heccup), कास (Cough), अरुचि, कम्प (कांपना) हृदय तथा उरस् (छाती) का भारी-सा प्रतीत होना। इनकी चिकित्सा हिक्का रोग के समान होती है, जो यथास्थान कही जायगी।

---

१. माद्यमन्नम्।

वक्तव्य—उदानवायु का स्थान कण्ठप्रदेश है। यथा—'उदानः कण्ठदेशे स्यात्'। इसी कारण उद्गार की प्रवृत्ति होती है। सुश्रुत में उक्त विकारों को 'उद्गार के वेग को रोकने से प्रकुपित वायु के विकार' स्वीकार किया गया है। यथा—कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः। उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५।

वाग्भट का मत—'उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः। आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत् तत्र भेषजम्' ॥ अष्टांगहृ० सू० अ० ४। इन्होंने **हिक्का** को **हिध्मा** लिखा है।

विनामाक्षेपसङ्कोचाः सुप्तिः कम्पः प्रवेपनम्।
जृम्भाया निग्रहात् तत्र सर्वं वातघ्नमौषधम् ॥ १९ ॥

जृम्भावेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—जँभाई के वेग को रोकने से होने वाले रोग—विनाम (शरीर के अंगों में विशेष झुकाव अर्थात् एक प्रकार की ऐंठन), आक्षेप (Convulsion), संकोच (सिकुड़न) सुप्तिवात (स्पर्श का अनुभव न होना), कम्पवात (काँपना) और (शिर आदि का) विशेष काँपना होते हैं। **चिकित्सा**—इसमें सभी प्रकार के वातनाशक आहार-विहार तथा औषध प्रयोग करें।

वक्तव्य—जँभाई के रोकने से जिन रोगों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सब वातप्रधान रोग हैं। क्योंकि 'जृम्भा' भी उदानवायु का ही एक विकार है। अतः इनकी चिकित्सा के लिये वातनाशक औषधद्रव्यों तथा आहार-विहार का प्रयोग समीचीन है। सुश्रुत में और भी अधिक विकारों की चर्चा की गयी है। यथा—'मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा, जृम्भोपघातात् पवनात्मकाः स्युः। श्रोत्राननघ्राणविलोचनोत्था भवन्ति तीव्राश्च तथा विकाराः'। सु० उ० तं० अ० ५५।११।

वाग्भट ने सूत्र रूप में निर्देश किया है कि छींक रोकने से जो रोग होते हैं (कहे गये हैं) उन्हीं के अनुसार जम्भाई को रोकने से भी रोग हो सकते हैं। यथा—'जृम्भायाः क्षववद् रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः' ॥ अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ४।१६।

कार्श्य-दौर्बल्य-वैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः ।
क्षुद्वेगनिग्रहात् तत्र स्निग्धोष्णं लघु भोजनम् ॥ २० ॥

क्षुधावेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—भूख के वेग को रोकने से उत्पन्न रोग—कृशता, दुर्बलता, वैवर्ण्य (चेहरा का निस्तेज = फीका फीका दिखलायी देना), अंगमर्द (शरीर के अवयवों में पीड़ा का होना) अरुचि और भ्रम (चक्करों का आना) होते हैं। **चिकित्सा**—उक्त रोगी को स्निग्ध (घी-तेल आदि से बने हुए), उष्ण (गरम) और हल्का भोजन देना चाहिये।

वक्तव्य—कार्श्य, दौर्बल्य तथा वैवर्ण्य समय पर विधिवत् यथायोग्य भोजन न करने वाले व्यक्ति में होना स्वाभाविक ही है। किन्तु भूख को अरुचि का होना कुछ विचित्र-सा लगता है, परन्तु यह सर्वथा सत्य है। जो व्यक्ति प्रतिदिन जिस समय भोजन करने की अपनी आदत डाल लेता है, वही उसके भोजन का वास्तविक समय होता है। यदि उस समय उसको भोजन नहीं मिलता तो उसकी बुभुक्षा (भोजन की इच्छा) मारी जाती है। उसके बाद वह उतनी रुचि के साथ भोजन नहीं कर पाता, यही अरुचि है।

भूख के वेग को रोकने से पित्त तथा वायु प्रकुपित हो जाते हैं। इनका अनुलोमन करने के लिये स्निग्ध और उष्ण भोजन की व्यवस्था शास्त्र ने दी है, किन्तु शास्त्र उस बुभुक्षित को सावधान भी करता है कि वह स्निग्ध-उष्ण पदार्थों को पाकर अधिक भोजन न कर बैठे। जैसा भूखे या निमन्त्रित व्यक्ति कर बैठते हैं।

भोजन की महिमा सब जानते हैं। संसार का समस्त व्यवहार भोजन के लिये है। उसमें भी अन्न के सम्बन्ध में तो अनेक सूक्तियाँ प्रचलित हैं। गीता में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। अन्यत्र भी देखें—**'कलौ अन्न-गताः प्राणाः'**, **'अन्ने सर्वं प्रतिष्ठितम्'**, **'अन्नमयो हि पुरुषः'** तथा **'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'**। इस प्रकार अन्न की महिमा है। समय पर इसके न मिलने से उपर्युक्त स्थिति का होना स्वाभाविक ही है।

इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि के विचार—'तन्द्राङ्गमर्दावरुचिभ्रमश्च क्षुधो विघातात् कृशत्वं च दृष्टेः'। सुश्रुत उ० तं० अ० ५५। वाग्भट ने प्रायः चरक का ही अनुकरण किया है—'अङ्गभङ्गाऽरुचिग्लानिकार्श्य-शूलभ्रमाः क्षुधः। तत्र योग्यं लघुस्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्' ॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ४।

कण्ठास्यशोषो बाधिर्यं श्रमः सादो हृदि व्यथा ।
पिपासानिग्रहात् तत्र शीतं तर्पणमिष्यते ॥ २१ ॥

पिपासावेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—पिपासा = प्यास (Thirst) को रोकने से गला तथा मुख का शोष (सूखना) बाधिर्य (बहरापन), थकावट, अवसाद एवम् हृदय में पीड़ा आदि रोग होते हैं। **चिकित्सा**—प्यास को रोकने के कारण उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में शीतल एवं तृप्तिकर पेय पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। कहीं **'सादः'** के स्थान पर **'श्वासः'** पाठ है, यह भी ठीक है।

वक्तव्य—'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'। इसी वचन का सर्वत्र आदर देखा जाता है। अर्थात् जिसको भूख के वेग को रोकने से कष्ट है उसको स्निग्ध-उष्ण भोजन दें, जिसको प्यास के रोकने से कष्ट है उसको शीतल शरबत, सत्तू आदि का घोल पीने को दें। उचित ही है।

सुश्रुत का मत—'कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाभिघाताद्धृदये व्यथा च'। सु० उ० तं० अ० ५५।१६। **चिकित्सा**—'तृष्णाघाते पिबेन्मन्थं यवागूं वापि शीतलाम्'। सु० उ० तं० अ० ५५।३४।

वाग्भट का मत—'शोषाङ्गसादबाधिर्यसंमोहभ्रमहृद्गदाः। तृष्णाया निग्रहात् तत्र शीतः सर्वो विधिहितः' ॥ अष्टांगहृ० सू० अ० ४।११।

शरीर से मूत्र तथा स्वेद के रूप में जलीयतत्व निकलते रहते हैं। इसकी पूर्ति का एक मात्र साधन जल का पीना अथवा जलीय अंश प्रधान पेयों का सेवन करना है। इसका संकेत हमको पिपासा=प्यास (Thirst) से प्राप्त होता है कि हमारे शरीर में उपयुक्त जल की मात्रा कम हो गयी है। यदि उस समय हम उसकी यथोचित पूर्ति नहीं करते तो उक्त बाधायें उपस्थित होती हैं।

प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रमः ।
बाष्पनिग्रहणात् तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥ २२ ॥

बाष्पवेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—बाष्पों (आँसुओं) को रोकने से होने वाले रोग—प्रतिश्याय (जुकाम), नेत्र सम्बन्धी रोग, हृद्रोग या हृदय सम्बन्धी रोग, अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा) और भ्रम (सिर में चक्करों का आना) होते हैं। **चिकित्सा**—सुख शयन, मद्यपान और मन को आनन्दित करने वाली प्रियकथाओं का सुनना।

वक्तव्य—प्रत्येक नेत्र से जितना क्षेत्र दृष्टिगोचर होता है, उसे दृष्टि-क्षेत्र (Visual field) कहते हैं। इसको बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है। इसी प्रकार दृष्टि नाड़ी से बने हुए दृष्टि-पटल (Retina) को भी उक्त प्रकार से विभक्त किया है। इस दृष्टिपटल में से निकले हुए प्रथम दृष्टि-सूत्र इसी में रह जाते हैं और दूसरे दृष्टि-सूत्र दृष्टि-नाड़ी (Optic nerve) के रूप में नेत्र से निकलकर पीछे की ओर जाते हैं। इस दृष्टि-क्षेत्र का ही एक भाग अश्रुग्रन्थि (Lacrymal gland) भी है। इसी से आँसुओं का निर्माण होता है। इन अश्रुओं का क्रमिक स्राव नेत्रस्थ कला को नीला किये रहता है। यह अश्रुग्रन्थि अक्षिगुहा (Orbital cavity) के बाहरी तथा ऊपरी भाग में रहती है। ये अश्रुग्रन्थियाँ छोटी बड़ी भेद से दो प्रकार की होती है। इनसे निकलने वाली प्रायः १२ नलिकायें होती हैं। इनसे निकले हुए अश्रुस्राव से ही अक्षिकला (Cunjunctiva) गीली (तर) रहती है। उक्त नलिकायें अश्रुप्रणाली (Canalicule) के माध्यम से अश्रु-गुहा (Lacrymal-sac) में प्रवेश करने के पश्चात् नासाश्रु-नलिका (Naso Lacrymal duct) द्वारा नासिका में पहुँच जाते हैं। जो किसी प्रकार की विकृति को पाकर प्रतिश्याय आदि नेत्र सम्बन्धी विकारों के कारण हो जाते हैं।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण—सुश्रुत शारीरस्थान अ० ५ में **'द्वे नेत्रयोः'** लिखकर नेत्र मण्डल में दो मांसपेशियों का होना बतलाया गया है। मांस के अतिरिक्त नेत्रपटल भी पार्थिव-तत्व-प्रधान होते हैं। उक्त दो पेशियाँ नेत्र-बुद्बुद की हैं। रक्त एवं पीतबिन्दु अग्नितत्व से निर्मित हैं। अन्य की अपेक्षा पीतबिन्दु में देखने की शक्ति सबसे अधिक होती है। (देखें—हमारे शरीर की रचना अ० २३)। कृष्णमण्डल में जो कालिमा दीखती है वह वायुतत्व से निर्मित है। श्वेत-मण्डल की सफेदी जल तत्व का प्रमुख भाग है। उसमें जा स्रोतस् हैं, जिनमें से होकर रक्त एवं अश्रुरूप जल बहते हैं, वे आकाशतत्व के भाग हैं। इस प्रकार यद्यपि नेत्र भी पाञ्चभौतिक है, तथापि इसमें अग्नितत्व (तेजस्) गुण अधिक है।

आधुनिक विचार—आधुनिक दृष्टिकोण से प्रतिश्याय के भेद—१. तीव्र प्रतिश्याय (Common clod, Acute Coryza, Cold in the head) २. वातिक प्रतिश्याय (Allergic Rhinitis, Nervous Rhinitis, Hay Fever and Vaso Motor Rhinitis) ३. जीर्ण प्रतिश्याय अथवा चिरस्थायी प्रतिश्याय (Chronic Rhinitis) ४. शुष्कवातिक प्रतिश्याय (Atrophic Rhinitis)।

आँसू आँखों का सहेतुक (सुख-दुःख आदि में) होने वाला स्राव है। अथवा सुख-दुःख को नेत्रों से प्रकट करने का माध्यम आँसू हैं। भय आदि कारणों से जब मानव अपनी मानसिक इच्छा को दबा देता है, अथवा दूसरा मेरे हृद्गत भावों को न जान सके इस अभिप्राय से आँसुओं के वेग को रोक देता है तो उक्त व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि उत्पन्न आँसुओं को निकल जाने देता है, तो आँखों तथा हृदय को सुख का अनुभव होता है।

सुश्रुत के अश्रुजन्य उदावर्त—'आनन्दजं शोकसमुद्भवं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि। शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५।१२।

वाग्भट का मत—'पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ् मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः। सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः' ॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ४।१७।

यह विकार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है, यद्यपि वे रोने-धोने में कमी नहीं करतीं। इस अवसर पर रोना बुरा नहीं है। आँसू बहा देने से रोगों की सम्भावना कम हो जाती है।

जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगोऽक्षिगौरवम् ।
निद्राविधारणात् तत्र स्वप्नं संवाहनानि च ॥ २३ ॥

निद्रावेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—निद्रा के वेग को रोकने से होने वाले रोगों—जँभाई (Yawning) अङ्गमर्द (शरीरावयवों में मसलने की पीड़ा), तन्द्रा (Sleepy behaviour) कफ, तमोगुण तथा वायु की अधिकता से तन्द्रा (उंघाई), शिरो रोग (माथा भारी होना) और आँखों में तनाव-सा होना, की उत्पत्ति होती है। **चिकित्सा**—सुख शयन और संवाहन (हाथ-पैरों का दबाना या दबवाना) है।

वक्तव्य—निद्रा के स्वरूप आदि का विशद वर्णन चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० २१ में द्रष्टव्य है। यहाँ सुश्रुत में दिये गये विचारों का उल्लेख किया जा रहा है। यथा—'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्। तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥ निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते। स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते' ॥ सु० शा० अ० ४। ३४-३५।

'तमः कफाभ्यां निद्रा' शार्ङ्गधर। अर्थात् तमोगुण की अधिकता होने पर निद्रा आती है और कफ भी तमोगुणी है। जैसे—भोजन करते ही कफ बढ़ता है तो निद्रा आने लगती है, या और भी जिन-जिन परिस्थितियों में कफ की वृद्धि होती है तो निद्रा आती है। तामसिक पशु (भैंस, सिंह आदि) रात-दिन सोते रहते हैं। राजस् गुण वाले व्यक्ति दिन अथवा रात में सोकर अपनी नींद पूरी कर लेते हैं। सत्त्व प्रकृति वाले प्राणी आधी रात में सोकर प्रातःकाल जग जाते हैं।

यह निद्रा दो प्रकार की होती है—१. वैष्णवी और २. पाप्मा। वैष्णवी निद्रा को भूतधात्री भी कहते हैं। भूतधात्री से अभिप्राय है प्राणियों की धात्री = माता के समान रक्षा करने वाली। **पाप्मा**—जो निद्रा तमोगुण की अधिकता से होती है, उसे अघ (पाप) मूला अथवा रोग रूप माना गया है।

निद्रानाश के लक्षण—'जृम्भाङ्गमर्दोऽङ्गशिरोऽक्षिजाड्यं निद्राविघातादथवापि तन्द्रा'। सु० उ० तं० ५५। **चिकित्सा**—'निद्राघाते पिबेत् क्षीरं स्वप्याच्चेष्टकथो नरः'। सुश्रुत उ० तं० अ० ५५। अर्थात् निद्रानाश में दूध पिये, सोये और प्रियजनों द्वारा कही गयी मनोहर वार्तायें अथवा कथायें सुनें। आचार्य डल्हण इस प्रकरण में गाय के दूध पीने की आज्ञा देते हैं। यह समीचीन नहीं, क्योंकि गाय का दूध भैंस के दूध की तुलना मे कम निद्राकारक होता है।

स्वप्याच्चेष्टकथो नरः—इष्ट (प्रिय) कथायें सुख का कारण होती हैं। मातायें बच्चों को सुलाने के लिये जिन गीतों (लोरियों) को गाती हैं, वे सब इष्ट कथायें ही हैं। जैसे **'लाल सोजा नयन के तारे'**। आदि-आदि।

उक्त पद्य में **'नरः'** शब्द बाल, युवा, वृद्ध, नर तथा नारी का प्रतिनिधि है। केवल नर शब्द से पुरुष अर्थ का ग्रहण करना अपराध होगा।

गुल्महृद्रोगसम्मोहाः श्रमनिःश्वासधारणात् ।
जायन्ते तत्र विश्रामो वातघ्न्यश्च क्रिया हिताः ॥ २४ ॥

श्रमज निःश्वासवेगरोधज रोग एवम् चिकित्सा—श्रम (परिश्रम) के कारण उत्पन्न निःश्वास के वेग को रोकने से गुल्म, हृदय रोग, संमोह = मूर्च्छा, (बेहोशी, बेसुध पड़ जाना आदि) रोग हो जाते हैं। **चिकित्सा**—इसमें सर्वप्रथम रोगी को विश्राम (Rest) करने दें, तदनन्तर वातनाशक चिकित्सायें करें।

वक्तव्य—स्वस्थ व्यक्ति में प्रति मिनट श्वास की गति १८ होती है और नाड़ी की गति ७२ होती है। इस प्रकार दोनों का अनुपात १ : ४ का होता है। ज्वर में प्रति डिग्री तापमान के पीछे श्वास संख्या २–३ बढ़ती है और नाड़ी संख्या में १० की वृद्धि होती है। रक्त में आक्सीजन (Oxygen) की मात्रा के कम हो जाने पर श्वास संख्या बढ़ती है। **यथा**—हृदयदौर्बल्य, पाण्डुरोग आदि रोगों में श्वास का परीक्षण करके देखें। बालकों में अन्तःश्वास के साथ कूजन (Stridor) सुनायी दे तो उसके कण्ठ में स्तम्भ (Spasm) का सन्देह होता है। श्वास-प्रश्वास (Abdominothoracic) साधारणतः होता है।

श्वास की उक्त स्थिति स्वस्थ अवस्था की वर्णित है। यदि शरीर को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है तो इसकी गति में वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्वास-प्रश्वास की गति के वेग को रोकना अपराध है। क्योंकि इसके वेग को रोकने से उदान वायु प्रकुपित होकर विकारों को उत्पन्न कर देता है।

उदान वायु—फुफ्फुस तथा कण्ठ की उस वायु (Vagus) को, जो भाषण (Speech) और यत्न (Effort) के समय काम करता है, उदान वायु कहते हैं।

सुश्रुत का मत—'श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५। **चिकित्सा**—'भोज्यो रसेन विश्रान्तः श्रमश्वासातुरो नरः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५५। अर्थात् श्रमजनित श्वास से पीड़ित मनुष्य को कुछ देर आराम देकर मांस रस के साथ भोजन कराना हितकर होता है।

विभिन्न वेगों को रोकने से उत्पन्न रोग एवम् उनकी चिकित्सा का संक्षिप्त विवरण

विविध वेग	रोग	चिकित्सा
मूत्रवेग	बस्ति, लिंगशूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूल, वेदना से शरीर का झुकना, वंक्षण प्रदेश में आनाह।	स्वेद, अवगाहन, अभ्यंग, अवपीडक, त्रिविधबस्ति।
पुरीषवेग	पक्वाशय तथा शिरःशूल, अपानवायु एवं पुरीष में रुकावट, पिंडलियों में ऐंठन, आध्मान।	स्वेद, अभ्यंग, अवगाहन, वर्ति, बस्तिकर्म, प्रमाथि अन्न-पान।
शुक्रवेग	लिंग और अण्डकोषों में शूल, अङ्गमर्द, हृदय में पीड़ा, मूत्रावरोध।	अभ्यंग, अवगाहन, मदिरापान, मुर्गा का मांस, शालि-दूध भोजन, निरूहबस्ति तथा मैथुन।
अपानवायु वेग	अपानवायु, मल, मूत्र का रुकना, आध्मान, अवसाद, वेदना।	स्नेह, स्वेद, वर्ति, वातानुलोमक खान-पान, बस्तिप्रयोग।
छर्दिवेग	कण्डू, कोठ, अरुचि, व्यङ्ग्य, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, जी मिचलाना, विसर्प।	भोजन करा कर वमन कराना, धूमपान, लंघन, रक्तमोक्षण, रूक्ष अन्न-पान, व्यायाम, विरेक।
क्षवथुवेग	मन्यास्तम्भ, शिर-शूल, अर्दित, अर्धावभेदक तथा ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता।	जत्रु के ऊपरी भागों में अभ्यंग, स्वेद, धूमपान, नस्य, वातहर अन्न-पान, घृतपान।
उद्गार वेग	हिक्का, कास, अरुचि, कम्प, हृदय एवम् उरस् में वेदना।	इसमें सम्पूर्ण हिक्का के अनुसार चिकित्सा करें।
जृम्भा वेग	शरीर का झुकना, आक्षेप, संकोच, सुप्ति, कम्प, प्रवेपन।	वातहर अन्न-पान तथा औषध सेवन हितकर है।
क्षुधा वेग	कृशता, दुर्बलता, वैवर्ण्य, अङ्गमर्द, अरुचि, भ्रम।	स्निग्ध, उष्ण एवम् लघु भोजन।
पिपासा वेग	कण्ठ एवं मुखशोष, बाधिर्य, श्रम, अवसाद, हृदय में पीड़ा।	शीतल तथा तृप्तिकारक पेय-पदार्थों का सेवन।
वाष्प वेग	प्रतिश्याय, अक्षिरोग, हृद्रोग, अरुचि तथा भ्रम।	स्वप्न (सोना), मद्यपान, प्रियकथाओं का सुनना या सुनाना।
निद्रा वेग	जँभाई, अंगमर्द, तन्द्रा, शिरोरोग तथा आँखों में भारीपन।	सुखशयन, संवाहन (हाथ-पैरों को दबाना)।
श्रमजनिःश्वास वेग	गुल्म, हृद्रोग, संमोह।	विश्राम तथा वातनाशक क्रियाएँ।

वेगनिग्रहजा रोगा य एते परिकीर्तिताः । इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं वेगानेतान्न धारयेत् ॥२५॥

वेगों को न रोकने की अपील—अधारणीय वेगों को रोकने से होने वाले जिन रोगों की ऊपर गणना की गयी है, उनकी उत्पत्ति न हो ऐसा चाहने वाले व्यक्ति का परम कर्तव्य है कि वह इन वेगों को कभी धारण न करे।

वक्तव्य—शास्त्र के इस निर्देश किंवा चेतावनी के बाद भी यदि कोई अधारणीय वेगों को धारण करता है तो वह स्पष्ट रूप में प्रज्ञापराध करता है, अतः दण्डनीय है।

इमांस्तु धारयेद् वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च । साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥२६॥

धारणीय वेगों का वर्णन (Description of Suppressible Urges)—इसके पूर्व अधारणीय वेगों का निर्देश किया जा चुका है। अब यहाँ उन वेगों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनको रोकने का प्रयत्न अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को इस जन्म में तथा दूसरे जन्म में भी करना ही चाहिये। यथा—साहसिक (शक्ति से अधिक) कार्यों के तथा मन, वाणी द्वारा अशुभ कर्मों (अशुभ चिन्तन, अप्रिय भाषण, अशुभ कार्य करना) के वेगों का निग्रह करें।

वक्तव्य—'प्रेत्य चेह च' यहाँ पर यह आस्था तन्त्रकार द्वारा व्यक्त की गयी है कि पूर्वजन्म के कर्मों का फल इस जन्म में और इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में निश्चित रूप से प्राप्त होता है। भले ही कुछ लोग इसके विपरीत सोचा करें।

साहसानाम्—'साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि। अविमृश्यकृतौ धार्ष्ट्ये'। इति हैमः। साहस शब्द का प्रयोग शत्रु, सिंह, व्याघ्र अथवा अपने से अधिक बलवान् का दमन करने, दुष्कर कर्म (जो अपनी शक्ति से साध्य न हो); बिना विचारे किये कार्य तथा धृष्टता के अर्थ में किया गया है। इन अर्थों का समर्थन हम चरक के निम्नोक्त साहित्य में प्राप्त करते हैं। देखें—उरःक्षत निदान-लक्षण—'धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्। युद्ध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥ वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः। शिलाकाष्ठाऽश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्। महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ सहसोत्पततो दूरं तूर्णं वापि प्रनृत्यतः। तथाऽन्यैः कर्मभिःक्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ चरक चि० अ० ११।

अशस्तानाम्—'शस्तं क्षेमे प्रशस्ते च'। इति हैमः। न शस्तम् = अशस्तं तेषाम्, अर्थात् जो अकुशल-कारक हों अथवा जो प्रशंसा करने योग्य न हों ऐसे मानसिक एवम् वाचिक कर्मों का परित्याग करना चाहिये। अशुभ मन एवं वाणी के कर्मों का प्रभाव दूसरों के प्रति तो विपरीत होता ही है, इसके साथ ही यदि इन पर अंकुश न रखा गया तो ये मानस रोगों (Psychological dis-equilibrium) के होने की भी सम्भावना बनी रहती है। सभ्यता की दृष्टि से भी अशुभ वचनों का कहना अनुचित ही है। महात्मा गान्धी के तीन बन्दर इसी का उपदेश देते हैं। **१—बुरा मत देखो। २—बुरा मत बोलो। ३—बुरा मत कहो।**

साहित्यिक दृष्टि—महाकवि भारवि जिस पद्य के कारण सुप्रसिद्ध हैं, वह पद्य भी चरक के धारणीय वेग की सम्पुष्टि कर रहा है। यथा—**'सहसा विदधीत न क्रियाम्'**। किरात० सर्ग १।

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्। नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायांश्च[1] बुद्धिमान् ॥२७॥

धारणीय मानसिक वेग—लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान (अभिमान या अहंकार), निर्लज्जता, ईर्ष्या (दूसरे की उन्नति को देखकर जलना), अतिराग (किसी विषय के प्रति अधिक आसक्ति) और अभिध्या (पर-द्रव्य के अपहरण की इच्छा) मन के इन निन्दित वेगों को बुद्धिमान् व्यक्ति को रोकना चाहिये।

वक्तव्य—'अभिध्या तु परस्वविषये स्पृहा'। अमरकोष। पर द्रव्य को अनुचित विधि से प्राप्त करने की इच्छा का नाम **'अभिध्या'** है। उपर्युक्त सभी वेग (प्रवृत्तियाँ) मानसिक हैं किन्तु इनका शरीर और मन दोनों पर प्रभाव पड़ता है। इन्हीं के कारण मानसिक रोगों (Mental Diseases) के उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता में उक्त मानसिक वेगों का क्रम अपने ढंग से है फिर भी अधिकांश उक्त वेगों की गणना करके उसका फल मृत्यु कहा है। देखें—'सङ्गात् सजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः॥ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'॥ गीता अ० २। गीता के इस रहस्यपूर्ण उपदेश का सम्बन्ध चरक द्वारा उपदिष्ट उक्त मनोवेगों के साथ है, अत एव उनको रोकने का आदेश दिया है।

परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च। वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद् वेगमुत्थितम् ॥२८॥

धारणीय वाचिक वेग—अत्यन्त बोलना, अत्यन्त कटु भाषण करना, चुगलखोरी करना, झूठे वाक्यों का प्रयोग करना और असमय की बातों को कहना आदि वाचिक वेगों को रोकना चाहिये।

वक्तव्य—सुभाषितसंग्रहों में उपर्युक्त प्रकार के विचारों की निन्दा की गयी है। ऐसा नहीं करना चाहिये। अकाल युक्त वाक्य के सम्बन्ध में देखें—'अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्। लभते बुद्ध्यवज्ञानमपमानञ्च भारत'॥ महाभारत।

देहप्रवृत्तिर्या काचिद् विद्यते[2] परपीडया। स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत् ॥२९॥

धारणीय शारीरिक वेग—दूसरों को कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से जो-जो भी शारीरिक प्रवृत्तियाँ हों, उन सबके वेगों को रोकना चाहिये। यथा—परस्त्रीगमन, चोरी और हिंसा आदि।

वक्तव्य—इन प्रवृत्तियों का निषेध चाणक्य के वाक्यों में देखें—'मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। चाणक्यनीति। **हिंसा**—इसका क्षेत्र विस्तृत है। किसी को मार देना, काट देना ही हिंसा नहीं है अपितु किसी के हृदय को दुःखाना तथा किसी से मर्मभेदी बातें कहना भी हिंसा क्षेत्र के परिसर में आता है।

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्। धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च[3] ॥३०॥

उक्त वेगों के धारण से लाभ—मानसिक, वाचिक तथा कायिक (शरीर सम्बन्धी) कर्मों द्वारा निष्पाप (पापों से रहित) पुरुष पुण्यवान् कहा जाता है। इस लोक में सुखी रहता हुआ धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) का उपभोग करता है और जन्मान्तर के लिये पुण्यों का चयन करता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त धारणीय वेगों के प्रसंग में कहे गये निर्देशों का पालन मानसिक स्वास्थ्य के संवर्धन में पर्याप्त सहायक होता है। संसार की प्रवृत्ति में धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का ही महत्व है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य है—हितायु तथा सुखायु की प्राप्ति। अतएव अधारणीय वेगों का न रोकना और धारणीय वेगों को प्रयत्न पूर्वक धारण करना चाहिये।

---

१. अभिध्या परद्रव्ये स्पृहा। २. 'वर्तते' यो.।

३. अस्मात् पद्यादनन्तरं क्वचिदधिकः पाठः समुपलभ्यते। यथा—'स्याच्छिलालकुटाकर्षाद् धनुराकर्षणादपि। व्यायामाद् बहुधाङ्गानां व्यायाम इति शब्दितः॥ गात्रेष्वायम्यमानेषु तेषु रक्तं विधावति। तद् गात्रेषु विभक्तं हि मांसीभवति मर्दनात्॥ स्रोतःसु रुद्धो वायुर्यः स चापि प्रतिसार्यते। मारुते प्रगुणीभूते सुखं गात्रेषु जायते॥ कान्तवर्णत्वमङ्गानां सुविभक्तत्वमेव च। प्रशुद्धोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टत्वमशने रुचिः'॥ इति।

भुङ्क्ते चिनोति च—आत्रेय परलोकैषणा (परलोक प्राप्ति की इच्छा) को मानने वाले हैं। अतएव उन्होंने पुण्य तथा धर्म शब्दों का प्रयोग कर धार्मिक-कथा-प्रसंगो की भांति उक्त वेगों को धारण करने वाला व्यक्ति इस लोक में सुख भोगता है तथा अन्त में पुण्य के संचय से स्वर्गीय सुख का लाभ भी प्राप्त करता है, लिखा है।

शरीरचेष्टा या चेष्टा [1]स्थैर्यार्था बलवर्धनी। देहव्यायामसङ्ख्याता मात्रया तां समाचरेत्[2] ॥३१॥

व्यायाम (Exercise)—

व्यायाम की परिभाषा—शरीर की जो चेष्टा मन को प्रिय होते हुए स्थिरता (दृढ़ता) एवम् बल को बढ़ाने के लिये की जाती है, उसका नाम शारीरिक व्यायाम है। इस व्यायाम को मात्रा के अनुसार ही करें।

वक्तव्य—व्यायाम (कसरत) का सर्वसाधारण नियम है—**'प्राक् श्रमाच्च विवर्जयेत्'** अर्थात् थकावट होने के कुछ पहले व्यायाम करना छोड़ दें। यही व्यायाम की मात्रा है। सुश्रुत में व्यायाम की मात्रा का निर्देश इस प्रकार किया गया है—'सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुंभिरात्महितैषिभिः। बलस्यार्द्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा॥ सु० चि० अ० २४।४७।

सुश्रुतोक्त व्यायाम लक्षण—'शरीरायासजनकं कर्म व्यायामसंज्ञितम्'। सु० चि० अ० २४॥ सुश्रुत का यह लक्षण उन सभी प्रकार के शरीर आयासों = प्रयत्नों (Effortes) का अन्तर्भाव व्यायाम में करता है, जिनसे शरीर में थकावट का अनुभव होने लगे। वैसे व्यायाम की चरकोक्त परिभाषा उत्तम है।

बलार्ध—जिस व्यक्ति में जितना बल हो उसका आधा 'बलार्ध' कहा जाता है। यह सामान्य परिभाषा है किन्तु बल कोई नापने या तौलने की वस्तु नहीं है, अतः उसके लिये निम्न परिभाषा दी जा रही है—

प्रथम परिभाषा—'हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते। व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्द्धस्य लक्षणम्'॥ सु० चि० अ० २४।४८॥

द्वितीय परिभाषा—'कक्षाललाटनासासु हस्तपादादिसन्धिषु। प्रस्वेदात् मुखशोषाच्च बलार्द्धं तद् विनिर्दिशेत्'॥ स्वस्थवृत्तसमुच्चय।

वाग्भट भी व्यायाम के सम्बन्ध में बलार्ध किं वा अर्धशक्ति के समर्थक हैं। देखें—'अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः'। अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २।११।

आधा बल या आधी शक्ति—व्यायाम करते-करते जब श्वास फूलने लगे अथवा पसीना आने लगे या मुख सूखने लगे तब समझना चाहिये कि आधा बल लग चुका है। अतः व्यायाम की प्रक्रिया को वहीं रोक दें। यदि आप दुराग्रह करके (शरीर की परवाह न करके) व्यायाम करते जायेंगे तो व्यायाम से प्राप्त होने वाले लाभों के आप अधिकारी नहीं रह जायेंगे, प्रत्युत हानियाँ होने लगेंगी। अतः सावधान!

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं [3]दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ ३२ ॥

व्यायाम से लाभ—मात्रा के अनुसार किये गये व्यायाम से शरीर में लाघव (हलकापन), कार्यों को करने की शक्ति, स्थिरता, कार्यों को करने से उत्पन्न अनेक प्रकार के क्लेशों (कष्टों) को सहने की शक्ति, कफादि दोषों का क्षय और जाठराग्नि की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—व्यायाम शब्द की निरुक्ति—विशिष्टः आयामः (आयामो दैर्घ्यं शरीरावयवानामिति अनुसन्धेयम्) = व्यायामः। अर्थात् जिस क्रिया द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यङ्गों में खिंचाव अथवा तनाव पैदा हो, उसे व्यायाम कहते हैं।

---

१. 'स्थैर्यात्मा' ग.।

२. अस्मात् श्लोकादनन्तरम् अधिकः पाठः समुपलभ्यते—'क्रमवृद्ध्या सदारोग्यशरीरबलपुष्टिदः। आरोग्यबलपुष्टिघ्नः स एवाक्रमसेवितः॥ स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणां चातिलाघवम्। हृदयाद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्'॥ इति।

३. 'क्लेशसहिष्णु' च.।

मानव शरीर में मांसपेशियों का प्रमुख स्थान है। सामान्यतया शरीर का जितना भार होता है उसमें आधा भार इन पेशियों का है। इनसे शरीर में जो शक्ति उत्पन्न होती है, उनका वर्णन इस प्रकार है—शरीर की उष्णता, चलना, रक्तसंवहन, श्वास, प्रश्वास, आमाशय तथा बृहदन्त्र को गति प्रदान करना, आदि-२। ये मांसपेशियाँ शरीर में उष्णता को उत्पन्न कर तापांश को बनाये रहने में सहायता प्रदान करती हैं।

व्यायाम द्वारा इनमें अधिक उष्णता पैदा की जाती है और इनको सुगठित करने में बल मिलता है। व्यायाम से जाठराग्नि तथा धात्वग्नि की वृद्धि हो जाती है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि व्यायामशील पुरुष को पौष्टिक पदार्थों (घी, दूध आदि) का निरन्तर सेवन करना चाहिये। व्यायामशील पुरुष का शरीर मल, मूत्र तथा पसीना के निकल जाने से सदैव रोग रहित रहता है। यदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करनेवाला पुरुष व्यायामशील नहीं होता तो उसकी वसा (चर्बी) बढ़ने लगती है, फलतः उसका शरीर बेडौल तथा निकम्मा हो जाता है और उसको शिर में भारीपन, गठिया, अन्य वातजरोग एवम् मेदोज रोग हो जाते हैं।

सुश्रुत का मत—'शरीरायासजननं कर्मव्यायामसंज्ञितम्। तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः॥ शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता। दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥ श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता। आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥ न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्। न च व्यायामिनं मर्त्यं मर्दयन्त्यरयो भयात्॥ न चैनं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति। स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च॥ व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च। व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव॥ वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्। व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्॥ विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते। व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम्॥ स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः॥ सु० चि० अ० २४।

व्यायाम के अयोग्य व्यक्ति—'रक्तपित्ती कृशः शोषी कासश्वासक्षतातुरः। भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणो भ्रमार्तश्च विवर्जयेत्'॥ सु० चि० अ० २४।५०। **वाग्भट का मत**—'वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत्'। अष्टांगहृ० सू० अ० २।

व्यायामोत्तर कर्म—व्यायाम करने के बाद में शरीर का सब तरह से अनुलोम तथा सुखपूर्वक मर्दन करना चाहिये। इससे व्यायाम जनित श्रम तत्काल दूर हो जाता है।

श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते[1] ॥३३॥

अधिक व्यायाम से हानि—अधिक व्यायाम करने से थकावट, क्लम (अनायास थकावट), क्षय (उरःक्षत आदि), तृष्णा (बार-बार मुख का सूखना), रक्तपित्त, प्रतमक (श्वास भेद), खांसी ज्वर और वमन हो जाते हैं।

वक्तव्य—अधिक व्यायाम की सीमा का निर्धारण चरक में 'मात्रया तां समाचरेत्' से सुश्रुत एवं वाग्भट आदि में 'बलार्द्ध' शब्द से किया है। जिसका उल्लेख हम इसी अध्याय के ३१ वें श्लोक के वक्तव्य में कर चुके हैं।

अधिक व्यायाम से पिपासा, क्षय, श्वास, रक्तपित्त, श्रम, क्लम (मानसिक दुर्बलता) कास, ज्वर तथा छर्दि आदि रोग होते देखे गये हैं। वृद्धावस्था में तो आमवात, उरुस्तम्भ, अर्श एवम् अण्डवृद्धि आदि रोग प्रायः हो जाते हैं।

व्यायाम आदि का निषेध—व्यायाम, रात्रि का जागरण, अधिक चलना, मैथुन, जोर से हँसना एवम् बोलना इसमें से कोई भी साहस वाले कार्य को करने वाले पुरुष की वही स्थिति होती है जो स्थिति हाथी को खींचकर ले जाने वाले सिंह की, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है। जैसे साहस करके सिंह हाथी मार तो लेता है किन्तु उसको खींचना उसके लिये मृत्यु का कारण हो जाता है। यह वाग्भट का मत है।

१. अस्मात् श्लोकादनन्तरम् अधिकः पाठ समुपलभ्यते—'अरोगी जीर्णभक्तश्च नरो व्यायाममाचरेत्। नातिपीडाकरो देहे बलवान् श्लैष्मिके गदे॥ व्यायामोष्णशरीरत्वात् स्वेदाच्च प्रविलायिते। श्लेष्मिणि श्लैष्मिका रोगा न भवन्ति शरीरिणः॥ अजीर्णिनस्त्वामरसो व्यायामेनाकुलीकृतः। देहे विसर्पन् जनयेद् रक्तपित्तमयान् गदान्॥ येऽति व्यायामतो रोगा मानवानां भवन्ति हि। घृतमांसरसक्षीरबस्तिभिस्तानुपाचरेत्'॥ इति।

वसन्त, ग्रीष्म ऋतुओं में जहाँ अन्य व्यायामों का निषेध अथवा अल्पमात्रा में करने का शास्त्र का आदेश है, वहाँ जलक्रीड़ा (तैरना) आदि व्यायाम निरापद माने गये हैं।

क्लम की परिभाषा—'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः'॥ सुश्रुत शा० अ० ४। सुश्रुत में क्लम की परिभाषा **'अनायासश्रमः'** दी गयी है और चरक **'अतिव्यायामतः क्लमः'** स्वीकार करते हैं। वास्तविक रूप इस प्रकार है—क्लमु ग्लानौ (दिवादि प० से०) वश्, वृद्धिनिषेध होकर 'क्लम' शब्द की निष्पत्ति होती है। क्लमु धातु का अर्थ ग्लानि दिया है, ग्लानि का अर्थ होता है,—हर्ष का क्षय। इसको दूसरे आचार्यों ने मानसिक दुर्बलता लिखा है। सुश्रुत ने जो **'अनायासश्रमः'** लिखा है, यह ऐसा लगता है, जैसे कोई कहे 'बे-मतलब की मुसीबत आ गयी' यह ठीक ऐसा ही प्रयोग है। अन्यथा महर्षि अग्निवेश अतिव्यायाम की विकृतियों के बाद क्लम शब्द का प्रयोग न करते।

सुश्रुत का मत—'क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः। कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसम्भवाः॥' सु० चि० अ० २४।५०।

([1]स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणां लाघवं तथा। हृदयाद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्॥१॥)

व्यायाम के लक्षण—पसीना का आना, श्वास की वृद्धि, अंगों में हलकापन और हृदय आदि अंगों में रुकावट की प्रतीति—ये व्यायाम के लक्षण हैं। अर्थात् इनके आगे व्यायाम नहीं करना चाहिये।

व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्। नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया॥३४॥
एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते। गजं सिंह इवाकर्षन्[2] सहसा स विनश्यति[3] ॥३५॥

व्यायाम आदि के अधिक सेवन का निषेध—व्यायाम, जोर से हँसना, भाष्य (जोर से बोलना या भाषण देना), अध्व (मार्ग) गमन, ग्राम्य-धर्म (स्त्री सहवास पुरुष के लिये, स्त्री के लिये पुरुष सहवास अर्थात् मैथुन) तथा जागरण इन सबका अभ्यास होने पर बुद्धिमान् (समझदार) व्यक्ति को चाहिये कि इनका अधिक सेवन न करें।

इनका तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों का जो व्यक्ति अधिक मात्रा में सेवन करता है वह उस प्रकार मृत्यु को प्राप्त करता है, जैसे गजधारी सिंह गज को खींचने का दुःसाहस करने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि कुछ न कुछ व्यायाम, हँसना, बोलना, चलना, ऋतुकाल में स्त्री सहवास एवं जागरण मनुष्य के अभ्यस्त विषय हैं, इनका प्रयोग होता रहता है किन्तु अतिमात्रा में प्रयोग करने से हानि होने का शास्त्र-निर्देश है। मार्गगमन के सम्बन्ध में चाणक्य का 'अध्वा जरा मनुष्याणाम्' यह वाक्य ध्यान देने योग्य है।

ग्राम्य-धर्म—मैथुन का भी अधिक सेवन निषिद्ध है। नीति, धर्म तथा चिकित्साशास्त्रों ने समानरूप से सन्तान की प्राप्ति के पवित्र उद्देश्य से ऋतुकाल में ही पति-पत्नी को सहवास करने की अनुमति दी है, न कि बारहों महिने और तीसों दिन।

जागरण—सामाजिक अथवा नौकरी-चाकरी के बन्धन से कुछ लोग दिन में भी सोते हैं तो रात्रि में जागते हैं; दूसरे लोग दिन में जागते हैं तो रात्रि में सोते हैं। स्वस्थ्य मनुष्य को अधिक से अधिक छः ... सोना चाहिये। इसी को दृष्टि में रख कर जागरण की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। बालक तथा वृद्ध को अधिक सोना चाहिये।

गजं सिंह इवाकर्षन्—सिंह स्वाभाविक वैर के कारण गज का वध करता है किन्तु गज को खींच ले जाना

१. योगीन्द्रनाथसेनसम्मतोऽयं पाठः।
२. 'गजः सिंहमिवाकर्षन्' ग.।
३. अस्मात् श्लोकादन्तरम् अधिकं योगीन्द्रनाथसेनः पठति—'अतिव्यवायभाराध्वकर्मभिश्चातिकर्षिताः। क्रोधशोकभयायासैः क्लान्ता ये चापि मानवाः॥ बालवृद्धप्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः। ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये'॥ इति।

उसके वश का कार्य नहीं है फिर भी वह यदि उसको खींचता है तो यह सिंह का दुःसाहस है, जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। कुछ प्रतियों में 'गजः सिंहमिवाकर्षन्' पाठ है, यह उतना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है।

सुश्रुत का मत—'न स्वप्नजागरणशयनासनस्थानचङ्क्रमणयानवाहनप्रधावनलङ्घनप्लवनप्रतरणहास्य-भाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यतिसेवेत' ॥ सु० चि० अ० २४।९६।

वाग्भट का मत—'व्यायामजागराध्वस्त्री हास्यभाष्यादि साहसम्। गजं सिंह इवाऽऽकर्षन् भजन्नति विनश्यति' ॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० ३।

([1]अतिव्यवायभाराध्वकर्मभिश्चातिकर्शिताः । क्रोधशोकभयायासैः क्रान्ता ये चापि मानवाः ॥१॥
बालवृद्धप्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः । ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये ॥२॥)

व्यायाम के अयोग्य मानव—अधिक व्यायाम (सहवास), भार-वहन और मार्ग-गमन से जो व्यक्ति अधिक कमजोर हो गये हैं एवम् जो मनुष्य क्रोध, शोक, भय तथा परिश्रम से आक्रान्त हैं; बाल, वृद्ध, वात प्रकृति तथा जोर से बोलने के अभ्यासी एवम् भूखे, प्यासे लोगों को चाहिये कि वे व्यायाम न किया करें।

उचितादहिताद् धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः । हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥३६॥
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत् । एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥३७॥

हिताऽहित का सेवन एवम् उसकी त्यागविधि—विवेकशील पुरुष को चाहिये कि वह उचित किन्तु अहित आहार-विहारो (उचित अर्थात् जिन अहितकर आहार-विहारों का उस व्यक्ति ने प्रतिदिन सेवन करने का अभ्यास कर लिया हो उन) से क्रमशः (धीरे-धीरे) अपने को पृथक् करे और सर्वथा हितकर आहार-विहारों का सेवन प्रारम्भ कर दे। उसका क्रम यहाँ बतलाया जायगा।

प्रक्षेप (सेवन करना अथवा शरीर में आहार आदि के रूप में डालना) और अपचय (अहितकर किन्तु सात्म्य (अभ्यस्त) आहार आदि का त्याग करना) इन दोनों के लिये पादांशिक क्रम का आश्रय लेना चाहिये। तदनन्तर एक दिन, दो दिन तथा तीन दिन का अन्तर देकर अहित पदार्थों के त्याग तथा हितकर पदार्थों की वृद्धि का क्रम रखें।

वक्तव्य—'प्रथमदिने अपथ्यस्य त्रयः पादाः पथ्यस्य चैकः। द्वितीयदिने सर्वमपथ्यम्, एवम् एकेन अह्ना पथ्यपादसहितोऽपथ्यपादोऽन्तरीकृतः। ततस्तृतीयदिने अपथ्यस्य द्वौ पादौ पथ्यस्य च द्वौ। ततश्चतुर्थे पञ्चमे च सर्वमपथ्यम्, एवं पथ्यपादद्वयसहितमपथ्यपादद्वयं द्वाभ्यामहोभ्यामन्तरीकृतम्। ततः पुनः षष्ठे दिवसे अपथ्यस्य एकः पादः, त्रयश्च पथ्यस्य। सप्तमे अष्टमे नवमे च सर्वमपथ्यम्। एवं त्रिभिरहोभिः पथ्यपादत्रयसहितोऽपथ्यस्य च एकः पादोऽन्तरीकृतो भवति। ततो दशमदिने सर्वं पथ्यं सेवनीयम्'। इति चरकोपस्कारे **योगीन्द्रनाथसेनः।**

'यत्तु अन्तरशब्दस्य व्यवधानार्थत्वेन प्रथमदिने पथ्यपादाऽपथ्यत्रिपादमानेन भोजनं, ततः परमेकदिनं न तथा भोक्तव्यं किन्तु अपथ्यमभ्यस्तं यत् तदेव भोक्तव्यं तदेकदिनं व्यवधाय तृतीयदिने पथ्यपादद्वयाऽपथ्यपादद्वयं भोक्तव्यं, तदुत्तरं दिनद्वयं न तथा भुक्त्वा किन्तु अभ्यस्तमपथ्यमेव भोक्तव्यं, तद् दिनद्वयं व्यवधाय षष्ठे दिने पथ्य-पादत्रयाऽपथ्यैकपादमानेन भोज्यं, तदुत्तरं दिनत्रयं न तथा भोक्तव्यं किन्तु अपथ्यमात्रमेवेति, तद्दिनत्रयं व्यवधाय दशमे दिने पथ्यचतुष्पादभोजनमपथ्यपादचतुष्टयत्यागः सुतरामिति व्याख्यायते। षोडशांशिकक्रमवादेऽप्येवं च बोध्यमिति, तदसम्यक्, अहितस्याभ्यासानुवृत्तेः' इति जल्पकल्पतरौ **गङ्गाधरः**। 'पादः चतुर्थो भागः, तद्रूपोंऽशः पादांशः, तेन कृतः क्रमः पादांशिकः' इति **चक्रपाणिः।**

कुछ आचार्य 'पदांश' शब्द से सोलहवाँ भाग लेते हैं। यथा—'यदि तु तदपथ्यमभ्यस्तं तथा सात्म्यीभूतं यस्मिश्चतुर्थांशेनाऽपि त्यज्यमाने शरीरबाधाशक्यते वह्निमान्द्यं वा तदा पादपादेन वा षोडशांशेन त्यजेदिति वा शब्दार्थः'। इति **अरुणदत्तः।** इसका तात्पर्य यह है कि जिस अहितकर आहार आदि का कोई पुरुष अभ्यस्त हो चुका है उसका कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम उसके चतुर्थांश या सोलहवें अंश का त्याग करे और उसके स्थान पर हितकर किन्तु जिसके आहार का अभी उसे अभ्यास नहीं था, उसके चतुर्थांश या सोलहवें

[1]. योगीन्द्रनाथसेन सम्मतोऽयं पाठः।

अंश का सेवन करना आरम्भ करे। और निम्नलिखित क्रम से अहितकर आहार-विकारों को छोड़ता जाय तथा हितकर का सेवन बढ़ाता रहे।

महर्षि अग्निवेश द्वारा निर्दिष्ट क्रम के अनुसार एक दिन, दो दिन एवम् तीन आदि का बीच-बीच में व्यवधान=नागा (Intervention) देता रहे। यथा—**पहले दिन** पादांश हीन (३ भाग $\frac{3}{4}$) अहित आहार आदि का सेवन और पादांश ($\frac{1}{4}$ भाग) हित आहार आदि का त्याग करने के बाद **दूसरे दिन** प्रतिदिन अभ्यस्त अपथ्य का ही सेवन करे। ऐसा करना 'एकान्तर' कहा जायगा। **तीसरे दिन** दो भाग ($\frac{1}{2}$ भाग) अहित का त्याग और दो भाग ($\frac{1}{2}$ भाग) हित का सेवन करे। **चौथे दिन** भी उक्त तीसरे दिन के समान ही अहित का त्याग तथा हित का सेवन करे। **पाँचवें दिन** पहले दिन के समान ही व्यवहार करे। ऐसा करना 'द्व्यन्तर' कहा जायगा, क्योंकि इस विधि से तीसरे और चौथे दिन का अन्तर हो जाता है। **छठे दिन** एक भाग ($\frac{1}{4}$ भाग) अहित का त्याग और तीन भाग ($\frac{3}{4}$ भाग) हित का सेवन करे। इसी प्रकार सातवें तथा आठवें दिन छठे दिन की भाँति व्यवहार करे। नवें दिन तीसरे दिन के अनुसार विधि करें। ऐसा करना 'त्र्यन्तर' कहा जायगा। क्योंकि इस विधि से छठे, सातवें और आठवें दिन का अन्तर हो जाता है। **दसवें दिन**—पूरा-पूरा हित आहार का ही सेवन करें। इसी भाँति ग्यारहवें, बारहवें और तेहरवें दिन भी हित आहार का सेवन करे। **चौदहवें दिन**—एक ($\frac{1}{4}$ भाग) अहित आहार का त्याग तथा तीन भाग ($\frac{3}{4}$ भाग) हित आहार का सेवन छठे दिन की भाँति करे। ऐसा करना 'चतुरन्तर' कहा जायगा। इसके पश्चात् अहित आहार पदार्थों का सर्वथा त्याग कर हित पदार्थों का सेवन करता रहे।

सङ्क्षेप में—१ ले दिन अहित आहार का $\frac{1}{4}$ त्याग, हित आहार का $\frac{3}{4}$ सेवन, ३रे दिन अहित के $\frac{1}{2}$ का त्याग, हित के $\frac{1}{2}$ का सेवन, छठे दिन अहित के $\frac{1}{4}$ का त्याग, हित के $\frac{3}{4}$ का सेवन, १०वें दिन अहित का पूरा त्याग और हित का पूरा सेवन करना चाहिये।

एकान्तर आदि की पाणिनिसम्मत परिभाषा—'अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु'। ३।४।५७। क्रियाम् अन्तरयति व्यवधत्ते, इति क्रियान्तरः। तस्मिन् धात्वर्थे वर्तमानाद् अस्यतेस्तृष्यतेश्च कालवाचिषु द्वितीयान्तेषूपपदेषु णमुल् स्यात्। यथा—द्व्यहात्यासं गाः पाययति। अत्र अत्यसनेन तर्पणेन च गवां पानक्रिया व्यवधीयते। तद्वद् एकान्तरादिशब्दप्रयोगेऽपि।

वाग्भट का मत—'पादेनाऽपथ्यमभ्यस्तं पाद पादेन वा त्यजेत्। निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम् ॥ अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा। सात्म्याऽसात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा' ॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ४८-४९। उक्त पद्यों का आशय यह है कि किसी भी हितकर अथवा अहितकर आहार-विहार का न सहसा सेवन करे और न सहसा परित्याग करे। परित्याग अथवा सेवन जो भी करना हो थोड़ा-थोड़ा करके करे, फिर भले ही उसका त्याग अथवा सेवन होता रहे।

उपर्युक्त विवेचन की सारांश तालिका

एकान्तर	द्व्यन्तर	त्र्यन्तर	चतुरन्तर
पहले दिन $\frac{3}{4}$ भाग अहित का सेवन $\frac{1}{4}$ भाग हित का सेवन दूसरे दिन ४ भाग अहित का सेवन १ दिन का व्यवधान	३रे, ४थे दिन $\frac{1}{2}$ भाग अहित का सेवन $\frac{1}{2}$ भाग हित का सेवन ५वें दिन पहले दिन के समान २रे दिन (३रे, ४थे) का व्यवधान	छठे दिन $\frac{1}{4}$ भाग अहित का सेवन $\frac{3}{4}$ भाग हित का सेवन ७वें, ८वें दिन छठे दिन के समान ९वें दिन ३रे दिन के समान ३रे दिन (६, ७, ८ वें) का व्यवधान	१०, ११, १२, १३वें दिन सम्पूर्ण हित का सेवन १४वें दिन, छठे दिन की विधि चार दिन का व्यवधान

ऊपर जो विवरण दिया गया है तदनुसार हित सेवन, अहित त्याग का क्रम चार अन्तरों में समाप्त हो रहा है किन्तु चरक ने एकान्तर से त्र्यन्तर तक का ही निर्देश किया है। उस क्रम को निम्ननिर्दिष्ट तालिका में देखें—

एकान्तर	द्व्यन्तर	त्र्यन्तर	तदनन्तर
पहले दिन	२ रे, ३ रे दिन	४ थे, ५ वें ६ ठे दिन	७ वें दिन से
¾ भाग अहित सेवन	½ भाग अहित सेवन	¼ भाग अहित सेवन	पूर्ण हितकर
¼ भाग हित सेवन	½ भाग हित सेवन	¾ भाग हित सेवन	आहार आदि का सेवन

निष्कर्ष—उपर्युक्त हित-अहित आहार-विहारों के सेवन तथा त्याग का जो अनुपात बतलाया गया है, उसका प्रमुख उद्देश्य यही है कि जिन अहितकर आहार-विहारों का भूल से अभ्यास पड़ गया है उनको सहसा न छोड़ें, अपितु थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ते रहें। यही उन अहित आहार आदि को छोड़ने का चरकोक्त पादांशिक क्रम है। इस पादांशिक क्रम का उपयोग स्थूल व्यक्ति की मोटाई को घटाना, कृश पुरुष की कृशता को घटाकर उसको हृष्ट-पुष्ट करना एवम् दोषों के चयापचय प्रसंग में चिकित्सकों को करना चाहिये।

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः। सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥३८॥

पादांशिक क्रम से लाभ—पादांशिक क्रम से अपचित (कृश किये गये अर्थात् ह्रास को प्राप्त) वातादि दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते और अहित आहार-विहार आदि के त्याग से (हितकर आहार-विहारों के सेवन से) बढ़े हुए गुण अप्रकम्प्य होते हैं, अर्थात् उन स्वास्थ्य संवर्धक गुणों को कोई हिला नहीं सकता।

वक्तव्य—क्रम से दोषों का ह्रास और क्रम से गुणों की वृद्धि, उक्त दोनों स्थानों पर क्रम शब्द से 'पादांशिक क्रम' का ही संकेत है। अर्थात् दोषों का ह्रास भी धीरे-धीरे करें और गुणों की वृद्धि भी, अन्यथा हानि होती है। देखें वाग्भट के शब्दों में—'असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्'। अष्टांग हृ० अ० ३।५८।

समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादिमानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाःश्लेष्मलास्तथा ॥३९॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदाऽऽतुराः। दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥४०॥

जन्म से शारीरिक प्रकृति का वर्णन (Description of Constitution of Body by Birth)—कुछ नर-नारी गर्भकाल से ही समान वात, पित्त, कफ प्रकृति वाले देखे जाते हैं, कुछ वातप्रधान, पित्तप्रधान और कुछ कफप्रधान प्रकृति के होते हैं। इनमें पूर्ववर्णित समदोष वाले सदैव स्वस्थ रहते हैं और वातल आदि प्रकृति वाले सदैव उस-उस दोष की प्रधानता के कारण रोगी रहते हैं। वात, पित्त, कफ प्रधान प्रकृतियों के जन्म से ही रहने के कारण इसे (उन-उन) व्यक्तियों की देहप्रकृति कहा जाता है।

वक्तव्य—'तथा' शब्द से यहाँ पर द्वन्द्वज प्रकृतिवालों का भी ग्रहण करना तन्त्रकार को अभीष्ट है। इस प्रकार कुल मिलाकर सात प्रकृतियाँ होती हैं। यथा—'सप्तप्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथग् द्विशः समस्तैश्च'। तथा—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु' ॥ सुश्रुत शा० अ० ४।६३। सात प्रकृतियाँ—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज और ७. सान्निपातज। गर्भाशय में शुक्र और आर्तव के मिलने के समय जो दोष प्रबल होता है, उस दोष से प्रकृति बनती है।

चरक का मत—'शुक्रशोणितप्रकृतिं कालगर्भाशयप्रकृतिं मातुराहारविहारप्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एता हि येन येन दोषेणाधिकतमेनैकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते तेन-तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते।

१. 'दोषस्य दुष्टेरनुशयो गर्भात्प्रभृत्यनुवृत्तिर्विद्यते यस्य स दोषानुशयी, तस्य भावो दोषानुशयिता' गङ्गाधरः। 'दोषानुशयिता उल्बणवातादि भाविताव्यभिचारिणीति यावत्, देहप्रकृतिर्देहस्वास्थ्यम्, एतेनैतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किर्ताह उपचारस्वस्था एते इति दर्शयति' चक्रः।

ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माद् वातलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, श्लेष्मलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद् भवन्ति' ॥ चरक वि० स्था० अ० ८।

ऊपर जो जन्म से ही वातल, श्लेष्मल तथा पित्तल प्रकृति के पुरुषों का वर्णन किया है वे स्वस्थ (नीरोग) होते हुए भी उस-उस दोष की प्रधानता होने के कारण रोगी माने जाते हैं। इनके वे-वे विकार (जिनकी अधिकता उनमें जन्म से ही है) थोड़े से आहार-विहार की गड़बड़ी से और भी बढ़ जाते हैं तथा उस दोष से सम्बन्धित किसी रोग से वे पीड़ित होते रहते हैं। इनके विपरीत जिनके जन्म से ही तीनों दोष समान हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं। **स्वस्थ की परिभाषा**—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः। स्वस्थ इत्यभिधीयते' ॥ सुश्रुत सू० अ० १५।४१।

यहाँ सम शब्द का अर्थ है—उचित परिमाण में अथवा स्वाभाविक परिमाणवाला। क्रिया का अर्थ है—शरीर के आन्त्र, हृदय, फुफ्फुस तथा यकृत् आदि का व्यापार या कर्म।

सुश्रुत ने समत्व की एक मनोवैज्ञानिक परिभाषा और प्रस्तुत की है। देखें—'एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते। न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना' ॥ सु० सू० अ० १५।३८।

दोषानुशयिता—'दोषस्य दुष्टेरनुशयो गर्भात् प्रभृत्यनुवृत्तिर्विद्यते यस्य स दोषानुशयी, तस्य भावो दोषानुशयिता' इति जल्पकल्पतरौ गङ्गाधरः। **मतान्तरम्**—'दोषानुशयिता उल्बणवातादिभाविता व्यभिचारिणीति यावत्। देहप्रकृतिः—देहस्वास्थ्यम्। एतेन एतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किन्तर्हि उपचारस्वस्था एते इति दर्शयति'। चक्रपाणिः।

सदातुराः—वातप्रधान प्रकृति आदि का जो ऊपर वर्णन किया गया है, ये उन समदोष वालों की अपेक्षा रुग्ण रहते हैं। यद्यपि ऐसा नहीं है कि समदोष वाले व्यक्ति सदैव नीरोग ही रहते हैं। वे अपेक्षाकृत दूसरों से कम बीमार पड़ते हैं और वातल आदि प्रकृति वाले अपनी-अपनी प्रकृति के रोगों से पीड़ित होते हैं न कि मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सुश्रुत ने इसको दृष्टान्तरूप से इस प्रकार समझाया है—'विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते। तद्वत् प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्' ॥ सु० शा० अ० ४।

और भी देखें—'सर्वान् प्राणभृतो हन्ति नूनं कायगतं विषम्। अस्मिंश्चापि समुत्पन्ना दृश्यन्ते कृमयो यथा ॥ तथा न विषमो दोषः प्रकृतिं नाभिबाधते' ॥ अश्ववैद्यके'।

विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः। समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

स्वास्थ्यवर्धक-विधि—उक्त वातल आदि प्रकृति के पुरुषों के लिये स्वस्थवृत्त में कही गयी विपरीत गुण वाले आहार-विहार आदि की विधि हितकर होती है। और समधातु (समवातादि दोष) वाले पुरुषों के लिये सभी रसों का समान उपयोग ही सात्म्य कहा गया है।

वक्तव्य—उक्त पद्य संक्षेप में चिकित्सा बतला रहा है। **विपरीतगुणः**—'विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः'। माधवनिदान। उपशय के लक्षणों से विपरीत को अनुपशय कहते हैं। यह अनुपशय व्याधि का असात्म्य होता है। हेतु के अनुकूल, व्याधि के अनुकूल, हेतु-व्याधि दोनों के अनुकूल कष्टप्रद औषध, अन्न, विहारों का उपयोग अनुपशय कहा जाता है। डाक्टर हैनिमैन की होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धति इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

समसर्वरसं—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्'। च० सू० अ० २५। एवम् 'नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ' ॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ३।५७। इन शास्त्रवचनों का यह अभिप्राय है कि प्रतिदिन के भोजन में छहों रसों का प्रयोग होना चाहिये किन्तु वातादि प्रकृति का विचार करते हुए इस बात का पूरा ध्यान दें, जो जिस प्रकृति का प्राणी हो उसको उसके विपरीत गुणवाले रसों का अधिक प्रयोग करायें। क्योंकि भोजन में अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कोई मधुर रस वाले पदार्थों को अधिक पसन्द करते हैं तो दूसरे नमकीन रस प्रधान पदार्थों को। इसी प्रकार अन्य रसों का प्रयोग भी देखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण रसों के सेवनकाल में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे (सेवन किये जाने वाले) रस अथवा तत्-तत् रसवाले पदार्थ परस्पर विरोधी तथा सेवन करने वाले की प्रकृति को विकृत करने वाले न हों।

इसके पूर्व ऋतुचर्या प्रकरण में समधातु पुरुष को कटुरस आदि के उपयोग के साथ ही अम्ल एवम् कटु रस के विशेष प्रयोग करने का निर्देश किया गया है। परन्तु वातल (वात-प्रकृति-प्रधान) पुरुषों के लिये

कटु, तिक्त, कषाय आदि रसों के निषेध के साथ ही अम्ल तथा लवण रस का पर्याप्त मात्रा में उपयोग करने का सुझाव दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि समप्रकृति वाले पुरुषों से वातादि-प्रकृति-प्रधान पुरुषों को रोग तथा ऋतुविशेष में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह साधारणतया उस प्रकार के आहार-विहार का सेवन करे जो दोष-वर्धन न करता हुआ स्वास्थ्यवर्धन में सहायक हो।

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदमुखानि[१] च। मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥४२॥
मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान् मलसङ्क्षयम्। मलायनानां बुध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च ॥४३॥

रोग-प्रतिरोधक प्रकरण (Preventive Methods for Diseases)—नीचे (मल तथा मूत्र मार्ग) के दो छिद्र (गुद, मूत्रेन्द्रिय), सात छिद्र शिर (ग्रीवा से ऊपरी भाग) में—(नासिका के २ छिद्र, कान के २ छिद्र, आँख के २ छिद्र और १ मुख का = ७) और स्वेदमुख (जहाँ से पसीना निकलता है, अर्थात् रोमकूप) ये सब मलायन = मल के मार्ग हैं। ये (मलायन) वातादि दोषों से दूषित तथा परिणाम में बढ़े हुए मलों से विकार को प्राप्त हो जाते हैं।

उक्त मल-मार्गों से भारीपन प्रतीत होने से मल की वृद्धि तथा लघुता प्रतीत होने से मल का क्षय हुआ है, समझना चाहिये। और मलों के संग (रुकावट) से मल की क्षीणता तथा अधिक निकलने को देखकर मल की वृद्धि समझनी चाहिये।

वक्तव्य—'खानि' खनु अवदारणे धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर 'खम्' शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसी के बहुवचन में खानि रूप बनता है। 'खानि' के पर्याय—'खं स्वः संविदि व्योमनीन्द्रिये। शून्ये बिन्दौ सुखे खस्तु सूर्ये'। इति हैमः। तथा—इस सन्दर्भ में मेदिनी एवम् अमरकोष भी द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर खानि शब्द प्रारम्भ में इन्द्रियार्थ वाचक है तथा 'स्वेदमुखानि' के रूप में छिद्रवाचक है। जिनको रोमकूप भी कहते हैं। इनकी संख्या स्कन्दपुराण में ३,५०,००,००० हैं। देखें—'तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटीश्च सन्ति रोमाणि मानुषे'। स्कन्दपुराण।

आयुर्वेद की मान्यतायें इससे भिन्न हैं। सिराओं और धमनियों के मुख के अग्रभागों को रोमकूप कहते हैं। हमारे शरीर में केश तथा रोमों की संख्या भी इतनी ही है। **पहला मत**—इनकी संख्या ३०,९५६ होती है। **दूसरा मत**—२९,९५६ तथा **तीसरा मत**—३२,५०९ है।

शरीर का एक मल स्वेद भी है। इसका सम्बन्ध विशेषतः मेदोधातु से रहता है। अतएव स्वेद को मेदोधातु का मल कहा गया है। इसके माध्यम से शरीर में स्थित जल (२४ घंटों में लगभग ५००-७०० सी. सी.) लवण एवम् नाइट्रोजन (नत्रजन) युक्त पदार्थों के मलों का निर्हरण होता है। स्नैहिक ग्रन्थियों से पैदा होने वाले वसाम्लों के रहने के कारण ही स्वेद (पसीना) में अम्लता होती है। शरीरस्थ जल तथा लवणों को निकालने में स्वेद तथा मूत्र दोनों ही समान कार्य करते हैं। किन्तु स्वेद रक्तभार पर आश्रित नहीं होता जब कि रक्तभार की अधिकता इसमें सहायक होती है। पाँचभौतिक संघटन की दृष्टि से स्वेद जलीय और अग्निगुण युक्त होता है।

मलवृद्धि से गुरुत्व—मलों के बढ़ने से शरीर में गुरुत्व (भारीपन) होता है और मलों के बढ़ने में कारण बताया गया है, 'मलसंग' अर्थात् उपर्युक्त मल-मार्गों (छिद्रों) से मलों के निकलने में रुकावट का होना।

लाघवात् मलसंक्षयम्—मलायनों (मलमार्गों) में हलकापन अनुभव होने से अथवा मलों का अधिक निकलना देखकर मलों के क्षय का ज्ञान करना चाहिये।

वास्तव में उक्त दोनों स्थितियों में ध्यान इस बात पर देना चाहिये कि मलों की वृद्धि क्यों हुई और मलों के अधिक निकलने में क्या कारण है। तथा क्षीणता को समझने के लिये शरीर का हलकापन और मलों का संग = रुक जाना (बाहर न निकलना) है, नहीं तो आप धोखा में पड़ जायेंगे। जैसे कोई रोगी जिसको कोष्ठबद्धता = कब्जियत (Constipation) रोग से पीड़ित हो और उसको मल प्रवृत्ति (पखाना) न हो रहा हो तो वहाँ मल की अप्रवृत्ति देखकर मल की क्षीणता का निर्णय नहीं कर देना चाहिये। क्योंकि उसमें दूसरा

१. 'स्वेदवहानि' यो.।

लक्षण गुरुता (भारीपन) विद्यमान है, अतः उसको मल की अधिकता मानना ही उचित है। वाग्भट भी इसी को समर्थन देते हैं—'मलानां त्वतिसङ्गोत्सर्गाभ्यां वृद्धिक्षयौ'। अष्टाङ्गसंग्रह।

उक्त विषय का विशेष विवेचन देखें—'अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा। विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्' ॥ चरक वि० अ० ५।

तान् दोषलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपाचरेत्। व्याधिहेतुप्रतिद्वन्द्वैर्मात्राकालौ विचारयन् ॥४४॥

व्याधि-हेतु विपरीत चिकित्सा—पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट मलवृद्धि एवम् मल की क्षीणता से होनेवाले तथा इनके (मलवृद्धि या मलक्षीणता के) लक्षणों से युक्त साध्य रोगों की चिकित्सा मात्रा (Dose) काल का विचार कर व्याधिप्रतिद्वन्द्व (व्याधिविपरीत) और हेतुप्रतिद्वन्द्व (हेतुविपरीत) तथा हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी औषध, अन्न (आहार), विहार के माध्यम से चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—चिकित्सा के पूर्व रोग की साध्यता तथा असाध्यता का विचार कर लेना चिकित्सक के यश को बढ़ानेवाला है। 'दृष्टारिष्टोऽपि जीवति' 'साध्यानुपाचरेत्' का अपवाद है। लोक में भी यह प्रचलित है—'जब तक साँसा तब तक आशा'—जब तक साँस चलती रहे तब तक चिकित्सा करते रहना चाहिये। 'साध्यानुपाचरेत्' का अभिप्राय यह है कि ऐसे रोगियों में चिकित्सक को अवश्य यश तथा धन प्राप्त होगा।

व्याधिहेतु प्रतिद्वन्द्व का कुछ संकेत तो हमने इसी अध्याय के ४१ वें पद्य के वक्तव्य में कर दिया है, विस्तृत विवेचन चरक निदानस्थान के प्रथम अध्याय में यथास्थान किया जायगा।

विषमस्वस्थवृत्तानामेते रोगास्तथाऽपरे। जायन्तेऽनातुरस्तस्मात् स्वस्थवृत्तपरो भवेत् ॥ ४५ ॥

स्वस्थवृत्त सेवन का निर्देश—जो व्यक्ति स्वस्थवृत्त में कहे गये नियमों का सावधानी पूर्वक व्यवहार नहीं करते वे पूर्वोक्त रोगों अथवा तत्सम्बन्धित अन्य रोगों से पीड़ित होते हैं। इसलिये स्वस्थ पुरुष को चाहिये कि वह सदैव स्वस्थवृत्त का आचरण करे।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'अनातुर' शब्द यह सूचित करता है कि तुरीयावस्था (चौथापन) के पूर्व से ही स्वस्थवृत्त के सेवन का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकरण में जहाँ जिस रोग की उत्पत्ति बतलायी गयी है उसमें स्वस्थवृत्त का सेवन न करना ही प्रमुख कारण है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी भूल न करे। इस सम्बन्ध में देखें—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'। सुभाषित। और भी—Prevention is better than Cure. देखिये—स्वस्थवृत्त का सेवन न करना पहली भूल है और उससे उत्पन्न होने वाले रोगों से अपने को पीड़ित करना दूसरी दुःखदायक भूल। अतः सभी को चाहिये वे अपने हित के लिये स्वस्थवृत्त का सेवन करें।

उक्त पद्य में—'एते रोगाः' तथा 'अपरे रोगाः' इस प्रकार रोगों को दो भागों में विभक्त किया है। यहाँ पर व्याकरणशास्त्र के प्रस्तुत नियम पर ध्यान दें—'समीपतरवर्ति च एतदो रूपम्' अर्थात् अधिक समीपवर्ती वस्तु आदि के लिए '**एतत्**' शब्द का प्रयोग होता है। अतः 'एते रोगाः' से इसी अध्याय के ४३वें श्लोक में कहे गये मलवृद्धि तथा मलक्षयजनित रोगों का ग्रहण किया गया है और 'अपरे रोगाः' से इनके अतिरिक्त तथा अधिक मात्रा में भोजन करने, वेग धारण आदि से उत्पन्न सभी रोगों का अनुसन्धान करना चाहिये।

[१]माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः। सहस्यप्रथमे चैव हारयेद् दोषसञ्चयम् ॥ ४६ ॥

दोष-निर्हरण काल—वैशाख के प्रथम मास (चैत्र) में, नभस्य (भाद्रपद) के प्रथम मास (श्रावण) में और सहस्य (पौष) के प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में संचित दोषों का (पञ्चकर्म द्वारा) निर्हरण करावे।

वक्तव्य—महर्षि चरक ने जिन मासों में संचित दोषों के निर्हरण की चर्चा कर रखी है, वृद्ध वाग्भट इसके विपरीत मत उपस्थित करते हैं। यथा—'शीतोष्णवर्षानिचितं चैत्रश्रावणकार्तिके। क्रमात् साधारणे श्लेष्म-

१. 'माधवो वैशाखस्तस्य प्रथमश्चैत्रः, एवं नभस्यस्य भाद्रस्य प्रथमः श्रावणः तथा सहस्यस्य पौषस्य प्रथमो मार्गशीर्षः। वसन्तादीनामन्तिममासेषु वमनाद्यभिमानं संपूर्णप्रकोपे भूते निर्हरणोपदेशार्थं, प्रथमेषु हि मासेषु फाल्गुनाषाढकार्तिकेषु प्रकोपः प्रकर्षप्राप्तो न भवति, चितस्य ह्यसम्यक् प्रकुपितस्याविलीनस्य सम्यङ्निर्हरणं न भवति' इति चक्रः।

वातपित्तं हरेद् द्रुतम् ॥ प्रावृड्शरद्वसन्तानां मासेष्वेतेषु वा हरेत् । साधारणेषु विधिना त्रिमासान्तरितान् मलान् ॥ वाग्भट का मत इस प्रकार है—'कार्तिके श्रावणे चैत्रे मासि साधारणे क्रमात् । वर्षादिसञ्चितान् दोषांस्त्रिमासान्तरितान् हरेत्' ॥ इस प्रकार दोनों वाग्भटों का मतैक्य है ।

उक्त वचनों का तात्पर्य यह है कि कार्तिक में पित्त का निर्हरण करना चाहिये । सच पूछिये तो यह निर्देश पित्त के अत्यन्त सञ्चित हो जाने पर कार्तिक में पित्त को निकालने के लिये है । सामान्य स्थिति में मार्गशीर्ष आदि चरकोक्त मास ही ठीक हैं । नहीं तो आगे चलकर वाग्भट सर्वथा चरक का अक्षरशः अनुकरण न करते । ध्यान दें—छन्द, भाषा-शैली तथा विषय की समानता पर—

वाग्भट—'शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले । घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु' ॥ अष्टांगहृ० सू० अ० ४।३५ ।

चरक—'हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले । घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ च० शा० अ० २।४४ । इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों के सिद्धान्त में इस विषय पर कोई मतभेद नहीं है ।

माधवप्रथमे—'माधवो वैशाखस्तस्य प्रथमश्चैत्रः, एवं नभस्यस्य (भाद्रपदस्य) प्रथमः श्रावणः, तथा सहस्यस्य (पौषस्य) प्रथमो मार्गशीर्षः । एते मासाश्चैत्रश्रावणमार्गशीर्षा रोगभिषग्जितीये (वि० अ० ८) शोधनार्थे प्रावृडादिक्रमेण निर्दिष्टाः सन्ति । वसन्तादीनामन्तमासेषु तु वमनाद्यभिधानं सम्पूर्णप्रकोपे भूते निर्हरणोपदेशार्थं, प्रथमेषु हि मासेषु फाल्गुनाषाढकार्तिकेषु प्रकोपः प्रकर्षप्राप्तो न भवति, चितस्य ह्यसम्यक् प्रकुपितस्याविलीनस्य सम्यङ्निर्हरणं न भवतीति' । चक्रपाणिः ।

'सहस्य' शब्द की व्याख्या में कुछ व्याख्याकारों ने हरिश्चन्द्र के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—'हरिश्चन्द्र ने यहाँ सहस्य का अर्थ अगहन किया है और उसके प्रथम कार्तिक मास में पित्त का निर्हरण करना बताया है । उसी के अनुसार वाग्भट ने भी' । यह काल-निर्धारण की दृष्टि से अत्यन्त आपत्तिजनक है, क्योंकि दोनों वाग्भट ७वीं शती के अन्त तक हो चुके थे और हरिश्चन्द्र ११वीं शती में थे, जिनकी वंशपरम्परा इस प्रकार है—हरिश्चन्द्र-श्रीकृष्ण-दामोदर-मल्हण-केशव-ब्रह्म (भ्रातृज)-महेश्वर ।

सह-सहस्य का विचार—'मर्गे सहः सहाः' । इति शब्दार्णवः । षह मर्षणे धातु से असुन् प्रत्यय करने पर सकारान्त 'सहस्' और 'अच्' प्रत्यय करने पर अजन्त 'सह' शब्द निष्पन्न होता है । आचार्य हरिश्चन्द्र इसी सह शब्द के षष्ठी का रूप 'सहस्य' को मानते हैं । उन्होंने चरक की अभियुक्तोक्ति का विचार न करके केवल वाग्भट के मत से चरक के उक्त वाक्य का समन्वय हो सके इसलिये इतना 'द्रविडप्राणायाम' किया । अन्यथा माधव, नभस्य और सहस्य इन शब्दों में कहीं भी षष्ठी का प्रयोग तन्त्रकार ने नहीं किया तो यहीं षष्ठी का प्रयोग क्यों करते ।

दूसरा तर्क भी देखें—चैत्र, श्रावण और कार्तिक अपने में त्रिमासान्तरित (तीन-तीन महिने के अन्तर वाले) नहीं होते । वाग्भट यहाँ पर स्वयं में चूक कर गये हैं । त्रिमासान्तरित की दृष्टि से चरक का वचन शत-प्रतिशत ठीक उतरता है और वाग्भट के उक्त पद्य के पूर्वार्ध-परार्ध में स्वयं विसंगति है ।

स्निग्धस्विन्नशरीराणामूर्ध्वं चाधश्च नित्यशः । बस्तिकर्म ततः कुर्यान्नस्यकर्म[1] च बुद्धिमान् ॥४७॥
यथाक्रमं यथायोगमत[2] ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् । रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥४८॥

पञ्चकर्म-रसायन-वाजीकरण-प्रयोग—बुद्धिमान् (जितहस्त) चिकित्सक को चाहिये कि उपर्युक्त महिनों में शरीर का स्नेहन, स्वेदन करके यथासमय ऊपरी तथा निचले अंगों के दोषों को निकालने के लिये वमन, विरेचन, बस्तिकर्म एवम् नस्तःकर्म (नस्य या शिरोविरेचन) का यथाक्रम प्रयोग करें । तदनन्तर कालवित् (किस समय किसका प्रयोग करना चाहिये, इसमें कुशल) चिकित्सक सिद्ध रसायनों तथा सिद्ध वृष्य (वीर्यवर्धक) योगों का प्रयोग कराये ।

वक्तव्य—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति (भेद—अनुवासन, निरूहण अथवा आस्थापन), उक्त

१. 'नस्तकर्म' यो. ।
२. 'यथायोग्यमत' च. ।

बस्तियाँ गुद मार्ग से दी जाती हैं । जो बस्ति पुरुष या स्त्री के मूत्र-मार्ग तथा भग में प्रविष्ट करायी जाती है, उसे 'उत्तर-बस्ति' कहते हैं । इन क्रियाओं द्वारा जब शरीर का भलीभाँति शोधन हो जाय तब कालवित् चिकित्सक यथाक्रम और यथा योग (जिन-जिन द्रव्यों से जो-जो रसायन तथा वाजीकरण योग बनते हैं, बनाकर) शुद्ध शरीर वाले व्यक्तियों को यथायोग्य सेवन कराये । सिद्धानि—का तात्पर्य है, जो रसायन तथा वृष्ययोग अनुभूत हों और जिनका प्रयोग-फल अनेक बार देख लिया गया हो ।

रोगास्तथा न जायन्ते प्रकृतिस्थेषु धातुषु । धातवश्चाभिवर्धन्ते जरा मान्द्यमुपैति च[1] ॥४९॥

पञ्चकर्म-रसायन-वाजीकरण सेवन से लाभ—पञ्चकर्मों द्वारा शरीर को शुद्ध कर लेने के बाद रसायन तथा वाजीकरण योगों का सेवन करने से वात आदि धातु अपनी प्रकृति में स्थित रहते हैं अर्थात् विकृत नहीं होने पाते, फलतः रोगों की उत्पत्ति नहीं होती, रस-रक्त आदि धातुओं की वृद्धि होती है और बुढ़ापा की गति मन्द पड़ जाती है ।

वक्तव्य—पञ्चकर्मों द्वारा शुद्ध शरीर में रसायन, वाजीकरण योगों का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है । जैसे निर्मल वस्त्र में रंगों का । **जरा मान्द्यमुपैति**—अर्थात् अवस्थानुसार वृद्ध हो जाने पर भी उक्त प्रकार के रसायन आदि के सेवन करने वाले व्यक्ति में वृद्धावस्था के लक्षण (चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ना, कमर का झुक जाना, कम देखना आदि) नहीं दिखलायी देते ।

विधिरेष विकाराणामनुत्पत्तौ निदर्शितः । निजानामितरेषां तु पृथगेवोपदेक्ष्यते ॥ ५० ॥

रोग-प्रतिरोधक प्रकरण का उपसंहार—उपर्युक्त स्वस्थवृत्त सम्बन्धी विधि का यहाँ इसलिये निर्देश किया गया है कि निज (वातादिदोष सम्बन्धी शारीरिक) विकारों की उत्पत्ति न हो सके और दूसरे विकारों (आगन्तुज तथा मानसों) को दूर करने की विधि का उल्लेख अलग किया जायगा ।

वक्तव्य—नीरोग रहने के उपायों के उपसंहार में वाग्भट ने सुभाषित के रूप में निम्नोक्त पद्य दिया है । इसका प्रतिदिन आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चित ही सुखी रह सकता है । यथा—'नित्यं हिताऽऽहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः । दाता समः सत्यपरः क्षमावान्, आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः' ॥ अष्टांगहृ० सू० अ० ४ ।

ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसम्भवाः । नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति ॥५१॥
ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये । मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥५२॥

आगन्तुज एवम् मानसिक रोगों के अन्तर्जात कारण (Aetiology of Endogenous and Mental Diseases)—भूत, विष, वायु, अग्नि एवम् चोट आदि के लगने से जो मनुष्यों को (आगन्तुज) पीड़ायें होती हैं उन सबका मूल कारण प्रज्ञापराध है । ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान (गर्व या अहंकार) एवम् द्वेष आदि के कारण जो अनेक प्रकार के मानसिक विकार होते हैं, उन सबका कारण भी प्रज्ञापराध ही है ।

वक्तव्य—'सर्वव्यवहारहेतुः गुणो बुद्धिः ज्ञानम् । सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्च' । तर्कसंग्रह । अर्थात् सभी प्रकार के व्यवहारों के कारणरूप गुण को बुद्धि, ज्ञान अथवा प्रज्ञा कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं—१. स्मृति, २. अनुभव । 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' । तथा 'समबुद्धिर्विशिष्यते' । इत्यादि सुभाषित इसके प्रमाण हैं कि प्रज्ञापराध से प्राणान्त तक हो सकता है, सामान्य रोगों की तो चर्चा ही क्या की जाय । 'चत्वारो मूर्खपण्डिताः' प्रज्ञापराध के ही उदाहरण हैं । चरक में भी आगे इस प्रकार का वर्णन किया गया है । देखें—'धी-धृति-स्मृति-विभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम् । प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्' ॥ च० शा० अ० १ ।

साङ्ख्यकारिका में देखें—'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्' । अर्थात् बुद्धि (प्रज्ञा) सब विषयों का ज्ञान रखती है, फिर भी मनुष्य प्रमाद करता है तो उसका फल भी भोगता है । इससे सिद्ध होता है कि आगन्तुज एवम् मानसिक रोगों का कारण प्रज्ञापराध है ।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः । देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥५३॥

१. 'चान्तमुपैति च' ग. ।

आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निर्दशितः। प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ॥५४॥

आगन्तुज रोगों की अनुत्पत्ति के उपाय—उपर्युक्त प्रज्ञापराधों का सर्वथा त्याग, इन्द्रियों का उपशम (जितेन्द्रिय होना), स्मृति, देश, काल तथा आत्मा का परिज्ञान, सद्वृत्त का परिपालन अर्थात् सद्वृत्त प्रकरण में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार आहार-विहार करना, यह सब आगन्तुज रोगों को उत्पन्न न होने देने का मार्ग दिखाया गया है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह रोगों की उत्पत्ति के पहले ही वैसा कर्म करे जिसमें वह अपना हित समझे।

वक्तव्य—उक्त 'प्राज्ञः……दात्मनः'। पद्यांश द्वारा तन्त्रकार ने एक बार पुनः प्रकारान्तर से प्रज्ञापराधों का त्याग और सद्वृत्त को करने की अपील की है, क्योंकि और कोई प्रकार नहीं जिससे अपना हित हो सके।

प्रज्ञापराध—मन, वाणी और शरीर भेद से अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग से युक्त प्रज्ञापराध तीन प्रकार का होता है। इसको दूसरे शब्दों में 'प्रमाद' भी कहते हैं। महाभारत में प्रमाद द्वारा मृत्यु और अप्रमाद (सावधानी) से अमृत प्राप्ति का निर्देश इस प्रकार किया है। यथा—'प्रमादं वै मृत्युरहं ब्रवीमि, तथाऽप्रमादममृतं ब्रवीमि'॥ म० उ० अ० ४२।४।

स्मृतिः—स्मृतिः पुत्रादीनां विनश्वरस्वभावाद्यनुस्मरणम्। उक्तं च—'स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखाद् विमुच्यते'। भवति (उत्पद्यते) इति = भावः, तेषां = भावानाम्।

[1]आप्तोपदेशप्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम्। विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये ॥५५॥

आप्तोपदेश-सेवन से लाभ—आप्त पुरुषों के उपदेशों का विधिपूर्वक ज्ञान करना और जानकर उसको व्यवहार में लाना ये दो कारण हैं, जिनकी सहायता से रोगों की उत्पत्ति को रोका जा सकता है तथा उत्पन्न रोगों की शान्ति (निराकरण) की जा सकती है।

वक्तव्य—आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प० अ०) धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'आप्त' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका पर्याय है 'प्रत्ययितः' अर्थात् विश्वास का आधार।

चरक में आप्त की परिभाषा—'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां ज्ञानमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः'॥ च० सू० अ० ११।

वात्स्यायन द्वारा प्रदत्त परिभाषा—'आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा'। न्यायदर्शन भाष्य।

पापवृत्तवचः सत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः। मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः ॥५६॥
परापवादरतयश्चपला रिपुसेविनः[2]। निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥५७॥

सहवास के अयोग्य पुरुष—वाणी और मन से जो पाप युक्त चरित्र वाले हों, चुगलखोर, कलहप्रिय (झगड़ा करना जिनका स्वभाव हो), ऐसा उपहास करने वाले जिससे दूसरों के मर्मस्थलों (हृदय आदि) में चोट पहुँचे, लोभी, दूसरे की उन्नति को देखकर जलने वाले (ईर्ष्यालु), धूर्त, दूसरों की निन्दा करने में तत्पर, चपल (अस्थिर स्वभाव वाले), शत्रुओं के वश में रहने वाले, निर्दयी और अपने धर्म से रहित, नीच पुरुषों का सहवास न करें।

वक्तव्य—'न नीचजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि'। भर्तृहरि। 'वरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देहु विधाता'। तुलसीदास। दुष्ट पुरुषों के परिचय के लिये ये सूक्तियाँ पर्याप्त हैं।

बुद्धिविद्यावयः शीलधैर्यस्मृतिसमाधिभिः। वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥५८॥

१. 'आप्तोपदेशः प्रज्ञानम्' इति पा.। 'आप्तानामुपदेशस्य प्रकर्षेण ज्ञानं, प्रतिपत्तिरुपदिष्टार्थस्य सम्यगवबोधः'। चक्रः। 'आप्तोपदेशः प्रज्ञानां प्रतिपत्तिश्च' ग.। 'प्रज्ञानां प्रमाणसिद्धानां बुद्धीनां कर्त्रीणां प्रतिपत्तिः प्रतीतिः। प्रमया बुद्ध्या यत् प्रतिपद्यते सा'। गङ्गाधरः।

२. 'परनारीप्रवेशिनः' यो.।

सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः। सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥५९॥

सहवास के योग्य पुरुष—जो मनुष्य बुद्धि, विद्या, वय (अवस्था), शील (सदाचार), धैर्य, स्मृति एवम् समाधि आदि गुणों द्वारा वृद्ध (परिपक्व बुद्धि वाले) हो गये हों, वृद्धों की कायेन, वाचा, मनसा सेवा करते हों, दूसरों के स्वभाव को जानने वाले, नीरोग (त्रिविध तापों से मुक्त), प्रसन्नचित्त, सर्वदा शान्त, रहने वाले, शंसितव्रत (अपनी बात को निभाने वाले), सभी प्राणियों को उचितमार्ग का निर्देश करने वाले और जिनका दर्शन तथा नामश्रवण पुण्य (सुख) दायक होता है, उनके साथ सहवास करना चाहिये।

वक्तव्य—उपर्युक्त गुण जिनमें होते हैं, वे पुरुष सामान्य पुरुषों से अवस्था में कम होने पर भी विशिष्ट (वृद्ध) माने जाते हैं। ये सभी गुण दैवीसम्पत् के लक्षण हैं। धर्मशास्त्र में वृद्धों की सेवा करने वालों की प्रशंसा में लिखा है—'चत्वारि तस्य वर्धन्ते ह्यायुर्विद्या यशोबलम्'। **वृद्धों के भेद**—वयोवृद्ध, धर्मवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आगमवृद्ध। 'वृद्धा न ते ये प्रवदन्त्यधर्मम्'। सुभाषित। 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः'। उत्तररामचरित।

आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च। परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने ॥६०॥

हित सेवन निर्देश—बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है कि इस लोक तथा परलोक (दोनों लोकों) में सुख-प्राप्ति की इच्छा से हितकारक आहार, आचार (सदाचार) और चेष्टा (विहार) का सेवन जिस प्रकार हो सके, उस प्रकार का यत्न करे।

वक्तव्य—दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त तथा किन वेगों को रोकना चाहिये और किन वेगों को नहीं रोकना चाहिये आदि पूर्वकथित सभी प्रयत्नों के आचरण से मनुष्य दोनो लोकों में सुखी रहता है, यह उक्त पद्य का आशय है।

न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्। नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना[1] ॥६१॥

दधि भक्षण विचार—रात्रि में, घी-चीनी मिलाये विना, मूंग की दाल के सूप (रस) के विना, मधु के विना, न गरम करके और न आंवलों के विना दही नहीं खाना चाहिये।

वक्तव्य—'आहारचारचेष्टासु' आदि उपर्युक्त पद्य में जो हितसेवन की चर्चा की गयी है, उसका यह पद्य उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार आहार आदि चेष्टाओं के प्रति मनुष्य को जागरूक रहना चाहिये। उक्त पद्य का आशय है—रात में दही का भक्षण कभी न करें, और गरम करके भी न खायें और जब भी खाने की इच्छा हो तो उक्त द्रव्यों में से किसी एक को मिला कर उसका सेवन करें। इस प्रकार दही निरापद हो जाता है।

आचार्य जतूकर्ण का मत—'नाश्नीयाद् दधि नक्तमुष्णं वा, न घृतमधुशर्करामुद्गामलकैर्विना वा, न वाऽप्यलवणं नोदकवर्जितं वा भुञ्जीत'॥

दही का परिचय—'दधि मधुरमम्लमत्यम्लं चेति'। सुश्रुत सू० अ० ४५। अर्थात् दही तीन प्रकार का होता है—१. मधुर २. अम्ल और ३. अत्यम्ल। आगे चलकर एक भेद और लिखा गया है—'मन्दजात', यही 'तरुणं दधि' है। इसका सेवन त्रिदोषकारक होता है।

दही के भेदोपभेदों का वर्णन—'स्वाद्वम्लमत्यम्लकमन्दजातं, तथा शृतक्षीरभवं सरश्च। असारमेवं दधिसप्तधाऽस्मिन् वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव'॥ सु० सू० अ० ४५।

दधि सेवन में काल-विचार—शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम्। हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते'॥ सु० सू० अ० ४५। अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में प्रायः दधि का सेवन न करे तथा वर्षा, हेमन्त, शिशिर में सेवन करें। किन्तु 'सावन साग न भादों दही' उक्ति इसके विपरीत है।

वाग्भट का विचार—'नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न। नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितो-

१. अस्याग्रे—'अलक्ष्मीदोषयुक्तत्वान्नक्तं तु दधिवर्जितम्। श्लेष्मलं स्यात् स सर्पिष्कं दधिमारुतसूदनम्॥ न च संधुक्षयेत् पित्तमाहारं न विघातयेत्। शर्करासंयुतं दद्यात्तृष्णादाहनिवारणम्॥ मुद्गसूपेन संयुक्तं दद्याद्रक्तानिलापहम्। सुरसं चाल्पदोषं च क्षौद्रयुक्तं भवेद्दधि॥ उष्णपित्तास्रकृद्दोषान् धात्रीयुक्तं तु निर्हरेत्॥' इति क्वचिदधिकः पाठो लभ्यते।

पलम् ॥ न चानामलकं चापि नित्यं नोऽमन्दमन्यथा । अष्टांगहृ० सू० अ० ५ । यहाँ भी वाग्भट ने सर्वथा चरक का ही अनुसरण किया है ।

भावमिश्र का मत—'आदौ मन्दं ततः स्वादु स्वाद्वम्लं च ततः परम् । अम्लं चतुर्थमत्यम्लं पञ्चमं दधि पञ्चधा' ॥ भावप्रकाश ।

लोक व्यवहार—'दही बिना गयी रसोई' यह सूक्ति सुप्रसिद्ध है । इसका आशय यह है कि भोजन में दही का प्रमुख स्थान है । यात्राकाल में इसका दर्शन भी शुभ माना जाता है । पूर्व के कुछ जिले ऐसे हैं जहाँ च्यूड़ा-दही के भोजन के बिना सभी भोजन पदार्थ व्यर्थ समझे जाते हैं । जहाँ तक इसके महत्व की बात है, यह भूलोक में ही प्राप्त है, स्वर्ग में नहीं । प्रायः देखा जाता है कि दही का सेवन शास्त्रनिर्देश के बाद भी दिन और रात में होते देखा जाता है । गुण-दोष का विचार कर इसका सेवन रोगी पुरुषों को छोड़कर सब नहीं करते हैं । जहाँ तक रात्रि में दही न खाने की बात है, उस समय भी घी-चीनी मिलाकर सेवन करने से हानि नहीं होती ।

न उष्णं दधि—दही को गरम कर के नहीं खाना चाहिये किन्तु दही को घोलकर आलू आदि की सब्जी में उसको रसेदार बनाने के लिये डाला जाता है । इस स्थिति में उसको खाया जाता है और हानिकर भी नहीं होता । सामान्यतया दही को गरम करके खाने की परम्परा भी नहीं है, न ऐसा देखा ही जाता है, फिर भी कहीं दही को गरम करके खाने की भी परम्परा हो सकती है ।

रात्रि में दही खाना अलक्ष्मी (हीनता-शोभा या निर्धनता) कारक तथा कफ आदि दोषों का वर्धक होता है, अतः इसका सेवन वर्जित है । घी के साथ दही का सेवन कफवर्धक एवं वायुनाशक, पित्तशामक तथा आहार का पाचक होता है । चीनी के साथ दही का सेवन तृष्णा तथा दाह का शमन करता है । मूंग की दाल के रस से दही का सेवन रक्तदोष एवम् वातविकारों का शमन करता है । दही में शहद मिलाकर खाने से वह सुस्वादु लगता है और उसके सभी दोष घट जाते हैं । दही को गरम करके सेवन करने से रक्तपित्त रोग की वृद्धि अथवा पित्त तथा रक्त दोनों दूषित हो जाते हैं और आँवला के चूर्ण के साथ सेवन करने से यह दोषों का निर्हरण करता है ।

भले ही चक्रपाणि आदि व्याख्याकारों ने ऊपर टिप्पणी में दिये गये पाठ को प्रक्षिप्त माना हो किन्तु उक्त श्लोकों में सूत्ररूप में कहे गये विषय का इन पद्यों में युक्ति-युक्त विवेचन किया गया है । प्रक्षिप्त पाठों के निर्णयाधिकारी विद्वान् इस ओर ध्यान दें ।

ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान् । प्राप्नुयात् कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥६२॥

दधिप्रिय के नियम—यदि दधिप्रिय (जिसको दही अत्यन्त प्रिय है, ऐसा) मानव उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करके दही का सेवन करता है तो उसको ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डुरोग, भ्रम (चक्कर आना) और उग्र (बढ़ा हुआ) कामला आदि रोग हो जाते हैं ।

वक्तव्य—उक्त समस्त रोग दधि सेवन के व्यभिचार से होते हैं । इसी को वाग्भट ने इस प्रकार लिखा है—'ज्वराऽसृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम्' । अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ५ ।

तत्र श्लोकाः—

वेगा वेगसमुत्थाश्च रोगास्तेषां च भेषजम् । येषां वेगा विधार्याश्च यदर्थं यद्धिताहितम् ॥६३॥
उचिते चाहिते वर्ज्ये सेव्ये चानुचिते क्रमः । यथाप्रकृति चाहारो मलायनगदौषधम् ॥६४॥
भविष्यतामनुत्पत्तौ रोगाणामौषधं च यत् । वर्ज्याः सेव्याश्च पुरुषा धीमताऽऽत्मसुखार्थिना[1] ॥६५॥
विधिना दधि सेव्यं च येन यस्मात्तदत्रिजः । न वेगान् धारणेऽध्याये सर्वमेवावदन्मुनिः ॥६६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
न वेगान् धारणीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. 'धीमता ये सुखार्थिना' यो. ।

उपसंहार—अधारणीयवेग, उनको रोकने से होने वाले रोग, उनकी चिकित्सा, धारण करने योग्य वेग, जिसके लिये जो जो हित अथवा अहितकर हो, उचित (हितकर) का सेवन और अहित (हानिकारक) का त्याग, क्रम, प्रकृति के अनुसार आहार का सेवन, मलायनों (मलमार्गों) की गणना, उनसे सम्बन्धित रोग तथा उनकी चिकित्सा, होने वाले रोगों को उत्पन्न होने से रोकने वाले औषध का वर्णन, अपने सुख को चाहने वाले पुरुष के लिये सहवास करने अथवा न करने योग्य व्यक्ति और जिस विधि से दही का सेवन करना चाहिये, इन सब विषयों का वर्णन महर्षि आत्रेय ने 'न वेगान् धारणीय' अध्याय में किया है ।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न पण्डित **तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में न वेगान् धारणीय नामक सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथात इन्द्रियोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

न वेगान् धारणीय अध्याय के अनन्तर इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय की व्याख्या करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

वक्तव्य—यह आठवाँ अध्याय स्वस्थवृत्त चतुष्क का उपसंहारात्मक है । स्वस्थवृत्त का सम्बन्ध इन्द्रियों, उनके अर्थों तथा उनकी सर्वविध चेष्टाओं से है, अर्थात् आहार, आचार, चेष्टाओं का विशद वर्णन करने की दृष्टि से ही प्रस्तुत अध्याय का निरूपण किया गया है ।

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः, पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति, इत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे ॥ ३ ॥

पञ्च-पञ्चक (Group of Five)—प्रस्तुत प्रकरण में पाँच इन्द्रियाँ हैं, पाँच ही इन्द्रियों के द्रव्य हैं, पाँच ही इन्द्रियों के अधिष्ठान अथवा आश्रय हैं, पाँच ही इनके अर्थ (विषय) हैं और पाँच ही इनकी बुद्धियाँ (ज्ञान) हैं, ऐसा इस अधिकार में कहा गया है ।

वक्तव्य—पाँच इन्द्रियाँ—'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च' । **इनके पाँच द्रव्य**—आकाश, तेज, वायु, जल और पृथिवी । **इनके स्थान**—कान, नेत्र, त्वचा, जीभ, नासिका । **पाँच इन्द्रियार्थ**—शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध । **पाँच इन्द्रिय-बुद्धियाँ**—शब्दज्ञान, रूपज्ञान, स्पर्शज्ञान, रसज्ञान और गन्धज्ञान ।

इह खलु—इस प्रसंग में पाँच इन्द्रियों से सम्बन्धित चर्चा की गयी है । अन्यत्र इन्होंने 'मन' का ग्रहण छठी इन्द्रिय के रूप में किया है । यथा—'तत्र मधुरो रस'''षडिन्द्रियप्रसादनः' । चरक सू० अ० २६ । ऐसा ही उल्लेख सुश्रुत में भी मिलता है—'तत्र मधुरो रसो'''षडिन्द्रियप्रसादनः' ॥ सु० सू० अ० ४२ । हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का नियामक मन ही है । यथा—'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः' ॥ गीता अ० ६ ।

इन्द्रिय—इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्, 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रियदत्तमिति वा' । ५।२।९३ । इति साधुः । 'इन्द्रियं तु चक्षुरादिषु रेतसि' इति हेमचन्द्रः । इन्द्रो हि शरीरे परमैश्वर्यवान्, आत्मा चेतनाधातुपरपर्यायः, तस्य इदं रूपदर्शने साधनं करणं वा, इति ।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्[1] ॥ ४ ॥

१. 'तदिति मनः, तस्यार्थो मनोर्थः, स च सुखादिभिश्चिन्त्यविचार्यादिश्च; आत्मा चेतनम्प्रति, सन्धाता;

मन सम्बन्धी विचार—मन को अतीन्द्रिय कहा है, इसी की 'सत्त्व' संज्ञा भी है। कुछ आचार्य इसको 'चेतस्' कहते हैं। वह मन इन्द्रिय (चक्षु आदि) ग्राह्य अर्थ (सुखादि विषय) और आत्मा (जीवात्मा) इन दोनों के संयोग से चेष्टा (व्यापार) करता है, एवम् इन्द्रियों के व्यापार तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यय (ज्ञान) में (वह मन) कारण (प्रेरक) होता है।

वक्तव्य—चरक में मन को जो अतीन्द्रिय माना है, यह नैयायिकों का मत है। क्योंकि वे मन को परमाणुस्वरूप मानते हैं अतएव वह अतीन्द्रिय है। अर्थात् 'इन्द्रियम् अतिक्रान्तम्'। दूसरे आचार्य (मीमांसक) मन को विभु (व्यापक) पदार्थ मानते हैं। अन्नम्भट्ट का मत—'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च'। तर्कसंग्रह। तथा—'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्'। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।

तदर्थात्म०—तत् = मनः, अर्थः = इन्द्रियसम्बन्धिविषयः, अर्थश्च आत्मा च अर्थात्मानौ तयोः सम्पत् = सामर्थ्यं सान्निध्यं वा, तदायत्ता चेष्टा = व्यापारः यस्य तत्। इन्द्रियाणां चेष्टा प्रत्ययश्च तयोः कारणम्, इति विशकलितोऽर्थः।

नैयायिकों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया—'आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षम्'। तर्कसंग्रह दीपिकाव्याख्या। अर्थात् आत्मा का संयोग मन से, मन का इन्द्रिय विशेष से और उस इन्द्रिय का अपने विषय से संयोग होने पर तब उस विषय का प्रत्यक्ष होता है।

मन का इन्द्रियों से संयोग न होने की स्थिति—'वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थं यन्तं नोपलेभे'। महाभाष्य। ३।२।११५। अर्थात् वैयाकरण शाकटायन राजमार्ग (सड़क) पर बैठे थे किन्तु उनका मन किसी विषय विशेष में व्यासक्त था अतः उन्होंने सामने से जाते हुए गाड़ियों के समूह को नहीं देखा। अतः यहाँ पर शाकटायन के मन का चक्षुः इन्द्रिय से संयोग का अभाव ही कारण था।

इसी विषय को प्रकारान्तर से महाभारत में इस प्रकार कहा गया है—'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न च चक्षुषा। मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥ यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते। न त्विन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति'॥ म० भा० शान्ति०।

मन को अतीन्द्रिय कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियों के अपने-अपने नियत कर्म होते हैं और मन का कोई विषय नियत नहीं है, यह उभयविध इन्द्रियों का प्रयोजक होते हुए भी स्वयं दोनों से अतिरिक्त है। दूसरा कारण यह भी है कि आयुर्वेद में इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक स्वीकार किया है और मन को इनके अतिरिक्त अतएव 'मन' अतीन्द्रिय है।

यद्यपि मन को चरक आदि संहिता-ग्रन्थों में दूसरे प्रकरणों में छठी इन्द्रिय के रूप माना है, जैसा कि हम इसी अध्याय में निर्देश कर चुके हैं, क्योंकि यह भी अन्य चक्षुः आदि इन्द्रियों की भाँति सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, परन्तु यह मन चक्षुः आदि इन्द्रियों का अधिष्ठाता (नियामक) होने के कारण अतीन्द्रिय कहा गया है। अथवा यों कह सकते हैं कि ये इन्द्रियाँ स्थूल हैं और मन सूक्ष्मतर होने के कारण अतीन्द्रिय है अथवा सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ही ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती हैं और यह (मन) सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करता है, इसलिये भी इसको अतीन्द्रिय कहते हैं।

स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च; न चानेकत्वं, [1]नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते; तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः॥ ५॥

मन के एकत्व का विवेचन—स्वार्थ—(स्व = मन, अर्थ = चिन्त्य-विषय) के व्यभिचार (भेद) से मन एक होने पर भी अनेक रूपों से भासमान (प्रतीत) होता है। **इन्द्रियार्थ**—इन्द्रिय = चक्षुः आदि,

अनयोः संपत्तदर्थात्मसम्पत्; एतदायत्ता चेष्टा व्यापारो यस्य तत्तथा। तत्रार्थसम्पत् सुखादीनां सन्निकर्षाश्चिन्त्यादीनामाभिमुख्यं च, आत्मसम्पदर्थग्रहणे प्रयत्नशालित्वं; मनश्चेष्टा च सुखादिज्ञानं तथा चिन्त्यचिन्तनादि तथा चक्षुरादीन्द्रियप्रेरणं च; इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां या चेष्टा स्वविषयरूपादिज्ञानलक्षणा, तत्र प्रत्ययभूतं कारणभूतं मन इति योज्यं, चक्रः।

१. 'नाप्येकं' ग. 'न चानेकं ह्येककालं प्रवर्तते' यो.।

अर्थ = ग्राह्य विषय) के भेद से एक ही मन अनेक रूप से प्रतीत होता है। **संकल्प**—उपलब्ध पदार्थों में से यह मेरा हितकारक है और यह अहितकारक है, इस प्रकार गुण-दोष कल्पना का नाम संकल्प है। अतः संकल्प भेद होने से भी एक ही मन अनेक रूप धारण करता है। इस दृष्टि से एक ही मन गुणकल्पक तथा दोषकल्पक भेदों से भिन्न प्रतीत होता है। और रजस्, तमस्, तथा सत्त्व गुणों के योग से एक ही वह सत्त्व (मन) एक ही पुरुष में अनेक प्रकार से प्रतीत होता है। इस प्रकार यह जो मन की अनेकता का वर्णन किया है, वह वास्तविक नहीं है और 'च' का ग्रहण करने से मन के महत्त्व की भी निवृत्ति हो जाती है, यह मन एक काल में एक साथ अनेक व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो पाता। इसलिये सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति एक काल में नहीं होती है।

वक्तव्य—ऊपर मन के चिन्त्य आदि अनेक विषय कहे गये हैं। वास्तव में मन एक काल में एक चिन्त्य विषय का परित्याग करने पर ही द्वितीय क्षण में दूसरे चिन्त्य विषय का ग्रहण कर पाता है, यही उसका 'स्वार्थ' है। इस प्रकार एक ही मन भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहीता होने के कारण उसके भिन्न-भिन्न रूप मान लिये जाते हैं। यथा—एक ही मन जब धर्म का चिन्तन करता है, तब उसको धर्म का चिन्तक कहा जाता है। दूसरे क्षण में जब वही मन धर्म का परित्याग करके काम का चिन्तन करता है, तब वह कामचिन्तक कहा जाता है। इस प्रकार चिन्त्य विषय का भेद होने से मन के अभिन्न होने पर भी वह भिन्न-भिन्न संज्ञक हो जाता है।

इन्द्रियार्थ—इसी प्रकार जब मन रूप का ग्रहण करता है, उस समय वह रूपग्राहक कहा जाता है और जब वह गन्ध का ग्रहण करता है तब गन्धग्राहक कहा जाता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध में भी विचार करें।

संकल्प—इसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, तथापि संकल्प भेद से एक ही मन अनेक रूप धारण कर लेता है, वास्तव में वह अनेक नहीं, एक ही है।

रजस्तमःसत्वगुणयोगात्—एक ही पुरुष में एक ही मन जब रजोगुण की बहुलता से युक्त होता है तब वह क्रोध आदि गुणों से युक्त दिखाई देता है; जब मन तमोगुण की अधिकता से युक्त होता है, तब वह अज्ञान, भय आदि से घिरा रहता है और जब मन सत्व गुण की बहुलता से पूर्ण होता है तब वह व्यक्ति सत्य, शील, शौच आदि सत्व-गुण-प्रधान गुणों से पूर्ण दिखलायी देता है। इस प्रकार एक ही मन अनेक रूपवान् प्रतीत होता है।

मन के अनेकत्व की निवृत्ति में कारण—'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ'। चरक शा० अ० १। अर्थात् मन के दो गुण हैं पहला अणुत्व और दूसरा एकत्व। इसका समर्थन गौतम मुनि की उक्ति द्वारा भी उपलब्ध होता है। यथा—'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः'। न्यायदर्शन ३।२।६। तथा 'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकमिति'। वैशेषिकदर्शन ३।२।३। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के मनोनिरूपण प्रकरण में मन के अणुत्व एवम् एकत्व विवेचन प्रसंग में शतावधानी (जो एक काल में सौ कार्यों में समानरूप से प्रवृत्त हो सकता है) आदि का विचार द्रष्टव्य है।

मनके एक होने के कारण ही एक काल में सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार एक ही नट राम, लक्ष्मण आदि का वेश भिन्न-भिन्न अवसरों पर धारण करने के कारण भिन्न नहीं हो जाता है, ठीक वही स्थिति मन की भी होती है। इसी के समर्थक 'उत्पलपत्रशतभेदन्याय' तथा 'प्रपाणकरसन्याय' भी हैं।

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वम्। तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्[1]॥ ६॥

सत्वादि प्रकृति का निर्धारण—जिस सत्व आदि गुण से मन बार-बार (या अधिक) युक्त होता

१. 'येन गुणेन सत्त्वादिना युक्तं यद्गुणम्, अभीक्ष्णं पुनः पुनः, सत्त्वं मनः, अनुवर्तते अनुबध्नाति, तत्सत्त्वं सात्त्विकं राजसं वा उपदिशन्ति, बाहुल्यानुशयात् भूरिसंबन्धादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति-सत्यपि गुणान्तरान्वये सत्त्वबाहुल्यात् सत्त्वकार्याणि सत्यशौचादीनि यस्य भवन्ति स सात्त्विक इति व्यपदिश्यते एवमपरमपि व्याख्येयम्।' इति चक्रः।

हुआ पुरुष का अनुवर्तन करता है, उसको महर्षि बाहुल्यानुशय (अधिक सम्बन्ध) के कारण क्रमशः सात्त्विक, राजस, तामस कहते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि सांसारिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य का मन समय-समय पर सत्त्वादि गुणों से न्यूनाधिक मात्रा में युक्त होता रहता है। तथापि जिस पुरुष का मन बार-बार या अधिकांश जिस सत्व आदि गुण विशेष से प्रभावित होता है, उस पुरुष के मन को तद्गुण भूयिष्ठ होने के कारण सात्त्विक, राजस या तामस कहते हैं। इसको इस प्रकार समझें—जिसका मन अधिक समय तक सत्वगुण प्रधान रहता है उसे सात्त्विक कहते हैं, इसी प्रकार अन्य भी। आज भी नाम निर्धारण उसके विशेष गुणों के आधार पर ही किया जाता है। देखें—तुलसीकृत रामायण बालकाण्ड में–राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के नाम निर्धारण का स्वरूप। इस सम्बन्ध में चक्रपाणि का व्याख्यान भी दर्शनीय है।

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के विषय-ग्रहण की विधि—मन जिनके आगे-आगे इन्द्रियार्थ ज्ञान के लिये प्रवृत्त होता है, ऐसे ही वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थ (विषय) के ज्ञान में समर्थ होती हैं।

वक्तव्य—हमने इसी अध्याय की चौथी कारिका की व्याख्या में महाभाष्य का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है—'शाकटायन-ने रथों के समूह को नहीं देखा', विशेष वहीं देखें। यहाँ पर इन्द्रियों के विषयज्ञान में मन को अग्रसर माना है। अर्थात् यदि सर्वेन्द्रिय सम्पन्न मानव भी किसी इन्द्रिय की ओर से अन्य मनस्क होगा तो उसका ज्ञान उसको उस क्षण में नहीं हो सकेगा। यही तात्पर्य है—'मनः पुरस्सर' शब्द का। इसको इस प्रकार समझें—'अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्। अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम्। मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' ॥ **बृहदारण्यकोपनिषद्।** यही कारण है कि योगशास्त्र में मनोनिग्रह पर पूर्ण बल दिया है। इसको 'प्रमाथि' कहा है। और 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। **गीता।**

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ॥ ८ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Five Senses)—चक्षुः (आँख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), 'रसन (जीभ) और स्पर्शन (त्वचा), ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

वक्तव्य—चष्टे रूपं रूपवन्तं च प्रकाशयतीति चक्षुः। शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्। जिघ्रति अनेन इति घ्राणम्। रसयति (आस्वादयति) अनेन इति रसनम्। स्पृशति अनेन इति स्पर्शनम्। चक्रपाणिः।

चक्षु का सर्वप्रथम ग्रहण विचार—'सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्'। चाणक्यनीति। सभी ज्ञानेन्द्रियों में नेत्रों की प्रधानता होती है। इसका समर्थन अन्यत्र भी देखें—'श्रोत्रत्वग्घ्राणरसनैः सर्वैरपि समन्वितः। बलवर्णायुपेतोऽपि नष्टदृक्कुड्यसन्निभः' ॥ अर्थात्, कान, नाक, जीभ, त्वचा, बल, वर्ण (रूप) और आयुष्य से युक्त होने पर भी यदि मानव नेत्रहीन है तो दीवाल की भाँति (निष्क्रिय) होता है। इसीलिये वाग्भट ने लिखा है—'चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा। व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते' ॥ अष्टाङ्गहृ० उ० १३।९३ ॥ चक्षुरिन्द्रिय के महत्व को दिखाने का यह तात्पर्य नहीं है कि इसके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों का कोई अस्तित्व नहीं है। सभी इन्द्रियों का अपने-अपने स्थान पर महत्व है। श्रोत्र के अभाव में भी मनुष्य की विचित्र स्थिति होती है। देखें—'आकर्ण्यते नैव न कापि वार्ता, सम्भाषणादपि पापशङ्की। जानाति मामेव शपन्ति सर्वे बाधिर्यरोगस्त्वभिशाप एव' ॥ सुभाषित।

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ॥ ९ ॥

पाँच इन्द्रियों के द्रव्य (Five Sense Materials)—पाँच इन्द्रियों के पाँच द्रव्यों का निर्देश—खम् (आकाश), वायु, ज्योतिः (तेज), आपः (जल) और पृथिवी।

वक्तव्य—इन्हीं आकाश आदि पाँचों को पञ्चमहाभूत भी कहते हैं। इनका समन्वय इस प्रकार किया जाता है—श्रोत्रेन्द्रिय का द्रव्य आकाश, स्पर्शनेन्द्रिय का वायु, चक्षुः इन्द्रिय का तेजस्, रसनेन्द्रिय का जल, और घ्राण (नासिका) इन्द्रिय का पृथिवी है। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न पाँच द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।

वैदिक साहित्य में आकाशादि पञ्चमहाभूतों का उत्पत्तिक्रम इस प्रकार वर्णित है—तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, इति'। उपनिषद्। इससे यह सिद्ध होता है कि आकाशादि पाँच तत्व जिन इन्द्रियों के द्रव्य हैं, वे सभी भौतिक हैं।

सुश्रुत में इन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रकार—तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते। तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः। सु० शा० अ० १।४।

उस अव्यक्त से (अव्यक्त—'न व्यज्यते स्म अथवा न व्यज्यते कार्यं यस्मिन्' अर्थात् जो व्यक्त = विशिष्ट-लक्षण युक्त नहीं होता या जिसमें कार्य व्यक्त नहीं रहता, यह सब भूतों का कारण है, परन्तु इसका कोई कारण नहीं है) अव्यक्त लक्षणों वाला (सत्व-रज-तमरूप), महान् (महत् तत्व या बुद्धि तत्त्व) उत्पन्न होता है। इस महत् तत्त्व से सत्व-रज-तम लक्षणों से युक्त अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार वैकारिक (सात्विक), तैजस (राजस), भूतादि (तामस) भेद से तीन प्रकार होता है। इनमें वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता द्वारा इन्हीं लक्षणों वाली सात्विक एवम् राजस ग्यारह (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (राजस-एक मन) इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। मन ज्ञान तथा कर्म दोनों इन्द्रियों के साथ प्रवृत्त होता है, अतः इसको उभयात्मक कहते हैं।

ऊपर अव्यक्त से महान् इससे अहंकार की उत्पत्ति का निरूपण करने के बाद ग्यारह इन्द्रियों का उत्पत्तिक्रम निर्दिष्ट है। इसमें अव्यक्त, महान् और अहंकार का जो ग्रहण किया गया है, इनका चिकित्सोप-
करण रूप में विचार नहीं किया जाता है। **यथा**—'भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते'। सु०
शा० अ० १।१३। अतः भौतिक इन्द्रियों तथा इन्द्रियार्थों का वर्णन यहाँ किया गया है। **यथा**—भौतिकानि
चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः'। सु० शा० अ० १।१४। अर्थात् चिकित्साक्षेत्र में जिन इन्द्रियों का ग्रहण
किया जाता है वे भौतिक ही हैं। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण किस प्रकार करती हैं, इस सम्बन्ध
में सुश्रुत का दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्ये-
नान्यमिति स्थितिः' ॥ सु० शा० अ० १।१५। इसके आगे सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान अध्याय १ में देखें। अन्तरिक्ष,
वायव्य, तैजस, आप्य तथा पार्थिव महाभूतों के गुणों का वर्णन इस प्रसंग का उपकारक है।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥ १० ॥

ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान (Five Sense Organs)—इन्द्रियों के द्रव्यों का वर्णन करने के
पश्चात् अब उनके पाँच आश्रयों (अधिष्ठानों) का निर्देश किया जा रहा है—१. दोनों आँखें, २. दोनों कान,
३. दोनों नासिका छिद्र ४. जीभ और ५. त्वचा।

वक्तव्य—अधिष्ठानानि—'अधिकृत्य तिष्ठन्तीति, अधिष्ठानानि'। उपर्युक्त आँख, कान आदि इन्द्रियाँ नहीं
हैं। वास्तव में इन आश्रयों में उक्त इन्द्रियाँ निवास करती हैं। जैसे—शरीर या देह में आत्मा। अन्यथा उस-उस
इन्द्रिय के अभाव में आँख, कान आदि के रहते हुए भी मानव देखने तथा सुनने में असमर्थ देखा जाता। अतएव
उन-उन इन्द्रियों के ये अधिष्ठान कहे गये हैं।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ ११ ॥

ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय (Five Sense Objects)—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः पाँच अर्थ
(विषय) इस प्रकार हैं—१. श्रोत्र (कान) का विषय शब्द, २. त्वचा का स्पर्श, ३. नेत्र का रूप, ४. रसना
(जीभ) का–रस और ५. घ्राण (नासिका) का–गन्ध।

वक्तव्य—यह शाश्वत नियम है कि जिस इन्द्रिय का जो विषय होता है वह उसी का ग्रहण करती है
दूसरे के विषय का नहीं, पशु सामान्य में इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं। यथा–साँप आँखों से सुनता है,
आदि २। इस सम्बन्ध में सुश्रुत की यह पंक्ति मननीय है—'नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः' ॥
सु० शा० अ० १। इसको इस प्रकार समझें—मनुष्य श्रोत्र द्वारा शब्द का **ही ग्रहण करता है, गन्ध का नहीं।**

क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय तथा शब्द की योनि (उत्पत्ति-स्थान) आकाश दोनों में समान है। इन तत्वों का विवेचन न्यायशास्त्र में भी अवलोकनीय है।

पञ्चेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः; ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः, क्षणिकाः, निश्चयात्मिकाश्च। इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्॥ १२॥

पाँच इन्द्रिय बुद्धियाँ (Five Sense Perceptions)—पाँच ही इन्द्रियों की बुद्धियाँ (ज्ञान) हैं। यथा—१. चक्षुः बुद्धि, २. श्रोत्र बुद्धि, ३. घ्राण बुद्धि, ४. रसन बुद्धि और ५. स्पर्शन बुद्धि। ये बुद्धियाँ अपनी-अपनी इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, सत्व (मन) और आत्मा के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होती हैं। ये बुद्धियाँ क्षणिक एवं निश्चयात्मिका (वस्तु का निर्णय अथवा उसके स्वरूप की परिचायिका) होती हैं। इस प्रकार इन पाँचों के पञ्चक (समूह) का उल्लेख कर दिया गया है।

वक्तव्य—कोषकारों ने बुद्धि को ज्ञान का पर्याय माना है। आचार्य सुश्रुत के मत में ज्ञानेन्द्रियों का नाम ही बुद्धीन्द्रिय है। **यथा**—'तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि'। सु० शा० अ० १।४।

सन्निकर्ष—'प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः'। तर्कसंग्रहः। प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) छः प्रकार के हैं। यथा—१. घ्राणसम्बन्धी, २. जीभसम्बन्धी, ३. चक्षुसम्बन्धी, ४. श्रोत्रसम्बन्धी ५. त्वचासम्बन्धी और ६. मनसम्बन्धी। यह सन्निकर्षसम्बन्ध कहीं संयोग और कहीं समवाय रूप से दृष्टिगोचर होता है। **संयोगसम्बन्ध**- चक्षु सम्बन्धी ज्ञान मन से सम्बन्धित होता है, मन चक्षुरिन्द्रिय से और चक्षु उस-उस रूप आदि से जो सम्बन्ध होता है, उसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं। **समवाय-सम्बन्ध**—श्रोत्र सम्बन्धी ज्ञान में श्रोत्र और शब्द का जो सम्बन्ध होता है उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। **क्षणिका**—यहाँ पर क्षणिका शब्द बौद्ध सिद्धान्त की भाँति (जो वस्तु पूर्व क्षण में थी वह उत्तर क्षण में नहीं है) स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु शीघ्र विनाशशील होने से तात्पर्य रखता है।

निश्चयात्मिका—इस सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश ने ऐसा निर्णय लिया है—'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्'॥ च० शा० अ० १।२३। इसका विशेष व्याख्यान यथास्थान देखें। यहाँ केवल हम इतना ही निर्देश करेंगे कि प्रस्तुत पद्य द्वारा अनुमान, स्मृति, भ्रम, संशय आदि बुद्धि के व्यापारों का निराकरण कर दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की बुद्धि अपने-अपने विषयों के आधार से अनन्त प्रकार की हो सकती है।

इन्द्रिय पञ्च-पञ्चक परिचय तालिका

पञ्च-इन्द्रिय	पञ्च-इन्द्रियद्रव्य	पञ्च इन्द्रियस्थान	पञ्च-इन्द्रियविषय	पञ्च इन्द्रियबुद्धियाँ
१. चक्षुः (आँख)	ज्योति (तेजस्)	अक्षिणी (दोनों आँखें)	रूप (Shape)	चक्षुः बुद्धि (ज्ञान)
२. श्रोत्र (कान)	ख (आकाश)	कर्णौ (दोनों कान)	शब्द (Sound)	श्रोत्र बुद्धि („)
३. घ्राण(नासिका)	भू (पृथिवी)	नासिके (दोनों नथुने)	गन्ध (Smell)	घ्राण बुद्धि („)
४. रसना (जीभ)	अप् (जल)	जिह्वा (जीभ)	रस (Teste)	रसन बुद्धि („)
५. स्पर्शन (त्वचा)	वायु (हवा)	त्वक् (त्वचा)	स्पर्श (Touch)	स्पर्श बुद्धि („)

मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसङ्ग्रहः शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, [१]द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति॥ १३॥

अध्यात्म द्रव्यगुण संग्रह—मन, मन का अर्थ (विषय) बुद्धि अर्थात् चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्श बुद्धियाँ तथा आत्मा यह अध्यात्म द्रव्य और गुणों का संग्रह है। ये उपर्युक्त अध्यात्म द्रव्य एवं गुण शुभ कार्यों की प्रवृत्ति में और अशुभ कार्यों की निवृत्ति में कारण होते हैं। और द्रव्य के आश्रित कर्म भी शुभ-अशुभ कार्यों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में कारण होते हैं। जिसको लोक-व्यवहार में क्रिया कहते हैं। उसका यहाँ कर्म पद से ग्रहण किया गया है।

१. 'तत्र द्रव्याश्रितं कर्म' ग.। 'द्रव्याश्रितं कर्म यदुच्यते सा क्रियेति' यो.।

वक्तव्य—'आत्मनि इति, किंवा—आत्मानम् अधिकृत्य = अध्यात्मम्'। अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित जो द्रव्य और गुण कहे गये हैं, उनके संग्रह को अध्यात्मगुण संग्रह कहा गया है। मन और आत्मा ये दोनों अध्यात्म द्रव्य हैं तथा रूप, रस आदि पाँच गुण हैं। इनका सत् उपयोग शुभ कर्मों की प्रवृत्ति से और अयोग, मिथ्यायोग अशुभ कर्मों को करने में कारण होता है। यहाँ पर कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के लिये किया गया है। नहीं तो वमन आदि पञ्च-कर्मों तथा आस्या (देर तक बैठे रहना), स्वप्न (देर तक सोते रहना) आदि कर्मों में भी इसका दुरुपयोग हो जाता। अतः यहाँ **'द्रव्याश्रितं कर्म'** कहा गया है। यथा—'संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते'॥ चरक सू० अ० १। इसका व्याख्यान वहीं देखें। यहाँ अध्यात्मकर्म से सद्वृत्त के आचरण के प्रति आचार्य का संकेत है।

मनोऽर्थः—अर्थ शब्द के पर्याय—चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, संकल्प्य, ज्ञेय और भी जो मन का ज्ञातव्य विषय हो उन सब को मन का अर्थ कहते हैं।

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते; तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च॥ १४॥

इन्द्रियों की विषय-ग्रहण-क्षमता—अनुमान द्वारा जानने योग्य सभी ज्ञानेन्द्रियाँ यद्यपि पञ्चमहाभूतों के विकार (परिणाम) के ही समुदाय रूप हैं, फिर भी विशेष रूप से आँख में तेज, कान में आकाश, नासिका में पृथिवी, रसना (जीभ) में जल और स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) में वायु रहता है।

उक्त अनुमानगम्य इन्द्रिय समुदाय में जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस आकाशादि पञ्च महाभूत की प्रधानता से युक्त होती हैं, वह-वह इन्द्रिय विशेष रूप से उस-उस महाभूत का ग्रहण करके ही व्यवहार करती है। क्योंकि यह उस महाभूत का स्वभाव ही होता है, अतः वह उसी विषय को ग्रहण करने की क्षमता भी रखती है।

वक्तव्य—तत्रानुमानगम्यानां—अर्थात् सभी इन्द्रियाँ प्रत्यक्षतः देखी नहीं जा सकतीं अत एव उनको 'अनुमानगम्य' कहा गया है। इनका प्रत्यक्ष कार्य-विशेष से ही हो सकता है। यथा—'रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्'। रूप, रस आदि की अभिव्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से होती है। जैसे—चक्षुगोलक तथा उसके मध्य में रहने वाले तेजस् के सहयोग से रूपदर्शन अथवा छिदिक्रियावत्—आरा और उसको चलाने वाले पुरुष के सहयोग से वृक्ष के दो टुकड़े होना, आदि। अत एव रूप, रस आदि का ज्ञान कराने में जो असाधारण कारण हैं, उनको इन्द्रियाँ कहते हैं।

यद्यदात्मकमिन्द्रियम्—इसका तात्पर्य है जिस इन्द्रिय की जो योनि, स्वभाव तथा जाति होती है वह उसी प्रकार के विषय का ग्रहण करती है। क्योंकि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'। अर्थात् जो गुण कारण में होते हैं वे ही गुण उसके कार्य में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार समान जातीय तैजस् आदि के ग्रहण से ही चक्षु आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है। यथा—'रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः, तच्च तैजसम्। रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्। गन्धोपलब्धि साधनमिन्द्रियं घ्राणम्, तच्च पार्थिवम्, गन्धवत्त्वात्। यथा—घटः। गन्धवत्त्व रूपादिषु पञ्चसु मध्ये गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणवत्। यथा—चक्षुः रूपग्राहकं रूपवत्। इसके अतिरिक्त उसमें दो और कारण दिये गये हैं—स्वभावात् और विभुत्वात् च। हम पहले स्वभाव की ही चर्चा प्रस्तुत करते हैं—'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा। परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः'। सुश्रुत शा० अ० १।११। वैद्यक शास्त्र में उदार बुद्धि वाले पुरुष लोकस्वभाव (उस-उस द्रव्य से प्रतिबद्ध सहज धर्म या गुण), ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम इनको ही उपादान कारण मानते हैं। दूसरा कारण यह भी है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'।

विभुत्वात्—'विभुत्वं सर्वगतपरिणामयोगित्वम्'। तथा—'विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्। मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम्'॥ चरक शा० अ० १।८०॥ इसका व्याख्यान यथास्थान दिया जायगा।

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सम्पद्यते, [१]समयोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति॥ १५॥

१. 'सामर्थ्ययोगात्' चक्रः।

अतियोग-योग-अयोग-मिथ्यायोग का परिमाण—उक्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग से मन के साथ विकार को प्राप्त होकर अपनी-अपनी बुद्धि (ज्ञान) के विनाश का कारण हो जाती हैं। और ये ही जब अपने-अपने विषयों के साथ समयोग युक्त (प्रकृतिस्थ) होती हैं तो अपनी-अपनी (उस-उस इन्द्रिय की) बुद्धि (ज्ञान) का सन्तर्पण (आप्यायन) करती हैं।

वक्तव्य—'अतियोगः'—रूप का अधिक दर्शन, रस का अधिक आस्वादन आदि। 'अयोगः'—रूप आदि का न देखना अथवा कम देखना। 'मिथ्यायोगः'—विकृत (विकार युक्त) अथवा घृणित रूप आदि का देखना। जैसे—वाणी का मिथ्यायोग गाली अथवा अपशब्द बकना।

समनस्कम्—मन के साथ। अथवा उक्त इन्द्रियों के अतियोग आदि का मन पर प्रभाव पड़ने से उसमें होने वाले उद्विग्नता (घबड़ाहट) आदि विकारों की उत्पत्ति में यह अर्थ भी किया जा सकता है।

'यथास्वम्'—समयोग से अपनी-अपनी बुद्धि (ज्ञान) क्रमशः चक्षुर्बुद्धि, रसनबुद्धि, घ्राणबुद्धि, श्रोत्रबुद्धि तथा स्पर्शनबुद्धि शरीर तथा मन को पुष्ट करती हैं।

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसो मनोबुद्धेश्च त एव समानातिहीनमिथ्यायोगाः प्रकृतिविकृतिहेतवो भवन्ति ॥ १६ ॥

मन के अतियोगादि का विचार—मन का विषय चिन्त्य (विचारणीय) है। इसमें चिन्त्य विषय का सम योग, अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग मन और मनोबुद्धि की प्रकृति एवम् विकृति में कारण होते हैं।

वक्तव्य—चिन्त्य शब्द की परिभाषा—'इन्द्रियनिरपेक्षं मनो यद् गृह्णाति तच्चिन्त्यम्'। चक्रपाणिः। अर्थात् जिस विषय का ग्रहण चक्षुः आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना भी होता है उसे चिन्त्य (विचारणीय) कहते हैं। इसी चिन्त्य के क्षेत्र में सुख-दुःख आदि मनोभावों का अन्तर्भाव होता है। तात्पर्य यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की बुद्धि (ज्ञान) से भिन्न बुद्धि का ही नाम चिन्त्य है। यही कारण है कि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्मृति आदि मन के विषय कहे जाते हैं।

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति।

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वथा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् ॥ १७ ॥

मन सहित इन्द्रियों को स्वस्थ रखना चाहिये—इसलिये मन सहित इन्द्रियों को जो विकृत (विकार युक्त) नहीं हुई हैं अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति में स्थित हैं, उनको होने वाले विकारों से बचाने के लिये निम्नोक्त उपायों द्वारा प्रयत्नशील रहना चाहिये। यथा—इन्द्रिय और उनके अनुकूल विषयों के समयोग से तथा स्थिर बुद्धि से भलीभाँति विचार कर-करके, कर्मों को ठीक प्रकार करने से और देश, काल, आत्मा के गुणों से विपरीत गुण वाले आहार-विहार आदि के सेवन से अपना हित चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्मृतिपूर्वक सम्पूर्ण [illegible] का सदैव व्यवहार करे।

वक्तव्य—उक्त गद्य में समनस्क इन्द्रियों को स्वस्थ रखने पर विचार किया गया है। कारण यह है कि ऐसा करने से मानव शारीरिक तथा मानसिक उभयविध रोगों से अपनी रक्षा कर सकता है। इसीलिये सात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग की प्रस्तावना की गयी है, साथ ही बुद्धि द्वारा विवेचना का निर्देश भी महत्वपूर्ण है। यहाँ पर 'देश' शब्द से—आनूप, जाङ्गल तथा साधारण देशों का ग्रहण तन्त्रकार को अभीष्ट है। काल—ऋतुचर्या प्रकरण में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न कालों में आहार-विहार की विधि बतलायी गयी उसका अनुसरण स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है। 'आत्मा' शब्द से यहाँ मन और शरीर का ग्रहण किया गया है। **विपरीतोपासन**—से अनुपशय सेवन द्वारा बढ़े हुए विकारों का प्रतीकार करना चाहिये। यथा—हेमन्त ऋतु में शीतकाल होने से वायु का प्रकोप होता है, इसके विपरीत स्निग्ध तथा उष्ण आहार-विहारों के सेवन का संहिताओं में विधान है।

स्मृतिमास्थाय—सद्वृत्त सेवन के परिणामों को याद रख कर करे। इससे वह सदैव सद्वृत्त का सेवन

करता रहेगा, क्योंकि 'लाभात् लोभः प्रवर्द्धते' लाभ से लोभ बढ़ता है। जब मनुष्य देखेगा कि सद्वृत्त के सेवन से अमुक-अमुक लाभ हुए हैं, तब वह असद्वृत्त की ओर कभी नहीं बढ़ेगा।

सद्वृत्तम्—सतां = सज्जनानां, वृत्तं = व्यवहारजातं = सद्वृत्तम्। अर्थात् सज्जनों का आचरण अथवा शुभ आचरण। सज्जनों के लक्षण—शान्ति, शौच, सत्-आचार आदि के योग से उत्पन्न जो धर्म उसके प्रभाव से धर्म-अर्थ-काम (इस त्रिवर्ग) को निरापद करके जो जीवन निर्वाह करते हैं, वे सज्जन हैं। इनके विपरीत जिनका आचरण हो वे असज्जन कहे जाते हैं।

[1]तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति।

तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तद्यथा—देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्; साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः [2]मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री दण्डी [3]मौली सोपानत्को [4] युगमात्रदृग्विचरेत्; मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी च स्यात्; सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, [5]सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च ॥ १८ ॥

सद्वृत्त-वर्णन (Description of Right Conducts–Partly Code of Pharmaceu- १. आरोग्य लाभ
tical)—उस सद्वृत्त का सेवन करता हुआ मानव एक साथ दो लाभों को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार है—देवता,
और २. अपनी इन्द्रियों पर विजय। अतः उसका यहाँ हम सम्पूर्ण उपदेश करेंगे। सिद्ध (तपस्वी) और आचार्य (विभिन्न
गाय, ब्राह्मण, गुरु (कुलगुरु), वृद्ध (ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध), करे। प्रशस्त (प्रशंस-
विषयों के विद्वान) इनकी पूजा करे। अग्नि की उपासना (अग्निहोत्र, यज्ञ आदि द्वारा) ओषधियों को धारण करे। दोनों
नीय, अनुभूत अथवा जिनके धारण करने से विशेष प्रभाव होता हो, ऐसी) मूत्रमार्ग)
समय (प्रातः-सायम्) स्नान-सन्ध्या करे। मलायनों (आँख, कान, नासिका, मुख, रोमकूप, गुद तथा श्मश्रु (दाढ़ी-मूंछ)
एवं पैरों को सदा स्वच्छ रखे। प्रत्येक पक्ष में तीन बार अर्थात् पाँच-पाँच दिन में केश, धारण करे। प्रसन्नचित्त
लोम तथा नखों को कटवाता रहे। प्रतिदिन शुद्ध धुले और बिना फटे हुए वस्त्रों को
रहे। सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करे। सज्जनों के सदृश वेश धारण करे।
केशों को सँवार कर रखे। शिर, कान, नाक और पैर के तलुओं में प्रतिदिन तेल डाले तथा लगाये।
धूमपान करे। दूसरा पहले बोले उसके बाद मैं बोलूँगा ऐसी इच्छा न रखता हुआ स्वयं पहले बोलने का अभ्यास
रखे। सुमुख रहे। दुर्गति (विपत्ति) में पड़े हुए व्यक्तियों की रक्षा करने वाला, हवन करने वाला, सोमयाग
आदि यज्ञों का करने वाला, दानी, चौराहों को प्रणाम करनेवाला, कौआ आदि को बलि (ग्रास) देने वाला,
अतिथियों का सत्कार करने वाला, पितरों का श्राद्ध करने वाला, समय पर हित, परिमित तथा मधुर अर्थ (हृदय
को अच्छी लगने वाली बातों) का कहने वाला, अपनी आत्मा तथा इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्माचरण
करने वाला, हेतु (कारण) में ईर्ष्या करने वाला किन्तु उसके फल के प्रति ईर्ष्या न करने वाला, चिन्तारहित,

१. 'तद्ध्यनुष्ठानं' ग.।
२. 'मूर्धस्रोतोऽभ्यङ्गपादतैलनित्यो' ग.।
३. 'मौनी' ग.।
४. 'नक्तं युगमात्रदृक्' यो.।
५. 'शमप्रधानः' इति पा.।

भयरहित, लज्जाशील, बुद्धिमान् अत्यन्त उत्साहशील, कुशल क्षमाशील, धर्मकार्यों में आस्था रखने वाला, आस्तिक (इस लोक, परलोक तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाला), विनय, बुद्धि, विद्या, कुल तथा वय में जो वृद्ध, सिद्ध एवम् आचार्य हैं उनकी उपासना करने वाला, छाता, दण्ड, मौली (शिरस्त्राण-पगड़ी अथवा टोपी को धारण करने वाला), जूता पहनने वाला, सामने चार हाथ की दूरी तक देख-देख कर चलने वाला।

मंगल तथा सदाचार का अभ्यास करने वाला, गन्दे वस्त्र, हड्डी, काँटे, अपवित्र वस्तु, केश, तुष, राख, कपाल (घड़े के फूटे खप्पर आदि), स्नान-भूमि तथा बलि-भूमि इनसे दूर रहने वाला, थकावट आने के पहले व्यायाम को छोड़ देने वाला, सभी प्राणियों को बन्धु के समान समझने वाला, क्रुद्धों को मनाने वाला, भयभीतों को आश्वासन देने वाला, दीनों का सहायक, सत्यप्रतिज्ञ, शान्ति गुण विशिष्ट, दूसरे के कठोर वचनों को सहने वाला, क्रोध का नाश करने वाला, शान्ति को गुण समझने वाला, राग और द्वेष आदि मानसिक विकारों का विनाश करने वाला होना चाहिये।

वक्तव्य—'प्रशस्ता ओषधीः'—सद्यः फलदायक अथवा अपने प्रभाव से कार्य करने वाली ओषधियों का संग्रह करे। 'मलायनेषु'—इसका वर्णन हम विस्तार पूर्वक च० सू० अ० ७ श्लोक ४२ में कर चुके हैं, वहाँ देखें। 'त्रिः पक्षस्य'—आचार्य क्षारपाणि के अनुसार यहाँ पर दिया गया पक्ष शब्द मास (महिने) का वाचक है। इस प्रकार प्रति तीसरे महिने में क्षौर (हजामत = Shaving) करना चाहिये। यथा—'त्रिर्मासस्य रोमनखान् संहारयेत्'। क्षारपाणि।

ज्योतिषशास्त्र में विशिष्ट नक्षत्र, तिथि-वारों का निर्देश किया गया है जिनमें क्षौर कर्म किया जा सकता है और जिनमें निषेध है। यह तीन मास की जो लम्बी अवधि क्षारपाणि ने दी है, वह आज के युगानुकूल सिद्ध नहीं होती। 'प्रसिद्धकेशः'—इसके स्थान पर 'प्रसाधितकेशः' ऐसा रुचिकर पाठ अन्यत्र सुलभ है। 'धूमपः'—इसकी चर्चा पहले हम कर चुके हैं। **बलीनामुपहर्ता**—इसका प्रयोग महापुरुषों तथा राजाओं के लिये विष-प्रयोग निर्णय प्रसंग में अधिक एवं प्रत्यक्ष हितकारक सिद्ध होता है; धार्मिक दृष्टि तो प्रधान है ही। 'हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः'—इसको यों समझें—जिस कारण से जो सम्पन्न हुआ है उसके प्रति ईर्ष्या करे अर्थात् मैं भी वैसा ही करूं जिसमें मैं भी उसी के समान सम्पन्न हो जाऊँ यह शुभलक्षण है, किन्तु फल (प्राप्त सम्पत्ति) के प्रति ईर्ष्या न करे, जिससे दूसरे को हानि हो। 'युगमात्र दृग्' तथा 'सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः', क्रमशः इन दो वाक्यों का समर्थन हमें वृद्ध चाणक्य के वाक्यों में इस प्रकार मिलता है—'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः'। चाणक्यनीति।

नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं, न पापेऽपि पापी स्यात्; नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत्, [1]नाजानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत्, न [2]कुलच्छायामुपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्, नानावृतमुखो जृम्भां, क्षवथुं, हास्यं वा प्रवर्तयेत्, न नासिकां कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृणं; न लोष्टं मृद्नीयात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत, न हुङ्कुर्याच्छवं, [3]न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनान्यासेवेत, नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत, नोत्तमैर्विरुध्येत, नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः, पुरोवातातपावश्यायातिप्रवाताञ्जह्यात्, कलिं नारभेत, [1]नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत, नोच्छिष्टो नाधः कृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न, उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गं, न केशाग्राण्यभिहन्यात्, नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ॥ १९ ॥

१. यदासनं जानुप्रमाणोत्सेधं न भवति तदजानुसमम्।

२. 'कुलच्छायां सत्कुलोत्पन्नानां स्ववंशोत्पन्नानां वा छायां नोपासीत 'पद्धयाम्' इति शेषः। इति गङ्गाधरः। 'कूलच्छायां' यो.।

३. 'न हुङ्कुर्याच्छिवम्' यो.।

कुछ और सद्वृत्त-वर्णन—झूठ न बोले अर्थात् सच बोले, पराये धन को न ले और न लेने की इच्छा करे, न दूसरे की स्त्री और न दूसरे की श्री (धन-सम्पत्ति) को प्राप्त करने की अभिलाषा रखे, लड़ाई, झगड़ा, शत्रुता न करे, पाप न करे, पाप करने वाले के साथ भी पाप व्यवहार न करे, दूसरे के दोषों को न कहे, दूसरे की गुप्त बातों को जानने का प्रयत्न भी न करे, अधार्मिक, राजद्वेषी, उन्मत्त (पागल), पतित (जाति, धर्म, समाज से गिरे या निकाले हुए), गर्भ को मार डालने वाले, क्षुद्र स्वभाव वाले तथा दुष्ट पुरुषों के साथ न बैठे (सहवास न करे), दुष्टयानों (जिस यान = सवारी में घोड़ा आदि पशु अथवा उसको चलानेवाला व्यक्ति अथवा जो टूटा-फूटा, अंग-भंग हो उन) में न बैठे, जानु (घुटना) से कम ऊँचे और कठिन (कड़े) आसन पर न बैठे, जिसपर बिस्तर न बिछा हो, तकिया न रखा हो और जो बहुत बड़ी या बहुत छोटी हो ऐसी शय्या (चौकी, खटिया या पलंग) पर न सोये, पहाड़ की विषम (ऊँची-नीची) चोटियों पर भ्रमण न करे, पेड़ों पर न चढ़े, पानी के तेज बहाव में डुबकी न लगाये, अपने कुल में उत्पन्न महापुरुषों की छाया का पैरों से अतिक्रमण न करें अथवा नदीतट की छाया का सेवन न करें (नहीं तो उसके लहरों से भय हो सकता है)।

दवाग्नि से आक्रान्त स्थान के चारों ओर न घूमे, बहुत जोर से न हँसे, न शब्दयुक्त अपानवायु का त्याग करे, बिना मुँह को ढके जँभाई, छींक और हँसी को प्रारम्भ न करे, नासिका को अँगुली, सींक आदि से न छेड़े, दाँतों को न किट-किटाये, न नखों तथा अँगुलियों को बजाये, न परस्पर अस्थि प्रधान अंगों को रगड़े, न भूमि को अँगुली से खोदे, तृण को अँगुलियों से न नोचे, न मिट्टी के ढेले को मले, आँख, मुख आदि अंगों से अनुचित चेष्टायें न करे, तेज चमकने वाली (सूर्य आदि की) ज्योति को और अनिष्टकारक, अपवित्र तथा अशुभ-वस्तुओं को न देखे, शव (मुर्दा) को देखकर अपमान, तिरस्कार या घृणा सूचक हुंकार न करे, चैत्य (ग्राम या नगर का महान् वृक्ष अथवा यज्ञ-स्थान), ध्वजा, गुरु, पूज्य तथा अशुभजनों की छाया को न लांघे, न रात्रि में देवमन्दिर, चैत्य-स्थान, चत्वर (आँगन) चतुष्पथ (चौराहा), उपवन (बगीचा), श्मशान और वध-स्थान, इनमें न जाये, अकेला किसी के खाली घर में और वन में प्रवेश न करे, न दुष्ट आचरणवाले स्त्री, मित्र तथा सेवकों का साथ ही करे।

महान् पुरुषों से विरोध न करे, न नीचों की सेवा करे, कुटिल (कपटी) व्यवहार वालों के साथ निवास की इच्छा न करे, न अनार्य (नीच स्वभाव वाले) का आश्रय ले, न किसी को डराये, न साहसी कार्यों को करे, न अधिक सोये, न अधिक जगे, न अधिक स्नान, न पीने योग्य पेयों को पीये और न खाने की वस्तुओं को खाये, ऊपर को टाँगें कर के देर तक न रहे, न साँपों, दुष्ट हाथी, शठ, श्वापदों (बाघ, चीता, सिंह आदि) के समीप जाये, न दाँतवाले प्राणियों, पशु, गाय, बैल, कुत्ता, सियार आदि और न सींगवाले प्राणियों के समीप जाये, पूरब की हवा आतप (धूप-घाम), ओस और आँधी का अधिक सेवन न करे, झगड़ा न करे, सावधान चित्त होकर एकान्त में यज्ञ आदि करे, उच्छिष्ट (शरीर में जूठा लगा) होने पर तथा आग को नीचे रखकर पैर आदि न सेकें, थकावट दूर होने के पहले, बिना मुँह धोये एवम् नंगे होकर स्नान न करे, निचले अंग में पहनी हुई धोती से शिर को न पोंछे, बालों के अगले भाग को न झटकारे, नहाकर पुनः उन्हीं कपड़ों को न पहने, रत्न, घी, पूज्य (देवता, माता, पिता, गुरु आदि) मंगलकारक द्रव्यों तथा फूलों का बिना स्पर्श किये छोटी अथवा बड़ी कोई यात्रा न करे, पूज्य व्यक्तियों तथा मंगलकारी द्रव्यों को बाँयी ओर करके और अपूज्य तथा अमंगलकारी पदार्थों को दाहिनी ओर करके कोई यात्रा न करे।

वक्तव्य—'नानृतं ब्रूयात्' इस प्रसंग में निम्न सूक्तियों का भी यथायोग्य विचार करें—सत्यं ब्रूयात् प्रियं

१. 'असुनिभृतोऽसमाहितः' चक्रः। नानिभृतः' ग.।

ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' ॥ तथा—'काकांस्तित्तिरशब्देन'। चरक चि० अ० ८। 'नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं च'—इसके साथ वृद्धचाणक्य के निम्न पद्यांश की संगति बैठती है—'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। चा० नी०। 'न जानुसमं'—इस सम्बन्ध में योगीन्द्रनाथसेन का मत इस प्रकार है—'नाजानुसमं कठिनमासनमध्यासीद'। इति। इसका व्याख्यान वे इस प्रकार करते हैं—'जानुप्रमाणोत्सेधं जानु समं तादृशं न भवतीति अजानुसमं, अनास्तृतोत्तरप्रच्छदम्, आसनं पीठादिकं नाध्यासीत', इति।

हमें ऐसा लगता है, यह आसन इतना ऊँचा है जिसमें बैठकर पैर लटकाये जा सकते हों। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उक्त वर्णन डनलप की गद्दी बिछी हुई कुर्सी का है तथापि इसी प्रकार का कोई सुखद आसन भेद रहा होगा। तीव्र वेग वाली नदी के जल में अवगाहन करने से उरःक्षत आदि का भय हो सकता है। 'नोच्चैर्हसेत' से लेकर 'त्रिगुणमङ्गंश्रेष्ठेत' तक का वर्णन मनुष्य को केवल सभ्यता का उपदेश दे रहा है। 'नास्पृष्ट्वा' से 'दक्षिणम्' (अन्त) तक का निर्देश केवल यात्रा विचार के लिये है।

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः, नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः, न नक्तं दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून्न द्विर्नोदकान्तरितान्न छित्त्वा [1]द्विजैर्भक्षयेत् ॥ २० ॥

सद्वृत्त के अनुसार भोजन-विधि—हाथ में रत्न धारण किये (रत्न जटित अंगूठी धारण किये) बिना, बिना स्नान किये, बिना शुद्ध वस्त्र धारण किये, सन्ध्योपासन किये बिना, देवताओं के लिये होम (बलि वैश्वदेव) किये बिना, माता-पिता को भोजन कराये बिना, गुरु, अतिथि और आश्रितों (परिवार वालों तथा नौकर-चाकरों) को दिये बिना, बिना सुगन्धित पदार्थों को धारण किये, माला धारण किये बिना, हाथ, पाँव, मुख को धोये बिना, मुख को शुद्ध किये बिना, बिना उत्तर को मुख किये, दूसरी ओर मन को न लगाकर या भोजन के प्रति उदासीन न होकर, अभक्त (जो स्वामी के प्रति श्रद्धा न रखता हो), अशिष्ट (सदाचार विहीन), अशुचि (शरीर, वाणी तथा मनसे अपवित्र), क्षुधित (भूखा रसोइया), परिचर (नौकर) द्वारा लाये हुये पदार्थों को, अपवित्र पात्रों में, अनुचित स्थान में, असमय में, बहुत लोगों से संकीर्ण स्थान में, बिना अग्नि को दिये, प्रोक्षणीय जलों को बिना छिड़के, मन्त्रों से अभिमन्त्रित किये बिना, न निन्दा करते हुए, न निन्दित भोजन को और न प्रतिकूल (शत्रु) पुरुष द्वारा दिये हुए भोजन का सेवन करे।

मांस, हरितक (अदरख), सुखाये शाक, फल आदि भक्ष्य पदार्थों के अतिरिक्त पर्युषित (बासी) पदार्थों का सेवन न करे। दही, मधु, लवण, सत्तू, घी इनको छोड़कर और जो भोज्य-पदार्थ परोसे गये हों उनमें से कुछ न कुछ थाली में छोड़ देना चाहिये। रात्रि में दही न खाये और न केवल सत्तू खाकर ही रात्रि में रह जाय, भोजन करने के बाद, न बहुत मात्रा में, न दो बार, न बीच-बीच में पानी पीकर तथा न दाँतों से काटकर सत्तू का सेवन करे।

वक्तव्य—भोजन मध्याह्नकालिक कर्तव्य है इसके पूर्व स्नान, सन्ध्या, देव, ऋषि, पितृ-तर्पण आदि आह्निक-कृत्य अतिथिपूजन का विधान बतलाया गया है। इस प्रकार विस्तृत विधान स्मृति-ग्रन्थों तथा मीमांसा-शास्त्र में भी है।

'नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो, नाशुद्धमुखः'—महर्षि अग्निवेश के इन दो वचनों में वदनः तथा मुखः ये दो शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। देखें—'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्'। अमरकोष। यदि हम वदन शब्द से चेहरा (Face) और मुख से प्रसिद्ध मुख (Mouth) का अर्थ करते हैं, तो भी सन्तोष

१. द्विजैः दन्तैः।

नहीं होता क्योंकि इस पैराग्राफ के प्रारम्भ में 'नास्नातः' पद का प्रयोग कर दिया गया है, जिसका अर्थ है स्नान करके ही भोजन करे। स्नान करने के पश्चात् भोजन करते समय पुनः मुँह धोना अप्राकरणिक है।

अब हम यहाँ पर महर्षि के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने जा रहे हैं, क्योंकि 'वृथा न हि देव ऋषि वाणी'। अथवा 'अर्थो वागनुधावति'। अर्थात् देवता एवम् ऋषियों की वाणी में पुनरुक्ति आदि दोष नहीं होते तथा इनकी वाणी के पीछे-पीछे अर्थ दौड़ा करता है। **समाधान**—भोजन के पूर्व हाथ, पैर और मुख धोले (कुल्ला=गण्डूष कर ले) तदनन्तर निम्नोक्त मन्त्रों के उच्चारण से अपने मुख को शुद्ध करे। देखें—बलिवैश्वदेव प्रकार, इसमें भोजन के पूर्व ॐ यन्तु नदयो० ऋग्वेद। सम्पूर्ण पुरुषसूक्त का पाठ, शुक्लयजु०। ॐ त्रिसुपर्ण० कृष्णयजु०। गीता ४थे अध्याय का २४ वां पद्य और गीता का सम्पूर्ण पन्द्रहवाँ अध्याय। इन सबके पाठ से मुख शुद्धि का विधान है।

न पात्रीष्वमेध्यासु—अपवित्र पात्रों में भोजन नहीं परोसना चाहिये और भोजन करने वाले को भी चाहिये कि वह ऐसे पात्रों में भोजन न करे। वास्तव में किस प्रकार के भोज्य पदार्थ को किस धातु आदि के पात्र में परोसें इसका विस्तृत विवरण सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ४६ श्लोक ४४९ से ४५७ तक देखें।

न नक्तं दधि भुञ्जीत—इस सम्बन्ध में अन्यत्र ऐसा उल्लेख मिलता है—'दिवा कपित्थे वसति रात्रौ दध्नि च सक्तुषु। अलक्ष्मीः कलहाधारा कोविदारे कृतालया' ॥ यही कारण है रात में दही खाने के निषेध में वाग्भट भी रात्रि में दधिभक्षण का निषेध करते हैं। केवल सत्तू खाने का जो ऊपर निषेध किया है, उसका अर्थ यह है कि घी, चीनी मिलाये बिना सत्तू न खाये। 'नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न। ना मुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० ५।३१।

नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत, न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्, न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविका (वात) वर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेन्न जनवति नान्नकाले, न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत् ॥ २१ ॥

सद्वृत्त के अनुसार मलत्याग-विधि—न टेढ़ा होकर छींके, न भोजन करे और न सोये, मल-मूत्र का वेग मालूम होने पर अन्य आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर मल त्याग करे, वायु, अग्नि, सलिल (जल), चन्द्र, सूर्य, ब्राह्मण, गुरुजनों की ओर न थूके, (न अपानवायु का त्याग करे। न पेशाब करे, न मार्ग के बीच में (पशुओं की भांति) पेशाब करे। जहां अनेक लोग रहते हों अथवा खड़े हों, भोजन के समय (जब भोजन परोसने की तैयारी हो रही हो), जप, होम, अध्ययन, बलि (पूजा), तथा मांगलिक (पवित्र) कार्यों के बीच में थूकना (खखारना), नाक साफ करना निषिद्ध है।

वक्तव्य—छींक, मल, मूत्र, श्लेष्मा (कफ=थूक=बलगम) और सिंघाण (नाक का मल) ये सब मल ही हैं, जो अरुचि उत्पन्न करते हैं, ऊपर आग, जल, चन्द्र, सूर्य आदि के पहले वायु शब्द का ग्रहण किया है। जिसका अर्थ है वायु की ओर भी मल-त्याग नहीं करना चाहिये। यदि आप न मानें तो करके देखिये वायु अपने वेग से आपके मल को आपके ही ऊपर डाल देगा, अतः जिस ओर वायु का वेग हो उधर मल त्याग न करें।

अनृजुः—टेढ़ा होकर छींकने तथा भोजन करने से वायु विलोम होकर अनेक प्रकार की हानियाँ कर सकता है, अतः सावधान रहे। सड़क पर मल-त्याग-निषेध के बड़े-बड़े शहरों में साइनबोर्ड भी लगे रहते हैं। यह असद्वृत्तों के लिये मार्गदर्शन का प्रकार है। इस प्रकार के अधर्माचरणों का निषेध मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृतियों में सुलभ हैं। यथा—'प्रत्यादित्यं प्रतिजलं प्रतिगां च प्रतिद्विजम्। मेहन्ति ये च पथिषु ते भवन्ति गतायुषः' ॥ महाभारत।

और भी—'न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे। न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ॥ न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन। न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन् नापि संस्थितः ॥ न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके। वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ॥ न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ मनुस्मृति।

न स्त्रियमवजानीत, नातिविश्रम्भयेत्, न गुह्यमनुश्रावयेत्, नाधिकुर्यात्। न रजस्वलां नातुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षां नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यस्त्रियं नान्ययोनिं

नत्योनौ न चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरालयेषु न सन्ध्ययोर्[1]नातिथिषु नाशुचिर्[2]नाजिग्धभेषजो नाप्रणीतसङ्कल्पो नानुपस्थितप्रहर्षो नाभुक्तवान्नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रमव्यायामोपवासक्लमाभिहतो नारहसि व्यवायं गच्छेत् ॥ २२ ॥

सद्वृत्त के अनुसार स्त्रियों के साथ व्यवहार—स्त्री का अपमान न करे, न उसका अधिक विश्वास ही करे, न इनको गुप्त बातें सुनाये, न पूरा अधिकार दे। रजस्वला (ऋतुमती), रुग्णा (बीमार), अपवित्र, अरुचिकर कुष्ठ आदि रोग से पीड़ित, अप्रियरूप, अनिष्ट आचरण से युक्त, अकुशल (कामकला अनभिज्ञ), अदक्षिण (विपरीत आचरण वाली), मैथुन की इच्छा न करने वाली, अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष को चाहने वाली, दूसरे की स्त्री, स्त्री-योनि को छोड़कर अन्य (.पशुओं—कुतिया आदि की) योनि, अयोनि (गुद अथवा हस्तमैथुन आदि) में तथा ग्राम अथवा नगर का महान् (पूज्य) वृक्ष, आँगन, चौराहा, बगीचा, श्मशान, बधस्थान, जलाशय, औषधालय, ब्राह्मण के घर, गुरु के घर एवम् देवमन्दिरों में, प्रातः-सन्ध्याकाल में, अतिथि (निषिद्ध तिथियों) में अपवित्र स्थिति में, वाजीकरण औषध-सेवन के बिना पहले से सोने ही, बिना लिंग का उत्थान हुए, बिना भोजन किये, अधिक भोजन कर लेने पर, उटपटांग शयन में मल-मूत्र के वेग के होने पर, थकावट, व्यायाम, उपवास तथा क्लम से पीड़ित स्थिति में और न बिना एकान्त स्थान प्राप्त हुए व्यवाय (मैथुन) न करे।

वक्तव्य—इसमें पहला उपदेश है स्त्रियों का सम्मान करे। यथा—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'। सुभाषित। हम ऊपर कह चुके हैं कि ये सभी सद्वृत्त के उपदेश धर्मशास्त्रानुमोदित हैं। मैथुन का मूल उद्देश्य कामवासना की तृप्ति न होकर उपयुक्त सन्तान की प्राप्ति करना है। इस प्रकार की सन्तति इस लोक तथा परलोक में सुखदायक होती है। धर्मशास्त्र एवम् आयुर्वेद शास्त्र इसी के लिये मैथुन की उपादेयता बतलाते हैं। अन्यथा जो महत्व ब्रह्मचर्य का है, वह मैथुन का कभी भी नहीं है। क्योंकि—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। जिस वीर्य के एक बिन्दु के गिरने को त्रिकालज्ञ महर्षियों ने मरण (मृत्यु) कहा है, उसी के धारण से दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। अब आप स्वयं निर्णय करें कि कौन-सा मार्ग हितकर है।

मैथुन के लिये ऊपर जिन स्त्रियों को अयोग्य बतलाया है, ऐसी स्त्रियों से मैथुन करने से पुरुष में नपुंसकता आ जाती है। देखें—वाजीकरण योग्य स्त्री के लक्षण, उक्त स्त्रियाँ इसके सर्वथा विपरीत होती हैं।

नाशस्ताम्—इसका अर्थ यद्यपि 'अनिष्ट आचरण से युक्त' ऊपर किया गया है। तथापि इसका एक अर्थ यह भी प्रकरणोचित प्रतीत होता है कि—'विवाहः सदृशे कुले'। विवाह समान कुल में करना चाहिये। यह वाक्य सूचित करता है कि उच्च (गुरु आदि की कन्या) तथा नीच कुल की कन्या विवाह तथा सहवास के लिये अशस्त=अशुभ=अग्राह्य=निषिद्ध है। शेष मैथुन विषयक उपदेश सुश्रुत चिकित्सास्थान अध्याय २४ में एवम् अष्टांगहृदय सूत्रस्थान ७ वें अध्याय में देखें।

अन्यकामाम्—का उदाहरण भर्तृहरि द्वारा रचित यह पद्य सर्वोत्तम है—'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः'। नीतिशतक।

न सतो न गुरून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचारकर्मचैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत् ॥ २३ ॥

सद्वृत्त के अनुसार पूज्यजनों का समादर—सत् पुरुषों तथा गुरुजनों (माता-पिता-आचार्य आदि) की निन्दा न करे और अपवित्र स्थिति में रहकर अभिचार कर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि) चैत्य (ग्राम एवम् नगर का महान् वृक्ष), पूज्यों (पूजा-उपासना के योग्य जनों) की पूजा तथा वेद आदि का स्वाध्याय अथवा अध्ययन आदि शुभ कर्मों को न करे।

वक्तव्य—सज्जन एवं गुरुजनों की निन्दा न करने का समर्थन मनु ने इस प्रकार किया है—'गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः'॥ मनु०। अर्थात् स्वयं तो उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, यदि दूसरा कोई निन्दा करता रहे तो उसको भी न सुने।

१. 'नाति न निषिद्धतिथिषु' ग.।
२. 'अजग्धभेषजोऽनुपयुक्तवृष्यभेषजः' इति चक्रः।

न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने[1] न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखाद्गुरोर्नावपतितं[2] नातिमात्रं न [3]तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यस्येत् ॥ २४ ॥

सद्वृत्त के अनुसार अध्ययन निषेध—अकाल में बिजलियों के (आकाश में) चमकने पर, दिग्दाह होने (चारों ओर दिशाओं में आग लगने) पर, आस-पास में आग लग जाने पर, भूकम्प होने पर, बड़े-बड़े उत्सवों के अवसर पर, उल्कापात होने पर, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण लगने पर, अमावास्या के दिन, प्रातः-सायं सन्ध्या के समय गुरुमुख से उपदेश प्राप्त किये बिना अध्ययन न करे। हीनवर्ण युक्त वाक्य का, अधिक वर्ण या अधिक मात्रा युक्त वाक्य का उच्चारण न करे, रूक्ष स्वर, विस्वर (स्वर रहित), अनवस्थितपद (प्रत्येक पद का अनियमित पाठ), न बहुत जल्दी, न देर करके, न अतिविलम्बित (अत्यन्त धीरे) स्वर से, न बहुत ऊँचे स्वर से और न अधिक अस्पष्ट स्वर से ही अध्ययन का अभ्यास करे।

वक्तव्य—अनध्याय (Holidays) दिनों का उल्लेख श्रुति-स्मृति-पुराण आदि सर्वत्र सुलभ है। तदनन्तर अध्ययन कैसे करना चाहिये इस विषय पर भी समय-समय पर विचार किये गये हैं। स्वाध्यायशब्द वेद के अध्ययन के लिये ही सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ है। आयुर्वेद भी वेद का ही उपांग है, अतः हम उसके अध्ययन विधि का किञ्चित् उल्लेख यहाँ कर रहे हैं—'न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः। गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥ प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ। प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ॥ शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्। काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥ विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्। व्याकुलं तालुहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश:' ॥ याज्ञवल्क्यशिक्षा।

और भी—'गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः। अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः ॥ माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः। धैर्यं लयसमत्वं च षडेते पाठके गुणाः' ॥ कात्यायनपरिशिष्ट-प्रतिज्ञासूत्रम्। इस सम्बन्ध में आयुर्वेदीय दृष्टिकोण इन-इन प्रकरणों में देखें—चरक विमानस्थान अ० ८। सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २ श्लोक ९-१०। तथा सु० सू० अ० ३।५४।

[4]नातिसमयं जह्यात्, न नियमं भिन्द्यात्, न नक्तं नादेशे चरेत्, न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्, न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्, न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात्, न गुह्यं विवृणुयात्, न कञ्चिदवजानीयात्, नाहंमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः न ब्राह्मणान् परिवदेत्, न गवां दण्डमुद्यच्छेत्, न वृद्धान्, न गुरून्, न गणान्, न नृपान् वाऽधिक्षिपेत्, न चाति ब्रूयात्, न बान्धवानुरक्तकृच्छ्र[6]द्वितीयगुह्यज्ञान् [7]बहिष्कुर्यात् ॥ २५ ॥

व्यावहारिक क्षेत्र में सद्वृत्त—अधिक समय (अनेक बुद्धिमान् पुरुषों की सम्मति से निर्धारित नियमों) का त्याग न करे, शास्त्र एवं लोक मर्यादा के नियमों को न तोड़ें, रात्रि में न घूमे और अपरिचित स्थान में विहार न करे। सन्ध्या (दिन-रात के सन्धिकाल) में अभ्यवहार (भोजन), अध्ययन (पढ़ना-पढ़ाना), स्त्री सहवास एवम् शयन न करे। बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, क्लेशयुक्त जीवनयापन करनेवालों तथा नपुंसकों के साथ मित्रता न करे। मद्यपान, जुआ खेलना और वेश्यागमन की इच्छा न करे। किसी की गुप्तबातों का व्याख्यान न करे। किसी का अपमान न करे। अभिमान न करे। कार्यकुशल हो, अदक्षिणः (उदार भावना रहित न हो), असूया न करे। ब्राह्मणों की निन्दा न करे। गायों को डण्डा से न पीटे। वृद्ध, गुरुजन, गण (जन-

१. 'महाग्रहोपगमनं चन्द्रसूर्यग्रहणम्' चक्रः।
२. 'अवपतितं हीनवर्णम्' चक्रः।
३. 'तान्तं रूक्षस्वरम्' चक्रः।
४. 'अतिसमयो मिलित्वा बहुभिः कृतो नियमः' चक्रः।
५. 'दक्षिणान्' ग.।
६. 'कृच्छ्रद्वितीय आपदि सहायः' चक्रः।
७. 'बहिः कुर्यादवजानीयात्' चक्रः।

समूह) और राजा इनके प्रति न तो कोई आक्षेप (दोषारोपण) करे और न उनको अपमानित करने आदि की दृष्टि से बहुत भाषण (कलह-कोलाहल) ही करे। बान्धव, प्रेमीजन, आपत्तिकाल में सहायक तथा गुप्त बातें जानने वाले व्यक्तियों को अपने सम्पर्क से अलग न करे।

वक्तव्य—अतिसमयः—'मिलित्वा बहुभिः कृतो नियमः। चक्रपाणि। इस प्रकार अतिसमय का अर्थ नीति-विशारदों द्वारा बनाया हुआ संविधान होता है। यह विशेष नियम हुआ और आगे सामान्य नियम की चर्चा है। समय का दुरुपयोग न करने वाले व्यक्ति सदैव सुखी रहते हैं। मनु के वचनों पर ध्यान दें—'आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः। स चेन्निरर्थकं नीतः का तु हानिस्ततोऽधिका' ॥ इसी का अनुसन्धान नीचे दिये हुए २७ वें गद्य के आरम्भ में 'न कार्यकालमतिपातयेत्' के सम्बन्ध में भी करें। नियम का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति शास्त्र तथा शासन की दृष्टि में दण्डनीय होता है। समाज उसको निरंकुश तथा उच्छृंखल कहता है।

समय के पर्याय—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः'। अमरकोष काण्ड ३।

'नादक्षो नादक्षिणः—दक्ष एवं दक्षिण शब्द प्रायः समानार्थक जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु कोषकार अमरसिंह इनका विवरण इस प्रकार देते हैं—'दक्षे तु चतुर-पेशल-पटवः'। तथा—'दक्षिणे सरलोदारौ'। अर्थ स्पष्ट है। **असूयकः**—'गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया'। किसी के सद्गुणों में दोष दृष्टि रखना असूया है।

बान्धव—बन्धु तथा बान्धव शब्द परस्पर एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसका परिवेश वेदव्यास की दृष्टि में देखें, जिसकी अपेक्षा उक्त गद्य में महर्षि अग्निवेश ने की है। यथा—तत्राऽपश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्। आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥ श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि। तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्' ॥ गीता अ० १ श्लोक २६—२७ ॥

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्, नाभृतभृत्यः, नाविश्रब्धस्वजनः, नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारः, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, [1]न सर्वकालविचारी ॥ २६ ॥

मानसिक व्यवहार में सद्वृत्त—धैर्य रहित न हो, उद्धत स्वभाव वाला न हो, अपने अनुचरों (सेवकों, कर्मचारियों) को समय पर भृत (वेतन) देने वाला हो, अपने लोगों पर विश्वास करने वाला हो, अकेले सुखी रहने का प्रयास न करे अर्थात् सबको सुखी रखकर स्वयं भी सुखी रहने की चेष्टा करे। दूसरों को दुःख देने वाले आचार-विचार का न हो, सभी पर विश्वास न करे, न सबको शंका की दृष्टि से देखे और न सदा सोच-विचार में ही डूबा रहे।

वक्तव्य—धैर्य मानव का सबसे महान् बल है। इसीलिये कहा गया है—'त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले'। सुभाषित। उक्त समस्त विकार मानसिक दोष के कारण ही होते हैं, अतः सावधान रहें।

न कार्यकालमतिपातयेत्, नापरीक्षितमभिनिविशेत्, नेन्द्रियवशगः स्यात्, न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्, न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्, न चातिदीर्घसूत्री स्यात्, न क्रोधहर्षावनुविदध्यात् न शोकमनुवसेत्, न सिद्धावुत्सेकं[2] गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यं, प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्, हेतुप्रभावनिश्चितः स्याद्धेत्वारम्भनित्यश्च, न कृतमित्याश्वसेत्, न वीर्यं जह्यात्, नापवादमनुस्मरेत् ॥ २७ ॥

सामान्य कार्यक्षेत्र में सद्वृत्त—जिस कार्य के लिये जो समय निश्चित हो उसका अतिक्रमण न करे, अपरीक्षित (जिसके सम्बन्ध में ठीक जानकारी न हो, ऐसे) कार्य के प्रति मनोयोग रखे, इन्द्रियों के वश में न रहे, मन चंचल होता है अतः उसको इधर-उधर न भटकने दे, ज्ञानेन्द्रियों पर अधिक भार न डाले, अधिक दीर्घसूत्री (देर में कार्य करने वाला) न हो, क्रोध और हर्ष के वश में होकर कोई कार्य न करे, अधिक समय तक शोक की स्थिति में न रहे, कार्य की सफलता में अधिक उत्सुकता और कार्य की विफलता में अधिक दुःखी न हो। बार-बार प्रकृति का ध्यान रखकर ही कार्य करे अर्थात् कोई कार्य अप्राकृतिक ढंग से न हो, हेतु का

१. 'न सर्वदा कालविचारी' यो.।
२. 'औत्सुक्यं' ग.।

प्रभाव निश्चित रूप से होता है, ऐसा विश्वास करे, हेतु के अनुसार प्रतिदिन कार्यरम्भ हो. मैंने कार्यकर लिया है ऐसा सोचकर आश्वस्त न रहे, वीर्यका त्याग न करे और न दूसरों द्वारा अपने प्रति किये गये अपवाद (निन्दा) का बार-बार स्मरण करे।

वक्तव्य—अभिनिवेश (Devotion)। **नेन्द्रियवशगः**—इन्द्रियों के वश में न रहे, क्योंकि एक-एक इन्द्रिय के वश में रहने वाले निम्नलिखित प्राणी जब मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के वश में रहने वाले पुरुष की क्या दशा होगी, इस पर विचार करते हुए यह सूक्ति यहाँ उद्धृत की जारही है—'कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च। एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च' ॥ सुभाषित।

नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं [1]जुहुयादात्मानमाशीर्भिरा[2]शासानः, अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद् वायुर्मे प्राणानादधातु विष्णुर्मे बलमादधातु इन्द्रो मे वीर्यं शिवा मां प्रविशन्त्वाप आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेत्, द्विः परिमृज्यौष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खा[3]नि चोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च ॥ २८ ॥

सद्वृत्त में हवन विधि—अपवित्र स्थिति में रहकर उत्तम घृत (गाय का घी), अक्षत, तिल, कुश तथा सरसों से अग्नि में होम न करे और अपने प्रति शुभाशीर्वाद की आशा करता हुआ निम्नोक्त मन्त्रों को पढ़े—अग्नि मेरे शरीर से बाहर न जाय, वायु मेरे प्राणों की रक्षा करे, विष्णु मुझे बल दें, इन्द्र मुझे वीर्य (शक्ति) प्रदान करे, शुभ जलों का मेरे शरीर में प्रवेश हो तथा 'आपोहिष्ठा' इत्यादि मन्त्र को पढ़कर जल स्पर्श करे, होंठों तथा चरणों को दो-दो बार जल से धो कर, मस्तक पर पानी छिड़क कर उस जल से अपने शारीरिक छिद्रों, हृदय एवम् शिर पर भी जलस्पर्श करे।

वक्तव्य—यज्ञ आदि कर्म भी सद्वृत्त के अन्यतम अंग हैं। इन सब में शारीरिक, मानसिक शुद्धि की परम आवश्यकता होती है। हवन में घी, अक्षत आदि प्रधान द्रव्य हैं। नीचे दिये गये मन्त्र अङ्गन्यास, करन्यास, देह शुद्धि के संक्षिप्त विधान का प्रारूप हैं। आवश्यकता होने पर किसी यज्ञ विधि विशेषज्ञ से परामर्श करें।

मूर्धनि खानि—इसकी व्याख्या आचार्य गङ्गाधर ने इस प्रकार की है—शिरःप्रदेश में छः छिद्र होते हैं— २ नासारन्ध्र, २ आँखें और २ कान के छिद्र। आचार्य भेल ने उक्त प्रसंग की चर्चा इस प्रकार की है—'ओषधींश्च मणींश्चैव माङ्गल्यान् धारयेत् सदा। मन्त्रमावर्तयेच्चापि ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥ नापेयान्मेऽनलो देहाद् वायुः प्राणश्च मे सदा। इन्द्रो मे बलमादध्यान्छिवं चापो दिशन्तु नः ॥ इत्येवं मन्त्रमार्गे वै भुक्त्वा गत्वाऽथवा स्त्रियम्। संजपन् वै स्पृशन् वारि तथास्यायुर्न हीयते' ॥ भेल० सू० अ० ७। इसका विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में देखें।

ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति ॥ २९ ॥

सद्वृत्त का उपसंहार—ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दयालुता, हर्ष, उपेक्षा और प्रशम (शान्ति), इन सब में तत्पर रहे।

वक्तव्य—ध्यान दें महर्षि अग्निवेश के बुद्धिकौशल पर, उपर्युक्त सम्पूर्ण सद्वृत्त का उपसंहार कितने संक्षेप में किया है। ब्रह्मचर्य आदि नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति कभी भी असद्वृत्त हो ही नहीं सकता।

क्रमशः देखें—ब्रह्मचर्य से सभी इन्द्रियों पर व्यक्ति का एकाधिकार हो जाता है। **ज्ञान** से प्रज्ञापराध आदि समस्त भूलों से मुक्ति मिल जाती है। **दान** से इस लोक और परलोक को मनुष्य अपने वश में कर लेता है। **मैत्री** आदि के सम्बन्ध में स्वयं अग्निवेश लिखते हैं—'मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा' ॥ च० सू० अ० ९।२६

१. जुहुयात् आत्मानमाशीर्भिराप्रशासानः 'अग्निर्मे मागाच्छरीरात्' यो.। जुहुयात् आत्मानमाशीर्भिराप्रशासानः 'अग्निर्मे मागाच्छरीरात्' यो.।
२. 'आशीर्भिराशासान इति च्छेदः' चक्रः। 'आत्मानमित्यादिः अपः स्पृशेदित्यन्तो विच्छेदः' गङ्गाधरः।
३. 'मूर्धनि खानि षट्-द्वे नासारन्ध्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे च श्रोत्रे' गङ्गाधरः।

तत्र श्लोकाः—

पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टं मनो हेतुचतुष्टयम् । इन्द्रियोपक्रमेऽध्याये सद्वृत्तमखिलेन च ॥ ३० ॥
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति । स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते ॥ ३१ ॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः । धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति ॥ ३२ ॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते । तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥ ३३ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इन्द्रियोपक्रमणीय नामक इस अध्याय में पाँच-पंचकों का एवम् मन का वर्णन किया गया है। तदनन्तर हेतुचतुष्टय (प्रकृति तथा विकृति के समयोग आदि चार कारण) और सम्पूर्ण सद्वृत्त का वर्णन किया गया है।

जैसा स्वस्थवृत्त (सद्वृत्त) का उपदेश किया गया है, तदनुसार जो उसका सेवन करता है वह सौ वर्षों तक नीरोग रहकर दीर्घजीवन को प्राप्त करता है। इस सद्वृत्त का जो सेवन करता है वह सत्पुरुषों का आदरणीय होता है और अपने सुयश से सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्ध हो जाता है। समस्त प्राणियों का प्रीति पात्र (बन्धु) होकर धर्म और अर्थ की प्राप्ति करता है। इस प्रकार के पुण्य (अनिन्द्य) कर्मों को करने वाला पुरुष (दूसरे जन्म में) पुण्यात्माओं द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोकों को प्राप्त करता है। इस कारण सभी मनुष्यों को चाहिये कि वे सदैव सद्वृत्त का अनुष्ठान (आचरण) किया करें।

यच्चान्यदपि किञ्चित् स्यादनुक्तमिह पूजितम् । वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते ॥ ३४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
इन्द्रियोपक्रमणीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अनुक्त सद्वृत्त सेवन की आज्ञा—प्रस्तुत सद्वृत्त वर्णन के प्रसंग से जो छूट गया हो और जो सत्पुरुषों सम्मत किंवा आदृत आचार-विचार-व्यवहार हों, उन सब का महर्षि अग्निवेश सदैव अनुमोदन करते हैं।

वक्तव्य—इस उपसंहार पद्य से महर्षि अग्निवेश ने श्रुति, स्मृति, पुराणों में वर्णित सभी प्रकार के सद्वृत्तों के सेवन का आदेश दिया है। इस पद्य द्वारा एक संकेत और भी मिलता है, वह है साधुसंमत युगानुरूप सद्वृत्त। यह विद्वानों के विचार का विषय होगा कि साधु अथवा सज्जन की परिभाषा भी युगानुरूप बदलेगी या पुरानी ही रहेगी ?। सद्वृत्त किं वा स्वस्थवृत्त के उपदेश तथा सेवन का एक ही लक्ष्य है—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्' और यह आयुर्वेद की सर्वश्रेष्ठ देन है, जिसका अन्यत्र अभाव है। रुग्ण की चिकित्सा तो सभी पैथियाँ अपने-अपने दृष्टिकोण से करती चली आ रही हैं।

इस सद्वृत्त (Right Conducts) का निर्देश बुद्धि प्रधान मानव के लिये इसलिये किया गया है कि वह अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करने लगता है। पशु-पक्षियों में आज भी प्राकृतिक नियमों का अतिरेक नहीं देखा जाता, फलतः वे मानव की अपेक्षा अधिक स्वस्थ एवं पूर्णायु का उपभोग करते हैं। मानव में बुद्धि एक ऐसा तत्व है यदि वह उसका सम्यक् उपयोग करे तो वह अपने को पुरुषोत्तम बना सकता है। इसीलिये इस सद्वृत्त का उपदेश समय-समय पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मानव को पशु-धरातल से ऊपर उठाने के लिये किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में इन्द्रियोपक्रमणीय नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

अथातः [1]खुड्डाकचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब स्वस्थवृत्त चतुष्क के वर्णन के पश्चात् खुड्डाक (लघु) चतुष्पाद नामक अध्याय की व्याख्या की जायगी। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इस नवें अध्याय का नाम महर्षि अग्निवेश ने 'खुड्डाक' रखा है और इसके बाद वाले दसवें अध्याय का नाम 'महाचतुष्पाद' रखा है। अतः 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता'। काव्यप्रकाश की इस व्यञ्जना-निर्णायिका कारिका के अनुसार यह 'महाचतुष्पाद' अध्याय के पूर्व आये हुए 'खुड्डाक' शब्द का अर्थ 'लघु' निर्धारित कर लेते हैं।

यद्यपि हम उक्त युक्ति के अनुसार 'खुड्डाक' शब्द का अर्थ 'अल्प-संक्षिप्त-लघु' करते हैं किन्तु यह शब्द संस्कृत साहित्य में उक्त अर्थ के लिये प्रयुक्त दृष्टिगोचर नहीं होता। देखिये—'आनो अर्थ 'नानुं' थेवो छे, परंतु आ अर्थमां आ शब्द संस्कृत ने वैदिक साहित्य मां नथी मणतो, आ शब्दनी समानता पालि साहित्यना आ शब्दना अर्थ साथे मणती छे'। चरक नो स्वाध्याय, भाग १। इसी प्रकार का दूसरा प्रयोग चरक शारीरस्थान में 'खुडिड्का-गर्भावक्रान्ति तथा महती-गर्भावक्रान्ति' भी है।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् । गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥३॥

चिकित्सा के चार चरण (Four Basic Factors of Treatment)—सभी प्रकार के विकारों (रोगों) की शान्ति के लिये गुणवान् चिकित्सक, गुणयुक्त औषधद्रव्य, गुण सम्पन्न उपस्थाता (परिचारक) एवम् गुणवान् रोगी का होना परमावश्यक है।

पैर जिनके सहारे प्राणिमात्र खड़ा होता है और
वक्तव्य—चतुष्पाद—पाद का अर्थ होता है चरण = जिनके अभाव में वह पंगु कहा जाता है। ठीक यही स्थिति चिकित्सा की भी है। यदि उक्त चार पादों में से एक भी असक्त = असमर्थ होता है तो चिकित्सा की सफलता में विलम्ब अथवा सन्देह रहता है।

(१) **भिषक्** (Physician)—चिकित्सक ही चिकित्साकार्य में प्रधान होता है, अतएव उसका सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय के १० वें तथा १२ वें पद्य में इसका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'प्रधानं भिषगत्र तु' तथा 'प्रधानं कारणं भिषक्'।

(२) **द्रव्य** (Drug)—संसार के सभी द्रव्यों का चिकित्सार्थ उपयोग का निर्देश किया गया है—'नानौषधिभूतं जगति', काष्ठ ओषधियाँ, रस, रसायनोपयोगी द्रव्य ऐसे होने चाहिये जिनमें अपने-अपने गुण अविकल रूप में प्रयोगकाल में विद्यमान हों, न कि उनके संग्रहकाल में। अन्यथा वे द्रव्य चिकित्सा में उपकारक नहीं होते।

(३) **उपस्थाता** (Nursing Staff)—'रोगिणः उप(समीपे)स्थाता' अर्थात् जो परिचारक रोगी को कभी अकेला न छोड़े। शेष वर्णन यथास्थान परिचारक के गुणों के साथ किया जायगा।

(४) **रोगी** (Patient)—चिकित्सा की आधारभूमि अथवा क्षेत्र रोगी ही है। इसके अभाव में उक्त तीनों (चिकित्सक, द्रव्य और परिचारक) की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

सुश्रुत का मत—'वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः। एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः' ॥ सु० सू० अ० ३४।१५। इसमें उक्त चारों का क्रम बदला हुआ है, शेष समान है। यहाँ आगे चलकर यह भी निर्देश किया है कि इन सबके अभाव में केवल वैद्य ही रोगी को नीरोग करने में समर्थ है। यथा—

'वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरं सदा। प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि' ॥ सु० सू० अ० ३४।१८।

१. 'खुड्डाकशब्दोऽल्पवचनः, अल्पत्वं चास्य वक्ष्यमाणमहाचतुष्पादमपेक्ष्य' चक्रः।

सुश्रुत का यह वचन कुछ असम्भाव्य-सा लग रहा है क्योंकि औषधद्रव्य, मणि, मन्त्रधारण के बिना रोगी को स्वस्थ करना सम्भव नहीं है। हाँ, वह सीधा-सादा वैद्य सेवा भार अपने ऊपर ले सकता है। इसके बाद भी चिकित्सा के चतुष्पादों में से वैद्य और रोगी इन दोनों का उल्लेख तो उक्त पद्य में हुआ ही है। यदि औषध द्रव्य को भी ले लें तो बेचारा एक उपस्थाता (परिचारक) और बच जाता है।

वैद्यस्तु गुणवानेकः—चिकित्सा के चार पादों जिनमें गुणवान् चिकित्सक प्रधान है। वैद्य के गुणों की चर्चा इसी प्रकरण के आगे १९-२० वें श्लोकों में की गयी है।

एक ओर जब महर्षि अग्निवेश चिकित्सा के चार पादों की मान्यता पर जोर देते हैं वहीं परवर्ती चिकित्सक केवल पथ्य की प्रशंसा करते हैं। यथा—'पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः। पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः' ॥ वैद्यजीवन। **ध्यान दें**—यहाँ कविराज लोलिम्बराज का विशेष आग्रह पथ्य-सेवन की ओर है, न कि प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों के खण्डन के प्रति।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसञ्ज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ ४ ॥

विकृति तथा प्रकृति के लक्षण—वात, पित्त, कफ तथा रस, रक्त आदि सात धातुओं की विकृति (सम अवस्था में न रहने) को विकार कहते हैं और वातादि तीन दोषों तथा रसादि सात धातुओं की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। दूसरे शब्दों में आरोग्य (नीरोगता) की सुख और विकार (विकृति) की ही दुःख संज्ञा है।

वक्तव्य—ऊपर वातादि तीन तथा रसादि सातों को एक साथ धातु की उपाधि प्रदान की है, अन्यत्र प्रथम तीन को दोष और शेष सात को दूष्य कहा है, यथा—'दोषाः पुनस्त्रयो वात-पित्त-श्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति'। चरक वि० अ० १।

आचार्य शार्ङ्गधर उक्त विषय का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—'वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मलास्तथा। तत्रापि पञ्चधा ख्याता प्रत्येकं देहधारणात् ॥ शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात्। वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः' ॥ शा० प्र० खं० अ० ५।

भगवान् धन्वन्तरि का मत—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'। सु० सू० अ० १५। तथा—'त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च। देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हि ते' ॥ सु० उ० अ० ६।

वाग्भट के विचार—'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्या मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च' ॥ अ० हृ० सू० अ० १।

आधुनिक दृष्टिकोण—जहाँ आयुर्वेदशास्त्र की मूलभित्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश तथा पञ्चमहाभूत, आत्मा, मन एवम् दोष-धातु-मल के अस्तित्त्व पर आधारित है, वहाँ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इन सब पर अनास्था प्रकट करता है। आयुर्वेद के अनुसार समस्त द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। यथा—'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे'। च० सू० अ० २६। आधुनिक दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। इसके अनुसार प्राणिज अथवा जड द्रव्यों उत्पत्ति में तत्व (Element) कारणभूत होते हैं। अब तक की खोज के आधार पर इन तत्वों की संख्या १०४ है। इन्हीं के मिश्रण एवं रासायनिक संयोग से बने यौगिकों से जीव-निर्जीव द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

सुख-दुःख की परिभाषा—'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम्'। पातञ्जलयोगदर्शन। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'अस्मिन्शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तद्दुःखसंयोगा व्याधय इत्युच्यन्ते' ॥ सु० सू० अ० १।

प्रेरणा—उक्त पद्य एक ओर सुख-दुःख की परिभाषा प्रस्तुत कर रहा है, दूसरी ओर बुद्धिजीवी मानव मात्र को प्रेरणा दे रहा है कि वातादि को विकृत होने से रोकें और समस्थिति में रखने का यत्न करें।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

चिकित्सा-परिभाषा—धातुओं के विकृत अर्थात् व्यक्ति के रोगी हो जाने पर प्रशस्त (गुणवान्) वैद्य आदि चारपादों (वैद्य, द्रव्य, परिचारक और रोगी) की धातुओं को समान करने के लिये जो क्रिया की जाती है, उसे चिकित्सा कहते हैं।

वक्तव्य—'चिकित्सा रुक्प्रतिक्रिया'। इत्यमरः। कितेर्व्याधिप्रतीकारे, इति सन् प्रत्ययः। अर्थात् रोगदूरकरणवाची किति धातु से सन् प्रत्यय करने पर चिकित्सा शब्द निष्पन्न होता है। **धातुवैकृते**—धातुओं की जब धारणा शक्ति में कमी आ जाती है तो उसको विकृति कहते हैं, उसी को असाम्यावस्था कहते हैं। धातुओं में अपने-अपने कार्य की क्षमता उत्पन्न कराना चिकित्सा का मूल उद्देश्य होता है। देखें—'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्' ॥ चरक सू० अ० १६। अर्थात् जिन क्रियाकलापों से शरीर में विकृत धातु साम्यावस्था को प्राप्त हो जाय, वैद्यों के उस कर्म को चिकित्सा कहते हैं। इसी साम्यावस्था को सुश्रुत ने स्वस्थ की संज्ञा दी है। यथा—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' ॥ सु० सू० अ० १५।४१।

साम्य का लक्षण—'स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्। क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्। तावद् यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम्' ॥ सु० सू० अ० १५।४०।

वाग्भट के मत से चिकित्सा के भेद—'प्रयोगः शमयेद् व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्' ॥ अष्टांगहृ० सू० अ० १३।१६। अर्थात् शुद्ध, अशुद्ध भेद से चिकित्सा दो प्रकार की होती है। यथा—जो प्रयोग (चिकित्सा) एक व्याधि (रोग अथवा दोष) को शान्त तो कर देता है किन्तु दूसरे रोग अथवा दोष को बढ़ा देता है, वह प्रयोग शुद्ध (निर्दोष) नहीं है। शुद्ध प्रयोग तो वह है जो जिस रोग अथवा दोष की शान्ति के लिये प्रयुक्त किया गया हो, उसको साम्यावस्था में ले आये और दूसरे दोष आदि को प्रकुपित न करे। इस दृष्टि से आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा पद्धतियों पर दृष्टि डालें, क्या वे शुद्ध हैं अथवा अशुद्ध ?

श्रुते [१]पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता। दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥ ६ ॥

चिकित्सक के गुण—(Qualities of Physicians) १. शास्त्र का सर्वतोमुखी ज्ञान, २. अनेक बार उस-उस कर्म का प्रत्यक्ष द्रष्टा होना, ३. दक्षता (कुशलता) और ४. पवित्रता—ये चार गुण वैद्य में होने चाहिये।

वक्तव्य—पर्यवदातत्वम्—शास्त्र का चारों ओर से निर्भ्रान्त ज्ञान का होना। यहाँ 'परि' उपसर्ग का अर्थ है चारों ओर। अवदातत्व अर्थात् उज्ज्वलता—कहीं मलिनता (अज्ञानता) का न होना। **दृष्टकर्मता** (Practical Knowledge)—इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के चिकित्सा सम्बन्धी कर्माभ्यास आ जाते है। यथा—ओषधि परिचय, निर्माण, रोगी को देखना, रोगों में विभिन्न प्रकार की नाड़ी की गतियों को पहचानना आदि-आदि। **दाक्ष्यम्**—शास्त्रोपदेश के अनुसार, परिस्थिति के अनुसार चिकित्सा-कर्म में कुशलता आदि। जितहस्तता, पीयूषपाणित्व आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। **शौचम्**—यह पवित्रता चिकित्सक में शरीर, मन, वचन तथा कर्म में होनी चाहिये।

अन्यत्र चिकित्सक के गुण—'एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्। तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः' ॥ सु० सू० अ० ४।७। और भी—'तत्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयं कृती। लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः। सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद चरक विमानस्थान अ० ८ में भी देखें।
उच्यते' ॥ सु० सू० अ० ३४।१९-२०। गुरोरधीताऽखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु। गतस्पृहो

कविराज लोलिम्बराज का मत—' उत्तम चिकित्सक में उक्त सभी प्रकार के गुणों धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्' ॥ वैद्यजीवन। का होना परमावश्यक है, तभी वह चिकित्सा में सफलता प्राप्त करता है।

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ ७ ॥

१. औषध द्रव्यों का पर्याप्त मात्रा में मिलना या होना,
द्रव्यों के गुण (Qualities of Drugs)— २. एक ही द्रव्य का अनेकविधि से निर्माण करना,
२. रोग को शान्त करने की योग्यता (शक्ति) का होना, ३. एक ही द्रव्य का अनेकविधि से निर्माण करना, यथा—स्वरस, कल्क, फाण्ट आदि और ४. उस द्रव्य में उसके स्वाभाविक सभी गुणों का होना—ये चार द्रव्योंके गुण कहे गये है।

वक्तव्य—बहुता—ऐसा औषधद्रव्य जो सब जगह सुलभ हो सके। वाग्भट के मत से 'बहुता' का अर्थ है जो एक ही द्रव्य अनेक रोगों की शमन शक्ति रखता हो। **सम्पत्**—आजकल ओषधि (मूल द्रव्य) विक्रेता तब

१. 'पर्यवदातत्वं विशुद्धज्ञानवत्त्वम्' चक्रः।

तक उन ओषधियों को बेचते रहते हैं, जब तक उनका स्टाक खाली न हो जाय। इस प्रकार की चिरसंचित ओषधियाँ निर्वीर्य या अपनी गुण संपत्ति से हीन हो जाती हैं। ऐसी निर्वीर्य, निःसत्व ओषधियों के ग्रहण का महर्षि अग्निवेश ने निषेध किया है।

भगवान् धन्वन्तरि के वचन इस प्रसंग में आदरणीय हैं—'प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते' ॥ सुश्रुत सू० अ० ३४।२२-२३।

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ ८ ॥

परिचारक के गुण (Qualities of Nursing Staffs)—१. विधिवत् सेवा करने का ज्ञान होना, २. सेवा सम्बन्धी सब प्रकार की कुशलता, ३. जिसकी सेवा कर रहा हो उस (रोगी) के प्रति प्रेम का होना और ४. शरीर, वाणी तथा मन से पवित्र होना—ये चार गुण परिचारक (सेवक) के कहे गये हैं।

वक्तव्य—उपचारज्ञता—आजकल परिचारकों को सेवा किस प्रकार करनी चाहिये इसकी दीक्षा (Training) दी जाती है। **दक्षता**—यह व्यक्ति का विशेष गुण होता है, अन्यथा उपदेश देने के बाद भी यह गुण परिचारक में नहीं देखा जाता, ऐसा अकुशल परिचारक निन्दनीय होता है।

अनुराग—रोगी के प्रति सेवक का और सेवक के साथ रोगी का अवश्य होना चाहिये, अन्यथा यदि रोगी सेवक से कुढ़ता या चिढ़ता रहा अथवा सेवक रोगी से, तो लाभ की जगह हानि होगी। इसी प्रकार अपवित्र सेवक भी स्वास्थ्य की दृष्टि से अग्राह्य है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत के निम्न पद्य को देखें—'स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः' ॥ सु० सू० अ० ३४।२४।

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ ९ ॥

रोगी के गुण (Qualities of Patients)—१. स्मृति (रोग के प्रारम्भ होने से लेकर प्रतिदिन के परिवर्तनों का स्मरण रखने) वाला २. निर्देशकारिता (चिकित्सक के आदेश को मानने तथा पालने वाला), ३. अभीरुता (कड़वी, कषैली औषधों के सेवन से, जौंक, तुम्बी प्रयोग, शस्त्र तथा अग्नि (दाह) कर्मों से न डरने वाला) और ४. ज्ञापकत्वम् (रोग सम्बन्धी सभी बातों को ठीक-ठीक बतलाने की क्षमता रखने वाला) ये रोगी के गुण माने गये हैं।

वक्तव्य—उक्त स्मृति आदि गुण जिस रोगी में देखे जाते हैं वह असाध्य नहीं होता। क्योंकि स्मृतिभ्रंश भी एक रोग का लक्षण है। कहीं कहीं रोगी को निःसंज्ञ (बेहोश) कराकर चिकित्सा करने की आज्ञा दी गयी है, वह विशेष परिस्थिति है और कभी उन्माद आदि रोगों में भयानक तथा हिंसक प्राणियों को दिखाकर भय उत्पन्न कराकर बढ़े हुए दोष का शमन कराया जाता है। इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रखकर भगवान् धन्वन्तरि ने स्मृति तथा अभीरुत्व का समावेश निम्न पद्य में नहीं किया है। देखें—'आयुष्मान् सत्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते' ॥ सु० सू० अ० ३४।२१।

चिकित्सा-चतुष्पाद के १६ गुणों का संग्रह

१—भिषक्	२—द्रव्य	३—उपस्थाता	४—रोगी
१. शास्त्र का परिज्ञान	१. बहुता (अधिकता या सर्वत्र सुलभता)	१. सेवा की विधियों का सम्पूर्ण ज्ञान	१. स्मृतिवान् (यादगार वाला होना)
२. बहुदृष्टकर्मता (जिसने चिकित्सा सम्बन्धी प्रक्रियाओं को देखा हो)	२. योग्यता (रोगनाशन क्षमता से परिपूर्ण होना)	२. दक्षता (सेवा कार्य में पूर्ण कुशलता)	२. निर्देशकारिता (चिकित्सक की आज्ञा का पालन)
३. दक्षता (चिकित्सा में परम कुशलता)	३. अनेकविधकल्पना (पेया आदि का निर्माण)	३. भर्तृ-अनुराग (रोगी के प्रति प्रेम)	३. अभीरुता (निडर होना)
४. शौच (शुद्धता)	४. सम्पत् (रसादियुक्त)	४. शौच (सर्वविधशुद्धता)	४. ज्ञापकता

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्। विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥१०॥

चिकित्सक की प्रधानता—ऊपर जो चिकित्सा के १६ गुण युक्त चार-पादों का वर्णन किया गया है, उनमें रोग आदि समस्त विषयों का ज्ञाता होने के कारण, परिचारक (Nursing staff) को शासित करने, निर्देश (Directions) आदि देने के कारण और योक्ता (ओषधियों का रोग के अनुसार मिश्रण करने वाला) होने के कारण भिषक् (चिकित्सक) ही सर्वश्रेष्ठ होता है, शेष तीन अप्रधान अथवा सहायक होते हैं।

वक्तव्य—'भिषक्'—'भिषग्वैद्यौ चिकित्सके'। इत्यमरः। भिषज रुग्जये-इस धातु से 'कण्ड्वादिभ्यो यक्', सूत्र से यक् प्रत्यय होकर 'भिषज्यति' ऐसा रूप बनता है। पादचतुष्टय की सिद्धि में जो प्रत्येक के ४–४ गुणों का वर्णन किया गया है, इसी का नाम ४×४=१६ षोडश गुण है।

पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः। विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥११॥
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः। वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥१२॥

प्रधानता के उदाहरण—भोजन को पकाने वाले (रसोइया) पाकक्रिया में जिस प्रकार पात्र (बर्तन), इन्धन (लकड़ी) और अग्नि कारण होते हैं अर्थात् इनकी सहायता अथवा उपस्थिति के बिना पाककर्ता पकाने की इच्छा रखने पर भी पाक नहीं कर सकता और जिस प्रकार विजेता (विजय की इच्छा रखने वाले) की विजय में भूमि (रणक्षेत्र), चमू (सेना) और प्रहरण (आयुध=हथियार) होते हैं, ठीक उसी प्रकार द्रव्य, परिचारक और रोगी भी चिकित्सा काल में चिकित्सक की कार्य सिद्धि में उक्त सब कारण होते हैं। इसीलिये चिकित्सक को प्रधान कारण कहा गया है।

वक्तव्य—उदाहरणों द्वारा चिकित्सक की प्रधानता दिखलायी गयी है—पात्र, इन्धन, अग्नि के रहते हुए भी जैसे पाचक के बिना पाक-क्रिया नहीं हो पाती और रणक्षेत्र, सेना, आयुधों के रहते हुए भी जैसे सेनापति के अभाव में युद्ध में विजय नहीं मिल सकती, उसी प्रकार औषध, परिचारक, रोगी के रहने पर भी चिकित्सक के बिना रोग मुक्ति नहीं हो सकती। अतः पाकगृह में पाचक, युद्ध में सेनापति और रोगापनयन में चिकित्सक प्रधान होते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि का मत—'गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक्। व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥ वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः। उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥ वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा। प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि' ॥ सुश्रुत सू० अ० ३४।

मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा। नावहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥१३॥

अन्य उदाहरण—जिस प्रकार मिट्टी, दण्ड (डण्डा), चक्र (चाक) और सूत्र (तागा जिससे वह बनाये हुए पात्रों को नीचे से काटता है) के बिना कुम्भकार के घट का रूप धारण करने में असमर्थ होते हैं, ठीक वैसे ही चिकित्सक के अभाव में औषध, परिचारक, रोगी स्वास्थ्य-लाभ करने में सक्षम नहीं होते।

वक्तव्य—जैसे ऊपर के पद्यों में पाचक (रसोइया) और सेनापति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था, उसी प्रकार इस पद्य में कुम्हार को दिखाया है। अर्थात् पाचक, सेनापति और कुम्हार अपने-अपने कर्मों में जिस प्रकार साधिकार प्रवृत्त होकर जो कुछ करते हैं उस-उस में उनको सफलता मिलती है, यही स्थान चिकित्सा में चिकित्सक का है। अन्यथा रोगी अपने मन से औषध सेवन करने लगेगा और परिचारक सेवा में प्रवृत्त होगा, इसे अव्यवस्था कहते हैं।

गन्धर्वपुरवन्नाशं यद्विकाराः सुदारुणाः। यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशूपायप्रतीक्षिणः ॥१४॥
सति पादत्रये ज्ञाज्ञौ भिषजावत्र कारणम् ॥

अन्तिम उदाहरण—पूर्वोक्त पादत्रय के रहते हुए भी जिस रोगी के सुदारुण (अत्यन्त बढ़े हुए) विकार गन्धर्वपुर (माया = जादू) की भांति शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, उसमें 'ज्ञो भिषक्' (बुद्धिमान्–चिकित्सक) कारण होता है और जो दूसरे रोग उपाय (चिकित्सा) की प्रतीक्षा करने के कारण शीघ्र ही बढ़ने लगते हैं उसमें 'अज्ञो भिषक्' (मूर्ख-चिकित्सक) ही कारण होता है।

वक्तव्य—'गन्धर्वपुर'—'खे स्थले वा मायासम्बन्धाद् ग्रामनगरादीनां मिथ्याप्रतीतिः'। अथवा—माया, प्रपंच, इन्द्रजाल (An imaginary city in the Sky) अर्थात् सहसा किसी की वृद्धि या विनाश जहाँ देखा जाता है उसको गन्धर्वपुर, इन्द्रजाल आदि की उपमा दी जाती है।

उक्त पद्य में योग्य तथा अयोग्य चिकित्सक के कारण रोगों का सहसा नाश एवं वृद्धि का वर्णन किया है, अतः 'गन्धर्वपुर' की उपमा दोनों स्थानों पर समान समझें।

उपायप्रतीक्षिणः—यह शब्द मूर्ख वैद्यों के पास स्वास्थ्य लाभ के लिये गये हुए रोगी का विशेषण है। सुदारुण विकार वाले रोगी के उपस्थित होने पर प्रत्युत्पन्नमति (Possessed of Presence of mind) चिकित्सक ही कार्यक्षम होता है, दूसरा नहीं।

सति पादत्रये—पादत्रय (रोगी, उपचारक, औषध) के रहने पर भी, यह जो विशेषण दिया है इस सम्बन्ध में भी कुछ वक्तव्य है। यद्यपि विज्ञाता, शासिता, योक्ता होने के कारण इन सब में चिकित्सक ही प्रधान होता है, यह कहकर इन सबका निरीक्षण, परीक्षण भी उत्तम चिकित्सक के ऊपर निर्भर है, अन्यथा ये भी साधक न होकर कभी-कभी बाधक सिद्ध होते हैं। अतः योग्य चिकित्सक ही विश्वसनीय होता है और उसके आश्रय में रहने पर पूर्ण स्वास्थ्य लाभ होता है।

वरमात्मा [1]हुतोऽग्नौ न चिकित्सा प्रवर्तिता ॥ १५ ॥
पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्। नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु ॥१६॥

मूर्ख वैद्य से चिकित्सा का निषेध—भले ही मानव अपने को अग्नि में डालकर जला डाले परन्तु मूर्ख चिकित्सक से चिकित्सा कराना (उससे भी) अनुचित है। चिकित्सा के क्षेत्र में मूर्ख चिकित्सक की प्रवृत्ति—भयभीत की भाँति (कहीं मैं गिर न जाऊँ इसलिये) हाथों अथवा लाठी आदि के सहारे चलने (अपने गन्तव्य स्थान को जाने) वाले अन्धेपुरुष की भाँति तथा (नाविक के अभाव में) केवल हवा के सहारे चलने वाली नाव की जैसी स्थिति चिकित्सा क्षेत्र में मूर्ख वैद्य की होती है।

वक्तव्य—आग में अपने को जला डालना एक दुस्साहस पूर्ण कार्य है, इसको शास्त्र अच्छा मान रहा है, अपेक्षाकृत अपनी देह को मूर्ख वैद्य को सौंपने से। मूर्ख वैद्य को प्रकारान्तर से अन्धा (ज्ञानहीन) कहा है। जैसे—अन्धा आँख न होने के कारण मार्ग में फिसलता, ठोकरें खाता है और अन्तिम सीमा तक पहुँचने तक वह भयभीत बना रहता है, यही स्थिति चिकित्सा क्षेत्र में मूर्ख वैद्य की है। वायु के सहारे चलने वाली नाव कभी किनारे लगेगी या नहीं, अथवा कब तक लगेगी, डूबेगी या पार उतरेगी और किस किनारे लगेगी इन बातों का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, ऐसी ही स्थिति अयोग्य चिकित्सक के हाथों में सौंपे हुए रोगी की भी होती है। ये सार्वभौम एवं त्रिकालसत्य सूत्र हैं, अतः इनका विचार सभी पद्धति के चिकित्सकों को समान रूप से करना चाहिये।

यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्। भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम् ॥१७॥

मूर्खवैद्य निन्दा—निश्चित आयुवाले और अपने पास आये हुए रोगी को यदृच्छया (संयोगवश=by chance) नीरोग करके अपने को वैद्य समझने वाला (मूर्ख वैद्य) अनियत आयु वाले सैकड़ों रोगियों को (अपनी मूर्खता के कारण) शीघ्र ही मार डालता है।

वक्तव्य—'शतमारी भवेद्वैद्यः'। यह प्रवाद ऐसे ही भिषङ्मानियों के लिये चिकित्सा जगत् में फैला हुआ है। व्याकरणशास्त्र 'भिषङ्मानी' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करता है—'भिषजम् आत्मानं मन्यते' इति **भिषङ्मानी**। झूठे ही अपने को भिषक् मानने वाला पुरुष।

उक्त पद्य में 'नियतायुष' और 'अनियतायुष' इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनका विस्तृत विवेचन चरक विमानस्थान अ० ३ मे देखें।

जो भाग्यवान् रोगी ऐसे भिषङ्मानियों की चिकित्सा से जीवन लाभ पा जाते हैं, यह महर्षि अग्निवेश के शब्दों में **'यदृच्छा पारमेश्वरी' है** और महर्षि वाग्भट इसको **'घुणाक्षरन्याय'** कहते हैं। यथा—'ते घुणाक्षरवत् कश्चिदुत्तार्य नियताऽऽयुषम्। घ्नन्ति वैद्याभिमानेन शतान्यनियतायुषाम्'॥ अष्टांगसं० उ० तं० अ०

[1] 'हतोऽग्नौ' इति पा०।

५०। और भी देखें—'अपि चाकालमरणं सर्वसिद्धान्तनिश्चितम्। महतापि प्रयत्नेन वा... कथमन्यथा'॥ अष्टांगहृ० उत्तर० अ० ४०।

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने। भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥१८॥

प्राणाभिसर वैद्य—इसलिये (उत्तम चिकित्सक बनने के इच्छुक व्यक्ति को) शास्त्र (चिकित्साशास्त्र तथा तत्सम्बन्धित अन्य शास्त्रों) में, उसके अर्थ भलीभाँति समझने में, शास्त्रीय विधियों की प्रवृत्ति में और आयुर्वेदीय (औषध निर्माण, पञ्चकर्मों के प्रयोग आदि) इन चारों विधियों में प्रवृत्त (लगे हुए) वैद्य को 'प्राणाभिसर' कहा जाता है।

वक्तव्य—१. शास्त्राध्ययन, २. शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान, ३. चिकित्सा करने में प्रवृत्ति और ४. कर्मदर्शन (विभिन्न प्रकार के रोगों को शास्त्र-भेद से, देश-भेद से प्रयुक्त होने वाले कर्मों को देखना) इसी को चतुष्टय कहा गया है।

प्राणाभिसर—'अनुप्लवः सहायश्चाऽनुचरोऽभिसरः समाः'। इत्यमरः। यहाँ अभिसर शब्द का अर्थ सहायक है। अर्थात् प्राण = जीवन का अभिसर = सहायक। आचार्य चक्रपाणि का मत—'प्राणान् गच्छतो व्यावर्तयतीति'—प्राणाभिसरः। अर्थात् जाते हुए प्राणों को जो पुनः शरीर में स्थिर कर दे उस चिकित्सक को प्राणाभिसर कहते हैं। आजकल 'प्राणाचार्य' आदि उपाधियाँ भी इस दृष्टिकोण से स्नातकों को दी जाती हैं।

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे। ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥१९॥

राजवैद्य की परिभाषा—हेतु (निदान) में लिंग (लक्षण) में, रोगों को शान्त करने में और पुनः उत्पन्न न होने देने (Prevention) में जो पूर्ण ज्ञान रखता है, वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक ही राजार्ह (महापुरुषों की चिकित्सा के योग्य) होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में हेतु, लिंग आदि शास्त्राभ्यास है। रोगप्रशमन और रोग का अपुनर्भव कर्माभ्यास है। इसी दृष्टिकोण को भगवान् धन्वतरि ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥ यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः। स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः'॥ सु० सू० अ० ३। ४८-४९। आगे भी देखें—'यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने। आहवे कर्मनिर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा'॥ सु० सू० अ० ३।५३। अर्थात् शास्त्राभ्यास, शास्त्रान्तराभ्यास एवं कर्माभ्यास युक्त चिकित्सक चिकित्सा क्षेत्र में उस प्रकार निर्भय विचरण करता और सफलता प्राप्त करता है जिस प्रकार युद्धभूमि में दो पहियों से युक्त रथवाला सारथी। शास्त्राभ्यास और कर्माभ्यास कुशल चिकित्सक के लिए सुश्रुत की 'द्विचक्रः स्यन्दनः' (दो पहियोंवाली गाड़ी) यह उपमा अत्यन्त उपयुक्त है।

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये। पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥२०॥

शस्त्रादि प्रयोग के लिये पात्र की आवश्यकता—शस्त्र, शास्त्र और जल ये अपने गुण तथा दोष की प्रवृत्ति के लिये पात्र (योग्य व्यक्ति अथवा छिद्र आदि दोष रहित बर्तन) की अपेक्षा (आवश्यकता) का अनुभव करते हैं, अतः चिकित्सा-कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व (चिकित्सक को चाहिये कि) वह अपनी बुद्धि को शुद्ध (संदेह रहित) कर ले।

वक्तव्य—शास्त्राणि में प्रयुक्त बहुवचन से शस्त्र में भी अनेकता स्वीकार करनी चाहिये। क्योंकि लोक में शस्त्रों तथा शास्त्रों की संख्या भी अनेक है। इन शस्त्रों तथा शास्त्रों के अभ्यास तथा प्रयोग द्वारा उत्पन्न गुणों की प्राप्ति के लिये योग्य व्यक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा विरुद्ध प्रयोगों द्वारा होने वाले दोषों की उत्पत्ति स्वभावतः हो जायगी। यथा—अयोग्य व्यक्ति के हाथ में गया शस्त्र निर्दोषों का भी वध कर सकता है इसी प्रकार वह शास्त्र का भी दुरुपयोग (अयोग्यों को उपदेश आदि) करेगा।

अब रही बात सलिल (जल) की—शुद्ध तथा छेद रहित तांबे के पात्र (घड़े) में रखे हुए जल के जो गुण सर्वविदित हैं, वे गुण अन्यत्र नहीं होते हैं। उक्त सभी उदाहरण चिकित्सक के लिये प्रयुक्त हैं।

चिकित्सक को चिकित्साकाल में शस्त्र (सुश्रुत आदि संहिता में वर्णित) और शास्त्र (समस्त आयुर्वेदीय वाङ्मय तथा आयुर्वेद का पृष्ठपोषक अन्य सम्बन्धित साहित्य) इन दोनों का विशद ज्ञान होना ही चाहिये, इनके अभाव में चिकित्सा क्षेत्र में सुयश प्राप्त नहीं किया जा सकता।

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया । यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥२१॥

उत्तम चिकित्सक के गुण—१. विद्या (अपने विषय का ज्ञान), २. वितर्क (ऊह = तर्क बुद्धि), ३. विज्ञान (शिल्प तथा शास्त्रों के ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं), ४. स्मृति (भूलने की आदत का न होना), ५. तत्परता (चिकित्सा काल में रोग एवं रोगी के अतिरिक्त किसी विषय का ध्यान न करना), और ६. क्रिया (चिकित्सा)—ये छः गुण जिस चिकित्सक में होते हैं, वह किसी भी साध्य रोग की चिकित्सा में असफल नहीं होता।

विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः । वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः ॥२२॥

अन्य गुण—१. विद्या (शास्त्रान्तरों का ज्ञान) २. मति (शास्त्रों का मनन, बुद्धि अथवा इच्छा), ३. कर्मदृष्टि (चिकित्सा कर्म के प्रति एकाग्रता), ४. अभ्यास (निरन्तर चिकित्सा कार्य करने का अभ्यास), ५. सिद्धि (चिकित्सा में सफलता, मन्त्रसिद्धि, इष्टसिद्धि) और ६. आश्रय (अष्टांग चिकित्सा में से जिसमें कुशलता प्राप्त करने की इच्छा हो उस विषय के विशेषज्ञ गुरुजनों के साथ रहना)—इन छः गुणों में से प्रत्येक गुण मनुष्य को योग्य वैद्य बनाने के लिये पर्याप्त (समर्थ) हैं।

यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः । स वैद्यशब्दं [1]सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः ॥२३॥

उक्त गुणों की फलश्रुति—जिस वैद्य में उपर्युक्त विद्या आदि सभी शुभ (वैद्योचित) गुण होते हैं वह वैद्य शब्द की योग्यता का निर्वाह करता हुआ प्राणिमात्र को सुख देने वाला होता है।

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं [2]दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन् नापराध्यति ॥ २४ ॥

शास्त्र और बुद्धि से युक्त वैद्य—वस्तु मात्र को प्रकाशित करने के लिये शास्त्र ज्योति (प्रकाश) स्वरूप है और अपनी शुद्ध बुद्धि दृष्टि (नेत्र) रूप है। इसलिये शास्त्र और बुद्धि से सम्बन्धित वैद्य चिकित्सा करता हुआ अपराध (भूल) नहीं कर सकता।

वक्तव्य—भूल, प्रमाद आदि में कहीं अज्ञान कारण होता है और कहीं दृष्टि-दोष। अतः यहाँ महर्षि अग्निवेश ने प्रकाश के लिये शास्त्रीय ज्योति तथा आत्मबुद्धि को दर्शन (नेत्र) की उपाधि दी है।

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद् वैद्यव्यपाश्रयाः । तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् भिषक् स्वगुणसम्पदि ॥२५॥

चिकित्सक का कर्तव्य—क्योंकि चिकित्सा के शेष तीनों पाद (द्रव्य, परिचारक, रोगी) वैद्य के अधीन रहते हैं, इसलिये चिकित्सक को चाहिये कि वह अपनी (पूर्वोक्त वैद्य की) गुणों की सम्पत्ति को बढ़ाने में सदैव प्रयत्नशील रहे।

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् । [3]प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥ २६ ॥

वैद्य की वृत्तियाँ—१. मैत्री (प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव रखना), २. आर्तेषु (रोगियों में) कारुण्य (दयालुता), ३. शक्ये (साध्य रोग में) प्रीतिः (चिकित्सा हेतु स्नेह दिखलाना) और ४. प्रकृतिस्थेषु भूतेषु उपेक्षणम् (असाध्य अथवा मरणासन्न रोगियों के प्रति उपेक्षाभाव) इस प्रकार चार वृत्तियाँ वैद्य की होती है।

वक्तव्य—यहाँ वैद्य की जो चौथी (उपेक्षणात्मक) वृत्ति है उस का वर्णन किया गया है। इस उपेक्षा में भी प्रथम वृत्ति (मित्रता) का होना अति आवश्यक है। उपेक्षा तो इसलिये कि साध्य रोगों की भाँति उसकी चिकित्सा में प्रवृत्ति न रखे और घर के बड़े लोगों को सांकेतिक भाषा में उसके स्वस्थ न होने के सम्बन्ध में बतला दे।

---

१. 'सद्भूतमर्हेत्' यो.।

२. 'दर्शनमिव दर्शनं चक्षुरिवेत्यर्थः' इति चक्रः।

३. शक्ये साधयितुं शक्ये व्याधौ, प्रीतिश्चिकित्सितुं ग्रहणं; प्रकृतिशब्देनेह मरणमुच्यते, प्रकृतिस्था आसन्नमत्यवः। उपेक्षणं चिकित्सार्थमग्रहणम्।

प्रकृति शब्द का अर्थ है मरण, और जीवन विकृति है, क्योंकि इसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ विकार होते देखे, सुने एवम् अनुभव किये जाते हैं। कुछ उदाहरण—'तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः'। चरक सू० अ० ३०। और—'मनस्युपेक्षा प्रकृतिं व्रजत्सु वैद्यस्य सद्वृत्तमलङ्करोति'। अष्टाङ्ग सं० उ० त० अ० ५०। महाकवि कालिदास का प्रयोग देखें—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः'। रघुवंश सर्ग ८।

भिषग्जितं चतुष्पादं पादः पादश्चतुर्गुणः । भिषक् प्रधानं पादेभ्यो यस्माद् वैद्यस्तु यद्गुणः ॥२७॥
ज्ञानानि बुद्धिर्ब्राह्मी च भिषजां या चतुर्विधा । सर्वमेतच्चतुष्पादे खुड्डाके सम्प्रकाशितम् ॥२८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
खुड्डाकचतुष्पादो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

उपसंहार—प्रस्तुत 'खुड्डाकचतुष्पाद' नामक अध्याय में रोगों को दूर करने के लिये चिकित्सा के चार पादों और उनके चार-चार गुणों—इन सब में वैद्य की प्रधानता, वैद्य को किन-किन गुणों से युक्त होना चाहिये और उन गुणों का लाभ, वैद्यों का ज्ञान वैद्यों की चार प्रकार की ब्राह्मी बुद्धियाँ, इन सब विषयों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में खुड्डाकचतुष्पाद नामक नवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो महाचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब (खुड्डाक चतुष्पाद नामक अध्याय का वर्णन करने के पश्चात्) महाचतुष्पाद नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—नवें अध्याय में जिन विषयों का वर्णन किया गया है उनके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये तर्क-वितर्कों की चर्चा एवं समाधान यहाँ किया जायगा।

चतुष्पादं [1]षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, यदुक्तं पूर्वाध्याये षोडशगुणमिति, तद्भेषजं युक्तियुक्तमलमारोग्यायेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः ॥ ३ ॥

चिकित्सा चतुष्पाद की उपयोगिता पर विवाद (Controversy about the Utility of Four Limbs of Treatment)—वैद्य समाज का कथन है कि चार पाद और सोलह कलाओं (गुणों) से युक्त भेषज (चिकित्सा) होती है, ऐसा जो पूर्व (नवें) अध्याय में 'षोडशगुण' शब्द द्वारा कहा गया है, वह चिकित्सा यदि युक्ति-युक्त (विधि पूर्वक) की जाय तो स्वास्थ्य लाभ के लिये पर्याप्त (समर्थ=सक्षम) होती है, ऐसा भगवान पुनर्वसु आत्रेय का कथन है।

नेति मैत्रेयः, किं कारणं ? दृश्यन्ते ह्यातुराः केचिदुपकरणवन्तश्च परिचारकसम्पन्नाश्चात्मवन्तश्च

---

१. 'षोडशकलं षोडशगुणम्' इति चक्रः।

कुशलैश्च [1]भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः, तथायुक्ताश्चापरे म्रियमाणाः, तस्माद् भेषजमकिञ्चित्करं भवति; तद्यथा—श्व[2]भ्रे सरसि वा प्रसिक्तमल्पमुदकं, नद्यां वा स्यन्दमानायां पांसुधाने वा पांसुमुष्टिः प्रकीर्ण इति; तथाऽपरे दृश्यन्तेऽनुपकरणाश्चापरिचारकाश्चानात्मवन्तश्चाकुशलैश्च [3]भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः, तथायुक्ता म्रियमाणाश्चापरे। यतश्च प्रतिकुर्वन् सिध्यति, प्रतिकुर्वन् म्रियते; अप्रतिकुर्वन् सिध्यति, अप्रतिकुर्वन् म्रियते; ततश्चिन्त्यते भेषजमभेषजेनाविशिष्टमिति[4] ॥ ४ ॥

मैत्रेय का दृष्टिकोण (Views of Maitreya)—पुनर्वसु आत्रेय के कथन पर मैत्रेय की शंका (पूर्वपक्ष)—मैत्रेय ने कहा—भगवन् आप जैसा कह रहे हैं वह समीचीन नहीं है ? क्योंकि ऐसे भी कुछ रोगी देखे जाते हैं जो समस्त उपकरणों, परिचारकों (सेवकों) से युक्त, आत्मवान् (शस्त्र, क्षार आदि के प्रयोग से न घबड़ाने वाले) और कुशल चिकित्सकों से चिकित्सा किये जाने पर स्वास्थ्य लाभ करते हैं और दूसरे इन्हीं परिस्थितियों में रहने पर भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये चतुष्पाद और सोलह गुण युक्त चिकित्सा अकिंचित्कर (व्यर्थ) होती है।

उक्त शंका को स्पष्ट करते हुये कहा जा रहा है—जैसे किसी गड्ढे में थोड़ा-सा पानी डाल देना कोई अर्थ नहीं रखता अर्थात् व्यर्थ होता है, वैसे ही मृत्यु के मुख में जाते हुए रोगी को थोड़ी-सी ओषधि देना व्यर्थ होता है। **दूसरा उदाहरण**—दूसरी ओर (अन्य साधनों) से भरे हुए सरोवर में भी डाला हुआ थोड़ा जल जैसे निरर्थक होता है, वैसे ही अन्य साधनों से स्वास्थ्य लाभ होने वाले रोगी के लिये थोड़ी-सी ओषधि का प्रयोग भी व्यर्थ होता है।

इसी प्रकार बहती हुई नदी को रोकने के लिये यदि कोई एक मुट्ठी धूल उसमें डालकर उसे (नदी को) रोकने का प्रयास करे, यह ठीक वैसा ही होगा जैसा मौत की कगार पर पहुँचे हुए रोगी को कुछ औषध दे दिया जाय अर्थात् दोनों ही प्रयास निरर्थक होंगे।

एक और उदाहरण—पांसुधाने (धूल के ढेर) में पांसुमुष्टिः (एक मुट्ठी धूल), यह ऊपर कहे गये पूर्ण सरोवर में डाले गये थोड़े जल के समान व्यर्थ है।

अन्य उदाहरण—जिन रोगियों के पास कोई साधन नहीं है, न कोई उपचारक (सेवक) है, जो न आत्मवान् (चिकित्साकाल में होने वाले कष्टों को सहन करने की शक्ति वाले) हैं और अयोग्य वैद्यों की चिकित्सा में रहकर भी उठ खड़े होते हैं अर्थात् रोग-मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत सब प्रकार के उपकरणों एवं परिचारकों के रहते हुए आत्मवान् होने पर तथा कुशल चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा कराने पर भी कुछ रोगियों को मरते देखा जाता है। और भी—चिकित्सा कराने पर सिद्धि (स्वास्थ्य लाभ) तथा चिकित्सा कराने पर मृत्यु दोनों ही देखी जाती है। साथ ही चिकित्सा न कराने पर सिद्धि एवं चिकित्सा न कराने पर मृत्यु भी देखी जाती है। इसलिये सोचा जाता है कि भेषज (चिकित्सा) के प्रयोग करने तथा अभेषज अर्थात् चिकित्सा के प्रयोग न करने पर कोई विशेषता नहीं दिखलायी देती।

वक्तव्य—'वादि-प्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः, सिद्धान्तः'। अर्थात् वादी (प्रश्नकर्ता) तथा प्रतिवादी (उत्तर देने वाला) इन दोनों द्वारा जिस सारभूत-विषय का निर्धारण किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। यहाँ वादी मैत्रेय हैं और प्रतिवादी भगवान् आत्रेय हैं।

जिस प्रकार प्राचीन महर्षि वादी-प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होकर शास्त्र को लोक सम्मत बनाने के लिये लौकिक दृष्टि से ऊहापोह प्रस्तुत करते हैं, वही स्थिति यहाँ भी है। मैत्रेय ने अपनी शंका द्वारा आत्रेय के उपदेशों अथवा चिकित्सा के चतुष्पाद सिद्धान्त के प्रति अनास्था व्यक्त की है। इस सम्बन्ध में मैत्रेय ने जो तर्क दिये हैं उनको ऊपर व्याख्या भाग में देखें।

---

१. 'भिषग्भिरुपक्रान्ताः' इति पा०।

२. 'श्वभ्रे गर्ते'।

३. 'उपक्रान्ताः' इति पाठः।

४. 'इति मैत्रेयः' यो.।

वास्तव में यह आयुर्वेद शाश्वत अनादि और अनन्त है, ईश्वर के समान। जैसे ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं ठीक उसी प्रकार आयुर्वेद के सम्बन्ध में भी देखे जाते हैं। मैत्रेय की उन शंकाओं का उत्तर महर्षि आत्रेय इस प्रकार दे रहे हैं—

[1]मैत्रेय ! मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः, किं कारणं, ये ह्यातुराः षोडशगुणसमुदितेनानेन भेषजेनोपपद्यमाना म्रियन्त इत्युक्तं तदनुपपन्नं, न हि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति; ये पुनरातुराः के[2]वलाद् भेषजादृते समुत्तिष्ठन्ते, न तेषां सम्पूर्णभेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषो [3]नास्ति, यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्, स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत्, तद्वत् सम्पूर्णभेषजोपलम्भादातुराः, ये चातुराः केवलाद् भेषजादपि म्रियन्ते, न च सर्व एव ते भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्, नहि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः, न चोपायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति, न ह्यलं ज्ञानवान् भिषङ्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुं, परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति, यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य [4]इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यं, तथा भिषक् स्वगुणसंपन्न उपकरणवान् वीक्ष्य[5] कर्मारभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण; तस्मान्न भेषजमभेषजेनाविशिष्टं भवति ॥५॥

मैत्रेय की शंका के निराकरण में आत्रेय का दृष्टिकोण (Views of Atreya)—उत्तर पक्ष के रूप में मैत्रेय की शंका का समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं—मैत्रेय ! आपका विचार समीचीन नहीं है। आपने जो यह कहा कि क्या कारण है पूर्वोक्त षोडश-गुण-समूह से परिपूर्ण चिकित्सा से चिकित्सित रोगी भी मर जाते हैं, यह ठीक नहीं है। क्योंकि भेषज-साध्य रोगों में चिकित्सा निष्फल (व्यर्थ) नहीं होती और जो रोगी बिना भेषज-प्रयोग के ही उठ खड़े (स्वस्थ) हो जाते हैं, उनकी चिकित्सा में सम्पूर्ण भेषज के लिये कोई कारण विशेष ही नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसे—किसी भूमि पर गिरे हुए किन्तु स्वयं उठने में समर्थ पुरुष को उठाने के लिये भी उठाने में सहायक पुरुष भी अपना बल लगाता है, जिससे वह (गिरा हुआ पुरुष) शीघ्र ही बिना किसी कष्ट के ही उठ जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भेषज (चतुष्पाद और षोडश गुण) के उपयोग से रोगी जल्दी ही स्वास्थ्यलाभ करता है।

जो आपने कहा है कि 'सम्पूर्ण भेषज के प्रयोग करने पर भी रोगी मर जाते हैं'। यह आवश्यक नहीं है कि सभी रोगी भेषज के उपचार (चिकित्सा करने) से नीरोग हो ही जाय, क्योंकि सभी प्रकार की व्याधियाँ उपाय (चिकित्सा) साध्य नहीं होतीं। और जो व्याधियाँ उपाय साध्य हैं वे बिना चिकित्सा किये ठीक नहीं होतीं। जो असाध्य (चिकित्सा द्वारा ठीक होने में असमर्थ) रोग हैं उनके लिये यह (चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित) भेषजसमुदाय (चतुष्पाद सिद्धान्त) है भी नहीं। ज्ञानवान् भिषक् (पूर्व वर्णित समस्त योग्यताओं से युक्त चिकित्सक) भी मरजाने वाले रोगी के सामने स्थिर रहने अर्थात् जमकर चिकित्सा करने में समर्थ नहीं होता। कुशल चिकित्सक वे ही हैं जो रोगीकी परीक्षा (अरिष्ट लक्षणों, साध्य-असाध्य का विचार) करने के पश्चात् ही चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं।

उदाहरण—जिस प्रकार योग (कर्म में कुशलता) को जानने वाला तथा प्रतिदिन अभ्यास करनेवाला धनुषधारी बाण को ज्या (धनुष की डोरी) पर रखकर अपने लक्ष्य को जो समीप में और बड़ी आकृति में है, उसको बेधने में सफल होता है और अपने अभीष्ट की सिद्धि कर लेता है, उसी प्रकार समस्त गुणों तथा उपकरणों (चिकित्सोपयोगी सामग्रियों) से युक्त रोगी को देखकर चिकित्सा करने वाला वैद्य साध्य रोगों को हटाने में

---

१. 'मिथ्या विचिन्त्यत इत्यात्रेयः' यो.।

२. 'केवलात् सम्पूर्णात्' इति चक्रः।

३. 'न नास्तीत्युभयनकारकरणादस्ति समुत्थानविशेष इत्यर्थः' इति चक्रः।
'समुत्थानविशेषः कारणविशेषः। समुत्थानविशेषोऽस्ति' ग. यो.।

४. 'इष्वासो धानुष्कः इति चक्रः।

५. 'परीक्ष्य' यो.।

सफल होता है और रोगी को स्वस्थ कर देता है, अतः भेषज (चिकित्सा) तथा अभेषज में कोई विशेषता नहीं है।

वक्तव्य—मैत्रेय की शंकाओं का निराकरण करते हुए महर्षि आत्रेय दृढ़ता पूर्वक कहते हैं—आत्रेय का कथन है कि औषध प्रयोग सदैव साध्य रोगों पर ही करना चाहिये और किया भी जाता है, इस प्रकार निश्चित सफलता भी मिलती है। साध्य व्याधियाँ ही उपाय (चिकित्सा) साध्य होती हैं, अतएव आत्रेय लिखते हैं—'न ह्यलं ज्ञानवान् मिषङ्मुमूर्षुमातुरमुपस्थापयितुम्' । **अन्यत्र भी देखें**—'व्याधेस्तत्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः। एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः' ॥ जीवन-मरण का उत्तरदायित्व वैद्य पर नहीं डाला जा सकता। असाध्य की चिकित्सा न करने के स्थान-स्थान पर निर्देश सुलभ हैं। इसी अध्याय के ८ वें पद्य को देखें, उसमें असाध्य रोगी की चिकित्सा की भरपूर निन्दा की है।

इस प्रकार का विचार भेलसंहिता सू० अ० ९ तथा अष्टाङ्गहृदय उ० तं० अ० ४० में भी किया गया है। यह विचार ठीक ऐसा ही है, जैसे शुद्ध सोने को पुनः ग्राहक के सामने आग में तपाकर दिखा दिया जाता है।

इदं चेदं च नः प्रत्यक्षं—यदनातुरेण [1]भेषजेनातुरं चिकित्सामः क्षाममक्षामेण कृशं च दुर्बलमाप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः, व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति ॥ ६ ॥

उक्त सम्बन्ध में प्रत्यक्ष-प्रमाण—महर्षि आत्रेय कहते हैं—हमारे सामने ये विषय सर्वथा प्रत्यक्ष हैं, यथा—हम दोषरहित औषधयोगों से रोगी की चिकित्सा करते हैं, क्षीण (दुर्बल) रोगी की अक्षाम-(बृंहण) औषध योगों से, कृश और दुर्बल को आप्यायित (तृप्त) करने वाले औषधों से, स्थूल तथा मेदस् (चर्बी) वाले रोगियों को अपतर्पण (उपवास, रूक्ष आदि) आहार, विहार तथा औषधोपचार से, उष्णाभिभूत (लू लगे हुए अथवा गर्मी से पीड़ित) रोगियों की शीतोपचार से और शीत से पीड़ित रोगियों की उष्णोपचार से, न्यूनता (कमी) को प्राप्त रसादिधातुओं की पूर्ति करते हैं, बढ़े हुए धातुओं को घटाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, समस्त रोगों की मूलविपर्यय (निदान परिवर्जन अर्थात् जिस कारण से वह रोग हुआ हो उसके विपरीत क्रिया) से चिकित्सा करते हुए दोषों को भली-भाँति सम अवस्था में रखते हैं। उन-उन रोगियों के प्रति ऐसा करने से यह समस्त भेषज समुदाय कान्ततम (अत्यन्त उज्ज्वल) हो जाता है, अर्थात् सर्वथा दोष रहित हो जाता है।

वक्तव्य—मैत्रेय की शंका इस प्रसंग को देखकर निर्मूल हो जाती है और भेषज (चिकित्सा) का मूल उद्देश्य भी यही है। उक्त स्थलों में कभी भी भेषज प्रयोग व्यर्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। 'व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः'। इस गद्यांश से 'हेतुव्याधिविपरीत' चिकित्सा के स्वरूप का निर्देश भी कर दिया गया है।

भवन्ति चात्र—

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः। काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥ ७ ॥
[2]अर्थं विद्या यशो हानिमुपक्रोशमसङ्ग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ ८ ॥

साध्याऽसाध्य विचार की फलश्रुति—यह रोग साध्य है अथवा असाध्य है इस प्रकार के विभाजन का जिसे चिकित्सक को ज्ञान है, वह समय पर (न कि समय बीतने पर) जिस (चिकित्सारूप) कर्म को प्रारम्भ करता है, उसको भलीभाँति सिद्ध कर लेता है।

और जो चिकित्सक असाध्य रोगी की (मूर्खता अथवा लोभ के कारण) चिकित्सा करता है उसके धन,

१. 'भेषजेनातुरमुपचरामः' इति पा०।
२. 'स्वार्थविद्या०' ग. यो.।

विद्या और यश की हानि होती है, समाज उसकी निन्दा करता है, फलतः भविष्य में कोई उसका चिकित्सा के लिये संग्रह नहीं करता।

वक्तव्य—'साधनं न तु असाध्यानां व्याधीनाम् उपदिश्यते', अर्थात् असाध्य रोगों की चिकित्सा नहीं हो सकती। इस प्रकार के शास्त्र-निर्देशों के बाद भी यदि कोई असाध्य रोगी की चिकित्सा करता है तो वह निश्चित ही अपयश का पात्र होगा। चिकित्सक लक्षणों के अनुसार रोग का निर्णय कर ले, यदि वह रोग असाध्य है, उसके बाद भी रोगी के परिजन चिकित्सा करने का आग्रह करते हैं तो उनको उसकी असाध्यता का स्पष्ट निर्देश कर दे, इस स्थिति में चिकित्सा करने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'जब तक साँसा तब तक आशा', और हमारा आयुर्वेद भी यही कहता है—'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति'।

काले चारभते—संसार में जहाँ, जो, जिस प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, उत्पत्ति एवं विनाश आदि
क्रियायें होती हैं, उन सब में काल की प्रधानता होती है। ईश्वरीय सृष्टि इसका उदाहरण है। समय पर बोया
गया बीज पूर्ण फलदायक होता है और वही बीज असमय में बोने पर फलप्रद नहीं होता, यही स्थिति चिकित्सा
की भी है। नीतिशास्त्रों में कहा है—अग्नि, शत्रु तथा रोग की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, उसका
निराकरण करे। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति के साथ ही उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। यही उसका काल
है और जितना विलम्ब करेंगे उतना वह क्रमशः असाध्य होता जायगा। देखें, भगवान् धन्वन्तरि की मान्यता—
'अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया। क्रियाहीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिद्ध्यति' ॥ सुश्रुत
सू० अ० ३५।२२।

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च। द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद् याप्यं यच्चानुपक्रमम् ॥
साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति। विकल्पो न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना ॥१०॥

साध्य-असाध्य रोगों में भेद—साध्य रोगों के दो भेद होते हैं—१. सुखसाध्य, २. कृच्छ्रसाध्य या
कष्टसाध्य। इसके पश्चात् असाध्य रोग भी दो प्रकार के होते हैं—१. याप्य, २. अनुपक्रम। पुनः साध्य रोगों
के तीन भेद किये गये हैं—१. अल्प उपाय साध्य, २. मध्य उपाय साध्य, ३. उत्कृष्ट उपाय साध्य; किन्तु याप्य
को छोड़कर जिन रोगों को अनुपक्रम (अचिकित्स्य या असाध्य) कहा कहा गया है उनका कोई विकल्प नहीं
है। विकल्पना (तर-मत भेद) तो केवल साध्य और याप्य रोगों की ही देखी जाती है।

व्याधि भेदों का पर्याय तालिका—व्याधि (Disease) साध्य—(Curable) भेद—१. सुख
साध्य (Easily cured.) २. कृच्छ्रसाध्य (Cured with difficulty.) ३ अल्प उपाय साध्य
(Needs mild treatment.) ४. मध्य उपाय साध्य (Needs moderate treatment) ५. उत्कृष्ट
उपाय साध्य (Needs strong treatment)।

असाध्य—(Incurable.) भेद—१. याप्य (Palliable), २. अनुपक्रम अथवा प्रत्याख्येय
(Irremediable), याप्य तथा अनुपक्रम के कोई भेद नहीं (No further classification of
incurable Disease)।

वक्तव्य—प्रारम्भिक स्थिति में एक दोषज व्याधियाँ सुखसाध्य होती हैं। कालान्तर में द्विदोषज अथवा
सन्निपातज व्याधियाँ कृच्छ्र (कष्ट) साध्य हो जाती हैं। अर्थात् इस प्रकार की व्याधियाँ रोगी तथा चिकित्सक
के लिये कष्टदायक हो जाती हैं। **याप्य** व्याधियाँ वे हैं जिनकी तब तक चिकित्सा होती रहे जो कुछ दबी रहती
हैं और चिकित्सा छोड़ देने पर पुनः पूर्ववत् हो जाती हैं। जैसे—तमकश्वास। देखें—'स याप्यस्तमकः श्वासः'।
चरक चि० अ० १७। याप्य का अर्थ है—चलाने योग्य।

अनुपक्रम—उपक्रम का अर्थ है—चिकित्सा और अनुपक्रम का तात्पर्य है—जो चिकित्सा के योग्य न
हो। यद्यपि अनुपक्रम असाध्य का ही द्वितीय भेद है, इसको हम याप्य से भी बिगड़ी स्थिति कह सकते हैं।
साध्य रोगों के जो अल्प, मध्य और उत्कृष्ट भेद किये गये हैं, ये भी रोग तथा रोगी की परिस्थिति पर ही
निर्भर करते हैं।

वृद्ध वाग्भट ने अष्टाङ्गसङ्ग्रह सूत्रस्थान अध्याय २ में रोगों के मूलतः दो भेद किये हैं—१. साध्य, २. असाध्य। साध्य रोगों के पुनः दो भेद किये हैं—१. सुखसाध्य और २. कष्टसाध्य। इसी प्रकार असाध्य रोगों के भी दो भेद किये हैं—१. याप्य, २. प्रत्याख्येय। असाध्य रोगों का यह दूसरा (प्रत्याख्येय) भेद चरकोक्त अनुपक्रम का पर्यायवाची होते हुए भी यह संकेत करता है कि इस स्थिति में यदि रोगी मिले तो उसको जवाब दे देना चाहिये कि यह रोग चिकित्सा द्वारा अब ठीक नहीं किया जा सकता।

परिस्थितिवश साध्य-असाध्य रोगों में परिवर्तन का वर्णन—'साध्ययोरपि संयोगो बलिनोर्यात्यसाध्यताम्। विद्यादसाध्यमेवातः साध्यासाध्यसमागमम्॥ नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्। पादापचाराद् दैवाच्च यान्त्यवस्थान्तरं गदाः'॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० २।

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च। न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥११॥
न च कालगुणस्तुल्यो न [1]देशो दुरुपक्रमः। गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥१२॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः। चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥१३॥

सुख साध्य रोगों के लक्षण—जिस रोग के हेतु (कारण = निदान), पूर्वरूप और रूप (लक्षण) कम हों और वात आदि दोष दूष्य, (रस आदि सप्त धातु) के समान गुण वाले जहाँ न हों। जो दोष विकृत हुआ हो, रोगी भी उसी दोष प्रधान प्रकृति का न हो, रोग तथा विकृत दोष के गुण काल के गुणों के अनुसार न हों, ऐसा देश भी न हो जहाँ उस रोग की चिकित्सा न हो सके, रोग एक मार्ग में स्थित हो, रोग नया हो (पुराना नहीं), उपद्रवों (Complications) से रहित हो, कोई एक दोष रोग की उत्पत्ति का कारण हो, शरीर सभी प्रकार की चिकित्सा को सहन करने की शक्ति रखता हो और चिकित्सा के चारों पाद सुलभ हों तो ये सुखसाध्य के लक्षण हैं।

वक्तव्य—हेतु = निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति का विशद विवेचन चरक के निदानस्थान में किया जायगा। **दूष्य**—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये सात धातु वातादि दोषों से दूषित किये जाते हैं। **'न च तुल्यगुणो दूष्यः'**—जैसे पित्त दोष स्वभावतः उष्ण प्रकृति होता है और रक्त भी उष्ण प्रकृति है। यहाँ दोष-दूष्य तुल्यगुण हैं, इसके विपरीत कफदोष शीत प्रकृति और रक्त उष्ण प्रकृति, ये परस्पर तुल्यगुण नहीं हैं, इसी प्रकार आगे भी समझें। **अपवाद**—कफजमेह में कफदोष तथा दूष्य मेदस् समान गुण वाले हैं, परन्तु यह तुल्यगुण होने पर सुखसाध्य होता है।

न च कालगुणस्तुल्यः—यह नियम सर्वत्र समानरूप से दृष्टिगोचर नहीं होता, कहीं कहीं इसका अपवाद भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—'वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। वैकृतोऽन्यः स दुस्साध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः'॥ माधवनिदान। प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः'॥ चरक चि० अ० ३। अर्थात् वसन्त-ऋतु में होनेवाला कफज्वर और शरद्‌ऋतु में होनेवाला पित्तज्वर सुखसाध्य होता है। यहाँ पर रोगोत्पादक कफ तथा पित्त के समान ही वसन्त एवं शरद् ऋतु के गुण हैं।

न देशो दुरुपक्रमः—आनूप देश वात एवं कफ प्रधान होता है। ऐसे स्थान पर पित्तज व्याधियाँ विपरीत गुण वाली होने से सुखसाध्य होती हैं। ऐसा ही विचार जांगल तथा साधारण देशों के सम्बन्ध में भी करें। देश शब्द से भूमि (स्थान विशेष) तथा आतुर का भी ग्रहण किया जाता है।

गतिरेका—'त्रयो रोगमार्गाः—शाखा मर्मास्थिसन्धयो कोष्ठश्च'। अर्थात् रोग का मार्ग शाखाश्रित, मर्माश्रित अथवा कोष्ठश्रित हो। कोष्ठ शब्द से आयुर्वेद में निम्नलिखित अंगों का ग्रहण किया जाता है—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते'॥

नवत्वम्—अन्य रोग नवीन स्थिति में ही साध्य होते हैं किन्तु स्त्रियों को होने वाला 'रक्तगुल्म' रोग इसका अपवाद है। देखें—'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः'॥ च० चि० अ० ५॥

रोगस्योपद्रवः—असाध्य स्थिति में प्रायः प्रत्येक रोग में कुछ न कुछ उपद्रव दिखलायी ही देते हैं। देखें—'हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलश्च यस्याऽसाध्योऽर्शसो हि सः'। चरक चि० अ० १४।२६७॥

१. देशो भूमिरातुरश्च।

देहः सर्वौषधक्षमः—वाग्भट ने अष्टांगहृदय के आयुष्कामीय नामक प्रथम अध्याय के साध्यासाध्य-विवेक प्रकरण में श्लोक संख्या ३० से ३२ तक में इसका विचार किया है।

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले। कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥१४॥
गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम्। शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥१५॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम्। द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥१६॥

कृच्छ्रसाध्य रोगों के लक्षण—निमित्त (निदान), पूर्वरूप, रूप (लक्षण) इसके मध्यमबल होने पर, काल (ऋतु विशेष), प्रकृति (रोगी की जन्मजात वातादि प्रकृति) और दूष्य (रसादि सात धातुएँ) इनमें से किसी एक के दोषों के समान होने पर, गर्भिणी, वृद्ध तथा बालकों को हुए रोग, जो उपद्रवों से आज पीड़ित न हों, शस्त्र क्रिया, क्षारप्रयोग एवम् अग्निदाह द्वारा सिद्ध होने वाले रोग, अनवं (जो पुराने रोग) हों, मर्म स्थलों में उत्पन्न हुए रोग अथवा एक पथ (हाथ-पैरों, मर्म सन्धि या कोष्ठ) में रोग हुआ हो परन्तु चिकित्सा के चारों पाद उपलब्ध न हों या रोग द्विमार्गगत हों, बहुत पुराना (Chronic) रोग न हुआ हो और (किन्हीं) दो दोषों का उस रोग में सम्बन्ध हो तो उसे कृच्छ्र (कष्ट) साध्य समझना चाहिये।

वक्तव्य—जिस रोग में वैद्य को चिरकाल तक विशेष बुद्धि, यत्न औषध एवं सावधानी का प्रयोग करना पड़े और रोगी को भी पूर्ण पराधीनता तथा अधिक कष्ट सहकर धैर्यपूर्वक स्वास्थ्य लाभ की प्रतीक्षा करनी पड़े वह रोग कष्ट साध्य कहा जाता है। ऊपर जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, वे साध्य रोग की तुलना में निश्चित ही विषम हैं।

वृद्ध वाग्भट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—'कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च। असाध्यलिङ्गसङ्कीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधनः'॥ अष्टाङ्गसं० अ० सू० २। अर्थात् कष्टसाध्य रोग वह है जो बड़े कष्ट एवं दुष्कर उपायों के करने पर भी बहुत समय के बाद शान्त होता है। इसमें असाध्य लक्षणों का मिश्रण होता है जिनकी शान्ति, शस्त्र, क्षार, अग्नि कर्मों से करनी पड़ती है। सुश्रुत में व्याधियों के दो भेद मूल रूप में किये गये हैं। १. शस्त्रसाध्य २. स्नेहादिक्रियासाध्य।

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया। लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम् ॥१७॥
गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम्। नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥१८॥
विद्याद् द्विदोषजम्—

याप्य रोगों के लक्षण—आयु के शेष रहने के कारण, पथ्य (हितकर आहार-विहार) के सेवन करने से थोड़ा सुख पाकर भी थोड़े से अपथ्य सेवन आदि से, जो रोग को जल्दी बढ़ा देता है और मेदस् आदि धातु में पहुँचा हुआ अथवा अनेक धातुओं में स्थित, मर्मों तथा सन्धियों से सम्बन्धित, प्रतिदिन जो लगा रहे, जो दीर्घकाल तक रह गया हो और किन्हीं भी दो-दो दोषों से युक्त हो, ऐसे असाध्य रोग को 'याप्य' समझें।

वक्तव्य—महर्षि अग्निवेश ने संक्षेप में ऊपरी पंक्ति में याप्य और असाध्य में क्या भेद होता है, प्रदर्शित किया है। सभी असाध्य रोग पथ्य सेवन करने वाले रोगी की आयु के शेष रहने पर याप्य हो जाते हैं। अर्थात् जितने दिन आयु शेष है उतने दिन किसी प्रकार चलाये जा सकते हैं। वृद्धवाग्भट ने अन्य सभी बातें चरक के अनुसार लिखी हैं, केवल वे इसको कर्मज व्याधि मानते हैं। देखें—अष्टाङ्गसं० सू० अ० २।

इस पर सुप्रसिद्ध व्याख्याकार इन्दु की टिप्पणी देखें—'बाहुल्येन विपर्यये साध्यलक्षणविपरीतत्वे सत्यायुषो जीवितस्य शेषत्वादशक्यत्वान्मारयितुमसमर्थः पथ्यैराहारविहारैर्याप्यः। स च व्याधिः चिकित्सितेनाऽल्पं सुखं दत्वा पुनः सोऽल्पेनैव हेतुना प्रतन्यते विस्तीर्यते। अतश्च दुष्कृतकर्मजो रोगो नियतायुष उत्पन्नो न च नश्यति नापि मारयति'। इति।

धर्मशास्त्र के अनुसार कर्मजव्याधि का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों तक रहता है किन्तु महर्षि अग्निवेश ने कुछ संशोधन के साथ धर्मशास्त्रों की आस्था को अपनी संहिता में इस प्रकार लिखा है—'नहि तद्धि महत् कर्म फलं यस्य न भुज्यते'। चरक शा० अ० २।११७।

—तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥१९॥
औत्सुक्यारतिसम्मोहकरमिन्द्रियनाशनम्। दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥२०॥

प्रत्याख्येय रोगों के लक्षण—जिसको पहले अनुपक्रम कहा गया था उसी का नाम प्रत्याख्येय भी है। उसी प्रकार जिस व्याधि का सम्बन्ध त्रिदोषज (सन्निपातज) हो, चिकित्सा की सीमा से दूर हो गयी हो अर्थात् विधिवत् चिकित्सा करने पर भी जिसमें लाभ न हो रहा हो, जो रोग सभी मार्गों (शाखा-हाथ-पैर, मर्म, अस्थिसन्धि तथा कोष्ठ) में फैल गया हो, जिसके कारण रोगी में उत्सुकता, बेचैनी और बेहोशी हो रही हो, इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो रही हो ऐसी स्थिति में सभी उपद्रवों तथा अरिष्ट (मृत्युसूचक) लक्षणों से युक्त दुर्बल (अनात्मवान्) पुरुष की व्याधि प्रत्याख्येय (जबाब देने लायक) होती है।

वक्तव्य—तद्वत् अर्थात् याप्य व्याधि के लक्षणों से परिपूर्ण अनुपक्रम रोगियों का सूत्र रूप में वर्णन अष्टाङ्गहृ० सू० अ० १ में देखें। महर्षि वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय के मंगलाचरण में उस अपूर्व (अनादि) वैद्य को नमस्कार किया है जो उक्त प्रकार की चिकित्सा में चतुर हो। देखें—'रागादिरोगान् सततानुषक्तान-शेषकायप्रसृतानशेषान्। औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै' ॥ अ० हृ० सू० अ० १।१। ध्यान दें—उक्त असाध्य लक्षणों में कौन-कौन लक्षण इस मंगलाचरण में वर्णित हैं, जिनसे वह अपूर्व वैद्य मुक्ति दिलाता है।

भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवं विकाराणां स्वलक्षणम्।
पश्चात् कर्मसमारम्भः कार्यः साध्येषु धीमता ॥ २१ ॥

साध्य रोगों को चिकित्सा का विधान—विद्वान् वैद्य सर्वप्रथम रोगों के लक्षणों को देखकर उनका साध्य-असाध्य के रूप में विवेचन कर ले, तदनन्तर साध्य रोगों की चिकित्सा प्रारम्भ करे।

वक्तव्य—इस प्रकार का विचार अन्यत्र भी चिकित्सा ग्रन्थों में किया गया है। यथा—'रोगमादौ परीक्ष्येत ततोऽनन्तरमौषधम्'। और—'आदौ निदानविधिना विदध्याद् व्याधिनिश्चयम्। ततः कर्म भिषक् पश्चा-ज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्' ॥ इत्यादि। यह प्रकार चिकित्सा में निश्चित सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक्प्रतिपत्तिमान्। न स मैत्रेयतुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत् २२॥

साध्याऽसाध्यनिर्णय से लाभ—जो ठीक-ठीक शास्त्र के अर्थ को जानने वाला वैद्य साध्य एवम् असाध्य के भेद को जानता है, वह मैत्रेय की भाँति (दैववादी बनकर) चिकित्सा शास्त्र के सम्बन्ध में मिथ्याबुद्धि (गलत धारणा) नहीं रखता।

वक्तव्य—इस अध्याय के आरम्भ में मैत्रेय की शंका का आधार मात्र यही लगता है कि उसकी भेंट साध्य और असाध्य का विचार करके चिकित्सा करने वाले उत्तम चिकित्सक से न हुई होगी, अन्यथा वह भाग्य के भरोसे रहने की अपील न करता।

तत्र श्लोकौ—

इहौषधं पादगुणाः प्रभावो भेषजाश्रयः। आत्रेयमैत्रेयमती मतिद्वैविध्यनिश्चयः ॥२३॥
चतुर्विधविकल्पाश्च व्याधयः स्वस्वलक्षणाः। उक्ता महाचतुष्पादे येष्वायत्तं भिषग्जितम् ॥२४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
महाचतुष्पादो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

उपसंहार—इस महाचतुष्पाद नामक अध्याय में औषध, चतुष्पाद के गुण अर्थात् षोडशकलभेषज, औषध के प्रभाव पर विचार, आत्रेय और मैत्रेय का मत, इन दोनों के मतों पर विचार, रोगों के चार भेद (साध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य, प्रत्याख्येय) और इनके अपने-अपने लक्षण कहे गये हैं, जिनपर चिकित्सा निर्भर रहती है।

इसप्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेषवक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
महाचतुष्पाद नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथातस्तिस्रैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इस (महाचतुष्पाद नामक) अध्याय के बाद तीन एषणा (इच्छा) सम्बन्धी प्रस्तुत अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान अ० १ श्लोक ४३ में आयुर्वेद को 'लोकयोरुभयोर्हितम्' दोनों लोक का हित-कारक बतलाया गया है। अतः क्रमानुसार पहले इस लोक के हित की चिन्ता करते हुए इस अध्याय के पूर्व रोग-शमन एवं आरोग्य प्राप्ति के लिये चिकित्सा आदि का वर्णन करने के बाद यहाँ इस तिस्रैषणीय अध्याय की चर्चा इसलिये की जा रही है कि इसमें पुनः इस लोक के सुख की इच्छाओं के साथ परलोक (परलोकैषणा) के सुख का भी वर्णन किया गया है।

इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र-एषणा पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा—[1]प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥ ३ ॥

तीन एषणायें (Three wishes)—इस लोक तथा परलोक में हित (अपनी भलाई) की इच्छा रखने वाले, मन, बुद्धि, पौरुष (शारीरिक बल), और पराक्रम (मानसिक बल) से सम्पन्न पुरुष को तीन एषणाओं (इच्छाओं) की पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। वे एषणायें इस प्रकार हैं—१. प्राणैषणा, २. धनैषणा और ३. परलोकैषणा।

वक्तव्य—इच्छार्थक इष् धातु से युच् प्रत्यय करने पर **एषणा** शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है तत्-तत् विषय की प्राप्ति-इच्छा। यथा—प्राण, धन, परलोक सम्बन्धी इच्छाएँ। आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त भी प्राणैषणा ही है। अतएव चरकसंहिता के प्रथम उद्देश्यभूत अध्याय का नाम ही 'दीर्घञ्जीवितीयम्' रखा गया है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में भी इन एषणाओं का अस्तित्त्व विद्यमान है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इस प्रकार का विभाजन मिलता है। बृ० उ० ४।४।२२। इनको हम समन्वयात्मक दृष्टि-से यों देख सकते हैं—पुत्रैषणा को चरकोक्त प्राणैषणा में अन्तर्भूत कर सकते हैं, क्योंकि पुत्र की एषणा = प्राप्ति-इच्छा एक ही जीवन की प्राणैषणा न होकर तीन पीढ़ी तक अपनी परम्परा को स्थिर करती है। देखें चरक के इस वाक्य को—'आत्मा वै पुत्र नामासि त्वं जीव शरदां शतम्'। इस सम्बन्ध को आगे पल्लवित करता है महर्षि पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र—'अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्'। ४।१।१६२। यह है उपनिषदोक्त 'पुत्रैषणा' का विस्तृत क्षेत्र जिसमें 'प्राणैषणा' 'जीवेन शरदः शतम्'–यजुर्वेद। इससे भी आगे विस्तृत दिखलायी देती है धनैषणा और वित्तैषणा, इनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक नहीं है क्योंकि दोनों एक ही हैं। शेष रही लोकैषणा इसका सीधा सम्बन्ध चरकोक्त परलोकैषणा से है। अन्तर इतना है लोक शब्द के पूर्व इह अथवा पर शब्द का अभाव। इस परलोकैषणा के माध्यम से चरक ने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। देखें—'यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु। प्राणैः तन्त्रयते प्राणी नह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः' ॥ चरक० शा० अ० १।७७।

भेलसंहिता में इन एषणाओं का उल्लेख इस प्रकार है—'प्राणैषणा स्याद् प्रथमा द्वितीया तु धनैषणा। धर्मैषणा तृतीया तु पुरुषस्य भवत्यथ' ॥ भेलसंहिता सू० अ० १५। इसमें जो धर्मैषणा नाम दिया है वह परलोकैषणा ही है। क्योंकि परलोकगमन में प्राणी का धर्म ही सहायक होता है। इसका समुचित चित्रण गरुडपुराण में इस प्रकार है—'धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने। देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मोऽनुगो गच्छति जीव एकः' ॥ अर्थ स्पष्ट है।

१. 'इष्यतेऽन्विष्यते साध्यतेऽनयेत्येषणा; प्राणो जीवितं, तत्साध्यते दीर्घत्वेन रोगानुपहतत्वेन चानयेति प्राणैषणा। एवं धनैषणा। परलोकोपकारस्य धर्मस्यैषणा परलोकैषणा'। चक्रः।

यद्यपि आयुर्वेद का प्रथम लक्ष्य स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्यरक्षा तथा रोगी को रोग-मुक्त कराना है और मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति, किन्तु यह (मोक्षप्राप्ति) मानव की सहज इच्छा नहीं है। जैसी कि उक्त तीन इच्छायें हैं। इनका क्रम भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। सर्वप्रथम प्राणों (जीवन) की इच्छा तदनन्तर धन की इच्छा, यहाँ पर धन शब्द ऐहलौकिक समस्त सुखों का प्रतीक है, इस प्रकार इस लोक में जो प्राणी सुखमय जीवन बिताने का अभ्यस्त हो जायगा, निश्चित ही वह अपने पारलौकिक जीवन को भी आनन्दमय बनाने की प्रक्रिया यहीं से आरम्भ कर देगा अर्थात् उसके लिये वह सद्वृत्त आदि धार्मिक आचरणों को ओर प्रवृत्त होगा।

इस प्रकार की मूल प्रवृत्तियों (Instincts) की खोज आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने ढंग से की है। इनके मत से चौदह प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो अपने चौदह प्रकार के संवेगों (Emotions) से जीवनकालिक कार्यों का संचालन करती हैं।

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत। कस्मात् ? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः। तस्यानुपालनं—स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तानुवृत्तिः, आतुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च; तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद् दीर्घमायुरवाप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति ॥ ४ ॥

(१) प्राणैषणा (Wishes of Life)—इन तीन एषणाओं में प्राणैषणा को सबसे पहले आना (गिनना) चाहिये, क्योंकि प्राणों के परित्याग होने पर सब (धन तथा परलोक की इच्छाओं) का त्याग (विनाश) हो जाता है। इसलिये उन (प्राणों) की रक्षा स्वस्थ पुरुष को स्वस्थवृत्त (Hygiene) के पालन द्वारा और रोगी पुरुष को रोग शान्ति के उपायों के प्रति सावधान रह कर करनी चाहिये। इन दोनों (स्वस्थवृत्त तथा रोगशान्ति के उपायों) का इसके पूर्व (सूत्र रूप में) वर्णन कर दिया गया है और आगे (विस्तार से) किया भी जायगा। अतः शास्त्रीय निर्देशानुसार प्राणों की रक्षा करते रहने से (मानव) दीर्घ-आयु को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रथम (प्राणैषणा) को व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—धनैषणा और परलोकैषणा में प्राणैषणा का प्रथम स्थान होने में ऊपर अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं। **'तस्यानुपालनम्'**—जीवन धारण के पश्चात् व्यक्ति प्रतिक्षण स्वस्थवृत्त का आचरण करे, इतना करने पर भी प्रमादवश यदि वह रोगी हो जाता है तो उसका तत्काल प्रतीकार करे। इतना करने पर मानव की प्राणैषणा निर्विघ्नपूर्ण हो जाती है। इस प्रसंग में आचार्य भेल का वचन अनुस्मरणीय है—'तत्र प्राणैषणां पूर्वं समापद्येत मानवः। धर्मार्थकामप्राप्तिर्हि सद्भिः प्राणैः प्रपद्यते' ॥ भेलसं० सू० अ० १५। अर्थ स्पष्ट है।

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत; प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति[1], न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति [2]यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुं; तथा कुर्वन् दीर्घजीवितं [3]जीवत्यनवमतः पुरुषो भवति, इति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति ॥ ५ ॥

(२) धनैषणा (Wishes of Wealth)—प्राणैषणा के पश्चात् दूसरा क्रम धनैषणा का आना चाहिये, क्योंकि प्राणों (जीवन-धारण) के बाद धन प्राप्ति का ही प्रयास (इस लोक के सुखों की प्राप्ति के लिये) किया जाता है। उपकरण (जीवनोपयोगी समस्त साधन) रहित उस दीर्घायु पुरुष से बढ़कर कोई पापी से भी पापी (सबसे बड़ा दुःखी) नहीं है (ऐसा मानव मात्र अपने जीवन में अनुभव करता है)। इसलिये जीवनोपयोगी उपकरणों के संग्रह का प्रयत्न करे। हम यहाँ जीवन के उपकरणों (धन-प्राप्ति के उपायों) का वर्णन करेंगे—कृषि, पशुपालन, व्यापार, राजोपसेवा (नौकरी) आदि और भी जिन कर्मों की सज्जन निन्दा नहीं करते, वे कर्म आजीविका के पुष्टिकारक होते हैं अतः उन कर्मों को करना प्रारम्भ कर दे। ऐसा करता हुआ वह पुरुष दीर्घ

१. अस्याग्रे 'किमर्थमिति चेत् उच्यते' इत्यधिकं पठति योगीन्द्रनाथसेनः।

२. उपकरणमारोग्यभोगधर्मसाधनीभूतो धनप्रपञ्चः' इति चक्रः।

३. अनवमतोऽनवज्ञातो बहुमानगृहीत इत्यर्थः। 'दीर्घजीवितमनवमतः पुरुषो जीवति' यो.।

जीवन को धारण करता है और धनी होने के कारण समाज में उसका समादर होता है। इस प्रकार दूसरी धनैषणा (धन प्राप्ति इच्छा) की व्याख्या की गयी है।

वक्तव्य—'निर्धनस्य धनं प्राणाः' और भी 'धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति'। इत्यादि धनोपार्जन के सम्बन्ध में अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक धनोपार्जन के साधनों का वर्णन मिलता है उनमें निकृष्टतम भिक्षावृत्ति है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका विशेष वर्णन द्रष्टव्य है। आचार्य भेल की मान्यता इस प्रकार है—'धनैषणां द्वितीयान्तु समापद्येत मानवः। पापीयो नास्त्यतः किञ्चित् यथा जीवमृते धनात् ॥ धर्मकामावसम्बाध्य तस्माद् वित्तमुपार्जयेत्। ज्वररोगादिका येन निरस्येदापदो बुधः' ॥ भेलसंहिता सू० अ० १५। अन्य भी देखें—'धनादर्थश्च कामश्च'। तथा—'आपदर्थे धनं रक्षेत्'। चाणक्यनीति।

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र, कथं ? भविष्याम इतश्च्युता न वेति, कुतः पुनः संशय इति, उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः, सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति; [1]श्रुतिभेदाच्च—

'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥' इति।

अतः संशयः—किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति ॥ ६ ॥

(३) परलोकैषणा (Wishes of the next World)—अब तीसरी परलोकैषणा प्राप्त करे, किन्तु परलोक के सम्बन्ध में इस प्रकार का सन्देह है कि यहाँ (मृत्युलोक अथवा मानव शरीर) से छूटने के बाद हम होंगे ? या नहीं होंगे ? अथवा कैसे होंगे ? यह सन्देह है किस कारण से ?, इसको महर्षि आत्रेय कह रहे हैं—कुछ नास्तिक मतावलम्बी आचार्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। पुनर्जन्म के परोक्ष होने के कारण और शास्त्र को प्रमाण मानने वाले कुछ आचार्य ऐसे हैं जो पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। श्रुतिवचनों की भिन्नता भी सन्देह का कारण बन जाती है। यथा—कुछ आचार्य माता-पिता को, दूसरे 'स्वभाव' को कुछ 'परनिर्माण' को और इसके विरुद्ध कोई 'यदृच्छा' को जन्म का कारण मानते हैं। इन्हीं सब मत-मतान्तरों को देखने से ही संशय होता है कि यह पुनर्भव (पुनर्जन्म) वास्तव में है या नहीं ?

वक्तव्य—हमारा संस्कृत वाङ्मय आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों से परिपूर्ण है। सभी का अपना-अपना मत है और अपने-अपने तर्क हैं। अतः जो नास्तिक (चार्वाक आदि) दर्शनों पर विश्वास रखते हैं, उनकी श्रद्धा प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही है न कि परोक्षज्ञान (पुनर्जन्म) पर। यदि हम कर्मों के फलों का प्रत्यक्ष दर्शन करते होते तो भी यह कहा जा सकता था कि कर्म फल की भाँति पुनर्जन्म भी सत्य है, ऐसा भी नहीं। और ये परोक्ष को न मानने वाले आप्तोपदेश पर विश्वास नहीं रखते अतएव सन्देह की स्थिति इनके सामने उत्पन्न होती है।

जो श्रुति भेद **'नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्'** के कारण अपना मत स्थिर नहीं कर पाते उनका भी अपना एक समाज है, ये भी नास्तिक दर्शनों के ही पृष्ठपोषक हैं।

एक पक्ष इस सम्बन्ध में यह भी स्वीकार करता है कि आत्मा की परम्परा को न मानकर माता-पिता के रजस् एवं वीर्य का सम्बन्ध ही सन्तान के जन्म में केवल कारण होता है।

कुछ विद्वान् स्वभाव को ही सृष्टि का कारण मानते है। यथा—'अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ' ॥ सुश्रुत शा० अ० ३। और भी देखें—'स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः। स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषादयः' ॥ सु० सू० अ० ४६। इत्यादि अनेक शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा स्वभाव को ही जन्म का कारण मानते हैं।

परनिर्माण वादियों का कथन है कि—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'। गीता। अर्थात् पर= सर्वोत्कृष्ट शक्तिमान् ही सब कुछ करता है, अतः आत्मा का पारम्परिक सम्बन्ध मानना इसके लिये कोई आवश्यक नहीं है।

अन्तिम मत है यदृच्छावादियों का—इनका कथन है कि संसार की उत्पत्ति किसी कारणविशेष के बिना

१. 'श्रुतिः प्रतिपादितवचनमेवं ग्रन्थनिबद्धम्' इति चक्रः।

यों ही हो जाया करती है। यदृच्छा है– अनेक प्रकार की अचानक घटनाओं को उत्पन्न करने वाली शक्ति विशेष।

जिस आत्मा का अस्तिस्त्व अप्रत्यक्ष होने के कारण नास्तिक दर्शनों ने उसके सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया है, उसके सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का यह पद्य उद्बोधक है—'न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः। दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुभिरेव च'॥ सुश्रुत शा० अ० ५।५०। अन्यत्र भी देखें—'यद् दुष्करं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुस्तरम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्'॥ विभु = विश्वरूप होता है। यह ऐक्स-रे से भी नहीं देखा जा सकता, शुक्र में जो सर्पाकार कीटाणु देखा जाता है वह आत्मा नहीं है अपितु उसका पाञ्चभौतिक शरीर है, भले उसका यह शरीर सूक्ष्मतम नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सूक्ष्मतम तत्व को देखने के लिये दिव्यदृष्टि, जो तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त होती है, की आवश्यकता होती है। इसलिये शरीर तथा शास्त्र को समझने के लिये केवल दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण ही पर्याप्त नहीं है। देखें—'शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः। दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः'॥ सुश्रुत शा० अ० ५।५१। इसमें ध्यान देने योग्य यह वाक्य है—'विशारदः दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहम् अवाप्य क्रियाः आचरेत्'। अर्थात् विशारदः = विशिष्टा शारदा वाणी यस्य सः—दृष्ट = प्रत्यक्ष प्रमाण और श्रुत = शास्त्र प्रमाण इन दोनों से अपने सन्देह = अज्ञान को दूर करके चिकित्सा कार्य करें। इसमें शास्त्रप्रमाण को मानकर ही चिकित्सा में प्रवृत्त हों, यह महत्वपूर्ण विषय है। यह शरीर सम्बन्धी शास्त्र केवल शास्त्रार्थ का विषय नहीं है।

तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद् विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते; यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि॥ ७॥

पुनर्जन्म का सहेतुक समाधान—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त नास्तिक्य (परलोक नहीं है, इस प्रकार की) बुद्धि को तथा उसके बारे में सन्देह को छोड़ दे। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान बहुत थोड़ा होता है और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) की सीमा बहुत अधिक है, जिसका ज्ञान आगम (शास्त्र) अनुमान और युक्ति से प्राप्त किया जाता है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से हम प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति करते हैं, वे स्वयं ही अप्रत्यक्ष (परोक्ष = सामने न दिखलायी देने वाली) हैं।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय उन प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने वालों को उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि इस चिकित्साशास्त्र को समझने के पूर्व नास्तिक्य बुद्धि और सन्देह को छोड़ दें, क्योंकि आचार्य का उपदेश ऐसी स्थिति में फलदायक नहीं होता। वे तर्क उपस्थित करते हैं—इस स्वल्प जीवन में यह सम्भव नहीं है कि मानव समस्त ज्ञान राशि को प्रत्यक्ष कर सके इसलिये आगम, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा वह तत्-तत् विषय का सही ज्ञान प्राप्त करता है। यदि आप प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही अडिग हैं तो देखिये—जिन इन्द्रियों द्वारा आप प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वे इन्द्रियाँ स्वयं ही अप्रत्यक्ष हैं। उन इन्द्रियों का ज्ञान हम अनुमान द्वारा प्राप्त कर पाते हैं। आप कहेंगे इन्द्रियाधिष्ठान को ही इन्द्रिय मान लीजिये, तब तो न कोई अन्धा कहा जा सकेगा और न कोई बहरा, क्योंकि अन्धा और बहरा होने पर भी बाहरी आँख, कान का ढाँचा ज्यों का त्यों रहता ही है। इसके आगे पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान की अप्रामाणिकता का प्रदर्शन आचार्य इस प्रकार कर रहे हैं—

सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः; तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति नान्यदस्तीति॥ ८॥

प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधक कारण—विभिन्न प्रकार के रूपों के होने पर भी अधिक समीप होने के कारण, अधिक दूर होने के कारण, किसी प्रकार के बीच में आवरण (पर्दा, दीवाल आदि) के आ जाने से, इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, चित्त की एकाग्रता न होने के कारण, समान प्रकार की वस्तुओं के होने से, पराभव से और अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष पदार्थ का इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिये यह सब अपरीक्षित (बिना सोचे विचारे) ही कहा जाता है कि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और कोई प्रमाण नहीं है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय निश्चित ही आचार्य कणाद की निम्नलिखित कारिका से प्रभावित रहे हैं। देखें—'अतिदूरात्' समीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च'॥ साङ्ख्यकारिका। इनके क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

१. अतिसन्निकर्षात्—अत्यन्त समीप होने से वस्तु का न दिखायी देना। यथा—आखों में लगाया हुआ सुरमा अथवा काजल आदि। **२. अतिविप्रकर्षात्**—अत्यन्त दूर होने से न दिखलायी देना सर्वविदित एवं स्वाभाविक ही है। **३. आवरणात्**—'आवृणोति इति आवरणम्', जो किसी वस्तु को ढक दे। पर्दा आदि से ढक जाने पर वस्तु का न दिखलायी देना। **४. करणदौर्बल्यात्**—करण = इन्द्रिय, इनकी दुर्बलता से। जैसे—दूरान्ध्य या निकटदृष्टिता (Myopia), कामला रोग में सभी वस्तुओं का पीताभ दिखलायी देना। इसको कलर ब्लाइण्डनेस (Colour Blindness) कहते हैं। **५. मनोनवस्थानात्**—मन का अन्य वस्तु में लगा रहना, इससे सामने की वस्तु नहीं दिखलायी देती और शंख, भेरी आदि के शब्द नहीं सुनायी देते। महाभाष्यकार लिखते हैं—'सड़क में बैठे हुए शाकटायन ने सामने से जाते हुए रथों को नहीं देखा'। इत्यादि। **६. समानाभिहारात्**—समानाकार वस्तुओं का परस्पर मिल जाना। जैसे—गायों के झुण्ड में गायें, भैंसों में भैंसें, गेहूँ में गेहूँ और जौ में जौ का मिल जाना समानाभिहार है। इसके पूर्व परवस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं बतलाया जा सकता। **७. अभिभवात्**—पराजय से। यथा—सूर्य के प्रखर तेज से चन्द्र, तारों का न दिखलायी देना। **८. अतिसौक्ष्म्यात्**—अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जल में स्थित अमीबा (कीटाणु = Germs) आदि का अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता के बिना दृष्टिगोचर न होना।

इतने प्रकार के व्यवधानों के आ जाने से प्रत्यक्ष वस्तु भी अप्रत्यक्ष हो जाती है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त वस्तुयें अप्रत्यक्ष हैं, इसलिये अनुमान आदि को प्रमाण कोटि में लाना ही पड़ेगा।

श्रुतयश्चैता न कारणं, युक्तिविरोधात्।

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि सञ्चरेत्। द्विविधं सञ्चरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा॥९॥

सर्वश्चेत् सञ्चरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्। निरन्तरं नावयवः कश्चित् सूक्ष्मस्य चात्मनः॥१०॥

आगम तथा माता-पिता को जन्म-कारण मानने वालों की शंका का समाधान—ये श्रुतियाँ भी पुनर्जन्म को मान्यता को मानने में कारण नहीं हो सकतीं क्योंकि इनमें परस्पर मतभेद (युक्तिविरोध) दिखलायी देता है।

यदि माता अथवा पिता की आत्मा जो अपत्य (सन्तान) में सञ्चरण करती है, वह इन दो प्रकारों में कौन-सा प्रकार है। **पहला प्रकार**—क्या माता अथवा पिता की सम्पूर्ण आत्मा का सञ्चार (प्रवेश) सन्तान में होता है?। **दूसरा प्रकार**—उनकी आत्मा का आंशिक प्रवेश सन्तान में होता है। यदि माता अथवा पिता की सम्पूर्ण आत्मा का प्रवेश सन्तान में होता है तो दोनों की या दोनों में जिसकी आत्मा का संचार सन्तान में हुआ हो तो उसकी मृत्यु हो जानी चाहिये। यदि अवयव रूप से आत्मा का प्रवेश सन्तान में माना जाय तो आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का कहीं शास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता। क्योंकि आत्मा तो निरवयव तथा सूक्ष्म होता है।

वक्तव्य—चरक शारीरस्थान अध्याय ३ में इसका विशेष व्याख्यान किया जायगा। वहाँ मातृज गर्भ, पितृज गर्भ और सात्म्यज गर्भ के सम्बन्ध में भगवान् आत्रेय का निर्णय द्रष्टव्य है। **आत्मा का लक्षण**—'ज्ञानाधिकरणम् आत्मा, स द्विविधो जीवात्मा-परमात्मा चेति, तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव'। तर्कसङ्ग्रह। इसी प्रकार काल, मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्वों के विभाग भी नहीं हो सकते।

बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते। 'येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा॥११॥

प्रकारान्तर से समाधान—बुद्धि और मन के सम्बन्ध में यह निर्णय हो चुका है कि ये दोनों आत्मा की भाँति ही (सूक्ष्म तथा एक) हैं। जिनकी (माता-पिता सन्तान की उत्पत्ति में कारण होते हैं) ऐसी बुद्धि

---

१. येषामेषा—माता-पितरौ जन्मकारणमित्येवंरूपा मतिस्तेषां प्राणिजन्मनि चतुर्विधा योनिर्नास्ति। जरायुजानां देवनरादीनामण्डजानां पक्ष्यादीनां च स्तो मातापितरौ न तु स्वेदजोद्भिज्जानामित्येवं युक्तिविरोधात्'। इति गङ्गाधरः। ण्डस्वेदोद्भिद्भेदाच्चतुर्विधा योनिरुक्ता प्राणिनामुत्पत्तौ।

(धारणा) है, उनके मत में चार प्रकार की योनियाँ (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज) नहीं हो सकतीं। इसलिये केवल माता-पिता को सन्तान की उत्पत्ति में कारण मानना उचित नहीं है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में आचार्य गङ्गाधर का मत द्रष्टव्य है—'मातापितरौ जन्मकारणम्, इत्येवं रूपा मतिस्तेषां प्राणिजन्मनि चतुर्विधा योनिर्नास्ति। जराय्वण्डस्वेदोद्भिद्भेदाच्चतुर्विधा योनिरुक्ता प्राणिनामुत्पत्तौ। जरायुजानां देवनरादीनाम्, अण्डजानां पक्ष्यादीनां च स्तो मातापितरौ न तु स्वेदजोद्भिज्जानामित्येवं युक्तिविरोधात्' ॥

माता-पिता की आत्मा का सन्तान में संचार होने का ऊपर विरोध करने के पश्चात् पुनः उक्त पक्ष का समर्थक दूसरा तर्क उपस्थित करता है कि माता-पिता की बुद्धि तथा मन का सन्तान में सञ्चार होता है, अतएव सन्तान का मन और बुद्धि माता-पिता के अनुरूप होती है। इसका समाधान भी वैसा ही है क्योंकि आत्मा की भाँति मन और बुद्धि भी सूक्ष्म तथा एक है। यदि इनका सञ्चार सन्तान में हो जायगा तो माता पिता को बुद्धि एवं मन से हीन हो जाना चाहिये था किन्तु ऐसा होता नहीं।

यदि हम सृष्टि की उत्पत्ति में माता-पिता को कारण मान भी लें तो एक आपत्ति यह सामने आती है कि उत्पत्ति चार योनियों द्वारा होती है। यथा—देवता तथा मनुष्य 'जरायुज', पक्षी आदि 'अण्डज' (ये दो तो माता-पिता से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु आगे जिन दो योनियों का हम वर्णन कर रहे हैं, उनका सम्बन्ध किसी प्रकार भी माता-पिता से सिद्ध नहीं किया जा सकता।) यूका (जूँ), लिक्षा (लीख) आदि 'स्वेदज' और वृक्ष, लता, गुल्म आदि उद्भिज्ज (भूमिम् उद्भिद्य जायन्ते, इति—जो भूमि को तोड़कर उसके भीतर से पैदा होते हैं, उनको उद्भिज्ज कहते हैं)। अतः माता-पिता को ही सृष्टि में कारण मानना उचित नहीं है।

समाधान—चरक शारीरस्थान अ० १ श्लोक ११६ में—'पूर्वजन्म में किये हुए कर्म को 'दैव' शब्द से कहा गया है उसी के अगले पद्य ११७ में निर्दिष्ट है कि 'ऐसा कोई भी छोटा या बड़ा कर्म नहीं है, जिसका फल न भोगना पड़े'। ये दोनों ही पद्य हमारे जन्म-जन्मान्तरों के सम्बन्धों को स्थिर करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसी प्रकार प्राणियों के जन्म में माता-पिता पूर्वजन्म के कर्मजनित संस्कारों से प्रेरित होकर रजस् और वीर्य का जो आधान करते हैं उससे होने वाली सन्तान में सम्पूर्ण जन्मान्तरीय संस्कार विद्यमान रहते हैं, यही पुनर्जन्म की परिपुष्ट भूमिका है। देखें—'बुद्धेर्विशेषस्तत्राऽऽसीन्नोपदेशान्तरं मुनेः'। चरक सू० अ० १।३२। यहाँ पर उपदेश के समान होने पर भी जो बुद्धि का वैशिष्ट्य था, यह केवल पूर्वजन्म के प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ कहा तथा सोचा नहीं जा सकता।

विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत् स्वलक्षणम्।
संयोगे च [1]वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥ १२ ॥

स्वभाववादी का समाधान—छः धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा) का जो अपना लक्षण है, उसको ही स्वाभाविक समझना चाहिये। परन्तु इनके संयोग और वियोग में उनके कर्म ही कारण होते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक द्वारा स्वभाववादी का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। 'खादयश्चेतनाषष्ठाः'। च० शा० अ० १।१६। खादयः पञ्च षष्ठा च चेतना, इत्यन्वयः। इनका समवाय पुरुष कहा जाता है। आकाश आदि उक्त पाँचों के असाधारण लक्षण—'खर-द्रव-चलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्। आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्' ॥ चरक शा० अ० १।२९। ये क्रमशः भू, जल, वायु आदि के अपने लक्षण हैं और आत्मा (चेतना) का लक्षण इस प्रकार है—'निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगु[illegible]। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः' ॥ चरक सू० अ० १।५६ ॥ यह पञ्चमहाभूत समवाय[illegible] चेतनता आत्मा के संयोग के कारण होती है और उसके वियोग में उसकी पञ्चत्व की प्राप्ति (मृ[illegible] इसका विस्तृत व[illegible] शारीरस्थान अ० २ श्लोक ३१ से ३६ तक देखें। इसमें 'भूतैश्चतुर्भिः'[illegible]या है कि 'आ[illegible] क्रियत्वेन देहान्तरगमनकर्मणि नोक्तम्'। इति चक्रपाणिः। पञ्चमहाभू[illegible]शत्व' का ग्र[illegible] निष्क्रिय होने के कारण नहीं किया गया है। यहाँ भी कर्मानुबन्ध पूर्व[illegible] ही प्रमाणित [illegible]

१. 'विभागे' ग.

अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः। पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥१३॥

पर-निर्माणवादी की शङ्का का समाधान—अनादि चेतना धातु की परनिर्मिति (पर-निर्माण) अर्थात् दूसरे द्वारा रचना स्वीकार नहीं की जा सकती है। यदि पर-आत्मा शब्द से परमात्मा (ईश्वर) अभीष्ट है तो परनिर्मित स्वीकार करनी चाहिये।

वक्तव्य—'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते', इस न्याय से जड़ पञ्चमहाभूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। दूसरी आपत्ति उक्त प्रकार से यह आयेगी कि आत्मा का अनादित्व नष्ट हो जायगा। यह पक्ष मान्य नहीं है। इसी प्रकार जब आत्मा की उत्पत्ति ही स्वीकार नहीं होगी तो 'परनिर्माण' सम्भव नहीं हो सकेगा।

अतः यहाँ पर निर्माण शब्द से उत्तम पुरुष (ईश्वर) का ही ग्रहण सर्वमान्य है जो जीवात्मा की चेतनता का हेतु है। अतः पुरुषों के कर्म की सहायता से ही ईश्वर उनकी रचना करता है। इस प्रकार शरीर का पर-निर्माण सर्वसम्मत है। ऐसा मानने पर जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों से सम्बन्धित पुनर्जन्म को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होती। दानवीर कर्ण की उक्ति इस प्रसंग में मननीय है—'सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्। कर्मायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्'। महाभारत। अर्थ स्पष्ट है।

न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च। न देवा नर्षयः सिद्धिः कर्म कर्मफलं न च ॥१४॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः। पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः ॥१५॥

यदृच्छावादी की शङ्का का समाधान—समस्त सृष्टि यदृच्छा द्वारा ही होती है, इसमें और कोई कारण नहीं है। इस प्रकार के दुराग्रह से उपहत (विनष्ट) आत्मा वाले नास्तिक पुरुष के मत में न परीक्षा है, न कोई परीक्ष्य (परीक्षा करने योग्य विषय) है; न कर्ता है, न कारण है; न देवता हैं; न ऋषि हैं; न सिद्धि है, न कर्म है; न कर्मजनित फल है और न आत्मा ही है। कारण यह है कि यह नास्तिकता रूप जो दुराग्रह (हठ) है, यह संसार में वर्णित सब पापों से बड़ा पाप है।

वक्तव्य—यदृच्छा शब्द का व्याख्यान इसी प्रकरण में हम पहले कर चुके हैं। सभी सृष्टि के कार्यों का संयोगवश अपने आप हो जाना ही यदृच्छा है। इस प्रकार के हठ से जिनकी आत्मा बोझिल हो गयी है या दब चुकी है अथवा जो अब दूसरे विचार को देखना, सुनना पसन्द ही नहीं करते वे निश्चित नास्तिक किंवा महापापी हैं। नीतिकारों ने ऐसे व्यक्तियों को मूर्ख (विचारशक्तिशून्य की उपाधि दी है। देखें—'एको ग्रहस्तु मूर्खाणां, नीलीकर्कटयोरिव'। अर्थात् ऐसे एकग्राही व्यक्ति उस काले रंग के सदृश होते हैं जिनपर दूसरे हृदयाभिराम रंगों का प्रभाव कथमपि नहीं हो पाता। **कविवर रहीम कहते हैं**—'रहिमन कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग'। अस्तु। 'कथाऽपि खलु पापानाम् अलम् अश्रेयसे यतः'। ऐसे लोगों की चर्चा भी चित्तभ्रमकारक होती है। अतः अब हम प्रस्तुत का अनुसरण करेंगे।

यदृच्छावादी कार्य-कारण भाव आदि किसी तर्क को स्वीकार नहीं करता और हमारा आयुर्वेद आस्तिक दर्शनों पर आधारित है। यह कर्म, कर्मफल पर विश्वास करने के कारण ही पुनर्जन्म का समर्थक है।

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः। सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथातथम् ॥१६॥

सत्य-असत्य की परीक्षा का निर्देश—इसलिये विवेकशील पुरुष को चाहिये कि वह अमार्गप्रसृत (नास्तिकवाद की ओर फैली हुई) अपनी इस मति (धारणा) को छोड़कर, सत्पुरुषों (सद्वृत्त का आचरण करने वालों) के बुद्धिरूपी प्रदीप (पर्याप्त प्रकाश देने वाले दीपक) से समस्त शास्त्रीय विषयों का ठीक-ठीक रूप से विचार करें।

वक्तव्य—'पण्डित सोइ जो गाल बजावा'। इस प्रकार के प्रचारक पण्डित समाज को बहकाते (Misguide) हैं। ऐसा प्रारम्भ से ही चला आया है। अतः नीतिकारों ने स्पष्ट निर्देश दिया है—'अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्'। यद्यपि 'याथातथ्य' की परीक्षा के लिये ऊपर 'सतां बुद्धिप्रदीप' साधन बताया गया है किन्तु यह मार्ग उतना विशद नहीं है। इसलिये आगे चतुर्विध-परीक्षा का भी निर्देश किया जा रहा है।

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्तिश्चेति ॥ १७ ॥

चतुर्विध-परीक्षा (Four fold methods of test o Investigation)—संसार के सभी पदार्थ सत् और असत् भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनकी परीक्षा निम्नलिखित चार प्रकार से होती है। १. आप्तोपदेश (Authoritative Testimony) २. प्रत्यक्ष (Direct Observation) ३. अनुमान (Inference) और ४. युक्ति (Reason)।

वक्तव्य—विभिन्न शास्त्रकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रमाणों का निर्धारण किया है। जैसे—नैयायिकों के मत में—प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द ये प्रमाण हैं। वेदान्ती और मीमांसक इन चार प्रमाणों में दो और जोड़ देते हैं। यथा—अनुपलब्धि और अर्थापत्ति। सांख्यमतानुयायी केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण मानते हैं। यह तो रही शास्त्रान्तरीय चर्चा। अब हम प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

'सत् च असत् च'—भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका व्याख्यान इस प्रकार किया है—'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' ॥ गीता अ० २।१६। अर्थात् असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और सद् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता। इस प्रकार दोनों का ही अन्त (तत्व) ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है। यही दृष्टिकोण महर्षि आत्रेय का भी है। दूसरे शब्दों में सत् को भाव और असत् को अभाव कहा जाता है।

सत्—उन वस्तुओं की संज्ञा है जो दिखलायी देते हैं तथा जो अनुभवगम्य हैं। न्यायशास्त्र में वर्णित प्रथम छः पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) सत् = भाव के उदाहरण हैं। असत्—उक्त पदार्थों में वर्णित सातवाँ अभाव पदार्थ ही असत् है। इसके चार भेद होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

तस्य चतुर्विधा परीक्षा—उस सत् और असत् की परीक्षा के चार माध्यम हैं। यथा—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति। इनका क्रमशः परिचय तन्त्रकार ने स्वयं इसी प्रकरण में दिया है किन्तु आगे चलकर महर्षि आत्रेय ने विमानस्थान में युक्तिप्रमाण को स्वीकार नहीं किया है और उसी के ८वें अध्याय में उपमान को एक पृथक् प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया है। इसका व्याख्यान हम यथास्थान करेंगे।

अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की चर्चा इस प्रकार है—'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कणादसुगतौ पुनः। अनुमानञ्च तच्चापि साङ्ख्याः शब्दं च तेऽपि च ॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥ अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः' ॥ तथा—'माध्वास्तु प्रत्यक्षं शब्दं चेति प्रमाणद्वयम्। रामानुजास्तु प्रत्यक्षानुमानशब्दाश्चेति प्रमाणत्रयमिच्छन्ति। चेष्टापि प्रमाणान्तरमिति तान्त्रिकाः' ॥ सर्वदर्शनसंग्रह।

आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥१८॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं, वक्ष्यन्ति ते [1]'कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥१९॥

आप्त-परिचय—उक्त चतुर्विध प्रमाणों में सर्वप्रथम आप्त-पुरुषों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—जो तपोबल एवं ज्ञानबल से रजोगुण तथा तमोगुण से भलीभाँति मुक्त हैं, अतएव सदा जिनको तीनों (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) कालों का शुद्ध एवं सम्पूर्ण ज्ञान है ऐसे महापुरुष आप्त (प्रामाणिक), शिष्ट (सभ्य) एवं विबुद्ध (विशेष ज्ञानवान्) होते हैं। इनके वाक्य (उपदेशात्मक वचन) विश्वास योग्य होते हैं। क्योंकि वे लोग रजोगुण और तमोगुण से रहित होने के कारण ही सदा सत्य भाषण करते हैं, न कि असत्य भाषण।

वक्तव्य—आप्तः (A trust worthy or Reliable person) शब्द प्रमाण के स्वरूप का वर्णन करते हुए अन्नम्भट्ट लिखते हैं—'आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता'। तर्कसंग्रह। तपोबल और ज्ञानबल से जिन्होंने रजस तथा तमोगुण को हटाकर दिव्यदृष्टि प्राप्त कर ली है, अर्थात् जो समस्त भूतल को करा-

१. 'कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा' ग.।

मलकवत् (हाथ में रखे हुए आँवले के समान) देखने में सक्षम हैं, वे आप्त हैं, उनकी बातें सत्य होती हैं। आत्रेय आदि महर्षि इसी कोटि के आप्त पुरुष थे। महर्षि वात्स्यायन ने आप्त की परिभाषा इस प्रकार दी है—'आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा'। अर्थात् जिसने सम्बन्धित कार्य को स्वयं किया हो और देखे हुए (अनुभूत) विषय को कहने के लिये प्रयुक्त उपदेशक को आप्त कहते हैं। ये दोनों ही लक्षण आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से युक्तियुक्त हैं।

सामान्य पुरुष तो राग-द्वेष अथवा मिथ्याज्ञान के वशीभूत होकर ही असत्य भाषण करते हैं या करना चाहते हैं अथवा असत्य भाषण के लिये विवश होते हैं।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥२०॥

प्रत्यक्ष का लक्षण—आत्मा, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियाँ) मन तथा इन्द्रियार्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के सन्निकर्ष से जो बुद्धि (ज्ञान) व्यक्त होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

वक्तव्य—आत्मा आदि के संयोग का क्रम यह है—आत्मा का मन के साथ, मन का तत्-तत् इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ जब संयोग होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यथा—'प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—१. संयोगः, २. संयुक्तसमवायः, ३. संयुक्तसमवेतसमवायः, ४. समवायः ५. समेतसमवायः, ६. विशेषणविशेष्यभावश्चेति'। तर्कसंग्रहः। अर्थात् बिना इन्द्रिय का स्वविषय के साथ सम्बन्ध हुए 'प्रत्यक्षज्ञान' सम्भव नहीं होता।

यद्यपि प्रत्यक्ष का अर्थ—'अक्षम् (इन्द्रियं) प्रतिगतम्', इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान है। इस परिभाषा से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भिन्न ज्ञान तत्-तत् इन्द्रियजन्य माने जाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति आत्मा का सम्बन्ध होने में कारण है, आत्मा। यथा—'ज्ञानाधिकरणम्—आत्मा'। इसी प्रकार मन के सम्बन्ध में कहा गया है—'मनः पुरस्सराणीन्द्रियाणि-अर्थग्रहणे समर्थानि भवन्ति'।

दर्शनशास्त्रों में प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। यह मूल रूप से दो प्रकार का होता है। १. निर्विकल्पक तथा २. सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान से योगीजन परब्रह्म को साक्षात् करते हैं। इस ज्ञान का इसके अतिरिक्त कहीं कोई संबन्ध नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान के लौकिक भेदों का ही सम्बन्ध हमारे चिकित्साशास्त्र से है।

प्रत्यक्ष के भेद—१. **निर्विकल्पक** (इसका विवरण ऊपर दिया गया है।) २. **सविकल्पक** (इसके भेदोपभेद यहाँ दिये जा रहे हैं।) **सविकल्पक प्रत्यक्ष के लौकिक भेद**—१. **बाह्य** तथा २. **आभ्यन्तर** भेद से यह पुनः दो प्रकार का होता है। **बाह्य के भेद**—१. चाक्षुष (नेत्र सम्बन्धी) २. श्रावण (कान सम्बन्धी), ३. घ्राण (नासिका सम्बन्धी) ४. रासन (जीभ सम्बन्धी) और ५. त्वाच (त्वगिन्द्रिय सम्बन्धी)। **आभ्यन्तर का भेद**—१. मानस। **इन्द्रियार्थसन्निकर्षज लौकिक प्रत्यक्ष के भेद**—१. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय और ६. विशेषणविशेष्यभाव। **सविकल्पक प्रत्यक्ष के अलौकिक भेद**—१. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, २. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति और ३. योगज। **योगज प्रत्यक्ष के भेद**—१. युक्त तथा २. युञ्जान (यह प्रत्यक्ष केवल योगियों को होता है)। विशेष विवरण न्यायशास्त्र में देखें।

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते। वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥२१॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्। दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥२२॥

अनुमान का लक्षण—प्रत्यक्षज्ञान को आधार मानकर तीन प्रकार का और तीनों काल का अनुमान किया जाता है। यथा—धुँआँ से ढकी हुई (वर्तमान) अग्नि का ज्ञान और गर्भ के दिखलायी देने से (भूतकाल में किये हुए) मैथुन का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अतीत (भूतकाल) का अनुमान किया जाता है। इसी लोक में जैसे बीज के अनुरूप उससे फल उत्पन्न हुआ था ऐसा देखकर विद्वान् अतीत का अनुमान करते हैं। अनागत (भविष्यत) फल का अनुमान बीज से किया जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्यों द्वारा अनुमान के स्वरूप का वर्णन किया गया है। **'प्रत्यक्षपूर्वम्'**—यहाँ पर प्रत्यक्ष शब्द का ग्रहण व्याप्ति-ग्राहक-प्रमाण को प्रदर्शित करने के लिये है। **'त्रिविधम्'**—१. कार्य से कारण

का अनुमान, जैसे—गर्भ को देखने से मैथुन का अनुमान–यहाँ गर्भ कार्य है इससे पूर्वकृत मैथुन रूप कारण का अनुमान किया जाता है। २. कारण से कार्य का अनुमान, जैसे—सहकारि कारणान्तर जल को अपनी ओर खींचना आदि से युक्त बीज से फल की उत्पत्ति का अनुमान। ३. अकार्यकारणभूत पदार्थों के सामान्य दर्शन से अनुमान। जैसे—धूम से वर्तमानकालिक अग्नि का अनुमान। यही त्रिविध अनुमान है।

'अनुमीयते येन तद् अनुमानम्'—इससे यह सिद्ध होता है कि व्याप्तिग्रहण के बाद जिसका सम्यक् निश्चय किया जाता है, उसको अनुमान कहते हैं। इसकी दूसरी परिभाषा इस प्रकार है—'व्याप्तिस्मरणसहाय-लिङ्गदर्शनम्, अनुमानम्'। लिङ्ग-परामर्श का नाम ही अनुमान है। क्योंकि यह (लिङ्ग-परामर्श) परोक्ष विषयों के ज्ञान कराने में सहायक होता है। व्याप्ति की सहायता से जिस विषय् का ज्ञान होता है उसे 'ज्ञापक लिङ्ग' कहते हैं। यथा—धूम अग्नि का ज्ञापक लिंग है। क्योंकि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः'। तर्कसंग्रह।

'त्रिविधमनुमानम्'—'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च'। न्यायदर्शन १।१। ५। यह अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट तीन प्रकार का होता है। यथा—१. कारण से कार्य का अनुमान–पूर्ववत्, २. कार्य से कारण का अनुमान–शेषवत् और ३. कार्य-कारण सम्बन्ध से भिन्न लिङ्ग वाला सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है। इनके उदाहरण हम इसके प्रारम्भ में दे चुके हैं। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थ का आशय स्पष्ट कर दिया गया है।

जल-कर्षण-बीजर्तुसंयोगात् सस्यसम्भवः। युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा ॥२३॥
मथ्यमन्थन[1](क)मन्थानसंयोगादग्निसम्भवः। युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिबर्हणी ॥२४॥

युक्ति प्रमाण का उदाहरण—जिस प्रकार जल, कर्षण (जोती हुई भूमि), बीज (होने वाले फल का कारण) और ऋतु (मौसम–जिस ऋतु में जिस बीज को बोया जाता है) के संयोग से सस्य (फसल) उत्पन्न होती है, वैसे ही छः धातुओं (पञ्चमहाभूत और छठी आत्मा) के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है। तथा मथ्य (नीचे रखी हुई लकड़ी) मन्थन (मन्थन दण्ड) मन्थान (मन्थन करने वाला व्यक्ति) जैसे इन तीनों के योग से अग्नि पदा होती है उसी प्रकार युक्ति-युक्त चतुष्पाद सम्पत्ति (भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता, रोगी) के रहने पर व्याधि की शान्ति होती है। ये दोनों ही युक्ति प्रमाण के उदाहरण हैं।

वक्तव्य—प्रथम पद्य में सस्यों की उत्पत्ति में जल, कर्षण, बीज, ऋतु का सम्यक् संयोग कारण माना है तथा गर्भों की उत्पत्ति में षड्धातु-संयोग को कारण बतलाया है और अग्नि की उत्पत्ति में मथ्य, मन्थन और मन्थान का संयोग कारण है। ठीक इसी प्रकार चिकित्सा की सफलता में युक्ति-युक्त चतुष्पाद सम्पत्ति को कारण बतलाया है। ये सब पृथक्-पृथक् युक्तियाँ हैं।

मथ्य-मन्थन आदि—मथ्य—मन्थन करने के लिये नीचे रखा हुआ काष्ठ जिसको 'अरणि' कहते हैं। मन्थन—ऊपर वाला काष्ठ जिससे उसको रगड़ा जाता है। मन्थान—वह व्यक्ति जो आग को प्रकट करने के लिये इस क्रिया को करता है। आज के युग में सलाई के कारण यह मन्थनोद्भूत अग्नि पुराना पड़ गया है।

युक्तिः—'युज्यते (सम्बध्यते) अनया, इति, युक्तिः'। फसल की, गर्भ की तथा अग्नि की उत्पत्ति में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न युक्तियों एवं उनके पृथक्-पृथक् उपादानों की आवश्यकता दिखलायी है, उसी प्रकार व्याधियों के विनाश के लिये गुण युक्त चतुष्पाद सम्पत्ति की परम आवश्यकता होती है।

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ २५ ॥

युक्तिप्रमाण की परिभाषा—जो बुद्धि अनेक (पूर्वोक्त) कारणों के संयोग से उत्पन्न अथवा ज्ञात जिन भावों (विषयों) को देखती है, उस त्रिकाल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) ज्ञानकारक बुद्धि (बुद्ध्यते अनया इति, ज्ञानम्) को युक्ति कहते हैं। इसी के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि (प्राप्ति) की जाती है।

---

१. 'मथ्यं मन्थनार्थमधःस्थकाष्ठमरणिर्नाम, मन्थनमूर्ध्वस्थकाष्ठं येन घृष्यते, मन्थानः कर्ता, एषां संयोगान्मन्थनक्रिययाऽवश्यमग्निसम्भव इति युक्तिः।' गङ्गाधरः।

वक्तव्य—प्रमाणों की चर्चा आगे भी की गयी है—'त्रिविधा वा सहोपदेशेन'। चरक वि० अ० ४। इसके अनुसार आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान ये ही तीन प्रमाण हैं। कहीं आप्तोपदेश को भी छोड़ दिया है। यथा—'द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम् अनुमानञ्च'। चरक वि० अ० ४। वास्तव में युक्ति की उपयोगिता वस्तु-परिज्ञान में होती है। यह युक्ति व्याप्ति के रूप से अनुमान में रहती है। अन्नम्भट्ट ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया है—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः'। तर्कसंग्रह। इस प्रसंग का समर्थन चरक ने इस प्रकार किया है—'अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्ष्यः'। चरक वि० अ० ८। और न्यायशास्त्र में युक्ति का ग्रहण तर्क शब्द द्वारा हुआ है। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूह-स्तर्कः'। गौतम। आचार्य गङ्गाधर ने युक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है। 'विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः'॥ अब आप युक्ति और तर्क की परिभाषा की स्वयं तुलना कर के देखें।

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते। परीक्ष्यं सदसच्चैवं(व)तया चास्ति पुनर्भवः ॥२६॥

चतुर्विध परीक्षा का उपसंहार—यही चतुर्विध परीक्षा है। इसके अतिरिक्त और कोई परीक्षा नहीं है।
जिससे सभी प्रकार के (पूर्ववर्णित) सत् और असत् परीक्षा करने योग्य विषयों की परीक्षा की जा सकती
है। उस परीक्षा से ही पुनर्भव (पुनर्जन्म) के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में यह कहा गया है कि उक्त चार प्रमाणों द्वारा सत् (भाव) और असत्
(अभाव) की परीक्षा की जाती है। अतः अगले उदाहरणों में यह दिखलाया गया है कि पुनर्जन्म सत् है अथवा
असत्। या यों कहिये—क्या चतुर्विध प्रमाण पुनर्जन्म की सिद्धि में साधक हैं अथवा बाधक। क्योंकि महर्षि
आत्रेय द्वारा स्वीकृत पुनर्जन्म में कर्मों के पूर्वापर सम्बन्ध की शृंखला अटूट रहती है।

तत्राप्तागमस्तावद् वेदः यश्चान्योऽपि कश्चिद् वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः, आप्तागमादुपलभ्यते—दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्य-भ्युदयनिःश्रेयसकराणीति ॥ २७ ॥

पुनर्जन्म की सिद्धि (Establishment of Rebirth Theory)—यहाँ सर्वप्रथम आप्तोपदेश
द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि का निर्देश किया जा रहा है। आप्तों (महर्षियों) द्वारा दृष्ट अथवा उपदिष्ट
आगम ही वेद=निगम है। जो कोई दूसरा शास्त्र भी वेदों के सिद्धान्तों से विपरीत नहीं है, अर्थात् अपने सिद्धान्तों
द्वारा वेदों का पोषक है, चतुर्विध प्रमाणों से परीक्षा करके रचा गया है, शिष्टजनों द्वारा अनुमोदित है और
संसार के हित करने की क्षमता को रखता है; वह आप्तागम है। हमको आप्तागम से इस प्रकार के उपदेश प्राप्त
होते हैं, कि ये—दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य अभ्युदय एवम् निःश्रेयस् कारक होते हैं।

वक्तव्य—आप्तागम की जो परिभाषा महर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत की है। इससे वेदों के पश्चात् वे सभी मनु
आदि कृत स्मृतिग्रन्थ तथा अन्य ऋषि-प्रणीत संहिताओं आदि का ग्रहण होता है, जिनमें आयुर्वेदीय संहिताओं का
भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरकोक्त स्वस्थवृत्त-प्रकरण दान, तप आदि का ही समर्थक एवं उपदेशक है।

'अभ्युदय' का अर्थ कुछ व्याख्याकारों ने उन्नति किया है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उन्नति
का अर्थ है ऊपर को जाकर पुनः नीचे की ओर झुकना और अभ्युदय का अर्थ है चारों ओर से ऊपर को
उठना। आप स्वयं विचार करें किस शब्द में अधिक अर्थगौरव है। साथ ही अभ्युदय ऐहलौकिक सुखों का
सर्वोत्कृष्ट लाभ है और निःश्रेयस् शब्द से मोक्ष प्राप्ति का ग्रहण किया जाता है। कठोपनिषद् में अभ्युदय
को प्रेय और श्रेय को मोक्ष का प्रतीक माना है।

जिन दान आदि का ऊपर उल्लेख किया गया है, ये सब इस लोक तथा पर-लोक में समानरूप से मनुष्य
की सहायता करते हैं। देखिये कालिदास के शब्दों में राजा दिलीप कह रहे हैं—'लोकान्तरकृतं पुण्यं तपोदान-
समुद्भवम्। सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे'॥ रघुवंश १ सर्ग।

न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते ॥ २८ ॥

दूसरे प्रमाण—जिन पुरुषों के मानसिक दोष (रजोगुण और तमोगुण) किन्हीं कारणों से निवृत्त नहीं
हो सके हैं, ऐसे पुरुषों के लिये सत्वगुण-प्रधान, तपोबल एवं ज्ञानबल से युक्त महर्षियों ने धर्मशास्त्रों में अपुनर्भव
(मोक्ष) का उपदेश नहीं किया है।

वक्तव्य--महर्षि आत्रेय ने आगे चलकर चरक शारीरस्थान में इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख किया है—'मोक्षो रजस्तमोऽभावाद् बलवत् कर्मसंक्षयात्। वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते' ॥ च० शा० अ० १। १४२। रजोगुण और तमोगुण के अभाव से पूर्वजन्म तथा इस जन्म के कर्मों का क्षय हो जाने पर एवं सभी प्रकार के संयोगों से वियोग (मुक्त) हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऊपर जो दान, तप, यज्ञ आदि के अनुष्ठान की चर्चा की गयी है, वह तो केवल स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। इनसे पुण्यों का संचय होता है। 'सुकृती स्वर्गभाग् भवेत्'। पुण्यात्मा को स्वर्ग प्राप्ति होती है और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। पुण्यों के क्षीण होने पर वह प्राणी मरण-धर्म वाले इस लोक में पुनः किसी अच्छे परिवार में जन्म लेता है। धर्मशास्त्रों में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है।

धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति [1]व्यवस्येदेवम् ॥ २९ ॥

अन्य महर्षियों का मत—जो लोग धर्म के मार्गों (दान, तप आदि) में प्रवृत्त (लगे) हैं, जिन लोगों के भय, राग, द्वेष, लोभ, मोह, मान (अहंकार) आदि मानसिक विकार समाप्त हो गये हैं, जो ब्रह्मज्ञान (अध्यात्मचिन्तन) में तत्पर हैं, जो आप्त हैं, जो कर्म (यज्ञादि) के ज्ञाता हैं, जिनके सत्व (मन) और बुद्धि का प्रचार निरन्तर कार्यरत है, ऐसे प्राचीन तथा प्राचीनतर महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर पुनर्भव का उपदेश किया है। इस प्रकार पुनर्भव के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये।

वक्तव्य—नीरजस्तम एवं दिव्य दृष्टि वाले प्राचीन तथा प्राचीनतर महर्षि समवाय द्वारा पुनर्जन्म की मान्यता सिद्धान्त रूप में स्वीकार की गयी है। इस प्रकार आप्तोपदेश से पुनर्जन्म की सिद्धि सर्वसम्मति से मानी गयी है। नास्तिकों का निरालम्ब मत इन शाश्वत सिद्धान्तों के समक्ष स्थिर नहीं रह सकता।

[2]प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते—मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेधा क्वचित् क्वचित् कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्, इहागमनमितश्च्युतानां च भूतानां, समदर्शने प्रियाप्रियत्वम् ॥३०॥

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि—प्रत्यक्ष प्रमाण भी पुनर्जन्म की सिद्धि में देखा जाता है। यथा—माता-पिता के विपरीत उनकी सन्तानें देखी जाती हैं। जब कि उन (सन्तानों) के उत्पत्ति-कारण समान हैं, फिर भी उनके वर्ण (रंग), स्वर, आकृति (रूप), सत्व (मन), बुद्धि और भाग्य समान नहीं देखे जाते। ऊँच-नीच कुल में जन्म होना, सेवक-स्वामी होना, किसी की सुख आयु दूसरे की असुख (कष्टकर) आयु (जीवन), एक दीर्घजीवी दूसरा अल्पायु, जो कर्म इस जीवन में नहीं किये गये हैं, उनके अनुरूप फलों का भोगना, बिना शिक्षा प्राप्त किये ही रोना, स्तनपान, हँसना, डरना आदि कर्मों की प्रवृत्ति; सौभाग्य या दुर्भाग्य-सूचक लक्षणों की (शरीरावयवों में) उत्पत्ति, समान कर्म करने पर भी फल प्राप्ति में असमानता, किसी कर्म में मेधा (धारणाशक्ति) का होना किसी कर्म में न होना, इस लोक में आये हुए तथा यहाँ से गये (मरे) हुए प्राणियों में जाति-स्मरण का होना, समानरूप से देखने पर भी किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय समझना। इन सब लक्षणों को देखकर पूर्वजन्म के कर्म सम्बन्धों का प्रत्यक्षीकरण होता ही है।

वक्तव्य—पुनर्जन्म की सिद्धि में आप्तोपदेश का महत्व दिखलाने के पश्चात् अब यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है।

प्रथम उदाहरण—प्रायः देखा जाता है कि बालक माता-पिता के अनुरूप होते हैं। कभी-कभी तो बिना पूछे ही लोग कह बैठते हैं—क्या आप राम के पुत्र हैं ? उत्तर मिलता है—हाँ, क्यों, आपने कैसे पहचान लिया ? आदि-आदि। इस प्रसंग में कालिदास का यह पद्य उल्लेखनीय है—'रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्। न कारणाद् स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्' ॥ रघुवंश। अर्थात् अज अपने पिता

१. 'व्यवस्येदेवं पुनर्भवम्' यो.।
२. 'एवं पुनर्भवः प्रत्यक्षमपि' ग.।

रघु से किसी प्रकार भी विसदृश नहीं था, उसे देखने से ऐसा लगता था जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया गया हो। जहाँ इतनी समानता सन्तान में माता-पिता के रूप की वर्णित है, वहाँ यदि विपरीतता दृष्टिगोचर हो तो निश्चित ही पूर्व जन्म के कर्मों के कारण बालक के संस्कारों तथा स्वरूप आदि में विकृति आयी है। दूसरा कोई कारण कहीं वर्णित नहीं है।

द्वितीय उदाहरण—समान माता-पिता की सन्तान के वर्ण, स्वर, आकृति, सत्व, बुद्धि, भाग्य में समानता नहीं देखी जाती है। इस प्रसंग में हम चाणक्य की सूक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं—'एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः। न भवन्ति समाः शीलैर्यथा बदरिकण्टकाः'। चाणक्यनीति। एक बीज से उत्पन्न बेर के पेड़ में कांटे कष्टप्रद तथा फल भक्ष्य होते हैं, कितना अन्तर है।

दास्यैश्वर्यम्—उन्हीं माता-पिता की एक सन्तान नौकरी करती है, दूसरी ऐश्वर्य का भोग करती है। इसमें भी निश्चित ही पूर्वजन्म के कर्मों का फल कारण होता है। इसी प्रकार कोई जीवन भर दुःख भोगता है और कोई आनन्द करता है, किसी को दीर्घ जीवन प्राप्त है तो कोई अकाल मृत्यु से कालकवलित हो जाता है।

लक्षणोत्पत्तिः—मनुष्य के हाथ, पैर, मस्तक आदि पर सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार कुछ रेखायें लक्षण के रूप में बन जाती हैं। अथवा तिल, तिलकालक, न्यच्छ, मांसार्बुद आदि अनेक लक्षण इस प्रकार दिखलायी देते हैं, जो उसके भविष्यत् की सही-सही सूचना देते हैं।

मेधा—अमरसिंह ने—'धीर्धारणावती मेधा' ऐसा निर्देश किया है। जिसका अर्थ होता है 'स्मरणशक्ति'। इसकी प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म के संस्कार कारणरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि किसी मनुष्य की स्मरणशक्ति सिनेमा के गानों को याद करने की ओर होती है, तो दूसरे की धर्मग्रन्थों को याद रखने में तत्पर होती है।

जातिस्मरणम्—न्यायशास्त्र में जाति का लक्षण इस प्रकार किया है—'एकत्व विशिष्टा जातिः'। जैसे—गोत्व जाति, मनुष्यत्व जाति आदि। किन्तु यहाँ जाति शब्द से हम पूर्वजन्म सम्बन्धी जीवन परिचय समूह का ग्रहण इसलिये करते हैं कि—'सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः'। संसार की अनेक घटनायें ऐसी देखी-सुनी जाती हैं, जो उन अबोध बालकों की तुतली भाषा में पूर्वजन्म में ये क्या थे, का परिचय देती हैं।

एक घटना—मेरे गुरुवर्य्य स्वर्गीय पं० लालचन्द्र जी वैद्य की एक द्विवर्षीया कन्या दयावती ने श्री रामलाल खत्री सी० के० ७।४८ सिद्धेश्वरी, वाराणसी की स्त्री के पूछने पर यह सुनाया कि मेरी दाहिनी पसली में फोड़ा हुआ था उसी से मैं मर गयी थी। तब मेरा नाम गुड्डी था। उस समय मेरे पापा का नाम रामलाल था। लगभग दो वर्ष पूर्व बाबू रामलाल जी की कन्या गुड्डी की पसली में फोड़ा होने के कारण मृत्यु हो गयी थी। दया के इतना सुनाते ही उक्त खत्री महोदय की स्त्री उसको गले लगाकर रोने लगी और उस दिन से उसके साथ अपनी पुत्री के समान व्यवहार करने लगी थी। यह घटना वास्तव में जातिस्मरण की न होकर वृत्त स्मरण की कही जा सकती है। इस प्रकार की अन्य घटनायें भी अनेक हैं।

समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्—जब मनुष्य कभी एक समय में दो व्यक्तियों को एक साथ देखता है तो उसकी एक के साथ मित्र बुद्धि तथा दूसरे के साथ शत्रु या उदासीन (तटस्थ) बुद्धि देखी जाती है। इसमें पूर्वजन्म कृत आत्मीयता या द्वेष कारण मानना पड़ता है। अन्यथा अभी उस व्यक्ति से न कोई बात हुई न कोई व्यवहार ही, इनके बिना मित्र-शत्रु भाव कैसा ? निश्चित ही पूर्वजन्म के किसी सम्बन्धविशेष को यहाँ स्वीकार करना ही होगा। नीतिकारों का कथन है—'व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि शत्रवस्तथा'। यहाँ भी पूर्वजन्म का व्यवहार स्थिर करना पड़ेगा। यह स्थिति सामान्य पुरुषों की ही नहीं अपितु महात्माओं में भी देखी जाती है। देखिये—'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः' ॥ जब तपस्वियों में भी इन भावों का वर्चस्व होता है तो सामान्य पुरुषों की तो चर्चा ही क्या है। ये सब पूर्वजन्म से सम्बन्धित राग-द्वेष आदि का ही प्रतिफल होता है।

अत एवानुमीयते—यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत् फलम्, इतश्चान्यद् भविष्यतीति, फलाद् बीजमनुमीयते फलं च बीजात् ॥ ३१ ॥

अनुमान प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि—इस (प्रत्यक्ष प्रमाण के जो उपर्युक्त लक्षण दिखलायी देते हैं) से अनुमान किया जाता है कि अपने द्वारा पूर्वजन्म में किया हुआ जो अपरिहार्य (जिसको बिना

भोगे हटाया नहीं जा सकता), अविनाशी (स्थायी) कर्म है, जिसकी दैव (भाग्य) संज्ञा दी जाती है वह आनुबन्धिक (जो प्राणी का साथ कभी नहीं छोड़ता) कर्म है। उसी का यह फल है (जिसका फल मनुष्य इस जन्म में भोग रहा है)। और जो इस जन्म में कर्म किया जा रहा है उसका फल अन्यद् (दूसरे जन्म में) होगा। क्योंकि फल से बीज का अनुमान किया जाता है और बीज से फल का। यह चिरन्तन परम्परा है।

वक्तव्य—प्रत्यक्ष ज्ञान ही अनुमान का मूल आधार है। यहाँ पर कर्म के तीन विशेषण दिये हैं—१. अपरिहार्य, २. अविनाशी और ३. आनुबन्धिक। ये वे कर्म हैं जो पूर्वजन्म में किये गये थे। उनका फल अपरिहार्य (बिना भोगे टाला नहीं जा सकता) है। देखें—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्'। गीता। अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म हमने पूर्वजन्म में किया है उसको हमें भोगना ही पड़ेगा। जब तक नहीं भोगेंगे, तब तक वह 'अविनाशी' है। क्योंकि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'। करोड़ों कल्पों तक भी अपने किये हुए कर्मों के फल का बिना भोग किये हुए उसकी समाप्ति नहीं होती। महर्षि आत्रेय ने उक्त वचनों को कुछ संशोधन (Amendment) के साथ इस प्रकार दिया है—'नहि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते'॥ च० शा० अ० १।११७।

दैवसंज्ञकम्—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यम्'। अमरकोष। दैव शब्द भाग्य का पर्यायवाचक है। और इस दैव की परिभाषा इस प्रकार है—'पूर्वजन्म कृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते' अर्थात् इस जन्म के कर्मों के अनुसार अगले जन्म के भाग्य का निर्माण होता है। प्राणियों के जीवन में यह क्रम मोक्ष-प्राप्तिपर्यन्त चलता रहता है।

फलाद् बीजमनुमीयते—यह उदाहरण प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान के बीच में चिर-स्थिर सम्बन्ध स्थापित करता है। इसका क्रम चक्र (पहिया) के समान निरन्तर चलता रहता है। जब बीज प्रत्यक्ष है तब उससे तदनुरूप फल होने का अनुमान किया जाता है और जब फल प्रत्यक्ष है तब उसके भीतर रहने वाले बीज का अनुमान होता है। इस प्रकार यह फल-बीज का उदाहरण पूर्वजन्म का अनुमान कराने में स्वतः समर्थ है।

युक्तिश्चैषा–षड्धातुसमुदयाद् गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया; कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्; कर्मसदृशं फलं नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिः; इति युक्तिः ॥ ३२ ॥

युक्ति प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि—पुनर्जन्म को सिद्ध करने में यह युक्ति है कि षडधातु (पञ्चमहाभूत और आत्मा) के समूह से गर्भ का जन्म होता है। क्योंकि कर्ता और कारण के परस्पर संयोग से क्रिया (किसी कार्य की सम्पादिका) होती है। कृत (किये हुए) कर्म का ही फल मिलता है न कि अकृत (न किये हुए) कर्म का। बीज के बिना कभी भी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती और कर्म के अनुरूप ही फल भी होता है। देखिये—दूसरे बीज से दूसरे अंकुर की उत्पत्ति कभी नहीं होती है। यही युक्ति है।

वक्तव्य—युक्ति प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिये अनेक शास्त्रीय उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। **कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया**—अर्थात् कर्ता और साधकतम करण इन दोनों के संयोग से क्रिया (कार्य) की उत्पत्ति होती है। इसके पूर्व बतलाया है कि छः धातुओं के समुदाय से गर्भ का जन्म होता है। यहाँ षड् धातु के अन्तर्गत आत्मा कर्ता है और पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुरूप हुआ पञ्चभूतों का संयोग करण है, अतः तदनुरूप गर्भ का जन्म होता है।

अन्यत्र 'रामेण बाणेन हतो बाली'। यहाँ बाली के वध में राम कर्ता है और बाण (Arrow) करण (साधकतमकरण) है। इन दोनों के संयोग से बाली का वध हुआ है। इन उदाहरणों में कर्ता या करण में से किसी एक का भी अभाव होने पर क्रिया की सिद्धि कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। शरीर की स्थिति को तो सभी पक्ष के आचार्य मानते ही हैं। इसका एक पर्याय है 'भोगायतन' जिसका अर्थ है पूर्व जन्म तथा इस जन्म के सभी प्रकार के कर्मों के फलों को भोगने का स्थान।

कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य—नीतिशास्त्रों ने भी इस ओर ध्यान देते हुए लिखा है—'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'॥ और भी—'अगच्छन् वैनतयोऽपि पदमेकं न गच्छति'। इत्यादि उदाहरणों में कार्यक्षम व्यक्ति भी यदि शुभाऽशुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो

वह उसके फल को भोगने का अधिकारी नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव मात्र इस जन्म में जिन अकृत कर्मों के फलों को भोगता है, ये सब पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों के ही फल हैं।

नाङ्कुरोत्पत्तिः अबीजात्—बीज के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, यह युक्ति भी पूर्वोक्त विषय को ही समर्थन देती है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी प्रस्तुत करती है कि यदि अंकुर की उत्पत्ति हुई है तो इसके मूल में बीज अवश्य होगा, ऐसा हम अनुमान भी कर सकते हैं, क्योंकि एक (प्रत्यक्ष) बीज को बो करके हम कुछ ही दिन में अंकुर को देखते हैं। इसी से प्रत्यक्ष का अनुमान से और अनुमान का युक्ति से सुस्थिर सम्बन्ध सिद्ध होता है।

कर्मसदृशं फलम्—जैसा कर्म वैसा उसका फल। पुण्य कर्मों का सुफल और पाप कर्मों का दुष्फल प्रत्यक्ष है। यदि कोई पाप करता हुआ भी सुख भोगता है तो वह पूर्वजन्म कृत अपने पुण्यों का फल भोगता है, ऐसा समझना चाहिये।

नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिः--यह युक्ति 'कर्मसदृशं फलं' की पोषक है। इसका आशय यह है—दूसरे बीज से दूसरे फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यथा—'बोया पेड़ बबूर का आम कहाँ ते होय'। अर्थात् बबूर (काँटे वाला वृक्ष) का बीज बोकर आम के पौधे की उत्पत्ति की आशा नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का शुभ-अशुभ फल मानव यहाँ भोगता है और इस जन्म के कर्मों के फलों को अगले जन्म में। यह युक्ति प्रमाण पुनर्जन्म की भावना को पुष्ट करता हुआ नास्तिकों को निरुत्तर कर देता है, क्योंकि उनके पास इसका कोई समीचीन उत्तर नहीं है।

एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत; तद्यथा—गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मानसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनोऽर्थबुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनःसमाधाविति; यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात् तान्यारभेत कर्तुं; तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम्। इति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति ॥ ३३ ॥

इस प्रकार प्रमाण-चतुष्टय (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति) द्वारा
धर्म-साधन के उपाय—
पुनर्भव (पुनर्जन्म) के कहे जाने किं वा समर्थित होने पर धर्म-द्वारों (जिन मार्गों से धर्म-कार्य में प्रवेश प्राप्त हो सके उन) में सतर्क रहे, अर्थात् उनके आचरण में प्रमाद न करे। धर्मद्वारों की परिगणना—गुरुशुश्रूषा (पूज्य-जनों की सेवा), अध्ययन, व्रतचर्या (व्रतों के अनुष्ठान), दारक्रिया (विवाह-संस्कार), सन्तान की उत्पत्ति, सेवकों का भरण-पोषण, अतिथि-पूजन, दान, दूसरे के धन को न लेने की प्रवृत्ति, तपस्या, अनसूया, शरीर, वाणी तथा मन को कष्ट न देने वाले कर्मों का आचरण, देह, इन्द्रिय, मन, अर्थ, बुद्धि, आत्मपरीक्षा और मन को एकाग्र करना। इनके अतिरिक्त और भी जो इस प्रकार के सज्जनों द्वारा प्रशंसित, स्वर्ग को देने वाले, आजीविका को सुस्थिर करने वाले कर्म मालूम हों, उन सबको करना आरम्भ कर दे। ऐसा करते हुए इस लोक में मनुष्य यश को प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह तीसरी परलोकैषणा (परलोक-प्राप्ति की इच्छा) का व्याख्यान कर दिया गया है।

उक्त चार प्रमाणों द्वारा जब यह निश्चय हो गया है कि पुनर्जन्म होता ही है, तो वह सुख-
वक्तव्य—
मय हो, इसके लिये धर्म-द्वारों का उपदेश दिया गया है। मनुष्य के जीवन को मूलतः चार भागों में विभक्त किया गया है। यथा—१. ब्रह्मचर्य, २. गृहस्थाश्रम, ३. वानप्रस्थ और ४. सन्यास। इसी क्रम से ऊपर वर्णित धर्म-द्वारों का विभाजन कर लेना चाहिये। जैसे—गुरुशुश्रूषा से व्रतचर्या तक प्रथम आश्रम, दारक्रिया से लेकर अनभिध्या तक द्वितीय आश्रम, तपस्या से मन को कष्ट देने वाले कर्मों तक तृतीय आश्रम और शेष चतुर्थ आश्रम की दृष्टि से महर्षि आत्रेय ने लिखा होगा, ऐसा उक्त विषय के विभाजन से प्रतीत होता है।

गुरुशुश्रूषायाम्—सामान्य रूप से 'शुश्रूषा' शब्द का व्यवहार सेवा के अर्थ में होता है परन्तु उक्त शुश्रूषा शब्द 'श्रुश्रवणे' धातु से बना है, जिसका अभिप्राय है भली-भाँति सुनकर तदनुकूल व्यवहार करना। यदि सेवक स्वामी के आदेश को भली-भाँति नहीं सुनेगा तो वह उचित सेवा नहीं कर सकेगा।

अध्ययने—अध्ययन अथवा स्वाध्याय ये दोनों ही शब्द 'वेदाध्ययन' के लिये ही मूलतः प्रयुक्त देखे जाते हैं। तदनन्तर किसी भी विषय का पढ़ना अध्ययन है।

व्रतचर्यायाम्—यद्यपि व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'व्रियते अनेन, इति व्रतम्', अथवा 'व्रजन्ति अनेन स्वर्गम्, इति व्रतम्'। इन परिभाषाओं के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि सभी व्रत कहे जाते हैं, किन्तु यहाँ पर 'व्रत' शब्द से ब्रह्मचर्य का ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'सर्वे पदं हस्तिपदे निमग्नम्'। सभी व्रतों के मूल में 'ब्रह्मचर्य' व्रत है।

दारक्रियायाम्—विवाह संस्कार को भी धर्मद्वार कहा है, क्योंकि भार्या को त्रिवर्ग का साधक धर्मशास्त्रों में कहा गया है—'भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता'। सद्गुणवती स्त्री त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की साधिका होती है। इसका कारण यह भी है युवावस्था में विवाह हो जाने से मनुष्य अपने चरित्र की सुरक्षा कर सकता है और समाज भी उस पर विश्वास करने लगता है।

अपत्योत्पादने—विवाह का मुख्य प्रयोजन है सन्तान (पुत्र) की उत्पत्ति, क्योंकि मनुष्य के ऊपर तीन ऋण होते हैं—देवता, पितृ तथा ऋषि। सुयोग्य सन्तान अपने माता पिता को यज्ञ, श्राद्ध आदि कर्मों का अनुष्ठान करके उनको उऋण करती है। इस गृहस्थ पुरुष के ऊपर कई भार कर्तव्य के रूप में सौंपे गये हैं। यथा—

भृत्यभरण—नौकरों के प्रति सद्व्यवहार और उनका पालन-पोषण करना। **अतिथिपूजा**—'न तिथिः अतिथिः' जो अकस्मात् घर में आ गया हो, उसका पूजन (तदनुरूप सम्मान) करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। महर्षि वृद्धचाणक्य ने लिखा है—'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः'। चा० नी०। **दान**—यथाशक्ति पात्र (योग्य व्यक्ति) को दान देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। **अनभिध्या**—'न अभिध्या, अनभिध्या'। अभिध्या को कोषकारों ने 'परद्रव्येच्छा' कहा है। उसके विपरीत अनभिध्या है। 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। चाणक्यनीति।

तपसि—अपने शरीर को कष्ट देकर धर्मोपार्जन करना यह तपस्या का मूल उद्देश्य है। **अनसूया**—'गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया', गुणों में दोषों को देखना असूया है, इसके विपरीत भाव को अनसूया कहते हैं। इस प्रकार ऊपर वर्णित सभी नियमों के आचरण से धर्मद्वार खुल जाते हैं। उनके भीतर जाने का मार्ग प्रशस्त होता है, जिससे मानव स्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है। ये सभी कार्य इस लोक में सुख, सम्मान तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्गीय सुखों को देते हैं।

अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः; त्रिविधं बलं, त्रीण्यायतनानि, त्रयो रोगाः, त्रयो रोगमार्गाः, त्रिविधा भिषजः, त्रिविधमौषधमिति ॥ ३४ ॥

तीन-तीन दूसरे सात विषय (Seven other Triads)—इसके पश्चात् तीन उपस्तम्भ (शरीर धारक आधार), तीन प्रकार के बल, तीन आयतन, तीन रोग, तीन प्रकार के रोग-मार्ग, तीन प्रकार के चिकित्सक और तीन प्रकार के औषध समूह का वर्णन किया जाता है।

वक्तव्य—इस अध्याय का नाम 'तिस्रैषणीय' है, अतः महर्षि ने तीन-तीन प्रकार से विषयों का भेद करके ही उनका वर्णन करने का निश्चय किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति, एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात् [1]संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य, य इहैवोपदेक्ष्यते ॥ ३५ ॥

तीन उपस्तम्भ—ऊपर जो तीन उपस्तम्भों का उल्लेख किया है, उनका परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—१. आहार, २. स्वप्न और ३. ब्रह्मचर्य—ये तीन उपस्तम्भ हैं। युक्ति पूर्वक प्रयुक्त इन तीन स्तम्भों से उपस्तब्ध (स्थिर किया हुआ) यह शरीर बल, वर्ण, उपचय (क्रमिक वृद्धि), से उपचित होकर आयु के संस्कार के अनुरूप अनुवर्तन करता (चलता) है। शरीर के प्रति जो अहितकर आहार-विहार हैं, उनका सेवन न करना यही शरीर का संस्कार है, जिसका वर्णन यहीं आगे किया जायगा।

वक्तव्य—आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर को स्थिर एवं स्वस्थ रखने में सहायक

१. 'संस्कारः स हितमुपसेवमानस्य' ग.।

होते हैं। जिस प्रकार तिपाई (Stool) के आधार तीन लकड़ियाँ होती हैं उसी प्रकार आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य रूपी तीन स्तम्भों पर यह शरीर आधारित है।

इस सम्बन्ध में सुश्रुत का दृष्टिकोण—'धातवो देहधारणात्'। इसके अनुसार 'वात-पित्त-श्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः, तैरव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते, आगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः'। सुश्रुत सू० अ० २१। अस्तु, अब हम चरकोक्त उपस्तम्भ-त्रय की विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

१. **आहार**—इसका विशेष विवेचन महर्षि आत्रेय ने 'विविधाशितपीतीय' नामक चरक सू० २८ वें अध्याय में किया है, वहाँ देखें। भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार कहा है—'आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः। आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४। आहार पुष्टिदायक, तत्काल बलकारक, देह को स्थिरता प्रदान करनेवाला, आयु, कान्ति, उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि (पाचकाग्नि) को बढ़ाता है। आहार के सम्बन्ध में सभी मानव जानते ही हैं कि 'कलौ-अन्नगताः प्राणाः', 'सर्वम् अन्ने प्रतिष्ठितम्', 'सर्वमन्नमयं जगत्' इत्यादि सूक्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं। महर्षि आत्रेय ने अन्न की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है—'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति। ···तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्' ॥ चरक सू० अ० २७। इसका व्याख्यान यथास्थान देखें। इसके बाद अब दूसरे उपस्तम्भ की चर्चा प्रस्तुत है।

२. **स्वप्न**—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४ में निद्रा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनका अवलोकन वहाँ करें। मनुष्य जब श्रान्त हो जाता है या उसमें तमोगुण की अधिकता होती है अथवा स्वभाव से तभी वह सोता है। महर्षि आत्रेय ने सात प्रकार की निद्रा का वर्णन इस प्रकार किया है—'तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा' ॥ चरक सू० अ० २१। इसके अतिरिक्त एक निद्रा 'अनवबोधिनी' भी है जिसके आने के बाद मानव चिरकाल के लिये सो (मर) जाता है।

निद्रा का महत्त्व—धन्वन्तरि का मत—'पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतीन्द्रियम्। करोति धातुसाम्यं च निद्राकाले निषेविता' ॥ सुश्रुत चि० अ० २४। और भी—'निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च' ॥ चरक सू० अ० २१। इसका व्याख्यान यथास्थान देखें। इसी प्रकरण में आगे निद्रानाश की चिकित्सा भी दी गयी है—'अभ्यङ्गोत्सादनं·········निमित्ततः' ॥ इसी के आगे चरक सू० अ० २७ में निद्रानाश के कारणों का भी उल्लेख किया है। महर्षि आत्रेय ने निद्रानाश के कारण तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन केवल इसीलिये किया है कि वह शरीर का सहायक दूसरा उपस्तम्भ है। अन्यथा आप ध्यान दें—यदि जीवन में निद्रा का कोई उपयोग न होता तो यह मानव भी लोहे की मशीन की भांति अधिक से अधिक समय तक कार्य करता रहता।

निद्रा के सम्बन्ध में पाश्चात्य मत—'Sleep in a function of all living things. Shakespeer with the insight of genious, exactly sums up the most modern knowledge of the subject. When he calls 'Chief nourisher at life's feast'. Sleep, indeed, is a positive thing, a recreative process, a winding up of the vital clock, a recharging of life's battery. Anabolism is active. Ratabolism relatively passive'.

३. **ब्रह्मचर्य**—यह जीवन के प्रथम आश्रम के रूप में धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध है। इस काल में अनेक प्रकार के नियमोपनियमों के सेवन का निर्देश किया गया है, जिसमें सप्तम धातु (वीर्य) की रक्षा का अत्यन्त महत्व है। स्त्री-सहवास काल में पुत्र उत्पत्ति के लिये जो वीर्य का क्षरण होता है, वह वीर्य क्षरण का सदुपयोग है, दूसरे कारणों की भी चर्चा देखी जाती है। यथा—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति। धन्वन्तरि ने भी कहा है—'अतिस्त्रीसम्प्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान्'। सुश्रुत चि० अ० २४। ये सब नियम और बन्धन गृहस्थाश्रम में स्थित पुरुष के लिये हैं। इसी प्रकार का एक नियम यह भी है—'ऋतुकालाभिगामी स्यात्'। किन्तु वीर्य रक्षण से सम्बन्धित होने के कारण ही इनकी चर्चा यहाँ की गयी है।

प्रायः देखा जाता है बालक या बालिकायें कुसंगति में पड़कर अपने ब्रह्मचर्य व्रत को खण्डित कर

बैठते हैं। अकाल में ही इस प्रकार की आदतों से वीर्यवाहिनी नलिकायें शिथिल हो जाती हैं। स्वप्नदोष (Nocturnal Emissions) से भी वीर्य की हानि होती है। असमय में वीर्य से शरीर की वृद्धि रुक जाती है। वीर्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण उद्धरण—'आहारस्य परं धाम शुक्रम्'। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु-धारणात्'। 'शुक्रायत्तं बलं पुंसाम्', और भी—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत'।

आहारजनित रस का अन्तिम परिणाम वीर्य, शुक्र, रेतस् है। ये दोनों ही आदिम और अन्तिम स्तम्भ हैं। स्वप्न, स्वाप, शयन यह दोनों का मध्यस्थ होने के कारण दोनों का सहायक है। इन तीनों का युक्ति-युक्त (विधिपूर्वक) प्रयोग बल, वर्ण और पुष्टिकारक होता है। युक्ति-युक्त से तात्पर्य है इनका हीन, मिथ्या तथा अतियोग न हो सके। हित कर्मों का सेवन अल्पायु को परमायु में परिणत करने की क्षमता रखता है, इसी प्रकार अहित आहार-विहारों का सेवन परमायु को घटाकर मानव को अल्पायु बना देता है।

त्रिविधं बलमिति—सहजं, कालजं, युक्तिकृतं च। सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतं, कालकृत-मृतुविभागजं वयःकृतं च, युक्तिकृतं पुनस्तद् यदाहारचेष्टायोगजम् ॥ ३६ ॥

त्रिविध बल—बल तीन प्रकार का होता है—१. सहज, २. कालज और ३. युक्तिकृत। इन तीन बलों में सहज बल उसको कहते हैं जो शरीर और सत्व (मन) का प्राकृत (स्वभाविक) बल होता है। दूसरा है कालज अथवा कालकृत—यह ऋतु विभाग (आदानकाल, विसर्गकाल) के अनुसार तथा वयस्कृत (अवस्था-नुसार—बचपन, युवावस्था तथा वृद्धावस्था के अनुरूप) होता है। तीसरा है युक्तिकृत—जीवन में आहार-विहार आदि के उन-उन उपयोगों द्वारा तथा समयानुसार वाजीकरण एवं रसायन योगों द्वारा प्राप्त होने वाला बल।

वक्तव्य—लोक व्यवहार में **सहज बल** का स्वरूप—वीर-पुरुषों में शरीर-सम्बन्धी बल और सात्विक पुरुषों में मानसिक बल देखा जाता है। इस प्रकार के पुरुषों की सन्तानें भी उक्त बलों से युक्त होती हैं, क्योंकि—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन' ॥ सुश्रुत शा० अ० ४।

सहज-बल का दूसरा प्रकार—गर्भाधान काल में पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार पृथिवी आदि पञ्च-महाभूत तथा आत्मा के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसमें तदनुरूप शरीर बल और मनोबल होता है। इस मनोबल का ही दूसरा नाम 'उत्साहशक्ति' भी है।

कालज-बल—चरक के 'तस्याशितीय' नामक ६ ठें अध्याय में आदान एवं विसर्ग काल का हम विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। इन कालों के अनुसार ऋतुओं का प्रभाव पड़ने पर वही शरीर हीन बल तथा उत्तम बल को धारण करता है। दूसरे काल शब्द से बाल्य, युवा एवं वृद्ध अवस्था विशेषों का भी बोध होता है। क्योंकि इन अवस्थाओं में भी अपने-अपने प्रकार का बल होता है। बाल और वृद्ध अवस्था का तो हठ-बल प्रसिद्ध है।

युक्तिकृत-बल—आहारों (विविध प्रकार के भोज्य-पदार्थों) से उपार्जित बल और विहारों (व्यायाम एवं आसन विशेषों जिनमें एक प्राणायाम की भी गणना की जाती है) के प्रयोग से प्राप्त बल है। रसायन, वाजीकरण योगों से प्राप्त बल का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसका विशेष विवरण 'त्रय उपस्तम्भाः' के व्याख्यान में किया गया है, वहाँ देखें।

त्रीण्यायतनानीति—अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः। तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः, सर्वशोऽदर्शनमयोगः, [1]अतिश्लिष्टातिविप्रकृष्टरौद्रभैरवाद्भुतद्विष्टबीभत्स-विकृतवित्रा[2]सनादिरूपदर्शनं मिथ्यायोगः, तथाऽतिमात्रस्तनितपटहोत्कुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवण-मतियोगः, सर्वशोऽश्रवणमयोगः, परुषेष्टविनाशोपघातप्रधर्षणभीषणादिशब्दश्रवणं मिथ्यायोगः, तथाऽति-तीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनां गन्धानामतिमात्रं घ्राणमतियोगः, सर्वशोऽघ्राणमयोगः, पूतिद्विष्टामेध्यक्लिन्न-विषपवनकुणपगन्धादिघ्राणं मिथ्यायोगः, तथा रसानामत्यादानमतियोगः, सर्वशोऽनादानमयोगः, मिथ्या-

१. 'अतिसूक्ष्मातिविप्रकृष्ट०' यो.।
२. वित्रासनेति जल्पकल्पतरावुपस्कारे च न पठ्यते।

योगो राशिवर्ज्येष्वाहारविधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते, तथाऽतिशीतोष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गोत्सादना-दीनां चात्युपसेवनमतियोगः, सर्वशोऽनुपसेवनमयोगः, स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामनानुपूर्व्योप-सेवनं विषमस्थानाभिघाताशुचिभूतसंस्पर्शादयश्चेति मिथ्यायोगः ॥ ३७ ॥

रोगों के त्रिविध कारण—रोगों के तीन कारण होते हैं। **प्रथम कारण**—अर्थों (इन्द्रियों के विषयों) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। **दूसरा कारण**—कर्मों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। **तीसरा कारण**—काल (आदान, विसर्ग) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। इनके क्रमशः उदाहरण—

चक्षुरिन्द्रिय के अतियोगादि—अत्यन्त प्रभा (कान्ति, चमक, तेज) वाले दृश्यों (सूर्य आदि प्रभा-
वान् पदार्थों) को अधिक देर तक देखते रहना नेत्र इन्द्रिय का अतियोग है। प्रभावान् पदार्थों अथवा प्रकाश
की ओर सर्वथा न देखना नेत्र इन्द्रिय का अयोग है और अत्यन्त श्लिष्ट (सटे हुए पदार्थों, जैसे आँखों में
लगाया हुआ काजल), अतिसूक्ष्म, अधिक दूर, उग्रस्वरूप, भयानक (डरावने), अद्भुत (आश्चर्यजनक),
द्वेषपूर्ण, बीभत्स (घिनौना), विकृत (विकारयुक्त), वित्रासन (विशेष रूप से डराने वाले) रूपों को देखना
चक्षुरिन्द्रिय का मिथ्या (गलत) योग है। अर्थात् ऐसी वस्तुओं को देखने से अनेक हानियाँ होती हैं।

श्रवणेन्द्रिय के उदाहरण-बादलों की जोरदार गरजन को, नगाड़े के शब्द को, उत्कुष्ट (घमण्ड से
जोरदार चिल्लाना) इस प्रकार के शब्दों (ध्वनियों) का अधिक सुनना कान के विषय का अतियोग है।
बिलकुल न सुनना श्रवणेन्द्रिय का अयोग है। कठोर शब्द, प्रियजन विनाश सम्बन्धित बात, हानिसूचक,
धर्षण (तिरस्कार, अपमान) सूचक तथा भयसूचक शब्दों का सुनना श्रवणेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

घ्राणेन्द्रिय के उदाहरण—अतितीव्र (काली मरिच या लाल मिर्च की धुंआस), उग्र (तेज गन्ध
वाले इत्र आदि) एवम् अभिष्यन्द (प्रतिष्यायकारक) गन्धों का अधिकाधिक सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग
है। किसी प्रकार की गन्ध को जरा भी न सूंघना उसका अयोग है। पूति (दुर्गन्धि), द्विष्ट (जिस गन्ध को
सूंघने के प्रति द्वेष हो गया हो), अपवित्र गन्ध, क्लिन्न (सड़न युक्त गन्ध), विषाक्त वायु का सूंघना, कुणप
(मृत शरीर से निकलने वाली) गन्ध को सूंघना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्यायोग (सर्वथा दुरुपयोग) है।

रसनेन्द्रिय (जीभ) के उदाहरण—प्रिय रसों का अधिकाधिक सेवन करना उसका अतियोग है।
किसी रस का आस्वाद न लेना या कम मात्रा में लेना रसनेन्द्रिय का अयोग है। मिथ्यायोग का वर्णन चरक
विमानस्थान अध्याय १ में प्रकृति आदि आठ आहारविधि-विशेषायतनों में से राशि को छोड़कर अन्य रसों
के साथ जो जीभ का संयोग होता है, उसको मिथ्यायोग कहते हैं। इसका वर्णन विमानस्थान में करेंगे।
यहाँ पर राशि शब्द से परिमाण का ग्रहण किया गया है, क्योंकि परिमाण में मिथ्यायोग नहीं होता।

त्वगिन्द्रिय (त्वचा = Skin) के उदाहरण—अत्यन्त शीतल (हिम आदि) तथा अत्यन्त उष्ण
(अग्नि जैसे दाहक) पदार्थों का स्नान, अभ्यङ्ग, उत्सादन (उबटन) आदि में अधिक सेवन करना इसका
अतियोग है। संक्षेप में—अधिक शीतल जल से स्नान, अवगाहन अथवा खौलते या जलते हुए तैल की मालिश
आदि का प्रयोग अतियोग है। इनका सर्वथा सेवन न करना या कम करना अयोग है। शीत एवम् उष्ण
स्पर्श वाले पदार्थों का क्रमपूर्वक सेवन न करना, ऊँचे-नीचे स्थानों पर बैठने से होने वाले कष्ट, चोट का
लगना, अपवित्र पदार्थों तथा भूतों (कृमि-कीटादिकों) का स्पर्श, ये सब त्वगिन्द्रिय के मिथ्यायोग हैं। इसी
मिथ्यायोग का नाम अनुपशय है। इसका विस्तृत विवरण चरक शारीरस्थान अध्याय १ में देखें।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने यहाँ 'अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः' ऐसा उल्लेख
किया है। इसी विषय का प्रतिपादन वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्याति-
मात्रकः। सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगाऽऽरोग्यैक कारणम्' ॥ अष्टाङ्गहृ० अ० १।१९ ॥

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतःसमवायि, स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः, तस्मात् सर्वेन्द्रियाणां व्यापकस्पर्शकृतो यो भावविशेषः सोऽयमनुपशयात् पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्य-सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ ३८ ॥

१. विमानस्थानस्य प्रथमेऽध्याये इति ज्ञेयम्।

स्पर्शनेन्द्रिय की व्यापकता—उक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों में एक स्पर्शनेन्द्रिय भी है, जो सभी इन्द्रियों में व्यापक है और जिसका मन से समवायि सम्बन्ध है। स्पर्शनेन्द्रिय के प्रत्येक अंश में व्याप्त होने के कारण अणु मन भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है, इस कारण से सभी इन्द्रियों की व्यापकरूप में जो स्पर्श रूपी विशेषता है, वह अनुपशय पञ्चविध होता है और इसके त्रिविध विकल्प होते हैं। इसी को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। सात्म्य-का ही अर्थ उपशय होता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा महर्षि ने स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) की व्यापकता दिखलाते हुए बतलाया है कि यह त्वचा ही ऐसी इन्द्रिय है जिसका सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियजनित ज्ञान में मन का संयोग आवश्यक है। मन के अव्यवस्थित होने से सब कुछ होते हुए भी मानव उस-उस इन्द्रिय के ज्ञान को नहीं कर पाता। यद्यपि मन अणु है, एक है। यथा—'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ'। (इसका व्याख्यान पहले किया जा चुका है।) परन्तु स्पर्शनेन्द्रिय के साथ मन का संयोग होने से उस (मन) को भी व्यापक कहा जाता है, इसका समर्थन दर्शनशास्त्रों ने भी किया है। फिर भी मन के संयोग का क्रम यह है—जब मन का सम्बन्ध चक्षुःइन्द्रिय की परिधि में स्थित त्वगिन्द्रिय से होता है तब वह मनुष्य देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों का भी अनुभव करता है। किन्तु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में त्वगिन्द्रिय के व्याप्त होने से मन का सभी इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, अतः वह एक होने पर भी व्यापक कहा जाता है। इसीलिये मन तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध विशेष से होने वाली अवस्था को अनुपशय (असात्म्य) कहते हैं। इसी का नाम **असात्म्य-इन्द्रियार्थ-संयोग** है। यह इन्द्रियों के विषयों के अनुसार पाँच प्रकार का होता है और इसके त्रिविध विकल्प इस प्रकार हैं—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग के अतियोग, २. अयोग और ३. मिथ्यायोग। इस पञ्चविध असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग का इन्द्रियों के विषयभेदों तथा अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से सम्बन्ध स्थापित करने पर (५×३ = १५) पन्द्रह भेद होते हैं। इनका तात्पर्य अपने-अपने विषय की प्राप्ति अथवा निवृत्ति से है। चरक शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में महर्षि ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—'स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शो मानसः स्पर्श एव च। द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः' ॥ इसका व्याख्यान यथास्थान देखें।

सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः—सात्म्य (अनुकूल) को ही उपशय कहते हैं। इसके विपरीत असात्म्य अथवा अनुपशय शब्द हैं। इसीलिये कहा गया है—विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यमिति स्मृतः'। अर्थात् जो औषध-द्रव्य उपचार आदि में शरीर तथा मन के लिये सुखद हों उनकी सात्म्य अथवा उपशय संज्ञा हैं।

कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः। तत्र वाङ्मनःशरीरातिप्रवृत्तिरतियोगः; सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः; वेगधारणोदीरणविषमस्खलनगमनपतनाङ्गप्रणिधानाङ्गप्रदूषणप्रहारमर्दनप्राणोपरोधसंक्लेशनादिः [1]शारीरो मिथ्यायोगः, सूचकानृताकालकलहाप्रियाबद्धानुपचारपरुषवचनादिर्वाङ्मिथ्यायोगः, भयशोकक्रोधलोभमोहमानेर्ष्यामिथ्यादर्शनादिर्मानसो मिथ्यायोगः ॥ ३९ ॥

कर्म का लक्षण तथा अतियोगादि—वाणी, मन और शरीर की चेष्टाओं का नाम कर्म है। कर्म का अतियोग—वाणी, मन तथा शरीर की किसी कार्य विशेष में अधिक प्रवृत्ति होना **अतियोग** है। इनकी सर्वथा अप्रवृत्ति को **अयोग** कहते हैं। वात, मूत्र, पुरीष आदि के वेगों को रोकना, जो वेग उत्पन्न न हुए हों उनको उभाड़ना, बलात् प्रेरित करना, विषम स्थानों पर जाने पर फिसल जाना, अधिक चलना, गिर जाना, अङ्गों को विषम स्थिति में रखना, शरीरावयवों को दूषित करना या रखना, अङ्गों में प्रहार करना, अधिक मर्दन, प्राणवायु आदि का अधिक देर तक रोकना और भी किसी प्रकार का क्लेश देना **शरीर का मिथ्यायोग** है।

चुगली करना, झूठ बोलना तथा बे-समय में झगड़ा करना, अप्रिय भाषण, बिना किसी प्रसंग के बातचीत करना, विपरीत आचरण करना, कठोर वचनों का बोलना, इत्यादि **वाणी के मिथ्यायोग** हैं। डरना, शोकाकुल होना, क्रोध करना, लोभ, मोह, मान (घमण्ड), ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन (किसी को गलत देखना या समझना) आदि **मन के मिथ्यायोग** हैं।

१. 'अत्र यद्यपि भूरिप्रधानशारीररोगकर्तृत्वेन पूर्वं शारीरमेव कर्मासात्म्यमभिधातुं युज्यते, तथाऽप्यल्पत्वेन वाङ्मानसे कर्मणि पूर्वमुक्ते; प्रत्येकमिथ्यायोगकथने तु प्राधान्याच्छारीर एव मिथ्यायोगः प्रथमं दर्शितः' चक्रः। गङ्गाधरस्तु वाङ्मनःशरीरातियोगान् यथाक्रमेणैव पठति।

वक्तव्य—वाणी, मन, शरीर की प्रवृत्ति को अन्यत्र चेष्टा की संज्ञा दी गयी है। महर्षि गौतम ने इसको इस प्रकार कहा है—'प्रवृत्तिर्वाग्-बुद्धि-शरीरारम्भः', यहाँ बुद्धि शब्द मन के लिये प्रयुक्त हुआ है। शारीरिक मिथ्यायोग का उल्लेख करते हुए महर्षि ने प्रकारान्तर से सद्वृत्त का समर्थन किया है। इसके अन्त में 'प्राणोपरोधसंक्लेशनादि' द्वारा उन सभी आचरणों का निषेध किया है जिनसे प्राणवायु या प्राणों को कष्ट पहुँचे। यथा—व्रत, उपवास, कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत, धूप, अग्नि का अधिक सेवन तथा मद्यपान आदि। **मिथ्यादर्शनादि**—जो जैसा नहीं है उसको वैसा देखना। यथा—'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दारिद्र्यं मरणं क्षयम्' ॥ सुभाषित।

सङ्ग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्म वाङ्मनःशरीरजमहितमनुपदिष्टं यत् तच्च मिथ्यायोगं विद्यात् ॥ ४० ॥

कर्म का मिथ्यायोग—ऊपर जो कर्म के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहा गया है उसी का सूत्र रूप में यहाँ निर्देश किया जारहा है। अतियोग और अयोग को छोड़कर वाणी, मन तथा शरीर से किया जाने वाला जो भी अहितकर कर्म है, भले ही उसका उपदेश न किया गया हो उसे संक्षेप से मिथ्यायोग समझें।

वक्तव्य—लोक-प्रवृत्तियों की परिगणना ग्रन्थ-गौरव में कारण हो जाती है। अतः शास्त्रकार इस प्रकार के संक्षेप सूत्रों का उपदेश किया करते हैं। आस्तिकशास्त्र जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों तथा उनके फलस्वरूप होने वाले सुख-दुःखों पर विश्वास करते हैं। यहाँ 'अनुपदिष्टम्' पद से आत्रेय का यही अभिप्राय है। क्योंकि उन विस्तृत कर्मों का उपदेश करना यहाँ सम्भव नहीं है।

इति त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत् ॥ ४१ ॥

प्रज्ञापराध की परिधि—इस प्रकार पूर्वोक्त त्रिविध विकल्प (अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग) और तीन ही प्रकार के कर्म (वाणी, मन, शरीर द्वारा किये हुए) को प्रज्ञा (बुद्धि) का अपराध (भूल, प्रमाद आदि कारणों से हुआ अपराध) समझना चाहिये।

वक्तव्य—स्वस्थवृत्त का सेवन स्वास्थ्यवृद्धि का कारण बतलाया गया है। इसकी अवहेलना से अस्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। इसमें कारण प्रज्ञापराध ही होता है। देखें—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। गीता। चरक शारीरस्थान अध्याय १ श्लोक १०२ से १०९ तक देखें। यहाँ प्रज्ञापराध का विस्तृत विवेचन महर्षि ने स्वयं प्रस्तुत किया है। इसका निचोड़ है कि मानव जीवन में जितनी गलतियाँ करता है वे सब **प्रज्ञापराध** के कारण ही होती हैं। शेष च० शा० अ० १ में देखें।

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः। तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनस्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते ॥ ४२ ॥

काल का लक्षण, उसके अतियोगादि—क्रमशः हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा काल शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षणों से युक्त होते हैं। इन्हीं के समूह को संवत्सर या काल-विभाग कहते हैं। इनमें हेमन्त में अधिक जाड़ा पड़ना, ग्रीष्म से भयंकर गर्मी का होना और वर्षा में निरन्तर वर्षा का होते रहना, ये इन कालों का अपने-अपने समय में कालातियोग कहा जाता है। और उक्त कालों का अपने-अपने समय में हीन लक्षणों वाला होना, काल का अयोग है। जिस काल में जिन लक्षणों का होना स्वाभाविक है उसके विपरीत लक्षणों का दिखलायी देना या अनुभव होना उस-उस काल का मिथ्यायोग कहा जाता है। काल को ही परिणाम कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा को छहों ऋतुओं के लक्षण (प्रतीक) के रूप में माना है। इनको सीजन (Season) भी कहते हैं। इन्हीं में शेष तीन (शिशिर, वसन्त, शरद्) ऋतुओं का भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है। क्योंकि सामान्य व्यवहार में भी जाड़ा, गर्मी, बरसात ऐसा ही प्रयोग होता है। यही कारण है कि अनेक स्थानों पर वर्षा तथा प्रावृट् दोनों समानार्थक ऋतुओं को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया गया है। हेमन्त-शिशिर में जाड़ा, वसन्त-ग्रीष्म में गर्मी, तथा वर्षा-शरद् में वर्षा के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

कालातियोगः—इसके वर्णन में 'अतिमात्रस्वलक्षण' से तन्त्रकार का यह आशय है कि जाड़ा में अधिक जाड़ा होना, ग्रीष्म में अधिक गर्मी और वर्षा में निरन्तर वारीष का होना उन-उन कालों का अतियोग होता है। इसका सर्वथा अभाव उन-उन कालों का अयोग है।

कालः पुनः परिणामः—काल शब्द का प्रयोग यमराज और समय के लिये किया गया है। यथा—'कृतान्ताऽनेहसोः कालः'। अमरकोष। कालयति = विनाशयति, इति कालः। कल्यते, कर्मणि घञ् इति, कालः समयः। परिणमनं = परिणामः, प्रकृतेरन्यथाभावः। काल का ही दूसरा नाम परिणाम भी है। जैसे—काल के प्रभाव से शिशु, युवा, वृद्ध अवस्था विशेषों के क्रम से प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, यही उसके जीवन का परिणाम है। यही काल मानव कृत शुभ अथवा अशुभ कर्मों को धर्म अथवा अधर्म के रूप में परिणत करता है तथा इसी को उन-उन कर्मों का परिणाम माना जाता है।

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकाराणां, समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति ॥ ४३ ॥

रोग तथा नीरोग के कारण—इस प्रकार असात्म्य-इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) का संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम ये तीन तथा पूर्वोक्त त्रिविध विकल्प (अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग) विकारों (रोगों) की उत्पत्ति में कारण होते हैं और उक्त त्रिविध विकल्प यदि समयोग युक्त हों तो प्रकृति (स्वास्थ्य) के कारण होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ समयोग युक्त शब्द का तात्पर्य है—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः'। तथा इन्द्रिय के विषयों का सात्म्यकारक संयोग, प्रज्ञा (सत्-असद् विवेकिनी बुद्धि) का सदुपयोग अर्थात् पूर्णरूप से सद्वृत्त का आचरण, इन सबका जो परिणाम होगा वह निश्चित ही नीरोगता प्रदान करेगा। अन्यथा विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होगी।

सर्वेषामेव भावानां भावाभावौ नान्तरेण योगायोगातियोगमिथ्यायोगान् समुपलभ्येते; [1]यथास्वयुक्त्यपेक्षिणौ हि भावाभावौ ॥ ४४ ॥

युक्ति की प्रधानता—सभी भावों (वस्तुओं) का भाव (होना) अथवा अभाव (न होना) योग, अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग के बिना प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भाव यथावत् अपनी युक्ति की अपेक्षा करता है और अभाव अपनी युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'यथास्वं युक्तिर्या यस्य भावस्याभावस्य वा युक्तिः स्वकारणयुक्तिः, तदपेक्षिणौ हि भावाभावौ भवतः'॥ युज्यते अनया, इति युक्तिः। आयुर्वेदशास्त्र में स्वस्थ रहना 'भाव' है और रोग द्वारा मृत्यु को प्राप्त होना अभाव है। नाटकों में इस प्रकार भाव का प्रयोग देखा जाता है १—'भावः अभावतां गतः'। यहाँ पर अभाव शब्द का अर्थ अदृश्य होना या मृत्यु है। अस्तु, भाव (स्वस्थ) रहने की युक्ति है, सद्वृत्त (स्वस्थवृत्त) का आचरण और इसकी अवहेलना करना अभाव (अस्वस्थता) की युक्ति है। इस प्रसंग में धातु-साम्य, दोषों की विषमता में चिकित्सा की विशेष विधि भी युक्ति कही जाती है। इसी का विवेचन चरक शारीरस्थान अध्याय १ श्लोक १३०–१३१ में देखें।

त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ ४५ ॥

रोगों की त्रिविधता—रोग तीन प्रकार के होते हैं। इनके भेद—१. निज, २. आगन्तुज, ३. मानस। **निज रोग**—शरीर सम्बन्धी वात, पित्त, कफ दोषों से उत्पन्न होते हैं। **आगन्तुज रोग**—भूतावेश आदि से, विषप्रयोगज अथवा विषाक्त वायु के स्पर्श से, अग्निदाहज, चोट, आघात आदि से होते हैं। **मानसरोग**—इष्ट (इच्छित) पदार्थों के न मिलने और अनिष्ट (अनिच्छित) पदार्थों के मिलने से होते हैं।

वक्तव्य—त्रयो रोगाः—यह विभाजन रोगों के वर्गीकरण दृष्टि में रखकर किया गया है, अन्यथा

[1] यथास्वं युक्तिर्या यस्य भावस्याभावस्य वा युक्तिः स्वकारणयुक्तिः, तदपेक्षिणौ हि भावाभावौ भवत इति सम्बन्धः'। चक्रः।

रोगों की कोई परि-सीमा नहीं है। इनमें निज रोगों की अधिकता देखी जाती है। यहाँ पर 'दोषसमुत्थः' से केवल दोषों का ग्रहण न करके दूष्यों का भी ग्रहण करना चाहिये।

आगन्तुज व्याधियाँ दैवी एवम् आसुरी प्रकोप, विष प्रयोग आदि द्वारा होती हैं। अर्थात् इनमें शारीरिक दोष-दूष्य कारण नहीं होते। मानस व्याधियाँ—इच्छा और द्वेषमूलक होती हैं। जिस वस्तु की आपने इच्छा की वह आपको प्राप्त न हो सकी, अथवा जिससे आप द्वेष करते हैं वह आपका साथ न छोड़ रहा हो तो मानसिक व्याधि उत्पन्न हो जायगी। ये व्याधियाँ सत्वगुण-प्रधान पुरुषों में नहीं देखी जातीं क्योंकि उनको समबुद्धि कहा गया है।

मानसव्याधियों का उल्लेख भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति' ॥ सु० सू० अ० १।३ ॥

यद्यपि महर्षि ने 'त्रयो रोगाः' कहा है तथापि अन्यत्र कुछ और भेद-उपभेदों की भी चर्चा दृष्टिगोचर होती है। **स्वाभाविक रोग**—जैसे—भूख, प्यास, मल, मूत्र, वृद्धावस्था, मृत्यु। चरक विमानस्थान छठे अध्याय में भी कुछ रोग-भेदों का पृथक् वर्णन है किन्तु इन सबका समावेश उक्त त्रिविध रोगों में हो जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महर्षि के बुद्धि के द्वार बाद में खुले हों।

तत्र बुद्धिमता मानसव्याधि[1]परीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यं, न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा; तस्मादेतच्चानुष्ठेयं—तद्विद्यानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति ॥ ४६ ॥

मानस रोग चिकित्सा—मानस रोग से पीड़ित हो जाने पर बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि से हित और अहित (आहार-विहार आदि) को देख-देखकर हितकारक धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन करे तथा अहितकर (अधर्म, चोरी आदि से धनोपार्जन, पर-स्त्रीगमन आदि) का सेवन न करे। संसार में धर्म, अर्थ, काम इन तीनों के बिना आन्तरिक सुख अथवा दुःख उत्पन्न हो ही नहीं सकता, इसलिये निम्नोक्त व्यवहारों का पालन करना चाहिये। तद्विद्य वृद्धों (मानस-रोग-विशेषज्ञ तथा अनुभवी व्यक्तियों) की सेवा (आज्ञा-पालन) का पूर्ण प्रयत्न करे तथा आत्मज्ञान (अपने को पहचानना), देश, कुल, बल एवं शक्ति को ठीक-ठीक जानने का प्रयत्न करे।

प्रायः सभी रोगों की चिकित्सा में वैद्य को निर्देश दिया गया है कि वह रोगी से उक्त प्रकार का आचरण करने को कहे—किन्तु मानस रोगी की चिकित्सा में 'बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि' स्वयं रोगी के ऊपर ही सारा उत्तरदायित्व दे दिया है। यह भी मानसरोगी का ही कर्तव्य है कि वह तद्विद्य (मानस-रोग-विशेषज्ञ) की सेवा करे। आत्म, देश, कुल, काल, बल, शक्ति का परिज्ञान उसके लिये इसलिये आवश्यक है कि वह सदैव सावधान रहकर अपने को भूल न जाय। वृद्धचाणक्य ने तो आत्मा देश आदि का ज्ञान सभी के लिये आवश्यक बतलाया है। इसी को महर्षि ने ऊपर 'अपि' शब्द के प्रयोग द्वारा स्वीकार किया है। देखें—

'कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ।
कस्याऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥' चाणक्यनीति।

भवति चात्र—

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः ॥४७॥

यह पद्य मानसरोग की चिकित्सा का उपसंहार है। मानस रोगी को चाहिये वह धर्म, अर्थ, काम का विधिपूर्वक पालन करे; मानसिक रोग विशेषज्ञों की उपासना तथा आज्ञापालन करे; आत्मा, देश, काल आदि का ज्ञान रखे।

वक्तव्य—इस पद्य में पुनः 'आत्मादीनां विज्ञानम्' का पाठ यह सूचित करता है कि यदि मानव मात्र प्रतिक्षण अपने को पहचाने, देश (जांगल, आनूप, साधारण) का ध्यान रखे, कुल मर्यादा को न भूले, समय

[1] '-विपरीतेनापि' ग.। 'मानसव्याधिपरीतशरीरेणापि' यो.।

का ध्यान रखे, बल (सामाजिक, आर्थिक आदि) का सही अनुभव करे और अपनी शारीरिक शक्ति को पहचाने तो उसका मन सुखी रहेगा, फलतः उसकी मानसिक व्याधि समाप्त हो जायगी।

त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा [1]मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च । तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः; मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि, अस्थिसन्धयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः[2], स मध्यमो रोगमार्गः, कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः ॥ ४८ ॥

त्रिविध रोगमार्ग—रोगों के तीन मार्ग हैं—१. शाखा, २. मर्म, अस्थिसन्धि, ३. कोष्ठ। यहाँ शाखा शब्द से रक्त आदि धातु तथा त्वचा का ग्रहण होता है, यह रोगों का बाहरी मार्ग है। बस्ति, हृदय, मूर्धा आदि को मर्म कहते हैं। अस्थियों के जोड़ों को अस्थिसंयोग कहते हैं। इन सन्धियों में बंधी हुई स्नायु, कण्डरायें तथा सिरा आदि का समावेश भी अस्थि-सन्धियों में होता है, यह रोग का मध्यम मार्ग है। अब कोष्ठ के बारे में कहा जा रहा है—महास्रोत, शरीर का मध्यभाग, आमाशय, पक्वाशय इन पर्यायवाचक शब्दों से इस तन्त्र में कोष्ठ कहा गया है। यह भीतरी रोगमार्ग है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में रोग के तीन मार्गों का वर्णन करके उनकी कायचिकित्सा के सिद्धान्तों के अनुसार क्षेत्र-सीमा का निर्देश किया गया है। **शाखा**—यहाँ पर रस धातु को छोड़कर अगले रक्त आदि धातुओं का ग्रहण किया है क्योंकि रस का ग्रहण तो त्वचा से ही हो जाता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, क्योंकि माता के आहार रस से गर्भाशय में शुक्र-शोणित के पाक के फलस्वरूप शिशु की त्वचा का निर्माण होता है, अ· त्वचा का मूल माता का आहार-रस ही है। इसका समर्थन आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—यहाँ त्वचा शब्द से उसमें रहने वाले रस का ग्रहण किया जाता है। साक्षात रूप में रस का उल्लेख इसलिये नहीं किया गया है कि उससे हृदयस्थायी रस का ग्रहण न हो सके। शेष उपर्युक्त व्याख्या में देखें।

ऊपर जो शाखा शब्द द्वारा रक्तादि धातु तथा त्वचा का ग्रहण किया है, इस सम्बन्ध में चक्रपाणि का मत इस प्रकार है—'अत्र शाखेति संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं तथा रक्तदीनां धातूनां शाखाभिधेयानां वृक्षशाखातुल्यत्वेन बाह्यत्वज्ञापनार्थम्'।

सुश्रुत का मत—'तच्च षडङ्गं, शाखाश्चतस्रः, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति'। सुश्रुत शा० अ० ५।

यहाँ पर जो केवल तीन मर्मों का निर्देश किया गया है, वह केवल संकेत मात्र है। वास्तव में—'सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेषु, मर्माणि बस्ति हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानृषयो वदन्ति। प्राणाश्रयांस्तानपि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति ॥ चरक सि० अ० १ ॥ मर्मों की कुल संख्या १०७ है किन्तु उनमें बस्ति, हृदय और शिर ये तीन प्रधान मर्म हैं। अस्थियों की कुल संन्धियाँ २१० हैं। इन सन्धियों में बँधी हुई स्नायु (Ligaments), कण्डरायें (स्थूलस्नायु) सिरा, नाड़ी, धमनी ये भी रोगमार्ग हैं। चक्रपाणि के अनुसार—'कण्डरा इह तन्त्रे स्थूलस्नायुः'। कण्डरा ही स्थूलस्नायु है।

कोष्ठ—भावमिश्र ने कोष्ठ की परिभाषा इस प्रकार दी है—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' ॥ भावप्रकाश। क्रमशः परिचय-आमाशय (Stomach), अग्न्याशय (Pancreas), पक्वाशय (Intestines), मूत्राशय (Kidneys & Bladder), रुधिराशय (Liver & Spleen), हृदय (Heart), उण्डुक (Caecum) तथा फुफ्फुस (Lungs)।

महास्रोत—गला के छिद्र से लेकर गुदमार्ग तक का स्रोत (Alimentary canal) का ही नाम महास्रोत है। यह ऊर्ध्व, मध्य, अधः भेद से तीन प्रकार का होता है। इसमें सबसे निचले भाग को 'महानिम्न' कहते हैं। आमाशय—गला से लेकर आमाशय तक। पक्वाशय—उण्डुक से गुदा तक के भाग का नाम है।

---

१. मर्मास्थिसन्ध्यामेको मार्गः। अत्र शाखेति संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं, तथा रक्तादीनां धातूनां शाखाभिधेयानां वृक्षशाखातुल्यत्वेन बाह्यत्वज्ञापनार्थं; त्वक्चेति-त्वक्शब्देन तदाश्रयोऽपि रसो गृह्यते, साक्षात्तु रसानभिधानं हृदयस्थायिनो रसस्य शाखासंज्ञाव्यवच्छेदार्थं, तस्य हि कोष्ठग्रहणेनैव ग्रहणम्, अनेन न्यायेन यकृत्प्लीहाश्रितं च शोणितं कोष्ठत्वेनैवाभिप्रेतमिति बोद्धव्यम्'। चक्रः।

२. 'कण्डरा इह तन्त्रे स्थूलस्नायुः' चक्रः। 'स्नायुकण्डराः शिरादयश्च' यो.।

तत्र, गण्डपिडकालज्यपचीचर्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकारा बहिर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः।

शाखानुसारी रोग—शाखाओं में होने वाले रोग—गण्ड (गलगण्ड), पिडका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमांस, मशक (मस्सा), कुष्ठ, व्यङ्ग आदि विकार और बाहरी मार्गों में होने वाले रोग—विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि शाखानुसारी कहे जाते हैं।

वक्तव्य—विसर्प आदि रोग सामान्य स्थिति में शाखानुसारी होते हैं। यदि ये ही रोग विकृत अवस्था को पहुँच जाते हैं तो अन्तःमार्ग (कोष्ठ) का अनुसरण करने लगते हैं, इसका संकेत महर्षि आत्रेय ने 'बहिर्मार्गजाश्च' इस शब्द के साथ 'च' को जोड़कर दिखाया है।

पक्षवधग्रहापतानकार्दितशोषराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्बस्तिरोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः।

मध्यममार्गानुसारी रोग—पक्षवध (आधे अंग का लकवा), पक्षग्रह (किसी पक्ष विशेष का जकड़ जाना), अपतानक, अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा), शोष, राजयक्ष्मा, अस्थिशूल, सन्धिशूल, गुदभ्रंश आदि शिरोरोग, हृद्रोग और बस्तिरोग आदि मध्यममार्गों (मर्म-अस्थिसन्धि) में होने वाले रोग हैं।

ज्वरातीसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाकासश्वासहिक्कानाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ४९ ॥

कोष्ठानुसारी रोग—ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक (गुम हैजा), विसूचिका (हैजा), कास, श्वास,
हिक्का (हिचकी), आनाह, (अफारा), उदररोग, प्लीहा आदि ये रोग अन्तःमार्ग से उत्पन्न होते हैं। विसर्प,
श्वयथु (सूजन), गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि कोष्ठमार्ग का अनुसरण करने वाले रोग हैं।

वक्तव्य—शाखानुसारी रोगों में भी विसर्प आदि की गणना की गयी है। अतएव उक्त प्रकरण के वक्तव्य
में इनकी प्रारम्भिक तथा अन्तिम स्थिति का भेद दिखाकर समझा दिया गया है। यही तन्त्रकार का भी अभिप्राय
रहा है। नहीं तो पुनः यहाँ उन्हीं रोगों का उल्लेख करना व्यर्थ ही था। इस प्रकार उक्त तीनों मार्गों में होने
वाले प्रमुख रोगों की परिगणना यहाँ कर दी गयी है।

त्रिविधा भिषज इति—

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः। सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥५०॥

इस संसार में तीन प्रकार के चिकित्सक होते हैं—१. भिषक् छद्मचर (मूर्ख व्यक्ति जो वैद्य का वेष धारण करके विचरण करते हैं), २. सिद्धसाधित और ३. चिकित्सक के गुणों से परिपूर्ण।

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः। लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥५१॥

भिषक् छद्मचर के लक्षण—वैद्यों के पात्र (खरल-बट्टा आदि उपकरण), औषध, पुस्त, पल्लव (नये पत्ते) और देखने (वेष-भूषा) से जो भिषक् शब्द को प्राप्त करते हैं, वे मूर्ख, ठग वैद्य के प्रतिरूप हैं।

वक्तव्य—समाज को सावधान करने के लिये शास्त्र वैद्यों तथा वैद्यप्रतिरूपकों का परिचय दे रहा है—
कुछ व्यक्ति खरल, बट्टा, शीशी, बोतल, जड़ी, बूटी, वैद्यक ग्रन्थ, भट्ठी तथा वेश-भूषा, थर्मामीटर, आला (स्टेथिस्कोप) आदि उपकरणों को जुटाकर वैद्य का ढोंग रचते हैं, चिकित्सा के पवित्र व्यवहार को कलंकित करने के लिये। ऐसे लोगों से सावधान रहे और राजा को चाहिये कि ऐसे लोगों पर कड़ी निगाह रखकर इनको चिकित्सा-कार्य से रोके। इस प्रकार के भिषक् को बगुला भगत (To cry like a duck) कहते हैं।

पुस्तलक्षण—'मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा। लौहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते' ॥

श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः। वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥५२॥

सिद्धसाधित वैद्य के लक्षण—श्रीमान्, यशस्वी, ज्ञानवान् एवम् सिद्ध पुरुषों के बहाने से स्वयं वैसे न होते हुए भी जो वैद्य इस उपाधि को प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार के वैद्यों को सिद्ध-साधित कहते हैं।

वक्तव्य--ऊपर के पद्य में सिद्ध-साधित चिकित्सक की परिभाषा दी गयी है। इसका अभिप्राय यह है कि चिकित्साशास्त्रों के ज्ञान से अनभिज्ञ होने पर भी जिन्होंने सिद्ध पुरुषों की उपासना करके तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी सिद्धि प्राप्त करके चिकित्सा प्रारम्भ कर ली है अथवा सुप्रसिद्ध चिकित्सक का मूर्ख उत्तराधिकारी जो उनके नाम पर अपनी जीविका चलाता हो इन दोनों को सिद्ध-साधित वैद्य कहते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहें।

प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः। जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥५३॥

वास्तविक वैद्य की परिभाषा--जो वैद्य आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञाता हो, साथ ही अन्य शास्त्रों का भी जानकार हो, औषध प्रयोग में निपुण हो, सभी प्रकार के औषधनिर्माण में कुशल हो, अपनी योग्यता के कारण प्रसिद्ध हो, रोगी के कष्ट को दूर करके उसको सुख देने की क्षमता रखता हो, ऐसे वैद्यों को जीविताभिसर कहते हैं। ऐसे ही पुरुषों में वैद्यत्व रहता है अथवा ये ही वास्तव में वैद्य कहने योग्य हैं।

वक्तव्य--उक्त पद्य का व्याख्यान विस्तार की दृष्टि से असम्भव है क्योंकि आयुर्वेदीय प्रयोग, ज्ञान, विज्ञान, सिद्धि तथा सुख प्रदान के प्रकार अनन्त हैं। वास्तव में उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—प्रयोगसिद्ध, ज्ञानसिद्ध, विज्ञानसिद्ध, सिद्धि-सिद्ध तथा सुखप्रद। इस प्रकार का जो वैद्य होगा, वह उभयज्ञ कहा जायगा। सुश्रुत में—'उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति'। ऐसे ही वैद्य को राजवैद्य कहा है। चरक में इसकी संज्ञा प्राणाभिसर है। अभिसर का अर्थ होता है सहायक, अर्थात् जो प्राणों की सहायता करता हो उसे प्राणाभिसर कहते हैं।

वैद्य शब्द की परिभाषा--'विद्यामधीते वेद वा, इति वैद्यः'। जो समस्त विद्याओं के साथ विशेषकर आयुर्वेदीय शास्त्रों का अध्ययन करता है अथवा उनको भलीभाँति जानता है, उसे वैद्य कहते हैं।

वैद्य की कर्तव्य सीमा--'व्याधेस्तत्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः। एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः' ॥ रोग को भलीभाँति पहचानना, उसके बाद कष्ट को दूर करना यही वैद्य का कर्तव्य है। मृत्यु से बचा लेने की क्षमता वैद्य में नहीं होती।

इसके पूर्व जो दो प्रकार के वैद्यों का उल्लेख किया गया है, उनकी अन्यत्र इस प्रकार निन्दा की गयी है—'यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्। वैद्यमानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम्' ॥ तथा—'शतमारी भवेद् वैद्यः'। आदि। आगे दशप्राणायतनीय अध्याय में भी वैद्यों का उल्लेख किया गया है।

त्रिविधमौषधमिति--दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं—पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्त्वावजयः—पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः ॥ ५४ ॥

त्रिविध-औषध—औषध के तीन भेद होते हैं—१. दैवव्यपाश्रय, २. युक्तिव्यपाश्रय, ३. सत्वावजय। क्रमशः इनका परिचय--मन्त्र, औषध, मणि, मङ्गल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात, तीर्थगमन आदि दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का क्षेत्र है। आहार-विहार तथा औषधद्रव्यों के युक्ति-युक्त प्रयोग को युक्तिव्यपाश्रय कहते हैं। अहितकारक विषयों से मन को रोकना सत्वावजय चिकित्सा है।

वक्तव्य--'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते'। अर्थात् पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म दैव (भाग्य) कहा जाता है। दैव से सम्बन्धित विकारों के प्रशमन के लिये दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की योजना है।

मन्त्र- मननात् त्रायते, इति मन्त्रः। जिसके जपने से व्यक्ति का कल्याण हो उसे मन्त्र कहते हैं। ये मन्त्र विविध प्रकार की आवश्यकताओं के लिये विविध प्रकार के मन्त्रशास्त्रियों द्वारा उपदिष्ट होते हैं। ये वैदिक, पौराणिक भेद से दो प्रकार के होते है।

ओषधि--'ओषध्यः फलपाकान्ताः'। फलपाक के पश्चात् नष्ट हो जाने वाली (सूख जाने वाली) ही ओषधि कही जाती है किन्तु आयुर्वेद के क्षेत्र में औषधोपयोगी स्वतन्त्र द्रव्य को ओषधि और अनेक ओषधियों के मिश्रण को औषध कहा गया है। अमरसिंह ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—'ओषध्यो जातिमात्रे स्युः'। और 'अजाती सर्वमौषधम्'। अर्थात् एक प्रकार के द्रव्य-समूह को ओषधि तथा अनेक प्रकार की ओषधियों के मिश्रण को औषध कहा है। इसी सिद्धान्त का समादर सुधी समाज भी करता है।

मणि—ग्रहों के दुष्ट फलों के परिहार के लिये मणियों को धारण अथवा दान करना चाहिये। यथा—सूर्य ग्रह की शान्ति के लिये माणिक्य, चन्द्रमा के लिये मोती, मङ्गल के लिये प्रवाल (मूंगा), बुध के लिये पन्ना, बृहस्पति के लिये पुखराज, शुक्र के लिये हीरा, शनि के लिये नीलम, राहु के लिये गोमेद और केतु के लिये वैदूर्य धारण करना चाहिये, यह ज्योतिषशास्त्र का विधान है।

वैदिक मणि--वेदोक्त मणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों तथा वनस्पतियों से निर्माण की जाती हैं। इन्हें गोल बनाकर धागा में पिरोकर धारण किया जाता है। इन वैदिक मणियों का विवरण अथर्ववेद में सुलभ है। वैदिक मणियों के नाम--१. अस्तृतमणि, २. औदुम्बरमणि, ३. जंगिडमणि, ४. दर्भमणि, ५. प्रतिसरमणि, ६. फालमणि, ७. वरणमणि, ८. शतवारमणि, ९. शंखमणि। इसके बाद सुवर्ण धारण का भी महत्वपूर्ण वर्णन अथर्ववेद में है। चिकित्सक चिकित्सा-काल में इन मणियों का भी लाभ लें।

मंगल कर्म—वास्तुशास्त्र के अनुसार गृह, वाटिका, कूप, तडाग का निर्माण कराना, प्रतिदिन देव, ब्राह्मण, गुरु, गाय, कुमारी पूजन, ध्वजारोपण, पल्लवधारण, कलशस्थापन, देव, ऋषि, पितृतर्पण आदि कर्म सभी प्रकार की शान्ति प्रदान करते हैं।

बलि-उपहार--देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों आदि को जो नित्य अथवा नैमित्तिक (काम पड़ने पर) नारियल, कूष्माण्ड (कोहड़ा), खिचड़ी, आदि-आदि का उपहार चढ़ाया जाता है, उसे बलि कहते हैं। इस प्रकार का उपहार प्रत्येक शुभ कर्म के अन्त में और संस्कार रहित मृतप्राणियों के लिये श्राद्ध में देने का विधान है।

होम—दैनिक होम को अग्निहोत्र कहते हैं। इसकी परम्परा कुछ परिवारों में आज भी है किन्तु होम किसी विशेष प्रकार की इच्छा की पूर्ति तथा रोग शान्ति के लिये किया, कराया जाता है। 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। यज्ञ से वर्षा होती है और वर्षा से अन्नों की उत्पत्ति होती है। पुत्रेष्टी-यज्ञ, राजसूय-यज्ञ आदि का वर्णन धर्मशास्त्रों में सुलभ है।

नियम—'शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। योगसूत्र। इनको नियम कहते हैं। वाग्भट ने यहाँ पर नियमों के साथ यमों का भी आदेश दिया है। इसी का समर्थन धर्मशास्त्र में भी मिलता है—'यमान् सेवेत सततं नियमान् केवलान् बुधः। यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्'॥ यमों के सेवन की उपेक्षा करके जो मानव केवल नियमों का सेवन करता है वह अपने आदर्श से च्युत हो जाता है। यम वर्णन—'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः'। योगसूत्र।

प्रायश्चित्त—अपने द्वारा किये हुए पाप-कर्मों का प्रतीकार करना प्रायश्चित्त है। इसकी व्याख्या इस प्रकार मिलती है—'प्रायो रोगं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्'।

उपवास—इसका सामान्य अर्थ व्रत, अन्न न खाना, सात्विक वृत्ति से रहना, यथा—'उपावृत्तस्य पापेभ्यः सहवासो गुणेषु यः। उपवासं विजानीयान्न शरीरस्य शोषणम्' ॥

स्वस्त्ययन--स्वस्तिवाचनोक्त वैदिक तथा पौराणिक मन्त्रों का पाठ करना, अथवा स्वस्ति = कल्याणकारक अयन = मार्ग का अनुसरण करना।

प्रणिपात—प्रमाण करना अथवा गुरुजनों के प्रति विनम्रता दिखलाना। इससे अनेक लाभ होते हैं—'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्' ॥ मनुस्मृति।

तीर्थगमनादि—गमन = यात्रा, आदि = देवदर्शन; प्रायः सभी धर्मावलम्बी अपने-अपने मतानुसार तीर्थयात्रा और देवदर्शनों पर विश्वास करते हैं तथा तदनुसार फल भी पाते हैं। इस प्रकार यह दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा का सुविस्तृत क्षेत्र है। इससे पूर्वजन्मकृत कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली व्याधियों की शान्ति होती है। यथा—

'दानैर्दयादिभिरपि द्विजदेवतागो-गुर्वर्चनाप्रणतिभिश्च जपैस्तपोभिः।
इत्युक्तपुण्यनिचयैरुपचीयमानाः प्राक्पापजा अपि रुजः प्रशमं प्रयान्ति ॥'

युक्तिव्यपाश्रय—युक्ति = आहार-विहार एवं औषधों का ठीक-ठीक व्यवहार। इसके सम्बन्ध में यह पद्य स्मरणीय है—'स्वहेतुदुष्टैरनिलादिदोषैरुपप्लुतैः स्वेषु परिस्खलद्भिः। भवन्ति ये प्राणभृतां विकारास्ते दोषजा भेषजशुद्धिसाध्याः' ॥ यही युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा की सीमा है।

सत्वावजय—सत्व शब्द मन का बोधक है। मानसिक विकारों का निराकरण मनोनिग्रह अर्थात् मन को अपने वश में करने से ही सम्भव है। भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन कहते हैं—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्' ॥ गीता। इतना कठिन मनोनिग्रह होने पर भी इसके ये उपाय हैं—मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः' ॥ च० सू० अ० १। दूसरा उपाय है योग। देखिये—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योगदर्शन।

शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं बहिःपरिमार्जनं शस्त्रप्रणिधानं चेति।

त्रिविध औषध—शरीर सम्बन्धी वात आदि दोषों के प्रकुपित होने पर शरीर को ही आधार मानकर प्रायः चिकित्सक तीन प्रकार के औषध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहते हैं। यथा—१. अन्तःपरिमार्जन २. बहिःपरिमार्जन और ३. शस्त्रप्रणिधान।

तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तःशरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि, यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षाराग्निजलौकसश्चेति ॥ ५५ ॥

अन्तः-बहिःपरिमार्जन तथा शस्त्रप्रणिधान—सर्वप्रथम अन्तःपरिमार्जन का लक्षण—जो औषधियाँ शरीर के भीतर जाकर मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न समस्त विकारों को दूर करती हैं, वे अन्तः (भीतरी भागों का) परिमार्जन (चारों ओर से साफ करना) कहलाती हैं।

बहिःपरिमार्जन का लक्षण—जो औषध-योग बाहरी त्वचा का आश्रय लेकर अभ्यंग, स्वेद, प्रदेह = लेप (Liniment), परिषेक (Fomentation), उन्मर्दन = विमलापन (यह क्रिया व्रणशोथ को घटाने के लिये व्रण उत्पन्न होते ही की जाती है) आदि द्वारा रोगों का विनाश करते हैं, उन्हें बहिः (बाहरी भाग में उत्पन्न रोगों का) परिमार्जन कहते हैं।

शस्त्रप्रणिधान का लक्षण—छेदन (काटकर दो टुकड़ा करना), भेदन (चीरकर दो हिस्सा करना) व्यधन (जैसे बन्दूक की गोली शरीर को बींध डालती है, उसे बींधना कहते हैं।), दारण (फाड़ना), लेखन (खुरचना) उत्पाटन (शल्य या दांत को उखाड़ना) प्रच्छन (थोड़ा-सा काटकर घाव करना इसके बाद उस स्थान पर शिंगी या तुम्बी लगाकर दुष्ट रक्त या पूय को निकाला जाता है।), सीवन (फटी हुई त्वचा को सीना), एषण (शलाका से व्रण आदि के विस्तार को ढूँढना), क्षारप्रयोग (मसा आदि को जलाने के लिये क्षार, क्षारसूत्र या दाह आदि क्रियायें की जाती हैं।), अग्नि प्रयोग और जलौका प्रयोग इन सबको शस्त्रप्रणिधान कहते हैं।

वक्तव्य—इसके पहले 'त्रिविधमौषधम्' में औषध के तीन भेदों की चर्चा की गयी है तदनन्तर उसके पुनः तीन भेद किये हैं। वास्तव में ये तीनों भेद युक्तिव्यपाश्रय के ही हैं। इनका दैवव्यपाश्रय और सत्वावजय से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे भेद इस प्रकार हैं—१. **अन्तःपरिमार्जन**—संशोधन-वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्म तथा संशमन के रूप में पाचन आदि कर्म। २. **बहिःपरिमार्जन**—स्नेहन, उद्वर्तन, अभ्यङ्ग, स्वेदन, प्रलेप आदि कर्म। ३. **शस्त्रप्रणिधान**—आठ प्रकार के शस्त्रकर्म तथा अनुशस्त्रों के विविध प्रयोग।

महर्षि आत्रेय का क्षेत्र शस्त्रप्रणिधान नहीं है, अतएव उन्होंने सबसे पहले अन्तःपरिमार्जन, उसके बाद बहिःपरिमार्जन के प्रकारों का उल्लेख किया है, इनसे जो सिद्ध न हो सकें उनका दिग्दर्शन नाम मात्र से करा दिया है, क्योंकि इनकी प्रतिज्ञा है—'पराधिकारे न च विस्तरोक्तिः'। च. चि. अ. २६।

शल्य-क्रिया (Surgery) में एषण क्रिया को Probing या Directing कहते हैं।

भवन्ति चात्र—

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाभ्यन्तरेण वा। कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा ॥५६॥

बुद्धिमान् चिकित्सक रोग उत्पन्न होते ही बहिःपरिमार्जन तथा अन्तःपरिमार्जन अथवा शस्त्रप्रणिधान चिकित्सा विधियों के प्रयोगों से शर्म (सुख = आरोग्य) को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—नीति-विशारदों का भी यह मत है कि रोग, शत्रु और अग्नि को आरम्भ में ही दबा देना चाहिये, नहीं तो ये तीनों ही असाध्य हो जाते हैं।

बालस्तु खलु मोहाद् वा प्रमादाद् वा न बुध्यते। उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः ॥५७॥

अन्य उदाहरण—सूझ-बूझ रहित मूर्ख पुरुष अज्ञानवश अथवा लापरवाही के कारण उत्पन्न होने वाले शत्रु के समान रोग को प्रारम्भ में ही नहीं जान पाता है।

वक्तव्य—महामानव मनु ने मूर्ख को बाल संज्ञा दी है। यथा—'अज्ञो भवति वै बालः'। मनुस्मृति। यहाँ पर बाल शब्द अवस्था सूचक नहीं है और रोग को शत्रु की उपमा दी गयी है।

अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते। स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥५८॥

उस अनभिज्ञ व्यक्ति का वह रोग प्रारम्भ में छोटा होने पर भी बाद में अपनी जड़ जमाकर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। तदनन्तर वह रोग उस व्यक्ति के बल और आयु का विनाश कर देता है।

न मूढो लभते संज्ञां तावद् यावन्न पीड्यते। पीडितस्तु मतिं पश्चात् कुरुते व्याधिनिग्रहे ॥५९॥

मूर्ख (हित-अहित के विवेक से रहित) पुरुष तब तक रोग के उपचार करने के प्रति सचेष्ट नहीं होता (होश में नहीं आता) जब तक उसको कष्ट का अनुभव नहीं होने लगता और कष्ट का अनुभव होने के बाद वह रोग की चिकित्सा करने के लिये सोचने लगता है।

अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातींश्चाहूय भाषते। सर्वस्वेनापि मे कश्चिद् भिषगानीयतामिति ॥६०॥

रोग से पीड़ित होने पर तो वह अपने पुत्र, स्त्री तथा बन्धुओं को बुलाकर कहता है कि मेरा सब कुछ देकर भी किसी योग्य चिकित्सक को बुलाइये और मुझे नीरोग कीजिये।

तथाविधं च कः शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम्। कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम् ॥६१॥

ऐसा कौन चिकित्सक है जो दुर्बल, रोग से पीड़ित, कृश, जिसकी सभी इन्द्रियां क्षीण हो गयी हों, दीन तथा गतायु पुरुष की चिकित्सा कर सके।

स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम्। गोधालाङ्गूलबद्धेवाकृष्यमाणा बलीयसा ॥६२॥

वह मूर्ख व्यक्ति अन्तिम क्षणों में अपने बचाने वाले को न पाकर उस प्रकार अपने जीवन को छोड़ देता है, जिस प्रकार किसी बलवान् पुरुष द्वारा पूँछ में रस्सी बाँधकर खींची हुई गोधा (गोह) अपने प्राणों को छोड़ देती है।

वक्तव्य—गोह का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि यह जिस स्थान को पकड़ लेती है फिर उसको नहीं छोड़ती; भयंकर व्याधि की स्थित भी ऐसी ही होती है।

तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः ॥६३॥

इसलिये जो व्यक्ति अपना सुख चाहता हो वह रोगों के प्रारम्भ होते ही अथवा कुछ बढ़ने पर विभिन्न प्रकार के औषधोपचारों से उनको दूर करने का प्रयत्न करे।

वक्तव्य—रोगों की चिकित्सा सर्वप्रथम दोष-संचय-काल में करे, तदनन्तर प्रसर-काल में तो अवश्य करे अन्यथा तीसरी अवस्था में पहुँचा हुआ रोग असाध्य हो जाता है।

तत्र श्लोकौ—

एषणाः समुपस्तम्भा बलं कारणमामयाः। तिस्रैषणीये मार्गाश्च भिषजो भेषजानि च ॥६४॥

त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता। भावा भावेष्वसक्तेन येषु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
तिस्रैषणीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

प्रस्तुत अध्याय में वर्णित विषयों की परिगणना—सांसारिक विषयों से निर्लिप्त, बुद्धिमान् कृष्णात्रेय ने इस तिस्रैषणीय नामक अध्याय में तीन एषणाओं, तीन उपस्तम्भों, तीन प्रकार के बलों, रोग के तीन प्रकार के कारणों, तीन प्रकार के रोगों, तीन प्रकार के रोगमार्गों, तीन प्रकार के वैद्यों तथा तीन प्रकार के औषधों का वर्णन तीन-तीन की संख्या में किया है। इनके उक्त आठ भागों में सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र प्रतिष्ठित है।

तिस्रैषणीय अध्याय के ८ त्रिक

(१) **एषणायें**	—	१. प्राणैषणा,	२. धनैषणा,	३. परलोकैषणा।
(२) **उपस्तम्भ**	—	१. आहार,	२. स्वप्न,	३. ब्रह्मचर्य।
(३) **बल**	—	१. सहज,	२. कालज,	३. युक्तिकृत।
(४) **आयतन**	—	१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग,	२. प्रज्ञापराध,	३. परिणाम।
(५) **रोग**	—	१. निज,	२. आगन्तुज,	३. मानस।
(६) **रोगमार्ग**	—	१. बाह्यरोगमार्ग,	२. मध्यमरोगमार्ग,	३. आभ्यन्तररोगमार्ग।
(७) **भिषक्**	—	१. छद्मचर,	२. सिद्धसाधित,	३. जीविताभिसर।
(८) **औषध**	—	१. दैवव्यपाश्रय,	२. युक्तिव्यपाश्रय,	३. सत्त्वावजय।
तथा	—	१. अन्तःपरिमार्जन	२. बहिःपरिमार्जन,	३. शस्त्रप्रणिधान।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न पण्डित तारादत्त त्रिपाठी के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में तिस्रैषणीय नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातो वातकलाकलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

तीन एषणाओं के वर्णन के पश्चात् अब हम 'वातकलाकलीय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इसके पहले १० वें अध्याय में रोगों के स्वरूप, मार्ग, बाह्य कारण और भेषजों का वर्णन किया गया था। वहाँ पर रोगों के कारणों में त्रिदोष की भी चर्चा की गयी थी। अब यहाँ पर वात आदि दोषों के गुण-दोषों का अशांश ज्ञान कराया जायगा। इसीलिये इस अध्याय का नाम वातकलाकलीय रखा गया है। इस शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—'वातस्य कला = षोडशो भागः, तस्यापि कला = अतिसूक्ष्मोंऽशः, तमधिकृत्यकृतोऽध्यायः = वातकलाकलीयः'। इति। यहाँ पर वात-पित्त-कफ तीनों दोषों की चर्चा होगी किन्तु इन सब में वात की प्रधानता होने के कारण उसी के नाम से अध्याय के नाम का निर्धारण किया गया है।

'वातकलाकलाज्ञानमधिकृत्य[1] परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समुपविश्य महर्षयः पप्रच्छुरन्योन्यं—किं गुणो वायुः, किमस्य प्रकोपणम्, उपशमनानि वाऽस्य कानि, कथं चैनमसङ्घातवन्तमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा; कानि चास्य कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिःशरीरेभ्यो वेति ॥ ३ ॥

१. 'कला गुणः, यदुक्तं—'षोडशगुणम्' इति, अकला गुणविरुद्धो दोषः, यदि वा कला सूक्ष्मो भागः तस्यापि कला कलाकला तस्यापि सूक्ष्मो भाग इत्यर्थः' चक्रः।

वातदोष विषयक तद्विद्यसम्भाषा परिषद् (Symposium on Vata Dosha)—वात दोष के गुण-दोष अथवा अंशांश ज्ञान का परिचय प्राप्त करने के लिये एक-दूसरे के विचारों को जानने की इच्छा से बैठकर महर्षिगण परस्पर पूछने लगे—१. वायु के क्या गुण हैं, २. यह किन कारणों से प्रकुपित होता है, ३. किन कारणों से इसका शमन होता है, ४. असंघातवान् (मूर्ति = अवयव आदि रहित) एवम् अनवस्थित (किसी एक स्थान पर न रह सकने वाला) होने के कारण इसको प्राप्त किये विना प्रकोपण (प्रकुपित करने वाले भाव विशेष) तथा प्रशमन (शान्त करने वाले पदार्थ) किस प्रकार इसको प्रकुपित और शान्त करते हैं, ५. और कौन कुपित एवम् अकुपित (शान्त) शरीर तथा शरीर से बाहर चलने वाली इस वायु के शरीर के भीतर क्या-क्या कर्म होते हैं और शरीर के बाहर क्या-क्या कर्म होते हैं।

वक्तव्य—उक्त पाँचवें प्रश्न में अनेक प्रश्नों को एक साथ पूछ दिया गया है। इनका विवेचन इस प्रकार है—१. शरीर में भ्रमण करने वाले वात के कुपित होने पर क्या कर्म होते हैं, २. शरीर में भ्रमण करने वाले वात के शान्त होने पर क्या कार्य होते हैं। ३. अशरीगत वात के कुपित होने पर क्या कार्य होते हैं। ४. अशरीरगत शान्त वायु के क्या कार्य हैं। इस सम्बन्ध में विविध मतों का उल्लेख आगे दिया जारहा है।

चक्रपाणि ने कला = गुण, अकला = दोष, तथा—कला = १६ वाँ भाग और अकला = उसका भी सूक्ष्मतम भाग। ये जो दो प्रकार के अर्थ किये हैं; ये दोनों ही आगे चलकर प्रसङ्गोचित प्रतीत होते हैं।

अत्रोवाच कुशः साङ्कृत्यायनः—रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदः षडिमे वातगुणा भवन्ति ॥४॥

(१) 'किं गुणो वायुः' प्रश्न का उत्तर—सांकृत्यायनदेशीय कुश नामक वैद्य, वात के क्या गुण हैं, इस प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे रहे हैं—१. रूखा, २. हलका, ३. शीतल, ४. दारुण, ५. खरदरा और ६. विशद (जिसमें चिकनापन न हो) ये ६ गुण वायु के होते हैं।

वक्तव्य—इसके पूर्व महर्षि आत्रेय ने वायु के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः'। च० सू० अ० १। इसके अनुसार वायु के सात गुण हैं। वैद्य कुश ने दारुण नामक विशेष गुण का उल्लेख किया है और आत्रेय ने चल और सूक्ष्म का। भगवान् धन्वन्तरि ने अपना मत इस प्रकार दिया है—'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः। तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च' ॥ सु० नि० अ० १।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भरद्वाज उवाच—एवमेतद् यथा भगवानाह, एत एव वातगुणा भवन्ति, स त्वेवंगुणैरेवंद्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते, समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति ॥ ५ ॥

(२) 'किमस्य प्रकोपणम्' प्रश्न का उत्तर—साङ्कृत्यायन कुश द्वारा कथित वात के गुणों को सुनकर कुमारशिरा भरद्वाज ने कहा—जैसा आपने वात के गुणों का वर्णन किया वह ठीक ही है, क्योंकि वात के ये ही गुण होते हैं। वह वायु उक्त गुण वाले द्रव्यों से तथा उक्त प्रभावकारी कर्मों के निरन्तर अभ्यास करने से प्रकुपित हो जाता है। यह साधरण नियम है कि समान गुण वाले पदार्थों का अभ्यास (निरन्तर सेवन) धातुओं (रसादि) के वृद्धि का कारण होता है।

वक्तव्य—भरद्वाज ने कुश द्वारा कहे गये वात के गुणों को स्वीकार कर महर्षि आत्रेय द्वारा कथित—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्', सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है। साथ ही इस बात का भी निर्देश कर दिया गया है कि जब 'समान गुण वाले पदार्थों का सेवन धातुओं का वृद्धि-कारण होता है तो असमान (विपरीत) गुणवाले पदार्थों का सेवन उस (वायु) के ह्रास का कारण होता है। भरद्वाज गोत्रप्रवर्तक आदिम महर्षि का नाम भारद्वाज है। आयुर्वेद में इस नाम का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ पर ये कौन भारद्वाज हैं इस भ्रान्ति के निवारण के लिये कुमारशिरा (जो भरद्वाज गर्भ में सर्वप्रथम भ्रूण के शिर की उत्पत्ति को मानते हैं उनका नाम कुमारशिरा है, अतः इनको यह) विशेषण दिया गया है।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं काङ्कायनो वाह्लीकभिषगुवाच—एवमेतद् यथा भगवानाह, एतान्येव वातप्रकोप-

णानि भवन्ति, अतो विपरीतानि वातस्य प्रशमनानि भवन्ति, प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति ॥ ६ ॥

(३) 'उपशमनानि चास्य कानि' प्रश्न का उत्तर—कुमारशिरा-भरद्वाज की बात को सुनकर वाह्लीक देश के भिषक् काङ्कायन ने कहा—आपका कथन सर्वथा सत्य है। जैसा आपने ऊपर कहा है कि ये ही पदार्थ वात को प्रकुपित करते हैं, इनसे विपरीत गुण वाले पदार्थ निश्चित ही वात-शमन कारक होते हैं, क्योंकि प्रकुपित करने वाले पदार्थों के विपरीत गुणधर्म वाले पदार्थ वात आदि धातुओं के प्रशम के कारण होते हैं।

वक्तव्य—उक्त ५ वें गद्य में वृद्धि का कारण—समान गुण वाले पदार्थों का अभ्यास बतलाया है और यहाँ उससे विपरीत पदार्थ वात के प्रशमनकारक कहे गये हैं। इस सिद्धान्त का वर्णन महर्षि आत्रेय ने च० सू० प्रथम अध्याय में 'ह्रासहेतुर्विशेषश्च'। लिखकर किया है। विपरीत गुणों का परिचय—

रूक्ष	शीत	लघु	सूक्ष्म	चल	विशद	खर	वात के गुण
स्निग्ध	उष्ण	गुरु	स्थूल	स्थिर	पिच्छिल	मृदु	विपरीत गुण

तच्छ्रुत्वा वाक्यं बडिशो धामार्गव उवाच—एतमेतद् यथा भगवानाह, एतान्येव वातप्रकोपप्रशमनानि भवन्ति। यथा ह्येनमसङ्घातमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा, तथाऽनुव्याख्यास्यामः—वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि, शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते; वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणां तथाविधेषु वायुरसंज्यमानश्चरन्[1] प्रशान्तिमापद्यते ॥ ७ ॥

(४) 'कथं चैनमसङ्घातवन्तमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा' प्रश्न का उत्तर—वाह्लीक (बलख) देश के वैद्य की बात को सुनकर धामार्गव बडिश ने कहा—यह ऐसा ही है जैसा आपने कहा। ये ही वायु को प्रकुपित तथा उसको शान्त करते हैं। इस अमूर्त (असंघात) तथा चल (अनवस्थित) वायु को प्राप्त किये बिना भी जिस प्रकार ये प्रकोपण तथा प्रशमन पदार्थ उस वायु को प्रकुपित और शान्त करते हैं उसका व्याख्यान हम यहाँ करते हैं—वायु को प्रकुपित करने वाले द्रव्य एवं कर्म निश्चय ही शरीरों को रूखा, हलका, शीतल, दारुण, खर, विशद, छिद्रयुक्त कर देते हैं। इन लक्षणों से युक्त शरीर में वायु आश्रय को पाकर पुष्ट होता हुआ प्रकुपित हो जाता है और वात को शान्त करने वाले द्रव्य तथा कर्म शरीरों को स्निग्ध (चिकना), गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छिल एवं घन बना देते हैं। इस प्रकार के (वात विरोधी द्रव्य तथा कर्मों से युक्त) शरीरों में वात संचार करता हुआ आश्रय के अभाव में स्वयं शान्त हो जाता है। यहाँ पर आश्रय का तात्पर्य है अपने गुणों से युक्त स्थान का अभाव।

वक्तव्य—यहाँ पर वायु के दो विशेषण दिये गये हैं—१. असंघात (मूर्त रूप में प्राप्त न होने वाला) और २. अनवस्थित (एक स्थान पर न रहने वाला)। इस प्रकार के वायु का प्रकोप होता कैसे है? इस प्रकार के कांकायन के प्रश्न का उत्तर धामार्गव बडिश ने ऊपर दिया है। चूंकि उक्त वायु का आश्रय शरीर है, औषधों का प्रभाव भी शरीर पर ही होता है, अतः वातवर्धक आहार-विहार तथा औषधोपचार से वायु की वृद्धि और विपरीत विधि से ह्रास होना स्वाभाविक है।

तच्छ्रुत्वा बडिशवचनमवितथमृषिगणैरनुमतमुवाच वार्योविदो राजर्षिः—एवमेतत् सर्वमनपवादं यथा भगवानाह। यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिःशरीरेभ्यो वा भवन्ति, तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपदेशैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः—वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः; प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता, प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः; समीरणोऽग्नेः,

[1] 'असज्यमानोऽनवतिष्ठमानः क्षीयमाणावयव इति यावत्' चक्रः।

दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः।

(५) 'कानि चास्य कुपिताऽकुपितस्य शरीराऽशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि' प्रश्न का उत्तर—सर्वथा सत्य और महर्षि समुदाय से अनुमोदित धामार्गव बडिश नामक वैद्य के मत को सुनकर राजर्षि वार्योविद ने कहा कि आपने वायु के सम्बन्ध में जो कुछ विवेचन किया है उसका कोई अपवाद (विपरीत मत) नहीं है। कुपित या अकुपित (शान्त या प्रकृतिस्थ), शरीर में रहने वाला या शरीर से बाहर रहने वाला वायु के शरीरों में विचरण करते हुए अथवा शरीर के बाहर जो कर्म होते हैं, उनके विभागों को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आप्तोपदेश प्रमाण आदि द्वारा सिद्ध करके और भगवान् वायु को प्रणाम करके यथाशक्ति कहेंगे—यह वायु तन्त्र = शरीर तथा यन्त्र शरीर के अवयवों का धारण करने वाला है। शरीर में रहने वाले प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान वायु की यही आत्मा है। विविध प्रकार की ऊँची-नीची चेष्टाओं का नियामक है। मन का प्रणेता (इधर-उधर ले जाने वाला) है। सभी इन्द्रियों का प्रेरक है। सभी इन्द्रियों के अर्थों का अभिवहन करने वाला है। अर्थात् साम्यावस्था में स्थित वायु ही इन्द्रियार्थज्ञान में कारण होता है। शरीरगत सभी धातुओं को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त कराता है। यह शरीर को जोड़ने वाला है। वाणी का प्रवर्तक है। स्पर्श और शब्द की प्रकृति (मूलकारण) है। श्रोत्र और स्पर्शज्ञान में वायु ही कारण है। हर्ष और उत्साह का यही उत्पत्ति स्थान है। अग्नि का यही प्रेरक (जलने में कारण) है। दोषों को सुखाने वाला है। शरीरस्थ मलों को बाहर निकालने में यही सहायक होता है। स्थूल (बड़े), अणु (छोटे) स्रोतों का भेदन करता है। गर्भ में शरीराकृतियों का निर्माण यही करता है। अकुपित (अपनी समप्रकृति में स्थित) वायु आयु का अनुवर्तक और पालन करने वाला होता है।

वक्तव्य—वायु के सम्बन्ध में उक्त विवेचन 'राजर्षि वार्योविद' का है। महर्षि आत्रेय की यह विशिष्ट योजना मानी जा सकती है कि वायु से सम्बन्धित विषय का विवेचन वार्योविद (या वायोर्विद्) और राजर्षि (रजो बहुलो वायुः, रजोगुण प्रधान व्यक्ति) ही करे, विद्वान् इस दिशा में विचार करें।

वायवे नमस्कृत्य—वायु को भगवान् कहा है, क्योंकि इसमें कफादि अचल पदार्थों को भी गति प्रदान करने की शक्ति है। सम्पूर्ण शरीर में इसका एकछत्र साम्राज्य है। देखें—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः'॥ इस प्रकार पाँच भागों में विभक्त इसका व्यवहार देखा जाता है। इसी प्रकार का वर्णन वाग्भट ने भी किया है। यथा—'त एते प्रत्येकं पञ्चधा भिद्यन्ते। तद्यथा—प्राणोदानव्यानसमानापानभेदैर्वायुः'॥ अष्टांगसंग्रह सू० अ० २०। और भी—'प्राणादिभेदात् पञ्चात्मा वायुः'। अष्टांगहृदय सू० अ० १२। आचार्य शार्ङ्गधर ने प्राणवायु का स्थान नाभिप्रदेश माना है।

पाँच प्रकार के वायुओं का परिचय—

नाम		आशय (स्थान)
१. प्राणवायु	—	मूर्धा, मस्तक, उरस् (छाती), कण्ठ, जीभ, नाक।
२. उदानवायु	—	नाभिप्रदेश, छाती, कण्ठ, नाक।
३. समानवायु	—	कोष्ठप्रदेश (आमाशय, पक्वाशय आदि अंग)।
४. व्यानवायु	—	हृत्प्रदेश, सम्पूर्ण शरीर।
५. अपानवायु	—	बस्ति, श्रोणि, मूत्रेन्द्रिय, वृषण, वङ्क्षण, ऊरु।

इनके कर्म आदि का विस्तृत विवेचन अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय २० तथा सुश्रुत निदानस्थान अध्याय १ में देखें।

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः—'तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम्'। च० इ० अ० १२। 'तदेव यन्त्रं यदि वा, तन्त्रस्य यन्त्रं सन्धयः'। इति चक्रपाणिः। अर्थात् तन्त्र (शरीर) ही यन्त्र है अथवा तन्त्र (शरीर) के यन्त्रों (सन्धियों = शरीरावयवों) को धारण करने वाला वायु ही है। यह वायु प्राण, उदान आदि पाँच भागों में बटकर शरीर सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक है।

प्रवर्तको वाचः—शब्द की उत्पत्ति का विवेचन इस प्रकार पाणिनीय शिक्षा में वर्णित है—'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्'।

समीरणोऽग्नेः—यही वायु (लौकिक तथा जाठर) अग्नि का प्रेरक भी है। यथा—'वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशेः कस्यास्ति सौहृदम्' ॥ सुभाषित।

क्षेप्ता बहिर्मलानाम्—यह वायु अकुपित (अनुलोम) होने पर शरीरस्थ मलों को बाहर निकालने में सहायक होता है। यथा—'पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः। समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवानि च' ॥ सुश्रुत नि० अ० १। इस प्रकार वायु सम्बन्धी पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें प्रश्नों का समुचित समाधान कर दिया गया है।

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय[1]; मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि।

(६) **'कानि चास्य कुपितस्य शरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि'** प्रश्न का उत्तर—शरीर में कुपित हुआ यह वायु अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर इनसे शरीर को पीड़ित करता है, जिससे बल, वर्ण, सुख एवम् आयु की हानि होती है। मन को प्रसन्न नहीं होने देता, सभी इन्द्रियों की शक्ति का विनाश कर देता है। गर्भों का विनाश करता है, गर्भस्थ प्राणी के शरीर को विकृत (अंधा, लंगड़ा, लूला, बहरा, गूंगा, टेढ़ा, अंगहीन, अधिकांग) कर देता है। अधिक समय तक रोके रहता है और मन में भय, शोक, मोह, दीनता, तथा प्रलाप (अंट-संट बकना) आदि को उत्पन्न कर देता है। प्राणों का विनाश भी करता है।

वक्तव्य—प्रकुपित वायु शरीर में नानाविध विकारों को उत्पन्न कर देता है। अर्थात् जितनी वातव्याधियां आयुर्वेद में वर्णित हैं वे सभी प्रकुपित वात से ही होती हैं। यह शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करता है।

विनिहन्ति गर्भान्—यहाँ पर गर्भ शब्द को बहुवचनान्त देने का एक तात्पर्य यह है कि गर्भ की प्रत्येक अवस्था का विनाश (गर्भस्राव, पात आदि) करता है। दूसरा यह कि—'गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ सन्धौ'। इति मेदिनी। इतने अर्थों में गर्भ शब्द का प्रयोग है। इन सबको विनष्ट अथवा विकृत करना इसका स्वभाव है।

विकृतिमापादयति-अतिकालं वा धारयति—गर्भ को विकृत कर देता है अथवा ९वें या दसवें मास में जो शिशु का प्रायः जन्म होते देखा गया है, उसमें विलम्ब वायु के कारण ही होता है। मेरे पास चिकित्सा के लिये सम्भ्रान्त परिवार की एक ऐसी गर्भवती महिला आयी जिसका पति बालक के जन्म-समय से तीन मास पूर्व मर गया था उसका वह गर्भ शोकज वायु से भीतर ही भीतर सूख गया था। यह गर्भ की वातज विकृति तथा उसके अतिकाल तक धारण का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राणांश्चोपरुणद्धि—प्राणवायु के रुक जाने से मृत्यु के होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। महर्षि आत्रेय ने तो यहाँ तक लिख दिया है—'सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः। तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते' ॥ च० सू० अ० १७ ॥

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा—धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानं[2], सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागः; विभागो धातूनां धातुमानसंस्थानव्यक्तिः[3]; बीजाभिसंस्कारः; शस्याभिवर्धनमविक्लेदोपशोषणे[4], अवैकारिकविकारश्चेति।

१. 'उपघाताय भवति' यो.।

२. 'आदित्यादीनां सन्तानेन अविच्छेदेन गतिविधानं सन्तानगतिविधानम्' चक्रः।

३. धातूनां स्वर्णादीनां, मानं स्वं स्वं विशिष्टमानम् (स्पेसिफिक् ग्रेविटी Specific Gravity)।

४. 'विक्लेदोपशोषणम्' यो.।

(७) **'कानि चास्य अकुपितस्य अशरीरचरस्य बहिःशरीरेषु चरतः कर्माणि'** प्रश्न का उत्तर—जब वायु अकुपित (प्रकृतिस्थ) होता है तो संसार में इसके विचरण करते हुए निम्नलिखित कार्य होते हैं—१. पृथिवी को धारण करना, २. अग्नि को प्रज्वलित करना, ३. सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा ग्रहगणों को निरन्तर गति में रखना, ४. बादलों की सृष्टि करना, ५. तदनन्तर उन (बादलों) में से पानी को बरसाना, ६. जल के स्रोतों को बहने के लिये प्रवृत्त करना, ७. फूल तथा फलों को उत्पन्न करना, ८. उद्भिदों (वृक्ष आदि जो पृथ्वी के भीतर से उत्पन्न होते हैं) को अंकुर के रूप में बाहर निकालना, ९. सम्पूर्ण वर्ष को ऋतुओं के रूप में विभाजित करना, १०. स्वर्ण आदि धातुओं का विभाजन करना, ११. स्वर्ण आदि धातुओं के अपने-अपने मान (परिमाण) को व्यक्त करना, १२. बीजों में अंकुरण शक्ति को पैदा करना, १३. शस्य (अनाज) को बढ़ाना और उसको सड़ने से बचाकर सुखा देना और १४. अवैकारिक (विकृति रहित) विकारों (कार्यों) को करना।

वक्तव्य—महाभारत में वायु की उत्पत्ति का अत्यन्त सरस वर्णन किया गया है। एक बार मेघ का गर्जन सुनकर वेदव्यास जी ने शुकदेव आदि को अनध्याय की सूचना दी। तब शुकदेव जी ने व्यास जी से वायु की उत्पत्ति कैसे हुई, यह प्रश्न किया। उसका वर्णन निम्न प्रकार से है—'पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः। सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ॥ तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः। तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ॥ उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः। अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः ॥ अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः' ॥ महाभारत। इसके अनन्तर अन्य वायुओं का भी इस प्रकरण में उल्लेख किया गया है, जो आयुर्वेदीय उपयोग क्षेत्र से बाहर हैं।

सृष्टिश्च मेघानाम्—महाकवि कालिदास ने मेघों की सृष्टि का वैज्ञानिक वर्णन इस प्रकार किया है—'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः'। मेघदूत।

शस्याभिवर्धनम्—यहां पर शस्य शब्द से ग्रन्थकार को रबी तथा खरीफ की फसलों में होने वाले सभी अन्नों से तात्पर्य है। शास्त्रों में इनका विभागीय विवेचन इस रूप में भी मिलता है। शमीधान्य—उड़द, मटर आदि। शूकधान्य—जौ, गेहूं आदि। शालिधान्य—साठी आदि धानों की विशेष जातियाँ। तृणधान्य—साँवा, कोदों आदि। इन सभी प्रकार के अनाजों का बढ़ाना वायु का ही कार्य है।

आचार्य भेल ने वायु के सम्बन्ध में निम्न वर्णन किया है—'स्थितिः प्राणभृतां चैव सरितां चैव निःस्वनाः। पृथिव्याश्चलनं चैव वातादेव प्रवर्तते ॥ वातेन धूमो भवति धूमादभ्रं प्रजायते। अभ्राद् विमुच्यन्ते वारि जीवानां सम्भवस्ततः ॥ अग्निर्ज्वलति वातेन पुण्यानां हविषां पतिः। स्रवन्ति चापगास्तेन पृथिवीं प्लावयन्ति च ॥ वायुस्त्राधिको देवः प्रभवः सर्वदेहिनाम्। योन्यां रेतः प्रसिक्तं च वायुना युज्यते गुणैः ॥ भेलसंहिता सूत्रस्थान अ० २६।

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—शिखरिशिखरावमन्थनम्, उन्मथनमनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्, उद्वर्तनं सरसां, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च भूमेः, आधमनमम्बुदानां, नीहारनिर्ह्रादपांशुसिकतामत्स्यभेकोरगक्षाररुधिराश्माशनिविसर्गः, व्यापादनं च षण्णामृतूनां, शस्यानामसङ्घातः, भूतानां चोपसर्गः, भावानां चाभावकरणं, चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः।

(८) **'कानि चास्य कुपितस्य अशरीरचरस्य बहिःशरीरेषु चरतः कर्माणि'** प्रश्न का उत्तर—जब यह प्रकुपित होकर संसार में विचरण करता है तो इसके निम्नलिखित कार्य देखे जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. शिखरी (पर्वत) के शिखरों (चोटियों) को तोड़-मरोड़ करना, २. बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ना, ३. समुद्रों को उत्पीडित करना अर्थात् समुद्र के बीच में हल-चल मचा देना, ४ जलाशयों (तालाब, झील आदि) में ऊँची-ऊँची लहरों की उत्पत्ति का होना, अर्थात् वायु के वेग से उत् = ऊपर की ओर को वर्तनं = प्रेरित करना, ५. नदियों के जल को प्रतिकूल दिशा की ओर बहाना, ६. सम्पूर्ण भूमि को कंपा देना, ७. बादलों को परस्पर टकरा कर उनमें से गरजने की ध्वनि को पैदा करना, ८. आकाश से नीहार (बर्फ = Snow), निर्ह्राद (गर्जन), पांशु (धूलि), सिकता (बालू), मछली, मेढक, सर्प, क्षार (राख), खून, अश्मा (पत्थर=ओले) और वज्र आदि का गिरना, ९. छहों ऋतुओं के क्रम को बिगाड़ देना, १०. फसलों को स्वाभाविक रूप से न होने देना, ११. प्राणियों

में विविध प्रकार के रोगों (हैजा, महामारी = मरक आदि) का फैल जाना, १२. प्राप्त पदार्थों का विनाश कर देना तथा १३. चारों युगों को अन्त करने वाले मेघ, सूर्य, अग्नि और वायु की विशेष रूप से सृष्टि करना।

वक्तव्य—वायु को अनेक स्थानों पर भगवान् कहा गया है। भगवान् को 'एको देवस्त्रयीमूर्तिः'। के अनुसार सृष्टि, स्थिति, विनाश का कारण माना जाता है। ठीक यही स्थिति उक्त प्रसंगों में वायु की भी देखी जाती है। यह वायु गर्भ-सृष्टि कर, साम्यावस्था में स्थिति = पालन कर और कुपितावस्था में प्रलय = विनाश-कारक भी वर्णित है। अस्तु।

उद्वर्तनं सरसाम्—उत = ऊर्ध्वं, वर्तनं, व्यवहारः। अर्थात् तालाव के जलों को किनारों की ओर उछाल देना ही उद्वर्तन है।

नीहारादि-विसर्गः—शास्त्रान्तरों में उल्कापात आदि का जैसा वर्णन है, ठीक उसी प्रकार का यह वायु के प्रकुपित होने पर होने वाले लक्षणों का भी वर्णन है। वायु का प्रकोप भी प्राणियों के अनिष्ट का सूचक होता है।

सम्राट् वीर विक्रमादित्य के राज्यकाल में आकाश से मछली गिरने की बात इतिहास सिद्ध है, जिसकी सुरक्षा आचार्य वराहमिहिर के आदेशानुसार नया सरोवर खुदवाकर की गयी थी। ऐसा न करने पर उनके राज्य के विनाश की आशंका विद्वानों ने प्रकट की थी। यह इसी प्रकार की एक घटना थी।

भावानां च अभावकरणम्—'भवन्तीति भावाः = स्थावरजङ्गमाः, तेषाम्–अभावो विनाशः, तस्य करणम्। अर्थात् चर-अचर रूप जो भाव हैं उनका विनाश करने वाला।

चतुर्युगान्त—'प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः'। चाणक्य०। अर्थात् प्रलयकाल में समुद्र भी अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं। इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य, मेघ आदि भी इन सब का मूल कारण अमर्यादित (प्रकुपित) वायु है।

स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमः, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता; भावानामणुः, विभुः, विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति ॥ ८ ॥

वायु वर्णन—वह भगवान (परम ऐश्वर्यशाली) वायु ही प्रभव (सबके उत्पत्ति का कारण) है, स्वयं अव्यय (विनाश रहित) है, प्राणियों का उत्पत्ति तथा विनाशकारक है, सुख और दुःख का कारण है, यह मृत्यु, यम, नियन्ता, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वग, सभी तत्त्वों का विधाता (कर्ता), सभी पदार्थों में अणु (छोटा), विभु, विष्णु, पृथिवी आदि लोकों को लांघ कर सर्वत्र विचरण करने वाला वायु ही भगवान् है।

वक्तव्य—वायु को भगवान् कहकर उसके विशिष्ट गुणों का वर्णन यहाँ किया गया है। यथा—**मृत्यु**—प्राण वायु के निकल जाने से मृत्यु होती है। **यम**—विपरीत स्थिति में यमराज के समान त्रास देने वाला। **नियन्ता**—शरीर तथा उसके अवयवों को अपने नियन्त्रण में रखने वाला। **प्रजापतिः**—प्रजा (स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्) पातीति पतिः' अर्थात् समस्त सृष्टि का रक्षक। **अदितिः**—'सर्वं वा अत्ति तद् अदितेः-अदित्वम्'। बृहदारण्यक। अन्यत्र—अदिस्य-जिसका विनाश नहीं किया जा सकता, अदीन ऐश्वर्य वाला, जिसके खण्ड नहीं किये जा सकते। **विश्वकर्मा**—जिसका संसार की सृष्टि रूप कर्म है, अथवा सभी प्रकार के कर्मों में जिसका योगदान रहता है। **विश्वरूपः**—सम्पूर्ण जगत् में जिसके रूप का अस्तित्व है। **सर्वगः**—सदा सब स्थान में जाने या रहने वाला। **सर्वतन्त्राणां विधाता**—सभी नियमों, कर्मों, शरीरों एवं पदार्थों का रचयिता। **विभुः**—व्यापक तथा बहुत बड़े परिमाण वाला। **विष्णुः**—सभी प्राणियों में प्रवेश करने वाला तथा पालनकर्ता। इस प्रकार के सर्वशक्तिमान् वायु का लोक तथा शरीर में समान अधिकार होता है।

तच्छ्रुत्वा वार्योविदवचो मरीचिरुवाच—यद्यप्येवमेतत्, किमर्थस्यास्य वचने विज्ञाने वा सामर्थ्यमस्ति भिषग्विद्यायां, भिषग्विद्यामधिकृत्येयं कथा [1]प्रवृत्तेति ॥ ९ ॥

राजर्षि वार्योविद के उक्त वायु-सम्बन्धी विवेचन को सुनकर विद्वान् मरीचि ने कहा—यद्यपि आपने

१. 'प्रवर्तते' यो.।

वायु के सम्बन्ध में यह जो कुछ कहा वह ठीक है फिर भी इसको कहने और जानने की चिकित्सा क्षेत्र में क्या आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ तो भिषक् विद्या (आयुर्वेदशास्त्र) को लेकर ही यह कथा (बात-चीत) चल रही है।

वक्तव्य—मरीचि नामक वैद्य ने 'स हि–से लेकर–भगवानिति' यहाँ तक उपर्युक्त ८ वें गद्य खण्ड में जो वायु का बाहरी वर्णन किया है, उसको सुनकर ही उक्त आपत्ति की है। इसका समाधान पुनः 'वार्योविद्' आगे कर रहे हैं।

वार्योविद उवाच—भिषक् पवनमतिबलमतिपरुषमतिशीघ्रकारिणमात्ययिकं चेन्नानुनिशाम्येत्, सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमग्रेऽभिरक्षितुमभिधास्यति प्रागेवैनमत्ययभयात्; वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णविवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुःप्रकर्षाय चेति ॥ १० ॥

वार्योविद का मत—महर्षि मरीचि की वायु सम्बन्धित उक्त शंका का समाधान वार्योविद इस प्रकार करते हैं—यदि चिकित्सक वायु के अति बलवान्, अत्यन्त कठोर, अति शीघ्रकारिता और आत्ययिक (सद्योमारक) आदि गुणों को न सुनाते तो रोगी को स्वास्थ्य प्रदान में अत्यन्त तत्पर चिकित्सक मृत्यु आदि के भय से पहले ही उस वायु से बचाने के लिये कैसे कहेगा। दूसरा कारण यह भी है—वायु की यथार्थ स्तुति करने से भी आरोग्य, बल और वर्ण की वृद्धि, तेजस्विता, शरीरावयवों की पुष्टि, ज्ञान की वृद्धि तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—आगे भी अनारोग्यकर बहिश्चर वायु के लक्षण दिये हैं। यथा—'तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद्यथा—यथर्तुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारवम-प्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धवाष्पसिकतापांशुधूमोपहतमिति'। चरक विमानस्थान अ० ३।

जनपदोद्ध्वंस आदि संक्रामक रोगों में बाहरी वायु का बहुत योगदान होता है। यदि वैद्य वायु की गति-विधि का ठीक-ठीक ज्ञान न रखे तो रोगी या स्वस्थ व्यक्ति को वह सावधान नहीं कर सकता है। इसलिये वायु के दोषों (बाह्यचर-अन्तश्चर) प्रकारों का ज्ञान रखना वैद्य के लिये परमावश्यक होता है।

मरीचिरुवाच—अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति; तद्यथा—पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ॥ ११ ॥

पित्तदोष विषयक तद्विद्य सम्भाषा परिषद् (Symposium on Pitta Dosha)—मरीचि ने कहा है—शरीर में पित्त के अन्तर्गत कुपित अग्नि अशुभ कर्मों को और अकुपित (प्रकृतिस्थ) अग्नि शुभ कर्मों को करती है। वह इस प्रकार है—आमाशय में स्थित अकुपित पाचक पित्त पाचन और कुपित पित्त पाचन का अभाव करता है। नेत्रों में रहने वाला अकुपित आलोचक पित्त दर्शन में सहायक तथा कुपित पित्त अदर्शन करता है। शरीर में अकुपित पित्त से तापक्रम ठीक रहता एवं कुपित पित्त से तापक्रम का बढ़ना या मात्रा से अधिक घट जाना देखा जाता है। इसी प्रकार भ्राजक पित्त के कुपित होने से विवर्णता और अकुपित होने से वर्ण में स्निग्धता, शौर्य, भय, क्रोध, हर्ष, मोह, प्रसन्नता आदि और भी द्वन्द्वों (सुख-दुख, इच्छा-द्वेष आदि) का होना न होना लक्षण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—लोक में जिस प्रकार वात, पित्त, कफ का क्रम है, उसी क्रम से उनका यहाँ वर्णन भी किया गया है। शरीर को धारण करने की दृष्टि से उक्त वातादि सभी भगवान (परम ऐश्वर्यशाली) हैं, अपने-अपने स्थान में सबका विशिष्ट महत्व है। सन्ताप अथवा सन्ताप-जनक पदार्थ का नाम पित्त है। इसी से शरीर में ताप (Temperature) बना रहता है। वायु के समान एक ही पित्त के कार्य तथा स्थान भेद से पाँच नाम हैं। यथा–१. पचति आहारम्, इति=पाचकम्, अर्थात् जो आहार को पकाता है, उसको पाचकपित्त कहते हैं। २. भ्राजयति वर्णम्, इति = **भ्राजकम्**, जो वर्ण को प्रकाशित करता है। ३. रञ्जयति रसम्, इति = **रञ्जकम्**, यह भोजन के रस को रंगकर रक्त बनाता है। ४. आलोचयति रूपम्, इति = **आलोचकम्**, रूपों को दिखाता या देखने में सहायता पहुँचाता है। ५. साधयति कार्याणि, इति = **साधकम्**, यह कार्यों को सिद्ध करता है, यह साधक पित्त लाल-पीला वर्ण वाला पदार्थ हृदय में रहता है, इसी को 'ओजस्' भी कहते हैं। क्योंकि ओजस्वी पुरुष ही कार्यसाधन में समर्थ होता है। इस विषय का विवेचन चरक सू० अ० १८ श्लोक ५० में तथा सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २१ के ९ वें, १० वें गद्य में देखें।

पाचक पित्त का नाम ही अग्नि है। इसकी मात्रा तिलपरिमित है। ऐसा मत आचार्य शार्ङ्गधर का है। देखें—'अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्'। शा० सं०। इसके अतिरिक्त रस प्रदीप में पित्त की शरीरस्थ मात्रा का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—'स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः। ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु तिलमात्रः प्रमाणतः॥ कृमिकीटपतङ्गेषु बालमात्रोऽवतिष्ठते'॥ रसप्रदीप।

जिस प्रकार यहाँ मरीचि ने पित्त की प्रधानता का निर्देश किया है, उसी प्रकार महर्षि आत्रेय ने भी उसको आगे चरक चिकित्सास्थान अध्याय १५ ग्रहणी-चिकित्सा में स्वीकार किया है, श्लोक सं० ३ से ५ तक देखें।

तच्छ्रुत्वा मरीचिवचः काप्य उवाच—सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति; तद्यथा—दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति॥ १२॥

कफदोषविषयक तद्विद्य सम्भाषा परिषद् (Symposium on Kapha Dosha)—मरीचि की उक्त बात को सुनकर महर्षि काप्य ने कहा—शरीर में श्लेष्मा (कफ) के अन्तर्गत सोम (जलीयांश) ही कुपित होकर अशुभ और अकुपित (प्रकृतिस्थ) रहकर शुभ कर्मों को करता है। यथा—दृढ़ता, शिथिलता, पुष्टि, कृशता, उत्साह, आलस्य, वृषता, क्लीबता, ज्ञान, अज्ञान, बुद्धि, मोह इस प्रकार के और भी द्वन्द्वों (चेतनता, जड़ता, शक्ति, अशक्ति आदि) को पैदा करता है।

वक्तव्य—उक्त दृढ़ता, शिथिलता आदि लक्षणों में प्रथम अकुपित कफ और दूसरा कुपित कफ का प्रभाव समझना चाहिये। महर्षि पाणिनि ने सोम शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'अमृतं सूते, इति सोमः'। 'अर्तिस्तुसू० (उणादि) इत्यादिना मन् प्रत्ययः'। अर्थात् जो अमृत का स्रवण करता है, उसे सोम कहते हैं। 'सोम ओषधीनामधिपतिः'। यजुर्वेद। चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से हुई है, अतः सोम की योनि जल है। कफ में आप्य (जलीय) अंश ही प्रधान है। महर्षि आत्रेय की दृष्टि में प्रकृतिस्थ कफ का स्वरूप इस प्रकार है—

'स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्'॥ च० सू० अ० १८। सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २१ तथा अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान अ० २० देखें। कफ के नाम—१. क्लेदन। २. स्नेहन। ३. रसन। ४. अवलम्बन। ५. श्लेष्मक। इनकी व्याख्या—१. क्लेदयति अन्नं, क्लिद्यते वा अनेन अन्नम्, इति = **क्लेदनः**। यह आहार को गीला करता है। २. स्नेहयति, स्निह्यते वा अनेन शिरः, इति = **स्नेहनः**। यह मस्तिष्क प्रदेश को स्निग्ध करता है। अतएव कफ की कमी में स्निग्ध नस्यों का और कफ की अधिकता में रूक्ष नस्यों का प्रयोग किया जाता है। ३. रसयति रसं, रस्यते मधुरादिरसः अनेन, इति = **रसनः**। यह रस का अनुभव कराता है। क्योंकि कफ की विकृति से ही रस ज्ञान नहीं हो पाता है। अवलम्ब्यते हृदयम् अनेन, इति = **अवलम्बनः**। यह हृदययन्त्र को धारण करता है। इसके घट जाने पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। ५. श्लेषयति सन्धीन्, इति = **श्लेष्मकः**। यह सन्धियों को सटाता या जोड़ता है। मृत्युकाल में प्रकुपित कफ पित्त रूप अग्नि को बुता देता है और वायु की गति को अवरुद्ध कर स्वयं सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर प्राणी को मार डालता है।

तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात्; सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके; विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति॥ १३॥

आत्रेय का त्रिदोषसम्बन्धी निर्णय (Conclusion of Atreya on Tri-Dosha)—काप्य के उक्त वचन को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने ऊपर वातादि दोषों पर किये गये विचार-विमर्श पर अपना निर्णयात्मक विचार व्यक्त किया। आप सबने ठीक कहा, आप लोगों को (केवल जो वात ही ऐसा कर सकता, पित्त ही ऐसा कर सकता अथवा कफ ही ऐसा कर सकता है) इस प्रकार का हठ नहीं करना चाहिये। क्योंकि तीनों ही—वात-पित्त-कफ (त्रिदोष) जब प्रकृतिस्थ (सम अवस्था में) रहते हैं तभी अव्यापन्नेन्द्रिय (जिसकी इन्द्रियों में किसी प्रकार का विकार न आया हो, ऐसे) पुरुष को बल, वर्ण, सुख, दीर्घायु से युक्त

कर देते हैं। जिस प्रकार भलीभाँति आचरण किये हुए धर्म, अर्थ, काम पुरुष को बहुत बड़े कल्याण से इस लोक तथा परलोक में संयुक्त कर देते हैं और ये ही वातादि तीनों दोष जब विकृत हो जाते हैं तब ये पुरुष को किसी महान् रोग से आक्रांत कर देते हैं, जिस प्रकार विकार को प्राप्त तीनों ऋतुएं संसार को अनिष्टकारी भावों (प्रलय आदि) से युक्तकर विनाश को पहुँचा देती हैं।

वक्तव्य—पुनर्वसु आत्रेय ने उक्त महर्षियों के वचनों में जहाँ दुराग्रह था या एकान्तवादिता थी उसका प्रतिवाद करते हुए उनके वचनों के साथ समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया। तद्विद्य सम्भाषा परिषद् की यही महान् उपलब्धि होती है। कुश, कांकायन, वडिश आदि महर्षियों ने जिन विषयों का सिद्धान्ततः यहाँ प्रतिपादन किया उन्हीं का समर्थन सुश्रुत, चरक, वाग्भट ने भी किया है।

[1]तदृषयः सर्व एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतः, अभिननन्दुश्चेति॥ १४॥

त्रिदोषसिद्धान्त का समर्थन—महर्षि आत्रेय ने अन्यमतों का खण्डन करके जिस त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना की उसका वहाँ उपस्थित सभी ऋषियों ने अनुमोदन किया और उनके सैद्धान्तिक वचनों का अभिनन्दन भी किया।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के वचनों का पश्चाद्वर्ती वाग्भट ने इस प्रकार अनुमोदन किया है—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च'॥ अष्टांगहृदय सू० अ० १।६। यही भाव भाषान्तर द्वारा अष्टाङ्ग सं० सू० अ० १ में भी द्रष्टव्य है।

भवति चात्र—

तदात्रेयवचः श्रुत्वा सर्व एवानुमेनिरे। ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्रवचनं सुराः॥ १५॥

महर्षि आत्रेय के समन्वयात्मक उक्त वचन को सुनकर सभी ऋषियों ने उसका अनुमोदन और अभिनन्दन इस प्रकार किया जैसे देवराज इन्द्र के वचनों का आदर, अनुमोदन तथा अभिनन्दन देवगण किया करते थे।

तत्र श्लोकौ—

गुणाः षड् द्विविधो हेतुर्विविधं कर्म यत् पुनः। वायोश्चतुर्विधं कर्म पृथक् च कफपित्तयोः॥१६॥
महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसुमतिश्च या। कलाकलीये वातस्य तत् सर्वं सम्प्रकाशितम्॥१७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
वातकलाकलीयो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥
इति निर्देशचतुष्कस्तृतीयः॥ ३॥

सम्पूर्ण अध्याय के विषयों का परिगणन—वायु के ६ गुण, २ प्रकार के कारण (प्रकोपक एवं शामक), विविध प्रकार के कर्म, पुनः वायु के ४ प्रकार के कर्म (१. कुपित शरीरचर, २. अकुपित शरीरचर ३. कुपित अशरीरचर, ४. अकुपित अशरीरचर।) कुपित और अकुपित भेद से कफ और पित्त के पृथक्-पृथक् कर्म, महर्षियों के मत तथा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का मत, इन सब विषयों का वर्णन इस वातकलाकलीय नामक अध्याय में प्रकाशित किया गया है।

वक्तव्य—सम्भाषा परिषद् का किसी सिद्धान्त के निर्धारण के लिये प्राचीन काल से ही उपयोग होता आ रहा है। यहाँ भी भिन्न-भिन्न ऋषियों ने वातादि के स्वतन्त्ररूपों पर बल दिया है किन्तु महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने समन्वयात्मक (Synthetic) रूप देकर उन्हीं को जोड़कर त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना की, जिसका समादर सर्वत्र समभाव से देखा जाता है। यथा—'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा'॥ सु० सू० अ० २१।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-
चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
वातकलाकलीय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त॥ १२॥

१. 'इत्येतदृषयः श्रुत्वा' ग.।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथातः स्नेहाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वातकलाकलीय अध्याय का वर्णन करने के बाद अब स्नेह नामक अध्याय की व्याख्या की जायगी, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—निर्देश चतुष्क का वर्णन करने के पश्चात् अब यहाँ से कल्पनाचतुष्क का प्रारम्भ किया जारहा है। स्नेहन क्रिया का पञ्चकर्म में महत्वपूर्ण योगदान है। अतएव इसकी पञ्चकर्म में सर्वप्रथम गणना की गयी है।

स्नेह—'स्नेहः प्रेम्णि घृतादिके'। ष्णिह्-प्रीतौ+घञ्। स्नेह शब्द का प्रयोग घी (Ghee), तेल (Oils) और वसा (Fats) चर्बी आदि पदार्थों के लिये होता है। शरीरस्थ दोषों के संशोधन के लिये सर्वप्रथम स्नेह उसके बाद स्वेद, इन दोनों के बाद संशोधन क्रिया करनी चाहिये।

[1]सङ्ख्यैः सङ्ख्यातसङ्ख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्। जगद्धितार्थं पप्रच्छ वह्निवेशः स्वसंशयम् ॥३॥

अग्निवेश का प्रश्न—सांख्यशास्त्रोक्त आत्मा आदि तत्वों को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी महर्षियों के साथ बैठे हुए महर्षि पुनर्वसु आत्रेय से (उनके शिष्य) अग्निवेश ने संसार के कल्याणार्थ अपने संशय समूह को पूछा।

वक्तव्य—वह्निवेश अग्निवेश का ही पर्याय वाचक शब्द है। यहाँ पर छन्दोभंग के भय से ही उक्त पर्याय का प्रयोग किया गया है। सङ्ख्या (सम्यग् ज्ञानं) तया व्यवहरन्तीति = साङ्ख्याः। किं वा—सङ्ख्यातं (ज्ञातं) सङ्ख्येयं (ज्ञेयं) यैस्ते—साङ्ख्याः।

किं योनयः कति स्नेहाः के च स्नेहगुणाः पृथक्। कालानुपाने के कस्य कति काश्च विचारणा ॥
कति मात्राः कथं मानाः का च केषूपदिश्यते। कश्च केभ्यो हितः स्नेहः प्रकर्षः स्नेहने च कः ॥
स्नेह्याः के के न च स्निग्धास्निग्धातिस्निग्धलक्षणम्।
किं पानात् प्रथमं पीते जीर्णे किं च हिताहितम् ॥ ६ ॥
के मृदुक्रूरकोष्ठाः का व्यापदः सिद्धयश्च काः। अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते ॥७॥
विचारणाः केषु योज्या विधिना केन तत् प्रभो। स्नेहस्यामितविज्ञान! ज्ञानमिच्छामि वेदितुम् ॥

स्नेह विषयक-प्रश्न—१. स्नेह के उत्पत्ति-कारण कौन हैं, २. स्नेह कितने प्रकार के होते हैं, ३. उन स्नेहों के पृथक्-पृथक् गुण क्या हैं, किस स्नेह के सेवन का कौन काल है, ५. किस स्नेह का क्या अनुपान है, ६. स्नेहों का पान करने की कल्पनायें कितनी हैं और कौन-कौन-सी हैं, ७. स्नेह की मात्रा क्या है, ८. स्नेह पान का क्या परिमाण है, ९. किस मात्रा और परिमाण में किन-किन रोगों में स्नेह का प्रयोग किया जाता है, १० कौन स्नेह किस प्रकार के पुरुषों के लिये हितकारक होता है, ११. स्नेहन क्रिया में स्नेह का प्रकर्ष क्या है, अर्थात् एक बार में कितने दिनों तक स्नेह का प्रयोग कराना चाहिए, १२. कौन कौन पुरुष स्नेह योग्य होते हैं, १३ और कौन स्नेहन के अयोग्य होते हैं, १४. सम्यक् स्निग्ध के क्या लक्षण होते हैं, १५. अस्निग्ध के क्या लक्षण होते हैं, १६. और अतिस्निग्ध के क्या लक्षण होते हैं, १७. स्नेहपान के पहले क्या करना चाहिये, १८. स्नेहपान कर लेने पर क्या करना चाहिये, १९. और स्नेह के पच जाने पर कौन हितकर अथवा कौन अहितकर पदार्थ होते हैं, २०. कौन पुरुष मृदुकोष्ठ होते हैं, २१. कौन क्रूरकोष्ठ होते हैं, २२. स्नेहपान से कौन

१. सम्यक् ख्यायते वस्तुतत्त्वमनया इति संख्या तत्त्वज्ञानं तद् विदन्तीति, संख्या सम्यग्ज्ञानं, तेन व्यवहरन्तीति वा सांख्या आत्मतत्त्वविदस्तैः सांख्यैः। संख्यातानि सम्यग्ज्ञातानि संख्येयानि ज्ञातव्यतत्त्वानि यैस्तैः संख्यातसंख्येयैः परिज्ञातसकलज्ञातव्यैः।

सो व्यापत्तियाँ (व्याधियाँ) हो सकती हैं, २३. और उनको शान्त करने के कौन से उपाय हैं, २४. अच्छ (संशमन) तथा संशोधन के लिये किये जाने वाले स्नेहपान में किस वृत्ति (उपाय) का आश्रय लेना चाहिए, २५. और स्नेह की विचारणाओं का प्रयोग किन-किन रोगों में किस-किस विधि से करना चाहिए, स्नेह सम्बन्धी समस्त ज्ञान के भण्डार भगवन् पुनर्वसु आत्रेय! मैं (अग्निवेश) आपसे उक्त विषय का शास्त्रीय-ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।

वक्तव्य—'विचारणा द्रव्यान्तरासंयुक्तस्नेहपानं वर्जयित्वा स्नेहोपयोगः'। चक्रपाणिः। विचारणा को आयुर्वेद में उपकल्पना (Preparations) कहते हैं।

अच्छे संशोधने चैव स्नेहे—यहाँ पर अच्छ और संशोधन दोनों ही शब्द स्नेह से सम्बद्ध हैं। यद्यपि अच्छ का अर्थ शुद्ध, साफ होता है किन्तु यहाँ संशोधन शब्द के साहचर्य तथा प्रकरण के अनुरोध से इसका संशमन अर्थ में प्रयोग किया गया है।

स्नेहस्यामितविज्ञान—यद्यपि भगवान् पुनर्वसु आत्रेय अपने समय के आयुर्वेदविदों में सर्वश्रेष्ठ थे, जैसा तद्विद्य सम्भाषा परिषद् में महर्षियों ने स्वीकारा है, तथापि यहाँ प्रकरणवश इनको स्नेह विषय का विशेषज्ञ कहा गया है, यह उचित ही था, क्योंकि उक्त पद्यों में स्नेह से सम्बन्धित २५ प्रश्न पूछे गये हैं, जिनके क्रमशः उत्तर इसी अध्याय में इन्होंने दिये हैं।

अथ तत्संशयच्छेत्ता प्रत्युवाच पुनर्वसुः। स्नेहानां द्विविधा [1]सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा ॥ ९ ॥

१. 'किं योनयः' प्रश्न का उत्तर—अग्निवेश के स्नेह विषयक प्रश्नों को सुनकर उसके सन्देहों को निर्मूल करने की शक्ति वाले आत्रेय पुनर्वसु ने उत्तर दिया—हे सौम्य! सभी प्रकार के स्नेहों के उत्पत्ति स्थान दो प्रकार के हैं—१. स्थावर और २. जङ्गम।

वक्तव्य—१. स्थावर—तिष्ठन्तीति स्थावराः। पेड़ पौधे आदि से प्राप्त होने वाले। २. जङ्गम—गच्छन्तीति= जङ्गमाः। चलने फिरने वाले पशु-पक्षी, मनुष्य आदि, अर्थात् प्राणिज स्नेह। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः ॥ १० ॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः—

स्थावर स्नेहों की योनियाँ—तिल, प्रियाल (चिरौंजी), अभिषुक (पिश्ता), बहेड़ा, चित्रा (लाल रेंड़ का फल या जमालगोटा का बीज), अभया (हरीतकी), एरण्ड, महुआ, सरसों, कुसुम्भ, बेल, आरुक, मूली के बीज, तीसी, निकोचक (नीम के बीज), अखरोट, करञ्ज (कञ्जू) और सहजन के बीज इन द्रव्यों से जो स्नेह प्राप्त होता है, उनको स्थावर (Vegetable origin) कहते हैं।

वक्तव्य—महर्षि पुनर्वसु का उपर्युक्त द्रव्यों का वर्णन दिग्दर्शन मात्र है क्योंकि इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थावर स्नेह योनियाँ सुप्रसिद्ध हैं। अभिषुक और अक्षोड को औत्तरापथिक स्नेहयोनियाँ चक्रपाणि स्वीकार करते हैं। मार्कोपोलो ने खुरासान में और इब्नबतूता ने हेरात में पिश्ता और बादाम के पेड़ सर्वप्रथम देखे थे।

—तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥ ११ ॥

जंगम स्नेहों की योनियाँ—मछली, मृग, पक्षी इनके दूध, दही, घृत, मांस, वसा और मज्जा से स्नेहों की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—जलचर प्राणियों में मछली प्रमुख प्राणी है। अतः इसका नाम ले लेने से सभी प्रकार के पानी में रहने वाले प्राणियों का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार का मृग शब्द है। 'मृग्यन्ते-अन्वेष्यन्ते मृगयाथिभिः, इति मृगाः। अर्थात् जिनको शिकारी जन खोजा करते हैं, वे सब मृग कहे जाते हैं। सभी पंखों वाले प्राणी पक्षी कहे जाते हैं। इनमें मत्स्य और पक्षी दधि, दुग्ध से रहित होते हैं, शेष स्नेहयोनियाँ सब में हैं। दूध, दही से यह तात्पर्य नहीं है कि इनसे घी का निर्माण किया जाने के बाद ही स्नेहन क्रिया में उपयोग होता है, अपितु इनका स्वतन्त्र प्रयोग भी स्नेहन में होता है।

१. 'चासौ' इति पा०।

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते । बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डं तु विरेचने ॥१२॥

तिल तथा एरण्ड तैल की विशेषता—सभी प्रकार के तैलों में तिल-तैल बलवृद्धि तथा स्नेहन के लिये श्रेष्ठ होता है और विरेचन के लिये एरण्ड (रेड़ी) का तेल उत्तम होता है।

वक्तव्य—'तिलेभ्यः समुत्पन्नं=तैलम्'। मूल रूप में तैल शब्द का प्रयोग तिल-तैल के लिये ही किया जाता है। इसके बाद सरसों के तेल आदि का प्रयोग देखा जाता है। यही स्थिति घी की भी है। गव्यं = गाय का घी, माहिषं = भैंस का घी और आज्यं-अजा (बकरी) का घी इत्यादि।

सम्पूर्ण तैलों में तिल तेल (Til oil) को श्रेष्ठ गुणों के आधार पर माना गया है और एरण्ड तैल (Castor oil) दस्त कराने के लिये अच्छा होता है। यथा—सर्वेभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते। निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि' ॥ सु० सू० अ० ४५। यही कारण रहा है कि जितने स्थावर तेल उपलब्ध होते है, या तो वे तैल शब्द से प्रसिद्ध हैं अथवा तिल तैल, सरसों का तेल आदि विशेषणों के साथ।

([1]कटूष्णं तैलमैरण्डं वातश्लेष्महरं गुरु । कषायस्वादुतिक्तैश्च योजितं पित्तहन्त्रपि ॥ १ ॥)

एरण्ड (रेड़ी) का तेल कटु, उष्ण, गुरु, वात-पित्तनाशक होता है। यदि इसका प्रयोग कषैले, मधुर तथा तिक्तरस प्रधान द्रव्यों से युक्त करके किया जाय तो यह पित्तनाशक भी होता है।

वक्तव्य—यह पद्य सभी संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता अतः इसको प्रक्षिप्त माना जाता है। केवल प्रसंगवश एरण्ड तैल का वर्णन होने के कारण यहाँ उद्धृत किया गया है।

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः । एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥१३॥

२. 'कति स्नेहाः' प्रश्न का उत्तर—सर्पि (घी), तैल, वसा, मज्जा ये सभी प्रकार के स्नेहों में श्रेष्ठ माने गये हैं। इनमें भी घी सर्वोत्तम होता है क्योंकि यह दूसरे द्रव्यों के गुणों को संस्कार (घृत पाक आदि) द्वारा ग्रहण तो कर लेता है किन्तु अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग नहीं करता।

वक्तव्य—उक्त पद्य में सभी प्रकार के स्नेहों में सर्पिष् (घी) का सर्वप्रथम उल्लेख इसीलिये किया गया है कि यह दूसरों के गुणों को ग्रहण करने पर भी अपने गुणों का परित्याग नहीं करता। जब कि अन्य स्नेहों की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। यथा—चन्दन आदि पदार्थों से सिद्ध किया हुआ 'चन्दनादि तैल' शीत वीर्य हो जाता है। इस संस्कार के बाद तैल की जो अपनी उष्णता होती है वह समाप्त हो जाती है। अतएव इसको दाहशामक कहा और देखा गया है। और सभी प्रकार के जीर्णज्वरों में वातज्वरादिहर द्रव्यों से सिद्ध घी को पिलाने का विधान इस प्रकार किया गया है—'जीर्णज्वरेषु सर्वेषु सर्पिषः पानं प्रशस्यते, यथास्वौषधसिद्धस्य'। चरक नि० अ० १।३७। इसके अतिरिक्त और भी घी की विशेषतायें इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—'स्नेहाद् वातं शमयति शैत्यात् पित्तं नियच्छति। घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम् ॥ नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्' ॥ च० नि० अ० १।३९-४०। इसका व्याख्यान यथास्थान देखें।

चरक के अतिरिक्त वाग्भट ने घी के निम्नलिखित तीन (मधुर, दाह न करने वाला और जन्म से ही सेवन योग्य) विशिष्ट गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात्'। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २५।

संस्कारस्यानुवर्तनात्—दूसरे पदार्थ के गुणों को अपने में धारण करने का नाम 'संस्कार' है। और 'संस्कारस्य अनुवर्तनम्, तस्मात् हेतोः'। अर्थात् अपने गुणों का त्याग न करते हुए दूसरे द्रव्य के गुणों का अपने में आधान करना संस्कारानुवर्तन कहा जाता है।

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम् । निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥१४॥

३. 'के च स्नेहगुणाः पृथक्' प्रश्न का उत्तर—घी के सामान्य गुण—यह शीतगुण-प्रधान तथा स्निग्ध होने के कारण पित्त तथा वायु का नाश करता है। रस, शुक्र तथा ओजस् के लिये हितकर होता है। यह दाह का शमन करने वाला, शरीर में मृदुता लाने वाला, स्वर और वर्ण में निखार लाने वाला होता है।

१. योगीन्द्रनाथसेनसम्मतोऽयं पाठः।

वक्तव्य—निर्वापण का अर्थ होता है—बुझाना। अतएव इसको दाहशामक लिखा गया है, शेष स्पष्ट है।

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम् । त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥१५॥

तैल के सामान्य गुण—स्निग्ध, उष्ण तथा गुरु होने के कारण तैल वात को नष्ट करता है, उष्ण होने से कफ को नहीं बढ़ने देता, बल को बढ़ाता है, त्वचा के लिये हितकर है, शरीरावयवों में स्थिरता को लाता है और योनि (अपत्य पथ) को शुद्ध करता है।

वक्तव्य—'तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानाम्'। च० सू० अ० २५। स्थावर स्नेहों में तिल तैल सर्वोत्तम होता है किन्तु उपर्युक्त गुण सामान्य तैलों के हैं। 'न च श्लेष्मवर्धनम्'—उक्त पद्य का यह अंश तिल-तैल का संकेत कर रहा है। देखें—'मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतोऽमेध्यं तैलं खलोऽहिमः। तत्रैव श्लेष्मकारित्वं न तैलस्य खलस्य वा'। अष्टांगसंग्रह सू० अ० ७। अर्थात् तिल मेधावर्धक और स्पर्श में शीत है परन्तु उसी से निकला हुआ तेल तथा खली अमेध्य और उष्ण है, क्योंकि कफ को बढ़ाना तिल का गुण है न कि तिल-तैल का। इसी विषय का समर्थन सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४५ में भी देखें।

'तैलं योनिविशोधनम्'—प्रजनन संस्थान में पिचु आदि के रूप में तिल तैल का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्तव, स्तन्य की कमी को दूर करके काम-शक्ति को प्रदीप्त करता है।

विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि । पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥१६॥

वसा के गुणों का वर्णन—सुई आदि के बिंध जाने पर, अस्थि के टूट जाने पर, आहत (चोट लगने) पर, भ्रष्टयोनि (योनि का अपने स्थान से च्युत हो जाने पर), कर्ण रोग तथा शिरो रोग होने पर वसा का प्रयोग हितकर होता है एवं पुरुष शक्ति को बढ़ाने में, शरीर को स्निग्ध करने में और व्यायामशील पुरुषों के दैनिक प्रयोग में वसा का उपयोग हितकर होता है।

वक्तव्य—विद्ध शब्द का प्रयोग शिरावेध प्रकरण में मननीय है। कारण भेद से भग्न अनेक प्रकार का होने पर भी भगवान् धन्वन्तरि ने दो प्रकार का स्वीकारा है। 'तत्र भग्नजातमनेकविधमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोपपद्यते' सन्धि मुक्तं, काण्डभग्नं च। तत्र षड्विधं सन्धिमुक्तं द्वादशविधं काण्डभग्नं भवति'। सुश्रुत नि० अ० १५।४। दो प्रकार का भग्न—१. सन्धिमुक्त (Dislocation), २. काण्डभग्न (Fracture)।

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धनः । मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हितः ॥१७॥

मज्जा के गुणों का वर्णन—मज्जा के सेवन से बल, शुक्र, रस, कफ, मेदस् और मज्जा की वृद्धि होती है। विशेष करके यह अस्थियों के बल को बढ़ाती है तथा स्नेहन क्रिया में हितकर है।

वक्तव्य—मज्जा मज्जा को बढ़ाती है यह स्वाभाविक है, क्योंकि 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'। यह स्थायी सिद्धान्त है।

सर्पिः शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे । तैलं प्रावृषि, नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः ॥१८॥

४-९. 'कालानुपाने के कस्य' इन प्रश्नों का उत्तर—किस स्नेह का किस ऋतु में सेवन करना चाहिये? शरद् ऋतु में घृतपान, वसा और मज्जा का सेवन, माधवे (वसन्त ऋतु में) तैल का पान, प्रावृट् ऋतु तथा जिस काल में न अधिक गरम हो न अधिक शीत हो, ऐसे समय में स्नेह (वर्ग) का सेवन निषिद्ध है। इनमें आदि-अन्त दो

वक्तव्य—उक्त पद्य में तन्त्रकार ने शरद्, माधव, प्रावृष् शब्दों का प्रयोग किया है। अमर। किन्तु मधु ऋतु वाचक शब्द है और 'माधव' वैशाख मास का पर्याय है। यथा—'वैशाखे माधवो राधः'। अमर। किन्तु मधु शब्द से जब हम माधव (मधु+अ = माधवः, मधोर्ञ च ४।४।१२९) शब्द की सिद्धि करते हैं तो इसका अर्थ वसन्त ऋतु होता है। मधु शब्द के विभिन्न अर्थ—'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः। दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवकोशे मधुद्रुमे' ॥ इति विश्वः। इस प्रकार उक्त माधव शब्द से वसन्त ऋतु का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आगे-पीछे शरद्, प्रावृट् ऋतुओं का साहचर्य भी है। यही आचार्य गङ्गाधर का भी मत है।

आचार्य चक्रपाणि का कथन है कि 'माधव' शब्द से केवल वैशाख का ग्रहण करना चाहिये न कि वसन्त ऋतु का। इस प्रकार आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जब हम इसी पद्य के उत्तरार्ध 'नात्युष्णशीते स्नेहं

पिबेन्नरः' की इस पंक्ति को देखते हैं, तो माधव = वैशाख, उष्ण काल होने के कारण स्नेह पान के लिये निषिद्ध काल प्रतीत होता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने ऋतु-विभाजन इस प्रकार किया है—'तत्र माघादयो द्वादशमासाः संवत्सरः। द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्ऋतवो भवन्ति, ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः। तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत, सहःसहस्यौ हेमन्त इति'। सुश्रुत सू० अ० ६। यथा—माघ-फाल्गुन शिशिर, चैत्र-वैशाख वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद वर्षा, आश्विन-कार्तिक शरद्, मार्गशीर्ष-पौष हेमन्त ये ६ ऋतुएं लोक में प्रसिद्ध तथा ज्योतिष-शास्त्रसम्मत हैं। किन्तु आयुर्वेदशास्त्र में इससे भिन्न ऋतुओं का प्रकार है। इसको दिखाने के लिये इसी के आगे लिखा है—

'इह तु वर्षा शरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति, दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तं, ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति'। सुश्रुत सू० अ० ६। अर्थात् इस शल्यशास्त्र में वात-पित्त-कफ के संचय-प्रकोप-प्रशम को ध्यान में रखकर उक्त ६ ऋतुएँ मानी गयी हैं। किन्तु चरक के विमानस्थान अ० ८।१२५ में तन्त्रकर्ता ने संशोधन को ध्यान में रखकर शिशिर ऋतु को स्वीकार न करके प्रावृट् ऋतु को स्वीकार किया है। इसका एक और उदाहरण—

'अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः। तदन्तरे प्रावृडाद्या ज्ञेयाः साधारणास्त्रयः॥ प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जः सहौ पुनः। तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति'॥ च० सि० अ० ६। अर्थात् शोधन को ही ध्यान में रखकर उक्त तीनों ऋतुओं को साधारण ऋतुओं में गिना जाता है। यथा—आषाढ-श्रावण-प्रावृट्, कार्तिक-मार्गशीर्ष-शरद्, फाल्गुन-चैत्र-वसन्त और ग्रीष्म-वर्षा-हेमन्त ये ऋतुएँ क्रमशः अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त शीत होती हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने 'नात्युष्णशीते' का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'नात्युष्णे ग्रीष्मे, नातिशीते हेमन्ते शिशिरे च, तथा वर्षजनितशैत्ये वर्षाकाले' स्नेहं न पिबेदित्यन्वयः।

वृद्धवाग्भट के मत से स्नेहों का उपयोग काल—'तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे। सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद् भास्वति निर्मले॥ ऋतौ साधारणे'''। अष्टांगसंग्रह सू० अ० २५। अर्थात् श्रावण में तैल-पान, वर्षान्त (शरद् ऋतु) में घृत सेवन, वसन्त ऋतु (चैत्र) में वसा तथा मज्जा का उपयोग करे। घृत, तैल, वसा, मज्जा इन स्नेहों का साधारण प्रयोग जिस दिन आकाश में बादल न हो उस दिन करना चाहिये।

विशेषता—प्रावृट् ऋतु (वर्षा काल) में वायु का प्रकोप होता है और तैल वायुनाशक है, अतः तैल का स्नेहन वर्षा में विशेष फलप्रद है। पित्त का प्रकोप शरद् ऋतु में होता है, अतः घृत का सेवन इस काल में बतलाया गया है। इसी प्रकार कफ का प्रकोप वसन्त ऋतु में होता है, अतएव इस ऋतु में वसा-मज्जा के सेवन का विधान किया गया है। यद्यपि वसा-मज्जा कफ के ही समान गुणों वाले हैं तो भी वमन के प्रयोग में कफ को उभाड़ने में वसा-मज्जा समर्थ हैं, अतः कफ का निर्हरण इनसे आसानी से हो जाता है।

शीतोष्ण गुण भेद से तैल को उष्ण, घी को शीत और वसा-मज्जा को समशीतोष्ण माना गया है। इसको चरक में इस प्रकार कहा गया है—'तेषां तैलवसामज्जसर्पिषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेष्वनुवासनीयेषु यथोत्तरं तु पित्तविकारेषु'॥ च० वि० अ० ८।१५०। तैल, वसा, मज्जा और घी ये वात विकारों में यथा पूर्व उष्ण होने के कारण हितकारक होते हैं और पित्त विकारों में तैल से वसा, वसा से मज्जा और मज्जा से घी शीतल होने के कारण हितकारक होते हैं।

स्वस्थवृत्त में संचित दोषों को निकाल देने से फिर रोगोत्पत्ति की संभावना ही नहीं रहती ऐसा निर्देश है। यथा—'हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु'॥ च० शा० अ० २।४५। इस प्रकार दोषों का निर्हरण कर लेने पर फिर उनके विकृत होने का प्रश्न ही नहीं आता। क्योंकि—'सङ्क्षयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः'॥ सु० सू० अ० २१।३७।

निष्कर्ष—उष्णकटिबन्ध और शीतकटिबन्ध भेद से सम्पूर्ण संसार दो भागों में विभक्त है। मास, ऋतु भेद से जो निर्देश दिया है वह सामान्य है। शास्त्र की स्पष्ट आज्ञा यही है कि 'नात्युष्णशीते', जब न अधिक गर्मी हो तथा जब न अधिक सर्दी हो ऐसे समय में स्नेह पान करे, अन्य समयों में न करे। क्योंकि कहीं गर्मियों में भी

सर्दी रहती है और कहीं सर्दियों में भी सामान्य जाड़ा रहता है, अतः ऐसे प्रदेशों में ऋतु विभाग का ध्यान करके उष्ण-शीत मात्र का विचार कर स्नेहपान करने तथा न करने का आदेश चिकित्सक दें, किन्तु आत्ययिक व्याधियों में यह नियम चरितार्थ नहीं होता।

वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः। श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥१९॥

स्नेह-पान में काल-निर्देश—उष्णकाल (गर्मी के दिनों) में वात तथा पित्त की अधिकता वाला पुरुष रात्रि के समय, शीत काल में कफ की अधिकता वाला पुरुष जब बादलों से रहित स्वच्छ एवं प्रखर किरण युक्त सूर्य दिखलायी दे उस दिन स्नेह पान करे।

वक्तव्य—यहाँ पर 'वातपित्ताधिकः' तथा 'श्लेष्माधिकः' 'नरः' का विशेषण है। देखें—'श्लेष्माधिकग्रहणमत्यन्तशीतविकारगृहीतपुरुषोपलक्षणार्थम्'। चक्रपाणिः। जैसा कि ऊपर कहा गया है 'पित्त के शमन के लिये शरद् ऋतु में घृतपान करें', यह शरद् ऋतु लम्बा समय है। इसको स्पष्ट करने के लिये रात्रि का समय बतलाया है। इसी प्रकार वात एवं कफ के विषय में भी समझें। दूसरा उक्त पद्य में यह भी संकेत किया है कि 'उष्णे-रात्रौ, शीते-अमलभास्करे दिवा'। यह है तन्त्रकार की सूत्र रूप में निर्दिष्ट वाचोयुक्ति। उष्ण काल और शीत काल का ऊपर जो निर्देश दिया गया है तदनुसार वर्षा काल का भी निर्णय करना चाहिये। वर्षा काल के दो स्वरूप होते हैं—१. जब वर्षा होती रहती है तब शीतता और २. जब वर्षा नहीं होती उस समय गर्मी पड़ती है। अतः इसका भी निर्णय उष्ण-शीत के अनुसार करके कुशल चिकित्सक स्नेह पान की व्यवस्था करें। इस सम्बन्ध में अन्य तन्त्रों में इस प्रकार विचार किया गया है—'शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि। वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा'॥ सु० चि० अ० ३१।२२॥

इस सम्बन्ध में वाग्भट का मत इस प्रकार है—'सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद् भास्वति निर्मले। ऋतौ साधारणे, दोषसाम्येऽनिलकफे कफे॥ दिवा निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि। त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत्'॥ अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २५।

दोषों के निर्हरण तथा दोषों के शमन के लिये स्नेह पान का विधान है। स्वस्थ पुरुष के लिये ऋतु विभाजन के अनुसार स्नेह पान दोषों को शान्त करने की दृष्टि से करना चाहिये और व्याधिग्रस्त पुरुष के लिये उक्त व्यवस्था लागू नहीं हो सकती किन्तु दोषों का निर्हरण चिकित्सा की दृष्टि से आवश्यक होता है। अतः उष्ण, शीतकाल का विचार करके तदनुसार स्नेहपान कराना चाहिये।

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत् ॥२०॥
शीते रात्रौ पिबन् स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा। आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति ॥२१॥

विपरीत समय में स्नेहपान से हानि—यदि वात दोष की अधिकता वाला, पित्त दोष की अधिकता वाला अथवा वात-पित्त दोनों दोषों की अधिकता वाला पुरुष अत्यन्त उष्ण काल (ग्रीष्म ऋतु) में दिन के समय स्नेह-पान करता है तो उसके परिणामस्वरूप मूर्च्छा, प्यास, उन्माद (पागलपन) और कामला रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा कफ दोष प्रधान पुरुष शीतकाल में रात्रि के समय स्नेहपान करता है तो उसको आनाह (अफरा), भोजन के प्रति अरुचि, शूल, पाण्डुता (खून का कम हो जाना) आदि रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—वात या पित्त अथवा वात-पित्त दोनों बढ़े हुए हों तो ग्रीष्म काल में स्नेह पान न करे। ध्यान रखना चाहिये कि वात-पित्ताधिक पुरुष शीतकाल में भी दिन में स्नेह का सेवन न करे। क्योंकि इस काल में भी उसको उक्त विकार हो सकते हैं। यदि वाताधिक तथा पित्ताधिक पुरुष शीतकाल में रात्रि के समय स्नेह-पान करेगा या कफाधिक पुरुष उष्णकाल में रात्रि के समय स्नेहपान करेगा तो भी आनाह आदि रोग हो जायेंगे।

जलमुष्णं घृते पेयं यूषस्तैलेऽनु शस्यते। वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥२२॥

किस स्नेहपान का क्या अनुपान है, ९ वें प्रश्न का उत्तर—घृत-पान करने पर गरम जल पीना चाहिये, तैल पान करने पर बाद में यूष-पान करना चाहिये, वसा अथवा मज्जा का सेवन करने पर मण्ड (माड़) पीना चाहिये अथवा सभी स्नेहों के सेवन करने के पश्चात् सामान्य रूप से गरम जल पीना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त पद्य में यूष और मण्ड का उल्लेख है। इनका परिचय अगले पद्य के वक्तव्य में देखें।

अनुपान—'अनुपश्चात् पीयते रोगिभिः, यत् तत् = अनुपानम्'। औषध सेवन के पश्चात् जिस पेय पदार्थ का ग्रहण किया जाता है, उसे अनुपान कहते हैं। जैसे—जल और औषध के साथ मिलाकर जिसका सेवन किया जाता है, उसे 'सहपान' कहते हैं। जैसे—शहद।

अनुपान की उपयोगिता—'यथा तैलं जलेक्षिप्तं क्षणेनैव प्रसर्पति। अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम्'॥ अर्थात् जैसे पानी में डाली गयी तेल की बूँद थोड़ी ही देर में फैल जाती है, वैसे ही अनुपान के सहयोग से सेवन की हुई ओषधि शीघ्र ही शरीर में फैल जाती है। स्नेहों के अनुपान के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का मत—'उष्णादेकानुपानन्तु स्नेहानामथ शस्यते। ऋते भल्लातकस्नेहाद् स्नेहात्तौवरकात्तथा'॥ सु० सू० अ० ४६।४२३॥ भिलावा और तुवरक (चालमोगरा) के तेल को छोड़कर शेष सभी स्नेहों के लिये गरम पानी का अनुपान श्रेष्ठ होता है।

निष्कर्ष—घी का उष्ण जल, तैल का यूष, वसा और मज्जा का मण्ड अनुपान है।

यूष का प्रकार—'मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः। कफपित्ताविरोधिस्याद् वातव्याधौ च शस्यते'॥ सु० सू० अ० ४६। ३६८॥ **मण्ड का प्रकार**—'लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः। वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः॥ सु० सू० अ० ४६।३४०॥

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि। यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः॥२३॥
सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः॥२४॥
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्तःकर्माक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य [1]प्रविचारणाः॥२५॥

६. **'कति काश्च विचारणाः' स्नेह की विचारणायें कितने प्रकार की होती हैं, प्रश्न का उत्तर**—१. ओदन (भात), २. विलेपी (लपसी), ३. रस, ४. मांस, ५. दूध, ६. दही, ७. यवागू, ८. सूप, ९. शाक १०. यूष, ११. काम्बलिक, १२. खड, १३. सत्तू, १४. तिलपिष्ट (तिल की चटनी), १५. मद्य, १६. लेह, १७. भक्ष्य, १८. अभ्यञ्जन, १९. वस्ति, २०. उत्तरवस्ति, २१. गण्डूष, २२. कर्णतैल, २३. नस्य, और २४. अक्षितर्पण इस प्रकार ये स्नेहों की प्रविचारणायें (प्रयोग करने की विधियाँ) हैं।

वक्तव्य—स्नेह की चौबीस प्रविचारणायें (24 Prepartions Employed for Oleation Therapy)—ऊपर चतुर्विध स्नेहों के विविध प्रकार तथा पदार्थों के संयोग से सेवन का प्रकार बतलाया गया है, इसी का नाम 'प्रविचारणा' है। 'प्र-वि पूर्वक गति-भक्षणार्थक चर धातु से युच् प्रत्यय करके प्रविचारणा शब्द की निष्पत्ति हुई है। उक्त चौबीस भेदों को हम सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. केवल स्नेह प्रयोग, यथा—नस्य, अक्षितर्पण तथा स्नेह पान (अच्छपान) आदि। २. भोजन सम्बन्धी विविध व्यञ्जनों के साथ किये जाने वाला प्रयोग। यहाँ पर प्रविचारणा शब्द से दूसरे प्रकार का स्नेह प्रयोग तन्त्रकार को भी अभीष्ट है। केवल 'अभ्यञ्जन' का बाह्य प्रयोग होता है किन्तु यह स्नेह भी त्वचा के माध्यम से अन्तःप्रवेश कर लाभदायक सिद्ध होता है।

प्रविचारणाओं का क्रमशः परिचय—१. ओदन (भात)—'अन्नं पञ्चगुणे साध्यम्'। अन्न अर्थात् चावलों को पाँच गुने जल में पकाकर तैयार किया जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उतना जल उसमें सुखा दिया जाय। शेष जल को चावलों के पकने पर मांड के रूप ने निकाल दिया जाता है। शार्ङ्गधरसंहिता में 'जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम्'॥ १८९। अर्थात् चार पल (१६ तोला) चावलों को १४ गुना जल में पकायें, इसका तात्पर्य यह है कि चावलों की पिच्छिलता भलीभाँति निकल जाय। हमारी समझ से पाँच गुना जल में पुराने चावल और चौदह गुना जल में नये चावलों को पकाने का निर्देश है, क्योंकि पुराने चावलों में पिच्छिलता कम तथा नये में अधिक होती है। इस प्रकार बनाया हुआ भात लघु (जल्दी पचने

---

१. 'प्रविचारणा प्रकर्षेण विशेषाच्चर्यते भक्षणपानलेहाभ्यञ्जनादिरूपेण उपसेव्यते यत्तत् प्रविचारणा' गङ्गाधरः। 'प्रविचार्यतेऽवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा ओदनादयः, ओदनादयश्च स्नेहप्रविचारणायां स्नेहयुक्ता एव बोद्धव्याः, अभ्यञ्जनादयस्तु यद्यपि शुद्धस्नेहसम्पाद्यास्तथाऽपि जठराग्निसम्बन्धे न व्याप्रियन्त इति विचारणाशब्देनोच्यते'। चक्रः।

वाला) होता है। २. **विलेपी**—'विलेपी तु चतुर्गुणे', चावलों अथवा चावलों के कणों को चार गुना जल में पकाकर विलेपी का निर्माण किया जाता है। इसी को लपसी कहते हैं। इसका दूसरा लक्षण है—'विलेपी विरलद्रवा'। इसका जलीय अंश उस अन्न से पृथक् नहीं रहता। ३. **रस**—आयुर्वेद में रस शब्द से पारद-गन्धक के योगों तथा मांसरस का ग्रहण होता है। यथा—'पिशितेन रसः'। अष्टाङ्गसंग्रह। औषध द्रव्यों को मांस में डालकर पाकक्रिया द्वारा जो रस प्राप्त किया जाता है, उसे मांसरस या **रस** कहते हैं। मांसरसों के भेद—१. घन, २. तनु और ३. अच्छतर। ये मांसरस उत्तरोत्तर लघु होते हैं। **अच्छतर मांसरस**—कूटा हुआ मांस ४० ग्राम और पाकार्थ जल १ किलो २८० ग्राम, चतुर्थांश रस शेष रह जाने पर सेवन करें। **तनु-मांसरस**—कूटा हुआ मांस २४० ग्राम और पाकार्थ जल १ किलो २८० ग्राम शेष पूर्ववत्। **घन मांसरस**—कूटा हुआ मांस ४८० ग्राम और पाकार्थ जल आदि पूर्ववत्। ४. **मांस**—चिकित्सक निर्दिष्ट प्राणी के ताजा मांस का सविधि पाक कर इसके साथ स्नेह का प्रयोग किया जाता है। ५. **दूध**—गाय आदि के दूध को गरम कर स्नेह के साथ अनुपान अथवा सहपान के रूप में इसका सेवन किया जाता है। ६. **दही**—ताजा दही के साथ भी स्नेहपान का विधान है। ७. **यवागू**—'यवागूः षड्गुणेऽम्भसि' तथा 'यवागू बहुसिक्था स्यात्'। आहारद्रव्य से ६ गुना जल डालकर यवागू का निर्माण किया जाता है। इसमें पकने पर अन्न का भाग अधिक और जलीय अंश कम रहता है। इससे गाढ़ी खिचड़ी होती है। ८. **सूप**—उड़द, अरहर, आदि शिम्बी धान्य को दलकर चौदह गुने या अठारह गुने जल में पकाकर जब चतुर्थांश जल शेष रह जाता है, उस रस को उस दाल का सूप कहते हैं। सामान्य रूप से सूप शब्द पकी हुई दाल का पर्यायवाची है। ९. **शाक**—'शाकाख्यं पत्रपुष्पादि', अमरकोष। शाक के दश भेद—'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकम्। त्वक् पुष्पं कवकं चैव शाकं दशविधं स्मृतम्॥ तद्यथा—मूलं मूलकादेः। पत्रं वास्तुकादेः। करीरं वंशाङ्कुरम्। अग्रं वेत्रादेः। फलं कूष्माण्डादेः। काण्डम् उत्पलादेर्नालम्। अधिरूढकं तालबीजाङ्कुरास्थिमज्जादिकम्, त्वक्-मातुलुङ्गफलादेः। पुष्पं तिन्तिडीको-विदारादेः। कवकं छत्राकम्। उक्त दस प्रकार के मूल, पत्र आदि से शाकों की रचना की जाती है। १०. **यूष**—'यूषो धान्यैः', तथा 'धाने पोषणे साधुः तद् धान्यम्', दाल आदि की पोटली बांधकर अठारह गुना जल में पकाकर आधा जल शेष रहने पर उतारकर इसका सेवन किया जाता है। ११. **काम्बलिक**—'मूलैश्च तिल-कल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः'। अष्टाङ्गसङ्ग्रह। तथा—'"अयं काम्बलिको मतः। दध्यम्ललवणस्नेह-तिलमाषान्वितः शृतः'॥ चरकोपस्कार। अर्थात् तिल और उड़द का कल्क, दही, अनारदाना की खटाई, नमक, तैल मिलाकर काम्बलिक का निर्माण किया जाता है। १२. **खड**—'खडः फलैः। मूलैश्च', अष्टाङ्गसंग्रह। तथा—'तक्रे कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः सुपक्वः खड यूषोऽयम्'। चरकोपस्कार। सामान्य रूप से खड का अर्थ Breaking या Dividing होता है, परन्तु आयुर्वेद में इसकी अपनी स्वतन्त्र परिभाषा है। जिसके अनु-सार—मठा में कैथ, चांगेरी, कालीमिरिच, जीरा और चित्रक को चूर्ण करके डालकर पकाया हुआ यूष खड कहा जाता है। १३. **सत्तू**—यह प्रसिद्ध द्रव्य है, इसका निर्माण जौ आदि अन्नों को भूंजकर कूट लेने से होता है। १४. **तिलपिष्ट**—यह तिलकुट है। तिलों को कूट करके उसमें गुड़ अथवा चीनी मिला दी जाती है। १५ **मद्य**—इससे उन सभी तरल पदार्थों का बोध होता है, जो मद (नशा) कारक होते हैं। यथा—आसव, अरिष्ट, सीधु, सुरा आदि। १६. **लेह**—'लिह्यते जनैः, इति लेहः', जिन पदार्थों को चाटकर खाया जाता है, उनको लेह अथवा अवलेह कहते हैं। जैसे—हलुआ, लपसी, च्यवनप्राश आदि। १७. **भक्ष्य**—छः प्रकार के आहारों में एक भेद यह भी है। यथा—'आहारः षड्विधो भोज्यो भक्ष्यश्चर्व्यस्तथैव च। लेह्यश्चोष्यस्तथा पेयस्तदुदाहरणानि च॥ भोज्य ओदनसूपादिर्भक्ष्यो मोदकमण्डकः। चर्व्याश्चिपिटधान्यादि रसालादिस्तु लेह्यते॥ चोष्य आम्रफलेक्ष्वादि पेयस्तु पानकं पयः'॥ भा० प्र०। १८. **अभ्यञ्जन**—इसी का दूसरा नाम अभ्यंग भी है। त्वचा के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अथवा वातदोषनाशक द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैलों की मालिश करना इसका अभिप्राय है। १. **वस्ति**—स्नेहन के लिये जिस वस्ति का प्रयोग किया जाता है उसको अनुवासन वस्ति कहते हैं। इसका प्रयोग यन्त्र विशेष द्वारा होता है, जिसका सविधि उल्लेख यथास्थान किया जायगा। २०. **उत्तरवस्ति**—इसका प्रयोग भी स्नेहनार्थ ही होता है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह वस्ति पुरुषों तथा स्त्रियों के मूत्र-मार्ग द्वारा भीतर प्रवेश करायी जाती है और स्त्रियों के गर्भ-मार्ग में भी दी जाती है। २१. **गण्डूष**—यह द्रव्य भेद से चार प्रकार का होता है। उसमें सर्वप्रथम है स्नैहिक गण्डूष (कुल्ला-अर्थात् स्नेह मुख में रखे जिसको इधर-उधर मुख-

वायु से हिला सकें, उसे गण्डूष कहते हैं)। २२. **कर्णतैल**—कर्णरोगहर द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैलों का जो कान में डालने के लिये प्रयोग होता है उसे कर्णतैल कहते हैं। २३. **नस्यकर्म**—'नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम्'। शार्ङ्गधर सं०। इसी का दूसरा नाम नावन भी है। यह दो प्रकार का होता है। १. रेचन और २. स्नेहन। २४. **अक्षितर्पण**—आखों को तृप्त करने के लिये गोघृत आदि का प्रयोग किया जाता है।

आचार्य गंगाधर के अनुसार यहाँ पर 'नस्तःकर्माक्षितर्पणम्' पाठ दिया गया है, चक्रपाणि-सम्मत पाठ 'नस्यं कर्णाक्षितर्पणम्', में कर्ण शब्द की पुनरुक्ति हो रही है, अतः चक्रपाणि की अपेक्षा गंगाधर द्वारा अनुमोदित पाठ समीचीन प्रतीत होता है।

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्। स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः ॥२६॥

अच्छपेय की विशेषता—चौबीस प्रकार के स्नेहों से यह स्वतन्त्र है, अतः इसकी गणना उक्त विचारणाओं में नहीं की गयी है। जो स्नेह बिना किसी दूसरे द्रव्य को मिलाये ही सेवन किया जाता है, उसका नाम अच्छपेय है, उसको विचारणा नहीं कहा जाता। इसको चिकित्सकों ने स्नेह का प्राथनकल्पिक कल्प अर्थात् स्नेह की मुख्य कल्पना माना है।

वक्तव्य—अच्छपेय के सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का मत देखें—'स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात् स्मृताः। यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेये विचारणा' ॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० २५। वाग्भट ने ६४ प्रकार की स्नेह प्रविचारणाओं का निर्देश किया है। यद्यपि भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थों के साथ अभिभूत होने से स्नेह की हीन वीर्यता, अल्पता आदि क्रम से स्नेह की अनन्त कल्पनायें हो सकती हैं किन्तु मूर्धादितर्पण विचारणा की भांति विचारणा के अभाव के कारण केवल स्वच्छस्नेह पान करने में किसी भी प्रकार की विचारणा की आवश्यकता नहीं होती। जिन ६४ प्रविचारणाओं का उल्लेख वाग्भट ने पहले किया है, उनका इस तन्त्र में भी निर्देश है।

रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः। षड्भिस्त्रिषष्टिधा सङ्ख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः ॥२७॥
एवमेताश्चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणाः। ओकर्तुव्याधिपुरुषान् प्रयोज्या जानता भवेत् ॥२८॥

स्नेह की ६४ प्रविचारणायें—स्नेह उक्त प्रविचारणाओं के समास (मिलित) तथा व्यास (पृथक्-पृथक्) रूप में स्थित छः रसों के योग से त्रिषष्टिधा (६३ प्रकार के) होते हैं और दूसरे द्रव्यों के संयोग के बिना सेवन किया हुआ केवल स्नेह पान (अच्छपेय) १ प्रकार का होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर स्नेहों की ६४ प्रविचारणायें होती हैं। इनका प्रयोग ओकसात्म्य, ऋतुसात्म्य, व्याधिसात्म्य तथा रोगी की प्रकृति का विचार कर अनुभवी चिकित्सक द्वारा कराना चाहिये।

वक्तव्य—इन प्रविचारणाओं के भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन चरक सूत्रस्थान अध्याय २६ में और अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय २५ में देखें। उक्त पद्य में ओक शब्द से शरीर को समझना चाहिये, क्योंकि रोगों का घर शरीर ही होता है। यहाँ पर 'जानता' शब्द वैद्य का विशेषण है, जो स्नेह प्रविचारणाओं के पूर्व भलीभांति देह, ऋतु, व्याधि तथा पुरुष की प्रकृति आदि का विचार अवश्य करता हो।

अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥२९॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्राः स्नेहस्य मानतः।

७-८. 'कति मात्राः, कथं मानाः', स्नेह की मात्रा तथा प्रमाण क्या है? इस पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर उक्त पद्य द्वारा दिया जारहा है—जो स्नेह की मात्रा अहोरात्र अर्थात् दिन और रात भर (२४ घण्टे) में जीर्ण होती है (पच जाती है) वह प्रधान (पूर्ण) मात्रा कही जाती है, जो मात्रा 'कृत्स्नम् अहः' (पूरा दिन= १२ घण्टे) में पचती है, वह मध्यम मात्रा है और जिस मात्रा के पचने के लिये केवल आधा दिन (६ घंटे) प्रतीक्षा करनी पड़ती है, वह ह्रस्व (लघु) मात्रा है। इस प्रकार स्नेह के प्रमाण से तीन प्रकार की मात्राओं का निर्देश किया है।

वक्तव्य—देह सम्पत्ति तथा स्वास्थ्य सम्पत्ति के अनुसार पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं तदनुसार उनके भोजन की मात्रा और उसको पचाने की क्षमता भी होती है। अत एव यहाँ मात्रा का परिमाण न देकर काल-परिमाण दिया है। यद्यपि इस प्रकार का विचार अन्यत्र भी अपेक्षित है, जैसा कि भगवान् आत्रेय अगले पद्य

में निर्देश किया है। भगवान् धन्वन्तरि ने उक्त स्नेह मात्राओं को पाँच भागों में विभाजित किया है और यह सूचित किया है कि यदि उतने समय तक भी जो स्नेह मात्रा नहीं पचती है, तो उसके फलस्वरूप कौन-कौन से विकार उत्पन्न हो जाते हैं। देखें—सु० चि० अ० ३१। अतः स्नेह प्रयोग के पूर्व रोगी की जठराग्नि के बलाबल का विचार करके ही उत्तम चिकित्सक स्नेह की प्रविचारणाओं तथा अच्छपेय का विधान करे।

तासां प्रयोगान् वक्ष्यामि पुरुषं पुरुषं प्रति ॥ ३० ॥

९. 'का च केषूपदिश्यते' स्नेह की कौन-सी मात्रा किन के सम्बन्ध में कही गयी है, इस प्रश्न का उत्तर—उक्त तीनों स्नेह मात्राओं के प्रयोगों का वर्णन प्रत्येक पुरुष के बल, अवस्था प्रकृति आदि का विचार करके आगे कहूँगा।

प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः। पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ॥३१॥
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥३२॥
पिबेयुरुत्तमां मात्राम्—

स्नेह की प्रधान मात्रा के सेवन योग्य रोगी एवं रोग—जो पुरुष प्रतिदिन अधिक मात्रा में स्निग्ध पदार्थों का सेवन करते हैं, जो पुरुष भूख, प्यास को आसानी से सहन कर सकते हैं, जिनकी जठराग्नि बलवती हो और जो शारीरिक बल से सम्पन्न हों, ऐसे पुरुष स्नेह की प्रधान मात्रा (जो २४ घंटे में पचती है) का सेवन करें। गुल्मरोगी, जिन्हें साँप ने काट लिया हो, विसर्प, उन्माद (पागलपन), मूत्रकृच्छ्र तथा जिनका मल (Stool) अधिक सूखा निकलता हो वे रोगी भी स्नेह की उत्तम (प्रधान) मात्रा का सेवन करें।

—तस्याः पाने गुणाञ्छृणु। विकाराञ्छमयत्येषा शीघ्रं सम्यक् प्रयोजिता ॥३३॥
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी। बल्या पुनर्नवकारी शरीरेन्द्रियचेतसाम् ॥३४॥

प्रधान मात्रा सेवन के लाभों को सुनिये—उचित विधि से प्रयोग करायी गयी यह प्रधान मात्रा शीघ्र ही रोगों को शान्त करती है, यह मात्रा सभी रोगों के मार्गों को स्निग्ध करके दोषों का अनुकर्षण (दोषों को अनुलोम करके बाहर निकालती) करती है, बल को बढ़ाती है, शरीर, इन्द्रिय तथा मन को रोगों से मुक्त करके फिर से नयी शक्ति प्रदान करती है।

अरुष्कस्फोटपिडिकाकण्डूपामाभिरर्दिताः। कुष्ठिनश्च [1]प्रमीढाश्च वातशोणितिकाश्च ये ॥३५॥
नातिबह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च। पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले ॥३६॥

मध्यम मात्रा सेवन योग्य रोग एवं रोगी—अरुष्क (अरुंषिका = छोटी फुंसियाँ) स्फोट (बड़े फोड़े) पिडका, खुजली, पामा, कोढ़, प्रमेह और वातरक्त (गठिया) से पीड़ित रोगी तथा जो अधिक भोजन नहीं करते, जिनका मृदुकोष्ठ है और जिनका शारीरिक बल मध्यम है, ऐसे व्यक्ति स्नेह की मध्यम मात्रा का सेवन करें।

मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी। सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते ॥३७॥

मध्यम स्नेह मात्रा के लाभ—स्नेह की मध्यम मात्रा का सेवन करने से उपद्रव होने की विशेष सम्भावना नहीं होती और यह अधिक बल का भी ह्रास नहीं करती। सुखपूर्वक शरीर का स्नेहन करती है। इसका प्रयोग शोधन के लिये किया जाता है।

वक्तव्य—स्नेह का प्रयोग प्रधानतया बढ़े हुए वातविकार के शमन एवं शोधन के लिये ही किया जाता है। शारीरिक रूक्षता आदि विकारों को दूर करना तो इसका सहज गुण है। सामान्य रूप से चिकित्सा भी शमन-शोधन भेद से दो प्रकार की होती है। अतः स्नेह की प्रधान मात्रा (विकारान् शमयत्येषा) शमन और और मध्यम मात्रा (शोधनार्थे च युज्यते) शोधन के लिये प्रयुक्त होती है।

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः। रिक्तकोष्ठत्वमहितं तेषां मन्दाग्नयश्च ये ॥३८॥
ज्वरातीसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः। स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले ॥३९॥

---

१. 'प्रमीढाः प्रमेहवन्तः'।

स्नेह की ह्रस्व मात्रा के योग्य रोग तथा रोगी—वृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखपूर्वक जीवन बिताने के अभ्यासी, कोष्ठ के खाली हो जाने पर जिनको कष्ट का अनुभव होता है, जिनकी जठराग्नि मन्द हो और जिनको बहुत दिनों से ज्वर अतिसार, कास (खांसी) हो, ऐसे रोगी तथा बलहीन पुरुष स्नेह की ह्रस्व मात्रा (६ घण्टे में जो पच जाती है) का सेवन करें।

वक्तव्य—'सुखोचिताः'—जिन महापुरुषों के लिये सुख प्रदान करने वाली वेश, भूषा, यान (सवारी), आसन, भोजन, विहार अर्थात् भोग-विलास (Luxury) के पदार्थ अत्यावश्यक होते हैं। 'रिक्तकोष्ठत्वमहितम्'-जिनके लिये देर तक भूखा रहना कष्टदायक होता है। यद्यपि कोष्ठ शब्द अनेक अङ्गों के समवाय का नाम है किन्तु उनमें प्रधान 'आमाशय' है। 'चिरसमुत्थिताः'—पुराने (Chronic) रोग, जो बहुत दिनों से उभरे हों किन्तु अभी तक ठीक न हो सके हों।

परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी। वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥४०॥

ह्रस्व स्नेह मात्रा के लाभ—यह स्नेह की मात्रा परिहार में सुखकारक होती है। शरीर का स्नेहन और बृंहण करती है। यह वीर्यवर्धक, बलकारक, स्नेहपानजनित समस्त बाधाओं (उपद्रवों) से रहित होती है और देर तक शरीर में रहती है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'परिहार' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है—परि+हृ+अण् = परिहार; जिसका अर्थ 'आप्टे' के अनुसार Leaving or Abandoning आदि है। किन्तु भट्टोजि-दीक्षित ने 'हृञ् हरणे' धातु का प्रयोग इन अर्थों में स्वीकारा है—हरण, प्रापण (पहुंचाना), स्वीकार, स्तेय और नाशन। अतः यहाँ प्रसंग-प्राप्त प्रथम तीन अर्थ हमको रुचिकर प्रतीत होते हैं। यथा—हरण से वातज दोष से उत्पन्न पीड़ा का दूर होना, प्रापण से—अङ्ग-प्रत्यंग में स्नेह को पहुँचाना और स्वीकार से—शरीर में चिरकाल तक स्निग्धता को बनाये रखना।

आचार्य जयदेव विद्यालंकार ने परिहार का **परहेज** अर्थ किया है, इसका खण्डन-मण्डन विद्वानों के ऊपर है। जो इस प्रसंग को निगल कर आगे बढ़ गये हैं, वे धन्य हैं। **स्नेहन**—इससे शरीर स्निग्ध=चिकना होता है। **बृंहण**—'बृंहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत् तच्च बृंहणम्'। जो शरीर की वृद्धि करे उसे बृंहण कहते है। **'चिरं चाप्यनुवर्तते'**—यह ह्रस्व मात्रा में सेवित स्नेह शीघ्र बाहर नहीं निकलता अथवा इसका चिरकाल तक भी प्रयोग किया जा सकता है।

वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः। चक्षुःकामाः क्षताः[1]क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥४१॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः। पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥४२॥
दीप्त्योजःस्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः। पिबेयुः सर्पिरार्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः ॥४३॥

१०. 'कश्च केभ्यो हितः स्नेहः' उक्त चार प्रकार के स्नेहों में कौन किसके लिये हितकारक है? प्रश्न का उत्तर—जिनकी वात अथवा पित्त प्रकृति हो या जो वात तथा पित्त विकारों से पीड़ित हों; जो नेत्र तथा उसकी ज्योति को सुरक्षित रखना चाहते हों; क्षत, क्षीण, वृद्ध, बालक और जो दीर्घ जीवन की कामना करते हों; बल, वर्ण एवं स्वर को बढ़ाना चाहते हों; शरीर को पुष्ट करना चाहते हों; सन्तान के इच्छुक, सुकुमारता के इच्छुक, कान्ति, ओज, स्मृति (यादगार), मेधा (धारणाशक्ति), जाठराग्नि की वृद्धि, बुद्धि, इन्द्रियों की शक्ति में वृद्धि चाहते हों और जो दाह, शस्त्र, विष तथा अग्नि से पीड़ित हों, वे व्यक्ति घृत-पान करें।

वक्तव्य—प्रायः इसी प्रकार का वर्णन सुश्रुत सू० अ० ४५ तथा सु० चि० अ० ३१ में भी देखें।

[2]प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः। वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ॥४४॥
बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्। स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च काङ्क्षन्ति देहिनः ॥४५॥
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः। पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥४६॥

---

१. 'क्षतक्षीणा' म.।
२. 'प्रवृद्धमेदः श्लेष्माणः' यो.।

तैल-पान निर्देश—जिनके शरीर में कफ दोष की वृद्धि हुई हो, जो मेदस्वी हों, जिनके गला और उदर (पेट) स्थूल होने के कारण हिलते हों, जो विविध प्रकार की वात-व्याधियों से युक्त हों, जिनकी वात प्रकृति हो, जो बल-वृद्धि, कृशता, लघुता, दृढ़ता तथा शरीर को सुदृढ़ बनाना चाहते हों और जो स्निग्ध, चिकनी तथा पतली त्वचा को पसन्द करते हों, जिनके कोष्ठ में विभिन्न प्रकार के कृमि हों, जिनका क्रूरकोष्ठ हो और जो नाड़ी व्रणों (नासूरों) से पीड़ित हों, वे शीतकाल में तैल का सेवन करें तथा वे भी सेवन करें जो तैल सेवन के अभ्यस्त हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्यों का तात्पर्य यह है कि तैल सेवन कफजनित तथा वातजनित विकारों को दूर करता है। त्वचा के लिये हितकर है। ऊपर शीतकाल में तैल-सेवन की आज्ञा है किन्तु वृद्धवाग्भट के अनुसार शीतकाल में भी रात्रि के समय ही तैल का सेवन करना चाहिये। यथा—'निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि। त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं न योजयेत्'॥ अष्टांगसं० सू० अ० २५। तैल का सेवन शीतकाल में उसमें भी रात्रि के समय करने का मात्र कारण यह है कि सभी तैल स्वभावतः उष्ण होते हैं।

वाग्भट ने तैल की प्रशंसा इस रूप में की है—'तैलं स्वयोनिवत् तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च। त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च॥ कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च। बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात् सर्वदोषजित्'॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० ६।५५-५६। अन्यत्र भी देखें—सुश्रुत सू० अ० ४५, सु० चि० अ० ३१।

स्थूलता का रहस्य—शरीर में मेदस् धातु की जब अधिकता होती है, तो इसके कारण रस तथा रक्तवाही स्रोत रुक जाते हैं, दब जाते हैं। जिसके फलस्वरूप अन्य धातु पुष्ट नहीं हो पाते और मानव दिन प्रतिदिन स्थूल होता जाता है। तैल में सर्वत्र व्याप्त होने की अद्भुत क्षमता है, अतः इसके सेवन से मेदो धातु से अवरुद्ध स्रोतों के द्वार खुल जाते हैं। रस, रक्तादि का प्रसार उचित मात्रा में पूरे शरीर में होने लगता है। ऐसे अवसर पर परिश्रमशील पुरुष का स्वास्थ्य सुधरने लगता है, वह स्वस्थ रहता हुआ कृश हो जाता है। अतएव 'तनुत्वं' और 'लघुतां' आदि विशेषण सार्थक हो पाते हैं।

वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकर्शिताः। संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदसः ॥४७॥
अस्थिसन्धिसिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुजः। बलवान् मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति ॥४८॥
महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः। तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते ॥४९॥

वसा-पान के योग्य रोग तथा रोगी—जो वायु तथा धूप को सहन कर सकते हैं, जो रूक्ष प्रकृति के हैं, जो बोझ ढोने तथा मार्ग चलने से कृश हो गये हैं, जिनका वीर्य एवं रक्त सूख गया है, जिनका शरीरगत कफ धातु तथा मेदो धातु सूख गया हो, जिनके अस्थि (हड्डी), सन्धि, शिरा, स्नायु, मर्म और कोष्ठगत अवयवों में अत्यधिक वेदना होती हो, जिनके शरीर में प्रकुपित बलवान् वायु ने स्रोतों (मार्गों) को ढक दिया हो, जिनकी जठराग्नि अधिक तीव्र हो और जो वसा सेवन के अभ्यासी हों, उन व्यक्तियों को यदि स्नेहन कराना हो तो अन्य स्नेह न देकर वसा पान कराना चाहिये।

वक्तव्य—विशेष द्रष्टव्य—सुश्रुत नि० अ० ३१।

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः स्नेहसेविनः। वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ॥५०॥

मज्जा-सेवन-निर्देश—जिन व्यक्तियों की पाचकाग्नि तेज हो, जो विविध प्रकार के कष्टों को सहने की शक्ति रखते हों, जो अपेक्षाकृत अधिक भोजन करते हों, जो प्रतिदिन स्नेह अथवा स्नेह प्रधान पदार्थों को खाते हों, जो वात रोग से पीड़ित हों, जिनके कोष्ठ क्रूर हों और जो स्नेहन के योग्य हों, ऐसे रोगियों को मज्जा का सेवन कराना चाहिये।

वक्तव्य—जिनको मज्जापान का निर्देश किया गया है, उसका कारण यह है कि घृत, तैल, वसा से मज्जा गुरुतम होती है। अतएव दीप्ताग्नि और सामान्य स्नेह सेवियों के लिये मज्जापान का विधान है। विशेष देखें—सुश्रुत नि० अ० ३१।

येभ्यो येभ्यो हितो यो यः स्नेहः स परिकीर्तितः।

जिन जिन (पुरुषों अथवा रोगों) के लिये (चतुर्विध स्नेह में से) जो-जो स्नेह हितकर होता है, उस-उस का यहाँ वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—ऊपर जो स्नेह सम्बन्धी विवेचन तथा प्रविचारणाओं का निर्देश किया गया है वह रोग-भेद तथा पुरुषों के प्रकृति-भेद से है, तथापि रोगनाशक द्रव्यों से सिद्ध घी का प्रयोग स्नेहन के क्षेत्र में सर्वोत्तम होता है।

स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ ॥ ५१ ॥

११. 'प्रकर्षः स्नेहने च कः' स्नेहन का प्रकर्षकाल कौन-सा है? इस प्रश्न का उत्तर—स्नेह का प्रकर्ष (एक बार में अधिक से अधिक सेवन) काल सात दिन और कम से कम तीन दिन है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने अपने उक्त वचन की पुष्टि आगे इस प्रकार की है—'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः' ॥ च० सू० अ० १३।६५। 'त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः। नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परं तु' ॥ चरक सि० अ० १। अर्थात् तीन दिन और सात दिन स्नेहन की अवधि मृदु एवं क्रूर कोष्ठ के अनुसार निर्धारित है। और भी बतला दिया है कि यदि सात दिन के बाद भी आप स्नेह का सेवन करते रहेंगे तो वह स्नेह प्रतिदिन के भोजन के समान हो जायेगा, फिर उसका उद्देश्य स्नेहन क्रिया नहीं रह जायेगा।

जैसा कि ऊपर स्नेह मात्राओं के तीन भेद किये हैं—१. प्रधान, २. मध्यम, ३. ह्रस्व, ठीक इसी प्रकार क्रूर, मध्यम, मृदु कोष्ठों का विवेचन करना चाहिये था, किन्तु चरक के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि तीन और सात दिन का मध्य-काल ही मध्यकोष्ठ वालों के लिये निर्धारित किया गया है। देखें—सुश्रुत के निम्नोक्त पद्य को—'पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा। सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः' ॥ सु० चि० अ० ३१। उक्त मतों का समर्थन भोज ने वातादि प्रकृति के भेद से इस प्रकार किया है—'त्र्यहेण श्लैष्मिकः स्निह्यात् पञ्चरात्रेण पैत्तिकः। वातिकः सप्तरात्रेण सात्म्यतां यात्यतः परम्' ॥ भोज। कफ प्रकृति वाला ३ दिन में, पित्त प्रकृति वाला ५ दिन में और वात प्रकृति वाला पुरुष ७ दिन में स्निग्ध हो जाता है। यही स्नेहन-क्रिया की परम अवधि है।

यह ३, ५, ७ दिनों की जो स्नेहपान की अवधि बतलायी गयी है, यह स्नैहिक प्रविचारणाओं की नहीं है, क्योंकि प्रविचारणाओं में जो स्नेहपान किया अथवा कराया जाता है उनमें स्नेह की मात्रा बहुत कम रहती है अतः यह क्रम अच्छपान (शुद्ध रूप में घृत, तैल, वसा, मज्जा को पिलाने) का है।

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ ५२ ॥

१२. 'स्नेह्याः के' कौन से पुरुष स्नेहन के योग्य होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर—जो स्वेदन के योग्य हों, जो शोधन (वमन, विरेचन) के योग्य हों, जो रूक्ष प्रकृति के हों, जो वातविकार से युक्त हों, जो प्रतिदिन व्यायाम, मद्यपान, स्त्री-सहवास और सोचने-विचारने के कार्यों को करते हों, वे सभी पुरुष स्नेहन के योग्य होते हैं। इनका विधिवत् स्नेहन करना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ पर 'स्वेद्याः' और 'शोधयितव्याः' इन दो शब्दों की आवश्यकता नहीं थी, केवल 'शोधयितव्याः' शब्द से ही 'स्वेद्याः' का तात्पर्य सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शोधनात्मक पञ्चकर्मों में स्वेदन का ग्रहण किया जाता है। अतः महर्षि द्वारा यह पृथक् 'स्वेद्याः' शब्द का ग्रहण यहाँ यह सिद्ध करता है कि जो केवल स्वेदन के योग्य हैं न कि शोधन आदि के।

संशोधनादृते येषां रूक्षणं सम्प्रवक्ष्यते। न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम् ॥५३॥
अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः ॥५४॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरार्दिताः। दुर्बलाश्च [1]प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः ॥५५॥
न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोबस्तिकर्मसु। स्नेहपानात् प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः ॥५६॥

१. प्रतान्ता ग्लानिमन्तः।

१३. 'के न च स्नेह्याः' किन पुरुषों को स्नेहन नहीं कराना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर—संशोधन क्रिया के बिना ही जिनके रूक्षण का विधान आगे कहा जायेगा उनका तथा जिनके मुख तथा गुद-मार्ग से स्राव हो रहा हो, जिनकी पाचकाग्नि नित्य मन्द रहती हो, जो तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा से युक्त हों, गर्भिणी स्त्रियाँ जिनका तालु सूखा रहता हो, अन्न के प्रति जिनको द्वेष हो गया हो, जिनको उलटियाँ आ रही हों, जो उदर रोग, आमदोष, गर (बनावटी विष) से पीड़ित हों, दुर्बल, ग्लानियुक्त, अधिक स्नेहपान करने से मलिन चित्त वाले, मदपान से पीड़ित, इनको स्नेहन नहीं कराना चाहिये और जब नस्य अथवा वस्ति प्रयोग किया जा रहा हो तब भी स्नेहन न कराये। क्योंकि उक्त रोगियों को यदि स्नेहपान करा दिया जाय, तो इसके कारण अन्य भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—'रूक्षणं सम्प्रवक्ष्यते'—यह निर्देश 'लङ्घनबृंहणीय' नामक चरक २२ वें अध्याय में इस प्रकार दिया गया है—'अभिष्यण्णा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये। ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निदर्शिताः' ॥ च० सू० अ० २२॥ इसका तात्पर्य यह है कि जिनके कफ तथा मेदस् की वृद्धि हुई हो ऐसे पुरुषों को यदि शोधन कराना हो तो उन्हें—'कटुतिक्तकषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः। खलिपिण्याकतक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम्' ॥ च० सू० अ० २२। के अनुसार कटु, तिक्त, कषाय आदि पदार्थों का सेवन कराकर रूक्ष कर लेने के बाद में शोधन कराने के पूर्व यथोचित स्नेहन कराना चाहिये।

इसका विवेचन वृद्ध वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः। स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत् ततः॥ संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते' ॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० २५। जो मांसल (मोटे) हैं, जिनका मेदा बढ़ा हुआ है, कफ अधिक मात्रा में है, जिनकी अग्नि विषम है, जो स्नेहभक्षणशील हैं, इनका पहले रूक्षण करके तब स्नेहन करे; वह भी यदि संशोधन-कर्म करने हों तो, अन्यथा नहीं।

अभिष्यण्णाननगुदाः—इसका तात्पर्य यह है कि जिनके सदैव लार चूती रहती हो और जिनको अतिसार हो रहा हो, उनका स्नेहन न करें।

यहाँ पर 'जठरामगरार्दिताः' कहकर उदर रोगों में स्नेहन का निषेध किया गया है। यह निषेध केवल छिद्रोदर तथा जलोदर रोगों के लिये है। अन्य उदर रोगों में महर्षि आत्रेय ने स्वयं स्नेहन का विधान इस प्रकार किया है—'स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्। संसर्जयेत्'। च० चि० अ० १३।७२। तथा—'कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत्'। च० चि० अ० १३।११६। इसी अध्याय के उक्त ५२ वें पद्य में प्रतिदिन मद्यपान करने वालों के लिये भी स्नेहन का विधान किया गया है किन्तु यहाँ 'मदातुराः न स्नेह्याः'। मदातुरों का स्नेहन न करें, यह विरोध प्रतीत होता है। **समाधान**—जहाँ मद्यपान करने वालों के लिये स्नेहन कर्म का विधान किया गया है वहाँ की शब्दावली इस प्रकार है—'व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः'। अर्थात् ये लोग व्यायाम, मद्य तथा स्त्री-सहवास करने के अभ्यस्त हो चुके हैं, अतः स्नेहन लाभदायक है और जहाँ निषेध है वहाँ 'मदातुराः' अर्थात् मदपान से बीमार पड़ गये हैं, ऐसा वर्णन है। यह 'मदातुर' की अवस्था ही मदात्यय अथवा मदरोग है। इस प्रसंग में सुश्रुत चि० अ० ३१ श्लोक सं० ४६–५० तक द्रष्टव्य है।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्। मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते ॥५७॥

१४. 'स्निग्धलक्षणम्' भलीभाँति स्नेहन हो जाने पर क्या लक्षण होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर—यदि स्नेहन क्रिया के करने से वायु अनुलोम हो जाय, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाय, मल (Stool) चिकना और ढीला अर्थात् गांठदार न हो, अङ्ग-प्रत्यङ्गों में मृदुता तथा चिकनापन आ जाय तो समझना चाहिये कि स्नेहन भलीभांति हो गया है।

वक्तव्य—सम्यक् स्निग्ध के लक्षणों का सुश्रुत में भी ऐसा ही वर्णन है। देखें—सु० चि० अ० ३१। श्लोक ५३। ध्यान दें—चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० १३ में स्नेह विषयक जो २५ प्रश्न किये गये हैं और उनके क्रमशः उत्तर भी दिये हैं किन्तु ६ठे पद्य में **'स्निग्ध-अस्निग्ध-अतिस्निग्ध-लक्षणम्'** का जो यह क्रम दिया है वह क्रम उसी अध्याय के श्लोक ५७ तथा ५८ में विपरीत हो गया है। यथा—अस्निग्ध का लक्षण पहले देकर स्निग्ध का लक्षण बाद में (निर्णयसागर प्रेस से सन् १९४१ में प्रकाशित प्रति में) सम्पादित किया गया है। उस क्रम को इस संस्करण में ठीक कर दिया गया है।

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः। पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥५८॥

१५. 'अस्निग्धलक्षणम्' अस्निग्ध पुरुष के क्या लक्षण हैं? इस प्रश्न का उत्तर—पुरीष (Stool) का गांठ युक्त तथा रूक्ष होना, वायु का विलोम होना, जाठराग्नि का प्रदीप्त न होना, शरीर में खुरदरापन तथा रूक्षता का होना—ये अस्निग्धता के लक्षण हैं।

वक्तव्य—अस्निग्ध दो प्रकार का होता है—१. जिसको स्नेहपान कराया ही न गया हो अथवा २. जिसका स्नेहपान कराने के साथ ही वमन द्वारा स्नेह बाहर आ गया हो, उक्त दोनों व्यक्तियों के लक्षण समान होते हैं। **'वायुरप्रगुणः'**—शरीरस्थ पाँचों वायु जब अनुलोम रहते हैं तभी मनुष्य सुखी रहता है। विलोम (विपरीत) होने पर अपान वायु भी मुख-मार्ग से आने लगता है, ऐसे मनुष्य की मानसिक स्थिति क्या हो जाती होगी, आप स्वयं विचार करें। 'मृदुः' शब्द 'पक्ता' (अग्नि) का विशेषण है। इसी की सम्पुष्टि सु० चि० अ० ३१ श्लोक ५१–५२ में देखें।

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता। तन्द्रीररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥५९॥

१६. 'अतिस्निग्धलक्षणम्' अतिस्निग्ध के क्या लक्षण होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर—शरीर में पीलापन, भारीपन, जड़ता (अवसाद, कार्य के प्रति अरुचि, इन्द्रियों में म्लानता) मल का बिना पाक हुए निकलना, तन्द्रा (उँघाई लगना), भोजन के प्रति अरुचि और उत्क्लेश (जी मिचलाना)—ये अतिस्निग्ध के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—शरीर के भीतर स्नेहों की जब अधिकता हो जाती है तो पाचकाग्नि मन्द पड़ जाती है जिसके फलस्वरूप उक्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इस प्रसङ्ग में सुश्रुत में एक लक्षण अधिक दृष्टिगोचर होता है, वह है 'गुद दाह' और प्रवाहिका शब्द द्वारा जो कुछ कहा गया है वह चरकोक्त 'पुरीषस्याविपक्वता' है। देखें—सु० चि० अ० ३१ श्लोक ५४।

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः। नातिस्निग्धमसङ्कीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता ॥६०॥

१७. 'किं पानात् प्रथमं हिताहितम्', स्नेहपान से पहले क्या हित है और क्या अहित है? इस प्रश्न का उत्तर—यदि कल (२४ घंटे के बाद) स्नेहपान करने की इच्छा हो तो स्नेहपान करने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह पहले दिन अर्थात् स्नेहपान से २४ घंटा पूर्व द्रव (पतली खिचड़ी, दलिया आदि) पदार्थ, गरम जो अभिष्यन्दी न हों, जो अधिक स्निग्ध न हों तथा जो संकीर्ण (परस्पर विरुद्ध वीर्य वाले), न हों, ऐसे भोज्य (खाने लायक) अन्नों को मात्रा के अनुसार खावे।

वक्तव्य—'अभिष्यन्दी'—जो द्रव्य गुरु एवं कफवर्धक होने के कारण रसवाही स्रोतों में रुकावट पैदा कर के शरीर में भारीपन उत्पन्न करता है, वह 'अभिष्यन्दी' कहा जाता है। जैसे—दही। इन गुणों के विपरीत द्रव्य अनभिष्यन्दी होते हैं। देखें—शार्ङ्गधर सं० अ० ४।२४। अतिस्निग्धता से क्या हानियाँ होती हैं? इसी अध्याय के ५९ वें पद्य में निर्दिष्ट है। **'संकीर्ण'**—जिसमें बहुत प्रकार के द्रव्यों का संयोग हो। हो सकता है विभिन्न प्रकार के द्रव्य परस्पर वीर्य विरुद्ध हों, अतः असंकीर्ण पाठ दिया है।

पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षितः। शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः ॥६१॥

संशमनस्नेह-पान का काल—अन्न के समय (दोपहर को) प्रकाङ्क्षितः (भूख लगने पर) संशमन स्नेह का सेवन करें। **संशोधन-स्नेहनपान-काल**—रात्रि को खाया हुआ भोजन जब पच जाय तब संशोधन के लिये स्नेहपान करे।

वक्तव्य—दोषों की शान्ति के लिये जो स्नेहपान किया या कराया जाता है उसे संशमन कहते हैं। इसका सेवन-काल मध्याह्न है। इस समय जठराग्नि को आहुति चाहिये। ज्यों ही उसको स्नेह की आहुति मिलती है, वह अग्नि उसको स्वाहा कर देती है, फलतः उभड़े हुए दोषों का इससे शमन होता है, या होने लगता है। संशोधन के लिये जो स्नेहपान किया जाता है, उससे दोषों को मलायतनों से निकालने का प्रयास किया जाता है। अतः पर्याप्त भूख लगने के पूर्व किन्तु रात्रि के भोजन के पच जाने पर सेवन करने का विधान इसलिये है कि यदि भूख लगने पर इसको भी दिया जायगा तो वह भी शीघ्र पच जायगा, संशोधन करने की

क्षमता इसमें नहीं रह सकेगी। इसके पूर्व भी इसी अध्याय के १९ वें श्लोक में स्नेहपान के समयों का दूसरे ढंग से निर्देश किया गया है किन्तु उसका तात्पर्य दूसरा है।

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत् ॥६२॥
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ। वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम् ॥६३॥
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च। स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः ॥६४॥

१८-१९. 'पीते जीर्णे किञ्च हिताऽहितम्', स्नेहपान करने के बाद और इसके पचने पर क्या हित है और क्या अहित है? इस प्रश्न का उत्तर—स्नान-पान आदि में उष्ण जल का सेवन करे, ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण नियमों का पालन करे, केवल रात्रि में सोये, मल-मूत्र, अपानवायु, डकार के उत्पन्न वेगों को न रोके, व्यायाम, जोर से बोलना या चिल्लाना, क्रोध, शोक, शीतल-पदार्थों का सेवन, धूप सेंकना या देर तक धूप में बैठे रहना, इनको छोड़ दे। ऐसे स्थान में सोने तथा बैठने की व्यवस्था करे जहाँ सीधा हवा का प्रभाव न पड़े। उक्त नियमों का सेवन स्नेहपान करके करे अथवा स्नेहसेवन-काल में करे। क्योंकि इस प्रकार का आहार-विहार यदि स्नेह का सेवन करनेवाला नहीं करता है तो इसके विपरीत आचरण से अनेकानेक भयंकर व्याधियाँ स्नेहपान करने वाले को हो जाती हैं।

वक्तव्य—'स्नेहं पीत्वा नरे स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च'। इति पाठं स्वीकृत्य—'वर्जयेदप्रवातञ्च सेवेत शयनास-
नम्'। इत्यनन्तरं पठति व्याख्याति च—स्नेहं पीत्वा त्वपरं स्नेहं प्रतिभुञ्जाने नरे स्नेहमिथ्योपचाराद् दारुणा गदा
जायन्ते। हि यस्मात् तस्मात् स्नेहं पीत्वा भोजनादौ स्नेहान्तरं न भुञ्जीत। इति गङ्गाधरः।

चक्रपाणिस्तु—'स्नेहं प्रतिभुञ्जान इति स्नेहे जीर्णेऽपि स्नेहप्रयोगानुगुणमन्यस्नेहमविरुद्धवीर्यादिगुणयुक्तं
भुञ्जानः। इति व्याख्याति।

पाठों के नीचे-ऊपर का भेद अनेक प्रतियों में है। विषय का सम्बन्ध सब ने प्रायः एक-सा ही स्थापित
किया है। इस सम्बन्ध में वाग्भट का मत देखें—'जब २४ घंटे बाद स्नेहपान करना हो तो २४ घंटे पहले,
जिस दिन स्नेहपान किया जाय उस दिन और एक दिन बाद उचित मात्रा में थोड़ा, द्रव, उष्ण तथा जो
अभिष्यन्दी न हो, अधिक स्नेहयुक्त न हो और अनेक अन्नों के मिश्रण से बना हुआ न हो, ऐसा भोजन करना
चाहिये'। अष्टांगहृ० सू० अ० १६।२५।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि स्नेहपान के प्रथम तथा दूसरे दिन पथ्य सेवन करना चाहिये।
यह विधान उस स्नेह के लिये है जो एक दिन या एक बार सेवन किया जाय। जैसे—विरेचन कराने के लिये
ऐरण्ड के तैल का सेवन। यह भी उचित है कि जितने दिन स्नेह पान किया जाय उतने दिन पथ्य आहार पर
रहे और स्नेहपान के बाद भी एक या दो दिन, इस प्रकार पूर्ण लाभ होता है।

स्नेहपान जितने दिन किया जाय उतने दिनों में और उतने ही अगले दिनों में स्नान, पान तथा
कुल्ला आदि में उष्ण (गुनगुना) जल का प्रयोग होना चाहिये। इस अवधि में ब्रह्मचर्य (स्त्री सहवास न
करे) का पालन करे, दिन में न सोये, मल-मूत्र आदि के वेगों को न रोके (जैसा कि 'न वेगान् धारणीय' नामक
७ वें अध्याय में वर्णन है।) और व्यायाम, क्रोध, शोक, शीत, घाम, प्रवात, घोड़ा, तांगा आदि से यात्रा, मार्ग
चलना, बहुत बोलना, बहुत बैठना, बहुत खड़ा रहना, नीचा तकिया या अधिक ऊँचा तकिया, दिन में सोना,
धुँआँ, धूल में रहना या सांस लेना छोड़ दे अर्थात् इनसे दूर रहे। इस प्रकार का परहेज न केवल स्नेहपान
के लिये है अपितु स्वेदन, वमन, विरेचन में भी ध्यान रखें। अष्टांगहृ० अ० १६।२६-२८। अन्यत्र संहिताओं में
भी इसके समर्थन उपलब्ध हैं। शेष चरक सि० अ० १ में देखें।

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥६५॥

२०-२१. 'के मृदु-क्रूरकोष्ठाः' मृदु तथा क्रूर कोष्ठ के व्यक्ति कौन होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर—
अच्छ स्नेह का पान करने से जिसका स्नेहन तीन दिन में हो वह मृदु कोष्ठवाला मानव है और जिसका स्नेहन
सात दिन में होता है उसको क्रूरकोष्ठ कहते हैं।

वक्तव्य—अच्छ स्नेह की प्रधान, मध्यम और ह्रस्व भेद से तीन मात्राओं का वर्णन पीछे हम कर चुके

हैं। इनका सेवन करने से क्रूर तथा मृदु कोष्ठ के मानव का परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रायः वातप्रकृति के मानव क्रूरकोष्ठ होते हैं। इनमें विरेचन के लिये दिये गये औषध-योगों का भी शीघ्र प्रभाव नहीं पड़ता। उक्त पद्य में केवल मृदु तथा क्रूर कोष्ठों की चर्चा की गयी है, इसी अनुपात में मध्यम कोष्ठ के मानवों का काल निर्धारण तीन दिन के बाद (४,५,६ठे दिन) का समझना चाहिये। क्रूर कोष्ठ के लिये तो सात दिनों की अवधि निर्धारित है ही।

क्रूरकोष्ठ के लोगों को भी नियमित स्नेह सम्बन्धी उपचार में रखने से कालान्तर में यह सात दिनों की परिधि घटने लगती है।

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि। पायसं कृशरां सर्पिः काश्मर्यत्रिफलारसम् ॥६६॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥६७॥

मृदुकोष्ठ का परिचय—गुड़, ईख का रस, मस्तु (दही का पानी), दूध, मथा हुआ दही, खीर, खिचड़ी, घी, गम्भारी का रस, त्रिफला का रस, द्राक्षारस, पीलु का रस, गरम पानी और ताजी शराब, इनको पीकर मृदुकोष्ठ के व्यक्ति को विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—निघण्टु ग्रन्थों में मस्तु का अर्थ दही का पानी है। कृशरा—इसका दूसरा नाम 'त्रिसरा' भी है। इसके घटक द्रव्यों के सम्बन्ध में निघण्टुकारों ने विविधता दिखलायी है। कोई तिल, चावल, उड़द के योग से 'त्रिसरा' का निर्माण मानते हैं, कुछ मूंग और चावल से तथा कुछ उड़द की दाल-चावल से। स्वाद के पक्षपाती आलू, गोभी, बैंगन, मटर, किसमिस और च्यूड़ा के मिश्रण तथा उचित मसालों के योग से खिचड़ी का निर्माण करते हैं। इसके साथी हैं घी, पापड़, मूली, दही, अचार तथा चटनी। ध्यान रहे, इसके सेवन से विरेचन नहीं होता।

ऊपर जिन द्रव्यों से मृदुकोष्ठ के व्यक्तियों को विरेचन होना कहा गया है, यह परिगणना उपलक्षण मात्र है। इनके अतिरिक्त भी अनेक द्रव्य ऐसे हैं जिनसे मृदुकोष्ठ के व्यक्ति विरिक्त होते हैं।

विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन। भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला ॥६८॥

क्रूरकोष्ठ का परिचय—जो द्रव्य मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति के लिये विरेचनकारक कहे गये हैं, उन द्रव्यों से क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों को कभी भी विरेचन नहीं होता, क्योंकि क्रूरकोष्ठ वाले पुरुषों की ग्रहणी वातप्रधान होती है।

वक्तव्य—ग्रहणी परिचय—'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी त्यभिधीयते'॥ शार्ङ्गधर सं० अ० ६।६। पाचक पित्त का धारण और पोषण करने वाली जो छठी कला कही गयी है और जो पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित है उसे 'ग्रहणी' कहते हैं।

विशेष—आमाशय से प्रारम्भ होकर पक्वाशय तक पुरुषों में १४ हाथ तथा स्त्रियों में १२ हाथ लम्बी जो आँत (आन्त्र) है, इसी से आहार आमाशय से मलाशय तक जाता है और इसी में आहार का परिपाक भी होता है। इसका सुश्रुत में 'पित्तधरा', चरक में 'अग्न्याधिष्ठान' तथा शार्ङ्गधरसंहिता में 'अग्निधरा' नाम है। यह अन्न को पकाने के लिये ग्रहण करती है, अतः इसका नाम 'ग्रहणी' है।

कोष्ठ भेद से विरेचन विचार—'बहुपित्तो मृदुः कोष्ठो बहुश्लेष्मा च मध्यमः। बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते'॥ शार्ङ्ग० अ० ६।१२।

उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता। मृदुकोष्ठस्य तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः ॥६९॥

मृदुकोष्ठ पुरुष के विरेचन में सरलता—मृदुकोष्ठ वाले पुरुष की ग्रहणी में पित्त की वृद्धि रहती है, कफ और वायु की कमी रहती है अतएव वह सुख से विरेचन योग्य होता है।

वक्तव्य—सुविरेच्य से तात्पर्य यह है कि मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति का पित्त बढ़ा रहता है। पित्त के सर आदि गुणों से मल में भी ढीलापन रहता है अतएव सामान्य विरेचक पदार्थों (मुनक्का, दूध आदि) से भी उसको विरेचन (दस्त) हो जाते हैं। फलतः रोगी अथवा चिकित्सक को विरेचन कराने के लिये कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है।

उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत्। भस्मीभवति तस्याशु स्नेहः पीतोऽग्नितेजसा ॥७०॥
स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली। स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत् ॥७१॥
नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि। स चेत् सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते।
यथैवाशीविषः कक्षमध्यगः स्वविषाग्निना ॥७२॥

२२. 'का व्यापदः' स्नेह का यथाविधि सेवन न करने से कौन से उपद्रव होते हैं? **इस प्रश्न का उत्तर**—जिस पुरुष की ग्रहणी में पित्त बढ़ा हुआ होता है और जिसका अग्नि बलवान् होता है, ऐसा व्यक्ति यदि स्नेहपान करता है तो उसका पिया हुआ स्नेह जठराग्नि के तेज से भस्म हो जाता है, वह अग्नि उक्त स्नेह मात्रा को खाकर (पचाकर) और बलवान् होकर ओजो धातु को क्षीण करता हुआ उपद्रवों से युक्त तीव्र तृष्णा (प्यास) को उत्पन्न कर देती है। स्नेहपान से प्रदीप्त इस जठराग्नि को शान्त करने के लिये गरिष्ठ अन्नपान भी समर्थ नहीं होते और तृष्णा को शान्त करने के लिये यदि शीतल जल नहीं मिलता है तो वह भीतर ही भीतर उसी प्रकार जठराग्नि से जलने लगता है जिस प्रकार जहरीला साँप कक्ष (कमरा) के भीतर स्थित अपनी विषाग्नि से जलता है।

वक्तव्य—कक्ष शब्द अनेकार्थवाची है। यथा—'कक्षः शुष्कतृणे प्रोक्तः कक्षः कच्छ उदाहृतः····। रथगेह प्रकोष्ठयोः'। इति धरणिः। सर्प की विषाग्नि से उसके समीपस्थ सूखे तृणों में आग लग जाती है, ऐसा देखा सुना जाता है। यदि कक्ष का अर्थ गेह अथवा कोष्ठ करते हैं, जिसमें मदारी साँप को ढककर रखता है, हँडिया, पिटारी आदि, तो उसके भीतर रहकर भी वह अपनी गर्मी से स्वयं जलने लगता है।

विशेष—कक्ष का अर्थ सूखे तृण, जिन लोगों ने किया है वह इस प्रसंग के लिये उचित नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति पुरुष के कोष्ठ की नहीं है। अतः कक्ष का अर्थ गेह या कोष्ठ ही करना चाहिये, यह सामान्य रूप से लौकिकन्याय भी है कि 'जलती हुई आग में घी डालना', क्योंकि इससे आग और प्रदीप्त होती है। देखिये—'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'। सूक्ति। **सोपसर्गाम्**—अर्थात् विविध प्रकार के उपद्रवों को वह बढ़ी हुई अग्नि उत्पन्न कर देती है साथ ही रसादि-धातुओं को भस्म करके मानव को मौत के घाट उतार देती है। अतः अग्नि को शान्त करने के लिये रोगी को यथेच्छ शीतल जल दिया जाय।

अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद् भिषक्। शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ॥

स्नेहाजीर्ण तथा तृष्णा (प्यास) की चिकित्सा-विधि—यदि स्नेहपान करने के कारण अजीर्ण और उससे तृष्णा उत्पन्न हो जाय तो चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगी को वमन करा दे, उसके बाद रूखा अन्न खिलाकर तथा शीतल जल पिलाकर फिर वमन करा दे।

वक्तव्य—उक्त पद्य में पहली बार 'छर्दयेत्' क्रिया का प्रयोग है और दूसरी बार 'उल्लिखेत्' का। इसका तात्पर्य यह है कि पहली बार कोष्ठस्थित स्नेह को बाहर निकाल दे (उगल दे), यदि इससे भी प्यास कम न हो तो समझना चाहिये कि कुछ स्नेह अभी और भीतर रह गया है। अतः उसको निकालने के लिये रूक्ष यवागू आदि को खिलाकर पुनः वमन करावे। यह वमन उल्लेखन क्रिया का प्रतिनिधि है। इसका अर्थ है अवशिष्ट स्नेह को अपने में सुखाकर तथा आन्त्र-प्रदेशों में सटे हुए स्नेह को खुरचकर (पोंछकर) बाहर निकालना।

चरक में 'शीतोदकं पीत्वा' तथा सुश्रुत में 'उष्णाम्बुना वमेत्'। सु० चि० अ० ३१।२४। यह जो परस्पर विपरीत प्रकारों का वर्णन किया गया है, उसका समाधान इस प्रकार है—पित्त प्रधान पुरुष को शीतल जल से तथा कफ-वात प्रकृति वाले पुरुष को गरम जल से वमन कराना चाहिये। दूसरा कारण यह भी है कि चरक में जो शीतल जल पिलाकर वमन करने का निर्देश किया गया है, वह इसलिये कि यहाँ 'उदीर्णपित्त' वाले रोगी का प्रसंग है और सुश्रुत में 'शीते वातकफार्तस्य' सु० चि० अ० ३१।२३। शीतकाल में वात तथा कफ से पीड़ित रोगी को वमन कराने का प्रसंग है, जिसका समर्थन महर्षि आत्रेय भी करते हैं। इसकी चर्चा वृद्धवाग्भट के शब्दों में देखें—'अजीर्णे बलवत्यां तु शीतैर्दिह्याच्छिरोमुखम्, छर्दयेत् तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः। रूक्षान्नमुल्लिखेद् भुक्त्वा तादृश्यां तु कफानिले। सन्दोषं च निःशेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥ ततो दोषातबलतः पूर्वोक्तं च विधिं श्रयेत्'॥ अ० सं० सू० अ० २५।

तात्पर्य यह है कि सुश्रुत, चरक एवं वाग्भट उक्त सम्बन्ध में एक-मत हैं न कि इनमें किसी प्रकार का मत-भेद है। वाग्भट ने चरक तथा सुश्रुत के स्वतन्त्र-परतन्त्र विचारों का अपनी संहिता द्वारा समन्वय करके दोनों संहिताओं को सम्मानित किया है, इसी से इनकी यह रचना युगानुरूप कही जाती है।

न सर्पिः [1]केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः। सर्वं [2]ह्यनुरजेद् देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत् ॥७४॥

आम दोष युक्त पित्त में घृतपान का निषेध—साम पित्त में केवल सर्पि (जो प्रविचारणाओं से युक्त न हो अर्थात् 'अच्छसर्पिः') का पान (सेवन) विशेष रूप से नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह घृत पान सम्पूर्ण शरीर को (पित्त के राग से) रंग देता है और संज्ञावहस्रोतों में जाकर उनको नष्ट कर उक्त रोगी को मार डालता है।

वक्तव्य—'सर्वं ह्यनुरजेद् देहं' इसके स्थान में दो पाठभेद मिलते हैं। यथा—१. ह्यनुचरेद् २. ह्यनुरुजेद्। प्रथम का अर्थ है—सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है और दूसरे का है—सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करता है। इन दो पाठों से अधिक रुचिकर 'ह्यनुरजेद्' इसलिये है कि पित्त के ही कारण रस के श्वेत कणों में लालिमा आती है। देखें—'यदा रसो यकृद् याति तत्र रञ्जकपित्ततः। रागं पाकं च सम्प्राप्य स भवेद् रक्तसंज्ञकः' ॥ शार्ङ्गधर अ० ५। फलतः यह पित्त सम्पूर्ण देह को रंग देता है।

कुछ व्याख्याकार केवल सामपित्त में सर्पिःपान का ही विशेष रूप से निषेध नहीं करते अपितु तैलपान का भी विरोध करते हैं। दूसरे आचार्यों का कथन है कि पित्तविकार में घृतपान का निषेध है। आमदोष युक्त पित्तविकार में तो विशेष रूप से घृतपान निषिद्ध है। अतः पित्तप्रधान ज्वर आदि रोगों में जहाँ भी घृतपान का निर्देश है, वहाँ अच्छपेय का निषेध तथा प्रविचारणा प्रकरण में कथित (औषध संस्कृत) घी का सेवन करना कराना चाहिये। इस प्रकार का यदि निर्णय ले लिया जाय तो सुश्रुत में कथित निम्न पद्य के सिद्धान्त के साथ विरोध होता है। देखें—'केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्। देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम्' ॥ सु० चि० अ० ३१। अतः सुश्रुतसंहिता का उक्त वचन निराम पित्त में संस्कार रहित (केवल) घृतपान का समर्थक है। डल्हणाचार्य का भी 'केवल' शब्द से तात्पर्य प्रक्षेपादि रहित घी ही है। गयदास का मत है 'केवल' शब्द से पित्तहर द्रव्यों द्वारा पाक किया हुआ घृत लेना चाहिये।

आचार्य 'इन्दु' ने अष्टांगसंग्रह की टीका करते हुए लिखा है कि पित्ताशय के शोधन के लिये केवल घृत-पान का निषेध है, संशमन में तो सभी प्रकार के स्नेहों में घृत की उत्तमता प्रसिद्ध है। अतः घृतपान के पूर्व यह विवेचन कर लेना आवश्यक है कि यह संशोधन के लिये है अथवा संशमन के लिये? ऐसा निश्चय कर लेने पर उक्त सन्देह का निर्णय हो जायगा।

[3]तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता।
कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफाशींस्यरुचिस्तृषा ॥ ७५ ॥
जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः। शूलमामप्रदोषाश्च [4]जायन्ते स्नेहविभ्रमात् ॥७६॥

स्नेहव्यापदों का वर्णन—उक्त स्नेहों का यदि नियमानुसार सेवन नहीं किया जाता है तो निम्नोक्त उपद्रव हो जाते हैं—तन्द्रा, उत्क्लेश (जी मिचलाना), आनाह (अफारा), ज्वर, स्तम्भ (अंगों में जकड़न), विसंज्ञता (चेतनता का अभाव), कुष्ठ (त्वचा सम्बन्धी विकार), खुजली, पाण्डु रोग (रक्ताल्पता), शोफ (शोथ-सूजन), अर्श (बवासीर), अरुचि (भोजन के प्रति इच्छा का न होना), तृषा (प्यास), जठर (उदर-विकार), ग्रहणीदोष (ग्रहणी सम्बन्धी सभी रोग), स्तैमित्य (शरीर का गीला-गीला-सा प्रतीत होना), बोलने में असमर्थता, शूल और आमदोष (अलसक, विसूचिका आदि)।

तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम्। प्रति प्रति व्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च ॥७७॥

१. केवलमसंस्कृतम्। 'केवले' ग.।
२. 'ह्यनुचरेद् देहम्' ग.। 'अनुरुजेत्' यो.।
३. 'तन्द्रीरुत्क्लेश' इति ग.।
४. 'शूलमामप्रदोषश्च जायते' ग.।

तक्रारिष्टप्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम्। मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम् ॥७८॥

२३. **'सिद्धयश्च काः' स्नेह व्यापदों की चिकित्सा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर**—स्नेहजनित विकारों में वमन, स्वेदन, निश्चित काल तक उसकी प्रतीक्षा करना, प्रत्येक पुरुष के बल तथा उसके रोग के बल को देखकर विरेचन देना, तक्र अथवा अरिष्टों का प्रयोग, रूक्ष पदार्थों से बने पेयों तथा भोजनों का सेवन, गोमूत्र, त्रिफला का सेवन स्नेह के कारण उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'प्रति-प्रति' का अर्थ है 'पुरुषं पुरुषं' व्याधिं व्याधिं च वीक्ष्य'। जैसा कि पहले कहा गया है, यही ठीक चिकित्सा का स्वरूप भी है। **तक्रारिष्ट**—चरक चिकित्सास्थान में तक्र तथा अरिष्टों के प्रयोग दिये गये हैं।

अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः। स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येताऽतिसेवितः ॥७९॥

स्नेहजनित रोगों के होने में कारण—जिस स्नेह के सेवन का जो समय निर्देश किया है उसके विपरीत समय में उस स्नेह का सेवन करने से, जो स्नेह जिसके लिये हितकारक नहीं है उस स्नेह का पान कर लेने से, मात्रा के विपरीत सेवन करने से, स्नेह-सेवन-काल में जिन नियमों का सेवन करना चाहिये उसके विपरीत आचरण करने से और अधिक दिनों तक सेवन करते रहने से स्नेहजनित व्यापत्तियाँ (विकार) उत्पन्न हो जाते हैं।

स्नेहात् [1]प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्। [2]स्नेहवद् द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम् ॥८०॥

२४. **'अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते'** संशोधनार्थ जो अच्छ स्नेहपान किया जाता **है उसकी क्या विधि है? इस प्रश्न का उत्तर**—स्नेह सेवन के तीन दिन बाद वह व्यक्ति प्रस्कन्दन (विरेचन पदार्थ) का सेवन करे। इन तीन दिनों में वह स्नेह युक्त उष्ण मांस द्रव (रस) के साथ भात का सेवन करे।

वक्तव्य—उक्त पद्य में स्नेह पान के बाद जो तीन रात का अन्तर दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कफ दोष को बढ़ने न दिया जाय। देखें—'विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक्'। च० सि० अ० १। साथ ही 'रसैस्तथा जाङ्गलिकैर्मनोज्ञैः स्निग्धैः कफाऽवृद्धि करैर्विरेच्यः'। च० सि० अ० १। इस प्रकार उक्त पद्य को समर्थन प्राप्त है।

एकाहोपरतस्तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्।

वमनार्थ स्नेहपान—वमन के लिये जो स्नेहपान कराया जाता है उसमें भी एक दिन के बाद पूर्वोक्त विधि के अनुसार (स्नेह युक्त उष्ण मांस (द्रव) रस के साथ भात का सेवन कराकर) वामक द्रव्यों को पिलाकर वमन कराये।

वक्तव्य—भली भाँति स्निग्ध हो जाने पर और जब कफ उभर चुका हो उस समय वमन कराने से व्यक्ति को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं हो पाता। अतएव चरक में ऐसा उल्लेख है—'कफोत्तरश्छर्दयति स्निग्ध-मदुःखम्'। च० सि० अ० १। वृद्धवाग्भट ने इस अवधि के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार दिया है—'स्निग्ध-त्र्यहं स्थितः कुर्याद् विरेकं वमनः पुनः। एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः' ॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० २५।

[3]स्यात् त्वसंशोधनार्थीये वृत्तिः स्नेहे विरिक्तवत् ॥ ८१ ॥

संशमन स्नेहपान की विधि—संशमन के लिये सेवन किये गये स्नेह में विरिक्त (जिसको विरेचन हो चुका है अथवा जिसको विरेचन करा दिया गया है) के समान ही आहार-विहार का सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त 'विरिक्तवत्' प्रयोग का वर्णन चरक सू० अ० १५ में किया जायगा। विशेषता यह है कि विरेचन के बाद धूमपान की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु वमन कराने के पश्चात् बचा हुआ कफ धूमपान द्वारा निकालने का विधान है।

१. प्रस्कन्दनं विरेचनम्। 'प्रस्कन्दनः' ग.।
२. स्नेहं च द्रवमुष्णं च' ग.।
३. 'स्यात्तु संशोधनार्थीय' ग.।

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः । क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा ॥८२॥

२९. 'विचारणाः केषु योज्या विधिना केन तत् प्रभो', उक्त विचारणाओं का किनमें किस विधि से प्रयोग करना चाहिये, हे भगवन् ! उनको कहिये ? इस प्रश्न का उत्तर—जो व्यक्ति घृत, तैल, वसा, मज्जा का सेवन अपनी इच्छा से नहीं करते अथवा जो सदैव घी आदि का सेवन करते रहते हैं, जिनका मृदु कोष्ठ है, जो कष्ट या कष्टों को सहन नहीं कर सकते और जो प्रतिदिन मद्यपान किया करते हैं, उनके लिये विचारणाओं के प्रयोग करने चाहिये।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने निम्नलिखित व्यक्तियों को विचारणा के योग्य कहा है—'सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेह द्विषं तथा । तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन दापयेत्' ॥ सुश्रुत चि० अ० ३१।३७ ॥ उक्त पद्य में 'सह भक्तेन दापयेत्' यह वाक्य विचारणा का एक भेद मात्र है, वास्तव में इसका विवेक एवं दायित्व चिकित्सक पर पूर्णरूपेण है कि वह देश, काल, परिस्थिति का विचार कर इसी अध्याय के २३, २४, २५ श्लोकों में निर्दिष्ट विचारणाओं का यथोचित प्रयोग करे।

लावतैत्तिरमायूरहांसवाराहकौक्कुटाः । गव्याजौरभ्रमात्स्याश्च रसाः स्युः स्नेहने हिताः ॥८३॥

लावक (A small bird like partridge), तीतर, मोर, हंस, सूअर, कुक्कुट (मुर्गा), गाय, बकरी, भेड़ (उरभ्र) और मछली के मांस रस स्नेहन क्रिया में हितकर होते हैं।

यावकोलकुलत्थाश्च स्नेहाः सगुडशर्कराः । दाडिमं दधि सव्योषं रससंयोगसङ्ग्रहः ॥८४॥

विचारणा के लिये निर्दिष्ट उक्त मांस रसों में निम्नलिखित द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये—जौ, बेर, कुलथी (कूर्माचल प्रदेश में इसको गहत या घौत कहते हैं।) सभी प्रकार के स्नेह, गुड़, चीनी, दाड़िम के बीज, दही, व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पीपल)।

स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वं जग्धाः सस्नेहफाणिताः । कृशराश्च बहुस्नेहास्तिलकाम्बलिकास्तथा ॥८५॥

भोजन करने से पहले स्नेह (चार प्रकार के स्नेहों में से किसी एक के साथ) और राब के साथ तिल को खाने से शरीर का स्नेहन होता है, जिसमें स्नेह पदार्थ अधिक मात्रा में पड़ा हो ऐसी खिचड़ी और तिल मिश्रित काम्बलिक का सेवन भी स्नेहन करता है।

वक्तव्य—ऊपर तीन योगों का स्नेहन के लिये वर्णन किया गया है—१. 'सस्नेहफाणिताः तिलाः'। २. 'कृशराः'। ३. 'तिलकाम्बलिकाः'। अब विवाद इस पर है कि 'बहुस्नेहाः' विशेषण किसका है ? कृशरा (खिचड़ी) के सम्बन्ध में तो लोक प्रसिद्धि है कि इसके चार यारों में एक यार (परम मित्र) घी है। अब रही बात 'तिलकाम्बलिक' की; इसके निर्माण का प्रकार हम इसी अध्याय के २२ से २५ तक के श्लोकों के वक्तव्य में दे चुके हैं वहाँ देखें। इसमें तिल को छोड़कर और कोई स्निग्ध पदार्थ नहीं है अतः इसके साथ भी 'बहुस्नेहाः' विशेषण का सम्बन्ध स्थिर करना प्रसंगोचित होगा। वृद्धवाग्भट ने भी 'भूरिस्नेहं तिलकाम्बलिकं' स्वीकार किया है।

फाणितं शृङ्गवेरं च तैलं च सुरया सह । पिबेद् रूक्षो भृतैर्मांसैर्जीर्णेऽश्नीयाच्च भोजनम् ॥८६॥

रूक्ष प्रकृतिवाला पुरुष मद्य (शराब) के साथ राब, सोंठ का चूर्ण और तिल का तैल मिलाकर सेवन करे। स्नेह के पच जाने पर भृतमांस (लोहे की सींक में पिरोकर भूने हुए मांस) के साथ भोजन करे।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में 'भृतैः' के स्थान पर 'शृतैः' पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ खूब पकाये हुए मांस के रस के साथ भोजन करे, ऐसा अर्थ समझें।

तैलं सुरायां मण्डेन वसां मज्जानमेव वा । पिबन् सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः ॥८७॥

वात प्रकृति वाला पुरुष सुरामण्ड (मद्य के ऊपरी भाग) के साथ तैल, वसा अथवा मज्जा को मिलाकर सेवन करे अथवा दूध में राब को डालकर पान करे, इससे उसका स्नेहन होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य का अन्वय ('वातिकः नरः सुरायाः मण्डेन तैलं, वसां, मज्जानं, सफाणितं क्षीरं वा पिबेत् (एतेन) स्निह्यति।) ऐसा करने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा—वात प्रकृतिवाला पुरुष सुरामण्ड

के साथ तैल, वसा मज्जा अथवा गुड़ की राब मिले हुए दूध का पान करे इस से उसका स्नेहन होता है। वृद्धवाग्भट ने अपना मन्तव्य इस प्रकार दिया है—'स्नेहं वैकं सुराच्छेन', अ० सं० सू० अ० २५।

धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः । नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ॥८८॥

उसी समय दुहे हुए गरम दूध में स्नेह तथा मिश्री मिलाकर पीने से अथवा दही की मलाई में फाणित (गुड़ की राब) मिलाकर पीने से रूक्ष प्रकृति वाले पुरुष का स्नेहन हो जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने जो विधि बतलायी है वह और भी रुचिकर लगती है। देखें—दोहनी में (जिसमें दूध दुहा जाता है) चीनी, घी रखकर दूध दुहे। इस गरम-गरम दूध को पीने से रूक्ष मनुष्य का शीघ्र ही स्नेहन हो जाता है। सु० चि० अ० ३१।४२ ॥ वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में चीनी के साथ नमक भी मिलाने का आदेश दिया है—'ससितावृते। सर्पिर्लवणयुक्तं वा सद्यः स्निग्धं तथा पयः', अ० सं० सू० अ० २५।

पाञ्चप्रसृतिकी पेया पायसो माषमिश्रकः । क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ॥८९॥

पाञ्चप्रसृतिक नाम से कही गयी पेया और दूध डालकर पकायी गई चावल तथा उड़द की खीर जिसमें पर्याप्त मात्रा में स्नेह मिलाया गया हो, इसके सेवन से शीघ्र ही मनुष्य का स्नेहन होता है।

वक्तव्य—पाञ्चप्रसृतिकी पेया की निर्माणविधि अगले पद्य में देखें। दूसरा है क्षीरसिद्ध माषमिश्रक पायस इस प्रविचारणा से पुरुष का स्नेहन शीघ्र हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कम से कम तीन दिन में सम्यक् स्निग्ध के लक्षण उस पुरुष में दिखलायी देते हैं।

सर्पिस्तैलवसामज्जातण्डुलप्रसृतैः [1]शृता । पाञ्चप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ॥९०॥

पाञ्चप्रसृतिकी पेया निर्माणविधि—घी, तैल, वसा, मज्जा तथा चावल इन पाँचों द्रव्यों को एक-एक प्रसृत लेकर यथाविधि बनायी हुई पेया का सेवन स्नेहन चाहने वाले पुरुष को करना चाहिये।

वक्तव्य—'पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया'। शार्ङ्गधरसं० पू० ख० १ अ० २५। अर्थात् २ पल=१ प्रसृति। आधुनिक मान के अनुसार लगभग ८० ग्राम। उक्त पाँच द्रव्यों को अलग-अलग ८० ग्राम की तौल में लेकर ६ गुने जल में पकाकर 'पेया सिक्थसमन्विता' जब कुछ गाढ़ी होने लगे तो उतार लें। क्योंकि उसका नाम पेया (पातुं योग्या) अर्थात् पीने योग्य है।

(शौकरो वा रसः स्निग्धः सर्पिर्लवणसंयुतः । पीतो द्विर्वासरे यत्नात् स्नेहयेदचिरान्नरम् ॥१॥)

घी आदि द्वारा सिद्ध किये हुए शूकर के मांस रस में पुनः घी, नमक मिलाकर दिन में दो बार पीने से मनुष्य शीघ्र ही स्निग्ध हो जाता है।

ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुडं दधि पयस्तिलान् । कुष्ठी शोथी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ॥९१॥

रोगविशेष के अनुसार स्नेहन द्रव्यों का निषेध—कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह के रोगियों को ग्राम्य (गाँव में पाले गये), आनूप (जलप्रधान देश के) एवं औदक (सदा पानी में रहने वाले) पशु-पक्षियों के मांस, गुड़, दही, दूध और तिलों का प्रयोग न करायें।

स्नेहैर्यथार्हं तान् सिद्धैः स्नेहयेदविकारिभिः । पिप्पलीभिर्हरीतक्या सिद्धैस्त्रिफलयाऽपि वा ॥९२॥

कुष्ठ आदि रोगों में स्नेहन का प्रकार—उन (कुष्ठ, शोथ तथा प्रमेह रोगियों) को विकार न करने वाले तथा उन-उन रोगों को हरने वाले औषधसमूह से सिद्ध स्नेहों से विधिपूर्वक स्नेहन करे अथवा पिप्पली, हरीतकी, त्रिफला से सिद्ध किये हुये स्नेह का प्रयोग करे।

वक्तव्य—चक्रपाणि ने कुष्ठ रोगी को पिप्पली साधित स्नेह, शोथ रोगी को हरीतकी-घृत और प्रमेही को त्रिफला-घृत का सेवन कराना चाहिये, ऐसा क्रमिक निर्देश दिया है। आचार्य गंगाधर ने उक्त सभी द्रव्यों से साधित स्नेह का सभी रोगों में देने की अनुमति दी है। भगवान् आत्रेय ने तो अविकारिभिः सिद्धैः स्नेहैः

---

१. 'कृता' ग.।

यथास्वं तान् स्नेहयेत्' कहा है। अतः गङ्गाधर का मत अधिक उचित प्रतीत होता है। इसी का अनुसरण वृद्ध-वाग्भट ने अष्टाङ्गसं० सू० अ० २५ में 'गुडानूप······योजयेदविकारिणः' पद्य भाग से किया है।

द्राक्षामलकयूषाभ्यां दध्ना चाम्लेन साधयेत्। [1]व्योषगर्भं भिषक् स्नेहं पीत्वा स्निह्यति तं नरः॥

व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पीपल) के कल्क, मुनक्का, आँवला का यूष (पकाकर लिया गया रस) तथा दही का घोल इनसे सिद्ध किये हुए स्नेह का पान करने वाला पुरुष स्निग्ध हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'तत्' सर्वनाम 'स्नेहं' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इसी का समर्थन निम्न-पंक्ति में देखें—'दध्ना सिद्धं व्योषगर्भं धात्रीद्राक्षारसे घृतम्'। अ० सं० सू० अ० २५। यहाँ से श्लोक ९५ तक की स्नेह विधियाँ विचारणा के ही भेद हैं।

यवकोलकुलत्थानां रसाः [2]क्षारः सुरा दधि। क्षीरं [3]सर्पिश्च तत्सिद्धं स्नेहनीयं घृतोत्तमम्॥९४॥

जौ, बेर तथा कुलथी के क्वाथ में यवक्षार, मद्य, दही, दूध और घी मिलाकर सिद्ध किया हुआ घी स्नेहन करने के लिये सर्वोत्तम होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में पाठभेदों का निर्णय निम्ननिर्दिष्ट दूसरी संहिताओं के पाठों से करें। यव-कोलकुलत्थानां क्वाथो भागत्रयान्वितः। पयोदधिघृतक्षारघृतभागैः समन्वितः॥ सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यः स्नेहन-मुच्यते'॥ सुश्रुत चि० अ० ३१। तथा—'यवकोलकुलत्थाम्बुक्षारक्षीरसुरादधि। घृतं च सिद्धं तुल्यांशं सद्यः स्नेहनमुच्यते'॥ अ० सं० सू० अ० २५॥

तैलमज्जवसासर्पिर्बदरत्रिफलारसैः। योनिशुक्रप्रदोषेषु साधयित्वा प्रयोजयेत्॥९५॥

तैल, मज्जा, वसा और घी इनको एक साथ बेर और त्रिफला के क्वाथ से विधिपूर्वक सिद्ध करके योनि विकारों तथा शुक्रजनित दोषों में प्रयोग करना चाहिये।

गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रं प्रस्रवत्यधिकं यथा। [4]यथाग्नि जीर्यति स्नेहस्तथा स्रवति चाधिकः॥९६॥
यथा [5]चाक्लेद्य मृत्पिण्डमासिक्तं त्वरया जलम्। स्रवति स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरितसेवितः॥९७॥

अधिक मात्रा में अथवा शीघ्रतावश सेवन करने पर उत्पन्न दोषों का आलंकारिक वर्णन—जिस प्रकार पानी में डाला हुआ वस्त्र गीले होने भर पानी को अपने में लेकर शेष जल को चुआ देता है, उसी प्रकार स्नेहन के लिये पान किये गये स्नेह को पाचकाग्नि उचित मात्रा में पचाकर शेष (न पचे हुए) स्नेह को (मल द्वार से) बाहर निकाल देती है। दूसरी उपमा—अथवा जिस प्रकार मिट्टी के ढेले पर शीघ्रता से डाला हुआ जल, उसको भलीभाँति गीला किये बिना ही बह जाता है उसी प्रकार शीघ्रता से सेवन किया या कराया हुआ स्नेह बिना शरीरावयवों को स्निग्ध किये ही मल के साथ निकल जाता है।

वक्तव्य—उक्त वस्त्र तथा मिट्टी के ढेले की दोनों ही उपमायें यह सूचित करती हैं कि हमारे शरीर की रचना इस प्रकार की है कि इसमें किसी प्रकार की वस्तु यदि इच्छा अथवा आवश्यकता के विरुद्ध खान-पान के रूप में पड़ जाती है तो वह वमन या विरेचन द्वारा बाहर आ जाती है। यदि नहीं आती या नहीं आने दिया जाता तो वह अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करती है।

लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्। तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च॥९८॥

नमक के साथ यदि स्नेहों का प्रयोग किया जाता है तो वे शीघ्र ही मानव को स्निग्ध कर देते हैं। क्योंकि वह (नमक) अभिष्यन्दी, स्निग्ध, सूक्ष्म, उष्ण तथा व्यवायी होता है।

---

१. व्योषगर्भं त्रिकटुकल्कयुक्तम्।
२. 'क्षीरम्' इति पा०।
३. 'क्षारः सर्पिश्च' इति पा.।
४. 'तथाऽग्निं जीर्यति स्नेहं तथा स्रवति चाधिकम्' ग.।
५. 'वाऽक्लेद्य' ग.।

वक्तव्य—हम चरक सू० अ० २५ में नमक के पाचन, क्लेदन, दीपन, च्यावन, छेदन, भेदन, सर, विकासी आदि गुणों का विस्तार से वर्णन करेंगे। इसके लिये चरक के अन्य स्थल (च० सू० २५, २७ तथा विमानस्थान अ० १) द्रष्टव्य हैं। इन्हीं गुणों के कारण इसका स्नेह में मिलाकर प्रयोग बतलाया गया है क्योंकि लवण के उक्त गुण ऐसे हैं, जिनके कारण स्नेह शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर में प्रभाव करता है।

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य [1]संशोधनमथेतरत्॥९९॥

सर्वप्रथम स्नेह का प्रयोग करे, तदनन्तर स्वेदन जब भलीभाँति स्नेहन और स्वेदन हो जाय तब संशोधन अथवा संशमन क्रिया करें।

वक्तव्य—यह पञ्चकर्म का सुप्रसिद्ध क्रम है। संशमन क्रिया द्वारा दोष कभी-कभी पुनः उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु 'ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः'। अर्थात् जो दोष संशोधन विधि से दूर कर दिये जाते हैं उनके पुनः उभड़ने की आशंका ही नहीं रहती।

तत्र श्लोकः—

स्नेहाः स्नेहविधिः कृत्स्नव्यापत्सिद्धिः सभेषजा।
यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना॥१००॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
स्नेहाध्यायो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इस अध्याय में आये हुए विषयों का उपसंहार—इसमें स्नेह, स्नेह सेवन की सम्पूर्ण विधियाँ, स्नेहों के विधिवत् सेवन न करने से होने वाली व्याधियाँ और औषधों द्वारा उन व्यापत्तियों की सिद्धि (चिकित्सा) इन सब विषयों को पूर्वकथित प्रश्नों के अनुसार चन्द्रभागा के पुत्र भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा (उत्तर दिया) है।

वक्तव्य—महर्षि अग्निवेश ने पुनर्वसु आत्रेय से स्नेह सम्बन्धी २५ प्रश्नों को पूछा था उन्होंने उक्त अध्याय में उसी क्रम से उत्तर दिया है। **चान्द्रभागिना**—चन्द्रभागा (चिनाव नदी) के तट प्रदेश के निवासी अथवा चन्द्रभागा नाम की माता के पुत्र महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने प्रश्नों का उत्तर दिया।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में स्नेहाध्याय नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः स्वेदाध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

स्नेहाध्याय वर्णन के पश्चात् अब हम स्वेदाध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—१३वें अध्याय के ९९ वें श्लोक के अनुसार स्नेहन के बाद स्वेदन (Sudation) का वर्णन करना क्रम प्राप्त है। अतएव स्वेदाध्याय को प्रारम्भ किया गया है।

---

१. 'संशोधनमनन्तरम्' यो.।

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत् प्रयोजितैः । स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मकाः ॥३॥

अब स्वेदों का वर्णन किया जायगा, जिनके विधिवत् प्रयोग करने से वातज एवं कफज स्वेद-क्रिया द्वारा साध्य रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—'वातकफात्मकाः' इसका अर्थ केवल वातज एवं कफज ही पर्याप्त नहीं है, अपितु वातज, कफज और वात-कफज अपेक्षित है। इसी अध्याय में आगे इसकी पुष्टि करने वाला पद्य इस प्रकार दिया गया है—'वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते'। च० सू० अ० १४ श्लोक ८। स्वेद के अग्नि-गुण-प्रधान होने के कारण पित्तज विकारों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। यदि वात-कफ के साथ पित्त दोष भी हो तो वहाँ पर द्रव स्वेद कराना चाहिये। देखें—'अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेदः'। सु० चि० अ० ३२।१४। तापस्वेद, ऊष्मस्वेद ये विशेष रूप से कफनाशक होते हैं। उपनाहस्वेद वातनाशक है। किसी एक (कफ या वायु) दोष से पित्त के मिले होने पर द्रवस्वेद का प्रयोग कराना चाहिये।

विशेषवक्तव्य—किसी उष्ण द्रव में बैठाना या उससे स्नान कराना अथवा पीड़ित अङ्ग पर परिषेचन करना ये सब 'द्रवस्वेद' के भेद हैं। शीतकाल में उष्ण जल का स्नान भी द्रवस्वेद ही है। उक्त चारों स्वेद अग्निगुण से सम्बद्ध है।

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले । पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥ ४ ॥

स्नेहन के बाद स्वेदन से लाभ—स्नेहन क्रिया करने के बाद स्वेदन द्वारा वायु को जीत लेने पर अर्थात् वायु के अनुलोम तथा दोष रहित हो जाने पर पुरीष (मल), मूत्र और वीर्य का सञ्चार ठीक ढंग से होता है। तात्पर्य यह है कि इनके निकलने में कोई रुकावट नहीं होती।

वक्तव्य—'न सज्जन्ति कथञ्चन'—वायु की रुकावट न होने से मलबन्ध (कब्जियत), मूत्ररोध, मूत्रकृच्छ्र तथा शुक्राश्मरी आदि विकार कभी नहीं होते।

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः । नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥ ५ ॥

स्वेदन-क्रिया की प्रशंसा—विधिवत् स्नेहन तथा स्वेदन करने से जब सूखी लकड़ियाँ भी इच्छानुसार झुकाई, घुमाई, मोड़ी जा सकती है तो जीवित पुरुषों के अङ्गावयवों की तो बात ही क्या है। अर्थात् इनकी जड़ता तो दूर की ही जा सकती है।

वक्तव्य—यद्यपि उक्त पद्य में स्नेहन-स्वेदन-क्रिया के माहात्म्य से सूखी लकड़ी के झुक जाने की बात को कहकर जीवित मनुष्यों के शरीर पर इसका प्रभाव होना सामान्य बात है, यह दिखाया गया है। बढ़े हुए वात रोगों से शरीरावयवों में जकड़न आ जाती है जिसके लिये स्नेहन-स्वेदन आदि का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त क्रियाओं से स्रोतों के भीतर जो दोषों का संघात (संघटन) हो जाता है वह भी शिथिल हो जाता है; तदनन्तर ही शोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये अन्यथा लाभ न होकर हानि ही होती है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के निम्न वचन महत्वपूर्ण हैं—'स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्। दारुशुष्कमिवानामि देहस्तस्य विशीर्यते'। सु० चि० अ० ३३।४६। और भी—'नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे, स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित्। दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु गच्छेद् भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम्'॥ सु० चि० अ० ३२।२०। आशय स्पष्ट है। अतः संशोधन क्रिया के पहले स्नेहन तथा स्वेदन विधिवत् करा लेना चाहिये, अन्यथा हानि हो सकती है।

रोगर्तुव्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्न च । द्रव्यवान् कल्पितो देशे स्वेदः कार्यकरो मतः ॥ ६ ॥

रोग, ऋतु (काल) और रोगी की शारीरिक स्थिति (बलाबल) के अनुसार न अधिक गरम न अधिक मृदु (एकदम शीतल) द्रव्यों से युक्त स्वेदन पदार्थों से स्वेदोचित देश (शरीरावयव) में कराया गया स्वेदन कार्यकर (कारगर, पूर्ण सफलता देने वाला) होता है।

वक्तव्य—'देशे' यहाँ पर देश शब्द से भूप्रदेश विशेष न होकर शरीर के किस अङ्ग में स्वेदन करना है उसको देश कहा गया है, जैसा कि इसी अध्याय के १० वें पद्य से स्पष्ट है।

व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले । दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः ॥ ७ ॥

रोगी की शरीर-स्थिति के अनुसार स्वेद के भेद—व्याधि के बलवान् होने पर, शीतकाल में और बलवान् शरीर में महास्वेद; दुर्बल रोग, दुर्बल शीतकाल में और दुर्बल शरीर में दुर्बल स्वेद तथा मध्यम रोग, मध्यम शीत, मध्यम शरीर में मध्यम स्वेद का प्रयोग हितकर होता है।

वक्तव्य—यहाँ पर स्वेदन क्रिया को जो तीन भागों में बांटा गया है, उसका आधार है–१. रोग, २. ऋतु और ३. रोगी की शरीर-स्थिति। इसी के अनुसार स्वेद के महान्, मध्यम, दुर्बल भेद किये गये हैं। महास्वेद की सीमा भी रोगी के सहन शक्ति पर ही निर्भर है। वृद्ध वाग्भट ने इसके भेद निम्नवत् किये हैं—'व्याधिव्याधित-देश-र्तुवशान् मध्य-वरा-वरम्'। अ० सं० सु० अ० २६।

वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते । स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥ ८ ॥

स्वेदों के तीन भेद—वातकफज (द्वन्द्वज) रोग में, वातज रोग में अथवा कफज रोग में क्रमशः स्निग्ध-रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिये।

वक्तव्य—रोगों की प्रकृति के अनुसार ही स्वेदक द्रव्यों के विभाग की कल्पना की गयी है। अर्थात् वात-कफज विकारों अथवा प्रकृति वालों में वात तथा कफनाशक, इसी प्रकार वातज रोगों में वातनाशक और कफज में कफनाशक द्रव्यों से निर्मित स्वेदों का प्रयोग करें। आचार्य भेल ने इसकी एक ही स्थान पर व्यवस्था इस प्रकार दी है—'स्वेद्यास्तु वातकफजा वातजाः कफजास्तथा। रोगस्तत्रोष्मलवणस्निग्धाम्लाश्चैव वातजाः। करीषबुसपाषाणवाष्पाङ्गारैः कफात्मकाः। शेषास्तुस्निग्धरूक्षाभ्यां ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम्'॥ भेल०।

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते । रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ ९ ॥

स्थान भेद से स्वेद-विधि भेद—यदि वातदोष आमाशय में स्थित हो तो पहले रूक्ष पदार्थों से युक्त स्वेदन कराकर तब स्निग्ध पदार्थों से स्वेदन कराना चाहिये। यदि कफ दोष पक्वाशय में स्थित हो तो पहले स्निग्ध पदार्थों से युक्त स्वेदन कराकर तदनन्तर रूक्ष द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिये।

वक्तव्य—वास्तव में विधि यह है कि जब कोई दोष दूसरे स्थान से आकर उस स्थान में रुका हो तो पहले उस दोष को दूर करना चाहिये जिसका वह स्थायी आशय है और बाद में बाहर से आये हुए दोष की चिकित्सा करे। आमाशय कफ का स्थान है, इसलिये पहले रूक्षस्वेद द्वारा कफ का निर्हरण करके तदनन्तर आगन्तुक वातदोष के प्रतीकार के लिये स्निग्ध स्वेदन करना चाहिये। इसीलिये वृद्धवाग्भट ने निर्देश दिया है—'आगन्तुं शमयेद् दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य च'। अ० सं० सू० अ० १९। इसमें भी यह विचार कर लेना आवश्यक है कि बलवान् दोष स्थानी है या आगन्तुक? जो बलवान् दोष हो उसकी पहले तथा हीन बल वाले दोष की चिकित्सा बाद में करे। इसकी पुष्टि इन्होंने आगे की है। यथा–'आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयस्थिते। रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः' अ० सं० सू० अ० २६।

विशेष वक्तव्य—यहाँ 'आमाशयगते वायौ' इस विषय पर कुछ आचार्य आपत्ति करते हैं कि वायु का आमाशय में प्रकोप हो सकता है, क्योंकि वायु लघु आदि गुणों से सम्पन्न होता है और इसके विपरीत आमाशय गुरु, मृदु तथा पिच्छिल आदि गुणों से युक्त है अतः आमाशय में वायु का शमन ही हो सकता है। वास्तव में इस प्रकार की आपत्ति उठाना उचित नहीं है, क्योंकि जो बलवान् होता है उसका अन्य आशय में जाने पर भी प्रकोप हो सकता है। स्नेहों में रुकावट होने के कारण आमाशय में भी वायु का प्रकोप हो सकता है। देखें—

'ननु वायोरामाशये कोपोऽनुपपन्नः। यतो मरुत् लघ्वादिगुणयुक्तः। आमाशयस्तु गुरुमृदुपिच्छिलादियुक्तः। अतः शम एवोपपन्न इति केचित्। एतच्चायुक्तम्। बलिनो हि अन्याश्रयस्थस्यापि कोपो युक्तः। मार्गरोधाच्च वायोरामाशयेऽपि प्रकोपसम्भव इति। तथा च वक्ष्यति—'प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गतः'। इति। तथा चोक्तम्—'ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि'। इति अरुणदत्तः।

वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु [1]नैव वा । मध्यमं वङ्क्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥१०॥

स्थान भेद से स्वेद कल्पना—अण्डकोष (Scrotum) हृदय, दृष्टिमण्डल (आँखों) पर मृदु स्वेदन करे अथवा न करे। वङ्क्षणों में मध्यम स्वेद का प्रयोग किया जा सकता है।

१. 'वा न वा' ग.।

वक्तव्य—यदि स्वेदन क्रिया द्वारा ठीक होने वाला रोग हो तो तभी इन स्थानों का मृदु स्वेदन करे, अन्यथा हानि होने की आशंका रहती है। क्योंकि ये शरीर के सुकुमार अङ्ग हैं। और दृष्टि-मण्डल तो स्वयं अग्नितत्व प्रधान है, इसका स्वेदन तो और भी हानिकारक है। यद्यपि नेत्र चिकित्सा के उपायों में प्रथम उपाय सेक ही है किन्तु इसका प्रयोग अभिष्यन्द जैसे वात, कफ प्रधान रोगों में वह भी बहुत कम मात्रा में कहा गया है।

शुद्धैर्नक्तकैः पिण्डया गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ॥११॥

स्वेदन-काल में नेत्र सुरक्षा के उपाय—भलीभाँति शुद्ध (साफ तथा धुला हुआ) वस्त्र का टुकड़ा गूंधा हुआ गेहूँ का आटा, श्वेत कमल या नील कमल के पत्तों से आँखों को सुरक्षित कर पुरुष का स्वेदन करे।

वक्तव्य—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि नेत्रों का स्वेदन न करे या आवश्यकता पड़ने पर मृदुस्वेदन करे। इसी के अनन्तर जब रोगी के सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन किया जा रहा हो उस समय उक्त अङ्गों को कैसे बचाना चाहिये उसकी विधि ऊपर बतलायी गयी है। यहाँ नेत्रों की सुरक्षा के लिये जिन उपकरणों का वर्णन किया गया है, उनका प्रयोग इस प्रकार करें—सर्वाङ्ग स्वेदन के अवसर पर नेत्रों के ऊपर पहले धुला हुआ वस्त्र रखें, उसके ऊपर गेहूँ का सना हुआ आटा का लेप कर दें और अन्त में इसको कमलपत्रों से ढक दें। ऐसा करने से आँखों पर स्वेदन क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके अगले पद्य में हृदय को सुरक्षित रखने का वर्णन प्रस्तुत है। अन्य संहिताओं में इस विषय का प्रतिपादन निम्नवत् है। यथा—'स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी। स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत्' ॥ सुश्रुत चि० अ० ३२। तथा—'पद्मोत्पलादिभिः सक्तु-पिण्डया वाच्छाद्य चक्षुषी। शीतैर्मुक्तावलीपद्मकुमुदोत्पलभाजनैः ॥ मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्' ॥ अ० सं० सू० अ० २६।

मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि। जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥१२॥

स्वेदन काल में हृदय सुरक्षा के उपाय—जिस पुरुष का स्वेदन किया जा रहा हो उसके हृदय को शीतल स्पर्श वाली मोतियों की मालाओं से, शीतल कांसा के पात्रों से, जल से गीले किये हुए कमल पत्रों से अथवा जल से गीले हाथों से उसके हृदय का बार-बार स्पर्श करे।

वक्तव्य—'शीतलैः भाजनैः'—इसका अर्थ कांसे की थाली कटोरी आदि इस दृष्टि से किया गया है कि इसके स्पर्श से ताप का नियन्त्रण होता है, क्योंकि यह मृदु एवं स्निग्ध गुणों वाला ताम्र का यौगिक होने से इसमें पित्तनाशकता भी होती है। मोती के गुण तो प्रसिद्ध हैं—'मौक्तिकं शीतलं वृष्यं चक्षुष्यं बलपुष्टिदम्'। अभि-नव नि०। अर्थ स्पष्ट है। 'मुक्तावलीभिः' में बहुवचन का तात्पर्य यह है कि यह माला कई लड़ों की हो जिससे हृदय प्रदेश पूरा ढका जा सके, नेत्र और हृदय की सुरक्षा का वर्णन कर महर्षि आत्रेय पुनर्वसु बेचारे वृषणों की चर्चा करना भूल गये। अतः शीतल कमल आदि के पत्रों से ढककर स्वेदन काल में इनकी भी रक्षा करनी ही चाहिये, आखिर ये भी तो अपने ही हैं। ऊपर तन्त्रकार ने इनकी सुरक्षा का निर्देश किया ही है।

शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे। सञ्जाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद् विरतिर्मता ॥१३॥

भलीभाँति स्वेदन हो जाने के लक्षण—शीत और शूल के शान्त हो जाने पर, शरीर की अकड़न तथा भारीपन के दूर हो जाने पर, अंगों के मृदु होने तथा पसीना आने पर फिर स्वेदन कर्म नहीं करना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त लक्षणों के दिखलायी देने पर स्वेदन कार्य पूरा हो जाता है, अर्थात् स्वेदन (पसीना लाने की क्रिया) इसीलिये किया जाता है कि रोगी का शीत तथा इसके कारण होने वाली वेदनायें, शरीर में रुके हुए दोषों के कारण उत्पन्न भारीपन दूर हो जाय और पसीना आकर सभी रोमकूपों के मुख भाग खुल सकें। अन्यत्र सम्यक् स्विन्न के लक्षण इस प्रकार हैं। यथा—'स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य। सम्यक् स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव' ॥ सुश्रुत चि० अ० ३२। तथा—'शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे'। अ० सं० सू० अ० २६।

पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदनं तृषा। दाहः [1]स्वेदाङ्गदौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥१४॥

अतिस्वेदन के लक्षण—पित्त का प्रकोप होना, मूर्च्छा (बेहोशी), शरीर में शिथिलता, प्यास का लगना, (यह भी पित्तप्रकोप का ही लक्षण है), दाह, पसीना का अधिक आना, शरीर में दुर्बलता—ये लक्षण अधिक स्वेदन करा देने से उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये सम्यक् स्विन्न के लक्षणों को देखते ही स्वेदन-क्रिया को रोक देना चाहिये, जैसा कि तन्त्रकार की आज्ञा है। इसके बाद भी स्वेदन कराना चिकित्सक की अकुशलता का परिचायक है, जिसका फल रोगी को भोगना पड़ता है। सुश्रुत एवं अष्टाङ्गसंग्रह में अतिस्विन्न के कुछ अधिक लक्षणों का वर्णन किया है, जिनको यहाँ प्रमाण रूप में उद्धृत किया जा रहा है। हमारे विचार से अतिस्वेदन को तर-तम की दृष्टि से देखा जाय तो चरकोक्त लक्षण अतिस्विन्नतर स्थिति के हैं और सुश्रुत तथा अष्टाङ्गसंग्रह में वर्णित लक्षण अतिस्विन्नतम स्थिति के हैं। यथा—स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः। मूर्च्छाभ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च'''। सु० चि० अ० ३२। तथा—'पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः। सन्धि-पीडाज्वरश्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ॥ स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च'''। अ० सं० सू० अ० २६।

उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः।
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः ॥१५॥

स्वेदन के अधिक हो जाने पर चिकित्सा—चरक सूत्रस्थान के 'तस्याशितीय' नामक छठे अध्याय में जो ग्रीष्मऋतु-चर्या की सम्पूर्ण मधुर, स्निग्ध और शीतल विधियाँ कही गयी हैं वे सभी अतिस्विन्न पुरुष के लिये करनी चाहिये।

वक्तव्य—अग्नि की ऊष्मा और सूर्य की ऊष्मा (गरमी) को दृष्टि में रखते हुए तथा ग्रन्थ-विस्तार के भय से तन्त्रकार ने अतिस्विन्न की चिकित्सा में 'सर्वशो ग्रैष्मिको विधिः कर्तव्यः' सूत्र रूप में कह दिया है, उसमें भी 'मधुरः स्निग्धशीतलः' का विशेष निर्देश यह सिद्ध करता है कि इनके अतिरिक्त जो अन्य आहार-विहार का वर्णन वहाँ किया गया है उनका प्रयोग यहाँ न करें। यथा—'मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम्'। च० सू० अ० ६। अतिस्विन्न की चिकित्सा में स्तम्भन औषधों का प्रयोग करने की वृद्धवाग्भट की आज्ञा है। देखें—अ० सं० सू० अ० २३।

स्वेदन एवं स्तम्भन का भेद—स्वेदन से विपरीत उपचार का नाम स्तम्भन है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १७। इस प्रकरण में स्तम्भन उस उपाय का नाम है जो स्वेद को रोकता है। अतिसार और वाजीकरण प्रकरण के स्तम्भक द्रव्य दूसरे हैं, वहाँ दृष्टिकोण भी दूसरा ही है। जब सन्निपात-ज्वर तथा विसूची आदि विकारों में स्तम्भन के अतियोग के लक्षण होते हैं, तब स्वेदन की व्यवस्था की जाती है। यथा—कस्तूरीभैरव रस, अदरख-मधु अनुपान, उष्ण जल, उष्ण दूध का सहपान के रूप में सेवन। संक्षेप में रूक्षण द्रव्य—रूक्ष, सूक्ष्म, सर एवं द्रव द्रव्य संस्कारभेद से स्वेदक भी होते हैं और स्तम्भन भी। यथा—'उष्ण जल स्वेदन और शीतल जल स्तम्भक होता है।

स्वेदन-स्तम्भन द्रव्य—गुरु, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म गुणवाला द्रव्य प्रायः स्वेदन होता है। लघु, मन्द, शीत, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म और सर गुण प्रधान द्रव्य स्तम्भन होता है।

रसभेद से स्तम्भन द्रव्य—तिक्त, कषाय तथा मधुर रसवाले द्रव्य प्रायः स्तम्भन होते हैं, इनका उपयोग स्वेदन तथा स्तम्भन के लिये किया जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय दोनों के सिद्धान्तों की उपजीव्य चरकसंहिता है। देखें—'पित्तक्षाराग्नि-दग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः। विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीयानिर्दिशिताः' ॥ च० सू० अ० २२। इसकी व्याख्या यथास्थान देखें।

कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्। पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥१६॥

---

[1] 'स्वेदातिप्रवृत्त्याऽङ्गदौर्बल्यम्' इति गङ्गाधरः।

[1]विदग्धभ्रष्टब्रध्नानां विषमद्यविकारिणाम् । श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम् ॥१७॥
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि । कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम्[2] ॥१८॥
दुर्बलातिविशुष्कै[3]णामुपक्षीणौजसां तथा । भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत् ॥१९॥

स्वेदन के अयोग्य रोगी एवं रोग—प्रतिदिन कषायों का सेवन करने वाले, मद्यपान करने वाले, गर्भिणी, रक्तपित्त के रोगी, पित्त प्रकृतिवाले, अथवा पित्त-प्रधान रोगों से युक्त रोगी, अतिसारी, रूक्ष प्रकृति वाले, मधुमेही, क्षार या अग्नि के प्रयोग से जिसका गुद भाग जल गया हो, या गुदपाक हो गया हो, या गुदभ्रंश हो गया हो, विष और मद्य के अधिक सेवन से विकार उत्पन्न हो गये हों, थके हुए, बेहोश, अतिस्थूल, पित्तमेह के रोगी, जिनको प्यास लगी हो, जो भूखे हों, क्रोधयुक्त, शोकमग्न, कामला-रोगी, उदर-रोगी, क्षत (घाव) युक्त, या उरःक्षती, वातरक्त-रोगी, दुर्बल, अत्यन्त सूखे शरीर वाले, जिनका ओजो धातु क्षीण हो गया हो और तिमिर रोग से युक्त पुरुषों को वैद्य स्वेदन न कराये।

वक्तव्य—'कषायमद्यनित्यानां'—'कषायद्रव्यकृतं मद्यं कषायमद्यम्, किं वा कषायशब्दोऽमधुरवचनः, तेन यदुच्यते—कषायनित्यस्य वातप्रधानता स्यात्, कषायस्य वातकारित्वात्। वाते च स्वेदो विहित एव तत्कथं कषायनित्यं प्रति स्वेदनिषेध इति तन्निरस्तं स्यात्। किं वा कषायनित्या रूक्षातिस्तम्भकत्वेन, ततश्च तेषां स्वेदः पर्वभेदमावहतीत्यतः, कषायनित्यनिषेधः'। इति चक्रपाणिः।

विदग्धभ्रष्टब्रध्नानाम्—'विदग्धं = पक्वं, भ्रष्टं = बहिर्निर्गतं वा ब्रध्नं=गुदं येषां तेषां पक्वगुदवलीनां गुदभ्रंशवतां च'। इति गङ्गाधरः। अर्थात् जिनका गुदपाक हो गया हो या गुदभ्रंश (कांच निकलना) हो गया हो।

आढ्यरोगिणाम्—साहित्य में 'आढ्य' का अर्थ है—'धनवान्'। भानुजी दीक्षित ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'आध्यायति'+क=पृषोदरादित्वात्—आढ्यः। इस व्याख्या से केवल इतनी प्रकाश-किरण मिलती है कि 'आढ्य' वे चिर-स्थिर रोग हैं जिनके सम्बन्ध में या जिनके कष्ट से रोगी 'आ = समन्तात्, ध्यायति = चिन्तां करोति'। इस प्रकार किसी रोगविशेष का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता, किन्तु चक्रपाणि लिखते हैं—'आढ्यरोगीह वातरक्ती'।

तैमिरिकाणाञ्च—तिमिर रोग से आक्रान्त रोगियों का भी स्वेदन न करे। तिमिररोग की स्थिति यह है-जब दोष नेत्र के प्रथम पटल से तृतीय पटल तक पहुँचता है तब तक इसको तिमिर या धुन्ध कहते और जब यह दोष चतुर्थ पटल में पहुँच जाता है तो—'तिमिराख्यः स वै दोषः चतुर्थपटलं गतः। रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते'॥ सुश्रुत उ० अ ७।१५। अतः तिमिरशब्द मात्र से लिङ्गनाश (Cataract) की अवधारणा समीचीन नहीं है।

विशेष वक्तव्य—स्वेदन के अयोग्य रोगी एवं रोग के सम्बन्ध में वाग्भट का दृष्टिकोण—जिन रोगियों और रोगों में स्वेदन का ऊपर निषेध किया गया है, उनके अतिरिक्त वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय १७ में सूता (प्रसूता) को स्वेदन के अयोग्य कहा है और चरक के शा० अ० ८ में पिप्पल्यादि गण के संयोग से साधित सुस्निग्ध एवं द्रव यवागू पीने का तथा दोनों समय उष्णोदक से परिषेचन का आदेश दिया है, ये दोनों ही क्रियायें स्वेदन ही हैं। इसके अतिरिक्त सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ३२ में भी जिनको स्वेदन के अयोग्य गिनाया गया है, उनमें प्रसूता का नाम नहीं है। इसके विपरीत सु० चि० अ० ३२ में ही 'प्रजाता' के लिये स्वेदन का विधान किया गया है। लोकव्यवहार के अनुसार भी सूता या प्रसूता को स्वेदन कराया ही जाता है।

प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्याशिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥ २० ॥
अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाहविबन्धेषु [4]मूत्राघाते विजृम्भके ॥ २१ ॥

१. 'ब्रध्नं गुदं, विदग्धं पक्वं; भ्रष्टं बहिर्निर्गतं वा येषां तेषां, पक्वगुदवलीनां गुदभ्रंशवतां च' इति गङ्गाधरः।

२. 'आढ्यरोगिणां वातरक्तवतां'। गङ्गाधरः।

३. 'विशुद्धानाम्' ग.।

४. 'शुक्राघाते' इति पा.।

पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसङ्ग्रहे गृध्रसीषु च। मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके ॥ २२ ॥
पादोरुजानुजङ्घार्तिसङ्ग्रहे श्वयथावपि। खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके ॥ २३ ॥
सङ्कोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु। [1]सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते ॥ २४ ॥

स्वेदन के योग्य रोग एवं रोगी—प्रतिश्याय (जुकाम), खाँसी, हिचकी, श्वास (दमा), शरीर में भारीपन का अनुभव होने पर, कर्णशूल, मन्या (गर्दन की शिरा) शूल, शिरःशूल, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित (Facial Paralysis), एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात (Hemiplegia) पक्षाघात (One-sided Paralysis), विनामक–वात प्रकोप के कारण शरीर को विविध प्रकार से झुका देने वाले रोग, यथा—बाह्यायाम (पीठ की ओर को झुका देना), अन्तरायाम (पेट की ओर को झुका देना), अपतानक, धनुःस्तम्भ (Tetanus) कोष्ठ में आनाह (अफारा), विबन्ध (मल-मूत्र में रुकावट) मूत्राघात या शुक्राघात, जँभाई का विशेषरूप से आना, पार्श्वग्रह (पसलियों का जकड़ जाना) पृष्ठग्रह, कटीग्रह, कुक्षिग्रह गृध्रसी (Sciatica), मूत्रकृच्छ्र, अण्डवृद्धि, अंगमर्द (शरीर में वेदना), पैर, जानु (घुटने), ऊरु, जाँघ–इनमें पीड़ा, जकड़ाहट, शोथ (सूजन), खल्ली रोग, विविध प्रकार के आमदोष (विसूचिका, अलसक आदि), सर्दी लगना, कम्पन होना, वातकण्टक, अंगों का सिकुड़ना, आयाम (अंगों का फैलना), शूल, स्तम्भ (जकड़ाहट), अंगों का भारीपन, सुप्ति (स्पर्श-ज्ञान का न होना)—इन विकारों में स्वेदन हितकर होता है।

वक्तव्य—स्वेदन से शरीर में मृदुता आ जाती है। ऊपर जितने रोग कहे गये हैं वे प्रायः वातज, कफज या वातकफज हैं। इनमें स्वेदन का विधान पहले ही सूत्र रूप में किया गया था, यहाँ पर उसी का रोग रूप से व्याख्यान किया गया है। **खल्ली**—'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी'। **वातकण्टक**—'न्यस्ते तु विषमे पादे रुजः कुर्यात् समीरणः। वातकण्टक इत्येषः'। माधवनि०। विशेष विवेचन के लिये अष्टाङ्गहृदय सू० अ० १७ देखें। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में अष्टाङ्गहृदय से निम्नलिखित रोगों की अधिक गणना की गयी है। यथा—वेपथु (कम्पन), शोथ, त्वचासुप्ति, स्तम्भ, जृम्भा, अंगगौरव, कर्ण, मन्या, शिर, कोष्ठ, जंघा, पाद और ऊरु रोग।

तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलामिषौदनैः। पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥
गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः। सिकतापांशुपाषाणकरीषायसपूटकैः ॥ २६ ॥
श्लैष्मिकान् स्वेदयेत् [2]पूर्वैर्वातिकान् समुपाचरेत्।

पिण्डस्वेदोपयोगी द्रव्य—तिल, माष (उड़द) कुलथी (दाल विशेष), अम्लपदार्थ, घी, तैल, मांस-
रसयुक्त भात, खीर, खिचड़ी और मांस—इन द्रव्यों का प्रयोग पिण्डस्वेद में करना चाहिये। गाय, गदहा, ऊँट,
सूअर, घोड़ा इनके गोबरों से तुष (भूसी) सहित जौ, बालू, पांशु (कपड़छन की हुई मिट्टी), पत्थर, करीष
(गाय का सूखा गोबर), लोहे का चूरा—इन द्रव्यों की पोटली बनाकर कफज विकारों में और पहले कहे गये
(तिल आदि) द्रव्यों की पोटली से वातजविकारों में स्वेदन करें।

वक्तव्य—पिण्डस्वेद—अर्थात् उपर्युक्त द्रव्यों को कफज एवं वातज विकारों के अनुसार पृथक् पृथक् कर लें
फिर किसी मलमल जैसे बारीक कपड़ा में रखकर उसकी दो पोटलियाँ (पिण्ड की आकृति वाली) बना लें, जिससे
एक गरम होती रहेगी और दूसरी गरम हुई पोटली से सेंक किया जायगा। पिण्ड बनाने के लिये द्रव्यों का मिश्रण
बुद्धि पूर्वक करना चाहिये जिससे द्रव्य-समूह अधिक गीला भी न हो और न सूखा ही रह जाय। वातज रोगों में
स्वेदन के लिये जिन द्रव्यों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी स्निग्ध एवं वातहर हैं, इसी के बाद दूसरा
योग कफज व्याधियों मे स्वेदन के लिये निर्दिष्ट है, इसके सभी द्रव्य परम रूक्ष हैं।

इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु ने जिन १३ प्रकार के स्वेदों का उपदेश दिया है, महर्षि वाग्भट के
अनुसार उन सब का अन्तर्भाव निम्नलिखित चार प्रकार के स्वेदो में हो जाता है। संक्षेप में—जिस उपचार से
किसी अंग विशेष का पसीना निकाला जाता है उसका नाम स्वेद या स्वेदन है। स्वेद के चार भेद—
'स्वेदतापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः'। अष्टाङ्गहृ० सू० अ० १७।१। १. तापस्वेद. २. उपनाहस्वेद,

१. 'सर्वेष्वेषु' यो.। 'सर्वाङ्गेषु विकारेषु ज्वरादिषु'। गङ्गाधरः।

२. 'पूर्वैस्तिलादिभिः'। चक्रः।

३. ऊष्मस्वेद, ४. द्रवस्वेद। **विशेष द्रष्टव्य**—अ० हृ० सू० अ० १७। अ० सं० सू० अ० २६ तथा सु० चि० अ० ३२।

संक्षिप्त परिचय—१. तापस्वेद—आग में तपाये गये वस्त्र, लोहा, ईंट, पत्थर, आदि से किया जाता है। २. उपनाह स्वेद—'उपनह्यते बध्यते' इति। अर्थात् पोटली बांधकर जो सेंक किया जाता है, जैसे—पिण्डस्वेद। पिण्डस्वेद ही संकरस्वेद है। **३. ऊष्मस्वेद**—ऊष्मा = भाप की गर्मी द्वारा इसका उपयोग होता है। अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अ० २६ में ऊष्म स्वेद के आठ भेद दिये हैं। यथा—१. पिण्ड, २. संस्तरी, ३. नाड़ी, ४. घनाश्मा, ५. कुम्भी, ६. कूप, ७. कुटी और ८. जेन्ताक। **४. द्रवस्वेद**—द्रोणी अवगाहन (वातहर औषधों को डालकर पकाये हुए पानी को टब में डालकर रोगी को उसमें बैठाना), बोतल या रबर की थैली में गरम पानी भर कर सेंकना आदि इसके भेद हैं।

वास्तव में उक्त स्वेदों का इस प्रकार अन्तर्भाव किया जा सकता है। यथा—**तापस्वेद में**—जेन्ताक, कर्षू, कुटी, कूप, और होलाक का। **ऊष्मस्वेद में**—संकर, प्रस्तर, अश्म, घन, नाड़ी, कुम्भ और भूस्वेद का। **द्रवस्वेद में**—परिषेक तथा अवगाहन स्वेद का।

वातरोगियों पर सुश्रुतोक्त साल्वण स्वेद—'काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः। सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः॥ सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः। तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम्'॥ सु० चि० अ० ४।१४-१५।

द्रव्याण्येतानि शस्यन्ते यथास्वं प्रस्तरेष्वपि ॥ २७ ॥

प्रस्तरस्वेद—रोग, रोगी तथा दोषों के बलाबल का विचार कर उपर्युक्त द्रव्यों का प्रयोग प्रस्तर स्वेद में भी किया जाता है।

वक्तव्य—'पाषाणप्रस्तरौ' इति अमरः। 'प्रस्तरो ग्रावणि मणौ' इति हैमः। इस प्रकार प्रस्तर शब्द पत्थर तथा मणि का पर्याय है। सामान्य श्रेणी के लोगों के लिये पत्थरों और श्रीमानों के लिये मणियों द्वारा स्वेदन की व्यवस्था की जाती है। इसी को संस्तरस्वेद भी कहते हैं।

भूगृहेषु च जेन्ताकेषूष्णगर्भगृहेषु च। विधूमाङ्गारतप्तेषु स्वभ्यक्तः स्विद्यते सुखम्[1] ॥ २८ ॥

स्थान-भेद से स्वेदन—धुआँ से रहित अंगारों (जलते हुए कोयलों) से तपाये हुए भूगृह (A room under ground) में, जेन्ताक में तथा उष्ण गर्भगृह में तैलमर्दन करके प्रवेश कराया गया पुरुष सुखपूर्वक स्विन्न हो जाता है।

वक्तव्य—भूगृह को तहखाना भी कहते हैं। जेन्ताक स्वेद की विधि आगे कही जायगी। उष्णगर्भगृह—चारों ओर से कमरों से घिरा हुआ बीच का घर। इसमें जेन्ताक को छोड़कर शेष सभी कुटीस्वेद के समान हैं।

ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयो बस्तशिरस्तथा। [2]वराहमध्यपित्तासृक् [3]स्नेहवत्तिलतण्डुलाः ॥ २९ ॥
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्। देशकालविभागज्ञो युक्त्यपेक्षो भिषक्तमः ॥ ३० ॥
वारुणामृतकैरण्डशिग्रुमूलकसर्षपैः । वासावंशकरञ्जार्कपत्रैरश्मन्तकस्य च ॥ ३१ ॥
शोभाञ्जनकसैरेय[4]मालतीसुरसार्जकैः । पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥
भूतीकपञ्चमूलाभ्यां सुरया दधिमस्तुना। मूत्रैरम्लैश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

नाड़ी स्वेदोपयोगी द्रव्य—देश-काल के विभाग को जानने वाला तथा युक्ति (चार प्रकार की परीक्षा में से एक, जिसका वर्णन च० सू० अ० ११ में है) की अपेक्षा रखने वाला कुशल चिकित्सक ग्राम्य (घरेलू),

१. विधूमाङ्गारतप्तेष्वभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम्' इति पा.।
२. 'वराहमेदःपित्तासृक्' यो.।
३. 'स्नेहवद् यावद् बीजमैरण्डबीजादिकं, तत्र प्राधान्यान्निस्तुषीकृत्य ग्रहणार्थं पृथगुक्तं तिलतण्डुलाः।' इति गङ्गाधरः।
४. 'शैरीष' इति यो.।

आनूप (जल-प्रधान देश) तथा औदक (जलचर) प्राणियों का मांस, दूध, बकरे का सिर, सूअर के शरीर का मध्य (चर्बी वाला) भाग, पित्त और रक्त (पाठभेद के अनुसार सूकर की चर्बी) तेल वाले तिल आदि द्रव्य (सभी प्रकार के तेलहन) और चावल इनका एक साथ क्वाथ बनाकर नाडीस्वेद के लिये प्रयोग करे।

कुछ अन्य द्रव्य—वरुण, गिलोय (गुरुच), एरण्ड, सहजन, मूली, सरसों, अडूसा के पत्ते, बांस के पत्ते, करञ्ज के पत्ते, मदार के पत्ते, पाषाणभेद के पत्ते, लाल सहजन के पत्ते, झिण्टी (कटसरैया) के पत्ते, मालती पत्र, सफेद तुलसीपत्र और अर्जक (काली तुलसी) के पत्तों का क्वाथ बनाकर नाड़ीस्वेद के लिये प्रयोग करे।

और भी—भूतीक, लघु तथा बृहत् पञ्चमूल, मद्य (शराब), दही का पानी, गोमूत्र, अम्लद्रव्य (कांजी) इनका क्वाथ बनाकर इसमें घी आदि स्नेह द्रव्य मिलाकर नाड़ी स्वेद के लिये प्रयोग करे।

वक्तव्य—नाड़ीस्वेद के लिये किस प्रकार की नली बनायी जानी चाहिये तथा इसका प्रयोग कैसे करना चाहिये इसका सुश्रुतोक्त प्रकार भी द्रष्टव्य है—सु० चि० अ० ३२ श्लोक ६।७। **भिषक्तमः**—शास्त्रज्ञ तथा देशकाल-विभागज्ञ चिकित्सक ही 'भिषक्तम' होता है। शरीर के बलाबल का विचार कर मात्रा आदि का निर्धारण करना ही 'युक्ति' है। परिषेक स्वेद (नाड़ी स्वेद) के द्रव्यों का उल्लेख वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में इस प्रकार किया है—'तत्र शिग्रुवरणाम्रातकमूलकसर्षपसुरसार्जकवासावंशाश्मन्तकाशोकशिरीषार्ककरञ्जैरण्डमालतीपत्रभङ्गपूतीकदशमूलादिवातहरद्रव्यसलिलसुराक्षीरशुक्तादिक्वाथैः'। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६। इसमें शोभाञ्जन (लाल सहजन) के बदले अशोक का ग्रहण किया है। यह उनका अपना विवेक है।

विशेष वक्तव्य—भूतीकपञ्चमूलाभ्याम्—'भूतीकः च पञ्चमूलं च—भूतीकपञ्चमूले, ताभ्याम्—इस
प्रकार विग्रह करने पर एक भूतीक तथा एक पञ्चमूल, का ग्रहण किया जा सकता है। अतएव आचार्य
गंगाधर ने वातकफनाशक होने के कारण बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण किया है किन्तु आगे चलकर भगवान्
पुनर्वसु ने जहाँ पुनः नाडीस्वेद का आदेश दिया है, वहाँ स्पष्टरूप से—'आनूपौदकमांसानि दशमूलं शता-
वरीम्। ···नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत'॥ च० चि० अ० २८।११०। और अष्टाङ्गसंग्रह के उक्त उद्धरण में 'दशमूल'
का ग्रहण स्पष्टरूप से किया ही गया है। इसी को अष्टांगहृदय का निम्न पाठ भी समर्थन दे रहा है—
'दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम्'। अ० हृ० सू० अ० १७। इस प्रकार सर्वतोभावेन जब यहाँ दश-
मूल का ग्रहण करना तर्कसंगत प्रतीत हो रहा है तो ऐसी स्थिति में 'भूतीकपञ्चमूलाभ्याम्' इसका विग्रह
ऐसा होना चाहिये—'**भूतीकसहिते पञ्चमूले, ताभ्यां = भूतीकपञ्चमूलाभ्याम्', इत्यत्र मुखनासिकावन्-
मध्यमपदलोपी समासः**। इनसे आचार्य के पाठ की निर्दोषता तथा दशमूल की उपलब्धि दोनों ही हो
जाती है। पूर्ववर्ती व्याख्याकारों को जो भ्रम हुआ है उसका कारण इस प्रकार की संगति का न बैठा सकना ही
रहा है, सहृदय विद्वान् विचार करें।

आचार्य चक्रपाणि ने उक्त तीन स्वेदों का विभाजन इस प्रकार किया है—१. ग्राम्य इत्यादि से प्रथम
नाड़ीस्वेद **वातनाशक**, २. वरुण आदि द्रव्यों से निर्मित द्वितीय नाड़ीस्वेद **कफनाशक** और ३. भूतीक प्रभृति
द्रव्यों से युक्त तृतीय नाड़ीस्वेद **वात-कफनाशक** होता है।

एत एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके। स्वेदनार्थं घृतक्षीरतैलकोष्ठांश्च कारयेत् ॥३४॥

अवगाह-स्वेदोपयोगी द्रव्य—उक्त नाड़ीस्वेद के द्रव्यों के क्वाथों को स्वेदन करने की दृष्टि से जल-
कोष्ठक (Tub) में रखकर रोगी को इसमें अवगाहन करायें और घी, दूध, तैल के कोष्ठों में भी अवगाहन
कराकर स्वेदन करायें।

वक्तव्य—प्रायः घरों में पानी भरने के लिये पत्थर या सीमेंट के टांके बने रहते हैं या बड़े-बड़े टबों
का प्रयोग किया जाता है। इनमें उक्त वातनाशक, कफनाशक तथा वातकफनाशक द्रव्यों का आवश्यकतानुसार
क्वाथ बनाकर डाला जाता है। इसी में रोगी को बैठाया या लेटाया जाता है। यह द्रवस्वेद का एक भेद है।

गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः । सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते ॥३५॥
गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया। उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्त्या चोपनाहयेत् ॥३६॥

उपनाह-स्वेदोपयोगी द्रव्य—गेहूँ के छोटे-छोटे टुकड़े, जौ का आटा, इनको अम्ल (कांजी), तैल

आदि स्नेह, किण्व (सुराबीज=Yeast या सुराकिट्ट) में पकायें और उसमें नमक डालकर उपनाह (Poultice) तैयार करें। इसको लगाने या बाँधने से उत्तम स्वेदन होता है। **दूसरा योग**—अगर आदि सुगन्धित पदार्थों से, सुराकिण्व, जीवन्ती, सोया, अतसी, कूठ और तैल इनको मिलाकर युक्तिपूर्वक उपनाहन करे।

वक्तव्य—उपनाह (पुल्टिस) के यहाँ पर दो योग दिये गये हैं। दूसरे योग में पहले गन्ध-द्रव्यों का सामूहिक ग्रहण करने का आदेश देने के बाद आगे स्वतन्त्र रूप से कूठ का उल्लेख उसकी अनिवार्यता और सुगन्धित द्रव्यों का जितने मिल सके उतना प्रयोग करने का तात्पर्य है। क्योंकि कुष्ठ (कूठ) वातहर उपनाहों में प्रमुख द्रव्य है। देखें—च० सू० अ० २५।

शतपुष्पा—यद्यपि सौंफ और सोया ये दोनों समान कुल के द्रव्य हैं तथापि निघण्टु-ग्रन्थों की दृष्टि में दोनों ही परस्पर भिन्न द्रव्य हैं। सौंफ को संस्कृत में मिश्रेया तथा शिशि कहा गया है और सोया को शतपुष्पा। यह कोई ऐसा संदिग्ध विषय भी नहीं है जिसके सम्बन्ध में अधिक लिखा जाय, फिर भी कुछ व्याख्याकारों ने 'शतपुष्पा' शब्द का सौंफ अर्थ किया है।

सुराकिण्व—चावल आदि से निर्मित मद्य को सुरा कहते हैं। इसके सबसे ऊपरी अतएव निर्मल भाग को 'प्रसन्ना' उसके बाद के भाग को 'कादम्बरी' और कुछ गाढ़ा भाग 'जगल' तथा सबसे नीचे तलहटी में जमे अंश को 'मेदक' कहते हैं। सुरा को छान लेने पर जो मल-भाग शेष रहता है वह 'सुराबीज' 'सुराकिण्व' या 'सुराकिट्ट' कहा जाता है।

चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः। उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥३७॥

उपनाह को बाँधने का प्रकार—जहाँ स्वेदन-क्रिया करनी हो उस स्थान पर उपनाह (पुल्टिस द्रव्य) को रखकर लोमवाले, दुर्गन्धिरहित, उष्णवीर्य वाले चमड़े से बाँधना चाहिये। यदि इस प्रकार का चमड़ा उपलब्ध न हो तो रेशम या ऊन के वस्त्रों से बांधे।

वक्तव्य—पुल्टिस लगाने के बाद वह स्वयं गिर न जाय अतः उसकी सुरक्षा के लिये उसको बांधने का उपदेश है। जिसके अनेक विकल्प दिये हैं। चरक चिकित्सास्थान अ० २८ में जो 'एरण्डपत्त्रैर्बध्नीयात', लिखा है वह पुल्टिस के ऊपर से लपेटना है क्योंकि रेंड के पत्रों में इतनी दृढ़ता नहीं होती कि उनसे बाँधा जा सके। रेंड के पत्तों को लपेट कर बाँधने से यह लाभ होता है कि पुल्टिस की गर्मी कुछ देर तक सुरक्षित रहती है और रेंड के पत्ते स्वयं भी वातनाशक होते हैं। अतएव वाग्भट ने इस प्रकार कहा है—'अभावे वातजित् पत्रकौशेयाविकशाटकैः'। अ० हृ० सू० अ० १७। यहाँ 'अभावे' का तात्पर्य यह है कि उष्णवीर्य, दुर्गन्धिरहित तथा लोमयुक्त चमड़ा यदि न मिल सके तो, वातहर पत्रों से लपेटकर रेशमी या ऊनी वस्त्रों से बाँध दें।

चरक में उपनाह स्वेद की गणना अग्निस्वेदों में की गयी है किन्तु वृद्धवाग्भट ने इसके दो भेद किये हैं—१. अग्निसंस्कार युक्त और २. अग्निसंस्कार रहित। इनका प्रयोग वे इस प्रकार करते हैं—अग्निसंस्कार वाले उपनाह का वात-प्रकोप की शान्ति में और अग्निसंस्काररहित उपनाह का पित्तविकारों में। देखें—अष्टांगसंग्रह सू० अ० २६।

उक्त गद्य में जो 'निवातसदनादि' दस प्रकार के बिना अग्नि वाले स्वेदों की गणना की गयी है, उसी को चरक में उष्णसदन कहा गया है।

रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन् मुञ्चेद् रात्रौ दिवाकृतम्। विदाहपरिहारार्थं, स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले ॥३८॥

उपनाहबन्धन (पट्टी) खोलने का निर्देश—रात्रि में बाँधी गयी पट्टी को दिन में और दिन में बाँधी गयी पट्टी को रात में खोल देने से जहाँ पुल्टिस बांधी गयी है वहाँ जलन नहीं हो पायेगी। यह नियम केवल उष्णकाल के लिये है, शीतकाल में इसकी अवधि परिस्थिति के अनुसार बढ़ायी भी जा सकती है।

वक्तव्य—चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह पुल्टिस में प्रयुक्त द्रव्यों के गुण-धर्मों का विचार कर पट्टी खोलने की अवधि को कम ज्यादा कर सकता है। **विशेष द्रष्टव्य**—चरक चिकित्सास्थान अ० २८ वातव्याधि-चिकित्सा-प्रकरण।

सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूःकुटी भूः कुम्भिकैव च ॥ ३९ ॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश।
तान् यथावत् प्रवक्ष्यामि सर्वानेवानुपूर्वशः ॥ ४० ॥

स्वेदन के तेरह प्रकार (Thirteen Methods of Sudation)—१. संकर, २. प्रस्तर, ३. नाडी, ४. परिषेक, ५. अवगाहन, ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्षू, ९. कुटी, १०. भू, ११. कुम्भी, १२. कूप और १३. होलाक—इस प्रकार ये तेरह स्वेद के भेद हैं, जो रोगियों को स्वेद युक्त करते हैं। इनका विधिपूर्वक क्रमशः वर्णन किया जायगा।

तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं सङ्करस्वेद इति विद्यात् ॥४१॥

१. संकरस्वेद-विधि (Mixed Fomentation)—पिण्डस्वेद में कहे गये द्रव्यों का विधिपूर्वक निर्माण कर उन्हें वस्त्र में रखकर अथवा उसी प्रकार (पिण्डरूप में) शरीर में जो स्वेदन-क्रिया की जाती है, उसे संकरस्वेद कहते हैं।

वक्तव्य—इसी अध्याय में पिण्डस्वेद के द्रव्यों की गणना तथा उनसे कैसे स्वेदन किया जाता है इसका उल्लेख किया गया है। उसमें अनेक द्रव्यों का मिश्रण होता है, अतएव इसको 'संकरस्वेद' भी कहा गया है। वृद्धवाग्भट ने इसका निरूपण निम्न प्रकार से किया है—'वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः। स एव सङ्कराख्यः'। अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २६। संकरस्वेद की विधि एवं द्रव्य-विवरण इसी अध्याय के २५ से २७ श्लोक तक की व्याख्या में देखें।

शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं[1] प्रस्तरस्वेद इति विद्यात् ॥४२॥

२. प्रस्तरस्वेद-विधि (Hot Bed Sudation)—शूक (गेहूँ, जौ आदि) धान्य, शमी (उड़द, सेम आदि) धान्य, पुलाक (क्षुद्रधान्य) इनको अथवा वेशवार, पायस (खीर), कृशरा (खिड़ची), उत्कारिका आदि को पत्थर के ऊपर स्वेदनीय पुरुष की लम्बाई-चौड़ाई के अनुपात में फैलायें और उसको ऊपर से रेशमी चादर अथवा ऊनी चादर से ढक दें। उसके ऊपर सफेद या लाल रेंड के पत्ते या मदार के पत्ते बिछा दें। तदनन्तर रोगी के सम्पूर्ण शरीर में वातनाशक तैल का अभ्यङ्ग कराकर उसको (उक्त स्वेदनीय विस्तर पर) सुला दें। इस प्रकार जो उपस्वेदन होता है, उसे प्रस्तरस्वेदन समझना चाहिये।

जैसे—सेम आदि ये कोष
वक्तव्य—शूकधान्य प्रसिद्ध हैं। शमीधान्यों को ही कोशधान्य भी कहते हैं। (Cover) के भीतर रहते हैं। **वेशवार**—'निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कणामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतम्' ॥ सुश्रुत सू० अ० ४६। **उत्कारिका**—'यवमाषैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभिः पिष्टस्विन्नै-
माषादिकृतमूषिकोत्काराकृतिर्व्यञ्जनविशेषः'। चक्रपाणिः।
...पिसिकाकृतिर्यः स्वेदनोपायः स उत्कारिका' इत्याह।

प्रच्छदे—प्रच्छद शब्द का सामान्य अर्थ चादर (Bed-cover) होता है, जिससे पलंग पर बिछाये गये गद्दे आदि ढके जांय और उस पलंग, चौकी, विस्तर आदि पर लेटकर जिसको ओढा जाता है उसको संस्कृत में प्रावार या प्रावारक कहते हैं। यहाँ भी महर्षि आत्रेय ने स्पष्ट रूप से दो शब्दों का प्रयोग किया है—१. उत्तरप्रच्छदे और २. प्रच्छदे। इसका यह आशय है कि रेशमी अथवा ऊनी चादर को ओढें और एरण्ड आदि पत्रों को बिछायें, किन्तु 'वा' इस विकल्पसूचक अव्यय से व्याख्याकारों ने यह भी अर्थ लगा लिया है कि ऊनी या रेशमी चादर बिछायें और पत्तों को ओढें। व्यवहार की दृष्टि से चिकित्सक स्वयं निर्णय करें कि किसको ओढें किसको बिछायें। दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि 'उत्तरप्रच्छद' से तन्त्रकार ओढ़ने वाली चादर का अर्थ लेते हैं और 'प्रच्छद' से बिछाने वाली चादर का तो बिछाने वाले पत्र आदि का प्रथम पाठ देना उचित था, तदनन्तर ओढने वाले उत्तरप्रच्छद का। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त खिचड़ी,

१. 'स्योपरि' इति पा.।

हलुआ आदि द्रव्यों के ऊपर वातनाशक पत्तों को बिछाकर तैलाभ्यक्त रोगी को लिटाकर ऊपर से रेशमी या ऊनी चादर से उसको ढाककर स्वेदन करायें। यही समुचित प्रकार है।

इस दृष्टि से सुश्रुत का निम्न पाठ अधिक स्पष्ट है—'कोषधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत् प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्'। सु० चि० अ० ३२।११।

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां[1] मृगशकुनिपिशितशिरस्पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां बाष्पमनुद्वमन्त्यामुत्क्वथितानां नाड्या शरेषीकावंशदलकरञ्जार्कपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया [2]व्यामार्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरेत्; बाष्पो [3]ह्यनृजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः ॥४३॥

३. नाडीस्वेद-विधि (Steam Kettle Sudation)—एक बन्द मुख घड़ा या चाय बनाने की केटली (Kettle) आदि ऐसा पात्र लें जिसमें कहीं से भाप (Steam) निकल न सके। उसमें मूल (जड़ वाले पदार्थ), फल, पत्र, अंकुर आदि अथवा उष्णप्रकृति वाले मृग, पक्षी आदि का शिर तथा पैर के मांसों को अथवा आवश्यकतानुसार अम्ल (कांजी आदि), लवण तथा घी आदि स्नेहों से युक्त मूत्र (गोमूत्र), दूध आदि (चिकित्सक के निर्देशानुसार) द्रव्यों को डाल कर उसका क्वाथ करें। उक्त पात्र में भाप निकलने के लिये बनाये गये छिद्र में सरकण्डों, बांस की नलिका, करञ्ज के पत्तों अथवा मदार के पत्तों से हाथी के सूंड़ के आकार की ऐसी नाली का निर्माण पहले से करे जिससे चिकित्सक की इच्छा के बिना कहीं से स्वयं भाप न निकल सके। इस नलिका की लम्बाई एक व्याम (३½ हाथ) लम्बी और इसकी चौड़ाई (मूल भाग की गोलाई) आधा व्याम (१¾ हाथ) होनी चाहिये, इसी को परिणाह या परिधि (Circumference) कहते हैं और आगे वाले भाग (जहाँ से स्वेदन दिया जायगा) की गोलाई उक्त व्याम के आठवें भाग के बराबर होनी चाहिये। उस नाली के जोड़ों को चारों ओर से (जहाँ जहाँ से भाप निकलने का सन्देह हो भली-भाँति वातनाशक एरण्ड आदि पत्तों से लपेट दें। इस नाली में दो या तीन स्थानों में मोड़ हों (जिससे सीधी भाप आकर रोगी के शरीर में फफोले आदि उत्पन्न न कर सके)। तत्पश्चात् वातनाशक द्रव्यों से बनाये हुए तेल से अभ्यङ्ग किये हुए रोगी के शरीर का स्वेदन करे। इस प्रकार नाडीयन्त्र द्वारा प्रयोग में लाया गया वह भाप सीधा ऊपर की ओर न जाकर (मोड़ों के कारण) रुक-रुककर त्वचा में दाह को उत्पन्न न करता हुआ रोगी को सुखपूर्वक स्विन्न कर देता है। इसी को नाड़ी स्वेद कहते हैं।

वक्तव्य—ऊपर नाडीस्वेद की विधि बतलायी गयी है। इसका मुख्य उद्देश्य है—वातहर द्रव्यों की भाप द्वारा रोगी के शरीर से पसीना निकालना। इसके तीन भाग हैं—१. वातहर द्रव्य, २. वह यन्त्र जिसमें उनका क्वाथ किया जाय और ३. उस यन्त्र से किस प्रकार स्वेदन किया जाता है। इनको आप इस प्रकार समझें। वातहर द्रव्यों का उल्लेख ऊपर स्पष्ट रूप से किया गया है। यन्त्र-निर्माण में अत्यन्त सावधानी इस ओर रखनी है कि यन्त्र-नलिका, यन्त्र के जोड़ कहीं से स्वेदनकाल में खुल न जाँय। दूसरी सावधानी यन्त्र-नलिका के भीतर की ओर मुख में एक जाली लगा देना अति आवश्यक है। जहाँ तक पत्तियों से नलिका बनाने की आज्ञा तन्त्रकार ने दी है, यह सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं है। भाप की ऊष्मा से उन पत्तों से बनायी हुई नलिका का बीच में नष्ट-भ्रष्ट होने का भय बना रहेगा, अतः सावधान रहें।

गजाग्रहस्तसंस्थानया—हाथी के सूँड़ जैसी नलिका होनी चाहिये अर्थात् मूल में मोटी आगे को क्रमशः पतली, लम्बी और दो-तीन जगह टेढ़ी। इसमें नाप के लिये व्याम, अर्धव्याम शब्दों का प्रयोग किया गया है।

---

१. 'शुङ्गवल्कादीनां' ग.।
२. 'व्यामाध्यर्धदीर्घया' ग.।
३. 'ह्यनूर्ध्वगामी' इति पा.।

इनकी परिभाषा—'व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्'। इति अमरः। दोनों बाँहों को फैला देने से जो बीच की लम्बाई होती है, उसको व्याम कहते हैं। यह लम्बाई साढ़े तीन हाथ होती है।

शिरस्पदम्—'मस्तकम्' इति, चक्रपाणिः। जब कि दूसरे व्याख्याकार शिर एवं पैर के मांसों का ग्रहण करने का निर्देश देते हैं। कुछ संस्करणों में 'शिरः पदम्' ऐसा पाठ दिया है, जो व्याकरण की दृष्टि से उचित नहीं है। यथा—'अधश्शिरसी पदे। ८।३।४७। इस सूत्र से विसर्गों को स् होकर 'शिरस्पदम्' रूप ही साधु है।

नाड़ीस्वेद के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार भी द्रष्टव्य हैं। देखें—सुश्रुत चि० अ० ३२। वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में भी इसका समुचित वर्णन किया है। इन दोनों में एक विशेषता यह है कि इन दोनों ने इस स्वेदन का प्रयोग सुखपूर्वक बैठी हुई स्थिति में करने का निर्देश दिया है। क्योंकि इसके पहले 'प्रस्तरस्वेद' के लिये लेटे हुए रोगी का विधान किया गया था।

वातिकोत्तर[1]वातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः ॥ ४४ ॥

४. परिषेकस्वेद-विधि (Affusion Sudation)—वातिक (केवल वातनाशक), उत्तर वातिक (प्रधानतया वातनाशक) मूल, फल आदि द्रव्यों के (यथा योग्य) गुन-गुने क्वाथों से कुम्भी (छोटे मुंह वाला घड़ा या सुराही), वर्षुलिका (जिससे जल की धारायें निकलती हों, यथा—फुहारा, हजारा आदि जिससे माली पौधों को सींचते हैं,) या प्रनाड़ी (बस्तियन्त्र, पिचकारी = Douche) को भरकर, विधिवत् वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तेल से वातविकार युक्त रोगी को तेलमालिश कराकर उसके शरीर को वस्त्र से ढककर परिषेचन करें, इसी को परिषेकस्वेद कहते हैं।

वक्तव्य—कुछ व्याख्याकारों ने 'वातिकोत्तरवातिकानां' को 'स्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं' का विशेषण माना है, जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में 'वातिकोत्तरवातिकानां' 'मूलादीनाम्' का ही विशेषण हो सकता है। हमारी लक्ष्यसिद्धि इस प्रकार भी हो ही जाती है, क्योंकि जिस प्रकार के क्वाथों को हम तैयार करेंगे उसी प्रकार के रोगियों में उनका प्रयोग भी करेंगे। यथा—वातविकार नाशक द्रव्यों के क्वाथों का प्रयोग वातविकार युक्त रोगियों पर ही किया जायगा, अन्यत्र नहीं।

उत्क्वाथैः—इसका आशय है क्वाथ का ऊपरी द्रव भाग अथवा छना हुआ क्वाथ का द्रव। अन्यथा क्वाथ के लिये डाले गये पदार्थ परिषेचन काल में यन्त्रों के छिद्रों को रोक देंगे।

कफज एवं पित्तज रोग यदि संसर्गज न हों तो इनमें स्वेदन नहीं किया जाता और यदि वात प्रधान मात्रा में कफ अथवा पित्त उसके साथ अल्पमात्रा में हो तो ऐसी स्थिति में द्रवस्वेद कराने की भगवान् सुश्रुत ने इस प्रकार आज्ञा दी है—'अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेदः'। सु० चि० अ० ३२।१४। यह द्रवस्वेद चरकोक्त परिषेकस्वेद ही है। क्योंकि इसी के पहले यह पंक्ति निर्दिष्ट है—'एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेत्'। सु० चि० अ० ३२।१३। वृद्धवाग्भट ने भी द्रवस्वेद के निम्नलिखित दो भेद माने हैं—'द्रवस्वेदस्तु द्विविधः परिषेकोऽवगाहश्च'। अष्टाङ्गसं० सू० अ० २६।

वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एवावगाहः ॥ ४५ ॥

५. अवगाहस्वेद-विधि (Bath Sudation) वातनाशक पदार्थों के क्वाथ, दूध, तेल, घी, मांसरस, उष्ण जल से भरे हुए कोष्ठ (टब = Tub) में अवगाहन (गले तक के अंगों को डुबा देना) अवगाहस्वेद कहा जाता है।

वक्तव्य—द्रोणी अवगाहन अथवा टब में बैठकर स्नान करना ये सब अवगाहस्वेद के ही भेद हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में पसीना आ जाय तब बाहर निकल कर शरीर को पोंछकर वस्त्र धारण कर लें। यह सब निवात (जहाँ हवा न लगे ऐसे) स्थान में करना चाहिये। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य सन्दर्भ—सुश्रुत चि० अ० ३२। अष्टाङ्गसं० सू० अ० २६ तथा भावप्रकाश पूर्वखण्ड, स्वेदप्रकरण। ध्यान रहे कि इस प्रकार अवगाहन के लिये जो उष्ण द्रव पदार्थ द्रोणी (टब या नाँद) में डाले गये हों उनका तापांश रोग या रोगी के अनुसार ८५° फा० से लेकर १००° फा० से किसी स्थिति में भी अधिक न हो।

---

१. 'उत्तरवातिकानि उत्तरवाते प्रधानवाते वातश्लेष्मणि हितानीह ग्राह्याणि' चक्रः।

ऊपर 'वातहर क्वाथ' मात्र दिया है; उसके आगे दूध, तेल आदि की गणना कर दी गयी है। हमारी सम्मति से दूध, तेल आदि को भी वातहर द्रव्यों से सिद्ध करके ही डालना चाहिये। इससे उनमें और भी अधिक गुणाधान हो जायगा। वैसे तो उक्त पदार्थ स्वभावतः वातहर हैं ही, इसका स्पष्ट निर्देश निम्न पद्यों में अवलोकनीय है—'काष्ठावगाहामच्छिद्रां तावदेवायतां समाम्। द्रोणीं वातहरक्वाथकृशराक्षीरपूरिताम् ॥ कृत्वा तस्यां सुखोष्णायामभ्यक्तं वातरोगिणम्। ज्ञात्वावगाहयेत् तावद् यावत् स्वेदोद्गमो भवेत् ॥ तप्तैः पत्रयुतैर्वापि शुद्धैर्वा सलिलैर्भिषक्। अभ्यक्ताङ्गस्य तस्यापि सलिलैः स्वेदमाचरेत्' ॥ भेलसंहिता।

अवगाहस्वेद की काल-सीमा—'मुहूर्तैकं समारभ्य यावत् स्यात् तच्चतुष्टयम्। तावत् तदवगाहेत यावदारोग्यनिश्चयः' ॥ भा० प्र० पू० खं० स्वे० प्र० श्लोक २९। आवश्यकतानुसार १ मुहूर्त (४८ मिनट) से लेकर ४ मुहूर्त (१९२ मिनट अर्थात् ३ घं० १२ मिनट) तक उस क्वाथ में बैठा रहे।

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत—तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा [1]परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे, सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं [2]कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात् सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्नमनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कुमात्रं[3] पुरुषप्रमाणं मृन्मयं कन्दुसंस्थानं[4] बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं[5] सपिधानं कारयेत् तं च खादिराणामाश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्; स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमान्यवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति, तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्—सौम्य ! प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः, न च त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान् जह्याः, तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथञ्चन मुञ्चेथाः, [6]त्वं यदा जानीयाः—विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक् प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघूभूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, [7]अपगतसंतापक्लमस्तु मुहूर्तात् सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीयाः, इति जेन्ताकस्वेदः ॥ ४६ ॥

६. जेन्ताकस्वेद-विधि (A dry hot Sudation or a heated chamber for inducing Perapiration)—जेन्ताकस्वेद का प्रयोग करने का इच्छुक (रोगी अथवा चिकित्सक) सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा करे। अपने घर से पूर्व अथवा उत्तर दिशा में गुणवान् तथा अच्छी (साफ-सुथरी) भूमि के किसी स्थान पर जहाँ काली, चिकनी अथवा पीली मिट्टी हो, परीवाप (बावड़ी), पुष्करिणी (कमल पुष्पों से युक्त सरोवर) आदि जलाशयों में से किसी एक के दक्षिण या पश्चिम तट पर, जहाँ पक्का घाट (सीढ़ियाँ बनी) हों, समतल (जेन्ताक स्वेद के लिये) और सुनिश्चित स्थान पर जलाशय से सात या आठ अरत्नि (हाथ) हटकर पूर्व की

१. परीवापो दीर्घिका।

२. कूटागारं वर्तुलागारम्।

३. किष्कुर्हस्तः।

४. 'यया चुल्हिकया तण्डुलादीनि लोके भृज्जति तद्भर्जनचुल्हिका कन्दुनाम्नोच्यते' गङ्गाधरः। 'कुन्दसंस्थानं' च.; 'कुन्दः कुम्भकाराग्निसंस्थानम्' चक्रः।

५. 'अङ्गारार्थं कोष्ठोऽवकाशो विद्यतेऽस्मिन् सोऽङ्गारकोष्ठकः, स एव स्तम्भः' चक्रः।

६. 'स यदा' चक्रः। 'स इत्यत्र त्वमित्यध्याहार्यम्' चक्रः। 'त्वं यदा जानीयाश्च' ग.।

७. 'अथ व्यपगत' ग.।

ओर, उत्तर की ओर अथवा जलाशय की ओर कूटागार (वर्तुलाकार) घर बनायें। इसकी ऊँचाई तथा विस्तार १६ हाथ होना चाहिये। चारों ओर से गोलाकार हो, इसकी दीवाल मिट्टी से बनी हुई अनेक मोखों (झरोखों) से युक्त हो, इस कूटागार के भीतर चारों ओर भित्ति (दीवाल) के साथ-साथ एक हाथ ऊँची और एक हाथ चौड़ी पिण्डिका (चौतरा जैसा) बनायें, इसका विस्तार दरवाजा तक हो। इस कूटागार के बीच में चार हाथ लम्बे-चौड़े पुरुष की ऊँचाई (३$\frac{1}{2}$ हाथ) के बराबर ऊँचा मिट्टी द्वारा रचित कन्दु (तन्दूर) की आकृति का, जिसमें अनेक छोटे-छोटे छेद हों ऐसा एक ढकना सहित अंगारों का कोष्ठ रूपी खम्भे की रचना करायें। उस कोष्ठ को खैर, अश्वकर्ण (Common gurjun tree) आदि की लकड़ियों से भरकर उसमें आग लगा दें। जब यह मालूम हो जाय कि उक्त लकड़ियाँ भली-भाँति जल गयी हैं, उनका धुआँ सब समाप्त हो चुका है और केवल अग्नि से वह घर तप चुका है तथा स्वेदन योग्य ही उष्णता उस घर में रह गयी है तब वातहर तैलों से मालिश किये हुए और कपड़ा ओढ़े हुए इस व्यक्ति (जिसके लिये प्रस्तुत जेन्ताक स्वेदन की तैयारी की गयी है) को उसके भीतर प्रवेश करायें। प्रवेश कराते हुए इसको उपदेश दें—"सौम्य ! (आज्ञापालन करने वाले रोगी) इसके भीतर कल्याण के लिये तथा आरोग्य प्राप्ति के लिये प्रवेश करो, भीतर जाकर इस पिण्डिका (चौतरा) पर चढ़कर करवट बदले हुए सुखपूर्वक सो (लेट) जाओ, यदि तुम्हें अधिक पसीना होने लगे, उसके कारण मूर्च्छा (बेहोशी या घबड़ाहट) भी हो जाय तो तुम इस पिण्डिका को तब तक न छोड़ना जब तक श्वास-प्रश्वास का क्रम चलता रहे। यदि घबड़ाकर तुम इस पिण्डिका से इधर-उधर हो गये तो द्वार (बाहर निकलने के मार्ग) को प्राप्त न कर सकने के कारण पसीना तथा मूर्च्छा से परेशान होने कारण तत्काल प्राणों को छोड़ बैठोगे। इस लिये किसी भी स्थिति में उक्त पिण्डिका को मत छोड़ना। जब तुम्हें यह मालूम पड़े कि तुम्हारे शरीर का कफ पिघलकर निकल चुका है, पसीने का चिपचिपापन भलीभाँति दूर हो गया है, सभी रोमकूपों (स्रोतों) के मुख (जो पहले कफ के कारण अवरुद्ध हो गये थे) खुल जायें, शरीर में हलकापन आ जाय, विबन्ध, स्तम्भ (जकड़न), सुप्ति (स्पर्शज्ञान का न होना), वेदना (कष्ट), गौरव (भारीपन) के दूर हो जाने पर उसी पिंडिका के सहारे से दरवाजा के पास चले आना। बाहर आते ही आँखों को सुख देने की दृष्टि से उनको शीतल जल से मत धोना, थोड़ी देर बाद जब गर्मी और थकावट या घबराहट दूर हो जाय तब गुनगुने जल से विधिपूर्वक स्नान करके भोजन करना।" यह जेन्ताक स्वेद की विधि है।

वक्तव्य—परीवापः—'परीवापो जलस्थाने पर्युप्तिपरिवारयोः'। इति अभिधानसंग्रहे स्वरकाण्डे ४। परीवाप—Pool, Pond or Reservior. आप्टे डिक्शनरी। **अरत्निः**—'अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना'। इत्यमरः। 'नारत्निः कफोणौ हस्ते सप्रकोष्ठे चाङ्गुलौ'। इति रुद्रः। 'निर्गता कनिष्ठा यस्मात् तेन मुष्टिनोपलक्षितो हस्त इति सम्पिण्डितोऽर्थः। 'अरत्निर्हस्तः' इति चक्रपाणिः। 'मध्याङ्गुलीकर्पूरयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः। बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः स कनिष्ठकः'। हलायुधः।

किष्कुः—'द्वादशाङ्गुलपरिमाणे हस्ते' (Arundo tibialis)। इति वैद्यकशब्दसिन्धुः। 'किष्कुहस्तचतुष्टयम्'। इतीन्दुः। 'किष्कुहस्ते वितस्तौ च'। इत्यमरः। 'किष्कुमुक्तं द्विपुरुषप्रमाणम्'। इति वृद्धवाग्भटः' अष्टाङ्गसंग्रहे सू० अ० २६।

पुरुषप्रमाणम्—'ऊर्ध्वविस्तृतदोः पाणिनृमाने पौरुषं त्रिपु'। इत्यमरः। अस्य व्याख्यानं यथा—ऊर्ध्वं विस्तृतं दोः पाणिः येन सः तादृशो ना, तस्य यन्मानं तेन पुंसा यन्मीयते तत्। पौरुषं पुरुषस्य स्याद् भावे कर्मणि तेजसि। ऊर्ध्वविस्तृतदोः पाणिनृमाने त्वभिधेयवत्' ॥ इति मेदिनी।

'यया चुल्हिकया तण्डुलादीनि लोको भृज्जति, तद्भर्जनचुल्हिका कन्दुनाम्नोच्यते'।

कन्दुसंस्थानम्—'यथा चुल्हिकया तण्डुलादीनि लोको भृज्जति, तद्भर्जनचुल्हिका कन्दुनाम्नोच्यते'। इति गङ्गाधरः। 'मृण्मयमुदनद्धपटहाकृतिर्भवतीति' इन्दुः। 'कुम्भकाग्निसंस्थानमिति' चक्रः।

जेन्ताकस्वेद—यह एक विशिष्ट प्रकार की स्वेदविधि है। इसके लिये तन्त्रकार ने ऊपर एक स्वतन्त्र रूप से गृह-निर्माण की प्रक्रिया बतलायी है। पवित्र स्थान में जलाशय आदि के समीप समतल भूमि में इसका निर्माण करें। इसका द्वार पूर्व अथवा उत्तर की ओर खुलता हो। भीतर से इसकी ऊँचाई तथा चौड़ाई १६-१६ हाथ हो। इस प्रकार गोलाकार घर की बाहरी दीवाल तैयार हो गयी। इसमें अनेक गवाक्ष (मोखे या झरोखे) भी होंगे। इसके भीतर दरवाजा को छोड़कर चारों ओर एक हाथ ऊँचा, एक हाथ चौड़ा चबूतरा रोगी के लेटने के लिये बनाये। बीच में पुरुष की ऊँचाई के बराबर मिट्टी का एक गोलाकार खोखला खम्भा

तैयार करें। इसकी गोलाई इतनी हो जिससे चौतरे तथा इस खम्भे के बीच में चार हाथ की दूरी चारों ओर से बनी रहे। इसमें लकड़ियाँ डालकर आग लगा दें और उसको ऊपर से ढक दें। जब धुंआ एक दम समाप्त हो जाय तथा मकान की तपन इस योग्य हो जाय कि स्वेदन के लिये भीतर गया हुआ रोगी उस गर्मी को सहन कर सके तब उसको उपर्युक्त समुचित निर्देश देकर उस चारों ओर बने चबूतरा में करवट बदल-बदल कर लेटे रहने को कहे। भलीभाँति स्वेदन हो जाने पर रोगी को बाहर आकर शीघ्र ही शीतल जल से आँखें नहीं धोनी चाहिये। इसकी विधि अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में देखें।

शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम्। तापयित्वा मारुतघ्नैर्दारुभिः सम्प्रदीपितैः ॥४७॥
व्यपोह्य सर्वानङ्गारान् प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा। तां शिलामथ कुर्वीत कौशेयाविकसंस्तराम् ॥४८॥
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः [1]स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्। [2]कौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैः [3]सुसंवृतः ॥
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः—

७. अश्मघनस्वेद-विधि (Stone-Bed Sudation)—लेटे हुए पुरुष (जिसको स्वेदन कराना है उस रोगी) के प्रमाण (लम्बाई, चौड़ाई,) के अनुसार घन (दृढ़–जो आँच के लगने पर फूट या फट न जाय) पत्थर की शिला (समतल लम्बा-चौड़ा पत्थर का टुकड़ा) लें। इसके ऊपर वातनाशक (खदिर आदि) लकड़ियों को जलाकर, अंगारों को हटाकर तदनन्तर गरम पानी से पोंछकर उस शिला को साफ कर लें। तत्पश्चात् उस शिला के ऊपर रेशमी या ऊनी चादर बिछा दें। सम्पूर्ण शरीर में भलीभाँति तेलमालिश किये हुए रोगी को उस पर सुला दें और ऊपर से रुरु नामक मृग का चर्म, रेशमी चादर अथवा सूती चादर आदि (कम्बल) से ढांक दें। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। यह अश्मघनस्वेद कह दिया गया है।

वक्तव्य—मोटी, सुदृढ़ तथा रोगी के शरीर की लम्बाई, चौड़ाई के बराबर शिला को गरम कराकर उसमें लेटाने से जो स्वेदन होता है, उसे अश्मघनस्वेद कहते हैं। इस प्रसंग में कुछ टीकाकारों ने पत्थर को गरम या ठंडे पानी से नहीं धोना चाहिये—इस प्रकार का अपना मन्तव्य देकर भ्रम उत्पन्न किया है। जब कि तन्त्रकार ने स्पष्ट निर्देश किया है कि अंगारों को हटाकर शेष राख आदि को साफ करने के लिये उस पर गरम पानी छिड़कें, न कि धोवें। छिड़कने मात्र से शिला के फूटने का भय नहीं होता। यह क्रिया राख को दूर करने के लिये उपयुक्त है।

कौरवाजिन कौशेयप्रावाराद्यैः—आचार्य गणनाथसेन सरस्वती-अभिमत पाठ **'रौरवाजिन'** ही भगवान आत्रेय-सम्मत पाठ है। क्योंकि यदि **'कौरवं कार्पासवस्त्रं, चक्रः'**। इस अर्थ को स्वीकार करते हैं तो इसका अन्यत्र अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि कहीं से सिद्ध हो भी जाय तो **कौरव** और **प्रावार** में कोई युक्ति युक्त अन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। **प्रावार** का अर्थ सर्वत्र ओढ़ने का चादर है। देखें—प्रावार=A loose upper garment। इस प्रकार यहाँ पर **रौरवाजिन** = रुरु मृग का चर्म, **कौशेय** = रेशमी वस्त्र, प्रावार = सूती चादर, आदि शब्द से ऊनी वस्त्र कम्बल, लोई, शाल आदि का ग्रहण किया जा सकता है। अश्मघन का उल्लेख सुश्रुत चि० अ० ३२ तथा अष्टाङ्गसं० सू० अ० २६ में देखें।

—कर्षूस्वेदः प्रवक्ष्यते। खानयेच्छयनस्याधः [4]कर्षूं स्थानविभागवित् ॥५०॥
दीप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षूं पूरयेत् ततः। तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ॥५१॥

८. कर्षूस्वेद-विधि (Trench Sudation)—अब कर्षूस्वेद की विधि कही जायगी। स्थान के विभाग (लम्बाई-चौड़ाई के प्रमाण) को जाननेवाला चिकित्सक पलंग के नीचे कर्षू नामक गड्ढे को खुदवाये। खुद जाने के बाद धुएँ से रहित जलते हुए अंगारों से उस गड्ढे को भर दें और उसके ऊपर शय्या (पलंग) को रखकर रोगी लेट जाय। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

१. 'शयानः स्विद्यते सुखम्' यो.।
२. 'कौरवं कार्पासवस्त्रं', चक्रः। 'रौरवाजिनं' ग.।
३. 'सुखं वृतः' यो.।
४. 'कर्षूः अभ्यन्तरविस्तीर्णोऽल्पमुखो गर्तः'।

वक्तव्य—'करीषाग्निः कर्षूः'। इति अमरसिंहः। 'तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री'। अमरः। यद्यपि चरकोक्त कर्षू और अमरसिंह का कर्षू भिन्न विषयक शब्द हैं। इस अंश में उक्त परिभाषा की ओर ध्यान आकृष्ट होता है कि क्या इस कर्षू स्वेद में लकड़ी आदि के कोयलों (जिनकी अत्यन्त तीव्र आंच होती है) को न डालकर धूम रहित करीषाग्नि (सूखे गोबर = वनोपलों की आग) को डालना तो तन्त्रकार को अभीष्ट न था? यदि हाँ तो 'करीषाग्निः कर्षूः' अमरसिंह का यह दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी चिकित्सक विचार करें! पलंग की सामान्य ऊँचाई १½ से २ फुट के आस-पास होती है। इस पलंग की लम्बाई के लगभग लम्बे, चौड़े गड्ढे में ऊपर तक भरे हुए दीप्त अंगारों की गर्मी से पलंग, उसमें बिछे हुए बिस्तर तथा उस पर सोये हुए रोगी की क्या स्थिति हो जायगी? किन्तु करीषाग्नि से यह भयावह स्थिति नहीं आ सकती। करीषाग्नि की पुष्टि में यह भी अविस्मरणीय तथ्य है कि अन्यत्र तन्त्रकार ने वातनाशक आदि काष्ठों का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसका कर्षू स्वेद में सर्वथा अभाव है।

आचार्य गंगाधर ने कर्षू के गर्त को मिट्टी की हाँडी के आकार का बनाने का निर्देश दिया है। अर्थात् जो भीतर से अधिक चौड़ा हो और मुख भाग संकुचित हो। वास्तव में रोगी की लम्बाई तथा चौड़ाई के बराबर कर्षू के मुख की लम्बाई और चौड़ाई होनी चाहिये।

अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम्। घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः सम्प्रलेपयेत् ॥५२॥
कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत्। प्रावाराजिनकौशेयकुथकम्बलगोणिकैः[1] ॥५३॥
[2]हसन्तिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्तां च सर्वशः। [3]परिवार्यान्तरारोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥५४॥

९. कुटीस्वेद-विधि (Cabin Sudation)—जिसकी ऊँचाई और चौड़ाई अधिक न हो, ऐ झरोखों से रहित और मोटी दीवार वाली एक कुटी बनाकर उसको कूठ आदि (उष्णवीर्य तथा सुगं पदार्थों से लीप दें। इस कुटी के बीच में चिकित्सक एक शय्या की व्यवस्था करा दे, जो अच्छी तरह बिछी उस शय्या के चारों ओर अंगारों से पूर्ण अँगीठियाँ रख दें। तदनन्तर रोगी वातनाशक तैलों की मालिश क उस शय्या पर प्रावार (ओढ़नी) अजिन (मृगचर्म), कौशेय (रेशमी दुपट्टा), कुथ (A painted cloth serving as an elephant's housing or Carpat.), कम्बल, गोणिक (सन का कपड़ा या दोहरा बोरा) आदि को ओढ़कर चढ़े (लेट जाय), इस प्रकार सुख से स्वेदन हो जाता है।

वक्तव्य—'अनत्युत्संधविस्ताराम्' से तन्त्रकार का तात्पर्य जेन्ताकस्वेद के लिये निर्मित घर से छोटा बनाने का है। कुष्ठ (कूठ) आदि द्रव्यों के लेप से दो लाभ हैं—एक तो दीवाल के छिद्र बन्द हो जायेंगे तथा दूसरा उनकी सुगन्धि से स्वेदनकर्ता को सुख मिलेगा। **भिषक् शय्याम् उपकल्पयेत्**—यह शय्या बिछाने का भार चिकित्सक पर नहीं है, अपितु शय्या कैसी होनी चाहिये इसका निर्देश चिकित्सक से प्राप्त करें। **गोणिक**—शब्द के स्थान पर जो 'गोलक' पाठ किया गया है और उसका अर्थ 'सन के वस्त्र' किया गया है, यह कोषकारों का अभिमत नहीं है। वास्तव में यहाँ **'गोणिक'** शब्द ही होना चाहिये जिसका अर्थ है—Regged garment or torn clothes.

हसन्तिका—हसन्ती या अङ्गारधानिका, अँगीठी का नाम है। देखें—कविराज लोलिम्बराज का पद्य—'भज वेपथुमन् सदा हसन्तीं गतधूमां च विलासिनीं हसन्तीम्'। 'चमत्कारचिन्तामणि'। 'अङ्गारधानिकाङ्गारशकट्यपि हसन्त्यपि'। अमरः। **सर्वशः** (Entirely) अर्थात् पूर्णरूप से। इस कुटीस्वेद का वर्णन सुश्रुत में भी उपलब्ध होता है किन्तु सर्वथा विपरीत। जहाँ इसमें कहीं से भी हवा आने की सम्भावना नहीं है, वहाँ सुश्रुतोक्त कुटी के चारों द्वार खुले हैं। देखें—सु० चि० अ० ३२। वृद्धवाग्भट की कुटीस्वेद-विधि चरक के अनुरूप है। देखें—अष्टांगसं० सू० अ० २६।

चरकसंहिता में आये हुए उक्त **सर्वशः** शब्द का विशदीकरण वृद्धवाग्भट ५।२। इस प्रकार हुआ है—

१. 'कम्बलगोलकैः' यो.।
२. 'हसन्तिका अङ्गारधानिका' चक्रः।
३. 'परिवार्य तामारोहेत्' चक्रः।

'अङ्गारपूर्णहसन्तिकासमूहपरिवृताम्'। विद्वान् पाठक ध्यान दें। कहीं ऐसा तो नहीं है कि महर्षि आत्रेय ने सर्वशः के स्थान पर सर्वतः शब्द का ही उपदेश दिया हो ?

य एवाश्मघनस्वेदविधिर्भूमौ स एव तु। प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥५५॥

१०. भूस्वेद-विधि (Ground-Bed Sudation.)—जो अश्मघनस्वेद की विधि कही गयी है, वही विधि यदि साफ सुथरी, समतल तथा निवातभूमि (जहाँ स्वेदनकाल में रोगी को हवा न लग सके, ऐसी जगह) में की जाय तो उसको भूमिस्वेद अथवा भूस्वेद कहते हैं।

वक्तव्य—विस्तृत ज्ञान के लिये अश्मघनस्वेद इसी अध्याय के श्लोक ४७-४९ में देखें। सुश्रुत में इसका वर्णन चि० अ० ३२ में है। वृद्धवाग्भट ने घनाश्मस्वेद और भूस्वेद को एक ही माना है।

कुम्भीं वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत्। अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥५६॥
स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्। अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान् ॥५७॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्।
सुसंवृताङ्गः स्वभ्यक्तः स्नेहैरनिलनाशनैः ॥५८॥

११. कुम्भीस्वेद-विधि (Pitcher Sudation)—वातनाशक ओषधियों के क्वाथ से भरे हुए घड़े को दो या तीन हिस्सा भूमि में दबा दें। उसके ऊपर पलंग खटिया अथवा जालीदार कुर्सी या पीढ़ा रखें। उस पर अधिक घना बिछौना या आसन न बिछायें। इसके बाद वातनाशक तेलों में से किसी एक तेल से रोगी की भलीभांति मालिश कराके उसे चादर ओढ़ाकर उसको आसन पर बैठा दें। तदनन्तर खूब तपाये हुए लोहे के गोलों अथवा पत्थरों को उस घड़े में डालता जाय। इससे निकली (इनके डालने से जो भाप निकलेगी उस) भाप से (उस आसन पर बैठे हुए) पुरुष का सुखपूर्वक स्वेदन हो जायगा।

वक्तव्य—जहाँ चरक में केवल 'वातहरक्वाथपूर्णां' वाक्य का प्रयोग किया है, वहाँ सुश्रुतसंहिता में क्वाथोपयोगी द्रव्यों की गणना की है। देखें—सु० चि० अ० ३२। वृद्धवाग्भट ने 'परितः प्रलम्बमानं कुथकम्बलगोणिकं विधाय'। अ० सं० सू० अ० २६ में इतना अधिक निर्देश दिया है, जिससे उक्त वाष्प का सम्पूर्ण उपयोग रोगी के शरीर पर होगा अन्यथा वह भाप इधर-उधर भी बिखर जायेगी।

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि [1]वेधतः। देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम् ॥५९॥
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते। स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥६०॥

१२. कूपस्वेद-विधि (Pit Sudation)—शुभ एवं वायु के वेग से रहित स्थान में शयन (पलंग या चारपाई) की लम्बाई, चौड़ाई के समान लम्बा और चौड़ा तथा इससे दूना गहरा कूप (कुआँ या गढ़ा) खोदें, तदनन्तर उक्त गढ़े को साफ सुथरा करा लें। उसमें हाथी, घोड़ा, गाय, गदहा और ऊँट का सूखा गोबर (वनोपल) भर दें तथा आग लगा दें। जब गोबर भलीभाँति जल जाय अथवा धुआँ रहित हो जाय तब उसके ऊपर पलंग रखकर उस पर विस्तर बिछाकर तेल-मालिश किये हुए रोगी को लिटा दें और ऊपर से ओढ़ा दें। ऐसा करने से पूर्णरूप से स्वेदन हो जाता है।

वक्तव्य—इसके पूर्व ५०-५१ श्लोक द्वारा **कर्षूस्वेद** का निर्देश किया गया है इसका गर्त (गढ़ा) हंडिया के आकार का और **कूपस्वेद** का गढ़ा सीधा होता है, मूलतः यही इन दोनों में भेद है। सुश्रुत में इन दोनों का ही उल्लेख नहीं है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में कूपस्वेद को ही कर्षूस्वेद में अन्तर्भाव कर दिया है। वास्तव में ये सभी स्वेदन सम्बन्धी कल्पनायें हैं। हमारी दृष्टि से वृद्धवाग्भट को कर्षूस्वेद-विधि में कूपस्वेद का अन्तर्भाव करके कर्षूस्वेदविधि को महत्त्व देना चाहिये था क्योंकि कर्षूस्वेदविधि से देर तक स्वेदन हो सकता है। यह केवल इसके निर्माण प्रकार का प्रभाव है।

दग्धपूरिते—'पूर्वं पूरितः पश्चाद् दग्धः', इस विग्रह में 'राजदन्तादिषु परम्'। २।२।३१। इस सूत्र से

१. 'वेधन इत्यधःखननप्रमाणेन' चक्रः।

पूरित शब्द का परनिपात, आकृतिगण होने के कारण हुआ है। नहीं तो 'दग्धपूरित' शब्द का पहले जलाया और बाद में भरा, इस प्रकार विपरीत अर्थ हो जायगा, जो तन्त्रकार को अभीष्ट नहीं है।

[1]धीतीकां तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्। शयनान्तःप्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च ॥६१॥
सुदग्धायां विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत्। स्ववच्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥६२॥
होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा। इति त्रयोदशविधः स्वेदोऽग्निगुणसंश्रयः ॥६३॥

१३. होलाकस्वेद-विधि (Under-Bed Sudation)—पलंग या चारपाई के भीतर की नाप के अनुसार एक धीतिका (बोरसी, सग्गड़ अथवा आग रखने का पात्र) तैयार करे। उसमें हाथी, घोड़ा आदि प्राणियों का सूखा गोबर भर कर जला दें। जब वह भलीभाँति जल कर धूमरहित हो जाय तब उस पर चारपाई रख दें। उसके ऊपर विस्तर बिछाकर वातहर तैल से मालिश किये हुए रोगी को सुलाकर कम्बल, रजाई ओढ़ा दें। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। महर्षि ने इस स्वेद का नाम '**होलाकस्वेद**' कहा है। इस प्रकार अग्नि के संयोग से होने वाले १३ प्रकार के स्वेदों का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने धीतिका या धीतीका के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—**'शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयविशेषः'**। व्याकरण की दृष्टि से इन दोनों शब्दों की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है—**धीतिका**—धीङ् आधारे, धातु से बाहुलकात् उणादि 'ति' प्रत्यय, गुण का अभाव, 'स्वार्थेकः' और टाप्। **धीतिका**—धीति, पूर्ववत् तदनन्तर 'कृदिकारादक्तिनः' सूत्र से ङीप् प्रत्यय, धीती+क—'केणः' सूत्र से ह्रस्व प्राप्त होने पर बाहुलकात्, ह्रस्व का निषेध हो गया।

यह धीतीका लोहे से (पलंग की भीतरी लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार) अथवा जमीन पर मिट्टी का गड्ढा खोद देने से भी बनायी जा सकती है। पर ध्यान रहे, आँच का उतना ही प्रभाव पलंग तक पहुँचे जिससे स्वेदन हो सके, कहीं पलंग के साथ रोगी वहीं भस्म न हो जाय।

व्यायाम [2]उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवाऽऽतपाः ॥६४॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते[3]।

दश निरग्नि स्वेद (Ten Non-Thermal Sudation)—१. व्यायाम २. उष्णगृह, ३. भारी ओढ़ने के वस्त्र, ४. भूख, ५. मद्य आदि का अधिक पीना, ६. भय, ७. क्रोध, ८. उपनाह, ९. युद्ध, १०. आतप (धूप) सेवन—ये दस अग्निगुण के बिना ही मनुष्य का स्वेदन करते हैं। साक्षात् अग्नि का सम्बन्ध न होने के कारण ही इन स्वेदों का नाम निरग्नि स्वेद है।

वक्तव्य—साक्षात् अग्नि का सम्बन्ध न होने के कारण ही इन स्वेदों का नाम निरग्नि स्वेद है।

उष्णगृह—चक्रपाणि ने उष्णगृह की परिभाषा इस प्रकार दी है—'उष्णसदनमिति अग्निसन्तापव्यतिकरेण निर्जालकतया घनभित्तितया च यद् गृहं स्वेदयति तद् बोद्धव्यम्'। अर्थात् उष्णगृह उसे कहते हैं जिसमें खिड़कियाँ आदि न हों या बन्द कर दी गयी हों जिससे भीतर शीतल वायु का प्रवेश न हो सके और जहाँ दीवालें परस्पर सटी हों। कुल मिलाकर उसको उष्णगृह कहा गया है, जहाँ शीतल वायु का प्रवेश न हो सके।

उपनाह-स्वेद—इसको चरक ने निरग्नि स्वेद कहा है किन्तु यह उपनाह (पुल्टिस) सुश्रुत के मत से (अग्नि से युक्त) स्वेद है। यथा—'कफमेदोऽन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति'। सु० चि० अ० ३२।१५। अन्यत्र उन्होंने निरग्निस्वेद भी स्वीकार किया है। सुश्रुत में निर्दिष्ट है—'उपनाहस्वेदो वातघ्नः', उपनाहस्वेद वातघ्न होता है, भले ही वह **साग्नि** अथवा **निरग्नि** हो। अतएव चक्रपाणि ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है—'उपनाहो द्विविधः साग्निः—अनग्निश्च, तत्र यः साग्निः उपनाहः सः सङ्कर एव बोद्धव्यः। यस्त्वग्निबलत्वेन शरीरोष्मरोधं कृत्वा स्वेदयति स इह बोद्धव्यः'।

१. 'धीतीका शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयविशेषः' चक्रः।
२. उष्णसदनमिति अग्निसन्तापव्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया च यद्गृहं स्वेदयति तद्बोद्धव्यम्। उपनाहो द्विविधः साग्निरनग्निश्च, तत्र यः साग्निरुपनाहः, स संकर एव बोद्धव्यः; यस्त्वनग्निबलत्वेन शरीरोष्मरोधं कृत्वा स्वेदयति स इह बोद्धव्यः' इति चक्रः।
३. 'अग्निगुणादृते साक्षादग्निसम्बन्धेन कृतादुष्णत्वादिना' चक्रः।

शीतद्रव्यों द्वारा जब स्वेदन कराया जाता है उस परिस्थिति में शारीरिक ऊष्मा ही स्वेद में कारण होती है। शीतप्रधान ज्वरों में जो कम्बल, दुलाई आदि गुरु प्रावरकों का प्रयोग किया जाता है अथवा जाड़े के दिनों में रजाई आदि ओढ़कर दरवाजा खिड़की बन्द कर के घर के भीतर रहना, स्वेद की ही प्रक्रिया है। निर्धनों के स्वेदन : नैसर्गिक प्रकार भी देखें—**'रात्रौ जानुः दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्ययोः द्वयोः'**।

इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ॥६५॥

एकाङ्गसर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च। इत्येतत् त्रिविधं [1]द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम् ॥६६॥

स्वेदों का उपसंहारात्मक परिगणन—इस प्रकार १. अग्नि के गुणों से युक्त (साग्नि), और २. अग्नि के गुणों से रहित (निरग्नि) ये दो प्रकार के स्वेद कहे गये हैं। तदनन्तर पूर्वोक्त स्वेद एकांगगत (Local) और सर्वाङ्गगत (General) भेद से पुनः दो प्रकार का होता है। इसके भी स्निग्ध (Moist) और रूक्ष (Dry) भेद होते हैं। इस प्रकार वर्णित स्वेदनों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से देखें—

स्वेदनों का वर्गीकरण

(Classification of Sudations)

स्निग्ध, रूक्ष **साग्नि** (Thermal)	एकाङ्ग, सर्वाङ्ग **निरग्नि** (Non-Thermal)
१. संकर स्वेद	१. व्यायाम स्वेद
२. प्रस्तर ,,	२. उष्णसदन ,,
३. नाड़ी ,,	३. गुरुप्रावरण ,,
४. परिषेक ,,	४. क्षुधा ,,
५. अवगाहन ,,	५. बहुपान ,,
६. जेन्ताक ,,	६. भय ,,
७. अश्मघन ,,	७. क्रोध ,,
८. कर्षू ,,	८. उपनाह ,,
९. कुटी ,,	९. आहव(युद्ध) ,,
१०. भूमि ,,	१०. आतप ,,
११. कुम्भिक ,,	
१२. कूप ,,	
१३. होलाक ,,	

स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्यः स्विन्नः पथ्याशनो भवेत्। तदहः स्विन्नगात्रस्तु व्यायामं वर्जयेन्नरः ॥६७॥

स्वेदनकाल में अपथ्य—पहले स्नेहन कराये हुए पुरुष की चिकित्सा स्वेदन-विधि द्वारा करें और भलीभांति स्वेदन होने पर उसको पथ्य सेवन करायें। जिस दिन स्वेदन कराया गया हो उस दिन उसको व्यायाम नहीं करना चाहिये।

वक्तव्य—चरक का यह आदेश कि 'स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्यः'। इसका तात्पर्य है कि स्वेदन करने के पहले स्नेहन अवश्य कर लेना चाहिये, यही प्रकार सुश्रुत को भी अभीष्ट था। देखें—'नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे, स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित्। दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु गच्छेद् भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम्'॥ सु० चि० अ० ३२।२०।

स्वेदन-क्रिया के हो जाने के पश्चात् सुश्रुत में इस प्रकार पथ्य-विधि का निर्देश है—सम्यक् स्विन्नं विमृदितं स्नातमुष्णाम्बुभिः शनैः। स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गञ्च निवातशरणस्थितम् ॥ भोजयेदनभिष्यन्दि सर्वं चाचारमाचरेत्' ॥ सु० चि० अ० ३२।३० ॥

१. 'द्वन्द्वं परस्परविरुद्धं युग्मम्' चक्रः।

तत्र श्लोकाः-

स्वेदो यथा कार्यकरो हितो येभ्यश्च यद्विधः। यत्र देशे यथा योग्यो देशो रक्ष्यश्च यो यथा ॥६८॥
स्विन्नातिस्विन्नरूपाणि तथाऽतिस्विन्नभेषजम्। अस्वेद्याः स्वेदयोग्याश्च स्वेदद्रव्याणि कल्पना ॥६९॥
त्रयोदशविधः स्वेदो विना दशविधोऽग्निना। सङ्ग्रहेण च षट् स्वेदाः स्वेदाध्याये निदर्शिताः ॥७०॥
स्वेदाधिकारे यद्वाच्यमुक्तमेतन्महर्षिणा। शिष्यैस्तु प्रतिपत्तव्यमुपदेष्टा पुनर्वसुः ॥७१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के स्वेदाध्यायो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—स्वेद जिस प्रकार कार्यसिद्धि का देने वाला होता है, जिनके लिये जिस प्रकार का स्वेद लाभदायक है, जिस देश (शरीरावयव) की जिस प्रकार रक्षा करनी चाहिये, जिस देश (स्थान) पर जैसा स्वेद कराना उचित होता है, स्विन्न (भलीभाँति स्वेद) के तथा अतिस्विन्न के लक्षण और स्विन्न की चिकित्सा, स्वेदन के योग्य, स्वेदन के अयोग्य पुरुष, स्वेदोपयोगी द्रव्य, स्वेदों की कल्पनायें (रचनायें), तेरह प्रकार का अग्नि युक्त स्वेद और दस प्रकार का निरग्नि (अग्निरहित) स्वेद, संक्षेप से छः प्रकार के स्वेद, ये सब विषय स्वेदाध्याय में निर्दिष्ट हैं।

स्वेदाध्याय में जो कहने योग्य विषय था वह सम्पूर्ण महर्षि ने कहा है, इस विषय को शिष्य भलीभाँति समझ लें, क्योंकि इस विषय के उपदेशकर्त्ता भगवान् पुनर्वसु हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में कल्पनाचतुष्क सम्बन्धी चौदहवाँ स्वेदाध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अथात उपकल्पनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

स्वेदाध्याय के वर्णन के पश्चात् अब यहाँ से उपकल्पनीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवन् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इसके पहले अध्यायों में 'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदनमनन्तरम्' उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार स्नेहन और स्वेदन का साङ्गोपांग वर्णन किया जा चुका है। तदनन्तर जिनकी स्नेहन और स्वेदन क्रिया की जा चुकी है, उनके लिये संशोधनों की आवश्यकता होती है। अतः उन (संशोधन के लिये प्रयुक्त होने वाले वमन-विरेचनों) का विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया जायगा। वास्तव में इस अध्याय में वमन-विरेचन के उपयोगी द्रव्यों के संग्रह (उप = समीपे, कल्पनं सम्भारसङ्ग्रहणम्) का मुख्यतः निर्देश किया जायगा।

इह खलु राजानं राजमात्रमन्यं वा विपुलद्रव्यं[1] वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात् सम्भारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक् चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थाः, व्यापन्ने चौषधे

१. अतः परं क्वचित् 'सम्भृतसम्भारम्' इत्यधिकः पाठो दृश्यते।

व्यापदः [1]परिसंख्याय प्रतीकारार्थाः; न हि संनिकृष्टे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि [2]क्रयाक्रये सुकरमाशु सम्भरणमौषधानां यथावदिति ॥ ३ ॥

सम्भार द्रव्यों की उपकल्पना (Collection of Equipments)—इस संसार में निश्चय पूर्वक राजा अथवा राजा के समान अन्य धनाढ्य एवं सुकुमार व्यक्ति को जिसके पास सभी आवश्यक सामग्री पर्याप्त हों, वमनकारक अथवा विरेचनकारक द्रव्यों को पिलाने की इच्छा वाले चिकित्सक को औषध का सेवन कराने के पहले ही औषध के ठीक-ठीक प्रयोग हो जाने के तत्काल बाद दिये जाने वाले पथ्य भोजन आदि की तथा यदि औषध प्रयोग ठीक प्रकार से न हो सके हों तो उससे होने वाले विकारों को भलीभाँति समझ कर उनको दूर करने के लिये उपयोगी सामग्री रखनी चाहिये। क्योंकि उपद्रवों के उत्पन्न होते ही उन द्रव्यों की तत्काल आवश्यकता होती है। उस समय यदि खरीदने तथा मूल्य चुकाने में सुगमता नहीं रही तो इस विलम्ब का दण्ड रोगी को भोगना पड़ेगा। अतः आवश्यक सामग्री का सर्वप्रथम संग्रह कर लेना चाहिये, ऐसा तन्त्रकार का आशय है। यह सामान्य निर्देश मात्र है जिसका व्याख्यान आगे किया जायगा।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—ननु, भगवन्! आदावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, सम्यक्प्रयोगनिमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा, व्यापच्चासम्यक्प्रयोगनिमित्ता; अथ सम्यगसम्यक् च समारब्धं कर्म सिध्यति व्यापद्यते वाऽनियमेन, तुल्यं भवति ज्ञानमज्ञानेनेति ॥ ४ ॥

अग्निवेश का प्रश्न—उपकल्पनीय द्रव्यों का वमन-विरेचन के पूर्व संग्रह कर लेना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा (पूछा)—'भगवन्! दोष तथा औषध को जानने वाले चिकित्सक को पहले ही उस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये जिसके करने से निश्चित रूप से औषध अपना प्रभाव दिखला सके अर्थात् औषध का अव्यर्थ प्रयोग हो। क्योंकि सभी कार्यों की सिद्धि सम्यक् (ठीक-ठीक) प्रयोग पर ही आधारित होती है और जितने भी उपद्रव होते हैं वे सब असम्यक् (अनुचित) प्रयोग के कारण ही होते हैं। ठीक प्रकार से अथवा अनुचित प्रकार (गलत ढंग) से किये गये चिकित्सा सम्बन्धी कर्म (यथा-क्रम) असिद्ध या सिद्ध हो जायें तो इसका तात्पर्य यही होगा कि चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान का होना अथवा न होना दोनों ही समान हो जायेंगे अर्थात् उनमें कोई भेद नहीं रह जायगा।

वक्तव्य—ऊपर कहा गया है **'व्यापन्ने चौषधे व्यापदः'**। जब अनुचित ढंग से औषध के सेवन द्वारा जो व्यापत्तियाँ होंगी उनके प्रतीकार के लिये पहले ही सामग्रियों को जुटा लेना चाहिये। इस पर अग्निवेश शंका करते हैं कि यदि राजाओं अथवा राजाओं के समान महापुरुषों का चिकित्सक निश्चित ही शास्त्र एवम् चिकित्सा में कुशल होगा ही, अतएव उसको दोष, दूष्य, देश, बल, काल, विकार, सत्व, सात्म्य, औषध, जठराग्नि अवस्था तथा रोगी को प्रकृति आदि का निश्चित ही ज्ञान होगा और वह समुचित द्रव्यों द्वारा औषध निर्माण भी करेगा, साथ ही उसका ठीक-ठीक सेवन भी करायेगा; एतदर्थ उपद्रवों की आशंका ही नहीं होनी चाहिये, फिर उनके प्रतीकार (दूर करने) की क्या आवश्यकता है और उनके लिये औषध उपकरणों को जुटाने की क्या आवश्यकता है? यदि गुरु के उपदेश के बाद भी इसका व्यतिक्रम हो सकता है तो गुरु-उपदेश की विफलता भी प्रत्यक्ष है, तब इस प्रकार की चिकित्साविधि को विज्ञान की उपाधि न देकर अटकल कहा जा सकता है।

तमुवाच भगवानात्रेयः—शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाऽप्यग्निवेश! यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, तच्च प्रयोगसौष्ठवमुपदेष्टुं [3]यथावत्; न हि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा; सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि, यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः

१. 'परिसंख्यायेति ज्ञात्वा' चक्रः।

२ 'क्रयः पण्यं, आक्रयो मूल्यम्'। चक्रः।

३. 'यथावदुपदेष्टुं शक्यमस्माभिरस्मद्विधैर्वेति योजना; एतदिति प्रयोगसौष्ठवम्, एवमिति यथावत्, उपधारयितुमिति ग्रन्थेन धारयितुं, प्रतिपत्तुमित्यर्थतो गृहीतम्'। चक्रः।

किं पुनरल्पबुद्धेः, तस्मादुभयमेतद्यथावदुपदेक्ष्यामः—सम्यक्प्रयोगं चौषधानां, व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम् ॥ ५ ॥

आत्रेय का उत्तर—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश की उपर्युक्त शंका का समाधानात्मक उत्तर इस प्रकार दिया है— हे अग्निवेश! हम या हमारे जैसे कतिपय चिकित्सक ऐसा कर सकते हैं, जिससे प्रयोग करने पर औषध सर्वथा (शत-प्रतिशत) सिद्ध हो अर्थात् असफल या उपद्रवकारक न हो। और उस उत्तम प्रयोग का ठीक-ठीक उपदेश भी हम या हमारे जैसे व्यक्ति ही कर सकते हैं। ऐसा कोई (शिष्य) है भी नहीं जो इस प्रकार के उपदेश को अविकल स्मरण करने का उत्साह करे। अथवा कण्ठस्थ करके भी ठीक उसी प्रकार समझने तथा प्रयोग करने में उत्साह दिखाये। क्योंकि दोष, भेषज (औषध), देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय (अवस्था), इनके अनेक सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म भेद होते हैं। जिनका विचार करने पर निर्मल बुद्धि वाले (विवेकशील) पुरुषों की बुद्धियों को भी वे व्याकुल कर देते हैं, अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। इसलिये हम इन दोनों विषयों—१. औषधों का सम्यक् (ठीक-ठीक) प्रयोग और २. सम्यक् प्रयोग न करने से उत्पन्न विकारों के प्रतीकार (दूर करने के उपाय) का यथावत् उपदेश आगे चलकर सिद्धिस्थान में करेंगे।

वक्तव्य—महर्षि अग्निवेश का प्रश्न अत्यन्त उचित था, उससे भी समीचीन है भगवान् आत्रेय का समाधान। इस तन्त्र या संहिता की रचना परवर्ती समाज के लिये थी, उसमें उपदेशों का यथावत् ग्रहण करने की अगली पीढ़ी में कितनी क्षमता होगी इसको तो **'येषां त्रिकालममलम्'** ऐसे आचार्य समझते थे, अतएव उनके उपदेश ज्ञानी तथा अल्पज्ञानी दोनों प्रकार के जिज्ञासुओं के लिये समानरूप से थे। ऐसी स्थिति में सम्भावित उपद्रवों के प्रतीकारार्थ द्रव्यों के संग्रह का उपदेश करना परम आवश्यक था। ऊपर के गद्य में 'दोषभेषज आदि के अवस्थान्तर' का उल्लेख किया है, उसका विवेचन यहाँ उपस्थित किया जारहा है—

१. दोष के अवस्थान्तर—वात, पित्त, कफ की क्षय, वृद्धि, समता। ऊर्ध्वगति, अधोगति, तिर्यग्गति। शाखागति, कोष्ठगति, मर्मास्थिसन्धिगति। अपने स्थान पर स्थित होना, दूसरे स्थान पर स्थित रहना, स्वतन्त्र या परतन्त्र रहना, पृथक् स्थिति, द्वन्द्वज, सन्निपातज। रसादिधातुओं से युक्त अथवा इनसे पृथक्। मल, मूत्र आदि से मिश्रित अथवा स्वतन्त्र। साम, निराम, संचय, प्रकोप आदि अंशांश कल्पनायें अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं।

२. औषध (Drug) के अवस्थान्तर—ओषधियों के मिश्रण का नाम ही औषध है। ये गीली, सूखी, तरुण, मध्य तथा वृद्ध अवस्था की गुणों के अनुसार ली जाती हैं। इसके ग्रहण के पूर्व स्थान आदि का भी ध्यान दिया जाता है। शुभ स्थान में उत्पन्न ग्राह्य; श्मशान, चैत्य आदि में उत्पन्न अग्राह्य। पुरानी, कीट आदि से दूषित नहीं होनी चाहिये। किसका कौन-सा अंग ग्राह्य है, किनका पञ्चांग लिया जाता है तथा रस, वीर्य, विपाक आदि भेदों का ज्ञान करना द्रव्य ग्रहण के पूर्व अत्यन्त आवश्यक होता है।

३. देश (Place) के अवस्थान्तर—भूमि के भेद तथा रोगी के भेद से देश का विचार किया जाता है। सामान्य दृष्टि से शास्त्रकारों ने भूमि के तीन भेद किये हैं—आनूप, जांगल और साधारण, रोग और रोगी की दृष्टि से इनका चयन। आतुरदेश से रोगी के शरीर का ग्रहण होता है। क्योंकि 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' का यही तात्पर्य है। आतुरदेश में रोगी की आयु आदि का तथा शरीर के किस अंग विशेष में रोग हुआ है, का विचार करना यह भी भार चिकित्सक पर ही होता है।

४. काल (Time) के अवस्थान्तर—नित्यग एवम् आवस्थिक भेद से काल के दो भेद होते हैं। १. नित्यगकाल—संवत्सर, छः ऋतु, ऋतुसन्धियाँ, उत्तरायण, दक्षिणायन, आदानकाल, विसर्गकाल दिन के भेद घंटा, मिनट, सेकंड, दिन, रात, प्रातः-सायम्, आवस्थिककाल में बाल, युवा, वृद्ध का विशेष विचार सूक्ष्म-रूप से करें।

५. बल (Strength) के अवस्थान्तर—महत्, मध्य, अल्प, सहज (स्वाभाविक), कालकृत (विसर्गकाल में स्वभावतः बल की वृद्धि होती है) और आदानकाल में स्वभावतः बल की हानि। युक्तिकृत और अवस्थाकृत बल, जैसे स्वस्थ में अधिकबल और अस्वस्थ में हीनबल इत्यादि सूक्ष्म भेद होते हैं।

६. शरीर (Body) के अवस्थान्तर—कृश, स्थूल, सम, मध्य, सारवान्, साररहित, मृदु, सुकुमार, कठोर, छोटा, बड़ा, मध्य, स्वस्थ, रोगी, गौर, कृष्ण आदि अनेक भेद होते हैं।

७ आहार (Diet) के अवस्थान्तर—भोजन के लिये जितने प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है, उन सब का नाम आहार है। इसके भेद हैं—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चर्व्य, चूष्य, पेय। प्रकृति, करण देश, काल, संयोग, राशि, प्रकृति विरुद्ध भोजन, अध्यशन, विषमाशन आदि भेद होते हैं।

८. सात्म्य (Homologation) के अवस्थान्तर—सात्म्य का अर्थ है—अनुकूल; यह अनेक प्रकार का होता है, यथा—देह, ऋतु, रोग तथा देशसात्म्य, दोषसात्म्य, प्रकृतिसात्म्य, व्याधिसात्म्य, ओकसात्म्य, जातिसात्म्य, आतुरसात्म्य, रससात्म्य, कालसात्म्य, बलसात्म्य आदि भेद होते हैं। सात्म्य से विपरीत को असात्म्य अथवा अनुपशय कहते हैं।

९. सत्व (Mind) के अवस्थान्तर—मन में सत्व गुण के रूप में और रजस्, तमस् दोष के रूप में अवस्थित रहते हैं। अतएव पुरुषों के सात्विक, राजस, तामस तीन भेद होते हैं। इसी के कारण उनमें भीरुता, सहिष्णुता आदि लक्षण देखे जाते हैं। इन्हीं के अनुसार बल भेद भी होता है—उत्तम, मध्यम, हीन बल तथा शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदि लक्षण भी इसमें देखे जाते हैं।

१०. प्रकृति (Constitution) के अवस्थान्तर—मूलरूप में वातादि दोषों के अनुसार मनुष्यों की सात प्रकृतियाँ होती हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज ४ से ६. द्वन्द्वज और ७. सन्निपातज। इनका परस्पर मिश्रण करने से अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

११. वय (Age) अवस्थान्तर—बाल्य, पौगण्डा, कैशोर, यौवन, मध्य तथा वार्धक्य ये अवस्था के सूक्ष्म भेद हैं। आज चिकित्सा में होने वाली असफलतायें इनके विवेचन के अभाव से होती हैं। यही आत्रेय का दृष्टिकोण था। अतएव उन्होंने उपद्रवों के प्रतीकार के लिये भी संभार (सामग्री) संग्रह करने की पूर्व-सूचना दी थी।

इदानीं तावत्सम्भारान् विविधानपि समासेनोपदेक्ष्यामः; तद्यथा—दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं[1] धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानां [2]सोदपानोदूखलमुसलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत् ॥ ६ ॥

चिकित्सोपयोगी सामग्री—इस अध्याय में सङ्क्षेप में हम चिकित्सा की उपयोगी सामग्री का उपदेश करेंगे। वह इस प्रकार है—सबसे पहले वास्तुविद्या-कुशल (मकान निर्माण में चतुर) कारीगर (Engineer) से—एक ओर हवा न आने योग्य कमरा हो और ऐसा भी कमरा हो जिसमें हवा आ सकती हो, जिसमें आसानी से घूमा जा सके, उपत्यका (पहाड़ की तराई) में न हो; जिसमें धुआँ, धूप, पानी की बौछार, धूलि तथा जिसमें अनिष्टकारक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का प्रवेश न हो सके; और उस घर के भीतर उदपान (पीने का जल) रखा हो; ऊखल, मूसल अर्थात् खल-बट्टा रखा हो, वर्चःस्थान = शौचालय (Latrine) बना हो, स्नानभूमि अर्थात् स्नानागार (Bath Room) हो, महानस=रसोई घर (Kitchen) अपने-अपने स्थान पर बने हों—ऐसा एक सुदृढ़ (मजबूत) गृह (अस्पताल Hospital) का निर्माण करावे।

वक्तव्य—मुख्य रूप से इस प्रकरण में यह महर्षि आत्रेय ने जिस गृह या आतुरालय का नक्शा हमारे सामने रखा है, उसमें स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् संशोधन की दृष्टि ही प्रधान है। निवातैक देश में संशोधनीय पुरुष की शय्या रहेगी। **अनुपत्यकम्**—से तात्पर्य है कि वह आतुरालय चारों ओर से खुला हो, उसमें सीलन न आती हो, बड़े-बड़े मकानों से भी घिरा न हो। **सुखप्रविचार**—से तात्पर्य है कि रोगी चिकित्सक की देख-रेख में इधर-उधर घूम सके और उसे वमन-विरेचन काल में कोई व्यवधान (अड़चन) न हो सके।

ततः शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नानुपचारकुशलान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपौदन-

१. 'अनुपत्यकं यद्विदूरमन्यस्य महतो गृहस्य' चक्रः।
२. 'उदकं पीयते येन तदुदपानम्' चक्रः। सोदपानोलूखल' इति पा०।

पाचकस्नापकसंवाहकोत्थापकसंवेशकौषधपेषकांश्च परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्, तथा गीतवादित्रोल्ला[1]पकश्लोकगा[2]थाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च, तथा लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकमृगमातृकोरभ्रान्, गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां सुप्रतिविहिततृणशरणपानीयां,[3] पात्र्याचमनीयोदकोष्ठमणिकघटपिठरपर्योग[4]कुम्भीकुम्भकुण्डशरावदर्वीकटोदञ्च[5]नपरिपच[6]नमन्थानचर्मचेलसूत्रकार्पासोर्णादीनि च, शयनासनादीनि चोपन्यस्तभृङ्गार[7]प्रतिग्रहाणि सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानानि [8]सोपाश्रयाणि संवेशनोपवेशनस्नेहस्वेदाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकानुलेपनवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनमूत्रोच्चारकर्मणामुपचारसुखानि, सुप्रक्षालितोपधानाश्च[9] सुश्लक्ष्णखरमध्यमा दृषदः, शस्त्राणि चोपकरणार्थानि, धूमनेत्रं च, बस्तिनेत्रं चोत्तरबस्तिकं च, [10]कुशहस्तकं च, तुलां च, मानभाण्डं च, घृततैलवसामज्जक्षौद्रफाणितलवणेन्धनोदकमधुसीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लमूत्राणि च, तथा शालिषष्टिकमुद्गमाषयवतिलकुलत्थबदरमृद्वीकाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकविभीतकानि, नानाविधानि च स्नेहस्वेदोपकरणानि द्रव्याणि, तथैवोर्ध्वहरानुलोमिकोभय[11]भाञ्जिसङ्ग्रहणीयदीपनीयपाचनीयोपशमनीयवात[12]हरादिसमाख्यातानि चौषधानि; यच्चान्यदपि किंचिद् व्यापदः परिसङ्ख्याय प्रतीकारार्थमुपकरणं विद्यात्, यच्च प्रतिभोगार्थं, तत्तदुपकल्पयेत् ॥ ७ ॥

उपर्युक्त विधि से गृह (आतुरालय) का निर्माण करने के बाद सच्चरित्र वाले पवित्र (मानसिक शुद्धता), स्वच्छ (बाहरी सफाई), सभ्य व्यवहारयुक्त, रोगी के प्रति अनुराग (ममता) रखने वाले, सभी सेवा आदि कर्मों में निपुण अर्थात् चिकित्सा सम्बन्धी सभी सेवाओं में चतुर; दाल, भात, आदि भक्ष्य पदार्थों को पकाने वालों, स्नान कराने वालों, संवाहकों (मालिश तथा शरीर को दबाने की क्रिया में कुशल), उठाने, लेटाने तथा बैठाने वालों एवम् औषधों को पीसने वाले परिचारकों (Compounders) को और जो सभी कर्मों में अनुकूल हों अर्थात् आज्ञा देने पर टाल-मटोल-अनसुनी करने वाले न हों, ऐसे व्यक्तियों को, साथ ही गाने, बजाने, स्तुति-पाठ करने, श्लोक सुनाने, कथा बाँचने, कहानी कहने, इतिहास, पुराण के ज्ञान में कुशल, रोगी के अभिप्राय को समझने वाले, जिनको रोगी के समीप आने की अनुमति प्राप्त हो, ऐसे देश-काल को जानने वाले सभ्य पुरुषों को सेवा-कार्य के लिये नियुक्त करे।

चिकित्सा-काल में मांस रस आदि के लिये लाव, कपिञ्जल (तीतर, बटेर, गौरेया), खरगोश, हरिण, एण (मृगभेद), कालपुच्छक और मृगमातृका (हरिणभेद), उरभ्र (भेड़ा) का संग्रह करे। दूध के लिये लात, सींग से न मारने वाली, रोगरहित, जिसका बछड़ा जीवित हो ऐसी गाय रखें। उसके खाने के लिये पर्याप्त घास-भूसा का प्रबन्ध हो और रहने के लिये घर तथा पीने के लिये पानी आदि की सुव्यवस्था हो।

जलपात्र (लोटा, गिलास, मग आदि), आचमनी (चम्मच, करछुल आदि), उदकोष्ठ (पानी रखने का बड़ा पात्र), मणिक (झंझर, सुराही आदि), पिठर (हाँडी), घड़ा, पर्योग (कड़ाही, चक्र०) कुम्भी (मटका), कलश (गगरा), कुण्ड (पानी रखने का स्टाक—Reservoir), शराव (सकोरा या कसोरा), दर्वी

१. 'उल्लापकं स्तोत्रम्' चक्रः।
२. 'कथा' यो.।
३. 'शरणं गृहम्' चक्रः।
४. 'पर्योगः कटाहः' चक्रः।
५. 'उदञ्चनं पिधानशरावः' चक्रः।
६. 'परिपचनं तैलपाचनिका' चक्रः।
७. 'भृङ्गारो नालमुखजलपात्रविशेषः, प्रतिग्रहः निष्ठीविकादिक्षेपणपात्रम्' गङ्गाधरः।
८. 'स्वापाश्रयाणि' इति पा.।
९. 'उपधानः 'शिलापुत्र' इति प्रसिद्धः' चक्रः।
१०. 'कुशहस्तकं सम्मार्जनी' शिवदासः। आर्द्रद्रव्यपरिपचनमभिदधति, इत्यन्ये।
११. 'उभयभागिक' इति पा०।
१२. 'वातहराणि' इति पा०।

(कड़छुल), चटाई, उदञ्चन (पानी ढकने के लिये पात्र), परिपचन (तवा), मथानी आदि रसोई घर के उपयोगी पात्र। चमड़ा, कपड़ा, तागा (धागा), रुई, ऊन का भी संग्रह करे।

संशोधनकर्ता के सोने तथा बैठने के स्थान पर जलपूर्ण गडुआ तथा प्रतिग्रहपात्र (पीकदान) रखें। पलंग आदि पर आस्तरण (विस्तरा), उत्तरच्छद (चादर) एवम् उपधान (तकिया) रखें।

लेटने, बैठने, स्नेहन, स्वेदन, मालिश, अभ्यङ्ग, परिषेचन, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन तथा मल-मूत्र त्याग करने के लिये सुखद साधनों की व्यवस्था रखनी चाहिये।

औषध आदि को पीसने के लिये कुटवा कर साफ-सुथरे किये हुए सिल-बट्टे (लोढ़ा) या खल-बट्टा या हिमामदस्ता का भी संग्रह करना चाहिये। औषध द्रव्यों को काटने आदि के लिये शस्त्रों (चाकू, दराती, कैंची) को रखें। धूमनेत्र (इसका परिचय मात्राशितीय नामक ५ वें अध्याय में देखें), वस्तिनेत्र (इसका वर्णन चरक सिद्धिस्थान अ० ३ में किया जायगा), उत्तर बस्ति (इसका प्रयोग मूत्र-मार्ग द्वारा कराया जाता है), कुशहस्तक (झाडू), तराजू, मानभाण्ड (द्रव पदार्थों को नापने के पात्र = Measuring glass) रखें।

घी, तेल, चर्बी, मज्जा (Marrow) शहद, राब, नमक, लकड़ी, पानी, मधु, सीधु, सुरा (ये तीनों मद्य भेद हैं), सौवीरक और तुषोदक (ये दो कांजी के भेद हैं) मैरेयक और मेदक (ये दोनों मद्य भेद हैं), दही तथा दही का पानी, उदश्वित् (मठा), धान्याम्ल (कांजी) और सभी प्रकार के मूत्र, इनका संग्रह करे।

भोजन के लिये शालि, सांठी के चावल, मुद्ग, माष (उड़द), जौ, तिल, कुलथी, बेर, मुनक्का, गम्भार का फल, फालसा, हरीतकी (हरड़), आंवला, बहेड़ा इनका संग्रह करें। अनेक प्रकार के स्नेहन तथा स्वेदन की सामग्रियोंका संग्रह करे और ऊर्ध्वहर (वमनकारक) द्रव्यों तथा आनुलोमिक (निचले मार्ग = गुद-द्वार) से दोषों को निकालने वाले विरेचक) द्रव्यों का एवम् जो द्रव्य वमन तथा विरेचन दोनों में समर्थ हों उनका, संग्रहणीय (जो मल का संग्रह कर सकते हैं), दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय और जो वातहर कहे गये हैं, ऐसे द्रव्यों का संग्रह करें। इनके अतिरिक्त जो कोई व्यापत्तियाँ हो सकती हैं उनके निराकरण के लिये तथा भोजन आदि के लिये जिन-जिन द्रव्यों की आवश्यकता हो उन-उन का यत्नपूर्वक संग्रह करें।

वक्तव्य—लेटने, बैठने आदि में रोगी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, इसके लिये आवश्यक है कि वहाँ मूत्रपात्र (Urinal) और मलपात्र (Bed Pan) की व्यवस्था हो, जिससे वह सोये हुए मल मूत्र का त्याग कर सके। इसी प्रकार बैठने या लेटने के लिये आराम कुर्सी (Easy chair) या शय्यासन (Bed chair) आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।

मधु—'मध्वादिविहिता या तु माध्वी सा मदिरोच्यते'। **सीधु**—'ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः। सिद्धः पक्वरसः सीधुः सम्पक्वमधुरद्रवैः' ॥ **सुरा**—'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः'। **सौवीर**—'यवैः सुनिस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सन्धितं भवेत्'। **तुषाम्बु**—'तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः'। इसी को तुषोदक भी कहते हैं। **मैरेयक**—'मालूरमूलबदरीशर्करा च तथैव च। एषामेकत्र सन्धानात् मैरेयी मदिरा मता'। **मेदक**—'सुरामण्डः **प्रसन्ना** स्यात् ततः **कादम्बरी** घना। तदधो **जगलो** ज्ञेयो **मेदको** जगलाद्धनः' ॥ **उदश्वित्**—'तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्बर्धाम्बु निर्जलम्'। अर्थात् जब दही में उसका चौथाई जल डालकर बिलोया जाता है तो उसे **तक्र** कहते हैं, जब आधा जल डालकर मथा जाता है तो उसको **उदश्वित्** कहते हैं और जब बिना जल डाले दही को मथ देते हैं तो उसको **मथित** कहते हैं। **धान्याम्ल**—'प्रस्थं षष्टिकधान्यस्य नीरप्रस्थद्वये क्षिपेत्। आधारभाण्डं संरुध्य भूमेर्गर्भे निधापयेत् ॥ पश्चादथ समुद्धृत्य वस्त्रपूतञ्च कारयेत्। ततो जातरसं योज्यं धान्याम्लं सर्वकर्मसु' ॥

इसमें चिकित्सालय के लिये जिन-जिन द्रव्यों के संग्रह का निर्देश किया है उनमें सबसे पहले शिक्षित उपचारक का, मनोरंजक साधनों का, खाने, पीने, रसोई के उपकरणों का, रोगी के सोने, बैठने आदि का, घृत, तैल, मद्य, कांजी, भोजन की सामग्री तथा अन्त में सुझाव के रूप में अन्य आवश्यक सामग्री के संग्रह का भी उपदेश दिया है। प्राचीन काल के चिकित्सालयों की परम्परा का यह विशद स्वरूप है।

ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथार्हमुपपादयेत्। तं चेदस्मिन्नन्तरे[1] मानसः शारीरो वा

१. 'अस्मिन्नन्तरे स्नेहस्वेदकरणसमये' चक्रः।

व्याधिः कश्चित्तीव्रतरः सहसाऽभ्यागच्छेत्तमेव तावदस्योपावर्तयितुं यतेत। ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपाचरेत् ॥ ८ ॥

संशोधन की प्रक्रिया (Purifactory Measures)—तदनन्तर जिसका संशोधन करना है उस पुरुष को पूर्वोक्त प्रकार से स्नेहन और स्वेदन करायें। उसको यदि इसी बीच में मानसिक, शारीरिक अथवा और कोई अत्यन्त तीव्र रोग एकाएक हो जाय तो पहले उसी रोग को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। तदनन्तर उसका शमन करके उतने ही समय तक उस रोग की उपयोगी कर्म द्वारा पुनः उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—इसका तात्पर्य यह है कि यदि स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् कोई ऐसा रोग हो जाय तो पहले उसकी चिकित्सा करे उसके स्वस्थ होने में जितना समय लगे उतने ही समय तक पुनः प्रतीक्षा करे कि कहीं वैसा ही (शारीरिक, मानसिक या अन्य कोई तीव्र) रोग पुनः रोगी को न हो जाय। यदि उतनी प्रतीक्षा के बाद रोग का पुनरावर्तन नहीं होता है तो उस संशोधन के योग्य रोगी को नये सिरे से स्नेहन और स्वेदन कराकर तद द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये, यह तन्त्रकार का अभिमत है।

स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् संशोधन कराने का विधान है। वमन, विरेचन दोनों ही संशोधन कहे जाते हैं किन्तु फिर भी वमन को ही पहले कराना हितकर होता है। देखिये—'अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीमाच्छादयति, गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा जनयति'। सुश्रुत चि० अ० ३३।१९ ॥ अर्थात् वमन न किये हुए पुरुष का भलीभांति विरेचन होने पर भी नीचे की ओर आया हुआ कफ ग्रहणी (पाचकाग्नि) को ढक लेता है, इससे शरीर में भारीपन पैदा हो जाता है या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाती है। अतः सर्वप्रथम वमन करायें, तदनन्तर विरेचन।

ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवतं 'इष्टे नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते[1] कारयित्वाब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत् ॥ ९ ॥

वमन-कर्म (Emesis)—मानसिक या शारीरिक किसी तीव्रतर रोग की निवृत्ति हो जाने के अनन्तर पुनः स्नेहन और स्वेदन करायें तत्पश्चात् उस (संशोध्य) पुरुष को निर्विकार अतएव प्रसन्नचित्त देखकर जो रात्रि में सुखपूर्वक सोया हो, जिसका भोजन भली प्रकार पच गया हो, जिसने शिर से स्नान किया हो, चन्दन आदि लगाया हो, माला धारण की हो, साफ सुथरे नये वस्त्र धारण किये हो, देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और चिकित्सक की जिसने पूजा कर ली हो (ऐसे उस पुरुष को) शुभ नक्षत्र, तिथि, करण मुहूर्त में ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर और उनके आशीर्वचनों से अभिमन्त्रित मधु (शहद), मधुक (मुहलेठी), सेंधानमक तथा राब से युक्त मैनफल के कषाय की मात्रा को पिलायें।

वक्तव्य—जिसको वमन कराना हो उसके लिये 'सुखोषितं' रात्रि में भली-भांति नींद का आना, 'सुजीर्णभक्तं' रात्रि के भोजन का पच जाना और शुभलक्षण, गुरुजनों का आशीर्वाद आवश्यक होता है। यह सम्पूर्ण गद्य खंड सूचित कर रहा है कि वामक द्रव्यों का सेवन प्रातःकाल ही कराना चाहिये। 'सुजीर्णभक्तं' का उल्लेख इसलिये भी किया गया है कि यदि रात्रि का भोजन न पचा हो तो वमन न करायें। इसका स्पष्ट निर्देश आगे इस प्रकार मिलता है—'अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते। पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते' ॥ च० सि० अ० ६।

वमन के पूर्व उत्क्लेश (जी मिचलाना) कर्म की आवश्यकता होती है, यह वमन का पूर्वरूप है। इसकी युक्ति चरक में इस प्रकार दी गयी है—'ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः'। च० सि० अ० १। इन द्रव्यों द्वारा पित्त का उत्क्लेशन होता है और पूर्णरूप से वमन हो गया, ऐसा समझा जाता है, जब वमन में पित्त निकल जाता है। ऊपर शुभनक्षत्र आदि की चर्चा की गयी है और स्वस्तिवाचन के लिये ब्राह्मणों का होना आवश्यक माना गया है। अतः यह भारतीय चिकित्साशास्त्र की

१. 'इष्टे नक्षत्रे तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रे प्रशस्ते' इति यो.।

आस्तिक परम्परा है, साथ ही आयुर्वेद का ज्यौतिपशास्त्र तथा श्रौत-स्मार्तकर्मों से भी चिरन्तन सम्बन्ध है, इसका सुस्पष्ट संकेत है।

आशार्वचनों का महत्व—यह दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का ही एक अंग है। इस चिकित्सा की पराकाष्ठा है—'औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः' ॥ अस्तु आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रत्येक औषध सेवन के पूर्व देवताओं के स्मरण का इस प्रकार विधान है—'ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ॥ रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते' ॥ चरक कल्प० अ० १।

ऊपर जो मधु, मुलेठी, सैंधानमक आदि मिलाकर मैनफल के कषाय से वमन कराने का विधान किया है, उसमें कारण यह है कि इससे जमा हुआ गाढ़ा कफ घुल जाता है और अपने स्थान से आसानी से हट जाता है। देखिये—'सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदनार्थं वमने दद्यात्'। चरक कल्प० अ० १। अर्थात् सभी वमनकारक द्रव्यों में मधुसैन्धव का प्रयोग करना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने पूर्वोक्त मैनफल के कषाय को गुन-गुना देने का आग्रह किया है।

मदनफलकषायमात्राप्रमाणं तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति; यावद्धि यस्य संशोधनं पीतं वैकारिकदोषहरणायोपपद्यते न चातियोगायायोगाय, तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ १० ॥

मदनफल-कषाय की मात्रा—मैनफल द्वारा सिद्ध किये हुए कषाय की मात्रा का प्रमाण तथा इसी प्रकार से जो संशोधन द्रव्य हैं उनकी मात्राओं के प्रमाण प्रत्येक पुरुष को देखकर (कुशलचिकित्सक को स्वयं) निर्धारित करना चाहिये। जब तक या जितनी मात्रा से, जिन संशोधन द्रव्यों के पान से उत्पन्न दोषों को दूर करने में चिकित्सक समर्थ हो, वही उसके लिये इसकी उचित मात्रा है। इस बीच में ध्यान यह रखना चाहिये कि औषध का अतियोग न हो। क्योंकि ये दोनों ही हानिकारक होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने मनुष्यों की प्रकृति तथा शरीर सम्पत्ति की विभिन्नता को दृष्टि में रखकर किसी निश्चित मात्रा का उल्लेख नहीं किया है। वास्तव में 'वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम्'। अर्थात् वृद्ध (विद्यावृद्ध तथा अनुभव वृद्ध) वैद्य जिसके लिये जितनी मात्रा को उचित समझें, प्रयोग करायें। शास्त्र का दृष्टिकोण यह है कि वही उसके लिये उत्तम मात्रा है, जितने से जिसका दोष-निर्हरण भलीभाँति हो जाय।

सावधान—वामक द्रव्यों का **अतियोग** (मुख से रक्त आदि न निकलना) न हो और न अयोग ही हो। अर्थात् औषध सेवन कराने के बाद उसका कोई प्रभाव न देखकर भी पुनः औषध न देना, यह अयोग है।

पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकाङ्क्षेत्। तस्य यदा जानीयात् स्वेदप्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च [1]कुक्षिमनुगतं हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपि चोतोर्ध्वमुखीभूतम्, अथास्मै जानुसममसम्बाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानं [2]सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्।

वमन-विधि—जिसको वमन कराना है उस पुरुष को औषध पिलाकर मुहूर्त भर (४८ मिनट) या कुछ देर तक प्रतीक्षा करे। जब पसीना निकलने से दोष (कफ) को पिघलता हुआ, रोमाञ्च होने से अपने स्थान से दोष को हटता हुआ, कुक्षि (उदर) में आध्मान होने से कुक्षि में पहुँचा हुआ और जी मिचलाने तथा मुख से लार चूने को देखकर ऊपर की ओर आता हुआ (चिकित्सक) समझे, तब इसको घुटनों तक ऊँचाई वाला, जिसपर विस्तर बिछा हो, ऊपर चादर पड़ी हो, तकिया रक्खा हो तथा जिसमें लेटा भी जा सके ऐसा आसन (जो पहले से तैयार रखा गया हो) बैठने के लिये दें।

वक्तव्य—यहाँ पर भी मुहूर्त शब्द से प्रत्येक पुरुष के लिये अलग-अलग अवधि का अनुमान कर लेना चाहिये। किसी को पीते ही वमन हो जाता है, किसी को उल्टी में केवल दवा ही निकल जाती है

१. 'कुक्षिमनुन्नतं' यो.।
२. 'स्वापाश्रयं' ग.।

विकार आदि नहीं और किसी को औषध पच जाती है। अस्तु, वमनकर्ता के लिये इस प्रकार की आरामकुर्सी आदि की व्यवस्था तन्त्रकार ने इसी प्रसंग में पहले कर दी है।

सुश्रुत के अनुसार—'पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत'। सु० चि० अ० ३३।७। चरक में जो दवा पिलाने के बाद केवल प्रतीक्षा करने की बात लिखी है, सुश्रुत ने उससे इतना अधिक लिखा है कि उस प्रतीक्षाकाल में आग में तपाये हुए अपने हाथों से रोगी को सेंके।

[1]प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्—ललाटप्रतिग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभिप्रपीडने पृष्ठोन्मर्दने चानपत्रपणीया सुहृदो[2]ऽनुमताः प्रयतेरन् ॥ ११ ॥

वमन करने के लिये तैयार रोगी के लिये सामयिक उपचार का विधान—जब रोगी घुटने बराबर ऊँचे आसन पर बैठ जाय तब उसको सँभालने के लिये घृणा या लज्जा न करने वाले अनुकूल मित्रों को नियुक्त करायें; रोगी के सामने पीकदान रख दें, माथा दबाने के लिये, पसलियों को पकड़ने के लिये, नाभि को दबाने तथा पीठ को नीचे से ऊपर को मलने के लिये परिचारक या शुभचिन्तकों को लगावें।

वक्तव्य—प्रतिग्रह शब्द की व्याख्या प्राचीन व्याख्याकारों ने इस प्रकार की है—'प्रतिगृह्णन्तीति प्रतिग्रहा ललाटप्रतिग्रहादयः'। चक्रपाणिः। 'प्रतिग्रहांश्च ये तु अङ्गविशेषं धारयेयुः, तान् उपाचरेत्', गङ्गाधरः। 'प्रतिग्रहान् पतद्ग्रहान्', शिवदासः। **हमारा विचार**—चक्रपाणि ने केवल ललाट आदि को पकड़ने या थामने वाले व्यक्तियों को ही प्रतिग्रह का क्षेत्र माना है, जो प्रसंगानुसार अपूर्ण है। **गङ्गाधर** ने 'प्रतिग्रहांश्च' शब्द को उद्धृत करके 'च' का कोई प्रयोग न करके चक्रपाणि का अनुकरण या समर्थन मात्र कर दिया। **शिवदास** ने 'प्रतिग्रहान्' का अर्थ पीकदान करके सन्तोष कर लिया, वास्तव में यहाँ प्रतिग्रह शब्द का अर्थ है—'प्रतिगृह्यते अनेन। इति। अर्थात् जो पीक को रोक सके, रोगी को लुढ़कने या गिरने न दे, वे सब प्रतिग्रह हैं। देखें—प्रतिग्रह शब्द की व्यापकता—'प्रतिग्रहः स्वीकरणे सैन्यपृष्ठे पतद्ग्रहे। योग्येभ्यो विधिवद्देये तद्ग्रहे च ग्रहान्तरे' ॥ मेदिनी। अतएव प्रतिग्रहान् शब्द में बहुवचन का प्रयोग कर महर्षि ने सभी प्रकार के प्रतिग्रहों का उल्लेख किया है।

अथैनमनुशिष्यात्—विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किञ्चिदवनम्य ग्रीवामूर्ध्वशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् [3]सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलिभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा [4]कण्ठमभिस्पृशन् सुखं प्रवर्तयस्वेति स तथाविधं कुर्यात्। ततोऽस्य वेगान् प्रतिग्रहगतानवेक्षेतावहितः; वेगविशेषदर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत, वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुध्येत लक्षणेन; तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः ॥ १२ ॥

प्रतिग्रहों की नियुक्ति के अनन्तर इस रोगी को वमन काल के उपयोगी उपदेश दें—होंठ, तालु और कण्ठ को वमन के वेग की प्रवृत्ति के लिये खोलकर रखे जिससे थोड़े ही परिश्रम से उभड़े हुए वेगों को प्रेरित करते हुए गर्दन तथा शरीर के ऊपरी भाग को कुछ झुकाकर प्रारम्भ न हुए वमन के वेग को भी कुछ और सहायता देकर प्रवृत्त करता हुआ, नाखून काटी हुई, तर्जनी, मध्यमा अंगुलियों को गले तक डालकर अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक (ये तीनों कमल के भेद हैं) में से किसी की नाल से कण्ठप्रदेश को बार-बार छुआने से सुखपूर्वक वमन करने के लिये तैयार होओ, ऐसा कहे और वह रोगी चिकित्सक के आदेश के अनुसार वैसा करे। वमन होने पर पीकदान में स्थित वमन को चिकित्सक ध्यान से देखे। कुशल चिकित्सक वेगों की स्थिति को देखने से ही वमन का सम्यक् योग, अयोग और अतियोग का निर्णय कर लेंगे। वमन के वेगों को सावधान होकर देखने वाले चिकित्सक, इसके आगे क्या करना चाहिये, इस विषय को भलीभांति समझ जाते हैं। अतः उनको वमन के वेगों को देखते रहना चाहिये।

१. 'प्रतिगृह्णन्तीति प्रतिग्रहा ललाटप्रतिग्रहादयः' चक्रः। 'प्रतिग्रहांश्च ये त्वङ्गविशेषं धारयेयुस्तानुपाचरेत्' गङ्गाधरः। 'प्रतिग्रहान्' शिवदासः।
२. 'अनुकूलाः' यो.।
३. 'सुप्रलिखित' ग.।
४. 'कण्ठमनभिस्पृशन् ईषदभिस्पृशन्', इति गङ्गाधरः। 'कण्ठमनभिस्पृशन्' इति पा०।

वक्तव्य—प्रतिशोध्य रोगी के लिये जो उपदेश ऊपर दिये गये हैं, उनका कारण है—तत्परता। कोई भी कार्य तत्पर हुए बिना नहीं होता या अपूर्ण हो जाता है। अतः अन्यमनस्क न होकर वमनकारक द्रव्य का सेवन करने के बाद ध्यानपूर्वक वमन की प्रतीक्षा करे। कभी-कभी वमनप्रवृत्तिकारक उपाय भी करने पड़ते हैं—जैसे अनामिका, मध्यमा अंगुलियों को गला तक डालकर अथवा कमलनाल को डालकर उत्क्लेश कराया जाता है जिससे वमन हो जाता है।

इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का मत देखें—'ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतम्, अङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्तं वामयेत् तावद् यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानि' ॥ सु० चि० अ० ३३।७।

वमन करते समय किस प्रकार बैठने से क्या कष्ट होता है, इसका विवेचन वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार किया है—'वमेत्। नात्युन्नतो नात्यवनतो पार्श्वापवृत्तो वा। तत्रात्युन्नतस्य पृष्ठ-हृदय-पीडा भवति। अत्यवनतस्य शिरःकोष्ठपीडा। पार्श्वापवृत्तस्य पार्श्वकोष्ठहृदयोर्ध्वजत्रुपीडा'। अष्टाङ्गसं० सू० अ० २७।

अंगुली तथा कमलनाल आदि का प्रयोग केवल वमन वेग को प्रवृत्त कराने के लिये ही किया जाता है। यदि वामक द्रव्यों के सेवन मात्र से वमन होने लगें तो इनका प्रयोग न करें। वमन के वेगों को देखने के लिये तन्त्रकार ने जो चिकित्सक को प्रवृत्त किया है, उसमें चिकित्सक **को देखना** यह है कि वमन के साथ अभी कफ ही निकल रहा है या पित्त भी आने लगा है, बस।

तत्रामून्ययोगयोगातियोगविशेषज्ञानानि भवन्ति;

वमन कर्म में अयोग, सम्यक् योग एवम् अतियोग इनके विशेष रूपों को जानने के लिये आगे प्रत्येक के स्वरूपों का निर्देश किया जा रहा है।

तद्यथा—[1]अप्रवृत्तिः कुतश्चित्, केवलस्य वाऽप्यौषधस्य विभ्रंशो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानि भवन्ति;

अयोग के लक्षण—किसी कारण विशेष से वमन के वेगों का न होना, अर्थात् वमन का न होना, केवल वमन कराने के लिये जो औषध मिलायी गयी हो उसी का निकल जाना, अथवा वमन के वेगों का बीच में ही टूट जाना या रुक जाना, ये सभी अयोग के लक्षण है।

वक्तव्य—महर्षि ने आगे अयोग का लक्षण इस प्रकार दिया है—'अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्'। च० सि० अ० ६।३१ ॥ अर्थात् अयोग उसको कहते हैं, जो वामक द्रव्य अपने प्रभाव से वमन न कराकर विरेचन के लिये प्रवृत्त हो जाँय, अथवा वमन न करा सकें या थोड़ा करा सकें। वाग्भट ने अयोग का निम्न स्वरूप बतलाया है—'तत्र वेगानामप्रवर्तनम्। प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा। अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठज्वरादयः' ॥ अ० हृ० सू० १८।२४ ॥ चरक में इस अयोग का नाम **दुश्छर्दित** भी है। देखें—'दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्ड्वो हृत्खाऽविशुद्धिर्गुरुगात्रता च' ॥ च० सि० अ० १।१६। सुश्रुत में भी इसको दुश्छर्दित कहा गया है—'कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः'। सु० चि० अ० ३३।८।

काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा [2]यथाक्रमं दोषहरणं स्वयं चावस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति, योगेन तु दोषप्रमाणविशेषेण तीक्ष्णमृदुमध्यविभागो ज्ञेयः;

सम्यक् योग के लक्षण—उचित समय पर वेगों की प्रवृत्ति का होना, सामान्य कष्ट की अनुभूति, क्रमशः दोषों (कफ, पित्त, वायु) का निकलना, और स्वयं रुक जाना अर्थात् दोषों के निकल जाने पर वेगों की समाप्ति हो जाना, ये सब वमन के सम्यक् योग के लक्षण होते हैं। दोषों के प्रभाव भेद से वही सम्यक् योग तीक्ष्ण, मृदु, मध्य तीन प्रकार का होता है, ऐसा समझें।

---

१. 'अप्रवृत्तिः कुतश्चिदिति सर्वस्यैवाप्रवृत्तिः, तथा केवलस्य कृत्स्नस्य शोधनीयदोषस्याप्रवृत्तिः' तथौषधस्य विभ्रंशः प्रातिलोम्येन गमनं, चक्रः।

२. 'यथाक्रममिति वमने प्रथमं कफः, तदनु पित्तं, तदनु वायुः' चक्रः। 'यथास्वम्' ग.।

वक्तव्य—भलीभाँति वमन हो जाने के लक्षणों का निर्देश आगे इस प्रकार किया गया है—'क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग् वामितः स इष्टः'। च० सि० अ० १। अर्थात् वमन में पहले कफ, फिर पित्त और अन्त में वायु निकलता है। सुश्रुत में भी यही क्रम वर्णित है—'वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति'। सु० चि० अ० ३३। यह वर्णन और भी स्पष्ट है। देखें—पहले प्रसेक (जी मिचलाना), लार निकलना, फिर औषध द्रव्य, तब कफ, पित्त, वायु क्रमशः निकलते हैं।

दोषों के प्रमाण को तथा पुरुषों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए वामक योगों के तीक्ष्ण, मृदु, मध्य ये तीन भेद किये गये हैं। इसी प्रकार इनके वेगों की भी चर्चा की गयी है। **यथा**—'जघन्यमध्यप्रवरेषु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ। दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च ॥ पित्तान्तमिष्टं वमनं तथोर्ध्वम्' ॥ च० सिद्धि० अ० १।

अर्थात् **तीक्ष्ण वमन में** औषध मात्रा २ प्रस्थ (१२८० ग्राम), **मध्यम वमन में** १½ प्रस्थ (९६० ग्रा०) और **मृदु वमन में** १ प्रस्थ (६४० ग्रा०) यह प्राचीन मान है। इसमें १६ पल का १ प्रस्थ माना गया है। यह प्रमाण अन्यत्र भी मान्य है। वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में प्रस्थ का मान १६ पल का न होकर १३½ पल का स्वीकार किया गया है। देखें—'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' ॥ आयुर्वेदीयपरिभाषा। **वमन के वेग**—प्रवर वेग ४ प्रस्थ का, मध्यवेग ३ प्रस्थ का और अवर अर्थात् हीन वेग २ प्रस्थ का होता है। पित्त निकल जाने पर वमन की सफलता समझनी चाहिये।

योगाधिक्येन तु फेनिलरक्त[1]चन्द्रिकोपगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति।

अतियोग के लक्षण—इसमें झाग युक्त लाल लाल खून की चन्द्रिकाओं से युक्त वमन होता है, अथवा खून भी निकल पड़ता है।

वक्तव्य—'फेनिलरक्तचन्द्रिकोपगमनम्'। यह एक वचन है किन्तु महर्षि आत्रेय इसके आगे लिखते हैं 'अतियोगलक्षणानि', जब कि प्रसंगानुसार यहाँ 'अतियोगलक्षणम्' ही लिखना चाहिये किन्तु उनको तो इसके अनेक लक्षण लिखने अथवा उपदेश करने थे, अतः बहुवचन का प्रयोग कर उसकी पूर्ति सिद्धिस्थान में इस प्रकार की है—'तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलादिहानिर्वमनेति च स्यात्'। च० सि० अ० १।१७। इसी का स्वरूप अष्टांगहृदय में इस प्रकार है—'अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत्। वमितं क्षामता दाहः कण्ठशोषस्तमो भ्रमः ॥ घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात्' ॥ अ० हृ० सू० अ० १८।२५-२६ ॥ अर्थात् वमन के अतियोग में झागदार, चमकवाला तथा रक्तयुक्त वमन होता है। रोगी को दुर्बलता का अनुभव होने लगता है। दाह, गला सूखना, मुँह का सूखना, आँखों के सामने अन्धेरा-सा दिखायी देना, चक्कर आना तथा वायुजनित विकारों का होना देखा जाता है और जीवरक्त के अधिक निकल जाने पर मृत्यु भी हो जाती है। इसे वमन का अतियोग कहते हैं। अतः इसके लिये छर्दि प्रकरण में कही गयी चिकित्सा की तत्काल व्यवस्था करानी चाहिये।

तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात्—आध्मानं परिकर्तिका परिस्रावो हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तम्भः क्लमश्चेत्युपद्रवाः ॥ १३ ॥

वमन के उपद्रव—निम्नलिखित उपद्रवों का कारण वमन का अतियोग तथा अयोग होता है। यथा—आध्मान (पेट का फूल जाना) परिकर्तिका (कैंची से काटने जैसी वेदना का होना), मुख से निरन्तर लार का निकलना, हृदय पर आघात, अंगों का अकड़ जाना, जीवरक्त का वमन में दिखलायी देना, विभ्रंश (कोष्ठस्थित उपांगों का वमन के वेग के कारण अपने स्थान से विचलित होना, अकड़न, क्लम (सुस्ती) आदि उपद्रव होते हैं।

वक्तव्य—सम्यक् योग ही केवल हितकारक होता है। अयोग तो औषध का प्रयोग कराने वाले की असफलता का स्वरूप है फिर भी यह उपद्रवकारक होता है, जैसा ऊपर कहा गया है। वमन में विभ्रंश का स्वरूप वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता जैसा विरेचन में गुदभ्रंश का। इन उपद्रवों का उल्लेख आगे और स्पष्ट रूप से वर्णित है—'आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः। जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥

---

१. 'चन्द्रकोद्गमनम्' यो.।

अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः ॥ च० सि० अ० ६। वमन के अयोग एवम् अतियोग से उक्त दस उपद्रव होते हैं।

सावधान—वमन एवम् विरेचन के अतियोग में जो उपद्रव स्वरूप लक्षण ऊपर कहे गये हैं वे ही लक्षण भीषण विसूचिका (हैजा) में देखे जाते हैं, अथवा आम विष में होते हैं। देखें—अष्टाङ्गहृदय सू० अ० ८। हीनयोग में उचित व्यवस्था करें परन्तु अतियोग में तो शीघ्र ही विरेचन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा मृत्यु भी हो सकती है।

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं मुहूर्तमाश्वास्य, स्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं [1]सामर्थ्यतः पाययित्वा, पुनरेवोदकमुपस्पर्शयेत् ॥ १४ ॥

सम्यग् वमन के पश्चात् धूमपान विधि—सम्यक् योग द्वारा भली-भाँति वमन हुआ जानकर हाथ-मुख धोकर थोड़ी देर विश्राम करके स्नैहिक (स्नेह सम्बन्धी), वैरेचनिक (विरेचन सम्बन्धी) तथा उपशमनीय (प्रायोगिक) इन तीन प्रकार के धूमों में से किसी एक धूम को रोगी की सामर्थ्य के अनुसार पान कराकर पुनः पानी से उसके हाथ, मुख को धुलायें।

वक्तव्य—वमन किया हुआ रोगी मुख, हाथ धोने तथा कुल्ला कर लेने से ताजगी का अनुभव करता है। इसके पश्चात् सुख की साँस लेना ही उसका आश्वासन है। इससे वमनकालिक उसका श्रम दूर हो जाता है। धूमपान से मुख तथा नाक के छिद्र दोषरहित हो जाते हैं किन्तु किस रोगी को कौन सा धूमपान कराना चाहिये, यह चिकित्सक की सूझ-बूझ पर निर्भर करता है।

उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्—उच्चैर्भाष्यमत्यासनमतिस्यानमतिचङ्क्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायातिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्ममस्वपनं निशि दिवा स्वप्नं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकाल[2]प्रमितातिहीनगुरुविषमभोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाऽप्यसेवमानः [3]सर्वमहो गमयस्वेति। स तथा कुर्यात् ॥ १५ ॥

धूमपान कराने के पश्चात् की विधि—हाथ, मुँह तथा पैर धोकर उस रोगी को निवातगृह में बैठाकर निम्नलिखित उपदेश दें—जोर से बोलना, देर तक बैठना, अधिक समय तक खड़ा रहना, बहुत ज्यादा घूमना, क्रोध, शोक, अधिक सर्दी, अधिक गर्मी, अवश्याय (ओस), अधिक वायु का सेवन, या ऐसे स्थान में बैठना जहाँ हवा का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ सके, यानयान (सवारी द्वारा यात्रा), ग्राम्यधर्म (मैथुन = स्त्री सहवास), अस्वप्न (रात्रि का जागरण) दिन में सोना, विरुद्ध (वीर्यविरुद्ध, स्वभावविरुद्ध, संयोगविरुद्ध) भोजन, अजीर्ण अवस्था में पुनः खा लेना, असात्म्य (जो पुरुष की प्रकृति तथा उसके रोग के विरुद्ध हो) भोजन, अकाल भोजन (प्रतिदिन भोजन का एक निश्चित समय होता है, उसके आगे पीछे खाना), प्रमित (आवश्यकता से कम) भोजन, अतिभोजन, हीन (गुण, स्वाद, शक्तिहीन) भोजन, गुरु पदार्थों (जो पचने में देर लगाते हों या मात्रा में अधिक हों) का भोजन, विषम (कभी कम और कभी ज्यादा) भोजन, मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकना, अथवा वेगों को उभाड़ना इत्यादि विषयों का मन से भी सेवन न करते हुए, सभी प्रकार के आहारों का सेवन करें और वह इसी प्रकार आचरण करे।

वक्तव्य—उक्त उपदेशों का प्रमुख दृष्टिकोण है कि स्नेहन, स्वेदन और वमन द्वारा शुद्ध शरीर वाला पुरुष आयासकारक सभी प्रकारों से अपनी सुरक्षा करे। उसको ऐसा अनुभव होने पर भी कि मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ, तो अपने पुराने सभी कार्यकलापों को आरम्भ कर दूँ, इससे अभी उसको बचाना है। अतएव भोजन के उन सभी प्रकारों से उसको सावधान किया जारहा है जिनसे उसको हानि हो सकती है। प्रयोग करना तो दूर रहा इनके बारे में वह मन से भी न सोचे अन्यथा उनकी प्राप्ति न होने पर उसके स्वास्थ्य में अहितकर प्रभाव पड़ सकता है। अतएव इन अनुचित व्यवहारों से होने वाले उपद्रवों का वर्णन

१. 'सामर्थ्यत इति यथास्य युज्यत इत्यर्थः'। चक्रः।
२. 'प्रमितभोजनमेकरसाभ्यासः, अतिहीनं नष्टशक्तिकं धान्यादि'। चक्रः।
३. 'सर्वमाहारमह्नाः' इति ग.।

तथा चिकित्साविधि का उल्लेख आगे **सिद्धिस्थान** में किया जायगा। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में सुश्रुत-संहिता चि० अ० ३९ श्लोक सं० २५ से ३७ तक देखें।

अथैनं सायाह्ने परे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्वविलिन्नां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य, एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले; चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत् एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले; सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्, एवमष्टमे नवमे चान्नकाले; दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेन नातिसारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम्, एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले; अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत् ॥ १६ ॥

पथ्य-विधि (Dietetic Regimen)—चिकित्सक के उपदेशों के अनुसार भोजन करने के पश्चात् उसी दिन सायंकाल अथवा उसके दूसरे दिन गुन-गुने जल से स्नान किये हुए व्यक्ति को पुराने लाल शालि-चावलों की गीली, मांड सहित और गुनगुनी यवागू (खिचड़ी) को उसके अग्निबल को देखकर पिलाना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे भोजन के समय भी करें। चौथी बार भोजन के समय उसी प्रकार के (लाल तथा पुराने) शालिचावलों से अच्छी तरह पकायी गयी विलेपी का निर्माण करें। (रोगी की शारीरिक तथा पाचकाग्नि की स्थिति देखकर) उसमें नमक तथा घी आवश्यकता होने पर डालें अथवा बिना नमक, घी डाले हो खिलायें और पीने के लिये पकाकर गुनगुना किया हुआ जल दें। यहाँ 'भोजयेत्' का अर्थ भी पिलाना ही है। इसी प्रकार पांचवें और छठे भोजन के समय भी विलेपी दें।

सातवें बार के भोजन के समय में उसी प्रकार के (लाल तथा पुराने) दो प्रसृत (दो पसर अर्थात् ४ पल = १६ तोला = १६० ग्राम लगभग) अच्छी तरह पके हुए भात को थोड़े से घी में छौंकी हुई और हल्का नमक मिली हुई मूंग की दाल के यूष के साथ खिलायें, साथ में पीने के लिये गरम पानी दें। ऐसा ही आठवें और नवें भोजन के समय भी करें।

दसवें भोजन के समय में लावक (तीतर-बटेर), कपिञ्जल (गौरैया) में से किसी एक के जो केवल पानी में पकाया गया हो, जिसमें हलका नमक डाला गया हो और कुछ घी पड़ा हो ऐसे मांस रस से भात खिलायें, साथ में पीने के लिये गरम (गुनगुना) पानी दें। ऐसा ही ग्यारहवें और बारहवें भोजन के समय भी करें। इस (बारहवें दिन) के बाद अनुकूल गुण वाले भोज्य पदार्थों का क्रमशः भोजन करता हुआ सात दिन के बाद अपने स्वाभाविक भोजन पर आ जाये।

वक्तव्य – ऊपर जिसको भलीभाँति वमन कराया गया है उसके लिये १२ अन्नकालों (६ दिन की भोजन-विधि) का वर्णन किया है। अथवा उन पथ्य भोजनों का क्रमिक आदेश दिया गया है जो लघु, गुरु, गुरुतर, गुरुतम हैं। यथा—मांडयुक्त यवागू, विलेपी, भात, मूंग का यूष और मांसरस के साथ भात आदि। आयुर्वेदीय दृष्टि से उक्त भोजनों की निर्माण-विधि इस प्रकार है—

मण्डयुक्त यवागू—'मण्डश्चतुर्दशगुणे'। अर्थात् मांडयुक्त यवागू बनाने के लिये चावल से चौदह गुना जल डालना चाहिये। इससे चावलों का सम्पूर्ण सार मांड में आ जाता है, अत एव वह सुपाच्य होता है। 'यवागू बहुसिक्था स्यात्'। यह केवल यवागू का लक्षण है। अतः केवल यवागू पहले दिन न दें। तात्पर्य यह है कि यह यवागू 'पेया' की विधि से बनानी चाहिये।

विलेपी—'विलेपी विरलद्रवा'। तथा—'विलेपी तु चतुर्गुणे'। इसका निर्माण चावलों से चौगुने जल में किया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इस जल में चावल पककर एकदम घुल मिल जाते हैं। साधारण भाषा में इसको 'लपसी' कहते हैं। यह चाटकर खाने योग्य वस्तु है।

ओदन या भात—'अन्नं पञ्चगुणे साध्यम्'। भात को पाँच गुना जल द्वारा पकाया जाता है, चावलों के पकजाने पर शेष जल (मांड) को निकाल (पसा) दिया जाता है।

पुराणानां लोहितशालितण्डुलानाम्—महर्षि ने वमन कराने के पश्चात् लघुद्रव्यों (जल्दी पचने वाले पदार्थों) में शालिधान्यों को सर्वश्रेष्ठ कहा है—'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्ति' ॥ च० सू० अ० २५ । अतएव यहाँ लाल शालिधान्यों का ही निर्देश किया गया है। यह आदेश केवल वमन कराने के बाद के लिये ही नहीं है, विरेचन के पश्चात् भी इस क्रम का ध्यान रखना चाहिये—'संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हतदोषस्य देहिनः। यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्' ॥ च० सि० अ० ६ । यहाँ इस प्रकार की संक्षिप्त व्यवस्था इसलिये दी गयी है क्योंकि इसके पूर्व इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। यथा—'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः' ॥ च० सि० अ० १ ।

उक्त पद्य में वमन अथवा विरेचन द्वारा की गयी शुद्धि (काय-संशोधन) को तीन भागों में विभक्त किया है—१. प्रधानशुद्धि, २. मध्यमशुद्धि, और ३. अवरशुद्धि। अतः ऊपर जो १२ प्रकार के अन्न (भोजन) काल की चर्चा की गयी है वह **प्रधानशुद्धि** वालों के लिये ही है। **मध्यमशुद्धि** वालों के लिये यह अवधि ८ दिन की है और **अवरशुद्धि** वाले पुरुषों के लिये यह अवधि ४ दिन की है। इसका संकेत उक्त श्लोक में इस प्रकार है—'त्रिर्द्विरथैकशश्च', तीन, दो, एक। अर्थात् अन्तिम अवधि ४ दिन, उसका दूना ८ दिन और तिगुना १२ दिन।

भगवान् धन्वन्तरि ने स्नेहपान किये हुए, वान्त, विरिक्त रक्तमोक्षण किये हुए तथा निरूहण वस्ति का प्रयोग किये हुए व्यक्तियों के लिये एक ही स्थान पर लघु एवं पथ्यभोजन की विधि, उसका प्रमाण आदि का समुचित उपदेश किया है, जो इस प्रकरण में तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकनीय तथा मननीय है। देखें—सु० चि० अ० ३९ ।

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं कृतहोमबलिमङ्गलजपप्रायश्चित्तमिष्टे तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्कमक्षमात्रं यथार्हालोडनप्रतिविनीतं[1] पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च। सम्यग्विरिक्तं चैनं [2]वमनोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्णप्रतिलाभात्। बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालङ्कारालङ्कृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्, अथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥ १७ ॥

विरेचन-विधि (Purgation)—वमन करा देने तथा पथ्य भोजन को खिलाने के पश्चात् फिर स्नेहन और स्वेदन कराकर उसको सब प्रकार से स्वस्थ मन वाला देखकर, रात्रि में जो सुखपूर्वक सोया हो, जिसका खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पच गया हो, जिसने होम, बलि, मंगल, जप तथा प्रायश्चित्त करा लिया हो, शुभ तिथि, नक्षत्र, करण एवम् मुहूर्त में ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर निशोथ के कल्क की एक अक्ष (कर्ष = १ तोला) भर मात्रा को रोगी के दोष, भेषज (औषध), देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, अवस्था के भेदोपभेदों तथा विकारों को भलीभाँति विचार कर यथोचित दूध आदि द्रव में घोल कर पिला दे। उचित रूप में विरेचन हो जाने पर इसको वमन प्रकरण में कही गयी धूमपान को छोड़कर अन्य विधियों का तब तक सेवन कराये जब तक इसमें पूर्ण एवम् स्वाभाविक रूप से बल तथा वर्ण की प्राप्ति न हो जाय। जब बल एवम् वर्ण (रूप) की पूर्ववत् प्राप्ति हो जाय तब इसको शान्तचित्त देखकर, सुखपूर्वक सोये हुए, भलीभाँति भोजन पचे हुए, शिरसे स्नान किये, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का शरीर में अनुलेपन किये हुए, माला धारण किये हुए, नये वस्त्रों को धारण किये हुए, अपने योग्य आभूषणों से अलंकृत इसको मित्र तथा बन्धुजनों का दर्शन कराये। तदनन्तर इसको इच्छानुकूल व्यवहार करने की अनुमति प्रदान करे।

वक्तव्य—वमन काल के पूर्व भी स्नेहन-स्वेदन का विधान है और विरेचन के पूर्व भी; क्योंकि यह दोष-निर्हरण की प्राथमिक प्रक्रिया है। होम, बलि, मंगल तथा ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन यह प्राचीन धार्मिक

१. 'प्रतिविनीतमालोडितम्' चक्रः।

२. 'वमनान्तरोक्तेन' इति पाठान्तरम्।

परम्परा किसी कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये की जाती थी, जिसका आज भी एक विशिष्ट स्थान है। दोष, भेषज, बल आदि का विचार करना सभी प्रकार की चिकित्साओं में वैद्य का प्रमुख कर्तव्य होता है।

प्राचीन संहिताओं में जो मात्रा विचार किया गया था वह तत्कालोचित था। शरीर ह्रास के साथ मात्रा का ह्रास होना भी स्वाभाविक ही है। अत एव उस समय कल्क की मध्यम मात्रा का मान १ कर्ष (१ तोला) था जिसको ३ पल (१२ तोला) द्रव में घोलकर देने की व्यवस्था थी। किन्तु आज की परिस्थिति के अनुसार वह अत्यधिक है। देखें—मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुष्पलम्। पेयस्य कर्षमालोड्य तद्द्रवस्य पलत्रये' ॥ अ० हृ० क० अ० ६।१३ ।

और भी—निर्यासस्य मध्यमा मात्रा चतुष्पलम्। कल्कचूर्णयोः कर्षः पलत्रयम्। तदा द्रवस्य आलोडनम्। निर्यूहे (क्वाथे) भेषजपलम्, उदकार्धमध्ये अधिश्रित्य पादशेषमवतारयेत्, शीतफाण्टयोः औषधपलं षड्भिः चतुर्भिः अम्बुपलैरासुतमिति।

मात्रा निर्धारण—'मात्राया नास्त्यवस्थानं व्याधिं कोष्ठं बलं वयः। आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना' ॥ अ० हृ० क० अ० ६ ॥ वास्तव में किसी भी औषध की मात्रा का ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः इसका भार चिकित्सक पर है कि वह रोगी के रोग, पाचनशक्ति, बल एवम् अवस्था आदि का विचार करके जिसके लिये जो मात्रा बतला दे उसके लिये वही उचित मात्रा है। सामान्य रूप से आजकल त्रिवृत् (निशोथ) के चूर्ण को १ माशा से लेकर ३ माशा तक दिया जाता है। विरेचक द्रव्यों में त्रिवृत सर्वश्रेष्ठ है, अतः तन्त्रकार ने यहाँ उसी का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त भी अनेक द्रव्य विरेचक हैं।

जैसा कि ऊपर क्रम दिया गया है—वमन कराने के एक सप्ताह तक उसको पथ्य भोजन दें और फिर उसे स्वतन्त्र भोजन की छूट दे दें। इसका तात्पर्य है कि यह अवधि १५ दिन की हो जाती है, अतएव 'पक्षाद् विरेको वान्तस्य'। वमन कराये हुए व्यक्ति को एक पखवारे के बाद विरेचन दे, यह उक्ति युक्ति-युक्त प्रतीत होती है।

धूमवर्जेन विधिना—चरक सूत्रस्थान के पाँचवें अध्याय में कहा गया है कि—'न विरिक्तः पिबेद् धूमम्'। इसका आशय है कि विरेचन पित्त को निकालने की विशेष प्रक्रिया है और धूमपान अग्निगुण प्रधान होने के कारण 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' के अनुसार यह पित्तवर्धक है, अतः इस धूमपान से उद्रिक्त (बढ़ाये गये) पित्त का पुनः निर्हरण करना पड़ेगा। इसीलिये धूमपान का निषेध कर शेष सभी वमन में कहे गये विधान का आचरण करे।

बलवर्णोपपन्नम्—इसका स्पष्टीकरण महर्षि के शब्दों में इस प्रकार है—'बलवान् वर्णवान् सर्वरतिः स्वङ्गः स्थिरेन्द्रियः। प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृति गतः' ॥ चरक सि० अ० १२। इसका व्याख्यान यथा स्थान देखें।

इसके पूर्व वमन के प्रकरण में जिन अयोग, सम्यग्योग तथा अतियोग की चर्चा की गयी है उन्हीं के अनुसार विरेचन में भी समझें। तन्त्रकार ने पुनरुक्ति के भय से उनकी पुनः चर्चा यहाँ नहीं की है। इनका विस्तृत विवेचन चरक वि० अ० ८ में देखें। संक्षेप में वमन के अयोग आदि का परिचय—

अयोग—औषध सेवन करने के पश्चात् विरेचन का न होना।

सम्यक् योग—विना किसी कष्ट के विरेचन द्वारा दोषों का निकलकर उसका स्वयं रुक जाना। सुश्रुत **में**—'एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफाः'। सु० नि० अ० ३३। **चरक में**—'प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग् विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण'। च० सि० अ० १। अर्थात् मूत्र, पुरीष, पित्त, औषध, कफ और अन्त में अपान-वायु का निकलना सम्यग् विरिक्त का लक्षण है।

अतियोग—विरेचन का अधिक होना, वेदना आदि उपद्रवों का दर्शन, विरेचन का स्वयं न रुकना, रक्तस्राव होना आदि।

सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्—रोगी स्नेहन, स्वेदन, वमन और विरेचन के लिये बहुत दिनों से चिकित्सकों के अधिकार में था। आज वह नीरोग एवं स्वास्थ्यसम्पन्न हो गया है, अतः उसको मित्रों तथा बन्धु-बान्धवों को दिखलाये। इसके अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। जो इस प्रकार के रोगी हैं वे अपने को रोग-मुक्त करा कर कुशल चिकित्सक को पुरस्कृत करें और वे इष्ट-मित्र इसको दुराचरण से बचाकर स्वस्थ रखने का प्रयत्न करें।

भवन्ति चात्र—

अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः। यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति ॥१८॥

स्नेहन, स्वेदन आदि विधियों से वे ही पुरुष अपना संशोधन करा सकते हैं। जो राजा या राजा के समान सर्वसाधनसम्पन्न हों अथवा जिनके पास पर्याप्त धन हो।

वक्तव्य—स्नेहन, स्वेदन के भेदोपभेदों की संरचना कराना सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं है, अतः राजा, रईसों के लिये ये प्रयोग हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है। यदि ये राजा, रईस भी आत्मवान् न हों तो उक्त क्रियाओं में सफल नहीं हो सकते।

दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य प्राप्तकालं विशोधनम्[1]। पिबेत् काममसंभृत्य सम्भारानपि दुर्लभान् ॥१९॥

दरिद्र व्यक्ति उपर्युक्त दुर्लभ सामग्रियों को जुटाने में असमर्थ होते हैं। यदि उनके ऊपर आपत्ति आ पड़े तो वे संशोधन औषध का पान करें।

वक्तव्य—योगीन्द्रनाथ सेन तथा चक्रपाणिदत्त ने **'विरेचनम्'** के स्थान पर 'विशोधनम्' पाठ स्वीकार किया है। इससे वमन, विरेचन, दोनों का ही ग्रहण हो सकता है। उक्त पद्य में 'विरेचनम्' अथवा 'विशोधनम्' दो पाठ भिन्न-भिन्न संस्करणों में मिलते हैं। व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार खण्डन, मण्डन किया है। हमारी दृष्टि में दोनों ही पाठ आदरणीय हैं। योगीन्द्रनाथ सेन ने 'विशोधनम्' पाठ के समर्थन में ऊपर जो विशेषता दिखलायी है, उस अर्थ की क्षमता **विरेचन** शब्द में भी है, ध्यान दें।

'रेचनं प्रत्यग् भावः'—दोषों को अलग करना अथवा दोषों का अलग होना 'रेचन' कहा जाता है। यथा—शिरोविरेचन, ऊर्ध्वविरेचन आदि शब्द नस्य तथा वमन आदि का भी प्रतिनिधित्व करते है। अतः विरेचन शब्द ऊर्ध्वविरेचन (वमन) तथा विरेचन दोनों का ही अर्थग्राहक है। पृथक्-पृथक् नामकरण केवल भ्रम निवृत्ति के लिये ही किया जाता है।

वास्तव में स्नेहन, स्वेदन आदि की जो व्यवस्था राजा, महाराजा, रईस अथवा धनिकों के लिये बतलायी गयी है, उसका तात्पर्य है कि उनको सदा नीरोग रखा जा सके, अथवा उनपर रोगों का आक्रमण ही न हो सके।

न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वे परिच्छदाः। न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥२०॥
यद्यच्छक्यं मनुष्येण कर्तुमौषधमापदि। तत्तत् सेव्यं यथाशक्ति वसनान्यशनानि च ॥२१॥

सामान्य श्रेणी के मनुष्यों के पास सभी प्रकार की सामग्रियों का होना सम्भव नहीं है और साधन-विहीनों (दरिद्रों) को भी भीषण रोग होते ही हैं। अतएव आपत्तिकाल में चिकित्सक की सलाह से जो-जो औषध, वस्त्र, भोजन आदि सम्भव हो उन-उनका यथाशक्ति सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—दरिद्रों को भी भयंकर व्याधियाँ होती हैं उनकी चिकित्सा **'अथ भूतदयां प्रति'**, है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक, समाज तथा राजा का भी कर्तव्य है कि उस रोगी की सहायता वास्तविक रूप में करे, नकि दिखलावटी रूप में।

मलापहं रोगहरं बलवर्णप्रसादनम्। पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥२२॥

सभी प्रकार के मलों को शरीर से निकालकर बाहर करने वाले, रोगों को हरण करने वाले, बल और वर्ण को बढ़ाने वाले संशोधन द्रव्यों का समुचित विधि से पान करके मनुष्य चिरायु अथवा सुखायु होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अनुसार संशोधन-सेवन का विस्तृत विवरण—'बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम्। चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्यमानम्' ॥ अ० सं० सू० अ० २७। अर्थात् बुद्धि की निर्मलता, इन्द्रियों का बलपूर्ण होना, रसादि सप्तधातुओं में स्थिरता का आना, जाठराग्नि का प्रदीप्त होना, वृद्धावस्था का देर से आना इतने लाभ संशोधन द्रव्यों के यथाविधि सेवन करने से होते हैं।

१. 'विरेचनम्' इति पा.।

तत्र श्लोकाः—

ईश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम्। सम्भारा ये यदर्थं च समानीय प्रयोजयेत् ॥२३॥
यथा प्रयोज्या मात्रा या यदयोगस्य लक्षणम्। योगातियोगयोर्यच्च दोषा ये चाप्युपद्रवाः ॥२४॥
यदसेव्यं विशुद्धेन यश्च संसर्जनक्रमः। तत् सर्वं कल्पनाध्याये व्याजहार पुनर्वसुः ॥२५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
उपकल्पनीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—राजा तथा धनिकों की वमन एवं विरेचन सम्बन्धी सामग्री, जो जिस रोग को दूर करने के लिये कही गयी हैं, उनका प्रयोग करें। जिस मात्रा का जिस प्रकार प्रयोग करना चाहिये, जो अयोग, सम्यग्योग तथा अतियोग के लक्षण, दोष और जो उपद्रव हैं, वमन तथा विरेचन द्वारा शुद्ध हुए पुरुष के लिये जो अपथ्य है और जो संसर्जनक्रम (पथ्यविधि) है, उन सभी विषयों का वर्णन भगवान् पुनर्वसु ने इस उपकल्पनीयाध्याय में कर दिया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में कल्पनाचतुष्क सम्बन्धी उपकल्पनीय नामक
पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

अथातश्चिकित्साप्राभृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

उपकल्पनीय अध्यायोक्त विषयों का वर्णन करने के पश्चात् अब हम चिकित्साप्राभृतीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—यहाँ 'चिकित्साप्राभृत' शब्द वैद्य की विशेष संज्ञा है। आचार्य गंगाधर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—चिकित्सा सामग्री से परिपूर्ण तथा चिकित्सा कर्म के उभयपक्ष (शास्त्रज्ञान तथा प्रयोगज्ञान) में कुशल को चिकित्साप्राभृत कहा है। अतः इस अध्याय में उस वैद्य के अधिकार सम्बन्धी विषयों का व्याख्यान किया जायगा।

[1]चिकित्साप्राभृतो धीमाञ्छास्त्रवान् कर्मतत्परः। नरं विरेचयति यं स योगात् सुखमश्नुते ॥ ३ ॥

चिकित्साप्राभृत (Fully Equipped Physician)—अर्थात् समस्त सामग्रियों से युक्त, विद्वान् (सम्बन्धित विषयों का ज्ञाता), शास्त्रज्ञ (चिकित्साशास्त्र को जानने वाला), अपने कार्य में चतुर वैद्य जिसको विरेचन कराता है, वह रोगी पुरुष उसके सम्यक् योग से सुख प्राप्त करता है।

वक्तव्य—जिसको चरक में सूत्र रूप से 'चिकित्साप्रभृत' कहकर कार्य निर्वाह किया है, उसका उल्लेख भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य

१. 'सम्भाराणां प्रकर्षेण भृतिर्भरणमायोजनं प्रभृतिः, तया वर्तते यः स प्राभृतः, चिकित्सायां प्राभृतो यः स चिकित्साप्राभृतः'। गङ्गाधरः।

भीरुरिवाहवम् ॥ यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्ट्यच्छास्त्रबहिष्कृतः । स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः ॥ यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने । आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा' ॥ सु० सू० अ० ३ । अतएव चरक में चिकित्साप्राभृत, धीमान्, शास्त्रवान् और कर्मतत्पर चिकित्सक की प्रशंसा की है ।

विरेचयति—रिचिर् विरेचने धातु से निष्पन्न इस णिजन्त धातु रूप का अर्थ वमन तथा विरेचन करना प्रसंगानुसार युक्ति-युक्त प्रतीत होता है । साथ ही उक्त धातु में दोनों अर्थों के निर्वाह की सामर्थ्य भी है। 'रेचन' का अर्थ कम करना (Diminishing) है, भले ही वे ऊपर के मार्ग (मुख) से वमन द्वारा कम किये जाँय अथवा गुद-मार्ग से विरेचन द्वारा ।

यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम् । सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते ॥ ४ ॥

वैद्य का मिथ्या अभिमान रखने वाला मूर्ख व्यक्ति जिस मनुष्य को विरेचन कराता है, वह मनुष्य विरेचन के अयोग और अतियोग से दुःख भोगता है ।

वक्तव्य—उक्त पद्य का तात्पर्य है कि मूर्ख वैद्य (जो शास्त्र तथा लोकव्यवहार को न जानता हो) से वमन-विरेचन आदि चिकित्सा न कराये, क्योंकि उसकी दी गयी ओषधि या तो व्यर्थ जाती है या अनेक प्रकार के उपद्रवों का कारण बन जाती है । अन्यत्र अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग को रोगों की उत्पत्ति में कारण कहा गया है किन्तु वमन-विरेचन में अयोग ही मिथ्यायोग माना गया है । यथा—'प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात् तेष्वकृत्स्नशः । अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण न चागच्छति चाल्पशः' ॥ च० सि० अ० ६ । अर्थ स्पष्ट है ।

दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिर्व्याधीनामणुता रुचिः । हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा काले वेगप्रवर्तनम् ॥ ५ ॥
बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता । सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्चानु[1]वर्तनम् ॥ ६ ॥

भली-भाँति विरिक्त (वमन-विरेचन हुए) पुरुष के लक्षण—दुर्बलता, हलकापन, ग्लानि (हर्षक्षय), रोगों की कमी या शान्ति, भोजन के प्रति इच्छा, हृदय तथा वर्ण (चेहरे) की शुद्धि, भूख तथा प्यास का लगना और समयानुसार मल-मूत्र आदि के वेगों का होना, बुद्धि, इन्द्रियों तथा मन की शुद्धि (निर्मलता), वायु का अनुलोम होना और शरीरस्थित अग्नि का सम अवस्था में रहना, ये सब सम्यग् विरिक्त के लक्षण हैं ।

वक्तव्य—'दौर्बल्यम्'—इसका प्रमुख कारण यह है कि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्', विरेचन में मल की अधिक प्रवृत्ति होने के कारण ही यह दुर्बलता है । **'व्याधीनामणुता'**—'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' के अनुसार रोगों का अणुरूप में रहना ।

ष्ठीवनं हृदयाशुद्धिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः । आध्मानमरुचिश्छर्दिरदौर्बल्यमलाघवम् ॥ ७ ॥
जङ्घोरुसदनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः । लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निग्रहः ॥ ८ ॥

अविरिक्त के लक्षण—बार-बार थूकना या मुख से लार का चूना, हृदय की मलिनता, जी मिचलाकर कफ तथा पित्त का निकलना, आध्मान (पेट का फूल जाना), अरुचि, वमन, दुर्बलता का न होना अथवा शरीर का स्थूल होना, शरीर में भारीपन, जांघों और ऊरु में ढीलापन, तन्द्रा (उँघाई का बना रहना), स्तैमित्य (शरीर में गीला वस्त्र ओढ़े रहने का-सा अनुभव होना), पीनस (जुकाम का होना) और शरीर में स्थित वायु का पेट में अवरोध हो जाना ।

वक्तव्य—वमन-विरेचन का न होना, ठीक प्रकार से न होना अथवा अल्पमात्रा में होना ये सब अविरिक्त की परिभाषायें है ।

विट्पित्तकफवातानामागतानां यथाक्रमम् । परं स्रवति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥ ९ ॥
निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा । तृष्यतो मारुतार्तस्य सोऽतियोगः प्रमुह्यतः ॥१०॥

विरेचन के अतियोग के लक्षण—विरेचन होने पर क्रमशः मल, पित्त, कफ तथा वायु के निकलने पर मेदस् या मांसोदक (मांस के धोवन) के सदृश जो रक्त निकलता है अथवा कफ-पित्त रहित पानी निकलता

१. 'श्चानुवर्धनम्' ग. ।

है या कृष्णवर्ण का रक्त निकलता है । इसमें रोगी वायु से पीड़ित होता है, उसको बार-बार प्यास लगती है और बेहोश भी हो जाता है । ये सभी अतियोग के लक्षण है ।

वमनेऽतिकृते लिङ्गान्येतान्येव भवन्ति हि । ऊर्ध्वगा वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चाधिको भवेत् ॥११॥

वमन के अतियोग के लक्षण—विरेचन के अतियोग के जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं प्रायः वे ही सभी लक्षण वमन के अधिक होने पर भी होते हैं, इसमें केवल शरीर के ऊपरी भाग के वातरोग, वाक्ग्रह (बोलने में रुकावट अथवा एकदम मूक) हो जाना, ये विशेष लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—विरेचन का क्रम ऊपर दिया गया है । वमन का क्रम यह है—कफ, पित्त, वायु; तदनन्तर उपद्रव के रूप में मेदस् या मांस के धोवन के सदृश रक्त निकलता है । भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'पित्तातियोगश्च विसञ्ज्ञताश्च हृत्कण्ठपीडामपि चाति वान्ते' ॥ सु० चि० अ० ३३ ॥

चिकित्साप्राभृतं तस्मादुपेयाच्छरणं नरः । युञ्ज्याद्य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च ॥१२॥

चिकित्साप्राभृत का प्रशंसा—इसलिये रोगी मनुष्य को चिकित्सा की सभी सामग्री से युक्त तथा ज्ञान से सम्पन्न चिकित्सक की शरण में जाना चाहिये, जो मनुष्य को सुख एवम् दीर्घायु से सम्पन्न कर सके ।

अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः । पिडकाकोठकण्डूनां सम्भवोऽरतिरेव च ॥१३॥
आलस्यश्रमदौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः । श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥१४॥
तन्द्रा क्लैब्यमबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम् । बलवर्णप्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि ॥१५॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि, तस्मै संशोधनं हितम् । ऊर्ध्वं [1]चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम् ॥१६॥

संशोधन योग्य पुरुष के लक्षण—अपचन, अरुचि, मोटापन, पाण्डुता, शरीर का भारीपन, क्लम (अकारण थकावट का अनुभव होना), छोटी-छोटी फुन्सियों का होना, चकत्ते, खुजली, बेचैनी, आलस्य, श्रम, दुर्बलता, दुर्गन्धि, शरीर तथा मन में उदासीनता, जी मिचलाने पर कफ तथा पित्त का निकलना, निद्रा का न आना अथवा नींद का अधिक आना, तन्द्रा (उँघायी), नपुंसकता अथवा किसी भी कार्य के प्रति साहस का न होना, अबुद्धित्व (विचारशक्ति की हीनता या विवेकशून्यता), अशुभ सूचक स्वप्नों का दिखलायी देना, शरीर को स्वस्थ करने वाले ओषधों तथा आहारों का भरपूर सेवन करने पर भी बल और वर्ण की हानि होना, ये सभी बहुदोष युक्त पुरुष के लक्षण है । इस प्रकार के पुरुष के लिये उसके बल तथा दोषों का विचार करके ऊर्ध्व संशोधन (वमन) एवम् अनुलोम संशोधन (विरेचन) हितकारक होता है ।

वक्तव्य—सामान्य दृष्टि से कफप्रधान रोगों में वमन और पित्तप्रधान रोगों में विरेचन दिया जाता है।

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते । व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥१७॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति । बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥१८॥
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः । तस्मात् संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥१९॥

संशोधन क्रिया से लाभ—उपर्युक्त प्रकार से जिसका कोष्ठ शुद्ध हो गया है उस पुरुष की कायाग्नि बढ़ती है, सभी प्रकार की व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं और प्रकृति (वात आदि धातु) अनुकूल हो जाती है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा वर्ण स्वच्छ (निर्विकार) हो जाता है । बल की प्राप्ति, शरीरावयवों की पुष्टि, सन्तान की प्राप्ति, वृषता (वीर्य वृद्धि) हो जाती है । उस पुरुष पर जल्दी वृद्धावस्था आक्रमण नहीं कर सकती एवम् चिरकाल तक नीरोग होकर वह जीवित रहता है । इसलिये समय पर शास्त्रोक्त विधि से संशोधन के लिये प्रयुक्त औषधद्रव्यों का पान करे ।

वक्तव्य—कोष्ठ का परिचय इस प्रकार है—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' ॥ संशोधन के सेवन से शरीर का पुनः नवीनीकरण हो जाता है, फलतः अंग-प्रत्यंग अपने कार्यों को करने में पूर्ण समर्थ हो जाते हैं ।

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः । जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥२०॥

१. 'चैवानुलोम्यं च' इति पा० ।

अन्य चिकित्साओं से संशोधन चिकित्सा की विशेषता—लंघन तथा पाचनों के प्रयोग से जीते (अपने वश में किये) हुए दोष कभी कुपित हो जाते हैं या हो सकते हैं किन्तु जिन दोषों का निर्हरण उपर्युक्त संशोधन की रीति से किया जाता है, वे पुन उभड़ नहीं सकते।

वक्तव्य—चिकित्सा के मूलतः संशमन तथा संशोधन ये दो भेद होते हैं। लंघन (लघु भोजन या व्रत) जिससे शरीरगत दोष हलके पड़ जाते हैं। और दूसरा प्रकार है—पाचन अर्थात् जिस चिकित्साक्रम से उभड़े हुए दोषों को शान्त किया जाता है। संशोधन चिकित्सा में शरीरस्थित दोषों को वमन-विरेचन आदि प्रक्रियाओं द्वारा शरीर से बाहर कर दिया जाता है, अत एव चिकित्सा क्षेत्र में इसकी विशेषता है।

दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति। रोगाणां [१]प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥२१॥

संशोधन चिकित्सा पर दृष्टान्त—वातादिदोषों तथा वृक्षों के मूलों के भली-भाँति न कटने पर, शान्त हुए रोगों तथा वृक्षों के अंकुरों का पुनरागमन सुनिश्चित होता है।

वक्तव्य—संशोधन चिकित्सा के लिये उक्त दृष्टान्त सर्वथा उचित है, क्योंकि जिस प्रकार वृक्षों में समय समय पर पत्र, पुष्प, फल आदि का प्रसव (उत्पत्ति) होता है और यथा समय शान्ति हो जाती है, ठीक उसी प्रकार संशमन औषधोपचार से रोग दब जाते हैं अथवा कुछ समय के लिये स्वास्थ्यलाभ की अनुभूति भी होती है किन्तु पुनः अपने समय पर पत्र, पुष्प आदि के समान संशमनोपचार से दबाये हुए रोग पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु संशोधन चिकित्सा दोषों का समूल विनाश कर देती है।

धन्वन्तरि के शब्दों में—'छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा, यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति। तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन, तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति' ॥ सु० चि० अ० ३३।१३। आशय स्पष्ट है। केवल उक्त पद्य में कफज विकारों के सम्बन्ध में यह उक्ति है और चरक में सम्पूर्ण संशोधन चिकित्सा को ही जड़ से कटे हुए वृक्ष के समान दोषों का समूलनाशक स्वीकार किया है।

विशेष-वक्तव्य—

भारतीय चिकित्साशास्त्र की अमूल्य निधि पञ्चकर्म (संशोधन) चिकित्सा है। रोग दो प्रकार के होते हैं—१. शस्त्रसाध्य (Surgical) और २. स्नेहन-स्वेदन आदि क्रियासाध्य। स्नेहन, स्वेदन के क्षेत्र में शस्त्रचिकित्सा का स्पष्ट निषेध है किन्तु शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहन आदि क्रिया का विधान बतलाया गया है। देखें—'द्विविधास्तु व्याधयः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते' ॥ सुश्रुत सू० अ० २४।३। इस दृष्टि से पञ्चकर्म चिकित्सा को ही प्रधान चिकित्सा स्वीकार किया जा सकता है। आज अनेक कारणों से आयुर्वेद के इस महत्वपूर्ण विधान का प्रायः लोप-सा हो चला है। यह आयुर्वेद के उपासकों के लिये एक खेद का विषय है। जो साध्य रोग किसी पद्धति से दूर नहीं किये जा सकते उनकी चिकित्सा पञ्चकर्म द्वारा की जा सकती है, केवल ऊरुस्तम्भ को छोड़कर। इसका विशेष विवरण चरक चि० अ० २७ के प्रारम्भ में देखें।

यह सृष्टि का क्रम ही है कि सदैव सबके सुदिन नहीं रहते, उसी चपेट में आयुर्वेद की यह पञ्चकर्म चिकित्सापद्धति भी है। समयचक्र की उथल-पुथल से भी इसकी उपेक्षा हुई है। एक प्रधान कारण यह भी है कि इस यान्त्रिक युग में मनुष्य को भी यन्त्रों की भांति प्रतिक्षण चलना पड़ रहा है और इस पद्धति का अनुसरण करने के लिये २-३ मास का समय अवश्य चाहिये। इस अवधि में रोगी को चिकित्सक के आदेशों पर ही निर्भर रहना होता है, जो आज असम्भव-सा हो गया है।

संशोधन चिकित्सा का महत्व—आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार 'ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्गमः' अर्थात् संशमन चिकित्सा द्वारा जिन रोगों की शान्ति की जाती है, वे तो पुनः कभी उभड़ सकते हैं किन्तु संशोधन विधि से जिन दोषों को निकाल दिया जाता है फिर उनके उभड़ने की कोई सम्भावना नहीं होती है। अतः आयुर्वेदीय विज्ञान का चमत्कार दिखाने के लिये पञ्चकर्म-चिकित्सा का पुनः आश्रय लेना आवश्यक है।

---

१. प्रसवानामङ्कुराणाम्। 'प्रसराणां' ग.।

स्नेहन (Anointing)

स्नेहन-द्रव्य—१. घी २. तेल, २. वसा और ४. मज्जा। **इसके विविध प्रयोग**—स्नेहपान, अनुवासन, शिरोवस्ति, उत्तरवस्ति, नस्य, कर्णपूरण, अभ्यंग तथा भोजन में।

स्नेह की विशेष विधि—सुकुमार, कृश, वृद्ध, शिशु, स्नेहपान से द्वेष करने वाले, प्यास से पीड़ित व्यक्ति को तथा ग्रीष्मऋतु में भोजन के साथ दें।

कठिनाइयों का निराकरण—स्नेहपान काल में रोगी को कभी-२ उससे अरुचि हो जाती है, उस पर भी उससे स्नेहपान करने के लिये कहा जाता है तो उसे उत्क्लेश (जी मिचलाता) हो जाता है, ऐसी स्थिति में रोगी को भोजन के साथ मिलाकर स्नेह देना चाहिये। अनुवासन-वस्ति के रूप में दिया गया स्नेह कभी-कभी वस्तियन्त्र के साथ ही बाहर निकल जाता है और कुछ रोगियों का १०-१५ मिनट के बाद स्नेह निकल जाता है। ये दोनों ही स्थितियाँ लाभदायक नहीं हैं। अतः अनुवासन देने के पहले रोगी ने शौचकर लिया है या नहीं इसका पता कर लें। यदि न किया हो तो उसको शौच कराकर तब अनुवासन दें। इस प्रकार दिया गया स्नेह ४ घंटे से लेकर २४ घण्टे तक मलाशय में रहकर उपयुक्त स्नेहन करने के बाद बाहर आता है। अनुवासन देने के बाद रोगी का लेटे रहना आवश्यक होता है। सावधानी के रूप में रोगी को साधारण वस्ति (Soap-water Enema) दे देनी चाहिये। ऐसा करने से मल बाहर निकल जायगा और मल का दवाव (Pressure) समाप्त हो जाने से स्नेह बाहर नहीं आयेगा।

शिरोबस्ति की समस्या—पुरुषों के बाल काटकर इसका प्रयोग किया जाता है। स्त्रियों के बालों को इधर-उधर करके अथवा आवश्यकता पड़ने पर इनके भी बाल काटे जा सकते हैं। क्योंकि उत्तम स्वास्थ्य से ही शरीर शोभित होता है नकि केवल बालों से।

स्नेहपान की मात्रा—इसका निर्धारण चिकित्सक को व्यक्ति विशेष की स्थिति के अनुसार ही करना पड़ता है। कोई मनुष्य पूरी मात्रा का सेवन एक काल में कर लेता है, कोई थोड़ा-थोड़ा कई बार में करता है। इसकी मात्रा में चढ़ाव-उतार भी किया जाता है। स्नेहपान से कभी शरीर में भारीपन, ग्लानि, अरुचि आदि विकृतियाँ हो जाती हैं, सावधानी रखने से बाद में ये सब ठीक हो जाती हैं।

स्वेदन (Sudation)

स्नेहन के बाद स्वेदन का क्रम आता है। चरक के अनुसार साग्नि स्वेद तेरह प्रकार के होते हैं। इनमें १२ वातातपिक (जो चलते-फिरते सेवन किये जा सकते) हैं और एक कुटी प्रावेशिक है। इधर कुटी प्रावेशिक स्वेदन का व्यवहार प्रायः समाप्त-सा हो चला है, क्योंकि यह समय साध्य होता है। इनमें नाड़ी-स्वेद अधिक सुविधाजनक होता है, जिसका वर्णन यथास्थान देखें।

स्वेदनकाल की सीमा—रोगी अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार ही बाष्प को सहन कर पाता है। गर्मी के दिनों में यह सहनशक्ति जाड़े के मौसम की तुलना में कम होती है। फिर भी आधा घंटा से एक घंटा तक स्वेदन कराया जा सकता है।

बाष्प का तापमान—शीतकाल में बाष्प की ६५° सें० ऊष्मा और गर्मी के दिनों में ५५° सें० ऊष्मा को कोई-कोई सहन कर पाते हैं, सब नहीं। इस अवसर पर रोगी के तापमान का भी आकलन कर लेना चाहिये, क्योंकि बाष्प-सेवन-काल में रोगी का भी तापमान बढ़ जाता है। इसके विपरीत कुछ व्यक्तियों का तापमान स्वेद (पसीना) आने से घट जाता है, ऐसी स्थिति में स्वेदन बन्द कर देना चाहिये। इस अवसर पर रोगी के **रक्तभार** का भी परीक्षण करते रहना चाहिये। नाड़ीस्वेदन में वातहर द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। द्रव्यों के सम्बन्ध में चरक और वाग्भट में कुछ मतभेद है।

स्वेदन की विकृतियाँ

१. स्वेदन काल में विशेषतः गर्मी के मौसम में जब कि बाष्प की मात्रा पूर्वोक्त स्थिति से अधिक हो जाती है तो रोगी को **घबड़ाहट** एवं **बेचैनी** होने लगती है। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम स्वेदन करना बन्द करा दें और यदि रोगी प्यास का अनुभव करता हो तो उसको गरम जल या गरम दूध पीने के लिये दें। अधिक स्वेदन हो जाना ही इसका कारण होता है।

२. कभी-कभी रोगी को धड़कन होने लगती है, ऐसी स्थिति में भी स्वेदन बन्द कराकर हृदय को बल देने वाले औषधयोगों का प्रयोग कराना चाहिये।

३. **स्वेदन** काल में कभी यह भी देखा जाता है कि रोगी **बेहोश** हो गया है। चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगी को तत्काल उद्दीपक औषधयोग (Stimulant Mixture) रससिन्दूर, प्रवाल आदि के योग दें। ये शीघ्र लाभ करते हैं।

४. देखा जाता है कि रोगी स्वेदन लेते-लेते **काँपने** लगता है। यह स्वेदन का अतियोग है। इसमें हाथ-पाँव अकड़ने लगते हैं। ऐसा देखते ही स्वेदन बन्द करा दें और रोगी को उचित आहार-विहार में रखकर उसका कुछ दिन बाद पुनः स्नेहन करायें।

५. यद्यपि शरीरावयवों की अकड़न या जकड़न को दूर करने के लिये ही स्वेदन किया जाता है परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि स्वस्थ शरीरावयवों में भी अकड़न हो जाती है। इसका कारण भी अधिक स्वेद का निकलना ही है।

६. **स्वेदन** के समय कभी रोगी का जी मिचलाने लगता है और कभी वमन हो जाता है, यह रोगी की ऊष्मा के प्रति असहिष्णुशीलता है। ऐसी स्थिति में भी स्वेदन क्रिया को रोक देना चाहिये।

लाभ—उक्त विकृतियों का निराकरण सावधानी से करने के पश्चात् यह देखा जाता है कि इस स्वेदन से अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा), आमवात, पक्षाघात, जकड़न तथा वातजशूल आदि वात रोगों में अत्यन्त लाभ होता है। स्वेदन को एक ही बार करके आशा-निराशा के निर्णय पर नहीं पहुँच जाना चाहिये। इस स्नेहन-स्वेदन के क्रम को अनेक बार सावधानी के साथ करना चाहिये, लाभ अवश्य होता है। अन्य स्वेदों का भी यथावसर प्रयोग करना चाहिये। उनकी विधियाँ भी ऊपर दी गयी हैं।

वमन (Vomiting)

चरकसंहिता में वामककल्पों के अनेक योग दिये गये हैं, इन में **मदनकल्प** (इसके निर्माण की विधि यथास्थान देखें) प्रमुख है, अतः अधिकांश इसी का प्रयोग किया-कराया जाता है। इसका प्रयोग स्नेहन तथा स्वेदन कराने के पश्चात् ही किया जाता है। **सावधानी**—कल्प सेवन कराने के पहले रोगी की आहार व्यवस्था तथा मानसिक स्थिति का चिकित्सक को विशेष ध्यान देना चाहिये। दुर्बल शरीर एवं मन वाले व्यक्ति को वमन कल्पों का सेवन नहीं कराना चाहिये। सामान्य पुरुष की मानसिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये उसको उचित आश्वासन देने चाहिये, जिससे वह भय एवं चिन्ता से मुक्त हो जाय।

वमन-स्वरूप—वमन में सर्वप्रथम पिलायी गयी दवा, उसके बाद आमाशय में स्थित आहार फिर कफ तथा अन्त में पित्त निकलता है। यह सम्यक् वमन का लक्षण है। इससे बाद डकारों के रूप में वात का भी निःसरण होता देखा गया है। कभी वमन न होते देख गले में उँगली डालकर भी वमन कराया जाता है, कभी गरम पानी में नमक डालकर पिलाया जाता है।

विकृतियाँ—अतिवमन से हृदय में घबड़ाहट, पसीना आना, छाती में वेदना, आखों में खिंचाव आदि देखे जाते हैं। वमन के न होने पर पेट में भारीपन, जलन आदि लक्षण होते हैं। सामान्य स्थिति में शरीर में हल्कापन और वमन होने के कारण स्वाभाविक थकावट प्रतीत होती है। वमन कराने के बाद रोगी की भोजन व्यवस्था के लिये देखें—चरक सिद्धिस्थान अध्याय १।११।

विरेचन (Purgation)

विरेचन करने के पहले इस बात का ध्यान देना चाहिये कि जिसको अभी वमन कराये गये हैं, उसको कुछ समय तक पुनः स्नेहन-स्वेदन कराकर तब विरेचन करायें। क्योंकि वास्तविक पञ्चकर्म के क्षेत्र में स्नेहन-स्वेदन क्रियाओं को **पूर्वकर्म** कहा गया है। विरेचन कराने के पूर्व रोगी को मलवर्धक आहारों (हरे शाकों बथुआ आदि, उड़द तथा जौ की रोटी) का सेवन कराना चाहिये। वमन की भाँति विरेचक योगों का सेवन कराते समय भी रोगी को आश्वस्त कराना चाहिये, जिससे वह दस्त आने पर भयभीत न हो जाय।

विरेचकयोग—केवल सेहुंड (थूहर) का दूध, मात्रा २ माशा अथवा निशोथ के चूर्ण में सेहुंड के दूध की भावना देकर २ माशा की मात्रा में सेवन कराने से पर्याप्त विरेचन होते हैं। इनकी संख्या ३०, ४० या ५० तक हो जाती हैं।

विकृतियाँ—शास्त्रों में इनका विस्तृत वर्णन है। प्रायः यह देखा गया है कि उदर में शूल की उत्पत्ति हो जाती है, इसका कारण दस्तों में मल न निकल कर केवल जलीयांश का निकलना है। पर्याप्तमल निकलने के बाद

सुस्ती का आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि **'मलायत्तं बलं पुंसाम्'**, यदि उदर में आध्मान (अफारा) प्रतीत हो तो इसके लिये पाचकचूर्णों का प्रयोग करना चाहिये।

वस्ति (Enema)

आयुर्वेद में प्रयोजन भेद से वस्ति के अनेक नाम और प्रयोग हैं। सामान्य रूप से इसके दो भेद हैं—१. अनुवासन और २. निरूहण या आस्थापन। पुरुषों के मूत्रमार्ग और स्त्रियों के योनिमार्ग से जो वस्ति दी जाती है, उसे उत्तरवस्ति कहते हैं। आज अनुवासन के लिये **ग्लिसरीन सिरिञ्ज** का प्रयोग किया जारहा है और आस्थापन के लिये अनीमा यन्त्र का। इसका प्रयोग करते समय रोगी को औंधा लिटा दिया जाता है और रोगी को बायीं जांघ फैलाने को और दाहिनी जांघ कुछ समेटने को कह दिया जाता है, ऐसा करने से वस्ति प्रयोग सरल हो जाता है। यह आसन दोनों प्रकार की वस्तियों के लिये ठीक होता है। इनमें पहले अनुवासन वस्ति दें, इसके तीसरे दिन आस्थापन वस्ति दें। यह सामान्य प्रक्रिया है। इन वस्तियों का प्रयोग भोजन के भली-भाँति पच जाने पर ही करना चाहिये, क्योंकि मलाशय में मल के संचित होने पर वस्ति द्वारा दिया गया स्नेह पदार्थ वहाँ रुक नहीं सकेगा।

अनुवासन-वस्ति

इसमें केवल स्नेह द्रव्यों का ही प्रयोग किया जाता है। परिस्थिति विशेष में आस्थापन वस्ति के तीसरे या पाँचवें दिन अनुवासन दिया जाता है। रूक्ष प्रकृति वालों को तो प्रतिदिन अनुवासन कराया जाता है। अनुवासन वस्ति में प्रयुक्त होने वाले कतिपय तैल—१. नारायणतैल, २. माषतैल, ३. चित्रकादितैल, ४. बलातैल, ५. प्रसारणी तैल, आदि। विशेष चिकित्साग्रन्थों में देखें। **मात्रा**—प्रायः रोगी की स्थिति के अनुसार ५ तोला से १० तोला तक दी जाती है, शेष चिकित्सक के विवेक पर निर्भर है।

आस्थापन-वस्ति

वातज, पित्तज तथा कफज विकारों के लिये आस्थापन द्रव्यों के योग चिकित्सा-ग्रन्थों में देखें। आस्थापन वस्ति में दिया गया द्रव कुछ समय बाद स्वाभाविक रूप से निकल आता है, यदि न निकले तो शोधनवस्ति देकर उसको निकालने का पूर्ण प्रयत्न करे। इस बीच यदि रोगी को शौच जाने की इच्छा हो तो वह शौच करके गरम पानी से स्नान करके हलका भोजन करे।

नस्य या नावन

ऊर्ध्वजत्रु (Collar-bone) गत रोगों को दूर करने के लिये रूक्ष अथवा स्निग्ध नस्य का प्रयोग किया जाता है। प्रतिश्याय या वातजशिरःशूल (Sisusitis) में रूक्षनस्य (कट्फल चूर्ण) तथा स्निग्धनस्य (षड्बिन्दु तैल) का उपयोग कराना सुप्रसिद्ध है। यदि इनके प्रयोग से छींकें अधिक आरहीं हों तो दो-चार बूँदें गाय के घी की सूँघें। मूर्च्छा, अपस्मार, सन्यास आदि रोगों में नस्य प्राथमिक चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होती है। मूर्च्छा आदि में तीक्ष्णनस्यों का प्रयोग ही लाभ करता है, सामान्य नहीं।

यहाँ तक जो ऊपर विवेचन किया गया है, वह सामान्य रूप से प्रत्येक रोग के सम्बन्ध में जो स्नेहन-स्वेदन आदि से दूर किये जाते हैं, उनका है। इनका विशेष विवरण चिकित्सा-ग्रन्थों में यथास्थान देखें।

पञ्चकर्म

इस प्रकरण में स्नेहन तथा स्वेदन का वर्णन पञ्चकर्म की दृष्टि से पूर्वकर्म की सीमा में आता है, वास्तव में पञ्चकर्म ये हैं—१. वमन, २. विरेचन, ३. नस्य, ४. निरूहणवस्ति और ५. अनुवासनवस्ति।

[1]भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैरेव बृंहणम्। घृतमांसरसक्षीरहृद्ययूषोपसंहितैः ॥२२॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरूहैः सानुवासनैः। तथा स लभते शर्म युज्यते चायुषा चिरम् ॥२३॥

संशोधनोपचार से कृशों का बृंहण—संशोधन के लिये सेवन किये गये औषधों से कृश हुए रोगी को घी, मांसरस, दूध तथा हृदय के लिये हितकर विविध प्रकार के यूषों से युक्त आहारों द्वारा एवम् तैल आदि की मालिश, उबटन, स्नान, आस्थापनवस्ति और अनुवासन (स्निग्ध) वस्ति द्वारा बृंहण कराना पथ्य है। ऐसे बृंहणोपचार से संशुद्ध व्यक्ति सुखी होकर चिरकाल तक जीवित रहता है।

१. 'भेषजक्षयिते' ग.।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'आहारैः एव बृंहणं पथ्यम्' जो तन्त्रकार ने लिखा है, उसका तात्पर्य यह है कि रसायनों के सेवन से जो मनुष्य को मोटा-ताजा (बलवान्) बनाया जाता है, उस प्रक्रिया का यहाँ 'आहारैः एव' अर्थात् खान-पान द्वारा ही यह कहकर स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है, क्योंकि वे सभी रसायन औषधयोग उष्ण-प्रकृतिप्रधान होते हैं। और हितकारक आहार-विहार द्वारा जो बृंहण होगा उसमें किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं रहेगी।

अतियोगानुबद्धानां सर्पिःपानं प्रशस्यते। तैलं [1]मधुरकैः सिद्धमथवाऽप्यनुवासनम् ॥२४॥

संशोधन के अतियोग की चिकित्सा—संशोधन (वमन-विरेचन) के लिये सेवन किये गये औषध द्रव्य से यदि अधिक वमन या विरेचन होने लगें तो ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को औषधों द्वारा सिद्ध किया हुआ घी पिलाना चाहिये या मधुरस्कन्ध में कहे गये द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये गये तैल से अनुवासन करायें।

वक्तव्य—'मधुरकैः' इससे दस जीवनीय द्रव्यों का ग्रहण करना, यह आचार्य गंगाधर का मत है, जिनका उल्लेख चरक सू० अ० ४ में किया गया है। इसके आगे चरक विमानस्थान अ० ८ में भी 'मधुरस्कन्ध' की चर्चा द्रष्टव्य है।

यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम्। मात्राकालबलापेक्षी स्मरन् पूर्वमनुक्रमम्[2] ॥२५॥

अयोग की चिकित्सा—संशोधन के लिये औषध द्रव्यों का जिस पर प्रभाव न पड़ा हो उसका पुनः स्नेहन करे और संशोधन औषध पिलाये किन्तु दूसरी बार में काल और रोगी के बल को देखकर मात्रा का निर्धारण करे।

वक्तव्य—'स्मरन् पूर्वमनुक्रमम्' अर्थात् पहले जो संशोधन औषध का प्रयोग किया था, उसमें क्या कमी रह गयी कि जिसके कारण ओषध द्रव्य प्रभावकारी नहीं हो पाये। इस बार वह असावधानी न हो अपितु उस क्षति की पूर्ति हो जाय किन्तु शेष विधान पूर्ववत् ही रहेगा।

स्नेहने स्वेदने शुद्धौ रोगाः संसर्जने च ये। जायन्तेऽमार्गविहिते तेषां सिद्धिषु साधनम् ॥२६॥

स्नेहन आदि के उपद्रवों की चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन, शुद्धि (वमन-विरेचन) तथा संसर्जन (यवागू, विलेपी, यूष, मांसरस, भात आदि के निर्माण) क्रम की असावधानी से अर्थात् विधिपूर्वक प्रयोग न करने से जो उपद्रव होते हैं, उनकी चिकित्सा आगे सिद्धिस्थान में की जायगी।

[3]जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः। हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥२७॥

स्वभावोपरमवाद (Theory of Natural Destruction)—हेतु की विषमता के कारण देहस्थ समस्त धातुएँ विषम हो जाती हैं और ये हेतु की समता के कारण सम हो जाती हैं। उक्त धातुओं का उपरम (विनाश) स्वभाव से ही होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य के सम्बन्ध में गंगाधर और चक्रपाणि के विचार नीचे टिप्पणी में दिये गये हैं।

---

१. 'मधुरकैर्जीवनीयैर्दशभिः' गङ्गाधरः।

२. 'स्मरन् पूर्वमनुक्रममित्यनेन यः पूर्वमयोगे हेतुभूतस्तं परिहरन्निति शिक्षयति' चक्रः।

३. 'जायन्त इत्यादि। देहधातवो देहस्य धारका ये भावास्ते' हेतुवैषम्यात्तेषामुत्पत्तौ स्थितौ च हेतूनां वैषम्याद् वृद्धिहान्यन्यतरस्माद्विषमा जायन्ते, तथा देहधातूनां ये हेतवस्तेषां साम्याद् वृद्धिहासव्यतिरेकावस्थायामवस्थानात्ते देहधातवः समा जायन्ते, तयोर्देहधातुसाम्यवैषम्ययोः सदैवाविरतं स्वभावोपरमः स्वभावस्य स्वस्य धर्मस्य रूपस्य चोपरमो नाशो भवति। तत्र भावानां स्वस्वधर्माणां स्वस्वरूपाणां च सदैवाविरतप्रवृत्तौ हेतुरस्ति, सदैवाविरतनिरोधे विनाशे कारणं नास्तीत्यकरणं प्रतिक्षणं भङ्गः स्यादिति। तत्र केचिन्महर्षयो भावानां स्वभावोपरमेऽविरतनिरोधे हेतोरवर्तनं हेतुर्नास्तीति यदेव हेतोरभावस्तमेव भावानां सदा स्वभावोपरमे हेतुं मन्यन्ते' गङ्गाधरः। 'तेषामिति विषमाणां धातूनां समानां च, सदेत्यविलम्बेन, तेनोत्पन्न एव विनश्यतीत्यर्थः। प्रवृत्तिहेतुरुत्पत्तिहेतुर्भावानामस्ति, विनाशे हेतुर्भावानां कारणं नास्ति, यस्मात्सर्व एव भावाः प्रदीपार्चिर्वदुत्पत्तौ कारणापेक्षिणः, विनाशे तु द्वितीयक्षणाविद्यमानत्वलक्षणे सहजसिद्धे न हेत्वन्तरमपेक्षन्ते'। चक्रः।

उक्त विवेचन के अनुसार 'स्वभावोपरम' का अर्थ होता है बिना कारण के नाश होना। अर्थात् जहाँ कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता है, वहाँ स्वभाव (प्रकृति) ही कारण हो जाता है। जैसे—दाँतों का एक बार टूटकर पुनः उत्पन्न हो जाना तथा हाथ एवं पैर के तलुओं में रोमों की उत्पत्ति न होना आदि-आदि कार्यकलापों के होने में स्वभाव को कारण माना गया है। यही स्वभावोपरमवाद बौद्धों के मत का उपजीव्य रहा है, यदि हम ऐसा स्वीकार करें तो कोई आपत्ति न होगी।

आहार रस से शरीरस्थ सप्त धातुओं को पोषण प्राप्त होता है। इसमें भी जो आहार जिस प्रकृति का होता है, वह अपने गुणों वाली धातु का विशेष रूप से पोषण करता है और विपरीत गुण वाला होने से ह्रास करता है—'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः'। भाव स्पष्ट है। और भी देखें—'यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः'। अर्थात् जिस पुरुष में जिस धातु की हीनता होती है उसको तद्गुण विशिष्ट आहार देने की शास्त्र संस्तुति करता है। इस प्रकार आहार की विषमता से धातुओं में विषमता आ जाती है। अतएव शास्त्र का यह आदेश है—'सर्वरसाभ्यासः पथ्यानाम्', जिसके कारण सम्पूर्ण धातुएँ सम हो सकती या रह सकती हैं। अतएव कहा गया है—'न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च। हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः' ॥ च० शा० अ० १ ॥

स्वभावोपरम-वाद की चरितार्थता यही है कि हमारे धातुओं का विनाश प्रतिक्षण होता रहता है और उन्हीं की पूर्ति के लिये आहार का क्रम सुनिर्धारित है, अतएव उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। जब मानव उपवास आदि करता है तब इसका स्पष्ट अनुभव होता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर में धातुओं के निर्माण एवं विनाश की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है। अन्तर यही है कि निर्माण की क्रिया में मनुष्य के आहार-विहार का हाथ है और विनाश में स्वभाव (प्रकृति) स्वयं समर्थ है।

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्। केचित् तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ॥२८॥

स्वभावोपरमवाद पर अन्य आचार्यों का मत—भावों (पदार्थों) की प्रवृत्ति ही रसादि धातुओं की उत्पत्ति में कारण होती है किन्तु विनाश में कोई कारण नहीं है, किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि कारण का न होना भी विनाश में एक कारण है।

वक्तव्य—'मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति', अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण रस प्रधान द्रव्य वात का शमन इसलिये करते हैं कि ये सर्वथा कफ की वृद्धि करते हैं। अतएव वात की शान्ति कर पाते हैं। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि उत्पत्ति में जो कारण होते हैं, वे ही दूसरे के विनाश के कारण होते हैं। इसी प्रकार अन्य धातुओं के भी उत्पादक तथा विनाशक हेतुओं का वर्णन किया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से उत्पत्ति (भाव) और विनाश (अभाव) का स्वरूप इस प्रकार है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः' ॥ गीता अ० २।१६। अर्थात् असत् वस्तु का तो अस्तित्व होता ही नहीं और सत् पदार्थ का अभाव नहीं होता। इस प्रकार इन दोनों (सत् और असत्) का रहस्य ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

वास्तव में यह पाञ्चभौतिकी सृष्टि उत्पत्ति-विनाशमयी है। अतः उत्पत्ति में कारण की आवश्यकता की अनुभूति या प्रवृत्ति होती है, विनाश तो स्वयंसिद्ध है ही। जैसे—गेहूँ के पौधे की उत्पत्ति में गेहूँ का बीज कारण है किन्तु फसल पकने के बाद उसके सूखने या विनाश होने में स्वभाव (प्रकृति) ही कारण है।

एवमुक्तार्थमाचार्यमग्निवेशोऽभ्यभाषत। स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् ॥२९॥

भेषजैर्विषमान् धातून् कान्[1] समीकुरुते भिषक्। का वा चिकित्सा भगवन्! किमर्थं वा प्रयुज्यते ॥

भगवान् आत्रेय के ऐसा कहने पर महर्षि अग्निवेश ने पूछा—यदि स्वभाव से (बिना कारण

---

१. 'कान् समीकुरुते' इति विषमाणामस्थिरत्वेन साम्यं तत्र कर्तुं न पार्यत इत्याशयः। किमर्थं प्रयुज्यत इति यन्निवृत्त्यर्थं चिकित्सा प्रयुज्यते तद्धातुवैषम्यं स्वभावान्निवृत्तमिति चिकित्साप्रयोजनं नास्ति' इति चक्रः।

के) ही दोषों का विनाश हो जाता है तो चिकित्साप्राभृत (वैद्य) की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तब हे भगवन् आप उपदेश करें कि चिकित्सक औषधयोगों से किन विषम धातुओं को सम करता है ? अथवा किस को चिकित्सा कहते हैं ? और उसका क्या उपयोग होता है ?

वक्तव्य—अब प्रश्न यह उठता है कि जब उत्पत्ति में कारण और विनाश में कोई कारण नहीं होता तो चिकित्सा करना या कराना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि रोग की उत्पत्ति में कारण होगा, उसका विनाश तो स्वयं होगा ही । इस शंका का समाधान आगे इस प्रकार किया जा रहा है—

कान् समीकुरुते भिषक्—विषम दोषों के अस्थिर होने के कारण उनको सम करना सरल होता है। **किमर्थं वा प्रयुज्यते**—जिन दोषों की निवृत्ति के लिये चिकित्सा की जाती है, वह धातुविषमता स्वभाव से ही निवृत्त हो जाती है, अतः चिकित्सा का कोई प्रयोजन नहीं है ।

चरक में चिकित्सा का लक्षण इस प्रकार दिया है—'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते, प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते' ॥ च० सू० अ० ९ । यथा—१. भिषक्, २. द्रव्य (चिकित्सा के उपयोग में आने वाली सामग्री), ३. उपस्थाता (हर समय रोगी के पास सेवा आदि के लिये उपस्थित रहने वाला सेवक) और ४. रोगी ये विकृत दोषों को जिस पद्धति से सम कर देते हैं, उसे चिकित्सा कहते हैं ।

तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्वसुः । श्रूयतामत्र या सौम्य ! युक्तिर्दृष्टा महर्षिभिः ॥३१॥
[1]न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम् । ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥३२॥
शीघ्रगत्वाद् यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते । निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥३३॥

आत्रेय का उत्तर—अपने शिष्य अग्निवेश के प्रश्नों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु ने उनका इस प्रकार समाधान किया—हे सौम्य ! इस विषय में प्राचीन महर्षियों ने जिस युक्ति का साक्षात्कार किया है, उसको सुनो। जैसे निरन्तर गतिशील काल के विनाश का कारण नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार भावों (भवन्तीति भावाः- उत्पन्न पदार्थों) के विनाश-कारण के अभाव से उस (विनाश) का कोई कारण मालूम नहीं होता । यथा—काल (समय) के शीघ्रगतिमान् होने के कारण बीता हुआ समय भूत (विनष्ट) कहा जाता है । उसी प्रकार भाव (उत्पन्न वस्तु समूह) भी नित्य विनाशशील होने से नष्ट हो जाता है । अतः उसके निरोध में कोई कारण नहीं है, न उसको बदला ही जा सकता है ।

वक्तव्य—गङ्गाधर एवं चक्रपाणि के मतों को नीचे टिप्पणी में उद्धृत किया है । वास्तव में यह दार्शनिक विषय है, जिसका स्वरूप 'सत्कार्यवाद' एवम् 'असत्कार्यवाद' के विवेचनों में द्रष्टव्य है । महर्षि ने नाश के कारणों के सर्वथा अभाव के उदाहरणरूप में नित्यग (सतत गमनशील) काल को प्रस्तुत किया है । ध्यान देने की बात यह है कि नित्यग काल का विनाश अंशांश (सेकेंड, मिनट, घण्टा) रूप में दिखलायी नहीं देता किन्तु दिन बीत गया, रात बीत गयी, इस रूप में तो प्रतीत होता ही है । जिसे हम भूत, वर्तमान, भविष्यत् की संज्ञा देते हैं । इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो अभाव के भी भेद करने होंगे, यथा—अभाव, क्रम अत्यन्ताभाव।

---

१. 'भावानां सदैव स्वभावस्योपरमो यो नाशस्तस्य कारणं न ज्ञायते नोपलभ्यते, कस्मात् ? नाशकारणाभावात् । यथा नित्यगस्य कालस्य सदाऽत्ययोऽनवरतमतीतत्वं ज्ञायते तस्यात्ययस्य कारणं न ज्ञायते शीघ्रगत्वात्, यथा कालस्वभावो हि चक्रवद्भ्रमणात्मकत्वाच्छीघ्रगस्तथा भावानां स्वभावोऽपि शीघ्रगः, नाशकारणाभावो न नाशकारणं, तर्हि कथं भावानां स्वभावोपरमः स्यादित्यत आह—शीघ्रेत्यादि । यो भावो यदा यथाभूतो वर्तते यथात्वेनोत्तरावस्थामारभ्य पूर्वावस्थातो विपद्यते, तत्र पूर्वावस्थाया निरोधे कारणं नास्ति न च तन्निरोधेऽन्यथाक्रिया पूर्वभावादन्यथा क्रियोत्तरास्ववस्थास्वस्ति । यथा हेतुवैषम्याद्धातवो वातादयो विषमा भवन्ति विषमा एवोत्तरावस्थां तत्पूर्वावस्थिकविषमरूपेणैवारभ्य पूर्वावस्थविषमस्वभावनाशमुपयान्ति, न तु विषमस्वभावनाशं प्राप्योत्तरावस्थां साम्यस्वभावेनारभन्ते, तस्मात्प्रवृत्तौ खलु भावानां हेतुरस्ति न निरोधे' । गङ्गाधरः ।

'एवं मन्यते—यद्यपि धातुवैषम्यं विनश्वरं, तथाऽपि विनश्यदपि तद्धातुवैषम्यं स्वकार्यं विषममेव धातुमारभते, एवं सोऽप्यपरं विषममिति न धातुवैषम्यसन्ताननिवृत्तिः धातुसाम्यजनकहेतुं विना, यदा तु धातुसाम्यहेतुरुपयुक्तो भवति, तदा तेन सहितं वैषम्यसन्ततिरहितमपि कारणं सममेव धातुसन्तानमारभते' चक्रः ।

सचमुच चिकित्सा का लक्ष तो है विषम दोषों को सम करना और समधातुओं का परिपालन करना, न कि इस बात की प्रतीक्षा करना कि रोग कभी तो ठीक होगा ही अतः चिकित्सा करके क्या करें । नीतिशास्त्रों में आलंकारिक ढंग से यह भी कहा है—रोग, अग्नि और शत्रु का विनाश तत्काल कर देना चाहिये, अन्यथा ये विलम्ब करने पर उग्ररूप धारण कर लेते हैं । अस्तु ।

अतः आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्साप्राभृत वैद्य की आवश्यकता है कि वह स्वस्थवृत्त का उपदेश करे, दोषों के विषम होते ही उनका शमन करे, नीरोग होने पर उसको रसायन का सेवन कराकर जरा-व्याधि से मुक्त रखे ।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः । सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥३४॥

चिकित्सा की परिभाषा और चिकित्सकों का कार्य-क्षेत्र—जिन-जिन-क्रियाओं द्वारा विषम हुए दोष शरीर में पुनः समानता को प्राप्त हों, वही रोगों की चिकित्सा है और वही वैद्यों का उत्तम कर्म है ।

वक्तव्य—'याभिः क्रियाभिः'—इस बहुवचनान्त 'याभिः' सर्वनाम का प्रयोग करके महर्षि ने सभी प्रकार के चिकित्सा प्रकारों का सम्मान इस शर्त के साथ किया है कि **'शरीरे धातवः समाः जायन्ते'** न कि **'योऽन्यमन्यद् उदीरयेत्'** अर्थात् वह उत्तम चिकित्सा नहीं है जो एक रोग को ठीक करके दूसरे रोग को उभाड़ दे या रोग को कुछ समय के लिये दबा दे । इसमें दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय इन तीनों चिकित्सा पद्धतियों का समावेश हो जाता है । यहाँ पर प्रसंगानुसार विषम धातुओं को सम करना और क्षीणधातुओं की पुष्टि करना यही चिकित्सक का प्रमुख कर्तव्य माना गया है । चरक सूत्रस्थान अध्याय ९ श्लोक ५ में चिकित्सा की यही परिभाषा दी गयी है ।

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति । समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥३५॥

चिकित्सा का उद्देश्य—चिकित्सा इसलिये की जाती है कि जिस प्रकार शरीर में धातुओं की विषमता (न्यूनता या अधिकता) न हो और समधातुओं का अनुबन्ध (शरीर से नित्य सम्बन्ध) बना रहे ।

वक्तव्य—यदि शरीर में धातु विषम हो गये हों तो उनको सम करे और समधातुओं को सदा स्थिर बनाये रखने का प्रयास करे । इसके लिये स्वस्थ पुरुष की परिभाषा देखें—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः । प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' । अथवा—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य व्याधिपरिमोक्षः' ।

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् । विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥३६॥

धातुसाम्य की युक्ति—जिन कारणों से धातु विषम हुए हों उनका त्याग करने से और जिनसे धातु सम होते हों उनके निरन्तर सेवन करने से विषम धातुओं की निरन्तर उत्पत्ति का नाश हो जाता है, फलतः शरीर में समस्त धातुएँ सम हो जाती हैं ।

वक्तव्य—विषम हेतुओं का वर्णन चरक सूत्रस्थान अध्याय ११ में इस प्रकार किया गया है । यथा—
१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, २. प्रज्ञापराध, ३. परिणाम, और वृद्धवाग्भट में—'कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः । सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्' ॥ अ० सं० सू० अ० १ । विषम हेतु इस प्रकार हैं—असात्मेन्द्रियार्थसंयोग का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग, प्रज्ञापराध और परिणाम ।

जायन्ते धातवः समाः—यहाँ पर 'समाः' का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी धातुएँ मात्रा में समान हों, अपितु शरीर को स्वस्थ रखने के लिये शरीर सम्पत्ति के अनुरूप जिस धातु की जितनी आवश्यकता होती है, वही उसकी सम मात्रा है । बालक, युवा, वृद्ध भेद से तथा नाटे, लम्बे, मोटे, दुबले भेद से शरीरस्थ धातुओं की मात्रा में भेद स्पष्ट दिखलायी देता है ।

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् सञ्जनयेत् समान् । चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम् ॥३७॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च । दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद् देहसुखायुषाम् ॥३८॥

चिकित्साप्राभृत वैद्य का महत्व—क्योंकि वातादि धातुओं को सम हेतुओं द्वारा चिकित्साप्राभृत वैद्य सम बनाये रखने में सहायक होता है, अतः उसको शारीरिक सुख तथा आयु का दाता कहा गया है । शारीरिक

के) ही दोषों का विनाश हो जाता है तो चिकित्साप्राभृत (वैद्य) की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। हे भगवन् आप उपदेश करें कि चिकित्सक औषधयोगों से किन विषम धातुओं को सम करता है ? अथवा किस को चिकित्सा कहते हैं ? और उसका क्या उपयोग होता है ?

वक्तव्य—अब प्रश्न यह उठता है कि जब उत्पत्ति में कारण और विनाश में कोई कारण नहीं होता तो चिकित्सा करना या कराना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि रोग की उत्पत्ति में कारण होगा, उसका विनाश तो स्वयं होगा ही । इस शंका का समाधान आगे इस प्रकार किया जा रहा है—

कान् समीकुरुते भिषक्—विषम दोषों के अस्थिर होने के कारण उनको सम करना सरल होता है। **किमर्थं वा प्रयुज्यते**—जिन दोषों की निवृत्ति के लिये चिकित्सा की जाती है, वह धातु विषमता स्वभाव से ही निवृत्त हो जाती है, अतः चिकित्सा का कोई प्रयोजन नहीं है ।

चरक में चिकित्सा का लक्षण इस प्रकार दिया है—'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते, प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते' ॥ च० सू० अ० ९ । यथा—१. भिषक्, २. द्रव्य (चिकित्सा के उपयोग में आने वाली सामग्री), ३. उपस्थाता (हर समय रोगी के पास सेवा आदि के लिये उपस्थित रहने वाला सेवक) और ४. रोगी ये विकृत दोषों को जिस पद्धति से सम कर देते हैं, उसे चिकित्सा कहते हैं ।

तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्वसुः । श्रूयतामत्र या सौम्य ! युक्तिर्दृष्टा महर्षिभिः ॥३१॥
[1]न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम् । ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥३२॥
शीघ्रगत्वाद् यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते । निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥३३॥

आत्रेय का उत्तर—अपने शिष्य अग्निवेश के प्रश्नों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु ने उनका इस प्रकार समाधान किया—हे सौम्य ! इस विषय में प्राचीन महर्षियों ने जिस युक्ति का साक्षात्कार किया है, उसको सुनो। जैसे निरन्तर गतिशील काल के विनाश का कारण नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार भावों (भवन्तीति भावाः- उत्पन्न पदार्थों) के विनाश-कारण के अभाव से उस (विनाश) का कोई कारण मालूम नहीं होता । यथा—काल (समय) के शीघ्रगतिमान् होने के कारण बीता हुआ समय भूत (विनष्ट) कहा जाता है । उसी प्रकार भाव (उत्पन्न वस्तु समूह) भी नित्य विनाशशील होने से नष्ट हो जाता है । अतः उसके निरोध में कोई कारण नहीं है, न उसको बदला ही जा सकता है ।

वक्तव्य—गङ्गाधर एवं चक्रपाणि के मतों को नीचे टिप्पणी में उद्धृत किया है। वास्तव में यह दार्शनिक विषय है, जिसका स्वरूप 'सत्कार्यवाद' एवम् 'असत्कार्यवाद' के विवेचनों में द्रष्टव्य है । महर्षि ने नाश के कारणों के सर्वथा अभाव के उदाहरणरूप में नित्यग (सतत गमनशील) काल को प्रस्तुत किया है। ध्यान देने की बात यह है कि नित्यग काल का विनाश अंशांश (सेकेंड, मिनट, घण्टा) रूप में दिखलायी नहीं देता किन्तु दिन बीत गया, रात बीत गयी, इस रूप में तो प्रतीत होता ही है। जिसे हम भूत, वर्तमान, भविष्यत् की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो अभाव के भी भेद करने होंगे, यथा—अभाव .नम अत्यन्ताभाव।

---

१. 'भावानां सदैव स्वभावस्योपरमो यो नाशस्तस्य कारणं न ज्ञायते नोपलभ्यते, कस्मात् ? नाशकारणाभावात् । यथा नित्यगस्य कालस्य सदाऽत्ययोऽनवरतमतीतत्वं ज्ञायते तस्यात्ययस्य कारणं न ज्ञायते शीघ्रगत्वात्, यथा कालस्वभावो हि चक्रवद्भ्रमणात्मकत्वाच्छीघ्रगस्तथा भावानां स्वभावोऽपि शीघ्रगः, नाशकारणाभावो न नाशकारणं, तर्हि कथं भावानां स्वभावोपरमः स्यादित्यत आह—शीघ्रेत्यादि । यो भावो यदा यथाभूतो वर्तते यथात्वेनोत्तरावस्थामारभ्य पूर्वावस्थातो विपद्यते, तत्र पूर्वावस्थाया निरोधे कारणं नास्ति न च तन्निरोधेऽन्यथाक्रिया पूर्वभावादन्यथा क्रियोत्तरास्ववस्थास्वस्ति । यथा हेतुवैषम्याद्धातवो वातादयो विषमा भवन्ति विषमा एवोत्तरावस्थां तत्पूर्वावस्थिकविषमरूपेणैवारभ्य पूर्वावस्थविषमस्वभावनाशमुपयान्ति, न तु विषमस्वभावनाशं प्राप्योत्तरावस्थां साम्यस्वभावेनारभन्ते, तस्मात्प्रवृत्तौ खलु भावानां हेतुरस्ति न निरोधे' । गङ्गाधरः ।

'एवं मन्यते—यद्यपि धातुवैषम्यं विनश्वरं, तथाऽपि विनश्यदपि तद्धातुवैषम्यं स्वकार्यं विषममेव धातुमारभते, एवं सोऽप्यपरं विषममिति न धातुवैषम्यसन्ताननिवृत्तिः धातुसाम्यजनकहेतुं विना, यदा तु धातुसाम्यहेतुरुपयुक्तो भवति, तदा तेन सहितं वैषम्यसन्ततिरहितमपि कारणं सममेव धातुसन्तानमारभते' चक्रः ।

सचमुच चिकित्सा का लक्ष तो है विषम दोषों को सम करना और समधातुओं का परिपालन करना, न कि इस बात की प्रतीक्षा करना कि रोग कभी तो ठीक होगा ही अतः चिकित्सा करके क्या करें । नीतिशास्त्रों में आलंकारिक ढंग से यह भी कहा है—रोग, अग्नि और शत्रु का विनाश तत्काल कर देना चाहिये, अन्यथा ये विलम्ब करने पर उग्ररूप धारण कर लेते हैं । अस्तु ।

अतः आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्साप्राभृत वैद्य की आवश्यकता है कि वह स्वस्थवृत्त का उपदेश करे, दोषों के विषम होते ही उनका शमन करे, नीरोग होने पर उसको रसायन का सेवन कराकर जरा-व्याधि से मुक्त रखे ।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः । सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥३४॥

चिकित्सा की परिभाषा और चिकित्सकों का कार्य-क्षेत्र—जिन-जिन-क्रियाओं द्वारा विषम हुए दोष शरीर में पुनः समानता को प्राप्त हों, वही रोगों की चिकित्सा है और वही वैद्यों का उत्तम कर्म है ।

वक्तव्य—'याभिः क्रियाभिः'—इस बहुवचनान्त 'याभिः' सर्वनाम का प्रयोग करके महर्षि ने सभी प्रकार के चिकित्सा प्रकारों का सम्मान इस शर्त के साथ किया है कि **'शरीरे धातवः समाः जायन्ते'** न कि **'योऽन्यमन्यद् उदीरयेत्'** अर्थात् वह उत्तम चिकित्सा नहीं है जो एक रोग को ठीक करके दूसरे रोग को उभाड़ दे या रोग को कुछ समय के लिये दबा दे । इसमें दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय इन तीनों चिकित्सा पद्धतियों का समावेश हो जाता है। यहाँ पर प्रसंगानुसार विषम धातुओं को सम करना और क्षीणधातुओं की पुष्टि करना यही चिकित्सक का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। चरक सूत्रस्थान अध्याय ९ श्लोक ५ में चिकित्सा की यही परिभाषा दी गयी है ।

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति । समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥३५॥

चिकित्सा का उद्देश्य—चिकित्सा इसलिये की जाती है कि जिस प्रकार शरीर में धातुओं की विषमता (न्यूनता या अधिकता) न हो और समधातुओं का अनुबन्ध (शरीर से नित्य सम्बन्ध) बना रहे ।

वक्तव्य—यदि शरीर में धातु विषम हो गये हों तो उनको सम करे और समधातुओं को सदा स्थिर बनाये रखने का प्रयास करे । इसके लिये स्वस्थ पुरुष की परिभाषा देखें—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः । प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' । अथवा—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य व्याधिपरिमोक्षः' ।

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् । विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥३६॥

धातुसाम्य की युक्ति—जिन कारणों से धातु विषम हुए हों उनका त्याग करने से और जिनसे धातु सम होते हों उनके निरन्तर सेवन करने से विषम धातुओं की निरन्तर उत्पत्ति का नाश हो जाता है, फलतः शरीर मे समस्त धातुएँ सम हो जाती हैं ।

वक्तव्य—विषम हेतुओं का वर्णन चरक सूत्रस्थान अध्याय ११ मे इस प्रकार किया गया है । यथा—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, २. प्रज्ञापराध, ३. परिणाम, और वृद्धवाग्भट में—'कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः । सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्' ॥ अ० सं० सू० अ० १ । विषम हेतु इस प्रकार हैं—असात्मेन्द्रियार्थसंयोग का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग, प्रज्ञापराध और परिणाम ।

जायन्ते धातवः समाः—यहा पर 'समाः' का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी धातुएँ मात्रा में समान हों, अपितु शरीर को स्वस्थ रखने के लिये शरीर सम्पत्ति के अनुरूप जिस धातु की जितनी आवश्यकता होती है, वही उसकी सम मात्रा है। बालक, युवा, वृद्ध भेद से तथा नाटे, लम्बे, मोटे, दुबले भेद से शरीरस्थ धातुओं की मात्रा मे भेद स्पष्ट दिखलायी देता है ।

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् सञ्जनयेत् समान् । चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम् ॥३७॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च । दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद् देहसुखायुषाम् ॥३८॥

चिकित्साप्राभृत वैद्य का महत्व—क्योंकि वातादि धातुओं को सम हेतुओं द्वारा चिकित्साप्राभृत वैद्य सम बनाये रखने में सहायक होता है, अतः उसको शारीरिक सुख तथा आयु का दाता कहा गया है। शारीरिक

सुख और दीर्घायु देने के कारण उत्तम चिकित्सक धर्म, अर्थ, काम तथा इस लोक और परलोक के सुख को देने वाला होता है।

वक्तव्य—'देह सुखायुषाम्'—वृद्धि को प्राप्त होने वाले शरीर को 'देह' कहते हैं। इसकी रचना 'दिह उपचये' धातु से होती है और 'शृहिंसायाम्' शरीर उसको कहते हैं जो क्षीण हो रहा हो। यहाँ पर देह शब्द से तात्पर्य है कि चिकित्सक रोगी को सर्व प्रथम हृष्टपुष्ट करता है, तदनन्तर उसको समस्त सुख भोग करने की शक्ति प्रदान करता है और रसायनादि सेवन द्वारा उसको दीर्घायुष्य प्रदान करता है। इस प्रकार का स्वस्थ पुरुष चतुर्वर्ग साधन में समर्थ होता है।

पुरुष को दोनों लोक में सुखी जीवन बिताने योग्य बनाने का श्रेय उत्तम चिकित्सक को ही है। इससे आगे चलकर स्वस्थ मानव मोक्ष प्राप्ति भी कर लेता है, जो इस जीवन का परम एवम् चरम लक्ष माना जाता है।

तत्र श्लोकाः—

चिकित्साप्राभृतगुणो दोषो यश्चेतराश्रयः। योगायोगातियोगानां लक्षणं शुद्धिसंश्रयम् ॥३९॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि संशोधनगुणाश्च ये। चिकित्सासूत्रमात्रं च सिद्धिव्यापत्तिसंश्रयम् ॥४०॥
या च युक्तिश्चिकित्सायां यं चार्थं कुरुते भिषक्। चिकित्साप्राभृतेऽध्याये तत् सर्वमवदन्मुनिः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १६ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—चिकित्साप्राभृत (उत्तम वैद्य) के गुण, अयोग्य वैद्य के दोष, संशोधन (शुद्धि) सम्बन्धी योग, अयोग तथा अतियोग के लक्षण, बहुदोषयुक्त पुरुष के लक्षण, संशोधन से होने वाले जो गुण हैं, स्नेहन आदि द्वारा होने वाली चिकित्सा सिद्धि एवम् उपद्रव सम्बन्धी चिकित्सा का सूत्र (संकेत) मात्र, जो चिकित्सा सम्बन्धी युक्तियाँ है और जो वैद्य का कर्म है, यह सब इस चिकित्सा प्राभृतीय नामक अध्याय में मुनि ने कहा है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में चिकित्साप्राभृतीय नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अथातः कियन्तःशिरसीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

चिकित्साप्राभृतीय अध्याय का वर्णन करने के बाद अब हम 'कियन्तःशिरसीय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—सोलहवें अध्याय में चिकित्सा का लक्षण-निर्देश किया गया है। तदनन्तर इस अध्याय में शिर तथा हृदय के रोगों का वर्णन किया जायगा। सम्पूर्ण शरीर में शिर को उत्तमाङ्ग कहा गया है, अतः सर्वप्रथम उसके रोगों का, तदनन्तर हृद्गत या हृदय सम्बन्धी रोगों की चर्चा की जायगी।

प्रायः किसी भी वस्तु का वर्णन अभ्युदयक्रम (नख-शिख) और विनाश क्रम (शिख-नख) देखा जाता है। अनुमान किया जाता है कि महर्षि ने रोगों का वर्णन भी विनाश क्रम से ही किया है। क्योंकि मन्त्र-शास्त्र

में भी सर्पादि दष्ट रोगी का विष दष्ट स्थान से नीचे की ओर को झाड़ा जाता है, न कि ऊपर को। हमारी दृष्टि से महर्षि आत्रेय का यह क्रम जगन्मंगलाशंसा ही है।

कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा हृदि च देहिनाम्। कति [1]चाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजाः[2] ॥
क्षयाः कति समाख्याताः पिडकाः कति [3]चानघ। गतिः कतिविधा चोक्ता दोषाणां दोषसूदन ॥

अग्निवेश के प्रश्न—हे अनघ! (निष्पाप अत एव सत्त्वगुणप्रधान भगवान् आत्रेय) प्रधान रूप से मनुष्यों के शिर तथा हृदय में कितने रोग कहे गये हैं। अर्थात् कितने शिरोरोग और कितने हृदय रोग होते हैं और वात आदि (पित्त, कफ द्वन्द्वज, सन्निपातज) के मान (परिमाण) विकल्पज (क्षय, स्थान, वृद्धि आदि के भेदों से होने वाले) कितने रोग होते हैं, क्षय कितने प्रकार के होते हैं, कितनी पिडकायें होती हैं। हे दोष-निषूदन! (उत्तम चिकित्सक अर्थात् जो शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दोषों को नष्ट करने में समर्थ है।) वातादि दोषों की गति कितने प्रकार की होती है? (इन सबका उपदेश कीजिये।)।

हुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत्। पृष्टवानसि यत् सौम्य! तन्मे शृणु सविस्तरम् ॥ ५ ॥

आत्रेय का उत्तर—हुताशवेश (अग्निवेश) के उक्त प्रश्नों को सुनकर गुरु आत्रेय ने कहा—हे सौम्य! (शिष्यगुण सम्पन्न अग्निवेश) जो तुमने पूछा है, उसका उत्तर विस्तार पूर्वक मुझसे सुनो।

वक्तव्य—'हुताशवेशस्य वचः' इसके स्थान पर '**वचो हुताशवेशस्य**' पाठ होना चाहिये। यह प्रमाद निश्चित ही लिपिकर्ता का हो सकता है। विद्वान् विचार करें।

[4]दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः पञ्चैव हृदयामयाः। व्याधीनां द्व्यधिका षष्टिर्दोषमानविकल्पजाः ॥ ६ ॥
दशाष्टौ च क्षयाः सप्त पिडका माधुमेहिकाः। दोषाणां त्रिविधा चोक्ता [5]गतिर्विस्तरतः शृणु ॥ ७ ॥

प्रारम्भ में सूत्र रूप में उत्तर—पाँच शिरोरोग एवम् पाँच ही हृदयगत रोग देखे गये हैं। दोषों के क्षय, वृद्धि, साम्यों के परिमाण भेद से रोगों के बासठ भेद होते हैं। क्षय के १८ भेद हैं, ७ मधुमेह सम्बन्धी पिडिकायें (Carbuncles) होती हैं और दोषों की गतियाँ ३ प्रकार की कही गयी हैं। अब इनको विस्तार से सुनें।

सन्धारणाद्दिवास्वप्नाद्रात्रौ जागरणान्मदात्। उच्चैर्भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात् ॥ ८ ॥
गन्धादसात्म्यार्द[6]ाघाताद् रजोधूमहिमातपात्। गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात् ॥ ९ ॥
शिरोभि[7]घाताद् दुष्टामाद्रोदनाद्बाष्पनिग्रहात्। मेघागमान्मनस्तापाद् देशकालविपर्ययात् ॥१०॥
वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति। ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः ॥११॥

शिरोरोग (Diseases of the Head)—उक्त पद्यों में शिरोरोग का निदान तथा सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है—अधारणीय वेगों को रोकने से, दिन में सोने तथा रात में जागने से, मादक (नशीली) वस्तुओं के सेवन से, जोर से (लड़ाई झगड़े आदि में) बोलने से, अवश्याय (ओस में पड़े रहने से), पूर्वी हवा के या सीधे हवा के वेग के सामने पड़ जाने से, अधिक मैथुन से, अप्रिय या उग्र गन्ध से, धूलि, धुंआ, बरफ और धूप के आघात से, गुरु (जल्दी न पचने वाले), अम्ल (खट्टे) तथा हरित (अदरख, मिर्चा आदि) पदार्थों के अधिक सेवन से, अत्यन्त शीतल जल के सेवन (स्नान, पान) से, शिर पर चोट लगने से, दूषित आमरस (रसशेषाजीर्ण) से, रोने से, आँसुओं को रोकने से, बादलों के छा जाने से, मानसिक सन्ताप से, देश और काल की विपरीतता से वायु आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं और शिरःप्रदेश में स्थित रक्त दूषित हो जाता है। उसके पश्चात् अनेक लक्षणों से युक्त शिरोरोग हो जाते हैं।

---

१. 'वाऽप्यनिलादीनाम्' यो.।
२. 'क्षयस्थानवृद्धयो दोषमानं, तस्य विकल्पो दोषान्तरसम्बन्धकृतो भेदः'। चक्रः।
३. 'वाऽनघ' यो.।
४. 'दिष्टाः' इति पा.।
५. 'गतिर्वक्ष्यामि विस्तरम्'। ग.।
६. 'दामाताद्' ग.।
७. 'तापात्' इति पा.।

वक्तव्य—शिरोरोग शब्द से सिर से सम्बन्धित सभी अवयवों में होने वाले रोगों का ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु ऐसा करना प्रकरण की दृष्टि से अनुचित होगा क्योंकि बाहर और भीतर आदि भेद से शिरोरोग अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका समावेश यहाँ नहीं किया गया है। वास्तव में इस अध्याय में शिर के भीतरी रोगों का ही वर्णन किया है। यहाँ 'रोग' शब्द का अर्थ है 'वेदना' या 'शूल'। इसी को प्राचीन टीकाकार चक्रपाणि आदि ने भी किया है।

यथा—'शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते। तेन सूर्यावर्ताऽनन्तवातार्धावभेदकशङ्खकेरित्याभिधानमुपपद्यते अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात् तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसङ्गतः स्यात्'। मधुकोश।

'तेन नासंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते। शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात्' ॥ चक्रपाणिः।

ऊपर मधुकोशकार ने 'सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः'। सुश्रुत के इस वचन को उद्धृत कर के कहा है कि यदि शिरोरोग शब्द से ही समस्त शिरोरोगों का ग्रहण हो जाता तो उक्त कथन ही व्यर्थ हो जाता। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि यहाँ पर प्रयुक्त शिरोरोग शब्द शूल आदि सिर के भीतर होने वाली व्याधियों का संकेत करता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने ग्यारह प्रकार की शिरोवेदनाओं का उल्लेख किया है। यथा—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्तक्षय, क्रमि, सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक और शंखक ये शिरोवेदनाएँ होती हैं। सु० उ० अ० २५।३-४।

सूर्यावर्तक का विपरीत सूर्यावर्तकविपर्यय भी एक रोग है। यथा—'तत्र वातानुगं पित्तं चित्तं शिरसि तिष्ठति। मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद् विवृद्धं शिरोरुजम् ॥ करोति पैत्तिकीं घोरां सङ्क्राम्यति दिनक्षये। अस्तङ्गतप्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते ॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना। एष पित्तानिलकृतः **सूर्यावर्तविपर्ययः**' ॥

दूसरा प्रकार—वातपित्त की विकृति से उत्पन्न शिरोरोग को ही सूर्यावर्तविपर्यय कहते हैं—'सूर्यावर्तः स तु प्रोक्तो विपरीते विपर्ययः' ॥ वास्तव में जिस प्रकार चातुर्थकज्वर का भेद चातुर्थकविपर्यय ज्वर होता है, उसी प्रकार सूर्यावर्तक का भेद सूर्यावर्तकविपर्यय भी होता है। कुछ आचार्य शीर्षक नाम का भी एक शिरोरोग मानते हैं—'आलुच्यते कम्पति चापि मूर्धा, सर्पन्ति मध्ये च पिपीलिका वा। स्कन्धः शिरश्चाप्यवघूर्णते च, मूर्च्छा प्रलापश्च तथैव निद्रा ॥ संज्ञा प्रकाशं जनयेद् विनिद्रां प्रातस्ततः पश्यति चाति चित्रम्। गृह्णाति मन्ये हृदयं च सर्वैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतस्तु ॥ तिस्रो हि रात्रिर्न तु जातु जीवेत् तं **शीर्षकं** वै प्रवदन्ति रोगम्' ॥ डल्हणाचार्य।

विशेष विचार—शिर की रक्तवाहिनियों में जकड़न अथवा शिथिलता आने पर उनकी रक्तसंचारक (Vasomotor) शक्ति की निर्बलता के कारण जो शिरःशूल होता है, इसको (Tension) कहते हैं। इसके अन्य कारण चिन्ता, भय, क्रोध आदि हैं। सिर की रक्तवाहिनी शिराओं में अधिक रक्त-संचय होकर अर्थात् रक्त में जीवाणु विषों के कारण होने वाले तीव्रज्वरों से उत्पन्न शिरःशूल को **पैत्तिकशूल** कहते हैं। नासिका, गले आदि के स्रोतों में श्लैष्मिकशोथ के कारण होने वाले शिरःशूल को **श्लैष्मिक शिरःशूल** कहते हैं। वृद्धावस्था में शिर की **रक्तवाहिनियों** में किसी कारण से उत्पन्न क्षीणता से रक्तभार बढ़कर जो शूल होता है, उसको **वातकफजनित शिरःशूल** कहते हैं। शिर के भीतर पित्त, रक्त तथा वायु के प्रकुपित होने से जो शूल होता है, उसे **वातपित्तज शिरःशूल** कहते हैं। इनके अतिरिक्त शिर में अर्बुद के उत्पन्न हो जाने से भी शूल होता है, इसमें भी वात-कफ के प्रकोप की ही प्रधानता रहती है।

✓ **आधुनिक दृष्टिकोण से शिरःशूल—१. अर्धावभेदक**—(Migraine, Hemicrania)—यह वेगों में होने वाला एक भयंकर शिरःशूल है। इसमें कभी-कभी उल्टी (कै) भी हो जाती है।

२. शिरःशूल (Headache)—इसमें मस्तिष्क में वेदना नहीं होती, केवल कपाल के बाहर मांस में वेदना की प्रतीति होती है। कपालान्तर्गत धमनियों में रक्त के अधिक भर जाने, धमनियों के फैल जाने, उनके अधिक स्पन्दन होने तथा रक्तभार (B. P.) के बढ़ जाने आदि अनेक कारणों से यह शूल उत्पन्न होता है।

३. अनन्तवातशूल (Trigeminal Neuralgia)—यह युवावस्था के बाद मस्तिष्क प्रदेश पर थोड़े समय के लिये होने वाला तीव्र वेगयुक्त एक भयंकर शूलरोग है।

४. सूर्यावर्तशूल (Supraorbital Neuralgia)—इसमें पञ्चम मस्तिष्कनाड़ी की शाखा में कभी-कभी दर्द होता है, परन्तु यह दर्द अधिक तीव्र नहीं होता। कभी इसकी उत्पत्ति किसी अन्य सम्बन्धी रोग के उपद्रव के रूप में भी हो जाती है।

५. शिरोभ्रम (Vertigo)—नाम का भी एक रोग देखा जाता है। इसका सम्बन्ध भी मस्तिष्कगत नाड़ी से है।

६. मस्तिष्कार्बुद (Intracranial Tumours)—इंग्लैण्ड में इस रोग को भी मृत्यु के अनेक कारणों में से एक माना जाता है। अमेरिका में हर साल इस रोग से हजारों की मृत्यु होती है। संसार में मनुष्यों में इस रोग से मरने वालों का एक प्रतिशत सुनिश्चित है।

७. मस्तिष्क-विद्रधि (Brain Abscess)—पूयजनित मस्तिष्कावरणशोथ भी मस्तिष्क के भीतर होने वाला एक शोथ है।

८. शिरोभिघात (Head Injuries)—इस स्थिति में मस्तिक का कार्य कुछ समय के लिये बन्द अथवा Paralysed हो जाता है। पर मस्तिष्क की रचना में कोई विशेष क्षति नहीं होती। केवल आघात पहुँचने के कारण शिरोभ्रम एवम् श्वासमन्दता के लक्षण दिखलायी देते हैं। कभी-कभी स्मृतिनाश भी हो जाता है। इनके अतिरिक्त रोगों के उपद्रवजन्य शिरःशूल देखे जाते हैं।

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥१२॥

सिर का परिचय—जिसमें प्राणियों या प्राणधारियों के प्राण आश्रित रहते हैं, जहाँ सभी ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं और जो शरीर के सभी अंगों में उत्तम अंग है, वही शिर कहा जाता है।

वक्तव्य—चेतनामय शुक्र-शोणित का मिश्रण बीज रूप से गर्भ की उत्पत्ति में कारण होता है। आचार्य शौनक का मत है—'गर्भस्य खलु सम्भवतः पूर्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनकः'। सु० शा० अ० ३।३२। किन्तु अन्य आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने भिन्न-भिन्न मत उपस्थित किये हैं। अन्त में धन्वन्तरि का मत जो इसी प्रकरण में दिया गया है, वह सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया गया है। यथा—'सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः'। सु० शा० अ० ३।३२। इसी का अनुमोदन चरक शारीरस्थान अध्याय ६ में किया गया है।

पुनः धन्वन्तरि ने 'शरीरसङ्ख्याव्याकरणं शारीरं' नामक ५ वें अध्याय में अंग-प्रत्यंगों के वर्णन में सबसे पहले 'मस्तक' रूप से सिर का ग्रहण किया है। इसके आगे 'प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं' नामक ६ ठे अध्याय में मर्मस्थानों का वर्णन करते हुए लिखा है—'ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत्'। सु० शा० अ० ६।५। अर्थात् ग्रीवा से ऊपर ३७ मर्म स्थल हैं। इन्हीं को वाग्भट ने ऊर्ध्वजत्रुमर्म कहा है। अ० हृ० शा० अ० ४।२। मर्मस्थलों में आघात लगने पर जितनी शीघ्र मृत्यु होती है, उतनी शीघ्र अन्यत्र आघात लगने पर नहीं होती। अतः '**प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः**', यह वचन सर्वथा आदरणीय है।

श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च—इन्द्रियाँ दो प्रकार की है—१. ज्ञानेन्द्रियाँ और २. कर्मेन्द्रियाँ। चेतनता प्रधान होने के कारण कर्मेन्द्रियों का संचालन भी ज्ञानेन्द्रियाँ ही करती हैं। अत एव ज्ञानेन्द्रियों को ही '**सर्वेन्द्रियाणि**' कहा गया है। वास्तव में यह सिर हमारे शरीर के संचालन के लिये Electrical Key Board के समान है। आज का वैज्ञानिक जगत् इसको 'Vital part of Body' कहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के १५ वें अध्याय में शरीर का वर्णन इस प्रकार किया है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'। इसी को महर्षि वाग्भट ने 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः' रूप में वर्णन किया है। यहाँ पर मूल का अर्थ शिर है, क्योंकि यहीं से सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यंगों को पोषण एवं चेतना प्राप्त होती है। अत एव इसको सभी अंगों में मूल या उत्तम अंग परम्परा से स्वीकार किया जा रहा है।

अर्धावभेदको वा स्यात् सर्वं वा रुज्यते शिरः। प्रतिश्यायमुखनासाक्षिकर्णरोगशिरोभ्रमाः ॥१३॥
अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्याहनुग्रहः। विविधाश्चापरे रोगा वातादिक्रिमिसम्भवाः ॥१४॥

सिर के रोगों का परिचय—अर्धावभेदक = आधासीसी (Migraine or Hemicrania.) अथवा जिससे सम्पूर्ण सिर में पीड़ा (Headache) हो, प्रतिश्याय (Coryza), मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण-

रोग, सिर चकराना (Giddiness) अर्दित (Facial Paralysis) शिर का काँपते रहना, गलग्रह, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह (Lock Jaw), इनके अतिरिक्त वातादि दोषों से और कृमियों से उत्पन्न होने वाले अनेक रोग सिर की सीमा के भीतर होते हैं।

[1]पृथग्दिष्टास्तु ये पञ्च सङ्ग्रहे परमर्षिभिः। शिरोगदांस्ताञ्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ॥१५॥

पाँच प्रकार के शिरोरोगों की प्रस्तावना—इसी अध्याय के ६ ठे श्लोक में जो पाँच प्रकार के शिरोरोग कहे गये हैं उनके अतिरिक्त (अष्टोदरीय नाम के च० सू० १९ वें अध्याय में) जो पाँच शिरोरोग प्राचीन महर्षियों ने संग्रहरूप में कहे हैं, उनको अपने-अपने कारणों और लक्षणों के सहित तुम मुझसे सुनो।

वक्तव्य—'पृथगुद्दिष्टास्तु' के अनुसार च० सू० १९ वें अध्याय में पाँच शिरोरोग ये है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज और ५. क्रिमिज। प्रस्तावना रूप में महर्षि ने अनेक प्रकार के शिरोरोगों में से केवल उक्त पाँचों का ही वर्णन करना यहाँ सिद्धान्ततः स्वीकार किया है।

उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां [2]तीक्ष्णपानात् प्रजागरात्। शीतमारुतसंस्पर्शाद् [3]व्यवायाद्वेगनिग्रहात् ॥
उपवासादभीघाताद् विरेकाद् वमनादति । बाष्पशोकभयत्रासाद्भारमार्गातिकर्शनात् ॥१७॥
शिरोगताः [4]सिरा वृद्धो वायुराविश्य कुप्यति। ततः शूलं महत्तस्य वातात् समुपजायते ॥१८॥

वातज शिरोरोगों का निदान—उच्चस्वर से (क्रोध में या नारेबाजियों में) बोलना, अधिक बोलना, तीक्ष्ण मद्यों को पीना, अधिक जागरण, ठंडी हवा लगना, अधिक मैथुन करना या व्यायाम करना, अधारणीय वेगों को रोकना, उपवास करना, शिरःप्रदेश में चोट लगना, विरेचन, वमन का अधिक होना, आँसुओं को अधिक गिराना, शोक, भय किसी के द्वारा त्रस्त होना, अधिक भारी भार का ढोना, अधिक रास्ता चलना आदि कारणों से जब मनुष्य कृश हो जाता है तो इन कारणों से बढ़ा हुआ वायु शिरोगत सिराओं और धमनियों में प्रवेश करके कुपित हो जाता है, तब उस व्यक्ति के शिर में वातजनित भयंकर शूल उत्पन्न हो जाता है।

निस्तुद्येते भृशं शङ्खौ [5]घाटा सम्भिद्यते तथा। [6]स भ्रूमध्यं ललाटं च तपतीवातिवेदनम् ॥१९॥
[7]बध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येते इवाक्षिणी। घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥२०॥
स्फुरत्यतिसिराजालं स्तभ्यते च शिरोधरा। स्निग्धोष्णमुपशेते च शिरोरोगेऽनिलात्मके ॥२१॥

वातज शिरोरोग के लक्षण—इसमें शंख-स्थलों (कानों की दोनों कनपट्टियों) में तोद (सुई चुभने की-सी पीड़ा) होती है, घाटा (गरदन का पिछला भाग) में फटने की-सी पीड़ा होती है, दोनों भौंहों का मध्य-भाग तथा ललाट (मस्तक) स्पर्श करने पर इतना गरम लगता है, मानो तप रहा हो या तपाया गया हो और वहाँ भयंकर वेदना होती है। दोनों कानों में साँय-साँय आवाज होती है और पीड़ा होती है, आँखें बाहर को निकलती हुई-सी, सिर घूमता हुआ-सा और सिर की सन्धियाँ (जोड़-जोड़) टूट रहे हों ऐसा अनुभव होता है, रक्तवाहिनी शिराओं (Blood vessels) में फड़कन होती है, गरदन अकड़ जाती है जिसको **ग्रीवास्तम्भ** या **मन्यास्तम्भ** कहते हैं। वातज शिरोरोग में स्निग्ध एवम् उष्ण औषध, आहार तथा विहार सुख देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने वातज शिरोरोग के लक्षणों के अन्त में सूत्ररूप में कुछ चिकित्सा का भी निर्देश किया है, जो 'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' की आधार-शिला है। यदि जो शिरोरोग स्निग्ध और उष्ण औषध आदि के सेवन से शान्त हो जाते हैं तो उनको निश्चित रूप से वातिक शिरोरोग कहा जा सकता है। वाग्भट ने वातिक शिरोरोगों में अर्धावभेदक की गणना की है।

---

१. 'पृथग्दृष्टास्तु' ग.।
२. 'तीक्ष्णघ्राणात्' ग.।
३. 'व्यायामा' ग.।
४. 'वैधमनीर्वायु' ग.।
५. घाटा ग्रीवायाः पश्चाद्भागः।
६. 'भ्रुवोर्मध्यं' ग.।
७. 'बध्येते इव बध्येते इत्यर्थः, पीडायुक्तत्वेन' चक्रः। 'बाध्येते' यो.।

कट्वम्ललवणक्षारमद्यक्रोधातपानलैः। पित्तं शिरसि सन्दुष्टं शिरोरोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

पित्तज शिरोरोग का निदान—कटु (कालीमिर्च तथा लाल मिर्चा आदि), अम्ल (आम, इमली आदि), नमकीन पदार्थ अथवा नमक, क्षार (सज्जीखार आदि), मद्य, क्रोध, आतप (घाम) और अग्नि इनके सेवन से दूषित हुआ शिर में स्थित पित्त शिरोरोग का कारण बन जाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त सभी पदार्थ पित्तजनक तथा अधिक सेवन करने पर पित्त प्रकोपक भी होते हैं। यहाँ पर उक्त पदार्थों के अधिक सेवन का ही निषेध है। अन्यथा ये सभी द्रव्य अपने-अपने स्थान पर परम उपयोगी हैं। समय पड़ने पर क्रोध की भी आवश्यकता पड़ती ही है। देखें—'फटाटोपो भयङ्करः'। चाणक्यनीति।

दह्यते रुज्यते तेन शिरः [1]शीतं सुषूयते। दह्येते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते ॥२३॥

पित्तज शिरोरोग के लक्षण—उस शिरःप्रदेश में दुष्ट पित्त द्वारा दाह (जलन) और पीड़ा होती है। आँखें जलती हैं, प्यास लगती है, चक्कर आते हैं तथा पसीना होने लगता है। इस अवस्था में रोगी को शीत अथवा शीतल वस्तुओं की इच्छा होती है।

वक्तव्य—इस पैत्तिक शिरःशूल को पाश्चात्य चिकित्सक बिलियस हेडक (Bilious Headache) कहते हैं। यह रोग उपर्युक्त निदान के अतिरिक्त अजीर्ण, अम्लपित्त, यकृत् विकारों के उपद्रव रूप में भी देखा जाता है। जो प्रायः इन रोगों की शान्ति होने पर स्वयं शान्त हो जाता है।

शीतं सुषूयते—'सु' उपसर्गपूर्वक 'षूङ् प्राणिप्रसवे' दिवादिगणीय धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एक-वचन में—**'सुषूयते'** तथा कर्मणि प्रयोग में भी इस रूप की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ होता है—अधिक उत्पन्न होता है या किया जाता है। आचार्य चक्रपाणि ने 'सुषूयते' का अर्थ जो 'इच्छति' किया है, वह चिन्तनीय है। इसकी अपेक्षा **'सुखायते'** यह पाठ युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

हमारी दृष्टि से—उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—'तेन पैत्तिकशिरोरोगेण दह्यते, रुज्यते शिरःशीतं (शिरसि शीतं=शिरःशीतं, स० तत्पुरुषः) शिरसि शीतम्=आलस्यं, सुषूयते (कर्मणि प्रयोगः) = उत्पद्यते'। अर्थात् उस पित्तज शिरोरोग से शिर में दाह होता है, पीड़ा होती है और आलस्य उत्पन्न हो जाता है। देखें—**'शीतं हिमगुणे क्लीबं शीतलालसयोस्त्रिषु'**। इति मेदिनी। यहाँ 'आलस्य' का तात्पर्य है शिरसम्बन्धी कार्य-कलापों में असमर्थता। शेष स्पष्ट है। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि जहाँ आदि अन्त में कष्ट की चर्चा है वहाँ बीच में 'सुखायते' प्रयोग भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

आस्यासुखैः स्वप्नसुखैर्गुरुस्निग्धातिभोजनैः। श्लेष्मा शिरसि सन्दुष्टः शिरोरोगाय कल्पते ॥२४॥

कफज शिरोरोग का निदान—अधिक सुखपूर्वक बैठे रहने से, सुख से बहुत समय तक सोये अथवा लेटे रहने से, गुरु तथा स्निग्ध (घी या तेल में बने) पदार्थों के भोजन कर लेने से या अधिक भोजन से शिर में स्थित कफ दूषित होकर शिरोरोग का कारण बन जाता है।

वक्तव्य—'स्वप्नसुख'—अधिक देर तक सोना कफ की वृद्धि करता है। अत एव शास्त्र का यह आदेश है कि—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धः, अन्यत्र ग्रीष्मात्'। अर्थात् सभी ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है, केवल ग्रीष्म ऋतु में दिन में सोना चाहिये, क्योंकि इससे कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार आस्या (बैठने का) सुख, गुरुस्निग्ध आदि पदार्थों का सेवन भी है।

शिरो मन्दरुजं तेन सुप्तं स्तिमितभारिकम्। भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथाऽऽलस्यमरोचकः ॥२५॥

कफज शिरोरोग के लक्षण—शिर की सीमा में उक्त कारणों से दूषित हुए कफ द्वारा शिर में हलकी वेदना होती है, ज्ञानेन्द्रियों में सुप्तता (अचेतनता-सी) हो जाती है, शिर में ऐसा अनुभव होता है मानो वह गीले वस्त्र से लपेट दिया हो या उसमें अधिक बोझ रख दिया हो, तन्द्रा (उँघाई), आलस्य और किसी भी कार्य के प्रति अरुचि होती है।

वक्तव्य—कफज शिरोरोग में यदि स्वाभाविक रूप से वमन हो जाय तो लाभ होता है। यह रोग दिन की अपेक्षा रात्रि में बढ़ जाता है। इसमें शीत ऋतु का प्रभाव भी विशेष कष्टकारक होता है। सुश्रुत तथा वाग्भट

---

१. 'शीतं सुषूयते शीतमिच्छति' चक्रः। 'शीतं सुखायते' यो.।

ने भी इसका समीचीन परिचय प्रस्तुत किया है। यह प्रतिष्याय, शोथ, आमाशयिक एवम् गर्भाशय की विकृति के रूप में भी देखा जाता है।

वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद् दाहो मदस्तृषा। कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥२६॥

सन्निपातज शिरोरोग के लक्षण—वात की विकृति से शूल, चक्कर आना कम्पन; पित्त की विकृति से दाह (जलन), मद (शरीर में नशीलापन) तथा बार-बार प्यास लगती है और कफ की विकृति से शरीर में भारीपन, तन्द्रा (उँघाई) ये त्रिदोषज शिरोरोग के लक्षण हैं।

वक्तव्य—जिस रोग में वातादि तीनों दोषों के एक साथ लक्षण दिखलायी दें, उसे त्रिदोषज या सन्निपातज कहते हैं। इसमें भी जिस दोष की अधिकता होती है, उसके लक्षण अधिक दिखलायी देते हैं।

तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसङ्कीर्णभोजनात् । क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते ॥२७॥
ततः शिरसि सङ्क्लेदात् क्रिमयः पापकर्मणः । जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम् ॥२८॥

कृमिजनित शिरोरोग का निदान—तिल, दूध और गुड़ के अधिक सेवन करने से, अजीर्ण स्थिति में पुनः भोजन कर लेने से और स्वभावविरुद्ध या वीर्यविरुद्ध पदार्थों को मिलाकर खाने से, अधिक दोषयुक्त पुरुष के रक्त, कफ तथा मांस में क्लिन्नता (गीलापन) उत्पन्न हो जाती है। उस क्लिन्नता से पापकर्मा (अनिष्ट या अहितकारक कर्मों को करने वाले) पुरुष के शिरःप्रदेश में अनेक प्रकार के कृमि पैदा होकर बीभत्स (घृणा पैदा करने वाले) लक्षणों से युक्त शिरोरोग को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद में शरीर की स्थिति दोष, धातु तथा मलों पर निर्भर है और रोगों के आधार भी ये ही हैं, केवल कुछ ही रोग ऐसे हैं जो क्रिमिजन्य माने गये हैं किन्तु पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान सभी प्रकार के रोगों के उत्पादक क्रिमियों को ही मानता है। आयुर्वेद बाह्य और आभ्यन्तर भेद से क्रिमियों के दो भेद स्वीकार करता है। उक्त पद्य में जिस प्रकार क्रिमियों की उत्पत्ति मानी है, उसका वर्णन धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः। मांसमासगुडक्षीरदधितैलैः कफोद्भवाः ॥ विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि'। सु० उ० अ० ५४। कफज, रक्तज एवम् पुरीषज क्रिमियों के स्वरूप और उनके कार्यों के विस्तृत वर्णन के लिये वाग्भट निदानस्थान अ० १४ देखें।

पापकर्मणः—यहाँ 'पाप' से तात्पर्य है अहित आहार-विहार करना। ऐसे पुरुषों के माथे में कीड़े पड़ जाते हैं। यदि ये कीड़े रक्त में पड़ जाते हैं तो अपना जीवन निर्वाह रक्तचूषण से करते हैं। जिसके कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाने से शिरःशूल होने लगता है और विकृत रूप हो जाने पर ये ही कृमि कुष्ठकारक भी हो जाते हैं। **सङ्क्लेदात्**—क्रिमियों की उत्पत्ति के लिये क्लेद (गीलापन) आवश्यक होता है। **बीभत्सलक्षणम्**—का अभिप्राय घृणित लक्षणों से है, क्योंकि इन्हीं के कारण नाक या कान द्वारा पूय या तत्सम्बन्धित सड़न आने लगती है। कफजकृमि शिरःशूल, छींक और पीनस (जुकाम) को उत्पन्न करने में कारण होते हैं। कभी-कभी ये क्रिमि छींक के साथ बाहर भी निकल पड़ते हैं।

व्यधच्छेदरुजाकण्डूशोफदौर्गन्त्यदुःखितम्[1] । क्रिमिरोगातुरं विद्यात् क्रिमीणां दर्शनेन[2] च ॥२९॥

कृमिजनित शिरोरोग के लक्षण—व्यध (सुई से बिंधने की भांति पीड़ा), छेद (चाकू आदि से काटने की-सी पीड़ा), रुजा (सामान्य पीड़ा), खुजली, शोफ (शोथ या सूजन), दुर्गन्धता, इन लक्षणों से दुःखित और क्रिमियों के लक्षणों से युक्त पुरुष को कृमि रोग से पीड़ित समझना चाहिये।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने सभी शिरोरोगों (भले ही वे प्रतिष्याय आदि किन्हीं कारणों से उत्पन्न हुए हों उन) के निम्नलिखित लक्षणों का पुनः निर्देश इस प्रकार किया है—'भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात् पित्तात् सदाहार्तिकफाद् गुरु स्यात्। सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डू दौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात्' ॥ च० चि० अ० २६।११८। यहाँ पर तन्त्रकार की धारणा है कि क्रिमियों की उत्पत्ति में विभिन्न दोष कारण होते हैं। परन्तु वाग्भट दोषों के सम्मिश्रण से ही क्रिमियों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यथा—'सङ्कीर्णभोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते

१. 'छेदव्यधनरुक्कण्डूशोफदौर्गन्त्यदुःखितम्' इति पा०।
२. 'लक्षणेन' इति पा०।

रुधिरामये। कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः' ॥ अ० हृ० उ० अ० २३। भगवान् धन्वन्तरि का विचार इस प्रकार है—'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः। घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सरक्तं शिरोभितापः क्रिमिभिः स घोरः' ॥ सु० उ० अ० २५।१०। क्रिमिज शिरोरोग के लक्षणों का विशेष विवेचन चरक विमानस्थान अ० ७ में देखें।

महर्षि आत्रेय ने यहाँ जिन **पाँच** शिरोरोगों की प्रतिज्ञा की थी उनके निदान एवं लक्षणों का वर्णन हो चुका है। सुश्रुत में **ग्यारह** और वाग्भट में **दस** शिरोरोगों की चर्चा है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भगवान् आत्रेय इन अतिरिक्त भेदों से अपरिचित थे। उन्होंने चरक चिकित्सास्थान के २६ वें अध्याय में अर्धावभेदक, सूर्यावर्त, अनन्तवात, शंखक, और शिरःकम्प का समुचित वर्णन किया है। इसके आगे अब पाँच प्रकार के हृद्-रोगों का वर्णन प्रस्तुत है।

शोकोपवासव्यायामरूक्षशुष्काल्पभोजनैः[1] । वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम् ॥३०॥

वातज हृद्रोग (Cardiac Diseases) का निदान—शोक (बन्धु या आत्मीयजन की मृत्यु के अथवा धन नाश आदि के कारण उत्पन्न), उपवास (व्रत के दिनों में सर्वथा निराहार रह जाने से), व्यायाम (किसी प्रकार का भी थकावट उत्पन्न करने वाला कार्य), रूखा, सूखा (घी, तेल, मक्खन के बिना) तथा थोड़ा (आवश्यकता से कम) भोजनों के करने से बढ़ा हुआ वायु हृदय में पहुँचकर अत्यन्त पीड़ा को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—वातिक हृद्रोग में होने वाली वेदना के विविध रूपों का वर्णन धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा। निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च' ॥ अर्थात् इसमें हृदय में खिंचाव चुभने की-सी पीड़ा, मथने, काटने, चटकने तथा फाड़ने के समान वेदना होती है। भले ही रोगी के कथनानुसार उपर्युक्त प्रकार का कष्ट होता है किन्तु इसमें वास्तविकता यह है कि जब वायु हृदय के कोष्ठों में प्रविष्ट होकर विकार उत्पन्न करता है तब हृदय के भीतरी स्तरों में वायु के कारण रूखापन और तनाव के कारण हृदय में खरोंश पड़ जाते हैं, या हृदय फट जाता है, जिसके कारण तत्काल मृत्यु हो जाती है। क्योंकि यह (हृदय) प्राणहरमर्म है और चेतनास्थान भी है।

वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता दरः[2] । हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थवेदना ॥३१॥

वातज हृदय रोग के लक्षण—जब हृदय वायु विकार से आक्रान्त होता है, तब हृत्कम्प (हृदय में कँप-कँपी होती है, जिसको Palpitation of Heart कहते हैं।), वेष्टन (लपेटने की-सी पीड़ा), स्तम्भ (जड़ता, हृदय की गति का सहसा रुक जाना), मूर्च्छा, (बेहोशी), शून्यता और दर (भय, त्रास), ये लक्षण होते हैं। भोजन के पच जाने पर अत्यन्त वेदना होती है।

वक्तव्य—'दरः' इसका अर्थ है 'भय'। इसके स्थान में पाठभेद के रूप में 'भ्रमः' देखा जाता है। इसका अर्थ है चक्कर आना'। यदि इसकी यथासमय चिकित्सा नहीं की जाती है तो रोग जैसे जैसे पुराना होता जाता है वैसे वैसे वेदना बढ़ती जाती है। **अत्यर्थवेदना**—अर्थात् न सह सकने लायक कष्ट होता है, यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनैः । मद्यक्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति ॥३२॥

पित्तज हृद्रोग का निदान—उष्ण (गुण, धर्मों द्वारा गरम), खट्टा, नमकीन, खारा, एवम् कटु रस प्रधान (लाल मिर्च) द्रव्यों के भोजन से तथा भली-भाँति भोजन के न पचने से मद्यपान, क्रोध और धूप (घाम, आतप) के अधिक सेवन से शीघ्र ही हृदय में पित्त का प्रकोप हो जाता है।

हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे [3]तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः । तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्तहृद्रोगलक्षणम् ॥३३॥

१. 'शीतरूक्षाल्पभोजनैः' यो.।
२. 'भ्रमः' ग.। 'द्रवः' यो.।
३. 'पित्ताम्लोद्गिरणम्' ग.।

पित्तज हृद्रोग के लक्षण—हृदय में दाह, मुहँ में तीतापन, तीते या खट्टे डकारों का आना, क्लम (सुस्ती या थकावट), प्यास का लगना, मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्करों का आना), और पसीना आना ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—धन्वन्तरि के मत में—'तृष्णोषादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः। धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च' ॥ सु० उ० त० अ० ४३। तृष्णा, प्रादेशिकदाह, चोष, हृदय में थकावट, गला से धुआँ सा निकलना, मूर्च्छा, स्वेद और मुख का बार-बार सूखना ये लक्षण होते हैं। इसका अतिरिक्त विवेचन च० चि० अ० २६ में देखें।

अत्यादानं गुरुस्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम्। निद्रासुखं चाप्यधिकं कफहृद्रोगकारणम् ॥३४॥

कफज हृदय रोग का निदान—गुरु एवम् स्निग्ध पदार्थों का अधिक भोजन, किसी प्रकार की चिन्ता का न करना, किसी प्रकार की चेष्टा (परिश्रम) न करना और अधिक से अधिक सोना (निद्रा सुख) ये कफजनित हृद्रोग के कारण होते हैं।

वक्तव्य—'अत्यादानम्' इसको अलग मानकर कुछ व्याख्याकारों ने 'अधिक भोजन करना' केवल इतना ही अर्थ किया है और गुरु, स्निग्ध को अलग माना है, जो उचित नहीं है। हमारी समझ से यदि वातकारक अथवा पित्तकारक पदार्थों का 'अत्यादान' होगा तो कभी भी कफ की वृद्धि न हो सकेगी, यदि कफ की वृद्धि न हुई तो कफज हृद्रोग की उत्पत्ति ही न हो सकेगी।

हृदयं कफहृद्रोगे सुप्तं स्तिमितभारिकम्। तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृतं यथा ॥३५॥

कफज हृद्रोग के लक्षण—कफ विकार के कारण उत्पन्न हृदयरोग में सोये हुए तथा गीला कपड़ा ओढ़ाये के समान, तन्द्रा (अर्धनिद्रा), अरुचि एवम् पत्थरों के भार से लदे हुए के समान रोगी को अनुभव होता है।

वक्तव्य—उक्त सभी लक्षण कफ की गुरुता और आर्द्रता के हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष लक्षणों को सु० उ० अ० ४३ में देखें।

हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः।
([1]हृद्रोगः कष्टदः कष्टसाध्य उक्तो महर्षिभिः।)

त्रिदोषज हृद्रोग का निदान, लक्षण—वातज, पित्तज, कफज दोषों से उत्पन्न हृदयरोगों के जो निदान एवम् लक्षण कहे गये हैं, उन सबका यदि किसी रोगी में एक साथ सम्बन्ध दिखलायी दे तो उसे त्रिदोषज हृद्रोग कहते हैं। (इस प्रकार का हृद्रोग कष्टदायक होता है, इसको महर्षियों ने कष्टसाध्य बतलाया है।)

वक्तव्य—यद्यपि उक्त आधा श्लोक चक्रपाणि के अनुसार प्रक्षिप्त है किन्तु प्रसङ्गानुसार उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि सभी सन्निपातिक (त्रिदोषज) रोग कष्टकारक और कष्टसाध्य होते ही हैं।

त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ॥३६॥
तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते। मर्मैकदेशे सङ्क्लेदं रसश्चास्योपगच्छति ॥३७॥
सङ्क्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः। मर्मैकदेशे [2]सञ्जाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च ॥३८॥

क्रिमिज हृद्रोग का निदान—त्रिदोषज हृद्रोग में जो मूर्ख व्यक्ति (जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में न हों), तिल, दूध, गुड़ आदि पदार्थों का सेवन करता है, उसके मर्म (हृदय) के किसी एक भाग में ग्रन्थि (गांठ) पैदा हो जाती है और उसमें रसधातु आकर क्लेद (गीलापन) उत्पन्न कर देता है। तदनन्तर उस अजितेन्द्रिय मनुष्य के हृदय के किसी एक भाग में क्लेद के कारण कीड़े पैदा हो जाते हैं। ये क्रिमि धीरे-धीरे सरक-सरक कर (सम्पूर्ण हृदय को) खा जाते हैं।

१. अयमर्धश्लोकश्चक्रासम्मतः।
२. 'ते जाताः' ग.।

तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते। छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जातकण्डूं महारुजम् ॥३९॥
हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम्। त्वरेत जेतुं तं विद्वान् विकारं शीघ्रकारिणम् ॥४०॥

क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण—वह क्रिमिज हृद्रोगी उक्त क्रिमियों द्वारा काटे जाने से हृदय में सुइयाँ चुभाने की-सी वेदना और शस्त्रों से काटने की-सी पीड़ा का अनुभव करता है। इस अवस्था में हृदय में खुजली तथा असह्य पीड़ा होती है। इन लक्षणों से भयानक क्रिमिरोग समझ कर चिकित्साकुशल वैद्य को चाहिये कि वह शीघ्र ही मृत्युकारक इस रोग को शान्त करने का शीघ्र प्रयत्न करे।

वक्तव्य—क्रिमिज हृद्रोग में जो क्रिमि उत्पन्न होते हैं उनका नाम 'हृदयचर' है। देखें—च० वि० अ० ७। १२। अर्थात् हृदय प्रदेश को घूम-घूम कर खा जाने वाले। क्योंकि 'चर' धातु का अर्थ गति और भक्षण दोनों ही है। आगे च० सू० अ० १९ में स्पष्ट रूप से इन क्रिमियों को 'हृदयाद' भी कहा गया है। ये दोनों ही क्रिमि कफज हैं। इसका उल्लेख सुश्रुत उ० त० अ० ४३ में भी उपलब्ध है।

आधुनिक दृष्टि से हृदय का परिचय

गोलाकार रक्तप्रणाली के एक भाग के सामने एक दूसरे पर दोहरा हो जाने के कारण दो कोष्ठकों वाले हृदय की उत्पत्ति हो गयी है ऐसा प्रतीत होता है। गर्भस्थित भ्रूण के उक्त दोनों कोष्ठक अण्डाकार रन्ध्र (Foramen ovale) द्वारा मिले रहते हैं। बाद में ये दोनों कोष्ठक फुफ्फुस द्वारा मिल जाते हैं अर्थात् दाहिने कोष्ठक का रक्त फुफ्फुसीय धमनी (Pulmonary Artery) द्वारा फुफ्फुस में और वहाँ से फुफ्फुसीय सिरा (Pulmonary Veins) द्वारा बायें कोष्ठक में जाने लगता है। इन दोनों कोष्ठकों में से प्रत्येक कोष्ठक एक कपाटी (Valve) द्वारा दो-दो कोष्ठों में बट जाता है। प्रत्येक के उपरी कोष्ठक को ग्राहक कोष्ठ (Auricle or Atrium) और निचले को क्षेपक कोष्ठ (Ventricle) कहते हैं। इस प्रकार इसके दो-दो भेद होते हैं। हृदय के ऊपर का Base वामग्राहक और हृदय का निचला शिखाग्र (Apex) वामक्षेपक कोष्ठ से बना हुआ है। हृदय का ⅔ भाग मध्यरेखा से बाईं ओर एवम् ⅓ भाग मध्यरेखा से दक्षिण की ओर रहता है। हृदय का अगला पृष्ठ अधिकांश दक्षिणक्षेपक कोष्ठ से तथा अगले पृष्ठ का बायां किनारा केवल वामक्षेपक कोष्ठ से बना है।

शिराओं (Veins) में जैसे कपाटियाँ (Valves) रहती हैं, वैसे ही ये नीचे की ओर तो खुलती हैं और उसके संकोच के समय जब रक्त लौटकर वापिस ग्राहक कोष्ठ (Auricles) में जाने लगता है तो ये बन्द हो जाती हैं। दाहिने कोष्ठक में विद्यमान कपाटी को Tricuspid Valve तथा छिद्र को Tricuspid Ring कहते हैं। बायें कोष्ठक के बीच की कपाटी को Biscuspid or Mitral Valve तथा छिद्र को Biscuspid or Mitral Ring कहते हैं। हृदय अपनी स्वाभाविक (Inherent) संकोचशक्ति द्वारा रक्त को फुफ्फुस धमनी (Pulmonary Artery) से फुफ्फुस में और महाधमनी (Aorta) द्वारा शरीर में पहुँचाता है, जहाँ पहले यह सूक्ष्म धमनियों (Arterioles) और फिर केशिकाओं (Capillaries) के माध्यम से फुफ्फुस और शरीर के अवयवों में फैलाता है, तदनन्तर यह उन अवयवों में से पहले सूक्ष्म सिराओं (Venules) और फिर स्थूल सिराओं (Veins) द्वारा लौटकर बायें हृदय में फुफ्फुस सिरा (Pulmonary Veins) द्वारा एवम् दक्षिण हृदय में महाशिरा (Superior Veins) और निम्नमहाशिरा (Inferior Vena Cava) द्वारा लौट जाता है। रक्तवाहिनियों में विद्यमान सहजशक्ति रक्त के लौट कर जाने में एक प्रमुख कारण है। इस प्रकार हृदय तथा रक्तवाहिनियों के मांस में रहने वाला रक्त उक्त प्रेरकशक्ति द्वारा सम्पूर्ण शरीर में संचार करता हुआ अंग-प्रत्यंगों को आक्सीजन, ग्लूकोज आदि आहारद्रव्यों (जीवनोपयोगी तत्वों) आदि को पहुँचाता है तथा उनमें पैदा होने वाले विषैले द्रव्यों को वृक्क, फुफ्फुस तथा त्वचा में पहुँचा कर शरीर से बाहर निकाल देता है।

हृदय में उत्पन्न होने वाला संकोच (Systole) जो एक मिनट में लगभग ७२ या ७५ बार होता है तथा जिसमें २-३ औंस रक्त प्रत्येक बार में आगे फेंका जाता है, Sinoauricular से आरम्भ होता है। जब एक मिनट में ७५ के स्थान पर हृदयस्पन्दन ८० या ९० बार होने लगता है, तब प्रत्येक चक्र कम समय में होने लगता है परन्तु काल तो उतना ही रहता है। इसलिये हृदय के विश्रामकाल (Diastole) में कमी हो जाती है। संकोचकाल में हृदयमांस के संकुचित होने से हृदय का प्रथम शब्द 'लुब' (Lubc) जैसा उत्पन्न होता है जो

दूसरे शब्द 'डप' (Dup) से लम्बा होता है। यह नाड़ी एवम् मांसमय अवयव तन्त्रिकापेशी (Neuro-muscular Tissue) की बनी हुई एक ग्रन्थि है जो ऊर्ध्व महाशिरा (Superior Vena Cava) के दक्षिण ग्राहककोष्ठ (Right Auricle) में प्रवेशस्थान के समीप अन्तस्तर (Endocardium) के नीचे होती है। उसमें प्रत्येक हृदय आवेग (Impulse) गति को नियमपूर्वक आरम्भ करने की शक्ति होती है, अतः इस Sinoartial ग्रन्थि को Pace Maker भी कहते हैं। इस ग्रन्थि को रक्त की प्राप्ति दक्षिण परिहृद् (Right Coronary) धमनी से निकलने वाली एक शाखा द्वारा होती है। दक्षिण ग्राहककोष्ठ (Right Auricle) के Interatrial Septum के अन्तस्तर के भीतर हृद् शिरानाल (Coronary Sinus) के सामने एक और ग्रन्थि होती है, जिसे अलिन्द-निलय पर्व (Auriculoventricular Node) कहा जाता है। इसमें दाहिनी हृद् धमनी (Coronary Artery) की अन्तिम शाखाओं से रक्त पहुँचता है। इसमें से अलिन्द-निलय पूलिका (Auriculoventricular Bundle) निकल कर नीचे दोनों क्षेपक कोष्ठों (Ventricles) के बीच की दीवार के नीचे उतरता है और वहाँ दाहिनी तथा बाईं शाखाओं (Righl and Left Branches) में विभक्त हो जाती है। इनमें से प्रत्येक शाखा परकिंजे तन्तु (Purkinje Fibres) के रूप में अन्तःस्तर (Endocardium) के नीचे हृदय मांस में फैल जाती है। दाहिने शाखा पट (Septum) के दाहिनी ओर दाहिने क्षेपक में और Papillary मांसपेशियों में तथा बायें शाखा पट (Septum) के बायीं ओर बायें क्षेपक में फैल जाती है। हृदय-संकोच-गति को ले जाने वाले ये सूत्र हृदय में व्याप्त हैं। इनको विशेषतः हृदय धमनियों द्वारा रक्त प्राप्त होता है। दोनों ग्राहक कोष्ठों के एवम् दोनों क्षेपक कोष्ठों के मांससूत्र Syncyteal arrangement द्वारा परस्पर मिले होते हैं परन्तु ग्राहक एवम् क्षेपक कोष्ठकों के पृथक्-पृथक् मांससूत्रों को आपस में जोड़ने वाले ये ही नाड़ीसूत्र होते हैं।

हृदयसंकोच के बाद जब हृदय का विश्रामकाल आरम्भ होता है, तब वहाँ दबाव के कम हो जाने से जब रक्त महाधमनी (Aorta) तथा फुफ्फुस धमनी (Pulmonary Artery) में से वापस जाने लगता है, तब इन धमनियों के मुख में विद्यमान कपाटियाँ (Aortic & Pulmonary Valves or Semilunar Valves) एकाएक बन्द हो जाती हैं और तन जाती हैं, जिससे हृदय का दूसरा शब्द 'डप' (Dup) उत्पन्न होता है। यह प्रथम शब्द की अपेक्षा ऊँचाई में ऊँचा और लम्बाई में छोटा होता है। इन दोनों का काल कुल मिलाकर ४ सेकंड का होता है।

हृदय की दीवार मांससूत्रों (Myocardium) से बनी हुई है। जिसमें नियमित संकोच (Rhythmic Contraction) करने का स्वाभाविक गुण है। Sino Auricular Node प्रदेश के मांस में ७२ बार, धमनी (Auricle) के मांस में ६० बार और निलय (Ventricle) के मांस में २५ बार प्रति मिनट संकोच करने का स्वाभाविक गुण होता है। जो भाग सबसे अधिक बार संकोच करता है, हृदय का उसी के अनुसार तब तक संकोच होता है, जब तक कि संकोच वाहकमार्ग के सूत्र ठीक रहते हैं। क्योंकि निलय (Ventricles) इसी मार्ग द्वारा धमनी (Auricles) से सम्बन्धित हैं। यदि इन सूत्रों में थोड़ा-सा भी Fibrosis हो जाय तो हृदय में चेष्टावैषम्य हो जाता है। भीतर की ओर अन्तर्हृद्कला (Endocardium) से ढका हुआ है, जो कि एक पतली पारदर्शक चिकनी तह से तथा स्नायुतन्तु (Connective Tissue) और लचकीले सूत्रों (Elastic Fibres) की तह पर पड़े हुए Endothelial cells से बनी हुई है। हृदय के बाहर की ओर हृदयावरण (Pericardium) से जो भीतर Fibrous Pericardium से बना हुआ एवं ढका हुआ है, इन दोनों के बीच में थोड़ा अवकाश होता है, जिसमें आधा औंस के लगभग Pericardial Fluid भी रहता है। यह [illegible]रण हृदय को अधिक फैलने से रोकता है। यहाँ तक पाश्चात्य मतानुसार हृदय के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

आयुर्वेद के मत से वह अधोमुख पुण्डरीक (कमल) के सदृश है। यद्यपि दूसरे आचार्य इसमें होने वाले हृद्रोग के अन्य कारणों का भी उल्लेख करते हैं किन्तु महर्षि आत्रेय के अनुसार वह त्रिदोषज हृद्रोग अपथ्य सेवन करने वाले व्यक्ति को ही होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे संहिताकारों का वचन अमान्य है।

त्र्युल्बणैश्चोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥४१॥

तेरह प्रकार के सन्निपात—त्र्युल्बण (दो दोषों की अधिकता) से तीन प्रकार के और एकोल्बण (एक

दोष की अधिकता) से तीन अर्थात् (३+३ = ६) इन दोनों भेदों का योग करके छः प्रकार का, तथा हीन, मध्य, अधिक भेद से इनके पुनः छः भेद होते हैं एवम् समान रूप से बढ़े हुए दोषों (वात, पित्त, कफ) से एक प्रकार का। इस प्रकार इसके १३ भेद होते हैं।

वक्तव्य—इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

दोषों के मान-विकल्प के अनुसार ६२ व्याधियाँ—

प्रथम ३ भेद (द्युल्बण दोषज)

१. कफवृद्ध वात-पित्त ये दोनों अधिक वृद्ध,
२. पित्तवृद्ध वात-कफ ये दोनों अधिक वृद्ध,
३. वातवृद्ध कफ-पित्त ये दोनों अधिक वृद्ध,

द्वितीय ३ भेद (एकोल्बण-दोषज)

१. पित्त-कफ वृद्ध किन्तु वात अधिक वृद्ध,
२. वात-कफ वृद्ध किन्तु पित्त अधिक वृद्ध,
३. वात-पित्त वृद्ध किन्तु कफ अधिक वृद्ध,

हीन, मध्य, अधिक भेद से ६ भेद

१. वातवृद्ध पित्तवृद्धतर कफवृद्धतम,
२. वातवृद्ध कफवृद्धतर पित्तवृद्धतम,
३. पित्तवृद्ध कफवृद्धतर वातवृद्धतम,
४. पित्तवृद्ध वातवृद्धतर कफवृद्धतम,
५. कफवृद्ध वातवृद्धतर पित्तवृद्धतम,
६. कफवृद्ध पित्तवृद्धतर वातवृद्धतम,

समवृद्ध दोषों से १ भेद—

१. वात→ पित्त→ कफ समवृद्ध,

अर्थात्—३+३ = ६+६ = १२+१ = १३

संसर्गे नव षट् तेभ्य[1] एकवृद्धया समैस्त्रयः[2]। पृथक् त्रयश्च तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ॥४२॥

अन्य भेद—संसर्ग से दो दो दोषों के मिश्रण से ९ प्रकार की और पृथक्-पृथक् दोषों की वृद्धि से एक दोषज तीन प्रकार की व्याधियाँ होती हैं। इस प्रकार इन (यहाँ तक) की संख्या पचीस होती है।

वक्तव्य—उक्त पद्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित है।

संसर्ग से द्विदोषज ६ व्याधियाँ—

१. वातवृद्ध	पित्तवृद्धतर।	२. पित्तवृद्ध	वातवृद्धतर।
३. कफवृद्ध	पित्तवृद्धतर।	४. पित्तवृद्ध	कफवृद्धतर।
५. वातवृद्ध	कफवृद्धतर।	६. कफवृद्ध	वातवृद्धतर।

उक्त ६ भेद एक दोष की अधिकतर वृद्धि के कारण होते हैं। दोनों दोषों की समान वृद्धि से ३ भेद—

१. वात-पित्त दोनों समवृद्ध,
२. वात-कफ दोनों समवृद्ध,
३. कफ-पित्त दोनों समवृद्ध,

} संसर्गज व्याधियाँ ६+३ = ९

एक दोषज व्याधियों के ३ भेद—

१. वातवृद्ध। २. पित्तवृद्ध। ३. कफवृद्ध।

कुलयोग—सन्निपातज १३+द्विदोषज ९+एकदोषज ३ = २५।

यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः।

क्षीण हुए दोषों के कारण व्याधियों के २५ भेद—जिस प्रकार (ऊपर) दोषों के वृद्ध होने के कारण व्याधियों के २५ भेद कहे गये हैं। उसी प्रकार दोषों के क्षीण होने से भी व्याधियों के पचीस भेद होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद में दोषों की साम्यावस्था की ही 'स्वस्थ' उपाधि है। इससे कम तथा अधिक होना रोग का कारण है। इसी दृष्टि से दोषवृद्धि का वर्णन करने के पश्चात् अब क्षीण दोषों की चर्चा भी उसी क्रम से की गयी है। यथा—१३ सन्निपातज, ९ द्विदोषज, और ३ एकदोषज।

१. 'संसर्गेण नवैते षट्' ग.।
२. 'समैस्त्रय इति वृद्धैः समैः' चक्रः।

क्षीणदोषज सन्निपात के १३ भेद—

अतिक्षीण दो दोषों के ३ भेद—

१. वातक्षीण	किन्तु	पित्त-कफ	अतिक्षीण।
२. पित्तक्षीण	,,	वात-कफ	अतिक्षीण।
३. कफक्षीण	,,	वात-पित्त	अतिक्षीण।

अतिक्षीण एकदोष के ३ भेद—

१. वात-पित्त क्षीण	किन्तु	कफ	अतिक्षीण।
२. वात-कफ क्षीण	किन्तु	पित्त	अतिक्षीण।
३. कफ-पित्त क्षीण	किन्तु	वात	अतिक्षीण।

हीन, मध्य, अधिक के भेद से ६—

१. कफ-क्षीण	पित्तक्षीणतर	वातक्षीणतम।
२. वात-क्षीण	कफ क्षीणतर	पित्तक्षीणतम।
३. पित्तक्षीण	कफ क्षीणतर	वात-क्षीणतम।
४. कफ-क्षीण	वात क्षीणतर	पित्त क्षीणतम।
५. वातक्षीण	पित्त क्षीणतर	वात क्षीणतम।
६. पित्त-क्षीण	वात क्षीणतर	कफ क्षीणतम।

तीनों दोषों के समान क्षीण होने से १ भेद—

१. वात–पित्त–कफ समक्षीण। अर्थात् ३+३+६+१ = १३ भेद।

संसर्गजों (द्विदोषजों) के प्रथम ६ भेद—

१. वात-क्षीण,	पित्त-क्षीणतर।
२. पित्त-क्षीण,	वात-क्षीणतर।
३. वात-क्षीण,	कफ-क्षीणतर।
४. कफ-क्षीण	वात-क्षीणतर।
५. कफ-क्षीण	पित्त-क्षीणतर।
६. पित्त-क्षीण	कफ-क्षीणतर।

दो दोषों के समक्षीण होने पर ३ भेद—

१. वात-पित्त	समक्षीण।	संसर्गज व्याधियाँ ६+३ = ९।
२. वात-कफ	समक्षीण।	
३. पित्त-कफ	समक्षीण।	

एकदोषज क्षीण भेद से ३—

१. वात-क्षीण। २. पित्त-क्षीण। ३. कफ-क्षीण।

इस प्रकार क्षीण दोषज व्याधियाँ १३+९+३ = २५ होती हैं। उपर्युक्त भेदों के सहित यहाँ तक ५० भेदों का वर्णन हो चुका है।

वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प [1]उपदेक्ष्यते ॥४३॥
वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य सङ्क्षयः। द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः [2] ॥४४॥

१. 'उपदिश्यते' यो.।

२. 'व्याधीनां द्व्यधिका षष्टिरित्युक्तं विवृणोति–द्व्युल्बणैकोल्बणैरिति। वृद्धैर्दोषैः पञ्चविंशतिर्व्याधयो भवन्ति। तद्यथा—सन्निपाते त्रयोदश, संसर्गे नव, पृथक् त्रयश्चेति; द्व्युल्बणैकोल्बणैर्दोषैः षट्, सन्निपतितानां दोषाणां मध्ये द्वयोरतिशये त्रयः, एकस्यातिशये त्रयः, इति द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट्; हीनमध्याधिकैः सन्निपतितैः षट्; समैः तुल्यवृद्धैर्दोषैश्चैकः, इति सान्निपाताः त्रयोदश; तथा च–कफः वृद्धः वातपित्ते अधिकवृद्धे १, पित्तं वृद्धं वातकफावधिकवृद्धौ २, वातो वृद्धः पित्तकफावधिकवृद्धौ ३, इति द्व्युल्बणैस्त्रयः; पित्तकफौ वृद्धौ वातोऽधिकवृद्धः १, वातकफौ वृद्धौ पित्तमधिकवृद्धं २, वातपित्ते वृद्धे कफोऽधिकवृद्धः ३, इति एकोल्बणैस्त्रयः; वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं श्लेष्मा वृद्धतमः १, वातो वृद्धः श्लेष्मा वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम् २, पित्तं वृद्धं श्लेष्मा वृद्धतरः वातो वृद्धतमः ३, पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः श्लेष्मा वृद्धतमः ४, श्लेष्मा वृद्धो वातो वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम् ५, श्लेष्मा वृद्धः पित्तं वृद्धतरं वातो वृद्धतमः ६, इति हीनमध्याधिकैः षट्, तुल्यवृद्धा वातपित्तश्लेष्माण इति समैरेकः। संसर्गेण नव। तत्र एकवृद्धया षट्, समैश्च त्रयः। संसृष्टयोर्दोषयोर्मध्ये एकस्य वृद्धया अतिशयेन षट्। तद्यथा–वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरम् १, पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः २, श्लेष्मा वृद्धः पित्तं वृद्धतरम् ३, पित्तं वृद्धं श्लेष्मा वृद्धतरः ४, वातो वृद्धः श्लेष्मा वृद्धतरः ५, श्लेष्मा वृद्धो वातो वृद्धतरः ६, इति एकवृद्धया षट्। समैर्दोषयोः समानवृद्धया त्रयः; तद्यथा–वातपित्ताभ्यां वृद्धाभ्यामेकः, वातश्लेष्मभ्यां वृद्धाभ्यां द्वितीयः, पित्तश्लेष्मभ्यां वृद्धाभ्यां तृतीयः, इति संसर्गेण नव। पृथग् व्यस्तैर्वृद्धैस्त्रयः; तद्यथा–वातो वृद्धः, पित्तं वृद्धं, श्लेष्मा वृद्धः, एवं वृद्धैः पञ्चविंशतिः।

वृद्धि तथा क्षय के प्रभाव से १२ भेद—सन्निपात में एक साथ दोषों के वृद्धि एवम् क्षय से होने वाले एक दूसरे विकल्प का उपदेश यहाँ किया जाता है। यथा—एक की वृद्धि, एक की समता और एक का क्षय। दो दोषों की वृद्धि, एक दोष का क्षय, एवम् एक दोष की वृद्धि दो दोषों का क्षय।

वक्तव्य—उक्त विवेचन का स्पष्टीकरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक साथ वृद्ध, सम, क्षय के ६ भेद—

१. वातवृद्ध	पित्तसम	कफक्षीण।
२. वातवृद्ध	कफसम	पित्तक्षीण।
३. पित्तवृद्ध	कफसम	वातक्षीण।
४. पित्तवृद्ध	वातसम	कफक्षीण।
५. कफवृद्ध	पित्तसम	वातक्षीण।
६. कफवृद्ध	वातसम	पित्तक्षीण।

एक साथ दो की वृद्धि एक का क्षय के ३ भेद—

१. कफपित्त वृद्ध	और	वात क्षीण।
२. वात-कफ वृद्ध	और	पित्त क्षीण।
३. वात-पित्त वृद्ध	और	कफ क्षीण।

एक साथ एक की वृद्धि दो का क्षय के ३ भेद—

१. वात वृद्ध	और	कफ-पित्त क्षीण।
२. पित्त वृद्ध	और	वात-कफ क्षीण।
३. कफ वृद्ध	और	वात-पित्त क्षीण।

इस प्रकार चरक के मत से दोषों के विकल्प के अनुसार व्याधियों के २५+२५+१२ = ६२ भेद होते हैं। यही भगवान् धन्वन्तरि का भी अभिमत है। यथा—'द्विषष्टिधा भवन्त्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः' ॥ सु० उ० तं० अ० ६६।९। इसी का आगे चलकर इस प्रकार समर्थन किया है—'त्रय एव पृथग् दोषा द्विशो नव समाधिजैः। त्रयोदशाधिकैकद्विसममध्योल्बणैस्त्रिशः ॥ पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः। क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षीणवृद्धैस्तथाऽपरैः। द्वादशैवं समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा' ॥ सु० उ० तं० अ० ६६।११-१२ ॥

महर्षि वाग्भट का मत इस प्रकार है—'वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः। पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ॥ त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्यातिशायने। त्रयोदश समस्तेषु षड्द्व्येकातिशयेन तु ॥

वृद्धया पञ्चविंशतिमुक्त्वा क्षयेऽपि पञ्चविंशतिं दर्शयति--यथेत्यादि। यथा वृद्धैर्दोषैः पञ्चविंशतिस्तथा क्षीणैरपि पञ्चविंशतिविकाराः स्युः। सन्निपाते त्रयोदश, संसर्गे नव, पृथक् त्रयश्चेति। तद्यथा—वातः क्षीणः पित्तश्लेष्माणावतिक्षीणौ १, पित्तं क्षीणं वातश्लेष्माणावतिक्षीणौ २, श्लेष्मा क्षीणः वातपित्ते अतिक्षीणे ३ इति क्षीणानां सन्निपतितानां मध्ये द्वयोरतिशये त्रयः। वातपित्ते क्षीणे श्लेष्मा अतिक्षीणः १, पित्तश्लेष्माणौ क्षीणौ वातोऽतिक्षीणः २, वातश्लेष्माणौ क्षीणौ पित्तमतिक्षीणम् ३, इति एकस्यातिशये त्रयः। श्लेष्मा क्षीणः पित्तं क्षीणतरं वातः क्षीणतमः १, वातः क्षीणः श्लेष्मा क्षीणतरः पित्तं क्षीणतमम् २, पित्तं क्षीणं श्लेष्मा क्षीणतरो वातः क्षीणतमः ३, श्लेष्मा क्षीणो वातः क्षीणतरः पित्तं क्षीणतमम् ४, वातः क्षीणः पित्तं क्षीणतरं श्लेष्मा क्षीणतमः ५, पित्तं क्षीणं वातः क्षीणतरः श्लेष्मा क्षीणतमः ६, इति हीनमध्याधिकैः षट्। क्षीणा वातपित्तश्लेष्माण इति समैः क्षीणैरेकः। एते त्रयोदश सन्निपाताः। संसर्गेण नव। तत्र क्षीणयोरेकस्यातिशये षट्; तद्यथा—वातः क्षीणः पित्तं क्षीणतरम् १, पित्तं क्षीणं वातः क्षीणतरः २, वातः क्षीणः श्लेष्मा क्षीणतरः ३, श्लेष्मा क्षीणः वातः क्षीणतरः ४, श्लेष्मा क्षीणः पित्तं क्षीणतरम् ५, पित्तं क्षीणं श्लेष्मा क्षीणतरः ६। तुल्यक्षीणाभ्यां त्रयः; तद्यथा—क्षीणे वातपित्ते १, क्षीणौ पित्तश्लेष्माणौ २, क्षीणौ वातश्लेष्माणौ ३, इति संसर्गेण नव। पृथक् त्रयः–वातः क्षीणः १, पित्तं क्षीणम् २, श्लेष्मा क्षीणः ३, एवं क्षीणैः पञ्चविंशतिः।

सन्निपतितानां दोषाणां युगपद्वृद्धिक्षयकृतोऽन्यो विकल्पो भेद उपदिश्यते। तमेव विकल्पं दर्शयति—वृद्धिरिति। एकस्य वृद्धिः, एकस्य समता, एकस्य च सङ्क्षयः। वातो वृद्धः पित्तं समं श्लेष्मा क्षीणः १, वातो वृद्धः श्लेष्मा समः पित्तं क्षीणम् २, पित्तं वृद्धं वातः समः श्लेष्मा क्षीणः ३, पित्तं वृद्धं श्लेष्मा समः वातः क्षीणः ४, श्लेष्मा वृद्धः वातः समः पित्तं क्षीणम् ५, श्लेष्मा वृद्धः पित्तं समं वातः क्षीणः ६। द्वन्द्ववृद्धिः द्वयोर्वृद्धिः, एकस्य च क्षयः, अत्रापि षट्; तद्यथा—श्लेष्मपित्ते वृद्धे वातः क्षीणः १, श्लेष्मवातौ वृद्धौ पित्तं क्षीणम् २, वातपित्ते वृद्धे श्लेष्मा क्षीणः ३, इति द्वन्द्ववृद्धया एकस्य क्षयेण त्रयः। श्लेष्मा वृद्धः वातपित्ते क्षीणे १, पित्तं वृद्धं श्लेष्मवातौ क्षीणौ २, वायुर्वृद्धः पित्तश्लेष्माणौ क्षीणौ ३, इति एकवृद्धया द्वयोः क्षयेण त्रयः। वृद्धैः पञ्चविंशतिः क्षीणैः पञ्चविंशतिरिति पञ्चाशत वृद्धिक्षयसमताकृताः षट् वृद्धिक्षयकृताश्च षट्, एवं द्विषष्टिः।' इति चरकोपस्कारे **योगीन्द्रनाथसेनः।**

एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् । पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ॥ एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट् । एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्ययया‌ऽपि ते ॥ भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः त्रिषष्ठः स्वास्थ्यकारणम् । अ० हृ० सू० अ० १२।७४-७७ ।

आचार्य डल्हण ने 'अत्र सौश्रुते तन्त्रे षट्स्थानेषु प्रोक्ता रोगाः श्लोकैः अभिधीयन्ते' ऐसा लिखकर चालीस श्लोकों में सुश्रुतोक्त रोगों की विस्तृत गणना उपस्थित की है। यथा—'एवं हि सौश्रुते तन्त्रे काशिराजेन कीर्तिताः। रोगाणां तु सहस्रं यत् शतं विंशतिरेव च' ॥ डल्हण ।

वाग्भट के मत में दोषों के असंख्य भेद होते हैं—'संसर्गाद् रसरुधिरादिभिस्तथैषां, दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः । आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान् जानीयादवहितमानसो यथास्वम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।७८।

विशेष वक्तव्य—जैसे पञ्चमहाभूतों के संयोग विशेष से हरीतकी, गेहूँ, पारद, गन्धक आदि अनेक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, वैसे वातादिदोषों रस-रक्त आदि धातुओं तथा मल-मूत्र आदि के संयोग विशेष से अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। उन रोगों में दोषादि के विषय संयोग को यथासम्भव समझने का प्रयत्न करना चाहिये। सामान्यतः दोषों के विषम संयोग उक्त प्रकार से ६२ प्रकार के होते हैं। और एक होता है समसंयोग, जो स्वस्थ या नीरोगता का कारण माना जाता है। इसी प्रकार मधुर आदि रसों के भी संयोग विशेष से ६२ भेद होते हैं और एक होता है षड्रस संयोग। इसका वर्णन अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अ० १० श्लोक ४०–४४ में देखें।

दोषों के उपर्युक्त ६२ संयोगों में रसों के ६२ संयोगों का प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार प्रस्तुत किये जारहे हैं—'दोषभेदविकल्पनैः। रोगं विदित्वोपचरेद् रसभेदैर्यथेरितैः॥ भिषक् कर्ताऽथकरणं रसा दोषास्तु कारणम्। कार्यमारोग्यमेवैकमनारोग्यमतोऽन्यथा' ॥ सु० उ० तं० अ० ६६।१३–१४ ॥

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥४५॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य[1] श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥४६॥

एक साथ सम, क्षीण, वृद्धदोष-विकल्पों के लक्षण—जब कफ के क्षीण होने पर प्रवृद्ध (बढ़ा हुआ) वायु प्रकृतिस्थ अर्थात् सम अवस्था में स्थित पित्त को उसके स्थान (पित्ताशय) से लेकर शरीर के जिस-जिस भाग में ले जाता है, तब वहाँ-वहाँ वायु के कारण स्थिर न रह सकने से (अनवस्थित) वह पित्त उस-उस शरीरावयव में भेद (फटने की-सी पीड़ा), दाह (जलन), थकावट तथा दुर्बलता उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—यहाँ भेद तथा श्रम बढ़े हुए वातदोष के एवम् दाह और दुर्बलता पित्त के लक्षण समझने चाहिये। 'मारुतः पित्तं स्थानादादाय विसर्पति'। यह पद्यांश आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार ही है। क्योंकि कफ और पित्त को पंगु (अगतिक) कहा गया है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान पर वायु की सहायता से जाकर अपने लक्षणों को प्रकट करते हैं। ऐसा विचार इस प्रसंग में आगे भी कर लेना चाहिये। इसीलिये दोषों की इस प्रकार स्थानच्युति को आशयापकर्ष कहते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि समपित्त दाहकारक कैसे हो जाता है? उत्तर—हमारे शरीर में पाँच प्रकार के पित्त अपने-अपने स्थानों में स्थिर रहते हैं। वायु से प्रेरित जब यह पित्त अपने स्थान से दूसरे शरीरावयव में पहुँचेगा तो वहाँ यह दूना हो जायगा, फलतः दाह उत्पन्न करेगा। ऐसे अवसरों में प्रवृद्ध वातदोष की ही चिकित्सा करनी चाहिये नकि पित्त की।

[2]प्रकृतिस्थं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली । कर्षन् कुर्यात् तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम्[3] ॥

सम, क्षीण, अधिक दोषविकल्पजनित लक्षण—जब पित्त के क्षीण होने पर अधिक बलवान् वायु

१. 'भवेत्तस्य' ग. ।
२. 'साम्ये स्थितम्' इति पा० ।
३. 'शैत्यस्तम्भनगौरवम्' ग. ।

प्रकृतिस्थ (समभाव में स्थित) कफ को खींचकर शरीर के अवयवों में ले जाता है तो शरीर में शूल, शैत्य अर्थात् रोगी को जाड़ा लगने लगता है, जकड़न और भारीपन मालूम होता है।

वक्तव्य—यहाँ शूल विकृत वायु का लक्षण है तथा शेष कफज विकृतियाँ हैं। यह वायुजनित कफ का प्रकोप है, अतः यहाँ वायु को ही अनुलोम करने का प्रयत्न करे। यह भी आशयापकर्ष ही है।

[1]यदाऽनिलं प्रकृतिगं पित्तं कफपरिक्षये । संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥४८॥

क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण—जब कफ के क्षीण होने पर सम अवस्था में स्थित वायु के स्रोतों को बढ़ा हुआ पित्त रोक देता है, तो जिस स्थान पर वायु रुक जाता है, वहाँ दाह (जलन) और तोद (सुई चुभाने की-सी पीड़ा) होती है।

वक्तव्य—सम अवस्था में स्थित वायु बढ़े हुए दोषों को इधर-उधर ले जाने में समर्थ नहीं होता। अत एव बढ़े हुए पित्त के कारण उसके स्रोतों में रुकावट पैदा हो जाती है। जिससे वह रुके हुए पित्त के स्थान में वायु की सहायता से दाह को उत्पन्न करता है। यहाँ पित्त की चिकित्सा करें।

श्लेष्माणं हि [2]समं पित्तं यदा वातपरिक्षये । [3]सन्निरुध्यात् तदा कुर्यात् सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥४९॥

सम, क्षीण, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण—जब वायु के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ पित्त सम अवस्था में स्थित कफ को रोक देता है तब वह रुका हुआ कफ तन्द्रा (उँघाई), शरीर में भारीपन और ज्वर को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—यहाँ प्रवृद्ध पित्त का लक्षण ज्वर है। तन्द्रा और गौरव कफ के लक्षण हैं। इसमें मूलरूप से पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये।

प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम्[4] । [5]रुन्ध्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं [6]रुजम् ॥

क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण—जब पित्त के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ कफ वायु के मार्ग को रोक देता है तब जिस स्थान पर वायु का अवरोध होता है उस स्थान पर शीतलता, गुरुता (भारीपन) और वायु के कारण पीड़ा होती है।

वक्तव्य—इस विकल्प में पित्त क्षीण, वायु सम और कफ वृद्ध रहता है। अतएव अधिक लक्षण कफ के दिखायी देते हैं और इसमें 'रुजा' लक्षण वायु का है, क्योंकि **'वाताद् ऋते नास्ति रुजा'**, कहीं 'रुजम्' के स्थान पर 'ज्वरम्' पाठ देखा जाता है। अतः यह कफ प्रधान वातज्वर होता है। इसमें कफ को सम करने का प्रयास करना चाहिये। इसी से शीघ्र लाभ होता है। साथ ही साथ पित्तवर्धक उपचार भी आवश्यक है।

समीरणे परिक्षीणे कफः पित्तं समत्वगम्[7] । कुर्वीत [8]संनिरुन्धानो मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥५१॥
निद्रां तन्द्रां प्रलापं च हृद्रोगं गात्रगौरवम् । नखादीनां च पीतत्वं ष्ठीवनं कफपित्तयोः ॥५२॥

क्षीण, सम, वृद्धदोष विकल्प के लक्षण—वायु के क्षीण हो जाने पर समता को प्राप्त पित्त के मार्ग को जब बढ़ा हुआ कफ रोक देता है तो वह पित्त अपने मार्ग के रुक जाने के कारण मन्दाग्नि, शिरःशूल, निद्रा, तन्द्रा, प्रलाप (अण्ट-सण्ट बकना), हृद्रोग, शरीर में भारीपन, नख, नेत्र, त्वचा आदि में पीलापन आ जाता है और रोगी कफ-मिश्रित पित्त को बार-बार थूकता है।

१. 'प्रकृतिस्थं यदा वातम्' ग. ।
२. 'प्रकृतिस्थं कफम्' ग. ।
३. 'निपीडयेत्' इति पा. ।
४. 'प्रकृतिस्थं यदा वातं श्लेष्मा पित्तपरिक्षये' ग. ।
५. 'संनिरुध्यात्तदा कुर्यात्' ग. ।
६. 'ज्वरम्' ग. ।
७. 'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं श्लेष्मा मारुतसंक्षये' ग. ।
८. 'संनिरुध्यात्तदा कुर्यात्' ग. ।

वक्तव्य—इस भेद में वायु क्षीण, पित्त सम तथा कफ बढ़ा हुआ है। फलतः कफज विकारों के ही प्रमुख लक्षणों का ऊपर वर्णन किया गया है। इस प्रकार यहाँ तक एक दोष की वृद्धि, एक दोष का क्षय और एक दोष की समता के ६ भेदों का वर्णन एवम् उनसे होने वाले विकारों का सविधि निर्देश किया गया है।

हीनवातस्य तु श्लेष्मा पित्तेन सहितश्चरन्। करोत्यरोचकापाकौ [1]सदनं गौरवं तथा ॥५३॥
हृल्लासमास्यस्रवणं [2]दूयनं पाण्डुतां मदम्। विरेकस्य च वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ॥५४॥

वातक्षीण और कफ-पित्त वृद्ध के लक्षण—जिस पुरुष के शरीर में वायु क्षीण हो तथा कफ-पित्त की वृद्धि हुई हो तो उसके शरीर में क्षीणवायु बढ़े हुए कफ-पित्त के साथ भ्रमण करता हुआ भोजन के प्रति अरुचि, अनपच, ढीलापन, भारीपन, जी मिचलाना, लार का चूना, मुख आदि भागों में दूयन (दाह का होना), पाण्डुता (पीलापन), मद, विरेचन में विषमता या रुकावट और अग्नि (पाचकाग्नि) का विषम हो जाना, ये लक्षण उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—इसमें वायु तो क्षीण है ही, केवल कफ और पित्त बढ़े हैं अतः अरुचि से लेकर लारचूना तक कफ के और शेष लक्षण पित्त के हैं। विरेचन में विषमता का आजाना वात के क्षीण होने की स्पष्ट सूचना है। इसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्॥ च० सू० अ० १८।

मल-मूत्र का नियमित होना वायु का प्राकृत (स्वाभाविक) कर्म है किन्तु यहाँ 'विरेकस्य हि वैषम्यम्' का स्पष्ट उल्लेख किया है।

हीनपित्तस्य[3] तु श्लेष्मा मारुतेनोपसंहितः। स्तम्भं शैत्यं च तोदं च जनयत्यनवस्थितम् ॥५५॥
गौरवं मृदुतामग्नेर्भक्ताश्रद्धां प्रवेपनम्। नखादीनां च शुक्लत्वं गात्रपारुष्यमेव च ॥५६॥

पित्त क्षीण और कफ-वायु वृद्ध के लक्षण—जिस पुरुष के शरीर में पित्त क्षीण तथा कफ-वायु की वृद्धि हुई हो तो उसके शरीर में क्षीण पित्त, बढ़े हुए कफ-वात के साथ भ्रमण करता हुआ जड़ता, शीतता और सुई के चुभने की-सी पीड़ा अव्यवस्थित रूप से पैदा कर देता है और शरीर में भारीपन, मन्दाग्नि, भोजन के प्रति अरुचि, कंपन (अङ्गों में कँपकपी), नख, नेत्र, मल, मूत्र में सफेदी और रूखापन हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ तोद का सम्बन्ध अनवस्थित पद से है। अतः इसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये। इस स्थिति में 'तोद' का कभी होना अथवा कभी किसी स्थान पर और कभी उसके अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान पर होना। इस अनवस्थित का सम्बन्ध 'स्तम्भ' से भी जोड़ा जा सकता है क्योंकि यह भी वातविकार ही है।

मारुतस्तु कफे हीने पित्तं च कुपितं द्वयम्। करोति यानि लिङ्गानि शृणु तानि समासतः ॥५७॥
भ्रममुद्वेष्टनं तोदं दाहं [4]स्फुटनवेपने। अङ्गमर्दं परीशोषं दूयनं धूपनं तथा ॥५८॥

कफक्षीण और वायु-पित्त वृद्ध के लक्षण—जिस पुरुष के शरीर में कफ क्षीण तथा वात-पित्त की वृद्धि हुई हो तो उसके शरीर में क्षीण कफ बढ़े हुए वात-पित्त के साथ भ्रमण करता हुआ जिन लक्षणों को उत्पन्न करता है, उन लक्षणों को संक्षेप में सुनो—भ्रम (चक्कर आना), उद्वेष्टन (अङ्गों में ऐंठन का होना), तोद, दाह, स्फुटन (फटने की-सी पीड़ा) कंपन, अङ्गमर्द, मुख आदि का सूखना, दाह होना और गले से धुआं निकलने का-सा अनुभव होना।

---

१. 'सदाहं' ग.।
२. 'पाण्डुतां दूयनं तथा' यो.।
३. 'क्षीणपित्तस्य' इति पा.।
४. 'स्फोटनमुत्तमम्' इति पा.।

वक्तव्य—दाह को छोड़कर भ्रम से लेकर अंगमर्द तक के सभी लक्षण पित्तज हैं और शेष लक्षण वातज हैं। यहाँ एक दोष क्षीण और दो दोषों की वृद्धि के उक्त तीन भेदों का वर्णन कर दिया गया है।

वातपित्तक्षये श्लेष्मा स्रोतांस्यपिदधद् भृशम्। चेष्टाप्रणाशं मूर्च्छां च वाक्सङ्गं च करोति हि ॥५९॥

वात-पित्त का क्षय तथा कफवृद्ध के लक्षण—वात और पित्त दोनों के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ कफ स्रोतों के मुखों को भलीभांति ढँककर चेष्टानाश (बेहोशी अथवा किसी अङ्ग विशेष में शून्यता), बेहोशी और वाक्संग (वाणी का रुक जाना), आदि लक्षण उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—कफ का नाम श्लेष्मा भी है। यह स्रोतों में जाकर सट जाता है जिससे उनके मार्ग रुक जाते हैं। इसी कारण उक्त सभी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ से दो दोषों के क्षय और एक दोष की वृद्धि से उत्पन्न होने वाले विकल्पों का वर्णन किया जा रहा है।

वातश्लेष्मक्षये पित्तं देहौजः स्रंसयच्चरेत्। ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम् ॥६०॥

वात-कफ का क्षय तथा पित्तवृद्ध के लक्षण—वात और कफ दोनों के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ पित्त शरीर में संचार करता हुआ ओजस् का नाश करता है और ग्लानि (उत्साहहीनता), इन्द्रियों में असमर्थता, तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), बेहोशी तथा कार्यशक्ति का नाश करता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त समस्त विकार पित्त वृद्धि के स्पष्ट लक्षण हैं।

पित्तश्लेष्मक्षये वायुर्मर्माण्यतिनिपीडयन्। प्रणाशयति संज्ञां च [1]वेपयत्यथवा नरम् ॥६१॥

पित्त-कफ का क्षय तथा वातवृद्ध के लक्षण—पित्त और कफ के क्षीण हो जाने पर बढ़ा हुआ वायु मर्म स्थानों को अत्यन्त पीड़ित करता हुआ होश-हवाश को नष्ट कर देता है अथवा मनुष्य के शरीर में कम्पन (कँप-कँपी) उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—दो दोषों के क्षय तथा एक दोष की वृद्धि के रूप में की ३ विकल्पों का वर्णन किया गया है। यहाँ तक कुल १२ विकल्पों का वर्णन किया जा चुका है। उदाहरणों को क्रमशः देखें। उक्त भेद में समस्त लक्षण बढ़े हुए वायु के हैं।

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥

दोषों के क्षय, वृद्धि, सम को जानने की विधि—बढ़े हुए वातादि दोष यथाबल (जितनी मात्रा में बढ़े होते हैं, तदनुसार) अपने-अपने लक्षणों को प्रकट करते हैं, क्षीण दोष अपने-अपने लिंगों को छोड़ देते हैं और सम दोष अपना-अपना कार्य करते हैं।

वक्तव्य—बढ़े हुए वातादि दोषों के लक्षणों को वैकारिक (विकृति से उत्पन्न) समझें। वातादि के सम-भाव में रहने पर जो लक्षण होते हैं वे ही स्वाभाविक लक्षण कहे जाते हैं। उक्त वैकारिक लक्षणों का वर्णन हम **वातकलाकलीय** नामक १२ वें अध्याय में कर चुके हैं। शेष **महारोगाध्याय** नामक २० वें अध्याय में करेंगे। और दोषों के प्राकृत (सम अवस्था के) कर्म १२ वें तथा १८ वें अध्याय में देखें। इस विषय का विवेचन भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में इस प्रकार है—

'सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति'॥ सु० सू० अ० २१।३८। अर्थात् तीन से अधिक सब भावों से (वायु के लिये रूक्ष आदि, पित्त के लिये उष्ण आदि और कफ के लिये स्निग्ध आदि) या तीन भावों के या दो के या एक ही भाव के संसर्ग होने पर कुपित हुआ दोष क्रुद्ध हुए दोष के साथ लग जाता है। तात्पर्य यह है कि कुछ अनुबन्ध्य और कुछ अनुबन्ध के रूप में मिल जाते हैं। इनमें प्रथम क्रुद्ध दोष को अनुबन्ध्य कहते हैं और जो दोष साथ में मिलता है, उसको अनुबन्ध कहते हैं। अनुबन्ध्य की परिभाषा—प्रधान, व्यक्त लक्षणों वाला रोग अनुबन्ध्य कहा जाता है। अनुबन्ध की परिभाषा—अस्पष्ट लक्षणों वाले रोग को अनुबन्ध कहते हैं। अतएव यह गौण (अप्रधान) माना जाता है। अतः दोषों के परस्पर संसर्ग में जो दोष बलवान् हो उसी की चिकित्सा सबसे पहले करनी चाहिये। चिकित्सा काल में यह भी ध्यान देना

---

१. 'वेपयत्यथ मानवम्' यो.।

चाहिये कि दूसरे दोषों के साथ की जाने वाली चिकित्सा का परस्पर विरोध न हो। यही विधि सन्निपात आदि की चिकित्सा में भी अनुकरणीय है।

वात-पित्त-कफ इन दोषों का परस्पर कोई विरोध नहीं होता। ये परिस्थितिवशात् एक साथ भी रह सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी। यथा—'विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाल्पमवजीयते'। च० वि० अ० १। इसी का समर्थन आगे इस प्रकार किया गया है—'विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषम-धीनिव'॥ च० चि० अ० २६। अर्थ स्पष्ट है।

वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा। क्षयास्तत्रानिलादीनामुक्तं सङ्क्षीणलक्षणम् ॥६३॥

क्षय के अठारह भेद (Eighteen Variety of Kshaya)—वात, पित्त, कफ इन तीनों का क्षय ३, रसादि सात धातुओं का क्षय ७, रसादि सात धातुओं के मलों का क्षय ७ और ओजस् का क्षय १, इस प्रकार क्षय के १८ भेद होते हैं। वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों के क्षय लक्षणों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

वक्तव्य—वातादि तीन दोषों के क्षय लक्षण इसी अध्याय के श्लोक सं० ५३ से लेकर ६३ वें श्लोक तक कह दिये गये हैं। शेष क्षयों का वर्णन इसी प्रसंग में आगे किया जा रहा है।

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति [1]शूल्यते। हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥६४॥

रसक्षय के लक्षण—रस धातु के क्षीण होने पर थोड़ा-सा परिश्रम करने वाले के हृदय में दबाये या हिलाये जाने का-सा अनुभव होता है, ऊँचे या जोरदार शब्दों की सहनशक्ति नहीं रह जाती, हृदय में जल्दी घबराहट होने लगती है, कुछ चुभने की-सी पीड़ा होती है और आँखों के सामने अँधेरा-सा प्रतीत होने लगता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार रसक्षय में हृदय में वेदना, कम्पन, शोष, शून्यता और बार-बार प्यास का लगना ये लक्षण होते हैं। देखें—सु० सू० अ० १५। विशेष—अ० हृ० सू० अ० ११ तथा अ० सं० सू० अ० १९ में क्रमशः सभी प्रकार के क्षयों के विवरणों को देखें।

परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसङ्क्षये।

रक्तक्षय के लक्षण—रक्त धातु के क्षीण होने पर त्वचा में खुरदरापन, फट जाना, मुरझा जाना तथा उसमें रूखापन (स्निग्धता का अभाव) हो जाता है।

वक्तव्य—वास्तव में जब शरीर में रक्त की कमी हो जाती है तो उसकी शिरायें (Blood vessels) ढीली पड़ जाती है। उनमें रक्त भरा हुआ नहीं रहता, फलतः उक्त लक्षण दिखायी देते हैं। इस समय रोगी की इच्छा शीतल तथा अम्ल पदार्थों के सेवन के प्रति जागरूक हो जाती है। यह भी एक रक्तक्षय का ही लक्षण है।

मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ॥ ६५ ॥

मांसक्षय के लक्षण—मांस धातु के क्षीण होने पर विशेष करके चूतड़, गर्दन और पेट सूख जाते हैं। अर्थात् पहले की अपेक्षा पचक जाते हैं।

वक्तव्य—यहाँ '**विशेषेण**' का अभिप्राय यह है कि उक्त शरीरावयवों के अतिरिक्त निम्नलिखित अङ्ग भी सामान्य रूप में सूख जाते हैं। यथा—गाल, होंठ, लिंग (पुरुष तथा स्त्री मूत्रेन्द्रिय) ऊरु, छाती, स्त्रियों के स्तन, कक्षा, पिण्डलियाँ। अर्थात् जिन-जिन अङ्गों में मांस का उभार दिखायी देता है, वे सब सूख जाते हैं और ढीले पड़ जाते हैं।

सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च। लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वं चोदरस्य च ॥६६॥

मेदःक्षय के लक्षण—मेदस् धातु से क्षीण हो जाने पर सन्धियों (जोड़ों) में फटने की-सी पीड़ा, आँखों में ग्लानि (देखने की शक्ति की कमी), शरीर में थकावट और पेट में (पहले की अपेक्षा) कृशता ये सभी लक्षण मेदःक्षय में होते हैं।

---

१. 'दूयते' इति पा.।

वक्तव्य—सुश्रुत तथा वाग्भट ने मेदस् के क्षीण होने पर प्लीहा की वृद्धि हो जाती है, यह एक विशेष लक्षण लिखा है जो वास्तव में देखा भी जाता है। सुश्रुत ने जो 'सन्धिशून्यता, रौक्ष्यं' लिखा है उसका अन्तर्भाव चरक के 'सन्धीनां स्फुटनम्' से हो जाता है। '**मेदुरमांसप्रार्थना**'—अर्थात् मेदस्वी प्राणियों के मांस-भोजन की इच्छा का होना, यह तो स्वाभाविक लक्षण है। क्योंकि लोकव्यवहार में भी जिसके पास जिस वस्तु की कमी होती है, वह उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा रखता ही है।

केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतनं श्रमः। ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥ ६७ ॥

अस्थिक्षय के लक्षण—अस्थि धातु के क्षीण हो जाने पर केश, लोम, नख, दाढ़ी, मूंछ तथा दांत (दूसरी बार आये हुए दांत भी) गिर जाते हैं। शरीर में थकावट और सन्धियों में ढीलापन आ जाता है। ये लक्षण अस्थिक्षय में दिखायी देते हैं।

वक्तव्य—दांत, केश और लोम इनका सीधा सम्बन्ध अस्थि धातु से है, अतएव अस्थि धातु के क्षीण होने पर इनका पतन होता है। अस्थियाँ शरीररूपी भवन के भीतर स्तम्भरूप में विराजमान हैं, फलतः इनके क्षय से शरीर में थकावट, ढीलापन आदि लक्षण हो जाते हैं। अस्थिक्षय का ही एक लक्षण दन्तक्षय भी है, दाँतों का पतन उसकी चरम सीमा है।

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च। प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥६८॥

मज्जाक्षय के लक्षण—मज्जाधातु के क्षीण होने पर रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसकी हड्डियाँ कटी जा रही हों, हड्डियों में दुर्बलता और हलकापन आ गया हो। ऐसा व्यक्ति लगातार वात सम्बन्धी रोगों से पीड़ित रहता है। ये लक्षण मज्जा के क्षीण होने पर पुरुषों में देखे जाते हैं।

वक्तव्य—अस्थियों की शीर्णता को पाश्चात्य चिकित्सक Necrosis of bones कहते हैं। अर्थात् हड्डियाँ गल-गलकर हलकी तथा छिद्रयुक्त हो जाती हैं, अत एव उनमें दुर्बलता और हलकापन आ जाता है। सुश्रुत के मत से ऐसा पुरुष अल्प शुक्रवान् हो जाता है।

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं [1]श्रमः। क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥६९॥

शुक्रक्षय के लक्षण—शुक्रधातु के क्षीण होने पर दुर्बलता, मुख का सूखना, पाण्डुता (पीलापन), शिथिलता, थकावट, नपुंसकता (मैथुन में असमर्थता अर्थात् सहवास के प्रति उत्साह का न होना), मैथुन के समय शुक्र का न निकलना (Aspermia) ये क्षीण शुक्र के लक्षण हैं।

वक्तव्य—धन्वन्तरि के मत में शुक्रक्षय के ये लक्षण हैं—मूत्रेन्द्रिय तथा अण्डकोषों में पीड़ा, मैथुन में असमर्थता या देर में वीर्य का निकलना और थोड़ा सा वीर्य रक्त के साथ निकलना। हमारी धारणा है कि धन्वन्तरि द्वारा कहे गये लक्षण क्षीणशुक्र वाले पुरुष द्वारा किये गये मिथ्यायोग अथवा अतियोग के लक्षण हैं। पाठक ध्यान दें। यदि क्षीणशुक्र वाला पुरुष सहवास के लिये प्रवृत्त ही नहीं होगा तो उक्त लक्षणों का दर्शन सम्भव नहीं हो सकेगा।

यहाँ तक सातों धातुओं के क्षय-लक्षणों का निर्देश कर, अब तन्त्रकार सातों धातुओं के मलों के क्षय-लक्षणों का उल्लेख करेंगे।

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः। रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति ॥७०॥

पुरीष क्षय के लक्षण—पुरीष के क्षीण हो जाने पर वायु रूक्ष पुरुष की आँतों को पीड़ित करता तथा कुक्षि (कोख या उदर) को ऊँचा उठाता हुआ पसलियों की ओर अथवा ऊपर की ओर जाता है।

वक्तव्य—वास्तव में पुरीष के क्षीण हो जाने पर शरीर में रूखापन आ जाता है, इसके कारण वायु कुपित होकर अँतड़ियों में ऐंठन और बार-बार वह कुपित वायु उदर में इधर-उधर घूमता हुआ आध्मान (अफारा) पैदा कर देता है। जब वह ऊपर की ओर को बढ़ता है तो पसलियों तथा हृदय को भी पीड़ित करता है। इसका विशेष विवरण सु० सू० अ० १५ तथा अ० हृ० सू० अ० ११ में देखें।

---

१. 'भ्रमः' ग.।

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च । पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥७१॥

मूत्रक्षय के लक्षण—मूत्र के क्षीण होने पर कष्ट से मूत्र निकलता है। उसका रंग स्वाभाविक नहीं होता
अर्थात् मूत्र विकृत वर्ण का होता है। रोगी को बार-बार प्यास लगती है और मुख सूखता रहता है।

वक्तव्य—वाग्भट ने रक्त सहित मूत्र का निकलना तथा सुश्रुत ने वस्ति प्रदेश में पीड़ा होना ये दो लक्षण
अधिक निर्देश किये हैं, जो प्रसंगानुसार ठीक ही हैं।

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च । विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसङ्क्षये ॥७२॥

नाक, कान, आँख, मुख एवम् रोमकूपों के मलों के क्षय लक्षण—अपने-अपने मलों के क्षीण हो
जाने पर और भी जो मल से स्थान हैं वे सब शून्य (खाली), सूखे और हलके प्रतीत होते हैं या दिखायी देते
हैं। इसी प्रकार मलाशय और मूत्राशय में भी शून्यता तथा लघुता की प्रतीति होती है।

वक्तव्य—दोष, धातु, बल इनसे परिचित होना चिकित्सक के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि 'दोष-
धातुमलमूलं हि शरीरम्'। सु० सू० अ० १५। वास्तव में मलों को मल = मैल अतएव व्यर्थ नहीं समझना
चाहिये क्योंकि ये मल भी शरीर के लिये अथवा जीवन के लिये उतने ही उपयोगी हैं, जितने रस आदि धातु
तथा शरीरस्थित अन्यान्य पदार्थ, भले ही उनकी संज्ञा 'मल' है। इनका समभाव स्वास्थ्य में प्रमुख कारण होता
है। मलों का शरीर में विद्यमान रहना उतना ही आवश्यक है जितना 'दोष' कहे जाने वाले वात आदि का एवं
रस, रक्त आदि धातुओं का।

वृद्धि-क्षय—सन्तर्पण से सबकी वृद्धि किन्तु वात का क्षय होता है और अपतर्पण से सबका क्षय होता है
परन्तु वात की वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में सभी आश्रय एवम् आश्रयी की चिकित्सा समान होती है परन्तु
अस्थि आश्रय एवम् वात आश्रयी की चिकित्सा समान नहीं होती। इसको आप यों समझें—पित्त तथा कफ की
वृद्धि से उत्पन्न रोगों में लंघन से लाभ होता है परन्तु वात की वृद्धि से उत्पन्न रोगों में लंघन से लाभ नहीं होता।
इसी प्रकार पित्त तथा कफ के क्षय से उत्पन्न रोगों में बृंहण से लाभ होता है, परन्तु वायु के क्षय से उत्पन्न रोगों
में बृंहण हानिकारक होता है। अतः समस्त क्षयों में उस-उस धातु को बढ़ाने वाले द्रव्यों का प्रयोग ही
चिकित्सा है।

वृद्धि-क्षय का कारण—'पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० ११।३५।
इसकी पुष्टि सुश्रुत में इस प्रकार की गयी है—'तत्रैषां धातूनाम् अन्नपानरसः प्रीणयिता' ॥ सु० सू० अ० १४।
अर्थात् अन्नपान द्वारा प्राप्त रस सभी धातुओं का प्रीणन, तर्पण, सिञ्चन करता है और 'तेषां क्षय-वृद्धी शोणित-
निमित्ते'।

मलायनों का परिचय—अधोभाग के दो—१ मूत्रमार्ग और १ मलमार्ग। शिरःप्रदेश के मलमार्ग—
२ कर्णविवर, २ नासिका छिद्र, २ नेत्र और १ मुख, इनके अतिरिक्त शरीर में व्याप्त असंख्य स्वेदवाही
स्रोतस्।

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः । दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये ॥७३॥

ओजः क्षय के लक्षण—ओजस् के क्षय हो जाने पर मनुष्य भयभीत रहता है, अत्यन्त दुर्बल हो जाता
है, चिन्तित रहता है, इन्द्रियाँ निस्तेज, अकर्मण्य, पीड़ित, निरुत्साहित-सी रहती हैं, उसकी कान्ति मलिन
हो जाती है, मन दूषित या दुःखी हो जाता है, चेहरा रूखा दिखता है और स्वर क्षीण हो जाता है।

वक्तव्य—रस से लेकर शुक्रपर्यन्त धातुओं का परम तेजस् 'ओजस्' कहा जाता है। वह समस्त शरीर
में व्याप्त होता हुआ भी हृदय में स्थित रहता है। इसका क्षय निम्नलिखित कारणों से होता है—क्रोध, भूख,
चिन्ता, शोक एवम् अधिक परिश्रम आदि विविध प्रकार के कष्ट। सम्पर्क सूत्र—सु० सू० अ० १५।१९-३१। चरक
सू० अ० ३०।८-१४।

हृदि तिष्ठति [1]यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् । ओजः शरीरे सङ्ख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥७४॥

१. 'यच्छुभ्रं' यो.।

ओजस् का लक्षण—जो शुद्ध अर्थात् श्वेत वर्ण का कुछ लाल थोड़ा पीताभ पदार्थ हृदय में रहता है, वह
शरीर में ओज कहा जाता है। उसके नाश होने पर पुरुष का भी विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान के १५ वें अध्याय में ओजस् का वर्णन इस
प्रकार दिया है—ओजस् पदार्थ सौम्य, स्निग्ध, श्वेत, शीतल, स्थिर, सर, निर्मल, श्रेष्ठ गुणों से युक्त, मृदु,
पिच्छिल तथा जीवन का कारण है। यह सम्पूर्ण देह में व्याप्त है। इसके अभाव से प्राणियों के शरीर का
विनाश हो जाता है। इसी को पाश्चात्य चिकित्सक Albumine कहते हैं। कुछ विद्वान् इसको आठवीं धातु
के रूप में स्वीकार करते हैं। सुश्रुतसंहिता में इसको सात धातुओं का परम तेज कहा है। इसी का नाम
'बल' है।

पाश्चात्य विद्वान् डा० बी० डी० हालीबर्टन का मत है कि रक्तमिश्रित ओज क्षारगुणयुक्त होता है। यह
वर्ण में हल्का पीला और इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है। इसमें ९० प्रतिशत भाग जल
और १० प्रतिशत पार्थिवपदार्थ होते हैं। इसमें ८ भाग ओजस् का होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रति १०० बूँद रक्तवारि (Plasma) में ८ बूँद ओजस् के होते हैं। क्योंकि
शरीर में ओजस् का परिमाण आधी अञ्जलि निर्दिष्ट है। आयुर्वेद में आधी अञ्जलि का प्रमाण ८ कर्ष है।

सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ओज को तीन प्रकार का मानते हैं। १. श्वेत, २. तैलवर्ण और ३. क्षौद्रवर्ण।
इसी को चरक में इस प्रकार कहा गया है—'शुद्धम् (सफेद), रक्तम् ईषत्, सपीतकम्'। इसके विपरीत आचार्य
चक्रपाणि ओजस् को केवल श्वेत वर्ण का स्वीकार करते हैं।

हमारे विचार में—हृदयगत साधकपित्त जो रक्त में मिला रहता है अथवा साधकपित्तमिश्रित रक्त
का नाम 'ओजस्' है। अथवा हृदयस्थित अवलम्बक कफ जो रक्त में मिला रहता है, उसका नाम 'ओजस्' है।
ओजस् के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत—१. गुण (बल) एवम् गुणी (द्रव्य) में अभेदोपचार से उसे 'बल'
मानते हैं। जैसे तीन कटुद्रव्यों के संयोग को त्रिकटु कहा जाता है। २. उसे ईषत् (थोड़ा) लोहित पीतक
मानते हैं। ३. उसे 'शुक्ल' मानते हैं। इन निर्णयों को देखकर हमारा विश्वास है कि यह विविधता केवल दृष्टि-
कोण का भेद मात्र है।

आज शवच्छेद के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास रखने वाला सम्प्रदाय इस विषय में मौन है।
क्योंकि शव में उसे इस प्रकार का कोई पदार्थ दृष्टिगत नहीं होता। हमारा विश्वास है कि यह वर्ण्यमान ओजस्
शव में होता ही नहीं या रहता ही नहीं। और जो इस प्रकार का तरल मिलता भी है तो उसे ओजस् मानने
के लिये आज के विद्वान् तैयार नहीं हैं। सत्य यह है कि आत्मा के समान ओजस् भी मृत शरीर में विद्यमान
नहीं रहता! आजकल के चिकित्सक ओजस् को शरीर के Natural Resistance से सम्बद्ध करने लगे हैं।
अर्थात् शारीरिक क्रियाओं में जो स्वाभाविक प्रतिरोध होता है, उसका कारण ओजस् तत्व है। पाठक स्वयं
विचार करें।

[1]प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम् । सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते ॥७५॥

शरीर में ओज की उत्पत्ति का स्वरूप—शरीरधारियों के शरीर में सर्वप्रथम ओजस् की उत्पत्ति
होती है। उसका वर्ण (रंग) घृत के सदृश, रस मधु (शहद) के अनुरूप और गन्ध धान के लावा (खील)
के समान होती है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में सबसे पहले अर्थात् गर्भावस्था में ही ओजस् की उत्पत्ति हो जाती है उस समय
इसका स्वरूप 'सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि' होता है किन्तु जन्म लेने के पश्चात् उस बालक में पूर्वोक्त ओज का
स्वरूप 'शुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्' होता है। इसका विस्तृत विवेचन चरक सूत्रस्थान के 'अर्थे दशमहामूलीय'
नामक ३० वें अध्याय में देखें।

(भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सम्भ्रियते मधु । तद्वदोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः सम्भ्रियते नृणाम्[2] ॥१॥)

१. गङ्गाधरसंमतोऽयं पाठः।

२. योगीन्द्रनाथसेनसंमतोऽयं पाठः।

[जिस प्रकार भौंरे फल-फूलों से मधु का संग्रह करते हैं, उसी प्रकार पुरुषों के शरीरों में अपने कर्मों के उपयोग के लिये अपने-अपने गुणों से ओज का संग्रह होता है ।]

वक्तव्य—'फल-पुष्पेभ्यः' इसके स्थान में अन्यत्र **'सर्वपुष्पेभ्यः'** ऐसा पाठ उपलब्ध है और यही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि 'फल' से पराग या मधु की प्राप्ति नहीं देखी जाती ।

स्वकर्मभ्यः—इसके स्थान पर 'शरीरेभ्यः' यह पाठ चक्रपाणिदत्त ने अपनी 'दीपिका' नामक व्याख्या में दिया है, जो युक्ति-युक्त है । दूसरे टीकाकारों ने कर्म को गुण का अथवा गुण को कर्म का विशेषण मानकर निश्चिन्त होकर व्याख्या कर दी है । ध्यान देना है कि विशेषण और विशेष्य की विभक्ति समान होती है और यहाँ 'स्वकर्मभ्यः' चतुर्थ. विभक्ति है तथा 'गुणैः' तृतीया विभक्ति है ।

यदि हम **'स्वकर्मभ्यः'** इस पाठ को ठीक मानते हैं तो इसका अर्थ इस प्रकार करना होगा—ओजोवर्धक गुणवाले पदार्थों से अपने-अपने कर्मों के लिये ओजस् का संग्रह किया जाता है । यदि हम चक्रपाणिदत्त द्वारा अनुमोदित पाठ को स्वीकार करते हैं, तब ऐसा अन्वय होगा—'एवं नृणां शरीरेभ्यः गुणैः ओजः संह्रियते'। अर्थात् इस प्रकार मानव-शरीरों के लिये तत् तद् गुणविशिष्ट पदार्थों से ओजस् का संग्रह किया जाता है। अस्तु।

स्वकर्मभ्योः गुणैः—इस पद्यांश की संगति भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार इस प्रकार है। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ४६ में श्लोक ५१४ से ५२४ तक गुणों के कर्मों का विस्तृत वर्णन किया है, जो प्रस्तुत प्रसंग में अविस्मरणीय है ।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत के उक्त पाठ में २० गुणों के व्याख्यान की प्रतिज्ञा की गयी थी किन्तु वहाँ २२ गुणों का ही निर्देश किया गया है । वे दो हैं सुगन्ध और दुर्गन्ध । यद्यपि चरक के अनुसार 'सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः । गुणाः प्रोक्ताः' । च० सू० अ० १ । अर्थ, शब्द आदि विषयों को भी गुण कहा जाता है, अतः सुगन्ध, दुर्गन्ध का ग्रहण अनुचित नहीं है । तथापि चरक सू० अ० २५ में आहार के २० ही गुणों को स्वीकार किया है किन्तु इनमें सुगन्ध और दुर्गन्ध गुणों का उल्लेख नहीं है ।

महर्षि आत्रेय ने ओजस् के १० गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्' । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धम् ओजो दशगुणं स्मृतम्' ॥ च० चि० अ० २४।३१ । इन गुणों के वर्णन का तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार के गुणों वाले आहार आदि का सेवन करने से ओजस् की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है । यद्यपि उक्त गुणों वाले पदार्थ विशेष करके ओजोवर्धक होते हैं । जैसे—'मांसान्मांसं प्रवर्धते'। सामान्य रूप से तो जो भी पदार्थ खाया जायगा उसका सार भाग 'ओजस्' होता ही है ।

यहां तक १८ प्रकार के क्षयों का वर्णन कर दिया गया है । इनके अतिरिक्त जो उदकक्षय और स्वरक्षय है, उनकी चर्चा यहाँ नहीं करनी चाहिये । क्योंकि स्वरक्षय का उल्लेख उरो रोग में किया गया है और उदकक्षय भी कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है, अतः इसका विवेचन चरक विमानस्थान अ० ५ में देखें ।

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् । वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥७६॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्[1] । कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥७७॥

क्षयों के कारण—अधिक व्यायाम, अनशन (भूखा रहना), चिन्ता, रूक्ष (तेल-घी से रहित), थोड़ा तथा प्रमित भोजन, तेज हवा एवम् धूप का सेवन, भय, शोक, रूक्षताकारक मद्य आदि का पीना, रात्रि का जागरण, कफ, रक्त, शुक्र और मलों का अधिक मात्रा में निकलना, काल (वृद्धावस्था, जिसमें प्राणिमात्र स्वयं क्षीण हो जाता है), अथवा आदानकाल (आदानदुर्बले देहे) और भूत-प्रेत आदि की बाधा इन कारणों से मानव देह क्षीण हो जाता है ।

वक्तव्य—ऊपर क्षय के जितने कारण बतलाये गये हैं, उनका प्रयोग तो दैनिक जीवन में होता ही है किन्तु उन सबका अधिक प्रयोग वर्जित है । जैसे—**'व्यायाम'** शरीरगठन एवं स्वास्थ्यवृद्धि के लिये आवश्यक है परन्तु इसकी विधि यह है—'प्राक्श्रमात् च विवर्जयेत्' । थकावट होने के पूर्व ही इसका प्रयोग रोक दे। ऐसे ही **'अनशन'** भी है । शरीर को हलका करने वाली विधियों में अनशन (उपवास या भोजन न करना) का

१. 'अतिवर्तनमोक्षणम्' ग. ।

प्रमुख स्थान है किन्तु इसका भी आवश्यकता से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि **'कलौ अन्नगताः प्राणाः'** ।

गुरुस्निग्धाम्ललवणान्यतिमात्रं[1] समश्नताम् । नवमन्नं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ॥७८॥
त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् । श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्तते ॥७९॥
तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति[2] । यदा वस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते ॥८०॥
स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः ॥८१॥

मधुमेह का निदान (Diagnosis of Diabetes) **एवं सम्प्राप्ति**—गुरु (देर में पचने वाले), स्निग्ध (घी, तेल, वसा आदि का स्वतन्त्र सेवन अथवा इनसे बने हुए पदार्थ), अम्ल तथा लवण रस प्रधान द्रव्यों के अधिक खाने से, नये अन्नों के खाने से, ताजी शराब तथा उसके भेदोपभेदों को पीने से, अधिक सोने एवम् बैठे रहने से, व्यायाम तथा चिन्तन (मानसिक व्यायाम) न करने से, वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर की शुद्धि न करने से, मनुष्य का कफ-पित्त, मेदस् और मांस अधिक बढ़ जाते हैं । इन कारणों से वायु के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं फलतः वायु ओजो धातु को लेकर जब वस्ति-प्रदेश में पहुँचता है, तब कष्टसाध्य मधुमेह की उत्पत्ति हो जाती है । इस प्रकार के मधुमेह में वायु, पित्त, कफ इनके विकृत लक्षण बार-बार दिखलायी देते हैं । ये वातादि के लक्षण कभी समाप्त हुए जैसे दिखते हैं किन्तु पुनः ये बढ़ जाते हैं । अथवा उक्त तीनों दोषों में से कभी किसी के लक्षण शान्त हो जाते हैं और कभी किसी के, किन्तु ये पुनः प्रकट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—मधुमेह प्रमेहों की असाध्यावस्था का नाम है । भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाऽप्रतिकारिणः । मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि' ॥ सु० नि० अ० ६।२७ ।

मधुमेह—इस शब्द से मधु के सदृश मूत्र निकलना सिद्ध होता है । यह उत्पत्तिजन्य तथा सहज दोनों प्रकार का असाध्य होता है, शेष की चिकित्सा में लाभ होता है । प्रमेह रोग मूत्रमार्ग का ही रोग नहीं है । इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से है । इसमें शरीर की पोषक धातुओं का क्षय होता है, अतएव मूत्र मलिन तथा अधिक मात्रा में आता है । ये लक्षण शरीर में दोषों के प्रकुपित होने से ही होते हैं । देखें—चरक नि० अ० ४ ।

मधुमेह में शरीर की गर्मी कम हो जाती है । अतएव इसमें जिन पिडकाओं की उत्पत्ति होती है, वे पकती नहीं हैं । ऐसी स्थिति में शरीर की गर्मी को बढ़ाने के लिये ही Insulin (इन्सुलीन) का प्रयोग आधुनिक चिकित्सकों द्वारा किया जाता है ।

आधुनिक दृष्टिकोण और मधुमेह

इसमें रक्त के भीतर ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है । हो सकता है कि मूत्र में इसकी वृद्धि न हो इसलिये इसे अतिग्लूकोज रक्तता (Hyperglycaemia) कहना अधिक उपयुक्त है । इसमें Insulin की उत्पत्ति कम होती है और कार्बोहाइड्रेट्स का परिपचन ठीक ढंग से नहीं होता ।

उपेक्षयाऽस्य [3]जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः । मांसलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु ॥८२॥
शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा । अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी ॥८३॥

सात पिडकाएँ (Seven Inflammatory Swellings)—समय पर यथाविधि मधुमेह की चिकित्सा न करने से अधिक मांस वाले शरीरावयवों, मर्मस्थानों तथा सन्धियों में अत्यन्त कष्टदायक सात प्रकार की पिडकाएँ हो जाती हैं । उनके नाम ये हैं—१. शराविका, २. कच्छपिका, ३. जालिनी, ४. सर्षपी, ५. अलजी, ६. विनता तथा ७. विद्रधि ।

वक्तव्य—उक्त पिडकाएँ वसा एवं मेदस् के कारण दूषित शरीर वाले प्रमेह रोगी के शरीर में उपद्रव रूप में देखी जाती हैं । यद्यपि सभी प्रमेह रोगियों के लिये पिडकाओं का निर्देश है तथापि मधुमेह, वसामेह, इक्षुमेह,

१. 'लवणान्नतिमात्रं निषेविणाम्' ग. । 'लवणं भजतामतिमात्रशः' इति पा. ।
२. 'तैरावृतः प्रसादं च गृहीत्वा याति मारुतः' यो. ।
३. 'भवन्त्युपेक्षया तस्य' यो. ।

तथा मज्जामेह में इनके विशेष दर्शन होते हैं। जैसा कि चरक सूत्रस्थान के 'कियन्तःशिरसीय' नामक १७ वें अध्याय में वर्णित है।

इन पिडकाओं के बारे में प्राचीन संहिताओं में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। इससे यह मान लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि जिसने कम भेद लिखे हैं, वह अल्पज्ञ और जिसने अधिक भेद लिखे हैं, वह विशेषज्ञ था। इसी शंका के निवारणार्थ महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के १०८ से ११० श्लोक तक 'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति' आदि में बिना नाम निर्देश के सब कुछ समझा दिया है। विशेष विवेचन यथास्थान देखें।

प्रमेह पिडकाओं का तुलनात्मक परिचय

क्रम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	भोज	काश्यप
१.	शराविका	शराविका	शराविका	शराविका	शराविका
२.	कच्छपिका	कच्छपिका	कच्छपिका	कूर्मिका	कच्छपिका
३.	जालिनी	जालिनी	जालिनी	जालिनी	जालिनी
४.	सर्षपी	सर्षपी	सर्षपिका	सर्षपिका	सर्षपिका
५.	अलजी	अलजी	अलजी	अलजी	अलजी
६.	विनता	विनता	विनता	—	विद्रधि
७.	विद्रधि	विद्रधिका	विद्रधि	विद्रधि	विनता
८.	—	मसूरिका	मसूरिका	कुलत्थिका	अरूंषिका
९.	—	पुत्रिणी	पुत्रिणी	पुत्रिका	—
१०.	—	विदारिका	विदारिका	विदारी	—

सुश्रुत, वाग्भट तथा भोज ने जिन तीन पिडकाओं का विशेष वर्णन किया है, वे उतनी कष्टकारक नहीं होतीं, ऐसा आचार्य गंगाधर का मत है। किन्तु चरक इन समस्त प्रमेह-पिडकाओं के भेदोपभेदों से सुपरिचित थे। अत एव वे लिखते हैं—**'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति'**। ये सभी प्रमेह-पिडकाएँ उपेक्षा करने से कारवंकल (Carbuncles) के भेद-उपभेदों का रूप धारण कर लेती हैं, जो सरलता से ठीक नहीं हो सकतीं।

आचार्य भोज ने **'मसूरिका'** को **'कुलत्थिका'** (कुलथी) के रूप में स्वीकारा है। इसमें छोटे तथा बड़े आकार मात्र का भेद है, शेष सामान्य।

काश्यपसंहिता में ये पिडकायें बालकों में होती हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है। देखें—'अथ खलु बालानामष्टौ पिडकाः स्वशरीरदोषात् स्वदोषाच्चोत्पद्यन्ते'। काश्यपसं० चि०। और अरूंषिका नाम की पिडका को त्रिदोषज मानकर उसके चार भेद किये हैं। विद्रधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—'विदह्याशु अङ्गं विदीर्यत इति, विद्रधिः' सा बहिरन्तश्चोत्पद्यते, ते चोभे बालानां कृच्छ्रसाध्ये'। काश्यपसं० चि०।

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा [1]क्लेदरुगन्विता। शराविका स्यात् पिडका शरावाकृतिसंस्थिता॥

१. शराविका का लक्षण—जिस पिडका के चारों ओर उभार हो, बीच में गड्ढा जैसा हो, जिसका वर्ण श्याव (Dark-brown), जिसमें क्लेद (गीलापन) और पीड़ा हो उस पिडका को 'शराविका' कहते हैं, इसकी आकृति शराव (सकोरा, पुरवा, कुल्हड) के सदृश होती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी इसका वर्णन प्रायः इसी प्रकार किया है—'शरावमात्रा तद्रूपा मध्यनिम्ना शराविका', सु० नि० अ० ६।१५। शराव की आकृति के कारण ही इसका उक्त नाम है।

अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा। श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडका कच्छपी मता॥८५॥

२. कच्छपिका का लक्षण—जिस पिडका के गहराई में पीड़ा तथा तोद (चुभने की-सी वेदना) हो, ...का घेराव दूसरों की अपेक्षा अधिक हो, जो ऊपर से चिकनी और कछुआ की पीठ के सदृश दिखलायी दे ...से 'कच्छपी या कच्छपिका या कूर्मिका' कहते हैं।

१. 'क्लेदरुजान्विता' इति पा०।

वक्तव्य—आकार के अनुसार ही इन सब का नामकरण हुआ है। सुश्रुत के अनुसार—'सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः'। सु० नि० अ० ६।

स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धास्रावा महाशया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी॥८६॥

३. जालिनी का लक्षण—जो जकड़ी हुई, शिराओं के जाल से घिरी हो, जिसमें चिकना स्राव (पंछा) निकल रहा हो, जिसका आशय (रुग्णस्थान का घेरा) महान् हो, जिसमें पीड़ा एवं तोद बहुत हो और अनेक छिद्र हो गये हों, उसे 'जालिनी' कहते हैं।

वक्तव्य—इस फोड़े के भीतर जाल जैसा फैला होता है। सुश्रुत के मत से—'जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता'। सु० नि० अ० ६। अर्थात् इसमें तीव्र दाह होता है और यह मांस एवं शिराजाल से घिरी रहती है। यहाँ पर सुश्रुत ने जो 'मांस' शब्द का अधिक प्रयोग किया है, इसको चरक के इसी अध्याय में इस प्रकार कहा गया है—'मांसलेष्ववकाशेषु'। अतः इस अंश को सुश्रुत के नाम से विशेष महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पिडका नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा। सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत्॥८७॥

४. सर्षपी का लक्षण—जो पिडका बहुत बड़ी न हो, जल्दी पक जाती हो, अत्यन्त पीड़ा वाली हो और सर्षप (सरसों) की आकृति वाली पिडकाओं से जो घिरी हो, उसे सर्षपी कहते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में यह पिडका पीली सरसों के प्रमाण की अनेक पिडकाओं के एक साथ मिल जाने से ही उत्पन्न होती है। अत एव इसका नाम सर्षपी है। सुश्रुत में इसका वर्णन इस प्रकार है—'गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी'। सु० नि० अ० ६॥

दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा। विसर्पत्यनिशं [1]दुःखाद् दहत्यग्निरिवालजी॥८८॥

५. अलजी का लक्षण—यह पिडका जब उत्पन्न होने लगती है तब उस स्थान की त्वचा में दाह (जलन) होने लगती है, इसमें तृष्णा (प्यास), मोह (बेहोशी) और ज्वर हो जाता है। यह निरन्तर फैलती रहती है और इसमें कष्टदायक दाह होता है, यह अलजी साक्षात् अग्नि के समान होती है। अर्थात् अलजी में अग्नि के समान जलन और विसर्पण होता है। अतएव तृष्णा आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अलजी पित्तप्रधान पिडका है। सुश्रुत में—'रक्ताऽसिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत्'। सु० नि० अ० ६।१८। यह लाल, काली, त्वचा के फटने से छाले के रूपवाली, अत्यन्त कष्टदायक होती है।

अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा। महती विनता नीला पिडका विनता मता॥८९॥

६. विनता का लक्षण—जिसमें पीड़ा तथा क्लेद (गीलापन कफ के कारण) अधिक हो, जो पीठ अथवा पेट में उत्पन्न हुई हो, जो आकार में बड़ी हो, दबी हुई हो और नीलवर्ण की हो, उसको विनता नामक पिडका कहते हैं।

वक्तव्य—'विनता' यह नाम पिडका के स्वरूप का परिचायक है। इसका अर्थ है—बीच में दबी हुई। सुश्रुत में—'महती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता'। सु० नि० अ० ६। दोनों का मत समान है।

विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा। बाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था [2]कण्डराभा महारुजा॥९०॥

७. विद्रधि के भेद—विद्रधि के दो भेद कहे गये हैं—१. बाह्य, २. आभ्यन्तर। बाह्यविद्रधि के लक्षण—यह त्वचा, स्नायु और मांस में उत्पन्न होती है। यह कण्डरा (स्थूलस्नायु) के आकार की तथा अत्यन्त कष्टप्रद होती है।

वक्तव्य—बाह्य विद्रधि को एलोपैथी में External Abscess और आभ्यन्तर विद्रधि को Internal Abscess कहते हैं। अन्तर् विद्रधि या आभ्यन्तर विद्रधि शल्यचिकित्सा-साध्य व्याधि है, अतः महर्षि आत्रेय ने इसका विस्तृत वर्णन 'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः', इस प्रतिज्ञा के अनुसार नहीं किया

१. 'दुःखा दहति' यो.।
२. 'कण्डराभा स्थूलस्नाय्वाकारा' चक्रः।

तथा मज्जामेह में इनके विशेष दर्शन होते हैं। जैसा कि चरक सूत्रस्थान के 'कियन्तःशिरसीय' नामक १७ वें अध्याय में वर्णित है।

इन पिडकाओं के बारे में प्राचीन संहिताओं में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। इससे यह मान लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि जिसने कम भेद लिखे हैं, वह अल्पज्ञ और जिसने अधिक भेद लिखे हैं, वह विशेषज्ञ था। इसी शंका के निवारणार्थ महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के १०८ से ११० श्लोक तक 'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति' आदि में विना नाम निर्देश के सब कुछ समझा दिया है। विशेष विवेचन यथास्थान देखें।

प्रमेह पिडकाओं का तुलनात्मक परिचय

क्रम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	भोज	काश्यप
१.	शराविका	शराविका	शराविका	शराविका	शराविका
२.	कच्छपिका	कच्छपिका	कच्छपिका	कूर्मिका	कच्छपिका
३.	जालिनी	जालिनी	जालिनी	जालिनी	जालिनी
४.	सर्षपी	सर्षपी	सर्षपिका	सर्षपिका	सर्षपिका
५.	अलजी	अलजी	अलजी	अलजी	अलजी
६.	विनता	विनता	विनता	—	विद्रधि
७.	विद्रधि	विद्रधिका	विद्रधि	विद्रधि	विनता
८.	—	मसूरिका	मसूरिका	कुलत्थिका	अरूंषिका
९.	—	पुत्रिणी	पुत्रिणी	पुत्रिका	—
१०.	—	विदारिका	विदारिका	विदारी	—

सुश्रुत, वाग्भट तथा भोज ने जिन तीन पिडकाओं का विशेष वर्णन किया है, वे उतनी कष्टकारक नहीं होतीं, ऐसा आचार्य गंगाधर का मत है। किन्तु चरक इन समस्त प्रमेह-पिडकाओं के भेदोपभेदों से सुपरिचित थे। अत एव वे लिखते हैं—**'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति'**। ये सभी प्रमेह-पिडकाएँ उपेक्षा करने से कारबंकल (Carbuncles) के भेद-उपभेदों का रूप धारण कर लेती हैं, जो सरलता से ठीक नहीं हो सकतीं।

आचार्य भोज ने **'मसूरिका'** को **'कुलत्थिका'** (कुलथी) के रूप में स्वीकारा है। इसमें छोटे तथा बड़े आकार मात्र का भेद है, शेष सामान्य।

काश्यपसंहिता में ये पिडकायें बालकों में होती हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है। देखें—'अथ खलु बालानामष्टौ पिडकाः स्वशरीरदोषात् स्वदोषाच्चोत्पद्यन्ते'। काश्यपसं० चि०। और अरूंषिका नाम की पिडका को त्रिदोषज मानकर उसके चार भेद किये हैं। विद्रधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—'विदह्याशु अङ्गं विदीर्यत इति, विद्रधिः' सा बहिरन्तश्चोत्पद्यते, ते चोभे बालानां कृच्छ्रसाध्ये'। काश्यपसं० चि०।

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा [1]क्लेदरुगन्विता। शराविका स्यात् पिडका शरावाकृतिसंस्थिता॥

१. शराविका का लक्षण—जिस पिडका के चारों ओर उभार हो, बीच में गड्ढा जैसा हो, जिसका वर्ण श्याव (Dark-brown), जिसमें क्लेद (गीलापन) और पीड़ा हो उस पिडका को 'शराविका' कहते हैं, इसकी आकृति शराव (सकोरा, पुरवा, कुल्हड) के सदृश होती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी इसका वर्णन प्रायः इसी प्रकार किया है—'शरावमात्रा तद्रूपा मध्यनिम्ना शराविका', सु० नि० अ० ६।१५। शराव की आकृति के कारण ही इसका उक्त नाम है।

अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा। श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडका कच्छपी मता॥८५॥

२. कच्छपिका का लक्षण—जिस पिडका के गहराई में पीड़ा तथा तोद (चुभने की-सी वेदना) हो, जिसका घेराव दूसरों की अपेक्षा अधिक हो, जो ऊपर से चिकनी और कछुआ की पीठ के सदृश दिखलायी दे उसे 'कच्छपी या कच्छपिका या कूर्मिका' कहते हैं।

१. 'क्लेदरुजान्विता' इति पा०।

वक्तव्य—आकार के अनुसार ही इन सब का नामकरण हुआ है। सुश्रुत के अनुसार—'सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः'। सु० नि० अ० ६।

स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धास्रावा महाशया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी॥८६॥

३. जालिनी का लक्षण—जो जकड़ी हुई, शिराओं के जाल से घिरी हो, जिसमें चिकना स्राव (पंछा) निकल रहा हो, जिसका आशय (रुग्णस्थान का घेरा) महान् हो, जिसमें पीड़ा एवं तोद बहुत हो और अनेक छिद्र हो गये हों, उसे 'जालिनी' कहते हैं।

वक्तव्य—इस फोड़े के भीतर जाल जैसा फैला होता है। सुश्रुत के मत से—'जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता'। सु० नि० अ० ६। अर्थात् इसमें तीव्र दाह होता है और यह मांस एवं शिराजाल से घिरी रहती है। यहाँ पर सुश्रुत ने जो 'मांस' शब्द का अधिक प्रयोग किया है, इसको चरक के इसी अध्याय में इस प्रकार कहा गया है—'मांसलेष्ववकाशेषु'। अतः इस अंश को सुश्रुत के नाम से विशेष महत्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पिडका नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा। सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत्॥८७॥

४. सर्षपी का लक्षण—जो पिडका बहुत बड़ी न हो, जल्दी पक जाती हो, अत्यन्त पीड़ा वाली हो और सर्षप (सरसों) की आकृति वाली पिडकाओं से जो घिरी हो, उसे सर्षपी कहते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में यह पिडका पीली सरसों के प्रमाण की अनेक पिडकाओं के एक साथ मिल जाने से ही उत्पन्न होती है। अत एव इसका नाम सर्षपी है। सुश्रुत में इसका वर्णन इस प्रकार है—'गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी'। सु० नि० अ० ६॥

दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा। विसर्पत्यनिशं [1]दुःखाद् दहत्यग्निरिवालजी॥८८॥

५. अलजी का लक्षण—यह पिडका जब उत्पन्न होने लगती है तब उस स्थान की त्वचा में दाह (जलन) होने लगती है, इसमें तृष्णा (प्यास), मोह (बेहोशी) और ज्वर हो जाता है। यह निरन्तर फैलती रहती है और इसमें कष्टदायक दाह होता है, यह अलजी साक्षात् अग्नि के समान होती है। अर्थात् अलजी में अग्नि के समान जलन और विसर्पण होता है। अतएव तृष्णा आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अलजी पित्तप्रधान पिडका है। सुश्रुत में—'रक्ताऽसिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत्'। सु० नि० अ० ६।१८। यह लाल, काली, त्वचा के फटने से छाले के रूपवाली, अत्यन्त कष्टदायक होती है।

अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा। महती विनता नीला पिडका विनतः मता॥८९॥

६. विनता का लक्षण—जिसमें पीड़ा तथा क्लेद (गीलापन कफ के कारण) अधिक हो, जो पीठ अथवा पेट में उत्पन्न हुई हो, जो आकार में बड़ी हो, दबी हुई हो और नीलवर्ण की हो, उसको विनता नामक पिडका कहते हैं।

वक्तव्य—'विनता' यह नाम पिडका के स्वरूप का परिचायक है। इसका अर्थ है—बीच में दबी हुई। सुश्रुत में—'महती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता'। सु० नि० अ० ६। दोनों का मत समान है।

विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा। बाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था [2]कण्डराभा महारुजा॥९०॥

७. विद्रधि के भेद—विद्रधि के दो भेद कहे गये हैं—१. बाह्य, २. आभ्यन्तर। बाह्यविद्रधि के लक्षण—यह त्वचा, स्नायु और मांस में उत्पन्न होती है। यह कण्डरा (स्थूलस्नायु) के आकार की तथा अत्यन्त कष्टप्रद होती है।

वक्तव्य—बाह्य विद्रधि को एलोपैथी में External Abscess और आभ्यन्तर विद्रधि को Internal Abscess कहते हैं। अन्तर् विद्रधि या आभ्यन्तर विद्रधि शल्यचिकित्सा-साध्य व्याधि है, अतः महर्षि आत्रेय ने इसका विस्तृत वर्णन 'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः', इस प्रतिज्ञा के अनुसार नहीं किया

१. 'दुःखा दहति' यो.।
२. 'कण्डराभा स्थूलस्नाय्वाकारा' चक्रः।

है। भगवान् धन्वन्तरि ने इसका वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः। दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाऽप्यथवाऽऽयतम्। तमाहुर्विद्रधिं धीराः"'॥' सु० नि० अ० ९।५। अत्यन्त कुपित वातादि दोष अस्थि का सहारा लेकर त्वचा, रक्त, मांस एवं मेदस् को दूषित करके धीरे-धीरे शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। जिस समय यह शोथ महान् जड़ वाला, अधिक पीड़ायुक्त, गोल अथवा आयताकार हो जाता है, उस समय इस विषय के विशेषज्ञ इसको विद्रधि कहते हैं।

साध्यता अथवा असाध्यता की दृष्टि से इसका विचार—'कुष्ठिनां विषजुष्टानां पिडका मधुमेहिनाम्। व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः' ॥ सु० सू० अ० २३।७। अर्थात् कुष्ठरोगियों के जिनके शरीर में दूषीविष का प्रयोग किया गया है उनके, क्षयरोगियों के, मधुमेहियों के और जिनके व्रण में दूसरा व्रण उत्पन्न हो गया हो, उनके व्रण भी कठिनाई से अच्छे होते हैं, नहीं भी होते।

शीतकान्नविदाह्युष्णरूक्षशुष्कातिभोजनात् । विरुद्धाजीर्णसंक्लिष्ट[1]विषमासात्म्यभोजनात् ॥९१॥
व्यापन्नबहुमद्यत्वाद् वेगसन्धारणाच्छ्रमात् । जिह्मव्यायामशयनादतिभाराध्वमैथुनात् ॥९२॥
अन्तःशरीरे [2]मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः । तदा सञ्जायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥९३॥
हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः । नाभ्यां वङ्क्षणयोर्वाऽपि बस्तौ वा तीव्रवेदनः ॥

अन्तर्विद्रधि-निदान एवं सम्प्राप्ति—ठंडे अथवा बासी, विदाही (जलन पैदा करनेवाले), अधिक उष्ण, रूक्ष, शुष्क तथा भोजन करने से, विरुद्ध, अजीर्णकारक, दूषित, विषम और असात्म्य (प्रकृति के विपरीत) भोजन करने से, विकृत मद्य के पान करने से, अधारणीय वेगों को रोकने से, अधिक परिश्रम करने से, विपरीत (उलटा-सीधा) व्यायाम करने से, विपरीत सोने से, शक्ति से अधिक भार उठाने से, अधिक रास्ता चलने से और अधिक मैथुन करने से, कुपित दोष जब शरीर के भीतरी अवयवों में जाकर रक्त एवं मांस में प्रवेश करते हैं तब अन्दर छिपी हुई अतिकष्टदायक ग्रन्थि (गांठ) पैदा हो जाती है। यह विद्रधि हृदय, क्लोम (Pharynx), यकृत्, प्लीहा, कुक्षि, वृक्क (गुर्दे), नाभि, दोनों वंक्षण (उरुमूल की संधियों) अथवा वस्ति (मूत्राशय = Bladder) में हो जाती है और इसमें तीव्र वेदना होती है।

वक्तव्य—अन्तर्विद्रधि का स्वरूप सुश्रुत के अनुसार इस प्रकार है—'आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते। गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कसंक्लिष्टभोजनात् ॥ अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः। पृथक् सम्भूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥ वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्। गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥ वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा' ॥ सु० नि० अ० ९। प्रायः दोनों संहिताकारों का दृष्टिकोण समान है। **विशेष द्रष्टव्य**—व्रण के आशय, अ० हृ० उ० अ० २५।१२।

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते । ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते ॥९५॥

विद्रधि की परिभाषा—दूषित रक्त की अधिकता से इस विद्रधि में शीघ्र ही जलन होने लगती है। शीघ्र विदाह होने के कारण ही इसको विद्रधि कहा जाता है।

वक्तव्य—व्रण शब्द की निष्पत्ति—'व्रणगात्रविचूर्णने' यह चुरादिगणीय धातु है। इसका अभिप्राय है, जो शरीर के उस भाग का विचूर्णन कर देता है, जहाँ वह होता है। देखें—सुश्रुत चि० अ० १। 'व्रणयति, इति व्रणः'।

व्यधच्छेदभ्रमानाहशब्दस्फुरणसर्पणैः । वातिकीं, पैत्तिकीं तृष्णादाहमोहमदज्वरैः ॥९६॥

वातज तथा पित्तज अन्तर्विद्रधि के लक्षण—जिसमें बिंधने या चुभाने के समान वेदना हो, अथवा छेदन (दो टुकड़े) करने की-सी पीड़ा हो, भ्रम, आनाह (मल एवं अपानवायु का रुक जाना), शब्द, स्फुरण (फड़कना) तथा सर्पण (फैलना) ये लक्षण दिखलायी दें, उसे वातजनित अन्तर्विद्रधि समझना चाहिये।

और जिसमें तृष्णा (रोगी को बार-बार प्यास लगे), दाह (जलन) का अनुभव हो, मोह (बेहोशी), मद तथा ज्वर हो जाय उसे पित्तज अन्तर्विद्रधि कहते हैं।

---

१. 'सङ्क्लिष्टं दोषलम्' इति चक्रः।
२. 'मांसासृक् प्रविशन्ति' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त वातज विद्रधि में जिन लक्षणों का उल्लेख किया है वे सब वात के ही प्रधान लक्षण हैं, क्योंकि **'वाताद् ऋते नास्ति रुजा'**, तृष्णा दाह आदि लक्षण पित्त के हैं। पित्त से ही व्रणों का पाक भी होता है। यह पित्तज विद्रधि दूसरों की अपेक्षा शीघ्र पकने वाली होती है।

सुश्रुत का दृष्टिकोण—'कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः। चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः ॥ पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्। क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसम्भवः' ॥ सु० नि० अ० ९। चरक की अपेक्षा सुश्रुत ने विद्रधियों के स्वरूप का वर्णन अधिक स्पष्ट किया है।

जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्भशीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः । सर्वासु च महच्छूलं विद्रधीषूपजायते ॥९७॥

कफज अन्तर्विद्रधि के लक्षण—जिसमें जम्भाई, जी मिचलाना, अरुचि, स्तम्भ (जड़ता) और शीतलता हो उसे कफज अन्तर्विद्रधि कहते हैं। सभी प्रकार की विद्रधियों का सामान्य लक्षण है कि उनमें शूल अत्यधिक हुआ करता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में कफज अन्तर्विद्रधि का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—'शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥ चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसम्भवः ॥' सु० नि० अ० ९। निश्चित ही चरकोक्त लक्षणों से सुश्रुत की उक्ति अधिक स्पष्ट है।

[1]शस्त्रास्त्रैर्भिद्यत इव चोल्मुकैरिव[2] दह्यते । विद्रधौ [3]व्यम्लतां याता वृश्चिकैरिव दश्यते ॥९८॥

पच्यमान विद्रधि के लक्षण—पकते हुए विद्रधि में शस्त्र-अस्त्र से काटने की भांति पीड़ा होती है। उल्मुक (जलती हुई लकड़ी) से जलाने के सदृश दाह होता है और जब विद्रधि विशेषदाह को प्राप्त होती है तो ऐसा मालूम होता है कि मानो उस स्थान पर अनेक बिच्छू एक साथ डस रहे हों।

वक्तव्य—धन्वन्तरि के शब्दों में—'सूचीभिरिव निस्तुद्यते, दश्यत इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसर्प्यत इव, छिद्यत इव शस्त्रेण, भिद्यत इव शक्तिभिः, ताड्यत इव दण्डेन, पीड्यत इव पाणिना, घट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति'। सु० सू० अ० १७।५।

भगवान् धन्वन्तरि ने पाकाभिमुखविद्रधि में होने वाली वेदनाओं का क्रमिक वर्णन अथवा वेदनाओं के भेदोपभेदों का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया है। इसके पहले यह भी ध्यान देने के लिये कहा है कि आमविद्रधि अथवा पच्यमान विद्रधि की भली भांति जाँच कर लें, अन्यथा चिकित्सा में अपयश मिल सकता है, रोगी को अधिक कष्ट उठाना पड़ सकता है। इस ओर सुश्रुत नि० ९ वें अध्याय में भी ध्यान दिलाया गया है। इस परिचय के अभाव में पक्वव्रण की उपेक्षा हो सकती है और आमव्रण पर लगाया गया चीरा चिकित्सक की अयोग्यता की सूचना देने लगेगा।

तनु रूक्षारुणं [4]श्यावं फेनिलं वातविद्रधौ । तिलमाषकुलत्थोदसन्निभं पित्तविद्रधौ ॥९९॥

स्राव के आधार पर दोष निर्णय—वातज विद्रधि में—पतला, रूखा, अरुणाभ, झागयुक्त स्राव होता है। पित्तज विद्रधि में—तिल, उड़द, कुलथी के क्वाथ के सदृश स्राव होता है।

श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतं पिच्छिलं बहलं बहु । लक्षणं सर्वमेवैतद् भजते सान्निपातिकी ॥१००॥

कफज विद्रधि में—सफेद, गाढ़ा, चिपचिपा और अधिक मात्रा में स्राव होता है। सन्निपातज विद्रधि में—वात, पित्त, कफ इन तीनों के लक्षणों से मिश्रित रूप वाला स्राव होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में इन स्रावों का उल्लेख इस प्रकार है—'तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः।' सु० नि० अ० ९। इस प्रकार संक्षेप में तीनों दोषों के स्रावों का वर्णन कर सन्निपातज विद्रधि का वर्णन करते

---

१. 'तप्तैः शस्त्रैर्यथा मथ्येतोल्मुकैरिव' इति पा०।
२. 'चोल्ककैरिव' ग.। उल्मुकमङ्गारम्।
३. 'व्यम्लतां याता विदाहं प्राप्ता' इति चक्रः।
४. 'स्रावम्' इति पा०।

है—'नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान्। विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः' ॥ सु० नि० अ० ९।१० ।

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यत्वविशेषज्ञानार्थं स्थानकृतं लिङ्गविशेषमुपदेक्ष्यामः—तत्र प्रधानमर्मजायां विद्रध्यां हृद्घट्टनतमकप्रमोहकासश्वासाः क्लोमजायां पिपासामुखशोषगलग्रहाः, यकृज्जायां श्वासः, प्लीहजायामुच्छ्वासोपरोधः, कुक्षिजायां कुक्षिपार्श्वान्तरांसशूलं, वृक्कजायां पृष्ठकटिग्रहः, नाभिजायां हिक्का, वङ्क्षणजायां सक्थिसादः, बस्तिजायां [1]कृच्छ्रपूतिमूत्रवर्चस्त्वं चेति ॥ १०१ ॥

अन्तर्विद्रधियों का निदान (Differential Diagnosis of Internal Abscess)—विद्रधियों के लक्षण निरूपण के पश्चात् अब विशेष रूप से इनकी साध्यता तथा असाध्यता को जानने के लिये स्थान भेद से पैदा होने वाली विद्रधियों के लक्षण-विशेषों का यहाँ उपदेश करेंगे। **प्रधान मर्म** (हृदय) में उत्पन्न विद्रधि में हृदय में धड़कन, तमकश्वास, बेहोशी और खांसी ये लक्षण होते हैं। **क्लोम** (Pharynx) में उत्पन्न विद्रधि में प्यास, मुख का सूखना और गलग्रह (तस्य श्लेष्मा प्रकुपितस्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थिरः । आशु संजनयेच्छोफं जायतेऽस्य गलग्रहः' ॥ च० सू० अ० १८) गलरोगविशेष हो जाता है। **यकृत** में उत्पन्न विद्रधि में फेफड़ों में दबाव पड़ने के कारण श्वास रोग हो जाता है। **प्लीहा** में उत्पन्न विद्रधि में श्वास-उच्छ्वास क्रिया में रुकावट आ जाती है। **कुक्षि** (उदर) में उत्पन्न विद्रधि में उदर प्रदेश तथा पसलियों के बीच में शूल होता है। **वृक्कों** में उत्पन्न विद्रधि में पसलियों, पीठ और कमर में जकड़न की-सी पीड़ा होती है। **नाभि** में उत्पन्न विद्रधि में हिचकियाँ आने लगती हैं। **वंक्षण** (सक्थिसन्धि) में उत्पन्न विद्रधि में सक्थियों (ऊरुओं) में थकावट-सी प्रतीत होती है। **बस्ति** में उत्पन्न विद्रधि में मल-मूत्र त्याग करने में कष्ट होता है तथा इनमें दुर्गन्धि होती है।

वक्तव्य—इस प्रकरण में दोष भेद से विद्रधियों के नाम भेद की कल्पना करने के पश्चात् स्रावों के लक्षणों के अनुसार दोषों का निर्णय-प्रकार बतलाया गया है। सुश्रुतसंहिता में इनके गुदज तथा रक्तज दो भेद अधिक वर्णित हैं, जिनकी चर्चा चरक में उपलब्ध नहीं है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ऊपर जिन-जिन स्थानों पर आत्रेय ने विद्रधियों की उत्पत्ति का उपदेश दिया है उन-उन स्थानों की प्रधानता है, वैसे जहाँ पर दोष एकत्रित हो जाते हैं वहाँ विद्रधि की उत्पत्ति हो जाती है अथवा हो सकती है। सुश्रुत में जो रक्तज विद्रधि का अधिक सन्निवेश किया है उसका अन्तर्भाव पित्तज विद्रधि में किया जा सकता है।

धन्वन्तरि की मान्यता है कि रक्तज विद्रधि केवल स्त्रियों को होती है, इसी का दूसरा नाम मक्कल्ल है। यथा—'स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः॥ अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम्। रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥ सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ सम्प्रपच्यते' ॥ सु० नि० अ० ९ ।

इसके अतिरिक्त मक्कल्ल शब्द का प्रयोग आयुर्वेदशास्त्र में मूढ़गर्भ-प्रकरण में **मक्कल्लशूल** के रूप में आया है। उसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—प्रसूता स्त्री का कुपित वायु निकलते हुए गर्भाशयगत रक्त को रोककर हृदय, शिर और बस्तिप्रदेश में शूल को उत्पन्न कर देता है। विस्तृत विवेचन के लिये देखें—सु० शा० अ० १०।२२ तथा अ० हृ० शा० अ० १।९१ और अ० हृ० शा० अ० २।३८ ।

सुश्रुत में वर्णित अन्तर्विद्रधियों का परिचय—'गुदे वातनिरोधस्तु बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता। नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥ कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ। वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ॥ सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते। श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः' ॥ सु० नि० अ० ९ । और भी देखें—

'अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते। सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ॥ ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते। अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत् ॥ विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम्' ॥ सु० नि० अ० ९। उपर्युक्त विद्रधियों के अतिरिक्त यह जो मज्जापरीपाक विद्रधि है, इसको एलोपैथी में Acute Osteomyetis कहते हैं।

---

1. 'कृच्छ्मूत्रपूतिवर्चस्त्वम्' यो. ।

सुश्रुत में आगन्तुज अर्थात् क्षतजविद्रधि की भी गणना की गयी है। चूँकि इस प्रकरण में मधुमेह-पिडकाओं का वर्णन आत्रेय को अभीष्ट था, अतः यहाँ इनका उल्लेख नहीं किया है।

पक्वप्रभिन्नासूर्ध्वजासु मुखात् स्रावः स्रवति, अधोजासु गुदात्, उभयतस्तु नाभिजासु ॥१०२॥

अन्तर्विद्रधियों के स्रावमार्ग—शरीर के ऊपरी भागों में पकने के बाद फूटी हुई अन्तर्विद्रधियों में मुख से स्राव निकलता है, निचले भागों में उत्पन्न अन्तर्विद्रधियों का स्राव गुदमार्ग से और नाभिप्रदेश में उत्पन्न अन्तर्विद्रधियों का स्राव मुख तथा गुदमार्ग से बाहर आता है अथवा आसकता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने ऊपर सूत्ररूप में स्रावों के निर्गमन का मार्ग निर्दिष्ट किया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—क्लोमज विद्रधि का स्राव प्रायः मुख द्वारा ही होता है, यदि मूर्ख रोगी उस स्राव को निगल जायगा तो वह प्रकारान्तर से गुद से भी निकल सकता है। यकृत, प्लीहा तथा हृदय प्रदेश में उत्पन्न विद्रधियों का सम्बन्ध यदि आमाशय या वृहदन्त्र से हो गया हो तो इनके स्राव प्रायः दोनों मार्गों से निकलते देखे जाते हैं। और कभी-कभी यह स्राव निकलकर जहाँ-जहाँ लगता है उन-उन अवयवों को गला-सड़ा देता है, तब उस स्वनिर्मित मार्ग से बाहर निकलता है, यह अत्यन्त कष्टकर स्थिति होती है। यदि हृदयज विद्रधि का सम्बन्ध फेफड़ों के साथ हो जाता है तो यह स्राव खाँसी आदि के सहारे मुख से ही निकलता है। यदि छोटी या बड़ी आँतों के किसी भाग में विद्रधि होगी तो उसका स्राव गुदमार्ग से ही निकलता है। वृक्कज विद्रधि का स्राव प्रायः मूत्रमार्ग से निकलता है। वंक्षणसन्धि की विद्रधि का स्राव भी अधोमार्ग से निकलता है। इसको सुश्रुत में संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—'नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः।' सु० नि० अ० ९ ।

तासां हृन्नाभिबस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च मरणाय; शेषाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति। तस्मादचिरोत्थितां विद्रधीं शस्त्रसर्पविद्युदग्नितुल्यां स्नेहविरेचनैराश्वेवोपक्रमेत् सर्वशो गुल्मवच्चेति ॥१०३॥

मृत्युकारक तथा शीघ्र शान्त करने योग्य विद्रधियाँ—उनमें हृदय, नाभि, बस्ति-स्थानों में उत्पन्न तथा सन्निपातज अन्तर्विद्रधियाँ यदि पक जाती हैं तो वे मृत्युकारक होती हैं। उनके अतिरिक्त जो विद्रधियाँ हैं वे कुशल तथा शीघ्र चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को पाकर शान्त हो जाती हैं। इसलिये शस्त्र, सर्प, बिजली और आग के समान (कष्टदायक) तत्काल उत्पन्न विद्रधि की स्नेहन, स्वेदन, विरेचन आदि सभी चिकित्सा विधियों द्वारा गुल्म की भांति चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विद्रधि की परिभाषा—'वेदनं छिद्रम्', 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः') इति, रक्। यद्वा—विद्राति। द्रास्वप्ने पलायने। 'आतश्चोपसर्गे' ३।१।१३६। इति कः। विद्रं दीयतेऽस्याम्। डुधाञ्। 'कर्मण्यधिकरणे च'। ३।३।९३। इति किः। यद्वा—विद्रस्य धानम्। इन परिभाषाओं से विद्रधि—बड़ा घाव करने वाली और बड़े आकार में होने वाली होती है, पुष्ट होता है।

सुश्रुत ने भी उक्त अन्तर्विद्रधियों को इस प्रकार असाध्य अतएव अचिकित्स्य बतलाया है—'हृन्नाभिबस्तिजः पक्वो वर्ज्यो यश्च त्रिदोषजः' ॥ सु० नि० अ० ९। इसका आशय है कि हृदय, नाभि, बस्ति में उत्पन्न विद्रधियों की चिकित्सा उसके पकने के पहले कर लेनी चाहिये और पकजाने पर वह असाध्य या कष्ट साध्य हो जाती है किन्तु सान्निपातिक विद्रधि तो सभी स्थितियों में असाध्य मानी जाती है, तथापि रोगी के अभिभावकों को परिस्थिति की सूचना देकर चिकित्सा करनी चाहिये। यही विचार सभी प्रकार की अन्तर्विद्रधियों में करें।

सुश्रुत में विद्रधि की साध्यासाध्यता का वर्णन—'जीवत्यधो निःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति। हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ॥ जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन' ॥ सु० नि० अ० ९।२४-२५। इसका आशय है कि नीचे की ओर व्रण का स्राव होने पर मनुष्य जीवित रह सकता है और ऊपर की ओर जिन विद्रधियों का स्राव होता है उनमें प्रायः मृत्यु हो जाती है। ऊपर स्राव वाली विद्रधियों का मुख यदि भीतर की ओर न होकर सौभाग्य से बाहर को ओर हो जाता है, तब भी मनुष्य बच सकता है। अतएव कुशल चिकित्सक अन्तर्विद्रधि का मुख शस्त्रक्रिया के माध्यम से बाहर की ओर करके रोगी की प्राणरक्षा कर लेते हैं।

इस सम्बन्ध में भोज के वचन उद्धरणीय हैं—'असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः। सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु नाभिजः॥ त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो मर्मसमीपगः। अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः' ॥ अतः सभी परिस्थियों में अपक्वविद्रधि की चिकित्सा कर दोषों को निर्मूल कर देना चाहिये। इसीलिये शल्यशास्त्र के उपदेष्टा धन्वन्तरि ने भी इसी का समर्थन किया है—'नोपगच्छेद् यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्। पर्यागते तु विद्रधौ सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता' ॥ सु० चि० अ० १६। अतएव स्नेहन, स्वेदन, विरेचन आदि संशमनोपचारों से विद्रधि को शान्त करने का प्रयास करना चाहिये।

भवन्ति चात्र—

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद् वास्तुपरिग्रहः ॥१०४॥

अतिरिक्त पिडकायें—जिनका मेदो धातु दूषित होता है, उनको प्रमेह रोग के बिना भी ये पिडकायें हो जाती हैं किन्तु इनका स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक ये अपने स्थान को पूर्ण रूप से घेर नहीं लेतीं।

वक्तव्य—जैसे प्रमेह रोग (विशेषतः मधुमेह रोग) में होने वाली पिडकाओं का पूर्वाभास चिकित्सक कर लेता है, वैसे जिनका मेदो धातु दूषित होता है उनके सम्बन्ध में नहीं कहा जासकता। यहाँ उक्त पाठ **'विना प्रमेहम्'** में प्रमेह शब्द से सभी प्रकार के मेहों का ग्रहण आचार्य को अभिमत है। क्योंकि आगे **'प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ताः'**। च० चि० अ० ६; इस प्रकार कहा गया है। यहाँ भी सामान्य प्रमेह शब्द का ही ग्रहण किया गया है। साथ ही आचार्य ने यह भी निर्देश किया है कि मधुमेह सम्बन्धी पिडकायें असाध्य होती हैं। इस मधुमेह को महर्षि आत्रेय ने दो प्रकार का स्वीकार किया है—१. धातुओं के क्षीण होने पर वातप्रकोप से होता है, २. अत्यधिक सन्तर्पणजनित कफ के प्रकोप से होता है। इनमें प्रथम असाध्य और दूसरा कष्टसाध्य है। देखें—

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकाः स्युः सन्तर्पणाद् वा कफसम्भवाः स्युः ॥ च० चि० अ० ६।

शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहाः। जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसः[1] ॥१०५॥

असह्य पिडकाएँ—जिन व्यक्तियों के शरीरों में मेदस् धातु अत्यन्त दूषित हो जाती है, उनमें शराविका, कच्छपिका और जालिनी ये तीनों पिड़कायें अधिक कष्ट देने वाली (असाध्य) होती हैं।

सर्षपी चालजी चैव विनता विद्रधी च याः। साध्याः पित्तोल्बणास्तास्तु सम्भवन्त्यल्पमेदसः[2] ॥

साध्य पिडकाएँ—जिन पुरुषों में मेदो धातु थोड़ा हो उनके शरीर में ये पित्तप्रधान पिडकायें उत्पन्न होती हैं। समय पर चिकित्सा करने से ये साध्य भी होती हैं। पिडकाओं के नाम—सर्षपी, अलजी, विनता एवं विद्रधि।

मर्मस्वंसे गुदे [3]पाण्योः स्तने संधिषु पादयोः। जायन्ते यस्य पिडकाः स प्रमेही न जीवति ॥१०७॥

असाध्य पिडकाएँ—जिसके मर्मस्थानों, कन्धा, गुद, हाथों, स्तनों, सन्धियों तथा पैरों में पिडकायें हो जाती हैं, वह प्रमेह रोगी जीवित नहीं रहता।

वक्तव्य—'मर्म प्रदेश'—हृदय, शिर, बस्ति जिनका इसी प्रसंग में वर्णन किया जा चुका है। 'पाण्योः' के स्थान पर 'पाण्र्योः' पाठ उपलब्ध होता है। चिकित्सा के समय इसको भी ध्यान में रखें। सुश्रुत में—'गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः। सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत्' ॥ सु० नि० अ० ६। यहाँ यह विशेष निर्देश किया है कि यदि वे पिडकाएँ मन्दाग्नि वाले पुरुष के शरीर में उपद्रवों सहित हों तो असाध्य होती हैं। तथा चरक में पीठ की पिडका का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सुश्रुत और वाग्भट इसमें

१. 'प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्' इति पा.।
२. 'सम्भवन्त्यल्पमेदसाम्' इति पा.।
३. 'पाण्र्योस्तले' ग.।

एकमत हैं। **स्तने**—यहाँ पर 'स्तने' शब्द का तात्पर्य केवल एक ही स्तन से नहीं है अपितु यहाँ **'जातावेकवचनम्'** न्याय के अनुसार एकवचन का प्रयोग किया गया है, अतः इसका अर्थ होगा—दोनों स्तनों में।

तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति रक्तपीतासितारुणाः। पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः १०८
मृद्व्यश्च कठिनाश्चान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाऽपराः। मन्दवेगाः महावेगाः स्वल्पशूला महारुजः १०९
ता बुद्ध्वा मारुतादीनां [1]यथास्वैर्हेतुलक्षणैः। ब्रूयादुपचरेच्चाशु प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥११०॥

कुछ अन्य पिडकाएँ—ऊपर जो सात पिडकायें निर्दिष्ट हैं उनके अतिरिक्त वर्ण भेद से लाल, पीली, सफेद, अरुण (मटमैला-लाल) धूसर, पाण्डु (सफेद-पीला) भस्म (राख) के वर्ण की, मेचक वर्ण वाली पिडकायें होती हैं। इसी प्रकार दूसरी कोमल, कठोर, मोटी तथा सूक्ष्म पिडकायें होती हैं, ये आकारभेद से पिडकाओं की गणना है। कुछ पिडकायें मन्दवेगवाली, महावेगवाली, थोड़ी वेदना वाली, अथवा अत्यन्त वेगवाली होती हैं। इनको वात आदि दोषों के अपने-अपने प्रकोपक हेतु तथा लक्षणों द्वारा भली-भाँति समझकर लक्षणों के अनुसार वातज, पित्तज आदि कहे तथा उपद्रवों के दिखलायी देने के पहले ही इनका शीघ्र उपचार (चिकित्सा) करे।

तृट्श्वासमांससङ्कोथ[2]मोहहिक्कामदज्वराः। वीसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥१११॥

पिडकाओं के उपद्रव—तृषा, श्वास, मांस का गलना या सड़ना, मूर्च्छा, हिचकी, मद, ज्वर, वीसर्प मर्म (हृदय) का अवरोध, ये सब पिडकाओं के उपदव हैं।

क्षयः [3]स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः[4]। ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा ॥
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु। इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥११३॥

दोषों की त्रिविध गति (Three Pathways of Doshas)—दोषों का क्षय, स्थान और वृद्धि ये तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं। दूसरे प्रकार से पुनः तीन गतियाँ होती हैं—ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिर्यग्गति। दोषों की गतियों का एक प्रकार यह भी है—कोष्ठ, शाखा, मर्म, अस्थि और सन्धि भेद से भी अलग कह दी गयी हैं।

वक्तव्य—तीनों दोषों की सभी प्रकार की गतियों का सूत्ररूप में ऊपर वर्णन किया गया है। यहाँ 'स्थान' शब्द का तात्पर्य है—अपने परिमाण में रहना अथवा उनकी समानता। गति—अर्थात् दोष की स्थिति या स्वरूप, जैसे—या तो दोष अपनी मात्रा से **कम** होगा, या **सम** होगा या **बढ़ा हुआ** होगा।

इनके अतिरिक्त पुनः त्रिविध गति का इस प्रकार वर्णन है—१. **ऊर्ध्वगति**—जब दोषों की प्रवृत्ति ऊपर को होती है। जैसे—ऊर्ध्वग रक्तपित्त, छर्दि आदि। २. **अधोगति**—जब दोष नीचे की ओर प्रवृत्त होते हैं। यथा—अधोगरक्तपित्त, अतिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका आदि। ३. **तिर्यग्गति**—जब शरीर के भीतर ही दोषों की तिरछी गति होती है। यथा—ज्वर, शूल, आध्मान मन्दाग्नि आदि।

तीसरे प्रकार की दोषों की गतियाँ—१. कोष्ठ, २. शाखा, ३. मर्मास्थि सन्धियाँ। **१. कोष्ठ**—यहाँ
कोष्ठ शब्द से चरक शारीरस्थान अध्याय ७ में पन्द्रह अंगों का वर्णन है—नाभि, हृदय, क्लोम, (Pha-
rynx) यकृत, प्लीहा, दोनों वृक्क (गुर्दे Kidneys), बस्ति (मूत्राशय Bladder) पुरीषाधार (Sigmoid
Flexure), आमाशय (Stomach), पक्वाशय (Duodenum), उत्तरगुद (Rectum), अधरगुद
(Anus) क्षुद्रान्त्र (Smal intestine), स्थूलान्त्र (Large intestine), वपावहन (हृदय के चारों
ओर स्थित मेदस् का वहन करने वाला Pancreas gland)। **२. शाखा**—रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा,
शुक्र और त्वचा इनका ग्रहण आयुर्वेदशास्त्र में शब्द से किया गया है। **३. मर्मास्थि-सन्धियाँ**—बस्ति, हृदय

१. 'यथास्वं हेतुलक्षणैः' यो.।
२. 'मांससंकोच' ग.।
३. 'स्थानं स्वमानावस्थानं' इति चक्रः।
४. 'गतिः प्रकारोऽवस्था वा' इति चक्रः।

आदि मर्म एवम् अस्थि सन्धियों का वर्णन चरक सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११ वें अध्याय में किया गया है। दोषों की संक्षिप्त तालिका नीचे देखें—

दोषों की त्रिविध गतियाँ

- १. स्थान (Normal)
- २. क्षय (Hypo)
- ३. वृद्धि (Hyper)
- १. कोष्ठ (Trunk)
- २. शाखा (Periphery)
- ३. मर्मास्थिसन्धि (Bones &Joints)
- १. ऊर्ध्व (Upward)
- २. अधः (Downward)
- ३. तिर्यक् (Transverse)

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् । भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥११४॥

दोषों की ऋतुओं के अनुसार गतियाँ—पित्त आदि दोषों का क्रम से वर्षा आदि ऋतुओं में एक-एक का चय, प्रकोप तथा प्रशम होता है।

वक्तव्य—दोषों का सामान्य क्रम वात, पित्त, कफ है किन्तु महर्षि आत्रेय ने '**पित्तादीनां**' ऐसा उल्लेख क्यों किया? इसका समाधान चक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—'वातं परित्यज्य पित्तादीनामित्यभिधानं विसर्गस्याभिप्रेतत्वेनाग्रे वक्तव्यत्वात् कृतम्। विसर्गे च पित्तचय एव स्यादिति'। क्योंकि वर्षाकाल से दोषों के चय, कोप आदि की चर्चा तन्त्रकार को अभीष्ट थी, अतः वात से आरम्भ न करके पित्त से आरम्भ किया गया है। क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

पित्त—वर्षा में पित्त का चय (संचय), शरद् में पित्त का प्रकोप, हेमन्त में पित्त का प्रशम (शान्ति) होता है। **कफ**—शिशिर में कफ का चय, वसन्त में कफ का प्रकोप, ग्रीष्म में कफ का प्रशम होता है। **वात**—ग्रीष्म में वात का संचय, वर्षा में वात का प्रकोप, शरद् में वात का प्रशम होता है। यह चरकोक्त चय-कोप-प्रशम प्रकार है।

वाग्भट ने इस विषय को कुछ और स्पष्टता से कहा है—'चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु। वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु'॥ अ० हृ० सू० अ० १२।२४। इस प्रकार कालस्वभाव से भी दोषों का थोड़ा बहुत चय, प्रकोप, प्रशम होता रहता है।

धन्वन्तरि का काल-विभाजन इससे कुछ भिन्न है। उसने वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् इस प्रकार काल-विभाजन किया है। सुश्रुतोक्त यह क्रम संशमन न होकर संशोधन के लिये प्रयुक्त होता है। इसका विशेष विवेचन सु० सू० अ० ६ में देखें।

गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते । गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या ॥११५॥

दोषों की दो गतियाँ—इसके पूर्व जो चय, प्रकोप, प्रशम नाम की दोषों की तीन गतियाँ कही गयी हैं ये कालकृत (समयानुसार होने वाली) गतियाँ हैं। फिर दोषों की जो दो प्रकार की गतियाँ देखी गयी हैं, १. प्राकृती और २. वैकृती, उनको कहा जायगा।

वक्तव्य—कालकृत गतियों के अतिरिक्त जिन दो गतियों का यहाँ वर्णन किया गया है, उनकी स्थिति ऐसी है। स्वस्थ पुरुष में दोषों की जो गति होती है उसको प्राकृती (Physiological) और वैकृती अर्थात् विकृति सम्बन्धी (Pathological) गति कहा गया है। भले ही इनका सम्बन्ध कालकृत गतियों से हो परन्तु इनका स्वतन्त्र अस्तित्व चिकित्साक्षेत्र में स्वीकार किया गया है।

[1]पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते । [2]तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥११६॥

१. 'पित्तादूष्मोष्मणः' इति पा०।
२. 'पित्तं चैव' ग.।

पित्त की गतियाँ—प्रकृतिस्थ पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से मनुष्यों के आहार का पाचन होता है। और जब वही पित्त प्रकुपित (विकृत) हो जाता है तो अनेक पित्तज विकारों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—खाये हुए भोजन का रस, रक्त आदि के रूप में जो रासायनिक परिवर्तन (Chemical changes) होते हैं उनमें प्रकृतिस्थ पित्त सहायक होता है। यदि पित्त विकृत होकर न्यूनाधिक मात्रा में हो जाता है तो पित्तजनित विकारों को पैदा करता है।

प्राकृतस्तु [1]बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते । स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥११७॥

कफ की गतियाँ—प्रकृतिस्थ कफ बलकारक होता है और विकृतिस्थ कफ मल (बल्गम, लार) रूप होता है। प्राकृतिक कफ को ही शरीर में ओजस् कहते हैं और विकृत कफ को पाप (रोग) कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ प्रकृतिस्थ कफ को बल और ओजस् दोनों कहा गया है। वास्तव में रस से लेकर शुक्रपर्यन्त धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है वही ओजस् तथा बल है। देखें—सु० सू० अ० १५। यद्यपि ऊपर ओजस् को ही बल कहा है किन्तु सु० सू० अ० १५ श्लोक २१-२२ में ओजस् को बल का कारण बतलाया है और बल को ओजस् का कार्य कहा है। कभी कार्य कारण में अभेद भी देखा जाता है। जो आहार-विहार ओजस् को बढ़ाते हैं, वे ही बल को भी।

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः । तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोप[2]रुध्यते ॥११८॥

वात की गतियाँ—स्वस्थ शरीर में जितनी चेष्टायें (चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना, आँख खोलना, बन्द करना आदि) होती हैं, वे सभी प्राकृत वात द्वारा ही होती हैं। यही दोषरहित वात प्राणियों का प्राण कहा गया है। जब यह विकृत हो जाता है तो इसी से रोग उत्पन्न होते हैं और इसी की विकृति से मृत्यु भी हो जाती है।

नित्यं सन्निहितामित्रं समीक्ष्यात्मानमात्मवान् । नित्यं युक्तः परिचरेदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥११९॥

स्थिर आयु की कामना करने वाले जितेन्द्रिय तथा धीर पुरुष को चाहिये कि वह सदैव अपने को शत्रुओं से घिरा हुआ समझकर उचित आहार-विहार से अपनी परिचर्या करे।

तत्र श्लोकौ—

शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोगा मानविकल्पजाः । क्षयाः सपिडकाश्चोक्ता दोषाणां गतिरेव च ॥१२०॥
कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना । ज्ञानार्थं भिषजां चैव प्रजानां च हितैषिणा ॥१२१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—प्रजा (प्राणिमात्र) के हित चाहने वाले तत्वदर्शी महर्षि आत्रेय ने वैद्यों के ज्ञान के लिये प्रस्तुत कियन्तःशिरसीय नामक इस अध्याय में—शिरोरोग, हृदयरोग, दोषों के मान-विकल्प से होने वाले रोग, क्षय, पिडकायें और दोषों की गतियों का वर्णन किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
कियन्तःशिरसीय नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

१. 'बलमिति बलहेतुत्वेन, मल इति शरीरमलिनीकरणात्; ओज इति सारभूतं, यदि वा द्वितीयश्लैष्मिकौजोहेतुत्वेनौजः, वक्ष्यति शारीरे 'तावच्चैव श्लैष्मिकस्यौजसः प्रमाणम्' इति चक्रः।
२. 'उपरुध्यते = म्रियते' चक्रः।

आदि मर्म एवम् अस्थि सन्धियों का वर्णन चरक सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११ वें अध्याय में किया गया है। दोषों की संक्षिप्त तालिका नीचे देखें—

दोषों की त्रिविध गतियाँ

१. स्थान (Normal) | २. क्षय (Hypo) | ३. वृद्धि (Hyper) | १. कोष्ठ (Trunk) | २. शाखा (Periphery) | ३. मर्मास्थिसन्धि (Bones &Joints)

१. ऊर्ध्व (Upward) | २. अधः (Downward) | ३. तिर्यक् (Transverse)

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्। भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥११४॥

दोषों की ऋतुओं के अनुसार गतियाँ—पित्त आदि दोषों का क्रम से वर्षा आदि ऋतुओं में एक-एक का चय, प्रकोप तथा प्रशम होता है।

वक्तव्य—दोषों का सामान्य क्रम वात, पित्त, कफ है किन्तु महर्षि आत्रेय ने **'पित्तादीनां'** ऐसा उल्लेख क्यों किया? इसका समाधान चक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—'वातं परित्यज्य पित्तादीनामित्यभिधानं विसर्गस्याभिप्रेतत्वेनाग्रे वक्तव्यत्वात् कृतम्। विसर्गे च पित्तचय एव स्यादिति'। क्योंकि वर्षाकाल से दोषों के चय, कोप आदि की चर्चा तन्त्रकार को अभीष्ट थी, अतः वात से आरम्भ न करके पित्त से आरम्भ किया गया है। क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

पित्त—वर्षा में पित्त का चय (संचय), शरद् में पित्त का प्रकोप, हेमन्त में पित्त का प्रशम (शान्ति) होता है। **कफ**—शिशिर में कफ का चय, वसन्त में कफ का प्रकोप, ग्रीष्म में कफ का प्रशम होता है। **वात**—ग्रीष्म में वात का संचय, वर्षा में वात का प्रकोप, शरद् में वात का प्रशम होता है। यह चरकोक्त चय-कोप-प्रशम प्रकार है।

वाग्भट ने इस विषय को कुछ और स्पष्टता से कहा है—'चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु। वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु'॥ अ० हृ० सू० अ० १२।२४। इस प्रकार कालस्वभाव से भी दोषों का थोड़ा बहुत चय, प्रकोप, प्रशम होता रहता है।

धन्वन्तरि का काल-विभाजन इससे कुछ भिन्न है। उसने वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् इस प्रकार काल-विभाजन किया है। सुश्रुतोक्त यह क्रम संशमन न होकर संशोधन के लिये प्रयुक्त होता है। इसका विशेष विवेचन सु० सू० अ० ६ में देखें।

गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते। गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या ॥११५॥

दोषों की दो गतियाँ—इसके पूर्व जो चय, प्रकोप, प्रशम नाम की दोषों की तीन गतियाँ कही गयी हैं ये कालकृत (समयानुसार होने वाली) गतियाँ हैं। फिर दोषों की जो दो प्रकार की गतियाँ देखी गयी हैं, १. प्राकृती और २. वैकृती, उनको कहा जायगा।

वक्तव्य—कालकृत गतियों के अतिरिक्त जिन दो गतियों का यहाँ वर्णन किया गया है, उनकी स्थिति ऐसी है। स्वस्थ पुरुष ने दोषों की जो गति होती है उसको प्राकृती (Physiological) और वैकृती अर्थात् विकृति सम्बन्धी (Pathological) गति कहा गया है। भले ही इनका सम्बन्ध कालकृत गतियों से हो परन्तु इनका स्वतन्त्र अस्तित्व चिकित्साक्षेत्र में स्वीकार किया गया है।

[1]पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते। [2]तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥११६॥

१. 'पित्तादूष्मोष्मणः' इति पा०।
२. 'पित्तं चैव' ग.।

पित्त की गतियाँ—प्रकृतिस्थ पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से मनुष्यों के आहार का पाचन होता है। और जब वही पित्त प्रकुपित (विकृत) हो जाता है तो अनेक पित्तज विकारों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—खाये हुए भोजन का रस, रक्त आदि के रूप में जो रासायनिक परिवर्तन (Chemical changes) होते हैं उनमें प्रकृतिस्थ पित्त सहायक होता है। यदि पित्त विकृत होकर न्यूनाधिक मात्रा में हो जाता है तो पित्तजनित विकारों को पैदा करता है।

प्राकृतस्तु [1]बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥११७॥

कफ की गतियाँ—प्रकृतिस्थ कफ बलकारक होता है और विकृतिस्थ कफ मल (बलगम, लार) रूप होता है। प्राकृतिक कफ को ही शरीर में ओजस् कहते हैं और विकृत कफ को पाप (रोग) कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ प्रकृतिस्थ कफ को बल और ओजस् दोनों कहा गया है। वास्तव में रस से लेकर शुक्र-पर्यन्त धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है वही ओजस् तथा बल है। देखें—सु० सू० अ० १५। यद्यपि ऊपर ओजस् को ही बल कहा है किन्तु सु० सू० अ० १५ श्लोक २१-२२ में ओजस् को बल का कारण बतलाया है और बल को ओजस् का कार्य कहा है। कभी कार्य कारण में अभेद भी देखा जाता है। जो आहार-विहार ओजस् को बढ़ाते हैं, वे ही बल को भी।

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः। तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोप[2]रुध्यते ॥११८॥

वात की गतियाँ—स्वस्थ शरीर में जितनी चेष्टायें (चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना, आँख खोलना, बन्द करना आदि) होती हैं, वे सभी प्राकृत वात द्वारा ही होती हैं। यही दोषरहित वात प्राणियों का प्राण कहा गया है। जब यह विकृत हो जाता है तो इसी से रोग उत्पन्न होते हैं और इसी की विकृति से मृत्यु भी हो जाती है।

नित्यं सन्निहितामित्रं समीक्ष्यात्मानमात्मवान्। नित्यं युक्तः परिचरेदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥११९॥

स्थिर आयु की कामना करने वाले जितेन्द्रिय तथा धीर पुरुष को चाहिये कि वह सदैव अपने को शत्रुओं से घिरा हुआ समझकर उचित आहार-विहार से अपनी परिचर्या करे।

तत्र श्लोकौ—

शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोगा मानविकल्पजाः। क्षयाः सपिडकाश्चोक्ता दोषाणां गतिरेव च ॥१२०॥
कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना। ज्ञानार्थं भिषजां चैव प्रजानां च हितैषिणा ॥१२१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—प्रजा (प्राणिमात्र) के हित चाहने वाले तत्वदर्शी महर्षि आत्रेय ने
वैद्यों के ज्ञान के लिये प्रस्तुत कियन्तःशिरसीय नामक इस अध्याय में—शिरोरोग, हृदयरोग, दोषों के मान-
विकल्प से होने वाले रोग, क्षय, पिडकायें और दोषों की गतियों का वर्णन किया है।

विकल्प से होने वाले रोग, क्षय, पिडकायें और दोषों की गतियों का वर्णन किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-
चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
कियन्तःशिरसीय नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

१. 'बलमिति बलहेतुत्वेन, मल इति शरीरमलिनीकरणात्; ओज इति सारभूतं, यदि वा द्वितीयश्लैष्मिकौजोहेतुत्वेनौजः, वक्ष्यति शारीरे 'तावच्चैव श्लैष्मिकस्यौजसः प्रमाणम्' इति चक्रः।
२. 'उपरुध्यते = म्रियते' चक्रः।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अथातस्त्रिशोथीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कयन्तःशिरसीय नामक अध्याय के बाद अब हम त्रिशोथीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—'त्रिशोथीय' अथवा 'त्रिशोफीय' इस प्रकार दो पाठ अलग-अलग संस्करणों में मिलते हैं। वास्तव में 'शोफस्तु श्वयथुः शोथः', इति अमरः। शोफ, श्वयथु, शोथ तीनों शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। इसके पहले अध्याय में पिडकाओं का वर्णन किया गया था। तदनन्तर प्रसंगप्राप्त शोथ का वर्णन इस अध्याय में किया जारहा है।

त्रयः शोथा भवन्ति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः; ते पुनर्द्विविधा निजागन्तुभेदेन ॥ ३ ॥

निज (अन्तर्जात)-आगन्तुज-शोथ (Endogenous & Exogenous Oedemas)—शोथ तीन प्रकार के होते हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज। ये शोथ फिर निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार के होते हैं।

वक्तव्य—सामान्य रूप से सभी शोथ त्रिदोषज (सान्निपातिक) होते हैं। उक्त जो तीन भेद बतलाये गये हैं, वे तत्-तत् दोष विशेष के कारण है। विशेष इसका व्याख्यान चरक चिकित्सास्थान अ० १२ में करेंगे। निज का तात्पर्य है, अन्तर्जात (शरीरगत) दोषों से। आगन्तुज से तात्पर्य है चोट लगना आदि बाहरी कारणों से। निज अथवा आगन्तुज से जब कष्ट होता है तब वात आदि दूषित होते हैं।

तत्रागन्तवश्छेदनभेदनक्षणनभञ्जनपिच्छनोत्पेषणप्रहारवधबन्धनवेष्टनव्यधनपीडनादिभिर्वा, भल्लातकपुष्पफलरसात्मगुप्ताशूकक्रिमिशूकाहितपत्रलतागुल्मसंस्पर्शनैर्वा, स्वेदनपरिसर्पणावमूत्रणैर्वा, विषिणां सविषप्राणिदंष्ट्रादन्तविषाणनखनिपातैर्वा, सागरविषवातहिमदहनसंस्पर्शनैर्वा, शोथाः समुपजायन्ते ॥४॥

आगन्तुज शोथ के कारण—(Causes of Exogenous Oedemas)—यह शोथ छेदन, भेदन, क्षणन (अस्थियों का चूर्ण हो जाना), भंजन (टूट जाना), पिच्छन (कुचल जाना), उत्पेषण (ऊपर से पिस जाना) चोट लगना, वध, बन्धन, वेष्टन (किसी से लपेटा जाना), व्यधन (बड़ी सुई आदि का धँस जाना) या पीडन (किसी प्रकार दब जाना) आदि कारणों से अथवा भिलावा के फूल या फल का रस लग जाने से, किवाँच के रोओं के लग जाने से, शूकवाले कृमियों (बिच्छू, भौंरा, मधुमक्खी, बर्रे आदि) के शूक के लग जाने से, अहित (शोथ) कारक पत्र, लता, गुल्मों के स्पर्श से, विषैले प्राणियों के पसीने, शरीर पर चलने अथवा मूत्र के स्पर्श से, विषैले प्राणियों के दाढ़, दांत, सींग या नखों के लग जाने से अथवा समुद्री हवा, विषैली हवा, हिम (बर्फ) या आग के स्पर्श से शोथ (सूजन) उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—आगन्तुज शोथ के कारणों में छेदन, भेदन आदि का सम्बन्ध आघात (चोट) लगने के प्रकार-भेदों से है। दूसरा कारण विषैली वनस्पतियों का स्पर्श, तीसरा शूक युक्त क्रिमियों के स्पर्श (दंश), स्वेद, परिसर्पण या मूत्रस्पर्श से, चौथा जहरीले पशु-पक्षियों के दांत या सींगों के लगने से तथा पाँचवाँ समुद्री हवा आदि के स्पर्श से शोथ हो जाता है। कुल मिलाकर ये सभी कारण आगन्तुज (बाहरी) हैं। शूककृमि से यहाँ बिच्छू आदि का संकेत होता है।

ते पुनर्यथास्वं हेतुव्यञ्जनैरादावुपलभ्यन्ते निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैः, बन्धमन्त्रागदप्रलेपप्रतापनिर्वापणादिभिश्चोपक्रमैरुपक्रम्यमाणाः प्रशान्तिमापद्यन्ते ॥ ५ ॥

आगन्तुज शोथ की सम्प्राप्ति तथा उपशय—ये शोथ पहले अपने-अपने कारणों से युक्त होते हैं तदनन्तर वातादि दोषों के लक्षणों से युक्त शोथ के समान होते हुए भी अपने मूल कारण से एक देश में

विपरीत होते हैं। ये शोथ बन्धन, मन्त्रप्रयोग (झाड़-फूंक), अगद (विषनाशक ओषधियों) का प्रलेप, आग से सेंकना, निर्वापण (दाहशामक उपचार या शीतल जल का परिषेक) आदि यथोचित प्रयोगों से चिकित्सा करने पर शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—'एकदेशविपरीतैः'—इसका विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान के २० वें अध्याय में देखें। इस सम्बन्ध में वाग्भट का दृष्टिकोण—'अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः। हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः॥ रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद् विसर्पवान्। भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः॥ अ० हृ० नि० अ० १३।३८-३९। इसी के आगे श्लोक ४०,४१ में विषज शोथ का वर्णन भी किया गया है। प्रायः दोनों संहिताकारों का दृष्टिकोण समान है।

निजाः पुनः स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद् वा छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासातिसारशोषपाण्डुरोगोदरज्वरप्रदरभगन्दरार्शोविकारातिकर्शनैर्वा कुष्ठकण्डूपिडकादिभिर्वा छर्दिक्षवथूद्गारशुक्रवातमूत्रपुरीषवेगधारणैर्वा [1]कर्मरोगोपवासातिकर्शितस्य वा सहसातिगुर्वम्ललवणपिष्टान्नफलशाकरागदधिहरितकमद्यमन्दकविरूढनवशूकशमीधान्यानूपौदकपिशितोपयोगान् मृत्पङ्कलोष्टभक्षणाल्लवणातिभक्षणाद् गर्भसम्पीडनादामगर्भप्रपतनात् प्रजातानां च मिथ्योपचारादुदीर्णदोषत्वाच्च शोफाः प्रादुर्भवन्ति; इत्युक्तः सामान्यो हेतुः ॥ ६ ॥

निजशोथ के कारण—(Causes of Endogenous Oedemas)—निज शोथ स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापनवस्ति, अनुवासनवस्ति तथा शिरोविरेचन (नस्य आदि) के विधिवत् प्रयोग न करने से अथवा संसर्जनक्रम (पेया, विलेपी आदि) का ठीक-ठीक प्रयोग न होने से, किं वा छर्दि (वमन), अलसक (गुम हैजा), विसूचिका, श्वास, कास, अतिसार, शोथ, पाण्डुरोग, उदररोग, ज्वर, प्रदर, भगन्दर तथा अर्श (बवासीर) रोगों के उपद्रवों से, या अत्यन्त कृश (दुबला) होने से, या कुष्ठ, कृमि, पिडका आदि के कारण से, या वमन, छींक, डकार, शुक्र, वात (अपान), मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकने से, कर्म (पंचकर्म अथवा शारीरिक श्रम), रोग, उपवास (व्रत या लंघन), अधिक पैदल यात्रा करने से अत्यन्त कृश हुए पुरुष का शोथ, एकाएक अधिक भारी, खट्टा, नमकीन, पिष्टान्न (पीठी से अथवा चावलों के आटे से बने पदार्थ), फल, शाक, राग (आचार आदि), दही, हरितक (अदरख आदि), मद्य (शराब), मन्दक (अधजमी दही) विरूढ नवशूक (नये उगे हुए शूकधान्य), नये शमीधान्य (सेम, उड़द, मटर आदि), आनूपदेशज अथवा जलज पशुपक्षियों, मछली आदि के मांसों का सेवन करने से, अथवा मिट्टी, कीचड़ या भुनी हुई मिट्टी के खाने से, नमक के अधिक सेवन से, गर्भ में दबाव पड़ने से, समय से पहले अपूर्ण गर्भ के गिर जाने से, बच्चा हो जाने पर सूतिका के मिथ्या आहार-विहार से दोषों के बढ़ जाने पर शोथ उत्पन्न होते हैं। ये शोथ के सामान्य कारण कह दिये हैं।

वक्तव्य—'इत्युक्तः सामान्यो हेतुः'। यहाँ तक शोथ के अनेक कारणों का उल्लेख करने के बाद भी तन्त्र-
कार ने जो एक वचन का प्रयोग किया है, वह 'जातौ एकवचनम्', इस नियम विशेष के कारण किया गया है।
अथवा पृथक्-पृथक् कारण शोथ की उत्पत्ति में स्वतन्त्र हेतु हैं।

रागः—यहाँ राग शब्द का अर्थ अचार-चटनी किया है, जब कि अन्यत्र यह शब्द रंग तथा संगीत के
'राग' सामान्य का परिचायक है। आयुर्वेद में राग शब्द का प्रयोग—'सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः।
जम्बूफलरसैर्युक्तो **रागो** राजिकयान्वितः'॥ सिद्धयोगसंग्रह, अरोचकचिकित्सा। इसके अतिरिक्त 'रागखांडव'
नामक एक योग विशेष भी है।

आधुनिक मत से शोथ के ये कारण माने जाते हैं, यथा—१. स्रोतोभित्ति की प्रवेश्यता, २. स्रोतोगतभारवृद्धि, ३. रक्तरसगत प्रोभूजिनों की आसृतीय पीडनहीनता, ४. रक्तगत विभिन्न संघटकों का प्रभाव, और ५. धातुगत परिवर्तन।

यहाँ निज तथा आगन्तुज भेद से दो प्रकार के शोथों के कारणों का निर्देशमात्र किया है। इसके लक्षणों का वर्णन चरक चिकित्सास्थान अ० १२ श्लोक १२-१४ में देखें।

१. 'कर्मरोगोपवासाध्वकर्षितस्य' ग.।

यद्यपि शोथ, शोफ, श्वयथु, शब्द पर्याय रूप में गृहीत होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से शोथ के प्रमुख दो भेद होते हैं। १. **व्रणशोथ**—'व्रणाय शोथ:'। जो सूजन बाद में व्रण के रूप में परिणत होकर पूय, दुष्टरक्त के सम्यक् स्राव हो जाने पर शान्त होता है। २. **सामान्य शोथ**—जिसका निज शोथ के रूप में ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इसके बाद सर्वांगशोथ, एकांगशोथ, अंगविशेष के शोथ. इस प्रकार अनेक भेद किये जा सकते हैं। इसका विस्तृत वर्णन च० चि० अ० १२ में देखें।

अयं त्वत्र विशेषः—शीतरूक्षलघुविशदश्र[1]मोपवासातिकर्शनक्षपणादिभिर्वायुः प्रकुपितस्त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय शोफं जनयति। स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति, तथा श्यामारुणवर्णः प्रकृतिवर्णो वा, चलः स्पन्दनः खरपरुषभि[2]न्नत्वग्लोमा छिद्यत इव भिद्यत इव पीड्यत इव सूचीभिरिव तुद्यते पिपीलिकाभिरिव संसृप्यते सर्षपकल्कावलिप्त इव चिमिचिमायते सङ्कुच्यत आयम्यत इवेति वातशोथः (१)

वातज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—इस वातज शोथ में यह विशेषता होती है कि शीतल, रूक्ष, लघु, विशद (जो आर्द्रता का विनाश करे और घाव को भरे) के सेवन से अधिक श्रम, उपवास, आदि कारणों से शरीर के अत्यन्त कृश (दुर्बल) हो जाने से तथा अतिक्षपण (वमन-विरेचन आदि) के अत्यधिक हो जाने से प्रकुपित वायु त्वचा, मांस, रक्त आदि को दूषित करके शोथ को पैदा कर देता है। वह वातज शोथ शीघ्र उभड़ने तथा शान्त होने वाला होता है और उसका वर्ण काला, लाल अथवा रोगी के शरीर के वर्ण वाला होता है। यह फैलता, फड़कता है। जहाँ यह व्रणशोथ होता है वहाँ की त्वचा खुरदरी, रूक्ष तथा फटी-सी दिखती है और उचित पोषण प्राप्त न होने से रोमों में रूक्षता तथा खुरदरापन आ जाता है। शोथ युक्त स्थान में ऐसा अनुभव होता है कि मानो कोई काट रहा हो, फाड़ रहा हो, दबा रहा हो, सुइयाँ चुभा रहा हो, चिउँटियाँ घूम रहीं हों, सरसों के कल्क (लेप) के शरीर में लगाने की भाँति चुनचुनाहट हो रही हो अथवा उस स्थान को कोई सिकोड़ रहा हो अथवा खींच रहा हो—ऐसे लक्षण वातज शोथ में होते हैं। ये समस्त प्रवृत्तियाँ विकृत वात जनित हैं।

उष्णतीक्ष्णकटुकक्षारलवणाम्लाजीर्णभोजनैरग्न्यातपप्रतापैश्च पित्तं प्रकुपितं त्वङ्मांसशोणितान्य[3]भिभूय शोथं जनयति। स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति, कृष्णपीतनीलताम्रावभास उष्णो मृदुः कपिलताम्ररोमा, उष्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यते क्लिद्यते न च स्पर्शमुष्णं च [4]सुपूयत इति पित्तशोथः (२)

पित्तज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति एवं लक्षण—उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, क्षार, लवण तथा अम्ल पदार्थों के अधिक सेवन से, आग अथवा धूप को सेकने से, प्रकुपित पित्त त्वचा, मांस, रक्त इनको दूषितकर शोथ को पैदा कर देता है। यह पित्तज शोथ शीघ्र उभरने तथा शान्त होने वाला होता है। इसमें शोथ का वर्ण काला, पीला, नीला तथा ताम्रवर्ण का होता है, शोथ का स्थान गरम तथा मुलायम (मृदु) होता है। वहाँ के रोयें पिंगल तथा तांबे के रंग के हो जाते हैं। शोथ में दाह होता है, पीड़ा होती है तथा धुँआ-सा निकलता प्रतीत होता है, जलन होती है, पसीना निकलता है और वह स्थान नीला बना रहता है। वह व्यक्ति स्पर्श तथा उष्णता को सहन नहीं कर सकता। यह पित्तज शोथ है।

वक्तव्य—ग्रन्थकार के बाद प्रतिलिपिकारों की अनन्तता के कारण पाठभेदों की अनेकता का होना स्वाभाविक है किन्तु एक ही क्रिया का अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग अर्थ कर देना समीचीन नहीं है। ध्यान दें—चरक सू० अ० १७ श्लोक २३ की टिप्पणी में—**'शीतं सुपूयते शीतमिच्छति'**, चक्रः। और चरक सू० अ० १८ पित्तज शोथ प्रकरण की टिप्पणी में **'न सुपूयते न सहते'**। चक्रः। उद्धृत किया गया गया है।

इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि ग्रन्थकर्ता का कोई मौलिक दृष्टिकोण ही नहीं था। व्याख्याकार ने उसका प्रसङ्गानुसार अर्थ कर डाला। इस प्रकार अर्थ कर देना महर्षि आत्रेय जैसे तन्त्रकार की स्पष्टतया अवमानना है,

१. 'धूमोपवासा' ग.।
२. 'भिन्नलोमा' ग.।
३. 'शोणितादीन्यभिभूय' ग.।
४. 'न सुपूयते न सहते' चक्रः। 'न च स्पर्शमुष्णं च सहते' यो.।

पहले प्रसंग में आये हुए **'सुपूयते'** का समाधान हम कर चुके हैं। यहाँ हमारी समझ से ऐसा मूल पाठ रहा होगा—**'स्विद्यते क्लिद्यते स्पर्शमुष्णं च सुपूयते'**। इस बीच में **'न च'** का समावेश प्रमादवश हो गया है।

ऐसा पाठ स्वीकार करने पर इसका अर्थ होगा—पित्तजशोथ अत्यधिक उष्ण स्पर्श को उत्पन्न करता है। क्योंकि 'उष्यते दूयते' आदि पित्तजशोथ के भीतरी लक्षण हैं और 'स्पर्शमुष्णं' यह बाहरी लक्षण है। यही पित्त की प्रकृति भी है। 'न च' स्पर्शम् उष्णं च सहते'। इस पर विद्वान् स्वयं विचार करें कि क्या 'सुपूयते' का 'सहते' यह पाठभेद, प्रसंगोचित है अथवा नहीं।

गुरुमधुरशीतस्निग्धैरतिस्वप्नाव्यायामादिभिश्च श्लेष्मा प्रकुपितस्त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति। स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो भवति, पाण्डुश्वेतावभासो गुरुः स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानः शुक्लाग्ररोमा स्पर्शोष्णसहश्चेति श्लेष्मशोथः (३)

कफज शोथ : निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—गुरु (देर में पचने वाले), मधुर, शीत एवं स्निग्ध (घी-तेल आदि से बनाये हुए) पदार्थों के अधिक सेवन करने से, अधिक सोने से तथा व्यायाम आदि के न करने से प्रकुपित कफ त्वचा, मांस, रक्त आदि को दूषित करके शोथ को पैदा कर देता है। वह कफजशोथ देरी से बढ़ने और शान्त होने वाला होता है। वह हल्का पीला या सफेद रंग वाला होता है। उसमें भारीपन, चिकनापन, श्लक्ष्णता, स्थिरता और घनापन होता है। उस स्थान के रोमों का अगला भाग सफेद हो जाता है। उसमें उष्णस्पर्श (सेंक आदि) से सुख मिलता है अथवा वह कफज शोथ उष्णस्पर्श को सहने वाला होता है, इस प्रकार श्लेष्मज शोथ का वर्णन कर दिया गया है।

यथास्वकारणाकृतिसंसर्गाद् द्विदोषजास्त्रयः शोथा भवन्ति। यथास्वकारणाकृतिसन्निपातात् सान्निपातिक एकः, एवं सप्तविधो भेदः ॥ ७ ॥

द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक शोथों के निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—अपने-अपने कारणों तथा लक्षणों के मिल जाने से दो दोषों से होने वाले तीन शोथ द्विदोषज अथवा द्वन्द्वज कहे जाते हैं। अपने कारणों और लक्षणों के मिल जाने से तीन दोषों से होने वाला सन्निपातज शोथ होता है। १. वातज २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातकफज, ५. वातपित्तज, ६. कफपित्तज तथा ७. सन्निपातज इस प्रकार शोथ के सात भेद होते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार की प्रतिज्ञा थी 'त्रिशोथीय अध्याय' की व्याख्या करना; किन्तु इसमें सात प्रकार के शोथों का वर्णन कर दिया गया है। इसका समाधान है कि वात, पित्त, कफ मूल रूप में ये ही तीन दोष हैं। अगले चार भेद इन्हीं तीनों के सम्मिश्रण से हैं, अतः प्रधानता प्रथम तीन ही भेदों की है।

प्रकृतिभिस्ताभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः सप्तविधोऽष्टविधश्च शोथ उपलभ्यते; पुनश्चैक एव, उत्सेधसामान्यात् ॥ ८ ॥

शोथ के अनेक स्वरूप—उन-उन प्रकृतियों (स्वभावों) से भेद को प्राप्त होता हुआ शोथ दो प्रकार का (निज और आगन्तुज), तीन प्रकार का (वातज, पित्तज, कफज), चार प्रकार का (वातज, पित्तज, कफज, आगन्तुज), सात प्रकार का (वातज आदि ३, द्वन्द्वज आदि ३ और १ सन्निपातज = ७) और आठ प्रकार का (उक्त ७ और १ आगन्तुज = ८) शोथ देखा जाता है। वैसे यह उत्सेध (सूजन, रुग्णस्थान के ऊँचापन) के कारण एक ही प्रकार का होता है या दिखायी देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत तथा वाग्भट के अनुसार शोथ के भेद इस प्रकार हैं—सर्वांग अथवा सर्वसर, एकांग (स्थान विशेष का शोथ)। आकृतिक भेद से वाग्भट ने शोथ के पुनः ये भेद किये हैं—१. पृथु (मोटा), २. उन्नत (पर्याप्त उभारदार), ३. ग्रथित (गांठदार)। माधवकर ने साध्यता तथा असाध्यता की दृष्टि से इसके तीन भेद इस प्रकार किये हैं—१. ऊर्ध्वगत, २. मध्यगत तथा ३. अधोगत।

चरकोक्त शोथ-विभाग-तालिका (Chart of the Oedemas)

१. एकविध शोथ—	सभी में सूजन की समानता होने से ।
२. दो प्रकार का—	१. निज, २. आगन्तुज ।
३. तीन प्रकार का—	१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज ।
४. चार प्रकार का—	१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. आगन्तुज ।
५. सात प्रकार का—	१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज ।
६. आठ प्रकार का—	१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज, ८. आगन्तुज ।

भवन्ति चात्र—

[1]शूयन्ते यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च । पीडितान्युन्नमन्त्याशु वातशोथं तमादिशेत् ॥ ९ ॥
यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति । स्नेहोष्णमर्दनाभ्यां च प्रणश्येत् स च वातिकः ॥१०॥

वातज शोथ के लक्षण—जिसके शरीरावयव सूज गये हों, मानो सो गये हों, और अंग टूट जैसे रहे हों अथवा दुख रहे हों और शोथ वाले अवयव को दबाने पर गढ़ा जैसा हो जाय किन्तु शीघ्र ही पुनः वह स्थान पहले की भांति उठ (भर) जाय, उसे वातज शोथ कहते हैं । और जो शोथ हल्का लालवर्ण का हो, रात में न दिखायी देता हो अर्थात् सूजन कम हो जाती हो तथा जो स्नेहन, स्वेदन, मालिश के प्रयोगों से नष्ट हो जाता हो, वह भी वातज शोथ है ।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'शूयन्ते' के स्थान पर 'दूयन्ते' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि शोथ का तो यह प्रकरण ही है, अतः सूजन अर्थ की प्राप्ति होना कठिन नहीं है । यदि तन्त्रकार को 'शूयन्ते' पाठ ही अभीष्ट हो तो इसकी सिद्धि **टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष कर्तृवाच्य में—श्वयति के रूप में होती है और कर्म-कर्तरि प्रयोग में **शूयन्ते** के रूप में होती है । यथा—**पच्यते ओदनः स्वयमेव**। यहाँ पर जो वातज शोथ के लक्षण दिये हैं, इनसे भी अधिक स्पष्ट लक्षण च० चि० अ० १२ में देखें ।

यः पिपासाज्वरार्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते । स्विद्यति क्लिद्यते गन्धी स पैत्तः श्वयथुः स्मृतः ॥११॥
यः पीतनेत्रवक्त्रत्वक्[2] पूर्वं मध्यात् [3]प्रशूयते । तनुत्वक् चातिसारी च पित्तशोथः स उच्यते ॥१२॥

पित्तज शोथ के लक्षण—प्यास और ज्वर से पीड़ित जिस मनुष्य का जो शोथ दुखता और जलनयुक्त हो, पसीना निकल रहा हो, क्लेद युक्त हो, विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त हो, उसको पित्तज शोथ कहते हैं। जिस शोथ रोगी के नेत्र, मुख तथा त्वचा पीली पड़ गयी हो, जो शोथ सर्वप्रथम शरीर के मध्यभाग से उत्पन्न होता है और जिसमें शोथस्थान की त्वचा पतली हो गयी हो, साथ ही अतिसार हो रहा हो वह पित्तज शोथ कहा जाता है ।

वक्तव्य—'पित्ताद् ऋते नास्ति पाकः' इस सिद्धान्त के अनुसार ही **'तनु त्वक्'** और 'पीतत्वक्' लक्षणों का वर्णन है । ये पच्यमान व्रणशोथ के लक्षण हैं । ऐसी स्थिति में व्रणशोथ स्वयं फूट जाता है या उसको कुशल चिकित्सक फोड़ने का उपक्रम करता है । क्योंकि पूय को शल्य कहा गया है, उसका निर्हरण (निकालना) ही उचित होता है । अन्यथा वह समीपस्थ अंगों को गला या सड़ा देता है । पित्तज शोथ के विशेष लक्षण चरक चिकित्सास्थान अध्याय १२ में देखें ।

शीतः सक्तगतिर्यस्तु [4]कण्डूमान् पाण्डुरेव च । निपीडितो नोन्नमति श्वयथुः स कफात्मकः ॥१३॥
यस्य शस्त्रकुशच्छिन्नाच्छोणितं न प्रवर्तते । कृच्छ्रेण [5]पिच्छा स्रवति स चापि कफसम्भवः ॥१४॥

१. 'दूयन्ते' ग. ।
२. 'पीतमुखनेत्रत्वक्' ग. ।
३. 'प्रसूयते' ग. ।
४. 'पाण्डुः कण्डूयतेऽपि च' यो. ।
५. 'पिच्छां' ग. ।

कफज शोथ के लक्षण—जो शोथ स्पर्श करने से शीतल प्रतीत होता हो, जिसकी गति (सूजन का फैलना) रुकी हो, जिसमें खुजली हो और पीलापन हो, जो दबाने पर दब तो जाता हो किन्तु अधिक न उठता हो वह कफज शोथ है । जिस शोथ में शस्त्र, कुश आदि से कट जाने पर खून नहीं निकलता तथा कठिनता से पंछा (चिपचिपा स्राव) निकलता है, वह भी कफज शोथ होता है ।

वक्तव्य—कफज शोथ चिरपाकी होता है, अतएव इसको **'सक्तगति'** कहा गया है । यह शोथ लसीका-वाहिनी सिराओं के अवरोध से होता है, रात्रि में कफ के संचार में रुकावट आ जाने से इसकी वृद्धि होती है । विशेष विवरण च० चि० अ० १२ में देखें ।

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः । सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रहेतुजः ॥१५॥

द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक शोथ—निदान तथा लक्षणों के संसर्ग (परस्पर मिले होने) से द्वन्द्वज (दो दोषों से युक्त) शोथ होता है । तीनों दोषों के मिले-जुले कारणों से उत्पन्न उन सभी दोषों की आकृतियों (लक्षणों) से युक्त शोथ सान्निपातिक होता है ।

वक्तव्य—दोषों के अलग-अलग लक्षण कह दिये गये हैं । वे दोष जब जिस रूप में मिल जाते हैं, उनकी तदनुरूप संज्ञायें रख दी जाती हैं । तर-तम भेद अथवा अंशांश कल्पना से इनकी अनन्तता सिद्ध होती है । अतः दो दोषों के मेल से उत्पन्न रोग को द्वन्द्वज और तीनों दोषों से उत्पन्न रोग को सन्निपातज या त्रिदोषज कहते हैं ।

[1]यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः [2]शोथः सर्वाङ्गगो भवेत् । जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः ॥
यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा । स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥१७॥

शोथ की कष्टसाध्यता, असाध्यता—पुरुषों का जो पैरों से आरम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाय वह शोथ कष्टसाध्य होता है । स्त्रियों का जो शोथ मुख प्रदेश से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाय वह कष्टसाध्य होता है । जो शोथ स्त्री अथवा पुरुष के गुह्यांगों (योनि, लिंग या गुदप्रदेश) में उत्पन्न होकर फिर शरीर में फैल रहा हो तथा जो उपद्रवों से युक्त हो, ऐसा शोथ कष्टतम (असाध्य) होता है ।

वक्तव्य—प्रायः सभी रोगों में जब अरिष्ट लक्षण दिखलायी देते हैं, तो उसको असाध्य समझा जाता है। तथापि—**'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति'**। इस शास्त्रवचन के अनुसार चिकित्सा करते जाना चाहिये । अरिष्टलक्षणों का ज्ञान सर्वत्र चिकित्सक के यश की सुरक्षा के लिये आवश्यक होता है । शोथ की कष्ट-साध्यता अथवा असाध्यता के बारे में सभी संहिताकार एक मत हैं । देखें—सुश्रुतसंहिता चि० अ० २३ । अष्टाङ्ग-सङ्ग्रह शा० अ० ११ तथा माधवकर के शोथ निदान में ।

इस प्रसंग में आचार्य क्षारपाणि का वचन भी द्रष्टव्य है—'ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम् । उभयं बस्तिसञ्जातः शोथो हन्ति न संशयः' । अर्थ स्पष्ट है । आचार्य चक्रपाणि का वचन देखें—'पादाभिनिर्वृत्तः पुरुषाणां लघावधोदेशे जातः सन् स यदा न जीयते तदा गुरुमूर्ध्वप्रदेशं गतः स च न पार्यते जेतुं, यो हि लघौ प्रदेशे जेतुं न पार्यते गुरुप्रदेशगतोनितरामेव न पार्यते, एवं प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च य इत्यपि ज्ञेयं, वचनं हि—'अधोभागो गुरुः स्त्रीणामूर्ध्वः पुंसां गुरुस्तथा' । इति चक्रः । अर्थात् स्त्रियों का कमर से नीचे का भाग भारी होता है और पुरुषों का कमर से ऊपर का भाग भारी होता है । अतः लघु भाग का शोथ गुरुभाग में उत्पन्न शोथ की अपेक्षा चिकित्सा की दृष्टि से सरल होता है । उक्त पद्य में पठित **'सुकष्ट'** शब्द का अर्थ अतिकष्टसाध्य है और **'कष्टतम'** शब्द का अर्थ है, असाध्य ।

छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च । सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसङ्ग्रहः ॥१८॥

शोथ के उपद्रव— संक्षेप में ये सात शोथ के उपद्रव होते हैं—वमन, श्वास, भोजन के प्रति अरुचि, प्यास का अधिक लगना, ज्वर, अतिसार और दुर्बलता ।

१. 'पादाभिनिर्वृत्तः पुरुषाणां लघावधोदेशे जातः सन् स यदा न जीयते तदा गुरुमूर्ध्वप्रदेशं गतः स च न पार्यते जेतुं, यो हि लघौ प्रदेशे जेतुं न पार्यते गुरुप्रदेशगतो नितरामेव न पार्यते; एवं प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च य इत्यपि ज्ञेयं; वचनं हि—'अधोभागो गुरुः स्त्रीणामूर्ध्वः पुंसां गुरुस्तथा' इति चक्रः ।
२. 'शोथो गुर्वङ्गगो' ग. ।

वक्तव्य—कभी-कभी वमन और अतिसार होने के बाद शोथ का शमन होते भी देखा गया है, यह अपना चिकित्साकालीन अनुभव है। सुश्रुत में शोथ के उपद्रवों की गणना इस प्रकार है—'श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः। हिक्कातीसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि' ॥ सु० चि० अ० २३। इसमें चरक की अपेक्षा हिचकी और कास दो उपद्रव अधिक गिनाये हैं। इसके आगे अब एकदेशीय शोथ रोगों का परिचय प्रस्तुत किया जारहा है। जो शरीर के किसी अंग विशेष में उत्पन्न होते हैं।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते। आशु [1]सञ्जनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥१९॥

देशीय-शोथ (Local Swellings) **उपजिह्विका** जिस पुरुष का कुपित हुआ कफ जीभ के मूल-भाग में रहता है, वह शीघ्र ही उक्तस्थान में शोथ को उत्पन्न कर देता है, उससे इसको उपजिह्विका हो जाती है। अर्थात् उस जिह्वा के मूलभाग में स्थित शोथ को उपजिह्विका (Ranula) कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने जिह्वागत ५ रोगों की गणना में उपजिह्विका का नाम लिया है और कण्ठगत रोगों में अधिजिह्वा की गणना की है। सामान्य दृष्टि से जीभ के निचले भाग में होने वाले रोग को उपजिह्विका (जिह्वायाः उप = समीपे भवति, इति) कहते हैं। जो जिह्वामूल के ऊपर उत्पन्न होने वाला शोथ अधिजिह्वा कहा गया है। सुश्रुत में दोनों के निदान क्रमशः इस प्रकार हैं।

उपजिह्विका—जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः। प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति' ॥ सु० नि० अ० १६।३९। और **अधिजिह्वा**—'जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्। ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम्' ॥ सु० नि० अ० १६।५२। इस प्रकार सुश्रुत ने दोनों के भिन्न-भिन्न अधिष्ठानों का स्पष्ट वर्णन किया है—जिह्वागतास्तु तथा कण्ठगतास्तु के रूप में।

वाग्भट ने दोनों के भेदों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'प्रबन्धनेऽधो जिह्वायाः शोफो जिह्वाग्रसन्निभः। साङ्कुरः कफपित्तास्रैर्लालोषास्तम्भवान् खरः ॥ अधिजिह्वः सरुक्कण्डूर्वाक्याऽऽहारविघातकृत्। तादृगेवोपजिह्वस्तु जिह्वाया उपरि स्थितः ॥' अ० हृ० उ० तं० अ० २१।३४-३५ ॥ अर्थात् अधिजिह्व नामक रोग जीभ के मूल में नीचे की ओर जीभ के अग्रभाग जैसा, अंकुरों से युक्त, लालास्राव, दाह और जकड़नवाला शोथ हो जाता है और उसमें वेदना तथा खुजली होती है। वह खाने एवं निगलने में रुकावट डालता है। इसको अधिजिह्व कहते हैं। यह कफ, पित्त एवं रक्त की विकृति से पैदा होता है। उसी प्रकार जो जीभ के ऊपरी भाग में स्थित होता है उसे उपजिह्व (Acute glossitis) कहते हैं।

चरक में इन दोनों का इस प्रकार स्पष्ट निर्देश है—'जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विकास्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च', देखें— च० चि० अ० १२।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकले व्यवतिष्ठते। आशु [2]सञ्जनयेच्छोफं करोति गलशुण्डिकाम् ॥२०॥

गलशुण्डी—जिस पुरुष का प्रकुपित कफ काकल (तालु-मूल) में स्थित होकर उस स्थान में शोथ पैदा कर देता है, उस शोथ को गलशुण्डिका कहते हैं।

वक्तव्य—चरकोक्त गलशुण्डी को सुश्रुत ने कण्ठशुण्डी संज्ञा दी है। वास्तव में यह शोथ गलशुण्डी में होता है, अतएव इसका तदनुरूप नाम रख दिया है। जैसे बढ़ी हुई तिल्ली को तिल्ली रोग कहा जाता है। **सुश्रुत का दृष्टिकोण**—'श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो दीर्घः शोफो ध्मातबस्तिप्रकाशः। तृष्णाकासश्वासकृत्व सम्प्रदिष्टो व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्ना' ॥ सु० नि० अ० १६। सुश्रुत ने कफ के साथ रक्त के प्रकोप को भी इसकी उत्पत्ति का कारण माना है। इसमें श्वास, कास तथा पिपासा ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में वाग्भट का मत भी द्रष्टव्य है। देखें—अ० हृ० उ० तं० अ० २१। इसकी कण्ठोपरोध वाली स्थिति कभी भयावह हो जाती है।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो गलबाह्येऽवतिष्ठते। शनैः [3]सञ्जनयेच्छोफं गलगण्डोऽस्य जायते ॥२१॥

१-२-३. 'सञ्जनयञ्छोथम्' यो.।

गलगण्ड—जिस पुरुष का कुपित हुआ कफ गल के बाहरी तरफ स्थित होकर धीरे-धीरे शोथ को उत्पन्न करता है, उसे गलगण्ड कहते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि महर्षि आत्रेय ने गलगण्ड को रोग स्वीकार किया है और यह रोग है भी, किन्तु उत्तर-प्रदेश के अलमोड़ा (सम्प्रति पिथौरागढ़) जिला के अन्तर्गत गंगोली ग्राम के समीप कुछ परिवारों का यह सहज (कुल परम्परागत) रोग है। इस रोग में भार के अतिरिक्त किसी प्रकार की पीड़ा रोगी को नहीं होती, न इसमें किसी प्रकार के विकार की उत्पत्ति ही होती देखी गयी है। यह छोटा, बड़ा अनेक आकार का होता है। कभी कभी गले के चारों ओर अनेक गलगण्ड देखकर शिवजी के मुण्डमाला का भ्रम उत्पन्न होता है। आधुनिक मतानुसार इसको Thyroid gland की विकृति कहते हैं।

चरक में गण्ड और गण्डमाला दोनों का परिचय इस प्रकार दिया है—'गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः' ॥ च० चि० अ० १२। ऊपर वर्णित गण्ड तथा गण्डमाला निरापद होते हैं। वहाँ के लोग इसकी चिकित्सा भी नहीं कराते और न उनके मन में रोग के रूप में इसका कोई आतंक ही होता है। सुश्रुत निदानस्थान अ० ११ में जिन वातज, कफज, मेदोज, गलगण्डों की चर्चा की है, सचमुच उक्त गलगण्ड इन सब से भिन्न हैं। इसमें साध्यता या असाध्यता के विवेचन की आवश्यकता ही नहीं होती है।

सुश्रुतोक्त गलगण्ड का स्वरूप—'निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले। महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत्' ॥ सु० नि० अ० ११।२९।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितस्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थिरः। आशु [1]सञ्जनयेच्छोफं जायतेऽस्य गलग्रहः ॥२२॥

गलग्रह—जिस मनुष्य का प्रकुपित हुआ कफ गल प्रदेश के भीतर स्थिर होकर शीघ्र ही शोथ को उत्पन्न कर दे, उसे 'गलग्रह' कहते हैं।

वक्तव्य—इसके अतिरिक्त घोड़े के गले के रोग को भी गलग्रह कहते हैं। वैसे अन्यत्र यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—1. Seizing by the throat. 2. A kind of disease. 3. Number of certain days in the dark fortnight of a month i. e. the 4th, 7th, 8th, 9th and 13th.

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति। शोथं सरागं [2]जनयेद् विसर्पस्तस्य जायते ॥२३॥

विसर्प—जिस पुरुष का रक्त तथा पित्त कुपित होकर त्वचा में फैलता है और लालरंग युक्त शोथ को पैदा करता है, उसे विसर्प (Erysipelas) कहते हैं। इसका विशेष परिचय चरक चि० अ० २१ में देखें।

यस्य पित्तं प्रकुपितं त्वचि रक्तेऽवतिष्ठते[3]। शोफं सरागं [4]जनयेत् पिडका तस्य जायते ॥२४॥

पिडका—जिस पुरुष का कुपित हुआ पित्त त्वचा और रक्त में आकर स्थित हो जाता है और लालिमा के साथ शोथ को उत्पन्न करता है, उसे पिडका कहते हैं।

वक्तव्य—विसर्प तथा पिडका में यद्यपि दोष-दूष्य समान हैं तथापि विसर्प में वह दोष इधर-उधर सरकता है और पिडका में वह स्थिर रहता है। देखें चक्रपाणि का मत—'विसर्पस्य पिडकायाश्च तुल्यकारणत्वेऽपि विसर्पे सर्पणशीलो दोषः पिडकायां च स्थिरो ज्ञेयः। अतएव पिडकासम्प्राप्तौ 'अवतिष्ठते' इत्युक्तम्। इति चक्रः। यहाँ पर अव उपसर्ग पूर्वक 'स्था गतिनिवृत्तौ' धातु का प्रयोग है। इसका अर्थ होता है जिसकी गति का अवरोध हो गया हो।

[5]यस्य प्रकुपितं पित्तं शोणितं प्राप्य शुष्यति। तिलका पिप्लवो व्यङ्गा नीलिका तस्य जायते ॥

१. 'संजनयञ्छोथम्' यो.।

२. 'जनयत्' यो.।

३. 'विसर्पस्य पिडकायाश्च तुल्यकारणत्वेऽपि विसर्पे सर्पणशीलो दोषः पिडकायां च स्थिरो ज्ञेयः, अत एव पिडकासम्प्राप्तौ 'अवतिष्ठते इत्युक्तम्' इति चक्रः।

४. 'जनयत्' यो.।

५. 'यस्य पित्तमित्यादौ पित्तं प्राप्य शोणितं कर्तृ शुष्यतीति योजनीयम्' इति चक्रः।

तिलक, पिप्लु, व्यङ्ग्य, नीलिका—जिस पुरुष का प्रकुपित पित्त रक्त में पहुँचकर सूख जाता है, उसके शरीर में तिलक अथवा तिल, पिप्लु, व्यङ्ग्य, और नीलिका उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य में चार क्षुद्र रोगों का एक साथ वर्णन सूत्र रूप में कर दिया है। अतः यहाँ उनका स्पष्ट निर्देश ग्रन्थान्तरों की सहायता से किया जा रहा है।

तिल का लक्षण—'कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च। वातपित्तकफोच्छोषात् तान् विद्यात् तिलकालकान्' ॥ सु० नि० अ० १३। इसी को तिल, तिलक, तिलकालक भी कहते हैं।

पिप्लु का लक्षण—'नीरुजं सममुत्पन्नं मण्डलं कफरक्तजम्। सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः' ॥ सु० नि० अ० १३। सुश्रुत ने इसका गुणकृत नाम 'जतुमणि' रखा है। अर्थात् यह पिप्लु जतु=लाख के वर्ण का मणि के आकार का होने से जतुमणि कहा जाता है।

व्यङ्ग्य का लक्षण—'क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः। सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ॥ नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्ग्यं तमादिशेत्' ॥ सु० नि० अ० १३।

नीलिका का लक्षण—'कृष्णमेवं गुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः'। सु० नि० अ० १३। अर्थात् व्यंग्य के समान तथा सदृश जो काले रंग का मण्डल शरीर पर या मुख पर होता है उसे 'नीलिका' कहते हैं। सुश्रुत के अनुसार मुख अथवा शरीर के किसी अंग में यह नीलिका होती है या हो सकती है किन्तु वाग्भट ने इसकी उत्पत्ति मुख से अतिरिक्त अंगों में ही स्वीकार की है। यथा—'श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका'। अ० हृ० उ० अ० ३१।

यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्खयोरवतिष्ठते। श्वयथुः शङ्खको नाम दारुणस्तस्य जायते ॥ २६ ॥

शंखक—जिस पुरुष के शंख-प्रदेश (भौंहों और कानों के मध्य भाग) में कुपित हुआ पित्त आकर ठहर जाता है उसके उस प्रदेश में शंखक नामक अत्यन्त कष्टदायक शोथ उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—इस रोग के सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्यस्थल ये हैं—चरक सिद्धिस्थान अ० ९, सुश्रुत उ० तं० अ० २५ तथा अ० हृ० उ० तं० अ० २३। माधवनिदान की मधुकोशटीका शिरोरोग प्रकरण में देखें। माधवकर ने शंखक के जो लक्षण दिये हैं, उनको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः। तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ स शिरोविषवद् वेगी निरुध्याशु गलं तथा। त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ॥ त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्' ॥ माधवनि० शिरोरोग०। अर्थात् यह रोग उत्पन्न होने के तीन दिन के भीतर रोगी का वध कर देता है। यदि तीन दिन के बाद जीवित रह जाय तो भगवान् का नाम लेकर इसकी चिकित्सा करे, क्योंकि हो सकता है वह अच्छा हो जाय।

यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते। ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥२७॥

कर्णमूलिक शोथ—ज्वर के अन्त में जो प्रकुपित पित्त कर्णमूल में स्थित होकर शोथ को उत्पन्न करता है, वह दुश्चिकित्स्य (चिकित्सा द्वारा साध्य नहीं) होता है। अतः उसको मृत्यु का कारण कहा जाता है।

वक्तव्य—यहाँ इतना निर्देश करके महर्षि आत्रेय ने आगे इस विषय को और स्पष्ट किया है—'सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते' ॥ च० चि० अ० ३। अतः ऊपर जो सामान्यज्वर कहा गया है उसको सन्निपातज्वर समझना चाहिये। क्योंकि सामान्य ज्वरों में कर्णमूलिक ग्रन्थि (Parotid gland) शोथ नहीं देखा जाता है और भी देखें—'ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः। क्रमेण साध्यः खलु कष्टसाध्यस्ततोऽप्यसाध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥' हारीतसंहिता। महर्षि हारीत ने इस शोथ को तीन भागों में विभाजित कर उसकी साध्य, कष्टसाध्य एवम् असाध्य स्थितियों को स्पष्ट किया है। ये शास्त्रकारों के अपने-अपने अनुभव हैं।

वातः प्लीहानमुद्धूय कुपितो यस्य तिष्ठति। शनैः परितुदन् पार्श्वं प्लीहा तस्याभिवर्धते ॥२८॥

प्लीहावृद्धि—जिसका प्रकुपित वातदोष अपने स्थान से प्लीहा को हटाकर स्थित होता है तो उस व्यक्ति के वाम पार्श्व में धीरे-धीरे चुभने की-सी पीड़ा होने लगती है और प्लीहा की वृद्धि हो जाती है।

वक्तव्य—प्लीहाशोथ (Splenitis) का वर्णन आगे इस प्रकार है—'वामपार्श्वे स्थितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्धते।' च० चि० अ० १३। अर्थात् वाम भाग में स्थित प्लीहा वायु के कारण वृद्धि को प्राप्त होने से अपने स्थान से च्युत होकर (हटकर) बढ़ता है। यही आशय है—**'प्लीहानम् उद्धूय'** का। वायु का कार्य है झकझोरना और फुलाना। अतः 'प्लीहानम् उद्धूय' का अर्थ है प्लीहा में शोथ को उत्पन्न करके। वास्तव में 'च्युतः' वाली स्थिति को आधुनिक दृष्टि से प्लीहा की अतिवृद्धि (Splenomegaly) कहते हैं।

यस्य वायुः प्रकुपितो गुल्मस्थानेऽवतिष्ठते। शोफं सशूलं जनयन् गुल्मस्तस्योपजायते ॥२९॥

गुल्म—जिसका प्रकुपित वातदोष शूल और शोथ (उभार) को पैदा करता हुआ गुल्मस्थान में आकर रुक जाता है, तो वहाँ पर वह गुल्म का रूप धारण कर लेता है।

वक्तव्य—गुल्म-हृदय और वस्ति के बीच में अर्थात् सम्पूर्ण उदरप्रदेश में चलने (घटने, बढ़ने) वाली अथवा स्थिर रहने वाली जो गाँठें होती हैं उन्हें गुल्म कहते हैं। वातज गुल्म की उत्पत्ति में वायु की प्रधानता रहती है। इसमें स्थान का निर्णय एवं कारण गुप्त रहता है। पित्तज तथा रक्तज गुल्म पक भी जाते हैं। अन्तःविद्रधि शीघ्र पकती है और गुल्म मन्दपाकी होता है, यही इन दोनों में भेद है। सामान्य रूप से गुल्म शब्द का प्रयोग वृक्ष, लता, पशु, सैन्य गुल्म आदि के रूप में होता है। विशेष च० चि० अ० ५ में देखें।

यस्य वायुः प्रकुपितः शोफशूलकरश्चरन्। वङ्क्षणाद् वृषणौ याति वृद्धिस्तस्योपजायते ॥३०॥

वृद्धिरोग—जिसका शोथ तथा शूलकारक प्रकुपित वातदोष एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता हुआ वंक्षण से वृषणों (अण्डकोषों) में जाता है, उसको वृद्धिरोग हो जाता है।

वक्तव्य—वाग्भट के मत से—'क्रुद्धो रुद्धगतिर्वायुः शोफशूलकरश्चरन्। मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोशाभिवाहिनीः। प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोशयोः'। अ० हृ० नि० अ० ११।२१-२२। यह वृद्धि कभी एक ओर कभी दोनों कोशों में होती देखी गयी है। **'वङ्क्षणाद् वृषणौ याति'**—इस अंश से प्रतीत होता है कि यह वृद्धि 'वृषणशोथ' है। शेष सु० नि० अ० १२ में देखें।

यस्य वातः प्रकुपितस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः। शोथं सञ्जनयेत् कुक्षावुदरं तस्य जायते ॥३१॥

उदररोग—जिसका प्रकुपित वायु त्वचा और मांस के बीच में स्थिर होकर कुक्षिप्रदेश में शोथ को उत्पन्न करता है, उसको उदररोग हो जाता है।

वक्तव्य—उदररोग का विस्तृत विवरण सुश्रुत नि० अ० ७; सुश्रुत चि० अ० १४, अष्टांगहृदय नि० अ० १२ तथा चि० अ० १५; अष्टांगसंग्रह चि० अ० १७ और च० चि० अ० १३ में देखें।

यस्य वातः प्रकुपितः [1]कुक्षिमाश्रित्य तिष्ठति। नाधो व्रजति नाप्यूर्ध्वमानाहस्तस्य जायते ॥३२॥

आनाह—जिसका प्रकुपित वायु कुक्षि प्रदेश का आश्रय लेकर वहीं रुक जाता है, वह वहाँ से न नीचे की ओर न ऊपर की ओर जाता है, इस स्थिति से उसको आनाह रोग हो जाता है।

वक्तव्य—आनाह (Constipation कोष्ठबद्धता, कब्ज या मलबद्धता) रोग आहार की आमावस्था
में भी होता है और पक्वावस्था में भी हो जाता है। इसमें आमाशय, अन्त्र एवं मलाशय की गति रुक जाती
है। यह सामान्यतः दो प्रकार का होता है—१. आमाशय की गति के रुकने से (देखें—सु० उ० अ० ५७
श्लोक २१) और २. पक्वाशय (मलाशय) की गति रुकने से (देखें—वही श्लोक २२)। इसमें इन दोनों
आशयों के मध्यवर्ती अन्त्र की गति भी रुक जाती है। आनाह को आध्मान कहना या मानना उचित नहीं
है। क्योंकि आध्मान में पेट फूलने लगता है और आनाह में उदर (पेट) बँध या अकड़ जाता है। सुश्रुत
के अनुसार आनाह का स्वरूप—'आमं शकृद् वा निचितं क्रमेण, भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति' ॥ सु० उ० तं० अ० ५७।२०।

रोगाश्चोत्सेधसामान्यादधिमांसार्बुदादयः। विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसङ्ग्रहे ॥३३॥

---

१. 'कुक्षिमावार्य' ग.।

उत्सेध सामान्यरोग—अधिमांस, अर्बुद, श्लीपद आदि रोगों को, जो नाम और रूपों से भिन्न होने पर भी उत्सेध (उभार या उठाव) के समान होने के कारण, इस शोथसंग्रह में गिन लेना चाहिये।

वक्तव्य—वास्तव में प्रमुख रोगों की गणना यहाँ कर दी गयी है। तथापि श्लीपद, ग्रन्थि, ब्रध्न, बर्रे, ततैया आदि के काटने आदि से भी जो शोथ हो जाता है, इस प्रकार के कथित तथा सम्भावित सभी शोथों की गणना यहाँ की जासकती है, ऐसा तन्त्रकार का अभिप्राय है।

वातपित्तकफा यस्य युगपत्कुपितास्त्रयः। जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रिताः ॥३४॥
जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः। तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीति विनिर्दिशेत् ॥३५॥
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्। कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं सम्पद्यते सुखी ॥३६॥

रोहिणी—जिस पुरुष के वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष एक साथ कुपित होकर जीभ के मूल में स्थित होकर विदाह उत्पन्न करते हुए उभड़ जाते हैं तो वे उस स्थान में अत्यन्त शोथ तथा अनेक प्रकार की पीडाओं को उत्पन्न कर देते हैं। उस शीघ्र (मृत्यु) कारी रोग को रोहिणी कहना चाहिये। इस रोग के उत्पन्न होने के बाद रोगी के जीवन की अवधि अधिक से अधिक तीन दिन की होती है। यदि कुशल चिकित्सक द्वारा शीघ्र ही चिकित्सा करा ली जाय तो शीघ्र ही वह सुखी हो सकता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा रक्तज भेद से पाँच प्रकार का रोहिणी रोग माना है। प्राणनाशकता में दोनों ही संहिताकार सहमत हैं। देखें—सुश्रुत निदान अ० १६ श्लोक ४७ से ५०। रोहिणी का साध्यासाध्य निर्णय इस प्रकार है—'वातात् पित्तात् कफात् त्रिभ्यो रक्ताद् रोहिण्य ईरिताः। अन्याः सद्योमारयन्ति ह्याद्यास्तिस्रः क्रियां विना'। इसी का अनुमोदन आचार्य भोज ने भी किया है।

आधुनिक दृष्टि से रोहिणी (Diptheria) के अनेक रूप हैं, यथा—१. पक्षी (Avian) रोहिणी, २. नेत्रश्लेष्मला रोहिणी ३. त्वचा रोहिणी, ४. गलतोरणिका रोहिणी, ५. रक्तस्रावी रोहिणी, ६. स्वरयन्त्र रोहिणी, ७. दुर्दम रोहिणी, ८. नासा रोहिणी, ९. कलाहीन रोहिणी, १०. ग्रसनी रोहिणी, ११. शिश्नमुंडच्छद रोहिणी, १२. नाभि रोहिणी, १३. योनि रोहिणी, १४. भग रोहिणी, १५. क्षत रोहिणी, ये सभी प्रकार की रोहिणियाँ समय पर चिकित्सा कर लेने से साध्य अन्यथा असाध्य होती हैं।

सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता [1]मिथ्याचारेण वा पुनः ॥३७॥
साध्याश्चाप्यपरे सन्ति व्याधयो मृदुसम्मताः। यत्नायत्नकृतं येषु कर्म सिध्यत्यसंशयम् ॥३८॥

रोगों की साध्यासाध्यता—रोहिणी जैसे और भी अनेक भयंकर रोग हैं जो साध्य कहे गये हैं। वे ठीक-ठीक चिकित्सा न करने से या रोग की उपेक्षा करने से अथवा आहार-विहार के मिथ्या (अनुचित) प्रयोग से मारक हो जाते हैं। कुछ और साध्य रोग भी हैं जिनको मृदु कहा गया है, इनमें यत्न पूर्वक अथवा लापरवाही के साथ की गयी चिकित्सा भी निःसन्देह सफल हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ केवल चिकित्सा की लापरवाही का ही संकेत किया है किन्तु मिथ्याचार सर्वत्र हानिकारक होता ही है।

असाध्याश्चापरे सन्ति व्याधयो याप्यसंज्ञिताः। सुसाध्वपि कृतं येषु कर्म यात्राकरं[2] भवेत् ॥३९॥
सन्ति चाप्यपरे रोगाः कर्म येषु न सिध्यति। अपि यत्नकृतं [3]बालैर्न तान् विद्वानुपाचरेत् ॥४०॥
साध्याश्चैवाप्यसाध्याश्च व्याधयो द्विविधाः स्मृताः। मृदुदारुणभेदेन ते भवन्ति चतुर्विधाः ॥४१॥

असाध्य-याप्य रोग—कुछ व्याधियाँ असाध्य होती हैं और कुछ याप्य होती हैं। याप्य वे व्याधियाँ हैं जिनमें चिकित्सा करने स कुछ दिन जीवनयात्रा चलायी या निभायी जा सकती है। कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनमें चिकित्सा सफल नहीं होती, अतः विद्वान् चिकित्सक ऐसे रोगियों की चिकित्सा न करें। मूलतः व्याधियाँ साध्य और असाध्य भेद से दो प्रकार की होती हैं और ये ही मृदु तथा दारुण भेद से चार प्रकार की हो जाती हैं।

१. 'मिथ्यारम्भेण' इति पा०।
२. 'यात्राकरं यापनाकरम्' चक्रः।
३. 'वैद्यैः' इति पा०।

वक्तव्य—'अपि यत्नकृतं बालैः' अथवा 'अपि यत्नकृतं वैद्यैः' दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। इसके आगे 'न तान् विद्वान् उपाचरेत्' इस पाठ के साहचर्य से 'बालैः' पाठ ही उचित प्रतीत होता है न कि 'वैद्यैः'। अतः उक्त पद्यांश का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—वे असाध्य रोग जिनकी चिकित्सा में मूर्ख (साध्य-असाध्य के निर्णय को न जानने वाले) वैद्य असफल हो जाते हैं, उनकी चिकित्सा विद्वान् चिकित्सक न करे।

व्याधियों के मूल रूप से **साध्य, असाध्य** दो भेद किये हैं; पुनः इनको **मृदु** (सुखसाध्य) और **दारुण** (कष्टसाध्य) भेद से विभक्त किया है। **सुखसाध्य** वह व्याधि है, जो जरा भी सावधानी रखने से स्वयं ठीक हो जाती है। **याप्यरोग**—'या प्रापणे' धातु से इसकी निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है चिकित्सा का सहारा देकर चलाने लायक रोग। चिकित्सा का सहारा छोड़ते ही वह रोगी असाध्य हो जाता है। असाध्य, अनुपक्रम्य, प्रत्याख्येय ये प्रायः समानार्थक हैं।

रोगों की साध्यासाध्यता के भेद

- साध्य
  - मृदु — (सुखसाध्य)
  - दारुण — (कष्टसाध्य)
- असाध्य
  - मृदु — (याप्य)
  - दारुण — (प्रत्याख्येय)

त एवापरिसङ्ख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। [1]रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥४२॥
[2]व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु सङ्ग्रहः। तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥४३॥

रोगों की विविधता—वेदना, वर्ण, निदान, स्थान, संस्थान और नाम भेदों से पूर्वोक्त (साध्य, असाध्य आदि भेदों से वर्णित) व्याधियाँ अनगिनत हो जाती हैं। जिस प्रकार स्थूल विकारों (अष्टोदरीय अथवा महारोगाध्याय) में रोगों का संग्रह किया गया है उसी प्रकार के कारणों की समानता से उन-उन रोगों की व्यवस्था की जा सकती है। इसी प्रकार रोगों में प्रकृति सामान्य का भी निर्देश करेंगे।

वक्तव्य—मूल रूप से रोगों के साध्य, असाध्य भेद से दो विभाग किये गये थे, तदनन्तर मृदु तथा दारुण भेदों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उक्त पद्यों में फिर भेदोपभेदों की इस प्रकार चर्चा की है—निदान, वेदना, वर्ण, स्थान और नाम भेद। आचार्य माधवकर ने दोषों की अंशांशकल्पना से रोगों की निःसीमता को स्वीकार किया है। वास्तव में **'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य'** यदि इस सिद्धान्त को ध्यान में रखा जाय और उसके साथ अंशांशकल्पना को जोड़ दिया जाय तो सचमुच रोगों के असंख्य भेद हो जाते हैं।

निदानभेद—रूक्ष भोजन से वात, स्निग्ध से कफ और उष्ण से पित्त का प्रकोप होता है। अब इस प्रकार के भोजनों के कितने भेद हो सकते हैं, इसको सुधीजन स्वयं समझ सकते हैं। **वेदनाभेद**—वात के जितने भेद होते हैं, उतने ही भेद वेदनाओं के भी होते हैं। **वर्णभेद**—त्वचा, नेत्र, नख आदि में सफेदी, पीलापन, कालापन अथवा लालिमा ये स्वरूप क्रमशः वातादि दोषों के समझने चाहिये। **स्थानभेद**—आमाशय आदि शारीरिक अवयवों में वातादि दोषों के कारण जो लक्षण दिखते हैं, वे रोग भेदों को प्रकट करते हैं। **संस्थानभेद**—संस्थान का अर्थ है आकृति या स्वरूप। यथा—न्यच्छ, व्यङ्ग, तिल, पिप्लु, गुल्म आदि स्वरूप भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। **नामभेद**—रोग का जब नामभेद होता है तो उसमें कारणभेद अवश्य होता है। क्योंकि कोषकारों ने भी जिसके जो-जो पर्याय दिये हैं, उनका मूलतः अर्थभेद अवश्य होता है। यथा—यक्ष्मा, क्षय, शोष ये एक ही रोग के नाम हैं।

१. 'निदानवेदनावर्ण' इति पा०।
२. 'व्यवस्थाकरणं चिकित्साव्यवहारार्थं सङ्ख्याकथनं, यथास्थूलेष्विति ये ये स्थूला उदरमूत्रकृच्छ्रादयस्तेषु, सङ्ग्रहोऽष्टोदरीये सङ्ग्रह इत्यर्थः' चक्रः। 'व्यवस्थाकारणं' यो.।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥४४॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव [1]जनयत्यामयान् बहून् ॥४५॥
तस्माद् विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि[2] च। समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥४६॥
यो ह्येतत्त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्। ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥४७॥

सभी रोगों का नाम-निर्धारण असम्भव—कुशल चिकित्सक यदि किसी रोग विशेष का नाम-निर्धारण न कर सके तो उसको अपनी इस अज्ञानता से लज्जित नहीं होना चाहिये। क्योंकि जितने रोग होते हैं उन सबका नाम-निर्धारण करना सम्भव नहीं है। वास्तव में वही कुपित दोष हेतु तथा स्थान भेद से अनेक रोगों को पैदा कर देता है। इसलिये रोग की प्रकृति (स्वभाव), अधिष्ठान (जहाँ रोग उत्पन्न हो) और समुत्थान (रोगों के उभार) विशेष को समझकर ही उनकी चिकित्सा करें। जो बुद्धिमान् चिकित्सक इन तीनों (रोग-प्रकृति, रोग का अधिष्ठान, रोग समुत्थान विशेष) को जानकर युक्तिसंगत चिकित्सा प्रारम्भ करता है, वह सभी प्रकार की चिकित्सा-विधियों में मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसको पूर्ण सफलता प्राप्त होती है।

वक्तव्य—'स एव कुपितो दोषो जनयत्यामयान् बहून्' का समाधान चरक नि० अ० ८ के श्लोक १५, १६, १७ में देखें—एक ही प्रकुपित वायु शिरःशूल, कंठोद्ध्वंस, कास, स्वरभेद, अरोचक, पार्श्वशूल, अतिसार, जृम्भा, ज्वर और उरःक्षत कर देता है। इस प्रकार एक ही दोष अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर सकता है। इसका निर्देश करने के बाद महर्षि ने रोगों को पहचानने के लिये १. प्रकृति, २. अधिष्ठान, ३. समुत्थान इन तीनों से सुपरिचित होने की सलाह दी है। इनका ज्ञान हो जाने पर रोग के नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती अपितु इसके बाद ज्ञानपूर्वक और युक्ति-युक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः। विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥४८॥

दोषों के परिचय की आवश्यकता—प्राणियों के शरीर में वात, पित्त, कफ ये तीनों सम अवस्था अथवा विषम अवस्था में रहते ही हैं, अतः सबसे पहले चिकित्सक को चाहिये कि वह इनको पहचानने का प्रयत्न करे।

वक्तव्य—दोषों का नित्य शरीर में रहना यह सभी संहिताकारों को स्वीकार है। क्योंकि 'शरीरधारणाद् धातवः' इन्हीं दोषों को शरीर धारण करने के कारण धातु कहते हैं। सुश्रुत में 'वात-पित्त-श्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः'। सु० सू० अ० २१। वातादि को शरीर की उत्पत्ति में कारण कहा है। इसी प्रकार वाग्भट ने—'वायुः पित्तकफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च' ॥ 'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। अ० हृ० सू० अ० १ श्लो० ७। इसी विषय को आगे स्पष्ट किया है, देखें—'दोषाः पुनः त्रयः वातपित्तश्लेष्माणः, ते प्रकृतिभूताः (अविकृताः) शरीरोपकारका भवन्ति। विकृतिमापन्नाः (विकृताः) तु खलु नानाविधैः विकारैः शरीरमुपतापयन्ति' ॥ च० वि० अ० १। तथा—'वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसङ्ग्रहः' ॥ च० सू० अ० १। अतः चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह प्रकृति तथा विकृतिजन्य स्थिति का स्वयं निर्णय करे।

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा। समो मोक्षो [3]गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ४९।

प्राकृत वायु के कार्य—कार्य करने में उत्साह, श्वास का विधिपूर्वक बाहर निकलना तथा भीतर आना, अंग-प्रत्यंगों की चेष्टायें तथा मानसिक चेष्टायें एवं रस आदि सातों धातुओं की शरीर में समगति को बनाये रखना, मल-मूत्रादि को समान गति से बाहर निकालना, ये सभी अविकृत (समभावस्थ) वायु के कर्म हैं।

वक्तव्य—शरीरस्थ वायु को पाँच भागों में बाँटा गया है। यथा—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः' ॥ इस प्रकार अपने अपने कार्य में स्थित वायु को प्राकृत कहा गया है। वाग्भट का मत—'उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः। सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां

१. 'विकारान् कुरुते' यो.।
२. 'अधिष्ठानान्तराणि आशयान्तराणि' चक्रः।
३. 'गतिमतां पुरीषादीनां बहिर्निःसरताम्' चक्रः।

पाटवेन च। अनुगृह्णात्यविकृतः' ॥ अ० हृ० सु० अ० ११।१-२। इसमें 'अक्षाणां' (इन्द्रियों की) पाटवेन च (सम्यक् कर्मक्षमता) इतना अधिक वर्णित है।

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ ५० ॥

प्राकृत पित्त के कार्य—दर्शन (देखना), पचाना, शरीर की गर्मी को ठीक रखना, समय पर भूख-प्यास का लगना, शरीर में मृदुता का होना, कान्ति, प्रसन्नता और धारणा शक्ति का बना रहना ये सभी अविकृत (समभाव में स्थित) पित्त के कार्य हैं।

वक्तव्य—शार्ङ्गधर में पित्त के प्रकार—'पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा। साधकश्चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात्' ॥ शा० सं० अ० ५।५०। सन्तापकारक अथवा सन्तापजनक पदार्थ का नाम पित्त है। 'तपसन्तापे' धातु से पित्त शब्द की रचना होती है। वायु के समान ही कार्यभेद तथा स्थानभेद से पित्त के भी पाँच भेद होते हैं। यथा—१. 'पचति आहारम् इति, पाचकम्'। जो आहार को पचाता है, उसे पाचक पित्त कहते हैं। इसका स्थान अग्न्याशय है। यह अग्नि रूप और तिलपरिमित है। २. 'भ्राजयति प्रकाशयति वर्णम्, इति भ्राजकम्'। अर्थात् जो वर्ण को प्रकाशित करता है, उसे 'भ्राजक' कहते हैं। ३. 'रञ्जयति रक्तीकरोति रसम् इति, 'रञ्जकम्'। जो पित्त भोजन के रस को रंग करके रक्त का रूप प्रदान करता है, उसे 'रञ्जक' कहते हैं। ४. 'आलोचयति दर्शयति रूपम् इति, आलोचकम्'। जो नेत्रों में स्थित होकर रूपों के देखने में सहायक होता है, उसे 'आलोचक' कहते है। ५. 'साधयति कार्याणि इति, साधकम्'। शरीर में उत्साह, प्रसन्नता आदि कार्यों को जो सिद्ध करता है, उसे 'साधक' कहते हैं। इसी का व्याख्यान वाग्भट के सूत्रस्थान अ० ११ में देखें।

स्नेहो [1]बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥५१॥

प्राकृत कफ के कार्य—स्निग्धता (रूक्षता का न होना), सन्धि-बन्धनों का ठीक होना, स्थिरता, गुरुता, मैथुन में समर्थ होना, शारीरिक बल का बना रहना, सहनशक्ति, धैर्य और लोभ का अभाव ये सभी समभाव में स्थित कफ धातु के कर्म हैं।

वक्तव्य—कफ के भेद– 'क्लेदनः स्नेहनश्चैव रसनश्चावलम्बनः। श्लेष्मकश्चेति नामानि कफस्योक्तान्यनुक्रमात् ॥ शार्ङ्गधर सं० अ० ५।५३। ऊपर जो कफ के पाँच नाम दिये हैं, उनकी सार्थकता इस प्रकार है—१. 'क्लेदयति क्लिद्यते वा अनेन अन्नम् इति क्लेदनः'। जो आहार को गीला करता है, उसे 'क्लेदन' कहते हैं। २. 'स्नेहयति स्निह्यति वा अनेन शिरः, इति स्नेहनः'। यह शिरःप्रदेश को स्निग्ध या तर रखता है, अतः इसको 'स्नेहन' कहते हैं। ३. 'रसयति, रसं ज्ञापयति अथवा रस्यते रसो मधुरादिः अनेन इति रसनः'। जिससे रस का अनुभव हो अथवा जिसके अभाव में रस का ज्ञान न हो पाता हो, उसे 'रसन' कहते हैं। ४. अवलम्बयति धारयति हृदयम् अथवा अवलम्ब्यते धार्यते हृदयम् अनेन इति अवलम्बनः'। जो हृदययन्त्र को धारण किये रहता है अथवा जिसके अभाव में हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, उसे 'अवलम्बन' कहते हैं। ५. श्लेषयति योजयति सन्धीन् इति श्लेष्मकः'। जो सन्धियों को सटाता या जोड़ता है, उसे 'श्लेष्मक' कहते हैं। विशेष अध्ययन के लिये सुश्रुत सू० अ० २१ तथा अष्टांग हृ० सू० अ० ११ देखें।

वाते पित्ते कफे चैव[2] क्षीणे लक्षणमुच्यते। कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् ॥५२॥

संक्षेप में क्षीण दोषों के लक्षण—वात, पित्त, कफ के क्षीण होने पर जो लक्षण होते हैं, उनका वर्णन किया जा रहा है—दोषों के जो प्राकृत (समावस्था के) कर्म होते हैं उनकी हानि का होना अथवा विरोधी कर्मों की वृद्धि का होना, क्षीण दोषों के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—दोषों के प्राकृत (प्रकृतिस्थित अथवा समावस्था के) लक्षणों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। जैसे प्रकृतिस्थ वायु का एक लक्षण 'उत्साह' है, यदि इस लक्षण की हानि होगी तो 'विषाद' की उत्पत्ति होगी। कुछ आचार्यों ने उक्त श्लोक का अर्थ ऐसा किया है—वात, पित्त आदि में किसी एक की वृद्धि और दूसरे का क्षय या हानि। इस दूसरे पक्ष से चक्रपाणि सहमत नहीं है। क्योंकि तीनों दोष परस्पर एक दूसरे के

१. 'बन्धः सन्धिबन्धः' चक्रः।
२. 'चैतत्' यो.।

बाधक नहीं हैं, न होते ही हैं। जिस प्रकार चरक में वातादि के क्षीण होने पर विरोधी कार्यों की अधिकता होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। वाग्भट में केवल उन-उन दोषों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाले लक्षणों का वर्णन किया है। देखें—अ० हृ० सू० अ० ११ श्लोक १५ तथा १६।

[1]दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्। दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते ॥ ५३ ॥

संक्षेप में दोषवृद्धि के लक्षण—दोषों की प्रकृति (स्वाभाविकगुणों) में विशेषता का आ जाना, यह उस दोष की वृद्धि का लक्षण है। इसी प्रकार दोषों के स्वाभाविक गुणों में कमी का आ जाना हानि का लक्षण है और बढ़ जाना वृद्धि का लक्षण है। इस प्रकार सामान्यरूप से दोषों की क्षय या वृद्धि की परीक्षा की जाती है।

तत्र श्लोकाः—

सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि शोथानां साध्यतां न च। तेषां तेषां विकाराणां शोथांस्तांस्तांश्च पूर्वजान् ॥
विधिभेदं विकाराणां त्रिविधं बोध्यसङ्ग्रहम्। प्राकृतं कर्म दोषाणां लक्षणं हानिवृद्धिषु ॥५५॥
[2]वीतमोहरजोदोषलोभमानमदस्पृहः। व्याख्यातवांस्त्रिशोथीये रोगाध्याये पुनर्वसुः ॥५६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
त्रिशोथीयो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—मोह, राग, दोष, लोभ, मान, मद और स्पृहा (इच्छा) जिनके नष्ट हो गये हैं, ऐसे आचार्य पुनर्वसु ने प्रस्तुत त्रिशोथीय रोगाध्याय में शोथ रोगों की संख्या, कारण, लक्षण, साध्यता, असाध्यता और उन-उन विकारों के जिनके आरम्भ में शोथ हो जाता है, विकारों का विधिभेद, त्रिविध रोगों के जानने योग्य संग्रह तथा दोषों के प्राकृत कर्म, उनके हानि तथा वृद्धि के लक्षणों की व्याख्या की है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में त्रिशोथीय नामक १८ वाँ अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

अथातोऽष्टोदरीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

त्रिशोथीय अध्याय के पश्चात् अब हम अष्टोदरीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—१८ वें अध्याय में 'यथा स्थूलेषु सङ्ग्रहः' जो निर्देश किया था, तदनुसार यहाँ स्थूल रूप में रोगों का संग्रह (परिगणन) किया जा रहा है।

१. 'दोषेत्यादि प्रकृतिः स्वभावः, तस्य वैशेष्यमाधिक्यम्' चक्रः।
२. 'वीतरागरजोदोष०' इति पा.।

इह खल्वष्टावुदराणि, अष्टौ मूत्राघाताः, अष्टौ क्षीरदोषाः, अष्टौ रेतोदोषाः, सप्त[1] कुष्ठानि, सप्त पिडकाः, सप्त वीसर्पाः, षडतीसाराः, षडुदावर्ताः, पञ्च गुल्माः, पञ्च प्लीहदोषाः, पञ्च कासाः; पञ्च श्वासाः, पञ्च हिक्काः, पञ्च तृष्णाः, पञ्च छर्दयः, पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानि[2], पञ्च शिरोरोगाः, पञ्च हृद्रोगाः; पञ्च पाण्डुरोगाः, पञ्चोन्मादाः; चत्वारोऽपस्माराः, चत्वारोऽक्षिरोगाः, चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्यायाः, चत्वारो मुखरोगाः; चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्च्छायाः, चत्वारः शोषाः चत्वारि क्लैब्यानि; त्रयः शोफाः, त्रीणि किलासानि, त्रिविधं लोहितपित्तं; द्वौ ज्वरौ, द्वौ व्रणौ, द्वावायामौ, द्वे गृध्रस्यौ, द्वे कामले, द्विविधमामं, द्विविधं वातरक्तं, द्विविधान्यर्शांसि; एक ऊरुस्तम्भः, एकः सन्यासः, एको महागदः, विंशतिः क्रिमिजातयः, विंशतिः प्रमेहाः, विंशतिर्योनिव्यापदः; इत्यष्टचत्वारिंशद्रोगाधिकरणान्यस्मिन् सङ्ग्रहे समुद्दिष्टानि ॥ ३ ॥

सामान्य ४८ व्याधियाँ (48 General Diseases)—इस अध्याय में ८ प्रकार के उदर रोग, ८ मूत्राघात, ८ माता के दूध से उत्पन्न होने वाले विकार, ८ शुक्रजनित विकार, ७ कुष्ठ, ७ पिडकायें, ७ विसर्प, ६ अतिसार, ६ उदावर्त, ५ गुल्म, ५ प्लीहाजनित विकार, ५ कास, ५ श्वास, ५ हिक्का, ५ तृष्णा, ५ छर्दि, ५ भोजन के न खाने से उत्पन्न अरुचि, ५ शिरोरोग, ५ हृद्रोग, ५ पाण्डुरोग, ५ उन्माद, ४ अपस्मार, ४ नेत्ररोग, ४ कर्णरोग, ४ प्रतिश्याय, ४ मुखरोग, ४ ग्रहणीविकार, ४ मद (मदात्यय), ४ मूर्च्छा, ४ शोष (राजयक्ष्मा), ४ नपुंसकता, ३ शोथ, ३ किलास (कुष्ठ भेद), ३ रक्तपित्त, २ ज्वर, २ व्रण, २ आयाम (अन्तरायाम, बाह्यायाम), २ गृध्रसी, २ कामला, २ आमजनित विकार, २ वातरक्त, २ अर्श (बवासीर) १ ऊरुस्तम्भ, १ सन्यास, १ महागद, २० क्रिमियों की जातियाँ, २० प्रमेह, २० योनिरोग, इस प्रकार ४८ रोगों के अधिकरण (अधिकार) इस संग्रह में कहे गये हैं।

वक्तव्य—चरक चिकित्सास्थान में अठारह कुष्ठों का वर्णन किया गया है किन्तु यहाँ **'सप्त कुष्ठानि'** सात ही कुष्ठ रोगों का परिगणन केवल महाकुष्ठों की दृष्टि से किया गया है। उक्त सभी रोगों का स्पष्टीकरण आगे तन्त्रकार ने स्वयं किया है।

चत्वारो मूर्च्छायाः—यहाँ 'मूर्च्छायाः' यह शब्द 'मूर्च्छा' शब्द के षष्ठी एकवचन का रूप नहीं है, अपितु 'मूर्च्छाय' शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप है, क्योंकि इस प्रकरण में सभी शब्द पुंल्लिङ्गान्त ही हैं।

द्विविधान्यर्शांसि—यद्यपि 'द्विविधेऽर्शसी' यह भी प्रयोग किया जा सकता था किन्तु महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने जो उक्त प्रयोग किया है वास्तव में वही व्याकरणसम्मत है। देखें—'अर्श आदिभ्योऽच्' ५।२।१२७। 'अर्शांसि अस्य विद्यन्ते'। भट्टोजि दीक्षित। तथा—'अर्शांसि सन्त्यस्य'। भानुजि दीक्षित।

एतानि यथोद्देशमभिनिर्देक्ष्यामः—अष्टावुदराणीति वातपित्तकफसन्निपातप्लीहबद्धच्छिद्रोदकोदराणि, अष्टौ मूत्राघाता इति वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः, अष्टौ क्षीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमतिस्नेहश्च, अष्टौ रेतोदोषा इति तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यतिपिच्छिलमन्यधातूपहितमवसादि च (१)।

आठ भेद वाले रोग—ऊपर कहे गये रोगों का यथास्थान वर्णन करेंगे। **आठ उदररोग**—१ वातोदर, २. पित्तोदर, ३. कफोदर, ४. सन्निपातोदर, ५. प्लीहोदर, ६. बद्धोदर, ७. छिद्रोदर, ८. दकोदर (जलोदर)। **आठ प्रकार के मूत्राघात**—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. अश्मरीजन्य, ६. शर्कराजनित, ७. शुक्रदोषजनित, ८. रक्तदोषजनित। **आठ प्रकार के क्षीरदोष**—१. दूध के रंग में परिवर्तन होना, २. दूध में दुर्गन्धि, ३. दूध में फीकापन (स्वाभाविक स्वाद का न होना) ४. दूध में चिपचिपापन का आ जाना, ५. झाग का अधिक होना, ६. दूध में रूखापन ७. दूध में अस्वाभाविक गुरुता, ८ दूध में अधिक चिकनापन का होना।

१. 'यद्यपि चिकित्सितेऽष्टादश कुष्ठानि, तथाऽपीह महाकुष्ठाभिप्रायेण सप्तोच्यन्ते' चक्रः।
२. 'स्थानमिव स्थानं कारणं, तेन अनशनस्थानान्यरोचकानि; अनेन कारणेन कार्याण्यरोचकानि गृह्यन्ते, तेन रोगसङ्ग्रहे कारणाभिधानमन्याय्यमिति न भवति' चक्रः।

आठ प्रकार के वीर्य विकार—१. वीर्य का पतला होना, २. सूख जाना, ३. झागदार होना, ४. अश्वेत (स्वाभाविक सफेदी का न रहना), ५. दुर्गन्धित होना, ६. अधिक चिपचिपापन, ७. शुक्र में रक्त आदि दूसरी धातुओं का मिश्रण होना, ८. शुक्र का अवसादी (उसके निकलने पर शरीर में दुर्बलता आदि लक्षणों की अस्वाभाविक उत्पत्ति) होना।

वक्तव्य—इस अवसादी गुण का स्पष्टीकरण चरक चिकित्सास्थान अध्याय ३० में देखें। यहीं पर क्षीर-दोष का विस्तृत ‥रण भी उपलब्ध है।

सप्त कुष्ठानीति कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणानि, सप्त पिडका इति शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रधी च, सप्त विसर्पा इति वातपित्तकफाग्निकर्दमकग्रन्थिसन्नि-पाताख्याः (२)।

सात भेद वाले रोग—सात कुष्ठ रोग—१. कपाल, २. उदुम्बर, ३. मण्डल ४. ऋष्यजिह्व, ५. पुण्ड-रीक, ६. सिध्म, ७. काकण। **सात प्रमेह पिडकायें**—१. शराविका, २. कच्छपिका, ३. जालिनी, ४. सर्षपी, ५. अलजी, ६. विनता, ७. विद्रधि। **सात प्रकार का विसर्प**—१. वातज, २. पित्तज. ३. कफज, ४. अग्नि विसर्प, ५. कर्दमविसर्प, ६. ग्रन्थिविसर्प, ७. सन्निपातज विसर्प।

षडतीसारा इति वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजाः, षडुदावर्ता इति वातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दि-क्षवथुजाः (३)।

छः भेद वाले रोग—छः अतिसार—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. भयजनित, ६. शोकजनित। **छः उदावर्त**—१. वातनिरोधज (अपान वायु के रोकने से), २. मूत्र के वेग को रोकने से, ३. पुरीष के वेग को रोकने से, ४. शुक्र के वेग को रोकने से, ५. छर्दि (वमन) के वेग को रोकने से, ६. छींक के वेग को रोकने से।

वक्तव्य—आचार्य भेल ने ४ प्रकार का उदावर्त स्वीकार किया है। यथा—‘वातमूत्रपुरीषाणां निरोधान्मे-हनस्य च’॥ भेलसंहिता चि० अ० १७। सुश्रुत ने १३ प्रकार का उदावर्त माना है। देखें—सु० उ० तं० अ० ५५। सबके अपने-अपने विचार हैं।

पञ्च गुल्मा इति वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः, पञ्च प्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याताः, पञ्च कासा इति वातपित्तकफक्षतक्षयजाः, पञ्च श्वासा इति महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्राः, पञ्च हिक्का इति महती गम्भीरा व्यपेता क्षुद्राऽन्नजा च, पञ्च तृष्णा इति वातपित्तामक्षयोपसर्गात्मिकाः, पञ्च छर्दय इति द्विष्टार्थसंयोगजा वातपित्तकफसन्निपातोद्रेकोत्थाश्च, पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानीति [1]वातपित्तकफसन्नि-पातद्वेषाः, पञ्च शिरोरोगा इति पूर्वोद्देशमभिसमस्य[2] वातपित्तकफसन्निपातक्रिमिजाः, पञ्च हृद्रोगा इति शिरोरोगैर्व्याख्याताः, पञ्च पाण्डुरोगा इति वातपित्तकफसन्निपातमृद्भक्षणजाः, पञ्चोन्मादा इति वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः (४)।

पाँच भेद वाले रोग—गुल्म के भेद—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. रक्तज। **प्लीहा रोग के पाँच भेद**—इनकी गणना भी गुल्म की भाँति ही है। यथा—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. रक्तज। **पाँच प्रकार के कास रोग**—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. क्षतज, ५. क्षयज। **पाँच प्रकार के श्वास रोग**—१. महाश्वास, २. ऊर्ध्वश्वास, ३. छिन्नश्वास, ४. तमकश्वास, ५. क्षुद्रश्वास। **पाँच प्रकार की हिक्का**—१. महती, २. गम्भीरा, ३. व्यपेता (यमला) ४. क्षुद्रा, ५. अन्नजा। **पाँच प्रकार का तृष्णा रोग**—१. वातज, २. पित्तज, ३. आमज, ४. क्षयज, ५. उपसर्गज। **पाँच प्रकार का छर्दि रोग**—१. द्विष्टार्थसंयोगज (अप्रिय एवं घृणित गन्ध, रस आदि के संयोग से उत्पन्न।) २. वातप्रधान, ३. पित्तप्रधान, ४. कफप्रधान, ५. सन्निपात (त्रिदोष) प्रधान कारणों से उत्पन्न। **पाँच प्रकार की अरुचि**—१. वातज, २.

१. ‘वातपित्तकफद्वेषायासाः’ ग.।

२. ‘पूर्वोद्देशमभिसमस्येति कियन्तःशिरसीये विस्तरोक्तान् संक्षिप्य’ चक्रः।

पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. भक्तद्वेषजनित। **पाँच प्रकार के शिरो रोग**—इसके पहले १७ वें अध्याय में शिरोरोग का वर्णन किया जा चुका है। फिर भी उनका वर्णन इस प्रकार है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. क्रिमिज। **पाँच प्रकार के हृद्रोग**—इनका व्याख्यान शिरोरोग के समान ही है। यथा—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५ क्रिमिज। **पाँच प्रकार के पाण्डु रोग**—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. मृद्भक्षणजनित। **पाँच प्रकार के उन्माद रोग**—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. आगन्तुज।

वक्तव्य—चरक ने जिसको ‘व्यपेता’ हिक्का कहा है सुश्रुत ने उसके स्थान पर ‘यमला’ का वर्णन किया है। देखें—दोनों के लक्षण समान हैं। सु० उ० अ० ५०।१०।

चत्वारोऽपस्मारा इति वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः; चत्वारोऽक्षिरोगाः चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्यायाः, चत्वारो मुखरोगाः, चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः; चत्वारः शोषा इति साहससन्धारणक्षयविषमाशनजाः, चत्वारि क्लैब्यानीति बीजोपघाताद् ध्वजभङ्गाज्जरायाः शुक्रक्षयाच्च (५)।

चार भेद वाले रोग—चार प्रकार का अपस्मार—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज। ४ नेत्र रोग, ४ कर्ण रोग, ४ प्रतिश्याय, ४ मुखरोग, ४. मद, ४ मूर्च्छा, इनके भेद अपस्मार के समान ही समझें। **चार प्रकार का शोष**—१. साहसजनित, २. वेगधारणजनित, ३. धातुक्षयजनित, ४. विषमभोजनजनित। **चार प्रकार की नपुंसकता**—१. बीजोपघातजनित, २. ध्वजभंगज, ३. वृद्धावस्थाजनित, ४. शुक्रक्षयजनित। इस प्रकार चार भेद वाले रोगों की भेद सहित गणना की गयी है।

वक्तव्य—यहाँ जिन रोगों के भेदों की गणना नहीं की गयी है उन सभी के भेद इस प्रकार समझें—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज। यहाँ मद के भी चार भेद किये हैं। जब कि अन्यत्र रक्तज, मद्यज, विषज तीन भेदों का ही उल्लेख मिलता है। इसका समाधान आचार्य पुनर्वसु ने च० सू० अ० २४ में दिया है कि, इन सब मदों का अन्तर्भाव वातादिदोषों में ही हो जाता है। यद्यपि आँख, कान, नाक, मुख रोगों के अनेक भेद होते हैं तथापि चरक में केवल चार सामान्य भेदों की ही गणना की गयी है, क्योंकि ये सभी रोग शालाक्य प्रकरण के अन्तर्गत हैं, जहाँ दूसरे (सुश्रुत आदि) आचार्यों का अधिकार है, अतः यहाँ इनका विशेष विवेचन अपेक्षित नहीं था।

नपुंसकता—इसका प्रथम भेद है—‘बीजोपघात’। इसका तात्पर्य है बीज = मूलतत्व का ही अभाव या विनाश। भोजन से रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र की क्रमिक उत्पत्ति होती है। अतः वीर्य की उत्पत्ति में रस आदि उत्तरोत्तर बीज का कार्य करते हैं। इनमें किसी के नाश से वीर्य का नाश हो सकता है। अशुक्र को सुश्रुत ने ‘षण्ढ’ संज्ञा दी है। आचार्य भेल का मत—‘शुक्रोपरोधाद् दौर्बल्याद् ध्वजभङ्गात् तथैव च। शुक्रक्षयाच्च चत्वारि क्लीबस्थानानि निर्दिशेत्’॥ भेलसं० चि० अ० १७।

त्रयः शोथा इति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः, त्रीणि किलासानीति रक्तताम्रशुक्लानि, त्रिविधं लोहितपित्तमित्यूर्ध्वभागमधोभागमुभयभागं च (६)।

तीन भेद वाले रोग—शोथ—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज। **तीन प्रकार के किलास**—१. रक्त-वर्ण, २, ताम्रवर्ण, ३. श्वेतवर्ण। तीन प्रकार के रक्तपित्त—१. ऊर्ध्वमार्गग, २. अधोमार्गग, ३. उभयमार्गग।

द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्रायः शीतसमुत्थश्च शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थः, द्वौ व्रणाविति निजश्चा-गन्तुजश्च, द्वावायामाविति बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च, द्वे गृध्रस्याविति वाताद् वातकफाच्च, द्वे कामले इति कोष्ठाश्रया शाखाश्रया च, द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका च, द्विविधं वातरक्तमिति गम्भीरमुत्तानं च, द्विविधान्यर्शांसीति शुष्काण्यार्द्राणि च (७)।

दो भेद वाले रोग—ज्वर—१. शीतल आहार-विहारों से उत्पन्न ज्वर जिसमें रोगी उष्णपदार्थों की कामना करता है। २. उष्ण आहार-विहारों से उत्पन्न ज्वर जिसमें रोगी शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा करता है। दो

प्रकार के व्रण—१. निज कारणों (वातज, पित्तज, कफज) से उत्पन्न। २. आगन्तुज व्रण (जो बाहरी आघात आदि कारणों से उत्पन्न हो।) **दो प्रकार के आयाम**—१. बहिरायाम, २. अन्तरायाम। **दो प्रकार की गृध्रसी**—१. केवल वात से, २. वात तथा कफ दोष से। **दो प्रकार की कामला**—१. कोष्ठ से सम्बन्धित अवयवों पर आश्रित, २. शाखाओं के आश्रित। **दो प्रकार का आम विकार**—१. अलसक (गुम हैजा), २. विसूचिका (हैजा)। **दो प्रकार का वातरक्त**—१. गम्भीर, २. उत्तान। **दो प्रकार के अर्श**—१. शुष्क (सूखे मस्सों वाला), २. आर्द्र (रक्तस्रावी या वादी बवासीर)।

वक्तव्य—ज्वर को जिस प्रकार ऊपर दो भागों में बाँटा गया है, उसका आधार है चरक चिकित्सा स्थान अ० ३ का यह पद्य—'यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम्' ॥ आयाम के दो भेद वातव्याधिप्रकरण के हैं। कामला के जो भेद बताये हैं, उनमें शाखाश्रित से रक्त आदि धातु तथा त्वचा से है। यह रोग पित्त-वर्धक पदार्थों के निरन्तर सेवन से होता है। वातरक्त (Gout) का वर्णन किया जा चुका है। शुष्क अर्श वातकफ-प्रधान होता है और आर्द्र अर्श रक्तपित्त-प्रधान होता है, इसमें से बार-बार रक्तस्राव होता है।

एक ऊरुस्तम्भ इति आमत्रिदोषसमुत्थः, एकः संन्यास इति त्रिदोषात्मको मनःशरीराधिष्ठानः, एको महागद इति अतत्त्वाभिनिवेशः[1] (८)।

एक भेद वाले रोग—१. ऊरुस्तम्भ—आमदोष और त्रिदोष से यह सम्बन्धित होता है। १ सन्यास—यह रोग मन और शरीर में आश्रित रहकर त्रिदोष से उत्पन्न होता है। **१ महागद**—इसको अतत्वाभिनिवेश कहते हैं।

वक्तव्य—तत्व (वास्तविक वस्तु) का ठीक-ठीक बोध न होना। यथा—सत्य को मिथ्या, हित को अहित समझना आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं।

विंशतिः क्रिमिजातय इति यूकाः पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्मलजाः, केशादा लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजाः, अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादाश्चुरवो दर्भपुष्पाः, सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्त कफजाः, ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजाः, विंशतिः प्रमेहा इति उदकमेहश्चेक्षुबालिका-रसमेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेहश्चेति दश श्लेष्मनिमित्ताः, क्षारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितमेहश्च मञ्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट् पित्तनिमित्ताः, वसामेहश्च मज्जामेहश्च हस्तिमेहश्च मधुमेहश्चेति चत्वारो वातनिमित्ताः, इति विंशतिः प्रमेहाः; विंशतिर्योनिव्यापद इति वातिकी पैत्तिकी श्लैष्मिकी सान्निपातकी चेति चतस्रो दोषजाः, दोषदूष्यसंसर्गप्रकृतिनिर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते, तद्यथा—रक्तयोनिश्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता च परिप्लुता चोदावर्तिनी च कर्णिनी च पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्ढयोनिश्च महायोनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदो भवन्ति (९)।

बीस भेद वाले रोग—बीस प्रकार की क्रिमिजातियों में १. यूका (जूँ, लीख), २. पिपीलिका (चिउँटियाँ) ये दो बाहरी मल से पैदा होती हैं।

१. केशाद (मोटे बालों की जड़ों को खा जाने वाली), २. लोमाद (रोमों को खा जाने वाली), ३. लोमद्वीप (रोओं के जड़ में रहने वाली), ४. सौरस तरुणास्थियों (Cartilage's) का आस्वादन या भक्षण करने वाले), ५. औदुम्बर (गूलर की-सी गांठ के भीतर उत्पन्न होने वाले), ६. जन्तुमाता (किरीनी मक्षिका.) ये छः क्रिमियाँ रक्त (रक्तवाहिनी सिराओं) में उत्पन्न होती हैं।

१. अन्त्राद (अँतड़ियों को खा जाने वाली, इनके कारण अन्त्रों में घाव हो जाते हैं), २. उदरावेष्ट (आमाशय को खा जाने वाली, इन्हीं का दूसरा नाम 'उदराद' भी है।) ३. हृदयाद (हृदय को खा जाने वाली) देखें—क्रमिज हृद्रोग-निदान।) ४. चुरु (आहाररस को चुराने वाली), ५. दर्भपुष्प (कुश के फूल की-सी आकृति वाली।) ६. सौगन्धिक—(ये क्रिमि नासागत या शिरोगत होते हैं।) ७. महागुद (इनका निवास-स्थान महास्रोतस् होता है। इनका दूसरा नाम महाकुहा या महागुदा है।) ये सात क्रिमि कफ से उत्पन्न होते हैं।

१. 'अतत्त्वाभिनिवेशो मानसो विकारः, स च सर्वसंसारिदुःखहेतुतया गद इत्युच्यते, चक्रः।

१. ककेरुक, २. मकेरुक, ३. लेलिह, ४. सशूलक, ५. सौसुराद ये पाँच क्रिमि पुरीषज (पुरीष में उत्पन्न होते) हैं। इस प्रकार बहिर्मलज २+रक्तज ६+कफज ७+पुरीषज ५ = २० क्रिमिजातियों का वर्णन किया गया है।

२० प्रकार के प्रमेह—१. उदकमेह, २. इक्षुमेह, ३. सान्द्रमेह, ४. सान्द्रप्रसादमेह, ५. शुक्लमेह, ६. शुक्रमेह, ७. शीतमेह, ८. शनैर्मेह, ९. सिकतामेह, १०. लालामेह, ये दस **कफजमेह** होते हैं।

१. क्षारमेह, २. कालमेह, ३. नीलमेह, ४. लोहितमेह, ५. मंजिष्ठामेह, ६. हरिद्रामेह ये छः **पित्तज-प्रमेह** होते हैं।

१. वसामेह, २. मज्जामेह, ३. हस्तिमेह, ४. मधुमेह, ये चार **वातज प्रमेह** होते हैं। इस प्रकार कफज १०+पित्तज ६+वातज ४ = २० प्रमेह होते हैं।

२० प्रकार की योनिव्यापत्तियाँ—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज ये चार प्रकार की योनिव्यापत्तियाँ मूलतः होती हैं। इनके अतिरिक्त दोष, दूष्य के संसर्ग एवं प्रकृतिभेद से होने वाली शेष व्यापत्तियाँ कही जारही हैं। वे इस प्रकार हैं—१. रक्तयोनि, २. अरजस्का, ३. अचरणा, ४. अतिचरणा, ५. प्राक्चरणा, ६. उपप्लुता, ७. परिप्लुता, ८. उदावर्तिनी, ९. कर्णिनी, १०. पुत्रघ्नी, ११. अन्तर्मुखी, १२. सूचीमुखी, १३. शुष्का, १४. वामिनी, १५. षण्ढयोनि, १६. महायोनि, इस प्रकार कुल मिलाकर बीस योनिरोग होते हैं।

केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति ॥ ४ ॥

इस प्रकार सभी रोगों के अधिकारों का स्थूल रूप से यथाक्रम यहाँ वर्णन कर दिया गया है। यह तन्त्रकार का सूत्ररूप में वर्णन-क्रम है।

सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते; यथा हि—शकुनिः [1]सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते; वातपित्तश्लेष्मणां पुनः [2]स्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः ॥ ५ ॥

त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना—सभी निजविकार वात, पित्त, कफ के अतिरिक्त नहीं होते हैं। अर्थात् निजरोगों की उत्पत्ति में वात, पित्त, कफ का किसी न किसी अंश में संयोग अवश्य होता है। इसके लिये उदाहरण दिया जारहा है कि जैसे पक्षी दिनभर उड़ता हुआ अपनी छाया का उल्लंघन नहीं कर पाता, उसी प्रकार अपने धातुओं (वात, पित्त, कफ) की विषमता से होनेवाले सभी विकार वात, पित्त, कफ का अतिक्रमण नहीं कर पाते। अतः बुद्धिमान् चिकित्सक वात, पित्त, कफ के स्थान, आकृति, प्रकृति विशेष को देखकर त्रिदोषों से होने वाले उन-उन रोगों का उस-उस नाम से उपदेश करते हैं।

वक्तव्य—'सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्, तल्लिङ्गत्वात्, दृष्टफलत्वात्, आगमाच्च। दोषदूषितेषु अत्यर्थं धातुषु संज्ञा रसजोऽयं शोणितजोऽयं मांसजोऽयं, मेदजोऽयम्, अस्थिजोऽयं, मज्जाजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति' ॥ सु० सू० अ० २४।८। यद्यपि सभी रोगों का मूल कारण त्रिदोषों का कुपित होना है। ये जब रसादि धातुओं को दूषित करते हैं तो यह व्याधि रसज है या रक्तज है, ऐसा लोक में व्यवहार होता है। जिस प्रकार घी से जल गया कहने पर भी घी में स्थित अग्नि को ही दाहक माना जायगा न कि

१, 'सर्वा दिशोऽपि' इति पा.।

२. 'स्थानं रसादयो बस्त्यादयश्च, संस्थानमाकृतिर्लक्षणमिति यावत्, प्रकृतिः कारणम्, एषां विशेषानभिसमीक्ष्य तांस्तानुपदिशन्ति 'अष्टावुदराणि' इत्येवमाद्युपदिशन्ति; तदात्मकानपीति वातादिजनितानपि' चक्रः। 'समुत्थानस्थानसंस्थानवेदनावर्णनामप्रभावचिकित्सितप्रकृतिविशेषान्' यो.।

धी को, उसी प्रकार रक्तज या मांसज रोग कहने पर भी ऐसा ही समझा जायगा कि किसी दोष विशेष ने रक्त अथवा मांस को दूषित किया होगा।

इसी विषय को माधवकर ने सरल भाषा में इस प्रकार कहा है—'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः', माधवनिदान ज्वर प्र०।

भवतश्चात्र—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥ ६ ॥

निज तथा आगन्तुज व्याधियाँ—शरीर में स्वधातु (वात, पित्त, कफ) की विषमता के कारण जो रोग समूह उत्पन्न होता है वह वात, पित्त, कफ से पृथक् (अलग) नहीं होता। केवल आगन्तुज रोग ही निज रोगों की श्रेणी से भिन्न होते हैं। क्योंकि इनमें बाह्य आघातादि कारणों की प्रधानता रहती है, तदनन्तर इनमें भी वातादि संसर्ग होता ही है।

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि[1] प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥ ७ ॥

निज-आगन्तुज व्याधियों का सम्बन्ध—आघात आदि से होने वाले आगन्तुज विकार निज (वातादि दोषों से उत्पन्न लक्षणों) से सम्बन्धित होते हैं। निज (वातादि दोषों से उत्पन्न) विकार जब बढ़ जाते हैं तो ये आगन्तुज विकारों के लक्षणों से सम्बद्ध होने लगते हैं, ऐसी स्थिति में कौन दोष प्रधान है और कौन अनुबन्ध (अप्रधान) है तथा रोगी की प्रकृति क्या है, इत्यादि विषयों का सम्यग् विचार करके ही चिकित्सक को चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—इस पद्य का आशय है कि रोगों की बढ़ी हुई स्थिति में निज-आगन्तुज का विवेचन करना कठिन होता है। निज-आगन्तुज जो व्याधि के दो भेद पहले कहे गये हैं, यह भेद प्रारम्भ में ही विवेचनीय है। अतः चिकित्साकाल में जो लक्षण प्रधान हों साथ ही रोगी की प्रकृति का ध्यान रखते हुए चिकित्सा करनी चाहिये। यह दायित्व रोगी पर नहीं अपितु चिकित्सक पर है।

तत्र श्लोकौ—

विंशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्तास्त्रयस्त्रयः। द्विकाश्चाष्टौ, चतुष्काश्च दश, द्वादश पञ्चकाः॥
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः, षट्कौ द्वौ, सप्तकास्त्रयः। अष्टोदरीये रोगाणां रोगाध्याये प्रकाशिताः॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
अष्टोदरीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—इस अष्टोदरीय नामक अध्याय में बीस, बीस के एक-एक रोग, तीन-तीन के तीन रोग, दो-दो के आठ रोग, चार-चार के दस रोग, पाँच-पाँच के बारह रोग, आठ-आठ के चार रोग, छः-छः के दो रोग और सात-सात के तीन रोग वर्ग भेद से शिष्यों के सम्मुख प्रकाशित (प्रथम बार प्रकट) किये गये हैं।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में अष्टोदरीय नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

१. 'मतिप्रवृद्धः' ग.।

अथ विंशोऽध्यायः

अथातो महारोगाऽध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अष्टोदरीय नामक अध्याय के वर्णन कर लेने के पश्चात् अब हम महारोगाध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—अष्टोदरीय नामक १९ वें अध्याय में सामान्य रोगों का वर्णन करने के पश्चात् प्रस्तुत महारोगाध्याय में उन्हीं रोगों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया जायगा, अतएव पहले अध्याय की तुलना में यह महा = बड़ा अध्याय है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इसमें वर्णित रोग महा (अति) कठिन या असाध्य होते हैं।

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति, रुक्सामान्यात्। द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम्, आगन्तुनिजविभागात्। द्विविधं चैषामधिष्ठानं, मनःशरीरविशेषात्। विकाराः पुनरपरिसङ्ख्येयाः [1]प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरिसङ्ख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

चार प्रकार के रोग—१. आगन्तुज, २. वातज, ३. पित्तज, ४. कफज, उन चारों रोगों का रोगत्व एक ही प्रकार का होता है। क्योंकि सभी रोगों में सामान्य रूप से पीड़ा होती है। इन रोगों की प्रकृति फिर दो प्रकार की होती है—१. आगन्तुज और २. निज। १. मन और २. शरीर भेद से इनके दो स्थान होते हैं। प्रकृति (स्वभाव), अधिष्ठान (स्थान), लिंग (लक्षण), आयतन (दूषित आहार-विहार) आदि के विकल्पों के अनन्त भेदों के कारण रोगों की अनन्त संख्या होती है।

वक्तव्य—'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' यह चिकित्सा का सिद्धान्त है। अतः प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से रोगों का अनगिनत हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार आगन्तुज कारण भेद से भी रोग के प्रकार-भेद हो जाते हैं। निज और आगन्तुज भेदों से ही मानसिक रोगों की भी उत्पत्ति देखी जाती है। इनका विवेचन इसी सूत्रस्थान के प्रारम्भ में यथास्थान किया जा चुका है।

[2]मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यधबन्धनवेष्टनपीडनरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि; निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम् ॥ ४ ॥

आगन्तुज तथा निज रोगों के कारण—नख (मनुष्य, शेर, बाघ, कुत्ता, बिल्ली आदि) से क्षत, दांत (मनुष्य, सर्प आदि) से घाव लगना, गिर जाना, अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोग), अभिशाप (सिद्ध, महर्षि, दीन, दुःखी की आह या शाप), अभिषंग (प्रेत आदि का लग जाना, कामदोष का संसर्ग अथवा Complete contact किसी अनिष्टकारक वस्तु से सीधा सम्बन्ध) अभिघात (चोट लगना), व्यध (किसी अस्त्र, शस्त्र, सुई, शीशा आदि का चुभ जाना), बन्धन (बँधा रह जाना), वेष्टन (जाल आदि में लिपटना या उलझ जाना), पीडन (दब जाना या दबाया जाना), रस्सी से बँध जाना, जल जाना, शस्त्र (छुरी आदि से कटना) वज्र (बिजली गिरना), भूतोपसर्ग (कृमि-कीट आदि का उपद्रव) इस प्रकार के और भी कारण आगन्तुज रोगों को उत्पन्न करते हैं। वात, पित्त, कफ इन धातुओं की विषमता का होना निज रोगों के कारण होते हैं।

द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः [3]प्रेरणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ ५ ॥

१. 'प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनवेदनाविकल्पानामपरिसङ्ख्येयत्वात्' यो.।
२. 'मुखानि कारणानि' चक्रः।
३. 'प्रेरणं कारणम्' चक्रः।

ही को, उसी प्रकार रक्तज या मांसज रोग कहने पर भी ऐसा ही समझा जायगा कि किसी दोष विशेष ने रक्त अथवा मांस को दूषित किया होगा।

इसी विषय को माधवकर ने सरल भाषा में इस प्रकार कहा है—'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः', माधवनिदान ज्वर प्र०।

भवतश्चात्र—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥ ६ ॥

निज तथा आगन्तुज व्याधियाँ—शरीर में स्वधातु (वात, पित्त, कफ) की विषमता के कारण जो रोग समूह उत्पन्न होता है वह वात, पित्त, कफ से पृथक् (अलग) नहीं होता। केवल आगन्तुज रोग ही निज रोगों की श्रेणी से भिन्न होते हैं। क्योंकि इनमें बाह्य आघातादि कारणों की प्रधानता रहती है, तदनन्तर इनमें भी वातादि संसर्ग होता ही है।

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुम[1]पि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥ ७ ॥

निज-आगन्तुज व्याधियों का सम्बन्ध—आघात आदि से होने वाले आगन्तुज विकार निज (वातादि दोषों से उत्पन्न लक्षणों) से सम्बन्धित होते हैं। निज (वातादि दोषों से उत्पन्न) विकार जब बढ़ जाते हैं तो ये आगन्तुज विकारों के लक्षणों से सम्बद्ध होने लगते हैं, ऐसी स्थिति में कौन दोष प्रधान है और कौन अनुबन्ध (अप्रधान) है तथा रोगी की प्रकृति क्या है, इत्यादि विषयों का सम्यग् विचार करके ही चिकित्सक को चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—इस पद्य का आशय है कि रोगों की बढ़ी हुई स्थिति में निज-आगन्तुज का विवेचन करना कठिन होता है। निज-आगन्तुज जो व्याधि के दो भेद पहले कहे गये हैं, यह भेद प्रारम्भ में ही विवेचनीय है। अतः चिकित्साकाल में जो लक्षण प्रधान हों साथ ही रोगी की प्रकृति का ध्यान रखते हुए चिकित्सा करनी चाहिये। यह दायित्व रोगी पर नहीं अपितु चिकित्सक पर है।

तत्र श्लोकौ—

विंशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्तास्त्रयस्त्रयः। द्विकाश्चाष्टौ, चतुष्काश्च दश, द्वादश पञ्चकाः ॥
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः, षट्कौ द्वौ, सप्तकास्त्रयः। अष्टोदरीये रोगाणां रोगाध्याये प्रकाशिताः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
अष्टोदरीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—इस अष्टोदरीय नामक अध्याय में बीस, बीस के एक-एक रोग, तीन-तीन के तीन रोग, दो-दो के आठ रोग, चार-चार के दस रोग, पाँच-पाँच के बारह रोग, आठ-आठ के चार रोग, छः-छः के दो रोग और सात-सात के तीन रोग वर्ग भेद से शिष्यों के सम्मुख प्रकाशित (प्रथम बार प्रकट) किये गये हैं।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में अष्टोदरीय नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

१. 'मतिप्रवृद्धः' ग.।

अथ विंशोऽध्यायः

अथातो महारोगाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अष्टोदरीय नामक अध्याय के वर्णन कर लेने के पश्चात् अब हम महारोगाध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—अष्टोदरीय नामक १९ वें अध्याय में सामान्य रोगों का वर्णन करने के पश्चात् प्रस्तुत महारोगाध्याय में उन्हीं रोगों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया जायगा, अतएव पहले अध्याय की तुलना में यह महा = बड़ा अध्याय है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इसमें वर्णित रोग महा (अति) कठिन या असाध्य होते हैं।

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति, रुक्सामान्यात्। द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम्, आगन्तुनिजविभागात्। द्विविधं चैषामधिष्ठानं, मनःशरीरविशेषात्। विकाराः पुनरपरिसङ्ख्येयाः [1]प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरिसङ्ख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

चार प्रकार के रोग—१. आगन्तुज, २. वातज, ३. पित्तज, ४. कफज, इन चारों रोगों का रोगत्व एक ही प्रकार का होता है। क्योंकि सभी रोगों में सामान्य रूप से पीड़ा होती है। इन रोगों की प्रकृति फिर दो प्रकार की होती है—१. आगन्तुज और २. निज। १. मन और २. शरीर भेद से इनके दो स्थान होते हैं। प्रकृति (स्वभाव), अधिष्ठान (स्थान), लिंग (लक्षण), आयतन (दूषित आहार-विहार) आदि के विकल्पों के अनन्त भेदों के कारण रोगों की अनन्त संख्या होती है।

वक्तव्य—'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' यह चिकित्सा का सिद्धान्त है। अतः प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से रोगों का अनगिनत हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार आगन्तुज कारण भेद से भी रोग के प्रकार-भेद हो जाते हैं। निज और आगन्तुज भेदों से ही मानसिक रोगों की भी उत्पत्ति देखी जाती है। इनका विवेचन इसी सूत्रस्थान के प्रारम्भ में यथास्थान किया जा चुका है।

[2]मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यधबन्धनवेष्टनपीडनरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि; निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम् ॥ ४ ॥

आगन्तुज तथा निज रोगों के कारण—नख (मनुष्य, शेर, बाघ, कुत्ता, बिल्ली आदि) से क्षत, दांत (मनुष्य, सर्प आदि) से घाव लगना, गिर जाना, अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोग), अभिशाप (सिद्ध, महर्षि, दीन, दुःखी की आह या शाप), अभिषंग (प्रेत आदि का लग जाना, कामदोष का संसर्ग अथवा Complete contact किसी अनिष्टकारक वस्तु से सीधा सम्बन्ध) अभिघात (चोट लगना), व्यध (किसी अस्त्र, शस्त्र, सुई, शीशा आदि का चुभ जाना), बन्धन (बँधा रह जाना), वेष्टन (जाल आदि में लिपटना या उलझ जाना), पीडन (दब जाना या दबाया जाना), रस्सी से बँध जाना, जल जाना, शस्त्र (छुरी आदि से कटना) वज्र (बिजली गिरना), भूतोपसर्ग (कृमि-कीट आदि का उपद्रव) इस प्रकार के और भी कारण आगन्तुज रोगों को उत्पन्न करते हैं। वात, पित्त, कफ इन धातुओं की विषमता का होना निज रोगों के कारण होते हैं।

द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः [3]प्रेरणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ ५ ॥

१. 'प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनवेदनाविकल्पानामपरिसङ्ख्येयत्वात्' यो.।
२. 'मुखानि कारणानि' चक्रः।
३. 'प्रेरणं कारणम्' चक्रः।

आगन्तुज और निज रोगों के प्रेरक होते हैं—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम। इनका विस्तृत वर्णन हम चरक सू० के ११ वें अध्याय में कर चुके हैं।

सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुबध्नन्ति, [1]न चान्योन्येन सह सन्देहमापद्यन्ते ॥ ६ ॥

रोग भेदों का परस्पर सम्बन्ध—ये सभी (१. आगन्तुज, २. वातज, ३. पित्तज, ४. कफज) चारों रोग जब अधिक परिमाण में बढ़ जाते हैं, तो परस्पर (एक-दूसरे से) मिल जाते हैं। फिर भी चिकित्सा-काल में अपने-अपने लक्षणों के स्पष्ट होने के कारण किसी प्रकार का सन्देह या भ्रम उत्पन्न नहीं करते।

वक्तव्य—इन रोगों का यद्यपि परस्पर अनुबन्ध्य अनुबन्धकभाव रहता है तथापि लक्षणों के स्पष्ट रहने के कारण कोई भ्रम नहीं होता। इसका उल्लेख च० सू० अ० १९ श्लोक सं० ७ में किया गया है।

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो [2]जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते, जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ ७ ॥

आगन्तुज तथा निज के लक्षण भेद—आगन्तुज रोग कष्ट के साथ पहले उत्पन्न होता है तदनन्तर वात, पित्त, कफ (जो जिससे सम्बन्धित हो उस दोष) की विषमता को उत्पन्न करता है, निज (वातादि दोषों से उत्पन्न) रोग में तो वात, पित्त, कफ पहले विषमता को उत्पन्न करते हैं और बाद में (अपने गुण-धर्म के अनुसार) कष्ट को उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—आगन्तुज रोगों में पहले कष्ट होने के कारण इसी अध्याय के गद्य संख्या ४ में वर्णित हैं। और निज रोगों में वातादि के दूषित होने पर बाद में कष्ट होना स्वाभाविक ही है।

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग[3] उपदेक्ष्यते, तद्यथा—बस्तिः पुरीषाधानं[4] कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानं; स्वेदो रसो लसीका[5] रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्; उरःशिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो[6] मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम् ॥ ८ ॥

तीनों दोषों के शरीर में स्थान—उन वातादि तीनों दोषों का शरीर में स्थानों के विभाग का उपदेश किया जाता है। वह इस प्रकार है—बस्ति (मूत्राशय), पुरीषाधान (मलाशय Rectum) कटि, दोनों ऊरु (Both Thighes), दोनों पैर, अस्थियाँ और हड्डियाँ ये सभी वात के स्थान हैं। उसमें भी विशेष करके पक्वाशय वात का स्थान है।

स्वेद (पसीना), रस, लसीका, रक्त और आमाशय ये सब पित्त के स्थान हैं। इनमें भी प्रमुख रूप से आमाशय पित्त का स्थान है। उरस् (हृदय), शिर, गरदन, पर्व (अस्थि-सन्धियाँ) आमाशय और मेदस् ये कफ के स्थान हैं, इनमें भी उरस् विशेष करके कफ का स्थान है।

वक्तव्य—शरीरावयवों में जो वात, पित्त, कफ के सामान्य तथा विशेष स्थानों का वर्णन ऊपर किया गया है, उसका एक मात्र यही दृष्टिकोण है कि चिकित्सा-काल में इनका ठीक-ठीक ध्यान रखकर दोषों का निर्हरण किया जा सके। साथ ही किस दोष के कुपित होने पर कौन से विकार कहाँ-कहाँ हो सकते हैं, इत्यादि विचार किया जा सके।

यद्यपि वायु सर्व शरीरव्यापी है, तथापि उक्त स्थानों में वायु विशेष रूप से गतिशील रहता है। इन्हीं स्थानों पर वायु की विकृति का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। 'वातस्थानानि' से तात्पर्य है कि ये स्थान

१. 'न चान्योन्यसन्देह०' इति पा०।
२. 'जघन्यमिति पश्चात्' गङ्गाधरः।
३. 'स्थानविभागमनुव्याख्यास्यामः' ग.।
४. 'पुरीषाधानं पक्वाशयः' चक्रः।
५. 'लसीका देहोदकस्य पिच्छाभागः' गङ्गाधरः।
६. 'पित्तस्थाने आमाशय इत्यामाशयाधोभागः, श्लेष्मस्थाने आमाशय इति आमाशयोर्ध्वभागः' चक्रः।

वात की कर्मभूमियाँ है। वाग्भट ने चरक की अपेक्षा कान और त्वचा ये दो स्थान विशेष बतलाये हैं। देखें—अ० हृ० सू० अ० १२।१।

वाग्भट ने पित्त स्थानों का उल्लेख इस प्रकार किया है—'नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः। दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।२। उक्त पद्य में पित्त स्थानों में नाभि को प्रधानता दी है। अतः नाभि का परिचय प्रस्तुत है—'पक्वाऽऽमाशययोः मध्यं सिराप्रभवो नाभिर्नाम मर्म'। सु० शा० अ० ६। अर्थात् पक्वाशय (मलाशय) तथा आमाशय का मध्यभाग नाभि नामक मर्म है। इसी का नाम क्षुद्रान्त्र है। यहीं आहार का परिपाक भी होता है। यही पित्त (पाचक पित्त) की प्रधान कर्मभूमि है। यह बाहर वाली नाभि से सर्वथा भिन्न है।

लसीका—'यत् तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीका शब्दं लभते'। च० शा० अ० ७। अर्थात् त्वचा के रगड़ जाने मात्र से जो द्रव निकलता है, उसे लसीका कहते हैं। त्वचा को वात तथा पित्त दोनों का स्थान माना गया है। हमारी समझ से त्वचा में वात का स्थान वेदनी नामक पाँचवीं त्वचा है और पित्त का जो त्वचा में स्थान है, वह है बाह्य त्वचा जिसको 'अवभासिनी' कहते हैं। इसी में 'भ्राजक' नामक पित्त रहता है, इसमें पित्त विकृतियाँ प्रधान रूप से होती हैं।

उरस्—'इयर्ति इति उरः'। जो सर्वदा गतिशील रहता है, उसे उरस् कहते हैं। वक्षस्थल के भीतर हृदय एवं दोनों फुफ्फुस जीवन भर गतिशील रहते हैं। उनके ऊपर सामने की ओर श्लेष्माशय रहता है। अतएव हृदय को कफ का प्रमुख स्थान कहा गया है।

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि ॥ ९ ॥

दोषों की विभिन्न स्थितियाँ—सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त, कफ शरीर के किसी अवयव विशेष में कुपित होने पर अशुभ तथा प्रकृतिस्थ (सम) होने पर शुभ होते हैं। यथा—जब वातादि दोष प्रकृतिस्थ (समावस्था में) होते हैं तब वे शुभ लक्षणों—उपचय (अंग-प्रत्यंग की पुष्टि), बल, वर्ण, प्रसन्नता आदि को उत्पन्न करते हैं। और जब उक्त दोष विकृत (विषम अवस्था में) होते हैं तब वे अशुभ लक्षणों को किसी न किसी रोग के रूप में प्रकट करते हैं।

तत्र विकाराः—सामान्यजाः, [1]नानात्मजाश्च। तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः, नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ १० ॥

रोगों के सामान्यज और नानात्मज स्वरूप—उनमें सामान्यज विकारों का व्याख्यान पहले अष्टोदरीय नामक १९ वें अध्याय में कर दिया गया है। नानात्मज रोगों की व्याख्या प्रस्तुत अध्याय में करेंगे। वे सूत्र रूप में इस प्रकार हैं—८० वातविकार, ४० पित्तविकार और २० कफविकार।

वक्तव्य—सामान्य रोगों में दोषों की स्थिति स्वतन्त्र, मिश्रित (द्वन्द्वज तथा सन्निपातज) एवम् आगन्तुज कारणों पर निर्भर होती है। नानात्मज रोगों में दोषों की स्थिति स्वतन्त्र होती है, कदाचित् नानात्मज में भी दोषों का मिश्रण दिखायी दे तो उनको भी सामान्य कहा जा सकता है। वातादि भेद से यहाँ नानात्मज रोगों के ८०+४०+२०=१४० भेदों का वर्णन किया है।

[2]तत्रादौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च, वातखुड्डता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च,

१. 'सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते, नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासम्पृक्तैर्जन्यन्ते' चक्रः।
२. 'तत्रादित एव' यो.।

ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च, पाङ्गुल्यं च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, [1]वृषणाक्षेपश्च, शेफःस्तम्भश्च, वङ्क्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्तश्च, खञ्जत्वं च, [2]कुब्जत्वं च, वामनत्वं च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वावमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च[3], हृद्द्रवश्च, वक्षउद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, वक्षस्तोदश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, [4]हनुभेदश्च, ओष्ठभेदश्च, [5]अक्षिभेदश्च, दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यं च, मूकत्वं च, वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यं च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसङ्कोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनं च, अर्दितं च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च, पक्षवधश्च[6] आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, तमश्च[7] भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च, विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यं च, पारुष्यं च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितचित्तत्वं च, इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसङ्ख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः[8] ॥ ११ ॥

वातजविकार—अब यहाँ सर्वप्रथम वातविकारों की व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—१. नखभेद (नाखूनों का फटना उनमें चीरे जैसे पड़ जाना), २. विपादिका (पैरों का फट जाना); ३. पादशूल (पैरों में फटने की-सी पीड़ा का होना), ४. पादभ्रंश (पैर का इच्छानुसार ठीक स्थान पर न पड़ना), ५. पादसुप्तता (पैर या पैरों में झुन-झुनी हो जाना—पादहर्ष = लोक व्यवहार में जिसको पैर सो गया कहते हैं।) ६. वातखुड्डता (एड़ी अथवा पैर और जाँघ की सन्धि में होने वाली वेदना, जिसको सुश्रुत ने 'वातकण्टक' कहा है। देखें—सु० नि० अ० १ श्लो० ७९।) ७. गुल्फग्रह (एड़ी पर की गांठ का जकड़ जाना), ८. पिण्डिकोद्वेष्टन (पैर की पिंडलियों में ऐंठन जैसी होना, इसी को 'खल्ली' भी कहते हैं)। ९. गृध्रसी (कमर से लेकर पैरों की ओर बढ़ने वाला वात रोग Sciatica), १०. जानुभेद (पैरों में फटने की-सी पीड़ा), ११. जानुविश्लेष (जानु सन्धियों का शिथिल हो जाना), १२. ऊरुस्तम्भ, १३. ऊरुसाद (जानु सन्धियों में ढीलापन), १४. पांगुल्य (एक पैर अथवा दोनों पैरों से चलने में असमर्थता), १५. गुदभ्रंश (कांच का निकल आना), १६. गुदार्ति (गुद में पीड़ा का होना), १७. वृषणाक्षेप (अण्डकोषों का ऊपर चढ़ जाना), १८. शेफःस्तम्भ (मूत्रेन्द्रिय में कड़ापन का बना रहना), १९. वंक्षणानाह (वंक्षणों में बन्धन की-सी वेदना), २०. श्रोणिभेद (कमर में फटने की-सी पीड़ा), २१. विड्भेद (मल का अधिक निकलना), २२. उदावर्त (वायु की ऊर्ध्वगति का होना), २३.

१. 'वृषणोत्क्षेपश्च' इति पा०।

२. 'कुब्जत्वं च' इति क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

३. 'उन्मादश्च' ग.।

४. 'हनुताडश्च' चक्रः; 'हनुस्तम्भश्च' इति पा०।

५. 'तालुभेदश्च' इत्यष्टाङ्गसंग्रहे पा०।

६. 'पक्षवधश्च' इति क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

७. 'श्रमश्च' पा०।

८. 'नखभेदः नखभङ्गुरता, विपादिका, पाणिपादस्फुटनं, पादभ्रंशः, पादस्यारोपदेशविषयादन्यत्र पतन जानुविश्लेषः जानुसन्धिशैथिल्यम्, ऊरुस्तम्भः ऊरुस्तम्भनमात्रं, हृद्द्रवः हृदयस्य द्रुतिः स्फुरणं, कण्ठोद्ध्वंसः शुष्ककासः, ओष्ठभेद ओष्ठस्तम्भः, अक्षिभेदः अक्षिगोलकभ्रमणाभावरूपोऽक्षिस्तम्भः, दन्तभेदः, दन्तभङ्गः, वाक्संगः, अस्फुटवचनत्वम्, अशब्दश्रवणं शब्दाभावेऽपि शब्दश्रवणम्, उच्चैःश्रुतिः, बृहद्ध्वनिश्रवणं न त्वल्पध्वनेः, अक्षिव्युदासः नेत्रस्य स्वस्थानच्युतता, भ्रूव्युदासः भ्रुवोः स्वस्थानादधो निपतनं, शङ्खभेदः शङ्खो ललाटैकदेशस्तस्य वेदना न तु शङ्खकरोगः, शिरोरुगिति केवलं शिरःपीडा नतु पञ्च शिरोरोगा ये उक्ताः, हिक्केति न पञ्च हिक्का या सामान्यजा उक्ताः किंतु हिक्कनमात्रम्, अतिप्रलापश्चेति वातकृतः प्रलापस्तु पित्तकृत इति, अतिप्रलापप्रलापयोर्भेदान्न सामान्यजत्वम्' इति गङ्गाधरः। 'एकाङ्गरोगः सर्वाङ्गरोगश्चेति ज्वरादिषु उष्णत्वशीतत्वादीनां कदाचिदेकाङ्गव्यापकत्वेनैकाङ्गरोगः, तेषामेव कदाचित्सर्वाङ्गव्यापकत्वेन सर्वाङ्गरोगः, दोषान्तरसंबन्धेऽपि व्याप्त्यव्याप्ती वातकृते एव' इति चक्रः। 'अर्दितादयः षड् वातव्याधिचिकित्सिते वक्ष्यन्ते' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

खंजता (पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात), (कुब्जत्व = कुबड़ापन), २४. वामनत्व (बौना होना), २५. त्रिकग्रह (त्रिक प्रदेश का जकड़ जाना), २६. पृष्ठग्रह (पीठ का जकड़ जाना), २७. पार्श्वावमर्द (पसलियों में जोर से मलने की-सी पीड़ा), २८. उदरावेष्ट (पेट में मरोड़ होना) २९. हृन्मोह (हृदय की सम्यग् गति का न होना), ३०. हृद्द्रव (हृदय की गति का बढ़ जाना), ३१. वक्षोद्धर्ष (वक्ष प्रदेश में रगड़ लगने की-सी पीड़ा का होना), ३२. वक्षोपरोध (फुफ्फुस तथा हृदय की गति में रुकावट), ३३. वक्षस्तोद (वक्ष में सुई चुभने की-सी पीड़ा), ३४. बाहुशोष, ३५. ग्रीवास्तम्भ (गले का जकड़ जाना), ३६. मन्यास्तम्भ (गरदन का जकड़ जाना), ३७. कण्ठोद्ध्वंस, (स्वरभेद का होना); ३८. हनुभेद, ३९. ओष्ठभेद, ४०. अक्षिभेद, ४१. दन्तभेद, ४२. दन्तशैथिल्य (दांतों का ढीला पड़ जाना), ४३. मूकत्व (भाषण में असमर्थता), ४४. वाक्संग (जबान बन्द हो जाना), ४५. कषायास्यता (मुख का कसैलापन), ४६. मुखशोष, ४७. अरसज्ञता (रस—कटु, तिक्त आदि का ज्ञान न होना), ४८. घ्राणनाश (गन्ध का ज्ञान न होना), ४९ कर्णशूल, ५०. अशब्दश्रवण (शब्द के न होने पर भी कुछ शब्द का सुनायी पड़ना), ५१. उच्चैःश्रुति (ऊँचा सुनायी पड़ना), ५२. बधिरता (बहरापन), ५३. वर्त्मस्तम्भ (आँख की पलक या पलकों का जकड़ जाना), ५४. वर्त्मसंकोच (आंख की पलक या पलकों को न खोल सकना), ५५. तिमिर (नेत्ररोग विशेष), ५६. अक्षिशूल (आँखों में वेदना), ५७. अक्षिव्युदास (आँख या आँखों का टेढ़ा होना, ऐंचा ताना होना या ऊपर को चढ़ जाना), ५८. भ्रूव्युदास (भौंहों का टेढ़ा होना), ५९. शंखभेद, ६०. ललाटभेद, ६१. शिरोरुक् (शिरःशूल), ६२. केशभूमिस्फुटन (बालों के उगने वाले स्थान का फटना), ६३. अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा), ६४. एकाङ्गरोग (एकांगवध), ६५. सर्वाङ्गरोग (सर्वांगवध), ६६. पक्षवध ६७. आक्षेपक, ६८. दंडक, ६९. तम, ७०. भ्रम, ७१. वेपथु (अंग विशेष में कम्पन), ७२. जृम्भा (जँभाई), ७३. हिक्का (हिचकी), ७४. विषाद (मन का प्रसन्न न रहना), ७५. अतिप्रलाप (अधिक निरर्थक भाषण), ७६. रौक्ष्य (शरीर में रूखापन), ७७. पारुष्य (कठोरता), ७८. श्यावारुणावभासता (शरीर का रंग काला या अरुणवर्ण का हो जाना), ७९. अस्वप्न (निद्रानाश), ८०. अनवस्थितचित्तता (चित्तवृत्ति का स्थिर न होना) यद्यपि वातविकार अनगिनत हैं तथापि उनमें भी जिनके नाम अथवा लक्षण स्पष्ट हैं, उन ८० वात रोगों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—यहाँ पर कर्णशूल, तिमिर, अर्दित, एकांग रोग, सर्वांगरोग, जृम्भा, हिक्का आदि कुछ रोग ऐसे दिये गये हैं जिनमें वातदोष के अतिरिक्त अन्य दोषों का सम्बन्ध भी देखा जाता है। अतः तन्त्रकार का दृष्टिकोण यह है कि यहाँ जिन रोगों का वर्णन किया गया है उनको केवल वातविकार ही समझें, अन्य भेदों का उल्लेख यथास्थान किया ही गया है।

कुछ टीकाकारों ने **'त्रिकग्रह'** तथा **'पृष्ठग्रह'** को तन्त्रकार के स्पष्ट निर्देश करने पर भी एक मान लिया है और **'श्यावारुणावभासता'** को एक होने पर भी अलग-अलग माना है, तथापि शास्त्रवचनों में स्वतन्त्रता अज्ञानता का ही सूचक होता है।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वाताविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि[1] कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि; एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—[2]स्रंसभ्रंसव्यासस[3]ङ्गभेदसादहर्षतर्षकम्पवर्तचालतोदव्यथाचेष्टादीनि, तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसङ्कोचनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् ॥१२॥

१. अपरिणामीति सहजसिद्धं नान्योपाधिकृतमित्यर्थः, कर्मणश्चेति 'विकृतस्य वायोः कर्मणः' चक्रः। 'अपरिणामि अव्यभिचारि' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

२. 'स्रंसः किंचिदवस्थानचलनं, भ्रंशस्तु दूरगतिः, व्यासो विस्तरणं वर्तुलीकरणं वर्तः, चालः स्पन्दः, रसवर्णौ वायुना रसवर्णरहितेनापि प्रभावात् क्रियेते' चक्रः।

३. 'व्यासङ्ग' ग.। 'व्यासङ्ग इत्यनासक्तिरित्यर्थः' गङ्गाधरः।

वात के रूप एवं कर्म—इन कहे गत ८० प्रकार के और नहीं कहे गये सभी वात विकारों में वायु के ये न बदलने वाले रूप और उसके कर्मों के लक्षण हैं, जिनको देखकर अथवा जिनके अवयव मात्र को देखकर कुशल चिकित्सक निःसन्देह यह कह सकते हैं कि यह निश्चित रूप से वात विकार है। वे इस प्रकार हैं—रूक्षता, शीतता, हलकापन, विशदता, गति (विकार का एक स्थान पर स्थिर न रहना अथवा वेदना की अस्थिरता) अमूर्तत्व (सूक्ष्माति सूक्ष्मरूप में होना अथवा किसी आकार विशेष में उपलब्ध न होना), और अनवस्थितता ये वायु के अपने रूप होते हैं। इस प्रकार के लक्षण होने कारण इस वायु के शरीर के उस उस अवयव विशेष में प्रवेश करते हुए ये लक्षण प्रकट होते हैं। वे इस प्रकार हैं—स्रंस (अपने स्थान से थोड़ा-सा हट जाना), भ्रंश (अपने स्थान से हट जाना या च्युत हो जाना), व्यास (पहले की तुलना मे विकार युक्त स्थान का अधिक फैल जाना), संग (मल, मूत्र अथवा सन्धिभागों का रुक जाना, जकड़ या अकड़ जाना), भेद (अतिसार अथवा फटने की-सी पीड़ा), साद (अवसाद, पीड़ा), हर्ष (रोमांच), तर्ष (प्यास का लगना), कम्प (अंगो में कँप-कँपी का होना), वर्त (मल में गाँठें पड़ जाना), चाल (अंगस्फुरण, रोग से सम्बन्धित होने के कारण इसका ज्योतिषशास्त्रोक्त कोई फल नहीं होता, क्योंकि यह व्याधिलक्षण है) तोद (सुई चुभाने के सदृश पीड़ा का होना), व्यथा (पीड़ा), चेष्टा (विविध प्रकार की शारीरिक या मानसिक चेष्टाओं का होना), इत्यादि वायु के रूप हैं। **वायु के कर्म**—खर, परुष, विशद, सुषिर, अरुणवर्ण, कषायरस, विरसमुखत्व (मुख में फीकापन), शोष, शूल, सुप्ति (शून्यता), संकोच, स्तम्भन (जकड़ जाना), खञ्जता (लँगड़ापन) आदि उक्त लक्षणों तथा कर्मों से युक्त को वातविकार समझें।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान अध्याय १ में वायु के—'रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः'। इन लक्षणों का सूत्र रूप में वर्णन किया था, उन्हीं का यहाँ विशद उल्लेख है।

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहस्वेदास्थापनानुवासननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; तत्रास्थापनानुवासनं तु खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य [1]केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति, तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते; यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥१३॥

वातविकार की सामान्य चिकित्सा—उस विकार युक्त वात दोष की मधुर, अम्ल, लवण रसों, स्निग्ध गुण तथा उष्ण वीर्य से युक्त स्नेह, स्वेद, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, भोजन, अभ्यङ्ग, (तेलमालिश), उत्सादन (उबटन), परिषेक आदि वातनाशक उपकरणों द्वारा मात्रा और काल का विचार करके चिकित्सा करे। सभी चिकित्सक वातचिकित्सा के निर्दिष्ट उपायों में से आस्थापनबस्ति तथा अनुवासनबस्ति का प्रयोग प्रधानतम (श्रेष्ठ) मानते हैं। उक्त बस्तियों का प्रयोग प्रारम्भ से ही पक्वाशय के भीतर प्रवेश करके केवल विकार को उत्पन्न करने वाले वातदोष की जड़ को ही काट देता है। पक्वाशयस्थ वातदोष को जीत लेने पर शरीर के मध्य में स्थित सभी प्रकार के वातविकार उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ के कट जाने से निश्चित रूप से डाल, शाखा, अंकुर, फूल, फल, पत्ते आदि का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—वातदोष की शान्ति के लिये बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। इस सम्बन्ध में वृद्ध तथा युवा दोनों वाग्भट इतने सहमत हैं कि दोनों ने अपनी-अपनी संहिताओं में उसी पाठ को ज्यों का त्यों उद्धृत कर डाला है। देखें—अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय सू० अ० १ में—'शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु'॥ अर्थात् शारीरिक दोषों की उत्तम चिकित्सा क्रमशः इस प्रकार है—वायु का बस्ति-कर्म, पित्त का विरेचन-कर्म तथा कफ का वमन-कर्म। वायु के लिये तैल, पित्त के लिये घृत और कफ के लिये मधु; यह है प्राचीन आचार्यों की सूत्ररूप में व्याख्यान की प्रवृत्ति। इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन के लिये सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ३५ श्लोक २४ से ३१ तक तथा चरक सिद्धिस्थान अ० १।३८ देखें। इन सभी प्रकरणों में वायु के निर्हरण के लिये बस्ति-प्रयोग की प्रशंसा की गयी है।

---

१. 'केवलं वैकारिकमिति सकलविकारकारकम्' चक्रः।

पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमत ऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः; (तद्यथा)—ओषश्च; प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, ([1]अङ्गस्वेदश्च) अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, ([2]मांसदाहश्च), त्वगवदरणं च, [3]चर्मदलनं च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा (क्ष्या) च, कामला च, तिक्तास्यता च, लोहितगन्धास्यता च, पूतिमुखता च, तृष्णाधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च, इति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः[4] पित्तविकाराणामपरिसङ्ख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ १४ ॥

चालीस पित्तविकार—वातविकारों के वर्णन के पश्चात् अब पित्तविकारों की व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—१. ओष (सर्वांगीण दाह), २. प्लोष (प्रादेशिक दाह), ३. दाह (सामान्य दाह), ४. दवथु (नेत्र आदि का दाह), ५. धूमक (गला आदि से धुँआ निकलने की-सी प्रतीति), ६. अम्लक (खट्टी डकार का आना या गला जलना), ७. विदाह (हाथ-पैरों की जलन), ८. अन्तर्दाह (शरीर के भीतरी अवयवों में जलन होना), ९. अंसदाह (अंस = कन्धा), १०. ऊष्माधिक्य (शरीर में अधिक गर्मी का अनुभव होना), ११. अतिस्वेद (अङ्गस्वेद—अधिक पसीना होना या किसी अंग विशेष में पसीना होना), १२. अङ्गगन्ध (अंगों से विशेष प्रकार की गन्ध का आना), १३. अङ्गावदरण (अंगविशेष में फटने की-सी पीड़ा होना), १४. शोणितक्लेद (रक्त का पतला होना), १५. मांसक्लेद (मांस का सड़ना), १६. त्वग्दाह (त्वचा Skin में दाह), (मांसदाह), १७. त्वगवदरण (त्वचा का फटना), १८. चर्मदलन (चमड़े का फटना), यहाँ त्वगदरण से एकाध त्वचा का और चर्मदलन से कुछ अधिक त्वचाओं के फटने का तन्त्रकार का आशय है, अन्यथा यह पुनरुक्ति व्यर्थ हो जायगी। १९. रक्तकोठ (लालवर्ण का चकत्ता), २०. रक्तविस्फोट (लालवर्ण का फोड़ा), २१. रक्तपित्त (रोगविशेष), २२. रक्तमण्डल (शरीर भर में लाल-लाल चकत्ते हो जाना), २३. हरितत्व (नख, नेत्र, मूत्र आदि में हरापन), २४. हारिद्रत्व (नख, नेत्र, मूत्र, आदि में पीलापन), २५. नीलिका (शरीरावयवों का नीला पड़ जाना), २६. कक्षा (रोगविशेष), २७. कामला २८. तिक्तास्यता (मुख का तीतापन), २९. लोहितगन्धास्यता (मुख से रक्त की गंध का आना), ३०. पूतिमुखता (मुख से सड़न की गन्ध आना), ३१. तृष्णाधिक्य (प्यास का अधिक लगना), ३२. अतृप्ति (भोजन अथवा जलपान से तृप्ति न होना), ३३. आस्यविपाक (मुख का पक जाना), ३४. गलपाक (गला का पकना), ३५. अक्षिपाक (आँखों का पकना), ३६. गुदपाक (गुद का पकना), ३७. मेढ्रपाक (मूत्रेन्द्रिय का पकना), ३८. जीवादान (जीवरक्त का निकलना), ३९. तमःप्रवेश (अंधकार में प्रवेश होने का-सा अनुभव होना), ४०. नेत्र, मूत्र और मल का वर्ण हरा अथवा पीला होना—ये ४० पित्त विकार हैं। पित्तविकारों के अगणित होने के कारण जिनके स्पष्ट रूप प्रतीत होते हैं उनकी व्याख्या यहां कर दी गयी है।

वक्तव्य—व्याकरण की दृष्टि से 'पित्तविकारान्' यह पद द्वितीया बहुवचनान्त है और 'चत्वारिंशत्' शब्द संख्यावाचक होने के कारण ही द्वितीया एकवचन में 'चत्वारिंशतम्' के रूप में प्रयुक्त है। अत एव **'पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमतः'** यही पाठ सभी दृष्टियों से उपयुक्त है।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—औष्ण्यं

१-२. अयं पाठः क्वचित्पुस्तके नोपलभ्यते।

३. 'चर्मावदरणं च' इति पा०।

४. 'ओषः पार्श्वस्थितेन वह्निनेव पीडा, प्लोषः किञ्चिद्दहनमिव, दाहः सर्वाङ्गदहनमिव, दवथुः धक्धकीति लोके, त्वगवदरणं बाह्यत्वङ्मात्रविदीर्णता, चर्मावदरणं षण्णां त्वचां विदीर्णता, रक्तसंसर्गेण, रक्तीभूतं पित्तं रक्त-

तैक्ष्ण्यं [1]द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥१५॥

पित्त के रूप एवं कर्म—इन कहे गये सभी पित्तविकारों तथा इनके अतिरिक्त जो यहाँ पर नहीं कहे गये हैं, अर्थात् जिनका स्वरूप तथा कर्म वर्णित नहीं है, उनमें पित्त का यह न बदलने वाला रूप तथा कर्म का लक्षण जिसको पूर्वरूप में अथवा आंशिक रूप में पाकर कुशल चिकित्सक संदेहरहित होकर (दृढ़ता से) कह सकते हैं कि यह पित्तविकार है। उसका वर्णन इस प्रकार है, पित्त के रूप—उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, अधिकस्निग्धता का अभाव, इसका वर्ण सफेद तथा अरुण को छोड़कर कोई और होता है, आमगन्ध वाला, कटु तथा अम्लरस और सरत्व ये पित्त के अपने (बिना किसी दूसरे दोष के मिले हुए पित्त के) रूप हैं। इस प्रकार के पित्त भिन्न-भिन्न शरीरावयवों में ये कर्मलक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—दाह, उष्णता (शरीर में तापांश का बढ़ जाना, पकना, पसीना निकलना, गीलापन, कोथ (सड़न), कण्डू (खुजली), स्राव (पंछा का निकलना, राग (लालिमा), और अपने (पित्त के) अनुरूप गन्ध, वर्ण, रस की उत्पत्ति का होना, पित्त कर्म हैं, इन पित्त के रूप तथा कर्मों से युक्त देखकर पित्तविकार का निर्णय करना चाहिये।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान में पित्त के गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया जा चुका है—'सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु'। भगवान् धन्वन्तरि ने भी ऐसा ही उपदेश दिया है—'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटु सरं चैव विदग्धं चाम्लमेव च' ॥ सुश्रुत सू० अ० २१ ॥

तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेकप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित [2]एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ [3]व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत् ॥१६॥

पित्त विकारों की सामान्य चिकित्सा—उक्त उस पित्तविकार की मधुर, तिक्त, कषाय रसप्रधान पदार्थों से तथा शीतवीर्ययुक्त स्नेह, विरेचन, प्रदेह (लेप), परिषेक (जलसिंचन, जलावगाहन, धारागृह का सेवन आदि), अभ्यङ्ग (उबटन) आदि पित्तनाशक चिकित्साओं द्वारा मात्रा एवं काल का विचार कर चिकित्सा करे। पित्तविकारों में अन्य चिकित्साओं की अपेक्षा विरेचन द्वारा दोषनिर्हरण को चिकित्सक प्रधान मानते हैं। जैसे—वातव्याधि में बस्ति प्रयोग।

वह विरेचन सबसे पहले आमाशय में प्रविष्ट होकर केवल पित्त को अथवा विकृत (दोषों से सम्बद्ध) पित्त को बाहर निकाल देता है। इस प्रकार पित्त को जीत लेने पर अर्थात् पित्त को विरेचन द्वारा बाहर निकाल देने पर शरीर के भीतर स्थित सभी प्रकार के पित्तविकार शान्त हो जाते हैं, जैसे अग्नि के निकल जाने पर अग्निगृह स्वयं शान्त हो जाता है, वैसे ही विरेचन द्वारा पित्त के निकल जाने पर पित्तविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार की यह उपमा युक्ति-युक्त है—अग्निगृह को तपाने में जो योगदान अग्नि का है, शरीर को संतप्त करने में वही स्थान पित्त का है। यहाँ आमाशय शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य गङ्गाधर ने लिखा है—'आमाशयमिति पक्वामाशयमध्यस्थानस्योर्ध्वम्'। अर्थात् पक्वाशय और आमाशय के मध्य स्थान का ऊपरी भाग से विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण होता है।

पित्तं ननु रक्तपित्ताख्यो रोगः, तृष्णाधिक्यं केवलतृष्णातिशयः ननु तृष्णाख्यरोगविशेषः तस्य सामान्यजत्वात्, जीवादानं विरेचनव्यापद्विशेष उक्तो यो जीवरक्तनिर्गमः, हरितेत्यादिना एक एव रोगः' गङ्गाधरः।

१. 'लाघवमनतिस्नेहः' इति पा०।

२. 'आमाशयमिति पक्वामाशयमध्यस्थानस्योर्ध्वम्' गङ्गाधरः।

३. व्यपोढे व्यपगते; 'व्यपगते' ग.।

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः; तद्यथा—[1]तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, [3]मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, (अपक्तिश्च), हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेपश्च, धमनीप्रति(वि)चयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः; श्लेष्मविकाराणामपरिसङ्ख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ॥१७॥

बीस कफज विकार—पित्त विकारों का वर्णन करने के पश्चात् अब कफज विकारों का वर्णन करेंगे। वे इस प्रकार हैं—१. तृप्ति, २. तन्द्रा (उंघाई), ३. नींद का अधिक लगना, ४. स्तैमित्य (शरीर में गीलापन या चिपचिपाहट का होना), ५. शरीर का भारीपन, ६. आलस्य (शक्ति होने पर भी कार्य न करने की इच्छा), ७. मुख में मधुरता, ८. लार का चूना, ९. श्लेष्मोद्गिरण (बार-बार कफ का निकलना), १०. मल की अधिकता (शरीर के समस्त मलद्वारों से मल का अधिक निकलना), ११. बलास (बलक्षय), (अपक्ति = अनपच), १२. हृदयोपलेप (कफ से हृदय का लिप जाना), १३. कण्ठोपलेप (गल प्रदेश का कफ से लिप जाना) १४. धमनी प्रतिचय (नाड़ी की गति में भारीपन), १५. गलगण्ड (घेघा नामक रोग), १६. अधिक मोटापन, १७. अग्नि का मन्द पड़ जाना, १८. उदर्द रोग विशेष (Erysipelas.) १९. शरीर में सफेदी, २०. नेत्र, मल, मूत्र का सफेद हो जाना—ये बीस कफज विकार हैं। यद्यपि कफज विकार अगणित होते हैं, उनमें से जिनका स्वरूप निर्धारित हो चुका है, उन्हीं का यहाँ व्याख्यान किया गया है।

वक्तव्य—'बलासकश्च'—इस शब्द की व्याख्या चक्रपाणि के अनुसार इस प्रकार है—'बलासको बलक्षयः। किंवा श्लेष्मोद्रेकान्मन्दजवित्वं, स्थूलाङ्गता बलासकः'। परन्तु इसके अतिरिक्त भी **बलासक** का परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है—'गले तु शोफं कुरुतः प्रवृद्धौ, श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्। मर्मच्छिदं दुस्तरमेतदाहुर्बलाससंज्ञं निपुणा विकारम्' ॥ सुश्रुत नि० अ० १६।५४। यह बलास कफवायुजनित एक-कष्टसाध्य रोग है।

और देखिये—'कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः। स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः' ॥ सुश्रुत उ० तं० अ० ४।९। इसी से सम्बन्धित एक 'वातबलासक' शब्द भी है, जो ज्वर का वाचक है।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्य[3]मात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ॥१८॥

कफ के रूप एवं कर्म—कहे गये इन सभी कफविकारों में और जिनका वर्णन नहीं किया गया है ऐसे अन्य कफज रोगों में कफ का यह स्वाभाविक रूप तथा कफ के कर्म का अपना लक्षण है, जो कभी बदलता नहीं, जिसको या जिसके अंशमात्र को देखकर कुशल चिकित्सक सन्देहरहित होकर यह कफज विकार ही है, ऐसा निश्चय करते हैं।

कफ के रूप इस प्रकार हैं—चिकनापन, शीतता, शुक्लता (सफेदी), भारीपन, मधुरता, स्थिरता (व्रण आदि के चिरपाकी होने के रूप में), पिच्छिलता, मसृणता (चिकनापन) ये कफ के अपने रूप हैं, कफ के ऐसा होने के कारण शरीर के उस-उस अवयव विशेष में प्रवेश करने पर इसके कर्म का यह निज (अपना) लक्षण दिखलायी देता है।

कफ के लक्षण इस प्रकार हैं—सफेदी, शीतता, खुजली, स्थिरता, भारीपन, स्निग्धता, शून्यता (स्थान विशेष का संज्ञाहीन हो जाना), क्लेद (गीलापन), उपदेह (लिपा हुआ-सा प्रतीत होना), बन्ध (बंधा या

---

१. 'तृप्तिर्येन तृप्तमिवात्मानं सर्वदा मन्यते, बलासको बलक्षयः, किंवा श्लेष्मोद्रेकान्मन्दजवित्वं, स्थूलाङ्गता बलासकः धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः' चक्रः।

२. 'अपक्तिश्च' ग.।

३. 'मात्स्न्यं मसृणता' चक्रः।

जकड़ापन); मधुरता और चिरकाल तक रोग को बनाये रखना ये कफ के कर्म हैं। इन लक्षणों से युक्त रोग को कफज समझें।

तं कटुकतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥१९॥

कफ विकार की सामान्य चिकित्सा—उस विकृत कफ की कटु (कडुए), तिक्त, कषाय, तीक्ष्ण, उष्ण एवम् रूक्ष स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम आदि कफनाशक क्रियाओं द्वारा मात्रा तथा काल का विचार कर चिकित्सा करे। कफज विकार में ऊपर कही गयी सभी चिकित्साओं से वमन (कै कराना) को चिकित्सक प्रधान (महत्वपूर्ण) कर्म मानते हैं। क्योंकि वह वमनकारक द्रव्य प्रारम्भ में ही आमाशय में प्रवेश कर उसके ऊपरी भाग में स्थित केवल विकृत कफ को जड़ सहित ऊपर को उखाड़ फेंकता है। कफ को जीत लेने पर शरीर के भीतर स्थित कफज विकार शान्त हो जाते हैं, जैसे जलपूर्ण खेत के बांध (मेड़) के टूट जाने पर शालि, जौ, षष्टिक (सांठी) आदि धान्य जल के अभाव में (उचित सिंचाई न मिलने के कारण) सूख जाते हैं, उसी प्रकार कफ के वमन द्वारा निकल जाने पर सभी कफज विकार नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—इस अध्याय में मूलरूप से वात, पित्त तथा कफ विकारों के रूप, कर्म, लक्षणों का वर्णन तथा वातादि दोषों की सामान्य चिकित्सा का उल्लेख किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—वातज विकारों में—आस्थापनवस्ति और अनुवासनवस्ति का प्रयोग, पित्तज विकारों में—विरेचन और कफज विकारों में—वमन। इसका सूत्र रूप में वर्णन अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय १ में इस प्रकार किया है—'शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेको वमनं घृतं तैलं तथा मधु' ॥ पक्वाशय में वायु, आमाशय के अधोभाग में पित्त और आमाशय के ऊपरी भाग में कफ का स्थान है, अतएव उक्त दोषनिर्हरण व्यवस्था स्वीकार की गयी है।

भवन्ति चात्र—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥२०॥

चिकित्सा का क्रम—सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करे, उसके पश्चात् औषध योगों का निर्णय करे और तदनन्तर शास्त्र तथा व्यवहार ज्ञान के अनुसार वैद्य चिकित्सा प्रारम्भ करे।

वक्तव्य—सबसे पहले वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज या आगन्तुज आदि का निर्णय करें, इसमें भी रोगों का प्रधान तथा अनुबन्ध रूप का विचार करें तदनन्तर दोषों की सम, वृद्ध, क्षीण स्थितियों पर ध्यान दें।

औषध परीक्षा—चिकित्सा सम्बन्धी अनेक द्रव्यों के योग को औषध कहते हैं। सामान्य रूप से इसके दो भेद होते हैं—१. काष्ठौषध, २. रसौषध, इनके अतिरिक्त आसव, अरिष्ट, अवलेह, वटी चूर्ण आदि अनेक भेद हैं, जिनका अन्तर्भाव उक्त भेदों में कर लिया जाता है : द्रव्यों का अपना स्वभाव होता है कोई रस, कोई वीर्य, कोई विपाक अथवा कोई प्रभाव प्रधान द्रव्य होता है। औषध का निर्णय या परीक्षा करते समय इस प्रकार की बातों का भली-भाँति विचार कर लेना चाहिये।

चिकित्सा-कर्म—रोग और औषध का निर्णय हो जाने पर देश, काल, रोगी के वय आदि के अनुसार औषध मात्रा का निर्णय कर शास्त्र, गुरूपदेश तथा अपने अनुभव के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। कर्म शब्द से कुछ विद्वान् पञ्चकर्म (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति) का ग्रहण करते हैं। यद्यपि यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग चिकित्सा के लिये ही प्रयुक्त है।

ज्ञानपूर्वम्—यहाँ पर तन्त्रकार शास्त्र तथा अनुभव से प्राप्त ज्ञान वाले चिकित्सक को चिकित्सा करने का आदेश दे रहा है। अतः चिकित्सा का भार शास्त्रज्ञ एवं व्यवहार (चिकित्सा-कर्म) कुशल चिकित्सक को ही सौंपना चाहिये, दूसरे को नहीं। इसका समर्थन अगले पद्यों द्वारा किया जा रहा है।

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्। अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥२१॥

चिकित्सा में अकस्मात् सफलता—जो चिकित्सक रोग का बिना निर्णय किये ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देता है, भले ही वह औषध-विधान का जानने वाला ही क्यों न हो, किन्तु उसकी सफलता आकस्मिक ही होती है।

वक्तव्य—यहाँ शास्त्र से अनभिज्ञ किन्तु औषध-विधान के ज्ञाता वैद्य की निन्दा अथवा अविश्वसनीयता प्रकट की गयी है। अर्थात् संयोगवश लाभ हो जाने पर भी ऐसे चिकित्सक पर विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि कभी हानि भी हो सकती है।

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः। देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥२२॥

निःसन्देह सफल चिकित्सक—जो चिकित्सक सभी प्रकार के रोगों की विशेषता को जानता है, जो सभी प्रकार के औषध-प्रयोगों में चतुर है और जो देश, काल, औषध मात्रा आदि का जानकार है, उससे करायी गयी चिकित्सा में निःसन्देह सफलता प्राप्त होती है। इसी को सुश्रुत ने उभयज्ञ चिकित्सक कहा है।

तत्र श्लोकाः—

सङ्ग्रहः प्रकृतिर्देशो विकारमुखमीरणम्[1]। असन्देहोऽनुबन्धश्च रोगाणां सम्प्रकाशितः ॥२३॥
दोषस्थानानि रोगाणां गणा नानात्मजाश्च ये। रूपं पृथक् च दोषाणां कर्म चापरिणामि यत् ॥
पृथक्त्वेन च दोषाणां निर्दिष्टाः समुपक्रमाः। सम्यङ्महति रोगाणामध्याये तत्त्वदर्शिना ॥२५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
महारोगाध्यायो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इतिरोगचतुष्कं समाप्तम्।

उपसंहार—चिकित्साशास्त्र के तत्ववेत्ता महर्षि आत्रेय ने सम्यक् प्रकार से इस महारोगाध्याय में रोगों का संग्रह (चार प्रकार के रोग), रोगों की प्रकृति (निज एवम् आगन्तुज), रोगों का प्रमुख कारण और प्रेरक कारक, असन्देह एवं रोगों का अनुबन्ध प्रकाशित किया है। इसके आगे दोषों के स्थान, रोगों के नानात्मजगण, उनके पृथक्-पृथक् रूप, दोषों के न बदलने वाले कर्म और प्रत्येक दोषों की अलग-अलग चिकित्सायें बतलायी गयी हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-
चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
महारोग नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २० ॥
इस प्रकार रोगचतुष्क समाप्त हुआ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथातोऽष्टौनिन्दितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

महारोगाध्याय का वर्णन करने के अनन्तर अब हम अष्टौनिन्दितीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान आत्रेय ने कहा था।

---

१. 'विकारो मुखमीरणम्' ग.।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान में इसके पूर्व **रोगचतुष्क** तथा **भेषजचतुष्क** का वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में रोग तथा भेषज योजना चतुष्कका का निर्देश किया गया है।

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा---अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा च, अलोमा च, [1]अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च, अतिकृशश्चेति ॥ ३ ॥

निन्दनीय पुरुष (Censurable Persons)—इस अध्याय में शरीर को आधार मानकर आठ प्रकार के निन्दित पुरुष होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अत्यन्त लम्बा, २. अत्यन्त छोटा (बौना), ३. अधिक रोमों वाला, ४. सर्वथा रोमरहित, ५. अत्यन्त श्यामवर्ण वाला, ६. अत्यन्त गौरवर्ण वाला (श्वेताभ), ७. अत्यन्त मोटा और ८. अत्यन्त दुबला।

वक्तव्य—शारीर एवं मानसभेद से रोग दो प्रकार के कहे गये हैं। यहाँ केवल शरीर की विकृति को ध्यान में रखकर ही आठ प्रकार के निन्दित शरीरों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि समाज में अंधा, कुबड़ा, लूला, लंगड़ा आदि विकारों से युक्त शरीर निन्दा का पात्र होता है किन्तु इस प्रकार उसके शरीर का अंग विशेष ही निन्दित कहा जा सकता है, नकि सम्पूर्ण शरीर।

१. अतिदीर्घ—यद्यपि पुरुष की लम्बाई अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ होती है। यह अतिदीर्घ पुरुष भी उक्त प्रमाण से अधिक नहीं होता किन्तु सामान्य पुरुष की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। जैसे—सामान्य वृक्षों में ताड़ या खजूर के वृक्ष। बौना की तुलना में अतिदीर्घ को कालिदास ने कारणवश अच्छा माना है। यथा—'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः'। रघुवंश १ सर्ग। आयुर्वेद की दृष्टि से वातप्रकृति के अथवा पित्त प्रकृति के पुरुष कृश तथा अधिक लम्बे होते हैं। प्रायः हब्शी जाति के लोग सामान्य स्तर के पुरुषों से अधिक लम्बे होते हैं।

जाइजेन्टिज्म (Gigantism) महाकायता जिन व्यक्तियों में होती है, उनमें अन्य शरीरावयव भी उसी अनुपात में बड़े होते हैं। इसी को महाकवि बाणभट्ट ने महाप्राणता कहा है, चन्द्रापीड़ के शरीर सौष्ठव वर्णन में। अतः अतिदीर्घता को 'जाइजेन्टिज्म' मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह महाकायता शारीरिक गुण है न कि दोष।

२. अतिह्रस्व—वामनता (Dwarfism) के पीछे राजा बलि के यज्ञ में वामनरूपधारी विष्णु भगवान् की कथा का अनुस्मरण हो आता है। साथ ही याचक को कितना छोटा रूप धारण करना पड़ता है, इसकी भी स्मृति ताजी हो उठती है। अतः उसकी लघुता सर्वसाधारण से छोटा दिखना और याचक होना दोनों प्रकार से हास्यास्पद अत एव निन्दनीय है।

चिकित्सा की दृष्टि से यह अतिह्रस्वता इतने प्रकार से देखी जाती है—१. अस्थिशोषज वामनता, २. मधुमेहज वामनता, ३. न्यूनकायप्रेरक वामनता, ४. अज्ञातहेतुक वामनता, ५. पूर्णपीयूषिकाहीन वामनता, ६. पीयूषिका वामनता, ७. उपास्थिदुष्पोषगज वामनता, ८. आद्य वामनता। इनमें आठवीं जन्मजात वामनता ही अचिकित्स्य होने के कारण निन्दित है।

३. अतिलोमा—मानव शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं। इनकी जहाँ से उत्पत्ति होती है उनको रोम (लोम) कूप कहते हैं। इनसे रोमों की उत्पत्ति के अतिरिक्त स्वेद भी निकलता है। यह संख्या प्रायः प्रत्येक मनुष्य में समान होती है। यह अतिलोमा संज्ञक निन्दित पुरुष निश्चय ही उक्त पुरुषों से भिन्न होता है। इस पुरुष के शरीर में सभी रोमकूपों से रोम निकलते हैं, अतः वे (रोम) अन्य पुरुषों की अपेक्षा संख्या तथा आकार में अधिक होते हैं, फलतः वह पुरुष भालू जैसा दिखता है। प्राचीन काल में एक आचार्य **भालुकि पुत्र** नाम से प्रख्यात थे, हो सकता है ये अतिलोमा रहे हों। स्वास्थ्य की दृष्टि से अभ्यंग, परिषेक, लेप आदि कार्यों का लाभ ऐसे व्यक्ति को पूर्णरूपेण नहीं मिलता। अभ्यंग (उबटन), तेलमालिश आदि के अवसर पर बालों के टूट जाने से व्रण आदि बाधायें भी उत्पन्न हो जाती हैं। लोक में ऐसा पुरुष असुन्दर होने पर भी हिमालय में जाकर तपस्या के योग्य होता है।

१. 'अतिश्वेतश्चातिकृष्णश्च' यो.।

४. अलोमा—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि रोमकूपों से स्वेद निकलता है। यदि उनमें रोम उगे नहीं रहेंगे तो उन रोमकूपों का मुख बन्द हो जायगा, जिससे पसीने द्वारा भीतर स्थित मैल नहीं निकल पायेगी अतः पुरुष अस्वस्थ रहा करेगा और रोमराजि के अभाव में उसकी असुन्दरता बनी रहेगी। इन दोनों कारणों से वह निन्दनीय है।

५. अतिकृष्ण—श्यामवर्ण कहीं कहीं गौरवर्ण से अधिक प्रशंसित है किन्तु यहाँ जिस अति कृष्णवर्ण के पुरुष को निन्दित कहा गया है, वह ओजस् हीन अत एव निष्प्रभवर्ण का व्यक्ति है। जिसको पाश्चात्य विद्वान् मेलेनिन पिगमेंट (Melanin Pigments) अर्थात् चेहरे पर मलिनता, खिन्नता या उदासीनता ला देने वाला वर्ण कहते हैं। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है—'अति सर्वत्र वर्जयेत्'।

६. अतिगौर—स्वाभाविक गौरवर्ण सुन्दर, आकर्षक होता है किन्तु अति गौरवर्ण उतना ही असुन्दर एवम् उपेक्षणीय होता है। इसमें रक्तविकृति प्रधानकारण होता है। रक्तविकृति के कारण'यह अलोमा भी देखा जाता है। इनकी त्वचा का वर्ण सफेद होता है। ये पित्तज व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों में प्रकाश असह्यता (Photophobia) लक्षण दिखलायी देता है।

७. अतिस्थूल तथा **८. अतिकृश**—इन दोनोंका विशद विवेचन महर्षि ने आगे स्वयं किया है। अतः इसका पल्लवन यहाँ नहीं किया जा रहा है। फिर भी वाग्भट की प्रसंगोचित उक्ति को हम यहाँ उद्धृत कर रहे है—'कार्श्यमेव वरं स्थौल्याद् नहि स्थूलस्य भेषजम्'। अ० हृ० सू० अ० १४। फिर भी वाग्भट ने स्थूल की अपेक्षा जिस कृश की प्रशंसा की है, वह चरकोक्त अतिकृश से स्वस्थ स्थिति का है, ऐसा समझना चाहिये।

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति; अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो [1]जवोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्र पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः। तदतिस्थौल्यमतिसम्पूरणाद्[2] गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नाद्धर्षनित्यत्वादचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते[3]। तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः, तस्मादस्यायुषो ह्रासः; शैथिल्यात् सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो [4]जवोपरोधः, शुक्राबहुत्वान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां, दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्च, मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद्बहुत्वाद् गुरुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः, तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति ॥ ४ ॥

अतिस्थूल पुरुष (Obese Persons)—अतिस्थूल पुरुषों के निन्दनीय होने में प्रमुख कारण—पूर्वोक्त अतिस्थूल एवम् अतिकृश पुरुषों में अधिक मोटा तथा अधिक दुबला होने के अतिरिक्त और भी अनेक निन्दा के योग्य विशेषतायें (बुराइयाँ) होती हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अतिस्थूल पुरुष की आयु का शीघ्र ही नाश होता है। २. शीघ्रकारिता का अभाव (किसी कार्य को शीघ्र कर सकने की शक्ति का अभाव)। ३. मैथुन कार्य में कठिनता, ४. शरीर के स्थूल होने पर भी दुर्बलता, ५. मेदस्विता के कारण शरीर से दुर्गन्ध का आना, ६. पसीना के निकलने से कष्ट का अनुभव होना। ७. भूख का अधिक लगना और ८. बार-बार प्यास का लगना (पानी पी लेने पर पुनः प्यास का लगना, यह पिपासा का अतियोग है। ऐसा लक्षण स्थूल पुरुष में मेदस्विता के कारण उत्पन्न होता है।) स्थूल पुरुष में ये आठ दोष होते हैं।

वह अतिस्थूलता निम्नलिखित कारणों से होती है—१. पेट को अधिक भर देने से, २. गुरु (भारी), मधुर (मीठे), शीत (ठण्डे), स्निग्ध (घृत, तैल) आदि के अधिक सेवन से, ३. व्यायाम के न करने से, ४. मैथुन न करने से, ५. दिन में सोने से, ६. सदैव प्रसन्न रहने से, ७. चिन्ता न करने से और ८. माता-पिता के रज-वीर्य के स्वभावसे (यदि माता-पिता स्थूल होंगे तो सन्तान भी वैसी ही होगी)।

१. 'जरोपरोधः' ग.।
२. 'अतिसम्पूरणमतिभोजनम्' चक्रः।
३. 'बीजस्वभावादिति स्थूलमातापितृजन्यात्' चक्रः।
४ 'जरोपरोधः' ग.।

उपर्युक्त आठ निन्दित विशेषों का यहाँ सहेतुक निरूपण किया जा रहा है—उस अत्यन्त मेदस्वी पुरुष का अन्य रसादि धातुओं की अपेक्षा मेदस् धातु ही अधिक बढता है, नकि अन्य धातु, इसलिये इसकी आयु का शीघ्र नाश हो जाता है। शरीर के ढीला ढाला होने से, सुकुमारता (कष्ट सहनशक्ति के अभाव) से और मेदस् की गुरुता से वह किसी कार्य में शीघ्रता नहीं कर सकता। शुक्र धातु के कम होने से और मेदस् के स्रोतों के रुक जाने के कारण, वह व्यक्ति मैथुन में कष्ट का अनुभव करता है। अपने अनुपात में वृद्धि न होने के कारण रसादि धातुओं में दुर्बलता आ जाती है। मेदस् धातु के दूषित होने के कारण, मेदस् के स्वभाव के कारण और अधिक पसीना होने के कारण शरीर से दुर्गन्धि आती रहती है। मेदस् धातु तथा कफ का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण विष्यन्दी (पसीना को निकालने वाला) होने के कारण, अन्य धातुओं से मात्रा में अधिक होने के कारण, भारी होने के कारण, व्यायाम को सहन न कर सकने से, स्वेद से अधिक कष्ट होता है। पाचकाग्नि के तीक्ष्ण होने के कारण, कोष्ठ स्थान में वायु के अधिक होने के कारण अधिक भूख तथा अधिक प्यास लगती है।

वक्तव्य—ऊपर अतिस्थूलता के अनेक कारणों का निर्देश किया गया है। उनमें रसादि धातुओं का उचित पोषण न होकर केवल मेदस् धातु का निरन्तर बढ़ना प्रधान कारण है। इसी से शरीर में अत्यधिक वसा का संचय हो जाता है। इसके अतिरिक्त अधिक मात्रा में भोजन करना आदि कारण तो स्पष्ट ही हैं। इन्हीं में एक कारण 'दिवा शयन' भी है। इसके लिये शास्त्र का आदेश है कि ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिये, क्योंकि दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है और स्थूल पुरुष निश्चय ही कफ प्रकृति वाला होता है और 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'।

अचिन्तनात्—चिन्ता का क्षेत्र विस्तृत है। यथा—मोक्ष चिन्ता, शास्त्र चिन्ता, स्वास्थ्य चिन्ता, पारिवारिक चिन्ता आदि। चिन्ता एक मानसिक विकार है अतः अन्य मानसिक विकारों (शोक, भय, क्रोध आदि) का भी सम्बन्ध यहाँ जोड़ना प्रसंगोचित है।

बीजस्वभावात्—माता-पिता के रज-वीर्य के कारण सन्तान में जो जन्मजात अतिस्थूलता होती है, वह सहज होने कारण अचिकित्स्य होती है। हमारी समझ से अतिस्थूल पुरुषों को या तो सन्तान होती ही नहीं, यदि होती भी है तो सर्वथा माता-पिता के अनुरूप।

अन्नरस से स्थूलता की उत्पत्ति तथा अतिस्थूल पुरुष के लक्षणों का विवेचन अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अ० २४ में द्रष्टव्य है। इस सम्बन्ध में यहाँ सुश्रुत के वचनों को उद्धृत किया जा रहा है—

'रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च। तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चामएवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति'। सु० सू० अ० १५।३२। इसके आगे अतिस्थूलता से होने वाले रोगों का वर्णन है।

आधुनिक दृष्टि से अतिस्थूलता के कारण—शरीर की समुचित वृद्धि के लिये चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid galnd) की परम आवश्यकता होती है और इसकी निष्क्रियता रोग का कारण होती है। शरीर के अस्थि-पिंजर की वृद्धि या बनावट इस पर निर्भर है। यह ग्रन्थि (Metabolism) चयापचय का संचालन करती है। इसके रुग्ण हो जाने पर शरीर की वृद्धि रुक सकती है। शरीर की मानसिक तथा यौनसम्बन्धी वृद्धि भी इसी पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त पीयूषग्रन्थि (Pituitary gland), उपवृक्कग्रन्थि (Suprarenal gland) और वृषणग्रन्थि (Tesles gland) आदि प्रमुख हैं।

भवन्ति चात्र—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः। चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥

तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाङ्क्षति।

विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ। एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः। विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः। अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥

इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च। निर्दिष्टं,—

अतिस्थूल पुरुष के दोष, कारण तथा स्वरूप—मेदस् धातु द्वारा स्रोतों के मार्गों के अवरुद्ध हो जाने से वायु विशेषतः कोष्ठ प्रदेश में घूमता हुआ जठराग्नि को तीव्र कर देता है और आहार को भी सुखा देता है। वह भोजन को शीघ्र पचा देता है अत एव आहार भी अधिक चाहता है। ऐसी अवस्था में यदि भोजन न मिल सका तो (वात-पित्तजनित) अनेक प्रकार के रोगों को वह प्राप्त हो जाता है। विशेष करके ये दोनों पाचकपित्त और वायु उपद्रवकारक होते हैं, और ये ही उस स्थूल पुरुष को उसी प्रकार जलाते हैं जिस प्रकार दावाग्नि वायु का सम्पर्क पाकर वन को जला डालती है। मेदस् धातु के अधिक बढ़ जाने पर सहसा प्रकुपित हुए वातादि दोष भयंकर रोगों को उत्पन्न करके अतिस्थूल पुरुष के जीवन का नाश कर देते हैं। मेदस् तथा मांस के अधिक बढ़ जाने से नितम्ब (चूतड़ = Hip), उदर और स्तन (स्त्री-पुरुष दोनों के) लटक जाते तथा हिलने लगते हैं। उस पुरुष में उचितरूप से उत्साह की वृद्धि भी नहीं हो पाती। ऐसे पुरुष को अतिस्थूल कहा जाता है। इस प्रकार मेदस्वी (अतिस्थूल) पुरुष के दोष, कारण और स्वरूप का वर्णन कर दिया गया है।

—वक्ष्यते वाच्यमतिकार्श्येऽप्यतः परम ॥१०॥

सेवा रूक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम्। [1]क्रियातियोगः शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रहः ॥११॥

[2]रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः [3]प्रकृतिर्जरा। विकारानुशयः[4] क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ॥१२॥

अतिकृश पुरुष (Emaciated Persons)—अतिस्थूल के कारण-निर्देश के पश्चात् अतिकृश के सम्बन्ध में हम (तन्त्रकार) को जो कहना है, वह कहा जारहा है। रूक्ष भोजनों तथा पेयों (पानकों) का निरन्तर सेवन, लंघन (भोजन के समयों को भूखे रहकर लांघ जाना या बिता देना), प्रमिताशन (नपा-तुला भोजन करना), व्यायाम आदि क्रियाओं का अतियोग (अधिक करना), शोकाकुल रहना, नींद, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकना, शरीर के रूक्ष रहने पर भी उबटन का प्रयोग करना, रूखे शरीर से ही स्नान का अभ्यास (प्रतिदिन बिना तेल-मालिश किये ही स्नान करना), रूक्ष (वात) प्रकृति का होना, अथवा कृश माता-पिता से जन्म होना, वृद्धावस्था का होना, किसी रोग का चिरकाल तक साथ न छोड़ना, क्रोधी स्वभाव का होना, ये सब कारण मनुष्य को अतिकृश कर देते हैं।

वक्तव्य—जैसा अतिस्थूल के कारणों में '**बीजस्वभावात्**' भी एक कारण निर्दिष्ट है वैसा अतिकृश के कारणों में स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया गया है। हमारा विश्वास है कि यह '**प्रकृतिः**' शब्द ही माता-पिता की प्रकृति (देह-प्रकृति) के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुष से सम्बन्धित है। आचार्य गंगाधर ने भी प्रकृति शब्द का अर्थ यही माना है। देखें—'प्रकृतिः-अतिकृशमातापित्रोः शोणितशुक्रस्य स्वभावः'। सचमुच ये अस्थि-चर्मावशिष्ट अतिकृश पुरुष स्वस्थ पुरुषों के समाज में, विवाह आदि की चर्चा में और राजकीय सेवा की होड़ में निन्दित होते हैं।

सेवा रूक्षान्नपानानाम्—रूक्ष (स्निग्धतारहित) अन्न-पानों का निरन्तर सेवन करते रहने से मांस, मेदस्, वसा धातुओं की पुष्टि नहीं हो पाती, अतः ऐसा मनुष्य हृष्ट-पुष्ट नहीं होता। वास्तव में स्थूलता के विपरीत कारणों से कृशता होती है।

लङ्घनम्—यद्यपि अन्यत्र 'लङ्घनं लघुभोजनम्' हल्के भोजन को भी लंघन की संज्ञा दी गयी है किन्तु तन्त्रकार को यहाँ 'लंघन' से 'लघुभोजन' का अर्थ इष्ट नहीं था, नहीं तो वे आगे 'प्रमिताशनम्' न लिखते।

१. 'क्रियातियोगो वमनादिसंशोधनक्रियाणामतियोगः' गङ्गाधरः।
२. 'रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः' इति पा०।
३. 'प्रकृतिरतिकृशमातापित्रोः शोणितशुक्रस्य स्वभावः' गङ्गाधरः।
४. 'विकारानुशयो व्याधेश्चिरानुवृत्तिः' गङ्गाधरः।

वास्तव में महर्षि आत्रेय ने आगे च० सू० अ० २२।१८ में १० प्रकार के लंघनों का जो वर्णन किया है, वे सभी प्रकार अतिकृशता के कारण होते हैं। इस सम्बन्ध में सुश्रुत का मत नीचे उद्धृत है—

'तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्नप्रीणाति, तस्मादतिकार्श्यं भवति। सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति'। सु० सू० अ० १५।३३।

वातप्रधान अतिरूक्ष आहार के सेवन, अतिव्यायाम, अतिमैथुन, अधिक अध्ययन, भय, शोक, चिन्ता, रात्रिजागरण, भूख, प्यास, कषायरस और थोड़ा भोजन करने आदि कारणों से रस धातु का उपशोषण हो जाता है। यह सूखा हुआ रसधातु शरीर का पोषण नहीं करता, अतएव शरीर में कृशता बनी रहती है। वह अतिकृश पुरुष भूख-प्यास, शीत-गरमी, वर्षा, भार उठाने आदि में असमर्थ होकर प्रायः वातरोगी होता हुआ सभी कार्यों में असमर्थ होता है। पाठक देखें कि कहाँ तक दोनों के विचारों में समानता है।

व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामयौषधम्[1]। कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ॥१३॥
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च। कृशं प्रायोऽभिधावन्ति[2] रोगाश्च ग्रहणीगताः ॥

अतिकृशता के दोष—अतिकृश पुरुष व्यायाम, भोजन से अतितृप्ति, भूख-प्यास, रोग और तीक्ष्ण औषधयोगों; इसी प्रकार अति शीत, अति उष्ण तथा मैथुन को सहन नहीं कर सकता। निम्नलिखित रोग भी कृशपुरुष को अधिक कष्ट पहुँचाते हैं—प्लीहा (तिल्ली), खाँसी, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श (बवासीर), उदररोग, तथा ग्रहणी सम्बन्धी रोग।

वक्तव्य—सुश्रुत ने तो इस प्रसंग में यहाँ तक लिख दिया है कि वह अतिकृश पुरुष उक्त श्वास, कास आदि रोगों से पीड़ित होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। देखें—सुश्रुत सू० अ० १५।

शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसन्ततः[3]। त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥१५॥

अतिकृश के लक्षण—अत्यन्त कृश (दुर्बल, कमजोर) पुरुष के नितम्ब (दोनों चूतड़), उदर (पेट) और गरदन सूखे होते हैं। अतएव सम्पूर्ण शरीर में धमनियाँ उभड़ी दिखायी देती हैं। इसके शरीर में त्वचा और अस्थि (हड्डी) मात्र शेष होता है तथा पर्वभाग (मांस के अभाव में अस्थिसन्धियाँ) स्थूल लगने लगती हैं, ऐसे मनुष्य को अतिकृश कहा गया है।

सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ। सततं चोपचर्यौ हि कर्शणैर्बृंहणैरपि ॥१६॥

अतिस्थूल, अतिकृश के चिकित्सा-सिद्धान्त—अतिस्थूल और अतिकृश ये दोनों ही पुरुष सदैव कुछ न कुछ रोग से पीडित ही रहते हैं। अतः इनकी क्रमशः प्रतिदिन कर्षण (शरीर को कृश = दुबला करने वाले) तथा बृंहण (शरीर को पुष्ट करने वाले) आहार-विहार एवम् औषधों से चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—प्रारम्भ में अतिस्थूल एवम् अतिकृश को निन्दित पुरुष कहा गया है, उसके कुछ कारण भी बतलाये गये हैं किन्तु दो कारणों का निर्देश इस श्लोक में भी किया गया है। देखें—१. 'सततं व्याधितौ एतौ' और २. सततं चोपचर्यौ च'। अर्थात् ये दोनों सदैव रोगी रहते हैं और इनकी सदा चिकित्सा करनी पड़ती है, भला ऐसे पुरुषों की समाज निन्दा क्यों न करे? अतिस्थूल पुरुष तो सबके लिये भारी होता ही है यहाँ तो अतिकृश भी सबके लिये भारी हो जाता है। अतएव ये दोनों निन्दित होते हैं।

स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ। यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत् ॥१७॥

उक्त दोनों में कौन अच्छा—अतिस्थूलता तथा अतिकृशता में अपेक्षाकृत अतिकृशता ही अच्छी होती है। यदि ये दोनों समान रूप से साधनसम्पन्न हों तो भी इनको कोई रोग हो जाता है तो वह रोग कृश की तुलना में स्थूल पुरुष को ही अधिक पीड़ित करता है।

---

१. 'क्षुत्पिपासामहौषधम्' इति पा०।
२. 'ऽभिबाधन्ते' यो.।
३. 'धमनीजालसंवृतः' यो.।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने अतिकृश की अपेक्षा अतिस्थूल को अधिक निन्दित सिद्ध किया है क्योंकि यदि उक्त दोनों निन्दित पुरुष दुर्भाग्य से किसी रोग से पीड़ित हो जाते हैं तो अतिकृश की चिकित्सा (बृंहण आदि उपायों) में कहीं कोई विशेष बाधा नहीं आती; किन्तु अतिस्थूल की चिकित्सा में जहाँ हम कर्षण उपायों (लंघन आदि) का प्रयोग करते हैं, तो पहले से प्रवृद्ध जाठराग्नि तथा वायु और भी तीव्र होकर उस स्थूल पुरुष को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हैं, जिनको वह सहन करने में असमर्थ हो जाता है। अत एव ऊपर संकेत किया है—**'स्थूलमेवातिपीडयेत्'**।

इस सम्बन्ध में वाग्भट का निम्न वचन अनुकरणीय है—'न बृंहयेल्लङ्घनीयान् बृंह्यांस्तु मृदु लङ्घयेत्। युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत्'॥ अष्टाङ्गहृ० सू० अ० १४।१५। अर्थात् जो रोगी अपतर्पण के योग्य हैं उनका कदापि सन्तर्पण न करे परन्तु जो सन्तर्पण के योग्य हैं उनका थोड़ा अपतर्पण किया जा सकता है। अथवा देश, काल एवं सात्म्य आदि का विचार करके बलानुसार उपचार करना चाहिये।

ऐसी परिस्थिति में क्या करें इसका समाधान चरकसंहिता में इस प्रकार उपलब्ध है—'न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः। स्वयमापन्नवैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्॥ उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालबलंप्रति। यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कार्यं कर्म च वर्जितम्॥ च० सि० अ० २।२५-२६।

चरक के इन वाक्यों द्वारा यही कहा गया है कि देश, काल एवं बल के अनुसार ऐसी परिस्थिति भी उपस्थित हो जाती है, जिसमें शास्त्रविहित कर्म नहीं किया जाता और शास्त्रवर्जित कर्म करना पड़ता है। अतः चिकित्सक को ऐसे अवसरों में अपने विवेक से भी कार्य करना चाहिये। केवल शास्त्रनिर्दिष्ट विषय को दृष्टि में रखकर दुराग्रह नहीं करना चाहिये। क्योंकि—'स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्'॥

सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो[1] नरः। दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते ॥१८॥

प्रशंसनीय पुरुष—जिस पुरुष के शरीर में (अंगों के अनुपात के अनुसार) मांस का प्रमाण सम हो, शरीरावयव सुडौल हों और इन्द्रियाँ सुदृढ हों ऐसा पुरुष रोगों के बल (प्रभाव) से पराभूत नहीं होता। अर्थात् उस पर रोग आक्रमण नहीं कर पाते।

वक्तव्य—आठ प्रकार के निन्दित पुरुषों का वर्णन करने के पश्चात् तन्त्रकार ने प्रशंसनीय पुरुष की परिभाषा प्रस्तुत की है। यहाँ **'सममांसप्रमाणस्तु'** पद्यांश द्वारा अतिस्थूल और अतिकृश के बीच की स्थिति वाले पुरुष का ग्रहण किया गया है। जिसको सुश्रुत ने 'मध्यशरीर' संज्ञा दी है। **'समसंहनन'** शब्द से अन्य छः प्रकार के निन्दित पुरुषों का निराकरण करके सुडौल शरीर वाले व्यक्ति के प्रति संकेत किया है। 'संहनन' शब्द का अर्थ है—शरीर।

सुश्रुत के शब्दों में मध्यम शरीर वाले व्यक्ति की प्रशंसा इस प्रकार है—'समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति, सर्वक्रियासु समर्थः, क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षातपसहो बलवांश्च, स सततमनुपालयितव्यः'॥ सु०सू० अ० १५।३४।

अर्थात् स्थूल और कृश पुरुषों की चर्चा के बाद मध्यशरीर वाले पुरुष की प्रशंसा की जा रही है। धातुओं के समान होने से मध्यशरीर रहता है। इसलिये वह सभी कार्यों में सामर्थ्यवाला होता है; भूख, प्यास, शीत, उष्ण, वर्षा, धूप को सहन करने वाला और शक्तिशाली होता है। इस मध्यशरीर की सदैव स्वस्थवृत्त के नियमों के पालन द्वारा रक्षा करनी चाहिये। इसीलिये कहा है—'अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ। श्रेष्ठो-मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः'॥ सु० सू० अ० १५।३५॥

क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः। समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः ॥१९॥

स्वस्थ पुरुष के कुछ और लक्षण—जिसमें मांसपेशियों का गठन ठीक प्रकार से हुआ रहता है, वह (स्वस्थ पुरुष) भूख, प्यास और धूप (गर्मी) को सहन कर सकता है, जाड़ा और व्यायाम (परिश्रमसाध्य कार्यों) को अच्छी तरह सहन करता है। उसकी जाठराग्नि सम (न अधिक, न कम) रहती है, अतएव उसके द्वारा खाया हुआ भोजन उचित रूप से पचता है, ऐसा तन्त्रकार का मत है।

वक्तव्य—इस विषय का विवेचन सुश्रुत सू० अ० १५ में देखें।

---

१. 'समसंहनन इति समं यथायोग्यं संहननं शरीरमांसादीनां संनिवेशो दार्ढ्यं यस्य सः'। गङ्गाधरः।

[1]गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति । कृशानां बृंहणार्थं च लघु सन्तर्पणं च यत् ॥२०॥

स्थूल तथा कृश पुरुषों के चिकित्सा सूत्र—स्थूल पुरुषों को कृश करने के लिये गुरु एवम् अपतर्पण द्रव्य तथा कृश पुरुषों को मोटा अतएव पुष्ट बनाने के लिये लघु एवं सन्तर्पण द्रव्य हितकारक होते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य एक संक्षिप्त चिकित्सा सूत्र के रूप में निर्दिष्ट है। यहाँ ध्यान यह देना है कि गुरु और अपतर्पण दोनों गुण जिन-जिन द्रव्यों में हों उन-उन द्रव्यों का प्रयोग स्थूल पुरुषों को कृश कराने के लिये करना चाहिये। जैसे—मधु (शहद), क्योंकि यह मधु गुरु होने के कारण बढ़ी हुई अग्नि का यापन करता हुआ अपतर्पण होने के कारण मेदस् धातु का क्षय करता है। यही चक्रपाणि का भी मत है - 'एतद्धि गुरुत्वाद् वृद्धमग्निं यापयति, अपतर्पणत्वाच्च मेदो हन्ति'। चक्रपाणिः।

सावधान—कहीं ऐसी भूल चिकित्सक न कर बैठे। 'गुरु च इष्टम् अपतर्पणं च इष्टम्'। अर्थात् स्थूल पुरुष के लिये गुरु पदार्थ भी इष्ट (हितकर) हैं और अपतर्पणकारक पदार्थ भी इष्ट हैं। ऐसा करने पर यदि आप घृत, तैल, वसा आदि से युक्त (गुरु) पदार्थ स्थूल पुरुष को देंगे तो वे केवल मेदो धातु की वृद्धि करेंगे और इनसे रोग किसी मात्रा में घटेगा नहीं और यदि केवल अपतर्पण (उपवास, लंघन आदि) का प्रयोग करेंगे तो पहले से ही बढ़ी हुई उसकी जाठराग्नि तथा बढ़ा हुआ वायु और भी अधिक बढ़कर रोगी को मार डालेंगे। अतः गुरु तथा अपतर्पण गुण वाले पदार्थों से ही स्थूल पुरुष की चिकित्सा करनी चाहिये। अतिकृश पुरुषों की चिकित्सा के लिये 'लघुसन्तर्पण' पदार्थों के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि इनकी पाचनशक्ति क्षीण रहती है, अतः लघु (शीघ्र पचने वाले) पदार्थ किन्तु जो सन्तर्पण (रसादि धातुओं को तृप्त करने वाले) हों, का प्रयोग कराना चाहिये। यथा—'प्रशातिका प्रियङ्गु आदि' आगे निर्दिष्ट हैं।

वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च । रूक्षोष्णा वस्तयस्तीक्ष्णारूक्षाण्युद्वर्तनानि च ॥२१॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा । तक्रारिष्टप्रयोगश्च प्रयोगो माक्षिकस्य च ॥२२॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु । यवामलकचूर्णं च प्रयोगः श्रेष्ठ उच्यते ॥२३॥
बिल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः । शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसः परः ॥२४॥

अतिस्थूलता (मेदोरोग) की चिकित्सा—वात, कफ, मेदस् का हरण करने वाले भोजन तथा पेय पदार्थ, रूक्ष, तीक्ष्ण तथा उष्ण बस्तियाँ, रूक्षता कारक उबटन, गिलोय, नागरमोथा त्रिफला, तक्रारिष्ट (अर्शोरोगाधिकार में निर्दिष्ट) और मधु (शहद) का प्रयोग, वायविडंग, सोंठ, क्षार, तीक्ष्ण लोहभस्म, मधु का प्रयोग, जौ और आँवलों का चूर्ण, बिल्वादिपञ्चमूल का शहद के साथ प्रयोग और अग्निमन्थ के रस के साथ शिलाजीत का प्रयोग लाभदायक होता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में कहे गये सभी द्रव्य मेदोरोग का शमन करते हैं। इन श्लोकों में एक बार **माक्षिक** शब्द और दूसरी बार **मधु** शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य टीकाकारों की भाँति हमने भी ऊपर दोनों शब्दों का अर्थ मधु (शहद) किया है किन्तु महर्षि आत्रेय का शब्द-भण्डार अत्यन्त विस्तृत था, शब्दार्थ ज्ञान की तो कोई सीमा न थी। अतः सोचने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

हमारी समझ से यहाँ **माक्षिक** का अर्थ—**सुवर्णमाक्षिक** मानना चाहिये, क्योंकि यह बस्तिपीडा तथा त्रिदोषनाशक होता है। अब आप स्वयं समझें कि यह माक्षिक (सुवर्णमाक्षिक) अतिस्थूल रोगी का उपकारक हो सकता है, या नहीं ?

तक्रारिष्ट प्रयोग—इसके द्रव्यों को चरक चिकित्सास्थान अ० १४ श्लोक ७२-७५ में देखें।

प्रशातिका प्रियङ्गुश्च श्यामाका यवका यवाः । जूर्णाह्वाः कोद्रवा मुद्गाः [2]कुलत्थाश्चक्रमुद्गकाः ॥
आढकीनां च बीजानि पटोलामलकैः सह । भोजनार्थं प्रयोज्यानि पानं चानु मधूदकम् ॥२६॥
अरिष्टांश्चानुपानार्थे मेदोमांसकफापहान् । अतिस्थौल्यविनाशाय संविभज्य प्रयोजयेत् ॥२७॥

१. गुरु चातर्पणं यथा—मधु, एतद्धि गुरुत्वाद्वृद्धमग्निं यापयति, अपतर्पणत्वान्मेदो हन्तिः लघु सन्तर्पणं च शालिषष्टिकैणेयमांसादि।

२. 'कुलत्थाश्च मकुष्ठकाः' ग.। 'कुलत्थाश्चक्रमर्दकाः' इति पा०।

पथ्य आहार—प्रशातिका, प्रियंगु, साँवा, यवक (जौ जाति का एक अन्न), जौ, जूर्णक (जुनार, जुनहरी), कोदों, मूंग, कुलथी, चक्रमुद्ग (बनमूंग या मोठ), अरहर, परवल, और आँवलों के साथ भोजन के लिये प्रयोग करें, अन्त में शहद मिला जल (शहद का सरबत) पीयें। मेदस्, मांस और कफनाशक अरिष्टों को अनुपान के रूप में पीयें। उक्त पदार्थों को चिकित्सक की आज्ञा से अतिस्थूलता के नाश के लिये यथायोग्य बांट कर प्रयोग करें।

वक्तव्य—द्रव्यों का परिचय—**प्रशातिका**—यह शब्द आयुर्वेद में अनेक रूप से मिलता है। यथा—प्रशातिका, प्रपातिका, प्रभातिका, प्रशाधिका। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु। अर्थ—रक्तनीवार, स्थलज तृणधान्यभेद, अणुव्रीहिधान्य, देवधान्य, नीवार। **यवक**—शूकधान्यविशेष, जई (Oat), जौ (Barly) मधूदक (Honey Syrup)।

[1]प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च । स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ॥२८॥

पथ्य एवं विहार—स्थूलता से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला पुरुष क्रमशः निम्नलिखित कर्मों को बढ़ाता रहे—प्रजागरण (दिन में न सोकर रात को अधिक जागने का अभ्यास बढ़ाये), मैथुन, व्यायाम, चिन्तन (मानसिक परिश्रम, वह चाहे शास्त्रचिन्तन हो या सामाजिक या शारीरिक या पारिवारिक) क्योंकि इन सबसे अतिस्थूल पुरुष की स्थूलता घटती जाती है।

वक्तव्य—प्रजागरण आदि को सहसा बढ़ाने से लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। अतएव 'सहसा विदधीत न क्रियाम्'। भारवि।

स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृतिः शमः । चिन्ताव्यवायव्यायाम[2]विरामः प्रियदर्शनम् ॥२९॥
नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः । संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च ॥३०॥
इक्षवः शालयो माषा गोधूमा गुडवैकृतम् । बस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा ॥३१॥
स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यनिषेवणम् । शुक्लं वासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम् ॥३२॥
रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम् । हत्वाऽतिकार्श्यमाधत्ते नृणामुपचयं परम् ॥३३॥

अतिकृशता की चिकित्सा—स्वप्न (नींद), प्रसन्नता, सुखद शय्या का सेवन, मन का दुःखों से मुक्त होना (मानसिक शान्ति), चिन्ता, मैथुन, व्यायाम से बचना, प्रियजनों का दर्शन, नये अन्नों, नये मद्यों (आसवों) का सेवन, ग्राम्य, आनूप तथा जल में रहने वाले प्राणियों का मांसरस, इन्हीं के भली-भाँति पकाये हुए मांस, दूध, दही, घी का सेवन, ईख, शालिधान्य, उड़द, गेहूँ, गुड़ से बनाये हुए पदार्थ, स्निग्ध एवं मधुर द्रव्यों से बनायी गयी बस्तियों का प्रयोग, सदा तेल की मालिश, स्निग्ध पदार्थों से उबटन, प्रतिदिन स्नान, सुगन्धित इत्र तथा माला आदि का धारण, सफेद (स्वच्छ) वस्त्रों का पहनना, समय-समय पर दोषों का निर्हरण, रसायनों तथा वृष्य (बलवर्धक) योगों का सेवन अतिकृशता का विनाश करके मनुष्यों को अत्यन्त बलयुक्त कर देता है।

वक्तव्य—स्थूलता तथा कृशता के चिकित्सा सिद्धान्तों का वर्णन इसके पूर्व २० वें पद्य में किया गया है। यथा—'लघुसन्तर्पणं च यत्', इसके अनुसार जो यहाँ 'मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च' कहा गया है, इन गुरु पदार्थों को संस्कारों (विविध प्रकार के मिश्रण अथवा विविध कल्पनाओं=निर्माण-विधियों) से लघु बना करके सेवन करने का आदेश दिया है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार सुश्रुतसंहिता सू० अ० १५ में द्रष्टव्य हैं।

अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च । स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥३४॥

कृश को स्वस्थ करने में निद्रा आदि का महत्व—कार्यों की चिन्ता न करने से, निरन्तर सन्तर्पण पदार्थों के सेवन से और सुखपूर्वक शयन करने से मनुष्य वराह (सूअर) की भाँति पुष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—दैनिक कार्यों तथा दुनिया-दारी की चिन्ता से मुक्त, खाने-पीने और सोने की सुविधा प्राप्त

१. 'अस्वप्नं च' यो.।

२. '-विरतिः' यो.।

व्यक्ति को सूअर की जो उपमा दी गयी है, ध्यान देने योग्य है। सम्भवतः उसके मोटा होने में यही कारण है। सूअर में वसा की मात्रा अधिक होती है।

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः[1]। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः[2]॥

मनुष्य कब सोता है—जब मन थक जाता है और अपने कर्मों में लगी हुई समस्त इन्द्रियाँ थककर अपने-अपने विषयों से निवृत्त (विमुख) हो जाती हैं, तब मनुष्य सोता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में क्लम शब्द का प्रयोग मन तथा इन्द्रियों के साथ दो बार हुआ है, अतः आयुर्वेदीय दृष्टि से यहाँ 'क्लम' का स्वरूप उपस्थित किया जारहा है—'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः'॥ शार्ङ्गधरसंहिता अ० ६। अर्थात् जिससे बलपूर्वक कार्य किये विना ही शरीर में श्रम (थकावट) बढ़ जाता है किन्तु श्वास-प्रश्वास में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता और इन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण में बाधा पड़ती हो उसे 'क्लम' समझना चाहिये।

निद्रा और तन्द्रा में भेद—जिसको इन्द्रियों के अर्थों (रूपादि विषयों) का ठीक-ठीक ज्ञान न हो, शरीर में भारीपन हो, जँभाइयाँ आरही हों, सुस्ती हो एवम् उँघाई-सी आती हो उसको 'तन्द्रा' कहते हैं।

मूर्च्छा-भ्रम-तन्द्रा निन्द्रा के भेदक—'मूर्च्छा पित्ततमः प्रायां रजःपित्तानिलाद् भ्रमः। तमोवातकफात् तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा'॥ माधवनिदान मूर्च्छा प्र०। अर्थात् पित्त एवं तमो गुण से मूर्च्छा, वात; पित्त तथा रजोगुण से भ्रम, वात; कफ और तमोगुण से तन्द्रा तथा कफ और तमोगुण से निद्रा की उत्पत्ति होती है।

सुश्रुत में निद्रा स्वरूप—'निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्माणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति'। सु० शा० अ० ४।३३। इसका व्याख्यान यथास्थान देखें।

विशेष वक्तव्य—सामान्य रूप से निद्रा के चार भेद किये जा सकते हैं। १. **वैष्णवी**—(भगवान् विष्णु भरण-पोषण के अधिष्ठाता देव हैं।) यह निद्रा—'रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्'॥ जो रात्रि में स्वभावतः उत्पन्न होती है, उसको भूतों (प्राणियों) की धात्री (धाय = उपमाता = जो अपना दूध पिलाकर बालक का भरण-पोषण करती है) निद्रा कहते हैं। इसके अभाव में मानवजीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। २. **पाप्मा**—(पापरूप) यह धर्मविरुद्ध है, अतएव पापमूल है। यही कारण है कि यह निद्रा व्याधिकाल में प्राणियों में प्रविष्ट होती है। अथवा इस निद्रा से जो प्राणी सम्बद्ध होता है उसे रोगी कहा जाता है। ३. **अनवबोधिनीनिद्रा**—यह प्राणियों को पुनः जगने नहीं देती। अर्थात् इसका सम्बन्ध मृत्युकाल में ही होता है। ४. **अनिमित्ता निद्रा**—यह रजोगुणी पुरुषों से स्नेह करती है। ऐसा पुरुष ज्यों ही अपने कार्य से खाली होता है, त्यों ही वह सो जाता है।

निष्कर्ष—निद्रा में प्रधान हेतु तमोगुण है और जागने में प्रधान कारण सत्वगुण है। कभी इसके विपरीत भी उदाहरण देखे जाते हैं, वहाँ स्वभाव (प्रकृति) को प्रमुख कारण स्वीकार किया गया है। पूर्ण निद्रा में मनुष्य स्वप्न (Dreams) नहीं देखता, यह निद्रा स्वास्थ्यवर्धक होती है। इसके समर्थन में वृद्धवाग्भट के विचार देखें—'सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति'॥ अ० सं० सू० अ० ९। विशेष विवेचन चरकसंहिता के इन्द्रियस्थान अ० ४ में देखें।

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥३६॥

१. 'क्लमं गताः' यो.।

२. 'मनसीति चेतसि, क्लान्ते क्लमान्विते, कर्मात्मान इन्द्रियाणि, विषयेभ्यः शब्दस्पर्शादिभ्यः; कालस्वभावात् श्रमादिहेत्वन्तरतो वा मनसि चेष्टाहीने मनःप्रयुज्यानीन्द्रियाणि क्लमान्वितानि भूत्वा विषयेभ्यः शब्दस्पर्शादिभ्यो निवर्तन्ते यदा तदा मानवो राशिपुरुषः स्वपिति; एतेन समनस्केन्द्रियाणां विषयतो निवृत्तिर्निद्रेति ख्यापितम्'। गङ्गाधरः।

निद्रा से लाभ—यथाविधि निद्रा के सेवन करने से शारीरिक एवं मानसिक सुख, शरीर का पोषण, बल की वृद्धि, वीर्य की वृद्धि, ज्ञानेन्द्रियों की कार्यक्षमता और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। शास्त्र-नियमों के विपरीत निद्रा के सेवन से दुःख, कृशता, दुर्बलता, नपुंसकता, अज्ञान तथा मृत्यु भी हो जाती है।

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता। सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥३७॥

निद्रा का सम्यक्योग करना चाहिये—असमय (निषिद्ध काल) में सोने से (निद्रा का मिथ्यायोग), असमय में अधिक सोने से (निद्रा का अतियोग) तथा दिन-रात में कभी न सोने से (निद्रा का अयोग अथवा हीनयोग होता है)—इस प्रकार की ये निद्रायें कालरात्रि के समान होती हैं। अतः सुख आयु को चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि वह हीन मिथ्या तथा अतियोग वाली निद्राओं को छोड़कर निद्रा के सम्यक् योग का सेवन करे। निद्रा-सेवन के प्रति तन्त्रकार की यह चेतावनी है।

सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा। पुरुषं योगिनं सिद्धया सत्या बुद्धिरिवागता॥३८॥

निद्रा के सम्यक् प्रयोग से लाभ—वही निद्रा यदि उचित प्रकार से सेवन की गयी हो तो फिर से मनुष्य के शरीर को सुखायु से युक्त कर देती है। जिस प्रकार सत्या (विवेकपूर्ण) बुद्धि के आ जाने पर योगीपुरुष को सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

वक्तव्य—चरक शारीरस्थान अध्याय १२ श्लोक ३२-३४ में अनेक प्रकार की बुद्धियों का वर्णन किया गया है, उन्हीं में से एक यह सत्याबुद्धि भी है। निद्रा के सम्यक् योग के लाभों का वर्णन सुश्रुत के शब्दों में देखें—'अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः। नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम्'॥ सु० शा० अ० ४।

गीताध्ययनमद्यस्त्रीकर्मभाराध्वकर्शिताः। अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः॥३९॥
तृष्णातीसारशूलार्ताः श्वासिनो हिक्किनः कृशाः। पतिताभिहतोन्मत्ताः क्लान्ता यानप्रजागरैः॥
क्रोधशोकभयक्लान्ता दिवास्वप्नोचिताश्च ये। सर्वं एते दिवास्वप्नं सेवेरन् सार्वकालिकम्॥४१॥

दिन में सोने के अधिकारी पुरुष—गायन, अध्ययन, मद्यपान, स्त्री-सहवास, वमन आदि संशोधनकर्मों, बोझा ढोना, रास्ता चलना आदि कर्मों से जो कृश (दुर्बल) हो गये हैं, अजीर्ण के रोगी (जिनको रात्रि का भोजन न पचा हो), उरःक्षत के रोगी, क्षीण (रसादि धातुओं का जिनका क्षय हो गया हो), वृद्ध, बालक, दुर्बल, तृष्णा (प्यास), अतीसार, शूल, रोग से पीड़ित, श्वास (दमा) के रोगी, हिचकी के रोगी, कृश (पतले), ऊँचे स्थान से गिरे हुए, चोट लगे हुए पुरुष, पागल, यात्रा करने या रात्रि जागरण से थके हुए, क्रोध, शोक, भय से पीड़ित तथा इनके अतिरिक्त जो दिन में सोने के योग्य हों अथवा जिनका प्रतिदिन दिन में सोने का अभ्यास हो, ऐसे सभी व्यक्ति सभी ऋतुओं में दिन में शयन करें।

वक्तव्य—सुश्रुत ने दिन में सोने की अनुमति सामान्य रूप से नहीं दी है। देखें—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्'। अर्थात् ग्रीष्मऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है, क्योंकि—'विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम', सु० शा० ४।३८। क्योंकि वह प्रकृति के विरुद्ध है। इसलिये आगे कहते हैं—'तस्मान्न जागृयाद् रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्'। वही। अतः रात्रि में जागरण और दिन में शयन करना प्रकृति के विपरीत कार्य है। इन सामान्य वचनों का उल्लेख करने के अनन्तर वे लिखते हैं—

'निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा। दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः। न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते'॥ सु० शा० अ० ४।४१।

जिन लोगों ने दिन में या रात में सोने का अभ्यास कर लिया है अथवा जो दिन-रात सोने-जागने के अभ्यस्त हो चुके हैं। उनके न सोने में दोष है और न जागने में। दिन में जगना तो स्वाभाविक है किन्तु रात में वे लोग जागते हैं जो सेवा कार्यों (रात्रि सेवाओं) में नियुक्त होते हैं या मौज मस्ती में रात को बिता देते हैं। चरक के अनुसार दिन अथवा रात्रि में सोने या न सोने के लाभ, हानि का वर्णन द्रष्टव्य है।

धातुसाम्यं तथा ह्येषां बलं चाप्युपजायते। श्लेष्मा पुष्णाति चाङ्गानि स्थैर्यं भवति चायुषः॥४२॥

निद्रा से लाभ—जिन व्यक्तियों के लिये दिन में सोने का निर्देश दिया गया है, उनको दिन में सोने

से धातुसाम्य और बल की वृद्धि होती है। कफ से उनके अंगों की पुष्टि होती है तथा उनकी आयु चिर-स्थिर हो जाती है।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ तथा रसादि धातुओं की समता को ही धातुसाम्य कहते हैं।

ग्रीष्मे त्वादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते। रात्रीणां चातिसङ्क्षेपाद् दिवास्वप्नः प्रशस्यते ॥४३॥

ग्रीष्मऋतु में दिन में शयन का वर्णन—ग्रीष्म ऋतु में आदानकाल के कारण रूक्ष शरीर वाले पुरुषों के शरीर में वायु के बढ़ने से और रात्रियों की कालसीमा अधिक कम हो जाने से दिन में शयन करना अच्छा कहा गया है।

वक्तव्य—केवल ग्रीष्मऋतु में दिन में शयन करना चाहिये, ऐसा सुश्रुत का भी मत है। देखें—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्'। यहाँ भी दृष्टिकोण वही है, क्योंकि दिन में सोने से कफ धातु की वृद्धि होती है, अतः कफ का संचय आदानकाल में स्वास्थ्यवृद्धि के लिये आवश्यक होता है।

ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः। श्लेष्मपित्ते, दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते ॥४४॥

दिवा-शयन का निषेध—ग्रीष्म के अतिरिक्त ऋतुओं में दिन में शयन करने से कफ की वृद्धि और पित्त का प्रकोप होता है। इसीलिये शेष (वर्षा आदि) ऋतुओं में दिन में शयन नहीं करना चाहिये।

वक्तव्य—निद्रा के सम्बन्ध में सुश्रुत ने सात्म्य-असात्म्य का विवेचन करते हुए उत्तम समाधान किया है। जिनको रात्रि में अवश्य जागना पड़ता है वे दिन में सोयें, शेष पुरुषों के लिये तो रात्रि का समय सोने के लिये है ही। इस प्रकार का विवेचन हमने इसी अध्याय के श्लोक ४१ के वक्तव्य में दिया है।

मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणः। दूषीविषार्ताश्च दिवा न शयीरन् कदाचन ॥४५॥

दिवाशयन के अयोग्य रोगी—मेदस्वी (अधिक मेदो धातुवाले अर्थात् मोटे), सदैव घी-तेल का अथवा इनसे निर्मित पदार्थों का सेवन करते हैं, कफ प्रकृति वाले पुरुष, कफज रोगों से पीड़ित व्यक्ति और दूषीविष के प्रयोग से पीड़ित रोगी कभी भी दिन में शयन न करें।

वक्तव्य—निद्राविषयक अन्यान्य विचारों के प्रसंग में वाग्भट के विचार—'विषार्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि' ॥ अ० हृ० सू० अ० ७।६०। अर्थात् विष सेवन से पीड़ित तथा कण्ठरोग से युक्त पुरुष रात में भी न सोयें (जागते रहें)। ऐसा लगता है वाग्भट ने उक्त सिद्धान्त का निर्णय सुश्रुत के अनुसार किया है। देखें—'कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्'। सु० शा० अ० ४।

दूषीविष का परिचय—'दूषितं देशकालान्नदिवास्वापैरभीक्ष्णशः। यस्मात् सन्दूषयेद् धातूंस्तस्माद् दूषीविषं स्मृतम्' ॥ अर्थात् देश, काल, अन्न तथा दिन में शयन करने से दूषित हुआ विष शरीर में स्थित रस आदि धातुओं को दूषित कर देता है, अत एव उसको दूषीविष कहते हैं।

हलीमकः शिरःशूलं स्तैमित्यं गुरुगात्रता। अङ्गमर्दोऽग्निनाशश्च प्रलेपो हृदयस्य च ॥४६॥
शोफारोचकहृल्लासपीनसार्धावभेदकाः। [१]कोठाऽरुः पिडकाः कण्डूस्तन्द्रा कासो गलामयाः ॥४७॥
स्मृतिबुद्धिप्रमोहश्च संरोधः स्रोतसां ज्वरः। इन्द्रियाणामसामर्थ्यं विषवेगप्रवर्त(र्ध)नम् ॥४८॥
भवेन्नृणां दिवास्वप्नस्याहितस्य निषेवणात्।
तस्माद्धिताहितं स्वप्नं बुद्ध्वा स्वप्यात् सुखं बुधः ॥ ४९ ॥

दिन में सोने से हानियाँ—जिनके लिये दिन में सोने का निषेध किया है यदि वे उन आदेशों का उल्लंघन कर दिन में सोते हैं तो उन पुरुषों को निम्नलिखित रोग हो जाते हैं—हलीमक (Chlorosis), शिरःशूल, स्तैमित्य (शरीर में चिपचिपापन का-सा अनुभव होना), शरीर का भारीपन, अंगों में ऐंठन होना, पाचकाग्नि की कमी, कफ से हृदय का लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, शोथ, अरुचि, जी मिचलाना, पीनस (जुकाम), अर्धावभेदक (आधे शिर में वेदना), चकत्ते, फुन्सियाँ, फोड़े, खुजली, तन्द्रा (ऊँघाई), कास, गले की बीमारियाँ, स्मरणशक्ति की कमी, बुद्धिभ्रंश, स्रोतों का अवरोध, ज्वर, इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में असमर्थता और

१. 'कोठोऽरुः पिडकाः' इति पा.।

विष के वेग का प्रारम्भ होना या बढ़ जाना। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने हित तथा अहित निद्रा का विचार करके जिसके लिये जो समय हितकर कहा गया है, उस समय सुखपूर्वक शयन करे।

वक्तव्य—कब किसको सोना चाहिये यह पुरुष की परिस्थिति पर निर्भर है। तदनुसार विचार करके ही निद्रा का सुख लेना चाहिये किन्तु ऊपर जैसा ४७ वें श्लोक में कुछ विशेष प्रकार के रोगियों का वर्णन किया है, उनको निश्चयपूर्वक दिन में नहीं सोना चाहिये। क्योंकि जिनको दिन में निद्रा अनुकूल हो गयी है, उनके लिये दिन ही रात्रि है और जिनको रात्रि में सोने का अभ्यास है वे तो प्रकृति-पुरुष हैं ही, इसी के अनुसार शयन काल का निर्णय करना चाहिये। इसी परिभाषा से कालशयन अथवा अकालशयन का भी निर्णय किया जा सकेगा। जैसा कि वाग्भट ने निर्देश दिया है—'अकालशयनात्'। अ० हृ० सू० अ० ७।६१।

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा। अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्[१] ॥५०॥

जागरण तथा निद्रा का प्रभाव—रात्रि में जागरण से शरीर में रूक्षता हो जाती है, दिन में सोने से कफ की वृद्धि होकर शरीर में स्निग्धता (चिकनापन) हो जाती है और बैठे-बैठे झपकियाँ ले लेने से न रूक्षता आती है और न स्निग्धता।

वक्तव्य—वैद्यकशब्दसिन्धु में 'आसीनप्रचलायितम्' का अर्थ—निद्रावेशेनोपविश्य दोलनम्, लिखा है। इसी को चक्रपाणि ने—'उपविष्टस्य किञ्चिन्निद्रासेवनम्' स्वीकार किया है। शिवदाससेन ने—'उपविष्टस्य घूर्णनम्'। इस प्रकार सब का एक मत है। सत्यता यह है कि बैठे बैठे झपकियाँ लेना पूर्ण निद्रा का लक्षण नहीं है। परिचारक का कर्तव्य है ऐसे लोगों को लेटकर न सोने दे। 'आसीनप्रचलायितम्' के उदाहरण कथाश्रवण-काल में कृत्रिम भक्त होते हैं।

देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः। स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥५१॥

जीवन में निद्रा का महत्त्व—जिस प्रकार शरीर की सुरक्षा के लिये विधिपूर्वक किया गया आहार हितकर होता है, उसी प्रकार यथाविधि सेवन की गयी निद्रा भी सुखकारक होती है। शरीर की स्थूलता तथा कृशता में निद्रा और आहार ही विशेष रूप से कारण होते हैं।

वक्तव्य—उचित मात्रा में आहार एवं निद्रा का सेवन उत्तम स्वास्थ्यप्रद होता है, अधिक मात्रा में आहार तथा निद्रा का सेवन स्थूलताकारक होता है और अल्पमात्रा में इनका सेवन कृशता का कारण देखा गया है। क्योंकि शरीर को धारण करने के लिये जो तीन उपस्तम्भ कहे गये हैं, उनमें आहार और स्वप्न (निद्रा) का प्रमुख स्थान है।

अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः। शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम् ॥५२॥
मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च। चक्षुषोस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ॥५३॥
स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः। आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः ॥५४॥

अनिद्रा (Insomnia) चिकित्सा—अभ्यंग (तेलमालिश), उत्सादन (उबटन), स्नान, ग्राम्य (सुअर आदि), आनूप (वनमहिष आदि), औदक (जलचर) पशु-पक्षियों के मांसरस, शालि चावलों का भात, दही, दूध, घी, मद्य तथा जो पदार्थ मन को सुख देने वाले हों और मन के अनुकूल गन्ध, शब्द एवम् संवाहन (शरीर को दबाना), आखों का तर्पण (नेत्र-चिकित्सा-विधि में देखें), शिर तथा मुख (चेहरे) पर लेप, स्वास्तीर्ण शयन (अच्छी तरह बिछाया हुआ बिस्तर), सुखद सुन्दर भवन, जिस पुरुष को जिस समय सोने का अभ्यास हो वह समय—ये सभी साधन शीघ्र ही निद्राकारक होते हैं। इन उपायों से वह निद्रा आती है जो किसी रोग विशेष के कारण नष्ट हो गयी हो अथवा किसी (भय, शोक आदि) कारण से नष्ट हो गयी हो।

वक्तव्य—समुचित निद्रा स्वास्थ्यवर्धक और अनिद्रा अस्वास्थ्यकारक तथा अनिष्ट लक्षण सूचक होती है। इसके विशेष अध्ययन के लिये चरक इन्द्रियस्थान अ० १२ देखें। सकारण निद्रानाश की चिकित्सा

१. 'आसीनप्रचलायितमुपविष्टस्य किञ्चिन्निद्रासेवनम्' चक्रः। 'आसीनप्रचलायितमुपविष्टस्य घूर्णनं 'घूर्णितं प्रचलायितम्' इत्यमरः' शिवदासः।

के लिये अ० हृ० सू० अ० ७ का अवलोकन करें। इसी प्रकार सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४ में भी निद्रानाश की चिकित्सा दी है किन्तु ये उपाय अरिष्ट लक्षण युक्त निद्रानाश में सर्वथा असफल दिखलायी देते हैं।

कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम् ॥५५॥
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमो जयः। निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम् ॥५६॥

अतिनिद्रानाशक उपाय—कायविरेचन (दस्त कराना), शिरोविरेचन (नस्य), वमन कराना, भय, चिन्ता, क्रोध, धूमपान, व्यायाम (किसी प्रकार का शारीरिक श्रम), रक्तमोक्षण (जौंक आदि लगाकर नसों से खून निकालना), उपवास, कष्टदायक बिस्तर, सत्वगुण की अधिकता, तमोगुण पर विजय प्राप्त कर लेना, ये सब उपाय अहित कारणों से उत्पन्न निद्रा को रोकते (नहीं आने देते) हैं।

वक्तव्य—ऊपर अतिनिद्रा नाश के दो प्रकार के उपायों का निर्देश किया है—एक तो शारीरिक उपाय हैं—कायविरेचन आदि, दूसरे मानसिक उपाय हैं—भय, चिन्ता, क्रोध आदि। प्रायः इसी प्रकार के उपायों की चर्चा अष्टांगहृ० सू० अ० ७ तथा सुश्रुत शा० अ० ४ में है। यह अतिनिद्रा अस्वास्थ्य के साथ ही अलक्ष्मी (दरिद्रता) कारक भी होती है। अनिष्ट लक्षणों में भी इसकी गणना है।

एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥५७॥

निद्रानाश के हेतु—जो उपाय अतिनिद्रा की चिकित्सा के रूप में ऊपर कहे गये हैं वे ही निद्रानाश के कारण हैं और कार्य (किसी प्रिय कार्य में लग-जाना), काल (असात्म्य का अर्थात् जिस समय सोने का अभ्यास न हो अथवा वृद्धावस्था आदि), विकार (कोई रोग विशेष जिसके कारण नींद न आती हो), प्रकृति (कुछ लोगों को स्वभाव से ही कम नींद आती है, जैसे सत्वगुण प्रधान पुरुष) और वात तथा पित्त की विकृति से भी निद्रानाश हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **'वायुरेव च'** दिया है, अतः **'च'** से वात के साथ पित्त का ग्रहण किया गया है, क्योंकि निद्रा की उत्पत्ति कफ और तमोगुण से होती है ऐसा सिद्धान्त है। **'च'** से पित्त का अर्थ ग्रहण करने में हमें सुश्रुत का निम्नोक्त वचन भी सहायता प्रदान कर रहा है। देखें—'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि। सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति'॥ सु० शा० अ० ४। यहाँ 'च' का अर्थ पित्त, प्रसंग के आधार पर ही किया है।

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा[1] ॥ ५८ ॥
रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं, शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति[2] ॥ ५९ ॥

निद्रा के भेद—१. तमोभवा, २. श्लेष्मसमुद्भवा, ३. मनःशरीरश्रमसम्भवा, ४. आगन्तुकी, ५ व्याध्यनुवर्तिनी, ६. रात्रिस्वभावप्रभवा, इन छः प्रकार की निद्राओं में जो रात्रिस्वभावप्रभवा निद्रा है उसको निद्राविशेषज्ञ भूतधात्री (प्राणियों की रक्षा करने वाली) कहते हैं, तमोभवा नामक निद्रा के प्रथम भेद को पाप का मूल कहते हैं और शेष सभी प्रकार की निद्राओं की गणना रोगों में होती है।

वक्तव्य—निद्राओं के सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि ने जो विचार किया है, उसको मूल रूप से नीचे टिप्पणी में उद्धृत किया गया है।

१. तमोभवा—तमोगुण की प्रधानता से उत्पन्न होने वाली निद्रा का नाम ही केवल तमोभवा है। यों तो सामान्य निद्रा में भी कफ एवं तमोगुण की सत्ता होती ही है। यथा—'निद्रा श्लेष्मतमोभवा'। सुश्रुत के

१. 'तमोभवा तमोगुणोद्रेकभवा, मनःशरीरश्रमसम्भवा मनःशरीरयोः श्रमेण क्रियोपरमे सति नेन्द्रियाणि न च मनो विषयेषु प्रवर्तते ततश्च निद्रा भवति, आगन्तुकी रिष्टभूता, व्याध्यनुवर्तिनी सन्निपातज्वरादिकार्या, रात्रिस्वभावात्प्रभवतीति रात्रिस्वभावप्रभवा, दिवा प्रभवन्ती तु निद्रा तमःप्रभृतिभ्यस्त्रिभ्य एव भवति' चक्रः।

२. 'भूतानि प्राणिनो दधाति पुष्णातीति भूतधात्री, धात्रीव धात्री; अघस्य पापस्य मूलमिति कारणं, तमोगृहीतो हि सदा निद्रात्मकत्वेनानुष्ठेयं सद्वृत्तं न करोति, ततश्चाऽधर्मोत्पादः; व्याधिष्विति शारीरव्याधिषु, चक्रः

अनुसार इसका नाम **तामसी** निद्रा है, इस निद्रा के आने के बाद मनुष्य फिर जागता नहीं, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। देखें—सु० शा० अ० ४।

स्वभावतः जिनमें तमोगुण की बहुलता होती है, वे रात दिन सोये रहते हैं। जैसे भैंस आदि पशु। रजोगुण की अधिकता वाले किसी भी समय सोकर अपनी नींद पूरी कर लेते हैं और सत्वगुण प्रधान प्राणी अर्धरात्रि में समय के प्रभाव से सोते हैं। देखें—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। गीता।

और भी देखें—रात्रि में तमोगुण की प्रधानता होने से पापाचार के घर मदिरालय तथा वेश्यालय खुलते हैं, तमोगुणी उनका उपभोग करते हैं। प्रातःकाल सत्वगुण की प्रधानता होती है, अतएव निद्रा छोड़कर जागना, स्नान, सन्ध्या, पूजा, पाठ, देवदर्शन आदि के प्रति प्रवृत्ति देखी जाती है, यह काल का ही प्रभाव है।

२. श्लेष्मसमुद्भवा—उस निद्रा का नाम है जो कफ की वृद्धि होने पर आती है।

३. मनःशरीरश्रमसम्भवा—मन और शरीर के थक जाने पर जो निद्रा आती है वह पूर्ण निद्रा है। यही निद्रा सुख, स्वास्थ्य की कारण होती है। इसमें स्वप्न दिखायी नहीं देते। इस अध्याय के श्लोक ३५ में वर्णित यही निद्रा है।

४. आगन्तुकी—यह तमोगुण प्रधान निद्रा होती है। यह अरिष्ट लक्षणों से युक्त होती है। इसमें किसी न किसी रोग का अनुबन्ध रहता ही है।

५. व्याध्यनुवर्तिनी—कफज व्याधि में कफ की प्रधानता होने के कारण आने वाली निद्रा को व्याधि (रोग) का अनुवर्तन (अनुसरण) करने वाली कहते हैं।

६. रात्रिस्वभावप्रभवा—इसी का दूसरा नाम 'भूतधात्री' (प्राणियों का पालन करने वाली) है। सुश्रुत शा० अ० ४ श्लोक ३३ में तीन प्रकार की निद्राओं का परिगणन किया है। यथा—१. वैष्णवी, २. तामसी और ३. वैकारिकी। चरकोक्त ६ प्रकार की निद्राओं का अन्तर्भाव सुश्रुतोक्त तीन निद्राओं में इस प्रकार किया जाता है—वैष्णी निद्रा = रात्रिस्वभावप्रभवा, तामसी = तमोभवा और वैकारिकी निद्रा में शेष चार निद्राओं का समावेश कर लिया जाता है।

तत्र श्लोकाः—

निन्दिताः पुरुषास्तेष्टं यौ विशेषेण निन्दितौ। निन्दिते कारणं दोषास्तयोर्निन्दितभेषजम् ॥६०॥
येभ्यो यदा हिता निद्रा येभ्यश्चाप्यहिता यदा। अतिनिद्रानिद्रयोश्च[1] भेषजं यद्भवा च सा ॥६१॥
या या यथाप्रभावा[2] च निद्रा तत् सर्वमत्रिजः। अष्टौ निन्दितसङ्ख्याते व्याजहार पुनर्वसुः ॥६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के
अष्टौ निन्दितीयो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—अष्टौनिन्दितीय नामक इस अध्याय में भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने निन्दित पुरुष, उनमें जो विशेष रूप से दो निन्दित हैं उनके नाम, उनके निन्दित होने में कारण, उनके दोष, उन दोनों प्रकार के निन्दितों की चिकित्सा, जिनके लिये जब निद्रा हितकारक होती है और जिनके लिये जब अहितकारक होती है, अतिनिद्रा तथा अनिद्रा की चिकित्सा और वह जिस कारण से उत्पन्न होती है एवम् जो-जो निद्रा जिस-जिस प्रभाव की होती है, इन सभी विषयों का यहाँ वर्णन किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में अष्टौनिन्दितीय नामक २१ वाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

१. 'अतिनिद्रायाऽनिद्राय' इति पा०।
२. 'यथा यत्प्रभवा' ग.।

अथ द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो लङ्घनबृंहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अष्टौनिन्दितीय नामक अध्याय के विवेचन के बाद अब हम लंघन-बृंहणीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इसके पहले अतिस्थूल और अतिकृश को निन्दित पुरुष के रूप में कहा गया है और उनकी चिकित्सा के लिये क्रमशः लंघन और बृंहण की आज्ञा दी गयी है, अतः उन दोनों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत अध्याय में दिया गया है।

तपःस्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमात्। षडग्निवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ॥३॥
लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा। स्वेदनं स्तम्भनं चैव [1]जानीते यः स वै भिषक् ॥४॥

चिकित्सा के छः प्रकार—महर्षि आत्रेय ने तप एवम् स्वाध्याय में लगे हुए अग्निवेश आदि योग्य छः शिष्यों को प्रेरित करते हुए उपदेश दिया है कि जो यथासमय लंघन, बृंहण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन औषध-द्रव्यों का प्रयोग करना जानता है, वही उत्तम चिकित्सक है।

[2]तमुक्तवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ह। भगवँल्लङ्घनं [3]किंस्विल्लङ्घनीयाश्च कीदृशाः ॥५॥
बृंहणं बृंहणीयाश्च रूक्षणीयाश्च रूक्षणम्। के स्नेहाः[4] स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च के मताः ॥६॥
स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो !। लङ्घनप्रभृतीनां च षण्णामेषां समासतः ॥७॥
कृताकृतातिवृत्तानां लक्षणं वक्तुमर्हसि। तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ॥८॥

अग्निवेश के प्रश्न—आत्रेय द्वारा चिकित्सा के भेदों का उपदेश दिये जाने पर उस अग्निवेश ने कहा (पूछा) कि हे भगवन् ! लंघन किसे कहते हैं? और लंघन करने योग्य कैसे पुरुष होते हैं। बृंहण किसे कहते हैं ? बृंहण के योग्य कैसे पुरुष होते हैं ? रूक्षण किसे कहते हैं ? रूक्षण के योग्य कैसे पुरुष होते हैं ? स्नेह कितने प्रकार के होते हैं ? स्नेहन के योग्य कैसे पुरुष होते हैं ? स्वेद कितने प्रकार के होते हैं ? स्वेदन के योग्य कैसे पुरुष होते हैं ? स्तम्भन किसे कहते हैं ? स्तम्भन करने योग्य कैसे पुरुष होते हैं ? हे गुरुवर ! इन प्रश्नों का उत्तर आप देने में योग्य (समर्थ) हैं अतः मुझे उपदेश करें। लंघन आदि पूर्वोक्त छहों का संक्षेप में कृत (सम्यक् योग), अकृत (अयोग) अतिवृत्त (अतियोग) के भी लक्षणों का उपदेश करें। अग्निवेश की इस बात को सुनकर गुरु (आत्रेय) ने निम्नलिखित उत्तर दिया।

यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत् तच्च बृंहणम् ॥९॥
रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्। स्नेहनं स्नेह[6]विष्यन्द[7]मार्दवक्लेदकारकम् ॥१०॥
स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। स्तम्भनं स्तम्भयति यद् गतिमन्तं चलं ध्रुवम् ॥११॥

---

१. 'जानीयात् स भवेद्भिषक्' ग.।
२. 'शिष्या ऊचुः' यो.।
३. 'किं त–' ग.।
४. 'स्नेहनम्' इति पा०।
५. '–तिरिक्तानाम्' इति पा०।
६. 'विष्यन्दो विलयनम्' चक्रः।
७. 'मार्दवक्लेदकृन्मतम्' इति पा०।

लंघन आदि की परिभाषा—१. जिस पदार्थ या क्रिया के सेवन से शरीर में लाघव (लघुता) उत्पन्न हो, उस द्रव्य या क्रिया को लंघन कहते हैं। २. जो द्रव्य अथवा जिस क्रिया से शरीर में स्थूलता उत्पन्न हो, उसको बृंहण कहते हैं। ३. जो द्रव्य अथवा उपाय रूक्षता, खुरदरापन, वैशद्य (विशदता) उत्पन्न करे, उसे रूक्षण कहते हैं। ४. जो द्रव्य स्निग्धता, श्लेष्मकला से स्राव कराने वाला, मृदुताकारक तथा क्लिन्नता उत्पन्न करता हो, उसे स्नेहन कहते हैं। ५. जो द्रव्य अथवा उपाय शरीर के अकड़न (जड़ता), भारीपन तथा शीत का विनाशक होता है और पसीना निकालने में सहायक होता है, उसे स्वेदन कहते हैं। ६. जो द्रव्य अथवा उपाय गतिशील, चलद्रव्यों को निश्चित रूप से रोकता है, उसे स्तम्भन कहते हैं।

वक्तव्य—आत्रेय पुनर्वसु के शब्दों में जो लंघन से स्तम्भनपर्यन्त चिकित्सा की छः विधियों को भली-भांति जानता है, तदनुसार इनका प्रयोग करता तथा कराता है वही उत्तम चिकित्सक है और इन्हीं में सम्पूर्ण चिकित्सा का समावेश हो जाता है। इसको वाग्भट ने सन्तर्पण और अपतर्पण भेद से कहा है और इन्हीं के भीतर चरक के उक्त छः भेदों का समावेश कर लिया गया है। देखें—अष्टांगहृदय सूत्रस्थान का द्विविधोपक्रमणीय नामक १४ वाँ अध्याय। अन्य सन्दर्भ-सूत्र—च० सू० अ० २१, २२, २३। सुश्रुत सू० अ० १५, चि० अ० १ श्लोक ११-१३, उ० अ० ३९ श्लोक १०२-१०५ तथा अष्टांगसं० सू० अ० २४।

विशेष—जिस उपक्रम से शरीर में पृथिवीतत्व एवं जलतत्व की वृद्धि होती है, वह **बृंहण है** और जिससे शरीर में अग्नि, वायु एवम् आकाशतत्वों की वृद्धि होती है, **वह लंघन है**। इस दृष्टिकोण से आहार-विहार तथा औषधोपचार रूप सभी को दो भागों में विभाजित किया गया है—१. सन्तर्पण और २. अपतर्पण।

सन्तर्पण से सभी भावों की वृद्धि और अपतर्पण से सभी भावों का ह्रास होता है। परन्तु वायु एवं पित्तयुक्त वायु की वृद्धि अपतर्पण से और ह्रास सन्तर्पण से होता है। इस सिद्धान्त को भली-भाँति समझ लेना चाहिये।

लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्।
कठिनं चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥ १२ ॥

लंघनकारक द्रव्य—जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म, खर, सर तथा कठिन गुण युक्त होता है, प्रायः वह शरीर को हलका करने वाला होता है।

वक्तव्य—प्रायः शब्द का अर्थ बहुलता, तुल्यता होता है और बहुलता का अर्थ होता है कहीं होना तथा कहीं न होना। ये लघु, उष्ण आदि गुण वाले पदार्थ अधिकांश लंघनकारक होते हैं किन्तु कोई बृंहण भी होते हैं। जैसे—उष्ण गुणवाला भिलावा उष्ण होता हुआ भी बृंहण होता है।

गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्।
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ १३ ॥

बृंहणकारक द्रव्य—जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल (घना) पिच्छिल (लबाबदार जैसे इस-बगोल) मन्द, स्थिर, श्लक्ष्ण (चिकना) हो वह प्रायः बृंहण कहा जाता है।

वक्तव्य—जैसे ऊपर प्रायः शब्द का प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी। अतः जिस प्रकार उष्ण द्रव्य (भिलावा) लंघनकारक होना चाहिये था किन्तु वह बृंहण होता है उसी प्रकार शीत गुण वाला श्यामाक (सांवा) अन्न बृंहण न होकर कृशताकारक होता है।

रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम् ॥ १४ ॥

रूक्षणकारक द्रव्य—जो द्रव्य रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, अपिच्छिल (विशद) और कठिन होता है, वह प्रायः रूक्षता करने वाला होता है।

वक्तव्य—लंघन एवं रूक्षण द्रव्यों में जो भेद है उसको सर तथा स्थिर गुण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

द्रवं [1]सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम् ।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं मतम् ॥ १५ ॥

स्नेहन कारक द्रव्य—जो द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द और मृदु हो वह प्रायः स्नेहन माना गया है।

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥ १६ ॥

स्वेदन कारक द्रव्य—जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और गुरु हो वह प्रायः स्वेदन कहा गया है।

शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम् ॥ १७ ॥

स्तम्भन कारक द्रव्य—जो द्रव्य शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण (चिकना), रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और लघु गुण युक्त हो वह प्रायः स्तम्भन माना गया है।

षड्विध चिकित्सा तथा परस्पर गुण-भेद-परिचय

लंघन	बृंहण	रूक्षण	स्नेहन	स्वेदन	स्तम्भन
लघु	गुरु	लघु	गुरु	गुरु	लघु
उष्ण	शीत	उष्ण	शीत	उष्ण	शीत
तीक्ष्ण	मृदु	तीक्ष्ण	मृदु	तीक्ष्ण	मृदु
—	—	—	द्रव	द्रव	द्रव
विशद	पिच्छिल	विशद	पिच्छिल	—	—
—	बहल	—	—	—	—
रूक्ष	स्निग्ध	रूक्ष	स्निग्ध	रूक्ष, स्निग्ध	रूक्ष
—	मन्द	—	मन्द	—	मन्द
सूक्ष्म	स्थूल	—	सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म
खर	श्लक्ष्ण	खर	—	—	श्लक्ष्ण
सर	स्थिर	स्थिर	सर	स्थिर, सर	स्थिर
कठिन	—	कठिन	—	—	—

उपर्युक्त तालिका से यह मालूम हो जाता है कि समान गुण वाले द्रव्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार की चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं तथा लंघन और बृंहण चिकित्सा में किस प्रकार के गुण-धर्मों की विपरीतता होती है, इस दृष्टि से चिकित्सा में उपयोगी द्रव्यों के गुणों के तारतम्य का भी चिकित्सक को अनुगमन करना चाहिये।

इस तालिका से वाग्भट का सन्तर्पण (बृंहण) वाला दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है क्योंकि स्नेहन और स्तम्भन इन दो चिकित्सा प्रकारों का अन्तर्भाव उन्होंने बृंहण में माना है, आप भी ध्यान दें।

इसी प्रकार बृंहण के साथ स्नेहन, स्तम्भन की तथा लंघन के साथ रूक्षण और स्वेदन चिकित्सा में निर्दिष्ट गुणों की विवेचना स्वयं करके वाग्भट की विचारधारा से अपने विचारों की अंशांश कल्पना करें।

[2]चतुष्प्रकारा संशुद्धिः [3]पिपासा मारुतातपौ ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ १८ ॥

---

१. 'स्थूलम्' यो.।
२. 'चतुष्प्रकारा संशुद्धिरिति अनुवासनं वर्जयित्वा, तस्य बृंहणत्वात्' चक्रः।
३. 'पिपासेति पिपासानिग्रहः' चक्रः।

लंघन के भेद—चार प्रकार के संशोधन (१. वमन, २. विरेचन, ३. नस्य (शिरोविरेचन), ४. निरूहणवस्ति (आस्थापनवस्ति का बृंहण होने के कारण यहाँ ग्रहण नहीं किया जाता।) ५. पिपासा (प्यास के वेग को रोकना), ६. वायु का सेवन, ७. आतप (धूप) का सेवन, ८. पाचन औषधों का सेवन, ९. उपवास और १०. व्यायाम—इन सब को लंघन कहते हैं।

वक्तव्य—'लङ्घनं लाघवाय यत्'। जो शरीर को हलका करने का उपाय हो उसे लंघन कहते हैं। उपर्युक्त जो दस विधियां दी गयी हैं, उनसे शारीरिक दोष दूर होकर शरीर हलका होता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य वाग्भट के विचार देखें—विधि भेद से लंघन दो प्रकार का होता है—१. शोधन और २. शमन। शोधन चिकित्सा वह है जो दोषों (शरीरस्थ विकार करने वाले भावों) को बाहर निकाल देता है। वह शोधन पाँच प्रकार का होता है। जैसे—१. निरूहणबस्ति, २. वमन, ३. विरेचन, ४. शिरोविरेचन (नस्य) और ५. रक्तस्रावण। इनसे शरीर का शोधन होता है अथवा किया या कराया जाता है, अतः इनका नाम शोधन है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १४।४–५।

दूसरा प्रकार है शमन—इसकी परिभाषा इस प्रकार है—जो चिकित्सा-क्रम दोषों का शोधन भी न करे, समदोषों की वृद्धि भी न करे और विषम दोषों को सम करे उसको शमन कहते हैं। इसके ७ भेद होते हैं। **१. पाचन**–अर्थात् आमदोषों को पकाने वाला। **२. दीपन**–जो मन्द अग्नि को प्रदीप्त करे। **३. क्षुधा**–अर्थात् उपवास (व्रत) करना, भूखे रहना या लघु भोजन करना। **४. तृषा**– प्यासा रहना, जल न पीना या थोड़ा-सा जल पीना। **५. व्यायाम**—शरीर को थकाने वाले श्रमों का करना या टहलना आदि। **६. आतप सेवन** या अग्नि का सेवन (आग तापना)। **७. मारुत अथवा वायु का सेवन**–खुले स्थान में रहना।

उक्त अपतर्पण (लंघन) चिकित्सा से जो विपरीत प्रकार है उसे बृंहण चिकित्सा कहते हैं। वायु तथा पित्तयुक्त वायु का शमन बृंहण चिकित्सा से ही होता है। सन्तर्पण से अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि और अपतर्पण से उनका ह्रास होता है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १४।६-७।

प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमलाः संसृष्टमारुताः ।
बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः ॥ १९ ॥

शोधन विधियों से लंघन के योग्य रोगी—जिन रोगियों के शरीर में कफ, पित्त, रक्त और मल अधिक मात्रा में संचित हो गया हो और उक्त धातुओं का वायु से सम्बन्ध हो चुका हो, जो विशालकाय हों एवम् बलवान् हों, ऐसे पुरुषों को संशोधन द्वारा लंघन कराना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ पर 'संसृष्टमारुताः' तथा 'संस्पृष्टमारुताः' दो पाठ प्राप्त होते हैं। संसृष्ट का अर्थ है—Created, अर्थात् जो कफ, पित्त, रक्त और मल वायु द्वारा भली-भाँति प्रभावित (उत्पन्न) किये गये हैं। दूसरा पाठ है—'संस्पृष्ट' इसका तात्पर्य है—जिन कफादि का सम्बन्ध अभी वायु से स्पर्श हुआ है।

परिस्थिति यह है कि यहाँ संशोधन कर्मों द्वारा उक्त प्रकार के रोगियों को लंघन देना (हलका करना) है। जब कि लंघन से वायु की वृद्धि होती है। अतः यहाँ पर यह निर्णय किया जाता है कि यदि कफादि उक्त दोषों के साथ वात का थोड़ा-सा संसर्ग हो तो संशोधन कराया जा सकता है। यदि वायु की प्रधानता हो तो इस स्थिति में संशोधन नहीं कराना चाहिये।

येषां मध्यबला रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः ।
वम्यतीसारहृद्रोगविसूच्यलसकज्वराः ॥ २० ॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासारोचकादयः ।
पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत् ॥ २१ ॥

पाचन द्रव्यों द्वारा लंघनीय पुरुष—जिन पुरुषों के कफज और पित्तज किन्तु मध्यबल वाले वमि (वमन, कै, उलटी), अतिसार, हृदयरोग, हैजा, अलसक (गुम हैजा), ज्वर, विबन्ध (मलबन्ध), गौरव (शरीर में भारीपन), डकारों का आना, जी मिचलाना इन रोगों में कुशल चिकित्सक को चाहिये कि वह पाचन द्रव्यों का सेवन करा कर रोगियों को लंघन कराये।

वक्तव्य—मध्यम बल वाले उपर्युक्त रोगियों को पाचन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा लंघन कराना चाहिये। इसका विशेष विवेचन तन्त्रकार ने चरक विमानस्थान अ० ३ में किया जायगा।

एत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदाः।
पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च ताञ्जयेत् ॥ २२ ॥

अल्पबल रोगों की चिकित्सा—ऊपर कहे गये ये ही रोग जिन अल्प बल वाले पुरुषों को हों उन रोगों में पिपासा निग्रह (प्यास को रोककर अर्थात् पानी कम देकर सम्भव हो तो सर्वथा न देकर) द्वारा तथा उपवास कराकर उनको जीतना चाहिये अर्थात् उनकी चिकित्सा करनी चाहिये।

[1]रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः।
बलिनां किं पुनर्येषां [2]रोगाणामवरं बलम् ॥ २३ ॥

बलवान् पुरुषों के रोगों की चिकित्सा—बलवान् पुरुषों के शरीर में स्थित मध्यबल वाले रोगों की चिकित्सा व्यायाम कराकर, धूप (घाम) का सेवन कराकर और वायु सेवन द्वारा करें, अर्थात् उनके रोगों को जीतें। क्योंकि बलवान् पुरुषों के शरीर में स्थित हीनबल वाले रोगों को जीतना कोई कठिन नहीं है।

वक्तव्य—इस प्रकार के शोधन एवं शमन के योग्य रोगियों के सम्बन्ध में वाग्भट के विचार अष्टाङ्गहृ० सू० अ० १४ श्लोक १२-१४ में देखें।

अपतर्पण नामक दोनों चिकित्साओं में शोधन नामक चिकित्साओं द्वारा अत्यधिक स्थूलता से पीड़ित, अत्यधिक बलवान्, अत्यधिक पित्तवाले तथा अत्यधिक कफ वाले की चिकित्सा करे। और आमवातादि रोग या आमदोष, ज्वर, अर्श, अतिसार, हृदयरोग, विबन्ध, गौरव, उद्गार तथा छर्दि, हृल्लास (जी मिचलाना), विसूची, अरोचक आदि से पीड़ित एवम् मध्यम कोटि के बल, स्थौल्य, पित्त और कफ वालों की प्रायः प्रथम पाचन तथा दीपन नामक अपतर्पणों द्वारा चिकित्सा करें।

उक्त आमदोष आदि विकारों से पीड़ित पुरुषों की तथा हीन कोटि के स्थौल्य, दल वाले पुरुषों की चिकित्सा क्षुधानिग्रह (खाना न देकर), तृषानिग्रह (प्यास को रोककर या पानी न देकर) नामक अपतर्पणों द्वारा करे। अर्थात् ऐसे रोगियों को यथासम्भव उपवास करायें और प्यासा रखें।

मध्यम कोटि के बल वाले, आमदोष आदि रोगों से पीड़ित की चिकित्सा वातसेवन, आतपसेवन और व्यायाम नामक अपतर्पणों से करनी चाहिये।

और अल्पबल वाले आमदोष आदि रोगों से पीड़ितों किन्तु दृढ़ विचार वाले पुरुषों की चिकित्सा यथेष्ट वातसेवन आदि अपतर्पणों द्वारा करें।

त्वग्दोषिणां [3]प्रमीढानां स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम्।
शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥ २४ ॥

लंघन का काल—त्वचा सम्बन्धी रोगियों, प्रमेह के रोगियों, अतिस्निग्ध, अभिष्यन्दी (नेत्र रोगी या कफ से लिपे हुए स्रोतों वाले) और वातविकार वालों को शिशिरऋतु में लंघन का प्रयोग कराया जा सकता है।

वक्तव्य—यद्यपि वातविकार के रोगियों को लंघन कराने का निषेध है किन्तु शिशिर अर्थात् शीत ऋतु में कफ का सञ्चय होने के कारण वातरोगी को भी लंघन कराया जाता है, इसी प्रकार शीतप्रधान हेमन्तऋतु में भी वातविकार वालों को लंघन कराया जाना देखा जाता है। वैसे इस पद्य में जो अन्य रोगियों का उल्लेख किया गया है उनको कभी भी लंघन करा सकते हैं। इसका विशेष विवरण वृद्धवाग्भट के शब्दों में अष्टाङ्गसं० अ० २४ में लंघन के योग्य पुरुषों के प्रकरण में देखें।

१. 'दोषान्' यो.।
२. 'दोषाणामवरम्' यो.।
३. 'प्रमीढानाम्' ग.। 'प्रमीढानां प्रमेहिणाम्'। इति चक्रः।

[1]अदिग्धविद्धमक्लिष्टं[2] वयःस्थं सात्म्यचारिणाम्[3]।
मृगमत्स्यविहङ्गानां मांसं बृंहणमुच्यते ॥ २५ ॥

बृंहण द्रव्य—अनुकूल प्रदेश में विचरण करने वाले मृग (हरिण आदि), मछली, और पक्षियों का जो विषैले शस्त्र से विंधा हुआ न हो तथा रोगरहित युवावस्था का मांस बृंहण कहा जाता है।

वक्तव्य—'मांसान्मांसं प्रवर्धते', चाणक्य। मांस भक्षण से मांस की वृद्धि होती है, यह सामान्य नियम है। क्षय चिकित्सा में जिस धातु का क्षय होता है उसकी वृद्धि के लिये उसी रसादि धातुप्रधान द्रव्य के सेवन का विधान इसी दृष्टि से किया जाता है। वाग्भट ने भी इसको समर्थन दिया है। देखें—'नहि मांससमं किञ्चिदन्यद् देहबृंहत्वकृत्। मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद् विशेषतः'॥ अ० हृ० सू०. अ० १४।३५। अतः मांसभक्षी प्राणियों का मांस उत्तम बृंहण होता है।

क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः ॥ २६ ॥

बृंहण के योग्य पुरुष—क्षीण, क्षत, कृश, वृद्ध, दुर्बल, प्रतिदिन रास्ता चलने वाले, सदैव स्त्री सहवास करने वाले और नित्य मद्यपान करने वाले पुरुषों को ग्रीष्मऋतु में बृंहण पदार्थों का सेवन कराना चाहिये।

वक्तव्य—ग्रीष्मऋतु आदानकाल है। अतः इस समय ऋतु के प्रभाव से शरीर में कमजोरी आ जाती है, इसलिये सभी को बृंहण पदार्थों का सेवन करना चाहिये। क्योंकि दक्षिणायन के आरम्भ में और उत्तरायण के अन्त में प्राणियों में दुर्बलता आजाती है। क्षीण, क्षत आदि सदैव बृंहणीय हैं किन्तु ग्रीष्मऋतु में अन्य सभी को स्वास्थ्य रक्षा का ध्यान रखना चाहिये।

शोषार्शोग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्शिताश्च ये।
तेषां क्रव्यादमांसानां बृंहणा लघवो रसाः ॥ २७ ॥

मांसरस से बृंहणीय पुरुष—शोष (क्षय), अर्श (बवासीर), ग्रहणी रोग से जो व्यक्ति कृश हो गये हैं, उनके लिये मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के लघु मांसरस बृंहण (स्वास्थ्यवर्धक) होते हैं।

वक्तव्य—शोष (क्षय) रसादि किसी भी धातु का हो सकता है। यहाँ केवल मांसक्षय से ही सम्बन्ध है, क्योंकि मांस भक्षण से मांस की वृद्धि होती है। आगे चरक चिकित्सास्थान में लिखा है—'शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्। दद्याद् मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः'॥ च० चि० अ० ९।

स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहबस्तयः।
शर्कराक्षीरसर्पींषि सर्वेषां विद्धि बृंहणम् ॥ २८ ॥

सामान्य बृंहण द्रव्य—स्नान, उबटन, स्वप्न (सुखपूर्वक शयन), मधुर पदार्थों से युक्त स्नेह (अनुवासन) बस्तियाँ, खाँड़, मिश्री या चीनी, दूध, घी—ये पदार्थ सब के लिये स्वास्थ्यवृद्धिकर होते हैं।

वक्तव्य—'मधुराः स्नेहबस्तयः' इसका मधुर पदार्थ और स्नेहबस्तियाँ ऐसा अर्थ रुचिकर नहीं लगता। देखें—'बस्तिरेतोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः। न्यग्रोधादिगणक्वाथपद्मकादिसितायुतौ। पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ'॥ अ० हृ० सू० अ० १९ श्लोक ५७-५८। इन पद्यों को देखकर तो 'मधुराः' शब्द को 'स्नेहबस्तयः' का विशेषण मान ही लेना चाहिये। दुराग्रह की चिकित्सा कहीं नहीं होती।

कटुतिक्तकषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः।
[4]खलिपिण्याकतक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम् ॥ २९ ॥

रूक्षणकारक द्रव्य—कटु (लाल या कालीमिर्च), तिक्त (नीम या करेला आदि), कषाय

१. 'अदिग्धविद्धमिति विषाक्तशस्त्राविद्धम्' चक्रः।
२. 'अक्लिष्टं रोगानुपहतप्राणिमांसम्'।
३. 'सात्म्ये देशे चरन्तीति सात्म्यचारिणः, तेषां; चक्रः।
४. 'खलिः निःस्नेहसर्षपखलिः, पिण्याको निःस्नेहतिलखलिः' गङ्गाधरः।

(आँवला) द्रव्यों का सेवन, सदैव मैथुन की प्रवृत्ति, सरसों की खली, तिल की खली, तक्र (मठा) और मधु (शहद) आदि का अधिक सेवन शरीर को रूक्ष करता है।

वक्तव्य—पिण्याक (Oil cake) केवल खली का बोधक है किन्तु अमरसिंह ने अपने कोष में 'तिलकल्के च पिण्याकः'। तिलकल्क को पिण्याक कहा है। अन्य कोषकार भी इसको समर्थन देते हैं। आयुर्वेद में कल्क-निर्माण का जो प्रकार है, तदनुसार 'पिण्याक' स्नेहरहित नहीं होता है। देखें—कल्कनिर्माण-विधि। यहाँ रूक्षण का प्रसंग है; अतः 'पिण्याक' का अर्थ गङ्गाधर के अनुसार—'पिण्याको निःस्नेहतिलखलिः'। समुचित है। उक्त पद्य में 'खलिपिण्याकतक्राणाम्' इन पदों का साहचर्य भी स्नेहरहित द्रव्यों की सूचना दे रहा है।

अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये। ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निर्दशिताः ॥३०॥

रूक्षणीय रोग—अभिष्यन्द (नेत्ररोग विशेष अथवा कफ से आवृत स्रोतों) वाले, अनेक दोषों से घिरे मर्म-स्थानों में उत्पन्न रोगों तथा ऊरुस्तम्भ आदि रोगों में रूक्षताकारक पदार्थों का प्रयोग कराना चाहिये।

स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च ये नराः।
स्नेहाध्याये मयोक्तास्ते स्वेदाख्ये च सविस्तरम् ॥ ३१ ॥

प्रतिज्ञा-निर्वाह—स्नेहों तथा स्नेहन के योग्य, स्वेदों एवम् स्वेदन योग्य जो पुरुष हैं उनका मैं (महर्षि आत्रेय) ने स्वेदाध्याय (च० सू० अ० १३) और स्वेदाध्याय (च० सू० अ० १४) में विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है।

द्रवं तन्वसरं यावच्छीतीकरणमौषधम्।
स्वादु तिक्तं कषायं च स्तम्भनं सर्वमेव तत् ॥ ३२ ॥

स्तम्भन द्रव्य—जितने औषधपयोगी पदार्थ द्रव (तरल), तनु (जो घना न हो), असर (जो फैलने वाला न हो), शीतलता प्रदान करनेवाला, स्वादु, तिक्त और कषाय हो वह सब (प्रत्येक) स्तम्भन द्रव्य है।

वक्तव्य—आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार स्तम्भन द्रव्यों का परिचय—जो द्रव्य रूक्ष, शीत, कसैला और शीघ्रपाकी होने के कारण वातवर्धक होता **है**, उसे **'स्तम्भन'** कहते हैं। जैसे—कुरैया की छाल और सोनापाठा। ग्राही तथा स्तम्भन ये दोनों प्रकार के द्रव्य शरीर से बाहर निकलने वाली वस्तुओं को भीतर ही रोक देते हैं।

पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः।
विषस्वेदातियोगार्ताः [1]स्तम्भनीया निर्दशिताः ॥ ३३ ॥

स्तम्भनीय पुरुष—जो पित्त, क्षार, या अग्नि से जले हों, वमन या अतिसार से पीड़ित हों; विष या स्वेदन के अतियोग (प्रयोग) से दुःखी हों, वे स्तम्भन के योग्य होते हैं।

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३४ ॥
स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥ ३५ ॥

लंघन के सम्यक् योग के लक्षण—अपानवायु, मूत्र, मल का त्याग ठीक ढंग से होने पर, शरीर हल्का होने पर, हृदय, उद्गार (डकार), कंठ और मुख के शुद्ध (निर्विकार) होने पर, तन्द्रा (ऊँघाई) और सुस्ती के समाप्त होने पर, सर्वांगस्वेद होने पर, भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाने पर, भूख-प्यास के ठीक-ठीक लगने पर तथा जब अन्तरात्मा में कोई कष्ट प्रतीत न हो रहा हो तो उस समय चिकित्सक को रोगी से कह देना चाहिये कि तुम्हारा लंघन उचित रूप में हो गया है।

वक्तव्य—ठीक प्रकार से लंघन होने के जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं उनमें शरीरगत दोषों की शुद्धि लंघन होने (आहार न मिलने) पर भी शरीर में चुस्ती और चेतन की उत्पत्ति के साथ भोजन के प्रति रुचि

1. 'स्तम्भनीयास्तथाऽपरे' ग.। 'स्तम्भनीयास्तथाविधाः' इति पा०।

उत्पन्न होना वर्णित है। चरक ने जहाँ **'क्षुत्पिपासासहोदये'** अर्थात् भूख-प्यास का एक साथ उत्पन्न होना लिखा है, वहाँ सुश्रुत उ० अ० १४ में **'क्षुत्पिपासासहम्'** अर्थात् भूख और प्यास सहन करने में असमर्थ, ऐसा पाठ दिया है, यही सम्यक् लंघन की वास्तविक स्थिति है। यदि इस समय रोगी को उचित भोजन न दिया गया तो उसमें अतिलंघित के दोष उत्पन्न हो जायेंगे। हमारी दृष्टि से चरक का विचार प्रारम्भिक स्थिति का और सुश्रुत का विचार अन्तिम स्थिति का लक्षण है। जिसका अनुभव मानव प्रतिदिन भोजनकाल के आस-पास करता है।

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च। क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥३६॥
मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि। देहाग्निबलनाशश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥३७॥

अतिलंघन के लक्षण—लंघन का अतियोग होने पर शरीर की सन्धियों में टूटने की-सी वेदना, अंगों में जोर से मसलने की-सी पीड़ा, कास (खांसी), मुख का सूखना, भूख न लगना, भोजन के प्रति अरुचि, प्यास का लगना, कानों और आँखों में दुर्बलता, मन में घबड़ाहट अथवा अस्थिरता, बार-बार ऊर्ध्ववात का होना, हृदय में अन्धकार का-सा अनुभव होना, शरीर तथा पाचकाग्नि का नाश—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—ऊर्ध्ववात को अतिलंघन के उपद्रवों में एक माना है। दूसरे टीकाकारों ने ग्रन्थान्तर का उद्धरण देकर ऊर्ध्ववात को कफविकृतिजनित उद्गार स्वीकार किया है, जो लंघन कराने के बाद भी होता है। अतिलंघन में तो कफ के रहने की चर्चा ही अपने में हास्यास्पद है। सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र अ० ३९ में **'उपद्रवाश्च श्वासाद्याः'** कहकर ऊर्ध्ववात शब्द से ऊपरी अगों मे होने वाले श्वास, हिक्का, कर्णनाद आदि का ग्रहण करना चाहिये।

वृद्धवाग्भट के विचार इस प्रकार हैं—'प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम्'। अ० सं० सू० अ० २४। अतिलंघन से प्रलाप, ऊर्ध्वश्वास, ग्लानि, वमन, अंगुलियों के पर्वों तथा अस्थियों में फूटने की-सी पीड़ा होती है। वास्तव में लंघन से वायु की वृद्धि होती है और अतिलंघन से वातप्रकोप होता है। कफ का ह्रास होने पर ही वात की वृद्धि होती है।

बलं पुष्ट्युपलम्भश्च [1]कार्श्यं दोषविवर्जनम्। लक्षणं बृंहिते, स्थौल्यमति चात्यर्थबृंहिते ॥३८॥

बृंहण के समयोग तथा अतियोग के लक्षण—भली भांति बृंहण होने पर बल की वृद्धि, रसादि धातुओं की पुष्टि तथा कृशता सम्बन्धी दोषों की समाप्ति हो जाती है। यदि इससे बृंहण पदार्थों का मात्रा से अधिक सेवन हो जाता है तो शरीर में स्थूलता आजाती है।

वक्तव्य—बृंहण क्रिया कृशता को हटाने के लिये ही की जाती है। यदि इससे कृशता सम्बन्धी दोष हट जाते हैं तो, उसका सम्यक् योग समझना चाहिये।

[2]कृतातिकृतलिङ्गं यल्लङ्घिते तद्धि रूक्षिते। स्तम्भितः स्याद् बले लब्धे यथोक्तैश्चामयैर्जितैः ॥३९॥

लंघित तथा रूक्षित के लक्षणों की समानता—जो लक्षण लंघन के कृत (सम्यग्योग) और अतिकृत (अतियोग) में होते हैं, वे सभी लक्षण रूक्षण के सम्यक् योग तथा अतियोग में होते हैं।

स्तम्भित के लक्षण—जिन रोगों में स्तम्भन-क्रिया का विधान है, यदि उन रोगों की शान्ति स्तम्भन से होकर शरीर से बलप्राप्ति हो जाय तो स्तम्भन क्रिया का सम्यक् योग समझना चाहिये।

श्यावता स्तब्धगात्रत्वमुद्वेगो हनुसङ्ग्रहः। हृद्वर्चोनिग्रहश्च स्यादतिस्तम्भितलक्षणम् ॥४०॥

स्तम्भन का अतियोग—यदि मात्रा से अधिक स्तम्भन-क्रिया हो जाती है तो शरीर (हाथ, पैर, होंठ आदि अंगों) में कालापन, जकड़न, मन में घबड़ाहट, हनुस्तम्भ, हृदय की गति और मल-मूत्र में रुकावट हो जाती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अनुसार स्तम्भन का अतियोग होने पर जो लक्षण होते हैं, उनको अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २६ में भी विस्तृत रूप से देखें।

1. 'कार्श्यदोषविवर्जनमिति कार्श्ये ये दोषाः शीतोष्णासहत्वादयः, तेषां वर्जनम्' चक्रः।
2. 'कृताकृतस्य लिङ्गम्' इति पा.।

लक्षणं चाकृतानां स्यात् षण्णामेषां समासतः ।
[1]तदौषधानां धातूनामशमो वृद्धिरेव च ॥ ४१ ॥

लंघन आदि के अयोग के लक्षण—लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन, इन छहों के अकृत (अयोग) के संक्षिप्त लक्षण ये हैं—उन-उन औषधद्रव्यों से शान्त होने वाले रोगों की शान्ति न होकर उन (रोगों) का बढ़ जाना ।

वक्तव्य—स्नेह-स्वेदाध्यायों में इनके योग अतियोग आदि का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है, अतः इस अध्याय में उसकी पुनरावृत्ति न करके संक्षेप में ऊपर कहा है । लंघन, बृंहण आदि का प्रयोग रोगशमन के लिये किया जाता है, यदि रोगशमन न होकर रोग बढ़ जाय तो सचमुच वह उस-उस क्रिया का अयोग (अनुचित प्रयोग) माना जायगा ।

इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः ।
साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥ ४२ ॥

छः प्रकार की चिकित्सा—इस प्रकार सभी रोगों की षड्विध चिकित्सा कही गयी है । मात्रा एवं काल के अनुसार इनका प्रयोग कराने से साध्य रोगों में अवश्य सफलता प्राप्त होती है । अर्थात् ये छः उपक्रम साध्य-रोगों के साधन में सिद्ध माने गये हैं ।

भवति चात्र—

दोषाणां बहुसंसर्गात् [2]सङ्कीर्यन्ते ह्युपक्रमाः ।
षट्त्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ ४३ ॥

दोषों के संसर्ग (मिलने के प्रकार) विविध भाँति के होते हैं, अतएव उपक्रम (चिकित्सा) के भेदों में भी संकीर्णता (मिश्रण के रूप) देखे जाते हैं । भले ही चिकित्सा के कितने ही भेद क्यों न हों किन्तु वे उक्त छः उपक्रमों से उस प्रकार बाहर नहीं जा सकते, जिस प्रकार वातादि दोष तीन संख्या का अतिक्रमण नहीं कर सकते ।

वक्तव्य—दोषों के परस्पर मिश्रण से और उनकी अंशांश कल्पना से वातादि के अनेक भेदों की कल्पना की गयी है किन्तु दोष तरतम भाव से जिस रोग में स्थित होंगे उनकी चिकित्सा उक्त छः भेदों के अन्तर्गत ही होगी ।

षड्विध चिकित्सा का लघु-गुरु आदि गुणों से सम्बन्ध

लंघन Reducting therapy	बृंहण Roborant therapy	रूक्षण Drying therapy	स्नेहन Oleation therapy	स्वेदन Sweating therapy	स्तम्भन Astringent therapy
लघु	गुरु	रूक्ष	द्रव	उष्ण	शीत
उष्ण	शीत	लघु	सूक्ष्म	तीक्ष्ण	मन्द
तीक्ष्ण	मृदु	खर	सर	सर	मृदु
विशद	स्निग्ध	तीक्ष्ण	स्निग्ध	स्निग्ध	श्लक्ष्ण
रूक्ष	बहल	उष्ण	पिच्छिल	रूक्ष	रूक्ष
सूक्ष्म	स्थूल	स्थिर	गुरु	सूक्ष्म	सूक्ष्म
खर	पिच्छिल	विशद	शीतल	द्रव	द्रव
सर	मन्द	कठिन	मन्द	स्थिर	स्थिर
कठिन	स्थिर	—	मृदु	गुरु	लघु
—	श्लक्ष्ण	—	—	—	—

१. 'तदौषधानां लङ्घनादिसाध्यानाम्' 'धातूनामिति दोषाणां दोषा अपि धातुशब्दं लभन्ते, इति वचनात्' चक्रः ।

२. दोषाणां यस्मात् संसर्गा बहवस्तमात्तत्साधनार्थमुपक्रमा अपि सङ्कीर्यन्ते मिश्रतां यान्ति । यथा—क्वचि-

तत्र श्लोकः—

इत्यस्मिल्लङ्घनाध्याये व्याख्याताः षडुपक्रमाः । यथाप्रश्नं भगवता चिकित्सा यैः प्रवर्तते ॥४४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
लङ्घनबृंहणीयो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

उपसंहार—प्रस्तुत लंघनबृंहणीय नामक अध्याय में छः प्रकार की चिकित्साओं की व्याख्या अग्निवेश के प्रश्नों के अनुसार आत्रेय पुनर्वसु ने की है । इन्हीं द्वारा चिकित्सा व्यवहाररूप में प्रवृत्त होती है ।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में लंघनबृंहणीय नामक बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातः सन्तर्पणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

लंघनबृंहणीय अध्याय की व्याख्या करने के बाद हम अब सन्तर्पणीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

सन्तर्पयति यः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरुपिच्छिलैः । नवान्नैर्नवमद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥३॥
गोरसैर्गौडिकैश्चान्नैः पैष्टिकैश्चातिमात्रशः । चेष्टाद्वेषी दिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः ॥४॥
रोगास्तस्योपजायन्ते सन्तर्पणनिमित्तजाः ।

सन्तर्पण-प्रकरण

सन्तर्पण से होने वाले रोगों में कारण—जो मनुष्य स्निग्ध (चिकने), मधुर, गुरु, पिच्छिल, नये अन्नों, नये बने हुए मद्यों, आनूप देशज तथा पानी में रहने वाले प्राणियों के मांसों, दूध, दही, घृत, गुड़ के संयोग से बनाये गये, हलुआ, मालपुआ आदि, तथा आटा से बने हुए पदार्थों से अपने को तृप्त करता है । चेष्टाओं (शारीरिक परिश्रमों) से द्वेष करता है अर्थात् खाली बैठा रहता है, दिन में सोता है, शय्या पर लेटा रहता है या गद्दी पर बैठा रहता है अथवा इसी प्रकार के सुख में लगा रहता है, उसको सन्तर्पणजनित (शरीर को अधिक तृप्त रखने के कारण) रोग हो जाते हैं ।

वक्तव्य— उक्त सभी प्रकार के आहार गुरु (देर में पचने वाले) होते हैं । इनके सेवन के पश्चात् शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम आवश्यक होता है । यदि इनका सेवन करने वाला व्यक्ति 'चेष्टाद्वेषी' आलसी हो, दिनभर सोया या बैठा रहे तो निश्चित ही कफ, मेदस् एवम् वसा (चर्बी) की वृद्धि होगी और इनसे सम्बन्धित विकार उत्पन्न होंगे, जिनका वर्णन आगे किया जारहा है ।

[2]प्रमेहपिडकाकोठकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ॥ ५ ॥

ल्लङ्घनस्वेदे, क्वचिद्बृंहणस्वेदने, एवमादि; षट्त्वं तु नातिवर्तन्त इति संसृष्टा अपि लङ्घनादिस्वरूपं न जहति, लङ्घनादयः परस्परयुक्ता मधुसर्पिःसंयोगवन्न प्रकृतिगुणानपेक्षिकार्यान्तरमारभन्त इति भावः' चक्रः ।

१. 'चान्यैः' यो. ।

२. 'प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः' इति पा० ।

कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः । तन्द्रा क्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता ॥६॥
इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः[1] । शोफाश्चैवंविधाश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः ॥७॥

सन्तर्पणजनित व्याधियाँ—सन्तर्पणजनित विकृतियों का शीघ्र उपचार (चिकित्सा) न करने या कराने वाले पुरुष को निम्नलिखित तथा इसी प्रकार के अन्य रोग हो जाते हैं यथा—प्रमेह, पिडका (फोड़े), कोठ, कण्डू, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, आमदोष, मूत्रकृच्छ्र, अरोचक, तन्द्रा, नपुंसकता, अतिस्थूलता, आलस्य, शरीर का भारीपन, इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, मुख, त्वचा) में कफ की अधिकता तथा स्रोतों का कफ से लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, बुद्धि का मोह (उचित-अनुचित निर्णय की क्षमता का न रहना), प्रमीलक (अफीमची की भाँति आँखों का बन्द रहना या मन ही मन कुछ सोचते रहना) और शोथ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अनुसार रोग दो प्रकार के होते हैं—१. साम और २. निराम। अतः इनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है—१. सन्तर्पण और २. अपतर्पण। इन्हीं को क्रमशः बृंहण और लंघन भी कहते हैं। सन्तर्पणजनित व्याधियों में अपतर्पण आवश्यक होता है। उचित तो यह है कि रोगों की उत्पत्ति के पूर्व ही दोषों का निर्हरण कर लें अथवा सन्तर्पक द्रव्यों के सेवन काल में 'चेष्टाद्वेषी' नहीं होना चाहिये अर्थात् परिश्रमशील रहे जिससे किसी प्रकार का रोग उत्पन्न न हो सके और यदि रोग उत्पन्न होने लगे तो उसका शीघ्र ही निराकरण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

शस्तमुल्लेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम् । व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च ॥ ८ ॥
सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः प्रायो रूक्षान्नसेवनम् । चूर्णप्रदेहा ये चोक्ताः कण्डूकोठविनाशनाः ॥ ९ ॥

उक्त रोगों को सामान्य चिकित्सा—सन्तर्पणजनित रोगों में वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम (किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रम), उपवास (लंघन), धूमपान और स्वेदन ये क्रियाएँ हितकर होती हैं। और हरीतकी के चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर चाटें, प्रायः रूक्ष (स्नेहरहित) अन्नों का सेवन करें तथा चरक सूत्रस्थान के आरग्वधीय अध्याय ३ में कहे गये कण्डू, कोठनाशक चूर्ण एवम् प्रदेहों का प्रयोग करें।

वक्तव्य—बृंहण का ही पर्यायवाची शब्द संतर्पण है। अतः इसका प्रयोग कृशता को दूर करने के लिये किया जाता है। कृशता दूर होने के बाद मनुष्य स्थूल होने लगता है, फलतः सभी सन्तर्पण क्रियायें पहले मनुष्य को पुष्ट, तब स्थूल तदनन्तर रोगी बना देती हैं। अतः इनकी शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये। चरकोक्त सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य संहिताकारों के मतों पर भी चिकित्सा काल में ध्यान देना चाहिये। देखें—अ० हृ० सू० अ० १४ श्लोक २१-२४।

त्रिफलारग्वधं पाठां सप्तपर्णं सवत्सकम् । मुस्तं समदनं निम्बं जलेनोत्क्वथितं पिबेत् ॥१०॥
तेन मेहादयो यान्ति नाशमभ्यस्यतो ध्रुवम् । मात्राकालप्रयुक्तेन सन्तर्पणसमुत्थिताः ॥११॥

त्रिफलादि क्वाथ—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), अमलतास, पाढल, सप्तपर्ण (छतिवन), कुरैया की छाल, नागरमोथा, मदनफल, नीम इन सब का कषायकल्पना-विधि से क्वाथ करके सेवन करे। इस क्वाथ को उचित मात्रा में निरन्तर कुछ दिनों तक सेवन करने से सन्तर्पण-क्रिया के कारण उत्पन्न मेह (प्रमेह) आदि रोग निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—यह **त्रिफलादि क्वाथ** उचित मात्रा में कुछ काल तक निरन्तर सेवन करने से सन्तर्पण जनित प्रमेह आदि रोगों का विनाश करता है। निश्चित लाभ के लिये प्रयुक्त **'अभ्यस्यतः'** शब्द पर ध्यान देना चाहिये। निरन्तर (Repetition) अभ्यास न होने पर लाभ नहीं हो पाता।

क्वाथ-निर्माण-विधि—'पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णं द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेत् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥ तज्जलं पाययेद् धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम्। शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते' ॥ शार्ङ्गधरसं० म० खं० २ अ० १-२। अर्थ स्पष्ट है।

वृद्धवाग्भट ने इसका नाम **'मदनफलादिक्वाथ'** रखा है। वह योग इस प्रकार है—'मदनं त्रिफलामुस्त-

1. 'प्रमीलकः सततं प्रध्यानम्' चक्रः।

सप्ताह्वारिष्टवत्सकम्। सपाठारग्वधं पीतमतिबृंहणरोगजित्' ॥ अ० सं० सू० अ० २४। द्रव्यों की गणना भले ही आगे पीछे हो किन्तु इसमें सभी द्रव्य चरकोक्त ही हैं।

मुस्तमारग्वधः पाठा त्रिफला देवदारु च । श्वदंष्ट्रा खदिरो निम्बो हरिद्रे त्वक्च वत्सकात् ॥१२॥
रसमेषां यथादोषं प्रातः प्रातः पिबेन्नरः । सन्तर्पणकृतैः सर्वैर्व्याधिभिः सम्प्रमुच्यते ॥१३॥
एभिश्चोद्वर्तनोद्घर्षस्नानयोगोपयोजितैः[1] । त्वग्दोषाः प्रशमं यान्ति तथा स्नेहोपसंहितैः ॥१४॥

मुस्तकादि क्वाथ—नागरमोथा, अमलतास, पाढल, त्रिफला, देवदारु, गोखरू, खदिर (खैर), नीम, हल्दी, दारुहल्दी, कुटज की छाल इन सबका रस दोषों के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से सन्तर्पणजनित सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है। और इन्हीं द्रव्यों से उबटन, सूखा रगड़ने, स्नान करने से तथा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैलों की मालिश करने से त्वचा के रोग (Skin diseases) शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त क्वाथ के सभी द्रव्य २०-२० ग्राम, क्वाथ के लिये जल ३२० मि० ली० लें ८० मि० ली० शेष रहने पर क्वाथ को छान कर सेवन करें। वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को इस प्रकार दिया है—'तद्वत् वत्सकशम्पाकदेवदारुनिशाद्वयम्। समुस्तपाठाखदिरत्रिफलानिम्बगोक्षुरम्' ॥ अ० सं० सू० अ० २४।

कुष्ठं गोमेदको हिङ्गु क्रौञ्चास्थि त्र्यूषणं वचा । वृषकैले श्वदंष्ट्रा च खराह्वा चाश्मभेदकः ॥१५॥
तक्रेण दधिमण्डेन बदराम्लरसेन वा । मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहं च पीतमेतद् व्यपोहति ॥१६॥

कुष्ठादिचूर्ण—कूठ, गोमेद रत्न, हींग, क्रौञ्च नामक पक्षी की हड्डी, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), वच, अडूसा, इलायची, गोखरू, अजमोदा और पाषाणभेद इन सबके समभाग चूर्ण को मठा, दही के पानी अथवा खट्टी बेर के रस से सेवन करने से मूत्रकृच्छ्र और प्रमेह का नाश होता है।

वक्तव्य—यह योग अष्टाङ्गसंग्रह में इस प्रकार है—'हिङ्गुगोमेदकव्योषकुष्ठक्रौञ्चास्थिगोक्षुरम्। एला-वृक्षकषड्ग्रन्थाखराश्मोपलभेदकम् ॥ तक्रेण दधिमण्डेन पीतं कोलरसेन वा। मूत्रकृच्छ्रं कृमीन् मेहं स्थूलतां च व्यपोहति' ॥ अ० सं० सू० अ० २४। यहाँ इसका नाम 'हिङ्ग्वादिचूर्ण' है। यह 'हिंग्वष्टकचूर्ण' से सर्वथा भिन्न है।

निर्माण-विधि—गया जिला तथा सीलोन में गोमेद रत्न पाया जाता है। गया में प्राप्त होने वाले से सीलोन वाला उत्तम होता है। नीबू के रस में दोलायन्त्र द्वारा शुद्ध कर तब इसकी भस्म या पिष्टि बनायी जाती है। शेष द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण कर लिया जाता है।

तक्राभयाप्रयोगैश्च त्रिफलायास्तथैव च । अरिष्टानां प्रयोगैश्च यान्ति मेहादयः [2]शमम् ॥१७॥

प्रमेह आदि की चिकित्सा—तक्र (मठा) और हरड़ के प्रयोग से तथा त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) के प्रयोग से एवम् अरिष्टों के प्रयोग से प्रमेह आदि रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—प्रमेह में केवल हरड़ अथवा त्रिफला का तक्र के साथ प्रयोग लाभदायक होता है। अरिष्टों के द्रव्य भी हरीतकी अथवा त्रिफला प्रधान ही होने चाहिये।

त्र्यूषणं त्रिफला क्षौद्रं क्रिमिघ्नमजमोदकः । मन्थोऽयं सक्तवस्तैलं हितो लोहोदकाप्लुतः[3] ॥१८॥

त्र्यूषणादिमन्थ—त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) क्रिमिघ्न (वाय-विडंग), अजवाइन इन सबका कपड़छन चूर्ण, जौ का सत्तू इनको शहद और सरसों के तेल में मिलाकर अगर के क्वाथ से घोलकर बनाया हुआ यह मन्थ सन्तर्पणजनित रोगों का शमन करता है।

वक्तव्य—मन्थ-निर्माण-विधि—'जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत्। मृत्पात्रे मन्थयेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत्' ॥ शार्ङ्गधरसं० म० खं० अ० ३।९। अर्थात् १६० मि० ली० शीतल जल में ४० ग्राम औषध द्रव्य को कूट-पीस, कपड़छान कर मिट्टी के पात्र में डाल दे, जब औषध चूर्ण भींगकर मुलायम हो जायें तब उनको भली-भाँति मलकर छान लें, इसकी मात्रा दो पल (८० मि० ली०) है।

1. 'उद्वर्तनमभ्यङ्गपूर्वकम्, उद्घर्षस्त्वनभ्यङ्गपूर्वकः' चक्रः।
2. 'क्षयम्' यो.।
3. 'लोहोदकाप्लुत' इत्यगुरूदकाप्लुत, उदककरणं च षडङ्गविधानेन' चक्रः।

मन्थ और फाण्ट में भेद—मन्थ के समान ही फाण्ट का निर्माण भी होता है। केवल अन्तर यह है फाण्ट का निर्माण उष्ण जल से होता है और मन्थ शीतल जल में घोलकर तैयार किया जाता है।

पाठभेद—कहीं कहीं 'सक्तवस्तैलं' के स्थान पर 'सक्तवः सर्पिः' पाठ मिलता है, अतः मधु और घी को समान मात्रा में न मिलायें। चरक के उक्त पाठ में किसी संस्करण में 'सक्तवः सर्पिः' पाठ भले ही हो किन्तु वृद्धवाग्भट को भी यही पाठ अभीष्ट रहा है। देखें—'क्रिमिघ्नत्रिफलातैलसक्तुत्र्यूषणदीप्यकैः। लोहोदकाप्लुतो मन्थः शस्तो बृंहणरोगिणाम्' ॥ अ० सं० सू० अ० २४।

लोहोदकाप्लुतः—'इत्यगुरूदकाप्लुतः'। चक्रः। 'लोहोदकेन शस्त्रभाजनोषितपानीयेनाप्लुतः'। इति इन्दुः। ये अपने अनुभव के आधार हैं।

व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि त्रिफलां कटुरोहिणीम्। बृहत्यौ द्वे हरिद्रे द्वे पाठामतिविषां स्थिराम् ॥१९॥
हिङ्गु केबुकमूलानि यवानीधान्यचित्रकान्। सौवर्चलमजाजीं च हपुषां चेति चूर्णयेत् ॥२०॥
चूर्णतैलघृतक्षौद्रभागाः स्युर्मानतः समाः। सक्तूनां षोडशगुणो भागः [1]सन्तर्पणं पिबेत् ॥२१॥
प्रयोगादस्य शाम्यन्ति रोगाः सन्तर्पणोत्थिताः। प्रमेहा मूढवाताश्च कुष्ठान्यर्शांसि कामला ॥२२॥
प्लीहा पाण्ड्वामयः शोफो मूत्रकृच्छ्रमरोचकः। हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासः श्वासो गलग्रहः ॥२३॥
क्रिमयो ग्रहणीदोषाः श्वैत्र्यं स्थौल्यमतीव च। नराणां दीप्यते चाग्निः स्मृतिर्बुद्धिश्च वर्धते ॥२४॥

व्योषाद्य-सक्तु—व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), वायविडंग, सहजन, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), कुटकी, दोनों कटेरी (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी), हल्दी, दारुहल्दी, पाठा, अतीस, शालपर्णी, हींग, केबुकमूल (करेमू के साग की जड़), अजवाइन, धनियाँ, चित्रक, सोंचर नमक, जीरा, हाऊबेर—इन सभी औषधों को समान भाग लेकर चूर्ण करे। जितना चूर्ण हो उसी प्रमाण में तैल, घी और शहद लें। चूर्ण से सोलह गुना अधिक सत्तू लेकर सबको एक साथ मिला दें। उक्त व्योषाद्य सक्तु को मन्थ परिभाषा के अनुसार घोलकर इस संतर्पण का पान करें। इसके सेवन से संतर्पण के कारण उत्पन्न निम्नांकित रोग शान्त हो जाते हैं। यथा—सभी प्रकार के प्रमेह, मूढवात (वायु के विलोम होने से उत्पन्न रोग), कुष्ठ, अर्श, कामला, प्लीहावृद्धि, पाण्डुरोग, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, अरोचक, हृद्रोग, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, क्रिमिरोग, ग्रहणीरोग, श्वेतकुष्ठ, अतिस्थूलता, ये रोग दूर होकर मनुष्यों की जाठराग्नि प्रदीप्त होती है और स्मृति (धारणाशक्ति) और बुद्धि की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—उक्त योग का नाम 'व्योषाद्य-सक्तु' है। इस सक्तु की मात्रा ८० ग्राम है। **सेवन विधि**—इस सत्तू को १६ गुने जल में मिला कर पीने से रोगी का सन्तर्पण (आत्मा तृप्त) होता है किन्तु इसके निरन्तर सेवन से अपतर्पण (शरीर में कृशता) होता है। दूसरे शब्दों यह सत्तू भोजन के रूप में प्रयुक्त होने के कारण सन्तर्पण है और फल (परिणाम) की दृष्टि से अपतर्पण।

व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः। सन्तर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं[2] मुक्त्वा विमुच्यते ॥२५॥

सन्तर्पणजनित रोगों में आहार-विहार- प्रतिदिन व्यायाम (शारीरिक श्रम) करने वाला, भोजन के पच जाने पर ही खाने वाला, जौ और गेहूँ से निर्मित पदार्थों का भोजन करने वाला पुरुष सन्तर्पण के कारण उत्पन्न हुए रोगों (प्रमेह, पिड़का आदि) से तथा स्थूलता से मुक्त हो जाता है।

उक्तं सन्तर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम्। वक्ष्यन्ते सौषधाश्चोर्ध्वमपतर्पणजा गदाः ॥२६॥

अपतर्पण-प्रकरण

अपतर्पण-वर्णन—यहाँ तक सन्तर्पण से होने वाले रोगों का अपतर्पण के रूप में औषध द्रव्यों का वर्णन कर दिया है। अब इसके पश्चात् अपतर्पण से होने वाले रोगों के औषधों का वर्णन किया जायगा।

देहाग्निबलवर्णौजःशुक्रमांसपरिक्षयः। ज्वरः कालानुबन्धश्च पार्श्वशूलमरोचकः ॥२७॥

१. 'सन्तर्पणमिति जलालोडितसक्तुरूपतया, तेन सन्तर्पणसंज्ञकस्याप्यपतर्पणरूपता ज्ञेया' चक्रः।
२. 'लौल्यम्' यो.।

श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा। विण्मूत्रसङ्ग्रहः शूलं जङ्घोरुत्रिकसंश्रयम् ॥२८॥
पर्वास्थिसन्धिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः। [1]ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तेऽपतर्पणात् ॥२९॥

अपतर्पणजनित रोग—अपतर्पण से देह (शरीर) का क्षय, अग्नि (पाचकाग्नि) का क्षय, बलक्षय, वर्णक्षय, ओजक्षय, शुक्रक्षय और मांसक्षय होता है। ज्वर के साथ कास (खाँसी) का सम्बन्ध बना रहता है, पसलियों में वेदना, अरोचक, कानों में या सुनने में दुर्बलता आ जाती है। उन्माद, प्रलाप (व्यर्थ की बातें कहना), हृदय में पीड़ा, मल-मूत्र का भीतर ही जमा रह जाना (अपने समय से मल-मूत्र का स्वाभाविक रूप से न निकलना), जाँघ, ऊरु तथा त्रिकसन्धि में शूल, पर्वों (जोड़ों) में, हड्डियों में और सन्धियों में फटने की-सी पीड़ा, इनके अतिरिक्त और भी जो ऊर्ध्ववात आदि वातज व्याधियाँ हैं, वे सभी अपतर्पण से उत्पन्न हो जाती हैं।

वक्तव्य—बृंहण पदार्थों से सन्तर्पण और रूक्ष पदार्थों से अपतर्पण होता है। यह पितरों के निमित्त किये जाने वाले तर्पण से सर्वथा भिन्न है। शारीरिक तर्पण में स्निग्ध पदार्थों की परम आवश्यकता होती है, अन्यथा अपतर्पणजनित अनेक वातविकार हो जाते हैं। बलक्षय शब्द से सभी प्रकार की इन्द्रियों की शक्ति के क्षय का भी सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिये। यह अपतर्पण जहाँ सन्तर्पणजनित व्याधियों में चिकित्सा के रूप में लाभकारक होता है, वहीं यह स्वस्थ पुरुष के प्रति रोगों का कारण हो जाता है।

तेषां सन्तर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम्। [2]यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते ॥३०॥

सन्तर्पण के भेद—विद्वान् चिकित्सकों ने अपतर्पण से होने वाले रोगों की चिकित्सा सन्तर्पण बतलायी है। जो तत्काल शरीरगत रसादि धातुओं को तृप्त करने में समर्थ हो।

वक्तव्य—ऊपर हमने जो अर्थ किया है, वह इस अर्धाली का है—'यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा यदिष्यते'। किन्तु एक पाठभेद इस प्रकार का भी देखा जाता है—'यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा यदिष्यते'। इस पाठ का यह अर्थ होगा—जो पदार्थ तत्काल सन्तर्पण कर सकते हैं उन्हीं का चिरकालिक सन्तर्पण के लिये भी प्रयोग करना चाहिये। इन पाठभेदों में खटक यह रहा है कि तब दूसरे पाठ में 'वा' का प्रयोग न करके 'अपि' का प्रयोग उचित होता। विद्वान् पाठक अर्थ की दृष्टि से ध्यान दें।

सद्यः क्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते। नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥३१॥

जो पुरुष अभी-अभी (किन्हीं विशेष कारणों से) क्षीण (कृश) हुआ हो, ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही सन्तर्पण औषध द्रव्यों के प्रयोग से हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। और जो चिरकाल से क्षीण है वह सन्तर्पणों के चिरकालिक अभ्यास के बिना पुष्ट नहीं होता।

वक्तव्य—चिन्ता, शोक, आघात आदि के सद्यःप्रभाव से जो क्षीण हुए हों उनको सन्तर्पण चिकित्सा तथा आश्वासन आदि उपायों से शीघ्र लाभ हो जाता है और जो व्यवाय (मैथुन), वृद्धावस्था, व्रण, उरःक्षत आदि विकारों से क्षीण हुए हों उनको चिरकाल तक अभ्यास करने से सन्तपण का लाभ होता है। वृद्धावस्था की क्षीणता तो साध्य नहीं अपितु याप्य होती है।

देहाग्निदोषभैषज्यमात्राकालानुवर्तिना। कार्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥३२॥

अभ्यासतर्पण निर्देश—शरीर सम्पत्, अग्नि (पाचकाग्नि) दोष (वातादि), औषध, मात्रा तथा काल का विचार करके चिकित्सा प्रारम्भ करने वाले वैद्य के लिये यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति चिरकाल से दुर्बल (कृश या क्षीण) हो, ऐसे रोगी के प्रति सद्यःसन्तर्पण का प्रयोग न करके अभ्यासतर्पण औषधोपचार करें।

हिता मांसरसास्तस्मै पयांसि च घृतानि च। स्नानानि बस्तयोऽभ्यङ्गास्[3]तर्पणास्तर्पणाश्च ये ॥३३॥

१. 'ऊर्ध्ववातः श्वासादिर्यत्रोर्ध्वं वायुर्याति, किं वा तन्त्रान्तरोक्तो रोगविशेषः। यथा—'अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च। करोत्यनिशमुद्गारमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥' चक्रः।
२. 'यत्तदर्थे' ग.।
३. 'तर्पणास्तर्पणाश्चेति सन्तर्पणकारकमन्यादयः, तेनेह संज्ञामात्रेण ये तर्पणा अपतर्पणकारका व्योषादयस्ते न ग्राह्याः' चक्रः।

चिर दुर्बलों की चिकित्सा—चिरकाल से उस दुर्बल पुरुष के लिये अनेक प्रकार के मांसरस, दूध, घी, स्नान, स्नेहबस्तियाँ, अभ्यङ्ग (तेल-मालिश) तथा सन्तर्पण-गुण-प्रधान पानी में घोले हुए पूर्वोक्त सत्तू तर्पणकारक होते हैं।

ज्वरकासप्रसक्तानां कृशानां मूत्रकृच्छ्रिणाम् । तृष्यतामूर्ध्ववातानां वक्ष्यन्ते तर्पणा हिताः ॥३४॥
शर्करापिप्पलीतैलघृतक्षौद्रैः समांशकैः । सक्तुर्द्विगुणितो वृष्यस्तेषां मन्थः प्रशस्यते ॥३५॥

तर्पण मन्थ-प्रयोग—अपतर्पण के कारण उत्पन्न ज्वर तथा कास से युक्त कृश पुरुषों के लिये, मूत्रकृच्छ्र से पीड़ितों के लिये तथा ऊर्ध्वगत वात से पीड़ित पुरुषों के लिये हितकारक तर्पणों के प्रयोग कहे जायेंगे।

सन्तर्पण मन्थ—चीनी, पिप्पली, तैल, घी, शहद इन सभी को समभाग लेकर इन सबका दूना सत्तू लेकर जल में घोल लें, यह मन्थ वृष्य (रसादि धातुओं को बढ़ाने वाला) है।

वक्तव्य——वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को अपनी संहिता में उद्धृत किया है। अन्तर इतना ही है कि चरक में सक्तुओं को दूना लेने का विधान है और अष्टांगसंग्रह में समभाग सत्तू लेने का आदेश है। देखें—अ० सं० सू० अ० २४। यहाँ तर्पण शब्द का अर्थ ही सत्तू किया है, ऐसा प्राचीन टीकाकारों का मत है।

सक्तवो मदिरा क्षौद्रं शर्करा चेति तर्पणम् । पिबेन्मारुतविण्मूत्रकफपित्तानुलोमनम् ॥३६॥

अनुलोमक तर्पण—सत्तू, मदिरा (शराब), शहद, चीनी इन सबको मिलाकर पीने से वायु, मल, मूत्र तथा कफ का यह तर्पण अनुलोमन करता है।

वक्तव्य—इन्हीं द्रव्यों से बनाये गये पेय का नाम वृद्धवाग्भट ने मन्थ रखा है, क्योंकि इन द्रव्यों का मिश्रण मन्थ की विधि से ही किया जाता है। देखें—अ० सं० सू० अ० २४।

फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम् । तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहरं पिबेत् ॥३७॥

फाणित (देशीराब), सत्तू, घी, दही का पानी और खट्टी काञ्जी इन सबको मिलाकर मूत्रकृच्छ्र तथा उदावर्त का रोगी पीये। इस तर्पण के सेवन से उक्त रोगों का नाश होता है।

वक्तव्य—ये सभी समान प्रकृति के योग हैं, अतः जो परिभाषा ऊपर दी गयी है तदनुसार इनका भी मिश्रण करें। आयुर्वेद में सन्धान-कल्पना प्रसंग में काञ्जी का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी निर्माण विधि—'कुल्माषधान्यमण्डादिसन्धितं काञ्जिकं विदुः। शा० सं०। उबाले हुए गेहूँ तथा चना आदि तथा चावल या जौ आदि के मांड में राई, नमक, हल्दी आदि को डालकर बनाया हुआ द्रव काञ्जिक या काञ्जी कहा जाता है। यह पाचन होता है। इसका सन्धान (निर्माण) गर्मियों में तीसरे दिन, जाड़ों में चार, पांच दिन में हो जाता है। मारवाड़, पञ्जाब की ओर तो मूली, गाजर, आलू, बड़े आदि की भी काञ्जी बनाकर प्रतिदिन भोजन के साथ प्रयोग करते हैं।

मन्थः खर्जूरमृद्वीकावृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः ।
परूषकैः सामलकैर्युक्तो मद्यविकारनुत् ॥ ३८ ॥

खजूर, मुनक्का, वृक्षाम्ल (विषांबिल), इमली, अनारदाना, फालसा और आँवला इनसे बनाया गया मन्थ मद्य के विकार का नाश करता है।

वक्तव्य—यह उत्तम कोटि का मन्थ है। इसका पान रोगी भी कर सकता है और नीरोग भी, जरा चखकर देखें। वृद्धवाग्भट ने इसको 'मद्यतृष्णादिरोगजित्' (अ० सं० सू० अ० २४) लिखा है। योग समान है। इसके साथ सत्तू का योग भी अवश्य करना चाहिये, तभी इसे 'मन्थ' संज्ञा दी जा सकेगी।

इस प्रकार के सभी मन्थों में जहाँ मात्रा का निर्देश न किया गया हो अथवा जहाँ केवल सत्तू का उल्लेख हो या न हो, तो भी योग में कहे गये सभी द्रव्यों से सत्तू को दूना लेना चाहिये। जहाँ किसी द्रव विशेष में घोलने का निर्देश न हो वहाँ जल के साथ घोलना चाहिये।

१. 'पिप्पलीमूल' इति पा०।

स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रूक्ष एव वा ।
सद्यः सन्तर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णबलप्रदः ॥ ३९ ॥

स्वादु (मधुर) या अम्ल (खट्टा), स्नेह युक्त हो या रूक्ष पानी में घोला हुआ मन्थ तत्काल सन्तर्पण (तृप्तिकारक), शरीर में स्थिरता, वर्ण, और बलकारक होता है।

तत्र श्लोकः—

सन्तर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात् ।
सन्तर्पणीये तेऽध्याये सौषधाः परिकीर्तिताः ॥ ४० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के
सन्तर्पणीयो नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

उपसंहार—सन्तर्पण द्रव्यों के अधिक सेवन करने से और अपतर्पण द्रव्यों के अधिक सेवन से जो रोग होते हैं, उन सबकी चिकित्सा इस सन्तर्पणीय नामक अध्याय में कह दी गयी है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में सन्तर्पणीय नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातो विधिशोणितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

सन्तर्पणीय अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अब हम विधिशोणितीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—रस के पश्चात् रक्त धातु जब दूष्य के रूप में परिणत हो जाता है, तब रक्तजनित अनेक विकार दिखलायी देने लगते हैं। किस प्रकार रक्त शुद्ध रहकर शरीरावयवों के पोषण में सहायक हो सकता है, इसी विधि का विधान इस अध्याय में निर्दिष्ट है।

[1]विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम् । देशकालौकसात्म्यानां विधिर्यः [2]सम्प्रकाशितः ॥३॥

रक्त शुद्धि का उपक्रम—देशसात्म्य, कालसात्म्य, ओक (अभ्यास) सात्म्य की जो विधि (तस्याशितीय नामक २२ वें अध्याय में) कही गयी है उस विधि से उत्पन्न शरीरधारियों का रक्त शुद्ध होता है।

वक्तव्य—रक्त परिचय—शरीर में रस के बाद रक्त को एक महत्त्वपूर्ण धातु माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार रस का प्रथम परिणाम रक्त ही है। रस धातु के सूक्ष्म भाग पर रक्त धात्वग्नि की क्रिया के परिणाम स्वरूप ही रक्त धातु का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त रस धातु जब रञ्जक पित्त के द्वारा रञ्जित होकर रक्तवर्ण को प्राप्त होता है, तब उसकी रक्त संज्ञा होती है।

१. 'विधिनेति सम्यगाहाराचारविधिना' चक्रः।
२. 'सम्प्रकाशित इति तस्याशितीये' (सू. अ. ६) चक्रः। 'स प्रदर्शितः' यो.।

रस और रक्त में भेद—रस धातु सौम्य और श्लेष्म प्रधान होता है तथा रक्त धातु उष्ण अतएव पित्तगुण प्रधान होता है। इसीलिये रस धातु का मल कफ और रक्त धातु का मल पित्त बनता है।

रक्त का महत्व—रक्त ही शरीर का मूल है, इसी से शरीर धारण किया जाता है और यही प्राण है। रक्तधातु यद्यपि दोष युक्त होने के कारण तेजो महाभूत प्रधान है, तथापि इसके भौतिक संगठन से यह सिद्ध होता है कि इसमें पाँचों महाभूतों का संयोग रहता है। अतएव इसको निम्नोक्त प्रकार से पाञ्चभौतिक स्वीकार किया गया है—विस्रगन्धता–पृथ्वीतत्व, द्रवता–जलतत्व, अरुणता–तेजस्तत्व, लघुता–आकाशतत्व और स्पन्दन-शीलता–वायुतत्व है।

रक्त का शुद्ध स्वरूप—आयुर्वेद के अनुसार रक्त का स्वरूप तपाये हुए स्वर्ण के सदृश, इन्द्रगोप (वीरबहूटी) जैसा, लाल कमल, आलता अथवा गुञ्जा (घुंघची) के समान होता है। रक्त में स्वाभाविक रूप से पिच्छिलता और सान्द्रता गुण होते हैं। अतः वह एकदम पतला न होकर कुछ गाढ़ापन लिये होता है।

रक्त का परिमाण—प्राचीन आचार्यों ने इसका परिमाण आठ अञ्जलि मा.. माना है। आधुनिक विद्वान् शरीर के कुल भार का ८ वाँ, ९ वाँ या १० वाँ भाग या लगभग ९ लीटर मानते हैं।

आधुनिक दृष्टि से रक्त धातु—आयुर्वेद में कहे गये रक्त धातु की समानता आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित रक्त (Blood) से की जा सकती है। क्योंकि दोनों ही रूप, रंग, क्रिया तथा स्वभाव की दृष्टि से समान हैं। यद्यपि रक्त के निर्माण एवं रक्त धातु के निर्माण की प्रक्रिया में भिन्नता होती है तथापि रचना एवं क्रिया व्यापार के आधार पर रक्त को रक्त धातु के रूप में स्वीकार किया जाना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

शरीरगत रक्तशिराओं (Blood vessels) में अनवरत रूप से भ्रमण करता हुआ लाल रंग का हल्का गाढ़ा लसलसा पदार्थ ही रक्त होता है। रक्त की संरचना के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये एक प्रकार के ऊतक (Tissue) हैं, जिनमें अन्तरकोशीय द्रव पदार्थ (Inter cellular liquid substance) प्लाज्मा (Plasma) के रूप में रहता है। इस तरह के रक्त की रचना में मुख्य रूप से दो तरह के पदार्थ होते हैं। १. द्रव रूप प्लाज्मा तथा २. कोशाएँ (Cells) जो अलग-अलग प्रकार की होती हैं। इसमें से ५५% भाग प्लाज्मा का तथा ४५% भाग कोशाओं का होता है। ये कोशाएँ तीन प्रकार की होती हैं। १. इरिथ्रोसाइट्स (Erythrocytes) जिन्हें सामान्यतः आर० बी० सी० (रेड ब्लड कारपल्स) भी कहा जाता है। २. ल्यूकोसाइट्स (Leucocytes) जिन्हें सामान्यतः डब्ल्यू० बी० सी० (व्हाइट ब्लड कारपल्स) भी कहा जाता है। तथा ३ थ्रोम्बोसाइट्स (Thrombocytes) अथवा प्लेटलेट्स (Platelets) कहते हैं।

स्वस्थ पुरुष के एक घन मिलीमीटर में कुल आर० बी० सी० की संख्या ५० लाख से ५५ लाख तथा स्त्रियों में ४५ लाख से ५० लाख तक होती है। बच्चों में यह संख्या और अधिक होती है। आर० बी० सी० का मुख्य कार्यकारी द्रव्य हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) होता है। संगठन की दृष्टि से एक आर० बी० सी० में ६० से ७०% तक जल तथा २९% हीमोग्लोबिन एवं शेष प्रतिशत अन्य द्रव्यों का होता है। रक्त का लाल रंग आर० बी० सी० के कारण होता है। अतः आर० बी० सी० को रक्ताणु कहा जाता है। रक्ताणुओं में लालरंग हीमोग्लोबिन के कारण होता है। डब्ल्यू० बी० सी० को श्वेताणु कहते हैं। स्वस्थ पुरुष के एक घन मिलीमीटर रक्त में इनकी संख्या ६ हजार से ११ हजार तक होती है।

रचना की दृष्टि से डब्ल्यू० बी० सी० कोशाएँ मुख्य रूप से पाँच प्रकार की होती हैं। १. न्यूट्रोफिल (Neutrophil) ६० से ७०% २. यूजिनोफिल (Eosinophil) १ से ४% ३. बेसोफिल (Basophil) ० से १% ४. लिम्फोसाइट्स (Lymphocytes) २५ से ३०% तथा ५. मोनोसाइट्स (Monocytes)।

एक घन मिलीमीटर रक्त में प्लेटलेट्स की कुल संख्या २½ लाख से ५ लाख तक होती है। प्लाज्मा में संगठन की दृष्टि से ९१% जल तथा ९% ठोस पदार्थ होता है। ठोस पदार्थ के ९% अंश में से ७.५% अंश केवल प्रोटीन (Protein) का होता है और शेष १.५% अंश में अन्य द्रव्य होते हैं। यथा—सोडियम, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्नेशियम, यूरिया, कार्बोहाइड्रेट्स, फेट्स आदि।

प्लाज्मा प्रोटीन मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है—१. सीरम एल्ब्यूमिन (Serum Albumin)

२. सीरम ग्लोबुलिन (Serum Globulin), ३. फाइब्रिनोजन (Fibrinogen), तथा ४. प्रोथ्रोम्बिन (Prothrombin)।

इस प्रकार प्राचीन तथा आधुनिक दृष्टि से रक्त का परिचय उपस्थित किया गया है। शरीर में जब रक्त-विकृतियाँ होती हैं, तब प्राचीन काल में भी साक्षाद् रक्तपान का अथवा प्रकारान्तर से रक्तपान या रक्त की क्षति-पूर्ति कराने के विधान थे। यथा—'अतिनिःसृतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्। यकृद् वा भक्षयेदामामं पित्त-समायुतम्' ॥ सु० उ० तं० अ० ४५।२८; और भी देखें—चरक सि० अ० १०।४०-४१। अतः रक्त की पूर्ति के लिये बाह्य रक्त का प्रयोग भी श्रेयस्कर होता है। आज जो मनुष्यों का रक्त लेकर मनुष्यों को देने की विधि है, यह प्राचीन काल में प्रकारान्तर से की जाती रही है।

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥४॥

शुद्ध रक्त का महत्व—वह शुद्ध रक्त प्राणियों को बल, वर्ण, सुख और दीर्घ-आयु से युक्त कर देता है। क्योंकि प्राण शुद्धरक्त का ही अनुसरण करता है।

वक्तव्य—प्रायः सभी संस्करणों में उक्त श्लोक का **'प्राणः'** शब्द समान रूप में दृष्टिगोचर होता है। जब कि यहाँ **'प्राणाः'** पाठ कर देने से भी कोई हानि नहीं होती। क्योंकि 'प्राण' शब्द को जिस अर्थ में प्राचीन व्याख्याकारों ने लिया है, उस अर्थ में उसे 'प्राणाः' ऐसा ही होना चाहिये था। देखें—'पुंसि-भूम्न्यसवः प्राणाः'। अमरकोष। अर्थात् **असु** और **प्राण** शब्द पुल्लिंग और नित्यबहुवचनान्त होते हैं। 'शक्तिः पराक्रमप्राणौ'। अमरकोष। यहाँ 'प्राण' शब्द का अर्थ शक्ति या सामर्थ्य है। और शरीरस्थ पाँच वायुओं में जो पहला 'प्राणवायु' है यहाँ भी प्राण शब्द एकवचन है। इसका स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—'प्राणो हृन्मारुते बोले काव्यजीवेऽनिले बले। पुल्लिङ्गः पूरिते वाच्यलिङ्गः पुम्भूम्नि चासुषु' ॥ मेदिनी।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नित्यबहुवचनान्त 'प्राणाः' शब्द असु (जिससे जीवन धारण होता है और जिसके चले जाने से निष्प्राण या मृत कहा जाता है) का वाचक है और दूसरा 'प्राण' शब्द (जिसके सभी वचनों में रूप चलते हैं) क्रमशः शक्ति या सामर्थ्य तथा हृदयस्थित प्राणवायु का वाचक है। पाठक स्वयं निर्णय करें कि यहाँ तदनुसार किस शब्द की आवश्यकता है—'प्राणः' या 'प्राणाः'।

लोक में ऐसा व्यवहार भी होते नहीं देखा गया कि थोड़े प्राण निकल गये थोड़े और बाकी हैं परन्तु रक्त के सम्बन्ध में तो यह कहा ही जाता है कि इतना रक्त निकल गया। रक्त के निकलने से शक्ति की हानि प्रत्यक्ष दिखायी देती है।

रक्त का महत्व-वर्णन करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः' ॥ सु० सू० अ० १४।४४। यहाँ पर रक्त को ही 'जीव' की संज्ञा देकर उसके महत्व को बढ़ाया गया है। जब अन्य परिस्थितियों पर अन्य धातुओं की प्रशंसा की गयी है। जैसे अन्यत्र कहा गया है—'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी ही आयु (प्राण) है। जिस प्रकार शरीर-पोषकतत्वों में घी का महत्व प्रसिद्ध है, वैसे ही शरीर-धारण के क्षेत्र में रक्त का भी कम महत्व नहीं है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जारहा है—'धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः' ॥ सु० सू० अ० १४।३७। और भी—'तेषां क्षय-वृद्धी शोणितनिमित्ते'। सु० सू० अ० १४।२१। अर्थात् अन्य धातुओं का क्षय तथा वृद्धि का मूलकारण रक्त ही होता है।

रक्त के कार्य—१. फुफ्फुसों में से यह अपने हीमोग्लोबिन द्वारा आक्सिजन को शरीरावयवों तक पहुँचाता है तथा वहाँ से कार्बोनिक एसिडगैस को लेकर फुफ्फुसों तक पहुँचाता है। २. आंतों में से आहार रस को लेकर उसे शरीरावयवों तक पहुँचाता है। अवयवों में उत्पन्न मलों को लेकर उसे त्वचा तथा वृक्कों तक पहुँचाता है। ३. निःस्रोतस् ग्रन्थियों के रसों को शरीर के अवयवों तक पहुँचाता है। शरीर में ऊष्मा की उत्पत्ति करके उसे शरीर में प्रसारित करता है। ऊष्मा बढ़ जाय तो इसे बाहर भी करता है। रक्त अपने रस-कणों द्वारा धातुओं को आक्सीजन पहुँचाता है और इसके श्वेतकण जीवाणुओं तथा उनसे उत्पन्न विषों का नाश करता है। यह सभी शरीर के प्रति शुद्ध रक्त की देन है।

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णैर्मद्यैरन्यैश्च तद्विधैः। तथाऽतिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ ५ ॥

कुलत्थमाषनिष्पावतिलतैलनिषेवणैः । पिण्डालुमूलकादीनां हरितानां च सर्वशः ॥ ६ ॥
जलजानूपबैलानां प्रसहानां च सेवनात् । दध्यम्लमस्तुसुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥ ७ ॥
विरुद्धानामुपक्लिन्नपूतीनां भक्षणेन च । भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रवस्निग्धगुरूणि च ॥ ८ ॥
[1]अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चातपानलौ । छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात् ॥ ९ ॥
श्रमाभिघातसन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा । शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति ॥१०॥

रक्त दूषित होने के कारण – दूषित (विकृत) मद्य के पीने से, अत्यधिक मद्य के पीने से, तीक्ष्ण मद्य के पीने से, इसी प्रकार के अन्य मादक पदार्थों (गांजा, भांग, चरस, अफीम, संखिया आदि) के सेवन करने से तथा अतिलवण (अधिक नमकीन), क्षार, अम्ल, कटु पदार्थों के सेवन से, कुलथी, माष (उड़द), सेम (A sort of Pulse) और तिल-तैल के निरन्तर सेवन से, पिण्डालू, मूली तथा हरितवर्गोक्त पदार्थों के अधिकांश सेवन से, पानी में रहने वाले, अनूपदेशज एवम् बिल में रहने वाले प्रसह (मृग तथा पक्षी) के मांसों का निरन्तर सेवन करने से, दही, अम्ल, दही का पानी, सुक्त या सत्तू, सुरा, सौवीरक, इनके सेवन से मात्रा, देश, काल संयोग विरुद्ध गीले तथा दुर्गन्धित पदार्थों के सेवन करने, पतले, स्निग्ध तथा गुरु पदार्थों को खाकर दिन में सोने, अधिक भोजन करने, अधिक क्रोध करने, अधिक धूप तथा तेज हवा का सेवन करने, वमन के वेग को रोकने, समय पर (शरद् ऋतु में) रक्तमोक्षण न करने से, श्रम, अभिघात (चोट), सन्ताप, अजीर्ण, अध्यशन (भोजन करने के कुछ ही बाद पुनः भोजन करने), शरद् काल के स्वभाव से भी रक्त दूषित हो जाता है।

वक्तव्य—पिण्डालू—सुश्रुत सू० अ० ४६ के २९८ वें पाठ में पिण्डालु, मध्वालु, हस्त्यालु, काष्ठालु, शंखालु, रक्तालु नाम से विभिन्न आलुओं का परिचय दिया है। पर्वतीयक्षेत्रों (नैनीताल, अल्मोड़ा आदि के आसपास) में पिण्डालु नाम से यह प्रसिद्ध है, जिसको समतल भाग में अरुई, घुइयाँ तथा उसकी जड़ (मोटे गाँठदार भाग) को वण्डा कहते हैं। उक्त प्रदेशों में रक्तालु तथा शंखालु को क्रमशः लाल गडेरी और सफेद गडेरी कहते हैं। यद्यपि आजकल आलू भी दो प्रकार का, लाल और सफेद मिलता है किन्तु इसके लिये इतिहासकारों की आज्ञा लेनी होगी कि उसको भारतीय माना जाय या नहीं।

हरितक—जिनका प्रयोग हरी अवस्था में ही किया जाता है। जैसे—धनिया, पोदीना, नीबू अदरख आदि।

प्रसह—इस नाम के मृगपक्षियों का विशेष वर्णन चरक सू० अ० २७ में तथा 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में देखें।

रक्त—शुद्धरक्त पित्तदोष तथा तेजोमहाभूत प्रधान होता है, अत एव जिन कारणों से पित्त दूषित होता है उन्हीं कारणों से रक्त भी दूषित होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख सुश्रुतसंहिता सू० अ० २१।२१ में है।

अध्यशन—'भुक्तस्योपरि भोजनमध्यशनम्', अथवा—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्' ॥ च० चि० अ० १५।२३६। अर्थात् पहले खाया हुआ अन्न जब तक न पचा हो उसी बीच में पुनः भोजन कर लेना 'अध्यशन' कहा गया है। इससे ग्रहणीजनित अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनमें से एक रक्तविकार भी है।

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः । मुखपाकोऽक्षिरागश्च[2] पूतिघ्राणास्यगन्धिता ॥११॥
गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः । विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥१२॥
[3]वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता । सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक् ॥१३॥
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः । क्रोधप्रचुरता बुद्धेः सम्मोहो लवणास्यता ॥१४॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः । तन्द्रा निद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥१५॥
कण्ड्वरुःकोठपिडकाकुष्ठचर्मदलादयः । विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥१६॥

१. 'अत्यादानं तृप्तिमतिक्रम्य भोजनम्' चक्रः।
२. 'मुखनासाक्षिपाकश्च' ग.।
३. 'वैरस्य–' ग.।

रक्तजनित रोग—जब उपर्युक्त कारणों से रक्त दूषित हो जाता है तो तदनन्तर अनेक प्रकार के रक्त-विकृतिजनित रोग हो जाते हैं। यथा—मुखपाक, आँखों में लालिमा, मुख और नासिका से दुर्गन्ध का आना, रक्तगुल्म, उपकुश (Gum boil) पित्त-रक्तज दन्तरोगविशेष, विसर्प, रक्तपित्त, प्रमीलक (चिन्तित रहना), विद्रधि, रक्तप्रमेह, रक्तप्रदर, वातरक्त, विवर्णता, अग्नि का मन्द पड़ जाना, हर समय प्यास लगना, शरीर का भारीपन, सन्ताप (ज्वर के समान शरीर का गरम रहना), अत्यन्त दुर्बलता, अरुचि, शिरःशूल, भोजन करने तथा जल पीने के पश्चात् विदाह (गला जलना, जैसा अम्लपित्त रोग में होता है), तीते, खट्टे डकारों का आना, क्लम (सुस्ती का बना रहना), क्रोध की अधिकता, बुद्धि का संमोह (विवेक शक्ति का ह्रास), मुख का नमकीन बना रहना, पसीना, शरीर दुर्गन्धित होना, मद, कम्पन, स्वरक्षय (स्वरभेद), तन्द्रा (उंघाई), नींद का अधिक आना, आँखों के सामने अन्धकार-सा दिखाई देना, खुजली, फुन्सियाँ, चकत्ते, पिड़कायें, कुष्ठ, चर्मदल (क्षुद्रकुष्ठ) आदि ये सभी विकार रक्तविकृति के कारण उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—चरक के उक्त प्रसंग में पहले 'शोणितजा रोगाः' और अन्त में 'शोणिताश्रया विकाराः', उक्त रोगों को दो विशेषण देने का कारण यह है कि पूर्वोक्त रोग दूषित रक्त के कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'रक्त दूष्य' है। वह अनुचित आहार-विहार से दूषित किया जाता है अथवा कालस्वभाव से दूषित हो जाता है। तदन्तर इस प्रकार के दूषित रक्त को अपना आश्रय बनाकर उस रोगी के शरीर में तब तक रहते हैं जब तक उनकी समुचित चिकित्सा न की जाय। समय पर चिकित्सा करने से शीघ्र लाभ हो जाता है।

वृद्धवाग्भट ने उक्तविषय को अपने शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया है—'रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये। तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत्' ॥ अ० सं० सू० अ० १। अर्थात् रसादि धातुओं में वातादि दोषों के रहते हुए जो रोग होते हैं, उनके लिये रसज या रक्तज व्याधि की संज्ञा देना ठीक वैसा ही है जैसा कि 'घृतदाहवत्' घी से जल गया, यह कहना। क्योंकि यदि घी से जल गया है तो निश्चित ही वह घी गरम होगा, उस अग्नि के प्रभाव से वह जला। ऐसी ही रसज एवम् रक्तज आदि व्याधियों की स्थिति भी है। क्योंकि वे वातादि दोष रसादि अपने दूष्यों को प्रभावित कर रोगोत्पत्ति में कारण होते हैं।

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान्विभावयेत् ॥ १७ ॥

रक्तज रोगों का निर्णय—जो साध्य रोग शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि पदार्थों द्वारा चिकित्सा किये जाने पर भी सिद्ध नहीं होते उनको रक्तज रोग समझें।

वक्तव्य—ऊपर शीत, उष्ण वीर्य तथा गुण प्रधान औषध द्रव्यों का प्रयोग केवल वातादि दोषों की चिकित्सा के लिये निर्दिष्ट है। जब वातादि दोष अपने दूष्यों (रक्तादि) को दूषित कर तत्-तत् सम्बन्धित रोग विशेष की उत्पत्ति कर देते हैं तब सामान्य चिकित्सा से लाभ नहीं होता। अतः तन्त्रकार का उक्त चिकित्सा प्रकार ऐसी स्थिति में सहायक होता है जब मूल व्याधि के लक्षण व्यक्त (स्पष्ट) न हुए हों।

उक्त पद्य के 'साध्याः न सिद्ध्यन्ति' इस अंश पर ध्यान देने के पश्चात् ही यह निर्णय लेना चाहिये, क्योंकि असाध्य व्याधियों पर तो कोई भी चिकित्सा सफल नहीं होती है।

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् । [1]विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च ॥१८॥

रक्तज रोगों की विशिष्ट चिकित्सा—रक्तविकारजनित रोगों में रक्तपित्तनाशक औषधोपचार, विरेचन, उपवास और रक्तस्राव (सिरावेध द्वारा) कराना चाहिये।

वक्तव्य—रक्तज रोगों की चिकित्सा में सर्वप्रथम रक्तपित्तनाशक क्रिया का अनुसरण करना चाहिये जो तन्त्रकार का वचन है; इसका यह तात्पर्य है कि रक्त धातु अथवा दूष्य और पित्तदोष इन दोनों की प्रकृति समान होती है। देखें—च० चि० अ० ४।९। इसकी व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'रक्तस्य संयोगात्, रक्तस्य दूषणात् तथा रक्तस्य गन्धवर्णयोः पित्ते सामान्यात् पित्तं रक्तपित्तमुच्यते'। अर्थ स्पष्ट है।

स्रावणं शोणितस्य च—दूसरी प्रधान चिकित्सा है 'रक्तमोक्षण' रक्त को निकालना। क्योंकि जो धातु दूषित है जब उसी का निर्हरण हो जायगा तो फिर रोग कहाँ रहेगा ?। अब यहाँ एक शंका यह होती है

१. 'विरेकमनुवासं च' ग.।

कि शरीर का सब रक्त निकाल दिया जाय या कितना निकाला जाय जिससे यह निश्चय हो जाय कि दुष्ट रक्त निकल गया अब शुद्ध (जीव) रक्त शेष है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का यह निर्देश है—'सम्यग् गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते। शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत्' ॥ सु० सू० अ० १४।३२। जब रक्त उचित परिमाण में निकल कर स्वयं रुक जाता है, तब रक्त का विस्रावण भलीभाँति हो गया समझें। यह स्थिति शिरावेध करके रक्तमोक्षण की है।

जब जौंक लगाकर रक्त निकाला जाता है, उस सम्बन्ध में शास्त्र की आज्ञा देखें—'दंशे तोदकण्डूप्रादुर्भावे जानीयाच्छुद्धमियमादत्त इति। शुद्धमाददानामपनयेत्। अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनाव किरेत्' ॥ सु० सू० अ० १३।२१। अशुद्ध रक्त के मोक्षण के लिये लगायी गयी जौंक के रक्तपान करने पर तोद (रक्तक्षय के कारण उत्पन्न वातज पीड़ा) और खुजली आदि उत्पन्न होती है। जब जौंक शुद्ध रक्त को पीने लग जाय, तब इसको हटा देना चाहिये। यदि वह अपना मुख दंशस्थान से न हटाये तो इसके मुख पर सैंधानमक का चूर्ण डाल दे, इससे वह व्रण स्थान को छोड़ देगी। यही ध्यान तुम्बी लगाकर रक्त निकालने में भी रखना चाहिये।

यूनानी चिकित्सक आज भी शिरावेध करते हैं। रक्तसार मानवों का सिरावेध किया जाता है। जलौका, सिंगी तथा पच्छ लगाकर जो रक्तस्रावण किया जाता है उससे एकदेशीय रोग का शमन होता है, परन्तु शिरावेध द्वारा जो रक्तमोक्षण किया जाता है उससे सर्वांग की शुद्धि होती है। कुष्ठ रोग के आरम्भ में यदि बार-बार सिरावेध किया जाय तो बहुत लाभ होता है। भली-भाँति रक्तस्रावण हो जाने पर शरीर में लघुता, वेदना की शान्ति, व्याधि के वेग का शमन, मन-प्रसन्न त्वचा दोष तथा रक्त विकार कभी नहीं होते। विस्तृत अध्ययन के लिये सुश्रुत शा० अ० ८ देखें, क्योंकि इस विषय का आत्रेय से अधिक अधिकार सुश्रुत को है।

बलदोषप्रमाणाद् वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा। रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराश(म)यं प्रसमीक्ष्य वा ॥१९॥

रक्तमोक्षण में रक्त का प्रमाण—रोगी के बल को देखकर, दोष के प्रमाण को ध्यान में रख कर अथवा रक्त की शुद्धि होने तक रोगी के रक्त दोष से युक्त स्थान को अथवा रोग को देखकर रक्तस्रावण कराना चाहिये।

वक्तव्य—वास्तव में अशुद्ध रक्त के निकल जाने और शुद्ध (जीव) रक्त के निकलने के पूर्व रक्तस्रावण क्रिया को बन्द कर देना चाहिये। इसमें भी अनेक मतमतान्तर हैं—वाग्भट के मतानुसार बलवान् पुरुष का भी एक प्रस्थ से अधिक रक्त एक बार में न निकाले। देखें—अ० हृ० सू० अ० २७। **रक्तस्रावण का प्रमाण**—'बलिनो बहुदोषस्य वयस्थस्य शरीरिणः। परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे' ॥ यह एक प्रस्थ सबसे अधिक प्रमाण है। यहाँ प्रस्थ को साढ़े तेरह पल का माना गया है। यथा—'···शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' ॥ भावमिश्र ने १ प्रस्थ से भी कम रक्तमोक्षण की आज्ञा दी है। यथा—'शोणितं स्रावयेज्जन्तोरामयं प्रसमीक्ष्य च। प्रस्थं प्रस्थार्धमथवा प्रस्थार्धार्धमथापि च' ॥ भावप्रकाश। यह मत भावप्रकाशकार के समय का है। आजकल के लोगों की शरीर सम्पत्ति को देखकर यह प्रमाण और भी कम करना चाहिये। यह सब रोग एवं रोगी की परिस्थिति तथा विद्वान् चिकित्सक के विवेक पर निर्भर किया जाता है।

अरुणाभं भवेद्वाताद्विशदं फेनिलं तनु। पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च ॥२०॥
ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्। संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥२१॥

वातादि दोषों से दुष्ट रक्त का स्वरूप—वात दोष से दुष्ट रक्त अरुण आभा वाला, विशद, फेनिल (झाग युक्त) और तनु (पतला) होता है। पित्त दोष से दुष्ट रक्त पीले वर्ण से युक्त काला तथा लाल होता है। पित्त के संसर्ग से उष्ण होने के कारण यह देर में जमता है। कफ दोष से दुष्ट रक्त हलका पीला, पिच्छिल, तन्तुमत (इस रक्त को उठाने पर उसमें तागे जैसे या तार जैसे दिखायी देते हैं।) और गाढ़ा होता है। द्विदोषज दुष्ट रक्त में जिन दो दोषों से दूषित हुआ हो उनके लक्षण दिखायी देते हैं एवम् जिस रक्त में वातादि तीनों दोषों के लक्षण दिखलायी दें, उसे सान्निपातिक कहते हैं।

वक्तव्य—कुछ व्याख्याकारों ने रक्त को 'पीतासितं' पीला और काला अलग-२ वर्ण का माना है, वास्तव

में यहाँ—'पीतं च तत् असितम् च' विग्रह करके '**वर्णो वर्णेन**' सूत्र द्वारा कर्मधारयसमास होकर उक्त रूप की सिद्धि हुई है। अर्थात् यहाँ पीला और काला मिला हुआ, ऐसा अर्थ अपेक्षित है।

स्त्यायति—'स्त्यै' धातु शब्द और संघात अर्थ में है। गर्मी के कारण यह देर में संघात (इकटठा) होता है। इसका यह आशय है कि रक्तमोक्षण करने के पश्चात् कौन सा रक्त किस विकार से युक्त है। इसका परिचय उक्त पद्य में दिया है। वातादि दोषों से दुष्ट रक्त का विशेष परिचय सु० सू० अ० १४ में देखें।

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्। गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥२२॥

शुद्ध रक्त का स्वरूप—तपनीय (तपाये हुए सोने), इन्द्रगोप (वीरबहूटी नामक कृमि), लाल कमल, आलता और गुञ्जा (घुंघची) के समान वर्ण वाले रक्त को शुद्ध समझना चाहिये।

वक्तव्य—शुद्ध रक्त का परिचय धन्वन्तरि के शब्दों में इस प्रकार है—'इन्द्रगोपप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात्'। सु० सू० अ० १४।२२। जो रक्त इन्द्रगोप के समान रंग वाला, असंहत (न बहुत स्वच्छ और न बहुत घना) और अविवर्ण (जिसका वर्ण विकार युक्त न हो) उस रक्त को स्वाभाविक रूप से स्वच्छ समझना चाहिये।

वाग्भट के विचार देखें—'मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्। पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम् ॥ लोहितं प्रवदेच्छुद्धं तनोस्तेनैव च स्थितिः' ॥ अ० हृ० सू० अ० २७।१। मधुर रस तथा कुछ लवणरस युक्त, समशीतोष्ण, संघातरहित (जिसमें गाठें न पड़ी हों), कमल की पंखुड़ी, वीरबहूटी तथा तपे हुए या तपाये हुए सुवर्ण के सदृश वर्ण वाला, भेड़ तथा खरगोश के रक्त का-सा लाल रक्त-धातु शुद्ध होता है। इन लक्षणों से विपरीत रक्त अशुद्ध होता है। इसी शुद्ध रक्त के कारण शरीर (जीवन और स्वास्थ्य) की स्थिति रहती है। अन्यथा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है या मृत्यु हो जाती है।

रक्त परिचय—प्राणियों के शरीर में जो लाल वर्ण का द्रव पाया जाता है, वही रक्त धातु है। लाल होने के कारण इस द्रव को '**रक्त**'; उसमें लोह धातु रहने के कारण '**लोहित**'; उसके गतिशील होने के कारण '**शोणित**'; उसका क्षत (घाव) होने पर उत्पन्न होने के कारण '**क्षतज**' और व्यानवायु ('व्यानः सर्वशरीरगः' सम्पूर्ण शरीर में घूमने वाला) द्वारा इधर-उधर ले जाये जाने के कारण उसको '**अस्र**' अथवा '**असृक्**' कहते हैं। यद्यपि सोना स्वभावतः पीला होता है किन्तु जब वह तपाया या गलाया जाता है तो उसका रंग शुद्ध रक्त की भांति लाल हो जाता है। अतएव उसको तपनीय (तप+अनीयर्) की संज्ञा दी गयी है। मधुर का अर्थ है—'स्वादु'। अतः शुद्ध रक्त को कुत्ता आदि पशु भी चाटते हैं, अशुद्ध को नहीं। अतएव '**लेहितं**' विशेषण का प्रयोग किया गया है। रक्त में थोड़ा लवण का अंश भी होता है, जो मूत्र तथा पसीने के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है।

अशीतोष्ण—रक्त का एक विशेषण यह भी है। इसका तात्पर्य है कि यह न अधिक शीत है और न अधिक उष्ण, किन्तु ज्वर आदि के अवसरों में जो शरीर का तापमान घट-बढ़ जाता है, वह विकृति है। अन्यथा स्वास्थ्य काल में अशीतोष्ण स्थिति रक्त की बनी रहती है। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में रक्त का शरीर में महत्व—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः' ॥ सु० सू० अ० १४।४४।

सावधान—शुद्ध रक्त ही जीवरक्त है। यह रक्तमोक्षण काल में या रक्तज-व्याधियों (रक्तातीसार, रक्तपित्त, रक्तप्रदर आदि) में जब निकलने लगता है, तो रोगी की शारीरिक स्थिति सहसा बिगड़ने लगती है, ऐसी स्थिति में उसको तत्काल रोकना चाहिये। देखें—च० सि० अ० ६।

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः ॥ २३ ॥

रक्तस्रावण के बाद पथ्य—अशुद्ध रक्त के निकल जाने के बाद न अधिक गरम और न अधिक शीतल, लघु (शीघ्र पचने योग्य), अग्निवर्धक, हितकारक अन्न-पान की व्यवस्था करनी चाहिये। क्योंकि रक्तस्रावण हो जाने के बाद बचा हुआ शुद्ध रक्त शरीर में स्थिर नहीं रह पाता, अतः उस काल में विशेष रूप से पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिये।

वक्तव्य—धन्वन्तरि के अनुसार रक्तस्रावण के बाद की आहार-विधि का वर्णन—'धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः। पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः॥ तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः। ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्'॥ सु० सू० अ० १४।३७-३८। रक्त के अधिक निकल जाने पर, धातु के क्षय हो जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है, ऐसी स्थिति में वायु अत्यन्त कुपित हो जाता है। इसलिये यत्नपूर्वक न बहुत शीतल, न अधिक उष्ण, लघु, चिकने, रक्तवर्धक, थोड़े खट्टे (जैसे अनार, आँवला) या सर्वथा खटाईरहित अर्थात् मधुर भोजन खिलाने चाहिये।

अधिक गरम या अधिक खट्टे पदार्थों के सेवन से क्षत (घाव) से रक्त निकलता ही रहेगा, रुक नहीं सकेगा। अतः समशीतोष्ण, लघु तथा अग्निवर्धक पदार्थों का सेवन करायें।

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं तु(पु)ष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति॥ २४॥

शुद्ध रक्त वाले पुरुषों के लक्षण—जिसका वर्ण प्रसन्न (कान्तिमय) हो, इन्द्रियाँ प्रसन्न (अपने-अपने कर्म में तत्पर अतएव अम्लान) हों और अपने-अपने विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) के ग्रहण करने की इच्छुक हों, जाठराग्नि पाचन-क्रिया में समर्थ हो, जो मनुष्य सुख से युक्त हो तथा तुष्टि, पुष्टि और शारीरिक बल से पूर्ण हो, उस पुरुष को स्वास्थ्य-विशेषज्ञ विशुद्ध रक्त वाला कहते हैं।

वक्तव्य—शुद्ध रक्त वाले पुरुष ही आगे चलकर रक्तसार की संज्ञा प्राप्त कर पाते हैं। रक्तधातु का परमोत्कृष्ट अंश ही रक्तसार है। जो पुरुष जितना ही अधिक रक्तसार होगा, उतना ही अधिक वह बलवान्, तेजस्वी एवम् ओजस्वी होगा। सामान्यतः रक्तसार पुरुषों में निम्न लक्षण पाये जाते हैं। यथा—इनके कान, आँख, मुख, जीभ, नाक, होंठ, हथेली, पैरों के तलुवे, नख, ललाट और शिश्न ये सब लालवर्ण के चमकीले अतएव कान्तिमान् होते हैं।

इसके कारण मनुष्य का जीवन सुखी रहता है, उसकी बुद्धि तीव्र होती है, उसमें स्वाभिमान की मात्रा अधिक होती है। ऐसा व्यक्ति सुकुमार होता है, उसमें उष्णता तथा किसी प्रकार के क्लेश को सहन न करने के भाव जागृत हो जाते हैं।

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि[1] च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥२५॥
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥२६॥
मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद् विचक्षणः। यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥२७॥

मद-मूर्च्छा-सन्यास की सम्प्राप्ति—जब मलिन (अपथ्य) आहार करने वाले तथा रजोगुण एवम् मोह (अज्ञान, बेहोशी) से युक्त आत्मा वाले पुरुष के वातादि दोष स्वतन्त्र रूप से या द्वन्द्वज रूप से अथवा सान्निपातिक रूप से कुपित होकर रसवाही, रक्तवाही अथवा संज्ञावाही स्रोतों की गति को रोककर आ घेरते हैं तब मद, मूर्च्छा, सन्यास ये व्याधियाँ हो जाती हैं। ये तीनों व्याधियां हेतु, लिङ्ग तथा उपशान्ति की दृष्टि से उत्तरोत्तर बलवती होती हैं, ऐसा विद्वान् चिकित्सक समझें।

वक्तव्य—'संज्ञावहानि' का अर्थ चक्रपाणि के मत में इस प्रकार है—'संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनोवहानि'। इन तीनों रोगों की चिकित्सा 'सत्वावजय' के समान होती है। इनमें मूर्च्छा का होना सामान्य लक्षण है, जिसका प्रमुख कारण है—संज्ञावहस्रोतों का अवरुद्ध हो जाना। इनको उत्तरोत्तर बलवान् कहने का तात्पर्य यह है—मद से मूर्च्छा और मूर्च्छा से सन्यास की स्थिति गम्भीर एवं चिन्ताजनक होती है।

संज्ञावहानि का जो अर्थ चक्रपाणि ने किया है उसका आशय यह है कि रजोगुण और तमोगुण ये दोनों मन के दोष हैं और जब ये विकृत या कुपित होते हैं तो इनका सीधा प्रभाव सर्वप्रथम मन पर पड़ता है। अतएव इनको मानसिक रोग कहा जाता है।

दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते। मनो विक्षोभयञ्जन्तोः संज्ञां सम्मोहयेत्तदा॥२८॥
पित्तमेवं कफश्चैवं मनो विक्षोभयन्नृणाम्। संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥२९॥

१. 'संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनोवहानि' चक्रः।

मदरोग की सामान्य सम्प्राप्ति—जब प्रकुपित वायु दुर्बल (सुकोमल) चित्त के स्थान मन या हृदय में पहुँचता है तब वह उस प्राणी के मन को झकझोरता हुआ उसकी संज्ञा (होश, चेतनता) का नाश कर देता है। इसी प्रकार दुर्बल हृदय प्रदेश में पित्त और कफ भी मनुष्यों के मन को क्षुब्ध करते हुए उनकी संज्ञा का नाश कर देते हैं। तब मदरोग की उत्पत्ति होती है। इसके विशेष लक्षणों को आगे कहेंगे।

वक्तव्य—मद शब्द का प्रयोग उन्माद (Intoxication) और मोह को (Loss of consciousness) कहते हैं। आयुर्वेद में भी मद और मोह भिन्न-भिन्न हैं। देखें—'मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा'। माधवनिदान। और 'मोह' शब्द का प्रयोग मूर्च्छा अर्थ में होता है।

चेतस् और मनस्—इन दोनों शब्दों का प्रयोग यहाँ विचार की अपेक्षा रखता है। 'चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः। अमरकोष। अमरसिंह की दृष्टि पर्यायसंग्रह के लिये प्रवृत्त थी, अतएव उन्होंने बड़ी सतर्कता से पर्यायवाची शब्दों का संग्रह किया है। तथापि हम यहाँ आयुर्वेदीय दृष्टि से विचार प्रस्तुत करते हैं—'शोणितकफप्रसादजं हृदयम्'। सु० शा० अ० ४।३१। रक्त एवं कफ के सारभाग से हृदय उत्पन्न होता है। 'हृदयं हृत्'। 'हरति रक्तम्' अथवा 'ह्रियते रक्तम् अनेन'। जो रक्त को लेता है अथवा जिससे रक्त लिया जाता है। यही 'हृत्' शब्द लैटिन भाषा में परिवर्तित होकर 'हार्ट' कहा जाता है। हृत् के अपने कार्य से वञ्चित हो जाने पर मृत्यु हो जाती है अर्थात् **'हार्टफेल'** हो जाता है, किन्तु मस्तिष्क के फेल होने पर मृत्यु नहीं होती। यह देखा गया है कि मूर्च्छा में कई घण्टों तथा अभिन्यास में कई दिनों या सप्ताहों तक मानव जीवित रहता है क्योंकि मूर्च्छा या अभिन्यास की स्थिति में हृदय की क्रियाशीलता में कोई अन्तर नहीं आता। अतः हृदय और मस्तिष्क दो अवयव हैं तथा इनके भिन्न-भिन्न स्थान हैं।

और देखिये—गर्भ-निर्माण के समय रक्त एवं कफ के प्रसाद से उत्पन्न जो हृदय होता है वह वक्षस् और फुफ्फुसों के मध्य में स्थित है। इसकी आकृति अधोमुख कमल के सदृश है या अँगूठा ऊपर को निकालकर बांधी गयी मुट्ठी के सदृश है। देखें हृदय का चित्र। हृदय में चेतना का विशेष निवास होता है, जागते समय यह विकसित होता है और सोने पर निमीलित हो जाता है। देखें—'पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति'॥ सु० शा० अ० ४।२३।

यह हृदय एक शिरामर्म है। देखें—सु० शा० अ० ६। यह रक्त को लाने और ले जाने वाली शिराओं का संयोग स्थल है। यह हृदय रक्ताशय भी है। देखें—सु० शा० अ० ५।८। क्योंकि रक्त इसमें एक क्षण के लिये आकर ठहरता है और फिर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के लिये चल पड़ता है।

हृदय के अर्थ में विद्वानों में विवाद—हृदय, हृत् (Heart) शब्द से वेण्ट्रीकल (Ventricle) निलय अर्थ भी लेते हैं। इसके अतिरिक्त हृदयकेन्द्र के लिये भी इसका प्रयोग होता है। देखें, गुल्मचिकित्सा में—'मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं नत्वत्र हृदयं स्पृशेत्'। विशेषकर चेतना का स्थान हृदय है। इसके उपघात से मूर्च्छा होती है और इसके निष्क्रिय हो जाने पर मृत्यु हो जाती है।

सक्तानल्पद्रुताभाषं चलस्खलितचेष्टितम्। विद्याद्वातमदाविष्टं रूक्षश्यावारुणाकृतिम्॥३०॥

वातज मदरोग के लक्षण—जो मनुष्य रुक-रुककर अथवा अतिशीघ्र बोलने लगे, जिसकी चेष्टायें (हाथ, आँख, मुहँ आदि की भाव-भंगिमा) अस्थिर या लड़खड़ाती हो, और जिसकी आकृति रूखी, श्याव (Dark-brown) तथा अरुणवर्ण की हो उसे वातज मदरोग से युक्त समझना चाहिये।

[1]सक्रोधपरुषाभाषं सम्प्रहारकलिप्रियम्। विद्यात् पित्तमदाविष्टं रक्तपीतासिताकृतिम्॥३१॥

पित्तज मदरोग के लक्षण—जो मनुष्य क्रोधपूर्ण कठोर वचन बोल रहा हो, मार-पीट, लड़ाई, झगड़ा करना चाहता हो और जिसकी लाल-पीली-काली आकृति हो गयी हो उसे पित्तज मदरोग से युक्त समझना चाहिये।

स्वल्पासम्बद्धवचनं [2]तन्द्रालस्यसमन्वितम्। विद्यात् कफमदाविष्टं पाण्डुं प्रध्यानतत्परम्॥३२॥

१. 'सक्रोधं परुषाभाषम्' इति पा०।
२. 'निद्रा–' ग.।

कफज मदरोग के लक्षण—जो मनुष्य थोड़ा तथा असम्बद्ध (बेतुकी) बातें करता हो, तन्द्रा तथा आलस्य से युक्त हो, जिसका पाण्डुवर्ण (Pale white) हो गया हो और ध्यान में लगा रहता हो (यह ध्यान में लगा रहना रोग का एक लक्षण मात्र है) उसे कफज मदरोग से युक्त समझना चाहिये।

सर्वाण्येतानि रूपाणि सन्निपातकृते मदे। जायते शाम्यति क्षिप्रं मदो मद्यमदाकृतिः ॥३३॥

सन्निपातज मदरोग के लक्षण—उपर्युक्त वातादि तीनों के लक्षण जब एक ही रोगी में दृष्टिगोचर होते हैं, उसको सन्निपातज मदरोग कहते हैं। इनके लक्षण मद्यपान करने से उत्पन्न मद के समान होते हैं। ये लक्षण शीघ्र उत्पन्न होकर शीघ्र शान्त भी हो जाते हैं।

यश्च [1]मद्यकृतः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः। सर्व एते मदा नर्ते वातपित्तक[2]फत्रयात् ॥३४॥

दूसरे मदरोग—जो मद्य से, विष से तथा रक्त से मदरोग होता है, ये सभी मदरोग वात, पित्त, कफ के बिना नहीं होते।

वक्तव्य—मद्य, विष तथा रक्त से होने वाले मदरोगों में अन्य मत—'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः। तस्माद् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः'। सु० उ० अ० ४६।९। पृथ्वी और जल तमोमय हैं, इसलिये रक्त की गन्ध भी तन्मय (पृथ्वी-जलमय) है। इसी कारण रक्त की गन्ध से मनुष्य जमीन पर मूर्च्छित हो जाते हैं। रक्त की गन्ध पांचभौतिक होने पर भी इसमें पृथ्वी तथा जलतत्व की प्रधानता है। रक्त की विस्र-गन्ध ही इस मूर्च्छा का कारण है।

अन्य मत—'द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति'। सु० सू० अ० ४६।१०। दूसरे आचार्यों का कथन है कि यह द्रव्य का अपना स्वभाव है, जिससे मानव मूर्च्छित हो जाता है। रक्त की गन्ध से अथवा रक्त को देखने से हीनसत्व (निर्बल मन) वालों को मूर्च्छा आ जाती है। अतएव चरक में 'सत्वतः परीक्षेत' ऐसा कहा है। देखें—चरक वि० अ० ८।१२१।

और देखें—'गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः। त एव तस्माज्जायेत मोहस्ताभ्यां यथेरितः'॥ सु० उ० अ० ४६।११। विष एवं मद्य में रूक्षादिगुण तीव्र एवं तीव्रतर भेद से ही रहते हैं। अतः विष और मद्य से मूर्च्छा उत्पन्न होती है। विष एवं मद्य के दस गुण देखें—चरक कल्पस्थान अ० २ श्लोक १९-२० तथा उनके प्रभाव वहीं श्लोक २१-२३ में देखिये।

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम्। पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥३५॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च। कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया मूर्च्छाये वातसम्भवे ॥३६॥

वातज मूर्च्छारोग के लक्षण—वातजनित मूर्च्छा रोग में रोगी बेहोश होने से पहले आकाश के वर्ण को नीला, काला या लाल देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है और शीघ्र ही जग जाता है। शरीर में कम्पन, अंगों में मरोड़ डालने की-सी पीड़ा, हृदय में पीड़ा, कृशता, श्याव तथा अरुणवर्ण की उत्पत्ति वातज मूर्च्छा में होती है।

वक्तव्य—मूर्च्छा के पहले मनोवह-स्रोतों में जब तमस् का प्रवेश होने लगता है तो उक्त वर्णों से युक्त आकाश दिखायी देता है। शरीर एवं हृदय में पीड़ा कृशता आदि लक्षण वायु के कारण उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। मूर्च्छा और मूर्च्छाय ये शब्द परस्पर समानार्थक हैं।

रक्तं हरितवर्णं वा वियत् पीतमथापि वा। पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदः प्रतिबुध्यते ॥३७॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः। सम्भिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे ॥३८॥

पित्तज मूर्च्छारोग के लक्षण—पित्तज मूर्च्छा में रोगी आकाश को लाल, हरा अथवा पीला देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर में पसीना होने पर वह जग जाता है (होश में आ जाता है)। उस समय उसको प्यास लगती है और शरीर में तापमान बढ़ा रहता है। उसकी आँखें लाल, पीली तथा व्याकुल दिखायी देती हैं। उसको अतिसार होने लगता है। पित्तज मूर्च्छा में सम्पूर्ण शरीर पीताभ हो जाता है।

१. 'मद्यमदः' इति पा०।
२. 'कफाश्रयात्' ग.।

मेघसङ्काशमाकाशमावृतं वा [1]तमोघनैः। पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥३९॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा। सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसम्भवे ॥४०॥

कफज मूर्च्छारोग के लक्षण—कफज मूर्च्छा में रोगी आकाश को बादलों से अथवा गहरे अन्धकार से घिरा देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है और बड़ी देर में जगता (होश में आता) है। वह मोटे तोशकों, गद्दों से ढका हुआ-सा अनुभव करता है, मानो जैसे उसको किसी ने गीला चमड़ा ओढ़ा दिया हो। जागने पर उसके मुख से लार निकलती रहना और जी मिचलाना—ये लक्षण कफज मूर्च्छा रोग में होते हैं।

वक्तव्य—आकाश को अन्धकार से घिरा हुआ-सा देखना, देर से होश में आना, गीले चमड़े से ओढ़े रहने का-सा अनुभव, लार का निकलना और जी मिचलाना ये सब कफ के प्रधान लक्षण हैं। इसी प्रकार पित्तज में पित्त के और वातज में वायु के लक्षणों पर भी ध्यान दें।

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः। स जन्तुं पातयत्याशु विना [2]बीभत्सचेष्टितैः ॥४१॥

सन्निपातज मूर्च्छा रोग के लक्षण—सन्निपात (तीनों दोषों के मिश्रण) से होने वाली मूर्च्छा में तीनों दोषों के लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसमें किसी प्रकार की अप्रिय चेष्टाओं के बिना अपस्मार (मृगी) के समान आयी हुई यह मूर्च्छा रोगी को शीघ्र ही धराशायी कर देती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने इनके अतिरिक्त तीन मूर्च्छायें (१. रक्तज, २. विषज और ३. मद्यज) और स्वीकार की हैं, जिनका वर्णन सु० उ० अ० ४६ श्लोक १० से १३ तक में किया है। इनको यथास्थान देखें। आज आपरेशन काल में रोगी पर जो क्लोरोफार्म का प्रयोग किया जाता है, वह विषज मूर्च्छा का प्रत्यक्ष रूप है। रक्त को देखकर मूर्च्छित होने की चर्चा इसी प्रकरण में ऊपर की जा चुकी है और मद्यज (मद्यपान-जनित) मूर्च्छा उसके दुरुपयोग का परिणाम है, नहीं तो मात्रा से सेवन करने पर तो वह स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक परिवारों में मद्य का सेवन औषध के रूप में नित्य प्रति होता है, जो लाभ करता है न कि हानि।

बीभत्स चेष्टाएँ—अंगों को नचाना, मुख, हाथ तथा अंगों की विकृत चेष्टायें। जैसे—नाखूनों से नोच-लेना, दाँतों से काट लेना आदि-आदि।

आधुनिक चिकित्सा की दृष्टि से मूर्च्छा (Syncope) के अनेक भेद हैं। जैसे—१. अनॉक्सी मूर्च्छा, २. विमानन-मूर्च्छा, ३. हृद्मूर्च्छा, ४. केरोटिकसाइनस-मूर्च्छा, ५. मूत्रण-मूर्च्छा, ६. स्थितिज-मूर्च्छा, ७. मनो-जन्य-मूर्छा, ८. कासमूर्च्छा, ९. ग्राहिकादावहासज-मूर्च्छा और १०. वाहिकावागसी-मूर्च्छा। इनकी चिकित्सा के अपने-अपने प्रकार हैं।

दोषेषु मदमूर्च्छायाः [3]कृतवेगेषु देहिनाम्। स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥४२॥

मद-मूर्च्छा में सन्यासरोग की विशेषता—शरीरधारियों में मद तथा मूर्च्छा के दोषों के वेग जब पूरे हो जाते हैं तो उक्त रोगों के लक्षण स्वयं शान्त हो जाते हैं, किन्तु सन्यास रोग में ठीक-ठीक औषधोपचार के बिना स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता।

वक्तव्य—'स्वयमेवोपशाम्यन्ति' का सम्बन्ध दोषों अथवा दोषज लक्षणों के साथ करना चाहिये। अन्यथा मदमूर्च्छा से सम्बन्ध जोड़ने पर 'उपशाम्यन्ति' के स्थान पर 'उपशाम्यतः' पाठ करना पड़ेगा।

कृतवेगेषु—जो दोष अपनी ताकत लगा चुके हैं अर्थात् जिनका बल इस समय क्षीण हो चुका है; मद-मूर्च्छा आदि रोगों में बेहोशी की एक लहर-सी आती है और कुछ समय तक रहकर वह स्वयं शान्त हो जाती है, यही 'कृतवेगेषु' का अभिप्राय है। जहाँ **'हृतवेगेषु'** पाठ है, वहाँ भी वेगों का हरण हो जाने पर यह अर्थ होगा, तात्पर्य दोनों का समान है।

सन्यासो नौषधैर्विना—सन्यास रोग की यदि तत्काल फल देनेवाली तीक्ष्ण नस्य और तीक्ष्ण अञ्जन

१. 'तमोघनैरिति तमोभिर्घनैश्च' चक्रः।
२. 'विना बीभत्सचेष्टितैरिति दन्तखादनाङ्गविक्षेपणादिकं विना' चक्रः।
३. 'कृतवेगेष्विति वेगं कृत्वा क्षीणबलेषु, वेगो हि दोषाणां बलक्षयकारणं भवति, यदुक्तं विषमज्वरे 'कृत्वा वेगं गतबला' इत्यादि' चक्रः। 'हृतवेगेषु' इति पा०।

आदि चिकित्सा न की जाय या न हो सके तो मृत्यु हो जाती है। जैसे मगर आदि हिंसक जन्तुओं वाले तटरहित जलप्रवाह में डूबते हुए मानव को शीघ्र ही निकालना चाहिये वैसे ही सन्यास नामक रोग में डूबते मानव को तत्काल फल देनेवाली चिकित्सा द्वारा शीघ्र ही निकालना (बचाना) चाहिये। यदि ऐसा न किया गया तो मृत्यु होना निश्चित है।

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः। संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं [1]प्राणायतनसंश्रिताः ॥४३॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः। प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं [2]मुक्त्वा सद्यः फलाः क्रियाः ॥

सन्यास रोग की सम्प्राप्ति—प्राणायतनों (हृदय, मस्तिष्क आदि) में आश्रय लेकर स्थित अत्यन्त बलवान् वातादि दोष वाणी, देह और मन की सभी चेष्टाओं को नष्टकर उस निर्बल पुरुष को सन्यास रोग से पीड़ित कर देते हैं। वह पुरुष सन्यास रोग के कारण संज्ञाहीन होकर सूखे काष्ठ के समान मरा हुआ जैसा भूमि पर पड़ जाता है। यदि इसके लिये सद्यःफलाक्रियां (शीघ्र लाभकारी चिकित्सा) न की जाय तो शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—जिस प्रकार सन्यासी घर, द्वार, स्त्री, पुत्र, धन आदि के बन्धनों को छोड़कर चतुर्थ आश्रम का सेवन करता है अर्थात् अपने देह की भी परवाह नहीं करता वैसा ही यह सन्यास रोग भी है। इसके पास में स्थित किसी का उसको ज्ञान नहीं रहता यहाँ तक कि उसका शरीर 'काष्ठीभूत' लकड़ी न होने पर भी लकड़ी के समान (जो इधर-उधर मोड़ा नहीं जा सकता ऐसा) हो जाता है।

प्राणायतनसंश्रिताः—'रक्तं जीव इति स्थितिः' के अनुसार रक्त धातु, हृदय तथा मस्तिष्क यह 'प्राणायतन' के ये ही अंग हैं जहाँ इस रोग का पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। प्रारम्भिक स्थिति में यह 'मृतोपमः' मरे के सदृश होता है और 'सद्यः फलाः क्रिया मुक्त्वा' तत्काल फल (लाभ) कारक चिकित्सा (तीक्ष्ण नस्य अथवा तीक्ष्ण अञ्जन) के प्रयोग बिना वह मर ही जाता है।

यह सन्यास रोग स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त आनुषंगिक भी देखा जाता है। जैसे—किसी प्रकार से भी होने वाले रक्तविकारों—१. रक्तप्रदर, २. गर्भपात, ३. रक्तपित्त, ४. मस्तिष्कज-रक्तार्बुद, ५. रक्तचाप की अधिकता आदि में। अतः इनका चिकित्साकाल में भी ध्यान दें।

दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद्भाजनं त्वरया बुधः। गृह्णीयात्तलमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम् ॥४५॥

सन्यास रोग की चिकित्सा में सावधानी—जिस प्रकार गहरे पानी में डूबते हुए जलपात्र को नीचे पहुँचने के पूर्व ही यदि रोक लिया जाय तो उसकी सुरक्षा हो जाती है और यदि वह डूब गया तो फिर निकाला नहीं जा सकता, ठीक उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होने से पहले सन्यास रोगी की चिकित्सा कर लेनी चाहिये।

अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे ॥४६॥
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च। आत्मगुप्तावघर्षश्च हितं तस्यावबोधने ॥४७॥

सन्यास रोग में शीघ्र प्रभावकारी चिकित्सा (Emergency Treatment)—तीक्ष्ण अञ्जन, अवपीडन (ओषधियों का रस निचोड़ कर नाक में डालना), धूम, प्रधमन (नस्य आदि का प्रयोग), शरीर में सुई चुभाना, दाह, नखों के मध्य में सुई से पीड़ा पहुँचाना, केश या लोमों को नोचना, दांतों से काटना, किवाँच की भूसी को शरीर में लगा देना—ये कर्म सन्यास के रोगी को होश में लाने के लिये हितकर होते हैं।

वक्तव्य—सन्यास रोग से पीड़ित पुरुष को चेतनता दिलाने के लिये उक्त तात्कालिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है। यह सब कुशल चिकित्सक की देख-रेख में होना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि उपर्युक्त सभी कर्म एक साथ करा दिये जाँय जिससे बचने वाला रोगी भी मर जाय। उक्त प्रकार के क्रमिक अथवा अवसरोचित प्रयोगों से रोगी शीघ्र ही चेतन हो उठता है, तदनन्तर अन्य चिकित्सा करनी चाहिये।

वाग्भट ने अ० हृ० चि० अ० ७ में चरकोक्त उपायों के अतिरिक्त एक वृश्चिकदंशन (बिच्छू से कटवाना)

१. 'प्राणायतनं हृदयम्' चक्रः।
२. 'मुक्त्वेति अप्राप्य' चक्रः।

उपाय भी लिखा है। इन तीक्ष्ण नस्य आदि उपायों से जो कष्ट होता है उससे रोगी को तत्काल संज्ञा लाभ हो जाता है।

अवपीड तथा प्रधमन नस्य—औषध का कल्क बनाकर उसका रस निकाल लिया जाता है। इस रस की नस्य का नाम '**अवपीड**' है। स्मरण रहे कि यह रस तीक्ष्ण या कटु (त्रिकटु या कट्फल) द्रव्यों का हो। और तीक्ष्ण द्रव्यों का चूर्ण एक कोल (५ ग्राम) लेकर ६ अंगुल लम्बी तथा दोनों ओर मुख वाली नलिका में डालकर नाक में डालें और दूसरी ओर से मुख से फूँक दें, इसको '**प्रधमन**' नस्य कहते हैं। इसकी विशेष विधि सु० चि० अ० ४० श्लोक ४६ में देखें।

धूमाः—नाक में धुआँ देना जिससे रोगी को छींक आ जाय और छींक द्वारा कफ निकल कर रोगी की बेहोशी दूर हो जाये। इसके स्थान पर आजकल अमोनिया (Ammonia) गैस सुंघायी जाती है, यह अत्यन्त तीक्ष्ण नस्य है।

सूचीभिस्तोदनं शस्तम्—सुइयों से चुभाना लाभदायक होता है। यह शरीर के किसी भी अंग में हो सकता है, किन्तु वाग्भट का स्पष्ट मत है कि नखों के मध्यभाग में ही सुइयाँ चुभायी जानी चाहिये। देखें—अ० हृ० चि० अ० ७।११०।

आत्मगुप्तावघर्षः—किवाँच से फलों की खीर वीर्यवर्धक होती है। यहाँ किवाँच के फल से तात्पर्य नहीं है अपितु उसके रोयें घिसने या लगाने चाहिये, इनसे अत्यन्त कष्टदायक खुजली होने लगती है।

सम्मूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च। प्रभूतकटुयुक्तानि तस्यास्ये [1]गालयेन्मुहुः ॥४८॥
मातुलुङ्गरसं तद्वन्महौषधसमायुतम्। तद्वत् सौवर्चलं दद्याद् युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः ॥४९॥
हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत् संज्ञाप्रबोधनम्। प्रबुद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥५०॥

अन्य उपाय—अनेक प्रकार के तीक्ष्णमद्यों को एक में मिलाकर पर्याप्त मात्रा में कटु (सोंठ, मरिच पीपल आदि) द्रव्यों को उसमें डालकर बार-बार उसके मुख में डालें, उसी प्रकार बिजौरा नीबू के रस (यह अत्यन्त खट्टा होता है) में सोंठ का चूर्ण मिलाकर दें। उसी प्रकार मद्य और खट्टी कांजी में सोंचरनमक (Sachal Salt), हींग, सोंठ, मरिच, पीपल मिलाकर दें, इन उपायों का प्रयोग तब तक करते रहें जब तक रोगी होश में न आ जाय। होश में आने पर हलके भोज्य पदार्थों से उसकी सेवा (चिकित्सा) करे।

वक्तव्य—सम्मूर्च्छितानि=सम्मिश्रितानि—अर्थात् मिलाये हुए। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु।

विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च। पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैश्चित्रैश्च दर्शनैः ॥५१॥
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवलग्रहैः। शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्घर्षणैस्तथा ॥५२॥
प्रबुद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपक्रमेत्। [2]तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयहेतुतः ॥५३॥

अन्य उपाय—आश्चर्य में डाल देने वाली, मधुर याद दिलाने वाली कानों को अच्छी लगनेवाली, चर्चाओं से, सुन्दर (मनोरम) गाना, बजाना तथा विचित्र वस्तुओं के सुनने तथा देखने से, तीक्ष्ण विरेचन, धूमों तथा अञ्जनों के सेवन से, कवलग्रहों से, रक्तमोक्षण से, व्यायाम से, उद्घर्षण क्रिया (मालिश किये बिना उबटन करने) से होश में आये हुए रोगी के अवशिष्ट लक्षणों की चिकित्सा करता रहे। यह ध्यान रहे कि कहीं फिर वह बेहोश न हो जाय, अतः उसके जो मूर्च्छा के कारण थे उन सबसे उसके मन की रक्षा करे।

वक्तव्य—'अञ्जनान्यवपीडाश्च' से लेकर 'संज्ञाप्रबोधनम्' ५० वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक सन्यास रोग से पीड़ित रोगी को होश में लाने के उपाय हैं, तदनन्तर 'प्रबुद्धसंज्ञम्' से लेकर 'मनः प्रलयहेतुतः' ५३ वें श्लोक तक होश में आये हुए संन्यास रोगी के प्रति परिचारक तथा चिकित्सक सावधानी का व्यवहार करें। यह तन्त्रकार का स्थायी निर्देश है। अन्यथा 'काष्ठीभूत' अथवा 'मृतोपम' व्यक्ति को स्रंसन, उल्लेखन, कवलग्रह एवम् व्यायाम के प्रति कैसे प्रवृत्त कराया जा सकता है? विद्वान् पाठक विचार करें।

विस्मापन आदि क्रियाओं का जो ऊपर उल्लेख किया गया है, यह केवल उसकी मानसिक स्थिति को

१. 'गालयेदिति यत्नेन मुखे प्रक्षिपेत्' चक्रः।
२. 'ततः स रक्षितव्यो हि मनःप्रलयहेतुतः' ग.।

सन्तुलित रखने के लिये, न कि ये इस रोग को दूर करने के स्थायी उपाय हैं। इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य है—सु० उ० अ० ४६ श्लोक २० से २४ तक।

स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम्। पञ्च कर्माणि कुर्वीत मूर्च्छायेषु मदेषु च ॥५४॥

मद-मूर्च्छा में पञ्चकर्म चिकित्सा—मद तथा मूर्च्छा के रोगियों को स्नेहन एवम् स्वेदन कराने के पश्चात् उनके शारीरिक एवम् मानसिक बल की स्थिति का विचार कर पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन) कराना चाहिये।

[1]अष्टाविंशत्यौषधस्य तथा तिक्तस्य सर्पिषः। प्रयोगः शस्यते तद्वन्महतः षट्पलस्य वा ॥५५॥
त्रिफलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः। शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा ॥५६॥
पिप्पलीनां प्रयोगो वा पयसा चित्रकस्य वा। रसायनानां [2]कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥५७॥
रक्तावसेकाच्छास्त्राणां सतां सत्त्ववतामपि। सेवनान्मदमूर्च्छायाः प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥५८॥

अन्य औषधोपचार—अट्ठाईस औषध द्रव्यों वाला (च० चि० अ० ९ श्लोक ३३-४१ **कुमारकल्याण** अथवा इसी का नाम **पानीयकल्याणक**) घृत तथा **तिक्तघृत** (च० चि० अ० ७ श्लोक १४०-१४३ **तिक्तषट्पलघृत**) अथवा **महातिक्तघृत** (च० चि० अ० ७ श्लोक १४४-१५०) अथवा घी, शहद, चीनी के साथ त्रिफला का प्रयोग, शिलाजीत का प्रयोग अथवा दूध का प्रयोग, दूध के साथ पिप्पली का प्रयोग, दूध के साथ चित्रक का प्रयोग, रसायनों का प्रयोग अथवा दस वर्ष पुराने घी का प्रयोग मद-मूर्च्छा के रोगियों के लिये हितकारक होता है। इन रोगों में रक्तमोक्षण से भी लाभ होता है और शास्त्रों के श्रवण, मनन से, सज्जनों एवम् सत्वगुणविशिष्ट पुरुषों की सेवा, सहवास से भी मनुष्यों के उक्त रोग शान्त होते हैं।

वक्तव्य—मद-मूर्च्छा ये दोनों ही मानसिक रोग हैं। इनमें सत्वगुणविशिष्ट घृतों के सेवन का आदेश दिया गया है। दूसरा कारण यह है कि ये दोनों ही रक्तज व्याधियाँ हैं, इनमें भी घृत सेवन का विशेष महत्व है। आगे दूध, घी, चीनी आदि के साथ त्रिफला आदि का विधान भी उसी दृष्टिकोण की पुष्टि करता है। तदनन्तर कौम्भघृत के सेवन का विधान है। इसके पश्चात् मानसिक रोगों की चिकित्सा में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का भी संकेत किया है।

कुम्भसर्पिः—पुराना घी किन-किन रोगों में लाभप्रद होता है, इस सम्बन्ध में सुश्रुतसंहिता देखें—'पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत्। मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादमहापस्मारनाशनम्'॥ सु० सू० अ० ४५।१०८। इसके आगे भी देखें—'एकादशशतं चैव वत्सरानुषितं घृतम्। रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम्'॥ सु० सू० अ० ४५।१०९। एक सौ साल तक रखा हुआ घी राक्षसों के भय को नाश करता है। इसके आगे (१११ साल के आगे) वह महाघृत हो जाता है। इसी को 'कुम्भसर्पि' कहते हैं। कुछ आचार्यों के मत से १०० साल का पुराना घी ही 'कुम्भसर्पि' हैं। अस्तु।

एक साल के बाद से घी पुराना कहा जाने लगता है। वह सामान्य रूप से भोजन व्यवहार से वंचित हो जाता है, फलतः औषधोपयोगी हो जाता है। यह क्रमशः पुराना होता जाता है या कहा जाने लगता है। सचमुच यह जितना पुराना होता है उतना ही अच्छा होता है। पुराना होने पर इसका स्वरूप बदल जाता है यह पीला मोम जैसा या मोम तेल मिलायी हुई मलहम-सा दिखायी देने लगता है। इसका प्रयोग सन्निपात में, शिरःशूल में, श्वास रोग में लगाया या मला जाता है। अपस्मार, मूर्च्छा आदि में ५-१० रत्ती औषध द्रव्यों के साथ चटाया भी जाता है।

ऊपर त्रिफला, शिलाजतु आदि का जो दूध के साथ प्रयोग बतलाया गया है। वह निम्न प्रकार से निर्दिष्ट है—'सिद्धानि वर्गे मधुरे पयांसि, सदाडिमा जाङ्गलजा रसाश्च। तथा यवालोहितशालयश्च, मूर्च्छासु पथ्याश्च सदा सतीनाः'॥ सु० उ० अ० ४६।१६।

---

१. 'अष्टाविंशत्यौषधस्येति पानीयकल्याणस्य' चक्रः।
२. 'कौम्भस्य दशाब्दिकस्य' चक्रः।

तत्र श्लोकौ—

विशुद्धं चाविशुद्धं च शोणितं तस्य हेतवः। रक्तप्रदोषजा रोगास्तेषु रोगेषु चौषधम् ॥५९॥
मदमूर्च्छायसंन्यासहेतुलक्षणभेषजम्। विधिशोणितकेऽध्याये सर्वमेतत् प्रकाशितम् ॥६०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के
विधिशोणितीयो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—शुद्ध रक्त, अशुद्धरक्त, इन दोनों के कारण, रक्त के दूषित होने तथा उससे उत्पन्न होने वाले रोग, उन रोगों को दूर करने के लिये प्रयुक्त होने वाले औषध द्रव्य, मद, मूर्च्छा और सन्यास रोगों के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा—इन सभी विषयों का इस विधिशोणितक (विधिशोणितीय) नामक अध्याय में वर्णन किया गया है।

इति श्रीवैद्यरत्न पण्डित **तारादत्तत्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेषवक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में 'विधिशोणितीय' नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातो यज्जःपुरुषीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

योजनाचतुष्क के अन्तर्गत 'विधिशोणितीय' नामक अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अब हम 'यज्जःपुरुषीय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—उक्त अध्याय के नामकरण का स्पष्टीकरण—'योजनाचतुष्क' नामक २२वें अध्याय में जो लंघन, बृंहण आदि चिकित्सा के ६ प्रकारों का वर्णन किया गया था, वे सभी अन्नपान के माध्यम से ही रोगों को शान्त करने में समर्थ होते हैं। यह उसी से सम्बन्धित अध्याय है। ऐसा चक्रपाणि का मत है। सामान्यतया 'यज्जः पुरुषः' (पुरुषः यस्मात् जातः) इस विषय का विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्वसुम्। [1]समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा ॥ ३ ॥
आत्मेन्द्रियमनोर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः। राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ ४ ॥

पुरुषोत्पत्ति एवम् उसके रोगोत्पत्ति सम्बन्धी सम्भाषा परिषद
(Symposium on origin of man and his Disease)

सम्भाषा परिषद् का लक्ष्य—प्राचीन काल में सुदृढ़ प्रमाणों से धर्म का जिन्होंने प्रत्यक्षीकरण कर लिया था ऐसे भगवान् (आयुर्वेदज्ञों में अवतारस्वरूप) पुनर्वसु के पास एकत्रित महर्षियों में आपस में यह चर्चा छिड़ी कि आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा उनके अर्थों (रूपादि विषयों) का जो यह पुरुष रूपी राशि (समूह) है, इसकी और इसके रोगों की सर्वप्रथम उत्पत्ति कैसे हुई ?

वक्तव्य—शास्त्रीय विषयों का निर्णय करने के लिये जिस प्रकार आज विद्वानों (उस-उस विषय के

---

१. 'उपासताम्' ग.; 'महर्षय उपासीनाः प्रादुश्चक्रुरिमां कथाम्' इति पा०।

विशेषज्ञों) की सभायें या सेमिनार आयोजित किये जाते हैं, इसी का यह प्राचीन स्वरूप रहा है। चरक सू० प्रथम अध्याय में भी पुरुष को चिकित्सा का अधिकरण बतलाते हुए विचार किया गया था। यहाँ पर पुरुष को 'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां, राशिः' विशेषण दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि इन्द्रियों का मन के साथ और मन का आत्मा के साथ स्थिर सम्बन्ध है तथा इन सबका सम्मिलित रूप ही पुरुष है। आज की इस सभा का विषय है—ऐसे पुरुष की तथा उसके रोगों की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसी पर आगे विचार किया जायगा। यद्यपि आयुर्वेद की रचना प्रजा की उत्पत्ति के पूर्व ही ब्रह्मा ने कर डाली थी, फिर भी समसामयिक विचारों के लिये महर्षियों की जो सभाएँ हुआ करती थीं, उसी प्रकार की एक सभा यह भी थी।

इस प्रकार की परिषदों का प्राचीन काल में पर्याप्त प्रचलन था। इससे वे किसी निश्चित विषय के निर्णय पर पहुँच जाया करते थे। देखें—बृहदारण्यक उपनिषद् ६-२-१-३-१-१। न्यायसूत्र में भी ऐसी परिषदों की चर्चा आती है। पाणिनि के समय की सम्भाषापरिषदों के स्वरूप इस प्रकार थे—१. शिक्षा सम्बन्धी, २. समाज गोष्ठी सम्बन्धी तथा ३. राजशासन सम्बन्धी। देखें—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० २९१।

यहाँ जो तद्विध सम्भाषापरिषद् (Seminars & Symposia of Experts) हुई थी उसमें काशिपति वामक, पारीक्षि, मौद्गल्य, शरलोमा, वार्योविद, हिरण्याक्ष, कौशिक, भद्रकाप्य, भरद्वाज, कांकायन और भिक्षु आत्रेय ये महर्षि सम्मिलित हुए थे।

[1]तदन्तरं काशिपतिर्वामको वाक्यमर्थवित्। व्याजहारर्षिसमितिम्[2]उपसृत्याभिवाद्य च ॥ ५ ॥
किन्नु भोः[3] पुरुषो यजस्त[4]ज्जास्तस्यामयाः स्मृताः। न वेत्युक्ते नरेन्द्रेण प्रोवाचर्षीन् पुनर्वसुः ॥६॥
सर्वं एवाभितज्ञानविज्ञानच्छिन्नसंशयाः। भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति काशिराजस्य संशयम् ॥ ७ ॥

काशिपति वामक का प्रश्न—पुरुष तथा रोगोत्पत्ति का प्रारम्भिक इतिहास जानने की इच्छा से महर्षियों के एकत्रित होने के पश्चात् अर्थ (विषय) को जानने वाले काशिपति वामक ने ऋषियों की सभा में जाकर और उनको प्रणाम करके पूछा—जिससे पुरुष की उत्पत्ति होती है क्या उसी से उसके रोग भी उत्पन्न होते हैं ? या नहीं ?। राजा काशिपति के ऐसा कहने पर पुनर्वसु ने ऋषियों से कहा—अपारज्ञान विज्ञान से जिनके सभी सन्देह समाप्त हो गये हैं ऐसे आप लोग काशिराज के संशय को दूर करने में समर्थ हैं।

वक्तव्य—'मोक्षफलिका धीः ज्ञानम्'। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त कराने वाली बुद्धि को 'ज्ञान' कहते हैं और 'विज्ञान' शिल्पे शास्त्रे च या धीः सा विज्ञानम्। शिल्प तथा शास्त्र (चिकित्सा आदि शास्त्र) विषयक बुद्धि को विज्ञान कहते हैं। इस सम्भाषा परिषद् में सम्मिलित महर्षि अपार ज्ञान और विज्ञान के निधि थे अत एव इनको इस लोक तथा परलोक के समस्त विषयों में कहीं कोई सन्देह नहीं रह गया था। इसलिये पुनर्वसु ने इनसे काशिपति के सन्देह को दूर करने की प्रार्थना की। क्योंकि दूसरे के सन्देह को वही दूर कर सकता है जिसको स्वयं किसी विषय में भ्रान्ति न हो।

पुरुष धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधक है। यह चतुर्वर्ग पुरुष जीवन का साध्य विषय है, इस बीच में अन्तराय (विघ्न) रूप अनारोग्य उपस्थित हो जाता है। अतः मानव नीरोग रहकर अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सके, यही इस परिषद् में उपस्थित ज्ञान-विज्ञान निधि महर्षियों का मूल उद्देश्य था।

पारीक्षिस्तत् परीक्ष्याग्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत्।
आत्मजः पुरुषो रोगाश्चात्मजाः कारणं हि सः ॥ ८ ॥
स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च। नह्यृते चेतनाधातोः[5] प्रवृत्तिः [6]सुखदुःखयोः ॥ ९ ॥

१. 'अथ काशिपतिर्वाक्यं वामकोऽर्थवदन्तरा' इति पा०।
२. 'मभिष्द्रुत्या' ग.।
३. 'स्यात्' इति पा०।
४. 'तत एव पुरुषजनकात् कारणाज्जातास्तज्जाः' चक्रः।
५. 'चेतनाधातुरात्मा' चक्रः।
६. 'सुखदुःखयोरारोग्यरोगयोः' शिवदासः।

मौद्गल्य पारीक्षि का मत—महर्षि पुनर्वसु की प्रार्थना को सुनकर और काशिपति के वचनों की परीक्षा करके मुद्गल गोत्र में उत्पन्न पारीक्षि ने ये वचन कहे—पुरुष आत्मज होता है और रोग भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। पुरुष तथा रोग इन दोनों का ही कारण आत्मा है। वह आत्मा कर्म का चयन करता है और अपने कर्मों (सुकृत-दुष्कृत) के फलों को भोगता है। अतः चेतना धातु (आत्मा) के विना सुख और दुःख की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

वक्तव्य—आत्मा के स्वातन्त्र्य का उल्लेख अन्यत्र धर्मशास्त्रों में उपलब्ध होता है। यही आधारशिला है मौद्गल्य पारीक्षि के सिद्धान्त की। यथा—'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते'। आयुर्वेद का एक यह सिद्धान्त भी प्रसिद्ध है—'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च'। अर्थात् सुख का नाम आरोग्य और दुःख का नाम विकार (रोग) है। इस सम्बन्ध में महर्षि आत्रेय का अपना विचार चरक शारीरस्थान के कतिधापुरुषीय नामक प्रथम अध्याय में देखें।

शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्माऽऽत्मानमात्मना। योजयेद् व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन ॥१०॥
रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्। शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम् ॥११॥

शरलोमा का मत—उपर्युक्त पारीक्षि के उत्तर से असन्तुष्ट शरलोमा ने कहा कि, पूर्ववक्ता का कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि आत्मा दुःख के साथ द्वेष करता है, अतः वह (आत्मा) अपने को रोग रूपी दुःखों से कभी भी युक्त नहीं कर सकता। तब वह अपने मत को उपस्थित करता है—जब सत्वसंज्ञक मन रज और तम से घिर जाता है तब वह शरीर तथा विकारों (रोगों) की उत्पत्ति में कारण होता है।

वक्तव्य—शरलोमा ने आत्मा को सुख-दुःख का हेतु स्वीकार न करके रज और तम से घिरे हुए मन को शरीर और रोगों की उत्पत्ति का कारण बताया। गीता में श्रीकृष्ण ने भी मन को बन्ध और मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। अन्यत्र भी देखें—'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः'। पारीक्षि ने आत्मा की जैसी स्वतन्त्रता दिखलायी है, व्यवहार में वैसी पायी नहीं जाती। सचमुच यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो स्वतन्त्र व्यक्ति अपने को अच्छी से अच्छी परिस्थिति में रखना और देखना चाहता है। समस्त चर जगत् आत्मावान् है, उसमें अधिकांश विपन्न स्थिति में है। अतः शरलोमा का तर्क उनकी दृष्टि से युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

वार्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं [1]मनः। नर्ते शरीराच्छारीररोगा[2] न मनसः स्थितिः ॥१२॥
रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः। आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः ॥१३॥

वार्योविद् का मत—इन्होंने अपने वक्तव्य से महर्षि शरलोमा का प्रतिवाद निम्न शब्दों द्वारा किया—आपका यह कथन समीचीन नहीं है। एक (अकेला) मन शरीर की तथा रोगों की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर के अभाव में न शारीरिक रोगों को स्थान मिलेगा और न मन की ही स्थिति हो पायेगी। अतः अनेक प्रकार की व्याधियाँ और सभी प्रकार के प्राणी रस से उत्पन्न होते हैं। जल रसवान् होता है, वही (रोगों तथा प्राणियों की) उत्पत्ति में कारण होता है।

वक्तव्य—वार्योविद् ने शरलोमा के मत (मन ही पुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति में कारण है) का खण्डन करके अपना मत दिया है—'रसजानि च भूतानि व्याधयश्च' सभी प्राणी तथा व्याधियाँ रस से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि व्याधियों की स्थिति शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार की होती है। यदि मन को ही कारण स्वीकार कर लिया जाय तो शारीरिक रोगों का उस स्थिति में सर्वथा अभाव हो जायगा; जो आयुर्वेदिक सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। इस सम्बन्ध में चक्रपाणि का मत देखें—'रसजानीत्यादौ स्मृता निर्वृत्तिहेतवः, इति व्याधिपुरुषयोः। एतेन व्याधिपुरुषजनकरसकारणत्वेनापः कार्यकारणतया पुरुषविकारयोः कारणं भवन्ति', चक्रः।

वास्तव में सप्तधातुओं में 'रस' धातु का महत्वपूर्ण स्थान है, अतएव उसको सर्वप्रथम गिना गया है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १।१३। रस के परिपाक से ही रक्त आदि शुक्र पर्यन्त धातुओं की संरचना होना सुविदित है, और रस को 'आप्य' तृप्त करने वाला लोक तथा शास्त्र में स्वीकार किया गया है।

१. 'न ह्येकं कारणं मन इति व्याधिमात्रं प्रतीति शेषः' शिवदासः।
२. 'शरीराच्छारीररोगाणाम्' ग.।

हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः ।
नातीन्द्रियं[1] मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥ १४ ॥
[2]षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा । राशिः षड्धातुजो ह्येष साङ्ख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः[3] ॥

हिरण्याक्ष का मत—वार्योविद् के वचनों का प्रतिवाद करते हुए हिरण्याक्ष ने कहा कि आपका कथन युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा को रस से उत्पन्न स्वीकार नहीं किया जासकता और मन भी अतीन्द्रिय (चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता) है, अतः उस (मन) की उत्पत्ति भी रस से स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि रस से आत्मा और मन की सृष्टि होती तो ये दोनों रस की भांति ही दृष्टिगोचर होते, न कि अतीन्द्रिय। क्योंकि **'कारणानुरूपं कार्यम्'** कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। अब रह गयी रोगों की बात—असात्म्य (अप्रिय, प्रतिकूल) शब्द आदि से भी विकारों की उत्पत्ति होती है। अतः प्राचीन कपिल आदि आचार्यों ने षड्धातुओं से पुरुष की उत्पत्ति और रोगों की भी उत्पत्ति षड्धातुज मानी है। यह राशि-पुरुष आयुर्वेद तथा सांख्यमतानुयायियों के मत से 'षड्धातुज' है।

वक्तव्य—हिरण्याक्ष के मत की चर्चा चरक शा० अ० १।१६ में इस प्रकार प्राप्त होती है। यथा—'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'। और भगवान् धन्वन्तरि ने उक्त विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—'यतोऽभिहितं—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' इति। 'स एष पुरुषश्चिकित्साधिकृतः'। सु० शा० अ० १।१६। इस प्रकार के प्रमाणसमुच्चय से हिरण्याक्ष के मत को समर्थन प्राप्त होता है।

तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह तन्नेति कौशिकः[4] । [5]कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥
पुरुषः पुरुषाद्गौर्गोरश्वादश्वः प्रजायते[6] । पित्र्या मेहादयश्चोक्ता[7] रोगास्तावत्र कारणम् ॥१७॥

कौशिक का मत—पुरुष और रोग षड्धातुज होते हैं, इस मत का प्रतिपादन करते हुए कुशिक (हिरण्याक्ष) का प्रतिवाद करते हुए कौशिक ने कहा—आपका मत तर्कसंगत नहीं है। माता-पिता की सत्ता के बिना षड्धातुज पुरुष की उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि पुरुष (स्त्री-पुरुष) से पुरुष (स्त्री-पुरुष) की उत्पत्ति होती है, गाय से गाय की, घोड़ा से घोड़ा की उत्पत्ति होती है। पिता से मेह आदि रोगों का संक्रमण पुत्र में होता है। अतः वे दोनों (माता-पिता) पुरुष तथा रोग की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

वक्तव्य—'कुशिकं कौशिकः आह', इस पद्यांश में व्याकरण की दृष्टि से भ्रम उत्पन्न होता है। क्योंकि—'कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान् कौशिकः', इस प्रकार का विग्रह करने से कुशिक के वंशज कौशिक के होने का सन्देह उपस्थित होता है। अन्य व्याख्याकारों ने जो **कुशिक** का अर्थ **हिरण्याक्ष** किया है, उसमें प्रकरणोचित अर्थ लगाना ही कारण समझ में आता है। अन्यथा देखें—'साङ्कृत्यो वैजवापिश्च **कुशिको** बादरायणः'। और 'शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लोकाक्षः पैङ्गिरेव च'। चरक सू० अ० १ श्लोक क्रमशः ११ तथा १२। यदि हिरण्याक्ष और कुशिक एक ही होते तो यहाँ ११ वें श्लोक में **कुशिक** मुनि और १२ वें श्लोक में **हिरण्याक्ष** के नाम की चर्चा करना ही व्यर्थ था। इससे लगता है कि यह प्रसंग विचारणीय है। दूसरा कारण यह भी है कि 'कुशिकमाह' यह अंश छन्द की दृष्टि से भी आपत्तिजनक है। क्योंकि 'श्लोके षष्ठं गुरु, सप्तमं दीर्घम्', ये दोनों ही लक्षण यहाँ नहीं हैं, न श्रव्यता ही निरापद है। अतः उक्त पाठ सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

---

१. 'यस्मादतीन्द्रियं मन आत्मा चातीन्द्रियः, तस्मान्न रसजौ; रसाद्धि जायमानं कारणगुणानुविधानादैन्द्रियकं स्यादित्यर्थः। हेत्वन्तरमाह—सन्तीत्यादि। अहितशब्दादिजन्ये विकारे न रसः कारणमित्यर्थः' चक्रः।

२. 'आत्मा पृथिव्यादीनि च पञ्च षड् धातवः' चक्रः।

३. 'परीक्षितः' ग.।

४. 'शौनकिः' यो.। 'शौनकः' इति पा०।

५. 'मातापित्रनपेक्षित्वे सर्वप्राणिषु षड्धातुसमुदायस्य विद्यमानत्वेन नरगोऽश्वादिभेदो न स्यादिति भावः' चक्रः।

६. 'पुरुषः पुरुषं गौर्गामश्वोऽश्वं तु प्रजायते' ग.।

७. 'मातापितृभवाश्चोक्ता' ग.।

कहीं उक्त पाठ ऐसा तो नहीं रहा—'हिरण्याक्षन्तु तन्नेति वाक्यमाह स कौशिकः'। विज्ञ पाठक विचार करें। 'कौशिकः' के स्थानपर 'शौनकिः' पाठभेद भी कहीं-कहीं प्राप्त होता है।

हिरण्याक्ष के षड्धातुवाद का खण्डन करते हुए कौशिक ऋषि का कथन है कि माता-पिता के बिना षड्धातु का अस्तित्व कैसे स्थिर होगा। अतः पुरुष और रोगों की मूल उत्पत्ति का कारण माता-पिता को मानना उचित है। माता-पिता से सुख और दुःख (रोग) दोनों का संक्रमण सन्तान में होता है।

भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नह्यन्धोऽन्धात् प्रजायते । मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न [1]युज्यते ॥१८॥
कर्मजस्तु मतो जन्तुः कर्मजास्तस्य चामयाः । नह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य वा ॥१९॥

भद्रकाप्य का मत—माता-पिता पुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति में आदिकारण हैं—कौशिक के इस मत का खण्डन करते हुए भद्रकाप्य ने कहा—यदि माता-पिता के अनुरूप ही सन्तान होती है तो ऐसा नहीं देखा जाता कि अन्धे माता अथवा पिता की सन्तान भी अन्धी ही हो। आपके मत में माता-पिता की उत्पत्ति से पहले कोई उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती, वास्तव में प्राणी का जन्म अपने कर्मों के आधार पर होता है और उसकी व्याधियाँ भी कर्मज ही होती हैं। कर्म के अतिरिक्त पुरुष अथवा रोगों का जन्म नहीं होता है।

वक्तव्य—माता-पिता से पुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति होती है—कौशिक के इस मत का भद्रकाप्य ने खण्डन करते हुए तर्क उपस्थित किया, जैसे माता-पिता होते हैं वैसी ही उनकी सन्तान नहीं होती। अर्थात् अन्धे पिता का पुत्र अन्धा ही पैदा नहीं होता। दूसरा यह कि माता-पिता से सन्तान की उत्पत्ति योनिज (मैथुनी) सृष्टि परम्परा है। मनु के पूर्वकाल में एक अयोनिज सृष्टि परम्परा भी थी, वहाँ आपका मत खण्डित हो जाता है। सबसे पहले ब्रह्मा ने यह सोचा 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ। उस समय उनके सामने योनिज सृष्टि का बन्धन नहीं था।

भारद्वाजस्तु नेत्याह कर्ता पूर्वं हि कर्मणः । दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात् पुरुषः [2]फलम् ॥२०॥
[3]भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च । खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्तानां यथैव हि ॥२१॥

भद्रकाप्य के मत का प्रतिवाद करते हुए भरद्वाज ने कहा—ऐसा नहीं होता। कर्म के पहले कर्ता की सत्ता स्वीकार की जाती है। ऐसा कर्म नहीं देखा गया जो बिना कर्ता के हो गया हो और जिसका कर्म फल-रूप पुरुष हो। भावों (संसार में दृश्यमान जितने चराचर पदार्थ हैं, उन) का कारण स्वभाव है। अथवा सभी पदार्थों की उत्पत्ति स्वभाव से होती है, अतः व्याधियों और पुरुषों की उत्पत्ति में भी स्वभाव ही कारण है। जैसे भूमि में खरत्व, जल में द्रवत्व, वायु में चलत्व और अग्नि में उष्णत्व धर्म-स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—भरद्वाज ने भद्रकाप्य के कर्मज पुरुष और कर्मज व्याधियाँ होती हैं, इस सिद्धान्त का खण्डन कर स्वभाववाद की स्थापना करते हुए कहा कि **'अकृतं कर्म न दृष्टम्'**, बिना कर्ता के कोई कर्म सम्भव नहीं है। देखें पाणिनि का मत—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म', १।४।४९। यहां भी कर्ता का जो ईप्सिततम कारक है, उसकी ही कर्मसंज्ञा होती है। अन्यत्र भी 'स्वयं कर्म करोति आत्मा स्वयं तत्फलमश्नुते', आत्मा स्वयं कर्म करता है स्वयं उसका फल भोगता है। इत्यादि वाक्यों में कर्म के पूर्व कर्ता की अपेक्षा की गयी है, भरद्वाज के मत में वह कर्ता 'स्वभाव' है।

भगवान् धन्वन्तरि ने भी स्वभाव को प्राथमिकता दी है। देखें—'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा। परिणामं च मन्यते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः' ॥ सु० शा० अ० १।११। तथा—'सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः' ॥ सु० शा० अ० २।५६। और भी—'अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते' ॥ सु० शा० अ० ३।३६।

---

१. 'प्रागिति सर्गादौ निःशरीरिणि मातापित्रोरुत्पत्तिर्न स्यात्, चक्रः।

२. 'कर्मणः पूर्वं कर्ता 'भवति' इति शेषः, येन कर्मणा स पुरुषः कर्तव्यः, तस्य कर्मणः पुरुषपूर्वभावित्वात् कारणत्वं स्वीकर्तव्यं, ततश्च स चेद्विना कर्म पुरुषोऽभूत्, तत् कथं पुरुषस्य कर्म कारणमिति भावः' चक्रः।

३. 'भावहेतुरुत्पत्तिहेतुः' चक्रः।

काङ्कायनस्तु नेत्याह नह्यारम्भफलं भवेत्[1] । भवेत् स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा ॥२२॥
स्रष्टा त्वमितसङ्कल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः । चेतनाचेतनस्यास्य [2]जगतः सुखदुःखयोः ॥२३॥

भरद्वाज के मत का प्रतिवाद करते हुए कांकायन ने कहा—यदि स्वभाव से ही सब कुछ हो जाता तो जो विशेष प्रकार के यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे भी निष्फल हो जायेंगे। फिर तो स्वभाव से ही भावों (जगत् के समस्त पदार्थों) की सिद्धि या असिद्धि हो जायगी। अतः यह समुचित नहीं है। वास्तव में अपरिमित संकल्प वाले ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति इस सुख-दुःखमय चेतन और अचेतन जगत् के स्रष्टा हैं।

वक्तव्य—'नह्यारम्भफलं भवेत्' इस पद्यांश की व्याख्या आचार्य चक्रपाणि के अनुसार टिप्पणी में दी है। भरद्वाज ने तो 'स्वभाव से ही सब होता है' इस सिद्धान्त की स्थापना कर क्रियाशील जगत् को अकर्मण्य बनाने का असफल प्रयास किया। तदनन्तर कांकायन ने जगत् का सृष्टिकर्ता प्रजापति को स्वीकार किया और वही सुख-दुःख का भी कर्ता है, ऐसा माना है।

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो नह्यपत्यं प्रजापतिः । प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यादसाधुवत् ॥२४॥
कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः । जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥२५॥

कांकायन के मत का खंडन करते हुए भिक्षुरात्रेय ने कहा—आपका मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रजा का हित चाहने वाला प्रजापति नीच पुरुष की भाँति अपनी सन्तान को निरन्तर दुःखों से युक्त कैसे कर सकता है ?। अतः पुरुष की उत्पत्ति में काल कारण है, उस पुरुष के समस्त रोग भी काल से उत्पन्न होते हैं, सम्पूर्ण संसार काल के वश में है इसलिये सभी जगह काल ही कारण होता है।

वक्तव्य—कालवादी आत्रेय भिक्षु ने कांकायन के मत का खंडन कर काल ही पुरुष तथा रोगादि की उत्पत्ति में कारण होता है, यह अपना मत उपस्थित किया। इसके समर्थन में भगवान् धन्वन्तरि का मत देखें—'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनः। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति कालः' ॥ सु० सू० अ० ६।३।

सच तो यह है कि जिस प्रकार ईश्वरवादी सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति, पालन, विनाश, सुख, दुःख आदि का कारण ईश्वर (शिव, विष्णु, शक्ति आदि) को मानते हैं, वैसे ही कालवादी काल को स्वीकार करते हैं। यह काल समय का नाम है तथा आदि, मध्य, अन्त से रहित है। अर्थात् ईश्वरस्वरूप है, अतएव इसकी सत्ता स्वीकार की जाती है।

विशेष वक्तव्य—सम्भाषा परिषदों का मौलिक स्वरूप चरकसंहिता में द्रष्टव्य है। चिकित्सा (जटिल रोगों की चिकित्सा) के लिये निश्चित रूप से चिकित्सक आपस में विचार-विमर्श कर जो निर्णय लेंगे वह रोगी के लिये स्वास्थ्यकर, चिकित्सकों के लिये यशस्कर और शिष्य परम्परा के लिये अनुकरणीय (हितकर) होगा। अतएव लिखा है—**'वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्'** । च० सू० अ० २५।

चरकोक्त सम्भाषा परिषदें

१. आयुर्वेदावतरण—(सूत्रस्थान अ० १)

यह परिषद् हिमालय के समीप में आयोजित हुई थी। इसमें आयुर्वेदावतरण विषय पर विचार-विमर्श हुआ था। अग्निवेश आदि ने अपनी-अपनी संहितायें महर्षियों के सामने परीक्षणार्थ प्रस्तुत की थीं। उनके अनुमोदन प्राप्त होने पर ये प्रचलित हुईं।

२. वातकलाकलीय—(सूत्रस्थान अ० १२)

इस परिषद् में वात, पित्त, कफ के गुण-कर्मों का विवेचन किया गया है।

३. यज्जःपुरुषीय—(सू० अ० २५)

१. 'यदि स्वभावादेव भावानां विकारशरीरादीनां सिद्ध्यसिद्धी भवतः, तदाऽऽरम्भफलं न भवेत्, स्वाभाविकत्वाद्भावानां; य इमे लोकशास्त्रसिद्धा योगकृष्यध्ययनाद्यारम्भास्ते निष्प्रयोजना भवेयुरकारणत्वादित्यर्थः' चक्रः।
२. 'चेतनाचेतनस्यायं कारणम्' ग.।

इसमें पुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार विमर्श हुआ। इसमें ९ महर्षियों ने भाग लिया था। इसके आयोजक काशिराज वामक थे।

४. आत्रेयभद्रकाप्यीय—(सू० अ० २६)

इस परिषद् में रसों की विविधता पर विचार हुआ। अन्त में सर्व सम्मति से छः ही रस हैं, यह निर्णय हुआ। सबसे अधिक परिषदें सूत्रस्थान में ही वर्णित हैं।

५. गर्भावक्रान्ति—(शा० अ० ३)

इस परिषद् में गर्भ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया।

६. शरीरविचय—(शा० अ० ६)

इसमें गर्भ के किस अङ्ग की रचना सर्वप्रथम होती है। इस परिषद् के विचार का यही प्रमुख विषय था।

७. फलमात्रासिद्धि—

इस परिषद् का आयोजन दृढ़बल ने किया था। इसमें वस्ति के लिये उपयुक्त संशोधन फलों में जो गुणों में अधिक हों उनका ग्रहण करें, यह निर्णीत हुआ।

प्रस्तुत सम्भाषा-परिषद् में सम्मिलित महर्षि और उनके सिद्धान्त

महर्षियों के नाम (Name of Maharshis')	उनके सिद्धान्त (Their Theories)
१. काशिपति वामक	प्रश्नकर्ता (Questioner)
२. मौद्गल्य पारीक्षि	आत्मवाद (Spirit Theory)
३. शरलोमा	सत्ववाद (Mind Theory)
४. वार्योविद्	रसवाद (Fluid Theory)
५. हिरण्याक्ष	षड्धातुवाद (Six Element Theory)
६. कौशिक	मातृपितृवाद (Parent Theory)
७. भद्रकाप्य	कर्मवाद (Action Theory)
८. भरद्वाज	स्वभाववाद (Nature Theory)
९. कांकायन	प्रजापतिवाद (Creator Theory)
१०. आत्रेय भिक्षु	कालवाद (Time Theory)

इस प्रकार काशिपति वामक के प्रश्न का उत्तर प्रत्येक महर्षि ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार दिया और यह सब ने प्रतिपादित किया कि जिस (उपर्युक्त कारणों में से एक) कारण से पुरुष की उत्पत्ति होती है, वही रोगों की उत्पत्ति में भी कारण होता है। महर्षियों के उक्त विवाद का सम्यक् समाधान पुनर्वसु के शब्दों में यथास्थान देखें।

तदर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः । मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं [1]पक्षसंश्रयात् ॥२६॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव । पक्षान्तं नैव गच्छन्ति [2]तिलपीडकवद्गतौ ॥२७॥
मुक्त्वैवं वादसङ्घट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् । नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥२८॥

मुक्त्वैवं वादसङ्घट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् । नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥२८॥

छोड़कर तत्त्वचिन्ता के प्रति आग्रह—पुनर्वसु का महर्षियों से अपने-अपने मत का दुराग्रह

उक्त प्रकार से विवाद करते हुए ऋषियों से पुनर्वसु ने कहा—आप लोग ऐसा मत कहें, अपने-अपने पक्ष (मत) का दुराग्रह करने से तत्व की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। निश्चित (सिद्धान्त) की भाँति वादों के साथ प्रतिवादों को कहते हुए जो चलते हैं वे तिल को पेरने वाले की भाँति पक्ष के अन्त को प्राप्त नहीं हो पाते। अर्थात् उसी में जीवनभर चक्कर काटते रह जाते हैं। अतः वादों के इस संघट्ट (Friction or Rubbing together=

१. 'पक्षसंश्रयादिति रागतः पक्षसङ्ग्रहात्' चक्रः।
२. 'तिलपीडकस्तैलार्थं यन्त्रोपरिस्थितो मनुष्यः' चक्रः।
३. 'पक्षरागश्चेह तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन तमःस्कन्ध उच्यते' चक्रः।

आपस में टकराना) को छोड़कर तत्व की चिन्ता करें, क्योंकि जब तक अपने पक्ष का दुराग्रह रूप अन्धकार दूर नहीं हो जाता तब तक ज्ञेय (जानने योग्य वस्तु) का ज्ञान (तत्वबोध) नहीं हो सकता।

वक्तव्य—आचार्य पुनर्वसु ने इसी अध्याय के ७ वें पद्य में अपार ज्ञान-विज्ञान के कारण सन्देह रहित यह विशेषण महर्षियों को देकर सम्बोधित किया था, अतः उनके वचन प्रलाप तो नहीं हो सकते किन्तु विषय के विवेचन में वे कितने सहायक सिद्ध हुए हैं, इस बात को दृष्टि में रखकर पुनः पुनर्वसु निवेदन कर रहे हैं। क्योंकि उक्त महर्षियों के वचन सारगर्भित तो थे किन्तु एक दूसरे के मत को मानने के लिये कोई तत्पर नहीं था। अतः उन सबके सिद्धान्तों का समन्वयात्मक स्वरूप यहाँ उपस्थित किया है।

[1]येषामेव हि भावानां सम्पत् सञ्जनयेन्नरम्। तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्॥ १॥

पुनर्वसु का समन्वयात्मक दृष्टिकोण—जिन भावों (पदार्थों) की संपत् (शक्ति) मनुष्य को उत्पन्न करती है उन्हीं भावों की विपद् (अशक्ति, असमर्थता) अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—महर्षि पुनर्वसु ने काशिपति के प्रश्न के उत्तर में कहे गये महर्षियों के मतों को सार रूप में ग्रहण कर अपना मत अत्यन्त कुशलता के साथ प्रस्तुत किया। यह आचार्य का सभापाटव और वाग्मिता का स्वरूप है। क्योंकि पूर्वोक्त महर्षियों के वचन किसी न किसी अंश में सार्थक तो थे ही। उनको सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। पुनर्वसु आत्रेय का वास्तविक मत शारीरस्थान के खुड्डीकागर्भावक्रान्ति नामक तीसरे अध्याय में विस्तृत रूप से देखें।

अथात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरेव वामकः काशिपतिरुवाच भगवन्तमात्रेयं—भगवन्! सम्पन्निमित्तजस्य पुरुषस्य विपन्निमित्तजानां च रोगाणां किमभिवृद्धिकारणमिति॥ ३०॥

पुरुष और रोगों की वृद्धि में कारण

(Factors for the Growth of Man & Diseases)

काशिपति वामक का दूसरा प्रश्न—महर्षियों द्वारा पुरुष तथा रोगों की उत्पत्ति के उत्तर सुनने के पश्चात् आत्रेय द्वारा कहे गये समाधान को सुनकर पुनः काशिपति वामक ने आत्रेय से कहा—भगवन्! भावों (पदार्थों) की सम्पत्ति से उत्पन्न पुरुष का और विपत्ति (विकार) के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों का बढ़ने में प्रत्येक के पृथक्-पृथक् क्या कारण हैं?

तमुवाच भगवानात्रेयः—हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति॥ ३१॥

आत्रेय का उत्तर—काशिपति के उक्त प्रश्न का भगवान् आत्रेय ने उत्तर देते हुए कहा—केवल हितकर आहार का उपयोग ही पुरुष की वृद्धि में कारण होता है और अहितकर आहार का उपयोग ही रोगों की वृद्धि में कारण होता है।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन्! हिताहितानामाहारजातानां लक्षणमनपवादमभिजानीमहे, हितसमाख्यातानामाहारजातानामहितसमाख्यातानां च मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तरेषु विपरीतकारित्वमुपलभामहे इति॥ ३२॥

अग्निवेश का प्रश्न—हित और अहित आहारों को क्रमशः पुरुष की वृद्धि तथा रोग की वृद्धि में कारण बतलाने वाले भगवान् आत्रेय से अग्निवेश (उनके शिष्य) ने पूछा—भगवन्! हितकारक तथा अहितकारक आहार समूह के ठीक-ठीक लक्षणों से हम कैसे परिचित हो सकते हैं। क्योंकि जिनको हित-आहार और जिनको अहित-आहार कहा गया है, इन दोनों के मात्रा, काल, क्रिया (संस्कार तथा संयोग), भूमि (रोगी शरीर तथा आनूप आदि देश), शरीर, वातादि दोष और पुरुष की शारीरिक, मानसिक भिन्न-भिन्न स्थितियों में विपरीत लक्षणों के दर्शन देखे जाते हैं।

१. 'येषामिति यज्जातीयानां, ते च महाभूतादयः' चक्रः।

वक्तव्य—हित-आहार, अहित-आहार के सम्बन्ध में अग्निवेश के प्रश्न का स्पष्टीकरण—हितकारक आहार भी युक्तियुक्त प्रयोग न करने से प्राणघातक हो जाता है और अहितकारक आहार भी युक्तियुक्त प्रयोग करने से लाभदायक होता है। आहार द्रव्यों के योग, अतियोग, मिथ्यायोग, अध्यशन, प्रकृतिविरुद्ध, संयोगविरुद्ध, स्वभावविरुद्ध आदि अनेक ऐसे कारण हैं, जिनसे हितकारक आहार भी हानिकारक होते हैं और इसके विपरीत अहितकर आहार युक्तियुक्त सेवन करने से लाभदायक होते हैं। अतः अग्निवेश हिताहार और अहिताहार की परिभाषा जानने के लिये उत्सुक हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—यदाहारजातमग्निवेश! समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतं त्वहितमिति; इत्येतद्धिताहितलक्षणमनपवादं भवति॥ ३३॥

आत्रेय का उत्तर—हितकर तथा अहितकर आहार की परिभाषा जानने के इच्छुक अग्निवेश से आत्रेय ने कहा—अग्निवेश! जो आहारसमूह शरीरस्थ समधातुओं को प्रकृति में रखता है, अर्थात् जो आहार समधातुओं को कम या ज्यादा नहीं होने देता और विषम (घटे-बढ़े) धातुओं को सम कर देता है, उसी को हितकारक आहार समझो और इसके विपरीत आहार को अहितकारक समझो। यह हित और अहित आहार का अपवादरहित लक्षण है।

वक्तव्य—इस परिभाषा से अग्निवेश की उपर्युक्त सभी शङ्काओं का समाधान हो जाता है, क्योंकि अग्निवेश की शंका यह थी कि हितकर आहार भी विधिभेद से अहितकर और अहितकर भी युक्तियुक्त प्रयोग करने से हितकर होते दिखायी देते हैं। आत्रेय द्वारा उपदिष्ट इस हिताहार का अनुकरण परवर्ती सभी संहिताकारों ने किया है।

एवंवादिनं च भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन्! न त्वेतदेवमुपदिष्टं [1]भूयिष्ठकल्पाः सर्वंभिषजो विज्ञास्यन्ति॥ ३४॥

अग्निवेश सूत्र रूप में उपदिष्ट हित-अहित आहार की व्याख्या चाहते हैं—इस प्रकार संक्षेप में आहार के अपवादरहित लक्षण का उपदेश देते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—भगवन्! इतने ही (संक्षिप्त) उपदेश को नाना प्रकार के चिकित्सक नहीं जान सकेंगे।

वक्तव्य—यद्यपि अग्निवेश और आत्रेय का यह प्रश्नोत्तर क्रम उस समय अध्ययन तथा अध्यापन के लिये रहा होगा, किन्तु संहिता के रूप में इनका समावेश आज के गुरु-शिष्यों के लिये भी उपकारक है।

भूयिष्ठकल्पाः—इस शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'भूयिष्ठकल्पा नानाप्रकारा उत्तमाधममध्यमा इत्यर्थः'। चक्रः। चक्रपाणि की यह पंक्ति इनके अनुरूप प्रतीत नहीं होती। इसमें दो कारण हैं—१. **पहला कारण**—'उत्तमाधममध्यमाः' के स्थान पर 'उत्तममध्यमाधमाः' इस क्रम का सन्निवेश होना चाहिये था, क्योंकि उत्तम और मध्यम के बीच में अधम न शोभा देता है न स्थान ही पा सकता है। ऐसी वाक्य-योजना दो प्रकार की देखी जाती है—१. उत्तममध्यमाधमाः, अथवा २. अधममध्यमोत्तमाः। अर्थात् अधम को किसी किनारे में ही रखा जाता है, बीच में उससे सज्जनों को खतरा रहता है। २. **दूसरा कारण**—आयुर्वेद शास्त्र में उत्तम वैद्य या चिकित्सक की यह परिभाषा है—जो शास्त्र एवं व्यवहार-ज्ञान में निपुण होता है, उसे उत्तम चिकित्सक कहते हैं। यदि चक्रपाणि को भी उत्तम वैद्य की यह परिभाषा स्वीकार होती तो वे यहाँ 'भूयिष्ठकल्पाः' के अर्थ में उत्तम वैद्य की गणना न करते।

वास्तव में ये 'भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजः' वे वैद्य हैं, जो वैद्य होने के इच्छुक हैं अथवा जिन्होंने इधर-उधर से ज्ञान बटोर कर वैद्यक व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया है, और देखें—'भूयिष्ठकल्पाः' यहाँ पर 'कल्पप्' प्रत्यय के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ये उस श्रेणी के सभी वैद्य हैं जो उत्तम वैद्यों से कुछ कम हैं। अतः अग्निवेश का यह प्रश्न मध्यम तथा अधम श्रेणी के वैद्यों के लिये ही प्रतीत होता है।

तमुवाच भगवानात्रेयः—येषां हि विदितमाहारतत्त्वमग्निवेश! गुणतो द्रव्यतः कर्मतः सर्वावय-

वशश्च मात्रादयो भावाः, त एतदेवमुपदिष्टं विज्ञातुमुत्सहन्ते। यथा तु खल्वेतदुपदिष्टं [1]भूयिष्ठकल्पाः सर्व-भिषजो विज्ञास्यन्ति, तथैतदुपदेक्ष्यामो मात्रादीन् [2]भावाननुदाहरन्तः; तेषां हि बहुविधविकल्पा भवन्ति; आहारविधिविशेषांस्तु खलु लक्षणतश्चावयवतश्चानुव्याख्यास्यामः ॥ ३५ ॥

आत्रेय का उत्तर—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा—अग्निवेश ! जिन वैद्यों को गुण, द्रव्य, कर्म, मात्रा आदि भावों का अंशांश ज्ञान है, वे ही इस प्रकार (संक्षेप) से कहे गये आहारतत्व को जानने का उत्साह कर सकते हैं। इस प्रकार के विवेकशील उत्तम कोटि के चिकित्सकों में गिने जाते हैं। इसके पश्चात् अब मेरे इस उपदेश को सभी प्रकार के वैद्य जान सकेंगे, उसका उपदेश हम (इसी प्रकरण में) आगे करेंगे, किन्तु यहाँ मात्रा आदि भावों को उदाहरण के रूप में इसलिये नहीं कहेंगे कि उनके अनेक भेदोपभेद होते हैं। आहारविधि के भेदों की लक्षणों तथा उसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों के अनुसार आगे व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—शिष्य की पात्रता (योग्यता) के अनुसार ही उपदेश दिया जाता है। यह उच्च स्तर का उपदेश है; इसके पूर्व द्रव्यगुण शास्त्र एवं स्वस्थवृत्त का ज्ञान होना परमावश्यक है और जिसको इन दोनों शास्त्रों का ज्ञान होगा वही इस उपदेश के सुनने का अधिकारी है। सामान्य ज्ञान वालों के लिये आगे उपदेश दिया जायगा।

तद्यथा—आहारत्वमाहारस्यैकविधम्, अर्थभेदात्; स पुनर्द्वियोनिः; स्थावरजङ्गमात्मकत्वात् द्विविधप्रभावः, हिताहितोदर्क[3]विशेषात्, चतुर्विधोपयोगः, पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगात्; षडास्वादः, रस-भेदतः षड्विधत्वात्; विंशतिगुणः; गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिल-श्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात्। अपरिसङ्ख्येयविकल्पः, द्रव्यसंयोगक[4]रणबाहुल्यात् ॥ ३६ ॥

आहार के भेद—आहार का (भक्ष्य, आदि पदार्थों का निगलना रूप) आहारत्व एक प्रकार का होता है क्योंकि सभी प्रकार के आहार में निगरण (निगलना) रूप अर्थ समान होता है। वह आहार योनि (उत्पत्ति) भेद से दो प्रकार का होता है—१. स्थावर पदार्थों से उत्पन्न तथा २. जंगम पदार्थों से उत्पन्न। उस आहार का प्रभाव दो प्रकार का होता है—१. हितकारक भाविफल (भविष्य में हितकारक) और २. अहितकारक भाविफल (भविष्य में अहितकारक) वह आहार उपयोग भेद से चार प्रकार का होता है—१. पान (पेय पदार्थ) २. अशन (भात आदि), ३. भक्ष्य (चना, चबैना आदि) ४. लेह्य (लपसी, हलुआ, च्यवनप्राश आदि)। रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) के षड्विध होने के कारण इस आहार के छः प्रकार के आस्वाद होते हैं। यह आहार निम्न गुणों के कारण २० प्रकार का होता है। वे गुण इस प्रकार हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव। द्रव्यों के परस्पर संयोगादि संस्कारों की विविधता से इस आहार के असंख्य भेद होते हैं या हो सकते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय द्वारा आहार-भेद-निरूपण—'आ' उपसर्गपूर्वक 'हृञ् हरणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के संयोग से 'आहार' शब्द की रचना होती है। इसका अर्थ होता है—भोजन करना (निगलना)। सच पूछिये तो इसका अर्थ है इधर-उधर से बटोर लाना। वास्तव में संसार के समस्त क्रिया-कलाप भोजन के लिये ही होते हैं। अन्तिम क्षणों में थाली में परोसे हुए भोजन को बटोर कर हाथ मुख की ओर ले जाता है और मुख उस आहृत सामग्री को भीतर की ओर भेजने में सहायता करता है।

आहार की अन्य परिभाषा—'आह्रियते (पोषणार्थम्) इति आहारः'। शरीर के पोषण के लिये जो द्रव्य लिया जाय वह आहार है। और देखें—'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च स षट्सु रसेषु आयत्तः' ॥ सु० सू० अ० ४६।१। संसार के सभी द्रव्यों को इस प्रकार दो भागों में विभक्त किया गया है—'रसप्रधानमाहार-द्रव्यं, वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यम्'। इस प्रसंग में कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट 'आर्यभक्त' (Standard Diet) का विवरण भी द्रष्टव्य है। देखें—अर्थशास्त्र २।३१।१५-१६।

१. 'भूयिष्ठकल्पा नानाप्रकारा उत्तमाधममध्यमा इत्यर्थः' चक्रः।
२. 'सर्वाननुदाहरन्तः' यो.।
३. 'उदर्कः = उत्तरकालीनं फलम्' चक्रः।
४. '–संस्कारादिकरा'–ग.।

कौटिल्य के अनुसार आर्यभक्त (Standard Diet)

क्रम सं०	आहार-द्रव्य	प्राचीन मान		आधुनिक मान
१.	ओदन (भात)	१ प्रस्थ	=	७०० ग्राम
२.	सूप (दाल)	१ कुडव	=	१७५ मि० ली०
३.	लवण (नमक)	१/६ कुडव	=	३० ग्राम
४.	घृत-तैल	१/४ कुडव	=	४५ मि० ली०

आहार के पर्याय—लेपः, विघसः, न्यादः, जेमनं, प्रत्यवसानं, भक्षणं, निगरः, अशनम्, अभ्यवहारः।

तस्य खलु ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते, [1]भूयिष्ठकल्पानां च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हित-तमाश्चाहिततमाश्च, तांस्तान् यथावदुपदेक्ष्यामः ॥ ३७ ॥

आहार के दो प्रधान भेद—उस आहार के जिन-जिन विकारों के अवयव अधिकांश उपयोग में लाये जाते हैं और जो अधिकांश मनुष्यों की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार हिततम (पथ्यतम) तथा अहिततम (अपथ्यतम) होते हैं, उन-उन का यहाँ ठीक-ठीक उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—'विकारावयवाः'—जो खाये जाते हैं; उनका नाम अन्न (अद्‌भक्षणे धातु से क्तप्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न रूप।) है। यह विधि भेद से दो प्रकार का होता है। १. स्थावर—गेहूँ, चावल आदि। २. जंगम—पशु, पक्षियों के मांस आदि। स्थावरों में धान्य दो प्रकार के होते हैं। १. शूक धान्य—चावल, गेहूँ, जौ आदि। २. शिम्बी या शमीधान्य—चना, मटर, उड़द, लोभिया आदि।

शूकधान्यों के विकारावयव—भात, खीर, खिचड़ी, रोटी, हलुआ, पूड़ी, बाटी, चिलड़ा, दलिया आदि।

शमी धान्यों के विकारावयव—दालें, बड़े, पकौड़ियाँ, जूस आदि होते हैं।

आहार-द्रव्यों का तुलनात्मक विश्लेषण

१. शालि, षष्टिक	ऊर्जाप्रद-तत्त्व	कार्बोहाइड्रेट
२. मुद्ग (मूंग)	मांस-तत्त्व	प्रोटीन
३. सैन्धव	खनिज द्रव्य	लवण
४. आमलक	खाद्योज	विटामिन 'सी'
५. यव	स्नेहरोग-प्रतिषेधक	पुरीषजनन
६. आन्तरीक्ष	शुद्ध जल	आकाशीय शुद्ध जल
७. पय (दूध)	मांस-तत्त्व	प्रोटीन, स्नेह, शर्करा आदि
८. घृत (घी)	वसा-तत्त्व	स्नेह
९. मधु (शहद)	कार्बोहाइड्रेट	शर्करा

विशेष—यह विवरण चरक सू० अ० ५ श्लोक ११ के अनुसार दिया गया है।

तद्यथा—लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्त-रिक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्, अजमेदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करेक्षुविका-राणामिति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ ३८ ॥

प्रकृति से ही हितकर आहार—वे इस प्रकार हैं—शूक धान्यों में लाल शालि के चावल पथ्यतम पदार्थों में श्रेष्ठ होते हैं। शमी धान्यों में मूंग, जलों में आकाशीय जल, नमकों में सैंधव (सैंधा) नमक, पत्रशाकों में जीवन्ती (डोडी) शाक, मृगमांसों में एण नामक मृग विशेष का मांस, पक्षियों के मांसों में लाव पक्षी का मांस, बिल में रहने वाले प्राणियों के मांसों में गोधा (गोह) का मांस, मछलियों में रोहित (रोहू मछली) का मांस,

१. 'भूयिष्ठकल्पानामिति किञ्चिन्न्यूनबहूनाम्' चक्रः। गङ्गाधरस्तु 'भूयिष्ठकल्पनाञ्च' इति पठित्वा 'भूयिष्ठ-कल्पना आहारस्य विकारा यवाग्वादयः' इति व्याख्यानयति।

घृत समूहों में गाय का घी, दुग्धवर्ग में गाय का दूध, स्थावरज स्नेहों में तिलतैल, आनूपदेश में उत्पन्न मृगों की वसाओं में वराह (शूकर) वसा, मछलियों की वसाओं में चुलुकी नाम की वसा, जलचर पक्षियों की वसाओं में पाक हंस की वसा, विष्किर (चोंच तथा चरण से बिखेर कर आहार को खोजने वाले) पक्षियों की वसाओं में मुर्गे की वसा, शाखाओं को खाने वाले पशुओं की मेदाओं में बकरा की मेदा, कन्दों में अदरख, फलों में मुनक्का और इक्षु विकारों (ईख द्वारा बनाये गये पदार्थों) में चीनी हितकर होती है। इस प्रकार प्रकृति से ही हिततम आहार-विकारों के प्रमुख द्रव्यों की व्याख्या की गयी है।

वक्तव्य—'पाकहंसवसा' इसका अर्थ चक्रपाणि तथा परवर्ती प्रायः सभी व्याख्याकारों ने 'श्वेतहंस' लिखा है, जो विचारणीय है। जैसे अग्नि का विशेषण उष्ण निरर्थक प्रतीत होता है, वैसा ही हंस के पहले पाक-शब्द (यदि कहीं पाक शब्द का अर्थ सफेद होता हो तो भी) जोड़ना व्यर्थ है। कोषकारों ने हंसों के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. हंस (सभी प्रकार के हंस सफेद पंखों वाले होते हैं।) २. राजहंस (इनकी चोंच तथा पंजे लाल होते हैं।) ३. मल्लिक (कुछ धूमिल चोंच, पंजों वाले।) ४. धार्तराष्ट्र (काली चोंच, पंजों वाले।) ये सभी पंखों के कारण सफेद होते हैं।

'पाक' शब्द का एक अर्थ है 'केशस्य जरसा शौक्ल्यं पाकः'। बुढ़ापे के कारण बालों का सफेद होना, 'केश-पाक' कहा जाता है। हंस की स्थिति तो ऐसी नहीं है कि वह बुढ़ापे में बालों के पक जाने से सफेद होता हो।

'पाक' का अर्थ 'शिशु' भी होता है—'पाकश्चासौ हंसः = 'पाकहंस' अर्थात् हंसशिशु की वसा, यहाँ यह अर्थ लेना चाहिये। देखिये—'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः'। अमरकोष।

उक्त गद्य में 'श्रेष्ठतम' शब्द का प्रयोग आया है जो पाणिनीय व्याकरण **'अतिशायने तमबिष्ठनौ'** के अनुसार सिद्ध नहीं होता है। देखें—अतिशायनिकप्रत्ययान्तादातिशायनिको न, अनभिधानात्। **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** इत्यादिकन्तु छान्दसत्वात् स्वार्थे साध्विति सर्वं भाष्ये स्पष्टम्। शब्देन्दुशेखर—नागेशभट्ट। और भी—तदन्ताच्च स्वार्थे छन्दसि दर्शनं **'श्रेष्ठतमायेति'**। महाभाष्य ५.३.५५। अर्थात् यहाँ श्रेष्ठ के बाद तमप् प्रत्यय का प्रयोग केवल स्वार्थ में किया गया है। अतः यह महर्षि आत्रेय का आर्ष प्रयोग है।

अहिततमानप्युपदेक्ष्यामः—यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानाम्, ऊषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, काणकपोतः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलिचिमो मत्स्यानाम्, आविकं सर्पिः सर्पिषाम्, अविक्षीरं क्षीराणां, कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानां, महिषवसा आनूपमृगवसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यवसानां काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसानां, चटकवसा विष्किरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां, निकुचं फलानाम्, [1]आलुकं कन्दानां, फाणितमिक्षुविकाराणाम्; इति प्रकृत्यैवाहिततमानामाहारविकाराणां प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। (इति) हिताहितावयवो व्याख्याता आहारविकाराणाम् ॥३९॥

प्रकृति से अहितकर आहार—हितकर आहार द्रव्यों के वर्णन के पश्चात् अब अहिततम (जो सर्वथा हानिकारक होते हैं, उन) आहारों का उपदेश देंगे। शूकधान्यों में जो अपथ्यतम धान्य हैं उनमें यवक (Barley) सबसे अधिक अपथ्य होते हैं। शमी (या शिम्बी) धान्यों में उड़द, जलों में वर्षाऋतु का नदी का जल, नमकों में ऊषर (रेह) का नमक, पत्रशाकों में सरसों का शाक, मृगमांसों में गोमांस (शिकारियों द्वारा शिकार के लिये जो पशु ढूँढे जाते हैं, उन सबको मृग कहते हैं।) पक्षियों में काणकपोत (जंगली कबूतर) का मांस, बिलों में रहने वालों में मेढक का मांस, मछलियों में चिलचिम नामक मछली का मांस, घृतवर्ग में भेड़ी का घी, दुग्धवर्ग में भेड़ी का दूध, स्थावरों (पेड़, कन्द आदि से उत्पन्न होने वाले) स्नेहों में कुसुम्भ (बर्रे) का तेल, आनूपज (जल प्रधान देशों में रहने वाले) मृगों की वसाओं में भैंसा की वसा, मछलियों की वसाओं में कुम्भीर नामक मछली की वसा, जलचर पक्षियों की वसा में जलकौआ की वसा, विष्किर (बिखेरकर खाने वाले) पक्षियों की वसाओं में चटक (गौरेया) की वसा, शाखादों (पेड़ की शाखा, टह-नियों तथा पत्तों को खाने वालों) की मेदा में हाथी की मेदा, फलों में बड़हल, कन्दों में आलू (पाठ भेद से मूली), ईख के रस से बनाये जाने वाले पदार्थों में फाणित (राब), ये आहार के अवयवों में प्रकृति से ही

१. 'मूलकम्' ग.।

अहित पदार्थों में प्रमुख कहे गये हैं। इस प्रकार आहार भेदों के हिततम तथा अहिततम अवयवों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—'काणकपोत' का उल्लेख सुश्रुत में इस प्रकार है—प्रतुद पक्षियों की गणना करते हुए कपोत और पारावत दोनों पर्यायवाची शब्दों को एक साथ उद्धृत किया है। देखें—सु० सू० अ० ४६।६७। आगे चलकर काणकपोत (जंगली कबूतर) और कपोत (पालतू कबूतर) के भिन्न-भिन्न गुण-धर्म दिये गये हैं। देखें—सु० सू० अ० ४६ श्लोक ६९ तथा ७०।

हित और अहित आहार द्रव्य

आहार द्रव्य	हिततम	अहिततम
१. शूकधान्य	लोहितशालि	यवक (Barley)
२. शमीधान्य	मुद्ग (मूंग)	माष (उड़द)
३. जल	आन्तरीक्ष	वर्षा में नदी का
४. लवण (नमक)	सैन्धव (सेंधा)	औषर
५. पत्र शाक	जीवन्ती	सर्षप
६. मृगमांस	ऐणेय	गोमांस
७. पक्षी	लाव	काणकपोत
८. बिलेशय	गोधा	मण्डूक
९. मत्स्य	रोहित	चिलचिम
१०. घृत	गोघृत	मेषीघृत
११. दुग्ध	गोदुग्ध	मेषीदुग्ध
१२. स्थावर स्नेह	तिलतैल	कुसुम्भतैल
१३. आनूपमृगवसा	वराहवसा	महिषवसा
१४. मत्स्यवसा	चुलुकीवसा	कुम्भीरवसा
१५. जलचर पक्षिवसा	पाकहंसवसा	काकमद्गुवसा
१६. विष्किरपक्षिवसा	कुक्कुटवसा	चटकवसा
१७. शाखादमेदस्	अजमेदस्	हस्तिमेदस्
१८. कन्द	आर्द्रक	आलुक
१९. फल	मृद्वीका	लकुच
२०. इक्षुविकार	शर्करा	फाणित

अतो भूयः कर्मौषधानां च प्राधान्यतः सानुबन्धानि च [1]द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—अन्नं वृत्तिकराणां[2] श्रेष्ठम्, [3]उदकमाश्वासकराणां, (सुरा श्रमहराणां); क्षीरं जीवनीयानां, मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, अम्लं [4]हृद्यानां, कुक्कुटो बल्यानां, नक्ररेतो वृष्याणां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां; वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणां क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां, (तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणाम्), आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्, आविकं सर्पिरहृद्यानाम्, अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यरक्तसाङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्, अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानां; महिषीक्षीरं स्वप्नजननानां, [5]मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणां, गवेधुकान्नं कर्शनीयानाम्, उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम्, इक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां; जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था

१. 'द्रव्यादीनि' ग.।
२. 'श्रेष्ठतमम्' ग.।
३. 'उदकमाप्यायनकराणाम्' यो.।
४. 'अम्लं हृद्यानामिति रुच्यानाम्, अम्लं हि स्वयमेव रोचते' चक्रः।
५. 'मन्दकमिति मन्दजातम्' चक्रः।

अम्लपित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनां; त्रिवृत् सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणाम्, आमलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानाम्, एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणां, पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, मुस्तं साङ्ग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम्, उदीच्यं निर्वापणदीपनीयपाचनीयच्छर्द्यतीसारहराणां, कट्वङ्गं साङ्ग्राहिकपाचनीयदीपनीयानाम्, अनन्ता साङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्, अमृता साङ्ग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानां बिल्वं साङ्ग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्, अतिविषा दीपनीयपाचनीयसाङ्ग्राहिकसर्वदोषहराणाम्, उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः साङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, दुरालभा पित्तश्लेष्मप्रशमनानां, गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानां, कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसाङ्ग्राहिकोपशोषणानां, काश्मर्यफलं रक्तसाङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, पृश्निपर्णी साङ्ग्राहिकवातहरदीपनीयवृष्याणां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला साङ्ग्राहिकबल्यवातहराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां, हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्, अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणां, यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानां, तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानां, क्रव्यान्मांसरसाभ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानां, क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां, समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणां, [1]चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानां, रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानां, लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनां, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीयरोपणीयानां, वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम्, अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, [2]मृद्भृष्टलोष्टनिर्वापितमुदकं तृष्णाच्छर्द्यतियोगप्रशमनानाम्, अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां, यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानां, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारौ सेव्यानां, कालभोजनमारोग्यकराणां, तृप्तिराहारगुणानां वेगसन्धारणमनारोग्यकराणां, मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणां, गुरुभोजनं दुर्विपाककराणाम्, एकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणां, स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणां, शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्यकराणां, [3]पराघातनमन्नाश्रद्धाजननानाम्, [4]अनशनमायुषो ह्रासकराणां, प्रमिताशनं कर्शनीयानाम्, अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानां, विषमाशनमग्निवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानाम्, आयासः सर्वापथ्यानां, मिथ्यायोगो [5]व्याधिकराणां, रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानां, ब्रह्मचर्यमायुष्याणां, परदाराभिगमनमनायुष्याणां, [6]सङ्कल्पो वृष्याणां, दौर्मनस्यमवृष्याणाम्; अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां, विषादो रोगवर्धनानां, स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः शोषणानां, निवृत्तिः पुष्टिकराणां, पुष्टिः स्वप्नकराणाम्, अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणां, सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणां, गर्भशल्यमाहार्याणाम्, अजीर्णमुद्धार्याणां, बालो मृदुभेषजीयानां, वृद्धो याप्यानां, गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारणानां, सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्; आमो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां, कुष्ठं दीर्घरोगाणां,

१. 'चन्दनोदुम्बरे' इति पा.।
२. 'मृद्भृष्टलोष्टप्रसादः यो.।
३. 'पराघातनं वधस्थानं, वध्यमानप्राणिदर्शनाद्धि घृणया नान्ने श्रद्धा स्यात्' चक्रः, 'परायतनम्' ग.।
४. 'अनशनमनायुष्कराणाम्' यो.।
५. 'व्याधिमुखानाम्' इति पा.।
६. 'सङ्कल्पः स्त्रीसङ्गसङ्कल्पः' चक्रः।

राजयक्ष्मा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणां, जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्, [1]बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानौषधिभूमीनां, सोम ओषधीनां, मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्, अनूपोऽहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक् चिकित्साङ्गानां, [2]नास्तिको वर्ज्यानां, लौल्यं क्लेशकराणाम्, अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्, अनिर्वेदो [3]वार्तलक्षणानां, वैद्यसमूहो निःसंशयकराणां, योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमौषधीनां, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानां, [4]सम्प्रतिपत्तिः कालज्ञानप्रयोजनानाम्, अव्यवसायः [5]कालातिपत्तिहेतूनां, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्, असमर्थता भयकराणां, तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम्, आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्, आयुर्वेदो[6]ऽमृतानां, सद्वचनमनुष्ठेयानाम्, असद्ग्रहणं सर्वाहितानां सर्वसन्न्यासः सुखानामिति ॥४०॥

हितकर तथा अहितकर औषध-द्रव्यों के प्रधान कर्मों का वर्णन—अब पुनः प्रधानरूप से औषध-द्रव्यों के कर्मों तथा आहार विकारों से सम्बन्धित द्रव्यों की व्याख्या करेंगे। यथा—जीविका का यापन करने वाले पदार्थों में अन्न श्रेष्ठ है। आश्वासन (तृप्ति) कारक द्रव्यों में जल, थकावट को दूर करने वाले द्रव्यों में सुरा (शराब), जीवनीय द्रव्यों में दूध, मोटा करने वाले द्रव्यों में मांस का सेवन, तृप्त करने वाले द्रव्यों में मांसरस, अन्नज (भोज्य) पदार्थों को रुचिकारक बनाने वालों में नमक, हृदय के लिये रुचिकारक अम्ल (खट्टे) पदार्थ, बलवर्धकों में मुर्गा का मांस (मुर्गा-मुसल्लम), वीर्यवर्धकों में नक्र (मकर या मगर) का वीर्य; कफ-पित्तशामकों में मधु, वात-पित्तशामकों में सर्पि (घी), वात-कफ शान्त करने वालों में तेल, कफनाशकों में वमन (उल्टी करना या कराना), पित्तनाशकों में विरेचन, वातनाशक उपायों में बस्ति-प्रयोग, शरीर को मृदु करने वालों में स्वेदन, शरीर को सुदृढ़ करने वालों में व्यायाम, पुरुषत्वनाशकों में क्षारसेवन, भोज्यपदार्थों में अरुचि उत्पन्न करने वालों में तिन्दुक (तेंदू = Diospyros peregrina), कण्ठ के लिये अहितकर पदार्थों में कच्चा कैथ, अरुचिकारकों में भेड़ी का घी, शोष (क्षय) नाशकों, माताओं के दूध को बढ़ाने वालों, सात्म्यों, रक्त को रोकने वालों और रक्तपित्त को शान्त करने वालों में, बकरी का दूध, कफ-पित्तकारक पदार्थों में भेड़ी का दूध, निद्राकारकों में भैंस का दूध, अभिष्यन्दकारक पदार्थों (स्रोतों आदि में कफ द्वारा क्लेद उत्पन्न करने वालों) में मन्दक (अधजमा हुआ) दही, कृशकारक पदार्थों में गवेधुक (Coix lachryma) का भात, विशेष करके शरीर को रूखा करने वालों में, उद्दालक (जंगली कोदों) का भात, मूत्रकारकों में ईख, पुरीष (मल = Stool) को पैदा करने वालों में जौ, वातकारकों में जामुन, कफ और पित्तकारक पदार्थों में शष्कुली (यह चावल के आटा में तिल मिलाकर तेल में पकायी जाती है। इसको आजकल 'अनरसा' कहते हैं। बाद में शष्कुली शब्द का प्रयोग 'पूरी' या 'पूड़ी' के लिये होने लगा है। देखें—कैयदेवनिघण्टु, कृतान्नवर्ग), अम्लपित्तकारकों में कुलथी (यह शिम्बी धान्य है।) कफपित्तकारकों में उड़द; वमन, आस्थापन, और अनुवासन कार्यों के लिये उपयोगी द्रव्यों में मदनफल (मैनफल), सुखपूर्वक विरेचनकारकों में त्रिवृत (निसोथ), मृदुविरेचकों में चतुरंगुल (अमलतास), तीक्ष्ण विरेचकों में सेहुंड (थूहर) का दूध, शिरोविरेचकों में प्रत्यक्पुष्पा (अपामार्ग, चिरचिटा), क्रिमिनाशकों में वायविडंग, विषनाशकों में सिरस, कुष्ठनाशकों में खदिर (खैर), वातनाशकों में रास्ना, वयःस्थापन (आयु को स्थिर करने वालों में आँवला, पथ्य (हित) कारक औषधद्रव्यों में हरीतकी (हरड़), वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा वातनाशकों में एरण्डमूल (रेंड़ की जड़), दीपनीय (पाचकाग्नि को तीव्र करने वाले), पाचनीय (पाचनकारक) और आनाह को शान्त करने वालों में पिप्पलीमूल (पीपरामूल), दीपनीय, पाचनीय, गुदशोथ, अर्श (बवासीर) तथा शूलनाशक द्रव्यों में चित्रकमूल (चीता की जड़), हिक्का, श्वास, कास और पार्श्वशूलनाशकों में पुष्करमूल (पोहकरमूल), संग्राहक (मल को रोकने वाले), दीपनीय तथा

१. 'तन्त्राणामिति कर्मणाम्' चक्रः।
२. 'नास्तिकोऽवर्याणाम्' ग.।
३. 'वार्तलक्षणानामित्यारोग्यलक्षणनाम्' चक्रः। 'अथातीसारलक्षणानाम्' ग.।
४. 'सम्प्रतिपत्तिः यथाकर्तव्यतानुष्ठानम्' चक्रः। 'कालानतिक्रमेण कार्यकारणं सम्प्रतिपत्तिः' शिवदाससेनः।
५. 'फलातिपत्ति–' इति पा०।
६. 'अमृतानामिति जीवितप्रधा(दा)नहेतूनाम्' चक्रः।

पाचनीयों में मुस्त (नागरमोथा), निर्वापण (रोपण), दीपन-पाचनकारकों, छर्दि (वमन) नाशकों में उदीच्य (ह्रीबेर, नेत्रवाला), संग्रहकारक, पाचन, दीपन द्रव्यों में कट्वङ्ग (अरलु), अतिसार तथा रक्तपित्तशामकों में अनन्तमूल, संग्रहकारक, वातहर, दीपनीय, कफरक्तविकार तथा विबन्ध (मलावरोध) को दूर करने वालों में अमृता (गिलोय), संग्रहकारक, दीपनीय, वात तथा कफशामकों में बेल, दीपनीय, पाचनीय, सांग्राहिक तथा त्रिदोषशामकों में अतीस, संग्रहकारक तथा रक्त-पित्त प्रशमनकारकों में नीलकमल (नीलोफर), कुमुद (सफेद कमल), पद्म (सामान्य कमल) का केसर, पित्त, कफ को शान्त करने वालों में दुरालभा (जवासा), रक्त एवम् पित्त के अतियोग (अधिक बढ़ जाने) पर उनको शान्त करने वालों में गन्धप्रियंगु, कफ, पित्त, रक्त के संग्राहकों तथा उपशोषक द्रव्यों में कुटजत्वक् (कूड़ा की छाल), रक्तसंग्रहकारकों एवं रक्तशामकों में गम्भारी का फल, सांग्राहिक, वातनाशक, दीपनीय तथा वृष्यों में पृश्निपर्णी, वृष्यकारक तथा त्रिदोषनाशकों में विदारीगन्धा (शालपर्णी), सांग्राहिक, बल-कारक तथा वातनाशकों में बला (बरियारा), मूत्रकृच्छ्र तथा वातनाशकों में गोखरू, छेदनीय, दीपनीय, अनुलोमक तथा वात, कफशामकों में हिंगुनिर्यास (हींग के पेड़ की गोंद अर्थात—हींग), भेदनीय, दीपनीय, अनुलोमक तथा वात-कफनाशकों में अम्लवेतस, स्रंसन, पाचन, अर्श (बवासीर) नाशन द्रव्यों में यावशूक (यवक्षार), ग्रहणी विकार, शोथ, अर्श, घृत के अधिक सेवन से उत्पन्न विकारों को शमन करने वालों में तक्र का निरन्तर सेवन करना, ग्रहणी विकार, शोष (क्षय), अर्शनाशकों में मांसाहारी पशु-पक्षियों के मांस रस का निरन्तर सेवन करना, रसायनों में प्रतिदिन दूध तथा घी का सेवन करना, वीर्यवर्धकों तथा उदावर्तनाशकों में समभाग में मिले घी और सत्तू को चाटने का अभ्यास, दाँतों को दृढ़ करने वालों एवं भोजन के प्रति रुचि बढ़ाने वालों में तैलगण्डूष का अभ्यास (देखें—कवल, गण्डूष-धारण-विधि), दुर्गन्धनाशकों, दाहशान्त-कारक लेपों में चन्दन का लेप, शीत (जाड़ा) को दूर करने वाले प्रलेपों में रास्ना और अगरु, दाह, त्वचा-विकार तथा स्वेद को दूर करने वाले प्रलेपों में लामज्जक (उशीरभेद, सुगन्धित द्रव्य) और उशीर (खश), वातनाशक, अभ्यङ्ग और उपनाह (पुल्टिस) के उपयोग में आने वालों में कुष्ठ (कूठ), आँखों के लिये हितकारकों, वीर्यवर्धकों, बालों को बढ़ाने वालों, कण्ठ के लिये हितकारकों, वर्णप्रसादकों, विरजनीयों (मल मूत्र के वर्ण को ठीक करने वालों) तथा रोपणीयों (घाव को भरने वालों) में मधुक (मुलेठी), प्राण तथा होश में लाने वाले हेतुओं में वायु, आम, स्तम्भ (जड़ता), शीत, शूल, कम्पन को शान्त करने वालों में अग्नि, स्तम्भनीयों में जल, तृष्णा तथा छर्दि (वमन) के अतियोग को शान्त करने वालों में तपायी हुई मिट्टी या तपाये हुए ढेले से बुझाया हुआ जल (जिस जल में मिट्टी या पत्थर गरम करके बुझाया गया हो वह जल), आमजनक विकारों में अधिक मात्रा में भोजन करना, पाचकाग्नि को बढ़ाने वालों में जाठराग्नि की शक्ति के अनुसार भोजन करना, सेवनीय कर्मों में अपने अनुकूल आहार-विहार, आरोग्यकारक पदार्थों में समय पर भोजन करना, आहार गुणों में तृप्ति, अस्वास्थ्यकारक भावों में अधारणीय वेगों को रोकना, मन को प्रसन्न करने वालों में मद्य का सेवन, बुद्धि, धैर्य, स्मृति का नाश करने वालों में मद्य सेवन द्वारा उत्पन्न मादकता, देर से पचने वालों में गुरु पदार्थों का भोजन, सुखपूर्वक परिणाम (पचने) वालों में एकाशन (एक बार विधिपूर्वक भोजन = अशन—The act of eating), शरीरक्षयकारक भावों में अधिक मैथुन, नपुंसक-कारकों में वीर्य के वेग को रोकना, भोजन के प्रति अश्रद्धा (अरुचि) कारकों में पराघातन (वधस्थान या वधस्थान में जाकर प्राणि के वध को देखना, जैसे—फांसी पर लटका देना या शूली पर चढ़ा देना आदि), आयु को घटाने वाले भावों में अनशन (भोजन का सर्वथा परित्याग), कृशकारकों में थोड़ा-सा भोजन करना, ग्रहणी को दूषित करने वालों में अजीर्ण (अनपच) की स्थिति में पुनः भोजन कर लेना, पाचकाग्नि को विषम करने वालों में विषमाशन (कभी कम और कभी ज्यादा भोजन करना), निन्दित व्याधिकारकों में परस्पर वीर्य विरुद्ध पदार्थों का भोजन। जैसे—मछली और दूध को एक ही समय एक साथ खाना, पथ्य (हित) कारकों में इन्द्रियों को शान्त रखना, अर्थात् इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों के प्रति आसक्त न होने देना, सभी प्रकार के अपथ्यों में शक्ति से अधिक आयास (परिश्रम) करना, व्याधि (रोग) को उत्पन्न करने वालों में समय, बुद्धि एवम् इन्द्रियों के विषयों का मिथ्यायोग (यहाँ समयोग को छोड़कर शेष सभी को मिथ्यायोग की सीमा के अन्तर्गत समझें), अलक्ष्मी (धन और शरीर शोभा) नाशकों में रजस्वला स्त्री के साथ

सहवास, आयुर्वर्धक कारणों में ब्रह्मचर्य, आयुनाशक कारणों में परस्त्री-गमन (पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करना।) देखें—'नहीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते। यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्' ॥ मनुस्मृति।) वृष्यों (वीर्यवर्धकों) में वाजीकरण योग्य स्त्री का ध्यान करना, वृष्यतानाशकों में मन का दुश्चिन्ताओं से ग्रस्त होना, प्राणनाशकों में बल (शक्ति) के विपरीत कार्य का प्रारम्भ करना, रोग को बढ़ाने वालों में मन का दुःखी रहना, थकावट को दूर करने वालों में स्नान (नहाना, शरीर तथा वस्त्रों की सफाई), तृप्त करने वाले भावों में हर्ष (प्रसन्नता), शरीर को सुखाने वालों में शोक (पुत्र तथा धननाश आदि सम्बन्धी मानसिक चिन्ता), पुष्टि-कारकों में मनःसन्तोष, स्वप्नकारक (निद्रा लाने वाले) पदार्थों में पुष्टि (उत्तम स्वास्थ्य या भरपूर भोजन), तन्द्रा (ऊँघाई) आने वालों में अधिक सोना, बलकारकों में सभी रसों का अभ्यास (अतः भोजन में सदा सभी रसों का प्रयोग करना सामान्य नियम है), दुर्बलताकारकों में छः रसों में से किसी एक ही रस का निरन्तर सेवन करना, बलपूर्वक निकालने वालों में गर्भ-शल्य (जीवित अथवा मृत दोनों ही अवस्था में गर्भ को शल्य कहा है, यह प्रयोग मूढ़गर्भ अथवा मृतगर्भ को निकालने के लिये होता है), उद्धरणीय (ऊपर को वमन द्वारा) हरणीय (निकालने योग्य) रोगों में अजीर्ण, मृदु (सुकुमार) भेषज जिनके लिये प्रयोग की जाती है उनमें बालक, याप्य (चलाने लायक अर्थात् ठीक न होने योग्य) रोगों में वृद्धावस्था, तीक्ष्ण औषध, मैथुन, व्यायाम से बचाने लायकों में गर्भिणी, गर्भधारक कारणों में मन का प्रसन्न होना, कष्टसाध्य रोगों में सन्निपात (तीनों दोषों का एक साथ कुपित होना), कष्टकारक चिकित्सा के योग्य रोगों में आमविष (देखें—च० वि० अ० २। १२।) रोगों में ज्वर, दीर्घकाल तक रहने वाले रोगों में कुष्ठ (कोढ़), रोग समूहों में राजयक्ष्मा, नित्य पीछे लगे रहने वाले रोगों में प्रमेह, अनुशस्त्रों में जलौका (जोंक) (देखें—सु० सू० अ० १०। सुश्रुत में वर्णित अनुशस्त्रों में इसकी संख्या पांचवी है।), चिकित्सा में कहे गये पञ्चकर्मों में बस्ति-प्रयोग, ओषधि उत्पन्न होने वाली भूमियों में हिमालय पर्वत, ओषधियों में सोम, आरोग्यकारक देशों में मरुभूमि, अहित (अस्वास्थ्य) कर प्रदेशों में अनूप (जल प्रधान तराई वाले) देश, रोगी के गुणों में चिकित्सक के आदेश के अनुसार व्यवहार करना, चिकित्सा के चार पादों में उत्तम चिकित्सक, समाज में छोड़ने लायक व्यक्तियों में नास्तिक (वेद-निन्दक), कष्टकारक प्रवृत्तियों में चपलता (जीभ को वश में न रखना), अरिष्ट लक्षणों में चिकित्सक के आदेश के अनुसार व्यवहार न करना, आरोग्य के लक्षणों में मन का प्रसन्न रहना (यथा–'अनिर्वेदः श्रियो मूलम्'। सूक्ति।), सन्देह-निवृत्तिकारकों में वैद्यसमूह (सामूहिक दृष्टि से वैद्य जिस रोग के बारे में जो निर्णय करते हैं, उसमें कोई सन्देह नहीं रहता।), वैद्यों के गुणों में औषधद्रव्यों का सम्यक् योग, ओषधियों में सम्यक् प्रकार का गुण, धर्म आदि का ज्ञान, साधनों में शास्त्र-प्रमाणयुक्त तर्क, कालज्ञान-प्रयोजनों में सम्यक् प्रकार का ज्ञान, समय को व्यर्थ व्यतीत करने वालों में व्यवसाय (कर्तव्य) हीनता, निःसन्देहकारक कार्यों में देखकर कार्य करना, भय-कारक भावों में असमर्थता, बुद्धि को बढ़ाने वाले व्यवहारों में तद्विद्यों (उस विषय को जानने वाले विद्वानों) से वार्तालाप, शास्त्र को जानने वाले कारणों में आचार्य (गुरु), जीवनप्रदहेतुओं में आयुर्वेद, करने (आचरण करने) योग्य कार्यों में सज्जनों के वचन, सब प्रकार के अहित कार्यों में असद् ग्रहण (असम्बद्ध बोलना) और सुखकारक भावों में सर्वश्रेष्ठ है सम्पूर्ण क्रियाओं का त्याग। (देखें—'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्' ॥ गीता। और—सर्वसङ्कल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते' ॥ गीता।)

प्रधान औषध-द्रव्यों के कर्मों की तालिका

क्र०	अग्रयद्रव्य	हिततम	अहिततम	क्र०	अग्रयद्रव्य	हिततम	अहिततम
१	अन्न	वृत्तिकर	—	८	अम्लरस	हृदय के लिये हित	—
२	जल	आश्वासकर	—	९	कुक्कुटमांस	बलकारक	—
३	सुरा*	श्रमहर	—	१०	नक्ररेतस्	वीर्यवर्धक	—
४	दुग्ध	जीवनीय	—	११	मधु	कफपित्तनाशक	—
५	मांस	बृंहण	—	१२	घृत	वातपित्तनाशक	—
६	मांसरस	तर्पण	—	१३	तैल	वातकफ नाशक	—
७	लवण	अन्नद्रव्यरुचिकर	—	१४	क्षार	—	पुंस्त्वनाशक

क्र०	अग्र्यद्रव्य	हिततम	अहिततम
१५	तिन्दुक*	—	अरुचिकारक
१६	कच्चा कैथ	—	कण्ठहानिप्रद
१७	भेड़ी का घी	—	अहृद्य
१८	बकरी का दूध	शोषघ्न, स्तन्य	—
१९	भेड़ी का दूध	—	कफपित्तवर्धक
२०	भैंस का दूध	निद्राकर	—
२१	अधजमा दही	—	अभिष्यन्दकारक
२२	गवेधुक	—	कृशताकारक
२३	उद्दालक	—	विरूक्षण
२४	ईख	मूत्रजनन	—
२५	जौ	पुरीषजनन	—
२६	जामुन	—	वातजनन
२७	शष्कुली	—	श्लेष्मपित्तजनन
२८	कुलथी	—	अम्लपित्तजनन
२९	उड़द	—	श्लेष्मपित्तजनन
३०	मैनफल	वमन आदि कारक	—
३१	त्रिवृत्	सुखविरेचक	—
३२	अमलतास	मृदुविरेचक	—
३३	स्नुहीक्षीर	तीक्ष्णविरेचक	—
३४	अपामार्ग	शिरोविरेचक	—
३५	विडंग	कृमिनाशक	—
३६	शिरीष	विषनाशक	—
३७	खदिर	कुष्ठनाशक	—
३८	रास्ना	वातहर	—
३९	आँवला	वयःस्थापन	—
४०	हरीतकी	पथ्यकारक	—
४१	एरण्डमूल	वृष्य, वातहर	—
४२	पिप्पलीमूल	दीपन आदि	—
४३	पुष्करमूल	हिक्का आदि हर	—
४४	चित्रकमूल	दीपनीय आदि	—
४५	नागरमोथा	संग्राहक आदि	—
४६	नेत्रबाला	दाह प्रशमन	—
४७	सोनापाठा	संग्राहक, दीपन, पाचन,	
४८	अनन्तमूल	संग्राहक, दीपन, रक्तपित्त-शमन	
४९	गुडूची	संग्राहक, वातहर, दीपन, श्लेष्महर, शोणितविवन्धहर	
५०	विल्व	संग्राहक, दीपन, वातकफ-प्रशमन	
५१	अतीस	संग्राहक, दीपन, पाचन, त्रिदोषहर	

क्र०	अग्र्यद्रव्य	हिततम
५२	नीला, लाल और सफेद कमलकेशर	संग्राहक, रक्तपित्तप्रशमन
५३	दुरालभा	पित्त-कफ प्रशमन
५४	गन्धप्रियंगु	रक्त-पित्त अतियोगप्रशमन
५५	कुटजत्वक्	कफ-पित्त-रक्तसंग्राहक तथा उपशोषण
५६	गम्भारीफल	रक्तसंग्राहक, रक्त-पित्त-प्रशमन
५७	पृश्निपर्णी	संग्राहक, वातहर, दीपनीय वृष्य (वीर्यवर्धक)
५८	शालपर्णी	वृष्य, त्रिदोषहर
५९	बला	संग्राहक, बल्य, वातहर
६०	गोखरू	बल्य, मूत्रकृच्छ्र और वातहर
६१	हिंगुनिर्यास	छेदन, दीपन, भेदन, अनुलोमन, वातकफप्रशमन
६२	अम्लवेतस्	भेदन, दीपन, अनुमोलन वातकफप्रशमन
६३	यावशूक	स्रंसन, पाचन, अर्शोघ्न
६४	चन्दन	दाहप्रशमनप्रलेप
६५	रास्ना, अगुरु	शीतापनयनप्रलेप
६६	लामज्जक (उशीर)	दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर, स्वेदापनयन
६७	कुष्ठ (कूठ)	वातहर, अभ्यंग, उपनाह,
६८	मधुक (मुलेठी)	चक्षुष्य, वृष्य, केश्य, कण्ठ्य, वर्ण्य, बल्य, विरजनीय, रोपणीय
६९	वायु	प्राण, संज्ञाप्रदानकर्ता
७०	अग्नि	आम, स्तम्भ, शीत, शूल, कम्पनाशक
७१	जल	स्तम्भनीय
७२	मृद्भृष्टलोष्ट-निर्वापित जल	तृष्णातियोग प्रशमन
७३	मद्य	सौमनस्य जनन
७४	सोम	ओषधियों में
७५	जलौका	अनुशस्त्र
७६	तक्रसेवन	ग्रहणीदोष, अर्श और घृत-व्यापद् नाशक
७७	क्रव्यादमांस-रसाभ्यास	ग्रहणीदोष, शोष (क्षय), अर्शनाशक
७८	क्षीरघृत अभ्यास	रसायनों में श्रेष्ठ
७९	समघृतसक्तु-प्राशाभ्यास	वृष्य, उदावर्तहर,
८०	तैलगण्डूषाभ्यास	दन्तबलवर्धक, रुचिकर

क्र०	कर्म तथा भाव	प्रभाव
८१	वमन	कफसंशोधन
८२	विरेचन	पित्तनाशक
८३	बस्ति	वातहर
८४	स्वेदन	मृदुताकारक
८५	व्यायाम	शरीरस्थिरताकारक
८६	अतिमात्राशन	आमदोषवर्धक
८७	यथाग्निभोजन	अग्निदीप्तिकारक
८८	यथासात्म्यचेष्टाभोजन	सेवनीयों में
८९	कालभोजन	आरोग्यकारकों में
९०	तृप्ति	आहारगुणों में
९१	वेगसन्धारण	अस्वास्थ्यकारक
९२	मद्याक्षेप	बुद्धि, स्मृति, धैर्यनाशक
९३	गुरुभोजन	अजीर्णकारक
९४	एककालिकभोजन	सुखपरिणामकर
९५	अतिस्त्रीसंभोग	क्षयकारक
९६	शुक्रवेगनिग्रह	नपुंसकताकारक
९७	वधस्थानदर्शन	अरुचिकारक
९८	अनशन	आयुह्रासकारक
९९	प्रमिताशन	कृशताकारक
१००	अजीर्णाध्यशन	ग्रहणीदूषक
१०१	विषमाशन	अग्निविषमताकारक
१०२	विरुद्धवीर्याशन	निन्दितव्याधिकर
१०३	प्रशम (इन्द्रियदमन)	पथ्यों में श्रेष्ठ
१०४	आयास	अपथ्यकर
१०५	मिथ्यायोग	रोगों का कारण
१०६	रजस्वलागमन	दरिद्रताकारक
१०७	ब्रह्मचर्य	आयुर्वर्धक
१०८	परदारागमन	आयुनाशक
१०९	प्रियस्त्री का ध्यान	वृष्यकारक
११०	दौर्मनस्य	नपुंसकताकारक
१११	अयथाबलमारम्भ	प्राणनाशक
११२	विषाद	रोगवर्धक
११३	स्नान	श्रमहर
११४	हर्ष	तृप्तिकर
११५	शोक	शोषणकारक
११६	निर्वृत्ति	पुष्टिकारक
११७	पुष्टि	निद्राकारक
११८	अतिनिद्रा	तन्द्राकारक

क्र०	कर्म तथा भाव	प्रभाव
११९	सर्वरसाभ्यास	बलकारक
१२०	एकरसाभ्यास	दुर्बलताकारक
१२१	गर्भशल्य	आहरणीय
१२२	अजीर्ण	उद्धरणीय
१२३	बालक	मृदुभेषजयोग्य
१२४	वृद्ध	यापन के योग्य
१२५	गर्भिणी	तीक्ष्णऔषध, मैथुन, व्यायाम के अयोग्य
१२६	सौमनस्य	गर्भधारक
१२७	सन्निपात	दुश्चिकित्स्य
१२८	आमविष	विषमचिकित्स्य
१२९	ज्वर	रोगों में श्रेष्ठ
१३०	राजयक्ष्मा	रोगसमूहों में
१३१	कुष्ठ	दीर्घकालिकरोग
१३२	प्रमेह	अनुषंगी
१३३	बस्ति	कर्मों में
१३४	हिमालय	ओषधिभूमियों में
१३५	मरुभूमि	आरोग्यजनकों में
१३६	अनूपदेश	अनारोग्यकर
१३७	निर्देशकारित्व	आतुर (रोगी) गुण
१३८	भिषक्	चारों पादों में श्रेष्ठ
१३९	नास्तिक	वर्जनीय
१४०	लौल्य	कष्टकारक
१४१	अनिर्देशकारित्व	अरिष्टकर
१४२	अनिर्वेद	आरोग्यलक्षण
१४३	वैद्यसमूह	सन्देहनाशक
१४४	योग (औषधयोग)	वैद्य का गुण
१४५	विज्ञान	औषधद्रव्यों का
१४६	शास्त्रसम्मततर्क	साधनों का
१४७	सम्प्रतिपत्ति	कालज्ञानप्रयोजन
१४८	अव्यवसाय	समय व्यर्थ बिताना
१४९	दृष्टकर्मता	निःसन्देहकारक
१५०	असमर्थता	भयकारक
१५१	तद्विद्यसंभाषा	ज्ञानवर्धक
१५२	आचार्य	शास्त्रज्ञान का हेतु
१५३	आयुर्वेद	जीवनदायक
१५४	असद्ग्रहण	सभी प्रकार का अहितकारक
१५५	सर्वसन्यास	सुखकारणों में श्रेष्ठ

वक्तव्य—अगले ४१ वें पद्य के अनुसार उक्त तालिका में उल्लिखित अग्र्य द्रव्यों की संख्या १५२ होनी चाहिये थी, किन्तु यहाँ वह संख्या १५५ है। इसका स्पष्टीकरण देखें—इस सूची में पुष्पांकित सुरा और तिन्दुक

ये दो द्रव्य कोष्ठान्तर्गत दिये गये हैं, अतः ये प्रक्षिप्त हैं। इनके अतिरिक्त बस्ति शब्द का दो जगह पाठ है, द्वितीय पाठ पर विद्वान् ध्यान दें, क्या यह प्रक्षिप्त तो नहीं है?

भवन्ति चात्र—

अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं यद् द्विपञ्चाशदुत्तरम्। [1]अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥४१॥

अग्र्य द्रव्यों का योग—यहाँ अग्र्य द्रव्यों की जो एक सौ बावन (१५२) संख्या कही गयी है, यह विकारों (रोगों) के निराकरण के लिये समर्थ है।

वक्तव्य—ऊपर कुछ द्रव्यों तथा भावों को हितकारकों में तथा दूसरों को अहितकारकों में श्रेष्ठ कहा गया है। इनका उपयोग उत्तम चिकित्सक चिकित्सा तथा पथ्य के लिये करते हैं। हिमालय पर्वत को ओषधि-भूमियों में श्रेष्ठ कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि अधिकांश ओषधियाँ उसकी उपत्यका तथा अधित्यका में पायी जाती हैं और वैद्यसमूह को संशय का नाश करने वाला बताया है। यही कारण है कि जहाँ रोग-निर्णय या चिकित्सा-निर्णय में चिकित्सक सन्देह में पड़ जाता है वहाँ वह उच्चस्तरीय चिकित्सकों की सलाह लेकर अपने तथा रोगी के सन्देह को दूर करे। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य भाव भी मननीय हैं।

समानकारिणो येऽर्थास्तेषां श्रेष्ठस्य लक्षणम्। ज्यायस्त्वं [2]कार्यकर्तृत्वे [3]वरत्वं चाप्युदाहृतम् ॥४२॥

समान कार्य करने वाले जो अर्थ (द्रव्य, भाव) हैं, उनमें श्रेष्ठों के लक्षण बताये गये हैं। कार्य करने में कौन किससे बड़ा है और कौन किससे छोटा (अल्प गुण वाला) है, इसका भी निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—जीविका का निर्वाह करने वाले पदार्थों में 'अन्न' को सर्वश्रेष्ठ इसलिये कहा गया है कि यह जन सामान्य का अनुपात है। कुछ ऐसे भी सम्पन्न तपस्वी हैं जो अन्न का परित्याग कर केवल दूध तथा फलों से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपवादस्वरूप होते हैं। यह श्रेष्ठता के लक्षणों में से एक उदाहरण है। अब 'अवरत्वं च उदाहृतम्' का उदाहरण प्रस्तुत है—पुरुषत्व का नाश करने वालों में क्षार प्रधान होते हैं।

वातपित्तकफानां च यद्यत् प्रशमने हितम्। प्राधान्यतश्च निर्दिष्टं यद् व्याधिहरमुत्तमम् ॥४३॥

और वात-पित्त-कफदोषों (एक-एक करके अथवा सामूहिक रूप से इन) को जो-जो औषध द्रव्य प्रशमन करने में सहायक होते हैं उनका वर्णन भी किया गया है तथा जो व्याधि का हरण करने में श्रेष्ठ हैं उनका उल्लेख यहाँ प्रधान रूप से किया गया है।

वक्तव्य—यद्यपि अपने प्रकरण में ये सभी चर्चायें की गयी हैं फिर भी यहाँ सूत्र रूप से उनका निर्देश तन्त्रकार ने किया है—'वस्तिर्वातहराणाम्' 'विरेचनं पित्तहराणाम्' और 'वमनं श्लेष्महराणाम्'। इस प्रकार वात, पित्त, कफशामक प्रधान कर्मों के निर्देश दिये हैं जो चिकित्साकाल में सदैव स्मरणीय हैं। 'यद् व्याधिहरमुत्तमम्' का उदाहरण—'खदिरं कुष्ठघ्नानाम्' कुष्ठ व्याधिनाशक योगों में खदिर (खैरसार) का अधिकांश उपयोग होता है।

एतन्निशम्य निपुणं चिकित्सां सम्प्रयोजयेत्। एवं कुर्वन् सदा वैद्यो धर्मकामौ समश्नुते ॥४४॥

उपर्युक्त एक सौ बावन अग्र्य भावों को सुन-समझ कर भली-भाँति इनका चिकित्सा में प्रयोग करे। ऐसा करता हुआ चिकित्सक सदैव धर्म और काम की प्राप्ति करता है।

वक्तव्य—अर्थात् इन चिकित्सोपयोगी उपदेशों को सुन-समझ कर जो इनका चिकित्सा-काल में प्रयोग करता है, वह धर्म की प्राप्ति (रोगी के स्वास्थ्यलाभ के कारण) और तदनन्तर काम (इच्छित वस्तुओं) की प्राप्ति करता है। यहाँ 'धर्मकामौ' से अर्थलाभ को भी समझ लेना चाहिये।

१. 'अलमिति समर्थम्' चक्रः।
२. 'कार्यकारित्वे' इति पा०।
३. '-ऽवरत्वम्' ग.।

पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः [1]प्रियम्। यच्चाप्रियमपथ्यं च [2]नियतं तन्न लक्षयेत् ॥४५॥
मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणान्तरम्। प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते भावास्तथा तथा ॥४६॥

पथ्य-अपथ्य की परिभाषा—जो आहारादि द्रव्य तथा शारीरिक चेष्टायें पथ (स्रोतरूपी मार्गों) में अनपेत (अपकार) कारक न हों और जो मन को प्रिय लगें अर्थात् शरीर एवं मन के लिये हितकारक हों, उन सब का नाम 'पथ्य' है। और जो पथ्य की परिभाषा के विपरीत तथा शरीर तथा मन के लिये अप्रिय (अहितकर) हों उनको निश्चित रूप से अपथ्य समझना चाहिये, किन्तु यह पथ्य तथा अपथ्य की परिभाषा स्थायी नहीं है, क्योंकि मात्रा, काल, क्रिया (निर्माण-विधि आदि के भेद), भूमि, देह तथा दोषों की अलग-अलग स्थितियों को प्राप्त होकर वे-वे भाव (जो-जो अग्र्य प्रकरण में कहे गये हैं), उस-उस प्रकार के (अपने-अपने कर्मों को करने वाले) दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—पूर्वोक्त अग्र्यप्रकरण में जिन द्रव्यों या भावों को पथ्यतम अथवा अपथ्यतम कहा गया है, वहाँ भी मात्रा, काल, क्रिया, देह, भूमि, दोषों आदि का विचार अवश्य करना चाहिये अन्यथा हितकारक भी अहितकारक और अहितकारक भी हितकारक हो जाते हैं। यथा—'क्षीरं जीवनीयानाम्' दूध जीवनीय पदार्थों में श्रेष्ठ है, यदि यही दूध मात्रा से अधिक पी लिया जाय तो अतिसारकारक हो जायगा, यही दूध औटाया हुआ (गाढ़ा) विष्टम्भकारक होगा। किन्तु जो प्रतिदिन जैसा जितना दूध पीता होगा उससे कम उसके लिये मात्रा में कम होने से अस्वास्थ्य (कमजोरी) का कारण हो जायगा।

'माषाः शमीधान्यानाम्, अहिततमाः'—शमी धान्यों में माष (उड़द) अहिततम (अपथ्य) होते हैं और दूसरे स्थान पर **'माषाः श्लेष्मपित्तजननानाम्'** अर्थात् उड़द कफ और पित्तकारक द्रव्यों में श्रेष्ठ हैं। दो भिन्न-भिन्न निर्देश हैं। पहले निर्देश से तो माष सर्वथा असेव्य हैं और दूसरे निर्देश के अनुसार 'वातनाशक' होते हैं। अतः इस प्रकार के पथ्यापथ्य के निर्णय के लिये मात्रा, देश, काल, परिस्थिति का विचार करना अत्यावश्यक होता है।

तस्मात् स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः। तदपेक्ष्योभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ॥४७॥

इसलिये चिकित्सा-कार्य में सिद्धि को चाहने वाले चिकित्सक को चाहिये कि वह जिन-जिन द्रव्यों के जो-जो स्वभाव (गुण-धर्म) बतलाये गये हैं, वे सब मात्रा, क्रिया, काल आदि के आश्रित होते हैं। अतः उन उन का विचार करके ही चिकित्सा-कार्य में प्रयोग करना चाहिये।

तदात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—यथोद्देशमभिनिर्दिष्टः केवलोऽयमर्थो भगवता श्रुतश्चास्माभिः। आसवद्रव्याणामिदानीमनपवादं लक्षणमनतिसङ्क्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामह इति ॥ ४८ ॥

आसव द्रव्यों का निर्दुष्ट-लक्षण

अग्निवेश की आसवसम्बन्धी जिज्ञासा—तब भगवान् आत्रेय के वचनों को सुनकर फिर भी भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—आपने जो प्रतिज्ञा के अनुसार केवल (पूर्वनिर्णीत) विषय का निर्देश दिया उसको हमने सुन लिया है। अब अपवादरहित आसव-द्रव्यों के निर्दुष्ट लक्षणों को विस्तारपूर्वक हम आप से सुनना चाहते हैं।

वक्तव्य—**'केवल'** शब्द का अर्थ मात्र, एक, अद्वितीय, विशुद्ध, श्रेष्ठ तथा पूर्वनिर्णीत भी होता है

१. 'पथः शरीरमार्गात् स्रोतोरूपादनपेतम्; अपेतमपकारकम्, अनपेतमनपकारकमित्यर्थः; पथग्रहणेन पथो बाधा दोषा धातवश्च, तथा पथो निर्वर्तका धातवो गृह्यन्ते, तेन कृत्स्नमेव शरीरं गृहीतं भवति, ततश्च शरीरानुपघाति पथ्यमिति भवति; मनसो हितमिति प्रियार्थः। एतेन मनःशरीरानुपघाति पथ्यमिति पथ्यलक्षणमनपवादं भवति'। चक्रः।

२. 'नियतं निश्चितमिदमप्रियमेव सर्वदेदमपथ्यमेव सर्वदेवेत्येवंरूपं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः। कुतो नास्तीत्याह—मात्रेत्यादि'। चक्रः।

देखें—'निर्णीतं केवलमिति'। अमरकोष। **अनपवाद**—अपवाद के अभाव को अनपवाद कहते हैं। अपवाद का अर्थ है बाधकशास्त्र, जिसका प्रतिवाद हो या किया जा सके। **अनतिसङ्क्षेप**—जो अधिक संक्षिप्त (सूत्र रूप में) न हो अर्थात् विस्तार से हो।

तमुवाच भगवानात्रेयः—धान्यफलमूलसारपुष्पकाण्डपत्रत्वचो भवन्त्यासवयोनयोऽग्निवेश ! सङ्ग्रहेणाष्टौ शर्करा नवमीकाः (१),

आसव योनियाँ—उस अग्निवेश से भगवान् आत्रेय ने कहा—अग्निवेश ! संक्षेप से निम्नलिखित नौ द्रव्यों से आसवों का निर्माण होता है—१. धान्य, २. फल, ३. मूल, ४. सार, ५. पुष्प, ६. काण्ड, ७. पत्र, ८. त्वचा, आठ ये और ९ वीं शर्करा (खाँड)।

तास्वेव [1]द्रव्यसंयोगकरणतोऽपरिसङ्ख्येयासु यथापथ्यतमानामासवानां चतुरशीतिं निबोध। तद्यथा-सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकधान्याम्लाः षड् धान्यासवा भवन्ति, मृद्वीकाखर्जूरकाश्मर्यधन्वनराजादन-तृणशून्यपरूषकाभयामलकमृगलिण्डिकाजाम्बवकपित्थकुवलबदरकर्कन्धुपीलुप्रियालपनसन्यग्रोधाश्वत्थप्लक्षक-पीतनोदुम्बराजमोदशृङ्गाटकशङ्खिनीफलासवाः षड्विंशतिर्भवन्ति, विदारिगन्धाश्वगन्धाकृष्णगन्धाशता-वरीश्यामात्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीबिल्वोरुबूकचित्रकमूलैरेकादश मूलासवा भवन्ति; शालप्रियकाश्वकर्णचन्दन-स्यन्दनखदिरकदरसप्तपर्णार्जुनासनारिमेदतिन्दुककिणिहीशमीशुक्तिशिंशपाशिरीषवञ्जुलधन्वनमधुकैः सारासवा विंशतिर्भवन्ति, पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधूकप्रियङ्गुधातकीपुष्पैर्दश पुष्पासवा भवन्ति, इक्षुकाण्डेक्षिवक्षुबालिकापुण्ड्रकचतुर्थाः काण्डासवा भवन्ति, पटोलताडकपत्रासवौ द्वौ भवतः, [2]तिल्वकलोध्रैलवालुकक्रमुकचतुर्थास्त्वगासवा भवन्ति, शर्करासव एक एवेति, एवमेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेणासंसृष्टानामासवद्रव्याणामुपनिर्दिष्टा भवति (२),

चौरासी आसव (Eighty four Fermentative Products)—उन्हीं उपर्युक्त नौ आसव योनियों में द्रव्यों के संयोग के और करणों (संस्कारों) के भेदों से अनगिनत हो जाते हैं, उनमें से पथ्यतम (अत्यन्त हितकारक) चौरासी आसवों को मुझसे सुनो। वे इस प्रकार हैं—१. सुरा, २. सौवीर ३. तुषोदक ४. मैरेय, ५. मेदक, ६. धान्याम्ल—ये छः **धान्यासव** होते हैं।

१, मृद्वीका, २. खर्जूर, ३. गम्भारी, ४. धन्वन, ५. राजादन (खिरनी), ६. तृणशून्य (केवड़ा), ७. परूषक (फालसा) ८. हरीतकी, ९. आँवला, १०. मृगलिण्डिका (बहेरा), ११. जामुन, १२. कैथ, १३. कुवल (बड़ी बेर), १४. बदर (बेर), १५. कर्कन्धु (छोटा बेर) १६. पीलु फल, १७. प्रियाल (चिरौंजी), १८. पनस (कटहल), १९. न्यग्रोध (बरगद) २०. अश्वत्थ (पीपल), २१. प्लक्ष (पाकड़) २२. कपीतन (आम्रातक), २३. उदुम्बर (गूलर), २४. अजमोदा, २५. शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), २६. शंखिनी (चोरपुष्पी)—ये छब्बीस **फलासव** होते हैं।

१. विदारिगन्धा (सरिवन, सालपर्णी), २. असगन्ध, ३. कृष्णगन्धा (सहिजन) ४. शतावरी, ५. श्यामा (काली निशोथ), ६. त्रिवृत् (निशोथ), ७. दन्ती (जमालगोटा), ८. द्रवन्ती, ९. बिल्व (बेल), १०. एरण्ड (रेड़ की जड़), ११. चित्रक इन द्रव्यों की जड़ों से ग्यारह प्रकार के **मूलासव** होते हैं।

१. शाल (साखू = Shorearobusta), २. प्रियक (कदम्ब), ३. अश्वकर्ण (Dipterocarpus turbinatus) ४. चन्दन, ५. स्यन्दन (तिनिश), ६. खदिर (खैर), ७. कदर (श्वेत खदिर) ८. सप्तपर्ण (छतिवन), ९. अर्जुन, १०. असन (पीतसाल), ११. अरिमेद (विट् खदिर), १२. तिन्दुक, १३. किणिही (श्वेत शिरीष) १४. शमी, १५. शुक्ति (वेर, वैद्यकशब्दसिन्धु), १६. शिंशिपा (शीशम), १७. शिरीष (सिरस), १८. वञ्जुल (अशोक), १९. धन्वन (धामन), २०. मधूक इनके सार (मध्य) भागों से बीस **सारासव** होते हैं।

१. 'द्रव्यञ्च संयोगश्च करणं च, ततोऽपरिसङ्ख्येयाः स्युः' चक्रः.
२. 'बिल्व–' इति पा०।

१. पद्म, २. उत्पल (नीलकमल), ३. नलिन, ४. कुमुद (सफेद छोटा कमल) ५. सौगन्धिक (सफेद कमल भेद), ६. पुण्डरीक (सफेद बड़ा कमल), ७. शतपत्र (कुशेशय नामक कमल), ८. मधूक (महुआ), ९. प्रियंगु, १०. धातकी (धाय) के फूलों से दस **पुष्पासव** होते हैं।

१. इक्षु (ईख), २. काण्डेक्षु, ३. इक्षुबालिक, ४. पुण्ड्रक (पौंडा) इनके काण्ड भागों से बनाये जाने वाले चार **काण्डासव** होते हैं।

१. पटोल (परवल के पत्र), २. ताडकपत्र (ताड़ के पत्ते) से बनने वाले दो **पत्रासव** होते हैं।

१. तिल्वक, २. लोध, ३. एलुआ, ४. क्रमुक इनसे चार **त्वगासव** होते हैं।

१. शर्करा (खाँड़) से बनने वाले आसव को **शर्करासव** कहते हैं, यह एक ही होता है।

इस प्रकार आपस में न मिलाये गये आसव द्रव्यों के ऊपर चौरासी (८४) भेद कहे गये हैं।

वक्तव्य—संक्षेप में ८४ आसवों की गणना इस प्रकार होती है—

१. धान्य, २. फल, ३. मूल, ४. सार, ५. पुष्प, ६. काण्ड, ७. पत्र, ८. त्वक्, ९. शर्करा।

६ + २६ + ११ + २० + १० + ४ + २ + ४ + १ = योग ८४।

किणिही का पर्यायवाची शब्द **अपामार्ग** प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक व्याख्याकारों ने दिया है। ध्यान रहे, इस प्रकरण में उन्हीं वृक्षों के नामों का उल्लेख किया है जिन वृक्षों में सारभाग (मध्य भाग ठोस) हो, अतः इस प्रसङ्ग में **किणिही** का अर्थ **अपामार्ग** युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। हमने किणिही का अर्थ श्वेत-शिरीष (कटभी) किया है। इसी प्रकार **वञ्जुल** को यहाँ **वेतस** स्वीकार करना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। राजनिघण्टु १० तथा अमरकोष के वनौषधिवर्ग में देखें—**वञ्जुल** को **अशोक वृक्ष** कहा गया है।

आसव भेदों का परिचय—जिन द्रव्यों से मद्य का निर्माण किया जाता है उन्हें मद्याकर अथवा मद्ययोनि कहते हैं। यह घटक द्रव्यों एवम् निर्माण क्रिया भेद से अनेक प्रकार का होता है। **मद्य के भेद**—अरिष्ट, आसव, सुरा, वारुणी, धान्याम्ल (काञ्जिक), शुक्त, सीधु (सिरका)। चरक मे धान्यासव के भेदों का इस प्रकार वर्णन किया है—सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक और धान्याम्ल। विशेष च० चि० अ० २४ में देखें।

एषामासवानामासुतत्वादासवसंज्ञा [1]। द्रव्यसंयोगविभागविस्तारस्त्वेषां बहुविधकल्पः संस्कारश्च। यथास्वं संयोगसंस्कारसंस्कृता ह्यासवाः स्वं कर्म कुर्वन्ति। [2]संयोगसंस्कारदेशकालमात्रादयश्च भावास्तेषां तेषामासवानां ते ते समुपदिश्यन्ते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्येति ॥ ४९ ॥

आसव शब्द की निरुक्ति—इन आसवों में आसुत (सन्धान-क्रिया) होने के कारण इनकी आसव संज्ञा है। द्रव्यों के संयोग और विभाग करने पर तो इनके अनेक भेद हो जाते हैं और संस्कार (निर्माण) भेद से भी इनके अनेक प्रकार होते हैं। ठीक-ठीक संयोग आदि संस्कारों द्वारा निर्मित आसव अपना काम करते हैं। अर्थात् शास्त्रोक्त गुणों को देने में समर्थ होते हैं। उन उन आसवों के उन-उन कर्मों को भलीभाँति देखकर यहाँ आसवोपयोगी द्रव्यों का संयोग, संस्कार, देश, काल, मात्रा आदि भावों का उपदेश दिया जा रहा है।

वक्तव्य—आसुत की परिभाषा—'कन्दमूलफलाद्यञ्च लवणोदकसंयुतम्। सन्धानाच्चिरकालाम्लमासुतं परिकीर्तितम्'। वैद्यकशब्दसिन्धु। **सन्धानम्**—Distillation of liquors.

यद्यपि शास्त्रोक्त आसव-अरिष्ट अनेक हैं किन्तु इनको जब किसी रोग विशेष के लिये आसव का निर्माण करना होता है तो उस रोग के नाशक द्रव्यों का संयोग (इकट्ठा) करना तदनुकूल संस्कार आदि का विचार करना, यह औषध निर्माता के लिये आवश्यक है।

भवति चात्र—

[3]मनःशरीराग्निबलप्रदानामस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम्।
संहर्षणानां प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा ॥ ५० ॥

१. 'आसुतत्वात् सन्धानरूपत्वात्' चक्रः।
२. 'संयोगसंस्कारादौ देशकालमात्रादयश्च भावास्तेषाम्' ग.।
३. 'मनःशरीरेत्यादिना गुणकथनं युक्त्या पीतस्यासवस्य श्रेयम्' चक्रः।

आसवों के गुण—मन, शरीर एवम् पाचकाग्नि की शक्ति को बढ़ाने वाले निद्रानाश, शोक तथा अरुचि को दूर करने वाले और चित्त को प्रसन्न करने वाले चौरासी श्रेष्ठ आसवों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

[1]शरीररोगप्रकृतौ मतानि तत्त्वेन [2]चाहारविनिश्चयं च।
उवाच यज्जःपुरुषादिकेऽस्मिन्मुनिस्तथाऽग्र्याणि वरासवांश्च ॥ ५१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानचतुष्के
यज्जःपुरुषीयो नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—महर्षि पुनर्वसु ने इस यज्जःपुरुषीय नामक अध्याय में शरीर और रोग की प्रकृति (कारण) के सम्बन्ध में ऋषियों के मत सुने (उन पर समाधानात्मक अपना निर्णय दिया), तत्वतः आहारविनिश्चय, अग्र्य (श्रेष्ठ) द्रव्य और प्रमुख आसवों का वर्णन किया।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में यज्जःपुरुषीय नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

अथात आत्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

यज्जःपुरुषीय अध्याय के वर्णन के बाद अब हम आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इससे प्रथम अध्याय में हितकर तथा अहितकर आहार-विधियों का वर्णन किया जा चुका है। उस आहार-विधि का प्रभाव रस, वीर्य, विपाक के अनुसार पड़ता है। इस सिद्धान्त का स्थिरीकरण प्रस्तुत अध्याय में सम्भाषा-परिषद् द्वारा स्थिर किया गया है।

आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च। पूर्णाक्षश्चैव मौद्गल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः ॥३॥
यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः। श्रीमान् वार्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः ॥४॥
निमिश्च राजा वैदेहो बडिशश्च महामतिः[3]। काङ्कायनश्च बाह्लीको बाह्लीकभिषजां वरः ॥५॥
एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः। वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः ॥६॥

रस एवम् आहार सम्बन्धी सम्भाषा-परिषद्
(Symposium on Rasas & Taking Food)

सम्भाषा परिषद् में सम्मिलित सदस्य—आत्रेय (पुनर्वसु), भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, मौद्गल्यपूर्णाक्ष, कौशिकहिरण्याक्ष (यूरोप देश का प्रतिनिधि सुवर्णाभ-पीली आँखों वाला), पुण्यात्मा कुमारशिरा भारद्वाज, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीमान् राजा वार्योविद, विदेहाधिपति राजा निमि, महामति बडिश, बाह्लीक देश के चिकित्सकों

१. शरीररोगप्रकृतौ मतानीति शरीररोगयोः कारणे ये मुनीनां मतभेदास्तानित्यर्थः' शिवदासः।
२. 'चाहारविनिश्चयाय' ग.।
३. 'महामुनिः' यो.।

में श्रेष्ठ तथा बाह्लीक देश (बलख, तुर्किस्तान एवम् ईरान, सम्प्रति अर्ब या अरब) का निवासी **कांकायन** (यूनानी चिकित्सा का प्रथम आचार्य) ये शास्त्रज्ञान तथा अवस्था में वृद्ध-जितेन्द्रिय-महर्षि **रमणीय-चैत्ररथ** नामक वन (उद्यान) में (यह स्थान इलावर्त खंड के पूर्वदिशा में है। देखें—वायु० ३६।११, ४२।१५, ४७।६, ६९।१३७, ९१।६।) विहार करने की इच्छा से एकत्रित हुए।

तेषां तत्रोपविष्टानामियमर्थवती कथा। बभूवार्थविदां सम्यग् रसाहारविनिश्चये ॥७॥

चैत्ररथ वन (उद्यान) में बैठे हुए उन अर्थवेत्ता (प्रस्तुत रस-आहार विषय के जानकार) **महर्षियों** के बीच रस-आहार सम्बन्धी यह कथा (वार्ता या गोष्ठी) प्रारम्भ हुई।

वक्तव्य—चक्रपाणि के मत से 'रसाहारविनिश्चये' का रस द्वारा आहार का विनिश्चय यह अर्थ है। दूसरे आचार्य रसविनिश्चय और आहारविनिश्चय, ऐसा अर्थ स्वीकार करते हैं।

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः, यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं [1]जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः; स पुनरुदकादनन्य इति।

भद्रकाप्य का मत—भद्रकाप्य ने कहा, रस एक ही होता है। जिसको रस विशेषज्ञ पाँच इन्द्रियार्थों में अन्यतम जिह्वाविषय भाव कहते हैं। वह जल से अनन्य (भिन्न नहीं) है।

द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः, छेदनीय उपशमनीयश्चेति।

शाकुन्तेय का मत—शाकुन्तेय ब्राह्मण ने कहा कि रस दो होते हैं। यथा—१. छेदनीय और २. उपशमनीय।

वक्तव्य—जो रस सेवन करने पर दोषों को काटकर बाहर निकाल दे, वह छेदनीय है और जो सेवन करने पर दोषों का शमन करे, उसे उपशमनीय कहते हैं।

त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यश्छेद[2]नीयोपशमनीयसाधारणा इति।

मौद्गल्य पूर्णाक्ष का मत—इनका कथन है कि रस तीन प्रकार होते हैं—१. छेदनीय, २. उपशमनीय और ३. साधारण।

वक्तव्य—मौद्गल्य के अनुसार रस का एक तीसरा भेद और होता है—साधारण। अर्थात् जिसमें छेदनीय (दोषों को निकाल के) तथा उपशमनीय (दोषों का शमन करके स्वास्थ्यवृद्धि करने का) गुण हो, उसको साधारण माना है।

चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः, स्वादुर्हितश्च[3] स्वादुरहितश्चास्वादुर्हितश्चास्वादुरहितश्चेति।

कौशिक हिरण्याक्ष का मत—रस चार होते हैं—१. स्वादु हितकारक, २. स्वादु अहितकारक, ३. अस्वादु हितकारक, ४. अस्वादु अहितकारक।

वक्तव्य—रस के प्रभाव भेद से उसके भेदों की कल्पना की गयी है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' सबकी रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अतः कौन किसके लिये स्वादु है यह निर्णय करना कठिन है, किन्तु हमें यहाँ अग्र्य द्रव्यों की दृष्टि से स्वादु आदि का निर्णय करना है। देखें—अग्र्य द्रव्यों की प्रकृति को।

पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः, भौमौदकाग्नेयवायव्यान्तरिक्षाः।

कुमारशिरा भरद्वाज का मत—इनके अनुसार रस पाँच होते हैं। यथा—१. भौम, २. औदक, ३. आग्नेय, ४. वायव्य और ५. आन्तरिक्ष।

वक्तव्य—इन्होंने रसों की उत्पत्ति का आधार पञ्चमहाभूतों को मानकर ही **'पञ्च रसाः'** का निर्णय दिया है।

१. 'जिह्वावैषयिकमिति जिह्वाग्राह्यम्' चक्रः।
२. 'छेदनीय इति कर्शनीयः, उपशमनीय इति बृंहणीयः, साधारण इति आग्नेयसौम्यसम्बन्धाल्लङ्घनबृंहणयोः कर्ता; यथा—तैलम्' शिवदासः।
३. 'स्वादुरित्यभीष्टः हित इत्यायत्यनपकारी' चक्रः।

षड् रसा इति वार्योविदो राजर्षिः, गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः ।

वार्योविद का मत—राजर्षि वार्योविद का कथन है कि रस छः होते हैं—१. गुरु, २. लघु, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. स्निग्ध, ६. रूक्ष ।

सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराः ।

निमि का मत—इनका कथन है, रस सात होते हैं। यथा—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ५. कटु, ५. तिक्त, ६. कषाय और ७. क्षार ।

अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ताः ।

बडिश धामार्गव का मत—इन्होंने आठ रस होते हैं, ऐसा कहा है। यथा—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. कटु, ५. तिक्त, ६. कषाय, ७. क्षार और ८. अव्यक्त ।

वक्तव्य—इनके मत से अव्यक्त (अस्फुट) भी एक रस है। यह अव्यक्त रस या तो मधुर आदि भावों को प्राप्त करने के पूर्वस्थिति का रस है अथवा उस परिस्थिति में इसका ज्ञान हो सकता है, जब जीभ यह बतलाने में समर्थ हो जाय कि यह स्वाद उक्त ७ रसों से भिन्न है। अथवा इस अव्यक्त रस को रसाभाव भी कहा जा सकता है।

अपरिसङ्ख्येया रसा इति काङ्कायनो वाह्लीकभिषग्, [1]आश्रयगुणकर्मसंस्वादविशेषाणामपरिसङ्ख्येयत्वात् ॥ ८ ॥

कांकायन का मत—वाह्लीक भिषक् के मत से रसों की संख्या असंख्य है, क्योंकि आश्रयद्रव्य (रस जिनमें रहते हैं), गुण, कर्म तथा संस्वाद के भेदों की गणना नहीं की जा सकती। अतएव रस भी अपरिसंख्येय होते हैं।

वक्तव्य—रसों के आश्रय अनन्त द्रव्य हैं। रस आश्रयी है, अतः द्रव्यों की अनन्तता से इसके भी भेद अनन्त होंगे। इसी प्रकार गुण, कर्म आदि के कारण भी समझें। जैसे एक ईख से बने पदार्थ (चीनी, गुड, खांड, मिश्री) मधुर होने पर भी स्वाद में भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे ही अन्य सांसारिक पदार्थों के स्वादों के अनुसार रस-भेदों की स्वयं कल्पना की जा सकती है।

षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः ।

पुनर्वसु का समीक्षात्मक निष्कर्ष—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—रस छः ही होते हैं। उनके नाम हैं—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. कटु, ५. तिक्त और ६. कषाय ।

वक्तव्य—'षडेव रसाः' पुनर्वसु के इस वचन में 'एव' शब्द पूर्वोक्त महर्षियों के मत का खण्डन तथा षड्रस-सिद्धान्त की स्थापना कर रहा है कि यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकम्,[2]

एकरस मत का प्रतिवाद—भद्रकाप्य ने 'स पुनरुदकादनन्य इति' अर्थात् वह (रस) जल से भिन्न नहीं है, ऐसा कहा था। उसका खण्डन करते हुए पुनर्वसु कह रहे हैं कि उन छहों रसों की योनि (उत्पत्ति-कारण) जल है, न कि जल ही 'रस' है।

वक्तव्य—'कार्यकारणयोः पार्थक्यात्' जो कार्य है वह कारण नहीं हो सकता और जो कारण है वह कार्य नहीं हो सकता। यहाँ जल कारणरूप है उसी के कार्यरूप छः रस होते हैं। देखें—चरक सू० अ० २५ 'आपो हि रसवत्यः'।

छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वम्,

---

१. 'आश्रयगुणकर्मसंस्कारविशेषाणामपरिसङ्ख्येयत्वात्' ग. ।

२. 'योनिराधारकारणम्' चक्रः ।

दूसरे तथा तीसरे मतों का प्रतिवाद—शाकुन्तेय ब्राह्मण ने कहा था—रस दो होते हैं; छेदनीय और उपशमनीय। पुनर्वसु आत्रेय उसका खण्डन करते हुए कहते हैं—छेदन–दोषों का निर्हरण (निकालना) और उपशमन दोषों को शान्त करना ये कर्म हैं, नकि कोई रसविशेष। उक्त दोनों (छेदन, उपशमन) के मिल जाने से साधारणता होती है। अतः यह भी कर्म ही है। इस प्रकार पूर्णाक्ष का मत भी खण्डित हो गया।

वक्तव्य—छेदन, उपशमन और इन दोनों का मिश्रण साधारण ये तीनों कर्म हैं। यह कहकर आचार्य पुनर्वसु ने शाकुन्तेय तथा पूर्णाक्ष के मतों का खण्डन कर दिया। **छेदन द्रव्य का लक्षण**—'श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद् बलात्। छेदनं तद् यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु' ॥ शार्ङ्गधरसंहिता। **शमन द्रव्य का लक्षण**—'न शोधयति यद् दोषान् समान् नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमाञ्शमनं तद् यथाऽमृता' ॥ शार्ङ्गधरसंहिता। इन प्रमाणों से दो रस और तीन रस मानने वालों के मतों का स्पष्टतः खण्डन हो जाता है।

स्वाद्वस्वादुता [1]भक्तिः हिताहितौ प्रभावौ,

चौथे मत का प्रतिवाद—हिरण्याक्ष ने चार रस होते हैं, इस मत का प्रतिपादन किया था। उसका खण्डन करते हुए पुनर्वसु आत्रेय कह रहे हैं कि स्वादुता या अस्वादुता, यह अपनी-अपनी भक्ति (रुचि) है और हित, अहित उसके प्रभाव हैं।

वक्तव्य—भक्ति शब्द 'भज और भञ्ज' धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़ने पर बनता है। १. प्रथम भक्ति का अर्थ होता है सेवा (Service) और पूजा (Worship), दूसरी धातु से बने भक्ति का अर्थ होता है—टूटना (Fracture) और विभाजन (Division)। अतः भक्ति का अर्थ रुचि युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। इसलिये यहाँ भक्ति शब्द का तात्पर्य है—'सेवन का अभ्यास'। यह सच है किसी को लवण रस रुचिकर होता है तो दूसरे को मधुर आदि आदि।

पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृतिविकृतिर्विचारदेशकालवशाः,

पाँचवें मत का प्रतिवाद—भरद्वाज ने भौम, औदक आदि पाँच रस हैं, स्वीकार किया था। उसका खण्डन करते हुए पुनर्वसु का कथन है कि पञ्चमहाभूत स्वतः रस नहीं हैं, अपितु ये रसों के आश्रय हैं। ये द्रव्य प्रकृति, विकृति, देश, काल के अधीन हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४२.३ में पञ्चमहाभूतों से रसों की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण दिया है। वहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि पञ्चमहाभूतों की सहायता से क्रमशः छः रसों की उत्पत्ति होती है न कि पञ्चमहाभूत ही स्वयं रस का रूप धारण कर लेते हैं।

महर्षि कणाद का भी मत यही है कि पञ्चमहाभूतों के विकारस्वरूप द्रव्य में मधुर आदि रस आश्रित रहते हैं। इसलिये रस को भौम, आप्य, तैजस, वायव्य, आन्तरिक्ष संज्ञा देना उचित नहीं है। ये आश्रय (द्रव) भी प्रकृति, विकृति, विचार, देश, काल के अधीन होते हैं। अर्थात् इनके अनुसार इनमें परिवर्तन देखे जाते हैं। इनका स्पष्टीकरण नीचे दिया जा रहा है—

प्रकृति—मूंग स्वभाव से कषाय तथा मधुर-रस-प्रधान होते हैं, अतः इनको गुणों के अनुसार गुरु होना चाहिये था किन्तु ये प्रकृतिवश मधुर होते हैं।

विकृति—धान का विकार लाजा (लावा या खील) है। धान का गुण स्निग्ध है, अतएव यह गुरु होता है अपेक्षाकृत लावा से, क्योंकि लावा लघुपाकी होता है। यह विकृति का उदाहरण है।

विचार—यहाँ विचार का अर्थ है दूसरे द्रव्य के साथ संयोग। यह जब गुण एवं स्वभाव-विरुद्ध-संयोग होता है तो दोनों विपरीत फल देने लगते हैं। जैसे—घी और मधु आपस में मिला देने से विष हो जाते हैं। यह द्रव्य-संयोग का कार्य है।

देश—शरीर और भूमि दोनों का ग्रहण देश शब्द से किया जाता है। शरीर के अवयव भेद से मास

---

१. 'भक्तिर्द्वेषौ' इति पा०। 'भक्तिरितीच्छेत्यर्थः, तेन यो यमिच्छति स तस्य स्वादुरस्वादुरितर इति पुरुषापेक्षौ धर्मौ' चक्रः ।

२. 'विचारो विचारणा द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः' चक्रः ।

के गुणों में भेद देखा जाता है। जैसे—पैरों (टांगों) का मांस अन्य स्थानों के मांस से हल्का होता है। समस्त भूमि को—१. जांगल, २. आनूप तथा ३. साधारण भेद से तीन भागों में विभक्त किया गया है और वहाँ के पशु-पक्षियों की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसी प्रकार हिमालय में प्राप्त होने वाली ओषधियाँ अधिक गुणकारक अतएव ग्राह्य होती हैं और श्मशान आदि भूमियों की ओषधियाँ अग्राह्य होती हैं।

कालवश—वही पदार्थ समय पर प्रयुक्त करने से लाभकारक तथा वही पदार्थ असमय में हानिकारक होता है। जैसे—कच्ची मूली (बालमूलिका) दोषनाशक होती है और यही बड़ी (जीर्ण) हो जाने पर त्रिदोषकारक होती है। देखें—'बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषम्'। च० सू० अ० २७। शेष भावप्रकाश में मूली के गुणकर्म देखें।

[1]**तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः,**

छठे मत का प्रतिवाद—वार्योविद ने गुरु, लघु आदि छः गुणों को ही रस माना था, उसका खण्डन कर पुनर्वसु अपने मत की प्रतिष्ठापना करते हुए कह रहे हैं—इन द्रव्यसंज्ञक रस के आश्रयों में गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुण रहते हैं।

वक्तव्य—रूक्षाद्याः अर्थात् रूक्ष आदि गुण रहते हैं। यहाँ आदि शब्द से गुणों की संख्या बीस होती है और वे सभी रस के आश्रयभूत द्रव्य में रहते हैं। जैसे—दूध द्रव्य है, उसमें मधुर रस रहता है, उस मधुर रस में गुरु और स्निग्ध गुण रहते हैं। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के रसों और गुणों का विचार करें।

[2]**क्षरणात्क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्।**

सातवें मत का प्रतिवाद—निमि ने सात रसों का प्रतिपादन किया था। उसका खण्डन कर पुनर्वसु अपने मत की प्रतिष्ठापना करते हुए कह रहे हैं—क्षरण करने के कारण क्षार कहा जाता है। यह रस नहीं है, अपितु द्रव्य है। वह द्रव्य अनेक रस वाले द्रव्यों से उत्पन्न होता है और स्वयं अनेक रस वाला होता है। अनेक रसों वाला होने पर भी इसमें कटु तथा लवण रस की अधिकता रहती है। यह अनेक इन्द्रियों के अर्थों (विषयों-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) से युक्त है और करणों (साधनों—यव, अपामार्ग आदि) द्वारा बनाया जाता है।

वक्तव्य—मधुर आदि छः रस जो भगवान् पुनर्वसु को इष्ट हैं, उनके अतिरिक्त निमि ने जो सातवां रस क्षार बताया था, उसका युक्तियुक्त खण्डन कर क्षार रस नहीं है, यह सिद्ध कर दिया। सु० सू० अ० ११ में क्षार को दो प्रकार का बताया है—१. प्रतिसारणीय क्षार, २. पानीय क्षार। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'क्षरणाद् दुष्टत्वङ्मांसादिचालनात् क्षारः'। सु० सू० अ० ११।

[3]**अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ[4] भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये[5];**

आठवें मत का प्रतिवाद—वडिश धामार्गव ने क्षार के साथ अव्यक्त रस को और जोड़ दिया था। क्षार रस नहीं है इसका खण्डन ऊपर किया जा चुका है। अतः अब यहाँ केवल अव्यक्त रस का खण्डन किया जा रहा है—मधुर आदि छः रसों का अव्यक्त होना तो उनकी प्रकृति (कारणभूत जल) में होता है, अनुरस से सम्बन्धित द्रव्य में (अव्यक्तता) होती है।

अनुरस—'कषायानुरसं स्वादुसूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।
पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम्' ॥ च० सू० अ० २७।

वक्तव्य—अनुरस—'अनु पश्चाद् रस्यते आस्वाद्यते', इति, अर्थात् जो प्रधान रस के पश्चात् प्रतीत होता

१. 'तेषामाश्रयेषु' इति पा०।
२. 'क्षरणादधोगमनक्रियायोगात् क्षारो द्रव्यं न रसः, रसस्य हि निष्क्रियस्य क्रियाऽनुपपत्तेरित्यर्थः' चक्रः।
३. 'अव्यक्तभावस्तु' यो.।
४. 'प्रकृतौ कारणे जले इत्यर्थः' चक्रः।
५. 'अणुरससमन्विते वा द्रव्ये' ग.।

है, उसे अनुरस कहते हैं। इतना होने पर भी इसको स्वतन्त्र रस की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि जीभ के द्वारा जिसका ग्रहण होता है उसको 'रस' संज्ञा दी जाती है और रस का अनुभव न हो पाना ही उसकी अव्यक्तता है। अतएव उसको रस स्वीकार नहीं किया गया है। जहाँ 'अणुरससमन्विते' ऐसा पाठ भेद स्वीकार किया गया है, वहाँ जिस द्रव्य में अणु (कम से कम) रस की प्रतीति हो, अर्थ किया जाता है। विशेष देखें—अ० सं० सू० अ० १७-द्रव्यप्रकरण।

[1]**अपरिसङ्ख्येयत्वं [2]पुनराश्रयादीनां भावानां [3]विशेषापरिसङ्ख्येयत्वान्न युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां [4]विशेषानाश्रयते विशेषापरिसङ्ख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते; [5]परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात् [6]चैषामभिनिर्वृत्तिगुणप्रकृतीनामपरिसङ्ख्येयत्वं भवति; तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षडेव रसाः परस्परेणासंसृष्टा लक्षणार्थमुपदिष्टाः ॥ ९ ॥**

नवें मत का प्रतिवाद—कांकायन ने रसों की संख्या अपरिसंख्येय (अगणित) स्वीकार की थी। उसका खण्डन पुनर्वसु इस प्रकार कर रहे हैं—इन आश्रय, गुण, कर्म, संस्वाद (संस्कार) आदि भावों की विशेषता के अनेक होने के कारण रसों के भेद भी अगणित होते हैं, यह कहना उचित नहीं है। प्रत्येक रस उपर्युक्त आश्रय आदि भावों के विशेषों का आश्रय लेता है क्योंकि भावविशेष अपरिगणित होते हैं, किन्तु इन भावविशेषों के कारण रस में भेद उत्पन्न नहीं होता। आपस में अधिकाधिक मिले होने के कारण इन रसों की अभिव्यक्तता से गुण और स्वभाव में अपरिसंख्येयता नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष संसृष्ट (मिले-जुले) रसों के कर्मों का अलग से उपदेश नहीं करते। उसी कारण को ध्यान में रखकर आपस में न मिले हुए अर्थात् स्वतन्त्र रूप में स्थित छः रसों के लक्षणों का अलग-अलग उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—कांकायन ने आश्रय आदि के अनेक होने के कारण रसों की भी असंख्येयता स्वीकार की थी। आचार्य पुनर्वसु ने उसका खण्डन करते हुए कहा—आश्रय भेद से रस भेद नहीं होता। जैसे—घी, दूध, चीनी मुनक्का आदि भिन्न आश्रयों में रहने वाला मधुर रस कभी भी भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार गुण, कर्म रूप आश्रयों में भेद होने पर भी उनमें कोई अन्तर नहीं आता। यदि इन रसों का मिश्रण करके इनकी अपरिसंख्येयता सिद्ध की जाय तो भी सम्भव नहीं। मधुर अम्ल रसों का संयोग हो सकता है परन्तु मधुर का मधुरता गुण और अम्ल का अम्लता गुण यथावत् बना ही रहता है। इत्यादि पुष्ट प्रमाणों से कांकायन के मत का खण्डन किया जाता है।

अग्रे तु तावद् द्रव्यभेदमभिप्रेत्य किञ्चिदभिधास्यामः। सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे[7]। तच्चेतनावदचेतनं च। तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः, कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि ॥ १० ॥

१. 'आदिशब्देन गुणकर्मसंस्वादानां ग्रहणम्, आश्रयगुणकर्मसंस्वादानां विशेषा भेदास्तेषामपरिसङ्ख्येयत्वात्तेषां रसानामपरिसङ्ख्येयत्वं यदुच्यते तन्न युक्तं, तत्र हेतुमाह—एकैकोऽपीत्यादि। एषामाश्रयगुणकर्मसंस्वादानां विशेषानेकैकोऽपि मधुरादिराश्रयते, न त्वस्मादाश्रयादिभेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति, एतेन आश्रयादय एव भिन्ना, मधुरादिस्त्वेक एवेत्यर्थः। तथाहि—यद्यपि शालिमुद्गघृतक्षीरादयो मधुरस्याश्रया भिन्नास्तथाऽपि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति बलाकाक्षीरादिषु शुक्लवर्णवत्, एवं गुणादावपि बोद्धव्यम्'। इति शिवदासः।
२. 'पुनर्न तेषाम्' ग.।
३. 'विशेषापरिसङ्ख्येयत्वाद्युक्तम्' ग.।
४. 'विशेषानेवाश्रयते' ग.।
५. 'परस्परसंसर्गभूयिष्ठत्वादेषां रसानामभिनिर्वृत्तेः प्रकृतिभूतानां मधुरादिगुणानामसङ्ख्येयत्वं न चेति योजना, तेन रसानां रसान्तरसंसर्गे तत्संसर्गाणामेवापरिसङ्ख्येयत्वं, न पुनः प्रकृतिभूतमधुरादिषड्रसानां षट्त्वातिक्रमः' शिवदासः।
६. 'न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात्। न चैषामभिनिर्वृत्तौ गुणप्रकृतीनामसङ्ख्येयत्वं भवति' यो.।
७. 'अस्मिन्नर्थेऽस्मिन् प्रकरणे' चक्रः।

द्रव्य प्रकरण

(Topic of Dravyas)

द्रव्य-विवेचन—अब इसके आगे द्रव्यों के भेदों को दृष्टि में रखकर कुछ कहेंगे। इस आयुर्वेद में सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं या ग्रहण किये जाते हैं। वह द्रव्य चेतन और अचेतन भेद से दो प्रकार का होता है। उस द्रव्य के गुण शब्दादि (पाँच) और गुरु से लेकर द्रवपर्यन्त (बीस) होते हैं तथा उस द्रव्य के वमन आदि पाँच प्रकार के कर्म कहे गये हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में द्रव्य को पञ्चमहाभूतात्मक माना गया है—'इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ'। अ० सं० सू० अ० १७।

अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तत्व का सम्बन्ध होने से द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक है। द्रव्य का अधिष्ठान पृथिवी और योनि जल है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य में पाँचों महाभूत न्यूनाधिक प्रमाण में रहते हैं। फिर भी द्रव्य किसी एक तत्व के नाम से पुकारा जाता है, इसका कारण है—**'उत्कर्षेण तु व्यपदेशः'**।

गुणाः शब्दादयः—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस, ५. गन्ध।

गुर्वादयश्च द्रवान्ता—१. गुरु, २. लघु, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. स्निग्ध, ६. रूक्ष, ७. मन्द, ८, तीक्ष्ण, ९. स्थिर, १०. सर, ११. मृदु, १२. कठिन, १३. विशद, १४. पिच्छिल, १५. श्लक्ष्ण, १६. खर, १७. सूक्ष्म, १८. स्थूल, १९. सान्द्र, २०. द्रव ये गुण हैं। शेष परत्व, अपरत्वादि गुणों का आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) में उपयोग नहीं होता, अतः उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

कर्म पञ्चविधम्—१. वमन, २. विरेचन, ३. नस्य, ४. निरूहण-वस्ति एवम् ५. अनुवासन-वस्ति ये पाँच चिकित्सोपयोगी कर्म हैं। इनका वर्णन पहले हो चुका है।

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचयसङ्घात[1]-गौरवस्थैर्यकराणि;

पार्थिव द्रव्य—जो निम्न गुण प्रधान होते हैं, उनको पार्थिव द्रव्य कहते हैं। यथा—१. गुरु, २. खर, ३. कठिन, ४. मन्द, ५. स्थिर, ६. विशद, ७. सान्द्र, ८. स्थूल एवम् ९. गन्ध। ये पार्थिव द्रव्य उपचय (शारीरिक वृद्धि), संघात (ठोस करने वाले), गुरुता तथा स्थिरता करने वाले होते हैं। इनमें गन्ध गुण की प्रधानता होती है।

द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लाद[2]-कराणि;

जलीय (आप्य) द्रव्य—जो निम्न गुण प्रधान होते हैं, उनको आप्य द्रव्य कहते हैं। यथा—१. द्रव, २. स्निग्ध, ३. शीत, ४. मन्द, ५. मृदु, ६. पिच्छिल, ७. रस। इनके सेवन से शरीर में गीलापन, स्निग्धता, (चिकनापन), बन्ध (परस्पर जोड़ना), विष्यन्द, मार्दव (मृदुता) और प्रह्लाद (इन्द्रियों की प्रसन्नता या तृप्ति) कारक होते हैं। इसमें रस का गुण प्रमुख होता है।

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्म[3]लघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाहपाकप्रभा[4]प्रकाशवर्णकराणि;

आग्नेय द्रव्य—जिन द्रव्यों में १. उष्ण, २. तीक्ष्ण, ३. सूक्ष्म, ४. लघु, ५. रूक्ष, ६. विशद एवम् ७. रूप गुण की प्रधानता होती है, वे आग्नेय द्रव्य कहे जाते हैं। इनके सेवन से दाह (जलन), पाक, प्रभा (कान्ति), प्रकाश तथा शरीर का वर्ण स्वच्छ होता है।

---

१. 'सङ्घातः काठिन्यम्' चक्रः।
२. 'प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणम्' चक्रः।
३. 'सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोनुसारि' चक्रः।
४. 'प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः' चक्रः।

लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्यग्लानिविचार[1]वैशद्यलाघव-कराणि;

वायव्य द्रव्य—जो द्रव्य १. लघु, २. शीत, ३. रूक्ष, ४. खर, ५. विशद, ६. सूक्ष्म तथा ७ स्पर्श गुण प्रधान हों, उन्हें वायव्य द्रव्य कहते हैं। इनके सेवन से शरीर में रूक्षता, ग्लानि, विचार (विचरण घूमना या विचार = सोचना), वैशद्य (विशदता) और लघुता उत्पन्न होती है।

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि ॥११॥

आकाशीय द्रव्य—जो द्रव्य १. मृदु, २. लघु, ३. सूक्ष्म, ४. श्लक्ष्ण और ५. शब्द गुण प्रधान हों, वे आकाश सम्बन्धी द्रव्य कहे जाते हैं। इनके सेवन से शरीर में मृदुता, सुषिरता (हड्डियों में छिद्र होना) और लघुता उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—इन महाभूतों के जो ऊपर गुण बतलाये हैं उनमें से प्रत्येक के एक-एक गुण प्रधान हैं। जैसे—१. गन्ध बहुला पृथ्वी, २. रस प्रधान जल, ३. रूप प्रधान तैजस, ४. स्पर्श प्रधान वायु, ५. शब्द बहुल आकाश। विशेष विवरण सु० सू० अ० ४१ में देखें।

संक्षेप में पार्थिव आदि द्रव्यों के गुण-कर्म

१. **पार्थिव द्रव्यों के गुण**—गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, गन्धगुणबहुल।
„ „ **कर्म**—उपचय, संघात, गौरव, स्थिरता।
२. **आप्य द्रव्यों के गुण**—द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, रसगुणबहुल।
„ „ **कर्म**—उत्क्लेद, स्नेह, बन्ध, विष्यन्द, मार्दव, प्रह्लाद।
३. **आग्नेय द्रव्यों के गुण**—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद, रूपगुणबहुल।
„ „ **कर्म**—दाह, पाक, प्रभा, प्रकाश, वर्ण।
४. **वायव्य द्रव्यों के गुण**—लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्शगुणबहुल।
„ „ **कर्म**—रौक्ष्य, ग्लानि, विचार, वैशद्य, लाघव।
५. **आकाशात्मक द्रव्यों के गुण**—मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्दगुणबहुल।
„ „ „ **कर्म**—मार्दव, सौषिर्य, लाघव।

[2]अनेनोपदेशेन नानौषधीभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभि-प्रेत्य ॥ १२ ॥

द्रव्यों के इस पाञ्चभौतिकता रूप उपदेश से संसार में कोई भी द्रव्य ऐसा उपलब्ध नहीं होता जो उस-उस युक्ति तथा उस-उस अर्थ (प्रयोजन) को ध्यान में रखकर औषधस्वरूप प्रतीत न होता हो।

वक्तव्य—इस पञ्चमहाभूतात्मिका सृष्टि में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो इनसे पृथक् हो। सामान्य दृष्टि से भी संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका उपयोग किसी न किसी रूप में चिकित्सा के लिये न होता हो। पुनर्वसु आत्रेय ने भी इस सिद्धान्त का प्रयोग आयुर्वेद को सार्वभौम रूप देने के लिये ही किया होगा। इसी का समर्थन अन्य संहिताकारों ने भी किया है। देखें—'अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति', सु० सू० अ० ४१।५। अर्थात् इस दृष्टि से संसार में कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो कि औषध (दोषों का नाश करनेवाला) रूप न हो, क्योंकि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। इसलिये उस-उस युक्ति विशेष अर्थ को ध्यान में रखकर सभी द्रव्य अपने वीर्य एवं गुणों के कारण कार्यशील होते हैं।

---

१. 'विचरणं विचारो गतिः' चक्रः।
२. अनेनेति प्रतिनियतद्रव्योपदेशेन यत्पार्थिवादिद्रव्यं यद्गुणं तद्गुणे देहे सम्पाद्ये भेषजं भवतीत्यर्थः; युक्तिमित्युपायम्, अर्थमिति प्रयोजनम्, अभिप्रेत्येत्यधिकृत्य; तेन केनचिदुपायेन क्वचित् प्रयोजने किञ्चिद् द्रव्यमौषधं स्यान्न सर्वत्र'। चक्रः।

नानौषधीभूतम्—आयुर्वेद में ओषधि और औषध ये दो शब्द प्रायः समानाकार जैसे दिखायी देने पर भी अर्थ की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं। १. **ओषधि**—'ओषध्यः फलपाकान्ताः'। फल के पकने पर जो सूख जाती हैं, वे ओषधियाँ हैं। जैसे—केला, गेहूँ, जौ, धान आदि। देखें सुश्रुत सू० अ० १—'फलपाकनिष्ठा ओषधय इति'। २. **औषध**—सभी प्रकार के रोगनाशक द्रव्यों का **नाम औषध** है। अब यहाँ 'नानौषधीभूतं जगति किञ्चित् विद्यते'। इस गद्यांश का आशय यह है कि संसार के वे सभी द्रव्य जो औषध के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं, वे भी प्रयोजनवश औषध के रूप में प्रयुक्त होते हैं या किये जा सकते हैं। देखें—सिद्धान्तकौमुदी 'च्वि' प्रत्यय प्रकरण।

अब जरा महर्षि वाग्भट के विचार देखें—'जगत्येवमनौषधम्। न किञ्चिद् विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थ-योगयोः' ॥ अ० हृ० सू० अ० ९।१०। इस प्रकार संसार में कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है। अर्थात् सभी द्रव्य औषध रूप हैं। क्योंकि सभी द्रव्य अनेक अर्थों (प्रयोजनों) में तथा योगों (योजनाओं) में प्रयुक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी स्थावर, जङ्गम और उद्भिज द्रव्य ऐसा नहीं है, जो औषध न हो। सभी द्रव्य अकेले-अकेले या किसी अन्य द्रव्य के साथ बुद्धिपूर्वक मिलाने पर औषध (रोग नाशन) का काम करते हैं। इस सन्दर्भ में चक्रपाणि का मत पिछले पृष्ठ की टिप्पणी में देखें।

न तु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति; द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य [1]तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यदा कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत् साधयन्ति तत् फलम् ॥ १३ ॥

द्रव्यों की कर्मठता का स्वरूप—केवल द्रव्य अपने गुणों के प्रभाव से ही कार्मुक (कर्मशील) नहीं होते हैं, अपितु द्रव्य के (अपने) प्रभाव से, गुण के प्रभाव से और द्रव्य तथा गुण (दोनों) के प्रभाव से उस-उस समय में उस-उस अधिकरण (अधिष्ठान) को प्राप्तकर उस-उस युक्ति और उस-उस अर्थ (प्रयोजन) के अनुसार जो कार्य करते हैं, उसे **कर्म** कहते हैं। जिससे करते हैं, उसको **वीर्य** कहते हैं। जहाँ अपना प्रभाव दिखलाते हैं, वह **अधिकरण** (उसके कर्म का क्षेत्र) है; जब कार्य करते हैं, वह काल है; जिस प्रकार करते हैं, वह **उपाय** है और जिस कार्य को सिद्ध करते हैं, वह **फल** है।

वक्तव्य—द्रव्यों के कार्य करने की क्या पद्धति है, इसका विवेचन तन्त्रकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

द्रव्यप्रभावात्—चीता की जड़ और दन्ती मूल दोनों ही रस और विपाक में कटु हैं किन्तु चीता (चित्रक) मूल विरेचक नहीं, अपितु मलरोधक होता है और दन्तीमूल तीक्ष्ण विरेचक है। यहाँ दन्तीमूल के विशिष्ट प्रभाव से ही दस्त होते हैं।

गुणप्रभावात्—जैसे ज्वर में तिक्तरस-प्रधान चिरायता लाभ करता है, जाड़ा में उष्ण-गुण-प्रधान अग्नि सुख देता है।

द्रव्यगुणप्रभावात्—द्रव्य और गुण दोनों का प्रभाव, जैसे घृत द्रव्य स्निग्ध-गुण-प्रधान होने से वात का शमन करता है, अपने विशिष्ट प्रभाव से पाप तथा अलक्ष्मी नाशक भी होता है।

कर्म—अपामार्ग के बीजों से जो शिर का विरेचन करते हैं, यह 'कर्म' है। जिन कारणों से शिरोविरेचन होता है वह अपामार्ग द्रव्य का **वीर्य** है। शिर के जिस भाग में यह कर्म किया जाता है, वह **अधिकरण** (क्षेत्र) है। कफ की वृद्धि होने पर जब शिरोविरेचन किया जाता है, वह (वसन्तऋतु) इसका **काल** है। जिस विधि से शिरोविरेचन किया जाता है, वह **उपाय** है। शिरोविरेचन द्वारा जो शिरःशूल की शान्ति होती है, वह उक्त कर्म का **फल** है।

युक्ति—आयुर्वेद में युक्ति शब्द का प्रयोग औषध द्रव्यों के प्रयोग-भेद से है, जैसे—एक ही द्रव्य चूर्ण, क्वाथ, अवलेह, घृत, तैल, आसव, अरिष्ट आदि के **रूप में प्रयुक्त** होने पर भिन्न-भिन्न रोगनिवारण में समर्थ हो जाता है।

१. 'तां तां युक्तिमासाद्येति तां तां योजनां प्राप्य' इति चक्रः।

अर्थ—इस प्रकार एक ही द्रव्य निर्माण-भेद से चिकित्सा के विभिन्न प्रयोजनों में सहायक होता है।

भेदश्चैषां [1]त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद्भवति, तमुपदेक्ष्यामः ॥ १४ ॥

रसानुसार द्रव्यों के ६३ भेद

(Sixty three Varieties of Dravyas according to Rasas.)

द्रव्यों के भेद—इन द्रव्यों के द्रव्यप्रभाव देशप्रभाव और कालप्रभाव भेद से तिरसठ प्रकार का विकल्प होता है, उसी का उपदेश यहाँ करेंगे।

वक्तव्य—द्रव्य के रसानुसार भेद होने में देश, काल आदि का प्रभाव पड़ता है। यथा—द्रव्य सौम्य (सोमगुण-प्रधान) तथा आग्नेय (अग्निगुण-प्रधान) होते हैं। सौम्य प्रकृति के प्रभाव से द्रव्य मधुर रसवाले और आग्नेय प्रकृति के प्रभाव से कटुरस-प्रधान होते हैं। यह **द्रव्यप्रभाव** कहा जाता है। **देशप्रभाव**—इससे भी द्रव्यों में रसभेद देखा जाता है। काश्मीर आदि शीतप्रधान देशों में उत्पन्न सेव, अंगूर, अनार जितने मधुर होते हैं उतने अन्यत्र नहीं। **कालप्रभाव**—अपनी ऋतु में फलों का जो वास्तविक स्वाद होता है वह अन्य कालों में नहीं पाया जाता, अपितु उसमें अस्वाभाविकता पायी जाती है। जैसे—'कोल्डस्टोरेज' में रखे गये विपरीत काल में पाये जाने वाले फल आदि।

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्। यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि च ॥१५॥

दो रसों के योग से १५ स्वादु द्रव्य—स्वादु (मधुर) रस का जब शेष अम्ल आदि रसों से मिलता है तो उसके योग इस प्रकार होते हैं—१. मधुराम्ल, २. मधुरलवण, ३. मधुरकटु, ४. मधुरतिक्त, ५. मधुर-कषाय। अम्लरस लवण आदि चार रसों के साथ—१. अम्ललवण, २. अम्लकटु, ३. अम्लतिक्त, ४. अम्ल-कषाय। लवणरस कटु आदि तीन रसों के साथ—१. लवणकटु, २. लवणतिक्त, ३. लवणकषाय। कटुरस तिक्त आदि दो रसों के साथ—१. कटुतिक्त, २. कटुकषाय। तिक्तरस कषाय के साथ—१. तिक्तकषाय, इस प्रकार दो रस वाले द्रव्यों के ५+४+३+२+१ = १५ भेद होते हैं।

वक्तव्य—अन्य संहिताओं में भी इसका विवरण देखें। सुश्रुत उ० त० अ० ६३ को सम्पूर्ण देखें। अ० सं० सू० अ० १८ तथा अ० हृ० सू० अ० १०।

पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्। मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥१६॥
त्रिरसानि यथासङ्ख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः।

तीन रसों के योग से २० द्रव्य—जिस प्रकार मधुर रस का शेष अम्ल आदि रसों से योग बताया गया है, उसी प्रकार अम्लयुक्त मधुर रस का लवण, कटु आदि रसों के साथ अलग-अलग संयोग होता है। यथा—१. मधुराम्ललवण, २. मधुराम्लकटु, ३. मधुराम्लतिक्त, ४. मधुराम्लकषाय। लवणयुक्त मधुररस का कटु, तिक्त, कषाय से—१. मधुरलवणकटु, २. मधुरलवणतिक्त, ३. मधुरलवणकषाय। कटुयुक्त मधुररस का तिक्त तथा कषाय से—१. मधुरकटुतिक्त, २. मधुरकटुकषाय। तिक्तयुक्त मधुर रस का कषाय से—१. मधुर-तिक्तकषाय। इस प्रकार ४+३+२+१ = १० द्रव्य होते हैं।

अम्ल आदि रस युक्त मधुररस से शेष रसों के साथ योग होने से पुनः तीन रस वाले १० द्रव्य होते हैं—१. अम्ललवणकटु, २. अम्ललवणतिक्त, ३. अम्ललवणकषाय। १. अम्लकटुतिक्त, २. अम्लकटु-कषाय। १. अम्लतिक्तकषाय। इस प्रकार ३+२+१ = ६ प्रकार के द्रव्य होते हैं। १. लवणकटुतिक्त, २. लवणकटुकषाय, ३. लवणतिक्तकषाय। १. कटुतिक्तकषाय—इस प्रकार कुल मिलाकर मधुर रस के १०+ अम्ल के ६+लवण के ३ और कटु रस का १ = २० योग होते हैं।

वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च ॥ १७ ॥

स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ। योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससङ्ख्यया ॥ १८ ॥

१. 'त्रिषष्टिविधरसविकल्पः' ग.।

सहितौ स्वादुलवणौ तद्वत् कट्वादिभिः पृथक् । युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा ॥१९॥
कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् । यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा ॥२०॥

चार रसों के योग से १५ द्रव्य—अब चार रसों के योग से होने वाले १५ द्रव्य कहे जायेंगे। स्वादु (मधुर) और अम्लरस मिलकर लवण (लवण, कटु, तिक्त, कषाय) आदि से अलग-अलग जुड़कर, शेष कटु, तिक्त, कषाय रसों से चार रसों के समूह जुड़ते हैं। यथा—१. मधुराम्लवणकटु, २. मधुराम्ललवणतिक्त, ३. मधुराम्ललवणकषाय। जब मधुर, अम्ल रस कटुरस से युक्त हुआ तो शेष तिक्त और कषाय से जुड़ने पर—१. मधुराम्लकटुतिक्त, २. मधुराम्लकटुकषाय। जब मधुर अम्लरस का योग तिक्त रस के साथ होता है तो शेष कषाय रस जुटने पर—१. मधुराम्लतिक्तकषाय। इस प्रकार चार रस वाले ३+२+१ = ६ द्रव्य होते हैं।

उसी प्रकार मधुर और लवणरस मिलकर कटु आदि (तीन) रसों के साथ पृथक्-पृथक् युक्त होने पर—१. मधुरलवणकटुतिक्त, २. मधुरलवणकटुकषाय, ३. मधुरलवणतिक्तकषाय। मधुरकटुतिक्त के साथ कषाय का योग होने पर— १. मधुरकटुतिक्तकषाय।

अम्ललवणरसों का अलग-अलग कटुतिक्तकषाय रसों के साथ योग होने पर—१. अम्ललवणकटुतिक्त, २. अम्ललवणकटुकषाय, ३. अम्ललवणतिक्तकषाय। मिले हुए अम्लकटु का तिक्त तथा कषाय के साथ योग होने पर—१. अम्लकटुतिक्तकषाय। मिले हुए लवणकटु रस तिक्त के साथ कषाय रस से जब संयोग प्राप्त करते हैं, तब एक भेद और होता—१. लवणकटुतिक्तकषाय। इस प्रकार चार रसवाले ६+३+१+३+१+१ = १५ द्रव्य होते हैं।

युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ ।
षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात् ॥ २१ ॥

पाँच रसों के योग से ६ द्रव्य—तिक्त, लवण, कटु, ये रस कषायरस के साथ युक्त होते हैं। इस प्रकार एक-एक रस को कम करने से पाँच रस वाले छः द्रव्य होते हैं। यथा—१.मधुराम्ललवणकटुतिक्त, २. मधुराम्ललवणकटुकषाय, ३. मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, ४. मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, ५. मधुरलवणकटुतिक्तकषाय ६. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय।

षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु ।

एक रसवाले ६ द्रव्य तथा छः रसवाला १ द्रव्य—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. कटु, ५. तिक्त, ६. कषाय। छः रसवाला एक द्रव्य—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय। इस प्रकार ६३ रस-विकल्पों के अनुसार द्रव्यों के भी—१५+२०+१५+६+६+१ = ६३ भेद होते हैं।

इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससङ्ख्यया ॥ २२ ॥
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसङ्ख्येया रसानुरसकल्पनात् । [1]रसास्तरतमाभ्यां तां सङ्ख्यामतिपतन्ति हि ॥२३॥

रसविकल्पों के अनुसार द्रव्य-भेदों का उपसंहार—रसों की संख्या के अनुसार ऊपर द्रव्यों के ६३ भेद कहे गये हैं। यह ६३ संख्या रसों के अनुरसों की कल्पना करने से अनगिनत हो जाती हैं और रस भी तर-तम भेदों से युक्त कर देने पर उक्त संख्या का अतिक्रमण कर सकते हैं।

रसों के अनुसार द्रव्यों के ६३ विकल्प (चरकोक्त)

दो रसवाले द्रव्य—१. मधुराम्ल, २. मधुरलवण, ३. मधुरकटु, ४. मधुरतिक्त, ५. मधुरकषाय, ६. अम्ललवण, ७. अम्लकटु, ८. अम्लतिक्त, ९. अम्लकषाय, १०. लवणकटु, ११. लवणतिक्त, १२. लवणकषाय, १३. कटुतिक्त, १४. कटुकषाय, १५. तिक्तकषाय।

तीन रसवाले द्रव्य—१. मधुराम्ललवण, २. मधुराम्लकटु, ३. मधुराम्लतिक्त, ४. मधुराम्लकषाय, ५. मधुरलवणकटु, ६. मधुरलवणतिक्त, ७. मधुरलवणकषाय, ८ मधुरकटुतिक्त, ९. मधुरकटुकषाय, १०. मधुरतिक्तकषाय, ११. अम्ललवणकटु, १२. अम्ललवणतिक्त, १३. अम्ललवणकषाय, १४. अम्लकटुतिक्त, १५. अम्लकटुकषाय, १६. अम्लतिक्तकषाय, १७. अम्लकटुतिक्त, १८. लवणकटुकषाय, १९. लवणतिक्तकषाय, २०. कटुतिक्तकषाय।

१. 'रसास्तरतमाभ्यस्ताः' इति पा०।

चार रसवाले द्रव्य—१. मधुराम्ललवणकटु, २. मधुराम्ललवणतिक्त, ३. मधुराम्ललवणकषाय, ४. मधुराम्लकटुतिक्त, ५. मधुराम्लकटुकषाय, ६. मधुराम्लतिक्तकषाय, ७. मधुरलवणकटुतिक्त, ८. मधुरलवणकटुकषाय, ९. मधुरलवणतिक्तकषाय, १०. मधुरकटुतिक्तकषाय, ११. अम्ललवणकटुतिक्त, १२ अम्ललवणकटुकषाय, १३. अम्ललवणतिक्तकषाय, १४. अम्लकटुतिक्तकषाय, १५. लवणकटुतिक्तकषाय।

पाँच रसवाले द्रव्य—१. मधुराम्ललवणकटुतिक्त, २. मधुराम्ललवणकटुकषाय, ३. मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, ४. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, ५. मधुरलवणकटुतिक्तकषाय, ६. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय।

एक रसवाले द्रव्य—१. मधुर २, अम्ल, ३. लवण; ४. कटु, ५. तिक्त, ६. कषाय।

छः रसवाले द्रव्य—१. मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय।

महर्षि वाग्भट के अनुसार—

(अष्टांगहृदय सू० अ० १०)

दो दो रसों के संयोग	से	१५
तीन तीन रसों के संयोग	,,	२०
चार-चार रसों के संयोग	,,	१५
पाँच-पाँच रसों के संयोग	,,	६
छः रसों का संयोग	,,	१
असंयुक्त (पृथक्) रस	,,	६
	सर्वयोग	६३

सूचना—विशेष विवरण यथास्थान देखें।

वक्तव्य—रसानुरसकल्पना—जैसे हरीतकी का मुख्य रस कषाय और लवण रहित शेष चार रस इसके अनुरस अर्थात् पीछे प्रतीत होने वाले अथवा अमुख्य (अप्रधान) रस होते हैं।

रसों का तारतम्य—दो में अधिकता वाचक 'तर' और अनेक में अधिकता वाचक 'तम' प्रत्यय का योग होता है। यथा—मधुर, मधुरतर, मधुरतम। कोई द्रव्य सामान्य मधुर होता है, कोई उसकी अपेक्षा अधिक मधुर होता है और कोई अत्यन्त मधुर होता है। इसी प्रकार अन्य रसों का तर-तम भाव भी समझें। इसको हम व्यक्तरस, व्यक्ततररस और व्यक्ततमरस भी कह सकते हैं। अतः चिकित्साकाल में दोष के बल को देखकर भेषज के रस का भी विचार करना आवश्यक होता है। क्योंकि—'द्रव्यम्' एकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः'। अर्थात् कोई भी औषध द्रव्य ऐसा नहीं है, जिसमें कोई एक ही रस हो, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में एक से अधिक रस होते हैं, फिर भी जो रस मुख्य (प्रधान या व्यक्त) होता है वही उस द्रव्य का रस माना जाता है, शेष अनुरस कहे जाते हैं।

इसी प्रकार ज्वर आदि कोई रोग जिसकी आपको चिकित्सा करनी हो, वह एकदोषज (एक ही दोष से उत्पन्न) नहीं होता। सभी रोगियों के रोगों में तीनों दोषों की विकृति किसी न किसी मात्रा में होती ही है। देखिये—'एकस्तु कुपितो दोष इतरावपि कोपयेत्'। अर्थात् एक दोष कुपित होकर दूसरे दोषों को भी कुपित अथवा विकृत कर देता है। अतः प्रत्येक रोग में एक से अधिक रसों का प्रयोग करना आवश्यक होता है किन्तु इसके प्रयोग के पूर्व दोषों की क्षय-वृद्धि का भली-भाँति विचार कर लेना चाहिये।

संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा । रसानां [1]तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः ॥

रसों के संयोग ५७ प्रकार के होते हैं। स्वस्थ तथा रोगी पुरुषों के लिये योग्य (हितकारी) होने के कारण रस विचार में कुशल चिकित्सकों ने उक्त रसों के संयोगों के तिरसठ (६३) भेदों की कल्पना की है।

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् ।
दोषौषधादीन् सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ २५ ॥

१. 'तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसङ्क्षेपविस्तररूपतया हितत्वादित्यर्थः'। चक्रः।

द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः। रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥

चिकित्सा क्षेत्र में सिद्धि की इच्छा रखने वाले वैद्य को चाहिये कि वह दोष, औषध द्रव्यों आदि का विचार करके कहीं एक रस की कल्पना और कहीं संयुक्त रसों की कल्पना करे। विद्वान् चिकित्सक रोगों के प्रति दो रसवाले द्रव्यों अथवा संयुक्तरसों या एक-एक रसवाले द्रव्यों की पृथक्-पृथक् कल्पना करते हैं।

वक्तव्य—महर्षि हारीत ने द्रव्यों के रसों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट प्रदर्शित किया है—'कानिचिद् द्विरसादीनि द्रव्याणि स्युः स्वभावतः। यथैणः पड्रसः कृष्णो यथा पञ्चरसाऽभया ॥ मद्यं पञ्चरसं यद्वत् तिलो यद्वच्चतूरसः। ऐरण्डतैलं त्रिरसं माक्षिकं द्विरसं तथा। घृतमेकस्वादुरसं मधुरादिविभागतः ॥' हारीतसं०। अर्थात् काला एण नामक हरिण का मांस छः रसों वाला, हरीतकी (हरड़) पाँच रसों वाली, मद्य भी पाँच रसों वाला, तिल चार रसों वाला, एरण्डतैल (Castor oil) तीन रसों वाला, शहद दो रसों वाला और घी एक मधुर रस वाला होता है। इस प्रकार अन्य अनेक द्रव्य एक अथवा एकाधिक रसों वाले होते हैं।

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्। न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥२७॥

रस एवम् दोष के ज्ञान से लाभ—जो चिकित्सक उपर्युक्त द्रव्यगत रसों के विकल्पों (भेदों) तथा दोषों के विकल्पों का ज्ञाता होता है। वह रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा में कभी मोह (कि कर्तव्य-विमूढ़ता) को प्राप्त नहीं होता है।

वक्तव्य—चिकित्सक को चिकित्सा करने के पूर्व रसविकल्प, दोषविकल्प, हेतु (निदान), लिङ्ग पूर्वरूप (लक्षण), और वर्तमान रूप (लक्षण) इन विषयों की भली भाँति जानकारी होनी चाहिये अन्यथा वह कार्यकाल में असफल सिद्ध होता है।

व्यक्तः [1]शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। विपर्ययेणाऽनुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः ॥२८॥

रस तथा अनुरस के लक्षण—सूखे द्रव्य का जो रस सर्वप्रथम व्यक्त (प्रकट) होता है, वह मुख्य (प्रधान) रस होता है। विपरीत रूप से अर्थात् अन्त में जिस रस का अनुभव होता है, उसे अनुरस कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसको (अनुरस) सातवां रस मान लिया जाय, अतएव तन्त्रकार ने स्पष्ट निर्देश किया है—'रसोनास्ति हि सप्तमः' आयुर्वेद में सातवां रस नहीं होता।

वक्तव्य—'शुष्कस्य च' यहाँ 'च' अव्यय का प्रयोग यह बतला रहा है कि न केवल सूखे द्रव्य का अपितु आर्द्र (गीले) द्रव्य का भी जो प्रथम आस्वादन काल में रस प्रतीत होता है, वह उसका मुख्य रस है और जिसका अनुभव बाद में हो वह उसका अनुरस है। यहाँ 'नास्तीह' पाठ भी शुद्ध है।

आर्द्र, शुष्क तथा आदि, अन्त का झगड़ा विचारणीय अवश्य है किन्तु इससे रस निर्णय में बाधा इसलिये उत्पन्न नहीं होती कि प्रधानरस सर्वदा प्रधान ही रहता है और अनुरस गौण (अप्रधान) ही रहता है। जहाँ तक तर्क की बात है, 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' तर्क स्थिर नहीं रह पाता। निर्णय यह है कि जिस द्रव्य की जिस स्थिति (शुष्क या आर्द्र) में जिस रस का प्रमुखतया आस्वादन होता है वह उस स्थिति में मुख्य रस है शेष अनुरस। अनुरस अपने रस के बल पर कभी भी मुख्य रस को दबा नहीं सकता।

परापरत्वे युक्तिश्च सङ्ख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥ २९ ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः। सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ॥

गुण-प्रकरण

परादि गुणों की संख्या—१. पर, २. अपर, ३. युक्ति, ४. संख्या, ५. संयोग, ६. विभाग, ७. पृथक्त्व, ४. परिमाण, ९. संस्कार तथा १०. अभ्यास ये परादि गुण कहे जाते हैं। ये चिकित्सा की सिद्धि के उपाय हैं। आगे इनका लक्षणों द्वारा वर्णन किया जाता है।

१. 'शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य च, आदौ चेति चकारादन्ते च; तेन शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासंबन्धे वाऽऽदावास्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः; यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्हि अव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यमात्रेण वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः' चक्रः।

देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु । परापरत्वे युक्तिश्च योजना या तु युज्यते ॥३१॥

परत्वादि के लक्षण—देश, काल, वय (अवस्था), मान (परिमाण), पाक (विपाक), वीर्य तथा रस आदि में 'परत्व' और 'अपरत्व' का प्रयोग (विचार) किया जाता है। जिस वस्तु की योजना (प्रयोग करना) जहाँ उचित होती है उसे 'युक्ति' कहते हैं।

वक्तव्य—परत्व (प्रधान) और अपरत्व (अप्रधान) इन दोनों गुणों का यही अर्थ तथा इनके प्रयोग का यही दृष्टिकोण है।

वैशेषिक में महर्षि कणाद—'एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च'।

इनके मत से एक दिशा में स्थित जो देश, स्थान, वस्तु सन्निकृष्ट (समीप) होगी वह 'पर' है और जो विप्रकृष्ट (दूर) होगी वह अपर है। हमें यहाँ आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार करना है। अतः देश (मरुप्रदेश) स्वास्थ्य की दृष्टि से पर (प्रधान) है और आनूपदेश (बहूदकनगोऽनूपः) स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होने के कारण अपर-अवर-अप्रधान है। **काल**—स्वास्थ्य की दृष्टि से 'विसर्गकाल' पर (श्रेष्ठ) है और 'आदानकाल' अपर (अधम) है। **वय**—बाल्य एवम् युवा अवस्था में रोग यथा शीघ्र शान्त होते हैं, अतः यह वय पर है और वृद्धावस्था अपर है। **मान**—नाप, तौल को मान कहते हैं। आयुर्वेद में दो प्रकार के मान प्रचलित हैं—१. कालिंग और २. मागध। कालिंग मान से मागध मान श्रेष्ठ होता है। अतः मागधमान पर है तथा कालिंगमान अपर है। इसी प्रकार वीर्य और रस आदि का भी विचार करें।

युक्ति—औषध-द्रव्यों के चयन अथवा पथ्य-पदार्थों के निर्धारण में जो शास्त्रीय दृष्टिकोण होता है, उसे युक्ति कहते हैं। किस रोग के लिये कौन-से औषध-द्रव्यों की योजना की जाय जिससे रोगी शीघ्र नीरोग हो सके तदनन्तर उसको कौन-सा पथ्य दिया जाय जो रुचिकर प्रतीत हो, इन योजनाओं को युक्ति कहते हैं।

सङ्ख्या स्याद् गणितं, योगः[1] सह संयोग उच्यते। द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च[2] ॥३२॥

संख्या, संयोग के लक्षण—गिनने का नाम संख्या है, अथवा एक, दो, तीन आदि का नाम भी संख्या है। द्रव्यों के परस्पर योग को संयोग कहते हैं। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—१. एककर्मज, २. द्वन्द्वकर्मज और ३. सर्वकर्मज।

वक्तव्य—योग का समुचित सम्बन्ध संयोग है। यह संयोग अनेक प्रकार का होता है। व्याकरण में वर्णों का योग, सन्धियोग, समासयोग। आयुर्वेद में औषध-द्रव्यों का परस्पर योग, चूर्ण, आसव, अरिष्ट आदि के रूप में, चिकित्सा के लिये किये गये उपाय को भी योग कहते हैं। 'येन वाक्यं युज्यते स योगः'। सु० उ० अ० ६३।९।

योग अथवा संयोग की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दर्शनशास्त्रों में उपलब्ध होती हैं। कारिकावली में यह संयोग तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—१. अन्यतरकर्मज, २. उभयकर्मज, ३. संयोगकर्मज। चरकोक्त एककर्मज तथा उपर्युक्त अन्यतरकर्मज ये दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार उभयकर्मज और द्वन्द्वकर्मज समानार्थक हैं।

यहाँ चक्रपाणि ने निम्नलिखित टिप्पणी में त्रिविध संयोगों की जो व्याख्या दी है, वह सर्वथा 'कारिकावली' ११५, ११८ के श्लोकों का अनुवाद या अणुकरण मात्र है।

विभागस्तु विभक्तिः स्याद् वियोगो भागशो ग्रहः। पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ॥३३॥

विभाग एवम् पृथक्त्व के लक्षण—विभक्ति (विभाजन) को विभाग कहते हैं। जैसे—राम शब्द

१ 'द्रव्याणां योगः सम्बन्ध इत्युक्ते अवयवावयविसम्बन्धस्यापि संयोगत्वं स्यादत आह—सहेति, साहित्यरूपो योगः, स च पृथक्सिद्धयोरेव भवतीति भावः'। शिवदासः। 'सहेत्यनेनेहाकिञ्चित्करं परस्परसंयोगं निराकरोति, तद्भेदमाह—द्वन्द्वेत्यादि। तत्र द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयोर्मेषयोः, सर्वकर्मजो, यथा—भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानां माषाणां बहुलमापक्रियायोगजः, एककर्मजो यथा—वृक्षवायसयोः, अनित्य इति संयोगस्य कर्मजत्वेनानित्यत्वं दर्शयति' चक्रः।

२. 'सः' यो.।

सात विभक्तियों तीन वचनों में बटकर २१ रूपों में उसके विभाग दिखलायी देते हैं। इसी को वियोग (एक दूसरे से भिन्न, पृथग्भूत) कहते हैं। अर्थात् एक-एक करके ग्रहण करना ही विभाग है। पृथक्त्व का अर्थ है असंयोग, जो कभी एक दूसरे से मिल नहीं सकते। विलक्षणता ही अनेकता है।

वक्तव्य—औषध को निश्चित मात्रा में बाँट (पुड़िया बाँध) देना **विभाग** है। इसी को विभक्ति कहते हैं। **वियोग**—जो औषध द्रव्य अभी तक एक स्थान में संयुक्त रूप से रखे गये थे, उनको आवश्यकतानुसार अलग-अलग कर देना ही उनका परस्पर वियोग है। इस वियोग को **'भागशो ग्रहः'** ठीक परिमाण में अलग करके उसका ग्रहण करना कहते हैं।

पृथक्त्व—'अस्माद् द्रव्यादिदं द्रव्यं भिन्नम्' इस द्रव्य से यह द्रव्य भिन्न है। इस प्रकार के ज्ञान के करण को 'पृथक्त्व' कहते हैं। जैसे—हरीतकी से मधुयष्टी भिन्न है। यह पृथक्त्व तीन प्रकार का होता है। यथा -१. **असंयोग**—जैसे विन्ध्यपर्वत हिमालय पर्वत से असंयोगता के कारण पृथक् है, अर्थात् इन दोनों का कभी संयोग नहीं हो सकता। २. **विलक्षणता**—परस्पर लक्षणों की भिन्नता का होना। जैसे—हीरा रत्न और नीलम रत्न आपस में विलक्षण हैं। ३. **अनेकता**—एकरूपता का अभाव। जैसे सभी मनुष्य समान होने पर भी आकृति, वर्ण आदि की पृथक्ता सब में देखी जाती है।

परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम्। भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ॥३४॥

परिमाण, संस्कार एवम् अभ्यास के लक्षण—परिमाण और मान शब्द पर्यायवाची हैं, संस्कार को ही करण कहते हैं, किसी विषय को बार-बार करना अभ्यास कहा जाता है। इसी को शीलन और सतत क्रिया भी कहते हैं।

वक्तव्य—जिससे नापा या मापा जाय उसे **परिमाण** या **मान** कहते हैं। ये मान परमाणु से लेकर माष, टंक, अक्ष, बिल्व, कुडव, प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी, खारी आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राचीन तथा आधुनिक दृष्टि से मान (नाप-तौल) के अनेक प्रकार हैं।

संस्कार—मीमांसा शास्त्र में गर्भाधान से लेकर मरणपर्यन्त षोडशसंस्कारों का उल्लेख है। ये मनुष्य के बल, वर्चस् एवम् आयुष्य आदि को बढ़ाते हैं। क्षौर, उद्वर्तन, स्नान, सुगन्धित पदार्थों का लेपन दैनिक संस्कार हैं। रसशास्त्र में पारद आदि के अनेक संस्कारों का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है। गेहूँ, चावल, चना आदि अन्नों के जो विविध व्यञ्जन बनाये जाते हैं ये उन-उन के संस्कार ही हैं। संस्कार का अर्थ है, जिस क्रिया से दूसरे गुणों का आधान हो। संस्कार का दूसरा नाम 'करण' है। **करण**—कार्य की सिद्धि में जो अत्यन्त सहायक हो। शेष विवेचन चरक वि० अ० १ में देखें।

अभ्यास (Repetition in general)—किसी वस्तु का बार-बार सेवन करना, अधीत विषय को बार-बार पढ़ना, स्वर संदोह का सतत परिशीलन आदि-आदि अभ्यास के क्षेत्र हैं। चरक सू० अ० २५ में—'सर्वरसाभ्यासः पथ्यानाम्' का भी यही तात्पर्य है। प्रतिदिन सभी रसों का अनुपाततः सेवन करते रहना पथ्य (हित) कारक होता है। इसी के पर्यायवाची शब्द हैं—१. शीलन और २. सततक्रिया।

इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः। चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ॥३५॥

परत्वादि गुणों का उपसंहार—पर आदि सभी गुण उन-उन लक्षणों का वर्णन कर कह दिये गये हैं। जिनके भली-भाँति न जानने पर चिकित्सक चिकित्सा-कार्य में ठीक प्रकार से प्रवृत्त नहीं हो सकता।

वक्तव्य—महर्षि कणाद ने युक्ति, संस्कार तथा अभ्यास को छोड़कर केवल सात ही गुणों को स्वीकार किया है। चरक में द्रव्य, गुण, कर्म से सम्बन्धित गुणों का ग्रहण किया गया है।

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान् [1]कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥

गुणों के आश्रय द्रव्य हैं, न कि रस—गुण गुण के आश्रयी नहीं होते। इसलिये वैद्य को चाहिये कि

१. 'ननु, यदि द्रव्यगुणा एव ते ततः किमिति रसगुणत्वेनोच्यन्त इत्याह—कर्तुरिति। तन्त्रकर्तुः अभिप्राया इति। तत्र तन्त्रोपचारेण तथा सामान्यशब्दादिप्रयोगेण तन्त्रकरणबुद्धयः, चक्रः।

वह रस के (संयोग आदि) गुणों को द्रव्य का गुण समझे। क्योंकि तन्त्रकर्ता के अभिप्राय अनेक प्रकार के होते हैं।

वक्तव्य—वैशेषिककार कणाद का भी मत है कि गुण द्रव्य के आश्रयी होते हैं, और भी देखें—'तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः। रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः' ॥ सु० सू० अ० ४०।१७। अतः द्रव्य के अधीन ही गुण माने जाते हैं।

अतश्च [1]प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च। तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपा[2]यांश्चार्थमादिशेत् ॥३७॥

तन्त्रकर्ता के अभिप्राय-ज्ञान की विधि—अतएव प्रकृत (प्रकरण), देश, काल तथा इनके भेदों को समझकर और तन्त्रकर्ता के अभिप्राय एवम् उपायों (युक्तियों) को जान कर अर्थ का उपदेश करे।

वक्तव्य—प्रकरण आदि को ध्यान में रखकर अर्थ निर्णय का आदेश तन्त्रकार ने दिया है, जो सब प्रकार उचित है। **प्रकरण**—नेत्र रोग में नेत्र शब्द 'नेत्रशारीर' का बोधक होता है। वही नेत्र शब्द पञ्चकर्म प्रकरण में 'बस्तिशलाका' अर्थ में प्रयुक्त होता है। देखें—सु० चि० अ० ३५। एक उदाहरण और—रसोई घर में बैठा हुआ व्यक्ति यदि सैन्धव मांगे तो नमक देना चाहिये और यात्रा के लिये तत्पर व्यक्ति सैन्धव मांगे तो घोड़ा लाकर देना प्राकरणिक अर्थ होगा। इसके विपरीत अप्राकरणिक।

देशभेद—यहाँ देश शब्द से शरीर के अवयवों का ग्रहण किया जा रहा है। शिरःशोधन प्रकरण में कही गयी 'कृमिव्याधि' से कृमिजन्य शिरोरोग ही समझें। इसी प्रकार आनूप, जांगल, साधारण देशों का भी निर्णय करें।

कालभेद—चिकित्सा के अवसर पर वमन कब कराना चाहिये और विरेचन किस ऋतु में उचित होता है, इस प्रकार का निर्णय काल-भेद कहा जाता है। ऐसे ही काल-भेद से शब्दों का अर्थभेद भी हो जाता है। जैसे—वमनकाल में प्रयुक्त 'प्रतिग्रह' शब्द का अर्थ पीकदान होगा और यज्ञ आदि के अवसर पर प्रतिग्रह का अर्थ दान, दक्षिणा होगा।

ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय—ग्रन्थकर्ता का उस रचना के प्रति अपना एक लक्ष्य होता है। तदनुसार वह ग्रन्थ की रचना करता है। उस समय वह मत-मतान्तरों की स्थापना अपनी दृष्टि से करता है, वही उसका अभिप्राय कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में जो रसों में गुणों का निर्देश किया गया है, उससे सभी द्रव्यों के गुणों से परिचित कराना ही तन्त्रकार को अभीष्ट था।

[3]षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्। षट् पञ्चभूतप्रभवाः सङ्ख्याताश्च यथा रसाः ॥३८॥

षड्रस-प्रकरण

(Topic of Six Rasas)

पञ्चमहाभूतों से छः रसों की उत्पत्ति—अब इसके आगे रसों के छः विभागों का वर्णन करूँगा। जिस प्रकार पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न रस छः कहे गये हैं।

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च; तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना[4] भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभि-मूर्च्छन्ति[5] रसाः ॥ ३९ ॥

रस के रूप में परिवर्तित आन्तरिक्ष जल—आकाश से प्राप्त होने वाला जल सौम्य (सोमगुण-

१. 'प्रकृतं प्रकरणम्' शिवदासः। 'प्रकृतिम्' ग.।
२. 'उपायानिति शास्त्रोपायान तन्त्रयुक्तिरूपान्, अर्थम् अभिधेयम्' चक्रः।
३. 'परं चातः प्रवक्ष्यामि रसानां षट् विभक्तयः' इति पा०।
४. 'भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसम्बन्धव्यतिरेकेणान्तरिक्षैरितैः पृथिव्यादिपरमाण्वादिभिः सम्बन्धो रसारम्भको भवतीति दर्शयते' चक्रः।
५. 'अभिमूर्च्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति' चक्रः।

प्रधान), शीत प्रकृति वाला, लघु और अव्यक्त रस वाला होता है। वह जल आकाश से गिरता हुआ और गिरा हुआ पञ्चमहाभूतों के गुणों से युक्त होकर जंगम (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि), स्थावर (पेड़, पौधे, पहाड़ आदि) की मूर्तियों को भली-भाँति तृप्त करता है। उन मूर्तियों में छः रस अभिव्यक्त होते हैं।

वक्तव्य– द्यौ एवं पृथिवी के मध्य का अवकाश (आकाश, खाली भाग) अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष में रहने वाले जल का नाम आन्तरीक्ष है, यह शुद्ध पीने योग्य होता है। इसमें किसी भी मधुर आदि रस का निर्देश नहीं किया जा सकता। अतएव इस जल को 'अव्यक्त रस' कहा गया है। यही अन्तरिक्ष से गिरा हुआ जल भूमि के स्थान विशेष के प्रभाव से मधुर आदि रसों को प्राप्त कर लेता है। देखें—सु० सू० अ० ४५।३-४।

तेषां षण्णां रसानां [1]सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाऽग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः; षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः ॥ ४० ॥

पञ्चमहाभूतों से रसों का उत्पत्ति-क्रम—उन छः रसों में से सोम गुण की प्रधानता से **मधुर रस**, पृथिवी और अग्नितत्व की अधिकता से **अम्ल (खट्टा) रस**, जल तथा अग्नि तत्व की अधिकता से **लवण रस**, वायु और अग्नि की अधिकता से **कटुरस**, वायु और आकाशतत्व की अधिकता से **तिक्तरस**, वायु और पृथिवी तत्व की अधिकता से **कषायरस** की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन रसों के छः भेद कहे गये हैं। महाभूतों की न्यूनता (कमी) और अधिकता के भेद से जिस प्रकार प्राणियों के गौरवर्ण, कृष्णवर्ण, आकृति विशेष की उत्पत्ति होती है, काल (सम्पूर्ण वर्ष) छः ऋतुओं में विभाजित हो जाता है। ऋतुओं के तर-तम भेद से महाभूतों में भी न्यूनता (कमी) और अतिरेक (अधिकता) का होना देखा जाता है।

वक्तव्य—यहाँ विभिन्न संहिताकारों के मतों को उद्धृत कर पञ्चमहाभूतात्मक रसों के सङ्गठनों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

पुनर्वसु (चरकसं०)	धन्वन्तरि (सुश्रुतसं०)	वाग्भट (अष्टांगसं०)
१. मधुर—जल+पृथ्वी	पृथ्वी+जल	पृथ्वी+जल
२. अम्ल—पृथ्वी+अग्नि	पृथ्वी+अग्नि	अग्नि+पृथ्वी
३. लवण—जल+अग्नि	जल+अग्नि	जल+अग्नि
४. कटु—वायु+अग्नि	वायु+अग्नि	अग्नि+वायु
५. तिक्त—वायु+आकाश	वायु+आकाश	आकाश+वायु
६. कषाय—वायु+पृथ्वी	पृथ्वी+वायु	पृथ्वी+वायु

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त मूलपाठ के अनुसार ऊपर रसों के संगठन दिये गये हैं, किन्तु पाठभेदों के अनुसार जल+अग्नितत्वप्रधान अम्लरस और भूमि+अग्नितत्व-प्रधान लवणरस भी देखा जाता है।

तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च[2] वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः; सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाऽधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः ॥ ४१ ॥

रसों की गति में महाभूतों का प्रभाव—जिन रसों की उत्पत्ति अग्नि और वायु के योग से होती है अथवा जो रस अग्नि तथा वायुतत्व-प्रधान होते हैं, वे रस प्रायः ऊर्ध्व गति वाले होते हैं, क्योंकि वायु हलका तथा ऊपर की ओर गति वाला होता है और अग्नि का भी ऊपर की ओर को जलने का स्वभाव होता है। जिन रसों की उत्पत्ति जल और पृथिवी के योग से होती है अथवा जो रस जल तथा पृथ्वीतत्व-प्रधान होते हैं, प्रायः वे रस अधोगति वाले होते हैं, क्योंकि पृथिवी गुरु होती है और जल का नीचे की ओर जाना स्वभाव ही होता है। जो रस उक्त पृथिवी आदि तत्वों से मिश्रित होते हैं, उनकी गति दोनों ओर होती है।

१. 'अत्र सोमशब्देन पृथिवीजलयोर्ग्रहणं, उभयोः सौम्यत्वात्' शिवदासः। पृथ्वीसोमगुणातिरेकात्' ग.।
२. 'उत्प्लवनत्वात्तिर्यगूर्ध्वगतिमत्त्वात्' शिवदासः।

वक्तव्य—ऊपर पञ्चमहाभूतों के प्रभाव से रसों की गतियों का विवेचन किया गया है। चरक के अनुसार अग्नि और वायु के संयोग से कटुरस की तथा जल और पृथ्वी से मधुर रस की उत्पत्ति होती है। शेष चार रस व्यामिश्रात्मक अर्थात् मिले जुले तत्वों के योग से उत्पन्न होते हैं।

गतियों का सहेतुक विचार—वायु का लघु रूप सुप्रसिद्ध है, अतएव इसकी ऊपर की ओर गति होती है। यहाँ 'उत्प्लवन' से तात्पर्य है—नीचे की ओर प्रवृत्ति न होकर ऊपर, दायें, बायें गति का होना। अग्नि का ऊपर की ओर जलना प्रसिद्ध है। देखें—'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः'। शिशुपालवध १ स०। दूसरा कारण यह भी है कि अग्नि और वायु की परस्पर मित्रता भी है, अग्नि का नाम '**वायुसखा**' है।

न्यूटन के सिद्धान्त के अनुसार तथा ज्योतिष सिद्धान्तानुसार भी पृथिवी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। पृथिवी सभी प्रकार से गुरु है, अतः इसके संयोग से उत्पन्न रसों में गौरव का होना स्वाभाविक ही है। जल का नीचे की ओर को जाना प्रत्यक्ष है, अतएव नदी का एक नाम '**निम्नगा**' भी है।

तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य [1]यथाद्रव्यं गुणकर्माण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ४२ ॥

रसों के गुण-कर्मों की व्याख्या का प्रस्ताव—उन छः रसों में प्रत्येक द्रव्य के अनुसार गुणों तथा कर्मों की हम आगे व्याख्या करेंगे।

तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्नस्तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यो बल्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षतसन्धानकरो घ्राणमुखकण्ठौष्ठजिह्वाप्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च।

मधुर रस के गुण-कर्म—उन छः रसों में मधुर रस शरीर को सात्म्य होने से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, आयुकारक, ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन अर्थात् छः इन्द्रियों को प्रसन्न (तृप्त) करने वाला, बल और वर्ण की वृद्धि करने वाला, पित्तशामक, विषनाशक, वातनाशक, तृष्णा तथा दाह को कम करने वाला, त्वचा के लिये हितकर, केशों के लिये हितकर, कण्ठ (गले) के विकारों को दूर करने वाला, बलवर्धन, प्रीणन जीवन (जीवनीय शक्ति को देने वाला), तर्पण (तृप्तिकारक), बृंहण (स्थूलताकारक), स्थिरता को देने वाला, क्षीणतानाशक, क्षतपूरक, संधानकर (अस्थिभग्न को जोड़ने वाला), नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ तथा जीभ को आनन्दित करने वाला अर्थात् प्रिय, दाह, मूर्च्छा का शमन करने वाला, षट्पद, (भ्रमर, शहद की मक्खी तथा साधारण मक्खी, इन सभी के छः पैर होते हैं।) पिपीलिका (चिउँटी) आदि का अत्यन्त प्रिय, स्निग्ध गुण प्रधान, शीत एवम् गुरु होता है।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्नेदौर्बल्यमास्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं श्वासकासप्रतिश्यायालसकशीतज्वरानाहास्यमाधुर्यवमथुसंज्ञास्वरप्रणाशगलगण्डगण्डमालाश्लीपदगलशोफबस्तिधमनीगलोपलेपाक्ष्यामयानभिष्यन्दानित्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति ॥ (१);

मधुर रस के अधिक सेवन से दोष—इस प्रकार के गुणों वाला भी वह मधुर रस अत्यधिक सेवन करने पर स्थूलता, मृदुता (मांसपेशियों में ढीलापन), आलस्य (शक्ति रहने पर भी कार्य करने का उत्साह न होना), अधिक नींद का आना, शरीर में भारीपन, भोजन के प्रति अरुचि, अग्नि का मन्द हो जाना, मुख तथा गले के मांस की अधिक वृद्धि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम), अलसक, शीतज्वर (जाड़ा देकर ज्वर आना), आनाह, मुख का मीठा बना रहना, वमथु (वमन), संज्ञानाश (बेहोशी), स्वर का भद्दा होना, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गले की सूजन, बस्ति, धमनी तथा गला के भीतर लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, नेत्र रोग, अभिष्यन्द आदि कफज रोग, इत्यादि कफज विकारों को पैदा करता है।

१. 'यथाद्रव्यमिति यद्यस्य रसस्य द्रव्यमाधारस्तदनतिक्रमेण, एतेन रसानां गुणकर्मणी रसाधारद्रव्ये बोद्धव्ये, इति दर्शयति' चक्रः।

अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति, लघुरुष्णः स्निग्धश्च ।

अम्ल रस के गुण-कर्म—अम्ल (खट्टा) रस भोजन (खाने) के प्रति रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि (पाचकाग्नि) को प्रज्ज्वलित करता है, देह (शरीर) को मोटा करता है, मन को प्रबुद्ध करता है, इन्द्रियों को दृढ़ बनाता है, बल को बढ़ाता है, वायु को अनुलोम (अपने-अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त) करता है, हृदय को तृप्त करता है, मुख को लार युक्त कर देता है अर्थात् अम्लरस को देखते ही मुख से लार निकलने लगती है (यह भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होने का लक्षण है ।) भुक्त (खाये हुए भोजन) को आमाशय की ओर खींच कर ले जाता है, आहार-नलिका को क्लिन्न (गीला) करता है, भोजन को जीर्ण करता (पचाता) है और मन आदि को प्रसन्न (तृप्त) करता है । अम्लरस लघु, उष्ण और स्निग्ध होता है ।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति तर्पयति, सम्मीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं [1]विलापयति, पित्तमभिवर्धयति रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहतदष्टदग्धभग्नशूनप्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितमर्दितच्छिन्नभिन्नवि[2]श्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च (२) ।

अम्लरस के अधिक सेवन से दोष—वह अम्लरस इस प्रकार के गुणों वाला होने पर भी यदि अकेला (अन्य रसों को छोड़कर केवल इसी) का अत्यधिक सेवन किया जाता है तो दन्तहर्ष (दाँतों को खट्टा) कर देता है, प्यास को पैदा करता है, आँखें बन्द हो जाती हैं, लोमों को कँपा देता है (रोमांच हो जाता है), कफ को ढीला कर देता है, पित्त को बढ़ाता है, रक्त को दूषित करता है, मांसपेशियों में दाह (जलन) पैदा करता है, शरीर की संधियों को ढीला कर देता है, क्षीण, क्षत, दुर्बलों को शोथ युक्त कर देता है अर्थात् यदि क्षीण, क्षत अथवा दुर्बल पुरुष अम्ल रस का अधिक सेवन करते हैं तो उनको शोथ हो जाता है और भी क्षत (कटना), अभिहत (चोट लगाना), दष्ट (साँप, बिच्छू आदि से डसना), दग्ध (जलना), भग्न (टूटना), शून (सूजन होना), प्रच्युत (कहीं से गिर जाना अथवा अस्थि सन्धियों का अपने स्थान से खिसक जाना), अवमूत्रित (मकड़ी आदि विषैले जन्तुओं द्वारा शरीर पर मूत्र कर देना), परिसर्पित (विषैले कृमि, कीटों का शरीर पर चलना), मर्दित (शरीर से दब जाना, मसल जाना), छिन्न (दो टुकड़े होना) भिन्न (फट जाना), विश्लिष्ट (अस्थिभंग विशेष, सन्धि मुक्त होना = Disjoined) उद्‌विद्ध (सुई, कांटा आदि से बिंधना), उत्पिष्ट (पिस या कुचल जाना) आदि को अग्नि गुण प्रधान होने के कारण (अम्लरस) पका देता है और गला, छाती, हृदय में दाह (जलन) उत्पन्न करता है ।

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विकास्यधः[3]स्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसङ्घातविधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वंशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम्, आहारयोगी, नात्यर्थगुरुः स्निग्ध उष्णश्च ।

लवण रस के गुण-कर्म—यह पाचन (भोजन को पचाता है, अतएव 'लवणभास्कर चूर्ण' आदि का प्रयोग पाचन के लिये किया जाता है ।), क्लेदन (गीला करने वाला या गलाने वाला होता है । अतएव आचार आदि में लवण की मात्रा अधिक डाली जाती है), दीपन (पाचकाग्नि को दीप्त करता है ।), च्यावन (च्युत कराने वाला), छेदन, (कफ को काटने वाला), भेदन (मल का भेदन करने वाला), तीक्ष्ण, सर, विकासी, अधःस्रंसी (मल को नीचे की ओर प्रवृत्त करने वाला), अवकाशकारक, वातनाशक, शरीर का जकड़ जाना, मलबन्ध, दोषों का इकट्ठा होना, इनका नाशक सर्वरसप्रत्यनीक (सभी रसों के बीच में अपना पराक्रम दिखलाने वाला नमक के विना सभी रस फीके पड़ जाते हैं ।), मुख से लार चुआता है, कफ को निकालता है, रसवाही

१. 'विलालयति' ग. ।

२. 'विश्लिष्टविद्धोत्पिष्टादीन्' इति पा. ।

३. 'अवस्रंसी' यो. ।

स्रोतों को शुद्ध करता है, शरीर के सभी अवयवों को, मृदु बनाता है, आहार को रुचिपूर्ण कर देता है, प्रायः प्रत्येक आहारद्रव्यों में इसका उपयोग किया जाता है। यह अधिक गुरु नहीं होता, स्निग्ध तथा उष्ण होता है ।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं [1]वर्धयति, तर्षयति, [2]मूर्च्छयति, तापयति; दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, बलीपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति (३) ।

लवण रस के अधिक सेवन से दोष—इस प्रकार के गुणों वाले केवल लवण रस का भी अधिक प्रयोग करने पर यह पित्त को प्रकुपित (दूषित) करता है, रक्त को बढ़ाता है, प्यास को बढ़ाता है, मूर्च्छित करता है, सन्तप्त करता (उष्णता को बढ़ाता) है, कफ को फाड़ता है, मांस को गलाता है, कुष्णाति (Draw out) कुष्ठों को गला देता है, विष को बढ़ाता है, फोड़ों को फाड़ देता है, दांतों को गिरा देता है, पुरुषत्व को नष्ट करता है, इन्द्रियों की शक्ति को शिथिल करता है, शरीर में झुर्रियाँ, अकाल में बालों का पकना, खालित्य (शिर में गञ्जापन) कर देता है और भी रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त (Baldness) आदि विकारों को उत्पन्न करता है ।

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, [3]कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसङ्घातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रूक्षश्च ।

कटुरस के गुण-कर्म—कटु रस (कटु को ही कटुक भी कहते हैं ।) मुख को शुद्ध करता है, अग्नि को बढ़ाता है, खाये हुए पदार्थों के द्रव अंश को सुखाता है, नाक से कफ (मल) का स्राव कराता है, आँखों से जल (आँसू) निकालता है, ज्ञानेन्द्रियों को स्वच्छ कर देता है, अर्थात् कटुरस (त्रिकटु—सोंठ, मिरिच, पीपल या हरी, लाल मिर्च) का सेवन करने से मुख में स्थित कफविकार दूर होता है, आँख, मुख, नाक में से पानी और उसके साथ कफ का भी स्राव होने लगता है तथा इन्द्रियों में चेतनता आ जाती है। अलसक (गुम हैजा), श्वयथु (सूजन), उपचय (शारीरिक वृद्धि), उदर्द (शरीर पर धब्बे पड़ जाना), अभिष्यन्द, शारीरिक स्निग्धता, स्वेद, क्लेद आदि मलों का नाश करता है। भोजन को स्वादिष्ट बनाता है। खुजली का नाश करता है, व्रणों का अवसादन करता है (उठे हुए फोड़ों को बैठाता है। देखें—सु० चि० अ० १) क्रिमियों को नष्ट करता है, मांस का लेखन कराता है, इकट्ठे रक्त को अलग-अलग कर देता है, सन्धिबन्धों को काट देता है, स्रोतों को विस्तृत कर देता है अर्थात् स्रोतों की रुकावट को दूर कर देता है, कफ का शमन करता है। यह लघु, उष्ण और रूक्ष होता है ।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लापयति, सादयति, कर्षयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रमदवेथुकम्पतोदभेदैश्चरणभुजपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु[5] मारुतजान् विकारानुपजनयति (४) ।

कटुरस के अधिक सेवन से दोष—इस प्रकार के गुणों से युक्त यह कटुरस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है, तो अपने विपाक के प्रभाव से पुरुषतत्व का नाश करता है, अपने रस (कटु) और

१. 'दूषयति' इति पा० ।

२. 'मोहयति इति वा' पा० ।

३. 'कण्डूं विलालयति' ग. ।

४. 'वमथु' यो. ।

५. 'पीलुहस्ततलम्' इति गङ्गाधरः ।

वीर्य (उष्ण) के प्रभाव से मोह को उत्पन्न करता है, हर्षक्षय करता है, अवसाद उत्पन्न करता है, कृश करता है, मूर्च्छित करता है, शरीर को झुका देता है, आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है, चक्कर आने लगते हैं, गला में दाह उत्पन्न करता है, शरीर में गर्मी पैदा करता है, बल का नाश करता है, प्यास को पैदा करता है और भी वायु तथा अग्नि गुण की अधिकता से चक्कर, दवथु (वमन), कम्प, तोद (सुई चुभाने की-सी वेदना), भेद (फटने की-सी पीड़ा) आदि से युक्त, चरण, बाँह, पसली, पीठ आदि स्थानों में वातविकारों को पैदा कर देता है।

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो विषघ्नः क्रिमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनस्त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जलसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च।

तिक्तरस के गुण-कर्म—तिक्तरस स्वयम् सेवन करते समय अरुचिकारक होने पर भी सेवन करने पर अरुचिनाशक, विषनाशक, कृमिनाशक, मूर्च्छा, दाह, कण्डू, कुष्ठ, तृष्णा का शमन करने वाला, त्वचा और मांस को स्थिर (पुष्ट) करने वाला, ज्वरनाशक, दीपन, पाचन, माता के दूध को शुद्ध करने वाला, लेखन, क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय (मवाद), स्वेद, मूत्र, पुरीष (Stool), पित्त और कफ को सुखाने वाला रूक्ष, शीत तथा लघु होता है।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपादयति बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति ॥ (५) ॥

तिक्तरस के अधिक सेवन से दोष—इस प्रकार के गुणों से युक्त यह तिक्त रस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है, तो रूक्षता के कारण खर और विशद स्वभाव के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र-धातुओं का शोषण करता है। स्रोतों में खरता पैदा करता है, बल को घटाता है, शरीर को कृश करता है, हर्षक्षय करता है, चित्त को मोहित कर देता है, चक्कर उत्पन्न करता है, मुख को सुखा देता है और भी वातविकारों को पैदा कर देता है।

कषायो रसः संशमनः सङ्ग्राही [1]सन्धानकरः [2]पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः, [3]शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः शीतो गुरुश्च।

कषायरस के गुण-कर्म—कषायरस दोषों को शान्त करने वाला, संग्राही, संधानकारक, पीडन (दबाकर मवाद आदि को निकालने वाला), रोपण (घाव को भरने वाला), सुखाने वाला तथा स्तम्भक है। कफ, रक्त, पित्त का शमनकारक और शरीर के गीलेपन को सुखाने वाला, रूक्ष, शीत एवं गुरु होता है।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति; वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां [4]गच्छति, वातमूत्रपुरीषरेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लापयति, तर्पयति, स्तम्भयति, खरविशदरूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति ॥ ४३ ॥

कषायरस के अधिक सेवन से दोष—इस प्रकार के गुणों से युक्त यह कषायरस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो मुख को सुखा देता है, हृदय को पीड़ित करता है, उदर को फुला देता है (पेट में आध्मान कर देता है।), आवाज को स्पष्ट निकलने नहीं देता (अधिक कषैले पदार्थ का सेवन करने से आवाज लड़खड़ा जाती है।), रसवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है, शरीर में श्यामलता छा जाती है, पुरुषत्व का विनाश करता है, विष्टम्भ (कब्ज) को पैदा करके तदनन्तर पचता है, वात (अपान वायु), मूत्र, पुरीष, वीर्य को रोक देता है, शरीर को कृश तथा मलिन कर देता है, प्यास को उत्पन्न करता है,

१. 'संधारण' ग.।
२. 'पीडनो व्रणपीडनः' चक्रः। 'आकृष्य संकोचकरः' गङ्गाधरः।
३. 'शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति आचूषकः' चक्रः।
४. 'विष्टभ्य जरयति' ग.।

जड़ता या जकड़ाहट कर देता है। खर, विशद और रूक्ष होने के कारण पक्षाघात, ग्रह (हनुग्रह), अपतानक, अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा) आदि वातविकारों को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—चरक में छः रसों का जो वर्णन यहाँ तक किया गया है, इसके विशेष विवेचन के लिये सुश्रुत सू० अ० ४२।९ से ११ तक देखें।

इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना [1]उपकारायभवन्त्यध्या[2]त्मलोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युपयुज्यमानाः[3], तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ४४ ॥

रस विवेचन का उपसंहार—इस प्रकार ये छः रस अलग-अलग अथवा एकत्व से (मिला कर) मात्रा के अनुसार विधिपूर्वक प्रयोग किये जाने पर अध्यात्मलोक (सभी प्राणियों) के उपकार के लिये होते हैं। इसके विपरीत अर्थात् विधि तथा मात्रा के विरुद्ध सेवन करने पर अपकार (अहित) कारक होते हैं। इसलिये उक्त रसों का रोगियों के हित के लिये मात्रापूर्वक उपयोग करें।

भवन्ति चात्र—

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णं च [4]यद् द्रव्यं कटुकं तयोः ॥ ४५ ॥

द्रव्य का रसादि के साथ सम्बन्ध—जो द्रव्य रस और विपाक में मधुर होता है, वह शीतवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक में अम्ल (खट्टा) होता है, वह उष्णवीर्य होता है और जो द्रव्य रस एवम् विपाक में कटु होता है, वह भी उष्णवीर्य होता है।

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसङ्ग्रहः। वीर्यतोऽविपरीतानां[5] पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

और भी—रस के उपदेश से ही उन द्रव्यों के गुणों को जान लेना चाहिये किन्तु जो द्रव्य वीर्य तथा विपाक से विपरीत नहीं होते हैं, उनके गुणों का उपदेश आगे किया जायगा।

वक्तव्य—कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जिनके रस एवं विपाक में कोई अन्तर नहीं होता, कुछ ऐसे हैं जिनके रस से विपाक में भेद होता है। जैसे—पिप्पली कटुरस-प्रधान होती है किन्तु इसका विपाक मधुर होता है। आँवला कषाय रस प्रधान होता है किन्तु इसका भी विपाक मधुर होता है, तवाखीर (तीखुर) रस तथा विपाक में मधुर होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य विचित्र कारणों अथवा कारणों के विचित्र संयोग से उत्पन्न होता है, अतः उसमें रस, गुण एवं विपाक आदि भी विचित्र होते हैं। यही कारण है जिससे पाञ्चभौतिक होने पर भी प्रत्येक द्रव्य विचित्र (विलक्षण) होता है और उसके कर्म भी विचित्र होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन महर्षियों ने तथा आज के वैज्ञानिकों ने द्रव्यों के एवम् उनके रस आदि का अन्वेषण करके कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं उतने मात्र से द्रव्य की सम्पूर्ण शक्ति का ज्ञान हो गया यह स झ लेना समीचीन नहीं है। सचमुच द्रव्य की वास्तविक शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना मानव शक्ति से परे है, इसी विश्वास पर वैज्ञानिक प्रतिदिन खोज पर लगे हुए हैं।

यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ। एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद् रसतो भिषक् ॥४७॥

उदाहरण स्वरूप कुछ द्रव्य—जैसे दूध, जैसे घी अथवा जैसे चव्य और चित्रक इत्यादि होते हैं, इसी प्रकार अन्य द्रव्यों को भी रस के अनुसार समझें।

वक्तव्य—जिस प्रकार दूध और घी रस तथा विपाक में मधुर और शीत वीर्य होते हैं, इसी प्रकार

१. 'उपकारकाः' ग.। 'उपकारकरा' इति पा०।
२. 'अध्यात्मलोकस्येति सर्वप्राणिजनस्य' चक्रः।
३. 'पुनरतोऽन्यथोपयुज्यमानाः' इति पा०।
४. 'यच्चोष्णम्' इति पा०।
५. 'वीर्यतो विपरीतानाम्' ग.।

चव्य और चित्रक रस तथा विपाक में कटु, वीर्य में उष्ण होते हैं। ऐसे ही समान रस, विपाक वाले अन्य द्रव्यों को भी तदनुकूल वीर्य वाले समझना चाहिये। इस उदाहरण से अविरुद्ध रस विपाक वाले द्रव्यों का उपदेश किया गया है। इस प्रकार द्रव्यों के रस के उपदेश से ही उस-उस रस के स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों को समझें।

मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। यथा महत्पञ्चमूलं [1]यथाऽब्जानूपमामिषम् ॥४८॥
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा। अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते[2] ॥४९॥

विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य—सामान्य दृष्टि से मधुर रस वाले द्रव्य शीतवीर्य होते हैं किन्तु कुछ द्रव्य मधुर होते हुए भी उष्णवीर्य वाले होते हैं। जैसे—जलचर प्राणियों तथा अनूपदेशज प्राणियों का मांस रस में मधुर होने पर भी वीर्य में उष्ण होता है, अतएव पित्त को बढ़ाता है। ऐसे ही कषाय रस और तिक्त रस वाले द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं। जैसे—महत्पञ्चमूल। सैन्धव (सैंधा नमक अन्य लवणों के बराबर) उष्णवीर्य नहीं होता, वैसे ही अम्लरस वाला आँवला (अन्य अम्लरस वाले द्रव्यों के समान) उष्णवीर्य नहीं होता है। अर्क (मदार), अगुरु, गिलोय आदि तिक्तरस वाले द्रव्य शीतवीर्य न होकर उष्णवीर्य वाले कहे जाते हैं।

किञ्चिदम्लं हि सङ्ग्राहि किञ्चिदम्लं भिनत्ति च। यथा कपित्थं सङ्ग्राहि भेदि चामलकं तथा ॥५०॥
पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते। कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥५१॥
तस्माद् रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत्। दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥५२॥

और देखें—कुछ अम्लरस वाले द्रव्य संग्राही (मलावरोधक) होते हैं और कुछ अम्लरस वाले द्रव्य भेदक (विरेचक, दस्तावर=Purgative) होते हैं। जैसे—कैथ मल को रोकने वाला होता है और आँवला भेदक होता है। कटु रस प्रधान द्रव्य सामान्यतया वीर्यनाशक कहे जाते हैं किन्तु पिप्पली (छोटी पीपल) और नागर (सोंठ) ष्य (वीर्यवर्धक) होते हैं। प्रायः कषायरस प्रधान द्रव्य स्तम्भक और शीतल होते हैं किन्तु अभया (हरीतकी) में इसके विपरीत लक्षण पाये जाते हैं। इसलिये रस के उपदेश के अनुसार सभी द्रव्यों के गुण, वीर्य आदि का वर्णन न करे। क्योंकि समान रस वाले द्रव्यों में भी प्रत्येक द्रव्य के गुणों में भेद देखा जाता है।

रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः। तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः ॥५३॥
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः, स्निग्धानां मधुरः परः। मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥
मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषायस्वादुतिक्तकाः[3]। स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥५५॥
अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः। केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥५६॥
गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि[4]।

रसों में गुणसम्बन्धी उत्तम-मध्यम-अधमता—रूक्ष गुण प्रधान रसों में रूक्षता के कारण कषाय र सब में श्रेष्ठ है, कटुरस मध्यम होता है और तिक्तरस अवर (सबसे कम कषाय) होता है। उष्ण गुण प्रधान रसों में उष्णता के कारण लवणरस सर्वश्रेष्ठ है, अम्लरस मध्यम है और कटुरस अन्त्य (अधम या न्यून) है। स्निग्ध गुण प्रधान रसों में स्निग्धता के कारण मधुर श्रेष्ठ है, अम्ल मध्यम है और लवण अन्तिम (अधम) है।

(१) **वीर्य के विचार से**—शीतवीर्य वाले द्रव्यों में मधुररस उत्तम, कषायरस मध्यम है और तिक्तरस अवर है। (२) **गुरुता के विचार से**—गुरुता में मधुररस उत्तम, कषायरस मध्यम और लवणरस अवर होता है। (३) **लघुता के विचार से**—अम्लरस अल्प लघु, कटुरस मध्यम लघु और तिक्तरस उत्तम लघु या लघुतम होता है। कुछ आचार्य लवण रस को अल्प लघु मानते हैं। इस प्रकार लवण रस दोनों (अग्निवेश तथा अन्य आचार्यों) के मत से गौरव में भी हीन है और लाघव में भी हीन है।

---

१. 'यथा वाऽऽनूपमामिषम्' ग.।
२. 'मौष्ण्यमुच्यते' ग.। 'मौष्ण्यमिष्यते' यो.।
३. 'तिक्तात्कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः' ग.।
४. 'उभयोरपीति मतद्वयेऽपि स लवणोऽवरः; अग्निवेशमते गौरवेऽवरः, मतान्तरे लाघवेऽवरः' शिवदाससेनः।

रसों का गुणों के अनुसार क्रमिक विभाजन

रस	गुण	रस	गुण	रस	गुण	रस	गुण	रस	कर्म	रस	कर्म
तिक्त	शीत	कटु	उष्ण	लवण	गुरु	अम्ल	लघु	तिक्त	रूक्ष	लवण	स्निग्ध
कषाय	शीततर	अम्ल	उष्णतर	कषाय	गुरुतर	कटु	लघुतर	कटु	रूक्षतर	अम्ल	स्निग्धतर
मधुर	शीततम	लवण	उष्णतम	मधुर	गुरुतम	तिक्त	लघुतम	कषाय	रूक्षतम	मधुर	स्निग्धतम

परं चातो विपाकानां लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते ॥ ५७ ॥
कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा[1] ॥५८॥

विपाक-प्रकरण

विपाक लक्षण—रस वर्णन करने के पश्चात् अब विपाकों का लक्षण कहा जायगा। कटु, तिक्त तथा कषाय रस वाले द्रव्यों का विपाक (भोजन करने के पश्चात् जब वह भुक्त पदार्थ आमाशय में जाता है तो वहाँ उसका सम्मिलित रूप में जो दूसरा रस उत्पन्न होता है, उसको विपाक कहते हैं।) प्रायः (अधिकांश) कटु होता है। अम्ल रस प्रधान द्रव्यों का प्रायः अम्ल विपाक होता है और मधुर रस वाले एवम् लवण रस वाले द्रव्यों का विपाक प्रायः मधुर होता है।

वक्तव्य—कटुक आदि शब्दों से उनके आधारभूत द्रव्यों का संकेत होता है। क्योंकि स्वतन्त्र रसों की उपलब्धि नहीं होती, जब भी पाक आदि क्रिया की जाती है तो उस-उस रस के आधारभूत द्रव्यों की ही होती है। यही स्थिति लवण रस की भी है। उसका मधुर विपाक होता है।

विपाक का लक्षण—'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः' ॥ भावप्रकाश। खाये हुए पदार्थों का जो स्वाभाविक रस जाठराग्नि का योग होने पर दूसरे रस के रूप में बदल जाता है, उसे विपाक कहते हैं। चरक में रस-भेद से विपाक तीन प्रकार का माना गया है—१, मधुर, २. अम्ल और ३. लवण। सुश्रुत में केवल दो प्रकार का विपाक स्वीकार किया है—१. मधुर और २. कटु। यहाँ जो चरक और सुश्रुत में मतभेद दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका समाधान इस प्रकार है—चरक में रसपाक की दृष्टि से तीन प्रकार का विपाक स्वीकार किया है और सुश्रुत में भूत गुणों के अभिप्राय से गुरु तथा लघु दो प्रकार का माना है।

विपाक के सम्बन्ध में धन्वन्तरि का मत—रसों की पाञ्चभौतिकी उत्पत्ति इसके पूर्व स्वीकार की जा चुकी है। अतः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्चमहाभूतों के भी गुण साधर्म्य के कारण दो भेद होते हैं—१. गुरु, २. लघु। जैसे—पृथ्वी और जल गुरु, तेज, वायु और आकाश लघु हैं। अतः पाक भी दो प्रकार के होते हैं। इसीलिये कहा है—

'द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥ तेजोऽनिलाकाशगुणः पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते' ॥ सु० सू० अ० ४०।११-१२। अर्थात् द्रव्यों के पाक काल में जब पृथ्वी-जल के गुण अधिक होते हैं तब मधुर (गुरु) विपाक होता है और जिन द्रव्यों के पाक काल में तेज, वायु, आकाश के गुण अधिक होते हैं, तब उनका कटु (लघु) विपाक होता है।

महर्षि अग्निवेश ने तीन प्रकार के विपाकों का वर्णन चरक चिकित्सास्थान अध्याय १५ में भी किया है। महर्षि पराशर भी तीन प्रकार के विपाकों को समर्थन देते हैं।

---

१. 'कटुकादिशब्देन तदाधारं द्रव्यमुच्यते, यतो न रसाः पच्यन्ते किन्तु द्रव्यमेव; लवणस्तथेति लवणोऽपि मधुरविपाक इत्यर्थः। विपाकलक्षणं तु जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते स विपाकः। वचनं हि—'जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः' ॥ चक्रः। चरके मधुरोऽम्लो लवणश्चेति विपाकत्रयमुक्तं। सुश्रुते तु मधुरः कटुकश्चेति विपाकद्वयमुक्तम्। एतद्विरोधपरिहारार्थं गङ्गाधरेणैवं समाधानमुक्तं—'रसपाकाभिप्रायेण त्रिधा विपाक उक्तश्चरकेण। सुश्रुते—भूतगुणपाकाभिप्रायेण द्विधा विपाक उक्तो गुरुर्लघुश्चेति क्रमेण मधुरसंज्ञः कटुसंज्ञश्च' इति। विस्तरस्तु जल्पकल्पतरौ द्रष्टव्यः।

वाग्भट का मत अ० हृ० अ० ९ श्लोक २० में इस प्रकार निर्दिष्ट है—प्रायः मधुर एवं लवण रस का विपाक मधुर होता है, अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है, तिक्त, कटु, कषाय रसों का विपाक कटु होता है। विपाक का फल रस के फल के समान होता है, यह सब होने पर भी कोई द्रव्य मधुर आदि रस से कर्म करता है तो कोई विपाक से, कोई गुण से, कोई वीर्य से और कोई केवल प्रभाव (अपनी अचिन्त्य शक्ति) से कार्य करता है।

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः । वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥५९॥
कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः । दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम् ॥६०॥

स्निग्धता तथा रूक्षता को प्राप्त रसों के कार्य—मधुर, अम्ल एवं लवण ये तीनों रस स्निग्ध गुण वाले होने के कारण वात (अपान वायु). मूत्र, पुरीष (मल) को निकालने में सुखदायक होते हैं। कटु, तिक्त, कषाय रस रूक्ष होने के कारण वात, मल, मूत्र तथा वीर्य के निकलने में दुःखदायक होते हैं।

वक्तव्य—प्रायः शब्द का प्रयोग होने से कोई कोई पदार्थ वात, मूत्र आदि के निःसारक न होकर अवरोधक भी होते हैं। यथा—अम्लरस प्रधान कैथ संग्राहक होता है।

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः । मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः ॥६१॥
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः । तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ॥६२॥

विपाकों के पृथक्-पृथक् लक्षण—कटु विपाक वाले द्रव्य शुक्रनाशक, मल एवम् मूत्र के अवरोधक और वातवर्धक होते हैं। मधुर विपाक वाले द्रव्य मल तथा मूत्र को निकालने में सहायक होते हैं, कफ तथा शुक्र को बढ़ाने वाले होते हैं। अम्ल विपाक वाले द्रव्य पित्तकारक, मल और मूत्र को निकालने वाले तथा शुक्रनाशक होते हैं। इन तीन प्रकार के विपाकों में मधुर विपाक गुरु होता है और कटुक एवम् अम्ल विपाक अन्यथा अर्थात् गुरु से विपरीत (लघु) होता है।

वक्तव्य—जैसे यहाँ विपाक को महर्षि अग्निवेश ने गुरु, लघु के भेद से दो भागों में विभक्त किया है, इस रूप से सुश्रुत में वर्णित विपाकों के दो भेदों की पुष्टि होती है। अथवा सुश्रुत का विपाक विवेचन महर्षि अग्निवेश को भी अभीष्ट है, यह प्रतीत होता है। देखें—सु० सू० अ० ४०।

विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतां[1] प्रति । द्रव्याणां गुणवैशेष्यात् तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥६३॥

विपाक का अनुमान—द्रव्यों में गुणों की विशेषता से उन-उन में विपाक के अल्प, मध्यम तथा अधिक लक्षणों का अनुमान कर लेना चाहिये।

वक्तव्य—जो द्रव्य मधुर रस प्रधान होगा उसका विपाक भी उसी अनुपात में समर्थ होगा। इसी प्रकार रस के तर-तम भाव से विपाक की शक्ति का भी आभास किंवा अनुमान लगा लेना चाहिये। अर्थात् मधुर विपाक, मधुरतर विपाक एवं मधुरतम विपाक रस के तारतम्य से होता है। इसी प्रकार अन्य रसों का भी समझें। इसी अनुपात में इनके कार्यों का भी निर्णय करना चाहिये। जैसे—'सृष्टविण्मूत्र' अथवा 'बद्धविण्मूत्र' आदि का जो व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है इन पर भी उक्त विपाकों का प्रभाव तर-तम भाव से ही पड़ेगा।

यदि कटु विपाक उत्तम कोटि का होगा तो मल-मूत्र का अवरोध अत्यधिक मात्रा में होगा और कम होने पर उसी अनुपात में कम प्रभावी हो जायगा।

मृदुतीक्ष्णगुरुस्निग्धलघुरूक्षोष्णशीतलम्[2] । [3]वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥६४॥

---

१. 'भूयस्त्वमेव च' यो.। 'विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतामुपलक्षयेत्' प्रति प्रति द्रव्याणां गुणवैशेष्याद्धेतोरित्यर्थः। एतेन द्रव्येषु यथा वैशेष्यं मधुरत्वमधुरतरत्वमधुरतमत्वादि, ततो हेतोर्विपाकानामल्पत्वादयो विशेषा भवन्तीत्युक्तं भवति' चक्रः।

२. 'तीक्ष्णं रूक्षं मृदु स्निग्धं लघूष्णं गुरु शीतलम्' इति पा.।

३. 'एतच्चैकीयमतद्वयं पारिभाषिकीं वीर्यसंज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं; वैद्यके हि रसविपाकप्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणि गुणे वीर्यमिति संज्ञा' चक्रः।

शीतोष्णमिति वीर्यं तु[1] क्रियते येन या क्रिया । नावीर्यं कुरुते किञ्चित् [2]सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥६५॥

वीर्य-प्रकरण

वीर्य के भेद—कुछ आचार्यों का कथन है कि मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, स्निग्ध, लघु, रूक्ष, उष्ण, शीतल—इस प्रकार वीर्य के आठ भेद होते हैं। दूसरे आचार्यों की मान्यता है कि वीर्य दो प्रकार का होता है। यथा—१. शीत और २. उष्ण। **वीर्य का लक्षण**—जिससे जो क्रिया की जाती है, उसे उसका वीर्य कहते हैं। क्योंकि बिना वीर्य के किसी कार्य का सम्पादन नहीं किया जा सकता, अतः जितनी क्रियायें हैं, वे सब वीर्य से ही की जाती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में 'केचित्' शब्द द्वारा भगवान् पुनर्वसु ने दूसरों के मतों को अपने तन्त्र में उद्धृत किया है किन्तु अपना कोई मत नहीं दिया है। स्वयं किसी मत का निर्देश न करना ही यह सिद्ध करता है कि इनको भी ये मत स्वीकार रहे होंगे। क्योंकि—'मौनं स्वीकारलक्षणम्' अथवा 'अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'। श्लोक ६४ का निर्णयसागरीय पाठ छन्द की दृष्टि से अशुद्ध है। अतः उसे यहाँ ठीक कर दिया है।

भगवान् आत्रेय ने वीर्य की जो परिभाषा प्रस्तुत की है—'येन या क्रिया क्रियते' इसके अनुसार गुरु आदि उक्त आठ गुणों की वीर्य संज्ञा उचित प्रतीत होती है। क्योंकि कोई भी द्रव्य वीर्य के बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। यद्यपि गुणों की संख्या बीस है किन्तु ये आठ गुण उन बीस गुणों में सारभूत हैं। अस्तु।

कर्म का लक्षण—'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते'। च० सू० अ० १। 'सर्वा वीर्यकृता क्रिया'। च० सू० अ० २६। 'द्रव्याश्रितं च कर्म'। च० सू० अ० ८। उपर्युक्त वाक्यों का सम्बन्ध हम सुश्रुत से जोड़कर विषय को स्पष्ट कर रहे हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने औषध-कर्मों का निर्देश किस प्रकार किया है—'इह औषधकर्माणि उर्ध्वाधोभागोभयभागं संशोधन-संशमन-साङ्ग्राहिक-अग्निदीपन-पीडन-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकर-विलयन-दहन-दारण-मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति'। सु० सू० अ० ४०।५। इस प्रकार यह सुश्रुत में एकीय मत उपलब्ध है, जिससे कर्म होते हैं उसको वीर्य कहते हैं।

इसी के आगे लिखा है—'तच्च वीर्यं द्विविधम् उष्णं शीतं च अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः'। सु० सू० अ० ४०।५। यही आधार वाग्भट द्वारा स्वीकृत द्विविध वीर्य का भी रहा होगा। वाग्भट ने अष्टांगहृदय अ० ९ श्लोक १८-१९ में वीर्य के जिन विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया है, तदनुसार उष्ण और शीत दो प्रकार का ही वीर्य होता है। वास्तव में वीर्य शब्द की उत्तम परिभाषा यही है—'येन या क्रिया क्रियते तद् वीर्यम्'।

रसो [3]निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया । वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥६६॥

रस-विपाक-वीर्य परिचय—द्रव्यों के रस का ज्ञान (स्वस्थ पुरुष की) जीभ का स्पर्श होते ही हो जाता है कि यह मधुर आदि रसों में कौन-सा है। विपाक का ज्ञान कर्मनिष्ठा (कर्म की समाप्ति) से होता है। जीभ पर द्रव्यों के सामूहिक निपात से लेकर जब तक द्रव्य शरीर में रहते हैं, उससे वीर्य का ज्ञान होता है।

वक्तव्य—रस स्वरूप—'रसनग्राह्यो गुणो रसः'। अर्थात् रसना (जीभ) द्वारा गृहीत होने वाला गुण रस कहा जाता है। **विपाक**—विपाक का ज्ञान कर्म की समाप्ति से होता है। वास्तव में खाये हुए भोजन का जो परिणाम होता है उसको विपाक कहते हैं। **वीर्य**—कुछ वीर्य शरीर में रहने से ज्ञात होते हैं। जैसे—आनूपमांस का सेवन करने के पश्चात् उष्णता का अनुभव होता है और कुछ स्पर्श मात्र से, जैसे क्षार आदि। वीर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भी होता है। **प्रत्यक्ष से**—चूना, नौसादर को मिलाकर सूंघने से तीक्ष्णता का अनुभव होता है। **अनुमान से**—सैंधानमक की शीतता और आनूप (जल प्रधान) देश में होने वाले प्राणियों के मांस की उष्णता वीर्य के दो भेद और माने जाते हैं। यथा—१. सहजवीर्य और २. कृत्रिमवीर्य।

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते । विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥६७॥

---

१. 'पारिभाषिकवीर्यसंज्ञापरित्यागेन शक्तिपर्यायस्य वीर्यस्य लक्षणमाह—वीर्यं त्वित्यादि' चक्रः।

२. 'सर्वा वीर्यकृता हि सा' ग.।

३. निपाते इति रसनायोगे, कर्मनिष्ठयेति, कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा क्रियापरिसमाप्तिः, अधीवासः सहावस्थानं, यावदधीवासात् यावच्छरीरनिवासात्, चक्रः।

प्रभाव-प्रकरण

प्रभाव का लक्षण—रस, वीर्य और विपाक की समानता रहने पर भी जहाँ कर्मों का विशेषता देखी जाती है उस विशेष कर्म को प्रभाव कहा जाता है। रस, गुण, वीर्य, विपाक से अतिरिक्त अचिन्त्य शक्ति का नाम ही प्रभाव है।

कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः। तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्[1] ॥६८॥
विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्। ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम् ॥६९॥
मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकम्। तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥७०॥
सम्यग्विपाकवीर्याणि प्रभावश्चाप्युदाहृतः।

परिचय—चित्रक रस विपाक में कटु तथा उष्णवीर्य होता है। दन्ती (जमालगोटा) कुटकी के समान रस और विपाक में कटु तथा उष्णवीर्य होता है किन्तु यह अपने प्रभाव विशेष से मनुष्य को विरेचन कराती है अर्थात् जमालगोटे का सेवन करने से दस्त आने लगते हैं। **'इच्छाभेदी रस'** में जमालगोटा की ही प्रधानता होती है। विष को जो विषनाशक कहा गया है, उसमें कारण प्रभाव ही है। कुछ द्रव्य वमनकारक होते हैं। जैसे—मैनफल आदि और दूसरे विरेचनकारक होते हैं। जैसे—त्रिवृत् (निशोथ) आदि। मैनफल का ऊर्ध्व-विरेचक होना तथा त्रिवृत् का अधोविरेचक होना यह इनका प्रभाव ही है अथवा ये दोनों द्रव्य अपने-अपने प्रभाव से प्रभावित हैं। धारणीय मणियों के जो अनेक प्रकार के कर्म देखे जाते हैं, वे सब उनके प्रभाव कृत कर्म ही हैं। क्योंकि प्रभाव को अचिन्त्य (अतर्क्य) कहते हैं। इस प्रकार विपाक, वीर्य और प्रभाव का ठीक-ठीक परिचय दे दिया गया है।

वक्तव्य—प्रभाव के वर्णन में चित्रक (चीता की छाल) और दन्ती (जमालगोटा) को रस, विपाक, वीर्य में समान होने पर चित्रक को संग्राहक और दन्ती को विरेचक कहा गया है। समान गुण वाले द्रव्यों का विपरीत कर्म यह उनका विशिष्ट प्रभाव माना जाता है। दूसरे उदाहरण में बताया गया है कि विष विष का नाशक होता है। वास्तव में जङ्गम (सर्प आदि के) विष का स्थावर विष नाश करते हैं और स्थावर विष के विनाशक जङ्गम विष होते हैं। यह भी द्रव्यों का प्रभाव ही है। मणियों के धारण से जो विविध प्रभाव देखे जाते हैं, यह भी उनका प्रभाव ही कहा जाता है। विशेष देखें—सु० सू० अ० ४०।१९।

मणि-विवेचन—वैदिक साहित्य में जिनको धारणीय मणि कहा गया है वे आजकल के प्रसिद्ध मणियों से सर्वथा भिन्न हैं। मणियों के नाम तथा सन्दर्भ संकेत—१. **अस्तृतमणि**, अथर्व० १९।४६। २. **औदुम्बरमणि**, अथर्व० १९।३१। ३. **जंगिडमणि**, अथर्व० २।४; अ० १९।३४ तथा अ० १९।३५। ४. **दर्भमणि**, अथर्व० १९।२८-२९-३०। ५. **प्रतिसरमणि**, अथर्व० ८।५। ६. **फालमणि**, अथर्व० १०।६। ७. **वरणमणि**, अथर्व० १०।३। ८. **शतवार** (शतावर), अथर्व० १९।३६। ९. **शंखमणि**, अथर्व० ४।१०।

प्रचलित मणि-रत्न—ग्रह-बाधा शान्ति के लिये जिन रत्न या मणियों को धारण किया जाता है, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं।

ग्रह तथा उनके रत्न—

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मंगल	बुध	बृहस्पति	शुक्र	शनि	राहु	केतु
रत्न	माणिक्य	मोती	मूंगा	पन्ना	पुखराज	हीरक	नीलम	गोमेद	वैदूर्य

इसके अतिरिक्त मणियों तथा रत्नों का प्रयोग औषध-निर्माण के लिये भी होता है, उनका उल्लेख यहाँ न होने से हम भी मौन हैं।

किञ्चिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम् ॥ ७१ ॥
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन।

१. 'सा नरम्' यो.।

द्रव्यों की कार्य-प्रणाली—कोई द्रव्य रस द्वारा, दूसरा द्रव्य वीर्य द्वारा, कोई द्रव्य गुण द्वारा, कोई द्रव्य विपाक द्वारा और कोई प्रभाव द्वारा अपना कार्य करता है।

वक्तव्य—यह द्रव्यों की कार्य-प्रणाली का स्वरूप है, क्योंकि द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव (अचिन्त्य शक्ति) रहता है और ये अपनी उस-उस शक्ति के अनुसार अपने-अपने कार्य का सम्पादन कराते हैं। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'तद्द्रव्यमात्मना किञ्चित् किञ्चिद् वीर्येण सेवितम्। किञ्चिद् रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा' ॥ सु० सू० अ० ४०।१४। कोई द्रव्य अपने द्रव्यत्व से, कोई द्रव्य अपने वीर्य से, कोई अपने रस से तथा कोई अपने विपाक से दोष का शमन करता है अथवा दोष को उत्पन्न करता है।

उदाहरण—खैर कुष्ठ का शमन अपने द्रव्यत्व से, बृहत्पञ्चमूल अपने वीर्य द्वारा वायु का शमन करता है। तिक्त गिलोय उष्णवीर्य होने पर भी रस से पित्त का शमन करता है, सोंठ कटु रस होने पर भी मधुर विपाक के कारण वायु का शमन करती है।

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति ॥ ७२ ॥
[1]बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्।

रसादि का स्वाभाविक बल—द्रव्यों में रहने वाले रस की शक्ति को विपाक नष्ट कर देता है, रस और विपाक को वीर्य नष्ट कर देता है अर्थात् दबा देता है और रस, विपाक, वीर्य को प्रभाव दबा देता है। तात्पर्य यह है कि उन सबकी शक्ति को दबाकर अपने अनुसार विचित्र कार्य कर देता है। रस आदि के बल साम्य होने पर जो कार्य होता है, वह उस-उस का स्वाभाविक बल होता है।

वक्तव्य—इस प्रकार के विवेचन में यह ध्यातव्य है कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्याश्रित रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव उत्तरोत्तर प्रभावकारी होते हैं। तथापि जहाँ जिसका क्षेत्र होता है, वहाँ वह बलवान् होता ही है। परन्तु जहाँ द्रव्य समबल वाले हों वहाँ रस से विपाक आदि क्रमशः बलवान् होते हैं। जैसे—मधु (शहद) का रस मधुर है, इसका विपाक कटु होता है, अतः मधुर रस कफ की उत्पत्ति न करके कटु होने के कारण कफनाशक देखा जाता है। यहाँ मधुर रस से कटु विपाक बलवान् हो जाता है। आनूप देशज प्राणी का मांस रस तथा विपाक में मधुर होते हुए भी वीर्य में उष्ण होने के कारण पित्त को बढ़ाता है। यहाँ वीर्य का महत्त्व देखा जाता है। मदिरा अम्लरस, विपाक में अम्ल तथा वीर्य में उष्ण होती हुई भी स्तन्य (दूध) को बढ़ाती है। यहाँ रस, वीर्य, विपाक को प्रभाव ने पराजित कर दिया, अर्थात् यह मदिरा का प्रभाव है कि वह दूध को बढ़ाता है। दन्ती (जमालगोटा) रस और विपाक में कटु तथा उष्णवीर्य होते हुए भी अपने प्रभाव विशेष से विरेचक होती है।

षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम् ॥ ७३ ॥
स्नेहनप्रीणनाह्लादमार्दवैरुपलभ्यते। मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च ॥७४॥

षड्रस-विज्ञान

मधुर रस की परिभाषा—इसके अनन्तर छः रसों के परिचय का व्याख्यान करेंगे। स्नेहन, प्रीणन (तृप्तिकारक), आह्लाद (प्रसन्नताकारक), मार्दव (मृदुताकारक) गुणों से मुख में स्थित मधुर रस मुख के चारों ओर फैलता हुआ जो माना मुख को लीप-सा देता है, वह मधुर रस होता है।

दन्तहर्षान्मुखस्रावात्स्वेदनान्मुखबोधनात्। विदाहाच्चास्य कण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत् ॥७५॥

अम्लरस की परिभाषा—दन्तहर्ष से, मुख से लार चूने से, स्वेद (पसीना) उत्पन्न करने से, मुख बोधन अर्थात् जीभ में रस ज्ञान की शक्ति को उत्पन्न करने से, गला तथा मुख में दाह (जलन) पैदा करने तथा चखने मात्र से इसे अम्ल रस कहना चाहिये।

[2]प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे। यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ॥७६॥

१. 'गुणसाम्ये' ग.।
२. 'प्रीणयन्' ग.।

लवण रस की परिभाषा—जो मुख में रखा हुआ शीघ्र ही घुल जाय, सूखे हुए मुख को गीला कर दे, लालास्राव पैदा करे, मुख में जलन करे उसे लवण रस समझें।

संवेजयेद् यो रसनां निपाते तुदतीव च। विदहन्मुखनासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः ॥७७॥

कटु रस की परिभाषा—जो जीभ पर रखने मात्र से घबराहट उत्पन्न करे, जीभ में चुभे, उसमें दाह उत्पन्न करता हुआ मुख, नासिका तथा आँख से स्राव कराने वाला वह 'कटु' रस कहा जाता है।

प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च। स तिक्तो मुखवैशद्यशोषप्रह्लादकारकः ॥७८॥

तिक्त रस की परिभाषा—जो जीभ पर पड़ने से उस (जीभ) को कष्ट दे, अर्थात् अन्य रस का स्वाद प्रतीत न होने दे, उसको 'तिक्त' रस कहते हैं। यह मुख की तिक्तता को दूर कर मन को प्रसन्न कर देता है।

वक्तव्य—मुख की तिक्तता को दूर करना और प्रह्लादन ये इसके प्रभाव हैं। देखिये—'मम द्वयं विस्मयमातनोति तिक्ताकषायो मुखतिक्तताघ्नः'। वैद्यजीवन।

वैशद्यस्तम्भजाड्यैर्यो रसनं योजयेद् रसः। बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥७९॥

कषाय रस की परिभाषा—जिसके खाने पर जीभ की चिपचिपाहट तो दूर हो जाय किन्तु जीभ स्तब्ध तथा जड़ अर्थात् दूसरे रसों का अनुभव करने में असमर्थ हो जाय, कण्ठ बँधता या रुकता-सा प्रतीत हो तथा जो विकासी या ओजस् के पिच्छिल गुण का नाशक हो वह 'कषाय' रस होता है।

[1]एवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन्! श्रुतमेतदवितथमर्थसम्पद्युक्तं भगवतो यथावद् द्रव्यगुणकर्माधिकारे वचः; परं त्वाहारविकाराणां वैरोधिकानां लक्षणमनतिसङ्क्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामह इति ॥ ८० ॥

परस्पर-विरोधी आहार (Dietetic Incompatibilities)

वैरोधिक आहार सम्बन्धी प्रश्न—इस प्रकार उपदेश करते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—भगवन्? द्रव्यगुण-कर्म के अधिकार में आप द्वारा अर्थ संपत्ति से युक्त, सर्वथा सत्य, यथावत् वचन हमने सुना। परन्तु अब हम वैरोधिक आहार-विकारों के लक्षणों का विस्तार से उपदेश सुनना चाहते हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते[2] परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारादपराणि, देशकालमात्रादिभिश्चापराणि, तथा स्वभावादपराणि ॥ ८१ ॥

वैरोधिक आहारों का वर्णन—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—शरीरस्थित धातुओं से विपरीत गुण वाले द्रव्य देह की धातुओं (वातादि तथा रसादि) के विरोधी होते हैं। कुछ द्रव्य परस्पर गुण विरुद्ध, कुछ द्रव्य संयोग विरुद्ध, कुछ द्रव्य संस्कार विरुद्ध, कुछ द्रव्य देश, काल, मात्रा आदि से विरुद्ध तथा कुछ द्रव्य स्वभाव विरुद्ध होते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० ९ में वैरोधिक आहारों का विशद वर्णन प्रस्तुत करने के साथ ही साथ सम्पूर्ण अध्याय का नाम ही '**विरुद्धान्नविज्ञानीय**' रखा है। इसको देखें। इसके प्रमुख प्रकरण इस प्रकार हैं—१. विरुद्धान्नों का एक साथ खाने का निषेध, २. परस्पर विरुद्धान्न, ३. विरुद्ध आहार-विहार। क्रमशः इनके उदाहरण—

१. पारस्परिक विषमता से विरोध—जैसे 'क्षीरं कुलत्थैः' यह विषमता या असमानता वाले बलवान् गुणों के विरोध का उदाहरण है। इसमें क्षीर (दूध) मधुर विपाकी तथा शीतवीर्य है और कुलत्थ (कुलथी) अम्ल विपाकी तथा उष्णवीर्य है। यही इन दोनों में विषमता या असमानता है।

१. 'एवंवादिनम्' इति पा.।

२. 'विरोधश्च विरुद्धगुणत्वे सत्यपि क्वचिदेव द्रव्यप्रभावात् स्यात्, तेन षड्साहारोपयोगे मधुराम्लयोर्विरुद्धशीतोष्णवीर्ययोर्विरोधो न भावनीयः' चक्रः।

जो द्रव्य रस, वीर्य, विपाक के परस्पर भिन्न होने के कारण विरुद्ध (अहित) हो जाते हैं, वे सभी अधिक मात्रा में ही विरुद्ध होते देखे जाते हैं, न कि थोड़ी मात्रा में। उदाहरणस्वरूप देखें—मधुर, कषाय (गुड़ एवं हरीतकी), अम्ल लवण (आचार-चटनी) आदि योग प्रतिदिन खाये जाते हैं, हितकर होते हैं और रुचिवर्धक होते हैं, विरुद्ध नहीं होते, परन्तु इनका प्रयोग अल्पमात्रा में ही होना चाहिये।

२. समता विरोध—जैसे 'क्षीरं पनसेन' यहाँ दूध मधुर विपाकी और शीतवीर्य होते हुए भी अपने समान मधुरविपाकी तथा शीतवीर्य पनस (कटहल) से विरुद्ध है। यह समान गुणों के पारस्परिक विरोध का उदाहरण है।

३. समविषमता विरोध—जैसे 'क्षीरं मत्स्यैः' दूध के साथ मछली का मांस विरुद्ध है। दूध मधुर तथा शीतवीर्य है और मत्स्य मांस मधुर तथा उष्णवीर्य है। ये दोनों ही मधुर विपाकी होते हैं। अतः इनमें समानता है। रस तथा विपाक में समान होने पर भी ये दोनों वीर्य के कारण परस्पर विरुद्ध हैं।

४. संस्कार विरोध—जैसे 'तप्तं दधि' तपाया हुआ दही संस्कार विरुद्ध होता है। अर्थात् दही को सेवन करते समय तपाने रूपी संस्कार की कोई आवश्यकता नहीं होती, यदि तपाकर दही परोसा जाय तो वह संस्कार विरुद्ध होने कारण अहितकारक होता है।

५. मात्रा विरोध—जैसे 'क्षौद्रघृते समांशे' शहद और घी को समभाग में मिलाकर सेवन (भोजन के रूप में ग्रहण) करना मात्रा विरुद्ध (हानिकर) होता है।

सितोपलादि चूर्ण का सामान्य अनुपान मधु-घृत है। यदि थोड़ी मात्रा में मधु-घृत का सेवन किया जाता है तो 'उरःक्षत' तथा 'रक्तपित्त' आदि रोगों में हानि नहीं अपितु लाभ करता है।

विवाह संस्कार में एक 'मधुपर्क' विधि भी है, जिसमें कन्या-पिता अपने पूज्य (उस दिन के मुख्य अतिथि, अपनी कन्या के होने वाले प्राणपति) वर को घृत-मधु का उपहार प्राशन (चखने) के लिये देता है, न कि भोजन के लिये। यहाँ भी यही तथ्य चरितार्थ है।

६. देश विरोध—जैसे 'वार्यूषरे' ऊषर भूमि (रेगिस्तान) में बरसा हुआ जल देश विरुद्ध होता है। अर्थात् वहाँ जल का कोई उपयोग न होकर वह व्यर्थ जाता है। **दूसरा उदाहरण**—'ऊषरे वपनं यथा', ऊषर प्रदेश में खेती करना (बीज बोना), शव शरीर का उद्वर्तन, अन्धे के सामने शीशा रखना, आदि।

७. काल विरोध—जैसे 'रात्रिषु सक्तवः' रात में सत्तू का सेवन नहीं करना चाहिये। यदि किया जाय तो वह 'कालविरोध' है।

८. संयोग विरोध—जैसे 'ते तोयान्तराः' वे सत्तू रात्रि में यदि जल मिलाकर सेवन किये (पिये) जाते हैं तो संयोग विरुद्ध कहे जाते हैं।

९. स्वभाव विरोध—जैसे 'यवकास्तथैव' यदि केवल यवक नामक जंगली धान्यविशेष का सेवन किया जाय तो, यह स्वभावतः अहितकारक होता है। इसी को प्रकृति विरुद्ध भी कहते हैं। इस प्रकार के पदार्थों में उड़द, सरसों का शाक तथा भेड़ी का दूध भी गिना जाता है। उपर्युक्त इन्हीं का निर्देश इसी प्रकरण में आगे किया जायगा।

तत्र यान्याहारमधिकृत्य भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते तेषामेकदेशं वैरोधिकमधिकृत्योपदेक्ष्यामः—न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेत्, उभयं ह्येतन्मधुरं [1]मधुरविपाकं महाभिष्यन्दि शीतोष्णत्वाद् विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय च ॥ ८२ ॥

वैरोधिक-आहार—उनमें आहार को दृष्टि में रखकर जो पदार्थ अधिकांश प्रयोग में लिये जाते हैं, उनमें से कुछ का वैरोधिक आहार के रूप में उपदेश करेंगे—मत्स्यमांस को दूध के साथ न खाये, अर्थात् दोनों का एक साथ सेवन न करें। ये दोनों ही मधुर रस वाले, मधुर विपाक वाले तथा महा अभिष्यन्दी होते हैं किन्तु दूध शीतवीर्य और मत्स्यमांस उष्णवीर्य होने के कारण ये परस्पर विरुद्ध वीर्य हैं। अतः ये रक्त को दूषित करने वाले और महा अभिष्यन्दी होने के कारण स्रोतों के अवरोधक होते हैं।

१. 'मधुरविपाकान्महाभिष्यन्दि' इति पा.।

तन्निशम्यात्रेयवचनमनु भद्रकाप्योऽग्निवेशमुवाच—सर्वानेव मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदन्यत्रै-कस्माच्चिलिचिमात्; स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजी रोहिताकारः प्रायो भूमौ चरति, त चेत् पयसा सहाभ्यवहरेन्निःसंशयं शोणितजानां [1]विबन्धजानां च व्याधीनामन्यतममथवा मरणं प्राप्नु-यादिति ॥ ८३ ॥

भद्रकाप्य का मत—वैरोधिक आहार के सम्बन्ध में आत्रेय के वक्तव्य को सुनकर भद्रकाप्य ने कहा—सभी मछलियों का सेवन दूध के साथ किया जा सकता है, केवल चिलचिम नामक मछली को छोड़कर।

चिलचिम मछली का परिचय—इसके शरीर में त्वचा के छिलके बड़े-बड़े होते हैं, आँखें लाल होती हैं, चारों ओर लालवर्ण के रोएँ होते हैं। यह प्रायः भूमि में विचरण करता है, कभी पानी में भी। इसको यदि दूध के साथ खाया जाय तो निःसन्देह रक्तविकार सम्बन्धी तथा मल-मूत्रादि के अवरोध से उत्पन्न रोगों में से कोई एक रोग हो जाता है या उसकी मृत्यु हो जाती है। यह विरुद्धाहार का परिणाम है।

नेति भगवानात्रेयः। सर्वानेव मत्स्यान्न पयसा सहाभ्यवहरेद् विशेषतस्तु चिलचिमं, स हि महा-भिष्यन्दित्वात् स्थूललक्षणतरानेतान्[2] व्याधीनुपजनयत्यामविषमुदीरयति च।

भद्रकाप्य के मत का आत्रेय द्वारा खण्डन—सभी मछलियों का सेवन दूध के साथ न करे, विशेषकरके चिलचिम नामक मछली के मांस को दूध के साथ कभी न खाये। वह अत्यन्त अभिष्यन्दी होने के कारण स्थूल लक्षणों वाले (रक्तज तथा विबन्धज) इन रोगों को और आमविष को भी उत्पन्न करता है।

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि च मधुतिलगुडपयोमाषमूलकबिसैर्[3]विरूढधान्यैर्वा नैकध्यमद्यात्, तन्मूलं हि बाधिर्यान्ध्यवेपथुजाड्य[4]कैलमूकतामैमिण्यमथवा मरणमाप्नोति।

ग्राम्य पशुओं के, अनूपदेशज प्राणियों के तथा जलचरों के मांसों को मधु, तिल, गुड़, दूध, उड़द, मूली, बिस (भसींडा, कमल की जड़), अथवा अंकुरित धान्यों के साथ ऐकध्य (एक साथ, एक बार, Singleness of time) न खाये। इस विरुद्धाशन के कारण बधिरता, अन्धापन, शरीरकम्प या शरीर के किसी अवयव में कँपकपी, जड़ता, मूकता, मिनमिनापन अथवा मृत्यु भी हो जाती है।

न पौष्करं रोहिणीकं शाकं कपोतान् वा सर्षपतैलभ्रष्टान्मधुपयोभ्यां सहाभ्यवहरेत्, तन्मूलं हि शोणिताभिष्यन्दधमनीप्रवि(ति)चयापस्मारशङ्खकगलगण्डरोहिणीनामन्यतमं प्राप्नोत्यथवा मरणमिति।

सरसों के तेल में भूंजकर पौष्कर (कमल की जड़ = भसींडा या एरण्डमूल या पोहकरमूल) अथवा रोहिणी शाक या कबूतर के मांस को दूध और शहद के साथ न खाये। जो इनको एक साथ खाता है वह विरुद्धाहार के कारण रक्त में क्लिन्नता, धमनियों का विस्तृत होना अर्थात् फैल जाना, अपस्मार, शंखक, गलगण्ड, रोहिणी इनमें से कोई एक रोग से ग्रसित हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

न मूलकलशुनकृष्णगन्धार्जकसुमुखसुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं, कुष्ठाबाधभयात्।

और मूली, लहसुन, सहिजन, अर्जक, सुमुख, सुरसा (अर्जक से सुरसा तक ये तीनों तुलसी के भेद हैं) आदि को खाकर दूध नहीं पीना चाहिये, ऐसा करने से कुष्ठ (त्वचा रोग) होने का भय रहता है।

न जातुकशाकं न निकुचं पक्वं मधुपयोभ्यां सहोपयोज्यम्। एतद्धि मरणायाथवा बलवर्णतेजो-वीर्योपरोधायालघुव्याधये षाण्ढ्याय चेति।

और जातुशाक (वंशपत्री) या पके हुए लकुच (बड़हल) के फल को शहद तथा दूध के साथ सेवन

१. 'विरुद्धजानाम्' ग.।
२. 'स्थूललक्षणभवानेतान्' ग.।
३. 'मारिषै' ग.।
४. 'ैकल्यमूकता' इति पा.।

न करे। इसके सेवन से मृत्यु हो सकती है अथवा बल, वर्ण, तेज तथा वीर्य का विनाश हो जाता है, या और कोई बड़ी व्याधि हो जाती है अथवा नपुंसकता हो जाती है।

तदेव निकुचं पक्वं न माषसूपगुडसर्पिर्भिः सहोपयोज्यं, वैरोधिकत्वात्;

और उसी पके हुए निकुच (बड़हल) के फल को उड़द की दाल, गुड़ और घी के साथ नहीं खाना चाहिये, क्योंकि ये द्रव्य परस्पर विरोधी होते हैं।

विशेष वक्तव्य—लकुच के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार—'लकुचफलं पयसा दध्ना माषसूपेन वा प्राकपयसः पयसोऽन्ते वा (नाभ्यवहरेत्), सु० सू० अ० २०।१३। अर्थात् लकुच (बड़हल) को दूध, दही या उड़द की दाल के साथ सेवन न करे अथवा दूध पीने के पहले या बाद में भी बड़हल को न खाये।

तथाऽऽम्राम्रातकमातुलुङ्गनिकुचकरमर्दमोचदन्तशठबदरकोशाम्रभव्यजाम्बवकपित्थतिन्तिडीकपारावताक्षोडपनसनारिकेरदाडिमामलकान्येवंप्रकाराणि चान्यानि द्रव्याणि सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं च पयसा सह विरुद्धम्। तथा कङ्गुवनकमकुष्ठककुलत्थमाषनिष्पावाः पयसा सह विरुद्धाः।

और दूध के साथ आम, आम्रातक (अम्बाड़ा), मातुलुंग (बिजौरा नीबू), बड़हल, करमर्द (करौंदा), मोच (केला), दन्तशठ (जम्बीरी नीबू), बड़ी बेर, कोशाम्र (छोटा आम), भव्य (कमरख), जामुन, कैथ, तिन्तिड़ी (इमली), पारावत (फल विशेष), अखरोट, पनस (कटहल), नारियल, दाड़िम (अनार), आँवला इस प्रकार के (रस, गुण, वीर्य विपाक वाले) और द्रव्य, सभी प्रकार के अम्ल द्रव्य, जो द्रव रूप में हों या सूखे हों दूध के साथ विरुद्ध होते हैं। और कंगुनी, बनक या बरक (जंगली कोदो), मकुष्ठ (मोठ), कुलथी, उड़द, सफेद सेम ये भी दूध के साथ विरुद्ध होते हैं। अतः दूध के साथ इनका सेवन न करें।

वक्तव्य—दूध के साथ आम का सेवन विरुद्ध कहा गया है। व्यवहार में देखा जाता है कि सम्पन्न व्यक्ति आम का सेवन दूध के साथ ही अधिकांश करते हैं। कारण यह है 'सर्वं च अम्लं पयसा सह विरुद्धम्', सभी अम्ल पदार्थ दूध के साथ विरुद्ध, अहितकर होते हैं। आप जानते हैं कि अम्ल का स्पर्श होते ही दूध फट जाता है, विकृत हो जाता है किन्तु मीठे आमों का रस जब दूध में मिलाया जाता है तो दूध फटता नहीं अपितु यह दूध-आम का संयोग रुचिकर होता है, अतएव विरुद्ध न होकर हितकर होता है।

पारावत—इस फल का उल्लेख भावप्रकाश ने नहीं किया है। बड़ौदा से प्रकाशित 'चरक नो स्वाध्याय' भाग १ पृ० ६८५ में इस प्रकार का निर्देश मिलता है—'कामरूपे फलम्, पाककाले धवल-लोहितं मधुराम्लं च', आसाम प्रदेश में यह फल होता है, पाककाल में सफेद तथा लाल दिखायी देता है और स्वाद में खटमिठा होता है।

पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धं वातं चातिकोपयति। हारिद्रकः सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः पित्तं चातिकोपयति। पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकोपयति। उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य। बलाका वारुण्या सह कुल्माषैरपि विरुद्धा, सैव शूकरवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति। मयूरमांसमेरण्डसीसकावसक्तमेरण्डाग्निप्लुष्टमेरण्डतैलयुक्तं सद्यो व्यापादयति। हारिद्रकमांसं हारिद्रसीसकावसक्तं हारिद्राग्निप्लुष्टं सद्यो व्यापादयति, तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं सद्यो मरणाय। मत्स्यनिस्तालनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय।

संयोगविरुद्ध द्रव्य—१. कुसुम्भशाक का चीनी से बनायी गयी मैरेय (मद्य) तथा शहद के साथ सेवन संयोग विरुद्ध होता है, यह वायु को अत्यन्त प्रकुपित कर देता है।

२. हारिद्रक (हारिल) नामक पक्षी के मांस को सरसों के तेल में भूंजना संयोग विरुद्ध होता है। इसके सेवन से पित्त अत्यन्त प्रकुपित हो जाता है।

३. पायस (खीर) को मन्थ (पानी में घोले हुए सत्तुओं) के साथ सेवन करना विरुद्ध होता है, इसका प्रयोग कफ को अत्यधिक कुपित कर देता है।

१. 'सीसको हि भटित्रकरणकाष्ठमुच्यते' चक्रः।

४. उपोदिका (पोई का शाक) तिल कल्क (चटनी के समान पिसे हुए तिलों) के साथ पकाया गया संयोग विरुद्ध होता है, इसका सेवन अतिसारकारक होता है।

५. बलाका (बगुला) पक्षी का मांस मद्य के साथ एवम् कुल्माष (उबाले चनों) आदि के साथ संयोग विरुद्ध होता है। इसी को सूअर की चर्बी में भून दिया जाय तो शीघ्र मृत्युकारक होता है।

६. मोर के मांस को रेंड़ की सींक में पिरोकर रेंड़ की लकड़ी की आग में भूंजकर और रेंड़ के तेल में मिलाकर सेवन करने से शीघ्र मृत्यु हो जाती है। यह संयोग एवं संस्कार विरुद्ध है।

७. हारिल पक्षी के मांस को दारुहल्दी की सींक में पिरोकर दारुहरिद्रा की लकड़ियों की आग में भूंजकर सेवन करने से शीघ्र प्राणघातक होता है। वही हारिल पक्षी का मांस राख या धूलि में पड़ गया हो तदनन्तर शहद के साथ खाने से शीघ्र मृत्युकारक होता है।

८. जिस कड़ाही में मछलियाँ तली गयी हों यदि उसी में पिप्पली को भी भूंज लिया गया हो तो, इसका सेवन मृत्युकारक होता है। अथवा उसी कड़ाही में मकोय को भून कर खाने से भी मृत्यु हो जाती है और इन्हीं द्रव्यों के साथ मधु का सेवन भी मृत्युकारक होता है।

वक्तव्य—कुछ व्याख्याकारों ने 'हारिद्रसीसकावसक्तं हारिद्राग्निप्लुष्टम्' का अर्थ हल्दी की सींक और हल्दी की आग, ऐसा किया है। ध्यान रहे हल्दी में सींक तो होती ही नहीं, हाँ आग किसी प्रकार जलायी जा सकती है, पर यह सब 'द्रविड़ प्राणायाम' है। यहाँ 'हारिद्र का अर्थ 'दारुहरिद्रा' अपेक्षित है ऐसा अर्थ करने पर आपको सींक भी मिल जायगी और लकड़ियाँ भी, फिर मांस भूंजने में क्या देरी? इस विवेचन से सन्तुष्ट होने के लिये सुश्रुत सू० अ० २०।१४ देखें। वहाँ 'हारिद्र' के स्थान पर 'दार्वी' शब्द प्रयुक्त है।

मत्स्यनिस्तानसिद्धाः—इस सम्बन्ध में सु० सू० अ० २० तथा अष्टाङ्गसं० सू० अ० ९ देखें। महर्षि जतूकर्ण का वचन इस प्रकार है—'मत्स्यवसासिद्धाः पिप्पल्यः', अर्थात् मछली की वसा से सिद्ध पिप्पलियाँ संयोग एवं संस्कार विरुद्ध होती हैं।

मधु चोष्णमुष्णार्तस्य च मधु मरणाय। मधुसर्पिषी समधृते, मधु वारि चान्तरिक्षं समधृतं, मधुपुष्करबीजं, मधु पीत्वोष्णोदकं, भल्लातकोष्णोदकं, तक्रसिद्धः कम्पिल्लकः, पर्युषिता काकमाची, अङ्गारशूल्यो भासश्चेति विरुद्धानि। इत्येतद् यथाप्रश्नमभिनिर्दिष्टं भवतीति ॥ ८४ ॥

गरम किया हुआ मधु मृत्युकारक होता है और गर्मी से पीड़ित मनुष्य यदि मधु का सेवन करता है तो वह मृत्यु के लिये होता है। सम मात्रा में मधु और घी, मधु और अन्तरिक्ष (आकाशीय) जल समान भाग, मधु और कमलगट्टा समान भाग, मधु पीकर या चाटकर गरम पानी पीना, भल्लातक (भिलावा) और गरम जल, मठा में पकाया हुआ कम्पिल (कबीला), बासी मकोय, लोहे की छड़ में पिरोकर पकाया हुआ भास नामक पक्षी का मांस ये सब विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार जैसे अग्निवेश ने आत्रेय से पूछा था उन सब (विरुद्ध आहारों) का निर्देश कर दिया गया है।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

[1]यत् किञ्चिद् दोषमास्राव्य न निर्हरति कायतः। आहारजातं तत् सर्वमहितायोपपद्यते ॥८५॥

उपसंहार—जो कोई आहार-द्रव्य अथवा औषध-द्रव्य किसी दोष विशेष को उभारकर शरीर से बाहर नहीं निकाल देता उस सम्पूर्ण आहारसमूह को अहितकारक कहते हैं।

यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः। संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥८६॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च। विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सम्पद्विधिभिश्च यत् ॥८७॥

वैरोधिक आहार के भेद—जो भी देश, काल, अग्नि, मात्रा, सात्म्य, वात आदि दोष, संस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, उपचार, पाक, संयोग विरुद्ध, हृदय विरुद्ध, तथा विधिविरुद्ध होते हैं, वे सभी अहितकर होते हैं।

---

१. 'यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य' इति पा.।

वक्तव्य—उक्त दोनों श्लोकों तथा इनके उदाहरण स्वरूप दिये गये अठारह श्लोकों को गंगाधर और योगीन्द्रनाथ सेन ने प्रक्षिप्त मानकर मूल पाठ में सम्मिलित नहीं किया। इनको मूल पाठ के रूप में केवल चक्रपाणि ने माना है।

विरुद्धं देशतस्तावद् रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि। आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते ॥८८॥

देशविरुद्ध—धन्वन (जांगल अथवा मरु) देश में रूक्ष तथा तीक्ष्ण भेषजद्रव्यों का सेवन और आनूप (जहाँ पानी तथा वृक्ष अधिक हों) देश में स्निग्ध, शीत आदि भेषजद्रव्यों का सेवन देशविरुद्ध है। यहाँ भेषज शब्द से आहारद्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिये।

कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीतरूक्षादिसेवनम्। शीते काले, तथोष्णे च कटुकोष्णादिसेवनम् ॥८९॥

कालविरुद्ध—शीतकाल में शीतल, तथा रूक्ष पदार्थों का सेवन और उष्णकाल में कटुरस प्रधान तथा उष्णवीर्यप्रधान औषधद्रव्य एवम् आहारद्रव्यों का सेवन-काल (समय) विरुद्ध होता है।

विरुद्धमनले तद्वदन्नपानं चतुर्विधे। मधुसर्पिः समघृतं मात्रया तद् विरुध्यते ॥९०॥

अग्निविरुद्ध—चार प्रकार की अग्नि (मृदु, मध्य, तीक्ष्ण, विषम) में यदि तदनुरूप अन्नपान नहीं दिया जाता, तो वह अग्निविरुद्ध है।

मात्राविरुद्ध—मधु और घी को समभाग लेकर भोजन के रूप में सेवन करना मात्रा विरुद्ध है।

कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम्। यतद् सात्म्यविरुद्धं तु—

सात्म्यविरुद्ध—जिस पुरुष को कटुरस एवम् उष्णवीर्य के आहारद्रव्य सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो गये हों, उसके लिये स्वादु (मधुर रस) तथा शीतवीर्य वाले आहारादि द्रव्य सात्म्यविरुद्ध होते हैं।

—विरुद्धं त्वनिलादिभिः ॥९१॥

या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषधक्रिया।

दोषविरुद्ध—वात, पित्त, कफ दोषों में किसी के समान गुण वाले अन्न, औषध, क्रिया (कर्म) का अभ्यास (निरन्तर सेवन) करना उस-उस दोष के विरुद्ध होता है।

संस्कारतो विरुद्धं तद् यद्भोज्यं विषवद्भवेत् ॥९२॥
एरण्डसीसकासक्तं शिखिमांसं यथैव हि।

संस्कारविरुद्ध—मोर का मांस रेंड़ की सींक में लगाकर भूंजा गया, विष के समान होता है। यह संस्कारविरुद्ध का उदाहरण है। इसका उल्लेख इसी अध्याय के संयोगविरुद्ध द्रव्यों के वर्णन में देखें।

विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शीतलात्मकम् ॥९३॥
तत् संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते।

वीर्यविरुद्ध—शीतवीर्य द्रव्य को यदि उष्णवीर्य वाले द्रव्य के साथ मिलाकर सेवन किया जाता है तो उसको वीर्यविरुद्ध समझना चाहिये।

क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम् ॥९४॥
मृदुकोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा बहु। एतत् कोष्ठविरुद्धं तु—

कोष्ठविरुद्ध—क्रूरकोष्ठ (जिसका साधारण विरेचक पदार्थों से मल न निकलता हो) वाले पुरुष को बहुत कम शक्ति वाला तथा भेदन न करने वाला अर्थात् मल को न निकालने वाला, औषध द्रव्य देना तथा मृदु कोष्ठ (जिसका सामान्य पदार्थों से मल निकल जाता है) वाले को गुरु तथा तीक्ष्ण विरेचक पदार्थ देना, ये दोनों ही कोष्ठविरुद्ध होते हैं।

—विरुद्धं स्यादवस्थया ॥९५॥

श्रमव्यवायव्यायामसक्तस्यानिलकोपनम्। निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम् ॥९६॥

अवस्थाविरुद्ध—परिश्रम, मैथुन (स्त्री-सहवास), व्यायाम कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को वातवर्धक आहार देना अथवा अधिक सोने के स्वभाव वाले तथा आलसी पुरुष को कफवर्धक आहार देना, अवस्था (परिस्थिति) विरुद्ध होता है।

यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः। तच्च क्रमविरुद्धं स्याद्यच्चातिक्षुद्वशानुगः ॥९७॥

क्रमविरुद्ध—जो पुरुष मल-मूत्र का त्याग किये बिना अथवा बिना भूख लगे भोजन करता है अथवा जो अत्यन्त भूख लगने के बाद भोजन करता है, ये दोनों ही प्रकार क्रमविरुद्ध के उदाहरण हैं।

वक्तव्य—आहार काल के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के वचनों को देखें—सु० उ० तं० अ० ६४।८४।

परिहारविरुद्धं तु वराहादीन्निषेव्य यत्। सेवेतोष्णं घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥९८॥

परिहारविरुद्ध—जो वराह (सूअर) आदि पशुओं के मांस को खाकर उष्णवीर्य वाली वस्तुओं का सेवन करता है, उसे परिहारविरुद्ध कहते हैं।

उपचारविरुद्ध—जो व्यक्ति घृत आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन करके शीतल जल को पीता है, उसे उपचारविरुद्ध कहते हैं।

विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारुसाधितम्। अपक्वतण्डुलात्यर्थपक्वदग्धं च यद् भवेत्।

पाकविरुद्ध—दुष्टदारु (कीड़े-मकोड़े से युक्त लकड़ी), दुर्दारु (धुआँ वाली या दुर्गन्ध वाली लकड़ी) द्वारा पकाया या कच्चा चावल या बहुत पकाया या जो जलाया हो, उसको पाकविरुद्ध कहते हैं।

संयोगतो विरुद्धं तद्यथाऽम्लं पयसा सह ॥९९॥
अमनोरुचितं यच्च हृद्यं विरुद्धं तदुच्यते।

संयोगविरुद्ध—अम्लरस को दूध के साथ सेवन करना संयोग विरुद्ध होता है। जरा मिलाकर देखें।

हृदयविरुद्ध—जो आहार मन के अनुकूल (रुचिकर) न हो उसे हृदयविरुद्ध कहते हैं।

सम्पद्विरुद्धं तद्विद्यादसञ्जातरसं तु यत् ॥ १०० ॥
अतिक्रान्तरसं वाऽपि विपन्नरसमेव वा।

सम्पद्विरुद्ध—जिस आहार द्रव्य अथवा ओषधि में पूर्ण रस उत्पन्न न हुआ हो अथवा रस उत्पन्न होकर समाप्त हो चुका हो या जिसका रस विकृत हो चुका हो उस पदार्थ को सम्पद (अपनी गुण सम्पत्ति से हीन) विरुद्ध कहते हैं।

ज्ञेयं विधिविरुद्धं तु भुज्यते निभृते न यत्। तदेवंविधमन्नं स्याद् विरुद्धमुपयोजितम् ॥१०१॥

विधिविरुद्ध—जो भोजन एकान्त (बहिरङ्ग लोगों से रहित) स्थान में नहीं किया जाता अर्थात् इस विधि के विपरीत किया जाता है, वह विधिविरुद्ध है।

वक्तव्य—आहार विधि का विशेष वर्णन चरकसं० विमानस्थान अ० २ में देखें। ... के आहार आदि का स्वरूप इस प्रकार होता है—'आहारनिर्हारविहारयोगाः सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः'। अर्थात् आहार, मल-मूत्र का त्याग तथा विहार (मैथुन आदि) एकान्त में करने चाहिये।

षाण्ढ्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगल[1]ग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥ १०२ ॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां [2]शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य[3] तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ १०३ ॥

१. 'गलामयानाम्' इति पा.।
२. 'शोफास्रपित्त' इति पा.।
३. 'सन्तानदोषो मृतवत्सत्वादिः' चक्रः।

विरुद्ध-अन्न सेवन से उत्पन्न रोग—नपुंसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोट (बड़े फोड़े), उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलग्रह (गले का रोग), पाण्डुरोग, आमविष (अलसक , विसूचिका, बिलम्बिका) किलास (सफेद कोढ़), कुष्ठ (गलित कुष्ठ), ग्रहणीरोग, शोथ (सूजन), अम्लपित्त, ज्वर, पीनस (प्रतिश्याय), सन्तान दोष (गर्भ में स्थित भ्रूण की मृत्यु या जन्म होने के तत्काल बाद मृत्यु या गर्भाधान ही न होना इत्यादि) और स्वयं मृत्यु हो जाना ये सब रोग विरुद्ध अन्न के सेवन से उत्पन्न होते हैं। यह सामान्य गणना है।

एषां खल्वपरेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः [1]प्रतिकारा भवन्ति। तद्यथा—वमनं विरेचनं च, [2]तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः, तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः[3] शरीरस्येति ॥ १०४ ॥

विरुद्ध आहार सेवन से उत्पन्न रोगों का उपचार—ऊपर कहे गये रोगों तथा जो ऊपर नहीं कहे गये हैं उन विरुद्ध आहारों के सेवन से उत्पन्न रोगों का प्रतीकार (चिकित्सा) निम्नलिखित प्रकारों (उपायों) से किया जाता है। जैसे—वमन, विरेचन, उन-उन विकारों की शान्ति के लिये उनके विरोधी द्रव्यों का उपयोग या पहले से ही विरुद्ध आहार के विपरीत आहार द्रव्यों से शरीर का संस्कार (सुरक्षा) करना हितकर होता है। अर्थात् निदान परिवर्जन द्वारा उनके प्रभाव को विनष्ट करे।

भवतश्चात्र—

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम्। वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम् ॥१०५॥
सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च। स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥१०६॥

विरुद्ध आहार से उत्पन्न रोगों का विनाश पूर्ण विरेचन (उदर शुद्धि) से होता है। वमन से दोषों का केवल शमन होता है अथवा पहले से ही हितकर आहार-विहार का सेवन उक्त रोगों को नष्ट करता है, जिनको विरुद्धाहार अनुकूल होने के कारण अथवा अल्प होने के कारण या प्रदीप्त जाठराग्नि वाले तरुण पुरुषों द्वारा सेवन किया गया विरुद्ध आहार या प्रतिदिन स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वालों, व्यायामशीलों तथा बलवानों द्वारा सेवित विरुद्ध आहार का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

तत्र श्लोकाः—

मतिरासीन्महर्षीणां या या रसविनिश्चये। द्रव्याणि गुणकर्मभ्यां द्रव्यसङ्ख्या रसाश्रया ॥१०७॥
कारणं रससङ्ख्याया रसानुरसलक्षणम्। परादीनां गुणानां च लक्षणानि पृथक्-पृथक् ॥१०८॥
पञ्चात्मकानां षट्त्वं च रसानां येन हेतुना। ऊर्ध्वानुलोमभाजश्च यद्गुणातिशयाद् रसाः ॥१०९॥
षण्णां रसानां षट्त्वे च सविभक्ता विभक्तयः। उद्देशश्चापवादश्च द्रव्याणां गुणकर्मणि ॥११०॥
प्रवरावरमध्यत्वं रसानां गौरवादिषु। पाकप्रभावयोर्लिङ्गं वीर्यसङ्ख्याविनिश्चयः ॥१११॥
षण्णामास्वाद्यमानानां रसानां यत् स्वलक्षणम्। यद्यद्विरुध्यते यस्माद्येन यत्कारि चैव यत् ॥११२॥
वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामौषधं च यत्। आत्रेयभद्रकाप्यीये तत् सर्वमवदन्मुनिः ॥११३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थानेऽन्नपानचतुष्के
आत्रेयभद्रकाप्यीयो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

१. 'प्रतीघातकरा भवन्ति' ग.।
२. 'तद्विरोधिनामिति पाण्ड्वादिहराणां; तथाविधैरिति विरुद्धाहारजन्यव्याधिविरुद्धैः।' चक्रः।
३. 'अभिसंस्कार इति सतताभ्यासेन शरीरभावनम्' चक्रः। 'शुद्धिरेवेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः। द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः' इति वाग्भटः।

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—रसों के निर्णय के सम्बन्ध में महर्षियों के जो-जो विचार थे, कर्म के अनुसार द्रव्य, द्रव्यों की संख्या, रस के आश्रित द्रव्य, रसों की संख्या में कारण, रस तथा अनुरस के लक्षण, परादि दस गुणों के लक्षण, पञ्चमहाभूतात्मक होने पर भी जिस कारण से रसों के छः भेद होते हैं, जिन गुणों की अधिकता से रस ऊर्ध्वगामी (विलोम) एवम् अधोगामी (अनुलोम) होते हैं, छः रसों का गुण तथा कर्मानुसार विभाजन, द्रव्यों के उद्देश्य (सामान्य नियम) तथा अपवाद, रसों की प्रवरता, अवरता, मध्यता आदि में श्रेष्ठता, विपाक, प्रभाव तथा वीर्य के लक्षण, इनकी संख्या का निर्णय, भोजन करते हुए छहों रसों के जो अपने-अपने लक्षण होते हैं, जो द्रव्य जिस कारण से जिस द्रव्य के साथ विरुद्ध होता है, विरुद्ध द्रव्यों के सेवन से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी चिकित्सा इन सब विषयों का वर्णन महर्षि आत्रेय ने इस भद्रकाप्यीय नामक अध्याय में किया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक अध्याय की व्याख्या करने के पश्चात् अब हम अन्नपानविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—यद्यपि अन्नपानविधि से सामान्य आहार का ग्रहण किया जाता है किन्तु अन्न विधि से ठोस (भात, रोटी, पूरी आदि) पदार्थों का ग्रहण और पान विधि से द्रव पेयों का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के अन्नों और पानों (पेयों) के गुण-धर्मों का इस अध्याय में विवेचन किया गया है।

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां [1]प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्; तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः; तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय सम्पद्यते ॥ ३ ॥

अन्नपान का सामान्य परिचय

अन्नपान का महत्त्व—जिस आहार का वर्ण (आकृति या स्वरूप) गन्ध (स्वाभाविक गन्ध से युक्त) रस, स्पर्श प्रिय (रुचिकर) हो और जो अन्नपान विधिपूर्वक बनाया गया हो उसको पंडित प्राणिसंज्ञा वाले प्राणियों का प्राण कहते हैं। क्योंकि उसका फल प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। जाठराग्नि की स्थिति उसी (अन्नपान रूपी) ईंधन के आधार पर है। वह अन्न-पान सत्वगुण को शक्तिसम्पन्न बनाता है, वही शरीर के सभी (रसादि) धातु समूह को तथा बल, वर्ण, इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला होता है। समुचित उपयोग या उपभोग किये जाने पर हितकारक और अन्नपान का विधिविपरीत उपयोग होनेपर अहितकारक हो जाता है।

तस्माद्धिताहितावबोधनार्थमन्नपानविधिमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! [2]तत् स्वभावादुदकं क्लेदयति, लवणं विष्यन्दयति, क्षारः पाचयति, मधु [3]संदधाति, सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मांसं बृंहयति,

1. 'प्राणिनामित्यनेनैव लब्धेऽपि प्राणिसंज्ञकानामिति वचनं स्थावरप्राणिप्रतिषेधार्थम्' चक्रः।
2. 'तदित्युदाहरणं, किंवा स स्वभावो यस्य स तत्स्वभावस्तस्मात् क्लेदनस्वभावादित्यर्थः' चक्रः।
3. 'सन्दधाति विश्लिष्टानि मांसादीनि संश्लेषयति' चक्रः।

यति, [1]रसः प्रीणयति, सुरा [2]जर्जरीकरोति, शीधुर[3]वधमति; द्राक्षासवो दीपयति, फाणितमा[4]चिनोति, दधि शोफं जनयति, पिण्याकशाकं ग्लपयति, प्रभूतान्तर्मलो माषसूपः, दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारः, प्रायः पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात्, प्रायः श्लेष्मलं मधुरमन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालिषष्टिकयवगोधूमात्, प्रायस्तिक्तं वातलमवृष्यं चान्यत्र वेत्राग्रामृतापटोलपत्रात्, प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं चान्यत्र पिप्पलीविश्वभेषजात् ॥ ४ ॥

हितकर तथा अहितकर आहार का सामान्य उपदेश—इसलिये कौन आहार हितकर है और कौन अहितकर है, इसको समझाने के लिये सम्पूर्ण अन्नपान विधि का, अग्निवेश ! हम उपदेश करेंगे। जल स्वभाव से ही क्लिन्नता (गीलापन तदनन्तर सड़न) उत्पन्न करता है, लवण रस कफ आदि को पिघला देता है, क्षार पाचन करता है, मधु (शहद) भग्न संधान करता है (टूटी हुई हड्डी आदि को जोड़ देता है।), सर्पि (घी) स्नेहन करता है, दूध जीवनीय शक्ति को प्रदान करता है, मांस स्थूलता उत्पन्न करता है, मांसरस तृप्तिकारक होता है, सुरा (मद्य) शरीर के अवयवों को जीर्ण कर देती है, सीधु (मदिरा का ही एक भेद है), मांस, मेदा आदि धातुओं का लेखन करती है (यह स्थूलता-नाशक होती है।), द्राक्षासव (मुनक्का आदि द्रव्यों से निर्मित यह आसव) अग्नि को दीप्त करता है, फाणित (राब) दोषों को चारों ओर से बटोरता है, दही शोथकारक होता है, पिण्याकशाक (हरे सहजन का शाक) हर्ष का क्षय करता है, अर्थात् निरुत्साहता को पैदा करता है, माष (उड़द) की दाल के सेवन से पर्याप्त मल की वृद्धि होती है, क्षार दृष्टि तथा शुक्र का विनाश करता है, प्रायः सभी अम्ल पदार्थ पित्तवर्धक होते हैं, दाड़िम (अनार) और आंवला को छोड़कर, प्रायः सभी मधुर पदार्थ कफवर्धक होते हैं, शहद को और पुराने शालि, षष्टिक (सांठी धान्य), जौ, गेहूं को छोड़कर, प्रायः सभी तिक्त पदार्थ वातकारक, वृष्यतानाशक होते हैं, बेत के अग्रभाग, गुडूची (गिलोय) तथा परवल के पत्तों को छोड़कर, सभी तिक्त रसवाले द्रव्य तथा पीपल और सोंठ को छोड़कर प्रायः सभी कटु द्रव्य वात दोष को बढ़ाने वाले एवम् वृष्यतानाशक होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर 'पिण्याकशाक' समस्त पद का प्रयोग किया गया है, यदि ये शब्द अलग-अलग आये हों तो पिण्याक का अर्थ तिलकल्क, शाक का अर्थ विविध प्रकार के शाक सुविदित ही हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिये चक्रपाणि लिखते हैं—'निबन्धकारस्त्वाह—पिण्याको हरितशिग्रुः'। यहाँ इनका यह निर्णय युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

परमतो वर्गसङ्ग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

अब इसके पश्चात् वर्गों के संग्रह के अनुसार आहार-द्रव्यों की व्याख्या करेंगे।

शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान् । वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान् ॥ ६ ॥
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम् । रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे ॥ ७ ॥

आहार-द्रव्यों का वर्गीकरण
(Classification of Diets)

१. शूकधान्यवर्ग (जिनमें शूक होते हैं जैसे—जौ, गेहूं, धान आदि), २. शमीधान्य वर्ग (सेम, उड़द, मूंग आदि), ३. मांसवर्ग, ४. शाकवर्ग, ५. फलवर्ग, ६. हरितवर्ग, ७, मद्यवर्ग, ८. जलवर्ग, ९. दुग्धवर्ग, १०. इक्षुवर्ग, ११. कृतान्नवर्ग, १२. आहारोपयोगी वर्ग। इन बारह वर्गों में कहे गये द्रव्यों के रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का वर्णन आगे किया जा रहा है।

अथ शूकधान्यवर्गः—

रक्तशालिर्महाशालिः कलमः शकुनाहृतः । तूर्णको दीर्घशूकश्च गौरः पाण्डुकलाङ्गुलौ ॥ ८ ॥

1. 'रसो मांसरसः' चक्रः।
2. 'जर्जरीकरोति मांसादि शिथिलीकरोति' शिवदाससेनः।
3. 'अवधमति कृशीकरोति' शिवदाससेनः।
4. 'आचिनोति 'दोषान्' इति शेषः' चक्रः।

[1]सुगन्धको लोहवालः सारिवाख्यः प्रमोदकः । पतङ्गस्तपनीयश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ॥ ९ ॥
शीता रसे विपाके च मधुराश्चाल्पमारुताः । बद्धाल्पवर्चसः स्निग्धा बृंहणाः शुक्रमूत्रलाः ॥१०॥

शूकधान्यवर्गः

शूकधान्य तथा उनके सामान्य गुण—१. रक्तशालि, २. महाशालि, ३. कलम (रोपनी करके लगाये हुए धान—'उत्खातप्रतिरोपिताः ...कलमा इव ते रघुम्'। रघुवंश स० १।) ४. शकुनाहृत (द्वीपान्तर से लाया गया धान), ५. तूर्णक, ६. दीर्घशूक, ७. गौरधान्य, ८. पाण्डुधान्य, ९. लांगुल, १०. सुगन्धक, ११. लोहवाल, १२. सारिवा, १३. प्रमोदक, १४. पतंग, १५. तपनीय और भी जो उत्तमकोटि के शालिधान्य होते हैं। ये सब धान्य शीतवीर्य, रस और विपाक में मधुर, सामान्य वातकारक, बंधे हुए मल को थोड़ी-सी मात्रा में निकालने वाले, स्निग्ध, बृंहण, शुक्रल एवं मूत्रल होते हैं।

वक्तव्य—शूक युक्त फल वाले धान्यों को शूकधान्य कहते हैं। इनको यवकुल (Gramineae) कहा जाता है। भावप्रकाशकार ने कुल धान्यों को पाँच भागों से विभक्त किया है—१. शालिधान्य, २. व्रीहिधान्य, ३. शूकधान्य, ४. शिम्बीधान्य, ५. क्षुद्रधान्य। शालि, षष्टिक और व्रीहि ये तीन भेद धानों के होते हैं। धान की खेती करने वालों की दृष्टि से ये दो प्रकार के होते हैं—१. रोप्य (Transplanted) और २. वाप्य (Broadcast)।

ऊपर शूकधान्यों की गणना और उनके सामान्य गुणों का वर्णन किया गया है। 'ये चान्ये शालयः शुभाः' कह कर तन्त्रकार समस्त भूमण्डल के धान्यों का संग्रह कर उनके नामों के उल्लेख को अनावश्यक समझता है। क्योंकि उन उन देशों के चिकित्सक और निवासी उनसे परिचित होते ही हैं। उन सबका एक स्थान पर वर्णन करना भी संभव नहीं प्रतीत होता।

रक्तशालिर्वरस्तेषां तृष्णाघ्नस्त्रिमलापहः । महांस्तस्यानु कलमस्तस्याप्यनु ततः परे ॥११॥

उपर्युक्त सभी धान्यों में लाल धान (गुणों की दृष्टि से) श्रेष्ठ होता है। यह तृष्णानाशक और त्रिदोष शामक है। इसके पश्चात् 'महाशालि' गुणों में कुछ कम होता है, इससे भी कम गुण वाला 'कलमधान्य' होता है। इसी प्रकार शेष धान्य उत्तरोत्तर कम गुणों वाले होते हैं।

यवका हायनाः [2]पांसुवाप्यनैषधकादयः । शालीनां शालयः कुर्वन्त्यनुकारं [3]गुणागुणैः ॥१२॥

यवक (जौ से छोटी आकृति का किन्तु वैसा ही), हायन, पांसु, वाप्य, नैषधक आदि शालिधान्य उपर्युक्त शालिधान्यों का गुण तथा दोषों की दृष्टि से अनुकरण करते हैं।

वक्तव्य—चक्रपाणि के अनुसार यवकादि धान्य रक्तशालि के गुणों के विपरीत होते हैं, अर्थात् यवकादि तृष्णावर्धक और त्रिदोषकारक होते हैं। योगीन्द्रनाथसेन के अनुसार रक्तशालि के गुणों से अल्प गुणों वाले यवक आदि धान्य होते हैं।

वृद्धवाग्भट के अनुसार (अष्टांगसं० सू० अ० ७) यवक आदि धान्य रस में मधुर, उष्णवीर्य, गुरु, स्निग्ध गुण वाले, विपाक में अम्ल, कफ-पित्तवर्धक, मूत्र, पुरीष को लाने वाले तथा उत्तरोत्तर हीन गुण वाले होते हैं।

शीतः स्निग्धोऽ[4]गुरुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरात्मकः । षष्टिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च ॥

षष्टिकधान्य के गुण—यह शीत, स्निग्ध, हल्का, स्वादु (मधुर) तीनों दोषों का नाशक और शरीर में स्थिरता उत्पन्न करता है। सफेद रंग के सांठी के चावल समस्त सांठी धान्यों में श्रेष्ठ होते हैं। इसके अनन्तर जो काले तथा गौर वर्ण से युक्त होता है वह सफेद सांठी से कम गुणों वाला होता है।

वक्तव्य—षष्टिक (सांठी) धान्य अपनी पाकावधि की सूचना स्वयं देता है, साठ दिन में पक जाने

१. 'सुगन्धका लोहवालाः शारिवाख्याः प्रमोदकाः । पतङ्गास्तपनीयाश्च' ग.।
२. 'पांशुवाप्या नैषधकादयः' इति पा.।
३. 'गुणागुणैरिति शालीनां रक्तशाल्यादीनां ये गुणास्तृष्णाघ्नत्वत्रिमलापहत्वादयः, तेषामगुणैस्तद्गुणविपरीतैर्दोषैर्यवकादयोऽनुकारं कुर्वन्ति, ततश्च यवकादयस्तृष्णात्रिमलादिकराः स्युः' चक्रः।
४. 'लघुः' यो.।

के कारण ही इसको षष्टिक या साठी कहा जाता है। देखिये—'षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते'। पाणिनीयसूत्र ५।१।९०। और भी—'गर्भस्था एव ये पाकं यान्ति ते षष्टिका मताः'। भावप्रकाश धान्यवर्ग। शिवदास सेन का मन्तव्य—'अत्रशालिशब्देन हैमन्तिकं धान्यमुच्यते, यत्तु अकण्डितशुक्लत्वेन शालित्वमुच्यते तद् ग्रैष्मिकेषु षष्टिकादिषु, शारदेषु च व्रीहिषु गतत्वात् सकलशाल्यव्यापकत्वाच्च न युक्तम्'। द्रव्यगुणसंग्रह १।१३।

वरकोद्दालकौ चीनशारदोज्ज्वलदर्दुराः । गन्धनाः कुरुविन्दाश्च षष्टिकाल्पान्तरा गुणैः ॥१४॥

वरक, उद्दालक, चीना (अलमोड़ा जिला में इसे 'कौणी' कहते हैं।), शारद, उज्ज्वल, दर्दुर, गन्धन या गन्धल तथा कुरुविन्द नामक जो धान्य होते हैं, ये सब षष्टिकधान्य से कम गुणों वाले होते हैं।

वक्तव्य—इन धान्यों की खेती ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में की जाती है। ये जिस दिन बोये जाते हैं, उससे साठवें दिन में तैयार हो जाते हैं, अर्थात् काट लिये जाते हैं। गुणों की दृष्टि से गीष्मऋतु में होने वाले षष्टिकधान्य से ये कुछ कम गुण वाले होते हैं।

मधुरश्चाम्लपाकश्च व्रीहिः पित्तकरो गुरुः । बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥१५॥

व्रीहि धान्य—रस में मधुर, विपाक में अम्ल (खट्टे), पित्तवर्धक तथा गुरुपाकी होते हैं।

पाटलधान्य—मूत्र तथा पुरीष को अधिक उत्पन्न करनेवाले, उष्णता करनेवाले एवम् त्रिदोषकारक होते हैं।

सकोरदूषः श्यामाकः कषायमधुरो लघुः । वातलः कफपित्तघ्नः शीतः सङ्ग्राहि शोषणः ॥१६॥
हस्तिश्यामाकनीवारतोयपर्णीगवेधुकाः । [1]प्रशातिकाम्भःश्यामाकलौहित्याणुप्रियुङ्गवः[2] ॥१७॥
[3]मुकुन्दो झिण्टिगर्मूटी वरुका वरकास्तथा । शिबिरोत्कटजूर्णाह्वाः श्यामाकसदृशा गुणैः ॥१८॥

कोदों, साँवा आदि के गुण—कोरदूष (कोदों) सहित श्यामाक (साँवा) अर्थात् ये दोनों कषाय तथा मधुर रस युक्त एवं लघु (शीघ्र पचजाने वाले) होते हैं। वातकारक, कफ-पित्तनाशक, शीतवीर्य, ग्राही (मल को बाँधने वाले) और धातुओं को सुखाने वाले होते हैं। हस्तिश्यामाक (बड़ा साँवा), नीवार (उड़िया धान या तिन्नी धान—Rice growing without cultivation), तोयपर्णी, गवेधुक, प्रशातिका, अम्भःश्यामाक (पानी में होने वाला साँवा), लोहिताणु, प्रियंगु, मुकुन्द, झिण्टी, गर्मूटी, वरुक या चारुक, वरक, शिविर, उत्कट, जूर्ण (जोंधरी या ज्वार) इन सबके गुण साँवा के गुणों के समान ही होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में उक्त धान्यों को कुधान्य कहा है, देखें—सु० सू० अ० ४६ श्लोक २१-२३।

रूक्षः शीतोऽगुरुः स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः । स्थैर्यकृत् सकषायश्च बल्यः श्लेष्मविकारनुत् ॥१९॥
रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा । मेदःक्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः ॥२०॥

जौ के गुण—जौ रूक्ष, शीत, लघु, स्वादु, वात तथा मल (पुरीष) कारक होता है। शरीर में स्थिरता उत्पन्न करता है, कषैला होता है, बलवर्धक तथा कफज विकारों का नाश करता है।

वेणुयव के गुण—बाँस से उत्पन्न जौ रूक्ष, रस में मधुर इसका अनुरस कषाय, कफपित्तनाशक, मेदस् की वृद्धि को रोकता है, क्रमि तथा विषनाशक और बलकारक होता है।

सन्धानकृद् वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः । जीवनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्यकरो गुरुः ॥२१॥
नान्दीमुखी मधूली च मधुरस्निग्धशीतले । [4]इत्ययं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते ॥२२॥

गेहूँ के गुण—भग्न आदि को जोड़ने वाला, वातशामक, रस में मधुर, शीतवीर्य, जीवनीय, बृंहण, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, स्थिरताकारक एवम् भारी होता है।

१. 'प्रशातिका' इति पा०।
२. 'लौहित्याभ्यः प्रियङ्गवः' यो.।
३. 'मुकुन्दी झिण्टिरमुखो' ग.।
४. 'इत्येवं' ग.।

नान्दीमुखी तथा मधूली ये दोनों धान्य मधुर और स्निग्ध तथा शीतवीर्य होते हैं। इस प्रकार शूकधान्यों का पहला वर्ग समाप्त होता है।

वक्तव्य—आत्रेय के अनुसार नान्दीमुखी तथा मधूली गेहूँ के भेद हैं किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने इन दोनों का वर्णन कुधान्यों में किया है।

अथ शमीधान्यवर्गः—

कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः। [1]विशदः श्लेष्मपित्तघ्नो मुद्गः सूप्योत्तमो मतः ॥२३॥

शमीधान्यवर्ग

(Class of Pulses)

मूंग के गुण—मूंग कषाय तथा मधुर रस वाली; रूक्ष, शीतवीर्य विपाक में कटु, लघु, विशद, कफ एवम् पित्तनाशक होती है। यह सभी दालों में उत्तम होती है।

वक्तव्य—शमी और शिम्बी या शिम्बा ये शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं। इन्हीं को वैदल या द्विदल (दो दाल = फाँक वाला) भी कहते हैं। क्योंकि जब इनको बोया जाता है, तब इनके प्रारम्भ में दो पत्ते निकलते हैं, दूसरा कारण यह है कि इनका उपयोग दालों के रूप में किया जाता है, शिम्बी धान्यों में मूंग हिततम और उड़द अहिततम कहे गये हैं। देखें—अग्र्यद्रव्य प्रकरण च० सू० अ० २५। ये सभी शिम्बीधान्य शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी=Leguminosae) के अन्तर्गत आते हैं। और इनका उपकुल है (पैपिलिओनेटी Papilionatae)।

वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णो मधुरो गुरुः। बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च ॥२४॥

उड़द के गुण—यह श्रेष्ठ वीर्यवर्धक, वातनाशक, स्निग्ध, उष्णवीर्य, मधुररस, पाक में गुरु, बलवर्धक, बहुमल (पुरीष को बढ़ाने वाला) और पुरुषत्व शक्ति को शीघ्र देने वाला होता है।

[2]राजमाषः सरो रुच्यः [3]कफशुक्राम्लपित्तनुत्। तत्स्वादुर्वातलो रूक्षः कषायो विशदो गुरुः ॥

राजमाष (Vigna unguiculata) **के गुण**—लोबिया सर (मल को निकालने वाला), रुचिकारक, कफ, शुक्र तथा अम्लपित्तनाशक होता है। यह स्वादु (मधुर रस वाला), वातकारक, रूक्ष, कषाय, विशद एवम् गुरु होता है।

उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः। कुलत्था ग्राहिणः कासहिक्काश्वासार्शसां हिताः।

कुलथी के गुण—यह उष्णवीर्य, कषायरस प्रधान, विपाक में अम्ल, कफ, शुक्र एवम् वातनाशक, संग्राहक (मल को रोकने वाली), कास, श्वास, हिक्का (हिचकी), अर्श (बवासीर) रोगों में हितकारी होती है।

मधुरा मधुराः पाके ग्राहिणो रूक्षशीतलाः। मकुष्ठकाः प्रशस्यन्ते रक्तपित्तज्वरादिषु ॥२७॥

मोठ के गुण—ये रस तथा विपाक में मधुर, मल को बाँधने वाले, रूक्ष, शीतवीर्य होते हैं। इनका प्रयोग रक्तपित्त तथा ज्वर आदि में श्रेष्ठ होता है।

चणकाश्च मसूराश्च खण्डिकाः सहरेणव। लघवः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥२८॥
पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च। तेषां मसूरः सङ्ग्राही कलायो वातलः परम् ॥२९॥

चना आदि के गुण—चना, मसूर, खेसारी, मटर की दालें लघु, शीतवीर्य, रस में मधुर तथा कषाय होती हैं। इनके सेवन से शरीर में रूक्षता आ जाती है। पित्तज तथा कफज रोगों, दालों एवम् लेप आदि कार्यों में श्रेष्ठ होती हैं। इनमें मसूर अत्यन्त संग्राही (मलबन्धकारक) और मटर अत्यन्त वातकारक होता है।

१. श्लेष्मपित्तप्रशमनः' ग.।
२. 'रूक्षश्चैव कषायश्च वातलः श्लेष्मपित्तहा। विष्टम्भी चाप्यवृष्यश्च राजमाषः प्रकीर्तितः।' इति पा०।
३. कफशुक्राम्लपित्तकृत्' ग.।

स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः। त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥

तिल के गुण—तिल स्निग्ध, उष्णवीर्य, मधुररस, तिक्तरस, कषायरस तथा कटु रस वाला होता है। यह त्वचा और केशों के लिये हितकारक, बलवर्धक, वातनाशक, कफ और पित्त को बढ़ाने वाला होता है।

मधुराः शीतला गुर्व्यो बलघ्न्यो रूक्षणात्मिकाः। सस्नेहा बलिभिर्भोज्या विविधाः शिम्बिजातयः ॥

विविध शिम्बीधान्यों के गुण—शिम्बीधान्यों में जिनकी गिनती होती है और जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है वे सभी मधुर रस, शीतवीर्य, गुरु (देर में पचने वाले), बलनाशक, रूक्षताकारक होते हैं। बलवान पुरुषों को चाहिये कि वे इनका प्रयोग स्नेह (घी) के साथ करें।

शिम्बी रूक्षा कषाया च कोष्ठे वातप्रकोपिनी। न च वृष्या न चक्षुष्या विष्टभ्य च विपच्यते ॥

शिम्बीधान्य के गुण—यह रूक्ष, रस में कषाय, कोष्ठप्रदेश में वायु को प्रकुपित करता है। यह न वृष्य (वीर्यवर्धक) और न नेत्रहितकारक होता है। इनका यदि सेवन किया जाय तो यह कब्जियत पैदा करने के बाद पचता है।

आढकी कफपित्तघ्नी वातला, कफवातनुत्। अवल्गुजः सैडगजो निष्पावा वातपित्तलाः ॥३३॥

अरहर के गुण—अरहर की दाल कफ, पित्तनाशक तथा वातवर्धक होती है। अवल्गुज (बाकची या बावची Psoralea Seed) और ऐडगज (चक्रमर्द, चकवड = Ringworm Plant) कफ तथा वातनाशक होते हैं। निष्पाव (सेम के बीज) वात एवम् पित्तवर्धक होते हैं।

वक्तव्य—बाकची तथा चकवड़ का ग्रहण यहाँ केवल इसलिये किया गया है कि इनका आकार-प्रकार भी शिम्बीधान्यों के सदृश है, परन्तु ये धान्य नहीं हैं।

काकाण्डोमा(ला)त्मगुप्तानां माषवत् फलमादिशेत्।
द्वितीयोऽयं शमीधान्यवर्गः प्रोक्तो महर्षिणा ॥ ३४ ॥

काकाण्डोला (सूअर सेम) और आत्मगुप्ता (किवाच) इन दोनों के गुण-धर्म माष (उड़द) के समान समझने चाहिये। महर्षि आत्रेय ने यह दूसरे शमीधान्य वर्ग का उपदेश किया है।

अथ मांसवर्गः—

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः। वृको व्याघ्रस्तरक्षुश्च बभ्रुमार्जारमूषिकाः ॥३५॥
लोपाको जम्बुकः श्येनो वान्तादश्चाषवायसौ। शशघ्नी मधुहा भासो गृध्रोलूककुलिङ्गकाः ॥३६॥
[1]धूमिका कुररश्चेति प्रसहा मृगपक्षिणः।

मांस वर्ग

(Class of Fleshes)

प्रसह (झपट कर खाने वाले) पशु-पक्षी—गाय, गदहा, अश्वतर (खच्चर), ऊँट, अश्व (घोड़ा), चीता, सिंह, रीछ (भालू), वानर, भेड़िया, तरक्षु (बाघ का भेद), बभ्रु (नकुल, नेवला, या पहाड़ी कुत्ता), बिल्ली, चूहा, लोमड़ी, सियार, बाज, वान्ताद (अपनी उलटी-वमनको स्वयं चाट जाने वाले कुत्ते आदि), चाष (नीलकण्ठ The bluejay) वायस (कौआ), शशघ्नी (चील के आकार का पक्षी), मधुहा (पक्षिभेद), भास (सफेद रंग की चील), गीध, उल्लू, कुलिंगक (गोरैया), धूमिका (जंगली गोरैया) और कुरर इनको प्रसह (दूसरे के हाथ, पंजा, मुख से लूटकर खाने वाले) मृग तथा पक्षी कहते हैं।

श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुलीमृगः ॥ ३७ ॥

१. 'धूमीका' इति पा०।
२. 'काकलः' च.।

कूर्चिका चिल्लटो भेको गोधा शल्लकगण्डकौ । कदली नकुलः श्वाविदिति भूमिशयाः स्मृताः॥३८॥

भूमिशय प्राणी—सफेद, साँवला, चितकबरी पीठवाला और केवल काला इन भेदों से काकुली मृग चार प्रकार का होता है (देखें—वैद्यक निघण्टु), कूर्चिका (अंधा साँप), चिल्लट (बं. चियाड़), मेढक, गोह, साही, गण्डक (पीले रंग का गोह), कदली (जंगली बिलार), नकुल (नेवला) श्वाविद् (साही का भेद) ये सब भूमिशय कहे जाते हैं, इन्हीं को बिलेशय भी कहते हैं।

सृमरश्चमरः खड्गो महिषो गवयो गजः । न्यङ्कुर्वराहश्चानूपा मृगाः सर्वे रुरुस्तथा ॥३९॥

आनूप वर्ग—सृमर (जंगली बड़ा सूअर), चमरीगाय, खड्ग (गैंडा), भैंसा, गवय, हाथी, न्यंकु (हरिण), सूअर तथा रुरुमृग ये सभी आनूपवर्ग के मृग कहे जाते हैं।

रुरुमृग का लक्षण—'विकटबहुविषाणः शम्बराकारदेहः, सलिलतटचरत्वाच्छावरेभ्यो विचित्रः। त्यजति शरदि शृङ्गाणीत्यतोऽसौ रुरुः स्यात्, पृथुलमृगविशेषः प्रायशश्चेदिदेशे'। चरकोपस्कार। यह चेदिदेश शुक्तिमती नदी के तट पर स्थित एक प्राचीन देश है। यहाँ का राजा शिशुपाल था।

मृग-परिचय—शिकारियों द्वारा शिकार करने के लिये जो-जो प्राणी ढूँढे जाते हैं, उन सब की मृग संज्ञा है। यथा—'मृग्यन्ते, इति मृगाः'।

कूर्मः कर्कटको मत्स्यः शिशुमारस्तिमिङ्गिलः । शुक्तिशङ्खोद्रकुम्भीरचुलुकीमकरादयः ॥४०॥
इति वारिशयाः प्रोक्ता—

वारिशय प्राणी—कछुआ, केकड़ा, मछली, शिशुमार (नक्रभेद), तिमिंगिल (तिमि नामक मछली को निगल जाने वाली ह्वेलमछली), शुक्ति (सीप), शंख (ये शुक्ति और शंख क्रिमि विशेषों के बाहरी आवरण हैं, जो आवश्यकतावश उन क्रिमियों को मारकर ले लिये जाते हैं), उद्र (जलीय प्राणी A kind of aquatic animal) कुम्भीर या कुम्भील (घड़ियाल), चुलुकी (मत्स्य भेद), मकर (मगर) आदि वारिशय (पानी के भीतर या पानी में घर बनाकर रहने वाले) कहे गये हैं।

—वक्ष्यन्ते वारिचारिणः । हंसः क्रौञ्चो बलाका च बकः कारण्डवः प्लवः ॥४१॥
शरारिः पुष्कराह्वश्च[1] केशरी [2]मणितुण्डकः । मृणालकण्ठो मद्गुश्च कादम्बः काकतुण्डकः ॥४२॥
उत्क्रोशः पुण्डरीकाक्षो मेघरावोऽम्बुकुक्कुटी । आरा नन्दीमुखी वाटी सुमुखाः सहचारिणः ॥४३॥
रोहिणी [3]कामकाली च सारसो रक्तशीर्षकः । चक्रवाकस्तथाऽन्ये च खगाः सन्त्यम्बुचारिणः ॥४४॥

वारिचर प्राणी—अब वारिचर (पानी तथा पानी के आस-पास चलने वाले) प्राणी कहे जायेंगे। हंस, क्रौञ्च (A curlew), बलाका (छोटा बगुला), बक (सामान्य बगुला), कारण्डव (हंस भेद—यह काले रंग का लम्बी टांगों वाला होता है।), प्लव (सारस भेद), शरारी (आटी), पुष्कराह्व (सारस भेद), केशरी, मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मद्गु (जल कौआ), कादम्ब (कलहंस), काकतुण्डक, उत्क्रोश (कुरर भेद), पुण्डरीकाक्ष, मेघराव (चातक), अम्बुकुक्कुटी (जलमुर्गी), आरा, नन्दीमुखी, वाटी, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, कामकाली, सारस, रक्तशीर्षक (लालकलंगी वाला सारस), चक्रवाक (चकवा) इस प्रकार के अन्य पक्षियों को भी जलचर कहा जाता है।

पृषतः शरभो रामः श्वदंष्ट्रो मृगमातृका । शशोरणौ कुरङ्गश्च गोकर्णः कोट्टकारकः ॥४५॥
चारुष्को हरिणैणौ च शम्बरः कालपुच्छकः । ऋष्यश्च वरपोतश्च विज्ञेया जाङ्गला मृगाः ॥४६॥

जाङ्गल पशु—पृषत (चितकबरा हरिण), शरभ (अष्टापदमृग, सिंहघाती नाम से काश्मीर में प्रसिद्ध), राम (हिमालय प्रदेश में रहने वाला), श्वदंष्ट्र (चार दाँतों वाला मृग), मृगमातृका (आकृति में छोटा किन्तु

१. 'पुष्करारी च' ग., 'पुष्कराक्षश्च' यो.।
२. 'माणतुण्डिकः' ग.।
३. 'कशिकानी' इति पा.।

लम्बे पेट वाला), शश (खरगोश), उरण (हरिण भेद), कुरंग, गोकर्ण, कोट्टकारक, चारुष्क, हरिण, एण (कृष्णसार मृग), शम्बर (बारहसिंघा), कालपुच्छक (काली पूंछ वाला), ऋष्य (नीले अण्डकोष वाला मृग) तथा वरपोत ये जांगल (जहाँ पानी तथा वृक्ष कम होते हैं, उस वनप्रदेश के निवासी) मृग हैं।

लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः । चकोरश्चोपचक्रश्च कुक्कुभो रक्तवर्त्मकः ॥४७॥
लावाद्या विष्किरास्त्वेते वक्ष्यन्ते वर्तकादयः । वर्तको वर्तिका चैव बर्ही तित्तिरिकुक्कुटौ ॥४८॥
कङ्क-शारपदेन्द्राभ-गोनर्द-गिरिवर्तकाः । क्रकरोऽवकरश्चैव वारडश्चेति विष्किराः ॥४९॥

विष्किर पक्षी—लावा, वर्तिरक (बटेर), वार्तीक (छोटा गौरैया), कपिञ्जल (गौर वर्ण वाला तीतर), चकोर, उपचक्र (काले चोंच वाला चकोर), कुक्कुभ, रक्तवर्त्मक या रक्तवर्णक, लवा से लेकर रक्तवर्णक तक के पक्षी विष्किर कहे जाते हैं। इनके पश्चात् अब वर्तक आदि पक्षी कहे जायेंगे—वर्तक, वर्तिका, मोर, तित्तिर (काला तीतर), कुक्कुट (मुर्गा), कंक (डोम कौआ), शारपद, इन्द्राभ, गोनर्द, गिरिवर्तक[1] (पहाड़ी बतख), क्रकर, अवकर तथा वारड ये भी विष्किर पक्षी कहे जाते हैं।

वक्तव्य—विष्किर (बिखेर कर खाने वाले) पक्षियों के यहाँ **लावा** आदि तथा **वर्तक** आदि के जो दो भेद किये हैं, इनके गुण-धर्मों का उल्लेख आगे किया जायगा।

शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टिर्जीवजीवकः । कैरातः कोकिलोऽत्यूहो गोपापुत्रः प्रियात्मजः ॥५०॥
लट्टा लट्टू (डू) षको बभ्रुर्वटहा डिण्डिमानकः । जटी दुन्दुभिपाक्कारलोहपृष्ठकुलिङ्गकाः ॥५१॥
कपोतशुकशारङ्गाश्चिरटीकङ्कुयष्टिकाः । सारिका कलविङ्कश्च चटकोऽङ्गारचूडकः ॥५२॥
पारावतः पाण्ड(न)विक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ।

प्रतुद पक्षी—(चोंच या पंजों से चोट मार करके खाने के अभ्यास वाले पक्षी) शतपत्र (कठफोड़वा = A wood pecker), भृङ्गराज (बड़ा काला भौंरा), कोयष्टि (कोरुक् शब्द करने वाला पक्षी), जीवजीवक (विष को देखने से मर जाने वाला पक्षी), कैरात (कोकिलभेद), कोकिल (कोयल), अत्यूह (डाहुक), गोपापुत्र, प्रियात्मज, लट्टा, लट्टूषक (भरद्वाज पक्षी का भेद), बभ्रु (पिंगल वर्ण का पक्षी), वटहा, डिण्डिमानक (नगाड़े की भाँति जोर से बोलने वाला पक्षी), जटी (जटायु), दुन्दुभि, पाक्कार [कुछ संस्करणों में दुन्दुभि-वाक्कार, ऐसा पाठ है, अतः व्याख्याकारों ने तदनुसार इसका अर्थ—दुन्दुभि के सदृश बोलने वाला किया है।], लोहपृष्ठ, कुलिंगक (बया), कबूतर, शुक, सारंग, चिरटी, कंकुयष्टिका [कुछ व्याख्याकार कंकु और यष्टिका को भिन्न-भिन्न पक्षी स्वीकार करते हैं।] सारिका (मैना), कलविंक (कृष्णचटक—सु. सू. अ. ४६), चटक (गौरैया), अंगारचूलक (बुलबुल), पारावत (कबूतर), पाण्डविक (कबूतर का भेद, इसको नैनीताल के समीपवर्ती 'घुघुत' कहते हैं।) ये सभी प्रतुद पक्षी कहे गये हैं।

प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः ॥५३॥
भूशया बिलवासित्वादानूपा[2]ऽनूपसंश्रयात् । जले निवासाज्जलजा जले चर्याज्जलेचराः ॥५४॥
स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जाङ्गलचारिणः । विकीर्य विष्किराश्चेति प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ॥
योनिरष्टविधा त्वेषा[3] मांसानां परिकीर्तिता ।

प्रसह आदि की परिभाषा—जबरदस्ती दूसरे से छीन कर खाने वालों को प्रसह कहते हैं। **भूशय या भूमिशय**—भूमि या बिल में रहने वालों को भूशय कहते हैं। **आनूप**—जलप्रधान (अनूप) देश में रहने के कारण उन प्राणियों को आनूप कहते हैं। **जलज**—जल में निवास करने वाले जलज कहे जाते हैं। **जलचर**—जल में विचरण करने वाले जलचर कहे जाते हैं। **जाङ्गल**—भूमि में रहने वालों को जाङ्गल कहते हैं,

१. '-धाक्रोर-' यो.।
२. 'आनूपानूपसंश्रयादिति पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वादानूपाऽनूपसंश्रयादित्यत्र लोपस्य सिद्धत्वेनैवं संहिता ज्ञेया' चक्रः। आनूपोऽनूपसंश्रयात्' यो.।
३. 'त्वेषाम्' ग.।

यहाँ घूमने वाले मृगों को जांगलचारी कहते हैं। **विष्किर**—बिखेर कर खाने वालों को विष्किर कहते हैं। **प्रतुद**—चोंच या पंजा मारकर खाने वाले प्राणियों को प्रतुद कहते हैं। इस प्रकार मांसों की आठ योनियाँ (उत्पत्ति) कही गयी हैं।

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ॥५६॥
गुरूष्णस्निग्धमधुरा बलोपचयवर्धनाः । वृष्याः परं वातहराः कफपित्तविवर्धनाः ॥५७॥
हिता व्यायामनित्येभ्यो नरा दीप्ताग्नयश्च ये । प्रसहानां विशेषेण मांसं मांसाशिनां भिषक् ॥५८॥
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां प्रयोजयेत् ।

प्रसह आदि प्राणियों के मांसों के गुण—प्रसह, भूशय (भूमिशय), आनूपदेशज, वारिज (पानी में रहने वाले) और वारिचारी (पानी में विचरण करने वाले) प्राणियों (पशु-पक्षियों) के मांस गुरु, उष्णवीर्य, स्निग्ध और रस में मधुर होते हैं। ये बल तथा मांस को बढ़ाते हैं। उत्तम वृष्य (वीर्यवर्धक) होते हैं। वातनाशक, कफ और पित्त को बढ़ाते हैं। जो प्रतिदिन व्यायाम करते हैं और जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त है, उनके लिये ये मांस हितकर होते हैं। वैद्य मांस खाने वाले प्रसहों (पशु-पक्षियों) के मांस का प्रयोग पुराने अर्शरोगी, ग्रहणी विकार वाले तथा क्षय रोग से पीड़ित पुरुषों के लिये करें।

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ॥५९॥
लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् । पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥६०॥

और लाव आदि विष्किर वर्ग के, प्रतुदवर्ग के तथा जाङ्गल देश के प्राणियों के मांस गुण में लघु, शीतवीर्य, रस में मधुर तथा कषाय होते हैं। पित्तप्रधान, वातमध्यबल और हीनबल कफ वाले सन्निपात में ये मांस रस मनुष्यों के लिये हितकारक होते हैं।

वक्तव्य—उक्त प्रकार के सन्निपात के लक्षण च० चि० अ० ३ में देखें।

विष्किरा वर्तकाद्यास्तु प्रसहाल्पान्तरा गुणैः ।

वर्तक आदि विष्किर पक्षियों का मांस प्रसह पक्षियों के मांस से गुणों में कुछ ही कम होता है।

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥ ६१ ॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ।

बकरा-मांस के गुण—यह न अधिक शीतल, न अधिक गुरु (देर में पचने वाला) और न अधिक स्निग्ध होता है। अतः बकरा का मांस दोषकारक नहीं होता। पुरुष का तथा बकरा का मांस प्रायः सभी गुणों में सामान्य होता है, अतः यह अनभिष्यन्दी (क्लिन्न न करने वाला) तथा बृंहण (मनुष्य के मांस को बढ़ाने वाला) होता है।

वक्तव्य—'मांसान्मांसं प्रवर्धते'। एक सामान्य नियम है कि समान गुण-धर्मवाली वस्तु अपने समान गुण-धर्म वाली वस्तु को बढ़ाती है।

मांसं मधुरशीतत्वाद् गुरु बृंहणमाविकम् ॥ ६२ ॥

भेड़-मांस के गुण—यह रस में मधुर तथा शीतवीर्य होने के कारण गुरु (पचने में विलम्ब करने वाला) एवम् मांस को बढ़ाने वाला होता है।

[1]योनावजाविके मिश्रगोचरत्वादनिश्चिते । सामान्येनोपदिष्टानां मांसानां स्वगुणैः पृथक् ॥६३॥

अजा (बकरी) और भेड़ ये दोनों (जांगल तथा आनूप) देशों में देखी जाती है, अतः ऊपर जो मांस योनियों का वर्णन किया है तदनुसार इनकी योनि (उत्पत्ति) अनिश्चित होती है। इसलिये सामान्य रूप से बतलाये गये मांस गुणों से इनका वर्णन अलग से कर दिया है।

---

१. 'योनावजावी व्यामिश्र' ग.।

केषांश्चिद् गुणवैशेष्याद् विशेष उपदेक्ष्यते ।

अतः इस प्रकार के द्रव्यों में जिनका गुण विशेष होता है, उनके गुणों का पृथक् वर्णन कर दिया जाता है।

दर्शनश्रोत्रमेधाग्निवयोवर्णस्वरायुषाम् ॥ ६४ ॥
बर्ही हिततमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः । गुरूष्णस्निग्धमधुराः स्वरवर्णबलप्रदाः ॥६५॥
बृंहणाः शुक्रलाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनाः । स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च बृंहणाः स्वरबोधनाः ॥
बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः । गुरूष्णो मधुरो नातिधन्वानूपनिषेवणात् ॥६७॥
तित्तिरिः सञ्जयेच्छीघ्रं त्रीन् दोषाननिलोल्बणान् । पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ॥६८॥
मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्यलाघवात् ।

मयूर-मांस के गुण—मोर का मांस दृष्टि (नजर), कान, मेधा (धारणा शक्ति), अग्नि (पाचकाग्नि), वय (अवस्था), वर्ण, स्वर और आयु के लिये हिततम होता है। यह बलवर्धक, वातनाशक, मांस तथा शुक्र को बढ़ाता है।

हंस-मांस के गुण—हंस का मांस गुरु (देर में पचने वाला), उष्णवीर्य, स्निग्ध, मधुर, स्वर, वर्ण तथा बलवर्धक, मांस को बढ़ाने वाला, शुक्रवर्धक तथा वातनाशक होता है।

कुक्कुट-मांस के गुण—मुर्गा का मांस स्निग्ध, उष्णवीर्य, वृष्य (वीर्यवर्धक तथा वीर्य को निकालने वाला), बृंहण (मांस को बढ़ाने वाला), स्वरवर्धक, बलकारक, वातनाशक एवम् स्वेदन (पसीना निकालने वाला) होता है।

तीतर-मांस के गुण—तीतर का मांस गुरु, उष्णवीर्य तथा मधुर होता है। यह न अधिक जांगल देश में रहता है और न अधिक आनूप देश में। अतः यह वातप्रधान सन्निपात का शीघ्र शमन करता है।

गौरतीतर-मांस के गुण—कपिञ्जल का मांस शीतवीर्य, रस में मधुर, लघुपाकी होने से रक्तयुक्त, पित्त तथा कफ के विकारों में वायु के अल्पमात्रा में होने पर लाभदायक होता है।

लावाः [1]कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्धनाः ॥ ६९ ॥
सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः । गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ॥७०॥
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी । शल्लको मधुराम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः ॥७१॥
वातपित्तकफघ्नश्च कासश्वासहरस्तथा । कषायविशदाः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः ॥७२॥
विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः । तेभ्यो लघुतराः किञ्चित् कपोता वनवासिनः ॥७३॥
शीताः सङ्ग्राहिणश्चैव [2]स्वल्पमूत्रकराश्च ते ।

लाव-मांस के गुण—लाव का मांस रस में कषाय तथा मधुर, लघुपाकी, जाठराग्नि को बढ़ाने वाला, सन्निपात का शमन करने वाला एवम् विपाक में कटु होता है।

गोधा-मांस के गुण—गोह का मांस मधुर विपाक वाला रस में कषाय तथा कटु होता है। मांसवर्धक, बलवर्धक, वात तथा पित्त का शमन करता है।

साही-मांस के गुण—इसका मांस रस में मधुर तथा अम्ल, विपाक में कटु होता है। वात, पित्त, कफ का नाशक (सन्निपात को दूर करने वाला) कास और श्वास का शमन करता है।

कबूतर-मांस के गुण—घर में रहने वाले (पालतू) कबूतरों का मांस रस में कषाय, गुण में विशद (पिच्छिलता रहित), शीतवीर्य वाला, विपाक में मधुर, रक्तपित्तनाशक होता है।

जंगली कबूतर-मांस के गुण—पालतू कबूतर के मांस की अपेक्षा लघु, शीतवीर्य, मल को बाँधने वाला, अल्प मूत्र उत्पन्न करने वाला होता है।

---

१. 'कषाया विशदाः' ग.।
२. 'स्वल्पं मृदतराश्च' ग.।

यहाँ घूमने वाले मृगों को जांगलचारी कहते हैं। **विष्किर**—बिखेर कर खाने वालों को विष्किर कहते हैं। **प्रतुद**—चोंच या पंजा मारकर खाने वाले प्राणियों को प्रतुद कहते हैं। इस प्रकार मांसों की आठ योनियाँ (उत्पत्ति) कही गयी हैं।

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ॥५६॥
गुरूष्णस्निग्धमधुरा बलोपचयवर्धनाः। वृष्याः परं वातहराः कफपित्तविवर्धनाः॥५७॥
हिता व्यायामनित्येभ्यो नरा दीप्ताग्नयश्च ये। प्रसहानां विशेषेण मांसं मांसाशिनां भिषक्॥५८॥
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां प्रयोजयेत्।

प्रसह आदि प्राणियों के मांसों के गुण—प्रसह, भूशय (भूमिशय), आनूपदेशज, वारिज (पानी में रहने वाले) और वारिचारी (पानी में विचरण करने वाले) प्राणियों (पशु-पक्षियों) के मांस गुरु, उष्णवीर्य, स्निग्ध और रस में मधुर होते हैं। ये बल तथा मांस को बढ़ाते हैं। उत्तम वृष्य (वीर्यवर्धक) होते हैं। वातनाशक, कफ और पित्त को बढ़ाते हैं। जो प्रतिदिन व्यायाम करते हैं और जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त है, उनके लिये ये मांस हितकर होते हैं। वैद्य मांस खाने वाले प्रसहों (पशु-पक्षियों) के मांस का प्रयोग पुराने अर्शरोगी, ग्रहणी विकार वाले तथा क्षय रोग से पीड़ित पुरुषों के लिये करें।

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ॥५९॥
लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम्। पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥६०॥

और लाव आदि विष्किर वर्ग के, प्रतुदवर्ग के तथा जाङ्गल देश के प्राणियों के मांस गुण में लघु, शीतवीर्य, रस में मधुर तथा कषाय होते हैं। पित्तप्रधान, वातमध्यबल और हीनबल कफ वाले सन्निपात में ये मांस रस मनुष्यों के लिये हितकारक होते हैं।

वक्तव्य—उक्त प्रकार के सन्निपात के लक्षण च० चि० अ० ३ में देखें।

विष्किरा वर्तकाद्यास्तु प्रसहाल्पान्तरा गुणैः।

वर्तक आदि विष्किर पक्षियों का मांस प्रसह पक्षियों के मांस से गुणों में कुछ ही कम होता है।

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥ ६१ ॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम्।

बकरा-मांस के गुण—यह न अधिक शीतल, न अधिक गुरु (देर में पचने वाला) और न अधिक स्निग्ध होता है। अतः बकरा का मांस दोषकारक नहीं होता। पुरुष का तथा बकरा का मांस प्रायः सभी गुणों में सामान्य होता है, अतः यह अनभिष्यन्दी (क्लिन्न न करने वाला) तथा बृंहण (मनुष्य के मांस को बढ़ाने वाला) होता है।

वक्तव्य—'मांसान्मांसं प्रवर्धते'। एक सामान्य नियम है कि समान गुण-धर्मवाली वस्तु अपने समान गुण-धर्म वाली वस्तु को बढ़ाती है।

मांसं मधुरशीतत्वाद् गुरु बृंहणमाविकम् ॥ ६२ ॥

भेड़-मांस के गुण—यह रस में मधुर तथा शीतवीर्य होने के कारण गुरु (पचने में बिलम्ब करने वाला) एवम् मांस को बढ़ाने वाला होता है।

[1]योनावजाविके मिश्रगोचरत्वादनिश्चिते। सामान्येनोपदिष्टानां मांसानां स्वगुणैः पृथक् ॥६३॥

अजा (बकरी) और भेड़ ये दोनों (जांगल तथा आनूप) देशों में देखी जाती है, अतः ऊपर जो मांस योनियों का वर्णन किया है तदनुसार इनकी योनि (उत्पत्ति) अनिश्चित होती है। इसलिये सामान्य रूप से बतलाये गये मांस गुणों से इनका वर्णन अलग से कर दिया है।

१. 'योनावजावी व्यामिश्र' ग.।

केषांश्चिद् गुणवैशेष्याद् विशेष उपदेक्ष्यते।

अतः इस प्रकार के द्रव्यों में जिनका गुण विशेष होता है, उनके गुणों का पृथक् वर्णन कर दिया जाता है।

दर्शनश्रोत्रमेधाग्निवयोवर्णस्वरायुषाम् ॥ ६४ ॥
बर्ही हिततमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः। गुरूष्णस्निग्धमधुराः स्वरवर्णबलप्रदाः ॥६५॥
बृंहणाः शुक्रलाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनाः। स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च बृंहणाः स्वरबोधनाः॥
बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः। गुरूष्णो मधुरो नातिधन्वानूपनिषेवणात् ॥६७॥
तित्तिरिः संजयेच्छीघ्रं त्रीन् दोषानिलोल्बणान्। पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ॥६८॥
मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्यलाघवात्।

मयूर-मांस के गुण—मोर का मांस दृष्टि (नजर), कान, मेधा (धारणा शक्ति), अग्नि (पाचकाग्नि), वय (अवस्था), वर्ण, स्वर और आयु के लिये हिततम होता है। यह बलवर्धक, वातनाशक, मांस तथा शुक्र को बढ़ाता है।

हंस-मांस के गुण—हंस का मांस गुरु (देर में पचने वाला), उष्णवीर्य, स्निग्ध, मधुर, स्वर, वर्ण तथा बलवर्धक, मांस को बढ़ाने वाला, शुक्रवर्धक तथा वातनाशक होता है।

कुक्कुट-मांस के गुण—मुर्गा का मांस स्निग्ध, उष्णवीर्य, वृष्य (वीर्यवर्धक तथा वीर्य को निकालने वाला), बृंहण (मांस को बढ़ाने वाला), स्वरवर्धक, बलकारक, वातनाशक एवम् स्वेदन (पसीना निकालने वाला) होता है।

तीतर-मांस के गुण—तीतर का मांस गुरु, उष्णवीर्य तथा मधुर होता है। यह न अधिक जांगल देश में रहता है और न अधिक आनूप देश में। अतः यह वातप्रधान सन्निपात का शीघ्र शमन करता है।

गौरतीतर-मांस के गुण—कपिञ्जल का मांस शीतवीर्य, रस में मधुर, लघुपाकी होने से रक्तयुक्त, पित्त तथा कफ के विकारों में वायु के अल्पमात्रा में होने पर लाभदायक होता है।

लावाः [1]कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्धनाः ॥ ६९ ॥
सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः। गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ॥७०॥
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी। शल्लको मधुराम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः ॥७१॥
वातपित्तकफघ्नश्च कासश्वासहरस्तथा। कषायविशदाः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः ॥७२॥
विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः। तेभ्यो लघुतराः किञ्चित् कपोता वनवासिनः ॥७३॥
शीताः सङ्ग्राहिणश्चैव [2]स्वल्पमूत्रकराश्च ते।

लाव-मांस के गुण—लाव का मांस रस में कषाय तथा मधुर, लघुपाकी, जाठराग्नि को बढ़ाने वाला, सन्निपात का शमन करने वाला एवम् विपाक में कटु होता है।

गोधा-मांस के गुण—गोह का मांस मधुर विपाक वाला रस में कषाय तथा कटु होता है। मांसवर्धक, बलवर्धक, वात तथा पित्त का शमन करता है।

साही-मांस के गुण—इसका मांस रस में मधुर तथा अम्ल, विपाक में कटु होता है। वात, पित्त, कफ का नाशक (सन्निपात को दूर करने वाला) कास और श्वास का शमन करता है।

कबूतर-मांस के गुण—घर में रहने वाले (पालतू) कबूतरों का मांस रस में कषाय, गुण में विशद (पिच्छिलता रहित), शीतवीर्य वाला, विपाक में मधुर, रक्तपित्तनाशक होता है।

जंगली कबूतर-मांस के गुण—पालतू कबूतर के मांस की अपेक्षा लघु, शीतवीर्य, मल को बाँधने वाला, अल्प मूत्र उत्पन्न करने वाला होता है।

१. 'कषाया विशदाः' ग.।
२. 'स्वल्पं मृदतराश्च' ग.।

शुकमांसं कषायाम्लं विपाके [1]रूक्षशीतलम् ॥ ७४ ॥
शोषकासक्षयहितं सङ्ग्राहि लघु दीपनम् । चटका मधुराः स्निग्धा [2]बलशुक्रविवर्धनाः ॥७५॥
सन्निपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च । कषायो विशदो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः ॥७६॥
शशः स्वादुः प्रशस्तश्च सन्निपातेऽनिलावरे ।

शुक (तोता) मांस के गुण—तोता का मांस रस में कषाय तथा अम्ल, विपाक में रूक्ष (पाठभेद के अनुसार विपाक में कटु) शीतवीर्य, यह मल को बाँधता है, लघुपाकी है, अग्निदीपक है, शोष, कास, क्षय रोगों में हितकारी होता है।

चटक-मांस के गुण—गौरेया का मांस रस में मधुर, स्निग्ध, बल तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, वात प्रकोप एवम् सन्निपात का शमन करता है।

शश-मांस के गुण—खरगोश का मांस रस में कषाय तथा मधुर, विशद, रूक्ष, शीतवीर्य, विपाक में कटु तथा लघुपाकी होता है। यह वायु की कमी वाले सन्निपात में हितकारक होता है।

मधुरा मधुराः पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः ॥ ७७ ॥
लघवो बद्धविण्मूत्राः शीताश्चैणाः प्रकीर्तिताः । स्नेहनं बृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलापहम् ॥७८॥
वराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु । गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे ॥७९॥
शुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयहितं च तत् । स्निग्धोष्णं मधुरं वृष्यं माहिषं गुरु तर्पणम् ॥८०॥
दार्ढ्यं बृहत्त्वमुत्साहं स्वप्नं च जनयत्यपि ।

एण-मांस के गुण—काला हरिण का मांस रस तथा विपाक में मधुर, त्रिदोषनाशक, कल्याणकारक, हल्का, शीतवीर्य, मल और मूत्र का अवरोधक होता है।

शूकर-मांस के गुण—सूअर का मांस शरीर को स्निग्ध करता है, मांसवर्धक, वीर्यवर्धक, श्रम तथा वायुनाशक, बलवर्धक, रुचिकारक, पसीना लाने वाला और गुरु होता है।

गो-मांस के गुण—गाय का मांस केवल वातज रोगों में, पीनस (जुकाम) में, विषमज्वर में, सूखी (वातज) खांसी में, श्रम (परिश्रम करने पर आयी हुई थकावट को दूर करने) में, जाठराग्नि के अत्यन्त बढ़ जाने पर, मांसक्षयजनित रोगों में हितकारक होता है।

महिष-मांस के गुण—भैंसा का मांस स्निग्धता (चिकनापन) लाने वाला, उष्णवीर्य, रस में मधुर, वृष्य, गुरुपाकी (देर में पचने वाला), तृप्तिकारक, दृढ़ता देने वाला, स्थूलताकारक, उत्साहवर्धक तथा निद्रा को बढ़ाता है, अर्थात् महिषमांस के सेवन से पर्याप्त नींद आती है। यह कुम्भकर्ण का प्रिय भोजन था।

गुरूष्णा मधुरा बल्या बृंहणाः पवनापहाः ॥ ८१ ॥
मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्तिताः ।
शैवालशष्पभोजित्वात् स्वप्नस्य च विवर्जनात् ॥ ८२ ॥
रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महाबलः । [3]वर्ण्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥८३॥
मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म उच्यते ।

मत्स्य-मांस के गुण—प्रायः सभी मछलियों का मांस गुरुपाक (देर में पचने) वाला, उष्णवीर्य, रस में मधुर, बलवर्धक, मांस को बढ़ाने वाला, वातनाशक, स्निग्ध, शुक्रवर्धक एवम् दोषों को बढ़ाने वाला होता है।

रोहितमत्स्य-मांस के गुण—शैवाल (सिंवार=A kind of aquatic plant.) को खाने के कारण और कभी न सोने के कारण रोहू मछली का मांस अग्नि को दीप्त करने वाला, शीघ्र पचने वाला तथा अत्यधिक बलवर्धक होता है।

---

१. 'कटुशीतलम्' इति पा.।
२. 'कफशुक्राभिवर्धनाः' ग.।
३. 'वल्यः' इति पा०।

कूर्म-मांस के गुण—कछुआ का मांस शरीर के वर्ण में निखार लाता है, वातनाशक, वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकारक, बल को बढ़ाने वाला, धारणा शक्ति और स्मरण शक्ति को बढ़ाने वाला, पथ्य (हितकर) एवम् क्षयनाशक होता है।

खड्गमांसमभिष्यन्दि बलकृन्मधुरं स्मृतम् ॥ ८४ ॥
स्नेहनं बृंहणं वर्ण्यं श्रमघ्नमनिलापहम् । धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ॥८५॥
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च । क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च ॥८६॥
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च ।

खड्ग-मांस के गुण—गैंडा का मांस अभिष्यन्द (कफवृद्धि) कारक, बलवर्धक, तथा रस में मधुर होता है। यह स्नेहन (स्निग्धता उत्पन्न) करता है, बृंहण (शरीर को मोटा बनाता) है, वर्ण्य (रूप-प्रसादन कारक) है, थकावट का नाश करता है और वातनाशक है।

हंस आदि के अण्डों के गुण—धार्तराष्ट्र (हंसभेद), चकोर, दक्ष (मुर्गा), मोर, चटकों के जो अंडे होते हैं, वे क्षीणवीर्य वालों के लिये, कास रोग में, हृद्रोग में, उरःक्षत में हितकारक होते है। वे रस में मधुर, विदाह (जलन उत्पन्न) न करने वाले और शीघ्र बलकारक होते हैं।

वक्तव्य—हंस के भेदों में धार्तराष्ट्र की गणना भी है। देखें—'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः। मलिनैर्मल्लिकाख्यास्ते, धार्तराष्ट्राः सितेतरैः' ॥ अमरकोष–सिंहादिवर्ग। यद्यपि अन्यत्र 'दक्ष' शब्द चतुरता वाचक है किन्तु पक्षियों के साहचर्य में नाम आने के कारण इसका अर्थ यहाँ कुक्कुट (मुर्गा) है। देखें—'दक्षः प्रजापतौ, रुद्रवृषभे, कुक्कुटे, पटौ'। मेदिनीकोष।

शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते ॥ ८७ ॥
इति वर्गस्तृतीयोऽयं मांसानां परिकीर्तितः ।

मांस का महत्त्व—मांस से बढ़कर शरीर को मोटा करने के लिये दूसरा कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार यह तीसरा मांस वर्ग कह दिया गया है।

अथ शाकवर्गः—

पाठाशुषाशटीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम् ॥ ८८ ॥
विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु [1]वास्तुकम् । त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी ॥८९॥
नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशिनी । राजक्षवकशाकं तु त्रिदोषशमनं लघु ॥९०॥
ग्राहि शस्तं विशेषेण ग्रहण्यर्शोविकारिणाम् । कालशाकं तु कटुकं दीपनं गरशोफजित् ॥९१॥

शाकवर्ग

(Class of Vegetables)

शाकों के सामान्य गुण —पाठा, शुषा (कसौंदी), शटी (कचूर), वथुआ, सुनिषण्णक (चौपतिया Marsilea minuta) इनके शाक सामान्य तथा ग्राही (मल को रोकने वाले तथा त्रिदोषनाशक) होते हैं। केवल वथुआ मल का भेदक अर्थात् मल को पतला करके निकालने वाला होता है।

रसायन (रोग तथा वृद्धावस्था
काकमाचीशाक के गुण—मकोय की पत्तियों का शाक त्रिदोषनाशक, का नाशक), कुष्ठनाशक और मलभेदक (दस्तावर) होता है। यह न अधिक उष्ण और न अधिक शीतवीर्य होता है।

राजक्षवकशाक के गुण—राजसर्षप का शाक त्रिदोषशामक, लघुपाकी, ग्राही (मल-मूत्र को रोकने वाला), विशेष करके ग्रहणी तथा अर्श विकार में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

कालशाक के गुण—कालशाक (A sort of Pothorb) रस में कटु, जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है, विषनाशक और शोथ का शमन करता है।

---

१. 'वर्चोभेदि च' ग.।

लघूष्णं वातलं रूक्षं [1]कालायं शाकमुच्यते । दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते ॥९२॥
प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा । मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्धनी ॥९३॥
वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदिका ।

कलायशाक के गुण—मटर का शाक लघुपाकी, उष्णवीर्य, वातदोष को बढ़ाने वाला तथा रूक्षता कारक होता है ।

अम्लचांगेरीशाक के गुण—तिपतिया का शाक अग्निवर्धक, उष्णवीर्य, मल को बांधने वाला, कफज तथा वातज विकारों में एवम् ग्रहणी रोग, अर्शरोग में लाभदायक होता है ।

उपोदिकाशाक के गुण—पोई का शाक रस तथा विपाक में मधुर होता है, मल का भेदन करता है, कफ को बढ़ाने वाला, वीर्यवर्धक, स्निग्धताकारक, शीतवीर्य और मद का नाश करता है ।

रूक्षो मदविषघ्नश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ॥ ९४ ॥
मधुरो मधुरः पाके शीतलस्तण्डुलीयकः । मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेला वनतिक्तकम् ॥९५॥
कर्कोटकावल्गुजकौ पटोलं शकुलादनी । वृषपुष्पाणि शार्ङ्गेष्टा केम्बुकं सकठिल्लकम् ॥९६॥
नाडी कलायं गोजिह्वा वार्ताकं तिलपर्णिका । कौलकं कार्कशं नैम्बं शाकं पार्पटकं च यत् ॥९७॥
कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ।

तण्डुलीयकशाक के गुण—चौलाई का शाक रूक्ष, मदनाशक तथा सभी प्रकार के (स्थावर-जङ्गम) विषों का नाशक, रक्तपित्त के रोगियों के लिये हितकारी, रस तथा विपाक में मधुर और शीतवीर्य होता है ।

मण्डूकपर्णी आदि के सामान्य गुण—मण्डूकपर्णी, वेत का अगला हिस्सा (इनके जो नये अंकुर भूमि से निकलते हैं ।), कुचेला (पाठा), वनतिक्तक (चिरायता), कर्कोटक (खेखसा), अवल्गुज (बाकुची की पत्ती), परवर के पत्ते, शकुलादनी (कुटकी), वृषपुष्प (अडूसा के फूल), शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा सु० चि० अ० २३ तथा काकमाची, सु० सू० अ० ३८), केम्बुक (करेमू), कठिल्लक (करेला–भावप्रकाश), पुनर्नवा (राजनि०) नाड़ीशाक, कलाय (मटर), गोजिह्वा, बैंगन, तिलपर्णी (हुलहुल), कौलक, काकश, नीम की पत्ती और पितपापड़ा का शाक—ये कफ-पित्तनाशक, रस में तिक्त, विपाक में कटु और शीतवीर्य होते हैं ।

सर्वाणि सूप्यशाकानि फञ्जी चिल्ली कुतुम्बकः ॥ ९८ ॥
आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कुटिञ्जरम् । शणशाल्मलिपुष्पाणि कर्बुदारः सुवर्चला ॥९९॥
निष्पावः कोविदारश्च पत्तूरश्चुच्चुपर्णिका । कुमारजीवो लोट्टाकः पालङ्क्या मारिषस्तथा ॥१००॥
कलम्बनालिकासूर्यः कुसुम्भवृकधूमकौ । लक्ष्मणा च प्रपुन्नाडो नलिनीका कुठेरकः ॥१०१॥
लोणिका यवशाकं च कुष्माण्डकमवल्गुजम् । यातुकः शालकल्याणी त्रिपर्णी पीलुपर्णिका ॥१०२॥
शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति । मधुरं शीतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम् ॥१०३॥
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत् प्रशस्यते ।

सूप्यशाक—सभी प्रकार के सूप्यशाक अर्थात् जिनके बीजों को सुखाकर दालें बनायी जाती हैं । यथा—मूंग, उड़द, मटर, अरहर आदि की पत्तियों के शाक, फञ्जी, चिल्ली (वन बथुआ), कुतुम्बक (गूमा की पत्ती), सभी प्रकार के आलू की पत्तियाँ, कुटिञ्जर (ताम्रमूली), शण (सन की पत्ती), शाल्मलि (सेमर का फूल), कचनार, सुवर्चला, निष्पाव (सेम), कोविदार (लाल कचनार के फूल), पत्तूर (शालिञ्च), चुच्चुपर्णी, कुमारजीव (जीवशाक), लोट्टक (मारिष भेद), पालक, मारिष (मरसा), कलम्ब (करेमू), नालिका (नाई), राई, कुसुम्भ (बरें), वृकधूमक (भूमिशिरीष), लक्ष्मणा की पत्ती, चकवड़ की पत्ती, कमलनाल, पत्र, पुष्प, कुठेरक (वन तुलसी) लोणिका (नोनी), यवशाक (बथुआ), सफेद कोहड़ा, बाकुची की पत्ती, यातुक (सफेद शालपर्णी), शालकल्याणी (चौलाई का एक भेद), त्रिपर्णी (हंसराज), पीलुपर्णिका (मूर्वा की पत्ती), ये सभी

१. 'कालाख्यम्' इति पा० ।

शाक गुरुपाकी तथा रूक्ष होते हैं, विष्टम्भ (कब्ज) पैदा करके पचते हैं । रस में मधुर, शीतवीर्य, मलभेदक होते हैं । इनको उबालकर रस निचोड़कर इनमें घी मिलाकर सेवन करने से ये लाभदायक होते हैं ।

शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः ॥१०४॥
पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षपद्मादिपल्लवाः ॥१०५॥
कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम् ।
वायुं वत्सादनी हन्यात् कफं गण्डीरचित्रकौ ॥ १०६ ॥
श्रेयसी बिल्वपर्णी च बिल्वपत्रं तु वातनुत् । भण्डी शतावरीशाकं बला जीवन्तिकं च यत् ॥१०७॥
पर्वण्याः पर्वपुष्प्याश्च वातपित्तहरं स्मृतम् । लघु भिन्नशकृत्तिक्तं लाङ्गलक्युरुबूकयोः ॥१०८॥
तिलवेतसशाकं च शाकं पञ्चाङ्गुलस्य च । वातलं कटुतिक्ताम्लमधोमार्गप्रवर्तनम् ॥१०९॥
रूक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भं कफघ्नं पित्तवर्धनम् ।

सन, कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (सफेद कचनार) और शाल्मलि (सेमल) के फूल ग्राही (मल को बाँधने वाले) द्रव्यों में श्रेष्ठ होते हैं । इनका सेवन रक्तपित्त रोग में विशेष लाभदायक होता है ।

न्यग्रोध (बरगद), गूलर, पीपल, प्लक्ष (पाकर) तथा पद्म (कमल) आदि के कोमल पत्ते रस में कषाय, स्तम्भक, शीतवीर्य होते हैं । ये पित्तातिसार वालों के लिये हितकर होते हैं ।

वत्सादनी (गिलोय) के पत्तों का शाक वातनाशक होता है । गण्डीर और चित्रक के पत्तों का शाक कफ का विनाश करता है । श्रेयसी (गजपीपल), बिल्वपर्णी तथा बेल के पत्तों का शाक वातनाशक होता है ।

भण्डी (निशोथ), शतावर, बरियारा, जीवन्ती, पर्वणी (दूब) और पर्वपुष्पी की पत्तियों के शाक वात एवम् पित्तनाशक होते हैं ।

लाङ्गलकी (कलिहारी) तथा उरुबूक (लाल एरण्ड) की पत्तियों के शाक लघुताकारक, रस में तिक्त, मल का भेदन करने वाले होते हैं । तिल, वेत एवम् एरण्ड की पत्तियों के शाक वातकारक, रस में कटु, तिक्त तथा अम्ल होते हैं । अधोमार्ग को अपने काय (मल, मूत्र के विसर्जन) में प्रवृत्त कराने वाले होते हैं ।

कुसुम्भ (बरें) का शाक रस में अम्ल, उष्णवीर्य, रूक्ष, कफनाशक तथा पित्तवर्धक होता है ।

त्रपुसैर्वारुकं स्वादु गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥ ११० ॥
मुखप्रियं च रूक्षं च मूत्रलं त्रपुसं त्वति । एर्वारुकं च सम्पक्वं दाहतृष्णाक्लमार्तिनुत् ॥१११॥
वर्चोभेदीन्यलाबूनि रूक्षशीतगुरूणि च । चिर्भटैर्वारुके तद्वद् वर्चोभेदहिते तु ते ॥११२॥
सक्षारं पक्वकूष्माण्डं मधुराम्लं तथा लघु । सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनिबर्हणम् ॥११३॥
केलूटं च कदम्बं च नदीमाषकमैन्दुकम् । विशदं गुरु शीतं च समभिष्यन्दि चोच्यते ॥११४॥

खीरा और ककड़ी—रस में मधुर, गुरुपाकी, विष्टम्भी (क़ब्जकारक) और शीतवीर्य, मुखप्रिय (स्वादिष्ट), रूक्ष एवम् अति मूत्रल होते हैं ।

पकी हुई ककड़ी—दाह (जलन), प्यास, अनायास श्रमजनित पीड़ा को दूर करती है ।

लौकी—मल का भेदन करने वाली अर्थात् दस्त लाने वाली, रूक्ष, शीतवीर्य तथा भारी होती है । यह संचित मल को निकालती है ।

फूट तथा ककड़ा—ये दोनों वर्चोभेद (अतिसार) में हितकारक (संचित मल को निकाल कर स्वास्थ्यप्रद) होती है । ऊपर एर्वारुक के वर्चोभेदी गुण का उल्लेख नहीं हुआ था अतएव समान गुण वाली चिर्भटी के साथ पुनः एर्वारुक का उल्लेख किया गया है ।

पका हुआ कोहड़ा—क्षार, मधुर, अम्ल तथा लघु (हल्का) होता है । मल-मूत्र को निकालनेवाला तथा तीनों दोषों का शमन करने वाला होता है ।

केलूट (कठ गूलर) कदम्ब, नदीमाषक तथा ऐन्दुक—ये विशद (पिच्छिलतारहित), गुरु, शीतवी[illegible] तथा कफकारक होते हैं ।

वक्तव्य—शाक वर्ग में उल्लिखित ये फल हैं जिनका उपयोग शाक के लिये किया जाता है, इनके दूसरे उपयोग भी होते हैं। त्रपुस (खीरा) बरसात में अधिक उपलब्ध होता है। ये छोटे आकार का समतल भागों में और बड़े (पर्याप्त बड़े) आकार का पर्वतीय प्रदेशों में देखा जाता है। यह कच्चा तथा पकने पर दोनों स्थितियों में नमक के साथ खाया जाता है और पकाकर इसका शाक भी बनाते हैं। नमक, हल्दी, राई, दही मिला कर इसका रायता भी बनाया जाता है। एर्वारुक (ककड़ी) गर्मी प्रारम्भ होते ही नगरवासियों को शीतलता प्रदान करने के लिये बाजारों में आ जाती है। पकी हुई ककड़ी तथा फूट का भी लगभग ऐसा ही उपयोग होता है। लौकी का शाक और रायता बनाया जाता है। पके हुए कूष्माण्ड का शाक, पेठा पाक, बड़ी आदि व्यञ्जन बनाये जाते हैं। इसी प्रकार गूलर, कदम्ब आदि फलों का भी प्रयोग किया जाता है। पत्र शाक के वर्ग में ये फल शाक के रूप में वर्णित हैं।

उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च। तथा तालप्रलम्बं स्यादुरःक्षतरुजापहम् ॥११५॥
खर्जूरं तालशस्यं च रक्तपित्तक्षयापहम्। तरूट-बिस-शालूक-क्रौञ्चादन-कशेरुकम् ॥११६॥
शृङ्गाटकाङ्कालोड्यं च गुरु विष्टम्भि शीतलम्। कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृताः ॥
शीताः स्वादुकषायास्तु कफमारुतकोपनाः।

कमलों के गुण—कमल रस में कषाय तथा रक्तपित्त नाशक होते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि उत्पल शब्द नीलकमल के लिये प्रयुक्त होता है, तथापि बहुवचन में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ कमल सामान्य का ग्रहण किया जा रहा है।

ताल प्रलम्ब—ताड़ की बाल, इसी में से ताड़ी निकालते हैं। इसका शाक उरःक्षत सम्बन्धी पीड़ा को शान्त करता है।

खजूर तथा तालशस्य—खजूर तथा ताड़ के फल की मज्जा, रक्तपित्त एवम् क्षय की पीड़ा को शान्त करती हैं।

तरूटविस (कुमुद का कन्द), कमल की जड़, क्रौञ्चादन (छोटा कसेरू), कसेरू, शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), अङ्कालोड्य (कमल बीज, कमलगट्टा), ये सभी पाक में गुरु, विष्टम्भि (कब्जकारक) तथा शीतवीर्य होते हैं।

कुमुद, नीलकमल के नाल, फूल और फल शीतवीर्य, रस में मधुर, कषाय होते हैं तथा कफ और वात को कुपित करने वाले होते हैं।

कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम् ॥ ११८ ॥
पौष्करं तु भवेद् बीजं मधुरं रसपाकयोः। बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः ॥११९॥
वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः परम्। जीवनो बृंहणो वृष्यः कण्ठ्यः शस्तो रसायने ॥१२०॥
विदारिकन्दो बल्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतलः।

कमलबीजशाक के गुण—रस में कषाय, कुछ विष्टम्भि (कब्जकारक) तथा रक्तपित्त नाशक होता है। इसके बीज रस तथा विपाक में मधुर होते हैं।

मुञ्जातक (शालमपञ्जा)—बलकारक, शीतवीर्य, गुरुपाकी, स्निग्ध, तृप्तिकारक, मांसवर्धक, वात, पित्तनाशक, रस में मधुर, और परम वृष्य होता है।

विदारीकन्द—जीवनीशक्तिप्रद, मांस को बढ़ाने वाला, वीर्यवर्धक, गला के लिए हितकारक, रसायन कार्य के लिये प्रशंसनीय है। यह रस में मधुर, शीतवीर्य, मूत्र को लाने वाला तथा बलवर्धक है।

अम्लिकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहण्यर्शोहितो लघुः ॥ १२१ ॥
नात्युष्णः कफवातघ्नो ग्राही शस्तो मदात्यये। त्रिदोषं बद्धविण्मूत्रं सार्षपं शाकमुच्यते ॥१२२॥
(तद्वत् स्याद् रक्तनालस्य रूक्षमम्लं विशेषतः।)
तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वाच्च मुखप्रियम्। सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः ॥
शीताः पीनसकर्त्र्यश्च मधुरा गुर्व्य एव च। चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रयः ॥१२४॥

अम्लिका कन्द—यह कन्द ग्रहणी तथा अर्शोरोग के लिये हितकारक और लघु होता है। यह अधिक उष्ण नहीं होता, कफ तथा वातनाशक होता है। ग्राही (मल को रोकता है अर्थात कब्जकारक होता है), मदात्यय रोग में इसका प्रयोग हितकर होता है।

सरसों का शाक—यह तीनों दोषों को कुपित करने वाला, मल को बांधने वाला तथा मूत्र के वेग में रुकावट डालने वाला होता है। (इसी प्रकार रक्तनाल=पटुआ का शाक विशेष करके रूक्ष एवम् अम्ल होता है।)

पिण्डालु का शाक—पिनालू, अरुई या घुइयाँ कन्द होने के कारण मुखप्रिय (मुख को अच्छा लगने वाला) होता है। शेष गुण सरसों के शाक के समान समझें।

सर्पच्छत्रक—को छोड़कर बहुत-सी अन्य छत्रक जातियाँ शीतवीर्य, प्रतिश्यायकारक, रस में मधुर तथा गुरुपाकी होती हैं। इस प्रकार यह पत्रशाक, कन्दशाक तथा फलशाक से सम्बन्धित चौथा शाकवर्ग समाप्त हुआ।

वक्तव्य—सर्पच्छत्रक को जहरीला समझकर छोड़ दिया जाता है। इसकी जो अन्य जातियाँ च्यूं, मशरुम, गुच्छी, खुम्भ, ढिंगरी आदि हैं इनका शाक बड़े चाव से खाया जाता है। शाकों में ये सबसे अधिक मूल्यवान भी होते हैं। इनका प्रचार पञ्जाब तथा पर्वतीय प्रदेशों में अधिक देखा जाता है। स्वादु होने के कारण सुखाकर इनका संग्रह भी किया जाता है। धार्मिक दृष्टि से प्याज, लहसुन आदि की भांति यह भी निषिद्ध शाक है।

अथ फलवर्गः—

तृष्णा-दाह-ज्वर-श्वास-रक्तपित्त-क्षत-क्षयान्। वातपित्तमुदावर्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥१२५॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाशु व्यपोहति। मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥१२६॥

फलवर्ग

(Class of Fruits)

मुनक्का—इसको दाख भी कहते हैं—यह प्यास, दाह, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त, क्षत (उरःक्षत), क्षय, वात, पित्त, उदावर्त, स्वरभेद, मदात्यय, मुख का स्वाद तीता हो जाना, मुख का सूखना तथा खांसी को शीघ्र दूर करता है। मुनक्का मांसवर्धक, वीर्यवर्धक, रस में मधुर, स्निग्ध और शीतवीर्य होता है।

मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम्। क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥१२७॥

खर्जूर—छुहारा रस में मधुर, मांसवर्धक, वीर्यवर्धक, गुरुपाकी तथा शीतवीर्य होता है। यह क्षय में, चोट लगने पर, दाह में और वात-पित्तविकारों में हितकर होता है।

तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्। परूषकं मधूकं च वातपित्ते च शस्यते ॥१२८॥

फल्गु—अंजीर (Fig) शरीर को तृप्त करता है। मांस को बढ़ानेवाला, गुरुपाकी, शीतवीर्य तथा विष्टम्भि (कब्जकारक) होता है।

फालसा और महुआ—ये दोनों वातज तथा पित्तज रोगों में हितकारी होते हैं।

मधुरं बृंहणं बल्यमाम्रातं तर्पणं गुरु। सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृष्यं विष्टभ्य जीर्यति ॥१२९॥

आम्रातक—आमड़ा रस में मधुर, मांसवर्धक, बलवर्धक, तृप्तिकारक, गुरुपाकी, स्निग्ध, कफकारक, शीत, वीर्यवर्धक है और यह विलम्ब से पचता है।

तालशस्यानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥१३०॥

पके ताड़ तथा नारियल के फल—मांसवर्धक, स्निग्ध, शीतवीर्य, बलकारक और रस में मधुर होते हैं।

वक्तव्य—पके ताड़ के फल भी खाये जाते हैं। बलराम ने ताड़ के फल तोड़ने के लिये धेनुकासुर नामक गदहे की पिछली टांगें पकड़ कर पेड़ पर पटका था। देखें—भागवत स्कन्ध १०।

मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम्। पित्तश्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम् ॥१३१॥

भव्य का फल—कमरख रस में मधुर, खट्टा, कषाय, कब्जकारक, गुरु (भारी), शीतवीर्य, पित्त तथा कफवर्धक, मल को बांधने वाला और मुख की जड़ता को दूर करता है।

अम्लं परूषकं द्राक्षा बदराण्यारुकाणि च । पित्तश्लेष्मप्रकोपीणि कर्कन्धुनिकुचान्यपि ॥१३२॥

अम्लपरूषक आदि के सामान्य गुण—खट्टा फालसा, खट्टा अंगूर, खट्टा बेर, खट्टा आलूबुखारा, खट्टा झरबेर और खट्टा बड़हल—ये सभी पित्त और कफ को प्रकुपित करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—खटाई या आचार रूप फलों के डाले जाते हैं। इन्हें लोग वैसे भी खा लिया करते हैं। अतः पकने के पहले जब ये खट्टे रहते हैं, उस समय के ये गुण-धर्म बताये गये हैं।

आरुकाणि च—आरुक शब्द का जो अर्थ प्राचीन व्याख्याकारों ने किया है, हमने भी उसी को स्वीकार किया है। वास्तव में पर्वतीय प्रदेशों में आरुक (आरू या आड़ू) नाम का एक फल होता है जिसकी विभिन्न जातियाँ हैं। जिनके फल वैशाख से लेकर भादों तक क्रमशः जाति भेद से पकते रहते हैं। यद्यपि वृक्ष आदि के आकार-प्रकार, पकने का मौसम आदि अधिकांश समान होने पर भी आलूबुखारा आरुक से सर्वथा भिन्न है।

हमारे स्वीकार करने में तथ्य यह है कि आलूबुखारा तथा आरुक के कच्चे फल निश्चित ही कफ और पित्त को प्रकुपित करते हैं।

नात्युष्णं गुरु [1]सम्पक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम् । बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं[2] नातिदोषलमारुकम् ॥१३३॥

आरुक—आलूबोखारा का पका फल अधिक उष्णवीर्य नहीं होता (मादिल) है, गुरुपाकी होता है, रस में मधुर, प्रायः लोगों को रुचिकर लगता है। यह शरीर को स्थूल करने वाला, शीघ्रपाकी (जल्दी पचने वाला) तथा अधिक दोषवर्धक नहीं होता।

द्विविधं शीतमुष्णं च मधुरं चाम्लमेव च । गुरु पारावतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम् ॥१३४॥

पारावत—यह रस भेद से दो प्रकार का होता है—१. मधुर पारावत शीतवीर्य, रस में मधुर तथा गुरु (भारी) होता है। २. अम्ल पारावत उष्णवीर्य, रस में अम्ल, रुचिकारक, बढ़ी हुई जाठराग्नि को मन्द कर देता है।

वक्तव्य—कुछ व्याख्याकारों ने 'पारावत' का अर्थ 'अमरूद' किया है। **अभिनवनिघण्टु** के परिशिष्ट में **'अमरुद'** का वर्णन इस प्रकार है—'दृढवीजं पेरुकं च मांसलं चापृथक्त्वचम् । अमरूदं जांबफलं वर्तुलं मृदुपीतकम् । तुवरं मधुरं चाम्लं पक्वं स्वादु समीरितम् । पेरुकं शुक्रलं वातपित्तघ्नं शीतलं मतम् ॥ श्लेष्मागारं भ्रमं दाहं मूर्च्छां हन्ति गुरुस्तथा' ॥ पाठक इन गुण-धर्मों का मिलान उक्त पारावत के गुण-धर्मों से करें तथा अपना निर्णय दें।

भव्यादल्पान्तरगुणं काश्मर्यफलमुच्यते । तथैवाल्पान्तरगुणं तूदमम्लं परूषकात् ॥१३५॥

गम्भारी का फल—भव्य (कमरख) के फल से कुछ कम गुणों वाला होता है।

तूद (शहतूत) का फल—पकने के पहले खाया जाय तो खट्टा होता है और यह परूषक (फालसा) से अल्प (कम) गुणों वाला होता है।

कषायमधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् । कपित्थमामं कण्ठघ्नं विषघ्नं ग्राहि वातलम् ॥१३६॥
मधुराम्लकषायत्वात् सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् । परिपक्वं[3] च दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुर्वपि ॥१३७॥

टंकफल—नासपाती रस में कषाय तथा मधुर, वातकारक, देर में पचने वाली तथा शीतवीर्य होती है।

वक्तव्य—यह शीतप्रधान देशों का फल है। आजकल इसकी अनेक जातियाँ देखी जाती हैं, जिनमें कषाय रस खोजने पर भी नहीं मिलता। हाँ जब इसको पकने से पहले खाया जाय तो अवश्य इसमें कसैलापन पाया जाता है।

---

१. 'संशुष्कं' यो.।
२. 'संबृंहणं शीघ्रजरं' ग.।
३. 'तदेव पक्वम्' इति पा.।

कच्चा कपित्थ फल—कैथ का कच्चा फल स्वरभेदकारक (आवाज को विगाड़ने वाला), विषनाशक, मल को बांधने वाला तथा वातकारक होता है।

पका कैथ—रस में मधुर, अम्ल तथा कषाय और सुगन्धित होने के कारण रुचिवर्धक, वातादिदोषनाशक, विषनाशक, मलावरोधक और गुरुपाकी होता है।

बिल्वं तु दुर्जरं पक्वं दोषलं पूतिमारुतम् । स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्बालं दीपनं कफवातजित् ॥१३८॥

पका हुआ बेल—यह देर में पचने वाला, दोषवर्धक, दुर्गन्धित अपानवायु को निकालने वाला होता है।

कच्चा बेल—स्निग्ध, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ तथा वात का नाश करने वाला होता है।

[1]रक्तपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् । पक्वमाम्रं जयेद् वायुं मांसशुक्रबलप्रदम् ॥१३९॥

आम का टिकोरा—रक्तपित्तकारक होता है। गुठली हो जाने पर पित्तवर्धक होता है।

पका आम—वायुनाशक, मांसवर्धक, शुक्रवर्धक तथा बलकारक होता है।

कषायमधुरप्रायं गुरु विष्टम्भि शीतलम् । जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ॥१४०॥

पका जामुन—रस में प्रायः कषाय एवम् मधुर, गुरु (भारी), कब्जकारक, शीतवीर्य, कफ, पित्तनाशक, मल को बांधने वाला तथा अत्यन्त वातकारक होता है।

बदरं मधुरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित् । तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुध्यते ॥१४१॥

ताजा बेर—रस में मधुर, स्निग्ध, दस्तावर, वात तथा पित्तनाशक होता है।

सूखा बेर—कफ, वातनाशक तथा पित्तविकार में इसका प्रयोग हानिकारक नहीं होता।

कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बि(ञ्चि)तिकाफलम् । गाङ्गेरुकी करीरं च बिम्बी तोदनधन्वनम् ॥
मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् । सम्पक्वं पनसं मोचं राजादनफलानि च ॥१४३॥
स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरूणि च । कषायविशदत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ॥१४४॥
अवदंशक्षमं [2]हृद्यं वातलं लवलीफलम् । नीपं शता[3]ह्वकं पीलु तृणशून्यं विकङ्कतम् ॥१४५॥
प्राचीनामलकं चैव दोषघ्नं गरहारि च । ऐङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ॥१४६॥

सिञ्चितिका फल—सेव रस में कषाय तथा मधुर, शीतवीर्य तथा ग्राही (मल को बांधने वाला) होता है। **गांगेरुकी (गंगेरन), करीर, बिम्बी, तोदन, धन्वन के फल**—रस में मधुर, कषाय, शीतवीर्य, पित्त तथा कफनाशक होते हैं। **पका हुआ कटहल, केला, खिरनी का फल**—रस में मधुर, कषाय, स्निग्ध, शीतवीर्य तथा गुरु होते हैं। **लवलीफल (हरफारेवड़ी)**—रस में कषाय, विशद तथा सुगन्धित होने के कारण रुचिकारक होता है और यह चटनी के योग्य होता है। हृदय के लिये हितकारक एवम् वातनाशक होता है। **नीप (कदम्ब), सोआ, तृणशून्य (केवड़ा का फल), विकंकत तथा प्राचीनामलक (पानी आँवला)**—ये त्रिदोष नाशक, संयोगज (कृत्रिम) विषनाशक होते हैं। **इंगुदी का फल**—रस में तिक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य, कफ एवम् वात का शमन करता है।

तिन्दुकं कफपित्तघ्नं कषायं मधुरं लघु । विद्यादामलके सर्वान् रसांल्लवणवर्जितान् ॥१४७॥
रूक्षं स्वादु कषायाम्लं कफपित्तहरं परम् ।

तिन्दुक फल—तेंदू का फल कफपित्तनाशक, रस में कषाय एवम् मधुर और लघु होता है।

आमलक फल—आँवला में लवण रस को छोड़ कर शेष सभी (पांच) रस होते हैं। यह रूक्ष, स्वादु, कषाय, अम्लरस प्रधान होता है और कफ-पित्तनाशक द्रव्यों में श्रेष्ठ है।

---

१. 'वातपित्तकरम्' इति पा०।
२. 'रूक्षं' इति 'रुच्यम्' इति च पा०।
३. 'सभागंकं' इति पा०। 'शताक्षकम्' इति 'शतारुकम्' इति च पा०।

वक्तव्य—आँवला में यद्यपि अन्य रसों के साथ अम्ल रस भी होता है किन्तु जहाँ अन्य अम्लरस वाले नीबू, आम आदि का निषेध किया जाता है वहाँ आँवला निषिद्ध नहीं कहा गया है।

रसासृङ्मांसमेदोजान् दोषान् हन्ति बिभीतकम् ॥ १४८ ॥

स्वरभेदकफोत्क्लेदपित्तरोगविनाशनम् । अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम् ॥१४९॥

स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च । रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत् पित्तानिलकोपनम्॥१५०॥

बिभीतक—बहेड़ा का फल रस, रक्त, मांस, मेदा से होने वाले विकारों का नाश करता है और स्वरभेद, कफ की अधिकता तथा पित्त रोग का नाश करता है।

दाडिम फल—अनार के बीज अम्ल, कषाय, मधुर, वातनाशक, मल को बाँधने वाले, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्णवीर्य, हृदय के लिये हितकारक, कफ और पित्त विकारों के विरोधी नहीं होते हैं। रूक्ष तथा अम्ल रस प्रधान जो दाडिम होता है, वह पित्त और वायु को कुपित करता है।

मधुरं पित्तनुत्तेषां पूर्वं दाडिममुत्तमम् । वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते ॥१५१॥

मधुर दाडिम—मीठा अनार पित्तनाशक तथा सभी दाडिमों में श्रेष्ठ होता है।

वृक्षाम्ल—विषांविल का फल मलरोधक, रूक्ष, उष्णवीर्य, वात तथा कफविकारों में इसकी प्रशंसा होती है।

वक्तव्य—संस्कृत में इसको दाडिम या दन्तबीज (इसके बीज दाँतों के आकार के होते हैं।) कहते हैं। स्वाद की दृष्टि से इसके तीन भेद किये गये हैं। १. मधुर, २. मधुराम्ल और ३. अम्ल। पहाड़ी प्रदेशों में इसके पेड़ होते हैं। ऊधमपुर (जम्मू) अनारदाना संग्रह का प्रमुख केन्द्र है। इसकी उत्तम जातियाँ बेदाना और कन्दहारी हैं।

अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पान्तरं गुणैः । गुणैस्तैरेव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम् ॥१५२॥

पकी इमली का फल—विषांविल के गुणों से कुछ कम गुणों वाला होता है।

अम्लवेतस—इसके गुण इमली के फल के समान ही होते हैं। इसमें उसके अतिरिक्त केवल भेदक (मल को निकालना) गुण अधिक होता है।

शूलेऽरुचौ विबन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविप्लवे[1] । हिक्काश्वासे च कासे च वम्यां वर्चोगदेषु च ॥१५३॥

वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेवोपदिश्यते । केसरं मातुलुङ्गस्य लघु शेषमतोऽन्यथा ॥१५४॥

मातुलुङ्ग केसर—बिजौरा नीबू का केसर उदरशूल में, अरुचि में, विबन्ध में, अग्निमान्द्य में, मद्यविकृति (मदात्यय) में, हिक्का में, श्वास में, कास में, वमन में, मलविकृति में, वातज तथा कफज रोगों में लाभदायक एवं लघु होता है। इसके अतिरिक्त बिजौरा के छिलके के गुण अलग होते हैं।

रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः । कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः ॥१५५॥

कचूर—त्वक् (छिलका) रहित कचूर रुचिकारक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकारक, सुगन्ध वाला, कफ-वातनाशक, श्वास, हिक्का और अर्श रोग में लाभदायक होता है।

मधुरं किञ्चिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम्[2] । दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु ॥१५६॥

नारङ्गी का फल—रस में मधुर, अम्ल, हृदय के लिये हितकारक, भोजन में रुचि को बढ़ाने वाला, वातनाशक तथा देर में पचने वाला होता है।

वाताममभिषुकाक्षोटमुकूलकनिकोचकाः । गुरूष्णस्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः ॥१५७॥

वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः । प्रियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः ॥१५८॥

बादाम, अभिषुक, अक्षोट (अखरोट), मुकूलक (पिस्ता), निकोचक (चिलगोजा) और उरुमाण

१. 'विक्लवे' इति पा०।
२. 'सुगन्धि मधुरं साम्लं विशदं भक्तरोचनम्' ग.।

(खुरमानी) इनके फल गुरुपाकी (पचने में देर करने वाले), उष्णवीर्य, स्निग्ध (तैलीय अंश युक्त), रस में मधुर, बलकारक, वातनाशक, मांस को बढ़ाने वाले, वीर्यवर्धक, कफ और पित्त को बढ़ाने वाले होते हैं।

प्रियाल—चिरौंजी के फल के गुण बादाम आदि के उपर्युक्त गुणों के समान ही होते हैं। केवल यह उष्णवीर्य नहीं होती।

श्लेष्मलं मधुरं शीतं श्लेष्मातकफलं गुरु । श्लेष्मलं गुरु विष्टम्भि चाङ्कोटफलमग्निजित् ॥१५९॥

गुरूष्णं मधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम् । विष्टम्भयति कारञ्जं वातश्लेष्माविरोधि च ॥१६०॥

श्लेष्मातक—लिसोड़ा का फल कफकारक, रस में मधुर, शीतवीर्य एवम् गुरुपाकी होता है। **अंकोल-फल**—यह कफकारक, गुरुपाकी, कब्जकारक, बढ़ी हुई अग्नि को अनुकूल (सम) करता है। **शमीफल**—पाक में गुरु, उष्णवीर्य, रस में मधुर, रूक्ष तथा केशों (बालों) का नाश करता है। **करञ्ज का फल**—विष्टम्भ (कब्ज) कारक होता है और वात तथा कफप्रकृति वालों के किये अनुकूल होता है।

आम्रातकं दन्तशठमम्लं सकरमर्दकम् । रक्तपित्तकरं विद्यादैरावतकमेव च ॥१६१॥

वातघ्नं दीपनं चैव वार्ताकं कटु तिक्तकम् । वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात् पर्पटकीफलम् ॥१६२॥

आम्रातक (आमड़ा), दन्तशठ (कैथ या जम्बीरी नीबू) करमर्द (करौंदा), ऐरावतक (नारङ्गी) इनके फल रक्तपित्तकारक तथा रस में अम्ल होते हैं। **वार्ताक**—बैंगन का फल वातनाशक, अग्निवर्धक, रस में कटु तथा तिक्त होता है। **पर्पटकीफल**—यह वातकारक, कफ तथा पित्तनाशक होता है।

वक्तव्य—यहाँ पाठभेद (पर्पटकीफलम् अथवा पर्कटकीफलम्) द्रव्य भेद की सूचना देते है। अतः यह ध्यान देना है कि यहाँ वास्तविक पाठ कौन-सा है।

पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षिकीफलम् । [1]मधुराण्यम्लपाकीनि पित्तश्लेष्महराणि च ॥१६३॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधानां फलानि च । कषायमधुराम्लानि वातलानि गुरूणि च ॥१६४॥

भल्लातकास्थ्यग्निसमं [2]तन्मांसं स्वादु शीतलम् । पञ्चमः फलवर्गोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ॥१६५॥

आक्षिकीफल—यह पित्त तथा कफ का नाशक, रस में अम्ल और वातकारक होता है।

अश्वत्थ (पीपल), **उदुम्बर** (गूलर), **प्लक्ष** (पाकर), **न्यग्रोध** (बरगद) इन महावृक्षों के फल रस में कषाय, मधुर, अम्ल, वातकारक तथा गुरुपाकी होते हैं।

भल्लातकास्थि—भिलावा की गुठली अग्नि के समान दाहकारक होती है। **भिलावा का गूदा**—रस में मधुर और शीतवीर्य होता है। प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाला यह पाँचवां फलवर्ग कहा गया है।

वक्तव्य—यहाँ उक्त श्लोक में आये हुए दो फलों का परिचय दिया जारहा है—**१. आक्षिकीफल**—इसका विवरण **'गजवैद्यक'** के छागज्वरप्रकरण में देखें। यह आक्षिकी नामक लता का फल है।

२. भल्लातक परिचय—भिलावा का फल १ इञ्च लम्बा हृदयाकृति होता है। अपक्वावस्था में हरा और पकने पर काला तथा वृन्त से लगा हुआ भाग पीताभ गुलाबी और मांसल होता है। इस भाग में गुठली नहीं होती, इसको खाया जाता है तथा इससे सटा हुआ गुठलीदार काला भाग अग्नि के समान उष्ण और इसका वृन्तवाला भाग जिसको चरक में मांस कहा गया है, स्वादु होता है।

अथ हरितवर्गः—

रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम् । वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥१६६॥

हरितवर्ग

(Class of Greens)

आर्द्रक—अदरख का सेवन भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि को दीप्त करता है, वीर्यवर्धक है,

१. 'मधुराण्यनुपाकीनि वातपित्तहराणि च' इति पा०।
२. 'त्वङ्मांसम्' इति पा०।

वायु तथा कफ से उत्पन्न विबन्धों (मल की रुकावटों) में इसके रस का प्रयोग किया जाता है और यह अनेक प्रकार के विकारों का शमन करता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में **'आर्द्रकं विश्वभेषजम्'** का प्रयोग हुआ है। आर्द्रक, हरितवर्ग का द्रव्य है और 'विश्वभेषज' = सोंठ इसकी सीमा से बाहर है। यहाँ का समाधान यह है कि विश्वभेषज आर्द्रक का विशेषण है, अतः इसका अर्थ होगा—अनेक विकारों का शमन करने वाला आर्द्रक।

आर्द्रक-विश्वभेषज में भेद—कच्चे कन्द का नाम आर्द्रक या अदरख है। अंग्रेजी में इसको Fresh ginger और सूखे कन्द को विश्वभेषज (सोंठ) Dry ginger कहते हैं। सोंठ के गुणों का वर्णन आगे 'आहार-संयोगिवर्ग' में किया जायगा।

रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्मुखशोधनः[1]। जम्बीरः कफवातघ्नः क्रिमिघ्नो भक्तपाचनः ॥१६७॥

जम्बीरीनीबू—यह रुचिकारक, अग्निवर्धक, तीक्ष्ण, सुगन्धयुक्त तथा मुख को शुद्ध करने वाला अथवा मुख की जड़ता को दूर करने वाला होता है और कफ तथा वात विकारों का नाशकारक, क्रिमिनाशक एवं भोजन को पचाने वाला होता है।

वक्तव्य—जम्बीर को चक्रपाणि ने जम्बीर न मानकर 'पर्णास' भेद माना है। कुछ व्याख्याकारों ने इसको 'तुलसी' का भेद स्वीकार किया है, दूसरे इसको 'पुदीना' स्वीकार करते हैं। जरा पुदीना के गुणधर्मों से इसकी तुलना करें—

'रोचनी वह्निजननी रक्तजाड्यनिषूदनी।
कफवातहरी बल्या छर्द्यरोचकवारिणी' ॥ अभिनवनिघंटु, परिशिष्ट।

बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषं, मारुतापहम्। स्निग्धसिद्धं, विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥१६८॥

बालमूली—ताजी, नई कच्ची मूली सभी दोषों को दूर करती है। **वृद्धमूली** (बढ़ी हुई, रूढ़ मूली)—त्रिदोषकारक होती है, तेल में भूंजकर पकायी हुई मूली वातनाशक होती है। सुखाकर रखी हुई मूली कफ और वात का नाश करती है।

हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः। पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धहा ॥१६९॥

सुरसा—तुलसी हिचकी, कास, विष, श्वास और पार्श्वशूल (पसलियों का दर्द) का नाश करती है। यह पित्तकारक है, कफ तथा वात एवम् दुर्गन्धि का नाश करती है, अर्थात् सुगन्धि प्रदान करती है।

यवानी चार्जकश्चैव शिग्रुशालेयमृष्टकम्। हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च ॥१७०॥

अजवायन, अर्जक (सफेद तुलसी), सहिजन, शालेय (सौंफ या बालमूली) और मृष्टक (राई) ये सभी हृदय के लिये हितकारक, स्वाद में रुचिकर और पित्त को उभाड़ने वाले होते हैं।

वक्तव्य—शालेय का अर्थ **सौंफ** तथा **बालमूली** दोनों ही होते हैं किन्तु 'बालमूली' का वर्णन ऊपर १६८ वें पद्य में हो चुका है। अतः यहाँ 'सौंफ' का ही ग्रहण करना अधिक उचित है।

गण्डीरो जलपिप्पल्यस्तुम्बुरुः शृङ्गवेरिका[2]। तीक्ष्णोष्णकटुरूक्षाणि कफवातहराणि च ॥१७१॥

गण्डीर, जलपिप्पली (जलधनियाँ), तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ, तुम्वल, तिमूर के बीज), शृंगबेरिका (आकृति में अदरख जैसी)—ये सभी द्रव्य तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रस में कटु, रूक्ष, कफ एवम् वातनाशक होते हैं।

वक्तव्य—गण्डीर लाल और सफेद भेद से दो प्रकार का होता है। लाल गण्डीर का कटु होने के कारण 'हरितवर्ग' में ग्रहण किया जाता है तथा सफेद गण्डीर का उल्लेख 'शाकवर्ग' में किया जा चुका है।

पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो [3]भूस्तृणो वक्त्रशोधनः। [4]खराह्वा कफवातघ्नी बस्तिरोगरुजापहा ॥१७२॥

१. 'मुखबोधनः' इति पा०।
२. 'जलपिप्पली गण्डीरः शृङ्गवेर्यथ तुम्बरु' ग.।
३. 'भूस्तृणो गन्धतृणः' गङ्गाधरः।
४. 'खराश्वा कृष्णजीरकम्' चक्रः। 'पारसीययवानी' ग.।

भूतृण—गन्धतृण, पुरुषत्वनाशक, रस में कटु, रूक्ष और उष्णवीर्य, मुख को शुद्ध करने वाला होता है।

खराह्वा—खराश्वा, स्याहजीरा (चक्र०), पारसीक यवानी (गंगाधर) कफ और वातविकारों का, बस्तिरोग तथा शूलरोग का नाश करती है।

धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखश्चेति रोचनाः। सुगन्धा नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति च ॥१७३॥

धान्यक (हरा धनियाँ), अजगन्धा और सुमुख (तुलसी भेद)—ये भोजन में रुचिकारक होते हैं, भोजन को सुगन्धित बनाते हैं, अधिक कटु नहीं होते और वात आदि दोषों को उभाड़ देते हैं। ये सभी द्रव्य हरे एवम् ताजे लिये जाते हैं।

ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः। स्वेदनेऽभ्यवहारे च योजयेत् तमपित्तिनाम् ॥१७४॥

गृञ्जनक—गाजर मल को बाँधने वाला, तीक्ष्ण, वातज तथा कफज, अर्श रोगों में हितकारक होता है। पित्तप्रकृतिरहित अर्थात् वात तथा कफ प्रकृति वालों को स्वेदन कराने में तथा खाने में इसका प्रयोग करना चाहिये।

श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च [1]पित्तनुत्। आहारयोगे बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः ॥१७५॥

पलाण्डु—प्याज कफकारक, वातनाशक किन्तु पित्तकारक नहीं होता है। आहार में इसका योग (संयोग) किया जाता है। यह बलवर्द्धक, गुरु, वीर्यवर्द्धक एवम् रुचि को बढ़ाता है।

वक्तव्य—पलाण्डु की प्रशंसा—'रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्। साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥ यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम्। कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव'।

क्रिमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः। स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः ॥१७६॥

लशुन—लहसुन क्रिमि, कुष्ठ, किलास (श्वेतकुष्ठ), वातविकार तथा गुल्मविकार का नाश करता है। यह स्निग्ध, उष्णवीर्य, रस में कटु, गुरुपाकी और वृष्य होता है।

शुष्काणि कफवातघ्नान्येतान्येषां फलानि च। हरितानामयं चैव षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥१७७॥

उपसंहार—इस वर्ग में जिन अदरख आदि का, फलों तथा कन्दों का उल्लेख किया गया है, ये सभी सूखने पर वातनाशक तथा कफनाशक होते हैं। इस प्रकार हरित पदार्थों का यह छठा वर्ग समाप्त किया जाता है।

अथ मद्यवर्गः—

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लं चोक्तं विपाकतः। सर्वं सामान्यतस्तस्य विशेष उपदेक्ष्यते ॥१७८॥

मद्यवर्ग

(Class of Wines)

मद्यों के सामान्य गुण—स्वभाव से सभी प्रकार के मद्य रस में अम्ल, उष्णवीर्य और विपाक में भी अम्ल होते हैं। उनके विशेष गुण यहाँ कहे जायेंगे।

वक्तव्य—द्रव्यों के सन्धान से मद्य का निर्माण किया जाता है, मद (विवेकशून्यता) उत्पन्न करने के कारण इसकी मद्य संज्ञा है। देखें—'पेयं यन्मादकं लोकैस्तन्मद्यम् अभिधीयते'। भावप्रकाश।

कृशानां सक्तमूत्राणां ग्रहण्यर्शोविकारिणाम्। सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तक्षयेषु च ॥१७९॥

सुरा—यह पतले शरीर वालों, जिनका मूत्र रुक गया हो (प्रतिदिन की भांति न हो रहा हो), ग्रहणी विकार वालों, अर्श (बवासीर) के रोगियों के लिये लाभदायक होती है। यह वातनाशक है। दूध के कम होने तथा रक्तक्षय होने पर इसका प्रयोग हितकर होता है।

हिक्काश्वासप्रतिश्यायकासवर्चोग्रहारुचौ। वम्यानाहविबन्धेषु वातघ्नी मदिरा हिता ॥१८०॥

१. 'न च पित्तकृत्' यो.।

मदिरा—सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग (प्रसन्ना) हिचकी, श्वास, प्रतिश्याय, कास (खांसी), वर्चोग्रह (कब्जियत), अरुचि, वमन, आनाह, तथा विबन्ध रोगों में हितकारक और वातनाशक होती है।

शूलप्रवाहिकाटोपकफवातार्शसां हितः । जगलो ग्राहिरूक्षोष्णः [1]शोफघ्नो भक्तपाचनः ॥१८१॥

जगल—मद्य के नीचे का गाढ़ा भाग शूल, प्रवाहिका, आटोप (वायु से पेट का फूल जाना), कफज विकार, वातजविकार, अर्श (बवासीर) रोग वालों के लिये हितकारक होता है। यह ग्राही (मल को बांधने वाला), रूक्ष, उष्णवीर्य, शोथनाशक एवं भोजन का पाचन करने वाला होता है।

शोषार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगारुचिज्वरान् । हन्त्यरिष्टः कफकृतान् रोगान् [2]रोचनदीपनः ॥१८२॥

अरिष्ट—शोथ, अर्श, ग्रहणीविकार, पाण्डुरोग, अरुचि, ज्वर एवम् कफजव्याधियों का नाश करता है। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है और रुचि को बढ़ाता है।

मुखप्रियः सुखमदः सुगन्धिर्बस्तिरोगनुत् । जरणीयः परिणतो हृद्यो वर्ण्यश्च शार्करः ॥१८३॥

शार्कर—चीनी या खांड से बनाया हुआ मद्य स्वादिष्ट होता है, हल्का नशा करता है, सुगन्धित होता है, बस्ति विकारों को दूर करता है, भोजन को पचाता है, पचजाने पर हृदय को बल देने वाला, रूप-सौन्दर्य को बढ़ाने वाला होता है।

रोचनो दीपनो हृद्यः शोषशोफार्शसां हितः । स्नेहश्लेष्मविकारघ्नो वर्ण्यः पक्वरसो मतः ॥१८४॥

पक्वरस—ईख के रस को पकाकर बनाया गया सीधु रोचन (रुचिकारक), अग्निवर्धक, हृदय के लिये हितकर, शोष (क्षय भेद), शोफ (सूजन), अर्शरोग, स्नेहजविकारों तथा कफजविकारों का नाश करने वाला और वर्ण को स्वच्छ करने वाला होता है।

वक्तव्य—सिरका दो प्रकार से बनाया जाता है। यथा—१. ईख के रस को पकाकर रखने पर जो सिरका बनता है, वह **पक्वरस सीधु** है। २. बिना पकाये रस से जो तैयार किया जाता है, उसे **शीतरस सीधु** कहते हैं। इन्हीं का वर्णन ऊपर किया गया है।

जरणीयो विबन्धघ्नः स्वरवर्णविशोधनः । [3]लेखनः शीतरसिको हितः शोफोदरार्शसाम् ॥१८५॥

शीतरस—ईख के कच्चे रस से बनाया गया सीधु भोजन को पचाने वाला, विबन्ध (कब्जियत) को दूर करने वाला, स्वर तथा वर्ण को सुरीला एवम् स्वच्छ बनाने वाला, मांस का लेखन करने वाला, शोफ (सूजन) उदर विकार और अर्श (बवासीर) के रोगियों के लिये हितकर होता है।

सृष्टभिन्नशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः । पाण्डुरोगव्रणहिता दीपनी चाक्षिकी[4] मता ॥१८६॥

गौड—(गुड़ से बनाया गया मद्य) मल का भेदन कर उसको तथा अपानवायु को निकालने वाला, तृप्त करने वाला, अग्नि को बढ़ाने वाला अर्थात् मन्दाग्नि रोग में लाभदायक होता है।

आक्षिकी—बहेड़े का मद्य पाण्डु रोग और व्रणों में हितकारक है। यह जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

सुरासवस्तीव्रमदो वातघ्नो वदनप्रियः । छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥१८७॥

सुरासव—(Tincturds)—यह अत्यन्त मदकारक, वातनाशक तथा मुख को अच्छा लगने वाला (रुचिकर एवं स्वादिष्ट) होता है।

मध्वासव—महुए के फूल आदि से बना हुआ आसव दोषों का छेदन करने वाला तथा तीक्ष्ण होता है।

मैरेय—यह मधुर एवम् गुरुपाकी होता है।

१. 'शोषघ्नः' इति पा०।

२. 'दीपनपाचनः' ग.।

३. 'कर्शनः' इति पा०।

४. 'आक्षिकी बिभीतककृता सुरा' इति शिवदाससेनः।

धातक्याऽभिषुतो हृद्यो रूक्षो रोचनदीपनः । माध्वीकवन्न चात्युष्णो मृद्वीकेक्षुरसासवः ॥१८८॥

धातकी (धाय) के फूलों से निर्मित मद्य—हृदय के लिये हितकारी, रूक्ष, रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला होता है। मुनक्का तथा ईख के रस से बनाया हुआ मद्य गुण-धर्मों में माध्वीक (महुआ के मद्य) के समान होता है किन्तु इसमें माध्वीक की-सी अत्युष्णता नहीं होती है।

रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्ताविरोधि च । विबन्धघ्नं कफघ्नं च [1]मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥१८९॥

मधु-मद्य—शहद प्रधान मद्य रुचिकारक, अग्निवर्धक, हृदय के लिये हितकारक तथा बलवर्धक होता है। यह पित्त का विरोधी नहीं है। यह विबन्धनाशक, कफनाशक, लघु और थोड़ा वातकारक होता है।

सुरा समण्डा रूक्षोष्णा यवानां वातपित्तला । गुर्वी जीर्यति विष्टभ्य श्लेष्मला तु मधूलिका ॥१९०॥

मण्ड सहित जौ की सुरा—रूक्ष, उष्णवीर्य तथा वात-पित्तवर्धक होती है। पाचन में भारी, कब्ज को पैदा करके देर में पचती है। **मधूलिका**—गेहूँ से बनायी गयी सुरा कफकारक होती है।

दीपनं जरणीयं च हृत्पाण्डुक्रिमिरोगनुत् । ग्रहण्यर्शोहितं भेदि सौवीरकतुषोदकम् ॥१९१॥

सौवीरक और तुषोदक—अग्निवर्धक, भोजन को पचाने वाले, हृदयरोग, पाण्डुरोग, क्रिमिरोग का नाश करते हैं। ग्रहणीविकार तथा अर्शरोग में हितकारक होते हैं और मल का भेदन करते हैं।

दाहज्वरापहं स्पर्शात् पानाद् वातकफापहम् । विबन्धघ्नमवस्रंसि दीपनं चाम्लकाञ्जिकम् ॥१९२॥

अम्लकाञ्जिक—इसके स्पर्श से दाहजनित ज्वर का नाश होता है, पीने से वातज तथा कफज विकार शान्त होते हैं। विबन्ध (कब्जियत) को दूर करता है अतएव अवस्रंसी (मल, मूत्र एवम् पसीना को निकालता) है और अग्नि को प्रदीप्त करता है।

धान्याम्ल का ही विशेष प्रकार आरनाल भी है, ये दोनों ही धान्याम्ल (धान्यों = जौ आदि से बनाये जाते) हैं। विशेष विधि भावप्रकाश में देखें।

प्रायशोऽभिनवं मद्यं गुरु दोषसमीरणम् । स्रोतसां शोधनं जीर्णं दीपनं लघु रोचनम् ॥१९३॥

नवीन मद्य—प्रायः सभी प्रकार के नये मद्य गुरु (पचने में देर करने वाले) और वातादि दोषों को कुपित करने वाले होते हैं।

प्राचीन मद्य—प्रायः सभी पुराने मद्य स्रोतों को शुद्ध करने वाले, अग्निवर्धक, शीघ्र पचने वाले अतएव लघु तथा रुचिकारक होते हैं।

हर्षणं प्रीणनं मद्यं भयशोकश्रमापहम् । प्रागल्भ्यवीर्यप्रतिभातुष्टिपुष्टिबलप्रदम् ॥१९४॥

सात्त्विकैर्विधिवद्-युक्त्या पीतं स्यादमृतं यथा । वर्गोऽयं सप्तमो मद्यमधिकृत्य प्रकीर्तितः ॥१९५॥

यथाविधि सेवित मद्य के गुण—आनन्ददायक, तृप्तिकारक, भय, शोक और थकावट को दूर करनेवाला, प्रगल्भता (आत्मविश्वास से पूर्णता का भाव), प्रतिभा, मनःसन्तोष, पुष्टि (मांस की वृद्धि) तथा बल को बढ़ाता है। यदि सत्वगुण प्रधान पुरुष इसका सेवन करें तो यह अमृत के समान गुणों वाला होता है। इस प्रकार यह मद्य सम्बन्धी सातवां वर्ग कहा गया है।

वक्तव्य—ये ही मद्य सत्वगुण प्रधान पुरुषों के लिये उचित मात्रा में सेवन करने के कारण अमृत (जीवनदायक) हैं और ये ही राजसिक एवं तामसिक प्रकृतिवालों के लिये अविधि से पीने के कारण मद्य = मादक = बुद्धिनाशक, प्राणघातक के रूप में होते हैं।

अथ जलवर्गः—

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् । तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥१९६॥

१. 'मध्विति मधुप्रधान आसवः' चक्रः।

जलवर्ग

(Class of Waters)

जल का मूलरूप—आकाश से इन्द्र सम्बन्धी अर्थात् मेघों द्वारा बरसा हुआ जल मूल रूप में एक प्रकार का होता है। वह गिरता हुआ और भूमि, पर्वत, नदी, समुद्र आदि में गिरा हुआ देश, काल की अपेक्षा करता है। अर्थात् तदनुसार गुण-धर्मों में परिणत होता है।

खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ॥ १९७ ॥

जल की विविधता में कारण—आकाश से गिरता हुआ जल देश-काल का अनुकरण करने वाले सूर्य, चन्द्रमा और वायु का स्पर्श पाकर पृथ्वी के गुणों के अनुसार शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों से युक्त हो जाता है।

वक्तव्य—इन विविध प्रकार के जलों का विवरण सुश्रुत सू० अ० ४५ में देखें।

शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम् । प्रकृत्या दिव्यमुदकं—

आन्तरीक्ष जल के प्राकृतिक गुण—यह शीतवीर्य, पवित्र (धूल आदि गन्दगी से बचा हुआ), कल्याणकारक, मृष्ट (प्राकृतिक रूप से शुद्ध किया हुआ = Cleaned or Purified) विमल (निर्मल), लघु, इन छः गुणों से युक्त होता है।

—भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥१९८॥

श्वेते कषायं भवति पाण्डरे स्यात्तु तिक्तकम् । कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ॥१९९॥
कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके । एतत् षाड्गुण्यमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य हि ॥

आकाश से गिरा हुआ वही जल पात्र (स्थान) के गुणों की अपेक्षा रखता है। अर्थात् जिस स्थान पर गिरता है तदनुकूल गुण धारण कर लेता है। सफेद मिट्टी वाली भूमि पर गिरने से वह कषाय रस वाला, पाण्डुर वर्ण की भूमि पर गिरने से वह तिक्तरस वाला, कपिल वर्ण वाली भूमि में कुछ खारा, ऊपर भूमि में नमकीन, पर्वतों में गिरकर फैलने पर कटुरस तथा काली मिट्टी में मधुररस वाला हो जाता है। यह भूमि में स्थित जल के छः गुणों के भेदों का विवेचन कर दिया गया है।

तथाऽव्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमं च यत् ॥२००॥

ऐन्द्र (आकाश से गिरनेवाला) जल, कार (करकाभिः निर्मितं कारम्) ओलों को पिघलाकर प्राप्त किया हुआ जल, हिम जल (बरफ का पानी) ये सभी जल अव्यक्त (अस्पष्ट) रसवाले होते हैं।

वक्तव्य—उक्त जलों के मूल भेद हैं। हिमजल से आकाश से गिरने वाले बरफ का पानी अर्थ लेना चाहिये नकि पानी का बरफ जो बाजार में बिकता है। हिमजल से, तौषार जल का भी ग्रहण करना चाहिये। दिव्यजल के अभाव में भौमजलों का ग्रहण किया जाता है। भौमजल योनिभेद से अनेक प्रकार का होता है।

सुश्रुत के अनुसार—१. कौप, २. नादेय, ३. सारस, ४. ताडाग, ५. प्रास्रवण, ६. औद्भिद, ७. चौण्डय। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त सात भेदों में एक 'वाण्डय' भेद और जोड़कर इनकी संख्या आठ कर दी है। तदनन्तर वैकिर, पाल्वल, कैदार और सामुद्र भेद जोड़े गये हैं। विशेष 'राजनिघण्टु' में देखें।

यदन्तरीक्षात् पततीन्द्रसृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः ।
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥ २०१ ॥

इन्द्र (मेघ) द्वारा छोड़ा हुआ जो जल आकाश से गिरता है और उपर्युक्त पात्रों में एकत्रित कर लिया जाता है, विद्वान् उसको ऐन्द्र (इन्द्र=मेघ सम्बन्धी) जल कहते हैं। यह उत्तम जल राजाओं के पीने योग्य होता है। इसी को दिव्य जल भी कहते हैं।

ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु । अरूक्षमनभिष्यन्दि सर्वं पानीयमुत्तमम् ॥२०२॥

उत्तम जल के गुण—सभी प्रकार के उत्तम जल कुछ कषाय, मधुर, सूक्ष्म, विशद (पिच्छिलतारहित) तथा लघु (हल्के) होते हैं। ये अरूक्ष (रूक्षतारहित) तथा कफकारक नहीं होते हैं।

गुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं नवम् । तनु लघ्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति ॥२०३॥
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्निग्धभूयिष्ठभोजनाः । तेषां भोज्ये च भक्ष्ये च लेह्ये पेये च शस्यते ॥

ऋतु के अनुसार बरसने वाले जल के गुण—वर्षा ऋतु का नया जल गुरु, कफकारक और रस में मधुर होता है, अतः यह शरद् ऋतु का जल सुकुमारों तथा स्निग्धपदार्थों का भोजन में अधिक प्रयोग करने वालों के लिये भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय आदि में प्रयोग करना चाहिये।

[1]हेमन्ते सलिलं स्निग्धं वृष्यं बलहितं गुरु । किञ्चित्ततो लघुतरं शिशिरे कफवातजित् ॥२०५॥
कषायमधुरं रूक्षं विद्याद् वासन्तिकं जलम् । ग्रैष्मिकं त्वनभिष्यन्दि जलमित्येव निश्चयः ॥
ऋतावृताविहाख्याताः सर्वं एवाम्भसो गुणाः ॥२०६॥

हेमन्त ऋतु का जल—स्निग्ध, वृष्य (वीर्यवर्धक), बलवर्धन के लिये हितकर और गुरु होता है। **शिशिर ऋतु का जल**—हेमन्त ऋतु के जल से यह कुछ अधिक लघु होता है और यह कफ तथा वातविकारों का नाश करता है। **वसन्त ऋतु का जल**—रस में कषाय, मधुर तथा कुछ रूक्ष होता है। **ग्रीष्म ऋतु का जल**—अभिष्यन्द (कफ) कारक नहीं होता यह निश्चयपूर्वक कहा गया है। यहाँ पर प्रत्येक ऋतु में होने वाले जलों के गुण कह दिये गये हैं।

विभ्रान्तेषु तु कालेषु यत् प्रयच्छन्ति तोयदाः । सलिलं तत्तु दोषाय युज्यते नात्र संशयः ॥२०७॥

विभ्रान्त (विपरीत) कालों में बादल जो पानी बरसाते हैं, वह जल दोषकारक होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

वक्तव्य—ऋतुसन्धियों में बरसने वाले जलों में उपर्युक्त पृथक्-पृथक् ऋतुओं में वर्णित गुणों की संकरता देखी जाती है।

राजभी राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवैः । सुगृहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः ॥२०८॥

शारद जल की महत्ता—राजाओं को, राजाओं के समान रहन-सहन वाले लोगों को और तदनुरूप सुकुमार प्रकृति के पुरुषों को शरद् ऋतु में संगृहीत जल का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—शरद् ऋतु में जल-संग्रह-विधान का वर्णन सुश्रुत सू० अ० ४५ में देखें।

नद्यः पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धाभिहतोदकाः । हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः ॥२०९॥

हिमालय से उत्पन्न नदियों के जल के गुण—हिमालय से उत्पन्न, देवता तथा ऋषियों द्वारा सेवित, पत्थरों से टकराई हुई, उछलते, कूदते बहने वाली नदियों के जल पथ्य (हितकर) एवम् पुण्यप्रद (पाप=रोग नाशक) होते हैं।

नद्यः पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदकाः । मलयप्रभवा याश्च जलं तास्वमृतोपमम् ॥२१०॥

मलयाचल से उत्पन्न नदियों के जल के गुण—मलयपर्वत से निकली हुई नदियों के जल पत्थर के टुकड़े तथा सिकता को बहा ले जाते हैं। इनका जल निर्मल तथा अमृत के समान लाभदायक होता है।

पश्चिमाभिमुखा याश्च पथ्यास्ता निर्मलोदकाः । प्रायो मृदुवहा गुर्व्यो याश्च पूर्वसमुद्रगाः ॥२११॥

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का जल निर्मल तथा पथ्य (हितकर अतएव पेय) होता है। पूर्व समुद्र की ओर जाने वाली नदियों का जल मन्द गति से बहने वाला एवम् गुरु (भारी) होता है।

पारियात्रभवा याश्च विन्ध्यसह्यभवाश्च याः । शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतुः श्लीपदस्य च ॥२१२॥

पारियात्र, विन्ध्य, सह्य इन पर्वतों से निकलने वाली नदियों के जल का सेवन करने से शिरोरोग, हृदयरोग, कुष्ठरोग और श्लीपद (Swelled leg or Elephantiasis) हो जाते हैं

१. 'वृष्टं हैमन्तिकजलं स्निग्धं वृष्यं हितं गुरु' यो.।

वक्तव्य—पारियात्र आदि उक्त तीन पर्वत कुलपर्वत कहे जाते हैं। इनकी संख्या ७ है।

वसुधाकीटसर्पाखुमलसन्दूषितोदकाः । वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः ॥२१३॥

बरसाती नदियों के जल—पृथ्वी में स्थित कीट, सर्प, चूहा के मलों से मलिन जल वाली, वर्षा के जल को बहा ले जाने वाली नदियों के जल सभी दोषों को प्रकुपित करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—वर्षा ऋतु में नदियों का जल ग्रहण योग्य नहीं होता है। यथा—'वर्षानादेयमुदकानाम्'। च० सू० अ० २५।३९। उक्त पाठ में '**वसुधा**' के स्थान पर 'बहुधा' पाठ है, जो अपवाद उपस्थित करता है। वास्तव में वर्षा होने पर पृथ्वी में स्थित सभी प्रकार की गन्दगियाँ और सर्प आदि विषैले जीव-जन्तु भी बहकर नदी में आ जाते हैं फलतः नदियों का जल मलिन एवम् विषाक्त हो जाता है, अतएव इन दिनों नदियों का जल अपेय हो जाता है। धर्मशास्त्रों ने भी इन चार महीनों में नदियों के जल में स्नान करना निषिद्ध बतलाते हुए लिखा है कि इन दिनों नदियाँ रजस्वला (धूल-गन्दगी युक्त) हो जाती हैं।

वापीकूपतडागोत्ससरःप्रस्रवणादिषु । [1]आनूपशैलधन्वानां गुणदोषैर्विभावयेत् ॥२१४॥

वापी (बावड़ी), कूप (कुआँ), तडाग (तालाब), उत्स (Spring), सर (झील), प्रस्रवण (झरना) आदि (ह्रद, केदार, पल्वल, विकिर, चुण्डी) का जल आनूपदेश, शैल, धन्व (मरुभूमि) के जलों के गुण दोषों के अनुसार समझें।

पिच्छिलं क्रिमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः । विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धं न हितं जलम् ॥२१५॥

अहितकारक जल—पिच्छिल (चिकनापन युक्त), क्रिमियों वाला, सड़न वाला, सूखे पत्तों, सिवार, कीचड़ से मलिन, नीरस, गाढ़ा और दुर्गन्ध युक्त जल का सेवन न करे।

विस्रं त्रिदोषं लवणमम्बु यद् वरुणालयम् । इत्यम्बुवर्गः प्रोक्तोऽयमष्टमः सुविनिश्चितः ॥२१६॥

सामुद्रजल—वरुण भगवान् के निवास का जल आमगन्ध युक्त (A smell like that of raw meat) त्रिदोषकारक तथा नमकीन होता है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से आठवाँ जलवर्ग कह दिया गया है।

अथ गोरसवर्गः—

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम् । गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः ॥२१७॥
तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत् । प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥२१८॥

गोरसवर्ग

(Class of Milks)

गाय का दूध--१. रस में मधुर, २. शीतवीर्य, ३. गुण में मृदु, ४. स्निग्ध, ५. बहल (गाढ़ा), ६. श्लक्ष्ण, ७. पिच्छिल, ८. गुरु, ९. मन्द तथा १०. प्रसन्न इन दश गुणों से युक्त होता है। इन्हीं गुणों की समानता के कारण यह ओज की वृद्धि भी करता है। यह दूध जीवनीय पदार्थों में श्रेष्ठ होने के कारण रसायन कहा गया है।

महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः । स्नेहान्न्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत् ॥२१९॥

महिषी दुग्ध--गाय के दूध की अपेक्षा भैंस का दूध अधिक गुरु और शीत होता है। इसमें स्नेह (घी) की मात्रा अधिक होती है। अतः इसका प्रयोग अनिद्रा में तथा पाचकाग्नि के बढ़ जाने पर किया जाता है। अर्थात् भैंस का दूध निद्राकारक और मन्दाग्निकारक होता है।

रूक्षोष्णं क्षीरमुष्ट्रीणामीषत्सलवणं लघु । शस्तं वातकफानाहक्रिमिशोफोदरार्शसाम् ॥२२०॥

उष्ट्री दुग्ध—ऊँटनी का दूध रूक्ष, उष्णवीर्य, हलका नमकीन और लघु होता है। वातज, कफज रोगों, आनाह, क्रिमिरोग, शोथरोग तथा अर्शरोगों में हितकारक होता है।

१. 'आनूपधन्वशैलेषु' इति पा.।

बल्यं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णं चैकशफं पयः । साम्लं सलवणं रूक्षं शाखावातहरं लघु ॥२२१॥

एक खुर वाले पशुओं का दूध—घोड़ी आदि का दूध बलवर्धक, स्थिरता को पैदा करने वाला, उष्णवीर्य, कुछ खट्टा, कुछ नमकीन, रूक्ष तथा शाखागत वातविकार का नाशक होता है।

छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु । रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम् ॥२२२॥

छाग दुग्ध--बकरी का दूध रस में कषाय तथा मधुर, शीतवीर्य, मलसंग्राहक, लघु (शीघ्र पचने वाला), रक्तपित्त, अतिसार, क्षय कास तथा ज्वरनाशक होता है।

हिक्काश्वासकरं तूष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकम् । हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरु स्थैर्यकरं परम् ॥२२३॥

आविक दुग्ध—भेड़ी का दूध हिक्का तथा श्वासकारक उष्णवीर्य, पित्त एवम् कफकारक होता है।

हस्तिनी दुग्ध—हथिनी का दूध बलवर्धक, देर में पचने वाला तथा उत्तम स्थिरता उत्पन्न करने वाला होता है।

जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः । नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम् ॥२२४॥

स्त्री-दुग्ध—यह जीवनीय शक्ति को देने वाला, शरीर में मांस तत्व को बढ़ाने वाला, जन्म से ही सेवन करने के कारण सात्म्य (सर्वथा अनुकूल) तथा स्निग्धता उत्पन्न करने वाला होता है। रक्तपित्त रोग में इसकी नस्य दी जाती है, नेत्रशूल में इसको आंख में डालने से लाभ होता है।

वक्तव्य—स्त्री का दूध गाय, भैंस, बकरी के दूध की भांति बाजार में विकता नहीं है। इसके प्रारम्भिक गुण बालक के लिये जीवनदायक और बृंहणकारक होते हैं। प्रारम्भ से पीने के कारण ही यह सात्म्य हो जाता है। रक्तपित्त में अक्षिशूल में प्रयोग के लिये यह माताओं से मांग लिया जाता है। ध्यान रहे—नस्य तथा तर्पण में नारीदुग्ध का तत्काल प्रयोग करना चाहिये। यहाँ नारीदुग्ध से मातृदुग्ध समझना चाहिये। क्योंकि जैसा नारी में नर का एकाधिपत्य होता है, वैसा उसके दूध में (नर का) नहीं, अपितु उस में शिशु का सर्वाधिकार रहता है।

रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् । पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ॥२२५॥
पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे । अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते ॥२२६॥
शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् । रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत् ॥२२७॥
त्रिदोषं मन्दकं, जातं वातघ्नं [1]दधि शुक्रलः । सरः, श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः॥२२८॥

दही के गुण—रुचिकारक, अग्नि को बढ़ाने वाला, वीर्यवर्धक, स्निग्धता देने वाला, बलवर्धक, विपाक में अम्ल रस वाला, उष्णवीर्य, वातनाशक, मंगल (शुभशकुन) कारक तथा मांस तत्व को बढ़ाने वाला होता है। पीनस (प्रतिश्याय) रोग में, अतिसार में, शीतज्वर में, विषमज्वर में, अरुचि में, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र के कष्ट से निकलने) में और कृशता में दही का प्रयोग लाभदायक होता है। शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं में प्रायः दही का सेवन (उष्णवीर्य होने के कारण) वर्जित है, अतः शेष तीन ऋतुओं में दही का सेवन लाभदायक होता है। रक्तपित्त तथा कफज विकारों में दही का सेवन अहितकर होता है। (संस्कार विशेष से दही का सेवन सदैव होता ही है।)

मन्दक दधि—अधजमी दही त्रिदोषकारक होती है। **जात दधि**—जमी हुई दही वातनाशक होती है। **दधिसर**—दही की मलाई शुक्रवर्धक होती है। **दधिमण्ड**—दही का मण्ड कफवातनाशक और स्रोतों को शुद्ध करने वाला होता है।

शोफार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहोदरारुचौ । स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तक्रं दद्याद् गरेषु च ॥२२९॥

तक्र के गुण--शोथ, अर्श, ग्रहणीविकार, मूत्रकृच्छ्र, उदररोग, अरुचि, स्नेहपान के कारण उत्पन्न रोग में, पाण्डुरोग में और विषविकार में मठा का सेवन करना चाहिये।

सङ्ग्राहि दीपनं हृद्यं नवनीतं नवोद्धृतम् । ग्रहण्यर्शोविकारघ्नमर्दितारुचिनाशनम् ॥२३०॥

नवनीत के गुण--ताजा निकला हुआ मक्खन मल को बांधने वाला, अग्निवर्धक, हृदय को प्रिय लगने

१. 'दधि शुक्रलम् । सरः पित्तानिलघ्नस्तु मस्तु स्रोतोविशोधनम्' इति पा.।

वाला तथा हृदय के लिये हितकारक होता है। यह ग्रहणी और अर्शरोग को दूर करता है। अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा) एवम् अरुचि का नाश करता है।

स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजःकफमेदोविवर्धनम् । वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम् ॥२३१॥
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः । सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥२३२॥

घृत के गुण—स्मृति (धारणाशक्ति), बुद्धि, पाचकाग्नि, वीर्य, ओज, कफ तथा मेदा को बढ़ाता है। घी वात, पित्त, विष, उन्माद, शोष (क्षय), अलक्ष्मी (शरीर की मलिनता) एवम् ज्वर का नाश करता है। घी सभी स्नेहों में उत्तम होता है। शीतवीर्य होता है। रस एवं विपाक में यह मधुर होता है। भिन्न-भिन्न विधियों से संस्कारित घृत हजार गुनी शक्ति वाला होता है, अतएव वह हजारों कार्यों को करता है। अर्थात् इसका प्रयोग अनेक प्रकार के विकारों की शान्ति के लिये किया जाता है।

मदापस्मारमूर्च्छायशोषोन्मादगरज्वरान् । योनिकर्णशिरःशूलं घृतं जीर्णमपोहति ॥२३३॥
सर्पींष्यजाविमहिषीक्षीरवत् २स्वानि निर्दिशेत् ।

जीर्णघृत के गुण—पुराना घी मद, अपस्मार (मृगी), मूर्च्छा, शोष (क्षय), उन्माद, गर (दूषीविष), ज्वर, योनिशूल, कर्णशूल, शिरःशूल इन सबको दूर करता है।

बकरी, भेड़ तथा भैंस के घी के गुण इनके दूध के गुणों के समान ही होते हैं।

वक्तव्य—घी के पुराने होने की अवधि १ वर्ष के बाद भावमिश्र ने मानी है। चरक ने १० वर्ष पुराने घी को पुराणघृत माना है। सुश्रुत ने १११ वर्ष पुराने घी को 'कुम्भसर्पि' तथा इससे भी पुराने घी को 'महाघृत' की संज्ञा दी है।

पीयूषो मोरटं चैव किलाटा विविधाश्च ये ॥ २३४ ॥
दीप्ताग्नीनामनिद्राणां सर्व एव सुखप्रदाः । गुरवस्तर्पणा वृष्या बृंहणाः पवनापहाः ॥२३५॥
विशदः गुरवो रूक्षा ग्राहिणस्तक्रपिण्डकाः । गोरसानामयं वर्गो नवमः परिकीर्तितः ॥२३६॥

पीयूष (Colostrum) खीस, मोरट (छेना का पानी) तथा अनेक प्रकार के किलाट (छेना) दीप्ताग्नि (जिनकी जठराग्नि पर्याप्त बढ़ी है) वालों के लिये, जिनको नींद नहीं आती उनके लिये, ये सभी सुखद होते हैं। ये पाक में गुरु, शरीर को तृप्त करने वाले, वीर्यवर्धक, मांसतत्व को बढ़ाने वाले तथा वातनाशक होते हैं।

तक्रपिण्ड—विशद (पिच्छिलतारहित), गुरुपाकी, रूक्ष और मल को बाँधने वाला होता है। गोरसों का यह नवाँ वर्ग इस प्रकार कह दिया गया है।

अथेक्षुवर्गः—

वृष्यः शीतः सरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः । श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते ॥

इक्षुवर्ग
(Class of Sugarcane)

दाँतों से चूसा हुआ ईख का रस—वीर्यवर्धक, शीतवीर्य, सर (मल को निकालने वाला), स्निग्ध, मांस को बढ़ाने वाला, रस में मधुर तथा कफकारक होता है।

यन्त्र (कोल्हू आदि) से निचोड़ा हुआ ईख का रस विदाहकारक होता है।

शैत्यात् प्रसादान्माधुर्यात् पौण्ड्रकाद् वंशकोऽवरः ।

शीतवीर्य होने से, निर्मलता से, मधुरता से पौंड्रक नामक ईख से वंशक नामक ईख का रस गुणों में कुछ कम होता है। अर्थात् वंशक ईख की अपेक्षा पौंड्रक ईख में उक्त गुण अधिक होते हैं।

१. 'विषा–' इति पा०।
२. 'स्वादु' ग.। 'सर्पींषि स्वानीति सम्बन्धः, तेनाजाक्षीरवदजासर्पिर्निर्दिशेदित्यादि ज्ञेयम्' चक्रः।

वक्तव्य—सुश्रुत में ईख की जातियों का परिगणन करने के पश्चात् उनके गुण-धर्मों का विवेचन किया है। देखें—सुश्रुत सू० अ० ४५।

प्रभूतक्रिमिमज्जासृङ्मेदोमांसकरो गुडः ॥ २३८ ॥

इक्षुविकारों का वर्णन—गुड़ के अधिक खाने से पेट में कृमि हो जाते हैं। (देखें—कृमिरोग निदान) मज्जा, शोणित, मेदा और मांस की वृद्धि (अधिक गुड़ खाने से) होती है।

क्षुद्रो गुडश्चतुर्भागत्रिभागार्धावशेषितः । १रसो गुरुर्यथापूर्वं धौतः स्वल्पमलो गुडः ॥२३९॥

छोटा गुड़—जब ईख का रस पकाते-पकाते चतुर्थांश शेष बच जाय, जब तृतीयांश शेष बच जाय और जब आधा शेष बच जाय तो ये यथापूर्व (दो से तीन और तीन से चार) गुरुपाकी होता है। इनको क्षुद्रगुड़, धौतगुड़, स्वल्पमलगुड़ कहते हैं।

ततो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलाः परम् । यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ॥२४०॥

गुड़ से अधिक श्रेष्ठ मत्स्यण्डिका, इससे खाँड, इससे चीनी उत्तरोत्तर निर्मल होती हैं। जैसे जैसे ये निर्मल होते हैं, वैसे-वैसे इनमें शीतता आती जाती है।

वृष्या क्षीणक्षतहिता सस्नेहा गुडशर्करा । कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा ॥२४१॥
रूक्षा वम्यतिसारघ्नी च्छेदनो मधुशर्करा । तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः ॥२४२॥

गुड़शर्करा—गुड़ से बनी हुई चीनी वृष्य (वीर्यवर्द्धक), स्निग्धता करनेवाली, क्षीण (क्षययुक्त) और उरःक्षत वालों के लिये हितकर होती है। **यासशर्करा**—यवासा से बनायी गयी चीनी कषाय रसयुक्त, मधुर, कुछ तिक्तता लिये हुए और शीतवीर्य होती है। **मधुशर्करा**—शहद से बनायी गयी चीनी रूक्ष, वमन तथा अतिसार का नाश करने वाली और कफ का छेदन करने (काटकर निकालने) वाली होती है। **सभी प्रकार की शर्कराएँ**—प्यास, रक्तपित्त, अन्तर्दाह रोगों में प्रशस्त (प्रशंसा के योग्य) होती हैं।

माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः । माक्षिकं प्रवरं तेषां विशेषाद् भ्रामरं गुरुः ॥२४३॥
माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम् । क्षौद्रं कपिलवर्णं स्याच्छ्वेतं भ्रामरमुच्यते ॥२४४॥

मधु के भेद—१. माक्षिक, २. भ्रामर, ३. क्षौद्र, ४. पौत्तिक इतने प्रकार की शहद की जातियाँ (प्रकार) होती हैं। इन सब में माक्षिक श्रेष्ठ होता है, भ्रामर गुरुपाकी होता है। माक्षिक तेल के वर्ण का, पौत्तिक घी के समान वर्ण का, क्षौद्र कपिल वर्ण का और भ्रामर सफेद वर्ण का होता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने मधु की आठ जातियों का इस प्रकार उल्लेख किया है—'पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च। आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः' ॥ सु० सू० अ० ४५।

विशेष वक्तव्य—इन शहद बनाने वाली मक्खियों का परिचय यत्र तत्र उल्लिखित मिलता है, पर वह पर्याप्त नहीं है। अथवा जितने प्रकार के शहद होते हैं उन सबका आयात नहीं हो पाता। यही कारण है सुश्रुत में आठ प्रकार के मधु का उल्लेख है और चरक में केवल चार ही मधुओं का। इनके विशेषज्ञ वनवासी जातियाँ होती हैं। आज भी वनवासीजन अपने महामान्यों (मेहमानों) को भोजन के अवसर पर चीनी, गुड़ के समान ही मधु को अर्पित करते हैं। कन्या-पिता अपने पूज्य जामाता का प्रथम बार स्वागत मधुपर्क के रूप में करता है। अधिक खा लेने पर मधु का भी अजीर्ण हो जाता है। अस्तु। अब हम मधु-परिचय प्रस्तुत करते हैं।

छात्रमधु—बर्रे के छत्ता में मिश्री के-से जो कण पाये जाते हैं, वही छात्रमधु है। **माक्षिकमधु**—'मक्षिकाभिः कृतम्' यह परिभाषा तो सभी के लिये है किन्तु इस शहद का आयुर्वेद तथा यूनानी पद्धति में अत्यधिक प्रयोग देखा जाता है **दालमधु**—'दलेषु (पत्रेषु) भवम्' अर्थात् इसके छत्ते नदी के तटवर्ती वृक्षों पर विशेष छोटी मक्खियों द्वारा लगाये जाते हैं, ये फूंक देने मात्र से उड़ जाती हैं। इसके छत्ते का आकार जलेबी के आकार का होता है। इसका स्वाद सुमधुर होता है। **क्षौद्रमधु**—'क्षुद्राभिः (वनमक्षिकाभिः) कृतम्'। यह

१. 'रस इत्यत्र चकारलोपो द्रष्टव्यः, तेन क्षुद्रगुडश्चतुर्भागावशेषिताद्रसाद्गुरुः' इत्यादि ज्ञेयम्। अत्र क्षुद्रगुडोऽसितगुड इत्युच्यते, फाणितं च तन्तुलीभावात्' चक्रः। 'सरो गुरुः' इति पा.।

श्वेतवर्ण वाली छोटी-छोटी प्रायः न काटने वाली मक्खियों से बनाया गया मधु है। ये फूंक मारने पर उड़ जाती हैं, इनका छाता भी छोटा होता है। **अर्घ्यमधु**—यह पूजोपयोगी, पञ्चामृत आदि में मिलाने योग्य मधु है। आधुनिक दृष्टि से मधुमक्षिकाओं की निम्नलिखित जातियाँ होती हैं—

१. **एपिस डार्सेटा** (Apies dorsata) इसको शैलमक्षिका (Rock bee) कहते हैं। इनके छत्ते पहाड़ की चट्टानों तथा बड़े-बड़े पेड़ों की चोटियों में लगे देखे जाते हैं। ये मक्खियाँ हिंसक होती हैं। इनके छत्ते ४·५ फिट लम्बे और ३ ४ फिट चौड़े होते हैं।

२. **एपिस इण्डिका**—(Apies indica)—यह मध्यम आकार की भारतीय मक्षिका (Indian hive bee) है। ये ढके हुए स्थानों में अपना छत्ता लगाती हैं। आजकल मधुमक्षिका पालन व्यवसाय में इन्हीं मक्खियों का संग्रह किया जाता है। नैनीताल आदि पर्वतीय जिलों में ये मक्खियाँ घरों में भी पाली जाती हैं और समय-समय पर उनसे ताजा शहद निकालते रहते हैं।

३. **एपिस फ्लोरिया** (Apies Florea)—ये क्षुद्रा (Little bee) कही जाती हैं। अतएव इनके शहद को 'क्षौद्र' कहते हैं।

४. **मेलिपोना या ट्राइगोना प्रजाति** (Melipona of Trigona Species)—इनको निर्यास-मक्षिकाएँ (Dammar bees) कहते हैं। ये वर्मा, लंका, आसाम, आदि देशों में पायी जाती हैं।

मधूच्छिष्ट—मोम (Wax) शहद के छत्तों में से निकलता है।

मधु-परीक्षा—शुद्ध मधु में रुई की बत्ती भिगोकर जलाने पर सरलता से जल जाती है। यदि इसमें कुछ मिलावट हो तो उसमें चट-चट सी आवाज होती है।

वातलं गुरु शीतं च रक्तपित्तकफापहम्। [1]सन्धातृ च्छेदनं रूक्षं कषायं मधुरं मधु ॥२४५॥

मधु के सामान्य गुण—सभी प्रकार का मधु वातकारक, गुरु, शीतवीर्य, रस में कषाय तथा मधुर, रूक्ष, सन्धान करने (जोड़ने) वाला मेदस् का छेदन करनेवाला रक्तपित्त और कफ विकारों का नाशक होता है।

वक्तव्य—इस प्रकरण में मधु को शीतवीर्य होने के कारण वातवर्धक बतलाया है जो सर्वथा उचित है, किन्तु सुश्रुत में इसको त्रिदोषनाशक इसलिये कहा गया है कि यह योगवाही है। यदि इसका स्वतन्त्र गुण त्रिदोष-शमन करना होता तो भावमिश्र सन्निपात चिकित्सा में मधु के प्रयोग का निषेध न करते। क्योंकि उष्ण-शीत संयोगविरुद्ध पदार्थ कहे गये हैं।

हन्यान्मधूष्णमुष्णार्तमथवा सविषान्वयात्। गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ॥२४६॥

उष्णता से मधु का विरोध—विष का सम्बन्ध (मधुमक्खियाँ स्वयं विषैली होती हैं, उनके द्वारा एकत्रित किया होने के कारण तथा अनेक विषैले पुष्पों के पराग से मधु का निर्माण करने के कारण) मधु के साथ होने के कारण (इसको गरम नहीं कराना चाहिये,) गरम किया हुआ मधु मारक होता है, अथवा गर्मी से पीड़ित मनुष्य को दिया गया मधु भी मारक होता है। मधु गुरु, रूक्ष, कषाय तथा शीत होने के कारण थोड़ा सेवन करना चाहिये।

वक्तव्य—सुश्रुत में यह विषय और भी स्पष्ट दिया है। देखें—सु० सू० अ० ४५। शास्त्र के अनुसार मधु दो प्रकार से विष से सम्बन्धित होता है। १. विषैली मधुमक्षिकाओं द्वारा चयन होने के कारण और २. विषैले पुष्पों के परागों से बनाने के कारण। अतः गरम करके इसका सेवन नहीं करना चाहिये और न गर्मी से सन्तप्त पुरुष को ही इसका सेवन कराना चाहिये। क्योंकि—'उष्णैर्विरुद्ध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु'। सु० सू० अ० ४५।

लौकिक व्यवहार में ऐसा भी देखा गया है कि नैनीताल, अलमोड़ा आदि पर्वतीय अंचलों के निवासी शहद को गरम करके उसमें देशी घी का जामन डालकर उसे जमा दिया करते हैं। यह जमाया हुआ शहद फिर पतला नहीं रह जाता, दही अथवा घी की भाँति जम जाता है, देखने में दानेदार और खाने में पहले की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट लगता है।

---

१. 'सन्धानमि'ति पा०।

नातः कष्टतमं किञ्चिन्मध्वामात्तद्धि मानवम्। उपक्रमविरोधित्वात् सद्यो हन्याद् यथा विषम् २४७॥

मधु सेवन के कारण उत्पन्न आमदोष (आमाजीर्ण) से अधिक कष्टकारक मनुष्य के लिये कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि यह चिकित्सा के विपरीत होने के कारण विष की भांति शीघ्र ही मनुष्य को मार डालता है।

आमे सोष्णा क्रिया कार्या सा मध्वामे विरुध्यते। मध्वामं दारुणं तस्मात् सद्यो हन्याद् यथा विषम् ॥

आमदोष या आमाजीर्ण में सभी प्रकार के चिकित्सा क्रम उष्ण किये जाते हैं और मधु सेवन से उत्पन्न आमदोष में वह उष्ण चिकित्सा विपरीत होती है। इसीलिये मधुसेवन से उत्पन्न आमदोष को भयंकर कहते हैं। यह विष की भाँति तत्काल मृत्यु कर देता है।

नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।
इतीक्षुविकृतिप्रायो वर्गोऽयं दशमो मतः ॥ २४९ ॥

अनेक प्रकार के पुष्पों के परागों से मक्खियाँ मधु का संचय करती हैं। अतः मधु नानाद्रव्यात्मक होने के कारण उत्तम योगवाही होता (माना गया) है। इस प्रकार इक्षुविकृति को प्रारम्भ करके कहा गया यह दसवाँ वर्ग माना गया है।

वक्तव्य—मधुरता सामान्य होने के कारण इक्षुवर्ग के साथ मधुवर्ग का भी इसी प्रकरण में समावेश कर दिया गया है। मधु का योगवाही होना केवल इसका प्रभाव है। अन्यथा नानाद्रव्यात्मकता दूध, मद्य, तैल आदि में भी माननी पड़ेगी तदनुसार फिर ये द्रव्य भी योगवाही कहे जाने लगेंगे। अतः मधु अपने प्रभाव से योगवाही कहा गया है।

अथ कृतान्नवर्गः—

अथ क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा। स्वेदाग्निजननी पेया वातवर्चोऽनुलोमनी ॥२५०॥

कृतान्नवर्ग

(Class of Cooked Foods)

पेया—भूख, प्यास, ग्लानि (हर्षक्षय), दुर्बलता, कुक्षि (उदर) रोग और ज्वर का नाश करती है। यह पसीना लाती है, अग्निवर्धक है, वात और मल का अनुलोमन करती है।)

तर्पणी ग्राहिणी लघ्वी हृद्या चापि विलेपिका।

विलेपी—तृप्तिकारक, मल को बांधने वाली, लघ्वी (सुखपूर्वक पचने वाली) और हृदय के लिये हितकारक होती है।

मण्डस्तु दीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेत् ॥ २५१ ॥
मृदूकरोति स्रोतांसि स्वेदं सञ्जनयत्यपि। लङ्घितानां विरिक्तानां जीर्णे स्नेहे च तृष्यताम् ॥२५२॥
दीपनत्वाल्लघुत्वाच्च मण्डः स्यात् प्राणधारणः।

मण्ड (भात का मांड)—जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है, वायु का अनुलोम करता है, स्रोतों को मुलायम बनाता है, पसीना पैदा करता है। जिनको लंघन कराया गया हो, जिनको विरेचन कराया गया हो, स्नेहपान करने के पश्चात् जिनको प्यास लग रही हो, इन सबके लिये अग्नि को दीप्त करने के कारण और सुपच होने के कारण मण्ड प्राणों का रक्षक होता है।

लाजपेया श्रमघ्नी तु क्षामकण्ठस्य देहिनः ॥ २५३ ॥

लाजपेया—ऊपर साठी आदि शूकधान्यों से निर्मित पेया के गुण-धर्मों का विवेचन किया गया है। यहाँ धान के लावा से निर्मित पेया का वर्णन प्रस्तुत है। जिसका स्वर क्षीण हो गया हो और जो परिश्रम करने से थक गया हो उसके लिये यह हितकर है।

तृष्णातीसारशमनो धातुसाम्यकरः शिवः। लाजमण्डोऽग्निजननो दाहमूर्च्छानिवारणः ॥२५४॥
मन्दाग्निविषमाग्नीनां बालस्थविरयोषिताम्। देयश्च सुकुमाराणां लाजमण्डः सुसंस्कृतः ॥२५५॥

लाजमण्ड—धान के लावा (खील) का मांड़ तृष्णा (प्यास) तथा अतीसार का शमन करता है, रसादि धातुओं को सम अवस्था में रखता है, कल्याणकारक है, मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है, अन्तर्दाह और मूर्च्छा का निवारण करता है, मन्दाग्नि वाले, विषमाग्निवाले, बालक, वृद्ध, स्त्री तथा सुकुमारों को अच्छी तरह बनाया हुआ लाजमण्ड हितकारक होता है, अतः इनको सेवन करने के लिये देना चाहिये।

क्षुत्पिपासापहः पथ्यः शुद्धानां च मलापहः।
शृतः पिप्पलिशुण्ठीभ्यां युक्तो लाजाम्लदाडिमैः॥ २५६॥

सुसंस्कृत लाजमण्ड—वमन-विरेचन आदि संशोधनों द्वारा शुद्ध पुरुषों के लिये पीपल, सोंठ से युक्त और खट्टे दाड़िमों के साथ पकाया हुआ लाजमण्ड मल को निकालने वाला होता है।

कषायमधुराः शीता लघवो लाजसक्तवः।
सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः॥ २५७॥

लाज सत्तू—धान के लावा के सत्तू रस में कषाय, मधुर तथा लघु (जल्दी पचने वाले) होते हैं।

ओदन—चावलों को भली-भाँति धोकर, पका कर और मांड़ निकाला हुआ गरम भात लघु (शीघ्र पचने वाला) होता है। अर्थात् भात को ताजा अतएव गरम खाना चाहिये।

भृष्टतण्डुलमिच्छन्ति गरश्लेष्मामयेष्वपि। अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः॥२५८॥

भुने हुए चावलों का भात—चावलों को भून कर तदनन्तर बनाया गया भात संयोगज विषों में तथा कफज विकारों में लाभदायक होता है। बिना धोये, बिना मांड निकाले तथा भली-भांति न पके हुए चावलों का भात ठंडा हो जाने पर गुरु (देर में पचने वाला) होता है।

मांस-शाक-वसा-तैल-घृत-मज्ज-फलौदनाः। बल्याः सन्तर्पणा हृद्या गुरवो बृंहयन्ति च॥२५९॥
तद्वन्माषतिलक्षीरमुद्गसंयोगसाधिताः।

मांस, शाक, वसा (प्राणियों की चर्बी), तेल, घी, मज्जा और फलों के साथ बनाया हुआ भात बलवर्धक, तृप्तिकारक, हृदय के लिये हितकारक, पाचन में गुरु और शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने वाला होता है। उसी प्रकार उड़द, तिल, दूध और मूंग के साथ बनाया हुआ भात भी उक्त गुणों से युक्त होता है।

कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः॥ २६०॥

स्विन्नभक्ष्यास्तु ये केचित् सौप्यगौधूमयाविकाः। भिषक् तेषां यथाद्रव्यमादिशेद् गुरुलाघवम्॥२६१॥

कुल्माष (उबाले हुए धान्य)—पचने में विलम्ब करने वाले रूक्ष, वातकारक तथा भिन्न वर्चस् (दस्तावर) होते हैं। जो कोई धान्य उबाल कर खाये जाते हैं, जैसे—सौप्य (दाल बनाने योग्य मूंग, उड़द, अरहर आदि) अथवा गेहूँ या जौ से बनाये जाने वाला पदार्थ, इन सब के गुरु-लघु आदि गुणों का वर्णन चिकित्सक इनके मूल द्रव्यों के गुणों के अनुसार करे।

अकृतं कृतयूषं च तनुं सांस्कारिकं रसम्।
सूपमम्लमनम्लं च गुरुं विद्याद् यथोत्तरम्॥ २६२॥

यूषभेद—१. अकृत यूष, २. कृतयूष, ३. तनुमांस रस, ४. सांस्कारिक मांसरस, ५. अम्ल सूप, ६. अनम्ल सूप ये उत्तरोत्तर पचने में भारी होते हैं।

वक्तव्य—जिसे तेल अथवा घी, नमक, कालीमिर्च आदि मसालों के साथ पकाया न गया हो, वह **अकृतयूष है।**

कृतयूष—घी, तेल, नमक, मिर्च मसालों के साथ बनाये गये रस को कृतयूष कहते हैं।

तनुमांसरस—इसको जल की मात्रा दो प्रस्थ (१२८ तोला) में १ पल (४ तोला) मांस डाल कर बनाया जाता है।

संस्कारित मांस रस—इसके लिये दो प्रस्थ (१२८ तोला) जल में १२ पल (४८ तोला) मांस और घी या तेल का योग, नमक, मिर्च मसाला पूर्ववत् डाला जाता है।

अम्लसूप—अनारदाना आदि डालकर यह (अम्लसूप) दाल बनायी जाती है।

अनम्लसूप—इसको सादा (किसी प्रकार के अम्ल द्रव्य डाले बिना) बनाया जाता है।

सूप और यूष में अन्तर—यूष में केवल रस मात्र का ग्रहण किया जाता है और सूप में दाल को गला कर रस तथा दाल दोनों का ग्रहण करते हैं।

सक्तवो वातला रूक्षा बहुवर्चोऽनुलोमिनः। तर्पयन्ति नरं सद्यः पीताः सद्योबलाश्च[1] ते॥२६३॥
मधुरा लघवः शीताः सक्तवः शालिसम्भवाः। ग्राहिणो रक्तपित्तघ्नास्तृष्णाच्छर्दिज्वरापहाः॥२६४॥

सत्तू—ये वातकारक, रूक्ष, अधिक मल को पैदा करने वाले, वातादि दोषों को अनुलोम करने वाले होते हैं। इनका सेवन मनुष्य को शीघ्र तृप्त कर देता है। इनको पीने से तत्काल बल की वृद्धि होती है।

शालिधान्य से बने हुए सत्तू—रस में मधुर, लघुपाकी, शीतवीर्य, मल को बाँधने वाले, रक्तपित्त तृष्णा, वमन तथा ज्वरनाशक होते हैं।

हन्याद् व्याधीन् यवापूपो यावको वाट्य एव च। उदावर्तप्रतिश्यायकासमेहगलग्रहान्॥२६५॥
धानासंज्ञास्तु ये भक्ष्याः प्रायस्ते लेखनात्मकाः। शुष्कत्वात्तर्पणाश्चैव विष्टम्भित्वाच्च दुर्जराः २६६॥
विरूढधानाः शष्कुल्यो मधुक्रोडाः सपिण्डकाः। पूपाः पूपलिकाद्याश्च गुरवः पैष्टिकाः[2] परम्॥

यवापूप (जौ का मालपुआ)—यावक (जौ का मांड़), वाट्य (भुने हुए जौ का मांड़), ये सभी उदावर्त, प्रतिश्याय, कास, प्रमेह तथा गलग्रह नामक रोगों का नाश करते हैं।

धाना—जो भक्ष्य पदार्थ धाना (Corn) कहे जाते हैं, ये सभी लेखन करने वाले होते हैं (गेहूँ, जौ, मक्का, ज्वार आदि को भाड़ में भूंज कर ये धाना तैयार किये जाते हैं।) ये सूखे होने के कारण प्यास को उत्पन्न करते हैं और विष्टम्भी होने के कारण देर में पचते हैं। विरूढधाना (अंकुरित जौ, चना आदि), शष्कुली, मधु (शहद) में डुबाये हुए गुझिया, पूप (मालपुआ), पूपलिका आदि पदार्थ चावल के आटा द्वारा बनाये जाते हैं। ये अत्यन्त गुरु (देर में पचने वाले) होते हैं।

फलमांसवसाशाकपललक्षौद्रसंस्कृताः। भक्ष्या वृष्याश्च[3] बल्याश्च गुरवो बृंहणात्मकाः॥२६८॥

संस्कृतभक्ष्य—फल, मांस, वसा (चर्बी), शाक, पलल (तिलकल्क, देखें—'पललन्तु समाख्यातं सैक्षवं तिलपिष्टकम्' राजनिघण्टु।) तथा क्षौद्र (मधु) से बनाये गये खाद्यपदार्थ वीर्यवर्धक एवं बलकारक होते हैं किन्तु ये पाचन में भारी होते हैं।

वेशवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः। गुरवस्तर्पणा वृष्याः क्षीरेक्षुरसपूपकाः॥२६९॥

वेशवार—विशेष विधि से निर्मित हड्डीरहित मांस पचने में गुरु, स्निग्ध, बल तथा मांस को बढ़ाने वाला होता है।

दूध तथा ईख के रस से निर्मित मालपुआ—पचने में भारी, तृप्तिकारक, तथा वीर्यवर्धक होता है।

वक्तव्य—वेशवार निर्माण विधि—हड्डीरहित मांस को पानी में खूब पकाकर पुनः सिल में पीसकर पीपल, सोंठ, मरिच, गुड़ और घी मिलाकर एक साथ पकने पर वेशवार बनता है। देखें—सु० सू० अ० ४५ मांसवर्ग।

सगुडाः सतिलाश्चैव सक्षीरक्षौद्रशर्कराः। भक्ष्या वृष्याश्च बल्याश्च परं तु गुरवः स्मृताः॥२७०॥

गुड़, तिल, दूध, शहद और चीनी के योग से जो भी भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ बनाये जाते हैं, वे सब वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक और अत्यन्त गुरु (देर में पचने वाले) होते हैं।

---

१. 'सद्यो बलाय' ग.।
२. 'पैष्टिकास्तण्डुलपिष्टकृता भक्ष्याः' गङ्गाधरः।
३. 'हृद्याश्च' ग.।

सस्नेहाः स्नेहसिद्धाश्च भक्ष्या विविधलक्षणाः । गुरवस्तर्पणा वृष्या हृद्या गौधूमिका मताः ॥२७१॥

गेहूँ के आटा से बनाये गये पदार्थ—गेहूँ के आटा में घी मिलाकर बनाये गये, तथा स्नेह से सिद्ध (घी में पकाये गये) जो अनेक प्रकार के भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थों का निर्माण होता है, ये सभी देर में पचने वाले, तृप्तिकारक, वीर्यवर्धक तथा हृदय के लिये हितकारक होते हैं, यदि रोगी हृद्रोग से पीड़ित न हो तो, अन्यथा ये वर्जित होते हैं।

संस्काराल्लघवः सन्ति भक्ष्या गौधूमपैष्टिकाः । धानापर्पटपूपाद्यास्तान् बुद्ध्वा निर्दिशेत् तथा ॥

गेहूँ तथा चावल के आटा से बने हुए भक्ष्य पदार्थ संस्कार (बनाने की विधियों तथा अग्निसंयोग) से लघु (हल्के) हो जाते हैं। धाना, पापड़, अपूप (मालपुआ) आदि भी संस्कार-प्रकार के अनुसार लघु, गुरु हो जाते हैं। अतः जैसा संस्कार किया गया हो तदनुरूप उनके गुण-धर्मों का निर्देश करे।

पृथुका गुरवो [1]भृष्टान् भक्षयेदल्पशस्तु तान् । यावा विष्टभ्य जीर्यन्ति सरसा भिन्नवर्चसः ॥

धान का पृथुक—धान का च्यूड़ा पचने में भारी होता है, अतः उसको भुँजवाकर थोड़ा-थोड़ा खाना चाहिये।

जौ का च्यूड़ा—विष्टम्भ (कब्ज उत्पन्न) करके पचता है।

कच्चे धान का च्यूड़ा—मल को पतला कर देता है।

वक्तव्य—यह 'सरसाः' पद धान तथा जौ दोनों का विशेषण है। अतः यहाँ कच्चे धान अथवा कच्चे जौ का च्यूड़ा ऐसा अर्थ करना चाहिये।

सूप्यान्नविकृता भक्ष्या वातला रूक्षशीतलाः । सकटुस्नेहलवणानल्पशो भक्षयेत्तु तान् ॥२७४॥

सूप्य (दाल बनाने के योग्य) अन्न—मूंग, उड़द, अरहर आदि से बने हुए पदार्थ (बड़ी, पकौड़ी, बड़ा आदि) वातकारक, रूक्ष तथा शीतवीर्य होते हैं। अतः उनको मिर्च, घी या तेल, लवण के साथ थोड़ा-थोड़ा खाना चाहिये।

मृदुपाकाश्च ये भक्ष्याः स्थूलाश्च कठिनाश्च ये । गुरवस्ते [2]व्यतिक्रान्तपाकाः पुष्टिबलप्रदाः ॥२७५॥

गुरु तथा बलवर्धक—मन्द अग्नि (धीमी आंच) से जो भक्ष्य पदार्थ पकाये जाते हैं और जो भक्ष्य पदार्थ मोटे या कठोर होते हैं, वे सभी देर में पचने वाले अतएव गुरु होते हैं। ये पुष्टि तथा बल को देते हैं।

द्रव्यसंयोगसंस्कारं द्रव्यमानं पृथक् तथा । भक्ष्याणामादिशेद् बुद्ध्वा यथास्वं गुरुलाघवम् ॥

गुरुता आदि का निर्देश—भक्ष्य द्रव्यों में संयोग (अन्य द्रव्यों को मिलाना) तथा संस्कार (निर्माण-विधि) के प्रकार तथा उनका मान (तौल) का पृथक् पृथक् ज्ञान करके, उन-उन भक्ष्य पदार्थों के गुण-धर्मों को समझ कर उनकी गुरुता-लघुता का निर्देश करें।

नानाद्रव्यैः समायुक्तः [3]पक्वामक्लिन्नभर्जितैः । विमर्दको गुरुर्हृद्यो वृष्यो बलवतां हितः ॥२७७॥

विमर्दक—पके हुए, कच्चे, क्लेदयुक्त तथा आग में भुने हुए अनेक प्रकार के द्रव्यों के मेल से बने हुए भक्ष्य पदार्थ को विमर्दक कहते हैं। यह पचने में भारी, हृदय के लिये हितकर, वीर्यवर्धक और बलशाली पुरुषों के लिये हितकर होता है।

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा । स्नेहनं तर्पणं हृद्यं वातघ्नं सगुडं दधि ॥२७८॥

रसाला—श्रीखण्ड (इसका निर्माण दही, चीनी, केशर, इलायची, आदि द्रव्यों के योग से होता है। इसी को सिखरन या शिखरिणी भी कहते हैं।)—यह बृंहण (मांसवर्धक), वीर्यवर्धक, स्निग्ध, बलकारक तथा रुचिकारक होती है।

---

१. 'पृथुका गुरवो बल्याः' यो.।

२. 'व्यतिक्रान्तपाका इति चिरेण जरां गच्छन्ति' चक्रः।

३. 'पक्वा वह्निपु भर्जितः' इति पा।

सगुडदधि—गुड़ मिलाया हुआ दही स्नेहन, तृप्तिकारक, हृदय के लिये हितकर और वातनाशक होता है।

द्राक्षाखर्जूरकोलानां गुरु विष्टम्भि पानकम् । परूषकाणां क्षौद्रस्य यच्चेक्षुविकृतिं प्रति ॥२७९॥
तेषां कट्वम्लसंयोगान् पानकानां पृथक् पृथक् ।
द्रव्यं मानं च विज्ञाय गुणकर्माणि चादिशेत् ॥ २८० ॥

पानक—द्राक्षा (मुनक्का), खजूर, बेर, फालसा, शहद तथा ईख के विकार (गुड़, राब, चीनी, मिश्री) के मिश्रण से या स्वतन्त्र बनाया हुआ पानक (शरबत) गुरु (देर में पचने वाला) तथा विष्टम्भि (कब्ज-कारक) होता है।

यदि उक्त पानकों में कटु (मिरिच), अम्ल (नीबू) आदि रसों का भी संयोग किया गया हो तो उन-उन द्रव्यों की मात्रा का ध्यान रखकर उन-उनके गुण-कर्मों का भी निर्देश करना चाहिये।

कट्वम्लस्वादुलवणा लघवो रागषाडवाः । मुखप्रियाश्च हृद्याश्च दीपना भक्तरोचनाः ॥२८१॥

रागषाडव—ये कटु, अम्ल, स्वादु (मधुर), नमकीन, लघु (शीघ्र पचने वाले) स्वादिष्ट, हृदय के लिये हितकर, अग्नि को प्रदीप्त करने वाले और भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—राग (खटमिट्ठी चटनी), षाडव (खट्टा अचार), इनको 'कैयदेवनिघण्टु' में दो अलग-२ माना है। अनेक आचार्यों ने इसको एक ही माना है। वास्तव में ये दोनों ही सजातीय तथा समानरूप से व्यवहार में आनेवाले पदार्थ हैं। इनको एक मानने अथवा अलग-अलग मानने में स्वतन्त्रता है।

आम्रामलकलेहाश्च बृंहणा बलवर्धनाः । रोचनास्तर्पणाश्चोक्ताः स्नेहमाधुर्यगौरवात् ॥२८२॥
बुद्ध्वा संयोगसंस्कारं द्रव्यमानं च तच्छ्रितम् । गुणकर्माणि लेहानां तेषां तेषां तथा वदेत् ॥२८३॥

आम, आँवला की चटनी—उक्त दोनों पदार्थों की चटनियाँ स्निग्ध, मधुर तथा गुरु होती हैं। अतः ये बृंहण, बलवर्धक, रुचिकारक और तृप्तिकारक होती हैं। इनके विशेष गुण-कर्मों का निर्माण जिस प्रकार के द्रव्यों के संयोग-संस्कार तथा मात्रा से इनका निर्माण हुआ हो उन-उनका उन-उन द्रव्यों के गुण-कर्मों के अनुसार वर्णन करें।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम् । कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात् तदासुतम् ॥२८४॥
शिण्डाकी चासुतं चान्यत् [1]कालाम्लं रोचनं लघु । विद्याद् वर्गं कृतान्नानामेकादशतमं भिषक् ॥

शुक्त के गुण—सिरका रक्तपित्त तथा कफ को कुपित तथा वायु को अनुलोम करने वाला होता है।

आसुत के गुण—कन्द, मूल, फल आदि को सिरका में डालकर जो सन्धान किया जाता है, उसे आसुत कहते हैं। इनके गुण भी सिरका के समान ही होते हैं। शिण्डाकी तथा दूसरे सन्धान करके बनाये पदार्थ जो कुछ समय बाद खट्टे हो जाते हैं, ये सभी रुचिकारक और लघु होते हैं। इस प्रकार यह कृतान्नों (पाक द्वारा बनाये गये पदार्थों) का ग्यारहवाँ वर्ग समाप्त हुआ, ऐसा वैद्य समझें।

अथाहारोपयोगिवर्गः—

कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च । पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम् ॥२८६॥
वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम् । तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं मतम् ॥२८७॥
तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः । आसन्नतिबलाः सङ्ख्ये दैत्याधिपतयः पुरा ॥२८८॥

आहारोपयोगिवर्ग

(Class of useful of Foods)

तैलमात्र के सामान्य गुण—सामान्य रूप से सभी तेल रस में मधुर, कषाय अनुरसवाला, सूक्ष्म (मालिश करने पर रोम-रोम में व्याप्त होने वाला), उष्णवीर्य, व्यवायि (फैलने वाला, पानी में एक बूंद तेल

---

१. 'कालाम्लं कालेन जातरसमम्लं भवति तत्' गङ्गाधरः।

की डालकर देखें।), पित्तवर्धक, मल-मूत्र में रुकावट पैदा करने वाला, कफवृद्धि न करने वाला, वातनाशक द्रव्यों में श्रेष्ठ, बलकारक, त्वचा के लिये हितकारक, धारणाशक्ति तथा पाचकाग्नि को बढ़ानेवाला, अन्य औषधद्रव्यों के संयोग से तथा संस्कार (रोगनाशक द्रव्यों के रसों को डालकर पकाने आदि) से यह सभी रोगों का नाशक माना गया है। तैल का दैनिक प्रयोग करने से प्राचीनकाल में दैत्यों के स्वामी न कभी वृद्ध होते थे, न उनको कोई रोग होता था, न सहसा थकावट का आभास ही होता था और वे युद्धभूमि में अत्यन्त बलवान् होते थे।

वक्तव्य—यह एक दृष्टान्त है। आज भी जो प्रतिदिन तेल मालिश करते हैं, स्निग्ध पदार्थों का उचित मात्रा में सेवन करते हैं तथा स्नेह बस्तियों का प्रयोग करते हुए कर्मठ बने रहते हैं। उनका स्वास्थ्य सामान्य लोगों से बहुत अच्छा रहता है। आप भी कर के देखें।

ऐरण्डतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम्। वातासृग्गुल्महृद्रोगजीर्णज्वरहरं परम् ॥२८९॥

रेंड़ी का तेल—रस में मधुर, पाक में गुरु, कफ को बढ़ानेवाला, वातरक्त, गुल्म, हृद्रोग तथा जीर्णज्वर नाशक द्रव्यों में उत्तम होता है।

कटूष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम्। कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम् ॥२९०॥

सार्षप-तैल—सरसों का तेल रस में कटु, उष्णवीर्य, रक्त एवं पित्त को दूषित करनेवाला, कफ, शुक्र, और वातरोग, कण्डू (खुजली) और कोठ का नाश करनेवाला होता है।

प्रियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम्। हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात् संयोगे वातपित्तयोः ॥

प्रियाल-तैल—चिरौंजी का तैल रस में मधुर, गुरुपाकी तथा कफ को बढ़ाने वाला होता है। यह अधिक उष्ण न होने के कारण वात-पित्त के संयोग में अर्थात् वातज, पित्तज तथा द्वन्द्वज रोगों में हितकारी होता है।

आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथा। उष्णवीर्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम् ॥२९२॥

अतसी-तैल—तीसी (अलसी) का तेल रस में मधुर तथा अम्ल होता है, विपाक में कटु, उष्णवीर्य, वातविकारों में हितकर और रक्तपित्त को प्रकुपित करता है, अतः रक्तपित्त के रोगी के लिये त्याज्य होता है।

कुसुम्भतैलमुष्णं च विपाके कटुकं गुरु। विदाहि च विशेषेण सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२९३॥

कुसुम्भ-तैल—बर्रे का तेल विपाक में कटु, उष्णवीर्य, गुरुपाकी, दाह उत्पन्न करने वाला विशेष करके वातादि दोषों को प्रकुपित करता है।

फलानां यानि चान्यानि तैलान्याहारसंविधौ। युज्यन्ते गुणकर्मभ्यां तानि ब्रूयाद् यथाफलम् ॥२९४॥

तैलयोनि गुण-धर्म—इनके अतिरिक्त वे फल जिनके तेल निकाल कर आहार के उपयोग में लाये जाते हैं, उन तेलों के गुण-धर्म उनके फलों के अनुसार ही कहें।

मधुरो बृंहणो वृष्यो बल्यो मज्जा तथा वसा। यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्ज्ञोर्विनिर्दिशेत् ॥२९५॥

वसा तथा मज्जा—ये दोनों ही रस में मधुर, मांस को बढ़ाने वाले, वीर्यवर्धक तथा बलवर्धक होती हैं। जिस प्राणी से वसा और मज्जा का ग्रहण किया जाता है, उसके अनुसार इनमें शीतता अथवा उष्णता का निर्देश करें। (उष्णवीर्य प्राणी की वसा, मज्जा, उष्ण तथा शीतवीर्य प्राणी की शीत होती है।)

सस्नेहं दीपनं वृष्यमुष्णं वातकफापहम्। विपाके मधुरं हृद्यं रोचनं विश्वभेषजम् ॥२९६॥

सोंठ—स्नेह सहित, दीपन (अग्नि को दीप्त करने वाली), वीर्यवर्धक, उष्णवीर्य, विपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकारक, रुचि को बढ़ाने वाली, वात और कफ का नाशक होती है।

श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली।
सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा वृष्यसम्मता ॥ २९७ ॥

कच्ची पीपल—कफकारक, रस में मधुर, पचने में भारी तथा कुछ स्निग्ध होती है।

सूखी पीपल—कफ-वातनाशक, रस में कटु, उष्णवीर्य और वृष्य होती है।

नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम। छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित् ॥२९८॥

काली मिर्च—यह अधिक उष्ण तथा वीर्यवर्धक नहीं होती, पाक में लघु एवं रुचिकारक है, छेदन और शोषण गुणों से युक्त होने के कारण अग्नि को दीप्त करती है, कफ और वायु का नाश करती है।

वातश्लेष्मविबन्धघ्नं कटूष्णं दीपनं लघु। हिङ्गु शूलप्रशमनं विद्यात् पाचनरोचनम् ॥२९९॥

हींग—वातज एवम् कफज विबन्ध को हटाने वाली, रस में कटु, उष्णवीर्य, लघु, अग्निवर्धक, शूल को शान्त करने वाली, पाचन और रुचि को बढ़ाने वाली होती है।

रोचनं दीपनं वृष्यं चक्षुष्यमविदाहि च। त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम् ॥३००॥

सेंधा नमक—रुचिकारक, अग्निवर्धक, वृष्य, नेत्रों के लिये हितकारक, अविदाही (दाह न करने वाला), त्रिदोषनाशक, रस में मधुर और सभी नमकों में श्रेष्ठ होता है।

सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्। सौवर्चलं विबन्धघ्नं हृद्यमुद्गारशोधि च ॥

सौंचर नमक—सूक्ष्म, उष्ण, लघु और सुगन्धित होने के कारण रुचिवर्धक होता है। यह विबन्ध (बद्धकोष्ठता, कब्जियत) का नाश करता है, हृदय के लिये रुचिकर और उद्गार (डकार) को शुद्ध करता है। इसी को कालानमक भी कहते हैं।

तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद् व्यवायित्वाद्दीपनं शूलनाशनम्। ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोम्यकरं विडम् ॥३०२॥

विड नमक—तीक्ष्ण, उष्ण, और व्यवायि गुणों से युक्त होने के कारण अग्नि को दीप्त करने वाला, शूलनाशक, ऊपरी तथा निम्न भाग में स्थित वायु को अनुलोम करता है।

वक्तव्य—ऊपरी भाग में स्थित वायु को अनुलोम करके डकार के रूप में अधोभाग स्थित वायु को अपानवायु के रूप में निकालने में सहायक होता है। यदि वायु विलोम होता है तो डकार में से अपानवायु की सी दुर्गन्ध आने लगती है या आ जाती है।

सतिक्तकटु सक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्। न काललवणे गन्धः सौवर्चलगुणाश्च ते ॥३०३॥

उद्भिज लवण—रेह का नमक कुछ तिक्त, कटु रस वाला, क्षारयुक्त, तीक्ष्ण और शरीर को गीला करने वाला होता है, यही खरिया नमक है।

काल लवण—इसमें गन्ध नहीं होती और सौंचर नमक में जो गुण होते हैं वे ही गुण इसमें भी होते हैं। इसको 'काल लवण' कहते हैं।

वक्तव्य—सौवर्चल, सौंचर, कालानमक ये एक ही द्रव्य के पर्याय हैं। यह नीले या काले रङ्ग का होता है। प्राचीन आचार्यों ने १. सगन्ध, २. निर्गन्ध भेद से इसको दो प्रकार का माना है। सगन्ध को सौवर्चल की संज्ञा दी है (देखें—श्लोक सं० ३०१) और निर्गन्ध को कृष्ण या 'काललवण' संज्ञा दी है। (देखें—श्लोक सं० ३०३)।

सामुद्रकं समधुरं सतिक्तं, कटु पांशुजम्। रोचनं लवणं सर्वं पाकि स्रंस्यनिलापहम् ॥३०४॥

समुद्री नमक—कुछ मधुर तथा कुछ तिक्त होता है। **पांशुज नमक**—कटु होता है। प्रायः सभी प्रकार का नमक रुचिकारक, अन्न को पचाने, पकाने, गलाने वाला, मल को निकालने वाला और वातनाशक होता है।

वक्तव्य—सैन्धव और सामुद्र शब्द नाम से एकार्थवाची प्रतीत होते हैं। जो लवण की भिन्न-भिन्न जातियों के प्रतीक हैं। सैन्धव का एक पर्याय सिन्धुज भी है, सिन्धु और समुद्र शब्द एकार्थवाची हैं किन्तु सैन्धव का विग्रह इस प्रकार है—'सिन्धुषु भवः' = सिन्ध देश में उत्पन्न, यह खनिज द्रव्य है। देखें—अंग्रेजी में इसकी

राक साल्ट (Rack salt) कहते हैं। सामुद्र नमक—यह समुद्र के जल को सुखा कर गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र आदि समुद्रतटीय देशों में बनाया जाता है।

हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहानाहगलग्रहान् । कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति ॥३०५॥

यवक्षार—जवाखार हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणी, प्लीहा, आनाह, गलग्रह, कास तथा कफज अर्श रोग इन सबका नाश करता है।

तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पक्ता विदारणः ।
दाहनो दीपनश्छेत्ता [1]सर्वः क्षारोऽग्निसन्निभः ॥ ३०६ ॥

क्षार—प्रायः सभी प्रकार का क्षार तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, क्लेद (क्लिन्नता) उत्पन्न करने वाला पाचनकारक, व्रण को फोड़ने वाला, दाहकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, कफ का छेदन करने वाला और आग के समान गुण वाला होता है।

कारवी कुञ्चिकाऽजाजी यवानी धान्यतुम्बुरु । रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥३०७॥

कारवी (स्याहजीरा), कुञ्चिका (मंगरैला या मेथी बीज), अजाजी (जीरा), यवानी (अजवायन), धनियाँ, तुम्बुरु (तेजबल, नेपालीधनियाँ या तिमूर) ये सभी रुचिकारक, अग्निवर्धक, वातज, कफजविकार तथा शरीर की दुर्गन्धता का नाश करते हैं।

आहारयोगिनां भक्तिनिश्चयो न तु विद्यते । समाप्तो द्वादशश्चायं वर्ग आहारयोगिनाम् ॥३०८॥

आहार के उपयोग में आने वाले द्रव्यों के विभाग की भक्ति (विभाग सीमा) निश्चित नहीं है। अतः यहाँ प्रमुख द्रव्यों का वर्णन करके यह बारहवाँ आहारोपयोगी द्रव्यों का वर्ग समाप्त हुआ।

शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते । पुराणं प्रायशो रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु ॥३०९॥

प्रायः सभी शूकधान्य तथा शमीधान्य समातीत (एक वर्ष बीतने पर) श्रेष्ठ माने जाते हैं। पुराने धान्य प्रायः रूक्ष तथा नये धान्य गुरु होते हैं, ये पचने में विलम्ब करते हैं।

यद्यद्[2]आगच्छति क्षिप्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम् । निस्तुषं युक्तिभृष्टं च सूप्यं लघु विपच्यते ॥३१०॥

जो-जो अन्न बोने पर शीघ्र उग जाता है अथवा खा लेने पर पचकर स्वाभाविक रूप से शीघ्र मल के रूप में बाहर निकल आता है, उस-उस को क्रमशः लघुतर माना गया है। छिलका निकाल कर युक्तिपूर्वक (भली-भाँति) भूंजकर बनायी गयी दाल शीघ्र पच जाती है।

मृतं [3]कृशं चाति मेद्यं वृद्धं बालं विषैर्हतम् । [4]अगोचरभृतं व्यालसूदितं मांसमुत्सृजेत् ॥३११॥

निषिद्ध मांस—स्वयं मृत पशु का मांस, कृश (जिसमें हड्डी और चर्म ही शेष रह गया हो ऐसे) पशु का मांस, अधिक मेदस्वी पशु का मांस, वृद्ध पशु का मांस, बाल पशु का मांस, विष प्रयोग से मृत पशु का मांस, आनूप देश में पले हुए पशु का मांस और साँप या बाघ द्वारा मारे गये पशु का मांस त्याज्य होता है।

वक्तव्य—**'अगोचरभृतम्'**—इसका अर्थ प्राचीन व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है। १. 'अगोचरभृतमिति गोचरो देशः, तेन यस्य वराहमहिषादेर्योदेशोऽनूपादिस्तत्र न पुष्टं किन्तु आनूपं धन्वदेशे पुष्टं, जाङ्गले वाऽनूपे पुष्टमिति' **शिवदाससेनः**। 'आनूपं धन्वदेशे पुष्टम्'। इति **चक्रपाणिः**। 'अगोचरभृतम् असात्म्यदेशादिषु पुष्टम्'। इति **गङ्गाधरः** ॥

१. 'स्वर्जीक्षारः' इति पा.।

२. 'आगच्छति क्षिप्रमिति उप्तं सत् शीघ्रं भवति, किंवा आगच्छति क्षिप्रमिति भुक्तं सत् क्षिप्रं पच्यते' चक्रः। 'यजरां याति शीघ्रं तु' यो.।

३. 'कृशममेध्यम्' इति पा०।

४. 'अगोचरभृतमसात्म्यदेशादिषु पुष्टम्' गङ्गाधरः।

हमारी धारणा कुछ और है—'गावः चरन्ति एषु' अत्र 'करणाधिकरणोरित्यधिकारे' 'गोचरसञ्चर०' (३।३।११९) इति शब्दाः निपात्यन्ते। अर्थात् जहाँ गायें या मृग चरते या विचरते हों, वह स्थान 'गोचर' कहा जाता है। देहातों में पशुओं के चरने के लिये जो भूमि छोड़ दी जाती है उसे 'गोचर' कहते हैं। उससे विपरीत अगोचर (फसल वाले खेतों) में जाने से भृत (पला हुआ) अतएव कृषकों द्वारा किसी प्रकार से मारा या मारकर छोड़ हुआ मांस, ऐसा सीधा-साधा अर्थ होना चाहिये—'अगोचरभृतम्' का। अस्तु।

अतोऽन्यथा हितं मांसं बृंहणं बलवर्धनम् ।

इनके अतिरिक्त जो मांस होते हैं, वे मांसतत्व और बल को बढ़ाने वाले होते हैं।

प्रीणनः सर्वभूतानां हृद्यो मांसरसः परम् ॥ ३१२ ॥
शुष्यतां व्याधिमुक्तानां कृशानां क्षीणरेतसाम् । बलवर्णार्थिनां चैव रसं विद्याद् यथाऽमृतम् ॥३१३॥
सर्वरोगप्रशमनं यथास्वं विहितं रसम् । विद्यात् स्वर्यं बलकरं वयोबुद्धीन्द्रियायुषाम् ॥३१४॥
व्यायामनित्याः स्त्रीनित्या मद्यनित्याश्च ये नराः । नित्यं मांसरसाहारा नातुराः स्युर्न दुर्बलाः ॥

मांस रस—सभी प्राणियों को तृप्ति देता है, हृदय के लिये अत्यन्त हितकारी होता है। जो मनुष्य सूख रहे हों, जो अभी रोग से मुक्त हुए हों, जो कृश (दुबले पतले) हों, धातुक्षीणता से कष्ट में हों, जो बल, वर्ण (रूप का निखार चाहते हों) इन सबके लिये मांस रस अमृत के समान होता है। यह सभी रोगों की शान्ति करता है यदि इसका विधिवत् प्रयोग किया जाता है तो, यह स्वर को सुरीला एवम् गम्भीर बनाता है। यह अवस्था, बुद्धि, इन्द्रिय और आयु सब के बल की वृद्धि करता है। जो पुरुष प्रतिदिन व्यायाम, मैथुन तथा मद्यपान करते हैं यदि वे प्रतिदिन आहार में मांसरस का प्रयोग करें तो न अस्वस्थ होंगे और न दुर्बल।

क्रिमिवातातपहतं शुष्कं जीर्णमनार्तवम् । शाकं निःस्नेहसिद्धं च वर्ज्यं यच्चापरिस्नुतम् ॥३१६॥

असेवनीय शाक—जिसमें कीड़े पड़ गये हों, जो हवा से सूख या मुरझा गया हो, धूप (गर्मी) से कुम्हिला गया हो, पुराना हो गया हो, बे-मौसम का हो, बिना तेल आदि स्नेह में डाले ही जो पकाया गया हो और जिसको धोकर उसका पानी न निकाल दिया गया हो, ऐसा शाक निषिद्ध होता है।

पुराणमामं सङ्क्लिष्टं क्रिमिव्यालहिमातपैः । अदेशकालजं क्लिन्नं यत्स्यात्फलमसाधु तत् ॥३१७॥

असेवनीय फल—पुराने, कच्चे, दबे हुए, कीड़े पड़े, साँप से डसे हुए, ओले की चोट लगे, धूप में सूखे, असमय में, अनुचित देश में उत्पन्न, गले, सड़े फल खाने में अयोग्य होते हैं।

[1]हरितानां यथाशाकं निर्देशः साधनादृते । मद्याम्बुगोरसादीनां स्वे स्वे वर्गे विनिश्चयः ॥३१८॥

हरितवर्ग में कहे गये द्रव्यों के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त असेवनीय शाकों की भाँति ही निर्णय लेना चाहिये। केवल निर्माण विधियाँ दोनों की भिन्न-भिन्न हैं। मद्य, जल, दूध, दही आदि का ग्राह्य तथा अग्राह्य सम्बन्धी विवेचन उन-उनके वर्गों में बताया गया है।

यद्[2]आहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते ।
अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च ॥ ३१९ ॥

अनुपान—जो पेय पदार्थ आहार गुणों से विपरीत गुणों वाला होता है वह उस-उस अन्न द्रव्य का उचित अनुपान होता है किन्तु वह अन्न द्रव्य का अनुपान धातुओं का विरोधी किसी रूप में नहीं होना चाहिये।

१. 'हरितानां पलाण्डुप्रभृतीनां यथाशाकं निर्देशः, तेन हरिता अपि क्रिमिवाताद्युपहतास्तथा शुष्कजीर्णा अनार्तवाश्च न ग्राह्याः; साधनादृते इति साधनं संस्कारः, तेन हरितानां निःस्नेहसिद्धानामपि तथाऽपरिस्रुतानामपि निर्दोषत्वमित्यर्थः' इति शिवदासः।

२. 'आहारगुणैरिति शीतस्नेहमधुरादिभिः, विपरीतमिति विपरीतगुणमनुपेयम्; एवं च दध्नोऽम्लस्य मधुरं क्षीरं तथा पायसस्य काञ्जिकानुपानं स्यादित्यत आह—धातूनां यत्र विरोधि चेति, एवं चाम्ले पयोऽनुपीयमानं विरुद्धत्वाद् धातुविरोधेन प्रयुक्तं भवति; एवमन्यदपि विरुद्धं बोद्धव्यम्'। चक्रः।

वक्तव्य—'यथा तैलं जले क्षिप्तं क्षणेनैव प्रसर्पति। अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम्'॥ शा० सं० अ० ६। 'अनु पश्चात् पीयते'—गोली, चूर्ण आदि को निगलने के लिये औषध के तत्काल बाद जो पिया जाता है, उसे अनुपान कहते है। जैसे—सितोपलादि चूर्ण को 'लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा' अर्थात् शहद और घी के साथ चाटे, यहाँ यह शहद और घी सितोपलादि चूर्ण का सहपान है। यदि बाद में दूध पिया जाय तो वह अनुपान कहा जायगा।

आसवानां समुद्दिष्टामशीतिं चतुरुत्तराम्। जलं पेयमपेयं च परीक्ष्यानुपिबेद्धितम् ॥३२०॥

आसवों के चौरासी भेद (च० सू० २५ में) पहले कहे गये हैं। पेय जल और अपेय जल का भी वर्णन किया जा चुका है। अतः इनकी भली भांति परीक्षा करके जो हितकारक हो उसका पान करे।

स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतलम्। कफेऽनुपानं रूक्षोष्णं क्षये मांसरसः परम् ॥३२१॥
उपवासाध्वभाष्यस्त्रीमारुतातपकर्मभिः। क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥३२२॥
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थमनुपानं विधीयते। कार्श्यार्थं स्थूलदेहानामनुशस्तं मधूदकम् ॥३२३॥
अल्पाग्नीनामनिद्राणां तन्द्राशोकभयक्लमैः। मद्यमांसोचितानां च मद्यमेवानुशस्यते ॥३२४॥

उत्तम अनुपान—वातज विकारों में स्निग्ध और उष्ण, पित्तज विकारों में मधुर और शीतल, कफज विकारों में रूक्ष और उष्ण तथा क्षय में मांसरस श्रेष्ठ होता है। उपवास, मार्गगमन, ऊँचे स्वर से बोलना, अधिक मैथुन, आंधी और लू लगने से पीड़ित रोगियों के अनुपान के लिये दूध अमृत के समान हितकर होता है। कृश पुरुषों की पुष्टि के लिये मद्य का अनुपान दिया जाता है। स्थूल शरीर वालों को कृश करने के लिये शहद का शर्बत अनुपान के रूप उत्तम होता है।

मन्दाग्नि वालों के लिये, जिनको नींद न आती हो, तन्द्रा, शोक, भय, सुस्ती से पीड़ित पुरुषों के तथा जिनको मद्य तथा मांस सेवन की सलाह दी गयी हो ऐसे सभी के लिये मद्य का अनुपान श्रेष्ठ होता है।

अथानुपानकर्मगुणान् प्रवक्ष्यामः—अनुपानं तर्पयति, प्रीणयति, ऊर्जयति, बृंहयति, पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, [1]भुक्तमवसादयति, अन्नसङ्घातं भिनत्ति, मार्दवमापादयति, क्लेदयति, जरयति, सुखपरिणामिताशुव्यवायितां चाहारस्योपजनयतीति ॥ ३२५ ॥

अनुपान से लाभ—अब अनुपान कर्म के गुणों को कहेंगे—अनुपान तृप्त करता है, चित्त को प्रसन्न करता है, शरीर में बल का आधान करता है, मांसतत्व को बढ़ाता है, पर्याप्ति (शरीर की रक्षा) करता है, खाये हुए पदार्थ को आमाशय से नीचे की ओर को ले जाता है, अन्न (खाये हुए पदार्थों) के स्थूल टुकड़ों को घोल कर तरल बना देता है, मृदुता (मुलायमपन) को उत्पन्न करता है, भोजन को गीला करता है, पचाता है। भोजन को अच्छी तरह पचाना, शीघ्र चारों ओर फैलने योग्य बना देना इसका कार्य है।

भवन्ति चात्र—

अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम्। सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च ॥३२६॥

हितकर अनुपान का प्रयोग मनुष्य को शीघ्र तृप्त कर देता है, आहार को सुखपूर्वक दीर्घायु तथा बल प्रदान करने के लिये पचाता है।

नोर्ध्वाङ्गमारुताविष्टा न हिक्काश्वासकासिनः। न गीतभाष्याध्ययनप्रसक्ता नोरसि क्षताः ॥३२७॥
पिबेयुरुदकं भुक्त्वा तद्धि कण्ठोरसि स्थितम्। स्नेहमाहारजं [2]हत्वा भूयो दोषाय कल्पते ॥३२८॥

भोजन के बाद जिन्हें जल नहीं पीना चाहिये—जिन पुरुषों के ऊर्ध्वजत्रु (कन्धों से ऊपरी) भाग में वायु के प्रकोप के कारण कोई रोग हो, हिक्का, श्वास, कास के रोगी, जो गाने, भाषण देने, जोर-जोर से पढ़ने में लगे हों तथा जिनको उरःक्षत रोग हुआ हो, ये सभी खाना खाने के बाद जल न पियें। यदि ये लोग जल पीते

१. 'भुक्तमासादयति' ग.। 'भुक्तमवसादयति आमाशयाधोभागं नयति' शिवदाससेनः।
२. 'गत्वा' यो.।

है तो वह जल कण्ठ (गला) तथा उरःप्रदेश में स्थित आहार से प्राप्त स्नेह को समाप्त करके उक्त रोगों को और भी दूषित (विकृत) कर देता है। अर्थात् उक्त रोगों (वातविकार) को पहले की अपेक्षा और भी बढ़ा देता है।

[1]अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः। द्रव्याणि न हि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः ॥

प्रायः (अधिकांश) प्रयोग में आनेवाले अन्न (अद्यते पुम्भिः यत् तत् अन्नम्) और पान (अनुपान तथा सहपान) के एकदेश (अंशमात्र) का यहाँ वर्णन किया गया है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का नाम लेकर निर्देश कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है। अर्थात् भोजनोपयोगी सम्पूर्ण द्रव्यों का एक-एक करके नाम लेकर और गुण-धर्मों का विवेचन सर्वथा असम्भव है।

यथा [2]नानौषधं किञ्चिद् देशजानां वचो यथा। द्रव्यं तत्तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह यद् भवेत् ॥३३०॥

जिस प्रकार संसार के सभी द्रव्य औषध है, उसी प्रकार उस-उस देशवासी पुरुषों के कथनानुसार उन-उन द्रव्यों के गुण-कर्मों का भी वर्णन करे, जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सका है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में यह निर्देश किया गया है कि जिस प्रकार स्थावर-जंगम सभी पदार्थ औषध रूप हैं, उसी प्रकार सभी द्रव्य किसी न किसी रूप में भक्ष्य अथवा पेय रूप में देखे जा सकते हैं। अतः चिकित्सक को उनके गुण-कर्मों का ज्ञान करना और कराना आवश्यक है।

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥ ३३१ ॥

अन्नपान की निम्नलिखित परीक्षा—चर (जिस देश में विचरण करते, रहते, खाते, पीते हैं), शरीर के अवयव, स्वभाव, धातुएँ, क्रिया, लिंग (स्त्री, पुरुष, नपुंसक), प्रमाण, संस्कार और मात्रा की इसमें परीक्षा की जाती है।

वक्तव्य—चर धातु गति और भक्षण अर्थ में व्यवहृत होता है। अत एव 'चर' शब्द का उक्त अर्थ किया गया है। इसी आशय से दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। क्रमशः इनके उदाहरण आगे दिये जारहे हैं।

चरोऽनूपजलाकाशधन्वाद्यो [3]भक्ष्यसंविधिः। जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥३३२॥
गुरुभक्ष्याश्च ये सत्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः। लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्वजा धन्वचारिणः ॥

चर-परीक्षा—जो प्राणी अनूपदेश (बहूदकनगोऽनूपः) में विचरण करते हैं, जो जलचर हैं, जो आकाशचर है और जो धन्व (मरु) देश में विचरते हैं तथा उन-उन देशों में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को खाते हैं। अथवा जो प्राणी जल में उत्पन्न, अनूपदेश में उत्पन्न, या जलचर, अनूपचर हैं और जो प्राणी गुरु पदार्थों को खाते हैं, वे सभी गुरु माने गये हैं। धन्व (मरु) देश में उत्पन्न, धन्वदेश (मरुभूमि) में विचरण करनेवाले तथा लघु पदार्थों का भोजन करने वाले लघु होते हैं। यह चर परीक्षा है।

शरीरावयवाः सक्थिशिरःस्कन्धादयस्तथा [4]सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः ॥
वृषणौ चर्म मेढ्रं च श्रोणी वृक्कौ यकृद् गुदम्। मांसाद् गुरुतरं विद्याद् यथास्वं मध्यमस्थि च ॥

शरीर के अवयवों के अनुसार परीक्षा—सक्थि (ऊरु), शिर, कन्धा आदि शरीर के अवयव हैं। सक्थि के मांस से गुरु स्कन्ध का मांस, उसमे भी भारी क्रोड (छाती, उदर) का होता है। इससे अधिक

१. 'अनुपानैकदेशोऽयम्' इति पा०।
२. 'यथा येन प्रकारेण नानौषधं किंचित्' (सू० अ० २६) इति पूर्वाध्याये प्रोक्तं तथा तेन प्रकारेणानुक्तं द्रव्यं वाच्यं 'गुणतः' इति शेषः' चक्रः।
३. 'भक्ष्यस्य संविधिः भक्ष्यभक्षणं; तत्रानूपजलाकाशधन्वाद्य इत्यनेन गतिरूपो चर उच्यते, भक्ष्यसंविधिवचनेन च भक्ष्यरूपश्चर उच्यते (चरधातोर्गतिभक्षणार्थकत्वात्)' चक्रः।
४. 'सक्थिमांसाद् गुरुतरं स्कन्धक्रोडशिरस्पदाम्' ग.।

गुरु शिर का मांस होता है। उक्त मांसों से भी ये अवयव उत्तरोत्तर गुरु होते हैं—वृषण (दोनों अण्डकोष), चर्म, मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय), श्रोणि (Hipor Icins) वृक्क, यकृत, गुद, मध्यदेह और अस्थि।

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः।
स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा॥ ३३६॥

स्वभाव-परीक्षा—मूंग की दाल और लाव, कपिञ्जल के मांस स्वभाव से ही लघु होते हैं। उड़द की दाल, महिष तथा सूअर का मांस स्वभाव से ही गुरु (देर में पकने और पचने वाले) होते हैं।

धातूनां शोणितादीनां गुरुं विद्याद् यथोत्तरम्। अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः॥

धातु-परीक्षा—रक्त आदि धातुओं में उत्तरोत्तर धातुएँ गुरु होती हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—रक्त से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र अधिक गुरु होता है।

क्रिया-परीक्षा—अलस (आलसी) पुरुषों से अधिक कार्य करने वाले पुरुष विशिष्ट होते हैं। यह क्रिया के अनुसार परीक्षा है। अजगर से गौरैया अच्छी होती है।

गौरवं लिङ्गसामान्ये पुंसां स्त्रीणां तु लाघवम्।
महाप्रमाणा गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा॥ ३३८॥

लिङ्ग-परीक्षा—पुरुष प्राणियों के मांस गुरु और स्त्री जाति के प्राणियों का मांस उसकी अपेक्षा लघु होता है।

प्रमाण-परीक्षा—अपनी जाति में ही जिनके शरीर विशाल आकार के होते हैं उनके मांस गुरु तथा उनकी अपेक्षा जो छोटे हैं या जैसे-जैसे छोटे होते जाते हैं उसी क्रम से उनके मांस लघु (हल्के) होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'लिङ्गसामान्य' का आशय यह है कि पुरुष का मांस गुरु और स्त्री का लघु होता है। वहीं यह भी विचार कर लेना होगा कि यदि स्त्री का शरीर महाप्रमाण होगा और पुरुष उससे लघुतर या लघुतम होगा तो विपरीत निर्णय करना होगा। क्योंकि महाप्राण की गुरुता तो सामने उपस्थित रहेगी ही।

पुरुष की मांस गुरु स्त्री का मांस लघु यह केवल स्त्री-पुरुष योनि तक ही सीमित है। पशुपक्षियों में गुरु लघु का स्वरूप इस प्रकार है—चौपायों में स्त्रियों का मांस गुरु और पक्षियों में पुरुषों का मांस लघु होता है। सुश्रुत में उक्त विचार इस प्रकार किया गया है—

'स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुंमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरेषु अल्पशरीराः, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः। एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः, कृशशरीराः प्रधानतमाः' ॥ सु० सू० अ० ४६।१२९॥

गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात् [1]सविपर्ययम्।
व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥ ३३९॥

संस्कार-परीक्षा—वही आहार द्रव्य सामान्यरूप से गुरु होता हुआ भी संस्कार (निर्माण विधि विशेष) से लघु (हल्का) हो जाता है और हल्का द्रव्य भारी हो जाता है। जैसे—व्रीहि धान्य (स्वभावतः गुरु) से बने लावा संस्कार विशेष से हल्के हो जाते हैं और सत्तू स्वभाव से हल्के होते हैं किन्तु संस्कार विशेष से बनायी गयी सत्तू की पिण्डिकायें गुरुपाकी हो जाती हैं।

अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने। मात्रा कारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे॥३४०॥
गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते। [2]मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते॥३४१॥

मात्रा-परीक्षा—गुरु (देर में पचने वाले) द्रव्यों के कम सेवन करने में और लघु (जल्दी पचने वाले) द्रव्यों के अधिक सेवन करने में जो गुरुता और लघुता होती है, उसमें केवल मात्रा ही कारण होती है। इसलिये गुरु पदार्थों को कम मात्रा में ग्रहण करना चाहिये और लघु पदार्थों का तृप्ति होने तक सेवन करना चाहिये।

१. 'सविपर्ययमिति संस्काराल्लघूनामपि गौरवं विद्यादित्यर्थः' चक्रः।
२. 'मात्रामपेक्षते द्रव्यं' यो.।

मात्रा का निर्धारण द्रव्यों के अनुसार किया जाता है और जाठराग्नि का ध्यान रखकर ही मात्रा का निर्णय किया जाता है।

वक्तव्य—अर्थात् गुरु द्रव्यों की अल्प मात्रा और लघु द्रव्यों की तदनुसार अधिक मात्रा का निर्णय चिकित्सक अपने विवेक पर करता है।

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।
अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा॥ ३४२॥

बल, आरोग्य, आयु और प्राण ये सभी जाठराग्नि के आश्रित होते हैं। इसलिये अन्न-पान रूपी ईंधन के मिलने पर वह जलती है और अन्न-पान के न मिलने से वह बुझ जाती है, मन्द हो जाती है।

गुरुलाघवचिन्तेयं प्रायेणाल्पबलान् प्रति।
मन्दक्रियानारोग्यान् सुकुमारान् सुखोचितान्॥ ३४३॥
दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः।
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम्॥ ३४४॥

कौन पदार्थ गुरु है, कौन लघु है यह चिन्ता प्रायः दुर्बलों के प्रति, शारीरिक परिश्रम कम करने वालों के प्रति, जो स्वस्थ नहीं रहते उनके प्रति, सुकुमारों के प्रति तथा सुखपूर्वक रहने योग्य पुरुषों के प्रति होती है।

जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त है, जो कठिन, (जल्दी न पचनेवाले) द्रव्यों का प्रतिदिन आहार करते हैं, जो प्रतिदिन कार्य करते हैं, बड़े उदर वाले (पेटू, भुक्खड़) हैं उनके लिये इस गुरु-लाघव की चिन्ता करना व्यर्थ है।

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः। अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥३४५॥

मनुष्य को चाहिये कि वह मात्रा और काल का विचार करते हुए सावधानी के साथ हितकारक अन्न-पान रूपी लकड़ी से प्रतिदिन उदर के भीतर स्थित अग्नि में होम किया करें।

वक्तव्य—प्रतिदिन के भोजन को यज्ञ का स्वरूप देकर इसकी पवित्रता और अपरिहार्यता सिद्ध की है। भोजन करते समय सावधान अर्थात् एकाग्र होना चाहिये। अतएव 'तन्मना भुञ्जीत' यह शास्त्र का आदेश है। यह कायाग्नि का अग्निहोत्र यज्ञ है।

आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः। दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥३४६॥
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने। भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्य[1]न्तरादृते॥३४७॥

जो आहिताग्नि (प्रतिदिन यज्ञ करने वाला) उक्त प्रकार से जाठराग्नि में पथ्य अन्नपान रूपी समिधाओं का हवन करता है, प्रतिदिन ब्रह्म का जप करता है और दान देता है, इस प्रकार कल्याणकारी मार्ग में प्रयुक्त, खान-पान में क्या सात्म्य (अनुकूल) है और क्या असात्म्य है, इसको जानने वाले पुरुष को पूर्वजन्म के फलस्वरूप होने वाले रोगों के अतिरिक्त कोई भी भविष्य में होने वाले रोग नहीं होते।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय यहाँ प्रतिदिन के भोजन को यज्ञ का स्वरूप प्रदान कर भोजनकर्ता को आहिताग्नि की उपाधि देकर भारतीय भोजन पद्धति को यज्ञ का अन्यतम अंग स्वीकारा है, जैसा कि गृह्यसूत्रों में वर्णित है।

आहिताग्नि (A Brahmana who consecrates the sacred fire) जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करने के पश्चात् ही भोजन करता है। यद्यपि यज्ञ के क्षेत्र में ब्रह्म का स्वरूप भिन्न है किन्तु भोजन के समय भी ब्रह्म के ध्यान, जप का विधान इस प्रकार है—'अन्नं ब्रह्म रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः'। इत्यादि मन्त्र का पाठ किया जाता है। तदनन्तर—

१. 'अन्तरादृत इति; अन्तरादिति कारणादृते विना, अपथ्यस्य तथा अधर्मस्य रोगकारणस्याभावाद् गदा न भवन्तीति भावः' इति चक्रः।

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना' ॥

इस मन्त्र का पाठ ही ब्रह्म का जप है। 'अथ ददाति च'—अन्न दान का महत्त्व भी कम नहीं है। देखें— 'नान्नोदकसमं दानम्'। जिस प्रकार अग्निहोत्र पारलौकिक सुख का साधन है, उसी प्रकार युक्तियुक्त भोजन करना ऐहलौकिक सुखों का साधन है।

षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः । जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम् ॥३४८॥

हिताहार, मिताहार एवम् विहार करने वाला जितेन्द्रिय सज्जनों से प्रशंसा प्राप्त पुरुष ३६००० रात्रियों (१०० वर्ष) तक जीवित रहता है।

भवतश्चात्र—

प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति । वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥३४९॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् । लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥३५०॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ।

सभी प्राणधारियों (प्राणियों) के प्राण अन्न हैं। अतः लोक (समस्त प्राणिवर्ग) अन्न की ओर दौड़ता है, अर्थात् उसको प्राप्त करना चाहता है। वर्ण की स्वच्छता, चित्त की प्रसन्नता, स्वर की सरसता, जीवन का आधार, प्रतिभा (व्यक्तित्व), शारीरिक सुख, मानसिक सन्तोष, शारीरिक पुष्टि तथा बल, मेधा (धारणाशक्ति) ये सब अन्न पर निर्भर हैं। व्यवहार में जितना लौकिक कार्य है, स्वर्ग चले जाने पर जितने वैदिक कृत्य किये कराये जाते हैं, मोक्ष प्राप्ति के जो कर्म हैं वे सब अन्न में आधारित हैं।

तत्र श्लोकौ:—

अन्नपानगुणाः साग्र्या वर्गा द्वादश निश्चिताः ॥ ३५१ ॥
सगुणान्यनुपानानि गुरु-लाघवसङ्ग्रहः । अन्नपानविधावुक्तं तत् परीक्ष्यं विशेषतः ॥३५२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थानेऽन्नपानचतुष्के-
ऽन्नपानविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

उपसंहार—अन्नपानविधि नामक इस अध्याय में अन्नपान के गुण, प्रधान द्रव्यों से युक्त शूकधान्य आदि बारह वर्गों का वर्णन, गुणों के साथ अनुपानों का स्वरूप गुरु पदार्थ, लघु पदार्थ इनका संग्रह विशेष करके चर आदि परीक्ष्यभावों का वर्णन भगवान् आत्रेय ने किया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में अन्नपानविधि नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो विविधाशितपीतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अन्नपानविधि नामक अध्याय के पश्चात् अब हम विविधाशितपीतीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन [1]यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनु[2]पहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च । धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते ॥ ३ ॥

आहार के पाचन का प्रक्रम
(Process of Digestion of Diet)

आहार-पाचन का क्रम एवम् फल—अनेक प्रकार के हितकारक १. अशित (कोमल पदार्थ खाये), २. पीत (पिया), ३. लीढ (चाटा) और ४. खादित (कठोर पदार्थ खाये) आहार पदार्थों का जब मनुष्य सेवन कर लेता है तो वह आहार प्रदीप्त जाठराग्नि के बल से तथा अपनी-अपनी (उन खाये हुए द्रव्यों में स्थित पाञ्चभौतिक) गर्मी से अच्छी तरह पकता हुआ, काल की भांति न रुकता हुआ, सभी धातुओं का उचित रूप में पाक करता हुआ, सभी धातुओं की ऊष्मा वायु तथा स्रोतों वाले इस शरीर को उपचय, बल, वर्ण एवम् सुखायु से युक्त करता है और शरीर की सभी धातुओं को शक्तिसम्पन्न बना देता है। धातुएँ धातुओं का आहार करके शरीर को सम-अवस्था में रखती हैं।

वक्तव्य—यह आहार के पाचन का क्रम है। ऊपर जो चार भोजन के भेद बतलाये गये हैं, इनके सम्बन्ध में अन्य संहिताकारों ने कुछ और भेद भी बतलाये हैं। यथा—'आहारः षड्विधो भोज्यो, भक्ष्यश्चर्व्यस्तथैव च। लेह्यश्चोष्यस्तथा पेयस्तदुदाहरणानि च ॥ भोज्य ओदनसूपादिर्भक्ष्यो मोदकमण्डकः। चर्व्यश्चिपिटधान्यादिरसालादिस्तु लेह्यते ॥ चोष्य आम्रफलेक्ष्वादिः पेयस्तु पानकं पयः' ॥ भावप्रकाश।

अर्थात् आहार के ६ भेद होते हैं। यथा—१. भोज्य (भात, दाल आदि), २. भक्ष्य (लड्डू, रोटी आदि), ३. चर्व्य (च्यूड़ा, चना, लावा, फरवी आदि), ४. लेह्य (सिखरन, चटनी, च्यवनप्राश आदि), ५. चोष्य (आम, ईख, आदि), ६. पेय (पानक = पन्ना, शरबत, दूध, मठा आदि)।

यथास्वेनोष्मणा—यह आहार रस जब रसादि धातुओं में पहुँच कर वहाँ की पाञ्चभौतिक अग्नियों द्वारा पाक को प्राप्त होकर उन-उन धातुओं के पार्थिव, जलीय, तैजस, आकाशीय, वायव्य तत्वों की पूर्ति करता रहता है। इसका विस्तृत वर्णन च० चि० अ० १५ में देखें।

धातवो हि धात्वाहाराः—प्रतिदिन भोजन करने से धातुओं की असीम वृद्धि हो जानी चाहिये किन्तु होती नहीं अपितु, वे सम अवस्था में ही रहते हैं। इसका समाधान दिया गया है कि—शारीरिक धातुएँ स्वयं उनका आहार करती रहती हैं, अतएव वे प्रकृतिस्थ रहती हैं।

[3]तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते । किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति । पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धनपिच्छादयश्चावयवाः । ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयःशरीरम् । एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः । [4]निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयत्या-

---

१. यथास्वेनोष्मणेति पृथिव्यादिरूपाशितादेर्यस्य य ऊष्मा पार्थिवाग्न्यादिरूपस्तेन; वचनं हि—'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि' ॥ (च. चि. अ. १५) इति चक्रः।

२. 'अनुपहतानि सर्वधातूनामूष्ममारुतस्रोतांसि यस्य तत्तथा, ऊष्मा धातुपाचकोऽग्निः, मारुतो धातुपोषकरसवाही व्यानरूपः, स्रोतो धातुपोषकरसवहम्' चक्रः।

३. 'तत्राहारः प्रसादाख्यं रसं किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तयति' ग.।

४. 'निमित्तत इत्यनेनानिमित्तेऽरिष्टरूपे क्षयवृद्धी निराकरोति' चक्रः।

रोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव । स्वमानातिरिक्ताः [1]पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्यय[2]गुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते ॥ ४ ॥

आहार का परिणाम और उसके कार्य—आहार का जो प्रसाद (उत्तम परिणाम) है वह है रस की उत्पत्ति और अवशिष्ट भाग किट्ट जिसको मल (Stool) कहते हैं इसका निर्माण भी आहार से ही होता है। उस (रस-निर्माण के बाद बचे हुए आहार भाग) किट्ट से पसीना, मूत्र, पुरीष (मल), वात, पित्त, कफ, कान, आँख, नासिका, मुख, रोमकूप, जननेन्द्रिय का मल, केश, दाढ़ी, मूछ, रोम (लोम) और नख आदि शरीरावयव पुष्ट होते हैं और आहार रस से रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओजस् ये धातुएँ तथा धातुओं के भी सारभूत पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्रव्य, शारीरिक सन्धियाँ, बन्धनोपयोगी स्नायु, कण्डरायें और पिच्छा (Mucus या कला) आदि अवयवों की पुष्टि होती है।

वे सभी धातुएँ आहार के मलस्वरूप और प्रसादस्वरूप रस एवम् मल से पुष्ट होती हुई वय (अवस्था) और शरीर के परिमाण के अनुसार अपने परिमाण का अनुसरण करती हैं। इस प्रकार रस तथा मल धातुएँ अपने आश्रय वाले समधातु वाले अर्थात् स्वस्थ पुरुष की धातुओं को सम बनाये रहती हैं। किसी कारणवश जब प्रसाद नामक धातुएँ घट या बढ़ जाती हैं तो आहारजनित रस आहार सम्बन्धी वृद्धि अथवा क्षय द्वारा शरीर को स्वस्थ रखने के लिये धातुओं को सम बनाये रखती हैं। इसी प्रकार किट्ट मलों को सम बनाये रखता है। अपने प्रमाण से अधिक एवम् बाहर निकलने वाले मल शीत, उष्ण तथा विपरीत (अनुपशय) गुणों से युक्त चिकित्सा करने पर (ये मल) शरीर में स्थित धातुओं को सम करने वाले पाये जाते हैं।

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्य[3]यनमुखानि । [4]तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति । एवमिदं शरीरमशितपीतलीढखादितप्रभवम् । अशितपीतलीढखादितप्रभवाश्चास्मिञ् शरीरे व्याधयो भवन्ति । हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा भवन्तीति ॥ ५ ॥

उन मल धातुओं में तथा आहार प्रसाद से उत्पन्न रसादि धातुओं का मुख (द्वार) स्रोतों का मार्ग होता है। वे स्रोत विभाग के अनुसार अपनी आवश्यकता के अनुकूल धातुओं की पूर्ति करते रहते हैं। इस प्रकार यह शरीर अशित, पीत, लीढ, खादित (इन पूर्वोक्त चार प्रकार के आहार) से उत्पन्न (पालित, पोषित) है। और व्याधियों की उत्पत्ति भी अशित, पीत, लीढ, खादित इन चार प्रकार के आहारों से ही होती है। इनमें हित-आहार द्रव्यों का उपयोग विशेष करके हितकर एवम् अहितकर आहार द्रव्यों के उपयोग प्रायः अहित कारक होते हैं।

हित-आहार सम्बन्धी प्रश्न

(Doubts regarding wholesome Diet)

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—दृश्यन्ते हि भगवन् ! हितसमाख्यातमप्याहारमुपयुञ्जाना व्याधिमन्तश्चागदाश्च, तथैवाहितसमाख्यातम्; एवं दृष्टे कथं हिताहितोपयोगविशेषात्मकं शुभाशुभविशेषमुपलभामह इति ॥ ६ ॥

हिताहित आहार सम्बन्धी प्रश्न—इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—भगवन् ! ऐसा भी देखा जाता है कि जो हित आहार कहा गया है, उसका उपयोग करने वाले मनुष्य नीरोग तथा रोगी भी होते हैं। इसी प्रकार जो अहित आहार कहा गया है उसका उपयोग करने वाले मनुष्य रोगी

१. 'उत्सर्गो बहिर्निःसरणं संशोधनरूपमेषां शास्त्रोक्तमस्ति, उत्सर्गं वा वहन्तीत्युत्सर्गिणः' चक्रः। 'उत्सर्गिणः संशोधनार्हाः' शिवदाससेनः।

२. 'पर्ययो विपर्ययः, तेन शीतोष्णविपरीतगुणैरित्यर्थः' चक्रः।

३. 'अयनमुखानि गतिमार्गाणीत्यर्थः' चक्रः।

४. 'तानि च स्रोतांसि मलप्रसादपूरितानि, धातून् यथास्वमिति यद्यस्य पोष्यं तच्च तत् पूरयति; यथाविभागेनेति यस्य धातोर्यो विभागः प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन पूरयति' चक्रः।

एवम् नीरोग होते हैं। ऐसा देखने पर कैसे हम यह स्वीकार कर लें कि हित आहार विशेष का उपयोग शुभ का ही कारण होता है और अहित आहार विशेष का उपयोग अशुभ का ही कारण होता है ?

तमुवाच भगवानात्रेयः—न हिताहारोपयोगिनामग्निवेश ! तन्निमित्ता व्याधयो जायन्ते, न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वव्याधिभयमतिक्रान्तं भवति, सन्ति ह्यृतेऽप्यहिताहारोपयोगादन्या रोगप्रकृतयः, तद्यथा—कालविपर्ययः, प्रज्ञापराधः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चासात्म्या इति । ताश्च रोगप्रकृतयो रसान् सम्यगुपयुञ्जानमपि पुरुषमशुभेनोपपादयन्ति; तस्माद्धिताहारोपयोगिनोऽपि दृश्यन्ते व्याधिमन्तः अहिताहारोपयोगिनां पुनः [1]कारणतो न सद्यो दोषवान् भवत्यपचारः । न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि, न च सर्वे दोषास्तुल्यबलाः, न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति । तदेव ह्यपथ्यं देशकालसंयोगवीर्यप्रमाणातियोगाद् भूयस्तरमपथ्यं सम्पद्यते । स एव दोषः संसृष्टयोनिर्विरुद्धोपक्रमो गम्भीरानुगतश्चिरस्थितः प्राणायतनसमुत्थो मर्मोपघाती कष्टतमः क्षिप्रकारितमश्च सम्पद्यते । शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि च भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि । एभ्यश्चैवाप[2]थ्याहारदोषशरीरविशेषेभ्यो व्याधयो मृदवो दारुणाः क्षिप्रसमुत्थाश्चिरकारिणश्च भवन्ति ।

आत्रेय द्वारा अग्निवेश की शंका का समाधान—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा। अग्निवेश ! हित आहारों का सेवन करने वाले पुरुषों को आहार के कारण होने वाली व्याधियाँ नहीं होतीं और न हित आहार के उपयोग करने मात्र से ही सभी रोगों के होने का भय ही दूर हो जाता है। अहित आहार के उपयोग के बिना भी रोगों के उत्पन्न होने में और भी कारण हैं। वे इस प्रकार हैं—१. **कालविपर्यय** (ऋतुओं की विपरीतता, जैसे—गर्मी में गर्मी न पड़कर वर्षा का प्रारम्भ हो जाना, वर्षाकाल में वर्षा न होकर सूखा पड़ जाना आदि, आदि), २. **प्रज्ञापराध** (जानबूझ कर गलती करना) और ३. **असात्म्य** (प्रकृति के विपरीत) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वे रोग प्रकृतियाँ रसों का ठीक-ठीक उपयोग करनेवाले पुरुष को भी अशुभ (रोग) से युक्त कर देते हैं (रोगी बना देते हैं), इसलिये हितकर आहार का सेवन करने वाले भी रोगी देखे जाते हैं।

अहित आहार का सेवन करने वाले पुरुषों में कारण विशेष (पथ्य, आहार, दोष, शरीर विशेष) से अपथ्य भोजन भी तत्काल दोषकारक नहीं हो पाता है और न सभी अपथ्य आहार समान दोष वाले ही होते हैं, और न सभी दोष बराबर बलवाले ही होते हैं, और न सभी शरीर रोग प्रतिरोधक शक्ति से सम्पन्न ही होते हैं। वही अपथ्य आहार देश, काल, संयोग, वीर्य, प्रमाण (मात्रा) तथा अतियोग से और अधिक अपथ्य हो जाता है, और वही दोष संसृष्टयोनि (अनेक कारणों से उत्पन्न) हुआ हो, विरुद्ध चिकित्सा के कारण, गम्भीर धातुओं में पहुँचा हुआ, बहुत समय से शरीर में स्थित, प्राणायतनों (२९ वें अध्याय में प्राणायतनों का परिचय दिया जायगा) में उत्पन्न, मर्मों पर प्रहार करनेवाला, कष्टतम (अत्यन्त कष्टकारक) और शीघ्र ही विकारों को उत्पन्न करनेवाला होता है।

अनेक प्रकार के शरीर—१. अतिस्थूल, २. अतिकृश, ३. बेडौल (जिनमें रक्त, मांस तथा अस्थियाँ सुसंगठित रूप में न हों), ४. दुर्बल ५. असात्म्य आहारों के सेवन से पले हुए, ६. कम भोजन करने की आदत वाले और ७. अल्पसत्व (जिनका मनोबल कम होता है), इतने प्रकार के शरीर वाले पुरुषों में रोगों को सहने की क्षमता (शक्ति) नहीं होती है। इनके विपरीत शरीरवाले पुरुषों में रोगों को सहन करने की शक्ति होती है।

इन्हीं अपथ्य (अहितकर) आहारों, दोषों एवम् शरीरों की विभिन्नता से रोग भी मृदु (Mild), दारुण (Severe), शीघ्र उत्पन्न होने वाले (Acute) एवम् विलम्ब से उत्पन्न होने वाले (Chronic) होते हैं।

१. 'कारणविशेषतः' इति पा०।

२. 'पथ्याहारदोषशरीरविशेषेभ्यः' इति पा०।

त एव वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधिविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यग्निवेश ! ॥७॥

दोषों का रोगों से सम्बन्ध—अग्निवेश ! वे ही वात, पित्त, कफ दोष शरीर के उस-उस अंग विशेष में प्रकुपित होकर भिन्न-भिन्न रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः सम्भवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ ८ ॥

दूषित रसादिजनित व्याधियाँ—रस आदि धातुओं के स्थानों में कुपित हुए वातादि दोषों द्वारा जिस-जिस स्थान में जो-जो व्याधियाँ होती हैं, उन-उनकी आगे ठीक-ठीक व्याख्या करेंगे।

अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता। [1]हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ॥९॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता। नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च ॥
रसप्रदोषजा रोगा—

दूषित रसज-रोग—१. भोजन में अश्रद्धा (खाने की किसी वस्तु के प्रति आकर्षण का अभाव), २. अरुचि (इच्छा का न होना), ३. आस्यवैरस्य (मुंह का फीकापन), ४. अरसज्ञता (किसी रस का अनुभव न होना), ५. हृल्लास (जी मिचलाना), ६. गौरव (शरीर में भारीपन), ७. तन्द्रा (उँघाई का बना रहना), ८. अंगमर्द (अंगों में मसल देने का-सा दर्द), ९. ज्वर, १०. आँखों के सामने अँधेरा-सा छा जाना, ११. पाण्डुता, १२. स्रोतों में रुकावट का आना, १३. नपुंसकता, १४. अंगों में शिथिलता, १५. अंगों में दुबलापन, १६. जाठराग्नि का मन्द पड़ जाना, १७. असमय में शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाना और १८. बालों का सफेद हो जाना—ये सभी विकार रस के दूषित हो जाने से उत्पन्न होते हैं।

—वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः। कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः ॥११॥

गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः। नीलिका कामला व्यङ्गः पिप्लवस्तिलकालकाः ॥
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डलम्। रक्तप्रदोषाज्जायन्ते—

दूषित रक्तज-रोग—अब रक्तदोषज व्याधियाँ कही जायेंगी—१. कुष्ठ, २. विसर्प, ३. पिडका, ४. रक्त-पित्त, ५. रक्तप्रदर, ६. गुदपाक, ७. मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) पाक, ८. मुखपाक, ९. प्लीहावृद्धि, १०. रक्तगुल्म, ११. रक्तविद्रधि, १२. कामला, १३. नीलिका, १४. व्यङ्ग्य, १५. पिप्लु, १६. तिलकालक, १७. दद्रु (दाद), १८. चर्मदल, १९. श्वित्र (श्वेत कुष्ठ), २०. पामा, २१. कोठ और २२. रक्तमण्डल (लाल चकत्ते)—ये रोग रक्त दूषित होने से होते हैं।

—शृणु मांसप्रदोषजान् ॥१३॥

अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके। पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका ॥१४॥
विद्यान्मांसाश्रयान्—

दूषित मांसज-रोग—मांसधातु के दूषित हो जाने से होने वाले रोगों के नामों को सुनो—१. अधि-मांस, २. मांसार्बुद, ३. मांसकील, ४. गलशालूक, ५. गलशुण्डी, ६. पूतिमांस, ७. अलजी, ८. गण्ड (घेघा) ९. गण्डमाला और १०. उपजिह्विका—ये रोग मांस के आश्रय में उत्पन्न होते हैं।

—मेदःसंश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे। निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च ॥१५॥

दूषित मेदोज-रोग—अब दूषित मेदो धातु से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन कर रहे हैं—अष्टौनिन्दितीय नामक २१ वें अध्याय में कहे गये आठ रोग तथा प्रमेहरोगों के जितने पूर्वरूप होते हैं, वे सब मेदो धातु के दूषित होने से ही उत्पन्न होते हैं।

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता। केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः ॥१६॥

१. 'अङ्गमर्दो ज्वरस्तन्द्रा हृल्लासो गौरवं तमः' ग.।

दूषित अस्थिज-रोग—१. अध्यस्थि (हड्डी के ऊपर दूसरी हड्डी का पैदा हो जाना), २. अधिदन्त (एक ही दाँत के ऊपर दूसरा दाँत निकल जाना), ३. दन्तास्थिभेद, ४. दन्तशूल, ५. अस्थिभेद, ६. अस्थि-शूल, ७. अस्थिविवर्णता तथा दन्तविवर्णता, ८. केश, लोम, नख, दाढ़ी-मूंछ के दोष—ये सभी रोग अस्थिधातु के दूषित होने से होते हैं।

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा। अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ॥
मज्जाप्रदोषात्—

दूषित मज्जाजनित-रोग—१. अस्थिपर्वों (हड्डियों की सन्धियों) में पीड़ा, २. भ्रम (चक्कर आना), ३. मूर्च्छा (बेहोशी), ४. आँखों के सामने अँधेरा दिखायी देना, ५. पर्वों (पोरों) में मोटी जड़वाली अरुषों (फुन्सियों) के दर्शन होना अर्थात् पोरों में फुंसियों की उत्पत्ति होना—ये मज्जा के दूषित होने से उत्पन्न होने वाले रोग हैं।

—शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्। रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ॥१८॥
[1]न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि। शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ॥१९॥

दूषित शुक्रज-रोग—शुक्रधातु के दूषित होने पर—१. नपुंसकता, २. अहर्षण—मैथुन के प्रति प्रेरणा का न होना अथवा लिंग में कड़ापन न आना। यदि ऐसा पुरुष गर्भाधान करता है, तो उस वीर्य के सम्पर्क से जो सन्तान पैदा होगी वह रोगी, नपुंसक, कम आयुवाली या विरूप पैदा होती है। अथवा इसके द्वारा गर्भाधान ही नहीं हो पाता, यदि हो जाता है तो वह गर्भ गिर जाता है या गर्भस्राव हो जाता है। दुष्ट शुक्र स्त्री तथा पुत्र के साथ स्वयं उसको भी पीड़ित करता है।

इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदामलाः। उपघातोपतापाभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥२०॥

इन्द्रियदोषज-रोग—जब वातादि दोष इन्द्रियों के अधिष्ठानों अर्थात् जो-जो इन्द्रिय जहाँ-जहाँ स्थित है उन-उन स्थानों में पहुँचकर कुपित होते हैं तो उन-उन इन्द्रियों (इन्द्रियों के कार्यों) में बाधा तथा सन्ताप (कष्ट) से इन्द्रियों को युक्त कर देते हैं।

स्नायौ [2]सिराकण्डराभ्यो दुष्टाः क्लिश्नन्ति मानवम्। स्तम्भसङ्कोचखल्लीभिर्ग्रन्थिस्फुरणसुप्तिभिः ॥

दूषितस्नायु आदि जनित रोग—स्नायु (Ligments.), सिरा (Veins), कण्डरा (Tendons.) ये शरीरावयव वातादि दोषों से दूषित हो जाते हैं तो ये जकड़न, संकोच (सिकुड़न), खल्ली (वातरोग), ग्रन्थि (जैसी आमवात में देखी जाती है), अंगस्फुरण (यह जब लक्षण विशेष का सूचक होता है, तब रोग नहीं होता, जब अकारण लगातार या रुक-रुककर फड़कता रहता है तब उसको विकारजनित माना जाता है।) एवम् सुप्ति (स्थान विशेष का संज्ञाशून्य हो जाना) आदि कारणों से मनुष्य को कष्ट देते हैं।

मलानाश्रित्य कुपिता भेदशोषप्रदूषणम्। दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीव च ॥२२॥

दूषित मलज-रोग—मलों का आश्रय लेकर कुपित वातादि दोष कभी मलों का भेद (कच्चा ही मल दस्त के रूप आने लगता है), कभी मलों को सुखा देना और कभी दूषित कर देना अर्थात् उनके वर्ण, गन्ध आदि में परिवर्तन ला देते हैं। और कभी मलों में अत्यन्त रुकावट पैदा कर देते हैं, कभी उनकी अत्यन्त प्रवृत्ति करा देते है।

वक्तव्य—इन विषयों का विवेचन जो भगवान् धन्वन्तरि ने किया है, उसको सु० सू० अ० २४ में देखें।

विविधादशितात् पीताद‌हिताल्लीढखादितात्। भवन्त्येते मनुष्याणां विकारा य उदाहृताः ॥
तेषामिच्छन्ननुत्पत्तिं सेवेत मतिमान् सदा। हितान्येवाशितादीनि न स्युस्तज्जास्तथाऽऽमयाः ॥

अहित अशितादि विषयों का उपसंहार—विविध प्रकार के अहितकर अशित, पीत, लीढ, खादित

१. 'न वा संजायते गर्भः' इति पा०।
२. 'सिराकण्डरयोर्दुष्टा' इति पा०।

से जो रोग मनुष्यों को होते हैं, उनका यहाँ वर्णन कर दिया है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह चाहता है कि इस प्रकार के रोग उत्पन्न ही न हों उसको चाहिये कि वह सदैव हितकारक ही अशित आदि चार प्रकार के आहारों का सेवन करे, ऐसा करने से अहित आहारों से होने वाले रोग नहीं होते।

रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम्। विधिशोणितिकेऽध्याये रक्तजानां भिषग्जितम् ॥२५॥

रसजरोगों का चिकित्सा-सूत्र—सभी प्रकार के रसज विकारों की चिकित्सा (औषध) लंघन है। परिस्थिति के अनुसार इसमें अभोजन या अल्पभोजन की व्यवस्था करनी चाहिये।

रक्तजरोगों का चिकित्सा-सूत्र—इसका उल्लेख सूत्रस्थान के 'विधिशोणितीय' नामक २४ वें अध्याय में किया जाचुका है।

वक्तव्य—लंघन का विवेचन चरक सू० अ० २२ में इ प्रकार दिया गया है—'चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्' ॥ रसज रोगों की चिकित्सा में भी इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च। अष्टौ निन्दितिकेऽध्याये मेदोजानां चिकित्सितम् ॥

मांसजरोगों का चिकित्सा-सूत्र—इनमें संशोधन, शस्त्रकर्म, क्षारप्रयोग, अग्निकर्म (दाहकर्म) आदि द्वारा चिकित्सा की जाती है।

मेदोज रोगों का चिकित्सा-सूत्र—इसका विस्तृत विवरण 'अष्टौनिन्दितीय' नामक इक्कीसवें अध्याय में कर दिया गया है।

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्। बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च ॥२७॥

अस्थिज रोगों का चिकित्सा-सूत्र—अस्थिगत रोगों की पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन) चिकित्सा है तथा विविध प्रकार की बस्तियों का प्रयोग, तिक्तद्रव्यों को डालकर पकाये गये दूध एवम् घृतों का प्रयोग करें।

मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम्। अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥२८॥

मज्जा तथा शुक्रज रोगों का चिकित्सा-सूत्र—इन दोनों की चिकित्सा में मधुर तथा तिक्तरसप्रधान अन्नों का प्रयोग, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम और उचित काल (वमन वसन्त ऋतु में और विरेचन शरद ऋतु) में मात्रा के अनुसार शुद्धि कराना यही औषध है।

शान्तिरिन्द्रियजानां तु त्रिमर्मीये प्रवक्ष्यते। स्नाय्वादिजानां प्रशमो वक्ष्यते वातरोगिके ॥२९॥

इन्द्रियज रोगों का चिकित्सा-सूत्र—चरक चिकित्सास्थान **'त्रिमर्मीय'** नामक २६ वें अध्याय में और स्नायु, शिरा, कण्डरा में होने वाले रोगों की चिकित्सा वातरोग चिकित्सा (च० चि० अ० २७) के साथ कही जायगी।

नवेगान्धारणेऽध्याये चिकित्सासङ्ग्रहः कृतः। मलजानां विकाराणां सिद्धिश्चोक्ता क्वचित् क्वचित् ॥

मलज रोगों का चिकित्सा-सूत्र—इन रोगों की चिकित्सा का संग्रह **'न वेगानूधारणीय'** नामक ७ वें अध्याय में किया जाचुका है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं (अतिसार, ग्रहणी-चिकित्सा प्रकरणों में) इनकी सिद्धि (चिकित्सा) कही गयी है।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्। [1]कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः। नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥

दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में जाने का कारण—अधिक व्यायाम करने से, ऊष्मा (गर्मी) की तीक्ष्णता से, हितकर आहार-विहार का सेवन न करने से और वायु की शीघ्रगति होने से कोष्ठस्थित वात आदि

१. शाखा इति 'रसादिधातून्' शिवदासः।

दोष शाखाओं (रस-रक्त आदि धातुओं) में चले जाते हैं। वहाँ स्थित होकर कभी-कभी प्रेरणा न मिलने पर वहीं रुक जाते हैं, फिर दूसरे हेतुओं की प्रतीक्षा करने वाले वे दोष बिना स्थान और समय (अपने अनुकूल समय को पाये बिना) कुपित नहीं होते हैं।

वक्तव्य—आदेश-दूसरे के स्थान में आकर बैठजाने वाला होता है। देखें—'धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्'। वा० रा० १२-५८। व्याकरणशास्त्र में—'मित्रवदागमाः शत्रुवदादेशा भवन्ति'। अस्तु। काल—उचित समय। समीरिता—अर्थात् प्रेरित। इस प्रसंग में दोषों की परिस्थिति का अवलोकन करें—'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥ पित्त तथा कफ को प्रेरित करने वाला वायु है अतः वे स्वयं कहीं जाने में असमर्थ होते हैं।

इस सम्बन्ध में वाग्भट के विचार देखें—'तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः।' अ० हृ० सू० अ० १३।१९। अर्थात् जब दोष कोष्ठ में स्थित रहते हैं तो कोई विकार उत्पन्न नहीं करते, परन्तु दुबारा कारण की प्रतीक्षा करते हैं और हेतु पाकर दूसरे स्थान में चले जाते हैं या विकार उत्पन्न करते हैं।

वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥ ३३ ॥

दोषों का शाखाओं से कोष्ठगत होने में कारण—वातादि दोषों के बढ़ जाने से विष्यन्दन (बहने का स्वभाव होने) से, दोषों का परिपाक होने से, स्रोतों के मुखों के शोधन से और वायु को रोकने से मल (दोष) शाखाओं (रसादि धातुओं) को छोड़कर कोष्ठ में चले जाते हैं।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने दोषों के स्थानान्तर गमन को इस प्रकार प्रदर्शित किया है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १३।१७-१८। व्यायाम करने से, जाठराग्नि की तीक्ष्णता से, अहित आहार-विहार से अथवा वायु के शीघ्रगामी होने से कोष्ठ में से दोष शाखा नामक बाहरी रोगमार्गों अस्थि, मर्म आदि में पहुँच जाते हैं और स्रोतों के मुख (मार्ग) शुद्ध होने से, बढ़े होने से, अभिष्यन्द होने से, पाक होने से अथवा वायु की रुकावट से उन बाहरी रोगमार्गों या मध्यम रोगमार्गों में से दोष कोष्ठ में पहुँच जाते हैं।

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये। रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥३४॥

सुखद विधि का निर्देश—जो रोग अभी तक उत्पन्न नहीं हुए हैं वे आगे भी उत्पन्न न हों तथा जो उत्पन्न हो चुके हैं उनकी शान्ति के लिये जिस विधि का निर्देश किया गया है, सुख चाहने वाले पुरुष को उसका आचरण करना चाहिये।

वक्तव्य—रोगों की शान्ति के लिये जो इस शास्त्र में कहा गया है और जो अन्यत्र देखा जा सके उन सभी का आचरण करना चाहिये, क्योंकि—'सर्वो हि लोको बुद्धिमताम् आचार्यः'।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः। ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥३५॥

संसार के समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ (चेष्टायें) सुख प्राप्ति के लिये होती हैं, यह सर्वसम्मत विचार है। ज्ञानविशेष (उत्तम जानकारी) से वह प्रवृत्ति सन्मार्ग की ओर होती है और अज्ञानविशेष (प्रज्ञापराध) से वह प्रवृत्ति अधोमार्ग (पतन) की ओर होती है। अर्थात् ज्ञानविशेष से सुख की और अज्ञान से दुःख की प्राप्ति होती है।

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः। रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥३६॥

विद्वान् और मूर्ख की कार्यविधि में भेद—परीक्षक (विद्वान्) उचित-अनुचित का भलीभाँति विचार करके हितकर कार्य के ही पक्षपाती होते हैं और रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त लौकिक पुरुष अर्थात् वास्तविक सुख को न जानने वाले (मूर्ख) प्रिय (तात्कालिक सुख) का ही अनुसरण करते हैं।

श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम्। वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥३७॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजःश्रितम्। तन्मूला [1]बहवो यान्ति रोगाः शारीरमानसाः ॥

१. 'बहवश्चैव' ग.।

परीक्षकों के गुण—शास्त्रज्ञान, बुद्धि, स्मृति (स्मरणशक्ति), कार्यकुशलता, अथवा दार्ढ्य (दृढ़ता), धृति (धारणाशक्ति), हितकर वस्तुओं का सेवन करना, वाणी की शुद्धता (मधुर एवम् प्रियभाषण), शान्ति और धैर्य (विपत्ति में भी अपने लक्ष्य से विचलित न होना) ये गुण परीक्षक में होते हैं। यहाँ परीक्षक का अर्थ है शास्त्र का जानने वाला चिकित्सक और लौकिक का अर्थ है हित-अहित को न जानने वाला, अतएव रजोगुण और तमोगुण से घिरे हुए लौकिक पुरुष में उपर्युक्त गुण नहीं होते। इन रज और तम गुणों के कारण लौकिक पुरुषों को अनेक प्रकार के शारीरिक एवम् मानसिक रोग हो जाते हैं।

प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते। सन्धारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च ॥३९॥
तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते ॥४०॥

लौकिक व्यक्ति के दोष—ऐसा (रजस्-तमस् से आवृत) व्यक्ति प्रज्ञापराध द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अहितकर विषयों का सेवन करता है। अधारणीय वेगों को रोकता है यां रोकने का प्रयास करता है । साहसिक कार्यों (शक्ति से अधिकार्य करना, देखिये 'उरःक्षत निदान'। चरक चि० अ० ११।४-८ ॥) को करता है। वह मूर्ख तात्कालिक (क्षणिक) सुखदायक किन्तु परिणाम में दुःखदायक भावों (विषयों) में अनुरक्त रहता है। विज्ञाता (पदार्थों के गुण-दोषों का जानने वाला व्यक्ति) विशेष ज्ञान से बुद्धि को निर्मलता के कारण (तात्कालिक सुखद किन्तु परिणाम में दुःखद पदार्थों में) अनुरक्त नहीं होता।

वक्तव्य—अज्ञानी व्यक्ति के दोषों का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेय ने लिखा है—'प्रज्ञापराधाद् हि अहितार्थान् पञ्च निषेवते'। इस सम्बन्ध में एक सुभाषित प्रस्तुत है—

'कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-भृङ्ग-मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च' ॥

अर्थात् हिरन, हाथी, पतिंगा, भौंरा और मछली ये एक-एक इन्द्रिय के वश में होने से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तो वह असावधान मनुष्य जो पाँच इन्द्रियों से उनके सभी विषयों का सेवन करता है उसकी मृत्यु का कहना ही क्या है, अतः मनुष्य को संयमी होना चाहिये।

न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारानुपयोजयेत्। परीक्ष्य हितमश्नीयाद् देहो ह्याहारसम्भवः ॥४१॥
आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः। शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥४२॥

हित आहार का ही सेवन करे—यह मेरा रुचिकर भोजन है ऐसा सोचकर अथवा अज्ञानतावश अहित आहारों का सेवन कदापि न करे, परीक्षा करके ही हितकर आहारों का सेवन करे, क्योंकि यह देह आहार से ही बनता है। यहाँ पर देह शब्द का अर्थ है रसादि धातुजों से परिपुष्ट। आहार की शुभाशुभ विधि की उत्पत्ति में जो आठ प्रकार के विशेष हेतु नाम से कहे गये हैं, उनकी परीक्षा करके प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—हेतु संज्ञक आठ विशेषों का वर्णन चरक विमानस्थान के **'रसविमान'** नामक प्रथम अध्याय में व्याख्या सहित देखें।

परिहार्याण्यपथ्यानि सदा परिहरन्नरः। भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः ॥ ४३ ॥[1]

अपथ्य त्याग का परिणाम—छोड़ने योग्य जो अपथ्य (अहितकर आहार) हैं उनका सदैव परित्याग करता हुआ पण्डित (विवेकी) मनुष्य सज्जनों के ऋण से उऋण हो जाता है।

यत्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित्। परिहर्तुं न तत् प्राप्य शोचितव्यं मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

अशोचनीय स्थिति—जो रोग का कारण इस भूलोक में किसी (चिकित्सा विधि) से दूर करना सम्भव न हो, ऐसे रोग वाले रोगी को पाकर विद्वानों को शोच नहीं करना चाहिये।

---

१. 'अनृणतामिव प्राप्तोऽनृणतां प्राप्तः, एतेन परिहार्यपरिहारेण पुरुषकारेऽनपराधः पुरुषो भवतीति दर्शयति' चक्रः।

तत्र श्लोकाः—

आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः। हिताहितविशेषाच्च विशेषः सुखदुःखयोः ॥ ४५ ॥
सहत्वे चासहत्वे च दुःखानां देहसत्त्वयोः। विशेषो रोगसङ्घाश्च धातुजा ये पृथक्पृथक् ॥ ४६ ॥
तेषां चैव प्रशमनं कोष्ठाच्छाखा उपेत्य च। दोषा यथा प्रकुप्यन्ति शाखाभ्यः कोष्ठमेत्य च ॥
प्राज्ञाज्ञयोर्विशेषश्च स्वस्थातुरहितं च यत्। विविधाशितपीतीये तत् सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥४८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानचतुष्के
विविधाशितपीतीयो नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥
समाप्तोऽयं सप्तमोऽन्नपानचतुष्कः।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—आहार से उत्पन्न होने वाली वस्तु (**'देहो ह्याहारसंभवः'** अर्थात् शरीर), आहार से उत्पन्न होने वाले रोग, हित आहार और अहित आहार भेद से (क्रमशः) सुख, दुःख का होना, दुःखों और सुखों के सहने में तथा न सहने में जो शरीर और मन की विशेषता होती है, धातुओं से पैदा होने वाले अलग-अलग रोगसमूह, उनकी शान्ति, दोष कोष्ठ से शाखाओं (रसादि धातुओं) में और शाखाओं से कोष्ठ में किस प्रकार जाकर कुपित होते हैं, परीक्षक (पंडित), लौकिक (मूर्ख) में भेद, स्वस्थ एवम् अस्वस्थ के लिये जो हितकर होता है, इन सभी की चर्चा इस 'विवधाशितपीतीय' नामक अध्याय में कर दी गयी है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में 'विविधाशितपीतीय' नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो दशप्राणायतनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

विविधशितपीतीय अध्याय के बाद अब हम दशप्राणायतनीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

दस प्राणायतन
(Ten Life Spots)

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ ३ ॥

दस प्राणायतन—जिनमें प्रधान रूप से प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, वे स्थान दस हैं। दोनों शंख प्रदेश, तीन मर्म (शिर, हृदय और बस्ति), कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओजस् और गुद।

वक्तव्य—चरक शारीरस्थान अ० ७ में इनका वर्णन निम्न प्रकार है—'दशप्राणायतनानि—मूर्धा, कण्ठो, हृदयं, नाभिर्गुदं बस्तिरोजः शुक्रं शोणितं मांसमिति। तेषु षट्पूर्वाणि मर्मसङ्ख्यातानि'। यहाँ पूर्वोक्त दस प्राणायतनों से नाभि और मांस का अधिक ग्रहण तथा दोनों शंख प्रदेशों को छोड़ दिया है, शेष समान है। अष्टांगसंग्रह में मांस के स्थान पर जिह्वाबन्धन प्रदेश को माना है।

तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयान्। जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते ॥ ४ ॥

प्राणाभिसर के लक्षण—जो दस प्राणायतनों, इन्द्रियों, आयुर्वेदशास्त्र तत्सम्बन्धी अन्य शास्त्रों, चेतना के हेतु आत्मा और रोगों को जानता है, वह विद्वान् वैद्य प्राणाभिसर (प्राणों का सहायक) कहा जाता है।

द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश ! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति ॥ ५ ॥

प्राणाभिसर एवं रोगाभिसर चिकित्सक

प्राणाभिसर (Saviours of lives) चिकित्सक—अग्निवेश ! चिकित्सक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम रोगों के नाशक और प्राणों के सहायक, इनको प्राणाभिसर कहा है।

रोगाभिसर (Votaries of Diseases) चिकित्सक—ये रोगों के सहायक होते हैं और प्राणों के विनाशक।

वक्तव्य—चरक सू० अ० ११ (तिस्रैषणीय) में—छद्मचर, सिद्धसाधित और प्राणाभिसर भेद से तीन प्रकार के चिकित्सकों की गणना की गयी है। यहाँ प्रथम दो प्रकार के चिकित्सकों का अन्तर्भाव रोगाभिसर में कर दिया है, यह तन्त्रकार का अपना वर्णन प्रकार है।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवंस्ते कथमस्माभिर्वेदितव्या भवेयुरिति ॥ ६ ॥

अग्निवेश का प्रश्न—इस प्रकार चिकित्सकों के भेदों का वर्णन करने वाले भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—उनको हम कैसे समझें कि ये प्राणाभिसर चिकित्सक हैं और ये रोगाभिसर हैं ?

भगवानुवाच—य इमे कुलीनाः पर्यवदातश्रुताः परिदृष्टकर्माणो दक्षाः शुचयो जितहस्ता जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञाश्च ते ज्ञेयाः प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम् ।

प्राणाभिसर चिकित्सक के लक्षण—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—जो कुलीन (अच्छे कुल में उत्पन्न) हों, जिनको शास्त्र का निर्भ्रान्त ज्ञान हो, जिन्होंने चिकित्सा तथा औषध निर्माण को देखा तथा स्वयं किया हो, जो व्यवहार में निपुण हों, जो पवित्र रहते हों, जो जितहस्त (शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि के प्रयोग में जिनका हाथ अभ्यस्त हो गया हो) हों, जो जितेन्द्रिय हों, जिनके पास चिकित्सा की सभी सामग्री तय्यार हो, जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ सभी कार्यक्षम हों, जो रोग तथा रोगी की प्रकृति को जानते हों तथा जो प्रतिपत्ति (रोगों की उत्पत्ति आदि कारणों) को जानने वाले हों उनको रोगों का नाशक प्राणाभिसर जानना चाहिये।

तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने प्रकृतिविकारज्ञाने च, निःसंशया सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयानां च रोगाणां समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषज्ञाने व्यपगतसन्देहा , त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससङ्ग्रह[1]व्याकरणस्य सत्रिविधौषधग्रामस्य प्रवक्तारः, पञ्चत्रिंशतो मूलफलानां चतुर्णां च स्नेहानां पञ्चानां च लवणानामष्टानां च मूत्राणामष्टानां च क्षीराणां क्षीरत्वग्वृक्षाणां च षण्णां शिरोविरेचनादेश्च पञ्चकर्माश्रयस्यौषधगणस्याष्टाविंशतेश्च यवागूनां द्वात्रिंशतश्चूर्णप्रदेहानां षण्णां च विरेचनशतानां पञ्चानां च कषायशतानां प्रयोक्तारः, [2]स्वस्थवृत्तविहितभोजनपाननियमस्थानचङ्क्रमणशयनासनमात्राद्रव्याञ्जनधूमनावनाभ्यञ्जनपरिमार्जनवेगाविधारणव्यायामसात्म्येन्द्रियपरीक्षोपक्रमणसद्वृत्तकुशलाः, चतुष्पादोपगृहीते च भेषजे षोडशकले सविनिश्चये सत्रिपर्येषणे सवातकलाकलज्ञाने व्यपगतसन्देहाः,

चतुर्विधस्य च स्नेहस्य [3]चतुर्विंशत्युपनयस्योप[4]कल्पनीयस्य चतुःषष्टिपर्यन्तस्य च व्यवस्थापयितारः,

१. 'संग्रहः संकलय्य कथनं, व्याकरणं च विवरणम्' शिवदाससेनः।
२. 'स्वस्थवृत्तावपि च भोजनपान-' इति पा०।
३. 'चतुर्विंशत्युपनयस्येति उपनयो विचारणा' शिवदाससेनः।
४. 'उपकल्पनीयस्य' इति ह. पु. न पठ्यते।

बहुविधविधानयुक्तानां च स्नेह्यस्वेद्यवम्यविरेच्यविविधौषधोपचाराणां च कुशलाः, शिरोरोगादेर्दोषांशविकल्पजस्य च व्याधिसङ्ग्रहस्य सक्षयपिडकाविद्रधेस्त्रयाणां च शोफानां बहुविधशोफानुबन्धानामष्टाचत्वारिंशतश्च रोगाधिकरणानां चत्वारिंशदुत्तरस्य च नानात्मजस्य व्याधिशतस्य तथा विगर्हितातिस्थूलातिकृशानां सहेतुलक्षणोपक्रमाणां स्वप्नस्य च हिताहितस्यास्वप्नातिस्वप्नस्य च सहेतूपक्रमस्य षण्णां च लङ्घनादीनामुपक्रमाणां सन्तर्पणापतर्पणजानां च रोगाणां सरूपप्रशमनानां शोणितजानां च व्याधीनां मदमूर्च्छायसंन्यासानां च सकारणरूपौषधोपचाराणां कुशलाः, कुशलाश्चाहारविधिविनिश्चयस्य प्रकृत्या च हिताहितानामाहार[1]विकाराणामग्रचसङ्ग्रहस्यासवानां च चतुरशीतेर्द्रव्यगुणकर्मविनिश्चयस्य रसानुरससंश्रयस्य सविकल्पकवैरोधिकस्य द्वादशवर्गाश्रयस्य चान्नपानस्य सगुणप्रभावस्य सानुपानगुणस्य [2]नवविधस्यार्थसङ्ग्रहस्याहारगतेश्च हिताहितोपयोगविशेषात्मकस्य च शुभाशुभविशेषस्य धात्वाश्रयाणां च रोगाणां सौषधसङ्ग्राहाणां दशानां च प्राणायतनानां यं च वक्ष्याम्यर्थेदशमहामूलीये त्रिंशत्तमाध्याये तत्र च कृत्स्नस्य तन्त्रोद्देशलक्षणस्य तन्त्रस्य च [3]ग्रहणधारणविज्ञानप्रयोगकर्मकार्यकालकर्तृकरणकुशलाः, कुशलाश्च स्मृतिमतिशास्त्रयुक्तिज्ञानस्यात्मनः शीलगुणैरविसंवादनेन च सम्पादनेन सर्वप्राणिषु चेतसो मैत्रस्य मातापितृभ्रातृबन्धुवत्, [4]एवंयुक्ता भवन्त्यग्निवेश ! प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणामिति ॥७॥

रोगनाशक-प्राणरक्षक वैद्य—इस प्रकार के चिकित्सक शरीर ज्ञान में, शरीर की उत्पत्ति के ज्ञान में, प्रकृति ज्ञान में और प्रकृति के विकार ज्ञान में सन्देहरहित होते हैं। रोगों के सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य (कष्ट से ठीक होने योग्य), याप्य (चलाने योग्य, चिकित्सा छोड़ देने पर पुनः पूर्ववत् हो जाने वाला रोग), प्रत्याख्येय (असाध्य), भेदों को भलीभांति जानने वाला, रोगों के हेतु पूर्वरूप, लक्षण, वेदना, उपशय आदि ज्ञान में जो सन्देहरहित हों, तीन प्रकार (हेतु, लक्षण, औषध) के आयुर्वेदीय सूत्र का संग्रह (संक्षेप), व्याकरण (विस्तार) के ज्ञान के साथ तीन प्रकार के औषधसमूह (पार्थिव, जाङ्गम, औद्भिद अथवा दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय) का व्याख्यान करने वाले होते हैं।

पैंतीस मूलिनी तथा फलिनी संज्ञक द्रव्यों का, चार प्रकार के महास्नेहों का, पाँच प्रकार के लवणों का, आठ प्रकार के मूत्रों का, आठ प्रकार के दुग्धों का, छः प्रकार के दूध वाले वृक्षों का जिनकी त्वचा चिकित्सा में प्रयुक्त होती है, शिरोविरेचन आदि पंचकर्म में प्रयुक्त होने वाले औषधद्रव्यों का, अट्ठाईस प्रकार की यवागू का, बत्तीस प्रकार के चूर्णों तथा प्रदेहों का, छः सौ विरेचनों का एवम् पाँच सौ कषायों का प्रयोग करने वाले, स्वस्थवृत्त में कहे गये भोजन, पान, नियम, स्थान (निवास), चंक्रमण (घूमना-फिरना), शयन (सोना), आसन (बैठना), मात्रा, द्रव्य, अञ्जन, धूम, नावन (नस्य), अभ्यञ्जन, परिमार्जन, वेगों को न रोकना, वेगों को रोकना, व्यायाम, सात्म्य, इन्द्रियों की परीक्षा तथा सद्वृत्त के ज्ञान में निपुण होते हैं। सोलह गुणों से युक्त चतुष्पाद (भिषक् , द्रव्य, उपस्थाता (परिचारक) और रोगी) से ग्रहण करने योग्य औषधद्रव्यों के निश्चय करने में, तीनों एषणाओं तथा वातकलाकल के ज्ञान में संदेहरहित होते हैं।

चार प्रकार के स्नेहों का प्रयोग करने में, चौबीस से चौंसठ प्रविचारणाओं तक की व्यवस्था करने वाले, अनेक प्रकार के विधि-विधानों से युक्त स्नेह्य (स्नेहन के योग्य), स्वेदन के योग्य, वमन के योग्य तथा विरेचन के योग्य, अनेक प्रकार के औषधोपचारों में कुशल, शिरोरोग आदि के दोषों की अंशांश कल्पना के अनुसार होने वाले रोगसमूह के संग्रह, क्षय, पिडका तथा विद्रधि, तीन प्रकार के (वातज, पितज, कफज) शोथ एवम् शोथ के अनेक अप्रधान भेद, च० सू० १९ वें अध्याय में वर्णित अड़तालीस रोगों का प्रकरण, एक सौ चालीस प्रकार के अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले च० सू० २० वें अध्याय में वर्णित रोगों, निन्दनीय अतिस्थूल तथा अतिकृश होने के कारण, लक्षण, चिकित्सा में, हित तथा अहित स्वप्न ज्ञान में, अस्वप्न (निद्रानाश) और अतिस्वप्न के निदान

१. 'आहारविहाराणाम्' इति पा०।
२. 'नवविधस्य 'चरः शरीरावयवादेः' इत्यादेः' चक्रः।
३. 'गृहीतस्योत्तरकालस्मरणं धारणं, विज्ञानमर्थतो ज्ञानं, प्रयोगश्चिकित्साप्रयोगः, कर्म अनेकविधचिकित्साकरणं, कार्यं धातुसाम्यं, कालः क्रियाकालः; कर्तेह भिषक् ; करणं भेषजम्' चक्रः।
४. 'एवमुक्ताः' इति पा०।

तथा चिकित्सा-ज्ञान में, छः प्रकार के लंघन, बृंहण, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन, स्तम्भन चिकित्सा भेदों के ज्ञान में, सन्तर्पण तथा अपतर्पणजनित रोगों के लक्षण और चिकित्सा में, रक्तविकृति से होने वाले रोगों, मद, मूर्च्छा तथा सन्यास रोगों के हेतुलक्षण और चिकित्सा में कुशल होते हैं।

आहार विधि-विधान के निश्चय में, स्वाभाविक रूप से हितकर एवम् अहितकर आहार की विकृतियों के ज्ञान में अग्रय (प्रधान) द्रव्यों के संग्रह ज्ञान में, चौरासी प्रकार के आसव, रस तथा अनुरस के आश्रित द्रव्यगुण के निश्चय में, वैरोधिक (परस्पर विरुद्ध) द्रव्यों के आहार विकल्प के ज्ञान में, बारह वर्गों में कहे गये अन्नपान और उनके गुण, प्रभाव, अनुपान के गुण, नौ प्रकार के परीक्ष्य विषय का संग्रह, आहार की गति, हिताहित उपयोग के भेद से शुभ तथा अशुभ फल के ज्ञान में, रसादि धातुओं के आश्रित रोग और उनकी चिकित्सा संग्रह के ज्ञान में जो कुशल हैं, जिनका अगले 'अर्थे दशमहामूलीय' नामक ३० वें अध्याय में वर्णन किया जायगा, वहाँ सम्पूर्ण तन्त्र के उद्देश्य, लक्षण तथा शास्त्र के ग्रहण, धारण, विज्ञान, प्रयोग, कर्म (चिकित्सा), कार्य (धातुओं की समता), काल, कर्ता, चिकित्सक तथा करण (साधनरूप औषध) के ज्ञान में कुशल होते हैं।

जो स्मृति, मति (बुद्धि), शास्त्र युक्ति (शास्त्रयोजना) तथा ज्ञान द्वारा अपने शील एवं सद्गुणों की एकता से सभी प्राणियों के हृदय के अनुकूल मित्रता के साथ माता, पिता, भाई, बन्धुजनों के समान सभी को समझते हैं, ऐसे व्यक्ति प्राणाभिसर (प्राणों की रक्षा करने में सहायक) एवम् रोगों का नाश करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकरण में चरक सूत्रस्थान अध्याय १ से ३० तक के चिकित्सोपयोगी विषयों के ज्ञान से पूर्ण व्यक्ति को 'प्राणाभिसर' कहा गया है। इसके विपरीत (उक्त विषयों को न जानने वाले) व्यक्ति को 'रोगाभिसर' की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार के वैद्यों की निन्दा की गयी है।

अतो [1]विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिषक्छद्मप्रतिच्छन्नाः कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि ॥ ८ ॥

रोगाभिसर की परिभाषा—उपर्युक्त प्राणाभिसर चिकित्सक के गुणों के विपरीत रोगों को बढ़ाने में सहायक, रोगियों के प्राणों के विनाशक वैद्यों के वेश में छिपे दुष्ट समाज के लिये काँटे के सदृश चुभने वाले समाज में कपटवेशधारी बनकर राजाओं के प्रमाद से राष्ट्र में घूमा करते हैं अथवा प्राणियों का संहार कर डालते हैं।

तेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति—अत्यर्थं वैद्यवेशेन श्लाघमाना विशिखान्तरमनुचरन्ति कर्मलोभात्, श्रुत्वा च कस्यचिदातुर्यमभितः परिपतन्ति, संश्रवणे चास्यात्मनो वैद्यगुणानुच्चैर्वदन्ति, यश्चास्य वैद्यः प्रतिकर्म करोति तस्य च दोषान् मुहुर्मुहुरुदाहरन्ति, आतुरमित्राणि च प्रहर्षणोपजापोपसेवाभिरिच्छन्त्यात्मीकर्तुं, स्वल्पेच्छुतां चात्मनः ख्यापयन्ति, कर्म चासाद्य मुहुर्मुहुरवलोकयन्ति दाक्ष्येणाज्ञानमात्मनः प्रच्छादयितुकामाः, व्याधिं चापावर्तयितुमशक्नुवन्तो व्याधितमेवानुपकरणम[2]परिचारकमनात्मवन्तमुपदिशन्ति, अन्तगतं चैनमभिसमीक्ष्यान्यमाश्रयन्ति देशमपदेशमात्मनः[3] कृत्वा, प्राकृतजनसन्निपाते चात्मनः कौशलमकुशलवद्वर्णयन्ति, [4]अधीरवच्च धैर्यमपवदन्ति धीराणां, विद्वज्जनसन्निपातं (चाभिसमीक्ष्य) प्रतिभयमिव कान्तारमध्वगाः परिहरन्ति दूरात्, यश्चैषां कश्चित् सूत्रावयवो भवत्युपयुक्तस्तमप्रकृते प्रकृतान्तरे वा सततमुदाहरन्ति, न चानुयोग[5]मिच्छन्त्यनुयोक्तुं वा, मृत्योरिव चानुयोगादुद्विजन्ते, न चैषामाचार्यः शिष्यः सब्रह्मचारी वैवादिको वा कश्चित् प्रज्ञायत इति ॥९॥

रोगाभिसर के लक्षण—उन रोगाभिसर चिकित्सकों की यह विशेष पहचान होती है। इस प्रकार के

१. 'विपर्ययेण' ग.।
२. 'अपचारिकम्' इति पा०।
३. 'आत्मनोऽपदेशं नाम देशाद्यपह्नवरूपं कपटं कृत्वा' शिवदाससेनः।
४. 'अधीरवदिति-उच्चाटरवाः सन्तः' चक्रः।
५. 'अनुयोगं पृच्छाम्' चक्रः।

लोग उत्तम वैद्य का वेश बनाकर आत्मप्रशंसा करते हुए चिकित्सा (कोई रोगी हमारे चंगुल में फंस जाय इस) लोभ से गलियों, चिकित्सालयों अथवा वैद्यों की दूकानों के अगल-बगल घूमते रहते हैं (वास्तव में विशिखा में कब प्रवेश करना चाहिये, इसके लिये सुश्रुत सू० अ० १०।३ देखें।) और किसी के रोगी होने का समाचार पाते ही चारों ओर से वहाँ आकर जुट जाते हैं। अपने वैद्यगुणों का वर्णन इस प्रकार जोर से करते हैं कि जिससे रोगी भलीभांति सुन सके। जो इस रोगी की चिकित्सा कर रहा हो उसके (सत्य अथवा मिथ्या) दोषों को बार-बार कहते रहते हैं। रोगी के मित्रों को प्रसन्न करने से, फूट डालने से, सेवा आदि से अपना बनाना चाहते हैं। हमको इससे कोई इस प्रकार का लोभ नहीं है, हम तो केवल रोगी का कल्याण चाहते हैं ऐसा प्रकट करते हैं। यदि वे रोगी को प्राप्त कर लेते हैं और उनको चिकित्सा करनी पड़ती है तो अपनी मूर्खता को छिपाने की दृष्टि से रोगी को बार-बार देखा करते हैं। जब वे रोग को हटाने में अपने को असमर्थ देखते हैं तो कहने लगते हैं—रोगी के पास कोई सामग्री नहीं है, न कोई सेवक ही है, अथवा यह तो अपथ्य कर लेता है, आत्मवान् नहीं है अर्थात् चिकित्सा से घबड़ा जाता है। जब देखते हैं कि रोगी मरने वाला है या अब बच नहीं सकता तब ये अपना रूप, नाम बदलकर दूसरे देश में चले जाते हैं, मूर्ख लोगों के समूह में अपनी कुशलता (चतुरता) का वर्णन अकुशल पुरुषों की भांति करने लगते हैं, धीर पुरुषों के धैर्य की निन्दा अधीर पुरुषों की भांति करते हैं। विद्वानों के समूह को देखकर दूर से ही उस प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पथिक भयंकर वन को। यदि इनको चिकित्साशास्त्र के किसी अवयव विशेष का ज्ञान होता है तो उसको ये मौके-बेमौके हमेशा कहा करते हैं। ये लोग नहीं चाहते कि इनसे आयुर्वेदशास्त्र के सम्बन्ध में कोई कुछ प्रश्न करे। शास्त्रीय प्रश्नों से तो मृत्यु के समान घबड़ाते हैं। इन लोगों का न कोई आचार्य (गुरु) होता है, न कोई शिष्य, न सब्रह्मचारी (सहपाठी) और न इनके साथ कोई आयुर्वेद के सम्बन्ध में वाद (शास्त्रार्थ) करने वाला ही देखा, सुना जाता है।

भवन्ति चात्र—

भिषक्छद्म प्रविश्यैवं व्याधितांस्तर्कयन्ति ये। [1]वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिको द्विजान् ॥

छद्मभिषक् की कार्य-प्रणाली—उपर्युक्त प्रकार से कपटी वैद्य रोगियों के हृदय में (अपनी प्रशंसा तथा वेश आदि के प्रभाव से) तर्कना (अपूर्व कुतूहल) उत्पन्न कर देते हैं, अर्थात् इस वैद्य की चिकित्सा से हमारी रोगमुक्ति हो जायगी, इस प्रकार का कुतूहल उत्पन्न कराकर उस प्रकार रोगियों को फंसा देते हैं, जैसे अपना जाल फैलाकर बहेलिया पक्षियों को फंसा लेता है।

श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः। वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥११॥

मृत्यु के दूत वैद्य—शास्त्र, ज्ञान, चिकित्सा का प्रत्यक्ष कर्माभ्यास, क्रिया, काल, मात्रा इनके ज्ञान से बहिष्कृत (सर्वथा अनभिज्ञ) वैद्य-वेशधारियों का सामूहिक रूप से बहिष्कार कर देना चाहिये क्योंकि ये पृथ्वी के ऊपर यमराज के दूत बनकर घूमा करते हैं।

वृत्तिहेतोर्भिषङ्मानपूर्णान् [2]मूर्खविशारदान्। वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥१२॥

वर्जनीय वैद्य—विवेकशील रोगी को चाहिये कि वह ऐसे वैद्यों को छोड़ दे अर्थात् इनसे चिकित्सा न कराये, जो मूर्खता में श्रेष्ठ हों, आजीविका के लिये ही जिन्होंने चिकित्सक का पेशा अपना लिया हो और जो घमण्डी वैद्य हों, क्योंकि ये वैद्य हवा से पेट भरे हुए साँपों की भांति क्रोधी, अविवेकी अतएव शीघ्र रोगी के प्राणनाशक होते हैं।

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः। जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥

पूज्य वैद्य के लक्षण—जो शास्त्रों के मर्म को जानने वाले, लोकव्यवहार में कुशल, कायेन, वाचा, मनसा जो पवित्र हों, चिकित्सा-कर्म में चतुर, जितहस्त अर्थात् जो पीयूषपाणि हों (जिनका हाथ यशस्वी हो) और

१. 'वीतंसः पक्षिबन्धनजालम्' शिवदाससेनः।
२. 'मुखविशारदान्' ग.। 'मुखविशारदाः: स्वमुखेनैव स्ववैशारद्यं वदन्तः' गङ्गाधरः।

जितेन्द्रिय हों उनके लिये सदैव नमस्कार किया गया है, अर्थात् वे समाज तथा रोगी द्वारा प्रणम्य (आदरणीय) होते हैं।

तत्र श्लोकः—

दशप्राणायतनिके श्लोकस्थानार्थसङ्ग्रहः। द्विविधा भिषजश्चोक्ताः प्राणस्यायतनानि च ॥१४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने दशप्राणायतनीयो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस दशप्राणायतनीय नामक अध्याय में श्लोक (पुण्य, प्रमुख, आदि) स्थान के विषयों का संग्रह, दो प्रकार के वैद्य १. प्राणभिसर, २. रोगाभिसर और दस प्राणायतनों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न पण्डित **तारादत्तत्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेषवक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में दशप्राणायतनीय नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

अथातोऽर्थेदशमहामूलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

दशप्राणायतनीय नामक अध्याय के बाद अब अर्थेदशमहामूलीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—उन्तीसवें अध्याय में प्राणों के दस प्रमुख स्थानों का वर्णन किया गया है. जिनमें हृदय भी एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, उसी का वर्णन यहाँ किया जारहा है।

अर्थे दश महामूलाः [1]समासक्ताः महाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः ॥ ३ ॥

हृदय-प्रकरण

(Topic of Heart)

हृदय का स्वरूप—अर्थ (हृदय) में महामूल तथा महाफल वाली दस (सिरायें) लगी हुई हैं। महत्, अर्थ और हृदय ये परस्पर एक दूसरे के पर्याय हैं, ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है।

वक्तव्य—यदि भगवान् आत्रेय यहाँ हृदय के अर्थ और महत् पर्यायों का उल्लेख न करते तो विषय की अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन हो जाती, क्योंकि अन्यत्र उक्त शब्द हृदय के पर्याय के रूप में उपलब्ध नहीं होते। अस्तु।

महामूलाः—'महत् (हृदयं) मूलं यासां ताः'। अर्थात् महत् = हृदय ही मूल है जिन सिराओं का वे महामूला (सिरा) कही गयी हैं। एक ही अवयव का कार्य-भेद से भिन्न-भिन्न नाम रखा गया है। देखें—'ध्मानात् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः'। च० सू० अ० ३। सुश्रुत में इन सिराओं का एक नाम 'सववहा' है। इसका कारण है ये यथावसर तीनों दोषों का वहन करती हैं। देखें—सु० शा० अ० ७।१६।

१. 'सिरासक्ताः' इति पा०।

महाफलाः—'महत् (हृदयम्) एव फलं यासां ताः'। अर्थात् हृदय ही है फल (मूल उपलब्धि) जिनकी ऐसी वे सिरायें हैं। इनका कार्य है ओजो धातु का वहन करके शरीर को ओजस्वी बनाना।

दस समासक्ताः—हृदय से लगी हुई ये दस सिरायें हैं। 'समासक्ताः' के स्थान पर 'सिरासक्ताः' पाठ 'गणनाथसेन' ने स्वीकृत किया है, जो समीचीन प्रतीत होता है। भगवान् धन्वन्तरि ने भी 'दश वक्षसि' सु० शा० अ० ७।७ में स्वीकार किया है। सुश्रुत में हृदय को 'शिरामर्म' कहा गया है। देखें—सु० शा० अ० ६।

आत्रेय के उक्त पद्य का स्पष्ट प्रमाण आचार्य भेड के निम्न पद्य में देखें—'अर्थ इत्याह हृदयं तस्मिन् धमनयो दश। ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रश्चाप्यधः क्रमात्॥ ताभ्यो मूलशिराभ्यश्च भिद्यन्ते नैकेधा सिराः'॥ भेडसं० सू० अ० २०। ये सिरायें आज भी देखी जाती हैं। देखें—शरीरक्रियाविज्ञान' में हृदय की संरचना।

हृदय—सुश्रुत में हृदय का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—'पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रस् तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति'॥ सु० शा० अ० ४। **हृदयं हृत्—**यह रक्त को ले जाने एवं लाने वाली शिराओं का स्थल है। या यों कहिये कि शिरा ने "हृत्" का रूप धारण कर लिया है या शिरा "हृत्" रूप में परिणत हो गयी है। यह 'हृदय' रक्ताशय भी है क्योंकि रक्त इसमें आकर एक क्षण के लिये ठहरता है और रुककर फिर चल देता है।

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥५॥

हृदय के आश्रित षडंग आदि—छः अंगों (२ जांघें, २ भुजायें, १ शिरःप्रदेश और १ मध्यभाग) से युक्त शरीर, विज्ञान (बुद्धितत्व), पाँच इन्द्रियाँ, उनके पाँचों विषय, सगुण आत्मा, चेतस् (मन) चिन्त्य (मन का विषय) ये सभी हृदय में आश्रित रहते हैं।

प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। [1]गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ ५ ॥

शरीर में हृदय का स्थान—पहले श्लोक में कहे गये इन भावों (शरीरादि) की प्रतिष्ठा (Resting) अथवा आश्रय के लिये ही हृदय की आवश्यकता होती है। हृदय के सम्बन्ध में विचार करने वालों ने इसको गोपानसियों के लिये आगारकर्णिका के समान उपयुक्त माना है।

वक्तव्य—जैसे आगार (भवन) कर्णिका (शहतीर=Beam) के ऊपर गोपानसियाँ (छत के आधार के लिये रखी गयी धरनें=Rafters) स्थिर रहती हैं, उसी भांति हृदय पर उपर्युक्त भावों की स्थिति होती है।

यद्यपि कोषकार अमरसिंह आयुर्वेदज्ञ नहीं थे परन्तु विद्वान् एवम् देशकालज्ञ तो थे ही। अतः उन्होंने मन के पर्यायवाची शब्दों के साथ हृदय का ग्रहण करने के पश्चात् पुनः मनुष्यवर्ग में स्वतन्त्र रूप से हृदय शब्द का उल्लेख किया है। देखें—प्रथम हृदय शब्द जो मनस् का पर्यायवाची है वह प्रथम काण्ड 'कालवर्ग' में दिया है और दूसरा शरीर के मध्य भाग में स्थित हृदय का उल्लेख द्वितीय काण्ड के 'मनुष्यवर्ग' में किया है।

यही द्वितीय काण्ड का 'हृत्' शब्द ही आज 'हार्ट' (Heart) है। इसका अर्थ है—'हरति रक्तं, ह्रियते रक्तं वा अनेन' जो रक्त को लेता है अथवा जिसके द्वारा रक्त लिया जाता है या शरीर में प्राप्त किया जा सकता है, यही इसका प्रमुख कार्य है। ध्मानवाली शिराओं को इसलिये प्राणवहा कहा जाता है कि हृत् के अपने कार्य से वञ्चित (फेल) होते ही मृत्यु हो जाती है। ध्यान देने की बात है कि मस्तिष्क के फेल होते ही मृत्यु नहीं होती अपितु मूर्च्छित अवस्था में रोगी कई घण्टों तक एवम् अभिन्यास में सप्ताहों तक इसलिये जीवित रह लेता है कि उसका हृदय गतिशील बना रहता है। अतः मस्तिष्क तथा हृदय अलग-अलग स्थानों में रहने वाले भिन्न-भिन्न अवयव हैं।

हृदय का निर्माण रक्त एवम् कफ के योग से होता है। यह वक्षस् के फुफ्फुसों के मध्य में स्थित होता है और इसकी आकृति अधोमुख पुण्डरीक (कमल) के सदृश होती है।

हृदय के सम्बन्ध में आज के विद्वानों में विवाद है। जहाँ कुछ विद्वान् हृदय शब्द से हार्ट (Heart) का ग्रहण करते हैं, वहाँ दूसरे विद्वान् मस्तिष्क के वेंण्ट्रीकल का भी ग्रहण करते हैं। सुश्रुत में हृदय को चेतना का अधिष्ठान मानते हुए लिखा है—'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्'॥ सु० शा० अ० ४।३४॥

१. 'गोपानस्यो गृहाच्छादनाधारकाष्ठानि, आगारकर्णिका गृहाच्छादनकाष्ठनिबन्धनी' चक्रः।

तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति । [1]यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ॥६॥

हृदय के सुकुमारता आदि गुण—उस हृदय पर आघात (चोट लगने) से मूर्च्छा (बेहोशी) और भेद (फट जाने या आपरेशन आदि के अवसर पर चीर दिये जाने) से मानव मृत्यु की ओर जाता है। जो स्पर्श विज्ञान, धारि ('शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्'। अर्थात् आयु) और तत् (वह शरीर) ये सभी हृदय पर आश्रित हैं।

वक्तव्य—हृदय की धड़कन के सम्यक् ज्ञान के लिये प्राचीन काल में नाड़ी विज्ञान था, आज भी है किन्तु वैज्ञानिक जगत् आज इसके लिये स्टेथोस्कोप (Stethoscope) आदि यन्त्रों का प्रयोग करता है।

धारि—जीवन (प्राणों) को धारण करने से ही इसको धारि कहा है। इसी को आयु का प्रमाण भी माना जाता है, अर्थात् जब तक हृदय में धड़कन होती रहती है, तभी तक मनुष्य जीवित रहता है।

तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रहः । हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं [2]चिकित्सकैः ॥ ७ ॥

ओजस् आदि का स्थान—वह हृदय ओजो धातु का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, वहीं (हृदय में ही) चेतनता का संग्रह है। इसीलिये चिकित्सकों ने हृदय को महत् (महत्त्वपूर्ण अथवा शारीरिक अवयवों में श्रेष्ठ) और अर्थ (ऋ गतौ धातु से उणादि थन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न, अर्थात् गतिमान्) संज्ञा दी है।

तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥

रक्तवाहिनियों का केन्द्र—उस हृदय रूप मूल द्वारा दस रक्तवाहिनी सिरायें महामूला (हृदय है मूल जिनका ऐसी) मानी जाती हैं। इस शरीर में वे ही ओजस् धातु का वहन और चारों ओर धमन करती हैं, जिनके कारण सम्पूर्ण शरीर में रक्त का सञ्चार होता है।

वक्तव्य—आधुनिक दृष्टि से उक्त दस धमनियों तथा सिराओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. महाधमनी (Aorta) सम्पूर्ण शरीर में रक्त पहुँचाने वाली।

२. दक्षिण अलिन्द (Right Auricle) या दक्षिण उत्कोष्ठ।

३. उत्तरा महासिरा (Superior Venacava) और

४. अधरा महासिरा (Inferior Venacava) उक्त २ से ४ तक की सिराओं से शरीर का सम्पूर्ण रक्त हृदय में आता है।

५. वक्षवाहिनी (Thoracic Duct) यह सौम्य रस को हृदय के रक्त में मिलाती है।

६. दक्षिणनिलय (Right Ventricle) और

७. फुफ्फुसीया धमनी (Pulmonary Arteries) इन (६, ७) से रक्त शुद्ध होने के लिये फुफ्फुसों में जाता है।

८. वाम अलिन्द (Left Auricle) यह शुद्ध रक्त का वहन करता है।

९. फुफ्फुसीया सिरा (Pulmonary Veins) यह ८ से सम्बद्ध है।

१०. वामनिलय (Left Ventricle) यह महाधमनी से सम्बद्ध है।

येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः । यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥ ९ ॥
[3]यत् सारमादौ गर्भस्य यत्तद् गर्भरसाद् रसः । [4]संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति [5]यत् पुरा ॥१०॥

---

१. 'स्पर्शो विज्ञायतेऽनेनेति स्पर्शं वा विजानातीति स्पर्शविज्ञानं, तस्यैव विशेषणं–धारीति, धारि तु शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः; तेन यः शरीरादिसंयोगः स्पर्शनेन विजानाति सर्वं ज्ञेयं, यश्चायं शरीरधारणाद्धारीत्युच्यते स हृदि स्थितः' चक्रः।

२. 'चिकित्सिते' इति पा०।

३. 'यत्सारमादौ गर्भस्येति शुक्रशोणितसंयोगे जीवाधिष्ठितमात्रे यत्सारभूतं, तत्रापि तिष्ठति; यत्तद्गर्भरसाद्रस इति गर्भरसाच्छुक्रशोणितसंयोगपरिणामेन कललरूपात्, रस इति सारभूतं; संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरेति यदा हृदयं निष्पद्यमानं तदैव व्यक्तलक्षणं सत् हृदयमधितिष्ठति यदित्यर्थः; एतेन गर्भावस्थात्रयेऽपि तदोजस्तिष्ठतीत्युच्यते' चक्रः।

४. 'संवर्धमानम्' ग.।

५. 'यत् पुनः' इति कविराजगणनाथसेनसम्मतः, पाठः।

[1]यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम् । यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीव ति) महाफलाः ।

ओजस् का वर्णन—जिस ओजोधातु से तृप्त हुए सभी प्राणी जीवित रहते हैं, जिसके अभाव से सभी प्राणियों का जीवन नहीं रह सकता अर्थात् जिसके अभाव में प्राणियों की मृत्यु हो जाती है, जो गर्भ के आरम्भ से (शुक्र शोणित के) साररूप में, जो (गर्भ के कललावस्था में) रस के साररूप में रहता है और जो ओज हृदय के निर्माणकाल में उसमें प्रवेश करता है। जिस ओज के नाश होने से शरीर नष्ट हो जाता है, जो हृदय में आश्रित होकर जीवन धारण करने वाला है। जो शरीर के रस का स्नेह है (जैसे दूध में घी होता है ठीक वैसे ही रस में ओज की स्थिति है।) और जिसमें प्राण प्रतिष्ठित हैं। हृदय उसी (ओज) को ओजोवह स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में धमन करता है। इन ओजोवह स्रोतों को महाफला भी कहा जाता है। क्योंकि रस का महा (अन्तिम, महान्) फल ओजस् की प्राप्ति है। अथवा शरीर में जितनी भी ओजस्कर क्रियाएँ हैं, उन सबको करने वाली अर्थात् पूर्ति रूप फल देने वाली होने के कारण इनको महाफला कहते हैं।

ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात् सिराः ॥ १२ ॥

धमनी आदि का नामकरण—धमन-क्रिया के कारण धमनी, स्रवण-क्रिया के कारण स्रोतस् और सरण-क्रिया के कारण इनको सिरा कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत शा० अ० ९।३ में लिखित—'केचिदाहुः' के अनुसार सिरा, धमनी और स्रोतस् में कोई भेद नहीं है क्योंकि इन तीनों की निष्पत्ति आकाशतत्व के कारण हुई है, अतः इनमें सुषिरता (भीतर से खोखलापन) होता है। **दूसरा प्रमाण**—सिरा भी नाभिप्रभवा है और धमनी भी। देखें—सु० शा० अ० ९।२ तथा सु० शा० अ० ७ श्लोक ४-५, 'धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ' ॥ इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी रसवहन-कर्म की समानता के कारण सिरा और धमनी एक ही हैं।

धमनी में ध्मान होता है, इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—वास्तव में ध्मान सिरा एवम् स्रोतों में भी होता है, भले ही सुव्यक्त न हो क्योंकि धमन और सरण दोनों एक से कार्य हैं जो बिना वायु की सहायता के नहीं हो सकते। हृदय सिरामम है और उसी में नाभि से आने वाली सिरा मिलती है। हृदय से आगे चलने वाली सिराओं में धमन अधिक स्पष्ट हो जाता है, परन्तु वह भी रस या रसमय रक्त का ही वहन करती है और वही आगे चल कर बहुत प्रतानों के रूप फैल जाती है, अतः इसकी **स्रोतसंज्ञा** हो जाती है फिर भी यहाँ वे स्रोतस् रस वहन का ही कार्य करते हैं। यहाँ पहले की अपेक्षा धमन अस्पष्ट हो जाता है। अतः रसवहन की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं होता। यह मूलतः सच्चाई है।

धन्वन्तरि के मत से मूलतः सिराएँ ४० हैं परन्तु धमनियाँ २४ हैं। इनके परस्पर कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। आगे चलकर धन्वन्तरि भी इससे सहमत हो गये हैं कि सिरा और धमनी को एक ही मानना चाहिये 'सदृशागमकर्मत्वात्' अर्थात् शास्त्र में अनेक स्थानों पर सिरा एवम् धमनी को परस्पर एक दूसरे का पर्याय माना है।

आधुनिक मत के नुसार धमनी को—Artery, सिरा को—Vein, और स्रोतस् अथवा कोशिका को—Capillary कहते हैं।

तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता । परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतव ॥१३॥
हृद्यं यत् स्याद्यदोजस्य स्रोतसां यत् प्रसादनम् । तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥१४॥

हृदय की रक्षा के लिये आवश्यक—उस हृदय, उन महामूल वाली सिराओं और उस ओज की रक्षा करने के इच्छुक पुरुष को चाहिये कि वह विशेष करके मन को दुःख देने वाले कारणों का त्याग करे। जो हृदय के लिये हितकर हो, जो ओजोधातु को बढ़ाने वाला हो और जो ओजस् को ले जाने वाले स्रोतों को प्रसन्न करने वाला अर्थात् स्रोतों में रुकावट न डाले तथा उन स्रोत रूपी नालियों को साफ रख सके, ऐसे आहार-विहार, शान्ति तथा ज्ञान का प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये।

---

१. 'यस्यानाशान्न नाशोऽस्ति' इति पा०।

वक्तव्य—अशान्ति एवम् प्रज्ञापराध का हृदय पर विशेष रूप से अहितकर प्रभाव पड़ता है। उक्त १३वें पद्य में जो 'मन' शब्द का ग्रहण किया गया है उसका अर्थ यहाँ 'हृदय' ही है। देखें—ऊपर 'मनसो दुःखहेतवः' जिस पद्यांश का उल्लेख किया है, उसका अर्थ है—मन, अर्थात् हृदय को दुःखित करने या कराने वाला भाव, जिसके लिये दूसरा शब्द है 'अहृद्य'। अतएव १४ वें पद्य में 'हृद्यं यत्' पद की योजना की गयी है।

अथ खल्वेकं प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्धनानामेकं बृंहणानामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति। तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमं, वीर्यं बलवर्धनानां, विद्या बृंहणानाम्, इन्द्रियजयो नन्दनानां, तत्त्वावबोधो हर्षणानां, ब्रह्मचर्यमयनानामिति; एवमायुर्वेदविदो मन्यन्ते ॥१५॥

प्राणवर्धन आदि में श्रेष्ठ—अब प्राणों को बढ़ाने वालों में एक, बल को बढ़ाने वालों में एक, बृंहण भावों में एक, नन्दन (समृद्धि) कारक पदार्थों में एक, मन को प्रसन्न करने वालों में एक और अयनों (मार्गों) में एक सब में श्रेष्ठ होता है। उनमें प्राणियों के प्राणों को बढ़ाने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ अहिंसा, बल को बढ़ाने वालों में वीर्य (सातवां धातु शुक्र), बृंहणकारक भावों में विद्या, नन्दन (समृद्धि) कारक भावों में इन्द्रियजय, हर्षणकारक भावों में तत्त्वज्ञान तथा मार्गों में ब्रह्मचर्य को आयुर्वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ मानते हैं।

वक्तव्य—'विद्या बृंहणानाम्' से आगे के वर्णन में तन्त्रकार की दृष्टि आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अधिक प्रवृत्त हुई दिखती है। क्योंकि वास्तविक विद्यावान् कितनी संख्या में बृंहित दिखायी देते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है, हाँ इससे आध्यात्मिक बृंहण अवश्य होता है, क्योंकि 'कुतो विद्यार्थिनां सुखम्'।

तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः। तत्राह—**कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चोक्तानि भवन्तीति ॥ १६ ॥**

आयुर्वेदविद् के लक्षण

(Signs of Knowers of Ayurveda)

आयुर्वेदज्ञ के लक्षण—जो अलग-अलग वाक्यों, वाक्यों के अर्थों और अर्थों के अवयवों द्वारा तन्त्र (संहिता या शास्त्र) स्थान (स्थूल विभाग), अध्याय एवम् उनसे सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान के साथ प्रवचन करने वालों को आयुर्वेद का जानने वाला माना चाहिये। उस विषय में तन्त्रकार स्वयं कहता है—किस प्रकार तन्त्र आदि को वाक्य, वाक्यार्थ एवम् अर्थावयव द्वारा कहा जा सकता है?।

अत्रोच्यते—तन्त्रमार्षं कार्त्स्न्येन यथाम्नायमुच्यमानं वाक्यशो भवत्युक्तम् ॥ १७ ॥

वाक्यशः का उदाहरण—तन्त्रकार द्वारा इस विषय में कहा जा रहा है—आर्षतन्त्र (ऋषि प्रणीत शास्त्र) जिस प्रकार आम्नात (कहा गया) है उसका उसी प्रकार पूर्णरूप से अध्ययन करना 'वाक्यशः' कहा जाता है।

बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं वाग्भिर्व्याससमासप्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनयुक्ताभिस्त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्याभिरुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम् ॥ १८ ॥

वाक्यार्थशः का उदाहरण—बुद्धि द्वारा अर्थ के तत्व को भलीभाँति जानकर कहीं व्यास (विस्तार), कहीं समास (संक्षेप) से, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इनसे युक्त एवम् त्रिविध (मन्द बुद्धि, मध्य बुद्धि, तीक्ष्ण बुद्धि) शिष्यों के बुद्धिगम्य (समझने योग्य) वाक्यों द्वारा कहा जाना 'वाक्यार्थशः' कहा जाता है।

वक्तव्य—व्यास—कोष, व्याकरण, समास उदाहरण-प्रत्युदाहरण आदि द्वारा विस्तारपूर्वक जो शास्त्र का व्याख्यान किया जाता है, उसे 'व्यास' वृत्ति कहते हैं। **समास**—संक्षेप रूप में विद्वानों के बीच जो वक्तव्य दिया जाता है, उसे 'समास' कहते हैं। क्योंकि 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः'। **प्रतिज्ञा**—जैसे–'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्'। यह प्रतिज्ञा है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। **हेतु**—इसका अर्थ है कारण। यह १. समवायि, २. असमवायि, ३. निमित्त भेद से तीन प्रकार का होता है। वेदान्ती समवायिकारण को ही उपादान कारण कहते हैं। **उदाहरण**—उस कठिन विषय को लोक-व्यवहार में आने वाले उदाहरणों

(दृष्टान्तों) द्वारा समझाना, इससे मूर्खों तथा विद्वानों (दोनों) को भलीभांति समझाया जा सकता है। **उपनय**—इस विधि का प्रदर्शन आत्रेय ने अपने तन्त्र में भवति चात्र, तत्र श्लोकाः, आदि द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया है। **निगमन**—प्रतिज्ञा का पुनः हेतु निर्देश के माध्यम से सम्पादन करना ही निगमन है। इनका स्पष्टीकरण चरक विमानस्थान के 'रोगभिषग्जितीय' अध्याय में देखें।'

[1]तन्त्रनियतानामर्थदुर्गाणां पुनर्विभावनैरुक्तमर्थावयवशो भवत्युक्तम् ॥ १९ ॥

अर्थावयवशः का उदाहरण—तन्त्र में कहे गये कठिन शब्दों के अर्थों को पुनः (अपने शब्दों द्वारा) कहना अर्थात् उनके पारिभाषिक अर्थों को समझाना, अर्थावयव नामक व्याख्यान का प्रकार कहा जाता है।

तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः—चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः?, किमायुः?, कस्मादायुर्वेदः?, किमर्थमायुर्वेदः?, शाश्वतोऽशाश्वतो वा?, कति कानि चास्याङ्गानि?; कैश्चायमध्येतव्यः?, किमर्थं च? इति ॥ २० ॥

कतिपय सम्भावित प्रश्न—उस अवसर पर यदि कुछ प्रश्नकर्ता हों और वे पूछने लगें कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों में किस वेद का उपदेश आयुर्वेद को जानने वाले चिकित्सक करते हैं? आयु किसे कहते हैं? किस कारण से इसको आयुर्वेद कहते हैं? यह आयुर्वेद किसलिये है? यह शाश्वत है? अथवा अशाश्वत (विनाशशील) है? कितने और कौन-कौन से इसके अङ्ग हैं? इस आयुर्वेद का अध्ययन किनको करना चाहिये? और किसलिये इसको पढ़ना चाहिये?।

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे [2]भक्तिरादेश्या, वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह, चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते ॥ २१ ॥

आयुर्वेद किस वेद का अङ्ग है?—आयुर्वेद किस वेद से सम्बन्धित है इस प्रकार का वैद्य से प्रश्न पूछे जाने पर चारों ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद में से अपनी भक्ति (सेवा) अथर्ववेद में दिखानी चाहिये। क्योंकि अथर्ववेद स्वस्त्ययन (कल्याणमार्ग), बलिकर्म, मङ्गल, होम (हवन), नियम, प्रायश्चित्त (पाप अथवा रोग मुक्ति के उपाय), उपवास (लंघन); मन्त्र आदि के परिग्रह से अर्थात् उपर्युक्त कृत्यों के विधानों के निर्देश से चिकित्सा का ही वर्णन करता है और चिकित्सा आयु के हित (सुखायु प्राप्ति) के लिये ही कही जाती है।

वेदं चोपदिश्यायुर्वाच्यं; तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ॥ २२ ॥

आयु क्या है?—उक्त प्रकार से वेद के विषयों का उपदेश करके आयु का उपदेश करना चाहिये। आयु, चेतनाऽनुवृत्ति (चेतना का शरीर के अनुकूल व्यवहार), जीवित, अनुबन्ध (शरीर के साथ लगा रहना या जुटा रहना) और धारि (जिस आयु = जीवन के कारण शरीर को सुरक्षित रखा जाता है) ये सभी शब्द आयु के पर्यायवाची अर्थात् समानार्थक हैं।

तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः; कथमिति चेत्? उच्यते—स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च, यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः। तत्रायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण ॥ २३ ॥

इसका नाम आयुर्वेद क्यों?—वह आयु का ज्ञान कराता है, अतः उसका नाम आयुर्वेद है। वह आयु का ज्ञान कैसे कराता है ऐसा यदि आप कहें, तो उसका उत्तर दिया जाता है—अपने लक्षणों से, सुख-असुख (दुःख) से, हित-अहित से और प्रमाण-अप्रमाण से। क्योंकि यह आयुष्य (आयु के लिये हितकर) और अनायुष्य (आयु के लिये अहितकर) द्रव्यों तथा उनके गुणों एवम् कर्मों का ज्ञान कराता है अतएव इसको

---

१. 'तन्त्रस्थितानां दुर्बोधार्थानां यत्पुनः प्रकाशनानि तैरुक्तं तन्त्रमवयवश उक्तं भवतीत्यर्थः' चक्रः।

२. 'अथर्ववेदे भक्तिः सेवेत्यर्थः, एतेन भिषक्सेव्यत्वेनाऽथर्ववेदस्यायुर्वेदत्वमुक्तं भवति' चक्रः। 'अथव वेदेऽस्योक्तिः' ग.।

आयुर्वेद कहते हैं। उनमें केवल आयुष्य एवम् अनायुष्य द्रव्य, गुण, कर्म इनका तन्त्र (संहिता) के उन-उन प्रकरणों द्वारा उपदेश (यथास्थान) किये जायेंगे।

तत्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावदिहैव[1] पूर्वाध्याये च। [2]तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः [3]समर्थानुगतबलवीर्ययशःपौरुषपराक्रमस्य [4]ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते; असुखमतो विपर्ययेण।

सुख, असुख आयु के लक्षण—इसी (चरकसंहिता) के प्रथम अध्याय के श्लोक ४१-४२ में तथा इसी अध्याय में (ऊपर 'तत्रायुश्चेतनानुवृत्ति०' २२ वां गद्य आदि) अपने लक्षणों द्वारा आयु का वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ उसके सुख और दुःख रूप का वर्णन करना है।

सुखायुयुक्त पुरुष—शारीरिक अथवा मानसिक रोगों से सर्वथा मुक्त युवावस्था में स्थित, प्रत्येक कार्य करने में समर्थ, बल, वीर्य, सुयश, पुरुषार्थ एवं पराक्रम से युक्त, ज्ञान (उचित-अनुचित विचारों से युक्त), विज्ञान (शिल्पशास्त्र = कला-कौशल आदि से परिपूर्ण) सभी इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयों के उपभोग में समर्थ, उत्तम सम्पत्तियों से शोभित, विविध प्रकार के सुख भोगों से युक्त, जिसके सभी कार्य पूर्ण हो जाते हैं अर्थात् जो सिद्धसंकल्प हैं, स्वतन्त्र होकर विचरण करने में समर्थ पुरुष की आयु सुखायु (सुखमय जीवन) कही जाती है, इसके विपरीत गुणों वाली आयु को दुःखायु या असुख आयु कहते हैं।

हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः [5]शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य [6]ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्[7]परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते; अहितमतो विपर्ययेण ॥ २४ ॥

हित, अहित आयु के लक्षण—सभी प्राणियों के शुभचिन्तक, दूसरे के धन की इच्छा न रखने वाले, सदा सत्य भाषण करने वाले, शान्तिपूर्वक कार्य करने वाले अथवा शान्ति व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ, किसी भी कार्य को सोच-समझ, जान-बूझकर करने वाले, सदैव सावधान रहने वाले, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का इस प्रकार सेवन करने वाले (जिससे एक दूसरे के मार्ग में बाधक न हो सके, यथा—'न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्'। रघुवंश।) पूजा के योग्य व्यक्तियों की पूजा करने वाले ('अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दारिद्र्यं मरणं भयम्' ॥ नीति।) ज्ञानवान्, विज्ञानवान्, शान्तिप्रिय एवं वृद्धजन की सेवा करने वाले, अथवा ऐसे व्यक्तियों की उपासना करने वाले जो राग (प्रेम), रोष (क्रोध), मद, मान के वेगों पर पूर्ण अधिकार रखने वाले हों अर्थात् इच्छानुसार इन मनोवेगों को वश में रखने वाले, सदैव अनेक प्रकार की दानशीलता से युक्त, तपस्या, ज्ञान, शान्ति में लगे हुए, अध्यात्मतत्व को समझने वाले, तदनुकूल व्यवहार करने वाले, इस लोक और परलोक का ध्यान रखने वाले, स्मरणशक्ति और सद्बुद्धि से युक्त पुरुषों की आयु हित-आयु कही जाती है और इसके विपरीत आचरण वाले पुरुषों की आयु अहित-आयु कही जाती है।

प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्ताद् दिवसात् त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद् वा स्वभावमापत्स्यत इति; तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः; इत्यायुषः प्रमाणम्; अतो विपरीतमप्रमाणमरिष्टाधिकारे; देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे ॥ २५ ॥

१. 'इहैवेति 'तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः' इत्यादिना' चक्रः।
२. 'यच्च सुखादितस्तत्र' ग.।
३. 'समन्वागतबल–' इति पा०।
४. 'ज्ञानविज्ञानेन्द्रियार्थबलसमुदाये' ग.।
५. 'सामपरस्य समीक्ष्यकारिणः' यो.।
६. 'ज्ञानविज्ञानोपशमशीलवृद्धोपसेविनः' यो.।
७. 'तत्परस्य अध्यात्मपरस्य' चक्रः।

आयु का प्रमाण—अर्थ (चक्षुरादि इन्द्रियों के अपने-अपने विषय), इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चेष्टा आदि में अकारण विकृत चिह्नों के दिखायी देने से आयु का मान जाना जाता है कि यह इस क्षण, मुहूर्त तथा दिन से एक पक्ष (१५ दिन), एक मास (३० दिन), छः मास अथवा एक वर्ष के बाद यह व्यक्ति स्वभाव=प्रकृति को प्राप्त हो जायगा, अर्थात् मर जायगा, (क्योंकि 'प्रकृतिर्मरणं शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः' ॥ मरण को प्रकृति और जीवन को विकृति कहा गया है। जैसा आगे कहा जा रहा है—) स्वभाव, कार्यप्रवृत्तियों की निवृत्ति, मरण, अनित्यता, निरोध ये सभी शब्द एक (मरण या मृत्यु) अर्थ को कहने वाले हैं। अर्थात् मृत्यु के पर्याय हैं। यह आयु का प्रमाण कह दिया है। इससे विपरीत आयु का अप्रमाण होता है। अरिष्टाधिकार में देह तथा प्रकृति के लक्षणों से आयु का प्रमाण आयुर्वेदशास्त्र में कहा गया है।

वक्तव्य—अर्थ, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चेष्टा आदि के विकृत लक्षणों का विस्तृत वर्णन चरक इन्द्रियस्थान के क्रमशः २, ४, ८, ११, १२ अध्यायों में देखें। क्षण, मुहूर्त आदि प्राचीन कालिक काल के मान इस प्रकार हैं—१८ निमेष = १ काष्ठा, ३० काष्ठा = १ कला, ३० कला = १ क्षण, १२ क्षण = १ मुहूर्त = ४८ मिनट। शेष पक्ष, मास आदि प्रसिद्ध हैं।

देह, प्रकृति आदि का विचार चरक विमानस्थान के रोगभिषग्जितीय नामक ८ वें अध्याय में देखें। चरक इन्द्रियस्थान में अन्य अरिष्ट लक्षणों का भी वर्णन किया गया है।

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ॥ २६ ॥

आयुर्वेद का क्या प्रयोजन है?—संक्षेप में इसका प्रयोजन है—स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोग युक्त पुरुष के विकारों की शान्ति।

वक्तव्य—चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० १।४१ में **'आयुर्वेदः स उच्यते'** कहकर हित-अहित आयु का विवेचन किया गया है। फिर आगे चलकर 'इदमायुष्मतां कुमाराणां लक्षणं भवति' च० शा० अ० ८ में निर्देश किया है, इसी का विवेचन यहाँ दिया जारहा है।

हित आयु—उस मनुष्य की आयु हितकर होती है, जो अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में सभी प्राणियों का हित-चिन्तन करे, किसी के धन आदि को तुच्छ समझे, जिसमें सत्यभाषण आदि अनेक सद्गुण हों, विचार कर कार्य करता हो, सर्वदा सावधान हो, चतुर्वर्ग की प्राप्ति में निरन्तर जो लगा रहता हो, पूज्यों की यथाविधि पूजा करता हो, अपूज्यों के प्रति जिसका उदासीन भाव हो, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध जनों की जो सेवा करता हो, ज्ञान, विज्ञान के अनुशीलन में जो तत्पर हो, धारणीय वेगों (मद, मान, ईर्ष्या, राग आदि) को जो रोकने में समर्थ हो, धनदान, विद्यादान, स्वास्थ्यदान तथा धैर्यप्रदान करने में जो निरन्तर तत्पर हो, प्रतिदिन जो स्वाध्याय, तप, परिश्रम या किसी प्रकार के उद्योग में लगा रहता हो, संसार से हितकर भावों का जो उपदेश ग्रहण करता हो, जो सभी प्राणियों को अपने समान देखता हो, जो अपने कार्य में सदैव तत्पर रहता हो, आस्तिक बुद्धि (इस लोक तथा परलोक में विश्वास रखने) वाला, जो स्मृति, धृति तथा स्थिरबुद्धि वाला होता है।

अहित आयु—इस प्रकार के सद्भावों से विपरीत विचार वाले पुरुष की आयु अहित (उसके तथा उससे सम्बन्धित सबके लिये) होती है।

सुख आयु—उस पुरुष की आयु सुखद होती है, जो शरीर एवं मन सम्बन्धी रोगों से पीड़ित नहीं है। रसायन, वाजीकरण योगों के सेवन किये बिना ही स्वाभाविक रूप से उत्तम स्वास्थ्य से सम्पन्न है, शारीरिक स्थिति के अनुसार जो बल, वीर्य, पराक्रम से पूर्ण है, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को भलीभांति ग्रहण करने में समर्थ है किन्तु वह किसी इन्द्रिय विशेष के विषय के प्रति आसक्त नहीं है और जिसकी कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य का निर्वाह करने में पूर्णतया समर्थ हैं, जो ऐश्वर्यसम्पन्न होकर सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करता है, सर्वत्र जिसको सफलता प्राप्त है, इच्छानुकूल जिसको आहार-विहार सुलभ है।

दुःख आयु—इसके विपरीत आयु को दुःख आयु अथवा असुख आयु कहते हैं।

हित हित आहार विहार—आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक सभी महर्षियों, विद्वानों आदि ने अपनी-अपनी रचनाओं में सवत्र हित आहार-विहार के ग्रहण तथा अहित आहार-विहार के त्याग का निर्देश किया है, साथ ही यथास्थान उनका परिचय भी दिया है।

आयु का परिमाण—आयु का मान अथवा परिमाण यद्यपि शास्त्रों में वर्णित है, तथापि मानव की इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शारीरिक चेष्टाओं को देखकर उसका निर्धारण कर लिया जाता है। मानव की पूर्ण आयु का मान १०० वर्ष है –'शतायुर्वै पुरुषः' और 'वर्षशतं खलु आयषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति पुनः अधिकोनवर्षशत-जीविनो मनुष्याः'। च० वि० अ० ८।१२२। अर्थात सामान्यतया मानव की आयु का परिमाण १०० वर्ष का है। कुछ मानव इससे कम तथा कुछ अधिक समय तक भी जीवित देखे जाते हैं। यजुर्वेद में सौ वर्ष बिता लेने के बाद पुनः सौ वर्षों तक जीवित रहने की कामना इस प्रकार की गयी है – भूयश्च शरदः शतात्'.। अस्तु।

इस प्रकार हित आयु की प्राप्ति और सुख आयु की उपलब्धि कराकर और अहित तथा दुःख आयु से सुरक्षित रखकर १०० वर्ष तक दीर्घायुष्य प्रदान करना ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है।

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। [1]न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता अनादि च [2]सुखदुःख सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्। [3]एष चार्थसङ्ग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति। [4]गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां [5]द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ, यथोक्तं—गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्, एवमेवेतरेषामिति, एष भावस्वभावो नित्यः, [6]स्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनां; सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः।

आयुर्वेद शाश्वत है या अशाश्वत—वह (प्रसङ्ग प्राप्त) यह आयुर्वेद अनादि होने से, अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से, भाव (सत् वस्तु Existence) के स्वभाव के नित्य होने के कारण शाश्वत (अविनाशशील) है।

अनादित्व का विवरण—ऐसा कभी नहीं देखा गया कि शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा के संयोगरूप आयु का सन्तान (फैलाव, प्रसार) न हुआ हो अथवा इसी प्रकार बुद्धि का सन्तान न हुआ हो, ऐसा भी नहीं देखा जाता। अर्थात् आयु और बुद्धि की परम्परा की अविच्छिन्न धारा के अनादिकाल से दर्शन होने के कारण आयुर्वेद अनादि है। आयु का ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ आत्मा) भी शाश्वत है। द्रव्य हेतु (आरोग्य या अनारोग्य) इसी प्रकार (नीरोग अथवा रोग) लक्षण के साथ सुख और दुःख भी अनादि हैं। सुख और दुःख का परस्पर स्थायी संयोग सर्वविदित है। इस प्रकार लक्षणों। (सुख-दुःखादि) का स्वभावसिद्ध होना रूप अर्थ का संग्रह आयुर्वेद के लक्षण को स्पष्ट करता है।

भावों के स्वभाव की नित्यता—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि परस्पर विरुद्ध गुणों वाले द्वन्द्वों (जोड़ों) का सामान्य-विशेष द्वारा वृद्धि तथा ह्रास होता है (इसका वर्णन सूत्रस्थान अ० १ में किया जा चुका है।) जैसा कि कहा गया है—गुरु गुण वाले द्रव्यों का निरन्तर अभ्यास करने से शरीर में स्थित गुरु धातुओं की वृद्धि होती है और लघु गुण प्रधान द्रव्यों का निरन्तर अभ्यास करने से शरीर में स्थित लघु धातुओं

१. 'नैवाभूत्' इति पा०।

२. 'आरोग्यं सुखं, व्याधिर्दुःखं, सद्रव्यहेतुलक्षणमिति सद्रव्यचिकित्सितलिङ्गं; हेतुशब्दस्य हि द्रव्यशब्देनैव व्याधिकारणत्वेनोक्तत्वात् प्रशमहेतुत्वमाहुः। अपरापरयोगादिति सन्तानादित्यर्थः' चक्रः।

३. 'स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वं द्वितीयं हेतुमाह—एष चेत्यादि। एष इति सुखदुःखादिः, अर्थसंग्रहोऽभिधेयसंग्रहः; एतेन आयुरादिरायुर्वेदप्रतिपाद्य इति दर्शयति, अयं चायुरादिरत्रायुर्वेदलक्षणमिति विभाव्यते ज्ञायते, आयुरादिनाऽभिधेयेनायुर्वेदो लक्ष्यते' चक्रः।

४. 'भावस्वभावनित्यत्वादिति तृतीयं हेतुं व्याकरोति—गुर्वित्यादि।' चक्रः।

५. 'द्वन्द्वानाम्' इति पा०।

६. 'स्वलक्षणं पृथिव्यादीनां खरद्रवत्वादि' चक्रः।

की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अन्य गुणों को भी समझना चाहिये। जैसे–स्निग्ध गुण प्रधान द्रव्यों से स्निग्ध गुण वाले धातुओं की वृद्धि होती है। यह जो भाव (पदार्थों) का स्वभाव है, वह नित्य है। पृथिवी आदि द्रव्यों (खर, द्रव, चल, उष्ण) का अपना-अपना लक्षण नित्य है। द्रव्य और गुण नित्य, अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे जो द्रव्य नित्य हैं उनके गुण भी नित्य हैं और जो अनित्य द्रव्य हैं उनके गुण भी अनित्य हैं। अथवा स्वाभाविक गुण नित्य होते हैं एवम् मात्रा, काल आदि के सहारे उत्पन्न होने वाले गुण अनित्य होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद अनादि और अनन्त होने के कारण शाश्वत है। इसका प्रतिवाद करने वाले सुश्रुत संहिता सू० अ० १ में लिखे हुए 'अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः' के 'उत्पत्ति' शब्द को भ्रामक एवम् अनादित्व सिद्धान्त का बाधक मानते हैं। वास्तव में यह उत्पत्ति शब्द-बोध या ज्ञान का सूचक है। जिस प्रकार मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को मन्त्रों का साक्षात्कार होता रहा है, उसी प्रकार 'ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदम्' है। इसी को वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में लिखा है—'आयुर्वेदामृतं सार्थं ब्रह्मा बुद्ध्वा सनातनम्। ददौ दक्षाय…'।

यही कारण है कि अग्नि अनन्त काल से उष्ण और जल शीत होता आया है। यदि इनका निर्माण करने वाला कोई होता तो उसकी उसपर मुहर होती, कापीराइट तो अवश्य होता। तुलसीदास की रामायण की तरह ये बातें न भी होतीं, तो भी उसके गुणों में कुछ न कुछ ह्रास-वृद्धि अवश्य होती, जो देखी नहीं जाती। जो ईख पहले मीठी होती थी वह आज भी वैसी ही मीठी है आदि-आदि।

न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्; एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। स्वाभाविकं चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिहाद्येऽध्याये च। यथा–अग्नेरौष्ण्यम्, अपां द्रवत्वम्। भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य यथोक्तं—गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामिति ॥ २७ ॥

शाश्वत आयुर्वेद—बिना उत्पन्न हुए आयुर्वेद की उपलब्धि नहीं देखी जाती, अर्थात् सृष्टि के पहले आयुर्वेद की उत्पत्ति नहीं हुई, इसकी उत्पत्ति बाद में हुई है, यह सत्य नहीं है। वास्तव में इसके सम्बन्ध में दो चर्चायें प्रसिद्ध हैं कि अमुक व्यक्ति को इसका अवबोध (ज्ञान) हुआ और उसने अपने शिष्यों को इसका उपदेश दिया। इन्हीं दो चर्चाओं को आधार मानकर कुछ आचार्य आयुर्वेद की उत्पत्ति मानते हैं। इसके जो लक्षण दिये गये हैं वे स्वाभाविक हैं अतएव बनावटी नहीं हैं, जो यहाँ और इसके पूर्व इसी के प्रथम अध्याय में कहा गया है। यथा—अग्नि की उष्णता और पानी की द्रवता स्वभाव से ही होती है। इसी प्रकार इसकी भाव-स्वभावनित्यता भी है। जैसा कि कहा है—निरन्तर गुरु द्रव्यों के सेवन से उपचय (शरीरावयवों की वृद्धि) और निरन्तर लघु द्रव्यों के सेवन से अपचय (शरीरावयवों का ह्रास) होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद को शाश्वत (Eternal) सिद्ध करने के लिये तन्त्रकार ने जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया, वे इस प्रकार हैं—

१. अनादित्वात्—आयुर्वेद अनादि है। यहाँ आयु और वेद दो शब्द हैं विवेचन केवल 'आयु' का करना है। यह आयु 'शरीर, इन्द्रिय, सत्व, आत्मा का संयोगविशेष है। आयु तथा इसका वेदिता (जानने वाला) आत्मा ये दोनों ही अनादि एवम् अनन्त हैं, अतः इनका उपदेशक शास्त्र भी अनादि है।

२. स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्—आयुर्वेद के शाश्वत या नित्य होने में यह दूसरा प्रमाण प्रस्तुत है। समान गुण वाले पदार्थ समानगुण की वृद्धि में तथा विपरीत गुण के ह्रास में सदैव कारण होते रहे हैं। जैसा च० सू० अ० १ में कहा गया है—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च', और द्रव्यों के जो अपने लक्षण हैं, वे भी शाश्वत हैं, अतः आयुर्वेद भी शाश्वत (नित्य) है।

३. भावस्वभावनित्यत्वात्—जैसे भाव = अग्नि, उसका स्वभाव उष्ण, यह सदैव उष्ण ही बना रहेगा, इसमें न कभी पहले परिवर्तन आया, न भविष्य में परिवर्तन आसकता है। इसी प्रकार जल में द्रवता आदि इसके स्थायी प्रमाण हैं, जिनके कारण आयुर्वेद को नित्य कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ; तद्यथा–कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं; वाजीकरणमिति ॥ २८ ॥

आयुर्वेद के कितने और कौन अंग हैं ?—उस आयुर्वेद के आठ अंग होते हैं—१. कायचिकित्सा (Medicine in General) २. शालाक्य (Diseases of Ear, Throat & Nose) ३. शल्यापहर्तृक (शल्यों को निकालने वाला, शल्यतन्त्र = Surgery.) ४. विष-गर-वैरोधिकप्रशमन (अगदतन्त्र =Toxicology.) ५. भूतविद्या (Psychology. देखें—'चरक नो स्वाध्याय' भाग १) ६. कौमारभृत्य (Pediatrics.) ७. रसायन (Science of Rejuvenation.) ८. वाजीकरण (Aphrodisiacs.)

स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः । तत्रानुग्रहार्थं [1]प्राणिनां ब्राह्मणैः, [2]आरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः; सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः । तत्र च यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृपितृभ्रातृबन्धुगुरुजनस्य वा विकारप्रशमने प्रयत्नवान् भवति, यच्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा, सोऽस्य परो धर्मः; या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च, या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः; यत् पुनरस्य विद्वद्-ग्रहणयशः शरण्यत्व च, या च सम्मानशुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते सोऽस्य कामः इति यथाप्रश्नमुक्तमशेषेण ॥ २९ ॥

आयुर्वेद किसका पढ़ना चाहिये ?—उस आयुर्वेद का अध्ययन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को करना चाहिये। उक्त वचन का कारण-निर्देश किया जारहा है—प्राणियों के प्रति कृपा करने के लिये ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को आत्मरक्षा तथा सभी प्राणियों की रक्षा के लिये और वैश्यों को आजीविका के लिये आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिये। सामान्य दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के लिये सबको ही इसका अध्ययन करना चाहिये। जो अध्यात्मज्ञानियों, धर्ममार्ग में स्थित अथवा धर्ममार्ग के संस्थापकों अथवा माता, पिता, भाई, बन्धु तथा गुरुजनों के रोगों को शान्त करने में प्रयत्नशील होता है और जो आयुर्वेदोक्त आध्यात्मिक दर्शन का मनन करता है, दूसरों को (उक्त दर्शन का) उपदेश करता है अथवा तदनुसार जो स्वयं कर्म करता है, वही उस पुरुष (आयुर्वेदज्ञ) का परम धर्म है।

आयुर्वेद क्यों पढ़ना चाहिये ?—राजाओं अथवा धनिकों के पास से अर्थात् उनकी चिकित्सा से सुख प्राप्ति के अनन्तर उपहारस्वरूप जो धन-प्राप्ति होती है, जो चिकित्सक को संरक्षण मिलता है, और जो अपने अधिकार में रहने वाले प्राणियों की रोगों से रक्षा होती है, वही आयुर्वेद के अध्ययन का प्रयोजन है। उसे जो विद्वानों से आदरप्राप्ति तथा यशप्राप्ति होती है, शरण में आये हुए पुरुषों की जो रक्षा होती है, जो इनके कारण चिकित्सक को सम्मान मिलता है, जो मनुष्यों द्वारा इसकी सेवा की जाती है और जो अभीष्ट विषयों में आरोग्य (पूर्ण लाभ) की प्राप्ति होती है, वह आयुर्वेद के अध्ययनकर्ता का काम (हृदय की अभिलाषा) है। इस प्रकार सभी प्रश्नों के अविकल उत्तर दे दिये गये हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णों को ही आयुर्वेद के अध्ययन की अनुमति दी है और भगवान् धन्वतरि ने 'शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नम् अध्यापयेदित्येके', सु० सू० अ० २।५। इस पंक्ति को उद्धृत करके अपने को बचाते हुए दूसरे आचार्यों के मत को उद्धृत किया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त पाठ सुश्रुतसंहिता के अनेक संस्करणों में प्रक्षिप्त रूप में दिया गया है।

अथ भिषगादित एव भिषजा प्रष्टव्योऽष्टविधं भवति, तद्यथा—तन्त्रं, तन्त्रार्थान्, स्थानं, स्थानार्थान्, अध्यायम्, अध्यायार्थान्, प्रश्नं, प्रश्नार्थांश्चेति; पृष्टेन चैतद् वक्तव्यमशेषेण वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेति ॥ ३० ॥

अष्टविध प्रश्न—वैद्य को (आयुर्वेदीय ज्ञान के लिये) वैद्य से प्रारम्भ से ही आठ प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिये। वे प्रश्न ये हैं—१. तन्त्र (संहिता), २. तन्त्रार्थ, ३. स्थान (सूत्र, विमान आदि), ४. स्थान का अर्थ (विषय) ५. अध्याय, ६. अध्यायों के विषय, ७. प्रश्न, ८. प्रश्नों के अर्थ (विषय)। इस प्रकार पूछे जाने पर वैद्य को सम्पूर्ण विषयों का उत्तर वाक्य, वाक्यार्थ और अर्थावयव के अनुसार देना चाहिये।

---

१. 'प्रजानाम्' इति पा०।

२. 'आत्मरक्षार्थम्' इति पा०।

तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम् ॥ ३१ ॥

आयुर्वेद के पर्याय—वहाँ आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण और तन्त्र ये सभी शब्द एक ही अर्थ वाले हैं।

तन्त्रार्थः पुनः स्वलक्षणैरुपदिष्टः, स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो भूय एव शरीरवृत्तिहेतुव्याधिकर्मकार्यकालकर्तृकरणविधिविनिश्चयाद् दशप्रकरणः, तानि च प्रकरणानि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण ॥ ३२ ॥

तन्त्रार्थ—तन्त्र के अर्थ का अपने लक्षणों द्वारा उपदेश कर दिया गया है। वही तन्त्रार्थ प्रकरण आदि के द्वारा पुनः विचार करने पर—१. शरीर, २. वृत्ति, ३. हेतु (निदान), ४. व्याधि, ५. कर्म (चिकित्सा), ६. कार्य (स्वास्थ्य लाभ , ७. काल, ८ कर्ता (चिकित्सक), ९. कारण (भेषज), १०. विधि (भैषज्य-कल्पना अर्थात् औषध-निर्माण) इन विषयों का निर्णय करने से ये दस प्रकरण होते हैं। इन प्रकरणों का इस केवल (सम्पूर्ण) तन्त्र द्वारा उपदेश दिया जायगा।

तन्त्रस्यास्याष्टौ स्थानानि; तद्यथा—श्लोकनिदानविमानशारीरेन्द्रियचिकित्सितकल्पसिद्धिस्थानानि। तत्र त्रिंशदध्यायकं श्लोकस्थानम्, अष्टाष्टाध्यायकानि निदान-विमान-शारीरस्थानानि, द्वादशकमिन्द्रियाणां त्रिंशकं चिकित्सितानां, द्वादशके कल्प-सिद्धिस्थाने भवतः ॥ ३३ ॥

चरकसंहिता के अध्यायों का विवरण

(Exposition of Chapters of Charaka-Samhita)

चरकसंहिता के आठ स्थान—इस तन्त्र (चरकसंहिता) के आठ स्थान इस प्रकार हैं—१. श्लोक (सूत्र) स्थान, २. निदानस्थान, ३. विमानस्थान, ४. शारीरस्थान, ५. इन्द्रियस्थान, ६. चिकित्सास्थान, ७. कल्पस्थान, ८. सिद्धिस्थान, उनमें श्लोक (सूत्र) स्थान में ३० अध्याय, निदानस्थान में ८ अध्याय, विमान स्थान में ८ अध्याय और शारीरस्थान में ८ अध्याय, इन्द्रियस्थान में १२ अध्याय, चिकित्सास्थान में ३० अध्याय, कल्पस्थान में १२ और सिद्धिस्थान में १२ अध्याय हैं।

भवति चात्र—

द्वे त्रिंशके द्वादशकं त्रयं च त्रीण्यष्टकान्येषु समाप्तिरुक्ता।
श्लोकौषधारिष्टविकल्पसिद्धिनिदानमानाश्रयसंज्ञकेषु ॥ ३४ ॥

अध्यायों की प्रकारान्तर से गणना—श्लोक (सूत्र) स्थान और औषध (चिकित्सा) स्थान ३०-३० अध्याय के ये दो स्थान, अरिष्ट (इन्द्रिय) स्थान, विकल्प (कल्प) स्थान और सिद्धिस्थान १२-१२ अध्याय के ये तीन स्थान, शेष तीन निदानस्थान, मान (विमान) स्थान और आश्रय (शरीर) स्थान ८-८ अध्याय के हैं, इतने विभागों में ग्रन्थ की समाप्ति कही गयी है।

स्वे स्वे स्थाने यथास्वं च स्थानार्थ उपदेक्ष्यते। सविंशमध्यायशतं शृणु नामक्रमागतम् ॥३५॥

स्थान के अर्थों का उपदेश—अपने अपने स्थान में उन-उन विषयों का उपदेश किया जायगा। ये कुल १२० अध्याय हैं। इन अध्यायों का क्रमशः नाम सुनिये।

दीर्घंजीवोऽप्यपामार्गतण्डुलारग्वधादिकौ। [1]षड्विरेकाश्रयश्चेति चतुष्को भेषजाश्रयः ॥३६॥
मात्रातस्याशितीयौ च नवेगान्धारणं तथा। इन्द्रियोपक्रमश्चेति चत्वारः स्वास्थ्यवृत्तिकाः ॥३७॥
खुड्डाकश्च चतुष्पादो महांस्तिस्रैषणस्तथा। सह वातकलाख्येन विद्यान्नैर्देशिकान् बुधः ॥३८॥
स्नेहनस्वेदनाध्यायावुभौ यश्चोपकल्पनः। चिकित्साप्राभृतश्चैव सर्व एव प्रकल्पनाः ॥३९॥
कियन्तःशिरसीयश्च त्रिशोफाष्टोदरादिकौ। रोगाध्यायो महांश्चैव रोगाध्यायचतुष्टयम् ॥४०॥
अष्टौनिन्दितसंख्यातस्तथा लङ्घनतर्पणे। विधिशोणितिकश्चैव व्याख्यातास्तत्र योजनाः ॥४१॥

---

१. 'षड्विरेकशतश्चेति' पा०।

यज्जःपुरुषसङ्ख्यातो भद्रकाप्यान्नपानिकौ । विविधाशितपीतीयश्चत्वारोऽन्नविनिश्चयाः ॥४२॥
दशप्राणायतनिकस्तथाऽर्थेदशमूलिकः । द्वावेतौ प्राणदेहार्थौ प्रोक्तौ वैद्यगुणाश्रयौ ॥४३॥
औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः । चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ॥४४॥
द्वौ चान्त्यौ सङ्ग्रहाध्यायाविति त्रिंशकमर्थवत्[1] । श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरः शुभम् ४५॥

सूत्रस्थान के अध्याय—१. दीर्घञ्जीवितीय, २. अपामार्गतण्डुलीय, ३. आरग्वधीय, ४. षड्विरेचन-
शताश्रितीय—ये चार अध्याय भेषजचतुष्क कहे जाते हैं; ५ मात्राशितीय, ६. तस्याशितीय. ७. न वेगान्
धारणीय, ८. इन्द्रियोपक्रमणीय—ये चार अध्याय स्वस्थवृत्तचतुष्क कहे जाते हैं; ९. खुड्डाकचतुष्पाद, १०. महा-
चतुष्पाद, ११. तिस्रैषणीय, १२. वातकलाकलीय—ये चार अध्याय निर्देशचतुष्क कहे जाते हैं; १३. स्नेहाध्याय,
१४. स्वेदाध्याय, १५. उपकल्पनीय, १६. चिकित्साप्राभृतीय—ये चार अध्याय कल्पनाचतुष्क कहे जाते हैं;
१७. कियन्तःशिरसीय, १८. त्रिशोफीय, १९. अष्टोदरीय, २०. महारोगाध्याय—ये चार अध्याय रोगचतुष्क
कहे जाते हैं; २१. अष्टौ निन्दितीय २२. लङ्घनबृंहणीय, २३. सन्तर्पणीय, २४. विधिशोणितीय—ये चार अध्याय
योजनाचतुष्क कहे जाते हैं; २५. यज्जःपुरुषीय २६. आत्रेयभद्रकाप्यीय, २७. अन्नपानविधि, २८. विविधा-
शितपीतीय—ये चार अध्याय अन्नपानचतुष्क कहे जाते हैं; २९. दशप्राणायतनिक, ३०. अर्थे दशमहामूलीय—
ये दो अध्याय प्राण, देह (शरीर) और वैद्य (उत्तमवैद्य = प्राणाभिसर और अधमवैद्य = रोगाभिसर) के गुणों
से सम्बन्धित हैं।

पुनः इन ३० अध्यायों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—प्रथम ४ अध्याय औषधचतुष्क, दूसरे ४ अध्याय (५ से ८ तक) स्वस्थवृत्तचतुष्क, तीसरे ४ अध्याय (९ से १२ तक) निर्देशचतुष्क, चौथे ४ अध्याय (१३ से १६ तक) कल्पनाचतुष्क, पाँचवे ४ अध्याय (१७ से २० तक) रोगचतुष्क, छठे ४ अध्याय (२१ से २४ तक) योजनाचतुष्क क्रम से कहे गये हैं। सातवें ४ अध्याय (२५ से २८ तक) अन्नपानचतुष्क नाम से कहे गये हैं और दो अन्तिम अध्याय २९ वाँ तथा ३० वाँ ये संग्रहाध्याय हैं। इनमें सूत्रस्थान में कहे गये सभी विषयों का सूत्ररूप में वर्णन किया गया है। इस तन्त्र (चरक-संहिता) का यह श्लोक (सूत्र) स्थान शिरःस्थानीय (प्रमुख) माना गया है।

चतुष्काणां महार्थानां स्थानेऽस्मिन् सङ्ग्रहः कृतः ।
श्लोकार्थः सङ्ग्रहार्थश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतम् ॥ ४६ ॥

सूत्रस्थान की निरुक्ति—महत्वपूर्ण विषयों वाले उपर्युक्त सात चतुष्कों (४-४ अध्यायों) का इस स्थान में संग्रह किया गया है। श्लोकार्थ और संग्रहार्थ ये दोनों समानार्थक हैं, इस कारण इसका नाम श्लोक-(सूत्र) स्थान है।

वक्तव्य—श्लोक (महत्वपूर्ण) स्थान होने के कारण इसका नाम 'श्लोकस्थान' और सम्पूर्ण तन्त्र के विषयों का संक्षेप (सूत्ररूप) में वर्णन करने के कारण इसका नाम सूत्रस्थान है। सूत्र शब्द की शेष व्याख्या च० सू० अ० १ में देखें।

ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः । शोषोन्मादनिदाने च स्यादपस्मारिणां च यत् ॥४७॥
इत्यध्यायाष्टकमिदं निदानस्थानमुच्यते ।

निदानस्थान के अध्याय—१. ज्वरनिदान, २. रक्तपित्तनिदान, ३. गुल्मनिदान, ४. प्रमेहनिदान, ५. कुष्ठनिदान, ६. शोषनिदान, ७. उन्मादनिदान और ८. अपस्मारनिदान—इन आठ अध्यायों से युक्त निदान स्थान कहा गया है।

रसेषु त्रिविधे कुक्षौ ध्वंसे जनपदस्य च ॥ ४८ ॥
त्रिविधे रोगविज्ञाने स्रोतःस्वपि च वर्तते । रोगानीके व्याधिरूपे रोगाणां च भिषग्जिते ॥४९॥
अष्टौ विमानान्युक्तानि मानार्थानि महर्षिणा ।

१. 'त्रिंशत्कमर्थवत्' इति पा० ।

विमानस्थान के अध्याय—१. रस-विमान, २. त्रिविधकुक्षीय-विमान, ३. जनपदोद्ध्वंसनीय-विमान, ४. त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय-विमान ५. स्रोतो-विमान, ६. रोगानीक-विमान, ७. व्याधितरूपीय-विमान, ८. रोगभिषग्जितीय-विमान—ये आठ अध्याय मान (ज्ञान) अर्थवाले महर्षि आत्रेय ने कहे हैं।

कतिधापुरुषीयं च गोत्रेणातुल्यमेव च ॥ ५० ॥

खुड्डिका महती चैव गर्भावक्रान्तिरुच्यते । पुरुषस्य शरीरस्य विचयौ द्वौ विनिश्चितौ ॥५१॥
शरीरसङ्ख्या सूत्रं च जातेरष्टममुच्यते । इत्युद्दिष्टानि मुनिना शारीराण्यत्रिसूनुना ॥५२॥

शारीरस्थान के अध्याय—१. कतिधापुरुषीय, २. अतुल्यगोत्रीय, ३. खुड्डिकागर्भावक्रान्ति, ४. महती-गर्भावक्रान्ति, ५. पुरुषविचय, ६. शरीरविचय, ७. शरीरसंख्या और ८. जातिसूत्रीय—ये आठ अध्याय महर्षि आत्रेय ने शारीरस्थान में कहे हैं।

वर्णस्वरीयः पुष्पाख्यस्तृतीयः परिमर्शनः । [1]चतुर्थ इन्द्रियानीकः पञ्चमः पूर्वरूपिकः ॥५३॥
कतमानि शरीरीयः पन्नरूपोऽप्यवाक्शिराः । यस्य श्यावनिमित्तश्च सद्योमरण एव च ॥५४॥
अणुज्योतिरितिख्यातस्तथा गोमयचूर्णवान् । द्वादशाध्यायकं स्थानमिन्द्रियाणामिति स्मृतम् ॥५५॥

इन्द्रियस्थान के अध्याय—१. वर्णस्वरीय, २. पुष्पितक, ३. परिमर्शनीय, ४. इन्द्रियानीक ५. पूर्व-रूपीय, ६. कतमानि शरीरीय, ७. पन्नरूपीय, ८. अवाक्शिरसीय, ९. यस्यश्यावनिमित्तीय, १०. सद्योमरणीय, ११. अणुज्योतीय, १२. गोमयचूर्णीय— इन १२ अध्यायों को इन्द्रियस्थान में कहा गया है।

अभयामलकीयं च प्राणकामीयमेव च । करप्रचितिकं वेदसमुत्थानं रसायनम् ॥५६॥
संयोगशरमूलीयमासिक्तक्षीरकं तथा । माषपर्णभृतीयं च पुमाञ्जातबलादिकम् ॥५७॥
चतुष्कद्वयमप्येतदध्यायद्वयमुच्यते । रसायनमिति ज्ञेयं वाजीकरणमेव च ॥५८।
ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः । शोषोन्मादेऽप्यपस्मारे क्षतशोथोदरार्शसाम् ॥५९॥
ग्रहणीपाण्डुरोगाणां श्वासकासातिसारिणाम् । छर्दिवीसर्पतृष्णानां विषमद्यविकारयोः ॥६०॥
द्विव्रणीयं त्रिमर्मीयमूरुस्तम्भिकमेव च । वातरोगे वातरक्ते योनिव्यापत्सु चैव यत् ॥६१॥
त्रिंशच्चिकित्सितान्युक्तानि—

चिकित्सास्थान के अध्याय—१. रसायनाध्याय, इस अध्याय के चार पाद हैं—(i) अभयामलकीय
रसायनपाद, (ii) प्राणकामीय रसायनपाद, (iii) करप्रचितिक रसायनपाद, (iv) आयुर्वेदसमुत्थानीय
रसायनपाद। २. वाजीकरणाध्याय, इस अध्याय के चार पाद हैं—(i) संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद,
(ii) आसक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद, (iii) माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद (iv) पुमाञ्जातबलादिक वाजी-
करणपाद, ये चार चार पादों से युक्त दो अध्याय कहे जाते हैं। पहला रसायन और दूसरा वाजीकरण।
३. ज्वर, ४. रक्तपित्त, ५. गुल्म, ६. प्रमेह, ७. कुष्ठ, ८. शोष, ९. उन्माद, १०. अपस्मार, ११. क्षतक्षीण,
१२. शोथ, १३. उदर, १४. अर्श, १५. ग्रहणी, १६. पाण्डुरोग, १७. श्वास, १८. कास, १९. अतिसार,
२०. छर्दि, २१. वीसर्प, २२. तृष्णा, २३. विष, २४. मद्यविकार (मदात्यय), २५. द्विव्रणीय २६. त्रिमर्मीय,
२७. ऊरुस्तम्भ, २८. वातव्याधि, २९. वातरक्त और ३०. योनिव्यापद्—ये तीस अध्याय चिकित्सास्थान के
कहे गये हैं।

—अतः कल्पान् [2]प्रचक्ष्महे । फलजीमूतकेक्ष्वाकुकल्पो धामार्गवस्य च ॥६२॥
पञ्चमो वत्सकस्योक्तः षष्ठश्च कृतवेधने । श्यामात्रिवृतयोः कल्पस्तथैव चतुरङ्गुले ॥६३॥
तिल्वकस्य सुधायाश्च सप्तलाशङ्खिनीषु च । दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्च द्वादशोऽयं समाप्यते ॥६४॥

कल्पस्थान के अध्याय—अब कल्पस्थान के अध्यायों को कहते हैं—१. फल (मदनफल), २. जीमूतक

१. 'तथैव चेन्द्रियानीकः पूर्वरूपिक एव च' इति पा० ।
२. 'परं शृणु' ग. ।

(देवदाली), ३. इक्ष्वाकु (कड़ुतुम्बी), ४. धामार्गव (बड़ी तोरई), ५. वत्सक (इन्द्रजौ कुटजबीज),
६. कृतवेधन (कोशातकी), ७. श्यामा (काली निशोथ), ८. चतुरंगुल (अमलतास), ९. तिल्वक (लोध का भेद), १०. सुधा (सेहुण्ड), ११. सप्तला और शङ्खिनी, १२. दन्ती और द्रवन्ती—बारह अध्यायों का यह कल्पस्थान समाप्त होता है।

कल्पना पञ्चकर्माख्या बस्तिसूत्री तथैव च।
स्नेहव्यापदिकी सिद्धिर्नेत्रव्यापदिकी तथा॥ ६५॥
सिद्धिः शोधनयोश्चैव बस्तिसिद्धिस्तथैव च।
प्रासृती मर्मसङ्ख्याता सिद्धिर्बस्त्याश्रया च या॥ ६६॥
फलमात्रा तथा सिद्धिः सिद्धिश्चोत्तरसंज्ञिता।
सिद्धयो द्वादशैवैतास्तन्त्रं चासु समाप्यते॥ ६७॥

सिद्धिस्थान के अध्याय—१. कल्पना, २. पञ्चकर्मीय, ३. बस्तिसूत्रीय, ४. स्नेहव्यापदिकी, ५. नेत्र-व्यापदिकी, ६. वमनविरेचनव्यापदिकी, ८. बस्तिव्यापदिकी, ८. प्रासृतयौगिकी, ९. त्रिमर्मीय १०. बस्ति-सम्बन्धी, ११. फलमात्राबस्ति, १२. उत्तरबस्ति—सिद्धिस्थान के इन बारह अध्यायों में इस तन्त्र को समाप्त किया जाता है।

स्वे स्वे स्थाने तथाऽध्याये [1]चाध्यायार्थः प्रवक्ष्यते।
तं[2] ब्रूयात् सर्वतः सर्वं [3]यथास्वं ह्यर्थसङ्ग्रहात्॥ ६८॥

अध्यायार्थ—अपने अपने स्थान के अपने अपने अध्याय में उस-उस अध्याय का जो अर्थ कहा जायगा उसे अध्यायार्थ कहा जायगा। उस सम्पूर्ण अध्याय के अर्थ को संक्षेप में प्रत्येक अध्याय के अन्त में कहना चाहिये।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि तन्त्रकर्ता ने प्रत्येक स्थान के प्रत्येक अध्याय का वर्णन-क्रम क्या होना चाहिये, इसको उदाहरण रूप में चरकसंहिता के सूत्रस्थान के ३० वें अध्याय में दिखा दिया है और आगे के स्थानों एवम् अध्यायों के वर्णनक्रम की सूचना इस पद्य द्वारा दे रहे हैं, यह तन्त्रकार का वास्तविक ग्रन्थ-रचना का स्वरूप है। स्थान एवम् अध्यायों की सूची ऊपर दे दी गयी है।

[4]पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायं विधिना प्रश्न उच्यते।
प्रश्नार्था युक्तिमांस्तस्य तन्त्रेणैवार्थनिश्चयः॥ ६९॥

प्रश्न का लक्षण—तन्त्र आदि में आम्नाय (वेद) के अनुसार विधिपूर्वक जिस किसी विषय को (आयुर्वेदज्ञ से) पूछा जाता है, उसे प्रश्न कहते हैं।

प्रश्नार्थ का लक्षण—उस प्रश्न के विषय का तन्त्र के अनुसार जो-जो युक्ति-युक्त निश्चय (समाधान) होता है, वे सब प्रश्नार्थ हैं।

वक्तव्य—आचार्य शिवदाससेन ने इस प्रसंग में 'यथाम्नायं' का अर्थ 'यथाक्रमं' किया है, जो विचारणीय

---

१. 'चकारोऽत्र अध्यायार्थ इत्यनन्तरं योज्यः तेन स्थानार्थ इति समुच्चीयते, ततश्च स्थानान्ते स्थानार्थ-सङ्ग्रहमध्यायान्तेऽध्यायार्थसङ्ग्रहं यथाक्रमेण वक्ष्यतीत्यर्थः' शिवदाससेनः।

२. 'तं सर्वमिति तन्त्रार्थं स्थानार्थमध्यायार्थं च; अर्थसङ्ग्रहादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तन्त्रादानामर्थं सङ्गृह्य संक्षिप्येत्यर्थः; सर्वतोऽनवशेषतः यथास्वमित्यनेन यो यस्यार्थस्तस्य सङ्ग्रहं कृत्वा तन्त्रार्थं स्थानार्थमध्यायार्थं चाशे-षतो ब्रूयादित्यर्थः' शिवदाससेनः।

३. 'यथार्थाद्ध्यनुसङ्ग्रहात्' इति पा०।

४. 'तन्त्रादिति तन्त्रमारभ्य, यथाम्नायं यथाक्रमं विधिना सामान्यविशेषप्रकारेण पूर्वापरविरोधादिदोष-शून्येन वा पृच्छा प्रश्न उच्यत इत्यर्थः। प्रश्नार्थं विवृणोति–प्रश्नार्थं इत्यादि। तस्य प्रश्नस्य तन्त्रेण शास्त्रेणार्थ-निश्चयो यः स प्रश्नार्थः प्रश्नप्रयोजनमुच्यते। युक्तिमानिति उपपत्तिमानित्यर्थः' शिवदाससेनः।

है। ये आम्नाय के पर्याय हैं—वेद, कुल, आगम, उपदेश, सम्प्रदाय। अतः यहाँ आम्नाय का अर्थ वेद ही होना चाहिये क्योंकि यह आयुर्वेद का उपदेश है। अथवा यथाम्नायम्—आत्रेयसम्प्रदाय के अनुसार अर्थ युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। युक्तिमान् शब्द अर्थनिश्चय का विशेषण है।

[1]नियतं [2]तन्त्रणात् तन्त्रं, स्थानमर्थप्रतिष्ठया।
[3]अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ७०॥
इति सर्वं यथाप्रश्नमष्टकं सम्प्रकाशितम्।
कार्त्स्न्येन चोक्तस्तन्त्रस्य सङ्ग्रहः सुविनिश्चितः॥ ७१॥

तन्त्रादि शब्दों का निर्वचन—तन्त्रण (चिकित्साशास्त्रों में प्रधान न होना, उत्तम औषधसमूह का वर्णन करना, शास्त्रों में अन्यतम होना और श्रुति (वेद) की एक शाखा के रूप में वर्णित होना, देखें—मेदिनी कोष) के कारण ही इसको **'तन्त्र'** कहा जाता है। जिस-जिस स्थान का जो विषय है उस-उस में उसी अर्थ की प्रतिष्ठा (स्थापना) होने से उसे **'स्थान'** कहते हैं। अध्यायों का नाम निर्धारण उस-उस विषय को अधिकार कर के किया गया है। इस प्रकार तन्त्र, तन्त्रार्थ आदि जो आठ प्रश्न इसी अध्याय में कहे गये हैं, उनका परिचय यहाँ दे दिया गया है और पूर्णरूप से शास्त्र का सुनिश्चित संग्रह भी कह दिया गया है।

सन्ति [4]पाल्लविकोत्पाताः सङ्क्षोभं जनयन्ति ये।
वर्तकानामिवोत्पाताः सहसैवाविभाविताः॥ ७२॥
[5]तस्मात् तान् पूर्वसञ्जल्पे सर्वत्राष्टकमादिशेत्।
परावरपरीक्षार्थं तत्र [6]शास्त्रविदां बलम्॥ ७३॥
शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनेव वर्तकाः॥ ७४॥

पल्लवग्राही वैद्य—कुछ ऐसे भी चिकित्सक होते हैं जिनका ज्ञान आंशिक होता है अर्थात् सर्वतो-मुखी ज्ञान नहीं होता, ऐसे चिकित्सक रोगी के हृदय में अथवा समाज में हलचल मचा देते हैं, इनकी इस हलचल को तन्त्रकार ने पाल्लविकोत्पात (पत्तों पर बैठे हुए पक्षियों का सहसा उड़ना) संज्ञा दी है। जिस प्रकार तीतर या बटेर एकदम पास में पहुँचने पर बड़ी तेजी के साथ उड़ पड़ते हैं और पास में स्थित व्यक्ति उस उड़ने की आवाज को सुनकर भयभीत हो जाता है, ठीक इसी प्रकार पल्लवग्राही पांडित्य वाले (सिद्ध-साधित, भिषग् छद्मचर अथवा रोगाभिसर) वैद्य होते हैं। इसलिये जब ये वैद्य चिकित्सा के लिये आयें तो इनसे सबसे पहले बातचीत के प्रसंग में सभी अवसरों पर आठ प्रश्न (तन्त्र, तन्त्रार्थ आदि जिनका उल्लेख इसी अध्याय के ३० वें गद्य में किया है) पूछें। इनके यथोचित उत्तर देने में शास्त्र को जानने वाले ही समर्थ होते हैं। अपने वागाडम्बर मात्र से तन्त्र (शास्त्र) के किसी अङ्गविशेष को जानने वाले (पल्लवग्राही

---

१. 'निबन्धं' ग.।

२. 'तन्त्रणादिति व्युत्पादनात्, अर्थप्रतिष्ठयेति प्रधानभूतार्थावस्थानात्; एतेन तन्त्र्यते व्युत्पाद्यतेऽनेनेति तन्त्रम्, अर्थाः प्रतिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमिति निरुक्तिर्दर्शिता भवति' शिवदासः। 'एताश्च योगरूढाः संज्ञाः, तेन अतिप्रसंगो न वाच्यः' चक्रः।

३. 'अधिकृत्येति अधिकारिणं कृत्वा, अर्थं दीर्घञ्जीवितादिकम्, अध्यायनामसंज्ञा, अध्यायरूपनामसंज्ञा, नामसंज्ञा च योगरूढादिसंज्ञोच्यते' चक्रः। 'अध्यायो नाम संज्ञा प्रकीर्तिता' यो.।

४. 'पाल्लविकोपेताः' ग.। 'तन्त्रस्यैकदेशविदः सन्तो निखिलशास्त्रपण्डितमानिनो दम्भिनः प्रौढोक्ति-कारिणः वृक्षपल्लववदतिविस्तरश्लाघाद्युपेताः' गङ्गाधरः।

५. 'तस्मात्तु पूर्वकं जल्पं' ग.।

६. 'तत्र शास्त्रविदां बलमिति शास्त्रविद एव प्रश्नाष्टकं जानन्ति न पाल्लविकाः' चक्रः; 'शास्त्रविदां वरः' ग.।

ज्ञान वाले) अतएव शास्त्रज्ञान में अल्पबल वाले वैद्य शास्त्र की चर्चा सुनकर उस प्रकार भाग जाते हैं, जैसे धनुष की डोरी की आवाज (टंकार) सुनकर बटेर भाग जाते हैं।

वक्तव्य—विद्या के क्षेत्र में मूलग्राही पाण्डित्य की ही प्रशंसा होती है, नकि पल्लवग्राही की, क्योंकि पल्लव ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपने को अधर में लटका हुआ अनुभव करता है, अतएव मूलग्राही पुरुष की स्थिति सुस्थिर होती है। इसी को स्पष्ट करने के लिये 'बटेरों का उत्पात' तथा 'धनुष की डोरी के शब्द से बटेरों का उड़ जाना' आदि उदाहरणों का यहाँ प्रयोग किया गया है।

पशुः पशूनां दौर्बल्यात् कश्चिन्मध्ये वृकायते।
स सत्यं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः॥ ७५॥
तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः।
स्थापयत्याप्तमात्मानमाप्तं त्वासाद्य भिद्यते॥ ७६॥

अन्य उदाहरण—कोई पशु दूसरे पशुओं की दुर्बलता को देखकर उनके बीच में भेड़िया की भांति पराक्रमी बनकर घूमता है, जब वह वास्तविक भेड़िया को देख लेता या पा जाता है तो अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है (उसका वह बनावटी स्वरूप समाप्त हो जाता है।) उसी प्रकार मूर्खों के समाज में स्थित वाचाल मूर्ख अपने को आप्त (Authority) सिद्ध करता है किन्तु वास्तविक आप्त (शास्त्रज्ञ चिकित्सक) को पाकर वह वहाँ से नौ दो ग्यारह हो (भाग) जाता है।

[1]बभ्रुर्गूढ इवोर्णाभिरबुद्धिरबहुश्रुतः। किं वै वक्ष्यति सञ्जल्पे [2]कुण्डभेदी जडो यथा॥७७॥

दूसरा दृष्टान्त—जिस प्रकार ऊन से लिपटा हुआ नेवला, नेवला जैसा नहीं लगता है, उसी प्रकार मूर्खों से घिरा हुआ अबहुश्रुत (पल्लग्राही वैद्य) अर्थात् शास्त्र के किसी एक अंश को जानने वाला वैद्य होता है। ऐसा वैद्य शास्त्रीय चर्चा के प्रसङ्ग में क्या कह सकता है। जैसा कुण्डभेदी (नीच जाति में उत्पन्न) मूर्ख होता है, उस प्रकार सर्वथा बोलने में असमर्थ होता है।

वक्तव्य—बभ्रु का अर्थ केवल नेवला है, वृद्ध नेवला नहीं। यदि वृद्ध मान भी लिया जाय तो वह भेड़ जैसा नहीं दिखायी देगा। अस्तु। **कुण्डभेदी**—'कुडयते कुलम् अनेन' जो अपने दुष्कर्मों से कुल को जलाये या अपमानित करे, ऐसा मूर्ख अर्थात् जन्मना नीच और कर्मणा मूर्ख। यहाँ नकुल = जिसका कुल अच्छा न हो ऐसा नकुल जब अपने शरीर में ऊन लपेट लेता है अर्थात् रूप बदल लेता है और इधर कुण्डभेदी—'**अमृते जारजः कुण्डः**'। अमरकोष। दोगला व्यक्ति है। उपमा रुचिकर है।

सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद् भिषगल्पश्रुतैरपि।
हन्यात् प्रश्नाष्टकेनादावितरांस्त्वाप्तमानिनः॥ ७८॥

सच्चरित्र वैद्य का सम्मान करें—शास्त्र ज्ञान में कुछ कमी होने पर भी जो वैद्य सच्चरित्र (सद्वृत्त का आचरण करने वाले) हैं, उनसे विगृह्य भाषा (विवाद) का प्रयोग न करे। इनके अतिरिक्त जो झूठे ही अपने को प्रामाणिक मानते हैं, उनका वध उपर्युक्त आठ प्रश्नों (तन्त्र तन्त्रार्थ आदि) को पूछकर करे, जिससे उनका वैद्य होने का दम्भ समाप्त हो जाय।

दम्भिनो मुखरा ह्यज्ञाः प्रभूताबद्धभाषिणः।
प्रायः, प्रायेण सुमुखाः सन्तो युक्ताल्पभाषिणः॥ ७९॥
तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रितः।
[3]स्वल्पाधाराज्ञमुखरान् मर्षयेन्न विवादिनः॥ ८०॥

१. 'बभ्रुर्वृद्धनकुल ऊर्णाराशिमध्यगो यथा न किञ्चित्प्रतिपद्यते तथाऽबुद्धिरपि संजल्पे वादिप्रतिवादिकथायाम्' चक्रः। 'बभ्रुर्मूढः' इति पा०।

२. 'कुण्डभेदीति निन्दितजातिरित्यर्थः' शिवदाससेनः।

३. 'स्वल्पाधाराः स्वल्पश्रुताः, न मर्षयेदिति नोपेक्षेत' चक्रः।

पाखण्डी आदि वैद्य की निन्दा—दम्भी (कपटी), मुखर (अत्यन्त वाचाल), अज्ञ (मूर्ख) अधिकांश बिना सिर-पैर की बात करने वाले, मूर्ख वैद्य होते हैं।

सद्वैद्य-प्रशंसा—ये प्रायः सुमुख, सज्जन, अहंकाररहित होते हैं और शास्त्रीय तत्वों के ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये युक्ति-युक्त किन्तु थोड़ा बोलने वाले होते हैं। जिनका ज्ञान थोड़ा हो, मूर्ख हों व्यर्थ का विवाद करते हों, ऐसे वाचाल व्यक्तियों को क्षमा न करें। ये व्यक्ति तथा समाज के आहितकारक होते हैं।

परो भूतेष्वनुक्रोशस्तत्त्वज्ञान (ने) परा[1] दया।
येषां तेषामसद्वादनिग्रहे निरता मतिः॥ ८१॥

शास्त्रार्थ महारथी वैद्य—प्राणियों के प्रति अत्यन्त दयालु, तत्वज्ञान (शास्त्र के ठीक-ठीक ज्ञान) का उपदेश करने में कृपा करने वाला, जैसे-तैसे लोगों के अप्रामाणिक वादों का खण्डन करने में उत्कृष्ट बुद्धि वाला वैद्य उत्तम होता है।

[2]असत्पक्षाक्षणित्वार्तिदम्भपारुष्यसाधनाः[3]।
भवन्त्यनाप्ताः स्वे तन्त्रे प्रायः परविकत्थकाः॥ ८२॥

मूर्खता छिपाने के प्रकार—अपने शास्त्रज्ञान में जो अप्रामाणिक होते हैं, वे असत् (गलत) पक्ष (सिद्धान्त) का सहारा लेते हैं, अक्षणित्व (समय का अभाव अथवा मानसिक अस्वास्थ्य) को प्रकट करते हैं, आर्ति (पीड़ा—शिरःशूल, कर्णशूल, उदरशूल आदि अस्पष्ट पीडाओं) का वर्णन कर खिसक जाते हैं, दम्भ तथा कठोरता आदि साधनों को अपना कर दूसरे की निन्दा करते हैं।

तान् कालपाशसदृशान् वर्जयेच्छास्त्रदूषकान्।
प्रशमज्ञानविज्ञानपूर्णाः सेव्या [4]भिषक्तमाः॥ ८३॥

त्याज्य वैद्य—अपनी अयोग्यता छिपाने के लिये शास्त्रों की निन्दा करने वाले, साक्षात् यमराज के पाश जैसे उन निन्दित वैद्यों को छोड़ दे।

सेवनीय वैद्य—शान्ति, शास्त्रीयज्ञान एवम् विज्ञान में परिपूर्ण जो श्रेष्ठ वैद्य हैं, उनकी सदैव सेवा करनी चाहिये। अर्थात् सद्वैद्यों के सेवन (सलाह) से बल, वीर्य, ओज, कान्ति एवम् दीर्घायु की प्राप्ति होती है।

[5]समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्। सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥ ८४॥

अज्ञान के आश्रित—अविज्ञान (मूर्खता) में द्वयाश्रय अर्थात् शरीर और मन इन दोनों के आश्रयभूत सभी रोग होते हैं।

विज्ञान के आश्रित—सभी प्रकार के (शारीरिक तथा मानसिक) सुख निर्मल ज्ञान में प्रतिष्ठित होते हैं। अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान से अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होता।

इदमेवमुदारार्थमज्ञानां न प्रकाशकम्। शास्त्रं दृष्टिप्रणष्टानां यथैवादित्यमण्डलम्॥ ८५॥

शास्त्रज्ञान का महत्त्व—जिस शास्त्र का उदार (चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, प्राप्तिरूप) अर्थ (विषय) हो अर्थात् दोनों लोकों में सुख प्रदान करने की जिसकी उदार भावना हो और जो अज्ञों (मूर्खों)

१. 'तत्त्वज्ञानपरा' यो.।

२. 'असत्पक्षादि साधनं येषां ते तथा, असत्पक्षोऽनागमसिद्धः पक्षः, अक्षणित्वं 'पृच्छार्थमनुयुक्तस्य 'सम्प्रति वक्तुं क्षणो नास्ति' इति भाषणम्; आर्तिः-पृच्छार्थमनुयुक्तस्य शिरोव्यथादिकमुच्चार्य श्लाघमानं भाषणं; दम्भः—पुस्तकवैद्यभाण्डादिभिः स्वार्थोत्कर्षप्रतिपादनं; पारुष्यं-कृच्छ्रतोऽपि नवाच्यत्वादिपरुषभाषणम्; अनाप्ताः–स्वे तन्त्रे इति स्वतन्त्रानभिज्ञत्वात्, परविकत्थकाः परदूषकाः' चक्रः।

३. 'असत्पक्षाः क्षणित्वाद्धि दम्भपारुष्यसाधनाः' ग.।

४. 'सेवेत शमविज्ञानज्ञानपूर्वान् भिषक्तमान्' यो.।

५. 'समग्रमिति शारीरं मानसं च' चक्रः।

का प्रकाशन देता हो, (इसके स्थान पर जहाँ ऐसा पाठ है—**'अज्ञातार्थप्रकाशकम्'** अर्थात् जो विषय मालूम न हो उसको भी बतलाने वाला) ऐसा यह शास्त्र जिनकी भौतिक दृष्टि नष्ट हो गयी है अर्थात् जो अन्धे हो गये हैं। उनके लिये सूर्य-मण्डल के समान (अन्तर्दृष्टि को) प्रकाश प्रदान करने वाला है।

तत्र श्लोकाः—

अर्थेदशमहामूलाः संज्ञा चास्यां यथा कृता।
अयनान्ताः षडग्र्याश्च रूपं वेदविदां च यत् ॥ ८६ ॥
सप्तकश्चाष्टकश्चैव परिप्रश्नाः सनिर्णयाः।
यथा वाच्यं यदर्थं च षड्विधाश्चैकदेशिकाः ॥ ८७ ॥
अर्थेदशमहामूले सर्वमेतत् प्रकाशितम्।
सङ्ग्रहश्चायमध्यायस्तन्त्रस्यास्यैव केवलः ॥ ८८ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—हृदय से सम्बन्धित दस धमनियां, जैसे धमनी तथा स्रोतों का नामकरण किया गया है, अहिंसा से ब्रह्मचर्य तक अयनों का वर्णन, छः अग्र्य द्रव्यों का संग्रह, आयुर्वेदज्ञों के जो लक्षण होते हैं उनका वर्णन, सप्तक (कं वेदमुपदिशन्ति आयुर्वेदविदः से किमर्थञ्च तक) और अष्टक (तन्त्र से प्रश्नार्थ तक). ये दोनों प्रकार के प्रश्न और इनके उत्तर, इनके उत्तरों को कैसे देना चाहिये (वाक्यशः वाक्यार्थशः आदि द्वारा), जिस लिये उत्तर देना चाहिये, छः प्रकार के एकदेशिकों का वर्णन (पाल्लविक से प्रभूतभाषी तक), इस अर्थेदशमहामूलीय नामक ३० वें अध्याय में प्रकाशित किया है, इस तन्त्र (चरकसंहिता सूत्रस्थान) का यह अध्याय पूर्ण रूप से संग्रहात्मक है।

यथा सुमनसां सूत्रं सङ्ग्रहार्थं विधीयते। सङ्ग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा सङ्ग्रहः कृतः ॥८९॥

सूत्र शब्द की निरुक्ति—जिस प्रकार पुष्पों के (मालारूप में) संग्रह के लिये सूत्र (तागा) का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न अर्थों (विषयों) के संग्रह के लिये महर्षि आत्रेय ने इस सूत्रस्थान की रचना की है। अतः आयुर्वेदविदों को चाहिये कि माला के समान इस सूत्रस्थान को कण्ठस्थ एवम् हृदयस्थ करें।

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते। इयताऽवधिना सर्वं सूत्रस्थानं समाप्यते ॥ ९० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अर्थेदश-
महामूलीयो नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम्।

महर्षि अग्निवेश द्वारा रचित इस तन्त्र में चरक द्वारा प्रति-संस्कार (Revised) की गयी इस संहिता में इतनी अवधि (३० अध्यायों) द्वारा सम्पूर्ण सूत्रस्थान समाप्त किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-
चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सूत्रस्थान में
अर्थेदशमहामूलीय नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥

इस प्रकार सूत्रस्थान समाप्त हुआ।

निदानस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

सूत्रस्थान का वर्णन करने के पश्चात् अब हम यहाँ से ज्वरनिदान का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—सर्वप्रथम ज्वरनिदान वर्णन का सहेतुक प्रतिपादन—'ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः। ज्वरेणाऽऽविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते' ॥ च० चि० अ० ३ ॥ अर्थात् ज्वर का आत्मिक (निजी) लक्षण है—देह एवम् मनस् को सन्ताप देना या सन्ताप पहुँचाना अथवा स्वाभाविक सन्ताप से शरीर में सन्ताप (उष्णता) की मात्रा को अधिक कर देना। जब शरीर में ज्वर का आवेश (एड़ी-चोटी फैलाव) हो जाता है तब कोई भी भाव (अङ्ग-प्रत्यङ्ग) सन्तप्त हुए बिना नहीं रह सकता। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ज्वर का प्रभाव समस्त शरीर पर पड़ता है। शरीर का सन्ताप स्पर्श तथा नाड़ी से जाना जा सकता है। स्पर्श का ही प्रतिनिधि यन्त्र है 'थर्मामीटर'। मनस् का सन्ताप इन निम्नोक्त लक्षणों से मालूम किया जा सकता है—१. वैचित्य (चित्त की विकृति), २. अरति (बेचैनी), ३. ग्लानि और ४. इन्द्रियों की विकृति।

इसके अतिरिक्त आगे 'पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्' । च० नि० अ० ८। जो यह कहा गया है कि पहले गुल्म की उत्पत्ति हुई। यहाँ ज्वररोगाक्रान्त पुरुष में गुल्म की उत्पत्ति हुई, ऐसा समाधान युक्तिसंगत है।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'ज्वरमादौ प्रवक्ष्यामि स रोगानीकराट् स्मृतः। रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः ॥' सु० उ० अ० ३९।८। और भी देखें—'जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्। अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः' ॥ सु० उ० अ० ३९।१०। यह ज्वर जन्म के आरम्भ में और मृत्यु काल में प्रायः प्राणियों में प्रवेश करता है। अतः सभी विकारों का यह राजा कहा गया है। सुश्रुत के इस अनिश्चयात्मक 'प्रायः' शब्द का निराकरण करते हुए महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार लिखा है—'सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते, सज्वरा एव म्रियन्ते च'। च० नि० अ० १।३५।

वाग्भट ने ज्वर को **'रोगपति'** कहा है। देखें—अ० हृ० नि० अ० २।१। अर्थात् यह ज्वर रोग मात्र का स्वामी है, अतएव इसका वर्णन यहाँ सर्वप्रथम किया गया है।

इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं [1]निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत्-त्रिविधम्—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति ॥ ३ ॥

निदान-प्रकरण

(Chapter of Diagnosis)

निदान—इस प्रकरण में हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान ये सभी शब्द परस्पर एक दूसरे से अभिन्नार्थक (पर्यायवाची) हैं। वह निदान तीन प्रकार का होता है—१. असात्म्य-इन्द्रियार्थ संयोग २. प्रज्ञापराध तथा ३, परिणाम।

१. 'हेत्वादिभूरिपर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थं तथा हेत्वादिशब्दानामर्थान्तरेऽपि वर्तमानत्वे पर्यायान्तरेण समं सामानाधिकरणम् कारण एव वृत्तिर्नियम्यते, तेनैकस्मिन्नर्थे यस्मिंस्ते शब्दाः प्रवर्तन्ते तत् कारणमितरहेत्वाद्यर्थेभ्यो व्यवच्छिद्यते, तेन लक्षणार्थं च पर्यायाभिधानं भवति, एवमन्यत्रापि व्याध्यादिपर्यायाभिधानेऽपि व्याख्येयम्' चक्रः।

वक्तव्य—संस्कृतवाङ्मय का कोष-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें एक-एक शब्द के अनेक पर्यायवाचो शब्द सुलभ हैं, यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि से उन-उन पर्यायवाची शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। तथापि वे समान शब्द के सूचक माने जाते हैं। यही स्थिति यहाँ 'निदान' शब्द के पर्यायों की भी है। क्रमशः इनका विवरण इस प्रकार है—

१. हेतु—'हिनोति (व्याप्नोति) कार्यम्'। हि गतौ (स्वा० प० अ०) धातु से उणादि 'तुन्' प्रत्यय का योग होने पर 'हेतु' शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् जो स्वसम्बन्धित कार्य में व्याप्त हो उसे 'हेतु' कहते हैं। जैसे—रोग में रोग का कारण।

इस प्रकरण में 'हेतु' नाम से जिस निदान पर्याय का उल्लेख किया गया है वह १. सन्निकृष्ट, २. विप्रकृष्ट, ३. व्यभिचारी तथा ४. प्राधानिक भेद से चार प्रकार का होता है। पुनः यह—१. दोषहेतु, २. व्याधिहेतु एवम् ३. उभय (दोष-व्याधि) हेतु भेद से तीन प्रकार का होता है। फिर इसके १. बाह्य तथा २. आभ्यन्तर रूप से दो भेद किये गये हैं। जिनका वर्णन यथावसर आगे किया जायगा।

२. निमित्त—'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः'। इति अमरः। हेतु तथा लक्ष्म (शुभ एवम् अशुभ सूचक चिह्न) के अर्थ में निमित्त शब्द का व्यवहार है। यथा—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'। गीता ११।३३। और भी—'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव'। गीता १।३०।

३. आयतन—'आयतन्तेऽत्र'। यती प्रयत्ने (भ्वा० आ० से०) अधिकरणे ल्युट्। इस प्रकार 'आयतन' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है 'स्थान' (Place)। वह भले ही रोग का हो अथवा और किसी का।

४. **कर्त्ता**—क्रिया की स्वतन्त्रता में प्रयुक्त को 'कर्ता' कहते हैं। सृष्टि रूप क्रिया का स्वतन्त्र कर्ता 'ब्रह्मा' है। व्याकरणस्य कर्ता, ऋणस्य कर्ता, हितकर्ता, अहितकर्ता आदि रूपों में इस कर्ता शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ यह निदान का पर्यायवाचक होने के कारण रोग का निश्चयकर्ता कहा जायगा। इसी को आगे मन्ता, वेदिता, वोद्धा कहा गया है, देखें—च० शा० अ० ४।

५. **कारण**—'कार्यतेऽनेनेति'। ण्यन्तात् कृधातोर्ल्युट्। 'कारणं घातने हेतौ कारणा पुनः'। इति हैमः। और भी—'हेतुर्ना कारणं बीजं निदानम्'। इति अमरः।

६. **प्रत्यय**—'प्रतीयते, विधीयत इति प्रत्ययः'। 'प्रत्येति वा', 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु', इति अमरः। अधीन, शपथ, ज्ञान, विश्वास एवम् हेतु इन अर्थों में प्रत्यय शब्द का प्रयोग होता है। ये सभी शब्द निदान की व्यापकता के सहायक हैं। उक्त शब्द के प्रयोग इस प्रकार देखे जाते हैं—'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः', 'सञ्जातप्रत्ययः', 'स्थानप्रत्ययात्', 'आकृतिप्रत्ययात्' आदि।

७. **समुत्थान**—उठना, उभड़ना (Rising or Getting up) आदि अर्थों में समुत्थान शब्द प्रयुक्त होता है। किस कारण से रोग किस स्थान पर उत्पन्न हुआ अथवा प्रकट हुआ, उस स्थिति विशेष की यह संज्ञा है। **यथा**—सन्धिशोथ, दन्तविकार, गलशुण्डिका, पाषाणगर्दभ, मन्यास्तम्भ, उपदंश, आमवात आदि रोग।

८. **निदान**—आयुर्वेदीय चिकित्सा में निदान का महत्वपूर्ण स्थान है। जिससे रोग का निश्चय किया जाता है, उसका नाम निदान है। वास्तव में 'नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः'। सभी प्रकार के रोगों का नाम-निर्धारण करना शास्त्र के लिये कठिन कार्य है, क्योंकि समय-समय पर दोष विशेष तथा ऋतु, देश, आहार-विहार आदि की विषमता से विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं, फिर भी शास्त्र द्वारा निर्धारित संज्ञा वाले रोगों के निदान के साधन हैं—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति इन सबके समवाय का नाम 'निदान' (Diagnosis of a disease) है, परन्तु रोग के निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण, मूल, प्रवर्तक तथा उत्पादक का नाम भी निदान है। **पूर्वरूप**—भावी (होने वाला), रोग के लक्षणों का नाम। **रूप**—उत्पन्न, वर्तमान या विद्यमान रोग के लक्षणों का नाम है। इसके पर्यायवाची शब्द ये हैं—संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, चिह्न और आकृति। इनमें व्यञ्जन को रोग का प्रधान लक्षण कहा जाता है, अथवा ऐसा कहिये—जिसके बिना वह रोग ही नहीं कहा जा सकता। जैसे—ज्वर में सन्ताप (गर्मी) का होना, कास में खाँसना, पाण्डु रोग में पीलापन, आदि। **उपशय**—हेतु और रोग के विपरीत अथवा विपरीत फल को देने वाले औषध तथा आहार-विहार आदि का सुखप्रद (आरोग्य को देने वाला नकि कुपथ्यकारक)

उपयोग का नाम। इसके विपरीत स्थिति का नाम **अनुपशय** है। **सम्प्राप्ति**—रोग की उत्पत्ति के प्रकार का नाम है, इसी को 'जाति' तथा 'आगति' भी कहते हैं। सुश्रुत में हेतु एवम् लक्षण का निर्देश करने के कारण इसको **'निदान'** कहा गया है। देखें—सु० सू० अ० ३।१४। अर्थात्—**'निदीयते (निर्दिश्यते) व्याधिः अनेन इति, निदानम्'**। जिससे व्याधि का निर्देश (निश्चय) किया जाय। जज्जट के अनुसार निदान शब्द की निरुक्ति—'निश्चित्य दीयते (प्रतिपद्यते) व्याधिः अनेन, इति', जिससे व्याधि का स्वरूप निश्चित हो सके, उसे निदान कहते हैं। यथा—'अयथावलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः'। शिशुपालवध २। ९४।

वह रोगनिदान असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि पूर्वोक्त भेदों के अनुसार तीन प्रकार का होता है, जिनका विशेष विवेचन सूत्रस्थान के 'तिस्रैषणीय' नामक ११ वें अध्याय में किया जा चुका है।

[1]अतस्त्रिविधा व्याधयः [2]प्रादुर्भवन्ति–आग्नेयाः, सौम्याः, वायव्याश्च; द्विविधाश्चापरे–राजसाः, तामसाश्च ॥ ४ ॥

त्रिविधरोग—उपर्युक्त कारणों से तीन प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—१. आग्नेय (अग्निगुण-प्रधान), २. सौम्य (सोमगुण-प्रधान) तथा ३. वायव्य (वायुगुण-प्रधान)।

द्विविधरोग—दो प्रकार के रोग—१. राजस (रजोगुण-प्रधान) और २. तामस (तमोगुण-प्रधान)।

वक्तव्य—ऊपर रोगों का जो तीन प्रकार से विभाजन किया गया है, वह स्पष्ट रूप से त्रिदोष से सम्बन्धित है। यथा—१. अग्निगुण प्रधान पित्त, २. सोम (जलीय) गुण प्रधान कफ और ३. वायुगुण प्रधान वात, ये तीन दोष हैं, इन्हीं की विकृति से पित्तज, कफज, वातज रोग होते हैं। यद्यपि दोषों का यह (पित्त, कफ, वात) क्रम समीचीन नहीं है तथापि प्रसंगानुसार महर्षि ने इस क्रम का परिवर्तन किया है। क्योंकि ज्वर में पित्त की प्रधानता होना सर्वसम्मत है। **यथा**—'ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना'। अ० हृ० नि० अ० १।१६। अर्थात् ज्वर ऊष्मा, (गर्मी) के बिना नहीं होता। अतएव तन्त्रकर्ता ने वात, पित्त, कफ के स्थायी क्रम का प्रकरणानुकूल परिवर्तन किया है। दूसरा कारण यह है, कि कफज एवम् वातज ज्वरों में भी 'अग्नितत्व' की ही प्रधानता रहती है।

उक्त सूत्र में जो रोगों के प्रथम तीन भेद किये हैं वे तीनों शारीरिक रोग हैं और जो पुनः दो प्रकार के रोग बतलाये हैं, वे (राजस एवम् तामस) मानस रोग हैं। देखें—'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः'॥ च० सू० अ० १।५४।

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग [3]इत्यनर्थान्तरम् ॥ ५ ॥

व्याधि के पर्यायवाचक शब्द—व्याधि, आमय, गद, आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार और रोग ये सभी शब्द परस्पर समानार्थक हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर उक्त शब्दों की निरुक्तियाँ तथा प्रयोग-क्षेत्र का निर्देश किया जा रहा है, क्योंकि ये शब्द अनेक अर्थों के वाचक होते हुए भी यहाँ मात्र रोगसूचक हैं। १. **व्याधि**—वि+आङ्+धा+कि = व्याधि; इसका अर्थ होता—विविध प्रकार के दुःखों को धारण कराने वाला। और भी—'व्याधिः कुष्ठे च रोगे च'। इति अमरः। २. **आमयः**—अम रोगे, भावे घञ्। आमयन्ति अनेन। जो शरीर को रुग्ण कर देता है (Sickness) रोग। ३. **गदः**—गद+अच्। 'गदः कृष्णानुजे रोगे'। इति हैमः। गद (Sickness) रोग। ४. **आतङ्कः**—आङ्+।

---

१. 'अतस्त्रिविधविकल्पाः' इति पा०।

२. 'प्रादुर्भवन्त्याग्नेयसौम्यवायव्याः' इति पा०। 'आग्नेयाः पैत्तिकाः, सौम्याः कफजाः, वायव्या वातजाः; यद्यपि प्रधानत्वेन वायव्या एव प्रथमं निर्देष्टुं युज्यन्ते तथाऽपीह ज्वरे पित्तस्य प्रधानत्वादाग्नेयाभिधानम्' चक्रः।

३. 'व्याध्यादिशब्दानां व्युत्पत्त्या रोगधर्मा लक्षणीयाः' तथा च–विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः; प्रायेणाम-समुत्थत्वेनामय उच्यते; आतङ्क इति दुःखयुक्तत्वेन कृच्छ्रजीवनं करोति, वचनं हि—'आतङ्कः कृच्छ्रजीवने'; यक्ष्म-शब्देन च राजयक्ष्मवदनेकरोगयुक्तत्वं विकाराणां दर्शयति; ज्वरशब्देन च देहमनःसन्तापकरत्वं; विकारशब्देन च शरीरमनसोरन्यथाकरणत्वं व्याधेर्दर्शयति, रोगशब्देन च रुजाकर्तृत्वम्' चक्रः।

तकि+घञ्। यहाँ तकि धातु का अर्थ है कष्टमय जीवन। 'आतङ्को रोगसन्तापशङ्कासु मुरजध्वनौ'। इति मेदिनी। ५. **यक्ष्मा**—यक्षयते, यक्ष्यते वा। यक्षपूजायाम्, चुरादिः, मनिन् प्रत्यय, नान्तकी उपधा को दीर्घ। जिस रोग के कारण वैद्य की पूजा हो उसे 'यक्ष्मा' कहते हैं। ६. **ज्वरः**—ज्वरति, ज्वर रोगे अच् प्रत्ययः। ज्वरणं वा ण्यन्तात् ज्वरधातोः घञ् प्रत्यये रूपम्। यह शरीर एवम् मन को सन्ताप पहुँचाता है। ७. **विकारः**—विकुरुते, इति। वि+कृ+घञ्। अस्वस्थताकारक भाव को विकार (रोग) कहते हैं। ८. **रोगः**—रुजति देहमिति, रोगः। रुक्, रुजा, रोगः वा। रुज+घञ्=रोगः, रोजनं वा। रोग शरीर को तोड़ देता है। ऐसा लोक-व्यवहार में कहा जाता है। इस प्रकार उक्त पर्यायों से रोग के भेदों का भी निर्देश प्राप्त होता है। इस प्रसंग में चक्रपाणि का मत ऊपर टिप्पणी में देखें।

तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितः ॥ ६ ॥

निदान-पञ्चक

निदान के पाँच भेद—उपर्युक्त उस रोग का ज्ञान १. निदान, २. पूर्वरूप, ३. लिङ्ग (रूप), ४. उपशय और ५. सम्प्राप्ति से होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त निदानपञ्चक रोग-निर्णय में सहायक होता है। आयुर्वेदशास्त्र में प्रत्येक रोग का निर्णय निदानपञ्चक द्वारा ही किया जाता है, अन्यत्र इसके भिन्न-भिन्न साधन हैं।

निदान—इसका क्षेत्र दर्शन, स्पर्शन, प्रश्न आदि को लेकर अत्यधिक विस्तृत है। अतः यहाँ **निदान-पञ्चक** का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। 'रोगोत्पादको हेतुः निदानम्'। मधुकोषव्याख्या। अर्थात् रोग जनक कारण का नाम निदान है। यह निदान दो प्रकार का होता है। १. **विप्रकृष्ट**—जिसमें दोषों का वैषम्य या प्रकोप होता है और २. **सन्निकृष्ट**—वातादिदोषों का प्रकोप ही सभी रोगों की उत्पत्ति में कारण होता है। इसका विशेष वर्णन आगे किया गया है।

पूर्वरूप—इसकी सहायता से उत्पन्न होने वाला रोग तथा उसके सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसी को प्राग्रूप भी कहते हैं। परन्तु वह रोग अभी स्पष्ट रूप से वातादि दोष या दोषों द्वारा अधिष्ठित नहीं होता, अतएव वह लक्षण उस व्यक्ति में अव्यक्त (अस्पष्ट) रूप में होता है, क्योंकि व्याधियाँ उस समय तक अल्प मात्रा में होती हैं, अतः उसके लक्षण भी अव्यक्त होते हैं।

लिङ्ग अथवा रूप—वही पूर्वरूप जब व्यक्त (स्पष्ट) हो जाता है, अर्थात् जिस-जिस दोष-विशेष से रोग उत्पन्न हुआ है, उस-उस के लक्षण, लिंग या रूप दिखायी देने लगते हैं, तब उसे लिंग या रूप कहते हैं। इसके पर्यायवाची शब्द इस प्रकार देखे जाते हैं—संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लक्षण, चिह्न तथा आकृति।

उपशय—हेतु (रोगोत्पादक कारण) तथा व्याधि के विपरीत (प्रतिकूल) अर्थ (प्रयोजन) को रोकने वाले औषध, अन्न (षड्विध आहार) एवम् विहार के सुखकर उपयोग (सेवन) को उस-उस व्याधि (रोग) का उपशय कहा जाता है। इसका पर्यायवाची शब्द है 'सात्म्य'। उपशय के विपरीत का नाम है 'अनुपशय'। इसका पर्यायवाची शब्द है 'असात्म्य'। ऐसी व्याधि जिसके लिंग (लक्षण) अभी तक प्रकट (भलीभांति स्पष्ट) नहीं हो सके हैं, की परीक्षा उपशय अथवा अनुपशय के माध्यम से की जानी चाहिये।

सम्प्राप्ति—जिस प्रकार से दूषित तथा विषम हुए, शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हुए वातादि दोषों से रोग की उत्पत्ति होती है, उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं। इसके पर्यायवाची शब्द हैं—जाति और आगति। इसके पाँच भेद होते हैं। यथा—

१. **सङ्ख्यासम्प्राप्ति**—इससे रोगों के भेदों का उल्लेख किया जाता है। यथा—'ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसङ्घाताऽऽगन्तुजः स्मृतः'। माधवनिदान।

२. **विकल्पसम्प्राप्ति**—परस्पर सम्मिलित दोषों की अंशांश कल्पना-विचार को 'विकल्प' कहते हैं। अर्थात् एक व्याधि में कौन दोष कितनी मात्रा में है, सका विचार करना उक्त सम्प्राप्ति का कार्यक्षेत्र है।

३. **प्राधान्यसम्प्राप्ति**—रोग की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता के विचार से व्याधि के स्वरूप का निर्णय (निश्चय) करना 'प्राधान्यसम्प्राप्ति' है। इसी को चरक में स्वतन्त्र व्याधि का अनुबन्ध कहा गया है।

४. **बलसम्प्राप्ति**—हेतु, पूर्वरूप तथा रूप की पूर्णता से रोग को बलवान् एवम् अपूर्णता से रोग को बलहीन समझा जाता है। इस दृष्टि से जो निश्चय किया जाता है उसको क्रमशः बल, अबल सम्प्राप्ति कहते हैं।

५. **कालसम्प्राप्ति**—रात, दिन, ऋतु और भुक्त आहार के परिपाक काल के अनुसार प्रकुपित दोष को देखकर उक्त सम्प्राप्ति का निर्णय किया जाता है। रात-दिन के अनुसार दोषों के चय-प्रकोप का प्रकार निम्नोक्त है। यथा—रात्रि में कफ, पित्त, वात का ; दिन में—वात, पित्त, कफ का। ऋतु के अनुसार चय तथा प्रकोप—हेमन्त-वसन्त में कफ का, वर्षा-शरद् में पित्त का, ग्रीष्म-प्रावृट् में वात का।

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे ॥ ७ ॥

निदान—निदानपञ्चक में से निदान का अर्थ है कारण, यह पहले कहा जा चुका है। (देखें—च० नि० अ० १ गद्य खण्ड ३)।

वक्तव्य—आयुर्वेद में निदान का अत्यन्त महत्व है। इसका व्याख्यान पहले किया जा चुका है। विमानस्थान के जनपदोद्ध्वंसीय अध्याय में रोग के निदान में अधर्म को भी कारण माना है। इसका विशेष विवरण वहीं देखें। यद्यपि आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग और प्रज्ञापराध ये अधर्म (अनुचित अथवा अहितकर आहार-विहारजनित रोग) के ही कारण हैं, जिनसे हम अशुभ (रोग) की उत्पत्ति मान सकते हैं, किन्तु उक्त प्रकरण में कहा गया अधर्म अपना विशेष महत्व रखता है। सामान्य रोगों का सिद्धान्त तो यह है—'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्' ॥ अ० हृ० नि० अ० १।१२। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वाग्भट ने अ० हृ० सू० अ० १२।३४ में लिखा है—'तेषां कोपे तु कारणम्। अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम्' ॥ यहाँ 'दुष्कृत' शब्द पाप का वाचक है, जिसे सामान्य दृष्टि से अधर्म कहते हैं और 'दुष्कृत' का यह भी अर्थ है—आयुर्वेदोक्त 'सद्वृत्त' का अनादर अथवा अनाचरण। वास्तव में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग और प्रज्ञापराध भी यही है।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वाद् आगमाच्च'। सु० सू० अ० २४।८। अर्थात् सभी रोगों के मूल कारण वात-पित्त-कफ ही हैं। क्योंकि **'तल्लिङ्गत्वाद्'**—रोगों में वात आदि दोषों के लक्षण दिखलायी देते हैं। **'दृष्टफलत्वाद्'**—वात आदि दोष-नाशक औषध योगों द्वारा चिकित्सा करने पर लाभ होता देखा गया है। **'आगमात्'**—शास्त्र से भी ज्ञात होता है कि वात आदि दोषों से रहित कोई रोग होता ही नहीं। अतः 'निदानं त्वादिकारणम्'। निदान ही रोग जानने का आदि कारण या मूल कारण है। नैयायिकों के मत से निदान रोग या रोगों की उत्पत्ति में 'निमित्तकारण' है।

[1]पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः ॥ ८ ॥

पूर्वरूप—व्याधि (रोग) के उत्पन्न होने के पहले जो लक्षण प्रकट होते हैं, वे उस-उस रोग के पूर्वरूप कहे जाते हैं।

वक्तव्य—दोष विशेष के ज्ञान के विना ही केवल उत्पन्न होने वाला रोग जिन लक्षणों से मालूम होता है उन लक्षणों को 'सामान्य पूर्वरूप' कहते हैं। अल्प लक्षणों के कारण विशिष्ट व्याधि के प्रमुख लक्षणों के थोड़ी मात्रा में दिखायी देने को 'विशिष्टपूर्वरूप' कहते हैं। अर्थात् जिस व्याधि के जो रूप हैं वे ही जब अल्प मात्रा में दिखलायी दें, वे तो उस व्याधि के 'विशिष्ट पूर्वरूप' कहे जाते हैं। यथा—**'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्'**। ये ज्वर-सामान्य के पूर्व रूप हैं। यहाँ कुछ अन्य आचार्यों के मत में पूर्वरूप के स्वरूप का निर्देश किया जा रहा है—**पराशर**—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते नतु दोषविशेषः'। पूर्वरूप उसे कहते हैं, जिससे होने वाले रोग के कुछ विशिष्ट लक्षण देखे जाते हैं, न कि दोष (वात आदि)। **हारीत**—'इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु 'जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्'। अर्थात् वात ज्वर में जँभाई, अङ्गमर्द, हृदय में घबड़ाहट आदि लक्षण होते हैं। **सुश्रुत**—'विशेषात् तु जृम्भात्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयो-

१. 'पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेरिति व्याधेरुत्पत्तेः पूर्वं यल्लक्षणं तत् पूर्वरूपं व्याधेः' गङ्गाधरः।

दाह: कफादन्नारुचिर्भवेत्'' ॥ वातज्वर में वायु के कारण अत्यन्त जँभाई का आना, पित्तज्वर में नेत्रों में जलन तथा कफ-ज्वर में भोजन के प्रति अरुचि होती है।

इसी प्रकार का वर्णन चरक इन्द्रियस्थान में अरिष्ट लक्षणों के प्रसंग में किया गया है। देखें—च० इ० अ० ५। **माधवकर**—'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्'। सामान्य दृष्टि से पूर्वरूप को ऐसा समझना चाहिये। जैसा—वर्षा के पूर्व बादलों का आडम्बर होता है और उसके बाद वर्षा।

कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें पूर्वरूप नहीं होता यह तो नहीं कहा जा सकता, हाँ यह कहना ही पड़ेगा कि वह स्पष्ट नहीं दिखलायी देता। यथा—'अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्'। च० चि० अ० ११।१२। अर्थात् 'क्षतेन क्षीण: क्षतक्षीण:' शुक्र तथा ओजस् के क्षय से क्षीण पुरुष के अस्पष्ट लक्षण ही इसके पूवरूप होते हैं। इसी पाठ को आगे चलकर महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार परिवर्तित किया है—'अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति 'स्मृतम्'। च० चि० अ० २८।१९। यहाँ 'तेषां' शब्द से 'वातव्याधियों' का संकेत है। शेष पहले के समान ही है।

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम् ॥

लिङ्ग अथवा रूप—पूर्वरूप की स्थिति अव्यक्त (अस्पष्ट) लक्षण ही स्पष्ट रूप में दिखलायी देते हैं, उनको लिङ्ग या रूप कहते हैं। उस लिङ्ग के ये पर्यायवाची शब्द है—लिङ्ग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यञ्जन और रूप। अर्थात् इन शब्दों का यहाँ केवल लिङ्ग अर्थ है, और कुछ भी नहीं।

वक्तव्य—निदानपञ्चक में लिङ्ग या रूप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते'। अ० हृ० नि० अ० १।५। अर्थात् वही पूर्वरूप जब स्पष्ट हो जाता है, तब 'रूप या लिङ्ग' कहलाता है। रूप के पर्यायवाचक शब्दों के अन्यत्र क्या प्रयोग हैं, देखें—

१. **लिङ्ग**—'लिगि गतौ. घञ् 'नुम्'। 'लिङ्गं चिह्नशेफसो:'। इति अमर:। तथा—'लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च साङ्ख्योक्तप्रकृतावपि। शिवमूर्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम्'॥ इति मेदिनी। अर्थात् यह शब्द चिह्न, पुरुषमूत्रेन्द्रिय, अनुमान, शिवमूर्ति (शिवलिंग) आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। और भी—Mark, Sign, Token & Symbol २. **आकृति**—'आकाराविङ्गिताऽऽकृती'। इति अमर:। आकृति (Shape)। प्रयोग—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'। सुभाषित। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। अभिज्ञान०। 'आकृतिगणोऽयम्'। गणपाठ। ३. **लक्षण**—'लक्षणं नाम्नि चिह्ने च'। मेदिनी। प्रयोग—पुरुषलक्षणं, गर्भलक्षणं, द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं, 'अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्'। सुभाषित। ४. **चिह्न**—'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्'। चिह्न (Symptom), प्रयोग—'ग्रामेषु यूपचिह्नेषु'। रघु०। 'सन्निपातस्य चिह्नानि'। पञ्चतन्त्र। 'प्रसादचिह्नानि पुर:फलानि'। रघु०। ५. **संस्थान**—'संस्थानम् आकृतौ'। इति मेदिनी। रुकना, स्थिर होना तथा आकृति अर्थों में इसका प्रयोग होता है। 'आकृतिरवयवसंस्थानविशेषा:'। ६. **व्यञ्जन**—'व्यज्यते अनेन, इति'। 'व्यञ्जनं तेमने चिह्ने'। इति मेदिनी। भक्ष्यभेद, चिह्न तथा Manifesting यथा—'तपस्विव्यञ्जनोपेता:'। ७. **रूप**—'रोपयति, विमोहयति, रूयते, स्तूयते वा'। 'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान् गुणो रूपम्'। तर्ककौमुदी। 'विद्या नाम नरस्य रूपमधिकम्'। सुभाषित।

उपशय: पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोग: सुखानुबन्ध: ॥ १० ॥

उपशय—हेतुविपरीत, व्याधि (रोग) विपरीत, हेतुव्याधि विपरीत तथा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध, अन्न (आहार) और विहार का सुखावह (हितकारक) उपयोग को 'उपशय' (Lying by the side of) कहते हैं।

---

१. 'हेतुना तथा व्याधिना तथा हेतुव्याधिभ्यां च विपरीता हेतुव्याधिविपरीता:, तेषां; तथा हेतुव्याधिविपरीतार्थकारिणामौषधान्नविहाराणां सुखरूपोऽनुबन्ध उपशय:। तत्र विपरीतार्थकारि तदेवोच्यते यदविपरीततया आपाततः प्रतीयमानं विपरीतस्यार्थं प्रशमलक्षणं करोति' चक्र:।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि के अनुसार औषध, अन्न, विहार के साथ साथ देश, काल आदि का विचार भी उपशय के क्षेत्र में आवश्यक है। यह षड्विध उपशय औषध, अन्न, विहार के साथ अलग-अलग जोड़ने पर अठारह प्रकार का हो जाता है। इसका विस्तृत विवरण माधवनिदान की मधुकोष की टीका में दिया गया है।

यद्यपि उपशय के अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे जो तत्काल सुखकारक होते हैं, किन्तु कुछ ही समय के बाद वे सुखकारक न होकर दु:खकारक हो जाते हैं। जैसे—दाहयुक्त ज्वर में शीतल जल को पीना तत्काल सुखद होता है। बाद में वह ज्वर को बढ़ा देता है। ऐसे उपयोग 'उपशय' की श्रेणी में नहीं आते। इसके आगे उपशय के १८ भेद प्रस्तुत हैं।

१. **हेतुविपरीत औषध**—शीतज्वर (जाड़ा लगकर आने वाले ज्वर) में त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) आदि का चूर्ण अथवा क्वाथ के रूप से प्रयोग। २. **हेतुविपरीत अन्न**—परिश्रम (थकावट) से होने-वाले वात ज्वर में मांस रस एवं भात का सेवन। ३. **हेतुविपरीत विहार**—शीतल स्थान में निवास करने के कारण उत्पन्न-वात वृद्धि में गरम स्थान में निवास करना या सेंक आदि। ४. **व्याधिविपरीत औषध**—विषविकार को शान्त करने के लिये शिरीषत्वक् का प्रयोग, अतिसार को रोकने के लिये ग्राही द्रव्य सोंठ आदि का प्रयोग। ५. **व्याधिविपरीत अन्न**—अतिसार रोग में मसूर आदि स्तम्भक अन्नों का प्रयोग। अथवा प्रमेह में जौ का सेवन। ६. **व्याधिविपरीत विहार**—उदावर्त रोग में वमन अथवा विरेचन कराना और अभिमन्त्रित औषध द्रव्य का धारण, बलिदान, उपहार, नियम, प्रायश्चित्त, होम, गुरु, माता, पिता आदि की सेवा। ७. **हेतु-व्याधिविपरीत औषध**—वातज शोथ में दशमूल का क्वाथ वात तथा शोथनाशक होता है। देखें—च० सू० अ० ४। ८. **हेतुव्याधिविपरीत अन्न**—वात-कफज संग्रहणी रोग में तक्र (मठा), वातज्वर में पेया का प्रयोग। ९. **हेतुव्याधिविपरीत विहार**—दिन में सोने से यदि तन्द्रा की वृद्धि हुई हो तो रात्रि में जागरण का प्रयोग। १०. **हेतुविपरीतार्थकारक औषध**—हेतु अर्थात् निदान के विपरीत अर्थ (फल) को देने वाला औषध उपचार। यथा—पित्तज व्रणशोथ (फोड़े) में पित्त को बढ़ाने वाला उपनाह (पुल्टिस)। यह आयुर्वेद का सिद्धान्त होमियोपैथी द्वारा गृहीत है। इनका सिद्धान्त है—**'सम: समं शमयति'।** शीत से शीत का और उष्ण से उष्ण का शमन होता है। ११. **हेतुविपरीतार्थकारक अन्न**—पकते हुए व्रणशोथ (फोड़े) में विदाह (जलन) उत्पन्न करने वाला अन्न, तेल में पकायी उड़द और गेहूँ के आटे से निर्मित पकौड़ी आदि। १२. **हेतुविपरीतार्थकारक विहार**—वातज उन्माद (Insanity) रोग में भयकारक प्रयोग। जिनसे डर कर रोगी का पागलपन दूर हो जाय। देखें—च० चि० अ० ९। १३. **व्याधिविपरीतार्थकारक औषध**—छर्दि (Vomitting) रोग में वमनकारक मदनफल का प्रयोग। १४. **व्याधिविपरीतार्थकारक अन्न**—पित्तज अतिसाररोग में विरेचन के लिये दूध का प्रयोग। देखें—च० चि० अ० १९। १५. **व्याधिविपरीतार्थकारक विहार**—छर्दि रोग में प्रवाहण (वमन) कराना। १६. **हेतुव्याधिविपरीतार्थकारक औषध**—आग द्वारा जल जाने पर उष्ण अगुरु आदि द्रव्यों का लेप कराना। देखें—सु० सू० अ० १२। विषज विकारों में विषों का प्रयोग। इनका क्रम इस प्रकार है—स्थावर विषों के नाशक जङ्गम (प्राणिज) विष होते हैं और प्राणिज विषों के नाशक स्थावर (जड़ी-बूटियों के रूप में होने वाले) विष होते हैं। १७. **हेतुव्याधिविपरीतार्थकारक अन्न**—अधिक मद्यपान के कारण उत्पन्न मदात्यय (Alcoholism) रोग में पुन: मात्रा के अनुसार मद्य का सेवन कराये। देखें—च० चि० अ० २४। १८. **हेतुव्याधिविपरीतार्थकारक विहार**—अधिक व्यायाम करने से जब वात विकृत हो जाता है तब पानी में तैराना तथा अनेक दोष युक्त छर्दि रोग में वमन कराना। देखें—सु० उ० अ० ४९।

अन्यत्र उपशय के बाद अनुपशय का भी संग्रह निदान कोटि में किया गया है, जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्ति में नहीं किया गया है। जब कि 'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्'। च० वि० अ० ४।८। वाग्भट ने उपशय के विपरीत को ही अनुपशय माना है। यथा—'विपरीतोऽनुपशय:'। अ० हृ० नि० अ० १। महर्षि आत्रेय ने निदानस्थान में जो अनुपशय की चर्चा न करके आगे उसकी चर्चा की, इससे ऐसा लगता है कि उन्होंने निदान में ही उसका अन्तर्भाव कर लिया होगा। दूसरा कारण यह भी है कि 'अनुपशय' को भी यदि यहाँ स्थान दिया जायगा तो 'रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्' यह वाक्य व्यर्थ हो जायगा। जैसा कि मधुकोशकार विजयरक्षित ने लिखा है—'तस्य षष्ठत्वापत्ते:'। अत: यहाँ रोग निदान के साधन पाँच ही माने गये हैं।

उपशय के भेद तथा विभिन्न उपयोग

उपशय-भेद	औषध	अन्न (आहार)	विहार
१. हेतुविपरीत	१. वातज्वर में सोंठ आदि उष्ण औषध द्रव्यों का प्रयोग	२. श्रमजनित वातज्वर में मांसरस के साथ भात का सेवन	३. दिन में सोने से हुई कफ वृद्धि में रात्रि में जागना
२. व्याधिविपरीत	१. विषविकारों में शिरीष-त्वक्, अतिसार में सोंठ का प्रयोग	२. अतिसार में स्तम्भक द्रव्य मसूर, प्रमेह में जौ का प्रयोग	३. उदावर्त में प्रवाहण और बलिदान प्रायश्चित्त आदि
३. हेतु व्याधि-विपरीत	१. वातज शोथ में दशमूल का क्वाथ	२. वात-कफज ग्रहणी में तक्र, वातज्वर में पेया प्रयोग	३. दिवास्वापजनित तन्द्रा में रात्रि-जागरण
४. हेतुविपरीतार्थकारक	१. पित्तज व्रणशोथ में पित्तवर्धक उपनाह	२. पच्यमानव्रणशोथ में विदाही अन्न (पकौड़ी) आदि	३. वातज उन्माद में भयकारक प्रयोग
५. व्याधिविपरीतार्थकारक	१. छर्दि रोग में वमनकारक मदनफल का प्रयोग	२. पित्तज अतिसार में विरेचनार्थ दुग्ध-प्रयोग	३. छर्दिरोग में प्रवाहण (वमन) प्रयोग
६. हेतु-व्याधि-विपरीतार्थकारक	१. अग्निदग्ध पर उष्ण अगुरु आदि का लेप लगाना	२. अधिक मद्यपानजनित मदात्यय में पुनः मद्य-सेवन	३. व्यायामजनित वात विकृति में नदी आदि में तैरना

सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः ॥ ११ ॥

सम्प्राप्ति—निदानपञ्चक में पाँचवें उपाय का नाम सम्प्राप्ति है। इसके पर्यायवाचक शब्द हैं—जाति और आगति।

वक्तव्य—यद्यपि जाति एवम् आगति शब्द यहाँ सम्प्राप्ति के पर्याय रूप में प्रयुक्त हैं, तथापि इनके स्वतन्त्र प्रयोग भी देखे जाते हैं। यथा—'जायते, इति', जनीप्रादुर्भावे धातु से क्तिच् प्रत्यय होकर जाति शब्द निष्पन्न होता है। 'जातिः सामान्यगोत्रयोः। मालत्यां च'। इति हैमः। 'सुमना मालती जातिः'। अमरः। 'जातिः स्त्रीगोत्रजन्मनोः'। मेदिनी। 'एकत्वविशिष्टा जातिः'। न्यायशास्त्र। यहाँ जाति शब्द का मूल तात्पर्य है, रोगोत्पत्ति से जब जिसका जन्म होगा तभी उसका ज्ञान भी हो सकेगा, भले ही वह आंशिक रूप में हो, जिसका जन्म ही नहीं होगा उसका ज्ञान होना भी असम्भव होता है। वास्तव में चिकित्साशास्त्र में जो रोगों की उत्पत्ति का प्रकार बतलाया गया है, वही सम्प्राप्ति, जाति तथा आगति है।

सम्यक् प्रकार से रोग के लक्षणों की प्राप्ति (जानकारी) 'सम्प्राप्ति' है, रोग के जन्म (उत्पत्ति) आदि का परिज्ञान 'जाति' है और 'यथा चानुविसर्पता' और 'आ समन्ताद् गतिः' 'आगति' है। इस प्रकार की अर्थसम्पत्ति से ही ये समानार्थक कहे जा सकते हैं।

सा सङ्ख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते ॥

सम्प्राप्ति के भेद—वह सम्प्राप्ति निम्नलिखित भेदों से छः प्रकार की होती हैं। यथा—१. संख्या, २. प्राधान्य, ३. विधि, ४. विकल्प, ५. बल और ६. काल। आगे क्रमशः इनके उदाहरण दिये जारहे हैं।

सङ्ख्या तावद् यथा—अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः ॥

संख्यासम्प्राप्ति—यथा—ज्वर आठ प्रकार के होते हैं, गुल्म के पाँच भेद होते हैं और कुष्ठ सात होते हैं, इत्यादि।

वक्तव्य—निदान प्रकरण में प्रायः सभी रोगों के निदानपञ्चक का उल्लेख किया गया है। शास्त्रकारों ने यह क्रम क्षुद्ररोगों में नहीं अपनाया है। संख्यासम्प्राप्ति की सूची चरक सूत्रस्थान अ० १९ (अष्टोदरीय) में देखें। इसके माध्यम से केवल रोगों की संख्या का ज्ञान होता है।

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां [1]तरतमाभ्यामुपलभ्यते। तत्र द्वयोस्तरः, त्रिषु तम इति ॥

प्राधान्यसम्प्राप्ति—इसका निर्णय दोषों की तर-तम स्थिति को देखकर किया जाता है। द्वन्द्वज रोगों में तर और त्रिदोषज रोगों में तम भेद से इसका निर्देश होता है।

वक्तव्य—रोग की प्रधानता का निर्णय अनेक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। यथा—१. दोषों में कब किस रोग में कौन सा दोष सर्वप्रथम प्रकट हुआ। २. रोगों में दोषों की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार से देखी जाती है। जैसे—कोई रोग एक दोषज है, ऐसी स्थिति में वही दोष प्रधान होता है किन्तु सिद्धान्त यह है कि—'न रोगोऽस्त्येकदोषजः' कोई रोग अकेले दोष को लेकर नहीं होता या नहीं देखा जाता। अतः द्वन्द्वज तथा सान्निपातिक दोषों की विकृति में जिस दोष की अधिकता देखी जाती है, उसी की प्रधानता होती है। ३. दोषों के अतिरिक्त कभी-कभी रोग की प्रधानता देखी जाती है। ज्वर में उत्पन्न हुए कास, प्रतिश्याय आदि में ज्वर की प्रधानता स्वीकार की जायेगी, क्योंकि उक्त ज्वर में कास आदि परतन्त्र हैं, न कि स्वतन्त्र।

वाग्भट के अनुसार—'स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्रधान्यमादिशेत्', अ० हृ० नि० अ० १। तात्पर्य यह है कि निदान करने या कराने का मूल दृष्टिकोण है—ठीक ठीक चिकित्सा की जा सके। चिकित्सा का क्रम प्रधान दोष अथवा प्रधान रोग को देखकर ही प्रारम्भ किया जासकता है। आनुषंगिक दोष अथवा रोग तो मूल के शमन होते ही शान्त हो जाते हैं अथवा उनका निराकरण बाद में भी किया जासकता है।

विधिर्नाम[2] द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन ॥

विधिसम्प्राप्ति—प्रकार भेद से व्याधियों के दो भेद होते हैं—१. निजव्याधियाँ और २. आगन्तुज व्याधियाँ, वातादि दोषों के भेद से वे तीन प्रकार की होती हैं—१. वातज, २. पित्तज और ३. कफज। पुनः इनको चार भागों में विभक्त किया गया है—१. साध्य, २. असाध्य, ३. मृदु और ४. दारुण। ये विधिभेद से रोगों की सम्प्राप्तियाँ हैं।

वक्तव्य—'विधीयते अनेन', अर्थात् जिसके द्वारा विशेष विधान किया जा सके उसे विधि कहते हैं। 'विधिर्ब्रह्मविधानयोः'। विधिर्वाक्ये च दैवे च। इति मेदिनी। 'विधि' का पर्यायवाची शब्द 'प्रकार' भी है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ये दोनों निदान क्षेत्र में परस्पर भिन्न हैं, इसी विधिसम्प्राप्ति के अन्तर्गत अम्लपित्त तथा रक्तपित्त का ऊर्ध्वग, अधोग भेद भी आ जाते हैं।

इस सम्बन्ध में वाप्यचन्द्र का मत मधुकोष टीका में द्रष्टव्य है—'विधिसङ्ख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद् धर्मान्तरस्यान्वयाद् भवति। यथा—रक्तपित्तत्वाऽविशेषेऽपि ऊर्ध्वगाऽधोगप्रकारौ भवतः। सङ्ख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि, यथा—अष्टौ ज्वराः, इति अत्रैव विधिर्हि प्रकारः स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः सङ्ख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते। तथा च न्यायविदो ब्रुवते—'समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, सङ्ख्या तु भेदमात्रम्, इति। वैयाकरणा अपि व्याचक्षते—'अन्वयवान् प्रकारः, निरन्वयो भेदः', इति।

[3]समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पो विकल्पोऽस्मिन्नर्थे[4] ॥

---

१. 'तरतमाभ्यां योगेनोपलभ्यते' इति पा०।

२. यद्यपि च संख्याप्राधान्यादिकृतोऽपि व्याधेर्विधिभेदो भवत्येव, तथाऽपि संख्यादिभेदानां स्वसंज्ञयैव गृहीतत्वाद् गोबलीवर्दन्यायात् संख्याद्यगृहीते व्याधिप्रकारे विधिशब्दो वर्तनीयः' चक्रः।

३. 'पृथक् समवेतानां च' इति पा०।

४. 'समवेतानां सर्वेषां, तेन एकशो द्विशो मिलितानां च दोषाणां ग्रहणम्; अंशम् अंशं प्रति बलमंशांशबलं

विकल्पसम्प्राप्ति—नित्यसंबन्धविशिष्ट अथवा परस्परमिलित दोषों के अंशांश बल का विचार करना इस अर्थ में विकल्पसम्प्राप्ति कही जाती है।

वक्तव्य—निदान विधि द्वारा यह निश्चित हो जाने के बाद कि अमुक रोग द्वन्द्वज है अथवा त्रिदोषज है तदनन्तर विकल्पसम्प्राप्ति की आवश्यकता होती है। अतएव महर्षि ने यहाँ 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि इस रोग में कौन दोष कितनी मात्रा में कम अथवा अधिक है, इसका निर्णय किया जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का मत देखें—

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥ सु० सू० अ० २१।३८।

सभी भावों से (वायु के लिये रूक्ष आदि, पित्त के लिये उष्ण आदि तथा कफ के लिये स्निग्ध आदि) या तीन भावों के अथवा दो भावों के या एक ही भाव के संसर्ग होने पर कुपित हुआ दोष, क्रुद्ध हुए दोष के साथ जुट जाता है अर्थात् ये अनुबन्ध्य रूप में मिल जाते हैं। प्रथम क्रुद्ध हुए दोष को अनुबन्ध्य कहते हैं, जो दोष साथ में मिलता है उसको अनुबन्ध कहते हैं। प्रधान (व्यक्त) लक्षणों वाला रोग अनुबन्ध्य और अस्पष्ट लक्षणों वाला अनुबन्ध है। इसका स्पष्टीकरण च० वि० अ० ६ में देखें।

[1]बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिविनियतो भवति ॥ १२ ॥

बल तथा काल सम्प्राप्ति—इससे जिन व्याधियों का निर्णय या निश्चय होता अथवा किया जाता है, उसके आधार हैं—ऋतु, अहोरात्र (दिन और रात्रि), आहार और कालविधि अथवा आहारकाल।

वक्तव्य—यह सम्प्राप्ति दोषों के बल तथा काल का परिचय कराती है, अर्थात् कौन दोष कब बलवान् होता है और उसका काल (समय) कौन-सा है। दोषों के अनुसार ऋतु, अहोरात्र एवम् आहारकाल विभाग इस प्रकार होता है।

१. **कफ**—वसन्तऋतु, प्रातःकाल, रात्रि का प्रथम भाग, भुक्तमात्र काल (भोजन करने के तत्काल बाद) में कफ की वृद्धि होती है। इन समयों में कफ बलवान् होता है और इन्हीं अवसरों पर कफज रोग उत्पन्न होते हैं। अतः यह कफ के बल तथा काल की संम्प्राप्ति है।

२. **वात**—वर्षाऋतु, अपराह्नकाल, रात्रि का उत्तरार्ध, तथा भोजन के पचने पर वात की वृद्धि होती है। इन समयों में वात बलवान् होता है और इन्हीं अवसरों पर वातज रोग उत्पन्न होते हैं। अतः यह वात के बल तथा काल की सम्प्राप्ति है।

३. **पित्त**—शरद् ऋतु, मध्याह्नकाल, रात्रि का मध्यकाल, आहार का पच्यमान काल अर्थात् जिस समय आहार पच रहा हो, पित्त की वृद्धि होती है। अतः इन समयों में पित्त बलवान् होता है और इन्हीं अवसरों पर पित्त रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये यह पित्त के बल तथा काल की सम्प्राप्ति है।

तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुद्धयेत ॥ १३ ॥

निदानपञ्चक की उपयोगिता—अतः अविकृत (विकाररहित अतएव स्वस्थ) मन तथा बुद्धि वाले वैद्य को चाहिये कि वह हेतु आदि (पूर्वरूप, लिंग, उपशय, सम्प्राप्ति) की सहायता से रोग को ठीक-ठीक पहचाने अर्थात् निदान करे।

तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोंऽशांशबलविकल्पः; एवंभूतो दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थेऽस्मिन् प्रकरणे विकल्प उच्यते, प्रकरणान्तरे तु विकल्पशब्देन भेदमात्रमुच्यते' चक्रः।

१. 'बलकालविशेषः ऋतवो वसन्तादयः अहोरात्र आहारश्च तेषां कालविधिना विनियतोऽवधारितो भवति। यस्य दोषस्य यो बलकालविशेषः ऋत्वादिभिरवधार्यते तद्दोषजन्यव्याधेरपि तैर्ऋत्वादिभिर्बलकालविशेषोऽवधार्यते' गङ्गाधरः।

इत्यर्थसङ्ग्रहो निदानस्थानस्योद्दिष्टो भवति। [1]तं विस्तरेणोपदिशन्तो भूयस्तरमतोऽनुव्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

निदानस्थान के विषय—इस प्रकार निदानस्थान के विषय का सूत्ररूप में उपदेश कर दिया है। उसका विस्तार से उपदेश करते हुए हम आगे और अधिक विस्तार से व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, वह रोग सामान्य के निदान आदि का परिचय था, अब इसके आगे प्रत्येक रोग के निदान, पूर्वरूप, लिङ्ग, उपशय तथा सम्प्राप्ति का वर्णन किया जायगा।

तत्र प्रथमत एव तावदाद्यांल्लोभाभिद्रोहकोपप्रभवानष्टौ व्याधीन्निदानपूर्वेण क्रमेण व्याख्यास्यामः, तथा सूत्रसङ्ग्रहमात्रं चिकित्सायाः। [2]चिकित्सितेषु चोत्तरकालं यथोपचितविकारानुव्याख्यास्यामः ॥ १५ ॥

लोभादिरोग—सर्वप्रथम हम यहाँ लोभ, अभिद्रोह तथा कोप (क्रोध) से उत्पन्न रोगों के क्रमपूर्वक निदान की व्याख्या करेंगे और चिकित्सा सूत्र का निर्देश भी करेंगे। तथा आगे चलकर चिकित्सास्थान में अन्य उपचित (निदानस्थान में जिनका वर्णन नहीं हो सकेगा उन) रोगों की भी व्याख्या की जायेगी।

वक्तव्य—'प्रागपि च अधर्माद् ऋते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्'। च० वि० अ० ३।२४। अर्थात् प्राचीन काल (सत्ययुग) में अधर्म के बिना रोगों की उत्पत्ति किसी दूसरे कारण से नहीं होती थी। यहाँ लोभ, द्रोह, कोप आदि का जो संकेत व्याधि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में किया गया है, इन सबका सम्बन्ध प्रज्ञापराध तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग से ही है। जिनमें अधर्म भी अन्यतम अंग है। उक्त लोभादि मानसिक विकार हैं, जिनमें विजय पाने के लिये सात्म्येन्द्रियार्थसंयोग की परम आवश्यकता है। जिनका विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान में किया जा चुका है।

इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारीराणाम् ॥ १६ ॥

ज्वर-निदान

(Diagnosis of Fever)

ज्वर की प्रधानता—शारीरिक विकारों में ज्वर की प्रथमता है, अतः रोगवर्णन-क्रम में सर्वप्रथम ज्वर का ही उपदेश किया जारहा है।

वक्तव्य—ज्वरनिदान के विशेष द्रष्टव्य स्थल—च० चि० अ० ३, सु० उ० त० अ० ३९, अ० सं० नि० अ० २ और अ० हृ० नि० अ० २।

अथ खल्वष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणां; तद्यथा—वातात्, पित्तात्, कफात् वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तकफाभ्यां, वातपित्तकफेभ्य; आगन्तोरष्टमात् कारणात् ॥ १७ ॥

ज्वर के भेद—मनुष्यों के (शरीरों में) आठ कारणों से ज्वर की उत्पत्ति होती है। वे कारण ये हैं—१. वात, २. पित्त, ३. कफ; द्वन्द्वज—४. वात-पित्त, ५. वात-कफ, ६. पित्त-कफ, सन्निपातज—७. वात-पित्त-कफ और ८. आगन्तु।

वक्तव्य—इसी अध्याय के प्रारम्भ में विधिसम्प्राप्ति-प्रकरण में समस्त व्याधियों के मूल रूप में दो भेद किये गये हैं। यथा—१. निज और २. आगन्तुज। तदनुसार यहाँ निज ज्वर के प्रथम सात भेद तथा आठवां भेद आगन्तुज का है।

पालकाप्य विरचित हस्त्यायुर्वेद के महारोगस्थान के ९ वें अध्याय में भिन्न-भिन्न प्राणियों के ज्वरों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

'पाकलः सतु नागानामभितापस्तु वाजिनाम्। गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत्। हारिद्रो महिषीणां तु मृगरोगो मृगेषु च॥ पक्षीणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्र-

---

१. 'तं विस्तरेण भूयस्तरमि'ति पा०।

२. योगीन्द्रनाथसेनस्तु 'चिकित्सितं चोत्तरकालं यथोद्दिष्टं विकाराणाम्' इति पठति।

मदो मतः । पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंशितः' ॥ इत्यादि । सारांश यह है कि ज्वरनामक रोग केवल मनुष्यों को ही नहीं होता अपितु प्राणिमात्र को होता है । इसके प्रभाव को देवता तथा मनुष्य ही सह सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं ।

ज्वर का स्वरूप—'ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः । भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः' ॥ इस दूसरी पंक्ति का पाठ भेद इस प्रकार मिलता है—मूर्तिमान् हरजो ज्ञेयः पापिनां नाशकारकः' ॥ हरिवंश ।

तस्य निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषाननुव्याख्यास्यामः ॥ १८ ॥

ज्वर का निदान-पञ्चक

यहाँ उस ज्वर के निदान, पूर्वरूप, लिङ्ग उपशय तथा सम्प्राप्ति का व्याख्यान करेंगे ।

रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसन्धारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेग-शोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ १९ ॥

वातज्वर का निदान—रूक्ष, लघु, शीत (गुण वाले आहार-विहार के अधिक सेवन से), वमन, विरेचन, आस्थापन्न वस्ति, शिरोविरेचन (नस्य) इनके अतियोग से, व्यायाम, वेगसन्धारण (अधारणीय मल-मूत्र अपानवायु आदि के वेगों को रोकने से), अनशन (भूखा रहने का उपवास करने से), अभिघात (किसी प्रकार की चोट के लगने से), व्यवाय (स्त्री-सहवास), उद्वेग (घवड़ाहट), शोक, रक्त का अधिक निकल जाने, जागरण (जिसको प्रतिदिन जिस समय सोने का अभ्यास हो उस समय शयन न करने से), शरीर को उटपटांग स्थिति में रखने (जैसा प्रायः यात्रा अथवा भीड़ में हो जाता है) आदि के अधिक सेवन करने से वायु प्रकुपित हो जाता है ।

स यदा प्रकुपितः [1]प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्[2]वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ॥ २० ॥

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से जब वायु प्रकुपित होकर आमाशय में प्रवेश कर ऊष्मा (कोष्ठाग्नि) से मिलकर आहार के पचने से उत्पन्न हुई पहली रस नामक धातु के पीछे जाकर रस तथा स्वेदवह (पसीना को निकालने वाले) स्रोतों के मुखों को बन्द करके पाचकाग्नि को मन्द करके पक्वाशय से ऊष्मा (अग्नि) को बाहर निकालकर शरीर भर में फैला देता है, तब ज्वर की उत्पत्ति होती है ।

वक्तव्य—आचार्य माधवकर ने माधवनिदान में इस प्रकार लिखा है—'मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वातादि दोष आमाशय में आश्रित होने पर रस के साथ समस्त शरीर में व्याप्त होकर कोष्ठाग्नि को बाहर निकालकर ज्वर उत्पन्न करते हैं ।

आमाशय की परिधि—'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' । च० वि० अ० २।१७ ॥ मनुष्यों के नाभि तथा स्तनों का जो मध्यभाग है, उसको आमाशय कहते हैं ।

कोष्ठ की परिधि—'स्थानान्यामग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' ॥ अर्थात् आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय रक्ताशय, हृदय, उण्डुक, फुफ्फुस ये सभी अवयव कोष्ठ की सीमा के अन्तर्गत आते हैं ।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति; तद्यथा—विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा, विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं क्लू[3]सीभावश्च; अनेकविधोपमाश्चलाचलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानां; तद्यथा—पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं, जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्ले-

१. 'प्रविश्यामाशयमूष्मणः स्थानमूष्मणा सह' इति पा० ।

२. 'अन्विति यथोक्तक्रमेण, अवेत्य गत्वा' चक्रः ।

३. 'क्लृप्तीभावोऽप्रवृत्तिः, सा च योग्यतया मूत्रपुरीषयोरेव' चक्रः ।

षणम्, ऊर्वोः सादः, कटीपार्श्वपृष्ठस्कन्धबाह्वंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथितचटितावपाटितावनुन्न[1]त्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यता, आस्यवैरस्यं वा, मुखतालुकण्ठशोषः, पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, [2]अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषादजृम्भाविनामवेपथुश्रमभ्रमप्रलापप्रजागररोमहर्षदन्तहर्षाः, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति [3]वातज्वरस्य लिङ्गानि भवन्ति ॥ २१ ॥

वातज्वर के लक्षण—उस वातज्वर के ये लक्षण होते हैं । वे इस प्रकार हैं—इसका प्रारम्भ तथा विसर्ग (समाप्ति) का समय विषम (अनिश्चित) होता है । ज्वर (तापक्रम) की विषमता (घटते-बढ़ते रहना), कभी अधिक बढ़ जाना और कभी घट जाना अर्थात् ज्वर का एक रूप न रहना, भोजन पचने के बाद, सायंकाल के समय, रात्रि के अन्त में अथवा घर्मान्त (वर्षा ऋतु) में ज्वर आरम्भ होना या बढ़ जाता है । विशेष करके नख, नेत्र, वदन (मुख या चेहरा), मूत्र पुरीष तथा त्वचा का वर्ण परुष (खुरदरा) तथा अरुण (हल्का लाल) हो जाता है तथा मल-मूत्र में रुकावट आजाती है । शरीर के उन-उन अवयवों में अनेक प्रकार की स्थिर या अस्थिर वेदनायें उत्पन्न हो जाती हैं । यथा—पैरों में सुप्तता (शून्यता), पिंडलियों में ऐंठन, जानु की सन्धियों में अथवा सभी प्रकार की सन्धियों में विश्लेषण (खुल जाने के जैसा) का अनुभव होना, ऊरुओं में शिथिलता अथवा कर्म में असमर्थता, कमर, पसलियों, पीठ, कन्धों, बाहुओं और छाती में क्रमशः टूटने, रुग्ण, मृदित (मसल देने), मथने, चटित (चटकने) की-सी, अवपाटित (चीरने की-सी), अवनुन्नत्व (ढकेल देने की-सी, वेदनाओं का अनुभव होना) दोनों हनु अपने कार्य (जबड़ों को हिलाने) में असमर्थ, कानों में साँय-साँय का शब्द सुनायी पड़ना, शंख प्रदेश (कनपटियों) में चुभने की सी पीड़ा का होना, मुख का कसैलापन अथवा मुख का फीकापन, मुख, तालु, कण्ठ का सूखना, प्यास की अधिकता, हृदय की जकड़न, सूखी छर्दि अर्थात् केवल उबकाइयाँ आती हैं, उलटी नहीं हो पातीं, सूखी खांसी, छींक और डकार का न आना, अन्नरस के के प्रति खेद (इच्छा का अभाव) प्रसेक (मुख से लार का निकलना), अरुचि, मुक्त पदार्थ का न पचना, विषाद, जँभाई, शरीर का झुकना (आक्षेप), कँपकँपी लगना, थकावट, भ्रम (चक्कर का आना = Giddiness), अंट-संट बोलना, प्रजागर (नींद का न आना) रोमहर्ष (Bristling of the hair) रोमांच, तथा दन्तहर्ष (Morbid Sensitiveness of teeth) रोगी उष्णपदार्थों के सेवन की इच्छा करता है, निदान में कहे गये सभी पदार्थ इसको कष्टदायक होते हैं, अर्थात् वातज्वर की वृद्धि करते हैं और उससे विपरीत पदार्थ उपशय (सुखदायक) होते हैं, ये सभी लक्षण अथवा अधिकांश जिस ज्वर में दिखायी दें, वे वातज्वर के लक्षण होते हैं ।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २२ ॥

पित्तज्वर का निदान—उष्ण, अम्ल, लवण, क्षार, कटु आदि गुण-प्रधान पदार्थों के अधिक सेवन करने से, अजीर्ण अवस्था में पुनः भोजन कर लेने से और तीक्ष्ण (तेज) धूप (घाम) तथा आग को अधिक सेंकने से, श्रम, क्रोध एवम् विषम आहारों के सेवन करने से पित्त दोष प्रकुपित हो जाता है ।

वक्तव्य—पित्तज्वर के निदान में जिन कारणों का उल्लेख किया गया है उनमें अजीर्ण भोजन तथा विषम आहार शब्दों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जारहा है ।

अजीर्ण भोजन—पहले ही मात्रा से अधिक खा लेने के कारण भोजन का पाक भलीभांति नहीं होता फलतः अजीर्ण हो जाता है । इस स्थिति में उपवास ही एक उत्तम चिकित्सा है, इसके विपरीत यदि उस अजीर्ण अवस्था में भोजन कर लिया जाता है, तो उससे पित्त प्रकुपित हो जाता है ।

१. 'अवनुन्नं प्रेरितं' चक्रः । योगीन्द्रनाथस्तु 'अवतुन्नत्वमिव' इति पठति, 'अवतुन्नत्वं प्राजनेनेव तोदः' इति च व्याख्यानयति ।

२. 'अन्नरसे मधुरादौ खेदः सर्वरसेष्वनिच्छेत्यर्थः' चक्रः ।

३. 'योगीन्द्रनाथस्तु 'वातज्वरस्य लिङ्गानि भवन्ति' इति न पठति ।

विषमाहार—कभी बहुत खा लेना और कभी बहुत कम खाना, अथवा भोजन के समय से पहले या बाद में खाना ये दोनों ही विषमाहार कहे जाते हैं।

तद्यदा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं [२]बहिर्निरस्य प्रपीडयत् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ॥ २३ ॥

सम्प्राप्ति—वह उक्त प्रकार से प्रकुपित हुआ पित्त आमाशय से ऊष्मा को साथ लेकर अर्थात् ऊष्मा से मिलकर आहार के परिपाक होने पर सर्वप्रथम प्राप्त होने वाली रस धातु के पीछे जाकर अर्थात् रस धातु का अनुसरण करके रस तथा स्वेदवह स्रोतों को वन्द करके, पित्त स्वयं द्रव होने के कारण जाठराग्नि को दवाकर (मन्दकर) पाकाशय में से ऊष्मा को बाहर निकालकर शरीरावयवों को पीड़ित करता हुआ केवल (सम्पूर्ण) शरीर में फैल जाता है, तब वह ज्वर को उत्पन्न करता है, अर्थात् तब ज्वर आगया, ऐसा रोगी कहता है।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति; तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता, घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकः, तृष्णा, मदो, भ्रमो, मूर्च्छा, पित्तच्छर्दनम, अतीसारः, अन्नद्वेषः, सदनं, स्वेदः प्रलापः रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे, हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्, अत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावः अति मात्रं दाहः, शीताभिप्रायता निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ २४ ॥

पित्त ज्वर के लक्षण—उस पित्त ज्वर के निम्नलिखित लक्षण होते हैं। यथा—एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में ज्वर का आना अथवा ज्वर का बढ़ जाना, विशेष रूप से जब भोजन पचने लगता है, दोपहर में, आधी रात में अथवा शरद् ऋतु में इसका प्रकोप होता है और प्रकोप होने पर मुख का कड़ुआपन, नाक, मुख, गला, होंठ तथा तालु में पाक का होना, तृष्णा (प्यास की अधिकता), मद, भ्रम (चक्कर का आना क्योंकि—'रजःपित्तानिलाद्भ्रमः') मूर्च्छा (बेहोशी), पित्त की उल्टी (वमन में पित्त का निकलना), अतिसार (यह पित्त की अधिकता से होता है), भोजन के प्रति द्वेष, शरीर में पीड़ा, स्वेद (पसीना की अधिकता), प्रलाप (अंट-संट बकना), शरीर में लाल-लाल चकत्तों की उत्पत्ति, नाखूनों, नेत्रों, चेहरे, मूत्र, मल तथा त्वचा (Skin) में हरा अथवा पीलापन का दिखलायी देना, शरीर में तापमान का अत्यधिक बढ़ जाना, अत्यधिक जलन का होना, शीतल पदार्थों की कामना करना, निदान में बतलाये गये पित्तवर्धक पदार्थ इसमें अनुपशय (हानिकारक) होते हैं तथा निदान के विपरीत अर्थात् पित्तनाशक अथवा पित्तज्वरनाशक द्रव्य उपशय (हितकारक) होते हैं, ये सभी अथवा अधिकांश पित्तज्वर के लक्षण होते हैं।

स्निग्धगुरुमधुरपिच्छिलशीताम्ललवणदिवास्वप्नहर्षाव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥ २५ ॥

कफज्वर का निदान—स्निग्ध (घी, तेल में पकाया हुआ पदार्थ), गुरु (देर में पचने वाला पदार्थ), मधुर, पिच्छिल (चिपचिपा), शीत (शीतस्पर्श तथा शीतवीर्य प्रधान द्रव्य), अम्ल (खट्टा), नमकीन द्रव्यों के अधिक सेवन करने से, दिन में सोना (ग्रीष्मऋतु के अतिरिक्त), प्रसन्नता एवम् अव्यायाम (परिश्रम का न करना) से कफ प्रकुपित हो जाता है।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयन् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ॥ २६ ॥

कफज्वर की सम्प्राप्ति—वह प्रकुपित कफ जब आमाशय में प्रवेश कर ऊष्मा (पित्तजनित गर्मी) के साथ

१. 'आमाशयं प्रविश्यदिवोष्माणमुपसृजदाद्यम्' यो.।
२. वहिर्द्वारं निरस्य' यो.। 'वहिर्वा सम्प्रपीडयत्' ह.।

मिलकर आहार परिणाम रूप प्रथम धातु रस के पीछे जाकर (मिलकर) रसवाही तथा स्वेद (पसीना) वाही स्रोतों को ढक कर अर्थात् उक्त स्रोतों के मुखों को वन्द करके जाठराग्नि को दवा कर पाकाशय से ऊष्मा को वाहर निकालकर शरीरावयवों को पीड़ित करता हुआ जब सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, तब वह कफज्वर को उत्पन्न करता है।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति; तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तमात्रे पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाषः, श्लेष्मप्रसेकः, मुखमाधुर्यं, हृल्लासः, हृदयोपलेपः, स्तिमितत्वं छर्दिः, मृद्वग्निता, निद्राधिक्यं स्तम्भः, तन्द्रा, कास, श्वासः, प्रतिश्यायः, शैत्यं, श्वैत्यं च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्, अत्यर्थं च शीतपिडका भृशमङ्गेभ्य[१] उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशयश्च; (श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति) ॥ २७ ॥

कफज्वर के लक्षण—उस कफज्वर के ये लक्षण होते हैं। यथा—एक साथ सम्पूर्ण शरीर में ज्वर का आना अर्थात् ज्वर से उत्पन्न ऊष्मा की प्रतीति, अथवा ज्वर का बढ़ जाना, विशेष करके यह ज्वर भोजन करने के तत्काल बाद, पूर्वाह्ण (दिन के पहले पहर) में, रात्रि के पहले पहर में अथवा वसन्त ऋतु में उत्पन्न होता है। उसमें शरीर में भारीपन, भोजन करने की इच्छा का न होना, मुख से लार के रूप में कफ का निकलना, मुख का मीठा बना रहना, जी मिचलाना, हृदय के ऊपर लिपे हुए का-सा अनुभव होना, स्तिमितत्व (शरीर का गीले कपड़े से ढका होने की-सी प्रतीति) वमन, अग्नि का मन्द पड़ जाना, नींद की अधिकता शरीर के अवयवों का जकड़ जाना, उँघाई, कास, श्वास, प्रतिष्याय (जुकाम, शीत का अनुभव होना, नाखूनों, आँखों, चेहरा, मूत्र एवम् पुरीष का वर्ण सफेद हो जाना, शीतपिड़काओं (फुन्सियों) का अधिकांश निकलना, उष्ण (गरम) पदार्थों के सेवन की इच्छा का होना, निदान में कहे गये कफज ज्वर को उत्पन्न करने वाले कारण इसमें अहितकर होते हैं और श्लेष्मानाशक या श्लेष्मज्वरनाशक पदार्थ अर्थात् निदान के विपरीत पदार्थ उपशय (हितकर) होते हैं, ये श्लेष्मज्वर के लक्षण होते हैं।

विषमाशनादनशनादन्नपरिवर्तादृतुव्यापत्तेरसात्म्यगन्धोपघ्राणाद् विषोपहतस्य चोदकस्योपयोगाद् गरेभ्यो गिरीणां चोपश्लेषात् स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगाद् मिथ्यासंसर्जनाद् वा स्त्रीणां च विषमप्रजननात् प्रजातानां च मिथ्योपचाराद् यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद् यथानिदानं द्वन्द्वानामन्यतमः सर्वे वा त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तयैवानुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति ॥ २८ ॥

द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर-निदान—विषम (अहितकर) भोजन करने से, अधिक समय तक उपवास (भोजन न करने) से, अन्नपरिवर्तन (जो भोजन जिसको सात्म्य है, उसके विपरीत भोजन करने) से, ऋतु व्यापत्ति से (किस ऋतु में कौन से पदार्थ सेवन करने चाहिये, और कौन छोड़ने चाहिये इसके परिवर्तन का क्या क्रम ऋतु सन्धि में रखना चाहिये च० सूत्रस्थान अ० ६ तथा २८ में कहे गये इन नियमों की उपेक्षा से), प्रकृति के प्रतिकूल गन्ध को सूंघ लेने से, दूषित विष युक्त जल को पीने या सेवन करने से, कृत्रिम विषों से, पर्वतीय प्रदेशों में जाकर निवास करने से, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन अथवा शिरोवस्ति (नस्य) के ठीक-ठीक प्रयोग न करने से, अथवा अनुचित संसर्जन (पञ्चकर्म के बाद जो पेया आदि के सेवन का विधान होता है, उसे 'संसर्जन' कहते हैं।) से, स्त्रियों का स्वाभाविक रूप से प्रसव (सन्तान की उत्पत्ति) न होने से, समुचित विधि से प्रसव होने के अनन्तर सूतिका द्वारा अनुचित आहार-विहार का सेवन करने से, पूर्वोक्त (वात, पित्त, कफ ज्वरों के पृथक्-पृथक्) कारणों के परस्पर मिल जाने से, किन्हीं दो दोषों के ज्वर-निदान में कहे गये लक्षणों के मिल जाने अथवा तीनों दोष जब एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं।

सम्प्राप्ति—वे प्रकुपित दोष उसी आनुपूर्वी (निदान, पूर्वरूप, लिङ्ग उपशय, सम्प्राप्ति) क्रम से ज्वर

१. 'अङ्गे भृशमुत्तिष्ठन्ति' यो.।

को उत्पन्न कर देते हैं। अर्थात् उपर्युक्त वातादि दो-दो दोषों के निदान जब एक साथ ही दिखायी देते हैं तब उनको द्वन्द्वज ज्वर कहते हैं, जब तीनों दोष एक साथ प्रकुपित होते हैं तब उसको त्रिदोषज या सन्निपातज ज्वर कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे दिया है।

तत्र तयोक्तानां ज्वरलिङ्गानां मिश्रीभावविशेषदर्शनाद् द्वान्द्विकमन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात् ॥ २९ ॥

दोषों के अनुसार ज्वर का निर्णय—ऊपर कहे गये वातादि ज्वर-लक्षणों के मिश्रण-विशेषों को देखकर वातपित्तज, वातकफज, कफपित्तज में से किसी एक का निर्णय करें अथवा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त ज्वर को सन्निपातज ज्वर समझें।

अभिघाताभिषङ्गाभिचाराभिशापेभ्य आगन्तुर्हि व्यथापूर्वोऽष्टमो ज्वरो भवति। स किञ्चित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद् दोषैरनुबध्यते। तत्राभिघातजो वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन, अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्, अभिचाराभिशापजौ तु सन्निपातेनानुबध्येते ॥ ३० ॥

आगन्तुज ज्वर—१. अभिघात (चोट लगने), २ अभिषंग (भूत, यक्ष, पिशाच सम्बन्धी पीड़ा, काम, क्रोध, भय, शोक आदि पीड़ा तथा आक्रोश, पराभव, शपथ आदि से), ३. अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों से) और ४. अभिशाप (किसी को सताने से, यथा—ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता, देवता, सिद्ध, ऋषि, मुनि आदि के शाप) इन चार कारणों से पीड़ा के साथ आठवां आगन्तुज ज्वर होता है। वह कुछ समय तक केवल आगन्तुज रूप को धारण कर बाद में वात आदि दोषों से युक्त हो जाता है। अर्थात् आगन्तुज ज्वर में प्रथम लक्षण पीड़ा है, तदनन्तर इसमें वातादि दोषों का संसर्ग होता है। इसके विपरीत निज ज्वरों में प्रथम दोषों का प्रकोप होता है, पश्चात् वेदना आदि लक्षण दिखायी देते हैं। इसी भिन्नता के कारण इसको उक्त भेदों से पृथक् माना गया है।

उनमें अभिघातज ज्वर दूषित रक्त में आश्रित वायु से, अभिषंगज ज्वर वात-पित्त से, अभिचारज और अभिशापज ज्वर सन्निपात से सम्बद्ध होते हैं।

स सप्तविधाज्ज्वराद् विशिष्टलिङ्गोपक्रमसमुत्थानत्वाद् विशिष्टो वेदितव्यः, कर्मणा साधारणेन चोपचर्यते। इत्यष्टविधा ज्वरप्रकृतिरुक्ता ॥ ३१ ॥

आगन्तुज ज्वर की विशेषता—वह आगन्तुज ज्वर उपर्युक्त सात प्रकार के ज्वरों से विशिष्ट लक्षण, चिकित्सा एवं समुत्थान (निदान) वाला होने के कारण भिन्न होता है, ऐसा समझना चाहिये। अतः इसका उपचार असाधारण विधि से किया जाता है। इस प्रकार आठ प्रकार की ज्वरप्रकृति का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—मूल रूप में व्याधियों के दो भेद किये गये हैं—१. निज और २. आगन्तु। अतः वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाली सामान्य व्याधियों से 'आगन्तु' व्याधि विशेष है, यह सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से **'कर्मणा साधारणेन चोपचर्यते'** उक्त पंक्ति का जो 'साधारण' अर्थ अन्य व्याख्याकारों ने किया है। हमारे विचार से वह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। ध्यान दें—महर्षि आत्रेय लिखते हैं—'स सप्तविधाज्ज्वराद् विशिष्टलिङ्गोपक्रमसमुत्थानत्वाद् विशिष्टः'। इस प्रकार के विशिष्ट ज्वर की चिकित्सा भी विशिष्ट (असाधारण) ही होनी चाहिये। यह पाठ सन्धिविच्छेद द्वारा ही सुलभ हो सकता है।

और भी देखें—'आगन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद् दोषैरनुबध्यते', च० नि० अ० १।३०। इसी क्रम से इसकी असाधारण चिकित्सा (पहले दैवव्यपाश्रय—बलि, मंगल, होम आदि और बाद में दोषों का संसर्ग हो जाने पर युक्तिव्यपाश्रय सामान्य वातादि ज्वरों की जैसी चिकित्सा) की जाती है। वास्तव में साधारण चिकित्सा तो निज (वातादि दोषज रोगों की होती है, क्योंकि—'समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्'। यह शाश्वत सिद्धान्त है। यहाँ पर 'साधारण' शब्द के स्थान पर 'असाधारण' शब्द को स्वीकार किया गया है, यह महर्षि आत्रेय के वचनों के पौर्वापर्य को देखकर ही किया गया है, जैसा ऊपर विवेचन है।

ज्वर के मूल भेद

निजज्वर	आगन्तुज्वर
१. अहितकर आहार-विहार आदि से,	१. अभिघात, अभिषङ्ग और अभिचार आदि से,
२. दोष या दोषों के कुपित होने के पश्चात् उसके लक्षण दिखलायी देते हैं।	२. पहले चोट आदि लक्षण प्रकट होते हैं, तदनन्तर वातादि दोषों का प्रकोप होता है।
३. यह स्वतन्त्र, द्वन्द्वज तथा सन्निपातज भेद से ७ प्रकार का होता है।	३. यह अभिघात आदि के प्रकार भेद से अनेक प्रकार हो सकता है।
४. इसकी चिकित्सा दोषों के अनुसार होती है।	४. कारणों के अनुसार इसकी चिकित्सा होती है।

ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः। तमेवाभिप्रायविशेषाद् द्विविधमाचक्षते, निजागन्तुविशेषाच्च। तत्र निजं द्विविधं त्रिविधं चतुर्विधं सप्तविधं [1]चाहुर्भिषजो वातादिविकल्पात् ॥ ३२ ॥

ज्वर के विभिन्न प्रकार—सन्ताप, (ऊष्मा, गर्मी) रूप लक्षण को देखकर सर्वत्र ज्वर एक ही प्रकार का होता है। उसी ज्वर को अभिप्राय (Relation or Reference) भेद से दो प्रकार का कहते हैं। यथा—१. निज और २. आगन्तुज, पुनः निज दो प्रकार का—१. एक दोषज २. मिलित दोषज, तीन प्रकार का १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज अथवा—१. एकदोषज २. द्विदोषज और ३. त्रिदोषज। चार प्रकार का—१. वातज २. पित्तज ३. कफज ४. सर्वदोषज सात प्रकार का—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. (द्वन्द्वज) वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज ये सब भेद वात आदि दोषों की विभिन्नता से होते हैं।

ज्वरभेद-तालिका

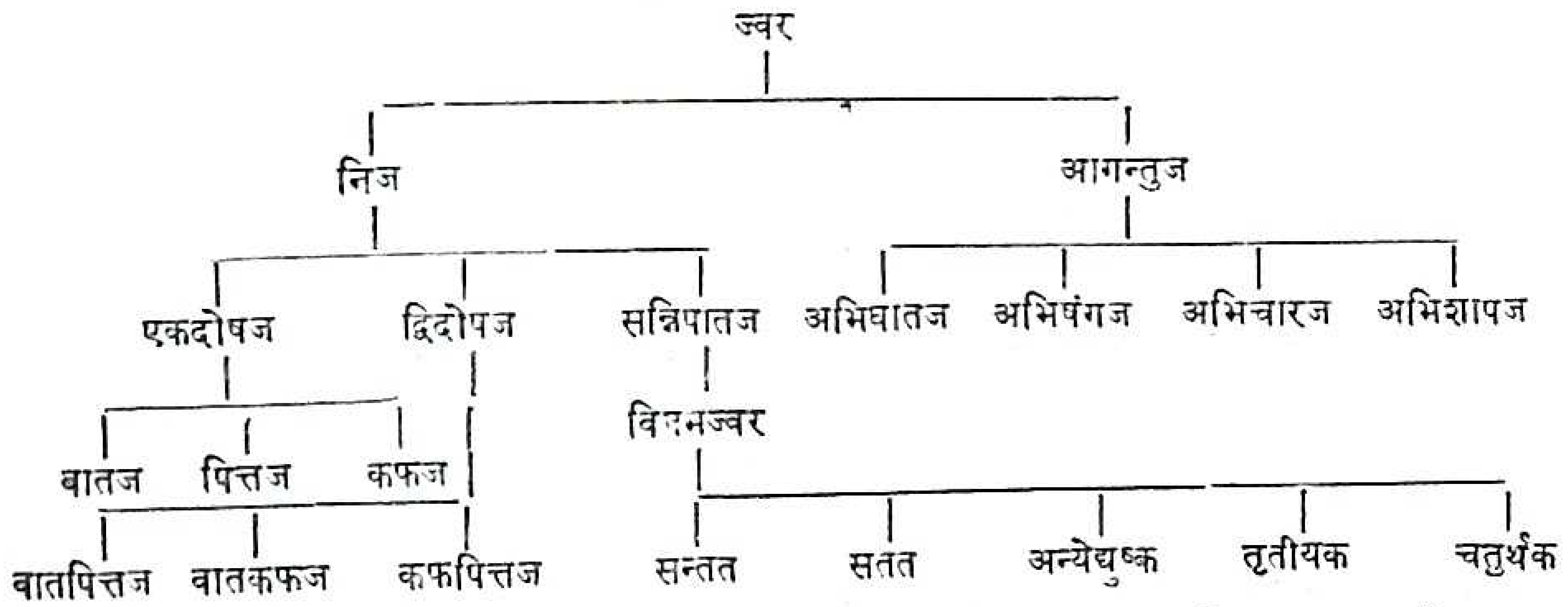

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—मुखवैरस्यं, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाषः चक्षुषोराकुलत्वम्, अश्रागमनं, निद्राधिक्यम्, अरतिः, जृम्भा, विनामः वेपथुः, श्रमभ्रमप्रलापजागरणरोमहर्षदन्तहर्षाः, शब्दशीतवातातपसहत्वासहत्वम्, अरोचकाविपाकौ, दौर्बल्यम्, अङ्गमर्दः, सदनम्, अल्पप्राणता, दीर्घसूत्रता, आलस्यम्, उचितस्य कर्मणो हानिः, प्रतीपता स्वकार्येषु, गुरूणां वाक्येष्वभ्यसूया, बालेभ्यः प्रद्वेषः, स्वधर्मेष्वचिन्ता, माल्यानुलेपनभोजनपरिक्लेशनं, मधुरेभ्यश्च भक्ष्येभ्य प्रद्वेषः, [2]अम्ललवणकटुकप्रियता च, इति ज्वरस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति प्राक्सन्तापात्; अपि चैनं सन्तापार्तमनुबध्नन्ति ॥ ३३ ॥

ज्वर के पूर्वरूप—उस ज्वर के ये पूर्वरूप होते हैं। यथा—मुख का फीकापन, शरीर का भारीपन, भोजन के प्रति अरुचि (खाने की इच्छा न होना), आँखों में तनाव का होना, आँसुओं का निकलना, अधिक नींद आना, बेचैनी, जँभाई अंगों में विशेष प्रकार का झुकाव, कम्पन, थकावट, चक्कर, अंट-संट बकना, जागरण (निद्रा का अभाव), रोमहर्ष (रोमांच का होना), दन्तहर्ष, शब्द, शीत, वात, धूप आदि को सहन न कर

१. 'वा जगुर्भिषजः' यो.।
२. 'उष्णाम्ललवणकटुकप्रियता' ग.।

सकना, अरोचक (भोजन का स्वाद न लगना), खाये हुए भोजन का न पचना, दुर्बलता, अंगों में ऐंठन या मसल देने की-सी पीड़ा, अवसाद, मनोबल में कमी, धीरे-धीरे कार्य करना, आलस्य, उचित कर्म की हानि, अपने कार्यों के प्रति विपरीत व्यवहार, गुरुजनों के वाक्यों (वचनों) के प्रति अनादर का भाव, बच्चों के प्रति द्वेष (बच्चों की बात-चीत, खेलकूद अच्छा न लगना), अपने दैनिक कृत्यों के प्रति चिन्ता का न होना, माला-धारण, चन्दनलेपन तथा भोजन का सेवन कष्टदायक प्रतीत होना, मधुर भक्ष्य-भोज्यों से चिढ़ पैदा होना, खट्टे, नमकीन तथा कटु पदार्थों के प्रति प्रेम, ये ज्वर के पूर्वरूप सन्ताप (Heat) उत्पन्न होने के पहले देखे जाते हैं और ज्वर आजाने पर भी ये साथ नहीं छोड़ते।

वक्तव्य—ऊपर 'अनन्नाभिलाष और अरोचक' दो प्रायः समानार्थक शब्दों का प्रयोग आया है। इनकी निरुक्ति इस प्रकार है—जब रोगी को भोजन के प्रति एक प्रकार का द्वेष उत्पन्न हो जाय, उसको खाना तो दूर रहा नाम सुनना भी पसन्द न हो, उसे 'भक्तद्वेष' या 'अनन्नाभिलाष' कहते हैं। जब मुख में डाला हुआ ग्रास (कौर) स्वस्थ अवस्था के समान स्वाद न लगे, उसे 'अरोचक' कहते हैं।

उक्त पूर्वरूप सामान्यतया सभी प्रकार के ज्वरों के कह दिये गये हैं। दोषों की दृष्टि से आप स्वयं विवेचन करें कौन पूर्वरूप किसका है। विश्वास रखें वातादि दोषों के अनुसार ही पूर्वरूप होते हैं, क्योंकि इन्हीं के बाद वास्तविक रूप (लिंग) प्रकट होते हैं।

इत्येतान्येकैकशो ज्वरलिङ्गानि व्याख्यातानि भवन्ति विस्तरसमासाभ्याम् ॥ ३४ ॥

संक्षेप-विस्तार से ज्वर-वर्णन—इस प्रकार विस्तार (निदान, पूर्वरूप, लिंग (रूप) उपशय, सम्प्राप्ति भेद) और समास (संक्षेप) भेद (निज, आगन्तुज, त्रिविध, चतुर्विध, सप्तविध) से प्रत्येक ज्वर-लक्षणों का व्याख्यान कर दिया गया है।

ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः, सर्वप्राणभृतां प्राणहरो, देहेन्द्रियमनस्तापकरः, प्रज्ञाबलवर्णहर्षो-त्साहह्रासकरः, श्रमक्लममोहाहारोपरोधसंजननः; ज्वरयति शरीराणीति ज्वरः, नान्ये व्याधयस्तथा दारुणा बहूपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथाऽयम्। स सर्वरोगाधिपतिः, नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैरभिधीयते। सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च; स महामोहः, तेनाभि-भूताः प्राग्दैहिकं देहिनः कर्म किञ्चिदपि न स्मरन्ति, सर्वप्राणभृतां च ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते ॥३५॥

ज्वर-परिचय—ज्वर की उत्पत्ति शिवजी के कोप (क्रोध) से हुई है। यह सभी जीवधारियों के प्राणों का नाशक होता है, शरीर इन्द्रिय (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय) एवम् मन में सन्ताप उत्पन्न करता है, प्रज्ञा (बुद्धि), बल (शक्ति), वर्ण, हर्ष (प्रसन्नता) और उत्साह इनको कम करने वाला होता है, थकावट, क्लम, (Fatigue) मोह (Loss of Consciousness) तथा आहार (भोजन) के प्रति रुकावट पैदा करने वाला होता है, सभी के शरीरों को ज्वरित (सन्ताप युक्त अथवा पीड़ित) करता है, अतएव इसको 'ज्वर' कहते हैं। अन्य व्याधियाँ उस प्रकार कष्टदायक नहीं होतीं, न उतने उपद्रवों वाली ही होती हैं तथा दुश्चिकित्स्य (चिकित्साकाल में कष्टदायक) होती हैं, जैसी यह ज्वरव्याधि सभी रोगों में प्रधान होती है। यह अनेक प्रकार की तिर्यक्योनि (Animal Creation.) में भी विविध नामों से कहा जाता है। (यथा—हाथियों में 'पाकल', घोड़ों में 'अभिताप', गायों में ईश्वर, मनुष्यों में 'ज्वर' भेड़-बकरियों में 'प्रलाप', ऊँटों में 'अलस', भैंसों में 'हारिद्र' मृगों में 'मृगरोम' पक्षियों में 'अभिघात', मछलियों में 'इन्द्रमद', पक्षियों (परिन्दों) में 'पक्षपात', सर्पों में 'अक्षिक' कहा जाता है। इस प्रकार इसके अनेक नाम तथा अनेक रूप हैं।)

सभी प्राणी (जीवधारी) ज्वर के साथ ही उत्पन्न होते हैं और ज्वर के साथ ही मरते हैं। मृत्युदायक ज्वर महामोह स्वरूप होता है। ऐसे ज्वर से पीड़ित प्राणी पूर्वजन्म के किन्हीं कर्मों का भी स्मरण नहीं कर पाते, ज्वर ही सभी प्राणियों के प्राणों का अन्त में अपहरण करता है।

वक्तव्य—ऊपर ज्वर की उत्पत्ति का इतिहास तथा उसकी महत्ता का वर्णन किया गया है। इसका क्षेत्र सम्पूर्ण प्राणिजगत् है। तिर्यक् योनियों में होने वाले ज्वरों के नामों का उल्लेख हस्त्यायुर्वेद में विस्तृत

१. 'हर्षोत्साहसादनः' इति पा०।

रूप से देखें। 'ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते' इसको सुश्रुत में इस प्रकार कहा है—'ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्'। सु० उ० अ० ३९। अर्थात् इस ज्वर के सन्ताप को सहने की शक्ति केवल देवता तथा मनुष्यों में ही होती है, अन्य प्राणी तो ज्वर का प्रकोप होने पर मर जाते हैं।

रुद्र के कोप से ज्वर की उत्पत्ति हुई है, ऐसा ऊपर निर्देश है; इसके समर्थक अन्य स्थल यहाँ उद्धृत हैं। यथा—'क्रोधात् पित्तम्', च० चि० अ० ३। 'रुद्रकोपाग्निसम्भूतः', सु० उ० अ० ३९। और 'सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् तन्नाशनम्'। च० चि० अ० ३। एक उदाहरण और—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिके-ऽधिकम्'॥ वा० चि० अ० १।

'श्रमक्लममोहाहारोपरोधसंजननः'—पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने इस द्वन्द्वसमासान्त एक वाक्य को दो भागों में विभक्तकर अर्थ करने का निरर्थक प्रयास किया है। वास्तव में उक्त वाक्य की स्थिति ऐसी है—'आहारस्य उपरोधः-आहारोपरोधः, श्रमः च क्लमः च मोहः च आहारोपरोधः च = श्रमक्लममोहाहारोपरोधाः, तेषां 'सञ्जननः' ऐसा विग्रह करने पर 'सञ्जननः' पद का अन्वय चारों पदों के साथ सरलता से हो जायगा, यही तन्त्रकार को भी अभीष्ट है।

तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमपतर्पणं वा, ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्; ततः कषायपानाभ्यङ्गस्नेहस्वेदप्रदेहपरिषेकानुलेपनवमनविरेचनास्थापनानुवासनोपशमननस्तःकर्मधूपधूमपाना-ञ्जनक्षीरभोजनविधानं च यथास्वं युक्त्या प्रयोज्यम् ॥ ३६ ॥

ज्वर चिकित्सा सूत्र—ज्वर के पूर्व रूप या रूपों के दिखायी देने पर अथवा ज्वर के आरम्भ हो जाने पर लघु (शीघ्र पचनेवाला तथा मात्रा में भी कम) भोजन या अपतर्पण (लंघन या उपवास), कराना चाहिये, क्योंकि ज्वर की उत्पत्ति आमाशय से ही होती है। लघु भोजन की व्यवस्था कर देने के पश्चात् यथा स्वं (दोषों तथा प्रकृति के अनुसार) कषाय (ज्वरनाशक क्वाथों को पीने, अभ्यङ्ग, स्नेहन, स्वेदन, प्रदेह (औषध द्रव्यों का लेप), परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन वस्ति, अनुवासन वस्ति, उपशमन (दोषों को शान्त करने की प्रक्रिया), नस्य, धूप, धूमपान, अञ्जन, केवल दूध पर ही निर्भर रहना अर्थात् भोजन के लिये दूध के अतिरिक्त और कुछ न देना, इस प्रकार की व्यवस्था का युक्ति युक्त प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—युक्तियुक्त से तात्पर्य है रोगी के दोष, दूष्य, बल, काल आदि का विचार कर जिस रोगी के लिये उपर्युक्त चिकित्सा सूत्र में जो विधि उचित हो उसका प्रयोग करना या कराना चाहिये।

जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते यथास्वौषधसिद्धस्य; सर्पिर्हि स्नेहाद् वातं शमयति, संस्कारात् कफं, शैत्यात् पित्तमूष्माणं च; तस्माज्जीर्णज्वरेषु सर्वेष्वेव सर्पिर्हितमुदकमिवाग्निप्लुष्टेषु द्रव्येष्विति ॥ ३७ ॥

जीर्णज्वर में घृतपान—सभी प्रकार के जीर्णज्वरों में दोषों के अनुसार सिद्ध किये हुए घृतों का सेवन प्रशस्त (प्रशंसनीय) होता है। यथा—वातहर औषधद्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी वातनाशक, पित्तहर द्रव्यों से सिद्ध घृत पित्तनाशक और कफनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृत कफनाशक होता है। घी स्निग्ध गुण प्रधान होने से वात का शमन करता है, संस्कार (विशेष औषध द्रव्यों के गुणाधान) से कफशामक होता है और शीत गुण के कारण पित्त तथा ज्वर की ऊष्मा (गर्मी) का शमन करता है। इसलिये सभी प्रकार के जीर्ण-ज्वरों में घी हितकारक होता है। जैसे आग से जले हुए द्रव्यों को बुझाने के लिये जल हितकारक होता है वैसे ही ज्वरसन्तप्त शरीर को शान्ति प्रदान करने के लिये घी की आवश्यकता होती है।

भवन्ति चात्र—

यथा प्रज्वलितं वेश्म परिषिञ्चन्ति वारिणा। नराः शान्तिमभिप्रेत्य तथा जीर्णज्वरे घृतम् ॥३८॥

घृत प्रयोग सम्बन्धी सूक्ति—जिस प्रकार मनुष्य जलते हुए मकान को शान्त करने (बुझाने) के

अभिप्राय से उसमें पानी डालते हैं, उसी प्रकार जीर्णज्वर (से जले हुए या संतप्त रोगी) की शान्ति के लिये घृत का प्रयोग हितकर है।

स्नेहाद् वातं शमयति, शैत्यात् पित्तं नियच्छति । घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम् ॥
नान्यः स्नेहस्तथा किञ्चित् संस्कारमनुवर्तते । यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥

घृत का महत्व—घी उत्तम स्नेह है, अतः यह वातनाशक होता है। घी वीर्य में शीत होने के कारण पित्त का नाश करता है और घी अपने समान गुण वाले कफदोष का शमन संस्कारविशेष (कफनाशक औषध द्रव्यों से सिद्ध होने) के कारण करता है। दूसरा कोई स्नेह ऐसा नहीं है जो औषध द्रव्यों के समस्त गुण-धर्मों को अपने में ग्रहण करने में समर्थ हो। यह शक्ति केवल घी में है, अतः घी को सभी स्नेहों (घृत, तैल, वसा आदि) में उत्तम माना गया है।

गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते । तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते ॥४१॥

भवन्ति चात्र का औचित्य—जो विषय गद्य या पद्य द्वारा प्रत्येक अध्याय में कहा जाता है उसी का संक्षेप में जो वर्णन पुनः श्लोकों द्वारा कहा जाता है, वह केवल उक्त विषय को और स्पष्ट करने के लिये अथवा संक्षेप में स्मरण रखने के लिये होता है, अतएव यह द्विरुक्ति (दो बार का कथन) निन्दित नहीं माना जाता।

वक्तव्य—प्रायः संहिता ग्रन्थों में यह देखा जाता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहे गये विषय को 'भवति, भवतः या भवन्ति चात्र' के रूप में संक्षेप में पुनः कहा जाता है। इसको जो 'द्विरुक्ति' (दो बार कहना) या 'पिष्टपेषण' कहा जाता है, वह शास्त्रीय दृष्टि से निन्दनीय है। उसी का प्रतीकार किं वा समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय ने लिखा है—**'तद् व्यक्तिव्यवसायार्थम्'** तन्त्रकार का यह प्रयास विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से होता है और इसका दूसरा लाभ यह भी है कि सम्पूर्ण अध्याय का विषय संक्षेप में हो जाने के कारण याद भी किया जा सकता है।

तत्र श्लोकाः—

त्रिविधं नामपर्यायैर्हेतुं पञ्चविधं गदम् । गदलक्षणपर्यायान् व्याधेः पञ्चविधं ग्रहम् ॥४२॥
ज्वरमष्टविधं तस्य प्रकृष्टासन्नकारणम् । पूर्वरूपं च रूपं च भेषजं सङ्ग्रहेण च ॥४३॥
व्याजहार ज्वरस्याग्रे निदाने विगतज्वरः । भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसुः ॥४४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
ज्वरनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अध्याय-उपसंहार—नाम तथा पर्यायों के साथ तीन प्रकार के रोग, हेतु, पाँच प्रकार के (आग्नेय, सौम्य, वायव्य, राजस, तामस) रोगों के लक्षण, उसके पर्यायवाची शब्द, पाँच प्रकार के रोगों को जानने के उपाय, आठ प्रकार का ज्वर (वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज तथा आगन्तुज), ज्वर का सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कारण, ज्वर का पूर्वरूप, लक्षण (लिंग या रूप) और संक्षेप में औषध का वर्णन विगतज्वर अर्थात् त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) तापों से मुक्त भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने विनम्र शिष्य अग्निवेश को उक्त विषयों का उपदेश ज्वरनिदान नामक प्रथम अध्याय में दिया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में ज्वरनिदान नामक प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ज्वर-निदान का वर्णन करने के पश्चात् अब हम 'रक्तपित्त निदान' की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—ज्वर-निदान के वर्णन के अनन्तर 'रक्तपित्त-निदान' का ही उल्लेख क्यों किया गया, अतिसार आदि का क्यों नहीं ? इस प्रकार की शंका का समाधान महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार किया है—'निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते। तद् यथा 'ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तम् उदीर्यते' ॥ च. नि. अ. ८।१६। अर्थात् जिस प्रकार निदान रोग की उत्पत्ति में कारण होता है, उसी प्रकार एक रोग दूसरे रोग की उत्पत्ति में भी कारण होता है। जैसे ज्वर की गर्मी से 'रक्तपित्त' की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसे रोगों को जो अपने कारण दूसरे रोगों को उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें निदानार्थकर की उपाधि दी गयी है। यह सार्वकालिक तथ्य नहीं है कि सभी ज्वरों के बाद रक्तपित्त होता ही हो। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस प्रकार रक्तपित्त रोग के उत्पादक अन्य कारण हैं, वैसा ही एक कारण ज्वर भी है।

पित्तं यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभते, तद् व्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥

रक्तपित्त संज्ञा में कारण—जिस स्थिति में प्राप्त पित्त 'रक्तपित्त' संज्ञक होता है, अर्थात् 'रक्तपित्त' संज्ञा को प्राप्त होता है, उसकी हम व्याख्या करेंगे।

यदा जन्तुर्यवकोद्दालककोरदूषप्रायाण्यन्नानि भुङ्क्ते, भृशोष्णतीक्ष्णमपि चान्यदन्नजातं निष्पावमाषकुलत्थसूपक्षारोपसंहितं, दधिदधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकोपसेकं वा, वाराहमाहिषाविकमात्स्यगव्यपिशितं, पिण्याकपिण्डालुशुष्कशाकोपहितं, मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रु (खडयूष) भूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकोपदंशं, सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकमधूलकशुक्तकुवलबदराम्लप्रायानुपानं वा, पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठम्; उष्णाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेलं [1]वाऽऽमं पयः पिबति, पयसा समश्नाति रौहिणीकं काणकपोतं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं, कुलत्थपिण्याकजाम्बवलकुचपक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरं[2] पिबत्युष्णाभितप्तः; तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च[3] स्वप्रमाणमतिवर्तते । तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य [4]प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूषयति ॥ ४ ॥

रक्तपित्त-निदान—जब प्राणी (मनुष्य) यवक (जई), उद्दालक (जंगली कोदों), कोरदूष (कोदों या मडुवा) के सदृश गुण-धर्म वाले अन्नों को अत्यन्त उष्ण, तीक्ष्ण, गुण युक्त दूसरे अन्न समूह का और निष्पाव (सेम), उड़द, कुलथी की दाल में क्षार मिलाकर खाता है, या दही, दही का मण्ड (पानी), उदश्वित (आधा दही और आधा पानी मिलाकर मथा हुआ मठा), कट्वर (अम्ल दधि), खट्टी कांजी के साथ भोजन करता है, या सूअर, भैंसा, भेड़, मछली, गाय के मांस को खाता है, या पिण्याक (तिलकल्क), पिण्डालु (अरूई या बण्डा) सूखे अर्थात् सुखाये गये शाकों का सेवन करता है, या मूली, सरसों, लशुन, करञ्ज, सहजन, मीठा-

१. 'वा पयसा समश्नाति' इति पा०।
२. 'क्षीरमाममतिमात्रमथवा' इति पा०।
३. 'चाशु प्रमाणमतिवर्तते' इति पा०।
४. 'प्रतिपद्यते' इति पा०।

सहजन, खट्टयूष (कढ़ी देखें—चक्रदत्त, अतिसारचि. और भावप्रकाशनि.), गन्धतृण, कालीतुलसी, तुलसी, वन-तुलसी, गण्डीर, कालमालक (वर्वरिका देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु), पर्णास (पारसीकयवानी, वै. निघण्टु), क्षवक (चिक्किनी, राजनि.) फणिज्झक (गन्धतुलसी, रा. नि.) का व्यञ्जन विशेष बनाकर सेवन करता है, या सुरा (मद्य), सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मधूलक, शुक्त, (सिरका), बड़ीबेर, छोटीबेर, आदि खट्टी वस्तुओं का भोजन के साथ अनुपान के रूप में प्रयोग करता है, या पिष्टान्नों (पीठी से बने हुए पदार्थों) का अधिकतर सेवन करता है, या गर्मी से संतप्त होकर अत्यधिक या बार-बार कच्चा दूध पीता है, या रोहिणी के शाक के साथ दूध पीता है, या सरसों के तेल में नमक डालकर पकाये हुए जंगली कबूतर के मांस को खाता है, या कुलथी, तिल की चटनी, जामुन और बड़हर के साथ पकाया हुआ सिरका मिश्रित भोज्य पदार्थों के साथ गरमी से सन्तप्त व्यक्ति यदि दूध पीता है, तो उसके इस प्रकार के आचरण करने से पित्त प्रकुपित हो जाता है और रक्त भी अपने प्रमाण से अधिक हो जाता है।

सम्प्राप्ति—शरीर में रक्त की मात्रा के अधिक हो जाने से कुपित हुआ पित्त सम्पूर्ण शरीर में फैलकर यकृत् तथा प्लीहा से पैदा होने वाले रक्तवहस्रोतों के मुखों में जो रक्त के अधिक बढ़ने के कारण भारी हो गये हैं, जाकर उसके प्रवाह में रुकावट पैदाकर रक्त को दूषित कर देता है।

संसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते ॥ ५ ॥

रक्तपित्त का नामकरण—उक्त प्रकार से दूषित पित्त के संसर्ग अर्थात् जब दूषितपित्त का रक्त के साथ सम्बन्ध होता है, के कारण, रक्त को दूषित कर देने से, रक्त के गन्ध और वर्ण को धारण करने के कारण पित्त को लोहितपित्त (रक्तपित्त) कहते हैं।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—अनन्नाभिलाषः; भुक्तस्य विदाहः, शुक्ताम्लगन्धरस-उद्गारः छर्देरभीक्ष्णमागमनं छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं, परिदाहः मुखाद् धूमागम इव, लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव[1] चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिङ्घाण-कास्यकर्णमलपिडकोलिकापिडकानाम्[2], अङ्गवेदना, लोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति (लोहितपित्तपूर्वरूपाणि भवन्ति) ॥ ६ ॥

रक्तपित्त के पूर्वरूप—उस रक्त पित्त के ये पूर्वरूप होते हैं। यथा—अन्न (भोजन) के प्रति इच्छा का अभाव अर्थात् भोजन को देखकर भी उसको खाने की इच्छा का न होना, खाने के पश्चात् गले में जलन होना, सिरका की जैसी गन्ध और रस (स्वाद) वाले डकारों का आना, बार-बार उलटी (वमन) का होना या आना, छर्दित पदार्थ का घृणित होना, स्वरभेद (गला बैठना), अंगों में शिथिलता, शरीर में अथवा गलप्रदेश में दाह, मुख से धुआँ सा आना, मुख में से लोहा की सी गन्ध, रक्तगन्ध, मछली की-सी गन्ध अथवा आम (कच्ची) गन्ध सी निकलना (इसका अनुभव रोगी तथा उसके पास बैठा हुआ व्यक्ति भी करता है।) शरीर के अवयवों तथा मल, मूत्र, पसीना, लार, नाक, मुख, कान, नेत्र तथा पिड़काओं की मैल का वर्ण लाल, हरा, पीला हो जाना, अंगों में वेदना, बार-बार लाल, नीला, पीला, श्याव (Darkbrown) के प्रकाशमान रूपों का स्वप्न में दिखलायी देना आदि रक्तपित्त के पूर्वरूप होते हैं।

वक्तव्य—'लोहगन्धित्वमिव' अर्थात् लौह धातु की गन्ध जैसा उद्गार का आना। सुश्रुत में—'लोहगन्धिश्च निश्वासः' पाठ उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि मुख से उद्गार और नाक से निःश्वास निकलता है। इस निःश्वास अथवा उद्गार में जो लौह की-सी गन्ध आती है, उसका कारण यह है कि रक्त का रासायनिक विश्लेषण करने पर उसमें लौह धातु की प्राप्ति होती है, प्रकुपित पित्त उस लौह धातु को तपाता है और वह तपा हुआ लौह धातु रक्तगत द्रव में बुझता है। फलतः उससे लोहे को तपाकर जल में बुझाये हुए की सी गन्ध आने लगती है। यही 'लोहगन्धित्व' का रहस्य है।

---

१. 'मपि' इति पा.।

२. 'पिडकोलिका नेत्रमलः' चक्रः। 'पिच्छडिका' ग.।

सुश्रुतसंहिता में देखें—'सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः। लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवन्त्यस्मिन् भविष्यति' ॥ सु० उ० अ० ४५।७।

उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च ॥७॥

रक्तपित्त के उपद्रव—दुर्बलता, भोजन की इच्छा का न होना, भुक्त अन्न का ठीक-ठीक पाचन न होना, श्वास, कास, ज्वर, अतिसार, शोफ (सूजन), शोष, पाण्डुरोग और स्वरभेद ये रक्तपित्त के उपद्रव होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में रक्तपित्त के उपद्रव अधिक विस्तार से दिये गये हैं, निदान के अवसर पर उनका भी परिशीलन कर लेना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—'दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा। भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ॥ तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दहनं पूतिनिष्ठीवनं च। द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः ॥ सु० उ० अ० ४५।९। वाग्भट ने इस विषय का सूत्ररूप में इस प्रकार निर्देश किया है—'उपद्रवांश्च विकृतिज्ञानतस्तेषु चाधिकम्'। अ० हृ० नि० अ० ३।१६। अर्थात् रक्तपित्त के उपद्रवों को विकृतिविज्ञानीय अध्याय के अनुसार जानना चाहिये। (देखें—अ० हृ० शा० अ० ५ श्लोक ७४-७५)।

उपद्रव-लक्षण—'रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते। योऽन्योविकारः स बुधैरुपद्रव इतीरितः ॥ भा० प्र०। अर्थ स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त उस विकार को भी उपद्रव की संज्ञा दी जाती है, जो प्रधान रोग की चिकित्सा का विरोधक हो। इसप्रकार के दोषों के उत्पन्न हो जाने से रोग कष्टसाध्य तथा असाध्य स्थिति को पहुँच जाता है। ऊपर जो स्वरभेद को उपद्रव के रूप में निर्दिष्ट किया है उस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यह उपद्रव ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अधिकांश देखा जाता है और पाण्डुरोग तो रक्ताल्पता का सूचक होता ही है। इसी प्रकार अन्य उपद्रवों का भी विचार कर लें।

मार्गौ पुनरस्य द्वौ—ऊर्ध्वं चाधश्च। तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते, बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रतिपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते, बहुश्लेष्मवाते तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते, द्वौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य ॥ ८ ॥

रक्तपित्त के प्रमुख दो मार्ग—रक्तपित्त के शरीर से बाहर निकलने के सामान्य दृष्टि से दो मार्ग हैं। १. ऊपर और २. नीचे से। वह रक्तपित्त कफ प्रकृति वाले पुरुष के शरीर में अथवा जिसके शरीर में कफ का अधिक संचय हो गया हो, उसमें कफ के सम्पर्क से ऊपर की ओर जाता हुआ, कान, नाक, नेत्र और मुख से निकलता है। वात प्रकृति वाले पुरुष के शरीर में अथवा जिसके शरीर में वात का अधिक संचय हो गया हो, उसमें वायु के सम्पर्क से नीचे की ओर जाता हुआ, मूत्र तथा मलमार्ग (गुदद्वार) से निकलता है। कफ और वात की प्रधानता वाले शरीर में कफ के सम्पर्क से ऊपर की ओर तथा वायु के सम्पर्क से नीचे की ओर अर्थात् दोनों मार्गों से एक साथ निकलने लगता है। इस स्थिति में दोनों मार्गों की ओर प्रवृत्त हुआ वह रक्त शरीर के ऊपर नीचे के सभी मार्गों से निकलने लगता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी इसकी प्रवृत्ति दो मार्गों से इस प्रकार बतलायी है। यथा—'आमाशयाद् व्रजेदूर्ध्वमधः पक्वाशयाद् व्रजेत्'। सु० उ० अ० ४५। आमाशय को कफ का स्थान माना गया है, अतः यहाँ दोष का प्रकोप होने से वह ऊर्ध्व मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है और पक्वाशय को वात का स्थान माना गया है, अतः यहाँ दोष का प्रकोप होने से वह अधोमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। वाग्भट ने इसके मार्गों का निर्देश निम्न प्रकार से किया है—'ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्योनिगुदैरधः। कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत् प्रवर्तते' ॥ अ० हृ० नि० अ० २। इनके अनुसार रक्तपित्तजनित रक्त निम्न स्थानों—नासिका, आँख, कान, मुख, लिंग (पुरुषमूत्रेन्द्रिय), गुद और कुपित होने पर सभी रोगकूपों से भी निकलने लगता है। इससे साध्यता-असाध्यता का भी निर्णय किया जासकता है, जिसका विवेचन आगे किया जारहा है।

तत्र यदूर्ध्वभागं तत् साध्यं विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च; [1]यदधोभागं तद् याप्यं, वम-

---

१. 'यदधोमार्गम्' ग.।

नोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च; यदुभयभागं[1] तदसाध्यं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति ॥ ९ ॥

साध्य असाध्य-विवेचन—जो रक्तपित्त ऊपर के मार्गों से निकलता है, वह साध्य होता है। क्योंकि पित्त की विकृति को ठीक करने के लिये विरेचन का प्रयोग किया जाता है, जो इसमें सरल होता है, अन्य भी अनेक ओषधियाँ इसको शान्त करने के लिये सुलभ हैं। जो रक्तपित्त अधोमार्गों से निकलता है, वह याप्य (जब तक चिकित्सा होती रहेगी लाभ प्रतीत होगा, छोड़ देने पर पुनः जैसे का तैसा) होता है। क्योंकि इसकी चिकित्सा वमन है और इसको ठीक करने वाली ओषधियाँ भी बहुत कम हैं और जो दोनों मार्गों में प्रवृत्त होता है, वह असाध्य होता है, क्योंकि उसमें वमन-विरेचन दोनों ही नहीं कराये जासकते और इसकी कोई ओषधि भी नहीं है, जो उभयमार्गप्रवृत्त रक्तपित्त को ठीक कर सके।

वक्तव्य—ऊपर रक्तपित्त व्याधि के मार्ग भेद से साध्य, याप्य और असाध्य भेद किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि रक्तपित्त व्याधि पित्त प्रधान होती है। कफ की प्रधानता से यह ऊपर (मुख-नासिका आदि छिद्रों) से और वात की अधिकता से अधोमार्ग (गुद, योनि) से निकलता है। पित्तनाशक चिकित्साओं में विरेचन को सर्वश्रेष्ठ माना है। देखें—विरेचनं पित्तहराणाम्'। च० सू० अ० २५। अत एव ऊपरी भाग से निकलने वाला रक्तपित्त सुखसाध्य होता है। ओषधियाँ भी कफनाशक अनेक सुलभ होती हैं। अधोमार्ग का रक्तपित्त इसलिये याप्य है कि इसमें प्रतिलोम चिकित्सा का सहारा लेना पड़ता है। वमनकारक ओषधियाँ कम हैं, उसमें भी वमन द्वारा पित्त की शान्ति नहीं हो पाती इससे केवल उसका वेग परिवर्तित किया जासकता है। पित्तशामक रसों में मधुर रस ही एक ऐसा है, जो वायु की शान्ति करने में समर्थ होता है। ऊपर तथा नीचे (दोनों) मार्गों से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है क्योंकि यह रक्तपित्त की सान्निपातिक स्थिति है। विशेष देखें—च० चि० अ० ४। यही धारणा सुश्रुत में भी देखी जाती है—ऊर्ध्वं साध्यमधोयाप्यमसाध्यं युगपद् गतम्'। सु० उ० अ० ४५।७।

रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना[2] प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानामभवज्ज्वरमनु ॥ १० ॥

विप्रकृष्ट कारण—रक्तपित्त का प्रकोप तो प्राचीन काल में दक्षप्रजापति के यज्ञविध्वंस के अवसर पर रुद्रकोप से उत्पन्न अग्नि द्वारा पीड़ित शरीर और प्राण वाले जीवों को ज्वर की उत्पत्ति के पश्चात् हुआ था। यही इसकी उत्पत्ति का इतिहास है।

वक्तव्य—उक्त पाठ में 'कोप और अमर्ष' दो समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है। दूसरे पाठ इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—**रुद्रकोपाग्निना** तथा **रुद्रकोपप्रभवाग्निना**। इनमें चक्रपाणि का प्रिय पाठ इस प्रकार है—**रुद्रकोपामर्षाग्निना**। इन्होंने '**अमर्ष**' शब्द का अर्थ '**अभिनिवेश**' किया है, जब कि अमरसिंह—'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा'। इन सभी शब्दों को पर्यायवाची मानते हैं। वास्तव में अमर्ष की परिभाषा इस प्रकार है—'परकृतावज्ञादिनानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः'। रसगंगाधर।

तस्याशुकारिणो दावाग्नेरिवापतितस्यात्ययिकस्याशु प्रशान्त्यै प्रयतितव्यं मात्रां देशं कालं चाभिसमीक्ष्य सन्तर्पणेनापतर्पणेन वा मृदुमधुरशिशिरतिक्तकषायैरभ्यवहार्यैः प्रदेहपरिषेकावगाहसंस्पर्शनैर्वमनाद्यैर्वा तत्रावहितेनेति ॥ ११ ॥

चिकित्सा-सूत्र—सावधानी रखने वाले चिकित्सक को चाहिये कि वह इस आशुकारी तथा दावाग्नि के के समान शीघ्र विनाशकारी रक्तपित्त रोग की शीघ्र शान्ति के लिये मात्रा, देश, काल आदि का विचार करके सन्तर्पण अथवा अपतर्पण चिकित्सा द्वारा मृदु, मधुर, शीतल, तिक्त और कषायरस-प्रधान भोजनों द्वारा तथा प्रदेह (विविध प्रकार के लेप), परिषेक (फुंहारा आदि के नीचे बैठाना), अवगाहन (जलपूर्ण टब में बैठाना), शीत पदार्थों के स्पर्श एवम् वमन आदि द्वारा चिकित्सा करे।

वक्तव्य—यहाँ मात्रा, देश, काल आदि के विचार के अवसर पर निदान, उपशय, अनुपशय आदि सभी

१. 'यदुभयमार्गम्' ग.।
२. 'रुद्रकोपाग्निना' यो.।

का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि महर्षि ने इसको 'आत्ययिक रोग' कहकर इसकी शीघ्र शान्ति करने का आदेश दिया है। इस अवसर पर रक्तपित्त रोग के कारण निकलने वाले रक्त की परीक्षा कर लेना भी नितान्त आवश्यक है कि वह ऊपर या नीचे से निकलने वाला रक्त, दूषितरक्त है अथवा जीवरक्त। इसकी पहचान यह है—दूषित रक्त को कुत्ता नहीं चाटता, उसका वर्ण, गन्ध तथा रस विकृत होता है और जीवरक्त निर्विकार एवं स्वाभाविक गन्ध, वर्ण, रस से युक्त होता है।

भवन्ति चात्र—

साध्यं लोहितपित्तं तद् यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योगित्वाद् बहुत्वाद् भेषजस्य च ॥१२॥
विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थे परमौषधम्। यश्च [1]तत्रान्वयः श्लेष्मा तस्य चानधमं स्मृतम् ॥१३॥
भवेद् योगावहं तत्र [2]मधुरं चैव भेषजम्। तस्मात् साध्यं [3]मतं रक्तं यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते ॥१४॥

साध्यता में हेतु—जिन साध्यासाध्य के लक्षणों को ऊपर विस्तार से कहा गया है, उन्हीं का संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जारहा है। जो रक्तपित्त ऊपर के मार्गों से निकलता है, वह विरेचन के योग्य होता है और उसके लिये अनेक प्रकार की ओषधियाँ सुलभ हैं, अतएव वह साध्य होता है। क्योंकि पित्त को जीतने के लिये विरेचन सर्वश्रेष्ठ औषध है और जो उस (रक्तपित्त) में कफ का सम्बन्ध होता है। उसको दूर करने के लिये भी विरेचन अधम नहीं होता अर्थात् मध्यम होता है। उस ऊर्ध्वग रक्तपित्त में तिक्त एवं कषाय रस प्रधान औषध के साथ मधुर रस प्रधान औषध द्रव्य उपयोगी होते हैं। इसलिये ऊपरी मार्ग से प्रवृत्त होने वाला 'रक्तपित्त' साध्य माना गया है।

रक्तं तु यदधोभागं तद् याप्यमिति निश्चितम्। वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद् भेषजस्य च ॥१५॥
वमनं हि न पित्तस्य [4]हरणे श्रेष्ठमुच्यते। यश्च [5]तत्रान्वयो वायुस्तच्छान्तौ चावरं स्मृतम् ॥१६॥
[6]तच्चायोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च। तस्माद् याप्यं समाख्यातं यदुक्तमनुलोमगम् ॥१७॥

याप्यता में हेतु—जो रक्तपित्त अधोमार्ग से निकलता है, वह निश्चितरूप से याप्य होता है, क्योंकि उसमें वमन-क्रिया द्वारा अधिक लाभ नहीं होता और इसके उपयोगी औषध द्रव्य भी बहुत कम मिलते हैं। वमन पित्तनाशन के लिये श्रेष्ठ नहीं कहा गया है। अधोग रक्तपित्त में जो वायु का सम्बन्ध होता है, उसकी शान्ति के लिये वमन को अधम माना गया है। यद्यपि कषाय तथा तिक्त द्रव्य पित्तनाशक होते हैं, फिर भी उक्त द्रव्य वात को शान्त करने के क्षेत्र में असमर्थ होते हैं। इसलिये अनुलोमग (नीचे के मार्ग से प्रवृत्त) रक्तपित्त याप्य कहा गया है।

वक्तव्य—याप्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—'याप्यन्तु यापनीये स्यान्निन्दितेऽपि'। इति मेदिनी, याप्य (Contemptible.) या प्रापणे धातु से णिच् प्रत्यय तथा यत् प्रत्यय के योग से उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। और भी 'यापनीयं तु तं विद्यात् क्रियाधारयते हि यम्। क्रियायान्तु निवृत्तायां सद्यो यश्च विनश्यति'॥ भावप्रकाश। याप्याः केचित् प्रकृत्यैव केचित् याप्या उपेक्षया'। सारचन्द्रिका। अर्थात् याप्य उसको कहते हैं जो रोग चिकित्सा के प्रभाव से कुछ समय तक दबाया जा सकता हो और रोगी को औषध के बल से कुछ आराम दिलाया जा सकता हो तथा चिकित्सा के छोड़ते ही रोगी को प्राणों का संकट झेलना पड़ता हो। दूसरे आचार्यों का मत है कि कुछ रोग प्रकृति से ही याप्य होते हैं और कुछ चिकित्सक अथवा रोगी की उपेक्षा से याप्य हो जाते हैं।

१. 'तत्रानुगः' ग.।
२. 'कषायं तिक्तमेव च' ग.। 'मधुरं चैव भेषजमित्यत्र एव शब्दोऽप्यर्थः; तेन कषायतिक्ते तावद्भेषजे भवत एव, पित्तकफप्रत्यनीकत्वात्; मधुरमपि लङ्घनादिना कफे जिते भेषजं भवतीत्यर्थः' च.।
३. 'साध्यतमं' ग.।
४. 'जयार्थे श्रेष्ठमुच्यते' यो.।
५. 'तत्रानुगः' इति पा०।
६. 'स्याच्च योगावहं तत्र मधुरं चैव भेषजम्' ग.।

रक्तपित्तं तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते । असाध्यमिति तज्ज्ञेयं [1]पूर्वोक्तादेव कारणात् ॥१८॥
नहि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम् । प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ॥१९॥
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते । संसृष्टेषु च दोषेषु सर्वजिच्छमनं मतम् ॥२०॥
इत्युक्तं [2]त्रिविधोदर्कं रक्तं मार्गविशेषतः ।

असाध्यता में हेतु—जो रक्तपित्त दोनों (ऊपर तथा नीचे) मार्गों से निकलने लगता है, उसको पूर्वोक्त कारणों से ही असाध्य समझना चाहिये। क्योंकि रक्तपित्त के दोषों का हरण (संशोधन) विपरीत मार्ग (ऊर्ध्वग हो तो विरेचन द्वारा अथवा अधोग हो तो व न) द्वारा किया जाता है। अतः उभयमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त की चिकित्सा के लिये कोई प्रतिमार्ग (जिस मार्ग से प्रवृत्त हो उससे विपरीत मार्ग) कोई है ही नहीं। इसी प्रकार दोनों मार्गों से प्रवृत्त रक्तपित्त की शान्ति के लिये कोई संशमन औषध की व्यवस्था भी नहीं है। सामान्य व्यवस्था ऐसी स्थिति के लिये यह है कि मिले-जुले दोषों में त्रिदोपशामक औषध योगों का प्रयोग शास्त्रसम्मत होता है। इस प्रकार मार्ग-भेद से तीन प्रकार के परिणाम वाले (साध्य, याप्य और असाध्य) रक्तपित्त रोग का वर्णन कर दिया गया है।

एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किञ्चित्साध्यं न सिध्यति ॥ २१ ॥
प्रेष्योपकरणाभावाद् दौरात्म्याद् वैद्यदोषतः । अकर्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद् रोगोऽतिवर्तते ॥२२॥

साध्य के असाध्य होने में हेतु—निम्नोक्त इन कारणों से कुछ साध्य अवस्था के रोग भी असाध्य हो जाते हैं। प्रेष्य (दूत या परिचारक) तथा उपकरण (औषध, अनुपान, पथ्य आदि) के अभाव से रोगी की चञ्चलता, अधीरता आदि कारणों से, वैद्य (चिकित्सक) की अज्ञानता एवम् असावधानी से और समय पर चिकित्सा न कराने से कोई भी रोग अपनी साध्य स्थिति का अतिक्रमण कर असाध्य स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—वास्तव में असाध्य रोग तो साध्य नहीं हो सकते किन्तु साध्य रोग असाध्य हो सकते हैं। उसका कारण यह है कि चिकित्सा के जो चारपाद (उपचारक, वैद्य, रोगी और औषध) कहे गये हैं, इनकी ठीक-ठीक उपलब्धि का न होना साथ ही भाग्य दोष के कारण भी साध्य रोग असाध्य हो जाते हैं।

तत्रासाध्यत्वमेकं स्यात् साध्ययाप्यपरिक्रमात् । रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदिश्यते ॥२३॥

असाध्य का लक्षण—साध्य रक्तपित्त की उपेक्षा से याप्य और याप्य की उपेक्षा से असाध्य रक्तपित्त होता है, एक प्रकार यह भी है (और दूसरा प्रकार तो ऊपर कहा जा चुका है—ऊर्ध्वं साध्यम्, अधो याप्यम्, असाध्यं युगपद् गतम् ।) इस प्रकार यह रक्तपित्त की साध्यता, असाध्यता का विज्ञान यहाँ बतलाया जाता है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में विशेष विवरण चरक चिकित्सास्थान में रक्तपित्त चिकित्सा प्रकरण में देखें। कुछ संस्करणों में **'तस्योपदेक्ष्यते'** पाठ है। उसका अर्थ होगा—यह उपदेश (चिकित्सास्थान में) किया जायगा।

यत् कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् । रक्तपित्तमसाध्यं तद् [3]वाससो रञ्जनं च यत् ॥२४॥
भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववच्च यत् । बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥२५॥
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः । पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यं न संशयः ॥२६॥
तत्रासाध्यं परित्याज्यं याप्यं यत्नेन यापयेत् । साध्यं चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद् भिषक् २७॥

रक्त-परीक्षा द्वारा निर्णय—रक्तपित्त रोग में निकलने वाला जो रक्त काला, नीला या इन्द्रधनुष के वर्ण-वाला (विविध प्रकार की चन्द्रिकाओं वाला) तथा जिसका दाग कपड़ों पर पड़ जाता है, आसानी से नहीं छूटता वह रक्तपित्त का रोगी असाध्य होता है। जिस रक्तपित्त (चाहे वह ऊपरी मार्ग से निकला हो या अधोमार्ग से

१. 'पूर्वोक्तादपि' इति पा०।
२. 'त्रिविधोदर्कमिति त्रिविधजातीयफलम्' चक्रः।
३. 'वाससोऽरञ्जनम्' इति पा०।

निकला हो) में अत्यन्त दुर्गन्धि हो, अधिक मात्रा में निकल रहा हो, सभी प्रकार के (पूर्वोक्त) उपद्रवों से युक्त हो, बल तथा मांस के क्षीण हो जाने पर जो रक्तपित्त रोग हो गया हो वह असाध्य होता है। जो रोगी रक्तपित्त के कारण अत्यन्त पीड़ित होने पर सभी पदार्थों को लाल देखने लगा हो और आकाश को भी लाल देख रहा हो, वह भी निःसन्देह असाध्य होता है। उसमें असाध्य रोगी को छोड़ दे, याप्य की यत्नपूर्वक चिकित्सा करे और जो साध्य रोगी है, उसकी सावधानी से सिद्ध औषध द्रव्यों से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—रक्त का एक नाम 'लोहित' है। रस का वर्ण श्वेत होता है, वही रञ्जक पित्त के सहयोग से लाल होने पर 'रक्त' कहा जाता है। जब रक्त में 'लोह' की उत्पत्ति हो जाती है तो उसको 'लोहित' कहते हैं और वह स्वयं विदग्ध होकर रक्त को विदग्ध करता है। तदनन्तर वह रक्तवाहिनी सिराओं और केशिकाओं में से चूकर मुख आदि से बाहर निकलने लगता है। रक्त का एक नाम 'क्षतज' भी है, अर्थात् कहीं पर घाव होने पर रक्त निकलने लगता है परन्तु रक्तपित्त में क्षत के बिना ही इसकी उत्पत्ति दिखलायी देती है।

असाध्य रक्तपित्त में रक्त का स्वरूप—जिस रक्तपित्त में रक्त मांस के धोअन के सदृश हो, कीचड़ धुले पानी के समान जिसका रंग हो, मेदस् या पूयमिश्रित रक्त के सदृश हो, यकृत् के रंग के समान हो, पके हुए जामुन के फल के वर्ण का हो, अत्यन्त काला, नीला, मुर्दे की-सी गन्धवाला, जिसमें दुर्गन्धता आदि उपद्रव हों तथा इन्द्रधनुष के समान विविध रंगों वाला हो, वह असाध्य होता है। विशेष विवरण के लिये देखें—सु० उ० अ० ४५।९-१०।

रक्त-परीक्षा के अन्य प्रकार—जीवरक्त (दोष से रहित शुद्धरक्त) और पित्त द्वारा दूषित रक्त की परीक्षा की कुछ विधियाँ यहाँ दी जारही हैं—१. रक्तपित्त के रोगी के ऊपरी या निचले भाग से निकले हुए रक्त में रोटी या भात आदि मिलाकर कुत्ता या कौआ को दें यदि ये उसे खा लेते हैं तो उसको जीवरक्त समझें, न खाने पर दूषित रक्त समझें। इस स्थिति में उक्त दूषित रक्त को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिये, उसका निकल जाना ही हितकर है। २. दूसरी परीक्षा इस प्रकार है—उक्त रक्त में एक सफेद कपड़ा भिगायें और उसको धुला दें यदि उसमें दाग पड़ जाता है और धोने पर भी नहीं छूटता तो उसे रक्तपित्त का दूषित रक्त समझें। धुलने पर दाग छूट जाय तो जीवरक्त समझें। जीवरक्त को निकलने न दें यह घातक होता है। देखें—सु० चि० अ० ३४।

तत्र श्लोकौ—

कारणं नामनिर्वृत्तिं पूर्वरूपाण्युपद्रवान् । मार्गौ दोषानुबन्धं च साध्यत्वं न च हेतुमत् ॥२८॥
निदाने रक्तपित्तस्य व्याजहार पुनर्वसुः । वीतमोह-रजोदोष-लोभ-मान-मद-स्पृहः ॥२९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
रक्तपित्तनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—रक्तपित्त का कारण (निदान), इसका रक्तपित्त नाम क्यों पड़ा, पूर्वरूप, लिङ्ग, उपशय, उपद्रव, रक्तपित्त प्रवृत्ति के दो मार्ग, दोषों (कफ और वात) का अनुबन्ध, कारण सहित साध्यता और असाध्यता आदि विषयों को रक्तपित्त के निदान नामक इस द्वितीय अध्याय में मोह, रजोदोष, लोभ, अभिमान, मद और स्पृहा आदि दोषों से रहित भगवान् पुनर्वसु ने कहा।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न पण्डित **तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में रक्तपित्तनिदान नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रक्तपित्त-निदान वर्णन के पश्चात् अब हम गुल्म-निदान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—निदानार्थकर रोगों की परम्परा का जो वर्णन चरक निदानस्थान अ० ८ में किया गया है, तदनुसार रोगों का क्रम भिन्न है। किन्तु स्वतन्त्र रोगों का क्रम भिन्न-भिन्न संहिताकारों ने अपने-अपने विवेक से निर्धारित किया है। यथा—महर्षि वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय में रक्तपित्त के पश्चात् 'कासनिदान' का वर्णन किया है। इसके समर्थन में वे लिखते हैं कि रक्तपित्त रोग में कास नामक उपद्रव ही अधिक आशुकारी एवं शीघ्रमारक होता है (देखें—अ० हृ० शा० अ० ५।७४-७५।) अतः हमने यह अध्याय-क्रम रखा।

आयुर्वेददीपिका के अनुसार—'दक्षाध्वरोद्ध्वंसे रक्तपित्तमनु गुल्म उत्पन्न इति, रक्तपित्तमनुगुल्म-निदानम्'। किन्तु आचार्य चक्रपाणि ने इस पंक्ति का कोई ऐसा उल्लेख नहीं किया कि यह कहाँ से ली गयी है, अस्तु।

गुल्म की निरुक्ति—गुड धातु—वेष्टन रक्षण (चुरादि) और रक्षा (तुदादि गण) अर्थ में उपलब्ध होती है, इससे मन् या मक् प्रत्यय करने पर 'गुल्म' शब्द की निष्पत्ति होती है। व्याकरणशास्त्र में र, ल, ड, इन वर्णों की परस्पर एकता स्वीकार की गयी है। सामान्य दृष्टि से यह शब्द प्लीहा, समूह, स्तम्ब (अप्रकाण्ड), वृक्षगुल्म, लतागुल्म, पशुगुल्म तथा सैन्यगुल्म आदि अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, अतः इसका एक अर्थ 'विशाल' भी होता है। विशेष द्रष्टव्य—चरक चि० अ० ५। सुश्रुत उ० अ० ४२। तथा अ० सं० नि० अ० ११।

गुल्म-परिचय—'हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः। वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः' ॥ सु० उ० त० अ० ४२।४। अर्थात् हृदय और नाभि के बीच में चल या अचल, कभी घटने और कभी बढ़ने वाली गोल ग्रन्थि को गुल्म कहते हैं।

इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति, तद्यथा—वातगुल्मः, पित्तगुल्मः, श्लेष्मगुल्मो, निचयगुल्मः, शोणितगुल्म इति ॥ ३ ॥

संख्या-सम्प्राप्ति—यहाँ पाँच प्रकार के गुल्मों की गणना की है। यथा—१. वातगुल्म, २. पित्तगुल्म, ३. श्लेष्मगुल्म, ४. निचय (सन्निपातज) गुल्म तथा ५. रक्तगुल्म।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ पर गुल्म के पाँच ही भेदों का उल्लेख किया है किन्तु आगे चलकर चिकित्सा-स्थान में गुल्म के द्वन्द्वज भेदों का स्मरण इस प्रकार किया है—'निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे, द्विदोषजे दोष-बलाबलं च। व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्' ॥ च० चि० अ० ५।१६। इसकी व्याख्या यथास्थान देखें। सुश्रुत एवं माधवनिदान में भी इसके ५ ही भेद वर्णित हैं किन्तु महर्षि वाग्भट ने इसके आठ भेदों का उल्लेख किया है—'गुल्मोऽष्टधा पृथग्दोषैः संसृष्टैर्निचयं गतैः। आर्तवस्य च दोषेण नारीणां जायतेऽष्टमः' ॥ अ० हृ० नि० अ० ११।३२। यथा—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वात-कफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज और ८. आर्तवदोषज (यह केवल स्त्रियों के गर्भाशय में होता है।)

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन् ! पञ्चानां गुल्मानां विशेषमभिजानी-महे; नह्यविशेषविद् रोगाणामौषधविदपि भिषक् प्रशमनसमर्थो भवतीति ॥ ४ ॥

अग्निवेश की गुल्म सम्बन्धी जिज्ञासा—इस प्रकार गुल्म के सम्बन्ध में कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा—भगवन् ! इन पाँच गुल्मों की विशेषता (परस्पर भेदों) को हम कैसे जान सकते हैं। क्योंकि औषध द्रव्यों को जानने वाला चिकित्सक भी रोगों की विशेषता (उनके तर-तम भावों आदि) के ज्ञान बिना उसकी शान्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता।

वक्तव्य—गुल्म प्रकरण में पूछा गया अग्निवेश का यह प्रश्न सभी रोगों की चिकित्सा के पूर्व जानने, समझने एवम् पूछने योग्य है। क्योंकि समुचित निदान के बिना किसी भी चिकित्सक को चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती, यही इस प्रश्न का निष्कर्ष है।

तमुवाच भगवानात्रेयः—समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषेभ्यो विशेषविज्ञानं गुल्मानां भवत्यन्येषां च रोगाणामग्निवेश ! [1]तत्तु खलु गुल्मेषूच्यमानं निबोध ॥ ५ ॥

गुल्म के भेद—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उस (अग्निवेश) से कहा—हे अग्निवेश ! समुत्थान (हेतु अथवा कारण या निदान), पूर्वरूप, लिङ्ग (रूप), वेदना (का प्रकार या स्थान विशेष), उपशय इनकी अपनी विशेषताओं (भिन्नता) से गुल्मों तथा अन्य रोगों की जानकारी होती है। उस विशेष विज्ञान को गुल्मों के सम्बन्ध में कहा जारहा है, तुम समझो।

यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वरवमनविरेचनातीसाराणामन्यतमेन कर्शनेन कर्शितो वातल-माहारमाहरति, शीतं वा विशेषेणातिमात्रम्, अस्नेहपूर्वे वा वमनविरेचने पिबति, अनुदीर्णां वा छर्दिमुदीरयति, उदीर्णान् वातमूत्रपुरीषवेगान्निरुणद्धि, अत्यशितो वा पिबति नवोदकमतिमात्रम् अति-मात्रसङ्क्षोभिणा वा यानेन याति, अतिव्यवायव्यायाममद्यशोकरुचिर्वा अभिघातमृच्छति वा विषमासने[2]-शयनस्थानचङ्क्रमणसेवी वा भवति, अन्यद् वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं व्यायामजातमारभते, तस्यापचाराद् वातः प्रकोपमापद्यते ॥ ६ ॥

वातगुल्म का निदान—जब वात प्रकृति वाला पुरुष ज्वर, वमन, विरेचन (पञ्चकर्म में प्रयुक्त वमन, विरेचन के अतियोग); अतिसार (रोग विशेष), इनमें से किसी एक कृशकारक प्रकार से कृश (दुर्बल) होकर वातवर्धक (कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष) आहार का विशेष रूप से सेवन करता है, शीत (स्पर्श तथा वीर्य) प्रधान द्रव्यों का विशेष करके या अधिक मात्रा में, बिना स्नेहन कराये ही जो वमन-विरेचनकारक औषधों को पीता है, वमन के अप्रवृत्त वेग को प्रेरित करता है, उभड़े हुए वात (अपानवायु) मूत्र, मल के (अधारणीय) वेगों को रोकता है, अधिक भोजन कर लेने के बाद जो अधिक मात्रा में नवोदक (वर्षा ऋतु में संगृहीत प्रथम वर्षा के जल) को अधिक मात्रा में पीता है, शरीर को झकझोर देने वाली सवारी से यात्रा करता है, अधिक मैथुन, व्यायाम, मद्यपान तथा शोक किया करता है, या किसी प्रकार चोट लग जाने से, या जो ऊबड़-खाबड़ आसन (या कभी कम कभी ज्यादा भोजन), बिस्तर, स्थान, घूमने का अभ्यासी होता है अथवा और भी जो कुछ इस प्रकार का शारीरिक श्रम करता है, इस प्रकार के अपथ्यों के सेवन से उस पुरुष के शरीर में वायु प्रकुपित हो जाता है।

स प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात् [3]कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति हृदि बस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्यां वा; स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्, [4]पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् 'गुल्म' इत्यभिधीयते।

वातगुल्म की सम्प्राप्ति—वह प्रकुपित हुआ वायु महास्रोत (आमाशय, पक्वाशय-स्थानों) में प्रवेशकर रूक्ष गुण प्रधान होने से कठिन (कठोर) होकर उस स्थान विशेष को घेरकर हृदय, बस्ति, पार्श्व (दोनों पसलियों) अथवा नाभि में शूल (पीड़ा) को पैदाकर देता है और अनेक प्रकार की गांठों को उत्पन्न कर देता है, पिण्ड के आकार में स्थित हो जाता है। पिंड के आकार का होने के कारण इसे 'गुल्म' कहते हैं।

वक्तव्य—गुल्म की आकृति को स्पष्ट करने की दृष्टि से तन्त्रकार ने इसके दो विशेषण दिये हैं। यथा—

---

१. 'तत्र तावत्' ग.।

२. 'विषमाशन' पा०।

३. 'कठिनीभूत आप्लुत्य' यो.।

४. 'पिण्डित इति कुण्डलीभूतः। पिण्डितश्चेति द्वितीयपिण्डितशब्देन मांसाद्युत्तुण्डनेन गुल्मप्रदेशस्यापि पिण्डितत्वमुच्यते; पूर्वेण पिण्डितशब्देन तु वायोः पिण्डितत्वमिति न पौनरुक्त्यम्' इति चक्रः।

१. 'ग्रन्थींश्चानेकविधान्' अर्थात् अनेक प्रकार की (विविध आकार वाली) गांठों को वायु उत्पन्न कर देता है।
२. 'पिण्डितश्चावतिष्ठते' पिण्ड के आकार का (गोल या लम्बा) बनकर रह जाता है। गुल्म शब्द का कोषकार ने एक अर्थ यह भी किया है—'अप्रकाण्डे स्तम्ब-गुल्मौ'। अमरकोष। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें शाखा-प्रशाखायें नहीं होतीं। यह शास्त्रीय तथा प्रयोगात्मक दोनों दृष्टियों से युक्ति युक्त है।

सुश्रुत के अनुसार गुल्म की निरुक्ति— कुपिताऽनिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि। गुल्मवद् वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ सु० उ० अ० ४२। अर्थ स्पष्ट है।

स मुहुराध्मति, मुहुरल्पत्वमापद्यते[1]; अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति चलत्वाद् वायोः, मुहुः पिपीलिकासम्प्रचार इवाङ्गेषु, तोदभेदस्फुरणायामसङ्कोचसुप्तिहर्षप्रलयोदयबहुल; तदातुरः सूच्येव शङ्कुनेव चाभिसंविद्धमात्मानं मन्यते, अपि च दिवसान्ते, ज्वर्यते, शुष्यति चास्यास्यम्, उच्छ्वासश्चोपरुध्यते, हृष्यन्ति चास्य रोमाणि वेदनायाः प्रादुर्भावे; प्लीहाटोपान्त्रकूजनाविपाकोदावर्ताङ्गमर्दमन्याशिरःशङ्खशूलब्रध्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति; कृष्णारुणपरुषत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरत इति वातगुल्मः ॥ ७ ॥

वातगुल्म के लक्षण—वह वातगुल्म वायु के कारण बार-बार फूलता तथा बार-बार सिकुड़ता रहता है, इसमें वेदना का क्रम कोई निश्चित नहीं रहता। कभी अत्यन्त वेदना और कभी थोड़ी वेदना होती है क्योंकि वायु की गति चलायमान (अस्थिर) होती है। बार-बार शरीर के अवयवों में चिउँटियों के चलने का-सा अनुभव होता है, हृदय, वस्ति आदि (वायु से आक्रान्त स्थानों) पर सुई चुभने के समान पीड़ा, काटने की सी पीड़ा, फड़कने, फैलने, सिकुड़ने, शून्य (स्पर्शज्ञान का अभाव) हर्ष (रोमांच या Sensitiveness) प्रलय (हृदय का सहसा बैठ जैसा जाना), उदय (उक्त प्रलय के विपरीत अनुभव) आदि का होना, ऐसी स्थिति में रोगी कभी सुई से और कभी शंकु (नुकीली वस्तु, मेख, कील) द्वारा अपने को बिंधा जाता हुआ सा मानता है तथा दिन की समाप्ति (सायंकाल) के समय ज्वर हो जाता है, मुख सूखने लगता है, साँस छोड़ने में कष्ट होता है या रुकावट-सी प्रतीत होती है, और पीड़ा होते ही इसको रोमांच होने लगता है, प्लीहा (तिल्ली), आटोप (अफारा), आँतों में गुड़गुड़ाहट, अविपाक (अनपच), उदावर्त, अङ्गमर्द (अंगों में मसलने की-सी पीड़ा), मन्या (गर्दन), सिर, शंख (कनपटी), इन अवयवों में शूल, ब्रध्नरोग ('अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनान्निचयं गतः। करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्।' वैद्यक-शब्दसिन्धु।) आदि इसमें उपद्रव के रूप में देखे जाते हैं। इसमें काले, लाल, खुरदरे त्वचा, नख नेत्र, चेहरा (वदन), मल, मूत्र हो जाते हैं। निदान में कहे गये (जिनके कारण वातगुल्म उत्पन्न हुआ है) आहार-विहार इस रोग में उपशय नहीं होते अर्थात् उक्त पदार्थ रोगी के लिये असात्म्य होते हैं और उस निदान) के विपरीत पदार्थ उपशय (हितकर) होते हैं। यह वात गुल्म है।

तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्याम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णशुक्तव्यापन्नमद्यहरितकफलाम्लानां विदाहिनां च शाकधान्यमांसादीनामुपयोगादजीर्णाध्यशनाद्रौक्ष्यानुगते चामाशये वमनमतिवेलं सन्धारणं वातातपौ चातिसेवमानस्य पित्तं सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ ८ ॥

पित्तगुल्म का निदान—उन्हीं वातगुल्म के लक्षणों में कहे गये ज्वर, वमन आदि कृशताकारक कारणों से कृश हुए पुरुष द्वारा जब अधिक अम्ल, कटु क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण सिरका, विकृतमद्य (स्प्रिट आदि), हरितक (अदरक, राई, लहसुन आदि) खट्टे फल, और विदाहकारक (जलन पैदा करने वाले) शाक एवं मांसों के सेवन करने से अजीर्णता की स्थिति में पुनः भोजन कर लेता है, या अध्यशन करता है, आमाशय के रूक्ष हो जाने पर बार-बार वमन करता है अथवा उभड़े हुए वमन के वेगों को रोकता है, अधिक वायु या धूप का सेवन करता है, ऐसे पुरुष के शरीर में वायु के साथ पित्त प्रकुपित हो जाता है।

तत् प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति, य उक्ता वातगुल्मे;

१. 'अणुत्वमापद्यते' यो.।

पित्तं त्वेनं विदहति कुक्षौ हृद्युरसि कण्ठे च; स विदह्यमानः सधूममिवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितं, गुल्मावकाशश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति शिथिल[1] इव स्पर्शासहोऽल्परोमा[2]ञ्चश्च भवति; ज्वरभ्रमदवथुपिपासागलतालुमुखशोषप्रमोहविड्भेदाश्चैनमुपद्रवन्ति; हरितहारिद्रत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति; निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतान्युपशेरत इति पित्तगुल्मः ॥ ९ ॥

पित्तजगुल्म की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—उस कुपित हुए पित्त को वायु आमाशय ('नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः'।) के किसी एक भाग में बटोर कर उन्हीं (वातगुल्म में होनेवाले) वेदना के प्रकारों (भेद-उपभेदों को उत्पन्न करता है, जो ऊपर वातगुल्म के प्रसंग में कहे गये हैं। और कुपित हुआ पित्त इस पुरुष के कुक्षि (उदरप्रदेश), हृदय, उरस् (छाती) तथा कंठ में विदाह (Inflammation) को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार विदाह होने पर उसके मुख से धुआँ सहित, खट्टे डकार आने लगते हैं। जिस स्थान पर गुल्म की उत्पत्ति हुई रहती है, उस स्थान में जलने, सुई चुभने, धुआं निकलने और भाप निकलने का-सा अनुभव होता है; विशेष करके उस स्थान में स्वेद (पसीना) होता है, गीला होता है, शिथिल (ढीला) जैसा, स्पर्श को न सहने वाला (वहाँ छूने मात्र से कष्ट होता है) और थोड़ा रोमांच (Bristling of the hair) भी होता है। ज्वर, भ्रम (चक्करों का आना), दवथु (नेत्र आदि में दाह, देखें—वैद्यक-शब्दसिन्धु) और देखें—वी. एस. आप्टे की डिक्शनरी—(Inflammation of the eye) बार-बार प्यास का लगना, गल, तालु तथा मुख का सूखना, प्रमोह (बेहोशी) और अतिसार ये लक्षण पित्तज गुल्म में उपद्रव के रूप में दिखलायी देते हैं। त्वचा, नाखून, नेत्र, वदन (मुखाकृति), मल और मूत्र का वर्ण हरा या हल्दी के सदृश पीला होता है। निदान में कहे गये (जिनके सेवन करने से पित्तज गुल्म की उत्पत्ति होती है, वे सभी) आहार-विहार इस रोगी के लिये उपशय (सुखद) नहीं होते, उसके विपरीत उपशय (सात्म्य या सुखद) होते हैं, इसको पित्तगुल्म कहते हैं।

तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्यात्यशनादतिस्निग्धगुरुमधुरशीताशनात् पिष्टेक्षुक्षीरतिलमाषगुडविकृतिसेवनान्मन्दकमद्यातिपानाद्धरितकातिप्रणयनादानूपौदकग्राम्यमांसातिभक्षणात् सन्धारणादबुभुक्षस्य चातिप्रगाढमुदपानात् सङ्क्षोभणाद् वा शरीरस्य श्लेष्मा सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ १० ॥

कफज गुल्म का निदान—उन्हीं पूर्वोक्त कृशताकारक (ज्वर-वमन आदि) कारणों से कृश हुआ पुरुष जब अधिक भोजन करता है, तो उससे अधिक स्निग्ध (घी, तेल), गुरु (देर में पचने वाले), मधुर तथा शीत (वीर्य तथा स्पर्श में ठंडे) पदार्थों के सेवन से, आटा, इक्षु (ईख या ऊख), क्षीर (दूध), तिल, उड़द, गुड़ इनसे बने हुए पदार्थों के सेवन से, मन्दक (अधजमी दही) तथा मद्य के अधिक पीने से, हरितक (अदरक आदि) के अधिक प्रयोग करने से, आनूप (जलप्रधान देश के), औदक (जल में रहने वाले) एवम् ग्राम्य (पालतू, शूकर आदि) के मांसों को अधिक खाने से, मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकने से, भूख लगने पर अधिक मात्रा में जल पीने से, एवं शरीर को झकझोर देने से, वायु के साथ कफ प्रकुपित हो जाता है।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने 'पिष्ट' का अर्थ 'चावल का आटा' किया है। इस सम्बन्ध में कुछ विवेचनीय है। पिष्ट (Flour) का वास्तविक अर्थ है पिसा हुआ; यह कुछ भी हो सकता है किन्तु प्रकरणानुसार विवेचन इस प्रकार है—**'अन्नाद् दशगुणं पिष्टम्'**, चाणक्य। इसका तात्पर्य है भात आदि से अधिक शक्ति आटा से बने पदार्थों में होती है। इससे गुणाधिक होने के कारण यह गेहूँ का आटा माना गया है। अस्तु, आयुर्वेद में 'पिष्टक' शब्द एक नेत्ररोग विशेष का भी सूचक है।

अब हम चावल के आटा के गुणों का वर्णन करते हैं—**शालितण्डुलपिष्टकगुणाः**—'शालिपिष्टमया भक्ष्या कफपित्तविनाशनाः'। **वैदलकृतपिष्टकगुणाः**—'वैदला गुरवो भक्ष्या विष्टम्भिभृष्टमारुताः'। वैद्यक शब्दसिन्धु। उक्त शालितण्डुल के पिष्ट (आटा) के गुणों को देखकर यह उचित प्रतीत नहीं होता कि इसके सेवन से कफज

१. 'मृदुशिथिलः' ग.।
२. 'अल्परोमा च' पा०।

गुल्म की उत्पत्ति हो सकेगी, क्योंकि जो स्वयं 'कफ-पित्त' विनाशक हो, वह कैसे कफज या पित्तज रोगों की उत्पत्ति में कारण हो सकता है? अतः यहाँ चावल के स्थान पर गेहूँ का आटा अर्थ करना चाहिये, क्योंकि यह मधुर होता है, जिससे कफ की वृद्धि हो सकती है।

सन्धारणादबुभुक्षस्य—यह आचार्य चक्रपाणि सम्मत पाठ है। 'अबुभुक्षस्य' का अर्थ इन्होंने 'अबुभुक्षि-तस्य' किया है, जो शाब्दिक दृष्टि से ठीक है। इसका पाठ भेद है—'अतिसुहितस्य'। उक्त दोनों पाठों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। यथा—पहले का अर्थ है **भूखा व्यक्ति** और दूसरे का अर्थ है **अत्यन्त तृप्त व्यक्ति**। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हम यहाँ वाग्भट के विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं—'कर्शितो वातलान्यत्ति शीतं वाम्बु बुभुक्षितः'। अ० हृ० नि० अ० ११।३३। इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है और उक्त विषय का निर्भ्रान्त प्रतिपादन भी इसमें किया गया है। अतः हमारे विचार से उक्त पाठ इस प्रकार होना चाहिये—**'सन्धारणाद् बुभुक्षस्य'**। विद्वान् विचार करें।

तं प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे; श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारोचकाविपाकाङ्गमर्दहर्षहृद्रोगच्छर्दिनिद्रालस्यस्तैमित्यगौरवशिरोऽभितापानुपजन-यति, अपि च गुल्मस्य स्थैर्यगौरवकाठिन्यावगाढसुप्तताः, तथा कासश्वासप्रतिश्यायान् राजयक्ष्माणं चाति-प्रवृद्धः, श्वैत्यं त्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषेषूपजनयति, निदानोक्तानि चास्य नापशेरते, विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मगुल्मः ॥ ११ ॥

कफजगुल्म की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—उस प्रकुपित कफ को वायु आमाशय के किसी एक भाग में एकत्रित करके उन्ही वेदना के भेद-उपभेदों को उत्पन्न कर देता है, जिनका वर्णन वातगुल्म में किया गया है। कफ इस प्रकार के रोगी के शरीर में शीत ज्वर, अरोचक, भोजन का भलीभांति न पचना, अंगों में मसलने का सा कष्ट, हर्ष (रोमांच), हृदयरोग, छर्दि (वमन), निद्रा की अधिकता, आलस्य, शरीर का गीले कपड़े से ढके हुए की भांति का अनुभव होना, भारीपन, शिरःशूल आदि कष्टों को उत्पन्न कर देता है। और भी गुल्म (स्थान) में स्थिरता (एक स्थान पर बना रहना), भारीपन, कठोरता (जिसका अनुभव छूने या दबाने से किया जा सकता है।), अवगाढता, शून्यता (स्पर्श का ज्ञान न होना) तथा उसके अधिक बढ़ जाने पर कास, श्वास प्रतिश्याय, राजयक्ष्मा (क्षय) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। त्वचा, नयन (नेत्र), नाखून, मुख, मल, मूत्र सफेद हो जाते हैं, अर्थात् उक्त शरीरावयवों पर सफेदी आ जाती है। निदान में कारण रूप से कहे गये आहार-विहार इसमें उपशय (सात्म्य) नहीं होते और उसके विपरीत आहार-विहार, उपशय (सात्म्य, सुखद) होते हैं। यह श्लेष्म गुल्म है।

त्रिदोषहेतुलिङ्गसन्निपाते तु सान्निपातिकं गुल्ममुपदिशन्ति कुशलाः। स [1]विप्रतिषिद्धोपक्रमत्वाद-साध्यो निचयगुल्मः ॥ १२ ॥

सन्निपातज गुल्म—त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के हेतु (कारण) और लिंगों (लक्षणों) का एक स्थान पर होने से चिकित्सा-कर्म में कुशल वैद्य उसको सान्निपातिक गुल्म कहते हैं। वह सन्निपातज गुल्म परस्पर एक दूसरे के बाधक चिकित्सा क्रम के होने से असाध्य है।

शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तवागमनवैशेष्यात्।

रक्तज-गुल्म—यह गुल्म तो केवल स्त्री के गर्भाशय में ही होता है न कि पुरुष में, क्योंकि गर्भ के लिये निर्मित जो कोष्ठ (आशय विशेष) होता है, उसमें से आर्तव के आने की विशेषता के कारण यह स्त्रियों में ही देखा जाता है, न कि पुरुषों में।

वक्तव्य—रक्तगुल्म की विशेष सम्भावना महर्षि आत्रेय ने स्त्रियों में ही बतलायी है, पुरुषों में नहीं। उसमें कारण यह दिया है—**'गर्भकोष्ठार्तवागमनवैशेष्यात्'**। गर्भकोष्ठ = गर्भाशय, यहाँ कोष्ठ शब्द अन्यत्र वर्णित कोष्ठ से भिन्न है, क्योंकि यह कोष्ठ आर्तव के आगमन का स्थान है। सामान्य रक्त के दूषित होने से अन्य

---

१. 'विरुद्धोपक्रमत्वात्' ग.।

अंगों में यह गुल्म पुरुषों को भी हो सकता है। देखें—आचार्य क्षारपाणि की स्पष्ट उक्ति को—'स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसाञ्च जायते'॥ क्षारपाणि। वास्तव में महर्षि आत्रेय का भी दृष्टिकोण यही रहा होगा नहीं तो वे स्त्रियों के आर्तवदोषजनित गुल्म की विशेषरूप से चर्चा ही न करते। यही कारण है भगवान् धन्वन्तरि ने पुरुषों में गुल्म कहाँ-कहाँ होते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। 'पञ्च गुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभिबस्तयः। सु० उ० अ० ४२। ५।

रक्तज गुल्म के सम्बन्ध में सुश्रुत उ० अ० ४२ के १३-१५ श्लोक द्रष्टव्य हैं। वास्तव में यह प्रसूता स्त्री को उत्पन्न हुआ रक्तगुल्म गर्भ के लक्षणों वाला होता है, गर्भ की भांति बढ़ता है, फड़कता है, कभी-कभी शूल भी होता है। अतः गर्भ का समय (१० मास) बीत जाने पर ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

विशेष वक्तव्य—वातज गुल्म में प्रायः पाक होते नहीं देखा गया, पित्तज एवं रक्तज गुल्म पक जाते हैं। विद्रधि (Abscess) शीघ्र पक जाती है और गुल्म देर में पकता है।

पारतन्त्र्यादवैशारद्यात् सततमुपचारानुरोधाद् वा वेगानुदीर्णानुपरुन्धन्त्या आमगर्भे वाऽप्यचिर-पतितेऽथवाऽप्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपणान्यासेवमानायाः क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते ॥ १३ ॥

रक्तजगुल्म-निदान एवं सम्प्राप्ति—पराधीनता या अकुशलता (अज्ञानता अर्थात् गर्भकालिक नियम-उपनियमों को जानने से) अथवा निरन्तर पारिवारिक जनों की सेवा में लगे रहने के कारण, असन्धारणीय वेगों (मल, मूत्र आदि) को रोकती हुई, आमगर्भ (जो गर्भ अभी परिपुष्ट न हो सका हो) के तत्काल गिरने पर अथवा प्रसव होने के कुछ ही समय के पश्चात् अथवा ऋतुकाल में वायु को प्रकुपित करने वाले आहार-विहार का सेवन करती हुई स्त्री का वायु शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है।

स प्रकुपितो योनिमुखमनुप्रविश्यार्तवमुपरुणद्धि, मासि मासि तदार्तवमुपरुध्यमानं कुक्षि-मभिवर्धयति।

गर्भाशय की विकृत वृद्धि—वह वायु प्रकुपित होकर योनि के मुख के भीतर प्रविष्ट होकर आर्तव (ऋतु सम्बन्धी रक्त) को रोक देता है, वह रोका हुआ आर्तव प्रत्येक मास में गर्भाशय को बढ़ाता रहता है।

तस्याः शूलकासातीसारच्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्दनिद्रालस्यस्तैमित्यकफप्रसेकाः समुपजायन्ते, स्तनयोश्च स्तन्यम्, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम्, अत्यर्थं ग्लानिश्चक्षुषोः, मूर्च्छा, हृल्लासः, दोहदः, श्वयथुश्च पादयोः, ईषच्चोद्गमो रोमराज्याः, योन्याश्चाटालत्वम्, अपि च योन्या दौर्गन्ध्यमा-स्रावश्चोपजायते, केवलश्चास्या गुल्मः पिण्डित एव स्पन्दते, तामगर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः ॥ १४ ॥

मिथ्या गर्भ के लक्षण—तदनन्तर उस स्त्री की कुक्षि (गर्भाशय) में शूल होता है और कास, अतीसार, वमन, अरोचक (अरुचि) भोजन का ठीक से न पचना, अंगों में मसल डालने की-सी पीड़ा, निद्रा की अधिकता, आलस्य, शरीर का गीले कपड़े से ढके हुए जैसा अनुभव होना तथा मुख से कफ या लार का निकलना ये लक्षण होते हैं। दोनों स्तनों में दूध की उत्पत्ति हो जाती है, होठों तथा स्तनमण्डल (चूचुक Nipple के चारों ओर) में श्यामलता, आँखों में अत्यधिक मलिनता (हर्षक्षय), मूर्च्छा, जी मिचलाना, दोहद (गर्भकाल में गर्भिणी की विशेष इच्छा), पैरों में सूजन, योनि के आस-पास कुछ रोमांच का होना, योनि का फैल जाना और दुर्गन्धित होना, स्राव निकलते रहना ये लक्षण दिखायी देते हैं। इसका उक्त गुल्म पिण्ड की भांति फड़कता है। इन लक्षणों को देखकर गर्भवती न होने पर भी उसको गुल्म रोग के बारे में न जानने वाले मूर्ख चिकित्सक 'गर्भिणी' कहते हैं।

वक्तव्य—यह पहले कहा जा चुका है कि यह रक्त गुल्म केवल स्त्रियों को होता है, अतः यहाँ उसी के लक्षणों का वर्णन किया है। आगे चरक चि० अ० ५।२७। में पुरुषों को भी कुक्षिस्थान से अतिरिक्त रक्तगुल्म होता है, स्वीकार किया गया है। देखें, 'ततः शोणितजा रोगः···गुल्मोपकुशवीसर्प···'। च० सू० अ० २४।११-१२। यहाँ सामान्य गुल्मरोग की चर्चा की गयी है, जो किसी को भी होता है या हो सकता है।

स्त्रियों के रक्तगुल्म की चर्चा—'स्तनों में दूध की उत्पत्ति' यह लक्षण आर्तव (मासिक धर्म) रुक

जाने के कारण दिखायी देता है। क्योंकि स्त्री जब गर्भवती हो जाती है, तो उसके भुक्त पदार्थ का रस तीन कार्यों को करता है—१. अपने शरीर की पुष्टि, २. स्तनों में दूध की उत्पत्ति और ३. गर्भ के अवयवों की अभिवृद्धि। देखें—च० शा० अ० ६।२३।

दोहद—'द्वे हृदये यस्याः सा, द्विहृदया' जब भ्रूण गर्भ में होता है, तब नारी को 'द्विहृदया' कहते हैं। इस अवस्था में स्त्री को जिस-जिस वस्तु की अभिलाषा होती है उसको 'दोहद' कहते हैं। रक्तगुल्म में चेतना न होने के कारण यह दोहद उस प्रकार का नहीं होता, फिर भी गर्भ के भ्रम से उस स्त्री को उस काल में जो इच्छा होती है, उसको भी 'दोहद' कहा गया है। विशेष देखें—सु० शा० अ० ३।१९-२८।

ईषच्चोद्गमो रोमराज्याः—'लोमों का कुछ दिखायी देना' ऐसा अर्थ कुछ पूववर्ती व्याख्याकारों ने किया है, जो हास्यास्पद है, क्योंकि गुप्तांगों के केशों की उत्पत्ति यौवन के आरम्भ में ही हो जाती है। रक्तगुल्म यौवनारम्भ में ही होता हो, ऐसा न तो शास्त्रीय पक्ष है और न व्यावहारिक पक्ष। अतः उक्त वाक्य का अर्थ 'रोमांच का होना' ही युक्ति-युक्त है। गर्भिणी के लक्षणों का वर्णन सुश्रुत में देखें—'स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा'। सु० शा० अ० ३।१४। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जब-जब गर्भाधान हो तब-तब रोमों की उत्पत्ति हुआ करे।

योन्याश्चाटालत्वम्—यद्यपि अमरसिंह आदि प्रसिद्ध कोषकारों ने 'आटाल' शब्द का संग्रह अपने कोषों में नहीं किया है, तथापि आचार्य चक्रपाणिदत्त ने इसका अर्थ 'आटालत्वं = विस्तृतत्वम्' आयुर्वेददीपिका व्याख्या में किया है, जो प्रसंगानुकूल है।

मूढाः—यहाँ पर 'मूढ' शब्द का सीधा अर्थ मूर्ख (सर्वथा अनभिज्ञ) नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसमें गर्भ के समान अनेक लक्षण दिखायी भी देते हैं। इसीलिये महर्षि आत्रेय का भी यही निर्णय है। देखें—'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः'। च० चि० अ० ५।१९।

रक्तगुल्म तथा गर्भ-निर्णय—प्रारम्भ में ३-४ महिने तक निर्णय करना कुछ कठिन होता है। इसके पश्चात् बहुशः प्रसूता स्त्रियाँ स्वयं इसका अन्तर बता देती हैं। गुल्म अप्रकाण्ड (शाखा आदि से रहित) होता है और मांसपिण्ड की भांति इधर-उधर लुढ़कता रहता है। गर्भ शाखावान् (हाथ, पैर, शिर आदि शारीरिक अवयवों से युक्त) होता है, जिसकी प्रतीति स्पर्श से हो जाती है। यही स्थिति उस गर्भ की भी होती है, जिसमें सम्भोग की इच्छा वाली दो स्त्रियाँ परस्पर संभोग करती हैं। उस समय परस्पर शुक्र के मिलने से जो मांसपिण्ड बनता है, वह पैतृक गुणों से रहित होता है। इस प्रकार के मैथुन को महर्षि वात्स्यायन ने 'विसृष्टिसुख' कहा है।

नारी का शुक्र भी पुरुष के शुक्र की भांति लसीला, सफेद एवं विशिष्ट गन्ध वाला होता है। इसका स्राव भग की भित्तियों से होता है। इससे गर्भाधान तो हो जाता है किन्तु वह गर्भ पैतृक गुण (अस्थि आदि से) रहित होता है।

एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—अनन्नाभिलषणम्, अरोचकाविपाकौ अग्निवैषम्यं, विदाहो भुक्तस्य, पाककाले चायुक्त्या छर्द्युद्गारौ, वातमूत्रपुरीषवेगानां चाप्रादुर्भावः, प्रादुर्भूतानां चाप्रवृत्तिरीषदागमनं वा. वातशूलाटोपान्त्रकूजनापरिहर्षणातिवृत्तपुरीषताः, अबुभुक्षा, दौर्बल्यं, सौहित्यस्य चासहत्वमिति।' १५ ॥

गुल्म के पूर्वरूप—इन पाँच प्रकार के गुल्मों की उत्पत्ति के पहले ये पूर्वरूप होते हैं, यथा—अन्न (भोजन) के प्रति इच्छा का न होना, अरुचि, खाये हुए भोजन का उचित पाक (पाचन) न होना, अग्नि की विषमता, भोजन कर लेने के पश्चात् गले में जलन का होना, पाचन के समय अनियमित (बिना किसी क्रम के) वमन तथा डकारों का आना, अपानवायु, मल, मूत्र के वेगों की उत्पत्ति का न होना, अथवा वेगों के आने पर उचित मात्रा में मल, मूत्र आदि का न होना, या थोड़ा-सा होकर रुक जाना, विकृत वायु के कारण शूल, आटोप (पेट का फूल जाना), आँतों में कुल-कुल शब्द का होना, मनोमलिनता, अतिवृत्तपुरीषता (उदावर्त, चक्र०), भोजन करने की इच्छा का न होना, दुर्बलता तथा तृप्तिपूर्वक किये हुए भोजन को न सह सकना।

वक्तव्य—'अनन्नाभिलषणम्'—प्रतिदिन खाये जाने वाले पदार्थों (दाल, भात, रोटी, सब्जी आदि) के प्रति इच्छा न होकर अन्य भोज्य पदार्थों (दहीवडा, आलूचाप, गोलगप्पा, इडली, मसालडोसा, समोसा, फल, मेवे आदि-आदि) के प्रति इच्छा, 'अबुभुक्षा'—कुछ भी खाने की इच्छा का न होना; ऐसा अर्थ करना चाहिये अन्यथा पुनरुक्ति मानी जायगी।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु गुल्मेषु न कश्चिद् वातादृते सम्भवति गुल्मः।

गुल्मों में वायु की प्रधानता—उपर्युक्त सभी प्रकार के गुल्मों में कोई भी गुल्म ऐसा नहीं है, जो वात के विकृत हुए बिना उत्पन्न होता है।

तेषां सान्निपातिकमसाध्यं ज्ञात्वा नैवोपक्रमेत, एकदोषजे तु यथास्वमारम्भं प्रणयेत्, संसृष्टांस्तु साधारणेन कर्मणोपचरेत्। यच्चान्यदप्यविरुद्धं मन्येत तदप्यवचारयेद् विभज्य गुरुलाघवमुपद्रवाणां, गुरूनुपद्रवांस्त्वरमाणश्चिकित्सेज्जघन्यमितरान्। त्वरमाणस्तु विशेषमनुपलभमानो गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत्, स्नेहस्वेदौ वातहरौ स्नेहोपसंहितं च मृदुविरेचनं बस्तींश्च; अम्ललवणमधुरांश्च रसान् युक्त्याऽवचारयेत्। मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योऽपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति॥ १६ ॥

चिकित्सा-सूत्र—उन गुल्मों में सान्निपातिक गुल्म को असाध्य समझकर उसकी चिकित्सा न करे। एक दोष से उत्पन्न गुल्म की दोषानुसार चिकित्सा प्रारम्भ करे। संसृष्ट (द्वन्द्वज) गुल्मों की साधारण (जो दोनों दोषों का शमन कर सके ऐसी) चिकित्सा करे और जो कुछ भी अविरुद्ध (दोषों के गुण-धर्मों के विपरीत) चिकित्सा समझ में आये दोषों की गुरू अथवा लघु आदि उपद्रवों का विचार करके उसको भी करें। इस अवसर पर गुरु उपद्रवों की शीघ्र चिकित्सा करें तदनन्तर लघु उपद्रवों की चिकित्सा करें। शीघ्र चिकित्सा करने के विचार से यदि दोष विशेष का निर्णय न हो सके तो आत्ययिक कार्य (Emergency) में वात दोष की चिकित्सा पहले करें। स्नेह और स्वेद वातनाशक होते है। स्नेह युक्त मृदुविरेचनों, बस्तियों, अम्ल, लवण तथा मधुर रसों का युक्ति पूर्वक प्रयोग करें। वायु का शमन हो जाने पर थोड़े से ही प्रयत्न से गुल्मों के दूसरे भी दोष दूर किये जासकते हैं।

भवति चात्र—

गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥ १७ ॥

गुल्मरोगियों की चिकित्सा में वायु की शान्ति यथाविधि करनी चाहिये, क्यों कि गुल्मरोग में वायु को जीत लेने पर अर्थात् वायु का शमन हो जाने पर थोड़ी सी भी दूसरी चिकित्सा दोष का शमन कर देती है।

तत्र श्लोकः—

सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि पूर्वरूपमथापि च। दिष्टं निदाने गुल्मानामेकदेशश्च कर्मणाम्॥ १८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
गुल्मनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३ ॥

उपसंहार—उक्त गुल्म-निदान में गुल्मों की संख्या, निमित्त (कारण), रूप, पूर्वरूप और उनकी चिकित्सा का संक्षिप्त सूत्र बतलाया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी विरचित चरक-
चन्द्रिका हिन्दीव्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता निदानस्थान में
गुल्मनिदान नामक तीसरा अध्याय समाप्त॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

गुल्मरोग-निदान वर्णन के पश्चात् अब हम यहाँ प्रमेह-निदान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'मिह सेचने' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'मेह' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'प्रकृष्टो मेहः यस्मिन् रोगे, स प्रमेहः'। अर्थात् जिस रोग में मूत्र की अधिकता हो उसे प्रमेह (Disease of Urine) कहते हैं। इसका प्रसिद्ध एवं सामान्य लक्षण है—**'प्रभूताविलमूत्रता'**। अर्थात् प्रमेह में मूत्र की मात्रा अधिक हो जाती है और उसका स्वरूप गंदला होता है। **'प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्'** के अनुसार यह जिसका पीछा पकड़ लेता है, उसको जल्दी छोड़ता नहीं और उपेक्षा करने से यही 'मधुमेह' का रूप धारण कर लेता है।

त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति, विकाराश्चापरेऽपरिसङ्ख्येयाः। तत्र यथा त्रिदोषप्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्तयति तथाऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥

प्रमेह के भेद—त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के प्रकुपित होने के कारण बीस प्रकार के प्रमेह होते हैं तथा और भी अनेक (जिनकी गणना करना असंभव है) रोग होते हैं। जिस प्रकार प्रकुपित हुआ त्रिदोष प्रमेह के भेदोपभेदों को उत्पन्न करता है उस प्रकार आगे व्याख्या करेंगे।

इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो [1]विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति।

निदान-दोष-दूष्य-विचार—निश्चय ही इस शरीर में निदान (आदि कारण), दोष (वात, पित्त, कफ) और दूष्य (रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र आदि) की परस्पर न्यूनाधिकता से विकारों (रोगों) के विघातभाव (उत्पत्ति न होने) में तथा विकारविघाताभाव (रोगों की उत्पत्ति होने) में अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं।

यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं [2]नानुबध्नन्त्यथवा कालप्रकर्षादबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, चिराद् वाऽप्यभिनिर्वर्तन्ते, तनवो वा भवन्त्ययथोक्तसर्वलिङ्गा वा; विपर्यये विपरीताः; इति सर्वविकारविघात[3]भावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः ॥ ४ ॥

रोगों के उत्पादक, अनुत्पादक कारण—जब ये (पूर्वोक्त) तीनों निदान विशेष (निदान, दोष, दूष्य) परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं करते अथवा विलम्ब से सम्बन्ध स्थापित करते हैं अथवा अबल (रोगों

१. 'विकाराणां भावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति' यो.। 'विकाराणां सर्वेषामेव रोगाणां विघातस्य भावो विकाराणामनुत्पत्तिः, विघातस्याभावो विकाराणां जननं, तयोः विघातस्य भावाभावयोः प्रतिविशेषाः प्रत्येकं विशेषाः विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषाः' गङ्गाधरः।

२. चक्रसंमतोऽयं पाठः। योगीन्द्रनाथसेनस्तु 'परस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिर्भवति, अथाप्रकर्षादबलीयांसोऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिर्भवति, चिराद्वाऽप्यभिनिर्वर्तन्ते विकाराः, तनवो वा भवन्ति, अयथोक्तसर्वलिङ्गा वा' इति पठति। 'परस्परं नानुबध्नन्ति परस्परं प्रतिकूला भवन्ति, अनुबन्धो ह्यनुकूलेऽभिप्रेतः; अथवा कालप्रकर्षादिति अनुबध्नन्तीत्यनेन संबन्धः, कालप्रकर्षादनुबध्नन्तीति कालप्रकर्षात् परस्परं निदानादयोऽनुगुणा भवन्ति; तनवोऽल्पमात्राः; अयथोक्तसर्वलिङ्गा इति येन प्रकारेण लिङ्गान्युक्तानि न तेन प्रकारेणापि सर्वलिङ्गानि भवन्तीत्यर्थः। अत्र यदा निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, कालप्रकर्षादनुबध्नन्ति तदा चिरादभिविनिर्वर्तन्ते विकाराः, अबलीयांसोऽनुबध्नन्ति तदा तनवोऽयथोक्तसर्वलिङ्गा वा विकारा अभिनिर्वर्तन्ते' इति चक्रः।

३. 'सर्वविकारभावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः' यो.।

को उत्पन्न करने में असमर्थ) दोष जब सम्बन्ध स्थापित करते हैं, ऐसी स्थिति में रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है। अथवा विलम्ब से रोग उत्पन्न होते हैं, अथवा उत्पन्न हुए रोग सामान्य (कम से कम) लक्षणों वाले होते हैं, अथवा उनमें निदानोक्त सभी लक्षण नहीं होते।

विपर्यये विपरीताः—उक्त लक्षणों के विपरीत होने पर विपरीत लक्षणों वाले होते हैं, अर्थात् यदि निदान आदि तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं तो रोग अवश्य होगा, आदि निर्णय करें। इस प्रकार सभी रोगों का न होना और सभी रोगों का होना और उनकी विशेषताओं की उत्पत्ति का कारण कहा गया है।

तत्रेमे त्रयो निदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां प्रमेहाणामाश्वभिनिर्वृत्तिकरा भवन्ति; तद्यथा—हायनकयवकचीनकोद्दालकनैषधेत्कटमुकुन्दकमहाव्रीहिप्रमोदकसुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेन चोपयोगः, तथा सर्पिष्मतां नवहरेणुमाषसूप्यानां, ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां, शाकतिलपललपिष्टान्नपायसकृशराविलेपीक्षुविकाराणां, क्षीरनवमद्यमन्दकदधिद्रवमधुरतरुणप्रायाणां चोपयोगः, मृजाव्यायामवर्जनं, स्वप्नशयनासनप्रसङ्गः, यश्च कश्चिद् विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रसञ्जननः, स सर्वो निदानविशेषः ॥ ५ ॥

प्रमेह-निदान—उस शरीर में ये तीनों निदान, दोष तथा दूष्य अपने कारण विशेष से कफजनित प्रमेहों को शीघ्र ही उत्पन्न करा देने वाले होते हैं। यथा—नया हायनक नाम का धान, यवक (जई, छोटा जौ), चीनक (चीना), उद्दालक (जङ्गली कोदों), नैषध, इत्कट, मुकुन्दक, महाव्रीहि, प्रमोदक, सुगन्धक (बासमती उत्तम कोटि का चावल), इनमें से किसी का बार-बार अधिक मात्रा में सेवन करना, अधिक घी से युक्त नये मटर, उड़द तथा अन्य दालों का सेवन, ग्रामीण (पाले गये), आनूप (जल प्रधान देश के) तथा औदक (पानी में रहने वाले अथवा विहार करने वाले) प्राणियों के मांसों का सेवन, शाक, तिल, पलल (तिलकल्क), पिष्टान्न (गेहूँ का आटा), पायस (खीर), कृशरा (तिल तथा चावलों से बनायी गयी यवागू या खिचड़ी), विलेपी (खिचड़ी से भी पतली—'विलेपी विरलद्रवा') अथवा इक्षु विकारों (ईख से बने खांड़, गुड़ आदि) का अधिक सेवन, दूध, नयी शराब, मन्दक (अधजमी दही), ताजी दही, द्रव पदार्थ, मधुर अथवा नये पदार्थों का अधिक सेवन, शरीर शुद्धि तथा व्यायाम (किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रम) का न करना, अधिक सोना, लेटे रहना या बैठे रहना, इनके अतिरिक्त और भी कोई विधि जो कफ, मेदस् तथा मूत्र वृद्धिकारक हो वह सभी प्रमेह का निदान है।

वक्तव्य—शाक परिचय—'पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजञ्चेति'। राजनि०। इस प्रकार शाक के छः भेद होते हैं। अन्यत्र शाक के केवल चार भेद हैं; यथा—पत्र, पुष्प, फल और कन्द।

शाकों की निन्दा—'शाकेषु सर्वे निवसन्ति रोगास्ते हेतवो देहविनाशनाय'। भावप्रकाश।

कफकारक शाक—'पिण्डालुका बला भिण्डी चिञ्चुकान्या'''। एते श्लेष्मकराः शाकाः' ॥ अत्रि० १६ अ०।

पलल—'तिलकल्कः'। निर्माण प्रकार—'पललन्तु समाख्यातं सक्षवं तिलपिष्टकम्। पललं मलकृद् बल्यं वातघ्नं कफपित्तकृत्'। भावप्रकाश। पलल का अर्थ मांस भी होता है।

पिष्टान्न—इसका अर्थ है 'पीसे गये अन्न'। अतः किसी स्पष्ट वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता। इसलिये टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। हमने जो मन्तव्य इस शब्द के सम्बन्ध में दिया है; उसका आधार यह है—गोधूम—गेहूँ (Common Wheat) इसके गुण-धर्मों का वर्णन इस प्रकार है—'पित्तदाहकृत् श्लेष्मामजनकः रुचिकरश्च'। राजनि० व० १६।

कफजप्रमेह की प्रथम गणना—आयुर्वेद में दोषों का क्रम वात, पित्त, कफ इस प्रकार है किन्तु प्रमेह प्रकरण में सर्वप्रथम कफज, प्रमेह की चर्चा इसलिये की गयी है कि इसमें कफ और मेदस् की दुष्टि ही पहले होती है, अन्य दोषों की बाद में; जैसा आगे वर्णन किया जायेगा।

[1]बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः ॥ ६ ॥

प्रधान दोष—प्रमेह में अत्यधिक द्रव रूप कफ ही दोष विशेष है।

१. 'बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेष इति, बहुद्रव एव कफो मेहजनकः, नाल्पद्रवः' इति चक्रः।

[1]बहुबद्धं मेदो मांसं शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका [2]रसश्चौजःसङ्ख्यात इति दूष्यविशेषाः ॥ ७ ॥

प्रमेहों के दूष्य—बहुत और गाढ़ा न हुआ जो मेदस् (मांसजस्नेह) मांस, शरीरस्थित जल भाग, शुक्र, शोणित (रक्त), वसा, मज्जा, लसीका रस (त्वचा और मांस के बीच में स्थित रस विशेष = Lymph) तथा ओज ये प्रमेहों के विशेष रूप में दूष्य गिनाये गये हैं।

त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, प्रागतिभूयस्त्वात्; स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात्; स विसर्पञ्शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति, मेदसश्चैव [3]बहुबद्धत्वान्मेदसश्च गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्; स मेदसा मिश्रीभवन्[4] दूषयत्येनत्,[5] विकृतत्वात्; स विकृतो दुष्टेन [6]मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति, क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात्; स मांसे मांसप्रदोषात् पूतिमांसपिडकाः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्; शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन् मूत्रत्वेन परिणमयति, मूत्रवहानां च स्रोतसां वङ्क्षणबस्तिप्रभवाणां मेदःक्लेदोपहितानि गुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुध्यते; ततः प्रमेहांस्तेषां स्थैर्यमसाध्यतां वा जनयति, प्रकृतिविकृतिभूतत्वात्[7] ॥ ८ ॥

कफ की प्रधानता—इन तीनों निदान, दोष, दूष्य विशेषों के समूह में कफ का सबसे अधिक होने के कारण सबसे पहले शीघ्र ही प्रकोप हो जाता है। वह प्रकुपित कफ शीघ्र ही शरीर की शिथिलता के कारण शरीर में फैल जाता है। वह शरीर में फैलता हुआ कफ सर्वप्रथम मेदोधातु के साथ उस (मेदस्) के बहुत और बँधा हुआ न होने से और अधिकांश कफ के समान ही मेदो धातु के गुणों के होने से मिल जाता है। तदनन्तर वह कफ मेदोधातु से मिलते ही स्वयं विकृत होने से उस (मेदस्) को दूषित कर देता है। वह स्वयं विकार युक्त कफ क्लेद तथा मांस की मात्रा से अधिक बढ़ जाने के कारण दूषित मेदस् से युक्त होकर शरीर में स्थित जलीय भाग तथा मांस के साथ मिल जाता है। वह अप्रकृतिभूत (मेदयुक्त अतएव दूषित) कफ मांस के अत्यन्त दूषित हो जाने से शराविका, कच्छपिका आदि दुर्गन्धित मांस वाली पिडकाओं को पैदा कर देता है। पुनः शरीर के क्लेद (जलीयांश) को दूषित करता हुआ उसको मूत्र रूप में बदल देता है। वंक्षण (सक्थिसंधि), (यहाँ 'वंक्षण' के स्थान पर 'वृक्क' शब्द का प्रयोग अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।) बस्ति (नाभि के अधोभाग में स्थित मूत्राशय) से उत्पन्न होने वाले मेदस् और क्लेद से भरे हुए भारी मुखों तक पहुँच कर वह रुक जाता है। तदनन्तर प्रकृति के विकृत हो जाने के कारण प्रमेहों की स्थिरता अथवा उनकी असाध्यता को उत्पन्न कर देता है।

---

१. 'अबद्धमिति असंहतं व्याख्येयम्। अत्र तु बहुत्वमघनत्वं च यथायोग्यतया बोद्धव्यं, तेन मेदसि मांसे वसामज्ज्ञोश्च द्वितीयमपि, शेषेषु बहुत्वम्' इति चक्रः। 'बहुबद्धं' ग.। 'बहुबद्धमित्यस्य मेदोमांसाभ्यामन्वयः। शरीरजक्लेदो मूत्रादिद्रवः, वसा मांसस्य स्नेहः, लसीका स्वयं वक्ष्यते 'यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते', रस आद्यो धातुः, ओज इत्यर्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मविशेषो न तु रस एवौजः, तस्य पाठवैयर्थ्यात्' गङ्गाधरः। 'बहुबद्ध चितम्' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

२. 'रसश्चौजःसंख्यः' इति पा०।

३. 'बहुबद्धत्वात्' यो.।

४. 'मिश्रीभावं गच्छन्' इति पा०।

५. 'एनत् स्वेन मिश्रीयमाणं मेदः संदूषयति' गङ्गाधरः।

६. 'मेदसोपहतः' ग.।

७. 'प्रकृतिविकृतिभूतत्वादिति प्रकृतिभूतैः, सर्वैरेव विकृतत्वात्; सर्व एव यस्माच्छ्लेष्मणो गुणा विकृतास्तस्मात् प्रकोपप्रकर्षात् स्थिरो भवति, अतिप्रकर्षात् त्वसाध्य इत्यर्थः' चक्रः। गङ्गाधरस्तु 'स्थैर्यं साध्यतां वा' इति पठित्वा एवं व्याचष्टे—'प्रकृतिविकृतिभूतत्वादिति प्रकृत्या हेतुना प्रकृत्यनुरूपेण विकृतिभूतत्वात्, विकृत्या विकृतिभूतत्वाभावात्, दूष्यहरक्रियासाध्यत्वेन समक्रियत्वाच्च' इति।

शरीरक्लेदस्तु श्लेष्ममेदोमिश्रः प्रविशन् मूत्राशयं मूत्रत्वमापद्यमानः श्लैष्मिकैरेभिर्दशभिर्गुणैरुपसृज्यते [1]वैषम्ययुक्तैः; तद्यथा—श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्दैः, तत्र येन गुणेनैकेनानेकेन वा [2]भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति ॥ ९ ॥

दस-कफज प्रमेह—कफ और मेदोधातु से मिश्रित शरीर का क्लेद (जलीयांश), मूत्राशय में प्रविष्ट होकर मूत्रत्व को प्राप्त होकर विषमता से युक्त कफ के इन दस गुणों के साथ मिल जाता है। वे इस प्रकार हैं—१. सफेद, २. शीत, ३. मूर्त (मूर्च्छित, ऊँचायी से युक्त या अत्यन्त गाढ़ा अतएव कठिन), ४. पिच्छिल (चिपचिपा) ५. अच्छ (साफ) ६. स्निग्ध (चिकना), ७. गुरु (भारी), ८. मधुर, ९. सान्द्रप्रसाद (गाढ़ा निर्मल) और १०. मन्द। इनमें से जिस एक गुण या अनेक गुणों से विशेष रूप से सम्मिलित होता है वह तदनुरूप गौण (गुणकृत) नाम विशेष को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—कफज, पित्तज एवं वातज प्रमेहों के नामकरण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं, अतएव कतिपय नामों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ 'गौण' शब्द का अर्थ 'अप्रधान' न होकर 'गुणकृत' अर्थात् गुणों द्वारा निर्धारित समझना चाहिये। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में दो प्रकार के प्रमेह होते हैं—'द्वौ प्रमेहौ भवतः सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च'। सु० चि० अ० ११।३॥ अर्थात् मूल रूप से प्रमेह दो प्रकार का होता है—१. सहज (जन्मजात या वंशानुगत) और २. अहित आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न। महर्षि वाग्भट का मत इस प्रकार है—'प्रमेहा विंशतिस्तत्र, श्लेष्मतो दश, पित्ततः। षट्, चत्वारोऽनिलात्'। अ० हृ० नि० अ० १०।२। अस्तु।

प्रसंगवश यहाँ कुछ तन्त्रान्तर की भी चर्चा उपस्थित की जा रही है। यथा—'रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः'। तन्त्रान्तर। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि प्रतिमास रजोधर्म होने के कारण स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता। यह मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है परन्तु यह भी सत्य है कि जिस स्त्री को मासिक धर्म समय पर खुलकर होता रहता है, उसको मूत्र दोष नहीं होते या कम होते हैं। जिसको प्रमेह होता है उसको रजो दोष की शिकायत रहती है। स्त्रियों में प्रमेह तथा मधुमेह देखा जाता है।

ते तु खल्विमे दश प्रमेहा नामविशेषेण भवन्ति; तद्यथा—उदकमेहश्च, इक्षुवालिकारसमेहश्च, सान्द्रमेहश्च, सान्द्रप्रसादमेहश्च, शुक्लमेहश्च, शुक्रमेहश्च, शीतमेहश्च, सिकतामेहश्च, शनैर्मेहश्च, आलालमेहश्चेति ॥ १० ॥

दस कफज प्रमेह—नाम भेद से वे (कफज) दस प्रमेह होते हैं। यथा—१. उदकमेह, २. इक्षुवालिका रसमेह, ३. सान्द्रमेह, ४. सान्द्रप्रसादमेह, ५. शुक्लमेह, ६. शुक्रमेह, ७. शीतमेह. ८. सिकतामेह, ९. शनैर्मेह तथा १०. आलालमेह।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता के अनुसार लवणमेह और फेनमेह चरकोक्त मेहों से गुणों की विपरीतता के कारण भिन्न हैं। इन दोनों के कुछ और नाम ऐसे हैं जिनका अर्थ अथवा भाषा की दृष्टि से समन्वय किया जा सकता है। जिसका तुलनात्मक विवरण इसी अध्याय के अन्त में दिया जायगा। इसका विशेष विवेचन सुश्रुत नि० अ० ६ तथा सु० चि० अ० ११ में विस्तारपूर्वक देखें।

ते दश प्रमेहाः साध्याः; समानगुणमेदःस्थानकत्वात्, कफस्य प्राधान्यात्; समक्रियत्वाच्च ॥ ११ ॥

साध्य-प्रमेह—वे दस प्रमेह साध्य होते हैं। **हेतु निर्देश**—क्योंकि वे कफज प्रमेह समान गुण वाले मेदोधातु के आश्रित होते हैं। इनमें कफ की प्रधानता रहती है और दोनों (कफ और मेदोधातु विकृति) की समान चिकित्सा होती है।

वक्तव्य—कफ और मेदोधातु के गुण प्रायः समान होते हैं। कफज प्रमेहों में कफ दोष है और मेदस्

---

१. 'वैषम्यमिह वृद्धिकृतमेव वेदितव्यं, क्षयरूपवैषम्यस्यैवंरूपव्याध्यजनकत्वात्; वैषम्य एव वृद्धवृद्धतरत्वादिना हानिवृद्धी बोद्धव्ये' चक्रः।

२. 'भूयसा समुपगृह्यते' ग.।

दूष्य होता है। अतएव इसको साध्य कहा गया है। क्योंकि एक ही प्रकार की चिकित्सा दोष एवं दूष्य पर प्रभावकारी होती है।

तत्र श्लोकाः श्लेष्मप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—॥ १२ ॥

यहाँ कफज प्रमेहों के भेदों को जानने के लिये श्लोक (दिये गये) हैं।

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्। श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ॥ १३ ॥

दस कफज-प्रमेह

१. उदकमेह (Diabetes Insipidus)—उदकमेह वाला पुरुष कफ के प्रकुपित होने के कारण स्वच्छ, अधिक सफेद वर्ण का, शीतल स्पर्श युक्त, गन्धरहित, जल के सदृश मूत्र करता है।

वक्तव्य—उदकोपम होने (जल के सदृश दिखायी देने) के कारण ही इसका उक्त नाम है।

अत्यर्थमधुरं शीतमीषत्पिच्छिलमाविलम्। काण्डेक्षुरससङ्काशं श्लेष्मकोपात् प्रमेहति ॥१४॥

२. इक्षुबालिकारसमेह (Glycosuria)—कफ के प्रकुपित होने के कारण अत्यन्त मधुर शीतल, कुछ चिपचिपा, कुछ गन्दा (गदला) और काण्डेक्षु (ईख की ही एक जाति) के रस के सदृश ही उक्त प्रमेह में मूत्र करता है।

वक्तव्य—ईख के १२ भेदों का उल्लेख अभिनवनिघण्टु में किया है। तापसेक्षु के समान ही कांडेक्षु के गुण भी होते हैं—'एवं गुणैस्तु काण्डेक्षुः स तु वातप्रकोपनः'। अ० नि० इक्षु ८। वास्तव में महर्षि आत्रेय ने उक्त श्लोक में इस प्रमेह का वर्ण काण्डेक्षुरस के सदृश बतलाया है। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'इक्षुवालिका' शब्द का अर्थ 'इक्षुतुल्यायाम्' दिया है। उक्त नामकरण का कोई अन्य स्पष्ट हेतु नहीं दिया है।

यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने। पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥१५॥

३. सान्द्रमेह (Phosphaturia)—कफ के प्रकुपित हो जाने से जिसका किसी पात्र में बासी रखा हुआ मूत्र कुछ समय बाद गाढ़ा हो जाता है, उस पुरुष को सान्द्रमेही कहते हैं।

वक्तव्य—इसका नामकरण सर्वथा सार्थक है। आधुनिक चिकित्सकों का मत है कि इसमें Salt of phosphoric acid होता है।

यस्य संहन्यते मूत्रं किञ्चित् किञ्चित् प्रसीदति। सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः ॥१६॥

४. सान्द्रप्रसादमेह—कफ के प्रकुपित होने के कारण जिस पुरुष का मूत्र उपर्युक्त सान्द्रमेह की अपेक्षा पात्र में रखने के कुछ देर बाद कुछ-कुछ साफ दिखायी देता है, उसको सान्द्र प्रसादमेह का रोगी कहते हैं।

वक्तव्य—सान्द्रप्रसाद मेह को वाग्भट ने 'सुरामेह' संज्ञा दी है। देखें—अ० हृ० नि० १०।१०।

शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति। पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम् ॥१७॥

५. शुक्लमेह (Chyluria = वसालसीकामेह)—कफज प्रकोप के कारण जो बार-बार चावल के आटा के सदृश सफेद मूत्र करता है, ऐसे पुरुष को शुक्लमेह का रोगी कहते हैं।

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः। शुक्रमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥१८॥

६. शुक्रमेह (Spermaturia)—कफज प्रकोप के कारण जो पुरुष शुक्र के सदृश या शुक्र मिश्रित बार-बार मूत्र करता है, उसको शुक्रमेह का रोगी कहते हैं।

अत्यर्थमधुरं शीतं मूत्रं मेहति यो भृशम्। शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥१९॥

७. शीतमेह (Renal glycosuria = वृक्कीय ग्लाइकोसूरिया)—कफज प्रकोप के कारण जो पुरुष बहुत ज्यादा मधुर, शीतल, बार-बार मूत्र करता है, उसको शीतमेह का रोगी कहते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि ग्लाइकोसूरिया का अर्थ 'शर्करामेह' होता है। जैसा कि ऊपर वर्णन भी है, तथापि इसकी 'शीतमेह' संज्ञा है। इस प्रमेह में मधुरता का ज्ञान मूत्र में चिउँटियों के लगने से हो जाता है।

[1]मूर्तान्मूत्रगतान् दोषानणून्मेहति यो नरः। सिकतामेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः ॥२०॥

८. सिकतामेह (Urates in Urine)—कफज प्रकोप के कारण जो मनुष्य मूत्राशय में उत्पन्न ठोस रूप में इकट्ठे हुए दोषों को छोटे-छोटे रूप में मूत्र के साथ निकालता है, उस मनुष्य को सिकतामेही समझना चाहिये।

वक्तव्य—सिकता का अर्थ बालू (Sand) है। यहाँ बालू शब्द का परिचय देने के लिये तन्त्रकार ने 'मूर्तान् अणून्' शब्द का प्रयोग किया है। ध्यान दें—ये ही मूर्त एवम् अणु खण्ड जब इकट्ठे हो जाते हैं तो अष्ठीला अथवा अश्मरी (पथरी = Calculus, Stone in bladder) का रूप धारण कर लेता है, अतः इसका निकल जाना अथवा निकलवा देना ही उचित है। विशेष अश्मरी निदान में देखें।

मन्दं मन्दमवेगं तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः। शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥२१॥

९. शनैर्मेह—जो कफज प्रकोप के कारण मन्द-मन्द, वेगरहित और कठिनता के साथ धीरे-धीरे मूत्र करता है, उसको शनैर्मेह का रोगी कहते हैं।

वक्तव्य—इसमें 'शनैः' अर्थात् धीरे से मूत्र करने को 'अवेगं' तथा 'कृच्छ्रं' शब्दों द्वारा कहा गया है। मूत्र में स्वाभाविक वेग होता है और कोई कष्ट नहीं होता, अतः ये दोनों ही रोग के लक्षण हैं।

[2]तन्तुबद्धमिवालालं पिच्छिलं यः प्रमेहति। आलालमेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः ॥२२॥

इत्येते दश प्रमेहाः श्लेष्मप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥२३॥

१०. आलालमेह (Albumin-uria)—कफज कोप के कारण तन्तु (तागा) के समान लम्बा, लारवाला, चिपचिपा मूत्र जो मनुष्य करता है, उसको आलालमेह का रोगी कहते हैं। इस प्रकार ये दस कफज प्रमेहों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने 'आलालमेह' को 'लालामेह' की संज्ञा दी है। तात्पर्य प्रायः दोनों का एक ही है। देखें—अ० हृ० नि० अ० १०।१३।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनोपसेविनस्तस्याऽतितीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारोपसेविनश्च तथाविधशरीरस्यैव[3] क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते।

पित्तजप्रमेह-निदान—उष्ण (स्पर्श एवं वीर्य में), अम्ल, लवण, क्षार तथा कटु पदार्थों एवम् अजीर्ण (अनपच) होने पर भी भोजन कर लेने वाले तथा अत्यन्त तेज धूप, आग का सेवन करने वाले, अधिक श्रम, क्रोध, विषम आहार का सेवन करने वाले का और कफज प्रमेह निदान में बतलाये गये शरीर स्थिति वाले पुरुष का पित्त शीघ्र प्रकुपित हो जाता है।

तत्तु प्रकुपितं तयैवानुपूर्व्या प्रमेहानिमान् षट् क्षिप्रतरमभिनिर्वर्तयति ॥२४॥

पित्तजप्रमेह-सम्प्राप्ति—वह निदान में कहे गये कारणों से प्रकुपित पित्त उसी क्रम से (जिस क्रम से प्रकुपित कफ द्वारा प्रमेहों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है) आगे कहे जाने वाले इन छः पित्तज प्रमेहों को उत्पन्न कर देता है।

तेषामपि तु खलु [4]पित्तगुणविशेषेणैव नामविशेषा भवन्ति; तद्यथा—क्षारमेहश्च, कालमेहश्च, नीलमेहश्च, लोहितमेहश्च, माञ्जिष्ठमेहश्च, हारिद्रमेहश्चेति ॥२५॥

छः पित्तज प्रमेह—उनमें भी पित्त के गुणों की विशेषता (भिन्नता) से ही उनके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. क्षारमेह, २. कालमेह, ३. नीलमेह, ४. लोहितमेह, ५. माञ्जिष्ठमेह और ६. हारिद्रमेह।

---

१. 'मूर्तानिति कठिनान्' चक्रः।
२. 'तन्तुबद्धं तन्तुवद्दीर्घमित्यर्थः। लालामिवालालं, समन्ताल्लालारूपमित्यर्थः' चक्रः।
३. 'तथात्मकशरीरस्यैव' इति पा०।
४. 'पूर्ववद्गुणविशेषेणैव' इति पा०।

ते षड्भिरेव क्षाराम्ललवणकटुकविस्रोष्णैः पित्तगुणैः पूर्ववद् युक्ता भवन्ति ॥२६॥

वे पित्तज प्रमेह क्षार, अम्ल, लवण, कटु (जैसे—कालीमिरिच आदि), विस्र (आमगन्ध) तथा उष्ण इन छः पित्त के गुणों से पूर्ववत् (विषमता, हानि तथा वृद्धि से) युक्त हो जाते हैं।

सर्व एव ते याप्याः, [1]संसृष्टदोषमेदःस्थानत्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥२७॥

याप्यप्रमेह—संसृष्ट अर्थात् सम्मिलित दोषों (कफ और पित्त) का इसमें मेदोधातु (दूष्य के रूप में) होने के कारण तथा परस्पर विरुद्ध चिकित्सा वाले होने के कारण ये सभी पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर जो पित्तज प्रमेहों को याप्य कहा गया है, उसका संक्षिप्त विचार इस प्रकार है—पित्त-शामक (मधुर, स्पर्श एवं वीर्य में शीत) पदार्थ कफ दोष तथा दूष्य मेदस् को बढ़ा देते हैं, इसके विपरीत कटु रस प्रधान पदार्थ मेदस् के लिये हितकर हैं, उनसे पित्त की वृद्धि हो जाने से, इन छहों प्रमेहों को याप्य कहा गया है।

तत्र श्लोकाः पित्तप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—॥ २८ ॥

यहाँ पित्तज प्रमेहों के भेदों के परिचायक श्लोक दिये जारहे हैं।

गन्धवर्णरसस्पर्शैर्यथा क्षारस्त[2]थाविधम्। पित्तकोपान्नरो मूत्रं क्षारमेही प्रमेहति ॥२९॥

१. **क्षारमेह** (Alkaline Urin)—पित्त के प्रकुपित होने के कारण जैसा क्षार होता है उसी के सदृश गन्ध, वर्ण, रस तथा स्पर्श वाला जो मूत्र करता है, उसको क्षारमेह का रोगी कहते हैं।

मसीवर्णमजस्रं यो मूत्रमुष्णं प्रमेहति। पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यात् कालमेहिनम् ॥३०॥

२. **कालमेह**—पित्त के प्रकोप के कारण जो निरन्तर स्याही जैसा तथा उष्ण (गरम) मूत्र करता है, उसको कालमेह का रोगी समझना चाहिये।

वक्तव्य—आजकल विभिन्न रंगों में मिलने वाली सभी को स्याही कह देते हैं किन्तु स्याह (काला) रंग वाले घोल को ही स्याही कहा जाता है। यह फारसी शब्द है। अतएव इस मेह को 'कालमेह' संज्ञा दी है। सुश्रुत में इसका उल्लेख नहीं है, उसमें पित्तज प्रमेहों में 'अम्लमेह' का पृथक् उल्लेख किया है किन्तु वर्ण का नहीं।

चाषपक्षनिभं मूत्रमम्लं मेहति यो नरः। पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यान्नीलमेहिनम् ॥३१॥

३. **नीलमेह**—पित्तज प्रकोप के कारण जो मनुष्य चाष (Blue jay) पक्षी के पंखों के सदृश नील-वर्ण का तथा अम्लरस युक्त मूत्र करता है, उसको नीलमेह का रोगी समझना चाहिये।

विस्रं लवणमुष्णं च रक्तं मेहति यो नरः। पित्तस्य परिकोपेण तं विद्याद् रक्तमेहिनम् ॥३२॥

४. **रक्तमेह** (Hemat-uria)—पित्तज प्रकोप के कारण जो मनुष्य विस्र (आमगंध युक्त), नमकीन, स्पर्श में उष्ण तथा वर्ण में लाल मूत्र करता है, उसको रक्तमेह का रोगी समझना चाहिये।

मञ्जिष्ठोदकसङ्काशं भृशं विस्रं प्रमेहति। पित्तस्य परिकोपात् तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहिनम् ॥३३॥

५. **माञ्जिष्ठमेह** (Haemoglobin-uria)—पित्तज प्रकोप के कारण जो मनुष्य मंजिष्ठा (मंजीठ) के रंग के समान (लाल) वर्ण वाला अधिक आमगंध युक्त मूत्र करता है, उसको माञ्जिष्ठमेह का रोगी समझना चाहिये।

हरिद्रोदकसङ्काशं कटुकं यः प्रमेहति। पित्तस्य परिकोपात् तं विद्याद्धारिद्रमेहिनम् ॥३४॥

१. 'संसृष्टदोषमेदःस्थानत्वादिति संनिकृष्टं दोषस्य पित्तस्य मेदसश्च स्थानं यस्मात् पित्तस्य ह्यामाशयः स्थानं तथा मेदसोऽपि यत्स्थानं वसाबहुलं तदप्यामाशयैकदेश एव, तेन दोषदूष्ययोः स्थानप्रत्यासत्त्या दूषणं नित्यं प्रत्यासन्नत्वाद् दुर्जयमिति भावः; किंवा संसृष्टदोषं मेदोरूपं स्थानं यस्य स तथा; एष विरुद्धोपक्रमत्वे हेतुः' चक्रः।

२. 'तथात्मकम्' इति पा०।

६. **हारिद्रमेह** (Bilirubin-uria)—पित्तज प्रकोप के कारण जो मनुष्य हल्दी को धोये हुए जल के सदृश (पीले वर्णवाला), कटु रस युक्त मूत्र करता है, उसको हारिद्रमेह का रोगी कहते हैं।

इत्येते षट् प्रमेहाः पित्तप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥३५॥

इस प्रकार पित्त प्रकोप के कारण होने वाले छः प्रमेहों की व्याख्या कर दी है।

कषायकटुतिक्तरूक्षलघुशीतव्यवायव्यायामवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगसन्धारणानशनाभिघातातपोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासानुपसेवमानस्य तथाविधशरीरस्यैव[1] क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते ॥३६॥

वातजप्रमेह-निदान—कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, लघु (स्नेहरहित), शीत (स्पर्श तथा वीर्य में), व्यवाय (मैथुन), व्यायाम (किसी प्रकार का शारीरिकश्रम), वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन (नस्य) इनका अधिक प्रयोग होने, अधारणीय (मल, मूत्र आदि के) वेगों को रोकने, उपवास करने, चोट लगने, अधिक धूप सेंकने, अधिक उद्वेग (घबड़ाहट), शोक, रक्तमोक्षण या रक्त के अधिक निकल जाने, अधिक जागरण, ऊटपटांग ढंग से बैठने, सोने आदि के अधिक सेवन करने वाले एवम् अधिक ढीले-ढाले शरीर वाले तथा मेदस्वी पुरुष के शरीर में वायु शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है।

स प्रकुपितस्त[2]थाविधे शरीरे विसर्पन् यदा वसामादाय मूत्रवहानि स्रोतांसि प्रतिपद्यते तदा वसामेहमभिनिर्वर्तयति; यदा पुनर्मज्जानं मूत्रवस्तावाकर्षति तदा मज्जमेहमभिनिर्वर्तयति; यदा तु लसीकां मूत्राशयेऽभिवहन्मूत्रमनुबन्धं[3] च्योतयति [4]लसीकातिबहुत्वाद् विक्षेपणाच्च वायोः खल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा स मत्त इव गजः क्षरत्यजस्रं मूत्रमवेगं, तं हस्तिमेहिनमाचक्षते; ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद् यदा रौक्ष्याद् वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति ॥ ३७ ॥

वातजप्रमेह-सम्प्राप्ति—वह वात दोष मेदोधातु युक्त पुरुष के शरीर में कुपित होकर चारों ओर फैलता हुआ जब वसा (चर्बी) को लेकर मूत्रवहस्रोतों में पहुँचता है, तब वह **वसामेह** को उत्पन्न करता है। जब वातदोष मज्जा धातु को मूत्रवस्ति (Bladder) में खींच लाता है, तब वह **मज्जमेह** को उत्पन्न करता है। जब वह लसीका (मांस और त्वचा के मध्य में रहने वाले द्रव द्रव्य) को मूत्राशय में ले जाकर निरन्तर मूत्र को निकालता है, उसमें लसीका के अधिक होने के कारण और वायु के विक्षेपण (सिकोड़ना-फैलाना) शील होने के कारण मूत्र अधिक निकलता, अपने आप रुकता और पुनः होता है, तब वह मदमत्त हाथी की भांति वेगरहित लगातार मूत्र करता रहता है, ऐसे उस पुरुष को **हस्तिमेह** का रोगी कहते हैं। ओजस् धातु मधुर स्वभाव वाला होता है, ऐसे ओज को जब वायु रूक्षता के कारण कषाय रस से मिलकर मूत्राशय में ले जाता है, तब **मधुमेह** को उत्पन्न करता है।

इमांश्चतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षते भिषजः, [5]महात्ययिकत्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति॥३८॥

असाध्यप्रमेह—उक्त चार वातज प्रमेहों को अत्यन्त (महत्वपूर्ण धातुओं का) विनाशकारक होने के कारण, दोष एवम् दूष्य की आपस में विपरीत चिकित्सा वाले होने के कारण इनको चिकित्सक असाध्य कहते हैं।

१. 'तथात्मकशरीरस्यैव' इति पा०।

२. '-तथात्मके' इति पा०।

३. 'अनुबन्धमित्यविच्छेदेन, च्योतयति पातयति' चक्रः। 'श्च्योतयति' यो.।

४. 'लसीकातिबहुत्वाद्विक्षेपाच्चास्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति' ह.।

५. 'महात्ययिकत्वादिति मज्जप्रभृतिसारभूतधातुक्षयकरत्वात्; विरुद्धोपक्रमत्वं तु यद्वायोः स्निग्धादि पथ्यं तन्मेदसोऽपथ्यमित्यादि ज्ञेयम्' चक्रः।

वक्तव्य—तीनों दोषों में वातदोष सबसे बलवान् होता है और इसके प्रकोप से ही उक्त प्रमेहों की उत्पत्ति होती है। इन वातज चार प्रमेहों को तन्त्रकार ने असाध्य कहा है, साथ ही उसके हेतु भी दिये हैं—१. महात्ययिकत्वात्, २. विरुद्धोपक्रमत्वाच। इनकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इनसे भी महत्वपूर्ण हेतु उपर्युक्त ३७ वें गद्य की व्याख्या में देखें। ध्यान देने योग्य बात है कि यह प्रकुपित वायु शरीर में स्थित महत्वपूर्ण धातुओं—१. वसा, २. मज्जा, ३. लसीका और ४. ओजस् को अपने स्थानों से हटाकर मूत्रमार्ग से मूत्र के साथ निकाल देता है, फलतः रोगी कमजोर होता हुआ असाध्य हो जाता है।

तेषामपि [1]पूर्ववद्गुणविशेषेण नामविशेषा भवन्ति; तद्यथा—वसामेहश्च, मज्जमेहश्च, हस्तिमेहश्च, मधुमेहश्चेति ॥ ३९ ॥

४. **वातजप्रमेह**—इनमें भी पहले कहे गये प्रमेहों की भांति गुण भेद से नाम भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह और ४. मधुमेह।

तत्र श्लोका वातप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—॥ ४० ॥

वातज प्रमेहों के विशेष भेदों को जानने के लिये ये श्लोक दिये गये हैं।

वसामिश्रं वसाभं वा मुहुर्मेहति यो नरः। वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥४१॥

१. **वसामेह**—प्रकुपित वायु के कारण वसामिश्रित अथवा वसा के सदृश जो मनुष्य बार-बार मूत्र करता है, उसको वसामेह का रोगी कहते हैं। यह असाध्य होता है।

मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः। मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥४२॥

२. **मज्जमेह**—प्रकुपित वायु के कारण जो मनुष्य मूत्र के साथ मज्जा युक्त पेशाब करता है, उसको मज्जमेह का रोगी कहते हैं। यह असाध्य होता है।

वक्तव्य—इस मज्जमेह में मज्जाधातु घुलकर मूत्र के रूप में निकलती है। सुश्रुत ने इसको **सर्पिर्मेह** लिखा है। वास्तव में घृत, तैल, वसा, मज्जा ये चारों स्नेह द्रव्य हैं।

हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं क्षरति यो भृशम्। हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥४३॥

३. **हस्तिमेह**—प्रकुपित वायु के कारण जो पुरुष निरन्तर मदमत्त हाथी की भांति मूतता रहता है उसको हस्तिमेह का रोगी कहते हैं। यह असाध्य होता है।

विशेष वक्तव्य—हस्तिमेह में बस्ति का मुख खुल जाता है, जिसके कारण निरन्तर मूत्र बहता रहता है, रोगी इसके लिये रबड़ की थैली मूत्रेन्द्रिय में बांध देता है, थैली के भर जाने पर दूसरी बदल कर लगा दी जाती है।

कषायमधुरं पाण्डुं रूक्षं मेहति यो नरः। वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥४४॥

४. **मधुमेह**—प्रकुपित वायु के कारण जो मनुष्य रस में कषाय, मधुर, वर्ण में पाण्डु (Whitish or Yellowish) और स्पर्श में रूक्ष मूत्र त्याग करता है, उसे मधुमेह का रोगी समझना चाहिये। यह असाध्य होता है।

इत्येते चत्वारः प्रमेहा वातप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥४५॥

इस प्रकार ये वात के प्रकोप से होने वाले चार प्रकार के प्रमेहों की व्याख्या कर दी गयी है।

एवं त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा व्याख्याता भवन्ति ॥४६॥

इस प्रकार कफ, पित्त एवं वात के प्रकोप के कारण होने वाले बीस प्रकार के प्रमेहों की व्याख्या कर दी गयी है।

---

१. 'वातगुणविशेषेण' इति पा०।

बृहत्त्रयी में प्रमेहों के नाम-भेद

१० कफज प्रमेह

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह
२. इक्षुवालिकारसमेह	इक्षुवालिकामेह	इक्षुमेह
३. सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह
४. सान्द्रप्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह
५. शुक्लमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह
६. शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह
७. शीतमेह	—	शीतमेह
८. सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह
९. शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह
१०. आलालमेह	० ० ०	लालामेह
— —	९. लवणमेह	—
— —	१०. फेनमेह	—

६. पित्तज-प्रमेह

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह
२. कालमेह	० ० ०	कालमेह
३. नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह
४. लोहितमेह	शोणितमेह	रक्तमेह
५. माञ्जिष्ठमेह	माञ्जिष्ठमेह	माञ्जिष्ठमेह
६. हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह
— —	६. अम्लमेह	—

४. वातज-प्रमेह

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. वसामेह	वसामेह	वसामेह
२. मज्जमेह	सर्पिमेह	मज्जमेह
३, हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह
४. मधुमेह	क्षौद्रमेह	मधुमेह

वक्तव्य—चरक में वर्णित २० प्रमेहों के नामकरण के विपरीत उक्त बृहत्त्रयी में जहां जिस नाम का परिवर्तन या अभाव हुआ है, उसका कारण उस-उस प्रमेह की व्याख्या के नीचे वक्तव्य के रूप में दे दिया है। माधवकर ने चरक, सुश्रुत में कहे गये प्रमेह के नामों का संग्रह न करके वाग्भट का अनुसरण किया है, एतदर्थ माधवनिदान का भी अवलोकन करें।

त्रयस्तु खलु दोषाः प्रकुपिताः प्रमेहानभिनिर्वर्तयिष्यन्त इमानि पूर्वरूपाणि दर्शयन्ति; तद्यथा—जटिलीभावं केशेषु, माधुर्यमास्यस्य, करपादयोः सुप्ततादाहौ, मुखतालुकण्ठशोषं पिपासाम्, आलस्यं, मलं काये, कायच्छिद्रेषूपदेहं, परिदाहं सुप्ततां चाङ्गेषु, षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणं, मूत्रे च मूत्रदोषान्, विस्रं शरीरगन्धं, निद्रां, तन्द्रां च सर्वकालमिति ॥ ४७ ॥

प्रमेहों के पूर्वरूप—तीनों (कफ, पित्त, वात) दोष प्रकुपित होकर प्रमेहों को उत्पन्न करते हुए इन (अधोलिखित) पूर्वरूपों को दिखाते (प्रकट करते) हैं। वे इस प्रकार हैं—बालों का परस्पर सट कर जटा का रूप धारण करना, मुख का सदैव मीठा बना रहना, हाथ-पैरों में शून्यता तथा दाह (जलन), मुख, तालु, कण्ठ का बार-बार सूखना, प्यास का लगना, आलस्य, शरीर में मल की उत्पत्ति, शरीर के छिद्रों (रोमकूपों, आंख, कान, नाक) में मल से लिपा-सा रहना, चारों ओर जलन, अंगों में शून्यता, शरीर और मूत्र में मक्खियों तथा चींटियों का बैठना या घूमते रहना, मूत्र में मूत्र के दोषों का दिखायी देना, शरीर का दुर्गन्धित होना, हर समय नींद या उँघाई का आना।

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद् भवन्ति ॥ ४८ ॥

प्रमेहों के उपद्रव—प्रमेह रोगियों में दृष्टिगोचर होने वाले उपद्रव ये हैं—तृष्णा (प्यास की अधिकता), अतीसार, ज्वर, दाह (जलन), दुर्बलता, अरुचि, अनपच, पूतिमांसपिडका (दुर्गन्धयुक्त मांसपिडका=Carbuncles), अलजी, विद्रधि (बड़े फोड़े)। ये उपद्रव तब होते हैं, जब प्रमेह रोग की समय पर समुचित चिकित्सा नहीं हो पाती और रोग चिरकाल तक बना रह जाता है।

१. **कफजप्रमेहों के उपद्रव**—इनकी उपेक्षा करने से आहार रस में अधिक मधुरता उत्पन्न होने लगती है, स्वेद तथा मूत्र में भी मधुरता आ जाती है। जब कि स्वस्थ पुरुष के स्वेद तथा मूत्र का रस नमकीन होता है। ऐसी स्थिति में रोगी के शरीर तथा मूत्र में मक्खियाँ या चिउँटियाँ लगने लगती हैं। मेदोधातु की वृद्धि से ये लक्षण होते हैं।

२. पित्तजप्रमेहों के उपद्रव—अण्डकोषों का फटना या पकना, शिश्न तथा मूत्राशय में वेदना, हृदय में शूल, खट्टे डकारों का आना, ज्वर, अतिसार, अरुचि, वमन, धूमोद्गार (मुख से धुआँ जैसा आना), दाह, मूर्च्छा, प्यास, निद्रानाश, पाण्डुरोग, मल, मूत्र तथा नेत्रों का पीला पड़ जाना।

३. वातजप्रमेहों के उपद्रव—इससे हृदय की स्वाभाविक गति में रुकावट आने लगती है। फलतः वातजप्रमेह वाले रोगी की नाड़ी रुक-रुककर चलती है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव नाड़ी देखते समय किया जा सकता है। अतः वातजप्रमेह के रोगियों की मृत्यु अधिकांश हृत्स्तम्भ (हार्टफेल) से होती है। ये चारों प्रमेह प्रायः सुखी, सुकुमारों, मानसिक श्रम करने वालों तथा धनिकों को अधिक होते हुए देखे जाते हैं। इसके विशेष विवरण के लिये सुश्रुतसंहिता नि० अ० ६।१३ देखें।

तत्र साध्यान् प्रमेहान् संशोधनोपशमनैर्यथार्हमुपपादयंश्चिकित्सेदिति ॥ ४९ ॥

चिकित्सा-सूत्र—इनमें साध्य प्रमेहों की चिकित्सा संशोधन (वमन-विरेचन आदि उपायों) तथा संशमन (दोषों को बिना बाहर निकाले ही शान्त करने वाले उपायों) से यथोचित अर्थात् जिस स्थिति में जिस उपाय की आवश्यकता हो उसके उपयोग द्वारा करे।

भवन्ति चात्र—

गृध्नुमभ्यवहार्येषु स्नानचङ्क्रमणद्विषम्। प्रमेहः क्षिप्रमभ्येति [1]नीडद्रुममिवाण्डजः ॥ ५० ॥

प्रमेहरोग किनको होता है—इस विषय में कुछ श्लोक दिये हैं। खाने-पीने की वस्तुओं के प्रति लोभी (जो अच्छी लगने वाली वस्तु हो उसको शरीर की चिन्ता न करके खा जाने वाले), स्नान (शरीर शुद्धि) एवम् चङ्क्रमण (घूमना-फिरना अथवा शारीरिक परिश्रम) के प्रति द्वेष रखने वाले पुरुष के पास प्रमेहरोग उस प्रकार शीघ्र अर्थात् बार-बार आता है, जिस प्रकार घोंसले वाले वृक्षपर पक्षी आता रहता है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को प्रमेह रोग एक बार आने के बाद फिर छोड़ नहीं सकता।

मन्दोत्साहमतिस्थूलमतिस्निग्धं महाशनम्। मृत्युः प्रमेहरूपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ॥ ५१ ॥

प्रमेह के रूप में मृत्यु का आगमन—और भी कम उत्साह वाले, अधिक स्थूल (मोटे), अधिक चिकने पदार्थों को खाने वाले तथा बहुत अधिक खाने वाले (पेटू) पुरुष के पास मृत्यु शीघ्र ही प्रमेह रोग के रूप में आकर उसको ले जाती है।

वक्तव्य—मन्दोत्साह, अतिस्थूल, अतिस्निग्ध एवं महाशन आदि प्रमेह रोग होने के पूर्ववर्ती दुर्लक्षण हैं और ये ही प्रमेह उत्पादक कारण भी हैं। श्लोक पर ध्यान दें।

यस्त्वाहारं शरीरस्य धातुसाम्यकरं नरः। सेवते विविधाश्चान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ॥५२॥

नीरोग पुरुष—जो पुरुष शरीर में स्थित धातुओं को समान स्थिति में रखने वाले आहार तथा 'विविधाः च अन्याः चेष्टाः' (विहार) का यथाविधि सेवन करता है, वह सुखपूर्वक रहता (सुख भोग करता) है।

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्व्याधिविशेषाणां प्रमेहाणां च कारणम्। दोषधातुसमायोगो रूपं विविधमेव च ॥ ५३ ॥
दश श्लेष्मकृता यस्मात् प्रमेहाः षट् च पित्तजाः। [2]यथा च वायुश्चतुरः प्रमेहान् कुरुते बली ॥
साध्यासाध्यविशेषाश्च पूर्वरूपाण्युपद्रवाः। प्रमेहाणां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रं च भाषितम् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने प्रमेह-
निदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१. 'नीडद्रुमः पक्षिणां वासवृक्षः' चक्रः।
२. 'यथा करोति वायुश्च प्रमेहांश्चतुरो बली' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—भिन्न-भिन्न व्याधियों के हेतु, प्रमेहों के कारण, दोष और धातुओं (दूष्यों) का संयोग, विविध प्रकार के रूप, जिस कारण से कफज दस, पित्तज छः तथा जिस प्रकार बलवान् वायु चार प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न कर देता है। साध्य और असाध्य भेद, पूर्वरूप, उपद्रव और प्रमेहों के चिकित्सासूत्र का वर्णन इस चौथे प्रमेहनिदान अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न पण्डित तारादत्त त्रिपाठी के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में प्रमेहनिदान नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

प्रमेहनिदान के पश्चात् अब हम कुष्ठरोग-निदान की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—प्रमेह के अनन्तर कुष्ठ की उत्पत्ति हुई है, ऐसा आगे वर्णित है। देखें—'हविः प्राशान् मेह-कुष्ठयोः'। च० नि० अ० ८।११। अर्थात् दक्षयज्ञ में घी को खाने से प्रमेह तथा कुष्ठ की उत्पत्ति हुई।

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां [1]प्रकृतिर्विकृतिमापन्नानि भवन्ति। तद्यथा—त्रयो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः, दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्चतुर्धा[2] दोषोपघातविकृता इति। एतत् सप्तानां सप्तधातुकमेवङ्गतमाजननं कुष्ठानाम्, अतः [3]प्रभवाण्यभिनिर्वर्तमानानि केवलं शरीर-मुपतपन्ति ॥ ३ ॥

कुष्ठों के कारण—विकृति को प्राप्त सात द्रव्य कुष्ठों के प्रकृति (कारण) होते हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रकुपित करने वाले कारणों से विकृत (विकार को प्राप्त) तीन दोष—१. वात २. पित्त ३. कफ, और दोषों के उपघात (संसर्गरूप आक्रमण) से विकार को प्राप्त दूष्य (जो दूषित किये जाते हैं) शरीर धातुएँ १. त्वचा, २. मांस, ३. रक्त, ४. लसीका ये चार। इस प्रकार विकृत हुआ यह सातों (दोष-दूष्यों) का समूह सात प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न करने वाला होता है। इनसे उत्पन्न होने वाले और उत्पन्न हुए सभी कुष्ठ सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करते हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर सात महाकुष्ठों तथा आगे ग्यारह क्षुद्रकुष्ठों का वर्णन किया गया है। विशेष च० चि० अ० ७ में देखें। विरोधी अन्न-पान आदि को इसकी उत्पत्ति में प्रमुख कारण माना गया है। विरोधी अन्न पान का संकेत 'न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्'। च० सू० अ० २६। में स्पष्ट रूप से किया गया है। जो निदान ऊपर कुष्ठ का कहा गया है, विसर्प रोग का भी वही है। देखें—'रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दूष्यों मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः'॥ च० चि० अ० २१।१५। इनका भेद इस प्रकार समझा जा सकता है।

कुष्ठ में—चिरकारिता, स्थिरता, रक्तपित्त की प्रधानता का न होना, गुरुजनों का अपमान, पर-स्त्री, पर द्रव्य का अपहरण आदि कारणों की प्रधानता रहती है।

विसर्प में—अचिरकारिता (शीघ्र फैलाना), अस्थिरता, रक्तपित्त की प्रधानता, सप्त धातुओं की दुष्टि का होना आवश्यक नहीं होता।

१. 'प्रकृतिमापन्नानि' ग० 'प्रकृतिभावं भजन्ति विकृतिमापन्नानि' ह०।
२. 'लसीका चतुर्थी' ।
३. 'प्रभवादभिनिर्वर्तमानानि' इति पा०।

कुष्ठ शब्द की निरुक्ति—कुष निष्कर्षे (क्र्यादि प० सेट्), कुष्+क्थन् = कुष्ठः । कुलिसते तिष्ठति किंवा कुष्णाति अङ्गम्, अङ्गानि वा । अर्थात् जो शरीरावयवों को कुरूप कर दे अथवा गला, सड़ा दे, उसे 'कुष्ठ' कहते हैं । इससे विपरीत 'विसर्प' होता है । इसका प्रमुख रूप है रोगोत्पत्ति के बाद फैलना । वास्तव में उक्त परिभाषा के अनुसार कुष्ठ सामान्य चर्मरोग (Skin disease) के लिये और गलितकुष्ठ (Leprosy) के लिये भी प्रयुक्त होता है ।

न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्, अस्ति तु खलु समानप्रकृतीनामपि कुष्ठानां दोषांशांशविकल्पानुबन्धस्थानविभागेन वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनामचिकित्सितविशेषः ।

कुष्ठों में चिकित्सा-भेद—कोई भी कुष्ठ ऐसा नहीं होता जो केवल एक दोष के प्रकुपित होने से होता हो । समान प्रकृति (कारण) वाले कुष्ठों में भी दोषों के अंशांश, विकल्प, अनुबन्ध, स्थान (आश्रय, जिस अवयव में दोष उत्पन्न हुआ हो), विभाग के अनुसार ही इसके वेदना (पीड़ा), वर्ण (रूप), संस्थान (आकृति), प्रभाव (साध्य, याप्य, असाध्य) तथा नाम के अनुरूप चिकित्सा में भेद होता है ।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने तीन दोष और चार दूष्यों के सम्मिश्रण से कुष्ठों की उत्पत्ति स्वीकार की है, अन्य रोगों की भांति इसको स्वतन्त्र (एकदोषज) अथवा द्विदोषज नहीं माना है । त्रिदोषज का संकेत उन्होंने इस प्रकार किया है—'न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्', देखें ऊपर के गद्य को । इसके विपरीत महर्षि वाग्भट ने कुष्ठों का विभाजन इस प्रकार किया है—'कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग् द्वन्द्वैः समागतैः । सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः' ॥ वा० नि० अ० १४ । अर्थात् कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं—१. वायु से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. वात-पित्त से, ५. वात-कफ से, ६. पित्त-कफ से और ७. त्रिदोष से । यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, तथापि दोष अथवा दोषों की अधिकता या प्रधानता से उक्त वात आदि व्यवहार देखे-सुने जाते हैं ।

स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसङ्ख्येयविधो वा भवति । दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान्, अन्यत्रासाध्यभावात् । तेषां विकल्पविकारसङ्ख्यानेऽतिप्रसङ्गमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेक्ष्यामः ॥ ४ ॥

कुष्ठ के भेद—वह कुष्ठ सात प्रकार का, अठारह प्रकार का असंख्य (अनगिनत) भेदों वाला भी होता है । क्योंकि दोषों की जब अंशांश कल्पना की जाती है, तो वे विकारों के अनेक भेद कर डालते हैं । केवल असाध्य रोग में अंशांश कल्पना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उन कुष्ठों के विकल्प (भेदोपभेद) से उत्पन्न होने वाले रोगों की गणना करने पर अत्यन्त विस्तार हो जाने के कारण (हम) सात प्रकार के ही कुष्ठभेदों का उपदेश करेंगे ।

इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु त्वगादींश्चतुरः प्रदूषयत्सु वातेऽधिकतरे कपालकुष्ठमभिनिर्वर्तते, पित्ते त्वौदुम्बरं, श्लेष्मणि मण्डलकुष्ठं, वातपित्तयोर्ऋष्यजिह्वं, पित्तश्लेष्मणोः पुण्डरीकं, श्लेष्ममारुतयोः सिध्मकुष्ठं, सर्वदोषाभिवृद्धौ काकणकमभिनिर्वर्तते; एवमेव सप्तविधः कुष्ठविशेषो भवति । [1]स चैव [2]भूयस्तरतमतः प्रकृतौ विकल्प्यमानायां भूयसीं विकारविकल्पसङ्ख्यामापद्यत ॥ ५ ॥

कुष्ठों में वातादि सम्बन्ध—यहाँ वात आदि दोषों के प्रकुपित होने पर और इनसे त्वचा आदि (लसीका, रक्त, मांस) दूष्यों को दूषित करने पर जब वात दोष की अधिकता होती है, तब **'कपालकुष्ठ'** पित्त की अधिकता होने पर **'औदुम्बरकुष्ठ'** कफ की अधिकता होने पर **'मण्डलकुष्ठ'** वात पित्त की अधिकता से **'ऋष्यजिह्वकुष्ठ'** पित्त-कफ की अधिकता से **'पुण्डरीककुष्ठ'**, कफ-वात की अधिकता से **'सिध्मकुष्ठ'** और तीनों दोषों की अधिकता होने पर **'काकणककुष्ठ'** की उत्पत्ति होती है । ऐसे ही सात प्रकार के कुष्ठों का परस्पर भेद होता है । और वह पुनः प्रकृति के तर, तम भेद से विकल्प को प्राप्त होने पर अनेक संख्या को प्राप्त करता है ।

---

१. 'स एव' ग. ।
२. भूयोऽतः प्रकृतिविकल्पनया' ह. ।

वक्तव्य—चरक में कुष्ठों को अनेक दोषज माना है । तदनन्तर एकदोषज, द्विदोषज आदि जो भेद ऊपर किये गये हैं, सिद्धान्ततः उनमें भी अनेक दोषों का सम्बन्ध रहता ही है । इस प्रकार एकदोषज आदि का जो यहाँ वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यही है कि अनेक दोषज होने पर भी उस कुष्ठ में उस दोष की विशेषता होती है या देखी जाती है । जैसे—'कपालकुष्ठ' में वातदोष की विशेषता होती है । सुश्रुत ने जो महाकुष्ठ, क्षुद्रकुष्ठ आदि भेद किये हैं, वे महर्षि आत्रेय को अभिप्रेत नहीं हैं ।

सुश्रुत के अनुसार ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ हैं । इस प्रकार कुष्ठों की कुल संख्या १८ होती है । सुश्रुत ने कुष्ठों को दोषज के साथ कृमिज भी माना है । यथा—'केशरोमनखादांश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा । कुष्ठजाः सपरीसर्पाः ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः' ॥ सु० उ० अ० ३४ । च० वि० अ० ७ तथा—'कुष्ठैककर्माणः' । वाग्भट नि० अ० १४ । ये अंश द्रष्टव्य हैं ।

तत्रेदं सर्वकुष्ठनिदानं समासेनोपदेक्ष्यामः—शीतोष्णव्यत्यासमनानुपूर्व्योपसेवमानस्य तथा सन्तर्पणापतर्पणाभ्यवहार्यव्यत्यासं, मधुफाणितमत्स्यलकुचमूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नतः, चिलिचिमं च पयसा, हायनकयवकचीनकोद्दालककोरदूषप्रायाणि चान्नानि क्षीरदधितक्रकोलकुलत्थमाषातसीकुसुम्भस्नेहवन्ति, एतैरेवातिमात्रं सुहितस्य च व्यवायव्यायामसन्तापानत्युपसेवमानस्य, भयश्रमसन्तापोपहतस्य च सहसा शीतोदकमवतरतः, विदग्धं चाहारजातमनुल्लिख्य विदाहीन्यभ्यवहरतः, छर्दि च प्रतिघ्नतः, स्नेहांश्चातिचरतः, त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते; त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते; तेषु शिथिलेषु दोषाः प्रकुपिताः स्थानमधिगम्य सन्तिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति ॥ ६ ॥

कुष्ठों का संक्षिप्त निदान—यहाँ यह सभी प्रकार के कुष्ठों का निदान संक्षेप में कहेंगे । शीत तथा उष्ण के परिवर्तन तथा सन्तर्पण (शरीर-पुष्टिकारक) अपतर्पण (शरीर-ह्रासकारक) एवम् आहार (भोज्य पदार्थों) के परिवर्तन को यथोचित क्रम के विरुद्ध सेवन करने वाले, मधु, फाणित (राब), मछली, लकुच (बड़हर इसकी आकृति कुष्ठी पुरुष के सदृश होती है, ध्यान दें ।), मूली, काकमाची (मकोय), इनका निरन्तर अधिक मात्रा में, अजीर्ण (पहले का न पचे रहने) पर भी खाने वाले, चिलचिम नामक मत्स्य विशेष को दूध के साथ (यह विरुद्ध भोजन है), हायनक, यवक (जई), चीनक (चीना), उद्दालक (जंगली कोदों), कोरदूष (कोदों) आदि रूक्ष अन्नों को, जो दूध, दही, मठा, बेर, कुलथी, उड़द से एवम् अलसी तथा कुसुम्भ के तेल से युक्त हों, इसी प्रकार के पदार्थों को अत्यधिक खाकर, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम (किसी प्रकार का भी शारीरिक श्रम) और धूप का अधिक सेवन करने वाले और भय, श्रम तथा सन्ताप से पीड़ित पुरुष के एकाएक शीतल जल में उतरते हुए अर्थात् स्नान कर लेने पर, विदग्ध हुए आहार को वमन द्वारा न निकाल कर विदाहकारक भोजन को कर लेने से, छर्दि (वमन) के वेग को रोकने वाले के, स्नेहों तथा स्नेह से बनाये गये पदार्थों का अधिक सेवन करने वाले के तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं और त्वचा, लसीका, रक्त, मांस ये चारों (दूष्य) ढीले हो जाते हैं । तीनों प्रकुपित दोष त्वचा आदि के शिथिल होने पर स्थान को पाकर आगे को न जाकर अर्थात् उसी स्थान पर रुककर उन्हीं त्वचा आदि (दूष्यों) को दूषित करते हुए विविध प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न कर देते हैं ।

वक्तव्य—सभी प्रकार के कुष्ठों का समन्वित निदान का जो वर्णन यहाँ उलझा कर कहा गया है, इसी का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन चरक नि० अ० ७ श्लोक ४ से ८ तक में किया है । यहाँ इतना और कहा गया है—'विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्' । च० नि० अ० ७।८ । इसका तात्पर्य है कि अधार्मिक कृत्यों के फलस्वरूप भी कुष्ठ होता है । इसका समर्थन धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः । कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्' ॥ सु० नि० अ० ५।३० । अर्थ स्पष्ट है ।

शीतोष्णव्यत्यास—शीतल पदार्थों के सेवन के पश्चात् सहसा उष्ण पदार्थों का सेवन अथवा उष्ण पदार्थों के सेवन के पश्चात् सहसा शीत पदार्थों का सेवन करना । शीत स्थान से उष्ण स्थान में अथवा उष्ण स्थान से सहसा शीत स्थान में जाना । जैसे—गर्मी के दिनों में शीततापनियन्त्रित घर से एकदम बाहर धूप में निकलना या बाहर से आकर उसमें प्रवेश करना आदि प्रकारों को 'शीतोष्णव्यत्यास' कहते हैं ।

तेषामिमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्मायणं गौरवं श्वयथुर्वीसर्पागमनमभीक्ष्णं च काये कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्वदग्धदष्टभग्नक्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति ॥ ७ ॥

कुष्ठ के पूर्व रूप—उन सभी प्रकार के कुष्ठों में ये पूर्वरूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—जिस स्थान पर कुष्ठ उत्पन्न होता है। उस स्थान पर पसीना का न आना या अधिक पसीना आना, कठिनता या खुरदरापन या अत्यन्त चिकनापन, त्वचा के स्वाभाविक रंग में विकृति, कण्डू (खुजली) निस्तोद (Sensation of pins & needles) अर्थात् सुई चुभाने की-सी पीड़ा, स्पर्श-ज्ञान का अभाव, चारों ओर जलन, परिहर्ष (झुनझुनी का होना), रोमांच, रूखापन, उस स्थान विशेष से भाप जैसा निकलने का अनुभव होना, भारीपन, सूजन, बार-बार उस स्थान पर विसर्प (Erysipelas) का होना, शरीर में तथा कायछिद्रों (रोमकूप तथा आँख, कान; नाक) का मल से लिपा रहना, पके, जले, सर्प आदि के काटे, टूटे, चोट लगे तथा फिसल जाने से लगी चोट वाले स्थानों पर अत्यन्त कष्ट का होना, छोटे से घावों का भी दूषित हो जाना और देर में भरना।

वक्तव्य—कुष्ठ के पूर्वरूपों की चर्चा सुश्रुत नि० अ० ५ में भी देख लें। **'व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति'**—के सम्बन्ध में धन्वन्तरि का कथन—'कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्। व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः' ॥ सु० सू० अ० २३।७। अर्थात् कुष्ठ, विष, क्षय और मधुमेह से पीड़ित रोगियों के व्रण कष्टसाध्य होते हैं तथा जिनके व्रणों के ऊपर पुनः दूसरा व्रण हो जाता है, उनके व्रण भी देर में भरते हैं।

ततोऽनन्तरं कुष्ठान्यभिनिर्वर्तन्ते, तेषामिदं वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनामविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—रूक्षारुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि [1]तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्त[2]वत्सुप्तानि हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशुगतिसमुत्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि च कपालकुष्ठानीति विद्यात्।

१. **कपालकुष्ठ के लक्षण**—उक्त पूर्वरूपों के प्रकट होने के बाद कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। उनका यह वेदना, वर्ण, लक्षण, प्रभाव तथा नाम की भिन्नता का विज्ञान है। वह इस प्रकार है—रूक्ष, अरुण (हलके लाल वर्ण के) परुष (खुरदरे), विषम रूप से फैले हुए, चारों ओर खुरदरे किनारे वाले, पतले, बाहर की ओर उभार युक्त शरीरावयव वाले, सोये हुए के समान शून्यता वाले अर्थात् दबाने या काटने पर जिनमें कष्ट की अनुभूति होती है, रोमांच युक्त बालों वाले सुई चुभाने की-सी विशेष वेदना वाले, थोड़ी खुजली, दाह, पूय (मवाद) तथा लसीका वाले, शीघ्र पैदा होने फैलने तथा फूटने वाले, कृमियुक्त, कृष्ण (काला), अरुण (ईंट के सदृश) एवम् कपाल (फूटे घड़े के ठीकरा) के सदृश को कपालकुष्ठ समझना चाहिये।

ताम्राणि [3]ताम्रखररोमराजीभिरवनद्धानि बहलानि बहुबहलपूयरक्तलसीकानि कण्डूक्लेदकोथदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि ससन्तापक्रिमीणि पक्वोदुम्बरफलवर्णान्यौदुम्बरकुष्ठानीति विद्यात्।

२. **उदुम्बरकुष्ठ के लक्षण**—ताम्र वर्ण वाले, तांबे के सदृश खुरदरी लोमपंक्ति से घिरे हुए, बहुत गाढ़े, अत्यधिक पूय, रक्त तथा लसीका से युक्त, खुजली, गीलापन, सड़न, दाह (जलन), पाक युक्त, शीघ्र उत्पन्न होने, फैलने एवम् फूटने वाले, जलन तथा क्रिमियों से युक्त, पके हुए गूलर के फल की आकृति वाले को 'उदुम्बरकुष्ठ' समझना चाहिये।

स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीतपर्यन्तानि शुक्लरक्तावभासानि [4]शुक्लरोमराजी-

१. 'उद्वृत्तबहिस्तनूनि उच्छलीकृतबाह्यदेहानि' चक्रः।
२. 'सुप्तसुप्तानि' इति पा०।
३. 'ताम्रगौरराजिभिः' ह०। 'ताम्ररोमराजिभिः' इति पा०।
४. 'शुक्लराजिसंततानि' इति पा०।

सन्तानानि बहुबहलशुक्लपि[1]च्छिलस्राविणि बहुक्लेदकण्डूक्रिमीणि सक्तगतिसमुत्थानभेदीनि परिमण्डलानि मण्डलकुष्ठानि विद्यात्।

३. **मण्डलकुष्ठ के लक्षण**—देखने तथा स्पर्श करने पर चिकने, आकार में भारी, ऊँचायी वाले (यह शोथ का स्वरूप है), चिकने, ठोस और चारों ओर पीले रंग वाले, सफेद तथा लाल आभा से युक्त, सफेद रोमांकुरों से व्याप्त, अधिक गाढ़ा सफेद, चिपचिपे स्राव वाले, अत्यन्त गीलापन, खुजली तथा क्रिमियों से युक्त, देर में फैलने, उभरने तथा फटने वाले, विराव (गोल घेरा) वालों को 'मण्डलकुष्ठ' समझना चाहिये।

परुषाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नीलपीतताम्रावभासान्याशुगतिसमुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदक्रिमीणि दाहभेदनि[2]स्तोद(पाक)बहुलानि शूकोपहतोपमवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिडकाचितानि दीर्घपरिमण्डलान्यृष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात्।

४. **ऋष्यजिह्वकुष्ठ के लक्षण**—खुरदरे, अरुण वर्ण वाले, बाहर-भीतर श्याववर्ण (Dark-brown) वाले, नीली, पीली तथा ताँबा के वर्ण की आभा (झलक) वाले, शीघ्र फैलने, उठने वाले, सामान्य खुजली, गीलापन और क्रिमियों वाले, दाह, फटन, चुभन, पाक लक्षणों वाले, जौ के टूश को चुभाने के समान वेदना वाले, बीच में उभरे हुए, चारों ओर पतले, कठोर छोटी-छोटी पिड़काओं से व्याप्त, लम्बे और गोल घेरे वाले ऋष्य की जीभ के आकार वाले कुष्ठों को 'ऋष्यजिह्वकुष्ठ' कहते हैं।

वक्तव्य—उक्त कुष्ठ के नामकरण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लिखे हैं, जब कि एक शब्द का एक अर्थ होना चाहिये था। अत्रिदेव द्वारा व्याख्या युक्त सुश्रुत में इस प्रकार लिखा है—'पित्तेनोदुम्बरष्य(क्ष)जिह्वकपालकाकणकानि'। सु० नि० अ० ५।७। इस प्रकार 'ऋष्य' शब्द का अर्थ यहां भी नहीं दिया है और 'ऋक्ष' शब्द का अर्थ 'भालू' किया है, जो उचित है किन्तु चरक के अनेक संस्करण जो मैंने इस अवसर पर देखे, उन सभी में 'ऋष्य' शब्द ही देखा गया है। यह शब्द **ऋश्य** और **ऋष्य** दो रूपों में उपलब्ध हुआ है, इसका अर्थ है—A white footed antelope—सफेद पैरों वाला एक मृग विशेष। यह परिचय कोष द्वारा प्राप्त है। जहाँ तक ऋष्यजिह्वकुष्ठ के लक्षणों की बात है, उनको देखकर तो ऐसा लगता है कि यहाँ **ऋक्षजिह्व** पाठ ही होना चाहिये, क्योंकि भालू की जीभ के साथ इसका वर्णन अधिकांश मिलता है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने **'ऋष्य'** मृग तथा उसकी जीभ देखी हो वे इस विवेचन के लिये अधिक प्रमाण माने जायेंगे।

शुक्लरक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि [3]रक्तराजीसिरासन्ततान्युत्सेधवन्ति बहुबहलरक्तपूयलसीकानि कण्डूक्रिमिदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि [4]पुण्डरीकपलाशसङ्काशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात्।

५. **पुण्डरीककुष्ठ के लक्षण**—सफेद और लाल कान्ति वाले, चारों ओर लाल घेरे वाले, लाल वर्ण की रेखाओं तथा सिराओं से व्याप्त, उभार वाले, अत्यन्त गाढ़े रक्त, पूय, लसीका वाले, खुजली, क्रिमि, दाह, पाक, वाले, शीघ्र फैलने, उठने तथा फूटने वाले, पुण्डरीक (सफेद कमल) की पंखुडियों के सदृश आकृति वाले कुष्ठों को 'पुण्डरीककुष्ठ' कहते हैं।

परुषारुणानि विशीर्णबहिस्तनून्यन्तःस्निग्धानि शुक्लरक्तावभासानि बहून्यल्पवेदनान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदक्रिमीण्यलाबुपुष्पसङ्काशानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात्।

६. **सिध्मकुष्ठ के लक्षण**—बाहर से खुरदरे अरुण वर्ण (Reddish-brown), त्वचा फटी हुई, पतले तथा भीतर से चिकने, सफेद एवं लाल आभा वाले, संख्या में बहुत, थोड़ा कष्ट वाले, थोड़ी खुजली, दाह, पूय, लसीका वाले, अल्प कारणों से उत्पन्न हो जाने वाले, जल्दी फूटने वाले, थोड़े से क्रिमियों से युक्त तथा लौकी के फूल की आकृति वाले कुष्ठों को 'सिध्मकुष्ठ' समझना चाहिये।

१. 'पिच्छलस्राविणि' इति पा०।
२. 'निस्तोदबहुलानि' इति पा०।
३. 'रक्तसिराराजिसंततानि' ग.।
४. 'पुण्डरीकपलाशशब्देन पद्मपुष्पदलमिह' चक्रः।

वक्तव्य—चरक ने जिस सिध्मकुष्ठ का परिगणन सात कुष्ठों में किया है, उनको सुश्रुत ने 'महाकुष्ठ' की संज्ञा दी है किन्तु सुश्रुत ने सिध्मकुष्ठ का उतना भयंकर वर्णन नहीं किया जितना चरक ने किया है। देखें—'कण्डूयन्वितं श्वेतमपायि सिध्मं, विद्यात् तनुं प्रायश ऊर्ध्वकाये'॥ सु० नि० अ० ५।१२। यह खुजली वाला, सफेद रंग का, किसी प्रकार का कष्ट न देने वाला, छोटे-छोटे आकार का प्रायः शरीर के ऊपरी भाग में होता है।

सिध्मकुष्ठ (Ptyriasis Versicolor) सामान्यतः दो प्रकार का देखा जाता है—१. पुष्पिका या सेहुआँ और २. सिध्म। इसमें पहला सुखसाध्य होता है अतएव सुश्रुत ने इसको क्षुद्र कुष्ठों में गिना है। यह शीतकाल में स्वयं नष्ट हो जाता है। दूसरा सिध्मकुष्ठ कष्टसाध्य होता है। अतएव चरक ने इसकी गणना सात कुष्ठों में की है।

काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्तु सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानि [1]पापीयसा सर्वकुष्ठलिङ्गसम्भवेनानेकवर्णानि काकणानीति विद्यात्। तान्यसाध्यानि, साध्यानि पुनरितराणि॥ ८॥

७. काकणककुष्ठ के लक्षण—पाप कर्म करने वाले पुरुषों को जो रोग के प्रारम्भ में लाल घुंघची के सदृश, बाद में (रोग का वास्तविक रूप धारण कर लेने पर) कुष्ठों के सभी लक्षणों से युक्त दिखायी देते हैं, इसमें सभी कुष्ठों के लक्षण होते हैं, अतएव ये अनेक वर्ण के होते हैं। इनको काकणककुष्ठ समझें।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार काकणककुष्ठ का स्वरूप यह है—'काकणन्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्तकृष्णानि'। सु० नि० अ० ५।८। अर्थात् घुंघची के समान चारों ओर लाल और बीच में काले काकणककुष्ठ होते हैं। यहाँ चरक और सुश्रुत के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है, केवल शब्दों का संक्षेप-विस्तार है।

[illegible] काकणककुष्ठ तक सात प्रधान कुष्ठों का वर्णन किया गया है। शेष क्षुद्र कुष्ठों के भेद एवम् चिकित्सा का वर्णन आगे चिकित्सास्थान में देखें।

तत्र यदसाध्यं तदसाध्यतां नातिवर्तते, साध्यं पुनः किञ्चित् साध्यतामतिवर्तते कदाचिदपचारात्। साध्यानि हि षट् काकणकवर्ज्यान्यचिकित्स्यमानान्यपचारतो वा दोषैरभिष्यन्दमानान्यसाध्यतामुपयान्ति॥ ९॥

साध्यासाध्यनिर्णय—इन कुष्ठों में जो असाध्य हैं, वे सदैव असाध्य ही रहते हैं अर्थात् कभी साध्य नहीं हो सकते अथवा असाध्यता को नहीं छोड़ते किन्तु साध्य कुष्ठ कुछ साध्यता का अतिक्रमण कर बैठते हैं कभी-कभी अपचार (आहार-विहार तथा चिकित्सा की गड़बड़ी होने) से, ऊपर कहे गये कुष्ठों में काकणक को छोड़कर शेष छः कुष्ठ साध्य होते हैं। शेष छः उचित समय पर चिकित्सा न करने अथवा अपचार से या दोषों के पूर्णरूप से आक्रमण कर लेने के कारण असाध्यता को प्राप्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—साध्य-असाध्य का व्यापक निर्णय आगे चरक नि० अ० ८ श्लोक ३३-३५ में देखें।

साध्यानामपि ह्युपेक्ष्यमाणानां त्वङ्मांसशोणितलसीकाकोथक्लेदसंस्वेदजाः क्रिमयोऽभिमूर्च्छन्ति; ते भक्षयन्तस्त्वगादीन् [2]दोषाः पुनर्दूषयन्त इमानुपद्रवान् पृथक् पृथगुत्पादयन्ति—तत्र वातः श्यावारुणवर्णं परुषतामपि च रौक्ष्यशूलशोषतोदवेपथुहर्षसङ्कोचायासस्तम्भसुप्तिभेदभङ्गान्, पित्तं दाहस्वेदक्लेदकोथस्रावपाकरागान्, श्लेष्मा त्वस्य श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवोत्सेधोपस्नेहोपलेपान्, क्रिमयस्तु त्वगादींश्चतुरः सिराः स्नायूंश्चास्थीन्यपि च तरुणान्याददते[3]॥ १०॥

दोषानुसार कुष्ठों में परिवर्तन—साध्य कुष्ठों की भी यदि उपेक्षा (समय पर चिकित्सा नहीं) की जाती तो त्वचा, मांस, रक्त, लसीका के सड़ जाने तथा क्लेदयुक्त हो जाने से स्वेदज क्रिमि पड़ जाते हैं। वे क्रिमि

१. 'पापीयसाम्' इति पा०।
२. 'दोषान्' इति पा०।
३. '—खादन्ति' इति पा०।

त्वचा आदि को खा देते हैं। इधर उक्त वातादि दोष त्वचा आदि को फिर से और अधिक दूषित करते हुए इन उपद्रवों को अलग-अलग उत्पन्न करते हैं। इनमें वायु के प्रकोप से श्याव (Dark-brown), अरुण, वर्ण, कठोरता, रूक्षता, शूल, शोष, तोद, कम्पन, रोमहर्ष, अंगों में संकोच, आयास (परिश्रम के बिना थकावट का अनुभव), जड़ता, शून्यता, फटने की-सी पीड़ा, अंग भंग (नाक तथा उँगलियों का गल जाना आदि) लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। पित्त के प्रकोप से—दाह, स्वेद, क्लेद (गीलापन), सड़न, स्राव (पंछा-सा बहना), पाक और घाव में लालिमा होती है। कफ के प्रकोप से—सफेदी, शीतता, खुजली, कठोरता, भारीपन, रुग्ण स्थान पर उभार, चिकनापन और अंगों में लिपे हुए का-सा अनुभव होना आदि लक्षण होते हैं। क्रिमियाँ त्वचा, रक्त, मांस, लसीका, सिरा, स्नायु और तरुणास्थियों (कार्टिलेज) को खा जाती हैं।

अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति। तद्यथा—प्रस्रवणमङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च तथाविधमसाध्यं विद्यादिति॥ ११॥

कुष्ठ के उपद्रव—उपर्युक्त स्थिति में कुष्ठ रोगी को ये उपद्रव आक्रान्त करते हैं। वे इस प्रकार हैं—निरन्तर मवाद का बहते रहना, अंगों में फटने की-सी पीड़ा का होना, शरीर के अवयवों का टूटकर गिरना, प्यास, ज्वर, अतीसार, दाह, दुर्बलता, भोजन के प्रति अरुचि, खाये हुए भोजन का ठीक-ठीक न पचना, इस प्रकार के कुष्ठरोग को असाध्य समझना चाहिये।

भवन्ति चात्र—

साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते। स किञ्चित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते॥१२॥
यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते॥१३॥
यथा ह्यल्पेन यत्नेन च्छिद्यते तरुणस्तरुः। स एवातिप्रवृद्धस्तु च्छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः[1]॥१४॥
एवमेव विकारोऽपि तरुणः साध्यते सुखम्। विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते॥१५॥

इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक कहे गये हैं—जो मनुष्य यह रोग तो साध्य है इसकी चिकित्सा में शीघ्रता क्या करनी है, यह सोचकर रोग की उपेक्षा कर देता है, वह कुछ समय बाद मरा हुआ ही जाना जाता है। जो रोग की उत्पत्ति के पहले ही (स्वस्थवृत्त का सेवन रूप उपचार करता है) अथवा रोग की प्रारम्भिक स्थिति में चिकित्सा प्रारम्भ कर लेता है, वह चिरकाल तक सुख भोगता है। प्रारम्भिक रोग को जीतने में उपमा—जिस प्रकार थोड़े से प्रयत्न से नया वृक्ष काटा जा सकता है, वही अधिक बढ़ने पर अत्यन्त प्रयत्न करने पर काटा जाता है। इसी प्रकार नया रोग भी सुखपूर्वक साध्य होता है, वही रोग बढ़ जाने पर कष्टसाध्य तथा असाध्य भी हो जाता है।

तत्र श्लोकः—

सङ्ख्या द्रव्याणि दोषाश्च हेतवः पूर्वलक्षणम्। रूपाण्युपद्रवाश्चोक्ताः कुष्ठानां कौष्ठिके पृथक्॥१६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
कुष्ठनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अध्याय-उपसंहार—कुष्ठों की संख्या, द्रव्य (वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्त, मांस, लसीका), दोष (४ थे गद्य में कहे गये दोष प्रकार), हेतु (निदान), पूर्वरूप, रूप (लक्षण) और उपद्रव इनका पृथक्-पृथक् वर्णन इस कुष्ठनिदान अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न पण्डित तारादत्त त्रिपाठी के पुत्र डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी-व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में कुष्ठनिदान नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त॥ ५॥

१. 'यत्नात् कृच्छ्रेण छिद्यते' ग.।

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कुष्ठ-निदान का वर्णन करने के पश्चात् अब हम शोष-निदान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—निदानार्थकर रोगों का जो क्रम महर्षि आत्रेय ने दिया है, वह इस प्रकार है—'रक्तपित्तज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।...कासात् सञ्जायते क्षयः। क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपलभ्यते'। च० नि० अ० ८।१७-१९। किन्तु चरक में उक्त क्रम से यहाँ शोष-निदान को अवसर नहीं दिया गया है। प्रायः भिन्न-भिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं में अपने दृष्टिकोण से रोगों के वर्णन का स्वतन्त्र क्रम देखा जाता है।

शोष शब्द परिचय—शुष् शोषणे धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'शोष' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसी के पर्याय शब्द हैं—**क्षय** और **यक्ष्मा**। क्षि क्षये धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'क्षय' और यक्ष-पूजायाम् धातु से 'मनिन्' (उणादि) प्रत्यय करने पर 'यक्ष्मा' शब्द की निष्पत्ति होती है।

इनके अर्थ—१. **शोष** = शोषण करने वाला रोग। २. **क्षय** = क्षीण करने वाला रोग। ३. **यक्ष्मा** अथवा **राजयक्ष्मा** = जिसके कारण रोगी द्वारा चिकित्सक की पूजा की जाती है।

सुश्रुत का स्पष्टीकरण—'संशोषणाद् रसादीनां **शोष** इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च **क्षय** इत्युच्यते पुनः॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं **राजयक्ष्मेति** केचिदाहुः पुनर्जनाः'॥ सु० उ० अ० ४१।४-५। रस आदि धातुओं का शोषण करने के कारण इसे **शोष** कहा जाता है। क्रियाओं का क्षय करने से **क्षय** और नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को सर्वप्रथम यह रोग हुआ था, इसलिये कुछ लोग इसे **राजयक्ष्मा** कहते हैं।

राजयक्ष्मा (Tuberculosis) शब्द के सम्बन्ध में यह आख्यायिका है कि प्रजापति ने अपनी अश्विनी आदि अट्ठाईस कन्याओं (नक्षत्रों) का विवाह चन्द्रमा के साथ कर दिया। चन्द्रमा ने अश्विनी आदि की तुलना में रोहिणी के प्रति अधिक आसक्ति दिखायी। अन्य कन्याओं ने पिता से इसकी शिकायत की तब प्रजापति ने चन्द्रमा से सभी कन्याओं के साथ समान व्यवहार करने को कहा, किन्तु फिर भी चन्द्रमा के व्यवहार में कोई परिवर्तन न देख और अपने वचनों की उपेक्षा सोचकर प्रजापति क्रुद्ध हुए। उनके क्रोध से यक्ष्मा-रूपी विष चन्द्रमा में प्रवेश कर गया, फलतः चन्द्रमा प्रभाहीन होने लगा। चन्द्रमा द्वारा क्षमा-प्रार्थना करने पर प्रजापति ने अश्विनीकुमारों से इनकी चिकित्सा करा दी। यह **'व्यवायशोष'** का एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है।

विशेष वक्तव्य—इस शोष रोग में रस-रक्त आदि धातुओं का धीरे-धीरे शोषण होने लगता है। शारीरिक, मानसिक एवम् बौद्धिक क्रियाओं का भी क्षय हो जाता है, अतः इसको क्षय कहते हैं। इस रोग में यह भी देखा गया है कि अपने-अपने स्थान में स्थित धातु सूख जाते हैं और शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। रस सौम्य धातु है। देखें—'स खलु द्रवानुसारी स्नेहन-जीवन-तर्पण-धारणादिभिः विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते', सु० सू० अ० १४।३। अतः यह सोमात्मक रसधातु का रोग है, इसीलिये इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से जोड़ा जाता है या जोड़ा गया हो।

इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति। तद्यथा—साहसं सन्धारणं क्षयो विषमाशनमिति ॥ ३ ॥

शोष के ४ कारण—यहाँ शोष के चार कारण दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—१. साहस, २. संधारण, ३. क्षय और ४. विषमाशन।

तत्र साहसं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्रम्, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति,

अप्सु वा प्लवते चातिदूरम्, [1]उत्सादनपदाघातने वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा, अन्यद् वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते।

(१) साहस की व्याख्या—जो यहाँ साहस को शोष का घर कहा गया है, उसकी व्याख्या आगे करेंगे। जब दुर्बल पुरुष बलवान् के साथ विग्रह (झगड़ा) करता है, या बहुत बड़े धनुष को चढ़ाने का यत्न करता है या बहुत ज्यादा अंट-संट बोलता है, या शक्ति से अधिक भार को उठा लेता है, या पानी में बहुत दूर तक तैरने लगता है, या अधिक शक्तिशाली व्यक्ति से उबटन, तेल-मालिश, या पैरों से शरीर पर आघात कराता है (अपने शरीर को कुचलवाता है), या बहुत दूर वाले मार्ग को दौड़कर पार करता है, या किसी प्रकार से आघात लग जाता है, या इसी प्रकार का और कोई विषम या अत्यधिक व्यायाम (शरीर को धक्का देने जैसे कार्यों) को शुरू करता है, तो उस अधिक किये गये कार्य से उस दुःसाहस करने वाले पुरुष के उरस् (छाती) में क्षत हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में साहस अर्थात् दुस्साहस की कुछ घटनाओं के उदाहरण दिये हैं। **साहसम्**—'सहसि बले भवम्'। **तत्र भवः**, इति अण्, 'साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि। अविमृश्यकृतौ धाष्टर्ये', इति हैमः। दुष्करकर्म तथा अविमृश्यकृति (बिना विचारे किया हुआ कार्य) ये दोनों ही शोष के प्रमुख कारण हैं।

'साहसं शोषस्यायतनम्'—साहस शोष का घर है। जिन व्याख्याकारों ने 'आयतन' का अर्थ कारण लिखा है, उसका दायित्व उन्हीं पर है परन्तु तन्त्रकार ने आयतन का मुहावरेदार जो प्रयोग किया है, वह अपने में महत्वपूर्ण है।

तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः। स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसङ्गृह्य[2] पित्तं च दूषयन् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च।

साहसजनित क्षय की सम्प्राप्ति—साहसिक कार्यों को करने से हुए उरःक्षत वाले पुरुष के उस (उरःक्षत) में वायु भर जाती है। वहाँ रुककर वह वायु उरस् (फुफ्फुस) में स्थित कफ को लेकर और पित्त को दूषित करता हुआ ऊपर, नीचे तथा तिरछे घूमने लगता है।

तस्य योंऽशः शरीरसन्धीनाविशति तेनास्य जृम्भाऽङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते, [3]यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेन रोगा भवन्ति उरस्या अरोचकश्च, यः कण्ठमभिप्रपद्यते [4]कण्ठस्तेनोद्ध्वसते स्वरश्चावसीदति, यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्च जायते, यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते; ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्य चोद्ध्वंसनात् कासः सततमस्य सञ्जायते, कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, [5]शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते; एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति। ततः स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति, तस्मात् पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य तदनुरूपाणि कर्माण्यारभेत कर्तुं; बलसमाधानं हि शरीरं, शरीरमूलश्च पुरुष इति ॥ ४ ॥

साहसजनित क्षय के लक्षण—उस वायु का जो अंश शरीरगत सन्धियों में प्रवेश करता है, उससे इस क्षय रोगी को जँभाई, अङ्गों में मसले जाने की-सी पीड़ा, और ज्वर हो जाता है तथा उसका जो भाग आमाशय में पहुँचाता है, उससे उरस् (वक्षः) प्रदेश के रोग हो जाते हैं और अरोचक (भोजन के प्रति अरुचि) हो

१. 'उत्सादनपराघातेन' यो.।

२. 'उपसंसृज्य शोषयन् विहरति' इति पा.।

३. 'यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेनास्य वर्चो भिद्यते, यस्तु हृदयमाविशति तेन रोगा भवन्त्युरस्याः, यो रसनां तेनास्यारोचकः'। इति पा०।

४. 'कण्ठस्तेनोद्ध्वस्य' इति पा०।

५. 'शोणितगमनाच्चास्यदौर्गन्ध्यमुपजायते' ग.।

जाती है। जो कण्ठ की ओर उसका अंश जाता है, उससे कण्ठोद्ध्वंस (गला खराब होना) तथा स्वर भेद हो जाता है। जो भाग प्राणवहस्रोतों में जाता है, उससे श्वास एवम् प्रतिश्याय हो जाता है, जो अंश शिर में पहुँचता है, उससे शिरःशूल आदि पीड़ा होती है, तदनन्तर उरस् (फुफ्फुस) में घाव होने से, वायु की विषमगति होने से तथा गला (स्वरयन्त्र) के विकार युक्त हो जाने से ऐसे पुरुष को लगातार खांसी आने लगती है। वह खांसने के साथ छाती में घाव होने के कारण खून थूकने लगता है, अर्थात् कफ के साथ खून आने लगता है। रक्त के बार-बार निकल जाने में इसको दुर्बलता हो जाती है। इस प्रकार ये साहसिक कार्य करने से उत्पन्न उपद्रव उक्त प्रकार के साहसी पुरुष को घेर लेते हैं। तदनन्तर वह इन शोषण करने वाले उपद्रवों से पीड़ित होकर धीरे-धीरे सूखने लगता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अपने शारीरिक बल को देखकर या समझकर उसके अनुसार कार्य करना आरम्भ करे। यह शरीर बल (शक्ति) द्वारा ही धारण किया जा सकता है और पुरुष का मूल (आधार) शरीर ही है।

भवति चात्र—

साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः। जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥ ५ ॥

इस सम्बन्ध में एक श्लोक है—अपने जीवन की रक्षा करते हुए पुरुष को चाहिये कि वह साहस कर्म (अपनी शक्ति से अधिक कार्य) को छोड़ दे। क्योंकि जीवित रहता हुआ पुरुष अपने कर्मों का मनोभिलषित फल का भोग करता है।

सन्धारणं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तुः समीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसभमन्यं वा सतां समाजं स्त्रीमध्यं वा समनुप्रविश्य यानैर्वाऽप्युच्चावचैरभियान्[1] भयात् प्रसङ्गाद्ध्रीमत्त्वाद् घृणित्वाद् वा निरुणद्ध्यागतान् वातमूत्रपुरीषवेगान् तदा तस्य सन्धारणाद् वायुः प्रकोपमापद्यते।

(२) सन्धारण की व्याख्या—जो सन्धारण (वेगों का रोकना) को शोष का घर कहा गया है, उसकी व्याख्या हम यहाँ करेंगे। जब मनुष्य राजा के समीप या स्वामी के समीप या गुरुचरणों के समीप, जुआ की गोष्ठी में या सभ्यसमाज में या स्त्रियों के बीच में या ऊँचे-नीचे यानों से जाते हुए अर्थात् शरीर को झकझोर देने वाली सवारियों से यात्रा करते हुए; भय से, प्रसंग (मैथुन करने) से, लज्जा के कारण, घृणा (बदबू = दुर्गन्ध उत्पन्न होने के भय) से वात (अपानवायु), मूत्र, मल के आये हुए वेगों को रोक देता है, तब उस-उस वेग को रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है।

स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ समुदीर्योऽर्ध्वमधस्तिर्यक् च विहरति।

सन्धारणजनित क्षत की सम्प्राप्ति—वह प्रकुपित वायु पित्त और कफ को उभाड़ कर ऊपर, नीचे तथा तिरछे फैल जाती है, अर्थात् सर्वत्र स्वच्छन्द हो विहार करती है।

ततश्चांशविशेषेण पूर्ववच्छरीरावयवविशेषं प्रविश्य शूलमुपजनयति, भिनत्ति पुरीषमुच्छोषयति वा, पार्श्वे चातिरुजति, अंसाववमृद्नाति, कण्ठमुरश्चावधमति, शिरश्चोपहन्ति, कासं श्वासं ज्वरं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति; ततः स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरेष्वेव योगक्षेमकरेषु प्रयतेत विशेषेण; शरीरं ह्यस्य मूलं, शरीरमूलश्च पुरुषो भवति ॥ ६ ॥

सन्धारणजनित क्षय के लक्षण—उपर्युक्त प्रकार से असंधारणीय वेगों को रोकने से प्रकुपित वायु अपने अंश विशेष से पहले (साहसजनित क्षय) की भांति शरीर के उन-उन अवयव विशेषों में प्रवेश कर शूल को उत्पन्न करता है, मलभेद (अतिसार) कर देता है, या मल को सुखा देता है, पसलियों में पीड़ा उत्पन्न करता है। अंसफलकों (कन्धों) को मसल-सा देता है, कण्ठ (गला) और उरस् (फुफ्फुसों) को पीड़ित करता है,

१. 'अभिगच्छन्' इति पा०।

शिर में शूल पैदा कर देता है, कास, श्वास, ज्वर, स्वरभेद और प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। तदनन्तर वह (रोगी) इन शोषणकारक उपद्रवों से युक्त होकर धीरे-धीरे सूखने लगता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह शरीर के योग तथा क्षेमकारक भावों (पदार्थों) की प्राप्ति के लिये विशेष रूप से प्रयत्न करे। शरीर ही पुरुष का मूल है और शरीर मूलक ही पुरुष होता है।

वक्तव्य—यहाँ 'योग-क्षेम' पारिभाषिक' शब्द है। योग का अर्थ है—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है—प्राप्त वस्तु की रक्षा। अस्वस्थ पुरुष का कर्तव्य है कि वह सद्वृत्त आदि के अनुष्ठान से स्वास्थ्य की प्राप्ति करे; यह आयुर्वेदीय **'योग'** है और स्वस्थ शरीर की रक्षा करना **'क्षेम'** है। यही आयुर्वेद का सिद्धान्त भी है।

भवति चात्र—

सर्वमन्यत् परित्यज्य **शरीरमनुपालयेत्। तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥ ७ ॥**

शरीर-रक्षा-निर्देश—अन्य सभी कार्यों को छोड़कर शरीर की रक्षा करनी चाहिये। उस (शरीर) के अभाव में शरीरियों (प्राणवालों) के लिये सब भावों (चारों पुरुषार्थों) का अभाव हो जाता है।

वक्तव्य—यह शरीररक्षा-विधान आयुर्वेद का सार्वभौम सिद्धान्त है। स्वस्थ शरीर रूपी नींव पर ही आयुर्वेद के सिद्धान्तों का भवन स्थिर हो पाता है। और भी—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग की सिद्धि उत्तम स्वास्थ्य पर ही निर्भर है, इसी से अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की भी प्राप्ति होती है। इसीलिये कहा गया है कि स्वास्थ्य-रक्षा की तुलना में अन्य सभी सांसारिक कार्यों को छोड़ कर पहले शरीर की रक्षा करे। यदि वह कार्यक्षम नहीं रहा तो मनुष्य अपने जीवन में कोई कार्य नहीं कर सकता।

क्षयः शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरिगतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभयक्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति; स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति, अप्रतीकाराच्चानुबध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणरूपेण।

(३) क्षय की व्याख्या—क्षय शोष का घर है, ऐसा जो पहले कहा गया है उसकी यहाँ व्याख्या करेंगे। जब मनुष्य का हृदय शोक तथा चिन्ता से अधिक घिरा रहता है अथवा ईर्ष्या, उत्कण्ठा (किसी वस्तु की प्राप्ति-इच्छा) भय, क्रोध आदि से ग्रस्त रहता है, पहले से कृश होने पर भी रूक्ष अन्न-पान का सेवन करता है अथवा स्वभाव से ही दुर्बल होने पर भी यदि भूखा रहता है या थोड़ा भोजन करता है, तब उसके हृदय में रहने वाला रसधातु क्षीण हो जाता है। वह व्यक्ति उस रस धातु से क्षीण होने से शोष को प्राप्त हो जाता है और समय पर उचित चिकित्सा न करने से आगे कहे जाने वाले यक्ष्मा रोग के लक्षणों से आक्रान्त हो जाता है।

यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते[1], तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमेति। क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्तते, तस्य चातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्तते[2]ऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्, तथाऽस्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्। अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च सन्धयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपमापद्यते; स प्रकुपितो [3]वशिकं शरीरमनुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्मपित्ते, परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, अवमृद्नात्यंसौ, कण्ठमुद्ध्वंसति, शिरः श्लेष्माणमुत्क्लेश्य प्रतिपूरयति श्लेष्मणा, सन्धींश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च,

१. 'अतिप्रयोगमारभते' ग.।

२. 'अतिमात्रोपक्षीणत्वात्' इति पा०।

३. 'ऽरसिकं' ग.।

पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति; [1]स कास-प्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते, ततः स उपशोषणैरेतैरुप-द्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षञ्छुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति ॥ ८ ॥

क्षयज शोष की सम्प्राप्ति—जब पुरुष अत्यन्त प्रसन्नता से या अत्यन्त काम वेग से प्रेरित होकर अनेक स्त्रियों के साथ मैथुन करता है तब उसके अधिक मैथुन करने से वीर्य क्षीण हो जाता है। यदि इस प्रकार के पुरुष का मन वीर्य के क्षीण होने पर भी स्त्रियों से निवृत्त नहीं होता अर्थात् फिर भी मैथुन करता रहता है, ऐसे पुरुष का मैथुन करने पर भी शुक्र (वीर्य) के क्षीण हो जाने के कारण उस कामवासना के प्रति दृढ़ संकल्प वाले पुरुष का मैथुन करने पर भी शुक्र (वीर्य) के क्षीण हो जाने के कारण जब शुक्र नहीं निकल पाता तब निरर्थक मैथुन रूप व्यायाम करने वाले इस पुरुष के शरीर में वायु धमनियों में प्रवेश कर उन रक्तवाहिनी सिराओं से रक्त का स्राव करा देता है, फिर शुक्र के क्षय हो जाने के कारण शुक्र वाहिनियों से वायु के लक्षणों से युक्त रक्त निकलने लगता है। तदनन्तर इस पुरुष के शुक्र (वीर्य) के क्षय होने तथा रक्त निकलने के कारण सन्धियां शिथिल (ढीली) हो जाती हैं, रूक्षता उत्पन्न हो जाती है, फिर शरीर में दुर्बलता आ जाती है अतः वायु और भी अधिक प्रकुपित हो जाता है। वह प्रकुपित वायु वशिक (वीर्य तथा रक्त हीन) शरीर में फैलता हुआ कफ और पित्त को उभाड़ कर रक्त और मांस को सुखा देता है, फिर कफ तथा पित्त को निकालने लगता है, पसलियों में पीड़ा होने लगती है, अंसफलकों में मसल देने का सा कष्ट होने लगता है, गला खराब हो जाता है, कफ को उभाड़कर कफ से शिर को भर देता है, सन्धियों को पीड़ित करता हुआ अङ्गमर्द, अरुचि एवम् अनपच पैदा कर देता है। पित्त और कफ के उभड़ने तथा अपनी गति के प्रतिलोम होने से वायु ज्वर, कास, स्वरभेद और प्रतिश्याय को पैदा कर देता है, वह कास के सम्बन्ध से उरस् (छाती) में घाव होने पर खून थूकता है, अर्थात् जब वह थूकता है तो उसके साथ खून निकलता है, रक्त के निरन्तर निकलने से इस रोगी में दुर्बलता आ जाती है। तब वह इन सुखाने वाले उपद्रवों से युक्त होकर धीरे-धीरे सूख जाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अपने शरीर की इच्छा करता हुआ शुक्र (Seman) की सदैव रक्षा करे। यह शुक्र धातु आहार का सर्वोत्तम फल है।

वक्तव्य—ऊपर '**वशिक**' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसका अर्थ है—'वशिकं तुच्छरिक्तके'। अमरकोष। तुच्छ अथवा रिक्त (खाली)। जब आहार का उत्तम फल या निष्कर्ष वीर्य ही है तो निश्चित ही उस (वीर्य) के निकल जाने पर शरीर तुच्छ भी कहा जा सकता है और रिक्त (खाली) भी। अतः हमारी समझ से आचार्य गणनाथसेन ने 'अरसिकं' पाठ-निर्धारण का निरर्थक प्रयास किया है, अस्तु।

भवति चात्र—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः। [2]क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥ ९ ॥

शुक्ररक्षा-निर्देश—आहार की चरम उपलब्धि शुक्र है। अतः अपने उस शुक्र की रक्षा करनी चाहिये। इसका क्षय अनेक रोगों अथवा मृत्यु को भी देता है।

वक्तव्य—ऊपर शुक्रक्षय से उत्पन्न यक्ष्मा का विवेचन चरक की दृष्टि से किया गया है। अतः यहाँ सुश्रुत का अभिप्राय देखें—'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद् वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पं रक्तशुक्रप्रदर्शनम्'। सु० सू० अ० १५।९ तथा सु० उ० अ० ४१ में देखें।

विषमाशनं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं, तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषः पानाशनभक्ष्यलेह्योप-योगान् प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपशयविषमानासेवते, तदा तस्य तेभ्यो वातपित्तश्ले-ष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते; ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा [3]स्रोतसामयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते तदा

१. एतदनन्तरं गङ्गाधरमते क्वचित् 'स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्य-मुपजायते' इत्यधिकः पाठो न लभ्यते।

२. 'क्षयादस्य बहून् रोगान्मरणं वाऽधिगच्छति' यो.।

३. 'स्रोतांस्यायतिमुखानि' ह.। 'स्रोतसां मुखानि' यो.।

जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्रपुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं नान्यस्तथा शरीरधातुः; स पुरीषोपष्ट-म्भाद् वर्तयति, तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यं तथाऽन्येषामतिकृशदुर्बलानां; तस्यानाप्याय्यमानस्य विषमाशनोपचिता दोषाः पृथक् पृथगुपद्रवैर्युञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोषयन्ति। तत्र वातः शूलमङ्गमर्दं कण्ठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरुजनमंसावमर्दं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति; पित्तं ज्वरमतीसारमन्तर्दाहं च; श्लेष्मा तु प्रतिश्यायं [1]शिरसो गुरुत्वमरोचकं कासं च, स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं निष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते। एवमेते विषमाशनोपचितास्त्रयो दोषा राजयक्ष्माणमभिनिर्वर्त-यन्ति। न तैरुपशोषणैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैः शुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमान् प्रकृतिकरणसंयोग-राशिदेशकालोपयोगसंस्थोपशयादविषममाहारमाहरेत् ॥ १० ॥

(४) विषमाशन की व्याख्या—विषम भोजन शोष (क्षय) का घर है, ऐसा जो कहा गया है उसकी हम यहाँ व्याख्या करेंगे। जब मनुष्य खान, पान, भक्ष्य, लेह्य (चाट कर खाने योग्य) पदार्थों का प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था तथा उपशय (सात्म्य) से विषम (विपरीत) सेवन करता है, तब उसका उन (खान-पान आदि की विषमता) से वात, पित्त, कफ विषम (ह्रास या वृद्धि को प्राप्त) हो जाते हैं। वे विषम वातादिधातुएँ, शरीर का अनुसरण करती हुई जब स्रोतों के मार्गों के अग्रभागों को घेर लेती हैं, तब वह मनुष्य जो-जो आहार करता है, वह वह उसका अधिकांश मूत्र-पुरीष (मल) के रूप में ही बदल जाता है न कि स्वस्थ पुरुष द्वारा खाये हुए भोजन की भांति रसादिधातुओं की उत्पत्ति कर पाता है। वह केवल मल के बल पर ही जीवित रहता है, इसलिये क्षयी पुरुष के मल की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये, इसी प्रकार अतिकृश और दुर्बलों के भी मल की रक्षा करें। जिसकी रसादि धातुएँ इस प्रकार पुष्ट नहीं हो पा रही हैं उस पुरुष के विषमाशन के कारण बढ़े हुए दोष अलग-अलग उपद्रवों से युक्त होते हुए शरीर को और भी सुखा देते हैं।

वातदोष—शूल, अङ्गों में पीड़ा, कण्ठ का खराब होना, पसलियों में पीड़ा, कंधों में पीड़ा, स्वरभेद तथा प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न कर देता है। **पित्तदोष**—ज्वर, अतिसार एवम् अन्तर्दाह को पैदा कर देता है। **कफदोष**—प्रतिश्याय, शिर का भारीपन, अरुचि और कास को उत्पन्न करता है, वह रोगी खांसी के कारण उरःक्षत (छाती में घाव) हो जाने के कारण खून थूकने लगता है। रक्त के निकलने से दुर्बलता हो जाती है।

इस प्रकार ये विषम भोजन से बढ़े हुए तीनों दोष राजयक्ष्मा को उत्पन्न कर देते हैं। वह इन सुखाने वाले उपद्रवों से युक्त होकर धीरे-धीरे सूख जाता है। इसलिये मतिमान् पुरुष को चाहिये कि वह प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था, उपशयों के सर्वथा अनुकूल आहार का सेवन करे।

भवति चात्र—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात् ॥ ११ ॥

विषमाशन का निषेध—विषम (प्रतिकूल) अशन (भोजन) से अनेक रोगों तथा कष्टों की उत्पत्ति को होते देखकर हितकर भोजन करे, परिमाण के अनुकूल भोजन करे और समय पर भोजन करे एवम् जितेन्द्रिय रहे।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने यहाँ शोष, क्षय अथवा राजयक्ष्मा के चार कारणों का उल्लेख किया है, जिनका व्याख्यान ऊपर किया गया है। सामान्य रूप से शोषरोग दो प्रकार का होता है—१. कफ प्रधान दोषों द्वारा रसवाही स्रोतों के रुक जाने पर, इसी को दूसरे शब्दों में **अनुलोमक्षय** कहते हैं। इसमें रसवाही स्रोतों के रुक जाने के कारण दूसरी धातुओं का समुचित रूप से पोषण नहीं होता, क्योंकि अन्नपान का रस ही सब धातुओं का प्रीणन करता है। देखें—सु० सू० अ० १४ श्लोक ११। २. अतिमैथुन से जब शुक्र धातु का क्षय होता है तब मज्जा, अस्थि आदि धातुओं का भी उसी प्रकार क्षय होने लगता है जिस प्रकार किसी बड़े जलाशय के क्षीण होते समय उसमें रहने वाले जल-जन्तुओं का क्षय हो जाता है। इसी प्रकार वीर्य के क्षीण होने पर दूसरे धातु भी क्षीण हो जाते हैं। फलतः शरीर सूखने लगता है, साथ ही साथ कायिक, वाचिक,

१. 'शिरःशूलम्' ग.।

मानसिक सभी क्रियाओं का क्षय हो जाता है। इसे **प्रतिलोमक्षय** कहते हैं। हमारी दृष्टि से अनुलोम को 'शोष' तथा प्रतिलोम को 'क्षय' की संज्ञा देनी चाहिये। आजकल ऐलोपैथी में जिसे 'टी० बी०' अथवा 'थाइसिस' (Phthisis) कहते हैं वही वास्तव में चरकसंहिता में कहा गया 'शोष' रोग है।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत में राजयक्ष्मा के छः तथा ग्यारह रूपों का वर्णन मिलता है। देखें—सु० उ० अ० ४१ श्लोक ११–१३। इसके अनुसार छः रूप वाले राजयक्ष्मा में 'शोणित के दर्शन' (श्लो० ११) होते हैं। ग्यारह रूप वाले राजयक्ष्मा में 'रक्त का आगम (श्लो० १२), कास आदि छः रूप वाले में 'पार्श्वार्ति' और ज्वर आदि तीन लक्षण वाले में 'असृगामय' (श्लोक १५) = रक्त रोग अर्थात् मुख से रक्त का आना, यह फुफ्फुस में हुए क्षत का लक्षण है। रक्त का एक नाम 'क्षतज' भी है, जिसका अर्थ है—शरीर के किसी भाग में 'क्षत' = घाव होने से 'ज' = जन्म लेने (निकलने) वाला। 'एक्सरे' द्वारा प्रायः इसी का चित्र राजयक्ष्मा में लिया जाता है। इस उरःक्षत में से पहले रक्त आता है फिर पक जाने पर पूय (मवाद) और उसी रूप का कफ आता रहता है। कभी-कभी इसमें रक्ताणु भी दिखायी देते हैं, कभी नहीं।

एतैश्चतुर्भिः शोषस्यायतनैरुपसेवितैर्वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपमापद्यन्ते। ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति। तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद् राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः यस्माद् वा पूर्वमासीद् भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद् राजयक्ष्मेति ॥ १२ ॥

राजयक्ष्मा की परिभाषा—उपर्युक्त इन चार शोष के कारणों के सेवन करने से वात, पित्त, कफ दोष प्रकुपित हो जाते हैं। वे कुपित हुए दोष अनेक प्रकार के उपद्रवों से शरीर को सुखा देते हैं। उस शोष को सभी रोगों में अत्यधिक कष्टकारी होने के कारण चिकित्सक उसे राजयक्ष्मा कहते हैं। अथवा नक्षत्रों के राजा भगवान् चन्द्रमा को यह रोग पहले हुआ था इसलिये भी इसको राजयक्ष्मा कहते हैं।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—प्रतिश्यायः, क्षवथुरभीक्ष्णं, श्लेष्मप्रसेकः, मुखमाधुर्यम्, अनन्नाभिलाषः, अन्नकाले चायासः; दोषदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा भावेषु पात्रोदकान्नसूपापूपोपदंशपरिवेषकेषु; भुक्तवतश्चास्य हृल्लासः; तथोल्लेखनमप्याहारस्यान्तराऽन्तरा, मुखस्य पादयोश्च शोफः; पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थम्, अक्ष्णोः श्वेतावभासता चातिमात्रं, बाह्वोश्च प्रमाणजिज्ञासा, स्त्रीकामता, निर्घृणित्वं; बीभत्सदर्शनता चास्य काये, स्वप्ने चाभीक्ष्णं दर्शनमनुदकानामुदकस्थानानां शून्यानां च ग्रामनगरनिगमजनपदानां शुष्कदग्धभग्नानां च वनानां कृकलासमयूरवानरशुकसर्पकाकोलूकादिभिः संस्पर्शनमधिरोहणं यानं वा [1]श्वोष्ट्रखरवराहैः केशास्थिभस्मतुषाङ्गारराशीनां चाधिरोहणमिति (शोषपूर्वरूपाणि भवन्ति) ॥ १३ ॥

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप—उस राजयक्ष्मा के ये पूर्वरूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रतिश्याय, बार-बार छींकें आना, मुख से कफ तथा लार का निकलना, मुख का मीठा बना रहना, भोजन के प्रति इच्छा का न होना, भोजन के समय थकावट का-सा अनुभव, दोष रहित अथवा थोड़े दोष (मलिनता, गन्दगी आदि) वाली वस्तुओं तथा भोजनोपयोगी पात्र, उदक (जल), अन्न (भात), दाल, मालपुआ, उपदंश (चटनी या पकौड़े) परोसने वालों में दोष या गन्दगी का दिखायी देना, भोजन कर लेने के पश्चात् जी मिचलाना (यह लक्षण उक्त दोष दर्शन का ही प्रभाव है), भोजन के बाद थोड़ी-थोड़ी देर में वमन हो जाना, मुख और पैरों में सूजन, बार-बार अपनी हथेलियों की ओर देखना, आँखों में अधिक सफेदी का दिखायी देना (यह रक्त की कमी होने का लक्षण है।) अपनी बांहों का प्रमाण (लम्बाई) जानने की इच्छा, स्त्री-सहवास या स्त्री के साथ रहने की इच्छा, निर्दयता, इस रोगी के शरीर में घृणाजनक भावों का दिखायी देना, स्वप्न में बार-बार जलाशयों को सूखे रूप में देखना और गाँव, नगर (शहर), निगम (नगरभेद) जनपदों का उजड़ा हुआ (जनशून्य) देखना, सूखे, जले, काट दिये हुए वनों को देखना, कृकलास (छिपकली), मयूर, वानर, शुक, सर्प, कौआ और उल्लू आदि से छुआ जाना, घोड़ा, ऊँट, गधा, वराह (सूअर) इन पर चढ़ना या इनकी सवारी करना, अथवा केश, हड्डी, राख, धान की भूसी, आग के अङ्गारों के ढेर पर चढ़ना, ये शोष के पूर्वरूप होते हैं।

१. 'वराहोष्ट्रखरैः' यो.।

अत ऊर्ध्वमेकादशरूपाणि तस्य भवन्ति; तद्यथा—शिरसः परिपूर्णत्वं, कासः, श्वासः, स्वरभेदः, श्लेष्मणश्छर्दनं, शोणितष्ठीवनं पार्श्वसंरोजनम्, अंसावमर्दः, ज्वरः, अतीसारः, अरोचकश्चेति ॥ १४ ॥

यक्ष्मा के ग्यारह रूप—उक्त चार भेदों के अनन्तर राजयक्ष्मा के ग्यारह रूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. शिर का सदैव भरा हुआ रहना, २. कास, ३. श्वास, ४. स्वरभेद, ५. कफ का वमन, ६. रक्त थूकना, ७. पसलियों में वेदना, ८. कन्धों में मसलने की-सी पीड़ा, ९. ज्वर, १०. अतिसार एवम् ११. भोजन के प्रति अरुचि।

६ प्रमुख लक्षण—१. ज्वर। २. कास। ३. स्वरभेद। ४. शिरःशूल। ५. अरुचि। ६. पार्श्वशूल।

चरकोक्त राजयक्ष्मा-परिचय-तालिका

क्रम	साहसज	सधारणज	धातुक्षयज	विषमाशनज
१	ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
२	कास	कास	कास	कास
३	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद
४	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल
५	अरुचि	अरुचि	अरुचि	अरुचि
६	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
७	मलभेद	मलभेद	मलभेद	वमन
८	कंठोद्ध्वंस	वमन	अंगमर्द	प्रसेक
९	जृम्भा	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
१०	उरःशूल	अंसावमर्द	अंगमर्द	अंसताप
११	रक्तष्ठीवन	अंगमर्द	श्वास	रक्तष्ठीवन

सुश्रुतोक्त-भेद—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार राजयक्ष्मा के ये लक्षण होते हैं—१. ज्वर, २. कास, ३. स्वरभेद, ४. शिरोगौरव, ५. अरुचि, ६. पार्श्वशूल, ७. अतिसार, ८. कंठोद्ध्वंस, ९. संकोच, १०. दाह, ११ रक्तष्ठीवन।

आधुनिक दृष्टि से राजयक्ष्मा के विविध प्रकार

१. **तान्त्रिक यक्ष्मा** (Fibroid Phthisis) या **सौत्रिकतन्तुमय यक्ष्मा**—(Fibroid Pulmonary Tuberculosis)—यह रोग प्रायः वृद्ध पुरुषों में देखा जाता है।

२. **लसीका-ग्रन्थियों का राजयक्ष्मा** (Tuberculosis of the Lymphatic Glands)—इसमें राजयक्ष्मा से आक्रान्त लसीका ग्रन्थियों में निवास करने वाले यक्ष्मा दण्डाणु किसी भी समय अन्य स्थानों में पहुँचकर रोगोत्पत्ति कर सकते हैं।

३. **लसीकात्मक कलाओं का यक्ष्मा** (Tuberculosis of Serous Membrane)—श्यामकीय राजयक्ष्मा के अन्तर्गत इन कलाओं में भी यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है। इसके निम्नोक्त अवान्तर भेद देखे जाते हैं—(अ) फुफ्फुसावरणकला का यक्ष्मा (Tuberculosis of Pleura) (आ) हृदयावरणकला का यक्ष्मा—(Tuberculosis of Peritonium) (इ) उदरावरणकला का यक्ष्मा।

४. **सामान्य लसीकात्मक कलाओं का यक्ष्मा** (Tuberculosis of General Membrane) इसमें कुछ रोगियों की सभी लसीकात्मक कलायें एक साथ तथा कुछ की क्रमशः इससे आक्रान्त होती देखी जाती हैं।

५. **महास्रोतस् का यक्ष्मा** (Tuberculosis of the Alimentary Canal)—इस यक्ष्मा के निम्नलिखित भेद हैं—१ होंठों का यक्ष्मा; २. जीभ का यक्ष्मा, ३. लालाग्रन्थियों का यक्ष्मा, ४. तालु का यक्ष्मा, ५. तुण्डिकाओं का यक्ष्मा (Tuberculosis of Tonsils) ६. ग्रसनिका का यक्ष्मा, ७. आमाशय

का यक्ष्मा (Tuberculosis of Stomach) ८. आन्त्रीय यक्ष्मा (Tuberculosis of Intestine) यह रोग स्वतन्त्ररूप से बालकों में होता है।

६. **यकृतीय यक्ष्मा** (Tuberculosis of Lungs) अन्य यक्ष्माओं की तुलना में यह कम होता है। यह श्यामकीय, किलाटीय, आवरणीय तथा यकृद्दाल्युत्कर्ष भेदों से विदित है।

७. **मस्तिष्क तथा सुषुम्ना का यक्ष्मा**—यह तीन प्रकार का होता है—१. तीव्रश्यामकीय, २. चिरकारी मस्तिष्कावरण-मस्तिष्क प्रदाह और ३. एकाकी यक्ष्म (Solitary Tubercle)।

८. **मूत्रसंस्थानीय यक्ष्मा** (Tuberculosis of the Urinary System)—इसकी उत्पत्ति अत्यन्त दुर्बलता आने पर, मूत्र के अधिक होने पर तथा मृत्यु के सन्निकट आने पर होती है।

९. **प्रजननसंस्थानीय यक्ष्मा** (Tuberculosis of Genital System)—यह स्त्री तथा पुरुषों के प्रजननांगों में समानरूप से होता देखा जाता है। इससे तीन अवान्तर भेद हैं—१. डिम्बनलिकाओं का यक्ष्मा (Tuberculosis of Fallopion Tube), २. डिम्बग्रन्थियों का यक्ष्मा (Tuberculosis of the Ovaries) और ३. गर्भाशय का यक्ष्मा।

१० **स्तनों का यक्ष्मा**—यह प्रायः ३० से ६० वर्ष की अवस्था में होता देखा जाता है। इसमें स्तन परिधि में शोथ, चूचुकों का धँस जाना, फट जाना, या कड़ा हो जाना आदि लक्षण दिखायी देते हैं तथा स्तन के किसी भाग में 'राजयक्ष्मीय शीतविद्रधि' हो जाता है।

११. **अस्थि तथा सन्धिगत यक्ष्मा**—यह रोग १६ वर्ष से कम तथा ५० वर्ष से ऊपर अवस्था वालों को होता है। इसका संक्रमण रक्तवाहिनियों से होता है।

१२. **नासिकीय यक्ष्मा**—यह नासिका के अग्रभाग में भीतर की ओर छोटी-छोटी पिड़काओं से प्रारम्भ होकर नासाशरीर को आक्रान्त कर नासिका की दीवाल में छिद्र कर देता है।

१३. **स्वरयन्त्रीय यक्ष्मा**—यह फुफ्फुसीय यक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में कफ विकार से होता है।

१४. **यक्ष्मीयविद्रधि** (Tubercular Abscess) यह प्रारम्भ में किसी स्थान पर शोथ उत्पन्न होकर फिर अपनी जड़ जमाती है। यह विद्रधि कभी-कभी नाड़ीव्रण (नासूर) का रूप धारण कर लेती है।

१५. **त्वचीय यक्ष्मा**—यह यक्ष्मीय व्रण या त्वचागत अपची (Tubercular ulcers) के रूप में देखा जाता है। इसी का एक भेद है—कठिनरक्तमेयता (बेजिन का रोग), यह रोग प्रायः नवयुवतियों में ही मिलता है जो चिरकारी होता है। **यक्ष्मजत्वगपिडिका** (Lupus Vulgaris) यह रोग २५ वर्ष की अवस्था तक देखा जाता है, इसमें मृत्यु नहीं होती किन्तु कुरूपता आजाती है।

तत्रापरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः। [1]बलवानुपचितो हि सहत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः ॥ १५ ॥

साध्य क्षय-रोगी—जिस क्षय रोगी का बल, मांस, रक्त क्षीण न हुआ हो, रोगी स्वयं बलवान् आत्मबल से युक्त हो, अरिष्ट लक्षणों से रहित अर्थात् जिसमें अरिष्ट (मारक) लक्षण उत्पन्न न हुए हों फिर भले ही उसमें सभी क्षय के लक्षण दिखायी देते हों तो वह साध्य होता है। क्योंकि बलवान् मांस आदि से पुष्ट शरीर वाला ओषधियों तथा चिकित्सा के भार को सहन करने के कारण भले ही वह रोग अनेक लक्षणों वाला हो फिर भी उसको थोड़े ही लक्षणों वाला समझें।

दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमांसशोणितमल्पलिङ्गमजातारिष्टमपि बहुलिङ्गं जातारिष्टं च विद्यात्, असहत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य; तं परिवर्जयेत्, क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥ १६ ॥

असाध्यक्षय-रोगी—यदि रोगी दुर्बल है उसका बल, मांस, रक्त अधिक क्षीण हो चुका है। उसमें थोड़े ही लक्षण हों और जिसमें अरिष्ट के लक्षण उत्पन्न न हुए हों, उसको अनेक लक्षणों तथा उत्पन्न अरिष्ट लक्षणों वाला समझना चाहिये, क्योंकि वह रोग के कष्टों तथा औषध के बल को सहन नहीं कर सकता, अतः उसको

१. 'बलवर्णोपचितो' इति पा०।

छोड़ दे। क्योंकि अरिष्टों की उत्पत्ति क्षणभर में हो जाती है, उनकी उत्पत्ति में कोई कारण नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि 'क्षीणमांसबलशोणित' होना ही सबसे बड़ा अरिष्ट लक्षण है।

तत्र श्लोकः—

समुत्थानं च लिङ्गं च यः शोषस्यावबुध्यते। पूर्वरूपं च तत्त्वेन स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
शोषनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—जो शोषरोग का उत्पत्ति-कारण, लिङ्ग (रूप) तथा पूर्वरूप को भली भांति जानता है, वही राजा की चिकित्सा कर सकता है।

वक्तव्य—यद्यपि उत्तम चिकित्सक ही राजा की चिकित्सा के योग्य होता है किन्तु यहाँ राज्ञः शब्द से 'राजयक्ष्मा' अर्थ का भी ग्रहण तन्त्रकार को अभिमत रहा होगा, ध्यान दें।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न पण्डित **तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में शोषनिदान नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथात उन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

शोष-निदान वर्णन के पश्चात् अब हम उन्माद (Insanity) निदान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है। ——

वक्तव्य—'भयत्रासशोकैरुन्मादानाम्'। च० नि० अ० ८।११। चरक निदानस्थान के ८ वें अध्याय में दक्षयज्ञविध्वंस से जिन रोगों की उत्पत्ति की चर्चा की गयी है, तदनुसार कुष्ठ के पश्चात् 'अपस्मार' का उल्लेख किया गया है किन्तु चरक में स्वयं उस क्रम का निर्वाह नहीं देखा जाता, अस्तु।

उन्माद शब्द की निरुक्ति—उन्मदनम्, उन्मादः। उत् उपसर्गपूर्वक मदी हर्षे धातु से घञ् प्रत्यय करके **'उन्माद'** शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है—चित्त विभ्रम, अर्थात् नशा की स्थिति का हर्ष। यह एक मानसिक व्याधि है। देखें—सु० उ० अ० ६२।३। मद्यपान की जो चौथी दशा है, जिसको 'माधवकार' ने **'उन्मादमिव चापरम्'** कहकर, उसकी निन्दा की है, वह उन्माद की प्रारम्भिक अवस्था है।

इह खलु पञ्चोन्मादा भवन्ति, तद्यथा—वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ ३ ॥

उन्माद के ५ भेद—यहाँ उन्माद के पाँच भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज और ५. आगन्तुज।

तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः पुरुषाणामेवंविधानां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते, तद्यथा—भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानामुत्सन्नदोषाणां समलविकृतोपहितान्यनुचितान्याहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां [1]तन्त्रप्रयोगमपि विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां व्याधिवेग-

१. 'तन्त्रं शरीरं, तस्य परिपालनार्थं सद्वृत्तोक्तः प्रयोगस्तन्त्रप्रयोगः, तं' चक्रः। 'तन्त्रप्रयोगं वेदादिशास्त्रोक्तं स्वाभीष्टदेवतासिद्धिराजादिवशीकरणोच्चाटनादिनिमित्तं प्रयोगः'। गङ्गाधरः।

समुद्भ्रमितानामुपहतमनसां वा कामक्रोधलोभहर्षभयमोहायासशोकचिन्तोद्वेगादिभिर्भूयोऽभिघाताभ्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा[1] दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् ॥ ४ ॥

उन्माद की सम्प्राप्ति—उनमें दोषों (वात आदि) से होने वाले उन्माद रोग निम्नोक्त पुरुषों में शीघ्र ही उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—डरपोक, क्लेश युक्त मन वाले, उभड़े हुए वातादि दोषों वाले, मलयुक्त विकार वाले, दूषित अथवा अनुचित (असात्म्य) विविध प्रकार के आहारों (भक्ष्य, भोज्य आदि) को विषमता पूर्ण सेवन विधि से उपयोग करने वालों या तन्त्र प्रयोगों (देवता, मन्त्र आदि को सिद्ध करने की इच्छा) को विपरीत विधि से करने वाले तथा अन्य शारीरिक विषम चेष्टाओं के करने से क्षीण शरीर वाले, रोग के वेग से चञ्चल स्वभाव वाले या चकित हृदय वाले, या काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, भय, मोह, आयास (थकावट), शोक, चिन्ता, उद्वेग (घबड़ाहट) आदि तथा बार-बार लगी हुई चोटों से घायल पुरुषों के मन के उपहत होने एवम् बुद्धि के अस्थिर हो जाने पर उभड़े हुए वातादि दोष प्रकुपित होकर हृदय में जाकर मनोवहस्रोतों को चारों ओर से घेर कर 'उन्माद' रोग की उत्पत्ति करते हैं।

वक्तव्य—प्रस्तुत प्रकरण में हृदय शब्द से आधुनिक चिकित्साविद् मस्तिष्क (Brain) का ग्रहण करते हैं। क्योंकि उनका कथन है कि उन्माद मानसिक व्याधि है, विज्ञ विचार करें।

उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं[2] विद्यात् ॥ ५ ॥

उन्माद-परिचय—मन, बुद्धि, संज्ञा (चेतना), ज्ञान, स्मृति (यादगार), भक्ति, शील, शारीरिक चेष्टाएँ तथा आचार (दैनिक कर्तव्यों) में व्यतिक्रम को उन्माद समझना चाहिये।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि; तद्यथा—शिरसः शून्यता, चक्षुषोराकुलता[3], स्वनः कर्णयोः, उच्छ्वासस्याधिक्यम्, आस्यसंस्रवणम्, अनन्नाभिलाषारोचकाविपाकाः, हृद्ग्रहः, ध्यानायाससंमोहोद्वेगाश्चास्थाने, सततं लोमहर्षः, ज्वरश्चाभीक्ष्णम्, उन्मत्तचित्तत्वम्, उदर्दित्वम्[4], अर्दिताकृतिकरणं च व्याधेः, स्वप्ने चाभीक्ष्णं दर्शनं भ्रान्तचलितानवस्थितानां रूपाणामप्रशस्तानां च तिलपीडकचक्राधिरोहणं वातकुण्डलिकाभिश्चोन्मथनं निमज्जनं च कलुषाणामम्भसामावर्ते चक्षुषोश्चापसर्पणमिति (दोषनिमित्तानामुन्मादानां पूर्वरूपाणि भवन्ति) ॥ ६ ॥

उन्माद के पूर्वरूप—उस उन्माद के ये पूर्वरूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—शिर की शून्यता (खालीपन), आखों की व्याकुलता या मलिनता, कानों में सॉय-सॉय का शब्द होना, सांसों का अधिक फूलना, मुख से लार का चूना, अन्न के प्रति इच्छा का न होना, अरुचि, अविपाक (खाये हुए भोजन का न पचना) हृद्ग्रह (हृदय का एकाएक रुकना या सदा के लिये रुक जाना) अकारण या असमय में ध्यान (चिन्ता), आयास (श्रम), सम्मोह (बेहोशी) और घबड़ाहट, सदैव रोमांच का होना, ज्वर का बार-बार होना, चित्त की उन्मत्तता (पागल की-सी स्थिति), उदर्द से युक्त होना, अर्दित (Facial Paralysis) के सदृश ऊपर के अंगों (मुख आदि) का पीड़ित होना, स्वप्न में भ्रम पूर्ण, अस्थिर तथा अनवस्थित, निन्दित रूपों का बार-बार दिखायी देना, तिलों के पेरने वाले चक्र (कोल्हू) के ऊपर बैठना, वातकुण्डलिका (बवण्डर) द्वारा मथा जाना, मैले जलों के भँवर में डूब जाना, नेत्रों की दृष्टि का नष्ट हो जाना दोषज उन्मादों के पूर्वरूप होते हैं।

ततोऽनन्तरमेवमुन्मादाभिनिर्वृत्तिरेव। तत्रेदमुन्मादविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—परिसरणमजस्रम्, अक्षिभ्रुवौष्ठांसहन्वग्रहस्तपादाङ्गविक्षेपणमकस्मात्, सततमनियतानां च गिरामुत्सर्गः, फेनागमनमा-

१. 'अत्युदीर्णत्वाद्दोषाः प्रकुपिताः' इति यो.।
२. 'विभ्रंशम्' इति यो.।
३. 'चक्षुषोश्चास्वच्छता' ग.।
४. अयं पाठश्चक्रसंमतः गङ्गाधरस्तु 'अर्दिताकृतिकरणमुन्मर्दितत्वं च' इति पठति।

स्यात्, अभीक्ष्णं स्मितहसितनृत्यगीतवादित्रसम्प्रयोगाश्चास्थाने, वीणावंशशङ्खशम्यातालशब्दानुकरणमसाम्ना[1], यानमयानैः, अलङ्करणमनलङ्कारिकैर्द्रव्यैः, लोभश्चाभ्यवहार्येष्वलब्धेषु, लब्धेषु चावमानस्तीव्रं[2] मात्सर्यं च, कार्श्यं, पारुष्यम्, उत्पिण्डितारुणाक्षता, वातोपशयविपर्यासादनुपशयता च, इति वातोन्मादलिङ्गानि भवन्ति (१),

वातज उन्माद के लक्षण—उक्त पूर्वरूपों के प्रकट होने के पश्चात् इस प्रकार उन्माद की उत्पत्ति होती है। उनमें उन्माद के ये विशेष लक्षण होते हैं। वे इस प्रकार हैं—निरन्तर (इधर-उधर) घूमना, आँख, भौंह, होंठ, कन्धे, हनु (ठोढ़ी), हाथों का अगला भाग, पैर का अगला भाग तथा अन्य अंगों का अकस्मात् (अचानक) विक्षेपण (Convuloion फेंकना) निरन्तर अनिश्चित (अंट-संट) बातों का बोलना, मुख से झाग आना, बार-बार मन्दहास्य, जोर से हँसना, नाचना, गाना, बजाना आदि का बिना प्रयोजन के प्रयोग करना, वीणा, बांसुरी, शंख, शम्या, ताल आदि के शब्दों का विपरीत ढंग से अनुकरण करना, जो सवारी न हो उसको सवारी बनाकर चलना, अलंकृत न करने वाले द्रव्यों से अलंकार करना, न मिलने वाले भोज्य पदार्थों के प्रति लोभ करना, प्राप्त भोज्य पदार्थों के प्रति अपमान, अधिक दम्भ करना, शरीर की कृशता, कठोरता, लालिमा युक्त आँखों का बाहर निकला होना, वातदोष को शान्त करने वाले आहार-विहार आदि विपरीत द्रव्यों के प्रतिकूल होना, ये वातज उन्माद के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य में **शम्या** तथा **ताल** शब्द पारिभाषिक हैं। तदनुसार **शम्या** का अर्थ है, दाहिने हाथ से बजाना और **ताल** का अर्थ है—बायें हाथ से बजाना। देखें—'शम्या दक्षिणहस्तेन वामहस्तेन तालकः। उभाभ्यां वादनं यत्तु सन्निपातः स उच्यते'। संगीतरत्नाकर। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर **शम्या** का अर्थ है—युगकीलक (Wooden Stick), **ताल** का अर्थ है—'तालक्रियामान' या वाद्यविशेष।

अमर्षः, क्रोधः, संरम्भश्चास्थाने, शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टिभिरभिहननं स्वेषां परेषां वा, अभिद्रवणं, प्रच्छायशीतोदकान्नाभिलाषः, सन्तापश्चातिवेलं, ताम्रहरितहारिद्रसंरब्धाक्षता[3], पित्तोपशयविपर्यासादनुपशयता च, इति पित्तोन्मादलिङ्गानि भवन्ति (२),

पित्तज उन्माद के लक्षण—अमर्ष (Not enduring = सहनशक्ति का अभाव), क्रोध, असमय में जोश दिखाना, अपने तथा दूसरों के ऊपर शस्त्र, मिट्टी का ढेला, कशा (कोड़ा), लकड़ी, मुट्ठी आदि प्रहार करना, भागना या दौड़ना, छाया अथवा ठंडा पानी पीने की इच्छा का होना, बार-बार गर्मी का अनुभव होना, आँखों का वर्ण लाल, हरा, पीला तथा स्तब्धता युक्त होना, पित्तशामक द्रव्यों से प्रतिकूल द्रव्यों का अनुकूल न होना, ये पित्तज उन्माद के लक्षण हैं।

स्थानमेकदेशे, तूष्णीम्भावः, अल्पशश्चङ्क्रमणं, लालाशिङ्घाणकस्रवणम्, अनन्नाभिलाषः, रहस्कामता, बीभत्सत्वं, शौचद्वेषः, स्वप्ननित्यता, श्वयथुराननेे, शुक्लस्तिमितमलोपदिग्धाक्षत्वं श्लेष्मोपशयविपर्यासादनुपशयता च, इति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति (३),

कफज उन्माद के लक्षण—एक ही स्थान में बैठे रहना, चुप चाप रहना, थोड़ा घूमना या टहलना, नाक-मुख से कफ (सिंघाण तथा लार) का निकलना, अन्न के प्रति अरुचि होना, एकान्त में रहने की इच्छा, घृणित भावों के प्रति अभिरुचि, सफाई से द्वेष, अधिक सोना अर्थात् हर समय सोते रहना, मुखमंडल में शोथ, आँखों का सफेद होना, एकटक देखते रहना, मैल (कीचड़) से भरे रहना, कफज विकारों के लिये जो द्रव्य लाभकारी हों उनसे विपरीत द्रव्यों का लाभकारी न होना, ये कफज उन्माद के लक्षण होते हैं।

त्रिदोषलिङ्गसन्निपाते तु सान्निपातिकं विद्यात्, तमसाध्यमाचक्षते कुशलाः ॥ ७ ॥

१. 'शम्यादक्षिणहस्तेन वादनं, तालस्तु वामहस्तेन वादनम्' इति चक्रः।
२. 'तीव्रत्वं' यो.।
३. '—स्तब्धाक्षता' ग.।

त्रिदोषज उन्माद के लक्षण—यदि उन्माद रोगी में तीनों दोषों के लक्षण देखे जायँ तो उसको सान्निपातिक उन्माद समझना चाहिये। चिकित्साकुशल वैद्य उसको असाध्य कहते हैं।

साध्यानां तु त्रयाणां साधनानि—स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनोपशमननस्तःकर्मधूमधूपनाञ्जनावपीडप्रधमनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकानुलेपनवधबन्धनावरोधनवित्रासनविस्मापनविस्मारणापतर्पणसिराव्यधनानि, भोजनविधानं च यथास्वं युक्त्या, यच्चान्यदपि किञ्चिन्निदानविपरीतमौषधं कार्यं तदपि स्यादिति॥ ८॥

साध्य उन्मादों का चिकित्सा-सूत्र—साध्य प्रथम तीन उन्मादों की संक्षेप में ये चिकित्सा-विधियाँ हैं—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापनवस्ति, अनुवासनवस्ति, उपशमन (दोषों को शमन करने का विधान), नस्यकर्म, धूमपान, धूपन, अञ्जन (तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग), अवपीडनस्य (नाक में रसों का चुआना), प्रधमननस्य (चूर्ण को फूंककर नाक में डालना), अभ्यंग, प्रदेह (लेप = Plaster आदि). परिषेचन, अनुलेपन, वध (दण्ड देना), बन्धन (रस्सी आदि से बांध देना), अवरोधन (किसी कमरे आदि में बन्द कर देना), वित्रासन (डराना), विस्मापन (आश्चर्यचकित कर देना) विस्मारण (भुला देना), अपतर्पण (कम भोजन देना), सिरावेध (रक्तमोक्षण), युक्तिपूर्वक रोगी व्यक्ति के अनुसार भोजन का विधान, और भी जो निदान के विपरीत औषध आदि हों उनका प्रयोग करें।

भवति चात्र—

उन्मादान् दोषजान् साध्यान् साधयेद् भिषगुत्तमः।
अनेन विधियुक्तेन कर्मणा यत् प्रकीर्तितम्॥ ९॥

चिकित्सक का कर्तव्य—उत्तम (शास्त्रज्ञ एवं कर्मज्ञ) चिकित्सक को चाहिये कि वह वातज, कफज तथा पित्तज उन्मादों की ऊपर कही गयी चिकित्सा-विधि से चिकित्सा करे।

यस्तु दोषनिमित्तेभ्य उन्मादेभ्यः समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषसमन्वितो भवत्युन्मादस्तमागन्तुकमाचक्षते। केचित् पुनः पूर्वकृतं कर्माप्रशस्तमिच्छन्ति तस्य निमित्तम्। तस्य च हेतुः प्रज्ञापराध एवेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। प्रज्ञापराधाद्ध्ययं देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचगुरुवृद्धसिद्धाचार्यपूज्यानवमत्याहितान्याचरति, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं कर्माप्रशस्तमारभते; तमात्मनाहतमुपघ्नन्तो देवादयः कुर्वन्त्युन्मत्तम्॥ १०॥

आगन्तुज उन्माद—जो पूर्वोक्त दोषज उन्मादों के समुत्थान (निदान), पूर्वरूप, लिङ्ग (रूप), वेदना, उपशय आदि विशेष कारणों से युक्त होता है, उस (उन्माद) को आगन्तुक (बाहर से आने वाले कारणों से होने वाला) उन्माद कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप उन्माद रोग होता है। भगवान् आत्रेय का कथन है कि 'प्रज्ञापराध' ही इसमें प्रमुख कारण होता है। प्रज्ञापराध से ही देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य और पूज्यजनों का अपमान करके मानव अहित कार्यों को करता है, अथवा अन्य कुछ इसी प्रकार के अशुभ कार्यों का आरम्भ करता है जिनके फलस्वरूप अपने दुष्कर्मों से पीड़ित उस पुरुष को और भी पीड़ित करते हुए देव आदि योनियाँ उसको पागल कर देती हैं।

तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तेनागन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—देवगोब्राह्मणतपस्विनां हिंसारुचित्वं, कोपनत्वं, नृशंसाभिप्रायता, अरतिः, ओजोवर्णच्छायाबलवपुषामुपतप्तिः, स्वप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्तनं चेति,[1] ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिः॥ ११॥

आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप—उनमें देवता आदि के प्रकोप के कारण होने वाले आगन्तुज उन्माद से सम्बन्धित पुरुष के ये पूर्वरूप होते हैं। यथा—देवता, गाय, ब्राह्मण तथा तपस्वियों की हिंसा (वध, अपमान) के प्रति इच्छा रखना, क्रोध करना, क्रूरता का भाव, बेचैनी, ओज, वर्ण, छाया, बल तथा शरीर में सन्ताप की उत्पत्ति, स्वप्न में देवता, सिद्ध, गन्धर्व आदि रूपों द्वारा झिड़का जाना, या तिरस्कृत या अपमानित होना, या प्रवृत्त करना, उसके बाद ही उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है।

1. 'चेत्यागन्तुनिमित्तोन्मादस्य पूर्वाणि भवन्ति' ग.।

तत्रायमुन्मादकराणां भूतानामुन्मादयिष्यतामारम्भविशेषो भवति; तद्यथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्त्युन्मादं, गुरुवृद्धसिद्धमहर्षयोऽभिशपन्तः, पितरो दर्शयन्तः, स्पृशन्तो गन्धर्वाः, समाविशन्तो यक्षाः, राक्षसास्त्वात्मगन्धमाघ्रापयन्तः, पिशाचाः पुनरारुह्य वाहयन्तः॥ १२॥

भूतज उन्माद की उत्पत्ति—उसमें उन्माद को उत्पन्न करने वाले भूतों (ग्रहों) को उन्माद उत्पन्न करने की इच्छा होने पर प्रारम्भ में ये लक्षण विशेष रूप में प्रकट होते हैं। वे इस प्रकार हैं—देवता विपरीत दृष्टि मात्र से उन्माद को उत्पन्न कर देते हैं, गुरु, वृद्ध, सिद्ध एवं महर्षि ये शाप द्वारा पितृ (असन्तुष्ट पितर) स्वप्न में या साधारण स्थिति में अपना दर्शन देते हुए, गन्धर्व ग्रह स्पर्श करके, यक्षग्रह रोगी के शरीर में प्रवेश करके, राक्षसग्रह आत्मगन्ध को सुंघाते हुए और पिशाचग्रह रोगी के ऊपर सवार होकर अपना प्रभाव दिखाते है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भूतज उन्माद अथवा यों कहिये कि त्रिदोषज उन्माद के अतिरिक्त इसकी विस्तृत भूमिका दी है। सुश्रुतसंहिता उत्तरतन्त्र अ० ६० में इस पर विशेष विचार किया है। वास्तव में 'भूतविद्या' आयुर्वेद के आठ अंगों में एक महत्वपूर्ण अंग है। इस सम्बन्ध में कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि निशाचर, राक्षस, कृमि (जर्म्स, बैसिलाई, कोकाई) ये सब समानार्थवाची हैं, क्योंकि ये सब रात्रि को ही आक्रमण करते हैं और मांस को खाते हैं, अतः इनके गुण-धर्म समान हैं। इसलिये इनको राक्षस कहते हैं।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार ग्रह अथवा भूत से आक्रान्त पुरुष उनको कहते हैं जिनमें गुप्तवस्तु का या भविष्य का ज्ञान, अस्थिरता, असहिष्णुता, मनुष्यों से अधिक क्रियायें (कूदना, फाँदना अथवा वर या शाप देना) होती हैं और जो त्रिदोषज उन्मादों के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति लक्षणों से विलक्षण होते हैं। सुश्रुत में चरकोक्त गुरु, वृद्ध आदि के अतिरिक्त दैत्य और भुजंग की भी गणना की है और इनसे गृहीत रोगियों के विस्तृत लक्षणों का वर्णन भी किया है।

ग्रहों के प्रवेश का स्वरूप—जिस प्रकार अपनी छाया दर्पण आदि में प्रवेश कर जाती है, किन्तु वह प्रवेश होती हुई दिखलायी नहीं देती। जैसे प्राणियों में सरदी-गरमी प्रवेश कर जाती है, सूर्यकान्तमणि में सूर्य की किरणें प्रविष्ट हो जाती हैं और जैसे शरीर में आत्मा का प्रवेश होते नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार मनुष्यों में ग्रह प्रविष्ट होते नहीं दिखलायी देते।

विशेष वक्तव्य—जो व्यक्ति ग्रहों अथवा भूतों को अपनी आखों से देखने अथवा प्रविष्ट होते समय देखने का दुराग्रह किया करते हैं, वे भगवान् धन्वन्तरि सु० उ० अ० २७।७। तथा चरक चि० अ० ९।१८ के श्लोकों को अवश्य पढ़ें। यही स्थिति बालग्रहों के प्रवेश की भी है।

तस्येमानि रूपाणि भवन्ति; तद्यथा—[1]अत्यात्मबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणज्ञानवचनविज्ञानानि, अनियतश्चोन्मादकालः॥ १३॥

आगन्तुज उन्माद के लक्षण—उस (आगन्तुज) उन्माद के ये (निम्नलिखित) रूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—वास्तविकता से अधिक शारीरिक बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, ज्ञान, वचन और विज्ञान का अनुभव या प्रदर्शन होते हैं और उन्माद के लक्षणों के प्रकट होने का समय अनिश्चित रहता है।

वक्तव्य—चरक में आगन्तुज उन्माद का समय अनिश्चित कहा गया है किन्तु सुश्रुत में उनका समय इस प्रकार निश्चित किया है—'देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥ कृष्णक्षये च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः। रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च'॥ सु० उ० अ० ६०।१७-१८। अर्थात् देवग्रह पौर्णमासी के दिन, असुरग्रह प्रातः-सायं सन्ध्याकालों में, गन्धर्वग्रह प्रायः अष्टमी के दिन,

1. 'अमर्त्यबलवीयपौरुषपराक्रमज्ञानवचनविज्ञानानि' इति पा०।

यक्षग्रह प्रतिपदा तिथि में, पितर अमावास्या के दिन, सर्पग्रह पञ्चमी के दिन, राक्षसग्रह रात्रि में और पिशाच ग्रह चतुर्दशी तिथि के दिन शरीर में प्रवेश करते हैं।

उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां गुरुवृद्धसिद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति; तद्यथा—पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य वा कर्मणः परिणामकाले, एकस्य वा शून्यगृहवासे, चतुष्पथाधिष्ठाने वा; सन्ध्यावेलायामप्रयतभावे वा पर्वसन्धिषु वा, मिथुनीभावे; रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाऽध्ययनबलिमङ्गलहोमप्रयोगे; नियमव्रतब्रह्मचर्यभङ्गे वा, महाहवे वा, देशकुलपुरविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रिया वा प्रजननकाले; विविधभूताशुभाशुचिस्पर्शने वा, वमनविरेचनरुधिरस्रावे वा, अशुचेरप्रयतस्य वा चैत्यदेवायतनाभिगमने वा मांसमधुतिलगुडमद्योच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा, निशि नगरनिगमचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनाभिगमने वा, द्विजगुरुसुरयतिपूज्याभिधर्षणे वा, धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य वा कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे, इत्यभिघातकाला व्याख्याता भवन्ति ॥ १४ ॥

ग्रहों के आवेश का स्थान एवं समय—वातादि दोषों के अतिरिक्त जब देवता, ऋषि पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच अथवा गुरु, वृद्ध, सिद्ध उन्माद करने की इच्छा करते हैं तब इन-इन अवसरों पर पुरुष आक्रमण योग्य होते हैं, अर्थात् निम्न निर्दिष्ट समयों पर पुरुषों को उन्मत्त होते देखा जाता है। वे इस प्रकार हैं—पाप कार्य को प्रारम्भ करते समय पूर्वजन्म में किये गये अशुभ कर्म के परिपाक काल में अर्थात् जिस नीच कर्म का फल पूर्वजन्म में भोगा न गया हो उसके पाक काल में, अकेले शून्यगृह में निवास करते समय अथवा अकेले चौराहा पर बैठे रहने पर, सायंकाल में, अशुद्ध रहने पर, पर्व (पूर्णिमा, अमावास्या, सूर्य या चन्द्रग्रहण) की सन्धिवेला में, मैथुन करते समय, रजस्वला (रजोदर्शन से तीन रात्रि तक) के साथ सहवास करने पर, अध्ययन (वेदाध्ययन), बलिदान, मंगलकार्य अथवा होम कर्म के विपरीत विधि से होने पर, नियम, व्रत, ब्रह्मचर्य के भंग हो जाने पर, बड़े युद्ध के अवसर पर, देश, कुल, नगर के विनाश होने पर अर्थात् इन परिस्थितयों को देखने पर, उन्मादकारक ग्रहों के आने पर, या स्त्री के प्रसवकाल में, अनेक प्रकार के प्राणियों या अशुभ (स्पर्श के अयोग्य) वस्तुओं के स्पर्श करने करने से, या वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण के अवसरों पर, या अपवित्र एवम् नियम, व्रत आदि धारण करने के बिना, चैत्य (यज्ञस्थान और श्मशान में स्थित पिप्पल, बरगद आदि का महान् वृक्ष), देव मन्दिर आदि में जाने पर, मांस, मधु (शहद), तिल, गुड़, मद्य (शराब) का सेवन करने के बाद मुख को न धोने (जूठे मुख रहने) पर, या नंगे रहने पर, रात्रि में नगर (शहर), निगम (बड़े शहर), चतुष्पथ (चौराहा), उपवन (बगीचा), श्मशान भूमि या वधस्थान में अकेले जाने पर, या ब्राह्मण, गुरु, देवता, साधु या किसी पूज्यजन का तिरस्कार, अपमान करने पर, या धार्मिक उपदेशों का अनुचित उपदेश देने पर अर्थात् ठीक-ठीक उपदेश न देने पर, अथवा इनके अतिरिक्त और किसी अशुभ कार्य के आरम्भ करने पर, इस प्रकार के उन्माद के अभिघात काल कह दिये गये हैं।

त्रिविधं तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति; तद्यथा—हिंसा, रतिः, अभ्यर्चनं चेति। तेषां तं प्रयोजनविशेषमुन्मत्ताचारविशेषलक्षणैर्विद्यात्। तत्र [2]हिंसार्थिनोन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशति, अप्सु निमज्जति, स्थलाच्छ्वभ्रे वा पतति, शस्त्रकशाकाष्ठलोष्टमुष्टिभिर्हन्त्यात्मानम्, अन्यच्च प्राणवधार्थमारभते किञ्चित्, तमसाध्यं विद्यात्; साध्यौ पुनर्द्वावितरौ ॥ १५ ॥

आवेश का कारण और साध्यासाध्य निर्णय—उन्मादकारक देवता आदि भूतों के उन्माद करने में निम्ननिर्दिष्ट तीन प्रकार का कारण होता है, वह इस प्रकार है—१. हिंसा (मारना या किसी को कष्ट पहुँचना), २. रति (प्रेम, क्रीड़ा या सहवास) और ३. अभ्यर्चन (देवादि की पूजा)। इनके उस-उस प्रयोजन विशेष को उन्मत्त व्यक्ति के आचार (व्यवहार या अङ्ग-प्रत्यङ्ग की चेष्टा) विशेष से समझना चाहिये। उसमें हिंसा लक्षण से

१. '—रुधिरस्रावाशुचेः' इ.।

२. 'हिंसार्थमुन्माद्यमानः' इति पा०।

युक्त उन्माद का रोगी आग में प्रवेश करता है, पानी में डूबता है अथवा भूमि से गड्ढे, कुआँ आदि में कूद पड़ता है, शस्त्र (तलवार आदि), कशा (कोड़ा, बेत आदि), लकड़ी, मिट्टी का ढेला तथा मुट्ठियों से अपने को मारता है। और भी कुछ अपना प्राणनाशक कार्य करता है, ऐसे रोगी को असाध्य समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त और जो दो (रति और पूजा) कहे गये हैं ये साध्य होते हैं।

तयोः साधनानि—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमव्रतप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि ॥ १६ ॥

एवमेते पञ्चोन्मादा व्याख्याता भवन्ति ॥ १७ ॥

साध्यग्रहों की चिकित्सा—उन (रति और पूजा के लक्षणों को देखने से निर्णीत साध्य प्रकारों) के ये साधन हैं—मन्त्र, ओषधि, मणि, मंगलकार्य, बलि (बलिदान), उपहार (मनौती मानकर समय पर उन-उन वस्तुओं को अर्पित करना), होम, नियम, व्रत, प्रायश्चित्त (कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि), उपवास, स्वस्त्ययन (स्वस्तिवाचन), प्रणिपात (श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करना), गमन (तीर्थ यात्रा अथवा स्थान परिवर्तन) आदि। इस प्रकार इन पांच उन्मादों की व्याख्या कर दी गयी है।

ते तु खलु निजागन्तुविशेषेण साध्यासाध्यविशेषेण च प्रविभज्यमानाः पञ्च सन्तो द्वावेव भवतः। तौ च परस्परमनुबध्नीतः कदाचिद् यथोक्तहेतुसंसर्गात्। तयोः संसृष्टमेव पूर्वरूपं भवति, संसृष्टमेव च लिङ्गम्। तत्रासाध्यसंयोगं साध्यासाध्यसंयोगं चासाध्यं विद्यात्, साध्यं तु साध्यसंयोगम्। तस्य साधनं साधनसंयोगमेव विद्यादिति ॥ १८ ॥

उन्मादों का परस्पर सम्बन्ध—वे पाँच प्रकार के उन्माद निज और आगन्तुज भेद से और साध्य-असाध्य भेद से दो ही प्रकार के होते हैं। वे दोनों अर्थात् पहले कहे गये (निज तथा आगन्तुज) दो, कभी पहले कहे गये कारणों के मिल जाने से परस्पर मिल जाते हैं। इन दोनों के पूर्वरूप मिले हुए ही होते हैं और लिंग (रूप) भी सम्मिलित होते हैं। उनमें असाध्य प्रकार के उन्मादों का संयोग भी असाध्य ही होता है, साध्य और असाध्य का संयोग भी असाध्य होता है और साध्य का संयोग साध्य होता है। उस साध्य उन्माद का साधन (चिकित्सा) साधन संयोग (निज तथा आगन्तुज के साधनों के संयोग) से हो सकता है।

भवन्ति चात्र—

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः। न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्नन्ति मानवम् ॥

आगन्तुज उन्माद का प्रधान कारण—जिस पुरुष ने कभी कोई अशुभ कर्म न किया हो उस पुरुष को न देवग्रह, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस तथा न और कोई कष्ट पहुँचा सकता है। अर्थात् आगन्तुज उन्मादों का मूल कारण है, इस जन्म अथवा पूर्वजन्म से अशुभ कर्मों का परिपाक।

ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा। न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता[1] ॥२०॥

कर्म की प्रधानता-ग्रहों का निषेध—अपने अशुभ कर्मों द्वारा कष्ट पाते हुए पुरुष को जो (देवता आदि ग्रह) अनुवर्तन करते (पीछे आते) हुए पीड़ित करते हैं और जो उससे सम्बन्धित कष्ट मिलता है वह देवता आदि ग्रहों के आवेश से होने वाला कष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पहले किसी द्वारा किये गये कार्य में दूसरे को महत्व नहीं दिया जा सकता।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि अशुभ कर्मों द्वारा जब उन्माद हो जाता है और उसके बाद यदि देवता आदि ग्रहों का आवेश हो जाता है तो उसका प्रधान कारण दुष्कृत ही कहा जाता है न कि देवादि ग्रह। यह एक विचारने अथवा तर्क करने की एक पद्धति मात्र है। इस सिद्धान्त से कर्म की प्रधानता तथा देवादिग्रहजनित उन्माद की अप्रधानता दिखलायी गयी है। अतएव कहा गया है—'नहि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते'। अर्थात् ऐसा कोई महान् कार्य नहीं है जिसका फल करने वाले को प्राप्त न होता हो। और भी देखें—'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते'। गीता। मनुष्य कर्म का करने वाला तथा उसका भोक्ता स्वयं है।

१. '। ह्यन्यकृतकृत्यता' इति, 'न ह्यस्य कृतकृत्यता' इति च पा०।

प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान् ॥ २१ ॥

उक्त तथ्य का समर्थन—अपने द्वारा किये गये प्रज्ञापराध रूपी कर्म से उत्पन्न उन्माद रोग के सम्बन्ध में विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह देवता, पितर तथा राक्षस ग्रहों को उपालम्भ न दे ।

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥ २२ ॥

मनुष्य ही सुख-दुःख का कारण—मनुष्य को चाहिये कि वह सुख तथा दुःख का कर्ता अपने को ही समझे । इसलिये श्रेयस्कर (जिससे अपना इस लोक तथा परलोक का हित हो) मार्ग पर चले और फिर डरे नहीं, अर्थात् यह सुख-दुःख सब अपने ही वश में है ।

देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम् ।
ते च तेभ्यो विरोधश्च[1] सर्वमायत्तमात्मनि ॥ २३ ॥

सत्-असत् कर्म मनुष्य के अधीन—देवता, गुरु, ब्राह्मण आदि की पूजा, आज्ञापालन तथा सेवा, हितकर कार्यों (आहार-विहार-सद्वृत्त आदि) का सेवन अथवा उनसे विरोध (देवता आदि की पूजा न करके उनका अपमान तथा अहितकर कार्यों का सेवन) यह सब अपने अधीन हैं ।

वक्तव्य—श्रीकृष्ण ने गीता में उक्त विषय को इस प्रकार कहा है—'आत्मा एव आत्मनः बन्धुः आत्मा एव आत्मनः रिपुः' । गीता ।

तत्र श्लोकः—

सङ्ख्या निमित्तं [2]प्राग्रूपं लक्षणं साध्यता न च ।
उन्मादानां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रं च भाषितम् ॥ २४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
उन्मादनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्याय-उपसंहार—उन्माद के भेद, निमित्त (कारण), पूर्वरूप, लक्षण, साध्यता, असाध्यता और संक्षिप्त चिकित्सा-सूत्र का वर्णन इस उन्माद-निदान अध्याय में कहा गया है । कुछ प्रतियों में 'निमित्त द्विविधं' ऐसा पाठ है, तदनुसार यह अर्थ होगा—दो प्रकार के कारण—१. निज और २. आगन्तुज ।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य, आदि से संवलित-चरकसंहिता
निदानस्थान में उन्मादनिदान नामक सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

१. 'ते च तेभ्योऽविरोधश्च', इति 'न च तेभ्यो विरोधश्च', 'यश्च तेभ्यो विरोधश्च' इति च पाठा० ।
२. 'द्विविधं' पा० ।

अथ अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

उन्माद-निदान वर्णन के पश्चात् अब हम अपस्मार-निदान की व्याख्या करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ।

वक्तव्य—स्मृति (Remembrance) अथवा भूतार्थ (अनुभव किया विषय) को भूल जाना अथवा उसका नष्ट हो जाना अपस्मार (Epilepsy) कहा जाता है । चरक के शब्दों में—'स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारम्' । च० चि० अ० १० । सुश्रुत के अनुसार अपस्मार की निरुक्ति—'स्मृतिभूतार्थविज्ञानमपस्तत परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्' ॥ सु० उ० अ० ६१।३ । माधवकर के शब्दों में अपस्मार का स्वरूप इस प्रकार है—'चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः । कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते' ॥ माधवनिदान ।

इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः ॥ ३ ॥

अपस्मार के चार भेद—इस आयुर्वेदशास्त्र में निश्चित रूप से वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज भेद से अपस्मार चार प्रकार के होते हैं ।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सा की दृष्टि से मस्तिष्क के रुग्ण होने से जो आक्षेप या विकृत चेष्टायें (मूर्च्छा आदि) होती हैं, उन्हें अपस्मार कहते हैं । इस समय हमारे देश में इस रोग के ३० लाख रोगी हैं । ६० प्रतिशत रोगियों में यह रोग बाल्यावस्था (१० वर्ष के भीतर) में ही आरम्भ हो जाता है ।

भेद—आधुनिक दृष्टि से अपस्मार के निम्न भेद देखे जाते हैं—१. स्तम्भावस्था (Tonic Phase), २. आक्षेपावस्था (Clonic Phase), ३. क्षणापस्मार (Petitmal, Minor Epilepsy, Little illness) ४. निद्रापस्मार (Narcolepsy, Sleep Epilepsy), ५. मानस अपस्मार (Psychic or Psychomotor Epilepsy or Fugue State or Dreamy State), ६. दीर्घ अपस्मार (Status Epilepticus), ७. क्षुद्र अपस्मार (Phknolepsy) इनके अतिरिक्त परिस्थिति भेद से इनके अन्य अनेक नाम देखे जाते हैं ।

त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते; तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितान्यशुचीन्यभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षयाद् वा दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं [1]हृदयमुपसृत्योपरि तिष्ठन्ते; तथेन्द्रियायतनानि च । तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः कामक्रोधभयलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिः सहसाऽभिपूरयन्ति, तदा जन्तुरपस्मरति ॥ ४ ॥

अपस्मार की सम्प्राप्ति—उक्त चार प्रकार के अपस्मार इस प्रकार के प्राण (जीव) धारियों के शरीरों में शीघ्र उत्पन्न होते हैं । वे इस प्रकार हैं—रजोगुण तथा तमोगुण से दूषित चेतस् (मन) वाले, जिनके वातादि दोष अपने-अपने मार्गों से विचलित हो गये हों, या विषम हो गये हों, अथवा अपनी मात्रा से अधिक बढ़ गये हों, मलिन (मल से युक्त) तथा विकृत पदार्थों से युक्त और अपवित्र भक्ष्य-भोज्य पदार्थों का जो समुचित प्रकार से सेवन नहीं करते तथा तन्त्रप्रयोगों का विपरीत विधि से प्रयोग करने वाले, विषम शरीर चेष्टाओं को करने वाले पुरुषों के शरीर के क्षीण हो जाने से प्रकुपित हुए दोष रजस् तथा तमस् गुणों से दूषित चित्त वालों की अन्तरात्मा के सर्वोत्तम स्थान हृदय तथा इन्द्रिय स्थानों में जाकर वहाँ स्थित हो जाते हैं । वहाँ स्थित होकर काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, चिन्ता, उद्वेग (घबड़ाहट) आदि से प्रेरित होकर हृदय तथा

१. 'हृदयमुपसंगृह्योपरि तिष्ठन्ते' इति ग. ।

इन्द्रियों के स्थानों को फिर से एकाएक आक्रान्त कर देते हैं, तब वह मनुष्य स्मृतिरहित (अपस्मार युक्त) हो जाता है।

अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसम्प्लवाद् बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते ॥ ५ ॥

अपस्मार का स्वरूप—स्मृति (स्मरण शक्ति), बुद्धि (धारणा शक्ति) और सत्वगुण अथवा मन के संप्लव (डूब जाने = निष्क्रिय हो जाने) से जब मनुष्य एक अवस्था विशेष को प्राप्त होकर बीभत्स (घृणित) चेष्टायें करता हुआ अन्धकार की ओर प्रवेश करता है, तो उसको 'अपस्मार' कहते हैं।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति; तद्यथा—भ्रूव्युदासः सततमक्ष्णोर्वैकृतमशब्दश्रवणं लालासिङ्घाणप्रस्रवणमनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ हृदयग्रहः कुक्षेराटोपो दौर्बल्यमस्थिभेदोऽङ्गमर्दो मोहस्तमसो दर्शनं मूर्च्छा भ्रमश्चाभीक्ष्णं स्वप्ने च मदनर्तनव्यधनव्यथनवेपनपतनादीनीति ॥ ६ ॥

अपस्मार के पूर्वरूप—उस अपस्मार के ये पूर्वरूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—भौंहों का विशेष करके ऊपर की ओर को उठा रहना, निरन्तर आँखों में विकृति का दिखायी देना (इसमें आँखें चढ़ी जैसी रहती हैं), शब्द न होने पर किसी प्रकार का शब्द सुनायी देना, मुख से लार तथा नाक से कफ (सिंघाण) का निरन्तर निकलते रहना, भोजन के प्रति इच्छा का न होना, अरुचि, अनपच, हृदय का एकाएक रुक जाना या जकड़ जाना, आमाशय में आटोप (गुड़गुड़ाहट), दुर्बलता, अस्थिभेद (हड्डियों में फटने की-सी पीड़ा), अङ्गों में मसलने की-सी पीड़ा, मोह (संज्ञाहीनता), आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, मूर्च्छा (बेहोशी), बार-बार चक्कर आना, स्वप्न में मद (अपने को मदमत्त स्थिति में देखना), नाचना, बिंधे जाते देखना, पीड़ित होना, वेपन (काँपना) और गिरना आदि।

ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिर्वृत्तिरेव ॥ ७ ॥

अपस्मार की उत्पत्ति—इन उपर्युक्त लक्षणों के उत्पन्न होने के बाद ही अपस्मार रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

तत्रेदमपस्मारविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणेन संज्ञां प्रतिलभमानम्, उत्पिण्डिताक्षम्, असाम्ना विलपन्तम्, उद्वमन्तं फेनम्, अतीवाध्मातग्रीवम्, आविद्धशिरस्कं, विषमविनताङ्गुलिम्, अनवस्थितपाणिपादम्, अरुणपरुषश्यावनखनयनवदनत्वचम्; अनवस्थितचपलपरुषरूक्षरूपदर्शिनं वातलानुपशयं, विपरीतोपशयं च [1]वातेनापस्मरन्तं विद्यात् ॥ (१) ॥

वातज अपस्मार के लक्षण—उसमें यह अपस्मार का विशेष ज्ञान होता है, वह इस प्रकार है—बार-बार अपस्मार के वेग आने वाले, थोड़ी देर में होश (चेतना) आ जाने वाले, ऊपर की ओर आँखों के गोले निकले वाले, विषम प्रकार से विलाप करने या रोने वाले, मुख से झाग निकालने वाले, अत्यन्त फूली हुई ग्रीवा वाले, टेढ़े शिर वाले, ऊँची-नीची तथा टेढ़ी उँगलियों वाले, अस्थिर हाथ-पैर वाले, नाखून, आँख, मुख तथा त्वचा (Skin) के अरुण, परुष (खुरदरा), श्याववर्ण वाले, अव्यवस्थित, चञ्चल, परुष (कठिन) तथा रूक्ष दृश्यों को देखने वाले, वातवर्धक आहार विहार जिसको अनुपशय (अहितकर) हों और विपरीत (वातनाशक) आहार विहार जिसको उपशय (अनुकूल) हों ऐसे पुरुष को वातज अपस्मार वाला समझें।

अभीक्ष्णमपस्मरन्तं, क्षणेन, संज्ञां प्रतिलभमानम्, अवकूजन्तम्, आस्फालयन्तं भूमिं, हरितहारिद्रताम्रनखनयनवदनत्वचं, रुधिरोक्षितोग्रभैरवादीप्तरुषितरूपदर्शिनं, पित्तलानुपशयं, विपरीतोपशयं च [2]पित्तेनापस्मरन्तं विद्यात् ॥ (२) ॥

पित्तज अपस्मार के लक्षण—बार-बार अपस्मार के वेग आने वाले, थोड़ी देर में होश में आ जाने वाले, कबूतर की तरह कहरने वाले, हाथ-पैर को भूमि पर पटकने वाले अथवा हाथ-पैर से भूमि को पीटने वाले, हरे, पीले तथा ताम्रवर्ण के नख नेत्र, मुख और त्वचा वाले, रुधिरोक्षित (खून से रंगे हुए), उग्र, भयानक, दीप्त (जलते हुए), क्रोधयुक्त रूपों को देखने वाले, पित्तवर्धक आहार-विहार जिसको अनुपशय (अहितकर)

१. 'वातेनापस्मारितम्' इति पा०।
२. 'पित्तेनापस्मारितम्' इति पा०।

हों और विपरीत (पित्तनाशक) आहार-विहार जिसको उपशय (अनुकूल) हों, ऐसे पुरुष को पित्तज अपस्मार वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—यद्यपि वातज तथा पित्तज दोनों अपस्मारों का **'क्षणेन संज्ञां प्रतिलभमानम्'** थोड़ी देर में संज्ञा को प्राप्त हो जाना विशेषण समान है, तथापि पंगु पित्त की तुलना में वातज अपस्मार (Epilepsy) का रोगी शीघ्र होश में आ जाता है।

चिरादपस्मरन्तं, चिराच्च संज्ञां प्रतिलभमानं, पतन्तम्; अनतिविकृतचेष्टं, लालामुद्वमन्तं; शुक्लनखनयनवदनत्वचं, शुक्लगुरुस्निग्धरूपदर्शिनं, श्लेष्मलानुपशयं, विपरीतोपशयं च श्लेष्मणाऽपस्मरन्तं[1] विद्यात् ॥ (३) ॥

कफज अपस्मार के लक्षण—देर से अपस्मार के वेग आने वाले और देर से होश में आने वाले जिसकी शारीरिक चेष्टायें अधिक विकार युक्त न हों, मुहँ से लार निकालने वाले, सफेद नख, नयन, मुख और त्वचा वाले, सफेद, भारी, चिकने रूपों को देखने वाले, कफवर्धक आहार-विहार जिसको अनुपशय (अहितकर) हों तथा विपरीत आहार-विहार उपशय (अनुकूल) हों उसको कफज अपस्मार का रोगी समझना चाहिये।

समवेतसर्वलिङ्गमपस्मारं सान्निपातिकं विद्यात्, तमसाध्यमाचक्षते ॥ (४) ॥

सन्निपातज अपस्मार—जिस अपस्मार में वात आदि तीनों दोषों के उपयुक्त लक्षण दिखलायी दें, उसे सन्निपातज अपस्मार का रोगी समझना चाहिये। उसे असाध्य कहते हैं।

इति चत्वारोऽपस्मारा व्याख्याताः ॥ ८ ॥

इस प्रकार चार (वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज) अपस्मारों की व्याख्या कर दी है।

तेषामागन्तुरनुबन्धो भवत्येव कदाचित्, तमुत्तरकालमुपदेक्ष्यामः। तस्य विशेषविज्ञानं यथोक्तलिङ्गैर्लिङ्गाधिक्यमदोषलिङ्गानुरूपं[2] च किञ्चित् ॥ ९ ॥

आगन्तुज अपस्मार—उन (चार प्रकार के अपस्मारों) में आगन्तुज (भूतज) अपस्मार का सम्बन्ध कभी हो जाता है, उसका उपदेश आगे (चिकित्सास्थान में) करेंगे। उस (आगन्तुज अपस्मार) का विशेष विज्ञान (दोषज अपस्मारों से भेदक लक्षण) ऊपर कहे गये वातादि के लक्षणों से अधिक लक्षणों का होना और दोषज लक्षणों के अनुरूप न होना ही है।

वक्तव्य—जिस प्रकार पीछे उन्माद रोग को स्वतन्त्र कहा गया है और आगन्तुज अपस्मार की भी वह स्थिति नहीं है, क्योंकि आगन्तुज अपस्मार में दोषों का सम्बन्ध तर-तम मात्रा में होता ही है। अपस्मार का आगन्तुज भेद सर्वदा नहीं देखा जाता।

अपस्मार तथा हिस्टीरिया में भेद

अपस्मार	हिस्टीरिया
१. यह रोग पुरुषों तथा स्त्रियों को होता है।	१. यह प्रायः स्त्रियों को ही होता है।
२. यह प्रायः १५ वर्ष की अवस्था के पूर्व होता है।	२. यह प्रायः युवावस्था से प्रारम्भ होता है।
३. दौरे के समय रोगी सहसा गिर जाता है।	३. दौरा होने का आभास रोगिणी को हो जाता है।
४. दौरे का आरम्भ चीखने से होता है फिर बेहोशी आ जाती है।	४. प्रारम्भ में सामान्य स्थिति रहती है, बाद में वह जोर-जोर से अव्यक्त शब्द करने लगती है।
५. दौरे के समय रोगी की देख-रेख आवश्यक होती है, इसका प्रभाव देर तक रहता है।	५. रोगिणी वेग के समय दौड़ने-भागने की चेष्टा करती है, अतः देखरेख करना आवश्यक होता है।
६. रुग्ण बेसुध होकर बोल नहीं पाता है।	६. रुग्णा प्रलाप करती है, कुछ समय बाद होश में आ जाती है।
७. मनोविकार तथा अन्तर्वेग के लक्षण नहीं होते।	७. अन्तर्वेग के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

१. 'अपस्मारितम्' इति पा०।
२. 'दोषलिङ्गाननुरूपं' ग.।

८. वेग काल में रोगी की जीभ कट जाती है और कभी मल-मूत्र भी निकल जाता है।	८. जीभ कटती नहीं देखी गयी है और न मल-मूत्र ही अनजाने में निकलता है।
९. वेग के समय चित्तभ्रम तथा असङ्गत भाषण के लक्षण बार-बार दिखलायी देते हैं।	९. चित्तभ्रम के लक्षण दिखलायी देते हैं और वह उस समय अन्यमनस्का होती है।
१०. वेगों का स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है।	१०. वेगों का स्वास्थ्य पर सामान्य प्रभाव पड़ता है।
११. वेगनिवृत्ति के बाद आलस्य तथा तन्द्रा प्रतीत होती है।	११. वेगनिवृत्ति के बाद आलस्य आदि लक्षण प्रतीत नहीं होते।
१२. रोगी प्रायः रोग की मुक्ति तक एक ही स्थिति में रहता है।	१२. इसमें रुग्णा की मानसिक स्थिति में परिवर्तन आता है।
१३. दृष्टिक्षेत्र में संकुचन नहीं होता है।	१३. इसमें संकुचन होते देखा जाता है।
१४. वेग प्रायः आग या जल को देखने से प्रारम्भ होता है।	१४. इसमें आग, पानी से किसी प्रकार का भय रुग्णा को नहीं रहता।

हितान्यपस्मारिभ्यस्तीक्ष्णानि संशोधनान्युपशमनानि च यथास्वं, मन्त्रादीनि चागन्तुसंयोगे ॥१०॥

चिकित्सा-सूत्र—अपस्मार के रोगियों के लिये दोषों के अनुसार तीक्ष्ण संशोधन (आशुकारी वमन-विरेचन) और संशमनकारक औषधोपयोग हितकारक होते हैं तथा यदि दोषज अपस्मारों में आगन्तुज अपस्मार का संयोग हो तो मन्त्र (मणि, बलि, उपहार) आदि का प्रयोग करना चाहिये।

तस्मिन् हि दक्षाध्वरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतामभिद्रवणतरणधावनप्लवनलङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्; हविष्प्राशात् प्रमेहकुष्ठानां, भयत्रासशोकैरुन्मादानां, विविधभूताशुचिसंस्पर्शादपस्माराणां, ज्वरस्तु खलु महेश्वरललाटप्रभवः, तत्सन्तापाद् रक्तपित्तम्, अतिव्यवायात् पुनर्नक्षत्रराजस्य राजयक्ष्मेति ॥ ११ ॥

रोगों की उत्पत्ति—उस सुप्रसिद्ध दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वंस होने पर भयभीत प्राणियों के चारों ओर भागते हुए भग-दड़ मचने, तैरने, दौड़ने, कूदने, लांघने आदि शरीर को पीड़ित करने वाले कारणों से पहले 'गुल्म' रोग की उत्पत्ति हुई थी, हविष् (घृत) को पीने से प्रमेह तथा कुष्ठों की, भय, त्रास (घबड़ाहट) एवम् शोक से उन्मादों की, विविध प्रकार के प्राणियों तथा अपवित्र द्रव्यों के स्पर्श से अपस्मारों की। ज्वर की उत्पत्ति तो क्रुद्ध महेश्वर (शिवजी) के मस्तक से हुई है, उस ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई। नक्षत्रराज (चन्द्रमा) के अधिक मैथुन करने से राजयक्ष्मा (क्षय) रोग की उत्पत्ति हुई है।

वक्तव्य—ऊपर जो रोगों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है, वह निदर्शन मात्र है। स्वयं आत्रेय ने भी उक्त क्रम का अनुसरण अपनी संहिता में नहीं किया है। अन्य संहिताकारों के क्रम भी भिन्न-भिन्न हैं।

भवन्तिचात्र—

अपस्मारो हि वातेन पित्तेन च कफेन च। चतुर्थः सन्निपातेन प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥१२॥
साध्यांस्तु भिषजः प्राज्ञाः साधयन्ति समाहिताः। तीक्ष्णैः संशोधनैश्चैव यथास्वं शमनैरपि ॥१३॥
यदा दोषनिमित्तस्य भवत्यागन्तुरन्वयः। तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्विदः ॥१४॥

उपसंहार—वातज, कफज, पित्तज और सन्निपातज ये चार सन्निपात होते हैं। इनमें सन्निपातज अपस्मार जवाब दे देने योग्य अर्थात् इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती—यह कह देने लायक (असाध्य) होता है। विद्वान् चिकित्सक सावधानी पूर्वक साध्य अपस्मारों की दोषानुसार तीक्ष्ण-संशोधन (वमन-विरेचन) और संशमनों द्वारा चिकित्सा करते हैं। जब दोषजनित अपस्मार के साथ आगन्तुज अपस्मार का सम्बन्ध हो जाता है तब उत्तम वैद्य साधारण कर्म (युक्तिव्यपाश्रय के साथ ही साथ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा) का भी आदेश देते हैं।

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वौषधविशारदः[2]। भिषक् सर्वामयान् हन्ति न च मोहं निगच्छति ॥१५॥

इत्येतदखिलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तमम्।

१. 'अतिसरणप्लवनलङ्घनाद्यैः' ह.।
२. 'सर्वौषधविशेषवित्' ग.।

रोगविशेषज्ञ-प्रशंसा—सभी प्रकार के रोगों को जानने वाला, सभी औषध विशेषों के ज्ञान में कुशल चिकित्सक सभी प्रकार के रोगों का नाश करता है और मोह (घबड़ाहट) को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार यह उत्तम निदानस्थान सम्पूर्ण रूप से कह दिया गया है।

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते ॥ १६ ॥
तद्यथा ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते। रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥१७॥
प्लीहाभिवृद्धया जठरं जठराच्छोथ एव च। अर्शोभ्यो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥१८॥
प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः कासात् सञ्जायते क्षयः। क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपलभ्यते ॥१९॥
ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः। उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः[1] ॥२०॥

निदान सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त

(General Principles regarding Diagnosis)

निदानार्थकर-रोग—कभी कोई रोग दूसरे रोग के निदान का कारण होता देखा जाता है, अर्थात् पहले उत्पन्न हुआ रोग जब दूसरे किसी रोग को उत्पन्न कर देता है तो उसे निदानार्थकर रोग कहते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ ऐसे रोगों का उल्लेख किया जारहा है—जैसे ज्वर की गर्मी से रक्तपित्त उत्पन्न होता है, रक्तपित्त से ज्वर और रक्तपित्त तथा ज्वर दोनों के, एक साथ होने से शोष (क्षय) की उत्पत्ति होती है। प्लीहा के बढ़ जाने से उदर रोग और उदर रोगों से शोथ (सूजन) हो जाता है। अर्श से कष्टप्रद उदर रोग और गुल्म रोग पैदा होते हैं। प्रतिश्याय (जुकाम) से कास (खांसी), कास से क्षय रोग होता है और शोष रोग के कारणस्वरूप क्षय की प्राप्ति होती है। ये ज्वर आदि रोग पहले स्वतन्त्र होते हैं और बाद में निदान के अर्थ (दूसरे रोग) को उत्पन्न करने में कारणस्वरूप हो जाते हैं। कभी ये रोग दोनों को उत्पन्न करने वाले देखे जाते हैं और कभी एकार्थकारी (एक ही रोग को उत्पन्न करने वाले) होते हैं।

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति। न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च ॥२१॥

कोई रोग दूसरे रोग का कारण होकर अर्थात् दूसरे रोग को जन्म देकर स्वयं शान्त हो जाता है तथा कोई रोग ऐसा होता है जो दूसरे रोग को उत्पन्न करके भी स्वयं शान्त नहीं होता अर्थात् स्वयं भी बना रहता है और दूसरे रोग को भी उत्पन्न कर देता है।

एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसङ्कराः। प्रयोगापरिशुद्धत्वात् तथा चान्योन्यसम्भवात् ॥२२॥

रोग-संकर—इस प्रकार मनुष्यों के शरीरों में रोगों के मिश्रित-स्वरूप-चिकित्सा के शुद्ध (स्वतन्त्र) न होने से तथा एक रोग दूसरे रोग का उत्पादक होने से अधिक कष्टकारी देखे जाते हैं।

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत् ॥२३॥

उत्तम-चिकित्सा—जो चिकित्सा-विधान (शास्त्रीय, परम्परागत अथवा युक्तिसंगत) एक रोग का शमन कर दूसरे-दूसरे रोगों को उत्पन्न कर दे, वह शुद्ध (निरापद, निर्दोष अथवा ग्राह्य) नहीं है। शुद्ध चिकित्सा विधान तो वह है, जो उत्पन्न रोग को शमन कर दूसरे रोग को उत्पन्न न करे।

वक्तव्य—आज अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ ऐसी प्रचलित हैं, जो उत्पन्न रोग को अपने प्रभाव से दबा तो देती हैं किन्तु उस रोग को दूर नहीं कर पाती फलतः उसके कारण वैसे ही या उससे भी भयंकर दूसरे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आप स्वयं चिकित्सा क्षेत्र में देखें और अनुभव करें। इसीलिये संशमन-चिकित्सापद्धति से संशोधनपद्धति का विशेष आदर है।

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोऽपि च ॥२४॥
ज्वरभ्रमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रूक्षहेतुजाः। रूक्षेणैकेन चाप्येको ज्वर एवोपजायते ॥२५॥
हेतुभिर्बहुभिश्चैको ज्वरो रूक्षादिभिर्भवेत्। रूक्षादिभिर्ज्वराद्याश्च व्याधयः सम्भवन्ति हि ॥

१. 'तथैवैकार्थकारिणः' । इति पा०।
२. 'हेतुत्वं' ग.।

हेतु-व्याधि का सम्बन्ध—एक हेतु (निदान) अनेक रोगों का कारण देखा जाता है और एक रोग का एक ही कारण भी होता है। इसके विपरीत एक रोग के अनेक कारण एवम् बहुत से रोगों के बहुत कारण भी देखे जाते हैं। जैसे—रूक्ष गुण प्रधान एक (किसी) वस्तु के कारण ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और कभी एक रूक्ष पदार्थ के सेवन से एक (वात) ज्वर ही उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कभी रूक्ष आदि अनेक वस्तुओं के सेवन से भी ज्वर आदि व्याधियों की उत्पत्ति देखी जाती है।

लिङ्गं चैकमनेकस्य [1]तथैवैकस्य लक्ष्यते। बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनां स्युर्बहूनि च ॥२७॥
विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः। ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते ॥२८॥
विषमारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते। लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिक्काद्याः सन्ति चामयाः ॥२९॥

लिंग-व्याधि का सम्बन्ध—कभी अनेक रोगों का एक लिंग (लक्षण या रूप) और कभी एक रोग का एक लक्षण देखा जाता है। ऐसा भी देखा जाता है कि एक रोग के अनेक लक्षण होते हैं और अनेक रोग के बहुत से लक्षण होते हैं। जैसे—विषम आरम्भमूलक रोगों का ज्वर एक लक्षण माना गया है (विशेष विवरण के लिये—'विषमारम्भविसर्गित्वम्' आदि ज्वरनिदान में देखें), ज्वर के अनेक लक्षणों में एक (प्रधान) लक्षण सन्ताप कहा जाता है। यद्यपि विषम आरम्भमूलक कारणों से एक ज्वर का उल्लेख किया गया है किन्तु इन्हीं अनेक लक्षणों से ज्वर, श्वास, हिक्का आदि रोग भी युक्त होते हैं।

एका शान्तिरनेकस्य [2]तथैवैकस्य लक्ष्यते। व्याधेरेकस्य चानेका बहूनां बह्व्य एव च ॥३०॥
शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनक्रिया। ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लङ्घनमुच्यते ॥३१॥
तथा लघ्वशनाद्याश्च ज्वरस्यैकस्य शान्तयः। एताश्चैव ज्वरश्वासहिक्कादीनां प्रशान्तयः ॥३२॥

व्याधि-चिकित्सा का सम्बन्ध—अनेक व्याधियों की एक शान्ति (चिकित्सा) वैसे ही एक व्याधि की एक चिकित्सा एवम् एक रोग की अनेक शान्तियाँ तथा अनेक व्याधियों की अनेक शान्ति के प्रकार होते हैं। जैसे—आमाशय से पैदा होने वाली व्याधियों की शान्ति एक उपवास (लंघन) द्वारा होती है और एक ज्वर की शान्ति के लिये भी लंघन का उपदेश किया जाता है तथा लघु अशन (जो उपवास न कर सकें उनको हल्का भोजन) आदि भी ज्वर के चिकित्सा प्रकार हैं और ये ही ज्वर, श्वास, हिक्का आदि रोगों की भी चिकित्सायें हैं।

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात् ॥ ३३ ॥
याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः।
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥ ३४ ॥
नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्।
पादापचाराद् दैवाद् वा यान्ति भावान्तरं गदाः ॥ ३५ ॥

साध्य-असाध्य-विवेचन—जिस रोग के चिकित्सा उपाय सुलभ हों और जो थोड़े समय में दूर किया जासके उसको **'सुखसाध्य'** कहते हैं। जो रोग अत्यन्त परिश्रम के बाद बहुत देर में दूर किया जासके उसे **'कृच्छ्रसाध्य'** कहते हैं। जो व्याधि चिकित्सा करने पर भी सम्पूर्ण रूप से दूर न की जासके उसको **'याप्य'** कहते हैं। इसके आगे **'असाध्य'** वह रोग है जिसमें सभी प्रकार की चिकित्साएँ निष्फल हो जाती हैं, ऐसा रोगी **'प्रत्याख्येय'** (जबाव दे देने योग्य अर्थात् इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, कह देने योग्य) होता है।

निष्कर्ष—असाध्य रोग कभी साध्य नहीं हो सकता, परन्तु साध्य रोग असाध्य हो सकता है। साध्य रोगों के असाध्य होने में कारण—पादापचाराद्—अर्थात् चिकित्सा के जो चार पाद (१. चिकित्सक, २. औषध, ३. परिचारक और ४. रोगी) होते हैं, उनके यथोचित न होने से अथवा दैवात् (भाग्य) के विपरीत होने से, साध्यरोग भी असाध्य रूप धारण कर लेते हैं।

---

१. 'तथैकस्यैकमुच्यते' ग.; 'तथैकस्यैकमेव च' ह.।
२. 'तथैकैकस्य' ग.।

वक्तव्य—यहाँ रोगों के भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—१. सुखसाध्य, २. कृच्छ्रसाध्य, ३. याप्य (असाध्य), ४. असाध्य (प्रत्याख्येय)। ध्यान दें!—यह चौथा प्रत्याख्येय नामक असाध्य भेद का निर्णय होने पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह रोगी से इसकी चर्चा न करे। आवश्यकता पड़ने पर रोगी के अभिभावकों से असाध्यता या निकटमृत्यु की सूचना दे। ऐसी स्थिति में भी 'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति' अर्थात् कभी दैवयोग (भाग्यवश) से अरिष्ट लक्षणों के दिखायी पड़ने पर भी रोगी जीवित हो जाता है।

वृद्धिस्थानक्षयावस्थां [1]रोगाणामुपलक्षयेत्। सुसूक्ष्मामपि च प्राज्ञो देहाग्निबलचेतसाम् ॥३६॥
व्याध्यवस्थाविशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः। तस्यां तस्यामवस्थायां चतुःश्रेयः[2] प्रपद्यते ॥३७॥

दोषों की अवस्थाओं का महत्व—बुद्धिमान् चिकित्सक को वातादि दोषों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वृद्धि (बढ़ना), स्थान (रुका रहना) तथा क्षय (कौन दोष कितना क्षीण) हुआ है, इन अवस्थाओं की जानकारी करनी चाहिये, इसके साथ ही शरीर, अग्नि (पाचकाग्नि), बल, और मन की भी वृद्धि, स्थान, क्षय अवस्थाओं का ज्ञान करना चाहिये। विद्वान् चिकित्सक रोगों के अवस्थाभेदों को भलीभांति समझ-समझ कर, उन-उन अवस्था विशेषों में चार प्रकार के श्रेयों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद का अध्ययन तथा प्रयोग चतुर्वर्ग को प्रदान करता है, यह इसका शाश्वत सिद्धान्त है किन्तु 'स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः'। च० सू० अ० ३०। यहाँ पर दृष्टिकोण प्रवृत्ति मार्ग का है, अन्यत्र निवृत्ति मार्ग का।

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्। तेषु[3] न त्वरया कुर्याद् देहाग्निबलवित् क्रियाम् ॥
प्रयोगैः क्षपयेद् वा तान् सुखं वा कोष्ठमानयेत्। ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान् [4]यथासन्नं हरेद् बुधः ॥

चिकित्सा-विधि-निर्देश—अधिकांश देखा जाता है, कि तिर्यक् (तिरछे या टेढ़े) मार्गों में गये हुए दोष रोगियों को चिरकाल तक पीड़ित करते हैं। उन रोगों में शरीर, पाचकाग्नि, बल इनकी शक्ति को भलीभांति जानने वाला वैद्य चिकित्सा में शीघ्रता न करे, अर्थात् उनका क्रमशः उपचार करे। अतः उक्त प्रकार के दोषों को प्रयोगों (चिकित्सा) द्वारा क्षीण करे अथवा उनको अनुलोम करके कोष्ठ में ले आये, जब यह मालूम हो जाय कि दोष कोष्ठ में पहुँच गये हैं तब उनका समीप के मार्ग से निहरण करे।

वक्तव्य—कोष्ठ की परिधि के अन्तर्गत आमाशय तथा पक्वाशय दोनों ही आते हैं अतः आमाशय में आये हुए दोष को वमन द्वारा और पक्वाशय में स्थित दोष को विरेचन द्वारा निकालना चाहिये।

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि सङ्ग्रहे[5]। व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥

व्याधि और लक्षण का विवेचन—जो रोगों को जानने के लिये (अरुचि आदि रोग) लक्षण इस संग्रह (निदानस्थान) में कहे गये हैं, वे लक्षण यदि स्वतन्त्र रूप से हों तो उसे व्याधि (रोग) ही समझें, परन्तु जब ज्वर आदि—लक्षण अन्य रोगों के अधीन होकर उत्पन्न होते हैं तब उन्हें लक्षण समझना चाहिये न कि रोग।

विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः। तद्धेतुवशगं [6]हेतोरभावान्नानुवर्तते ॥ ४१ ॥

विकृति और प्रकृति का महत्व—संक्षेप से विकार और प्रकृति ये दो ही हैं। ये दोनों ही हेतु के वश में रहते हैं। इन दोनों (विकृति तथा प्रकृति के हेतुओं) का जब अभाव होता है, तब ये स्वयं भी नहीं होते हैं।

---

१. 'दोषाणामुपलक्षयेत्' इति पा०।
२. 'तत्तच्छ्रेयः' इति पा०; 'चतुःश्रेयः' इति 'चतुःश्रेयःकारकं चिकित्सितं, प्रपद्यते बुध्यते' चक्रः।
३. 'तेषु तु त्वरया कुर्याद् देहाग्निबलवत्क्रियाम्' यो.।
४. 'यथास्वं तं' ग.। 'तमातुरं, हरेत् तान् कोष्ठप्रपन्नान् दोषान् हारयेत्, इति अन्तर्भावितो णिजर्थः' गङ्गाधरः।
५. 'संग्रह इति व्याधिनिदानादिसंग्रहे; ये ज्ञानार्थं प्रधानभूतज्वरादिज्ञानार्थं व्याधयः सन्ति तेऽविपाका-रुच्यादयः स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमाना व्याधय एव व्याधित्वेनैव व्यपदेष्टव्या इत्यर्थः; तदात्वे तु लिङ्गानीति यदा ज्वरादिपरतन्त्रा जायन्तेऽरुच्यादयः, तदा पारतन्त्र्याल्लिङ्गान्येव ते नामयाः' चक्रः।
६. 'हेतोरभावान्न प्रवर्तते' इति पा०।

हेतु-व्याधि का सम्बन्ध—एक हेतु (निदान) अनेक रोगों का कारण देखा जाता है और एक रोग के अनेक कारण एवम् बहुत से रोगों के बहुत कारण भी का एक ही कारण भी होता है। इसके विपरीत एक रोग के अनेक कारण ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि अनेक रोग देखे जाते हैं। जैसे—रूक्ष गुण प्रधान एक (किसी) वस्तु के कारण ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और कभी एक रूक्ष पदार्थ के सेवन से एक (वात) ज्वर ही उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कभी रूक्ष आदि अनेक वस्तुओं के सेवन से भी ज्वर आदि व्याधियों की उत्पत्ति देखी जाती है।

लिङ्गं चैकमनेकस्य [1]तथैवैकस्य लक्ष्यते। बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनां स्युर्बहूनि च ॥२७॥
विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः। ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते ॥२८॥
विषमारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते। लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिक्काद्याः सन्ति चामयाः ॥२९॥

लिंग-व्याधि का सम्बन्ध—कभी अनेक रोगों का एक लिंग (लक्षण या रूप) और कभी एक रोग का एक लक्षण देखा जाता है। ऐसा भी देखा जाता है कि एक रोग के अनेक लक्षण होते हैं और अनेक रोग के बहुत से लक्षण होते हैं। जैसे—विषम आरम्भमूलक रोगों का ज्वर एक लक्षण माना गया है (विशेष विवरण के लिये—'विषमारम्भविसर्गित्वम्' आदि ज्वरनिदान में देखें), ज्वर के अनेक लक्षणों में एक (प्रधान) लक्षण सन्ताप कहा जाता है। यद्यपि विषम आरम्भमूलक कारणों से एक ज्वर का उल्लेख किया गया है किन्तु इन्हीं अनेक लक्षणों से ज्वर, श्वास, हिक्का आदि रोग भी युक्त होते हैं।

एका शान्तिरनेकस्य [2]तथैवैकस्य लक्ष्यते। व्याधेरेकस्य चानेका बहूनां बह्व्य एव च ॥३०॥
शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनक्रिया। ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लङ्घनमुच्यते ॥३१॥
तथा लघ्वशनाद्याश्च ज्वरस्यैकस्य शान्तयः। एताश्चैव ज्वरश्वासहिक्कादीनां प्रशान्तयः ॥३२॥

व्याधि-चिकित्सा का सम्बन्ध—अनेक व्याधियों की एक शान्ति (चिकित्सा) वैसे ही एक व्याधि की एक चिकित्सा एवम् एक रोग की अनेक शान्तियाँ तथा अनेक व्याधियों की अनेक शान्ति के प्रकार होते हैं। जैसे—आमाशय से पैदा होने वाली व्याधियों की शान्ति एक उपवास (लंघन) द्वारा होती है और एक ज्वर की शान्ति के लिये भी लंघन का उपदेश किया जाता है तथा लघु अशन (जो उपवास न कर सकें उनको हल्का भोजन) आदि भी ज्वर के चिकित्सा प्रकार हैं और ये ही ज्वर, श्वास, हिक्का आदि रोगों की भी चिकित्सायें हैं।

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात् ॥ ३३ ॥
याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः।
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥ ३४ ॥
नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्।
पादापचाराद् दैवाद् वा यान्ति भावान्तरं गदाः ॥ ३५ ॥

साध्य-असाध्य-विवेचन—जिस रोग के चिकित्सा उपाय सुलभ हों और जो थोड़े समय में दूर किया जासके उसको **'सुखसाध्य'** कहते हैं। जो रोग अत्यन्त परिश्रम के बाद बहुत देर में दूर किया जासके उसे **'कृच्छ्रसाध्य'** कहते हैं। जो व्याधि चिकित्सा करने पर भी सम्पूर्ण रूप से दूर न की जासके उसको **'याप्य'** कहते हैं। इसके आगे **'असाध्य'** वह रोग है जिसमें सभी प्रकार की चिकित्साएँ निष्फल हो जाती हैं, ऐसा रोगी **'प्रत्याख्येय'** (जवाब दे देने योग्य अर्थात् इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, कह देने योग्य) होता है।

निष्कर्ष—असाध्य रोग कभी साध्य नहीं हो सकता, परन्तु साध्य रोग असाध्य हो सकता है। साध्य रोगों के असाध्य होने में कारण—पादापचाराद्—अर्थात् चिकित्सा के जो चार पाद (१. चिकित्सक, २. औषध, ३. परिचारक और ४. रोगी) होते हैं, उनके यथोचित न होने से अथवा दैवात् (भाग्य) के विपरीत होने से, साध्यरोग भी असाध्य रूप धारण कर लेते हैं।

---

१. 'तथैकस्यैकमुच्यते' ग.; 'तथैकस्यैकमेव च' ह.।
२. 'तथैकैकस्य' ग.।

वक्तव्य—यहाँ रोगों के भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—१. सुखसाध्य, २. कृच्छ्रसाध्य, ३. याप्य (असाध्य), ४. असाध्य (प्रत्याख्येय)। ध्यान दें !—यह चौथा प्रत्याख्येय नामक असाध्य भेद का निर्णय होने पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह रोगी से इसकी चर्चा न करे। आवश्यकता पड़ने पर रोगी के अभिभावकों से असाध्यता या निकटमृत्यु की सूचना दे। ऐसी स्थिति में भी 'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति' अर्थात् कभी दैवयोग (भाग्यवश) से अरिष्ट लक्षणों के दिखायी पड़ने पर भी रोगी जीवित हो जाता है।

वृद्धिस्थानक्षयावस्थां [1]रोगाणामुपलक्षयेत्। सुसूक्ष्मामपि च प्राज्ञो देहाग्निबलचेतसाम् ॥३६॥
व्याध्यवस्थाविशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः। तस्यां तस्यामवस्थायां चतुःश्रेयः[2] प्रपद्यते ॥३७॥

दोषों की अवस्थाओं का महत्व—बुद्धिमान् चिकित्सक को वातादि दोषों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वृद्धि (बढ़ना), स्थान (रुका रहना) तथा क्षय (कौन दोष कितना क्षीण) हुआ है, इन अवस्थाओं की जानकारी करनी चाहिये, इसके साथ ही शरीर, अग्नि (पाचकाग्नि), बल, और मन की भी वृद्धि, स्थान, क्षय अवस्थाओं का ज्ञान करना चाहिये। विद्वान् चिकित्सक रोगों के अवस्थाभेदों को भलीभांति समझ-समझ कर, उन-उन अवस्था विशेषों में चार प्रकार के श्रेयों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद का अध्ययन तथा प्रयोग चतुर्वर्ग को प्रदान करता है, यह इसका शाश्वत सिद्धान्त है किन्तु 'स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः'। च० सू० अ० ३०। यहाँ पर दृष्टिकोण प्रवृत्ति मार्ग का है, अन्यत्र निवृत्ति मार्ग का।

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्। तेषु[3] न त्वरया कुर्याद् देहाग्निबलवित् क्रियाम् ॥
प्रयोगैः क्षपयेद् वा तान् सुखं वा कोष्ठमानयेत्। ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान् [4]यथासन्नं हरेद् बुधः ॥

चिकित्सा-विधि-निर्देश—अधिकांश देखा जाता है, कि तिर्यक् (तिरछे या टेढ़े) मार्गों में गये हुए दोष रोगियों को चिरकाल तक पीड़ित करते हैं। उन रोगों में शरीर, पाचकाग्नि, बल इनकी शक्ति को भलीभांति जानने वाला वैद्य चिकित्सा में शीघ्रता न करे, अर्थात् उनका क्रमशः उपचार करे। अतः उक्त प्रकार के दोषों को प्रयोगों (चिकित्सा) द्वारा क्षीण करे अथवा उनको अनुलोम करके कोष्ठ में ले आये, जब यह मालूम हो जाय कि दोष कोष्ठ में पहुँच गये हैं तब उनका समीप के मार्ग से निर्हरण करे।

वक्तव्य—कोष्ठ की परिधि के अन्तर्गत आमाशय तथा पक्वाशय दोनों ही आते हैं अतः आमाशय में आये हुए दोष को वमन द्वारा और पक्वाशय में स्थित दोष को विरेचन द्वारा निकालना चाहिये।

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि सङ्ग्रहे[5]। व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥

व्याधि और लक्षण का विवेचन—जो रोगों को जानने के लिये (अरुचि आदि रोग) लक्षण इस संग्रह (निदानस्थान) में कहे गये हैं, वे लक्षण यदि स्वतन्त्र रूप से हों तो उसे व्याधि (रोग) ही समझें, परन्तु जब ज्वर आदि-लक्षण अन्य रोगों के अधीन होकर उत्पन्न होते हैं तब उन्हें लक्षण समझना चाहिये न कि रोग।

विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः। तद्धेतुवशगं [6]हेतोरभावान्नानुवर्तते ॥ ४१ ॥

विकृति और प्रकृति का महत्व—संक्षेप से विकार और प्रकृति ये दो ही हैं। ये दोनों ही हेतु के वश में रहते हैं। इन दोनों (विकृति तथा प्रकृति के हेतुओं) का जब अभाव होता है, तब ये स्वयं भी नहीं होते हैं।

---

१. 'दोषाणामुपलक्षयेत्' इति पा०।
२. 'तत्तच्छ्रेयः' इति पा०; 'चतुःश्रेयः' इति 'चतुःश्रेयःकारकं चिकित्सितं, प्रपद्यते बुध्यते' चक्रः।
३. 'तेषु तु त्वरया कुर्याद् देहाग्निबलवत्क्रियाम्' यो.।
४. 'यथास्वं तं' ग.। 'तमातुरं,हरेत् तान् कोष्ठप्रपन्नान् दोषान् हारयेत्, इति अन्तर्भावितो णिजर्थः' गङ्गाधरः।
५. 'संग्रह इति व्याधिनिदानादिसंग्रहे; ये ज्ञानार्थं प्रधानभूतज्वरादिज्ञानार्थं व्याधयः सन्ति तेऽविपाकारुच्यादयः स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमाना व्याधय एव व्याधित्वेनैव व्यपदेष्टव्या इत्यर्थः; तदात्वे तु लिङ्गानीति यदा ज्वरादिपरतन्त्रा जायन्तेऽरुच्यादयः, तदा पारतन्त्र्याल्लिङ्गान्येव ते नामयाः' चक्रः।
६. 'हेतोरभावान्न प्रवर्तते' इति पा०।

वक्तव्य—जिस प्रकार पञ्चमहाभूतात्मक जगत् है उसी प्रकार यह शरीर भी है। विकृति और प्रकृति का प्रभाव दोनो में समान रूप से होता है। आयुर्वेद में धातुसाम्य का नाम प्रकृति है और धातु की विषमता का नाम विकृति है। सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था जागतिक प्रकृति है। इस साम्यावस्था की विकृति से महत् आदि की उत्पत्ति होती है। शारीरिक भावों का समयोग प्रकृति है उनका अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग विकृति है। इसका उल्लेख सूत्रस्थान में किया गया है—

'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः ॥' च० सू० अ० १।

निष्कर्ष यह है कि सुख, आरोग्य, धातुसाम्य ये प्रकृति हैं और दुःख, रोग, धातुविषमता ये विकृति हैं। ये दोनों हेतु के अधीन होते हैं।

तत्र श्लोकाः—

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। सम्प्राप्तिः पूर्वमुत्पत्तिः सूत्रमात्रं चिकित्सितात् ॥४२॥
ज्वरादीनां विकाराणामष्टानां साध्यता न च। पृथगेकैकशश्चोक्ता हेतुलिङ्गोपशान्तयः ॥४३॥
हेतुपर्यायनामानि व्याधीनां लक्षणस्य च। निदानस्थानमेतावत् सङ्ग्रहेणोपदिश्यते ॥४४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
अपस्मारनिदानं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति निदानस्थानं समाप्तम्।

उपसंहार—प्रस्तुत आठवें अध्याय मे अपस्मार रोग के हेतु (कारण = निदान), पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति, रोगों की प्रारम्भ में उत्पत्ति और चिकित्सा का सूत्रमात्र का वर्णन किया गया है। ज्वर आदि आठ (इस निदानस्थान में कहे गये) रोगों की साध्यता, असाध्यता, कारण, लक्षण तथा शान्ति (चिकित्सा) प्रकार अलग-अलग एक-एक करके कहे गये हैं। हेतु, व्याधि (रोग), लक्षण एवम् इन सबके पर्यायवाची नामों का इस निदानस्थान में संक्षेप से उपदेश किया गया है।

विशेष वक्तव्य—यद्यपि यहाँ लिखा है कि 'ज्वरादीनां विकाराणामष्टानां साध्यता न च'। अर्थात् ज्वर आदि अपस्मारपर्यन्त निदानस्थान में कहे गये आठ अध्यायों में उन-उन रोगों की साध्यता-असाध्यता आदि का वर्णन कर दिया गया है किन्तु ज्वर-निदान में साध्य असाध्य की चर्चा नहीं की गयी है। इसके समाधान में आयुर्वेददीपिका टीका के लेखक ने लिखा है—'यद्यपि ज्वरस्य ज्वरनिदानेऽसाध्यता नोक्ता, तथापि 'अष्टानां' इति पदं 'छत्रिणो यान्ति' इति न्यायेन बोद्धव्यम्। किं वा अष्टानां हेतु लिङ्गोपशान्तय, इति योजनीयम्। असाध्यता यथायोग्य तथैव बोद्धव्या'।

हमारी दृष्टि से **'सूत्रमात्रं चिकित्सितात्'** इस पद्यांश पर उक्त विषय के निर्णय के लिये ध्यान देना चाहिये। निदानस्थान में जिन रोगों का वर्णन है वह 'चिकित्सितात् = चिकित्सास्थान से, सूत्रमात्रं = संकेत मात्र लिया गया है, जैसा कि प्रत्येक अध्याय में उस उस रोग की संक्षिप्त चिकित्सा भी दी गयी है। वहाँ साध्य-असाध्य का भी विवेचन हुआ है। देखें—च० चि० अ० ३।५०-५२।

निदानस्थान में साध्यता ज्वर का स्वरूप है—**सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एव जायन्ते'** यह वह ज्वर है जिसकी चिकित्सा करने पर स्वास्थ्य-लाभ होता है और असाध्य ज्वर वह है जो—**'सर्वप्राणभृतां ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते'**। च० नि० अ० १।३५। अतः महर्षि आत्रेय का उक्त कथन संगत है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
निदानस्थान में अपस्मारनिदान नामक आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

इस प्रकार निदानस्थान समाप्त हुआ।

विमानस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातो रसविमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

निदानस्थान का वर्णन करने के बाद अब हम रसविमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—निदानस्थान में रोगों के निदान के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् चिकित्सा का वर्णन आवश्यक था किन्तु चिकित्सा के लिये औषध आदि की आवश्यकता होती है। औषधों का निर्माण द्रव्य के आश्रित होता और द्रव्य में रस की प्रधानता होती है, विमानस्थान के प्रथम अध्याथ का वर्णनीय विषय भी रस ही है, अतः यहाँ इसके वर्णन का यही औचित्य है।

विमान शब्द की निरुक्ति—'विशेषेण मीयते (ज्ञायते दोषभेषजाद्यनेनेति) विमानम्। एवम्भूतं विमानमभिधेयतया यत्र तिष्ठति तद् विमानस्थानम्', रसविमानमधिकृत्य कृतोऽध्यायो रसविमानम्। चक्रपाणिः। अर्थात् जिसके माध्यम से दोष, भेषज आदि का विशेष रूप से ज्ञान किया जाता है, उसे विमान (वि उपसर्ग पूर्वक माङ्माने धातु से ल्युट प्रत्यय करके इसकी निष्पत्ति होती है) स्थान कहते हैं।

इह खलु व्याधीनां निमित्तपूर्वरूपरूपोपशयसङ्ख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषाननुप्रविश्या[1]नन्तरं दोष[2]भेषजदेशकालबलशरीरसाराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसां मानमवहितमनसा यथावज्ज्ञेयं भवति भिषजा, [3]दोषादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः। न ह्यमानज्ञो [4]दोषादीनां भिषग् व्याधिनिग्रहसमर्थो भवति। तस्माद् [5]दोषादिमानज्ञानार्थं विमानस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! ॥ ३ ॥

दोष आदि के मान-ज्ञान का महत्व—इस आयुर्वेदशास्त्र में रोगों के निमित्त (हेतु या निदान), पूर्वरूप, रूप, उपशय, संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल, काल (सम्प्राप्ति) के भेदों को भली-भाति समझकर अर्थात् उनके रहस्य को जानने के पश्चात् वातादि दोष, ओषधि (हरीतकी आदि) अथवा औषध (चिकित्सोपयोगी द्रव्यों का मिश्रितस्वरूप), देश (जांगल, आनूप आदि), काल, बल, शरीर, सार, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वयस् (बाल्य, युवा, वृद्ध) के मान (परिमाण) का सावधान मन से चिकित्सक को भली-भांति जानना चाहिये। क्योंकि चिकित्सा दोष आदि या रस आदि के मान को जानने के अधीन होती है, अर्थात् जब तक दोष-दूष्यों की अंशांश कल्पना न हो पायेगी तब तक ठीक-ठीक चिकित्सा का होना सम्भव नहीं है। इसीलिये कहा है कि दोष आदि के परिमाण को न जानने वाला चिकित्सक रोगों का निग्रह (बचाव) करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिये दोष आदि के मान (परिमाण) को जानने के लिये अग्निवेश ! हम विमानस्थान का उपदेश करेंगे।

तत्रादौ रसद्रव्यदोषविकारप्रभावान् वक्ष्यामः।

१. 'अभिनिविश्य' ग०।
२. '०रसद्रव्यंदोषविकारभेषजदेश०' इति पा०।
३. 'रसादिमानज्ञानायत्तत्वात्' इति पा०।
४. 'रसादानाम्' इति पा०।
५. 'रसादिमानज्ञानार्थम्' इति पा०।

रसादि-प्रभाव-वर्णन---उसमें हम सबसे पहले रस, द्रव्य, दोष तथा विकारों (रोगों) के प्रभावों को कहेंगे।

रसास्तावत् षट्—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। ते सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते ॥ ४ ॥

रस-वर्णन—आयुर्वेद में रस छः होते हैं। उनके ये नाम हैं—१. मधुर, २. अम्ल, ३ लवण, ४. कटु, ५. तिक्त तथा ६. कषाय। वे भलीभांति उपयोग किये जाने पर शरीर का सम्यक्रूप से सञ्चालन करते हैं। मिथ्यायोग (कम या अधिक उपयोग) करने पर दोषों को प्रकुपित करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—रसों का तीन प्रकार का उपयोग होता है—१. सम्यक्योग, २. हीनयोग, ३. अतियोग। इसका वर्णन सूत्रस्थान अध्याय ७ में द्रष्टव्य है। प्रथम सम्यक् योग को छोड़कर शेष दोनों ही प्रकार दोषों का प्रकोपण करते हैं।

दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः [1]शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ॥ ५ ॥

दोषों के भेद—दोष—१. वात, २. पित्त, ३. कफ भेद से तीन प्रकार के होते हैं। वे यदि सम अवस्था में होते हैं, तो शरीर के उपकारक अथवा योग-क्षेम करने वाले होते हैं। विकृति (विकार) को प्राप्त हो जाने पर तो अनेक प्रकार के रोगों से शरीर को कष्ट देने वाले होते हैं।

वक्तव्य—जिस बात को यहाँ महर्षि आत्रेय ने 'प्रकृतिभूतदोष' और 'विकृतिमापन्नदोष' शब्द से कहा है, उसको सूत्रस्थान में 'दोषसाम्य' और 'दोषवैषम्य' शब्दों द्वारा कह चुके थे। उसी को वाग्भट ने 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः' कहा है। यहाँ 'शरीरोपकारकाः' का तात्पर्य है—जब ये दोष शरीर के उपकारक होते हैं, उस समय इनको 'धातु' कहते हैं। यह 'धातु शब्द 'डुधाञ्' धातु से बनता है। इसका अर्थ है धारण करते हुए पोषण करना। 'उपतापयन्ति' क्रिया का तात्पर्य है—ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न कर के पीड़ित करना।

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति; मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति; मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥ ६ ॥

रसों के मिश्रण का प्रभाव—उनमें तीन-तीन रस एक-एक दोष को उत्पन्न करते (उभाड़ते) हैं और तीन-तीन रस एक-एक दोष का शमन भी करते हैं। वह क्रम इस प्रकार है—कटु, तिक्त, कषाय रस वात दोष को उत्पन्न करते (उभाड़ते) हैं और मधुर, अम्ल, लवण रस इसको शान्त करते हैं। कटु, अम्ल, लवण रस पित्त को प्रकुपित करते हैं और मधुर, तिक्त, कषाय रस इसको शान्त करते हैं। मधुर, अम्ल, लवण रस कफ को उत्पन्न करते हैं और कटु, तिक्त, कषायरस इसको शान्त करते हैं।

वक्तव्य—'त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति'। जनी प्रादुर्भावे धातु लट् लकार प्रथम पुरुष ब० व० का णिजन्त प्रयोग 'जनयन्ति' है। यह 'णिच्' प्रत्यय प्रेरणार्थक होता है। शरीर में वात आदि तीनों दोषों की सत्ता शाश्वत है किन्तु उपर्युक्त तीन-तीन रसों का सम्मिलित (न कि पृथक्-पृथक्) प्रयोग उन-उन दोषों को अपने प्रभाव से सम अवस्था से विकृति के रूप में प्रादुर्भूत कराता है तथा दूसरे तीन रसों का प्रयोग शान्त कराता है। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक द्रव्य में एकाधिक रसों की सत्ता होती है। यथा—'हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्'। अ० निघण्टु। अर्थात् हरीतकी में ५ रस हैं। लवण रस नहीं हैं। कषाय रस प्रधान है। अतः ऐसी स्थिति में अप्रधान अन्य रसों की उपेक्षा कर प्रधान रस का ही ग्रहण किया जाता है। इसीप्रकार अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी निर्णय लेना चाहिये।

रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम् ॥ ७ ॥

१. 'शरीरयोगक्षेमकराः' यो.।

रसों के कारण दोषों की वृद्धि-शान्ति—खाये हुए पदार्थों से उत्पन्न होने वाले रसों का जब शरीर में स्थित दोषों के साथ मिश्रण होता है, तब जो-जो रस जिन-जिन दोषों के समान गुण वाले होते हैं अथवा जो-जो रस जिन-जिन दोषों के अधिक समान गुण वाले होते हैं, वे-वे उनको बढ़ाते हैं, विपरीतगुण वाले अथवा अधिक विपरीत गुण वाले रस निरन्तर सेवन करते रहने पर उन-उन दोषों का शमन करते हैं। इस व्यवस्था का निर्देश करने के लिये जो आपस में मिले हुए नहीं हैं ऐसे रसों के छः भेदों का उपदेश किया जा रहा है और दोषों की संख्या तीन मानी गयी है।

वक्तव्य—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च'। च० सू० अ० १। यह आयुर्वेद का शाश्वत सिद्धान्त है अथवा सृष्टि की संरचना में सर्वत्र समान गुणशील के परस्पर मिलने से वृद्धि और विपरीत गुण के द्रव्यों के मिलने पर ह्रास देखा जाता है। इसी का दूसरे शब्दों में यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

संसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसङ्ख्येयो भवति, विकल्पभेदापरिसङ्ख्येयत्वात् ॥८॥

रस-दोषों की असंख्येयता—संसर्ग (परस्पर मिलने) तथा विकल्प (तर-तम भेद या न्यून-अधिक) परिमाण भेद से उक्त छः रसों तथा तीन दोषों का विस्तार विकल्पों (अंशांश परिकल्पनाओं) के असंख्येय होने के कारण अनगिनत भेद हो जाते हैं।

वक्तव्य—'आत्रेयभद्रकाप्यीय' नामक चरक के २६ वें अध्याय में इसके सम्बन्ध में विविध आचार्यों के अनेक मत होने पर भी अन्ततः ६ रस ही स्वीकार किये गये हैं। जिनका व्याख्यान वहाँ हमने विस्तार से किया है। वहाँ भी **'अपरिसङ्ख्येया रसाः'** कहा गया है। यह वर्णन द्रव्य में रहने वाले रसों का ही समझना चाहिये न कि अन्य किसी का।

तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ॥ ९ ॥

द्रव्य-रोगप्रभाव का निश्चय—उन अनेक रस वाले द्रव्यों में और अनेक दोषों से उत्पन्न होने वाले विकारों (रोगों) में रस तथा दोष के प्रभाव को एक-एक करके विचार कर लेने के पश्चात् द्रव्य और रोग के प्रभाव के तत्व का निश्चय करे।

वक्तव्य—रसों तथा रस से आश्रित द्रव्यों का भली-भाँति परिचय प्राप्त कर लेने पर किया गया द्रव्य समवाय का प्रयोग रोगनाशक होता है। इसको **'प्रकृतिसमसमवेतसिद्धान्त'** कहते हैं। इसकी विशेष चर्चा चरक सूत्रस्थान अध्याय १७ में की गयी है।

एकैकश्येन—एक+एकशस् शब्द से ष्यञ् प्रत्यय होने पर 'एकैकश्येन' रूप बनता है। यद्यपि 'एकशः' शब्द ही 'एकैकशः' के अर्थ-निर्वाह के लिये पर्याप्त है परन्तु इस प्रकार का प्रयोग महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी किया है। यथा—'एकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्वेति'। प्रत्याहाराह्निकभाष्य।

नत्वेवं खलु सर्वत्र। नहि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण [1]चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम् ॥ १० ॥

उक्त सिद्धान्त का अपवाद—निश्चयपूर्वक ऐसा (जैसा ऊपर कहा जा चुका है) सभी स्थानों में नहीं देखा जाता है। क्योंकि विकृति रूप में और विषम रूप में एकत्रित (मिले हुए) विभिन्न प्रकार के परस्पर (एक दूसरे से) आघात को प्राप्त हुए और भी विकल्पकारक (भेद को पैदा करने वाले) हेतुओं से भेद को प्राप्त हुए रसों के आंशिक प्रभाव के अनुमान से ही समुदाय द्वारा होने वाले तत्वों का निश्चय कर लेना सम्भव नहीं है।

वक्तव्य—स्वतन्त्र द्रव्यों के आश्रय में रहने वाले रसों का प्रभाव स्वतन्त्र रूप से होता है, इसकी चर्चा च० सूत्रस्थान में की गयी है। यहाँ विविध द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाले रस प्रभाव की चर्चा की जा रही है। इसको तन्त्रकार ने दो भागों में इस प्रकार विभाजित किया है—१. प्रकृतिसमसमवेत और २. विकृतिविषमसमवेत।

१. 'चोपहतप्रकृतिकानाम्' इति पा०।

१. प्रकृतिसमसमवेत—अर्थात् वे द्रव्य जो परस्पर समान प्रकृति वाले होते हुए एक-दूसरे से समवेत (मिल जाते अथवा योग-निर्माण की दृष्टि से मिला दिये जाते) होते हैं, उनको प्रकृति+सम+समवेत कहते हैं। यथा—प्रपाणक (शरबत) बनाने के लिये जल, मिश्री, दूध आदि द्रव्यों का संयोग होने पर भी उक्त द्रव्यों में स्थित मधुर रस प्रकृतिसम होने के कारण समवेत होने पर भी बदलता नहीं।

२. विकृतिविषमसमवेत—विकृति के कारण विषम (प्रकृति के विपरीत) द्रव्यों का जो संयोग होता है, उसकी उक्त संज्ञा है। इसमें जब परस्पर विषम प्रकृति के दो या दो से अधिक द्रव्यों का संयोग होता है, तो वे द्रव्य अपने प्राकृतिक रसों को छोड़कर संयोग के प्रभाव से भिन्न रस को उत्पन्न कर देते हैं। यथा—दूध और मछली, घृत-मधु। इनको परस्पर विरोधी द्रव्य भी कहा गया है। वास्तव में प्रकृतिसमद्रव्यों के संयोग का ज्ञान जितना सरल है, उतना ही विकृतिविषमद्रव्यों के संयोगजनित रस. वर्ण आदि का ज्ञान कर लेना कठिन है। चिकित्सा की दृष्टि से इस प्रकार द्रव्यों के संयोगज परिणाम को जानना आवश्यक होता है। अन्यथा द्रव्यों के मिश्रण जनित विपरीत प्रभाव सामने आ सकते हैं।

इसका परिचय आप इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं—जिस द्रव्य का जो स्वाभाविक रस होता है यदि वह तदनुकूल कार्य नहीं करता तो उसको 'विकृतिसमवेत' समझना चाहिये और जिस द्रव्य के जो स्वाभाविक रस हैं यदि उसके उन रसों की न्यूनाधिक प्रयोग द्वारा प्रतीत हो तो उसे **'विषमसमवेत'** कहते हैं। विशेष परिचय द्रव्यों के गुण-धर्म का ज्ञान होने पर चिकित्सा काल में प्राप्त किया जा सकता है।

तथायुक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवमेवोपलभ्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ॥

तत्वनिर्णय-निर्देश—उस प्रकार मिले हुए रसों के समूह में सम्मिलित रसों के प्रभाव के तत्व को प्राप्त (समझ) कर तदनन्तर द्रव्यों तथा विकारों (रोगों) के (सामूहिक) प्रभाव-तत्व का निर्णय करे।

वक्तव्य—उक्त गद्य के आशय को हम चक्रपाणिदत्त के अनुसार स्पष्ट कर रहे हैं—'समघृते हि मधु-सर्पिषि, सूर्यावर्ताख्ये वा दोषसमुदयेन संयुज्यमानमधुघृतगुणक्रमागतं मारकत्वं, न च वातादिदोषप्रभावगतं सूर्य-वृद्ध्या वर्धिष्णुत्वं सूर्यावर्तस्य, किन्तु संयोगमहिमकृतमेवेत्यर्थः।

यच्च गतिद्वयं दोषरसमेलकस्य, तेन प्रकृतिसमसमवायरूप सन्निपातं ज्वरनिदाने दोषलिङ्गमेलके नैवोक्त-वान्। यदुक्तं—'पृथगुक्तलक्षणसंसर्गाद् द्वान्द्विकमन्यतमं सान्निपातिकं वा ज्वरं विद्यात्'। च० नि० अ० १। इति। यस्तु विकृतिविषमसमवेतस्त्रिदोषकृतो ज्वरस्तस्य चिकित्सिते—'क्षणे दाहः क्षणे शीतम्'। च० चि० अ० ३। इत्या-दिना लक्षणमुक्तम्। नहि, श्यावरक्तकोठोत्पत्यादि तत्रोक्तं वातादिज्वरे क्वचिदस्ति। एवं रसेऽपि यत्राम्राते मधुरत्वं प्रकृतिसमसमवेतं, तत्राम्रातं मधुरमेतन्मात्रमेवोक्तं, तेन मधुरसामान्यगुणागतं तस्य वातपित्तहरत्वमपि लभ्यत एव। यत्र वार्ताके कटुतिक्तत्वेन वातकरत्वं प्राप्तमपि च विकृतिविषमसमवायात् तन्न भवति। तत्राचार्येण 'वार्ताकं वातघ्नं'। च० सू० अ० २७। इत्युक्तमेव'। चक्रपाणिदत्तः।

उक्त गद्य का आशय यह है—मधु और घी जब कि दोनों मधुर रस प्रधान हैं, सम मात्रा में मिलाने पर विष होते हैं। यह विकृतिसमवेतरस का प्रसिद्ध उदाहरण है। दोषों के समूह से उत्पन्न सूर्यावर्त रोग में दोष-संयोग ही कारण माना गया है। देखें—सु० उ० अ० २५। आचार्य निमि ने सूर्यावर्त के सम्बन्ध में जो स्पष्टी-करण दिया है, वह इस प्रकार है—'सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ। कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥ आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे। स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति॥ उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते। तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति'॥ नेमितन्त्र।

तस्माद्रसप्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च विकारप्रभावतश्च तत्त्वमुपदेक्ष्यामः ॥ १२ ॥

चार प्रकार के प्रभाव—इसलिये रसों के प्रभाव से, द्रव्यों के प्रभाव से, दोषों के प्रभाव से तथा विकारों के प्रभाव से हम तत्व का यहाँ उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान अ० २६।७१ में यह बतलाया गया है कि औषधियाँ अपने-अपने स्वभावानु-सार वीर्य, गुण, विपाक, प्रभाव से कार्य करती हैं। उस विषय की पुनरुक्ति न करके रस प्रभाव आदि का निर्देश इसलिये किया गया है कि यहाँ औषध द्रव्यों की स्वतन्त्र स्थिति न होकर समवेत स्थिति का वर्णन तन्त्रकार को अभीष्ट है। यहाँ तो वीर्य तथा विपाक का अन्तर्भाव क्रमशः द्रव्य प्रभाव और रस प्रभाव में कर लिया गया है।

सूत्रस्थान का विषय तथा महर्षि का उक्त कथन परस्पर विरुद्ध न होकर द्रव्य की स्वतन्त्रावस्था का तथा संयोगावस्था का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहा है।

तत्रैष रसप्रभाव उपदिष्टो भवति। द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः। तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्म-प्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति ॥ १३ ॥

द्रव्य-प्रभाव-वर्णन—वहाँ (इसी प्रकरण में इसके पहले) यह रस के प्रभाव का उपदेश कर दिया गया है। तदनन्तर द्रव्य के प्रभाव का उपदेश करेंगे। तेल, घी, शहद ये द्रव्य वात, पित्त, कफ के (क्रमशः) प्रशमन करने के लिये होते हैं। अब इनके प्रभावों का वर्णन किया जा रहा है।

तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानं; वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोप-पन्नो विरुद्धगुणो भवति। विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मात् तैलं वातं जयति सतत-मभ्यस्यमानम्।

तैल-प्रभाव-वर्णन—उक्त तीन द्रव्यों में स्निग्धता (चिकनाहट), उष्णता तथा गुरुता होने के कारण निरन्तर सेवन करने से तेल वात को जीतता है। अर्थात् उसको दबाये रखता है, उभड़ने नहीं देता। क्योंकि वात रूक्षता, शीतता तथा लघुता गुणों से युक्त होता है; अतएव यह तैल से विरुद्धगुण वाला होता है। स्वाभाविक है कि विरुद्ध गुणों के समूह में अधिक गुण वाला हीनगुण वाले को जीत लेता है इसीलिये वात को तैल जीत लेता है, निरन्तर अभ्यास (सेवन) करते रहने पर।

वक्तव्य—'सततमभ्यस्यमानम्' इस वाक्यांश की पुनरुक्ति ऊपर के गद्य में जो की गयी है, उसका तात्पर्य है कि 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' अर्थात् तैल तभी वातनिग्रह में समर्थ हो सकता है जब उसका निरन्तर सेवन किया जाय।

कुछ विद्वानों की शंका है—जब कि तैल, घृत, मधु अपने गुणों से विरुद्ध गुण वाले वात, पित्त, कफ को जीत लेते हैं, क्यों नहीं वात, पित्त, कफ अपने गुणों से तैल, घृत, मधु को हतप्रभ कर देते। ऐसी शंका करने वाले विद्वानों ने प्रकरण के पूर्वापर का ध्यान नहीं रखा। देखें—तन्त्रकार इसके पूर्व प्रतिज्ञा करते हैं कि अब हम **'द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः'** द्रव्यों के प्रभाव का पुनः वर्णन करेंगे और प्रभाव के सम्बन्ध में आचार्यों की दृढ़ धारणा है—'प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते'। अर्थात् प्रभाव अचिन्त्य (अविज्ञेय) होता है।

इस प्रभाव के सम्बन्ध में आचार्य शार्ङ्गधर का मत है—'क्वचित्तु केवलं द्रव्यं कर्म कुर्यात् प्रभावतः। ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवी जटा यथा'॥ शा० सं० प्र० खं० ३५। और भी देखें—'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥ मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्। तत्प्रभावकृतं तेषाम्'॥ शा० सं० प्र० खं० ३६–३७।

अतः यहाँ तैल, घृत, मधु का जो क्रमशः वात, पित्त, कफ को जीतने की चर्चा की गयी है; वह उन-उन द्रव्यों का प्रभाव विशेष है। यहाँ द्रव्यों के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार रस, मणि आदि के प्रभावों का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिये।

सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च; पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च।

घृत-प्रभाव-वर्णन—इसी प्रकार घी में मधुरता, शीतता तथा मन्दता होती है, अतएव वह पित्त को जीतता है, क्योंकि पित्त अमधुर (कटु, अम्ल), उष्ण तथा तीक्ष्ण गुणों वाला होता है। शेष वक्तव्य तैल की भांति समझें।

मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च; श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च।

मधु-प्रभाव-वर्णन—मधु में रूक्षता, तीक्ष्णता तथा कषायता होती है, अतएव वह कफ को जीतता है, क्योंकि कफ स्निग्ध (चिकना), मन्द और मधुर गुणों वाला होता है।

यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात् तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम्।

सामान्य निर्देश—और भी कोई इस प्रकार का द्रव्य जो वात, पित्त, कफ के गुणों से विपरीत हो (जैसा ऊपर वर्णन किया गया है।) उन-उन द्रव्यों का निरन्तर अभ्यास (सेवन) करने से उन-उन दोषों को जीतते हैं।

वक्तव्य—उक्त चारों स्थलों में 'जयति' क्रिया का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। कुछ व्याख्याकारों ने 'तैल वातदोष को नष्ट करता है' इस प्रकार अनुवाद किया है यह समीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि शरीर में वातादि दोष स्वस्थ अवस्था में समावस्था में रहते हैं और रोग की स्थिति में रोगानुसार वे-वे दोष बढ़ जाते हैं। उनपर विजय पाना ही सफल चिकित्सा है, न कि उन दोषों का सर्वथा विनाश करना।

'यच्चान्यदपि' के आशय की आचार्य भेल(ड) ने इस प्रकार विवेचना की है—'आनूपमांसजा वापि रसा मज्जान एव च। तैलवन्मारुतं घ्नन्ति स्नेहौष्ण्यगुरुभावतः॥ शाखादविष्किराणां च रसा मज्जान एव च। घृतवद् घ्नन्ति ते पित्तं शैत्यमाधुर्यभावतः॥ कषायतिक्तकटुकं यच्च किञ्चिदिहौषधम्। मधुवत् तत्कफं हन्ति गुणान्यत्वेन देहिनाम्'॥ भेडसंहिता, विमान० अ० १।

अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः; तद्यथा—पिप्पली, क्षारः, लवणमिति॥ १५॥

अधिक सेवन न करने योग्य द्रव्य—अब निश्चय पूर्वक उन तीन द्रव्यों का उल्लेख किया जारहा है जिनका अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। वे द्रव्य इस प्रकार हैं—१. पिप्पली, २. क्षार और ३. लवण।

पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च, ताः सद्यः; शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति; आपातभद्राः, [1]प्रयोगसमसाद्गुण्यात्; दोषसञ्चयानुबन्धाः;—सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति, औष्ण्यात् पित्तं, न च, वातप्रशमनायोपकल्पन्तेऽल्पस्नेहोष्णभावात्; योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति; तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत॥ १६॥

पिप्पली-वर्णन—पिप्पलियाँ रस में कटु (चरपरी) होती हुई भी विपाक में मधुर होती हैं। ये अधिक स्निग्ध तथा उष्णवीर्य नहीं होती हैं, क्लेद (Wetness) कारक होती हैं तथा इनका स्वतन्त्र अथवा औषधयोगों में प्रयोग किया जाता है। ये शीघ्र ही शुभ अथवा अशुभ प्रभावकारक होती हैं। उचित मात्रा में प्रयोग करने से शुभकारक और मात्रा के विपरीत प्रयोग करने से अशुभकारक होती हैं। सममात्रा में प्रयोग करने से कुछ समय के लिये लाभकारक होती हैं, अधिक उपयोग कर लेने पर ये दोषों का संचय करती हैं। निरन्तर इनका उपयोग यदि किया जाता है तो पचने में भारी, क्लेदकारक होने के कारण कफ को और उष्ण होने के कारण पित्त को बढ़ाती हैं। अल्प स्निग्ध तथा उष्ण प्रकृति वाली होने के कारण वात का शमन भी नहीं कर पाती हैं। ये योगवाहिनी (किसी भी शास्त्रोक्त योग में मिलाकर उसके साथ कार्य करने वाली) होती हैं। अतः पिप्पलियों का अधिक उपयोग न करे।

वक्तव्य—चिकित्सा-ग्रन्थों में पिप्पली के अनेक योग वर्णित हैं। इनमें जो पिप्पली का आंशिक प्रयोग होता है, तन्त्रकार ने **'योगवाही'** संज्ञा देकर उसका आदेश दिया है। अर्थात् 'त्रिकटु' आदि योगों में तो इसका प्रयोग होना ही चाहिये। पिप्पली के अन्य अनेक प्रयोग आयुर्वेद में प्रशस्त हैं। **'वर्धमानपिप्पली'** में तो पिप्पली का ही एकछत्र राज्य है। शास्त्र का निर्देश प्राणिमात्र के हित के लिये होता है। उसका सही अर्थ लगाने पर ही सर्वतोमुखी लाभ होता है। वर्धमानपिप्पली का किस स्थिति में कितना सेवन किया जाता है और उसके भी उत्तम, मध्यम, अधम प्रयोगों की चर्चा की गयी है। रोग की परिसमाप्ति होने पर चिकित्सक स्वयं उसके सेवन का निषेध करेगा, स्वाद में कटु होने के कारण आप भी अधिक नहीं खा सकेंगे।

वास्तव में किसी भी औषध द्रव्य का उपयोग रोग की शान्ति होने के बाद नहीं करना चाहिये। यहाँ तन्त्रकार का **'अधिक'** शब्द से यही तात्पर्य है। दैनिक प्रयोग में जिस प्रकार लौंग, इलायची आदि का व्यवहार होता है, इस प्रकार पिप्पली का प्रयोग नहीं होना चाहिये। चिकित्सा-क्षेत्र में इसका तिरस्कार नहीं किया जासकता। तन्त्रकार का यह वर्णनकौशल है कि उन्होंने पिप्पली को क्षार और लवण के साथ लिखकर पिप्पली की उपयोगिता बतलायी और अधिक सेवन का निषेध किया है।

क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद् विशोषयति, स पचनदहनभेदनार्थमुपयु-

१. प्रयोगसमसाद्गुण्यादिति समस्य प्रयोगस्य सद्गुणत्वात्, समेऽल्पकालेऽल्पमात्रे च पिप्पल्याः प्रयोगे सद्गुणा भवन्तीत्यर्थः' चक्रः।

ज्यते; सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः सम्पद्यते। ये ह्येनं ग्रामनगरनि[1]गमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति; तद्यथा—प्राच्याश्चीनाश्च; तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत॥ १७॥

क्षार-वर्णन—तदनन्तर क्षार-परिचय प्रस्तुत है—यह उष्णता, तीक्ष्णता, तथा लघुतागुणप्रधान होने के कारण प्रारम्भ में क्लिन्नता (गीलापन) उत्पन्न करता है और उसके बाद शोषण करता है। उसका प्रयोग पचाने, जलाने तथा व्रण आदि को फाड़ने (फोड़ने) के लिये किया जाता है। उस क्षार का अधिक प्रयोग करने पर बालों का झड़ना, दृष्टि की मन्दता तथा पुरुषत्व-शक्ति को क्षीण करता है। जिस ग्राम, नगर, निगम, जनपद के निवासी क्षार का निरन्तर सेवन करते हैं, वे अन्धे, नपुंसक, गंजे और असमय में सफेद (पके) बालों वाले हो जाते हैं और उनके हृदय में कैंची से काटने की-सी पीड़ाएँ होती हैं। वह इस प्रकार है—प्राच्यदेश (आसाम, बंगाल आदि) तथा चीन देशवासी लोग ऐसे होते हैं। इसलिये क्षार का अधिक उपयोग न करे।

वक्तव्य—'नानौषधिभूतम्' सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थ ग्राह्य हैं किन्तु किसका किस मात्रा में कब उपयोग होना चाहिये, शास्त्रकार इसी का निर्देश करता है। यहाँ क्षारों के तीन उपयोग बतलाये हैं—**१. पचन**—विविध प्रकार के पाचक चूर्णों के रूप में। २. **दहन**—जलाने आदि में। विशेष द्रष्टव्य-सुश्रुत—संहिता अर्शचिकित्सा में क्षारसूत्र आदि प्रयोग। ३. **भेदन**—व्रणों के भेदन के लिये स्वतन्त्र प्रयोग अथवा पुल्टिस आदि में मिलाकर।

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्, अनतिगुरु, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्रंसनसमर्थम्, अन्नद्रव्यरुचिकरम्, आपातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसञ्चयानुबन्धं; तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद्ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—वाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः; ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति॥ १८॥

लवण-वर्णन—तदनन्तर लवण-परिचय प्रस्तुत है—इसमें उष्णता और तीक्ष्णता गुण होता है। यह न अधिक गुरु और न अधिक स्निग्ध (चिकना) होता है। उपक्लेदि (अपने आस-पास को गीला करने वाला), विस्रंसन (दोषों को निकालने की = Laxative) शक्ति वाला, भक्ष्य-भोज्य द्रव्यों के स्वाद को बढ़ाने वाला, (इसीलिये इसको सबरस कहते हैं, क्योंकि इसके बिना भोजन फीका लगता है।), उचित मात्रा में प्रयोग करने से बहुत ही अच्छा लगता है, दोषों के संचय होने में कारण होता है, उस नमक का प्रयोग रुचि को बढ़ाने, भोजन को पचाने, गीला करने तथा मल आदि को निकालने के लिये किया जाता है। उस लवण का अत्यधिक प्रयोग करने पर शरीर में ग्लानि (उत्साह की कमी), शरीर में ढीलापन (चुस्ती का अभाव), दुर्बलता की उत्पत्ति हो जाती है। जिस ग्राम, नगर, निगम, जनपद के निवासी लवण का निरन्तर सेवन करते हैं, वे अत्यन्त ग्लानियुक्त ढीले मांस, रक्त वाले, कष्टसहनशक्ति रहित होते हैं। जैसे—वाह्लीक (शकद्वीप—बैक्ट्रिया की राजधानी, सम्प्रति बलख), सौराष्ट्र (गुजरात—Surat), सिन्ध तथा सौवीर (सिन्ध तथा मद्र का अन्तर्देश) देश के निवासी तो दूध के साथ भी नमक खाते हैं, अर्थात् स्वभाव से ही दूध मीठा होता है, परन्तु फिर भी वे लोग दूध में भी नमक डालकर पीते हैं। जो भी इस संसार में अत्यधिक देश ऊषर हैं। उनमें ओषधि (फलपाक होने पर जिनके पौधे सूख जाते हैं, जैसे—सौंफ, अजवाइन आदि), वीरुध (लता आदि Climbing Plant), वनस्पति (फूल के बिना फल लगने वाले वृक्ष—गूलर आदि) और वानस्पत्य (फूल तथा फल वाले वृक्ष—आम, अनार आदि) पैदा नहीं होते, यदि पैदा हो भी जाते हैं तो अल्पगुण वीर्य वाले होते हैं क्योंकि नमक के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इसलिये नमक का अधिक उपयोग न करे।

१. 'निगमो नगरपुरोवर्तिग्रामः'। गङ्गाधरः।

जिनको लवण सात्म्य (अनुकूल) होता है, ऐसे पुरुषों में भी खालित्य (गंजापन), पालित्य (असमय में बालों का सफेद होना) और मुख आदि शरीरावयवों में झुर्रियां (Fold of Skin) असमय में हो जाती हैं।

तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणापगमनं श्रेयः। सात्म्यमपि हि क्रमेणोपनिवर्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति ॥ १९ ॥

पिप्पली आदि के त्याग का क्रम—इन कारणों से उन (पिप्पली, क्षार, लवण) का सात्म्य (निरन्तर सेवन करने के कारण अनुकूल) हो जाने से क्रमशः उनका सेवन कम करते जाना ही श्रेयस् का मार्ग है। क्योंकि जिन वस्तुओं के सेवन का अभ्यास पड़ गया हो उनको यदि क्रमशः कम किया जाता है तो उससे कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, यदि कोई दोष उत्पन्न हो भी जाय तो वह अल्पमात्रा में होता है।

वक्तव्य—'सहसा विदधीत न क्रियाम्', किरातार्जुनीय, भारवि। तथा—'शनैः कन्था शनैः पन्था शनैः पर्वतलङ्घनम्'। सुभाषित। लोक व्यवहार में भी 'सहजे पके सो मीठा होय', के अनुसार क्रमशः की हुई कार्य-व्यवस्था सुखद होती है। विशेष विवरण के लिये चरक सूत्रस्थान अध्याय ७ में देखें।

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः। तत् त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन; सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसम्; मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। तत्रावरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेणैव[1] प्रवरमुपपादयेत् सात्म्यम्। सर्वरसमपि च सात्म्यमुपपन्नः प्रकृत्याद्युपयोक्त्रष्टमानि सर्वाण्याहारविधिविशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत ॥ २० ॥

सात्म्य के लक्षण—सात्म्य उसको कहते हैं, जो अपने (शरीर) में सुखकारक होता है। सात्म्य तथा उपशय परस्पर पर्याय हैं अतएव समानार्थक हैं। वह (सात्म्य) प्रवर (श्रेष्ठ), अवर (हीन) तथा मध्य भेद से तीन प्रकार का होता है। पुनः वह सात्म्य सात प्रकार का कहा गया है—एक-एक रस के कारण तथा सभी रसों के उपयोग के कारण। उसमें सभी रसों का सेवन प्रवरसात्म्य होता है। एक-एक रस के सात्म्य को अवरसात्म्य कहते हैं और प्रवर तथा अवर के बीच वाले सात्म्य को मध्यम सात्म्य कहते हैं। उनमें अवर और मध्यम सात्म्य को क्रमशः छोड़कर प्रवरसात्म्य का अभ्यास करे, जिसको सभी रसों का सात्म्य प्राप्त है, उसको भी प्रकृति से उपयोक्ता तक की सभी आहारविधिविशेषों का विचार कर जो अपने प्रति हितकर हो उसका उपयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—सात्म्य का पर्याय है उपशय। इसको पहले तीन प्रकार का बतलाया है—१. प्रवर, २. मध्यम और ३. अवर। तदनन्तर रसभेद से सात्म्य के छः भेद होते हैं और सभी रसों के उपयोग से एक भेद, इस प्रकार कुल सात भेद होते हैं—**'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्'।** च० सू० अ० २५। अर्थात् सभी रसों का प्रतिदिन अभ्यास बलवर्धक उपाय है और एक रस का अभ्यास दुर्बलता उत्पन्न करता है। इसका तात्पर्य यह है कि मात्रा के अनुसार कटु, तिक्त आदि छहों रसों का भोजन में प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत जो केवल किसी एक ही रस का प्रयोग करते हैं उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। इसलिये जिनको एक या एक से अधिक किन्तु छः से कम रसों के सेवन का अभ्यास हो उनका कर्तव्य है कि सर्वरसाभ्यास (सभी रसों के प्रतिदिन सेवन) का प्रयत्न करे। प्रकृति से लेकर उपयोक्ता तक की आठ आहार-विधियों का विवरण आगे देखें।

तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति) ॥ २१ ॥

आहार-विधि-विशेषायतन—वहाँ ये ८ आहारविधि के विशेष आयतन होते हैं। जैसे—१. प्रकृति, २. करण, ३. संयोग, ४. राशि, ५. देश, ६. काल ७. उपयोगसंस्था तथा ८. उपयोक्ता। आगे क्रमशः इनका परिचय प्रस्तुत है।

---

१. 'सेविताभ्यां क्रमेण' इति पा०।

तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः; तद्यथा—माषमुद्गयोः, शूकरैणयोश्च (१) ॥

१. प्रकृति (Natural form)—उनमें जो स्वभाव होता है उसी को प्रकृति कहा जाता है। वह (स्वभाव) आहार द्रव्यों तथा ओषधोपयोगी द्रव्यों में स्वभाव से रहने वाले गुरु-लघु आदि गुणों का योग मात्र है। जैसे—उड़द (गुरु), मूंग (लघु) तथा वराह (सूअर) का मांस (गुरु), एण (मृग) मांस (लघु) होता है।

वक्तव्य—सहज, स्वाभाविक, प्राकृतिक, नैसर्गिक ये सभी शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। जो गुण जिसमें जन्म से ही होते हैं उनकी उक्त सहज आदि संज्ञा होती है। जैसे—उड़द की दाल और वराह का मांस स्वभाव से ही गुरु होते हैं तथा मूंग की दाल और हिरण का मांस स्वभाव से लघु होता है।

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि [1]गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः[2] कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते (२) ॥

२. करण (Preparation)—स्वाभाविक गुणों से युक्त द्रव्यों में जो संस्कार (गुणान्तराधान अर्थात् दूसरे गुणों को उत्पन्न करना) किया जाता है, उसे करण कहते हैं। उन गुणों का आधान जल, (अग्नि) सन्निकर्ष (दाह, पाक, सेंक), शौच (शोधन), मन्थन (मथना), देश, काल, वासन (रखे रहना), भावना आदि द्वारा कालप्रकर्ष (समय बीतने से) और पात्र विशेष में रखने आदि से होता है।

वक्तव्य—जिस द्रव्य में जो स्वाभाविक गुण होते हैं उनके अतिरिक्त उस द्रव्य में अन्य गुणों की उत्पत्ति करना संस्कार है। इसी को करण कहते हैं। जैसे—**१. जल**—रूक्षगुणप्रधान द्रव्यों में जल-संयोग से मृदु आदि गुणों का आधान करना। **२. अग्निसन्निकर्ष**—नये चावल स्वभावतः गुरु होते हैं। इनको जल से धोकर अग्नि सन्निकर्ष (पाक) द्वारा पकाकर हल्का किया जाना, यह एक संस्कार विशेष है। इसकी चर्चा चरक सूत्रस्थान अ० २७ में विस्तारपूर्वक देखें। **३. शौच**—विष आदि द्रव्यों का शोधन करके उनके दोषों को निकाल कर उनमें औषधोपयोगित्व गुणों को उत्पन्न करना। **४. मन्थन**—इस क्रिया द्वारा शोथ को उत्पन्न करने वाला भी दही मक्खन के निकल जाने पर मठा के रूप में लघु होकर शोथ का नाश करता है। **५. देश**—(जांगल, आनूप, साधारण) भेद से उन-उन स्थान के प्राणियों के मांसों में गुण-भेद होता ही है। **६. काल**—किसी भस्म, आसव आदि को शास्त्रोक्त विधि से निश्चित समय तक रखने से उसमें जो विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है, वह काल का प्रभाव है। अथवा प्रारम्भ में जो चावल गुरु होता है, कालप्रकर्ष से पुराना होने पर वही चावल लघु गुण वाला हो जाता है। इसी प्रकार बाल, युवा, वृद्ध के गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है। **७. वासन**—आचार्य गंगाधर के अनुसार यहाँ **'देशकालवशेन'** पाठ है, जो अत्यन्त स्पष्ट है किन्तु अन्यत्र **'देशकालवासनभावनादिभिः'** पाठ दिया है, जिसको यहाँ स्थान दिया है। अतः इसका अर्थ ऊपर टीका में देखें। **८. भावना**—आमलकी रसायन में आमलक के चूर्ण को आमलक के रस की भावना दी जाती है, यह उसके गुणों में वृद्धि करता है। इसी प्रकार कुचिला में गोमूत्र की भावनायें देने से उसका विषत्व दूर होकर उसके सद्गुणों की वृद्धि हो जाती है। **९. कालप्रकर्ष**—आसव, अरिष्ट, धातु, रस ये सब काल के बीतने पर उत्तरोत्तर गुणकारक होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये जितने पुराने होंगे उतने अधिक गुणकारक होते हैं। **१०. भाजन**—कांसे तथा तांबे के पात्र में रखा हुआ घी विष तुल्य हो जाता है। इसके विपरीत ताम्रपात्र में रखा हुआ जल गुणकारक होता है।

तात्पर्य यह है कि स्वभाव तो किसी का बदला नहीं जा सकता, क्योंकि 'स्वभावो दुरतिक्रमः' किन्तु स्वाभाविक गुणों में परिवर्तन उक्त विधियों से लाया जा सकता है।

संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः; स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते; तद्यथा—मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः (३) ॥

---

१. 'गुणाधानमुच्यते' ग.।

२. '–देशकालवशेन भावनादिभिः' ग.।

३. **संयोग** (Combination)—दो या दो से अधिक द्रव्यों के परस्पर मिलने को संयोग कहते हैं। वह द्रव्यों का समूह विशेष कार्य को आरम्भ करता है, जिस कार्य को वे ही अलग-अलग द्रव्य नहीं कर सकते। जैसे—शहद और घी का संयोग एवम् शहद, मछली का मांस तथा दूध का संयोग।

वक्तव्य—द्रव्यों के परस्पर संयोगजनित प्रभाव के ऊपर दो उदाहरण दिये गये हैं। १. मधु और घी का योग—ये दोनों ही द्रव्य अलग-अलग सेवन किये जाते हैं, इनके सद्‌गुणों से समाज परिचित है किन्तु समान तथा पर्याप्त मात्रा में इनका सेवन विष के तुल्य मारक होता है। अल्प मात्रा में हानिकर न होने का प्रमाण है कि भारतीय परम्परा में विवाह के दिन कन्या-पिता वर को मधुपर्क-संस्कार के अवसर पर शास्त्र और पुरोहित के आदेश से घृत-मधु का प्राशन कराता है। यहां प्राशन का अर्थ चखना मात्र है नकि 'प्रकर्षेण अशनम्' भरपूर भोजन। ध्यान दें—अन्नप्राशन के दिन बालक को अन्न चखाया जाता है न कि भर पेट खिलाया जाता है। इसी प्रकार घृत-मधु, मत्स्य तथा दूध का संयोग भी है। इन तीनों में कोई भी द्रव्य कुष्ठकारक गुण वाला नहीं है परन्तु संयुक्त सेवन के प्रभाव से यह कुष्ठकारक होता है। इसी भांति अन्य विरुद्ध द्रव्यों के भेदों का भी अनुसन्धान करना चाहिये।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ; मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः; परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते (४) ॥

४. **राशि** (Quantity)—मात्रा के फल तथा अमात्रा के फल का निश्चय करने के लिये राशि है। इसके सर्वग्रह और परिग्रह नाम से दो भेद होते हैं। १. **सर्वग्रह**—सम्पूर्ण आहार के प्रमाण को इकट्ठा (एक-साथ) ग्रहण करना सर्वग्रह है। २. **परिग्रह**—आहार द्रव्यों (भोजनोपयोगी सामग्री) का एक-एक करके प्रमाण का ग्रहण करना ही परिग्रह है। पुनः उक्त शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी जा रही है—सभी द्रव्यों का एक साथ ग्रहण करना 'सर्वग्रह' और चारों ओर से ग्रहण करना 'परिग्रह' कहा जाता है।

देशः पुनः स्थानं; स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे (५) ॥

देश (Haleitat)—उस-उस प्राणी के निवासस्थान को देश कहते हैं। इससे द्रव्यों की उत्पत्ति, प्रचार (वहां से अन्यत्र भेजा जाना) एवं देशसात्म्य को बतलाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में आनूप, जांगल तथा साधारण भेद से देश को तीन भागों में विभक्त किया है। यहाँ जो देश का Haleitat पर्याय दिया है उसका वास्तविक अर्थ है The natural abod of an animal) अर्थात् किसी पशु-पक्षी का स्वाभाविक निवास-स्थान। जैसे—मछली का पानी में। **उत्पत्ति-प्रचार**—किसी वस्तु की उत्पत्ति काश्मीर में हुई और उसका प्रचार और स्थानों में, तो उस वस्तु का गुण-धर्म जानने में हमें सुगमता होगी तदनुसार हम प्रयोग करेंगे तो लाभ होगा। जैसे—शीतल प्रदेश में उत्पन्न ओषधि स्वभावतः 'गुरु' और मरुस्थल की 'लघु' होती है। इनका जहाँ-जहाँ प्रचार (आयात) किया जायगा वहाँ इनके प्रयोग काल में ध्यान देना चाहिये। इसी प्रकार प्राणियों के सम्बन्ध में भी विचार किया जाता है। जांगल देश के पशु-पक्षियों के मांस लघु होते हैं, आनूपदेश के गुरु होते हैं तथा साधारण देश के साधारण। इनका उपयोग चिकित्सा काल में इस सूत्र के अनुसार किया जाता है। देखें—'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्'। अर्थात् जिस प्राणी का जन्म जिस देश में हुआ है उसके लिये उसी प्रकार के देश में उत्पन्न औषध, आहार-विहार हितकर होता है।

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च; तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः (६) ॥

६. **काल** (Time)—काल नित्यग और आवस्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें आवस्थिक कालभेद विकार की अपेक्षा करता है। नित्यगकाल तो ऋतु (Season-शीत, उष्ण, वर्षा) सात्म्य (अनुकूलता) की अपेक्षा करता है।

वक्तव्य—आवस्थिक काल भेद विकार की इस प्रकार अपेक्षा करता है, जैसे—नवज्वर और जीर्ण-ज्वर रूपी विकार का जो भेद बतलाया जाता है, उसे आवस्थिक (अवस्था विशेष) काल कहते हैं। इनका निर्णय

होने पर कौन वस्तु नवज्वर में हितकर और कौन जीर्णज्वर में, इस प्रकार के विवेचन के लिये इन काल-भेदों की परम आवश्यकता होती है। जैसे—नवज्वर में दूध हानिकारक होता है और जीर्णज्वर में लाभदायक।

नित्यग काल—यह ऋतुसात्म्य की अपेक्षा रखता है, अतः चरक सूत्रस्थान अ० ६ के अनुसार जिस ऋतु में जो आहार-विहार उचित हों उनका सेवन करना चाहिये।

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः; स जीर्णलक्षणापेक्षः (७) ॥

७. **उपयोग-संस्था** (Direction of use)—उपयोगसंस्था तो उपयोग नियम ही है। वह भोजन का उपयोग जीर्ण (पाचन) के लक्षणों की अपेक्षा रखता है।

वक्तव्य—भोजन कब, कितना, किस स्थिति में करना चाहिये, इत्यादि विषयों की विस्तृत चर्चा चरक-संहिता सू० के इन्द्रियोपक्रमणीय नामक ८ वें अध्याय में की गयी है। तात्पर्य यह है पहले खाया हुआ भोजन जब पच जाय तभी उचित मात्रा में दूसरी बार भोजन करना चाहिये, अन्यथा सभी रोगों की जड़ अजीर्ण रोग हो जाता है। आहार-विधि का पूरा-पूरा विवेचन करना ही, **'उपयोगसंस्था'** का क्षेत्र है। इसका विशेष विवेचन इसी अध्याय में आगे दिया जा रहा है।

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते, यदायत्तमोकसात्म्यम्। इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ २२ ॥

८. **उपयोक्ता** (User)—जो आहार का उपयोग करता है, उसे उपयोक्ता (उपयोग करने वाला) कहते हैं। जिसके अधीन ओकसात्म्य है। इस प्रकार (यहाँ तक) आठ आहारविधि-विशेषायतनों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—'ओक' का अर्थ है—'घर' इस जीव का यह पञ्चभूतात्मक शरीर ही ओक = घर है। वह प्राणी जिस प्रकार के आहारों का प्रतिदिन सेवन करता है, वे ही आहार पदार्थ उसके लिये सात्म्य = अनुकूल हो जाते हैं। अतएव इस को **'ओकसात्म्य'** कहते हैं।

एषां विशेषाः शुभाशुभफलाः परस्परोपकारका भवन्ति; तान् बुभुत्सेत, बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात्; न च मोहात् प्रमादाद् वा प्रियमहितमसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद् वा किञ्चित् ॥ २३ ॥

अष्टविध आहारविधि-विशेषों के ज्ञान का फल—इनके भेद शुभ तथा अशुभ फल को देने वाले, परस्पर (आपस में एक दूसरे के) उपकारक होते हैं। अतः उनको जानने की इच्छा करनी चाहिये और जानकर हित की कामना करने वाला होना चाहिये। भोज्यपदार्थ के (स्वाद आदि के) मोह से अथवा असावधानी से प्रिय, तत्काल अहितकारक, जिससे भविष्य में कष्ट मिलने वाला हो, ऐसे किसी पदार्थ का अल्पमात्रा में भी सेवन न करे।

तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणां चापि केषाञ्चित् काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति।

आहारविधि-विधान—यहाँ अर्थात् ऊपर कहा गया यह आहार-विधि का विधान स्वभाव से ही समय पर हिततम भोजन करने वाले स्वस्थ पुरुषों तथा कुछ रोगी पुरुषों के लिये भी कहा गया है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में 'केषाञ्चित्-आतुराणाम्' अर्थात् कुछ ही रोगियों में हितकर देखा जाता है, का अभिप्राय यह है जैसे आगे कहा गया है—'उष्णं भुञ्जीत' अर्थात् गरम भोजन करे। यह वाक्य स्वस्थ पुरुष के लिये ठीक है और कफ के रोगी के लिये भी ठीक है किन्तु 'रक्तपित्त' के रोगी के लिये ठीक नहीं है। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में पढ़ें—'सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः। काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ॥ बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद् विदितागमः' ॥ सु० सू० अ० ४६। यहाँ 'क्षिप्रं' शब्द का डल्हण के अनुसार अर्थ है 'नातिद्रुतं नातिविलम्बितम्', जो सर्वथा युक्ति-युक्त है।

उष्णं, स्निग्धं, मात्रावत्; जीर्णे, वीर्याविरुद्धम्, इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं; नातिद्रुतं, नातिविलम्बितम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जीत, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक् ॥ २४ ॥

आहार-विधि—गरम, स्निग्ध (घृत, तैल से युक्त), उचित परिमाण वाला, जीर्ण होने पर अर्थात् जब पहले खाया हुआ भोजन पच गया हो, जो परस्पर वीर्य (द्रव्य में रहने वाली एक शक्ति) विरुद्ध न हों, प्रिय स्थान में बैठकर, मन के अनुकूल जहाँ सभी साधन उपलब्ध हों, न बहुत जल्दी, न बहुत धीरे-धीरे, बातचीत न करते हुए, न हँसते हुए, अपनी पाचनशक्ति तथा अपनी रुचि को भली भांति देख-समझकर मन लगाकर अर्थात् इधर-उधर की चिन्ता को छोड़कर भोजन करे।

वक्तव्य—भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय में त्रिविध आहार का वर्णन करते हुए जो सात्त्विक आहार का वर्णन किया है, उसके सभी प्रकार उक्त आहार-विधि में वर्णित हैं।

मात्रावत्—मात्रा से अधिक भोजन अजीर्ण को उत्पन्न करता है, मात्रा से कम कृशताकारक होता है। **जीर्णे**—पचने पर ही भोजन करना चाहिये अन्यथा उसका भी समुचित पाक नहीं हो पाता। **इष्टे देशे**—प्राचीन परम्परा के अनुसार रसोई घर ही इष्ट देश माना गया था, आज इसका निर्णय कठिन-सा हो गया है। यही स्थिति **इष्टसर्वोपकरण**—की है। बफे-सिस्टम, मारवाड़ी बासा, ढाबा, तुरन्ताभोजनालय, होटल और घर की रसोई किसी में एकरूपता नहीं है। **नातिद्रुतम्**—तथा **नातिबिलम्बितम्**—ये दोनों प्रकार भी अभ्यास के अधीन देखे जाते हैं, शास्त्र का उपदेश तो उचित है ही। **अजल्पन्**—धर्मशास्त्रों में भोजन के समय न बोलने का बड़ा महत्त्व बताया है किन्तु आज यह केवल चर्चा अथवा उपहास का विषय रह गया है। **अहसन्**—खाते समय हँसने से कभी-कभी अन्न श्वास-नलिका में फँस कर कष्ट पहुँचाता है। **आत्मानमभिसमीक्ष्य**—अपनी पाचनशक्ति को देखकर भोजन करे। देखें—'अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते ये नराधमाः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि'॥ माधवनिदान।

तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः—उष्णमश्नीयात्; उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति; तस्मादुष्णमश्नीयात् (१)॥

१. **उष्णभोजन से लाभ**—उसके सद्गुणत्व का उपदेश करेंगेः—उष्ण (गरम) भोजन करे, गरम खाने पर स्वादिष्ट लगता है। खा लेने पर जठराग्नि को तीव्र करता है, शीघ्र ही (समय पर) पच जाता है, वायु का अनुलोमन करता है और कफ को सुखाता है, इसलिए गरम (ताजा) भोजन करना चाहिये।

स्निग्धमश्नीयात्; स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति; शरीरमुपचिनोति; दृढीकरोतीन्द्रियाणि; बलाभिवृद्धिमुपजनयति; वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति; तस्मात् स्निग्धमश्नीयात् (२)॥

२. **स्निग्धभोजन से लाभ**—घी-तेल आदि से बने हुए पदार्थों को खाना चाहिये। स्निग्ध भोजन खाते हुए स्वादिष्ट लगता है, खाने पर मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है, शीघ्र पच जाता है। वात का अनुलोमन करता है, शरीर को पुष्ट करता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, अंग-प्रत्यंग के बल को बढ़ाता है, रूपसौन्दर्य में वृद्धि होती है (शरीर की रूक्षता को हटाकर चिकनापन ला देता है), इसलिये स्निग्ध भोजन करना चाहिये।

वक्तव्य—शास्त्र के वचनों को समझने के लिये पूर्वापर सम्बन्धों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। **क्षिप्रं जरां गच्छति**—शीघ्र पच जाता है, **भुज्यमानं स्वदते**—खाते हुए अच्छा लगता है। इन दो वाक्यों को ध्यान में रखकर पेटू लोग कहीं ज्यादा न खा जायें, इसलिये ऊपर लिखा गया है—**सम्यक् आत्मानमभिसमीक्ष्य**—इसके अतिरिक्त शास्त्र का यह वचन भी इस प्रसंग में आवेस्मरणीय है—'**गुरुणामर्धसौहित्यम्**' अर्थात् गुरु पदार्थों को भरपेट न खाये, आधा पेट भर जाय तो खाना छोड़ दे, स्वाद का लोभ न करे।

मात्रावदश्नीयात्; मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलं; सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथं च परिपाकमेति; तस्मान्मात्रावदश्नीयात् (३)॥

१. 'चाग्निमनुदीर्णमुदीरयति' ग.।
२. 'परिशोषयति'।
३. 'चानुदीर्णमग्निमुदीरयति' ग.।

३. **मात्रायुक्त भोजन से लाभ**—मात्रा के अनुसार भोजन करे। क्योंकि मात्रा के अनुसार खाया हुआ भोजन वात, पित्त, कफ को प्रकुपित न करता हुआ केवल आयु को ही बढ़ाता है। सुखपूर्वक गुद तक पहुँच जाता है और शरीर में स्थित अग्नि को नष्ट नहीं करता है तथा किसी प्रकार के कष्ट के बिना ही पच जाता है। अतएव मात्रा के अनुसार ही भोजन करना चाहिये।

वक्तव्य—मात्रा—नाप = तौल=परिमाण को कहते हैं। इसका विचार भोजन के अवयवों पर भी करना चाहिये आहार या भोजन समूहवाचक शब्द है। इसमें जिन-जिन उपादानों का समन्वय होता है, उन सबकी मात्रा का निर्धारण कर प्रयोग करे। इसका विस्तृत विवरण हमने 'यज्जःपुरुषीय' च० सू० अ० २५ में किया है, वहाँ देखें।

सुखं गुदमनुपर्येति—भोजन का उत्तम परिणाम है—रस आदि सात धातुओं का पोषण करता हुआ उसका निःसारतत्व मल-मूत्र के रूप से बाहर निकल जाना। मात्रा के अनुसार खाया हुआ भोजन सुखपूर्वक आहार मार्ग से जाता हुआ गुद तक पहुँच जाता है। गुद में भीतर से बाहर की ओर क्रमशः तीन वलियाँ होती हैं—१. प्रवाहणी, २. संवरणी और ३. विसर्जनी। मलरूप को प्राप्त वह भोजन प्रथम 'प्रवाहणी' वलि के पास तक पहुँच कर मलोत्सर्ग की इच्छा को प्रकट कराता है और 'संवरणी' तब तक रोके रहती है जब तक व्यक्ति मलत्याग करने के लिये तैयार नहीं हो जाता, अन्त में 'विसर्जनी' द्वारा मलत्याग किया जाता है। विशेषद्रष्टव्य—सुश्रुत निदानस्थान, अर्शरोग।

जीर्णेऽश्नीयात्; अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायां च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु विशुद्धे चोद्गारे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलं; तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात् (४)॥

४. **पचने पर भोजन करने से लाभ**—पहले किया हुआ भोजन जब पच जाय तभी पुनः भोजन करना चाहिये। अजीर्ण स्थिति में खाना खा लेने पर खाया हुआ भोजन पहले किये हुए भोजन के अपक्व (अधपके) रस को बाद में खाये हुए आहार के रस से मिलाता हुआ शीघ्र ही सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है। पहले भोजन के पचने पर भोजन करने वाले के अपने-अपने स्थानों में दोषों के स्थित हो जाने पर जाठराग्नि के प्रदीप्त होने पर, भूख के लग जाने पर, रसवाही स्रोतों के मुखों के खुल जाने पर, उद्गार (Ejection), हृदय के शुद्ध हो जाने पर, वायु के अनुलोम होने पर और वात (अपानवायु तथा उदानवायु), मूत्र, मल के वेगों का त्याग कर देने पर खाया हुआ भोजनसमूह, शरीर में स्थित सभी धातुओं को दूषित न करता हुआ अपितु पुष्ट करता हुआ केवल आयुष्य को बढ़ाता है। इसलिये पहले खाये हुए आहार के पचने पर भोजन करे।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य में पहले खाये हुए भोजन के पच जाने पर ही पुनः भोजन करने की आज्ञा दी है। जीर्ण की परिभाषा—'स्वस्थानस्थेषु से लेकर वातमूत्रपुरीषवेगेषु' तक दी गयी है। इस पर पाठक ध्यान दें। **आहारजातम्**—से तन्त्रकार का तात्पर्य है, भोजन के विविध व्यञ्जनों अर्थात् षट्रस भोजन का।

वीर्याविरुद्धमश्नीयात्; अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि विरुद्धवीर्याहारजैर्विकारैर्नोपसृज्यते; तस्माद् वीर्याविरुद्धमश्नीयात् (५)॥

५. **वीर्याविरुद्ध भोजन से लाभ**—जिन द्रव्यों के वीर्य परस्पर विरुद्ध न हों ऐसे द्रव्यों से युक्त भोजन करे। अविरुद्ध वीर्य वाले भोजन को खाता हुआ पुरुष विरुद्ध वीर्य वाले आहारों से होने वाले विकारों से प्रभावित नहीं होता। इसलिये वीर्य से अविरुद्ध ही भोजन करे।

वक्तव्य—द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि की सत्ता होती है। अनुकूल द्रव्यों के योग से इनमें वृद्धि होती है और विरुद्ध द्रव्यों के योग से विपरीतता आती है। जैसे—दूध-मछली, मधु-घृत आदि। इसका विस्तृत विवेचन च० सू० आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक अध्याय में किया गया है, वहाँ देखें।

इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्; इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति; तथैवेष्टैः सर्वोपकरणैः; तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात् (६) ॥

६. **अभीष्टस्थान में भोजन से लाभ**—इष्ट देश (मनोनुकूल तथा पवित्र स्थान) में और भोजन के उपयोगी सभी साधनों से युक्त होकर भोजन करे। क्योंकि मन के अनुकूल स्थान में भोजन करता हुआ पुरुष अप्रिय देश (घृणित स्थान) मे बैठकर भोजन करने से होने वाले मानसिक विकारों से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार सभी इच्छित भोजनोपयोगी सामग्री से युक्त पुरुष भी। इसलिये मन के अनुकूल स्थान में सभी इच्छित सामग्री के साथ भोजन करें।

वक्तव्य—इष्टदेश का निर्वचन धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'भोक्तारं विजने रम्ये निःसम्बाधे शुभे शुचौ। सुगन्धपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत्' ॥ सुश्रुत सू० अ० ४६। अर्थ स्पष्ट है।

नातिद्रुतमश्नीयात्; अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं[1] च, भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता; तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात् (७) ॥

७. **अतिशीघ्र भोजन करने से हानि**—अधिक शीघ्रता से भोजन न करे। क्योंकि अधिक शीघ्रता से भोजन करने वाले पुरुष का भोजन ऊपर नासिका आदि छिद्रों में चला जाता है, अवसाद उत्पन्न करता है, उचित विधि से उसकी स्थिति आमाशय में नहीं हो पाती और भोजन के गुण-दोषों की उपलब्धि भी निश्चित रूप से नहीं हो पाती। इसलिये अधिक शीघ्रता से भोजन न करे।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणिदत्त ने अपनी व्याख्या में **'उत्स्नेहनम् = उन्मार्गगमनम्'** यह प्रासङ्गिक अर्थ किया है। इसी का अनुकरण परवर्ती सभी टीकाकारों ने किया है। वास्तव में 'गतानुगतिको लोकः', यह सूक्ति ऐसे स्थलों में याद आती है। उसी अर्थ का प्रतिपादन हमने भी किया है किन्तु दिवादिगण में एक धातु 'ष्णुह्-उद्गिरणे' **है**, जिसका ल्युट् प्रत्ययान्त रूप **'स्नोहनम्'** होता है और इसका अर्थ है उगल देना, वमन हो जाना। विद्वान् पाठक इस पाठभेद के औचित्य पर विचार करें। क्योंकि 'स्नेह' शब्द प्रेम या घृत आदि स्निग्ध पदार्थों के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अन्यत्र नहीं।

नातिविलम्बितमश्नीयात्; अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु भुङ्क्ते, शीतीभवत्याहारजातं, विषमं च पच्यते; तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात् (८) ॥

८. **अतिविलम्बित भोजन से हानि**—अधिक देर लगाकर भोजन न करे। क्योंकि अधिक समय लगा कर भोजन करने वाला पुरुष तृप्त नहीं हो पाता, बहुत खा जाता है, तब तक गरम परोसा हुआ भी भोजन देर करने से ठण्डा हो जाता है और उसके खाये हुए पदार्थों का पाक विषम (आगे-पीछे) होता है। इसलिये अधिक देर करके भोजन न करे।

अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत; जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः; तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत (९) ॥

९. **मन लगाकर भोजन करने से लाभ**—बात-चीत न करते हुए तथा न हँसते हुए केवल भोजन की ओर ध्यान लगाकर भोजन करे। क्योंकि बातचीत करते हुए, हँसते हुए अथवा दूसरी ओर ध्यान लगाकर खाने वाले पुरुष के शरीर में वे ही दोष उत्पन्न होते हैं, जो अधिक शीघ्रता से भोजन करने वाले के होते हैं। इसलिये चुपचाप, बिना हँसे और भोजन की ओर ध्यान लगाकर भोजन करे।

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्, इदं ममोपशेते इदं नोपशेत इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति; तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति ॥ २५ ॥

१०. **अपने अनुसार भोजन से लाभ**—अपनी शारीरिक शक्ति को देखकर भली-भांति भोजन करे। शारीरिक शक्ति के अन्वेषण का प्रकार यह है—यह द्रव्य मेरे अनुकूल है ? यह अनुकूल नहीं है ? इस प्रकार

१. 'तत्स्नेहस्वादनभोजनस्याप्रतिष्ठानं' ग.।

अपने से मालूम किया गया पदार्थ अपने लिये सात्म्य = हितकर होता है। इसलिये आत्मनिरीक्षण करके भली-भांति भोजन करे।

भवति चात्र —

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः। वेद यो देशकालौ च शरीरं च[1] स नो भिषक् ॥ २६ ॥

उत्तम चिकित्सक—जो छः रसों, औषधोपयोगी द्रव्यों, वातादि दोषों, रोगों, देश, काल तथा शरीर को अपने शास्त्रों के अध्ययन के प्रभाव से जानता है, वह हमारे (महर्षि आत्रेय के) मत से चिकित्सक है।

तत्र श्लोकौ—

विमानार्थो रसद्रव्यदोषरोगाः प्रभावतः। द्रव्याणि नातिसेव्यानि त्रिविधं सात्म्यमेव च ॥ २७ ॥
आहारायतनान्यष्टौ भोज्यसाद्गुण्यमेव च। विमाने रससङ्ख्याते सर्वमेतत् प्रकाशितम् ॥ २८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने
रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—विमानस्थान का प्रयोजन, प्रभाव (द्रव्य में रहने वाली अचिन्त्य शक्ति) द्वारा रस, द्रव्य, दोष तथा रोगों का विवेचन, अधिक सेवन न करने योग्य द्रव्यों (पिप्पली, क्षार, लवण) का निर्देश और तीन प्रकार का सात्म्य, आठ प्रकार के आहारविधि-विशेषायतनों का वर्णन, आहार के सद्गुणों की प्राप्ति कैसे हो सकती है इन सभी विषयों का प्रकाशन इस रसविमान नामक प्रथम अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
विमानस्थान में रसविमान नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातस्त्रिविधकुक्षीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रसविमान के वर्णन के पश्चात् अब हम त्रिविधकुक्षीय-विमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः; तद्यथा—एकमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणाम्, एकं द्रवाणाम्, एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्; एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति ॥ ३ ॥

कुक्षि के तीन भाग—आहार का उपयोग (भोजन) करते हुए पुरुष को कुक्षि तथा आहार की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त करे। जैसे—एक खाली भाग मूर्त ठोस (Solids) आहार विकारों (रोटी, भात, पूरी, कचौरी, दाल, शाक आदि) के लिये, दूसरा खाली भाग द्रव (Liquids) पदार्थों (दूध, जल, आदि) के लिये

१. 'स नो भिषगिति नोऽस्माकं सम्मत इत्यर्थः' चक्रः। 'स ना' ग.।

और तीसरा खाली भाग वात, पित्त, कफ के लिये। इतनी आहार मात्रा का उपयोग करने वाला पुरुष अमात्रा (मात्रा से कम या अधिक) आहार से होने वाले किसी प्रकार के भी अशुभ परिणाम को प्राप्त नहीं होता है।

वक्तव्य—उक्त निर्णय सामान्य भोजन के लिये है, जिसमें कुक्षि (आमाशय) का $\frac{1}{3}$ भाग मूर्तपदार्थों से भरेगा। 'गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नाति तृप्तता'। अर्थात् गुरु (घी-तेल में बने पदार्थ अथवा खोवा की मिठाई आदि, जो देर में पचते हैं, ऐसे) पदार्थों से जब उदर पूर्ति करनी हो तब कुक्षि का $\frac{1}{2}$ भाग ही भरना चाहिये। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्। आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्'। अ० सं० सू० अ० १०। उक्त उक्ति को वृद्धचाणक्य का समर्थन इस प्रकार प्राप्त है—'द्वौ भागौ पूरयेदन्नं तोयमेकेन पूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्'॥ चाणक्यनीति।

वृद्धवाग्भट तथा वृद्धचाणक्य ने कुक्षि के चार भाग किये हैं और उसके अनुसार अन्न, पान, वातादि का विभाजन किया है, यह शास्त्रकारों की अपनी-अपनी दृष्टि है। वात आदि के लिये स्थान रखना पाचन की दृष्टि से आवश्यक है।

इसके पहले अग्नि पर आश्रित मात्रा का वर्णन तथा द्रव्य पर आश्रित मात्रा का वर्णन चरक सू० अ० ५ (मात्राशितीय) में किया जा चुका है। यहां केवल आहार द्रव्यों की अपेक्षा करने वाली मात्रा का वर्णन कुक्षिविभाजन की दृष्टि से किया जा रहा है।

न च केवलं मात्रावत्त्वादेवाहारस्य कृत्स्नमाहारफलसौष्ठवमवाप्तुं शक्यं, प्रकृत्यादीनामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्तफलत्वात् ॥ ४ ॥

अष्टविध आहारविधि का महत्त्व—केवल मात्रा के अनुसार भोजन करने से सम्पूर्ण आहार से होने वाले उत्तम लाभों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकृति आदि आठ प्रकार की आहार विधियों के फल पृथक्-पृथक् बटे हुए हैं।

वक्तव्य—रसविमान नामक अध्याय में निर्दिष्ट आठ प्रकार की आहार विधियों के साथ मात्रा (आहार परिमाण) का भी ध्यान रखना चाहिये, यही तन्त्रकार का आदेश है।

तत्रायं तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः। एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वममात्रावत्त्वं च ॥ ५ ॥

मात्रा-अमात्रा फल निश्चय—यहाँ पर यह आहारराशि को लेकर मात्रा एवम् अमात्रा के फल विनिश्चय का विचार प्रसंग प्राप्त है। आहारराशि के विधि का इतना ही विशेष विचार करना होता है कि कौन मात्रापूर्वक और कौन अमात्रापूर्वक भोजन है।

वक्तव्य—षड्रस भोजन को पूर्ण भोजन कहा गया है। इसी पूर्ण भोजन का नाम है—आहारराशि। इसी विषय का व्याख्यान आगे इस प्रकरण में किया जायगा।

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः पार्श्वयोरविपाटनम् अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः स्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसङ्कथासु सुखानुवृत्तिः; सायं प्रातश्च सुखेन [1]परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं च; इति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति ॥ ६ ॥

मात्रायुक्त आहार का लक्षण—यहाँ कुक्षि (आमाशय) के अंश विभाग द्वारा मात्रा युक्त होना पहले कहा गया है, उसी की पुनः विस्तार से व्याख्या करेंगे। जैसे—खाये हुए भोजन द्वारा कुक्षि पर दबाव का न पड़ना, हृदय की गति का अवरोध (रुकावट) न होना, पसलियों में फटने की-सी पीड़ा का न होना, पेट में अधिक भारीपन का अभाव, इन्द्रियों में प्रसन्नता का दिखलायी देना, भूख-प्यास का शान्त होना, स्थान (खड़ा रहना), आसन (बैठना), सोना, चलना, श्वास, प्रश्वास, हँसना तथा बातचीत में सुख का अनुभव, दिन के भोजन का सायंकाल तक और रात्रि के भोजन का प्रातःकाल तक सुखपूर्वक परिपाक होना, बल और वर्ण की वृद्धि होना, ये सब मात्रायुक्त आहार के लक्षण हैं।

१. 'परिणामगमनं' यो.।

वक्तव्य—विशेष द्रष्टव्य चरकसंहिता सूत्रस्थान मात्राशितीय नामक पाँचवाँ अध्याय।

अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते—हीनम्, अधिकं च। तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते,

हीनमात्रायुक्त आहार से हानि—अमात्रा (अनुचित मात्रा) दो प्रकार की कही जाती है—१. हीन मात्रा और २. अधिक मात्रा। उनमें हीनमात्रा वाले आहार-द्रव्यसमूह को बल, वर्ण, शरीरावयवों की वृद्धि का नाश करने वाला, अतृप्तिकारक अर्थात् थोड़ी मात्रा में भोजन करने से पेट नहीं भरता, इसी को अतृप्ति कहते हैं। उदावर्तरोग को उत्पन्न करने वाला, आयु का ह्रास करने वाला, वीर्यनाशक, ओजस् का क्षयकारक, शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को हानि पहुँचाने वाला, आठ प्रकार के सारों (जिनका वर्णन च० वि० अ० ८ में किया जायगा) को नष्ट करने वाला, शरीर को श्रीहीन (तेजरहित) कर देने वाला और अस्सी प्रकार के वातविकारों का घर कहा जाता है।

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः। यो हि मूर्तानामाहारजातानां सौहित्यं गत्वा द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वाऽप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः। तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यपार्श्वपृष्ठकटिग्रहसिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति, पित्तं पुनर्ज्वरातीसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि ॥ ७ ॥

अतिमात्रायुक्त आहार से हानि—अधिक मात्रा में किये गये भोजन को कुशल चिकित्सक सभी दोषों का प्रकुपित करने वाला मानते हैं। जो मनुष्य मूर्त (गुरु) आहार समूह द्वारा तृप्ति को प्राप्त कर पुनः द्रव (दूध आदि) पदार्थों से तृप्ति करता है, उसके आमाशयगत वात, पित्त, कफ अत्यधिक भोजन से पीड़ित करते हुए सभी एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं। वे प्रकुपित वातादि दोष उस न पची हुई अन्न राशि में प्रविष्ट होकर कुक्षि के एक भाग में स्थित उस आहार राशि को रोकते हुए अथवा ऊपर के भाग (मुख) से नीचे के भाग (गुद) से निकालते हुए अतिमात्रा में आहार करने वाले पुरुष में निम्नलिखित रोगों को अलग-अलग उत्पन्न कर देते हैं। उनमें **वातदोष**—शूल, आनाह (अफारा), अंगमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्कर आना), अग्नि की विषमता, पसलियों, कमर तथा पीठ में जकड़न, सिराओं में संकोच तथा जकड़न करता है। **पित्तदोष**—ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, तृष्णा, मद, भ्रम तथा प्रलाप। **कफदोष**—वमन, अरोचक, भोजन का न पचना, शीतज्वर (जाड़ा लगकर आने वाला ज्वर), आलस्य तथा शरीर में भारीपन।

न च खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमाम[1]प्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानामकाले चान्नपानानामुपसेवनं, कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते, तदप्याममेव प्रदूषयति ॥ ८ ॥

आम की उत्पत्ति में कारण—केवल अधिक मात्रा में किया गया भोजन आमदोष को उत्पन्न करता है, ऐसी बात नहीं, अपितु गुरु (देर में पचने वाला), रूक्ष (स्नेहरहित), शीत, शुष्क (सूखा हुआ), द्विष्ट (जिसके प्रति किसी कारण से द्वेष हो गया हो), कब्जकारक, विदाही (जलन पैदा करने वाला), अपवित्र तथा विरुद्ध अन्न पानों का असमय में सेवन करना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, अभिमान, उद्वेग (घबड़ाना) अथवा भय से दुःखी मन से जो अन्न-पान खाया-पीया जाता है, वह भी आमदोष को ही दूषित करता है।

१. 'आमदोषकारणम्' इति पा०।

भवति चात्र—

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ ९ ॥

श्लोक द्वारा उक्त विषय का निरूपण—चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःखशय्या (ऊबड़-खाबड़ बिस्तर) और रात्रि का जागरण इनके कारण उचित मात्रा में खाया हुआ पथ्य भोजन भी भली-भाँति नहीं पच पाता।

तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः—विसूचिकाम्, अलसकं च ॥ १० ॥

दो प्रकार का आमदोष—उस आमदोष को चिकित्सक दो प्रकार का कहते हैं—१. विसूचिका (Cholera) और २. अलसक (गुम हैज़ा)।

तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात् ॥ ११ ॥

विसूचिका का स्वरूप—उन दोनों में विसूचिका का परिचय इस प्रकार है—जिसमें आमदोष ऊपर और नीचे से निकल रहा हो और जैसे लक्षण ऊपर कहे गये हैं, वे जिसमें हों उसे विसूचिका (हैज़ा) कहते हैं।

वक्तव्य—विसूचिका रोग प्रसिद्ध है। धन्वन्तरि के अनुसार इसके लक्षण—'सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः। यत्राऽजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते' ॥ सुश्रुत उ० अ० ५६। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका' ॥ अष्टाङ्गसं० सू० अ० ११। अर्थ दोनों का स्पष्ट है।

अलसकमुपदेक्ष्यामः—दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि[1]। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति; ततस्तं [2]दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते।

अलसक, दण्डालसक का स्वरूप—अब अलसक का उपदेश करेंगे—दुर्बल, मन्द जाठराग्नि तथा अधिक कफवाले, वात, मूत्र तथा मल के वेगों को धारण करने वाले, स्थिर, गुरु, अधिक रूक्ष, शीत, सूखे अन्नों का सेवन करने वाले पुरुष का प्रकुपित वायु से युक्त वह अन्न-पान और कफ से अवरुद्ध मार्ग वाला होकर मलायतनों में छिपा हुआ आलसी होकर बाहर की ओर वह मल नहीं आता। तदनन्तर वमन तथा अतिसार को छोड़कर शेष आमदोष के अधिकाधिक लक्षण दिखलायी देते हैं। अत्यन्त दूषित हुए वातादि दोष दूषित आमदोष द्वारा मार्गों के अवरुद्ध हो जाने से शरीर में तिरछे (दायें-बायें) जाते हुए कभी इस रोगी के शरीर को दण्ड (डंडा) के समान जकड़ देते हैं, तब उसको 'दण्डालसक' कहते हैं। यह असाध्य होता है।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते[3] भिषजः, विषसदृशलिङ्गत्वात्; तत् परमसाध्यम्, आशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥ १२ ॥

आमविष की असाध्यता—विरुद्ध (स्वभाव, गुण, वीर्यविरुद्ध) पदार्थों के सेवन का निरन्तर सेवन करने वाले, अध्यशन (भोजन करने के बाद फिर भोजन करना) शील तथा अजीर्ण में भी भोजन करने वाले पुरुष के आमदोष को, विषतुल्य लक्षण उत्पन्न करने के कारण चिकित्सक इसे आमविष ही कहते हैं। क्योंकि इसमें विष के सदृश लक्षण होते हैं। इसमें सभी प्रकार की चिकित्सा अपना विपरीत फल दिखाती है। यह आशुकारी होने के कारण अत्यन्त असाध्य होता है।

१. 'आमप्रदोषरूपाणि यथोक्तान्यभिदर्शयति' ह.।
२. 'तमलसकम्' यो.।
३. 'एवं दोषमामविषमित्याचक्षते' ग.।

वक्तव्य—विरुद्ध पदार्थों (मधु-घृत, दुग्ध-मत्स्य आदि) का वर्णन किया जा चुका है। **अध्यशन**—'भुक्तस्योपरि यद् भोजनं तदध्यशनम्'। भोजन करने के बाद तत्काल पुनः भोजन करना अध्यशन है। **विरुद्धोपक्रम**—जिस रोग की जो चिकित्सा हो उसका यदि उस रोग पर विपरीत प्रभाव पड़ता हो तो उसे विरुद्धोपक्रम कहते हैं। आमदोष में उष्ण औषधों का प्रयोग शास्त्र द्वारा अनुमत है किन्तु यह समानगुण होने कारण विष को बढ़ाता है। यदि शीतल पदार्थों द्वारा चिकित्सा की जाय तो विष का शमन होगा किन्तु आमदोष की वृद्धि हो जायगी। अतएव इसको 'विरुद्धोपक्रम' कहा गया है। विष में आशुकारित्व (शीघ्रमारक) गुण होता है। देखें विष के गुण-धर्म।

तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, ततः [1]स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम्।

अलसक चिकित्सा-सूत्र—उस अलसक में वातादि दोषों से दूषित तथा अलसीभूत (जो आलसी व्यक्ति के समान हो गया है, अर्थात् एक ही स्थान पर स्थित) ऐसे साध्य आम को सर्वप्रथम नमक मिला हुआ गरम जल पिलाकर वमन द्वारा बाहर निकलवायें, तदनन्तर स्वेदन करायें। गुद में ग्लिसरीन आदि की बत्ती डाल कर मल निकलवा कर यथोचित चिकित्सा करें और इस प्रकार के रोगी को उपवास भी कराना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ केवल वमन, विरेचन तथा उपवास द्वारा चिकित्सा प्रकार का संकेत मात्र किया गया है। इसका विस्तृत विवरण चरक चिकित्सास्थान में देखें।

विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी।

विसूचिका चिकित्सा-सूत्र—विसूचिका के रोगी को सबसे पहले लंघन कराना चाहिये और विरेचन कराये गये पुरुष के समान आनुपूर्वी क्रम से विरिक्त पुरुष को पथ्य (हित आहार-विहार) का सेवन करायें।

आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद् दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्निसन्धुक्षणार्थं च, नत्वेवाजीर्णाशनम्; आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्न युगपद्दोषमौषधमाहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि चामप्रदोषाहारौषधविभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतकायाग्निं[2] सहसैवातुरमबलमतिपातयेत्।

आमदोष में आहार-विधि—आमदोषों में जिस रोगी का पहले खाया हुआ आहार पच चुका हो किन्तु आमाशय दोषों से युक्त हो, कोष्ठप्रदेश भारी तथा जकड़ा हुआ हो, जो भोजन के समय भी भोजन करने की इच्छा प्रकट न कर रहा हो ऐसे उस आमदोष के रोगी को देखकर उसे बचे हुए दोषों को पचाने के लिये और जाठराग्नि को तेज करने के लिये यथोचित औषध को पिलायें, न कि ऐसी अजीर्ण की स्थिति में उसे भोजन करायें, क्योंकि आमदोष के कारण दुर्बल हुई अग्नि एक साथ दोषों, औषध द्रव्यों तथा भोजन को पचाने में समर्थ नहीं होती, और भी आमदोष, आहार तथा औषध विभ्रम (संशय) अत्यन्त बलवान् होने के कारण जिस रोगी की जाठराग्नि बुझ चुकी है, ऐसे उस निर्बल रोगी को सहसा मार डालता है।

आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवावचारयेद् यथास्वम्। सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः, तदर्थकारि वा।

आमदोष में चिकित्सा-सूत्र—आमदोष से उत्पन्न विकारों की शान्ति अपतर्पण (लंघन, उपवास आदि) से ही होती है। यदि अपतर्पण कराने पर भी रोगों का सम्बन्ध बना रहा तो उनके निग्रह (विनाश) के लिये हेतुविपरीत चिकित्सा को छोड़कर उस-उस रोग के अनुसार व्याधिविपरीत औषध द्रव्यों का प्रयोग कराना

१. 'छेदनं श्लेष्मच्छेदनीयरसकटुत्वादिना श्लेष्मच्छेदनम्' गङ्गाधरः।
२. '-उपहत्य कायाग्निम्' इति पा०।

चाहिये। कुशल चिकित्सक सभी प्रकार के रोगों की शान्ति के लिये हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत अथवा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषधयोगों का प्रयोग करना चाहते हैं।

वक्तव्य—हेतुव्याधिविपरीत औषध आदि की विस्तृत व्याख्या चरक निदानस्थान प्रथम अध्याय में देखें।

[1]विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति ॥ १३ ॥

निराम पुरुष के लिये चिकित्सा-सूत्र—आमदोष से मुक्त हो जाने पर, दोषों का पाचन हो जाने पर तथा जाठराग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर दोष, औषध, देश (आनूप आदि) काल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति एवम् वय (उम्र Age) के अवस्थाभेदों तथा रोगों का समुचित विचार करके विधिपूर्वक अभ्यङ्ग (मालिश), निरूहबस्ति, अनुवासनबस्ति, स्नेहपान का युक्तिपूर्वक प्रयोग करे।

भवन्ति चात्र—

आहारविध्यायतनानि चाष्टौ सम्यक् परीक्ष्यात्महितं विदध्यात्।
अन्यश्च यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपयोगेषु भजेत तं च ॥ १४ ॥

आत्मविवेक का निर्देश—आठ प्रकार के आहार-विधि-विशेषायतनों की भली-भांति परीक्षा करके जिसमें अपना हित हो उसका प्रयोग करे। और भी कोई हितकर मार्ग हो तो उसका भी सेवन करे।

अशितं खादितं पीतं लीढं च क्व विपच्यते। एतत्त्वां धीर ! पृच्छामस्तन्न आचक्ष्व बुद्धिमन् ! ॥
इत्यग्निवेशप्रमुखैः शिष्यैः पृष्टः पुनर्वसुः। आचचक्षे ततस्तेभ्यो यत्राहारो विपच्यते ॥१६॥
नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते ॥१७॥
आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्। पक्वः [2]सर्वाशयं पश्चाद् धमनीभिः प्रपद्यते ॥१८॥

अग्निवेश आदि के प्रश्न तथा उत्तर—हे धैर्यशाली बुद्धिमन् ! अशित, खादित, पीत, लीढ आहार कहाँ जाकर पचता है ? यह हम आप से पूछ रहे हैं, इसका हमको उत्तर दीजिये। इस प्रकार अग्निवेश आदि प्रमुख शिष्यों ने आत्रेय पुनर्वसु से पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया—जहाँ आहार का पाचन होता है वह नाभि और स्तन के बीच में मनुष्यों का आमाशय होता है; यहीं जाकर अशित, खादित, पीत, लीढ भोजन पचता है। आमाशय में गया हुआ आहार जब पूर्ण रूप से पच जाता है, तब वह पका हुआ आहाररस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है अथवा पहुँचाया जाता है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्यों में भोजन के चार भेदों का नामतः उल्लेख किया है। उनमें प्रथम दो शब्द—**अशित** और **खादित** सामान्य दृष्टि से एक दूसरे के पर्याय हैं। शेष दो का अर्थ स्पष्ट है। सुश्रुत सू० अ० ४६।१ में दिये इसी प्रकार के शब्दों की व्याख्या आचार्य डल्हण के शब्दों में पढ़ें—**अशितं**-भोज्यम् ओदनादि, **पीतं**-पेयं क्षीरादि, **लीढं**-लेह्यं मध्वादि, **खादितं**-भक्ष्यं मोदकादि'। अर्थात् भात आदि पदार्थों का भोजन **अशितं**, लड्डू जैसे पदार्थों को खाना **खादितं**, दूध आदि के लिये **पीतं** का और शहद जैसी चाटने वाली वस्तुओं के लिये **लीढं** का प्रयोग किया गया है।

आमाशय—भोजन करने के बाद जब तक उसका भलीभांति पाक नहीं हो जाता तब तक वह जहाँ रुका रहता है, वह आम = अपक्व भोजन का आशय = 'आमाशय' है। कुछ समय के पश्चात् यह आन्त्र की ओर जाना प्रारम्भ करता है। इस दृष्टि से इसकी सीमा आमाशय (Stomach) से उण्डुक (Caecum) तक स्वीकार की गयी है।

१. 'अनुद्रिक्तामप्रदोषस्य' ग.।
२ 'सर्वाश्रयम्' इति पा०।

तत्र श्लोकः—

तस्य मात्रावतो लिङ्गं फलं चोक्तं यथायथम्। अमात्रस्य तथा लिङ्गं फलं चोक्तं विभागशः ॥१९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविधकुक्षीयविमानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—मात्रा के अनुसार किये गये आहार के लक्षण, उसका फल इस अध्याय में उचित रूप से बताया गया है और मात्रा के विपरीत किये गये आहार के भी पृथक्-पृथक् लक्षण तथा फल कहे गये हैं।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता विमानस्थान में त्रिविधकुक्षीविमान नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातो जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

त्रिविधकुक्षीय अध्याय के वर्णन के पश्चात् अब हम जनपदोद्ध्वंसनीय नामक विमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

जनपदमण्डले पञ्चालक्षेत्रे [1]द्विजातिवराध्युषिते काम्पिल्यराजधान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे घर्ममासे गङ्गातीरे [2]वनविचारमनुविचरञ्छिष्यमग्निवेशमब्रवीत् ॥ ३ ॥

आत्रेय का अग्निवेश को उपदेश—पञ्जाब प्रदेश के जनपद मण्डल की काम्पिल्य नामक राजधानी में जहाँ उच्चकुल के द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का निवास था, वहाँ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय अपने शिष्यगण से घिरे हुए आषाढ़ के महीने में गङ्गा के तट पर स्थित वनों में घूमने की दृष्टि से विचरण करते हुए अपने शिष्य अग्निवेश से बोले।

वक्तव्य—काम्पिल्य देश का वर्णन वायुपुराण में इस प्रकार मिलता है—भर्म्याश्व अथवा हर्यश्व के पाँच पुत्रों जो पाञ्चाल कहलाये, उनमें से एक पुत्र (भाग० ९।२१।३२। वायु० ९९।१९६। विष्णु० ४१९।५९) हर्यश्व के पुत्र काम्पिल्य के नाम पर इस नगरी का नामकरण हुआ था। द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न की राजधानी इसी नगर में थी (महाभारत आदिपर्व १३८।७३)।

दृश्यन्ते हि खलु सौम्य ! नक्षत्रग्रहगणचन्द्रसूर्यानिलानलानां दिशां [3]चाप्रकृतिभूतानामृतुवैकारिकाभावाः, अचिरादितो भूरपि च न यथावद्रसवीर्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगाच्चा-

१. 'द्विजातिवराध्युषितायां काम्पल्यराजधान्याम्' इति पा०।
२. 'वनविचारमनुविचरन्निति वनं विचर्य विचर्यानुविचरन्नित्यर्थः' चक्रः। 'वनविचारं वनविहारं, विचरन् विहरन्' गङ्गाधरः।
३. 'च प्रकृतिभूतानाम्' ग.।

तङ्कप्रायता नियता। तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं[1] सौम्य ! भेषज्यानि याव-न्नोपहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति। वयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानुपयोक्ष्यामहे, ये चास्माननु-काङ्क्षन्ति, यांश्च वयमनुकाङ्क्षामः। न हि सम्यगुद्धृतेषु सौम्य ! भेषजेषु सम्यग्विहितेषु [2]सम्यक् चावचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किञ्चित् प्रतीकारगौरवं भवति ॥ ४ ॥

जनपदोद्ध्वंसप्रकरण

(Chapter of Epidemic Fall-down)

जनपदोद्ध्वंस का पूर्वरूप—हे सौम्य (अग्निवेश) ! अस्वाभाविक रूप में स्थित नक्षत्र (अश्विनी आदि २७), ग्रहगण (मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु, हर्षल, नेप्च्यून आदि), चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि तथा दिशाओं विदिशाओं के ऋतुविकार (जिस ऋतु में जो होता है वह न होकर दूसरे लक्षणों का होना उस ऋतु का विकार है। जैसे—गर्मी में शीत का होना, आदि।) को करने वाले भाव देखे जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में शीघ्र ही भूमि भी ठीक-ठीक रस, वीर्य, विपाक, प्रभावों की उत्पत्ति ओषधियों में भी नहीं कर पायेगी। ओषधियों के प्रभावहीन हो जाने से रोगों की वृद्धि होना सुनिश्चित है।

अतः हे सौम्य ! जनपद के विनाश होने और भूमि के नीरस होने से पहले जब तक ये चिकित्सोपयोगी ओषधियाँ रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव से रहित नहीं हो जातीं तब तक तुम लोग इनको उखाड़ लो। हम इनके रस, वीर्य, विपाक, प्रभावों का उन पर प्रयोग करेंगे जो हमसे चिकित्सा कराना चाहेंगे और जिनके ऊपर हम कृपा करना चाहेंगे। हे सौम्य ! भली भांति उखाड़ कर रखी हुई ओषधियों पर, उचित रूप से उनका निर्माण कर लेने पर और उनसे ठीक-ठीक चिकित्सा करने पर जनपद का विनाश करने वाले रोगों का कोई भय नहीं होता है।

वक्तव्य—जनपदोद्ध्वंस को ही मरक, जनमार या महामारी कहते हैं। आचार्य भेल(ड) के शब्दों में—**'ऋतुव्यापत्तिसमये जनमारः प्रवर्तते'**। भेलसंहिता जनपदविभक्तीय १३ अध्याय। ऋतु की विकृति के कारण जो जनमार या महामारी होती है उसमें अधिकांश लोगों की मृत्यु हो जाती है। तथापि कुछ जीवित बचे देखे-सुने जाते हैं। यह 'जनमार' चेचक, हैजा जैसे व्यापक प्रकोप वाले रोगों से १-२ दिन में ही असंख्य प्राणियों का विनाश कर देता है। पशुओं (गाय, भैंस आदि) के पैरों में या गले में एक विशेष प्रकार का रोग होता है, जिससे शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाती है। इसका उपचार लोग जादू, टोना, मनौती आदि द्वारा करते देखे जाते हैं। पशुओं का यातायात सीमाबन्धन करके बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार एकाएक सैकड़ों चूहों, कौवों को एक साथ मरते देखा गया है। सन् १९१८ में फैले हुए इन्फ्लूएन्जा से अनेक नर-नारियों की मृत्यु हुई। ऐसी स्थिति में अदूषित जल, वायु, अन्न, औषध आदि का सेवन हितकर होता है।

अन्य सावधानियाँ—वमन, विरेचन, अनुवासनबस्ति, निरूहणबस्ति और नस्य का सेवन करें तथा करायें। जनपदोद्ध्वंस से पहले उत्पन्न अन्नों का सेवन करें। सत्यभाषण, अहिंसा, दान तथा देवाराधन करें। सद्वृत्त (सदाचार) का आचरण तथा क्रोध का त्याग करें। जहाँ जनपदोद्ध्वंस का प्रभाव न हो ऐसे स्थानों में चले जायें। साधु, सन्तों की संगति, कथा आदि का सुनना ये सब उपाय आत्मरक्षा के लिये करने चाहिये।

ध्यान दें—प्राचीन काल में ये रोग अथवा उपद्रव प्राकृतिक ढंग से जनसंख्या को घटाने का कार्य करते थे। आज वैज्ञानिक चिकित्सा ने इस प्राकृतिक परिवारनियोजन विधि पर रोक लगा दी है और स्वयं अप्राकृतिक ढंग से **'परिवार-नियोजन'** का डंका पीटा जा रहा है।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—उद्धृतानि खलु भगवन् ! भेषज्यानि, सम्यग्विहि-तानि, [3]सम्यगवचारितानि च; अपि तु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहार-देहबलसात्म्यसत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद् भवतीति ॥ ५ ॥

१. 'उद्धरध्वमिति बहुवचनं बहून्तेवासियुक्ताग्निवेशाभिप्रायेण' चक्रः।
२. 'सम्यग्विचारचारितेषु' इति पा०।
३. 'सम्यग्विचारचारितानि' इति पा०।

अग्निवेश का प्रश्न—इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश ने कहा—भगवन् ! ओषधियाँ उखाड़ ली गयी हैं, उनका ठीक प्रकार से निर्माण कर लिया गया है और उनका ठीक ढंग से प्रयोग भी करा दिया है। परन्तु यह समझ में नहीं आया कि एक ही जनपदोद्ध्वंस नामक रोग से एक साथ भिन्न-भिन्न प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्म्य, सत्त्व (मन) तथा आयु वाले मनुष्यों की मृत्यु कैसे हो जाती है ?

तमुवाच भगवानात्रेयः—[1]एवमसामान्यवतामप्येभिरग्निवेश ! प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति। ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा—वायुः, उदकं, देशः, काल इति ॥ ६ ॥

भगवान् आत्रेय का उत्तर—उससे भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! इस प्रकार असमान प्रकृति, आहार आदि भावों वाले भी मनुष्यों के जो और भाव समान हैं उनके एक ही समय में विकृत होने से समान लक्षण वाले रोग उत्पन्न होकर जनपद का विनाश कर डालते हैं। वे ये भाव हैं, जो जनपदों में सामान्य रूप से होते हैं। यथा—वायु, जल, देश और काल।

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्; तद्यथा—यथर्तुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमति-शीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धबाष्प-सिकतापांशुधूमोपहतमिति (१);

१. **विकृत वात के लक्षण**—वहाँ (उक्त प्रकरण में) इस प्रकार की (विकृत) वायु को अस्वास्थ्यकर (रोगकारक) समझना चाहिये। जैसे—ऋतु के स्वभाव से विषम अर्थात् अत्यन्त रुक-रुक कर बहने वाली या अधिक वेग से बहने वाली, अत्यन्त कर्कश, अधिक शीतस्पर्श वाली, अधिक उष्णस्पर्श वाली, अत्यन्त रूक्ष, अधिक नमी से युक्त (प्रायः ऐसी हवा बिना वर्षा के वस्त्र आदि पदार्थों को गीला कर देती है।) अति भयंकर शब्द वाली, भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर परस्पर टकराने वाली, अति भौंरी (चक्कर बवंडर आदि), अप्रिय गन्ध, भाप, बालू के कणों, धूलि तथा धुआँ से दूषित (मलिन) वायु को विकृत समझें।

उदकं तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शं क्लेदबहुलमपक्रान्तजलचरविहङ्गमु[2]पक्षीणजलाशयम-प्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् (२);

२. **विकृत जल के लक्षण**—अत्यन्त विकृत गन्ध, वर्ण, रस तथा स्पर्श युक्त और जो क्लिन्नता युक्त हो, जिसे जलचर पक्षियों ने छोड़ दिया हो, जो जलाशय सूख गया हो अथवा जिस जलाशय में रहने वाले प्राणी (मछली आदि) मर या घट गये हों, जो जल पीने में स्वाद न लगता हो, उस जल को दूषित समझें।

देशं पुनः [3]प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शं क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृपव्यालमशकशलभमक्षिकामूषको-लूकश्माशानिकशकुनिजम्बुकादिभिस्तृ[4]णोलूपोपवनवन्तं प्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्र-पवनं प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्टश्वगणमुद्भ्रान्तव्यथितविविधमृगपक्षिसङ्घमुत्सृष्टनष्टधर्मसत्यलज्जाचारशील-गुणजनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं[5] रूक्षताम्रारुण-सिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं ससम्भ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरित-मिवाक्रन्दितशब्दबहुलं चाहितं विद्यात् (३);

३. **विकृत देश के लक्षण**—जिस देश के प्राकृतिक वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श विकार युक्त हो गये हों और अधिक मात्रा में जहाँ क्लिन्नता (सड़न) पैदा हो गयी हो, साँप, व्याल (बिगड़ैल हाथी, खल, श्वापद तथा

१. 'एवमसामान्यानामेभि०' ग.।
२. 'उपक्षीणजलाशयम्' इति पा०।
३. 'विकृत-' इति पा.।
४. 'तृणोलूपोपवनलताप्रतानादिबहुलं' ह.।
५. '-प्रतिभयावाररूपं' ग.। 'प्रतिभयं भयङ्करमप्यवारं रूपं मूर्तिर्यत्र तं तथा' गङ्गाधरः।

हिंसक प्राणी), मच्छर, टिड्डी, मक्खी, चूहे, उल्लू, श्मशान (मुर्दा जलानेकी भूमि) में रहने वाले पक्षी गीध, सियार आदि से घिरा हुआ, जहाँ तृण, उलुप=उलप=Q. V. (देखें, कोष : बी० एस० आप्टे) 'उलपस्तु गुल्मिनी-तृणभेदयोः'। हैम। अर्थात् घास-फूंस बहुत हो गया हो, ऐसें बगीचे वाला, विस्तृत (चारों ओर फैली हुई) लताओं से घिरा हुआ जैसा इसके पहले कभी नहीं देखा गया हो, जहाँ फसलें अपने आप सूख तथा नष्ट हो गयी हों, जहाँ हवा के साथ धुआँ उड़ रहा हो, जहाँ चिड़ियाँ निरन्तर चहचहाती हों, कुत्ते निरन्तर भूंकते हों, भांति-भांति के मृग-पक्षिसमूह दुःखी होकर इधर-उधर भाग रहे हों, जिस जनपद के लोगों ने धर्म कार्य, सत्यभाषण, लज्जा, शील, सदाचार, और सद्गुणों को छोड़ दिया हो या ये आचार जिनके नष्ट हो गये हों। जहाँ के जलाशय क्षुब्ध (Agitated और बड़ी-बड़ी लहरों से युक्त हों, जहाँ निरन्तर उल्कापात, बिजली का गिरना, भूकम्प तथा रोने-चिल्लाने के-से भयंकर शब्द सुनायी पड़ रहे हों, जहाँ रूखे, ताम्रवर्ण, अरुणवर्ण (Brown), सफेद, बादलों से घिरे सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे दिखायी दें, बार-बार घबड़ाये हुए तथा डर कर दौड़ते भागते हुए जैसे, भय से रोते हुए जैसे, अन्धकार से घिरे हुए की भांति दिखायी देने वाले, गुह्यकों (देवयोनि विशेष) से आक्रान्त जैसे, रोने, चिल्लाने के-से शब्द जहाँ सुनायी पड़ें उस देश को विकृत समझें।

कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद् विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत् (४);

४. विकृत काल के लक्षण—जिस ऋतु में जो लक्षण होने चाहिये उनसे विपरीत लक्षणों, अधिक लक्षणों तथा हीन (कम) लक्षणों से युक्त काल को अहितकर समझना चाहिये।

इमानेवंदोषयुक्तांश्चतुरो भावाञ्जनपदोद्ध्वंसकरान् वदन्ति कुशलाः; अतोऽन्यथाभूतांस्तु हितान्-चक्षते ॥ ७ ॥

जनपदोद्ध्वंस के लक्षण—इन पूर्वोक्त दोषों से युक्त चार भावों (वायु, जल, देश, काल) को कुशल चिकित्सक जनपदों का विनाशकारक कहते हैं। इनके विपरीत लक्षणों वाले उक्त भाव प्राणिमात्र के हितकारक होते हैं।

वक्तव्य—उक्त जनपदोद्ध्वंस की सीमा छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी जनसन्निवेश के प्रकार को देखकर ही निर्धारित की जा सकती है। उन स्थानों से जहाँ आबादी विरल (छिट-पुट—दो चार घर इधर, एकाध घर उधर इस प्रकार की) होती है, उन स्थानों में इसका प्रभाव कम लोगों पर देखा जाता है। इस प्रकार के प्रकोप लम्बी-चौड़ी आबादियों में ही अधिक देखे जाते हैं।

विगुणेष्वपि खल्वेतेषु जनपदोद्ध्वंसकरेषु भावेषु भेषजेनोपपाद्यमानानामभयं भवति रोगेभ्य इति ॥

सामान्य चिकित्सा-सूत्र—जनपदों का विनाश करने वाले इन (उपर्युक्त) भावों के विकृत हो जाने पर उचित औषधों के उपचार से रोगों से मुक्ति मिलती है।

भवन्ति चात्र—

वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम्। गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत् सम्प्रवक्ष्यते ॥ ९ ॥

वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः। [1]विद्याद् दुष्परिहार्यत्वाद् गरीयस्तरमर्थवित् ॥ १० ॥

देश आदि की उत्तरोत्तर प्रधानता—विकार को प्राप्त देश, काल, वायु तथा जल में उत्तरोत्तर सहेतुक श्रेष्ठता का निर्देश आगे किया जायगा। अर्थवित् (तत्वार्थ को जानने वाला) चिकित्सक जिनका कोई प्रतीकार नहीं किया जा सकता ऐसे उक्त भावों को वायु से जल, जल से देश और देश से भी काल को स्वभाव से ही अधिक बलवान समझें।

वक्तव्य—वायु के प्रकोप से बचने के लिये शुद्ध वायु वाले स्थान में जाकर निवास किया जा सकता है, उससे जल की समस्या कठिन है। यदि जल का प्रयोजन अन्य किसी तरल पदार्थ से पूरा कर भी लिया जाय तो देश का प्रकोप उससे भी कठिन है। यदि मनुष्य दूषित देश का त्याग भी कर दे तो काल (समय) का

१. 'विद्यादपरिहार्यत्वाद्गरीयः परमर्थवित्' ग.।

निराकरण तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि '**कलयति भूतानीति कालः**' वह सभी प्राणियों का नियत समय पर विनाश कर ही देता है।

वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित्। प्रतीकारस्य सौकर्ये विद्याल्लाघवलक्षणम् ॥

चिकित्सासौकर्य-निर्देश—पूर्वोक्त वायु आदि चारों दोषों के विशेषज्ञ चिकित्सा में सरलता प्राप्त करने के लिए इनके लक्षणों को कैसे लघुता प्रदान की जाय इस विधान को समझें।

वक्तव्य—ऊपर के पद्य में वातादि को उत्तरोत्तर गुरु कहा है, अतएव इस पद्य का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः। भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥ १२ ॥

सामान्य चिकित्सा-सूत्र—वायु आदि चारों के दुष्ट होने पर भी जब विकृतकाल का अन्त हो जाता है तब जिनकी उचित औषधों से चिकित्सा की जाती है तो वे मनुष्य स्वास्थ्यलाभ करते हैं, अर्थात् तब वे रोगी नहीं रह जाते।

येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्। कर्म [1]पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते ॥ १३ ॥

चिकित्सा के योग्य पुरुष—जिनकी मृत्यु सामान्य (मरने वालों के समान) नहीं है और जिनके कर्म सामान्य (मरने वालों के समान) नहीं हैं, अर्थात् जिनकी महामृत्यु का समय अभी प्राप्त नहीं हुआ है और जिनके कर्म भी मरने वालों से भिन्न हैं उनके लिए पञ्चकर्म (स्नेहस्वेदपूर्वक वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन) संशोधन चिकित्सा श्रेष्ठ होती है।

वक्तव्य—ऊपर मृत्युसामान्य तथा कर्मसामान्य का उल्लेख करके तन्त्रकार ने एक समय में मृत्यु के योग्य व्यक्तियों की ओर संकेत किया है। इस प्रकार मरने वाले प्राणियों की मृत्यु में जनपदोद्ध्वंस को निमित्त कारण माना गया है। इन सामान्य स्थितियों से उभरे हुए प्राणियों के लिये संशोधन चिकित्सा की व्यवस्था है।

रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते। शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥ १४ ॥
सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्। सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥ १५ ॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्। सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६ ॥
सङ्कथा[2] धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्। धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्। येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे ॥ १८ ॥

संक्षिप्त चिकित्सा—जनपदोद्ध्वंस की स्थिति में रसायनों का विधिवत् उपयोग करना, कराना उचित होता है, जनपदोद्ध्वंस होने के पहले संगृहीत या उखाड़ी गयी ओषधियां शरीररक्षा के लिये उत्तम होती हैं, सत्य-भाषण, प्राणियों में दया, दान, बलिकर्म, देवतापूजन, सद्वृत्त का आचरण, शान्ति, अपनी सब प्रकार से सुरक्षा कल्याणकारक जनपदों में जाकर निवास करना अर्थात् जहाँ वायु आदि विकृत न हुए हों वहाँ जाकर रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और ब्रह्मचारियों, महर्षियों, जितेन्द्रियों की सेवा करना, धर्मशास्त्र की कथा सुनना, सुनाना, वृद्ध पुरुषों द्वारा प्रशंसित धार्मिक तथा सत्व प्रकृति वाले पुरुषों के साथ सहवास करना, उस भयंकर समय में जिसकी मृत्यु होना निश्चित नहीं है, उसके लिये उक्त आयु-रक्षाकारक औषधों को कहा गया है।

इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्वंसने कारणानि पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—अथ खलु भगवन्! कुतो मूलमेषां वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते? येनोपपन्ना जनमुद्ध्वंसयन्तीति ॥ १९ ॥

अग्निवेश का प्रश्न—जनपद के उद्ध्वंस (विनाश) में इस प्रकार के कारणों को सुनकर फिर भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—भगवन्! इन वायु आदि के विकृत होने का मूल कारण क्या है? जिसके कारण इनमें विपरीत गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे वे विकृति को प्राप्त होकर जनपदों का नाश कर डालते हैं।

१. स्नेहस्वेदपूर्वकवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानीति पञ्चविधम्।
२. 'सत्कथा' ग.।

वक्तव्य—श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरक में यहां पर इतना पाठ विशेष उद्धृत है—'जनपदादुध्वंसने कारणान्यात्रेयस्य भगवतः'। शेष वही।

तमुवाच भगवानात्रेयः—सर्वेषामप्यग्निवेश ! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं; तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते; तेषां [1]तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते; तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं; तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः [2]स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात् ॥ २० ॥

भगवान् आत्रेय का उत्तर—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा—हे अग्निवेश ! वायु आदि सभी में जो विकृति आती है, उसका मूल कारण है अधर्म, अथवा उस अधर्म का मूल होता है पूर्वजन्म कृत असत् (शास्त्रविरुद्ध) कर्म, अधर्म और असत् (बुरे) कर्मों का मूल (उत्पत्ति कारण) प्रज्ञापराध होता है। जैसे—देश, नगर, निगम तथा जनपद के प्रधान पुरुष (गुरु, ब्राह्मण, पुरोहित, शासक, मुखिया अथवा उच्च अधिकारी) जब धर्ममार्ग का परित्याग करके अधर्म से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं, तब उन-उन के आश्रय में रहने वाले तथा उनके आश्रितों के आश्रय में रहने वाले नगरवासी तथा जनपद के निवासी एवं व्यापार द्वारा अपनी आजीविका चलाने वाले उस अधर्म को चारों ओर बढ़ा देते हैं। तब वह अधम हठात् (जबरदस्ती) धर्म को ढक (छिपा) देता है। तदनन्तर उन अधर्मियों को देवता भी छोड़ देते हैं। उन अधर्मियों, अधर्म-प्रधानों और देवताओं द्वारा परित्यक्त मानवों की निवास भूमियों की सीमा में ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं अर्थात् उनका नैसर्गिक प्रभाव समाप्त हो जाता है। उसके कारण समय पर इन्द्र पानी नहीं बरसाते, अथवा विकार युक्त (कम-ज्यादा) बरसाते हैं, ठीक ढंग से हवा नहीं बहती, पृथिवी विकृत हो जाती है, जलाशयों में पानी सूख जाते हैं, ओषधियाँ अपने स्वभाव (स्वाभाविक गुण, वीर्य, विकार आदि) को छोड़कर विकार युक्त हो जाती हैं, तदनन्तर स्पृश्य (छूने योग्य) तथा अभ्यवहार्य (खाने योग्य) वस्तुओं के दोष से जनपदों का विनाश हो जाता है।

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभक्रोधमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान् वाऽभिक्रामन्ति, परैर्वाऽभिक्राम्यन्ते ॥ २१ ॥

अधर्ममूलक जनपदोद्ध्वंस—शस्त्र द्वारा होने वाले जनपदोद्ध्वंस का भी कारण अधर्म ही होता है। जिनका लोभ, क्रोध, मोह और अभिमान अधिक बढ़ जाता है, वे दुर्बलों का अपमान कर अपने भाई-बन्धुओं तथा दूसरों के विनाश के लिये शस्त्र द्वारा परस्पर आक्रमण करते हैं अथवा दूसरों द्वारा स्वयं आक्रान्त होते हैं।

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद् वाऽप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते ॥ २२ ॥

अन्य प्रकार—अधर्म अथवा दूसरे प्रकार के किसी अपवित्रता आदि अपचार (अधर्म्य कृत्य) को प्राप्त कर राक्षसगण आदि अनेक प्रकार के भूतसमूह से भी प्राणी मारे जाते हैं, अर्थात् उनका विनाश होता है।

तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति; ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति [3]प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे ॥ २३ ॥

१. 'तथाविधान्तर्हितधर्माणां' ग.।
२. 'स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात् इति' पा.।
३. 'प्रागेवेति झटिति, अनेकपुरुषकुलविनाशायाभिशप्ता भस्मतां यान्तीत्यर्थः' चक्रः।
४. 'नियतप्रत्ययोपलम्भात् प्रतिनियतपुरुषाभिशापात्, अनियता अमिलिता एव भस्मतां यान्ति न सर्वे जना इत्यर्थः' चक्रः।

एक और भेद—अभिशाप से उत्पन्न जनपदोद्ध्वंस का कारण भी अधर्म ही होता है, जिनका धर्म लुप्त हो गया है, और जो धर्म से च्युत हो गये हैं अर्थात् धर्म करने के योग्य नहीं रह गये हैं, जो गुरु (मन्त्रदाता या विद्या का उपदेशक), वृद्ध (विद्या, ज्ञान, वय में वृद्ध), सिद्ध (तपः सिद्ध), ऋषि (देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि) तथा पूज्य (आदरणीय) जनों का अपमान (आज्ञा का उल्लङ्घन) कर अहितकर (अपने तथा समाज के प्रति) कार्यों को करते हैं, तो उससे शीघ्र ही अनेक पुरुषों के वंश के विनाश के लिये गुरु आदि से अभिशप्त होकर अर्थात् उन महापुरुषों की आह (दुःख पूर्ण उच्छ्वासों) से भस्म हो जाते हैं तथा दूसरे नियत प्रत्यय (निश्चित अभिशाप रूपी हेतु) को प्राप्त करके अनिश्चित (संदिग्ध) नाश को प्राप्त होते हैं।

वक्तव्य—श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में उक्त पाठांश इस प्रकार है—'नियतप्रत्ययोपलम्भान्नियताः, अनियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे', अन्य संस्करणों में केवल 'नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे' मात्र दृष्टिगोचर होता है।

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्। आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः[1] प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः[2] शैलसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः। तेषामुदारसत्त्व[3]गुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात् साम्पन्निकानां सत्त्वानां शरीरगौरवमासीत्, [4]शरीरगौरवाच्छ्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुरासीत् कृते।

सत्ययुग का वर्णन—प्राचीन समय में भी अधर्म को छोड़कर अन्य किसी कारण से अशुभ (रोग) की उत्पत्ति नहीं हुई थी, आदिकाल (सत्ययुग) में अदिति सुतों (आदित्य=देवताओं) के समान ओज वाले, अत्यन्त निर्मल तथा विपुल प्रभाव वाले, देव, देवर्षि के समान, धर्म तथा यज्ञ आदि के विधि-विधान को प्रत्यक्ष रूप में करने वाले, पहाड़-से सदृश पुष्ट एवं स्थिर (दृढ़) शरीर वाले, प्रसन्न वर्ण तथा इन्द्रियों वाले, वायु के समान बल, वेग, पराक्रम वाले, सुन्दर नितम्बों वाले, सुन्दर रूप, प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाई), आकृति, प्रसन्नता तथा पुष्टता युक्त, सत्वगुण, आर्जव (सरलता), क्रूरता का अभाव, दान, दम ('मनसो दमनं दमः' मन को अपने वश में किये रहना ही दम है।), नियम, तप, उपवास (व्रत) तथा ब्रह्मचर्य व्रत में तत्पर, भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, मान (अभिमान), रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य, परिग्रहरहित होने के कारण मनुष्य निःसीम आयु वाले होते थे। सत्ययुग के आरम्भ में पृथिवी आदि (महाभूतों) के सर्वगुणसम्पन्न होने से उदार सत्व (मन), गुण तथा कर्म वाले पुरुषों के लिये अचिन्त्य (जो तर्क की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते) रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव तथा गुणसम्पन्न शस्य (सभी प्रकार के धान्य) पैदा होते थे। जब सत्ययुग बीतने लगा, तब कुछ धन-सम्पत्ति वाले पुरुषों के अधिक भोजन कर लेने के कारण शरीर में भारीपन आने लगा था, शरीर के भारी होने से थकावट प्रतीत होने लगी, श्रम से आलस्य की उत्पत्ति हुई, आलस्य से संचय की प्रवृत्ति बढ़ी, संचय से परिग्रह (स्त्री, पुत्र, धन, आदि को जोड़ने की प्रवृत्ति) और परिग्रह से सत्ययुग में लोभ उत्पन्न हुआ।

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनम् अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः। ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्। तस्यान्तर्धानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः, पृथिव्यादेश्च गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेह-

१. '–ऽतिबलविपुलप्रभावाः' इति पा०।
२. 'विधिर्यज्ञविधायको वेदः, विधानं यज्ञकर्म' चक्रः।
३. 'गुणैः कर्मणां धर्माणाम् चाचिन्त्यत्वात्' ग.। 'धर्माणाञ्चाचिन्त्यत्वाद्' इति पा०।
४. 'सत्त्वानां गौरवात्' ग.।

वैमल्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि [1]हीयमानगुणपादैराहारविहारै-रयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति ॥ २४ ॥

उत्तरोत्तर धर्म का ह्रास—सत्ययुग के बाद त्रेतायुग में लोभ से परस्पर द्रोह की उत्पत्ति हुई, पारस्परिक द्रोह से झूठ बोलना, झूठ बोलने से काम, क्रोध, अभिमान, द्वेष, पारुष्य (कठोरता), अभिघात (चोट पहुँचाना), भय, त्रिविध सन्ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग (घबड़ाहट) आदि मानसिक विकारों की प्रवृत्ति हुई। तदनन्तर त्रेतायुग में धर्म का एक पाद (चौथा भाग) लुप्त हो गया। उसके लुप्त हो जाने से युग (सत्ययुग) के वर्षों का जो प्रमाण था उसमें से भी चतुर्थांश का ह्रास हो गया और पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के गुणों का भी चतुर्थांश नष्ट हो गया। उन पृथिवी आदि के गुणों के विनाश होने से शस्यों में भी प्राकृतिक रूप से होने वाली स्निग्धता, निर्मलता, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव के गुणों के चतुर्थांश की कमी आ गयी। तदनन्तर उक्त प्रकार से चतुर्थांश ह्रास को प्राप्त द्रव्यों वाले आहार-विहारों के सेवन से पहले (सतयुग) की भांति पालन-पोषण को प्राप्त न होती हुई अग्नि (जाठराग्नि) तथा वायु से युक्त प्रजाओं (प्राणियों) के शरीर सर्वप्रथम ज्वर आदि रोगों से आक्रान्त (पीड़ित) हुए। इसीलिये धीरे-धीरे प्राणियों की आयु का ह्रास हुआ।

भवतश्चात्र—

युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते। गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥२५॥
[2]संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्। देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥२६॥

युग-क्रम से धर्म तथा आयु का ह्रास—प्रत्येक युग में अर्थात् सत्ययुग के बाद से इसी (पूर्वोक्त) क्रम से धर्म का एक-एक पाद घटता गया। धर्म के ह्रास से पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के स्वाभाविक गुणों के भी चतुर्थांश का ह्रास हुआ। इसका प्रभाव प्राणियों के जीवन पर पड़ने से लोक (प्राणियों) का प्रलय (विनाश) हो जाता है, अर्थात् उनके जीवन के एक अंश का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार संसार का प्रलय हो जाता है। जिस काल (युग) में प्राणियों की आयु का जो प्रमाण होता है, उसमें उस युग का सौवें भाग के समाप्त होने पर प्राणियों की आयु का एक वर्ष घट जाता है।

वक्तव्य—युग-विभाजन के सम्बन्ध में ज्योतिषशास्त्र का निर्णय इस प्रकार है—

१. सत्ययुग वर्ष प्रमाण—१७,२८,०००
२. त्रेतायुग ,, ,, —१२,९६,०००
३. द्वापरयुग ,, ,, —८,६४,०००
४. कलियुग ,, ,, —४,३२,०००

इस क्रम से यह सिद्ध होता है कि कलियुग के वर्ष प्रमाण से दूने द्वापर के, तिगुने त्रेता के और चौगुने सत्ययुग के हैं। आयु-निर्धारण के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत देखे गये हैं—१. सामान्य आयु और २. परमायु। कलियुग के अनुसार मानव मात्र की सामान्य आयु १०० वर्ष है किन्तु उसकी परमायु १२० वर्ष होती है। चिरायु के अन्य उदाहरण व्यक्तिगत होते हैं। इसी प्रकार अन्य युगों में भी आयु का विचार कर लेना चाहिये।

'संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्'। इसका तात्पर्य यह है कि जब कलियुग के ४३२००० ÷ १००= ४३२० वर्ष समाप्त हो जायेंगे तब मनुष्य की सामान्य आयु में से १ वर्ष कम हो जायगा, अर्थात् वह ९९ वर्ष ही जीवित रहेगा। इस प्रकार क्रमशः सम्पूर्ण आयु के क्षीण होने पर प्रलय हो जाता है।

कुछ आचार्यों ने युग प्रमाण का ग्रहण दिव्य वर्षों से लिया है किन्तु उत्तर दोनों स्थितियों में समान ही आता है। जैसे—सत्ययुग के दिव्य वर्ष ४८००। त्रेता के ३६००। द्वापर के २४०० और कलि के १२००। इनको

१. 'हीयमानानि हीयमानगुणपादैर्हीयमानगुणैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि' यो.।
२. 'संवत्सराणां शते शतक्रत्वो विभक्तानामेकैकभागे संपूर्णे जाते तद्युगोत्पन्नानां देहिनां तत्तत्परिमितस्या-युष एकैकः संवत्सरः क्षयं याति' गङ्गाधरः।

क्रमशः ३६० से गुणा कर देने पर युगों की उक्त वर्ष संख्या प्राप्त हो जाती है। अतः दोनों ही प्रकार ठीक हैं। जैसे—कलियुग के दिव्यवर्ष १२००×३६० = ४३२०००।

इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति ॥ २७ ॥

इस प्रकार रोगों की सर्वप्रथम उत्पत्ति का क्रम कह दिया गया है।

एवंवादिनं भगवन्तमग्निवेश उवाच—किन्नु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति ॥

नियत-अनियत आयु सम्बन्धी प्रश्न—इस प्रकार आयु ह्रास विषयक उपदेश देते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा—भगवन्! क्या सभी प्राणियों की आयु का प्रमाण निश्चित है, या नहीं।

तं भगवानुवाच—

इहाग्निवेश! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते। दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥२९॥

आयु-निर्धारण में युक्ति—उससे भगवान् आत्रेय ने कहा। अग्निवेश! इस आयुर्वेद शास्त्र में प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा करती है। निश्चित ही इस आयु का बलवान् या अबल (क्षीणबल) होना दैव (पूर्व जन्मोपार्जित कर्मों के फल) तथा पुरुषकार (पुरुषार्थ) पर स्थित (निर्भर) है।

वक्तव्य—लोक में प्रारम्भ से ही यह देखा जाता है कि पूर्ण आयु के निश्चित होने पर भी प्राणिमात्र की अल्प मृत्यु या अकाल मृत्यु अथवा पूर्ण आयु का भोग करना या उससे भी अधिक समय तक जीवित रहना, इस प्रकार की विविधता का कारण दैव तथा पुरुषकार पर ही निर्भर है। यही आयु के सम्बन्ध में युक्ति है, उत्तर देने का एक आधार है।

महर्षि चाणक्य ने तो आयु आदि के बारे में यह सिद्धान्त स्थिर किया है—'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च। पञ्चैतानि च सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः'॥ चाणक्यनीति।

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥३०॥

दैव तथा पुरुषकार की परिभाषा—पूर्वजन्म में अपने द्वारा किये गये कर्म को ही दैव (भाग्य) समझना चाहिये और जो कर्म इस जन्म में यहाँ किया जाता है उसको पुरुषकार (पुरुषार्थ) माना गया है।

बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः। दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ॥३१॥

त्रिविध कर्म—उन दोनों प्रकार के कर्मों (दैव तथा पुरुषकार) के भी बल (प्रधान) और अबल (अप्रधान) रूप से दो भेद हैं। क्योंकि कर्महीन, मध्यम तथा उत्तम भेद से तीन प्रकार का देखा गया है।

वक्तव्य—कर्म पूर्वजन्म का हो अथवा इस जन्म का उन दोनों के ही भेद हीन, मध्यम और उत्तम रूप से होते हैं। ये कर्म के भेद कर्मकर्त्ता की प्रकृति पर निर्भर होते हैं, तदनुसार उनका फल भी होता है। कभी भी उत्तम कर्म का फल अधम या हीन शक्तिवाला नहीं होता है। इस विषय की चर्चा अन्यत्र इस प्रकार मिलती है—'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'। दूसरा पक्ष यह भी है—'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या'। कुछ विद्वान् दैव को परोक्ष का विषय मानकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हैं और कहते हैं—पुरुषार्थ द्वारा दैव को भी दबाया जा सकता है। इसके विपरीत भाग्यवादी कहते हैं—यदि भाग्य में नहीं होगा तो पुरुषार्थ करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होगी। अस्तु इस विवाद से कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता, अतः दोनों की शक्ति को स्वीकार करना ही चाहिये।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च। नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ॥३२॥
मध्यमा मध्यमस्येष्टा कारणं शृणु चापरम्। दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ॥३३॥
दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते। दृष्ट्वा[1] यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥३४॥

आयु विचार—उन दोनों (दैव तथा पुरुषकार) का उदारता (उत्तमता) पूर्ण योग होने पर वह निश्चित रूप से दीर्घायु और सुख का कारण होता है। इसके विपरीत (दैव तथा पुरुषकार का) हीन संयोग

१. 'दैवेन पुरुषकारं पराभूतं दृष्ट्वा' चक्रः।

होने पर निश्चित रूप से अल्प आयु और दुःख का कारण होता है। उन दोनों का मध्यम योग होने पर मध्यम (न अधिक दीर्घ आयु न अधिक अल्प आयु इसी प्रकार न अधिक सुख और न अधिक दुःख) होता है।

दूसरा कारण—इस आयु-निर्धारण का एक दूसरा कारण सुनिये—दुर्बल दैव (भाग्य) का विनाश प्रबल पुरुषार्थ करता है और जब दैव (भाग्य) प्रबल होता है तो वह अन्य पुरुषार्थ का नाश करके अपना फल प्रदान करता है। अतः यह सब देखकर कुछ आचार्य आयु के मान को नियत मानते हैं।

वक्तव्य—नियत और अनियत आयु के निर्णय के लिये बलवान् या निर्बल दैव अथवा पुरुषकार को प्रमाण माना गया है। यहाँ पर दैव की स्थिति अस्पष्ट है, क्योंकि उसका अनुमान बिना परिश्रम के फलप्राप्ति अथवा परिश्रम करने पर भी उचित फल की अप्राप्ति को देखकर ही किया जा सकता है। जैसे—'क' व्यक्ति को प्राणान्तकारी कष्ट के उपस्थित होने पर बिना चिकित्सा आदि के जो पुनः स्वास्थ्यलाभ हो जाता है वह दैव बल है और इसी परिस्थिति में 'ख' व्यक्ति को अत्यन्त श्रम तथा व्यय आदि करने पर जो स्वास्थ्यलाभ होता है, वह उत्तम पुरुषार्थ का फल है। दोनों ही परिस्थितियों में उनकी पूर्णायु थी तभी वे व्यक्ति लाभान्वित हुए; भेद इतना ही है कि 'क' व्यक्ति का दैव प्रबल था और 'ख' व्यक्ति का पुरुषार्थ।

निष्कर्ष यह है कि आयु को नियत मानना चाहिये। दैव और पुरुषकार तो दुर्बल या सबल व्यक्ति विशेष के अनुसार होते ही हैं।

कर्म किञ्चित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत्। किञ्चित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः[1] प्रतिबोध्यते ॥३५॥

कर्म फल में युक्ति—कोई महान् कार्य किसी विपाक (परिपाक काल = फल देने) के समय में निश्चित होता है और किसी महान् कार्य के विपाक का समय निश्चित नहीं होता किन्तु वह अन्य कारणों से फल प्राप्ति की ओर प्रेरित किया जाता है।

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः—यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदाऽऽयुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन्; नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः; तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयः, न प्रवृद्धोऽग्निः, न विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं, नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति; एवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात्। न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनां, व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्तं [2]भेषजेनोपपादयेतां, न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः, न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा। अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं [3]यदैन्द्रं चक्षुः, इदं चाप्यस्माकं तेन प्रत्यक्षं; यथा—पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं[4] कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं, तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च, अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वमेव, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतां; तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितम्, अतो विपर्ययान्मृत्युः। अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणां च [5]क्रमोपयोगः सम्यक्, त्यागः सर्वस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगानां सर्वातियोगसन्धारणम्, असन्धारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनम्, आरोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ ३६ ॥

---

१. 'दृष्टकारणैरुद्रिक्तं क्रियते' चक्रः।
२. 'भेषजेनोपचरेताम्' इति पा०।
३. 'यद्दिव्यं चक्षुः' ग.।
४. 'आहारम्' इति पा०।
५. 'क्रियोपयोगः' इति पा०।

आयु-निर्णय में उदाहरण—इसलिये जब दोनों प्रकार (प्रबल दैव अपने प्रभाव से क्षीणबल वाले पुरुषार्थ को दबा देता है और प्रबल पुरुषार्थ अशक्त दैव को दबा देता है।) देखे जाते हैं, तो इस स्थिति में एक ही पक्ष को सिद्धान्ततः स्वीकार करना अनुचित है। अर्थात् आयु नियत ही है अथवा आयु अनियत ही है। क्योंकि आयु नियत तथा अनियत दोनों प्रकार की देखी जाती है। इस सम्बन्ध में हम दृष्टान्त को भी प्रस्तुत करेंगे—यदि सभी की आयु का प्रमाण नियत (निश्चित) काल वाला हो तो फिर दीर्घायु की कामना करने वालों को मन्त्र, दिव्य प्रभावकारी ओषधि, मणि, मंगल (अनिष्टनिवारक) कार्य, बलि, उपहार (मनौतियां आदि), होम, नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि), प्रायश्चित्त (अपने द्वारा किये गये पापों या अपराधों को दूर करने की विधि), उपवास (व्रत) स्वस्त्ययन (कल्याण मार्ग को अपनाना-स्वस्तिवाचन आदि), प्रणिपात (देवता, गुरु तथा वृद्धजनों को प्रणाम करना। देखें—'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते ह्यायुर्विद्या यशोबलम्' ॥ मनुस्मृति।) तीर्थयात्रा तथा आयुष्यवर्द्धक यज्ञ आदि का प्रयोग ही नहीं करना चाहिये। और न उछलते, कूदते, क्रुद्ध, चञ्चल सांड, हाथी, ऊंट, गधा, घोड़ा, भैंसा एवम् आँधी, बवंडर आदि से ही अपने को बचाना चाहिये, न प्रपात (झरना = Fall), पहाड़ विषमस्थल, दुर्गमस्थान तथा जलवेगों से ही आत्मरक्षा करनी चाहिये और न प्रमत्त, उन्मत्त (वास्तव में मद की तीन स्थितियाँ होती हैं—१. मत्त, २. प्रमत्त, ३. उन्मत्त—इनमें क्रमशः मद का प्रभाव बढ़ा हुआ परिलक्षित होता है। यहाँ पर माधवनिदान में कहे गये मद के विभाजनों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।) उद्भ्रान्त (अस्थिर या भ्रमित), क्रोधी, चञ्चल, मोह तथा लोभ से व्याकुल बुद्धि वालों से ही अपने को बचाना चाहिये, न शत्रुओं से, न बढ़ी हुई आग से, न अनेक प्रकार के विषों के आश्रयस्थान सरीसृप (छाती के बल से सरक कर चलने वाले) साँप आदि से, न साहस से, न देश-काल आदि के विपरीत आचरण से, न राजा के प्रकोप से ही डरना चाहिये। क्योंकि सभी की आयु का निश्चित काल प्रमाण होने के कारण उपर्युक्त प्रकार के भाव, अभाव (मृत्यु) कारक नहीं हो सकते। और जिन प्राणियों ने अकाल मृत्यु से बचाने वाले प्रयोगों का कभी अभ्यास (प्रयोग) नहीं किया है, उनको भी अकाल (असमय में) मृत्यु का भय नहीं होना चाहिये।

यदि आयु को निश्चित ही मान लिया जायगा तो महर्षियों द्वारा रसायनाधिकार में की गयी दीर्घायुष्य प्राप्ति की कथायें तथा रसायनों के प्रयोग की चर्चाएँ व्यर्थ हो जायेंगी। तब इन्द्र भी नियत आयु वाले शत्रु को वज्र से न मार सकेगा, न अश्विनीकुमार ही रोगियों की चिकित्सा करते, न महर्षिगण तपस्या द्वारा मनचाही आयु को प्राप्त कर सकते और न सब कुछ जानने वाले महर्षि तथा देवराज इन्द्र (जिनको हजार आँखें थीं अर्थात् दो आँख वालों की तो बात कौन कहे।) भी इस आयुर्विज्ञान को ठीक नहीं समझते न दूसरों को उपदेश ही देते न स्वयं उनका प्रयोग करते।

और भी सभी नेत्रों वाले प्राणिसमूह में इन्द्र के नेत्र (दिव्य होने के कारण) सर्वोत्कृष्ट हैं। उससे यह सब हम लोगों को भी ज्ञात है। जैसे—हजारों पुरुषों में जो प्रतिदिन उठ-उठकर युद्ध करते हैं और जो युद्ध नहीं करते उनमें भी आयु की विषमता देखी जाती है। रोग के उत्पन्न होते ही चिकित्सा करने या न कराने से भी तुल्य (समान) आयु नहीं होती। विष खाने तथा न खाने वालों की समान आयु नहीं होती। मनुष्यों की बात छोड़ दें, आप देखें—पानी पीने के लिये प्रयुक्त घड़ों की और शोभा के लिये रखे हुए घड़ों की आयु समान नहीं होती अर्थात् पानी भरने के लिये प्रयुक्त घड़े फूट जाते हैं और दूसरे सुरक्षित अत एव दीर्घजीवी रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन का मूल आधार है। हितकर उपचार और इसके विपरीत अर्थात् अहितकर आहार-विहार आदि मृत्यु के कारण होते हैं।

और भी देश-काल एवम् अपने गुणों से विपरीत (सात्म्य) कर्मों और आहार, विहार, चिकित्सा का समुचित प्रयोग करना, सभी प्रकार के अतियोग, अयोग, मिथ्यायोगों का परित्याग, सभी अतियोगों को प्रारम्भ करने से पहले ही रोक देना, प्रवृत्त (उभड़े हुए) तथा जो निकलना चाहते हैं ऐसे (मल, मूत्र, अपानवायु आदि) वेगों को न रोकना, साहसिक कार्यों को छोड़ना—आरोग्य के मार्ग में हम कारण रूप पाते हैं, इन्हीं का भली-भांति उपदेश देते हैं और उनके फल को हम देखते हैं।

वक्तव्य—आयु नियत भी है और अनियत भी है, ये दोनों पक्ष शास्त्रसम्मत हैं, इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये तन्त्रकार ने अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनसे दोनों पक्षों की पुष्टि हो जाती है।

पाठभेद—चरकसंहिता के निर्णयसागर-संस्करण १९४१ में **'आहारविकाराणाम्'** यह पाठ दिया है, अन्यत्र **'आहारविहाराणाम्'** पाठ है। दूसरा पाठ अत्यन्त स्पष्ट है और उसका अर्थ भी प्रथम पाठ की अपेक्षा अधिक प्रसंगोचित है। प्रथम पाठ का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—'आह्रियते, अद्यते वा अन्नं तस्य विकाराः—ओदन ...-करपट्टिकादयः तेषाम्'। इस प्रकार अर्थसंगत होगा किन्तु इसमें विहार शब्द का समावेश नहीं हो पायेगा।

अतः परमग्निवेश उवाच–एवं सत्यनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् ! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्वा भवतीति ॥ ३७ ॥

काल-अकालमृत्यु विषयक प्रश्न—इतना सुनने के बाद अग्निवेश ने कहा— भगवन् ! इस प्रकार अनिश्चित है काल (समय) का प्रमाण जिनका ऐसी आयु वाले प्राणियों की कैसे कालमृत्यु अथवा अकाल मृत्यु होती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने ऊपर नियत आयु तथा अनियत आयु का उपदेश किया है, उसको सुनकर ही अग्निवेश का यह प्रश्न है। जिन प्राणियों की आयु-सीमा निश्चित है उनकी काल (अपने समय में) मृत्यु होगी ही, इसके विपरीत जिनकी आयु-सीमा निश्चित नहीं है उनकी किसे कालमृत्यु और किसे अकालमृत्यु कहेंगे। यह नियत-अनियत आयु का निवेचन अन्यत्र वर्णित एकान्ततः निश्चित आयु-सिद्धान्त का खण्डन करता है।

तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामग्निवेश ! यथा—यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति; स मृत्युः काले यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद् विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद् वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गात् [1]पर्यसनाच्चान्तराऽ[2]वसानमापद्यते, तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद् विषमाभ्यवहरणाद् विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद् विधार्यवेगाविधारणाद् भूतविषवाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराऽ[3]वसानमापद्यते, स मृत्युरकाले; तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति ॥ ३८ ॥

कालमृत्यु में प्रमाण—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा—अग्निवेश ! सुनो, जिस प्रकार वाहन के साथ जोड़ा गया अक्ष = धुरा (Axis) स्वभाव से ही धुरा के गुणों से युक्त होने पर वह जब समुचित विधि से चलाया जाता हुआ अपने समय के अनुसार अपने प्रमाण के क्षय होने पर ही घिसकर समाप्त होता है, उसी प्रकार शरीर से सम्बद्ध बलवान् आयु की समुचित विधि (आहार-विहार, सद्वृत्त आदि) का सेवन करता हुआ अपने प्रमाण के क्षय होने पर समाप्त हो जाता है, वह कालमृत्यु है।

अकालमृत्यु—और जैसे वही धुरा अत्यधिक भार के लद जाने से, ऊबड़-खाबड़ मार्ग में चलने से, बिना मार्गवाली भूमि पर चलने से, पहिया के टूट जाने से, वाह्य (जो सवारी पर बैठा हो या लदा हो) वाहक (Porter = गाड़ी में जुते हुए घोड़े, बैल आदि अथवा सईस) के दोष से, अणि (The point of a needle) के निकल जाने से, तेल आदि न डालते रहने से, इधर-उधर गिर-पड़ जाने से बीच (अकाल) में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आयु भी बल आदि के अनुचित प्रयोग से अर्थात् शक्ति से अधिक कार्य करने से, पाचकाग्नि की शक्ति से कम या ज्यादा भोजन करने से या विषम भोजन से, शरीर को विषम परिस्थिति में रखने से, अधिक मैथुन करने से, दुराचारियों का सहवास करने से, मल, मूत्र आदि के उभड़े हुए वेगों को बलपूर्वक दबाने से, रोकने योग्य (काम, क्रोध आदि) वेगों को न रोकने से, भूत, विष, वायु अग्नि की पीड़ा से, आहार तथा चिकित्सा का त्याग करने से, बीच (अकाल) में ही मृत्यु हो जाती है, वह अकाल मृत्यु है। और ज्वर आदि रोगों की समुचित चिकित्सा न करने से हम अकाल मृत्युओं को देखते हैं।

१. 'पर्यसनं परिक्षेपः, अनुपाङ्गादिति स्नेहादानात्' चक्रः।
२–३. 'व्यसनमापद्यते' इति पा०।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय काल मृत्यु तथा अकाल मृत्यु का युक्तिसंगत उत्तर देते हुए कह रहे हैं—हे अग्निवेश ! गाड़ी के धुरा की लकड़ी को देखो, जब उसका समुचित उपयोग होता है, तो वह निरन्तर उपयोग में आते हुए चिरकाल में जीर्ण होकर नष्ट होती है, यह उसका क्षय होने का काल (उचित समय) है, इसके विपरीत व्यवहार होने पर वह कभी भी नष्ट हो सकती है, यह उसका अकाल क्षय (मृत्यु) है।

यह जीवात्मा जिस शरीर रूपी रथ में विराजमान है काल मृत्यु या अकाल मृत्यु भी इसी रथ की होनी है यदि इसका आयुर्वेदोक्त, नियम, संयमों के साथ पालन किया जाय तो यह काल मृत्यु का लाभ पा सकता है अन्यथा अकाल मृत्यु तो है ही, यह चरक का शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्त है। देखें कठोपनिषद् का रथरूपक प्रकरण।

अथाग्निवेशः पप्रच्छ—किन्तु खलु भगवन् ! ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठं न तथा शीतम्; अस्ति च शीतसाध्योऽपि धातुर्ज्वरकर इति ॥ ३९ ॥

मिथ्योपचार विषयक प्रश्न—तदनन्तर अग्निवेश ने पूछा—भगवन् ! क्या कारण है कि चिकित्सक ज्वर-रोगियों को अधिकांश गरम पानी देते हैं न कि शीतल जल, जब कि ज्वरकारक (पित्त) धातु शीतोपचारों द्वारा साध्य होता है।

वक्तव्य—ऊपर अकाल मृत्यु के अनेक कारणों म एक कारण मिथ्योपचार को भी कहा गया है। इसी को दृष्टि में रखकर अग्निवेशने पित्तज्वर में उष्ण जल के सेवन को मिथ्योपचार के रूप उपस्थित कर पूछा है। इसका समाधान महर्षि आत्रेय आगे उपशय, अनुपशय चिकित्सा के उपदेश द्वारा कर रहे हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां [1]पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति; पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्। तद्धि तेषां पीतं वातमनुलोमयति, [2]अग्निं चोदर्यमुदीरयति क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणं परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते; तथा युक्तमपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापातिसारे वा प्रदेयम्, उष्णेन हि दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्धन्ते, शीतेन चोपशाम्यन्तीति ॥ ४० ॥

ज्वर में उष्ण जल की उपयोगिता—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—ज्वर-पीड़ित रोगी के शरीर, निदान, देश तथा काल का भली-भांति विचार कर ज्वर को पचाने के लिये चिकित्सक उष्ण जल पीने के लिये देते हैं। ज्वर की उत्पत्ति आमाशय से होती है। आमाशय से उत्पन्न रोगों में पाचन, वमन (कै कराना) तथा अपतर्पण (लंघन या लघु भोजन) कराने में समर्थ ओषधियाँ (या औषधयोग) ही प्रायः प्रयुक्त होती हैं। अतः पाचन के लिये गरम (पकाकर गुन-गुना) जल का ही अधिकांश प्रयोग चिकित्सक किया करते हैं। वह गरम जल पीने के साथ ही वायु का अनुलोमन करता है, उदर में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करता है, शीघ्र पच जाता है, कफ को सुखाता है, थोड़ा पिया हुआ भी उष्ण जल प्यास को शान्त करता है। इस प्रकार ठीक होता हुआ भी यह गरम जल अत्यधिक बढ़े हुए पित्त ज्वर में जब कि दाह, भ्रम (चक्कर आना), प्रलाप (अंट-संट बकना) अथवा पित्तज अतिसार में नहीं देना चाहिये, क्योंकि उष्ण जल से दाह, भ्रम, प्रलाप एवम् अतिसार अधिक बढ़ जाते हैं और शीतल पदार्थों के प्रयोग से शान्त होते हैं।

भवति चात्र—

शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ्छमयन्ति भिषग्विदः। ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम् ॥

निदान विपरीत औषध—चिकित्सा के तत्व को जानने वाले चिकित्सक उष्ण स्पर्श या उष्णगुणप्रधान द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा शीत स्पर्श या शीतगुणप्रधान द्रव्यों से करते हैं और जो शीत

१. 'विरेचनवमनापतर्पणसंशमान्येव' ग.।
२. 'अग्निं चानुदीर्णमुदीरयति' ग.।

स्पर्श या शीतगुणप्रधान द्रव्यों के सेवन से रोग उत्पन्न हुए हों उन रोगों को उष्ण स्पर्श या उष्णगुणप्रधान द्रव्यों के प्रयोग से जीता जाता है।

एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतं भेषजं भवति; यथा—अपतर्पणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः तथा पूरणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेणापतर्पणम् ॥ ४२ ॥

दूसरा उदाहरण—इसी प्रकार अन्य रोगों में भी निदान विपरीत भेषज (क्रिया-कर्म) अर्थात् चिकित्सा होती है। जैसे—अपतर्पण (उपवास या अल्प भोजन) से उत्पन्न रोगों की शान्ति पूरण (सन्तर्पण = पूर्ण आहार) के विना नहीं हो सकती, उसी प्रकार पूरण (सन्तर्पण) से होने वाली व्याधियों की शान्ति अपतर्पण के विना होना सम्भव नहीं है।

वक्तव्य—अपतर्पण (लंघन) का विवेचन च० सू० अ० २२ में तथा सन्तर्पण (तृप्तिपूर्वक भोजन) से सम्बन्धित विवेचन च० सू० अ० २३ में देखें। सामान्य चिकित्सा-सूत्र के रूप में तन्त्रकार ने लिखा है—'उक्तं सन्तर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम्' ॥ च० सू० अ० २३। इसी प्रकरण में अपतर्पणज तथा सन्तर्पणज रोगों का भी उल्लेख किया गया है।

अपतर्पणमपि च त्रिविधं—लङ्घनं, लङ्घनपाचनं, दोषावसेचनं चेति ॥ ४३ ॥

अपतर्पण के भेद—अपतर्पण तीन प्रकार का होता है—१. लंघन (उपवास या लघु भोजन), २. लंघन पाचन और ३. दोषावसेचन (संशोधन अर्थात् वमन-विरेचन)।

तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां, लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्धया वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते; लङ्घनपाचने तु मध्यबलदोषाणां, लङ्घनपाचनाभ्यां हि सूर्यसन्तापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदकं मध्यबलो दोषः प्रशोषमापद्यते; बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति, तद्वद्दोषावसेचनम् ॥ ४४ ॥

अपतर्पण भेदों से लाभ—जब दोष अल्प (थोड़े) बल वाले होते हैं, तब लंघन किया जाता है। लंघन कराने से अग्नि और वायु की वृद्धि होने के कारण अल्प दोष उस प्रकार सूख (नष्ट हो) जाता है, जिस प्रकार थोड़ा सा जल हवा और धूप लगने से सूख जाता है। जब दोष मध्यम बल वाले होते हैं तब उनके शमन के लिये लंघन-पाचन की व्यवस्था की जाती है, सूर्य की गर्मी से तथा वायु द्वारा डाली गयी धूल या राख से जिस प्रकार थोड़ा जल वाला तालाब सुखा दिया जाता है, उसी प्रकार लंघन और पाचन से मध्यम बल वाला दोष नष्ट हो जाता है। दोषों के अधिक बढ़ जाने पर दोषावसेचन नामक अपतर्पण करना चाहिये, क्योंकि विना खेत की मेंड को तोड़े हुए, उसमें एकत्रित जल बाहर निकाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार दोषावसेचन करना अर्थात् वमन, विरेचन द्वारा दोषों को निकालना चाहिये।

दोषावसेचनमन्यद् वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवंविधस्य कुर्यात्। तद्यथा—अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य[1] वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयकस्य[2] तीव्राधर्मारुचेरतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छतीति ॥ ४५ ॥

चिकित्सा के अयोग्य पुरुष—दोषावसेचन अथवा कोई और औषध की आवश्यकता होने पर भी निम्नलिखित प्रकार के रोगियों में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। यथा—युक्ति-युक्त वचनों या उपदेशों को न मानने वाले की, निर्धन पुरुष की, चिकित्सा काल में जिसको सेवक सुलभ न हों उसकी, वैद्य होने का घमण्ड करने वाले की, क्रोधी की, असूयक (गुणेषु दोषारोपणम्, असूया) की अर्थात् जो किसी के गुणों को दोष के रूप में देखता हो उसकी, धर्म के प्रति अत्यन्त अरुचि वाले की, जिसके बल, मांस, रक्त अत्यन्त क्षीण हो चुके हैं, असाध्य रोग से पीडित और मृत्यु के लक्षणों से युक्त रोगी की चिकित्सा न करे, क्योंकि इस प्रकार के रोगी

१. 'अल्पवादप्रतीकारस्य' ग.।
२. 'अपचारिकस्य' ह.।

की चिकित्सा करता हुआ चिकित्सक पापयुक्त अपशय का भागी होता है, अर्थात् ऐसे रोगियों की चिकित्सा करने से न पुण्य-लाभ होता है, न धन ही मिलता है और न यश की ही प्राप्ति होती है।

भवति चात्र—

तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम्। कर्मणस्तन्न कर्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥४६॥
(अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः। ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥४७॥
प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः। अनूपो बहुदोषश्च, समः साधारणो मतः ॥४८॥)

उत्तम चिकित्सकों का मत—चिकित्सा काल में अथवा उसके भविष्य में अर्थात् चिकित्सा के परिणाम काल में जिस (चिकित्सा) कर्म का अशुभ फल होने की सम्भावना हो, वैसा कार्य नहीं करना चाहिए, यह व्यवहारकुशल वैद्यों का मत है।

देश-परिचय—जिस देश में जलाशय तथा पेड़ कम हों, हवा और धूप अधिक हो एवम् रोग भी कम होते हों उसको **जांगल** देश कहते हैं। अधिक जलाशय तथा वृक्षों वाले, वेग रहित वायु एवम् धूप की कमी वाले और अनेक दोषों वाले देश को **आनूप** कहते हैं। जहाँ जल, वृक्ष, वायु, आतप (धूप) आदि सम हों उसको **साधारण** देश कहते हैं।

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य ने इसको कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है—'बहूदकनगोऽनूपः कफमारुतरोगवान्। जाङ्गलोऽल्पाम्बुशाखी च पित्तासृङ्मारुतोत्तरः ॥ संसृष्टलक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः' ॥ शा० सं० प्र० खं०। अर्थात् जिस देश में जल (वर्षा, नदी, झील, नाले, गीली भूमि तथा उथले कूप आदि), नग (वृक्ष, पर्वत) अधिक हों, कफ और वायु के रोग अधिक होते हों वह 'आनूप' देश है। जिस देश में जल तथा वृक्ष थोड़े हों पित्त, रक्त तथा वायु विकार अधिक होते हों वह 'जांगल' देश है। साधारण देश का विवरण दोनों जगह सामान्य है।

तत्र श्लोकाः—

पूर्वरूपाणि सामान्या हेतवः सस्वलक्षणाः। देशोद्ध्वंसस्य भैषज्यं हेतूनां मूलमेव च ॥४९॥
प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च क्षयक्रमः। मरणं प्रति भूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥५०॥
यथा चाकालमरणं यथायुक्तं च भेषजम्। सिद्धिं यात्यौषधं येषां न कुर्याद् येन हेतुना ॥५१॥
तदात्रेयोऽग्निवेशाय निखिलं सर्वमुक्तवान्। देशोद्ध्वंसनिमित्तीये विमाने मुनिसत्तमः ॥५२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

उपसंहार—जनपदोद्ध्वंस के पूर्वरूप, सामान्य कारण, अपने लक्षण, चिकित्सा (औषधोपचार), जनपदोद्ध्वंस के हेतुओं का मूल (वात, जल, देश, काल, अधर्म), रोगों की सर्वप्रथम उत्पत्ति, आयु, धर्म आदि क्षय का क्रम, प्राणियों की कालमृत्यु, अकालमृत्यु का निश्चय, जैसे काल अथवा अकाल मृत्यु होती है, का विचार, जिस प्रकार प्रयोग करायी गयी ओषधि सार्थक होती है, जिन रोगियों की जिन कारणों से चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, आदि सभी विषयों का उपदेश प्रस्तुत जनपदोद्ध्वंसनीय-विमान में महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश को दिया।

वक्तव्य—उपर्युक्त ४७ तथा ४८ वाँ (ये दो) श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि उपसंहार के रूप में कहे गये ४९ से ५२ तक के पद्यों में कहीं भी **देश-भेद** की चर्चा नहीं दुहरायी गयी है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी-व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदिसे संवलित चरकसंहिता विमानस्थान में जनपदोद्ध्वंसनीयविमान नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातस्त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

जनपदोद्ध्वंसनीय-विमान का वर्णन करने के पश्चात् अब हम त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय विमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—तृतीय अध्याय में जिन व्याधियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है उन्हीं के सम्यक् ज्ञान के लिये प्रस्तुत अध्याय की प्रस्तावना की गयी है। इसमें रोगों के विशेष विज्ञान के लिये 'त्रिविध-रोग-विज्ञान' का निर्देश किया जा रहा है।

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम् अनुमानं चेति ॥

रोग विज्ञान के साधन—रोग विशेष की जानकारी तीन प्रकार से होती है। यथा—१. आप्तोपदेश (प्रामाणिक पुरुषों के वचन), २. प्रत्यक्ष और ३. अनुमान।

वक्तव्य—इसके पूर्व निदानस्थान में रोगों को जानने के उपायों की चर्चा की जा चुकी है, वे सामान्य उपाय या प्रकार थे। इस अध्याय का नाम ही **'रोग विशेष-विज्ञानीय'** है, अतः उक्त सामान्य प्रकार से यहाँ विशेष प्रकार को प्रस्तुत किया जा रहा है। इनका क्रमिक परिचय आगे दिया गया है।

तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्; आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवंगुणयोगाद् यद् वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रमाणं [1]पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति;

१. **आप्तोपदेश का लक्षण**—आप्त (Reliable) व्यक्ति के वचन को ही आप्तोपदेश कहते हैं। आप्त उनको कहते हैं जिनके वचन किसी तर्क से गलत सिद्ध न हों सके, जो स्मृतिसम्पन्न हों, उचित-अनुचित के भेद को जो भली-भांति जानते हों और जो प्रीति (राग) अथवा उपताप (द्वेष) से रहित होते हैं। उन (आप्तों) में इस पकार के गुणों का योग होने से उनके वचन प्रामाणिक (विश्वास योग्य) होते है। इनके अतिरिक्त मत्त, उन्मत्त, मूर्ख, किसी के प्रति अनुरक्त (प्रेम करने वाले) तथा दुष्ट पुरुष का अदुष्ट (तत्काल दोषरहित) वचन भी अप्रमाण (अविश्वसनीय) होता है।

प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा[2] चोपलभ्यते।

२. **प्रत्यक्ष का लक्षण**—प्रत्यक्ष उसको कहते हैं, जो ज्ञान स्वयं इन्द्रियों और मन से प्राप्त किया जाता है।

वक्तव्य—शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। यथा—१. आँख, २. कान, ३. नाक, ४. जीभ और ५. त्वचा। आँख से दृश्य जगत् के रूप आदि का, कान से शब्द का, नाक से गन्ध का, जीभ से रसों का और त्वचा से शीत, उष्ण आदि स्पर्श का प्रत्यक्ष किया जाता है। शर्त यह है कि इन इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है, अन्यथा अन्यमनस्क (दूसरी ओर ध्यान लगाया हुआ) पुरुष किसी भी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं कर सकता है। अतएव मन का साथ रहना परमावश्यक है।

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ ४ ॥

३. **अनुमान का लक्षण**—युक्ति की अपेक्षा रखने वाला तर्क ही अनुमान है।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में सम्पूर्ण पदार्थों की परीक्षा के चार प्रकारों का इस प्रकार

१. 'पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तृदुष्टादुष्टवचनमिति' इति पा०।
२. '-आत्मना' ग.।

निर्देश किया है—१. आप्तोपदेश, २. प्रत्यक्ष, ३. अनुमान और ४. युक्ति। अन्य दार्शनिक ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव एवम् अभाव इन पदार्थों को भी प्रमाण मानते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टि से ऐतिह्य का आप्तोपदेश में शेष तीन प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है। इसी प्रकरण में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवम् युक्ति की परिभाषाएँ भी द्रष्टव्य हैं।

१. **आप्तोपदेश**—रजोगुण तथा तमोगुण से सर्वथा रहित तपोबल और ज्ञानबल से सम्पन्न, जिनकी बुद्धि सर्वदा निर्मल रहती है एवम् जिनकी ज्ञानज्योति सदैव प्रज्वलित रहती है उन्ही को आप्त, शिष्ट अथवा विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे पुरुषों का उपदेश ही आप्तोपदेश है। इनके उपदेश संदेहरहित होते हैं।

२. **प्रत्यक्ष**—आत्मा, इन्द्रिय, मन एवम् इन्द्रियों के 'विषय के सम्बन्ध से तत्काल जो निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। इनके परस्पर सम्बन्ध का क्रम इस प्रकार होता है—आत्मा मन के साथ, मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ जब सम्बन्ध रखती हैं तभी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

३. **अनुमान**—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'। तर्कसंग्रह। पर्वत में धुआँ दिखायी देने से जो अग्नि का ज्ञान होता है, वह अनुमानजनित ही है।

४. **तर्क**—न्यायदर्शन में तर्क की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्व-ज्ञानार्थमूहस्तर्कः'। न्यायदर्शन। कार्य कारण संगति द्वारा अविज्ञात विषय को जानने के लिये जो ऊह (Observe) किया जाता है, उसे तर्क कहते हैं।

५. **युक्ति**—जिस विषय की जानकारी हो उसमें कारण की संगति को देखकर अज्ञात विषय में भी उसका निश्चयपूर्वक ज्ञान करना ही युक्ति है।

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा [1]सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति, न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते।

त्रिविध प्रमाणों की आवश्यकता—तीन प्रकार के इस (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान) ज्ञान समुदाय (रोग-ज्ञान में सहायक उपायसमूह) से भली-भांति सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करके जो निर्णय किया जाता है, वह भविष्य में सुदृढ़ एवम् निर्दोष (सत्य) होता है किन्तु उक्त ज्ञान समुदाय के किसी एक अंश के जानने मात्र से सम्पूर्ण विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

वक्तव्य—आचार्य का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त तीन प्रमाणों में किसी एक का ही आश्रय लेकर निर्णय कर लेना युक्तिसंगत नहीं है, अतएव यहाँ **'त्रिविधज्ञानसमुदाय'** शब्द का ग्रहण किया गया है। क्योंकि परिस्थितिवश जहाँ आप्तवाक्य पूर्ण निर्णय देने में सक्षम न हो वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण का सहारा लेना चाहिये, जहाँ ये दोनों भी समर्थ न हों वहाँ अनुमान की भी सहायता लेनी आवश्यक होती है।

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्; अनुमानं च; त्रिविधा वा सहोपदेशेन[2] ॥ ५ ॥

त्रिविध-रोगविज्ञान विचार—इस (उपर्युक्त) तीन प्रकार के रोगविज्ञानसमूह में जो पहले आप्तोपदेश का निर्देश किया है, उससे केवल ज्ञान होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों की सहायता से (रोग) की परीक्षा की जाती है। यदि पहले आप्त (गुरु आदि) जनों द्वारा उपदेश न दिया गया हो तो परीक्षा करने वाला, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा क्या समझ सकेगा? इसलिये कहा गया है कि ज्ञानवान् पुरुषों के लिये रोग परीक्षा दो प्रकार की ही है—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान। यदि उपदेश को भी उसके साथ जोड़ दें तो तीन प्रकार की भी कही जा सकती हैं।

१. 'सर्वमेवोत्तरकालम्' इति पा०।
२. 'त्रिविधां वा सहोपदेशेनेच्छन्ति बुद्धिमन्तः' ग.।

वक्तव्य—ऊपर इस विषय पर विवाद हुआ है कि 'आप्तोपदेश' को रोग-परीक्षा का साधन माना जाय कि नहीं? वास्तव में आप्तोपदेश ही प्रत्यक्ष और अनुमानरूपी ज्ञान-प्रकारों का जनक है, इसके अभाव में प्रत्यक्ष एवम् अनुमान से भ्रामक निर्णय भी प्राप्त हो सकते हैं। जैसे—आँख की पलकों में लगाया हुआ काजल आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होता आदि-आदि।

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं[2] विद्यात्; तस्मिन्निदं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥ ६ ॥

१. आप्तोपदेश का क्षेत्र—बुद्धिमान् चिकित्सक रोग परीक्षा के सम्बन्ध में इस प्रकार का उपदेश करते हैं—प्रत्येक रोग को यह इस प्रकार के प्रकोपणों वाला, ऐसी योनि (प्रकृति) वाला, ऐसे उत्थान (रोग को आरम्भ करने वाले कारणों) वाला, ऐसी आकृति वाला, ऐसे स्थान (जहाँ रोग हुआ हो) वाला, इस प्रकार की वेदना वाला, ऐसे लक्षणों से युक्त, इस प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध वाला, ऐसे उपद्रवों (अनिष्ट-सूचक लक्षणों) वाला, ऐसे वृद्धि (बढ़ने का क्रम), स्थान (रुका रहने) वाला तथा क्षीण होने वाला, इस प्रकार के उदर्क (भविष्य) वाला, ऐसे नाम और ऐसे योग वाला जानना चाहिये। उस रोग में यह चिकित्सा इस प्रकार करनी चाहिये अथवा यह इस रोग की निवृत्ति (असाध्य स्थिति) है, ये सभी विषय आप्तजनों के उपदेश से जाने जाते हैं।

वक्तव्य—रोग के पूर्व-लक्षणों से लेकर साध्य-असाध्य एवम् चिकित्सा आदि सभी विषयों का वर्णन आप्तोपदेश का ही क्षेत्र है।

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा—अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत; वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः, शरीरप्रकृतिविकारौ, चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत; रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्प[illegible] त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद् धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्त[illegible]नुमातव्यम्, एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत; गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृ[illegible]वैकारिका[illegible] घ्राणेन परीक्षेत; स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम्। इति प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च[3] परीक्षण[illegible] ॥ ७ ॥

२. प्रत्यक्ष-परीक्षा का क्षेत्र—रोग के तत्त्व (वास्तविकता) जानने के इच्छुक वैद्य को चाहिये कि वह सभी इन्द्रियों की सहायता से रोगी के शरीर से सम्बन्धित सभी इन्द्रियों के विषयों का परीक्षण करे, केवल रस-परीक्षा को छोड़कर। अब यहाँ सभी इन्द्रियों द्वारा उन-उन विषयों के ज्ञान-प्रकार का वर्णन किया जा रहा है—

श्रोत्र द्वारा परीक्ष्य विषय—आँतों में होने वाली कुल-कुलाहट; सन्धि तथा अंगुली के पर्वों (Joints) का फूटना, स्वरभेद (गला बैठना या स्वाभाविकता में विकार आ जाना), इनके अतिरिक्त और भी जो शरीर सम्बन्धी शब्द हों उनकी परीक्षा श्रोत्र (कान) से करे।

चक्षु द्वारा परीक्ष्य विषय—वर्ण (गौर, श्याम), आकार, प्रमाण, छाया (कान्ति), शरीर की प्राकृत या वैकृत अवस्था, जिनका सम्बन्ध नेत्र से हो, जो इनके अतिरिक्त हों और जो यहाँ नहीं कहे गये हैं, उन सब की परीक्षा चक्षु (आँखों) से करें।

रसना द्वारा परीक्ष्य विषय—रोगी के शरीर में स्थित रस यद्यपि रसना (जीभ) इन्द्रिय का विषय है,

१. अयं पाठो गङ्गाधरासंमतः।
२. 'एवंनामानम्' इति पा.।
३. [illegible]नैकदेशतश्च' इति पा०।

तथापि इसकी परीक्षा अनुमान परीक्षा विधि से करे। क्योंकि इसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण करना युक्ति-युक्त नहीं है, इसलिये रोगी से पूछकर ही रोगी के मुख के रस का ज्ञान करना चाहिये। यूकाओं (Louse) के स्वतः शरीर से हट जाने से रोगी के शरीर की नीरसता का अनुमान करे, मक्खियों के लगने से शरीर की मधुरता, शरीर से निकलने वाले रक्त में यदि रक्तपित्त नामक रोग का सन्देह हो तो यह शुद्ध रक्त है या रक्तपित्त से दूषित है इस निर्णय के लिये उस रक्त को कुत्ता या कौआ को दें, यदि वह खा लेता है तो वह जीवरक्त है और यदि नहीं खाता है तो वह रक्तपित्त रोग से दूषित रक्त है, ऐसा अनुमान करना चाहिये। इसी प्रकार रोगी के शरीरगत अन्य रसों का भी अनुमान करे।

घ्राण द्वारा परीक्ष्य विषय—रोगी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त गन्धों को, ये स्वाभाविक हैं या वैकारिक नासिका द्वारा परीक्षा करें।

त्वचा द्वारा परीक्ष्य विषय—स्पर्श का ज्ञान हाथ द्वारा करना चाहिये कि यह स्पर्श प्राकृतिक है या विकारयुक्त है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपदेश विधि से परीक्षा-प्रकार का वर्णन किया गया है।

इमे तु [1]खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, [2]वीर्यमुत्थानेन, [3]अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, [4]उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेण, ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं [5]द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति ॥ ८ ॥

३. अनुमान द्वारा परीक्षा—ये (जो ऊपर कहे गये हैं) और इनके अतिरिक्त विषय भी अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य हैं। जैसे—जाठराग्नि की परीक्षा पाचनशक्ति को देखकर करे, बल की परीक्षा व्यायाम (शारीरिक श्रम) से करे, आँख, कान आदि की परीक्षा रूप तथा शब्द-ग्रहण-शक्ति को देखकर करे, मन की परीक्षा विषयों के ठीक-ठीक ज्ञान द्वारा, व्यवसाय (प्रयत्न) से विज्ञान की, रजोगुण की परीक्षा विषयों में आसक्ति से, अज्ञान से मोह की, क्रोध की परीक्षा हिंसा की प्रवृत्ति से, दीनता से शोक की, प्रसन्नता से हर्ष की, सन्तोष या तृप्ति से प्रीति की, विषाद से भय की, अविषाद (दुःखी न होने) से धैर्य की, उत्थान (कार्य विशेष के प्रति तत्परता) अथवा उत्साह से वीर्य की, अविभ्रम से स्थिर बुद्धि की, अभिप्राय (प्रार्थित वस्तु के लाभ) से श्रद्धा की, मेधा (धारणाशक्ति) की ग्रहण से, नामग्रहण से संज्ञा (होश) की, स्मरणशक्ति से स्मृति की, अपत्रपण (Shame) अर्थात् लज्जाशीलता से लज्जा की, अनुशीलन (व्यवहार) से शील (चरित्र Tendency) की, प्रतिषेध (रूखा जबाव देने) से द्वेष की, कपट से भावी असफलता की, चञ्चलता के न होने से धैर्य की, आज्ञा पालन से वश्यता की, काल, देश, उपशय, वेदना विशेष से अवस्था की, भक्ति (इच्छा), सात्म्य से रोग निदान की, गूढलिंग (जिसके लक्षण अभी प्रकट नहीं हुए हैं) उपशय तथा अनुपशय से व्याधि (रोग) की, अपचार (कुपथ्य) विशेष से दोषों के प्रमाण विशेष की, अरिष्ट (मृत्युसूचक) लक्षणों से आयु के क्षय की, कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्ति होने से कल्याणप्राप्ति की, किसी प्रकार की विकृति न होने से निर्मल मन की,

१. 'खल्वन्यतमा ये' इति पा०।
२. 'वीर्यमुत्साहेन' इति पा०। 'वीर्यमारब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः, उत्थानेनेति क्रियारम्भेण' चक्रः।
३. 'अवस्थानं स्थिरमतित्वं' चक्रः।
४. 'उपेत्य धीयत इति उपधिः छद्मेत्यर्थः, अनुबन्धेनेत्युत्तरकालं हि भ्रात्रादिवधेन फलेन ज्ञायते' चक्रः।
५. 'द्विष्टेष्टेषु सुखासुखानि' यो.।

ग्रहणी की कोमलता, कठोरता, स्वप्नों का दिखायी देना, किसी वस्तु विशेष की इच्छा करना, किसी वस्तु में द्वेष, किसी में प्रेम, सुख अथवा दुःख आदि को रोगी से प्रश्न द्वारा जानें।

भवन्ति चात्र—

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च। अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद् विचक्षणः ॥ ९ ॥
सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्। अथाध्यवस्येत् तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥१०॥
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति। अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥११॥
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति [1]तत्त्ववित्। आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥१२॥

त्रिविध परीक्षा का फल—यहाँ उक्त चर्चा पुनः की जा रही है। विद्वान् पुरुष का कर्तव्य है कि वह आप्तोपदेश, प्रत्यक्षीकरण और अनुमान नामक तीन प्रमाणों से रोगों को भली-भांति पहचाने। शास्त्र के ठीक-ठीक अर्थ को जानने वाला वैद्य सब प्रकार से सम्पूर्ण विषयों की आलोचना करके यथा संभव (जहाँ तक हो सके) पहले रोग-निर्णय करने में प्रयत्न करे उसके बाद चिकित्सा में मनोयोग करे। कार्य (चिकित्सा) के तत्व का विशेषज्ञ चिकित्सक रोगविशेष के निर्णय करने में असफल नहीं होता। जो अमोह निमित्तज (ज्ञान है कारण जिसका ऐसे) फल (सफलता) को प्राप्त करता है, अतएव वह अमूढ (ज्ञानवान्) है। जो विद्वान् ज्ञान बुद्धि रूपी दीपक द्वारा रोग की परीक्षा के निमित्त रोगी की अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं कर पाता, वह रोगों की ठीक-ठीक चिकित्सा नहीं कर सकता।

वक्तव्य—अन्तरात्मा में प्रवेश करने के लिये ज्ञानबुद्धिप्रदीप की जो आवश्यकता दिखलायी है, वास्तव में यह दार्शनिक विषय है। यह ज्ञानबुद्धि रूप प्रदीप आप्तोपदेश आदि द्वारा प्राप्त ज्ञान से ही प्रज्वलित होता है। अन्यथा मानव अपनी अन्तरात्मा की तो बात ही नहीं समझ पाता, रोगी के अन्तरात्मा की बात जानना तो दूर रहा। वह आत्मा तो—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' है। देखें—कठोपनिषद्।

तत्र श्लोकौ—

सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसङ्ग्रहम्। यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्यते यथा ॥१३॥
ये यथा चानुमानेन ज्ञेयास्तांश्चाप्युदारधीः। भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमाने मुनिरुक्तवान् ॥१४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविधरोग-
विशेषविज्ञानीयविमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उपसंहार—सभी प्रकार के रोग भेदों को जानने के लिये उपर्युक्त तीन प्रकार के ज्ञान का संग्रह किया गया है। जिस प्रकार आप्त (प्रामाणिक) पुरुष उपदेश देते हैं, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण का ग्रहण किया जाता है और जो विषय अनुमान द्वारा जैसे ग्रहण किये जाते हैं, उदार बुद्धि वाले महर्षि आत्रेय ने उन सभी विषयों को प्रस्तुत विमानस्थान के त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय नामक अध्याय में कहा है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य, आदि से संवलित चरकसंहिता विमान-
स्थान में त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

१. 'योगवित्' ग.।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातः [1]स्रोतसां विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

त्रिविधरोग-विशेष-विज्ञानीय अध्याय का वर्णन करने के पश्चात् अब हम यहाँ स्रोतोविमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति। स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ ३ ॥

स्रोतस् विवेचन—पुरुष में जितने मूर्तिमान् (दिखायी देने वाले) भाव (पदार्थ) विशेष हैं, उतने ही इस (पुरुष शरीर) में स्रोतों के प्रकार-भेद हैं। पुरुष में स्रोतों के बिना कोई भी भाव (अवयवविशेष) उत्पन्न नहीं होते या हो सकते और न क्षीण ही हो सकते हैं। भोजन के परिपाक होने पर जब रस आदि धातुएँ अपना-अपना रूप धारण कर लेती हैं, तब उनको एक स्थान से दूसरे स्थान में ये ही पहुँचाया करते हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने 'नव स्रोतांसि', सु० शा० अ० ५।८, स्रोतों की संख्या ९ कही है किन्तु योगवाहीस्रोत २२ हैं। सुश्रुत की दृष्टि से ये स्रोत मूलतः प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मूत्रवह, मलवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। आगे चलकर एक-एक के अनेक भेद हो जाते हैं। सुश्रुत ने इनके मूलविद्ध (जड़ में वेध) होने से विकार उत्पन्न होने की चर्चा की है, चरक विमानस्थान अ० ५ में वातादि दोषों द्वारा उनके दूषित होने की बात आयी है, वास्तव में दोनों का अपना अपना सिद्धान्त है। 'स्रु गतौ' धातु से असुन् तथा तुट् प्रत्यय होने पर 'स्रोतस्' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है जिनसे प्राण, अन्न आदि की गति हो उन्हें स्रोतस् कहते हैं।

अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवं, [2]यस्य हि स्रोतांसि, [3]यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र [4]चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत् तेभ्यः ॥ ४ ॥

स्रोतस् सम्बन्धी ऊहापोह—अनेक आचार्य सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के कारण और वातादि दोषों को प्रकुपित करने अथवा उनको शान्त करने वाले अपथ्य और पथ्य आहार द्रव्यों को पहुँचाने के कारण स्रोतों के समूह को ही पुरुष कहना चाहते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं, क्योंकि जिनसे ये स्रोत बने हैं और जिन आहार आदि द्रव्यों का ये वहन करते हैं और जिनको ये लौटा कर ले आते हैं तथा जहाँ ये स्थित हैं, उन सब से यह पुरुष भिन्न है।

विशेष वक्तव्य—जिनके मत में स्रोतों का समूह ही पुरुष है, उसका समाधान इस प्रकार है। जैसे कोई कह दे कि गलियों तथा सड़कों का समूह ही नगर है, तो आप इसको स्वीकार नहीं करेंगे, जब कि गलियाँ और सड़कें भी नगर के अंग हैं। वास्तव में भवनों (शरीरों) के कारण गलियाँ, सड़कें (स्रोतस्, महास्रोतस्) बनी हैं। इनके माध्यम से जो वस्तुओं का ले जाना और ले आना होता है, उतने मात्र को नगर नहीं कहा जा सकता, अतः नगर उससे भिन्न पदार्थ है। वास्तव में भवनों का समुदाय नगर है, गलियाँ उसके कार्य सञ्चालन

१. 'स्रोतो विमानम्' इति पा०।
२. 'यद्घटितानीत्यर्थः' चक्रः।
३. 'यथा वहन्ति' ग.।
४. 'यत्र मांसादौ संबद्धानीत्यर्थः' चक्रः।

में सहायक हैं और जैसे नगर से गलियां अलग नहीं की जा सकतीं वैसे ही पुरुष से स्रोतस् अलग नहीं किये जा सकते।

अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसङ्ख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसङ्ख्येयानि पुनरन्ये ॥ ५ ॥

संख्या सम्बन्धी मतभेद—कुछ आचार्य स्रोतों के अत्यन्त अधिक होने के कारण उनको असंख्य कहते हैं किन्तु दूसरे आचार्यों के मत से वे गिनने योग्य हैं।

वक्तव्य—जिन आचार्यों के मत में स्रोतसों की संख्या असंख्य कही गयी है, उन्होंने गणना को महत्व नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है अथवा वे वृद्ध हो गये हों, क्योंकि उसी समय के दूसरे आचार्यों ने उनको परिसंख्येय तो बतलाया है परन्तु कितनी संख्या है यह इन्होंने भी नहीं लिखा, इनका विस्तृत विवरण सुश्रुत शारीरस्थान में देखें। क्योंकि कायचिकित्सक महर्षियों को गिनने की आवश्यकता ही नहीं थी। अतएव—'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः'। तथापि महर्षि आत्रेय ने स्रोतों के कतिपय प्रमुख भेदों का उल्लेख आगे किया है।

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित्प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्। तद्यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति; वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च। तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥ ६ ॥

स्रोतों के भेद—उन स्रोतों की प्रमुख (स्थूल) रूप से, कुछ स्रोतों की मूल रूप से और कुछ की प्रकोपक लक्षणों के अनुसार हम यहाँ व्याख्या करेंगे। जो व्याख्या शास्त्रज्ञान से परिपूर्ण चिकित्सकों के लिये अनुक्त ज्ञानार्थ (जो विषय यहाँ नहीं कहा गया उसको भी जानने के लिये) होगी और अल्पज्ञ अथवा जिज्ञासु चिकित्सकों के लिये उपदेशदायक सिद्ध होगी। जैसे—१. प्राणवह, २. उदकवह, ३. अन्नवह, ४. रसवह, ५. रक्तवह, ६. मांसवह, ७. मेदोवह, ८. अस्थिवह, ९. मज्जवह, १०. शुक्रवह, ११. मूत्रवह, १२. पुरीषवह, १३. स्वेदवह ये स्रोत हैं। सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त, कफ के लिये भी ये स्रोत मार्ग का कार्य करते हैं। अर्थात् वात आदि का प्रसरण भी इन्हीं स्रोतों द्वारा इधर-उधर होता है। उसी प्रकार अतीन्द्रियों (जिनको इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता) सत्व (मन) आत्मा आदि का यह सम्पूर्ण चेतना वाला शरीर मार्ग (इधर-उधर आने जाने का साधन) और अधिष्ठान (निवास स्थान) है। इसीलिये जब उक्त सभी स्रोत अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं तब किसी प्रकार के रोग से शरीर आक्रान्त नहीं होता।

वक्तव्य—चरकसंहिता में स्रोतों के उक्त १३ भेद और १ आर्तववह भेद (गर्भ-प्रकरण में) बतलाया है, इस प्रकार कुल १४ भेद माने हैं। सुश्रुत ने जिन (मेदोवह, अस्थिवह, मज्जवह) भेदों को छोड़कर ११ भेदों को माना है, वे पुनः इनके दो-दो भेद करके २२ भेद मानते हैं।

तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ७ ॥

दूषित प्राणवह स्रोतों के लक्षण—उन प्राणवाही स्रोतों का मूल (उद्गम स्थान) हृदय तथा महास्रोतस् हैं। इनके दूषित हो जाने पर यह विशेष जानकारी होती है। यथा—वायु का अधिक निकलना, अधिक बँधा (रुकावट युक्त) होना, कुपित हो जाना, थोड़ा-थोड़ा या अत्यधिक शब्द (सांय-सांय) तथा शूल (वेदना) के साथ रोगी को ऊपर की ओर साँस लेते हुए देखकर इसके प्राणवहस्रोत दुष्ट हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—न्यूमोनिया या फुफ्फुस-प्रदाह में प्राणवहस्रोतों के दूषित होने पर उक्त लक्षण दिखलायी देते हैं। सुश्रुत के मत से प्राणवहस्रोत दो हैं, १. दक्षिणफुफ्फुस और २ वामफुफ्फुस। यहाँ **'प्राणवहानां स्रोतसाम्'** में बहुवचन का प्रयोग किया है, न कि द्विवचन का। अतः यह बहुवचन फुफ्फुसशारीर में स्थित वायु के लघु कोष्ठकों की ओर इङ्गित किया गया है।

उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

दूषित उदकवहस्रोतों के लक्षण—उदकवाही स्रोतों के मूल (उद्गम-स्थान) तालु (Palatal) तथा क्लोम (Pharynx) हैं। इनके दूषित हो जाने पर यह विशेष जानकारी होती है, यथा—जीभ, तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा क्लोम में शुष्कता आ जाती है। इसकी अधिक बढ़ी हुई पिपासा (पानी पीने की इच्छा) को देखकर इस रोगी के उदकवाही स्रोतस् दुष्ट हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ उदकवाही स्रोतस् से केवल पीये हुए जल का वहन करने वाले स्रोत का ही ग्रहण करना उचित नहीं है, अपितु उदररोग की सम्प्राप्ति के रूप में प्रस्तुत निम्नलिखित पद्य पर ध्यान दें—'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः। प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्' ॥ च० चि० अ० १३।२०। अर्थात् मानव के स्रोतों में संचित दोष स्वेदवाही एवं जलवाही स्रोतों को रोककर प्राण तथा अपान वायु और पाचकाग्नि को दूषित कर उदररोग को उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार तृष्णा-निदान में भी उदकवहस्रोतों के दूषित होने की चर्चा देखी जाती है। अतः उदकवहस्रोतों का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से मानना युक्ति-युक्त है।

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वं, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

दूषित अन्नवहस्रोतों के लक्षण—अन्नवह (खाये या चबाये हुए भोजन को ले जाने वाले) स्रोतों के मूल आमाशय और वामपार्श्व हैं। इनके दूषित हो जाने पर इस प्रकार की विशेष जानकारी होती है। वह इस प्रकार हैं—अन्न सेवन के प्रति इच्छा का अभाव, अरुचि, खा लेने पर भोजन का न पचना, तथा वमन इन लक्षणों को देखकर इस रोगी के अन्नवहस्रोत दूषित हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'अन्नवहे द्वे तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः' इस प्रकार दिया है। और भी देखें—'द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते'। शारीरस्थान अ० ९।१२।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च। मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च। मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च। अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। मज्जवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च। शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसादिवहस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीये; यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टानां धातुस्रोतसाम्।

दूषित रसादिवहस्रोतों के लक्षण—रसवाही स्रोतों का मूल हृदय तथा दस धमनियाँ हैं। रक्तवाही स्रोतों का मूल यकृत् और प्लीहा है। मांसवाही स्रोतों का मूल स्नायु-मंडल तथा त्वचा है। मेदोवाही स्रोतों का मूल दोनों वृक्क और वपावहन (Fatty Fascia) चर्बी है। अस्थिवाही स्रोतों का मूल मेदोधातु तथा जघन हैं। मज्जावाही स्रोतों का मूल अस्थियाँ और सन्धियां हैं। शुक्रवाही स्रोतों का मूल दोनों वृषण (Testicles) और मूत्रेन्द्रिय हैं। दूषित हुए इन रस आदि का वहन करने वाले स्रोतों का विशेष परिचय सूत्रस्थान के विविधाशितपीतीय नामक २८ वें अध्याय में वर्णन किया गया है। उक्त रसादि सात धातुओं के दूषित होने पर जिन लक्षणों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सब लक्षण उन-उन धातुओं के स्रोतों के दूषित होने पर भी होते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार यहाँ रसादि सात धातुओं के वहन करने वाले स्रोतों का वर्णन किया गया है, इसी प्रकार का वर्णन सु० शा० अ० ९ में भी देखें।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति;

में सहायक हैं और जैसे नगर से गलियां अलग नहीं की जा सकतीं वैसे ही पुरुष से स्रोतस् अलग नहीं किये जा सकते।

अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसङ्ख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसङ्ख्येयानि पुनरन्ये ॥ ५ ॥

संख्या सम्बन्धी मतभेद—कुछ आचार्य स्रोतों के अत्यन्त अधिक होने के कारण उनको असंख्य कहते हैं किन्तु दूसरे आचार्यों के मत से वे गिनने योग्य हैं।

वक्तव्य—जिन आचार्यों के मत में स्रोतसों की संख्या असंख्य कही गयी है, उन्होंने गणना को महत्व नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है अथवा वे वृद्ध हो गये हों, क्योंकि उसी समय के दूसरे आचार्यों ने उनको परिसंख्येय तो बतलाया है परन्तु कितनी संख्या है यह इन्होंने भी नहीं लिखा, इनका विस्तृत विवरण सुश्रुत शारीरस्थान में देखें। क्योंकि कायचिकित्सक महर्षियों को गिनने की आवश्यकता ही नहीं थी। अतएव—'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः'। तथापि महर्षि आत्रेय ने स्रोतों के कतिपय प्रमुख भेदों का उल्लेख आगे किया है।

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित्प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्। तद्यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति; वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च। तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥ ६ ॥

स्रोतों के भेद—उन स्रोतों की प्रमुख (स्थूल) रूप से, कुछ स्रोतों की मूल रूप से और कुछ की प्रकोपक लक्षणों के अनुसार हम यहाँ व्याख्या करेंगे। जो व्याख्या शास्त्रज्ञान से परिपूर्ण चिकित्सकों के लिये अनुक्त ज्ञानार्थ (जो विषय यहाँ नहीं कहा गया उसको भी जानने के लिये) होगी और अल्पज्ञ अथवा जिज्ञासु चिकित्सकों के लिये उपदेशदायक सिद्ध होगी। जैसे—१. प्राणवह, २. उदकवह, ३. अन्नवह, ४. रसवह, ५. रक्तवह, ६. मांसवह, ७. मेदोवह, ८. अस्थिवह, ९. मज्जवह, १०. शुक्रवह, ११. मूत्रवह, १२. पुरीषवह, १३. स्वेदवह ये स्रोत हैं। सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त, कफ के लिये भी ये स्रोत मार्ग का कार्य करते हैं। अर्थात् वात आदि का प्रसरण भी इन्हीं स्रोतों द्वारा इधर-उधर होता है। उसी प्रकार अतीन्द्रियों (जिनको इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता) सत्व (मन) आत्मा आदि का यह सम्पूर्ण चेतना वाला शरीर मार्ग (इधर-उधर आने जाने का साधन) और अधिष्ठान (निवास स्थान) है। इसीलिये जब उक्त सभी स्रोत अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं तब किसी प्रकार के रोग से शरीर आक्रान्त नहीं होता।

वक्तव्य—चरकसंहिता में स्रोतों के उक्त १३ भेद और १ आर्तववह भेद (गर्भ-प्रकरण में) बतलाया है, इस प्रकार कुल १४ भेद माने हैं। सुश्रुत ने जिन (मेदोवह, अस्थिवह, मज्जवह) भेदों को छोड़कर ११ भेदों को माना है, वे पुनः इनके दो-दो भेद करके २२ भेद मानते हैं।

तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ७ ॥

दूषित प्राणवह स्रोतों के लक्षण—उन प्राणवाही स्रोतों का मूल (उद्गम स्थान) हृदय तथा महास्रोतस् हैं। इनके दूषित हो जाने पर यह विशेष जानकारी होती है। यथा—वायु का अधिक निकलना, अधिक बँधा (रुकावट युक्त) होना, कुपित हो जाना, थोड़ा-थोड़ा या अत्यधिक शब्द (सांय-सांय) तथा शूल (वेदना) के साथ रोगी को ऊपर की ओर साँस लेते हुए देखकर इसके प्राणवहस्रोत दुष्ट हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—न्यूमोनिया या फुफ्फुस-प्रदाह में प्राणवहस्रोतों के दूषित होने पर उक्त लक्षण दिखलायी देते हैं। सुश्रुत के मत से प्राणवहस्रोत दो हैं, १. दक्षिणफुफ्फुस और २ वामफुफ्फुस। यहाँ **'प्राणवहानां स्रोतसाम्'** में बहुवचन का प्रयोग किया है, न कि द्विवचन का। अतः यह बहुवचन फुफ्फुसशारीर में स्थित वायु के लघु कोष्ठों की ओर इङ्गित किया गया है।

उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

दूषित उदकवहस्रोतों के लक्षण—उदकवाही स्रोतों के मूल (उद्गम-स्थान) तालु (Palatal) तथा क्लोम (Pharynx) हैं। इनके दूषित हो जाने पर यह विशेष जानकारी होती है, यथा—जीभ, तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा क्लोम में शुष्कता आ जाती है। उसकी अधिक बढ़ी हुई पिपासा (पानी पीने की इच्छा) को देखकर इस रोगी के उदकवाही स्रोतस् दुष्ट हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ उदकवाही स्रोतस् से केवल पीये हुए जल का वहन करने वाले स्रोत का ही ग्रहण करना उचित नहीं है, अपितु उदररोग की सम्प्राप्ति के रूप में प्रस्तुत निम्नलिखित पद्य पर ध्यान दें—'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः। प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्'॥ च० चि० अ० १३।२०। अर्थात् मानव के स्रोतों में संचित दोष स्वेदवाही एवं जलवाही स्रोतों को रोककर प्राण तथा अपान वायु और पाचकाग्नि को दूषित कर उदररोग को उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार तृष्णा-निदान में भी उदकवहस्रोतों के दूषित होने की चर्चा देखी जाती है। अतः उदकवहस्रोतों का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से मानना युक्ति-युक्त है।

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वं, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

दूषित अन्नवहस्रोतों के लक्षण—अन्नवह (खाये या चबाये हुए भोजन को ले जाने वाले) स्रोतों के मूल आमाशय और वामपार्श्व हैं। इनके दूषित हो जाने पर इस प्रकार की विशेष जानकारी होती है। वह इस प्रकार है—अन्न सेवन के प्रति इच्छा का अभाव, अरुचि, खा लेने पर भोजन का न पचना, तथा वमन इन लक्षणों को देखकर इस रोगी के अन्नवहस्रोत दूषित हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—सुश्रुत में—'अन्नवहे द्वे तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः' इस प्रकार दिया है। और भी देखें—'द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते'। शारीरस्थान अ० ९।१२।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च। मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च। मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च। अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। मज्जवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च। शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसादिवहस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीये; यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टानां धातुस्रोतसाम्।

दूषित रसादिवहस्रोतों के लक्षण—रसवाही स्रोतों का मूल हृदय तथा दस धमनियाँ हैं। रक्तवाही स्रोतों का मूल यकृत् और प्लीहा है। मांसवाही स्रोतों का मूल स्नायु-मंडल तथा त्वचा है। मेदोवाही स्रोतों का मूल दोनों वृक्क और वपावहन (Fatty Fascia) चर्वी है। अस्थिवाही स्रोतों का मूल मेदोधातु तथा जघन है। मज्जावाही स्रोतों का मूल अस्थियाँ और सन्धियां हैं। शुक्रवाही स्रोतों का मूल दोनों वृषण (Testicles) और मूत्रेन्द्रिय हैं। दूषित हुए इन रस आदि का वहन करने वाले स्रोतों का विशेष परिचय सूत्रस्थान के विविधाशितपीतीय नामक २८ वें अध्याय में वर्णन किया गया है। उक्त रसादि सात धातुओं के दूषित होने पर जिन लक्षणों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सब लक्षण उन-उन धातुओं के स्रोतों के दूषित होने पर भी होते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार यहाँ रसादि सात धातुओं के वहन करने वाले स्रोतों का वर्णन किया गया है, इसी प्रकार का वर्णन सु० शा० अ० ९ में भी देखें।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति;

तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

दूषित मूत्रवहस्रोतों के लक्षण—मूत्रवाही स्रोतों का मूल मूत्राशय (Bladder) तथा वंक्षण (ऊरु-सन्धि) है। इनके दूषित होने पर यह विशेष लक्षण होता है। जैसे मूत्र का अधिक निकलना, अधिक रुक जाना, प्रकुपित होने पर थोड़ा-थोड़ा अथवा बार-बार गाढ़ा, वेदना सहित मूत्र करते हुए रोगी को देखकर, इसके मूत्र-वाही स्रोतस् दूषित हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—मूत्रवाही स्रोतों का मूल मूत्राशय तो स्पष्ट ही है। वङ्क्षण शब्द से तात्पर्य है—वृक्क (Kidney) से निकली हुई गवीनियाँ (Uraters)। देखें—'मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं वस्तिर्मेढ्रं च। सु० शा० अ० ९।

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं [1]स्थूलगुदं च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं [2]सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

दूषित पुरीषवहस्रोतों के लक्षण—पुरीषवाही स्रोतों का मूल है—पक्वाशय (Intestines) और स्थूल गुद भाग (Sphincter) अर्थात् जो अवयव मल को रोकने का कार्य करता है (संवरणी वलि)। इनके दूषित होने पर यह विशेष लक्षण होता है, जैसे—कष्ट के साथ थोड़ा-थोड़ा, शब्द तथा शूल (कष्ट) के साथ, अत्यन्त पतला या अत्यन्त बँधा हुआ (गांठदार), अधिक मात्रा में मलत्याग करते हुए पुरुष को देख कर इस रोगी के पुरीष (मल) वाही स्रोत दूषित हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ८ ॥

दूषित स्वेदवहस्रोतों के लक्षण—स्वेदवाही (पसीना को निकालने वाले) स्रोतों का मूल मेदो धातु और लोमकूप हैं। इनके दूषित होने पर ये विशेष लक्षण होते हैं, जैसे—पसीना का न होना या अधिक पसीना निकलना, शरीर में रूक्षता या चिकनापन, शरीर में जलन होना और हर समय रोमांच (रोंगटे खड़े) होना, देखकर समझना चाहिये कि इस रोगी के स्वेदवाही स्रोत दूषित हो गये हैं।

स्रोतांसि, सिराः, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। तेषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते, इतरेषां प्रकोपादितराणि च। स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः। तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति ॥ ९ ॥

स्रोतस् के पर्याय—स्रोत, सिरा या शिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी, पन्था मार्ग, शरीर-छिद्र, संवृत (बन्द), असंवृत (खुले हुए), स्थान, आशय और निकेत ये शरीर की धातुओं के अवकाशों (रिक्त स्थानों जैसे—मुख के भीतर का स्थान मुखाकाश आदि) के दिखलायी देने वाले या न दिखलायी देने वाले स्थानों के नाम हैं। उन स्रोत आदि के प्रकोप से अपने-अपने स्थान में स्थित अथवा मार्ग में प्रवृत्त शरीरगत धातुएँ भी प्रकुपित हो जाती हैं और दूसरे स्रोत एवं धातुओं के प्रकोप से दूसरे स्रोत तथा धातुएँ भी प्रकुपित हो जाती हैं। दूषित स्रोतस् दूसरे स्रोतों को और दूषित धातुएँ दूसरी धातुओं को दूषित कर देती हैं। उन सभी में स्वयं दूषित हुए वात, पित्त, कफ अपने स्वभाव से ही दूसरों को दूषित करने वाले होते हैं। क्योंकि—'शरीरदूषणाद् दोषाः'।

१. 'स्थूलान्त्रं गुदं च' इति पा०। 'पक्वाशयो नाभेरधः, स्थूलगुदं त्रिवलिरूपं' गङ्गाधरः।
२. 'सशूलम्' इति पा०।

भवन्ति चात्र—

क्षयात् सन्धारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥

प्राणवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—शरीरगत धातुओं के क्षीण होने से, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से, निरन्तर रूक्ष पदार्थों के सेवन से, अधिक व्यायाम करने से तथा भूखे पुरुष के अन्य कठोर कार्य करने से प्राणवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

औष्ण्यादामाद् भयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात्। अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥

रसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—निरन्तर उष्ण पदार्थों के सेवन से, आमदोष से, भय से, अधिक मद्य पान से (पानात्यय रोग में भी रसवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।), अधिक रूखे-सूखे अन्नों को खाने से तथा प्यास को अधिक देर तक रोकने से रसवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च ॥ १२ ॥

अन्नवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—अकाल (अनुचित समय में अथवा दुर्भिक्ष के समय) में अहितकर पदार्थों के अधिक सेवन कर लेने से और जाठराग्नि की विकृति से भी अन्नवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्। रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात् ॥ १३ ॥

रसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—शीघ्र न पचने वाले, स्पर्श एवं वीर्य में शीत, अतिस्निग्ध (चिकने) पदार्थों का अधिक मात्रा में भोजन करने वाले मनुष्यों के तथा चिन्तनीय विषयों के अधिक चिन्तन करने से रसवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ ॥ १४ ॥

रक्तवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—विदाहकारक (जलन पैदा करने वाले) भोजन तथा पेय पदार्थों, स्निग्ध (घी, तेल आदि से युक्त), स्पर्श तथा वीर्य में उष्ण (गरम) द्रवपदार्थों (Liquid) का सेवन करने वाले एवं जो धूप और वायु का अधिक सेवन करते हैं, ऐसे पुरुषों के रक्तवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा ॥ १५ ॥

मांसवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—अभिष्यन्दता करने वाले (दही आदि) स्थूल (लड्डू आदि), गुरु (देर में पचने वाले) पदार्थों का सेवन करने तथा दिन में सोने से मांसवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्। मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥

मेदोवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—व्यायाम न करने से, दिन में सोने से, मेदोवर्धक पदार्थों (घी आदि) के अधिक सेवन करने तथा अधिक मदिरापान करने से मेदोवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

व्यायामादतिसङ्क्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्। अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात् ॥ १७ ॥

अस्थिवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—व्यायाम के अधिक करने से, शरीर को अत्यन्त झकझोर देने से, हड्डियों के परस्पर टकरा जाने से और वातवर्धक पदार्थों के अधिक सेवन करने से अस्थिवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्। मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात् ॥ १८ ॥

मज्जवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—उत्पेष (कुचल जाने) से, अधिक अभिष्यन्द (कफ की वृद्धि) हो जाने से, चोट लगने से, दवाये जाने से, तथा परस्पर विरोधी पदार्थों के सेवन करने से मज्जवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् । शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥१९॥

शुक्रवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—सहवास के लिये निषिद्ध दिनों में अथवा अयोनि मैथुन (गुदमैथुन) करने से, अथवा मैथुन के अयोग्य योनि में प्रवृत्त होने से, प्रवृत्त शुक्र के वेग को रोकने से, अधिक मैथुन करने से, शस्त्र-कर्म (Operation), क्षार तथा अग्निकर्म के प्रयोग करने से शुक्रवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

[1]मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात् । मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥२०॥

मूत्रवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—मूत्रवेग के समय मूत्र-त्याग न करके उसी समय जल पीने से, भक्ष्यपदार्थों के सेवन से, स्त्री-सहवास से, मूत्र के वेग को रोकने से, रसादि धातुओं के क्षीण होने से, तथा क्षत हो जाने से मूत्रवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

सन्धारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात् तथा । वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥२१॥

मलवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—अधारणीय मल आदि के वेगों को रोकने से, अधिक भोजन करने से, अजीर्ण होने से, अध्यशन (भोजन करने के पश्चात् तत्काल भोजन करने) से, दुर्बल अग्नि वाले तथा कृश पुरुष के मलवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

व्यायामादतिसन्तापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् । स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥२२॥

स्वेदवहस्रोतों के दुष्ट होने के कारण—अधिक व्यायाम (शरीर को थकाने वाले श्रम) से, अत्यन्त धूप का सेवन करने से, शीत तथा उष्ण के अनुचित क्रम के सेवन करने से, क्रोध, शोक तथा भय से स्वेदवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः । धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥२३॥

स्रोतों के दूषित होने के सामान्य कारण—जो आहार-विहार दोषों के गुणों के समान अर्थात् 'समः समं वर्द्धयति' के अनुसार दोषों को बढ़ाने वाले हों और रसादि धातुओं के विपरीत हों अर्थात् रसादि धातुओं को क्षीण करने वाले हों, ऐसे आहार-विहार स्रोतों को दूषित कर देते हैं।

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा । विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥२४॥

दूषित स्रोतों के सामान्य लक्षण—स्रोतों द्वारा रस आदि धातुओं का अधिक निकलना अथवा बिल्कुल रुक जाना, सिराओं में गाँठें पड़ जाना अथवा धातुओं का अपने मार्ग को छोड़कर विपरीत मार्ग से निकलना ये सभी दूषित स्रोतों के लक्षण हैं।

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च । स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥२५॥

स्रोतों की आकृतियाँ—जिस धातु के जो-जो स्रोत हैं, अपनी अपनी धातु के सदृश वर्ण वाले, गोलाकार, मोटे, पतले, आकृति से (देखने में) लम्बे, लताओं जैसे चारों ओर फैले हुए होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि ने स्रोतों को लताओं की उपमा दी है। लताओं में 'स्वधातुसमवर्णत्व' तो होता है किन्तु इनमें स्रोतों की भांति विभिन्न वर्णत्व नहीं होता, हाँ 'वृत्तस्थूलान्यणूनि' गुण पूर्णरूप से देखे जाते हैं। ये लताएँ आकृति में दीर्घ (पर्याप्त फैली हुई) होती हैं।

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया । कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी ॥२६॥

सामान्य चिकित्सा—प्राणवाही स्रोतों के दूषित हो जाने पर श्वास रोग का शमन करनेवाली चिकित्सा, उदकवाही स्रोतों के दूषित हो जाने पर तृष्णारोगनाशक चिकित्सा और अन्नवाही स्रोतों के दूषित हो जाने पर आमदोष का नाश करने वाली अर्थात् पाचकाग्नि को प्रदीप्त करने वाली तथा पाचन-चिकित्सा करनी चाहिए।

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम् । रसादिस्रोतसां कुर्यात् तद् यथा स्वमुपक्रमम् ॥२७॥

१. 'मूत्रितस्य मूत्रवेगवत उदकभक्ष्यस्त्रीणां सेवनात्' गङ्गाधरः।

रसादिवाही स्रोतों की चिकित्सा—चरक सूत्रस्थान के 'विविधाशितपीतीय' नामक २८ वें अध्याय में जिन औषध योगों का वर्णन है उनकी यथोचित चिकित्सा रस आदि का वहन करने वाले स्रोतों की विकृति में करना चाहिये। यह भी सामान्य चिकित्सा ही है।

मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी । तथाऽतिसारिकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी २८॥

मूत्रवाही आदि स्रोतों की चिकित्सा—मूत्रवाही स्रोतों के दूषित हो जाने पर मूत्रकृच्छ्र का शमन करने वाली चिकित्सा, मलवाही स्रोतों के दूषित होने पर अतिसारनाशक चिकित्सा और स्वेदवाही स्रोतों के दूषित होने पर ज्वरनाशक चिकित्सा करनी चाहिये।

तत्र श्लोकाः—

त्रयोदशानां मूलानि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् । सामान्यं नामपर्यायाः कोपनानि परस्परम् ॥२९॥
दोषहेतुः पृथक्त्वेन भेषजोद्देश एव च । स्रोतोविमाने निर्दिष्टस्तथा चादौ विनिश्चयः ॥३०॥
केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्वभावतः । शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति ॥३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने
स्रोतोविमानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

उपसंहार—तेरह प्रकार के स्रोतों का मूल (उत्पत्तिस्थान), उनके दूषित होने के लक्षण, सामान्य रूप से स्रोतों के पर्यायवाची शब्द, उनके परस्पर कुपित होने के कारण, उनके पृथक्-पृथक् दूषित होने के हेतु, संक्षेप में चिकित्सा-सूत्र, आरम्भ में स्रोतोमय पुरुष की मान्यतारूपी आचार्यों के मत का प्रस्ताव आदि का वर्णन इस स्रोतोविमान में किया गया है। जिस चिकित्सक को सभी प्रकार से शरीर की सम्पूर्ण जानकारी होती है, वह शारीरिक रोगों की चिकित्सा में कहीं असफल नहीं होता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
विमानस्थान में स्रोतोविमान नामक पाचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातो रोगानीकं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

स्रोतो विमान का वर्णन करने के बाद अब हम यहाँ से रोगानीकविमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन-साध्यम्, असाध्यं च; द्वे रोगानीके बलभेदेन—मृदु, दारुणं च; द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन—मनोऽधिष्ठानं, शरीराधिष्ठानं च; द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन—स्वधातुवैषम्यनिमित्तम्, आगन्तुनिमित्तं, च; द्वे रोगानीके आशयभेदेन—आमाशयसमुत्थं, पक्वाशयसमुत्थं चेति। एवमेतत् प्रभावबलाधिष्ठाननिमित्ताशयभेदाद् द्वैधं सद् [1]भेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानमथवाऽपि

१. 'भेदप्रकृत्यन्तरेणेति भेदकारणान्तरेण' चक्रः।

सन्धीयमानं स्यादेकत्वं बहुत्वं वा। एकत्वं तावदेकमेव रोगानीकं, [1]दुःखसामान्यात् बहुत्वं तु दश रोगानीकानि प्रभावभेदादिना भवन्ति; बहुत्वमपि सङ्ख्येयं स्यादसङ्ख्येयं वा। तत्र सङ्ख्येयं तावद् यथोक्तमष्टोदरीये, अपरिसङ्ख्येयं पुनर्यथा—महारोगाध्याये रुग्वर्णसमुत्थानादीनामसङ्ख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

रोगों के भेद

(Classification of Diseases)

रोग-समूह के भेद—प्रभावभेद से रोग-समूह दो प्रकार का होता है—१. साध्य और २. असाध्य। बलभेद से रोग-समूह दो प्रकार का होता है—१. मृदु और २. दारुण। अधिष्ठान (स्थान) भेद से रोग-समूह दो प्रकार का होता है—१. मानसिक रोग (जिन का सम्बन्ध मन से है) और २. शारीरिक रोग (जिनका सम्बन्ध शरीर से है)। निमित्त (कारण) भेद से रोग-समूह दो प्रकार का होता है—१. अपने धातुओं की विषमता के कारण=निज और २. आगन्तुज। आशयभेद से रोग-समूह दो प्रकार का होता है—१. आमाशय से उत्पन्न होने वाला और २. पक्वाशय से उत्पन्न होने वाला। इस प्रकार यह (रोग-समूह) प्रभाव, बल, अधिष्ठान (स्थान), निमित्त तथा आशयभेद से दो-दो प्रकार का होता हुआ भी दूसरे भेदक कारणों से अलग-अलग करने पर, अथवा जोड़ देने पर एक प्रकार का या अनेक प्रकार का हो सकता है। एक भेद की सत्ता केवल इस रूप में हो सकती है कि सभी रोगों में दुःख होता ही है। प्रभावभेद आदि के कारण उक्त रोग-समूह दस प्रकार का होता है। इन विविधता की गिनती भी की जा सकती है अथवा यह असंख्य भी हो सकती है। संख्येय का उदाहरण—अष्टोदरीय नामक अध्याय में कहा जा चुका है। अपरिसंख्येय का उदाहरण इस प्रकार है—महारोगाध्याय में रोग, वर्ण, समुत्थान आदि के अनगिनत होने से, रोग भी असंख्य होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'अनीक' शब्द 'सेना' का वाचक है, सेना शब्द का तात्पर्य होता है 'समूह'। एक दूसरा आशय सेना शब्द का यह भी है, ये रोग अत्यन्त प्रबल होते हैं। यहाँ आशयभेद से—१. आमाशय और २. पक्वाशय दोनों का ही ग्रहण इसलिये किया गया है कि अन्य सभी आशयों का अन्तर्भाव उक्त दो आशयों में हो जाता है अथवा किया जा सकता है कि वा उक्त दोनों आशयों से शेष सभी आशय परस्पर संबद्ध हैं।

संख्येयत्व-असंख्येयत्व विचार—चरक सूत्रस्थान महारोगाध्याय में कहा गया है—'तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति रुक्सामान्यात्'। और असंख्येयत्व के सम्बन्ध में उसी के आगे इस प्रकार निर्देश किया है—'विकाराः पुनरेषामपरिसङ्ख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषात्, तेषामपरिसङ्ख्येयत्वात्'।

न [2] च सङ्ख्येयाग्रेषु भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु विगीतिरित्यतो दोषवती स्यादत्र काचित् प्रतिज्ञा न चाविगीतिरित्यतः स्याददोषवती। भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति, अन्यथा पुरस्ताद्भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसङ्ख्याविशेषमापादयत्यनेकधा, न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति। समानायामपि खलु भेद-

१. 'रुक्सामान्यात्' ग.।

२. 'ननु, सङ्ख्येयत्वसङ्ख्येयत्वं च विरुद्धावेतौ धर्मौ, तथैकत्वमनेकत्वं चेति, तत् कथं विरुद्धत्वेन ख्यातौ धर्मावेकस्मिन् रोगे घटेतामित्यत आह—न चेत्यादि। सङ्ख्येयाग्रेष्विति सङ्ख्येयरोगपरिमाणेषु अत्राग्रशब्दः परिमाणे वर्तते; भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु भेदकारणान्तरभवेषु, विगीतिः विरुद्धभाषणमित्यर्थः। विगीतौ दोषाभावं दर्शयित्वा भेदकारणान्तरकृतायामविगीतावपि दोषो भवतीति दर्शयन्नाह—न चाविगीतिरित्यादि। यदि ह्येकं रोगानीकं रुजासामान्यादित्यभिधाय पुनरेकं रोगानीकं प्रभावभेदादित्यविरुद्धा एकताख्यायिकाऽविगीतिः क्रियते तथाऽपि सा विरुद्धैव स्यात्, यतो न प्रभावभेदेन रोगाणामेकत्वमुपपन्नं किंतु द्वैधमेवेति भावः। विगीतौ दोषाभावे हेतुमाह—भेत्ता हीत्यादि। एवं मन्यते—यद्धर्मयोगविवक्षयैकत्वमुक्तं तद्धर्मयोगविवक्षयैव यदि बहुत्वमप्युच्यते ततो विरोधो भवति, नहि तदेवैकं चानेकं चेत्युपपन्नं; यदा तु धर्मान्तरयोगविवक्षया बहुत्वमुच्यते तदा न विरोधः, बहुत्वाभिधानकाले बहूनामेव रोगधर्माणां विवक्षितत्वात्; रोगाणामेकत्वमेकधर्मविषयं, बहुत्वं च बहुधर्मविषयमिति न विरोधः' इति चक्रः।

प्रकृतौ [1]प्रकृतानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यम्। सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानि, सन्ति चानर्थान्तराणि पर्यायशब्दाभिहितानि। समानो हि रोगशब्दो दोषेषु च व्याधिषु च; दोषा ह्यपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते, व्याधयश्च रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते। तत्र दोषेषु चैव व्याधिषु च रोगशब्दः समानः, शेषेषु तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

विविध वर्गीकरणों के मूल (Roots of various classifications)—विभिन्न परस्पर भेद कराने वाले कारणों के रहने पर गिनने योग्य रोगों के सम्बन्ध में विपरीत कथन (ये असंख्येय हैं ऐसा कहना) दोष का कारण हो सकता है, इसलिये तन्त्रकार यहाँ एक विशेष प्रतिज्ञा करते हैं। रोग संख्येय (गिनने योग्य) हैं कहने के बाद असंख्येय (अनगिनत) हैं, कह देने मात्र से कोई दोष नहीं हो जाता है। भेद करने वाला व्यक्ति भेद करने योग्य विषय का अनेक दृष्टियों से भेद करता है। दूसरे प्रकार से किये हुए रोग-भेद को वह पुनः दूसरी दृष्टियों से भेद करता हुआ अनेक प्रकार से भेदों की विशिष्ट संख्या का निर्धारण करता है, साथ ही पहले किये हुए भेदों का विरोध नहीं करता है। भेदों की प्रकृति समान होने पर भी कारणविशेष के अनुसार भेद की अपेक्षा की जा सकती है। समानार्थक शब्द भी दूसरे-दूसरे अर्थों का बोध कराते हैं।

ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक अर्थों का निर्वाह करने वाले शब्द भी कभी-कभी एक का ही बोध कराते हैं। एक ही रोग शब्द दोष और व्याधियों में समानरूप से प्रयुक्त होता है। दोष अनेक होते हुए भी रोग, आतंक, यक्ष्मा, दोषप्रकृति तथा विकार संज्ञा को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार व्याधियाँ भी रोग, आतंक, यक्ष्मा, दोषप्रकृति, विकार शब्द को प्राप्त होती हैं। वहाँ दोष और व्याधियों में रोग शब्द समान है। शेष ज्वर आदि स्थलों में वह विशेषार्थवाचक भी होता है।

तत्र व्याधयोऽपरिसङ्ख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्; दोषास्तु खलु परिसङ्ख्येया भवन्ति, अनतिबहुत्वात्। तस्माद् [2]यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थम्, अनवशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः। रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमदशोकचित्तो(न्तो)द्वेगभयहर्षादयः। वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः। तेषामपि च विकारा ज्वरातीसारशोफशोषश्वासमेहकुष्ठादयः। इति दोषाः केवला व्याख्याता विकारैकदेशश्च ॥ ५ ॥

दोष-विचार—बहुत अधिक होने के कारण व्याधियाँ अनगिनत (असंख्येय) होती हैं किन्तु दोषों की संख्या निर्धारित है, क्योंकि वे अधिक नहीं होते हैं। इसलिये रोगों के उदाहरणार्थ पूर्वाचार्यों के वर्णन के अनुसार हम दोषों की सम्पूर्ण रूप से व्याख्या करेंगे। रजस् और तमस् ये दो मानस दोष हैं। इनसे होने वाली विकृतियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चित्तोद्वेग (मानसिक घबड़ाहट), भय और हर्ष आदि। वात, पित्त, कफ ये तीन शारीरिक दोष हैं। उनके विकार हैं—ज्वर, अतीसार, शोफ (Swelling), शोष (क्षय), श्वास, प्रमेह, कुष्ठ आदि। इस प्रकार सभी दोषों का वर्णन कर दिया है किन्तु विकारों का एकदेश (Portion) का ही विवेचन किया है।

वक्तव्य—दोषों का जैसा विवेचन ऊपर किया है, ऐसा ही चरक सू० अ० १ में भी कहा गया है। देखें—'वातः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च' ॥

तत्र खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणं; तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ ६ ॥

और पढ़ें—उन उपर्युक्त दो प्रकार के (मानसिक और शारीरिक) दोषों को प्रकुपित करने वाले तीन कारण माने गये हैं। जैसे—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग (इन्द्रियों के विषयों का अहितकर संयोग।), २. प्रज्ञापराध और ३. परिणाम।

१. 'प्रकृतस्य समानशब्देनाभिहितस्य यद्भेदख्यापकं पश्चात्प्रयोगान्तरं तदपेक्षणीयं' चक्रः। 'प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरं' ग.।

२. 'यथोचितं' च.।

प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषाद् दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसङ्ख्येयान्॥

सभी रोगों के मूल तीन दोष—प्रकुपित करने वाले कारणों के भेद से और दूष्यों (रस आदि सात धातुओं) के भेद से प्रकुपित वात आदि दोष अनेक प्रकार के असंख्य (अनगिनत) रोग-भेदों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—इस गद्य द्वारा संख्येय रोगों के असंख्येय होने के प्रकार की युक्ति का निर्देश मात्र किया गया है।

ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च ॥ ८ ॥

रोगों की अनुबन्धकता—वे ज्वर आदि शारीरिक विकार तथा काम आदि मानसिक विकार एक दूसरे के साथ रहते हुए कभी आपस में मिल जाते हैं।

नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परं, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

रजस्-तमस् का सम्बन्ध—रजोगुण और तमोगुण का आपस में स्थिर सम्बन्ध होता है। क्योंकि विना रजोगुण की सत्ता के तमोगुण की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(प्रायः) शारीरदोषाणामेकाधिष्ठानीयानां सन्निपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्; दोषा हि दूषणैः समानाः ॥ १० ॥

दोष-दूषणों की समानता—एक ही स्थान (आशय) में रहने वाले शरीर सम्बन्धी वात आदि दोषों का समान गुणवाले होने के कारण उनका प्रायः सन्निपात (एक साथ प्रकोप करना) या संसर्ग (परस्पर मिल जाना) देखा जाता है, क्योंकि वातादि दोष रस, रक्त आदि दूषणों के समान होते हैं।

तत्रानुबन्ध्यानुबन्धकृतो विशेषः—स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः। [1]अनुबन्ध्यलक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तत्त्रिकं सन्निपातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम्। अनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतस्तु बहुविधो दोषभेदः। एवमेष संज्ञाप्रकृतो भिषजां दोषेषु व्याधिषु च नानाप्रकृतिविशेषव्यूहः[2] ॥ ११ ॥

अनुबन्ध्य तथा अनुबन्ध भेद—पूर्वोक्त उन सन्निपातज तथा संसर्गज रोगों में अनुबन्ध्य एवम् अनुबन्धक (इनकी परिभाषा इसी प्रकरण मे आगे पढ़ें।) इनकी विशेषता होती है अथवा ये भेदक होते हैं। **अनुबन्ध्य परिचय**—स्वतंत्र (एकदोषज वा दूसरे दोषों अथवा किसी अरिष्ट लक्षणों से रहित), स्पष्ट लक्षणों वाला और निदान प्रकरण में कहे गये रोग की उत्पत्ति के कारणों से युक्त, साथ ही उस रोग की जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उससे शान्त होने वाला, रोग अनुबन्ध्य (प्रधान) कहा जाता है। **अनुबन्ध परिचय**—ऊपर कहे गये अनुबन्ध्य के लक्षणों से सर्वथा विपरीत रोग को अनुबन्ध (Connection or Attachment) कहते हैं। अर्थात् जो एकाधिक दोषों या अरिष्ट लक्षणों से युक्त हो, जो अस्पष्ट लक्षणों वाला तथा निदान प्रकरण में कहे गये रोग की उत्पत्ति के कारणों से ही युक्त न हो, साथ ही उस रोग की जो चिकित्सा कही गयी है, उससे शान्त न होने वाला रोग अनुबन्ध कहा जाता है। अनुबन्ध्य के लक्षणों से युक्त यदि तीनों दोष होते हैं तो उन तीनों दोषों के समूह को 'सन्निपात' कहते हैं और दो दोषों के मिलित स्वरूप को 'संसर्गज' कहते हैं। अनुबन्ध्य और अनुबन्ध के कारण दोषों के अनेक भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार दोषों तथा रोगों के भेद के कारण रोगों के नामकरण वैद्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से किये गये हैं।

वक्तव्य—सामान्य रूप से अनुबन्ध्य का अर्थ होता है—'प्रधान' तथा अनुबन्ध का 'अप्रधान' अर्थात् यह दूसरे का सहगामी होता है। जैसे—शरद् ऋतु में जल का अम्लविपाक होने के कारण उससे प्रधान रूप से पित्त दूषित होता है किन्तु सामान्य रूप से कफ को भी यह दूषित करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें। सन्निपात

१. 'अनुबन्ध्यानुबन्धलक्षणसमन्विताः' इति पा०।

२. '-विशेषाद्व्यूहः' ग.।

एवम् संसर्ग से होने वाले भेदों का उल्लेख चरक सूत्रस्थान के 'कियन्तःशिरसीय' नामक अध्याय में किया जा चुका है।

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः, समो, विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृताववतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इति। एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः ॥ १२ ॥

चार प्रकार की अग्नि—शरीर में स्थित अग्नियाँ बल-भेद से चार प्रकार की अग्नि होती है। वह इस प्रकार है—१. तीक्ष्ण, २. मन्द, ३. सम और ४. विषम। उनमें जो तीक्ष्ण अग्नि है वह सभी प्रकार के अपचारों (भोजन सम्बन्धी नियमों के व्यतिक्रमों—जैसे अध्यशन एवम् गुरुपदार्थों आदि का सेवन) से होने वाले विकारों को सहन करने वाली अर्थात् सभी प्रकार के खाये हुए पदार्थों को पचा देने वाली होती है, इसके विपरीत लक्षणों वाली मन्द अग्नि होती है, सम अग्नि अपचार (मिथ्या आहार-विहार) से विकृत हो जाती है तथा अनपचार (सद्वृत्त अर्थात् उचित दिनचर्या आदि) से अपनी प्रकृति (वास्तविक स्थिति) में रहती है और विषम अग्नि उसको कहते हैं, जो उक्त सम अग्नि के लक्षणों से विपरीत हो। ये चार प्रकार की अग्नियाँ चार प्रकार के पुरुषों में ही होती हैं। उनमें अपने स्वभाव से ही सम वात, पित्त कफ वाले पुरुषों की अग्नियाँ सम होती हैं, वात प्रकृति प्रधान पुरुषों तथा वात से जिनका अग्न्याशय प्रभावित है, ऐसे पुरुषों की अग्नि विषम होती है। पित्त से जिनका अग्न्याशय प्रभावित है ऐसे पुरुषों की अग्नि तीक्ष्ण होती है और कफ प्रकृति वाले पुरुषों की अग्नि कफ से प्रभावित होने के कारण मन्द हो जाती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने शरीरस्थ अग्नि का वर्णन इस प्रकार किया है—'मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः। कफपित्तानिलाऽऽधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः' ॥ सुश्रुत सू० अ० ३५ ॥

तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणां; तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्; केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति। तच्चानुपपन्नं, कस्मात् कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः, यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति [1]समवातपित्तश्लेष्माणः; न खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात् सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ १३ ॥

प्रकृति के सम्बन्ध में विविध मत—प्रकृति के बारे में कुछ आचार्य कहते हैं—सभी प्राणी समान वात, पित्त, कफ वाले नहीं होते हैं क्योंकि सभी मनुष्यों का एक समान आहार नहीं होता है, अर्थात् सभी की परस्पर भिन्न-भिन्न आहारयोनियाँ होती हैं, इसलिये कुछ मनुष्य वात प्रकृति के, कुछ पित्त प्रकृति के, और कुछ कफ प्रकृति के होते हैं, यह भी ठीक नहीं है, किस कारण से? क्योंकि सम वात-पित्त-कफ वाले पुरुष को चिकित्सक नीरोग, स्वस्थ कहते हैं, क्योंकि प्रकृति ही आरोग्य है और आरोग्य प्राप्ति के लिये ही औषधोपचार किया जाता है, यही चिकित्सक का अभीष्ट (इच्छा) होता है। इस कारण से कुछ पुरुष ऐसे होते हैं, जिनके वात-पित्त-कफ समान होते हैं। केवल वात प्रकृति, पित्त प्रकृति अथवा कफ प्रकृति वाले पुरुष नहीं होते, ऐसा जो शास्त्र अथवा लोक में व्यवहार है उसका कारण यह है कि उस-उस दोष की अधिकता और अन्य दो दोषों की न्यूनता के कारण वह-वह दोषप्रकृति मनुष्यों की कही जाती है, नकि दोषों के विकृत होने पर मनुष्य स्वस्थ कहा जा सकता है, इसलिये ये प्रकृतियाँ नहीं हैं। जो वातल, पित्तल अथवा श्लेष्मल कहे जाते हैं, उनको अप्रकृतिस्थ अर्थात् अस्वस्थ ही समझना चाहिये, क्योंकि वे उन-उन दोषों से पीड़ित रहते ही हैं।

१. 'समवातपित्तश्लेष्मप्रकृतयः' ग.।

वक्तव्य—साहित्य में 'प्रकृति' का प्रयोग इस प्रकार देखा जाता है—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः' ॥ रघुवंश ८।८७। अर्थात् मृत्यु (पञ्चत्व) को प्राप्त होना ही प्रकृति है, जीवन विकृति (विकारमय) है। आयुर्वेद के अनुसार प्रकृति-विकृति का विचार इस प्रकार है—

'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च' ॥ च० सू० अ० ९।

'धारणाद् धातवः' वात आदि दोष शरीर को धारण करने की स्थिति में धातु कहे जाते हैं, अतः धातुओं की विषमता (कम या अधिक) होना ही विकार (रोग) है और उनकी समरूपता 'प्रकृति' है, अतः वात-प्रकृति, पित्त-प्रकृति अथवा कफ-प्रकृति वाले पुरुषों को अस्वस्थ ही कहना चाहिये, क्योंकि वे उस-उस बढ़े हुए दोष से पीड़ित होते रहते हैं। इसी की चर्चा च० सू० अ० ७ में भी की जा चुकी है।

वास्तव में यहाँ यह वातादि दोषों के मान की चर्चा मात्र है, जो इस (विमान) स्थान की विशेषता है।

तेषां तु खलु चतुर्विधानां पुरुषाणां [1]चत्वार्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति। तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकारसमम्, अधिकदोषाणां तु त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य [2]दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनु(न्न)प्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति यावदग्नेः समीभावात्, समे तु सममेव कार्यम्; एवं चेष्टा भेषजप्रयोगाश्चापरे। [3]तान् विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

प्रकृति-भेदों का वर्णन—उन (समदोष-प्रकृति, वातप्रकृति, पित्तप्रकृति तथा कफप्रकृति वाले) चार प्रकार के पुरुषों के लिये चार प्रकार के अनुप्रणिधान (अनुकूल आहार-विहारों का सेवन) हितकारक होते हैं। उनमें जिन पुरुषों के वातादि तीनों धातुएँ सम हैं उनको सभी आहार-विहारों का सम रूप से सेवन करना चाहिये, जिससे वे विकृत न हों, यदि किसी पदार्थ का सेवन अधिक और किसी का कम किया जायगा तो अधिक से वृद्धि और कम से सम्बन्धित धातु का ह्रास होना निश्चित है। वातादि तीनों दोषों की अधिकता की स्थिति में जिस पुरुष में जिस दोष की अधिकता है उसको भली-भांति देखकर अर्थात् परीक्षा करके जब तक जाठराग्नि की समानता न हो जाय तब तक उस-उस दोष से विपरीत गुणों वाले तीन प्रयोग हितकारक होते हैं। जैसे अग्नि (पाचकाग्नि) के सम होने पर सम प्रयोग ही करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य शरीर-सम्बन्धी चेष्टाओं तथा औषधों का प्रयोग करें। उनकी विस्तार से आगे व्याख्या करेंगे।

त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः, ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा—वातलः, पित्तलः, श्लेष्मलश्चेति। तेषामिदं विशेषविज्ञानं—वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण [4]बलवन्तश्च भवन्ति ॥ १५ ॥

तीन प्रकार के रोगी—तीन प्रकार के पुरुष सदैव रोगी होते हैं। अन्य तन्त्रों को जानने वाले वैद्यों के मत से वात-प्रकृति, पित्त-प्रकृति तथा कफ-प्रकृति वाले पुरुष रोगी नहीं होते हैं। उनको इस प्रकार विशेष रूप से जाना जा सकता है—वातप्रकृति-प्रधान पुरुष को वातजरोग, पित्तप्रकृति-प्रधान पुरुष को पित्तजरोग और कफ-प्रकृति-प्रधान पुरुष को कफजरोग अधिकांश बलवान् होते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में 'प्रकृति' शब्द की उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कटः, प्रकृतिर्जायते तेन'। सु० शा० अ० ४।६३। इस प्रकृति के ७ भेद होते हैं—'सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथग् द्विशः समस्तैश्च'। सु० शा० अ० ४।६२। अर्थात् प्रकृतियाँ सात होती हैं—अलग-अलग दोषों से–३, दो दोषों के मिलने से–३ और तीनों दोषों के मिलने से–१।

---

१. 'अनु उत्तरकालं प्रकर्षेण प्रकृतिरूपेण निधीयन्ते वाताद्याधिक्यसामान्यानि यैस्तान्यनुप्रणिधानानि' गङ्गाधरः। 'अन्नप्रणिधानानि' इति पा०।

२. 'दोषप्रकृतिप्रतिकूलयोगीनि' यो.।

३. 'तानि' ग.।

४. 'स्युर्बलवन्तश्च' ग.।

तत्र वातलस्य [1]वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ; स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडनवित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयोपहितास्तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थाः, बस्तयः, बस्तिनियमः, सुखशीलता चेति ॥ १६ ॥

वातलपुरुष के रोग और चिकित्सा—वातप्रधान पुरुष जब वात को प्रकुपित करने वाले आहार-विहारों का सेवन करता है तो उसके शरीर में शीघ्र ही वात प्रकुपित हो जाता है। जितनी जल्दी इसके शरीर में वात प्रकुपित होता है, उस शीघ्रता से अन्य दो दोष (पित्त और कफ) प्रकुपित नहीं होते। वह प्रकुपित वात दोष विभिन्न प्रकार के वातविकारों से बल, वर्ण तथा सुखायु (सुखमय आयु) को नष्ट करने के लिये शरीर को पीड़ित करता है।

उस वातविकार समूह का निराकरण इस प्रकार किया जाता है—यथाविधि प्रयुक्त स्नेहन और स्वेदन, (स्निग्ध तैल आदि द्रव्यों), उष्णवीर्य, मधुर, अम्ल तथा लवण युक्त मृदु संशोधनों के प्रयोग, उसी प्रकार (स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण युक्त) भोज्य पदार्थों के प्रयोग, अभ्यंग, उपनाह (पुलटिस), उद्वेष्टन (पट्टी आदि बांधना), उन्मर्दन (जोर से मलना), परिषेक (गुन-गुने वातनाशक क्वाथों से स्नान कराना) अथवा अवगाहन (वातहर क्वाथों से भरे हुए टब में डूबे रहना), संवाहन (मुट्ठी चापी करना), अवपीड़न (शरीर को दबवाना), वित्रासन (डरवाना) विस्मापन (आश्चर्यचकित कराना), विस्मारण (रोगी के मन में बैठी अनिष्टकारक बातों को भुला देना), सुरा (मृतसञ्जीवनी आदि), आसव (लोहासव आदि) का सेवन कराना, विविध प्रकार से उत्पन्न स्नेह द्रव्यों को दीपनीय, पाचनीय, वातनाशक, विरेचक द्रव्यों से संस्कार करके प्रयोग कराना चाहिये तथा वातहर द्रव्यों से १०० या १००० बार पकाये हुए स्नेह का सभी प्रकार (खान, पान, मर्दन आदि) से प्रयोग करायें। बस्तियों का प्रयोग एवम् बस्तिप्रयोग-काल में कहे गये सभी नियमों का पालन तथा रोगी को पूर्ण विश्राम प्रदान करायें।

वक्तव्य—वातज विकारों की गणना च० सू० अ० २० में देखें।

पित्तलस्यापि [2]पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ; तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं—सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं; श्रुतिसुखमृदुमधुरमनोऽनुगानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः, निशाकरांशुशीतलप्रवातहर्म्यवासः, शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवनं, रम्याणां चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपहितानामुपसेवनं, सेवनं च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीक[3]शतपत्रहस्तानां, सौम्यानां च सर्वभावानामिति ॥ १७ ॥

पित्तलपुरुष के रोग और चिकित्सा—पित्तप्रधान प्रकृति वाला पुरुष जब पित्तप्रकोपक आहार-विहारों का सेवन करता है, तब उसका पित्तधातु जितना शीघ्र प्रकुपित हो जाता है, उतनी जल्दी अन्य दो

---

१. 'वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य' ग.।

२. 'पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य' ग.।

३. '–शतपत्रहृदानाम्' यो.।

दोष (कफ और वात) प्रकुपित नहीं होते। वह प्रकुपित पित्त पित्तज विकारों से बल (शक्ति), वर्ण (रूप) सुखायु (सुखमय जीवन) का विनाश करने के लिये शरीर को कष्ट देता है।

उस पित्तविकार-समूह का निराकरण इस प्रकार किया जाता है—घृतपान, घृत द्वारा स्नेहन कराना, विरेचन द्वारा दोष को निकालना, मधुर, तिक्त, कषायरस-प्रधान तथा शीतवीर्य-प्रधान औषध, आहार, विहारों का समुचित प्रयोग, मृदु, मधुर, सुगन्धित, शीतल तथा हृदय के लिये हितकर गन्धों (सुगन्धित पदार्थों) का सेवन, अत्यन्त शीतल जल में रखे हुए मुक्ता, मणि, हारावलियों का छाती पर धारण करना, थोड़ी-थोड़ी देर में उत्तम चन्दन, प्रियंगु, कालीयक (पीलाचन्दन), मृणाल (कमलनाल या खस) इनसे मिश्रित शीतल जल या हवा का सेवन, उत्पल (नीलकमल या कूठ), कुमुद (कोई), कोकनद (रक्तकमल), सौगन्धिक (कमलभेद) पद्म (सामान्य कमल) से सुवासित जलों से शरीर को बार-बार धोना, या शरीर पर छिड़कना, कानों को सुख देने वाले, मृदु, मधुर तथा मनोनुकूल गीत एवम् वाद्यों को सुनना, अभ्युदय (चारों ओर से प्रसन्नता) कारक समाचारों का सुनना, मित्रजनों से मिलना, शीतल पदार्थों से युक्त, रेशमी साड़ी तथा माला आदि धारण की हुई प्रियतम स्त्रियों से मिलना, चन्द्रमा की किरणों से शीतल तथा हवादार खुले घर में निवास, पहाड़ों की गुफाओं, नदी के तटों, शीतगृहों, शीतस्पर्श वाले वस्त्रों तथा पंखे की शीतल हवाओं का सेवन, मनोरम बगीचों का जहाँ शीतल, सुगन्धित तथा सुखदायक वायु का सेवन सुलभ हो, पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक (श्वेतकमल), शतपत्र (ये सभी कमल की विभिन्न जातियाँ हैं) इनके गुलदस्तों का सेवन और भी जो सौम्य (सोमगुण-प्रधान अर्थात् शीतलता तथा आह्लादकता प्रदान करने वाले) भाव हैं उन सबका सेवन पित्तज विकारों को शान्त करता है।

वक्तव्य—पित्तज विकारों की गणना च० सू० अ० २० में देखें।

श्लेष्मलस्यापि [1]श्लेष्मप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ; स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं—विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरणजागरणनियुद्धव्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः तथोष्णं वासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥१८॥

श्लेष्मलपुरुष के रोग और चिकित्सा—कफ-प्रधान प्रकृति वाला पुरुष जब कफ प्रकोपक आहार-विहारों का सेवन करता है, तब उसका कफ धातु जितना शीघ्र प्रकुपित हो जाता है उतनी जल्दी अन्य दो दोष (वात और पित्त) प्रकुपित नहीं होते, वह प्रकुपित कफ कफज विकारों से बल (शक्ति), वर्ण (रूप), सुखायु (सुखमय जीवन) का विनाश करने के लिये शरीर को कष्ट देता है।

उस कफविकार-समूह का निराकरण इस प्रकार किया जाता है—यथाविधि सेवन किये गये तीक्ष्ण तथा उष्ण वीर्य वाले संशोधन (वमनकारक) द्रव्यों का प्रयोग, कटु, तिक्त, कषाय रस युक्त रूक्ष पदार्थों का भोजन में प्रयोग, उसी प्रकार–दौड़ना, लंघन (लांघना या कूदना), प्लवन (तैरना), परिसरण (Running about) चलना, फिरना, रात्रि में जगना, नियुद्ध (कुश्ती लड़ना=Personal Struggle), व्यवाय (स्त्री-सहवास), व्यायाम, उन्मर्दन (मालिश), स्नान तथा उबटन लगाना, विशेष करके तीक्ष्ण और पुराने मद्यों (आसव, अरिष्ट, सीधु, सुरा आदि) का धूमपान के साथ सेवन करना, पूर्णरूप से उपवास करना, गरम कपड़ों को धारण करना या गरम स्थान पर निवास करना, सुख प्राप्ति के लिये आरामदायक उपकरणों का त्याग करना।

वक्तव्य—कफज विकारों की गणना च० सू० अ० २० में देखें। यहाँ **'सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति'** गद्यांश का तात्पर्य यह है कि सुखद सभी साधन कफवृद्धिकारक होते हैं, अतः रोगशान्तिपर्यन्त कफवृद्धिकारक उपादानों का त्याग करे जिससे आगे स्थिर सुख की प्राप्ति हो सके।

१. 'श्लेष्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य' इति पा०।

भवति चात्र—

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वकार्यविशेषवित्। सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत्। इति ॥ १९ ॥

राजवैद्य-परिचय—जो सभी प्रकार के रोगों की विशेषता को जानता है, सभी रोगों की चिकित्सा के भेदोपभेदों को जानता है और सभी प्रकार के औषधयोगों के तत्व को जानता है, वह राजा के प्राणों का स्वामी (रक्षक) होता है।

तत्र श्लोकाः—

प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम्। परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः ॥२०॥
दोषसङ्ख्या विकाराणामेकदेशः प्रकोपणम्। जरणं प्रति चिन्ता च कायाग्नेर्धुक्षणानि[1] च ॥२१॥
नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च। रोगानीके विमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥२२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने
रोगानीकविमानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—वातादि प्रकृति भेद से रोगसमूह का विचार, आपस में रोगसमूह का विरोध न होना, रोग तथा वातादि दोषों में समानता, दोषों की संख्या, रोगों का एक देश (भाग) कथन, दोषों को प्रकुपित करने वाले कारण, जाठराग्नि के सम्बन्ध में विचार, जाठराग्नि को प्रदीप्त करने के चार उपाय, वातादि दोषप्रधान पुरुषों को प्रकृति (समभाव) में रखने वाले औषधोपचार, इन सबका वर्णन महर्षि आत्रेय ने इस रोगानीक विमान नामक अध्याय में किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
विमानस्थान में रोगानीकविमान नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातो व्याधितरूपीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रोगानीक-विमान की व्याख्या करने के बाद अब हम व्याधितरूपीय नामक विमान की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वात आदि दोषजनित रोग-भेदों का निर्देश करने के बाद अब इस प्रकरण में कृमिजनित रोगों की चर्चा की जायगी, जो आयुर्वेद का ही अन्यतम अंग है। इन कृमियों की चर्चा वैदिक संहिताओं में भी द्रष्टव्य है।

इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः—गुरुव्याधितः, लघुव्याधितश्च। तत्र गुरुव्याधित एकः सत्त्वबलशरीरसम्पदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते, लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामधमत्वाद् गुरुव्याधित इव दृश्यते। तयोरकुशला केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वाऽध्यवस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्ते ॥३॥

१. 'देहाग्ने रक्षणानि च' इति पा०।

विषय प्रवेश—यहाँ दो प्रकार के रोगी पुरुष होते हैं, अर्थात् इस अध्याय मे एक ही प्रकार के रोग के दो भेद कहे जारहे हैं—१. गुरुव्याधित और २. लघुव्याधित। उन दो भेदों में गुरुव्याधित (जो मनुष्य किसी महान् रोग से ग्रस्त हो) अपने सत्व (मनोबल), बल (शारीरिक बल), शरीरसंपत् (उत्तम स्वास्थ्य) युक्त होने के कारण लघुव्याधित (सामान्य रोग से पीड़ित) जैसा दिखलायी देता है, और दूसरा लघुव्याधित उपर्युक्त सत्व आदि के अभाव से अथवा हीन बली होने से गुरुव्याधित जैसा दिखलायी देता है। निदान में असफल वैद्य उन दोनों के रूप को अपनी दृष्टि मात्र से देखकर विचार करते हुए रोग के गौरव अथवा लाघव के निर्णय में चूक जाते हैं।

वक्तव्य—यहाँ गुरु (Severe) तथा लघु (Mild or not strong) दो प्रकार के रोगी होते हैं किन्तु रोगियों के मानसिक तथा शारीरिक बल के कारण कभी गुरुव्याधि भी लघु प्रतीत होती है और कभी लघु व्याधि भी गुरु जैसी लगती है, इसी की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमुत्पद्यते। विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने उपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्यन्ते। ते यदा गुरुव्याधितं लघुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुदीरयन्ति यदा तु लघुव्याधितं गुरुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तं महादोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानतिनिर्हृत्य शरीरमस्य क्षिण्वन्ति। एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमभिमन्यमानाः परिस्खलन्ति। विदितवेदितव्यास्तु भिषजः सर्वं सर्वथा यथासम्भवं परीक्ष्यं परीक्ष्याध्यवस्यन्तो न क्वचिदपि विप्रतिपद्यन्ते; यथेष्टमर्थमभिनिर्वर्तयन्ति चेति ॥ ४ ॥

विज्ञान का लाभ—सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषय का एक अंश मात्र के ज्ञान कर लेने से उसका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। आयुर्वेद में सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश से होता है। गुरुव्याधित को लघुव्याधित तथा लघुव्याधित को गुरुव्याधित समझ लेना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वालों की भूल है। इस प्रकार जो रोग के परिज्ञान में मूर्खता करते हैं वे उपक्रम युक्ति (चिकित्सा को) समझने में भी धोखा खा जाते हैं। आयुर्वेद के आंशिक ज्ञान को रखने वाले वे चिकित्सक जब गुरुव्याधित (गुरुव्याधि से युक्त) पुरुष को लघुव्याधि से युक्त समझ बैठते हैं, तब उसे अल्पदोष वाला समझकर संशोधन (विरेचन) काल में मृदु संशोधन देते हुए और भी अधिक इसके दोषों को उभाड़ देते हैं। जब ये लघुव्याधि युक्त पुरुष को गुरुव्याधि युक्त समझ बैठते हैं, तब उसको महान् दोषों वाला मानकर संशोधन के अवसर पर इस रोगी को तीक्ष्ण संशोधन देकर दोषों को अधिक निकालकर रोगी के शरीर को क्षीण (दुर्बल) कर देते हैं। इस प्रकार आंशिक ज्ञान होने पर अपने को सम्पूर्ण ज्ञानवान् मानने वाले चिकित्सक पग-पग पर फिसलते जाते हैं। विदितवेदितव्य (जिन्होंने जानने योग्य विषय का पूर्णरूप से ज्ञान प्राप्त कर लिया है) चिकित्सक तो सम्पूर्ण परीक्ष्य विषय की सब प्रकार यथासम्भव परीक्षा करके कहीं भी धोखा नहीं खाते और यथाभिलषित (रोग-मुक्ति तदनन्तर स्वास्थ्य-प्राप्ति) अर्थ की प्राप्ति करते हैं।

वक्तव्य—ऊपर गुरुव्याधित तथा लघुव्याधित के विपरीत निर्णय में मात्र प्रत्यक्षप्रमाण को प्रमाण मानकर एवम् अन्य दो अनुमान और आप्तोपदेश की उपेक्षाकर चिकित्सा-क्षेत्र में उतरने वाले चिकित्सकों को अयोग्य एवम् आंशिक ज्ञानवान् कहा गया है। ऐसे लोग सर्वत्र (निदान, चिकित्सा आदि में) चूकते हैं। इसीलिये विदितवेदितव्य (शास्त्राभ्यास एवम् कर्माभ्यास युक्त) चिकित्सक प्रशंसनीय होता है। अतः निदानपञ्चक और प्रमाणत्रय का ज्ञान होना वैद्य के लिये आवश्यक है।

भवन्ति चात्र—

सत्त्वादीनां विकल्पेन [1]व्याधिरूपमथातुरे। दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले ॥ ५ ॥
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः। व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ ६ ॥
प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा। न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन ॥ ७ ॥

१. 'व्याधीनां रूपमातुरे' इति पा०।

मूर्ख तथा विद्वान् वैद्य में भेद—मूर्ख वैद्य सत्व (मन) आदि (बल, शरीर) के विकल्प (भेद) के कारण रोगी में व्याधि (गुरुव्याधित या लघुव्याधित) के रूपों को देखकर रोग के सबल-निर्बल-निर्णय में भूल कर बैठते हैं, वे अज्ञान के कारण मोहित (विवेकरहित) होकर अनुचित औषधों का प्रयोग रोगियों को महान् कष्ट देने या उनके विनाश के लिये करते हैं।

बुद्धिमान् चिकित्सक तो सम्पूर्ण चिकित्सा के विषय की भली-भांति परीक्षा करके तब औषधों का प्रयोग करते हैं, अतः वे कभी भी चिकित्सा में असफल नहीं होते।

इति व्याधितरूपाधिकारे व्याधितरूपसङ्ख्याग्रसम्भवं[1] व्याधितरूपहेतुविप्रतिपत्तौ कारणं सापवादं सम्प्रतिपत्तिकारणं चानपवादं निशम्य, भगवन्तमात्रेयमग्निवेशोऽतः परं सर्वक्रिमीणां पुरीषसंश्रयाणां समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितविशेषान् पप्रच्छोपसङ्गृह्य पादौ ॥ ८ ॥

कृमि-प्रकरण—इस प्रकार इस व्याधितरूपीय नामक विमान अध्याय में व्याधितरूप की संख्या (गुरुव्याधित तथा लघुव्याधित), व्याधितरूप में हेतु, सत्व, बल, शरीर का अधिक होना अथवा कम होना रूप कारण, विप्रतिपत्ति (प्रमाणों का भली-भांति ज्ञान न होना) रूप कारण, अपवाद सहित कारण और निर्दोष कारण को भी सुनकर अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय के चरणों का स्पर्श कर इसके बाद पुरीष में होने वाले सभी प्रकार के कृमियों के निदान, स्थान, लक्षण, वर्ण, नाम, प्रभाव तथा चिकित्सा के भेद-उपभेदों को पूछा।

वक्तव्य—यहाँ केवल पुरीष में होने वाले कृमियों की ही चर्चा की गयी है, अन्य कृमियों की चर्चा आगे की जायगी।

अथास्मै प्रोवाच भगवानात्रेयः—इह खल्वग्निवेश! विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः; ते पुनः प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति; तद्यथा—पुरीषजाः, श्लेष्मजाः, शोणितजाः, मलजाश्चेति ॥ ९ ॥

चार प्रकार के कृमि—तदनन्तर भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—हे अग्निवेश! सहज कृमियों को छोड़कर शेष २० प्रकार के कृमियों को विभिन्न प्रकार के भेदों द्वारा मैं पहले कह चुका हूँ। वे कृमि प्रकृति भेद से पुनः चार प्रकार के होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. पुरीषज, २. कफज, ३. रक्तज और ४. मलज।

वक्तव्य—सहजकृमियों को अवैकारिक अर्थात् जो रोगोत्पादक नहीं होते और शेष चार प्रकार के कृमि वैकारिक (रोगकारक) होते हैं। आज का ऐलोपैथिक विज्ञान जिन वैकारिक (Pathogenic) तथा अवैकारिक (Non Pathogenic) कृमियों की सूचना को अपनी देन समझता है, वह उसका भ्रम मात्र है, **'अमीवा'** नामक कृमियों की चर्चा वेदों में सुलभ है। यजुर्वेद में **'अनमीवा'** (रोगरहित) जल की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गयी है। २० प्रकार के कृमिरोगों की चर्चा चरक सू० अष्टोदरीय नामक १९ वें अध्याय में है किन्तु वहाँ 'सहज' नामक कृमियों का उल्लेख नहीं है। भगवान् धन्वन्तरि ने इनके अतिरिक्त 'दन्ताद' नामक कृमि का वर्णन सु० उ० अ० ५४ में और 'कृमिदन्तक' रोग का वर्णन सु० नि० अ० १६ में किया है।

कृमिरोग-चर्चा सन्दर्भ-सूत्र—सुश्रुत उ० तं० अ० ५४। अष्टाङ्गहृ० नि० अ० १४ में देखें। जितेन्द्रिय पुरुष ही इन क्रिमियों से छुटकारा पा सकता है। अन्यथा क्रिमि रोग का प्रकोप शान्त होते तो देखा गया है किन्तु रोग का निर्मूल होते प्रायः नहीं देखा गया, क्योंकि यह रोग बुढ़ापा पर्यन्त साथ नहीं छोड़ता।

'अथास्मै प्रोवाच'—यहाँ पर सामान्य नियमानुसार 'अथैनं प्रोवाच' ऐसा प्रयोग होना चाहिये था किन्तु 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' २।३।१४। नियम के अनुसार—'एनं बोधयितुं प्रोवाच' इस आशय से द्वितीया से स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग किया गया है।

तत्र मलो बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यमलजातान् मलजान् सञ्चक्ष्महे। तेषां समुत्थानं—मृजावर्जनं; स्थानं—केशश्मश्रुलोमपक्ष्मवासांसि; संस्थानम्—अणवस्तिलाकृतयो बहुपादाश्च; वर्णः—कृष्णः, शुक्लश्च;

१. 'सङ्ख्याग्रसम्भवमिति सङ्ख्याप्रमाणसम्भवमित्यर्थः' चक्र।

नामानि—यूकाः, पिपीलिकाश्च; प्रभावः—कण्डूजननं कोठपिडकाभिनिर्वर्तनं च; चिकित्सितं तु खल्वेषामपकर्षणं, मलोपघातः, मलकराणां च भावानामनुपसेवनमिति ॥ १० ॥

दो प्रकार के मलज कृमि—मल बाहरी तथा भीतरी भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें बाहरी मल से उत्पन्न कृमियों को हम मलज कृमि कहते हैं। उनकी उत्पत्ति सफाई न रखने से होती है। **स्थान**—केश (शिर के केश तथा गुह्यकेश), श्मश्रु (दाढ़ी, मोछ), लोम (रोयें), पक्ष्म (पलकें) और वस्त्र। **आकृति**—अत्यन्त छोटे, तिल की आकृति के (तिल काले, सफेद दो प्रकार के होते हैं, अतः इन कृमियों का वर्ण भी काला, सफेद होता है।) और ये छः चरणों वाले होते हैं। **वर्ण**—काला और सफेद होता है। **नाम**—यूका (जूँ तथा लिक्षा=लीख), और पिपीलिका है। **प्रभाव**—खुजली पैदा करना, कोठ (चकत्ते) तथा पिडिकाओं को उत्पन्न करना। **चिकित्सा**—इनको कंघी आदि से खींचकर निकाल देना, सफाई रखना तथा जिनसे मल उत्पन्न होता है ऐसे पदार्थों का सेवन न करना।

वक्तव्य—पिपीलिका शब्द 'पील प्रतिष्टम्भे' धातु से घञ्, स्वार्थ में कन् तथा टाप् प्रत्ययों के योग से बनता है। इसका अर्थ है चिपक जाने वाला कृमि। अतः इस प्रसंग में पिपीलिका का अर्थ लिक्षा (Nit) करना ही उचित है। ये जूँ बालों पर ही अंडे देती हैं इनको लीख कहते हैं। काँख के बालों पर भी इनका अधिकार होता है। इन कृमियों को स्वेदज भी कहा जाता है और स्वेद (Sweat) बाह्यमल है।

शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानं; स्थानं—रक्तवाहिन्यो धमन्यः; संस्थानम्—अणवो वृत्ताश्चापादाश्च, सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः; वर्णः—ताम्रः; नामानि—केशादाः, लोमादाः, लोमद्वीपाः, सौरसाः, औडुम्बराः, जन्तुमातरश्चेति; प्रभावः—केशश्मश्रुनखलोमपक्ष्मापध्वंसः, व्रणगतानां च हर्षकण्डूतोदसंसर्पणानि, अतिवृद्धानां च त्वक्सिरास्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति; चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानं, तदुत्तरकालमुपदेक्ष्यामः ॥ ११ ॥

रक्तज कृमि निदान—रक्त से उत्पन्न होने वाले कृमियों के उत्पन्न होने का कारण कुष्ठरोग के समान ही है। **स्थान**—रक्तवाहिनी धमनियाँ। **संस्थान (आकृति)**—अणु (मलज कृमियों से आकार में सूक्ष्म), वृत्त (गोलाकार) और पैर रहित रेंगने वाले होते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि ये सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य होते हैं। **वर्ण (रूप)**—तांबे के सदृश। **नाम-केशाद**—(बालों की जड़ों को खा जाने वाले)। **लोमाद या रोमाद**—(रोमों को खा जाने वाले), **लोमद्वीप या रोमद्वीप**—(रोममूलों में रहने वाले), सौरस (तरुणास्थियों का भक्षण करने वाले), **औडुम्बर या उदुम्बर**—(गूलर की-सी गाठों को शरीर में स्थान-स्थान पर उत्पन्न कर देने वाले), **जन्तुमातृ या मातृ**—(किरौनी मक्खी, यह जहाँ बैठती है वहीं कृमि उत्पन्न हो जाते हैं,)। **प्रभाव**—इनके कारण केश (शिर के केश, गुह्यकेश तथा काँख के बाल), श्मश्रु (दाढ़ी-मोंछ), नाखून, लोम (रोयें), पक्ष्म (भौंहें), इनका नाश हो जाता है। जब वे रक्तज कृमि व्रण में पहुँच जाते हैं तो रोमांच, व्रण में खुजली, सुई चुभने की-सी पीड़ा और उनके इधर-उधर रेंगने का-सा अनुभव रोगी को होता है। जब कृमि अधिक बढ़ जाते हैं तो ये त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस एवं तरुणास्थियों (Cartilage) को खाते हैं (अतएव कुष्ठ रोगियों के नाक-कान आदि तरुणास्थियों वाले अवयव बैठ जाते या नष्ट हो जाते हैं। ध्यान दें।) इन क्रिमियों की चिकित्सा कुष्ठों के समान ही होती है। उसका हम आगे कुष्ठ चिकित्सा प्रकरण में उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—'शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्' और 'चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानम्'। उपर्युक्त इस अश का तात्पर्य यह है कि इन कृमियों की उत्पत्ति कुष्ठ के समान होती है। इनकी उत्पत्ति कुष्ठ से आक्रान्त अवयवों में होती है तथा इन क्रिमियों से ही कुष्ठ की उत्पत्ति होती है, अतः इनकी चिकित्सा भी कुष्ठ के समान की जाती है।

श्लेष्मजाः क्षीरगुडतिलमत्स्यानूपमांसपिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहाजीर्णपूतिक्लिन्नसङ्कीर्णविरुद्धासात्म्यभोजनसमुत्थानाः; तेषामामाशयः स्थानं, ते प्रवर्धमानास्तूर्ध्वमधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा; संस्थानवर्णविशेषास्तु—श्वेताः पृथुब्रध्नसंस्थानाः केचित्, केचिद् वृत्तपरिणाहा गण्डूपदाकृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च, केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः; तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि—अन्त्रादाः, उदरादाः, [1]हृदयचराः, चुरवः, दर्भपुष्पाः, सौगन्धिकाः, महागुदाश्चेति; प्रभावो—हृल्लासः, आस्यसंस्रवणम्, अरोचकाविपाकौ, ज्वरः, मूर्च्छा, जृम्भा, क्षवथुः आनाहः, अङ्गमर्दः, छर्दिः कार्श्यं, पारुष्यं चेति ॥ १२ ॥

कफज कृमियों का निदान—कफज कृमियों की उत्पत्ति दूध, गुड़, तिल, मछली, आनूपदेश में उत्पन्न प्राणियों के मांस, उड़द आदि की पीठी से बने पदार्थों, खीर, कुसुम्भ (बर्रे) का तेल, अजीर्ण (जो भलीभांति पका या पचा न हो) गला, सड़ा मिले-जुले या घृणित अन्नों से बना, विरुद्ध (प्रकृति, संस्कार आदि से विपरीत), असात्म्य (प्रकृति से प्रतिकूल) भोजन से होती है। इनका स्थान आमाशय है। ये कृमि बढ़ने पर ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर फैलते हैं। **आकृति तथा वर्ण**—कुछ सफेद, पृथु (मोटे), ब्रध्न (चमड़े के चौड़े फीते के सदृश), कुछ गोलाकार, चौड़ाई युक्त, केंचुआ की आकृति वाले, सफेद तथा रक्ताभ होते हैं। कुछ सूक्ष्म, लम्बे तांत की आकृतिवाले, सफेद वर्ण के होते हैं।

कफज कृमियों के नाम—अन्त्राद—ये अन्त्रों (आंतों) को खा जाने वाले होते हैं, अतएव उनमें क्षत हो जाते हैं। देखें—आन्त्रिक ज्वर तथा अन्त्रक्षय आदि का निदान। **उदराद**—(उदर अर्थात् आमाशय को खा जाने वाले, इसी को वाग्भट ने 'उदरावेष्ट' कहा है।) **हृदयचर**—(हृदय के आस-पास चलने वाले तथा हृदय को खा जाने वाले। इसी को वाग्भट ने 'हृदयाद' कहा है। देखें—कृमिज हृद्रोग-निदान अ० ५।) **चुरु**—(आहार रस को चुराकर पी जाने वाले।) **दर्भपुष्प**—(यह कृमि के आकृति का परिचायक नाम है। वाग्भट ने इसे 'दर्भकुसुम' की संज्ञा दी है। ये कृमि कुशपुष्प की आकृति के होते हैं।) **सौगन्धिक**—(ये कृमि नासिका तथा शिर में पाये जाते हैं।), **महागुद**—(अन्यत्र इनको महाकुहा या महागुहा संज्ञा दी गयी है, तात्पर्य यह है कि इन क्रिमियों का स्थान महास्रोतस् है।) **प्रभाव**—जी मिचलाना, मुख से लार का निकलना, अरुचि, भोजन का न पचना, ज्वर, मूर्च्छा, बार-बार जँभाई आना, छींकें होना, आनाह (पेट का फूलना), अंगों में जकड़न, वमन, कृशता और शरीर में रूखापन।

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैः; तेषां स्थानं पक्वाशयः, ते प्रवर्धमानास्त्वधो विसर्पन्ति, यस्य पुनरामाशयाभिमुखाः स्युर्यदन्तरं तदन्तरं तस्योद्गारनिःश्वासाः पुरीषगन्धिनः स्युः; संस्थानवर्णविशेषास्तु—सूक्ष्मवृत्तपरीणाहाः श्वेता दीर्घा ऊर्णांशुसंकाशाः केचित्, केचित् पुनः स्थूलवृत्तपरीणाहाः; श्यावनीलहरितपीताः; तेषां नामानि ककेरुकाः, मकेरुकाः, लेलिहाः; सशूलकाः, सौसुरादाश्चेति; प्रभावः—पुरीषभेदः, कार्श्यं, पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वर्तनं च, त एव चास्य गुदमुखं परितुदन्तः कण्डूं चोपजनयन्तो गुदमुखं पर्यासते, त एव जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिवेलं कुर्वन्ति; इत्येष श्लेष्मजानां पुरीषजानां च क्रिमीणां समुत्थानादिविशेषः ॥ १३ ॥

पुरीषज क्रिमियों का निदान—इनका निदान कफज क्रिमियों के समान ही होता है। पुरीषज क्रिमियों का स्थान पक्वाशय है। ये कृमि जब अहितकर आहार आदि के सेवन से बढ़ने लगते हैं तो अपने आशय से नीचे गुद मार्ग की ओर फैलने लगते हैं, और जिस पुरुष के पक्वाशयस्थित वे कृमि जिस समय आमाशय (ऊपर) की ओर बढ़ने लगते हैं, उस समय उसके उद्गार (डकार) तथा निःश्वास (जो वायु नाक से बाहर को निकालता है) पुरीष की गन्ध से युक्त होता है। **आकृति (वर्ण) भेद**—कुछ सूक्ष्म (अत्यन्त पतले), गोलाकार, सफेद, लम्बे, ऊन की आकृति के, कुछ मोटे, गोलाई लिये हुए, श्याव (Dark brown), नीले, हरे और पीले वर्ण वाले। **उनके नाम**—ककेरुक, मकेरुक, लेलिह (चाटने वाले), सशूलक (शूल उत्पन्न करने वाले), सौसुराद। **प्रभाव**—पुरीषभेद (पतले दस्तों का आना), कृशता, कठोरता तथा रोमांच का होना। वे ही कृमि इस रोगी के गुदद्वार में सुई चुभाने की-सी पीड़ा को पैदा करते हुए, मलद्वार के चारों ओर खुजली पैदा करते हुए फैल जाते हैं, वे ही कृमि रोमांच के साथ बार-बार गुदद्वार से बाहर निकला करते हैं। इस प्रकार यह कफज तथा पुरीषज क्रिमियों की निदान आदि सम्बन्धी विशेषता है।

१. 'हृदयादाः' इति पा०।

चिकित्सितं तु खल्वेषां समासेनोपदिश्य पश्चाद् विस्तरेणोपदेक्ष्यामः। तत्र सर्वक्रिमीणामपकर्षण-मेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः; अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ॥ १४ ॥

संक्षिप्त-चिकित्सा—यहाँ संक्षेप में इनकी चिकित्सा का वर्णन कर बाद में यथास्थान विस्तारपूर्वक उपदेश किया जायगा। सभी प्रकार की क्रिमियों का सर्वप्रथम अपकर्षण (बाहर निकालने का प्रयास) करना चाहिये, तदनन्तर प्रकृतिविघात (जो कृमि जिस कारण से उत्पन्न हुए हों उन कारणों का नाश) तत्पश्चात् निदान में कहे गये भावों का सेवन न करना।

वक्तव्य—अर्थात् 'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्', यह क्रिमि रोगों तथा अन्य सभी रोगों का सामान्य चिकित्सा-सूत्र है। उपर्युक्त चिकित्सा-विधियों का आगे विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है।

तत्रापकर्षणं—हस्तेनाभिगृह्य विमृश्योपकरणवताऽपनयनमनुपकरणेन वा; स्थानगतानां तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षणं [1]न्यायतः, तच्चतुर्विधं; तद्यथा—शिरोविरेचनं, वमनं, विरेचनम्, आस्थापनं च; इत्यपकर्षणविधिः।

१. **अपकर्षण**—उपकरण (यन्त्र) द्वारा क्रिमियों को विचारपूर्वक निकाले अथवा अनुपकरण—(यन्त्र रहित) चिकित्सक हाथ से पकड़कर निकाले। यह दोनों प्रकार का अपकर्षण गुदमार्ग में दिखलायी देने वाले कफज अथवा पुरीषज क्रिमियों का कहा गया है, क्योंकि ये स्वयं भी बाहर आ जाते हैं ऐसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त जो स्थान (आमाशय या पक्वाशय) गत क्रिमि हैं, उनका विधिपूर्वक औषध सेवन कराकर (वमन या विरेचन द्वारा) अपकर्षण (बाहर निकालने का कार्य) किया जाता है। यह चार प्रकार का होता है। वह इस प्रकार है—१. शिरोविरेचन (नस्य), २. वमन, ३. विरेचन तथा ४. आस्थापन। ये अपकर्षण विधियाँ हैं।

प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः, यच्चान्यदपि किञ्चिच्छ्लेष्म-पुरीषप्रत्यनीकभूतं तत् स्यात्; इति प्रकृतिविघातः।

२. **प्रकृतिविघात**—इन कृमियों की प्रकृति का नाश कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा उष्णवीर्य वाले द्रव्यों के उपयोग से होता है। और जो कोई कफ तथा पुरीष के गुणों से विपरीत होते हैं, उनके सेवन से भी कृमियों का विनाश होता है। यह प्रकृतिविघात है।

वक्तव्य—प्रकृति शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा—'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे'॥ मेदिनी। यहाँ हमें गुणसाम्य, स्वभाव और उत्पत्तिकारण अर्थों की अपेक्षा है। यद्यपि सहज कृमियों को छोड़कर भी चार प्रकार के कृमियों का इस प्रकरण में उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ प्रकृति-विघात प्रसंग में 'श्लेष्म-पुरीषप्रत्यनीकभूतं' का उल्लेख कर अन्य कृमियों के प्रकृतिविघात की चर्चा नहीं की की गयी है।

अपकर्षण-क्रिया से अवशिष्ट क्रिमियों की पुनः उत्पत्ति न हो सके इसलिये प्रकृति = उत्पत्ति कारण का ही नाश परम आवश्यक होता है। अतः जिन कारणों से क्रिमियों की उत्पत्ति होती है उनके विपरीत द्रव्यों कटु, तिक्त, कषाय आदि का प्रयोग उनका विनाशक होता है।

अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं—यदुक्तं निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथाप्रायाणां चापरेषां द्रव्याणाम। इति लक्षणतश्चिकित्सितमनुव्याख्यातम्। एतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेक्ष्यते ॥ १५ ॥

३. **निदानपरिवर्जन**—प्रकृतिविघात-क्रिया के पश्चात् तीसरा प्रकार है निदान में कहे गये भावों (आहार-विहार आदि) का सेवन न करना, जो निदान विधि में कहा गया है उसका त्याग करना और उस प्रकार के गुण-धर्म वाले अन्य द्रव्यों का भी सेवन न करना। इस प्रकार लक्षण द्वारा संक्षिप्त चिकित्सा का व्याख्यान किया गया है। इसी विषय का पुनः विस्तारपूर्वक उपदेश करेंगे।

१. 'न्यायतः न्याय्यम्, उचितमित्यर्थः' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

वक्तव्य—'निदानपरिवर्जन' सभी रोगों की चिकित्सा का सामान्य नियम है।

अथैनं क्रिमिकोष्ठमातुरमग्रे षड्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वोभूते एनं संशोधनं पाय-यिताऽस्मीति क्षीरगुडदधितिलमत्स्यानूपमांसपिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहसम्प्रयुक्तैर्भोज्यैः सायं प्रातश्चोपपाद-येत् समुदीरणार्थं क्रिमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च भिषक्। अथ व्युष्टायां रात्र्यां सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं च विज्ञायास्थापनवमनविरेचनैस्तदहरेवोपपादयेदुपपादनीयश्चेत् स्यात् सर्वान् परीक्ष्यविशेषान् परीक्ष्य सम्यक् ॥ १६ ॥

१. **अपकर्षण की विशेष विधि**—सामान्य अपकर्षण विधि से लाभ न होने पर जिस रोगी के कोष्ठ (आमाशय या पक्वाशय) में क्रिमि उत्पन्न हो गये हैं, उसको छः रात्रि या सात रात्रि तक स्नेहन तथा स्वेदन कराकर दूसरे (सातवें या आठवें) दिन इसको मुझे संशोधन (वमन या विरेचन) पिलाना है, यह निश्चय करके क्रिमियों को उभाड़ने के लिये और उनको सम्मिलित रूप में कोष्ठ की ओर प्रेरित करने के लिये तदनुकूल (क्रिमियों के प्रिय) दूध, गुड़, दही, तिल, मछली, आनूपदेशज प्राणियों के मांस, पीठी के बने हुए पदार्थ, खीर, कुसुम्भ (बर्रे) के तेल से युक्त भोजनों को सायंकाल और प्रातःकाल चिकित्सक रोगी को खिलाये अर्थात् खिलाने की व्यवस्था का परिचारकों को आदेश दे। रात्रि के बीत जाने पर सुखपूर्वक सोये हुए और भलीभांति भोजन पचा हुआ जानकर तथा रोगी की शारीरिक एवम् मानसिक स्थिति आदि की यथोचित परीक्षा करके आस्थापन-बस्ति, वमन, विरेचन द्वारा उसी दिन रोगी का संशोधन करे।

वक्तव्य—आस्थापनबस्ति का परिचय शार्ङ्गधरसंहिता में इस प्रकार दिया है—'निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः। स्वस्थानस्थापनाद् दोषधातूनां स्थापनं मतम्'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ६।२। निरूहण-बस्ति का ही दूसरा नाम आस्थापनबस्ति भी है। प्रसंगवश इसके अन्य नाम भी देखे जाते हैं। यथा—दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन तथा पिच्छिलबस्ति।

अथाहरेति ब्रूयात्—मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रुखरपुष्पाभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीर-कालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकानि सर्वाण्यथवा यथालाभं; तान्याहृतान्यभिसमीक्ष्य खण्डशश्छेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावाप्य गोमूत्रेणार्धोदकेनाभिषिच्य साधयेत् सततमवघट्टयन् दर्व्या, [1]तमुपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य सुपरिपूतं कषायं सुखोष्णं मदनफलपिप्पली-विडङ्गकल्कतैलोपहितं स्वर्जिकालवणितमभ्यासिच्य बस्तौ विधिवदास्थापयेदेनं; तथाऽर्कालर्ककुटजाढकी-कुष्ठकैडर्यकषायेण वा, तथा शिग्रुपीलुकुस्तुम्बुरुकटुकासर्षपकषायेण, तथाऽऽमलकशृङ्गवेरदारुहरिद्रापिचु-मर्दकषायेण मदनफलादिसंयोगसम्पादितेन, त्रिरात्रं सप्तरात्रं वाऽऽस्थापयेत् ॥ १७ ॥

तदनन्तर—जब यह निश्चय हो जाय कि आज रोगी को आस्थापनबस्ति, वमन, विरेचन का प्रयोग कराना है तो उसको निम्न द्रव्यों को लाने या मंगाने को कहे—मूली, सरसों, लहसुन, करञ्ज, सहिजन के बीज, मीठे सहजन के बीज, खरपुष्पा (कट्फल या वनतुलसी, वैद्यकशब्दसिन्धु), सुगन्धतृण, सुमुख (तुलसी भेद), सुरस (सफेद तुलसी), कुठेरक (बाबुई तुलसी), गण्डीर (तुलसी भेद या दूर्वा भेद), कालमालक (काली तुलसी), पर्णास (तुलसी भेद, वै० श० सि०, पारसीकयवानी, वै० निघ०), क्षवक (तुलसी भेद), फणिज्झक (गन्धतुलसी) इन सब द्रव्यों को अथवा इनमें से जितने मिल सकें उन लाये हुए द्रव्यों का भली-भांति निरीक्षण एवं परीक्षण करके तत्पश्चात् उनके टुकड़े-टुकड़े करके पानी से धोकर, धुली हुई मिट्टी की हांडी में भरकर आधा जल मिला गोमूत्र से उसको भिगोकर पकायें, इस बीच में निरन्तर कड़छुल से चलाते रहें। जब सभी ओषधियों का रस पानी में आ जाय तब हांडी को उतारकर उस काढ़ा को कपड़े से छान लें, उस काढ़ा में मैनफल, पिप्पली, वायविडङ्ग इनका कल्क, तिल तैल, सज्जीखार तथा सैंधानमक मिलाकर बस्तियन्त्र में भरकर इससे रोगी को विधिवत् आस्थापनबस्ति दे। लाल मदार, सफेद मदार, कुटज (कुरैया), अरहर, कूठ, मीठीनीम के क्वाथ से अथवा सहजन, पीलू, कुस्तुम्बुरु (तुम्बल के बीज या नेपालीधनियाँ), कुटकी, सरसों के काढ़ा से

१. 'तस्मिञ्शीतीभूते तूपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि' ग.।

रखना अपराध ही है। वास्तव में श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता के मूल में दिया गया मात्र 'मूषिकपर्णी' पाठ शुद्ध है।

उक्त तथ्य का समर्थन भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—'पत्रैर्मूषिकपर्ण्याश्च सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः। खादेत् पूपलिकाः पक्वा धान्याम्लं च पिबेदनु' ॥ सुश्रुत उ० त० अ० ४५।

उपकुड्य—'कुडिदाहे' भ्वादिगणीय धातु से 'उप' उपसर्ग तथा क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय करने से उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है—पकाकर, इसके स्थान पर 'विपाच्य' पाठ भेद कोई महत्व नहीं रखता।

अनेन कल्पेन मार्कवार्कसहचरनीपनिर्गुण्डीसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकबकुलकुटजसुवर्णक्षीरीस्वरसानामन्यतमस्मिन् कारयेत् पूपलिकाः; तथा किणिहीकिराततिक्तकसुवहामलकहरीतकीबिभीतकस्वरसेषु कारयेत् पूपलिकाः; स्वरसांश्चैतेषामेकैकशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधुविलुलितान् प्रातरनन्नाय पातुं प्रयच्छेत् ॥ २१ ॥

दूसरा प्रयोग—इस (ऊपर कही गयी) विधि से भृङ्गराज, मदार, कटसरैया, कदम्ब, मेउड़ी (सिन्दुवार, सिंवाली), सुमुख, सुरस, कुठेरक, गडीरघास, कालमालक, पर्णास, क्षवक (नकछिकनी), दौना, मौलसिरी, कुटज, सुवर्णक्षीरी इनमें से किसी एक का रस लेकर (पहली विधि के अनुसार लाल शालि के चावलों के आटा को सानकर) पूपलिकायें बनवाये तथा अपामार्ग, चिरायता, निशोथ, आंवला, हरीतकी और बहेड़ा के स्वरसों में से किसी एक के स्वरस से पूपलिकायें बनवायें और इनके एक-एक, दो-दो अथवा सभी के स्वरसों को मधुमिश्रित करके भोजन करने के पूर्व प्रातःकाल ही पीने के लिये दें।

अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्यातपे शोषयित्वोदूखले क्षोदयित्वा दृषदि पुनः [1]सूक्ष्मचूर्णानि कारयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वाऽष्टकृत्वो दशकृत्वो वाऽऽतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समावाप्यानुगुप्तं निधापयेत्। तेषां तु खलु चूर्णानां पाणितलं यावद् वा साधु मन्येत तत् क्षौद्रेण संसृज्य क्रिमिकोष्ठिने [2] लेढुं प्रयच्छेत् ॥२२॥

तीसरा प्रयोग—तदनन्तर घोड़े की लीद को इकट्ठा करके बड़ी चटाई के ऊपर धूप में सुखाकर ऊखल में कूटकर, सिल में पुनः बारीक पिसवाकर वायविडग के क्वाथ से अथवा त्रिफला के कषाय से आठ या दस बार भिगो-भिगोकर सुखाकर फिर सिलपर पीसकर बारीक चूर्ण कराकर नये (मिट्टी के) पात्र में डालकर उसका मुख बन्द कर सुरक्षित स्थान में रख दें। उस चूर्ण में से पाणितल (१ कर्ष=१ तोला) अथवा विद्वान् चिकित्सक परिस्थिति के अनुसार जितनी मात्रा उचित समझे उसको शहद के साथ मिलाकर क्रिमिकोष्ठ वाले रोगी को चाटने के लिये दे।

वक्तव्य—इसका विधान सुश्रुत में इस प्रकार है—'लिह्यादश्वशकृच्चूर्णं वैडङ्गं वा समाक्षिकम्' ॥ सु० उ० त० अ० ५४। **पाणितल**—'कोलद्वयं च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका। अक्षं पिचुः पाणितलम्', शा० सं० अ० १।२१।

तथा भल्लातकास्थीन्याहृत्य कलशप्रमाणेन चापोथ्य स्नेहभाविते दृढे कलशे सूक्ष्मानेकच्छिद्रब्रध्ने शरीरमुपवेष्ट्य[3] मृदावलिप्ते समावाप्योडुपेन[4] पिधाय भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्यैवान्यस्य दृढस्य कुम्भस्योपरि समारोप्य समन्ताद् गोमयैरुपचित्य दाहयेत्; स यदा जानीयात् साधु दग्धानि गोमयानि विगतस्नेहानि च भल्लातकास्थीनीति ततस्तं कुम्भमुद्धरेत्। अथ तस्माद् द्वितीयात् कुम्भात् स्नेहमादाय विडङ्गतण्डुलचूर्णैः स्नेहार्धमात्रैः प्रतिसंसृज्यातपे सर्वमहः स्थापयित्वा ततोऽस्मै मात्रां

१. 'श्लक्ष्णानि' च.।
२. 'क्रिमिकोष्ठाय' इति पा०।
३. इति गङ्गाधरो न पठति।
४. 'उडुपेन शरावाद्याच्छादनेन' गङ्गाधरः।

प्रयच्छेत् पानाय; तेन साधु विरिच्यते, विरिक्तस्य चानुपूर्वी यथोक्ता। एवमेव भद्रदारुसरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत् ॥ २३ ॥

चौथा प्रयोग—एक द्रोण परिमाण भिलावा की गुठलियाँ लेकर उनको कुचलकर भीतर से घी लगे हुए मजबूत घड़े में जिसके निचले भाग में अनेक बारीक छिद्र किये हों (ये छिद्र दूसरे घड़े के मुख की नाप के हों क्योंकि इनसे जो भिलावा का तेल निकलेगा उसको निचले घड़े के भीतर ही गिरना चाहिये बाहर नहीं।) उस घड़े के चारों ओर कपड़मिट्टी करके सुखा लें (केवल छिद्र भाग में कपड़मिट्टी न करें) इसके बाद एक दूसरे घड़े में भी भीतर से घी लगाकर जमीन में गले तक गाड़ दें। अब इस जमीन में गड़े हुए घड़े के ऊपर पेंदी में छिद्र वाले घड़े को उसके मुख पर इस प्रकार रखें कि ऊपर वाले घड़े के छिद्र नीचे वाले घड़े के मुख से ढँक जाँय और ऊपर वाले घड़े का मुख सकोरा रखकर बन्द करा दें। तब ऊपर वाले घड़े के चारों ओर वनोपल (सूखे गोबर के कंडे) रखकर जला दें।

जब यह समझ में आ जाय कि गोबर के कंडे सब जल चुके हैं और भिलावे की गुठलियों से स्नेह निकल चुका है, तब ऊपर वाले घड़ा को उठा लें। तदनन्तर दूसरे घड़े से स्नेह (भिलावा का तेल) लेकर, तेल का आधा वायविडंग का चूर्ण उसमें मिलाकर पूरे एक दिन धूप में रखकर तत्पश्चात् इस क्रिमिरोगी को उसके बलानुसार पीने के लिये मात्रा दें। इससे अच्छी प्रकार विरेचन हो जाता है। विरेचन हो जाने पर पूर्वोक्त पेया आदि का क्रम चलाना चाहिये। इसी प्रकार देवदारु तथा चीड़ की लकड़ी के तेलों को निकालकर भी पीने के लिये देना चाहिये।

वक्तव्य—'कलशप्रमाणेन' इस वाक्यांश का कुछ टीकाकारों ने उचित व्याख्यान नहीं किया है। उक्त शब्द मानवाचक है। यथा—'चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशोनल्वणोन्मनौ'। शा० स० ख० १ अ० १।२८। अर्थात् चार आढक का १ द्रोण होता है उसी को कलश, नल्वण या उन्मन कहते हैं। यहाँ **'कलशप्रमाणेन'** का यह अर्थ कदापि संगत नहीं है कि घड़े में जितने आ सकें?

शरीरमुपवेष्ट्य—यद्यपि यह पाठ सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता, तथापि भिलावा शोथकारक होने के कारण सभी को अनुकूल नहीं होता। इससे निर्माणकर्त्ता अथवा सेवनकर्त्ता को शोथ होते देखा गया है। इसलिये निर्माण करने वाले की सुरक्षा के लिये शरीर को ढँककर कार्य करने की अनुमति दी गयी है।

अनुवासयेच्चैनमनुवासनकाले[1] ॥ २४ ॥

अनुवासन-प्रयोग—अनुवासनबस्ति देने के समय इस क्रिमिरोगी को अनुवासनबस्ति देनी चाहिये।

अथाहरेति ब्रूयात्—शारदान्नवांस्तिलान् सम्पदुपेतान्; तानाहृत्य [2]सुनिष्पूतान्निष्पूय, सुशुद्धान् शोषयित्वा, विडङ्गकषाये सुखोष्णे प्रक्षिप्य निर्वापयेदादोषगमनात्, गतदोषानभिसमीक्ष्य [3]सुप्रलूनान् प्रलुच्य, पुनरेव [4]सुनिष्पूतान् निष्पूय, सुशुद्धान् शोषयित्वा, विडङ्गकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः [5]सुपरिभावितान् भावयित्वा, आतपे शोषयित्वा, उलू(दू)खले सङ्क्षुद्य, दृषदि पुनः श्लक्ष्णपिष्टान् कारयित्वा, द्रोण्यामभ्यवधाय, विडङ्गकषायेण मुहुर्मुहुरवसिञ्चन् पाणिमर्दमेव मर्दयेत्; तस्मिंस्तु खलु प्रपीड्यमाने यत्तैलमुदियात्तत् पाणिभ्यां पर्यादाय; शुचौ दृढे कलशे न्यस्यानुगुप्तं निधापयेत् ॥ २५ ॥

अन्य प्रयोग—शरद् ऋतु में उत्पन्न अपने गुणों से युक्त, सुपुष्ट, साफ-सुथरे तिलों को रोगी से लाने के लिये चिकित्सक कहे, अर्थात् चिकित्सक का आदेश पाकर रोगी तिलों को मंगाये, उनको लाकर छांट-बीनकर, सब प्रकार विजातीय पदार्थों को निकालकर उन्हें धो डालें, तदनन्तर गुनगुने वायविडंग के कषाय में डालकर

१. '-चैनमत एवानुवासनकाले' इति पा०।
२. 'सुनिष्पूतान् शोधयित्वा' इति पा०। 'निष्पूयेति मृत्तिकाद्यवकरान्निचित्य, शोधयित्वा प्रक्षाल्य' चक्रः।
३. 'सुप्रशूनान् स्फीतान्, प्रलुच्य निस्तुषीकृत्य' गङ्गाधरः।
४. 'निष्पूतान्शोधयित्वा' यो.।
५. 'सुभावितानातपे' इति पा०।

दोष निकलने तक उन तिलों को डुबाये रखें। जब उनका दोष समाप्त हो गया है ऐसा देखे तब उनके छिलके उतारकर फिर धोकर भली-भांति साफ करके अत्यन्त शुद्ध तिलों को भी पुनः शुद्ध करके वायविडंग के कषाय से ३×७ = २१ बार भावनाएँ देकर, धूप में सुखाकर ऊखल में कूटकर फिर सिल में बारीक पिसवाकर, नाद में रखकर वायविडंग के कषाय को डालता हुआ हाथों से मसलता जाय। इस प्रकार हाथों से मलने पर जो तैल निकले उसको हाथों से लेकर सुदृढ़ घड़ा में डालकर उस घड़ा को पवित्र स्थान में रखकर उसको ढककर रख दें।

अथाहरेति ब्रूयात्—तिल्वकोद्दालकयोर्द्वौ बिल्वमात्रौ पिण्डौ श्लक्ष्णपिष्टौ विडङ्गकषायेण, तदर्धमात्रौ श्यामात्रिवृतयोः, अतोऽर्धमात्रौ दन्तीद्रवन्त्योः अतोऽर्धमात्रौ च चव्यचित्रकयोरिति। एतं सम्भारं विडङ्गकषायस्यार्धाढकमात्रेण प्रतिसंसृज्य, [1]तत्तैलप्रस्थं समावाप्य, सर्वमालोड्य, महति पर्योगे समासिच्याग्नावधिश्रित्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेहमवलोकयन्नजस्रं मृद्वग्निना साधयेद् दर्व्या सततमवघट्टयन्। स यदा जानीयाद् विरमति शब्दः, प्रशाम्यति च फेनः, प्रसादमापद्यते स्नेहः, यथास्वं च गन्धवर्णरसोत्पत्तिः, संवर्तते च भैषज्यमङ्गुलिभ्यां मृद्यमानमनतिमृद्वनतिदारुणमनङ्गुलिग्राहि चेति, स कालस्तस्यावतारणाय। ततस्तमवतार्य शीतीभूतमहतेन वाससा परिपूय, शुचौ दृढे कलशे समासिच्य, पिधानेन पिधाय, शुक्लेन वस्त्रपट्टेनावच्छाद्य, सूत्रेण सुबद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत्। ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत् पानाय, तेन साधु विरिच्यते; सम्यगपहृतदोषस्य चानुपूर्वी यथोक्ता। ततश्चैनमनुवासयेदनुवासनकाले। एतेनैव च पाकविधिना सर्षपातसीकरञ्जकोषातकीस्नेहानुपकल्प्य पाययेत् सर्वविशेषानवेक्षमाणः। तेनागदो भवति॥ २६॥

दूसरा प्रयोग—रोगी से कहे कि निम्नोक्त औषध द्रव्यों को लाओ अथवा मंगाओ—वायविडंग के कषाय को डालकर बारीक पीसे गये पठानीलोध तथा बनकोदों के १-१ पल = ४-४ तोले प्रमाण के दो पिण्ड, उनसे आधे अर्थात् २-२ तोले प्रमाण के कालीनिशोथ तथा सफेदनिशोथ के बारीक पिसे हुए दो-दो पिण्ड, उनसे आधे अर्थात् १-१ तोले प्रमाण के दन्ती (जमालगोटा) और द्रवन्ती के बारीक पीसे हुए दो दो पिण्ड, उनसे आधे अर्थात् $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ तोले प्रमाण के चव्य और चित्रक के बारीक पिसे हुए दो-दो पिण्ड। उपर्युक्त इस सामग्री को आढक या दो सेर वायविडंग के कषाय के साथ मिलाकर पहले बनाये हुए १ प्रस्थ = १ सेर तिल तैल को उसी में मिलाकर, सबका एक साथ आलोडन कर (चलाकर) एक बड़े पात्र में डालकर आग के ऊपर पात्र को रखकर निर्माणकर्त्ता सुखपूर्वक आसन पर बैठकर चारों ओर तैल का निरन्तर ध्यान रखता हुआ हलकी आँच देकर तैल को कलछुल से चलाता हुआ पकाये। जब कल्क जलने का चिड़-चिड़ शब्द नहीं सुनायी दे रहा है, झाग शान्त हो गया है, स्नेह में स्वच्छता आगयी है, अपने अनुरूप गन्ध, वर्ण तथा रस की उत्पत्ति हो गयी है, कल्कद्रव्य अंगुलियों से दबाने पर बत्ती के समान हो रहा हो, अंगुलियों से स्पर्श करने पर जला हुआ द्रव्य न अधिक मृदु हो, न अधिक कठिन हो और न अंगुलियों से सट रहा हो यही समय उस तैल को उतारने का है। तदनन्तर उसको उतारकर शीतल हो जाने पर नये साफ वस्त्र से छानकर पवित्र दृढ़ घड़ा में उसको रखकर ढकना से ढँककर, सफेद वस्त्र खण्ड से ढककर तागे से अच्छी प्रकार बाँधकर सुरक्षित रख लें। तब इस रोगी को मात्रापूर्वक तैल पान कराये। इससे उसको भली-भांति विरेचन (दस्त) हो जाता है। ठीक प्रकार से जब दोष दूर हो जायें तब पेयादिक्रम से रोगी की परिचर्या करें। तब अनुवासन के समय पर इसको अनुवासनवस्ति देनी चाहिये। इसी पाकविधि से सरसों, अलसी, करञ्ज और कोषातकी (कड़वी तोरई) के तैलों को पकाकर सभी प्रकार की परीक्षा विधियों से रोगी की परीक्षा करके तैलपान कराये। इससे रोगी नीरोग हो जाता है।

वक्तव्य—मागध मान के अनुसार बिल्व का प्रमाण ४ तोला है। प्राचीनकाल में १ सेर के स्थान पर 'प्रस्थ' शब्द प्रयुक्त होता था। देखें—शार्ङ्गधरसंहिता, प्रथमखंड।

१. 'ततस्तैलप्रस्थमावाप्य' इति पा०।
२. 'ततस्तमवहृत्य' ग०।

स्नेहपाक-विधि—रोगनाशक द्रव्यों को घी अथवा तैल में पकाने से उनके गुण घी या तैल में आ जाते हैं। इसीलिये जिन द्रव्यों के गुण घी या तैल में विलीन करने हों उन द्रव्यों का कल्क (चटनी) बनाकर पाक करना चाहिये। स्नेह से चौगुना द्रव और चौथा भाग कल्क का होना चाहिये। 'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कस्तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्, इत्येषः स्नेहपाककल्पः'॥ सुश्रुत चि० अ० ३१। स्नेहपाक में यह भी ध्यान देने योग्य विषय है कि पाक करने पर चार सेर तैल प्रायः तीन सेर के लगभग रह जाता है, क्योंकि उनका बहुत सा अंश वाष्प के साथ उड़ जाता है और कुछ कल्कद्रव्य में लगा रह जाता है।

स्नेहसिद्धि के लक्षण—जब स्नेहपाक के समय अंगुली द्वारा मलने पर कल्क बत्ती के सदृश हो जाय, अग्नि में डालने पर चिड़-चिड़ शब्द न करे तो समझे स्नेह सिद्ध हो गया है। **दूसरा लक्षण**—जब तैल में झाग आने लगे और घी में जब झाग शान्त हो जाय तब इनकी सिद्धि समझें।

भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार स्नेहसिद्धि प्रकार—'शब्दस्योपशमे प्राप्ते फेनस्योपरमे तथा। गन्धवर्णरसादीनां निष्पत्तौ सिद्धिमादिशेत्'॥ सु० चि० अ० ३१। यहाँ तन्त्रकार ने स्नेहसिद्धि की सामान्य चर्चा की है, इसको केवल तैलसिद्धि का प्रकार नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ स्नेहों में प्रमुख घी की सिद्धि का ही वर्णन किया गया है।

मृदु-मध्य-खरपाक—नस्य के लिये 'मृदुपाक', पीने तथा बस्ति-प्रयोग के लिये 'मध्यमपाक' और मालिश के लिये 'खरपाक' उत्तम होता है। पेयादिक्रम के लिये चरक सू० अ० १५ उपकल्पनीयाध्याय देखें।

बस्ति—यह दो प्रकार की होती है—१. अनुवासन और २. निरूहण। इनकी परिभाषा—'अनुवसन्नपि न दुष्यति, अनुदिवसं वा दीयते, इति अनुवासनः'। 'स दोषनिहरणाच्छरीरनीरोहणाद् वा निरूहः'। सुश्रुत चि० अ० ३५।

एवं द्वयानां श्लेष्मपुरीषसम्भवानां क्रिमीणां समुत्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितविशेषा व्याख्याताः सामान्यतः। विशेषतस्तु स्वल्पमात्रमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं तेष्वेवौषधेषु [1]पुरीषजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कर्तव्यं, मात्राधिकं पुनः शिरोविरेचनवमनोपशमनभूयिष्ठं तेष्वेवौषधेषु श्लेष्मजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्यम्, इत्येष क्रिमिघ्नो भेषजविधिरनुव्याख्यातो भवति।

उपसंहार—इस प्रकार दोनों कफज तथा पुरीषज क्रिमियों के निदान, स्थान, आकृति, वर्ण (स्वरूप), नाम, प्रभाव तथा चिकित्सा के भेदोपभेदों की सामान्य रूप से व्याख्या की गयी है। विशेष रूप से उक्त निर्दिष्ट औषधों में से थोड़ी मात्रा में आस्थापनवस्ति, अनुवासनबस्ति, अनुलोमहरण अर्थात् विरेचन विधि द्वारा पुरीषज क्रिमियों की चिकित्सा करनी चाहिये। कफज क्रिमियों में तो अधिकांश शिरोविरेचन (नस्य), वमन तथा शमनकारक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार यह क्रिमिनाशक भेषजविधि की पुनः व्याख्या की गयी है।

वक्तव्य—संक्षेप में कफज क्रिमियों की चिकित्सा वमन तथा संशमन और पुरीषज क्रिमियों की चिकित्सा किसी भी प्रकार उनको निकाल देना ही श्रेयस्कर है। उनका संशमन होता भी नहीं तथा करने का प्रयास भी न करें।

तमनुतिष्ठता यथास्वं हेतुवर्जने प्रयतितव्यम्। यथोद्देशमेवमिदं क्रिमिकोष्ठचिकित्सितं यथावदनुव्याख्यातं भवति॥ २७॥

३. **निदानपरिवर्जन का पुनः संकेत**—उस क्रिमिनाशक विधि को करते हुए यथाशक्ति हेतुवर्जन (जिन-जिन कारणों से जिस-जिस प्रकार के क्रिमियों की उत्पत्ति हुई हो उन-उन कारणों को छोड़ने) का प्रयत्न करना चाहिये इस प्रकार उद्देश (लक्ष्य) के अनुसार क्रिमिकोष्ठ (आमाशय तथा पक्वाशय में स्थित क्रिमियों) वाले रोगियों की चिकित्सा की यथोचित व्याख्या कर दी है।

१. 'क्रिमीणां पुरीषसम्भवानां' ग०।

भवन्ति चात्र—

अपकर्षणमेवादौ क्रिमीणां भेषजं स्मृतम् । ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥२८॥
अयमेव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे । विधिर्दृष्टस्त्रिधा योऽयं क्रिमीनुद्दिश्य कीर्तितः ॥२९॥
संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् । एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥३०॥

उपसंहार—इस अध्याय में ये विषय हैं या होते हैं—सर्वप्रथम (गुदप्रदेश में व्याप्त क्रिमियों का अपकर्षण (हाथ या यन्त्र द्वारा निकालना) चिकित्सा कही गयी है, तदनन्तर प्रकृतिविघात और निदान-परिवर्जन, अर्थात् निदान (कारणभूत आहार-विहार) का परित्याग करना कहा गया है। क्रिमियों के समूल विनाश को लक्ष करके उक्त तीन प्रकार की जो विधियाँ कही गयी हैं, वे सभी प्रकार के क्रिमिरोगों को दूर करने में सक्षम देखी गयी हैं। संशोधन, संशमन तथा निदानपरिवर्जन इन उपायों का प्रत्येक रोग में विधिपूर्वक चिकित्सक को प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त ३० वां पद्य सार्वभौम चिकित्सा का प्रमुख सूत्र है। इसी सूत्र का व्याख्यान **'चरकस्तु चिकित्सिते'** इस सुभाषित के अनुसार चरक का सम्पूर्ण चिकित्सास्थान है।

तत्र श्लोकौ—

व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाज्ञौ भिषजौ सप्रयोजनौ । विंशतिः क्रिमयस्तेषां हेत्वादिः सप्तको गणः ॥३१॥
उक्तो व्याधितरूपीये विमाने परमर्षिणा । शिष्यसम्बोधनार्थाय व्याधिप्रशमनाय च ॥३२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने व्याधितरूपीय-
विमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्यायोक्त विषय—दो प्रकार के रोगी पुरुष, बुद्धिमान् (कुशल) तथा निर्बुद्धि (अकुशल) वैद्य, उक्त दोनों प्रकार के वैद्यों का प्रयोजन, बीस प्रकार के क्रिमि, उनके हेतु आदि (हेतु, स्थान, आकार, रूप, नाम, प्रभाव, चिकित्सा) सात का समूह, इन सभी विषयों का वर्णन महर्षि आत्रेय ने शिष्यों को उपदेश देने के लिये और रोग की शान्ति के लिये इस व्याधितरूपीयविमान नामक अध्याय में किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
विमानस्थान में व्याधितरूपीयविमान नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातो रोगभिषग्जितीयं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

व्याधितरूपीयविमान के वर्णन के अनन्तर अब हम रोगभिषग्जितीय नामक विमान अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—रोगों की ठीक-ठीक चिकित्सा का निर्देश करना तथा चिकित्सक के लिये उपयुक्त ज्ञान का निर्देश करने के कारण ही प्रस्तुत अध्याय का उक्त नामकरण हुआ है। दूसरा कारण यह भी रहा है, इसके पहले 'व्याधितरूपीयविमान' में अयोग्य चिकित्सक किस प्रकार रोगों के निर्णय में भूल कर बैठते हैं, इसके निराकरण

के लिये भी इस अध्याय की उपयोगिता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'रोगभिषग्जितम् (चिकित्सितम्) अधिकृत्य कृतोऽध्यायो रोगभिषग्जितीयः।

बुद्धिमानात्मनः [1]कार्यगुरुलाघवं कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद् भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके; तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं [2]स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ॥ ३ ॥

शास्त्र-परीक्षा

(Selection of the branch of Medical Science)

बुद्धिमान (विवेकशील) पुरुष अपने कार्य की गुरुता, लघुता, कर्मफल (मुझे आयुर्वेद के अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति करनी है, ऐसा निश्चय कर), अनुबन्ध (कर्मजनित शुभ या अशुभ), देश, काल की अनुकूलता या प्रतिकूलता का विचार कर, युक्ति-युक्त होकर वैद्य होने की इच्छा से सर्वप्रथम शास्त्र की ही परीक्षा करे। क्योंकि चिकित्सक समाज में अनेक शास्त्रों (पद्धतियों) का संसार में प्रचलन है। उनमें से जिसको समझे कि यह सुमहद् (सबमें बड़ा—सांगोपांग), यशस्वी (जिस शास्त्र ने अपने गुणों से यश अर्जित कर रखा हो), धीर पुरुषों द्वारा जिसका आद्यन्त अध्ययन रूप से सेवन किया गया हो, अर्थबहुल (जिसमें अनेक विषयों का प्रसंगोचित समावेश हो), आप्तजनपूजित (प्रामाणिक पुरुषों से सम्मानित अर्थात् जिनके वाक्य सदैव मान्य तथा सत्य होते हैं, उन्हें आप्त कहते हैं। ऐसे पुरुषों द्वारा सम्मानित), त्रिविधशिष्यों की बुद्धि के लिये हितकर (उत्तम, मध्यम तथा साधारण बुद्धिवाले शिष्यों को भी जिससे ज्ञान प्राप्त हो सके), अपगत पुनरुक्त दोषवाला (जिसमें किसी विषय को व्यर्थ में बार-बार न कहा गया हो, एक ही बात को बार-बार कहना पुनरुक्त दोष है, देखें कविराज विश्वनाथ प्रणीत—'साहित्यदर्पण' का दोषप्रकरण), वास्तव में तन्त्रकार की यह मौलिक शैली है कि उन्होंने अपने प्रस्तुत तन्त्र को सूत्र रूप में तदनन्तर व्याख्यान के रूप में लिखा है, उन-उन प्रकरणों के अन्त में 'भवति चात्र' आदि के रूप में पुनः उन-उन विषयों का परिगणन किया है। इन सबका एक ही उद्देश्य है त्रिविधशिष्यहित सम्पादन, ऐसे स्थलों में उस प्रकार के दोष की सत्ता नहीं मानी गयी है, क्योंकि दोष तो वह है जो निष्फल प्रयास होता है।

आर्ष (ऋषियों अर्थात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र तथा त्रिकालज्ञानसम्पन्न विद्वानों द्वारा जो लिखा गया हो), जिसमें पहले सूत्रक्रम से और बाद में उसी विषय का व्याख्यानक्रम से उन उन विषयों का संग्रह किया गया हो, जिसका नाम सुन्दर हो तथा जिसके अध्यायों के नाम विषयों के परिचायक हों, जिस नाम में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि न हो, जो उच्चारण करने में कष्टप्रद न हो, जो नाम अपने से सम्बन्धित विषय-वस्तु का पूर्ण परिचायक हो, जिसमें क्रमशः अपने विषयों का सन्निवेश हो, जो अपने अर्थ के रहस्य को प्रकट करने में समर्थ हो, जो सम्बन्धित अर्थ (विषय) से युक्त हो, जो अन्य निरर्थक विषयों से व्याप्त न हो, अर्थात् जिस प्रकरण की चर्चा प्रारम्भ हो उससे अन्य (अप्राकरणिक) विषयों का जिसमें समावेश न किया गया हो, जो आशुप्रबोधक (शीघ्र समझ में आने योग्य) हो, जिसमें लक्षण और उदाहरणों का ठीक-ठीक निर्देश हो, ऐसे शास्त्र का यथाविधि अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार का शास्त्र निर्मल सूर्य की भांति अर्थात् जिस सूर्य में बादल या ग्रहण न लगा हो, वह जिस प्रकार अन्धकार को दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है उसी प्रकार उक्त शास्त्र का ज्ञान भी मूर्खतारूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञानमय ज्योति से अन्तरात्मा को प्रकाशित कर देता है।

ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत; तद्यथा—पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्त-

१. 'कार्यगुरुलाघवे' इति पा०।
२. 'स्वाधारं शोभनाभिधेयम्, अनवपतितमग्राम्यशब्दं' चक्रः।

भुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्य[1]मनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति। एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्तवो मेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति ॥ ४ ॥

आचार्य-परीक्षा

(Search for Preceptor)

शास्त्र की परीक्षा अर्थात् अमुक शास्त्र सर्वांगपूर्ण है आदि निश्चय कर लेने के बाद आचार्य (गुरु या उपदेशक) की खोज करे। उसकी विधि इस प्रकार है—जिसकी बुद्धि शास्त्रज्ञान में सर्वत्र निर्मल हो अर्थात् जो शास्त्र के प्रत्येक विषय में स्वयं निर्भ्रान्त हो, जिसने शास्त्र के कर्माभ्यास सम्बन्धी विषयों को अनेक बार सम्यक् प्रकार से देखा हो, अर्थात् निदान, चिकित्सा, औषधनिर्माण तथा पञ्चकर्म आदि के प्रयोग किये, कराये हों, दक्ष (Competent—अध्यापन आदि समस्त विषयों में चतुर), दक्षिण (शिष्यों के प्रति सरलता तथा उदारता का भाव रखने वाला), शुचि (शरीर, वाणी तथा मन से सदा पवित्र रहने वाला), जितहस्त चिकित्साकाल में बस्ति आदि के प्रयोग में जिसको घबड़ाहट न होती हो अथवा कुशल चिकित्सक, विशेष देखें—**'जितहस्ताजितात्मानः'**, च० सू० अ० २९) उपकरणवान् (चिकित्सा के प्रयोग में आने वाली सभी प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण) हो, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों से युक्त हो, रोग तथा रोगी की प्रकृति को जानने वाला हो, कर्तव्य को जानने वाला, परिष्कृत ज्ञानसम्पन्न अर्थात् सम्बन्धित अन्य शास्त्रों के ज्ञान से भी युक्त, अहंकार रहित, दूसरे के गुणों में दोष को न देखने वाला, क्रोध न करने वाला, कष्टसहन की क्षमता रखने वाला, शिष्य के साथ प्रेम करने वाला अध्यापक ज्ञान देने में समर्थ होता है। उपर्युक्त गुणों वाला आचार्य उस प्रकार योग्य शिष्य को वैद्य के गुणों से युक्त कर देता है, जिस प्रकार वर्षाकालीन मेघ खेती को सर्वगुण सम्पन्न बना देता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य की अन्तिम पंक्ति का प्रयोग तन्त्रकार ने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है। ध्यान दें—आचार्य को त्रिविध बुद्धि वाले शिष्यों को एक साथ उपदेश देना है और वर्षाकालीन मेघ को भी उत्तम, मध्यम, अधम भूमि पर एक साथ वर्षा करनी है, फल सम्पत्ति अपने-अपने अनुसार सभी को प्राप्त होनी है। गुरु के उपदेश और मेघ के बरसने में कहीं कोई अन्तर नहीं है।

तमुपसृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तः। ततस्तत्प्रसादात् कृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य शास्त्रस्य दृढतायामभिधानस्य सौष्ठवेऽर्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयो भूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ ५ ॥

शास्त्रज्ञान के उपाय

(Means of Learning for Medical Science)

अध्ययन-विधि—उपर्युक्त प्रकार के आचार्य के समीप जाकर गुरु की आराधना करने का इच्छुक शिष्य सावधान होकर उनकी अग्नि, देवता, राजा, पिता तथा स्वामी की भांति सेवा (उपासना) करे। तदनन्तर उनकी कृपा से सम्पूर्ण शास्त्र के ज्ञान को प्राप्तकर शास्त्र की दृढ़ता में, उस ज्ञान में सुन्दरता लाने, अर्थों को समझने तथा वचनशक्ति (उपदेशपटुता) प्राप्त करने में भली-भांति बार-बार प्रयत्न करे।

वक्तव्य—यहाँ गुरु को अग्नि आदि के तुल्य कहने का तन्त्रकार का तात्पर्य यह है कि अग्नि के समान तेज, देवता के समान वरदान, राजा के समान आश्रय, पिता के समान रक्षक और स्वामी के समान स्वत्व प्रदान करने में वह सक्षम होता है। इस परम्परा का अनादर सदैव विनाशकारक होता है।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में पढ़ें—'वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे। तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः' ॥ सु० सू० अ० ३।५६। अर्थात् पढ़ने के बाद प्रतिदिन वाक्योच्चारण की सुन्दरता में, अर्थों को विशेष रूप से समझने में, प्रतिभा (नयी-नयी सूझ) की प्राप्ति में, चिकित्सा सम्बन्धी कार्य की कुशलता में, शास्त्राभ्यास में तथा पूर्ण रूप से शास्त्रीय विषयों की सफलता प्राप्त करने में लगा रहे।

---

१. 'उपस्कृतविद्यम्' इति पा०।

[1]तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः—अध्ययनम्, अध्यापनं, तद्विद्यसम्भाषा चेत्युपायाः ॥ ६ ॥

शास्त्रज्ञान में दृढ़ता प्राप्ति के उपाय—उस सम्बन्ध में कुछ उपायों की व्याख्या करेंगे—अध्ययन (पढ़े हुए विषयों का निरन्तर स्वाध्याय करना), अध्यापन (शिष्यों को उस विषय का ठीक-ठीक उपदेश करना) और तद्विद्यसम्भाषा (समान विषय के ज्ञाता से उसी विषय की चर्चा करना) ये तीन उपाय है।

तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं[2] वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपस्पृश्योदकं देवर्षिगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्तयेद् [3]बुद्ध्वा सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं [4]परदोषप्रमाणार्थं च; एवं मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येत्। इत्यध्ययनविधिः ॥ ७ ॥

अध्ययन-विधि

(Method of Study)

अध्ययन का इच्छुक छात्र स्वस्थचित्त तथा सभी कार्यों से विरत होकर प्रातःकाल अथवा उपव्यूष (कुछ रात शेष रहते) में ही उठकर आवश्यक क्रिया (मल, मूत्र-त्याग, दातौन, कुल्ला) करने के बाद जलस्पर्श करके (हाथ-मुँह धोकर) देवता, ऋषि, गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्यों को नमस्कार करके, समतल तथा पवित्र भूमि में सुखपूर्वक बैठकर, अध्ययन सम्बन्धी अपनी त्रुटियों को दूर करने तथा दूसरों की त्रुटियों को समझने के लिये गुरुमुख से अर्थतत्व को भली-भांति समझकर सावधान मन से आयुर्वेद के सूत्रों का अध्ययन क्रम के अनुसार उनको दुहराता रहे, अर्थात् निरन्तर अभ्यास करता रहे। इसी प्रकार मध्याह्न, अपराह्ण तथा रात्रि में समय को व्यर्थ न बिताते हुए अर्थात् समय का सदुपयोग करते हुए विषय का अभ्यास करता रहे। यह अध्ययन विधि है।

वक्तव्य—यहाँ पर 'कल्य' शब्द का प्रयोग केवल स्वस्थचित्त का ही संकेत नहीं करता अपितु 'वाक्श्रुतिवर्जिते' मौन होकर किसी की बात-चीत न सुनता हुआ ईश्वराराधन की ओर प्रवृत्ति वाला तथा सज्ज, नीरोग, दक्ष, कल्याणवचन, उपायवचन अर्थों की ओर भी संकेत करता है। देखें—'कल्यं प्रभाते क्लीबं स्यात् कल्पो वाक्श्रुतिवर्जिते, सज्जनीरोगदक्षेपु कल्याणवचनेऽपि च ॥ उपायवचनेऽपि स्यात्'। मेदिनी।

कृतक्षणः—यहाँ इस शब्द के अनेक प्रसंगोचित अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। ध्यान दें—कालविशेष का जिसने निर्णय कर लिया है, जिसने अध्ययन का उचित अवसर चुन लिया है, जो उस समय और कोई कार्य न कर रहा हो, जो परतन्त्र (गुरु के अधीन) हो। देखें—'क्षणः कालविशेषे स्यात् पर्वण्यवसरे महे। व्यापारविकलत्वे च परतन्त्रत्वमध्ययोः'। हैमः।

सिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य—'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' तथा 'नमस्कुर्मो नृसिंहाय' के समान यहाँ भी चतुर्थी विभक्ति 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थायिनः'। २।३।१४ सुत्र के अनुसार हुई है।

अथाध्यापनविधिः—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत; तद्यथा—प्रशान्तमार्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठममिन्मिनं धृतिमन्तमनहङ्कृतं[5] मेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनु[6]द्धतमर्थतत्त्वभावकमकोपनमव्यसनिनं शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नमध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलसं सर्वभूतहितैषिणमाचार्यसर्वानुशिष्टि[7]प्रतिकरमनुरक्तं च, एवंगुणसमुदितमध्याप्यमाहुः ॥ ८ ॥

---

१. 'तत्रोपाया व्याख्यास्यन्ते' इति पा०।
२. 'उपव्यूपं किञ्चिच्छेषायां रात्रौ' चक्रः।
३. 'बुद्ध्या' इति पा०।
४. 'परदोषप्रमाणार्थं परकीयाध्ययनदोषज्ञानार्थम्' चक्रः।
५. 'अलङ्कृतं' ग.।
६. 'अनुद्धतवेशम्' इति पा०।
७. 'प्रतिपत्तिकरम्' इति पा०। 'प्रतिकरमाज्ञाकरम्'। चक्रः।

अध्यापन-विधि

(Method of Teaching)

शिष्य परीक्षा—(Test of Student)—अब आयुर्वेद के अध्यापन की विधि का उल्लेख किया जा रहा है—जब आचार्य पढ़ाने का निश्चय कर ले तो उससे पूर्व शिष्य (जिसको अध्ययन करना है) की निम्न प्रकार से परीक्षा ले। वह इस प्रकार है—वह शान्त स्वभाव वाला, उच्च आदर्शों से युक्त, नीच कार्यों को न करने वाला, सीधे नेत्रों वाला अर्थात् जिसके नेत्रों में सरलता तो हो पर चंचलता न हो, सीधे मुख और नासिका वाला, पतली, लालवर्ण तथा स्वच्छ जीभ वाला (जिससे उसका उच्चारण स्पष्ट हो सके), जिसके दांत और होंठ विकृत न हों, जो मिनमिन (अस्पष्ट या नाक से बोलने वाला) न हो, धैर्यसम्पन्न, अहंकार भावना रहित, मेधावी (धारणाशक्ति वाला), वितर्क (Argument) तथा स्मृति (Remembrance) से युक्त, उदार मनवाला अर्थात् अपने पराये की संकीर्णता से दूर रहने वाला, आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन करने वाले वंश में उत्पन्न, अथवा वैद्यों के आचार-व्यवहार से परिचित, शास्त्रीय रहस्य को जानने का इच्छुक, अधिकृत शरीर के अवयवों वाला, सभी इन्द्रियों से युक्त होने पर भी किसी इन्द्रिय में कोई विकार न हो, निभृत (गुरु के उपदेश को सुरक्षित रखने वाला), विनम्र, अर्थ के रहस्य को जानने के लिये उत्सुक, अक्रोधी, किसी प्रकार का दुर्व्यसन न करने वाला, शील, पवित्रता, सदाचार, अनुराग, चतुरता, गुरु के प्रति सरलता तथा अध्ययन की कामना करने वाला, अर्थ समझने तथा प्रयोगात्मक कार्यों को देखने में दूसरे कार्यों से मन को हटाकर एकाग्रचित्त हो जाने वाला, सभी प्राणियों का हितचिन्तक, आचार्य की सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करने वाला और गुरु के प्रति श्रद्धा वाला, इन सभी गुणों से युक्त शिष्य को उपदेश देना चाहिये, ऐसा आचार्यों का कथन है।

वक्तव्य—आजकल जो उच्च कक्षाओं में छात्र-प्रवेश के लिये स्पर्धा-परीक्षा (Competitive Examination) ली जाती है, वह इस प्राचीन शिष्य-परीक्षा का अनुकरण मात्र है। इससे योग्यता परीक्षा भले ही हो जाती हो किन्तु चारित्रिक गुणों का परिज्ञान नहीं हो पाता, जिनका कुप्रभाव चिकित्सा-काल में विविध प्रकार से देखने को मिलता है। भगवान् धन्वन्तरि ने इस विषय का वर्णन सुश्रुत सू० अ० २ (शिष्योपनयनीय) में किया है। वास्तव में द्विजातियों में जो उपनयन संस्कार का प्रचलन है उसका यही रहस्य है—'गुरोः—उप=समीपे नयनम्=उपनयनम्', वेदादि शास्त्रों के अध्ययन के लिये छात्र को विशेष संस्कारों से युक्त करना ही **'उपनयन'** है।

एवंविधमध्ययनार्थिनमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्योऽनुभाषेत—उदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्यहस्तश्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते मुण्डः कृतोपवासः स्नातः काषायवस्त्रसंवीतः सगन्धहस्तः समिधोऽग्निमाज्यमुपलेपनमुदकुम्भान् माल्यदामदीपहिरण्यहेम[1]रजतमणिमुक्ताविद्रुमक्षौमपरि[2]धीन् कुशलाजसर्षपाक्षतांश्च शुक्लानि सुमनांसि ग्रथिताग्रथितानि मेध्यान् भक्ष्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्वेति ॥ ९ ॥

अध्यापन-सत्र का प्रारम्भ (Begining of Teaching Session)—उक्त प्रकार के छात्रगुणों से सम्पन्न, अध्ययन के लिये उपस्थित तथा गुरु की प्रार्थना करने वाले शिष्य से आचार्य कहे—उत्तरायण (मकर-संक्रान्ति से लेकर कर्क-संक्रान्ति के पूर्व तक के छः महीनों के काल को उत्तरायण कहते हैं) में, शुक्लपक्ष में, शुभ दिन में, तिष्य (पुष्य), हस्त, श्रवण, अश्विनी नक्षत्रों में से किसी एक नक्षत्र के साथ योग होने पर, भगवान् चन्द्रमा के अनुकूल होने पर शुभकरण में, मित्र नामक ३ रे मुहूर्त में, मुण्डन (चौल) संस्कार कराकर, उपवास किया हुआ, स्नान किया हुआ, काषाय (गेरुआ) रंग का वस्त्र धारण किया हुआ, हाथ में गन्ध द्रव्यों को लिया हुआ, समिधायें, अग्नि, घी, लेपन द्रव्य (गोबर आदि), जलपूर्ण कलश, माला, दाम (String) दीपक, सुवर्ण, स्वर्ण के आभूषण, चांदी, मणि, मुक्ता (मोती), प्रवाल, क्षौम (अलसी के तन्तुओं से बनाये गये

१. 'हिरण्यशब्देनाघटितं हेम गृह्यते, हेमशब्देन च घटितम्' चक्रः।

२. 'परिधयो होमकुण्डचतुःपार्श्वे स्थाप्याः पलाशादिदण्डा उच्यन्ते' चक्रः।

वस्त्र) अथवा रेशमी वस्त्र, परिधि (होमकुण्ड के चारों ओर लगाये जाने वाले पलाश दण्ड), कुश, लाज (खील), सरसों, अक्षत, सफेद फूल (कुछ माला के रूप में गुंथे हुए, कुछ बिना गुंथे हुए) बुद्धिवर्धक भक्ष्य पदार्थ और घिसा हुआ चन्दन इन सभी वस्तुओं को लेकर हमारे समीप आओ।

वक्तव्य—उक्त गद्य में जिन अयन, पक्ष, दिन, नक्षत्र आदि की चर्चा की गयी है, यह कर्मकाण्ड के अनुसार चौल तथा उपनयन-संस्कार-कर्म हैं। इनका सम्बन्ध ज्योतिषशास्त्र से है, अतः चौल तथा उपनयन मुहूर्त देखें। दिन के मुहूर्तों में मित्र नामक ३ रा मुहूर्त होता है। **'प्रशस्तेऽहनि'**—इसका तात्पर्य है इतने प्रकार के तिथि, नक्षत्र आदि जिस दिन शुभ मिलें, वही शुभ दिन है। **'कृतोपवासः'**—जिस दिन यह संस्कार हो रहा है उस दिन उपवास किया हो। **क्षौम**—'अतसी स्यादुमा क्षुमा'। अमरकोष। 'क्षुमायाः विकारः = क्षौमम्'। या कौशेयवस्त्र। **परिधीन्**—'परिधिर्यज्ञियतरोः शाखायाम्'। अमरकोष।

[1]स तथा कुर्यात् ॥ १० ॥

वह (शिष्य) गुरु के आदेशानुसार व्यवहार करे।

तमुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रवणे उदक्प्रवणे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्णं [2]सुपरिहितं परिधिभिश्चतुर्दिशं यथोक्तचन्दनोदककुम्भक्षौमहेमहिरण्यरजत-मणिमुक्ताविद्रुमालङ्कृतं मेध्यभक्ष्यगन्धशुक्लपुष्पलाजसर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा, तत्र पालाशीभिरैङ्गुदी-भिरौदुम्बरीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिर्जुहुयादग्निमाशीःसम्प्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माणमग्निं धन्वन्तरिं प्रजापतिमश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति ॥ ११ ॥

तदनन्तर—समस्त सामग्री सहित शिष्य को समीप में आया हुआ जानकर समतल तथा पवित्र स्थान पर, जो स्थान पूर्व या उत्तर की ओर कुछ झुका-सा हो, चार हाथ चौकोर स्थण्डिल (वेदी) को गोबर और जल से लीपकर, कुशों को बिछा कर परिधियों (काष्ठविशेष) से चारों ओर से उस स्थण्डिल को घेर कर, ऊपर कहे गये चन्दन, जलकुम्भ, क्षौमवस्त्र, सुवर्ण, सोने के आभूषण, चांदी, मणि, मोती, मूंगा आदि के अलंकरणों से सुशोभित, मेधा को बढ़ाने वाले भक्ष्य पदार्थ, गन्ध, सफेद फूल, लाज (खील, लावा), सरसों, अक्षत (अखण्डित चावल) आदि से सुशोभित करके वहाँ पलाश, हिंगोट, गूलर या महुआ की समिधाओं (लकड़ियों) से अग्नि का आधान कर (आग जलाकर), पूर्व की ओर मुख करके पवित्र होकर अध्ययन की विधि के अनुसार ब्रह्मा, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र तथा सूत्रकार ऋषि इन सबको अभिमन्त्रित करके आशीर्वाद युक्त मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पहले आचार्य स्वाहा कहकर मधु और घी की तीन-तीन आहुतियाँ दें।

वक्तव्य—इस प्रकार के यज्ञ आदि का विधान गृह्यसूत्रों में द्रष्टव्य है। **वेदी**—स्थण्डिल या कुण्ड रूप से दो प्रकार की होती है। इसके सभी विधान कर्मकाण्ड के विषय हैं। ऋषियों तथा सूत्रकारों का विस्तृत विवेचन भी उक्त ग्रन्थों में सुलभ है। **हिरण्यहेम**—'स्यात् कोषश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते'। अमरकोषः। विशेष द्रष्टव्य—सु० सू० अ० २।

शिष्यश्चैनमन्वालभेत। हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् ततोऽनुपरिक्रम्य ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्; भिषजश्चाभिपूजयेत् ॥ १२ ॥

शिष्य के कर्तव्य—गुरु के हवन कर लेने के पश्चात् शिष्य गुरु का अनुसरण करे अर्थात् गुरु के बाद शिष्य हवन करे और हवन करके उस यज्ञीय अग्नि के दाहिनी ओर से उसकी प्रदक्षिणा करे। परिक्रमा (प्रदक्षिणा) करके ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराये और उपस्थित चिकित्सक समाज का भी पूजन करे।

वक्तव्य—'शिष्यश्चैनमन्वालभेत'। विग्रह—शिष्यः च एनं=गुरुम्, अनु आलभेत। यहाँ अनु आ उपसर्ग पूर्वक डुलभष् प्राप्तौ भ्वा० आ० अ० धातु के विधिलिङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। इसी धातु से

१. 'अथ सोऽपि तथा' इति पा०।

२. 'सुपविहितं' ग०।

आङ् उपसर्ग पूर्व में रहने पर 'आलम्भन' शब्द का अर्थ 'वध' होता है किन्तु यहाँ अनु उपसर्ग के संयोग हो जाने से इसका अर्थ 'गुरु के अनुकूल आचरण करना है'। सचमुच—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'।

अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानुशिष्यात्—ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा सत्यवादिनाऽमांसादेन मेध्यसेविना निर्मत्सरेणाशस्त्रधारिणा च भवितव्यं, न च ते मद्वचनात् किञ्चिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात् प्राणहराद् विपुलादधर्म्यादनर्थसम्प्रयुक्ताद् वाऽप्यर्थात्; मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्तिना च शश्वद्भवितव्य, पुत्रवद् दासवदर्थिवच्चोपचरताऽनुवस्तव्योऽहम्[1], अनुत्सेकेनावहितेनानन्यमनसा विनीतेनावेक्ष्यावेक्ष्यकारिणाऽनसूयकेन चाभ्यनुज्ञातेन[2] प्रविचरितव्यम, अनुज्ञातेन (चाननुज्ञातेन च) प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यं, कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता भिषजा त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यमहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च, सर्वात्मना चातुराणामारोग्याय प्रयतितव्यं, जीवितहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यं, मनसाऽपि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं निभृतवेशपरिच्छदेन भवितव्यम् अशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्यधन्यसत्यहितमितवचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसम्पत्सु नित्यं यत्नवता च; न च कदाचिद् राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वाऽप्यौषधमनुविधातव्यं तथा सर्वेषामत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोपचाराणामनपवाद[3]प्रतिकाराणां मुमूर्षूणां च, तथैवासन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां वा; न च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राऽथवाऽध्यक्षेण, आतुरकुलं चानुप्रविशता विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्धं पुरुषेण सुसंवीतेनावाक्शिरसा स्मृतिमता स्तिमितेनावेक्ष्यावेक्ष्य मनसा सर्वमाचरता सम्यगनुप्रवेष्टव्यम्; अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित् प्रणिधातव्यान्यत्रातुरादातुरोपकारार्थादातुरगतेष्वन्येषु वा भावेषु, न चातुरकुलप्रवृत्तयो बहिर्निश्चारयितव्याः, ह्रसितं चायुषः प्रमाणमातुरस्य जानताऽपि त्वया न वर्णयितव्यं तत्र यत्रोच्यमानमातुरस्यान्यस्य वाऽप्युपघाताय सम्पद्यते; ज्ञानवताऽपि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम्, आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके ॥ १३ ॥

तदन्तर—वैद्य पूजन के बाद इसको अग्नि, ब्राह्मण तथा आयुर्वेद के आचार्य की उपस्थिति में शिक्षा दे—ब्रह्मचारी को दाढ़ी-मोंछ रखने वाला, सत्यवादी, मांस न खाने वाला, बुद्धिवर्धक पदार्थों को खाने वाला, निर्मत्सर (दूसरे के उत्कर्ष को देखकर द्वेष करने वाला) और तलवार आदि शस्त्र को धारण न करने वाला होना चाहिये। मेरी आज्ञानुसार जो भी तुम करोगे वह सब उचित ही होगा, अतः तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। ध्यान रखो कि मेरे कहने पर भी राजा से द्वेष, प्राणनाशक, अत्यन्त अधर्मकारक तथा अनर्थ (अहित) कारक मेरे वचनों (आदेशों) का पालन मत करना। राजद्विष्टात् से लेकर अर्थात् तक कहे गये आचार्य के वचन उसकी स्पष्टवादिता के परिचायक हैं। साथ ही जहाँ शिष्य का गुरु के वचनों पर निर्भर रहना ही परम धर्म है, वहाँ उक्त प्रकार का आज्ञा पालन न करना भी धर्मानुकूल है।

भिक्षा द्वारा जो भी तुमको मिले वह सब मुझे अर्पित करो, सभी स्थानों पर मुझे प्रधान समझो, मेरे अधीन रहो, मेरा प्रिय और मेरा हित जिन कार्यों से हो उन्हीं का निरन्तर आचरण करने वाले बनो, पुत्र के समान, सेवक के समान तथा अर्थी (धन के इच्छुक) की भांति व्यवहार करते हुए मेरे साथ तुम्हें निवास करना चाहिये। तुम्हें उत्सुकतारहित अर्थात् स्थिरचित्त होकर, सावधान, मन लगाकर, नम्रभाव, देख-देख कर कार्य करने वाला, दूसरे के गुणों में दोष को न देखने वाला होकर रहना चाहिये और मुझसे आज्ञा लेकर ही इधर-उधर जाना चाहिये, बिना आज्ञा के कहीं नहीं जाना चाहिये। आज्ञा प्राप्त करके भी जब तुम कहीं जाने लगो तो उसमें भी पहले गुरु के (मेरे) कार्य को करने का यथाशक्ति प्रत्यन्त करना चाहिये। कर्म (चिकित्सा-कार्य) में सिद्धि,

१. 'अनुसर्तव्योऽहम्' इति पा०। 'अनुवस्तव्यं' ह०।

२. 'न चानभ्यनुज्ञातेन' ह.।

३. '०मल्पवादप्रतीकाराणाम्' इति पा०।

अर्थ (धर्म, अर्थ, काम) में सिद्धि, सुयश की प्राप्ति तथा मृत्यु होने के पश्चात् स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले तुझ (वैद्य) को सर्वप्रथम गाय, ब्राह्मण उनके बाद सभी जीवधारियों की शुभकामना प्रतिदिन उठते-बैठते करनी चाहिये। सभी प्रकार से रोगियों के स्वास्थ्य-लाभ के लिये प्रत्यत्न करना चाहिये, अपनी आजीविका के लिये भी रोगियों से द्रोह नहीं करना चाहिये, अर्थात् यदि कोई ऐसा निर्धन रोगी आ जाय जिसकी चिकित्सा करने से चिकित्सक को किसी प्रकार का अर्थ-लाभ न हो तब भी उसकी चिकित्सा मन लगाकर करे परन्तु उससे वैर न करे। मन से भी परस्त्रीगमन न करे तथा परायी किसी प्रकार की सम्पत्ति को लेने की इच्छा न करे।

चिकित्सक का वेश (परिधान) इस प्रकार का होना चाहिये जिससे उसकी विनयशीलता प्रकट हो, मद्यपान न करने वाला, पुण्यकार्य करने वाला, पापियों का सहवास न करने वाला, अर्थात् धर्मशास्त्रों में जितने प्रकार के पापियों का वर्णन है, उन सभी से दूर रहने वाला, श्लक्ष्ण (मधुर), निर्दोष, धर्म के अनुकूल, कल्याणकारक, यशोवर्धक, सत्य, हितकारक तथा परिमित वचनों को बोलने वाला, देश-काल का विचार करने वाला, स्मृति वाला, ज्ञान (रोग परिचय), उत्थान (निदान), उपकरण (औषध आदि) इनकी जानकारी के प्रति प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहना चाहिये और न कभी ऐसे लोगों की ही चिकित्सा करनी चाहिये, जिनसे राजा द्वेष करता हो (चोर, लुटेरे, व्यभिचारी आदि), या जो राजा (राजकीय अधिकारियों) से द्वेष करते हों जिनसे महाजन (सम्पत्तिशाली) द्वेष करते हों या जो महाजनों से द्वेष करते हों, उन पुरुषों की भी चिकित्सा न करें। जिनका रोग अत्यन्त बिगड़ चुका (उपद्रवों से युक्त हो), जो स्वभाव से दुष्ट हों, जो दुःखी रहते हों, जिनका आचरण अच्छा न हो, जो चिकित्सा क्रम में तत्परता न रखते हों अर्थात् लापरवाही करते हों, जो अनपवाद प्रतिकार हों अर्थात् चिकित्साकाल में आये हुए उपद्रवों को दूर करने या कराने में शक्ति न रखते हों।

जैसे—यथोचित रोगी को आराम दिलाने अथवा चिकित्सा में होने वाले व्यय को जुटाने में जो असमर्थ हों और जो मृत्यु के समीप पहुँच चुके हों या जो मरने की इच्छा से काशीवास करने आ गये हों, जिनके संरक्षक समीप में न हों, जैसे—किसी स्त्री का पति, पुत्र का पिता यदि चिकित्साकाल में पास में न हो तो उसको भर्ता न करें अथवा संरक्षक की अनुमति प्राप्त किये बिना चिकित्सा प्रारम्भ न करें, स्त्री द्वारा दिया हुआ मांस उसके पति या स्वामी (अध्यक्ष) की आज्ञा के बिना कभी भी नहीं लेना चाहिये। रोगी के घर में प्रवेश करते समय इन बातों का ध्यान रखे—परिचित घर में प्रवेश करे या परिचित पुरुष के साथ आज्ञा प्राप्त करके साफ सुथरे वस्त्र धारण करके नीची नजर करके, स्मरणशक्ति को ठीक करके, सुस्थिर चित्त होकर, चिकित्सा के सम्बन्ध में प्रत्येक विषय को विचार-विचार के, मन से (मन लगाकर) सभी कार्यों को करते हुए प्रवेश करे।

घर के भीतर प्रवेश करने के बाद वाणी, मन, बुद्धि और इन्द्रियों का प्रयोग रोगी की चिकित्सा में ही करे नकि रोगी के घर की अन्य वस्तुओं को देखने आदि में, रोगी के कुल की मर्यादाओं की चर्चा बाहर किसी से भी न करे। रोगी की आयु का प्रमाण कम रह गया है अर्थात् अब रोगी ज्यादा समय तक नहीं बच सकता ऐसा जानने पर भी तुम्हें इस बात को नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा कह देने पर रोगी या रोगी के किसी आत्मीय जन का अहित (विनाश) हो सकता है, जानकार चिकित्सक भी अपनी जानकारी के सम्बन्ध में प्रशंसा न करे। आप्त (प्रामाणिक) व्यक्ति भी यदि अपनी अधिक प्रशंसा करने लगता है तो उससे भी बहुत से लोग घबड़ा जाते हैं।

न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्, एतच्च कार्यम्, एवंभूयश्च [1]वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यं, कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्, अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं [2]लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।

अनन्त आयुर्वेद—आयुर्वेद की कोई सीमा नहीं है, अर्थात् वह समुद्र की भांति अपार और अथाह है। अतः इस शास्त्र के अध्ययन के प्रति सर्वदा सावधान होकर प्रयत्न करते रहना चाहिये। यह जो इस प्रकरण

१. एतच्चैवं कार्यमेवं भूयः प्रवृत्तस्य सौष्ठवमनसूयता' ग.।

२. 'लौकिकम्' ग.।

में अध्ययन-विधि के सम्बन्ध में कहा गया है, उसको करना चाहिये। और भी कुछ नियम हैं—दूसरों से भी सत् चरित्र, दूसरे के गुणों में दोषारोपण न करना सीखना चाहिये, क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषों का तो सम्पूर्ण संसार ही आचार्य (गुरु, उपदेष्टा) है, और वही संसार मूर्खों का शत्रु है। इसलिये भली-भांति देखकर बुद्धिमान् को चाहिये कि वह शत्रु के भी धन्य (धन को बढ़ाने वाले), यशोवर्धक, आयुर्वर्धक, शक्तिवर्धक, लोकहितकारक वचनों का अनुसरण करे, अर्थात् शत्रु के भी हितकर वचनों का पालन करे।

वक्तव्य—आर्षग्रन्थ मानव मात्र के हितकारक होते हैं। इसलिये संसार की सभी गतिविधियाँ मानव मात्र को ज्ञान का उद्बोधन कराती हैं। यह तन्त्रकार का समष्टि उपदेशक्रम है। 'शत्रुश्चाबुद्धिमताम्'—इसी आशय को चाणक्य के शब्दों में पढ़ें—'अमित्रादपि सद्वृत्तम्'। चाणक्यनीति।

आयुर्वेद की निःसीमता की चर्चा अनेक स्थानों पर वर्णित है। यहाँ पर इस अंश को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि अध्ययन विधि में यहाँ जिन नियमों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त भी जो अध्ययन की शास्त्रीय विधियाँ हैं उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। उन उपदेशों का प्रमादरहित होकर पालन करना चाहिये। इसका समर्थन भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में पढ़ें— 'एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्। तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥ सुश्रुत सू० अ० ४ श्लो० ७।

अतः परमिदं ब्रूयात्—देवताग्निद्विजगुरुवृद्धसिद्धाचार्येषु ते नित्यं सम्यग्वर्तितव्यं तेषु ते सम्यग्वर्तमानस्यायमग्निः सर्वगन्धरसरत्नबीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युः, अतोऽन्यथा वर्तमानस्याशिवायेति। एवं ब्रुवति चाचार्ये शिष्यः 'तथा' इति ब्रूयात्। यथोपदेशं च कुर्वन्नध्याप्यः, अतोऽन्यथा त्वनध्याप्यः। अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्यो यथोक्तैश्चाध्यापनफलैर्योगमाप्नोत्यन्यैश्चानुक्तैः श्रेयस्करैर्गुणैः शिष्यमात्मानं च युनक्ति। इत्यध्यापनविधिरुक्तः॥ १४॥

तदनन्तर—इतना उपदेश देने के पश्चात् गुरु शिष्य से यह कहे—तुम्हें देवता (कुल देवता या इष्ट देवता), अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, विद्या, वय आदि में वृद्ध, सिद्ध तथा आचार्यों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिये। उन देवता, अग्नि आदि के प्रति उचित व्यवहार करने से यह अग्निदेव, सभी गन्ध, रस, रत्न तथा बीज यथोक्त देवता तुम्हारे लिये कल्याणकारक होंगे, इसके विपरीत यदि तुम आचरण करोगे तो अशिव (अकल्याण) कारक होंगे, अर्थात् तुम विपरीत आचरण मत करना। इस प्रकार आचार्य के उपदेश करने पर शिष्य 'तथा' कहे, अर्थात् मुझे आपकी सभी आज्ञाएँ स्वीकार हैं, मैं तदनुकूल ही व्यवहार करूँगा ऐसा कहे। जैसा ऊपर उपदेश दिया गया है वैसा यदि शिष्य प्रतिज्ञा करने के बाद आचरण करे तभी उसको पढ़ाना चाहिये। विपरीत व्यवहार करने पर नहीं पढ़ाना चाहिये। इस प्रकार पढ़ने योग्य शिष्य को पढ़ाता हुआ आचार्य अध्यापन के सम्पूर्ण फलों (स्वयं शास्त्राभ्यास, यश, पुण्य आदि) से युक्त हो जाता है और जो अध्यापन के कल्याणकारक गुण यहाँ नहीं कहे गये हैं उन गुणों से भी शिष्य तथा अपने को जोड़ देता है। इस प्रकार आयुर्वेद के अध्यापन की विधि का वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—उक्त अध्यापन-विधि में शास्त्रज्ञ गुरु चरित्रवान् शिष्य को उपदेश दे, इस बात की चर्चा की गयी है। वास्तव में उत्तम गुरु सुपुष्ट बीज के समान और चरित्रवान् शिष्य योग्य क्षेत्र के समान है। इनका संयोग फल संपत्-समृद्धि का स्वरूप है। इसके विपरीत अध्ययन-अध्यापन केवल व्यवसाय है।

सम्भाषाविधिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः—भिषक् भिषजा सह सम्भाषेत। तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणाच्छ्रुतसंशयमपकर्षति, श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति, अश्रुतमपि च कञ्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति, यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत् परस्परेण सह जल्पन् [1]पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्, तस्मात् तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः॥ १५॥

१. 'पण्डेन स्वपाण्डित्यप्रकाशनेन' गङ्गाधरः। 'पिण्डेन सारोद्धारेण' चक्रः।

तद्विद्यसम्भाषा-परिषद्
(Seminars & Symposia of Experts)

सम्भाषा-विधि-वर्णन—इसके आगे अब हम संभाषाविधि की व्याख्या करेंगे। भिषक् (आयुर्वेदज्ञ) को भिषक् के साथ शास्त्रीय विषय की चर्चा करनी चाहिये। तद्विद्यसम्भाषा (वही विद्या जिन लोगों की है ऐसे दो या अधिक विद्वानों की उस विद्या के सम्बन्ध में की जाने वाली शास्त्रीय चर्चा, अर्थात् वैद्य-वैद्य से, वैयाकरण-वैयाकरण से, तार्किक-तार्किक से आदि, इन्हीं को परस्पर 'तद्विद्य' कहते हैं)। अधीतज्ञानराशि को चारों ओर उद्बुद्ध (जागृत) करती है, यह सभा चतुरता को उत्पन्न करती है, वचनशक्ति (विद्वानों के समक्ष अपनी बात कहने की क्षमता) पैदा करती है, यश का विस्तार करती है, पहले सुने हुए सन्दिग्ध विषय को पुनः सुनने के कारण संन्देह की निवृत्ति भी होती है, अर्थात् अध्ययन काल में जिस विषय में किसी प्रकार का संदेह रह जाता है, संभाषापरिषद् में उस विषय पर विचार होने से उक्त सन्देह दूर हो जाता है। शास्त्रज्ञान में जिसको सन्देह नहीं है उसके लिये यह परिषद् आत्मविश्वास अर्थात् पढ़े हुए विषय के प्रति स्थिरता उत्पन्न कराती है, कभी-कभी अध्ययनकाल में न सुने हुए किसी विषय को सुनने का अवसर प्रदान करती है। जिस विषय का उपदेश प्रसन्न होकर गुरु-सेवा करने तथा अध्ययन में मन लगाने वाले शिष्य को क्रमपूर्वक (धीरे-धीरे) करना है, उस सुगुप्त (Secret) तथा इच्छित विषयसमूह को वह विपक्षी पूर्वपक्ष वाले के जीतने की इच्छा से संक्षेप रूप में प्रसन्नतावश कह डालता है। इसलिये विद्वज्जन तद्विद्यसम्भाषा की प्रशंसा करते हैं।

वक्तव्य—एक ही विद्या के विशेषज्ञों की ज्ञानवर्धन के उद्देश्य से की गयी शास्त्रीय ऊहापोह युक्त बातचीत को 'तद्विद्यपरिभाषा' कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में यह परिषद् चिकित्सक चिकित्सक के साथ करे, ऐसा तन्त्रकार का आदेश है। यह परिषद् शास्त्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का प्रकार है।

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसम्भाषा भवति—सन्धायसम्भाषा, विगृह्यसम्भाषा च॥ १६॥

सम्भाषा के भेद—उपयुक्त तद्विद्यसम्भाषा दो प्रकार की होती है—१. सन्धायसम्भाषा और २. विगृह्यसम्भाषा।

वक्तव्य—१. सन्धायसम्भाषा का ही दूसरा नाम अनुलोम (प्रश्न के अनुकूल) सम्भाषा भी है। इसमें चर्चा सन्धि (मित्र) भाव से होती है, अत एव इसका उक्त नामकरण किया है। अतः इस चर्चा द्वारा किसी तथ्य का निर्णय किया जा सकता है। २. विगृह्यसम्भाषा को प्रतिलोम सम्भाषा भी कहते हैं। इसमें परस्पर एक दूसरे को पराजित करने का ही प्रयत्न करता है, अतः यह अर्थकरी नहीं होती है। क्योंकि इसमें वादी (पूर्वपक्षी) की बात का सही दृष्टिकोण का ग्रहण न करके प्रतिवादी विपरीत अर्थ का ग्रहण कर उसे अपने उत्तरों द्वारा पराजित कराना चाहता है। उक्त दोनों सम्भाषा का स्वरूप आगे दिया जा रहा है।

तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धायसम्भाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विस्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि च विस्रब्धः पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय [1]विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत्, निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत्, सम्यक् [2]चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात्। इत्यनुलोमसम्भाषाविधिः॥ १७॥

सन्धाय-सम्भाषा
(Friendly Discussion)

संधायसम्भाषा-प्रकार—शास्त्रीय ज्ञान तथा विज्ञान युक्त पूर्वपक्ष एवम् प्रतिवचन (उत्तरपक्ष) की शक्ति से पूर्ण, क्रोधरहित, जिसकी विद्या दूषित न हो, जो दूसरे के गुणों में दोष बुद्धि न रखता हो, विनययुक्त, दूसरों को समझा-बुझा लेने में चतुर, सहनशील तथा मधुर भाषण करने वाले के साथ सन्धाय-सम्भाषा का व्यवहार किया जाता है। ध्यान दें—सन्धाय-सम्भाषा के दोनों पक्षों में स्थित व्यक्तियों में उक्त गुण होने

१. 'विशदमर्थजातम्' ग.।
२. 'चानुनयेन्नानुनीयेत, अनुनयाच्च परम्' यो.।

चाहिये। इस प्रकार के गुणों से युक्त विद्वान् अपने समान गुण-शील विद्वान् से जो कुछ भी चर्चा करे निश्चिन्त होकर, विश्वासपूर्वक करे, जो कहना हो उसको भली-भांति कहे। पूछना भी हो तो विश्वास के साथ पूछे, उसका भी कर्तव्य है कि इस पूछने वाले को स्पष्ट रूप से समझा दे, कहीं मैं इससे वाद में पराजित तो नहीं हो जाऊँगा, इस भय से घबड़ाये नहीं, यदि पूर्ववक्ता हार जाय या ठीक-ठीक समाधान न कर सके तो इसको हारा हुआ समझ कर प्रसन्न नहीं होना चाहिये, इसके हार जाने की चर्चा भी दूसरों को नहीं सुनानी चाहिये और मूर्खता के कारण एक (अपनी) ही बात पर हठ करके नहीं बैठ जाना चाहिये क्योंकि 'एकोग्रहस्तु मूर्खाणां नीलीमद्यपयोरपि', दुराग्रह मूर्ख ही करता है। परिषद् में ऐसे विषय की चर्चा न करे, जिसका उसको स्वयं ज्ञान न हो। अपने सद्व्यवहार से ही दूसरे पक्ष के वक्ता से अपनी बातें को स्वीकार कराये, अर्थात् किसी शास्त्रीय तथ्य के निर्णय में अन्ततोगत्वा दोनों एक ही मत को स्वीकार कर लें, उस विनयगुण की रक्षा में सर्वदा सावधान रहे, अर्थात् किसी स्थिति में विनय का अतिक्रमण न हो। यह अनुलोम (सन्धाय) सम्भाषा-विधि है।

अत ऊर्ध्वमितरेण सह [1]विगृह्यसम्भाषायां जल्पेच्छ्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्। प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तरं परावरान्तरं[2] परिषद्विशेषांश्च सम्यक् परीक्षेत। सम्यक्परीक्षा हि बुद्धिमतां कार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ शंसति, तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमान् जल्पकगुणाञ् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक्; तद्यथा—श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरिति, एतान् गुणाञ् श्रेयस्करानाहुः; इमान् पुनर्दोषवतः, तद्यथा—कोपनत्वमवैशारद्यं भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति। एतान् गुणान् गुरुलाघवतः परस्य चैवात्मनश्च [3]तुलयेत् ॥ १८ ॥

विगृह्य-सम्भाषा

(Un-friendly Discussion)

विगृह्य-सम्भाषा प्रकार—सन्धायसम्भाषा के पश्चात् सम्भाषा का दूसरा प्रकार है—विगृह्यसम्भाषा। इसका प्रयोग करते समय वादी को प्रतिवादी की योग्यता तथा अयोग्यता का विचार कर लेना चाहिये, जिन विषयों में वह अयोग्य हो और प्रतिवादी स्वयं योग्यता रखता हो उन्हीं विषयों पर अपना हित देखता हुआ विगृह्य (प्रतिलोम) सम्भाषा का प्रयोग करे। जल्प (Talk) को प्रारम्भ करने के पहले ही अपने तथा दूसरे के पक्ष के वादी-प्रतिवादियों और सभासदों एवं निर्णायकों की योग्यता का भली-भांति ज्ञान कर ले कि ये किस-किस विषय की कितनी योग्यता रखते हैं। इस प्रकार की गयी परीक्षा बुद्धिमानों के कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की सूचना देती है, इसलिये वाद-विवाद के पूर्व उक्त प्रकार से की गयी परीक्षा की कुशल (सभाचतुर) विद्वान् प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार परीक्षा करते समय जल्पकों (उभय पक्ष के बोलने वालों) के गुणों अथवा दोषों (योग्यता-अयोग्यता) कौन गुण श्रेयस्कर है और कौन दोष हानिकर है, इनकी भी ठीक परीक्षा करे। जैसे—श्रुत (वादी को एक ही शास्त्र का ज्ञान है या तत्सम्बन्धी अनेक शास्त्रों का), विज्ञान (शास्त्रों के सिद्धान्त पक्ष, कर्माभ्यास तथा औषध-निर्माण आदि), धारण (वादी मेधावान् है, अर्थात् कही गयी बातें उसे याद रहती हैं,) प्रतिभा-सम्पन्नता, वचनशक्ति (भाषा पर अधिकार होना शास्त्रीय ज्ञान को अपनी बातों द्वारा व्यक्त कर सकता हो) वादी में उक्त गुण उसकी विजय के लिये श्रेयस्कर कहे गये हैं।

आगे कहे गये विषय को जल्पक का दोष माना जाता है, जैसे—किसी वाद के उपस्थित होते ही उत्तर न देकर क्रुद्ध हो जाना, अवैशारद्य (विषय का समीचीन ज्ञान न होना), अकारण विपक्षी से भयभीत होना, अधारणत्व (पूर्वपक्ष वाले द्वारा कहे गये पक्ष को भूल जाना), अनवहितत्व (प्रश्नोत्तर काल में असावधान रहना), इन गुणों तथा दोषों को जो गुरुता तथा लघुता प्रदान करते हैं, कितने दूसरों में हैं और कितने मुझ में हैं, इस बात की तुलना करके तभी प्रतिलोम सम्भाषा में भाग ग्रहण करे। इस प्रकार जो भाग लेते हैं, वे विजयी होते हैं।

---

१. 'विगृह्य सम्भाषेत' ग.।

२. 'जल्पान्तरमिति सामयिकसर्वार्थादिविशेषितं जल्पविशेषं, परावरान्तरमिति प्रतिवादिन आत्मनश्च प्रतिभादिविशेषमित्यर्थः' चक्रः।

३. 'तोलयेत्' इति पा०।

वक्तव्य—उपर्युक्त विगृह्यसम्भाषा में वादी-प्रतिवादी दोनों के लिये समान रूप से एक दूसरे के गुण-दोषों को परखने का संकेत किया है। क्योंकि विगृह्यसम्भाषा के लिये तय्यार दोनों ही पक्ष एक दूसरे को जीतना चाहते हैं। अतः जब तक कोई पक्ष दूसरे की दुर्बलता (Weak Point) नहीं पायेगा तब तक उसको जीत नहीं सकता। गुणों को जानने की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि विजय का इच्छुक उन-उन विषयों की चर्चा ही प्रारम्भ नहीं करेगा। इस सम्भाषा से किसी प्रकार का हित नहीं होता।

तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते—प्रवरः, प्रत्यवरः, समो वा, गुणविनिक्षेपतः; नत्वेव कार्त्स्न्येन ॥

प्रतिवादी के भेद—गुणों के अनुसार पर (प्रतिवादी या प्रतिपक्षी) तीन प्रकार का होता है, यथा—१. प्रवरः (उत्तम), २. प्रत्यवरः (अधम) और ३. सम। वादी-प्रतिवादियों के ये भेद केवल वाद की दृष्टि से किये गये हैं नकि सभी (जाति, गुण, कुल, शील आदि) दृष्टियों से। इन दृष्टियों से तो और भी अनेक भेद हो सकने हैं।

परिषत्तु खलु द्विविधा—ज्ञानवती, मूढपरिषच्च। सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन—सुहृत्परिषत्, उदासीनपरिषत्, [1]प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति।

परिषद् के भेद (Types of Assembly)—यह परिषद् दो प्रकार की होती है—१. ज्ञानवती (जिसमें ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष उपस्थित हों) और २. मूढपरिषद् (जिसमें एक से एक महामूर्ख उपस्थित हों)। वह दो प्रकार की होने पर भी निम्नलिखित कारणों से पुनः तीन भागों में विभक्त होती है—१. ज्ञानवती सुहृत्परिषद् (ज्ञानवान् मित्रों से युक्त सभा), २. ज्ञानवती उदासीनपरिषद् (ज्ञानवान् किन्तु जिनको किसी हार-जीत से या किसी निष्कर्ष-प्राप्ति या अप्राप्ति से कोई तात्पर्य न हो ऐसे विद्वानों की सभा) तथा ३. ज्ञानवती प्रतिनिविष्टपरिषद् (ज्ञानवान् किन्तु दुराग्रहियों की सभा)। इसी प्रकार ३ भेद मूढपरिषद् के भी होते हैं।

वक्तव्य—'प्रतिनिविष्ट' शब्द का अर्थ अनेक व्याख्याकारों ने 'शत्रु' किया है किन्तु यह अर्थ प्रकरण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। देखें—प्रतिनिविष्ट का (Perverse : V. S. Apte के अनुसार) 'हठी' अर्थ होता है। और भी—'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्'। नीतिशतक।

परिषद् के प्रकार

(Kind of Assembly)

- ज्ञानवती (Learned)
  - १. सुहृत् (Favourable)
  - २. उदासीन (Indifferent)
  - ३. प्रतिनिविष्ट (Obstinate)
- मूढा (Foolish)
  - १. सुहृत् (Favourable)
  - २. उदासीन (Indifferent)
  - ३. प्रतिनिविष्ट (Obstinate)

इस प्रकार मूलतः एक परिषद् के आठ भेद होते हैं। इन भेदों में शास्त्रतत्व-निर्णय के लिये केवल ज्ञानवती परिषद् ही उपकारक होती है। शेष परिषदों का उल्लेख केवल लोकव्यवहारार्थ किया गया है।

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसं[2]म्पन्नायां मूढायां वा न कथञ्चित् केनचित् सह जल्पो विधीयते; मूढायां तु सुहृत्परिषद्युदासीनायां वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तोकेनचित् सह जल्पो विधीयते। तद्विधेन[3] च सह कथयता आविद्धरन्तरेणाप्यदीप्तयशसा महाजनविद्विष्टेनापि सह जल्पो विधीयते। तद्विधेन च सह कथयता आविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्, अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं निरूपयता च पर्षदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः; कष्टशब्दं च ब्रुवता वक्तव्यो 'नोच्यते', अथवा पुनर्हीना ते प्रतिज्ञा,

---

१. 'प्रतिनिविष्टाः स्वसौहार्दाभावेन निविष्टाः सभ्या यत्र सा' गङ्गाधरः।

२. 'सम्पन्नायामपि मूढायां वा' ग.।

३. 'तथाविधेन' ग.।

इति। पुनश्चाहू(ह्व)यमानः प्रतिवक्तव्यः—परिसंवत्सरो[1] भव शिक्षस्व तावत्; न त्वया गुरुरुपासितो नूनम्, अथवा पर्याप्तमेतावत्ते; सकृदपि हि परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहुरिति [2]नास्य योगः कर्तव्यः कथञ्चित्। अप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके; नत्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ २० ॥

वाद-निर्देश—ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन शक्तियों से युक्त ज्ञानवती प्रतिनिविष्ट परिषद् में अथवा मूढाप्रतिनिविष्टपरिषद् में किसी प्रकार किसी (प्रवर, सम, प्रत्यवर जो भेद पहले कहे गये हैं) के साथ भी जल्प (वाद-विवाद) नहीं करना चाहिये या नहीं किया जा सकता। क्योंकि उस सभा में उपस्थित सभासद ही प्रतिकूल विचारधारा के होते हैं। मूढा सुहृत्परिषद् में अथवा मूढा उदासीनपरिषद् में तो ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन शक्तियों के बिना भी जिसका यश चारों ओर फैला नहीं है और जो महाजनों (सम्मानित विद्वान्, प्रतिष्ठित धनिकवर्ग आदि) से वैर करते हों उनसे भी वाद-विवाद किया जा सकता है या करना चाहिये। ऐसे व्यक्ति से वाद (शास्त्रार्थ) करते हुए आविद्ध (परस्पर समास या सन्धियों के नियमों से बिंधे हुए) दीर्घ (लम्बे वाक्य), सूत्रसंकुल (ऐसे वाक्य जिनकी व्याख्या किये बिना सामान्य रूप से आशय ही समझ में न आ सके) तथा वाक्यदण्डकों (ऐसे वाक्य जिनमें कहीं यति (विराम) ही न हो अर्थात् अत्यन्त लम्बे वाक्यों) को कहना चाहिये। स्वयं अत्यन्त प्रसन्न होकर दूसरे पक्ष वाले का उपहास हो रहा है, ऐसा अपनी आकृति से प्रकट करता हुआ और समासदों से कहता हुआ प्रतिवादी को उत्तर देने का अवसर ही नहीं देना चाहिये। कष्टकारक (दुर्बोध या जिनके अनेक अर्थ हों ऐसे) शब्दों को कहता हुआ वादी प्रतिवादी से कहे—कहिये आपसे कुछ कहा नहीं जारहा है, अर्थात् आप हार गये हैं? या आपकी प्रतिज्ञा (जिस पक्ष का आप प्रतिवादन करना चाहते थे उसको आप पूरा नहीं कर पा रहे हैं) पूरी नहीं हो पा रही है। अतः आप पराजित हो गये हैं।

यदि वह पुनः शास्त्रार्थ के लिये बुलाये (ललकारे) तो उससे कहें—अभी आप साल भर तक और कुछ सीखिये, लगता है निश्चित ही आपने अपने गुरु की ठीक प्रकार से उपासना नहीं की (इसीलिये कच्चे रह गये हो), अथवा क्या करोगे अधिक पढ़कर तुम्हारे लिये तो इतना ही ज्ञान पर्याप्त है। एक बार भी पराजित परिक्षेपिक (प्रतिवादी) को शास्त्रार्थनिर्णायक पण्डित पराजित ही मानते हैं। पुनः ऐसे व्यक्ति का उपयोग सम्भाषापरिषद् के लिये किसी प्रकार नहीं किया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि बड़े लोगों को शास्त्रार्थ में हराकर ऐसा कहना चाहिये किन्तु व्यवहारकुशल जनों का कथन है कि विगृह्यसम्भाषा का प्रयोग अपने से बल, बुद्धि तथा विद्या में जो महान् हों उनके साथ न करना ही उचित है।

वक्तव्य—'परिषदोण्यः' ४।४।१०१। इस सूत्र के उदाहरण में—पारिषद्यः, परिषदः, इति योगविभागात 'णः' अपि। पारिषदः, पर्षदः, पार्षदः, इति पाठान्तरम्, निर्दिष्ट है। इन सभी शब्दों का अर्थ है—सभासद।

उक्त विगृह्यसम्भाषा का स्वरूप मूल रूप से अपने को विजयी बनाना है। अतएव इससे सिद्धान्त पक्ष की स्थापना नहीं होती, क्योंकि इससे किसी प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकलता। इसका उच्छृङ्खल स्वरूप निम्न पद्य में देखें—'न श्रोतव्यं न मन्तव्यं परस्य वचनं क्वचित्। युक्ताऽयुक्तं निजं पक्षं प्रोच्चैर्जल्पन् जयी भवेत्'॥ सुभाषित।

प्रत्यवरेण तु सह समानाभिमतेन वा विगृह्य जल्पता सुहृत्परिषदि कथयितव्यम्, अथवाऽप्युदासीनपरिषद्यवधान-श्रवण-ज्ञान-विज्ञानोपधारण-वचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां कथयता चावहितेन [3]परस्य सादगुण्यदोषबलमवेक्षितव्यं, समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत नास्य तत्र जल्पं योजयेदनाविष्कृतमयोगं कुर्वन्; यत्र त्वेनमवरं मन्येत तत्रैवैनमाशु निगृह्णीयात्। तत्र खल्विमे प्रत्यवराणामाशु निग्रहे भवन्त्युपायाः,

१. 'परिसंवत्सरो भवान् शिक्षस्व तावद् गुरुरुपासितो नूनम्, अथवा पर्याप्तमेतावत्ते' ग.। 'पर्याप्तमेतावत्ते' इति 'पक्षावसादाय' इति शेषः, चक्रः।

२. 'न्यासयोगः कर्तव्यः कथञ्चित्; एवं श्रेयसा' ग.।

३. 'परस्परसादगुण्य-' ग.।

तद्यथा—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्धोक्तस्य [1]वाक्यस्याक्षेपेण, [2]अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेनेति। एवमेतैरुपायैः परमवरमभिभवेच्छीघ्रम् ॥ २१ ॥

दूसरा प्रकार—ज्ञानवती अ. मूढा सुहृत्परिषद् में अपनी योग्यता से हीन पुरुष से अथवा समान योग्यता वाले से विगृह्यसम्भाषा का प्रयोग करना चाहिये। अथवा अवधानश्रवण (वादी के तर्कों को सावधान होकर सुनने वाली), ज्ञान, विज्ञान, उपधारण (वादी द्वारा कहे गये तर्कों को याद रखना), वचन (वाद), प्रतिवचन (प्रतिवाद) शक्ति वाली उदासीन परिषद् में जल्प (वाद) प्रस्तुत करते समय प्रतिवादी की योग्यता तथा अयोग्यता शक्ति पर ध्यान रखना चाहिये, और ध्यान रखकर जहाँ अपने विपक्षी को योग्य (सबल) समझें, वहाँ (उस विषय में) अपने विपक्षी के साथ वाद (Talking) न करे अपितु उस विषय को अपनी कुशलता से वाद का विषय होने ही न दे। और जहाँ अपने विपक्षी को अवर (अयोग्य) समझे उसी विषय पर इसको शीघ्र निगृहीत (पराजित) करे।

अपने से अयोग्य को शीघ्र पराजित करने के यहाँ ये उपाय होते हैं, जैसे—श्रुतहीन (शास्त्रों के अध्ययन से वंचित) को बड़े-बड़े शास्त्रीय उद्धरणों को सुनाकर पराजित करे, विज्ञानहीन ('विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः'। अमर०। औषधनिर्माण तथा शास्त्र के अभ्यास से हीन) को समझ में न आने वाली वाक्यरचना से, जिसे वाक्यों को सुनकर धारण करने की शक्ति न हो उसे जटिल, लम्बे, सूत्राकार, समास तथा सन्धियुक्त वाक्यसमूह से, प्रतिभाहीन (नये-नये विचारों की सहसा जिससे उत्पत्ति होती है, उस शक्ति से हीन) पुरुष को अनेकार्थवाची एकविध शब्दसमूह से, वचनशक्तिहीन (जो अपनी बात को स्पष्ट रूप से कहने में असमर्थ है) को आधा ही उत्तर देने पर झिड़क देने से, अविशारद (जो सभाचतुर न हो) को लज्जित कराकर, क्रोधी स्वभाववाले को और कष्ट देने से, भीरु (डरपोक) स्वभाववाले को भयभीत करा देने से, अनवहित (असावधान) को नियमन (दण्डित=Punishing) करके, इस प्रकार इन (पूर्वोक्त उपायों से) पर (प्रतिपक्षी) अवर (अयोग्य) को शीघ्र पराजित करे।

वक्तव्य—विगृह्यसम्भाषा का मूल तात्पर्य यह है कि विपक्षी को किसी प्रकार पराजित कर स्वयं विजयी होना। अतः यह सम्भाषा शास्त्रोपकारक नहीं होती।

तत्र श्लोकौ—

विगृह्य कथयेद् युक्त्या युक्तं च न निवारयेत्। विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत् ॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते। कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥

उक्त विषय में दो श्लोक हैं। विगृह्यसंभाषापरिषद् में किसी वाद को युक्ति (शास्त्रयुक्ति अथवा वाचोयुक्ति) द्वारा रखना चाहिये अर्थात् निरर्थक विषय पर चर्चा न करे, यदि प्रतिवादी उसके उत्तर में कोई युक्ति-युक्त बात (तर्क) करे तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये। कभी-कभी विगृह्यसंभाषा कुछ लोगों को अत्यन्त क्रुद्ध कर देती है। क्रुद्ध पुरुष कुछ भी अकार्य (अनहित) कर सकता है और कुछ भी अप्रिय बोल सकता है, अर्थात् उसके लिये कोई कार्य अकार्य नहीं है तथा कोई वचन अवाच्य नहीं है, क्योंकि 'क्रोध पापकर मूल'। इसलिये साधु पुरुष सभा में कलह (लड़ाई झगड़ा) को पसन्द नहीं करते हैं।

[3]एवं प्रवृत्ते वादे कुर्यात् ॥ २४ ॥

शास्त्र का आदेश—जिस प्रकार का वाद प्रारम्भ हो ऊपर बतलाये हुए नियमों के अनुसार परस्पर उसी प्रकार का व्यवहार करे। यह तन्त्रकार का विधिसूत्र है।

१. 'वाक्यस्य क्षेपणेन' ग.।

२. 'अविशारदमित्यदृष्टसभम्' चक्रः।

३. 'एवमिति तद्यथा श्रुतहीनमित्यादिग्रन्थोक्तं, वादे प्रवृत्ते सति कुर्यादित्यर्थः' चक्रः।

[1]प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत—सन्धाय पर्षदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयितव्यं, यद् वा परस्य भृशदुर्गं स्यात्, पक्षमथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत्, परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम्, एषैव ते परिषद्यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत ॥२५॥

वाद का प्रारम्भ—पहले ही इस प्रकार का प्रयत्न करे। सभासदों के साथ मित्रता करके अपने रात-दिन के अभ्यस्त विषय को सभासदों द्वारा उस दिन के चर्चा का विषय घोषित कराना चाहिये अथवा उस विषय की घोषणा करा दे जो विषय दूसरे पक्ष के लिये अत्यन्त कठिन हो, अथवा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करा दे जिससे सभी सभासद पर (प्रतिवादी) के सर्वथा विमुख (विपरीत) हो जायें। सभासदों के जुट जाने पर तो हम कुछ भी नहीं कह सकते। यह सभा ही अर्थात् इस सभा में सम्मिलित सभासद ही यथेष्ट (अपनी इच्छा के अनुकूल) और यथायोग जो जैसा है, वैसा वाद (शास्त्रार्थ) तथा वाद की मर्यादा का निर्णय करेगी, ऐसा कहकर स्वयं चुप हो जाय।

तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं भवति—इदं वाच्यम्, इदमवाच्यम्, एवं पराजितो भवतीति ॥ २६ ॥

वादमर्यादा-लक्षण (Guide-Lines of Debate)—उपर्युक्त स्थिति में वाद (शास्त्रार्थ) की मर्यादा का यह लक्षण होता है—यह कहना चाहिए, यह नहीं कहना चाहिये। ऐसा करने पर पराजित होता है।

इमानि तु खलु पदानि भिषग्वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति; तद्यथा—वादः, द्रव्यं, गुणाः, कर्म, सामान्यं विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, दृष्टान्तः, उपनयः, निगमनम्, उत्तरं, सिद्धान्तः, शब्दः, प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्, औपम्यं, संशयः, प्रयोजनं, सव्यभिचारं, जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, सम्भवः, अनुयोज्यम्, अननुयोज्यम्, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्यदोषः, वाक्यप्रशंसा, छलम्, अहेतुः, अतीतकालम्, उपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं, निग्रहस्थानमिति ॥ २७ ॥

वाद के ४४ पद

(Forty four Terms for Debate)

वाद के भेद—चिकित्सकों को वाद की पद्धति जानने के लिये निम्नोक्त पदों का ज्ञान करना चाहिये। जैसे—१. वाद, २. द्रव्य, ३. गुण, ४. कर्म, ५. सामान्य, ६. विशेष, ७. समवाय, ८. प्रतिज्ञा, ९. स्थापना, १०. प्रतिष्ठापना, ११. हेतु, १२. दृष्टान्त, १३. उपनय, १४. निगमन, १५. उत्तर, १६. सिद्धान्त, १७. शब्द, १८. प्रत्यक्ष, १९. अनुमान, २०. ऐतिह्य, २१. औपम्य, २२. संशय, २३. प्रयोजन, २४. सव्यभिचार, २५. जिज्ञासा, २६. व्यवसाय, २७. अर्थप्राप्ति, २८. संभव, २९. अनुयोज्य, ३०. अननुयोज्य, ३१. अनुयोग, ३२. प्रत्यनुयोग, ३३. वाक्यदोष, ३४. वाक्यप्रशंसा, ३५ छल, ३६. अहेतु, ३७. अतीतकाल, ३८. उपालम्भ, ३९. परिहार, ४०. प्रतिज्ञाहानि, ४१. अभ्यनुज्ञा, ४२. हेत्वन्तर, ४३. अर्थान्तर और ४४. निग्रहस्थान।

वक्तव्य—मूलतः ये वाद-भेद महर्षि गौतम की देन है, क्योंकि तर्क के बिना किसी भी विज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। इनके आधारभूतग्रन्थ 'न्यायसूत्र' तथा 'तर्कभाषा' आदि हैं। विशेष अध्ययन के लिये ये द्रष्टव्य हैं। विजय-प्राप्ति के अतिरिक्त भी ये वाद-भेद शास्त्र के तत्त्व को जानने के लिये अत्यन्त सहायक होते हैं।

तत्र वादो नाम स यत् परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति। स च द्विविधः सङ्ग्रहेण—जल्पः, वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। यथा—एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य; तौ च स्वस्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः, परपक्षमु[2]द्भावयतः, एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव ॥ २८ ॥

१. 'एवं प्रवृत्ते वादे प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत' यो.।
२. 'उद्भावयतः प्रतिषेधयतः' गङ्गाधरः।

(१) वाद परिभाषा—आयुर्वेदशास्त्र में वाद उसको कहते हैं जो दूसरे (प्रतिपक्षी) के साथ शास्त्र के अनुसार अर्थात् जो शास्त्रीय मर्यादा, विषय आदि की परिधि के भीतर हो किन्तु विगृह्य=विपरीत भावना से युक्त होकर कहा जाता हो। उसके संक्षेप से दो भेद होते हैं—१. जल्प और २. वितण्डा। उनमें अपने-अपने पक्ष से सम्बन्धित विषय का उचित रूप से प्रतिपादन करना 'जल्प' है, जल्प के विपरीत चर्चा के स्वरूप को 'वितण्डा' कहते हैं। उदाहरणों द्वारा जल्प तथा वितण्डा के स्वरूप को तन्त्रकार स्पष्ट कर रहे हैं।

जैसे—एक व्यक्ति का पक्ष है प्राणी का मरने के बाद पुनर्जन्म होता है, दूसरे का पक्ष है पुनर्जन्म नहीं होता है। वे दोनों ही (वादी-प्रतिवादी) अपने-अपने पक्ष की अनेक प्रबल प्रमाणों से पुष्टि करते हैं और परस्पर दूसरे के पक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों में दोष दिखलाते हैं, इस सम्भाषा प्रकार को 'जल्प' कहते हैं। जल्प का जो प्रकार ऊपर कहा गया है, उसके विपरीत सम्भाषा को 'वितण्डा' कहते हैं। वास्तव में वितण्डा उसे कहते है जिसमें वादी-प्रतिवादी दोनों ही अपने पक्ष की बात को न कहकर केवल दूसरे के पक्ष में दोष दिखाते रहें। सम्भाषा का यह प्रकार असंवैधानिक है।

वक्तव्य—महर्षि गौतम ने वाद तथा वितण्डा की परिभाषायें इस प्रकार दी है। **वाद**—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः'। **वितण्डा**—'स एव प्रतिपक्षस्थापना हीनो वितण्डा'। न्यायदर्शन।

द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः स्वलक्षणैः श्लोकस्थाने पूर्वमुक्ताः ॥ २९ ॥

(२-७) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इनका विवेचन श्लोक (सूत्र) स्थान के दीर्घंजीवितीय नामक प्रथम अध्याय में अपने-अपने लक्षणों के साथ पहले कर दिया गया है।

अथ प्रतिज्ञा—प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं; यथा—नित्यः पुरुष इति ॥ ३० ॥

(८) प्रतिज्ञा—तर्कों तथा प्रमाणों द्वारा जिस विषय को सिद्ध करना हो उसे प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—पुरुष नित्य है। यह आयुर्वेदीय दृष्टिकोण है।

वक्तव्य—महर्षि गौतम के अनुसार—'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'। न्यायदर्शन।

अथ स्थापना—स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। [1]पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना, किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति, यथा—नित्य पुरुष इति प्रतिज्ञा; हेतुः—अकृतकत्वादिति; दृष्टान्तः—यथाऽऽकाशमिति; [2]उपनयः—यथा चाकृतकमाकाशं, तच्च नित्यं, तथा पुरुष इति; निगमनं—तस्मान्नित्य इति ॥ ३१ ॥

(९) स्थापना—उसी (शास्त्रार्थ सम्बन्धी) प्रतिज्ञा का नाम स्थापना है, जिससे अपने द्वारा की गयी प्रतिज्ञा की हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन उपायों से स्थापना की जाती है। शास्त्रार्थ में पहले प्रतिज्ञा होती है, बाद में उसी प्रतिज्ञा की स्थापना (पुष्टि) की जाती है। कारण यह है कि वादी बिना किसी विषय की प्रतिज्ञा किये बिना स्थापना करेगा भी किसकी? जैसे—पुरुष नित्य है, यह प्रतिज्ञा हुई। उसमें हेतु (कारण) है—उस (पुरुष) का अकृतकत्व (किसी प्राणी विशेष द्वारा उसकी रचना का न होना)। उसमें दृष्टान्त है—जैसे आकाश है, अर्थात् इसका रचयिता भी कोई प्राणी विशेष नहीं है। उपनय—जैसे रचयिता के बिना सत्तावान् आकाश है और आकाश जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार पुरुष भी (नित्य) है। निगमन—उक्त प्रमाणों से पुरुष नित्य है। यही अपनी प्रतिज्ञा की प्रमाणान्तरों से स्थापना है।

वक्तव्य—इन सभी सिद्धान्तों का उपयोग तर्कशास्त्र (Logic) में किया जाता है, यथास्थान देखें।

अथ प्रतिष्ठापना—प्रतिष्ठापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञायाः विपरीतार्थस्थापना। यथा—

१. 'पूर्वं हि लोके प्रतिज्ञा' ग.।
२. 'उपनयो—यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुष' इति पा०।

अनित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा; हेतुः— ऐन्द्रियकत्वादिति; [१]दृष्टान्तः—यथा घट इति, उपनयो—यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यः, तथा चायमिति; निगमनं—तस्मादनित्य इति ॥ ३२ ॥

(१०) प्रतिष्ठापना—अब प्रतिष्ठापना का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—प्रतिष्ठापना उसका नाम है, जिससे विपक्षी की प्रतिज्ञा के विपरीत अर्थ की स्थापना की जाय। जैसे—उपर्युक्त वादी के विपरीत प्रतिवादी की प्रतिज्ञा है—पुरुष अनित्य है। उसमें हेतु है—ऐन्द्रियकत्वात्, अर्थात् वह इन्द्रियग्राह्य होता है। दृष्टान्त है—जैसे घट (घड़ा), उपनय है—जैसे घड़ा इन्द्रियग्राह्य होने के कारण अनित्य है, वैसे ही यह (पुरुष) भी। निगमन—इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष अनित्य है।

वक्तव्य—वादी द्वारा की गयी स्थापना प्रतिवादी के लिये प्रतिष्ठापना कही जाती है और प्रतिवादी द्वारा की गयी स्थापना वादी के लिये प्रतिष्ठापना होगी, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दृष्टिकोण ही इनका आधार है।

अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणं; तत् प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्; औपम्यमिति; एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वम् ॥ ३३ ॥

(११) हेतु—अब हेतु की परिभाषा दी जा रही है। उपलब्धि के कारण को हेतु कहते हैं। अर्थात् जिस वाक्यसमूह से अपनी बात का ठीक-ठीक ज्ञान हो या कराया जा सके उसका नाम हेतु है। वह उपलब्धि-कारण—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. ऐतिह्य तथा ४. उपमान इन चार (सम्मिलित) हेतुओं से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह तात्त्विक (सम्यक्) ज्ञान है।

वक्तव्य—ऊपर हेतु की परिभाषा देते हुए लिखा है—'एभिर्हेतुभिः' इन चारों कारणों (सम्यक् ज्ञानप्रद उपायों) से जिस विषय का ज्ञान होगा वही तत्वज्ञान होगा, न कि अलग-अलग कारणों से।

अथ दृष्टान्तः—दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं, यो [२]वर्ण्यं वर्णयति। यथा—अग्निरुष्णः, द्रवमुदकं, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति; यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा [३]साङ्ख्यज्ञानं प्रकाशकमिति ॥ ३४ ॥

(१२) दृष्टान्त—अब दृष्टान्त की परिभाषा दी जा रही है—दृष्टान्त उसको कहते हैं, जिससे मूर्खों तथा विद्वानों की समझ में उक्त विषय ठीक-ठीक प्रकार से आ जाय। अर्थात् दृष्टान्त उसे कहते हैं जिसकी सहायता से मूर्ख भी उतना ठीक समझ सकें, जितना विद्वान् समझे हों। दृष्टान्त का दूसरा लक्षण यह है—जो वर्णनीय (प्रस्तुत) विषय का ही दूसरे शब्दों में वर्णन करता है। जैसे—आग उष्ण है, पानी द्रव है, पृथिवी स्थिर (ठोस) है और सूर्य प्रकाशक है। जैसे—आदित्य (सूर्य) सभी स्थावर-जंगम द्रव्यों का प्रकाशक है उसी प्रकार सांख्यज्ञान (आप्तपुरुषों के वचन) भी उस-उस शास्त्र के प्रकाशक होते हैं।

वक्तव्य—दृष्टान्त परिचय में 'यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्' भी एक लक्षण बताया है। इस सम्बन्ध में महर्षि गौतम का वचन अनुकरणीय है ? यथा—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'। न्यायदर्शन। यहाँ 'लौकिकपरीक्षक' शब्द महत्वपूर्ण है, इसमें सभी प्रकार के पुरुषों का समावेश हो जाता है, भले ही वे मूर्ख हों या विद्वान्।

उपनयो निगमनं चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम् ॥ ३५ ॥

(१३-१४) उपनय, निगमन—उक्त दोनों के शास्त्रीय स्वरूप का वर्णन स्थापना तथा प्रतिष्ठापना की व्याख्या के प्रसंग में कर दिया गया है। महर्षि गौतम के अनुसार इनके लक्षण—**उपनय**—'उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः'। न्यायदर्शन। वास्तव में साध्य की विधर्मता के रूप में अथवा उपसंहार के रूप में उपनय का प्रयोग होता है। **निगमन**—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्', न्यायदर्शन। हेतु के निमित्त से प्रतिज्ञा का पुनः कथन ही निगमन है। ऊपर दिये गये उदाहरणों पर ध्यान दें।

१. 'दृष्टान्तो—घट ऐन्द्रियकः, स चानित्यः; उपनयो यथा घटस्तथा पुरुषः' ह.।
२. 'तेनैव यद्वर्ण्यं' ग.।
३. 'साङ्ख्यवचनम्' इति पा०।

अथोत्तरम्—उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यवचनं वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनम्। यथा—'हेतुसधर्माणो विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुभिः साधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शाः,' इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्—हेतुविधर्माणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथप्रपचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति एतत् सविपर्ययमुत्तरम् ॥ ३६ ॥

(१५) उत्तर—अब उत्तर शब्द का परिचय दिया जा रहा है। हेतु के समान धर्म द्वारा उपदेश होने पर विपरीत धर्म तथा हेतु के विपरीत धर्म द्वारा उपदेश होने पर समान धर्म का कथन 'उत्तर' कहा जाता है। जैसे—वादी का कथन है कि रोग हेतु के समानधर्म वाले होते हैं। शरीर में शीतता को उत्पन्न करने वाले रोगों का समान धर्म कारण हिम (बर्फ) तथा शीत वायु का स्पर्श होता है, वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी को कहना चाहिये कि हेतु (कारण) के विपरीत धर्म वाले रोग होते हैं। जैसे शरीर के अंग-प्रत्यंगों में दाह (जलन) का होना, उष्णता, कोथ (सड़न) तथा पकने में कारण के विरुद्ध हिम (बर्फ), ठंडी हवा का स्पर्श होता है। यह परस्पर विपरीतता का प्रदर्शन कराते हुए 'उत्तर' का स्वरूप वर्णन कर दिया है।

अथ सिद्धान्तः—सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः। स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तः, अभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम [१]तस्मिंस्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं; यथा सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानामिति। प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम [२]तस्मिंस्तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं; यथा—अन्यत्राष्टौ रसाः षडत्र, पञ्चेन्द्रियाण्यत्र षडिन्द्रियाण्यन्यत्र तन्त्रे वातादिकृताः सर्वे विकारा यथाऽन्यत्र, अत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः। अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधिकरणानि भवन्ति, यथा—'न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते, निस्पृहत्वात्' इति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफल-मोक्ष-पुरुष-प्रेत्यभावा भवन्ति। अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः; तद्यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणाः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, [३]वीर्यप्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिः। इति चतुर्विधः सिद्धान्तः ॥ ३७ ॥

(१६) सिद्धान्त—अब सिद्धान्त शब्द का विवेचन प्रस्तुत है। सिद्धान्त (सिद्धः अन्तः (निश्चयः) यस्मिन्, सः) उसका नाम है या उसको कहते हैं, जिसका परीक्षकों ने अनेक प्रकार से परीक्षण करके और हेतुओं द्वारा उन विषयों को सिद्ध कर जिस निर्णय की स्थापना कर दी हो उसे सिद्धान्त कहते हैं। इसी का पर्याय है राद्धान्त। यह सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—१. सर्वतन्त्रसिद्धान्त, २. प्रतितन्त्रसिद्धान्त, ३. अधिकरणसिद्धान्त तथा ४. अभ्युपगमसिद्धान्त। क्रमशः इनका परिचय—

१. **सर्वतन्त्र-सिद्धान्त**—उक्त चार प्रकार के सिद्धान्तों में सर्वतन्त्रसिद्धान्त उसको कहते हैं, जो उस-उस तन्त्र में अथवा सभी तन्त्रों में प्रसिद्ध हो। तात्पर्य यह है कि आयुर्वेदज्ञ महर्षियों द्वारा रचित अनेक तन्त्र हैं उन-उन में पृथक्-पृथक् रूप से विषय कहे गये हों अथवा आयुर्वेद से सम्बद्ध सभी तन्त्रों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो। जैसे—रोगों के निदान (कारण) हैं, अनेक प्रकार के रोग हैं, साध्य रोगों को सिद्ध करने के उपाय हैं, अर्थात् साध्य अवस्था में रहने पर ही चिकित्सा के लिये कहे गये प्रयत्न सफल होते हैं, सर्वत्र नहीं।

२. **प्रतितन्त्र-सिद्धान्त**—इसकी परिभाषा इस प्रकार है—उस-उस (आयुर्वेदीय) तन्त्र में अथवा किसी एक तन्त्र में (परस्पर विपरीत अर्थात् जिस किसी सिद्धान्त का समर्थन दूसरा तन्त्र न करता हो। देखें—प्रति = प्रतिकूल, तन्त्र=ग्रन्थ, शास्त्र या संहिता जिसमें आयुर्वेद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो, वह प्रतितन्त्रसिद्धान्त

१. 'सर्वतन्त्रेषु यत्प्रसिद्धम्' इति पा०।
२. 'तस्मिंस्तस्मिंस्तन्त्रे' इति पा०।
३. 'कर्म' इति पा०।

है।) वह (सिद्धान्त) प्राप्त होता हो। जैसे—दूसरे आचार्य (वडिश, धामार्गव आदि) ने आठ रसों (१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. कटु, ५. तिक्त, ६. कषाय, ७. क्षार तथा ८. अव्यक्त) को माना है। यहाँ (चरकसंहिता में) केवल ६ रस स्वीकार किये गये हैं। यहाँ (चरक में) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मानी हैं, अन्य तन्त्र में मन को लेकर छः ज्ञानेन्द्रियाँ स्वीकृत हैं, दूसरे तन्त्र में सभी प्रकार के रोग वात, पित्त, कफ से ही उत्पन्न होते हैं, कहा गया है किन्तु इस (चरकसंहिता) में वातज, पित्तज, कफज और भूतज (भूत-प्रेत-क्रिमिजनित) सभी रोग माने गये हैं।

३. अधिकरण-सिद्धान्त—इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—जिस अधिकरण (विषयविशेष) की चर्चा किसी प्रकार भी प्रारम्भ हो रही हो, उससे सम्बन्धित जितने भी दूसरे सिद्ध (सुनिर्णीत) अधिकरण हों उन सबका एक स्थान पर दूसरे (अपने) प्रकरण की सिद्धि के लिये प्रयोग करना 'अधिकरणसिद्धान्त' है। जैसे—जीवन्मुक्त पुरुष कभी भी शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले कर्मों को नहीं करता, क्योंकि वह (जीवन्मुक्त) निस्पृह (किसी वस्तु की इच्छा करने वाला नहीं) होता है। इस प्रस्ताव से यह सिद्ध होता है कि—कर्मों का फल मिलता है, मोक्ष होता है, पुरुष है तथा प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) होता है।

४. अभ्युपगम-सिद्धान्त—इसका स्वरूप इस प्रकार है—जिस असिद्ध (जिसका निर्णय अभी तक न हुआ हो), जिस अपरीक्षित (जिस विषय की विद्वानों द्वारा परीक्षा न की गयी हो), जिस विषय का उचित प्रकार से उपदेश न हुआ हो तथा जिस अहेतुक (युक्ति द्वारा अप्रमाणित) विषय को विद्वान् चिकित्सक शास्त्रार्थ के समय स्वीकार कर लेते हैं, उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे—द्रव्य को प्रधान मानकर कहेंगे, गुण को प्रधान मानकर कहेंगे और वीर्य को प्रधान मानकर कहेंगे। इस प्रकार यह चार प्रकार का सिद्धान्त है।

वक्तव्य—ऊपर 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' में जो रसों के भेदों की चर्चा की गयी है, उसका विशेष विवेचन चरक सूत्रस्थान आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक २६ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक देखें। अधिकरणसिद्धान्त की चर्चा महर्षि गौतम के अनुसार इस प्रकार है—'यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः'। न्यायदर्शन।

अथ शब्दः—शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः; स चतुर्विधः—दृष्टार्थश्च, अदृष्टार्थश्च; सत्यश्च, अनृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थो नाम—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति, षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति; सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति। अदृष्टार्थः पुनः—अस्ति प्रेत्यभावः, अस्ति मोक्ष इति। सत्यो नाम—यथार्थभूतः; सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानां व्याधीनां, सन्त्यारम्भफलानीति। सत्यविपर्ययश्चानृतः॥ ३८॥

(१७) शब्द—अब शब्द की परिभाषा प्रस्तुत है। वर्णसमाम्नाय (वर्ण-समूह) को शब्द कहते हैं। वर्णों के समूह से सार्थक एवं निरर्थक दो प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति होती है। यहाँ सार्थक शब्द की सर्वत्र चर्चा है। वह शब्द चार प्रकार का होता है—१. दृष्टार्थ, २. अदृष्टार्थ, ३. सत्य और ४. अनृत (मिथ्या=झूठ)।

१. दृष्टार्थ—उक्त चार प्रकार के शब्दसमूह में दृष्टार्थ का परिचय प्रस्तुत है। जैसे—तीन प्रकार के हेतुओं (असात्म्य-इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम) से दोष (वातादि दोष) प्रकुपित होते हैं और वे दोष छः प्रकार के उपक्रमों (लंघन = उपवास या लघु भोजन, बृंहण, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन) से शान्त (सम-अवस्था को प्राप्त) होते हैं। श्रोत्र (कान) आदि ज्ञानेन्द्रियों के अविकृत रूप से रहने पर ही शब्द आदि (जो-जो जिन-जिन इन्द्रियों के विषय हैं) का ग्रहण हो पाता है।

२. अदृष्टार्थ—तदनन्तर अदृष्ट (नहीं देखा) अर्थ (कर्म फल जिसका) की चर्चा प्रस्तुत है। जैसे—मरने के पश्चात् जीव का पुनर्जन्म होता है अथवा मोक्ष होता है, इन विषयों का स्पष्ट ज्ञान किसी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं हो सकता, अतएव इस ज्ञान को 'अदृष्टार्थ' कहते हैं।

३. सत्य—इसकी परिभाषा यह है। जो सर्वथा ठीक हो अर्थात् जिसमें अयथार्थता (मिथ्यापन) न हो। जैसे—आयुर्वेदशास्त्र में अनेक प्रकार के उपदेश हैं। साध्य रोगों को दूर करने के उपाय हैं, अर्थात् इसमें उत्तमोत्तम चिकित्सा-विधियाँ हैं तथा कर्मों (वमन, विरेचन आदि) के फल (प्रत्यक्ष देखे जाते) हैं।

४. अनृत—ऋत = सत्य से विपरीत सभी विषय अनृत (झूठ) कहे जाते हैं। (जैसे—अपथ्य सेवन से

रोगों की वृद्धि नहीं होती, साध्य रोगों की आयुर्वेद में कोई चिकित्सा नहीं है, कर्मों का फल नहीं होता आदि अनृत के उदाहरण हैं।

अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद् यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते; तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः॥ ३९॥

(१८) प्रत्यक्ष—तदनन्तर प्रत्यक्ष-परिचय प्रस्तुत है—प्रत्यक्ष उस विषय को कहते हैं जो आत्मा (मन) तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्वयं जाना जाता है। आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले विषय ये हैं—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

वक्तव्य—प्रत्यक्ष शब्द प्रति और अक्ष दो शब्दों के योग से बना है। अक्ष शब्द का अर्थ है—इन्द्रिय। 'अक्षम् = इन्द्रियं प्रतिगतम्=प्रत्यक्षम्'। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानने योग्य विषय। मन के संयोग के बिना इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय के ज्ञान में प्रवृत्त नहीं हो पाती हैं। देखें—च० शा० अ० १।५४।

अथानुमानम्—अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः; यथा—अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि॥ ४०॥

(१९) अनुमान—युक्ति की अपेक्षा (आवश्यकता) रखने वाले तर्क को अनुमान कहते हैं। जैसे—पाचनशक्ति की सम-विषय स्थिति को देखकर जाठराग्नि (पाचकाग्नि) का अनुमान, व्यायाम (श्रम) शक्ति को देख कर शारीरिक बल का अनुमान और शब्द आदि की ग्रहण-शक्ति को देखकर श्रोत्र (कान) आदि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का अनुमान किया जाता है।

वक्तव्य—युक्ति का परिचय चरक सू० अ० ११ में विस्तृत रूप से दिया गया है। तर्क का लक्षण महर्षि गौतम के अनुसार देखें—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'। न्यायदर्शन। अर्थात् जिस वस्तु का हमको वास्तविक ज्ञान न हो उसके तत्व को जानने के लिये कार्यकारणभाव को समझकर ऊह करना 'तर्क' कहा जाता है।

अथैतिह्यम्—ऐतिह्यं नामाऽऽप्तोपदेशो वेदादिः॥ ४१॥

(२०) ऐतिह्य—वेद आदि (समस्त आर्षवचनों) आप्तजनों के उपदेशों को ऐतिह्य (Regarded as one of the Pramāṇas) कहते हैं।

अथौपम्यम्—औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनाऽऽरोग्यदस्येति॥ ४२॥

(२१) उपमान—औपम्य उसे कहते हैं, जो दूसरी वस्तु द्वारा दूसरे का सादृश्य दिखाकर ज्ञान कराया जाता है। जैसे—दण्ड द्वारा दण्डक रोग (दण्डापतानक नामक वातव्याधि) का, धनुष से धनुःस्तम्भ का और इष्वास (बाण फेंकने वाले धनुषधारी) से चिकित्सक की उपमा दी जाती है।

वक्तव्य—उपमा अलंकार में उपमान (उपमीयते अनेन) तथा उपमेय (उपमातुं योग्य) दो पदार्थ होते हैं, इनका निर्णय साधर्म्य के अनुसार होता है। आचार्य गौतम के अनुसार अनुमान का लक्षण—'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'। न्यायदर्शन। दण्ड से दण्डक का बोध कराते हुए महर्षि आत्रेय ने लिखा है—'दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः'। च० चि० अ० २८। अर्थात् दण्ड के समान जिस रोग में शरीर जकड़ जाय उसे दण्डक या दण्डापतानक रोग कहते हैं, इसी प्रकार धनुःस्तम्भ में धनुष के समान मुड़ा हुआ शरीर हो जाता है। देखें—सुश्रुत नि० अ० १। इष्वास से सादृश्य को देखें चरक सू० महाचतुष्पाद नामक १० वें अ० में।

अथ संशयः—संशयो नाम [1]सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः; यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः—किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति॥ ४३॥

१. 'संदिग्धेष्वर्थेषु' इति पा०।

(२२) संशय—अब संशय की परिभाषा दी जा रही है—संदेह के लक्षणों से युक्त होने से संदेह युक्त विषयों में निश्चय का न होना ही 'संशय' है। जैसे—ऐसा देखा जाता है कि दीर्घायुष्य के लक्षणों से युक्त तथा दीर्घायुष्य के लक्षणों से रहित जिनकी चिकित्सा की जा रही है और जिनकी चिकित्सा नहीं की जा रही है, ऐसे पुरुष शीघ्र मरते हुए और चिरजीवी रहते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार दोनों घटनाओं को देखने से यह 'संशय' होता है कि अकालमृत्यु होती है या नहीं।

अथ प्रयोजनं—प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः; यथा—यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति ॥ ४४ ॥

(२३) प्रयोजन—अब प्रयोजन का परिचय प्रस्तुत है—प्रयोजन उसे कहते हैं जिसकी सिद्धि या प्राप्ति के लिये कार्यों का प्रारम्भ किया जाता है। जैसे—यदि मेरी अकालमृत्यु है, अर्थात् यदि मुझे असमय में (१०० वर्ष के पहले) ही मरना है तब तो मैं आयुवर्धक उपचारों से अपनी चिकित्सा करूँगा और आयु का नाश करने वाले कारणों का परिहार करूँगा, तब देखता हूँ अकालमृत्यु मेरा कैसे जबरदस्ती विनाश करेगी।

वक्तव्य—'प्र उपसर्ग पूर्वक षहमर्षणे धातु के विधिलिङ् लकार प्र० पु० एक वचन का रूप है—प्रसहेत'। इसी धातु में ल्यप् प्रत्यय करने पर 'प्रसह्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'प्रसह्य तु हठार्थकम्'। अमर०। मूर्ख अथवा विद्वान् के कार्यारम्भ में अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि का लक्ष्य अवश्य रहता है, सिद्धि का स्वरूप भले ही जैसा भी हो। यहाँ अकालमृत्यु से अपने को बचाना बुद्धिमान् पुरुष का मूल प्रयोजन है, उसके लिये वह चिकित्सा, मणि, मन्त्र धारण, बलि, उपहार तथा यज्ञादि का अनुष्ठान करता है। जिन कार्यों से उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है, महर्षि गौतम के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्'। न्यायदर्शन। अर्थात् जिस विषय को लेकर मानव कार्य करने के लिये प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं।

अथ सव्यभिचारं—सव्यभिचारं नाम यद् व्यभिचरणं; यथा—भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति ॥ ४५ ॥

(२४) सव्यभिचार—अब सव्यभिचार का वर्णन करते हैं। सव्यभिचार उसको कहते हैं, जो अपनी बात पर स्थिर न हो। दूसरे शब्दों में अनैकान्तिक निर्णय (जिसका व्यवहार दोनों ओर होना या प्रतीत होता हो। जैसे—यह औषध इस व्याधि में प्रयोग करने पर लाभकारक होती भी हो और नहीं भी होती हो।

वक्तव्य—सव्यभिचार (One of the five main divisions Hetuabhasa in logic) इसका विशेष विवरण महर्षि गौतम के न्यायदर्शन में देखें। दार्शनिक दृष्टि से इस सव्यभिचार को हेत्वाभासरूप में तीन प्रकार का कहा गया है—१. साधारण, २. असाधारण और ३. अनुपसंहारी। वास्तव में लौकिक व्यभिचार जैसा हो यह सव्यभिचार है। अन्तर इतना ही है कि इसके उदाहरण शास्त्रीय हैं और दूसरे के उदाहरणों की आवश्यकता यह नहीं हैं। विषय की अस्थिरता दोनों में समान है।

अथ जिज्ञासा—जिज्ञासा नाम परीक्षा; यथा—भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

(२५) जिज्ञासा—अब जिज्ञासा का विवरण दिया जा रहा है। किसी विषय की परीक्षा को जिज्ञासा कहते हैं। जैसे—भेषजपरीक्षा का उपदेश आगे (इसी अध्याय के गद्य ८३ से प्रारम्भ है, शेष च० नि० अ० १ में) किया जायगा।

वक्तव्य—'ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा'। किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में जानने की जो इच्छा होती है, उसे जिज्ञासा (Curiosity) कहते हैं। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आप्तोपदेश आदि प्रमाणों से परीक्षा विषयक सहायता ली जाती है। ऊपर कही गयी भेषजपरीक्षा में उसकी यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करना ही जिज्ञासा है।

अथ व्यवसायः—व्यवसायो नाम निश्चयः; यथा—वातिक एवायं व्याधिः, [1]इदमेवास्य भेषजं चेति ॥ ४७ ॥

१. 'इदमेवात्र' इति पा०।

(२६) व्यवसाय—अब व्यवसाय की चर्चा प्रस्तुत है—निश्चय का नाम ही व्यवसाय है। जैसे—निश्चय ही यह रोग वातविकार के कारण उत्पन्न है, यही इसको भेषज (चिकित्सा) है। इस प्रकार के अडिग निश्चय को व्यवसाय कहते हैं।

अथार्थप्राप्तिः—अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः; यथा—नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निशि भोक्तव्यमिति ॥ ४८ ॥

(२७) अर्थप्राप्ति—तदनन्तर अर्थप्राप्ति का परिचय दिया जा रहा है। आयुर्वेद शास्त्र में अर्थप्राप्ति उसे कहते हैं, जहाँ एक वाक्य या वाक्यांश के प्रयोग से उस अर्थ की प्राप्ति होने के साथ ही एक अनुक्त (न कहे गये) अर्थ की भी प्राप्ति (सिद्धि) हो जाती है। जैसे—यह रोग संतर्पण चिकित्सा द्वारा सिद्ध होने योग्य नहीं है, ऐसा कहने पर इस एक अर्थ की प्राप्ति होने के साथ ही दूसरा यह अर्थ भी प्राप्त होता है कि यह रोग अपतर्पण (लंघन) कराने से ठीक हो जायगा। दूसरा उदाहरण—इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिये वैद्य के ऐसा कहने पर स्वयं इस अर्थ की प्राप्ति हो जाती है कि इसको रात्रि में भोजन करना चाहिये।

वक्तव्य—चरकसंहिता में वर्णित 'अर्थप्राप्ति' ही न्याय तथा अलंकारशास्त्र में 'अर्थापत्ति' नाम से प्रसिद्ध है। न्यायशास्त्र में इसके अन्य दो भेदों की भी चर्चा है। जैसे—१. श्रुतार्थापत्ति और २. दृष्टार्थापत्ति। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'। यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है। इस वाक्य में स्थित देवदत्त का मोटापन रात्रि भोजन की सूचना 'अर्थापत्ति' की सहायता से ही प्राप्त है। एक लक्षण तथा उदाहरण अलंकार शास्त्र का भी देखें—'अर्थापत्तिः स्वयं सिद्ध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्। स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्'॥ चन्द्रालोक। 'यत्रैकस्य सिद्ध्यार्थान्तरमर्थात् सिद्धयति सा अर्थापत्तिः'। जहाँ एक अर्थ की सिद्धि से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं हो जाय उसे अर्थापत्ति अलंकार कहते हैं। जैसे—तुम्हारे मुखकमल से जब चन्द्रमा जीत लिया गया तो कमलों की तो बात ही क्या है।

अथ सम्भवः—यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भवः; यथा—षड्धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं, हितमारोग्यस्येति ॥ ४९ ॥

(२८) सम्भव—अब सम्भव की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—जो वस्तु जहाँ से उत्पन्न होती है वह उसका सम्भव (उत्पत्ति-स्थान) है। जैसे—छः धातु (पाँच पृथिवी आदि महाभूत तथा छठी आत्मा) इनकी उत्पत्ति गर्भ से होती है, अतः इन छः धातुओं का सम्भव गर्भ है। अहितकारक आहार-विहार से रोग की उत्पत्ति होती है, अतः रोगसमूह का सम्भव 'अहित' है। हितकारक आहार-विहार से आरोग्य की उत्पत्ति होती है, अतः आरोग्य का सम्भव 'हित' है।

वक्तव्य—'हिमवतो गङ्गा प्रभवति, सम्भवति वा'। देखें—भुवः प्रभवः। १। ४। ३१। अर्थात् हिमालय पर्वत से गंगा की उत्पत्ति होती है, अतः गंगा का प्रभव या सम्भव हिमालय है।

अथानुयोज्यम्—अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तत्। [1]सामान्यतो व्याहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदप्यनुयोज्यं; यथा—'संशोधनसाध्योऽयं व्याधिः' इत्युक्ते 'किं वमनसाध्योऽयं किं वा विरेचनसाध्यः' इत्यनुयुज्यते ॥ ५० ॥

(२९) अनुयोज्य—अब अनुयोज्य की चर्चा प्रस्तुत है। अनुयोज्य उस वाक्य को कहते हैं जो वाक्य वाक्यदोष से युक्त हो अथवा सामान्य रूप से कहे गये अर्थों में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये जिस वाक्य का प्रयोग होता है उसको भी अनुयोज्य कहते हैं। जैसे—चिकित्सक के यह कहने पर कि यह रोग संशोधन विधि से दूर होने वाला है फिर उसी के बारे में यह पूछना कि—क्या यह रोग वमन द्वारा ठीक होने योग्य है? अथवा विरेचन द्वारा ठीक होने योग्य है, इस प्रकार का प्रश्न 'अनुयोज्य' है।

वक्तव्य—वाक्य के पूरी तरह अर्थ निर्वाहक होने के बाद भी उसमें व्यर्थ का वाक्य या वाक्यांश जोड़

१. 'सामान्योदाहृतेष्वर्थेषु' इति पा०।

देना अनुयोज्य (अनुयुज्यते इति अनुयोज्यम्) है। यह अनुयोज्य, प्रश्नवाचक वाक्य की निरर्थक भूमिका का निर्वाह करता है। जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, साहित्यशास्त्र में इस प्रकार के दोषों की एक लम्बी शृंखला है ॥ देखें—'पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके। यथानुसारमभ्यूहेद् दोषान् शब्दार्थसम्भवान्'। चन्द्रालोक। चरक में आगे ५४ वें गद्य में 'वाक्यदोष' का स्पष्ट निर्देश किया है।

अथाननुयोज्यम्—अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेण; यथा—अयमसाध्यः ॥ ५१ ॥

(३०) अननुयोज्य—अब अननुयोज्य का परिचय दिया जा रहा है। जो अनुयोज्य के सर्वथा विपरीत हो उसे अननुयोज्य कहते हैं। जैसे—यह रोग या रोगी असाध्य है।

वक्तव्य—'न अनुयोज्यम्, अननुयोज्यम्' अर्थात् जो वाक्य अनुयोज्य में कहे गये दोष से रहित हो उसे 'अननुयोज्य' कहते हैं।

अथानुयोगः अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते। यथा— नित्यः पुरुषः' इति प्रतिज्ञाते यंत् परः को हेतुः इत्याह, सोऽनुयोगः ॥ ५२ ॥

(३१) अनुयोग—अब अनुयोग की चर्चा की जा रही है—अनुयोग उसको कहते हैं जो तद्विद्यों (उस विषय के जानकार विद्वानों) का तद्विद्यों के साथ ज्ञान, विज्ञान, वचन तथा प्रतिवचन की परीक्षा के लिये तन्त्र (जैसा यह आत्रेयतन्त्र था जो सम्प्रति चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है) में या तन्त्र के किसी एक प्रकरण में प्रश्न या आंशिक प्रश्न पर चर्चा की जाती है। जैसे—पुरुष नित्य है, यह प्रतिज्ञा की जाती है, तब पर (दूसरा) पूछे कि इसमें क्या हेतु (कारण) है ? इसी को अनुयोग कहते हैं।

वक्तव्य—सामान्य दृष्टि से भी 'प्रश्न, अनुयोग, पृच्छा' ये शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। देखें—'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च'। अमरकोष। यहाँ वादी की प्रतिज्ञा है—'पुरुष नित्य है'। इस प्रतिज्ञावाक्य में प्रतिवादी द्वारा—क्या कारण है ?—यह पूछना 'अनुयोग' है।

अथ प्रत्यनुयोगः—प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोगः; यथा—अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति ॥ ५३ ॥

(३२) प्रत्यनुयोग—अब प्रत्यनुयोग का परिचय दिया जा रहा है—प्रत्यनुयोग उसे कहते हैं जो प्रथम अनुयोग (प्रश्न) के सम्बन्ध में पुनः अनुयोग (प्रश्न) किया जाय। जैसे—इस अनुयोग का फिर क्या कारण है ?

वक्तव्य—'अनुयोगं प्रति पुनः अनुयोगः = प्रत्यनुयोगः'। अनुयोग के सम्बन्ध में पुनः अनुयोग ही 'प्रत्यनुयोग' है। इसकी सीमा का कहीं अन्त नहीं हो सकता।

अथ वाक्यदोषः—वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनम्, अधिकम्, अनर्थकम्, अपार्थकं, विरुद्धं चेति; एतानि ह्यन्तरेण न प्रकृतोऽर्थः प्रणश्येत्। तत्र न्यूनं—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति; यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तच्च न्यूनम्। अथाधिकम्—अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतं, यद्वाऽऽयुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद् वा यत्किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते, यद् वा सम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत् पुनरुक्तदोषत्वादधिकं, तच्च पुनरुक्तं द्विविधम्—अर्थपुनरुक्तं, शब्दपुनरुक्तं च; तत्रार्थपुनरुक्तं यथा—भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तं पुनर्भेषजं भेषजमिति। अथानर्थकम्—अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते। अथापार्थकम्—अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकं; यथा—चक्र-न(त)क्र-वंश-वज्र-निशाकरा इति। अथ विरुद्धं—विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धं; तत्र पूर्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ; समयः पुनस्त्रिधा भवति; यथा—आयुर्वैदिकसमयः, याज्ञिकसमयः मोक्षशास्त्रिकसमयश्चेति; तत्रायुर्वैदिकसमयः—चतुष्पादं भेषजमिति, याज्ञिकसमयः—आलभ्या यजमानैः पशव इति, मोक्षशास्त्रिकसमयः—सर्वभूतेष्वहिंसेति; तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति। इति वाक्यदोषाः ॥ ५४ ॥

(३३) वाक्यदोष—तत्पश्चात् वाक्यदोष का परिचय प्रस्तुत है—वाक्यदोष उसे कहते हैं, जो किसी अर्थ में न्यून (अपने अभिधेय का निर्वाह करने में कुछ कम समर्थ हो), अधिक (आवश्यकता से अधिक), अनर्थक, अपार्थक तथा विरुद्ध हो। इन दोषों के बिना वाक्य के स्वाभाविक अर्थ की हानि नहीं होती। इनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है—

१. **न्यून**—जिस वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन (जिनकी व्याख्या ऊपर इसी अध्याय में की गयी है) में से किसी एक की भी कमी हो तो उसमें न्यूनत्व दोष होता है। अथवा जो विषय अनेक प्रकार के उपदेशों से सिद्ध होता हो, उसको यदि एक ही हेतु से सिद्ध किया जाता हो तो वह भी न्यूनत्व दोष है।

२. **अधिक**—न्यूनत्व दोष के लक्षणों से विपरीत को अधिकत्व दोष कहते हैं। अथवा आयुर्वेदीय विषय की व्याख्या के अवसर पर बार्हस्पत्य, औशनस या अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को उद्धृत करना, अथवा उस प्रसंग में जो कुछ भी असंबद्ध बात कही जाय, अथवा सम्बन्धित विषय को भी दो बार कहना, वह पुनरुक्त दोष होने के कारण अधिकत्व दोष होता है। वह पुनरुक्त (एक ही बात को दो बार कहना) भी दो प्रकार का होता है—१. अर्थपुनरुक्त और २. शब्दपुनरुक्त। अर्थपुनरुक्त का उदाहरण—भेषज, औषध और साधन (रोगशमन साधन) ये तीनों शब्द आयुर्वेद में समानार्थक हैं। शब्द पुनरुक्त का उदाहरण—भेषज, भेषज। उक्त दोनों पुनरुक्त के उदाहरणों में भेषज के बाद औषध तथा साधन का दूसरे में द्वितीय भेषज शब्द का प्रयोग पुनः उक्त है, जो दोष है।

३. **अनर्थक**—उस अक्षरसमूह मात्र को अनर्थक कहते हैं, जिससे किसी अर्थ की सिद्धि न होती हो। जैसे—पञ्चवर्ग (१. कवर्ग, २. चवर्ग, ३. टवर्ग, ४. तवर्ग, ५. पवर्ग) की भांति जो किसी अर्थ के लिये ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी को साहित्यशास्त्र में 'निरर्थकदोष' कहा गया है। जैसे—च, वा, तु, हि इन अक्षरों का गद्य या पद्य में व्यर्थ प्रयोग।

४. **अपार्थक**—सार्थक शब्दों के परस्पर सम्बन्धहीन संयोजन को 'अपार्थकदोष' कहते हैं। जैसे—चक्र, नक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर। ये सार्थक शब्द अनुचित संयोजन के कारण स्वयं अपगत अर्थ वाले हो गये हैं।

५. **विरुद्ध**—जो विषय दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा समय के विपरीत हो उसे 'विरुद्ध' कहते हैं। दृष्टान्त और सिद्धान्त का इसी अध्याय में पहले क्रमशः ३४ वें तथा ३७ वें गद्य में वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ 'समय' का निर्देश किया जारहा है। समय तीन प्रकार का होता है। जैसे—आयुर्वैदिकसमय, याज्ञिकसमय और मोक्षशास्त्रिकसमय। चतुष्पाद भेषज (भिषक्, द्रव्य, परिचारक, रोगी) को आयुर्वैदिक समय कहते हैं। यजमानों द्वारा यज्ञ-स्थल में पशुओं का आलभ्भन करना चाहिये, इसको याज्ञिकसमय कहते हैं। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखना चाहिये, यह मोक्षशास्त्रिकसमय है। इन सबमें अपने-अपने समय के अनुसार विपरीत चर्चा उपस्थित होने के कारण यह विरुद्ध कहा जाता है। ये वाक्य दोष हैं।

वक्तव्य—ऊपर विरुद्ध के तीन भेदों का विवेचन किया गया है। जैसे—१. **दृष्टान्तविरुद्ध**—उष्ण अग्नि को समझाने के लिये शीतल जल को उद्धृत करना। २. **सिद्धान्तविरुद्ध**—औषध या भेषजसमूह को साध्य रोगों को दूर करने में असमर्थ कहना। ३. **समयविरुद्ध**—समय शब्द के कोषकारों ने ये अर्थ दिये हैं, यथा—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः'। अमर०। यहाँ समय शब्द केवल 'सिद्धान्त' वाचक है। शेष ऊपर स्पष्ट है। साहित्यशास्त्र में इसी प्रकार 'कविसमयविरुद्ध' भी एक दोष है। महर्षि गौतम ने विरुद्ध दोष की गणना हेतु दोषों में की है। देखें—न्यायदर्शन में 'अभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्धदोष'।

अथ वाक्यप्रशंसा—वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनम्; अनधिकम्, अर्थवत्, अनपार्थकम् अविरुद्धम्, अधिगतपदार्थं चेति यत् तद् वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते ॥ ५५ ॥

(३४) वाक्यप्रशंसा—अब वाक्यप्रशंसा की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—वाक्यप्रशंसा उसे कहते हैं, जो वाक्य जिस अर्थ में प्रयुक्त हो उस अर्थ के निर्वाह में उसमें न पूर्वोक्त न्यूनत्व दोष हो, न अधिकत्व दोष हो, अर्थ से पूर्ण हो, अपार्थक दोष रहित हो, विरुद्ध दोष न हो और जिससे पदों का अर्थ स्पष्ट मालूम हो

जाता हो, ऐसा वाक्य अननुयोज्य (इसी अध्याय का गद्य ५१ वाँ देखें) होता है। अतएव वह वाक्य प्रशंसा के योग्य होता है।

अथ च्छलम्--छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव । तद् द्विविधं--वाक्छलं, सामान्यच्छलं च । तत्र वाक्छलं नाम यथा--कश्चिद् ब्रूयात्--नवतन्त्रोऽयं भिषगिति, अथ भिषग् ब्रूयात्--नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति; परो ब्रूयात्--नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रमिति; भिषक् ब्रूयात्--न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधाऽभ्यस्तं मया तन्त्रमिति; एतद् वाक्छलम् । सामान्यच्छलं नाम यथा--व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते, परो ब्रूयात्--सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह; सन् हि रोगः; सदौषधं; यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति, तत्र सत् कासः, सत् क्षयः, सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यतीति । एतत् सामान्यच्छलम् ॥ ५६ ॥

(३५) छल--अब छल का परिचय दिया जा रहा है--छल उसको कहते हैं जिस वाक्य में पूर्ण रूप से धूर्तता (शास्त्रीय विषय का अभाव) हो, अर्थाभास (जिसमें केवल अर्थ का मिथ्या आभास मात्र प्रतीत) हो, अनर्थक (किसी प्रकार की सार्थकता न) हो और जो वाग्जाल (दूसरे को फँसाने के लिये वाणी का आडम्बर) मात्र हो। वह छल दो प्रकार का होता है--१. वाक्छल और २. सामान्यछल।

१. **वाक्छल**--जैसे-कोई कहे कि यह भिषक् नवतन्त्र (नौ सिखुआ अर्थात् अभी पढ़ कर प्रयोग क्षेत्र में प्रवेश किया) है। तब भिषक् (वैद्य) उत्तर दे कि--मैं नौ तन्त्र (शास्त्र) का ज्ञाता नहीं हूँ, मैं तो एक तन्त्र (शास्त्र) का ही जानकार हूँ। इस विवाद में वादी ने कहा कि यह वैद्य नौ सिखुआ अर्थात् परिपक्व बुद्धि का नहीं है, नया है। यहाँ पर प्रतिवादी ने उसके 'नव' शब्द का अर्थ नौ संख्या के रूप में करके अपनी सुरक्षा कर ली। पुनः वादी कहता है कि--मैं यह नहीं कहता हूँ कि तुम नौ तन्त्रों के ज्ञाता हो अपितु तुम्हारा इस शास्त्र में नया नया अभ्यास किया हुआ है। प्रतिवादी इसका उत्तर देते हुए कहता है कि मैंने इस तन्त्र पर नौ बार अभ्यास नहीं किया है अपितु अनेक बार मैंने इस शास्त्र का अभ्यास किया है। यह वाक्छल है।

२. **सामान्यछल**--जैसे वादी भिषक् के यह कहने पर कि रोग की शान्ति के लिये औषधप्रयोग होता है, तब प्रतिवादी भिषक् कहे--आपने क्या कहा ? सत्, सत् को शान्त करने के लिये होता है। यहाँ सत् का अर्थ है सत्तावान् वस्तु अर्थात् सत् रोगवाचक भी है और सत् औषधद्रव्य भी है। अतः सत्तावान् रोग की शान्ति सत्तावान् औषध से होती है जैसा कि आप कहते हैं--सत्तावान् वस्तु सत्तावान् का प्रशमन करने के लिये होती है, तब तो सत्तावान् कास रोग सत्तावान् क्षयरोग का भी प्रशमनकारक होगा ? यह वाक्छल का सामान्य स्वरूप है।

वक्तव्य--वादी-प्रतिवादी परस्पर वञ्चना की दृष्टि से इस छल का प्रयोग करते हैं। यह प्रकार किसी सिद्धान्त को स्थिर करने में उपकारक नहीं होता। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में व्याघातछल, उपचारछल से संज्ञाभेद किया है। उपचारछल का अन्तर्भाव वाक्छल में हो जाता है। गौतम के अनुसार इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं--१. **छल**--'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम्'। २. **वाक्छल**--'सामान्यशब्दोक्ते ह्यर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्'। 'वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्'। ३. **सामान्यच्छल**--'सम्भवतोऽर्थस्याति सामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पनं सामान्यच्छलम्'। ४. **उपचारच्छल**--'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्'। न्यायदर्शन १।२।

अथाहेतुः--अहेतुर्नाम प्रकरणसमः, संशयसमः, वर्ण्यसमश्चेति । तत्र प्रकरणसमो नामहेतुर्यथा--अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति; परो ब्रूयात्--यस्मादन्यः शरीरादात्मा, तस्मान्नित्यः; शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा ¹चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः; नहि य एव पक्षः स एव हेतुरिति । संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः; यथा--अयमायुर्वेदैकदेशमाह; किन्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशये परो ब्रूयात्--यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति; न च संशयच्छेदहेतुं विशेषयति, एष चाहेतुः; न हि य एव संशयहेतुः; स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति । वर्ण्यसमो नामाहेतुः--यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः; यथा--कश्चिद् ब्रूयात्--अस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति; अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद् वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः ॥ ५७ ॥

[1] 'चानेन' इति पा०।

(३६) अहेतु--अब 'अहेतु' का परिचय प्रस्तुत है--यह अहेतु तीन प्रकार का होता है--१. प्रकरणसम, २. संशयसम और ३. वर्ण्यसम। इनकी व्याख्या यहाँ दी जा रही है।

१. **प्रकरणसम अहेतु**--जैसे शरीर से पृथक् सत्तावाली आत्मा नित्य है, वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी को कहना चाहिये--क्योंकि शरीर से आत्मा अन्य (पदार्थ) है, इसलिये वह नित्य है। क्योंकि शरीर अनित्य (विनाशशील) है, इसलिये उससे विपरीत धर्मवाली आत्मा को तो शरीर से विपरीत धर्मवाली (नित्य) होना ही चाहिये, यहाँ यही 'अहेतु' है। क्योंकि वाद में जो पक्ष हो वही हेतु नहीं हो सकता।

२. **संशयसम अहेतु**--इसकी परिभाषा इस प्रकार है--जो वाक्यांश संशय का हेतु (कारण) हो, यदि वही (वाक्यांश) संशय को हटाने में हेतु हो तो उसे 'संशयसम अहेतु' कहते हैं। जैसे--इसने आयुर्वेद के एक भाग (निदान अथवा चिकित्सा) का ही वर्णन किया है, क्या यह चिकित्सक हो सकता है अथवा नहीं, इस प्रकार का जब संदेह उत्पन्न हो जाय तब विपक्षी (प्रतिवादी) को कहना चाहिये--क्योंकि इसने आयुर्वेद शास्त्र के एक पक्ष का व्याख्यान किया है, इसलिये यह चिकित्सक है। इस प्रकरण में तन्त्रकार ने संशय के विनाशकारक हेतु का उल्लेख नहीं किया; अतएव यह 'अहेतु' है। जो संशय का हेतु हो वही संशय के विनाश का कारण नहीं हो सकता है।

३. **वर्ण्यसम अहेतु**--जो हेतु वर्ण्य (वर्णनीय) विषय से अलग न हो, उसको 'वर्ण्यसम अहेतु' कहते हैं। जैसे--कोई कहे कि बुद्धि स्पर्शरहित (त्वगिन्द्रिय ग्राह्य न) होने के कारण अनित्य है, जैसे शब्द (इसका भी स्पर्श नहीं होता)। यहाँ शब्द और बुद्धि दोनों ही वर्ण्य विषय हैं। अतः इन दोनों (दृष्टान्त-शब्द, साध्य-बुद्धि) वर्ण्य विषयों में अस्पर्शत्व रूप साधर्म्य के अविशिष्ट (समान) होने के कारण यह 'वर्ण्यसम अहेतु' है।

वक्तव्य--असाधक (लक्ष्यसिद्धि में असमर्थ) हेतु को अहेतु या 'हेत्वाभास' कहते हैं। आत्रेय पुनर्वसु ने अहेतु के उक्त तीन भेदों का ग्रहण किया है किन्तु महर्षि गौतम ने अपने 'न्यायदर्शन' में इसके पाँच भेदों (१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम ४. साध्यसम और ५. अतीतकाल) का उल्लेख किया है। सव्यभिचार (४५ वें गद्य में) तथा विरुद्ध (५४ वें गद्य में) का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अतीतकाल का वर्णन अगले (५८ वें) गद्य में करेंगे। तन्त्रकार के अनुसार उक्त तीनों का क्षेत्र भिन्न है। गौतम ने जिसको 'साध्यसम' की संज्ञा दी है वही चरकसंहिता में वर्णित 'वर्ण्यसम' है। गौतम की दृष्टि से 'अहेतु' या 'हेत्वाभास' के अवान्तर भेदों की सीमा से 'संशयसम' भेद बाहर का विषय है। महर्षि वात्स्यायन 'सव्यभिचार' में संशयसम का अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं।

'नहि य एव पक्षः स एव हेतुः'--जो 'पक्ष' होता है वही 'हेतु' नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तवाक्य के अनुसार यहाँ आत्मा का नित्यत्व पक्ष है, वही शरीर से भिन्न होकर 'हेतु' हो, यह सम्भव नहीं है। क्योंकि यहाँ 'आत्मा का नित्यत्व' ही पक्ष है, वही शरीर से भिन्न होने में 'हेतु' हो, यह नहीं हो सकता। गौतम के निम्न लक्षण के अनुसार अपनी 'स्थापना' में अपनी ही 'हेतुता' नहीं होती। देखें--'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स एव निर्णयार्थमुपदिष्टः **प्रकरणसमः**'। न्यायदर्शन। यहाँ शरीर से भिन्न आत्मा है, यह प्रकरण है, इस शरीर से भिन्नता को ही यदि हम आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि का हेतु स्वीकार कर लें तो यह 'प्रकरणसम अहेतु' का उदाहरण होगा।

संशयसम अहेतु--जो वाक्यसमूह संशय का कारण हो, वही उस (संशय) के नाश का कारण नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में महर्षि वात्स्यायन का मत द्रष्टव्य है--'यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एव'। न्यायभाष्य। यह चिकित्सक आयुर्वेद के एक देश (सम्पूर्ण शास्त्र के किसी एक भाग) का ज्ञाता है, यह कहकर उसके चिकित्सक होने अथवा न होने दोनों पक्षों में समान रूप से घटित होता है। अतः यह वाक्यावयव 'अनैकान्तिक' (एक पक्ष का समर्थक नहीं) है, इसलिये न्यायशास्त्र के अनुसार इसे 'सव्यभिचार' के लक्षणों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

वर्ण्यसम अहेतु—के उदाहरण में स्पर्शरहित होने के कारण बुद्धि और शब्द दोनों अनित्य हैं। वर्णनीय विषय के रूप में तो यहाँ बुद्धि तथा शब्द दोनों समान हैं किन्तु यहाँ बुद्धि साध्य है न कि शब्द। जो साध्यपक्ष होता है वह नियमतः दृष्टान्त पक्ष नहीं हो सकता। महर्षि गौतम ने ऐसे स्थलों को वर्ण्यसम हेत्वाभास की कोटि में रखा है। देखें—'साध्यविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः'। तथा—'साध्यदृष्टान्तयोः साधर्म्याद् वर्ण्यसमः'। न्यायदर्शन।

अयातीतकालम्—अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चादुच्यते, तत् कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति; [1]पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य परिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृहीते, तत् तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति ॥ ५८ ॥

(३७) अतीतकाल—अब अतीतकाल की परिभाषा दी जा रही है—जिस वाक्यांश को पहले कहना चाहिये था उसको यदि बाद में (अवसर के पश्चात्) कहा जाय तो उस वचन को 'अतीतकाल' कहते हैं। वह अतीतकाल होने (समय बिताकर कहने) के कारण अग्राह्य (तिरस्कार करने योग्य) होता है। अथवा पहले जो (परस्पर वादी-प्रतिवादी) **निग्रहस्थान** (Keeping in check) अर्थात् पराजित करने के स्थान पर आये हुए को पराजित किये बिना, बाद में जब उसने दूसरे पक्ष का आश्रय लेकर शास्त्रार्थ प्रारम्भ कर दिया है, जानने के बाद यदि निग्रहकारक वचन (निगृहीतोऽसि) कहने पर भी वह वचन कालातीत होने के कारण निग्रह करने में असमर्थ हो जाता है।

वक्तव्य—मौके पर की इस चूक को शत्रु या मित्र कोई भी क्षमा नहीं कर सकता। ऐसे ही अवसरों पर प्रत्युत्पन्नमति की प्रशंसा होती है, क्योंकि—'का वर्षा जब कृषी सुखाने'। सुभाषित। महर्षि गौतम के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'। न्यायदर्शन। यह कालातीत दोष वादी तथा प्रतिवादी दोनों की असमर्थता को सूचित करता है।

अथोपालम्भः—उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनं; यथा—पूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः ॥

(३८) उपालम्भ—अब उपालम्भ की चर्चा की जा रही है—वादी-प्रतिवादी द्वारा दिये गये हेतु में एक दूसरे के दोष को बतलाना उपालम्भ (उलहना) कहा जाता है। जैसे—इसके पहले अहेतु हेत्वाभासों की व्याख्या की गयी है।

अथ परिहारः—परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणं; यथा—नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति ॥ ६० ॥

(३९) परिहार—अब परिहार का परिचय प्रस्तुत है—उस (वादी या प्रतिवादी द्वारा दिये गये) हेतु के दोषयुक्त वचनों को दूर करने के लिये जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं, उस तर्कसमूह को परिहार कहते हैं। जैसे—शरीर में आत्मा के रहने पर जीव के लक्षण (सुख-दुःख आदि का विस्तृत वर्णन चरक शारीरस्थान अ० १ में देखें) प्रतिक्षण दिखायी देते हैं और शरीर से उस आत्मा के निकल जाने (मृत्यु हो जाने) पर नहीं दिखलायी देते। इसलिये शरीर से आत्मा अलग और नित्य है।

अथ प्रतिज्ञाहानिः—प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वपरिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति; यथा—प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति, पर्यनुयुक्तस्त्वाह—अनित्य इति ॥ ६१ ॥

(४०) प्रतिज्ञा-हानि—अब प्रतिज्ञाहानि की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है—शास्त्रार्थ में जिस पहले की गयी प्रतिज्ञा को पराजित होने पर छोड़ दिया जाता है, अर्थात् जिस प्रतिज्ञा का अन्त तक निर्वाह नहीं किया जा सका हो अथवा वादी या प्रतिवादी जिस प्रतिज्ञा को अपने तर्कों द्वारा अन्त तक प्रमाणित न कर सके उसे प्रतिज्ञाहानि कहते हैं। जैसे—पहले यह प्रतिज्ञा करके कि **'पुरुष नित्य है'** बाद में विपक्ष से पराजित होने पर स्वीकार कर लिया गया कि **'पुरुष अनित्य है'**।

वक्तव्य—प्रतिज्ञा का दूसरा पर्याय है 'साध्यवचन' जिसको अन्त तक अपने तर्कों द्वारा सिद्ध करना

१. 'परम्' इति पा०।

होता है, इसी को प्रतिज्ञानिर्वाह भी कहते हैं। प्रारम्भ में वादी ने पुरुष के नित्य होने में यह प्रमाण दिया था 'अकृतकत्वात् आकाशवत्'। अर्थात् पुरुष इसलिये नित्य है कि उसका निर्माणकर्ता कोई नहीं है। जैसे—'आकाश', तदनन्तर प्रतिवादी ने कहा था—'न नित्यः पुरुषः ऐन्द्रियकत्वात् घटवत्'। अर्थात् पुरुष नित्य नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य है 'घड़ा' की भांति। इस स्थिति में यदि वादी अपनी प्रतिज्ञा (पुरुष नित्य है) को छोड़कर प्रतिवादी की बात को स्वीकार कर ले तो इसे प्रतिज्ञाहानि कहेंगे। महर्षि गौतम ने इसके चार भेद माने हैं—१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध और ४. प्रतिज्ञासन्यास। देखें—न्यायदर्शन।

न्यायशास्त्र के अनुसार इन भेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—१. प्रतिज्ञाहानि में अपने पक्ष के विरुद्ध दृष्टान्त के तथ्य को स्वीकार कर अपने द्वारा की गयी प्रतिज्ञा को छोड़ दिया जाता है। २. प्रतिज्ञान्तर में प्रतिवादी के दृष्टान्त पक्ष को न मानकर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को छोड़कर दूसरी प्रतिज्ञा की स्थापना कर ली जाती है। ३. प्रतिज्ञाविरोध में जब प्रतिज्ञा तथा हेतु दोनों का दूसरे पक्ष से विरोध हो जाता है तो वादी अपनी प्रतिज्ञा की स्थापना करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देता है। ४. प्रतिज्ञासन्यास में जब वादी प्रतिज्ञा किये हुए विषय को छिपाकर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होता है तो प्रतिज्ञात विषय को छिपाने से ही वह प्रतिज्ञात्याग भी कहा जाता है।

महर्षि आत्रेय ने इन सब का समावेश केवल प्रतिज्ञाहानि में किया है। इस प्रतिज्ञाहानि की गणना निग्रहस्थानों में की जाती है। न्यायशास्त्र में वर्णित प्रतिज्ञाहानि का विषय उतना स्पष्ट नहीं है, जितना यहाँ वर्णन किया गया है।

अथाभ्यनुज्ञा—अभ्यनुज्ञा नाम सा य इष्टानिष्टाभ्युपगमः ॥ ६२ ॥

(४१) अभ्यनुज्ञा—अब अभ्यनुज्ञा का परिचय प्रस्तुत है—अभ्यनुज्ञा उसे कहते हैं। जिसमें इष्ट (इच्छित) और अनिष्ट (अनिच्छित) विषय को स्वीकार किया जाता है।

वक्तव्य—इसमें परपक्ष का दोष देखना या सुनना इष्ट होता है, या अच्छा लगता है, अपने पक्ष का दोष देखना या सुनना अनिष्ट (अप्रिय) होता है। इनको स्वीकार कर लेना ही अभ्यनुज्ञा है। शास्त्रार्थ के अतिरिक्त स्थलों में अभ्यनुज्ञा का अर्थ होता है—Consent or Approval. न्यायशास्त्र में इसे 'मतानुज्ञा' भी कहा गया है। इसकी गणना भी निग्रहस्थानों में है। देखें—नीचे ६५ वां गद्य।

अथ हेत्वन्तरं—हेत्वन्तरं नाम प्रकृतहेतौ वाच्ये यद् विकृतहेतुमाह ॥ ६३ ॥

(४२) हेत्वन्तर—अब हेत्वन्तर (दूसरे अर्थात् अनुचित हेतु) का परिचय दिया जा रहा है—जहाँ प्रकृत (वास्तविक) हेतु कहना चाहिये या प्रकृत हेतु का प्रयोग करना चाहिये वहाँ उसका प्रयोग न करके जो विकृत (विकार युक्त अर्थात् दोषपूर्ण) हेतु का प्रयोग किया जाता है, उसे 'हेत्वन्तर' कहते हैं।

वक्तव्य—महर्षि गौतम के अनुसार हेत्वन्तर का लक्षण इस प्रकार है—'अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्'। न्यायदर्शन। अविशेष (सामान्य) रूप से कहे गये हेतु का निषेध करने पर हेतु को विशेषता से पूर्ण बना देना ही 'हेत्वन्तर' है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'। तर्कसंग्रह। यह प्रकृत हेतु है। क्योंकि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्निः'। 'यथा महानसम्'। तर्कसंग्रह। विकृतहेतु—'पर्वतो वह्निमान् तप्तत्वात्'। यहाँ तप्तत्व हेतु विकृत हेतु है क्योंकि यह अव्याप्ति आदि दोषों से पूर्ण है।

अथार्थान्तरम्—अर्थान्तरं नामैकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह। यथा—ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह ॥ ६४ ॥

(४३) अर्थान्तर—अब अर्थान्तर को कहते हैं—जहाँ किसी एक निश्चित विषय के सम्बन्ध में कहना चाहिये वहाँ उसको छोड़कर दूसरे विषय का प्रतिपादन करना 'अर्थान्तर' कहा जाता है। जैसे—जहाँ ज्वर के लक्षणों को कहना उचित हो वहाँ प्रमेह के लक्षणों को कहना 'अर्थान्तर' है।

वक्तव्य—साहित्यशास्त्र का अर्थान्तरन्यास अलंकार इसकी परिभाषा से सर्वथा भिन्न है।

अथ निग्रहस्थानं—निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः; तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा,

कालातीतवचनम्, अहेतुः, न्यूनम्, अधिकं, व्यर्थम्, [1]अनर्थकं, पुनरुक्तं, विरुद्धं, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं च निग्रहस्थानम् ॥ ६५ ॥

(४४) **निग्रहस्थान**—अब निग्रहस्थान का परिचय तथा परिगणन प्रस्तुत है—पराजय की प्राप्ति का ही नाम निग्रहस्थान है। यह तीन प्रकार का होता है—विज्ञानवती या ज्ञानवती परिषद् में सभासदों द्वारा तीन बार कहे जाने पर भी वाक्य के अर्थ का परिज्ञान न हो पाना, अननुयोज्य का अनुयोग अथवा अनुयोज्य का अननुयोग। प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचन, अहेतु, न्यून, अधिक, व्यर्थ, अनर्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर तथा अर्थान्तरप्रयोग ये सभी वाद में निग्रहस्थान कहे गये हैं, क्योंकि इनसे तद्विद्यसम्भाषा का गौरव नष्ट होता है।

वक्तव्य—सभासदों, निर्णायकों अथवा वादी द्वारा प्रतिवादी या प्रतिवादी द्वारा वादी जिस स्थान (युक्तिहीन वचन के उच्चारण काल) में निगृहीत कर लिया जाता है, अर्थात् पराजित कर दिया जाता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहते हैं। महर्षि गौतम के अनुसार—'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'। न्यायदर्शन। अपनी अयोग्यता का प्रदर्शन करना तथा अपने पक्ष का योग्यतापूर्वक निर्वाह न कर पाना साथ ही परमत का युक्तियुक्त खंडन न कर सकना ये दोनों ही निग्रहस्थान के स्वरूप हैं। चरक द्वारा सम्मत निग्रहस्थान—

१. ज्ञानवती सभा में तीन बार कहने पर भी वादी अथवा प्रतिवादी की समझ में न आना या समझने पर भी अपनी अयोग्यता के कारण उसकी उपेक्षा करना।

२. अननुयोज्य का अनुयोग करना—इनकी व्याख्या इसी प्रकरण में कर दी गयी है।

३. अनुयोज्य का अनुयोग न करना—इनकी भी व्याख्या की जा चुकी है।

४. प्रतिज्ञाहानि से अर्थान्तर तक—इनकी कुल संख्या पन्द्रह है।

न्यायशास्त्र में १. अप्राप्तकाल, २. अननुभाषण, ३. अप्रतिभा और ४. विक्षेप ये भेद अधिक माने हैं। यथा—'प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानियोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि'। न्यायदर्शन। इनकी विशद व्याख्या के लिये न्यायशास्त्र का अध्ययन तथा मनन आवश्यक है।

इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

इस प्रकार पहले कहे गये क्रमानुसार वादमार्ग (शास्त्रार्थ के प्रसंग) में प्रयुक्त होने वाले पदों के निर्देश कर दिये गये हैं।

वादस्तु खलु भिषजां प्रवर्तमानो प्रवर्तेतायुर्वेद एव, नान्यत्र। अत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयः सर्वाधिकरणेषु। ताः सर्वाः समवेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमव्यापकं वा। सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्। हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूताः, प्रशस्तबुद्धिवर्धकत्वात्; सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता बुद्धिः ॥६७॥

वाद के स्थल—वैद्यों का वाद-विवाद आयुर्वेद के विषय में ही होना चाहिये न कि अन्य शास्त्रों में। यह सूत्र तद्विद्यसम्भाषा को पुनः समर्थन दे रहा है। यहाँ सभी अधिकरणों (आयुर्वेद के समस्त प्रकरणों) में वाक्य (प्रश्न) तथा प्रतिवाक्य (उत्तर) के विस्तार को सभी युक्तियों के साथ उपस्थापित किया गया है। उन सभी युक्तियों को देख-देख कर (सोच-विचार कर) प्रत्येक वाक्य का उच्चारण करे (कहे), अप्रकृतक (जो विद्वत्तापूर्ण न हो), शास्त्रज्ञान से रहित, जिसकी परीक्षा न की गयी हो, असाधक (जो हेत्वाभास जैसा न हो), आकुल (कठिन अर्थों वाला) अथवा अव्यापक (अपने अभिधान को व्यक्त करने में असमर्थ) वचनों को न बोले। ज्ञानवती परिषद् में सभी वाक्य सार्थक ही बोलने चाहिये। सभी प्रकार के सहेतुक वादविग्रह (शास्त्रार्थ) निर्दोष होते हैं और ये निर्णय उत्तम बुद्धिवर्धक होने के कारण चिकित्साकाल में सहायक कारण के रूप में देखे जाते हैं। दोषरहित बुद्धि सभी कार्यों में सिद्धिदायक होती है।

१. 'अपार्थकं' चक्रः।

इमानि खलु तावदिह कानिचित् प्रकरणानि भिषजां ज्ञानार्थमुपदेक्ष्यामः। ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः। ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्ययोनि-कार्य-कार्यफलानुबन्ध-देश-काल-प्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्ता ॥ ६८ ॥

दसविध परीक्ष्य विषय

(Ten-Topics for Investigation)

दस प्रकार के अनुसन्धेय विषय—यहाँ कतिपय इन निम्नोक्त प्रकरणों (विषयों) का हम वैद्यों के ज्ञानवर्धन के लिये उपदेश करेंगे। व्यवहार एवं शास्त्रज्ञान में कुशल व्यक्ति जान-बूझकर कार्यों को प्रारम्भ करने की प्रशंसा करते हैं। १. कारण, २. करण, ३. कार्ययोनि, ४. कार्य, ५. कार्यफल, ६. अनुबन्ध, ७. देश, ८. काल, ९. प्रवृत्ति और १०. उपाय—इनको भलीभांति जानकर प्रयोग करने वाला व्यक्ति (चिकित्सक) थोड़े ही प्रयत्न करने से अर्थात् कम समय में कम परिश्रम से अपने कार्य (चिकित्सा) की सफलता में इच्छा के अनुसार अभीष्ट फल को प्राप्त कर लेता है। इनका क्रमिक व्याख्यान आगे दिया जा रहा है।

तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति, स एव हेतुः; स कर्ता ॥ ६९ ॥

१. **कारण**—चिकित्सक जो करता है, उसे कारण कहते हैं। उसी को हेतु भी कहते हैं। वही कर्ता है।

वक्तव्य—चिकित्सक रोग को हटाने के लिये चिकित्सा करता है, अतः रोग को दूर करने का वह (चिकित्सक) कारण है, रोग को दूर करने के कारण (करोतीति) वह कर्ता भी है, वही हेतु है।

करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य ॥ ७० ॥

२. **करण**—कार्य की सिद्धि (पूर्ति) के लिये प्रयत्न करने वाले कर्ता के साधन (उपकरण) रूप में जो पदार्थ सहायक होता है, उसे 'करण' कहते हैं।

वक्तव्य—'असाधारणं कारणं करणम्'। तर्कसंग्रह। न्यायशास्त्र के अनुसार असाधारण कारण (जिसके अभाव में वह कार्य न हो सके) को करण कहते हैं। इसी को व्याकरणशास्त्र ने अपनी भाषा में इस प्रकार कहा है—'साधकतमं करणम्'। अष्टाध्यायी। जैसे—'**चक्षुषा पश्यति**' आँख से देखता है। यहाँ देखने रूप कार्य में नेत्र (आँख) असाधारण कारण है। इसी दृष्टि से चिकित्सा क्षेत्र में प्रविष्ट चिकित्सक के लिये औषध, यन्त्र, शस्त्र, क्षार, जलौका आदि सभी करण = उपकरण हैं। इसी प्रकार जीवित शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ भी करण हैं। ज्योतिषशास्त्र के 'करण' इन परिभाषाओं से सर्वथा भिन्न हैं।

कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते ॥ ७१ ॥

३. **कार्ययोनि**—कार्ययोनि उसे कहते हैं, जो वस्तु कार्य की सिद्धि के लिये स्वयं विकार को प्राप्त होकर स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाती है।

वक्तव्य—जैसे मिट्टी घट की कार्ययोनि है और रुई वस्त्र की, अर्थात् मिट्टी अथवा रुई क्रमशः अपने स्वरूप को विकृत करके घट या वस्त्र का रूप धारण कर लेती है। कार्ययोनि को दूसरे शब्दों में 'उपादानकारण' भी कहा जा सकता है।

कार्यं तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्ता प्रवर्तते ॥ ७२ ॥

४. **कार्य**—जिसकी अभिनिर्वृत्ति (उत्पत्ति या निष्पत्ति या प्राप्ति—Accomplishment) को लक्ष्य करके कर्ता (करने वाला) प्रवृत्त होता है, उसे 'कार्य' कहते हैं।

वक्तव्य—इस जगत् रूप सृष्टिकार्य का कर्ता ब्रह्मा है।

कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते ॥ ७३ ॥

५. **कार्यफल**—जिस प्रयोजन (Necessity) के लिये कार्य किया जाता है, उसे 'कार्यफल' कहते हैं।

वक्तव्य—जैसे रोगमुक्ति के लिये चिकित्सा प्रारम्भ की उससे प्राप्त आरोग्य लाभ, चिकित्सा का कार्य का 'कार्यफल' है।

अनुबन्धः खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो भावः ॥ ७४ ॥

६. **अनुबन्ध**—जो कार्य से सम्बन्धित शुभ अथवा अशुभ भाव (फल) कार्य करने के बाद भी कार्यकर्ता को निश्चित रूप से बाँधे रहता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं।

देशस्त्वधिष्ठानम् ॥ ७५ ॥

७. **देश**—रोग अथवा चिकित्सोपयोगी द्रव्यमात्र का जो आधार होता है उसे 'देश' कहते हैं।

वक्तव्य—रोगों का अधिष्ठान (अधिकृत्य तिष्ठतीति) शरीर है, यह वातादि भेद से तीन प्रकार का होता है और औषध द्रव्यों का अधिष्ठान भूमि है, जो आनूप, जांगल तथा साधारण देश भेद से तीन प्रकार की होती है।

कालः पुनः परिणामः ॥ ७६ ॥

८. **काल**—परिणाम (परिवर्तन) का नाम ही काल है। इसका विशेष व्याख्यान चरक सूत्रस्थान ११ वें अध्याय में किया गया है, वहाँ देखें।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था; सैव क्रिया, कर्म, यत्नः, कार्यसमारम्भश्च ॥ ७७ ॥

९. **प्रवृत्ति**—किसी कार्य को करने के लिये जो चेष्टा (व्यापार = Movement) होती है उसी को 'प्रवृत्ति' कहते हैं। वही क्रिया, कर्म, यत्न (प्रयत्न) तथा कार्यसमारम्भ है।

वक्तव्य—महर्षि गौतम के अनुसार प्रवृत्ति का लक्षण—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (न्यायदर्शन)। अर्थात् वाणी, बुद्धि और शरीर द्वारा जिस कार्य का आरम्भ होता है उसे प्रवृत्ति कहा है। यह प्रवृत्ति पाप तथा पुण्य भेद से दो प्रकार की होती है।

उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं[1] च सम्यक् [2]कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपायः कृते नोपायार्थोऽस्ति, न च विद्यते [3]तदात्वे कृताच्चोत्तरकालं फलं, फलाच्चानुबन्ध इति ॥ ७८ ॥

१०. **उपाय**—कारण आदि तीनों (कारण, करण तथा कार्ययोनि) का सौष्ठव (कार्य के अनुकूल होना) और अभिविधान (कार्य को उत्पन्न करने वाली स्थिति) का उचित रूप रूप से होना और कार्य फल तथा अनुबन्ध को छोड़कर कार्यों (करण, कारण तथा कार्ययोनि) का होना भी 'उपाय' कहा जाता है। कारण आदि तीनों (कारण–वैद्य, करण–औषध कार्ययोनि–धातुओं की विषमता) की सुष्ठुता तथा अभिविधान ये सभी कार्य के उत्पादक होते हैं, अतएव ये उपाय कहे गये हैं। कार्य के सम्पन्न हो जाने के बाद उपाय का कोई उपयोग नहीं होता। कार्य की उत्पत्ति के समय भी उपाय की कोई उपयोगिता नहीं होती। उस (उपाय) का फल तो कार्य के हो जाने पर प्रतीत होता है। फलप्राप्ति के पश्चात् अनुबन्ध होता है। अतः कार्य, कार्यफल और अनुबन्ध उपाय नहीं हो सकते। इसीलिये कारण, करण, कार्ययोनि को ही उचित रूप से कार्यसम्पादन का 'उपाय' स्वीकार किया जा सकता है।

एतद् दशविधमग्रे परीक्ष्यं, ततोऽनन्तरं कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा। तस्माद् भिषक् कार्यं चिकीर्षुः, प्राक् कार्यसमारम्भात् परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्य कर्म समारभेत कर्तुम् ॥ ७९ ॥

परीक्षा के बाद कार्यारम्भ करे—ये पूर्वोक्त दस प्रकार के जो परीक्षा के उपाय हैं, कार्य करने के पहले इनकी परीक्षा कर लेनी चाहिये, तदनन्तर कार्य में प्रवृत्त होना उचित है। इसीलिये चिकित्सक का कर्तव्य

१. 'अभिसन्धानम्' ग.।
२. 'कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां तेषां, तद्धि कार्याणामभिनिर्वर्तकमित्यतस्तूपायः' इति पा०।
३. 'कार्यमिति शेषः' चक्रः।

है कि कार्य (चिकित्सा) प्रारम्भ करने की इच्छा के पहले प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश परीक्षाओं द्वारा परीक्षा योग्य विषयों की परीक्षा करके ही कार्य का आरम्भ करे।

तत्र चेद् भिषगभिषग्वा भिषजं कश्चिदेवं खलु पृच्छेद्—वमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन भिषजा कतिविधया परीक्षया कतिविधमेव परीक्ष्यं, कश्चात्र परीक्ष्यविशेषः, कथं च परीक्षितव्यः, किंप्रयोजना च परीक्षा, क्व च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क्व च निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे च किं नैष्ठिकं, कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्तीति ॥ ८० ॥

वमनादि सम्बन्धी प्रश्न—यदि कोई वैद्य अथवा सामान्य पुरुष वैद्य से इस प्रकार पूछे कि वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन तथा शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग करने की इच्छा करने वाले वैद्य ने कितने प्रकार की परीक्षा से कितने प्रकार के परीक्षा योग्य विषयों की परीक्षा करनी चाहिये और परीक्षा करने योग्य विषयों की परीक्षा के कौन-कौन से प्रकार (विधिभेद) हैं। किस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। किस लिये परीक्षा करनी चाहिये। कहाँ (किस प्रकार के रोगों या परिस्थितियों में) वमन आदि का प्रयोग किया जाता है और कहाँ ये नहीं किये जाते। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के लक्षणों के एक साथ दिखलायी देने पर क्या निश्चय करना चाहिये। वमन आदि कराने के लिये किन भेषज (औषधोपयोगी) द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार वमन आदि के सम्बन्ध में कुल मिलाकर ९ प्रश्न किये गये हैं। इनके सम्बन्ध में आगे विशद विवेचन किया जा रहा है।

स एवं पृष्टो यदि मोहयितुमिच्छेत्, ब्रूयादेनं—बहुविधा हि परीक्षा तथा परीक्ष्यविधिभेदः, कतमेन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षया केन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्य भेदाग्रं भवान् पृच्छत्याख्यायमानं; [1]नेदानीं भवतोऽन्येन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षयाऽन्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्याभिलषितमर्थं श्रोतुमहमन्येन परीक्षाविधिभेदेनान्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यं [2]भित्त्वाऽन्यथाऽऽचक्षाण इच्छां पूरयेयमिति ॥ ८१ ॥

पृच्छक वञ्चना प्रकार—यदि कोई उक्त प्रकार से वैद्य से प्रश्न करे और वह प्रश्नकर्ता को उचित उत्तर न देकर अपने वाग्विलास से मोहित करना चाहे तो वह पृच्छक को इस प्रकार उत्तर दे—परीक्षा अनेक प्रकार की होती है और परीक्षा के योग्य विषय के भी अनेक भेद होते हैं। किस विधिभेद के प्रकृतिभेद से भिन्न परीक्षा द्वारा, किस विधिभेद के प्रकृतिभेद से भिन्न परीक्षा योग्य विषयों के संख्याभेद के सम्बन्ध में आप मुझ से प्रश्न कर रहे हैं। ऊपर का प्रश्नसमूह इस प्रकार परस्पर उलझा हुआ है कि प्रश्न करने वाला पुनः पूछने का साहस ही नहीं करेगा, फलतः वह मूर्ख बनकर चुप हो जायगा और वैद्य को उसे उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। यह भुलावा देने का उत्तम प्रकार है। इस प्रकार उलझा देने के बाद फिर उससे स्पष्ट शब्दों में कह दे कि इस समय आप दूसरे विधिभेद से, प्रकृति (कारण) भेद से भिन्न परीक्षा द्वारा दूसरे किसी विधिभेद से या विधिभेदकारक धर्मान्तर से भिन्न परीक्षा योग्य विषय को अलग-अलग (स्पष्ट रूप से) कहता हुआ मैं अपनी इच्छा के अनुरूप प्रश्नोत्तरों को सुनने की इच्छा वाले आपकी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकूँगा।

स यदुत्तरं ब्रूयात्तत् समीक्ष्योत्तरं वाच्यं स्याद्यथोक्तं च प्रतिवचनविधिमवेक्ष्य[3]; सम्यक् यदि तु ब्रूयान्न चैनं मोहयितुमिच्छेत्, प्राप्तं तु वचनकालं मन्येत, काममस्मै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन ॥ ८२ ॥

तदनन्तर—वह जो उत्तर दे, उसको भली-भाँति सोच-समझकर उत्तर देना चाहिये। जैसा कि प्रतिवचन (विगृह्यसम्भाषा) विधि में कहा गया है। यदि वह सम्यक् (शास्त्रसम्मत) उत्तर दे रहा हो तो, इसको मूर्ख बनाने का प्रयत्न न करे, अपितु यह समझ ले कि अब तो हमको ठीक-ठीक कहना ही होगा। तदनन्तर उसको आप्तपुरुष की भाँति समस्त विषय का विस्तारपूर्वक उपदेश करे।

१. 'वेदानीम्' ग.।
२. 'भित्वार्थमाचक्षाणः' ग.।
३. 'अवेक्ष्य सम्यक्। यदि तु न चैनं मोहयितुमिच्छेत्' इति पा०।

द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्; अनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन ॥ ८३ ॥

परीक्षा के प्रकार—ज्ञानवान् (आयुर्वेदशास्त्रज्ञ) पुरुषों की परीक्षा दो प्रकार की होती है—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान, ये दो और उपदेश अर्थात् आप्तोपदेश भी, ये तीन परीक्षा-विधियाँ होती हैं। इस प्रकार ये दो प्रकार की परीक्षाएँ अथवा आप्तोपदेश को लेकर तीन प्रकार की परीक्षाएँ होती हैं।

वक्तव्य—परीक्षा-विधियों की चर्चा चरक वि० अ० ४ में विशेष रूप से की गयी है। यहाँ दो या तीन प्रकार का जो विवेचन किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि आप्तोपदेश ज्ञान से परिपूर्ण विद्वानों के लिये 'द्विविधा' परीक्षा का विधान है और सामान्य पुरुषों के लिये 'त्रिविधा' परीक्षा है। शेष परीक्षा-विधियों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष तथा अनुमान में कर लिया गया है।

दशविधं तु परीक्ष्यं कारणादि यदुक्तमग्रे, तदिह भिषगादिषु संसार्य सन्दर्शयिष्यामः—इह [1]कार्यप्राप्तौ कारणं भिषक्, करणं पुनर्भेषजं, कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, कार्यं धातुसाम्यं, कार्यफलं सुखावाप्तिः, अनुबन्धः खल्वायुः, देशो भूमिरातुरश्च; कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च, प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारम्भः, उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं[2] च सम्यक्। इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूर्वेणैवोपायविशेषेण व्याख्यातः। इति कारणादीनि दश दशसु भिषगादिषु संसार्य सन्दर्शितानि तथैवानुपूर्व्यैतद् दशविधं परीक्ष्यमुक्तं च ॥ ८४ ॥

दसविध परीक्षा का चिकित्सा में प्रयोग

(Applied Aspect of Ten Topics Investigation in Medicine)

दसविधपरीक्षा-प्रयोग—पहले जो दस प्रकार के परीक्षायोग्य कारण आदि कहे जा चुके हैं, उन्हीं को फिर से यहाँ वैद्य, रोग, औषध आदि में विस्तार करके दिखायेंगे—१. यहाँ कार्य प्राप्ति (चिकित्सा) के अवसर पर वैद्य स्वयं **कारण** है। २. औषध (चिकित्सा में सहायक पदार्थसमूह) को **करण** कहते हैं। ३. **कार्ययोनि**—वातादि तीन जब शरीर धारण करने में असमर्थ (दूषित) हो जाते हैं, तो वे स्वतन्त्र रूप से या सम्मिलित रूप से कार्य (रोग) को उत्पन्न कर देते हैं, अतः धातुओं की विषमता को 'कार्ययोनि' कहते हैं। ४. **कार्य**—विषम (घटी या बढ़ी हुई) धातुओं को समस्थिति में ले आना ही इस क्षेत्र का कार्य (चिकित्सा) है। ५. **कार्यफल**—सुख की प्राप्ति अर्थात् आरोग्य-लाभ ही कार्य (चिकित्सा) का फल (परिणाम) है। इस चिकित्सा रूपी कार्य का फल न केवल रोगी को मिलता है अपितु इससे चिकित्सक भी यश, धन आदि की प्राप्ति से सुखी होता है। ६. **अनुबन्ध**—सुखप्राप्ति के पश्चात् आयुलाभ ही 'अनुबन्ध' है। ७. जांगल, आनूप तथा साधारण भेद से विभक्त भूमि तथा रोगी ये चिकित्सा क्षेत्र के 'देश' हैं। ८. **काल**—घटी, मुहूर्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि तथा रोगी की शारीरिक स्थिति 'काल' है। ९. **प्रवृत्ति**—प्रत्येक रोगी के चिकित्सा रूप कर्म के लिये जो [illegible] कार्य किया जाता है, वह 'प्रवृत्ति' है। १०. **उपाय**—वैद्य, भेषज तथा कार्ययोनि इनमें उत्तम प्रकार से कार्य करने की लगन का उत्पन्न होना ही 'उपाय' है। यहाँ भी इस उपाय के विषय की पूर्वोक्त उपायभेद से ही व्याख्या की गयी है।

इस प्रकार दस कारण आदि परीक्षा-विधियों को चिकित्सक आदि दस स्थानों में उदाहरण रूप से विस्तार करके प्रदर्शित कर दिया गया है। उसी आनुपूर्वी (क्रम) से ही ये (उपर्युक्त) दस चिकित्सक आदि की परीक्षा विधियाँ कह दी गयी हैं।

तस्य [3]यो यो विशेषो यथा यथा च परीक्षितव्यः, स तथा तथा व्याख्यास्यते ॥ ८५ ॥

१. 'कार्यप्राप्ते' इति पा०।
२. 'अभिसन्धानम्' इति पा०।
३. 'यो यः परीक्ष्यविशेषः' ग.।

उस दसविधपरीक्षा-विधियों के जिस जिस भेद की जैसे-जैसे परीक्षा होनी चाहिये, उसकी उस-उस प्रकार से आगे व्याख्या की जाती है।

कारणं भिषगित्युक्तमग्रे, तस्य परीक्षा—भिषङ्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत्। स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्, कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति; तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति। तद्यथा—पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता, चेति ॥ ८६ ॥

१. **कारण**—पहले हम यह कह आये हैं कि चिकित्सा में प्रधान कारण भिषक् (चिकित्सक) होता है। उसकी परीक्षा इस प्रकार होती है—भिषक् उसको कहते हैं जो रोगों का नाश करे, जो आयुर्वेदशास्त्र में निर्दिष्ट सूत्रों के अर्थ को जानता हो और उनके प्रयोग में कुशल हो, जिसे सभी प्रकार से आयु का (हित, अहित सुख आदि का) सम्यक् ज्ञान हो, वह रोगी की सभी धातुओं को सम करने की इच्छा करता हुआ सर्वप्रथम गुण युक्त (द्रव्य, परिचारक, रोगी) इनमें अपने-अपने कार्य को करने की क्षमता है या नहीं इनकी तथा अपनी भी परीक्षा करे कि कहीं मैं इस रोगी के रोग को दूर करने में समर्थ हूँ या नहीं। वहाँ भिषक् (वैद्य) के निम्नलिखित ये गुण होते हैं, जिनसे सम्पन्न चिकित्सक धातुसाम्य (स्वास्थ्य-सम्पादन) क्रिया में समर्थ होता है, वे गुण ये हैं—१. सन्देहरहित शास्त्र का परिज्ञान, २. जिसने चिकित्सा कार्य को अनेक बार देखा एवं किया है, ३. दाक्ष्य (चतुरता), ४. शौच (मन, वचन, कर्म तथा शरीर से पवित्र होना), ५. जितहस्तता (औषध आदि के प्रयोग में भीरुता न होकर जिन हाथों को सदैव यश मिला हो.) ६. उपकरणवत्ता (सभी चिकित्सोपयोगी साधनों से सम्पन्न होना) ७. सभी इन्द्रियों से पूर्ण होना, अर्थात् वैद्य बहरा, काना, लूला, लंगड़ा, गूँगा आदि न हो, ८. रोगी की प्रकृति को समझने वाला होना, ९. प्रतिपत्ति (युक्ति) को जानना।

वक्तव्य—इन गुणों के सम्बन्ध में विशेष विवरण चरक सूत्रस्थान अ० २९ में देखें।

करणं पुनर्भेषजम्। भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तेभ्यः। तद् द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्—दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं—संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः। एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधं—द्रव्यभूतम्, अद्रव्यभूतं च। तत्र [1]यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारणक्षोभणहर्षणभर्त्सनवधबन्धस्वप्नसंवाहनादिरमूर्तो भावविशेषो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता[2] इति। यत्तु द्रव्यभूतं तद् वमनादिषु योगमुपैति। तस्यापीयं परीक्षा—इदमेवंप्रकृत्येवंगुणमेवंप्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवमुपस्कृतमनया च मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवंविधस्य पुरुषस्यैव तावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा; यदन्यदपि चैवंविधं भेषजं भवेत् तच्चानेन विशेषेण युक्तमिति ॥ ८७ ॥

२. **करण**—भेषज को ही यहाँ करण कहा गया है। भेषज उसे कहते हैं जो धातुसाम्य (रोगमुक्ति) के लिये प्रयत्नशील वैद्य के लिये विशेष कर कार्ययोनि, प्रवृत्ति, देश, काल तथा उपायपर्यन्त पूर्वोक्त साधन सहायक होते हैं। आश्रय भेद से वह भेषज दो प्रकार का होता है—१. दैवव्यपाश्रय और २. युक्तिव्यपाश्रय।

१. दैवव्यपाश्रय के अन्तर्गत मन्त्र, ओषधि, मणि (वैदिकमणि अथवा आधुनिक मणिरत्न—हीरा, मोती, नीलम आदि) मंगल (दूर्वा, हरिद्रा आदि द्वारा मांगलिक कार्यारम्भ), बलि (कौआ, कुत्ता, गाय आदि को प्रतिदिन ग्रास देना), उपहार (मनौती आदि मानकर देवता आदि के निमित्त देना या चढ़ाना), होम (यज्ञा-

१. 'अद्रव्यभूतं तद् यदुपायाभिप्लुतं' ग.।
२. गङ्गाधरस्तु 'उपायाभिप्लुताः' इति न पठति।

[दि]क कर्म), नियम, प्रायश्चित्त (प्रायो दोषं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्' ।), उपवास (व्रत), स्वस्त्ययन (वैदिक अथवा पौराणिक स्वस्तिपाठ) प्रणिपात (देवता, गुरु, ब्राह्मण आदि को प्रमाण करना) तथा गमन (तीर्थयात्रा) आदि ये सभी चिकित्साएँ समाविष्ट हैं ।

२. युक्तिव्यपाश्रय के अन्तर्गत संशोधन (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण-विधियों द्वारा शारीरिक मलों को निकाल कर उसको शुद्ध किया जाता है ।) उपशमन (अनेक प्रकार के पाचन द्रव्यों का प्रयोग जिससे दोष बाहर निकाले बिना भीतर ही उनकी शान्ति हो) और प्रत्यक्ष फल को देने वाली सभी क्रियायें समाविष्ट हैं। उपर्युक्त दो प्रकार के भेषज (दैवव्यपाश्रय तथा युक्तिव्यपाश्रय) अङ्गभेद से पुनः दो प्रकार के होते हैं—१. द्रव्यभूत और २. अद्रव्यभूत । उक्त भेदों में जिसे अद्रव्यभूत कहा है वह उपायों द्वारा व्याप्त है, उपाय उसका नाम है, जैसे—भयदर्शन (डराना), विस्मापन (आश्चर्यचकित करना), विस्मारण (रोग के मूलभूत कारण को भुला देना), क्षोभण (मन में हल-चल पैदा कराना), हर्षण (प्रसन्नता उत्पन्न कराना), भर्त्सन (झिड़क देना), वध (मारने का भय दिलाना), बन्धन (बांधकर रखना), सुलाना (जिससे रोगी को नींद आ जाय), संवाहन (शरीरावयवों को दबाना), आदि अमूर्त (रूपरहित) क्रियाओं को और भी जो कार्यसिद्धि के उपचार हैं, वे सभी उपाय शब्द से युक्त कहे गये हैं । जिस भेषज के अंग भेद को **'द्रव्यभूत'** कहा गया है, उसका प्रयोग वमन विरेचन आदि मूर्त क्रियाओं में होता है । उसकी भी इस प्रकार परीक्षा की जाती है, जैसे—यह द्रव्य इस प्रकृति (स्वभाव) का है, इसका यह गुण है, यह प्रभाव है, यह द्रव्य इस देश (जांगल, आनूप या साधारण) में, इस ऋतु में उत्पन्न हुआ, या इस प्रकार उन ऋतु में ग्रहण किया, इस स्थान पर इस प्रकार रखा गया, इन-इन क्रियाओं द्वारा इसका निर्माण किया गया, इस मात्रा से इस रोग में यह औषध इस रोग में दिया जाय तो इस प्रकार के पुरुष के शरीर से इतनी मात्रा में दोषों को दूर करता है अथवा बढ़े हुए दोषों का शमन करता है । जो और भी इस प्रकार का औषध हो वह भी इस विशेषता से युक्त होता है ।

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, तस्य लक्षणं विकारागमः । परीक्षा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्यमृदुदारुणलिङ्गविशेषावेक्षणमिति ॥ ८८ ॥

३. **कार्ययोनि**—शरीर में स्थित धातुओं की विषमता ही 'कार्ययोनि' है, उसका लक्षण है रोगों की उत्पत्ति होना । इसकी परीक्षा है रोगों की प्रकृति (स्वभाव) के लक्षणों का कम अथवा अधिक हो जाना, रोगों के लिङ्गविशेष (लक्षणों) का देखना और रोग के साध्य, असाध्य, मृदु, दारुण लक्षण विशेषों का देखना ।

वक्तव्य—रोगों के साध्य, असाध्य लक्षणों का उल्लेख चरकसंहिता सू० अ० १० (महाचतुष्पाद) में विस्तारपूर्वक किया है, वहाँ देखें ।

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः । परीक्षा त्वस्य—रुगुपशमनं, स्वरवर्णयोगः, शरीरोपचयः, बलवृद्धिः, अभ्यवहार्याभिलाषः, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग् जरणं, निद्रालाभो यथाकालं, वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं, सुखेन च प्रतिबोधनं, वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ॥ ८९ ॥

४. **कार्य**—शरीर में स्थित धातुओं को सम बनाना ही कार्य (चिकित्सा) है । उसका लक्षण है विकारों की शान्ति, अर्थात् जिसके प्रयोग से सभी प्रकार के रोग शान्त हों, इसकी परीक्षा है, रुजा (पीड़ा) का शमन (किसी प्रकार के कष्ट का न होना), स्वाभाविक स्वर तथा वर्ण की प्राप्ति, शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों का पुष्ट होना बल की वृद्धि, भोजन के प्रति इच्छा का होना, आहार के समय में भोजन का स्वाद लगना, खाये हुए भोजन का भलीभांति पाचन होना, समय पर नींद का आना, विकारकारक (रोग उत्पत्ति के सूचक) स्वप्नों का न दिखलायी देना, सोकर सुखपूर्वक जागना, अपानवायु, मूत्र तथा पुरीष (मलों) का स्वाभाविक रूप से निकलना और सभी प्रकार से मन, बुद्धि एवम् इन्द्रियों का प्रसन्न रहना ।

वक्तव्य—कार्य (चिकित्सा) की परीक्षा का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उसका निष्कर्ष है—धातुसाम्य होकर शारीरिक तथा मानसिक पूर्ण स्वास्थ्यलाभ होना, जैसा कि आगे कार्यफल के रूप में कहा गया है ।

कार्यफलं सुखावाप्तिः, तस्य लक्षणं—मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः ॥ ९० ॥

५. **कार्यफल**—कार्य (चिकित्सा) का फल है—सुख की प्राप्ति, उसका लक्षण है—मन, बुद्धि, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) एवम् शरीर में प्रसन्नता का होना ।

अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं—प्राणैः सह संयोगः ॥ ९१ ॥

६. **अनुबन्ध**—आयु को ही निश्चय करके इस तन्त्र में अनुबन्ध कहा गया है । उसका लक्षण है—प्राणों के साथ (मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रियों का) संयोग होना ।

देशस्तु भूमिरातुरश्च ॥ ९२ ॥

७. **देश**—भूमि और रोगी के शरीर को ही यहाँ देश कहा गया है ।

तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा । तत्र तावदियमातुरपरिज्ञानहेतोः । तद्यथा—अयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा; तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातम्, इदं विहारजातम्, इदमाचारजातम्, एतावच्च बलम्, एवंविधं सत्त्वम्, एवंविधं सात्म्यम्, एवंविधो दोषः, भक्तिरियम्, इमे व्याधयः, हितमिदम्; अहितमिदमिति [1]प्रायोग्रहणेन । औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा वक्ष्यते ॥ ९३ ॥

भूमि-परीक्षा—उक्त प्रकार की परीक्षाओं में भूमि की परीक्षा रोगी की शारीरिक परिस्थिति को भलीभांति समझने के लिये अथवा औषध द्रव्यों के पूर्ण ज्ञान के लिये की जाती है । उसमें भी रोगी के परिज्ञान के लिये जो परीक्षा की जाती है, उसका प्रकार यह है, जैसे—यह रोगी किस भूभाग में पैदा हुआ है, कहां रह कर यह इतना बड़ा हुआ अथवा कहाँ रोगी हुआ, उस भूप्रदेश के निवासी मनुष्यों का इस प्रकार का आहार होता है, यह विहार (दिनचर्या) है, यह वहां के निवासियों का आचार (रीति-रिवाज, धर्म का स्वरूप) है, इतना उन लोगों में बल होता है, ऐसा सत्व (मन) होता है, इस प्रकार का रहन-सहन, खान-पान उन लोगों को सात्म्य (अनुकूल) होता है, वहाँ इस प्रकार का दोष अधिक बढ़ा रहता है, इस प्रकार की भक्ति (सेवन करने की इच्छा) होती है, इस प्रकार के वहाँ रोग होते हैं, ये पदार्थ वहाँ के लोगों के लिये हित (पथ्य) होते हैं, और ये पदार्थ अहितकर होते हैं ।

ऊपर भूमि-परीक्षा में जिन विषयों का वर्णन किया है उन सबके साथ प्रायः (अधिकांश) शब्द का प्रयोग कर लें । जैसे—प्रायः ऐसे आहार का सेवन करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि कुछ लोग इसके विपरीत भी देखे जाते हैं । औषध द्रव्यों की परीक्षा के लिये की जाने वाली भूमि-परीक्षा का वर्णन आगे कल्पस्थान में किया जायेगा ।

आतुरस्तु खलु कार्यदेशः । तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्यात्, बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा । तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः; दोषप्रमाणानुरूपो हि [2]भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति । सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमतिपातयेत्; न ह्यतिबलान्याग्नेयवायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्; असह्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्धि तानि सद्यःप्राणहराणि स्युः । एतच्चैव कारणमपेक्षमाणा हीनबलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः; विशेषतश्च नारीः; ता ह्यनवस्थित[3]मृदुविवृतविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽबलाः [4]परसंस्तभ्याश्च । तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकमेव भवति ।

रोगी परीक्षा—रोगी का शरीर सभी प्रकार की चिकित्सा का देश होता है । उस शरीर की परीक्षा

१. गङ्गाधरस्तु 'प्रायोग्रहणेन' इति न पठति ।
२. 'भेषजप्रमाणविशेषः' इति पा० ।
३. 'मृदुविवृतमगम्भीरं' चक्रः । 'मृदुविवृत–' यो. ।
४. 'परमसंस्तभ्याश्च' यो. ।

रोगी के आयुप्रमाण को जानने के लिये अथवा रोगी के शारीरिक, मानसिक बल तथा दोषों को जानने के लिये की जाती है। उनमें बल तथा दोष के प्रमाण को जानने के लिये ही यह परीक्षा है। क्योंकि दोष के प्रमाण के अनुसार ही भेषज के प्रमाण का विकल्प रोगी के बल की मात्रा की अपेक्षा रखता है। अर्थात् जिस मात्रा में दोष बढ़ा हो उसके अनुसार ही औषध की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। एकाएक अपरीक्षक (अयोग्य चिकित्सक, अर्थात् जो चिकित्सक रोगी के शारीरिक बल तथा दोष प्रमाण की परीक्षा करने में असमर्थ है) द्वारा प्रयुक्त अत्यन्त शक्तिशाली भेषज कम शक्तिवाले रोगी को मार डालती है। क्योंकि अत्यन्त शक्तिशाली अग्निगुण प्रधान (उष्ण या दाहक), वायव्य (वायु) गुण प्रधान ओषधियाँ अथवा अग्निकर्म (दाह), क्षार प्रयोग, शस्त्रकर्म इनको अल्प शक्तिशाली रोगी सहन नहीं कर पाते। इनके प्रयोग असह्य एवम् अतितीक्ष्ण वेगवाले होने के कारण तत्काल प्राणनाशक होते हैं। इन्हीं प्रकार के कारणों की अपेक्षा करने वाले योग्य चिकित्सक कमजोर रोगी को विषाद न पहुँचाने वाली प्रायः मृदु, सुकुमार किन्तु उत्तरोत्तर (क्रमशः) शक्तिशाली, विभ्रम-रहित (जिससे चक्कर आदि न आवे) और उपद्रवरहित औषधसमूह द्वारा चिकित्सा करते हैं। विशेष करके स्त्रियों की चिकित्सा मृदु, सुकुमार आदि क्रम से की जाती है, क्योंकि स्त्रियों का हृदय अस्थिर (शीघ्र घबड़ाने वाला) मृदु तथा विवृत (गम्भीरता रहित) होता है, प्रायः ये सुकुमार, अबला (अल्पबल वाली) तथा दूसरे के सहारे रहने वाली होती हैं, और यदि बलवान् रोगी बलवान् रोग से घिरा हो तो ऐसी परिस्थिति में अपरीक्षक चिकित्सक हीनबल वाले औषधद्रव्यों का प्रयोग करता है तो वे असफल होते हैं, अर्थात् स्वास्थ्य-दायक नहीं होते हैं।

तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च; सारतश्च, संहननतश्च; प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च; व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ॥ ९४ ॥

दसविध रोगी-परीक्षा

(Ten Investigations regarding Patients)

रोगी-परीक्षा—इसलिये रोगी के बल के प्रमाण विशेष को जानने के लिये निम्नलिखित प्रकार से परीक्षा करे—१ प्रकृति से, २. विकृति से, ३. सार से, ४. संहनन से, ५. प्रमाण से, ६. सात्म्य से, ७. सत्त्व से, ८. आहार शक्ति से, ९. व्यायाम शक्ति से तथा १०. वय (Age) से।

तत्र प्रकृत्यादीन् भावाननुव्याख्यास्यामः[१]। तद्यथा—शुक्रशोणितप्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिम्, आतुराहारविहारप्रकृतिं, महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेनानेकेन[२] वा समनुबद्ध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबद्ध्यते; ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्; समधातवः केचिद् भवन्ति। तेषां हि लक्षणानि व्याख्यास्यामः ॥ ९५ ॥

प्रकृति-परीक्षा

(Test of Constitution)

प्रकृति-परीक्षा—उनमें प्रकृति आदि दस परीक्ष्य भावों (जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है, उन) की हम यहाँ व्याख्या करेंगे। जैसे—शुक्र (वीर्य) और शोणित (आर्तव रक्त) प्रकृति की, काल तथा गर्भाशय प्रकृति की, रोगिणी माता के आहार-विहार प्रकृति की और महाभूतविकार ये सभी गर्भ शरीर की अपेक्षा रखती हैं। उपर्युक्त ये प्रकृतियां जिस-जिस दोष से अथवा जिन अधिक दोषों से अथवा एक दोष से या अनेक दोष से सम्बद्ध होते हैं, उस उस दोष से गर्भ में स्थित भ्रूण भी सम्बन्धित हो जाता है। तदनन्तर गर्भ से प्रारम्भ हुई वह-वह दोष प्रकृति उन-उन मनुष्यों की कही जाती है। इसलिये कुछ प्राणी प्रकृति से श्लेष्मल, कुछ

१. 'तत्रेमे प्रकृत्यादयो भावाः' इति पा०।
२. 'दोषेण एकेनाधिकेन समेन वाऽनुबध्यन्ते' ग.।

प्रकृति से पित्तल, कुछ वातल, कुछ द्वन्द्वज और कुछ समधातु प्रकृति वाले होते हैं। उनके लक्षणों की आगे व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—ऊपर दिये गये पाठ से प्रसंगोचित अर्थ लगाने में कुछ आपत्ति उपस्थित हो रही है। विद्वज्जन ध्यान दें—'**गर्भाशयप्रकृतिमातुराहारविहारप्रकृतिम्**' कहीं यह पाठ है और निर्णयसागर प्रेस से १९४१ ई० में प्रकाशित, आयुर्वेददीपिका व्याख्या से युक्त चरकसंहिता में—'**गर्भाशयप्रकृतिम्, आतुराहारविहारप्रकृतिम्**' पाठ है। दोनों स्थिति में किसी प्रकार का अर्थ भेद तो नहीं होता, परन्तु प्रसंगोचित अर्थ में कुछ बाधा अवश्य आती है। देखें—उक्त गद्य का अर्थ यह है—गर्भाशय प्रकृति की, आतुर (रोगी) की आहार-विहार प्रकृति की। आश्चर्य तो यह है कि पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने पाठ की चिन्ता न करके 'गतानुगतिको लोकः' का आश्रय लेकर अर्थ किया है—'माता के आहार-विहार प्रकृति की', जो प्रसंगानुसार ठीक है, परन्तु उक्त गद्य इस अर्थ के निर्वचन में असमर्थ है।

श्री चक्रपाणिदत्त ने उक्त प्रसंग की व्याख्या इस प्रकार की है—'मातुराहारविहारौ तत्कालीनौ यद्दोषकरणस्वभावौ, सा च प्रकृतिर्गर्भशरीरे भवति'। इस प्रकरणोचित अर्थ से यह विश्वास होता है कि मूलपाठ इस प्रकार रहा होगा—'**गर्भाशयप्रकृतिं, मातुराहारविहारप्रकृतिम्**'।

यदि हम '**आतुराहारविहारप्रकृतिम्**' पाठ को ही ठीक मानते हैं, तब हमको रोगिणी माता (चाहे वह माता जिस रोग से पीड़ित हो तदनुसार उसका जो आहार-विहार हो तदनुसार होने वाली प्रकृति की' यह द्रविड़ प्राणायाम साधना होगा, क्योंकि शुक्र-शोणित के संयोग का क्षेत्र गर्भाशय है, वह माता से सम्बद्ध है, उसी काल में जो दोष उत्कृष्ट होता है तदनुसार ही प्रकृति बनती है।

'**एतानि**' मूलपाठ में एतद् शब्द नपुंसक लिंग प्रथमा बहुवचन का रूप है। इसका सम्बन्ध शुक्र, शोणित, काल, गर्भाशय, आहार, विहार आदि भिन्न-भिन्न लिंग वाले शब्दों के साथ है, ऐसी स्थिति में व्याकरण शास्त्र नपुंसकलिंग और बहुवचन के प्रयोग की आज्ञा देता है। अतः '**एतानि**' यह पाठ समीचीन है किन्तु पाठ भेद के रूप में इसके स्थान पर प्रयुक्त '**एताः**' पाठ चिन्त्य है।

सुश्रुत के अनुसार रज-वीर्य के मिलने के समय जो दोष प्रबल होता है उस दोष से उस भ्रूण की प्रकृति की संरचना होती है। सुश्रुत शा० अ० ४।६३। इन प्रकृतियों का वर्णन हम चरकसंहिता विमानस्थान अ० ६।१३ में कर चुके हैं।

आचार्य गङ्गाधर ने **कालगर्भाशयप्रकृति**' का अर्थ इस प्रकार किया है—माता की अवस्था (युवा अवस्था के प्रारम्भ, पूर्ण यौवन अथवा प्रौढ़ अवस्थाओं) के अनुसार गर्भाशय की जो प्रकृति होती है, अस्तु।

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः[१]। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः, स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः; गुरुत्वात् [२]साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः, [३]विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति ॥ ९६ ॥

कफ-प्रकृति के लक्षण—यह प्रसिद्ध है कि कफ स्निग्ध (स्नेहयुक्त) श्लक्ष्ण (स्पर्श में चिकना), मृदु (मुलायम), मधुर (स्वाद में मीठा), सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरु, शीत, पिच्छिल तथा स्वच्छ होता है। उस कफ के स्निग्ध होने के कारण श्लेष्मल (कफ प्रकृति वाले) व्यक्ति स्निग्ध अङ्ग वाले होते हैं। श्लक्ष्ण होने से श्लक्ष्ण अंग वाले, मृदु होने से देखने में सुन्दर (मनोहर आकृति वाले), सुकुमार (अधिक कष्टों को न सहन

१. '-पिच्छिलाच्छ.' इति पा०।
२. 'साराधिष्ठितगतयः' यो.।
३. 'पिच्छिलत्वाद' इति पा०।

करने वाले) और गौरवर्ण वाले, मधुर होने से अधिक शुक्रवाले, मैथुन करने में अधिक समर्थ तथा अधिक सन्तान वाले, सार (ठोस) होने से सारवान्, गठीले तथा स्थिर शरीर वाले, सान्द्र (गाढ़ा) होने के कारण कफ-प्रकृति वाले मनुष्यों के सभी शरीरावयव पुष्ट और भरे-पुरे होते हैं, कफ के मन्दगुण युक्त होने के कारण कफ-प्रकृति वाले पुरुष मन्द चेष्टा, आहार, सम्भाषण वाले होते हैं, अर्थात् फुर्तीले नहीं होते। यहाँ **'आहारव्याहाराः'** का अर्थ दे दिया है, किन्तु कहीं-कहीं **'आहारविहाराः'** ऐसा पाठ है, वहाँ इसका अर्थ होगा मन्द आहार तथा विहार वाले होते हैं। कफ में स्तैमित्य (Fixedness or Immobility) गुण होने के कारण कफ-प्रकृति वाले पुरुष किसी कार्य को शीघ्र आरम्भ नहीं करते, कभी उनके मन में क्षोभ (घबड़ाहट) सम्बन्धी विकार उत्पन्न नहीं होते अर्थात् ऐसे पुरुष स्थिर होते हैं। अतएव कफज विकार अन्य दोषज विकारों से कम (कफज विकार केवल २०) होते हैं। गुरु होने से कफ-प्रकृति वाले पुरुषों की गति (चाल) सान्द्रयुक्त तथा स्थिर होती है। दूसरी दृष्टि से इस प्रकार के पुरुष दृढव्रतिज्ञ, कार्य को पूरा करके ही छोड़ने वाले होते हैं अर्थात् वे स्थिर प्रकृति वाले होते हैं। कफ के शीतगुण वाला होने के कारण कफ-प्रकृति वाले मनुष्यों को भूख, प्यास, सन्ताप (गर्मी) और पसीना आदि विकार कम होते हैं, कफ के पिच्छिल गुण वाला होने से कफ-प्रकृति वाले मनुष्यों के सन्धियों के बन्धन परस्पर जुड़े होते हैं, अतएव वे बलवान् (पहलवान जैसे पहलवान) होते हैं। कफ के अच्छ गुण वाला होने से कफ-प्रकृति वाले पुरुषों की दृष्टि तथा मुख प्रसन्न (प्रसन्नमुख), वर्ण स्निग्ध दिखलायी देते हैं और इनके वर्ण (रूप) तथा स्वर भी स्निग्ध, गम्भीर होते हैं। वे कफ-प्रकृति वाले इस प्रकार के गुणों के संयोग से बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी (Energetic), शान्त स्वभाव वाले और आयुष्मान् (दीर्घायु युक्त) होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर मूल पाठ में **'विज्जलत्वात्'** और पाठभेद में **'पिच्छिलत्वात्'** दिया गया है। अमरकोषकार ने **'विजिल'** शब्द का अर्थ 'पिच्छिल' किया है। इसके अनुसार 'विजिलत्वात्' पाठ होना चाहिये था, न कि 'विज्जलत्वात्'। V. S. Apte के अनुसार यह अर्थ होता है—A kind of Sauce. जो इस प्रसङ्ग के लिये व्यर्थ है। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'विज्जल' शब्द का अर्थ वै० निघण्टु के अनुसार '[illegible]' किया है। राजनिघण्टु के अनुसार इसका अर्थ 'गुडत्वचा' है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ग्रन्थकार को 'विजिल' शब्द ही अभीष्ट रहा हो तो **'विजिलत्वात्'** पाठ होना चाहिये अन्यथा 'पिच्छिलत्वात्'।

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहा, उष्णमुखाः, [1]सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपि[2]प्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः। प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाश्च; तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः; द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिमांसाः; प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च; विस्रत्वात् प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः; कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः; त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ ९७ ॥

पित्त-प्रकृति के लक्षण—पित्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र (आमगन्ध वाला), अम्ल और कटु होता है। उस पित्त के उष्ण होने के कारण पित्त-प्रकृति के पुरुषों को उष्ण पदार्थ सहन नहीं होते हैं, वे उष्णप्रधान होते हैं (यहाँ 'मुखाः' शब्द का अर्थ 'मुख' न होकर 'प्रधान' है।) वे सुकुमार तथा अवदात (गौर) शरीर के होते हैं, उनके शरीर पर विप्लु या पिप्लु (छोटी फुन्सियाँ), व्यङ्ग (झांई), तिल तथा पिडिकाएँ अधिक होती हैं। वे अधिक भूख-प्यास वाले होते हैं, अर्थात् उनको भूख और प्यास अधिक लगती है। और शीघ्र (समय के पूर्व, वृद्धावस्था के पहले) ही वली (शारीरावयवों में झुर्रियाँ), बालों का सफेद हो जाना तथा बालों का झड़ जाना, ये दोष हो जाते हैं। पित्त-प्रकृति वाले पुरुषों के प्रायः दाढ़ी-मूछ, शिर आदि के बाल, शरीर के अन्य भागों के रोम (लोम) मृदु (मुलायम), अल्प (संख्या में) और कपिल (Reddish brown) वर्ण के हो जाते हैं। पित्त के तीक्ष्ण गुण होने से पित्त-प्रकृति वाले अत्यन्त पराक्रमी (दूसरों के ऊपर अपना

१. अयं पाठो गंगाधरसम्मतः।
२. 'पिप्लुः' इति पा०।

प्रभाव डालने वाले), तीक्ष्ण जाठराग्नि वाले, बहुत खाने-पीने वाले, कष्ट को न सहने वाले तथा राक्षसों की भाँति बार-बार अधिक खाने पीने वाले होते हैं। पित्त के द्रव होने के कारण पित्त-प्रकृति वाले पुरुषों की सन्धियाँ और मांसपेशियाँ शिथिल (ढीली ढाली) तथा मृदु (मुलायम) होती हैं और वे मल-मूत्र अधिक मात्रा में करते हैं तथा उनको पसीना बहुत होता है। पित्त के विस्र (A smell like that of raw meat) होने के कारण पित्त-प्रकृति वाले पुरुष की काँख, मुख, शिर तथा शरीर से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलती है। पित्त के कटु तथा अम्ल रस वाला होने के कारण पित्त-प्रकृति वाले पुरुषों में वीर्य की मात्रा कम होती है, मैथुनशक्ति भी कम होती है, अतएव उनको कम सन्तान होती है। वे इस प्रकार ऊपर कहे गये गुणों के संयोग से पित्त-प्रकृति वाले मनुष्य, मध्यम बल वाले, मध्यम आयु वाले, मध्यम ज्ञान, विज्ञान, धन तथा साधन वाले होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर **'दन्दशूकाः'** शब्द का प्रयोग हुआ है। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने उसका अर्थ 'बार-बार खाने वाले' आदि किया है, जो उक्त शब्द का सीधा अर्थ किसी स्थिति में नहीं हो सकता। कुछ कोषकारों ने 'दन्दशूक' का अर्थ 'राक्षस' किया है, जिनकी प्रवृत्ति बार-बार अधिक खाने पीने की होती है। देखें—'दन्दशूकस्तु पुल्लिङ्गो राक्षसे च सरीसृपे'। और—'इषुमति रघुसिंहे दन्दशूकाञ्जिघांसौ'। भट्टिकाव्य १।२६। V. S. Apte के अनुसार Snake (साँप), Demon (भूत-प्रेत) or Rakshasa (राक्षस)। 'दन्दशूको बिलेशयः'। अमरकोष।

हमारे विचार से 'दन्दशूक' शब्द का 'राक्षस' अर्थ करने पर बहुत खाने-पीने वाला अथवा राक्षसी प्रवृत्ति-वाला अर्थ स्वीकार किया जा सकता है। यदि हम उक्त शब्द को 'सर्प' का पर्यायवाची मानते हैं तो पित्त-प्रकृति वाले पुरुषों को उष्ण-प्रकृति वाले होने के कारण 'पवनाशन' हवा खाने वाले, अर्थात् गर्मी सहन न कर सकने के कारण वायु सेवन करने वाले मान सकते हैं, जो प्रसंगोचित होगा।

उपकरणवन्तः—सांसारिक जीवन-यापन के जो-जो साधन हैं वे सभी उपकरण कहे जाते हैं। ये सब पित्त-प्रकृति वालों के पास औसत दर्जे के होते हैं। कफ-प्रकृति वाले व्यापारियों (वणिक् वृत्ति वालों) के पास असीम उपकरण होते हैं, ध्यान से देखें।

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद् वातला रूक्षापचितात्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामस[1]न्नसक्तजर्जरस्वराः जागरूकाश्च भवन्ति, लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः,[2] चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्याच्छीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः, पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः, वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सततसन्धिशब्दगामिनश्च भवन्ति; त एवंगुणयोगाद् वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥ ९८ ॥

वातप्रकृति के लक्षण—वायु तो रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष तथा विशद होता है। उसके रूक्ष होने के कारण वातप्रकृति वाले पुरुषों का शरीर रूखा, दुबला-पतला तथा आकार में छोटा होता है। ऐसे पुरुषों का स्वर निरन्तर रूक्ष, क्षाम (क्षीण), फटा हुआ-सा, मन्द (धीमा), रुकावट युक्त, जर्जर (कर्कश) तथा वे स्वयं जागरूक (कम सोने वाले) होते हैं। वायु के लघु होने से वातप्रकृति वाले पुरुषों की गति (चाल), चेष्टा, आहार तथा बात-चीत का क्रम लघु और चंचल होता है। वायु के चल होने के कारण वातप्रकृति वाले पुरुषों की सन्धियाँ, अस्थियाँ, भौंहें, हनु (ठुड्डी), होंठ, जीभ, शिर, कन्धे, हाथ और पैर स्थिर नहीं रहते अर्थात् चंचल होते हैं। वायु में बहुत्व होने के कारण वातप्रकृति वाले पुरुष बहुत प्रलाप (व्यर्थ की बातें) करने वाले होते हैं और उनके शरीर में कण्डराओं तथा सिराओं का फैलाव अधिक दिखलायी देता है। वायु में शीघ्रत्व गुण होने के कारण वातप्रकृति वाले मनुष्य अपने सभी कार्यों का प्रारम्भ शीघ्र ही करते हैं और उनके हृदय में भी शीघ्र ही घबड़ाहट आदि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है, वे शीघ्र ही डर जाते हैं, प्रेम करने लगते हैं तथा विरक्त भी हो जाते हैं, कहने मात्र से दूसरे के कथन को ग्रहण कर लेते हैं किन्तु

१. 'भिन्न' इति पा०।
२. '–चेष्टाहाराः' इति पा०।

शीघ्र ही भूल भी जाते हैं। वायु के शीतगुण वाला होने के कारण वातप्रकृति वाले पुरुष शीत (सर्दी) को सहन नहीं कर सकते, वे निरन्तर शीतज विकारों, कम्पन तथा अकड़न से युक्त होते रहते हैं। वात के परुष गुण वाला होने के कारण, वातप्रकृति वाले मनुष्यों के बाल, दाढ़ी-मूंछ, रोम, नख, दाँत, मुख, हाथ, पैर आदि अंग खुरदरे होते हैं। वायु के विशद गुण वाला होने के कारण वातप्रकृति वाले पुरुषों के अंग प्रत्यंग फटे (दरारें पड़ी हुई जैसे) दिखायी देते है, सन्धियों के हिलने-डुलने पर उनमें से चट-चट शब्द सुनायी पड़ते हैं, वे वातल प्रकृति के पुरुष उपर्युक्त गुणों के संयोग से प्रायः अल्प बलवान्, थोड़ी आयु वाले, कम सन्तान वाले, थोड़े उपकरणों वाले तथा अल्प धन वाले (दरिद्र) होते हैं।

वक्तव्य—दोषों का क्रम सर्वत्र वात, पित्त, कफ इस प्रकार देखा जाता है, किन्तु यहाँ उक्त क्रम में विपर्यय इसलिये किया गया है कि कफप्रकृति के पुरुष उत्तम, पित्तप्रकृति के मध्यम और वातप्रकृति के अधम माने गये हैं। इस क्रम को दिखाने के लिये वातादि के क्रम को बदला गया है।

संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः ॥ ९९ ॥

द्वन्द्वज प्रकृतियाँ—ऊपर क्रमशः एकदोष की प्रकृतियों का वर्णन किया जा चुका है, यदि किसी पुरुष में दो-दो प्रकृतियों के लक्षण दिखलायी दें तो ऐसे पुरुषों को द्वन्द्वज प्रकृति वाला कहा जाता है।

वक्तव्य—उक्त द्वन्द्वज प्रकृतियों को इस प्रकार समझें—वातल, पित्तल प्रकृति के मिश्रित लक्षणों से युक्त पुरुष को **वातपित्तल**, वातल, श्लेष्मल प्रकृति के मिश्रित लक्षण वाले पुरुष को **वातश्लेष्मल** और पित्तल, श्लेष्मल प्रकृति के मिश्रित लक्षण वाले पुरुष को **पित्तश्लेष्मल** कहते हैं।

सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः। इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत ॥ १०० ॥

समधातु-प्रकृति—जिन पुरुषों में वात, पित्त, कफ प्रकृतियों के सभी लक्षण समान रूप से प्राप्त होते हैं या देखे जाते हैं, वे **समधातु-प्रकृति** कहे जाते हैं। इस प्रकार रोगियों की प्रकृति द्वारा परीक्षा करे।

वक्तव्य—ऊपर वातादि तीन प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। सुश्रुतसंहिता में यह वर्णन शारीरस्थान अ० ४ में द्रष्टव्य है। तदनुसार भगवान् धन्वन्तरि उपदेश करते हैं कि कुछ आचार्य मनुष्यों की प्रकृति पंचमहाभूत वाली मानते हैं। इनमें से वायु (वात), अग्नि (पित्त) और जल (कफ) की प्रकृतियाँ वातादि के अनुसार समान हैं। पार्थिव प्रकृति के मनुष्य स्थिर, विशालकाय और क्षमाशील होते हैं (आप इन लक्षणों की तुलना कफप्रकृति वालों के साथ करें), आकाशप्रकृति के मनुष्य पवित्र, दीर्घायु तथा कान, नाक के बड़े छिद्रों वाले होते हैं। देखें—सु० शा० अ० ४।८०।

इन प्रकृतियों का ज्ञान हमें चिकित्सा-क्षेत्र में सहायक होता है। देखें—'कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्। महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्वतमःकृताः। प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग् भिषक्ताश्च विभावयेत्' ॥ सु० शा० अ० ४।९८-९९। अर्थात् शरीरों की प्रकृतियों को समझकर उनके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रज, सत्व तथा तमजनित प्रकृतियों को महाप्रकृतियाँ कहा गया है। इनका लक्षणों के अनुसार चिकित्सक ठीक प्रकार से ज्ञान कर ले अर्थात् इनको पहचान ले। महर्षि आत्रेय ने इस विषय का निर्देश चरक शा० अ० ४ में किया है।

विशेष वक्तव्य—प्रकृति की उत्पत्ति शुक्र-शोणित का जब गर्भाशय में संयोग होता है, उस समय होती है, यह निश्चय ऊपर हो चुका है। **गर्भ का शरीर**—शुक्र-शोणित की, काल एवं गर्भाशय की, माता के आहार-विहार की, आकाश आदि महाभूतों की प्रकृति के अनुकूल बनता है। जिन-जिन घटकों से गर्भशरीर की रचना ऊपर बतलायी गयी है उन (शुक्र आदि) में जो-जो दोष अधिक होता है, उस-उस दोष का प्रभाव गर्भशरीर पर पड़ता है, अतएव मानव की वह-वह प्रकृति कही जाती है। यह प्रकृति गर्भाधान से ही गर्भ पर अपना प्रभाव डालती है, जीवन भर इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता किन्तु कभी-कभी पुरुष को स्त्री के रूप में, स्त्री को पुरुष के रूप में परिवर्तित हो जाने की चर्चा सुनी गयी है, देखी भी जाती है। तृतीया प्रकृति के सम्बन्ध में तो सोचना ही क्या है, सुना जाता है वह तो किसी समय किसी वर्ग विशेष को दिया गया वरदान है।

ध्यान दें—यहाँ प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, न कि स्वास्थ्य। शरीर का निर्माण पञ्चमहाभूतों से होता है। इनमें वायु, अग्नि तथा जल ये तीन महाभूत क्रमशः वात, पित्त तथा कफ के प्रतिनिधि हैं और ये ही क्रियाशील हैं। अतः ये ही सुख-दुख, रोग-नीरोग, उत्पत्ति तथा विनाश के कारण माने जाते हैं। शेष दो महाभूत—१. पृथ्वी और २. आकाश हैं। इनमें पृथ्वीतत्व को आधार तथा आकाश को अवकाश माना गया है। ये दोनों वात, अग्नि जल के कार्यस्थल या क्रीडास्थल मात्र हैं। अतएव महर्षि आत्रेय ने श्लेष्मल, पित्तल एवम् वातल प्रकृतियों का ही प्रधान रूप से प्रतिपादन किया है। इनके अतिरिक्त शरीर का मन पर और मन का शरीर पर विशेष प्रभाव पड़ता है, इसलिये इन दोनों का वर्णन भी किया गया है।

इनके बाद भी कुछ प्रकृतियों का वर्णन देखा जाता है। यथा—ब्राह्म–सात्विक (सत्वगुणप्रधान), आसुर–राजस् (रजोगुणप्रधान) एवम् पाशव–तामस (तमोगुणप्रधान)। यद्यपि उक्त प्रकृतियों का किसी व्यक्ति विशेष में वैसा प्रभाव नहीं देखा जाता। जैसे कोई रोग एकदोषज नहीं होता है—**'न रोगोप्येकदोषजः'** तथा कोई द्रव्य एक रसवाला नहीं होता है, तथापि चिकित्सक रोगों को अमुक दोष प्रधान और द्रव्यों को अमुक रस प्रधान कहकर कार्य चलाते ही हैं, उसी प्रकार पुरुष-प्रकृतियों का निश्चय करके चिकित्सा करें। प्रकृति का सहसा परिवर्तन अरिष्ट या रिष्ट लक्षण समझा जाता है।

विकृतितश्चेति विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारं हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बलविशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः। यस्य हि व्याधेर्दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बलसाम्यं भवति, महच्च हेतुलिङ्गबलं स व्याधिर्बलवान् भवति; तद्विपर्ययाच्चाल्पबलः; मध्यबलस्तु दोषदूष्यादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते ॥ १०१ ॥

विकृति-परीक्षा

(Pathological Investigation)

विकृति-परीक्षा—विकृति द्वारा रोगी की परीक्षा का प्रकार। विकार को ही विकृति कहते हैं। उस विकार की परीक्षा हेतु दोष (वातादि), दूष्य (रक्त आदि), प्रकृति, देश, काल, बल तथा इनके भेद-उपभेदों और लक्षणों द्वारा करें। क्योंकि जब तक उपर्युक्त हेतु आदि भावों के बल का सम्यक् ज्ञान न हो जाय तब तक रोग की शक्तिविशेष का ज्ञान नहीं हो सकता। जिस रोग का दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल तथा बल समान होता है तथा हेतु, लक्षण का बल औरों की तुलना में अधिक होता है, वह रोग बलवान् होता है। बलवान् के लक्षणों से विपरीत (दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल जिसका समान नहीं होता तथा हेतु, लक्षण का बल औरों की तुलना में कम होता है) रोग हीनबल वाला होता है। जिस रोग के दोष, दूष्य आदि (प्रकृति, देश, काल) में से कुछ समान हों और कुछ असमान हों तथा हेतु, लक्षण का बल मध्यम (न अधिक न कम) हो तो वह रोग मध्यम बल वाला होता है।

सारतश्चेति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते; तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्वानीति ॥ १०२ ॥

सार-परीक्षा

(Investigation for the Strength)

सार-परीक्षा—सार द्वारा रोगी परीक्षा का प्रकार। पुरुषों के बल प्रमाण को जानने के लिये सार के आठ भेदों का उपदेश किया जारहा है। वे इस प्रकार हैं—१. त्वचासार, २. रक्तसार, ३. मांससार ४. मेदःसार, ५. अस्थिसार, ६. मज्जसार, ७. वीर्यसार ८. सत्वसार। इन सबके विशेष लक्षण आगे क्रमशः दिये जा रहे हैं।

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणाम्। सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वं चाचष्टे ॥ १०३ ॥

१. त्वचासार के लक्षण—त्वक् (Skin) सार (जिस पुरुष के शरीर का जो अवयव या धातु स्थिर=पुष्ट हो उसे 'सार' कहते हैं) पुरुष की त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न (देखने में साफ-सुथरी), सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर, सुकुमार (रेशमी) रोमों वाली तथा कान्तियुक्त होती है। इस प्रकार की त्वक्सारता का होना, सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रसन्नता एवम् दीर्घायु की सूचना देता है।

कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता [1]सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाचष्टे ॥ १०४ ॥

२. रक्तसार के लक्षण—रक्त (Blood) सार पुरुष के कान, आँख, मुख, जीभ, नासिका, होंठ, हाथ, तथा पैरों के तलवे, नख, ललाट और मेहन (पुरुष मूत्रेन्द्रिय), स्निग्ध, रक्तवर्ण, श्रीमद् (शोभावान्), चमकदार होते हैं। इस प्रकार की रक्तसारता का होना सुख, प्रशस्त स्वभाव, मेधा (धारणाशक्तियुक्त बुद्धि) मनस्विता, सुकुमारता, अधिक शक्तिशालिता का अभाव, कष्ट को सहन करने की शक्ति की कमी और उष्णता को न सहना इनकी सूचना देता है।

वक्तव्य—ऊपर के कतिपय पदांशों **'उद्धताम् या उदग्रताम्' 'अनतिबलम्, अक्लेशसहिष्णुत्वम्'** का प्रायः विपरीत अर्थ लिखा गया है। ध्यान दें—'उद्धताम्' पाठभेद में 'उदग्रताम्' **'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ'। प्रशस्तवाचकान्यमूनि'**। अमरकोष। यहाँ 'उद्ध' शब्द 'प्रशस्त' वाचक है, अब पाठभेद वाला अर्थ देखें—**'उच्चप्रांशून्नतोदग्रः'**। अमरकोष। यहाँ 'उदग्र' का अर्थ है 'ऊँचा'। इस प्रकार प्रशस्त स्वभाव वाला या उच्च विचार वाला अर्थ ही प्रकरणोचित है।

यदि अन्य व्याख्याकारों की भांति हम भी **'उद्धता'** का अर्थ उद्दण्डता स्वीकार करें तो हमारी उद्दण्डता ही प्रतीत होगी, क्योंकि **'उद्ध'** शब्द की सत्ता कहीं नहीं देखी जाती। यदि हम 'उद्धत' शब्द मानें, तब उसको भाववाचक बनाने के लिये हमें 'उद्धतत्व' 'उद्धतता' अथवा 'औद्धत्य' रूप बनाने होंगे। 'उद्धता' शब्द मूलतः अशुद्ध है। यह **'उद्ध'** शब्द उद् पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय और ध के निपातन से सिद्ध होता है।

आगे—'अनतिबलम्—न अतिबलम्', अर्थात् सामान्य बलशाली, क्लेश को सहन न कर सकने वाला, ये अर्थ, सौकुमार्य शब्द के अनुरूप हैं, पाठक ध्यान दें।

शङ्खललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसन्धयः [2]स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥

३. मांससार के लक्षण—मांससार पुरुषों के शंखप्रदेश ('भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपर्यनुकर्णललाटे' सुश्रुत) ललाट, कृकाटिका (गर्दन के पीछे का भाग), नेत्र, गाल, हनु, ग्रीवा (गर्दन), स्कन्ध, उदर (पेट), कुक्षि (काँख), वक्ष (छाती), हाथ, पैर, सन्धियाँ स्थिर, भारी तथा मांस से भरी हुई अत एव सुन्दर दिखायी देती है। वह मांससारता मनुष्य के क्षमावान, धैर्यवान्, अचंचल (स्थिर), धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और दीर्घ आयु होने का संकेत करती है॥ १०५ ॥

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषः स्नेहो मेदःसाराणाम्। सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदाना[3]न्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे ॥ १०६ ॥

४. मेदःसार के लक्षण—मेदःसार वाले (मेदो धातु जिसमें अधिक होता है, उन) पुरुषों के वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दाँत, ओष्ठ, मूत्र तथा मल में विशेष करके (अन्य प्रकार के पुरुषों की अपेक्षा) स्निग्धता होती है। वह मेदःसारता के कारण वित्त (धन), ऐश्वर्य, सुख, उपभोग, दान, सरलता, सुकुमार चिकित्सा के योग्य होना आदि की सूचना देता है। अर्थात् मेदःसार पुरुष धनी, सम्पन्न, सुखी आदि होते हैं और ऐसे पुरुष

१. 'सुखमुदग्रताम्' ग.।
२. 'स्थिरमांसोपचिता' इति पा०।
३. '-दैन्यानि' ग.।

कष्ट सहन नहीं कर सकते अतः ये मृदु उपचार (चिकित्सा) के योग्य होते हैं, ऐसा उनकी मेदःसारता स्पष्ट कहती है।

पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसाराः। ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च ॥ १०७ ॥

५. अस्थिसार के लक्षण—अस्थिसार वाले (अस्थि=हड्डी जिनके शरीर में अधिक एवम् पुष्ट होती है, उन) पुरुषों की पार्ष्णि (एड़ी), गुल्फ (घुटना), जानु, अरत्नि ('बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठकः'। हलायुधकोष) जिस मुट्ठी में कनिष्ठिका अँगुली खुली रहे, जत्रु (अक्षकास्थि Collar bone. हँसली), चिबुक (ठोढ़ी), शिर तथा पर्व (पोरें या गाँठें), स्थूल होते हैं और हड्डियाँ, नख, दाँत ये भी (दूसरे पुरुषों की अपेक्षा) स्थूल होते हैं। इस प्रकार वे अस्थिसार पुरुष अत्यन्त उत्साही, कर्मठ, कष्ट सहन करने की शक्ति वाले, सुपुष्ट शरीर वाले और दीर्घायु होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि दधीचि ऐतिहासिक अस्थिसार पुरुष थे।

[1]मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जसाराः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतवित्तविज्ञानापत्यसम्मानभाजश्च भवन्ति ॥ १०८ ॥

६. मज्जसार के लक्षण—मज्जसार पुरुषों के अंग मृदु (सुकुमार होते हैं। पाठ भेद के अनुसार पतले) होते हैं। वे बलवान्, स्निग्ध वर्ण तथा स्वर वाले होते हैं, उनकी अंग सन्धियाँ मोटी, लम्बी तथा गोल होती हैं। वे दीर्घायु, बलवान्, श्रुत (शास्त्रज्ञान), वित्त (धन-सम्पत्ति), विज्ञान (शिल्पशास्त्र, कला, कौशल के ज्ञाता), पुत्रसन्तान वाले और आदर के पात्र होते हैं।

वक्तव्य—घृत, तैल, वसा, मज्जा (The Marrow of the Bones) एक श्रेणी के द्रव्य है। जिस प्रकार किसी मशीन में तेल, मोबिल आयल, ग्रीस आदि आवश्यकतानुसार पड़ा रहता है तो उसकी आवाज कर्णकटु न होकर मधुर होती है और उसमें चमक भी रहती है, ठीक वही स्थिति शरीर तथा शरीरावयवों में मज्जा की है। अत एव मज्जसार पुरुषों के वर्ण (रूप) तथा स्वर स्निग्ध (चिकने, मुलायम, सुरीले) होते हैं।

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियोपभोगा[2] बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति ॥ १०९ ॥

७. शुक्रसार के लक्षण—शुक्र (वीर्य) सार वाले पुरुष सौम्य (सोमगुणप्रधान), सौम्यप्रेक्षी (मधुर दृष्टि वाले), क्षीरपूर्ण लोचन (दूध से भरी हुई जैसी आँखों वाले, अर्थात् सात्त्विकदृष्टि वाले) जैसे, सदैव प्रसन्न रहने वाले, शीघ्र ध्वजोत्थान (Erection of the male organ of generation) वाले होते हैं। उनके दाँत चिकने, गोलाकार, ठोस, सम (ऊँचे-नीचे, टेढ़े नहीं), परस्पर अत्यन्त मिले हुए तथा नुकीले अग्रभाग वाले होते हैं, उनका वर्ण (रूप) और स्वर प्रसन्न (प्रभावोत्पादक) तथा स्निग्ध (प्रिय) होता है, वे भ्राजिष्णु (कान्तियुक्त) एवं मोटे चूतड़ों वाले होते हैं। वे शुक्रसार पुरुष स्त्रियों के प्रिय अथवा स्त्रियों के साथ प्रेम करने वाले, उपभोग प्रिय (कामी) तथा बलवान् होते हैं। वे सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, धन, सम्मान और सन्तान वाले होते हैं।

वक्तव्य—शरीर की सात धातुओं में अन्तिम 'वीर्य' की गणना होती है। इसके सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने लिखा है—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्', जिसकी एक बूंद के गिरने से मरण या मरणतुल्य शक्ति का ह्रास होता हो, उसके शरीर में अधिक होने से 'भ्राजिष्णुता' कान्तिमत्ता का होना स्वाभाविक ही है।

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्त-

१. 'तन्वङ्गा' इति पा०।
२. 'स्त्रीप्रियाः प्रियोपभोगा' इति पा०।

विषादाः [1]सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः। तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याताः ॥ ११० ॥

८. **सत्त्वसार के लक्षण**—सत्त्व (मनः) सार वाले पुरुष, स्मृतिमान् (किसी बात को न भूलने वाले) भक्तिमान् (देव, ब्राह्मण, माता, पिता, गुरु आदि की सेवा करने वाले), कृतज्ञ (दूसरों द्वारा किये गये उपकार को मानने वाले), प्राज्ञ (प्रकर्ष बुद्धिवाले), शुचि (पवित्र आचार-विचार वाले), अत्यन्त उत्साही, दक्ष (चतुर) धीरता युक्त, युद्ध भूमि में पराक्रम को दिखलाते हुए युद्ध करने वाले, किसी प्रकार के विषाद की चिन्ता न करने वाले, स्थिर गति वाले, गम्भीर बुद्धि तथा चेष्टाओं से युक्त तथा कल्याणकारक मार्ग की ओर प्रवृत्ति रखने वाले होते हैं। उनके गुणों का व्याख्यान अपने (सत्त्व के) लक्षणों द्वारा स्वयं कर दिया गया है।

वक्तव्य—महापुरुषों के जीवन-चरितों को देखें और पढ़ें, उनमें उक्त आठों सारों के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिये वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड का प्रथम अध्याय देखें। यद्यपि भगवान् धन्वन्तरि ने सारों का वर्णन संक्षेप से किया है, तथापि इस प्रसङ्ग में उसका अवलोकन कर लेना आवश्यक है। यथा—

'अथ सारान् वक्ष्यामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशं **सत्त्वसारं** विद्यात्। स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं **शुक्रेण**। अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च **मज्ज्ञा**। महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनख**मस्थिभिः**। स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं **मेदसा**। अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धिं मांसोपचितं च **मांसेन**। स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं **रक्तेन**। सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं **त्वक्सारं** विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति'। सुश्रुतसंहिता सू० अ० ३५।१६ ॥

तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः [2]परमसुखयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च।१११।

सर्वविधसारयुक्त पुरुष—उपर्युक्त सभी सारों से युक्त पुरुष अत्यन्त बलवान्, अधिक सुखी अथवा अधिक गौरवपूर्ण, कष्टों को सहन करने की शक्ति वाले, सभी प्रकार के कार्यों को प्रारम्भ करने में अपने ऊपर विश्वास रखने वाले, यह आत्मविश्वास मध्यम या अधम श्रेणी के पुरुषों में नहीं देखा जाता, दूसरों की भलाई करने में तत्पर, स्थिर तथा सुसंगठित शरीर वाले, सावधानी से कदम बढ़ाने वाले, अर्थात् **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'** के सिद्धान्त को मानने वाले, प्रतिध्वनि युक्त स्निग्ध, गम्भीर तथा महास्वर वाले, सुख, ऐश्वर्य, वित्त (धन), उपभोग तथा सम्मान वाले, दीर्घकाल तक यौवन से युक्त (देर में बुढ़ापा का प्रभाव जिन पर पड़ता है), जिन पर रोगों का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता, अपने समान ही गुणों से युक्त अनेक चिरजीवी सन्तानों से युक्त होते हैं।

अतो विपरीतास्त्वसाराः ॥ ११२ ॥

सर्वविधसारहीन—उपर्युक्त सभी प्रकार के सारों से हीन पुरुष विपरीत लक्षणों वाले अतएव दुःखी होते हैं।

मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति ॥ ११३ ॥

मध्यम सार—मध्यम श्रेणी के सार भेदों से मध्यमकोटि के सारवान् पुरुषों के शारीरिक गुणों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—जिनमें सम्पूर्ण सार प्राप्त नहीं होते किन्तु कुछ सारों के लक्षण दिखलायी देते हैं, शेष के नहीं, उनको **'मध्यसार'** कहा गया है।

इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाणविशेषज्ञानार्थमुपदिष्टानि भवन्ति ॥ ११४ ॥

१. 'स्ववस्थितगति–' इति पा०।
२. 'परमगौरवयुक्ताः' इति पा०।

सार-सारांश—इस प्रकार ये आठ प्रकार के सारयुक्त पुरुषों के बल, प्रमाण (शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, कृशता, स्थूलता आदि) को भली भांति जानने के लिये इन सारों का उपदेश कर दिया है।

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान् अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्; अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति; दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः; तत्र [1]पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम् ॥ ११५ ॥

सार-परीक्षा का उद्देश्य—केवल पुरुष के शरीर को देखने से ही वैद्य कैसे मोह (बुद्धिभ्रम) को प्राप्त हो सकता है—यह स्थूल (मांस से भरा-पुरा) होने के कारण बलवान् होगा, यह कृश होने के कारण अल्प बल वाला (कमजोर) होगा, यह बहुत बड़े शरीर वाला होने के कारण महान् बलवान् होगा, यह अल्पशरीर वाला (नाटा) होने के कारण अल्पबल वाला होगा, इस प्रकार का निर्णय कर लेना समीचीन नहीं है। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ छोटे कद वाले तथा दुबले-पतले पुरुष भी बलवान् होते हैं। उनमें चिउँटी के समान भारवहन (कार्य करने) की क्षमता होती है, अर्थात् जिस प्रकार चिउँटी देखने (आकार-प्रकार) में छोटी होती हुई भी अपने से कई गुना अधिक भार का वहन करती देखी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य की भी परीक्षा उसके सारतत्व (**'सारो बले स्थिरांशे च'**, अमरकोष) से करें।

संहननतश्चेति संहननं, [2]संहतिः, संयोजनमित्येकोऽर्थः। तत्र समसुविभक्तास्थि, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्टमांसशोणितं, सुसंहतं शरीरमित्युच्यते। तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तः; विपर्ययेणाल्पबला, मध्यत्वात् संहननस्य मध्यबला भवन्ति ॥ ११६ ॥

संहनन-परीक्षा

(Investigation for the Compactness of the Body)

अब संहनन द्वारा परीक्षा का निर्देश किया जा रहा है। संहनन, संहति और संयोजन ये शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं, इनका एक ही अर्थ है। उनमें जिसके शरीरावयवों में सम (अपने-अपने अवयव के समान) सुविभक्तास्थि (ठीक प्रकार से अस्थियों का विभाजन हुआ हो), जिसकी सन्धियाँ स्नायुओं से भली भांति बँधी हों, उन सन्धियों के ऊपर मांस अच्छी प्रकार चढ़ा हो, रक्त का संचार भली-भांति हो रहा हो, ऐसे शरीर को सुसंहत (सुडौल) कहते हैं। उनमें सुसंहत (सुसंगठित) शरीर वाले पुरुष बलवान् होते हैं, इनसे विपरीत शरीर वाले अल्प (हीन) बल वाले होते हैं, मध्यम कोटि के शरीर वाले पुरुष मध्यम बल वाले होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार का सुसंगठित (सुडौल) शरीर व्यायामशील पुरुषों का होता है। 'संहनन' शब्द केवल शरीर के लिये भी प्रयुक्त होता है। यथा—'गात्रं वपुः संहननं शरीरम्'। अमरकोष। दूसरे स्थान पर अमरसिंह ने उक्त शब्द का निर्देश इस प्रकार किया है—'वराङ्गरूपोपेतो यः सिंहसंहननो युवा'। अमरकोष। अर्थात् उत्तम रूप, रंग से तथा सिंह के शरीर के समान जिस युवक के शरीर का गठन हो वह **'सिंहसंहनन'** कहा जाता है। V. S. Apte ने उक्त शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया है—Compactness = घनता, Firmness of the body=शारीरिक दृढ़ता, Person=शरीर, Strength=शक्ति।

प्रमाणतश्चेति शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्। तत्र [3]पादौ चत्वारि षट् चतुर्दशाङ्गुलानि, जङ्घे त्वष्टादशाङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे च, जानुनी चतुरङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, त्रिंशदङ्गुलपरिक्षेपावष्टादशाङ्गुलावूरू, षडङ्गुलदीर्घौ वृषणावष्टाङ्गुलपरिणाहौ, शेफः[5] षडङ्गुलदीर्घं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं, द्वादशाङ्गुलपरिणाहो भगः, षोडशाङ्गुलविस्तारा कटी; दशाङ्गुलं बस्तिशिरः, दशाङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलमुदरं, दशाङ्गुलविस्तीर्णं द्वाद-

१. 'पिपीलिकाभारवहनवत्' यो.।
२. 'सङ्घातः' ग.।
३. 'पादौ चतुर्दशाङ्गुलौ' ग.।
४. 'परिक्षेपः परिणाहः' चक्रः।
५. 'अष्टाङ्गुलपरिणाहं शेफः' ह.।

शाङ्गुलायामे पार्श्वे द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरं, द्व्यङ्गुलं स्तनपर्यन्तं, चतुर्विंशत्यङ्गुलविशालं द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुरः; [1]द्व्यङ्गुलं हृदयम्, अष्टाङ्गुलौ स्कन्धौ, षडङ्गुलावंसौ, षोडशाङ्गुलौ प्रबाहू[2] पञ्चदशाङ्गुलौ प्रपाणी; हस्तौ द्वादशाङ्गुलौ, कक्षावष्टाङ्गुलौ; त्रिकं द्वादशाङ्गुलोत्सेधम्, अष्टादशाङ्गुलोत्सेधं पृष्ठं, चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुलपरिणाहा शिरोधरा; द्वादशाङ्गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यङ्गुलपरिणाहमाननं, पञ्चाङ्गुलमास्यं चिबुकौष्ठकर्णाक्षिमध्यनासिकाललाटं चतुरङ्गुलं, षोडशाङ्गुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्गुलपरिणाहं शिरः; इति पृथक्त्वेनाङ्गावयवानां मानमुक्तम् । केवलं पुनः शरीरमङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीतिः । तदायामविस्तारसमं समुच्यते । तत्रायुर्बलमोजः सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे; विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ ११७ ॥

प्रमाण-परीक्षा

(Investigation for the Proportionate Relation of the Different Organs)

प्रमाण द्वारा परीक्षा का प्रकार यह है—अपनी-अपनी अंगुली के प्रमाण से शरीर के प्रमाण का यहाँ उपदेश किया जा रहा है। ऊँचाई, चौड़ाई तथा लम्बाई में क्रमानुसार पैर ४ अंगुल ऊँचे, ६ अंगुल चौड़े और १४ अंगुल लम्बे होते हैं, जाँघें १८ अंगुल लम्बी १६ अंगुल परिक्षेप (परिणाह = गोलाई वाली), दोनों जानु (घुटने) ४ अंगुल लम्बे, १६ अंगुल गोलायी युक्त, ऊरु ३० अंगुल गोल, १८ अंगुल लम्बी, दोनों वृषण (अण्डकोष) ६ अंगुल लम्बे ८ अंगुल गोल, लिंग (पुरुष मूत्रेन्द्रिय) ६ (पाठभेद के अनुसार ८) अंगुल लम्बा, ५ अंगुल गोल, भग (स्त्रीयोनि) का परिणाह (विस्तार) १२ अंगुल, कटी (कमर) १६ अंगुल चौड़ी, वस्ति सिर (मूत्राशय का ऊपरी भाग) १० अंगुल चौड़ा, उदर (पेट) १२ अंगुल लम्बा तथा १० अंगुल चौड़ा, दोनों पार्श्व भाग १० अंगुल चौड़े और १२ अंगुल लम्बे, दोनों स्तनों का मध्य भाग १२ अंगुल, स्तन (चूचुक Nipple) का परिणाह (घेरा) २ अंगुल का होता है, उरस् (छाती) २४ अंगुल चौड़ी १२ अंगुल ऊँची होती है, हृदय २ अंगुल (पाठभेद के अनुसार ३ अंगुल), दोनों कन्धे ८-८ अंगुल, दोनों अंस (शिरोधरा और कन्धा के मध्यभाग को 'अंस' कहते हैं। इसी का पृष्ठ भाग 'अंसफलक' कहा जाता है। कोषकारों ने अंस और स्कन्ध को 'भुजशिर' की संज्ञा दी है।) ६-६ अंगुल, दोनों प्रबाहु (अंस से लेकर कोहनी तक का भाग) १६-१६ अंगुल लम्बे, दोनों प्रपाणि (The forepart of the hand कोहनी से कलाई तक का भाग), १५-१५ अंगुल लम्बे, दोनों हाथ १२-१२ अंगुल, दोनों काँखें ८-८ अंगुल, त्रिकास्थि (The part about the hips) १२ अंगुल ऊँची, पीठ १८ अंगुल ऊँची, शिरोधरा (गर्दन Neck) ४ अंगुल ऊँची २२ अंगुल गोल, आनन (मुखमंडल) १२ अंगुल ऊँचा और २४ अंगुल गोल, आस्य (मुख) ५ अंगुल, चिबुक (ठोडी), ओष्ठ, दोनों कान, दोनों आंखें, इनके बीच का भाग, नाक तथा ललाट (माथा) ४-४ अंगुल, सिर १६ अंगुल ऊँचा और परिधि में ३२ अंगुल होता है। इस प्रकार अलग-अलग अंगों के अवयवों का प्रमाण (ऊँचाई, चौड़ाई, लम्बाई आदि) बतलाये गये हैं। सम्पूर्ण शरीर की लम्बाई ८४ अंगुलिपर्व मानी गयी है। इस प्रकार यह पुरुष (स्त्री) शरीर आयाम (दीर्घता) विस्तार (लम्बाई) में बराबर हो तो उसे समशरीर कहा जाता है। इस प्रकार प्रमाण युक्त शरीर में आयु, बल, ओजस्, ऐश्वर्य, धन तथा अन्य अभीष्ट भाव निर्भर रहते हैं। यदि उक्त परिमाण से शरीर हीन अथवा अधिक हो तो तदनुसार उसकी आयु आदि में भी हीनता या अधिकता समझनी चाहिये।

वक्तव्य—चरक में शरीरावयवों की जो लम्बाई-चौड़ाई आदि का वर्णन किया है इससे सुश्रुतसंहिता में कुछ भिन्नता इस प्रकार पायी जाती है—इसके आगे आयु को जानने के लिये अंग-प्रत्यङ्गों का ज्ञान, प्रमाण एवम् सारों का वर्णन किया जाता है। अङ्ग-अन्तराधि (मध्यकाय), दोनों बाहु, दोनों जांघें तथा सिर ये छः अङ्ग हैं। इनके अवयवों को प्रत्यङ्ग कहते हैं। इनमें पैर अंगूठा और प्रदेशिनी अंगुलि अपनी अंगुलि से २ अंगुल लम्बी, प्रदेशिनी से मध्यमांगुलि १/५ भाग, मध्यमांगुलि से अनामिका १/५ भाग, अनामिका से कनिष्ठिका १/५ भाग छोटी होती है, पैर का तलुआ ४ अंगुल लम्बा तथा ५ अंगुल चौड़ा, एड़ी ५ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल चौड़ी,

१. 'त्र्यङ्गुलं हृदयं' यो.।

२. 'प्रबाहुरंसादर्वाक् कफोणिपर्यन्तः, प्रपाणिः कफोण्यधस्तात्' चक्रः।

पूरा पैर १४ अंगुल लम्बा, पैरों के गुल्फ, जंघा एवम् जानु का मध्यभाग १४ अंगुल परिधि वाला, जंघा १८ अंगुल लम्बी, घुटनों के ऊपर ३२ अंगुल लम्बी, इस प्रकार कुल ५० अंगुल, जंघा के समान लम्बे ऊरु, अण्डकोष (वृषण), ठोड़ी, दाँत, नासापुट, कर्णमूल, कानों, भौहों एवम् आंखों का अन्तर २-२ अंगुल का; अनुत्तेजित शिश्न (पुरुष मूत्रेन्द्रिय) खुला हुआ, मुख, नाक, कान, ललाट, गर्दन, आँखों का मध्यभाग ४-४ अंगुल, योनि की गहरायी १२ अंगुल, मेहन नाभि का अन्तर, हृदय एवं ग्रीवा का अन्तर, दोनों स्तनों का अन्तर, चेहरे की लम्बाई, मणिबन्ध (कलाई) की गोलाई तथा प्रकोष्ठ भाग १२ अंगुल, इन्द्रवस्ति (जाँघ का मध्य भाग) की परिधि, अंस पीठ तथा कोहनी का मध्य भाग १६ अंगुल लम्बा तथा गोल, हाथ की लम्बाई २४ अंगुल, भुजायें ३२-३२ अंगुल, ऊरु गोलायी में ३२ अंगुल, मणिबन्ध और कोहनी का मध्य १६ अंगुल का, हाथ का तलुआ ६ अंगुल लम्बा तथा ४ अंगुल चौड़ा, अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर, कान और नेत्र कोणों का अन्तर, मध्यमांगुलि ५ अंगुल, प्रदेशिनी तथा अनामिका $4\frac{1}{2}$ अङ्गुल, कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठ $3\frac{1}{2}$ अङ्गुल, मुख की लम्बाई ४ अङ्गुल, गर्दन की गोलाई २० अङ्गुल, नासापुट १/३ अङ्गुल, आँख का कृष्णमंडल (तारक) आँख का १/३ भाग, दृष्टितारक का १/९ भाग, बालों की जड़, शंख प्रदेश के मस्तक के बीच का भाग ११ अङ्गुल, मस्तक से गर्दन के बालों की जड़ का मध्यभाग १० अङ्गुल, कान और गर्दन के पिछले भाग का अन्तर १४ अङ्गुल, पुरुष के उरस् के बराबर (१२ अङ्गुल) स्त्री का श्रोणिमस्तक, स्त्री का उरःस्थल १८ अङ्गुल चौड़ा, पुरुष की कमर १८ अङ्गुल और पुरुष की सम्पूर्ण लम्बाई १२० अङ्गुल है।

विशेष वक्तव्य—मेहन पुरुष के स्वाभाविक स्थिति में स्थित लिंग का बाहरी भाग है। २४ अङ्गुल का हाथ होता है, इसकी नाप कूर्पर से मध्यमांगुलि के अन्त तक का भाग होता है। नेत्रगोलक (नयन बुद्बुद) का तिहाई भाग तारक (कृष्णमण्डल), तारक का ९वाँ भाग दृष्टि होती है—ऊपर कहा गया है, किन्तु सुश्रुत उत्तरतन्त्र अ० १ श्लोक १३ में नेत्रमण्डल के ७ वें भाग को दृष्टि कहा है। इसका आशय यह है कि दीर्घायु पुरुषों की दृष्टि ९ वां भाग और सामान्य पुरुषों की दृष्टि ७ वां भाग होती है।

पारिभाषिक शब्द—ऊपर कतिपय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनका अर्थ इस प्रकार समझें—आयत = लम्बा, आयाम = लम्बाई। परिणाह या परिक्षेप = मोटाई या विशालता या गोलाई, विस्तार = चौड़ायी। अन्तर=दूरी या मध्यभाग।

सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद् यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते । तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति; रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबला अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति, व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति ॥ ११८ ॥

सात्म्य-परीक्षा

(Investigation for the Homologation)

सात्म्य-परीक्षा—सात्म्य द्वारा परीक्षा करे। जो पदार्थ का निरन्तर सेवन करने पर भी अपनी प्रकृति के अनुकूल हो, उसे 'सात्म्य' कहते हैं। उनमें जिनको घी, दूध, तेल, मांसरस सात्म्य (अनुकूल) होता हो, अथवा सभी रस जिनको सात्म्य हो गये हों वे बलवान्, कष्टों को सहन करने की शक्तिवाले तथा चिरजीवी होते हैं। जिनको रूक्ष पदार्थ अनुकूल होते हों अथवा जिनको छः रसों में कोई एक रस सात्म्य हो, वे प्रायः अल्प बलवाले, थोड़ा-सा कष्ट सहने की शक्ति वाले, अल्पायु (कम आयु वाले) और थोड़े से साधनों वाले होते हैं। उक्त दोनों प्रकार के मिश्रित सात्म्य वाले जो पुरुष होते हैं वे मध्यम कोटि के सात्म्यवाले होने के कारण मध्यम बल वाले, सामान्य कष्टों को सहन करने वाले, मध्यम आयु वाले और मध्यम उपकरणों वाले होते हैं।

सत्त्वतश्चेति सत्त्वमुच्यते मनः । तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात् । तत् त्रिविधं बलभेदेन—प्रवरं, मध्यमम्, अवरं चेति; अतश्च प्रवरमध्यावरसत्त्वाः पुरुषा भवन्ति । तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसारास्ते सारे-

षूपदिष्टाः, स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा[1] दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात्; मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वाऽपि संस्तभ्यन्ते; हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसङ्कथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ॥११९॥

सत्त्व-परीक्षा

(Investigation for Mental State)

सत्त्व-परीक्षा—सत्व द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। यहाँ 'सत्व' का अर्थ है 'मन'। वह (सत्व) आत्मा के संयोग के कारण सम्पूर्ण शरीर का नियामक है। वह बल-भेद से तीन प्रकार का होता है—१. प्रवर, २. मध्यम और ३. अवर। इसलिये पुरुष भी सत्व-भेद से प्रवरसत्वसम्पन्न, मध्यमसत्वसम्पन्न और अवर-(हीन) सत्वसम्पन्न (तीन प्रकार के) होते हैं।

१. प्रवरसत्वसम्पन्न—उनमें प्रवरसत्व वाले पुरुषों को सत्वसार की संज्ञा देकर सारप्रकरण में उनका उपदेश कर दिया गया है (देखें—इसी अध्याय के गद्य ११० में)। ऐसे पुरुष लम्बाई-चौड़ाई में छोटे होने पर भी निज (वातादि दोषों) तथा आगन्तुज (आघात आदि) व्याधियों से होने वाली बड़ी-बड़ी व्याधियों में भी उनकी आकृति से ऐसा प्रतीत होता है कि इनको कोई पीड़ा नहीं है, ऐसा सत्वगुण की विशेषता के कारण ही होता है।

२. मध्यमसत्वसम्पन्न—मध्यमसत्व वाले पुरुष दूसरों (स्वस्थ आत्मीय जनों) को पास में बैठाकर अपने द्वारा अपने मन को धैर्य देते हैं अथवा दूसरे (पास में उपस्थित) आत्मीय जनों द्वारा भी आश्वस्त किये जाते हैं, अर्थात् स्वयं धैर्यधारण में असमर्थ होते हैं।

३. अवरसत्वसम्पन्न—हीन (अवर) सत्व वाले पुरुष न अपने से समझ पाते हैं, अर्थात् पीड़ा काल में न तो स्वयं धैर्य रख पाते हैं और न दूसरों (आत्मीय जनों) के कहने या समझाने से ही उनको ढाढस बँध पाता है। बड़े (लम्बे-चौड़े) शरीर वाले होने पर भी वे छोटे-छोटे कष्टों को भी सहते नहीं देखे जाते। उनके समीप सदैव भय, शोक, लोभ, मोह और मान (घमंड) उपस्थित रहता है। रौद्र, भैरव (भयंकर), अप्रिय, घृणित, विद्रूत बातचीत को सुनकर पशु तथा पुरुष के मांस, रक्त आदि को देखकर विषाद (दुःख), वैवर्ण्य (चेहरे का फीकापन), मूर्च्छा (बेहोशी), उन्माद (पागलपन) चक्करों का आना अथवा गिर पड़ना, इनमें से कोई एक लक्षण दिखलायी देता है या मृत्यु हो जाती है।

आहारशक्तितश्चेति आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या बलायुषी ह्याहारायत्ते ॥ १२० ॥

आहार-परीक्षा

(Investigation for Intake and Digestive Capacity)

आहार-परीक्षा—आहार-शक्ति द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। आहार-शक्ति की परीक्षा भोजन करने की शक्ति से और पचा लेने की शक्ति से करनी चाहिये। क्योंकि बल तथा आयु (दीर्घायु) आहार पर ही निर्भर होते हैं।

वक्तव्य—भोजन कर (पेट में ठूंस) लेने की शक्ति तो बहुत लोगों की देखी जाती है। जैसे—'अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते ये नराधमाः'। माधवनिदान। किन्तु भोजन कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ पचा लेना और भी आवश्यक है। आहार-शक्ति का विभाजन भी प्रवर, मध्यम और अवर भेद से करना चाहिये।

---

१. 'पीडास्वव्यग्रा' इति पा०।

व्यायामशक्तितश्चेति व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या; कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते बलत्रैविध्यम् ॥ १२१ ॥

व्यायाम-परीक्षा

(Investigation for the Body-Power)

व्यायाम-परीक्षा—व्यायाम शक्ति द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। कर्मशक्ति (कार्य करने की शक्ति) को देखकर व्यायाम शक्ति की परीक्षा करें। (यह व्यायाम शक्ति भी प्रवर (उत्तम), मध्यम तथा अवर (हीन) भेद से तीन प्रकार की होती है, इसका निर्णय कर्मशक्ति से किया जाता है) इसीलिये कहा गया है कि कर्मशक्ति से उक्त तीन प्रकार के (प्रवरबल, मध्यमबल तथा अवर (हीन) बल) बलों का अनुमान किया जा सकता है।

वयस्तश्चेति कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद् वयो[1] यथास्थूलभेदेन त्रिविधं—बालं, मध्यं, जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टं; मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्; अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्; वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले; सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः; तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत् ॥ १२२ ॥

वयः-परीक्षा

(Investigation for the Age)

वयः-परीक्षा—वयस् द्वारा भी परीक्षा करनी चाहिये। काल-प्रमाणविशेष की अपेक्षा रखने वाली, अर्थात् काल के विशेष प्रमाण पर निर्भर करने वाली, शरीर की अवस्था (स्थिति विशेष) को वय=Age कहते हैं। वह 'वय' स्थूलभेद (सामान्य रूप) से तीन प्रकार का होता है—१. बाल (बाल्यावस्था) २. मध्यावस्था और ३. जीर्णावस्था।

१. बाल-परिचय—उन तीनों में बाल अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें शरीरगत धातुएँ भली-भाँति पकी न हों, जब तक यौवनव्यञ्जक चिह्न (दाढ़ी मूंछ) न दिखलायी दें, शरीर सुकुमार हो, कष्ट सहन करने की क्षमता उत्पन्न न हो, शरीरावयव पूर्ण बलवान् न हुए हों, कफ धातु की प्रधानता हो तथा जन्म से १६ वर्ष तक की आयु हो, शरीरगत रसादि धातुएँ बढ़ती हुई अपने-अपने कार्य में लगी हों, प्रायः मन चञ्चल बना रहता हो तथा ३० वर्ष तक की अवस्था को 'बालवय' कहा गया है। ऊपर बाल्यावस्था को जन्म से १६ वर्ष तक अपरिपक्वता की दृष्टि से और ३० वर्ष के पहले तक की धातुओं की वर्धमान (बढ़ती हुई) स्थिति को देखकर दो भागों में बांटा है।

२. मध्य-परिचय—मध्यम अवस्था में अपनी शरीर सम्पत् के अनुसार जिसमें बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन तथा विज्ञान (विशेष समझदारी) की शक्ति प्राप्त हो गयी हो तथा सभी रसादि धातुओं के गुणों से शरीर परिपूर्ण हो गया हो, शरीर बलवान् हो गया हो, मन व्यवस्थित हो चुका हो, शरीरस्थ धातुओं के गुण जिसके अभी नष्ट न हुए हों तथा पित्त धातु की प्रधानता हो, इस प्रकार ६० वर्ष तक की अवस्था को 'मध्यमवय' कहा गया है।

३. जीर्ण परिचय—इस (६० वर्ष) के बाद शरीर में स्थित रसादि सात धातु इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय), बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन तथा विज्ञान (जानकारी) की शक्तियां दिनों दिन घटने (क्षीण होने) लगती हैं। धातु के गुण क्षीण होने लगते हैं, वात दोष की प्रधानता हो जाती

---

१. 'यथावस्थभेदेन' इति पा०।

है। इस प्रकार क्रमशः १०० वर्ष तक जीर्ण (जृष् वयो हानौ—अवस्था की हानि वाला) कहा जाता है। इस कलियुग में १०० वर्ष ही आयु का प्रमाण माना जाता है। कुछ मनुष्य ऐसे भी देखे जाते हैं जो १०० वर्ष से कम तथा अधिक भी जीवित रहते हैं। उन लोगों के 'वय' का विभाजन विकृतियों को छोड़कर प्रकृति आदि के बल-अबल आदि भेदों की परीक्षा द्वारा तथा आयु के लक्षणों से आयु का प्रमाण निश्चित करके तदनुसार आयु को तीन भागों में बाँटे।

वक्तव्य—दीर्घायु, मध्यायु, अल्पायु का विभाजन ज्यौतिष ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है किन्तु उनका वहां निर्धारण ग्रह, नक्षत्र आदि के आधार पर होता है। उपर्युक्त 'वय' विभाजन सामान्य रूप से किया गया है किन्तु 'विकृतिवर्ज्य' बल आदि से तथा लक्षणों से भी इसका निश्चय करे, इस प्रकार का यह कथन अधिक महत्व-पूर्ण है। ऊपर जो दसविध (प्रकृति, सार, संहनन आदि) परीक्षाओं का विवेचन प्रस्तुत किया है, ये सभी वय (Age) के निर्धारण में परस्पर उपकारक हैं। आयु के लक्षणों का विशेष वर्णन इन्द्रियस्थान तथा शारीरस्थान में देखें। 'वय' का त्रिविध विभाजन चिकित्सा सौकर्य के लिये किया जाता है।

एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्यानां भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन बलविशेषं विभजेत्। विकृति-बलत्रैविध्येन तु दोषबलं त्रिविधमनुमीयते। ततो भेषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति ॥ १२३ ॥

दसविध परीक्षा की उपयोगिता—उपर्युक्त प्रकार से विकृति को छोड़कर प्रकृति आदि १० भावों का प्रवर (श्रेष्ठ), मध्य (मध्यम) एवम् अवर (हीन) भेद से बल का विभाजन करे। विकृति बल की त्रिविधता (प्रवर, मध्य, अवर भेद) से तीन प्रकार के दोष बल का अनुमान किया जाता है। तदनन्तर भैषज्य (औषध) का तीक्ष्ण, मृदु तथा मध्य भेद से तीन प्रकार से विभाजन कर दोषों के अनुसार औषध का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् प्रवर दोष में तीक्ष्ण औषध, मध्यम दोष में मृदु औषध और अवर (हीन) दोष में मध्य बल औषध का प्रयोग करना अथवा कराना चाहिये।

आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियेषु[1] जातिसूत्रीये च लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते ॥ १२४ ॥

वयः-परीक्षा—यह तन्त्रकर्ता का संकेत-सूत्र है। आयु के प्रमाण को जानने के लिये आगे इन्द्रियस्थान में और शारीरस्थान के जातिसूत्रीय (नामक ८ वें) अध्याय में उसके लक्षणों का उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—इन्द्रियस्थान में वर्ण आदि की विकृति से तथा अरिष्टों (रिष्टों) के दर्शन से क्षीण हुई आयु को जानने के उपाय कहे हैं और जातिसूत्रीय अध्याय में जन्मजात लक्षणों के आधार पर दीर्घायु अथवा अल्पायु का विचार किया गया है। इसके पहले जो दसविधपरीक्ष्य भावों का क्रम चल रहा था उन्हीं में से यह आठवीं काल-परीक्षा है।

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। [2]अत्र खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते—हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः-प्रावृट्-शरद्-वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः[3] कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधन-मधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः ॥ १२५ ॥

८. काल-परीक्षा—संवत्सर (Year) और आतुर (रोगी) की अवस्था का नाम काल है, उनमें संवत्सर नामक काल विभाजक शब्द के दो, तीन, छः, बारह या इससे भी अधिक भेद किये जाते हैं, उस-उस कार्य विशेष को देखकर (अमरकोष में संवत्सर शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—'**संवसन्ति ऋतवोऽत्र**'।) यहां संवत्सर को ६ भागों (ऋतुओं) में विभाजित कर कार्य का उपदेश किया जा रहा है—शीत (सर्दी), उष्ण

१. 'पुनरिन्द्रियस्थाने' यो.।
२. 'तं तु' यो.।
३. 'प्रवृष्टेः' इति पा०।

(गर्मी) और वर्षा (बरसात) इन लक्षणविशेषों के अनुसार क्रमशः हेमन्त (शीत), ग्रीष्म (उष्ण) और वर्षा (बरसात) भेद से तीन ऋतुएँ होती हैं। उनके बीच में साधारण भेद युक्त लक्षणों वाली तीन ऋतुएँ और होती हैं—प्रावृट्, शरद्, वसन्त अर्थात् हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा भेद से जब काल-विभाजन किया जाता है तो ये ऋतुएँ चार-चार मास की हो जाती हैं, इन्हीं के बीच में होने वाली ये तीन (प्रावृट्, शरद्, वसन्त) ऋतुएँ हैं इनमें प्रायः उन्हीं ऋतुओं जैसा शीत, उष्ण आदि क्रम रहता है। 'प्रावृट्' का तात्पर्य है वर्षा का प्रथम काल, उससे ही सम्बन्धित काल है 'वर्षा'। इस प्रकार ये छः ऋतुएँ दोषों के संशोधन के अनुसार विभाजित कर दी गयी हैं।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान अ० ६ में महर्षि आत्रेय ने शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतु भेद से सम्पूर्ण संवत्सर को आदानकाल और विसर्गकाल के रूप दो भागों में विभक्त किया था, वहां उनका अभिप्राय ऋतुसात्म्य का उपदेश करना था, किन्तु यहां जो ऋतु-विभाजन किया गया है उसका लक्ष्य संशोधन (वमन-विरेचन) द्वारा दोषों को शरीर से बाहर करना है। यह दो प्रकार का होता है—१. बाह्य-संशोधन और २. अन्तः-संशोधन।

१. **बाह्य-संशोधन**—शस्त्र, क्षार, अग्नि, प्रलेप आदि द्वारा होता है।

२. **अन्तः-संशोधन**—वमन, विरेचन, आस्थापन, रक्तमोक्षण या शिरोविरेचन द्वारा होता है।

ऋतु विभाजन का विस्तृत दृष्टिकोण सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ० ६गद्य ६-७ में देखें। यहाँ जिन ऋतुओं को महर्षि आत्रेय ने स्वीकार किया है, उसके लिये सु० सू० अ० ६ के १० वें गद्य का अवलोकन करें।

संशोधनार्थ मास—	ऋतु—	सामान्य व्यवहारार्थ मास—	ऋतु—
भाद्रपद, आश्विन	वर्षा	माघ, फाल्गुन	शिशिर
कार्तिक, मार्गशीर्ष	शरत्	चैत्र, वैशाख	वसन्त
पौष, माघ	हेमन्त	ज्येष्ठ, आषाढ	ग्रीष्म
फाल्गुन, चैत्र	वसन्त	श्रावण, भाद्रपद	वर्षा
वैशाख, ज्येष्ठ	ग्रीष्म	आश्विन, कार्तिक	शरत्
आषाढ, श्रावण	प्रावृट्	मार्गशीर्ष, पौष	हेमन्त

तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु। साधारणलक्षणा हि मन्द-शीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम् ॥ १२६ ॥

संशोधनकाल-निर्देश—उस संवत्सर विभाग में कही गयी साधारण लक्षणों वाली ऋतुओं (प्रावृट्, शरत्, वसन्त) में वमन आदि संशोधन प्रयोगों को कराने का यत्न किया जाता है। उक्त साधारण तीन ऋतुओं को छोड़कर जो शेष ऋतुएँ (हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा) हैं, उनमें संशोधन-क्रियाओं का निषेध किया गया है, क्योंकि साधारण लक्षण वाली प्रावृट् आदि ऋतुओं में शीत, उष्ण, वर्षा अर्थात् अपनी-अपनी ऋतु का प्रभाव मन्द (साधारण) होने के कारण ये ऋतुएँ शरीर के लिये अत्यन्त सुखदायक होती हैं और इन दिनों दिये गये संशोधन द्रव्य अविकल्पक (किसी प्रकार का उपद्रव करने वाले नहीं) होते हैं, दूसरी ऋतुएँ (हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा) अत्यन्तशीत, उष्ण और वर्षा के कारण प्राणियों के शरीरों के लिये दुःखदायक और संशोधन के लिये दिये गये औषध द्रव्य विकल्पक (हानिकारक) होते हैं।

तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्यतिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमव[1]बद्धदोषं च, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमतिशीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यत्वमापद्यते, तस्मात् तयोः संयोगे संशोधनमयोगायोपपद्यते शरीरमपि च वातोपद्रवाय । ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्णवातातपाध्मातमतिशिथिलमत्यर्थप्रविलीनदोषं, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमुष्णानुगमनात्तीक्ष्णतरत्वमापद्यते; तस्मात् तयोः संयोगे संशोधनमतियोगायोपपद्यते शरीरमपि पिपासोपद्रवाय । वर्षासु तु मेघजलावतते गूढार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति भूमौ पङ्कजलपटलसंवृतायामत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु भूतेषु विहतस्वभावेषु च केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयतोयदानुगत[2]मारुतसंसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि । तस्माद् वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते वर्षान्तेष्वृतुषु, न चेदात्ययिकं कर्म । आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥

प्रधान ऋतु-विवेचन

हेमन्त ऋतु में—इस समय अत्यन्त शीत के कारण (विशेषतः शीत प्रदेशों में) पीड़ित शरीर सुख का अनुभव नहीं करता तथा अत्यन्त शीतल वायु से शरीर भर जाता है, सुकुमार शरीर भी इस समय कठोर हो जाता है और दोष शरीर में ही रुके रहते हैं, मानों दोषों को भी बाहर निकलने में सर्दी लग जाती हो। संशोधन के लिये प्रयोग की जाने वाली औषधियां उष्णवीर्य होती हैं, काल-प्रभाव से अर्थात् शीत के कारण वे भी मन्दवीर्य (क्षीण शक्ति वाली) हो जाती हैं। इसलिये उन दोनों (शीत के कारण स्तब्ध शरीर तथा मन्दवीर्य वाली संशोधन औषधियों) का संयोग होने पर संशोधन के लिये दिये गये औषध द्रव्य भली-भांति अपना कार्य नहीं करते और शरीर में वात सम्बन्धी उपद्रव (विकार) उत्पन्न हो जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में—इस समय अत्यन्त गर्मी के कारण (विशेषतः उष्ण प्रदेशों में) पीड़ित शरीर सुख का अनुभव नहीं करता तथा अत्यन्त उष्ण वायु से शरीर भर जाता है, शरीर शिथिल (पसीना से लथ-पथ स्वस्त उत्साहहीन) हो जाता है। शरीरस्थ दोष पिघल जाते हैं। संशोधन के लिए दी जानेवाली औषधियाँ उष्णवीर्य होती हैं और ऋतुस्वभाव भी उष्ण होने के कारण वे औषधियाँ और अधिक तीक्ष्ण प्रभावकारी हो जाती हैं। अतः उष्णवीर्य संशोधन औषधियों तथा ऋतु की उष्णता के संयोग होने पर अधिक वमन-विरेचन होने लगेंगे और शरीर भी पिपासा के उपद्रव का कारण बन जाता है, अर्थात् वमन या विरेचन के कारण शरीर से अधिक जलीय पदार्थ के निकल जाने तथा उष्ण ऋतु के प्रभाव से बार-बार प्यास लगने लगेगी।

वर्षा ऋतु में—इस समय आकाश के जल युक्त मेघों से घिरे रहने, धाराओं से व्याप्त, सूर्य, चन्द्र, ताराओं के छिपे रहने के कारण, भूमि के कीचड़ और जलसमूह से आच्छादित होने के कारण प्राणियों के शरीर अत्यन्त क्लेद युक्त हो जाते हैं। सभी प्रकार की औषधियों का जो स्वभाव (जिस औषधि का जो गुण-धर्म) है वह भी पृथ्वी आदि के गीले होने तथा जल और बादलों के छाये रहने से दूषित वायु के स्पर्श से प्रभावहीन हो जाता है, अतएव वमन-विरेचनकारक औषधियाँ गुरुप्रवृत्ति (देर से अपना प्रभाव दिखलाने) वाली हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि संशोधनों का प्रयोग कराया जाता है तो उनके कारण रुग्ण के तथा शरीर देर (मन्दगति) से उत्थान (शक्ति को प्राप्त करने) वाले होते हैं। इसलिये वर्षान्त ऋतुओं (हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा) में अर्थात् इन तीनों ऋतुओं में वमन आदि संशोधनों की निवृत्ति (निषेध) की जाती है, यदि कोई आत्ययिक (Emergent) कार्य न हो तो वमन आदि संशोधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

आत्ययिक कर्म (जब वमन-विरेचन आदि के बिना रोग ठीक न होता हो, तो ऐसी स्थिति) में ऋतु के गुणों के विपरीत कृत्रिम (बनावटी) गुणों को उत्पन्न करके आवश्यकतानुसार औषध द्रव्यों के संयोग, संस्कार, प्रमाण, मात्रा आदि को वीर्य के अनुसार बनाकर सावधानी से यत्न के साथ प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—यदि आत्ययिक संशोधन हेमन्त ऋतु में करना पड़े तब तो [illegible] से विपरीत कृत्रिम

---

१. 'अवबद्धदोषं' ग.।

२. 'तत्संसर्गोपहतेषु संसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनि' ग.।

उष्ण गुण को उत्पन्न करना होगा। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं में भी सोचकर करे। इस क्रम में संयोग, संस्कार आदि का भी ध्यान रखना चाहिये।

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा; तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्येति; एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण; तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा। तस्य परीक्षा—मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावद् भेषजप्रयोगार्थम्। न ह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति; कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति ॥१२८॥

भेषज के काल-अकाल—कार्य और अकार्य की दृष्टि से रोगी की परिस्थिति देखकर भी काल और अकाल ये दो संज्ञायें निर्धारित की जाती हैं, वे इस प्रकार हैं—इस अवस्था (परिस्थिति) में इस औषध के उपयोग का यह काल है और इस औषध का काल (प्रयोग करना उचित) नहीं है। इसका निर्णय अवस्था (रोग या रोगी की परिस्थिति) विशेष से होता है। इसलिये रोगी की अवस्था में भी काल और अकाल ये संज्ञाएँ होती हैं। उसकी परीक्षा का प्रकार—यथोचित औषध का प्रयोग किया जा सके, इसके लिये बार-बार रोगी की सभी परिस्थितियों की परीक्षा करते रहना चाहिये। क्योंकि समय के बीत जाने पर अथवा समय के पहले किया गया औषध प्रयोग हितकारक (उपयोगी) नहीं होता है। अतः उचित समय पर किया गया औषध प्रयोग ही लाभकारक होता है। यहां पर उचित औषध प्रयोग भी 'काल' की अपेक्षा से हितकर होता है, ऐसा कहकर 'काल' का महत्व प्रदर्शित किया है।

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भः। तस्य लक्षणं भिषगौषधातुरपरिचारकाणां क्रियासमायोगः ॥१२९॥

९. **प्रवृत्ति**—प्रत्येक रोगी के प्रति चिकित्सा का आरम्भ करना ही 'प्रवृत्ति' है। उसका लक्षण है—भिषक् (चिकित्सक), औषध, आतुर (रोगी) तथा परिचारक (सेवक) इन चारों का अपनी-अपनी क्रिया में तत्पर होना।

उपायः पुनर्भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं[1] च सम्यक्। तस्य लक्षणं—भिषगादीनां यथोक्तगुणसम्पद् देशकालप्रमाणसात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति ॥१३०॥

१०. **उपाय**—भिषक् आदि चिकित्सा के चारों पादों के भली-भांति कार्यनिर्वाह की प्रक्रिया को 'उपाय' कहते हैं। उसका लक्षण है—भिषक्, औषधद्रव्य, परिचारक (सेवक) और रोगी ये अपने गुणों से परिपूर्ण हों तथा देश, काल, प्रमाण, सात्म्य तथा क्रिया आदि सफलता के कारणों से उचित विधि से बनाये गये औषध द्रव्यों का प्रयोग करना।

वक्तव्य—उपायों का विशेष विवरण चरक सूत्रस्थान के 'खुड्डाकचतुष्पाद' नामक ९ वें अध्याय में देखें।

एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः पृथक्-पृथक् परीक्षितव्या भवन्ति ॥ १३१ ॥

उपसंहार—इस प्रकार ये (उपर्युक्त) दस परीक्षा करने के योग्य भावों की अलग-अलग परीक्षा करनी होती हैं।

परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिर्नाम यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम् ॥ १३२ ॥

परीक्षा का प्रयोजन—परीक्षा का प्रयोजन (उद्देश्य) है—'प्रतिपत्ति' ज्ञान। कोषकार अमरसिंह के अनुसार प्रतिपत्ति का अर्थ है 'चेतना' किन्तु यहाँ प्रतिपत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—जिस रोग की आयुर्वेदशास्त्र में जिस प्रकार उत्पत्ति बतलायी गयी है तथा उसके जो-जो लक्षण कहे गये हैं, उन्हें उसी प्रकार जानकर तदनुकूल उसकी चिकित्सा करना ही 'प्रतिपत्ति' है।

वक्तव्य—दसविधपरीक्ष्य भावों का आरम्भ इसी अध्याय के ६८ वें गद्य से लेकर ऊपर १३२ वें गद्य में समाप्त हो गया है।

---

१. 'अभिसंधानम्' इति पा०।

यत्र तु खलु वमनादीनां प्रवृत्तिः, यत्र च निवृत्तिः, तद्‌व्यासतः सिद्धिषूत्तरमुपदेक्ष्यामः ॥१३३॥

वमन आदि निर्देश—जहाँ (जिन-जिन रोगों में) वमन, विरेचन आदि का प्रयोग कराया जाता है और जहां नहीं कराया जाता, अर्थात् जिन-जिन रोगों में वमन आदि का निषेध किया गया है, उन सबका विस्तारपूर्वक उपदेश हम आगे करेंगे।

प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे तु गुरुलाघवं सम्प्रधार्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम्। सन्ति हि व्याधयः शास्त्रेषूत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः। तस्माद् गुरुलाघवं सम्प्रधार्य सम्यगध्यवस्येदित्युक्तम् ॥ १३४ ॥

प्रवृत्ति-निवृत्ति विचार—जहां प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के लक्षण मिले-जुले हों वहाँ गुरुता एवं लघुता का उचित विचार कर किसी एक का निश्चय करना चाहिये। अर्थात् जहां वमन कराने अथवा न कराने योग्य कोई एक ही रोग उत्पन्न हो गया हो तो, उस रोग में कौन-सा दोष गुरु है और कौन-सा लघु है यह विचार कर जो गुरु हो उसका प्रतीकार पहले करे। क्योंकि शास्त्रों में चिकित्सा को दृष्टि में रखते हुए उत्सर्ग और अपवाद (निषेध तथा विधि अर्थात् उत्सर्ग का अर्थ होता है त्याग = निषेध और निषेध का अपवाद होगा 'विधि') द्वारा रोग बतलाये गये हैं। इसलिये गुरुता तथा लघुता का विचार करके ठीक-ठीक चिकित्सा करनी चाहिये।

यानि तु खलु वमनादिषु भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनफलानि, फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवपत्रपुष्पाणि आरग्वधवृक्षकमदनस्वादुकण्टकपाठापाटलाशार्ङ्गेष्टामूर्वासप्तपर्णनक्तमालपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीचित्रकसोमवल्कशतावरीद्वीपीशिग्रुमूलकषायैः,[1] [2]मधुकमधूककोविदारकर्बुदारनीपवि[3]दुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पाप्रत्यक्पुष्पाकषायैश्च, एलाहरेणुप्रियङ्गुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुतगरनलदह्रीबेर[4]तालीसोशीरकषायैश्च, इक्षुकाण्डेक्षिक्षुवालिकादर्भपोटगलकालङ्कृ(ङ्क)तकषायैश्च, सुमनासौमनस्यायनीहरिद्रादारुहरिद्रावृश्चीरपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहाकषायैश्च शाल्मलिशाल्मलिकभद्रपर्ण्येलापर्ण्युपोदिकोद्दालकधन्वनराजादनोपचित्रागोपीशृङ्गाटिकाकषायैश्च, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरसर्षपफाणितक्षीरक्षारलवणोदकैश्च यथालाभं यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णावलेहस्नेहकषायमांसरसयवागूयूषकाम्बलिकक्षीरोपधेयान्मोदकानन्यांश्च [5]भक्ष्यप्रकारान् विविधाननुविधाय यथार्हं वमनार्हाय दद्याद् विधिवद् वमनम्। इति कल्पसङ्ग्रहो वमनद्रव्याणाम्। कल्पमेषां विस्तरेणोत्तरकालमुपदेक्ष्यामः ॥ १३५ ॥

पञ्चकर्म के लिये द्रव्यसङ्ग्रह

(Drugs for Panch-Karma Therapy)

(१) वमनद्रव्यकल्पसंग्रह

वमनोपयोगी द्रव्य—इस प्रकरण में हम उन द्रव्यों की व्याख्या करेंगे जो वमन आदि (पञ्चकर्मों) में प्रयुक्त किये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—फल (वमन के लिये प्रमुख होने के कारण यहाँ फल सामान्य शब्द से **'मदनफल'** विशेष का ग्रहण किया गया है), जीमूतक (पीत देवदाली या देवदाली), इक्ष्वाकु (तितलौकी या कडुतुम्बी), धामार्गव (पीतघोषा, नेनुआ), कुटज (इन्द्र जौ), कृतवेधन (तरोई) इनके फल वमन कराने के लिये ग्रहण किये जाते हैं।

फल (मैनफल), जीमूतक तथा धामार्गव के पत्र और पुष्प का भी ग्रहण किया जाता है। आरग्वध (अमलतास), वृक्षक (कुटज), मदनफल, स्वादुकंटक (गोखरू), पाठा, पाटला (पाढल), शार्ङ्गेष्टा (शार्ङ्गेष्टा–काकजंघा—सु० चि० अ० २३। काकमाची अथवा गुञ्जा सु० सू० अ० ३८। शार्ङ्गेष्टा—महाकरञ्ज–राजनि०, वा० उ० अ० २। लताकरञ्ज–वैद्यकनिघण्टु) मूर्वा, सप्तपर्ण (छतिवन), नक्तमाल (करञ्ज), पिचुमर्द (नीम), पटोल (परवल), सुषवी (करेला), गिलोय, सोमवल्क (सफेद खैर), शतावरी, द्वीपी (कण्टकारी), शिग्रुमूल (सहिजन की जड़) इनके कषायों (काढ़ा या क्वाथ) से।

मधुक (मुलहठी), मधूक (महुआ) कोविदार (सफेद कचनार), कर्बुदार (लाल कचनार), नीप (कदम्ब), विदुल (बैंत), बिम्बी (कुन्दरू), शणपुष्पी (जंगली सनई), सदापुष्पी (लालमदार), प्रत्यक्पुष्पी (चिरचिटा, अपामार्ग) इनके कषायों से।

एला (छोटी इलायची), हरेणु (निर्गुण्डीबीज), प्रियंगु, पृथ्वीका (जीरा—मदन० नि०। हिंगुपत्री—सु० चि० अ० २। बड़ी इलायची–राजनि०। स्याहजीरा भेद या सफेद पुनर्नवा–राजनि०), कुस्तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ या तुम्बल के बीज), तगर, नलद (उशीरभेद–भावप्रकाश। जटामांसी—सु० सू० अ० ३८), ह्रीबेर (सुगन्धवाला), तालीसपत्र, उशीर (खस), इनके कषायों से।

ईख, काण्डेक्षु (ईख का ही एक भेद), इक्षुवालिका (खागड़तृण), दर्भ (कुशभेद), पोटगल (नरकट—Great reed), कालंकृत (कासमर्द, कसौंदी) इनके कषायों से।

सुमना (चमेली), सौमनस्यायनी (जावित्री), हल्दी, दारुहल्दी, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), लाल पुनर्नवा, महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी) इनके कषायों से।

शाल्मलि (सेमल), शाल्मलिक (रोहितक, रोहेड़ा) भद्रपर्णी (गम्भारी) एलापर्णी (रसायन या रास्ना), उपोदिका (पोई का शाक), उद्दालक (लिसोड़ा–भावप्र०, वनकोदों–मद० नि०), धन्वन (धामनवृक्ष की छाल), राजादन (पियाल, खिरनी,) उपचित्रा (पृश्निपर्णी–राजनि०, बृहद्दन्ती–भावप्र०) गोपी (सारिवा), शृंगाटिका (जीवन्तीलता—राजनि०, शृंगाटक–सिंघाड़ा), इनके कषायों से।

पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक (चीता), शृंगवेर (सोंठ), सर्षप (सरसों) फाणित (राब), दूध, क्षार, नमक इनके जलों से यथा लाभ (ये जितने प्राप्त हो सकें) अथवा यथेष्ट (जितनी आवश्यकता हो उनसे संस्कार भावना आदि देकर) करके वर्ति (बत्ती), चूर्ण, अवलेह, स्नेह, कषाय, मांसरस, यवागू, यूष, काम्बलिकयूष ('दधिमस्त्वम्लसिद्धन्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः'। सु० सू० अ० ४६। दूसरा प्रकार—'पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः' ॥ चक्रदत्त–अतीसार चि०।) तथा दूध के रूप में प्रयोग किये जाने वाले योगों, मोदकों अथवा अन्य प्रकार के विविध भक्ष्य पदार्थों का निर्माण कराकर वमन कराने योग्य रोगी को विधिपूर्वक वमन करायें अथवा चिकित्सक उस समय जैसा उचित समझे तदनुसार व्यवहार करे। यह वमनद्रव्यों का कल्पसङ्ग्रह है इनके कल्प का आगे कल्पस्थान में उपदेश करेंगे।

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि यथायोगं तैस्तैः क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलैर्विकल्पैरविकल्पैः,[1] अजगन्धाश्वगन्धाजशृङ्गीक्षीरिणीनीलिनीक्लीतककषायैश्च, प्रकीर्योदकीर्यामसूरविदलाकम्पिल्लकविडङ्गगवाक्षीकषायैश्च, पीलुप्रियालमृद्वीकाकाश्मर्यपरूषकबदरदाडिमामलकहरीतकीबिभीतकवृश्चीरपुनर्नवाविदारिगन्धादिकषायैश्च, सीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुमधूलकधान्याम्लकुवलबदरखर्जूरकर्कन्धुभिश्च, दधिदधिमण्डोदश्विद्भिश्च, गोमहिष्यजावीनां च क्षीरमूत्रैर्यथालाभं यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णासवलेहस्नेहकषायमांसरसयूषकाम्बलिकयवागूक्षीरोपधेयान् मोदकानन्यांश्च भक्ष्यप्र(वि)कारान् विविधांश्च योगाननुविधाय यथार्हं विरेचनार्हाय दद्याद् विरेचनम्। इति कल्पसङ्ग्रहो विरेचनद्रव्याणाम्। [2]कल्पमेषां विस्तरेण यथावदुत्तरकालमुपदेक्ष्यामः ॥ १३६ ॥

---

१. '–द्वीपिशत्रु–' इति पा०।
२. 'मधु–' इति पा०।
३. '–निचुल–' यो.।
४. '–तालीशगोपीकषायैश्च' यो.।
५. 'योगान्' इति पा०।

१. '–संयुक्तासंयुक्तैरित्यर्थः' चक्रः।
२. 'कल्पमेषां विस्तरेणोपदेक्ष्याम उत्तरकालम्' यो.।

(२) विरेचनद्रव्यकल्पसंग्रह

विरेचनोपयोगी द्रव्य—विरेचन द्रव्य—श्यामा (काली निशोथ), त्रिवृत (लाल निशोथ), चतुरंगुल (अमलतास), तिल्वक (लोध्रवृक्ष यह मल का अवरोधक होता है, अतः सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३८ की टीका में आचार्य डल्हन ने लिखा है—'रोध्राकारे बृहत्पत्रे रक्तवें रेचनिके वृक्षे',) महावृक्ष (सेहुंड, थूहर) सप्तला (सातधारियों वाला थूहर), शंखिनी (यवतिक्ता–राजनि०), दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती (बड़ीदन्ती) इन औषधद्रव्यों के दूध, मूल, त्वचा (छिलका), पत्र, पुष्प तथा फल जिसका जैसा योग शास्त्र में निर्दिष्ट है तदनुसार प्रयोग करना चाहिये, उन-उन योगों में दूध, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प तथा फल को अलग-अलग या सबको मिलाकर निम्नलिखित कषायों का विधिवत् निर्माण कराकर विरेचन के लिये प्रयोग कराना चाहिये।

कषाय द्रव्य—अजगन्धा (अजवाइन), असगन्ध, अजश्रृंगी (मेढ़ासिंगी), क्षीरिणी (दुग्धिका), नीलिनी (नीलीमूल), क्लीतक (मुलेठी), इनके कषायों (क्वाथों) से।

प्रकीर्या (नाटाकरंज), उदकीर्या (करंज), मसूरविदला (कृष्णसारिवा), कम्पिल्लक (कबीला), विडङ्ग (वायविडंग), गवाक्षी (इन्द्रायन) इनके कषायों से।

पीलु, प्रियाल (चिरौंजी का फल), मृद्वीका (मुनक्का) काश्मर्य (गम्भारी), परूषक (फालसा), बदर (बेर), दाड़िम (अनार), आँवला, हरीतकी, बहेड़ा, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), पुनर्नवा (लाल), विदारीगन्धा आदि। **लघुपंचमूल**—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू। **बृहत् पंचमूल**—बेलगिरी, सोनापाठा, पाड़ल, गम्भार, अग्निमन्थ (अरणी) के कषायों से।

सीधु, सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मदिरा, मधु, मधूलक, धान्याम्ल, कुवल (बड़ा बेर) खजूर, कर्कन्धु (झरबेरी) इनसे निर्मित सीधुओं के साथ।

दही, दही का पानी, उदश्वित (अधिक जल डालकर बनाया गया मठा) इनके साथ। गाय, भैंस, बकरी, भेड़ इनके दूधों से अथवा मूत्रों से जहाँ जब जो सुलभ हों अथवा चिकित्सक को जहाँ जो वस्तु अभीष्ट (इच्छित) हो उससे उपसंस्कार (भावना आदि) द्वारा वर्तिक्रिया (वर्त्ती बनाना), चूर्ण, आसव, अवलेह, स्नेह, कषाय, मांसरस, यूष, काम्बलिक ('तिलपिष्ट ... शम्भीर ... दधिसहितः रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः। मूलैश्च ... काम्बलिकः स्मृतः' ॥ चक्रदत्त—अतीसारचि० ।) यवागू, क्षीर, मोदक आदि अन्य अनेक भक्ष्य पदार्थों के चिकित्सोपयोगी योगों की रचना (निर्माण) करके जो जिस रोगी के लिये उचित हो उस विरेचन के योग्य व्यक्ति को विरेचन देना चाहिये, यह विरेचन द्रव्यों का कल्पसंग्रह है। विस्तार से इनके कल्प का उपदेश हम यथायोग्य आगे कल्पस्थान में करेंगे।

वक्तव्य—'उपधेय' शब्द का अर्थ 'चिकित्सोपयोगी' करना चाहिये। क्योंकि 'उपधातुं योग्याः–उपधेयाः तान्'। देखें—उपक्रमः स्यादुपधा चिकित्सारम्भविक्रमे'। इति विश्वः।

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुपयान्ति तेषु तेष्ववस्थान्तरेष्वातुराणां; तानि द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसङ्ख्येयानि स्युरतिबहुत्वात्; इष्टश्चानतिसङ्क्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे, इष्टं च केवलं ज्ञानं, तस्माद् रसत एव तान्यत्र व्याख्यास्यामः। [1]रससंसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसङ्ख्येयः, समवेतानां रसानामंशांशबलविकल्पातिबहुत्वात्। तस्मात् द्रव्याणां चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य [2]रसैकैकश्येन च नामलक्षणार्थं षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते ॥ १३७ ॥

(३) आस्थापनद्रव्यकल्पसंग्रह

आस्थापनोपयोगी द्रव्य—आस्थापन (निरूह) बस्तियों में अधिक कल्पना वाले जो द्रव्य आस्थापनोचित रोगियों की उन उन अवस्था भेदों में योग को प्राप्त होते हैं, अर्थात् रोगियों को स्थिति विशेष में प्रयोग किये जाते हैं, उन द्रव्यों का नाम लेकर विस्तार से यदि वर्णन किया जाय तो उनके अधिक होने से उनकी

१. 'समवायविकल्पविस्तरः' यो.।
२. 'रसैकैकत्वेन' ग.। 'रसैकैकस्येन' चक्रः।

संख्या असंख्य हो जायगी। तन्त्र (शास्त्र) में न अधिक संक्षेप और न अधिक विस्तार से उपदेश करना अभीष्ट होता है, अर्थात् उतना उपदेश करना तन्त्रकार को अभीष्ट होता है जिसमें विषय का केवल ज्ञान हो जाय। इसलिये केवल रस से ही उन द्रव्यों की यहाँ हम व्याख्या करेंगे। (तात्पर्य यह है कि द्रव्य अनन्त हैं और रसों की संख्या सीमित (मात्र ६) है, अतः उस-उस रस से युक्त द्रव्यों का निर्देश आगे किया जायगा) इन आस्थापनोपयोगी द्रव्यों के रसों के परस्पर मिश्रणों के विकल्पों (भेदोपभेदों) का विस्तार भी अपरिसंख्येय (अनगिनत) है, क्योंकि आपस में मिले हुए रसों की अंशांश बल कल्पना (इस द्रव्य में कौन-सा रस कितने अंश में है और उसका बल कितना है) बहुत होती है, इसलिये द्रव्यों के उदाहरण के लिये उनके एक भाग को लेकर उसको रसों में बाँटकर एक-एक रस के नाम और लक्षण के अनुसार छः आस्थापनस्कन्धों की छः रसों के अनुसार व्याख्या की जायगी।

वक्तव्य—रसों के संसर्ग (मिश्रण) के विकल्प (तर-तम भाव) का विस्तार भी बहुत प्रकार का हो जायेगा। जैसे—मिश्रित रसों के हीन, हीनतर, हीनतम, मध्य, मध्यतर, मध्यतम, अधिक, अधिकतर, अधिकतम आदि क्रम से ये भेद भी अनगिनत हो जायेंगे। इसका विस्तृत विवेचन चरक सू० अ० २६ में और सुश्रुत उत्तरतन्त्र अ० ६३ में देखें।

यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजः, तद् दुर्लभतमं संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि मधुरप्रायाणि मधुरविपाकानि मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते, तथेतराणि द्रव्याण्यपि ॥ १३८ ॥

मधुरादि-स्कन्ध—चिकित्सक जो यह कहते हैं कि छः प्रकार के आस्थापनस्कन्ध एक-एक रसवाले ही हों, अर्थात् उन-उन द्रव्यों में एक-एक ही रस हो, अन्य रस या रसों का समावेश न हो, ऐसा मिलना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि सभी द्रव्यों में अनेक (एक से अधिक) रस देखे जाते हैं। (कारण यह है कि सभी द्रव्य पंचमहाभूतात्मक होते हैं और रस भी पंचमहाभूतों के मिश्रण से बनते हैं। अतः उनमें एक ही रस हो, ऐसी कल्पना करना सर्वथा निराधार है।) इसी से मधुर, मधुरप्रधान, मधुरविपाकवाले तथा मधुरप्रभावकारक द्रव्यों का मधुरस्कन्ध में मधुर संज्ञा देकर ही उपदेश किया जायगा। उसी प्रकार अम्ल आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

वक्तव्य—आस्थापन (जिसके प्रयोग से दोष और धातु अपने-अपने स्थान पर फिर से स्थापित हो सकें) के उपयोगी द्रव्य अनेक हैं। अतः संक्षेप में उपदेश करने की दृष्टि से उन द्रव्यों का रसानुसार विभाजन कर दिया है। तदनुसार आस्थापनोपयोगी द्रव्यों को रससंख्या के अनुसार छः भागों में इस प्रकार बाँटा गया है—१. मधुरस्कन्ध, २. लवणस्कन्ध, ३. अम्लस्कन्ध, ४. कटुस्कन्ध, ५. तिक्तस्कन्ध, ६. कषायस्कन्ध।

तद्यथा—जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा तामलकी काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी शालपर्णी पृश्निपर्ण्यसनपर्णी मधुपर्णी मेदा महामेदा कर्कटश्रृङ्गी श्रृङ्गाटिका छिन्नरुहा छत्राऽतिच्छत्रा श्रावणी महाश्रावणी सहदेवा विश्वदेवा शुक्ला क्षीरशुक्ला बलाऽतिबला विदारी क्षीरविदारी क्षुद्रसहा महासहा ऋष्यगन्धाऽश्वगन्धा वृश्चीरः पुनर्नवा बृहती कण्टकारिकोरुबूको मोरटः श्वदंष्ट्रा संहर्षा शतावरी शतपुष्पा मधूकपुष्पी यष्टीमधु मधूलिका मृद्वीका खर्जूरं परूषकमात्मगुप्ता पुष्करबीजं कशेरुकं राजकशेरुकं राजादनं कतकं काश्मर्यं शीतपाक्योदनपाकी तालखर्जूरमस्तकमिक्षुरिक्षुवालिका दर्भः कुशः काशः शालिर्गुन्द्रेत्कटकः शरमूलं राजक्षवकः ऋष्यप्रोक्ता द्वारदा भारद्वाजी वनत्रपुष्यभीरुपत्री हंसपादी काकनासिका कुलिङ्गाक्षी क्षीरवल्ली कपोलवल्ली कपोतवल्ली सोमवल्ली गोपवल्ली मधुवल्ली चेति; एषामेवंविधानामन्येषां च मधुरवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावाप्य पयसाऽर्धोदकेनाभ्यासिच्य साधयेद् दर्व्या सततमवघट्टयन्; तदुपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु पयसि चानुपदग्धे स्थालीमुपहृत्य [1]सुपरिपूतं पयः सुखोष्णं घृततैलवसामज्जलवणफाणितोपहितं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्

१. 'परिस्रुतं पूतं' यो.।

दद्यात्; शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे विधिवद् दद्यात् । इति मधुरस्कन्धः ॥ १३९ ॥

१. मधुरस्कन्ध—जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, वीरा (बृहद्बला, शतावरी, तालमूली, काकोली–राजनि०), तामलकी (भुँई आँवला), काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी (वनउड़द), मुद्गपर्णी (वनमूंग), शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन) असनपर्णी (अपराजिता), मधुपर्णी (विकंकत), मेदा, महामेदा, कर्कटशृङ्गी (काकड़ासिंगी) शृङ्गाटिका (सिंघाड़ा), छिन्नरुहा (गुरुच), छत्रा (तालमखाना अथवा सौंफ) अतिछत्रा (लाल तालमखाना), श्रावणी (गोरखमुण्डी), महाश्रावणी (बड़ी गोरखमुण्डी), पीली सहदेई, विश्वेदेवा (लालसहदेई), शुक्ला (सिता=मिश्री या चीनी), क्षीरशुक्ला (सफेद निशोथ), बला (बरिआरा), अतिबला (पीतबला, ककही), विदारी, क्षीरविदारी, क्षुद्रसहा (इन्द्रवारुणी-राजनि० मुद्गपर्णी–सु० सू० अ० ३८ ।) महासहा (कोंकणदेश में प्रसिद्ध–'कुब्जक वृक्ष', राजनि०) [आचार्य गङ्गाधर ने 'क्षुद्रसहा और महासहा' का अर्थ क्रमशः 'लालकुरबक और सफेद कुरबक' किया है, इसके लिये निघण्टुओं का अवलोकन अपेक्षित है ।] ऋष्यसहा (भिशारा), असगन्ध, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), लाल पुनर्नवा, बृहती (वनभंटा), कंटकारी, उरबूक (एरंड) मोरट (मूर्वा), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), संहर्षा (वन्दाल), शतावरी, शतपुष्पा (सोया Dill) मधूकपुष्पी (महुआ), यष्टीमधु (मुलेठी), मधूलिका (मर्कटहस्तितृण–चक्रदत्त, भग्नचि०), मृद्वीका (मुनक्का), खजूर, परूपक (फालसा) आत्मगुप्ता (किवांच के बीच), पुष्करबीज (कमलगट्टा), कसेरू, बड़ा-कसेरू, राजादन (पियाल, खिरनी), कतक (निर्मली), काश्मर्य (गम्भार), शीतपाकी (गुंजा, घुंघची), ओदनपाकी (नीली-झिण्टी), तालमस्तक (कटुसूरन वैद्यकनि०, तालवृक्षमस्तक–राजनि० ।) खर्जूरमस्तक, ईख, इक्षुवालिका (खागड़तृण), दर्भ, कुश, कास, शालि नामक धान की जड़, गुन्द्र (गोनरखा की जड़), इत्कट (तृणभेद-नरई), सरमूल (सरपत की जड़), राजक्षवक (नकछिकनी), ऋष्यप्रोक्ता (पीतबला), द्वारदा (सागौन या सागवान यहाँ 'द्वारदा' का पर्याय सागवान को यदि इसलिये मान लिया हो कि इस वृक्ष से दरवाजे बनाये जाते हैं, या यह वृक्ष दरवाजे देता है, यह अर्थ-निर्धारण के लिये पर्याप्त होगा या आचार्य गंगाधर ने जो इसका अर्थ 'पालक का शाक' किया है, इसका भी कोई आधार नहीं मिलता ।) भारद्वाजी (वनकपास), वनत्रपुषी (जंगली खीरा), अभीरुपत्री (शतावरी भेद), हंसपदी (हंसराज), काकनासिका (कौआठोडी), कुलिङ्गाक्षी (सफेदगुंजा), क्षीरवल्ली (क्षीरविदारी भेद), कपोलवल्ली, कपोतवल्ली (छोटी इलायची) सोमवल्ली (सोमलता), गोपवल्ली (अनन्तमूल) और मधुवल्ली (मुलेठी भेद) इनका तथा इसी प्रकार के गुणधर्म वाले जिनकी गणना मधुरवर्ग में परिगणित है, उन औषधद्रव्यों में जो छेद्य (काटने योग्य) हैं उनके छोटे-छोटे टुकड़े करके, जो भेद्य (चीरने योग्य) हैं उनको बारीक चीरकर, पानी से धोकर धुली हुई हाँडी आदि पात्र में रखकर आधा दूध और आधा पानी (द्रव्य से अठगुना) मिलाकर कड़छुल से लगातार चलाते हुए उसे मन्द आग पर चढ़ाकर पकाये । जब उपयुक्त मात्रा में पर्याप्त (चतुर्थांश) जल शेष रह जाय, औषध द्रव्यों का रस पानी में उतर जाय और दूध न जला हो तब उस हाँडी को उतारकर उस दूध को छान लें । इस गुनगुने दूध में घी, तेल, वसा, मज्जा, नमक, राब द्रव्यों को विधिपूर्वक मिलाकर बस्तिविधिविशेषज्ञ चिकित्सक वातरोगी को विधिपूर्वक बस्ति दे । यही बस्ति यदि पित्तविकार वाले रोगी को देनी हो तो ठंडे दूध में मधु और घी मिलाकर पित्तविकार वाले को विधिपूर्वक देना चाहिये । यह मधुरस्कन्ध समाप्त हुआ ।

वक्तव्य—शतपुष्पा को हम हिन्दी में सोया या सोआ कहते हैं किन्तु यहाँ जिन द्रव्यों का उल्लेख तन्त्रकार को अभीष्ट है उनको गुण, रस, वीर्य, विपाक में मधुर होना चाहिये । **सोया**—गुण में—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण है, रस में—कटु, तिक्त है, विपाक में—कटु है, वीर्य में—उष्ण है । अतः हमको यहाँ प्रसंगानुसार 'सौंफ' अर्थ करना चाहिये नकि 'सोया' । **सौंफ परिचय**—गुण–लघु, स्निग्ध, रस में मधुर, कटु, तिक्त । विपाक में मधुर । वीर्य में शीत । वातविकारों में ही बस्ति का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है किन्तु यहाँ पित्त विकारों में भी बस्ति का प्रयोग करने की जो आज्ञा दी गयी है, इसका विवेचन आगे इस प्रकार दिया गया है—'पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् । स्रंसनं त्रीन् मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्' ॥ च० चि० अ० ३ ।

आम्राम्रातकलकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गगण्डीरामलकनन्दीतकशीतकतिन्तिण्डीकदन्तशठैरावतककोशाम्रधन्वनानां फलानि, पत्राणि चाम्रातकाश्मन्तकचाङ्गेरीणां चतुर्विधानां

चाम्लिकानां द्वयोश्च कोलयोश्चामशुष्कयोर्द्वयोश्चैव शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोः, आसवद्रव्याणि च सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुशुक्तशीधुदधिदधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लादीनि च, एषामेवंविधानामन्येषां चाम्लवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा द्रवैः [1]स्थाल्यामभ्यासिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावत्तैलवसामज्जलवणफाणितोपहितं सुखोष्णं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इत्यम्लस्कन्धः ॥ १४० ॥

२. **अम्लस्कन्ध**—आम, आम्रातक (अंबाड़ा), लकुच (बड़हर), करमर्द (करौंदा), वृक्षाम्ल (विषांविल), अम्लवेतस (अमलबेत), कुवल (बड़ाबेर), बदर (बेर), दाडिम (अनार) मातुलुंग (माता के स्तन के आकार का बड़ा नीबू–बिजौरा), गंडीर (शाकभेद अथवा सेहुंड की एक जाति), आँवला, नन्दीतक, शीतक, तिन्तिडीक, दन्तशठ (जम्बीर अथवा गलगल,) ऐरावतक (नारंगी का वृक्ष–वैद्यकनि०), कोशाम्र (क्षुद्राम्र) तथा धन्वन (धामन) इनके फलों को ।

आम्रातक (अँबाड़ा या आमड़ा), अश्मन्तक (अम्ललोटक) और चांगेरी (चौपतिया) इनके पत्ते, चारों प्रकार की इमली के पत्ते, कच्चे, सूखे दोनों प्रकार के कोल (बेर) के पत्ते, घरेलू तथा जंगली दोनों प्रकार की अम्लिका की सूखी पत्तियाँ, आसव द्रव्य एवम् सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मदिरा, मधु (मद्यभेद) शुक्त (सिरका), सीधु, दधि, दही का पानी, उदश्वित (मरा) तथा धान्याम्ल (कांजी) आदि, इनका और इसी प्रकार के अन्य द्रव्य जिनकी गणना अम्लवर्ग में की गयी है, उनमें से छेदन योग्य द्रव्यों के टुकड़े-टुकड़े करके, भेदन योग्य द्रव्यों को छोटे से छोटे रूप में चीरकर सुरा आदि द्रवों से हाँडी में रखे हुए द्रव्यों को सींच (भिगो) कर पूर्ववत् पाक करें ।

तदनन्तर उसको बारीक कपड़े से छानकर उसमें विधिवत् तेल, वसा, मधु (शहद), मज्जा, लवण तथा फाणित (राब) मिलाकर उस गुन-गुने द्रव की बस्ति लगाने में कुशल चिकित्सक वातविकार वाले रोगी को विधिपूर्वक बस्ति दे । यह अम्लस्कन्ध समाप्त हुआ ।

सैन्धवसौवर्चलकालविड्पाक्यानूपकूप्यवालुकैलमौलकसामुद्ररोमकौद्भिदौषरपाटेयकपांशुजान्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवणवर्गपरिसङ्ख्यातानि, एतान्यम्लोपहितान्युष्णोदकोपहितानि वा स्नेहवन्ति सुखोष्णं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इति लवणस्कन्धः ॥ १४१ ॥

३. **लवणस्कन्ध**—सैंधानमक, सोंचरनमक, कालानमक, विडनमक (रसतरंगिणी में सौवर्चल तथा विडलवण के निर्माण की विधि देखें ।), पाक्यनमक, आनूपनमक, कूप्यनमक, बालुकनमक, ऐलनमक, मौलकनमक, सामुद्रनमक, रोमकनमक, औद्भिदनमक, औषरनमक, पाटेयकनमक तथा पांशुजनमक इस प्रकार के अन्य लवणरसप्रधान द्रव्यों तथा उन सभी द्रव्यों को जो लवणवर्ण में गिने गये हैं, इनको कांजी आदि अम्ल द्रव से अथवा गरम जल से मिलाकर उसमें तेल आदि स्नेहों को डालकर उस गुन-गुने द्रव की बस्ति लगाने में कुशल चिकित्सक वातविकार वाले रोगी को विधिपूर्वक बस्ति दे । यह लवणस्कन्ध समाप्त हुआ ।

वक्तव्य—प्राचीन आचार्यों ने लवणपंचक के रूप में इन लवणों का उल्लेख किया है—१. सैन्धव, २. सामुद्र, ३. विड, ४. सौवर्चल, ५. औद्भिद । इनके अतिरिक्त १. शाकम्भरी (सांभर), २. सौवर्चल (पाक्य-कालानमक), ३. द्रोणीलवण, ४. औषरलवण (अभिनवनिघंटु तथा 'सैन्धवसौवचलकाचविडगाढसामुद्रद्रौणेयौषररोमकभेदेन नवधा', राजनि० ।) इस प्रकार लवणों के भेद निघण्टुकारों ने किये हैं किन्तु चरक में कुछ नये लवणों का उल्लेख हुआ है, जो सचमुच गवेषणीय हैं । निश्चित ही ग्रन्थरचना काल में इन लवणों की स्थिति रही होगी, अन्यथा तन्त्रकार इनका उल्लेख कैसे करते ।

पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदार्द्रकविडङ्गकुस्तुम्बुरुपीलुतेजोवत्येलाकुष्ठभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासकिलिममूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुकमधुशिग्रुकखरपुष्पाभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकार्जकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकक्षारमूत्रपित्तानीति; एषामेवंविधानां चान्येषां

---

१. 'स्थिराण्य' इति पा० ।

कटुकवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा गोमूत्रेण सह साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इति कटुकस्कन्धः ॥ १४२ ॥

४ **कटुकस्कन्ध**—पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), चव्य, चीता, सोंठ, मरिच, अजमोदा, अदरख, वायविडंग, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), पीलु, तेजोवती (नेपाली धनियाँ–तुम्बलबीज), एला (छोटी लायची), कूठ, भिलावा की गुठली, हिंगुनिर्यास (हींग वृक्ष की गोंद अर्थात् हींग), किलिम (देवदारु वृक्ष), मूली, पीली सरसों, लहसुन, करञ्ज (कञ्जू), सहजन, मीठा सहजन, खरपुष्पा (बर्बरी, कायफल की छाल—वैद्यकशब्दसिन्धु), भूस्तृण (हरद्वारी तृण), सुमुख, सुरस, कुठेरक, अर्जक (सुमुख से अर्जक तक ये तुलसी भेद हैं ।), गण्डीरवास, कालमालक, पर्णास, क्षवक (नकछिकनी), फणिज्झक (दवना), सभी प्रकार के क्षार, मूत्र और पित्त इनका, इस प्रकार के गुणधर्म वालों के और भी कटुक वर्ग में गिनाये गये औषधद्रव्यों के छेद्य अंशों को खण्ड-खण्ड काटकर, भेद्यद्रव्यों को बारीक रूप से भेदन करके गोमूत्र के साथ उक्त रीति से पकाकर, पकने के बाद कपड़ा से छानकर, मात्रा के अनुसार मधु, तैल और नमक मिलाकर वस्तिप्रयोग कुशल चिकित्सक कफविकार वाले रोगी को गुनगुने द्रवयुक्त वस्ति को विधिवत् दे । यह कटुस्कन्ध समाप्त हुआ ।

चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बतुम्बुरुकुटजहरिद्रादारुहरिद्रामुस्तमूर्वाकिराततिक्तकटुकरोहिणी-त्रायमाणाकारवेल्लिकाकरीरकरवीरकेबुककठिल्लकवृषमण्डूकपर्णीकर्कोटकवार्ताकुकर्कशकाकमाचीकाको-दुम्बरिकासुषव्यतिविषापटोलकुलकपाठागुडूचीवेत्राग्रवेतसविकङ्कतबकुलसोमवल्कसप्तपर्णसुमनार्कावल्गुज-वचातगरागुरुबालकोशीराणीति; एषामेवंविधानां चान्येषां तिक्तवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात्; शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात् । इति तिक्तस्कन्धः ॥ १४३ ॥

५. **तिक्तस्कन्ध**—चन्दन, नलद (उशीर के सदृश पीला लामज्जक), कृतमाल (कर्णिकार), नक्तमाल (नाटा करंज), नीम, तुम्बुरु (नेपाली धनियां, तुम्बल के बीज), कुरैया, हरिद्रा (हल्दी), दारुहल्दी, नागरमोथा, मूर्वा, किराततिक्तक (चिरायता), कटुकरोहिणी (कुटकी), त्रायमाणा, कारवेल्लिका (छोटा करेला), करीर, करवीर (कनेर), केबुक, कठिल्लक (पुनर्नवा), वृष (अडूसा), मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी भेद), कर्कोटक (बाँझ ककोड़ा), वार्ताकु (बैंगन), कर्कश (कासमर्द), काकमाची (मकोय), काकोदुम्बरिका (कठगूलर), सुषवी (करेला), अतिविषा (अतीस), परवल, कुलक (परवल का ही एक भेद), पाठा (पाढ़ल), गिलोय, वेत्राग्र, वेतस, विकंकत (स्रुवावृक्ष), वकुल (मौलसिरी), सोमवल्क (सफेद खदिर), सप्तपर्ण (छतिवन), सुमना (चमेली), अर्क (मदार), अवल्गुज (बाकुची, कालीजीरी) वचा (बालवच), तगर, अगुरु, बालक (नेत्रवाला) और उशीर (खस) इनका, इस प्रकार के गुण-धर्म वाले अन्य औषधद्रव्यों का जो तिक्तवर्ग में गिने गये हैं उनमें जो छेदन योग्य हैं उनको टुकड़े-टुकड़े कराकर और भेदन योग्य द्रव्यों का अतिसूक्ष्म भेदन कराकर जल से धोकर हांडी में रखकर पानी से भिगा दें और पूर्वोक्त प्रकार से पकाकर कपड़े से छान कर उसमें मात्रा के अनुसार मधु, तैल, लवण मिलाकर वस्तिप्रयोग में कुशल चिकित्सक कफरोगी को उक्त गुन-गुने द्रव की विधिपूर्वक वस्ति दे ।

यदि पित्त विकार वाले रोगी को वस्ति देनी हो तो उस द्रव में मधु और घी मिलाकर वस्तिप्रयोग में कुशल चिकित्सक उक्त द्रव को शीतल करके तब विधिपूर्वक वस्ति दे । यह तिक्तस्कन्ध समाप्त हुआ ।

प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठकीकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मापद्मकेशरजम्ब्वाम्रप्लक्षवटक-पीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकास्थ्यश्मन्तकशिरीषशिंशपासोमवल्कतिन्दुकप्रियालबदरखदिरसप्तपर्णाश्वकर्णस्य-न्दनार्जुनारिमेदैलवालुकपरिपेलवकदम्बशल्लकीजिङ्गिनीकाशकशेरुकराजकशेरुकट्फलवंशपद्मकाशोकशा-लधवसर्जभूर्जशणखरपुष्पापुरशमीमाचीकवरकतुङ्गाजकर्णस्फूर्जकविभीतककुम्भीपुष्करबीजबिसमृणालताल-

खर्जूरतरुणानीति[1], एषामेवंविधानां चान्येषां कषायवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैल-लवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यात्; शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे दद्यात् । इति कषायस्कन्ध. ॥ १४४ ॥

६. **कषायस्कन्ध**—प्रियंगु, अनन्तमूल, आम की गुठली, अम्बष्ठकी (पाठा), कट्वंग (सोनापाठा, श्योनाक, अरलू), लोध, मोचरस, समंगा (मजीठ), धाय के फूल, पद्मा (भारंगी), कमलकेशर, जामुन, आम, प्लक्ष (पाकड़) वट (बरगद), कपीतन (पारस पीपल), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), भल्लातकास्थि (भिलावा की गुठली), अश्मन्तक, शिरीष, शिंशपा (शीशम), सोमवल्क (सफेद खैर), तिन्दुक (तेंदू), प्रियाल (चिरौंजी), बेर, खैर, सप्तपर्ण (छतिवन), अश्वकर्ण (सालभेद), स्यन्दन (तिनिश), अर्जुन, (इसके बाद निम्नोक्त संस्करण में **'असन'** शब्द भी मूलपाठ में देखा गया है* ।), अरिमेद या इरिमेद ये दोनों ही नाम एक ही वृक्ष विशेष के हैं । इसका पर्याय है 'विट्खदिर' । एलबालुक (एलुआ), परिपेलव (केवटीमोथा), कदम्ब, शल्लकी (सलई), जिङ्गिनी (जिंगनियां–अभिनवनि०), काश, कसेरू, राजकशेरू (बड़ा कसेरू), कट्फल (कायफल, काफल), बांस, पद्मकाष्ठ, अशोक, शाल, धव, सर्ज (सर्जरस, राल), (इसके आगे इस संस्करण में **'भूर्ज'** पाठ अधिक है ।) भूर्ज, शण (वनसनई), खरपुष्पा (बर्बरी नामक वनतुलसी), पुर (गुग्गुल), शमीवृक्ष माचीक-वैद्यकशब्दसिन्धु में 'माचिका और माची(टी)कम्, इस प्रकार दो शब्द दिये हैं । जिनके क्रमशः पर्याय इस प्रकार हैं—माचिका = आम्रातकवृक्ष, माची(टी)कम्–देवदारु–रसरत्नप्रदीप, प्रदरचि० पुष्पानुगचूर्ण ।) दूसरे टीकाकारों ने जो माचीक का पर्याय 'मकोय' दिया है, यह केवल 'माची' का पर्याय है, न कि **'माचीक'** का । वरक (तृणधान्य), तुङ्ग (नागकेसर) अजकर्ण (सालभेद), स्फूर्जक (तिन्दुक वृक्ष), बहेड़ा, कुम्भीक (पाटला), पुष्करबीज (कमलगट्टा), बिस (कमलमूल-भसींडा), मृणाल (कमलनाल अथवा खश), ताड़ तथा खजूर के अङ्कुर (पाठभेद में **'तरुणी'** शब्द का प्रयोग **'तरुण'** शब्द के स्थान पर किया है, तदनुसार **तरुणी** शब्द का अर्थ **गुलाब का फूल** होगा ।) इनका, इस प्रकार के गुण-धर्म वाले दूसरे औषधद्रव्यों का जो कषायवर्ग में गिने गये हैं, उनमें जा छेदन करने योग्य द्रव्य हैं उनको खण्ड-खण्ड करके काटकर और जो भेदन करने योग्य द्रव्य हैं उनको सूक्ष्मतम प्रकार से चीर कर भली-भांति धोकर पूर्ववत् हांडी में डालकर पानी से भिगोकर ठीक प्रकार से पकाकर, कपड़ा से छानकर मात्रा के अनुसार मधु, तैल, लवण मिलाकर वस्तिप्रयोग में कुशल चिकित्सक कफविकार वाले रोगी को गुन-गुने द्रव से विधिपूर्वक वस्ति दे ।

यदि यही वस्ति पित्तविकार वाले रोगी को देनी हो तो उक्त साधित द्रव के शीतल हो जाने पर उसमें मधु और घी मात्रानुसार मिलाकर विधिपूर्वक वस्ति दे । यह कषायस्कन्ध समाप्त हुआ ।

तत्र श्लोकाः—

षड्वर्गाः परिसङ्ख्याता य एते रसभेदतः । आस्थापनमभिप्रेत्य तान्विद्यात्सार्वयौगिकान् ॥१४५॥
सर्वशो हि प्रणिहिताः सर्वरोगेषु जानता । सर्वान् रोगान्नियच्छन्ति येभ्य आस्थापनं हितम् ॥१४६॥

उपसंहार—आस्थापनबस्ति को लक्ष्य करके रसों के भेद के अनुसार जो यहाँ ये षड्वर्ग (१. मधुरस्कन्ध, २. अम्लस्कन्ध, ३. लवणस्कन्ध, ४. कटुस्कन्ध, ५. तिक्तस्कन्ध और ६. कषायस्कन्ध) गिनाये गये हैं, उनको सार्वयौगिक (वात, पित्त, कफ के होने वाले सभी रोगों में उपयोगी) समझना चाहिये ।

जिन रोगों में आस्थापनबस्ति हितकर होती है उन सभी रोगों को जानते हुए चिकित्सक द्वारा प्रयोग किये गये उक्त छः स्कन्धोक्त द्रव्य शान्त करते हैं ।

वक्तव्य—यहां दोषों के अनुसार रोगों की कल्पना करनी चाहिये । यह तन्त्रकार का संकेत त्रिदोष सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है ।

येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये न परिकीर्तिताः । द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपकाः ॥१४७॥

---

* देखें—श्री जयदेवविद्यालंकार की व्याख्या वाला चरक पृ० ३८४ (मोतीलाल बनारसीदास सन् १९७५)

१. 'खर्जूरतरुण्यः' इति पा० ।

इत्येते षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्याताः ॥ १४८ ॥

रोगप्रकोप-विचार—भिन्न-भिन्न विकारों की शान्ति के लिये जो जो स्कन्ध नहीं कहे गये हैं, वे वे द्रव्य वर्ग उन-उन विकारों को [illegible] करने वाले होते हैं। इस प्रकार ये छः आस्थापनस्कन्ध हैं, रस भेद के अनुसार विभाग कर इनकी व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—मधुरस्कन्ध के द्रव्यों को गुनगुना बस्ति वातविकार वालों के लिये और शीतल कर मधु-घृत मिलाकर पित्तविकार वालों को देने का विधान है, अतः वात एवं पित्त से शेष कफज विकारों में यह विकार कारक होने के कारण अनुपयुक्त होगा। इसी प्रकार से अन्यत्र भी विवेक से निर्णय लें।

तेभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसङ्ख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत, तत्तदपकर्षयेत्; यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं मन्येत, तत्तद् विदध्यात्; वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति; तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः, मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः। यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन् भिषक् संसाधयति कार्यमनतिमहत्त्वाद् वा विनिपातयत्यनतिह्रस्वत्वादुदाहरणस्येति ॥ १४९ ॥

द्रव्यग्रहण-विचार—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह उक्त छः आस्थापन स्कन्धोक्त अनेक द्रव्यों में से गिना गये भी जिन-जिन द्रव्यों को रोगी के लिये उपयुक्त न समझे उन-उन द्रव्यों को अलग कर दे और जो-जो द्रव्य नहीं कहे गये हैं यदि उनको उपयोगिता समझे तो उनको योग में मिलाकर प्रयोग करे। युक्ति को प्रमाण मानकर (इस द्रव्य को इसके साथ मिला देने से यह लाभ होगा और न मिलाने पर यह हानि होगी इस प्रकार द्रव्य के गुण-धर्मों का विचार करना ही 'युक्ति' है।) एक वर्ग के औषध द्रव्य को एक वर्ग के साथ मिलाये अथवा अनेक के साथ एक द्रव्य को मिलाये।

भिखारी को [illegible] से जैसा [illegible] लाभ होता है, किसान को बीज बोने से जैसा अन्नलाभ होता है उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष के लिये सूत्र रूप में कही गयी बात अत्यधिक ज्ञानलाभ कराने वाली होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को ऊहापोह तथा वितर्क से ज्ञान प्राप्ति होती है, अर्थात् विद्वान् ऊहापोह तथा वितर्क द्वारा तत्त्वज्ञान कर लेते हैं। मन्दबुद्धि वालों के लिये शास्त्र-निर्देशानुसार चलना ही श्रेयस्कर होता है। शास्त्रोक्त मार्ग पर चलता हुआ वैद्य योग के विस्तृत रूप से कहे जाने के कारण अपने कार्य (चिकित्सा) को सफल कर लेता है, अथवा योग के अति विस्तृत न होने के कारण विकार (रोग) को शान्त कर लेता है।

वक्तव्य—योग में द्रव्य परिवर्तन करने का अधिकार शास्त्रकार ने स्वयं ही [illegible] अनुभवी चिकित्सक को है। इसका समर्थन अन्य सभी संहिताकारों ने किया है। जिस प्रकार योग में द्रव्य बदलना चिकित्सक के अधिकार की बात है, उसी प्रकार वह देश, काल तथा रोगी की स्थिति के अनुसार वह द्रव्यों को परिवर्तन कर भी सकता है। कुछ योगों के सम्बन्ध में शास्त्र का ऐसा भी आदेश देखा गया है कि अमुक योग में से किसी औषध द्रव्य को इस प्रकार नहीं हटाना चाहिये, जैसे—सिद्ध मन्त्र में से किसी अक्षर या मात्रा, बिन्दु आदि को, क्योंकि उनका सामूहिक प्रभाव ही कार्य करता है। उसी प्रकार विघटित द्रव्य प्रभावकारी नहीं होते।

अतः परमनुवासनद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः। अनुवासनं तु स्नेह एव। स्नेहस्तु द्विविधः स्थावरात्मकः, जङ्गमात्मकश्च। तत्र स्थावरात्मकः स्नेहस्तैलमतैलं च। तद् द्वयं तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यामः, सर्वतस्तैलप्राधान्यात्। जङ्गमात्मकस्तु वसा, मज्जा, सर्पिरिति। तेषां तैलवसामज्जसर्पिषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेष्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं तु पित्तविकारेषु, सर्व एव वा सर्वविकारेष्वपि योगमुपयान्ति संस्कारविधिविशेषादिति ॥ १५० ॥

(४) अनुवासनद्रव्यकल्पसंग्रह

अनुवासनोपयोगी द्रव्य—आस्थापन द्रव्यों का वर्णन करने के पश्चात् अब इन अनुवासन द्रव्यों की व्याख्या करते हैं। स्नेह ही अनुवासन है। स्नेह दो प्रकार का होता है—१. स्थावर पदार्थों से प्राप्त होने वाला और २. जंगम (गच्छन्तीति जङ्गमाः)—अर्थात् प्राणिवर्ग से प्राप्त होने वाला। उनमें स्थावरात्मक स्नेह

दो प्रकार का होता है—१. तैल (तिलों से निकाला गया), २. अतैल (तिल के अतिरिक्त तैलीय पदार्थों से निकाला गया। जैसे—सरसों, रेड़ आदि)। उन दोनों (तैल और अतैल) को तैल मानकर ही हम उनका उपदेश करेंगे, क्योंकि सभी प्रकार के स्थावर तैलों में तिल तैल की प्रधानता होती है।

जंगमात्मक स्नेह—वसा, मज्जा और सर्पि (घी)। अर्थात् प्राणियों से प्राप्त होने वाले स्नेहों की वसा आदि संज्ञायें हैं। उन स्नेहों में तैल, वसा, मज्जा और सर्पि अनुवासनवस्ति देने योग्य वातज तथा कफज विकारों में अपने से पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ होते हैं। जैसे—वातज तथा कफज विकारों में सर्पि की अपेक्षा मज्जा श्रेष्ठ है, मज्जा से वसा श्रेष्ठ है और वसा से तिल तैल श्रेष्ठ होता है। पित्तजनित विकारों में ये यथोत्तर (तैल से वसा, वसा से मज्जा और मज्जा से सर्पि = घी) श्रेष्ठ होते हैं। अथवा सभी प्रकार के विकारों में संस्कारविधि की विशेषता के कारण सभी (घृत, तैल, वसा, मज्जा) का प्रयोग लाभकारक होता है।

वक्तव्य—अनुवासन में स्नेह की प्रधानता होती है। शास्त्रीयपरम्परा के अनुसार वातज तथा कफज विकारों में तैल-बस्ति श्रेष्ठ होती है, पित्तजविकारों में घृत का प्रयोग श्रेष्ठ होता है। इसके पश्चात् बुद्धिमान् चिकित्सक के विवेक पर तथा उक्त स्नेहों की संस्कारविधि के ऊपर प्रयोग की सिद्धि निर्भर होती है।

अनुवासनवस्ति की उत्तम मात्रा (जिसका निर्धारण चिकित्सक के विवेक पर निर्भर होता है) दो पल (८ तोला) अथवा इससे भी आधी एक पल (४ तोला) की होती है। इसके विशेष विवेचन के लिये सुश्रुत चि० अ० ३५ देखें। अनुवासनवस्ति (अनुदिवसं वा दीयते, इति) और निरूहणवस्ति में केवल द्रव्यों का अन्तर होता है। स्नेहों द्वारा दी जाने वाली वस्ति **अनुवासन** और क्वाथ आदि में स्नेह मिलाकर दी जाने वाली वस्ति **निरूहण** या आस्थापन कही जाती है। आजकल निरूहणवस्ति साबुन के घोल से दी जाती है जो क्षार तथा तेल का मिश्रण ही है, ध्यान दें।

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्गशिग्रुशिरीषतुम्बुरुपिल्वजाज्यजमोदावार्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुकाफलानि च, सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकहरिद्राशृङ्गबेरमूलकलशुनतर्कारीसर्षपपत्राणि च, अर्कालर्ककुष्ठनागदन्तीवचापामार्गश्वेताज्योतिष्मतीगवाक्षीगण्डीरपुष्प्यवाक्पुष्पीवृश्चिकालीवयस्थातिविषामूलानि च, हरिद्राशृङ्गबेरमूलकलशुनकन्दाश्च, लोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बार्कपुष्पाणि च, देवदार्वगुरुसरलशल्लकीजिङ्गिन्यसनहिङ्गुनिर्यासाश्च; तेजोवतीवराङ्गेङ्गुदीशोभाञ्जनकबृहतीकण्टकारिकात्वचश्चेति। शिरोविरेचनं सप्तविधं, फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्प-निर्यास-त्वगाश्रयभेदात्। लवणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथाऽपराण्यनुक्तान्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्त इति ॥ १५१ ॥

(५) शिरोविरेचनद्रव्यकल्पसंग्रह

शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य—अपामार्ग (चिरचिटा), पिप्पली, कालीमरिच, वायविडङ्ग, शिग्रु (सहजन), सिरीष, तुम्बुरु (नेपालीधनियाँ, तुम्बुल के बीज), पील, अजाजी (सफेद जीरा), अजमोदा (अजमोद), वार्ताकी (वनभंटा), पृथ्वीका (बड़ी इलायची और कालाजीरा, देखें—अभिनवनि०) इलायची तथा हरेणुका इनके फलों को।

सुमुख, सुरस, कुठेरक (ये तीन तुलसी के भेद हैं।) गंडीर (गांडरदूब), कालमालक (काले पत्तों वाली तुलसी, देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु।), पर्णास, क्षवक (नकछिकनी), फणिज्झक, हल्दी, शृंगबेर (सोंठ), मूली, लहसुन, तर्कारी (जयन्ती वृक्ष) तथा सरसों इनके पत्तों को।

अर्क (आँक, मदार), अलर्क (सफेद आँक), कूठ, नागदौन, वालवच, अपामार्ग (चिरचिटा), श्वेता (अपराजिता), ज्योतिष्मती (मालकांगनी), गवाक्षी (इन्द्रायण), गंडीरपुष्पी (शाकविशेष), अवाक्पुष्पी (अन्धाहुली), वृश्चिकाली (काकनासा) वयस्था (हरीतकी—भावप्र०, काकोली, क्षीरकाकोली, दारुहल्दी, सोमवल्ली—राजनि०) तथा अतिविषा (अतीस) इनके मूल (जड़ें)।

हल्दी, सोंठ, मूली और लहसुन इनके कन्द।

लोध, मैनफल, सप्तपर्ण (छतिवन), निम्ब (नीम) और अर्क (आंक, मदार) इनके फूलों को।

देवदारु, अगुरु, सरल (चीड़), शल्लकी (सलई), जिंगिनी; असन (विजयसार) और हींग इन वृक्षों की गोंदों को।

तेजोवती (तेजवल), वरांग (दालचीनी), इंगुदी (हिंगोट), शोभाञ्जन (सहजन), बृहती (वनभंटा) तथा कंटकारिका (भटकटैया) इनकी त्वचाओं को ग्रहण करें।

यहां शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्यों का चयन १. फल, २. पत्र, ३. मूल, ४. कन्द, ५. पुष्प, ६. निर्यास (गोंद) तथा ७. त्वचा भेद से सात प्रकार से किया गया है। इनके अतिरिक्त लवण, कटु, तिक्त और कषाय रस प्रधान द्रव्य जो इन्द्रियों के लिये उपशय (सुखकारक) हों तथा वे द्रव्य जो यहाँ नहीं कहे गये हैं, योगों या योग के अनुसार उनका भी शिरोविरेचन के लिये उपयोग करना चाहिये, ऐसी तन्त्रकार की आज्ञा है।

वक्तव्य—'पिल्वजाजी'—यहाँ यदि हम 'विल्व' पाठ स्वीकार करते हैं तो फिर आगे 'जाजी' शब्द बचता है। जिसको 'अजाजी' मानकर 'जीरा' अर्थ करना होगा, पूर्ववर्ती व्याख्याकारों को यह मार्ग अच्छा लगा है। हमारी समझ से यहाँ **'पिल्वजाजी'** पाठ ही होना चाहिये। ऐसा करने पर प्रसंगोचित अर्थ की प्राप्ति भी हो जायगी और अगला पद भी स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। यथा—पीलु+अजाजी। यह पीलु शब्द ह्रस्व इकारादि 'पिलु' और दीर्घ ईकारादि 'पीलु' दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। देखें—कोष: वी० एस० आप्टे, पृष्ठ ३३७, (१९६३ ई० संस्करण)। गुणधर्म की दृष्टि से भी देखें—'तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित्' ॥ सु० सू० अ० ४६। और भी—'पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत्'। भावप्रकाश।

विशेष वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने रोगभिषग्जितीय विमान नामक इस ८ वें अध्याय में पञ्चकर्म के अन्तर्गत वमन, विरेचन द्रव्यों की परिकल्पना तथा रसभेद से आस्थापनोपयोगी द्रव्यों आदि का जो परिचय प्रस्तुत किया है, उसका आचार्य वाग्भट ने अपनी संहिता में किस कुशलता के साथ प्रयोग किया है, वह प्रसंगवश यहाँ उद्धृत किया जारहा है, पाठक ध्यान दें—

वृद्धवाग्भट—'वमनद्रव्याणां मदनजीमूतकेक्ष्वाकुधिकोशातकीकुटजफलानि च श्रेष्ठानि, तेष्वपि मदनफलम्'। अ० सं० कल्प० अ० १। **संक्षेप में वाग्भट की सूक्ति**—'वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूलं विरेचने। नित्यमन्यस्य तु व्याधिविशेषेण विशिष्टता' ॥ अ० हृ० कल्प० १।१। इसका समन्वय च० क० अ० १ से करें। अन्य कल्पों में वाग्भट ने १. जीमूतकल्प, २. इक्ष्वाकुकल्प, ३. धामार्गवकल्प, ४. क्ष्वेडकल्प तथा ५. कुटजकल्प का प्रयोग किया है।

विरेचनकल्प—इसमें १. त्रिवृत्-श्यामाकल्प, २. राजवृक्षकल्प, ३. तिल्वककल्प, ४. सुधाकल्प, ५. शंखिनी-सप्तलाकल्प, ६. दन्ती-द्रवन्तीकल्प, ७. हरीतकीकल्प का वर्णन दिया है। इसके अतिरिक्त द्रष्टव्य स्थल ये हैं—सु० सू० अ० ४४, अष्टाङ्गसं० क० अ० २।

निरूहणकल्प—१. बलादिकल्प, २. दशमूलादिकल्प, ३. बलादिकल्प (द्वितीय), ४. एरण्डादिकल्प, ५. यष्ट्यादिकल्प, ६. रास्नादिकल्प, ७. कोपातक्यादिकल्प। निरूहणवस्ति का ही दूसरा नाम आस्थापनवस्ति है। इसके अनन्तर इस प्रकरण में विविध प्रकार की वस्तियों के प्रयोग दिये गये हैं, जो चिकित्साक्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध एवम् उपयोगी हैं।

अनुवासनवस्ति—मृदु, मध्य, तीक्ष्ण आदि का विचार कर विविध प्रकार के रोगियों के लिये सहेतुक अनेक वस्तियों का निर्देश यहाँ किया गया है। इस प्रसंग में अष्टाङ्गसंग्रह कल्पस्थान का भी अवलोकन अवश्य कर लेना चाहिये।

वस्तिव्यापत्—वस्तियों का यथाविधि प्रयोग न करने पर जो विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वस्तिव्यापद् कहते हैं। इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें—च० सि० अ० ४, ५, ७, १०, १२। सु० चि० अ० ३६-३८। अ० सं० अ० ६-७।

तत्र श्लोकाः—

लक्षणाचार्यशिष्याणां परीक्षा कारणं च यत्। अध्येयाध्यापनविधी सम्भाषाविधिरेव च ॥१५२॥
षड्भिरूनानि पञ्चाशद् वादमार्गपदानि च। पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तत्त्वतः ॥१५३॥
सम्प्रश्नश्च परीक्षादेर्नवको वमनादिषु। भिषग्जितीये रोगाणां विमाने सम्प्रकाशितः ॥१५४॥

अध्यायगत विषयगणना—लक्षण ग्रन्थ (शास्त्र), आचार्य तथा शिष्य-परीक्षा इनके कारण, अध्ययन एवम् अध्यापन विधि, सम्भाषाविधि, छः से कम पचास अर्थात् ४४ वाद मार्ग के पद, कारण आदि १० अन्य पद, वमन आदि की परीक्षा के लिये ९ परीक्षा आदि प्रश्न ये सभी विषय प्रस्तुत विमानस्थान के रोगभिषग्जितीय नामक अध्याय में कह दिये गये हैं।

रोगभिषग्जितीयविमान के विषय

परीक्षाएँ—
(१) शास्त्रपरीक्षा
(२) आचार्यपरीक्षा

शास्त्रज्ञान के प्रकार—
(१) अध्ययन
(२) अध्यापन

शिष्य-परीक्षा—
अध्ययन और अध्यापन के अन्तर्गत ही इस परीक्षा का निर्वचन किया गया है।

तद्विद्यसम्भाषा के भेद—
(१) सन्धाय (अनुलोम) सम्भाषा
(२) विगृह्य (प्रतिलोम) सम्भाषा

परिषद् के भेद—
(१) ज्ञानवती परिषद्
(२) मूढा परिषद्

४४ वाद मार्ग के प्रमुख भेद—
(१) जल्पवाद
(२) वितण्डावाद

दसविधपरीक्ष्य भाव—
(१) कर्त्ता
(२) करण
(३) कार्ययोनि
(४) कार्य
(५) कार्यफल
(६) अनुबन्ध
(७) देश
(८) काल
(९) प्रवृत्ति
(१०) उपाय

देश-परीक्षा—
(१) भूमि-परीक्षा
(२) रोगी के शरीर की परीक्षा

दसविध आतुर परीक्षा—
(१) प्रकृतितः
(२) विकृतितः
(३) सारतः
(४) संहननतः
(५) प्रमाणतः
(६) सात्म्यतः
(७) सत्वतः
(८) आहारतः
(९) व्यायामशक्तितः
(१०) वयस्तः

सारतः परीक्षा—
(१) त्वक्सार
(२) रक्तसार
(३) मांससार
(४) मेदःसार
(५) अस्थिसार
(६) मज्जसार
(७) शुक्रसार
(८) सत्वसार

उपाय (पञ्चकर्म) प्रकार—
(१) वमन द्रव्य
(२) विरेचन द्रव्य
(३) आस्थापन द्रव्य
(४) अनुवासन द्रव्य
(५) शिरोविरेचन द्रव्य

रसभेद से आस्थापनद्रव्यों का विभाजन—
(१) मधुरस्कन्ध
(२) अम्लस्कन्ध
(३) लवणस्कन्ध
(४) कटुकस्कन्ध
(५) तिक्तस्कन्ध
(६) कषायस्कन्ध

बहुविधमिदमुक्तमर्थजातं बहुविधवाक्यविचित्रमर्थकान्तम्।
बहुविधशुभशब्दसन्धियुक्तं बहुविधवादनिसूदनं परेषाम् ॥ १५५ ॥

इमां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान् परमतवादसूदनीम् ।
[1]निलीयते परवचनावमर्दनैर्न शक्यते परवचनैश्च मर्दितुम् ॥ १५६ ॥

उपसंहार (Conclusions)—रोगभिषग्जितीय अध्याय में वर्णित यह बहुचर्चा मनोरम विषय शास्त्रीय विचारों से सुशोभित है, इसमें अनेक प्रकार की शब्दसन्धियाँ वर्णित हैं और अनेक प्रकार के शास्त्रार्थ के दाँव-पेंचों की विधि का वर्णन कर दूसरे के मतों के खण्डन का प्रकार बतलाया गया है ।

दूसरे पक्ष वाले व्यक्ति के (वाद-विवाद में परस्पर दोनों ही एक दूसरे प्रतिवादी होते हैं ।) मत का खण्डन करने वाली अनेक प्रकार के तर्कों से युक्त इस मति (शास्त्रार्थ में दूसरे को पराजित करने की कलापूर्ण बुद्धि) को जानने वाला पुरुष प्रतिवादी के तर्कों को खण्डित करने में डगमगाता नहीं है और प्रतिपक्षी द्वारा कुचला भी नहीं जाता ।

दोषादीनां तु भावानां सर्वेषामेव हेतुमत् । मानात् सम्यग्विमानानि निरुक्तानि विभागशः ॥१५७॥

कुछ और—सभी प्रकार के दोष आदि भावों के सहेतुक एवं सम्यक् ज्ञान कराने के लिये अलग-अलग (विषयानुसार) विमान के अध्यायों का वर्णन किया है । 'मानात्–विमानानि' यही विमानस्थान की निरुक्ति हैं । अर्थात् रस आदि मान के ज्ञान के लिये वर्णित प्रकरण का नाम 'विमान' है ।

(अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अनेन विधिना स्थानं विमानानां समर्थितम् ।)

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रोग-
भिषग्जितीयविमानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति विमानस्थानं समाप्तम् ।

(अग्निवेश द्वारा रचित महर्षि चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत प्रस्तुत तन्त्रोक्त विमानस्थान के विषयों की पूर्ति यहाँ हो गयी है ।)

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
विमानस्थान में रोगभिषग्जितीय नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

इस प्रकार विमानस्थान समाप्त हुआ ।

1. 'न जज्जते परवचनावमर्दनैः' इति पा० ।

शारीरस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

विमानस्थान की व्याख्या समाप्त करने के अनन्तर अब हम कतिधापुरुषीय नामक शारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ।

वक्तव्य—'कतिधा पुरुषो धीमन्' इस अध्यायारम्भ वाक्यांश को लेकर प्रस्तुत अध्याय का उक्त नामकरण किया गया है। इसी से पुरुष के उत्पत्ति विषयक सभी जिज्ञासाओं की उत्पत्ति होती है, जिनका निराकरण इस सम्पूर्ण शारीरस्थान में निर्दिष्ट उपदेशों द्वारा किया जायगा। आयुर्वेदीय चिकित्सा का क्षेत्र यह पांचभौतिक शरीर है, चिकित्सा के पूर्व इसका परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव तन्त्रकार ने पहले शारीर-स्थान का वर्णन करने के पश्चात् ही चिकित्सास्थान का उपदेश किया है।

कतिधा पुरुषो धीमन् ! धातुभेदेन भिद्यते । पुरुषः कारणं कस्मात्, प्रभवः पुरुषस्य कः ॥ ३ ॥

अग्निवेश के पुरुषसम्बन्धी प्रश्न—गुरुदेव ! १. धातुभेद से पुरुष के कितने भेद होते हैं, २. पुरुष को कारण क्यों माना जाता है तथा ३. पुरुष के उत्पत्ति-स्थान या उत्पत्तिकारण कौन हैं ? ॥ ३ ॥

किमज्ञो ज्ञः, स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः ।
प्रकृतिः का, विकाराः के, किं लिङ्गं पुरुषस्य च ॥ ४ ॥

अन्य प्रश्न—४. वह पुरुष अज्ञानवान् है या ज्ञानवान्, ५. नित्य है या अनित्य, ६. प्रकृति किसे कहते हैं, ७. विकार कौन है तथा ८. पुरुष का क्या लक्षण है ।

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम् । वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥५॥

आत्मतत्व को जानने वाले पुरुष आत्मा को निष्क्रिय (स्वयं कुछ न करने वाला), स्वतन्त्र (अपने वश में रहने वाला), वशी (सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों को वश में रखने वाला), सर्वग (सर्वगत), विभु (व्यापक), क्षेत्रज्ञ (शरीर को जानने वाला) और साक्षी कहते हैं ।

वक्तव्य—कुछ व्याख्याकारों ने 'तथा' शब्द द्वारा 'निर्विकार' आत्मा का भी ग्रहण किया है । जिसका स्पष्टीकरण अगले पद्य द्वारा किया जा रहा है ।

निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् ! विद्यते कथम् । स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते ॥ ६ ॥

अगले प्रश्न—भगवन् ! ९. निष्क्रिय अर्थात् किसी प्रकार की क्रिया से रहित आत्मा की क्रिया कैसे होती है ? १०. यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्ट (अनिच्छित अर्थात् जिनमें उत्पन्न होने की इंच्छा नहीं होती ऐसी नीच) योनियों में कैसे जन्म लेता है ?

वक्तव्य—अग्निवेश ने महर्षि आत्रेय से पूछा कि जब यह आत्मा निष्क्रिय (क्रियारहित) है, तो उसकी क्रियाएँ कैसे होती हैं । जब वह स्वतन्त्र है तो वह अनिश्चित योनियों (प्राणि शरीरों) में क्यों उत्पन्न होता है ?

वास्तव में महर्षि आत्रेय के वचनों की सत्यता हमें लोकव्यवहारों में सर्वत्र दिखलायी देती है। **निष्क्रिय आत्मा**—में सुख, दुःख, चिन्ता, उद्वेग आदि विकारों के दर्शन होते हैं। **वशी** (जितेन्द्रिय) आत्मा निर्विकार होता है, सुख, दुःख आदि विकारों से युक्त जो आत्मा होता है उस पर इन्द्रियों के प्रभाव का यह प्रतिफल है। **स्वतन्त्र**—यह आत्मा स्वतन्त्र होने पर भी जो नीच योनियों में प्रविष्ट देखा जाता है, इसमें अधर्म को कारण माना गया है। उच्च योनियों में उत्पन्न होना तो स्वतन्त्र का अधिकार ही है।

वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते बलात् । सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ॥७॥

११. यदि आत्मा को वशी (जितेन्द्रिय) स्वीकार किया जाय तो असुख (दुःख को उत्पन्न करने वाले) मार्गों से वह बलपूर्वक कैसे आक्रान्त हो जाता है ? १२. जब आत्मा को सर्वगत (विभु तत्व के रूप में) माना जाता है, तो वह सब प्रकार की सब स्थानों में होने वाली वेदनाओं (पीड़ाओं) को क्यों नहीं जानता है ?।

न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् । क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः ॥ ८ ॥

१३. यदि आत्मा को विभु (सर्वत्रव्यापक) माना जाता है तो वह पर्वत, दीवाल आदि की ओट में स्थित पदार्थों को क्यों नहीं देख पाता ? इसका तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा को सर्वत्र व्यापक माना जाय तो उसके लिये पर्वत, दीवाल आदि का व्यवधान वस्तु-दर्शन के प्रति बाधक नहीं होना चाहिये, फलतः उसको सभी समय सभी पदार्थ दृष्टिगोचर होने चाहिये। १४. यह आत्मा पहले 'क्षेत्र' है या 'क्षेत्रज्ञ' है ?, इस सम्बन्ध में संशय है।

ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते । क्षेत्रं च यदि पूर्वं स्यात् क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः ॥९॥

क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र-विवेचन—यदि हम आत्मा को पहले क्षेत्रज्ञ स्वीकार करें तो ऐसा उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सबसे पहले 'क्षेत्र' ज्ञेय (जानने योग्य) है। बिना क्षेत्र को समझें ही 'क्षेत्रज्ञ' की चर्चा करना अप्रासंगिक है। क्योंकि जो क्षेत्र को जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। 'क्षेत्र' को जानने के पहले 'क्षेत्रज्ञ' की चर्चा ठीक नहीं लगती। इस प्रकार 'क्षेत्र' को प्रथम मानें तो 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) को अशाश्वत (अनित्य) मानना पड़ेगा।

साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते । स्यात् कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः ॥१०॥

१५. जब हम आत्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे को 'कर्त्ता' स्वीकार नहीं करते तो फिर यह (आत्मा) साक्षी (गवाह) किसका कहा जायगा। क्योंकि साक्षी उसको कहते हैं जो किसी कार्य के कर्ता को देखता हो। जैसे—शिष्य पढ़ता है उसको गुरु देखता है, यहाँ पठनरूप कार्य करने वाले शिष्य का साक्षी गुरु है। इस प्रकार आत्मा के साक्षी होने के लिये किसी को कार्यकर्ता मानना आवश्यक होगा। किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है, यहाँ तो आत्मा को ही प्रधान माना गया है। १६. आत्मा को जब विकाररहित (निर्विकार) माना गया है, तो उस विकाररहित आत्मा में वेदना (पीड़ा, कष्ट, रोग आदि) जनित विशेषता कैसे उत्पन्न हो सकती है ? क्योंकि विकार घटते-बढ़ते तथा समाप्त होते देखे जाते हैं किन्तु आत्मा में किसी प्रकार का भी परिवर्तन स्वीकार नहीं किया जाता।

अथ चार्तस्य भगवंस्तिसृणां कां चिकित्सति । अतीतां वेदनां वैद्यो वर्तमानां भविष्यतीम् ॥११॥
भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः । साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्तेः संशयो ह्यतः ॥

१७. भगवन् ! भूत, वर्तमान अथवा भविष्यत् काल में होने वाली इन तीन प्रकार की वेदनाओं में से चिकित्सक रोगी के किस रोग की चिकित्सा करता है ? १८. भविष्यत् काल में होने वाली वेदना (रोग) की चिकित्सा वैद्य इसलिये नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी अभी उत्पत्ति हुई ही नहीं है ? १९. भूतकाल में हुई वेदना (रोग) का पुनः आगमन होना नहीं और साम्प्रतिकी अर्थात् वर्तमानकालिक वेदना में स्थिरता नहीं होती, अतः यह सन्देह होता है कि वैद्य किस काल की वेदना की चिकित्सा करता है ?

वक्तव्य—उक्त श्लोक में **'अर्तेः स्थानं नास्ति'** जो लिखा है, यहाँ पर पीड़ा की अस्थिरता में कारण यह है कि सभी प्रकार के भावों का स्वभाव नित्यगमन करने का है। संवत्सरात्मक काल तथा रोगी की अवस्था रूपी काल ये प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। काल के परिवर्तनशील होने के कारण रोग की अवस्था में परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक है।

कारणं वेदनानां किं, किमधिष्ठानमुच्यते । क्व चैता वेदना सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥१२॥
सर्ववित् सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगनिःसृतः । एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते ॥१४॥

२०. वेदनाओं (रोगों) का क्या कारण है ? २१. उन (वेदनाओं) का अधिष्ठान (कौन रोग किस स्थान में होता है, क्या है ? २२. ये सभी प्रकार की वेदनाएँ कहाँ शान्त होती हैं ? २३. सभी विषयों को जानने वाला, सभी वस्तुओं का परित्याग करने वाला, सभी प्रकार के कार्य-कारणसंयोगों से दूर रहने वाला, एक तथा शान्त भूतात्मा (जीवात्मा) किन लक्षणों से पहचाना जा सकता है।

[1]इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः । सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः ॥१५॥

उक्त प्रश्नों का समाधान—अग्निवेश के उक्त प्रश्नों को सुनकर आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ, शान्तचित्त महर्षि पुनर्वसु ने उनके सभी प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर दिये।

[2]खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः । चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥ १६ ॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः । मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥१७॥

१. धातुभेद से पुरुषभेद—'कतिधा पुरुषो धीमन् ! धातुभेदेन भिद्यते'। च० शा० अ० १।३ प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—'खादयः चेतनाषष्ठा' अर्थात् १. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी और ६. चेतना धातु (आत्मायुक्त मन) इनके समवाय को पुरुष माना गया है। (इनमें प्रथम पाँच तन्त्रकार के अनुसार पञ्चमहाभूतों का सन्निवेश है और छठी धातु है चेतना।) केवल चेतना धातु को भी पुरुष की संज्ञा दी गयी है। तदनन्तर धातुभेद से २४ तत्त्वों के समूह को पुरुष माना गया है, वे तत्त्व इस प्रकार हैं—१. मन, १० इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ) तथा ज्ञानेन्द्रियों के ५ अर्थ (१. कर्ण का शब्द, २. त्वचा का स्पर्श, ३. चक्षु का रूप, ४. जीभ का रस ५. नासिका का गन्ध) तथा ८ धातुओं से युक्त प्रकृति (१. अव्यक्त, २. महान्, ३. अहंकार, ४. आकाश, ५. वायु, ६. अग्नि, ७. जल, ८. पृथिवी)।

वक्तव्य—धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार का होता है ? अग्निवेश के इस प्रश्न का समाधान महर्षि आत्रेय ने तीन प्रकार से किया है—१. छः धातुज पुरुष, २. एक धातुज पुरुष और ३. चौबीस धातुज पुरुष। निश्चय ही विभिन्न प्रकार के समाधान देने का यही कारण रहा होगा कि महर्षि ने कर्म (चिकित्सा में उपयोगी) पुरुष को दार्शनिक दृष्टि से देखना भी उचित समझा होगा।

१. छः धातुज पुरुष—प्रथम प्रकार के पुरुष की उत्पत्ति में आकाश आदि चेतनाधातुपर्यन्त छः धातु कारण हैं। पञ्चमहाभूतों का आकाश आदि यह क्रम सुश्रुतसंहिता शा० अ० १।४ में प्राप्त होता है। इसके विपरीत दार्शनिक आचार्य अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में पञ्चभूतों को इस क्रम से कहा है—'पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-आकाश'। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'पञ्चभूत-शरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्'॥ सु० सू० अ० १।२२। इसी वाक्यांश का पुनः सु० शा० अ० १।१६ में 'यतोऽभिहितम्' स्मरण किया गया है। क्योंकि यह 'कर्मपुरुष' है। चिकित्सा का यही क्षेत्र है। यहाँ 'पुरुष' शब्द प्राणिमात्र का बोधक है। आयुर्वेद-शास्त्र स्थावर एवम् जंगम सभी की चिकित्सा का उपदेश करता है किन्तु इन सब में पुरुष को प्रधान माना गया है। देखें—'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः'। मनुस्मृति। यही कारण है कि इस शास्त्र का अधिष्ठान पुरुष ही है। आकाश आदि से उनके विकार रूप इन्द्रियों तथा उनके अर्थों (शब्द, स्पर्श आदि) का ज्ञान होता है।

२. एक (चेतना) धातुज पुरुष—चेतना 'चित संचेतने' धातु से युच् प्रत्यय करने पर उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका प्रयोग प्राणसंचार, बुद्धि आदि अर्थों में होता है। **पुरुष**—'पुरि (शरीरे) शेते, इति पुरुषः'। अर्थात् जो शरीर में निवास करे उसे पुरुष (आत्मा) कहते हैं। आयुर्वेदशास्त्र के अनुपयोगी (चिकित्सा में उपयोग न) होने के कारण इस (चेतना पुरुष रूप आत्मा) का ग्रहण नहीं किया जाता।

सुश्रुत का मत—आयुर्वेदशास्त्र में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा पुरुष) को सर्वगत नहीं मानते अपितु नित्य कहते हैं और असर्वगत क्षेत्रों में नित्य कहते हैं, अणुरूप में विद्यमान आत्मा का प्रतिपादन करने के लिये पुरुष की नित्यता को बतलाने वाले कारणों का आगे वर्णन करते हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार धर्म तथा अधर्म के कारण ही असर्वगत अर्थात् अणु और नित्य क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा या आत्मा) पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में विहार करता है। इनका ज्ञान हम अनुमान द्वारा ही कर सकते हैं, ये आत्माएँ अतिसूक्ष्म, चेतन और नित्य हैं। शुक्र-शोणित के संयोग होनेपर ही ये स्पष्ट होती हैं, इसीलिये पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग का नाम पुरुष है। सु० सू० अ० १।१६। इसी प्रसंग में पुरुष को इस प्रकार 'चेतयिता' (चैतन्य का आश्रय) कहा है। यथा—

१. 'वचस्तदग्निवेशस्य' इति पा०।
२. 'खादयश्चेतनाधातुषष्ठास्तु' इति पा०।

'तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति'। सु० सू० अ० १८। इसी का समर्थन आगे किया जा रहा है।

साङ्ख्यशास्त्र का मत—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'॥ सांख्यकारिका ३। अर्थात् सांख्यशास्त्र में सामान्यरूपेण चार पदार्थ माने गये हैं—१. कारण, २. कार्य, ३. कार्यकारणोभयरूप और ४. कार्यकारणानुभयरूप। जिनमें कारणभूत पदार्थ केवल एक प्रकृति है और कार्यभूत पदार्थ सोलह हैं। यथा—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ और १ मन। १ महत्, १ अहंकार तथा ५ तन्मात्राएँ ये (७) पदार्थ कारणकार्योभयरूप हैं। १ पुरुष (चेतनाधातु) न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है, अतः निर्लेप है।

उक्त विवेचन के अनुसार यह दूसरे प्रकार का पुरुष जिसको केवल चेतनाधातुरूप स्वीकार किया गया है, चिकित्साशास्त्र में सर्वथा अनुपयोगी है। यहाँ इसका उपदेश महर्षि आत्रेय के उपदेश का सार्वभौम स्वरूप तथा उनके सर्वज्ञत्व का परिचायक मात्र है।

३. चौबीस धातुज पुरुष—धातु (तत्व) भेद से जिस पुरुष का निर्देश ऊपर किया गया है, उस पुरुष की घटक २४ धातुएँ निम्न निर्दिष्ट हैं—१. मन, २. नेत्र, ३. कर्ण, ४. नासिका, ५. जिह्वा, ६. त्वचा, ७. वाक्, ८. हस्त, ९. लिंग, १०. गुद, ११. पाद, १२. रूप, १३. शब्द, १४. गन्ध, १५. रस, १६. स्पर्श, १७. अव्यक्त, १८. महत्, १९. अहंकार, २०. रूपतन्मात्र, २१. शब्दतन्मात्र, २२. गन्धतन्मात्र, २३. रसतन्मात्र और २४. स्पर्शतन्मात्र।

सुश्रुत के अनुसार—उस अव्यक्त से अव्यक्त लक्षणों वाला (सत्व, रज, तम रूप) महान् (महत् तत्त्व = बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से सत्व, रज, तम लक्षणों से युक्त अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार तीन प्रकार का होता है—१. वैकारिक सात्विक २. तैजस् राजस, ३. भूतादि तामस, इनमें वैकारिक अहंकार से तैजस् अहंकार की सहायता द्वारा इन्हीं लक्षणों वाली ग्यारह इन्द्रियाँ [५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा १ मन (सात्विक), ५ कर्मेन्द्रियाँ (राजस)] उत्पन्न होती हैं। ये पहली पाँच इन्द्रियाँ बुद्धि इन्द्रियाँ हैं, शेष पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन को उभयात्मक माना है, क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ प्रवृत्त होता है। भूतादि अहंकार से तथा तैजस् अहंकार की सहायता द्वारा इन लक्षणों वाली पांच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। यथा—१. शब्दतन्मात्रा, २. स्पर्शतन्मात्रा, ३. रूपतन्मात्रा, ४. रसतन्मात्रा, ५. गन्धतन्मात्रा। इनके विशेष गुण क्रमशः—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस, ५. गन्ध हैं। इन विभेदक गुणों से क्रमशः १. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी ये भूत उत्पन्न होते हैं।

ऊपर दिये गये क्रम में १७ वें अव्यक्त तत्व की गणना सुश्रुत ने सर्वप्रथम की है।

अव्यक्त—'न व्यज्यते स्म किंवा न व्यज्यते कार्यं यस्मिन्'। अर्थात् जो व्यक्त = विशिष्ट लक्षण युक्त नहीं है या जिसमें कार्य व्यक्त रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण अव्यक्त होता है, उसमें कार्य के आकार-प्रकार व्यक्त नहीं होते। जैसे बीज रूप कारण में वृक्ष रूप कार्य के और शुक्र-शोणित में प्राणी के कारण अव्यक्त कहे अथवा माने जाते हैं। उसमें ही चेतनतत्व (आत्मा) का अधिष्ठान होता है, वही अव्यक्त को साथ लेकर प्राणी रूप में परिणत हो जाता है, इसी को भूत कहते हैं। वह अव्यक्त स्वयं एकाकी होता हुआ भी अनेक क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) का अधिष्ठान (निवासस्थान) होता है, जैसे जलजन्तुओं का अधिष्ठान समुद्र (जल) है। जैसे समुद्रजल में आरम्भ से ही सभी प्रकार के जलजन्तु अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं और वे समय पाकर व्यक्त हो जाते हैं, वैसे ही अव्यक्त में अनेक जीवात्माओं की सत्ता होती है। उपयुक्त परिस्थिति आने पर वे व्यक्त = प्रकट हो जाती हैं। इस अव्यक्त (प्रकृति) को व्यक्त होने के लिये पुरुष (चेतन) का सहारा लेना पड़ता है।

सांख्यशास्त्र में—'सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्'॥ सांख्यका० २५। अर्थात् सत्वगुणप्रधान अहंकार से सात्विक ११ इन्द्रियसमुदायात्मक सृष्टि उत्पन्न होती है। तैजस् (रजोगुणविशिष्ट) अहंकार से दोनों प्रकार की (एकादश इन्द्रियरूपा तथा तन्मात्रगण रूपा) सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि का प्रारम्भ होते ही सम्पूर्ण शरीर के सूक्ष्म स्वरूप का निर्माण

हो जाता है। केवल उसकी व्यक्ति = स्पष्टीकरण काल-परिणाम से होती है। समय पाकर बीज ही वृक्ष तथा रज-वीर्य ही प्राणी का रूप = आकार धारण कर लेता है।

अव्यक्त आदि विवेचन—अव्यक्त तो प्रकृति (कारण) है ही परन्तु महान् आदि भी प्रकृति हैं, साथ ही ये विकृति कार्य भी हैं, क्योंकि ये उत्पत्तिकाल में ही उत्पन्न होते हैं और जो शेष १६ तत्व कहे गये हैं वे केवल विकारकार्य हैं। इनसे किसी वस्तु विशेष की उत्पत्ति नहीं होती, केवल इनका संयोग तथा अभिवर्धन होता है दृश्यमान शरीर इन्हीं २४ तत्वों (धातुओं) से निर्मित होता है। इनमें पुरुष (चेतनाधातु) २५वां तत्व है। उक्त चौबीस तत्व जड़ हैं, इनमें चेतनता का आधान करने वाला पुरुष (आत्मा या जीवात्मा) है, जिसकी गणना २५वें तत्व के रूप में की जाती है।

वास्तव में आत्मा से युक्त होने पर भी यह सम्पूर्ण शरीर जड़ (अचेतन) है, अर्थात् स्वयं किसी कार्य के लिये प्रवृत्त नहीं होता, तथापि यह रेल, मोटर के समान गतिशील होने पर भी जड़ नहीं है, क्योंकि पुरुष के संयोग से कार्य (१६ विकार रूप) और कारण (आठ प्रकार की प्रकृति) मय शरीर चेतन रहता है। यथा—बछड़े को देखकर गाय के और बालक को देखकर माता के स्तनों में दूध स्वयं गतिशील हो जाता है, अर्थात् चेतन के समान चलने लगता है। प्राणी का यह शरीर जड़ होने पर भी चेतना के संयोग से क्रियाशील बना रहता है, इसके हृदय आदि यन्त्र नियमतः चलते रहते हैं और कुछ यन्त्र (मैथुनोपयोगी लिंग, भग और माता के दुग्धनिर्माता आदि अवयव) समय-समय पर गतिशील होते हैं।

तन्त्रकार इस विषय का विशेष विवेचन इसी अध्याय के 'खादीनि…संज्ञिताः' श्लोक ६३–६४ में करेंगे। यहाँ अष्टप्रकृतियों में जो आकाशादि का परिगणन किया है, उससे महर्षि आत्रेय का तात्पर्य तन्मात्राओं से ही समझना चाहिये, क्योंकि वे ही प्रकृतियाँ हैं।

खादयः…पुरुषः स्मृतः—तन्त्रकार के वर्णन-शैली से ही स्पष्ट है कि आयुर्वेदशास्त्र में जिस (चिकित्स्य) पुरुष की आवश्यकता है, उसका सर्वप्रथम वर्णन किया है। शेष पुरुष-भेदों का विवेचन प्रसंगोचित समझकर साथ ही साथ कर दिया है। आयुर्वेद के अनुसार छः धातुओं से निर्मित पुरुष ही 'कर्मपुरुष' है। **'यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः'** यही आयु का प्रतिष्ठान है, सुखायु, दुःखायु इसी के विषय हैं।

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥१८॥
[1]वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते।

मन का लक्षण—आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के अपने-अपने अर्थों (विषयों) का जब मन के साथ सन्निकर्ष (संयोग) होता है तब ज्ञान होता है। अत एव आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के अर्थों का जब मन के साथ संयोग नहीं होता है तब ज्ञान का अभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान का होना अथवा न होना मन का लक्षण है।

वक्तव्य—अमरसिंह ने मन के पर्यायों की गणना इस प्रकार की है—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः'। अमरकोष। इसके अनुसार मन को हृदय का पर्यायवाची कहा गया है। 'तदेव सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं प्रतिजीवं भिन्नमणु नित्यं च। तर्ककौमुदी। अर्थात् वही मन सुख-दुःख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय विशेष है, जो प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न रूप से स्थित अणुरूप और नित्य है। अंग्रेजी साहित्य में मन के लिये जिन (Mind, Heart, Understanding) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे वास्तविक मन का बोध कराने में असमर्थ पाये जाते हैं।

चरक के इन्द्रियोपक्रमणीय नामक ८ वें अध्याय में इन्द्रियों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। प्रमुखस्थल इस प्रकार हैं—'अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत् तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्',। च० सू० अ० ८। इसके आगे—'मनः पुरःसराणान्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति'। च० सू० अ० ८।

मन के भेद—आचार्य भावमिश्र ने सात्विक, राजस, तामस भेद से मन के तीन भेदों का इस प्रकार वर्णन किया है। **सात्विक-मन के लक्षण**—आस्तिकता, बाँटकर खाना, क्रोध का अभाव, सत्यभाषण, मेधा, बुद्धि,

१. 'वैवृत्यान्मनस इति इन्द्रियेणासंयोगात्, सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात्' चक्रः। 'वैधृत्यात्' ग.।

धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, दम्भ का अभाव, आनन्दित रहना, निष्काम कर्म, विनय तथा धर्मकार्यों के प्रति आदर। **राजस-मन के लक्षण**—क्रोध, मारपीट करना, दुःखी रहना, सुख प्राप्ति की अधिक इच्छा, दम्भ, कामुकता, असत्यभाषण, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्य का अभिमान, अत्यन्त आनन्द एवम् अधिक पर्यटन। **तामस-मन के लक्षण**—नास्तिकता, विषाद, आलस्य, दुष्टमति, निन्दित कार्यों के प्रति अभिरुचि, सुखप्राप्ति की इच्छा, दिन-रात सोते रहना, सभी विषयों में अज्ञानता, सदैव क्रोधी स्वभाव तथा प्रमोह (नशा आदि का सेवन कर के धुत रहना)।

वास्तव में प्रत्येक मनुष्य में सत्व, रज, तम मन के गुण दिखलायी देते हैं। इसको इस प्रकार समझें—जब जिसमें जिस गुण के लक्षण दिखलायी दें, तब उस व्यक्ति को उस गुण वाला समझें। अथवा जिसमें जिस गुण के लक्षण सदैव अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर हों उस व्यक्ति में उस गुण की मात्रा अधिक समझें। तात्पर्य यह है कि सत्व, रज, तम गुण सभी में तर तम भाव से रहते ही हैं। जिसमें जिस गुण की अधिकता होती है, उसको उस गुण से युक्त कहा, माना, देखा और सुना जाता है।

श्रीअन्नम्भट्ट के अनुसार मन—'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च'—तर्कसंग्रह। अर्थात् आत्मा और मन का संयोग आदि भी सुख अथवा दुःख आदि के प्राप्ति के साधन हैं। इसीलिये इसका विशेषण 'इन्द्रियम्' दिया है। आत्मा और मन का संयोग इन्द्रिय नहीं है। वास्तव में मन का लक्षण यह है—'सुखाद्युपलब्धिसाधनत्वे सति इन्द्रियत्वं मनस्त्वम्'।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार मन—'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावश्चाभावश्च मनसो लिङ्गम्'। इसका भाष्य आचार्य प्रशस्तपाद ने इस प्रकार किया है—'सत्यपि आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनाम् अभूतोत्पत्तिदर्शनात्, कारणान्तरमनुमीयते श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात्, बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राहकान्तराभावाच्च' इति मनःसाधने प्रशस्तपादाः। तात्पर्य यह है कि आत्मा और तत्-तत् इन्द्रियजनित विषयों का संयोग होने पर भी यदि मन का सान्निध्य नहीं होता है तो ज्ञान (सम्यक्ज्ञान) नहीं हो पाता। यदि आत्मा, इन्द्रिय-विषयों के संयोग के साथ ही साथ मन का सान्निध्य होता है तो ज्ञान (मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ आदि) उत्पन्न होता है। इसीलिये आत्मा, इन्द्रिय और उसके अपने विषय का सन्निकर्ष (संयोग) होने पर तथा मन का सान्निध्य न होने पर ज्ञान का अभाव इसके विपरीत स्थिति में अर्थात् दोनों के सन्निकट होने पर ज्ञान का भाव (प्राप्ति) होता है। यही मन का लक्षण है।

वैवृत्त्यान्मनसः—मन का इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध न होने पर ज्ञान का अभाव, **सान्निध्यात्**—अर्थात् इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध होने पर ज्ञान का भाव।

न्यायदर्शन के अनुसार मन—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'। १।१।१६ ॥ अर्थात् एक ही समय में एक विषय का ज्ञान और दूसरे विषय का अज्ञान यह मन का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिसकाल में जिस विषय के ज्ञान के लिये आत्मा, इन्द्रिय और मन का संयोग होता है, उसी विषय का ज्ञान होता है, शेष विषयों का नहीं। यदि हम 'मन' की सत्ता को स्वीकार न करें तो सदैव सभी इन्द्रियों के विषय का समान रूप से ज्ञान होना चाहिये, जो वास्तविक रूप में होता नहीं, अतः मन की सत्ता स्वीकार की जाती है।

मन के सम्बन्ध में दार्शनिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार की चर्चाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्',। गीता। मन की यही चंचल अवस्था मनुष्य को एक कार्य की ओर दृढ़ता के साथ चलने में बाधक होती है, किन्तु जब इसका ध्यान योग द्वारा निग्रह कर लिया जाता है तो व्यक्ति 'आत्माराम' हो जाता है। ध्यान की इस एकाग्रता में मनुष्य का यह मन स्थिर अथवा इन्द्रियों से विमुख हो जाता है, इस स्थिति में वह किसी विषयविशेष की स्पृहा से मुक्त हो जाता है। अतएव कहा गया है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। जब इसकी प्रवृत्ति इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने की ओर होती है, तब यह मानव को भव-बन्धन में डालता है, इसके विपरीत स्थिति में वही मन मानव को भव-बन्धन से मुक्ति दिलाता है। इसके सम्बन्ध में महाभारतोक्त यह पद्य ध्यान देने योग्य है—'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न च चक्षुषा। मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति' ॥ यहाँ पर केवल चक्षुरिन्द्रिय का उल्लेख किया है किन्तु यह स्थिति सभी ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषयग्रहण के सम्बन्ध में है। विद्वत्-

परम्परा में शतावधानिक तथा सहस्रावधानिक विद्वानों की चर्चा सुनने में आती है, यह भी स्थिर मन के साथ सुस्थिर विद्या-बुद्धि का ही प्रभाव है।

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ १९ ॥

मन के गुण—मन के दो गुण माने गये हैं—१. अणुता और २. एकता।

वक्तव्य—ऊपर जो मन के दो गुण कहे गये हैं, उनसे विपरीत गुणों (महानता तथा अनेकता) का निवारण स्वयमेव हो जाता है। देखें—यदि हम मन को महान् (अणु के विपरीत) मानते हैं, तब इसको सर्वत्र व्यापक (विभु) मानना होगा और तब इसका व्यवहार भी विपरीत मानना (एक काल में अनेक इन्द्रियों का बोध) होगा, क्योंकि मन का जिस क्षण में जिस इन्द्रियार्थ के साथ संयोग होता है, उस क्षण में केवल उसी विषय का ज्ञान होता है, अतः इसका अणुत्व गुण सिद्ध है। अब रही चर्चा मन के **एकत्व** की; इसका समाधान यह है—प्रत्येक प्राणी के शरीर में **एक** मन है, अधिक नहीं। यदि मन को हम अनेक मानते हैं, तो अनेक मन अनेक इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो एक काल में विविध विषय का ज्ञान करा सकते थे, जो व्यवहार में नहीं देखा जाता।

महर्षि आत्रेय ने इस विषय को सिद्धान्त रूप से इस प्रकार प्रतिपादित किया है—'स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्वं रजस्तमःसत्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं, नाण्वेकं (न ह्येकं) ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः'। च० सू० अ० ८। अर्थात् यह मन चिन्तन आदि अपने विषय तथा रूप, रस, आदि इन्द्रिय विषय और संकल्प आदि के पृथक्-पृथक् होने के कारण सत्व, रज, तम इन गुणों के संयोग से एक ही पुरुष में अनेक प्रकार का दिखलायी देता है, वास्तव में वह एक ही है।

एक ही पुरुष मन के चिन्तन भेद से अनेक प्रकार का कहा, सुना, देखा तथा माना जाता है, क्योंकि **'सङ्कल्पः कर्म मानसम्'**। मानसिक विचार का ही नाम संकल्प है। यथा—जब मन धर्म का चिन्तन करता है, तब वह पुरुष 'धार्मिक', जब कामविषयक चिन्तन करता है, तब 'कामुक' और जब हिंसाविषयक चिन्तन करता है, तब वह 'हिंसक' आदि उपाधियाँ धारण करने पर भी वह पुरुष एक ही कहा जायगा न कि अनेक।

महर्षि गौतम ने इस विषय का सूत्र रूप में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'। न्यायदर्शन ३।२। इन्द्रियों से अपने-अपने विषयों का ज्ञान तो होता ही है किन्तु एक ही समय में सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता, यही मन का लक्षण है। इस लक्षण से यह सिद्ध होता है कि **आत्मा=विभु** सर्वव्यापक और उससे भिन्न **'मन'** अणु है। इसी का समर्थन अगले सूत्र में भी किया है। यथा—'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः'। योगदर्शन। ३।२। ज्ञान की अयोगपद्यता (एककाल में उपलब्धि न होने) के कारण मन को एक माना गया है।

महर्षि कणाद के मत में मन का वर्णन—'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् (मनः)'। वैशेषिक-दर्शन। किसी विषय विशेष का एककालिक ही प्रयत्न होते देखकर तथा एककाल में एक ही विषय का ज्ञान होते देखकर यह निश्चय किया जाता है कि मन एक है और वह प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न है।

आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में मन का स्वरूप—'साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते। अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते'। कारिकावली ८५। सुख, दुःख आदि मानसिक भावों के साक्षात्कार में करण (साधन) मन को कहा गया है किन्तु विविधविषयक ज्ञानों का एक काल में अनुभव न हो पाने के कारण उसकी अणुता स्वीकार की गयी है।

व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि मानव एक काल में देखना, सुनना, लिखना, भोजन करना आदि विविध इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान या उपयोग करता है, किन्तु ध्यान रहे जिधर उसका विशेष मनोयोग होगा वह उस काल में उसी विषय के ग्रहण में सफल माना जायेगा, उसके विपरीत में असफल। जैसे—अन्य कार्य में लगे हुए मन से यदि वह भोजन करेगा तो उसको उस भोजन का समीचीन स्वाद ज्ञान न हो सकेगा इसीलिये कहा है—**'तन्मना भुञ्जीत'**। इसी प्रकार यदि वह अन्यमनस्क होकर पढ़ेगा तो उस विषय को धारण करने या समझने में असफल रहेगा। सुषुप्ति काल में जिस पुरुष का मन 'पुरीतत् नाड़ी' में प्रवेश कर लेता है तब उसको उस समय किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। अतएव वह दूसरे दिन कहता है कि **'सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'** अर्थात् मैं सुखपूर्वक सोया था।

ज्ञानप्राप्ति के प्रकार—'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण-इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानमुत्पद्यते'। तर्कसंग्रह-दीपिका। अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, मन का उस-उस इन्द्रिय के साथ और उस-उस इन्द्रिय का अपने-अपने अर्थ के साथ जब संयोग होता है, तब तत्-तत् इन्द्रिय सम्बन्धी विषय का ज्ञान होता है। नहीं तो सभी इन्द्रियों के अपने-अपने अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ होते हुए भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है।

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥२०॥

मन के विषय—चिन्त्य (चिन्तन करने योग्य), विचार्य, ऊह्य, ध्येय, संकल्प्य इनके अतिरिक्त और भी जो मन द्वारा जानने योग्य विषय हैं, वे सब मन के विषय हैं।

वक्तव्य—ऊपर जो मन के विषय कहे गये हैं, कोषकारों ने उनकी इस प्रकार निरुक्ति दी है—१. **चिन्त्य**-चिन्तन, ध्यान या मनन करने योग्य विषय। २. **विचार्य**—यह शब्द (वि+चर्+यत्) वि उपसर्ग पूर्वक चर् गति-भक्षणयोः, धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, विशेष रूप से आहार-विहार आदि के सम्बन्ध में सोच-विचार करने योग्य विषय। ३. **ऊह्य**—ऊह धातु का अर्थ है—वितर्क। इस सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध सूक्ति है **'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'**—अपनी विशेष तर्कशक्ति द्वारा कार्य-पद्धति का निर्धारण करना। ४. **ध्येय**—एकाग्र होकर किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में सोचना। ५. **सङ्कल्प्य**—मन का प्रधान कर्म है विचारणीय विषय के सम्बन्ध में यह सोचना कि यह करने योग्य है या नहीं। ये मन के स्वतन्त्र विषय हैं, जिनमें मन को किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती।

ऊपर पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषयों का स्वतन्त्ररूप से वर्णन करने के पश्चात् यहाँ जो 'मन' के विषयों का अलग से वर्णन किया है, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि मन के चिन्त्य आदि विषयों की अभिव्यक्ति कहीं स्वतन्त्र रूप से होती है। निष्कर्ष यह है कि मन द्वारा चिन्तन आदि जो कार्य होते हैं, वे अन्ततः ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं, नकि स्वतन्त्र रूप से।

जैसे मन पठन की चिन्ता करता है तो उस विषय का सम्पादन मुख द्वारा ही होगा और यदि मन गमन का विचार करता है तो इसका निर्वाह पैरों से होगा दूसरी इन्द्रिय से नहीं, इसी प्रकार अन्य विषयों को भी समझें, अतः मन के विषयों की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा ही होती है।

सुखाद्युपलब्धिसाधनम् इन्द्रियं मनः—सुख और दुःख का साधन जो मन को कहा गया है, वह भी मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ इस रूप में मूलतः शरीर से अतिरिक्त केवल मन का धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस सुखी और दुःखी मन के साथ शरीर को भी सुख, दुःख होता ही है, केवल सुख, दुःख की प्रतीति में मन का अवधान आवश्यक होता है।

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म [1]मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥२१॥

मन के कर्म—इन्द्रिय का अभिग्रहण, स्वयं अपना (उस विषय के ज्ञान के लिये) निग्रह करना, ऊह और विचार ये मन के कर्म हैं। इसके आगे (के कार्यों के लिये) बुद्धि की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् मन का क्षेत्र उक्त कर्मों के आगे नहीं है।

वक्तव्य—यहाँ **'इन्द्रियाभिग्रह'** का तात्पर्य यह है कि जिस काल में जिस इन्द्रिय विशेष के व्यापार की इच्छा पुरुष को होती है, उस काल में मन उस इन्द्रिय का अभिग्रह (अभितः = चारों ओर से, ग्रह = ग्रहण) करता है जिससे उस इन्द्रियजनित विषय का भली-भांति ज्ञान हो सके। अथवा विषयग्रहण-काल में उस इन्द्रिय से सम्बन्ध स्थापित करना तदनन्तर उससे निवृत्ति का स्वभावतः होना या अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना इन्द्रियाभिग्रह है।

स्वस्य मनसः निग्रहः—अपने मन का निग्रह, जिसके लिये अध्यात्मयोग की परम आवश्यकता होती है। यथा—'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः'॥ गीता अ० ६।

ज्ञान के सोपान—१. चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय, २. मन, ३. अहंकार और ४. बुद्धि। मन आदि को

१. 'मनसस्त्वस्य निग्रहः' इति पा०।

आभ्यन्तर इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण (अन्तः = भीतरी, करण = इन्द्रियाँ) भी कहते हैं। यही क्रम यहाँ तन्त्रकार को भी अपेक्षित है। वास्तव में बाह्य इन्द्रियाँ ज्ञान के सम्बन्ध में अप्रधान तथा अन्तःकरण प्रधान होती हैं।

इसी विषय का आचार्य ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि सर्वाणि'॥ सां० का० ३५॥

अर्थात् मन तथा अहंकार सहित बुद्धि जिस कारण से सभी बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त किये विषयों को पुरुष के भोग के लिए निश्चित करती है, अतः भीतरी करण प्रधान हैं और बाहरी १० करण (इन्द्रियाँ) अप्रधान हैं। क्योंकि बाह्येन्द्रियों द्वारा ही भीतरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हैं। इन सभी इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता इस प्रकार सिद्ध की जारही है—

'एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति'॥ सां० का० ३६॥ ये तीनों गुणों के परिणामभूत परस्पर विरोधी विषयों के ग्राहक तथा दीपक के समान ये दसविध बाह्य इन्द्रिय और मन, अहंकार विषयों का ग्रहण कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥२२॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥२३॥

ज्ञान का क्रम—मन के साथ युक्त होकर इन्द्रिय अपने इन्द्रियार्थ (रूप आदि विषय) का ग्रहण करती है। तदनन्तर मन अपने संकल्पात्मक कर्म द्वारा उस विषय की गुण अथवा दोष भेद से कल्पना करता है, उस विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे वह बुद्धिपूर्वक कहने अथवा करने के लिये प्रयत्न करता है।

वक्तव्य—ऊपर क्रमशः ज्ञान की उत्पत्ति के प्रकार का वर्णन किया गया है उसके विषयस्थल इस प्रकार हैं। **समनस्क**—जिस इन्द्रिय का जिस क्षण में समनस्क (मनोयोगपूर्वक) अपने इन्द्रियार्थ (जैसे—चक्षुरिन्द्रिय का अर्थ (विषय) है रूप (दर्शन) इसी प्रकार इन्द्रियों के अर्थों को भी समझें।) के साथ संयोग होता है तब उस इन्द्रियार्थ का उस इन्द्रिय से ग्रहण होता है। यदि यही इन्द्रियार्थ संयोग अमनस्क (मन कहीं विचरण कर रहा हो और इन्द्रिय अपने विषय के ज्ञान की ओर प्रवृत्त) हो तो वह ज्ञानाभास की स्थिति होती है, अर्थात् उस विषय का यथोचित ज्ञान नहीं होता। यह स्पष्ट है कि जब हम किसी अध्ययन आदि में तन्मय होते हैं, तो हमको अन्य किसी विषय का न कभी ज्ञान हो पाता है और न कभी उसका आभास तक ही हो पाता है।

मनसा कल्प्यते—संकल्प-विकल्प करना यह मन का धर्म है। यथा—**'सङ्कल्पः कर्म मानसम्'**। यह मन गुण-दोष का विचार करने में सक्षम होता है। सात्विक मन सत्वगुणपूर्ण विचारों की ओर प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार राजस और तामस मन के सम्बन्ध में भी विचार करें।

वक्तुं कर्तुं वा व्यवस्यति—यहाँ पर **वक्तुम्** का प्रयोग इन्द्रियार्थ के अनुसार परिवर्तन करने योग्य है। यथा—वाक् इन्द्रिय 'वक्तुं व्यवस्यति', चक्षुरिन्द्रिय 'द्रष्टुं व्यवस्यति' इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

प्रारम्भ में जब इन्द्रिय तथा मन के संयोग से वस्तुविशेष का ज्ञान होता है तो उसका नाम होता है **'निर्विकल्पकज्ञान'**, उसी का नाम **'आलोचन'** भी है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर मानव के मन में **'अहकार'** की उत्पत्ति होती है कि इस कार्य को करने का अधिकारी मैं ही हूँ, इसके पश्चात् 'बुद्धि' अपना कार्य करती है। यह अन्तःकरणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) की चर्चा है।

ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार (दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, आस्वादन आदि) का नाम 'आलोचन', मन के व्यापार को 'संकल्प', अहंकार के व्यापार को 'अभिमान' (मैं इस विषय का ज्ञाता हूँ,) और बुद्धि के व्यापार को 'अध्यवसाय' कहते हैं। आचार्य कुमारिलभट्ट ने इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

'अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूढादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता'॥ इस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान गौण और मन, अहंकार तथा बुद्धि (अन्तःकरणों) द्वारा होने वाला ज्ञान प्रधान माना गया है।

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु । पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥२४॥

इन्द्रियों का क्रमशः वर्णन—जिनसे बुद्धि अपने व्यापार में प्रवृत्त होती है, वे अपने-अपने कर्मानुसार अनुमान करने योग्य पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः एक-एक महाभूत की अधिकता से युक्त हैं।

वक्तव्य—इस विषय का प्रतिपादन चरक सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में इस प्रकार किया जा चुका चुका है—'तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपदिश्यते'। इसका विशेष व्याख्यान यथास्थान देखें। अन्यत्र इसका वर्णन इस प्रकार है—

'खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम् ।
सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्' ॥

आयुर्वेदशास्त्र में इन्द्रियों तथा उनके शब्दादि विषयों को पाञ्चभौतिक (पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न) ही कहकर उनका वर्णन किया है। यथा—'भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः'। सु० शा० अ० १।१४। आयुर्वैदिक दृष्टि से श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भौतिक मानी जाती हैं और उनके शब्द आदि उनके विषय भी भौतिक ही माने गये हैं। देखें—'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थन्तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः' ॥ सु० शा० अ० १।१५। अर्थात् मनुष्य इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने इन्द्रिय के निश्चित अर्थ (विषय) का ही ग्रहण करता है, क्योंकि इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय के कारण समान हैं।

यथा—**नेत्र** तथा नेत्र का विषय **रूप** इन दोनों का उत्पत्ति-कारण (योनि) **तेज है; घ्राण** तथा घ्राण का विषय **गन्ध** इन दोनों के उत्पत्ति का कारण **पृथ्वी है; जिह्वा** तथा इसका विषय **रस** इन दोनों का उत्पत्ति-कारण **जल है; कर्ण** तथा इसका विषय **शब्द** इन दोनों का उत्पत्ति-कारण **आकाश** है और **त्वचा** तथा इसका विषय **स्पर्श** इन दोनों का उत्पत्ति-कारण **वायु** है। इसलिये अन्य इन्द्रिय के विषय का ग्रहण अन्य इन्द्रिय नहीं कर सकती। मनुष्येतर प्राणियों (सर्प = चक्षुःश्रवा = आँख से सुननेवाले आदि) में इसके अपवाद देखने को मिलते हैं।

इन्द्रियों के विषय में आयुर्वेदशास्त्र से सांख्यशास्त्र में कुछ भेद दिखलायी देता है। उसका कारण है कि—सांख्यशास्त्र में ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से और दूसरी पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति मानकर इनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी जाती है। यथा—

'अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकस्यैव' ॥ सांख्यकारिका २४ ।

अर्थात् किसी वस्तु के अभिमान करने को अहंकार कहते हैं और उस अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है—१. एकादश इन्द्रिय (५ ज्ञानेद्रिय+५ कर्मेन्द्रिय+१ मन) वाली सृष्टि और २. तन्मात्रारूपवाली सृष्टि होती है।

एकैकाधिकयुक्तानि—१. श्रवणेन्द्रिय केवल आकाशतत्व के योग से उत्पन्न होती है। २. चक्षुरिन्द्रिय में तेजस्तत्व की प्रधानता होती है। ३ घ्राणेन्द्रिय में पृथिवीतत्व की प्रधानता होती है। ४. रसनेन्द्रिय में जलतत्व की प्रधानता होती है। ५. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) में वायुतत्व की प्रधानता होती है। यह निर्धारण शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है कि उक्त इन्द्रियों में उक्त तत्वों की प्रधानता होती है, सामान्यरूप से प्रत्येक इन्द्रिय में एक (उपर्युक्त) तत्व प्रधान शेष चार तत्व अप्रधान होते हैं। इसी का समर्थन आगे २८ वें पद्य में भी देखें।

हस्तौ पादौ[1] गुदोपस्थं [2]वागिन्द्रियमथापि च । कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि ॥२५॥
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे । जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥२६॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—२ हाथ, २ पैर, १ गुद, १. उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) और १ वागिन्द्रिय (वाणी) ये पाँच (हाथ तथा पैर संख्या में दो होते हुए भी एक-एक ही गिने जाते हैं, जैसे ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान) कर्मेन्द्रियाँ हैं। **उनके कर्म**—पैरों का कार्य गमन (चलना) है, पायु (गुद) का कार्य मल-त्याग

१. 'हस्तपादम्' इति पा० ।
२. 'जिह्वेन्द्रियमथापि' इति पा० ।

करना है और उपस्थ का कार्य मूत्र तथा वीर्य-त्याग करना है, हाथों का कार्य ग्रहण (लेना) और धारण करना है, जिह्वा (जीभ) वाक् इन्द्रिय है, यह वाक् (वाणी) सत्य तथा अनृत (झूठ) भेद से दो प्रकार की होती है, सत्यावाक् ज्योतिर्मय है और अनृतावाक् तमोमय है।

वक्तव्य—ऊपर पाँच कर्मेन्द्रियों के नाम तथा उनके कर्मों की चर्चा की गयी है। प्रसंगोचित विशेष चर्चा यहाँ प्रस्तुत है—१. **हाथों का कार्य**—ग्रहण (लेना, पकड़ना) तथा धारण करने के अतिरिक्त दान (त्याग) भी अविस्मरणीय कार्य है। २. **पावों का कार्य**—गमन तथा इसके विपरीत रुकना (स्थिर होना) भी है। ३. **गुद का कार्य**—मल तथा अपानवायु का त्याग और गुदमैथुन उक्त इन्द्रिय के साथ बलात्कार किंवा मात्र दुराचार है। शास्त्र इसकी निन्दा करता है। ४. **उपस्थ का कार्य**—'उपस्थः **शेफसि** क्रोडे तथा **मदनमन्दिरे**' इति विश्वमेदिन्याम्। उपस्थ शब्द का प्रयोग यहाँ पुरुष-मूत्रेन्द्रिय तथा स्त्री-मूत्रेन्द्रिय (भग) के लिये हुआ है। इनका कार्य है मूत्रत्याग और रतिकाल में स्पर्श सुखज आनन्द की प्राप्ति। ५. **वागिन्द्रिय का कार्य**—'उच्यते अनया इति वाक्' जिन अवयवों से वाक्य के उच्चारण में सहायता प्राप्त होती है, वह वागिन्द्रिय है, इस परिभाषा से 'ज्ञानेन्द्रिय रसना' की निवृत्ति हो जाती है। इसका कार्य है—वाक् का उच्चारण, वह वाक् सर्वप्रथम व्यक्त तथा अव्यक्त भेद से दो प्रकार की होती है। व्यक्त वाक् के पुनः दो भेद होते हैं—१. सत्य और २. असत्य। **सत्यावाक्**—अर्थतत्व को प्रकट करने में सक्षम होने के कारण ज्योतिःस्वरूपा तथा **अनृतावाक्** झूठी बात वास्तविक अर्थतत्व को छिपाने के कारण तमःस्वरूपा (अन्धकाररूप) कही गयी है।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः, कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि' ॥ सु० शा० अ० १।

सांख्यशास्त्र के अनुसार—'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च'। सां० का० २८। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने चरणों का कार्य 'विहरण' बतलाया है जिसके अन्तर्गत गमन, अवस्थान आदि का समावेश हो जाता है, शेष समान हैं।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥२७॥

महाभूतों के गुण तथा नाम—१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल और ५. पृथिवी ये पंचमहाभूत हैं। इनके क्रमशः गुण—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस और ५. गन्ध।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं कि तन्त्रकार को यहाँ उद्देशक्रमानुरोध से पञ्चमहाभूतज इन्द्रियों के अर्थों की चर्चा करनी चाहिये थी किन्तु उसको न कहकर अर्थों की प्रकृति द्वारा गृहीत पञ्चभूतों के गुणरूप से पराधीन होने के कारण अष्टधातु प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है, महाभूतों के इन्हीं नामों तथा गुणों की चर्चा अन्यत्र भी प्राप्त होती है।

[1]तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे । पूर्वः [2]पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ २८ ॥

महाभूतों के गुणों में गुणान्तर प्रवेश-क्रम—इन महाभूतों में एक गुणवाला सर्वप्रथम आकाशतत्व है, क्योंकि इसका गुण केवल 'शब्द' है। अगले भूतों में क्रमशः अपने से पहले भूतों के एक-एक गुण बढ़ते जाते हैं। अतएव पूर्व भूत की अपेक्षा परभूतों में गुणों की वृद्धि मानी गयी है।

वक्तव्य—सृष्टि-क्रम का वर्णन प्रायः सभी शास्त्रों में समान ही दृष्टिगोचर होता है। चरक में—**'खादयश्चेतनाः षष्ठाः'** च० शा० अ० १। सुश्रुत में—**अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते'।** सु० सू० अ० १। इनके अतिरिक्त एक क्रम यह भी है—**'आकाशाद् वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी'।** इसी का समर्थन सांख्यशास्त्र में इस प्रकार दिया है—**'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि'**। सां० का० २२। उपर्युक्त सभी आचार्यों का मत समान है।

स्पष्टीकरण—१. सृष्टि के आरम्भ में केवल आकाश की सत्ता स्वीकार की गयी है, आकाश का गुण है 'शब्द'। शब्दगुणम् आकाशम्। २. **आकाशाद् वायुः**—आकाशतत्व से 'वायु' की उत्पत्ति होती है, इस वायु

१. 'तेषामेकगुणं पूर्वम्' इति पा० ।
२. 'पूर्वो गुणश्चैव' इति पा० ।

में अपना प्रधान गुण 'स्पर्श' तथा आकाश का गुण 'शब्द' भी रहता है। अतः वायु में स्पर्श, शब्द इन दोनों गुणों की सत्ता मानी जाती है। ३. **वायोः अग्निः**—वायुतत्व से अग्नि (तैजस्) की उत्पत्ति होती है। इस अग्नि में अपना प्रधान गुण 'रूप' है। आकाश का गुण 'शब्द', वायु का 'स्पर्श' तथा अग्नि का 'रूप' इन तीनों गुणों की सत्ता मानी जाती है। ४. **अग्नेः आपः**—अग्नितत्व से 'आपः' (जल) की उत्पत्ति होती है। इस 'आपः' में अपना प्रधान गुण 'रस' है तथा इसमें आकाश आदि महाभूतों के 'शब्द', 'स्पर्श' 'रूप' और 'रस' इन चार गुणों की भी सत्ता मानी जाती है। ५. **अद्भ्यः पृथिवी**—जलतत्व से 'पृथिवी' की उत्पत्ति होती है। इस पृथिवीतत्व में अपना प्रधान गुण 'गन्ध' है। **'गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्'** इसमें आकाश आदि पंचमहाभूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पाँचों गुणों की सत्ता मानी जाती है। क्रमशः पूर्व-पूर्व गुण के अनुप्रवेश से इनकी गुणवृद्धि का यही स्वरूप है। इसी को प्रकृति का 'अन्योन्यानुप्रविष्ट' रूप कहा गया है।

महामानव मनु के शब्दों में—'आद्याद्यस्य गुणांस्त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावति यश्चैषां स स यावद् गुणः स्मृतः' ॥ मनुस्मृति।

गौरव-क्रम—पञ्चमहाभूतों का वर्णन-क्रम शास्त्रों में गौरव तथा लाघव दो प्रकार से देखा जाता है। उनमें पहला क्रम इस प्रकार है—१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल और ५. पृथिवी। इस क्रम में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर तत्व गुरुतर है। यह आयुर्वेदीय क्रम है।

लाघव-क्रम—अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में उत्तरोत्तर लाघव-क्रम को स्वीकार किया है। यथा—१. पृथिवी, २. अप् (जल), ३. तेज, ४. वायु और ५. आकाश। यह दार्शनिक क्रम है।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्। आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्। स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥ ३० ॥

पञ्चमहाभूतों के लक्षण—पृथिवी, जल, अनिल (वायु) और तेज इन चार महाभूतों के क्रमशः खरत्व, द्रवत्व, चलत्व तथा उष्णत्व ये लिंग (लक्षण) होते हैं। आकाश का लक्षण है—अप्रतीघात (रुकावट का सर्वथा अभाव), उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों में से प्रथम चार के लक्षणों (खरत्व आदि) का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) द्वारा किया जाता है किन्तु आकाशतत्व के लक्षण अप्रतीघात का ज्ञान स्पर्श के विपरीत होने पर भी स्पर्शनेन्द्रिय का ही विषय माना जाता है, अन्य का नहीं।

वक्तव्य—ऊपर पाँच महाभूतों का क्रमानुसार परिचय इस प्रकार दिया गया है—**पृथिवी का लक्षण**—खरत्व (कठोरता–मिट्टी, पत्थर, बालू आदि के रूप में)। **जल का लक्षण**—द्रव Liquid)त्व। **वायु का लक्षण**—चलत्व (अस्थिरता) 'अहरहः वातीति वायुः'। **तेज का लक्षण**—उष्णत्व (गरमी)। **आकाश का लक्षण**—अप्रतीघात (रुकावट रहित स्थान)। इन सभी पञ्चमहाभूतों के लक्षणों का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से होता है, ऐसा तन्त्रकार का मत है। प्रथम चार (खरत्व, द्रवत्व, चलत्व तथा उष्णत्व) का ज्ञान तो त्वगिन्द्रिय से होता ही है किन्तु आकाश लिङ्ग अप्रतीघात का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से नहीं होता, अतः इसको समझाने के लिये तन्त्रकार ने तर्क उपस्थित किया है कि त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ग्रहण तो होता ही है किन्तु उसके अभाव का ग्रहण भी उसी से होता है।

'सविपर्ययः स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः'—अर्थात् जिस इन्द्रिय से उसके गुण की सत्ता का ज्ञान होता है, उसी से उसके अभाव का ज्ञान होता है। जैसे–श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है उसी प्रकार उसी (श्रवणेन्द्रिय) से शब्द के अभाव का ज्ञान भी होता है। कान ही–यहाँ कोलाहल हो रहा है—की सूचना देते हैं और यहाँ शान्त वातावरण है अर्थात् किसी प्रकार का शोर गुल नहीं है, इस कोलाहल के अभाव की भी सूचना देना कानों का ही विषय है। अन्य इन्द्रियों के विषय में उनके गुणों का भाव अथवा अभाव उस-उस इन्द्रिया द्वारा जाना जा सकता है, यही तात्पर्य है त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होने तथा स्पर्श के अभाव ज्ञान का। स्पर्श का भाव (होना) और स्पर्श का अभाव (न होना) दोनों स्थितियों का ज्ञान त्वचा से होता है, अतः पाँचों भूतों का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) द्वारा होता है तन्त्रकार का युक्ति युक्त वचन है।

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च।

और भी—इस पञ्चमहाभूत समवाय से निर्मित शरीर में गुणियों (पृथिवी आदि) के गुणों को ही चिह्न शब्द द्वारा कहा गया है।

वक्तव्य—जब पञ्चमहाभूत अपने मूल रूप को छोड़कर शरीर रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, उस स्थिति में उक्त पृथिवी आदि के गुण चिह्न (लक्षण) रूप में ही देखे जा सकते हैं। **'गुणः अस्य अस्ति इति=गुणी'**—इस परिभाषा के अनुसार जिसमें गुण हो उसको 'गुणी' कहते हैं। आकाश आदि महाभूतों में अपने-अपने शब्द आदि गुण रहते हैं। इनको देखने से गुणी (गुणवान्) का ज्ञान हो जाता है। इन्हीं पंचमहाभूतों के 'खरत्व' आदि लक्षण भी बतलाये गये हैं। इसी को स्पष्ट करने के लिये तन्त्रकार लिखते हैं कि 'शरीर में महाभूतों के पृथक्-पृथक् गुण को ही चिह्न कहा गया है। इससे भी संक्षेप में उपर्युक्त ३०वें श्लोक में कहा गया है कि सभी महाभूतों के लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं। ये स्पर्श आदि गुण सूक्ष्म भूतों अर्थात् तन्मात्राओं के समझने चाहिये।

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ ३१ ॥

अर्थ परिभाषा—गोचर (इन्द्रियों के) विषय शब्द आदि के गुण ही अर्थ हैं। अर्थात् इन्द्रियों के विषय शब्द आदि ही स्थूलरूप को प्राप्त होकर उन-उन इन्द्रियों के गुण कहे जाते हैं।

वक्तव्य—सांख्यशास्त्र के अनुसार **'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि'**, सां० का० २२ ॥ अर्थात् पाँच तन्मात्राओं (सूक्ष्म महाभूतों) से पृथिवी, जल आदि से स्थूल पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। न्यायशास्त्र की दृष्टि से भी उक्त मत को समर्थन प्राप्त है—'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः', इति। उपर्युक्त पार्थिवादि गुणों की चर्चा विशेष रूप से हम 'आत्रेयभद्रकाप्यीय' नामक च० सू० २६ वें अध्याय में कर चुके हैं।

सुश्रुत के अनुसार—'तेषां विशेषाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः', सु० शा० अ० १।४। इन तन्मात्राओं के विशेष (भेदक) गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये भूत उत्पन्न होते हैं।

चक्रपाणि के अनुसार—'अर्थशब्देन तु शब्दादयोऽभिधीयन्ते, ते स्थूलखादिरूपा एव ज्ञेयाः'। इसका तात्पर्य यह है कि आकाश आदि तन्मात्राओं के परिणामस्वरूप शब्द आदि विशेष हैं। इन्द्रिय गोचर होने के कारण ही इनको 'अर्थ' कहा जाता है।

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते। याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥३२॥

बुद्धि का नाम भेद—मनुष्य की जो बुद्धि जिस क्षण में जिस इन्द्रिय का सहारा लेकर जिस विषय के ज्ञान के लिये प्रवृत्त होती है, वह बुद्धि उस काल में उस इन्द्रिय के नाम से कही जाती है। इसी प्रकार मन से प्रवृत्त होने वाली बुद्धि को मनोभवा कहा गया है।

वक्तव्य—इसके पहले २२–२३वें श्लोक में हम इस विषय का प्रतिपादन कर चुके हैं कि 'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। ···जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका' ॥ मन के सहयोग के बिना इन्द्रियार्थ का ज्ञान नहीं होता, यदि जो कुछ होता भी है तो वह निश्चयात्मक नहीं होता। यद्यपि इन्द्रियार्थ के ज्ञान में मन का सहयोग अपेक्षित है तथापि मन इतना सक्षम नहीं है कि इन्द्रियों के अभाव में उन-उन इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) का ज्ञान स्वयं कर सके। अत एव प्रस्तुत बुद्धि भेदों की चर्चा यहां की गयी है। **याति सा तेन निर्देशम्**—इन्द्रियजनित ज्ञानभेद से बुद्धि के नामभेद होते हैं।

१. **चाक्षुषबुद्धि**—इससे लोक के सभी भावद्रव्यों के दर्शन तथा अदर्शन का ज्ञान होता है। अपवाद स्वरूप एक प्राणी सर्प है, जो आँखों से ही सुनता भी है। यह सृष्टिकर्ता का कुतूहल ही कहा जा सकता है, अतः सर्प को **'चक्षुःश्रवा'** कहते हैं।

२. **श्रावणबुद्धि**—इससे सभी प्रकार के शब्दों के श्रवण तथा अश्रवण का बोध होता है।

३. **घ्राणजबुद्धि**—इससे सभी प्रकार की सुगन्धि, दुर्गन्धि के भाव तथा अभाव का अनुभव होता है।

४. **रासनबुद्धि**—इससे सभी प्रकार के स्वाद, अस्वाद तथा रुचि, अरुचि का ज्ञान होता है।

५. **स्वाचबुद्धि**—त्वचा (Skin) द्वारा उष्ण, शीत, मृदु, खर आदि स्पर्शों तथा स्पर्शों के अभाव का भी ज्ञान होता है।

६. **मानसबुद्धि**—चिन्त्य, ऊह्य, संकल्प आदि ज्ञानों में सहायक बुद्धि को 'मानसबुद्धि' अथवा 'मनोभवा-बुद्धि' कहते हैं।

जन्तोर्बुद्धिः—'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः'। अमरकोष। इस प्रकार उक्त श्लोक में सामान्य शरीरधारी जन्तु शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु बुद्धि-विवेचन प्रसंग में उद्धृत उक्त 'जन्तु' शब्द यहाँ मनुष्य का ही सूचक है, न कि सामान्य प्राणी का, क्योंकि '**ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः**'।

भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्वयो वै बुद्धयः स्मृताः। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा[1] ॥३३॥

बुद्धि के भेद—आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थ (इन्द्रियों के विषय) इन प्रत्येक के सन्निकर्ष (संयोग) से उत्पन्न होने वाली बुद्धियाँ कार्यों तथा इन्द्रियार्थों (इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों) के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं।

वक्तव्य—ऊपर बुद्धि के ६ नाम भेदों की चर्चा की गयी है। यहाँ आत्मा आदि के संयोग द्वारा उक्त सभी प्रकार की बुद्धियों के पुनः अनेक भेदों का उल्लेख किया है। सन्निकर्षज ज्ञान का निर्देश आचार्य अन्नम्भट ने अत्यन्त सरल प्रकार से दिया है। देखें—'प्रत्यक्ष ज्ञान में जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है, उसके भेद ये हैं—१. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय और ६. विशेषण-विशेष्यभाव। तर्कसंग्रह। इसके उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का क्रम—यहाँ अक्ष शब्द भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। जब आत्मा (ज्ञानाधि-करण) मन के साथ, मन इन्द्रिय (एक काल में एक इन्द्रिय) के साथ तथा इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होती है, तब ज्ञान (मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ आदि) होता है। यह ज्ञान जगत् रूप कार्यभेद से तथा इन्द्रियों के विषयभेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। जैसे-संसार में जितने रूप हैं, उनकी भिन्नता के अनुसार चक्षु-बुद्धियाँ होंगी, जितने प्रकार के शब्द हैं उतनी श्रोत्र-बुद्धियाँ होंगी, इसी प्रकार अन्य भेदों का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिये। कतिपय उदाहरण—

१. **चक्षुर्बुद्धि**—घटबुद्धि, पटबुद्धि, चित्रबुद्धि, शैल, सागर आदि बुद्धियाँ रूपभेद से होंगी।
२. **श्रोत्रबुद्धि**—शंखध्वनि, घंटाध्वनि अध्यापनध्वनि, वाद्यध्वनि आदि बुद्धियाँ श्रवणभेद से होंगी।
३. **घ्राणबुद्धि**—सुरभिगन्धि, कुणपगन्धि, निर्गन्धि आदि बुद्धियाँ गन्धभेद से उत्पन्न होंगी।
४. **रसनबुद्धि**—कटु, तिक्त, कषाय, लवण, अम्ल, मधुर स्वादभेद से रसन-बुद्धिभेद होंगे।
५. **स्पर्शनबुद्धि**—मृदु, खर, रूक्ष, स्निग्ध, उष्ण, शीत स्पर्शभेद से स्पर्शन-बुद्धिभेद होंगे।

अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः। दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥ ३४ ॥

संयोगज बुद्धि का स्वरूप—अंगुली (मध्यमा अंगुली) तथा अंगुष्ठ तल के संयोग से उत्पन्न (चुटकी रूप) शब्द और वीणा में लगे हुए तारों को नाखून द्वारा हिलाने से उत्पन्न होने वाला शब्द जिस प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषयों का संयोग होने पर भी विविध प्रकार की बुद्धि देखी जाती है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्य में संयोगज शब्दभेद से बुद्धि (ज्ञान) भेद की चर्चा प्रस्तुत की गयी है, जो अनेक प्रकार की होती है। उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी उसके अनेक भेद देखे जाते हैं।

अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलज—पूर्ववर्ती कुछ टीकाकारों ने इस पद्यांश का अर्थ अंगुली, अंगूठा और करतल या हाथ का तलुआ इनके संयोग से चुटकी शब्द होता है—लिखा है। चुटकी में करतल या हाथ के तलुआ का संयोग नहीं होता है, केवल अंगुष्ठ और मध्यमा अंगुली या अन्य अंगुलियों के संयोग से ही चुटकी (छोटिका) की उत्पत्ति होती है। अब रहा '**तलज**' शब्द जिसके कारण यह भ्रम हुआ है! देखें-'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' व्याकरणन्याय। इस नियम के अनुसार 'अङ्गुल्यङ्गुष्ठ' के अन्त में प्रयुक्त 'तल' शब्द 'अङ्गुलितल तथा अङ्गुष्ठतल' के रूप में प्रयुक्त होगा। यदि हम पूर्ववर्ती टीकाकारों का आदर करके 'तल' शब्द का अर्थ 'करतल' स्वीकार भी कर लें तो करतल से 'चुटकी' की उत्पत्ति नहीं, अपितु '**ताल**' (ताली) की उत्पत्ति होती है।

१. 'एकैकसन्निकर्षजाः' इति पा०।

तन्त्रीवीणानखोद्भवः—तारों से युक्त वीणा का नख-स्पर्श के संयोग से उत्पन्न स्वरमय 'शब्द' के प्रति पूर्व शब्द (चुटकी) से भिन्न बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जिन्होंने 'तन्त्री' का अर्थ सितार कर उसे वीणा' से अलग किया है, वह तो ठीक भी है किन्तु जिन टीकाकारों ने तन्त्री (तारों), वीणा और नख-स्पर्श से 'शब्द' की उत्पत्ति मानी है वह चिन्त्य है, क्योंकि वास्तव में वह '**तन्त्रीभिः युक्ता वीणा**' है।

निष्कर्ष—यहाँ यद्यपि चुटकी तथा वीणा के संयोगज शब्द में श्रुतिभेद से बुद्धिभेद को दिखलाया है। इनके अतिरिक्त कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि स्थानभेद से, व्यक्तिभेद से तथा प्राणिभेद आदि से भी शब्दों का ध्वनि-भेद होता है। इसी प्रकार आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषयों के संयोग से भी अनन्त प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति होती है।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्। चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ ३५ ॥

राशिपुरुष-परिचय—बुद्धि, इन्द्रिय (कर्मेन्द्रिय+ज्ञानेन्द्रिय), मन तथा इन्द्रियार्थों के योग (संयोग) को धारण करने वाले को पर (उत्तम, श्रेष्ठ तथा भिन्न) समझना चाहिये। इन चतुर्विंशतितत्वों की राशि को ही पुरुष कहा जाता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में बुद्धि, इन्द्रियाँ (दोनों प्रकार की), मन और इन्द्रियों के अर्थ इतने ही तत्वों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है, जिनका कुल योग (क्रमशः १+५+५+१+५=) १७ होता है। अतः इन तत्वों का अनुसन्धान चक्रपाणि के अनुसार इस प्रकार है—बुद्धि शब्द से १ महत्तत्व, १ अहंकार और ५ तन्मा-त्राएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन, ५ महाभूत (तन्मात्राएँ ऊपर ले ली गयी हैं अतः यहाँ विषयों का ग्रहण न करके महाभूतों का ग्रहण किया गया है।) और १ पर (इसी को प्रधान, प्रकृति और अव्यक्त कहते हैं।) =२४, इस प्रकार यह राशिपुरुष माना गया है।

सांख्यशास्त्र में पदार्थ-विवेचन—१. कारणरूप २. कार्यरूप ३. कारणकार्योभयरूप और ४. कार्य-कारणानुभयात्मक। **इनका विभाजन**—१ कारणभूत पदार्थ 'प्रकृति' और कार्यभूत पदार्थ १६ (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ और १ मन) हैं। कारण-कार्य उभयरूप ७ (१ महत्, १ अहंकार और ५ तन्मा-त्राएँ) हैं और कार्य-कारण अनुभयात्मकरूप १ पुरुष है। इस प्रकार पुरुष २५वाँ तत्व है। तात्पर्य यह है कि २४ जड़ तत्वों का प्राणभूत पुरुष तत्व ही है, जिसके बिना समस्त तत्व निष्क्रिय होते हैं। सांख्यशास्त्र का पुरुष पद्मपलाशवत् निर्लेप है, वह '**न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः**'। सां० का०। अर्थात् वह न प्रकृति है और न विकृति। अतः यह आयुर्वेदोपयोगी **चिकित्स्य पुरुष** नहीं हो सकता।

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्। ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया[1] **निवर्तते ॥३६॥**

राशिपुरुष का अनन्त संयोग—रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त २४ तत्व वाले पुरुष का यह संयोग अनन्त होता है। उन (रजोगुण तथा तमोगुण) के दूर हो जाने पर एवं स्वाभाविक रूप से सत्वगुण की वृद्धि हो जाने पर वह अनन्त संयोग-निवृत्त हो जाता है अर्थात् भवबन्धन से मुक्ति हो जाती है।

वक्तव्य—सत्वगुण की वृद्धि होने से अथवा सत्वबुद्धि के उदय होने से रजोगुण और तमोगुण का ह्रास हो जाता है, फलतः मनुष्य चौबीस तत्वों के योग=संयोगरूप बन्धन से मुक्त हो जाता है। महर्षि आत्रेय का यह विवेचन भी सांख्यशास्त्र मे अनुमोदित है। देखें—'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः'॥ सांख्यका० ४४। अर्थात् ज्ञान से मोक्ष (सांसारिक बन्धनों से मुक्ति) और ज्ञान के विपरीत (अज्ञान=मोह के) कारणों रजोगुण तथा तमोगुणों की अधिकता से भवबन्धन होता है।

तात्पर्य यह है कि रजस् एवं तमस् गुण ज्ञानमार्ग में बाधक होते हैं, अतः इनसे घिरा हुआ मनुष्य सांसारिक बन्धनों में पड़ा रहता है और सत्वबुद्धि युक्त (ज्ञानवान्) पुरुष मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त होकर अपने जीवन के चरमलक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति कर लेता है।

अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥३७॥

१. 'सत्त्वबुद्धया' इति पा०।

[1] एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ । पारम्पर्यं चिकित्सां च [2] ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन ॥ ३८ ॥

चिकित्सा आदि का आधार पुरुष—इस चतुर्विंशतितत्वात्मक राशिपुरुष में चिकित्सा आदि कर्म, कर्म का फल, विविधविषयक ज्ञान, मोह (अज्ञान), सुख, दुःख, जीवन, मरण, स्वता (आत्मीय भाव) प्रतिष्ठित रहते हैं। जो इन विषयों को यथार्थरूप से जानता है, वह प्रलय (मृत्यु), उदय (जन्म), तथा जीवन-मरण की परम्परा, चिकित्सा और भी जो इस विषय में ज्ञातव्य (जानने योग्य विषय) हैं उन सबको जानता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में पुरुष के विविध रूपों का वर्णन मिलता है। देखें—१. 'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्'। च० सू० अ० १।४२। २. 'सत्त्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्'॥ च० सू० अ० १।४६। ३. 'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'। ४. 'चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः'। ५. 'पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः'॥ च० शा० अ० १।१६-१७। इनमें से चेतनाधातुज पुरुष शुद्ध, चैतन्य, निर्विकार तथा ज्ञानस्वरूप है। शेष सभी चिकित्सोपयोगी तथा सुख, दुःख आदि के अधिष्ठान हैं। षड्धातुज पुरुष से चतुर्विंशतितत्वात्मक पुरुष में सभी तत्वों की पूर्ण अभिव्यक्ति करायी गयी है। धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार का होता है? इस प्रश्न की यहाँ परिसमाप्ति होती है।

भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम् । न स्युः [3]कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद् यदि ॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् । न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च ॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद् यदि । कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः ॥

२. पुरुष को क्यों कारण माना जाता है ? ('पुरुषः कारणं कस्मात् ?' च. शा. अ० १।३) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—यदि पुरुष कर्ता, बोद्धा (जानने वाला) न हो तो भाः (कान्ति या प्रतिभा), तमोगुण या अन्धकार, सत्य, अनृत (झूठ), वेद और शुभ-अशुभ कर्म नहीं होंगे। यदि पुरुष की कारणता को स्वीकार न किया जाय तो न आश्रय, न सुख, न अर्ति (पीड़ा), न गति, न आगति, न वाक्, न विज्ञान, न विभिन्न शास्त्र, न जन्म, न मरण, न बन्धन और न मोक्ष आदि किसी की भी सत्ता नहीं होगी। अतएव कारण के जानने वाले विद्वान् पुरुष को कारण रूप में मानते हैं।

वक्तव्य—चौबीस तत्वों के योग को धारण करने वाला किन्तु इन जड़ पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष को कारण इसलिये माना गया है कि आत्मा ही ज्ञाता है और इन्द्रिय मन आदि के संयोग से इसी को ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस मत का समर्थन आचार्य गंगाधर भी करते हैं। यदि पुरुष कारण न हो तो भाः, तमस्, सत्य, अनृत, लोक, परलोक, जन्म, मरण, बन्धन, मोक्ष आदि भावों की सार्थकता नहीं हो सकती।

न चेत् कारणमात्मा स्याद् भादयः [4] स्युरहेतुकाः । न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम् ॥

यदि आत्मा को कारण स्वीकार न किया जाय तो उपर्युक्त 'भाः' आदि भाव अहेतुक (निष्प्रयोजन) हो जायेंगे तथा इन (जड़ पदार्थों) में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती फिर इस प्रकार उक्त भाः, तमस् आदि भावों का कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा।

वक्तव्य—इस पद्य से पूर्वोक्त पद्य के विषय को नवीन तर्कों द्वारा समर्थन दिया गया है कि पुरुष को कारण मानना आवश्यक है।

कृतं मृद्दण्डकाष्ठैश्च कुम्भकारादृते घटम् । कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद् विना गृहम् ॥४३॥
यो वदेत् स वदेद् देहं सम्भूय करणैः कृतम् । विना कर्तारमज्ञानाद् युक्त्यागमबहिष्कृतः ॥४४॥

आत्मा की कारणता के दृष्टान्त—जो युक्ति तथा शास्त्रज्ञान से रहित होते हैं, वे ही अज्ञानवश कहा करते हैं कि कुम्भकार के बिना केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर आदि के योग से घड़ा का निर्माण हो जाता

१. 'एतद्यो वेद' इति पा०।
२. 'वेद्यं यच्चात्र' इति पा०।
३. 'कर्ता वेदिता' इति पा०।
४. 'खादयः' इति पा०।

है और गृहकार (राजगीर) के बिना केवल, मिट्टी, तृण (घास-फूस) तथा काष्ठ (लकड़ी) आदि द्वारा घर की रचना हो जाती है। इसी प्रकार वे कह सकते हैं कि करण (इन्द्रिय) समूह से शरीर स्वयं बन जाता है। अर्थात् बिना कर्ता के कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हैं।

वक्तव्य—आत्मा की कारणता को प्रमाणित करने के लिये ही तन्त्रकार ने ऊपर दो दृष्टान्त दिये हैं। अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार के बिना घट का तथा गृहकार के बिना गृह का निर्माण नहीं हो सकता है, उसी प्रकार आत्मा की कारणता के बिना देह रूप कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। यही आस्तिक दर्शनों का भी सिद्धान्त है।

कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते । येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रमीयते ॥ ४५ ॥

आत्मा की कारणता—जिन आगमों (शास्त्र-प्रमाणों) द्वारा प्रमेय (यथार्थज्ञानकारक विषय) पदार्थों का ज्ञान होता है, उन्हीं सब प्रमाणों से पुरुष (आत्मा) कारण है, ज्ञात होता है।

वक्तव्य—शास्त्रप्रमाण—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. आप्तोपदेश। प्रमेय—द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय आदि।

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः । सारूप्याद् ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः ॥४६॥
भावास्तेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसञ्ज्ञकः । कर्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद् व्यवस्थिताः ॥

निरात्मवादी मत का विवेचन—कुछ लोगों का मत ऐसा है कि परिवर्तन-परम्परा से प्राप्त वे-वे भाव दूसरे-दूसरे होते हैं न कि वे ही स्थिर रहते हैं किन्तु वे परिवर्तन को प्राप्त भाव पूर्व-पूर्व के सदृश (समान-आकृति वाले) होते हैं। वे नये-नये रूप को प्राप्त भाव समानरूपता के कारण ही ऐसे लगते हैं मानों इनमें कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं है। इस प्रकार के भावों का समूह निरीश (ईश्वर की सत्ता अर्थात् आत्मारहित) सत्व (प्राणी) कहा जाता है। ऐसा वह पुरुष न कर्त्ता है और न भोक्ता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने निरात्मवादी का मत ऊपर उद्धृत कर उसके अनुसार पुरुष के स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत की है। वास्तव में योगाचार बौद्धदर्शन निरात्मवादी तथा क्षणिकवाद का समर्थक है। यथा—**'यत् सत् तत् क्षणिकम्'**। बौद्धदर्शन। ज्ञानश्री के अनुसार संसार में जो भी सत्तावान वस्तु है, वह सब क्षणिक=क्षणमात्र स्थायी है। यथा—घट, पट, आत्मा आदि भाव सब क्षणिक हैं, इनका दूसरे क्षण में ध्वंस हो जाता है। सिद्धान्तमुक्तावली में देखें—**'तस्यापि (ज्ञानस्वरूपस्य आत्मनोऽपि) भावत्वादेव क्षणिकत्वम्'**। 'बौद्धास्तु द्वितीयक्षणोत्पन्नध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वम्'। न्यायकोष।

इससे भिन्न मत है नैयायिकों का, वे तीसरे क्षण में ध्वंसत्व को स्वीकार करते हैं। देखें—**'तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्'**। मुक्तावली। इनके अनुसार आत्मा और आकाश के जो विशेष गुण (ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख, दुःख, शब्द) हैं, ये सब तृतीय क्षण में ध्वंसात्मक हैं, किन्तु इनके मत में आत्मा, आकाश, काल, दिक्, मनस्, परमाणु ये सब नित्य हैं। अन्तर यह है कि बौद्ध आत्मा को अनित्य मानते हैं और नैयायिक आत्मा के गुणों को अनित्य मानते हैं।

न ते तत्सदृशाः—परम्परा (बाल्य, यौवन, वृद्ध क्रम) से प्राप्त शारीरिक वे भाव वे ही नहीं हैं, अपितु **तत् सदृश**—उस-उस जैसे हैं। यथा—सामान्य व्यवहार में जो बालक पैदा हुआ, वही जवान तथा वही वृद्ध हुआ, ऐसा कहा जाता है। समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को अवस्थाजनित परिवर्तन मानकर उसे किसी स्थिति में पूर्व-पूर्व अवस्थाओं से पर-पर अवस्थाओं को उससे भिन्न नहीं माना जाता है, किन्तु बौद्धदर्शन में क्षणध्वंसवाद के आधार पर जो पिता बालक के गर्भाधानकाल में था वह उसके जन्मकाल में नहीं है अपितु वह 'तत् सदृश' है। इस प्रकार **'क्षणध्वंसवाद'** योगाचार बौद्धदर्शन का सिद्धान्त है और **'तृतीयक्षणध्वंसवाद'** नैयायिकों का मत है। इस प्रकार बौद्ध चतुर्विंशतितत्वात्मक शरीर के साथ ही साथ आत्मा का भी क्षणिकत्व स्वीकार करते हैं, जैसा कि ऊपर सिद्धान्तमुक्तावली के उद्धरण में दिया गया है।

तेषामन्यैः कृतस्यान्ये [1]भावा भावैर्नवाः फलम् । भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥४८॥

१. 'भावैर्भावा नवाः' यो.। 'भावैर्भावा नराः' ग.।

उक्त मत का खण्डन—जो लोग आत्मा की स्थिरता को स्वीकार नहीं करते उनके मत से अन्य (प्रथम क्षण में वर्तमान) भावों द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अन्य (दूसरे क्षण में वर्तमान) भावों द्वारा भोगा जायगा, जो सम्भव नहीं है।

वक्तव्य—निरात्मवादी अथवा क्षणध्वंसवादी मत का खण्डन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि इस प्रकार उक्त क्षणभंगुरवाद को स्वीकार करने से बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। अतः यह मत मान्य नहीं है। 'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते'। मनुष्य स्वयं कर्म करता है और स्वयं उसके फल का भोग करता है। यह शाश्वत सिद्धान्त उक्त मत से खण्डित हो जाता है। 'नहि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते'। चरक। अर्थात् कोई ऐसा महान् कर्म नहीं है, जिसका शुभ अथवा अशुभ फल भोगना न पड़े। इसके विपरीत बौद्धमत में प्रथम क्षण में विद्यमान रहने वाला पुरुष द्वितीय क्षण में वह नहीं है अपितु तत् सदृश है, अतः प्रथम क्षण में विद्यमान पुरुष ने जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किया है उसका फल उसी क्षण में तो प्राप्त होता नहीं, अगले क्षणों में उस पुरुष की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, फलतः दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को भोगना पड़ेगा, जो सम्भव नहीं है।

करणान्यान्यता दृष्टा [1]कर्तुः कर्ता स एव तु। कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥४९॥

आत्रेय का मत—कर्त्ता के कारण (कार्य-सम्पादन में सहायक साधन) अनेक प्रकार के देखे जाते हैं, किन्तु कर्त्ता एक ही होता है। कारणों से युक्त होकर कर्त्ता सभी कार्यों का कारण होता है या देखा जाता है।

वक्तव्य—'असाधारणं कारणं **करणम्**'—तर्कसंग्रह। असाधारण कारण को करण कहते हैं। कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण ये हैं—१. ईश्वर, २ उसका ज्ञान, ३. इच्छा, ४. कृति (प्रयत्न), ५. प्रागभाव, ६. काल, ७. दिशा और ८. अदृष्ट (धर्म-अधर्म)। कारण की परिभाषा इस प्रकार है—'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। तर्कसंग्रह। अर्थात् कार्य (उत्पन्न होनेवाले पदार्थ) से जो निश्चितरूप से पूर्ववृत्ति (पहले होने वाला) है, उसे कारण कहते हैं। यहाँ चौबीस तत्व तथा उनसे निर्मित शरीर क्षणभंगुर है, उसमें रहनेवाली आत्मा स्थायी है, यह आत्मा करणरूप इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थिर करके स्वयं (कर्त्तारूप होकर) उनसे अनेक कार्य कराया करता है, अतएव वह सभी प्रकार के कार्यों का कारण बना रहता है।

निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये। भग्नानां न [2]पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥५०॥
मतं तत्त्वविदामेतद् यस्मात्तस्मात् स कारणम्। क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥५१॥

दूसरा प्रमाण—भावों (शरीर आदि) के विनाश में निमेष (Twinkling) से शीघ्रतर काल का प्रयोग होता है, अर्थात् निमेष काल विभाजन की सूक्ष्म अवधि है उससे भी कम समय लगता है, भावों के विनाश होने में। जब शरीर आदि भावों का विनाश हो जाता है, तो पुनः उनका सद्भाव (सत्ता) नहीं देखा जाता और अपना किया शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि यह (उपर्युक्त) मत तत्ववेत्ताओं (जीवनरहस्य-विदों) का है, इसलिये प्राणियों के कार्य करने में तथा उस अपने किये कार्य के फल को भोगने में नित्यपुरुषसंज्ञक (आत्मा) ही कारण होता है, दूसरा नहीं।

वक्तव्य—यहाँ इन्द्रियादि भावों तथा उनके कार्यों की क्षणभंगुरता दिखलाते हुए यह बतलाया है कि इन इन्द्रियादि भावों द्वारा किये गये कार्यों के फलों को भोगने के लिये किसी नित्य वस्तु को स्वीकार करना पड़ेगा, जिसका इनसे सम्बन्ध हो। वह इस शरीर में स्थित नित्य, पुरुषसंज्ञक, चेतनाधातु (आत्मा) है। इसके समर्थन में यहाँ उदयनाचार्य का मत उद्धृत किया जारहा है—

'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासङ्क्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे'॥ न्यायकुसुमाञ्जलि।

यदि हम चेतना धातु का अस्तित्व स्वीकार नहीं करेंगे तो अनेक दोष दृष्टिगोचर होते हैं। यदि क्षणभंगुरता सिद्धान्त को स्वीकार किया जायगा तो जिस वस्तु को बचपन में हमने देखा, सुना तथा खाया था उसका स्मरण हमको युवा तथा वृद्धावस्था में नहीं होना चाहिये, क्योंकि जिसने देखा, सुना था वह तो अब नहीं

१. कारणान्यान्यता दृष्टा 'कर्त्ता भोक्ता स एव तु' ग.।
२. 'च पुनर्भावे' ग.।

रहा, दूसरा देखे और दूसरे को स्मरण रहे ऐसा नहीं हो सकता। अतः क्षणभंगुर सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है और चेतना धातु को नित्य माना है।

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः। विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥५२॥

अन्य प्रमाण—प्राणियों के शरीर से अलग आत्मारूप कारण के रहने पर ही अहंकार, शुभाशुभ कर्म, फल, दूसरे शरीर में जाना तथा स्मरण ये माने जा सकते हैं।

वक्तव्य—यदि हम आत्मा को स्वीकार नहीं करेंगे तो अहंकारतत्व, जिससे मनुष्य में अत्यन्त सुन्दर हूँ, मैं सबसे अधिक समझदार हूँ आदि विचार करता है, उसका सम्भव न हो सकेगा। इसी प्रकार कर्मों तथा उनके फलों का कर्त्ता, भोक्ता नहीं हो सकेगा। **देहान्तरगति** के विवेचन का उदाहरण गीता में देखें—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥५३॥

३. **पुरुष की उत्पत्ति किससे होती है?** ('पुरुषः प्रभवः कस्य' च० शा० अ० १।३) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—अनादि (न विद्यते आदिः यस्य सः। अर्थात् जिसका कोई आदि नहीं है।) होने के कारण परमात्मा का प्रभव (उत्पत्ति कारण) नहीं है, क्योंकि इसमें अनादि नाम ही प्रमाण है। राशिसंज्ञक पुरुष तो मोह, इच्छा, द्वेष आदि कर्मों से उत्पन्न होता है, अतः सकारण है।

वक्तव्य—यहाँ पर सांख्यशास्त्र में वर्णित पुरुष परमात्मा-स्वरूप है, जो अनादि है, जिसके लिये सांख्यकारिका में लिखा है—**'न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः'**। यही पद्मपत्रवत् निर्लेप है। इसको चरक में 'चेतनाधातुज पुरुष' माना है। और दूसरा पुरुष है 'षड्धातुज' अथवा 'चतुर्विंशतितत्वात्मक' अथवा 'राशिपुरुष' नाम भेद से भिन्न होते हुए भी यह एक ही **'चिकित्स्य पुरुष'** है। इसी की उत्पत्ति मोह, इच्छा, द्वेषजनित कर्मों से होती है। यथा—'तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तराभावात्'। न्यायदर्शन।

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते ॥५४॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे सङ्क्लिष्टे नास्ति दर्शनम्। [1]तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥५५॥

४. **आत्मा ज्ञानी है या अज्ञानी?** ('किम् अज्ञः ज्ञः'। च० शा० अ० १।४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—आत्मा ज्ञानी है। इसके ज्ञान की प्रवृत्ति मन सहित करणों (इन्द्रियों) के संयोग से होती है। करणों (इन्द्रियों) के स्वच्छ न रहने अथवा सम्यक् योग न होने से ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं भी होती है।

ज्ञान न होने में कारण—जिस प्रकार मलिन दर्पण (शीशा) में देखने पर अपना रूप दिखलायी नहीं देता, मलिन जल में भी पदार्थों के दर्शन नहीं होते उसी प्रकार चित्त के विकार युक्त होने पर तत्व (वास्तविक पदार्थ) का दर्शन नहीं होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में सर्वप्रथम आत्मा को ज्ञानी स्वीकार किया है। यह स्वतन्त्र रूप में ज्ञानी आत्मा **'चेतना धातुरप्येकः'** है और दूसरा प्रत्येक मानव शरीर में स्थित आत्मा को **'करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते'**, मत के संयोगपूर्वक इन्द्रियों के संयोग से ज्ञान होता है। यहाँ ध्यान इस बात पर देना है कि इन्द्रियों से होने वाले सभी प्रकार के ज्ञानों में मनोयोग आवश्यक होता है, अतएव इसमें **'चेतस्युपहते'** कारण दिया है।

तत्त्वं दर्शनं नास्ति—आचार्य गणनाथ सेन ने 'तत्वम्' के स्थान पर 'तद्वत्' पाठ स्वीकार किया है किन्तु यदि तत्त्वं को दर्शनं का विशेषण मान लिया जाय तो भाव अधिक स्पष्ट हो जायगा। यहाँ 'दर्शनम्' का अर्थ केवल देखना ही नहीं है अपितु प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान अपेक्षित है और वह ज्ञान कैसा होना चाहिये जो वास्तविक हो, क्योंकि सन्दिग्ध ज्ञान, तत्वज्ञान की कोटि में नहीं गिना जाता।

१. 'तद्वज्जले' गणनाथसेनः।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च । कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥५६॥
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् । संयोगाद् वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन ॥५७॥

करण आत्मा संयोगफल का विवेचन—मन, बुद्धि, बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा), कर्मेन्द्रिय (हस्त, पाद, गुद, उपस्थ, वाक्) ये करण (इन्द्रियाँ) हैं। कर्त्ता (आत्मा) का इन्द्रियों के साथ संयोग होने से कर्म (कार्य सम्पन्न होता है, वेदना (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है तथा इसी को बुद्धि भी कहते हैं। अकेला भूतात्मा (जीवात्मा) किसी प्रकार के कार्य को करने के लिये प्रवृत्त नहीं हो सकता, वह अकेला कर्मों के फलों का भी भोग नहीं करता। यह सब आत्मा और इन्द्रियों के संयोग से ही होता है, उसके विना (आत्मा और इन्द्रियों के संयोग न होने पर) कोई कार्य नहीं हो सकता।

वक्तव्य—सुख-दुःख आदि के अनुभवजनित ज्ञान को वेदना कहते हैं, इसी का नाम 'बुद्धि' भी है। इसीलिये उक्त पाठ में **'बुद्धिः एव वेदना'** ऐसा पाठ दिया है। इसके पहले कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, उभयात्मक मन तथा आत्मा के कर्मों की चर्चा की जा चुकी है किन्तु यहाँ इस बात का विशेष निर्देश दिया गया है कि इन्द्रिय तथा आत्मा के फलस्वरूप सभी कर्मों की निष्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

सांख्यशास्त्र का मत—प्रकृति के भेद रूप में चौबीस जड़तत्व हैं और पच्चीसवाँ पद्मपत्रवत्निर्लेप पुरुषतत्व है, ऐसा सांख्यशास्त्र स्वीकार करता है। अब प्रश्न यह आता है कि जड़ और चेतन जो स्वभाव से ही भिन्न हैं उनके संयोग होने की आवश्यकता ही क्या है? इसका समाधान—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' ॥ सांख्यका० ॥

इन्द्रियों का आत्मा के साथ संयोग परस्पर स्वार्थ के कारण होता है। यहाँ इन्द्रियाँ प्रकृतिरूप तथा आत्मा पुरुषरूप है, अतः जैसा प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध है वैसा ही इन्द्रिय-आत्मा का भी संयोग है। सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष सर्वकारण स्वरूप प्रधान (प्रकृति) को देखने के लिये तथा पुरुष के मोक्ष के लिये पंगु और अन्ध पुरुष के समान इनका सम्बन्ध भोग तथा मोक्ष के लिये होता है।

न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः । शीघ्रगत्वात् स्वभावात्त्वभावो न व्यतिवर्तते ॥५८॥

सभी भाव सहेतुक हैं—कोई भाव (भवतीति भावः=सत्तारूप पदार्थ) अकेला (कार्य करने के लिये) प्रवृत्त नहीं होता और कोई भाव हेतु रहित भी नहीं होता। अभाव नामक पदार्थ शीघ्रगामी स्वभाव वाला होने के कारण अपने (शीघ्रगामी) स्वभाव का त्याग नहीं कर सकता।

वक्तव्य—संसार में जितने भाव हैं वे सभी उत्पत्तिशील हैं, अतः वे सभी सकारण होते हैं। असत् (जो नहीं है उस) पदार्थ का कभी भाव नहीं होता और जो है उसका कभी अभाव नहीं होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' ॥ गीता २।१६। जैसे खरगोश का सींग नहीं होता अतः वह कभी कहीं प्रयोग में दृष्टिगोचर नहीं होता और वृषभशृंग जो सत् है, उसका कभी अभाव नहीं होता। प्रत्येक भाव की उत्पत्ति में कोई न कोई सहकारी कारण अवश्य होता है। जैसे मनुष्य की उत्पत्ति में मोह, इच्छा आदि सहकारी कारण होते हैं, अतः पुरुषरूप भाव की उत्पत्ति को अकेली मानना युक्ति-विपरीत होगा। इस पुरुष में ज्ञान की उत्पत्ति के लिये इन्द्रियार्थ, मन तथा आत्मा के संयोग की परम आवश्यकता होती है। अतः विना हेतु के किसी कार्य का सम्पादन नहीं होता है।

पाठभेद—यहाँ ऊपर जिस पाठ की व्याख्या की गयी है वह है—'शीघ्रगत्वात् स्वभावात्त्वभावः'। इसका सन्धिविच्छेद करने पर होता है—'स्वभावात् तु अभावः'। चक्रपाणि ने जिस पाठ को स्वीकार किया है, वह इस प्रकार है—'स्वभावात्तु भावः'।

नैयायिक-मत—इसके अनुसार अभाव के चार भेद उपलब्ध होते हैं—१. **प्रागभाव**—जिसका आदि नहीं किन्तु अन्त है। इसकी सत्ता कार्य की उत्पत्ति के पहले रहती है। जैसे—घट आदि की उत्पत्ति के पहले घटाभाव के रूप में रहने वाला, अभाव। २. **प्रध्वंसाभाव**—जिसका आदि तो है और अन्त नहीं है। यह कार्य की उत्पत्ति के बाद होता है। जैसे—घट के निर्माण के बाद उस (घट) का ध्वंस होने से उसके स्वरूप का नाश, ३. **अत्यन्ताभाव**—भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों में होने वाले संसर्ग से युक्त प्रतियोगिता

वाले अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं, जैसे—भूतल पर घड़ा नहीं है। ४. **अन्योन्याभाव**—तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। जैसे—घट पट नहीं है।

ऊपर अभाव पदार्थ का शीघ्रग स्वभाव बतलाया है, इसमें कारण है कि यह किसी प्रकार भी परिलक्षित नहीं होता, इसीलिये इसको अहेतुक कहा गया है। अभाव पदार्थ का विचार हम चरक सूत्रस्थान के चिकित्साप्राभृतीय नामक १६ वें अध्याय के इस प्रसङ्ग में कर चुके हैं। देखें—'प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्'।

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः । सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥ ५९ ॥

५. पुरुष नित्य है या अनित्य ? ('स नित्यः किं किम् अनित्यः'। च० शा० अ० १।४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—अनादि (अव्यक्त) पुरुष नित्य है। इस (अनादि) के विपरीत हेतुज (मोह, इच्छा आदि से पैदा होने वाला) पूर्वोक्त राशिपुरुष अनित्य होता है। जो भाव सत् (सत्तावान) हो किन्तु उसका कोई कारण न हो तो उस (सत्) को नित्य कहते हैं। मोह आदि उपर्युक्त हेतुओं (कारणों) से उत्पन्न पुरुष सत्तावान् होता हुआ भी कारणवान् होने से अनित्य (विनाशशील) माना गया है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने अनादि पुरुष की नित्यता को सिद्ध करने के लिये वैशेषिकदर्शन के प्रमाण **'सदकारणवन्नित्यम्'** को पूर्णरूप से अपने तन्त्र में उद्धृत कर डाला है। आस्तिक दर्शनों में कणादमुनि कृत वैशेषिकदर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है।

भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'सर्वभूतानां कारणम् अकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणम् अष्टरूपम् अखिलस्य जगतः सम्भवहेतुः अव्यक्तं नाम'। सु० शा० अ० १।३। अर्थात् सब प्राणियों का कारण अव्यक्त (मूलप्रकृति) है। यह अव्यक्त स्वयं कारणरहित है। सत्व, रज और तम इसका स्वरूप है, आठ रूपों वाला है (१. अव्यक्त, २. महान्, ३. अहंकार और ४. तन्मात्राएँ, अथवा—१. मन, २. बुद्धि, ३. अहंकार और ४. महाभूत, अथवा—१. धर्म, २. ज्ञान, ३. वैराग्य, ४. ऐश्वर्य, ५. अधर्म, ६. अज्ञान, ७. अवैराग्य, ८. अनैश्वर्य।) जो सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का कारण (अव्यक्त) है। इस प्रकार सुश्रुत में अव्यक्त से प्रकृति, पुरुष दोनों का ग्रहण किया है।

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वं न कुतश्चन । भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥ ६० ॥

आत्मा की नित्यता—वह जो सत् है, उत्पत्ति-धर्म से रहित होने के कारण अग्राह्य होता है। उसकी नित्यता किसी भी उत्पत्ति-धर्म वाले भाव से सिद्ध नहीं होती। जो नित्य पुरुष है वह अव्यक्त है, अव्यक्त होने के कारण ही वह अचिन्त्य है। इसके विपरीत जो राशिपुरुष कहा गया है, वह व्यक्त तथा चिन्त्य है।

वक्तव्य—उक्त पद्य का तात्पर्य यह है कि नित्यपुरुष (चेतनाधातुमान्) की उत्पत्ति नहीं होती, अत एव वह भावों द्वारा अग्राह्य (चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं) है। इसके विपरीत जो भावों (चक्षुरादि इन्द्रियों) द्वारा जानने योग्य है, उसे व्यक्त कहते हैं। अव्यक्त का नाम ही अचिन्त्य है और व्यक्त का नाम चिन्त्य है।

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः । तस्माद् यदन्यत्तद् व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥६१॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः । अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥६२॥

अन्य विचार—प्रारम्भ में जिसको 'चेतनाधातुः अपि एकः पुरुषः स्मृतः' कहा गया है, वह आत्मा, अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु (सर्वत्र व्यापक) और अव्यय है, उससे जो दूसरा (खादयः चेतनाषष्ठा, अथवा चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः अथवा भावाज्ज्ञेयः) होता है, उसे व्यक्त कहते हैं। पुनः इन दोनों (अव्यक्त तथा व्यक्त) के भेदों का वर्णन किया जा रहा है—व्यक्तपुरुष उसको कहते हैं जो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सके, अर्थात् जिसका ग्रहण इन्द्रियों द्वारा किया जा सकता है, इसके विपरीत दूसरा अव्यक्तपुरुष है, उसका ज्ञान लिंग द्वारा होता है और वह अतीन्द्रिय (इन चक्षुरादि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता) है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्यों में अव्यक्त और व्यक्त पुरुष का परिचय प्रस्तुत किया गया है। १. **अव्यक्त**—'न व्यज्यते तत्' किंवा 'न व्यज्यते कार्यं यस्मिन्' तत्। अर्थात् जो स्फुट लक्षण युक्त नहीं है, या जिसमें कार्य व्यक्त नहीं रहता'। यह सब भूतों का कारण है किन्तु इसका कोई कारण नहीं है, अतः यह स्वयंसिद्ध, अनादि

है। २. आत्मा—यह ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) है, अर्थात् ज्ञान इसी में होता है। ३. क्षेत्रज्ञ—'क्षीयते, इति क्षेत्रं, शरीरम्, तज्जानाति इति क्षेत्रज्ञः'। प्रतिक्षण क्षीण होने के स्वभाव वाला होने के कारण शरीर को क्षेत्र कहते हैं, उसको जानने वाला 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप—'इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते, एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' ॥ गीता १३।१। अर्थ स्पष्ट है। ४. शाश्वत—'शश्वद् भवः' 'तत्र भवः' इति अण्। 'शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः'। अमरकोष। ५. विभु—'वि Before भू To be, Aff. डु' इसका अर्थ है, व्यापकसत्तावान्। ६. अव्यय—'न व्येति' इण् गतौ, एरच्, जिसका व्यय न हो ऐसे परमात्मतत्व की संज्ञा विशेष है।

लिङ्गग्राह्यम्—'लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च साङ्ख्योक्तप्रकृतावपि'। इति मेदिनी। 'लिगि गतौ, लिङ्ग्यतेऽनेन, इति लिङ्गम्। जिस लक्षण विशेष से निश्चित वस्तु का ज्ञान हो, उसे लिङ्ग कहते हैं। **दूसरी परिभाषा**—'लिङ्ग्यते ज्ञायते प्रत्यक्षोऽर्थोऽनेनेति लिङ्गम्'। जैसे—अग्नि का परिचायक धूम (लिङ्ग) पर्वत (पक्ष) में वर्तमान है और तालाब में नहीं।

अतीन्द्रियम्—'अतिक्रान्तम् इन्द्रियम्', अर्थात् जो प्रत्यक्ष से भिन्न हो। प्राचीनकाल में ऋषि-महर्षियों का वर्णन उपलब्ध होता है कि वे **'अतीन्द्रियज्ञाननिधि'** होते थे। अतः सम्पूर्ण जगत् तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान उनके लिये करामलकवत् होता था, इसी को 'ज्ञानचक्षु' भी कहते हैं। अर्थात् वह 'अव्यक्त' इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय न होने के कारण ही 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥६३॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥६४॥

६. प्रकृति किसे कहते हैं ? ('प्रकृतिः का', च० शा० अ० १।४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—ख (आकाश) आदि (वायु, तेज, जल, पृथ्वी) पाँच महाभूतों की तन्मात्राएँ बुद्धि (महत् तत्व, अव्यक्त (मूलप्रकृति), अहंकार, यह आठ प्रकार की भूतप्रकृति होती है।

७. विकार कितने हैं ? ('विकाराः के', च० शा० अ० १।४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—विकार सोलह होते हैं। पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (इन्हीं को ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं।), पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के अर्थ (विषय—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) इनके समूह को विकार कहते हैं।

वक्तव्य—आकाश आदि पाँच महाभूत, महत्तत्व, अहंकार और अव्यक्त इन आठों को प्रकृति कहा गया है। सांख्यशास्त्र के अनुसार अव्यक्त तत्व केवल प्रकृति है और शेष सातों की गणना उभयात्मक (प्रकृति-विकृति) मानी गयी है।

आयुर्वेदीय सिद्धान्त से सांख्यशास्त्र का मत इस दृष्टि से भिन्न है। यथा—आयुर्वेद में पञ्चमहाभूतों से इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। देखें—आगे श्लोक ६६। सांख्य मत में अहंकार से उक्त सब की उत्पत्ति स्वीकृत है। सामान्यरूप से प्रकृति के दो स्वरूप हैं—१. मूलप्रकृति और २. भूतप्रकृति। मूलप्रकृति ही अव्यक्त है। भूतप्रकृति का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस विचार का मन्थन ऊपर अनेक स्थलों पर शास्त्रान्तरों के प्रमाणों के साथ किया जा चुका है।

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्। अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥६५॥

क्षेत्रज्ञ परिचय—अव्यक्त (प्रधान या मूलप्रकृतिरूप पुरुष) से रहित उपर्युक्त सात भूतप्रकृतियों तथा सोलह विकारों के समवाय को क्षेत्र कहा गया है। इस क्षेत्र के जानने वाले (आत्मा) को प्राचीन ऋषि-महर्षि 'अव्यक्त' जानते हैं। अथवा इस क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ अव्यक्त को समाधिकाल में केवल ऋषि लोग जानते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष करने में समर्थ होते हैं।

वक्तव्य—उक्त विषय का स्पष्टीकरण भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में इस प्रकार है—'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः। इच्छा द्वेषः सुःखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' ॥ गीता अ० १३। अर्थ स्पष्ट है। **ध्यान दें**—मुक्तिमार्ग में मूलप्रकृति और आत्मा को अलग-अलग स्वीकार किया गया है किन्तु चिकित्साशास्त्र में षड्धातुजपुरुष ही अपेक्षित है, जिसकी चर्चा इसी अध्याय में पहले की जा चुकी है।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते। परं [1]खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥६६॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।

सृष्टि-क्रम—अव्यक्त से बुद्धितत्व की, बुद्धितत्व से अहंकारतत्व की और अहंकारतत्व से आकाश आदि सूक्ष्म महाभूतों की क्रमशः उत्पत्ति होती है, तदनन्तर सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों से पूर्ण होकर 'उत्पन्न हुआ' कहा जाता है।

वक्तव्य—सांख्यमत में सृष्टि-क्रम—'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि' ॥ सांख्यका० २२। अर्थात् प्रधान कारणस्वरूप प्रकृति से महद (बुद्धि) तत्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार, उससे आँख, कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ और मन इस षोडशक गण में से पाँच तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। आगे चलकर इस सृष्टि को सात्विक, राजस और तामस अहंकार भेद से तीन भागों में विभक्त किया है—'सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्' ॥ सांख्य० २५॥ अर्थात् सत्वगुण प्रधान अहंकार से सात्विक ११ इन्द्रियों (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, १ मन) की उत्पत्ति होती है। तमोगुणयुक्त अहंकार से शब्दतन्मात्रादि की उत्पत्ति होती है। तैजस् अर्थात् रजोगुणयुक्त अहंकार से दोनों (एकादशेन्द्रिय तथा तन्मात्रगणरूप) सृष्टियाँ होती हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार सृष्टि-क्रम—'बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहङ्कारसम्भवः। तन्मात्राणि ह्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि च ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः' ॥ याज्ञवल्यसंहिता।

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥ ६७ ॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः। रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥ ६८ ॥
येषां द्वन्द्वे परा सक्तिरहङ्कारपराश्च ये। उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥ ६९ ॥

प्रलय-परिचय—सम्पूर्ण अंगों के साथ उत्पन्न वह पुरुष प्रलयकाल में पुनः अपने इष्ट भावों (जो भाव पुरुष की उत्पत्ति के लिये अभीष्ट माने गये थे अथवा जिनके संयोग से उसकी उत्पत्ति हुई थी) से रहित (पञ्चत्व को प्राप्त) हो जाता है। यह पुरुष उत्पत्तिकाल में अव्यक्त रूप से व्यक्तता को प्राप्त होता है और प्रलयकाल में पुनः व्यक्त रूप से अव्यक्तता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अपने-अपने तत्वों में विलीन हो जाता है। रजोगुण और तमोगुण से घिरा हुआ जन्म-मरण के क्रम में चक्र के समान घूमता रहता है। जिन पुरुषों की रजोगुण और तमोगुण में अत्यन्त आसक्ति होती है, और जो अहंकार में पड़े हैं, वे ही जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहते हैं इनके अतिरिक्त जो रजोगुण और तमोगुण से दूर हैं तथा जो अहंकार रूप मिथ्याज्ञान से मुक्त हैं अर्थात् जो सत्वगुणप्रधान अतएव तत्वज्ञानी हैं, वे जन्म-मरण के सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—महाप्रलय के अनन्तर जो पुनः जगत् स्रष्टा की **'एकोऽहं बहु स्याम्'** रूप इच्छा होती है, वहीं से सृष्टि का आरम्भ होता है। जिसका विवरण निम्नोक्त है। मत्स्यपुराण के अनुसार मन्वतरों के अन्त में सृष्टि का प्रलय होता है, (मत्स्य० २।२२, १४२।३६) कूर्मपुराण में वह प्रलय चार प्रकार का वर्णित है, १. **नित्य**—सांसारिक वस्तुओं का दैनिक क्षय 'नित्य' प्रलय है। २. **नैमित्तिक**—कल्प के अन्त में तीनों लोकों का क्षय होना 'नैमित्तिक' है। ३. **प्राकृत**—प्रकृति के 'महत्' आदि से लेकर 'विशेष' तक के तत्वों के विलीन हो जाने को 'प्राकृत' प्रलय कहते हैं। ४. **आत्यन्तिक**—ज्ञान की पूर्ण अवस्था प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाने को ही 'आत्यन्तिक' प्रलय कहते हैं। विष्णुपुराण में इसके दो भेदों का वर्णन उपलब्ध है—१. कल्पान्त में अथवा ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होने पर और २ ब्रह्मा के १०० वर्ष पूरे होने पर (विष्णु० ६। १। ३)।

नैयायिकों के अनुसार—यह दो प्रकार का होता है—१. खंडप्रलय और २. महाप्रलय। सांख्य के मत में **सृष्टि** और **प्रलय** ये दोनों ही प्रकृति के परिणाम हैं।

यहाँ उदय से जन्म तथा प्रलय से मृत्यु का ग्रहण पुरुष के लिए किया गया है। ऊपर संसार के उदय-

---

१. 'खादीन्यहङ्कार उपादत्ते' इति पा०।

प्रलय की चर्चा वर्णित है। गीता में इस प्राणिसमूह को 'भूतग्राम' की संज्ञा देकर इसकी व्याख्या की है—**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'** जो जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है वही 'भूतग्राम' है।

रजोस्तमोभ्यामाविष्टः—रजोगुण और तमोगुण से घिरा हुआ पुरुष अपने मूल लक्ष्य 'मोक्षप्राप्ति' की ओर प्रवृत्त हो ही नहीं पाता। क्योंकि–'सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत, ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत' ॥ गीता १४। ९। सत्वगुणपूर्ण मनुष्य आध्यात्मिक सुख की ओर प्रवृत्त होता है, रजोगुणयुक्त पुरुष सांसारिक कर्मों की ओर आकृष्ट एवं तत्पर होता है और तमोगुण से घिरा हुआ पुरुष का जीवन प्रमाद पूर्ण होता है।

गुणत्रय का फल—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' ॥ गीता १४। १८॥ सत्वगुणप्रधान पुरुष मोक्ष पद के अधिकारी होते हैं। रजोगुण वाले संसार के बन्धनों में उलझे रहते हैं और तमोगुण वाले पुरुष नीचवृत्तियों में पड़े रहने के कारण कभी ऊपर नहीं उठ पाते हैं। इसीलिये कहा गया कि रजस्, तमस् से घिरे हुए जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहते हैं।

येषां द्वन्द्वे परा सक्तिः—यहाँ 'सक्तिः' तथा 'आसक्तिः दो पाठ देखे जाते हैं। अर्थ की दृष्टि से दोनों ही समानार्थक हैं। 'द्वन्द्व' शब्द से रजस्, तमस् दो गुणों का बोध तो प्रकरणवश होता ही है, इसके साथ ही साथ काम-क्रोध, लोभ-मोह, इच्छा द्वेष आदि आध्यात्मिक भावों के द्वन्द्वों का भी अनुसन्धान कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति भी उक्त दो गुणों (रजस्, तमस्) से ही होती है। इन दो गुणों के क्षय होने पर सत्व गुण का उदय होता है तभी मानव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

सांख्यमत—यह लिंग शरीर मन, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच तन्मात्राओं के आधार पर प्रकृति द्वारा सृष्टि के आरम्भ में सबसे पहले उत्पन्न होता है। यह अव्याहत गतिशील तथा नित्य है। अव्याहत गतिशील होने के कारण इसकी सर्वत्र गति है और सृष्टि से लेकर प्रलयकाल तक इसी का नित्यत्व स्वीकार किया जाता है तथा धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य इन आठ प्रकार के भावों से युक्त होकर स्थूल शरीर के बिना किसी भी विषय का उपभोग करने में सर्वथा असमर्थ होता हुआ पूर्व-पूर्व स्थूल शरीरों को छोड़कर नये-नये अन्य स्थूल शरीरों के अन्दर प्रवेश करता रहता है। देखें—सांख्य-कारिका ४०।

दार्शनिक दृष्टि से प्रलय-क्रम—पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं में, पंचतन्मात्राएँ तथा इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार बुद्धितत्व में और बुद्धितत्व प्रकृति में लीन हो जाता है।

आयुर्वेदिक दृष्टि से प्रलय-क्रम—इन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्राएँ पंचमहाभूतों में, पंचमहाभूत अहंकार में, अहंकारतत्व बुद्धि में तथा बुद्धितत्व का लय प्रकृति में हो जाता है।

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः। इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥७०॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा। दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥७१॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥७२॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः। न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥७३॥

८. **पुरुष के क्या लक्षण है?** ('किं लिङ्गं पुरुषस्य च', च० शा० अ० १।४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—प्राणवायु, अपानवायु का गतिशील रहना, निमेष (पलकों का गिरना), उन्मेष (पलकों का उठना), जीवन, मन की गति, इन्द्रियान्तरसंचार अर्थात् मन का जब जिस इन्द्रिय से सम्पर्क होता है, तब उस विषय का ज्ञान होता है, अतः इसका प्रत्येक इन्द्रिय में संचरण होता है। इन्द्रियों को अपने-अपने विषय-ग्रहण के लिये प्रेरित करना, धारण करना (उन-उन इन्द्रियों की अति प्रवृत्ति को रोकना), स्वप्न की स्थिति में एक स्थान से दूसरे स्थान में चले जाना, पञ्चत्व (निष्क्रियता) का ग्रहण करना, दाहिनी आँख से देखी हुई वस्तु को उसी रूप में बांयी आँख से स्वीकार करना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, इन भावों का होना—ये परमात्मा (पुरुष) के लिंग (लक्षण) हैं। क्योंकि उपर्युक्त ये लिंग जीवित पुरुष में प्राप्त होते (दिखलायी देते) हैं न कि मरे हुए शरीर में, इसलिये शरीरशास्त्र के रहस्य को जानने वाले महर्षियों ने जीवात्मा के उक्त लक्षण कहे हैं।

वक्तव्य—ऊपर जो अव्यक्त पुरुष के लक्षणों की चर्चा की गयी है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—
प्राणापानौ—यहाँ प्राण तथा अपान केवल दो शरीरस्थ वायुओं के नामग्रहण से सभी वायुओं की सत्ता स्वीकार
की गयी है। **निमेषाद्याः**—यहाँ आदि शब्द से क्रम-प्राप्त उन्मेष का भी ग्रहण किया गया है। उक्त प्राणायाम
से अहंकारपर्यन्त सभी भाव सूक्ष्म आत्मा के लक्षण हैं।

महर्षि कणाद का मत—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना-
श्चात्मनो लिङ्गानि'। वैशेषिकदर्शन। प्राण, अपान से लेकर अहंकारपर्यन्त भावों का सञ्चालक आत्मा है, इसके
बिना उक्त सभी भाव निष्क्रिय होते हैं जैसे—लोहार के पास धौंकनी है, परन्तु जब तक वह उसको चलाता नहीं
तब तक उससे हवा नहीं निकलती, इसी तरह शरीरस्थित प्राण आदि वायुओं का सञ्चालन आत्मा द्वारा होता
है, स्वयं नहीं। निमेष, उन्मेष भी आत्मा के प्रयत्न से ही होते हैं। मृत पुरुष में निमेष, उन्मेष क्रिया नहीं
होती है। यही आत्मा मन सहित इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों के ग्रहण की गति प्रदान करती है।

इन्द्रियान्तरसञ्चारः—इसी आशय का प्रतिपादन महर्षि कणाद ने वैशेषिकदर्शन में 'इन्द्रियान्तर-
विकार' शब्द द्वारा किया है। अर्थात् अम्लपदार्थ को देखने से आँख तथा इन्द्रियान्तर (दूसरी इन्द्रिय) रसना
में भी लालास्राव (लार-टपकना) रूप विकार दृष्टिगोचर होता है। इस 'इन्द्रियान्तर संचार' में आत्मा की ही
प्रधानता होती है। स्वयं इन्द्रिय जड़ है और मन प्रमाथी है, इन सबको यथोचित मार्ग में प्रवृत्त करनेवाली
केवल आत्मा है।

पञ्चत्वग्रहणं तथा—न्यायशास्त्र में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार से वर्णित है—'आत्मा
मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन ततो ज्ञानम् उत्पद्यते'। अर्थात् आत्मा का मन के साथ, मन् का
उस-उस इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अपने अर्थ (विषय) के साथ जब संयोग होता है, तब उस-उस
विषय का ज्ञान उस-उस क्षण में होता है। अतः प्रत्येक विषय के ज्ञान में आत्म-मनः संयोग असमवायि-
कारण होता है। जिस प्रकार मृत अवस्था में आत्म-मनः संयोग के अभाव में इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं होता,
वैसे ही मन (इन्द्रिय) को मरण ज्ञान भी नहीं हो सकता। यहाँ देशान्तर-गमन मन का कार्य बतलाया गया है।
गमन-क्रिया से मन की 'सक्रियता' का बोध होता है। आगे पञ्चत्व का अर्थ है 'मृत्यु', अर्थात् मन
मृत्यु का ग्रहण करता है—मन मर जाता है। वास्तव में मन चेतन नहीं, अत एव उसमें 'मृत्युधर्म' नहीं रहेगा,
फलतः यहाँ 'पञ्चत्व' शब्द से 'निष्क्रियत्व' का ग्रहण अपेक्षित है। सुषुप्तिकाल में मन का प्रवेश 'पुरीतत्'
नामक नाड़ी में हो जाता है, जिसके कारण वह उतने समय के लिये पूर्णरूपेण निष्क्रिय हो जाता है। मनुष्य
सामान्य निद्रा की स्थिति में ही स्वप्न देखता है, इसी स्थिति में स्वप्नदोष भी होता है। इसके विपरीत गाढ़-
निद्रा में सोया हुआ पुरुष दूसरे दिन जगने पर कहता है—'सुखम् अहम् अस्वाप्सम्, न अहं किञ्चिद्
अवेदिषम्'। मैं सुखपूर्वक सोया था, उतने समय तक का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान का न होना
ही मन की निष्क्रिय अवस्था है।

उक्त पाठ पर ध्यान दें—**'देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्व ग्रहणं तथा'** यहाँ 'स्वप्ने' शब्द का 'मध्यम-
मणिन्याय' से पूर्व तथा पर दोनों पदों के साथ समान सम्बन्ध है, अतएव 'स्वप्ने' शब्द का बीच में प्रयोग किया
है, अन्यथा भाव-स्पष्टीकरण के लिये 'स्वप्ने देशान्तरगतिः' पाठ अधिक उचित होता। इसी की पुष्टि 'तथा' शब्द
भी कर रहा है, इस दृष्टि से—चक्रपाणिदत्त द्वारा निर्दिष्ट **'पञ्चत्वग्रहणम्'** का अर्थ **'मरणज्ञानम्'** विचारणीय
विषय हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान-प्रकार—महर्षि आत्रेय ने इस ज्ञान को इस प्रकार दर्शाया है—'दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा
सव्येनावगमस्तथा', अर्थात् यह वही पदार्थ है जिसको हमारी दाहिनी आँख ने देखा था, वही पदार्थ बाईं आँख
से देखने पर भी समझा जा रहा है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति की आँख जिस पदार्थ को देखे
उसे दूसरे व्यक्ति की आँख भी वैसा ही देखे और दोनों को समान अनुभव हो। अत एव इन्द्रिय, मन से भिन्न
आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। इसका समर्थन महर्षि गौतम ने इस प्रकार किया है—**'सव्यदृष्ट-
स्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्'**। न्यायदर्शन।

ऊपर प्राण-अपान आदि से लेकर अहंकारपर्यन्त जो आत्मा (परमात्मा) के लक्षण बतलाये हैं वे सब
जीवित पुरुष में ही देखे जाते हैं, न कि मृत पुरुष में, क्योंकि मृत व्यक्ति में आत्मा का सर्वथा अभाव होता

है। अत एव शरीर के अवयवों के रहते हुए भी उसमें प्राग-अपान का सञ्चार तथा निमेष, उन्मेष आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं।

शरीरं हि गते तस्मिञ शून्यागारमचेतनन् । पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ ७४ ॥

पञ्चत्व की निरुक्ति—उस आत्मा के शरीर से निकल जाने पर यह शरीर शून्य आगार (गृह) जैसा प्रतीत होता है और अचेतन (चेतनारहित) हो जाता है, उस समय इस शरीर मे केवल पञ्चमहाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) शेष रह जाते हैं, अत एव वह शरीर पञ्चतत्व को प्राप्त (मृत) हो गया, ऐसा कहते हैं।

वक्तव्य—इसी अध्याय के आरम्भ में बतलाया गया है कि 'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः', पुरुष षड्धातु के समूह से निर्मित होता है। उक्त छः धातुओं में से जब चेतनाधातुरूप 'आत्मा' शरीर से निकल जाती है, तब पाँच तत्व शेष रह जाते हैं। इसी को पञ्चत्व (मरण) कहा गया है, क्योंकि ये पाँचों तत्व जड़ (अचेतन) हैं, अत एव निष्क्रिय होते हैं।

शून्यागारम्—गृहपति (शरीर में आत्मा गृहपति के रूप में रहता है, अतः उस) से रहित घर जिस प्रकार सूना, गतिहीन होता है या दिखलायी देता है, उसी प्रकार आत्मारहित यह शरीर अचेतन हो जाता है, क्योंकि उसमें से चेतनाधातु निकल गया है।

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः । युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥७५॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते । अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥७६॥

९. निष्क्रिय आत्मा सक्रिय कैसे ? ('निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथम्'। च० शा० अ० १।६।) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—मन अचेतन होता हुआ भी क्रियावान् होता है और पर (आत्मा) चेतयिता (चेतना प्रदान करने वाला) है। जब उस आत्मा का मन से संयोग होता है, तो सभी प्रकार की क्रियाएँ होने लगती हैं। अतः सभी प्रकार की क्रियाओं का निर्देशक आत्मा को ही माना जाता है, क्योंकि आत्मा चेतनावान् होता है इसीलिये वह कर्त्ता कही जाती है और मन अचेतन है अतः वह क्रियावान् भी नहीं कहा जाता।

वक्तव्य—ऊपर निष्क्रिय (स्वयं कार्य न करने वाली) आत्मा सक्रिय कैसे कही गयी है—प्रश्न का उत्तर दिया गया है। यहाँ आत्मा की सक्रियता एक शृंखलाबद्ध योजना के रूप में चर्चित है। यथा—आत्मा (चेतयिता) अचेतन किन्तु क्रियाशील मन को इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) की ओर कार्य करने के लिये प्रेरित करता है तो मन अपने अनुकूल कार्यों को कराता है, यह कार्य-सम्पादित होने का स्वरूप है।

निष्क्रिय आत्मा की सक्रियता—यहाँ आत्मा, प्रधान पुरुष के रूप में वर्णित है। जैसे कोई पुरुष किसी ग्रन्थ की रचना करता है तो सर्वप्रथम आत्मा उसके मन को, मन कर्मेन्द्रिय (हाथ) को और हाथ मनोयोग पूर्वक स्याही युक्त लेखनी को कागज में लिखने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार रचित उक्त ग्रन्थ का कर्त्ता वह पुरुष कहा जायगा, नकि उसके उपादान कारण। प्रधान पुरुष सदैव चेतना देकर दूसरों से कार्य कराता है, अत एव जिस प्रकार वह उस काय का कर्त्ता कहा जाता है, उसी प्रकार प्रधान पुरुष की भांति वह निष्क्रिय होता हुआ भी सक्रिय कहा जाता है। मन को सक्रिय इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्वयं 'अचेतन' है। जैसे ग्रन्थ-लेखन में हाथ, लेखनी, स्याही आदि पदार्थों को ग्रन्थ का लेखक या रचयिता नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार कार्यशील होने पर भी मन को क्रियावान् नहीं कहा जा सकता।

यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु ।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी नह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः ॥ ७७ ॥

१०. यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्ट योनियों में क्यों जन्म लेता है ? ('स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते'। च० शा० अ० १।६) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—प्राणिमात्र अपने-अपने कर्म (सत्कर्म अथवा असत्कर्म) के अनुसार आत्मा को सभी (ऊँच, नीच) योनियों में (जाकर) प्राणों से युक्त करता है, क्योंकि इसका कोई तन्त्रक नहीं है।

वक्तव्य—आत्मा का तन्त्रक (नियामक) दूसरा कोई नहीं है। यह शुभाशुभ कार्य करने में तो पूर्ण स्वतन्त्र है, किन्तु उच्च योनि में अथवा नीच योनि में जन्म लेना उसके वश का कार्य नहीं है; वह तो कर्मानुसार ही होता है, क्योंकि कर्मफलों को भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं है। यथा—'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते'। यह आत्मा जैसा कर्म करती है, वैसा फल भोगती है।

आत्मा से आत्माओं की उत्पत्ति—'निःसरन्ति यथा लौहपिण्डात् तप्तात् स्फुलिङ्गकाः। सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि'। याज्ञवल्क्यसंहिता। अर्थात् जिस प्रकार एक तपे हुए लौहपिण्ड को पीटने से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार एक आत्मा से अनेक आत्माओं की उत्पत्ति होती है। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार 'तपाया हुआ लौहपिण्ड मूल आत्मास्वरूप है और उससे निकलने वाले स्फुलिंग (चिनगारियाँ) उसी के अंश रूप आत्माएँ हैं'। ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा का नित्यत्व नष्ट हो जायगा, क्योंकि स्फुलिंगजनित आत्मा का अगले क्षण में ध्वंस (विनाश) हो जाता है। इसी लिये वेदान्त मत को स्वीकार करने वाले समस्त चेतनसृष्टि में उसी आत्मा के प्रातिभासिक स्वरूप को घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में स्वीकार करते हैं।

स्पष्टीकरण—जैसे जल, आदर्श आदि मे एक सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब दिखलायी देते हैं, उसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न भिन्न शरीरों में प्रतिभासित होती है नकि उसके उतने भेद होते है, क्योंकि आत्मा एक है।

शुभाशुभकर्मों की प्रवृत्ति—'तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित् कर्म किञ्चित स्वभावतः। करोति किञ्चिदभ्यासाद् धर्माधर्मोभयात्मकम्' ॥ याज्ञवल्क्यसंहिता। वह चेतन आत्मा कुछ कर्मों को स्वयं करती है, कुछ कर्मों को स्वभाव (जिस जाति, कुल आदि में जन्म लिये रहती है, उस) के अनुसार और कुछ अभ्यासवश (जैसे कार्यों को करने की आदत पड़ गयी हो, तदनुसार) धार्मिक अथवा अधार्मिक कार्यों को करती है। अधार्मिक कार्यों को करने के ही कारण वह अनिष्ट (अशुभ) योनियों में जन्म लेती है। इन अनिष्टयोनियों को पापयोनि अथवा भवयोनि की संज्ञा प्राप्त है।

वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते । वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति ॥७८॥

११. यदि आत्मा वशी है तो उसे कष्टप्रद भाव बलात् कैसे दबा लेते हैं ? ('वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते बलात्'। च० शा० अ० १।७) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—वशी (सर्वथा स्वाधीन) आत्मा जो शुभ अथवा अशुभ कार्य करती है, उसे करके वह उसके (शुभ या अशुभ) फल का भी उपभोग करती है। यही (आत्मा) मन को समाधिस्थित कर देती है, अर्थात् सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों के निरोध में आत्मा ही कारण होती है और वशी (आत्मा) अपनी इच्छा के अनुसार सभी का त्याग कर देती है।

वक्तव्य—यहाँ वशी (आत्मा) के तीन कार्यों का उल्लेख किया है—१. वशी (आत्मा) जो कार्य करती है उसे करने के बाद स्वयं उसका फल भोगती है, २. चेतः समाधान और ३. सभी कर्मों का त्याग। महर्षि कणाद ने आत्मा के लिंगों (लक्षणों) का उल्लेख इस प्रकार किया है—'सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।' वैशेषिकदर्शन। अर्थात् सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये आत्मा के लक्षण हैं। जब आत्मा सुख भोग की इच्छा से सत्कर्म करती है, तो वह स्वर्गप्राप्ति आदि सत् फलों को भोगती है और जब वह अपनी इच्छा से असत् कर्मों की ओर प्रवृत्त होती है तो नरकगमन आदि असत् फलों का उपभोग करती है, यही कारण है कि वह बलात् असुखकर भावों से आक्रान्त होता है। जब आत्मा में द्वेष लक्षण की प्रधानता होती है, अर्थात् जब वह सांसारिक विषय-वासनाओं से द्वेष कर सभी प्रकार के प्रेय पदार्थों से विरक्त हो जाती है, तब वह चित्त को समाधि (एकाग्रता) की ओर प्रवृत्त करती है। ऐसी स्थिति सत्वगुण के उदय होने पर ही आत्मा की होती है।

वास्तव में मानव-शरीरस्थित इस वशी (आत्मा) की ये परिवर्तनशील स्थितियाँ हैं—वह पहले असत् कर्मों, जो प्रायः सरल होते हैं, को करके उनका फल भोगती है, तदनन्तर उसको सत् कार्यों को करने की इच्छा होती है, इनके क्षणभंगुर स्वरूप को समझने के पश्चात् वह चित्त को समाधिस्थ कराकर सांसारिक सभी सुख-भोगों का त्यागकर उस मानव को भवबन्धन से मुक्त करा देती है। अपने द्वारा किये कर्मों का भोग किये बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। देखें—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' ॥ सुभाषित। अर्थ स्पष्ट है।

देही सर्वगतोऽप्यात्मा[1] स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये ।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थातु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः ॥ ७९ ॥

१२. सर्वगत आत्मा सभी पीड़ाओं को क्यों नहीं जानती ? ('सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः' । च० शा० अ० १।७) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—यद्यपि आत्मा सर्वगत (विभु होने के कारण सर्वत्र व्याप्त) होती है, तथापि यह देहगत आत्मा अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में अपने शरीर की स्पर्शनेन्द्रिय से ही सम्बन्ध रखती है । अतः वह सभी शरीरों में स्थित सभी प्रकार की वेदनाओं को नहीं जानती है ।

वक्तव्य—अग्निवेश का प्रश्न यह था कि आत्मा विभु है, अतः वह सभी मनुष्यों को सभी प्रकार की वेदनाओं को क्यों नहीं जानती है ? हम अनेक स्थानों पर आत्मा के ज्ञान-प्रकार की चर्चा इस प्रकार कर चुके हैं—आत्मा का मन के साथ और मन का तत्-तत् इन्द्रियों के साथ जब संयोग होता है । तब उस-उस विषय का ज्ञान उस-उस क्षण में होता है । विशेषता यह है कि यहां आत्मा का एक विशेषण 'देही' दिया गया है, अर्थात् प्रत्येक देह में स्थित आत्मा उक्त ज्ञान-प्रकार के अनुसार उस-उस देह के सुख-दुःख का ही ज्ञान करने में समर्थ होती है, दूसरे के देह के सुख-दुःख के ज्ञान में नहीं ।

संस्पर्शनेन्द्रिय—यहाँ संस्पर्शनेन्द्रिय से केवल त्वगिन्द्रिय का बोध न करके सभी प्रकार की शरीर से संस्पृष्ट इन्द्रियों को समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में महर्षि याज्ञवल्क्य का मत अत्यन्त स्पष्ट है—'वेत्ति सर्वगतां कस्मात् सर्वगोऽपि न वेदनाम् । सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम्' ॥ याज्ञवल्क्यसंहिता ।

विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् ।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥ ८० ॥

१३. विभु पर्वत आदि की ओट में स्थित पदार्थों को क्यों नहीं देखता ? ('न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम्' । च० शा० अ० १।८ ।) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—क्योंकि यह आत्मा सर्वगत है, महान् (महतो महीयान् = बड़े से भी बड़ा) है, अतएव इसमें विभुत्व (व्यापकत्व) गुण विद्यमान है, यह आत्मा चञ्चल मन का समाधान कर लेने से, अर्थात् जब यह मन को समाधिस्थ कर लेती है, तब यह पहाड़, दीवाल आदि से ओझल पदार्थों को भी देख लेती है और जब तक मन समाधिस्थ नहीं हो पाता, तब तक नहीं देख पाती है ।

वक्तव्य—यद्यपि आत्मा व्यापक है किन्तु जब वह देह धारण कर लेता है तो वह उस देह की सभी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध हो जाता है, अतः उसकी शक्तियाँ भी उस देह के अनुरूप हो जाती हैं । देहस्थ आत्मा की ज्ञान-परम्परा है—आत्मा का मन से और मन का इन्द्रियों से संयोग होना । मन अत्यन्त चञ्चल होता है । अर्जुन श्री कृष्ण से कह रहे हैं—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्' ॥ गीता । अतः मन की अस्थिरता ही पहाड़ तथा दीवाल आदि की ओट में स्थित वस्तुओं को न देख पाने में कारण है । हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं फिर भी मन का व्यवधान पड़ जाने से किसी के ओट में होने वाली वस्तुओं का साक्षात्कार नहीं कर पातीं, इसी प्रकार अध्यात्मदर्शन श्रवण आदि में भी वे अक्षम होती हैं । इसके विपरीत योगी पुरुषों की ये ही इन्द्रियाँ सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों को करामलकवत् किये रहती हैं । त्रिकालज्ञान इनका वशंवद रहता है । शास्त्र इसके प्रमाण हैं, देखें—**'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः'** । पातञ्जलयोगसूत्र ।

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना । सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ ८१ ॥

मन से आत्मा का सम्बन्ध—देह और कर्म का अनुसरण करने वाले मन के साथ आत्मा का नित्य सम्बन्ध है । ऐसी आत्मा को एक योनि (मनुष्य आदि ८४ लाख योनियाँ होती हैं) में स्थित होने पर भी सभी योनियों में स्थित समझना चाहिये ।

---

१. 'देहे सर्वगतश्चात्मा' इति पा० ।

वक्तव्य—उक्त पद्य में मन से आत्मा के नित्य सम्बन्ध का चर्चा की गयी है । यहाँ नित्य की अवधि मोक्ष-प्राप्ति के पूर्वकाल तक ही स्वीकार करनी चाहिये । इसका विशेष विवेचन सुश्रुत शारीरस्थान अध्याय ३।४ में देखें ।

सर्वयोनिगतं विद्यात्—एक योनि में स्थित होते हुए भी यह आत्मा सभी योनियों में व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये । आचार्य चक्रपाणि उक्त अंश के व्याख्यान में सर्वथा मौन हैं । अन्य टीकाकारों ने कुछ लिखकर काम आगे बढ़ा दिया है । **ध्यान दें**—'एकयोनौ स्थितम् अपि सर्वयोनिगतं विद्यात्' । इस पद्यांश का ऊपर टीका में दिया हुआ जैसा अर्थ करने पर अनेक आपत्तियाँ आ जायेंगी । यथा—यदि हम एक (पुरुष) योनि में स्थित आत्मा को **'सर्वयोनिगत'** कूकर, शूकर आदि के रूप में स्वीकार करेंगे तो, उक्त एक पुरुष की आत्मा मन तथा इन्द्रियों के संयोग से जो कार्य करेगी, जिस विषय का विचार करेगी उसी कार्य तथा उसी विचार को अन्य योनियों में स्थित आत्मा को भी करना पड़ेगा, जो व्यवहार में देखा नहीं जाता ।

उदाहरण—एक योनि में स्थित 'राम' की आत्मा जिस काल में मन तथा इन्द्रियों के संयोग से शयन कार्य करती है, उसी काल में 'सर्वयोनिगत' (कुत्ता, बिल्ली गाय, भैंस आदि) आत्माएँ शयन-कार्य करते नहीं देखी जातीं । यह उक्त शास्त्र का प्रत्यक्षतः विरोध उपलब्ध होता है । महर्षि आत्रेय का ऐसा स्खलन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, अतः इसका समाधान इस प्रकार किया जारहा है—वर्तमान काल में जो आत्मा जिस योनि में स्थित है, कालान्तर में (मृत्यु के पश्चात्) वही आत्मा जलज, स्थलज आदि की आत्मा के रूप में भी देखी जाती है ।

योनियाँ—प्राणियों की योनियों का विभाजन पौराणिक दृष्टि से इस प्रकार है—१. जलजन्तु ९ लाख, २. स्थावर २० लाख, ३. कृमि ११ लाख, ४. पक्षी १० लाख, ५. पशु ३० लाख और ६. मनुष्य ४ लाख हैं । इस प्रकार कुल सृष्टि को ६ भागों में विभक्त कर उनकी संख्या का परिगणन किया गया है । यही मत सर्वमान्य है ।

आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम् । अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते ॥८२॥

१४. क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्र में पहले किसकी उत्पत्ति हुई है ? ('क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः' च० शा० अ० १।८) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—आत्मा का आदि (कब इसकी उत्पत्ति हुई इसका कहीं कोई वर्णन) नहीं है तथा क्षेत्र (देह) की परम्परा भी अनादि है । इस प्रकार उक्त दोनों के अनादि होने से इन दोनों में कौन पहले है और कौन बाद में है, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है ।

वक्तव्य—उक्त प्रश्न के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही अनादि जैसे प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का आदि नहीं है और शरीर (क्षेत्र) की परम्परा भी आदि काल से चली आरही है, अतः इन दोनों में कौन प्रथम है ? इसका उत्तर अगले पद्य द्वारा दिया जारहा है ।

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः ।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥ ८३ ॥

१५. आत्मा के अतिरिक्त जब अन्य कर्त्ता नहीं है, तो यह किसका साक्षी है ? ('साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते', च० शा० अ० १।१०) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—ज्ञानी को साक्षी कहा जाता है नकि अज्ञानी को, क्योंकि आत्मा को ज्ञानी माना गया है । सब भूतों (आकाशादि पाँच) के सभी भाव (कार्य) आत्मा की देख-रेख में होते हैं ।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में ज्ञ = ज्ञानी को साक्षी (Witness) कहा गया है । साक्षी वही हो सकता है, जो जिसके पहले विद्यमान हो । अतः क्षेत्रज्ञ (आत्मा) अनादि होने के कारण क्षेत्र (आकाश आदि पञ्च धातुओं तथा महत् तत्त्व आदि चौबीस तत्वों से निर्मित शरीर) का साक्षी कहा जाता है । उक्त पद्य में **'कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते'** इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर भी नहीं दिया गया है । वास्तव में तन्त्रकार की दृष्टि से कोई विषय छूट नहीं सकता था, विवेचक भले ही विषय को स्पष्ट न कर सकें । यहाँ पंच महाभूतों तथा महत् तत्त्व आदि के सभी कार्यों का कर्त्ता आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं हैं, क्योंकि आत्मा चेतना धातु है । जैसे—बसूला, बर्मा, आरी, छेनी आदि के कार्यरूप कुर्सी का कर्त्ता बढ़ई को कहा जाता है, वैसे ही सभी

कार्यों का कर्त्ता आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं है। इसका विशेष विवेचन इसी अध्याय के श्लोक संख्या ७५-७६ के वक्तव्य में देखें।

नैकः कदाचिद् भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते। विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥ ८४ ॥
संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः। वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः ॥ ८५ ॥

१६. निर्विकार (आत्मा) को वेदना विशेष का ज्ञान कैसे होता है? ('स्यात् कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः'। च० शा० अ० १।१०) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—अकेली भूतात्मा (पंच-महाभूत रहित जीवात्मा) को हम शास्त्र में वर्णित उसके लक्षणों द्वारा कभी भी नहीं जान सकते। उस अकेली (निर्विकार) आत्मा (जो परमात्मा स्वरूप है) में कोई (सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि) विशेष लक्षण नहीं होते। केवल संयोगपुरुष (महत् आदि चौबीस तत्त्वों के संयोग से निर्मित राशिपुरुष) में वेदनाकृत विशेषता होती है। जिस राशिपुरुष में वेदनाएँ नियत (निश्चित) हैं, उस राशिपुरुष में ही वेदनाजनित सुख-दुःख भी होते हैं।

वक्तव्य—आत्मा निर्विकार तथा निर्लेप है। वह अपनी इच्छा से विकारवान् होता है। जब यह आत्मा पञ्चमहाभूतों से अथवा महद आदि चौबीस तत्त्वों से संयोग को प्राप्त होता है, तब यह सविकार कहा जाता जाता है। इसी स्थिति में सुख-दुःख आदि विकारों के इसमें दर्शन होते हैं। निर्विकार स्थिति में यह आत्मा पद्म-पत्र की भांति निर्लेप रहती है। अतएव इसमें प्राण, अपान आदि वायु और निमेष, उन्मेष आदि पूर्वोक्त क्रियाएँ तथा कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते।

आत्मा—जीवात्मा, परमात्मा भेद से यह दो प्रकार का होता है। **परमात्मा**—इसको ईश्वर, सर्वज्ञ तथा एक स्वीकार किया गया है। **जीवात्मा**—प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से स्थित, विभु (व्यापक) और नित्य है। निर्विकार आत्मा के नित्य गुण तीन हैं— १. बुद्धि, २. इच्छा और ३. प्रयत्न। सविकार (राशिपुरुष) के विशेष गुण ये हैं—१. बुद्धि, २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. धर्म तथा ८. अधर्म। अत-एव तन्त्रकार ने **'विशेषो वेदनाकृतः'** का निर्देश किया है। जिस राशिपुरुष को वेदनाओं का अधिष्ठान माना है, उसमें आकाशादि महाभूतों का अथवा महत्तत्व आदि चौबीस तत्त्वों का संयोग ही कारण होता है। वेदनाएँ इस संयोगज पुरुष में ही होती हैं। इसका उल्लेख आगे इसी अध्याय के १२६ वें श्लोक में देखें।

निर्विकार आत्मा में वेदनाओं का न होना और सविकार में वेदनाओं का होना, इस विषय को ऐसे समझें- **निर्विकार**—(विकाररहित अवस्था, अथवा दोषों की विषमता की स्थिति का नाम विकार है, उससे रहित) आत्मा में किसी प्रकार की विकृति का न होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह शुद्ध अतएव निष्कलष है। **सविकार**—संयोगज पुरुष या राशिपुरुष ही वेदना का अधिष्ठान है अतएव इसको 'सविकार' कहते हैं। **उदाहरण**—घृत तथा मधु ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र रूप से सेवन किये जाते हैं। न घी में मारकता है और न मधु में, यह शास्त्रसिद्ध है। किन्तु दोनों को सम मात्रा में मिला देने पर होने वाली मारकता की उत्पत्ति केवल संयोगज है, इसी प्रकार सविकार आत्मा में होने वाली वेदनाजनकता संयोग का ही परिणाम है।

चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति।
यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम् ॥ ८६ ॥

वैद्य त्रैकालिक वेदनाओं में किसकी चिकित्सा करता है? ('तिसृणां कां चिकित्सति।' च० शा० अ० १।११) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—वैद्य तीनों कालों में होने वाली वेदनाओं की जिस युक्ति से चिकित्सा करता है, उस युक्ति को धारण करो। कुछ प्रमुख आचार्य उन युक्तियों का व्याख्यान (इस प्रकार) करते हैं।

वक्तव्य—यहाँ महर्षि आत्रेय ने अपना मन्तव्य न देकर **'वदन्त्येके'** अन्य कायचिकित्सा के प्रमुख आचार्यों का मत उद्धृत किया है। 'एके मुख्यान्यकेवलाः'। अमरकोष। यहाँ **'एक'** शब्द सङ्ख्यावाचक न होकर प्रधान अर्थवाचक है, क्योंकि संख्यावाचक **एक** शब्द नित्यएकवचनान्त ही होता है, दूसरे अर्थ में इसके रूप सभी वचनों में होते हैं।

पुनस्तच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः। पुनः स कासो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता ॥८७॥
एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम्। कालश्चायमतीतानामर्तीनां पुनरागतः ॥८८॥
तमर्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत् प्रयुज्यते। अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते ॥८९॥

१७. वैद्य अतीतकाल की वेदनाओं की चिकित्सा करता है? ('अतीतां वेदनां चिकित्सति'। च० शा० अ० १।११) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—रोगी या उसके अभिभावकों को यह कहते सुना जाता है कि इसको फिर वही शिरःशूल हो गया है, वही ज्वर फिर आ गया है, फिर वही जोरदार खांसी हो गयी है और फिर वही छर्दि (वमन) रोग प्रारम्भ हो गया है। उक्त प्रकार के प्रसिद्ध वचनों के अनुसार अतीत (भूत) काल से चले आने वाले उन रोगों का क्रम निश्चित किया जाता है, क्योंकि यह अतीत (बीती हुई) पीड़ाओं का ही समय माना जाता है। अतः उस (बीते हुए) पीड़ा के काल को लक्ष्य करके जो औषधोपचार किया जाता है, वह अतीत वेदनाओं का ही प्रशम (चिकित्सा) कहा जाता है।

वक्तव्य—ऊपर शिरःशूल, ज्वर, कास (कूकर खांसी) छर्दि रोगों की अतीतकाल की वेदनाओं के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया गया है। वास्तव में कोई रोग न तो एकदोषज होता है और न एक दिन में शान्त ही होता है। अतः जब भूतकाल से चली आयी व्याधि की वैद्य चिकित्सा करता है, तब यह अतीतकालिक चिकित्सा कही जाती है। निष्कर्ष यह है कि जिस रोग का जन्म भूतकाल में हुआ हो वही रोग यदि वर्तमान काल में पुनः हो गया हो तो उसकी चिकित्सा 'अतीतकाल' की वेदना की चिकित्सा कही जायेगी।

आपस्ताः पुनरागुर्मा याभिः शस्यं पुरा हतम्। यथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाऽऽश्रये ॥९०॥
पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम्। या क्रिया क्रियते सा च वेदना हन्त्यनागताम् ॥

१८. वैद्य भविष्यत् काल की वेदनाओं को चिकित्सा करता है? ('भविष्यतीं वेदनां चिकित्सति' च० शा० अ० १।११) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—उस प्रकार की निरन्तर वर्षाएँ (अतिवृष्टियाँ) फिर न हो जायें, जिनसे पहले के शस्य (बरसाती फसलें—सतुधान्य) नष्ट हो गये थे, इसके प्रतीकार के लिए जिस प्रकार पहले से बाँधों की व्यवस्था कर ली जाती है, उसी प्रकार हम भविष्य में होने वाले विकारों की चिकित्सा के लिये जागरूक रहते हैं। भविष्यत् काल में होने वाले विकारों के पूर्वरूपों को देखकर जो चिकित्सा की जाती है, वह भविष्य में होने वाले रोगों का विनाश करती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय भविष्यत् काल में रोगों की उत्पत्ति ही न हो सके, इसलिये पूर्वरूप की स्थिति में ही 'उत्पित्सुरामय' का ही प्रतीकार करते हैं, महर्षि का यह विचार सर्वथा अवनत है। सुश्रुतसंहिता उत्तर-तन्त्र अ० ३९।११९ में जो अन्य आचार्यों के मत इस प्रकार दिये हैं कि कुछ आचार्य ज्वर में ७ दिन के बाद तथा दूसरे आचार्य १० दिन के बाद औषध देने की सलाह देते हैं, वह आज के इस व्यस्त युग में जब कि लोगों को मरने की भी फुर्सत नहीं है, आदरणीय प्रतीत नहीं होते। यद्यपि आमदोष में की गयी ज्वरचिकित्सा हानिकारक होती है, आगे इसके अनेक प्रमाण दिये हैं किन्तु पूर्वरूपकाल में दोषों की स्थिति उतनी गौरवपूर्ण नहीं होती है।

पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते। सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते ॥९२॥
न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च। हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥९३॥
युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्।
हन्तीत्युक्तं चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम् ॥ ९४ ॥

१९. **वैद्य वर्तमानकाल की वेदनाओं की चिकित्सा करता है?** ('वर्तमानां वेदनां चिकित्सति' च० शा० अ० १।११) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—सुखदायक कारणों का निरन्तर सेवन करने से दुःखों का पारम्परिक अनुबन्ध (पीछे लगा रहना) समाप्त हो जाता है तथा सुखद भावों की प्रवृत्ति होने लगती है। सम धातुएँ स्वयं (बिना किसी कारण के) न विषमता को प्राप्त होती है और न विषम धातुएँ समता को प्राप्त होती हैं, क्योंकि देहस्थित धातुएँ हेतुओं के अनुरूप ही उत्पन्न होती हैं। इस युक्ति को आधार मानकर ही वैद्य त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) में स्थित रोगों का विनाश करता है, क्योंकि उपधा रहित चिकित्सा को नैष्ठिकी चिकित्सा कहते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य में पारम्परिक दुःखों की निवृत्ति तथा सुखों की प्रवृत्ति की चर्चा निर्दिष्ट है। यहाँ दुःख शब्द से विविध प्रकार के रोगों का संकेत किया है और सुख शब्द से स्वास्थ्य या स्वस्थ जीवन अभिप्रेत है। **पारम्पर्यानुबन्ध**—दुःखद कारणों का निरंतर सेवन दुःख की परम्परा को स्थापित करता है तथा सुखद कारणों का निन्तर सेवन सुख की परम्परा को स्थापित करने में कारण होता है। क्योंकि दुःखद अथवा सुखद जैसे कारणों का सेवन किया जायेगा, वे कारण अपने सदृश स्थिति को उत्पन्न करने में सहायक होंगे। जब दुःखद कारणों के सेवन का सर्वथा अभाव हो जायगा अर्थात् हितकर आहार-विहार का जब सेवन करने लगेगा तो दुःखों (रोगों) का नाश, इनके विपरीत सुख (स्वास्थ्य) की उत्पत्ति स्वयमेव होगी। यही वर्तमान रोगों की चिकित्सा है।

देहधातुएँ—असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग तथा प्रज्ञापराध को रोगोत्पत्ति में कारण बतलाया गया है। क्योंकि इनसे सम धातुएँ विषम हो जाती हैं और इसके विपरीत स्वस्थवृत्त का विधिवत् सेवन करने से विषम दोष सम होते हैं और समता की स्थिति चिरकाल तक बनी रहती है, इसलिये अपेक्षित हेतु सदृश कार्य करना चाहिये। क्योंकि भावों का स्वभाव नित्य गमनशील होता है। इसका विशेष व्याख्यान हम चरकसंहिता सूत्रस्थान के चिकित्साप्राभृतीय नामक १४ वें अध्याय में कर चुके हैं। अतः भिषक् त्रिकाल वेदनाओं का निराकरण करता है। यही युक्ति है।

विनोपधाम्—'उपायपूर्व आरम्भ उपधा' तथा 'उपधा धर्माद्यैर्यत् परीक्षणम्। अमरकोष। कोषकार की दृष्टि से ऊपर 'उपधा' शब्द के दो अर्थ हैं—१. उपायपूर्वक किसी भी कार्य का आरम्भ करना और २. राजा द्वारा धर्म, अर्थ, काम का भय दिखलाकर जो सत्य अथवा असत्य का निर्णय किया जाता है। महर्षि कणाद के अनुसार-'भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा'। वैशेषिक दर्शन। उपर्युक्त भावदोष तीन प्रकार के होते हैं—१. राग, २. द्वेष और ३. मोह। ध्यान लगाकर विचार करने पर कोषकार के वचन भी प्रसंगप्राप्त अर्थ का सहयोग कर रहे हैं। इसका समर्थन तन्त्रकार ने इसी अध्याय के ५३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में किया है, देखें। उक्त राशिसंज्ञक पुरुष के १. धर्म, २. अधर्म, ३. ज्ञान, ४. अज्ञान, ५. वैराग्य, ६. अवैराग्य, ७. ऐश्वर्य और ८. अनैश्वर्य, इन आठ भावों में से ज्ञान को छोड़कर शेष सात भावों को 'उपधा' की संज्ञा दी गयी है। चक्रपाणि के अनुसार सांसारिक भोगों के प्रति तृष्णा ही 'उपधा' है।

नैष्ठिकी चिकित्सा—उपधा के बिना जो चिकित्सा होती है, उसी का नाम 'नैष्ठिकी चिकित्सा' है। त्रिविध दुःखों (१. आध्यात्मिक, २. आधिभौतिक, ३. आधिदैविक) के निराकरण के लिए जो चिकित्सा की जाती है, वह उसका ऐकान्तिक (आवश्यक) रूप है। आत्यन्तिक (फिर कभी भी दुःख उत्पन्न न हो) रूप से की जाने वाली चिकित्सा, जिससे मनुष्य के रजोगुण एवं तमोगुण की निवृत्ति हो जाय उसे नैष्ठिकी (ऐहलौकिक बन्धनों से मुक्ति देने वाली) चिकित्सा कहते हैं। अतः इस प्रकार की चिकित्सा ही त्रैकालिकी चिकित्सा कही जाती है।

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥९५॥
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्[१]। उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः ॥९६॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥९७॥

दुःख का कारण उपधा—निश्चय ही उपधा (इसका परिचय इसी प्रकरण के ९४ वें श्लोक के वक्तव्य में दिया जा चुका है।) दुःख (सभी प्रकार की व्याधियों) तथा दुःख के आश्रयस्वरूप (शरीर की उत्पत्ति) का कारण है। सभी प्रकार की उपधाओं को छोड़ना ही सभी दुःखों का विनाशक है। जैसे कोषकार (रेशम का कीड़ा) वधप्रद (अपने विनाशक) अंशुओं (रेशम के रेशों=तन्तुओं) को स्वयं उत्पन्न करता है, उसी प्रकार ज्ञान रहित (हित-अहित भावों के ज्ञान से शून्य) मानव पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के प्रति अपने में तृष्णा (उन-उन की प्राप्ति-अभिलाषा) को उत्पन्न कर लेता है, अतएव वह सदैव रोगी बना रहता है। इसके विपरीत जो पुरुष अग्नि के समान इन इन्द्रियों के विषयों को भली-भांति जानकर उनसे निवृत्त हो जाता है, तदनन्तर किसी कार्य के आरम्भ न होने से तथा शरीर का संयोग न होने से आत्मा उस दुःख को प्राप्त नहीं होती है।

वक्तव्य—ऊपर उपधा को दुःख तथा दुःख के आश्रयभूत शरीर का कारण कहा है। अन्यत्र इस विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'—यह शरीर व्याधियों का घर है। जन्म तथा पुनर्जन्म

१. 'वधावहान्' इति पा०।

इनका सनातन क्रम दुःख का मूल है। यह भी सत्य है कि मानवदेह मोक्ष का अन्तिम सोपान है। यह मोक्ष रजोगुण और तमोगुण का विनाश होने पर स्वयं हो जाता है, किन्तु इनके विनाश के लिए प्रयत्न करना आवश्यक होता है। देखें—'मोक्षो रजस्तमोऽभावाद् बलवत् कर्मसङ्क्षयात्'। च० शा० अ० १।१४२। अतः राग, द्वेष, मद, मोह आदि के मूल कारण रजस्, तमस् का परित्याग करना ही उपधा त्याग है, तभी दुःखों का विनाश हो सकता है। सुख भोगों से कभी मानव को विरक्ति नहीं होती अपितु और भी लालसा बढ़ती रहती है, अतः उनका समाधान केवल त्याग है।

अग्निकल्पान् अर्थान्—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अर्थ (विषय) होते हैं। ये अग्नि के समान विषय उन-उन इन्द्रियों के माध्यम से शरीर को जलाते हैं। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, वह सभी इन्द्रियों का रसज्ञ होता है, अतः अधिक दुःखी रहता है। पशु एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होते हैं, अतः कम दुःखी दिखलायी देते हैं। यथा—

'कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च' ॥ सुभाषित।

अर्थात् हिरण श्रवणेन्द्रिय का वशीभूत होता है, अतः वह वंशी की धुन सुनकर अपने प्राणों को खो बैठता है। मातंग (हाथी) कामी होने से फँसा लिया जाता है। पतंग (पतिंगा) चक्षुरिन्द्रिय के वश में होकर दीपक में अपनी आहुति कर देता है। भौंरा घ्राणेन्द्रिय के कारण कमलपुष्प के भीतर बन्द होकर मर जाता है। मछली रसनेन्द्रिय के वश में होने के कारण अगाध जल से पकड़ ली जाती है। इनके विपरीत मानव पाँचों इन्द्रियों का वशीभूत होता है, अतः उसको सभी विषयों की मृगतृष्णा मार डालती है। इन विषयों के आस्वाद से जब निवृत्ति होती है, तभी मानव जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। देखें—'वीतरागजन्मादर्शनात्', न्यायसूत्र। अतः जन्म के अभाव में शरीर नहीं होता और शरीर के अभाव में दुःख का भी अभाव होता है, यही मोक्ष है।

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्। असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥९८॥

२०. **वेदनाओं का क्या कारण है?** ('कारणं वेदनानां किम्'? च० शा० अ० १।१३) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—बुद्धि, धृति (धैर्य) एवम् स्मृति (स्मरणशक्ति) का भ्रंश (यथायोग्य कार्य करने की असमर्थता) काल और कर्मों की सम्प्राप्ति, असात्म्य (प्रतिकूल) अर्थों (विषयों) का संयोग इन सबको दुःखों का कारण समझना चाहिये।

वक्तव्य—धी, धृति, स्मृति इनका भ्रंश सभी प्रकार के अनर्थों का मूल है, अतः इन्हीं में वेदनाओं का भी समावेश होता है। वास्तव में त्रिविध तापों के मूल भी ये ही हैं और ये ही प्रज्ञापराध की भी आधारशिलायें हैं। इस सम्बन्ध में भगवद्गीता के ये पद्यांश महत्वपूर्ण हैं—'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। गीता अ० २।६३। तथा 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'। गीता अ० २।५०।

कालकर्मणां सम्प्राप्तिः—काल और कर्म की सम्प्राप्ति का विवेचन निम्न प्रकार है—**काल सम्प्राप्ति**—काल के योग, अतियोग अथवा मिथ्यायोग को ही कालसम्प्राप्ति कहते हैं। इसी प्रकार धी, धृति, स्मृति का अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग भी वेदनाओं की उत्पत्ति में कारण होता है। **कर्मसम्प्राप्ति**—पूर्वजन्म में किये गये अशुभ कर्मों का जब परिपाक होता है, तब भी वेदनाओं की उत्पत्ति उन-उन कर्मों के अनुसार होती है। इन कर्मज वेदनाओं की शान्ति का उपाय है—उनका भोग करना, क्योंकि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'।

असात्म्यार्थागम—इसका तात्पर्य बुद्धीन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के विषयों का अयोग, अतियोग अथवा मिथ्यायोग का ग्रहण करना है।

यहाँ उक्त श्लोक में वेदनाओं के जो कारण बतलाये गये हैं, इन्हीं की संक्षेप में चर्चा पहले इस प्रकार की जा चुकी है—'त्रीण्यायतनानि-अर्थानां, कर्मणः, कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः' ॥ च० सू० अ० ११। इसी विषय का स्पष्ट निर्देश आगे श्लोक १०२ में किया जायगा।

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते। ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥९९॥

बुद्धिविभ्रंश का लक्षण—जो बुद्धि नित्य-अनित्य में तथा हित-अहित में विषय रूप से अभिनिवेश (प्रवेश) करती है, उस बुद्धि को विकृत समझना चाहिये, इसी को बुद्धिभ्रंश कहते हैं। क्योंकि सत् तथा असत्

का विवेचन करना ही बुद्धि का लक्षण है, इसीलिये कहा है 'बुद्धिः समं पश्यति'। अर्थात् बुद्धि ठीक (जैसा है वैसा ही) देखती है।

वक्तव्य—नित्य विषयों को अनित्य और हितकारक विषयों को अहितकारक या इसके विपरीत समझना बुद्धिभ्रंश का लक्षण है यह बुद्धिभ्रंश रोग का ही नहीं अपितु विनाश (मृत्यु) का भी कारण होता है, अतएव समबुद्धि की प्रशंसा की गयी है। समबुद्धि को ही गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी है। इसका विशेष परिचय गीता अ० २ श्लोक ५४ से ६१ तक में देखें। बुद्धिविभ्रंश से होने वाले रोगों में 'अतत्वाभिनिवेश' का प्रमुख स्थान है, यही तात्पर्य विषमाभिनिवेश का भी है।

अभिनिवेश—कोषकारों ने इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में इस प्रकार किया है—१. प्रवेश, २. मनोयोग, ३. एकाग्रचिन्तन, ४. दृढ़संकल्प, ५. मृत्यु, भय तथा क्लेश।

बुद्धिः समं पश्यति—यह तन्त्रकार का लाक्षणिक प्रयोग है। पश्यति = देखना रूप क्रिया का कार्य चक्षुरिन्द्रिय का है, न कि बुद्धि का। अतः इसके समर्थन से हम पाणिनीयशिक्षा से एक पद्यांश उद्धृत कर रहे हैं—'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्', और 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' तर्कसंग्रह। अर्थात् जब ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को जानने की प्रवृत्ति आत्मा में होती है तो वह बुद्धि का सहारा लेती है, तदनन्तर देखने की इच्छा होने पर चक्षुरिन्द्रिय और बोलने की इच्छा होने पर वागिन्द्रिय को प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बारे में भी समझें। इस प्रकार किसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण करने के पूर्व आत्मा, बुद्धि तथा मन का संयोग परम आवश्यक होता है। अतः यहाँ उक्त 'पश्यति' क्रिया का प्रयोग प्रतीक रूप में समझना चाहिए, क्योंकि प्रकरणानुसार इसका अर्थ देखता है, सुनता है आदि समझा जा सकता है।

विषयप्रवणं सत्त्वं[1] धृतिभ्रंशान्न शक्यते। नियन्तुं महितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥१००॥

धृतिभ्रंश का लक्षण—मन का नियन्त्रण करने वाली धृति है, यदि धृति का भ्रंश (विनाश) हो जाता है तो विषय-वासनाओं में लगे हुए सत्व (मन) को अहित अर्थों से नहीं रोका जा सकता। अतः धृतिभ्रंश को रोग का कारण कहा गया है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में मन को अनुचित मार्गों (आहार-विहारों) से रोकने की शक्ति वाली धृति का वर्णन किया गया है, जो सत्य है। क्योंकि मन अत्यन्त चंचल होता है इसीलिये अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि मैं मन का निग्रह करना वायु के निग्रह से भी कठिन समझता हूँ। धृति (धैर्य) की प्रशंसा तो नीतिशास्त्रों में पर्याप्त मात्रा में की गयी है। सभी प्रकार की विपत्तियों के निराकरण का एक मात्र साधन है 'धैर्य'। इसीलिये कहा गया है—'त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले'। नीतिशतक।

तत्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥ १०१ ॥

स्मृतिभ्रंश का लक्षण—जिस रजोगुणी तथा मोह (तमस्) गुण वाले पुरुष की आत्मा तत्वज्ञान (ठीक-ठीक जानकारी करने) से भ्रष्ट हो जाती है, उसको स्मृतिभ्रंश (यादगार का नाश) कहते हैं। क्योंकि सभी प्रकार के स्मरणीय विषयों का आधार स्मृति ही है।

वक्तव्य—चिकित्सा-क्षेत्र में स्मृति (स्मरण-शक्ति) की आवश्यकता चिकित्सक तथा रोगी को इसलिये है कि हितकर आहार-विहारों से प्राप्त सुख एवं स्वास्थ्य का स्मरण करता हुआ व्यक्ति अहितकर आहार-विहारों का सेवन नहीं करायेगा या करेगा अथवा अहितकर आहार-विहारों से प्राप्त कष्टों का स्मरण कर उनका पुनः सेवन नहीं करायेगा। अन्यत्र भी स्मृतिशक्ति का समादर ही होता है।

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥१०२॥

प्रज्ञापराध की निरुक्ति—धी (बुद्धि), धृति (धैर्य) तथा स्मृति (स्मरणशक्ति) से रहित मनुष्य जो भी अशुभ कर्म करता है उससे वातादि तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, इसको प्रज्ञापराध समझें।

वक्तव्य—ऊपर धी, धृति, स्मृति के अलग-अलग भ्रंश होने पर रोगों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया

१. 'चित्तं' इति पा०।

है। इस पद्य में सामूहिक रूप से उनका नाम 'प्रज्ञापराध' रख दिया है। प्रज्ञापराधजनित रोगों को सान्निपातिक रोगों के समान भयंकर तथा धी, धृति आदि के भ्रंश से होने वाले रोगों को एकदोषज रोगों के समान समझा जा सकता है।

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः। सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥१०३॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्। विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम् ॥१०४॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्। परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥१०५॥
अकालादेशसञ्चारौ मैत्री सङ्क्लिष्टकर्मभिः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥१०६॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः। तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देहकर्म च ॥१०७॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्। प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते [1]व्याधिकारणम् ॥१०८॥

प्रज्ञापराध-परिचय—गतिमान् (द्रव रूप में वर्तमान) मूत्र आदि को जबरदस्ती निकलने के लिए प्रेरित करना और निकलने के लिए स्वयं प्रवृत्त (अधारणीय) वेगों को रोकना, साहसिक कार्यों का मात्रा (प्रमाण या शक्ति) से अधिक सेवन करना, स्त्रियों का (मैथुन के रूप में) अधिक सेवन करना, कार्य-काल का अतिक्रमण करना, अर्थात् समय बिताकर कार्य करना, यथा—'का वर्षा जब कृषी सुखाने, समय चूकि पुनि का पछिताने'। आदि सूक्तियाँ समय पर कार्य करने के लिए मानव मात्र को प्रेरित करती हैं। विनय (गुरुजनों के प्रति नम्रता का व्यवहार) तथा सदाचार का परित्याग, पूज्यों (माता, पिता, गुरु, देवता आदि) का अपमान करना, स्वयं जानते हुए भी अहित अर्थों (आहार-विहार आदि) का सेवन करना, उन्माद को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का अत्यधिक सेवन करना, अकाल (निषिद्ध समय अर्धरात्रि आदि) में तथा अदेश (श्मशान आदि अथवा राजाज्ञा से निषिद्ध स्थानों) में संचरण (घूमना-फिरना), निन्दित (लोक-व्यवहार तथा शास्त्र के नियमों के विरुद्ध) कर्म करने वालों के साथ मित्रता करना, इन्द्रियोपक्रमणीय नामक सूत्रस्थान के ८ वें अध्याय में कहे गये सद्वृत्तों (सदाचारों) का परित्याग करना, ईर्ष्या, मान (अभिमान न कि स्वाभिमान), भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा भ्रम का होना, ईर्ष्या आदि भावों से युक्त होकर जो कष्टदायक कर्म किया जाय, और शरीर से होने वाले कोई भी निन्दित कार्य और भी जो उपर्युक्त कर्मों के समान रजोगुण तथा मोह (तमस्) गुण से युक्त कार्य किया जाता हो उन सबको शास्त्रज्ञजन प्रज्ञापराध कहते हैं, यह प्रज्ञापराध रोगों की उत्पत्ति में कारण होता है।

वक्तव्य—प्रज्ञा = बुद्धि का अपराध = उचित निर्णय न लेना, अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है, जब बुद्धि इसका ठीक निर्णय नहीं देती है, तभी सभी प्रकार के रोग (संकट) उत्पन्न होते हैं, जिनका ऊपर संक्षेप में वर्णन किया गया है।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥१०९॥

प्रज्ञापराध की परिधि—बुद्धि द्वारा ठीक-ठीक ज्ञान का कभी होना और कभी न होना तथा बुद्धि का विषम (अनुचित) रूप से कार्यों में प्रवृत्त होना, इसी को प्रज्ञापराध समझना चाहिये। यह प्रज्ञापराध मन का विषय है।

वक्तव्य—बुद्धि को दूषित करने में रजोगुण तथा तमोगुण ही कारण होते हैं। ये रजस्, तमस् मन को भी दूषित करते हैं। मन और बुद्धि के दूषित हो जाने पर इनसे सम्बद्ध इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों का उचित रूप से ग्रहण नहीं कर पातीं। क्योंकि मानव जिस विषय का मन से ध्यान करता है उसको वाणी द्वारा कहता है और जिसको कहता है तदनुरूप कार्य करता है। इसलिये प्रज्ञापराध को मन का विषय कहा गया है।

निर्दिष्टा कालसंप्राप्तिर्व्याधीनां व्याधिसङ्ग्रहे[2]। चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा ॥११०॥

कालसम्प्राप्ति-निर्देश—कियन्तःशिरसीय नामक च० सू० के १७ वें अध्याय में व्याधियों का संग्रह

१. 'व्याधिकारिणम्' इति पा०।
२. 'हेतुसङ्ग्रहे' इति पा०।

करते समय व्याधियों की कालसम्प्राप्ति का निर्देश किया गया है, जैसे पहले पित्त आदि का संचय, प्रकोप तथा प्रशम का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—ऊपर पद्य में चक्रपाणि के अनुसार **'व्याधिसङ्ग्रहे'** पाठ दिया है। अन्यत्र इसके स्थान पर **'हेतुसङ्ग्रहे'** पाठ उपलब्ध है। 'व्याधीनां व्याधिसङ्ग्रहे' पाठ में पुनरुक्ति की गन्ध आरही है। यदि यही पाठ तन्त्रकार को अभिमत है, तब इस सन्दर्भ में व्याधिसंग्रह के लिए च० सू० के अष्टोदरीय नामक १९ वाँ तथा महारोगाध्याय नामक २० वाँ अध्याय द्रष्टव्य है। चय-प्रकोप-प्रशम के विस्तृत विवेचन के लिए च० सू० अ० १७ का तथा निम्ननिर्दिष्ट तालिका का अवलोकन करें। 'व्याधीनां हेतुसङ्ग्रहे' पाठ तो स्वयं स्पष्ट एवं प्रसंगोचित है।

पित्तादि के चय, प्रकोप, प्रशम का विवरण

पित्त		कफ		वात	
वर्षा	चय	शिशिर	चय	ग्रीष्म	चय
शरद्	प्रकोप	वसन्त	प्रकोप	वर्षा	प्रकोप
हेमन्त	प्रशम	ग्रीष्म	प्रशम	शरद्	प्रशम

मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः। जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या ॥१११॥[1]
पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये। एषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ११२॥

प्रकारान्तर से विचार—वर्षान्त (शरद् से प्रारम्भ करके वर्षाऋतु तक, अर्थात् सम्पूर्ण वर्ष में होने वाली ऋतुओं) के मिथ्यायोग, अतियोग अथवा हीनयोग, जीर्ण (जो पच चुका), भुक्त (जो अभी खाया) या प्रजीर्ण (भली भांति पचा हुआ) इन अन्नकालों के अनुसार ये वातादि दोषों को प्रकुपित कर रोगों के कारण होते हैं। **अकाल स्थिति**—इससे होने वाले रोगों का प्रकार यह है—भोजन का अकाल में जीर्ण होना, अकाल में खाना, अकाल में पचना, ये भी वातादि दोषों को प्रकुपित कर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और रात्रि के जो तीन प्रहर होते हैं, इन समयों में होने वाले क्रमशः कफ, पित्त, वात से सम्बन्धित जो रोग होते हैं, वे कालज हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में रोगहेतु, कालस्थिति, अकालस्थिति तथा कालज रोगों की सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है। **वर्षान्ता रोगहेतवः**—शरद् ऋतु से वर्षाऋतु-पर्यन्त का उल्लेख यहाँ यह संकेत कर रहा है कि वर्ष का आरम्भ तन्त्रकार को शरद्ऋतु से होना भी अभीष्ट रहा है। कोषकार की दृष्टि से 'शरद्' शब्द वर्ष तथा ऋतु विशेष दोनों का वाचक है। भारतीय वर्ष का आरम्भ चैत्र, वैशाख, आषाढ तथा माघ महिनों से होता देखा जाता है। विशेष करके शरद् ऋतु से आरम्भ होकर वर्षाऋतु-पर्यन्त चलने वाला वर्ष भले ही प्रकारान्तर से रोगहेतु हो, किन्तु यह काष्ठौषधों का वर्ष है। क्योंकि शरद्ऋतु में संगृहीत काष्ठ औषधियाँ पुनः वर्षाकाल के आगमन पर प्रभावहीन हो जाती हैं।

मिथ्यायोग, अतियोग, हीनयोगों का विस्तृत उल्लेख चरक सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११ वें अध्याय में देखें। ऊपर 'काल' शब्द का अर्थ कुछ टीकाकारों ने बाल्य, यौवन, वृद्ध अवस्था किया है, इस भावना का भी अनादर नहीं किया जा सकता है। इनका विश्लेषण इस प्रकार समझना चाहिये—भोजन करते ही (चाहे वह दिन का हो या रात्रि का) कफ का प्रकोप होता है। अन्न जब पचने लगता है, उस समय पित्त का प्रकोप होता है और अन्न के पच जाने पर वात का प्रकोप होता है। इन कालों को क्रमशः पूर्वाह्न, पूर्वरात्रि, मध्याह्न, मध्यरात्रि तथा अपराह्न, अपररात्रि कहा जाता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था में कफज रोग, युवा अवस्था में पित्तज रोग और वृद्धावस्था में होने वाले वात रोग 'कालज' कहे जाते हैं।

अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ। स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले ह्येषां बलागमः ॥११३॥

१. 'भुक्तजीर्णप्रजीर्णान्नकाला' इति पा०।

कालज रोग—अन्येद्युष्क द्व्यहग्राही, तृतीयक तथा चतुर्थक ये ज्वर अपने-अपने समय में प्रवृत्त होते हैं और अपने-अपने समय में बलवान् होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कतिपय ज्वरों के पारिभाषिक नाम दिये हैं, सुश्रुत के अनुसार इनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है—'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते। अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्तते ॥ तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।७०। **अन्येद्युष्क**—यह ज्वर दिन भर (२४ घण्टों) में एक बार आता है। **द्व्यहग्राही**—यह ज्वर दिन-रात में कभी भी दो बार अपना आक्रमण करता है। उक्त शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—'द्वयोः अह्नोः समाहारः, द्व्यहः'। इस प्रकार समाहार द्विगु समास होने के बाद विशेष नियम से पुल्लिगता हुई है। 'द्व्यहं गृह्णातीति=द्व्यहग्राही'। यहाँ ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय हुआ है। अर्थात् दो दिनों में (रोग द्वारा) ग्रहण करने के स्वभाव वाला (ज्वर)। **तृतीयक**—तीसरे दिन (एक दिन छोड़कर) होनेवाले ज्वर को तृतीयक या तिजारी ज्वर कहते हैं। **चतुर्थक**—चौथे दिन (दो दिन छोड़कर) होने वाले ज्वर को चतुर्थक या चौथिया ज्वर कहते हैं। इनमें द्व्यहग्राही ज्वर को 'सततक' ज्वर कहा है। ये सभी विषमज्वर के भेद (Parts of Malarial Fever) हैं।

महर्षि आत्रेय ने चतुर्थकविपर्यय नामक ज्वर का वर्णन इस प्रकार किया है, जो द्व्यहग्राही से सम्बन्धित है। यथा—'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति' ॥ च० चि० अ० ३। अर्थात् इस ज्वर में बीच के दो दिनों में ज्वर आता है और आदि अन्त के दिनों में छोड़ देता है। वाग्भट ने इस प्रकार इसका वर्णन किया है—'द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं च मुञ्चति' ॥ अष्टांगहृदय, ज्वरनिदान। भाव दोनों का समान है।

एते चान्ये च ये केचित् कालजा विविधा गदाः।
अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता ॥ ११४ ॥

अन्य कालज रोग—कालज व्याधियों के बल और काल को जानने वाले चिकित्सक को चाहिये कि वह इन (उपर्युक्त) तथा अन्य (इनके अतिरिक्त) जो भी कालज रोग हों उनकी चिकित्सा उनके (दूसरे दिन) आने के पहले और उनके बलवान् होने से पहले करें।

वक्तव्य—चिकित्सक को यह जानकारी है कि तृतीयक ज्वर आज समाप्त हो गया है, अब यह कल नहीं आयेगा और परसों अमुक समय पर आकर अमुक समय तक रहेगा, अतः 'अनागते ज्वरे, अनागते बले च'। जब तक ज्वर नहीं आया है और आने पर भी जब तक अपना पूर्ण रूप धारण नहीं किया है, तब तक सावधानी से उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। यहाँ 'अन्ये च ये केचित'—से अर्धावभेदक तथा अपस्मार आदि रोगों का ग्रहण करना चाहिये।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः। रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥

स्वाभाविक कालज रोग—कुछ जरा (बुढ़ापा), मृत्यु (मरण) आदि कालज रोग काल के परिणाम (परिपाक-परिवर्तन) स्वरूप स्वभावतः देखे जाते हैं, किन्तु स्वभाव से होने वाले रोगों का कोई उपचार नहीं होता है। अतः इनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इनमें सफलता नहीं मिलती।

वक्तव्य—उक्त पद्य में कालज-स्वाभाविक रोगों में जरा (वृद्धावस्था) तथा मृत्यु की चर्चा की है। वास्तव में जरा तथा मृत्यु के कालज और अकालज दो स्वरूप लोक एवं शास्त्रों में देखे जाते हैं। इस स्थिति में अकालज जरा-मृत्यु की चिकित्सा करनी चाहिये।

धार्मिक दृष्टिकोण—'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्। विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम्' ॥ भगवान् के चरणोदक (पञ्चामृत) का यह प्रसिद्ध प्रभाव है कि भक्ति-श्रद्धायुक्त होकर इसके सेवन से अकालमृत्यु का तथा अकालज जरा आदि सभी प्रकार की व्याधियों का नाश होता है। यह 'दैवव्यपाश्रय चिकित्सा' का क्षेत्र है।

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा—रसायन-चिकित्सा का मूल सिद्धान्त यही है—'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'। रसायन-सेवन-काल में कालज-अकालज व्याधियों का विवेचन करना उतना आवश्यक नहीं है, क्योंकि च्यवनप्राश रसायन का प्रसिद्ध प्रभाव सर्वविदित है। इसके सेवन से अत्यन्त वृद्ध महर्षि च्यवन

पुनः युवा हो गये थे। देखें—'अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा'। च० चि० अ० १। यहाँ कालज वृद्धावस्था में भी सफलता प्राप्त हुई है, ऐसा आत्रेय का वचन प्रमाण है।

वाग्भट का मत—प्राणियों की मृत्यु आयुष्य के क्षय होने से अथवा पुण्यों के क्षय होने से अथवा उक्त दोनों के क्षय होने से होती है। कभी-कभी उक्त दोनों का क्षय न होने पर भी अहितकर आहार-विहार के सेवन से मृत्यु हो जाती है, देखें—अ० हृ० शा० अ० ५।१३२। इसी का समर्थन भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में पढ़ें—'विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुराकृतैः। अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत्'॥ सु० सू० अ० ३१।

कभी चिकित्सक के प्रज्ञापराध से अरिष्ट लक्षण न होने पर भी जो व्यर्थ का भ्रम हो जाता है उससे अथवा उसमें मृत्यु नहीं होती है। जहाँ कालमृत्यु निश्चित रूप से होने वाली है, वहाँ भी जीवनलाभ का एक स्रोत भगवान् धन्वन्तरि ने बतलाया है। यथा—'ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः। रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते'॥ सु० सू० अ० २८।५। रिष्ट या अरिष्ट (मृत्युसूचक) लक्षणों के प्रकट हो जाने पर जीवनलीला की समाप्ति निश्चित होती है परन्तु निरन्तर रसायन सेवन करने वाले (जीवनप्रद रसायनों से सुपरिचित), जप तथा तप में लगे हुए सर्वथा शुद्ध चरित्रवाले ब्राह्मणों के लोकोत्तर उपायों द्वारा उस मृत्यु को भी रोका जा सकता है। यह धार्मिक आस्था का उत्तम उदाहरण है।

स्वाभावो निष्प्रतिक्रियः—खरगोश के सिर पर सींगों का न होना तथा हाथ के तलुओं पर बालों का न उगना आदि उदाहरण 'स्वाभावो निष्प्रतिक्रियः' अथवा 'स्वभावो दुरतिक्रमः' के हैं। अर्थात् इनका कोई प्रतीकार नहीं किया जा सकता। भगवान् धन्वतरि ने स्वाभाविक रोगों का उल्लेख किया है—'स्वाभाविकास्तु क्षुत्-पिपासा-जरा-मृत्यु-निद्रा-प्रभृतयः'॥ सु० सू० अ० १।२५। अर्थात् स्वाभाविक रोग भूख, प्यास, निद्रा, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि हैं। इस प्रकार मृत्यु के मूल कारण—पुण्यक्षय, आयुष्यक्षय, अदृष्ट (यदृच्छा पारमेश्वरी) और पञ्चमहाभूतों का स्वभाव माना जा सकता है। जरा (वृद्धावस्था) के कारण कालज तथा अकालज (चिन्ता, दरिद्रता, अस्वास्थ्य आदि) देखे जाते हैं। अतएव ये कालजव्याधियाँ प्रायः असाध्य (अचिकित्स्य) होती हैं।

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदैहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥११६॥

जन्मान्तरीय कर्मजरोग—पूर्वजन्म में किये गये कर्म को ही दैव (भाग्य) शब्द द्वारा कहा गया है। वह (दैव) भी समयानुसार (इस जन्म में) रोगों की उत्पत्ति का कारण देखा जाता है।

वक्तव्य—पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में किये गये कर्मों का जब परिपाक होता है, तभी उनका फल (कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ) मिलता है। उक्त श्लोक में वर्णित दैव शब्द लोकव्यवहार में भी इसी रूप में देखा जाता है—'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'। प्रज्ञापराध को रोगों की उत्पत्ति में कारण कहा गया है, यह (प्रज्ञापराध) इस जन्म की भांति पूर्वजन्म में भी हो सकता है। भगवान् धन्वन्तरि ने कुष्ठ रोग को जघन्य पापकर्मों का फल स्वीकार किया है। **यथा**—'ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्'॥ सु० नि० अ० ५।३०। यद्यपि उक्त पद्य में इस जन्म या पूर्वजन्म की चर्चा नहीं की गयी है, परन्तु व्यवहार में इन महापातकों को करने वाले शीघ्र ही कुष्ठ रोग से पीड़ित होते नहीं देखे जाते, अतः शास्त्रवचन को प्रमाण मानते हुए हम इसको कुष्ठरोगियों के पूर्वजन्म के कर्मों का परिपाक ही स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इस पापरोग (कुष्ठ) की चिकित्सा में युक्तिव्यपाश्रय के साथ ही साथ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का अत्यन्त महत्व है।

नहि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥ ११७ ॥

भोग से कर्मों का क्षय—ऐसा छोटा तथा बड़ा (कोई) कर्म नहीं है, जिसका फल मानव को न भोगना पड़े। कर्मजरोग क्रिया (चिकित्सा) के विनाशक होते हैं, अतएव उन-उन पापों के क्षीण हो जाने पर (जिनके कारण वे-वे रोग उत्पन्न हुए थे) वे (कर्मज रोग) स्वयं शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—चौरासी लाख योनियों में केवल मानव को ही कर्मपुरुष कहा गया है, शेष सब भोगयोनियाँ

हैं। ये पूर्वजन्मों के कर्मों का फल भोगा करती हैं। गीता में मनुष्य को कर्म करने के लिये प्रेरित किया है—'नियतं कुरु कर्मत्वम्'। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' आदि।

किञ्चित्—'किञ्चित् ईषत्-मनाक्-अल्पे'। अमरकोष। कोषकार की दृष्टि में ये सभी शब्द 'अल्प' अर्थ के वाचक हैं। 'महत्' के बाद प्रयुक्त 'किञ्चित्' शब्द अल्प अर्थ के निर्वाह करने में समर्थ है। कर्म-फल तो छोटा-बड़ा जो भी होगा भोगना ही पड़ेगा, छोटे का छोटा फल और बड़े का बड़ा फल होता ही है। उनका समाधान है केवल उनके शुभाशुभ फलों को भोग लेना।

यद्यपि उक्त श्लोक में 'किञ्चित्' शब्द का अर्थ कोषकार के अनुसार 'कुछ' होता है, किन्तु यहाँ 'किञ्चित्' को 'कर्म' का विशेषण मान लिया गया है। उसका कारण है—'दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते। दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते'॥ च० वि० अ० ३। अर्थात् बलवान् दैव द्वारा दुर्बल 'किञ्चित्' कर्म का विनाश स्वयं हो जाता है। दैव के बलवान् न होने पर तो छोटा-बड़ा जो भी कर्मफल होगा, उसका भोग करना ही पड़ेगा।

क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः—कर्मज रोगों में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा सफल नहीं होती, अतः इनमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का सहारा लिया जाता है, लेना भी चाहिये।

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च। शब्दानां चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः ॥११८॥

शब्द के अतियोग तथा अयोग—अत्यन्त उग्र (भयावह या कठोर) शब्द को सुनने से, थोड़ा भी न सुनने अथवा अत्यन्त हीन शब्दों को सुनने से श्रवणेन्द्रिय जड़ हो जाती है।

वक्तव्य—अब यहाँ इन्द्रियों के असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग की चर्चा प्रस्तुत की जारही है। **शब्द का अतियोग**—सामान्य पुरुष की श्रवणेन्द्रिय अत्यन्त उग्र शब्द को सुनने की अभ्यस्त नहीं होती, यदि ऐसा शब्द सुनायी पड़े तो वह शब्द का अतियोग है। **शब्द का अयोग**—जहाँ कभी किसी प्रकार का कोई शब्द सुनाई ही न पड़े, या अत्यन्त हीन (कम) शब्द सुनायी पड़े, वह शब्द का अयोग कहा जायगा। इससे कानों में बधिरता आ जाती है।

परुषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकैः । शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यासंयोग उच्यते ॥११९॥

शब्द के मिथ्यायोग—परुष (कठोर या कर्णकटु), उद्भीषण (भयजनक), अशस्त (गाली-गलौज, अमंगलकारक), अप्रिय (हृदय को अच्छे न लगने वाले) तथा व्यसनसूचक (मृत्यु रोग आदि) शब्दों के साथ जो श्रवणेन्द्रिय का संयोग होता है, उसको शब्द का मिथ्यायोग या संयोग कहते हैं।

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च। स्पृश्यानां सङ्ग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियबाधकः ॥१२०॥

स्पर्श के अयोग तथा अतियोग—स्पृश्यों (स्पर्श = छूने द्वारा जानने योग्य पदार्थों) का कभी भी स्पर्श न होना या न करना, अथवा हीनसंस्पर्श (कम से कम या नहीं के बराबर स्पर्श) का होना ये दोनों ही त्वगिन्द्रिय के अयोग कहे जाते हैं और अतिसंस्पर्श (अधिक उष्ण या अधिक शीतपदार्थों का बार-बार स्पर्श) होना, त्वगिन्द्रिय का अतियोग कहा जाता है। संक्षेप में कहे गये उक्त अयोगों तथा अतियोगों के सेवन से त्वगिन्द्रिय स्पर्शज्ञानशून्य हो जाती है।

यो भूतविषवातानामकालेनागतश्च यः। स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२१ ॥

स्पर्श के मिथ्यायोग—जो भूत (प्रेत, पिशाच, कीटाणु आदि), विषाक्त वायु का स्पर्श तथा जो अकाल में स्नेह, शीत, उष्ण पदार्थों का त्वचा के साथ स्पर्श होता है, वह त्वगिन्द्रिय का मिथ्या (अहितकर) योग कहा जाता है।

वक्तव्य—पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति का अधिकांश आधार रोगोत्पादक जीवाणु (भूत) ही हैं। कतिपय रोग आयुर्वेद में भी इस प्रकार से कहे गये हैं, जिनके कारण क्रिमि, देवग्रह, असुर, गन्धर्व, यक्ष, पितर, उरग, राक्षस और पिशाच हैं। देखें—सुश्रुत उ० तं० अ० ६०। १७–१८। ये शरीर में प्रवेश कैसे करते हैं, इसे भी पढ़ें—जिस प्रकार हमारा प्रतिबिम्ब दर्पण (शीशे) में प्रवेश करता है तथा सरदी, गरमी प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार भूतादिग्रह भी प्राणियों के शरीरों में प्रवेश तो करते हैं परन्तु वे दिखलायी नहीं देते। देखें—सु० उ० अ० ६०।१९।

स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शः—अकाल में स्नेहादि का स्पर्श ही मिथ्यायोग है। अन्यथा इनका समय पर सेवन तो विहित ही है। **स्नेहन का अकाल**—स्नेहन के बाद स्वेदन का क्रम है, इसके विपरीत उसका अकाल समझें। इसी प्रकार शीतकाल में अधिक शीत का और उष्णकाल में अधिक उष्ण का सेवन त्वगिन्द्रिय का आयुर्वेदीय दृष्टि से मिथ्यायोग है। धार्मिक दृष्टि से ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि का सेवन करना जो तपस्या का प्रसिद्ध विधान है, इसका अन्तर्भाव भी उक्त दृष्टि से त्वगिन्द्रिय के मिथ्यायोग में किया जा सकता है।

रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यत्यतिदर्शनात्। दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात् ॥ १२२ ॥

रूप के अतियोग तथा अयोग—सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों को निरन्तर देखते रहने से अथवा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को निरन्तर देखने से दृष्टि (चक्षुरिन्द्रिय) का विनाश हो जाता है, यह रूप का अतियोग है। आखों से भी देखने का उपयोग न लेने से भी चक्षुरिन्द्रिय का विनाश हो जाता है, यह रूप का अयोग है।

द्विष्टभैरवबीभत्सदूरातिश्लिष्टदर्शनात्[1]। तामसानां च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते ॥ १२३ ॥

रूप के मिथ्यायोग—द्विष्ट (जिस रूप से किसी कारण द्वेष हो गया हो अतः उसको मन देखना न चाहता हो), भैरव (भयकारक), बीभत्स (घृणित), दूर से देखना, श्लिष्ट दर्शन (आँख से सटा कर देखना), तामसरूप (तमोगुण प्रधान रूपों) का देखना, ये सब रूप (चक्षुरिन्द्रिय) के मिथ्यायोग कहे गये हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य में द्विष्ट, बीभत्स, भैरव, तामस रूप चक्षुरिन्द्रिय के अप्रिय विषय हैं। दूरदर्शन और श्लिष्टदर्शन आखों को कष्ट देने वाले हैं। प्रथम चार प्रकार के पदार्थों को आँखें देखना ही नहीं चाहती और शेष दोनों के दर्शन की उसमें शक्ति ही नहीं है। जैसे—आप रेल की पटरी के एक छोर में खड़े होकर देखें, जहाँ तक आप की दृष्टि पहुँच रही है वहाँ आपको रेल की दोनों पटरियाँ आपस में मिली दिखायी दे रही हैं, अतः यह रूप का मिथ्यायोग है। **श्लिष्टदर्शन**—आप अपने आँखों में लगे काजल को देखें- आपको कभी सफलता नहीं मिलेगी, यह भी आपका व्यर्थ प्रयास कहा जायगा।

अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत्। रसानां विषमादानमल्पादानं च दूषणम् ॥ १२४ ॥

रस के अतियोग आदि का वर्णन—अत्यादान (किसी रस विशेष का अधिक सेवन) करना, उस रस का अतियोग है। अनादान (किसी रस विशेष का सर्वथा ग्रहण) न करना, उस रस का अयोग है। ओक-सात्म्य (शरीर की अनुकूलता) के विपरीत रसों का विषम रूप से सेवन करना अथवा अल्पादान (बहुत कम ग्रहण करना) यह मिथ्यायोग है। उक्त तीनों ही का प्रयोग शरीर को दूषित करता है।

वक्तव्य—ऊपर सभी रसों की समान रूप से चर्चा की गयी है। कौन रस किस मात्रा में प्रतिदिन के भोजन में किसके लिये किस मौसम में हितकर है, इसकी चर्चा चरक सूत्रस्थान के मात्राशितीय नामक ५ वें अध्याय में कर चुके हैं। यह भी कहा जा चुका है कि—लवण, पिप्पली, क्षार इनका अधिक सेवन अहितकर होता है। देखें—च० वि० अ० १। इस स्थिति में रसों के 'विषमादान' का निर्णय भोजन की उपयोगिता तथा भोक्ता की क्षमता को देखकर ही चिकित्सक को करना होगा। सामान्य नियम तो यह है—'सर्वरसाभ्यासः पथ्यानाम्'। पथ्य भोजन में सभी रसों का योग प्रतिदिन होना ही चाहिये। मात्रा का निर्धारण—'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' किया जाना ही उचित है।

अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम्। असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम् ॥ १२५ ॥

गन्ध के अयोग तथा अतियोग—अत्यन्त साधारण गन्धों का सूंघना अथवा किसी प्रकार की गन्ध का थोड़ा भी न सूंघना ये दोनों गन्ध के अयोग हैं। अति तीक्ष्ण (उग्र) गन्धों को सूंघना गन्ध का अतियोग है। इन दोनों ही प्रकारों से घ्राणेन्द्रिय अर्थात् घ्राणशक्ति का विनाश हो जाता है।

पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्तवाः। तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२६ ॥

गन्ध के मिथ्यायोग—दुर्गन्ध युक्त भूतों के प्रभाव से प्रभावित विषद्विष्ट (विविध प्रकार के स्थावर-जंगम तथा विषों के सम्पर्क से दूषित) वे गन्ध पदार्थ जो सामान्य स्थिति में ग्रहण के योग्य माने गये हैं तथा अनार्तव गन्ध (जो गन्धयुक्त पुष्प आदि पदार्थ जिस ऋतु में प्राप्त होते हैं, वे यदि अपने समय से आगे-पीछे प्राप्त

१. '-क्लिष्टदर्शनात्' इति पा०।

हों तो, विकार युक्त होते हैं) इस प्रकार के गन्धों से यदि घ्राणेन्द्रिय का संयोग किया अथवा कराया जाता है तो उसको गन्धों का मिथ्यायोग कहा जाता है।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११ वें अध्याय में भी इन्द्रियों के विषयों के अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग की विस्तृत चर्चा की गयी है, इस प्रसंग में उसका भी अवलोकन कर लेना चाहिये। पूतिगन्ध का भाव तो सर्वथा स्पष्ट है, क्योंकि इसको घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करना ही नहीं चाहती, अतएव व्यक्ति नाक दबा लेता, रूमाल लगा लेता है और अवसर मिलते ही वहाँ से हट जाता है। **भूतविषद्विष्टगन्ध**—भूतद्विष्ट का विशेष परिचय १२१ वें पद्य के वक्तव्य में ऊपर इसी अध्याय में दिया गया है, वहीं देखें। **विषद्विष्ट**—विषैले प्राणियों अथवा उनके विष से दूषित गन्ध भी मूर्च्छा आदि का कारण हो जाती हैं। ध्यान रहे कि गन्ध केवल फूलों से ही प्राप्त नहीं होती, संसार में जितने पार्थिव (पृथिवी से उत्पन्न) द्रव्य हैं, वे सब गन्धवाले होते हैं।

अनार्तवाः—ऋतु-विपरीत गन्धों का भी तन्त्रकार ने उल्लेख किया है। जैसे बरसात में होने वाली सड़न प्राणियों को सात्म्य होती है किन्तु अन्य ऋतुओं में वही हानिकारक देखी जाती है। अन्यथा आजकल बागवानी विशेषज्ञों ने आर्तव (ऋतु सम्बन्धी) और अनार्तव (ऋतु विपरीत) का भेद ही समाप्त कर दिया है। बगीचों में बारहों मास गुलाब की गन्ध का आनन्द लिया जा सकता है।

इत्यसात्म्यार्थसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपनः।

उपसंहार—यह इन्द्रियों के असात्म्य विषयों का तीन प्रकार का (अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग) संयोग वातादि दोषों को प्रकुपित करने वाला होता है।

वक्तव्य—भिन्न-भिन्न संहिताओं में इस प्रसंग में एक 'हीनयोग' का भी उल्लेख देखा जाता है, उसका अयोग, ईषद्योग, स्वल्पयोग जैसा ही समझना चाहिये। क्योंकि अयोग शब्द की निष्पत्ति 'नञ्' समास से हुई है, जिसका प्रयोग उक्त प्रकार के अर्थों में होता है।

असात्म्यमिति तद् विद्याद् यन्न याति सहात्मताम् ॥ १२७ ॥

असात्म्य-परिभाषा—जो आत्मा (मन तथा शरीर) के साथ आत्मीयता (अपनापन = हितकारिता) न रखे उसको असात्म्य कहा जाता है।

वक्तव्य—असात्म्य का विपरीत ही सात्म्य होता है। महर्षि आत्रेय ने सात्म्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—'सात्म्यं नाम तत्-यत् आत्मनि उपशेते'। च० वि० अ० १। अर्थात् सात्म्य उसे कहते हैं जो अपने में (मन-आत्मा-शरीर के संयोगरूप को) सुखदायक हो, इसके विपरीत को असात्म्य कहते हैं।

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते। शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥१२८॥

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगज रोग—उपर्युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों के (स्वतन्त्र रूप से या सम्मि-लित रूप से) अतियोग, हीनयोग (अयोग) और मिथ्यायोग से जो रोग उत्पन्न होते हैं उनको विद्वान् चिकित्सक ऐन्द्रियक (इन्द्रिय सम्बन्धी) रोग समझें।

वक्तव्य—यहाँ ऐन्द्रियक रोग संज्ञा देने का तन्त्रकार का यह उद्देश्य रहा है कि रोग का आगमन किस कारणविशेष से हुआ, क्योंकि 'सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'। अर्थात् जिस इन्द्रिय से जो असात्म्ये-न्द्रियार्थसंयोग हुआ हो, उसका त्याग करना ही उसकी चिकित्सा होगी। इन ऐन्द्रियक रोगों का अधिष्ठान भी शरीर ही होता है।

वेदनानामशान्तानामित्येते हेतवः स्मृताः[1]। सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥ १२९ ॥

वेदनाओं के कारण—अशान्त वेदनाओं (सभी प्रकार के रोगियों की पीड़ाओं) के ये (यहाँ तक इस अध्याय में कहे गये) सब कारण होते हैं। **सुख का कारण**—दोषों का समभाव में स्थित होना ही सुख का कारण होता है किन्तु यह समयोग सुदुर्लभ (बड़ी कठिनायी से कभी कहीं दिखलायी देता) है।

वक्तव्य—इस पद्य में 'अशान्तानाम्' के स्थान पर 'असात्म्यानाम्' पाठ भी देखा जाता है, अशान्त

१. 'असात्म्यानाम्' इति पा०।

वेदना का अर्थ ऊपर दे दिया है। 'असात्म्यानाम्' का तात्पर्य है, इन्द्रियार्थों के अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग तथा बुद्धि, स्मृति, धृति के विभ्रंश से उत्पन्न एवम् कालज, कर्मज रोग दुःखों के कारण होते हैं।

समयोगः सुदुर्लभः—काल, बुद्धि तथा इन्द्रियों के समयोग होने में मन की चंचलता बाधक होती है, अत एव गीता में कहा है—'समधीर्मुनिरुच्यते' तथा 'समबुद्धिर्विशिष्यते'। 'समत्वं योग उच्यते'। ये सभी सूक्तियाँ सांसारिक रागादि जनित व्याधियों के बन्धनों से मुक्त होने की सूचना देती हैं, अतएव समयोग को सुदुर्लभ (अत्यन्त अप्राप्य) बतलाया है।

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः । हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥ १३० ॥
सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न[1] च न चास्ति रुक् ।
न सुखं, कारणं तस्माद् योग एव चतुर्विधः ॥ १३१ ॥

प्रकारान्तर से निर्देश—ऊपर जो सुख-दुःख के कारणों की चर्चा की गयी है, उसी को दूसरे प्रकार से कहा जा रहा है। सुख तथा दुःख के कारण न इन्द्रियाँ हैं और न उनके रूप, रस, गन्ध आदि अर्थ। वास्तव में चतुर्विध योग (समयोग, अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग) ही सुख-दुःख की उत्पत्ति में क्रमशः कारण होते हैं। अर्थात् समयोग से सुख शेष तीन से दुःख की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियाँ भी हैं उनके अर्थ (रूप आदि विषय) भी हैं परन्तु जब तक इनका विषमयोग नहीं होता तब तक रोग की उत्पत्ति नहीं होती और जब तक इनका समयोग नहीं होता तब तक सुख की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये उक्त चार प्रकार का योग ही रोगों की उत्पत्ति में कारण होता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के इस कथन से पहले कहे गये कालज, कर्मज आदि रोगों का विरोध नहीं समझना चाहिये, अपितु यह उनका विषय-प्रतिपादन करने का अपना ढंग है।

[2]नात्मेन्द्रियं मनो बुद्धि गोचरं कर्म वा विना । सुखदुःखं, यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते ॥१३२॥

सुख-दुःख के कारण—आत्मा, इन्द्रिय (पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ), मन, बुद्धि एवं कर्म के बिना न सुख गोचर (दिखायी देता) है और न दुःख। इनमें जो (सुख अथवा दुःख) जैसे समझना चाहिये उस-उसको उसी प्रकार कहा जाता है।

वक्तव्य—सुख-दुःख ये दोनों ही चेतन प्राणी के देहज विषय हैं। इनके अथवा किसी विषय के ज्ञान के लिये आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों का सन्निकर्ष होना अत्यन्त आवश्यक है। इनमें इन्द्रियों का अपने-अपने अर्थ से संयोग होना (धर्म-अधर्म रूप) प्रधान कर्म हैं, अन्यथा ऊपर श्लोक १३० की स्थिति सामने आ जायेगी। इसी विषय को अन्नम्भट्ट ने इस प्रकार लिखा है—'ज्ञानाधिकरणम् आत्मा' तथा 'सुखाद्युपलब्धि-साधनम् इन्द्रियं मनः।' तर्कसंग्रह।

तत्तथोच्यते—समयोग के कारण उत्पन्न सुख को समयोगज सुख कहा जाता है और अनुपशय (विषमयोगों) के कारण उत्पन्न दुःखों को असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगज कहा जाता है।

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च । द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥१३३॥

प्रकारान्तर से विवेचन—शारीरिक वेदनाओं का अनुभव दो प्रकार से किया जा सकता है—१. स्पर्श-नेन्द्रियसंस्पर्श (त्वचा द्वारा भली-भांति संयोग) होना एवम् २. मानस (मन द्वारा) स्पर्श होना, इनका समयोग सुख का कारण तथा (अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग का) विषमयोग दुःख का कारण होता है।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११ वें अध्याय में त्वगिन्द्रिय का वर्णन इस प्रकार है—'ज्ञानेन्द्रियों में एक स्पर्शनेन्द्रिय 'त्वचा' है, यह चक्षुरादि सभी इन्द्रियों में व्याप्त है, इसका मन के साथ संयोग है'। अर्थात् मन के ज्ञान के कारण में त्वगिन्द्रिय का बड़ा महत्व है। देखें—'त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्'। कणाद का वैशेषिकदर्शन। यही कारण है कि स्पर्शज्ञान के सर्वत्र व्यापक होने से मन को व्यापक कहते हैं।

---

१. 'नास्ति' इति पा०।

२. 'नात्मेन्द्रियमनोबुद्धिगोचरम्' इति पा०।

द्विविध—दो प्रकार के कष्टों की अनुभूति को ऐसे समझें—१. त्वगिन्द्रिय से जो सुख या दुःख का अनुभव होगा वह बाह्यवेदना कही जायगी और २. जो मन से सम्बन्धित विषयों से सुख या दुःख का अनुभव होगा वह 'मानस' कहा जायगा।

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते । तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥१३४॥

तृष्णा सुख-दुःख का कारण—सुख प्राप्ति से इच्छा रूप तृष्णा की प्रवृत्ति होती है और दुःख प्राप्ति से द्वेष रूप तृष्णा की प्रवृत्ति होती है। इसलिये फिर उसी तृष्णा को सुख-दुःख का कारण कहा जाता है।

वक्तव्य—यहाँ सुख-दुःख से तृष्णा की प्रवृत्ति और फिर तृष्णा को सुख-दुःख का जो कारण बतलाया गया है, यह 'बीजाङ्कुरन्याय' है। जैसे माता से कन्या की उत्पत्ति हुई फिर वह कन्या कुछ समय बाद स्वयं माता बन जाती है। सुख से इच्छा रूपी तृष्णा, अर्थात् अमुक वस्तु के सेवन से सुख मिला था अतः उसका फिर सेवन किया जाय, इस प्रकार की तृष्णा का उदय होता है और जिस वस्तु के सेवन से दुःख मिलता है, उसके प्रति द्वेष होना भी स्वाभाविक है। तृष्णा के दो अर्थ हैं—१. स्पृहा और २. पिपासा। शेष भाव अगले पद्य द्वारा स्पष्ट हो रहा है।

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् । स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥१३५॥

तृष्णा के अभाव में वेदनाओं का अभाव—वह (तृष्णा) वेदना के आश्रय कहे जाने वाले भावों (देह, इन्द्रिय तथा मन) का ग्रहण करती है, यदि (तृष्णा उन भावों का ग्रहण न करे तो स्पर्शनेन्द्रिय, जिसके कारण स्पर्श का ज्ञान होता है, उसका और मन का) स्पर्श ही नहीं होगा। स्पर्श न होने के कारण वेदनाओं (सुख, दुःख आदि) का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

वक्तव्य—यहाँ तृष्णा (सांसारिक विषयवासनाओं के प्रति आकर्षण) को जन्म का कारण माना गया है। क्योंकि वह रजोगुण तथा तमोगुण वाली होती है। सुख, दुःख का ज्ञान चेतनावान् प्राणी को ही होता है। जब मनुष्य का मन तृष्णा (विषयों) की ओर से निवृत्त हो जाता है, अर्थात् विषयों से मानस स्पर्श का अभाव हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। देखें—'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्' ॥ गीता अ० १५।५।

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः । केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥१३६॥

२१. वेदनाओं का अधिष्ठान किसको कहा गया है ? ('वेदनानां, किमधिष्ठानमुच्यते' च० शा० अ० १।१३।) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—केश (दाढ़ी, मूंछ, शिर, कक्षा तथा गुह्यप्रदेश स्थित सभी प्रकार के बाल) लोम या रोम, नखों (हाथ-पैर) के अगले भाग (जो बढ़ने पर निर्जीव होने के कारण काट दिये जाते हैं), अन्नमल (विष्ठा = Stool) तथा द्रव (मूत्र, स्वेद आदि) को छोड़कर मन और सेन्द्रिय (इन्द्रियों से युक्त) शरीर वेदनाओं का अधिष्ठान है।

वक्तव्य—यहाँ वेदनाओं का अधिष्ठान आत्मा मन सहित शरीर को बतलाया है। 'अधिष्ठान' शब्द का अर्थ होता है—अधिकार पूर्वक निवास करना। क्योंकि सेन्द्रिय द्रव्य को ही चेतन तथा निरिन्द्रिय को अचेतन कहा है। अतएव केश, नख, लोम आदि के काटने पर किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है और न मल, मूत्र, स्वेद के निकलने में ही किसी प्रकार का कष्ट होता है। इसी का समर्थन महर्षि गौतम ने भी किया है—'चैतन्यस्य शरीरव्यापित्वात्। तस्य केशनखादिष्वनुपलब्धेः। त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य, केशलोमादिष्व-प्रसङ्गः' ॥ न्यायदर्शन। इस दृष्टि से शास्त्रप्रमाण तथा प्रत्यक्षप्रमाण से, चैतन्य की सीमा शरीर से त्वचा-पर्यन्त ही स्वीकार की जाती है, क्योंकि केश, नख आदि को काटने पर वेदना का अनुभव नहीं होता है।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् । मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥१३७॥

२२. ये सभी वेदनाएँ पूर्णरूप से कहाँ समाप्त होती हैं ? ('क्व चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्य-शेषतः।' च० शा० अ० १।१४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—योग और मोक्ष में सभी प्रकार की वेदनाओं की निवृत्ति (समाप्ति) हो जाती है। मोक्ष होने पर वेदनाओं का समूल विनाश हो जाता है,

योग द्वारा मानव मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है, अतएव योग को मोक्ष का प्रवर्तक (दिलाने वाला) कहा गया है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥१३८॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते। सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥१३९॥

योग-परिचय—आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों (रूप, रस, गन्ध आदि) से जब संयोग होता है तब सुख तथा दुःख की प्रवृत्ति होती। इसके विपरीत जब आत्मा में मन स्थिर भाव से रहता है तो सुख-दुःख की प्रतीति नहीं हो पाती, अतः उन दोनों (सुख-दुःख) की निवृत्ति हो जाती है और तब वह शरीरधारी पुरुष (आत्मा, मन, इन्द्रिय समवाय से युक्त होता हुआ भी) वशी हो जाता है। योग को जानने वाले महर्षि इस स्थिति को योग जानते (कहते) हैं।

वक्तव्य—आत्मा, मन तथा इन्द्रियों के संयोग से सत् अथवा असत् ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इसी ज्ञान को यहाँ सुखात्मक, दुःखात्मक रूप से बतलाया है। इसके आगे जब मन बाहरी विषयों के ज्ञान से विमुख होकर निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये आत्मा से संयोग करता है तो फिर उसे सांसारिक दुःख आदि का ज्ञान नहीं होता है, इस स्थिति को चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं। ऐसे पुरुषश्रेष्ठ को 'यतचित्त' की संज्ञा दी गयी है। सृष्टिक्रम के अनुसार हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी प्रवृत्ति की हैं, अत एव उनसे सहज में आध्यात्मिक ज्ञान नहीं हो पाता है। इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये योग की आवश्यकता होती है। इस योग की प्रक्रिया का सरल वर्णन गीता के ६ ठे और ७ वें अध्यायों में देखें।

योग ही मुक्ति का मूल कारण है। यह मुक्ति दो प्रकार की होती है—एक वह जो शरीर छूटने पर होती है, उसको केवल मुक्ति कहते हैं, दूसरी है जीवन्मुक्ति, जो केवल योगी पुरुष को ही सुलभ होती है। अतएव जनक राजा सदेह होते हुए भी 'विदेह' कहे जाते थे। महर्षि कणाद के अनुसार योग का स्वरूप—'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे'। तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः' ॥ वैशेषिकदर्शन। महर्षि पतञ्जलि ने पाँच चित्तवृत्तियों का उल्लेख इस प्रकार किया है—१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा और ५. परस्मृति।

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥१४०॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्। शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ॥१४१॥

योगियों में अलौकिक शक्ति—अपने चित्त को दूसरे पुरुष में आवेश (प्रवेश) करने की शक्ति, सभी प्रकार के विषयों को जान लेने की शक्ति, किसी भी कार्य में स्वच्छन्द होकर कार्य करने की क्षमता, दृष्टि की विशेष शक्ति, श्रवण की विशेष शक्ति, स्मृति की विशेष शक्ति, अलौकिक कान्ति वाला होना, अपनी इच्छा से लुप्त अथवा प्रकट होने की शक्ति, इस प्रकार योनियों में होने वाले बल के आठ भेद होते हैं। ये उपर्युक्त आठ प्रकार की शक्तियाँ शुद्ध सत्व (रजस्, तमस् गुणों से रहित मन) के समाधान (एकाग्र) से होती हैं।

वक्तव्य—ऊपर योगी पुरुषों के अष्टविध ईश्वरीय बल का जो वर्णन किया गया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—१. **आवेशश्चेतसः**—अपनी इच्छा से अपने मन को दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर देने की शक्ति। देखें—'बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः'। पातञ्जलयोगसूत्र ३।३७। इसका विशेष व्याख्यान योगसूत्र के विभूतिपाद में देखें। २. **ज्ञानमर्थानाम**—सूक्ष्म से भी सूक्ष्म इन्द्रियार्थों का भले ही वे समीप हों या दूर, उनका ज्ञान (जानकारी) कर लेना। इस ज्ञान में भूतकाल अथवा भविष्यत् काल बाधक नहीं होता है। अतएव आप्त पुरुष का परिचय देते हुए महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने लिखा है—'येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं तथा'। योगसूत्र में—'प्रवृत्त्या लोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्, चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। हृदये चित्तसंवित्। परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्'। ३. **छन्दतः क्रिया**—ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों के ज्ञान में परतन्त्र न होना। क्रिया (कर्म) पाँच प्रकार की होती है—'उत्क्षेपणाऽपक्षेपणाऽऽकुञ्चन-प्रसारण-गमनानि पञ्च कर्माणि', तर्कसंग्रह। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, बटोर लेना, फैला देना तथा चलना ये पाँच कर्म हैं। इसी प्रकार योगी पुरुष की गति ऊपर जाना, नीचे रहना, शरीर को फैलाना, सिकोड़ लेना ('**सूक्ष्मरूप धरि सियहिं दिखावा**, विकटरूप

धरि लंक जरावा'। हनुमानचालीसा), गमन (आकाश, पाताल, जल, अग्नि पर चलना)। देखें—'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्, लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्'। योगसूत्र। ४. **दृष्टिः**—दिव्यदृष्टि का होना, इसी को 'अतीन्द्रियज्ञाननिधि' कहते हैं। यह दृष्टिशक्ति सामान्य पुरुषों में नहीं होती है। देखें—'मूर्द्धज्योतिषः सिद्धदर्शनम्।' योगसूत्र। ५. **श्रोत्रम्**—दैवी श्रवणशक्ति का होना। भूतकाल में कहे गये तथा भविष्यत्काल में कहे जाने वाले शब्दों की श्रवण-सामर्थ्य। ऐसा व्यक्ति जो चाहता है, उस विषय को सुन सकता है। देखें—'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्'। योगसूत्र। ६. **स्मृतिः**—अलौकिक स्मरणशक्ति के उदाहरण में शतावधानिक (जो एक काल में सौ व्यक्तियों के प्रश्नों को सुनकर याद कर लेते थे और फिर क्रमशः उनका उत्तर देते थे) इसी प्रकार सहस्रावधानिक पुरुषों के नाम भी अविस्मरणीय हैं। इससे भी अधिक वह स्मरणशक्ति है, जिसके कारण वे 'जातिस्मर' पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले कहे जाते हैं। देखें—'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिविज्ञानम्'। योगसूत्र। ७. **कान्तिः**—योगी पुरुष दिव्यकान्ति वाला होता है। यद्यपि कोषकारों ने कान्ति का पर्यायवाचक शब्द छाया माना है। छाया का अरिष्टात्मक वर्णन चरक इं० अ० ७ में देखें। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार—'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय-सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च। रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि, कायसम्पद्'। योगसूत्र। ८. **इष्टतश्चाप्यदर्शनम्**—इच्छानुसार गुप्त-प्रकट होने की शक्ति का होना। पौराणिक कथानकों में दर्शन देने तथा अन्तर्धान होने की अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—'कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्'। योगसूत्र। महर्षि आत्रेय ने केवल आठ प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया है। योग-ग्रन्थों में २३ प्रकार की सिद्धियों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—५ क्षुद्रसिद्धियाँ, १० गुणप्रधान सिद्धियाँ और ८ अणिमा आदि प्रधान सिद्धियाँ।

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयाद्। वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ १४२ ॥

मोक्ष की परिभाषा—रजोगुण तथा तमोगुण के अभाव (सर्वथा निवृत्ति) हो जाने से तथा प्रायश्चित्त आदि पापनाशक उपायों द्वारा कर्मों के सम्पूर्ण रूप से क्षीण हो जाने से जो चिरकालिक कर्मों के बन्धनों से वियोग (सम्बन्ध का अभाव) होता है, उसी को मोक्ष (जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति) या अपुनर्भव (पुनः जन्म न होना) कहते हैं।

वक्तव्य—'आत्यन्तिकैकविंशतिदुःखध्वंसः'। इक्कीस प्रकार के दुःखों का सर्वथा अभाव होना ही मोक्ष है, इसी को निःश्रेयस् भी कहते हैं। कणादमुनि के अनुसार—'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः'। वैशेषिक दर्शन। **बलवत्कर्मसङ्क्षयः**—दैव तथा पुरुषार्थ भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। फल के भोगकाल में यह निश्चय करना होता है कि यहाँ कौन सा कर्म बलवान् है। इसकी चर्चा हम च० वि० अ० ३ में विशेष रूप से कर चुके हैं। मोक्ष प्राप्ति होने के पूर्व शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है, तदनन्तर महाभूतों के संयोग से मुक्ति मिलती है। जब महाभूतों से सम्बन्ध नहीं रह जाता तब जन्म-मरण के बन्धन से भी मानव मुक्त हो जाता है, यही मोक्ष है। मोक्ष के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं किन्तु निष्कर्ष सब का एक ही है।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है। रजोगुण, तमोगुण के विनाश के बिना सत्वगुण की अभिवृद्धि नहीं होगी; जब सत्वगुण की अभिवृद्धि से मन का सम्बन्ध सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख हो जायेगा तो वह मानव मुक्त हो जाता है, क्योंकि ज्ञान रूपी अग्नि सभी प्रकार के कर्मों को भस्म कर डालती है। देखें—गीता अ० ४।३७।

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥१४३॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥१४४॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः। [1]नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम् ॥ ४५॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्। तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ॥१४६॥

मोक्ष के उपाय—सज्जनों की भलीभांति (कायेन, वाचा, मनसा) उपासना करना, अर्थात् उनका सहवास और उनके अनुकूल स्वयं भी आचरण करना, असज्जनों (दुराचारियों) का साथ न करना, यदि ऐसे

१. 'नैष्कर्म्यम्' इति पा०।

लोगों से साथ हो भी जाय तो छोड़ देना, व्रत (कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि), ब्रह्मचर्य, उपवास, विविध प्रकार के नियमों को धारण करना, धर्मशास्त्रों की भली-भांति जानकारी करना, उनके अनुरूप व्यवहार करना, एकान्तवास में प्रेम, विषय-वासनाओं में अनुराग का न होना, मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहना, अत्यन्त धैर्य का होना, सांसारिक कर्मों के प्रति आसक्ति का न होना और किये हुए सभी प्रकार के कर्मों का परिक्षय (सब प्रकार से विनाश), नैष्कर्म्य (Exemption from acts or their conquences.) अर्थात् भव-बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा, अहंकार का परित्याग, सांसारिक संयोग को देखकर मन में भय की उत्पत्ति का होना, यहाँ संयोग से तात्पर्य है पुनर्जन्म। मन का इन्द्रिय आदि के साथ संयोग होना या करना प्रवृत्ति में कारण होता है और निवृत्ति मार्ग में बाधक होता है। मन और बुद्धि का समाधान, अर्थात् चित्तवृत्तियों को रोकना, अर्थ-तत्व का परीक्षण करना, यह सब तत्व (वास्तविक) स्मृति की उपस्थिति से होता है।

वक्तव्य—ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के कतिपय उपायों का वर्णन किया गया है। इसके सारांशरूप में अन्त में कहा गया है कि 'तत्वस्मृति' के परिज्ञान से यह सब होता है। इसी का अन्यत्र इस प्रकार निर्देश है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—१. मिथ्याज्ञान और २. तत्वज्ञान। मिथ्याज्ञान संसार के स्थिति का कारण है और तत्वज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का अन्तिम सोपान है। **सतामुपासनम्**—'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्', सुभाषित। ठीक इसके विपरीत दुर्जनों का सहवास कष्टकारक होता है। **व्रत-उपवास**—यद्यपि साधारण रूप से व्रत-उपवास पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु धर्मशास्त्र में व्रत से कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि का ग्रहण होता है और उपवास का तात्पर्य है—पाप से निवृत्त होकर सद्गुणों से अनुराग करना तथा कोई ऐसा कर्म न करना जिससे शरीर का शोषण हो, अत एव यह व्रत से भिन्न है। **नियम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नियम हैं। इनके साथ यमों का सेवन करना भी परम आवश्यक होता है। **नैष्कर्म्य**—इसका विशेष विवेचन गीता अ० ३।४ में देखें। **भयदर्शनम्**—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'। योगदर्शन। **समाधि**—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार समाधि का स्वरूप—'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' ॥ योगसूत्र ३ पा० ३। अर्थात् समाधि काल में धारणा और ध्यान दोनों की समाप्ति हो जाती है, जब कि धारणा-ध्यान में ही समाधि का प्रासाद स्थिर होता है।

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते। स्मृत्वा[1] स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते १४७॥

स्मृति से दुःख का अभाव—सज्जनों के सेवन (सतामुपासनम्) से लेकर धृति (व्यवसायः परा धृतिः) अर्थात् मनोनिग्रह तक कहे गये नियमों का पालन करने से स्मृति की उपलब्धि होती है। उस स्मृति से भावों (विनाशशील सांसारिक पदार्थों) के स्वभाव (अवश्यंभावी रूप) का स्मरण करता हुआ पुरुष दुःखद भाव अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—अन्नम्भट्ट के अनुसार स्मृति का लक्षण है—'अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'। तर्कसंग्रह। तथा—'अनुभूतिविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'। योगसूत्र वा० १। **स्मृति**—किस कर्म का कैसा फल मिलता है, इस प्रकार की धारणा का नाम स्मृति है। इस प्रकार का स्मृतिमान् पुरुष कभी भी दुष्कर्मों की ओर दुःख-प्राप्ति के भय से प्रवृत्त नहीं होता, अतएव वह 'दुःखाद् प्रमुच्यते' दुःख से मुक्त हो जाता है। और 'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः' जब स्मृतिभ्रंश हो जाता है तो मानव दुराचारियों के सहवास में पड़कर दुःखद कार्यों को भी करता रहता है, यह विनाश की परम्परा है।

स्मृत्वा-स्मरन्—एक ही पद्यांश में इन दोनों शब्दों की संगति अर्थ दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होती। विद्वान् ध्यान दें—यहाँ **'स्मृत्वा'** के स्थान पर यदि **'स्मृत्या'** पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो अर्थ नितान्त स्पष्ट हो जायगा।

भावानां स्वभावं स्मरन्—सांसारिक समस्त पदार्थों का स्वभाव विनाशशील है और विनाशशील सभी वस्तुएँ दुःख का कारण होती हैं, क्योंकि ये सभी भाव रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होते हैं।

१. 'स्मृत्या' इति पा०।

दुःखात् प्रमुच्यते—दुःख से मुक्ति दिलाने में स्मृतिजन्य ज्ञान का सहयोग अपेक्षित है। जब मानव संसार रूपी दुःख से मुक्त हो जाता है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ॥ १४८ ॥
सत्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ॥ १४९ ॥

स्मृति के आठ कारण—जिन आठ कारणों से स्मृति की उत्पत्ति होती है, वे आगे कहे जारहे हैं—१. निमित्त, २. रूपग्रहण, ३. सादृश्य, ४. सादृश्य का विपर्यय, ५. सत्वानुबन्ध, ६. अभ्यास, ७. ज्ञानयोग तथा ८. पुनः श्रवण, दृष्ट (देखे गये), श्रुत (सुने गये) एवम् अनुभूत विषयों के स्मरण से स्मृति की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहा गया है।

वक्तव्य—विभिन्न प्रकार के अनुभवों से जो ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे स्मृति कहते हैं। इसका लक्षण हम ऊपर १४७ वें श्लोक के वक्तव्य में दे चुके हैं—१. **निमित्त**—इसका अर्थ है, हेतु तथा लक्ष्य (चिह्न)। जैसे—कारण (जुलाहा) को देखकर कार्य (वस्त्र) की स्मृति का होना। २. **रूपग्रहण**—एक प्रकार के रूप को देखकर तदनुरूप अन्य वस्तु की स्मृति। साहित्यशास्त्र का स्मरणालंकार इसी प्रकार का है। श्रीकृष्ण को युद्धभूमि में पाञ्चजन्य शंख बजाते समय यशोदा के स्तनपान की स्मृति हुई। ३. **सादृश्य**—सहोदर भाइयों के रूपसादृश्य के उदाहरण देखे जाते हैं। ४. **विपर्यय**—विपरीत लक्षणों से स्मृति का जन्म, जैसे—मूर्ख से पण्डित की और निर्धन से धनिक की स्मृति। ५. **सत्वानुबन्ध**—मन का जिस वस्तु से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उस क्षण में उस विषय की स्मृति से अन्य वस्तु का विस्मरण हो जाता है। ६. **अभ्यास**—'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'। जड़मति के स्मृति-लाभ में निरन्तर अभ्यास ही कारण होता है। भली-भांति किसी विषय को मन में बैठा लेना ही अभ्यास है। ७. **ज्ञानयोग**—ज्ञान का सम्यक् योग स्मृति में कारण होता है। इसी को तत्वज्ञान भी कहते हैं। इसकी प्राप्ति का यह क्रम है—धारणा, ध्यान, समाधि, तब ज्ञान प्राप्ति होती है। ८. **पुनःश्रुति**—बार-बार किसी बात को सुनने, देखने तथा अनुभव आदि से स्मृति का उदय होता है।

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्। तत्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः ॥१५०॥
अयनं पुनराख्यातमेतद् योगस्य योगिभिः। सङ्ख्यातधर्मैः साङ्ख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् १५१

मोक्ष-मार्ग—जीवन्मुक्त महर्षियों द्वारा दिखलाया हुआ यह वह एक मार्ग है जिसे तत्वस्मृतिबल कहते हैं। इस मार्ग का जिन लोगों ने अनुसरण किया वे पुनः इस संसार में नहीं आये, अर्थात् जन्म-मरण के बन्धनों में नहीं पड़े, मुक्त हो गये। योगियों ने इस (तत्वजनित स्मृतिबल) को योग का मार्ग बतलाया है और संख्यातधर्मा (आत्मा तथा प्रकृति के धर्मों को जानने वाले) पुरुषों, ज्ञानियों तथा जीवन्मुक्त पुरुषों ने उक्त योगमार्ग को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

वक्तव्य—तत्वस्मृति का बल लौकिक, पारमार्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। सांसारिक पदार्थों को ठीक-ठीक पहचानना और उसको वैसे ही याद रखना, इस प्रकार की शक्ति को लौकिक **तत्वस्मृतिबल** कहते हैं। इससे केवल लौकिकज्ञान में ही बल मिलता है। पारमार्थिक तत्वस्मृतिबल इस ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है। यथा—पारलौकिक (सृष्टिक्रम की वास्तविकता का ज्ञान, श्रुति, स्मृति द्वारा निर्दिष्ट) विषयों का यथार्थज्ञान ही इसकी आधारशिला है। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव लौकिकस्मृतियों से चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग कहा गया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार वृत्ति तथा स्मृति का स्वरूप—'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः'। 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्राप्रभृतयः'। 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'। योगदर्शन।

गता न पुनरागताः—इस पद्यांश द्वारा सूचित मोक्ष को भगवान् श्रीकृष्ण ने परमधाम की संज्ञा इस प्रकार दी है—'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। गीता।

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च । न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥१५२॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया । नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥१५३॥

पारमार्थिक-तत्त्व—कारणवाला सभी कार्य दुःख है। वह कार्य अस्व (आत्मा से सम्बन्धित नहीं) है और अनित्य है। उस दुःख को आत्मा द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं समझना चाहिये। अज्ञानतावश मानव के मन में उसके प्रति अपनापन उत्पन्न होता है। यह मिथ्याज्ञान तब तक बना रहता है, जब तक सत्याबुद्धि (पारमार्थिक तत्त्व) का उदय नहीं हो जाता। सत्याबुद्धि के उत्पन्न होते ही वह यह जान जाता है कि मैं अहंकार से उत्पन्न नहीं हूँ, और यह सब मेरा नहीं है (केवल प्रकृति का प्रपञ्च है) इस स्थिति को प्राप्त ज्ञाता पुरुष सांसारिक बन्धनों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

वक्तव्य—सत्याबुद्धि का ही दूसरा नाम 'ऋतम्भरा' है। आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध स्वामि-सेवक के सम्बन्ध के समान है। आत्मा स्वामी और प्रकृति भृत्य है। जैगीषव्य को दस महासर्गों के पश्चात् महर्षि देवल के सान्निध्य में योग द्वारा तत्वज्ञान हुआ था। देखें—महाभारत सभा० ११। २४। महर्षि आवट्य ने जैगीषव्य से उनके पूर्वजन्मों का वृत्त पूछा तो उन्होंने अपने तत्वस्मृतिबल (जिसका उल्लेख ऊपर १५० वें श्लोक में किया गया है।) से उन जन्मों का वृत्तान्त सुनाया। अतः सत्याबुद्धि के उत्पन्न होते ही सदेह मानव विदेह कहा जाता है और वह भवबन्धनों से मुक्ति पा जाता है।

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः । ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना[1] निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥१५४॥

समस्त दुःखों की निवृत्ति—जब आत्मा सभी तत्वों को तत्वस्मृतिबल से जानकर उनका अतिक्रमण कर लेती है, तब उस चरम संन्यास की अवस्था में संज्ञा सहित ज्ञान और विज्ञान सभी समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् सभी प्रकार की वेदनाओं से वह निर्मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—चार प्रकार के आश्रमों में सन्यास की गणना अन्तिम आश्रम के रूप में की गयी है। जैसे—बाल्य, यौवन, वार्धक्य बिना प्रयास के ही प्राप्त हो जाते हैं, चरम सन्यासजनित ज्ञान की स्थिति ऐसी नहीं है। उसके लिये साधन एवं उपासना की परम आवश्यकता होती है, तभी सांख्यशास्त्र में वर्णित त्रिविध दुःखों की निवृत्ति होती है। आयुर्वेद में 'सन्यास' नामक एक रोग भी है, उसकी चर्चा यहां इसलिये की जा रही है कि लक्षण दोनों में सर्वथा एक से होते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि वास्तविक सन्यास में ज्ञान कारण होता है और दूसरे में बढ़े हुए वातादि दोष कारण होते हैं। देखें—अष्टांगहृ० नि० अ० ६।

इस चरम सन्यास की उपलब्धि से जो सभी प्रकार की वेदनाओं की शान्ति की चर्चा की गयी है, इसका तात्पर्य है—जन्म-मृत्यु रूप वेदना (भवबन्धन) से मुक्ति अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति। इसकी सोपान परम्परा है—१. संज्ञा (निर्विकल्पक ज्ञान), २. ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) और ३. विज्ञान (शिल्प तथा शास्त्रों का ज्ञान)। इनसे वेदनाओं की समूल निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने निर्देश किया है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'।

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥ १५५ ॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम् ।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति ॥ १५६ ॥

२३. **प्रशान्तभूतात्मा का किन लक्षणों से ज्ञान हो सकता है ?** (एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गै-रुपलभ्यते १।१४) प्रश्न के उत्तर में तन्त्रकार का निर्देश—सभी प्रकार की वेदनाओं की निवृत्ति हो जाने के बाद महद् तत्व आदि से सर्वथा मुक्त अर्थात् ब्रह्मरूप को प्राप्त हुए उस भूतात्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं होती, तब वह प्राण, अपान आदि भावों (लक्षणों) से पृथक् हो जाता है, अत एव उसका कोई लक्षण (चिह्न) दृष्टि-गोचर नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्मस्वरूप होता है। वह अक्षर (विनाशरहित) तथा लक्षणरहित होता है। उसको ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं, मूर्ख (आध्यात्मिकज्ञानशून्य) उसे नहीं जान सकता है।

1. 'समग्रज्ञेयविज्ञानानिवृत्तिम्' इति पा०।

वक्तव्य—प्रकृति से जब ईश्वर का सम्बन्ध होता है, तब वह पाञ्चभौतिक शरीर को धारण करता है। इस शरीर में उस ईश्वरीय अंश जीवात्मा के कारण ही प्राणी गतिशील होता है। उसमें जो प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष आदि क्रियाएँ होती हैं, ये आत्मा के चिह्न हैं। विकार एवं लक्षणों से रहित आत्मा शुद्ध-चैतन्य रूप है। ब्रह्मज्ञानी का यही वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार जो पुरुष अध्यात्मयोग द्वारा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। देखें—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। वह अक्षर तथा लक्षणों से रहित हो जाता है। **अज्ञ**—सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त पुरुष उस ब्रह्म को जानने में असमर्थ होता है।

'गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्'—यह पंक्ति निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित प्रति में नहीं है, किन्तु अन्य प्रतियों में है। विषय की प्राकरणिकता को ध्यान में रखते हुए हमने उक्त पाठ का समावेश मूल पाठ में कर दिया है।

तत्र श्लोकः—

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः ।
कतिधापुरुषीयेऽस्मिन् निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ १५७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने कतिधापुरुषीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—तत्त्वदर्शी महर्षि आत्रेय ने चिकित्स्य पुरुष से सम्बन्धित उक्त तेईस उत्तम (शरीर विज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान युक्त) प्रश्नों का निर्णय इस कतिधापुरुषीय नामक प्रथम अध्याय में किया है।

वक्तव्य—चरकसंहिता का यह अध्याय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ८४ लाख योनियों में मानव की रचना ईश्वर की विशिष्ट कृति है, यह स्वर्ग तथा मोक्ष के सोपान के रूप में वर्णित है, शेष सभी भोगयोनियाँ हैं, वे अपना किसी प्रकार का उत्कर्ष नहीं कर सकती हैं। आयुर्वेदशास्त्र आरोग्यता प्रदान करने के साथ ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की प्राप्ति भी कराता है। यही उक्त २३ प्रश्नों का निष्कर्ष है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता शारीरस्थान में कतिधापुरुषीय नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कतिधापुरुषीय अध्याय का व्याख्यान करने के बाद अब हम अतुल्यगोत्रीयशारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—प्रजा की उत्पत्ति के लिये जो निर्देश श्रुति तथा स्मृतियों में धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर दिये गये हैं, उन्हीं की चरितार्थता यहाँ महर्षि आत्रेय ने आरोग्यता को दृष्टि में रखकर की है। धर्मशास्त्रों तथा गृह्य सूत्रों में तुल्य (समान) गोत्र में विवाह का निषेध किया है। अर्थात् जिस गोत्र का वर हो उसी गोत्र की वधू नहीं होनी चाहिये। इसी का विवेचन 'अतुल्यगोत्रीयशारीर' नामक अध्याय का प्रमुख विषय है। जिसका वर्णन अगले पद्यों में किया जायगा।

अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहोविसृष्टं मिथुनीकृतस्य ।
किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवं च षड्भ्यो[1] यत् स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥ ३ ॥

गर्भ सम्बन्धी प्रश्न—भिन्न गोत्र वाले नर का भिन्न गोत्र वाली नारी के साथ मासिकधर्म से निवृत्त होने के बाद जो सहवास करने पर एकान्त में निकलता है वह पदार्थ क्या है, जो चार पाद और छः (रसों) से उत्पन्न होता है तथा जो स्त्रियों में गर्भ रूप को धारण करता है ।

वक्तव्य—हमारे शास्त्रों में सभी प्रकार के उपदेशों का क्रम वक्ता-श्रोता के रूप में देखा जाता है । उसी क्रम का अनुसरण यहाँ भी किया गया है । उक्त पद्य में विवाह तदनन्तर गर्भाधान-विधि के संकेत इस प्रकार दिये हैं ।

अतुल्यगोत्रस्य—भारतीय परम्परा के अनुसार समान गोत्रवाले युवक-युवती का विवाह नहीं किया जाता । इस परम्परा के आधार धर्मशास्त्र हैं । यथा—'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने' ॥ मनुस्मृति । उक्त पद्य में न केवल अतुल्यगोत्र की चर्चा है, अपितु असपिण्ड की भी चर्चा की गयी है । इसका विशेष विचार निर्णयसिन्धु में देखें । उक्त पद्य में **'अतुल्यगोत्रस्य'** का एक विशेषण है **'मिथुनीकृतस्य'** । अर्थात् पृथक्-पृथक् स्थित युवक-युवती का जोड़ा बना देना, जिसका स्पष्ट निर्देश मनु ने **'दारकर्मणि'** शब्द द्वारा किया है, तदनन्तर दूसरा 'मिथुनीकृत' है **'मैथुने'** ।

रजःक्षयान्ते—प्रायः १२ वर्ष की अवस्था से लेकर १६ वर्ष तक की अवस्था में कन्यायें रजःस्वला हो जाती हैं, इस अवधि में देश-कालका भी प्रभाव देखा जाता है । दृष्टार्तव तथा अदृष्टार्तव भेद से यह ऋतुकाल दो प्रकार का होता है । देखें—सु० शा० अ० ३।६ । ऋतुकाल के प्रथम तीन दिन धार्मिक तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वथा वर्जित हैं । 'ऋतुस्तु द्वादशनिशाः पूर्वास्तिस्रश्च निन्दिताः' । अ० हृ० शा० अ० १ । इन तीन दिनों में किये गये गर्भाधान से होने वाली हानियों की चर्चा को सुश्रुत शा० अ० २।३१ में देखें । यह रजःक्षय गर्भाधान में कारण होता है और दूसरे रजःक्षय की चर्चा इस प्रकार है—'याति पञ्चाशतः क्षयम्' । पचास वर्ष के बाद जो सदा के लिये रजःक्षय हो जाता है, इसके बाद वह स्त्री गर्भाधान के योग्य नहीं रहती ।

मिथुनीकृतस्य— वेद तथा शास्त्र में मैथुनकाल में पुरुष को 'द्यौस्' के रूप में और स्त्री (स्त्यायते शुक्र-शोणिते यस्यां सा) को पृथिवी अर्थात् क्षेत्र के रूप में वर्णित किया गया है । वर्षा का कार्य 'द्यौस्' रूपी पुरुष का है और बीज धारण तथा उसको उत्पन्न करने का कार्य पृथिवीरूपा स्त्री का है । देखें—'द्यौरहं पृथिवी त्वम् । तावेव विवहावहै, सह रेतो दधावहै' । यजुर्वेद । अर्थ स्पष्ट है ।

रहो विसृष्टम्—नीतिशास्त्र के अनुसार कुछ बातें ऐसी हैं जिनको प्रकट नहीं करना चाहिये, उनमें 'मैथुन' की भी गणना है, देखें—चाणक्यनीति । वाग्भट के अनुसार—सज्जनों का कथन है कि स्त्री-पुरुष का एकान्तवास सन्तानोत्पत्ति के लिये ही होना चाहिये । एकान्त में सहवास करने से उत्तम सन्तान की प्राप्ति होती है । देखें—अ० हृ० शा० अ० १।३० । एकान्त का दूसरा लाभ यह भी है पूर्ण रूप से हुआ मैथुन सन्तानोत्पत्ति के साथ आनन्दप्रद भी होता है और अपूर्ण मैथुन से स्त्री-पुरुष दोनों को हानि होती है । **चतुष्पात्प्रभवं षड्भ्यः किं स्यात्** का समुचित समाधान अगले पद्य में देखें ।

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय ।
वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत्तत् षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य ॥ ४ ॥

१. **शुक्र सम्बन्धी प्रश्न**—स्त्री से भिन्न गोत्र वाले पुरुष (पति) द्वारा रजोधर्म से शुद्ध स्त्री की योनि में गर्भ की उत्पत्ति के लिये जो वस्तु आधान की जाती है, उस वस्तु को विद्वान् शुक्र=वीर्य (Semen) कहते हैं । वह शुक्र वायु, अग्नि, पृथिवी और जल के श्रेष्ठ गुणों से युक्त होता है, अत एव उसको 'चतुष्पात' कहा गया है और उसकी उत्पत्ति मधुर आदि छः रसों से होती है ।

वक्तव्य—आयुर्वेद का सृष्टिविषय सिद्धान्त है कि **'यह सम्पूर्ण संसार पञ्चमहाभूतों से बना है'**, पञ्चमहाभूतों में आकाश रूपरहित है, गर्भ की प्रवृत्ति रूप सहित शेष चार भूतों से मानी गयी है, अत एव यहाँ चार

१. 'चतुष्पदं षट्प्रभवं किमस्य' इति पा० ।

ही पदार्थों का ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' । समान गुण वाले पदार्थ ही समान गुण की वृद्धि में कारण होते हैं । यद्यपि शुक्र पाञ्चभौतिक होने पर भी निष्क्रिय है, शेष चार भूत सक्रिय होते हैं । अत एव शुक्र में निःसरण, गर्भाशय में प्रवेश तथा क्रमिक विकास आदि लक्षण देखे जाते हैं ।

शुक्र की उत्पत्ति—उपनिषद् के अनुसार इसका क्रम—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद् रेतः । रेतसः पुरुषः' । यही क्रम आयुर्वेद में भी है—'रसाद् रक्तं ततो मांसं मासान् मेदः प्रजायते । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते' ॥ सु० सू० अ० १४।१० । किन्तु 'अन्नाद् रेतः' का जो क्रम ऊपर कहा गया है, इसमें अन्न-भक्षण के बाद रेतस् (शुक्र) के निर्माण में एक मास का समय लगता है । इस बीच में अन्न का शुक्र रूप में इस प्रकार परिवर्तन होता है—रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र । यथा—'एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति' । सु० सू० अ० १४।१४ । यह भोजन तथा जीवन का सार है । देखें—'मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम्' । यहाँ तक 'किं स्याच्चतुष्पात् प्रभवं च षड्भ्यो यत्स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः' प्रश्न का समाधान हो गया है ।

सम्पूर्णदेहः समये सुखं च गर्भः कथं केन च जायते स्त्री ।
गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजाऽपि भूत्वाऽथवा नश्यति केन गर्भः ॥ ५ ॥

गर्भ सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न—१. गर्भ अपने शरीरावयवों से कैसे पूर्ण होता है, २. कैसे वह अपने समय (९ वें या दसवें मास) में उत्पन्न होता है, ३. किस प्रकार उसकी सुखपूर्वक उत्पत्ति होती है, ४. अवन्ध्या होने पर भी स्त्री देर से गर्भधारण क्यों करती है, ५. गर्भधारण हो जाने पर भी किस कारण से उसका विनाश हो जाता है ।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने उक्त श्लोक में गर्भविषयक केवल तीन ही प्रश्नों की सत्ता को स्वीकार किया है । इसके अगले छठे पद्य में उनका अलग-अलग उत्तर कैसे दिया गया है, इस पर जरा ध्यान दें—'गर्भश्च, काले च, सुखं च' । यद्यपि 'च' अव्यय समुच्चयार्थक होता है तथापि महर्षि द्वारा विषयों का पृथक् पृथक् प्रतिपादन यह संकेत करता है कि ये प्रश्न एक क्षेत्र के होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं ।

शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद् यस्योपचारश्च हितैस्तथाऽन्नैः[1] ।
गर्भश्च काले च सुखी सुखं च सञ्जायते सम्परिपूर्णदेहः ॥ ६ ॥

१-३. **सम्पूर्ण देह, समय पर, सुख से किससे कैसे होता है ?** (सम्पूर्णदेहः, समये, सुखं च गर्भः कथं केन च जायते ।) प्रश्न का उत्तर—शुक्र, असृक् (आर्तव या रजस्), आत्मा, गर्भाशय तथा काल (४ दिन से लेकर १६ वें दिन के भीतर) इनकी सम्पत्ति (शुद्धता एवं पूर्णता) से तथा हितकर आहार-विहारों से जिस गर्भ एवं गर्भवती का उचित उपचार किया गया हो वह गर्भ शरीरावयवों से परिपूर्ण होकर सुखपूर्वक निवास करता हुआ समय पर, सुख से जन्म लेता है ।

वक्तव्य—ऊपर गर्भ की उत्पत्ति के लिये जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है, उनका परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

(i) **शुद्ध वीर्य**—स्फटिक मणि के समान स्वच्छ (सफेद), तरलता युक्त, स्निग्ध (चिकना), रस में मधुर तथा मधु के समान गन्ध वाला होता है । कुछ अन्य आचार्य तेल और मधु के सदृश मानते हैं । देखें—सु० शा० अ० २।११ । चरक के अनुसार शुद्ध वीर्य का वर्णन इस प्रकार है—'स्निग्धं घनं पिच्छिलं च, मधुरं चाविदाहि च' ।

मतान्तर—सुश्रुतसंहिता के अनुसार शुद्ध वीर्य को स्फटिक के वर्ण का माना है और दूसरे आचार्यों के मत से तेल तथा मधु के सदृश । इस पर कुछ विद्वानों का मत है—स्फटिकाभ वीर्य से अत्यन्त गौर वर्ण की और तैलाभ वीर्य से श्याम या श्यामल वर्ण की सन्तान उत्पन्न होती है, यह मत प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता । सन्तान की उत्पत्ति शुक्र-शोणित के संयोग से होती है, अतः वर्ण आदि में इनका प्रभाव पड़ता है ।

१. 'हितैस्तथाऽर्थैः' इति पा० ।

दूसरा कारण यह भी है—'पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना, तादृशं जनयेत् पुत्रम्'। सु० शा० अ० २।२६। ऋतुस्नान से शुद्ध स्त्री चौथे दिन जैसे पुरुष का दर्शन करती है, तदनुरूप गुण आदि से युक्त सन्तान को जन्म देती है। यह वीर्य कफप्रधान द्रव्य है, अतएव यह गर्भाशय के उस स्थान में जहाँ से मासिक स्राव होता है, उस क्षत पर जाकर चिपक जाता है। ऐसा ही शुक्र गर्भाधान का बीज है।

(ii) **शुद्ध आर्तव**—जो असृक् या रजस् खरगोश के खून के समान वर्ण वाला अथवा जो लाख (Lac) के घोल के सदृश होता है, उसे शुद्ध आर्तव कहते हैं। धोने पर इसके दाग या धब्बे कपड़ों पर नहीं पड़ते। यह आर्तव गर्भाधान में समर्थ होता है। चरक में इसका वर्ण गुञ्जा, पद्म, आलता या इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के सदृश स्वीकार किया गया है।

आर्तव का परिमाण—आधुनिक विद्वानों ने इसका परिमाण साधारण रूप से ५ औंस से १० औंस तक माना है। वास्तव में शारीर सम्पत्ति के अनुसार ही इसकी मात्रा बतलायी जा सकती है। कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी देखी गयीं हैं, जिनको शास्त्र ने अदृष्टार्तवा की उपाधि दी है किन्तु ऐसी स्त्रियाँ भी गर्भाधान में सक्षम होती हैं। कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ चिकित्साकाल में देखी गयी हैं, जिनको गर्भाधान होने पर भी मासिक-धर्म समय-समय पर होता रहा है। ऐसी स्त्रियों का गर्भ उतना पुष्ट नहीं हो पाता, जितना कि गर्भाधान होने के बाद ऋतुस्राव बन्द हो जाने वाली स्त्रियों का होता है।

(iii) **आत्मा की सम्पत्ति**—स्वस्थ स्त्री-पुरुषों का रज-वीर्य आत्मवान् गर्भ को जन्म देने में पूर्णरूप से समर्थ होता है तथा पूर्वजन्म के संस्कारों से बाध्य होकर वह आत्मा पुनर्जन्म के लिये प्रवृत्त होती है।

(iv) **गर्भाशय की सम्पत्ति**—'गर्भः आगत्य शेते यस्मिन् सः'। अर्थात् गर्भाधान होने पर रज-वीर्य जिस स्थान में जाकर अपना विकास करते हैं, उसी को गर्भाशय कहते हैं। इसकी शुद्धि स्त्री के स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। यह गर्भाशय वात आदि विशेषतः मेदो दोष से दूषित होने से विकृत हो जाता है, तब इसमें गर्भधारण की शक्ति का अभाव हो जाता है। उक्त दोषों से रहित गर्भाशय प्रशस्त कहा जाता है।

(v) **काल की सम्पत्ति**—यहाँ काल शब्द ऋतुकाल का वाचक है, जो स्त्रियों में—'तद् वर्षाद् द्वादशाव काले वर्तमानसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्'॥ सु० शा० अ० ३।११। अर्थात् यह मासिकस्राव प्रायः १२ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होकर ५० वर्ष की अवस्था तक होता है, इसके बाद में इसके दर्शन नहीं होते। इस काल में स्त्री गर्भवती हो सकती है। इसमें भी प्रत्येक मास में ऋतुस्राव प्रारम्भ होने के चौथे दिन से सोलहवें दिन तक गर्भाधान का काल होता है। इसमें भी—'एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै'। सु० शा० अ० २।२९। अर्थ स्पष्ट है। इस कालसम्पत्ति से पुरुष के शुक्रोदय काल को भी जोड़ना प्रसंगोचित है, क्योंकि शुक्र के परिपक्व होने के पूर्व यदि गर्भाधान किया जाता है तो वह गर्भ अनेक विकारों से युक्त एवम् अल्पायु होता है। और नवें दसवें मास में गर्भ की उत्पत्ति का भी इस काल से सम्बन्ध है।

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्।
अकालयोगाद् बलसङ्क्षयाच्च गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजाऽपि॥ ७॥

४. वन्ध्या न होने पर भी वह विलम्ब से गर्भ को क्यों प्राप्त करती है? (गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजाऽपि) प्रश्न का उत्तर—योनि दोष से, मानसिक अभिताप (कष्ट) से, शुक्र, आर्तव, आहार विहार के दूषित होने से, ऋतुकाल के बीत जाने पर सहवास करने से, शारीरिक बल के क्षीण हो जाने से सप्रजा (सन्तान युक्त स्त्री) भी फिर देर से गर्भधारण करती है।

वक्तव्य—सप्रजा स्त्री भी पुनः दूसरा गर्भ देर में क्यों धारण करती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय ने ऊपर अनेक कारण दिये हैं। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि एक सन्तान की उत्पत्ति के २-३ साल के बाद पुनः दूसरी सन्तान का जन्म होता है, इसके विपरीत अनेक वर्षों के बाद भी सन्तान उत्पन्न होती देखी जाती है।

१. योनि-दोष—योनि के पर्यायों को राजनिघण्टु में विस्तार से देखें। **योनि-परिचय**—'शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥ शा० सं० के रोगसंग्रह प्रकरण में बीस प्रकार के योनि रोगों की चर्चा है। गर्भधारण में बाधा पहुँचाने वाली योनियों के नाम इस प्रकार हैं—वन्ध्या, स्रंसिनी, वामिनी, पुत्रघ्नी।

(२) **मनसोऽभिताप**—सहवास-काल में पति-पत्नी का मन प्रसन्न रहना उत्तम गर्भाधान के लिये परम आवश्यक है। नारी को 'नरकामा' (पुरुष के साथ सहवास की इच्छावाली) होना चाहिये। ऐसी स्त्री को 'सामभिरभिविश्वास्य' प्रेमपूर्ण वचनों से आश्वस्त कर तब सहवास करे, ऐसा करने से किसी प्रकार का मानसिक कष्ट नहीं होता। इसके विपरीत आचरण से सम्यक् रूप से गर्भधारण नहीं हो पाता है।

(३) **वीर्यदोष**—इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का दृष्टिकोण—'वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति'। सु० शा० अ० २।३। अर्थात् जिसका वीर्य वात आदि दोषों से दूषित हो, मुर्दे की-सी गन्ध से युक्त हो, गाँठवाला हो, पूयमिश्रित, क्षीण और मूत्र-पुरीष से युक्त हो, वह वीर्य सन्तान की उत्पत्ति में असमर्थ होता है। शुक्रक्षय के लक्षणों का अवलोकन सु० सू० अ० १५ में करें। आधुनिक दृष्टि से वीर्य के अनेक रूप ऐसे हैं, जिनके कारण वह प्रजोत्पादन में असमर्थ हो जाता है। यथा—शुक्र का अभाव (Aspermia), शुक्र का कम होना (Oligospermia), शुक्र का पतला होना (Hydrospermia), शुक्र में रक्त का मिला होना (Hoemospermia), शुक्रकीट का निर्जीव होना (Necrozoospermia), शुक्रकीटों का अभाव (Azoospermia) और शुक्र में पीलापन (Pyo-Spermia) आदि।

(४) **रजोदोष**—शुद्ध रज-वीर्य का विस्तृत परिचय इसी अध्याय के श्लोक ६ के वक्तव्य में दे दिया गया है, उस-उस से विपरीत रूप-गुण वाले रज-वीर्य दुष्ट (गर्भ की उत्पत्ति में असमर्थ) होते हैं। कभी-कभी मासिक स्राव के साथ जीवरक्त का भी स्राव होने लगता है, यह स्थिति रजस्वला के लिये कष्टप्रद होती है। अतः उस रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। उस रक्त में रोटी या चावल मिलाकर कुत्ता या कौआ को दें, यदि वह खा लेता है तो समझें कि जीवरक्त निकल रहा है, अन्यथा आर्तव रक्त। जीवरक्त को रोकने के लिये उचित चिकित्सा करें।

आधुनिक दृष्टि से—स्त्री बीज (डिम्ब या अंडाणु) को Ovum (Pl. ova) कहते हैं। जब स्त्री में गर्भधारण की क्षमता होती है, उस समय को Ovulation Period कहते हैं। समय पर शुक्रकीट तथा स्त्री-बीज का निषेचन (Fertilisation) होने पर ही गर्भाधान की प्रक्रिया पूरी होती है।

(५) **आहार-विहार दोष**—आयुर्वेदशास्त्र में स्वस्थवृत्त, दिनचर्या तथा ऋतुचर्या प्रकरणों में जिन विषयों का विस्तार से निरूपण किया है, उन सबका सम्बन्ध आहार-विहार से है। इनके विपरीत आचरण से ही सभी प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः सभी परिस्थितियों में इनका विशेष ध्यान देना चाहिये।

असृङ्निरुद्धं[1] पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदसृग(स्रम)स्रावि विवर्धमानम्॥ ८॥
[2]तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्।
[3]दृष्ट्वाऽसृगेकं न च गर्भसंज्ञं[4] केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति॥ ९॥
ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।
गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः॥ १०॥

५. गर्भ होकर किससे नष्ट हो जाता है ('भूत्वाऽथवा नश्यति केन गर्भः') प्रश्न का उत्तर—वायु के प्रकोप से आर्तव के रुक जाने पर (समय पर मासिक स्राव न होते देख) कभी अनभिज्ञ चिकित्सक कह देते हैं कि यह स्त्री गर्भवती है, क्योंकि वह बाहर न निकलने वाला आर्तव प्रतिदिन संचित होता हुआ गर्भ के रूप

---

१. 'विबद्धम्' इति पा०।
२. 'तदग्निसूर्यश्रमरोषशोकैः' इति पा०।
३. 'दृष्ट्वाऽसृगेवम्' इति पा०।
४. 'गर्भमज्ञाः' इति पा०।

(गर्भाशय की वृद्धि) को धारण कर लेता है। वायु के कारण रुका हुआ वह आर्तव (रजस्) जब आग की गर्मी, सूर्य की तपन, परिश्रम, शोक, रोग अथवा उष्ण अन्न (भोजन), पान (पेय-पदार्थों के सेवन) से निकलने लगता है तब केवल उस असृक् (रुके हुए आर्तव) को निकलता देखकर कुछ नर (अकुशल चिकित्सक) उस गर्भ का भूत ने अपहरण कर लिया, ऐसा कहते हैं। रजनीचर (भूत-प्रेत आदि) ओजस् का भक्षण करते हैं, उनके आहार के लिये प्राणियों के शरीर की आवश्यकता नहीं होती है। यदि वे (रजनीचर) अवसर पाने पर गर्भ का अपहरण कर सकते हैं, तो माता के ओज का अपहरण क्यों नहीं करते। यदि उक्त अनभिज्ञ चिकित्सकों के अनुसार हम उक्त गर्भ का अपहरण भूत द्वारा हुआ मान भी लें तो उससे पहले उन ओजोधातु का अशन (भक्षण) करने वाले भूतों ने माता (गर्भवती) के ओजोधातु का भक्षण क्यों नहीं किया? क्योंकि ओजोधातु के नाश से मृत्यु हो जाती है, जिसका यहाँ अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

वक्तव्य—दुष्ट वायु के कारण रुके हुए मासिकस्राव के कारण दिखलायी देने वाले गर्भलक्षणों को मिथ्यागर्भ (Pseudo Pregnancy or False Pregnancy) कहते हैं।

गर्भस्य रूपम्—धन्वन्तरि ने गर्भवती के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है, देखें—सु० शा० अ० ३।१४-१५। कतिपय लक्षण—मासिकस्राव का रुक जाना, स्तनों तथा गर्भाशय की क्रमिक वृद्धि, स्तनमुखों में श्यामलता, अकारण वमन, किसी के पैरों में शोथ तथा दाह भी होते देखा जाता है, कभी गर्भकाल में पाण्डुरोग भी होते देखा गया है, जो सुख प्रसव के बाद उचित परिचर्या से ठीक हो जाता है, ये ही लक्षण रक्तगुल्म में भी दिखलायी देते हैं।

इस प्रसंग में भगवान् धन्वन्तरि ने एक दूसरे प्रकार के गर्भ की चर्चा इस प्रकार की है—जो ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है तो उसके प्रभाव से वायु द्वारा कुक्षि में स्थित आर्तव गर्भ का रूप धारण कर लेता है। यह रुका हुआ आर्तव (रक्तगुल्म) प्रतिमास संचित होता हुआ गर्भ के लक्षणों (जी मिचलाना, उदर की वृद्धि, स्तनों की पुष्टि आदि) को पैदा कर देता है। यह गर्भ केवल कलल का रूप धारण कर पाता है, इसमें पिता के गुण (केश, नख, अस्थि) नहीं होते हैं, देखें—सु० शा० अ० २।४८, ४९। इसके अतिरिक्त जो गर्भधारण तथा पुत्र-प्राप्ति के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित रहती है, उसका आर्तव कभी-कभी स्वयम् रुककर गर्भ के लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। देखा गया है कि ऐसी परिस्थिति में जब उस गर्भिणी को क्लोरोफार्म सुंघाकर परीक्षा की गयी है तो गर्भ के कोई लक्षण नहीं मिले।

दृष्ट्वाऽसृगेकम्—यहाँ **'एकम्'** शब्द का अर्थ **'केवल'** है, क्योंकि गर्भ के लिये जब आर्तव का संग्रह होता है, तो उसके कलल, भ्रूण आदि रूप समयानुसार बदलते जाते हैं। किन्तु जब वातदोष से रक्त रुका रह जाता है, तब केवल रक्तस्राव होता है, अन्य कुछ भी उसके साथ नहीं निकलता।

महर्षि वाग्भट ने अ० हृ० शा० अ० २ श्लोक ६१-६२ का पाठ चरक से लिया है, किन्तु कुछ परिवर्तन करके। उक्त भूतहृत गर्भ का स्वरूप हमने इस प्रकार देखा है कि एक ५० वर्षीया स्त्री का पेट गर्भ के लक्षणों के अनुसार बढ़ने लगा, यह क्रम ९ मास तक चला, एक दिन सहसा अपानवायु की भाँति उसके योनिमार्ग से हवा निकली और उसका उदर पिचक गया, अब वह स्त्री स्वस्थ है।

कन्यां सुतं वा सहितौ पृथग् वा सुतौ सुते वा तनयान् बहून् वा।
कस्मात् प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोऽभिवृद्धिं च यमेऽभ्युपैति ॥ ११ ॥

भ्रूण सम्बन्धी ९ प्रश्न—१. गर्भवती किस कारण से कन्या को जन्म देती है, २. किस कारण से पुत्र को जन्म देती है, ३. किस कारण से कन्या और पुत्र को एक साथ (सटे हुए) जन्म देती है, ४. किस कारण से अलग-अलग जन्म देती है, ५. किस कारण से एक साथ दो पुत्रों को जन्म देती है, ६. किस कारण से दो कन्याओं को जन्म देती है, ७. किस कारण से अनेक सन्तानों को (एक ही समय में) जन्म देती है, ८. समय बिताकर अर्थात् देर में किस कारण से शिशु को जन्म देती है, ९. किस कारण से यमल (जुड़वाँ=Twin) बालकों में एक की वृद्धि (स्वस्थ) और दूसरे का ह्रास (कृश) दिखलायी देता है।

वक्तव्य—उक्त भ्रूण सम्बन्धी प्रश्नों के अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि सद्योजात शिशु परस्पर सटे भी दिखलायी देते हैं, तो क्या उसका संकेत **'सहितौ'** तो नहीं है? क्योंकि ठीक उसके बाद ही **'पृथग् वा'** पाठ

दिया है, जिसका अर्थ होता है—अथवा अलग से। **तनयान् बहून्**—अर्थात् बहुत-सी सन्तानों को एक साथ जन्म देती है। यहाँ 'तनय' शब्द केवल पुत्र का वाचक न होकर पुत्र तथा पुत्री दोनों का संकेत करता है। **यथा**—'तनया च तनयौ च=तनयाः, तान्, अथवा—'तनये च तनयश्च=तनयाः तान्, एकशेषद्वन्द्वः। इस दृष्टिकोण से तीन या तीन से अधिक सन्तानों को जन्म देती है। इस प्रसंग में महाराज सगर के ६० हजार पुत्र अपवाद स्वरूप हैं।

उक्त ११ वें पद्य में अन्य टीकाकारों ने आठ ही प्रश्न स्वीकार किये हैं किन्तु इसी अध्याय के उपसंहार पद्य में ३६ प्रश्नों की सूचना के अनुसार हमने ९ ही प्रश्न स्वीकार किये हैं, यही अभिमत आचार्य गंगाधर का भी रहा है।

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥ १२ ॥
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते ॥ १३ ॥
भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥ १४ ॥

१ से ७ तक के ('कन्यां सुतं वा सहितौ पृथग् वा सुतौ सुते वा तनयान् बहून् वा। कस्मात् प्रसूते'?) प्रश्नों के उत्तर—१. गर्भाधान के समय रजस् की मात्रा अधिक होने से कन्या का जन्म होता है। २. शुक्र की मात्रा अधिक होने से पुत्र का जन्म होता है। रजस् और वीर्य के मिलने से निर्मित (गर्भाधान का) बीज जब उस (वायु) द्वारा दो भागों में बांट दिया जाता है, तब रजस् प्रधान अंश से कन्या और वीर्यप्रधान अंश से पुत्र की उत्पत्ति होती है। (इस प्रकार के शिशु कभी अलग-अलग पैदा होते और कभी परस्पर विभिन्न रूपों में सटे रूप में भी उत्पन्न होते देखे गये हैं।) ४. जिस गर्भ में वह बीज शुक्र की अधिकता से युक्त होने पर गर्भस्थ वायु के कारण दो भागों में विभक्त होकर बढ़ने लगता है तो उससे दो पुत्रों को वह एक साथ जन्म देती है। ५. और कभी सटे रूप में जन्म देती है। ६. यदि वह बीज रजस् की अधिकता से युक्त होने पर गर्भ में स्थित वायु द्वारा दो भागों में बँटकर बढ़ने लगता है, तो उससे दो कन्याओं को वह एक साथ जन्म देती है। ७. जब बीज रूप में स्थित शुक्र और आर्तव को गर्भाशय में स्थित अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु अनेक भागों में विभक्त कर देता है, तब वह वायु जितने भागों में उस बीज को बांट देता है, उतनी सन्तानों को पूर्वजन्म के कर्मफलों के अनुसार माता जन्म देती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय गर्भविषयक प्रश्नों का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि सन्तानों की उत्पत्ति में विविधता किस प्रकार देखी जाती है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहे को अपनी ओर खींच लेने की स्वाभाविक शक्ति होती है, उसी प्रकार डिम्ब भी शुक्रकीट को अपनी ओर खींच लेता है, इसीलिये सु० शा० अ० ३।४ में लिखा है—**'गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते'**, अर्थात् वह शुक्र गर्भाशय में जाकर उस भाग में चिपक जाता है, जहाँ से रजस् की प्रवृत्ति होने में क्षत हुआ रहता है, क्योंकि रक्त का एक नाम 'क्षतज' भी है।

'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री'। अर्थात् शुक्र की अधिकता से पुत्र तथा रजस् की अधिकता से कन्या का और दोनों के सम होने से नपुंसक का जन्म होना सार्वभौम सिद्धान्त है। किन्तु एकाधिक सन्तान के जन्म में माता-पिता अथवा उत्पन्न होने वाली सन्तान के पूर्वजन्म का अधर्म भी कारण होता है। देखें—'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ। यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥' सु० शा० अ० २।३७। अर्थ स्पष्ट है। चरक में दो तथा इससे भी अधिक सन्तानों की चर्चा की गयी है।

सहितौ पृथग् वा—यमलगर्भ अनेक रूपों में देखे जाते हैं। जैसे—परस्पर पेट-पीठ या पीठ-पीठ से सटे हुए। प्रायः ऐसे यमलशिशु मर जाते हैं। जो बच जाते हैं, अलौकिक होने के कारण उनको प्रदर्शनी वाले माँग लेते या खरीद लेते हैं। दो से अधिक शिशु प्रायः जन्म लेते ही मर जाते हैं अथवा उनमें से कोई १ या २ जीवित भी रह जाते हैं, परस्पर जुड़े हुए भी जीवित देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त हीनांग (कम अंगों वाले) या अधिकांग (अधिक हाथ, पैर, अंगुली आदि वाले) देखे जाते हैं। किसी का गुद-मार्ग नहीं होता, किसी का

मूत्र-मार्ग या लिंग (मूत्रेन्द्रिय) ही नहीं होती या अन्य कोई कमी या अधिकता होती है, ऐसे शिशु प्रायः मर जाते हैं। इन यमलगर्भों के प्रसव में एक क्षण से लेकर कई दिन का भी अन्तर देखा गया है। इनमें कोई जीवित तथा कोई मृत भी होता है।

आधुनिक दृष्टि से विकृत भ्रूणों के निम्न भेद देख जाते हैं—

१. Hemitaria—इसमें बौना (ठिगना), दैत्याकार, बहुत छोटे सिर वाला तथा दो गर्भाशय या दो उदर आदि के [illegible] होते हैं।

२ Heterotaxia—इसमें शरीरावयव अपने-अपने स्थान पर नहीं होते।

३. Thratism—शरीर संरचना सम्बन्धी विकार—

(क) Ectromelic monstor—हाथ तथा पैरों में ठिगनापन, अर्थात् शरीर के अनुपात से छोटा होना।

(ख) Symelic monstor—पैर आदि अवयव इसमें सटे होते हैं।

(ग) Celosomatic monstor—इसमें शरीर का मध्य भाग उभार युक्त होता है।

(घ) Exencephalic monstor—इसमें मस्तिष्क की संरचना ठीक नहीं होती है।

(ङ) Pseudencephalic monstor—इसमें बृहत् मस्तिष्क का अभाव होता है।

(च) Amencephalic monstor—इसमें मस्तिष्क ही नहीं होता है।

(छ) Cyclocephalic monstor—इसमें नासिका नहीं होती है।

(ज) Octocephalic monstor—इसमें कान सटे हुए होते हैं।

(झ) Omphalositic monstor—इस भ्रूण में हृदय नहीं होता है।

(ञ) Double monstor—इसमें दो शिशु निम्नलिखित नौ प्रकार से जुटे देखे जाते हैं—

(i) Sternopagus—इसमें उरोऽस्थि आपस में मिली होती है।

(ii) Xiphopagus—इसमें उरोऽस्थि का अधोभाग जुटा रहता है।

(iii) Lschiopagus—इसमें श्रोणि भाग पर जुटे रहते हैं।

(iv) Cephalopagus—इसमें दोनों के सिर आपस में जुटे होते हैं।

(v) Syncephalic—इसमें सिर का कुछ अंश जुटा रहता है।

(vi) Monocephalic—इसमें दोनों का सिर एक ही होता है।

(vii) Synosomatic—दोनों के शरीर किसी एक स्थान पर जुटे होते हैं।

(viii) Monosomatic—दोनों का शरीर एक ही होता है।

(ix) Double parusitic monstor—इसमें एक भ्रूण दूसरे भ्रूण के मध्य में होता है। इन भ्रूण सम्बन्धी विकृतियों का वर्णन भगवान् धन्वन्तरि ने सूत्र रूप में सुश्रुत शा० अ० २ श्लोक ५० से ५२ तक में किया है।

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्॥ १५॥

८. स्त्री देर से गर्भ को जन्म क्यों देती है? ('कस्मात् प्रसूते सुचिरेण गर्भम्') प्रश्न का उत्तर—जब गर्भ (माता के आहार द्वारा) यथोचित आहार नहीं प्राप्त करता या किसी कारण सूख जाता है अथवा गर्भकाल में मासिकस्राव अपने समय में होता रहता है तो ऐसा गर्भ वर्षों में पोषण को प्राप्त कर पाता है, तब उसको देर से स्त्री जन्म देती है।

वक्तव्य—गर्भवती स्त्री को **द्विहृदया** कहते हैं। गर्भकाल में उसको जो भी आहार-विहार सम्बन्धी इच्छाएँ होती हैं, उनको **दौहृद** कहते हैं। इनकी पूर्ति से अर्थात् इन वस्तुओं को गर्भवती को देने से गर्भस्थ शिशु का समीचीन पोषण होता है। इनके अभाव में शिशु में उस-उस प्रकार की न्यूनताएँ आ जाती हैं। इन विषयों का यथासमय उपदेश बहुप्रसूता स्त्रियाँ दिया करती हैं। गृह-चिकित्सक को भी इस प्रकार की व्यवस्था गर्भिणी के पति द्वारा करा देनी चाहिये।

यदा गर्भः शोषं समाप्नोति—यहाँ गर्भ के सूखने की चर्चा तन्त्रकार ने की है। इसके आगे-पीछे गर्भ

के सूख जाने के एक-एक कारण (उचित आहार का न मिलना और गर्भकाल में आर्तव का स्राव होते रहना) बतलाया है, किन्तु इसके अतिरिक्त रोग, शोक, भय, क्रोध ये भी गर्भ को सुखा देने में कारण होते हैं। मेरे चिकित्साकाल में एक गर्भवती स्त्री जिसका पति गर्भ धारण होने के पाँचवें मास में मर गया, पति-विरहजनित शोक से उसका गर्भ जन्म नहीं ले सका, क्योंकि गर्भ सहित स्त्री अत्यन्त कृश हो गयी थी।

वाग्भट ने कुछ ऐसे गर्भों (नागोदर, उपवेष्टक आदि) का वर्णन किया है। इसके लिये अ० हृ० शा० अ० २ श्लोक १४ से २० तक देखें।

कर्मात्मकत्वाद् विषमांशभेदाच्छुक्रासृजोर्वृद्धिमुपैति कुक्षौ।
एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः॥ १६॥

९. **यमल गर्भ में एक पुष्ट दूसरा कृश क्यों होता है?** ('एकोऽभिवृद्धिं च यमेऽभ्युपैति') प्रश्न का उत्तर—गर्भ में स्थित यमल (जुड़वाँ) भ्रूण पूर्वजन्म के अपने-अपने कर्मों के कारण, रजस् तथा शुक्र के मात्रा भेद से एक पुष्ट हो जाता है और दूसरा कृश हो जाता है। यही यमल गर्भ के पुष्ट एवं कृश होने में कारण होता है।

वक्तव्य—इस अध्याय के ११ वें श्लोक में पूछे गये गर्भ सम्बन्धी आठ या नौ प्रश्नों का समाधान महर्षि आत्रेय ने यहाँ तक कर दिया है। इसके आगे पुनः आठ प्रश्न पूछे जा रहे हैं।

कस्माद् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषण्डौ।
वक्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा सञ्जायते वातिकषण्डको वा॥ १७॥

आठ प्रश्न—१. किस कारण से गर्भ द्विरेता (स्त्री तथा पुरुष के लक्षणों से युक्त) २. पवनेन्द्रिय, ३. संस्कारवाही, ४. नरषण्ड, ५. नारीषण्ड, ६. वक्री, ७. ईर्ष्याभिरति तथा ८. वातिकषण्ड, होते हैं?

वक्तव्य—'नरनारिषण्डौ' नरश्च नारी च = नरनार्यौ (द्वन्द्वः) नरनार्यौ ते षण्डौ (कर्मधारयः)। इस विग्रह के अनुसार नर तथा नारी शब्द के साथ षण्ड शब्द का सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है।

षण्ढ या षण्ड—'अब्जादिकदम्बे षण्डमस्त्रियाम्'। अमरः। तथा—'**षण्डो**गोपतिरिट्चरः'। अमरः। '**षण्ढं** पद्मादिसङ्घाते न स्त्रीस्याद् गोपतौ पुमान्'। मेदिनी। '**षण्ढः** स्यात् पुंसि गोपतौ। आकृष्टाण्डे वर्षवरे तृतीयप्रकृतावपि' मेदिनी। 'तृतीयाप्रकृतिः **षण्ढः** क्लीबः पण्डो नपुंसकम्'। अमरः। षण्ढ इति पाठे 'शमेर्ढः' (उणादिः १।९९)। यहाँ तक कोष तथा व्याकरण की दृष्टि से उक्त शब्द पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त यह शब्द **शण्ड, शण्ढ** रूप में भी देखा जाता है। सुश्रुत ने '**षण्डकं** शृणु पञ्चमम्' के रूप में षण्ड शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग किया है। चरक सूत्रस्थान अ० १९ में बीस प्रकार की योनिव्यापत्तियों में 'षण्ढयोनि' की भी चर्चा है, न कि 'षण्डयोनि' की। हमारे विचार से '**अब्जादिकदम्बे षण्डम्**' तथा 'तृतीयाप्रकृतिः **षण्ढः**' ये ही प्रयोग समुचित हैं। पाठभेदों में अन्तर आ जाना तो प्रतिलिपिकर्ताओं का प्रमाद सर्वत्र प्रसिद्ध है ही। विद्वान् विचार करें।

बीजात् समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।
शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा[२] करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम्॥ १८॥

१. **द्विरेता किस कारण से होता है?** ('कस्माद् द्विरेताः') प्रश्न का उत्तर—बीज (शुक्र-शोणित) के समान अंशवाला होने के कारण अथवा बीज (शुक्र-शोणित) के वात आदि दोषों से उपतप्त (विकृत) होने के कारण उत्पन्न होने वाला शिशु स्त्री तथा पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त होता है। इसी का नाम 'द्विरेता' है।

२. **पवनेन्द्रिय किस कारण से होता है?** ('पवनेन्द्रियो वा') प्रश्न का उत्तर—गर्भगत शिशु के शुक्राशय को दूषित वायु नष्ट करके 'पवनेन्द्रिय' वाला बना देता है। अर्थात् गर्भकाल में जब दूषित वायु पुमान् गर्भ के शुक्राशय को नष्ट कर देता है, तो वह वायु स्वयं उस शुक्राशय में अपना स्थान बना लेता है, अतः इसको पवनेन्द्रिय कहते हैं।

---

१. 'यमेऽधिकेऽप्येष भवेद्विशेषः' इति पा०।
२. 'गत्वा' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर द्विरेता नपुंसक की उत्पत्ति के दो कारण दिये हैं—**१. समांशात् बीजात्** और २. **उपतप्तबीजात्**। इन कारणों से उत्पन्न बालक स्त्री तथा पुरुष के समान लक्षणों से युक्त होता है। फलतः वह न पूर्ण पुरुष ही हो पाता है और न पूर्ण स्त्री ही। यहाँ 'उपतप्त' का अर्थ सन्तप्त या विकृत है। **द्विरेता**—रेतस् शब्द शुक्र, बीज, तेज, प्रभाव तथा इन्द्रिय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ समशुक्र—शोणित संयोगज को ही द्विरेता माना गया है।

सुश्रुत में वर्णित 'कुम्भीक' नामक नपुंसक से इसकी समानता देखी जाती है। देखें—'स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद् यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते। कुम्भीकः स तु विज्ञेयः' ॥ सु० शा० अ० २।४०। अर्थात् जो पुरुष असंयमी होने के कारण दूसरे व्यक्ति से अपना गुद-मैथुन कराकर स्त्रियों में पुरुष की भाँति प्रवृत्त होता है। अब आप विचार करें कि इस कुम्भीक में द्विरेता (स्त्री तथा पुरुष दोनों) के लक्षण स्पष्ट रूप में परिलक्षित हो रहे हैं या नहीं?

ध्यान दें—इस द्विरेता (कुम्भीक) नामक नपुंसक को कभी पुरुष के साथ सहवास (गुद-मैथुन) की और कभी स्त्री के साथ सहवास की इच्छा होती है। जब यह दूसरे से गुद-मैथुन करवाता है, तब इसका ध्वजोच्छ्राय (लिंग में कड़ापन) होता है तदनन्तर यह स्त्री-सहवास के लिये प्रवृत्त होता है। यह है विश्वारम्भण-कौतुकी परब्रह्म का सृष्टि-रचना कुतूहल।

शुक्राशयम्—भगवान् धन्वन्तरि के मत से आशयों की संख्या सात हैं, देखें—'आशयाः सप्त'। सु० शा० अ० ५।६। उनके नाम क्रमशः—१. वाताशय, २. पित्ताशय, ३ श्लेष्माशय, ४. रक्ताशय, ५. आमाशय, ६. पक्वाशय, ७. मूत्राशय इनके अतिरिक्त स्त्रियों में ८ वाँ गर्भाशय होता है। किन्तु शुक्राशय की चर्चा इस प्रकार उपलब्ध नहीं है। आचार्य शार्ङ्गधर ने स्त्री-शरीर में स्तनों को भी आशयविशेष माना है। यह उनकी हठात् आकृष्ट कल्पना मात्र है।

शुक्रोत्पत्तिस्वरूप–धन्वन्तरि के अनुसार सातवीं 'शुक्रधरा कला' है, जो सभी प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। देखें—सु० शा० अ० ४।२०। यह शुक्र मानव-शरीर में उस प्रकार रहता है, जिस प्रकार दूध के प्रत्येक अवयव में घी और इक्षुदण्ड में रस, देखें—सु० शा० अ० ४।२१।

शुक्रप्रवृत्ति—'द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः। मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते' ॥ सु० शा० अ० ४।२२। 'सप्तमी शुक्रधरा द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्तयति'। अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान। प्रत्यक्षशारीर के अनुसार ऊपर के 'द्व्यङ्गुले दक्षिणे' के आगे 'वामे' और जोड़ना चाहिये, नहीं तो प्रत्यक्ष विरोध होता है।

विशेष वक्तव्य—'शुक्रवहे द्वे स्रोतसी'। सु० शा० अ० ९।१२। इसका तात्पर्य है शुक्रवह दो स्रोत हैं, इनका मूल स्तन और वृषण हैं। ये वस्ति (मूत्राशय) द्वार के दो अंगुल नीचे पुरुष के मूत्रमार्ग में खुलते हैं और स्त्री की भग की दीवारों में बहुमुखी होकर व्याप्त रहते हैं। मैथुन के समय समस्त शरीर से आकर इन्हीं स्रोतों में से होकर शुक्र बाहर आता है। शुक्र को धारण करने वाली कला का ही नाम 'शुक्रधरा' है। यह शुक्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। प्रसन्न मन से जब पुरुष स्त्री के साथ सम्भोग करता है तो हर्ष के कारण वह शुक्र निकलता है। इसकी सम्पुष्टि महर्षि आत्रेय ने चरक चि० अ० २ श्लोक ४६ से ४९ तक के पद्यों में की है। अतः उपर्युक्त वातादि आशयों की भांति शुक्र का कोई आशय प्रमुख रूप से नहीं है। अन्तिम रूप में जिन दो स्रोतों से शुक्र का वहन होता है, अर्थात् सभी शरीरावयवों से निःसृत वीर्यक्षरण के पूर्व जिन अवयवों में आकर कुछ क्षण के लिये रुकता है, उन्हें ही शुक्राशय स्वीकार करना होगा। इस प्रसंग में वृषण-परिचय पर ध्यान दें—'उत्पद्येते प्रसादाच्च मांसासृक्कफमेदसाम्। वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ' ॥ शा० सं० पूर्वखं० अ० ५।८५। अर्थ स्पष्ट है। शुक्र और स्तन्य (दूध) की उत्पत्ति तथा निःसरण के सम्बन्ध में धन्वन्तरि की स्पष्टवादिता देखें—सु० शा० अ० १०।१९–२२।

आधुनिक दृष्टिकोण—आहार से उत्पन्न रस सम्पूर्ण शरीर में रक्तवाहिनियों द्वारा संचार करता है। इस रस में से शारीरिक अवयव और विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियाँ अपनी-अपनी आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करती रहती हैं। अण्डकोश भी दो प्रकार के रसों की उत्पत्ति करते हैं—१. बाह्य रस, इसी को 'शुक्र' कहते हैं, इससे कामेच्छा उत्पन्न होती है और २. आभ्यन्तर रस, इसी को 'ओजस्' कहते हैं। यह शरीर को ओजस्वी बनाता है। स्त्रियों के शरीरों में इसी प्रकार स्तन्यग्रन्थियाँ (Anamary glands) भी उक्त रस में से दूध का निर्माण करती हैं।

बालक के स्पर्श, स्मरण से इसका स्राव होता है और काम, क्रोध आदि मनोविकारों के प्रभाव से यह दूषित हो जाता है।

पवनेन्द्रियत्वम्—नपुंसक का यह दूसरा भेद वात की विकृति के कारण ही होता है। इसमें गर्भाशय में ही गर्भ के शुक्रस्रोत को वायु नष्ट कर देता है तो इसके शुक्रस्रोत के मुख बन्द हो जाते हैं, तथापि इसमें पुरुषत्व के सभी लक्षण (मैथुन की इच्छा, सहवास काल में आनन्द का अनुभव, लिङ्गोच्छ्राय आदि) होते हैं, केवल जहाँ मैथुन के अन्त में वीर्य का क्षरण होना चाहिये वह न होकर वायु मात्र निकलकर सहवास की समाप्ति हो जाती है। इसका साम्य सुश्रुतोक्त 'षण्ढ' के साथ किया जा सकता है।

वृद्धवाग्भट का मत—'यदा स्त्री प्रथमं कृतार्था भवति ततः पुरुषेण पश्चाच्छुक्रमुत्सृष्टं हर्षानवस्थितचेतसः स्त्रिया वातो विगुणीकरोति, पुंस्त्ववाहीनि चास्य स्रोतांसि चोपहन्ति, तदा वातेन्द्रियं भवति, तन्मैथुने वातमेवोत्सृजति'। अष्टांगसं० शा० अ० ३। अर्थ स्पष्ट है। वाग्भट का उक्त विवेचन चरक से अधिक विशद है।

सुश्रुत में नपुंसक-गणना—'आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा। सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्डसंज्ञितः' ॥ सु० शा० अ० २।४४। इस प्रकार सुश्रुत ने पाँच प्रकार के नपुंसक माने हैं। इनमें प्रथम चार—१. आसेक्य, २. सुगन्धि, ३. कुम्भीक और ४. ईर्ष्यक ये नपुंसक (पूर्ण पुमान् न) होते हुए भी शुक्र वाले (सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ) होते हैं और ५. षण्ढ या षण्ड अशुक्र (निर्वीर्य) होता है।

शुक्राशयद्वारविघट्टनेन [१]संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च।
मन्दाल्पबीजावबलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ १९ ॥

३. **संस्कारवाही षण्ड क्यों होता है?** ('कस्मात् संस्कारवाही') प्रश्न का उत्तर—गर्भाशयगत दूषित वायु गर्भ में स्थित शिशु के शुक्राशय (श्लोक १८ की ऊपर दी गयी टिप्पणी को देखें) के द्वार को दूषित कर देता है। इससे संस्कारवाही नामक षण्ड की उत्पत्ति होती है।

४. **नरषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है?** ('कस्मात् नरषण्डः') प्रश्न का उत्तर—जब मन्द बीज (शुक्र) तथा मन्दहर्ष से युक्त पुरुष सहवास के लिये प्रवृत्त होता है, तो इसके फलस्वरूप उत्पन्न बालक 'नरषण्ड' कहा जाता है। इसमें पुरुष की विकृति प्रधान कारण है।

५. **नारीषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है?** ('कस्मात् नारिषण्डः') प्रश्न का उत्तर—जब मन्द बीज (रजस्) तथा मन्दहर्ष (मैथुन के प्रति कम इच्छा) से युक्त स्त्री सहवास के लिये प्रवृत्त होती है, तो इसके फलस्वरूप उत्पन्न कन्या 'नारीषण्ड' कही जाती है। इसमें स्त्री की विकृति प्रधान कारण होती है।

वक्तव्य—उक्त पद्य द्वारा तीन प्रकार के नपुंसकों का परिचय दिया गया है—१. संस्कारवाही, २. नरषण्ड और ३. नारीषण्ड। इनका क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत है—

(१) **संस्कारवाही**—यह नपुंसक अपनी शक्ति से सहवास में प्रवृत्त नहीं हो पाता है किन्तु विविध प्रकार के वाजीकरणों के सेवन करने से इसमें मैथुन-शक्ति का संचार होता है। क्योंकि '**संस्कारो हि गुणान्तराधानम्**' च० वि० अ० १। स्वाभाविक रूप से जिसमें जो गुण न हो उसको प्राप्त करने के लिये जिन-जिन उपायों का प्रयोग किया जाता है वे-वे उस-उसके संस्कार कहे जाते हैं। मीमांसाशास्त्र के अनुसार गर्भाधान से लेकर और्ध्वदैहिककृत्य तक सोलह संस्कारों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार पीतल में सोने का पानी चढ़ाना, कलई कराना आदि उस-उसके लिये गुण या शक्तिवर्धक कहे जाते हैं। नपुंसकों को पुरुष बनाने के लिये वाजीकरण (न वाजी अवाजी, अवाजी वाजीक्रियते येन, तत् = वाजीकरणम्।) औषधयोगों तथा युक्ति विशेषों का प्रयोग किया जाता है। वाजीकरणयोगों का वर्णन चिकित्साग्रन्थों में देखें। सुश्रुत के अनुसार युक्ति विशेषों का यहाँ निर्देश किया जा रहा है—

(i) **आसेक्य** नामक नपुंसक जब दूसरे पुरुष के वीर्य को चाटता है तो उसके लिंग में उत्तेजना आती है। यह प्रवृत्ति पशुओं में मैथुन के बाद देखी जाती है। वे बाहर निकले हुए अपने लिंग को वीर्य के लोभ से चाटते हैं। देखें—कुत्ते, बन्दर आदि को।

---

१. 'संस्कारवाहं हि करोति वायुः' इति पा०।

(ii) **सौगन्धिक** नामक नपुंसक योनि तथा लिंग की गन्ध को सूंघकर ही मैथुनशक्ति प्राप्त करता है अन्यथा नहीं। यह प्रवृत्ति गोस्वामियों (साड़ों) तथा कुत्तों में देखी जाती है)।

(iii) **कुम्भीक** नामक नपुंसक में स्त्री तथा पुरुष दोनों के लक्षण देखे जाते हैं। अतः ये पहले अन्य पुरुष से अपना गुद-मैथुन कराते हैं, तब स्वयं स्त्री-सहवास के लिये प्रवृत्त होते हैं। यदि ये गुद-मैथुन न करायें तो इनमें उत्तेजना नहीं आ सकती।

(iv) **ईर्ष्यक** नामक नपुंसक दूसरे स्त्री-पुरुषयुगल को मैथुन करते देखकर उत्तेजना को प्राप्त करता है। अतएव इसका यह नाम सार्थक है। इस प्रकार के नपुंसकों की अनेक लोकोक्तियाँ समाज में सुनी-सुनायी जाती हैं।

(v) **षण्ढ** नामक नपुंसक शुक्ररहित होता है। इसका कोई उपचार नहीं है। प्राचीन काल में रनिवासों की नौकरी के लिये इनका स्थान सुरक्षित रहता था, क्योंकि ये सर्वथा उस स्थान के लिये उपयुक्त होते थे। इन्हीं को समाज हिजड़ा या नचनियाँ कहता है। इनको न योनि होती है, न लिंग ही, परन्तु मैथुन की इच्छा होती है। किसी-किसी को लिंग या भग, स्तन देखें तो जाते हैं, पर उनकी यथोचित वृद्धि नहीं होती और न वे अंग उपयोगी ही हो पाते हैं। इनको प्रायः स्त्रीवेश ही रुचिकर होता है।

(२) **नरषण्ड**—भगवान् धन्वन्तरि ने इसको **'स्त्रीचेष्टिता'** की संज्ञा दी है। इसकी उत्पत्ति चरक की परिभाषा के सर्वथा विरुद्ध है। चरक में अल्पबीज और अल्पहर्ष को इसका कारण माना है और सुश्रुत में सहवास काल के आसनों की विकृति को कारण माना है। देखें—'यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते। ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्ढसंज्ञितः' ॥ सु० शा० अ० २।४२।

(३) **नारीषण्ड**—भगवान् धन्वन्तरि ने इसको **'नरचेष्टिता'** की संज्ञा दी है। इसकी उत्पत्ति भी चरकोक्त परिभाषा के विपरीत है। चरक में अल्पबीज और अल्पहर्ष को इसका कारण माना है और सुश्रुत में सहवास-काल के आसनों की विकृति को कारण माना है। देखें—'ऋतौ पुरुषवद् वापि प्रवर्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता' ॥ सु० शा० अ० २।४३।

मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद् बीजदौर्बल्यतया पितुश्च।
ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव[1] वदन्ति हेतुम् ॥ २० ॥

६. **वक्री सन्तान कैसे होती है ?** ('वक्री कथं सञ्जायते') प्रश्न का उत्तर—माता का व्यवाय (मैथुन) के प्रति क्रोध (अनुरक्ति न) होने से और पिता के बीज (शुक्र) की दुर्बलता से शिशु वक्री होता है।

७. **ईर्ष्यारति सन्तान कैसे होती है ?** ('ईर्ष्यारतिः कथं सञ्जायते') प्रश्न का उत्तर—जब पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव रखकर पूर्ण उत्साह के अभाव में परस्पर रति-क्रिया करते हैं तो उस गर्भ से होने वाली सन्तान ईर्ष्यारति कही जाती है। यह भी एक नपुंसक भेद ही है।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता में जिस ईर्ष्यक नामक षण्ढ भेद का वर्णन किया गया है, वह स्वयं अपने जीवन में मैथुन के लिये कैसे प्रवृत्त हो पाता है, इसका वर्णन है, देखें—सु० शा० अ० २।४१। और चरक संहिता में जिस ईर्ष्यारति नपुंसक का वर्णन है, वह उसकी उत्पत्ति का स्वरूप है।

वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः।
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ॥ २१ ॥

८. **वातिकषण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है ?** ('वातिकषण्डको [illegible]') प्रश्न का उत्तर—जिस गर्भस्थ शिशु के दोनों वृषण (Testicular) गर्भाशयगत दूषित वात तथा अग्नि (पित्त) के कारण नष्ट हो जाते हैं, वह वातिकषण्ड कहा जाता है। इस प्रकार ये (उपर्युक्त) आठ विकारों के भेद कर्मों के अनुसार होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—वृषणों की रचना के सम्बन्ध में आचार्य शार्ङ्गधर लिखते हैं—'उत्पद्येते प्रसादाच्च मांसासृक्कफमेदसाम्। वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ' ॥ शा० सं० पूर्वखंड अ० ५।८५। ये शुक्रवाहिनी सिराओं के

१. '-वीर्ष्याह्वयस्यैव' इति पा०।

मूल हैं और ये पुरुषत्व या मैथुन-सामर्थ्य का वहन करते हैं। अतः इनके नाश होने से पुरुष में षण्डता आ जाती है। सुश्रुत शा० अ० ३।२४ में लिखा है कि ऊरुसन्धि तथा वृषणों के मध्यभाग में विटप नाम का सक्थि मर्म है। इस पर आघात पड़ने से षण्डता तथा अल्पशुक्रता हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में वायु तथा पित्त के प्रतीघात का प्रभाव यहां भी हो सकता है, यह अनुसन्धेय है। वातिकषण्ड के वीर्य में प्रजोत्पादन समर्थ शुक्राणु नहीं पाये जाते हैं। वृषण-नाश दो प्रकार का पाया जाता है—१. वृषणों का सर्वथा न होना और २. वृषणों का पूर्ण रूप में न होना, क्षीण अपुष्ट आदि स्वरूप।

कर्मात्मक विकृति प्रकार—ऊपर जितने प्रकार के षण्डों का वर्णन किया गया है, उनमें माता-पिता के गर्भाधान सम्बन्धी कर्मों की विकृति अथवा शिशु के पूर्वजन्मार्जित या शिशु के माता-पिता के पूर्वजन्मार्जित दुष्कर्मों के कारण ही ऐसे बालकों का जन्म होता है। यद्यपि जीवन-क्षेत्र में पुरुषत्व के अनेक रूप देखे जाते हैं, किन्तु यहां सहवास में समर्थ, प्रयत्न साध्य समर्थ, निर्वीर्य की ही चर्चा तन्त्रकार को अभीष्ट है।

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कुक्षौ स्त्रीपुंनपुंसामुदरस्थितानाम्।
किं लक्षणं ? कारणमिष्यते किं सरूपतां येन च यात्यपत्यम् ॥ २२ ॥

सन्तति विषयक प्रश्न—१. गर्भाशय में सद्यः (तत्काल) प्राप्त गर्भ का क्या लक्षण होता है ? २. माता के उदर में स्थित स्त्री शिशु का क्या लक्षण होता है ? ३. पुंलिंग शिशु का क्या लक्षण होता है ? ४. नपुंसक शिशु का क्या लक्षण होता है ? और ५. किस कारण से परस्पर सन्तान समान रूपवाली होती है।

वक्तव्य—'अपत्य' शब्द का अर्थ पुत्र अथवा पुत्री दोनों होता है। उक्त पद्य में पांच प्रश्नों द्वारा गर्भ विषयक जिज्ञासा प्रस्तुत की गयी है। जिनका उत्तर क्रमशः आगे प्रस्तुत है।

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदये व्यथा च।
तृप्तिश्च बीजग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् ॥ २३ ॥

१. **सद्योगृहीतगर्भा का क्या लक्षण है ?** ('सद्योऽनुगतस्य गर्भस्य किं लक्षणम्' ?) प्रश्न का उत्तर—मुख से बार-बार लार का निकलना, शरीर में भारीपन, शरीरावयवों में शिथिलता, तन्द्रा (उँघाई) का आना, प्रहर्ष (रोमांच का होना), हृदयव्यथा (घबड़ाहट), तृप्ति तथा योनि में बीज (शुक्राणु) का आधान, ये लक्षण तत्काल गर्भस्थिति के होते हैं।

वक्तव्य—मीमांसाशास्त्र के अनुसार शुभ तिथि, वार, नक्षत्र में गर्भाधान करने का विधान है, फिर भी कभी-कभी अनेक कारणों से गर्भाधान नहीं हो पाता है और जब गर्भाधान हो जाता है तो उक्त लक्षणों का अनुभव स्त्री को होता ही है।

हृदये व्यथा—यद्यपि पीडा, बाधा, व्यथा, दुःख ये पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु यहां पर व्यथा शब्द दुःख का बोधक न होकर भयसंचलन (घबड़ाहट) का सूचक है। अनुभवी विद्वान् सद्योगृहीतगर्भा की तात्कालिक मानसिक स्थिति पर ध्यान दें।

तृप्तिश्च—ऋतुकाल में गर्भाशय शुक्र-प्राप्ति के लिये उत्सुक रहता है और जब उसको शुक्राणु की प्राप्ति हो जाती है, तब उसे तृप्ति हो जाती है। इसी के लिये वह (स्त्री) **नरकामा** (पुरुष-सहवास-प्राप्ति की इच्छुक) रहती है। कुलवती स्त्रियों में यह इच्छा शील-संकोच के कारण सीमित रहती है। अन्यत्र यही उत्कट इच्छा नवयुवतियों को पथभ्रष्ट कर देती है। यह संगम की इच्छा पशु-पक्षियों में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

धन्वन्तरि का मत—'श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः'। सु० शा० अ० ३।१३। अर्थात् जिस स्त्री ने तत्काल गर्भ (बीज) ग्रहण किया हो उसके ये लक्षण होते हैं—श्रम, ग्लानि, प्यास का लगना, टांगों में शिथिलता, शुक्र और शोणित (रज-वीर्य) का परस्पर मिल जाना तथा योनि का फड़कना (Pulsation)। इसी प्रकार के लक्षणों का वर्णन वाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० हृ० शा० अ० १।

विशेष वक्तव्य—जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन मैथुन करने के बाद शुक्र स्त्री-योनि से बाहर नहीं आता, अपितु गर्भाशय के उस स्थान पर जाकर सट जाता है जहां से रजस् के स्राव के लिये क्षत हुआ था।

सहवास के अन्य-दिनों में वह योनि से बाहर निकल आता है, फलतः ऋतुमती को किसी विशेष प्रकार का अनुभव नहीं होता। गर्भाधान होने ही योनि (गर्भाशय) में स्फुरण होता है। बहुशः प्रसूता स्त्रियाँ इस स्फुरण से गर्भाधान हो गया जान लेती हैं, अल्हड़ स्वभाववाली नहीं जान पातीं। यह स्फुरणक्रिया बीज के प्रभाव से होती है। गर्भाधान के पूर्व जो ऋतुमती के भुजाओं, स्तनों, श्रोणि-प्रदेश, नाभि, ऊरु, जघन तथा नितम्ब भाग में स्फुरण होता है, वह केवल पुरुष-सहवास की उत्सुकता के लक्षण हैं। गर्भाधान होने के बाद गर्भिणी में क्रमशः जो लक्षण दिखलायी देते हैं, उनका वर्णन देखें—सु० शा० अ० ३।१४–१५।

सव्याङ्गचेष्टा [1]पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा ।
[2]सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥ २४ ॥
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्ययेण व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम् ।

२–४. **गर्भाशय में स्त्री, पुरुष, नपुंसक गर्भ के क्या लक्षण हैं?** ('स्त्रीपुंनपुंसकामुदरस्थितानां किं लक्षणम्?') इन तीन प्रश्नों के उत्तर—२. जो गर्भिणी स्त्री बायें अंगों से चेष्टायें करती है, पुरुष-प्राप्ति की इच्छा करती है, स्वप्न में स्त्रियों (कन्याओं) को देखती है या स्त्रीलिंग भक्ष्य, भोज्य तथा पेय पदार्थों को खाने, पीने की इच्छा प्रकट करती है, बायीं ओर गर्भ का उभार प्रतीत होता हो, गर्भ का आकार गोल न हो तथा बायें स्तन से प्रथम बार दूध निकले, तो वह गर्भिणी कन्या सन्तान को जन्म देती है।

३. उक्त लक्षणों के विपरीत होने पर वह गर्भिणी पुत्र सन्तान को जन्म देती है।

४. यदि स्त्रीलिंग और पुंलिंग दोनों के लक्षण समान रूप से दिखलायी देते हों तो वह गर्भिणी नपुंसक सन्तान को जन्म देती है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्य में [illegible] स्थित भ्रूण स्त्री, पुरुष या नपुंसक में से क्या है, इसको जानने के लिये लक्षणों का निर्देश किया गया है। कन्या को जन्म देने वाली गर्भिणी के सभी लक्षण विस्तार में बतलाये गये हैं। पुत्र सन्तान के लक्षणों को इस प्रकार समझें—जब माता का गर्भ पुत्र के रूप में परिणत हो जाता है, तब माता दाहिने अंगों से चेष्टायें करती है, स्वप्न में बालकों को देखती है, पुंलिंग भक्ष्य, भोज्य, पेय पदार्थों को खाने, पीने की इच्छा प्रकट करती है, दाहिनी ओर गर्भ का उभार प्रतीत होता है। नपुंसक गर्भ का विवरण अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रसंग में भगवान् धन्वन्तरि द्वारा निर्दिष्ट स्त्री-पुं-नपुंसक गर्भों के परिचायक लक्षण भी द्रष्टव्य हैं। देखें—सु० शा० अ० ३।३४ और वा० शा० अ० १।

उपर्युक्त गर्भ-लक्षणों का विवेचन सामान्य रूप से किया गया है, इनका ठीक-ठीक निर्णय न कर पाने पर सन्देह भी बना रह जाता है। इन लक्षणों की अभिव्यक्ति ४५ दिन से लेकर ९० दिन तक हो जाती है। आयुर्वेद के अनुसार पुंसवनसंस्कार (पुमान् सूयते अनेन, इति) का समय यही है।

पुरुषार्थिनी—'सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री'। यहाँ पर हमारी समझ से 'सव्याङ्गचेष्टा च सुखार्थिनी या' पाठभेद अधिक युक्ति-युक्त है। पाठक ध्यान दें—इसी अध्याय के २३ वें श्लोक में '**तृप्तिश्च**' शब्द का प्रयोग हुआ है, अर्थात् ऋतुमती स्त्री यथासमय पति के साथ सहवास करने से बीजग्रहण कर लेने पर एक विशिष्ट प्रकार की तृप्ति का अनुभव करती है, तदनन्तर वह '**सुखार्थिनी**' (विश्राम करने की इच्छा वाली) होती है, न कि '**पुरुषार्थिनी**', क्योंकि 'ततः प्रभृति व्यवायं···न सेवेत'। सु० शा० अ० ३।२६।

गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत् तत्सदृशं प्रसूते ॥ २५ ॥

५. **क्या कारण है कि सन्तानें परस्पर सदृश पैदा होती हैं?** ('किं कारणं येन अपत्यं सरूपतां याति'?) प्रश्न का उत्तर—गर्भाधान (बीजग्रहण) काल में स्त्री का मन (ध्यान) जिस प्राणी की ओर लगा रहता है, वैसी ही सन्तान को वह जन्म देती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार ऋतुस्नान के तत्काल बाद स्त्री जैसे पुरुष को देखती है, वैसी ही सन्तान को वह जन्म देती है, अतः उसको उसके पति का दर्शन कराये। देखें—सु० शा० अ० २।२६। प्रायः

---

१. 'ससुखार्थिनी या' इति पा०।

२. 'सव्याङ्गगर्भा' इति पा०।

सन्तानें पिता, माता, मामा, चाचा आदि के अनुरूप देखी जाती हैं। इसी का समर्थन अ० हृ० अ० १।२६ में वाग्भट ने भी किया है। इसी के आगे वे लिखते हैं—'वे नर-नारी जिस प्रकार की सन्तान चाहें उस प्रकार के रूपों, चरित्रों, जनपदों तथा देशों का चिन्तन करें, साथ ही उसी प्रकार के आहार-विहारों एवं वेश-भूषाओं का सेवन करें। देखें—अ० हृ० शा० अ० १।३१। इसका तात्पर्य यह है कि यदि माता-पिता अपनी सन्तान को दानी, शूर-वीर, धर्मात्मा आदि विलक्षण प्रतिभावान् चाहते हों तो तदनुरूप परिस्थिति में गर्भिणी को रखें। विशेष देखें—च० शा० अ० ८।१०-१८।

ज्योतिःशास्त्र के अनुसार—'धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुखः सुतः'। पिता की आकृति की कन्या और माता की आकृति का पुत्र भाग्यवान् होता है।

गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृसम्भवानि ।
आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे ॥ २६ ॥
तेषां विशेषाद् बलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि ।
तानि व्यवस्येत् सदृशत्वहेतुं सत्त्वं यथानूकमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

गर्भ-प्रकार-चर्चा—सभी प्रकार के गर्भ के शरीर में मातृज, पितृज, आहारज और आत्मकर्मज चार-चार प्रकार के चार महाभूत (पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु) कारण रूप से रहते हैं। उन-उन कारणों की विशेषता से अर्थात् जिस गर्भ में जिस मातृज, पितृज आदि में जिस कारण की विशेषता होती है तथा उस-उस प्रधान महाभूत के अनुरूप गर्भस्थ शिशु में सदृशता आती है और पूर्वजन्म के अनुसार उसके सत्व का भी विचार करे।

वक्तव्य—मातृज, पितृज, आहारज तथा आत्मकर्मज इन चार भेदों का जब चार महाभूतों से सम्बन्ध स्थापित होता है तो इनके १६ भेद हो जाते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—१. मातृज देह (आर्तव से), २. पितृज देह (शुक्र से), ३. आहारज देह (माता-पिता के आहार तत्व के रूप में प्राप्त शोणित-शुक्र के संयोग से बीज रूप में उत्पन्न तदनन्तर केवल माता के आहार रस से पोषित), ४. आत्मकर्मज देह (गर्भस्थ शिशु के पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार निर्मित)। इनका जब महाभूतों से सम्बन्ध होता है तो इस प्रकार भेद होते हैं—१. मातृज पृथिवी, २. पितृज पृथिवी, ३. आहारज पृथिवी, ४. आत्मकर्मज पृथिवी, ५. मातृज जल, ६. पितृज जल, ७. आहारज जल, ८. आत्मकर्मज जल, ९. मातृज अग्नि, १०. पितृज अग्नि, ११. आहारज अग्नि, १२. आत्मकर्मज अग्नि, १३. मातृज वायु, १४. पितृज वायु, १५. आहारज वायु, १६. आत्मकर्मज वायु, इन्हीं के समवाय से गर्भ-शरीर की रचना होती है। माता के अनुरूप सन्तान की उत्पत्ति में मातृज महाभूतों की प्रधानता रहती है और पितृज महाभूतों की प्रधानता से पिता के अनुरूप सन्तान होती है। माता-पिता से भिन्न प्रकृति वाली सन्तान की उत्पत्ति में माता-पिता के विशेष प्रयासों की प्रधानता रहती है। जिसका वर्णन हमने इसके पहले पद्य के वक्तव्य में किया है।

भूतानि—ऊपर श्लोक सं० २६ में 'भूतानि' के स्थान पर अन्य संस्करणों में '**मतानि**' छपा है, जो सर्वथा निरर्थक है। लगता है कि यह संशोधक या लिपिकर्ता की भूल है। यदि यहाँ 'मतानि' को प्रसंगोचित मान लेते हैं तो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इनका ग्रहण कर पाना कठिन हो जायगा।

सत्त्वम्—यहाँ 'सत्व' शब्द का अर्थ मन अथवा गुणत्रय (सत्व, रजस्, तमस्) का प्रतीक माना गया है, जो प्रकरणोचित ही है। प्रसंगानुसार शिशु के लक्षणों को देखकर ब्राह्मसत्व आदि का निर्णय किया गया है, विशेष विवेचन के लिये देखें–सु. शा. अ. ४। इनका वर्णन महर्षि आत्रेय ने च. शा. अ. ४ में किया है।

अनूकम्—यह शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है, यथा—'अनूकं तु कुले शीले पुंसि स्याद् गतजन्मनि'। इति मेदिनी। यहाँ इन सभी अर्थों का प्रयोग समीचीन प्रतीत होता है। अर्थ प्रयोग पर ध्यान दें। चक्रपाणि ने इसका अर्थ जन्मान्तरीय प्रकृति का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकारा है। यह लोकव्यवहार में भी देखा जाता है।

कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियां वा ।
देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च ॥ २८ ॥

गर्भविषयक प्रश्न—१. किस कारण से स्त्री विकृत (विकारयुक्त), हीन अंगों वाली या अधिक अंगों वाली अथवा विकलेन्द्रिय (दोषयुक्त इन्द्रियों वाली) सन्तान को उत्पन्न करती हैं ?, २. किस प्रकार एक देह से दूसरे देह में आत्मा पहुँचती है ?, ३. आत्मा किन भावों से सदा बँधी रहती है। इनका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाऽऽहारविहारदोषैः ।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि ॥ २९ ॥

१. किस कारण से स्त्री विकृत आदि सन्तानों को जन्म देती है ? ('कस्मात् प्रजां स्त्री विकृताम्०') प्रश्नों का उत्तर—बीज (शुक्र-शोणित जो सन्तान की उत्पत्ति में बीज=कारण है), आत्मकर्म (उक्त बीज से उत्पन्न होने वाली सन्तान के पूर्वजन्म के शुभ अथवा अशुभ कर्म), गर्भाशय तथा काल (गर्भाधान के लिये सम्मत काल, यहाँ आयुर्वेद एवं ज्योतिःशास्त्रोक्त दोनों प्रकार के कालों का विवेचन कर लेना उचित है) इनकी विकृति से, माता के आहार-विहार सम्बन्धी दोषों से (गर्भकाल में जिन आहार-विहारों का निषेध किया गया है, उनका सेवन करने से एवं गर्भिणी की इच्छाओं (दोहद) की पूर्ति न होने से), दूषित वातादि दोष गर्भस्थ शिशु के संस्थान (आकृति), वर्ण (गौर, श्याम) तथा इन्द्रियों को विकार युक्त कर देते हैं।

वक्तव्य—सांप, बिच्छू, कूष्मांड (Benincasahispida) के सदृश विकृत आकृतियों वाले जो बच्चे जन्म लेते हैं, ये सब पापजनित होते हैं। गर्भाशय में वायु का प्रकोप होने से अथवा गर्भवती की इच्छाओं की पूर्ति न करने से गर्भस्थ शिशु कुबड़ा, विकृत हाथों वाला, लंगड़ा, गूंगा, अस्पष्ट बोलनेवाला हो जाता है। माता-पिता के नास्तिक होने (आयुर्वेदीय उपदेशों के अनुसार आचरण न करने) से अथवा पूर्वजन्म में किये गये अशुभ कर्मों के फल से अथवा वात आदि के प्रकोप से गर्भस्थ शिशु विकृत हो जाता है। यह धन्वन्तरि का मत है। देखें—सु० शा० अ० २।५०-५२।

वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य ।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥ ३० ॥

उक्त विषय का आलंकारिक वर्णन—जिस प्रकार नदी के स्रोत में स्थित वृक्ष को वर्षा-काल में काष्ठ, अश्मघन (बड़े तथा ठोस पत्थरों) से युक्त जल के वेग विकृत कर देते हैं, उसी प्रकार गर्भाशय में स्थित विकृत वातादि दोष गर्भस्थ शिशु को विकृत कर देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ नदी के स्रोत के मुख में स्थित वृक्ष को लकड़ी, पत्थर युक्त जल का वेग विकृत कर देता है, ऐसा तन्त्रकार ने कहा है। महर्षि चाणक्य की दृष्टि में नदी के तट पर स्थित वृक्ष का विनाश हो जाता है। देखें—'नदीतीरे च ये वृक्षाः परगेहेषु कामिनी। मन्त्रिहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यन्त्यसंशयम्' ॥ चाणक्यनीति।

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥ ३१ ॥

२. आत्मा एक देह से दूसरे देह में कैसे जाती है ? ('देहात् कथं देहम् उपैति') प्रश्न का उत्तर—अत्यन्त सूक्ष्म चार महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु) के साथ मनोजव (पिता के सदृश वह आत्मा) एक देह से दूसरे देह में अपने कर्मों के अनुसार प्रवेश करता है, (यदि यह सत्य है तो निकलते अथवा प्रवेश करते समय उसका दर्शन क्यों नहीं होता है ? का उत्तर—) दिव्य दृष्टि के बिना उस (आत्मा) का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। योगीपुरुष आत्मा के दर्शन में सदैव समर्थ होते हैं।

वक्तव्य—'मनो जवति (प्रविशतीति)' = मनोजवः—मन जिसमें प्रवेश करता है, एक विग्रह इस प्रकार का है। इस विग्रह से 'पितृसन्निभ' इस अर्थ का लाभ नहीं होता, 'मनोजवपितृसधर्माणः', इति नाममाला। और देखें—'आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदां शतम्'। अर्थात् पिता की आत्मा ही पुत्र रूप में परिणत होती है, अतः उसको आशीर्वाद दिया जाता है कि तुम सौ वर्ष (पूर्णायु) तक जीवित रहो। महामानव मनु ने इस तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया है—'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः'। मनुस्मृति ९।८। स्त्री को

जाया इस लिये कहा जाता है कि उसमें अपने वीर्य का आधान करके पुरुष पुत्र रूप में पुनः पैदा होता है। यही आशय है '**मनोजवः**' शब्द का। अत एव उत्पन्न शिशु पितृसदृश होता है।

सुसूक्ष्मैः चतुर्भिः भूतैः सहितः—पृथिवी आदि भूतों के सुसूक्ष्म रूप—१. गन्धतन्मात्रा, २. रसतन्मात्रा, ३. रूपतन्मात्रा तथा ४. स्पर्शतन्मात्रा। यह लिङ्ग शरीर मुक्ति तक आत्मा का साथ नहीं छोड़ता। आकाश का क्रियाशून्य होने के कारण उक्त चार महाभूतों में उसका परिगणन नहीं किया गया है।

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव[1] ॥ ३२ ॥

आत्मास्वरूप वर्णन—वह (उपर्युक्त) आत्मा सर्वग (सब जगह जड़-चेतन में गमन करने वाली) है, सब प्रकार के शरीरों का धारण-पोषण करने वाला है, वह विश्वकर्मा (सम्पूर्ण संसार उसी का कार्य) है, वह विश्वरूप (व्यापक) है, वह चेतना धातु (संज्ञा प्रदान करने में मूल कारण रूप) है, अतीन्द्रिय (चक्षु आदि इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता) है, वह नित्ययुक् (मन आदि ज्ञानेन्द्रियों से उसका सदैव योग रहता) है, वह अनुशय (राग, द्वेष आदि से) युक्त है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में '**स एव**' पाठ दिया है किन्तु इसके स्थान में जो दूसरा पाठ उपलब्ध होता है, वह है—'**स एकः**'। यह पाठ अधिक युक्ति-युक्त एवं सार्थक है। इसका अर्थ है—'वह एक है'। इसकी पुष्टि में देखें—'**परमात्मा एक एव**'। तर्कसंग्रह। अन्नम्भट्ट के मत में आत्मा एक ही है। इसी प्रसंग में लिखा है, वह आत्मा कारण भेद से दो प्रकार का होता है—१. जीवात्मा और २. परमात्मा। जब यह परम्+आत्मा (जीव से भिन्न) रूप में रहता है, तब यह राग-द्वेष आदि से रहित ('निर्विकारः परस्त्वात्मा'। सांख्यकारिका।) होता है।

रसात्ममातापितृसम्भवानि भूतानि विद्याद् दश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु ॥ ३३ ॥

आत्मा तथा महाभूतों का सम्बन्ध—प्रत्येक शरीर में उक्त चार महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) रसज, आत्मज, मातृज तथा पितृज भेद से १०+६ = १६ प्रकार के होते हैं। ये चारों महाभूतों का अधिकरण आत्मा है, अर्थात् ये आत्मा में आधारित हैं और आत्मा इन चार महाभूतों पर आश्रित रहता है।

वक्तव्य—जगत् सृष्टि रूप स्वार्थ की सिद्धि के लिये महाभूतों का आत्मा से और आत्मा का महाभूतों से सम्बन्ध बतलाया गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं निष्क्रिय (कुछ भी करने में असमर्थ) है। अतः जगत् रूप कार्य को करने के लिये उसने व्यक्त रूप चार महाभूतों का आश्रय लिया है और महाभूत भी तन्मात्रा रूप से आत्मा से इस कार्य में सम्बद्ध रहते हैं।

भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे ।
आप्याय्यते शुक्रमसृक् च भूतैर्यैस्तानि[2] भूतानि रसोद्भवानि ॥ ३४ ॥

गर्भ में मातृज तथा पितृज उक्त चार महाभूतों को रज और शुक्र कहते हैं। जिन चार महाभूतों से शुक्र और रजस् की पुष्टि (गर्भधारण शक्ति प्राप्त) होती है, वे महाभूत रसज होते हैं।

वक्तव्य—सभी प्रकार के भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थ पञ्चमहाभूतों से ही उत्पन्न होते हैं। उनका सेवन करने से स्त्री में रसज की और पुरुष में शुक्र की उत्पत्ति होती है। गर्भधारण के पश्चात् माता के आहार रस से ही गर्भ को पोषण प्राप्त होता है, जो सर्वविदित है। देखें—सु० शा० अ० ३।३१।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत ने इस प्रसंग में जिस रसवहा नाड़ी (सिरा) की चर्चा की है, वह वाम और दक्षिण भेद से दो प्रकार की है। देखें—'त एव रक्तम् अभिवहन्तो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञम्'। सु० शा० अ० ९।७। ये दोनों गर्भ-धारण होने के पहले आर्तव का वहन एवं विसर्जन करती हैं। गर्भधारण होने के बाद

---

१. 'एकः' इति पा०।
२. 'देहे रसजानि विद्यात्' इति पा०।

उसका पोषण करती है। आचार्य भोज का मत है कि गर्भधारण होने पर वह रसमय रक्त-स्रोतों को अवरुद्ध कर देती है, जिसके कारण स्त्रियों को गर्भधारण होने के बाद रक्तस्राव नहीं होता। उसी रसमय रक्त से जरायु तथा गर्भनाल का निर्माण तथा गर्भ का भरण-पोषण होता है। इस काल में गर्भिणी स्त्री द्वारा खाये गये भोजन के रस-सार से एक तो स्तनों की पुष्टि और दूसरे गर्भ का पोषण होता है, क्योंकि इस काल में गर्भ गर्भिणी के शरीर का ही एक अवयव हो जाता है। अतएव उस (गर्भिणी स्त्री) को द्विहृदया कहते हैं।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
[1]स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥ ३५ ॥

जो आत्मलीन (आत्मा के साथ विषय को प्राप्त) चार महाभूत गर्भ में प्रवेश करते हैं, वे कर्मज हैं। अर्थात् वह आत्मा अपने पूर्वजन्म के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के वशीभूत होकर ही उनके फलों को भोगने के लिये पुनः चार महाभूतों के साथ गर्भ में प्रवेश करता है। वह बीजधर्मा (उत्पन्न होने के स्वभाव वाला) लिङ्ग शरीर मनोयुक्त आत्मा में जाता हुआ अपर (देवतादि शरीरों) अथवा अपर (मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि) शरीरों से शरीरान्तरों में जाती है।

वक्तव्य—जैसे छोटे-से बीज से बहुत बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म कारणभूत आत्मा से स्थूल (दृश्यमान) जगत् (स्थावर-जंगम) की उत्पत्ति हो जाती है। विशेष विवरण के लिये देखें—सु० शा० अ० ३।४। इस गद्य में भूतात्मा के लिये जिन क्षेत्रज्ञ आदि विशेषणों को दिया है, ये विशेषण सब प्रकार से आत्मा के स्वरूप के परिचायक हैं।

रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः ॥ ३६ ॥

कर्मात्मक (जिनकी उत्पत्ति में कर्म ही कारण है) ऐसे भूतों के रूप (भौतिक शरीर) से ही रूप (रूपवान्-दृश्य) शरीर की उत्पत्ति होना प्रसिद्ध है, मन से मन की उत्पत्ति होती है। प्राणियों में जो आकृति (स्वरूप) तथा बुद्धि में परस्पर भेद होते हैं, उन सब में रजस्, तमस् तथा कर्म (पूर्वजन्म) के कारण होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर निर्देश किया गया है कि बीजधर्मा आत्मा रज-वीर्य के मिश्रण से गर्भ का कारण होता है। जैसा रज-वीर्य होगा उसी के अनुरूप सन्तान भी होती है। इसी के उदाहरणस्वरूप रूप से रूप की उत्पत्ति होती है, कहा गया है। जैसे सफेद तन्तुओं से बुना गया वस्त्र भी सफेद ही होता है, वैसे ही देह तथा आत्मा पर महाभूतों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म में किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों के प्रभाव से प्रभावित मन से तदनुरूप मन की उत्पत्ति होती है। यथा—'पूर्वजन्मनि या विद्या पूर्वजन्मनि यत्तपः। पूर्वजन्मनि या नारी परजन्मनि तत्तथा'॥ सूक्ति।

यदि हम सृष्टि की उत्पत्ति में महाभूतों को कारण मानते हैं तो सम्पूर्ण सृष्टि को एक रूप का होना चाहिये था, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसका कारण है कि आकृति तथा बुद्धि जो सब की एक दूसरे से भिन्न देखी जाती है, उसमें रजस्, तमस् तथा पूर्वजन्म में किये गये कर्म ही कारण होते हैं और कर्मों के अनुसार ही प्राणी विभिन्न योनियों में जन्म लेता है, तदनुरूप उसकी आकृति और बुद्धि भी होती है।

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥ ३७ ॥
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥ ३८ ॥

१. आत्मा सदा किन भावों से बंधी रहती है? ('आत्मा सदा कैरनुबध्यते च'?) प्रश्न का उत्तर—अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की शक्ति से बाहर) तथा अत्यधिक सूक्ष्म (अणु से भी अणीयान्) कारणरूप भूतों

१. 'सा बीजधर्मिण्यपरापराणि'। इति पा०।

से आत्मा कभी भी अलग नहीं होती। न कर्म से, न मन से, न बुद्धि से, न अहंकार से और न विकार रूप दोषों से आत्मा कभी मुक्त नहीं होती। ज्ञान के बिना रजोगुण तथा तमोगुण का मन से सदैव सम्बन्ध बना रहता है। इस प्रकार के मन में सभी प्रकार के दोष होते हैं। सदोष (दोषयुक्त) मन तथा बलवान् कर्म, ये दोनों ही गति और प्रवृत्ति (शुभ अथवा अशुभ कर्म में लगने) में कारण होते हैं।

वक्तव्य—भूतात्मा को परमात्मा से भिन्न रखने में कारण है—रजस् तथा तमस् का निरन्तर सम्बन्ध तथा अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति। इसके अतिरिक्त जब वह पुष्करपत्रवत् निर्लेप (विकारों से रहित) होता है, तब वह परमात्मा, सर्वज्ञ आदि उपाधियों से विभूषित रहता है। सत्त्व गुण के उदय में रजस्, तमस् गुण तथा अशुभ कर्म बाधक होते हैं। देखें—'सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत'॥ गीता। अतएव जगद्गुरु शंकराचार्य ने लिखा है—'ज्ञानविहीने सर्वमतेन मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन'॥ चर्पट-मञ्जरी। और भी—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। आदि सूक्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं।

रोगाः कुतः संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम्।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः ॥ ३९ ॥

पाँच प्रश्न—१. रोग कैसे होते हैं?, २. इनका संशमन क्या है?, ३. हर्ष का क्या कारण है?, ४. शोक का क्या कारण है? और ५. शारीरिक तथा मानसिक विकार (रोग) एक बार शान्त हो जाने पर पुनः कैसे नहीं आ सकते?

प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ॥ ४० ॥

१. रोग कैसे होते हैं? ('रोगाः कुतः'?) प्रश्न का उत्तर—'प्रज्ञापराध' रोगोत्पत्ति का पहला कारण है, दूसरा कारण इन्द्रियों के अर्थों का विषमयोग (इसी को पहले असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग के रूप में) कहा गया है और तीसरा कारण है, काल का परिणाम।

२. रोगों का संशमन क्या है? ('संशमनं किमेषाम्'?) प्रश्न का उत्तर—सभी प्रकार के रोगों की शान्ति (चिकित्सा) भी तीन प्रकार की होती है। यथा—प्रथम शान्ति है—ज्ञान (प्रज्ञा का सदुपयोग), दूसरी शान्ति है—अर्थ (इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) का ठीक-ठीक व्यवहार) और तीसरी शान्ति है—समयोग युक्त काल।

धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
शरीरसत्त्वप्रभवास्तु रोगास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ॥ ४१ ॥

३. हर्ष का क्या कारण है? ('हर्षस्य किं निमित्तम्'?) प्रश्न का उत्तर—धर्म्य (धर्म से युक्त) सभी क्रियाएँ (हितकर आहार-विहार आदि व्यवहार) हर्ष (प्रसन्नता अर्थात् नीरोगता) का कारण कही गयी हैं।

४. शोक का क्या कारण है? ('शोकस्य च किं निमित्तम्'?) प्रश्न का उत्तर—उससे विपरीत अर्थात् अधर्म युक्त सभी क्रियाएँ (अहितकर आहार-विहार आदि व्यवहार) मानव को शोक (रोग) का वशीभूत कर देती हैं।

५. शरीर तथा मन से उत्पन्न रोग शान्त हो जाने पर फिर क्यों नहीं होते? ('शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः',) प्रश्न का उत्तर—शरीर तथा मन के संयोग से पैदा होने वाले (शारीरिक या मानसिक) रोग जब एक बार चिकित्सा करने से शान्त हो जाते हैं, तो फिर वे उन दोनों (शरीर और मन) की अवृत्ति (सम्बन्ध न होने) से नहीं होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद की दृष्टि से धर्म्य क्रियाएँ हितकर आहार-विहार तथा सद्वृत्त का आचरण करना है। इससे हर्ष की प्राप्ति होती है, जिसको हम दुःख का अभाव कह सकते हैं। रजोगुण तथा तमोगुण वाली सभी प्रवृत्तियाँ शोक का कारण होती हैं। देखें—'हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्'॥ इस सुभाषित में भी हर्ष और शोक का कारण क्रमशः प्रज्ञा और प्रज्ञापराध ही है। और भी देखें—'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते'। सूक्ति। यहाँ भी धर्म से सुख की प्राप्ति का निर्देश किया गया है।

रोग की उत्पत्ति में शरीर और मन का स्थिर सम्बन्ध होता है। जब तक यह सम्बन्ध बना रहता है, तब तक बार-बार रोग का आक्रमण होता रहता है, चिकित्सा से उसको दूर किया जाता है। अर्थात् शरीर और मन रोगों के आश्रय हैं तथा रोग उनका आश्रयी है। आश्रय (शरीर-मन) के अभाव (मोक्ष) हो जाने पर आश्रयी (रोग) का अभाव होना स्वभावसिद्ध है।

रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च ॥ ४२ ॥

शरीर-मनविषयक विचार—रूप का आधार शरीर तथा मन की सन्तति (परम्परा) का आदि (कब से प्रारम्भ हुई इसका वर्णन) नहीं किया गया है, क्योंकि उसका कोई काल-निर्धारण नहीं है। जिसके आदि (आरम्भक तिथि) का पता नहीं होता, उसे अनादि कहते हैं। वास्तव में मन-शरीर का सम्बन्ध मानवीय सृष्टि के दिन से ही माना जाता है। इस रूप में सृष्टिकाल ही मनःशरीर के आरम्भ का काल है। उन दोनों (मन और शरीर) की अवृत्ति (न होना या सम्बन्ध-विच्छेद), पर (उत्कृष्ट), धृति (धारणाशक्ति), उत्तम स्मरण-शक्ति तथा विवेकशील बुद्धि से ही की जा सकती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में उत्कृष्ट धृति, स्मृति, तथा श्रेष्ठ बुद्धि के संयोग को 'ज्ञान' की संज्ञा दी गयी है। यही अन्यत्र मुक्ति की सोपान-परम्परा है। जैसा कि हम ऊपर ३८ वें पद्य के वक्तव्य में निर्देश कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त और भी देखें—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। गीता। अज्ञान युक्त मन बन्धन का कारण और वही मन जब ज्ञान से युक्त हो जाता है तो मोक्ष-प्राप्ति का कारण हो जाती है।

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥ ४३ ॥

रोगोत्पत्ति में दैव की प्रबलता—पूर्वोक्त दो प्रकार के आश्रयों (शरीर और मन) के रहने पर रोगों से बचने के लिये प्रतिदिन तत्पर जितेन्द्रिय (जिसकी सभी इन्द्रियाँ अपने वश में हैं) पुरुष को रोगपीड़ित नहीं करते, यदि तत्कालयुक्त प्रबल दैव कारण न हो तो।

वक्तव्य—इस पद्य में आस्तिक महर्षि आत्रेय पुनर्वसु रोगोत्पत्ति के दो कारणों को स्वीकार किया है—१. मिथ्या आहार-विहार आदि से होने वाले रोग तथा २. पूर्वजन्म कृत दुष्कर्मों के फलस्वरूप होने वाले रोग, इसी को (दैव) दुर्भाग्य या सौभाग्य कहते हैं।

दैव का महत्त्व—रोगों की उत्पत्ति के पहले ही जो जितेन्द्रिय पुरुष सदैव सद्वृत्त का सेवन करते हैं और अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं, उन पुरुषों को रोग नहीं होते, किन्तु इतना करने पर भी यदि पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों का फल दुर्भाग्य के रूप में प्रबल होगा तो व्याधियाँ हो जाती हैं।

दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् [1]तत् पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुर्हि समः स एव ॥ ४४ ॥

प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण—जो कार्य पहले (पूर्वजन्म में) किया गया हो, उसको दैव (भाग्य) कहा जाता है। जो कर्म हम इस जन्म में करते हैं, उसे पौरुष या पुरुषार्थ कहते देखा जाता है। दैव तथा पौरुष जब विषम (प्रतिकूल) होता है, तब वह रोगों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) में कारण होता है और जब दैव तथा पौरुष सम होता है तब ये रोगों की निवृत्ति (विनाश) में कारण होता है।

वक्तव्य—उक्त दैव तथा पुरुषकार का ऐसा ही वर्णन अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। 'पूर्वजन्म कृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते'। सूक्ति। दैव तथा पौरुष के विशेष विवेचन के लिये देखें—चरक वि० अ० ३।३३-३४।

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु[2] ॥ ४५ ॥

१. 'तन्मानुषम्' इति पा०।
२. 'जन्तुः' इति पा०।

रोगोत्पत्ति से पहले प्रतिकार—हेमन्तऋतु (शीतकाल) में संचित दोष (कफ) को वसन्तऋतु में, ग्रीष्मऋतु में संचित दोष (वात) को अभ्रकाल (वर्षाऋतु) में और वर्षाऋतु में संचित दोष (पित्त) को घनात्यय (बादलों की समाप्ति होने पर अर्थात् शरदऋतु) में प्रतिवर्ष भलीभांति निकालते रहने पर ऋतुकालजनित विविध प्रकार के रोग नहीं होते।

वक्तव्य—आयुर्वेद त्रिदोष सिद्धान्त पर स्थिर है। ये तीन दोष वात, पित्त, कफ हैं। शीतकाल में कफ दोष का संचय होता है, इसका निर्हरण वसन्त (चैत्र-वैशाख) में करना चाहिये, आदि स्पष्ट है। ध्यान देना है कि शीत, उष्ण, वर्षा के जहाँ, जिस काल में लक्षण दिखलायी दें तदनन्तर उस उस दोष का संचय समझें और तत्सम्बन्धित ऋतु में उस संचित दोष को निकालने का समय पर प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि ऋतुओं की स्थिति सर्वत्र एक जैसी नहीं होती।

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ४६ ॥

नीरोग कौन रहता है?—हितकर आहार-विहार का सेवन करने वाला, समीक्ष्यकारी (देख, सुन, समझकर कार्य करने वाला), चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों (अर्थों) में असक्त (न लगा रहने वाला), दाता (यथाशक्ति दान देने वाला) सभी के प्रति सम बुद्धि रखने वाला, सत्यपर (सच बोलने वाला), क्षमावान् (क्षमा करने वाला अर्थात् दूसरे के अपकारों को सहन करने की शक्ति से युक्त) तथा आप्तजनों के वचनों का सदैव अनुसरण करने वाला पुरुष रोगरहित (सदैव नीरोग) होता है।

वक्तव्य—महर्षियों की रचनाओं में इस प्रकार के हितोपदेश सर्वत्र सुलभ होते हैं। अन्यत्र इसकी चर्चा इस प्रकार है—'कोऽरुक्' कौन नीरोग रहता है? इसका उत्तर है—'हितभुक् मितभुक्' अर्थात् वह, जो हितकर पदार्थों का मात्रा के अनुसार भोजन करता है।

समीक्ष्यकारी—इस सम्बन्ध में चाणक्य ने लिखा है—'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्। शास्त्रपूतां वदेद् वाणीं मनःपूतं समाचरेत्' ॥ चाणक्यनीति। समझ-बूझकर कार्य करने का उपदेश प्रायः सभी शास्त्रों ने दिया है।

विषयेष्वसक्तः—आँख कान, नाक, जीभ, त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके क्रमशः पाँच विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श। इनके प्रति अधिक आसक्ति का न होना, क्योंकि इनमें अधिक आसक्ति दुःख का कारण होती है।

दाता—दानशीलता से अनेक प्रकार के कष्टों का प्रतिकार होता है। शास्त्र की मान्यता है कि 'दानं दुरितनाशनम्'। दान से पापों (रोगों) का नाश होता है। अनेक प्रकार के यज्ञ आदि में भी दान का विधान इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये होता है।

समः—विषमदृष्टि रखने वाला छोटा-बड़ा कोई भी अधिकारी अपमानित होता है और 'समबुद्धि-विशिष्यते'। गीता। समबुद्धि वाला सम्मानित होता है। 'समबुद्धि' या 'समदृष्टि' का आशय समान है।

सत्यपरः—राजा दशरथ, राजा हरिश्चन्द्र आदि सत्यपर थे। किन्तु महामानव मनु ने सत्यभाषण के क्षेत्र में कुछ परिष्कृत आदेश दिये हैं। यथा—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' ॥ मनुस्मृति।

क्षमावान्—क्षमा का अर्थ है सहन करना, यही कारण है कि 'हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधम्'। सूक्ति। और भी—'क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्' ॥ हितोपदेश।

आप्तोपसेवी—इसकी पर्याप्त चर्चा चरक विमानस्थान अ० ४।४ में हो चुकी है। वहाँ आप्त पुरुष के वचनों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है, क्योंकि इसके सेवन से मनुष्य स्वस्थ रह सकता है।

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं [1]नानुपतन्ति रोगाः ॥ ४७ ॥

किसको रोग नहीं होते?—सुखद मति (बुद्धि), सुखदायक वचन (बोल-चाल) तथा सुखदायक

१. 'नानुतपन्ति' इति पा०।

कर्म (समुचित आहार-विहार एवं सद्वृत्त का सेवन), विधेय (आज्ञाकारी) सत्व (मन), निर्मल बुद्धि, ज्ञान, तप तथा योग में तत्परता—ये गुण जिसमें रहते हैं, उसको रोग पीड़ित नहीं करते ।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में स्वस्थ रहने के जिन विषयों का संकेत किया है उन पर जरा ध्यान दें ! 'मति' और 'बुद्धि' दोनों शब्द परस्पर पर्याय रूप में कोषकारों ने स्वीकृत किये हैं, फिर भी प्रकरणवश अर्थ में बहुत अन्तर है। देखें—**'मतिर्बुद्धीच्छयोः'**। अर्थात् मति का अर्थ होता है—'इच्छा'। सुखद कार्यों को करने के प्रति स्वाभाविक रूप से इच्छा का होना और 'बुद्धि' का अर्थ है—'बुध्यतेऽनया' जिस शक्ति से प्रस्तुत विषय बुद्धिगम्य हो अर्थात् समझ में आजाय, इस पर भी इसका विशेषण है—'विशदा' जिसका अर्थ है—'व्यक्त' अर्थात् 'सुस्पष्ट'। विद्वान् और बुद्धिमान् का अन्तर तो स्पष्ट है ही।

विधेयं सत्वम्—अपने अधीन मन का होना नीरोग रहने के लिये अति आवश्यक है, अन्यथा वह मानव को कुपथ की ओर प्रवृत्त कर देता है और पथभ्रष्ट को कहीं शरण नहीं मिलती है। इसीलिये कहा है—'मार्गस्थो नावसीदति'। सूक्ति।

ज्ञानम्—यद्यपि ज्ञान शब्द भी लगभग बुद्धि के ही पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ मोक्षप्रद बुद्धि का नाम 'ज्ञान' है। इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः वह शारीरिक एवं मानसिक सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि 'ज्ञान' का अर्थ है—तत्वज्ञान।

तत्र श्लोकः—

इहाग्निवेशस्य महार्थयुक्तं [1]षट्त्रिंशकं प्रश्नगणं महर्षिः।
अतुल्यगोत्रे भगवान् यथावन्निर्णीतवान् ज्ञानविवर्धनार्थम् ॥ ४८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थानेऽतुल्य-
गोत्रीयं शारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—भगवान् महर्षि आत्रेय ने इस अतुल्यगोत्रीय नामक (दूसरे) अध्याय में आयुर्वेदीय ज्ञान को बढ़ाने के लिये अग्निवेश के महत्वपूर्ण अर्थ से युक्त छत्तीस प्रश्नसमूह का ठीक-ठीक निर्णय किया है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में 'षट्त्रिंशकं' पाठ आचार्य चक्रपाणि-सम्मत है और 'षड्विंशकम्' पाठ आचार्य गंगाधर-सम्मत है। इसको निम्नोक्त तालिका से समझें—

श्लोकांश—क्रम सं०	चक्रपाणि, प्रश्न सं०	गंगाधर, प्रश्न सं०
अतुल्यगोत्रस्य—३	१	१
सम्पूर्णदेहः—५	५	३
कन्यां सुतं वा—११	९	५
कस्माद् द्विरेता—१७	८	८
गर्भस्य सद्यो—२२	५	३
कस्मात् प्रजां—२८	३	३
रोगाः कुतः—३९	५	३
योग –	३६	२६

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेषवक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता शारीरस्थान में अतुल्यगोत्रीयशारीर नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

१. 'षड्विंशकम्' इति गंगाधरः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातः खुड्डिकां गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अतुल्यगोत्रीयशारीर के वर्णन करने के पश्चात् अब हम खुड्डिका गर्भावक्रान्तिशारीर की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—दूसरे अध्याय में असमान गोत्र वाले नर-नारी के शुक्र-शोणित-संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है, केवल इस विषय से सम्बन्धित ३६ प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। परन्तु सम्पूर्ण गर्भ के कारणों को नहीं कहा गया था, इसीलिये इस विषय का व्याख्यान ३ रे तथा ४ थे अध्यायों में किया गया है। तदनन्तर इस अध्याय ('लघुगर्भावक्रान्ति' अर्थात् गर्भ में प्रवेश करना) की चर्चा प्रस्तुत है। यहाँ खुड्डिका' शब्द का अर्थ है—लघु या छोटी, शेष इस ग्रन्थ की भूमिका में देखें।

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले, यदा [1]चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसम्प्रयोगात् तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते, स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिवर्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्यमाणः, ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णशरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः सुखेन जायते समुदयादेषां भावानां—मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च, अस्ति च खलु [2]सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ ३ ॥

गर्भावक्रमण प्रकरण

गर्भोत्पत्ति-प्रकार—दोषं रहित शुक्र वाले पुरुष का, अर्थात् जिसके वीर्य में गर्भोत्पत्ति की पूर्ण क्षमता हो और दोष रहित योनि, शोणित (आर्तव) तथा गर्भाशय वाली स्त्री का जब ऋतुकाल में संयोग होता है और जब उक्त गुण-धर्म वाले स्त्री-पुरुष के संसर्ग (सहवास) काल में गर्भाशय के भीतर शुक्र-शोणित के संयोग में सत्व (मन) के सम्पर्क से जीव प्रवेश करता है, तब गर्भ की उत्पत्ति होती है। वह गर्भ सात्म्य (माता तथा गर्भ के लिये अनुकूल) रसों के उपयोग से नीरोग रहता हुआ ठीक-ठीक उपचारों से उपचारित होता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है। तदनन्तर समयानुसार (९ वें या १० वें मास में) सभी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) से युक्त शरीर के सम्पूर्ण अवयवों वाला, आत्मानुरूप बल, वर्ण, मन, शरीर के संगठन से भली-भाँति युक्त होकर निम्नलिखित भावों के समुदाय (समूह) से सुखपूर्वक उत्पन्न होता है। यह गर्भ मातृज है, पितृज है, आत्मज है, सात्म्यज है, रसज है और सत्व (मन) भी आत्मा का शरीरान्तर से सम्बन्ध स्थिर करने वाला है, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इस गद्य में गर्भ के घटकों का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत है—उपहत (दुष्ट) शुक्र (इसके लक्षणों का वर्णन इसी प्रकरण में पहले किया जा चुका है) से विपरीत अर्थात् शुद्ध शुक्र वाले पुरुष का जब ऋतुकाल में स्त्री के साथ सहवास होता है तो गर्भोत्पत्ति होती है। वह स्त्री कैसी होनी चाहिये ? जिसकी योनि, शोणित और गर्भाशय सर्वथा शुद्ध हों। ध्यान दें—बीस प्रकार की योनिव्यापत्तियाँ होती हैं, जिनसे आक्रान्त योनि में मैथुन करने से गर्भधारण नहीं होता। शोणित की शुद्धि को जानने के लिये, शुद्ध आर्तव के लक्षणों पर ध्यान दें। इसी प्रसंग में गर्भ की शुद्धि का भी विचार करें।

ऋतुकाले—'षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणाम्' रजःस्राव प्रारम्भ होने के दिन से लेकर सोलह रात्रियों की ऋतुकाल संज्ञा है। इनमें प्रारम्भ की तीन रात्रियाँ सहवास के लिये निषिद्ध हैं, शेष रात्रियों में किया हुआ गर्भाधान उत्तरोत्तर हितकारक होता है।

१. 'तयोस्तथैव युक्ते संसर्गे' इति, 'चानयोस्तथाविधयोस्तथैव युक्ते संसर्गे' इति च पा०।
२. 'सत्त्वमुपपादुकम्' इति पा०।

अन्तर्गर्भाशयगतम्—'गर्भाशयबाह्यगतं संसर्गमकारणं गर्भस्य' चक्रपाणिः। इसका समर्थन आधुनिक विज्ञान भी करता है—जब शुक्र-शोणित का संयोग बीजवाहिनी नलिका (Fallopian tube) में होता है तब तो उचित स्थान पर गर्भ की स्थिति मानी जाती है और जब गतिहीन स्त्री बीज से गतिशील शुक्राणु का संयोग उदर गुहा में हो जाता है तो यह 'गर्भाशयबाह्यगतसंसर्ग' कहा जाता है, जो विकार युक्त होता है।

सम्यगुपचारश्चोपचर्यमाणः—गर्भकाल में माता के आहार-विहार द्वारा ही गर्भ का उपचार किया जाता है। इस काल में दोहद लक्षणों की पूर्ति को तथा सौम्य एवं सात्म्य आहार-विहार को प्रधानता दी जाती है जिससे गर्भ को उचित पोषण दिया जा सकता है।

सत्वसम्प्रयोगात्—'गर्भगत आत्मा का मन के साथ सम्यक् योग होने से'। अर्थात् निष्क्रिय आत्मा का जब मन से संयोग होता है, तो वह क्रियाशील हो जाता है। इसका उल्लेख चरक शा० अ० १।७५ में भली भांति किया जा चुका है।

नेति भरद्वाजः, किं कारणं—न हि माता न पिता नात्मा न सात्म्यं न पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति, न च परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वमवक्रामति ॥ (१) ॥

भरद्वाज द्वारा आत्रेय के मत का खण्डन

सन्तानोत्पत्ति में माता आदि भाव कारण नहीं होते—भरद्वाज का कथन है कि आत्रेय का उक्त कथन ठीक नहीं है—क्योंकि न माता, न पिता, न आत्मा, न सात्म्य और न पान, न अशन, न भक्ष्य, न लेह्य आहारों के उपयोग ही गर्भ को उत्पन्न करते हैं, न परलोक से आकर मन गर्भ में प्रवेश करता है।

यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेतां, भूयस्यः स्त्रियः पुमांसश्च भूयांसः पुत्रकामा; ते सर्वे पुत्रजन्माभिसन्धाय मैथुनधर्ममापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुर्दुहितॄर्वा दुहितृकामाः, न तु काश्चित् स्त्रियः केचिद् वा पुरुषा निरपत्याः स्यु[1]रपत्यकामा वा परिदेवेरन् ॥ (२) ॥

१-२. **मातृज, पितृज गर्भ-कारणों का खण्डन**—यदि माता-पिता गर्भ को उत्पन्न कर (सक) ते है तो अनेक स्त्रियाँ और अनेक पुरुष पुत्र-प्राप्ति के इच्छुक देखे जाते हैं, वे सभी पुत्र के जन्म की उत्पत्ति को लक्ष्य करके सहवास करते हुए पुत्रों को ही उत्पन्न कर लें अथवा कन्याओं के इच्छुक अनेक कन्याओं को ही जन्म दें। यदि ऐसा हो जाय तो कोई भी स्त्री या कोई भी पुरुष सन्तानरहित न हो और न कोई सन्तान के अभाव से विलाप करते रहें। अर्थात् सबको इच्छित सन्तान प्राप्त हो जानी चाहिये। अतः माता-पिता को सन्तान की उत्पत्ति में कारण नहीं मानना चाहिये।

न चात्माऽऽत्मानं जनयति। यदि ह्यात्माऽऽत्मानं जनयेज्जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा, तच्चोभयथाऽप्ययुक्तम्। न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चाजातो जनयत्यसत्त्वात्, तस्मादुभयथाऽप्यनुपपत्तिः। तिष्ठतु तावदेतत्। यद्ययमात्माऽऽत्मानं शक्तो जनयितुं स्यात्, न त्वेनमिष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेद् वशिनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणं तेजोबलजववर्णसत्त्वसंहननसमुदितमजरमरुजममरम्; एवंविधं ह्यात्माऽऽत्मानमिच्छत्यतो वा भूयः ॥ (३)

३. **आत्मज गर्भ-कारण का खण्डन**—आत्मा ही आत्मा (गर्भ) को उत्पन्न नहीं कर सकती है। यदि आत्मा ही आत्मा को उत्पन्न करती है, ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो फिर इसका निर्णय करना होगा कि जात (पैदा हुई) आत्मा गर्भ की उत्पत्ति में कारण है? या अजात (जो पैदा नहीं हुई, वह) आत्मा गर्भ की उत्पत्ति में कारण है? ये दोनों (जात या अजात आत्मा गर्भोत्पत्ति का कारण है) मत युक्ति युक्त नहीं हैं। न जात (उत्पन्न) आत्मा गर्भ को उत्पन्न कर सकती है क्योंकि वह तो स्वयं वर्तमान है और न अजात आत्मा ही गर्भ को उत्पन्न कर सकती है, क्योंकि उसकी स्थिति तो है ही नहीं। इसलिये दोनों प्रकार से आत्मा का गर्भोत्पत्ति में कारण होना सिद्ध नहीं होता, थोड़ी देर के लिये इस चर्चा को रहने दें। यदि यह आत्मा गर्भ को उत्पन्न करने में समर्थ हो भी जाये, तो वह आत्मा इस गर्भ को इष्ट (प्रिय) योनियों में ही क्यों नहीं उत्पन्न

१. 'स्युः। न चापत्यकामाः परिदेवेरन्' इति पा०।

कराती और वह आत्मा इस प्रकार के गर्भ को वशी (जितेन्द्रिय), अप्रतिहतगति (सर्वत्र अबाध गति वाला), कामरूपी (इच्छा के अनुरूप स्वरूप धारण करने की शक्ति से युक्त), तेज, बल, वेग, वर्ण, सत्व (मन या सत्वगुणवान्), संहनन (शरीरसौष्ठव से युक्त), अजर (वृद्धावस्था से रहित अर्थात् यौवनशक्ति-सम्पन्न), अरुज (नीरोग) और मृत्युरहित अथवा इन गुणों से भी अधिक गुणवान बनाना चाहती या बना सकती थी किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अतः गर्भ को आत्मज स्वीकार करना उचित नहीं है।

वक्तव्य—भरद्वाज ने अपने तर्कों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आत्मा से गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती है। आत्मा सूक्ष्म है, उसके अवयव होना सम्भव नहीं हैं, ऐसा पहले कहा गया है, किन्तु यहाँ आत्मज गर्भ की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है, अतः आत्मा (गर्भ) को उत्पन्न करने में कारण नहीं हो सकती। आत्मा निर्विकार है, उससे साकार या रूपवान् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि 'रूपाद्धि रूपप्रभवः' च० शा० अ० २।३६। अर्थात् रूप से ही रूप की उत्पत्ति होती है। यदि किसी कारण गर्भ को आत्मज मान भी लिया जाय तो उस गर्भ को उत्तम से उत्तम रूप का ही होना चाहिये न कि विकृत रूप का और न हीनांग अथवा अधिकांग वाला।

नत्वेनम्—निर्णयसागर प्रेस द्वारा तृतीयावृत्ति के रूप में प्रकाशित चरक में उक्त पाठ है। अन्यत्र **'नन्वेवम्'** के रूप में सुलभ है। आश्चर्य है कि निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार टीका करने वालों ने भी दूसरे पाठभेद के अनुसार ही टीका की है। मूल क्या है, इस पर ध्यान नहीं दिया। पहले पाठ में 'ननु' यह निषेधार्थक पद है और दूसरे पाठ में 'ननु' प्रश्नवाचक पद है, पाठक ध्यान दें।

असात्म्यजश्चायं गर्भः। यदि हि सात्म्यजः स्यात्, तर्हि सात्म्यसेविनामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, असात्म्यसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ (४) ॥

४. **सात्म्यज गर्भकारण का खण्डन**—भरद्वाज का मत है कि यह गर्भ सात्म्य (अनुकूल) पदार्थों के सेवन से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यदि गर्भ का कारण सात्म्य पदार्थों का सेवन मान लिया जात तो केवल सात्म्य पदार्थों का सेवन करने वालों को ही सन्तान होनी चाहिये थी और असात्म्य पदार्थों के सेवन करने वाले सभी सन्तानविहीन होते, किन्तु उक्त दोनों प्रकार देखने में नहीं आते। अर्थात् सन्तानें सात्म्य सेवियों अथवा असात्म्य सेवियों सभी को होते देखी जाती है। अतः सात्म्यज गर्भ को स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं हैं।

अरसजश्चायं गर्भः। यदि हि रसजः स्यात्, न केचित् स्त्रीपुरुषेष्वनपत्याः स्युः, न हि कश्चिदस्त्येषां यो रसान्नोपयुङ्क्ते; श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्गर्भा जायन्त इत्यभिप्रेतमिति, एवं सत्याजौरभ्रमार्गमायूरगोक्षीरदधिघृतमधुतैलसैन्धवेक्षुरसमुद्गशालिभृतानामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, श्यामाकवर-कोद्दालककोरदूषकन्दमूलभक्षाश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चोभयमुभयत्र दृश्यते ॥ (५) ॥

५. **रसज गर्भकारण का खण्डन**—यह गर्भ रसज (रस से उत्पन्न) नहीं है। यदि इसको रसज स्वीकार किया जाय, अर्थात् यदि यह रसज होता तो, कोई भी स्त्री-पुरुष सन्तानहीन न होते, क्योंकि संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जो रसों का उपयोग न करता हो। यदि तन्त्रकार का यह तात्पर्य हो कि श्रेष्ठ रसों का उपयोग करने वालों को ही गर्भ होता हो तो ऐसी बात भी देखी नहीं जाती, क्योंकि ऐसा होने पर बकरा, भेड़, मृग तथा मोर इनका मांसरस, गाय का दूध, दही, घी, मधु, तेल, सैंधानमक, ईख का रस, मूंग एवं शालि चावलों का ही सेवन करने वालों को सन्तान होनी चाहिये। साँवाँ, वरक (कुधान्य), उद्दालक (जंगली कोदों), कोरदूष (कोदों), कन्द, मूल को खाने वाले सर्वथा निःसन्तान होते, किन्तु ये दोनों बातें दोनों ओर देखी जाती हैं। अर्थात् उत्तम रसों के सेवन करने वाले भी निःसन्तान या सन्तानवान् और अधम रसों का सेवन करने वाले भी सन्तानवान् या निःसन्तान देखे जाते हैं। अतः गर्भोत्पत्ति में रस को कारण नहीं मानना चाहिये।

न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति; यदि ह्येनमवक्रामेत्, नास्य किञ्चित् पौर्वदेहिकं स्यादविदितमश्रुतमदृष्टं वा, स च तच्च न किञ्चिदपि स्मरति ॥ (६) ॥

६. **गर्भोत्पत्ति में मन की कारणता का खण्डन**—निश्चित ही परलोक से आकर मन का गर्भ में प्रवेश नहीं होता। यदि मन परलोक से आकर इस गर्भ में आक्रमण (प्रवेश) करता तो इसको पूर्वजन्म में देखी-सुनी

कोई बात भी अज्ञात नहीं होनी चाहिये, जब कि ऐसा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि देखा यह जाता है कि वह पूर्वजन्म के देखे, सुने विषयों को इस शरीर में आकर कुछ भी स्मरण नहीं करता है, अर्थात् उसको पूर्वजन्म की किसी बात का स्मरण नहीं रहता, अधिकांश यही देखा जाता है।

वक्तव्य—भरद्वाज के उक्त तर्क में मन के सर्वज्ञ होने में यह कारण है कि मन सभी इन्द्रियों के विषयों को जानने का साधन है, अतएव इसको भी इन्द्रिय कहा है। क्योंकि जब मन अनवस्थित रहता है तो सुख आदि का ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता है, अतः पूर्वजन्म के देखे-सुने विषयों का ज्ञान उसको होना चाहिये, ऐसा कहा गया है।

तस्मादेतद् ब्रूमहे—अमातृजश्चायं गर्भोऽपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चारसजश्च, न चास्ति सत्त्वमौपपादुकमिति (होवाच भरद्वाजः) ॥ ४ ॥

भरद्वाज के मत का निष्कर्ष—अतः उक्त तथ्यों को देखने से हम ऐसा कहते हैं कि यह गर्भ न मातृज, है, न पितृज है, न आत्मज है, न सात्म्यज है और न रसज ही है, और न मन उपपादुक (दूसरे शरीर से सम्बन्ध रखने वाला, अर्थात् दूसरे शरीर से आकर इसमें प्रवेश करता) है, ऐसा भरद्वाज ने कहा।

नेति भगवानात्रेयः, सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते ॥ ५ ॥

आत्रेय द्वारा परमत-खण्डन और स्वमत-स्थापन

आत्रेय का सिद्धान्त—भगवान् आत्रेय ने (भरद्वाज से) कहा कि (आपका मत समीचीन) नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त सभी भावों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—प्राचीनकाल में विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये ही सम्भाषा परिषदों का आयोजन होता था। इस प्रकार के मत-मतान्तर, शंका-समाधान आगे आने वाली पीढ़ी के लिये उद्बोधक होते हैं, अतएव इनका ग्रन्थ में समावेश किया जाता है।

मातृजश्चायं गर्भः। न हि मातुर्विना गर्भोत्पत्तिः स्यात्, न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि, यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति (मातृजानि) ॥ ६ ॥

१. मातृजभावों से गर्भोत्पत्ति का प्रमाण—यह गर्भ मातृज (माता से उत्पन्न होता) है, क्योंकि माता के बिना गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती, और जरायुज (Born form the womb) प्राणियों का जन्म तो माता के बिना होता ही नहीं। जो इस गर्भ के मातृज अवयव हैं और जो माता के शोणित से होने वाले गर्भ के उत्पन्न होते समय माता के आहारगत रक्त से उत्पन्न होते हैं, उन (मातृज त्वचा आदि भावों) की यहाँ हम व्याख्या करेंगे, वे इस प्रकार हैं—त्वचा (Skin), रक्त (Blood), मांस (Muscle), मेद (Fat), नाभि (Umbilicus), हृदय (Heart), क्लोम (Pancrease), यकृत (Liver), प्लीहा (Spleen), वृक्क (Kidneys), बस्ति (Bladder), पुरीषाधान (Sigmoid & Pelvic Colon), आमाशय (Stomach), पक्वाशय (Large Intestine), उत्तरगुद (Rectum), अधरगुद (Anus), क्षुद्रान्त्र (Small Intestine), स्थूलान्त्र (Large Intestine), वपा (हृदय में स्थित मेदस्-Fat globules) और वपावहन (Omentum) ये सब मातृज भाव हैं।

वक्तव्य—आधुनिक क्रियाशारीर की दृष्टि से, उपर्युक्त मातृजभाव विवेचना की अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि किसी शब्द का कोई दूसरा शब्द ठीक-२ पर्याय होने की क्षमता नहीं रखता, इस कथन पर विद्वान् ध्यान दें।

पितृजश्चायं गर्भः। नहि पितुर्ऋते गर्भोत्पत्तिः स्यात्, न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य पितृजानि, यानि चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिसिरास्नायुधमन्यः शुक्रं चेति (पितृजानि) ॥ ७ ॥

२. पितृज भावों से गर्भोत्पत्ति का प्रमाण—यह गर्भ पितृज (पिता से उत्पन्न) भी है। पिता के बिना गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेंगे तो जरायुज प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होगी। पिता के शुक्र से जिन अंगों की उत्पत्ति गर्भ में होती है और पिता के शुक्र से होने वाले इस गर्भ के उत्पन्न होते समय जो भाव होते हैं, उन (पितृज भावों) की हम यहाँ व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—केश (Hair in general), श्मश्रु (Beard), नख (Nail), लोम (The hair on the body of men) दाँत (Teeth), अस्थि (Bone), सिरा (Veins), स्नायु (Ligaments), धमनियाँ (Arteries) और शुक्र (Sperms) ये सभी अंग पितृज (पिता के शुक्र से उत्पन्न) होते हैं।

वक्तव्य—पितृज गर्भ में जिन भावविशेषों का वर्णन ऊपर किया है, वे केश, श्मश्रु आदि हैं। गर्भ की स्थापना में पिता के शुक्र का योगदान भी महत्वपूर्ण होता है। अन्यत्र देखिये—

'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ परस्परम्।
मुञ्चतः शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते' ॥ सु० शा० अ० २।४७ ॥

जब सम्भोग की इच्छा से प्रेरित दो स्त्रियाँ परस्पर रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त होती हैं, उस समय दोनों के शुक्र के मिलने से जो मांस-पिण्ड गर्भ के रूप में जन्म लेता है वह अनस्थि (अस्थिरहित) होता है।

वात्स्यायन कामसूत्र में इस प्रकार के सहवास को 'विसृष्टि सुख' कहा है, क्योंकि सहवास का मूल अथवा पवित्र उद्देश्य होता है, सन्तान की उत्पत्ति। इस लक्ष्य की पूर्ति के अतिरिक्त जो सहवास किया जाता है, वह केवल शुक्र-विसर्जन का सुख है, क्योंकि योनि और लिंग का एक विषय आनन्द भी है। नारी का शुक्र भी पुरुष के शुक्र जैसा लसीला, श्वेतवर्ण वाला होता है। इसका स्राव भग की भित्तियों से होता है। इससे गर्भाधान तो हो जाता है किन्तु इस गर्भ में पितृज गुणों का सर्वथा अभाव रहता है। पुरुषों के साथ समागम काल में ही स्त्रियों के उक्त शुक्र की प्रवृत्ति होती है किन्तु इससे गर्भ का कोई उपकार नहीं होता है।

यदि ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है तो वायु आर्तव को लेकर कुक्षि (गर्भाशय) में गर्भ की उत्पत्ति कर देता है। यह प्रतिमास बढ़ने लगता है, इससे कलल आदि की उत्पत्ति होने लगती है और गर्भिणी में गर्भलक्षण भी प्रकट होने लगते है किन्तु पितृज गुणों से यह हीन रहता है। देखें—सुश्रुत शा० अ० २।४८-४९।

आत्मजश्चायं गर्भः। गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः, तं 'जीव' इत्याचक्षते शाश्वतमरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणमव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि। स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनाऽऽत्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे। तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते, तस्मान्न[१] जात एवायमजातं गर्भं जनयति; अजातो ह्ययमजातं गर्भं जनयति; स चैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थविरभावान् प्राप्नोति, स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्तते तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्च, तस्मात् स एव जातश्चाजातश्च युगपद् भवति; यस्मिंश्चैतदुभयं सम्भवति जातत्वं जनिष्यमाणत्वं च स जातो जन्यते, स चैवानागतेष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयत्यात्मनाऽऽत्मानम्। सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायां; यथा—सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद् भवति; यथा—सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति, तच्चापत्याद् भवति; तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वं चोच्यते ॥ ८ ॥

३. गर्भोत्पत्ति में आत्मा तथा आत्मजभावों का समर्थन—यह गर्भ आत्मज (आत्मा से भी उत्पन्न होता) भी है। जो अन्तरात्मा है वही गर्भ की आत्मा है, जो शाश्वत (शश्वद् भवः, अर्थात् सनातन), अरुज

---

१. 'तस्मादजात एवायमजातं गर्भं जनयति, जातोऽप्यजातं च गर्भं जनयति' इति पा०।

(नीरोग अथवा अभंगुर—देखें यहाँ यह अरुज शब्द 'रुजोभंगे' धातु से निष्पन्न है) अजर (जरा रहित), अमर (मरणधर्म से रहित), अक्षय (अविनाशी), अभेद्य (भेदहीन), अच्छेद्य (जिसको काटा नहीं जा सकता), अलोड्य (अक्षोभ्य=जिसको क्षुभित या आलोडित नहीं किया जा सकता), विश्वरूप (जो संसार के सभी रूपों में व्याप्त है, अतएव इसको 'विभु' कहा गया है,) विश्वकर्मा (सम्पूर्ण जगत् का कर्ता), अव्यक्त (जो चक्षु आदि इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता अर्थात् 'न व्यज्यते, यः सः, तम्'), अनादि (जिसका कोई आदि न हो), अनिधन (जिसका कभी विनाश न होता हो) और अक्षर (जो कभी क्षीण न होता हो, उस) आत्मा को 'जीव' कहते हैं। वह शाश्वत से अक्षर तक के गुणों से युक्त जीव शुक्र-शोणित के संयोग को पाकर गर्भाशय में प्रवेश कर गर्भरूप से अपने द्वारा आत्मा को उत्पन्न करता है। गर्भ में उसी जीव की आत्मा यह संज्ञा होती है। अनादि होने के कारण ही उस आत्मा का जन्म नहीं होता है, अतः यह अजात (जो स्वयम् उत्पन्न न हुआ) आत्मा ही अजात षड्धातुसमुदायज गर्भ को उत्पन्न करती है और वही गर्भ कुछ समय के बाद बालक, युवा, वृद्ध रूपों को प्राप्त होता है। वह गर्भ जब जिस-जिस अवस्था में वर्तमान रहता है, उस-उस में जात (उत्पन्न) होता है, अथवा 'जात' कहा जाता है, जो अवस्था (बालक, युवा, वृद्ध) आगे उत्पन्न होगी अर्थात् आयेगी वह आत्मा उस अवस्था में उत्पन्न होने वाली होती है, इसीलिये वह आत्मा जात और अजात दो एक साथ कही जाती है, या होती है।

यथा—जिस स्थिति में वह आत्मा बालक रूप में जात (वर्तमान) है, उस स्थिति में वह युवा रूप में अजात (अनुत्पन्न) है। जिसमें इसका (उपर्युक्त) दोनों प्रकार जातत्व और जनिष्यमाणत्व होता है, वह आत्मा स्वयं जात होकर उत्पन्न करता है, और वही अनागत (अप्राप्त) स्थितियों में अजात (अनुत्पन्न) होकर आत्मा द्वारा पूर्वोक्त गुणों से युक्त आत्मा को उत्पन्न करता है। सत्ता युक्त पदार्थ का दूसरी स्थिति में प्राप्त होना ही उस-उस वयस् (बालक, युवा, वृद्ध) में और उस-उस अवस्था (स्थिति) में जन्म कहा जाता है। जैसे—सत्तावान् शुक्र, शोणित तथा जीव के रहते हुए परस्पर संयोग होने से पहले इनकी गर्भ संज्ञा नहीं होती है और यथासमय संयोग हो जाने पर उक्त तीनों (शुक्र, शोणित, जीव=आत्मा) की गर्भ संज्ञा हो जाती है। जैसे—वही पुरुष पुत्र की उत्पत्ति होने के पहले पिता नहीं कहा जा सकता, अथवा उसमें पितृत्व नहीं आ जाता और वह पितृत्वभाव पुत्र की उत्पत्ति होने पर स्वयं हो जाता है, उसी तरह उसी गर्भ के रहने पर भी उस-उस अवस्था में जातत्व तथा अजातत्व कहा जाता है।

वक्तव्य—ऊपर गर्भस्थ आत्मा को जीव की संज्ञा दी है। इस जीव को शाश्वत आदि अनेक विशेषण द्वारा भी कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उक्त विषय का चित्रण इस प्रकार किया है—

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही' ॥
'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' ॥ गीता २।२०-२४

यह जीव शुक्र-शोणित रूप से गर्भाशय में प्रवेश पाकर स्वयं ही अपने को गर्भ रूप में उत्पन्न करता है, अत एव इसको आत्मा कहते हैं। इसी को आयुर्वेद में षड्धातुज पुरुष कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में आत्मा, गर्भ, जीव, पुत्र के सम्बन्ध में जो विवेचन उपलब्ध होता है, उस पर भी ध्यान दें—

'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदां शतम्' ॥ इति।

उक्त पद्य से 'आत्मना आत्मानं जनयति' का भाव स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् अनादि, शाश्वत, अजर, अमर, अजन्मा आदि विशेषणों से कहा गया 'अजात' आत्मा 'जात' गर्भ (षड्धातुज पुरुष) को उत्पन्न करता है।

भगवान् धन्वन्तरि की आत्मा विषयक धारणा—'शरीर में स्थित अति सूक्ष्म विभु (परमात्मा) को आँखों से नहीं देखा जा सकता। यह आत्मा तो ज्ञानचक्षु से तथा तपःपूतचक्षु से ही देखी जा सकती है'। देखें—सु० शा० अ० ५।५०।

जो विभु विश्वरूप है या विविध प्रकार के शरीरों को धारण करता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसको X-ray द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। शुक्र में जो सर्प के आकार का कीटाणु देखा भी जाता है, वह आत्मा का पाञ्चभौतिक शरीर है। वह सूक्ष्म तो है, परन्तु सूक्ष्मतम नहीं है। इसका दर्शन ज्ञानचक्षु अथवा तपःपूतचक्षु (योगदृष्टि) से ही हो सकता है।

अन्यत्र जीव की सूक्ष्मता का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ॥ अर्थ स्पष्ट है।

भोज के अनुसार आत्मा का एक देह से दूसरे देह में सञ्चार का क्रम इस प्रकार है—'शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतिः। देहाद् देहान्तरं याति क्रमिवच्छाश्वतोऽव्ययः' ॥ नित्य इत्युच्यते सद्भिः सत्त्व कारणवान् यतः'। विशेष देखें—सु० शा० अ० १।१६।

महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने भरद्वाज द्वारा प्रतिपादित 'आत्मज गर्भ नहीं होता है' इस विषय का खण्डन कर आत्मा के जात तथा अजात रूपों का सोदाहरण परिचय देकर अपने मत (आत्मज गर्भ होता है) की सम्पुष्टि कर डाली है।

न खलु गर्भस्य न च मातुर्न पितुर्न चात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वमस्ति; ते किञ्चित् स्ववशात् कुर्वन्ति, किञ्चित् कर्मवशात्, क्वचिच्चैषां करणशक्तिर्भवति, क्वचिन्न भवति। यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत् तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वम्, अतोऽन्यथा विपर्ययः। न च करणदोषादकरणमात्मा सम्भवति गर्भजनने, दृष्टं चेष्टा योनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तम्। नह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्ता। न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् ॥ ९ ॥

गर्भ की उत्पत्ति में माता, पिता, आत्मा की परतन्त्रता—यद्यपि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार गर्भ मातृज, पितृज तथा आत्मज होता है किन्तु गर्भ की उत्पत्ति में न केवल माता का, न केवल पिता का और न केवल आत्मा इन सभी भावों की स्वेच्छाचारिता अर्थात् स्वतन्त्रता नहीं है। वे पूर्वोक्त भाव कुछ अपने वश (शक्ति) से गर्भोत्पादन में सहयोग करते हैं, कुछ कर्म (पूर्वजन्म के कर्मों) के अनुसार कार्य करते हैं, कहीं मन, बुद्धि आदि करण (इन्द्रियों) की शक्ति से कार्य होता है और कहीं नहीं (भी) होता है।

उपर्युक्त भावों की स्वेच्छाचारिता अथवा कार्य से विमुखता में कारण का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—जहाँ (जिस परिस्थिति में) मन, बुद्धि आदि करण अपने-अपने श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होते हैं और मन आदि करण सत्व सम्पन्न होते हैं, वहाँ उनके बल के अनुरूप ही कार्य की सिद्धि होती है अन्यथा (जहाँ मन, बुद्धि आदि करण अपने-अपने श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न नहीं होते और मन आदि करण सत्व सम्पन्न नहीं होते। वहाँ उनके बल के अनुरूप कार्य की सिद्धि नहीं होती है) उसके विपरीत फल होता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि करण दोष से अर्थात् मन, बुद्धि आदि के दोषयुक्त होने से गर्भ की उत्पत्ति में आत्मा कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा की सत्ता तो हम गर्भोत्पत्ति में स्वीकार कर ही चुके हैं। आत्मज्ञानी (योगी) पुरुषों ने चेष्टा (विविध प्रकार के कर्म), आत्मा का अनेक योनियों में गमन, ऐश्वर्य (सम्पन्नता प्राप्ति) तथा मोक्ष अपने वश में है, ऐसा देखा है। इस आप्तोपदेश रूपी प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सभी प्रकार की चेष्टाओं का, योनि-परिवर्तनों का, ऐश्वर्य तथा मोक्ष-प्राप्ति का कारण आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त कोई भी दूसरा सुख-दुःख का करने वाला नहीं है। जिस प्रकार जायमान (उत्पन्न होता हुआ) गर्भ आत्मा से ही उत्पन्न होता है, न कि किसी अन्य साधन से, उसी प्रकार बीज के अतिरिक्त दूसरे किसी साधन से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है।

वक्तव्य—कुम्हार को घट के निर्माण के लिये जिस प्रकार मिट्टी, डण्डा, चाक आदि वस्तुओं की आवश्यकता समुदाय रूप में होती है। यदि इनमें किसी एक का भी अभाव होगा तो घट की उत्पत्ति नहीं होगी। इतना होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि इस घट का निर्माण केवल मिट्टी या चाक या कुम्हार से

हुआ है क्योंकि इस घट के निर्माण में ये सभी पदार्थ उपादान कारण हैं। ठीक इसी तरह गर्भ की उत्पत्ति माता, पिता, आत्मा आदि के समदाय से होती है। इन सब के रहने पर भी सत्वादिकरण सम्पत्ति का भी गर्भोत्पत्ति में विशिष्ट योगदान होता है। योगियों के अष्टविध ऐश्वर्य का परिचय च० शा० अ० १।१४० तथा १४१ में विस्तार पूर्वक दिया जा चुका है।

पुरुष को षड्धातुज अथवा चतुर्विंशतितत्वज माना गया है, यह बीज रूप है। उपर कहा गया है कि अंकुर के बिना बीज की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इसके अतिरिक्त ऋतु, क्षेत्र, जल की भी आवश्यकता बीज के साथ अंकुर की उत्पत्ति में होती है। इसी प्रकार गर्भ की उत्पत्ति में माता, पिता, आत्मा आदि भी कारण होते हैं।

यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि, यानि चास्यात्मतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषा सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेति (आत्मजानि) ॥ १० ॥

आत्मज भावों का व्याख्यान—निश्चयपूर्वक जो भाव गर्भ के आत्मज (आत्मा से उत्पन्न) हैं और जो भाव (शरीरावयव) गर्भ के उत्पन्न होते समय आत्मा से पैदा होते हैं, उनकी हम यहाँ व्याख्या करते हैं। वे इस प्रकार हैं—उन-उन (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) योनियों में उत्पन्न होना आयु (दीर्घायु या उत्तम आयु, मध्यम आयु, अल्प आयु का होना) आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियाँ, प्राण तथा अपानवायु इन सब को प्रेरित करना, धारण (रोकना या नियन्त्रित करना), शरीर की आकृति, स्वर तथा वर्ण (गोरा, साँवला आदि) के भेद उपभेद, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति (धैर्य), बुद्धि, स्मृति (स्मरण), अहंकार और प्रयत्न ये सभी आत्मा से उत्पन्न भाव हैं।

वक्तव्य—आत्मा के कारण गर्भ में जिन भावविशेषों की उत्पत्ति होती है, उनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है—

योनिविशेषों में उत्पत्ति—इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म कराता रहता है। उन कर्मों का फल आत्मा (षड्धातुजपुरुष) को भोगना पड़ता है, जिसके कारण उसको ८४ लाख योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार अनेक योनियों में जन्म लेना आत्मज भाव कहा जाता है

आकृतिस्वरवर्णविशेषाः—जगत् स्रष्टा को 'विश्वारम्भणकौतुकी' कहा गया है। इसने चर-अचर रूप सृष्टि में सभी को भिन्न-भिन्न आकृति (स्वरूप) भेद वाला बनाया है। यही कारण है कि किसी की आकृति एक दूसरे से नहीं मिलती है। यही स्थिति स्वरभेद की भी है, आवाज एक दूसरे से ठीक-ठीक रूप से नहीं मिलती है। वर्ण (रूप) भेद की भी यही स्थिति है।

सात्म्यजश्चायं गर्भः। नह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमस्ति, गर्भेषु वाऽप्यनिष्टो भावः। यावत् खल्वसात्म्यसेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते, तावत् समर्था गर्भजननाय भवन्ति। सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले सन्निपतितानां जीवस्यानवक्रमणाद् गर्भा न प्रादुर्भवन्ति। नहि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः समुदयोऽत्र कारणमुच्यते। यानि खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि, यानि चास्य सात्म्यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसम्प्रहर्षभूयस्त्वं चेति (सात्म्यजानि) ॥ ११ ॥

४. गर्भोत्पत्ति में सात्म्य तथा सात्म्यज भावों का समर्थन—यह गर्भ सात्म्यज भी है, क्योंकि असात्म्य (गर्भ-धारण में प्रतिबन्धक रूप) पदार्थों के सेवन के बिना स्त्री तथा पुरुष में बन्ध्यत्व दोष नहीं होता और न कोई अनिष्टकर भाव ही उत्पन्न होता है। जब तक असात्म्य (गर्भोत्पत्ति में बाधक) पदार्थों का सेवन करने वाले स्त्री-पुरुषों के वात, पित्त, कफ ये (तीनों) दोष प्रकुपित होकर शरीर में फैलते हुए शुक्र-शोणित तथा गर्भाशय को विकृत नहीं कर देते, तब तक वे गर्भोत्पत्ति के लिये समर्थ होते हैं। अर्थात् असात्म्य सेवन करने की प्रारम्भिक स्थित में भी गर्भाधान तब तक हो सकता है, जब तक दूषित वातादि दोष शुक्र, शोणित तथा गर्भाशय को दूषित नहीं कर देते। सात्म्यपदार्थों का सेवन करने वाले तथा शुद्ध शुक्र, शोणित, गर्भाशय

वाले स्त्री-पुरुषों के ऋतुकाल में सहवास करने पर भी यदि जीव (आत्मा) का प्रवेश नहीं होता है तो गर्भों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये केवल सात्म्यज ही गर्भ नहीं कहा जा सकता। अतः यहाँ गर्भोत्पत्तिकारक भावों का समुदाय ही कारण माना जाता है।

जो इस गर्भ के सात्म्यज (सात्म्यज पदार्थों के सेवन से उत्पन्न) भाव हैं और जो इस गर्भ के सात्म्य पदार्थों के सेवन करने पर भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी हम व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—आरोग्य, आलस्य का अभाव, निर्लोभता, इन्द्रियों का प्रसन्न रहना, स्वर की शुद्धि, वर्ण की निर्मलता, बीज (शुक्र शोणित) की शुद्धि और संप्रहर्ष (रतिकाल में दोनों ओर से प्रसन्नता अर्थात् उत्साह का होना) ये लक्षण सात्म्य सेवन के फलस्वरूप होते हैं।

रसजश्चायं गर्भः। न हि रसादृते मातुः प्राणयात्राऽपि स्यात्, किं पुनर्गर्भजन्म। न चैवासम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्तयन्ति, [1]न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति, [2]समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते। यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि; यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति (रसजानि) ॥ १२ ॥

५. गर्भोत्पत्ति में रस तथा रसज भावों का समर्थन—यह गर्भ रसज भी है। भोजन द्वारा प्राप्त रस के बिना माता की ही प्राणयात्रा (जीवन संचालन) नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में गर्भ-जन्म (गर्भ की उत्पत्ति से लेकर पोषण तक) की चर्चा का तो कहना ही क्या है। अनुचित रूप से सेवन किये गये रस गर्भ की उत्पत्ति में कारण नहीं होते हैं और न केवल रसों के ठीक-ठीक उपयोग करने मात्र से ही गर्भ की उत्पत्ति हो जाती है। अतः यहाँ भी गर्भ के उत्पादक भावों का समुदाय सम्मिलित रूप से कारण होता है। जो निश्चित रूप से गर्भ के रसज भाव हैं और उत्पन्न होते हुए गर्भ में रस के योग से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन सब का हम यहाँ व्याख्यान करेंगे। वे इस प्रकार हैं—शरीर की उत्पत्ति, शरीर की वृद्धि, प्राणों का अनुबन्ध (शरीर के साथ प्राणों के सम्बन्ध का जुटा रहना), शरीरावयवों की तृप्ति, पुष्टि तथा उत्साह ये सब रस के सेवन से होते हैं।

वक्तव्य—गर्भोत्पादक भावों में शुक्र-शोणित का महत्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों ही माता-पिता के शरीर में रसज परिणाम हैं, भाव स्पष्ट है। अन्यत्र भी पुरुष को 'रसज' स्वीकार किया गया है। रस के कार्यों का वर्णन करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है कि रस तुष्टिकारक, मन को प्रसन्न करने वाला तथा रक्त (दूसरी धातु) को पुष्ट करने वाला होता है। शरीर का आदि धातु रस ही है।

अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं; [3]यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते; सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च 'मन' इत्यभिधीयते; तत् त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं, राजसं, तामसमिति। येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं, तेन [4]द्वितीयायामाजातौ सम्प्रयोगो भवति; यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते, तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो 'जातिस्मर' इत्युच्यते। यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि, यान्यस्य सत्त्वतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये,

---

१. 'न चैवास्या असम्यगुपयुज्यमाना' इति पा०।

२. 'समुदायोऽत्र' इति पा०।

३. 'जीवस्पृक्शरीरेण' इति पा०। जीवं स्पृशतीति जीवस्पृक्। जीवस्पृक्शरीरं शुक्रशोणितात्मकगर्भशरीरम्। तस्मैव जीवात्मनः प्रथमसम्बन्धो भवतीति तम् 'जीवस्पृक्' इत्युच्यते' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

४. 'द्वितीयायां जातौ' इति पा०।

हुआ है क्योंकि इस घट के निर्माण में ये सभी पदार्थ उपादान कारण हैं। ठीक इसी तरह गर्भ की उत्पत्ति माता, पिता, आत्मा आदि के समदाय से होती है। इन सब के रहने पर भी सत्वादिकरण सम्पत्ति का भी गर्भोत्पत्ति में विशिष्ट योगदान होता है। योगियों के अष्टविध ऐश्वर्य का परिचय च० शा० अ० १।१४० तथा १४१ में विस्तार पूर्वक दिया जा चुका है।

पुरुष को षड्धातुज अथवा चतुर्विंशतितत्वज माना गया है, यह बीज रूप है। उपर कहा गया है कि अंकुर के विना बीज की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इसके अतिरिक्त ऋतु, क्षेत्र, जल की भी आवश्यकता बीज के साथ अंकुर की उत्पत्ति में होती है। इसी प्रकार गर्भ की उत्पत्ति में माता, पिता, आत्मा आदि भी कारण होते हैं।

यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि, यानि चास्यात्मतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्ण-विशेषा सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेति (आत्मजानि) ॥ १० ॥

आत्मज भावों का व्याख्यान—निश्चयपूर्वक जो भाव गर्भ के आत्मज (आत्मा से उत्पन्न) हैं और जो भाव (शरीरावयव) गर्भ के उत्पन्न होते समय आत्मा से पैदा होते हैं, उनकी हम यहाँ व्याख्या करते हैं। वे इस प्रकार हैं—उन-उन (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) योनियों में उत्पन्न होना आयु (दीर्घायु या उत्तम आयु, मध्यम आयु, अल्प आयु का होना) आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियाँ, प्राण तथा अपानवायु इन सब को प्रेरित करना, धारण (रोकना या नियन्त्रित करना), शरीर की आकृति, स्वर तथा वर्ण (गोरा, साँवला आदि) के भेद उपभेद, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति (धैर्य), बुद्धि, स्मृति (स्मरण), अहंकार और प्रयत्न ये सभी आत्मा से उत्पन्न भाव हैं।

वक्तव्य—आत्मा के कारण गर्भ में जिन भावविशेषों की उत्पत्ति होती है, उनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है—

योनिविशेषों में उत्पत्ति—इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म कराता रहता है। उन कर्मों का फल आत्मा (षड्धातुजपुरुष) को भोगना पड़ता है, जिसके कारण उसको ८४ लाख योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार अनेक योनियों में जन्म लेना आत्मज भाव कहा जाता है।

आकृतिस्वरवर्णविशेषाः—जगत् स्रष्टा को 'विश्वारम्भणकौतुकी' कहा गया है। इसने चर-अचर रूप सृष्टि में सभी को भिन्न-भिन्न आकृति (स्वरूप) भेद वाला बनाया है। यही कारण है कि किसी की आकृति एक दूसरे से नहीं मिलती है। यही स्थिति स्वरभेद की भी है, आवाज एक दूसरे से ठीक-ठीक रूप से नहीं मिलती है। वर्ण (रूप) भेद की भी यही स्थिति है।

सात्म्यजश्चायं गर्भः। नह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमस्ति, गर्भेषु वाऽप्यनिष्टो भावः। यावत् खल्वसात्म्यसेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणित-गर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते, तावत् समर्था गर्भजननाय भवन्ति। सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनु-पहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले सन्निपतितानां जीवस्यानवक्रमणाद् गर्भा न प्रादुर्भवन्ति। नहि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः समुदयोऽत्र कारणमुच्यते। यानि खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि, यानि चास्य सात्म्यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्व-मिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसम्प्रहर्षभूयस्त्वं चेति (सात्म्यजानि) ॥ ११ ॥

४. गर्भोत्पत्ति में सात्म्य तथा सात्म्यज भावों का समर्थन—यह गर्भ सात्म्यज भी है, क्योंकि असात्म्य (गर्भ-धारण में प्रतिबन्धक रूप) पदार्थों के सेवन के बिना स्त्री तथा पुरुष में वन्ध्यत्व दोष नहीं होता और न कोई अनिष्टकर भाव ही उत्पन्न होता है। जब तक असात्म्य (गर्भोत्पत्ति में बाधक) पदार्थों का सेवन करने वाले स्त्री-पुरुषों के वात, पित्त, कफ ये (तीनों) दोष प्रकुपित होकर शरीर में फैलते हुए शुक्र-शोणित तथा गर्भाशय को विकृत नहीं कर देते, तब तक वे गर्भोत्पत्ति के लिये समर्थ होते हैं। अर्थात् असात्म्य सेवन करने की प्रारम्भिक स्थित में भी गर्भाधान तब तक हो सकता है, जब तक दूषित वातादि दोष शुक्र, शोणित तथा गर्भाशय को दूषित नहीं कर देते। सात्म्यपदार्थों का सेवन करने वाले तथा शुद्ध शुक्र, शोणित, गर्भाशय

वाले स्त्री-पुरुषों के ऋतुकाल में सहवास करने पर भी यदि जीव (आत्मा) का प्रवेश नहीं होना है तो गर्भों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये केवल सात्म्यज ही गर्भ नहीं कहा जा सकता। अतः यहाँ गर्भोत्पत्ति-कारक भावों का समुदाय ही कारण माना जाता है।

जो इस गर्भ के सात्म्यज (सात्म्यज पदार्थों के सेवन से उत्पन्न) भाव हैं और जो इस गर्भ के सात्म्य पदार्थों के सेवन करने पर भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी हम व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—आरोग्य, आलस्य का अभाव, निर्लोभता, इन्द्रियों का प्रसन्न रहना, स्वर की शुद्धि, वर्ण की निर्मलता, बीज (शुक्र-शोणित) की शुद्धि और संप्रहर्ष (रतिकाल में दोनों ओर से प्रसन्नता अर्थात् उत्साह का होना) ये लक्षण सात्म्य सेवन के फलस्वरूप होते हैं।

रसजश्चायं गर्भः। न हि रसादृते मातुः प्राणयात्राऽपि स्यात्, किं पुनर्गर्भजन्म। न चैवासम्य-गुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्तयन्ति, [1]न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति, [2]समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते। यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि; यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टि-रुत्साहश्चेति (रसजानि) ॥ १२ ॥

५. गर्भोत्पत्ति में रस तथा रसज भावों का समर्थन—यह गर्भ रसज भी है। भोजन द्वारा प्राप्त रस के विना माता की ही प्राणयात्रा (जीवन संचालन) नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में गर्भ-जन्म (गर्भ की उत्पत्ति से लेकर पोषण तक) की चर्चा का तो कहना ही क्या है। अनुचित रूप से सेवन किये गये रस गर्भ की उत्पत्ति में कारण नहीं होते हैं और न केवल रसों के ठीक-ठीक उपयोग करने मात्र से ही गर्भ की उत्पत्ति हो जाती है। अतः यहाँ भी गर्भ के उत्पादक भावों का समुदाय सम्मिलित रूप से कारण होता है। जो निश्चित रूप से गर्भ के रसज भाव हैं और उत्पन्न होते हुए गर्भ में रस के योग से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन सब का हम यहाँ व्याख्यान करेंगे। वे इस प्रकार हैं—शरीर की उत्पत्ति, शरीर की वृद्धि, प्राणों का अनुबन्ध (शरीर के साथ प्राणों के सम्बन्ध का जुटा रहना), शरीरावयवों की तृप्ति, पुष्टि तथा उत्साह ये सब रस के सेवन से होते हैं।

वक्तव्य—गर्भोत्पादक भावों में शुक्र-शोणित का महत्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों ही माता-पिता के शरीर में रसज परिणाम हैं, भाव स्पष्ट है। अन्यत्र भी पुरुष को 'रसज' स्वीकार किया गया है। रस के कार्यों का वर्णन करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है कि रस तुष्टिकारक, मन को प्रसन्न करने वाला तथा रक्त (दूसरी धातु) को पुष्ट करने वाला होता है। शरीर का आदि धातु रस ही है।

अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं; [3]यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शील-मस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते; सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च 'मन' इत्यभिधीयते; तत् त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं, राजसं, तामसमिति। येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं, तेन [4]द्वितीयायामाजातौ सम्प्रयोगो भवति; यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते, तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धा-दनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो 'जातिस्मर' इत्युच्यते। यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि, यान्यस्य सत्त्वतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृति-र्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये,

---

१. 'न चैवास्या असम्यगुपयुज्यमाना' इति पा०।

२. 'समुदायोऽत्र' इति पा०।

३. 'जीवस्पृक्शरीरेण' इति पा०। जीवं स्पृशतीति जीवस्पृक्। जीवस्पृक्शरीरं शुक्रशोणितात्मकगर्भशरीरम्। तत्रैव जीवात्मनः प्रथमसम्बन्धो भवतीति तम् 'जीवस्पृक्' इत्युच्यते' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

४. 'द्वितीयायां जातौ' इति पा०।

ते सत्त्वविकारा यानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधिकृत्योपदेक्ष्यामः। नानाविधानि खलु सत्त्वानि, तानि सर्वाण्येकपुरुषे भवन्ति, न च भवन्त्येककालम्, एकं तु [1]प्रायोवृत्त्याऽऽह ॥ १३ ॥

६. गर्भोत्पत्ति में मन तथा मन के भावों का समर्थन—'न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति' (च० शा० अ० ३।६) भरद्वाज के इस मत का खण्डन करते हुए महर्षि आत्रेय लिखते हैं—निश्चित ही सत्व (मन) दूसरे शरीर से सम्बन्धित कर देता है, क्योंकि सत्व जीव (जीवात्मा) का स्पर्श कर शरीर से सम्बन्ध स्थापित करता है। जब वह मन दूसरे देह में जाने को तैयार हो जाता है, तब उस शरीर (जिसको वह छोड़ने को तैयार है) का शील (स्वभाव) बदल जाता है। भक्ति (जिन पदार्थों या व्यक्तियों से उसका स्नेह-सम्बन्ध था, वह सब) विपरीत हो जाती है, अर्थात् बदल जाती है। सभी (ज्ञान तथा कर्म) इन्द्रियाँ दुःखी हो जाती हैं, (पहले की भांति प्रसन्न नहीं दिखलायी देतीं), बल घट जाता है, अनेक प्रकार की व्याधियाँ बढ़ जाती हैं, अतः उस मन से रहित हो जाने से वह प्राणों को छोड़ देता है।

सत्व-परिचय—जो इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) का अभिग्राहक (जो चक्षु आदि इन्द्रियों को उन-उन के रूप आदि विषयों के ग्रहण करने के लिये प्रेरित करता) है, उसे मन कहते हैं। वह मन तीन प्रकार का कहा गया है—१. शुद्ध (सात्विक) २. राजस। ३. तामस। इस मन का शुद्ध आदि जिस भेद से पूर्वजन्म में अधिकतम सम्बन्ध रहता है, उसी से दूसरे जन्म में भी इसका सम्बन्ध बना रहता है। जब यह मन उस शुद्ध भेद से सम्बन्धित रहते हुए दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब वह अतिक्रान्त जाति (पूर्वजन्म में जिस योनि में रहा हो उस) का भी स्मरण करता है, अर्थात् जन्मान्तर की घटनाओं को भी भूलता नहीं है। क्योंकि स्मृति-जनित ज्ञान उसी (पूर्वजन्म की) आत्मा का मन के साथ अनुवर्तन होने से होता है, अर्थात् पूर्वजन्म में जो विषय याद था दूसरे जन्म में भी यदि उसका स्मरण वैसा ही बना है तो वहाँ सात्विक मन का निरन्तर सम्बन्ध ही कारण होता है। इसी के कारण ऐसे पुरुष को 'जातिस्मर' कहते हैं। यह प्रभाव केवल सात्विक मन का होता है अन्य राजस, तामस मन का नहीं, क्योंकि इनकी स्मृति में सदैव रजोगुण, तमोगुण की बहुलता बनी रहती है।

जो इस गर्भ के सत्वज भाव हैं और जो उत्पन्न होते हुए इस गर्भ के सत्व (मन) से उत्पन्न होने वाले (शरीरगत) भाव हैं, उनकी हम यहाँ व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं—भक्ति, शील, शौच (पवित्रता), द्वेष, स्मृति (स्मरण करना), मोह (ज्ञान का अभाव), त्याग, मात्सर्य, शूरता, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, स्वभाव में तीखापन, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थित चित्त (चञ्चल या अस्थिर प्रकृति) इस प्रकार के और भी भाव सत्वविकार हैं, जिनका वर्णन अगले अध्याय में सत्वभेद के प्रकरण को लेकर करेंगे। अनेक प्रकार के सत्व (मन) हैं, वे सभी एक पुरुष में होते हैं या हो सकते हैं किन्तु एक ही समय में नहीं हो सकते। लोक में जो ऐसा कहा जाता है कि यह सात्विक, यह राजस, यह तामस पुरुष है, यह कहना प्रायोवचन है, अर्थात् यह इसलिये कहा जाता है कि सात्विक पुरुष में अधिकांश सत्वगुण रहता है, ऐसे ही अन्य भी समझें।

वक्तव्य—मन के तीन भेदों में प्रथम भेद का नाम शुद्ध इसलिये रखा गया है कि 'मन' को यहाँ 'सत्व' कहा जा रहा है। यहाँ शुद्ध शब्द सत्व के अर्थ का निर्वाह कर रहा है। अगले राजस, तामस भेदों को देखकर भी मन का प्रथम सात्विक-भेद प्रसंगप्राप्त ही है।

जातिस्मर—सात्विक मन का जब पूर्व-पर देह से सम्बन्ध होता है, तब मनुष्य पूर्वजन्म की सभी बातों का स्मरण रख सकता है। आयुर्वेदशास्त्र में चेतनाधातु को नित्य माना है, अतः वह अनेक योनियों में भ्रमण करती रहती है। जब उसका सत्वगुण भूयिष्ठ मन से सम्बन्ध हो जाता है, तो उसको जन्मान्तर का स्मरण रहता है और यदि राजस, तामस मन से सम्बन्ध होता है तो यह जातिस्मरत्व नष्ट हो जाता है। देखें—'भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्र बुद्धयः। भवन्ति सत्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः' ॥ सु० शा० अ० २।५७।

मन की संज्ञा—सात्विक, राजस, तामस भेद से मन का ऊपर जो त्रिविध वर्णन किया है, इसका विशेष विवेचन चरक सूत्रस्थान अ० ८।६ में इस प्रकार किया जा चुका है—'यद् गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्वं तत्सत्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्योपशयात्'। वस्तुतः मन एक है, गुण भेद से उसके तीन भेद होते हैं।

---

१. 'प्रायोऽनुवृत्त्या' इति पा०।

उपर्युक्त गर्भोत्पत्तिकारक भावों का सुश्रुत में इस प्रकार उल्लेख है—'तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मज-सत्वजसात्म्यजानि शरीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तशिरास्नायुधमनीरेतः-प्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि' ॥ सु० शा० अ० ४।३३ ॥

एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः; यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्; तस्मादेतदवोचाम—मातृजश्चायं गर्भः, पितृजश्च, आत्मजश्च, सात्म्यजश्च, रसजश्च, अस्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति (होवाच भगवानात्रेयः) ॥

समुदायप्रभव गर्भ—इस प्रकार (जैसा ऊपर वर्णन किया गया है) यह गर्भ नाना प्रकार के इन गर्भ-कारक (गर्भ के उत्पादक) भावों के समुदाय से उत्पन्न होता है। जैसे अनेक द्रव्यों के समूह से कूटागार (An apartment on the top of a house), अथवा जैसे रथ के अनेक अवयवों (Parts) के समूह (को यथाविधि जोड़ देने) से रथ का निर्माण या उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिये हमने ऐसा कहा था कि यह गर्भ मातृज है, पितृज है, आत्मज है, सात्म्यज है, रसज है और दूसरे शरीर से आकर मन गर्भ के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—इस प्रकरण में गर्भोत्पादक छः भावों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है, किन्तु यहाँ उक्त भावों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है, इसका प्रतिपादन उदाहरणों के माध्यम से किया है।

कूटागार—यद्यपि ऊपर कूटागार का अर्थ घर के ऊपर का एक कमरा किया गया है, किन्तु प्रसंग को देखते हुए इसका अर्थ होना चाहिये कि जिस घर या कमरे में विविध प्रकार की वस्तुओं का संग्रह किया गया हो। यहाँ गर्भाशय को कूटागार समझा जा सकता है, क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न भावों का गर्भ की उत्पत्ति के लिये संग्रह किया जाता है या होता है। यही स्थिति रथ के अवयवों को जोड़ देने की प्रक्रिया से रथ की उत्पत्ति की भी है।

यहाँ प्रारम्भ में मातृज भाव शोणित, पितृज भाव शुक्र, आत्मज भाव के रूप में स्वयम् आत्मा और सत्वज भाव के रूप में मन, इन चारों का गर्भाशय में सम्बन्ध गर्भ की उत्पत्ति में कारण होता है। सात्म्यज और रसज शेष दो भावों का उपयोग गर्भ को बढ़ाने तथा पुष्ट करने में होता है।

गर्भोत्पादक भावों का परिगणन

(१) **मातृज भाव**—१. त्वक्, २. लोहित, ३. मांस, ४. मेदस्, ५. नाभि, ६. हृदय, ७. क्लोम, ८. यकृत, ९. प्लीहा, १०. वृक्क, ११. बस्ति, १२. पुरीषाधान, १३. आमाशय, १४. पक्वाशय, १५. उत्तरगुद, १६. अधरगुद, १७. क्षुद्रान्त्र, १८. स्थूलान्त्र, १९. वपा, २०. वपावहन। गद्य ६ में।

(२) **पितृज भाव**—१. केश, २. श्मश्रु, ३. नख, ४. लोम, ५. दन्त, ६. अस्थि, ७. सिरा, ८. स्नायु, ९. धमनी १०. शुक्र। गद्य ७ में।

(३) **आत्मज भाव**—१. उन-उन विविध योनियों में जन्म-ग्रहण करना, २. आयु, ३. आत्मज्ञान, ४. मन, ५. इन्द्रियाँ, ६. प्राण, ७. अपान, ८. प्रेरणा, ९. धारण, १०. आकृतिविशेष, ११. स्वरविशेष, १२. वर्णविशेष, १३. सुख, १४. दुःख, १५. इच्छा, १६. द्वेष, १७. चेतना, १८. धृति, १९. बुद्धि, २०. स्मृति, २१. अहंकार २२. प्रयत्न। गद्य १० में।

(४) **सात्म्यज भाव**—१. आरोग्य, २. अनालस्य, ३. अलोलुपत्व, ४. इन्द्रियप्रसाद, ५. स्वरसंपत्, ५. वर्णसंपत्, ७. बीजसंपत्, ८. प्रहर्षाधिक्य। गद्य ११ में।

(५) **रसज भाव**—१. शरीराभिनिर्वृत्ति, २. शरीराभिवृद्धि, ३. प्राणानुबन्ध, ४. तृप्ति, ५. पुष्टि, ६. उत्साह। गद्य १२ में।

(६) **सत्वज भाव**—१. भक्ति, २. शील, ३. शौच, ४. द्वेष, ५. स्मृति, ६. मोह, ७. त्याग, ८. मात्सर्य, ९. शौर्य, १०. भय, ११. क्रोध, १२. तन्द्रा, १३, उत्साह, १४. तैक्ष्ण्य, १५. मार्दव, १६. गाम्भीर्य, १७. अनव-

स्थितत्व, १८, अन्य भाव (इन भावों का आकलन सत्व की प्रकृति के अनुसार ही करना चाहिये, यह विद्वान् चिकित्सक का अधिकार-क्षेत्र है।)। गद्य १३ में।

भरद्वाज उवाच—यद्ययमेषां नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः कथमयं सन्धीयते, यदि चापि सन्धीयते कस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते; तत्र चेदिष्टमेतद् यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवस्तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते, यथा—गौर्गोप्रभवः, यथा—चाश्वोऽश्वप्रभव इति; एवं सति यदुक्तमग्रे समुदयात्मक इति तदयुक्तम्। यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्माज्जडान्धकुब्जमूकवामनमिन्मिनव्यङ्गोन्मत्तकुष्ठिकिलासिभ्यो जाताः [1]पितृसदृशरूपा न भवन्ति। अथापि बुद्धिरेवं स्यात्—स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति; श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्धया बोद्धव्यमित्यनेन हेतुना न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशा[2] भवन्ति। अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्, एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यादसत्स्वज्ञः; यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च, सविकारश्चात्मा[3]। यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान् वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादिविरहादज्ञः स्यात्, अज्ञत्वादकारणम्, अकारणत्वाच्च नात्मेति वागवस्तुमात्रमेतद् वचनमनर्थं स्यादिति (होवाच भरद्वाजः) ॥ १५ ॥

गर्भोत्पत्तिकारक भावों के सम्बन्ध में भरद्वाज की शंका

भरद्वाज द्वारा उक्त भावों का पुनः खण्डन—आत्रेय के उपर्युक्त समर्थन को सुनकर भरद्वाज ने कहा—यदि यह गर्भ अनेक प्रकार के गर्भोत्पादक भावों के समुदाय से उत्पन्न होता है, तो फिर इसका सन्धान (संयोग) किस प्रकार से होता है? यदि उक्त मातृज आदि भावों का परस्पर सन्धान होता है, तो कैसे समुदाय से उत्पन्न होता हुआ गर्भ मनुष्य शरीर से उत्पन्न होता है और मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है। यदि यही कहना अभीष्ट है तो जिस कारण से मनुष्य को मनुष्य से उत्पन्न कहा जाता है, इसीलिये वह मनुष्य शरीर को धारण करके ही उत्पन्न होता है। जैसे—गाय से गाय की उत्पत्ति होती है, घोड़ा का जन्म घोड़ा से होता है, ऐसा होने पर जैसा कि आगे कहा गया है, यह गर्भ समुदायात्मक है, अर्थात् मातृज आदि भावों के समुदाय से इसकी उत्पत्ति होती है, वह ठीक (युक्ति-युक्त) नहीं है। यदि मनुष्य से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है तो जड़, अन्ध, कुबड़े, गूंगे, वामन (५२ अंगुल परिमाण के), मिन्मिन (साफ न बोल सकने वाले), व्यङ्ग्य (विकृत अंग या अंगों वाले), उन्मत्त (पागल), कुष्ठरोग युक्त, किलास (कुष्ठ भेद) रोगों से पीड़ित पुरुषों से उत्पन्न सन्तानें पिता के सदृश रूप वाली क्यों नहीं होती हैं?

क्योंकि सभी जगह कारण के अनुरूप कार्य होता है। यहाँ गर्भ की उत्पत्ति में माता-पिता आदि को कारण माना गया है, अतः तदनुरूप सन्तान को होना चाहिये था। किन्तु लोकव्यवहार में इसके विपरीत देखा जाता है। यहाँ पर यदि हम ऐसा विचार करें कि यह आत्मा अपने ही नेत्र से रूपों को देखती है, कान से शब्दों को सुनती है, घ्राणेन्द्रिय से गन्धों को सूंघती है, रसना (जीभ) से रसों का आस्वादन करती है, त्वगिन्द्रिय से शीत, उष्ण, मृदु, खर आदि स्पर्शों को और बुद्धि से जानने योग्य विषयों को जानती है, इसलिये मूर्ख, गूंगे, लूले, लंगड़े आदि पिता से उत्पन्न सन्तानें पिता जैसी (मूर्ख आदि) नहीं होती हैं, ऐसा लोकव्यवहार में देखा जाता है। जैसे—गूंगे पिता या माता की सन्तान प्रायः गूंगी नहीं होती, इसी प्रकार माता-पिता के अन्य गुण-दोषों का प्रभाव भी सन्तान में नहीं देखा जाता है। इसमें आत्मा की स्वतन्त्रता को कारण माना गया है, हम यदि ऐसा स्वीकार करते हैं तो प्रतिज्ञाहानि दोष होगा, क्योंकि इन्द्रियाँ तथा मन को आत्मा से उत्पन्न माना गया है, न कि मातृज अथवा पितृज।

ऐसा कहने पर जब आत्मा इन्द्रियों से संयुक्त होता है, तब वह ज्ञानी होता है और जब आत्मा इन्द्रियों

१. 'पितृसदृशाः' इति पा०।

२. 'पितृसदृशरूपाः' इति पा०।

३. 'स विकारप्रकृतिकश्चात्मा' इति पा०।

से संयुक्त नहीं होता, तब वह अज्ञानी होता है। अर्थात् इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उसमें आत्मा तथा मन का संयोग होना अत्यन्त आवश्यक होता है, अन्यथा सम्यक् ज्ञान नहीं होता है। जहाँ आत्मा से ज्ञत्व और अज्ञत्व दोनों संभव होता है, वहां उस आत्मा को विकार युक्त कहा जाता है। इस ज्ञत्व, अज्ञत्व की स्थिति को 'संशय' कहते हैं, ऐसा ज्ञान निर्णायक नहीं होता। यदि आत्मा दर्शन, स्पर्शन आदि द्वारा उन-उन विषयों को जानेगी और यदि वही आत्मा इन्द्रियों के अभाव में दर्शन, स्पर्शन आदि के विरह (अभाव) से अज्ञ (न जानने वाली) हो तो अज्ञ होने से आत्मा कारण नहीं हो सकेगी, अर्थात् अज्ञ (अज्ञानी) होने से शरीरगत इन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने के लिये प्रेरित नहीं कर सकेगी। जब उस आत्मा का अकारणत्व सिद्ध हो जायगा, तब तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, अर्थात् आत्मा नहीं है, ऐसा स्वीकार करना होगा। तब तो यह वचन (आत्मा चक्षु से देखती है, कानों से सुनती है, आदि) निरर्थक शब्द मात्र ही होगा, ऐसा भरद्वाज ने कहा।

आत्रेय उवाच—पुरस्तादेतत् प्रतिज्ञातं—सत्त्वं [1]जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नातीति। यस्मात् तु समुदायप्रभवः सन् स गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते, तद् वक्ष्यामः।

आत्रेय द्वारा भरद्वाज की शंकाओं का उत्तर

आत्रेय का मत—यह आपके सामने प्रतिज्ञा की गयी है कि सत्व (मन) जीव (आत्मा) का स्पर्श (संयोग प्राप्त) कर शरीर से सम्बन्धित हो जाता है। क्योंकि वह गर्भ समुदायप्रभव (मातृज आदि छः भावों के समूह से उत्पन्न) होता हुआ मनुष्य-विग्रह (शरीर) से उत्पन्न होता है, क्योंकि मनुष्य की उत्पत्ति मनुष्य से ही होती है। इसका व्याख्यान हम आगे करेंगे।

वक्तव्य—शुक्र-शोणित के साथ मन जब आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब यह संयोगप्रभव गर्भ मनुष्य के आकार को धारण कर समय पर उत्पन्न होता है।

गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते—यह आयुर्वेदशास्त्र बुद्धिप्रधान प्राणी मानव के लिये रचा गया है। अतः विशेष रूप से 'मनुष्यविग्रह' शब्द का प्रयोग किया है। इसी का स्पष्टीकरण आगे 'मनुष्यो मनुष्यप्रभवः' शब्द से किया गया है। वास्तव में माता-पिता के रज-वीर्य संयोग से जिस-जिस की उत्पत्ति होती है, वे-वे गर्भ उन-उन पशु-पक्षी आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। अण्डज प्राणी प्रारम्भ में अण्डा के रूप में जन्म लेने के बाद अपने-अपने माता-पिता के आकार में ही देखे जाते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जारहा है।

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति—जराय्वण्डस्वेदोद्भिदः। तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसङ्ख्येयभेदा भवति, भूतानामाकृतिविशेषापरिसङ्ख्येयत्वात्। तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते, तस्यां तस्यां योनौ तथा-तथारूपा भवन्ति; यथा—कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु, तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते, तस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते; मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते, तद् योनित्वात् ॥ १६ ॥

चार प्रकार की योनियाँ—भूतों (प्राणियों) की चार प्रकार की योनियाँ होती हैं। यथा—१. जरायुज (Born from the womb), २. अण्डज (Born from an egg, as bird, fish, shake, lizard, brahma.) ३. स्वेदज (Generated by warm vapour.) ४. उद्भिज (Sprouting, as a plant.) इन चार प्रकार की योनियों में एक-एक योनि अगणित भेदों वाली होती है। क्योंकि प्राणियों के आकृति (स्वरूप) भेदों के अनगिनत होने के कारण, उनमें जरायुज तथा अण्डज प्राणियों के ये गर्भोत्पादक (मातृज, पितृज आदि) भाव जिस-जिस योनि को प्राप्त होते हैं, उस-उस योनि में उस-उस रूप (शरीर के अवयवों) से जन्म ग्रहण करते हैं, जैसे—मोम द्वारा मिट्टी में बनाये गये सांचे में पिघलाकार डाले गये सोना, चाँदी, ताँबा, त्रपु (tin=राँगा), शीशा (आदि धातु ठण्डा होने पर) उस-उस स्वरूप को धारण कर लेते हैं। उनको यदि मनुष्य के सांचे में ढाल दिया जाता है तो वे मनुष्य के आकार को धारण कर लेते हैं।

१. 'जीवस्पृक्शरीरेण' इति पा०।

इसलिये मातृज आदि भावों के समूह से उत्पन्न होता हुआ वह गर्भ मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होता है और मनुष्य को उस (मनुष्य) योनि में जन्म लेने के कारण मनुष्यप्रभव कहा जाता है।

वक्तव्य—समस्त प्रकार के प्राणियों की चार योनियाँ निर्दिष्ट हैं—

१. **जरायुज**—मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़ा, बकरी, बन्दर आदि।

२. **अण्डज**—चिड़िया, मछली, साँप, मुर्गी, छिपकली, ब्रह्म आदि।

३. **स्वेदज**—जूँ, लीख, चिउँटी आदि।

४. **उद्भिज**—पृथिवी को फाड़कर निकलने वाले, केंचुएँ, बीरबहूटी, पेड़, पौधे आदि। विशेष देखें—सुश्रुत सू० अ० १।३०।

कोष-ग्रन्थों के अनुसार योनि शब्द की व्यापकता—'योनिः स्त्रीपुंसयोश्च स्यादाकारे स्मरमन्दिरे'। मेदिनी। अर्थात् स्त्री जाति, पुरुष जाति या स्त्री-पुरुष का आकार, योनि (जिसमें रज-वीर्य का मिश्रण होता है) भग तथा 'गर्भाशय' इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है। पुराणों के अनुसार ये योनियाँ ८४ लाख होती हैं। अन्य मत के अनुसार ये योनियाँ २१ लाख मानी गयी हैं। इसमें प्रथम मत अधिक प्रसिद्ध है।

सुश्रुत के मत से शरीरों की उत्पत्ति स्वभाव से होती है। देखें—सु० शा० अ० २।५६। दूसरे स्थान पर ऋतु, क्षेत्र, अम्बु (शोणित), बीज (शुक्र) के संयोग से स्वीकार की गयी है। देखें—सु० शा० अ० २।३३।

यच्चोक्तं—यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति; तत्रोच्यते—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्; तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र। सर्वस्य चात्मजानीन्द्रियाणि, तेषां भावाभावहेतुर्दैवं तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति ॥ १७ ॥

मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति का विवेचन—जैसा कि (ऊपर) कहा गया है—यदि मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, तो क्यों नहीं जड़ (मूर्ख), अन्ध, बधिर आदि से उत्पन्न सन्तानें माता पिता के समान रूप वाली होती हैं? इसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है—जिस-जिस अंग-प्रत्यंग का बीजांश उपतप्त (दोषयुक्त) हो जाता है, उस-उस अंग-प्रत्यंग में विकार उत्पन्न हो जाता है। यदि बीजांश दूषित नहीं होता है तो किसी भी अंग में विकार उत्पन्न नहीं होता है। उक्त कारणों से दोनों (विकृत अंग वाले गर्भ की उत्पत्ति तथा अविकृत अंगवाले गर्भ की उत्पत्ति) बातों का समर्थन यहाँ प्राप्त हो रहा है। अर्थात् अन्धा, लंगड़ा, कुबड़ा आदि की उत्पत्ति में बीजांश की विकृति को कारण माना गया है और स्वस्थ सर्वावयवपूर्ण गर्भ की उत्पत्ति में अविकृत बीज को कारण माना है। सभी की इन्द्रियाँ आत्मज कही गयी हैं। उनका होना या न होना दैवकृत अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के अधीन है। इसलिये जड़ आदि माता-पिता से उत्पन्न गर्भ माता-पिता के अनुरूप ही होते हों, ऐसा सदैव नहीं देखा जाता, अर्थात् वे गर्भ कभी पिता के अनुरूप पैदा हो भी जाते हैं, कभी नहीं भी होते।

वक्तव्य—उक्त गद्य में जन्मजात अव्यवस्थाओं (Congenital abnormalties) का समुचित वर्णन किया गया है। इसी बीजांश विकृति के कारण अन्धा, लूला, लंगड़ा, काना, कुबड़ा आदि विकृतियों से युक्त गर्भों का जन्म होते देखा जाता है।

मनुष्यो मनुष्यप्रभवः—मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है। यहाँ पर पहले मनुष्य का अर्थ है—पुत्र तथा पुत्री और दूसरे मनुष्य का अर्थ है—माता-पिता। मातृज आदि छः भावों से गर्भ की उत्पत्ति होती है, इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। तदनुसार मातृज, पितृज, आत्मज, सत्वज भावों का समूह बीज है और सात्म्यज एवं रसज भाव उस बीज के पोषक हैं। उक्त बीज सभी अवयवों से पूर्ण गर्भ का सूक्ष्म रूप है, गर्भाशय से उसकी अभिवृद्धि होती है। अतः उस बीज का जो अंश दोष-दुष्ट होता है तदनुरूप गर्भ में विकृति आ जाती है, न कि मूर्ख, अन्ध आदि माता-पिता के कारण सन्तान मूर्ख आदि होती है। कभी संयोगवश ऐसा भी जाय तो गर्भ के पूर्वजन्म के पापों का प्रतिफल ही माना जाता है।

न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः; असत्सु वा भवत्यज्ञः; न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा, सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥ १८ ॥

आत्मा का ज्ञत्व-अज्ञत्व—इन्द्रियों के साथ होने या रहने पर ज्ञ (ज्ञानी) तथा इन्द्रियों से अलग रहने पर या होने पर अज्ञ (न जानने वाली) होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी भी आत्मा मन के बिना नहीं रहती है। सत्व विशेष (सात्विक, राजस, तामस) से ज्ञान विशेष की उपलब्धि होती है।

भवन्ति चात्र—

न कर्तुरिन्द्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्तते। या क्रिया वर्तते [1]भावैः सा विना तैर्न वर्तते ॥ १९ ॥

जानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भकृन्न प्रवर्तते।

वे ही विषय यहाँ संक्षेप में कहे जाते हैं—कार्य की निष्पत्ति में आत्मा, मन, इन्द्रियों का सहयोग परम अपेक्षित है। इसी का व्याख्यान यहाँ किया जा रहा है—कर्त्ता (आत्मा) को इन्द्रियों (मन सहित ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) के अभाव से कार्य का ज्ञान नहीं होता है। जिन भावों (साधनों) से जो कार्य रूप में परिणत होता है, वह कार्य उन भावों के अभाव में उत्पन्न नहीं होता है। इसीलिये मिट्टी के न रहने पर कुम्भकार (घड़ा निर्माण करने में चतुर) घड़ा के निर्माण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता है।

वक्तव्य—यहाँ आत्मा को सदैव ज्ञानी स्वीकार किया गया है, फिर भी जिस क्षण में उसको ज्ञान नहीं होता उसमें उसका सीधा सम्बन्ध उस-उस इन्द्रिय से नहीं रहता, जैसे—कुम्हार घड़ा निर्माण का ज्ञान रखता है किन्तु मिट्टी के अभाव में वह घट रूप कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाता। अर्थात् कर्त्ता और साधन इन दोनों की उपस्थिति कार्य-सम्पादन के लिये आवश्यक होती है।

श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥ २० ॥

इन्द्रियाणि च [2]सङ्क्षिप्य मनः सङ्क्षिप्य चञ्चलम्। प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥

सर्वत्रावहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते।

आत्मज्ञान-विवेचन—इस अध्यात्म सम्बन्धी विषय को सुनिये—आत्मज्ञान बल सभी प्रकार के ज्ञान बलों में श्रेष्ठ होता है। इन्द्रियों की प्रवृत्तियों (अपने-अपने विषय की ओर आकृष्ट बने रहना) को संक्षिप्त कर अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चंचल (एक स्थान पर स्थिर न रहने के अभ्यासी) मन गति को भी संक्षिप्त कर अध्यात्म (बाहरी विषयों के चिन्तन को छोड़कर आत्मा के चिन्तन) में प्रवेश कर आत्मज्ञ (आत्मा को जानने वाला) पुरुष जब केवल अपने ज्ञान (आत्मा को पहचानने) में लग जाता है, तब उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहतगति वाला हो जाता है, इसी को अतीन्द्रियज्ञान कहते हैं। तदनन्तर वह सभी प्रकार के भावों को चारों ओर से देखने लगता है।

वक्तव्य—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। चित्त की वृत्तियों (व्यवहारों) का निरोध करना आत्मज्ञान में कारण होता है और इस चित्तवृत्ति के निरोध से वह आत्मज्ञानी पुरुष पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाता है। अतएव ऊपर लिखा है—**'सर्वभावान् परीक्षते'** अर्थात् उसके लिये सभी पदार्थ 'करामलकवत्' (हाथ में रखे हुए आँवले के समान) हो जाते हैं।

अध्यात्मम्—'आत्मनि इति'। अव्ययीभावसमास। इसका अर्थ है—आत्मा में। **परीक्षते**—'परितः ईक्षते' इति, चारों ओर देख सकता है।

गृह्णीष्व चे(वे)दमपरं भरद्वाज विनिर्णयम् ॥ २२ ॥

निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः [3]स्वप्नगतो यदा। विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥

प्रकारान्तर से समर्थन—भरद्वाज ! इस दूसरे विशेष रूप से निर्णय किये गये विषय को ग्रहण (स्वीकार) करो। जब मानव इन्द्रिय, वाणी, शरीर तथा मन सम्बन्धी सभी चेष्टाओं (व्यवहारों) से पूर्णरूप

---

१. 'यैः क्रिया वर्तते या तु' इति पा०।

२. 'संयम्य' इति पा०।

३. 'स्वप्नगतान्' इति पा०।

से मुक्त होकर सो जाता है, तब वह निद्रित स्थिति में भी स्वप्न में देखे गये विषयों को और सुख-दुःख को जानता है। इसलिए भी आत्मा को अज्ञानी नहीं माना जा सकता, अतः वह ज्ञानी है।

नात्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किञ्चित् प्रवर्तते । न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥ २४ ॥

आत्मज्ञान और विषयज्ञान—आत्मज्ञान के बिना कोई भी (बाहरी विषयों का) ज्ञान केवल (इन्द्रिय आदि साधनों के बिना) प्रवृत्त नहीं होता है। भाव (उत्पत्ति धर्म वाले पदार्थ) साधनों के बिना अकेला उत्पन्न नहीं होता और वह भाव बिना किसी कारण का नहीं होता है।

वक्तव्य—निष्कर्ष यह है कि विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आत्मा को इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित होती है और आत्मज्ञान के लिये इन्द्रियों के बिना आत्मा सर्वदा समर्थ है। इसीलिये चरक शा० अ० १ श्लोक ५४ में कहा जा चुका है—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते'।

तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च । सर्वमेतद् भरद्वाज निर्णीतं जहि संशयम् ॥२५॥

निष्कर्ष—इसलिये आत्मा ज्ञ (ज्ञानी) है, प्रकृति (विकार रहित) है, द्रष्टा है तथा कारण है। भरद्वाज! यह सब निर्णय कर दिया है। अब सन्देह का परित्याग करो, अर्थात् दुराग्रह मत करो।

तत्र श्लोकौ—

हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः । पुनर्वसुमतिर्या च भरद्वाजमतिश्च या ॥२६॥
प्रतिज्ञाप्रतिषेधश्च विशदश्चात्मनिर्णयः । गर्भावक्रान्तिमुद्दिश्य खुड्डिकां तत्प्रकाशितम् ॥२७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने खुड्डिकागर्भावक्रान्ति-
शारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

उपसंहार—गर्भ की उत्पत्ति, वृद्धि तथा जन्म में कारण, पुनर्वसु आत्रेय का विचार, तदनन्तर भरद्वाज का विचार (आत्रेय के मत का खण्डन पुनः आत्रेय द्वारा अपने मत का युक्तिपूर्वक समर्थन), प्रतिज्ञा का प्रतिषेध (दोष) एवं विविध प्रकार से आत्मा के स्वरूप का निर्णय, इन सभी विषयों का वर्णन स्वल्पगर्भावक्रान्ति अध्याय को लक्ष्य करके इस अध्याय में प्रकट किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सूत्रस्थान में खुड्डिकागर्भावक्रान्तिशारीर नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातो महतीं गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

खुड्डिकागर्भावक्रान्तिशारीर का वर्णन करने के बाद अब हम महतीगर्भावक्रान्तिशारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय द्वारा 'खुड्डिका' शब्द का एक विशिष्ट प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ कोष तथा व्याकरण की दृष्टि से अनिर्णीत है, किन्तु आप्तपुरुषों के प्रयोग के सम्बन्ध में लिखा गया है—'स्थितस्य

गतिश्चिन्तनीया' अतः प्रकरण की परम्परा (खुड्डिकागर्भावक्रान्तिशारीर के बाद महतीगर्भावक्रान्तिशारीर) का उल्लेख होने के कारण ही 'खुड्डिका' शब्द का अर्थ लघु या स्वल्प किया गया है।

इससे पहले अध्याय में गर्भोत्पादक भावों तथा उनके समुदाय को गर्भ का कारण स्वीकार किया गया है। इस अध्याय में उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विस्तार से वर्णन करने के कारण ही इसको 'महती' संज्ञा दी गयी है।

यतश्च गर्भः सम्भवति, यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा, यद् विकारश्च गर्भः; यया चानुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ यश्चास्य वृद्धिहेतुः, यतश्चास्याऽजन्म भवति, यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति, यतश्च कार्त्स्न्येनाविनश्यन् विकृतिमापद्यते, तदनुव्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥

गर्भ सम्बन्धी ८ प्रश्न

(Eight questions regarding Foetus or Embryo)

प्रश्नों का निर्देश—१. जिससे गर्भ की उत्पत्ति होती है, २. जिस स्थिति में इसकी गर्भ संज्ञा होती है, ३. जिसके विकार स्वरूप गर्भ होता है, ४. जिस क्रम से कुक्षि (गर्भाशय) में गर्भ की संरचना होती है, ५. जो इस (गर्भ) की वृद्धि में कारण है, ६. जिस कारण से गर्भ का जन्म ही नहीं होता पाता, ७. जिससे पैदा होता हुआ गर्भ गर्भाशय में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है और ८. जिस कारण से पूर्ण रूप से विनाश न होते हुए वह विकृत हो जाता है—इन सभी प्रश्नों की हम आगे व्याख्या करेंगे।

मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति । तस्य ये येऽवयवा यतो यतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान् विभज्य मातृजादीनवयवान् पृथक् पृथगुक्तमग्रे ॥ ४ ॥

१. जिससे गर्भ उत्पन्न होता है—('यतश्च गर्भः सम्भवति') प्रश्न का उत्तर—१. माता से २. पिता से, ३. आत्मा से, ४. सात्म्य से, ५. रस से, ६. सत्व से इन परस्पर मिले हुए भावसमूह से गर्भ की उत्पत्ति होती है। उस उत्पन्न होने वाले गर्भ के जो-जो अवयव जिस-जिस से होते (बनते) हैं, उन-उन मातृज आदि अवयवों को अलग-अलग बाँट करके इसके पहले अध्याय में कह दिया है।

वक्तव्य—मातृज आदि अवयवों का इसके पहले अध्याय में वर्णन किया गया है, उसको क्रमशः च० शा० अ० २ के गद्य ६, ७, १०, ११, १२, १३ में देखें। विशेष सुविधा के लिये १४ वें गद्य के नीचे उक्त विषय को **'गर्भोत्पादक भावों का परिगणन'** शीर्षक देकर स्पष्ट कर दिया गया है।

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ॥ ५ ॥

२. जिस स्थिति में गर्भ-सञ्ज्ञा होती है ('यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा') प्रश्न का उत्तर—गर्भाशय में शुक्र, शोणित और जीव (आत्मा) का संयोग होने पर इसका नाम 'गर्भ' रखा जाता है, अर्थात् तभी से इसकी 'गर्भ' संज्ञा होती है।

वक्तव्य—सांख्यशास्त्र में अव्यक्त, महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ इन आठों की प्रकृति संज्ञा दे रखी है। दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चमहाभूत इन सोलहों को विकृति या विकार कहा है। इस प्रकार २४ तत्वों से युक्त को पुरुष माना है। गर्भाशय में जब शुक्र-शोणित का मिश्रण होता है, तभी उसमें उक्त २४ तत्वों का समावेश हो जाता है। अतएव आचार्य डल्हण की यह मान्यता है कि गर्भाशय में स्थित शुक्र-शोणित आत्मा, प्रकृति तथा विकृति से सम्मिलित होकर ही गर्भसंज्ञा को पाता है।

गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः । एवमनया युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः; स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः ॥ ६ ॥

३. गर्भ का निर्माण किससे होता है ? ('यद् विकारश्च गर्भः') प्रश्न का उत्तर—गर्भ तो निश्चित ही अन्तरिक्ष (आकाश), वायु, अग्नि, तोय (जल), भूमि (पृथिवी) इन पाँच महाभूतों का विकार है तथा चेतना का अधिष्ठान (आश्रय) भूत है और इस युक्ति से पाँच महाभूतों के विकारों का समूह रूप तथा चेतना

का अधिष्ठान (आश्रय) भूत गर्भ है। पाँच महाभूतों के बाद छठी धातु के रूप में चेतना की गणना की गयी है।

वक्तव्य—उपर्युक्त विवेचन का सूत्र रूप में पहले भी निर्देश किया जा चुका है। देखें—'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० अ० १।१६। इसी का समर्थन भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकार किया है—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः'। सु० सू० अ० १।२२।

यया चानुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ तां व्याख्यास्यामः—गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे। तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् सम्भवति। स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च[1] बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति ॥ ७ ॥

४. **जिस क्रम से गर्भोत्पत्ति होती है** ('यया चानुपूर्व्या') प्रश्न का उत्तर—जिस क्रम से गर्भाशय में गर्भ की उत्पत्ति होती है, अब हम उस आनुपूर्वी (क्रम) की व्याख्या करेंगे—मासिकधर्म की प्रक्रिया द्वारा पुराने रजस् का स्राव (बहाव) हो जाने पर और नये रजस् (आर्तव) के विद्यमान रहने पर चौथे दिन स्नान कर लेने से शुद्ध, विकार रहित योनि, शोणित तथा गर्भाशय वाली स्त्री को हम ऋतुमती (गर्भधारण करने के योग्य काल वाली) कहते हैं। उस प्रकार के गुणों से सम्पन्न उस स्त्री के साथ जब विकाररहित बीज (शुक्र) वाला पुरुष सहवास करता है, तब उसके सम्भोगजनित हर्ष से प्रेरित पर (सर्वश्रेष्ठ) शरीरगत धातुओं का आत्मा (सार) शुक्र रूप में प्रत्येक अंग से उत्पन्न होता है।

वह शुक्रधातु हर्ष युक्त आत्मा से प्रेरित और आत्मा में अधिष्ठित अर्थात् सजीव बीजरूप धातु पुरुष शरीर से उत्पन्न होकर उचित मार्ग से गर्भाशय के भीतर प्रवेश करके आर्तव के साथ सम्बन्ध को स्थापित कर लेता है।

वक्तव्य—गर्भोत्पत्ति की आनुपूर्वी (क्रम) का वर्णन तन्त्रकार ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ किया है। **गते पुराणे रजसि**—यद्यपि पुराने रजस् की उपस्थिति में भी गर्भाधान हो जाता है किन्तु उसको सविकार माना गया है, इसलिये पुराने रजस् की समाप्ति होने पर कहा गया है। तदनन्तर 'ऋतुमती' का परिचय देते हुए **'शुद्धस्नाता'** शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है। यद्यपि 'स्नाता' शब्द ही पवित्रता की सूचना देता है, उस पर भी शुद्ध शब्द का प्रयोग चौथे दिन किये गये स्नान से पवित्र होने की ओर संकेत करता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्त्रियों का रजःस्राव तीसरे दिन रुक ही जाता हो और वे चौथे दिन स्नान करने के बाद रजस् की प्रवृत्ति न होने से शुद्ध हो जाती हों। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ स्त्रियों को रजःस्राव होता ही नहीं, ऐसी स्त्रियों को शास्त्र ने **अदृष्टार्तवा** की संज्ञा दी है। कुछ स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जिनको नाम मात्र की रजःप्रवृत्ति होकर पहले दिन ही वह रुक जाती है। कुछ ऐसी होती हैं, जिनका रजस् गर्भ-धारण होने के बाद भी पूर्ववत् प्रवृत्त होता रहता है, ऐसी स्त्रियों का भ्रूण पुष्ट नहीं हो पाता। शेष सभी स्त्रियों का रजस् तीन दिन तक ऋतुस्राव होने के बाद रुक जाता है और वे चौथे दिन स्नान करने के बाद शुद्धस्नाता कही जाती हैं। यथा—'नवे तनौ च सञ्जाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा'॥ अर्थ स्पष्ट है।

आत्मा का प्रतिनिधि—शुक्रभूत आत्मा, अर्थात् जो वास्तव में आत्मा तो नहीं है किन्तु आत्मा का प्रतिनिधित्व कर रहा है, उस शुक्र की उत्पत्ति पत्नी के साथ सहवास करते समय उत्पन्न प्रसन्नता से होती है और वह शुक्र 'अंगात्-अंगात्' शरीर के प्रत्येक अवयव से उत्पन्न होता है। यही कारण है कि अधिक सहवास करने से सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो जाता है और इसकी यथाविधि सुरक्षा करने से शरीर हृष्ट-पुष्ट अतएव नीरोग रहता है।

उक्त कथन की सम्पुष्टि में भगवान् धन्वन्तरि के वचनों पर ध्यान दें—सातवीं कला शुक्रधरा नाम की है, जो सभी प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। **शुक्रस्थिति-विवरण**—'यथा पयसि सर्पिस्तु गुणश्चेक्षुरसे यथा। शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः'॥ और भी—कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्तते'॥ सु० शा० अ० ४।२१ तथा २३। अर्थ स्पष्ट है।

१. 'अधिष्ठितबीजधातुः' इति पा०।

शिष्टभाषा का प्रयोग—'उचितेन पथा' अर्थात् गर्भाधान के उचित मार्ग से, यह तन्त्रकार का शिष्टतापूर्ण विशिष्ट प्रयोग है। भाषा मर्मज्ञ इस ओर ठंडे दिल से सोचें।

धन्वन्तरि के अनुसार—'द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः। मूलस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते'॥ सु० शा० अ० ४।२२।

विशेष वक्तव्य—शुक्र का वहन करने वाले दो स्रोतस् हैं। देखें—'शुक्रवहे द्वे' सु० शा० अ० ९।७ और १२। ये मूत्राशय (बस्ति) के दो अंगुल नीचे पुरुष के मूत्रमार्ग में खुलते हैं और स्त्री के भग की दीवारों में ये बहुमुखी होकर व्याप्त रहते हैं। मैथुन के समय शुक्र समस्त शरीर से आकर इन्हीं स्रोतों के माध्यम से बाहर आता है। शेष देखिये—सु० नि० अ० १० श्लोक १८-२२।

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः [1]सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते; स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता[2] बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति। स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते, यथा—प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः; तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः। सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति ॥ ८ ॥

गर्भस्थ आत्मा के कार्य—ऋतुकाल में शुद्ध शुक्र-शोणित का जब गर्भाशय में संयोग हो जाता है तब गर्भ की उत्पत्ति का क्या क्रम है, इस प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है। वहाँ सबसे पहले मनरूपी करण (साधन) के साथ चेतना धातु (आत्मा) गुण (पञ्चमहाभूतों) को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है। वही आत्मा हेतु ('हिनोति=व्याप्नोति कार्यम्' अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में समवायरूप से कारण), कारण ('करोतीति कारणम्'), निमित्त ('निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः', इति अमरः। यहाँ निमित्त का अर्थ लक्ष्म=चिह्न है।), अक्षर (क्षीण न होने वाला), कर्त्ता, मन्ता (विचारशील), वेदिता या बोधयिता (बोध कराने वाला), बोद्धा (जानने वाला), द्रष्टा (तटस्थ रूप से सबकी निगरानी करने वाला), धाता (धारण करने वाला), ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विश्वकर्मा (गर्भस्थ शिशु के रूपादि का रचयिता), विश्वरूप (सर्वत्र व्यापक), पुरुष (पुरि शेते इति, अर्थात् शरीर में निवास करने वाला), प्रभव (उत्पत्ति में कारण), अव्यय (व्यय न होने वाला), नित्य (शाश्वत), गुणी (पृथिवी आदि भूतों के गुणों को ग्रहण करने वाला—'गुणाः सन्ति अस्मिन् इति गुणी'), ग्रहण (भूतों का ग्रहणकर्त्ता), प्रधान (श्रेष्ठ), अव्यक्त (जो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता), जीव (प्राणवान्), ज्ञ (जानने वाला), पुद्गल ('पुद्गलः सुन्दराकारे त्रिषु पुंस्यात्मदेहयोः'। मेदिनी), चेतनावान् (चेतना वाला), विभु (पाठभेद के अनुसार 'प्रभु'), भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा है।

वह उपर्युक्त पर्यायों से युक्त आत्मा गुण-ग्रहण करते समय अन्य गुणवानों की तुलना में पहले आकाशतत्व का ग्रहण करती है। जैसे—प्रलयकाल के समाप्त हो जाने के बाद पुनः प्राणियों की सृष्टि (रचना) करने की इच्छावाली अक्षरभूत (अविनाशी) वह आत्मा सत्व (मन) रूप उपादान कारण का सहारा लेकर सबसे पहले अव्यक्त गुणवान् आकाश की रचना करती है। उसके बाद क्रमशः व्यक्ततर (आकाश की अपेक्षा अधिक स्पष्ट) गुणों वाले वायु आदि चार धातुओं को उत्पन्न करती है। उसी प्रकार देह-ग्रहण के लिये भी प्रवृत्त वह आत्मा सबसे पहले आकाशतत्व का ही ग्रहण करती है, तदनन्तर क्रम से व्यक्ततर (अधिक स्पष्ट) गुणवाले वायु आदि शेष चार धातुओं का ग्रहण करती है। इन सभी आकाश आदि भूतों के शब्द आदि गुणों का ग्रहण अणुकाल (अत्यन्त अल्प काल) द्वारा होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त प्रकरण की चर्चा प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार चर्चित है—'भगवन् कुत्रेमाः प्रजायन्ते ?। सहोवाच—'प्रजापतिर्हि प्रजाकामो स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्च, इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः

१. 'सत्त्वोपकरणः' इति पा०।
२. 'बोधयिता' इति पा०।

करिष्यन्ते। रयिरेव चन्द्रमाः प्राण एव सूर्यः'। यजुर्वेद में पुमान् को द्यौस् और स्त्री को पृथिवी की संज्ञा दी गयी है।

भगवान् धन्वन्तरि ने शुक्र-शोणित के साथ अनेक पर्यायों से युक्त आत्मा का प्रवेश होता है, का इस प्रकार वर्णन किया है—'ततोऽग्नीषोमसंयोगात संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता···आदि'। सु० शा० अ० ३।४। वास्तव में सिर से लेकर चरणपर्यन्त अवयवों का सार धातु शुक्र है, इसी के साथ आत्मा का भी गर्भाशय में अवतरण होता है।

स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः[1] खेटभूतो भवत्यव्यक्त-विग्रह. सदसद्भूताङ्गावयवः ॥ ९ ॥

प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप—वह सभी गुणों से युक्त आत्मा गर्भरूप को धारण कर पहले महिने में सभी धातुओं के स्वरूपों को कलुषित कर कफरूप होकर अव्यक्त विग्रह (शरीर) वाला और सत् तथा असत् अंगों वाला होता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने पहले मास में गर्भ का आकार कफरूप, अव्यक्त विग्रह तथा सत् (कुछ मात्रा में सत्तावान्) एवं विशेष रूप में असत् (अस्पष्ट , अंगों वाला माना है।

खेटभूतः—'खेटः कफे ग्रामभेदे चर्मण्यस्त्र्यवंति त्रिपु'। मेदिनी। यही कारण है कि चक्रपाणि ने 'खेटभूतः' का अर्थ 'श्लेष्मभूतः' किया है।

अन्य मत—'तत्र प्रथमे मासि कललं जायते'। सु० शा० अ० ३।१८। सुश्रुत के अनुसार शुक्र-शोणित का संयोग पहले मास में कलल (बुद्बुद) जैसा होता है। 'अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललो भवेत्'। अ० हृ० शा० अ० १।३७। वाग्भट ने भी सुश्रुत का समर्थन किया है, किन्तु महर्षि आत्रेय का विरोध नहीं किया है। क्योंकि उन्होंने भी 'खेटभूतः' ही स्वीकार किया है। इससे भी अधिक समानता है महर्षि याज्ञवल्क्य के वचनों में—'प्रथमे मासि सङ्क्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः'। याज्ञवल्क्यस्मृति।

द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा। तत्र घनः पुरुषः, पेशी स्त्री, अर्बुदं नपुंसकम् ॥

द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप—दूसरे मास में वह खेटभूत अर्थात् कफस्वरूप वाला गर्भ घन (पहले मास की अपेक्षा गाढ़ा) हो जाता है। १. पिण्ड के आकार का (गोल), २. पेशी के आकार का अथवा ३. अर्बुद के आकार का। यदि वह घन गर्भ पिण्ड के आकार का बनता है तो पुरुष, पेशी के आकार का हो तो स्त्री और यदि अर्बुद के आकार का होता है तो वह गर्भ नपुंसक होता है।

वक्तव्य—१. पिण्ड=गोल आकार, २. पेशी (Flesh) मांस पेशी, ३. अर्बुद=ट्यूमर (Tumour)। इसी का समर्थन सुश्रुत में प्राप्त होता है। यथा—'द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते, यदि पिण्डः पुमान स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति'। सु० शा० अ० ३।१८। वाग्भट के अनुसार—'द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवाऽर्बुदम्। पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात् तेभ्यः, तत्र व्यक्तस्य लक्षणम्'॥ अ० हृ० अ० १।४९। सर्वत्र समानता है।

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते ॥ ११ ॥

तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप—तीसरे मास में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नासिका, जीभ (रसना) और त्वचा) तथा सभी अंगों के अवयव अर्थात् कर्मेन्द्रियों आदि की एक साथ उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—दृष्टि के भिन्न होने से दृष्टिकोण की भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है।

सुश्रुत का मत—'तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति'। सु० शा० अ० ३।१८। तीसरे मास में दो हाथ, दो पाँव और एक शिर का संकेत करने वाली पिण्डकाएँ (उभार स्वरूप) बन जाती हैं। शेष अंगों का विभाजन सूक्ष्म होता है। **वाग्भट का दृष्टिकोण**—'व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम्। मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च'॥ अ० हृ० शा० अ० १।५४। वृद्ध वाग्भट

१. 'सर्वधातुकलनीकृतः' इति, 'सर्वधातुकललीकृतः' इति च पा०।

की भाषा में भी उक्त विचारों को समर्थन प्राप्त है। **महर्षि काश्यप के अनुसार**—'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा। तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम्'॥ काश्यप सं० शा०। महर्षि आत्रेय के वचनों को परवर्ती काश्यप ने अक्षरशः स्वीकार किया है। आधुनिक दृष्टि से भी यही मत तथ्य सम्पन्न है।

तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान् विभज्य पूर्वमुक्ता यथावत्। महाभूतविकारप्रविभागेन [1]त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गावयवान् कांश्चित् पर्यायान्तरेणापरांश्चानुव्याख्यास्यामः। मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव। तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च, वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः, अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च, अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च, पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति ॥

महाभूतों के भाव—मातृज आदि अवयवों के अनुसार विभाजन करके इसके पहले (खुड्डिकागर्भाव-क्रान्ति नामक तीसरे) अध्याय में इस गर्भ के कतिपय अंगों तथा उनके अवयवों का यथावत् (ठीक-ठीक) वर्णन कर दिया गया है। तदनन्तर महाभूतों के विकारों (विकृतियों के विभाजन के अनुसार उन्हीं (पूर्वोक्त) कतिपय शरीर के अवयवों की और कुछ दूसरे (पहले वर्णन करने से बचे हुए) शरीर के अवयवों की दूसरे नामों से हम व्याख्या करेंगे। जो पहले मातृज आदि भाव कहे गये हैं वे सभी भाव पञ्चमहाभूतों के ही विकार स्वरूप हैं। क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि को पञ्चमहाभूतात्मक माना गया है।

पञ्चमहाभूतात्मक-भावपरिचय-तालिका

	आकाशात्मकभाव	वाय्वात्मकभाव	अग्न्यात्मकभाव	जलात्मकभाव	पृथिव्यात्मकभाव
चरकसंहिता	शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लाघव, सूक्ष्मता, विवेक।	स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता, प्रेरण, धातुव्यूहन शारीरिकचेष्टाएँ।	रूप, दर्शनेन्द्रिय, प्रकाश, पक्ति, उष्णता।	रस, रसनेन्द्रिय, शीतता. मृदुता, स्नेह, क्लेद।	गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गौरव, स्थिरता, मूर्ति (कठोरता)।
सुश्रुतसंहिता	शब्द, शब्देन्द्रिय, सर्वच्छिद्रसमूह, विविक्तता।	स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, सर्वचेष्टासमूह, सर्वशरीरस्पन्दन, लघुता।	रूप, रूपेन्द्रिय, वर्ण, सन्ताप, भ्राजिष्णुता, पक्ति अमर्ष, तीक्ष्णता, शूरता।	रस, रसनेन्द्रिय, सर्वद्रवसमूह, गुरुता, शीतता, स्नेह, रेतस्।	गन्ध, गन्धेन्द्रिय, सर्वमूर्तसमूह, गुरुता।
काश्यपसंहिता	छिद्रसमूह, श्रोत्रेन्द्रिय, शब्द, विविक्तता।	स्पर्श, त्वगिन्द्रिय, उच्छ्वास तथा श्वास।	दृष्टि, दर्शनेन्द्रिय, रूप, पक्ति (पाचक, पित्त का निर्माण)	रसनेन्द्रिय, रस, क्लेद, आर्द्रता,	घ्राणेन्द्रिय, गन्ध, अस्थि धातु का निर्माण।
अष्टाङ्गहृदय	शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लाघव, सूक्ष्मता, विवेक, मुख, कण्ठ, कोष्ठ।	स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता, प्रेरणा, धातुव्यूहन, प्राण, अपान, शारीरिक-चेष्टाएँ।	रूप, चक्षुरिन्द्रिय, प्रकाश, पित्त, पक्ति, ऊष्मा, शरीर की वृद्धि।	रस, रसनेन्द्रिय, शीतता, मृदुता, द्रव, स्नेह, क्लेद, कफ, मेद, रक्त, मांस, शुक्र।	गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता, स्थिरता, मूर्ति (कठोरता)

१. गर्भ में शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लघुता, सूक्ष्मता और विवेक (शिरा, स्नायु, मांस आदि शारीरिक भावों की परस्पर विभिन्नता) ये आकाशात्मक (आकाशसम्बन्धी) विकार हैं। २. स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता, प्रेरणा, धातुव्यूहन (रसादि धातुओं को अपने-अपने स्थानों में पहुँचाना) तथा सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाएँ वाय्वात्मक (वायु सम्बन्धी) विकार हैं। ३. रूप, दर्शनेन्द्रिय, प्रकाश, पाचन-क्रिया का विधिवत् होना तथा

१. 'त्विदानीमपरांश्चैवाङ्गावयवान् पर्यायान्तरेणानुव्याख्यास्यामः' इति पा०।

उष्णता, ये सब अग्न्यात्मक (अग्नि सम्बन्धी) विकार हैं। ४. रस, रसनेन्द्रिय, शीतता, मृदुता, स्नेह और क्लेद (क्लिन्नता) ये सभी अबात्मक (जल सम्बन्धी) विकार हैं। ५. गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता, स्थिरता तथा मूर्ति (कठोरता) ये सभी पृथिव्यात्मक (पृथिवी सम्बन्धी) विकार हैं।

वक्तव्य—इसके पहले तीसरे अध्याय में जो मातृज आदि छः भावों का वर्णन किया गया है, उनमें जिन-जिन गुणों की सत्ता स्वीकार की गयी है, वे सभी गुण पञ्चमहाभूतों के ही होते हैं। अत एव मातृज आदि भाव पञ्चमहाभूतात्मक ही होते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि ने वायु का लघुता गुण स्वीकार किया है, जब कि महर्षि आत्रेय ने लघुता गुण आकाश का स्वीकार किया है। कुछ भी हो वैज्ञानिक दृष्टि से भी वायु की अपेक्षा आकाश का ही लघुता गुण युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति; बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति ॥ १३ ॥

लोक तथा पुरुष की समानता—इस प्रकार यह पुरुष लोक (संसार) के संमित (समान) है। संसार में जितने ही मूर्तिमान् (शरीरधारी) भावविशेष हैं, उतने ही भावविशेष पुरुष में भी हैं और जितने भावविशेष पुरुष में पाये या देखे जाते हैं उतने ही संसार में भी होते हैं। संसार तथा पुरुष के भावविशेषज्ञ विद्वान् ऐसा ही देखना चाहते हैं।

वक्तव्य—इस विषय का विशेष विवेचन अगले 'पुरुषविचयशारीर' नामक अध्याय में करेंगे। लोक तथा पुरुष की समानता का ज्ञान मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने में सहायक होता है। यहाँ 'संमित' शब्द का अर्थ तुल्य या बराबर है, देखें—'तुलया सम्मितं तुल्यम्'। इस को 'पिण्डब्रह्माण्ड' न्याय कहा गया है।

एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्तेऽन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते; तद्यथा—दन्ता व्यञ्जनानि [1]व्यक्तीभावस्तथायुक्तानि चापराणि। एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। सन्ति खल्वस्मिन् गर्भे केचिन्नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः केचित्। तस्य य एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते, त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुषलिङ्गं नपुंसकलिङ्गं वा बिभ्रति। तत्र स्त्रीपुरुषयोर्ये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुणसंश्रयाश्च, तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः। तद्यथा—क्लैव्यं भीरुत्वमवैशारद्यं मोहोऽनवस्थानमधोगुरुत्वमसहनं शैथिल्यं मार्दवं गर्भाशयबीजभागस्तथायुक्तानि चापराणि स्त्रीकराणि, अतो विपरीतानि पुरुषकराणि, [2]उभयभागावयवा नपुंसककराणि भवन्ति ॥१४॥

जन्म के बाद पैदा होने वाले अंग—इस प्रकार इस (भ्रूण) की इन्द्रियाँ और शरीर के अंग-प्रत्यंगों की उत्पत्ति एक साथ होती है, उन भावों (अंग-विशेषों) को छोड़कर जो बालक के जन्म के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—दाँत, व्यञ्जन यौवनकाल में दाढ़ी-मूछ, कक्षाओं तथा गुप्तांगों में लोमों की उत्पत्ति, **व्यक्तीभाव**—समयानुसार स्त्री-पुरुषों में आर्तव तथा शुक्र की उत्पत्ति का होना और इसी प्रकार के अन्य भावों की उत्पत्ति का होना (जैसे—कतिपय शिराओं से स्नायुओं का बन जाना, शरीरावयवों में प्रकृति के अनुरूप परिवर्तनों का होना झिल्लियों का तरुणास्थि या अस्थि के रूप में परिवर्तित हो जाना) यह सब प्रकृति है। इन के विपरीत जिन भावों की उत्पत्ति होती है उन सबको विकृति कहा गया है। जैसे—जन्म से ही अथवा आठवें मास के बाद दाँतों की उत्पत्ति, दाढ़ी मूछ आदि का समय पर न निकलना, यौवनकाल आ जाने पर भी रजस्-शुक्र की प्रवृत्ति का न होना आदि सभी विकृतियाँ कही जाती हैं।

इस गर्भ में निश्चय रूप से कुछ भाव नित्य और कुछ अनित्य होते हैं। उस गर्भ के जो अंग अवयव नित्य रहते हैं, वे ही स्त्रीलिंग, पुल्लिंग अथवा नपुंसकलिंग को धारण करते हैं। वहाँ (गर्भ में) स्त्री तथा पुरुष के जो विभेदक भाव होते हैं, अर्थात् जिन भावों की अधिकता प्रधानता के कारण या गुणों के कारण

१. 'शुक्ररजोव्यक्तीभावः' इति पा०।
२. 'उभयभागभावानि' इति 'उभयभावा' इति च पा०।

होती हैं, तदनुसार ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। अर्थात् यदि गर्भ में स्त्री भावों की विशेषता होगी तो पुरुष सन्तान और यदि दोनों प्रकार के भावों की समानता होगी तो नपुंसक सन्तान का जन्म होता है।

स्त्रीकर-भाव—क्लीवता (पुरुष-शक्ति का अभाव), भीरुता, अवैशारद्य (चतुरता का न होना), मोह, एक स्थान पर स्थिर न रहना या चंचलता, अधोगुरुत्व (नीचे के भागों का भारी होना), सहनशक्ति का अभाव, शिथिलता, मृदुता, गर्भाशयस्थ बीजभाग ('आधिक्ये रजसः कन्या, पुत्रः शुक्राधिके भवेत्'।) अर्थात् गर्भाशय में यदि बीज भाग (शुक्र-शोणित) में से यदि शोणित की अधिकता होती है तथा इसी प्रकार के दूसरे भाव स्त्री को जन्म देने वाले होते हैं। इन से विपरीत पुरुष को जन्म देने वाले भाव होते हैं। दोनों भावों की प्रधानता होने पर वे नपुंसकताकारक होते हैं।

वक्तव्य—नित्य-अनित्य भावों का वर्णन गर्भकाल में तथा उत्पत्तिकाल के बाद के अनुसार यहाँ किया गया है। **नित्यभाव**—कर, चरण, नासिका, मुख आदि। **अनित्यभाव**—दन्त आदि। **स्त्रीभाव**—योनि, स्तन, रजस् आदि। **पुरुषभाव**—लिंग, दाढ़ी-मूंछ, शुक्र आदि। **नपुंसकभाव**—लिंग तथा योनिरहित केवल छिद्र। यह बीज की ही महिमा है कि वह शरीर में रहते हुए भी अकाल में अवयवों की उत्पत्ति नहीं होने देता है। **प्रधानसंश्रय**—आत्मसंश्रय। **गुणसंश्रय**—शुक्र-शोणितगत पञ्चमहाभूत से संबन्धित।

विशेष—श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता पूर्वार्ध के उक्त गद्य में '**गर्भाशयबीजभागः**' इतना अंश नहीं दिया गया है। '**अधोगुरुत्वमसहनं**' के स्थान पर '**अधोगुरुत्वमसंहननं**' पाठ दिया गया है। यदि हम श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत पाठ का आदर करते हैं तो '**असंहनन**' का अर्थ 'शरीर में दृढ़ता का न होना' होता है, इसके बाद ही 'शैथिल्य' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ की पुनरावृत्ति कर रहा है। विद्वान् पाठक ध्यान दें कि यहाँ '**असहनं**' पाठ उचित है या '**असंहननम्**'?

भगवान् धन्वन्तरि ने गर्भ की उत्पत्ति में, पहले किस अंग की उत्पत्ति होती है, इस विषय में शौनक आदि आचार्यों के मतों को प्रदर्शित करते हुए अन्त में अपना मत इस प्रकार दिया है—'तत्तु न सम्यक् सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः। गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवत्, चूतफलवत् च'। सु० शा० अ० ३। इसी का समर्थन आत्रेय पुनर्वसु ने चरक शा० अ० ६ में किया है।

तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत्कालमेव चेतसि वेदना निर्बन्धं प्राप्नोति; तस्मात् तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित्, तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः। मातृजं चास्य हृदयं मातृहृदयेनाभिसम्बद्धं भवति [1]रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः; तस्मात् तयोस्ताभिर्भक्तिः [2]संस्पन्दते। तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न [3]द्वैहृदय्यस्य विमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुम्। विमानने ह्यस्य दृश्यते विनाशो विकृतिर्वा। समानयोगक्षेमा हि तदा भवति गर्भेण केषुचिदर्थेषु माता। तस्मात् प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः ॥ १५ ॥

दोहद-विवेचन—उस गर्भ के देह में ज्यों ही इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, उस क्षण से ही उसके मन में वेदना (सुख-दुःख की अनुभूति) हठात् प्राप्त हो जाती है, अर्थात् वह गर्भस्थ शिशु सुख-दुःख आदि का अनुभव करने लगता है। इसी कारण से तब से लेकर गर्भ में (सुख-प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये)-स्पन्दन (फड़कना) क्रिया होने लगती है और यह पूर्वजन्म में अनुभूत जिस-किसी सुखप्रद पदार्थ की प्राप्ति की कामना करने लगता है, इसी को वृद्ध (गर्भविषय-विशेषज्ञ) द्वैहृदय्य (दो माता तथा गर्भ के हृदयों का भाव=दौहृद) कहते हैं। इस गर्भज शिशु का हृदय मातृज होता है। अतः यह माता के हृदय से (गर्भ-पोषण के लिये जो माता के हृदय तथा गर्भस्थ शिशु के नाभि से संबन्धित) रसवाहिनी धमनियों द्वारा चारों ओर से सम्बन्धित रहता है। इन्हीं रसवाहिनियों द्वारा गर्भस्थ शिशु अपनी इच्छाओं का संवाहन माता के हृदय द्वारा करता है। इसलिये उन दोनों (माता, गर्भस्थ शिशु) को उन रसवाहिनियों द्वारा भक्ति (इच्छा) माता के हृदय से गर्भ के हृदय

१. 'रसहारिणीभिः' इति पा०।
२. 'सम्पद्यते' इति पा०।
३. 'द्वैहृदय्याविमानितम्' इति पा०।

में और गर्भ के हृदय से माता के हृदय में जाती है। उसी कारण को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाले (शरीर-शास्त्र के आचार्य) गर्भकाल में माता तथा गर्भस्थ शिशु की इच्छाओं का अपमान करना नहीं चाहते। दौहृद के अपमान करने पर गर्भ का विनाश या विकृति हो जाती है। गर्भावस्था में माता कुछ विषयों में गर्भ के साथ समान योग (सुख-सम्पादन का कारण), क्षेम (अनिष्टकारक विषयों का परिहार) वाली होती है। इसलिये प्रियकारक तथा हितकारक भावों से कुशलचिकित्सक गर्भिणी का उपचार करते हैं।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य में गर्भिणी की उत्कण्ठा (Cravings of Pregnant) के स्वरूप तथा उससे होने वाली हानि-लाभ का वर्णन किया गया है। उसका विस्तृत विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

इन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते—तीसरे मास में गर्भस्थ शिशु के इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, यह काश्यप का मत है—'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा। तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम्' ॥ काश्यपसंहिता। किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने इसको संक्षेप में इस प्रकार कहा है—'तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्ते-ऽङ्गप्रत्यङ्गविभाग श्च सूक्ष्मो भवति'। सु० शा० अ० ३।१८। इसके आगे चतुर्थमास का वर्णन इस प्रकार दिया है—'चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति। कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति। द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते'। सु० शा० अ० ३।१८। वृद्धवाग्भट के मत से ४५ दिन के बाद से लेकर पाँचवें मास तक दौहृदकाल कहा गया है। इस सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत हमें प्रत्येक गर्भस्थ शिशु के शरीर-स्वास्थ्य-समृद्धि का अध्ययन करने के लिये बाध्य करते हैं।

वेदना—'विद् ज्ञाने' धातु से युच् प्रत्यय करने पर 'वेदना' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है 'ज्ञान', यह ज्ञान इन्द्रियों के समवायसम्बन्ध से होता है। इसका अधिष्ठान चेतस् है। चेतस् शब्द हृदय तथा मन दोनों का पर्यायवाची है। देखें—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन् मानसं मनः'। अमरकोष।

स्पन्दते—गर्भस्थ शिशु का यह स्पन्दन (फड़कना) पूर्वजन्मों में अनुभूत प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिये और अनिच्छित पदार्थों को त्यागने के लिये होता है।

दोहद—गर्भवती स्त्री को द्विहृदया (दो हृदयों वाली) कहते हैं, क्योंकि उस समय गर्भिणी स्त्री में एक अपना हृदय और दूसरा शिशु का हृदय होता है। इसको '**दौर्हृद**' भी कहते हैं। साहित्यिक कृतियों में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है। यथा—'उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्'। रघुवंश स० ३। 'सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ'। रघुवंश स० ३। 'प्रवर्तितमहासमरदोहदा नरपतयः'। वेणीसंहार अं० ४। ये दोहद लक्षण न केवल स्त्रियों में ही अपितु वृक्षों में भी देखे जाते हैं। यथा—'महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति'। नैषधचरित ३-२१। इसके अनन्तर अब यहाँ आयुर्वेदिक दृष्टिकोण प्रस्तुत है—

दोहद का प्रभाव—गर्भवती की इच्छाओं का उदय गर्भ के भावी जीवनकाल की सूचना देता है। अतः यथासम्भव उनकी पूर्ति करना पति का पुनीत तथा दायित्वपूर्ण कर्म है। इसका विशेष विवरण सु० शा० अ० ३ श्लोक २२ से २८ तक वर्णित है।

दोहद का अपमान—'दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति। तस्मात् सा यद्यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्'। सु० शा० अ० ३।१८। दोहद का सेवन न करने या न कर पाने से सन्तान कुबड़ी, विनौने हाथों वाली, लंगड़ी, जड़, नाटे कद की, विकृत आँखों वाली अथवा अंधी हो जाती है। इसलिये गृह-चिकित्सक या घर की वृद्धा स्त्री (सास, माता, जेठानी आदि) का कर्त्तव्य है कि वह उन-उन पदार्थों को दिलवाये, व्यवस्था कराये। बहुप्रसूता स्त्रियाँ जान जाती हैं कि यह गर्भिणी का दोहद (गर्भिणी तथा गर्भस्थ शिशु इन दोनों के हृदय की सम्मिलित इच्छा) है, अतः उसकी पूर्ति करानी चाहिये। क्योंकि गर्भावस्था में जिन जिन इन्द्रियों के विषयों की (जिनको गर्भवती प्राप्त करना चाहती है) पूर्ति नहीं हो पाती, तदनन्तर उत्पन्न होने वाली सन्तान के उन-उन इन्द्रियों में विकार देखा जाता है। देखें—सु० शा० अ० ३।२०-२१।

तस्या गर्भापत्तेर्द्वैहृदय्यस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेनोपदेक्ष्यामः। [1]उपचारसाधनं ह्यस्य ज्ञाने, ज्ञानं च लिङ्गतः, तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः। तद्यथा—आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः

१ 'उपचारसम्बोधनम्' इति पा०।

स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थं श्वयथुः पादयोरीषद् रोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ १६ ॥

गर्भवती के लक्षण (Signs of Pregnant)—उस स्त्री के गर्भ-प्राप्ति तथा द्वैहृदय्य (दोहद लक्षणों से युक्त) के विशेष ज्ञान के लिये हम संक्षेप से लक्षणों का उपदेश करेंगे। इन लक्षणों का परिज्ञान ही उपचार में साधन होता है, अर्थात् उपचार (चिकित्सा) में सहायक होता है और लक्षणों से ही ज्ञान (परिचय) होता है। इसलिये लक्षणों का उपदेश करना हमको इष्ट (प्रिय) है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—आर्तव (मासिक स्राव) का न दिखलायी देना, मुँह से लार का स्राव होना, अर्थात् बार-बार मुँह में पानी का भर जाना, अन्न के प्रति इच्छा का न होना, वमन, अरुचि, खट्टी वस्तुएँ खाने की विशेष इच्छा, कभी अच्छी से अच्छी वस्तुओं के प्रति और कभी साधारण से साधारण वस्तुओं के प्रति श्रद्धा (मानसिक झुकाव) का होना, शरीर में भारीपन का होना, आँखों में ग्लानि (हर्षक्षय अर्थात् आंखों में अलसता), स्तनों में दूध की उत्पत्ति, होंठों और स्तनमंडलों का अधिक काला पड़ जाना, पैरों में सूजन का होना, रोमपंक्ति की उत्पत्ति तथा योनि का विस्तृत हो जाना—ये लक्षण गर्भ-प्राप्ति होने पर हो जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर वर्णित लक्षण संक्षेप से कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक लक्षण गर्भिणी में पाये और देखे जाते हैं, जिनका परिज्ञान अनुभवी चिकित्सकों, बहुशःप्रसूता स्त्रियों तथा वृद्धाओं को होता है।

आर्तवादर्शन—इसी को Suppression of the Menstruation कहते हैं। कुछ स्त्रियों में यह लक्षण नहीं देखा जाता, क्योंकि उनका मासिकस्राव गर्भधारण होने पर भी प्रतिमास पूर्ववत् होता रहता है। इतना अवश्य है कि ऐसा शिशु अपेक्षाकृत कृश होता है।

उच्चावचेषु भावेषु श्रद्धाप्रणयनम्—इन उच्चावच भावों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। यथा—खाना-
पीना, लगाना-पहिरना, घूमना-फिरना, यान, आसन, शयन, गीत, वाद्य आदि सांसारिक विविध उच्च एवं
नीच भावों के प्रति अनुरक्ति का होना। जैसे—राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा को मिट्टी खाने का दोहद हुआ
था, इसी प्रकार अन्य प्राचीन दोहदों की चर्चा सु० शा० अ० ३।१८ में की गयी है। नवीनतम दोहदों की इच्छा
अद्यतन गर्भिणियाँ कर सकती हैं, किन्तु ध्यान रहे कि यह दोहदगर्भ तथा गर्भिणी दोनों की सम्मिलित इच्छा है।

स्तनयोः स्तन्यम्—स्तन्य दूध का नाम है, क्योंकि यह स्तन में होता है, अतः इसको स्तन्य कहते हैं।
गर्भावस्था में यह स्तन्य (दूध) स्तन्याभास ही होता है, न कि पीने योग्य। इसी को खीस या पीयूष भी कहते
हैं। वास्तव में यह स्तनवारि है।

स्तनमण्डलयोः अत्यर्थं कार्ष्ण्यम्—इस वाक्यांश को समझने के लिये स्तनशारीर का परिचय आवश्यक
है। बाह्य स्तन मूल रूप से तीन भागों में विभक्त होता है—१. चूचुक, २. चूचुकावरण, ३. उभारयुक्त निचला
भाग। चूचुक (Nipple) का आवरण जो लगभग आधा इंच की गोलाई में होता है। इसका वर्ण मूलतः
उभारयुक्त निचले भाग से कुछ श्यामल होता है। इसी प्रथम तथा द्वितीय भाग को महर्षि आत्रेय ने स्तनमण्डल
की संज्ञा दी है। भगवान् धन्वन्तरि ने स्तन से प्रथम तथा द्वितीय भाग को 'स्तनमुख' की संज्ञा दी है। यथा—
'स्तनयोः कृष्णमुखता'। सु० शा० अ० ३। कोष साहित्य में भी अग्रभाग को मुख कहा है। दोनों स्तनों के
अग्रभाग (चूचुक) तथा उनका मण्डल (लगभग आधा इंच गोलाई वाला भाग) गर्भावस्था में सामान्य अवस्था
से अधिक काला पड़ जाता है, यह भी गर्भिणी का अन्यतम लक्षण है। स्तनपान-काल में बालक जिस अवयव
से स्तनपान करता है, वह चूचुक है तथा जो भाग उसके होंठों से सटा रहता है, वह चूचूक परिधि या स्तन-
मण्डल है। महाकवि कालिदास के शब्दों में—'तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्'। रघु० सर्ग ३। यहाँ भी 'आनील-
मुखस्तनद्वय' का वही भाव है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

पादयोः श्वयथुः—पैरों में सूजन का आ जाना, यह लक्षण कभी-कभी देखा जाता है। इसी प्रकार का एक
लक्षण और पाया जाता है, वह है गर्भिणी का पाण्डुरोग, ये दोनों ही लक्षण सुखप्रसव के बाद स्वयं शान्त हो
जाते हैं।

लोमराज्युद्गमः—यौवनोदय के लक्षणों में भी इसका वर्णन यत्र-तत्र मिलता है। यह गर्भ की अवस्था
में होने वाली लोमराजी का उद्गम रोमांच होना ही है, वह रोमांच वमन आदि लक्षणों जैसा ही सामान्य
लक्षण है। अन्यथा उतनी संतानों की उत्पत्ति में कहाँ तक और कितनी बार इसकी उत्पत्ति होती जायगी।

योन्याश्चाटालत्वम्—प्रायः सभी प्रकार के साहित्य में कुछ पारिभाषिक अथवा देशज शब्दों का ऐसा प्रवेश हो जाता है, जो कोष एवं व्याकरण की दृष्टि से जाने नहीं जा सकते। व्याकरण की तो बात क्या कही जाय वे तो 'प्रयोगशरणा वैयाकरणाः' होते हैं, जैसा प्रयोग होगा उसको धातु और प्रत्ययों के योग से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा ही एक प्रयोग है—**'चाटालत्वम्'** जिसका अर्थ चक्रपाणि ने **'विवृतत्व'** किया है। यहाँ प्रसंगानुसार अर्थ ठीक है, पर प्रकृति-प्रत्यय का कहीं ठिकाना नहीं। ऐसे दुःसाध्य शब्दों को ठीक करने के लिये ही व्याकरण सम्प्रदाय में **'धातूनामनेकार्थत्वात्'** और **'उणादि'** प्रत्ययों का सहारा लिया जाता है। इसी आधार पर हम 'चटे कटे वर्षावरणोः' धातु से **'पतिचण्डिभ्यामालञ्'** उणादि 'आलञ्' प्रत्यय तथा उपधा-वृद्धि कर **'चाटाल'** शब्द की सिद्धि कर सकते हैं।

सुश्रुतोक्त लक्षण—'स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः॥ अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते' ॥ सु० शा० अ० ३।१४-१५।

आधुनिक दृष्टि से भी गर्भिणियों में ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

सा यद्यदिच्छेत् तत् तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः ॥ १७ ॥

दोहद की पूर्ति आवश्यक—जब गर्भिणी द्विहृदया हो जाती है, तब वह जो-जो इच्छा करती है (इन इच्छाओं की विस्तृत सीमा है, जिनका कुछ वर्णन सुश्रुत शा० अ० ३ में किया गया है।) वह-वह उसको दे या उपलब्ध कराये, किन्तु यदि उसकी इच्छा किन्ही ऐसे पदार्थों के प्रति हो, जिनके सेवन से गर्भ को बाधा पहुँचे, तो उनको न दे।

वक्तव्य—यदि किन्हीं गर्भोपघातकरभावों के प्रति गर्भिणी की उत्कट इच्छा हो तो ऐसी स्थिति में कुशल चिकित्सक या सास आदि स्त्रियाँ उसका मनोविनोद इस प्रकार करें, जिससे उसका ध्यान उन विषयों के उपभोग की ओर से विमुख हो जाय, क्योंकि दोहद की विमानना (अपमान) न हो, इसका पूर्ण ध्यान देने का तन्त्रकार का निर्देश है। गर्भोपघातकर भावों का वर्णन आगे प्रस्तुत है।

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्तिः; तद्यथा—सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णं दारुणाश्च चेष्टाः; इमांश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः—देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि बिभृयान्न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेन्न यानमधिरोहेन्न मांसमश्नीयात् सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत्, यच्चान्यदपि किञ्चित् स्त्रियो विद्युः ॥ १८ ॥

गर्भनाशक भाव—ये निम्नलिखित भाव गर्भ की अभिवृद्धि में बाधक होते हैं। वे इस प्रकार हैं—सभी प्रकार के अति गुरु (गरिष्ठ), अति उष्ण तथा अति तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, दारुण (Violent) चेष्टाएँ, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भावों का भी उपदेश वृद्ध(अनुभवी)जन करते हैं—देवता-अनुचर (देवयोनियाँ), तथा राक्षस-अनुचरों से अपनी रक्षा करने के लिये गर्भवती स्त्री रक्तवर्ण के वस्त्रों को धारण न करे और न मादक आसव आदि का सेवन (पान) करे, न सवारी में चढ़े (इसके धक्कों से गर्भ में आघात पहुँचता है।), न मांसभक्षण करे, इन्द्रियों के प्रतिकूल भावों का सेवन दूर से ही छोड़ दे, अर्थात् जिस इन्द्रिय को जो विषय अप्रिय या अरुचिकर प्रतीत हो, उसके सेवन का विचार ही न करे। इनके अतिरिक्त और भी इस सम्बन्ध में जो कुछ स्त्रियाँ जानती हों कि ये-ये आहार-विहार अहितकर हैं, उनका भी परित्याग करे।

वक्तव्य—ऊपर गद्य में महर्षि आत्रेय ने देशाचार एवं कुलाचार के अनुरूप भावों का समादर करते हुए **'अन्यानुपदिशन्ति वृद्धाः'** तथा **'यच्चान्यदपि किञ्चित् स्त्रियो विद्युः'** वाक्यों का भी समावेश कर वृद्धजनों और बहुप्रसूता स्त्रियों के उपदेशों पर ध्यान देने का आग्रह किया है, यह है आचार्य के विषय-निर्वचन का विश्वजनीन स्वरूप।

तीव्रायां तु खलु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थनाविनयनार्थम्। प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः प्रकुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात् ॥ १९ ॥

दोहद की पूर्ति न करने से हानि—गर्भवती स्त्री की यदि किसी गर्भ-विनाशक आहार-विहार के प्रति उत्कट इच्छा हो तो उस अहितकर इच्छित वस्तु को हितकारक बनाकर उसे दें, जिससे उसकी वह इच्छा शान्त हो सके। क्योंकि इच्छित वस्तु को न देने से (भले ही वह किसी कारणवश अहितकर हो) शरीरस्थ वायु प्रकुपित होकर गर्भाशय के भीतर संचार करता हुआ गर्भस्थ शिशु का विनाश कर डालता है या उसको विरूप (विकृत रूप वाला) बना देता है।

वक्तव्य—इसी अध्याय के ७ वें गद्य में कहे गये गर्भोपघातकर भावों का संशोधित रूप उक्त गद्य का विषय है। इसमें जो **'हितेनोपहितम्'** निर्देश दिया है, इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार से चिकित्सा-ग्रन्थों के पथ्य-प्रकरण में विचार करते हुए कहा गया है कि—'कल्पना विधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः'। अर्थात् अहितकर भावों को हितकर रूप देना कुशल चिकित्सक का कर्त्तव्य है।

वैरूप्यं कुर्यात्—इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का यह वचन अविस्मरणीय है—'दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विरूपाक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति'। सु० शा० अ० ३। इस प्रकार गर्भधारण के दिन से तीसरे मास तक के विषय का विवेचन हो चुका है।

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्मात् तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण ।२०।

चौथे मास में गर्भ का स्वरूप—चौथे मास में गर्भ स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। इस कारण से उस समय से गर्भिणी का शरीर पहले की अपेक्षा अधिक भारयुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—चौथे मास में कलल आदि रूपों से परिवर्तित होता हुआ वह गर्भ क्रमशः स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, यद्यपि सूक्ष्म रूप से अंग-प्रत्यंग का विभाजन तीसरे मास में 'वंशांकुरवत्' अथवा 'चूतफलवत्' हो जाता है, किन्तु वही विभाजन चौथे मास में 'प्रव्यक्त' हो जाता है। यही कारण है कि चौथे महीने में गर्भस्थ शिशु की इन्द्रिय सम्बन्धी विभिन्न इच्छायें माता द्वारा दोहद रूप में अभिव्यक्त होती हैं, यह सुश्रुत का अभिप्राय है।

महर्षि आत्रेय के अनुसार दोहद लक्षणों का प्रादुर्भाव तीसरे मास में हो रहा है और सुश्रुत के अनुसार चौथे मास में इसका समन्वय इस प्रकार करना चाहिये कि दोहद लक्षणों की सामान्य अभिव्यक्ति तीसरे मास से प्रारम्भ होकर चौथे मास तक पूर्णरूप में हो जाती है।

पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण ॥ २१ ॥

पाँचवे मास में गर्भ का स्वरूप—पाँचवे मास में अन्य (पहले के एक से चार तक) मासों की अपेक्षा गर्भस्थ शिशु के रक्त तथा मांस की अधिक वृद्धि होती है, इसी कारण से गर्भिणी विशेष रूप में कृश हो जाती है।

वक्तव्य—इस महीने में गर्भिणी द्वारा सेवित आहार से उत्पन्न रक्त एवं मांस का अंश गर्भस्थ शिशु को अधिक प्राप्त हो जाता है, अतः माता कृश और गर्भ पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट हो जाता है। इसी का समर्थन सुश्रुतसंहिता तथा वृद्धवाग्भट के अष्टाङ्गसंग्रह में द्रष्टव्य है। महर्षि काश्यप का मत यहाँ उद्धृत किया जारहा है—'मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवक। गर्भिणी पञ्चमे मासि तस्मात् कार्श्येन युज्यते'॥ काश्यपसंहिता।

विशेष—इस मास में गर्भ का स्पन्दन (फड़कन) माता अनुभव करने लगती है। पास में बैठी हुई सखियाँ भी ध्यान से देख तथा स्पर्श कर सकती हैं। इस समय स्त्री की नाभि तथा बाईं ओर की वंक्षणास्थि के मध्य में Stethoscope यन्त्र की सहायता से शिशु के हृत्स्पन्दन शब्द को सुना जा सकता है। इन स्पन्दनों की सामान्य संख्या एक मिनट में १३० से १४० तक होती है।

षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण ॥ २२ ॥

छठे मास में गर्भ का स्वरूप—पूर्व के महीनों की अपेक्षा इस छठे मास में गर्भ के बल, वर्ण की अधिक

वृद्धि होती है। इसलिये इस अवसर पर गर्भिणी के बल तथा वर्ण (रूप-सौन्दर्य) की अधिक हानि हो जाती है।

वक्तव्य—इस प्रकार के विवेचनों का सन्दर्भ ऊपर के प्रसंगों में उद्धृत किया गया है। यथा-स्थान देखें।

सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्याय्यते, तस्मात् तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति ॥२३॥

सातवें मास में गर्भ का स्वरूप—सातवें महीने में गर्भ सभी भावों (अंग-प्रत्यगों) से परिपूर्ण हो जाता है। इसी कारण से गर्भिणी सभी आकार-प्रकार से क्लान्ततम (मलिनतम) हो जाती है।

वक्तव्य—सातवें मास में महर्षि आत्रेय तथा भगवान् धन्वन्तरि के मत से गर्भ स्वस्थ सर्वांगपूर्ण हो जाता है। देखा गया है कि सातवें मास में कभी-कभी बालक का जन्म भी हो जाता है और वह जीवित रहता है।

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता [1]रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासम्पूर्णत्वात्[2]। तस्मात् तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च म्लाना, तथा गर्भः; तस्मात् तदा गर्भस्य जन्म [3]व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्। तं चैवार्थमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः ॥ २४ ॥

आठवें मास में ओज को अस्थिरता—आठवें महीने में रसवाहिनियों द्वारा माता से गर्भस्थ शिशु के हृदय में तथा गर्भस्थ शिशु के हृदय से माता के हृदय में ओज का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है, क्योंकि अभी तक गर्भस्थ शिशु पूर्ण नहीं हुआ होता है। इसी कारण से गर्भिणी बार-बार प्रसन्न दिखायी देती है और बार-बार मलिन दिखायी देती है। अर्थात् जब ओज का संचार गर्भ से माता के हृदय में होता है, तब वह प्रसन्न दिखायी देती है और जब ओज माता के हृदय से निकलकर गर्भ के हृदय में जाता है, तब वह मलिन दिखायी देता है, यही स्थिति गर्भस्थ शिशु की भी है। इसलिये आठवें महीने में ओज की अस्थिरता के कारण गर्भ का जन्म संकटयुक्त होता है। उस (उपर्युक्त) अर्थ का विचार करके ही कुशल चिकित्सक (कौमार-भृत्यशास्त्र के विशेषज्ञ) आठवें मास को अगण्य (प्रसव के अयोग्य) मानते हैं।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि के विचार प्रस्तुत हैं—'अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः। तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्' ॥ सु० शा० अ० ३।३०। सुश्रुत तथा चरक में समानता है। ध्यान दें—आठवें मास में ज्योंही गर्भवती की प्रसवपीड़ा प्रारम्भ हो, तत्काल मांस और भात की बलि दिलायें, क्योंकि कौमारभृत्यशास्त्र में लिखा है—'अष्टमे मासि जातस्य हरन्त्योजो निशाचराः'। आठवें मास में जन्म लेने वाले शिशु के ओज को राक्षस खा जाते हैं। शेष विवरण के लिये सु० उ० ग्रहोत्पत्ति नामक ३७ वां अ० देखें। और गर्भावस्था के लक्षणों के विशेष परिचय के लिये **'धात्रीशिक्षा'** सुश्रुत-शारीर 'श्रीजयदेव' का देखिये। यही कारण है कि आठवें मास में गर्भरक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखकर आज भी अनेक सुसंस्कृत परिवारों में देवी-देवताओं का पूजन किया जाता है।

वास्तव में आठवें मास में जन्म लेने वाले शिशु में ओजस् = प्राणशक्ति (Vitality) का अभाव रहता है, इसीलिये वह जीवित नहीं रह पाता।

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरा दश मान्मासात्। एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः[4] परं कुक्षाववस्थानं गर्भस्य ॥ २५ ॥

प्रसव-काल की सीमा—आठवें मास के पूरे होने के बाद एक दिन भी अधिक हो जाता है तो नवाँ

१. 'रसवाहिनीभिः' इति पा०।
२. 'गर्भस्य सम्पूर्णत्वात्' इति पा०।
३. 'भवत्यधिकम्' इति पा०।
४. 'अत ऊर्ध्वमवस्थानम्' इति पा०।

मास आरम्भ हो जाता है। तब से लेकर बारहवें महीने तक प्रसवकाल कहा गया है। इतना समय उचित प्रसव-काल का है। इसके बाद भी यदि गर्भ गर्भाशय में रह जाता है, तो उसको गर्भ की विकृति कहते हैं।

वक्तव्य—धन्वन्तरि का मत—'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति'। सु० शा० अ० ३।३०। बारह मास के बाद भी उपविष्टक एवं नागोदर नामक गर्भ गर्भाशय में पड़े रहते हैं। इस प्रकार के गर्भस्थ शिशु को जब चिकित्सा द्वारा पोषण दिया जाता है या कालान्तर में स्वयं पोषण प्राप्त हो जाता है तब भी बहुत समय बाद वह जन्म लेता है। देखिये चरक शा० अ० २ तथा अ० ८।

विशेष वक्तव्य—साधारण रूप से गर्भस्थ शिशु का जन्म १० वें मास में होता है। सामान्य सर्वेक्षण के अनुसार उत्तरोत्तर २२०, २४०, ३००, ३१३, ३२० दिनों में पैदा हुए बालक स्वस्थ तथा दीर्घायु पाये गये हैं। यद्यपि इसका यही आँकड़ा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता तथापि सामान्य दृष्टि से गर्भ की प्रारम्भिक काल सीमा २७३ से २८० दिनों तक की मानी जाती है, फिर भी इसमें विविधता के दर्शन होते ही हैं।

एवमनयाऽऽनुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ ॥ २६ ॥

उपसंहार—इस प्रकार इस (पूर्वोक्त) क्रम से गर्भाशय में गर्भ की उत्पत्ति होती है।

मात्रादीनां खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदस्तथा वृत्तस्य सौष्ठवान्मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात् स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति ॥ २७ ॥

५. **जो गर्भ की वृद्धि का कारण है** ('यश्चास्य वृद्धिहेतुः') प्रश्न का उत्तर—माता आदि (पिता, आत्मा, सात्म्य, सत्व, रस) गर्भोत्पादक छः भावों की दोषरहित सम्पत्ति के होने से तथा माता के वृत्त (आहार-विहार आदि) का सम्यक्तया निर्वाह करने से, माता की रसवाहिनी धमनियों द्वारा उपलब्ध उपस्नेहन और उपस्वेदन से तथा काल (समय) के परिणाम (परिपाक) से एवं स्वभावसंसिद्धि (स्वयं बढ़ने वाली प्रकृति) से गर्भाशय में गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—गर्भ की वृद्धि के हेतुओं का निरूपण करते हुए तन्त्रकार ने माता आदि छः गर्भकारक भावों, उपस्नेहन, उपस्वेदन, कालपरिणाम तथा स्वभावसंसिद्धि को कारण माना है। **उपस्नेहन**—माता के शरीरस्थ रसवाहिनी धमनियों द्वारा गर्भ को रस, रक्त आदि पोषकतत्वों की प्राप्ति होती है। **उपस्वेदन**—माता के शरीर-स्थित जो ऊष्मा गर्भ को प्राप्त होती है उससे गर्भ का उपस्वेदन होता है। कालपरिणाम आदि का भाव स्पष्ट है। इस विषय के विशेष ज्ञान के लिये सुश्रुत शा० अ० ३ देखिये।

मात्रादीनामेव तु खलु गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमस्याजन्म भवति ॥ २८ ॥

६. **गर्भ की उत्पत्ति न होने में कारण** ('यतश्चास्याऽजन्म') प्रश्न का उत्तर—माता आदि पूर्वोक्त छः गर्भकर भावों में से किसी एक में भी व्यापत्ति (विकृति) होने से गर्भ-धारण हो जाने पर भी उसका जन्म भलीभांति नहीं हो पाता।

ये ह्यस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्ययादुदरे विनाशमापद्यते, अथवाप्यचिरजातः स्यात् ॥ २९ ॥

७. **जिससे गर्भ उत्पन्न होते हुए गर्भाशय में नष्ट हो जाता है** ('यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति') प्रश्न का उत्तर—जो गर्भाशय में गर्भवृद्धि के कारण कहे (बतलाये) गये हैं, उनके विपर्यय (विपरीत आचरण) से गर्भ उदर में ही विनष्ट हो जाता है; अथवा उस गर्भ का समय से पहले जन्म (स्राव या पात) हो जाता है, अर्थात् वह गर्भाशय से बाहर निकल आता है।

वक्तव्य—'अचिरजातः स्यात्'—यह गद्यांश मननीय है। 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'जातः' शब्द बनता है। यहाँ चिर शब्द की अवधि ९ या १० मास है। इसके पूर्व जब गर्भाशयस्थित रज-वीर्य का सम्मिश्रण तरल द्रव्य के रूप में बाहर निकल आता है, तो उसे गर्भस्राव कहते हैं और वही जब घनत्व को प्राप्त होकर बाहर निकलता है तो उसे गर्भपात कहते हैं।

यतस्तु कार्त्स्न्येनाविनश्यन् विकृतिमापद्यते, तदनुव्याख्यास्यामः—यदा स्त्रिया दोषप्रकोपणोक्ता-

न्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः [1]शोणितगर्भाशयावुपपद्यन्ते, न च कात्स्न्येन शोणितगर्भाशयौ दूषयन्ति, [2]तदेयं गर्भं लभते स्त्री; तदा तस्य गर्भस्य मातृजानामवयवानामन्यतमोऽवयवो विकृतिमापद्यत एकोऽथवाऽनेके, यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति। यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यां जनयति; यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति; यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं [3]वार्ता नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते ॥ ३० ॥

८. **जिससे सम्पूर्ण रूप से नष्ट न होता हुआ गर्भ भी विकृत हो जाता है** ('यतश्च कात्स्न्येनाविनश्यन् विकृतिमापद्यते') प्रश्न का उत्तर—जिस कारण से पूर्ण रूप से विनाश को प्राप्त न होता हुआ भी गर्भ विकार को प्राप्त हो जाता है, उसकी अब हम व्याख्या करेंगे—जब वातादि दोषों को प्रकुपित करने वाले आहार-विहारों का सेवन करने वाली स्त्री (गर्भवती) के उक्त वात आदि दोष प्रकुपित होकर शरीर में फैलते हुए शोणित (डिम्ब) तथा गर्भाशय तक पहुँच जाते हैं और भली-भांति शोणित तथा गर्भाशय को पूर्णरूप से दूषित नहीं कर पाते, यदि ऐसे समय में स्त्री गर्भवती होती है, अर्थात् उस स्त्री को गर्भलाभ होता है, तब उसके गर्भ के मातृज अवयवों (भावों) में से कोई एक अवयव (भाव) विकृति को प्राप्त हो जाता है, अथवा कभी एक अवयव विकृत हो जाता है और कभी अनेक अवयव भी विकृत हो जाते हैं। जिस-जिस अवयव के बीज में या बीजभाग में दोष प्रकुपित हो जाते हैं, उस-उस अवयव विशेष में विकार का प्रवेश हो जाता है। जब इस गर्भिणी के शोणित (डिम्ब) में गर्भाशयस्थित बीजभाग विशेष प्रदूषित हो जाता है, तब वह वन्ध्या को उत्पन्न करती है। जब इस गर्भिणी के शोणित (डिम्ब) में गर्भाशयस्थित बीजभाग का अवयव (अंश मात्र) प्रदूषित हो जाता है, तब वह पूतिप्रजा को जन्म देती है। जब इसके शोणित में गर्भाशयस्थित बीजभाग का अवयव तथा स्त्रीकर (स्त्रीजनक) शरीर बीजभागों का कोई एक भाग प्रदूषित हो जाता है, तो स्त्री की आकृति विशेष वाली किन्तु स्त्रीरहित 'वार्ता' संज्ञक सन्तान को जन्म देती है, उसको स्त्रीव्यापद् (स्त्री के शोणित की विकृति के कारण होने वाला रोग) कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ शोणित तथा गर्भाशय, ये दो मातृज भाव हैं। बीजभाग पुंबीज है तथा बीजभागावयव स्त्रीबीज-पुंबीज की परस्पर मिश्रित प्रतिक्रिया का रूप है। उपर्युक्त गद्य में सम्पूर्ण रूप से नष्ट न हुई किन्तु विकृति को प्राप्त सन्तानों को विकृतियों के तर-तम भाव से तीन भागों में विभक्त किया है—१. **बन्ध्या**—(निष्फल अथवा अकर्मण्य सन्तति), यह स्त्री अथवा पुरुष रूप में उत्पन्न हो सकती है। २. **पूतिप्रजा**—पूति शब्द की निष्पत्ति 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर होती है। विशरण का अर्थ है—मारना, जो 'कात्स्न्येनाविनश्यन्' के भाव को पुष्ट कर रहा है। अर्थात् 'पूतिप्रजा' का अर्थ हुआ अधमरी या अशक्त सन्तान। ३. **वार्ता**—इसका एक अर्थ है 'फल्गु' यह शब्द व्यर्थ का पर्यायवाचक है, ऐसी सन्तान जो किसी काम की न हो। वार्ता शब्द का दूसरा अर्थ है—अरोग जो प्रसंगप्राप्त नहीं है। ध्यातव्य है कि वन्ध्या, पूतिप्रजा और वार्ता ये तीनों स्त्रीलिंग शब्द सन्तति के पर्यायवाची होने के कारण ही यहाँ स्त्रीलिंग हैं। इनके व्याख्यान में आचार्य चक्रपाणि सर्वथा मौन हैं। ये तीनों प्रकार की सन्तानें सम्पूर्णरूपेण विनष्ट न होते हुए भी विकार युक्त (बेकार) कही जाती हैं।

[4]एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यं जनयति; यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजं जनयति; यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च

१. 'शोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते' इति पा०।
२. 'तदा यम्' इति पा०।
३. 'रान्ताम्' इति पा०।
४. 'एवमेव पुरुषस्य बीजदोषे पितृजावयवविकृतिं विद्यात्। यदा ह्यस्य बीजे बीजभागावयवः' इति पा०।

शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं [1]तृणपुत्रिकं नाम जनयति; तां पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ ३१ ॥

विकृत बीज का प्रभाव—जैसे ऊपर शोणित की विकृति से विकृत सन्तानों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ गर्भाशय में स्थित विकार युक्त शुक्र (पुरुषबीज) के प्रभाव का वर्णन किया जा रहा है—

इसी प्रकार जब पुरुष के बीज (शुक्र) में सम्पूर्ण बीजभाग (गर्भ को उत्पन्न करने वाले शुक्राणु) दोष को प्राप्त अर्थात् दूषित हो जाता है, तब वह वन्ध्य पुत्र को जन्म देता है (उस दूषित बीजभाग से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह पुरुषत्वहीन (सन्तान उत्पादन में असमर्थ) होता है। जब इसके बीज में उसका कुछ अवयव प्रदूषित होता है, अर्थात् सम्पूर्ण बीजभाग दूषित नहीं हो पाता, तब पूतिप्रज (क्षीणकाय, अल्पप्राण अथवा अस्थि, केश आदि शुक्रतत्व-प्रधान अंशों में हीन पुत्र) को उत्पन्न करता है, जब इसके बीज में बीजभाग का अवयव और पुरुषकारक (जिससे वह गर्भ कन्या रूप में उत्पन्न न होकर पुरुष रूप में जन्म लेता है) शरीर के बीज भाग का एक अंश मात्र प्रदूषित हो जाता है, तब अधिकांश पुरुष के समान आकृति वाले **'तृणपुत्रिक'** या **'तृणपूलिक'** संज्ञक पुत्र को उत्पन्न करता है, इसको पुरुषव्यापद् कहते हैं।

वक्तव्य—तीसवें गद्य में स्त्रीबीज की प्रधानता थी। अतः उस दूषित स्त्रीबीज से उत्पन्न ('आधिक्ये रजसः कन्या' इस सिद्धान्त के अनुसार) सन्तति को क्रमशः—१. वन्ध्या, २. पूतिप्रजा तथा ३. वार्तासंज्ञा दी गयी थी। इस ३१ वें गद्य में पुरुषबीज (शुक्र) की विकृति से होने वाली सन्तति को शुक्र-प्रधान होने के कारण ये संज्ञाएँ दी गयी हैं—१. वन्ध्य, २. पूतिप्रज तथा ३. तृणपुत्रिक। दृष्टिकोण दोनों में समान है, केवल स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग का अन्तर है। पहले में 'वार्त' का अर्थ फल्गु किया था और यहाँ तो तृण (तुच्छ) शब्द अपने अभिधेयार्थ को स्वयं प्रकट कर रहा है।

एतेन मातृजानां पितृजानां चावयवानां विकृतिव्याख्यानेन सात्म्यजानां रसजानां सत्त्वजानां चावयवानां विकृतिर्व्याख्याता भवति ॥ ३२ ॥

मातृज आदि विकृतियों का वर्णन—इस उपर्युक्त मातृज तथा पितृज अवयवों की विकृति का व्याख्यान करने से सात्म्यज, रसज तथा सत्वज अवयवों की विकृतियों का व्याख्यान हो जाता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने मातृज, पितृज भावों की विकृतियों को उदाहरण सहित समझाने के बाद शेष भावों की विकृतियों का निर्देश सूत्ररूप में कर दिया है। उनको आप इस प्रकार समझें—

सात्म्यज विकृतियाँ—जब गर्भिणी असात्म्य आहार-विहारों का सेवन करेगी तो उससे गर्भिणी तथा गर्भ रुग्ण होगा, उसकी समुचित वृद्धि नहीं होगी।

रसज विकृतियाँ—असात्म्य अहारज रस की विकृति से भी रोग, गर्भिणी तथा गर्भ की शारीरिक अभिवृद्धि में रुकावट आ जाती है।

सत्वज विकृतियाँ—जब सत्व (मन) में विकार आ जाता है, तो सभी प्रकार की मानसिक विकृतियाँ (स्वभाव, पवित्रता, व्रत, उपवास, यम, नियम, आचार, कर्मठता आदि में विकृतियाँ) हो जाती हैं।

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः; सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः ॥३३॥

आत्मा का स्वरूप—आत्मा दो प्रकार का होता है—१. जीवात्मा (सबके समीप होने के कारण इसको प्रथम गिना गया है), २. परमात्मा (उत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ तथा दुर्लभ होने के कारण यह पर है।), अतः यह निर्विकार (सभी प्रकार के राजस, तामस विकारों से रहित) होता है, किन्तु सभी प्राणियों में यह निर्विशेष (समभाव) से रहता है। मन और शरीर की विशेषता (भिन्नता) से विशेष (भिन्नता) की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—ऊपर तीसवें और इकतीसवें गद्य में मातृज और पितृज भावों के विकारों का परिचय प्रस्तुत करने के पश्चात् बत्तीसवें गद्य में शेष तीन (सात्म्यज, रसज और सत्वज) भावों का सूत्र रूप में वर्णन किया गया है किन्तु आत्मज भाव को छोड़ दिया गया था, क्योंकि आत्मा में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती।

१. 'तृणपूलिकम्' इति पा०।

इसीलिये तैंतीसवें गद्य में आत्मा को 'पर' विशेषण के साथ प्रस्तुत करते हुए उसे 'निर्विकार' की सहेतुक उपाधि दी गयी है। निर्विकार होने के कारण ही उसे पर=श्रेष्ठ कहा गया है। पर आत्मा में सुख, दुःख आदि विकार नहीं होते। जीवात्मा जो मन तथा शरीर से सम्बद्ध रहता है, उसमें साहचर्य के कारण विकारों की अनुभूति होती है। ध्यान दें कि गर्भोत्पादक भावों में जिस आत्मा की चर्चा है, वह निर्विकार पर आत्मा ही है, अतः उसमें किसी प्रकार की कोई विकृति नहीं होती, अतएव तन्त्रकार ने उसका निर्वचन नहीं किया है।

'तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव'। तर्कसंग्रह। इस प्रकार वह निर्विकार परमात्मा एक ही है, किन्तु यहाँ जो शरीर एवं मन की भिन्नता के कारण प्रति शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है; वह जीवात्मा है, क्योंकि वह तो 'सुखादिसमवायिकारण जीव' ही है। अतः वह उसी का विशेषरूप है, नकि विकार।

तत्र त्रयः शरीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीरं दूषयन्ति; द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च, तौ सत्त्वं दूषयतः। ताभ्यां च सत्त्वशरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम् ॥३४॥

शारीरिक तथा मानसिक दोष—उनमें शरीर सम्बन्धी तीन दोष होते हैं—१. वात, २. पित्त, ३. कफ। वे शरीर को दूषित करते हैं, अतएव इनको दोष कहते हैं। फिर दो दोष मन के होते हैं—१. रजस् और २. तमस्, ये दोनों ही सत्व (मन) को दूषित करते हैं। उक्त मानसिक दोषों से मन और शरीर के दूषित हो जाने से विकृति उत्पन्न हो जाती है। यदि रजस् और तमस् द्वारा मन तथा शरीर दूषित नहीं होते तो किसी प्रकार की विकृति नहीं होती है। यही कारण है कि मन और शरीर के दूषित होने से आत्मा में विकृति उत्पन्न नहीं होती।

तत्र शरीरं योनिविशेषाच्चतुर्विधमुक्तमग्रे ॥ ३५ ॥

शरीर के भेद—उसमें योनिभेद से शरीर चार प्रकार का होता है, जिसका वर्णन हमने इसके पहले अध्याय (खुड्डिकागर्भावक्रान्ति) में कर (कह) दिया है।

त्रिविधं खलु सत्त्वं—शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसङ्ख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्। तस्मात् कतिचित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः ॥ ३६ ॥

सोलह मानस प्रकृतियाँ
(Sixteen Mental Constitutions)

त्रिविध सत्त्व—सत्त्व (मन) तीन प्रकार का होता है—१. शुद्ध (सत्वगुण-प्रधान), २. राजस, ३. तामस। उनमें शुद्ध भेद वाला (सत्वगुण-प्रधान) मन कल्याणकर अंश वाला होने के कारण दोष रहित कहा गया है। दूसरा राजस मन रोष (क्रोध) अंश वाला होने के कारण दोषयुक्त कहा गया है, (क्योंकि–'रजो रागात्मकं विद्धि'। और 'क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' ॥ गीता।) तीसरा तामस मन भी मोह (बेहोशी) अंशवाला होने के कारण दोषयुक्त कहा गया है। उक्त तीनों प्रकार के मनों के भेदाग्र (भेदप्रमाण) तर-तम भेद से अपरिसंख्येय (Innumerableness) होते हैं। शरीरयोनिविशेष से तथा मन और शरीर के परस्पर सम्बन्धित होने से शरीर भी मन के अनुरूप होता है और मन शरीर के अनुरूप होता है। अतएव कुछ मन के भेदों की समानशीलता के अनुसार निर्देश कर उदाहरणस्वरूप उक्त सत्व भेदों की हम आगे व्याख्या करेंगे।

तद्यथा—शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात् ॥ (१) ॥

सात्त्विक सत्त्व के ७ भेद

१. ब्राह्मसत्त्व-परिचय—पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय तथा आत्मा को अपने वश में रखने वाला,

समयानुसार कार्य करने वाला तथा उचित-अनुचित कार्य का ज्ञाता, ज्ञान तथा विज्ञान की बातों (उपदेशों) को देने और विपक्षी द्वारा कही गयी इससे सम्बन्धित बातों का उत्तर देने में सक्षम, स्मृतिमान् (याद रखने वाला), काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान (घमंड), ईर्ष्या, हर्ष एवम् अमर्ष मानसिक विकृतियों से दूर रहने वाला, सभी प्राणियों को आत्मवत् समझने वाले पुरुष को ब्राह्मसत्ववाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—विशेष विवेचन के लिये सुश्रुत शा० अ० ४ तथा काश्यपसंहिता का अवलोकन करें।

इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात् ॥ (२) ॥

२. आर्षसत्त्व-परिचय—यज्ञ करना, अध्ययन (गुरु के पास जाकर पढ़ना अथवा स्वाध्याय) करना, व्रत कृच्छ्रचान्द्रायणादि तथा अन्य उपवास), होम, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला, अतिथि सत्कार करने वाला, मद, मान (घमंड), राग (प्रेम), द्वेष, मोह, लोभ, रोष (क्रोध) जिसका शान्त हो चुका है, प्रतिभा (शास्त्र, पुराण, काव्यादि रचने की शक्ति से सम्पन्न), वचन (उपदेश आदि देना), विज्ञान, धारणाशक्ति से युक्त व्यक्ति को आर्ष (ऋषि) सत्त्व से सम्पन्न समझना चाहिये।

ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात् ॥ (३) ॥

३. ऐन्द्रसत्त्व-परिचय—सब प्रकार के ऐश्वर्यों से सम्पन्न, जिसका वाक्य उपादेय (ग्रहण योग्य) हो, यज्ञ करने वाले, शूर, ओजोगुण युक्त, तेजस्वी, सत् कार्य करने वाले, दूरदर्शी, धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहने वाले पुरुष को इन्द्रसत्त्व से सम्पन्न समझना चाहिये।

वक्तव्य—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से अण् प्रत्यय कर के ऐन्द्र शब्द की रचना होती है। इसका अर्थ होता है—परम ऐश्वर्यशाली। अतएव ऐन्द्रसत्त्व के उक्त गुण वर्णित हैं।

लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसम्प्रहार्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यलम्भिनं[1] व्यपगतरागेर्ष्याद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् ॥ (४) ॥

४. याम्यसत्त्व-परिचय—क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, तदनुसार कार्य करने वाले, अवसर के अनुकूल कार्य करने वाले, जिसके ऊपर कोई प्रहार न कर सके, इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न, सदैव जागरूक रहने वाले, स्मरणशक्ति वाले, ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले, जिसमें राग, ईर्ष्या, द्वेष, मोह न हो उसे याम्यसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर यमराज के स्वभाव से युक्त मनवाले पुरुष के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। आचार्य चक्रपाणि ने **'लेखास्थवृत्त'** का अर्थ इस प्रकार किया है—'लेखाकर्तव्याकर्तव्यमर्यादा तत्र स्थितं वृत्तं यस्य सः, लेखास्थवृत्तः, तम्'। इति चक्रः। हमारा विचार है कि यम का लेखाकार चित्रगुप्त है, उसके लेख के अनुसार वृत्त = व्यवहार (प्रेतों को शासित) करने वाला यमराज है। इसी प्रकार याम्यसत्त्व से प्रभावित मनुष्य भी शास्त्रमर्यादा या लोकमर्यादा के अनुसार कार्य करने वाला होता है।

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात् ॥ (५) ॥

५. वारुणसत्त्व-परिचय—शूर, धीर (धैर्य-सम्पन्न), स्वयं पवित्र, अतएव अपवित्रता का द्वेषी, यज्ञ करने वाले, समुद्र, नदी, सरोवर आदि के जल में विहरणशील, शुभकर्मों को करने के प्रति शीलवान्, अवसर के अनुसार क्रोध अथवा प्रसन्नता दिखाने वाले पुरुष को वारुणसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—युद्ध के प्रसंगों में वरुण को वीर रूप में चित्रित किया गया है। इसका अस्त्र पाश = रस्सी है। यह जल का देवता है, अतएव स्वयं पवित्र रहना तथा अपवित्रता से द्वेष करना इसका स्वभाव है। साथ ही अम्भोधिविहार के प्रति इसकी अभिरुचि वर्णित है। इन्हीं गुणों से युक्त वरुणसत्व वाला पुरुष भी होता है।

---

१. 'ऐश्वर्यालम्बिनम्' इति पा०।

काश्यपसंहिताकार ने अपने वर्णन द्वारा महर्षि आत्रेय का अनुमोदन किया है, किन्तु सुश्रुतसंहिता में कुछ विलक्षण वर्णन दिया है। देखें—सु० शा० अ० ४।

स्थानमानोपभोगपरिवारसम्पन्नं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं सुखविहारं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ॥ (६) ॥

६. **कौबेरसत्त्व-परिचय**—स्थान (उचित अवसर) पर मान (अभिमान या अहंकार) और उचित अवसर पर उपभोग ('भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु से उप, उपसर्ग लगाने पर उक्त शब्द की रचना हुई है, अतः इसका अर्थ भोज्यपदार्थों का सेवन होता है।), परिवार सम्पन्न (बन्धु-बान्धवों से युक्त), धर्म, अर्थ, काम का प्रतिदिन सेवन करने वाले, शुचि (पवित्र), सुखपूर्वक विहार करने वाले, जिसके कोप (क्रोध) तथा प्रसाद (प्रसन्नता) का फल स्पष्ट रूप से दिखलायी देता हो, उसे कौबेरसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष हैं। अतः उनमें स्थान मान, स्थान उपभोग, परिवार सम्पन्नता आदि गुण सुप्रसिद्ध हैं। पैसे वाले का सुखविहार और कोप तथा प्रसन्नता का फल भी स्पष्ट होता है। ये ही लक्षण कौबेरसत्वसम्पन्न पुरुष में भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'कुत्सितं बेरं (शरीरं) यस्य सः' अर्थात् भोंडे शरीर का होना भी कुबेर (देवताओं के खजांची अर्थात् सेठजी) का एक विशेष लक्षण है, जिसका यहाँ वर्णन नहीं हुआ है।

प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकश्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्री-विहारकामनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात् ॥ (७) ॥

७. **गान्धर्वसत्त्व-परिचय**—नृत्य, गीत, वादित्र (बाजा बजाना), ऊँचे-ऊँचे आलाप लेना जिसे रुचिकर हो, श्लोकों का उच्चारण करना, आख्यायिका (कथा, वार्ता), इतिहास तथा पुराण के पढ़ने में कुशल हो, सुगन्धित पदार्थ, माला-धारण, चन्दन आदि का लगाना, स्वच्छ वस्त्र-धारण, स्त्री-विहार की प्रतिदिन इच्छा करने वाले तथा किसी के प्रति असूया न करने वाले को गान्धर्वसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—अमरसिंह ने विद्याधर आदि दस देवयोनियों की गणना में गन्धर्वजाति का भी उल्लेख किया है। गाने, बजाने, स्तुतिपाठ आदि कृत्यों में इनका वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। कुबेर का अनुचर यक्ष गन्धर्वजाति का ही था। यह स्त्रीविहार में आसक्त होने के कारण ही अपने स्वामी का कोप(शाप)भाजन बना था। इसकी पत्नी 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी' थी, देखें—मेघदूत। इस प्रकार के भाव जिसमें दिखलायी देते हैं, उसे गान्धर्वसत्त्व वाला समझें। वेदों के अनुसार इनके दो भेद हैं—१. द्युस्थानीय और २. अन्तरिक्षस्थानीय। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के अनुसार भी इनके दो भेद हैं—१. देवगन्धर्व तथा २. मनुष्यगन्धर्व।

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात्; तत्संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ ३७ ॥

सात्त्विकसत्त्वों का उपसंहार—यहाँ तक उपर्युक्त प्रकार से कल्याणकारी अंश से युक्त होने के कारण शुद्धसत्त्व (मन) के सात प्रकार के भेदांशों को जानें। ब्राह्मसत्त्व को शुद्धसत्त्व के संयोग के कारण अत्यन्त शुद्ध समझना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर १ ब्राह्म, २. आर्ष, ३. ऐन्द्र, ४. याम्य, ५. वारुण, ६. कौबेर तथा ७. गान्धर्व भेद से सात सत्त्वों का वर्णन किया गया है। इन सब में कल्याणांश की विशेषता के कारण ब्राह्मसत्त्व को अत्यन्त शुद्ध इसलिये माना गया है कि इसमें आत्महित तथा लोकहित के भाव भरे पड़े हैं। इसी को सात्त्विक (शुद्ध) मन कहते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि ने उक्त ब्राह्मसत्त्व आदि को 'ब्रह्मकाय' आदि की संज्ञा अपने क्रम से दी है। इनका अवलोकन सु० शा० अ० ४ श्लो० ८१ से ८७ तक करें। इसीलिये लिखा है—'सप्तैते सात्त्विकाः कायाः'। सु० शा० अ० ४।८८। यहाँ वातप्रकृति आदि शरीर की दृष्टि से और सात्त्विक शरीर आदि मन की दृष्टि से विवेचित हैं।

महर्षि काश्यप ने इनके अतिरिक्त प्राजापत्यसत्त्व का एक और उल्लेख किया है—'एतत् कल्याणभूयिष्ठं

शुद्धं सत्त्वमिहाष्टधा'। यहाँ पर '**इहाष्टधा**' शब्द यह सूचित कर रहा है कि इस काश्यपसंहिता में ही आठ भेद शुद्ध सत्त्व के किये गये हैं, अन्यत्र नहीं।

प्राजापत्यसत्त्व का स्वरूप—'प्रजावन्तं क्रियावन्तं धर्मशीलं जगत्प्रियम्। अनीर्ष्यमशठं प्राज्ञः प्राजापत्यं वदेच्छुभम्'॥ काश्यपसंहिता सू० २८। अब आप ध्यान से देखें और विचार करें कि चरकोक्त ब्राह्मसत्त्व के लक्षणों से उक्त प्राजापत्यसत्त्व के लक्षणों में कितना भेद है? हमारे विचार से तो ब्राह्मसत्त्व के ही अधिकांश लक्षणों का वर्णन प्राजापत्यसत्त्व में भी किया गया है।

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात् ॥ (१) ॥

राजससत्त्व के ६ भेद

आसुरसत्त्व-परिचय—शूर, अत्यन्त क्रोधयुक्त, असूयक ('गुणेषु दोषारोपणम्, असूया' अर्थात् किसी के गुणों में दोषों को देखने के स्वभाव वाले), सभी प्रकार के सम्पत्ति से युक्त, औपधिक (धूर्त, कपटी या छली Deceitful), रौद्र स्वभाव वाले, अननुक्रोश (दयाभावरहित), अपनी सेवा कराने वाला अथवा अपने लिये सुख-समृद्धि के साधनों को जुटाने वाले को आसुरसत्त्व युक्त समझें।

वक्तव्य—ऊपर '**औपधिकम्**' के स्थान पर अन्य संस्करणों में '**औदरिकम्**' पाठ उपलब्ध होता है, उसका तात्पर्य है बहुत खाने वाला अर्थात् 'पेटू'। यह लक्षण भी 'आसुरसत्व' के अनुकूल ही है।

अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्ष्युं राक्षसं विद्यात् (२) ॥

२. **राक्षससत्त्व-परिचय**—क्षमा न करने के स्वभाव से युक्त अर्थात् क्रोधी, चिरकाल तक क्रोध शान्त न होने वाले, छिद्रहारी (छिद्र = अवसर पाकर मार डालने वाले), अर्थात् प्राणहरण कर लेने वाले, क्रूर प्रकृति वाले, आहार के प्रति-अधिक इच्छा वाले, अन्य भोजनों की अपेक्षा मांस को अधिक प्रिय मानने वाले, अधिक समय तक सोने वाले, अधिक परिश्रमी तथा ईर्ष्यालु स्वभाव वाले पुरुष को राक्षससत्त्व से युक्त समझना चाहिये।

वक्तव्य—पुराणों में राक्षसों के तीन भेद माने गये हैं—१ यक्ष (कुबेर के कोषरक्षक), २. असुर (देवताओं से युद्ध करने वाले), ३. श्मशानवासी (जिन्हें क्रव्याद कहते हैं)। इनकी प्रकृति के अनुसार जिनका मन हो जाता है, उन्हें राक्षससत्त्व वाला पुरुष कहा जाता है।

[2]महाशनं स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात् ॥ (३) ॥

३. **पैशाचसत्त्व-परिचय**—अत्यधिक खाने वाले (पाठ भेद के अनुसार महा आलसी), स्त्रियों के समूह में रहने का अभिलाषी, एकान्त में स्त्री के साथ निवास का इच्छुक अर्थात् अधिक कामी, पवित्रता से द्वेष करने वाले (मलिन वेष-भूषा से युक्त), स्वयं भीरु (डरपोक) स्वभाव वाले, दूसरों को डराने वाले, विकृत आहार-विहार करने के स्वभाव वाले पुरुष को पैशाचसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—'स्त्रैणम्' = स्त्रीणां समूहः, (स्त्रियों के समूह को स्त्रैण कहते हैं।) 'अशुचिं तथा शुचिद्वेषिणम्'—दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग यह बतलाता है कि पैशाचसत्त्व वाला पुरुष स्वयं तो अपवित्र रहता ही है साथ ही पवित्रता (साफ-सफाई) से रहने वालों के साथ द्वेष भी करता है। **विकृताहारशीलम्**—रजोगुण-प्रधान पुरुषों का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष-विदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः'॥ गीता १७।९।

भगवान् धन्वन्तरि ने जो 'उच्छिष्टाहारता' पैशाचकाय का लक्षण दिया है। दार्शनिक मतानुसार यह लक्षण 'तमोगुण' की परिधि में आता है।

पिशाच—जाम्बवान् की व्याघ्री नामक पत्नी से उत्पन्न सोलह पुत्रों में अन्यतम पुत्र। देखें—ब्रह्माण्ड-

---

१. 'औदरिकम्' इति पा०।

२. 'महालसम्' इति पा०।

पु० ३·७ ३०३ । यक्षों और राक्षसों से ये हीनकोटि के होते हैं। देखें—३·३·९७। ये अत्यन्त गन्दे तथा अपवित्र होते हैं, ये शिव के नियन्त्रण में रहते हैं। देखें—ब्रह्माण्डपु० २·३२·१।२ । मत्स्य० ७·५ । वायु० ९·५५ ।

क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं [1]सन्त्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात् (४) ॥

४. सार्पसत्त्व-परिचय—क्रोध की स्थिति में शूर, शान्त स्थिति में भीरु (डरपोक), तीक्ष्ण (द्रुतगति युक्त), अधिक परिश्रमी, भयभीत दिखलायी देने वाले, अथवा भयभीत स्थिति में रहकर गोचर (इन्द्रियों द्वारा उन-उन के विषयों का उपभोग करने वाले, आहार-विहार में अनुरक्त पुरुष को सार्पसत्त्व वाला जानना चाहिये।

वक्तव्य—सर्प ग्यारह रुद्रों में से एक, ब्रह्माजी के पौत्र स्थाणु के पुत्र। देखें—महाभारत आदि० ६६·२। महर्षि काश्यप ने अन्य सभी विशेषण चरक के अनुरूप दिये हैं। **'नित्योष्ठलेहिनम्'** यह ऐसा विशेषण दिया है, जिससे सार्पसत्व सहसा पहचाना जा सकता है। अमरसिंह ने भी—**'लेलिहानो द्विरसनः'**, पर्याय सर्प के दिये हैं। सुश्रुत में **'मायान्वितम्'** पर्याय द्वारा सर्प के 'द्विजिह्वता' दोष की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया है।

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ।(५)।

५. प्रैतसत्त्व-परिचय—सदा भोजन की इच्छा वाले, अत्यन्त दुःखदायी शील (स्वभाव), आचार तथा उपचार वाले, असूयक (दूसरे के गुणों में दोष का आरोप लगाने वाले), कार्य तथा अकार्य का विभाजन करने में अयोग्य अर्थात् कौन उचित कार्य है और कौन अनुचित कार्य है, इसका ज्ञान न रखने वाले, अत्यधिक लोभी तथा आलसी अथवा अपवित्र कर्म करने वाले पुरुष को प्रेतसत्त्व वाला जानना चाहिये।

वक्तव्य—मरने के पश्चात् पुत्र आदि द्वारा जिनका और्ध्वदैहिककृत्य नहीं किये-कराये जाते, वे प्रेत योनि में ही रहते हैं। 'प्रेतस्य इदम् = प्रैतम्'। इनका निवासस्थान मल-मूत्र आदि गंदे स्थान बतलाये गये हैं। ये निर्लज्ज, बालकों को त्रास देने वाले तथा अपवित्र भोजन करने वाले होते हैं। देखें—प्रेतमंजरी।

अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षणमसञ्चयं शाकुनं विद्यात् ॥ (६) ॥

६. शाकुनसत्त्व-परिचय—निरन्तर कामकेलि में तत्पर रहने वाले, लगातार आहार-विहार में लगे रहने वाले, सदैव अनवस्थित (Unsteady = अस्थिर अवस्था वाले), अमर्षण (क्रोध को सहन न करने वाले) तथा संग्रह न करने वाले पुरुष को शाकुनसत्त्व वाला समझें।

वक्तव्य—पक्षिवाची 'शकुनि' तथा 'शकुन' शब्द हैं। यहाँ शकुन शब्द से ही 'शाकुन' की निष्पत्ति हुई है। शेष सभी गुण पक्षी के स्पष्ट विदित हो रहे हैं।

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्यात्, रोषांशत्वात् ॥ ३८ ॥

राजससत्त्वों का उपसंहार—इस प्रकार निश्चयपूर्वक राजस् सत्त्व के छः प्रकार के भेदांशों को रोष (क्रोध) प्रधान होने के कारण जानना चाहिये।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय तथा भगवान् धन्वन्तरि ने सत्त्व तथा राजस् कार्यों के ६ भेद स्वीकार किये हैं। सुश्रुतोक्त भेदों के लिये सु० शा० अ० ४ देखें। महर्षि काश्यप ने **'याक्षसत्त्व'** नाम का सातवां भेद भी स्वीकार किया है। देखें—'दानशय्याद्यलङ्कारपानभोजनमैथुनैः। नित्योपेतं प्रमुदितं याक्षं विद्यात् प्रभक्षणम्' ॥ काश्यपसंहिता।

[2]निराकरिष्णुममेधसं जुगुप्सिताचाराहारं मैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् ॥ (१) ॥

तामससत्त्व के तीन भेद

१. पाशवसत्त्व-परिचय—निराकरणशील (अपने पर आयी हुई विपत्ति को दूर करने की चेष्टा वाले), मेधाशक्ति रहित, घृणित आचार तथा आहार वाले, मैथुन में तत्पर, सदैव सोने के स्वभाव वाले पुरुष को पाशव (तामस) सत्त्व का समझना चाहिये।

१. 'मन्त्रसुगोचरम्' इति पा०।
२. 'निरलङ्करिष्णुम्' इति पा०।

वक्तव्य—पशु शब्द से 'पाशव' की रचना हुई है। उक्त गद्य में पशु-प्रवृत्तियों की ही गणना की गयी है। महर्षि चाणक्य ने लिखा है—'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'। अन्यत्र 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः'। लिखा है। ये सभी उद्धरण पशु-प्रवृत्तियों के परिचायक हैं। नीचे पाठभेद में **'निराकरिष्णुम्'** के स्थान पर **'निरलङ्करिष्णुम्'** दिया है जिसका अर्थ है कि पशुओं में शृंगार की प्रवृत्ति नहीं होती है।

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥(२)॥

२. मात्स्यसत्त्व-परिचय—भयशील (डरपोक स्वभाव वाले), मूर्ख, आहार के लोभी, अनवस्थित (अस्थिर स्वभाव वाले अर्थात् एक स्थान पर स्थिर होकर न रह सकने वाले), कामी, क्रोधी, सरकने के स्वभाव वाले तथा सदैव पानी पीने की इच्छा रखने वाले पुरुष को मात्स्यसत्त्व वाला समझें।

वक्तव्य—मछली के प्रायः सभी गुणों का वर्णन ऊपर कर दिया है, इन्हीं गुणों से युक्त मात्स्यसत्त्व वाला पुरुष भी होता है। मछली डरपोक होने के कारण किसी के हाथ नहीं लगती, मूर्ख होने के कारण ही वह कांटे युक्त दाना को खाकर अपने प्राण दे देती है। मछली को पानी से इतना स्नेह होता है कि उससे बिछुड़ते ही वह अपने प्राणों को तो छोड़ देती है, परन्तु पानी को नहीं छोड़ सकती।

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्यङ्गहीनं वानस्पत्यं विद्यात् ॥ (३) ॥

३. वानस्पत्यसत्त्व-परिचय—आलसी, केवल भोजन के प्रति ही अभिनिवेश वाले, सभी प्रकार की बुद्धि से रहित को वानस्पत्यसत्त्व वाला समझना चाहिये।

वक्तव्य—'वानस्पत्य' शब्द की निरुक्ति—'वनस्य पतिः' सुट्। वनस्पतौ भवः। इस अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय करके उक्त शब्द की सिद्धि हुई है। इसका अर्थ है—पुष्प-फलयुक्त वृक्ष। इस सत्त्व से युक्त चेतन मनुष्य जडवत् व्यवहार करने लगता है और इसके प्रभाव से उसका बुद्धितत्त्व नष्ट हो जाता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने **'एकस्थानरतिः'** जो विशेषण दिया है, यह जितना सटीक वृक्ष के लिये चरितार्थ होता है उतना मनुष्य के लिये नहीं होता। इस भाव को मानव शरीर में व्यक्त करने के लिये **'अलस'** शब्द समर्थ है। मानवशरीर को ज्ञानशून्य बतलाने के लिये **'सर्वबुद्ध्यङ्गहीन'** शब्द भी काश्यपोक्त 'वधबन्धनपरिक्लेशशीतवातातपैः समम्' भाव का निर्वाह भली-भांति कर रहा है। जैसे शल्यचिकित्सा के पूर्व चिकित्सक उस-उस अंश विशेष को शून्य कर उसपर शस्त्र प्रयोग करता है जिससे रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, वही स्थिति वानस्पत्यसत्त्व वाले पुरुष की भी होती है।

यहाँ तन्त्रकारों ने उक्त सत्त्वों का नामकरण इतनी कुशलता के साथ किया है कि उसी से संक्षेप में उस उस सत्व के प्रमुख लक्षणों का आभास हो जाता है। तन्त्रान्तरों में जो सामान्य परिवर्तन मिलते हैं, वे सब बुद्धिगम्य होने के कारण अनुसन्धेय हैं।

इत्येवं तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात् ॥ ३९ ॥

तामससत्त्वों का उपसंहार—इस प्रकार मोह (बेहोशी) अंश की विशेषता होने के कारण तामस (पाशव) सत्त्व के त्रिविध (तीन प्रकार के) आंशिक भेदों को समझना चाहिये।

वक्तव्य—कल्याणांश की सर्वथा प्रधानता के कारण सत्त्व को शुद्ध की संज्ञा दी गयी है। राजस में क्रोधांश की प्रधानता और तामस में मोह (बेहोशी या अज्ञान) की प्रधानता होती है। इस प्रकार यहाँ तक १६ (सात्विक ७ + राजस ६ + तामस ३ = १६) मानस प्रकृतियों का परिचय दिया गया है।

इत्यपरिसङ्ख्येयभेदानां त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः; शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रयमवरुणकुबेरगन्धर्वसत्त्वानुकारेण, राजसस्य षड्विधो दैत्यपिशाचराक्षससर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण, तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्यवनस्पतिसत्त्वानुकारेण, कथं च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति ॥४०॥

सत्त्वों की गणना—यहाँ तक तीनों प्रकार के सत्त्वों के असंख्य भेदों में प्रमुख भेदों के एकदेश की व्याख्या कर दी गयी है। शुद्धसत्त्व के सात भेद जो ब्रह्म, ऋषि, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, गन्धर्व इनके सत्त्व (मन) का अनुकरण करते हैं, राजस के छः भेद जो असुर, राक्षस, पिशाच, सर्प, प्रेत, शकुनि, इनके सत्त्व (मन) का अनुकरण करते हैं, तामस के तीन भेद जो पशु, मत्स्य, वनस्पति इनके सत्व (मन) का अनुकरण करते हैं, का वर्णन यहाँ इसलिये कर दिया गया है कि किस प्रकार सत्व के अनुरूप चिकित्सा हो सके।

वक्तव्य—ध्यातव्य है कि किसी एक मानव में उक्त १६ प्रकृतियों में से कोई एक प्रकृति पूर्ण रूप से नहीं मिलती। जैसे कोई रोग एकदोषज नहीं होता और न कोई द्रव्य एकरसज होता है, फिर भी चिकित्सक उन-उन दोषों की आंशिक विशेषता के कारण वातज, पित्तज, कफज कहा करते हैं। इसी प्रकार यह द्रव्य मधुर है, यह अम्ल है इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। ठीक इसी प्रकार चिकित्साकाल में इन प्रकृतियों का निर्णय कर चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये।

केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति [1]गर्भावक्रान्तिसम्प्रयुक्तः; तस्य चार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्यं गर्भकराणां च भावानामनुसमाधिः, विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥ ४१ ॥

यह सम्पूर्ण गर्भावक्रान्ति का विषय प्रस्तावानुसार निर्दिष्ट कर दिया गया है। इसके अर्थ को जानने पर गर्भकर (गर्भोत्पादक तथा गर्भवृद्धिकारक) भावों का प्रयोजन, अनुसमाधि (अनुष्ठान, अर्थात् कैसे इनका प्रयोग किया जाता है), गर्भ-विनाशकर भावों का विघात (परित्याग) किया जाता है। अर्थात् गर्भ के लिये हितकर भावों का संग्रह और अहितकर भावों के त्याग की प्रवृत्ति होती है।

तत्र श्लोकाः—

निमित्तमात्मा प्रकृतिर्वृद्धिः कुक्षौ क्रमेण च। वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसंज्ञिताः ॥४२॥
अजन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावपि। इमांस्त्रीनशुभान् भावानाहुर्गर्भविघातकान् ॥४३॥
शुभाशुभसमाख्यातानष्टौ भावानिमान् भिषक्। सर्वथा वेद यः सर्वान् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥४४॥
अवाप्त्युपायान् गर्भस्य स एवं ज्ञातुमर्हति। ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्युदारधीः ॥४५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने महतीगर्भावक्रान्ति-
शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—१. निमित्त (गर्भ का कारण), २. गर्भ की आत्मा, ३. गर्भ की प्रकृति (स्वभाव), ४. गर्भाशय में गर्भ की अभिवृद्धि, ५. गर्भवृद्धि का कारण, ये पाँच भाव शुभ कहे जाते हैं। १. गर्भ के उत्पन्न न होने में हेतु, २. गर्भ के विनाश में हेतु और ३. गर्भ को विकृत करने में हेतु, इन तीन गर्भनाशकर भावों को अशुभ कहते हैं। शुभ-अशुभ रूप में कथित उपर्युक्त इन आठ भावों को जो चिकित्सक पूर्णरूप से जानता है, वह राजकुल की चिकित्सा करने का अधिकारी (राजवैद्य) हो सकता है। वह उदार (कुशल) बुद्धि वाला चिकित्सक गर्भ-प्राप्ति के उपायों तथा जो गर्भनाशकर भाव हैं, उन सब को इस प्रकार जान सकता है।

वक्तव्य—इस अध्याय में ५ शुभसंज्ञक (गर्भकर) तथा ३ अशुभ (गर्भविघातक) भावों का वर्णन चिकित्सक की योग्यता वृद्धि के लिये कर दिया है। इनका निरन्तर अभ्यास करने से वह सम्भ्रान्त परिवारों में चिकित्सा कर सकता है।

राज्ञः कर्तुमर्हति—'राजा की चिकित्सा कर सकता है' अन्य संस्करणों में इसका ऐसा अर्थ किया है। वास्तव में इसका अर्थ है—राजकुल की चिकित्सा कर सकता है।

उदारधीः—'दक्षिणे सरलोदारौ'। अमरकोष। अन्यत्र 'उदार' शब्द का अर्थ है—दाता, महान्। ये दोनों ही अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं हैं। यहाँ तो केवल दक्षिण (शास्त्र एवं व्यवहार में कुशल) अर्थ ही समीचीन है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
शारीरस्थान में महतीगर्भावक्रान्ति नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

१. 'गर्भावक्रान्तिसम्प्रयुक्तस्यार्थस्य विज्ञाने' इति पा०।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातः पुरुषविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम महतीगर्भावक्रान्ति नामक चतुर्थ अध्याय के व्याख्यान के बाद पुरुषविचयशारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चरक शारीरस्थान अ० ४।१३ में पुरुष को **'लोकसम्मित'** अर्थात् लौकिकभावों के अनुरूप कहा गया था, किन्तु वहाँ उसकी व्याख्या नहीं हो पायी थी, अतः उसी के व्याख्यान के लिये प्रस्तुत अध्याय का उपक्रम किया गया है।

'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः[1]' इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यावन्तो हि लोके (मूर्तिमन्तो) भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके, इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतावता वाक्येनोक्तं वाक्यार्थमवगाहामहे, भगवता बुद्ध्या भूयस्तरमतोऽनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामह इति ॥ ३ ॥

लोक से पुरुष की समानता

अग्निवेश का प्रश्न—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा था कि यह पुरुष लोकसम्मित है अर्थात् लौकिक भावों से समानता रखता है। जितने मूर्तिमान् भावों के भेद लोक में देखे जाते हैं, उतने ही पुरुष में भी होते हैं और जितने मूर्तिमान् भावों के भेद पुरुष में देखे जाते हैं, उतने ही लोक में भी होते हैं। इस प्रकार कहते (उपदेश देते) हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—इतने ही वाक्य के कह देने मात्र से उक्त वाक्य के अर्थ को हम भली-भाँति नहीं समझ पा रहे हैं, अतः आपकी बुद्धि से फिर से उक्त विषय को विस्तृत व्याख्या को हम आगे सुनना चाहते हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—अपरिसङ्ख्येया लोकावयवविशेषाः, पुरुषावयवविशेषा अप्यपरिसङ्ख्येयाः; तेषां यथास्थूलं कतिचिद् भावान् सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः, तानेकमना निबोध सम्यगुपवर्ण्यमानानग्निवेश ! षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते ॥ ४ ॥

आत्रेय का उत्तर—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा—लोक (दिखलायी देने वाले इस संसार) के अवयव विशेष (भेद) असंख्य हैं। उनमें से कुछ स्थूल भावों की दोनों में परस्पर समानता दिखलाने की दृष्टि से यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करेंगे। हे अग्निवेश ! सम्यक् प्रकार से वर्णन किये जाते हुए उन भावों को एकाग्रचित्त होकर समझो। छः धातुएँ मिलकर 'लोक' इस शब्द (संज्ञा) को प्राप्त करती हैं। वे छः धातुएँ इस प्रकार हैं—१. पृथिवी, २. जल, ३. तेजस् (अग्नि), ४. वायु, ५. आकाश तथा ६. अव्यक्त ब्रह्म। ये ही छः धातुएँ मिलकर 'पुरुष' इस शब्द (संज्ञा) को प्राप्त करती हैं।

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुः प्राणः; वियत् सुषिराणि, ब्रह्म अन्तरात्मा। यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यस्त्वादानं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं; यथा कृतयुगमेवं

१. 'लोकसाम्येन' इति पा०।

बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्याविर्यं, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति । एवमेतेनानुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेश; सामान्यं विद्यादिति ॥

लोक-पुरुष का साम्य विवेचन—उस लोकसम्मित पुरुष की पृथिवी मूर्ति है, जल क्लेद (क्लिन्नता = गीलापन) है, तेजस् तत्त्व उसकी शारीरिक ऊष्मा (गरमी) है। वायु उसके प्राण हैं, आकाश उसके शरीर में छिद्रसमूह (जहाँ वायु का विचरण होता है) हैं तथा अव्यक्त ब्रह्म उसका अन्तरात्मा है। जैसे लोक में ब्रह्म (जगत्स्रष्टा) की विभूति दिखलायी देती है, उसी प्रकार पुरुष में भी अन्तरात्मा की विभूति है। जिस प्रकार लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति हैं, वैसे ही पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति मन है। जो लोक में इन्द्र है, वही पुरुष में अहंकार है। जैसे संसार में रस का आदान सूर्य करता है, वैसे ही पुरुष में भी आदान कर्म है। जो लोक में रुद्र है, वही पुरुष में रोष (क्रोध) है। जो लोक में सोम है, वही पुरुष में प्रसाद (प्रसन्नता) है। जो लोक में अष्टवसुओं का स्वरूप है, वही पुरुष में सुखरूप है। जो लोक में अश्विनीकुमार हैं, वही पुरुष में कान्ति है। जो जगत् में मरुत् (देवविशेष) है, वही पुरुष में उत्साह है। जो लोक में विश्वदेवा हैं, वे ही पुरुष में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और सभी इन्द्रियों के अर्थ (विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) हैं। जो लोक में तमस् है, वही पुरुष में मोह है। जो लोक में ज्योति (प्रकाश) है, वही पुरुष में ज्ञान है। जैसे लोक की सृष्टि आदि है, वैसे ही पुरुष का गर्भाधान आदि है। जैसे लोक में सृष्टि के आरम्भ में सत्ययुग है, वैसे ही पुरुष के जीवन में बाल्यकाल है। जैसे लोक में त्रेता युग है, वैसे ही पुरुष में यौवनकाल है। जैसे लोक में द्वापर युग है, वैसे ही पुरुष में स्थविरता (वृद्धता) है। जैसे लोक में कलियुग है, वैसे ही पुरुष में बीमार होना है। जैसे लोक में युग की परिसमाप्ति है, वैसे ही पुरुष में मृत्यु है। हे अग्निवेश ! इसी प्रकार के अनुमान द्वारा जिन लोकपुरुषसम्मित भावों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उनकी भी समानता का ज्ञान (चिकित्सा करने के अवसर पर) कर लेना चाहिये।

लोक-पुरुषगत कतिपय प्रमुख भाव

क्रम	लोकगत भाव	पुरुषगत भाव	क्रम	लोकगत भाव	पुरुषगत भाव
१.	पृथिवी	मूर्ति (शरीर)	१३.	अष्टवसु	सुख
२.	आप (जल)	क्लेद (गीलापन)	१४.	अश्विनीकुमार	कान्ति (शोभा)
३.	तेजस् (अग्नि)	अभिसन्ताप	१५.	मरुद्गण	उत्साह
४.	वायु	प्राणवायु	१६.	विश्वेदेव	इन्द्रियाँ, उनके विषय
५.	वियत् (आकाश)	सुषिर (रोमकूप आदि)	१७.	तमस्	मोह
६	ब्रह्म (अव्यक्त)	अन्तरात्मा	१८.	ज्योति	ज्ञान
७	ब्राह्मीविभूति	अन्तरात्मा की विभूति	१९.	सर्गादि	गर्भाधान
८.	ब्रह्मा की विभूति	आत्मा की विभूति	२०.	कृत (सत्य) युग	बाल्यावस्था
	प्रजापति	सत्व (मन)	२१.	त्रेतायुग	युवावस्था
९.	इन्द्र	अहंकार	२२.	द्वापरयुग	स्थविरता (वृद्धावस्था)
१०.	आदित्य	आदान	२३.	कलियुग	बीमार होना
११.	रुद्र	रोष (क्रोध)	२४.	युगान्तकाल	मरण (मृत्यु)
१२.	सोम (चन्द्रमा)	प्रसाद			

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—एवमेतत् सर्वमनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम् । किन्त्वस्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ६ ॥

आत्रेय से अग्निवेश का प्रश्न—लोक और पुरुष में समानता का वर्णन करते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा (पूछा)—इस प्रकार यह सब लोक और पुरुष की समानता जैसा आपने ऊपर वर्णन किया है, यह सब अपवादरहित (तर्कसंगत) है। किन्तु इस सामान्य उपदेश की चिकित्सा-क्षेत्र में क्या उपयोगिता है ?

भगवानुवाच—शृण्वग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः [1]सत्या बुद्धिः समुत्पद्यते । सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखःदुखयोः कर्ता नान्य इति । कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति । तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः । षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः ॥ ७ ॥

आत्रेय का उत्तर—भगवान् (आत्रेय) ने कहा—हे अग्निवेश ! सुनो, सम्पूर्ण लोक (संसार) को अपने में और अपने को सम्पूर्ण संसार में समानरूप से देखते हुए पुरुष की सत्याबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। सम्पूर्ण जगत् को अपने में देखने वाला पुरुष यह जानता है कि सुख तथा दुःख का कर्त्ता आत्मा ही होता है, अर्थात् आत्मा (अपने) के अतिरिक्त दूसरा कोई सुख-दुःख की. उत्पत्ति या प्राप्ति में कारण नहीं होता है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् कर्मात्मक ही होता है। कारण आदि से युक्त सम्पूर्ण जगत् रूप 'मैं ही हूँ', ऐसा जानकर मोक्ष-प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम ज्ञान की उत्पत्ति करायी जाती है। वहाँ लोक शब्द संयोग की अपेक्षा करता है। षड्धातुसमूह (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा) ही सामान्य रूप से सम्पूर्ण लोक है।

वक्तव्य—सम्पूर्ण जगत् को अपने में और अपने में सम्पूर्ण जगत् को देखने की जिस प्रक्रिया का वर्णन भगवान् आत्रेय ने किया है, यह एक यौगिक प्रक्रिया का प्रारम्भ है। देखें—'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः' ॥ गीता ६।२९। इसी के आगे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः' ॥ गीता ६।३२। अन्यत्र भी इस दृष्टि का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यथा—'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। चाणक्यनीति। यह मोक्ष-प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

तस्य हेतुः, उत्पत्तिः, वृद्धिः, उपप्लवः, वियोगश्च । तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणं, उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराप्यायनम्, उपप्लवो दुःखागमः, षड्धातुविभागो वियोगः सजीवापगमः सः प्राणनिरोधः स भङ्गः स लोकस्वभावः । तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः । प्रवृत्तिर्दुःखं, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् सत्यम् । तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानम् । एतत्प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति ॥८॥

मोक्षप्राप्ति-परम्परा

उस षड्धातु युक्त लोक तथा पुरुष का हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव और वियोग होता है, जिनका परिचय दिया जा रहा है, उनमें—१. **हेतु**—उत्पत्ति कारण को हेतु कहते हैं। २. **उत्पत्ति**—लोक या पुरुष के जन्म को उत्पत्ति कहते हैं। ३. **वृद्धि**—अंग-प्रत्यंग की वृद्धि एवं पुष्टि को वृद्धि कहते हैं। ४. **उपप्लव**—दुःख की प्राप्ति, विप्लव तथा उत्पात दर्शन को उपप्लव कहते हैं। ५. **वियोग**—छः धातुओं के विभाग (क्रमशः दुःख की प्राप्ति, विप्लव तथा उत्पात दर्शन को उपप्लव कहते हैं।

वह ही जीवापगम (प्राणों का निकल जाना) कहा जाता है, वही प्राणनिरोध है, वही भंग (सम्बन्ध-विच्छेद) है और वही लोकस्वभाव है। उस षड्धातु-समुदाय से युक्त लोक तथा पुरुष का मूल सभी प्रकार के उपप्लवों (दुःख आदि) की प्रवृत्ति है। इन सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति (छुटकारा) पाना उपरम (शान्ति, मोक्ष, मृत्यु) है। सांसारिक कर्मों की ओर प्रवृत्ति (झुकाव) होना दुःख है और उनकी ओर से निवृत्ति (तटस्थता) में सुख है। इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्य है। सम्पूर्ण जगत् में समानता का ज्ञान होना उस ज्ञान का कारण है। उस लोक तथा पुरुष की समानता के उपदेश का यही प्रयोजन है।

वक्तव्य—सभी दार्शनिक ग्रन्थों का भी यही निष्कर्ष है—'प्रवृत्तिर्दुःखं, निवृत्तिः सुखम्'। इस ईश्वरीय प्रपञ्च में माया द्वारा घिरा हुआ मानव इसके विपरीत धारणा बनाकर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्' के चक्कर पड़ा हुआ निवृत्ति मार्ग को भूल गया है।

अथाग्निवेश उवाच—किंमूला भगवन् ! प्रवृत्तिः, निवृत्तौ च क उपाय इति ॥ ९ ॥

अग्निवेश का प्रश्न—तदनन्तर अग्निवेश ने कहा—भगवन् ! प्रवृत्ति में क्या कारण है और निवृत्ति का कौन उपाय है ?

---

१. 'तस्यात्मबुद्धिः' इति पा०।

भगवानुवाच—मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः। तज्जा ह्यहङ्कारसङ्गसंशयाभिसम्प्लवाभ्यवपातविप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुणमिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ते; यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्तते। तत्रैवंजातिरूपवित्तवृत्तबुद्धिशीलविद्याभिजनवयोवीर्यप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहङ्कारः; यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः; कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति वा नेति संशयः; सर्वावस्थास्वनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरीरेन्द्रियबुद्धिस्मृतिविशेषराशिरिति ग्रहणमभिसम्प्लवः; मम मातृपितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः, कार्याकार्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः, ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः, प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रत्रिषवणाभ्युक्षणावाहनयजनयाजनयाचनसलिलहुताशनप्रवेशादयः समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्यनुपायाः। एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः सक्तः ससंशयोऽभिसम्प्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्त्वशरीरदोषमूलानां सर्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिं, सा च मूलमघस्य ॥ १० ॥

आत्रेय का उत्तर—भगवान् आत्रेय ने कहा—मोह, इच्छा तथा द्वेषजनित कर्मप्रवृत्ति में कारण होते हैं। उस (प्रवृत्ति) से—१. अहंकार, २. संग, ३. संशय, ४. अभिसंप्लव, ५. अभ्यवपात, ६. विप्रत्यय, ७. अविशेष, ८. अनुपाय, इनकी उत्पत्ति होती है। ये पुरुष को उस प्रकार चारों ओर से घेर तथा दबोच कर बढ़ते हैं जिस प्रकार तरुण (बढ़ते हुए) पेड़ को बड़ी-बड़ी शाखा वाले पेड़ दबाकर ऊपर को बढ़ जाते हैं। जिन बड़े वृक्षों से घिरा हुआ वह छोटा पेड़ आगे को नहीं बढ़ पाता है, वही स्थिति अहंकार आदि से घिरे हुए पुरुष की भी है, क्योंकि वह प्रवृत्तिमार्ग में फंस जाने के बाद उससे अपने को छुड़ा नहीं पाता है।

१. **अहंकार**—मैं श्रेष्ठ जाति का हूँ, मेरा सुन्दर रूप है, मैं धनाढ्य हूँ, मैं सच्चरित्र हूँ, मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ, मेरा स्वभाव बहुत अच्छा है, मैं विद्वान् हूँ, मेरा कुल श्रेष्ठ है, मैं युवक हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं सब से अधिक प्रभावशाली हूँ, इस प्रकार का ज्ञान अहंकार है। २. **संग**—मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किया गया कर्म मोक्ष-मार्ग में बाधक होता है, उसे संग कहते हैं। ३. **संशय**—कर्म का फल मिलता है या नहीं, मोक्ष की सत्ता है या नहीं, मरने के बाद पुरुष का पुनः जन्म होता है या नहीं, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। ४. **अभिसम्प्लव**—मैं सभी अवस्थाओं में अनन्य (एकरूप) हूँ, मैं सृष्टिकर्ता हूँ, मैं स्वभावसिद्ध हूँ (मैं स्वयं पैदा हुआ हूँ, मेरा कोई उत्पादक नहीं है।), मैं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्मृति का विशेष समूहरूप हूँ, इस प्रकार का विचार करना अभिसंप्लव है। ५. **अभ्यवपात**—माता, पिता, भाई, स्त्री, सन्तान, बन्धु, सम्बन्धी (देखें—गीता अ० १ श्लोक २६–२७), मित्र, सेवक ये सब समुदाय रूप से मेरे हैं और मैं इस समुदाय का हूँ, ऐसा विचार करना अभ्यवपात है। ६. **विप्रत्यय**—कार्य, अकार्य, हित, अहित, शुभ, अशुभ में विपरीत अभिनिवेश (Divotion = ज्ञान) को ही विप्रत्यय कहते हैं। ७. **अविशेष**—ज्ञ (ज्ञाता)-अज्ञ (मूर्ख) में, प्रकृति-विकृति में, प्रवृत्ति-निवृत्ति में समान दृष्टि से देखना अविशेष है। ८. **अनुपाय**—प्रोक्षण, अनशन (उपवास), अग्निहोत्र त्रिषवण (त्रिकाल स्नान करना), अभ्युक्षण (पानी छिड़कना), देवता आदि का मन्त्रों द्वारा आवाहन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, याचन (प्रार्थना करना), जलप्रवेश, अग्निप्रवेश आदि यज्ञ सम्बन्धी विधान अनुपाय कहे जाते हैं।

इस प्रकार यह धी, धृति (धारणाशक्ति), स्मृति (स्मरणशक्ति) से रहित अहंकार में पड़ा हुआ संग तथा संशय से युक्त, मिथ्या-अमिथ्या ज्ञान से युक्त बुद्धि वाला, ज्ञानी तथा अज्ञानी को समान समझने वाला, विपरीत मार्ग पर चलनेवाला पुरुष मानसिक एवं शारीरिक दोषों के कारणों (रजस्, तमस् तथा वातादि दोषों) का निवास-वृक्ष (आश्रय-स्तम्भ) बनकर सभी प्रकार के दुःखों का कारण हो जाता है। इस प्रकार वह पुरुष अहंकार आदि दोषों द्वारा जीवन भर चक्कर काटता हुआ प्रवृत्तिमार्ग को नहीं छोड़ सकता है, वह प्रवृत्तिमार्ग ही अघ (पाप) का मूल है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में अहंकार से अनुपायपर्यन्त जिन आठ भावों का उल्लेख किया गया है, इनका दार्शनिक स्वरूप 'योगदर्शन' में द्रष्टव्य है। संशय, अभिसंप्लव, अभ्यवपात, विप्रत्यय इनको मिथ्याज्ञान भी कहा जा सकता है और अविशेष का दार्शनिक दृष्टि से 'अस्मिता' में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

निवृत्तिरपवर्गः; तत् परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः ॥ ११ ॥

मोक्ष का लक्षण—सांसारिक विषय-वासनाओं से बुद्धिपूर्वक निवृत्ति ही अपवर्ग (मोक्ष) है। वह श्रेष्ठ है, वह अत्यन्त शान्त है, वह अक्षर (चिर-स्थिर) है, वह ब्रह्म है (मोक्ष को प्राप्त जीव ब्रह्ममय हो जाता है।) वही मोक्ष है।

तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि व्याख्यास्यामः। तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसङ्कल्पनमप्रार्थनमनभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं, धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्षचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारविहारप्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं, शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिरसञ्चलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं; नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च; धातुभेदेन शरीरावयवसङ्ख्यानमभीक्ष्णं, सर्वं कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः; एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते; इत्युदयनानि व्याख्यातानि ॥ १२ ॥

मोक्षप्राप्ति के उपाय—उस निवृत्ति मार्ग में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने के इच्छुकों के लिये उदयनों (ऊपर जाने के मार्गों) की व्याख्या करेंगे। प्रवृत्तिमार्ग में दोष देखने वाले मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह प्रारम्भ से ही आचार्य (गुरु) का अभिगमन (अनुसरण) करे, उसके उपदेशों का पालन करे, अग्नि की (अग्निहोत्र विधि से) सेवा करे, धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधियों का आचरण करे, धर्मशास्त्र के अर्थ (रहस्य) को जानने का प्रयत्न करे, तदनुसार अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को स्थिर करे, उनमें बतलायी गयी विधियों को करे, सज्जनों का अनुसरण तथा उनके साथ सहवास करे, दुर्जनों को छोड़े, दुर्जन के साथ निवास न करे, (क्योंकि चित्त को विकृत करने के लिये एक दुर्जन भी पर्याप्त होता है, इसलिये तन्त्रकार ने 'दुर्जनेन' में एक वचन का, अन्यत्र सताम्, असताम् में बहुवचन का प्रयोग किया है।) समय पर सत्य भाषण करे, सब प्राणियों के हितकर वचन बोले तथा कठोर वचन न बोले, सभी प्राणियों को अपने समान देखे, सभी वर्ग की स्त्रियों का स्मरण न करे, मन में विचार न करे, उनको पाने की इच्छा न करे और भाषण भी न करे, अर्थात् अपनी स्त्री का भी त्याग करे, सभी प्रकार के परिग्रहों (जो चारों ओर से बांध दें, फंसा दें या जकड़ डालें ऐसे पदार्थों) का परित्याग करे, शरीर को ढकने मात्र के लिये कौपीन (लँगोटी) धारण करे, गेरुए वस्त्र पहने, कन्था (कथरी) सीने के लिये सुई डोरा और पिप्पलक (सुई रखने का पात्र), शौच आदि क्रिया के लिये जलकुंडिका (कमंडलु), दण्डधारण, भिक्षा मांगने के लिये पात्र, प्राणों की रक्षा करने के लिये एक समय अग्राम्य (जो ग्राम, जनपद आदि से याचना द्वारा प्राप्त न हो, अर्थात् कन्द, मूल, फल आदि) समयानुसार मिला हुआ भोजन करें, थकावट दूर करने के लिये अपने आप गिरे हुए पुराने सूखे पत्ते, तृण आदि का बिछौना और तकिया रखें, ध्यान करने के लिये योगासन लगाकर बैठना, वनों में बिना घर बनाये निवास करना, तन्द्रा (ऊँघाई), निद्रा, आलस्य आदि कर्मों का परित्याग, इन्द्रियों के विषयों में अनुराग (प्रेम) तथा उपताप (कष्ट) इन दोनों को रोकना अर्थात् इन्द्रियजनित सुख-दुःख का मन से परि-

१. 'दुःखसंज्ञा' इति पा०।

त्याग, सोने, बैठने, चलने, देखने, भोजन करने, विहार करने, अंग, प्रत्यंग की चेष्टा के आरम्भ में हित-अहित का ध्यान रखकर कार्य करना, सत्कार, प्रशंसा, निन्दा तथा अपमान को सहन करने की शक्ति को प्राप्त करना, (देखें—'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः'॥ गीता अ० १२), भूख, प्यास, आयास, श्रम, शीत (जाड़ा), उष्ण (गर्मी), वात, वर्षा, सुख, दुःख को सहन करने की क्षमता का होना, शोक, दीनता, अभिमान, घबड़ाहट, मद, लोभ, राग, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि से विचलित न होना, अहंकार आदि (१० वें गद्य में वर्णित भावों) को उपद्रव (लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक) समझें, लोक तथा पुरुष के सृष्टि आदि कार्यों को सामान्य रूप से देखना, कार्यकाल के व्यर्थ चले जाने पर भयभीत होना, योग के आरम्भ में निरन्तर घबड़ाहट से दूर रहना, योगाभ्यास में दत्तचित्त होना, मानसिक उत्साह रखना, मोक्ष-प्राप्ति के लिये बुद्धि, धैर्य तथा स्मृति बल का संग्रह करना, इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में नियन्त्रण करना और आत्मा द्वारा धातुभेद से शरीर के अवयवों का बार-बार ज्ञान रखना, कारण से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ कष्टप्रद, निस्तत्व तथा अनित्य (क्षणभंगुर) हैं, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों की अघ (पाप या दुःख) संज्ञा है, सभी प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को छोड़ देना ही वास्तविक सुख है, इस प्रकार के उपदेशों का ज्ञान रखना, यह मोक्ष का मार्ग है। इनके विपरीत आचरण करने से मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बंध जाता है, यह उदयन (ऊपर को उठने) के मार्गों (उपायों) की व्याख्या कर दी गयी है।

भवन्ति चात्र—

एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति। मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः॥१३॥
ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्। यथाऽर्कमण्डलं भाति-भाति सत्त्वं तथाऽमलम्॥१४॥
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने। शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा॥१५॥

शुद्धसत्त्व-स्वरूप—इन मोक्षप्राप्ति के प्रसंग में कहे गये मन को शुद्ध करने के उपायों से अविमल-सत्त्व (दूषित मन) उस प्रकार शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार दूषित आदर्श (Mirror) तेल, कपड़े का टुकड़ा और बाल आदि द्वारा मल देने से शुद्ध हो जाता है। **दूसरी उपमा**—जिस प्रकार ग्रह (नवग्रहों में एक राहु), बादल, धूलि, धूम, नीहार (कोहरा) से न घिरा हुआ सूर्य-मण्डल चमकता है (स्वयं प्रकाशित होता हुआ दूसरों को प्रकाश देता है), उसी प्रकार निर्मल मन भी चमकता है। वह शुद्ध मन आत्मा में रुके हुए मार्ग के रुक जाने के कारण उस प्रकार प्रज्वलित होता है, जिस प्रकार प्रसन्न तथा स्थिर ज्वाला युक्त दीपक का प्रकाश संवृतायन (घिरे हुए मार्ग वाले) दीपाशय (चिमनी) के भीतर दिखलायी देता है।

वक्तव्य—चंचल मन का निग्रह समाधि द्वारा आत्मा में किया जाता है। जब मन उपर्युक्त मोक्ष-प्राप्ति के उपायों से शुद्ध हो जाता है, तो वह शुद्ध सत्त्व की संज्ञा धारण कर लेता है। इस स्थिति में आत्मा के आवरण से आवृत शुद्ध मन के प्रकाश का ही वर्णन ऊपर किया गया है। इसी का संकेत भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है—'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः'॥ गीता अ० ६।१९। स्वयं प्रकाशमान् सूर्य जैसे ग्रहण, मेघ आदि द्वारा आवृत होने से प्रकाश-हीन हो जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्तिमार्ग में फँसा हुआ मन माया के आवरण से घिर जाने के कारण प्रकाशहीन हो जाता है और उस माया के आवरण के हटते ही वह पुनः प्रकाशमान् हो जाता है।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते। यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः॥१६॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः। योगं यया साधयते साङ्ख्यः सम्पद्यते यया॥१७॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया। यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया॥१८॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं [1]शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥ १९॥

सत्याबुद्धि का स्वरूप—शुद्ध सत्त्व (मन) वाले पुरुष में जो सत्या (ज्ञानविशिष्ट) बुद्धि प्रवृत्त होती है, जिससे वह (शुद्धबुद्धि युक्त पुरुष) अत्यन्त बलवान् महामोहमय मायारूपी अन्धकार को छिन्न-

१. 'शान्तमक्षरम्' इति पा०।

भिन्न कर देता है, अर्थात् उस शुद्धबुद्धि के बल से मानव माया के बन्धन को तोड़ डालने में सक्षम हो जाता है। जिससे वह सब भावों के स्वभाव को जानने वाला, जिससे वह निःस्पृह (निष्काम), जिससे वह योग की सिद्धि करता है, जिससे वह सांख्यतत्त्व का ज्ञानी हो जाता है, जिससे वह अहंकार को प्राप्त नहीं करता, जिससे वह जन्म-मरण रूप कारणों की उपासना नहीं करता, जिससे वह राग-द्वेष आदि किसी का आश्रय नहीं लेता, जिससे वह सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर देता है, जिससे नित्य, अजर, शान्त तथा अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है, उसी सत्याबुद्धि को सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है।

वक्तव्य—रजस्, तमस् से सर्वथा मुक्त मन शुद्ध कहा जाता है। शुद्ध मन को ही सत्याबुद्धि की प्राप्ति होती है। इस शुद्धि को प्राप्त करने के उपायों की चर्चा इसी अध्याय के १२ वें गद्य में की गयी है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है 'सज्जनों की उपासना और असज्जनों के संग को छोड़ना'।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः। परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति॥२०॥

लोक-पुरुष में समानता का फल—सम्पूर्ण संसार में अपने को फैला हुआ और सम्पूर्ण संसार को अपने में देखते हुए परमात्मा तथा प्रकृति को देखने वाले परावरदृक् (तत्वज्ञानी) की ज्ञानजनित शान्ति नष्ट नहीं होती।

पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा। ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥ २१॥

सदैव सब अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) में सभी शरीरगत भावों को समानरूप से देखते हुए ब्रह्मभूत (जीवन्मुक्त) अतएव शुद्ध (सत्त्व) पुरुष का शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संयोग (पुनर्जन्म) नहीं होता है।

वक्तव्य—यद्यपि मृत्यु के अनन्तर जिसकी आत्मा ब्रह्म में लीन हो गयी हो, उसको ब्रह्मभूत कहते हैं किन्तु यहाँ 'पश्यतः' शब्द के साहचर्य से ब्रह्मभूत का अर्थ 'जीवन्मुक्त' करना ही उचित है। पाठक इस विवेचन पर ध्यान दें।

नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते। स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते॥ २२॥

मुक्त-परिचय—मुक्त आत्मा वाले पुरुष के करणों (शरीर, मन तथा इन्द्रियों) के अभाव से आत्मा का भी लक्षण नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि वह पुरुष सभी करणों (शरीर, मन तथा इन्द्रियों) का त्याग कर देने के कारण मुक्त कहा जाता है।

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्। अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥ २३॥

मुक्ति के पर्याय—विपाप, विरजस्, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण और शान्ति इन पर्यायों द्वारा मोक्ष का परिचय दिया जाता है।

एतत् तत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः। मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः॥२४॥

शारीरविचय महत्व—हे सौम्य! (अग्निवेश) यह वह शारीरविचय नामक विज्ञान है, जिसे जानकर निःसन्देह मुनिजन, मोह (तमस्), रजस् (राग) और काम से दूर होकर प्रशम (मोक्ष) को प्राप्त हो गये।

तत्र श्लोकौ—

सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च। सामान्यं मूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च॥ २५॥
शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी। विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा॥ २६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने पुरुषविचय-शारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

१. 'सर्वभूतानि' ग०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—परमर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत पुरुषविचय नामक अध्याय में लोक और पुरुष की समानता को प्रयोजन सहित बतला दिया है और उत्पत्ति का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व (मन) का समाधान मोक्षसाधिका सत्याबुद्धि तथा मोक्षप्राप्ति के उपाय कहे हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
शारीरस्थान में पुरुषविचयशारीर नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः शरीरविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इस पुरुषविचयशारीर का वर्णन करने के पश्चात् शरीरविचयशारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—पाँचवें अध्याय में मोक्ष-प्राप्ति में सहायक लोकसम्मित पुरुष की चर्चा की गयी है। 'योगो मोक्ष-प्रवर्तकः' के अनुसार इस अध्याय में योगाभ्यास में सहायक शरीर के अवयवों का परिचय प्रस्तुत है।

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ ३ ॥

शरीरविचय-प्रकरण

प्रस्तुत अध्याय की उपयोगिता—शरीर का विचय (अंग-प्रत्यंगों तथा रस-रक्तादि का विभागशः ज्ञान) शरीर के उपकार (स्वास्थ्य-वृद्धि) के लिये परम उपयोगी होता है। इन शरीर तत्त्वों को भली-भाँति जानकर शरीर के उपकार करने वाले भावों का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस लिये 'शरीरविचय' नामक इस अध्याय की चिकित्सा-कुशल विद्वान् प्रशंसा करते हैं।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं [1]समयोगवाहि। यदा ह्यस्मिञ् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च ॥ ४ ॥

शरीर-परिचय—चेतनाधातु अधिकारपूर्वक जिसमें प्रविष्ट (स्थित) हो जाता है, जो पाँच महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) के विकार का समूहात्मक रूप तथा जो समयोगवाही (दोष, धातु, मलों के समयोग का वहन करने वाला) है, उसको शरीर कहा गया है। क्योंकि जब इस शरीर में धातुएँ विषमता को प्राप्त हो जाती हैं, तब शरीर कष्ट या विनाश को प्राप्त हो जाता है। धातुओं की विषमता उनके बढ़ने अथवा घटने से होती है और यह वृद्धि तथा ह्रास किसी अंग विशेष द्वारा या प्रकृति द्वारा होता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में पूर्वोक्त अनेक परिभाषाओं का स्मरण कराया गया है। 'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः। चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः' ॥ च० शा० अ० १। इसी को 'चेतनाधिष्ठानभूतम्' कहा गया है। 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते'। सु० सू० अ० १।२२। और 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'। इत्यादि।

---

१. 'समयोगवाहिनो यदा ह्यस्मिन्' इति पा०।

धातवो वैषम्यमापद्यन्ते—वातादि जब शरीर को दूषित करते हैं, तब इनको 'दोष', जब ये सम अवस्था में रहकर शरीर का धारण करते हैं, तब इनको 'धातु' और जब ये शरीर को मलिन करते हैं तब इन्हें 'मल' कहते हैं। इस प्रकार वात आदि को दोष कहा गया है, शरीर में स्थित रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र को 'दूष्य' कहा गया है और धातु भी इन्हीं को कहा गया है। इनकी सामान्य विशेषता कष्टकारक होती है और विशेष विषमता विनाशकारक होती है।

अकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च—'कृत्स्न' शब्द का अर्थ है—'सम्पूर्ण'। कृत्स्न शब्द के भाववाचक अर्थ को प्रकट करने वाला ही 'कात्स्न्र्य' शब्द है। इसके साथ निषेधार्थक 'नञ्' का प्रयोग होने से 'अकात्स्न्र्य' शब्द बना, इसका अर्थ है आंशिक रूप और 'प्रकृत्या' का अर्थ है स्वभाव से। धातुओं की जब कभी आंशिक वृद्धि या आंशिक ह्रास होता है, तब वे कष्टकारक होते हैं और जब उनका विशेष रूप से वृद्धि या ह्रास होता है, तब वे विनाशकारक भी होते हैं।

इस सिद्धान्त के पक्ष तथा विपक्ष में अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु वे उन-उन परिस्थितियों में ठीक माने गये हैं। यहाँ तो वृद्धि-ह्रास की चर्चा—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्युच्यते ॥' इस दृष्टि से की गयी है, क्योंकि चिकित्सा-क्षेत्र में बढ़े हुए दोषों का अपकर्षण, क्षीण धातुओं की वृद्धि और सम अवस्था में स्थित दोष, अग्नि, मल, धातुओं के परिरक्षण को ही महत्त्व प्रदान किया गया है। इसीलिये कहा गया है—'विकारो दोषवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते'। च० सू० अ० ९।४। अर्थात् दोषों की विषमता विकार (रोग) हैं और दोष, धातु, मल, अग्नि इनकी समानता प्रकृति (स्वास्थ्य) है।

इसीलिये भगवान् धन्वन्तरि ने प्रकृति के विपरीत हो जाने के सम्बन्ध में कहा है—'प्रकोपो वान्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते। प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः' ॥ सु० शा० अ० ४।७८। अर्थात् स्वभाव से ही प्रकृतियों का प्रकोप, घट जाना या बढ़ जाना नहीं होता है। ये तो तब होते हैं, जब मनुष्य मरने वाला होता है। इसी विषय को आगे महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार कहा है—'शीलं व्यावर्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च परिवर्तते'। च० इ० अ० १२।

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः। यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्ततो विपरीतगुणस्य धातोः प्रत्यवायकरं सम्पद्यते ॥ ५ ॥

धातुओं के वृद्धि-ह्रास में कारण—परस्पर विपरीत गुण वाले धातुओं की वृद्धि और उनका ह्रास एक साथ ही होता है। जो द्रव्य समान गुण वाला होने से जिस धातु को बढ़ाने वाला होता है, वही द्रव्य अपने गुणों से विपरीत गुण वाली धातुओं का ह्रास करने वाला होता है।

वक्तव्य—एक साथ दोषों का बढ़ना और घटना विषमावस्था है, यह रोगोत्पादक होती है। एक ही द्रव्य अपने समान गुणवाली धातु की वृद्धि करता है तो उससे विपरीत गुण वाली धातु को घटाता भी है। जैसे—घृत अपने मधुर, स्निग्ध गुणों के कारण कफ को बढ़ाता है और साथ ही रूक्ष गुण वाले वात दोष को नष्ट करता है।

तदेव तस्माद्भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपन्न्यूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति, अधिकमपकर्षति न्यूनमाप्याययति ॥ ६ ॥

औषधद्रव्य का सदुपयोग—इसलिये वही औषधद्रव्य जो एक को बढ़ाने तथा दूसरे को घटाने वाला ऊपर कहा गया है, उचित रूप में प्रयोग करने से एक साथ न्यून (घटी हुई) तथा अतिरिक्त (बढ़ी हुई) धातुओं को सम करनेवाला होता है, क्योंकि वह द्रव्य अधिक (मात्रा से अधिक बढ़ी हुई) धातु को घटाता है और घटी हुई धातु को आप्यायित करता है, अर्थात् बढ़ाता है।

वक्तव्य—औषधयोग या औषधद्रव्य का समीचीन प्रयोग द्रव्य की उत्तमता, उचित मात्रा, काल (अवधि) की अपेक्षा रखता है।

धातुसाम्य-प्रक्रिया—वही द्रव्य बढ़ी हुई धातु के विपरीत गुणवाला होने के कारण उसको घटाता है और वही द्रव्य ह्रास को प्राप्त धातु के समान गुण वाला होने के कारण उसको बढ़ाता है। जैसे—बढ़े हुए कफ और घटे हुए पित्त में मरिच का प्रयोग. यह कफ को घटाकर पित्त को बढ़ाता है। देखें—मरिच के गुण-धर्म।

एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठाने च यावद् धातूनां साम्यं स्यात् । स्वस्था ह्यपि धातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रसगुणानाहारविकारांश्च पर्यायेणेच्छन्त्युपयोक्तुं सात्म्यसमाज्ञातान्; एकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरसमाज्ञातया[1] चेष्टया सममिच्छन्ति कर्तुम् ॥ ७ ॥

धातुसाम्य का महत्त्व—औषध प्रयोग करने में तथा स्वस्थवृत्त के आचरण में इतना ही फल (परिणाम) अभीष्ट (अभितः इष्ट) होता है कि सभी धातु अपने अपने प्रमाण के अनुसार समान हों। कुशल (स्वास्थ्य-रहस्य के जानकार) स्वस्थ (नीरोग) पुरुष भी धातुओं को सम बनाये रखने के लिये ही सात्म्य समाज्ञात (स्वाभाविक पथ्य के रूप में कथित) मधुर आदि रसों तथा उनके गुरु आदि गुणों को एवम् अनेक प्रकार के आहार भेदों को पर्यायक्रम (Alternately) से उपयोग करना चाहते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो एक प्रकार के पदार्थ का ही अधिकतम उपयोग करते हैं, ऐसे लोगों के लिये उस एक रस से बढ़ने वाली धातु (जैसे—कोई मधुररस-प्रधान दूध का ही अधिक सेवन करता है, तो उसके शरीर में कफ धातु की वृद्धि होगी, उस) के विपरीत समाज्ञात (जानी बूझी हुई) चेष्टा (क्रिया = व्यायाम) से उस बढ़ी हुई (कफ) धातु को सम करना चाहते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में भैषज्य-प्रयोग द्वारा तथा स्वस्थवृत्त के अनुष्ठान द्वारा एक ही फल की प्राप्ति होती है, वह है धातुसाम्य—घटी हुई धातुओं की वृद्धि और बढ़ी हुई धातुओं का ह्रास। प्रारम्भ में ही तन्त्रकार ने प्रतिज्ञा की है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। च० सू० अ० १।

यदि यह कहा जाय कि स्वस्थ पुरुष में धातुओं की समानता होती ही है, फिर इस शास्त्र की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर है—स्वस्थ पुरुष आहार-विहार की विषमता से कहीं आगे चलकर अस्वस्थ न हो जाय, इसलिये 'स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना' भी इस तन्त्र का उद्देश्य है।

आहार-विकार—'आह्रियते पोषणार्थम्, इति—आहारः'। जो भी पदार्थ शरीर को पुष्ट करने के लिये खाये जाते हैं, वे सब आहार हैं। **इसके भेद**—'तस्याशितपीतलीढखादितस्य'। सु० सू० अ० ४६।३। 'अशितं भोज्यमोदनादि, पीतं पेयं क्षीरादि, लीढं लेह्यं मध्वादि, खादितं भक्ष्यं मोदकादि'। डल्हण। 'विविधमशितं पीतं लीढं खादितम्'। च० सू० अ० २८। यह आहार रसों की दृष्टि से ६ प्रकार का और गुरु आदि गुणों की दृष्टि से २० प्रकार का होता है। सामान्य दृष्टि से यह केवल दो प्रकार का होता है—१. अन्नद्रव्य (Foods) और २. द्रवद्रव्य (Drinks) दोनों का मिला हुआ शब्द है—अन्न पान।

पर्यायेण—चक्रपाणि ने इसका अर्थ **'उचितेन क्रमेण'** किया है। यही ठीक भी है।

सात्म्यसमाज्ञातान्—इसका सम्बन्ध 'रसगुणान्' तथा 'आहारविकारान्' इन दो वाक्यांशों से है। इसका तात्पर्य है असात्म्य तथा अपथ्य रसगुणों एवम् आहारभेदों का परित्याग, सात्म्य तथा पथ्य रसगुणो एवम् आहारभेदों का सेवन।

एकप्रकारभूयिष्ठान्—इस सम्बन्ध में पुनर्वसु आत्रेय ने प्रारम्भ में ही कह दिया है—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्'। तथा—'एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०।

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगः[2] सम्यक्, सर्वातियोगसन्धारणम्, असन्धारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनं, स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ ८ ॥

धातुसाम्यकर स्वस्थवृत्त—देश (जांगल, आनूप, साधारण) विपरीत, काल (ऋतु के गुण से) विपरीत तथा आत्म (अपने) गुण से विपरीत कर्मों एवम् आहारों (भक्ष्य, भोज्य आदि) की क्रिया का सम्यक् (ठीक-ठीक) उपयोग तथा सभी प्रकार के अतियोगों (अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग) का सन्धारण (रोकना), वेगशील और उभड़े हुए वेगों को न रोकना, अपनी शक्ति से अधिक कार्यों (साहसों) को छोड़ना, यह सब धातुओं को समस्थिति में रखने के लिये स्वस्थवृत्त का उपदेश दिया जा रहा है।

---

१. 'विपरीतकरणलक्षणसमाज्ञातया' इति पा०।

२. 'क्रमेणोपयोगः, सम्यक् सर्वाभियोगः' अनुदीर्णानां सन्धारणम्' इति पा०।

वक्तव्य—देशविपरीत कर्म—मरुभूमि में सोना। कालविपरीत कर्म—वसन्त ऋतु में व्यायाम, आत्मविपरीत-कर्म—स्थूल शरीर में व्यायाम, जागरण आदि। इसी प्रकार अन्य कर्मों की भी कल्पना करनी चाहिये।

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः ॥ ९ ॥

धातुओं का वृद्धि-ह्रासक्रम—रस, रक्त आदि शारीरिक धातुएँ समान गुण वाले अथवा समानगुणभूयिष्ठ, अर्थात् जिनमें अन्य गुणों के रहते हुए भी समान गुणों की अधिकता हो ऐसे आहार-विकारों (भेदों) का निरन्तर अभ्यास करते रहने से वृद्धि को प्राप्त होती (बढ़ती) हैं। उक्त शारीरिक धातुएँ विपरीत (असमान) गुण वाले अथवा विपरीतगुणभूयिष्ठ आहार-विकारों (भेदों) का निरन्तर अभ्यास करते रहने से ह्रास को प्राप्त होती हैं।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा समान गुण वाले आहार-भेदों के सेवन से समान गुण वाली शारीरिक धातुओं की वृद्धि और विपरीत गुण वाले आहार भेदों के सेवन से उनका ह्रास होता है, वर्णन किया है। यहाँ 'शारीर' शब्द का प्रयोग करके तन्त्रकार ने बुद्धि, मन आदि की वृद्धि-ह्रास का निषेध प्रदर्शित किया है।

वृद्धि-ह्रास—यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि समान गुण वाले आहार से समान गुण वाली धातु की वृद्धि होती है और विपरीत गुण वाले से ह्रास। देखें—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च' ॥ च० सू० अ० १ ४४। इसकी व्याख्या यथास्थान देखें। और भी—'मांसान्मांसं प्रवर्धते'। चाणक्यनीति। अन्यत्र देखें—'मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः'। सुभाषित। शेष अगले गद्य में देखें। यहाँ तक समान गुण से समान धातु के वृद्धि की चर्चा की गयी है। इसके आगे ह्रास-प्रसंग प्रस्तुत है।

विपरीत गुण का उदाहरण—रूक्ष गुण प्रधान वात का शामक होता है। रूक्षता से विपरीत (स्निग्ध गुण वाला) घी।

तत्रेमे शरीरधातुगुणाः सङ्ख्यासामर्थ्यकराः; तद्यथा—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः। तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति; लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव, सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिः; विपर्ययाद्ध्रासः। तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन; मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण ॥ १० ॥

शरीरस्थ धातुओं के गुण—उन (च० सूत्रस्थान अध्याय १।४९ में वर्णित ४१) गुणों में ये शारीरिक धातुओं के गुण वृद्धि-ह्रास की जानकारी कराने में समर्थ (सहायक) होते हैं। वे इस प्रकार हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव। इन २० गुणों में जो गुरु होते हैं वे गुरु आहार विकार गुणों का निरन्तर सेवन करने से आप्यायित होते हैं, अर्थात् बढ़ते हैं तथा जो लघु होते हैं वे घटते हैं। लघु शारीरिक धातु लघु आहार-विकारों से पुष्ट होते हैं और गुरु शारीरिक धातु लघु आहार-विकारों से ह्रास को प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार सभी धातुओं के गुण समान गुणों के संयोग से बढ़ते हैं और सभी धातुओं के गुण विपरीत गुणों के संयोग से घटते हैं। यही कारण हैं कि मांसतत्व की वृद्धि अन्य धातुओं को अपेक्षा मांस के सेवन से अधिकतर होती है। इसी प्रकार रक्तधातु की वृद्धि रक्त का सेवन करने से होती है, मेदस् का सेवन करने से मेदोधातु की वृद्धि होती है, वसा का सेवन करने से वसाधातु की वृद्धि होती है, तरुणास्थि (Cartilage) के सेवन करने से अस्थिधातु की वृद्धि होती है, मज्जा का सेवन करने से मज्जाधातु की वृद्धि होती है, शुक्रधातु का सेवन करने से शुक्र की वृद्धि होती है, (देखें—'नक्ररेतो वृष्याणाम्'। च० सू० अ० २५।४०), आम (कच्चा) गर्भ (अण्डा) का सेवन करने से गर्भ की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—'सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः'। च० सू० अ० १।४९। इस प्रकरण में हम ४१ गुणों का विशद विवेचन कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त रस गुणों के लक्षणों का व्याख्यान

च० सू० अ० २६ में किया गया है, अतः उन-उन स्थानों में देखें। यहाँ केवल गुरु, लघु आदि २० ही गुणों का वर्णन इसलिये किया गया है कि शेष आत्मगुण और परादिगुण हैं, जिनके बढ़ने, घटने में ये कारण नहीं होते।

यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाऽयुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद् वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्। तद्यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानां, वातक्षये कटुकतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानां; श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्। एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ। इति सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धिह्रासकराणि व्याख्यातानि भवन्ति॥ ११॥

वृद्धि-ह्रासकारक पदार्थ—जहाँ इस (१० वें गद्य में कहे गये) प्रकार के समान गुण वाले पदार्थ द्वारा (मांस से मांस, रक्त से रक्त आदि) सामान्य गुण वाले आहार-विकारों (भेदों) की प्राप्ति दुर्लभ हो, पास में रहने पर भी (किसी कारण विशेष से) उचित न होने के कारण, घृणा उत्पन्न होने से या और किसी कारण से उपयोग (सेवन) न हो सकता हो (जैसे—मांस को बढ़ाने के लिये मांस का प्रयोग), वह धातु जिसका बढ़ाना जरूरी हो और उस धातु के समान गुण वाले आहारभेद सेवन करने योग्य सुलभ न हों, तो वहां अन्य प्रकृति वाले भी उन आहार-विकारों (भेदों) का प्रयोग किया जाता है, जो समानगुणभूयिष्ठ (समान गुणों की अधिकता वाले) हों, वे इस प्रकार हैं—१. शुक्र के क्षीण हो जाने पर दूध तथा घी का उपयोग कराना चाहिये और मधुर, स्निग्ध, शीत गुणवाले अन्य द्रव्यों का भी उपयोग करायें, जैसे—सेमल की मूसली, शतावरी आदि द्रव्य जो मधुर, पिच्छिल तथा शीतवीर्य वाले हों। ये विजातीय होते हुए भी शुक्रवर्धक होते हैं। २. मूत्रक्षय होने पर इक्षुरस, वारुणी (खजूर आदि से निर्मित शराब, यह मूत्रल होती है), मण्डद्रव, मधुर, अम्ल, लवण तथा उपक्लेदी (शरीर को गीला करने वाले) द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये, ३. पुरीष के क्षीण होने पर कुल्माष (अध उबले हुए धान्य), उड़द, कुष्कुण्ड (पललादिच्छत्रिका-चक्र) अजमध्य (छागान्तराधि- चक्र०), यव (जौ), पत्रशाक, धान्याम्ल (कांजी) का प्रयोग करना चाहिये। ४. वातक्षय होने पर कडुए, तीते, कषाय (कसैले), रूखे, लघु तथा शीतल पदार्थों का प्रयोग करना चाहिये। ५. पित्त के क्षय होने पर खट्टे, नमकीन, कडुए, क्षार, उष्ण, तीक्ष्णद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। ६. कफ के क्षीण हो जाने पर स्निग्ध (चिकने), गुरु (देर में पचने वाले), मधुर, सान्द्र, पिच्छिल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये तथा जो जिस धातु को बढ़ाने वाला कर्म हो उस-उस का भली-भांति सेवन करना चाहिये।

इसी प्रकार अन्य (जो यहाँ नहीं कहे गये हैं) शरीरधातुओं को भी समयानुसार समान गुण वाले पदार्थों के सेवन से बढ़ाना चाहिये और बढ़ी हुई शरीर धातुओं को समयानुसार विपरीत गुण वाले पदार्थों के सेवन से घटाना चाहिये। इस प्रकार सभी शारीरिक धातुओं का एक-एक करके एवम् अतिदेश (इसी प्रकार अन्य धातुओं का भी इस वाक्य) द्वारा वृद्धिकारक तथा ह्रासकारक भावों की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—'कुष्कुण्ड' आचार्य चक्रपाणि ने इसका अर्थ 'पललादिच्छत्रिका' किया है, जो प्रयोग करने तथा प्राप्त करने की दृष्टि से गवेषणीय द्रव्य है। ऐसा ही दूसरा शब्द है—'अजमध्य', टीकाकारों ने इसका अर्थ बकरे के मध्यप्रदेश का मांस किया है। पुरीषक्षय प्रकरण में निर्दिष्ट यह शब्द 'पुरीषवृद्धि' की विशेष योग्यता नहीं रखता, ऐसा निघण्टुग्रन्थों के अवलोकन से प्रतीत होता है।

अतिदेश—इसकी परिभाषा शास्त्रभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की उपलब्ध होती है—'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः'। अथवा—'अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नाया धर्मसंहतेः। अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते'। मीमांसा। **यथा**—'गोसदृशो गवयः' इति। अतिदेश (Transfer or making

over) भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'प्रकृतस्यानागतस्य साधनम् 'अतिदेशः'। यथा—यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यात्, इति। सु० उ० अ० ६५।१७।

महर्षि आत्रेय द्वारा शुक्र आदि के क्षयों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उसकी तालिका यहाँ दी जा रही है—

समानगुणभूयिष्ठ प्रतिनिधि द्रव्य

शुक्रक्षय	मूत्रक्षय	पुरीषक्षय	वातक्षय	पित्तक्षय	कफक्षय
दूध	ईख का रस	कुल्माष	कटुद्रव्य	अम्लद्रव्य	स्निग्धद्रव्य
घी	वारुणी	माष	तिक्त ,,	लवण ,,	गुरु ,,
मधुरद्रव्य	मण्डद्रव	कुष्कुण्ड	कषाय ,,	कटु ,,	मधुर ,,
स्निग्ध ,,	मधुरद्रव्य	अजमध्य	रूक्ष ,,	क्षार ,,	सान्द्र ,,
शीत ,,	अम्ल ,,	यव	लघु ,,	उष्ण ,,	
	लवण ,,	शाक	शीत ,,	तीक्ष्ण ,,	
	उपक्लेदि,,	धान्याम्ल			

कार्त्स्न्येन शरीरवृद्धिकरास्त्विमे[1] भावा भवन्ति। तद्यथा—कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहारसौष्ठवम्, अविघातश्चेति॥ १२॥

शरीरवृद्धिकर भाव—सम्पूर्ण रूप से शरीर को बढ़ाने (पुष्ट करने) वाले ये भाव होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१. **कालयोग** (दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष तथा बाल्य, यौवन, इनका समयोग), २. **स्वभावसंसिद्धि**—प्राकृतिक रूप से शरीर की वृद्धि होना, इसी को अदृष्ट भी कहते हैं। ३. **आहारसौष्ठव**—आहार सम्बन्धी सभी आदेशों, उपदेशों तथा विधियों का समयोग होना, ४. **अविघात**—शरीरवृद्धि में बाधक भावों के अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग का न होना)

वक्तव्य—आहारसौष्ठव के सम्बन्ध में आठ प्रकार की आहार-विधियाँ, आहार के विशेषायतन तथा बारह प्रकार के अशन (भोजन) विचारों का वर्णन चरक सूत्रस्थान के ५ वें तथा ६ ठे अध्यायों में किया जा चुका है।

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—बलवत्पुरुषे देशे जन्म बलवत्पुरुषे काले च, सुखश्च कालयोगः, बीजक्षेत्रगुणसम्पच्च, आहारसम्पच्च, शरीरसम्पच्च, सात्म्यसम्पच्च, सत्त्वसम्पच्च, स्वभावसंसिद्धिश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति॥ १३॥

बलवर्धक-भाव—शारीरिक बल को बढ़ाने वाले ये भाव होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१. बलवान् पुरुषों वाले देश में जन्म का होना, जैसे—मेवाड़, पंजाब आदि देश। २. बलवान् पुरुष के घर में जन्म लेना, क्योंकि प्रायः पिता के अनुरूप ही पुत्र होता है। ३. बलवान् (विसर्ग) काल में जन्म होना, जैसे—आदानकाल में स्वभावतः बल का ह्रास होता है, अतः काल की दृष्टि से 'विसर्गकाल' को बलवर्धक काल स्वीकार किया गया है। ४. सुखकारक काल का समयोग, ५. बीज (रजस्, वीर्य), क्षेत्र (स्त्री तथा गर्भाशय), का सद् गुणों से युक्त होना, अर्थात् इनका विकारयुक्त न होना। ६. आहारसंपत् (हितकर आहारों के निरन्तर सेवन का समयोग), ७. शरीरसंपत् (शरीर का सभी अवयवों से पूर्ण होना, अन्यथा सभी शरीरावयव पुष्ट नहीं हो सकेंगे), ८. सात्म्यसम्पत् (पौष्टिक आहारों का सात्म्य (अनुकूल) होना, अन्यथा शरीर को क्षीण करने वाले आहार ही यदि सात्म्य होंगे तो बलवृद्धि नहीं हो सकेगी), ९. सत्त्वसंपत् (मन को सत् मार्ग में तथा सद् गुणों के ग्रहण में प्रवृत्त करना), १०. स्वभावसंसिद्धि (स्वाभाविक रूप से होने वाली प्राकृतिक बलवृद्धि), ११. यौवन (युवा अवस्था, इस काल में सभी की बलवृद्धि होती ही है), १२. कर्म (व्यायाम आदि कर्म जिनसे शरीर के गठन के साथ बल भी बढ़ता है) तथा १३. संहर्ष (चिन्ता आदि से मुक्त रहते हुए सदैव प्रसन्न रहना)।

१. 'शरीरपुष्टिकरास्त्विमे' इति पा०।

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद्यथा—ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयोगश्चेति[1] ॥ १४ ॥

आहारपरिणामकर भाव—आहार (खाये हुए पदार्थ) को पका या पचा कर रस आदि धातुओं के रूप में बदल देने वाले ये भाव होते हैं। वे इस प्रकार हैं— १. ऊष्मा (सभी प्रकार की अग्नियाँ), २. वायु (आहार को यथास्थान पहुँचाने में सहायक होता है), ३. क्लेद (कफ), ४. स्नेह (घी, तैल, वसा आदि), ५. काल (भोजन को पचाने में लगने वाला समय) और ६. समयोग (इन सभी भावों के सम्यक् योग का होना)।

तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति । तद्यथा—ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते ॥ १५ ॥

आहारपरिणामकारक-भावों के कर्म—उन ऊष्ण आदि आहार को परिणत करने (पचाने) वाले भावों के ये कर्म विशेष (कर्म भेद) होते हैं। वे इस प्रकार हैं—ऊष्मा (पाचक पित्त) भुक्त पदार्थों को पचाता है, वायु उसे आमाशय की ओर ले जाता है, क्लेद (कफ) उसे गीला (ढीला) कर देता है, स्नेह उसे मुलायम बना देता है, काल उसे भली-भांति पकाने में सहायक होता है, अर्थात् उसका पाचन करता है, और समयोग उक्त ऊष्मा आदि द्वारा परिणत (रस आदि के रूप में बदली हुई) धातुओं को समान करता है।

वक्तव्य—आहार (खाये हुए भोजन) को पचाने में सहायक छः भावों का ऊपर १४ वें गद्य में परिचय दिया गया है, तदनन्तर १५ वें गद्य में ये किस प्रकार सहायक होते हैं, इसका वर्णन किया गया है। भक्ष्य, भोज्य आदि आहार-भेदों द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ ही उक्त छः भावों की सहायता से रस आदि सात धातुओं के रूप में परिणत होते हैं।

यहाँ ऊष्मा से तात्पर्य है—पाचकपित्त, पञ्चभूताग्नि तथा सात धातुओं की अग्नियाँ, इस प्रकार कुल बारह अग्नियों का वायु स्वयं गतिशील होता है अतः वह भुक्त पदार्थ को गति प्रदान कर उससे रस का अपकर्षण कराने में सहायक होता है। क्लेद और स्नेह ये दोनों ही भुक्त पदार्थ को गीला तथा मुलायम करके पाचनक्रिया में सहायक होते हैं। भोजन के पचने में काल की यह उपयोगिता है कि उसके लिये जो निर्धारित काल है, उस बीच में पुनः कुछ नहीं खाना चाहिये, अन्यथा उसका ठीक प्रकार से पाचन नहीं होगा। इसीलिये अजीर्ण-निदान-प्रकरण में लिखा है—'अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि' ॥ माधवनि०। अर्थ स्पष्ट है।

महर्षि आत्रेय ने भोजन के पाचन की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है—'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठे प्रकर्षति। तद् द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यपवनेन तु। काले पक्वं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये' ॥ च० चि० अ० १५।६-७। यहाँ पाँच वायुओं में से नाभिमण्डल में स्थित समानवायु का उपयोग अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये किया गया है। इसका विशेष व्याख्यान यथास्थान देखें।

[2]परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः; विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम् ॥ १६ ॥

अनुकूल-प्रतिकूल आहार-गुण—पचते हुए अथवा रस, रक्त, आदि के रूप में बदलते हुए आहार के अनुकूल गुण अपने-अपने गुणों के अनुसार शरीर के गुण भाव को प्राप्त हो जाते हैं और पचे हुए आहार के विपरीत गुण अथवा विरोधी तत्त्वों द्वारा नष्ट हुए आहार गुण शरीर को हानि पहुँचाते हैं।

१. 'संयोगश्च' इति पा०।
२. 'परिणामतः' इति पा०।

वक्तव्य—इसी अध्याय के १० वें गद्य में गुरु, लघु आदि २० शरीरधातुओं (आहार गुणों) का वर्णन किया गया है। भोजन से प्राप्त उन-उन गुणों के अनुसार ये शरीरस्थित गुणों की अभिवृद्धि करते हैं। यदि अनुकूल भोजन किया जाता है तो ये शरीर का पोषण करते हैं और विपरीत भोजन (विधिविरुद्ध, संयोगविरुद्ध, मात्राविरुद्ध आदि) किया जाता है तो ये हानि पहुँचाते हैं।

[1]शरीरगुणाः पुनर्द्विविधाः सङ्ग्रहेण—मलभूताः, प्रसादभूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः। तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः, परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्वांस्तान्[2]मले सञ्चक्ष्महे; इतरांस्तु [3]प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ॥ १७ ॥

दो प्रकार से शरीर गुण—संक्षेप में पुनः दो प्रकार के शरीर के गुण होते हैं—१. मल रूप और २. प्रसाद रूप। उनमें मलरूप वे गुण हैं, जो शरीर को बाधा पहुँचाते हैं, वे इस प्रकार हैं—शरीर के छिद्रों (रोमकूपों, आँख, कान, नाक आदि) में अलग-अलग जन्म लेने वाले, बाहर की ओर को निकलने के लिये प्रवृत्त, जो उपदेह (लेप) के रूप में स्थित, जैसे—रोमकूपों में पसीने की मैल, नाक, कान, आँखों में उनकी मैल, मल, मूत्र आदि और पकी हुई धातुएँ (जो रस, रक्त, मास पक जाने पर पूय का रूप धारण कर ली हों), प्रकुपित वात, पित्त, कफ और भी जो कोई शरीर में रहकर उसकी हानि करते हैं, उन सबको हम मल कहते हैं। इनके अतिरिक्त जितने भी शरीरस्थित भाव हैं उन सबकी गणना हम प्रसाद रूप में करते हैं। ये भाव हैं—गुणभेद से गुरु से लेकर द्रवपर्यन्त तथा द्रव्यभेद से रस से लेकर शुक्रपर्यन्त।

वक्तव्य—आचार्य ने मलभूत शरीरगुणों की जो परिभाषा दी है, तदनुसार बहिर्मुख मल, मूत्र, आदि मल हैं, किन्तु जब तक ये बहिर्मुख नहीं होते तब तक ये शरीर के पोषक या बलदायक माने जाते हैं। देखें—'मलायत्तं बलं पुंसाम्' और—'धातवो देहधारणात्'। वास्तव में आँख, कान, नाक आदि के मल तभी मल कहे जाते हैं, जब ये अपने-अपने स्थान से बाहर निकल आते हैं या आने लगते हैं। इस दृष्टि से मल की यह 'मलिनीकरणान् मलाः' परिभाषा उत्तम है।

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावात्। वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे प्रदुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि। एतावत्येव दुष्टदोषगतिर्यावत् संस्पर्शनाच्छरीरधातूनाम्। प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्। तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिरिति ॥ १८ ॥

वातादि ही रोग तथा स्वास्थ्यकर—उन मलभूत तथा प्रसादभूत धातुओं को दुष्ट हुए वात, पित्त, कफ दूषित करने वाले होते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव ही दूषित करने का है। यथा—'शरीरदूषणाद् दोषाः', धातुओं के भीतर प्रविष्ट होकर और अपने-अपने समय के भीतर दूषित होने वाले वात, पित्त का व्याख्यान **'विविधाशितपीतीय'** नामक च० सू० अ० २८ वें अध्याय में कर दिया गया है। शरीरस्थित रसादि धातुओं के साथ संस्पर्श (योग) होने से दूषित वात आदि दोषों की इतनी ही गति होती है। अर्थात् दुष्ट वातादि का प्रभाव अपने दूष्यों (रसादि) को ही दूषित करने तक होता है, ये मन तथा आत्मा को दूषित करने में समर्थ नहीं होते। प्रकृतिभूत (सम अवस्था में स्थित) वात आदि धातुओं का फल शरीर को आरोग्य प्रदान करना है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि वे ऐसा प्रयत्न करें जिससे ये वात आदि दोष प्रकृतिभाव (सम अवस्था) में बने रहें।

१. 'शरीरधातव' इति पा०।
२. 'मलाख्यान्' इति पा०।
३. 'प्रसादाख्यान्' इति पा०।

भवति चात्र—

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक् । आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ १९ ॥

शरीरज्ञान का महत्व—सब प्रकार से सम्पूर्ण शरीर को जो वैद्य सदैव जानता रहता है, वही वैद्य संसार को सुख देने वाले आयुर्वेद को पूर्णरूप से जानता है।

वक्तव्य—यह पद्य उस शरीर-विज्ञान-विशेषज्ञ चिकित्सक की प्रशंसा कर रहा है, जिसने अष्टांग-आयुर्वेद का शास्त्राभ्यास तथा कर्माभ्यास विधिवत् किया हो।

[1]एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—श्रुतमेतद् यदुक्तं भगवता शरीराधिकारे वचः। किन्नु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, कुतो मुखः कथं चान्तर्गतस्तिष्ठति, किमाहारश्च वर्तयति, कथम्भूतश्च निष्क्रामति कैश्चायमाहारोपचारैर्जातः सद्यो हन्यते, कैरव्याधिरभिवर्धते, किं चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः सम्भवन्ति आहोस्विन्न, किं चास्य कालाकालमृत्य्वोर्भावाभावयोर्भगवान् ध्यवस्यति, किं चास्य परमायुः, कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥ २० ॥

गर्भविषयक प्रश्न—इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—जो आपने शरीराधिकार प्रकरण में कहा (उपदेश दिया) वह सब मैंने सुन लिया। उसके बाद अग्निवेश गर्भविषयक निम्नलिखित प्रश्न भगवान् आत्रेय से पूछते हैं—१. गर्भाशय में सबसे पहले कौन-सा अंग उत्पन्न होता है? २. गर्भाशय में गर्भ का मुख किधर रहता है और वह गर्भ गर्भाशय में किस प्रकार रहता है? ३. उसका क्या आहार होता है जिससे वह अपनी आजीविका करता है? ४. किस प्रकार वह (गर्भाशय से बाहर) निकलता है? ५ यह किस प्रकार के आहारों के सेवन से उत्पन्न होकर तत्काल मर जाता है? ६. किस प्रकार के आहारों के सेवन करने से रोगरहित होकर बढ़ता रहता है? ७. इसमें देवता आदि के प्रकोप के कारण क्या-क्या होते हैं? या नहीं? ८. इस गर्भ की कालमृत्यु अथवा अकालमृत्यु होती है या नहीं होती है, इनके सम्बन्ध में आप क्या विचार करते हैं? अर्थात् इस विषय में आयुर्वेद का क्या सिद्धान्त है? ९. इसकी परम (पूर्ण) आयु क्या (कितनी) होती है? १०. कौन इसके परमायु के कारण हैं, अर्थात् किन आहार-विहार आदि के सेवन से यह जातक परमायु को प्राप्त कर सकता है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में निर्दिष्ट च० शा० अ० ६ श्लोक ३४ के **'नवकः'** शब्द का समादर करते हुए कुछ टीकाकारों ने गर्भविषयक नौ ही प्रश्न स्वीकार किये हैं। अन्य संस्करणों में उक्त **'नवकः'** के स्थान पर **'दशकः'** पाठ दिया गया है, जो अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः यहाँ 'दशकः' के अनुसार ही व्याख्या की गयी है।

तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—पूर्वमुक्तमेतद् गर्भावक्रान्तौ यथाऽयमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, यच्चास्य यदा सन्तिष्ठतेऽङ्गजातम्। विप्रतिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकृतामृषीणां सन्ति सर्वेषां; तानपि निबोधोच्यमानान्—शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा; हृदयमिति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात्; नाभिरिति भद्रकाप्यः, आहारागम इति कृत्वा; पक्वाशयगुदमिति भद्रशौनकः, मारुताधिष्ठानत्वात्; हस्तपादमिति बडिशः, तत्करणत्वात् पुरुषस्य; इन्द्रियाणीति जनको वैदेहः, तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा; परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः; सर्वाङ्गाभिनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः; तदुपपन्नं, सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तत्वाद्धृदयप्रभृतीनाम्। सर्वाङ्गानां ह्यस्य हृदयं मूलमधिष्ठानं च केषाञ्चिद् भावानाम्, नच तस्मात् पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषां; तस्माद्धृदयप्रभृतीनां[2] सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः सर्वे भावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धाः; तस्माद् यथाभूतदर्शनं साधु ॥ २१ ॥

---

१. 'तमेवमुक्तवन्तम्' इति पा०।
२. 'हृदयपूर्वाणाम्' इति पा०।

१. सबसे पहले गर्भाशय में कौन-सा अंग पैदा होता है? (किन्नु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्तते'?) प्रश्न का उत्तर—इस प्रकार के गर्भविषयक प्रश्नों को पूछते हुए उस अग्निवेश से भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—इसके पहले महतीगर्भावक्रान्ति नामक ४ थे अध्याय में, गर्भाशय में किस प्रकार गर्भ उत्पन्न होता है और उसका अंगसमूह कब स्थिर होता है, यह सब हम कह चुके हैं, किन्तु उस पर शास्त्रकर्त्ता ऋषियों के अनेक प्रकार के विवाद हैं उन सबको मैं कह रहा हूँ, तुम समझने का प्रयत्न करो—

(क) कुमारशिरा भरद्वाज का मत है कि सर्वप्रथम गर्भाशय में भ्रूण के शिर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् सब अंगों से पहले 'शिर' यह अवयव प्रकट होता है। यही कारण है कि भरद्वाज का उपनाम **'कुमारशिरा'** रहा होगा, क्योंकि इस विषय का नेतृत्व इन्हीं का रहा है। वे इसमें कारण देते हैं, क्योंकि शिर ही सब ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान (आश्रय-स्थान) है।

(ख) बाह्लीकदेश (बलख) के चिकित्सक कांकायन का मत है कि सबसे पहले भ्रूण में हृदय की उत्पत्ति होती है, क्योंकि यह चेतना-स्थान है। बह्लीकदेश का होने के कारण ही कांकायन का उक्त नामकरण हुआ। **अधिष्ठान**—'अधिपूर्वक-स्था-गतिनिवृत्तौ धातु से उक्त शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसका तात्पर्य है सम्पूर्ण अंगों की चेतना, यहाँ आकर कुछ क्षण के लिये स्थिर होती है, फिर सर्वत्र उसकी गति होती रहती है।

(ग) आचार्य भद्रकाप्य का कथन है कि गर्भाशय में सबसे पहले नाभि की उत्पत्ति होती है, क्योंकि नाभि द्वारा ही गर्भ को आहार की प्राप्ति होती है, इसी से गर्भस्थ शिशु का पालन-पोषण होता है।

(घ) भद्रशौनक का मत है गर्भाशय में सर्वप्रथम पक्वाशय और गुद-प्रदेश उत्पन्न (व्यक्त) होते हैं, क्योंकि वह वायु का अधिष्ठान है। वायु के अभाव में पंगु पित्त, कफ निष्क्रिय होते (रहते) हैं।

(ङ) आचार्य बडिश का मत है कि गर्भाशय में सर्वप्रथम हाथ-पैरों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि पुरुष के प्रधान करण (कार्य करने के साधन) वे ही हैं।

(च) विदेहाधिपति जनक का मत है कि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति गर्भाशय में सबसे पहले होती है, क्योंकि ये सब बुद्धि (ज्ञान) के अधिष्ठान होती हैं।

(छ) मारीचि कश्यप का मत है कि गर्भाशय के भीतर का गर्भशरीर परोक्ष होने के कारण पहले किस अंग की उत्पत्ति हुई, यह विषय अचिन्त्य (विचार-सीमा के बाहर) है, अतः इस विषय पर वाद-विवाद करना व्यर्थ है।

(ज) भगवान् धन्वन्तरि का मत है कि सभी अंगों की उत्पत्ति गर्भाशय में एक साथ होती है, यही मत ठीक है, क्योंकि हृदय आदि सभी शरीर के अवयवों की उत्पत्ति एक समय में ही होती है। कुछ भावों (ओज, मन, आत्मा, बुद्धि) का मूल और सभी अंगों का अधिष्ठान हृदय है, इसलिये हृदय की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) के पहले इन अन्य अवयवों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये हृदय आदि सभी अंगों की एक साथ उत्पत्ति होती है, क्योंकि सभी भाव एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसलिये सभी अंग-प्रत्यंगों की एक साथ उत्पत्ति को मानना ही उचित है।

वक्तव्य—यह नाभि उदर के बाहर दिखलायी देने वाला अवयव 'धुन्नी' नहीं है। अपितु पक्वाशय, मलाशय एवम् आमाशय के मध्यवर्ती अन्त्र का नाम है, जहाँ अन्त्र में से रस को पृथक् किया जाता है। भगवान् धन्वन्तरि का मत—'गर्भ की नाभि के बीच में ज्योतिः (अग्नि) स्थान है, इसको वायु फूँकती है तब इससे देह की वृद्धि होती है। पित्त के साथ मिली हुई वायु इस गर्भ के ऊपर, तिरछे तथा नीचे की ओर को गये हुए स्रोतों को खोलती है'। सु० शा० अ० ४।५८-५९।

महर्षि पाराशर का भी कथन है कि गर्भ में सबसे पहले 'नाभि' नामक अवयव बनता है, पूर्णनाभि नहीं अपितु नाभि का यह पूर्व रूप है। इसी से देही का देह बढ़ता है। इस नाभि में ज्योति 'अग्नि' का स्थान है, जो उस आये हुए रस का परिपाक करता रहता है। इसके साथ वायु मिलकर आगे के स्रोतों को खोलता जाता है। स्रोतों के खुल जाने पर भी इसका अनावश्यक प्रवाह नहीं होता अपितु रस को मार्ग मिल जाता है, इसी से देह पुष्ट होता जाता है।

भगवान् धन्वन्तरि के मत को महर्षि आत्रेय ने सिद्धान्त रूप में मानकर ही अन्त में उपस्थित किया है।

इसी मत का समर्थन करते हुए सु० शा० अ० ३।३२ में गर्भ के अवयवों की उत्पत्ति के लिये दो उपमाओं का प्रयोग किया गया है—१. वंशांकुरवत्, २. चूत(आम्र)फलवत् । इसका विस्तृत विवरण यथा-स्थान देखें ।

सुश्रुतसंहिता में भी इसी प्रकार से गर्भोत्पत्ति पर विचार किया गया है, किन्तु वहाँ जो विशेषता दी गयी है, उसको निम्न तालिका में देखें—

चरकसंहिता		सुश्रुतसंहिता	
आचार्य	गर्भावयव	आचार्य	गर्भावयव
१. कुमारशिरा भरद्वाज	शिर	१. शौनक	शिर
२. वाह्लीकभिषक् कांकायन	हृदय	२. कृतवीर्य	हृदय
३. भद्रकाप्य	नाभि	३. पाराशर्य	नाभि
४. भद्रशौनक	पक्वाशय, गुद	४. मार्कण्डेय	पाणिपाद
५. वडिश	हस्तपाद	५. सुभूतिगौतम	मध्यशरीर
६. वैदेह जनक	इन्द्रियाँ	६. धन्वन्तरि	युगपत्सर्वांग उत्पत्ति
७. मारीचि कश्यप	अचिन्त्य		
८. धन्वन्तरि	युगपत्सर्वांग उत्पत्ति		

दोनों संहिताओं के मत प्रायः समान होते हुए भी आचार्यों के नामों की भिन्नता काल-सीमा की दृष्टि से गवेषणीय है ।

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः सङ्कुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तःकुक्षौ¹ ॥ २२ ॥

२. **गर्भ का मुख किधर रहता है और वह कैसे अन्दर रहता है ?** ('कुक्षौ मुखः कथं चान्तर्गतस्तिष्ठति' ?) प्रश्न का उत्तर—गर्भस्थ शिशु माता के पीठ की ओर मुख करके ऊपर की ओर सिर करके और अंगों को संकुचित करके (पाठभेद के अनुसार जरायु से घिरा हुआ) गर्भाशय के भीतर रहता है ।

वक्तव्य—गर्भाशय में शिशु के शिर का ऊपर की ओर होना वर्णित है, किन्तु यह सर्वदा एक-सी मानना उचित नहीं है, परिस्थितिवश इसके अनेक रूप हो सकते हैं । महर्षि आत्रेय का वचन सामान्य स्थिति को सूचित करता है । भगवान् धन्वन्तरि ने प्रसवकाल में गर्भस्थ शिशु की शारीरिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—'आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः । स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति' ॥ सु० शा० अ० ५।४५ । यहाँ प्रसव के समय शिर का योनि की ओर लटकने में स्वभाव को कारण बतलाया है, किन्तु शिर का भारी होना भी उसमें प्रधान कारण है, क्योंकि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त यहाँ भी चरितार्थ होता है ।

'अवाङ्मुखः पीड्यमानः' । गर्भोपनिषद् । यहाँ भी प्रसवकाल का ही वर्णन है । यह भी सामान्य स्थिति है, असामान्य स्थितियों में मूढगर्भ के भेदों को देखें ।

व्यपगतपिपासाबुभुक्षस्तु खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भाशये सदसद्भूताङ्गावयवः, तदनन्तरं ह्यस्य कश्चिल्लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चिन्नाभिनाडचयनैः । नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, नाडचां चापरा, अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसम्प्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः²; स तस्य रसो बलवर्णकरः सम्पद्यते, स च सर्वरसवानाहारः । स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते-स्वशरीरपुष्टये, स्तन्याय, गर्भवृद्धये च । स तेनाहारेणोपष्टब्धः (परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य) वर्तयत्यन्तर्गतः ॥ २३ ॥

३. **किस आहार से वह जीवित रहता है ?** ('किमाहारश्च वर्तयति' ?) प्रश्न का उत्तर—भूख, प्यास से रहित पराधीन वृत्ति वाला होकर गर्भस्थ शिशु माता का सहारा लेकर सत् (स्थूल) तथा असत् (सूक्ष्म, जन सामान्य की दृष्टि से अगोचर) अंग-विभाग वाला, गर्भाशय में उपस्नेह (गर्भाशय की श्लैष्मिककला से प्राप्त रस, रक्त से) तथा उपस्वेद (माता के शरीर की गर्मी) से अपना जीवन-यापन करता है । उसके बाद (जब शरीर के सभी अवयव सत् भूत=स्पष्ट हो जाते हैं, तब) गर्भाशय में गर्भस्थ शिशु के लोमकूप ही हैं मार्ग जिनके, ऐसी

१. 'सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ' इति पा० ।
२. 'संस्पन्दमानाभिः' इति पा० ।

रसवाहिनियों से तथा नाभिनाड़ी हैं मार्ग जिनकी, ऐसी रसवाहिनियों से इसको उपस्नेहन मिलता है । गर्भ नाभि में इसकी नाड़ी (नाली) और उस नाड़ी में अपरा (Placenta) लगी रहती है और अपरा इस गर्भ के माता के हृदय से सम्बन्धित होती है । माता का हृदय उस अपरा को स्यन्दमान (रस, रक्त आदि का प्रस्रवण करती (झरती) हुई सिराओं द्वारा आप्लावित करता रहता है । वह रस गर्भ के बल एवं वर्ण को बढ़ाने वाला होता है । वह सभी रसों से युक्त आहाररस गर्भवती स्त्री के तीन भागों में विभक्त हो जाता है—१. अपनी (माता की) शरीर की पुष्टि के लिये, २. दूध की उत्पत्ति के लिये और ३. गर्भ की वृद्धि के लिये । वह गर्भ उस (उपर्युक्त प्रकार के) आहार से सहारा प्राप्त कर पराधीन आजीविका वाला माता का सहारा लेकर गर्भाशय के भीतर स्थित जीवित रहता है ।

वक्तव्य—गर्भस्थ शिशु जरायु में लिपटा हुआ गर्भोदक में तैरता रहता है । प्रसवकाल में पहले गर्भोदक का स्राव होता है, तदनन्तर जरायु से लिपटे हुए शिशु का जन्म होता है, कभी जरायु भीतर ही रुक जाता है । किन्तु प्रसव के बाद कभी वह स्वयं निकल जाता है और कभी निकालने का प्रयास करना पड़ता है ।

स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्त्यावाक्शिरा¹ निष्क्रामत्यपत्यपथेन, एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा । परं² त्वतः स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥ २४ ॥

४. **किस प्रकार वह निकलता है ?** ('कथम्भूतश्च निष्क्रामति' ?) प्रश्न का उत्तर—वह गर्भ जन्म-समय के उपस्थित होने (प्रसवकाल आने) पर प्रसवकारक वायु के सहयोग से पूर्वस्थिति को बदलकर नीचे (योनि) की ओर शिर करके अपत्यपथ (योनिमार्ग) से बाहर निकल आता है, यह प्रसव का स्वाभाविक रूप है । इसके विपरीत सभी प्रकार विकृति के रूप हैं । इसके बाद जब वह गर्भाशय से बाहर आ जाता है, तब वह स्वतन्त्र-वृत्ति वाला हो जाता है, अर्थात् यह श्वास-प्रश्वास की क्रिया में स्वतन्त्र हो जाता है, इसका हृदय स्पन्दनशील हो जाता है । फुफ्फुस रक्तशोधन कार्य में लग जाते हैं, यह मल, मूत्र करने लगता है, रोने लगता है और स्तनपान करने लगता है ।

वक्तव्य—गर्भ की परतन्त्र स्थिति का वर्णन भगवान् धन्वन्तरि ने निम्न पद्यों द्वारा किया है—'मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च । वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥ जरायुणा मुखेच्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते । वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥ निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽभिगच्छति । मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसम्भवान्' ॥ सु० शा० अ० २ । ५३-५५ । इसकी व्याख्या यथास्थान देखें ।

तस्याहारोपचारौ जातिसूत्रीयोपदिष्टावविकारकरौ चाभिवृद्धिकरौ भवतः ॥ २५ ॥

५. **रोगरहित होकर कैसे बढ़ता है ?** ('कैरव्याधिरभिवर्द्धते' ?) प्रश्न का उत्तर—जातिसूत्रीय में कहे गये आहार तथा विहार उस (गर्भ) के लिये हानि न करने वाले (स्वास्थ्यप्रद) और वृद्धिकारक होते हैं ।

वक्तव्य—उक्त आहार-विहारों का विवेचन चरक शारीरस्थान के जातिसूत्रीय नामक ८ वें अध्याय में यथास्थान देखें ।

ताभ्यामेव च विषमसेविताभ्यां जातः सद्य उपहन्यते तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलः ॥ २६ ॥

६. **किन आहार-उपचारों से यह जातक शीघ्र मर जाता है ?** ('कैश्चायमाहारोपचारैर्जातः सद्यो हन्यते' ?) प्रश्न का उत्तर—गर्भिणी द्वारा उन्हीं विषम आहार-विहारों के सेवन करने से जातक (गर्भाशय में उत्पन्न) तत्काल उस प्रकार मर जाता है, जिस प्रकार अप्रतिष्ठित मूलवाला (जिसकी जड़ अभी मजबूत नहीं हुई हो, ऐसा) तथा तत्काल लगाया (रोपा) गया वृक्ष वात (हवा से हिलकर) और आतप से (धूप से सूखकर) नष्ट हो जाता है ।

वक्तव्य—यहाँ गर्भविनाशकारक भावों की विनाशक प्रक्रिया को तन्त्रकार ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है । गर्भाधान होने के साथ ही साथ यदि गर्भिणी विषम आहार-विहारों का सेवन करती है, तो वह गर्भ

१. 'परिवृत्यावाक्शिरा' इति पा० ।
२. 'परं ततः' इति पा० ।

उस प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार तत्काल लगाये गये पौधे को वायु और धूप नष्ट कर डालते हैं। यहाँ पेड़ के लिये अप्रतिष्ठितमूल विशेषण का प्रयोग यह भी संकेत कर रहा है कि जड़ मजबूत होने के बाद वायु और धूप का उतना प्रभाव नहीं पड़ेगा। यही स्थिति गर्भ के पुष्ट होने के बाद गर्भिणी द्वारा सेवन किये गये विषम आहार-विहारों की भी होती है।

आप्तोपदेशादद्भुतरूपदर्शनात् समुत्थानलिङ्गचिकित्सितविशेषाच्चादोषप्रकोपानुरूपा देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः समुपलभ्यन्ते ॥ २७ ॥

७. क्या इसको देवादिप्रकोपनिमित्तक विकार होते हैं, या नहीं ? ('किञ्चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः सम्भवन्ति, आहोस्विन्न' ?) प्रश्न का उत्तर—१. आप्तपुरुषों के उपदेश से, २. अद्भुत (आश्चर्यजनक) रूपों (लक्षणों) को देखने से, ३. समुत्थान (कारण), लिंग (लक्षण), चिकित्सा की विशेषता से, दोष-प्रकोप के विपरीत अतएव देवादिग्रहजनित रोग दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—आप्तोपदेश चर्चा में सर्वप्रथम आप्त का परिचय प्रस्तुत है—'तप एवं ज्ञान की अलौकिक रजस् (राग), तमस् (द्वेष) से पूर्णरूप से मुक्त, व्यवधानरहित दृष्टि वाले एवं त्रिकालज्ञानसम्पन्न व्यक्ति को भगवान् पुनर्वसु ने आप्त की संज्ञा दी है'। च० सू० अ० ११ । १८-१९ । इसी प्रकार के परम आप्त भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार देवादि प्रकोप की चर्चा—१. स्कन्दग्रह, २. स्कन्दापस्मार, ३. शकुनी, ४. रेवती, ५. पूतना, ६. अन्धपूतना, ७. शीतपूतना, ८. मुखमण्डतिका और ९. नैगमेष (पितृग्रह), धात्री या माता के मिथ्या आहार-विहार के कारण, अपवित्रता से, मंगल कार्यों को न करने से, डरे हुए, प्रसन्न हुए, धमकाये हुए या मारे हुए बच्चों में पूजा पाने की अथवा मारने की इच्छा से ये ग्रह आविष्ट होते हैं'। सु० उ० २७ । ३ से ६ । इसी की पुष्टि के लिये देखें—चरक नि० अ० ७ । १५ ।

अद्भुतदर्शन—इसका परिचय भूतोन्माद के उदाहरण से प्राप्त करें—'अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः । उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम्' ॥ च० चि० अ० ९ । १७ । इस रोग में मनुष्य आश्चर्यजनक चेष्टाएँ करता है।

कारण, लक्षण, चिकित्सा में भेद—सामान्य रोग के कारणों से भिन्न, सामान्य रोग के लक्षणों से भिन्न तथा युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्त्वावजय चिकित्सा से भिन्न देवादि प्रकोप में उक्त कारण तथा लक्षण होते हैं, अतएव उनकी भिन्न अर्थात् दैवव्यपाश्रय चिकित्सा होती है।

कालाकालमृत्य्वोस्तु खलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः—'यः कश्चिन् म्रियते स काल एव म्रियते, न हि कालच्छिद्रमस्ति' इत्येके भाषन्ते। तच्चासम्यक्। न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते, कालस्वलक्षणस्वभावात्। तत्राहुरपरे—यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकालः; स सर्वभूतानां सत्यः; समक्रियत्वादिति। एतदपि चान्यथार्थग्रहणम्। न हि कश्चिन्न म्रियत इति समक्रियः। कालो ह्यायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते। यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते स तस्य मृत्युकाल इति, तस्य सर्वे भावा यथास्वं नियतकाला भविष्यन्ति; तच्च नोपपद्यते, प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टं, विपर्यये चेष्टं; प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालव्यक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य, तद्यथा—कालोऽयमस्य व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य, अकालो वेति। लोकेऽप्येतद् भवति—काले देवो वर्षत्यकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति—काले मृत्युरकाले च; नैकान्तिकमत्र। यदि ह्यकाले मृत्युर्न स्यान्नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्; एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्, प्रत्यक्षानुमानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युर्ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु, यैरायुष्याण्यनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते। वाग्वस्तुमात्रमेतद् वादमृषयो मन्यन्ते—नाकाले मृत्युरस्तीति ॥ २८ ॥

काल तथा अकालमृत्यु-विचार—(Thought of Timely and Untimely Death)—

८. गर्भ की काल और अकालमृत्यु के बारे में आप का क्या विचार है ? ('किञ्चास्य कालाकाल-

मृत्य्वोर्भावाभावयोर्भगवानध्यवस्यति' ?) प्रश्न का उत्तर—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि कालमृत्यु तथा अकालमृत्यु होती है या नहीं होती है, इस सम्बन्ध में हमने यह विचार किया है—'जो कोई मरता है वह समय पर ही मरता है, क्योंकि काल में कोई छिद्र (अवकाश) नहीं होता' ऐसा कुछ (काल के विषय में जानने वालों) का मत है, अर्थात् कुछ कालज्ञ ऐसा कहते हैं (क्योंकि कोई समय ऐसा नहीं है, जब कि काल न हो, ऐसी स्थिति में अकाल की चर्चा करना ही व्यर्थ है।) वह ठीक नहीं है। क्योंकि काल में अच्छिद्रता अथवा सच्छिद्रता वाली दोनों बातें तर्कसंगत इसलिये नहीं होती हैं कि काल अपने लक्षणों तथा स्वभाव से युक्त होता है।

दूसरे आचार्य उस विषय में कहते हैं—जो जब मरता है, वही उसके मरने का निश्चित समय है। सभ प्राणियों का वह काल सत्य (निश्चित) है, क्योंकि काल द्वारा होने वाली मरणरूप क्रिया सब में समानरूप से होती है। काल किसी के साथ राग और किसी के साथ द्वेष नहीं करता, अतः वह 'समक्रिय' अर्थात् सब के साथ समान व्यवहार करता है। क्योंकि ऐसा नहीं दिखलायी देता कि जिसके साथ राग (प्रेम) हो उसे न मारे और जिसके साथ द्वेष हो उसी को मारे, अतः सब की 'कालमृत्यु' ही होती है, ऐसा समझने वाले भी ठीक अर्थ नहीं लगाते, अर्थात् गलत समझते हैं।

कोई प्राणी ऐसा नहीं जिसकी मृत्यु न होती हो, इतने मात्र से काल को समक्रिय कहना उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ काल शब्द से आयु के प्रमाण की सीमा का ग्रहण किया गया है।

जिसको यह पक्ष प्रिय है कि जो जब मरता है, उसका वही निश्चित मृत्युकाल है, उसके मत के अनुसार सभी कार्य निश्चित समय पर ही होंगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है। यह प्रत्यक्षरूप से देखा जाता है कि अकाल (असमय) में प्रयोग किया गया आहार, वचन, कर्मों का फल अनिष्टकारक होता है और उन्हीं का ठीक समय पर प्रयोग हितकारक होता है। पृथक्-पृथक् अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् विषय को लेकर काल तथा अकाल की युक्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। जैसे—इस रोग का यह काल या अकाल है, इस आहार का यह काल या अकाल है, इस औषध का यह काल या अकाल है, इस प्रतिकर्म (चिकित्सा) का यह काल या अकाल है, इस विसर्ग (व्याधिमोक्ष) का यह काल या अकाल है। (इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकल रहा है कि जो जिसका काल है वह उसके सेवन आदि का उपयुक्त समय है और जो जिसका अकाल है, वह उस के सेवन आदि का अनुपयुक्त समय है।

लोकव्यवहार में भी काल तथा अकाल शब्दों का इस प्रकार प्रयोग होता है, जैसे—काल (समय पर) देव (मेघ) बरसता है, अकाल (असमय) में देव बरसता है। काल (समय) में सर्दी पड़ती है, अकाल (असमय) में सर्दी पड़ती है। काल (समय) में गर्मी पड़ रही है, अकाल (असयम) में गर्मी पड़ रही है। काल (समय) में फूल-फल लग रहे हैं, अकाल (असमय) में फूल-फल लग रहे हैं, इन उदाहरणों को देखते हुए लोक में ये भी दो शब्द प्रचलित हैं—कालमृत्यु होती है और अकालमृत्यु होती है, इसलिये कालमृत्यु भी होती है और अकालमृत्यु भी होती है। अतः ऐसा निर्णय लेना उचित नहीं है कि केवल कालमृत्यु ही होती है, अकालमृत्यु नहीं होती है।

अकालमृत्यु के समर्थन में प्रमाण उपस्थित किया जारहा है—यदि अकालमृत्यु न हो तो सभी प्राणियों की आयु-सीमा नियत-कालप्रमाण की होगी, यदि सब प्राणियों की आयु-सीमा नियत-कालप्रमाण वाली हो जाय तो हितकर तथा अहितकर आहार-विहार आदि का ज्ञान करना, कराना सब व्यर्थ हो जायगा (क्योंकि अहितकर विष आदि से मृत्यु और हितकर जीवनीय पदार्थों के सेवन से दीर्घायु-प्राप्ति होती, ये उपदेश निष्फल हो जायेंगे) और सभी शास्त्रों में वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश जिनसे आयुष्य और अनायुष्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। अतः जो लोग ऐसा कहते हैं कि अकालमृत्यु नहीं होती है, यह वाग्वस्तु (बकवास, अनर्गल प्रलाप = Verbal display) मात्र है।

वक्तव्य—कालमृत्यु-अकालमृत्यु के विशद विवेचन के लिये चरक वि० अ० ३ । ३७—३८ देखें। वास्तव में १०० वर्ष का होकर मरना कालमृत्यु है, शेष अकालमृत्यु।

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले ॥ २९ ॥

९. इसकी परमायु क्या है ? ('किञ्चास्य परमायुः' ?) प्रश्न का उत्तर—इस समय (कलियुग में) सौ वर्ष मात्र आयु का प्रमाण है।

वक्तव्य—काल के ह्रास के साथ-साथ आयु के प्रमाण का भी ह्रास प्रत्यक्षतः देखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कलियुग के अन्तिम चरण में आयु की सीमा का उल्लेख इस प्रकार किया है—'कलि जीवन संवत पंचदशा'। यह मानव आयु की चरम सीमा है।

ज्यौतिषशास्त्र में प्राणिमात्र की तीन प्रकार की आयु स्वीकार कर परमायु की आयुष्य सीमा निर्धारित की गयी है। तीन प्रकार की आयु—१. अल्पायु, २. मध्यायु और दीर्घायु अथवा परमायु। पुनः तीन भेद—१. योगिनी दशा के अनुसार ७२ वर्ष, २. परमायु दशा के अनुसार १०० वर्ष और ३. विंशोत्तरी दशा के अनुसार १२० वर्ष।

तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसम्पत् सात्म्योपसेवनं चेति ॥ ३० ॥

१०. **कौन इसके परमायु के कारण हैं?** ('कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति'?) प्रश्न का उत्तर—प्रकृति (वात, पित्त, कफ का समावस्था में रहना), गुणसंपत् (शरीर का स्वस्थ रहना आदि), आत्मसंपत् तथा सात्म्यसेवन, ये परमायु-प्राप्ति के कारण हैं।

तत्र श्लोकाः—

शरीरं यद्यथा तच्च[1] वर्तते क्लिष्टमामयैः।
यथा क्लेशं विनाशं च याति ये चास्य धातवः ॥ ३१ ॥
वृद्धिह्रासौ यथा तेषां क्षीणानामौषधं च यत्।
देहवृद्धिकरा भावा बलवृद्धिकराश्च ये ॥ ३२ ॥
परिणामकरा भावा या च तेषां पृथक् क्रिया।
मलाख्याः [2]सम्प्रसादाख्या धातवः प्रश्न एव च ॥ ३३ ॥
नवको[3] निर्णयश्चास्य विधिवत् सम्प्रकाशितः।
तथ्यः शारीरविचये शारीरे परमर्षिणा ॥ ३४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने
शरीरविचयशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—जिसे शरीर कहते हैं, जिस प्रकार वह रोगों से पीड़ित रहता है, जैसे रोगों से कष्ट पाता है और जैसे विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे शरीरस्थ रसादि धातुओं की वृद्धि तथा उनका ह्रास होता है, जो क्षीण धातुओं की औषध है, जो शरीर को बढ़ाने वाले तथा बलवर्धक भाव हैं, आहार को पचाने वाले जो भाव हैं, उनके जो पृथक्-पृथक् कर्म हैं, मलधातु, प्रसादभूतधातु तथा नौ (पाठभेद के अनुसार दस) प्रश्न, इनका विधिपूर्वक सत्य-निर्णय शरीरविचयशारीर में परमर्षि आत्रेय ने प्रकाशित किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
शारीरस्थान में शरीरविचयशारीर नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

१. 'यथावच्च' इति पा०।
२. 'सम्प्रसादाख्याः' इति पा०।
३. 'दशकः' इति पा०।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातः [1]शरीरसङ्ख्याशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

शरीरविचयशारीर का व्याख्यान करने के बाद अब हम शरीरसंख्याशारीर की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—छठे अध्याय में धातुभेद से शरीर का परिचय प्रस्तुत करने के बाद इस अध्याय में शरीर के अवयवों की संख्या का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा। क्योंकि जब तक शरीर के अवयवों का सम्यक् परिचय प्राप्त नहीं हो जाता तब तक ठीक प्रकार से चिकित्सा नहीं हो सकती। इसी विषय को महर्षि ने इसी अध्याय के अन्त में '**शरीरसङ्ख्यां यो वेद**' आदि पद्य द्वारा स्वीकार किया है।

शरीरसङ्ख्यामवयवशः कृत्स्नं शरीरं प्रविभज्य सर्वशरीरसङ्ख्यानप्रमाणज्ञानहेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ ॥ ३ ॥

अग्निवेश का शरीरविषयक प्रश्न—अवयवभेद से सम्पूर्ण शरीर का विभाजन कर सम्पूर्ण शरीर (नख शिखपर्यन्त) के ज्ञान तथा उसके प्रमाण को जानने के लिये अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से शरीरसंख्या (विज्ञान) को पूछा।

तमुवाच भगवानात्रेयः—शृणु मत्तोऽग्निवेश! [2]सर्वशरीरमाचक्षाणस्य यथाप्रश्नमेकमना यथावत्। शरीरे षट् त्वचः; तद्यथा—उदकधरा त्वग्बाह्या, द्वितीया त्वगसृग्धरा, तृतीया सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना, चतुर्थी दद्रुकुष्ठसम्भवाधिष्ठाना, पञ्चमी त्वलजीविद्रधिसम्भवाधिष्ठाना, षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते, पर्वसु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानि च; इति षट् त्वचः। एताः षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ॥ ४ ॥

छः त्वचाओं का वर्णन—भगवान् आत्रेय ने उससे कहा—हे अग्निवेश! सम्पूर्ण शरीर के सम्बन्ध में वर्णन करने वाले मुझसे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर एकाग्रमन होकर सुनो, शरीर में छः त्वचाएँ होती हैं, वे इस प्रकार हैं—१. बाहरी (प्रथम) त्वचा '**उदकधरा**' (जल को धारण करने वाली) है। २. दूसरी त्वचा असृग्धरा (रक्त को धारण=रोके रहने वाली) है। ३. तीसरी त्वचा सिध्म तथा किलास नामक कुष्ठ का उत्पत्ति-स्थान है। ४. चौथी दद्रु (दाद) और सभी प्रकार के कुष्ठों का उत्पत्ति-स्थान है। ५. पाँचवीं अलजी और विद्रधि (Abscess) का उत्पत्ति-स्थान है। ६. छठी त्वचा वह है जिसके कट जाने पर मनुष्य मानों अन्धे की भांति अन्धकार में प्रवेश करता है अथवा तमोयुक्त की भांति चेष्टा करता है और जिस त्वचा के ऊपर काली, लाल, गहरी जड़ों वाली कष्टसाध्य अरूंषि (फुन्सियाँ) पर्वों (गांठों) पर पैदा होती हैं। इस प्रकार ये ६ त्वचाएँ होती हैं। ये षडंग (छः अंगों वाले) शरीर को व्याप्त किये (ढके) रहती हैं।

वक्तव्य—गद्य ४ में उपर्युक्त वाक्य की योजना इस प्रकार है—'सर्वशरीरमाचक्षाणस्य मत्तो यथाप्रश्नमेकमना यथावत् शृणु, अग्निवेश!' यहाँ पर 'मत्तः' शब्द में तसिल् प्रत्यय का प्रयोग षष्ठी विभक्ति निमित्तक है, नकि पञ्चम्यर्थक। देखें—'**आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्**'। इस वार्तिक से यहाँ 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' का प्रयोग हुआ है। अतः '**मत्तः**' का अर्थ हुआ '**मम**'। दूसरे व्याख्याकारों ने जो '**सर्वशरीरमाचक्षाणात्**' करने का प्रयास किया है, वह केवल उक्त नियम की जानकारी का न होना सूचित करता है।

शरीर के अवयवों में सर्वोपरि स्थान होने के कारण तथा शरीर के भीतरी अवयवों को सुरक्षित रखने (ढके रहने) के कारण ही महर्षि आत्रेय ने इसका सर्वप्रथम वर्णन किया है।

१. 'शरीरसंख्या नाम शारीरम्' इति पा०।
२. 'सर्वशरीरमभिसंचक्षाणात्' इति पा०।

त्वचाओं के सम्बन्ध में धन्वन्तरि का मत—'भूतात्मा से अधिष्ठित शुक्र-शोणित के परिपाक होने से सात त्वचाएँ होती हैं, जिस प्रकार दूध को खौलाने से मलाई की पर्तें जमने लगती हैं'। सु० शा० अ० ४।४। भगवान् धन्वन्तरि की भांति महर्षि आत्रेय ने त्वचा की उत्पत्ति के बारे में कोई संकेत नहीं किया है और इन्होंने त्वचाओं की संख्या भी छः मानी है, जब कि धन्वन्तरि तथा वाग्भट ने सात त्वचाएँ स्वीकार की हैं। 'तत्र सप्त त्वचोऽसृजः पच्यमानाद् प्रजायन्ते क्षीरात् सन्तानिका इव' ॥ अ० हृ० शा० अ० ३।८।

समन्वय की दृष्टि से त्वचाओं का विवेचन—१. चरक में प्रथम त्वचा का नाम **उदकधरा** है। थोड़ा-सा भी खरोंच लगने पर त्वचा से जो रक्तवारि निकलता है, उसको यह धारण किये रहती है। थोड़ा-सी और गहरी चोट लगने पर रक्त निकलने लगता है, इसी से दूसरी त्वचा का अनुमान किया जाता है। सुश्रुत में प्रथम त्वचा का नाम **अवभासिनी** (अवभासयति=प्रकाशयति, वर्णान्, इति) अर्थात् यह गौर, श्याम आदि वर्णों को प्रकाशित करती है, अर्थात् गौर, श्याम आदि वर्ण इसी में रहते हैं। इस त्वचा की मोटाई जौ के १८ वें भाग के बराबर होती है। इसी त्वचा में सिध्म तथा पद्मकण्टक रोग होते हैं।

२. चरक में द्वितीय त्वचा का नाम **असृग्धरा है**। यह शरीर में फैले हुए असृक् (रक्त) को धारण करती है, अर्थात् रक्त को रोके रहती है। सुश्रुत में इसका नाम **लोहिता है**। 'लोहितो रोहितो रक्तः'। अमरकोष के अनुसार ये सब लालवर्ण के पर्याय हैं। इसके नामकरण की सार्थकता इसलिये है कि इसमें रक्तवाहिनियाँ जुटी रहती हैं, अतएव इसका वर्ण लाल होता है। यह व्रीहि (जौ) के १६ वें भाग के बराबर मोटी होती है। इसमें तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग्य रोग होते हैं।

३. चरक में तीसरी त्वचा को **'सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना'** कहा है। सुश्रुत में इसका नाम **'श्वेता'** है। इसकी मोटाई व्रीहि (जौ) का १२ वाँ भाग है। चर्मदल, अजगल्ली, मशक (मस्सा) रोग इसी में होते हैं। ऐसा लगता है कि चरक के मतानुसार ये सभी (जो सुश्रुत ने प्रथम, द्वितीय, तृतीय त्वचाओं में गिनाये हैं) रोग तीसरी त्वचा में ही होते हैं। सुश्रुत में चौथी त्वचा का नाम **ताम्रा** है। यह व्रीहि के ८ वें भाग के बराबर मोटी होती है। इसमें विविध प्रकार के किलास तथा कुष्ठ रोग पैदा होते हैं। हमारे विचार से सुश्रुतोक्त तीसरी और चौथी त्वचा को चरक में तीसरी त्वचा स्वीकार किया है। यही मत आचार्य गंगाधर का भी है।

४. चरक में चौथी त्वचा को **'दद्रुकुष्ठसम्भवाधिष्ठाना'** कहा है। सुश्रुतोक्त चौथी त्वचा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पाँचवीं त्वचा का नाम **वेदिनी** है। यह व्रीहि (जौ) का ५ वाँ भाग मोटी होती है। इसमें कुष्ठ, वीसर्प रोग होते हैं। यहाँ दोनों तन्त्रकारों का एकमत दिखलायी दे रहा है।

५. चरक में पाँचवीं त्वचा को **'अलजीविद्रधिसम्भवाधिष्ठाना'** कहा है। सुश्रुत में छठी त्वचा का नाम **रोहिणी** है। यह व्रीहि (जौ) के बराबर मोटी है। इसमें ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड रोग होते हैं। चरक में जो विद्रधि का उल्लेख किया है, तदनुसार ग्रन्थि, अपची आदि पक जाते हैं, तो ये भी विद्रधि का रूप धारण कर लेते हैं। अतः समन्वय का दृष्टिकोण युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है।

६. चरक में छठी त्वचा के कट जाने पर आँखों के सामने अँधेरा आ जाता है इसमें आघात होने से गांठों (पर्वों) में दुश्चिकित्स्य फुन्सियों की उत्पत्ति होना बतलाया है। सुश्रुत में ७ वीं त्वचा का नाम **मांसधरा** है। यह दो जौ के बराबर मोटी होती है। इसमें भगन्दर, विद्रधि तथा अर्श रोग होते हैं। यहाँ पर जो त्वचा की मोटाई का प्रमाण दिया है, वह मांसल स्थानों में समझना चाहिये न कि ललाट, सूक्ष्म अंगुलि आदि में। चरकोक्त 'दुश्चिकित्स्य' शब्द सुश्रुतोक्त भगन्दर आदि रोगों की ओर पूर्णतया संकेत कर रहा है। यहाँ तक चरक-सुश्रुत के मतों की अनुकूलता स्थिर की गयी है।

त्वचा की निरुक्ति—'त्वच संवरणे' धातु से त्वचा शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है, जो शरीर का संवरण करती (चारों ओर से ढकती) है। यही जाड़ा, गरमी से हमको यथाशक्ति बचाती है। इसमें रहने वाले रोमकूपों की जड़ें वेदिनी त्वचा तक पहुँची रहती हैं। इसी से हमको स्पर्शज्ञान होता है। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियों में इसका प्रमुख स्थान है। अधिक क्या कहा जाय, यह त्वचा ही अंधों के लिये आँखों का काम देती है।

आधुनिक मत—कविराज गणनाथसेन तथा आजकल के शरीरविज्ञान विशेषज्ञों का मत है कि मूलतः चर्म के दो भाग होते हैं—१. उपचर्म (Epidermis) और २. अन्तःत्वचा (Dermis)। इसके विपरीत

जब हम अणुवीक्षणयन्त्र की सहायता से त्वचा का परीक्षण करते हैं, तो पहले उपचर्म में हमें पाँच त्वचास्तर (Skin layers) और दूसरी अन्तःत्वचा में दो त्वचास्तर दिखलायी देते हैं। इस दृष्टि से भगवान् धन्वन्तरि का मत अधिक विशद है। उपचर्म में रक्तवाहिनियाँ, वातनाड़ियाँ एवं वसा आदि पायी जाती हैं। अन्तःचर्म में वसा की मात्रा अत्यधिक होती है। इसी के दूषित हो जाने पर फोड़े तथा फुन्सियाँ पैदा हो जाती हैं।

[1]तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः; तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः, इति षडङ्गमङ्गम् ॥ ५ ॥

शरीर-अंग-विभाग—उसमें यह शरीर के अंगों का विभाजन है, जैसे—दो बाँहें, दो पैर, सिर, ग्रीवा (गरदन) और मध्य शरीर, इस प्रकार ये शरीर के छः विभाग हैं।

वक्तव्य—षडङ्गशरीर की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिये 'शिरोग्रीवम्' में 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्', २।४।२। सूत्र से एकवद्भाव किया गया है। इस ६ संख्या को पूरा करने के लिये ही तन्त्रकार ने 'शिरोग्रीवम्' को समस्तपद का रूप दिया है। अलग-अलग करने पर यह अंगों की संख्या ७ हो जाती। अतएव सुश्रुत में उक्त पाठ इस प्रकार मिलता है—'तच्च षडङ्गम्—शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति'। सु० शा० अ० ५।३।

त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेन[2]। तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः, षष्टिः पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, [3]चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, द्वौ [4]मणिकौ हस्तयोः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनी, द्वे जानुकपालिके, द्वावूरुनलकौ, द्वौ बाहुनलकौ, द्वावंसौ, द्वे अंसफलके, द्वावक्षकौ, एकं जत्रु, द्वे तालुके, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पञ्चचत्वारिंशत् पृष्ठगतान्यस्थीनि, पञ्चदश ग्रीवायां, चतुर्दशोरसि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटं, द्वौ शङ्खौ, चत्वारि शिरःकपालानीति; एवं त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेनेति ॥ ६ ॥

शरीर में अस्थियों की संख्या—दाँतों, दाँतों के उलूखल (Sockets of the teeth in the jaw) और नखों के साथ अस्थियों की संख्या ३६० होती है। उनका विवरण इस प्रकार है—दाँत ३२, दन्तोलूखल (जबड़ों में गड्ढे) ३२, नख (हाथ-पैर के मिलाकर) २०, हाथ-पैर की अंगुलियों की अस्थियाँ ६०, हाथ-पैर की शलाकास्थियाँ (हाथ की हथेलियों और पैर के पंजों की हड्डियाँ—Metacarpus and Metatarsus bones) २०, हाथ-पैर की अंगुलियों के शलाकाधिष्ठान की अस्थियाँ ४, पार्ष्णिदेश (एड़ी) की अस्थियाँ २, पैरों में गुल्फास्थियाँ ४, हाथ के मणिबन्ध की अस्थियाँ २, अरत्नि (प्रबाहु) की अस्थियाँ ४, दोनों जंघाओं की अस्थियाँ ४, (जानुदेश की अस्थियाँ २) जानुकपाल की अस्थियाँ २, ऊरुदेश की नलकास्थियाँ २, बाहुदेश की नलकास्थियाँ २, अंस की अस्थियाँ २, अंसफलक की अस्थियाँ २, अक्षकास्थि २, जत्रु की अस्थि १, तालुप्रदेश की अस्थियाँ २, श्रोणिफलक की अस्थियाँ २, भगास्थि १, पीठ की अस्थियाँ ४५, गरदन की अस्थियाँ १५, छाती की अस्थियाँ १४, दोनों पसलियों की पर्शुकास्थियाँ २४, पसलियों के मूल में लगी हुई स्थालकास्थियाँ २४, स्थालकार्बुद अस्थियाँ २४, हन्वस्थि १, हनुमूल को बांधने वाली अस्थियाँ २, नासिकास्थि १, गण्डकूटास्थि १, ललाटास्थि १, शंखास्थियाँ २, शिर की कपालास्थियाँ ४, इस प्रकार दांतों, दाँतों के उलूखलों तथा नखों के साथ अस्थियों की संख्या ३६० होती है।

---

१. 'अथ' इति पा०।

२. 'दन्तोलूखलनखैः' इति पा०।

३. 'चत्वार्यधिष्ठानान्यासाम्' इति पा०।

४. 'मणिबन्धकौ' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार अस्थियों की संख्या ३६२ होती है। यह प्रमाद निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित खिस्ताब्द १९४१ में मुद्रित (चक्रपाणिदत्त की टीका वाली चरकसंहिता तृतीय संस्करण) प्रति का इस प्रकार है—'**द्वे जानुनी, द्वे जानुकपालिके**'। ऐसा करने से दो अस्थियाँ महर्षि आत्रेय की प्रतिज्ञा ३६० से अधिक हो जारही हैं। इसी का अनुसरण कर अन्य संस्करणों के सम्पादकों ने भी यह भूल की है। इसके पूर्व १९३३ सन् में प्रकाशित निर्णयसागर प्रेस बम्बई वाली मूल चरकसंहिता में उक्त पाठ इस प्रकार है—'**द्वे जानुकपालिके**', इस प्रकार अस्थियों का योग ३६० प्राप्त होता है। ध्यान रहे इस संस्करण में '**द्वे जानुनी**' पाठ नहीं है। श्री जयदेव विद्यालंकार की तन्त्रार्थदीपिका युक्त चरकसंहिता के नवम संस्करण सन् १९७५ में '**द्वे जानुनोः**' पाठ है, इन्होंने जान्वस्थि को महत्व दिया है, न कि जानुकपालास्थि को। चरकसंहिता के आदरणीय टीकाकार आचार्य गंगाधर को भी '**द्वे जानुनोः**' पाठ ही संमत है। नीचे दिये गये प्रमुख आचार्यों द्वारा स्वीकृत पाठों पर ध्यान दें—

१. आचार्यचक्रपाणिसम्मतः पाठः—'द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः, षष्टिः पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, द्वौ मणिकौ हस्तयोः, चत्वार्यरत्न्योररस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुकपालिके, द्वावूरुनलकौ, द्वावंसौ, द्वे अंसफलके, द्वावक्षकौ, एकं जत्रु, द्वे तालुके, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पञ्चचत्वारिंशत् पृष्ठगतान्यस्थीनि, पञ्चदश ग्रीवायां चतुर्दशोरसि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः, पार्श्वयोस्तावन्ति चैव स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटं, द्वौ शङ्खौ, चत्वारि शिरःकपालानि, एवं त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तनखेनेति'।

१. आचार्यगंगाधरसम्मतः पाठः—'द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, द्वात्रिंशद्दन्ताः, विंशतिर्नखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, षष्टिरङ्गुल्यस्थीनि, द्वे पार्ष्ण्योः, द्वे कूर्चयोः, चत्वारः पार्ष्ण्योर्नलिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, **द्वे जानुनोः**, द्वे कूर्परयोः, द्वे ऊर्वोः, द्वे बाह्वोः सक्थ्नोः, द्वावक्षकौ, द्वे तालुनी, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पुंसां मेढ्रास्थि, एकं त्रिकसंश्रितम्, एकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशास्थीनि ग्रीवायां, द्वे जत्रुणि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोः, द्वे गण्डयोः, नासिकायां घोणाख्यानि त्रीणि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः, चतुर्विंशतिः पञ्जरास्थीनि पार्श्वकानि, तावन्ति चैव स्थालकान्यर्बुदाकाराणि तानि हि सन्ति, द्वौ शङ्खकौ, चत्वारि शिरःकपालानि, वक्षसि सप्तदश, इति त्रीणि षष्ठ्यधिकानि शतान्यस्थ्नाम्', इति।

३. आचार्ययोगीन्द्रनाथसेनसम्मतः पाठः—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः, षष्टिः पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि, विंशति पाणिपादशलाकाः, चत्वार्यधिष्ठानान्यासां, पाणिपादपृष्ठान्यष्टौ, द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी, द्वे कूर्चयोः, चत्वारः पार्ष्ण्योर्नलिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः चत्वार्यरत्न्योः, चत्वारि जङ्घयोः, **द्वे जानुनोः** कपालिके, द्वे कूर्परयोः, द्वावूरुनलकौ, द्वौ बाहुनलकौ, द्वावक्षकौ, द्वे अंसास्थिनी, द्वे अंसफलके, एकं जत्र्वस्थि, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि स्त्रियाः पुंसस्तु मेढ्रास्थि, एकं त्रिकसंश्रितं, त्रिंशत्पृष्ठगतान्यस्थीनि, अष्टावुरसि, ग्रीवायां त्रयोदश, कण्ठनाड्यां चत्वारि, एकं तालुनि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति च स्थालकार्बुदानि, द्वे हनुमूलबन्धने, गण्डयोर्द्वे, कर्णयोर्द्वे, त्रीणि नासिकायां, द्वौ शङ्खौ षट् शिरःकपालानि, इति त्रीणि सषष्ठीनि शतान्यस्थ्नाम्।

चरक के व्याख्याकार आचार्य-त्रय के सम्मत पाठों को उद्धृत करने के पश्चात् आचार्य वाग्भट को भी इस चरकोक्त मत का अनुयायी पाते हैं, किन्तु भगवान् धन्वन्तरि केवल ३०० अस्थियों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, देखें—सु० शा० अ० ५। इस विवाद को देखकर ही भगवान् धन्वन्तरि लिखते हैं—'त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि'। सु० शा० अ० ५।१८।

वेदवादी महर्षि आत्रेय, याज्ञवल्क्य आदि ने अस्थियों का विचार धार्मिक दृष्टि से किया था। अतएव उनके परिगणन की उस समय कोई उपयोगिता न थी। शल्यतन्त्र में शल्यशास्त्र की दृष्टि से इनको गिना गया होगा। हमारे विचार में वैदिककाल में मानवशरीर में ३६० तथा शल्यतन्त्रकाल में ३०० अस्थियाँ पायी गयी होंगी, इसका कारण है मानवशरीर का उत्तरोत्तर ह्रास। क्योंकि यूनानी चिकित्सक २४६ या २४४ अस्थियाँ और आधुनिक विद्वान् २०६ अस्थियों की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

डॉ० त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में—'यदि एक-दो वर्ष के बालक की अस्थियों के सब टुकड़े गिने जाँय तो उनकी संख्या तीन सौ या उससे भी अधिक हो जायगी, अस्थि जैसी मोटी वस्तु के गिनने में प्राचीनों ने इतनी भूल की हो, ऐसा मन स्वीकार नहीं करता।

'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि' सु० शा० अ० ५।१९। इस गद्य द्वारा प्राचीन आचार्यों ने अंगुष्ठ में भी तीन-तीन अस्थियाँ मानी हैं। इन सब बातों को लेकर श्रीगणनाथ सेन ने इस क्षेत्र में प्राचीन विद्वानों से भूल हुई है, स्वीकार किया है। '**हमारे शरीर की रचना**' के लेखक **डॉ० त्रिलोकीनाथ वर्मा** अपनी पुस्तक के प्रथम भाग के तीसरे अध्याय में ३५ वर्ष की स्त्री का एक 'एक्स-रे' चित्र दिया है, उस अँगूठे के चित्र में एक गोल अस्थि दिखलायी दे रही है, इसको चणकास्थि कहते हैं और यह सर्वथा अलग है। अतः अँगूठे में अस्थियाँ तीन और सन्धियाँ दो ही मानना युक्तिसंगत है।

ये अस्थियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—१. कपाल, २. रुचक, ३. तरुण, ४. वलय, ५. नलक। **परिचय**—जानु, नितम्ब, अंशफलक, गंड, तालु, शंख और शिर में कपाल-अस्थियाँ और दाँतों को रुचक-अस्थि कहते हैं। नाक, कान, गरदन तथा अक्षिकोष में तरुण-अस्थियाँ, पसली, पीठ तथा छाती में वलय-अस्थियाँ और शरीर से शेष अंगों में नलक-अस्थियाँ होती हैं। अस्थिपंजर को कंकाल कहते हैं।

आधुनिक विचार—आजकल के विद्वान् स्थालकों, अर्बुदों, उलूखलों की गणना अलग नहीं करते। तरुणास्थियों (Cartilages), दाँत, नख आदि की गणना वे अस्थियों में नहीं करते। किन्तु नखों के दो भेद होते हैं—एक तो बढ़ने पर काट दिये जाते हैं, इनको नखों का मल माना गया है, शेष भाग जो अंगुलियों में लगा रहता है, ये अस्थियाँ हैं या नहीं, विवाद का विषय बना हुआ है। यद्यपि बाल्यावस्था की अनेक तरुणास्थियाँ बाद में अस्थि (Bone) का रूप धारण कर लेती हैं। फिर भी विवाद अपनी जगह पर स्थिर है।

आधुनिक दृष्टि से स्वस्थ तथा युवा पुरुष के षडंग की अस्थियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जारहा है—

१. एक बाँह में	३० अस्थियाँ
२. दूसरी ,,	३० ,,
३. एक सक्थि में	३० ,,
४. दूसरी ,,	३० ,,
५. शिर और ग्रीवा में	३६ ,,
६. मध्य देह में	५० ,,
कुल योग	२०६

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि; तद्यथा—त्वक्, जिह्वा, नासिका, अक्षिणी, कर्णौ च। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; तद्यथा—स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, दर्शनं, श्रोत्रमिति। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; तद्यथा—हस्तौ, पादौ, पायुः, उपस्थः, जिह्वा चेति ॥ ७ ॥

इन्द्रिय-विवेचन

इन्द्रियों के ५ अधिष्ठान—पाँच इन्द्रियाँ जिनमें अधिष्ठित रहती हैं, वे इस प्रकार हैं—१. त्वचा, २. जिह्वा, ३. नासिका, ४. दोनों आँखें तथा ५. दोनों कान।

इनमें रहने वाली पाँच बुद्धि-इन्द्रियाँ (जो उस-उस इन्द्रिय के विषयों का ज्ञान कराती हैं) होती हैं। जैसे—१. स्पर्शनेन्द्रिय, २. रसनेन्द्रिय, ३. घ्राणेन्द्रिय, ४. दर्शनेन्द्रिय या चक्षुरिन्द्रिय तथा ५. श्रोत्रेन्द्रिय।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—जैसे—१. दो हाथ, २. दो पैर, ३. गुद, ४. उपस्थ (स्त्री तथा पुरुष की मूत्रेन्द्रिय), ५. जिह्वा (जीभ)।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठान तथा उन अधिष्ठानों में रहने वाली परम-ऐश्वर्य (शक्ति) सम्पन्न इन्द्रियों के नाम निर्देश किये गये हैं। इनका दो बार अलग-अलग वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि त्वचा आदि के रहने पर भी (लकवा से पीड़ित अंग की त्वचा या मरे हुए पुरुष की त्वचा) स्पर्शशक्तिहीन हो जाती

है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाधिष्ठानों के रहते हुए भी वह-वह इन्द्रिय रुग्ण तथा विकारयुक्त होने के कारण शक्तिहीन होकर अपने अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ हो जाती है।

रसनेन्द्रिय का ग्रहण ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के रूप में किया गया है। यह रसना की कार्यक्षमता का और उस की अभिधेयशक्ति का प्रभाव है। देखें—'रसनं स्वजने ध्वनौ, जिह्वायां तु न पुंसि स्यात्'। मेदिनी। जैसे एक व्यक्ति जिस समय अध्यापन का कार्य करता है, उस समय वह अध्यापक है और वही व्यक्ति जिस समय पौरोहित्य का कार्य करता है तो वह उस समय पुरोहित कहा जाता है। यही स्थिति रसना की भी है, जब वह रसग्रहण करती है उस समय उसका नाम रसना है और जब वह ध्वनि या आह्वान करती है, उस समय वह जिह्वा है।

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् ॥ ८ ॥

हृदय—हृदय चेतना का एक (प्रधान) स्थान है।

वक्तव्य—इसकी रचना रक्त एवं कफ के प्रसाद से होती है। यह 'हृदय' अमरकोष में कहा गया **'हृदयं हृत्'** है; और अमरकोष में ही दूसरे स्थान पर इसको 'मन' का पर्याय इस प्रकार माना है—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः'। परन्तु प्रस्तुत हृदय 'मन' का पर्याय नहीं है, यही 'हृत्' शब्द लैटिन भाषा का 'हार्ट' है। इसका अर्थ है—'हरति रक्तम्, अथवा ह्रियते रक्तम् अनेन' इति, जो रक्त का आहरण करता है या जिससे रक्त लिया जाता है, अर्थात् शरीर में प्राप्त किया जाता है। धमन करनेवाली शिराओं को प्राणवहा इसलिये कहा गया है कि हृत् (हार्ट) के अपने कार्य से वञ्चित (फेल) हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। ध्यान रहे कि मस्तिष्क के फेल होने पर मृत्यु नहीं होती है, मूर्च्छा में कई घण्टों तथा अभिन्यास ज्वर में कई दिनों तक मानव इसीलिये जीवित रह जाता है कि इन रोगों में हृदय क्रियाशील रहता है।

आज हृदय के सम्बन्ध में विवाद है। देखें—हृदय शब्द से जहाँ 'हार्ट' का ग्रहण होता है, वहाँ मस्तिष्क के वैण्ट्रीकल को भी स्वीकार करते हैं। सभी आचार्यों ने इसको चेतना का अधिष्ठान स्वीकार किया है।

दश प्राणायतनानि; तद्यथा—मूर्धा, कण्ठः, हृदयं, नाभिः, गुदं, वस्तिः, ओजः, शुक्रं, शोणितं, मांसमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसङ्ख्यातानि ॥ ९ ॥

दस प्राणायतन—प्राणों के दस आयतन (स्थान) हैं, जैसे—१. मूर्धा, २. कण्ठ, ३. हृदय, ४. नाभि, ५. गुद, ६. वस्ति, ७. ओजस्, ८. शुक्र, ९. शोणित और १०. मांस। उपर्युक्त मूर्धा आदि प्रथम छः (मूर्धा से लेकर वस्ति तक) को मर्म कहा गया है।

वक्तव्य—चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० २९।३ में दस प्राणायतनों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः'। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्' ॥ अर्थात् इन पर आघात लगने से मृत्यु हो जाती है। एक ही आचार्य ने सूत्रस्थान में दोनों शंख-प्रदेशों को तथा शारीरस्थान में नाभि और मांस को प्राणायतन की संज्ञा दी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाभि, मांस तथा दोनों शंख-प्रदेशों को भी प्राणायतन स्वीकार करना चाहिये।

वृद्धवाग्भट का मत—'दश प्राणायतनानि, मूर्धा जिह्वाबन्धनं कण्ठो हृदयं नाभिर्वस्तिर्गुदः शुक्रमोजो रक्तं च। तेषामाद्यानि सप्त पुनर्महामर्मसंज्ञानि'। अ० सं० शा० अ० ५। इनके मत से जिह्वाबन्धन स्थान और महर्षि आत्रेय के मत से मांस प्राणायतन है। यह भिन्न-भिन्न आचार्यों का अपना-अपना दृष्टिकोण है। जिह्वाबन्धन स्थान में अनेक वातनाड़ियों का सम्बन्ध है, वही श्वासमार्ग है, वहाँ चोट लगने से मृत्यु होती है। महर्षि आत्रेय द्वारा कथित मांस शब्द यहाँ मांसमर्म समझना चाहिये। यद्यपि महर्षि आत्रेय ने उक्त गद्य में प्रथम ६ को ही मर्मसंज्ञा दी है, क्योंकि प्रथम ६ की गणना सद्यः प्राणहरमर्मों में है। विशेष विवेचन के लिये सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान का सम्पूर्ण ६ठा अध्याय देखें।

पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि; तद्यथा—नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, वस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति ॥ १० ॥

पन्द्रह कोष्ठांग—शरीरस्थित कोष्ठों के १५ भेद होते हैं, जैसे—१. नाभि (Umbilious) २. हृदय (Heart), ३. क्लोम (Pancreas), ४. यकृत् (Liver), ५. प्लीहा (Spleen), ६. दोनों वृक्क (Kidneys), ७. वस्ति (Bladder), ८. पुरीषाधार (Sigmoid and Pelvic colon), ९. आमाशय (Stomach), १०. पक्वाशय (Duodenum), ११. उत्तरगुद (Rectum), १२. अधरगुद (Anus), १३. क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) १४. स्थूलान्त्र (Large Intestine) १५. वपावहन (Omentun or Pancreas)

वक्तव्य—उपर्युक्त कोष्ठांगों के अंग्रेजी पर्यायों के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है तथापि इनको भी अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अग्निवेश के सहपाठी भेल(ड़) ने कोष्ठांगों में पक्वाशय के स्थान पर अवहनन नामक अवयव का ग्रहण किया जिसको याज्ञवल्क्यस्मृति ने भी समर्थन दिया है। परवर्ती विद्वानों ने 'अवहनन' का अर्थ 'फुफ्फुस' किया है, जो विचारणीय विषय है।

षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि षट्स्वङ्गेषूपनिबद्धानि, यान्यपरिसङ्ख्यातानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमा-
नेषु, तान्यन्यैः पर्यायैरिह प्रकाश्यानि[1] भवन्ति। तद्यथा—द्वे जङ्घापिण्डके, द्वे ऊरुपिण्डिके, द्वौ स्फिचौ,
द्वौ वृषणौ, एकं शेफः, द्वे उखे, द्वौ वङ्क्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, एकं बस्तिशीर्षम्, एकमुदरं, द्वौ स्तनौ,
द्वौ श्लेष्मभुवौ[2], द्वे बाहुपिण्डिके, चिबुकमेकं, द्वावोष्ठौ, द्वे सृक्कण्यौ, द्वौ दन्तवेष्टकौ, एकं तालु, एका
गलशुण्डिका, द्वे उपजिह्विके, एका गोजिह्विका, द्वौ गण्डौ, द्वे कर्णशष्कुलिके, द्वौ कर्णपुत्रकौ, द्वे अक्षि-
कूटे, चत्वार्यक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, एकोऽवटुः, चत्वारि पाणिपादहृदयानि ॥ ११ ॥

५६ प्रत्यंग—उपर्युक्त छः अंगों से सम्बन्धित ५६ प्रत्यंग होते हैं। पहले अंगों की गणना करते समय जिनको हमने नहीं गिना था, उन अन्य प्रत्यंगों के पर्याय यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। जैसे—२ जंघाओं की पिंडलियाँ (Calf-Regions or Fleshy part of leg), २ ऊरु पिंडिकाएँ (Thigh-Regions), २ स्फिक् (नितम्ब या चूतड़=Gluteal Regions), २ वृषण (अण्डकोष=Testis), १ शेफस् (मूत्रेन्द्रिय =Penis), २ उखाएँ (काँखें=Axillaes), २ वंक्षण (रानें=Inguinal-Regions), २ कुकुन्दर (दोनों तरफ जघनास्थियों के पीछे की ओर का निचला भाग), १ बस्तिसिर (नाभि के नीचे का भाग), १ उदर (Abdomen), २ स्तन (Mammary Regions), २ कफ के स्थान (चक्रपाणि के अनुसार गले के दोनों ओर के कठिन अवयव, गंगाधर के अनुसार दो भुजाएँ), २ बाहों की पिंडिकाएं (Bicep-Muscles-Regions), १ चिबुक (Chin), २ ओष्ठ (होंठ=Lips), २ सृक्कणी (Magin of the Lips), २ दन्तवेष्टक (मसूड़े = Gums), १ तालु (Palate) १ गलशुण्डिका (Uvula), २ उपजिह्विकाएँ (Tonsils), १ गोजिह्वा (जीभ के नीचे की छोटी जीभ = Small-tongue), २ गण्डस्थल (Cheek-Regions), २ कर्णशष्कुली (Pinna & Lobule of ear), २ कर्णपुत्रक, २ अक्षिकूट (Orbits), ४ आँख के वर्त्म (प्रत्येक आँख की दो-दो भौंहें = Eyes-Lids), २ अक्षि कनीनिकाएँ (Pupils), २ भौंहें (Eyes Brows), १ अवटु (घाटा = गर्दन का पिछला भाग = Nape of the Neck), ४ पाणि-पाद-हृदय (दो हाथों और दो पैरों के तलुए)।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार प्रत्यंगों की चर्चा सु० शा० अ० ५।४ में देखें।

नव महान्ति छिद्राणि सप्त शिरसि, द्वे चाधः ॥ १२ ॥

शरीर के नौ बड़े छिद्र—इस मानवशरीर में नौ बड़े छिद्र हैं—सात शिरःप्रदेश में (२ आंख में, २ नासिका में, २ कान में और १ मुख में) और दो नीचे भाग में (१ गुद प्रदेश में और १ मूत्रमार्ग में)।

वक्तव्य—जिनको चरक में छिद्र कहा गया है, उनको सुश्रुत में स्रोत कहा गया है। देखें—'श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्-

---

१. 'प्रकाश्य व्याख्यातानि' इति पा०।
२. 'द्वौ भुजौ' इति पा०।

रक्तवहं च'। सु० शा० अ० ५।१०। महर्षि काश्यप ने भी बड़े छिद्रों की संख्या नौ स्वीकार की है। कहीं दसवें छिद्र के रूप में त्वचा से ढके हुए ब्रह्मरन्ध्र की गणना भी की जाती है, इससे मृत्युकाल में योगियों की प्राणवायु निकलती है।

एतावद् दृश्यं शक्यमपि निर्देष्टुम् ॥ १३ ॥

दृश्य शरीर का स्वरूप—इतना (त्वचा से लेकर हाथ-पैरों के वर्णन तक) ही शरीर में दृश्य (दिखलायी देने योग्य अवयवसमूह) हैं। अतः इन्हीं का निर्देश भी किया जा सकता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार के उक्त कथन का यह आशय है कि शरीर के भीतरी अवयवसमूह का ठीक-ठीक वर्णन करना अदृश्य होने के कारण युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि उसकी आधारशिला आप्तोपदेश अथवा अनुमान है। इसी भाव को आगे स्पष्ट किया गया है।

अनिर्देश्यमतः परं तर्क्यमेव। तद्यथा—नव स्नायुशतानि, सप्त सिराशतानि, द्वे धमनीशते, [1]चत्वारि पेशीशतानि, सप्तोत्तरं मर्मशतं, द्वे सन्धिशते, [2]एकोनत्रिंशत्सहस्राणि नव च शतानि षट्पञ्चाशत्कानि सिराधमनीनामणुशः प्रविभज्यमानानां मुखाग्रपरिमाणं, तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीति। एतद् यथावत्सङ्ख्यातं त्वक्प्रभृति दृश्यं, तर्क्यमतः परम्। [3]एतदुभयमपि न विकल्पते, प्रकृतिभावाच्छरीरस्य ॥ १४ ॥

स्नायु आदि की संख्या—इसके आगे जो भी वर्णन किया जायेगा वह केवल तर्क्य (अनुमान का) विषय है, अतः उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। जैसे—स्नायुओं (Ligaments) की संख्या ९०० है, सिराओं (Veins) की संख्या ७००, धमनियों (Arteries) की संख्या २०० है, पेशियों (Muscles) की संख्या ४०० है, मर्मों (Vital-Spots) की संख्या १०७ है, सन्धियों (Joints) की संख्या २०० है, सिराओं (Veins) तथा धमनियों (Arteries) के अनुरूप से बटे हुए सूक्ष्म मुखाग्रों का परिमाण २९९५६ है, इतनी (२९९५६) ही संख्या केश, दाढ़ी तथा रोमों की भी है। यह त्वचा से हाथ-पैर तक के दृश्य अवयवों तथा उसके बाद तर्क्य (अनुमानगम्य) अवयवों की गणना ठीक प्रकार से कर दी गयी है। ये दोनों ही संख्याएँ तब तक बदलती नहीं, जब तक शरीर में किसी प्रकार की विकृति नहीं आ जाती।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने कायचिकित्सा-प्रधान इस तन्त्र की रचना करते हुए यह प्रतिज्ञा की है कि **'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः'** अतः तर्क द्वारा अनुमान किये जाने योग्य अप्रत्यक्ष स्नायु, सिरा आदि का उन्होंने भगवान् धन्वन्तरि की अपेक्षा संक्षिप्त परिचय दिया है। इनके विशेष विवेचन के लिये सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान के ५, ६, ७, ९ अध्यायों का अवलोकन करें।

सिरा-धमनियाँ—'ध्मानाद् धमन्यः, सरणात् सिराः, स्रवणात् स्रोतांसि'। चरक सू० अ० ३०।१२। धमनी के सम्बन्ध में चलने वाला यह विवाद प्राचीन है। किसी शब्द का अर्थ निश्चित करने के पूर्व वह शब्द जहाँ का हो उस तन्त्र के आचार्य का दृष्टिकोण समझ लेना अति आवश्यक होता है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है, क्योंकि **'धातूनामनेकार्थत्वात्'**, धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं और धातुओं से ही शब्दों की निष्पत्ति होती है। भगवान् आत्रेय ने तन्त्र(शास्त्र)कर्ता की युक्ति को 'तन्त्रयुक्ति' संज्ञा दी है। अतः धमनी का अर्थ करने के पूर्व शास्त्रकार का अभिप्राय जानना आवश्यक है। देखें—च० सू० अ० २६।३७।

अर्थ भी दो प्रकार का होता है—१. तात्त्विक, २. व्यावहारिक। 'तत्र केचिदाहुः'। सु० शा० अ० ९।३ के अनुसार सिरा, धमनी तथा स्रोतस् में कोई भेद नहीं है। जैसे—पाञ्चभौतिक होने के कारण हरड़ और बहेड़ा में कोई भेद नहीं है, इसी प्रकार 'सिरा' भी नाभि से उत्पन्न होती है और धमनी भी, देखें—सु० शा० अ० ९।

१. 'पञ्च' इति पा०।

२. 'एकोनत्रिंशच्छतसहस्राणि' इति पा०।

३. 'एके तदुभयमपि न विकल्पयन्ते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य' इति, 'त्वक्प्रभृति दृश्यं तर्क्यमेवेत्येके, तदुभयमपि न विकल्पते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य' इति च पा०।

रसवहन कार्य की समानता से सिरा-धमनी एक ही वस्तु है। अब रहा ध्मान का प्रश्न—संक्षेप से सिरा में जहाँ ध्मनक्रिया होती है, वहाँ उसका नाम 'धमनी' है, शेष की सिरा संज्ञा है। विशेष विवेचन के लिये सु० सू० अ० १४ को देखें।

केश, दाढ़ी मोछ, लोम—इनकी संख्या महर्षि आत्रेय ने २९९५६ मानी है। आचार्य गंगाधर के अनुसार—'त्रिंशच्छतसहस्राणि नव च' शतानि षट्—पञ्चाशत्सहस्राणि' इनकी संख्या ३०९५६ है। अन्यत्र लोमों की संख्या का उल्लेख ३०५०००००० है और कहीं ७२ करोड़ भी मिलता है।

आधुनिक विचार से मांसपेशियों की संख्या ५१९ है: देखें—डा० त्रिलोकीनाथ द्वारा विरचित 'हमारे शरीर की रचना'।

यत्त्वञ्जलिसङ्ख्येयं तदुपदेक्ष्यामः; तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव। तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन, यत्तु प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून्, यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणं; नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः, यं 'रस' इत्याचक्षते; अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसायाः, द्वौ मेदसः, एको मज्जायाः, मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं [1]तावदेव श्लैष्मिकस्यौजस इति। एतच्छरीरतत्त्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

रस आदि का परिमाण—मानव शरीर में जो रस आदि धातु अंजलि परिमाण से गिने (नापे) जाते हैं, उनका हम यहाँ उपदेश करेंगे। जिस-जिसका यहाँ जो-जो परिमाण बतलाया जायगा, वह-वह प्रमाण उस-उस का अधिकतम मात्रा (Maximum Quantity) में समझना चाहिये। उसको बढ़ते-घटते रहने वाला अनुमान द्वारा समझें। अपनी अंजलि के अनुसार शरीर में दस अंजलि जल का परिमाण है। जो जल बाहर निकलते हुए पुरीष के साथ निकलता या निकल जाता है, या प्रकृति जिसको निकाल देती है, वह जल का अतियोग (मात्रा से अधिक संग्रह) है। इसी प्रकार मूत्र, रक्त तथा शरीर की अन्य धातुओं के साथ भी सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करनेवाले जलधातु को बाहरी त्वचा (उदकवह (जल) अपना सम्बन्ध स्थिर करता है। धरा) धारण करती अर्थात् अपने द्वारा रोके रहती है, जो जल त्वचा के भीतर स्थित व्रण उत्पन्न हो जाने पर 'लसीका' संज्ञा को प्राप्त करता है, जो जल गर्मी से अनुबद्ध (प्रभावित) होकर लोमकूपों से निकलता हुआ स्वेद (पसीना) संज्ञा को प्राप्त करता है, वह जल दस अंजलि प्रमाण का है, अर्थात् उस (शरीर में स्थित) जल का प्रमाण १० अंजलि मात्र है।

आहार के परिपाक हो जाने के पश्चात् जिसको रसधातु कहते हैं, उसका परिमाण ९ अंजलि है, ८ अंजलि रक्त है, ७ अंजलि पुरीष है, ६ अंजलि श्लेष्मा (कफ) है, ५ अंजलि पित्त है, ४ अंजलि मूत्र है, ३ अंजलि वसा है, २ अंजलि मेदस् है, १ अंजलि मज्जा, आधी अंजलि मस्तिष्क है, आधी अंजलि शुक्र है, आधी अंजलि श्लैष्मिक ओजस् है। इस प्रकार शरीरतत्त्वों के परिमाण यहाँ कह दिये हैं।

वक्तव्य—रस आदि धातुओं को तौलने के लिये महर्षि आत्रेय ने **स्व अंजलि** को नाप-तौल का साधन माना है। जिसको हम Individual Norms कह सकते हैं, जैसे साढ़े तीन हाथ का आदमी, सभी अपने हाथ से ३½ हाथ के होते हैं, चाहे वह बौना हो या लम्बे से लम्बा। इतना अवश्य है कि शरीर संपत्ति के अनुसार रसादि धातुओं के परिमाण में अन्तर अवश्य होता है, यहाँ जो परिमाण दिया है वह सामान्य दृष्टि है।

अञ्जलि-परिमाण—आयुर्वेदशास्त्र में कालिंग और मागध भेद से दो प्रकार के मानों की चर्चा है। आचार्य शार्ङ्गधर ने लिखा है—**'कालिङ्गान् मागधं श्रेष्ठम्'**। 'रसयोगसार' तथा 'द्रव्यगुणविमर्श' के अनुसार सुश्रुत में मागध-मान और चरक में कालिंग-मान को समर्थन प्राप्त है।

१. 'तावदेव चौजसः, स्त्रीणामार्तवस्य चत्वारोऽञ्जलयः' इति पा०।

मागधमान	कालिंगमान
२ कर्ष = ½ पल	१० माशा = १ कर्ष
२ अर्धपल = १ पल	४ कर्ष = १ पल
२ पल = १ प्रसृति	४ पल = १ कुडव
२ प्रसृति = १ अंजलि	(४ पल = १ अंजलि)
देखें—शा० सं० प्र० खं० श्लो० २५-२६	देखें—शा० सं० प्र० खं० श्लो० ४१-४२

विशेष—जिसको मागधमान में 'अंजलि' कहा गया है, उसके पर्याय हैं—कुडव, अर्धशरावक तथा अष्टमान। कालिंगमान में 'अंजलि' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः 'कुडव' नाम से काम चलेगा। मागधमान (मगधदेश, बिहारप्रान्त) में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत ९६ रत्ती = १ तोला को १ कर्ष कहा गया है। कालिंगमान (उड़ीसाप्रान्त) में ८० रत्ती का एक कर्ष माना गया है। 'कालिङ्गान् मागधं श्रेष्ठम्' का यही कारण है। यहाँ श्रेष्ठ का अर्थ मात्रा (परिमाण) में अधिक या बहुजनसम्मत समझना चाहिये। इस प्रकार मागधमान से १ अंजलि = १६ तोला और १० अंजलि १६० तोला के बराबर होती है। इसी प्रकार अन्य अंजलियों का प्रमाण भी समझ लें।

तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद्गुरुखरकठिनमङ्गं नखास्थिदन्तमांसचर्मवर्चःकेशश्मश्रुलोमकण्डरादि तत् पार्थिवं गन्धो घ्राणं च; यद्द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च; यत् पित्तमूष्मा च यो या च भाः शरीरे तत् सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शनं च; यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च; यद् विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च; यत् प्रयोक्तृ तत् प्रधानं बुद्धिर्मनश्च। इति शरीरावयवसङ्ख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा ॥ १६ ॥

१. **पार्थिव भाव**—शरीर में जो विशेष रूप से स्थूल, स्थिर, मूर्तिमान्, गुरु, खर तथा कठिन अंग हैं, वे सब पार्थिव (पृथिवीतत्त्व-प्रधान) हैं। जैसे—नख, अस्थि, दाँत, मांस, चर्म (त्वचा), वर्चस् (मल), केश श्मश्रु (दाढ़ी-मोंछ), लोम, कण्डरा ये सभी अंग, गन्ध और नासिका भी पार्थिव हैं।

२. **आप्य भाव**—जो द्रव, सर, मन्द, स्निग्ध, मृदु तथा पिच्छिल द्रव्य हैं, वे सब आप्य भाव हैं। यथा—रस, रक्त, वसा, कफ, पित्त, मूत्र एवं पसीना आदि और रस एवं रसना (जीभ) ये सभी आप्य (जलीयभाव) है।

३. **तैजस् भाव**—जो शरीर में पित्त, ऊष्मा (गर्मी) तथा भा (तेज या चमक) है, ये सब रूप एवं दर्शन (चक्षुरिन्द्रिय) आग्नेय (तैजस्) भाव हैं।

४. **वायवीय भाव**—जो उच्छ्वास, प्रश्वास, उन्मेष (आँख खोलना), निमेष (आँख मूँदना), अंगों का आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना), गमन, प्रेरण, धारण आदि सब स्पर्श एवं स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) ये वायवीय भाव हैं।

५. **आन्तरिक्ष भाव**—जो शरीर में विविक्त (शून्य) स्थान हैं, बड़े और छोटे स्रोत हैं, शब्द तथा श्रोत्रेन्द्रिय हैं, ये सब आन्तरिक्ष (आकाशीय) भाव हैं।

६. **आत्मज भाव**—जो इन सबका प्रयोग करने वाला है, वह प्रधान (आत्मा) है और बुद्धि, मन भी प्रधान है ये ही ज्ञानसंयोग में कारण होते हैं। इस प्रकार शरीर के अवयवों की संख्या मोटे रूप से अवयव भेद द्वारा बतला दी गयी है।

वक्तव्य—यहाँ आप्य भावों में रस शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है, पहला रस आहार के परिणाम रूप से प्राप्त 'रस' है और दूसरा 'रस' भोजनकाल में रसना द्वारा ग्रहण किया जाने वाला मधुर आदि रस है।

भगवान् धन्वन्तरि के मतानुसार—'आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता, पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति'। सु० शा० अ० १।१९।

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसङ्ख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च ॥ १७ ॥

शरीरावयवों की असंख्यता—ऊपर जिन स्थूल अवयवों का निर्देश किया गया है, वास्तव में जब उनको परमाणु रूप में विभाजित किया जाता है तो वे अनगिनत हो जाते हैं। क्योंकि परमाणुओं की संख्या अनगिनत है, वे अतिसूक्ष्म होते हैं और इनका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता है। उन परमाणुओं के संयोग (परस्पर जुटने) और विभाग (जुटे हुए परमाणुओं का अलग होने) में वायु, कर्म (पूर्वजन्मार्जित या वर्तमान धर्म अथवा अधर्म) तथा स्वभाव कारण होता है।

वक्तव्य—यहाँ संयोग का तात्पर्य है—'पञ्चमहाभूतों के समवाय से जन्म लेने वाला पुरुष'। इस परमाणुसंयोग में वायु, कर्म तथा स्वभाव, ये तीनों कारणरूप से परिणत होते हैं। इसी प्रकार विभाग (मृत्यु—मानव का इस लोक से अलग होना अथवा आत्मा का शरीर से पृथक् होना) है।

आधुनिक विद्वान् शरीर की उत्पत्ति में सेलों (Cells) का योगदान स्वीकार करते हैं, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अपरिसंख्येय, अत्यन्तसूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते हैं। वैशेषिक मत को स्वीकार करने वाले विद्वान् तो सर्वत्र परमाणुओं की सत्ता को स्वीकार करते ही हैं।

तदेतच्छरीरं सङ्ख्यातमनेकावयवं दृष्टमेकत्वेन सङ्गः, पृथक्त्वेनापवर्गः। तत्र प्रधानमसक्तं [1]सर्वसत्तानिवृत्तौ निवर्तते इति ॥ १८ ॥

शरीरावयव-ज्ञान से लाभ—यह शरीर अनेक अवयवों से युक्त कहा गया है। उन अनेक अवयवों को एक में मिला हुआ देखना ही संग (आसक्ति-संसार के प्रति अनुराग तथा पुनर्जन्म अथवा सन्तान-प्राप्ति की कामना) है। इन अवयवों को अलग-अलग देखना या समझ लेना अपवर्ग (मोक्ष) है। उसमें जब प्रधान (आत्मा) प्रकृति से असक्त (संगरहित) होता है तब वह सब प्रकार की सत्ता से निवृत्त हो जाने पर स्वयं निवृत्त (मुक्त) हो जाता है। अर्थात् उक्त संयोग-विभाग की शृंखला की समाप्ति हो जाने पर प्रधान (आत्मा) सर्वतोभावेन मुक्त हो जाता है।

तत्र श्लोकौ—

शरीरसङ्ख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्। तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥१९॥
असूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते। निर्दोषो निःस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः ॥२०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने शरीरसङ्ख्याशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

उपसंहार—जो चिकित्सक प्रत्येक अवयव के साथ शरीरसंख्या (शरीर के अवयवों) को जानता है, वह अज्ञान के कारण उत्पन्न होने वाले मोह से युक्त नहीं होता। इस प्रकार का अमूढ़ (शरीर के अवयवों को जानने वाला विद्वान्) मोह(अज्ञान)मूलक दोषों से अभिभूत (आक्रान्त) नहीं होता है। ऐसा विद्वान् निर्दोष, निःस्पृह (किसी वस्तु की इच्छा से रहित), पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होकर अत्यन्त शान्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित **चरक-चन्द्रिका** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य, आदि से संवलित चरकसंहिता शारीरस्थान में शरीरसंख्याशारीर नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

१. 'सर्वसन्ताननिवृत्तौ' इति पा०।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

शारीरसंख्याशारीर के वर्णन के बाद अब हम जातिसूत्रीयशारीर की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—अन्यत्र 'एकत्व विशिष्टा जातिः' नियम के अनुसार घट, पट आदि का भी ग्रहण होता है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में 'जाति' शब्द से जन्म अर्थ अपेक्षित है। अतः 'जातिः (जन्म) तस्याः सूत्रमधिकृत्य कृतं = जातिसूत्रीयं शारीरम्'। इस अध्याय के नामकरण का यह अभिप्राय है। अर्थात् शिशु के जन्म के लिये बीज बोने से लेकर प्रसव के बाद तक के विषयों का सूत्रण (निरूपण) यहाँ किया जायगा।

स्त्रीपुंसयोरव्यापन्नशुक्रशोणितगर्भाशययोः श्रेयसीं प्रजामिच्छतोस्तदर्थाभिनिर्वृत्तिकरं[1] कर्मोपदेक्ष्यामः ॥ ३ ॥

गर्भाधान-प्रकरण

(Chapter of Conception)

उत्तम सन्तानोत्पत्ति का उपदेश—दोषरहित शोणित (आर्तव) और गर्भाशय वाली स्त्री तथा सर्वथा/शुद्ध शुक्र वाला पुरुष जब ये दोनों उत्तम (सर्वगुणसम्पन्न) सन्तान-प्राप्ति के इच्छुक हों, तब हम गर्भाधान करने वाले कर्मों (विधियों) का उपदेश करेंगे।

वक्तव्य—पवित्रान्तःकरण वाले महर्षियों ने केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही सहवास की अनुमति दी है, न कि विसृष्टि (मैथुन काल में वीर्य त्याग करते समय होने वाले) सुख के लिये, क्योंकि इसका परिणाम आगे चलकर कष्टकारक होता है, देखें—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' और 'ये तु संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'।......न तेषु रमते बुधः' ॥ गीता। 'सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः सङ्गतिं रहः'। अ० हृ० शा० अ० १। ३०।

अथाप्येतौ स्त्रीपुंसौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य, वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य, क्रमेण प्रकृतिमापादयेत्। संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्यामुपाचरेत्; उपाचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं, स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम् ॥ ४ ॥

गर्भधान के पहले स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य—गर्भाधान की इच्छा वाले इन दोनों स्त्री तथा पुरुष को स्निग्ध और स्विन्न (स्नेहन, स्वेदन) कराकर तदनन्तर वमन-विरेचन द्वारा संशोधन कराकर (स्नेहन, स्वेदन तथा वमन-विरेचन काल में जिस प्रकार के आहार-विहार की व्यवस्था की गयी हो, उसके बाद) सामान्य आहार-विहार का अभ्यास करायें। उपर्युक्त उपचारों से जब शरीर शुद्ध हो जाय तब यथाविधि आस्थापन एवम् अनुवासन बस्तियाँ देकर उनका उपचार करे, इसके बाद मुलेठी आदि मधुर औषधद्रव्यों से संस्कृत (पकाये गये) दूध-घी से पुरुष का और तैल तथा उड़द का सेवन कराकर स्त्री का उपचार करें।

वक्तव्य—चरकोक्त उक्त भावों का समर्थन अन्य संहिताकारों ने भी किया है। देखें—सु० शा० अ० २। २८ तथा अ० हृ० शा० अ० १। १९-२०। विशेषतः पुरुष को मुलेठी आदि मधुर औषधद्रव्यों को डालकर पकाये हुए दूध तथा घी के साथ शालि चावलों का भात खिलाये और नारी को तैल से बने उड़द के पदार्थ दें अथवा उड़द के तेल में पकाये पदार्थ दें। उड़द के स्थान पर मांसभक्षण का आदेश भी देखा जाता है। इस विधि का सेवन पूरे एक मास तक नर-नारी को करना चाहिये, इस बीच में दोनों ब्रह्मचर्य का सेवन करें।

---

१. 'तन्निर्वृत्तिकरम्' इति पा०।

ततः पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी, पाणिभ्यामन्नमजर्जरपात्राद्[1] भुञ्जाना, न च काञ्चिन्मृजामापद्येत। ततश्चतुर्थेऽह्न्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत् पुरुषं च। ततः शुक्लवाससौ स्रग्विणौ सुमनसावन्योऽन्यमभिकामौ संवसेयातां स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहःसु पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ५ ॥

ऋतुकाल में नारी का कर्त्तव्य—उपर्युक्त विधि से शरीर को शुद्ध तथा पुष्ट कर लेने के बाद जिस दिन स्त्री को पुष्प (रजस्) का दर्शन हो उस क्षण से लेकर तीन रात्रि तक वह ब्रह्मचारिणी रहे, भूमि पर शयन करे, हाथों के ऊपर अजर्जर (नये) पात्र में भोजन रखकर हाथ से भोजन करती हुई, किसी प्रकार की (शरीर को अलंकृत करने रूपी) सफाई न करे। इस प्रकार तीन दिन बितायें, उसके बाद चौथे दिन इसको उबटन लगाकर सिर से ही स्नान कराकर सफेद (स्वच्छ) वस्त्र धारण करायें और पुरुष को भी (उबटन तथा सिर से स्नान कराकर) सफेद वस्त्र धारण करायें।

तदनन्तर वे दोनों स्त्री-पुरुष साफ (शुद्ध) वस्त्र और माला धारण कर प्रसन्नचित्त होकर एक दूसरे की कामना करने वाले, स्नान करने के (चौथे) दिन से लेकर पुत्र की इच्छा करने वाले, युग्म (सम) रात्रियों (चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं) में और कन्या की इच्छा करने वाले अयुग्म (विषम) रात्रियों (पाँचवीं आदि) में सहवास करें।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने ऋतुमती स्त्री को ब्रह्मचारिणी रहने का आदेश दिया है। ब्रह्मचारी के नियमों का विस्तृत विवेचन स्मृति-ग्रन्थों में देखें। भगवान् धन्वन्तरि ने ऋतुमती के सहेतुक नियमों का इस प्रकार वर्णन किया है—'ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्, किं कारणं दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद् विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासः समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्'। सु० शा० अ० २।२५। इसका व्याख्यान यथास्थान देखें।

पाणिभ्यामन्नमजर्जरपात्राद् भुञ्जाना—उक्त गद्यांश का सुस्पष्टरूप सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार दिया है—'करतलशरावपर्णान्यतमभाजिनीम्' अर्थात् हथेली, शराव (पुरवा, सकोरा), पत्ता या पत्तल में रखकर भोजन करने वाली। इस विधि का अनुसरण करने से स्त्री-पुरुष कन्या या पुत्र की यथाभिलषित प्राप्ति कर सकते हैं। इस विषय को सुश्रुत शा० अ० २ के २८ वें गद्य में देखें। सुश्रुत में यह सहवासकाल रात्रि में माना है, परन्तु डॉ० कोवन आदि दिन में बतलाते हैं। यह वचन श्रुति, स्मृति का स्पष्ट विरोध करता है। ऊपर जो 'भर्तारं दर्शयेत्' यह शास्त्र का वचन है, इसका तात्पर्य है कि ननद या सखी उस ऋतुमती को सर्वप्रथम पति का दर्शन करायें, ऐसा करने से पति के अनुरूप उसकी सन्तान होगी। विशेष विवरण के लिए सु० शा० अ० २।२६ देखें।

न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति, पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा स च्युतः पिदधाति गर्भाशयं, वामे पार्श्वे पित्तं तदस्याः पीडितं विदहति रक्तं शुक्रं च, तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्; तथाहि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्। तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धाऽन्यं च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा न गर्भं धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति। अतिबालामतिवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत्। पुरुषेऽप्येत एव दोषाः। अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम् ॥

गर्भाधान-विधि—अधोमुख करके सोयी हुई, दायें या बायें करवट से सोई हुई स्त्री के साथ सहवास (गर्भाधान के निमित्त मैथुन) न करे, अधोमुख से सोयी हुई स्थिति में सहवास करने से वायु की वृद्धि हो जाती

---

१. 'अजर्जरपात्रे' इति पा०।

है, वह योनि को पीड़ित कर देता है। दाहिने करवट से सोयी हुई स्थिति में सहवास करने से कफ अपने स्थान से च्युत होकर गर्भाशय के मुख को ढक देता है, जिससे गर्भाधान होने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। बांये करवट से सोयी हुई स्थिति में सहवास करने से पीड़ित (दबा हुआ) पित्त रक्त (स्त्रीबीज) और शुक्र (पुरुष बीज) को दाह युक्त कर देता है, इसलिये चित्त लेटकर ही स्त्री को बीजग्रहण करना चाहिये, अर्थात् गर्भ-धारण की इच्छुक स्त्री को चाहिये कि वह पीठ के बल (सीधा) सोकर पुरुषबीज (शुक्र) का ग्रहण करे। ऐसा करने से वात आदि सभी दोष अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। अतः गर्भाधान के लिये यही आसन निरापद माना गया है। मैथुन के समाप्त हो जाने पर इस स्त्री को शीतल जल से स्नान करा दें।

सहवास के अयोग्य स्त्री—जिसने बहुत अधिक भोजन कर लिया हो, भूखी, प्यासी, भयभीत, विमना (जो गर्भधारण करना न चाहती हो), शोक से पीड़ित, क्रोधयुक्त, दूसरे (अपने पति से अन्य) पुरुष को चाहने वाली और जिसकी इच्छा मैथुन से तृप्त न होती हो, अर्थात् पुरुष के क्षरित हो जाने पर भी मैथुन करते रहने की इच्छा वाली स्त्री गर्भधारण नहीं करती या नहीं कर पाती। यदि किसी प्रकार गर्भधारण कर भी लेती है तो विपरीत गुण वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। जो अत्यन्त बाला (जिसको मासिक-धर्म होना प्रारम्भ न हुआ) हो, जो अत्यन्त वृद्धा (जिसका मासिक-धर्म समाप्त हो गया) हो, चिरकाल से जो बीमार हो अथवा अन्य किसी विकार (भूत-प्रेतादि बाधा) से पीड़ित हो, ऐसी स्त्री में गर्भाधान न करे। सहवास के अयोग्य स्त्री के जो दोष ऊपर कहे गये हैं, इसी प्रकार के दोषों से युक्त पुरुष भी गर्भाधान-क्रिया में अयोग्य समझा जाता है। पुरुष के पक्ष में शुक्रप्रवृत्ति के पूर्व अतिबाल और शुक्रनिवृत्ति के पश्चात् अतिवृद्ध समझना चाहिये। इसलिये सभी दोषों से युक्त अर्थात् सभी गुणों से युक्त स्त्री-पुरुष गर्भाधान के लिये आपस में मिलें।

वक्तव्य—वात्स्यायन-कामसूत्र में यौन (सहवास) सुख प्राप्त करने के लिये अनेक आसनों तथा स्तम्भक योगों की चर्चा है। यहाँ केवल उत्तम सन्तान-प्राप्ति के लिये ही उपर्युक्त निषिद्ध आसनों (अधोमुख, दक्षिणपार्श्व, वामपार्श्व सोई हुई स्त्री, इसी प्रकार ऊर्ध्वमुख, दक्षिणपार्श्व, वामपार्श्व सोया हुआ पुरुष गर्भाधान के लिये निषिद्ध हैं।) की चर्चा की गयी है।

बाला तथा वृद्धा का परिचय—'तद् वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरा पक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्' ॥ सु० शा० अ० ३।११। यह १२ वर्ष तथा ५० वर्ष की सीमा उष्णकटिबन्ध और शीत-कटिबन्ध प्रदेशों के अनुसार घटायी और बढ़ायी जा सकती है। इसके आगे भगवान् धन्वन्तरि इसी सम्बन्ध में अपना दूसरा विचार प्रस्तुत करते हैं। देखें—'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्'। सु० शा० अ० १०।५३। अर्थात् २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री पूर्णरूप से बल-वीर्य युक्त हो जाते हैं। आयु का उक्त निर्देश केवल पूर्ण यौवनप्राप्ति के प्रति है। यही कारण है कि इस आयु परिधि का निर्धारण अलग-अलग प्रकार से शास्त्रान्तरों में प्राप्त होता है। जैसे—अष्टाङ्गसंग्रह में २१ वर्ष, शार्ङ्गधरसंहिता में २० वर्ष और मनुस्मृति में ३० वर्ष की आयु-सीमा पुरुष के लिये निर्धारित है परन्तु नारी की आयु १६ वर्ष होनी ही चाहिये। अष्टांग-संग्रहकार का विचार है कि २१ वर्ष का युवक १६ वर्ष की युवती से पुत्र-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे। इसी प्रसंग में २१ वर्ष का युवक और १२ वर्ष की युवती के जोड़े की भी चर्चा की है।

वाग्भट के शब्दों में—'पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संयुता। शुद्धगर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा' ॥ अ० हृ० अ० १। भगवान् धन्वन्तरि का भी यही मत है। देखें—सु० शा० अ० १०। ५४–५६। अतः गर्भाधान के पूर्व स्त्री-पुरुष की आयु तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना आवश्यक है।

गर्भाधान-काल की सीमा—'नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति' ॥ चरक चि० अ० २ पाद ४ श्लो० ४०। इसके अनुसार १६ से लेकर ७० वर्ष तक पुरुष सन्तान की उत्पत्ति (गर्भाधान करने) में समर्थ होता है, बाद में नहीं। यह सीमा स्वास्थ्य की उत्तमता पर निर्भर रहती है। अन्यत्र ५५ वर्ष तक स्त्री में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति होती है और ७७ वर्ष तक पुरुष के वीर्य में शुक्राणु पाये जाते हैं। डाक्टर कूपर (Cooper) का कथन है कि ९६ वर्ष (मरने के चार वर्ष पहले तक) की अवस्था में डॉ० ऐवल (Avel) ने एक पुरुष में शुक्राणु देखे थे। परन्तु वे कार्यक्षम नहीं होते हैं। स्त्रियों में गर्भ-धारण की अन्तिम सीमा रजोधर्म के चालू रहने तक होता है, क्योंकि पुष्प के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती।

जिस प्रकार गूलर आदि के फलों की उत्पत्ति में पुष्प के दिखलायी न देने पर भी उस पुष्प की सत्ता होती है, ठीक उसी प्रकार कुछ अदृष्टार्तवा स्त्रियां भी होती हैं जिनमें सन्तानोत्पत्ति की क्षमता रहती ही है।

सञ्जातहर्षौ मैथुने चानुकूलाविष्टगन्धं स्वास्तीर्णं सुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनमशित्वा नात्यशितौ दक्षिणपादेन पुमानारोहेत्, वामपादेन स्त्री ॥ ७ ॥

शय्यारोहण-क्रम—मन को अच्छा लगने वाला, हितकर किन्तु हलका भोजन किये हुए, मैथुन (सहवास) के लिये परस्पर अनुकूल भावना वाले अतएव प्रसन्नचित्त स्त्री-पुरुष अच्छी प्रकार बिछे हुए सुखदायक पलंग को तैयार कर के उस (पलंग) पर दाहिने पैर से पुरुष और बांये पैर से स्त्री चढ़े।

वक्तव्य—यहाँ 'मैथुने चानुकूलौ' इस गद्यांश से ऊपर कहे गये 'अन्यं पुमांसम् इच्छन्ती…न गर्भं धत्ते' का पुनः स्मरण दिलाया है। प्रायः व्यभिचारिणी स्त्रियों को इसलिये भी गर्भाधान नहीं होता कि वे और भी अनेक कुचक्र चलाती रहती हैं।

तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत—

'अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठाऽसि धाता त्वा दधातु, विधाता त्वा दधातु, ब्रह्मवर्चसा भव' इति।

गर्भाधानकाल में पठनीय मन्त्र—आधान किये जाने वाले (शुक्र-शोणितरूप) गर्भ तुम सूर्य के समान हो, आयु हो, सब प्रकार से तुम सम्मानित हो, धाता तुम को धारण करे, विधाता तुमको धारण करे और तुम ब्रह्मवर्चस् (तेज) से युक्त होओ। तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्र पढ़े—

'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ [1]वीरं ददतु मे सुतम्' ॥

पौराणिक-मन्त्र—ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), बृहस्पति (देवताओं के गुरु), विष्णु (आत्मारूप से सब में व्याप्त देव), सोम सूर्य (प्रकाश तथा ज्ञान के देव), अश्विनीकुमार (स्वास्थ्य-प्रदानकर्ता), भग (अदिति का पुत्र, सिद्धि का पति, देखें—भागवत ६।६।३९) तथा मित्रावरुण (युगल देवता) ये मुझे वीरपुत्र दें। इस मन्त्र को पति-पत्नी दोनों पढ़ें।

इत्युक्त्वा संवसेयाताम् ॥ ८ ॥

उक्त मन्त्रों को पढ़ करके दोनों सहवास (गर्भाधान) करें।

सा चेदेवमाशासीत—बृहन्तमवदातं हर्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति, शुद्धस्नानात् प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातयवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसाऽऽलोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत् पानाय। प्रातश्च शालियवान्नविकारान् दधिमधुसर्पिर्भिः पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत, तथा सायमवदातशरणशयनासन[2]पानवसनभूषणा च स्यात्। सायं प्रातश्च शश्वच्छ्वेतं महान्तं वृषभमाजानेयं वा हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्। सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोनुकूलाभिरुपासीत। सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टांश्च स्त्रीपुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्। सहचर्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुस्तथा भर्ता। न च मिश्रीभावमापद्येयातामिति। अनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वाऽष्टमेऽहन्याप्लुत्याद्भिः सशिरस्कं सह भर्त्रा अहतानि वस्त्राण्याच्छादयेदवदातानि, अवदाताश्च स्रजो भूषणानि च बिभृयात् ॥ ९ ॥

---

१. 'पुत्रं वीरं दधातु मे' इति पा०।
२. 'यान' इति पा०।

गर्भ एवं गर्भिणी-परिचर्या

(Care of Product of Conception & Pregnant Women)

उत्तमसन्तान-प्राप्ति के उपाय—यदि वह स्त्री ऐसा चाहती हो कि मेरा पुत्र बृहत्काय (Large-bodied), अवदात (गौर) वर्ण वाला, शेर या शेर के सदृश रोबीली आँखों वाला, ओजस्वी, पवित्र स्वभाव वाला तथा सत्वगुण युक्त हो तो मासिकधर्म के चौथे दिन शुद्धस्नान करने के समय से ही उसको सफेद (छिलका उतारे हुए) जौ के सत्तू को माता के अनुरूप वर्णवाली सफेद गाय के दूध में घोलकर, उसमें मधु और घी मिलाकर, चाँदी या काँसे के बरतन में रखकर एक सप्ताह तक पीने के लिये दें। प्रातःकाल वह स्त्री शालिचावल और जौ से बने हुए भोज्य पदार्थों को दही, मधु (शहद), घी अथवा दूध के साथ मिलाकर खाये, इसी प्रकार सायंकाल भी भोजन करे तथा वह स्त्री अवदातशरण (चूना पुते हुए घर = सौध) में निवास करे, स्वच्छ (सफेद) बिस्तरे पर शयन करे, सफेद आसन पर बैठे, पान (दूध) पीये, (किसी संस्करण में यहाँ **'यान'** पाठभेद है, तदनुसार सफेद चादर आदि से घिरी सवारी द्वारा घूमे, फिरे, यात्रा करे), सफेद वस्त्र एवम् आभूषणों को धारण करे, प्रतिदिन सायंकाल तथा प्रातःकाल सफेद एवं बहुत बड़े बैल, आजानेय (अच्छे कुल में उत्पन्न सफेद घोड़े), हरिचन्दन (ज्योत्स्ना = चांदनी, चन्दनभेद, यहाँ सफेद वस्तुओं के प्रसंग में चाँदनी अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। देखें—'हरिचन्दनमस्त्री स्यात् त्रिदशानां महीरुहे। नपुंसकं तु गोशीर्षे ज्योत्स्नाकुङ्कुमयोरपि' ॥ इति मेदिनी।), अंगद (बाजूबन्द=अनन्त को देखे। सौम्य (मृदुतापूर्ण) तथा मन के अनुकूल बातचीत एवं कथाएँ सुनाते हुए इसकी उपासना करे, अर्थात् इसके पास बैठने वाली सखी-सहेलियाँ मनोरञ्जक कथा-वार्ता से इसका मन बहलाएँ। सौम्य आकृति, वचन, व्यवहार एवं चेष्टा वाले स्त्री-पुरुषों को देखे. इसके अतिरिक्त और भी जो इन्द्रिय के विषय हैं उनमें भी अवदात उज्ज्वल)वर्ण वाला ही देखें। इसकी सखियाँ और इसका पति भी इसके साथ प्रिय तथा हितकर व्यवहार करे, किन्तु पति-पत्नी इस काल में कभी सहवास न करे। इस प्रकार सात रातें बिता कर आठवें दिन पति के साथ वह स्त्री शिर से स्नान करके नये सफेद वस्त्रों, मालाओं एवं भूषणों को धारण करे।

वक्तव्य—उत्तम पुत्र की प्राप्ति के लिये उज्ज्वल वर्ण की वस्तुओं के दर्शन का विधान गर्भिणी के लिये किया गया है। इस प्रसंग में आये हुए अनेक द्रव्य विवेचनीय हैं।

मधु—ध्यान देने योग्य है कि नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पर्वतीय प्रदेशों में कार्तिक मास में निकाला हुआ शहद पीताभ-श्वेतवर्ण का होता है, यहाँ इसी मधु के सेवन का निर्देश समझें।

मन्थ—सत्तू में घी-चीनी मिलाकर ठंडा जल डालकर मथे हुए पदार्थ को 'मन्थ' कहते हैं, किन्तु यहाँ पर जिन संस्कारों को करने के बाद सत्तू 'मन्थ' का रूप धारण करता है, उसके पहले ही उस सत्तू को **'सूत्रशाटकन्याय'** (महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'इग्यणः सम्प्रसारणम्'** सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इस न्याय का प्रयोग किया है।) से 'मन्थ' संज्ञा प्रदान की है, इसको लोक में **'भाविसंज्ञाविज्ञान'** कहते हैं।

हरिचन्दन—इस शब्द के सम्बन्ध में चक्रपाणि लिखते हैं—'हरिचन्दनशब्देन श्वेतचन्दनं विवक्षितं, हरिशब्दस्यानेकार्थत्वात्'। हमने अपना अभिप्राय टीका करते हुए ऊपर लिख दिया है।

अवदातान् इन्द्रियार्थान्—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, उनमें चक्षु (नेत्र) का विषय रूप है। यहाँ तो अवदात (उज्ज्वल) रूप संगत हो जाता है, अन्य इन्द्रियों के विषय में उस-उस इन्द्रिय के अवदात भावों को चखने, सूँघने, बोलने तथा स्पर्श करने के रूप में समझें।

हर्यक्षम्—यहाँ पर 'सिंहो माणवकः' इस गौणी लक्षणा के समान ही, यह प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य है—'सिंहस्वरूपं विक्रान्तं पुत्रम्'। अथवा 'पिङ्गाक्षं पुत्रम्'।

तत ऋत्विक् प्रागुत्तरस्यां दिश्यगारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुपलिप्य, प्रोक्ष्य चोदकेन, वेदीमस्मिन् स्थापयेत्। तां पश्चिमेनानाहतवस्त्रसञ्चये श्वेतार्षभे वाऽप्यजिन उपविशेद् ब्राह्मणप्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे वास्ते वा। तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय, कुशैः परिस्तीर्य, परिधिभिश्च परिधाय, लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिरुपकिरेत्। तत्र प्रणीयोदपात्रं पवित्रपूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ १० ॥

यज्ञवेदी-विधान—आठवें दिन उक्त विधि से स्नान करने के बाद ऋत्विक् ('ऋतौ यजति'—यज्ञकर्ता = Domestic Chaplain) घर की पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जहाँ की भूमि पूर्व या उत्तर की ओर झुकी हो, ऐसे स्थान को देखकर उस भूमि को गोबर तथा पानी से लीप कर फिर उस पर पानी छिड़क कर, इसके ऊपर वेदी को स्थापित करे। यदि ब्राह्मण द्वारा पुत्रेष्टि-यज्ञ किया जा रहा हो तो वह उस वेदी के पीछे की ओर बिना फटे हुए सफेद वस्त्रसंचय (गद्दी) पर या सफेद वर्ण वाले बैल के चर्म पर बैठे। (यह ब्राह्मण के लिये दिशा और आसन का निर्देश किया गया है, पश्चिम की ओर बैठने से यजमान का मुख पूरब की ओर को होगा)। यदि क्षत्रिय द्वारा पुत्रेष्टि-यज्ञ किया जा रहा हो तो वह बाघ के अथवा बैल के चर्म पर बैठे और यदि वैश्य द्वारा पुत्रेष्टि-यज्ञ किया जा रहा हो तो वह रुरु मृग के चर्म पर या बकरे के चर्म पर बैठे। (क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये दिशा-निर्देश नहीं किया है, अतः इनके लिये भी वही दिशा उपयुक्त समझें)।

उस आसन पर बैठकर ऋत्विक् पलाश (ढाक), इंगुदी (हिंगोट), उदुम्बर (गूलर) अथवा मधूक (महुआ) की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित करके उस वेदी के ऊपर कुशों को फैलाकर परिधियों (पलाश के चार डंडों को गाड़कर उन) से चारों ओर से घेरकर ऊपर से आच्छादन (वस्त्र) डालकर सफेद लाजों (खीलों) एवं सुगन्धित फूलों को बिखेरे। (यहाँ तक वेदी को सजाने की शास्त्रीय प्रक्रिया का वर्णन है।) उस यज्ञशाला में स्वच्छ जलपात्र रखकर उसमें पवित्री डालकर मन्त्र से पवित्र (अभिमन्त्रित) कर, हवन के लिये सुसंस्कृत घी रखे तथा जैसे वर्ण की सन्तान की कामना हो उस-उस वर्ण के कुलीन घोड़े आदि वस्तुओं को चारों ओर रखे।

वक्तव्य—यज्ञ के विस्तृत विधान का यह संक्षिप्त रूप है। मीमांसाशास्त्र के अनुसार इसको **कुशकण्डिका** कहते हैं। **वेदी**—इसके दो रूप यज्ञशालाओं में दृष्टिगोचर होते हैं—१. स्थण्डिल और २. कुण्ड। उपलिप्य, प्रोक्ष्य आदि को **पञ्चभूःसंस्कार** कहते हैं।

प्रणीयोदपात्रम्—कुशकण्डिका में इसके स्थान पर **'प्रणीतोदकपात्रम्'** इस प्रकार समस्त पद का प्रयोग हुआ है। इसमें दो पद हैं—प्रणीता और उदक या उदपात्र। हमारी समझ से यहाँ भी ऐसा ही पाठ रहा होगा, लिपिकर्ता, संस्कर्ता की भूल से उक्त पाठ रह गया होगा। **पवित्रपूतम्**—कुश द्वारा निर्मित पवित्र के मन्त्रयुक्त स्पर्श से पवित्र जल, ऐसा अर्थ ही यहाँ अभीष्ट है। वैदिक मन्त्रों पर ध्यान दें।

सर्पिराज्यार्थम्—यहाँ 'सर्पिः' और 'आज्य' दोनों शब्द एकार्थक हैं। चक्रपाणि के अनुसार 'मन्त्र से पवित्र घृत को बनाने के लिये' ऐसा अर्थ है, जिसका कोई आधार प्रतीत नहीं होता। वी. एस्. आप्टे के अनुसार देखें—'सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं भवेत्'। इससे अर्थ को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है।

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपविश्यान्वालभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना। ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्वर्तयेद् 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यनयर्चा। ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिघार्य त्रिर्जुहुयाद् यथाम्नायम्। मन्त्रोपमन्त्रितमुदपात्रं तस्यै दद्यात् सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति। ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् सह भर्त्रा। [1]ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वाऽऽज्यशेषं[2] प्राश्नीयात् पूर्वं पुमान्, पश्चात् स्त्री; न चोच्छिष्टमवशेषयेत्। ततस्तौ सह संवसेयातामष्टरात्रं, तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां, तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ॥ ११ ॥

पुत्रेष्टि-यज्ञ की विधि—वेदी का निर्माण कर लेने के बाद पुत्र की कामना करने वाली तथा मन के अनुकूल (शूर, दाता, भक्त, विद्वान्, भाग्यवान्, आदि) पुत्र-प्राप्ति की आशा रखने वाली स्त्री ब्रह्मा (यज्ञ में ब्राह्मण विशेष की संज्ञा) को अग्नि के दाहिनी ओर बैठाकर स्वयं अपने पति के साथ अग्नि के पश्चिम भाग में बैठे। (इस प्रकार ब्रह्मा का मुख उत्तर की ओर, स्त्री-पुरुष का मुख पूर्व की ओर और सबका मुख अग्नि की ओर होगा।) इस अवसर पर ऋत्विक् के आदेश के अनुसार क्रिया करता जाये। उसके बाद मनचाही सन्तान की इच्छा करने वाली स्त्री योनि में ब्रह्मा को अभिमन्त्रित कर उसकी इच्छा की पूर्ति के लिये अग्नि में

---

१. 'ततोऽनुपरिक्रम्य' इति पा०।
२. 'सह भर्त्राऽऽज्यशेषम्' इति पा०।

'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इस मन्त्र से यज्ञ करे। यह मन्त्र यथेष्ट पुत्र-प्राप्ति रूप मनोरथ को पूर्ण करता है। इसी को **काम्य-इष्टि** अथवा **पुत्र-इष्टि** कहते हैं।

तदनन्तर स्थालीपाक (बटलोई में पकायी हुई खीर या चरु) को आज्य (घी) के साथ मिलाकर अपने शाखोक्त वेद-मन्त्रों द्वारा तीन बार आहुति दे (हवन करे)। गद्य १० में निर्दिष्ट जलपात्र में रखे हुए जल को मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके, पुरोहित इस स्त्री को दें और उसको निर्देश दें कि जहाँ-जहाँ जल की आवश्यकता पड़े इसी का सेवन करे (केवल शौचादि को छोड़कर)। इस प्रकार यज्ञ के समाप्त हो जाने पर पहले दाहिना पैर उठाती हुई पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करे। तनदन्तर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करा कर यज्ञ से बचे हुए घी को खाये (पाठभेद के अनुसार पति के साथ स्त्री खाये) इसमें यह क्रम होता है—पहले पति और बाद में स्त्री खाये, उसमें जूठा न छोड़ें। इसके बाद वे दोनों स्त्री-पुरुष आठ रात्रि तक सहवास करें। उसी प्रकार के वेष-भूषा को भी धारण करें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। ऐसा करने से वे यथेष्ट (मनचाही) सन्तान को उत्पन्न कर सकते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'पुत्रकामा' तथा 'पुत्रमाशासाना' दोनों शब्द एकार्थवाचक जैसे लग रहे हैं। वास्तव में **'काम'** का अर्थ है, इच्छा और **'आशा'** का अर्थ है, तृष्णा। **सह भर्त्रा** गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुषों को विभिन्न अवसरों पर धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुष्ठानों को करने की आवश्यकता होती है, उनमें कहीं स्त्री पुरुष के दाहिनी ओर और कहीं बायीं ओर बैठती है, किन्तु यहाँ पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार **'पत्नी तिष्ठति वामतः'** पत्नी को पुरुष के बांयी ओर बैठना चाहिये।

योनौ निर्वर्तयेद्—यह कृत्य ऋत्विक् के निर्देशानुसार उसका पति करेगा, नकि ऋत्विक्। यहाँ 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इस मन्त्र का अर्थ है कि विष्णु उसकी योनि (गर्भाशय) को पुत्रोत्पत्ति के योग्य बनावे।

स्थालीपाक—यज्ञ के लिये चरु आदि के निर्माण की विधि (A particular religious act performed by a householder.)।

आज्यशेषं प्राश्नीयात्—कर्मकाण्ड-विधि के अनुसार इसको **'संश्रवप्राशन'** कहते हैं। प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के अन्त में 'स्वाहा' कहकर अग्नि में स्रुवा द्वारा घी की आहुति डाली जाती है। स्रुवा में शेष घी को 'इदमग्नये' आदि कहकर जो प्रणीता-पात्र में डाल दिया जाता है वही **'आज्यशेष'** है, न कि भण्डार में बचे हुए घी का भोग लगावें।

महर्षि आत्रेय ने न तो ऊपर पूर्णाहुति का निर्देश किया, न दक्षिणा दान का और न ब्राह्मण भोजन का ही। इसी प्रकार आप भी पुत्रेष्टी-यज्ञ कराकर दस महीने तक पुत्र प्राप्ति की आशा में न बैठे रहें। यहाँ केवल आयुर्वेदीय दृष्टि से विशेष विधियों का संकेत किया गया है। यज्ञ तो जब भी कराना होगा उसकी सम्पूर्ण विधि शास्त्रज्ञ पुरोहित ही आपको बतलावेंगे न कि वैद्यजी।

या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहुं च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्लाक्षं शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम्; एष एवानयोरपि होमविधिः। किन्तु परिबर्हो वर्णवर्जं स्यात्। पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीरेव तयोः परिबर्होऽन्यः कार्यः स्यात् ॥ १२ ॥

इच्छित पुत्रोत्पत्ति के अन्य उपाय—जो स्त्री श्याम (साँवले) वर्ण, लाल नेत्रों तथा व्यूढोरस्क (व्यूढ= Developed or Broad—चौड़ी छातीवाले), महाबाहु (विशाल भुजाओंवाले) अर्थात् रजोगुण-प्रधान पुत्र को चाहती हो, अथवा जो स्त्री कृष्णवर्ण, काले, मुलायम तथा लम्बे बाल वाले, सफेद आंखों, सफेद दांतों वाले, तेजस्वी, आत्मवान् (Self-Possessed) पुत्र को चाहती हो, इन दोनों के लिये भी यही होमविधि (उपर्युक्त प्रकार वाली ही) है, किन्तु परिबर्ह (शयन, आसन, यान, खान पान, वेष, भूषा) उपर्युक्त (अवदात) वर्ण को छोड़कर होना चाहिये, अर्थात् श्याम या श्यामल (सांवले) वर्ण के पुत्र को चाहने वाली स्त्री इसी प्रकार की और कृष्णवर्ण के पुत्र को चाहने वाली स्त्री कृष्णवर्ण के वेष-भूषा आदि को धारण करे। पुत्र के वर्ण के अनुरूप ही उसका परिबर्ह (वेष-भूषा, खान-पान आदि) होना चाहिये, जिससे उसका हित हो सके।

वक्तव्य—यहाँ अवदात (अत्यन्त उज्ज्वल, गौर) वर्ण वाले पुत्र की प्राप्ति के लिये सत्त्वगुण-प्रधान,

श्याम (साँवले) वर्ण वाले के लिये रजोगुण-प्रधान तथा कृष्णवर्ण वाले के लिये तमोगुण-प्रधान परिबर्ह (असन, वसन, वेष, भूषा, आदि) के सेवन का निर्देश किया गया है।

यथाशीरेव—उपर्युक्त इस गद्यांश का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने छोड़ दिया है। देखें—'स्वाशीर्हिताशंसाहिदंष्ट्रयोः'। अमरकोष काण्ड ३ वर्ग ३। यहाँ 'आशीः' का अर्थ है—'हिताशंसा' अर्थात् जिससे पुत्र की इच्छा वाली स्त्री की इच्छापूर्ति हो।

शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात् (देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यः) ॥ १३ ॥

शूद्रा के लिये विधान—यदि शूद्र की स्त्री को इच्छानुकूल पुत्र-प्राप्ति की कामना हो तो वह पुत्रेष्टि यज्ञ के स्थान पर केवल देवता (स्थानदेवता, इष्टदेवता या कुलदेवता), अग्नि, गुरु (माता, पिता या अन्य पूज्यजन), तपस्वी और सिद्धजनों को नमस्कार करे। यज्ञ के अतिरिक्त आहार-विहार, वेष, भूषा, निवास आदि का जो विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य स्त्रियों के लिये कहा गया है, तदनुरूप व्यवहार शूद्रा भी करे।

वक्तव्य—प्राचीन श्रुति-स्मृतियों के अनुसार स्त्री तथा शूद्र मन्त्र एवं संस्कार से वर्जित हैं, किन्तु इसके विपरीत शास्त्रों में मन्त्रद्रष्टा स्त्रियों के नाम तथा गार्गी आदि शास्त्रपारंगत महिलाओं की सूचना इतिहास देता है। महर्षि स्वामी दयानन्द भी इस मत के पक्षपाती थे। वे लिखते हैं—'पुरा युगे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते'। अस्तु महर्षि आत्रेय भी **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** इसी मान्यता से प्रभावित थे, ऐसा लगता है।

या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्ताञ्जनपदान्मनसाऽनुपरिक्रामयेत्। ततो या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्। इत्येतत् सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥ १४ ॥

देशविशेष के पुरुषों के अनुरूप पुत्र-कामना—और जो-जो स्त्री जिस-जिस प्रकार के पुत्र की आशा करे, उस-उस स्त्री की उस-उस प्रकार की पुत्र-कामना को सुनकर उन-उन जनपदों का मन से स्मरण करने को चिकित्सक कहें, अर्थात् जैसे किसी स्त्री ने पञ्जाब का भ्रमण किया हो और वह चाहती हो कि पञ्जाबियों जैसा शूर-वीर, हट्टा-कट्टा मेरा भी पुत्र हो तो उस जनपद की मन से परिक्रमा करे अर्थात् मन को वहाँ घूमने दे। तदनन्तर जो-जो स्त्री जिन-जिन जनपदों के मनुष्यों के अनुरूप 'मेरा भी पुत्र हो' ऐसी इच्छा करती हो, वह-वह उन-उन जनपदों के निवासी मनुष्यों के समान आहार-विहार, उपचार (चिकित्सा साधन), परिच्छदों (वेष, भूषा, रहन-सहन, बात-चीत एवं वहाँ का इतिहास) का उपयोग तुमको करना चाहिये, ऐसा उससे कहें। यहाँ तक सब कुछ उपदेश पुत्र की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले कर्मों की व्याख्या कर दी गयी है।

न खलु केवलमेतदेव कर्म वर्णवैशेष्यकरं भवति। अपि तु तेजोधातुरप्युदकान्तरिक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति, पृथिवीवायुधातुप्रायः कृष्णवर्णकरः समसर्वधातुप्रायः श्यामवर्णकरः ॥ १५ ॥

गौर, श्याम आदि वर्णों का कारण—केवल उपर्युक्त कर्मों से ही गौर आदि वर्णों में भेद नहीं होता। अपितु तेजोधातु (पित्त), जल (अप्) धातु और आकाशधातु अवदात (गौर) वर्ण के उत्पादन में कारण होते हैं, पृथिवी और वायु धातु के योग से प्रायः कृष्णवर्ण की उत्पत्ति होती है, सभी धातुओं की समानता श्यामवर्ण (साँवलारूप) की उत्पत्ति का कारण होती है।

वक्तव्य—यहाँ पञ्चमहाभूतों के विशिष्ट संयोग-प्रकार को वर्णों की विविधता में कारण बताया गया है। आगे तन्त्रकार ने वर्ण भेद को इस प्रकार स्वीकार किया है, देखें—'कृष्णः, श्यामः, श्यामावदातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति'। च० इ० अ० १।८। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति। पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्'। सु० शा० अ० २।३५।

गर्भ के वर्णभेद में वृद्धवाग्भट का मत—'तत्र शुक्रे शुक्ले घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्'। अ० सं० शा०। ऊपर चरक में तीन ही वर्णों (१. गौर, २. श्याम, ३. कृष्ण)

---

१. 'ताननुपरिक्रम्य' इति पा०।

की चर्चा की गयी है। आगे चलकर चार वर्णों को स्वीकार किया है। **यहाँ पर निष्कर्ष यही है** कि पहले भेदों में सत्व, रज, तम और दूसरे भेदों में पञ्चमहाभूत कारण हैं।

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्म सत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति ॥ १६ ॥

मन की भिन्नता में कारण—उन-उन प्राणियों के मन की भिन्नता (विशेषता) में माता-पिता के मन, अन्तर्वत्नी (गर्भिणी) का बार-बार कथा आदि (सत् उपदेशों) का सुनना, पूर्वजन्म में माता द्वारा किये गये (शुभ-अशुभ) कर्म और सत्त्वविशेष (सात्विक, राजस, तामस) के अभ्यास के अनुरूप गर्भ का मन भी हो जाता है।

वक्तव्य—किसी प्राणी का मन उदार, किसी का कंजूस, दयालु, क्रूर आदि होता है। इस प्रकार के भेद के कारणों का ऊपर उल्लेख किया गया है—१. माता-पिता का सत्त्व (मन), २. अन्तर्वत्नी द्वारा सुनी कथा-वार्ता का प्रभाव, ३. स्वोचितकर्म और ४. सत्त्वविशेष का अभ्यास।

१. **माता-पिता के सत्त्व का प्रभाव**—प्रायः देखा जाता है एक ही घर में कोई सन्तान माता के अनुरूप मन वाली होती है, तो दूसरी पिता के अनुरूप। कभी-कभी परिवार के अन्य सम्बन्धित व्यक्ति के अनुरूप भी हो जाती है। ब्राह्म विवाह विधि में पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करके निम्नोक्त मन्त्र को इसलिये पढ़ता है कि यह मेरी पत्नी मेरे मन के अनुकूल व्यवहार करे और इसी मन्त्र को उपनयन संस्कार के दिन पिता अपने पुत्र के हृदय का स्पर्श करते हुए पढ़ता है कि मेरा पुत्र मेरे अनुरूप हो। वह मन्त्र है—'मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं ते, अस्तु'। यजुर्वेद। अर्थ स्पष्ट है।

२. **अन्तर्वत्नी**—यह उस गर्भिणी स्त्री की संज्ञा है, जिसके साथ ब्राह्मविधि से विवाह हुआ हो। देखें—अन्तरस्त्यस्यां गर्भः। 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' ४।१।३२।

३. **स्वोचितकर्म**—त्रिगुणात्मिका सृष्टि में विभिन्नता का आना स्वभावसिद्ध है। अतः सत्त्वगुण-प्रधान पुरुष के लिये सात्विक कर्म, रजोगुण-प्रधान के लिये राजस कर्म तथा तमोगुण-प्रधान के लिये तामस कर्म उचित होते हैं। यदि मन का निग्रह करके कोई मनुष्य सत् कार्यों के प्रति प्रयत्नशील होता है तो इसमें अनेक जन्मों में परिवर्तन आ पाता है। देखें—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। गीता ६।४५। और भी—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'। योगदर्शन। वास्तव में जिसका जैसा स्वभाव (अनेक जन्मों के संस्कारों का प्रतिफल) हो जाता है, वह दूर नहीं होता, उसको दूर करने या कराने में उतना ही समय पुनः लगता है। अतएव इस सम्बन्ध में ये सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—'स्वभावो दुरतिक्रमः'। 'अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। एक और—'परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः। स्वभावं येऽतिवर्तन्ते ते सहस्रेषु दुर्लभाः' ॥

४. **सत्त्वविशेष का अभ्यास**—निरन्तर कार्य करते रहने का नाम अभ्यास है। यथा—'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'। इसी को भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाविताः' ॥ गीता ८।६। अतः जिसको सात्विक, राजस, तामस जिस सत्त्व का जन्म-जन्मान्तर का अभ्यास पड़ा हो, उसका मन उसके अनुरूप होता है। इसके बाद भी यदि असत् मनःप्रवृत्ति में परिवर्तन लाने की इच्छा हो तो सज्जनों का सहवास करना चाहिये, क्योंकि—'सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति'। सुभाषित।

यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोर्मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणितेन सह संयोगं समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्तयत्येकान्तेन। यथा—निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रञ्जनं समुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत्; यथा वा क्षीरं दध्नाऽभिषुतमभिषवणाद् विहाय स्वभावमापद्यते दधिभावं शुक्रं तद्वत् ॥ १७ ॥

शुक्र-शोणित का गर्भरूप में परिवर्तन—पूर्वोक्त विधि के अनुसार यथोचित विधि से अपने-अपने शरीर को वस्त्र-आभूषणों द्वारा सुसज्जित किये हुए स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) के सहवास करने पर दोषरहित शोणित

(रजस्) के साथ जब दोषरहित शुक्र संयोग को पाता है तो दोषरहित योनि तथा गर्भाशय में निश्चित रूप से गर्भ की उत्पत्ति करता है। जिस प्रकार भली-भांति निर्मल (स्वच्छ) किये हुए वस्त्र पर सम्पूर्ण गुणों से युक्त राग (लाल, पीला आदि रंग) का प्रयोग किया जाता है, तो वह उस वस्त्र को अपने रंग में रंग डालता है, उसी प्रकार दोषरहित रज-वीर्य की भी स्थिति होती है। अथवा जिस प्रकार दही = जोड़न मिला हुआ दूध अभिषवण के कारण अपने (दूध रूप) स्वभाव को छोड़कर दही के रूप में जम जाता है, उसी प्रकार शुक्र भी रजस् का संयोग पाकर कलल, बुद्बुद् आदि गर्भ के क्रमिक रूपों को धारण कर लेता है।

वक्तव्य—यहां गर्भ की उत्पत्ति में दोषरहित रजस्, वीर्य, योनि तथा गर्भाशय की आवश्यकता का उल्लेख किया गया है। बीस प्रकार की योनि-व्यापत्तियों का वर्णन चिकित्सा-ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार की योनियों में अन्य सब उपादानों के ठीक होने पर गर्भ की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। अतः शुद्ध रज-वीर्य, गर्भाशय के बाद योनि का भी उल्लेख किया है।

एवमभिनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः। यथा हि बीजमनुपतप्तमुप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयेते ॥

गर्भ का स्त्री-पुरुष होने में हेतु विभाग—इस प्रकार उत्पन्न होने वाले गर्भ के स्त्री अथवा पुरुष हो जाने के कारण पहले कहे जा चुके हैं। जिस प्रकार दोषरहित (गर्भ को उत्पन्न करने में समर्थ) बीज (रज-वीर्य) के बोने से वह बीज अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उत्पन्न होता है, जैसे—व्रीहि (सामान्य धान्य या आशुधान्य, अर्थात् समस्त प्रकार के धान्य या जल्दी तैयार होने वाले सांठी आदि) को बोने से उसी प्रकार के धान्य, या जौ को बोने से जौ की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार स्त्री-बीज की अधिकता से कन्या तथा पुंबीज की अधिकता से पुत्र की उत्पत्ति होती है। यही स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति में कारणों का विभाग किया गया है।

वक्तव्य—चरकसंहिता शारीरस्थान के अतुल्यगोत्रीय नामक २रे अध्याय के श्लोक १२ से १४ तक में इस विषय का विवेचन किया गया है। इसीलिये यहाँ **'हेतुः पूर्वमुक्तः'** कहा है। सुश्रुत शा० अ० ३ में इसका वर्णन इस प्रकार है—'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री'।

व्रीहिर्वा, यवो वा—यहाँ दोनों स्थानों पर प्रयुक्त 'वा' अव्यय का प्रयोग उपमावाचक शब्द के रूप में किया गया है, न कि 'अथवा' अर्थ में। देखें—'वा स्याद् विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे। समुच्चये च'। मेदिनी। 'उपमायां विकल्पे वा'। अमरकोष।

तयोः कर्मणा वेदोक्तेन [1]विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। कर्मणां हि देश-कालसम्पदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वं, तथेतरेषामितरत्वम्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्ती-भावाद् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्।

पुंसवन-संस्कार की अवधि—उन दोनों का स्त्री या पुरुष लक्षण प्रकट होने के पहले वेदोक्त कर्म का यथाविधि ठीक प्रयोग द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है, इसका उपदेश दिया जा रहा है। देश, काल की अनुकूलता से युक्त कर्मों का निश्चित ही इष्ट (मनोवांछित) फल मिलता है और देश, काल की अनुकूलता के अभाव में किये गये कर्मों का विपरीत फल मिलता है। इसलिये स्त्री ने गर्भधारण कर लिया है, ऐसा देखकर गर्भ के लक्षणों के स्पष्ट होने के पहले ही, इस (गर्भिणी) को पुंसवन पदार्थ दें।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने **'वेदोक्तेन'** का अर्थ केवल आयुर्वेदोक्त स्वीकार किया है। हमारे विचार से इसका अर्थ वैदिक पद्धति द्वारा संस्कार करने के बाद आयुर्वेदोक्त योगों का प्रयोग करना या कराना अधिक समीचीन है, क्योंकि गर्भाधान के अवसर पर मन्त्र-प्रयोग का निर्देश महर्षि आत्रेय ने किया है और यहाँ भी अगले गद्य में **'यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुः'** कहकर उसको स्वीकार किया है।

वेदोक्त पुंसवन-संस्कार—गृह्यसूत्रों के अनुसार दूसरे या तीसरे मास के शुभदिन में (जब पुरुषसंज्ञक नक्षत्र हों उनमें भी पुष्यनक्षत्रविशेष महत्त्वपूर्ण माना है) ब्राह्मण द्वारा वैदिकविधि से यह संस्कार कराना

---

१. 'विवर्तनम्, अन्यथात्वेन प्रवर्तनम्' इति ग०।

चाहिये। इसमें प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थों पर भी अवश्य ध्यान दें। चरक में अंग-प्रत्यंगों का प्रकट होना तीसरे मास में स्वीकार किया गया है। इससे पहले उक्त संस्कार करें।

पुंसवन-निरुक्ति—'पुमान् सूयते अनेन' इति पुंसवनम्। अर्थात् जिस संस्कार-विधि अथवा औषध-प्रयोगों से पुत्र-सन्तान की उत्पत्ति हो उसे 'पुंसवन' कहते हैं। सन्तान के रूप में पुरुष अथवा स्त्री (बालक या बालिका) दोनों ही अभीष्ट हैं। किसी प्रदेश में मातृपक्ष प्रधान होता है और किसी प्रदेश में पितृपक्ष प्रधान होता है, उसी के अनुसार वहाँ-वहाँ के निवासी बालक या बालिका सन्तान को महत्त्व देते हैं। केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसक सन्तान) ही एक ऐसी है जिसकी कामना कोई नहीं करता। गर्भ-लक्षणों के व्यक्त हो जाने पर ये सभी कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।

गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गे अनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्, तथैवापराञ्जीवकर्षभकापामार्गसहचर-कल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य पयसा; कुडचकीटकं [1]मत्स्यकं वोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्, तथा कनकमयान्, राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण, पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं [2]देहल्यामुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना। यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्ता वा स्त्रियः पुंसवनमिष्टं तच्चानुष्ठेयम्। इति पुंसवनानि ॥ १९ ॥

पुंसवन-संस्कार-विधि—१. गोशाला में उत्पन्न बरगद के पेड़ की पूरब की ओर या उत्तर की ओर वाली दो शाखाओं से अनुपहत (गन्ध, वर्ण, रस, रूप आदि से पूर्ण) शुंगों (अंकुरों) को लेकर तथा अपनी गुण आदि सम्पत्ति से पूर्ण दो धान्यमाषों अथवा दो गौरसर्षपों (पीली सरसों) को पीसकर दही में डालकर पुष्य नक्षत्र के दिन स्त्री पीये। २. उसी प्रकार अन्य जीवक, ऋषभक (अष्टवर्ग में वर्णित), अपामार्ग (चिरचिटा के बीज), सहचर (कटसरैया) इन द्रव्यों को मिलाकर कल्क करें अथवा एक-एक करके कल्क बनाकर दूध में डालकर संस्कार (पका) करके पुष्य नक्षत्र के दिन स्त्री पीये। ३. कुडयकीट अथवा मत्स्यक (शफरी नाम की छोटी मछली) को एक अंजलि जल में डाल कर पुष्यनक्षत्र के दिन पीये। ४. सोने, चांदी या लोहे की पुरुष के आकृति की छोटी मूर्तियां बनाकर उन्हें आग में तपाकर अग्नि के सदृश वर्ण वाली करके तदनन्तर उनको एक अंजलि दही, दूध या पानी में डालकर पुष्यनक्षत्र के दिन सब पी जाय। ५. पुष्यनक्षत्र के दिन ही शालि-चावल के आटा को पकाते समय उसमें से जो भाप निकलती है उसको सूँघकर उसी आटा से मिले हुए रस (जल युक्त आटा के घोल) को लेकर उसमें रुई के फाहे को भिगाये, तदनन्तर वह स्त्री अपने सिर को देहली (Lower part of the wooden frame of a door) के ऊपर रखकर दाहिने नासापुट में स्वयं उसके रस को डाले। इनके अतिरिक्त और जो ब्राह्मण कहें अथवा आप्त (विश्वासपात्र) पुरुष या स्त्रियां उपदेश दें वह भी पुंसवन-संस्कार माना गया है, उसे भी करना चाहिये। ये पुंसवन हैं।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य द्वारा ५ प्रकार की पुंसवन-विधियों का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों, आप्तस्त्री तथा पुरुषों के उपदेशों का भी आदर किया है। इसमें ब्राह्मणों का उपदेश गृह्यसूत्रोक्त पुंसवन-संस्कार-विधि है। आप्तस्त्री-पुरुषों के उपदेश अपने-अपने चिरन्तन अनुभव होते हैं।

धान्यमाष—चक्रपाणि के अनुसार 'धान्यमाषशब्देन व्रीहिमाषं ग्राहयन्ति, सुवर्णमाषं च व्यावर्तयन्ति'। वैद्यकनिघण्टु में धान्यमाष के दो पर्याय दिये हैं—१. कलाय और २. माष (उड़द)। 'षोडशसर्षपपरिमाणे' चरक कल्प० अ० १२।८७। प्रकरणवश यहाँ वृष्यगुण-प्रधान होने के कारण 'कलाय' का ग्रहण न करके **'माष'** का ही ग्रहण करना युक्तिसंगत है। पुंसवन-संस्कार के लिये धान्यमाष का अन्यत्र प्रयोग इस प्रकार उपलब्ध होता है—'माषौ यवं च पुंलिङ्गं कृत्वा दधिद्रप्सेनैनां प्राशयेत्'। जैमिनीय गृह्यसूत्र १।५। अर्थात् दो माष (उड़द) और इनके बीच में एक जौ रखकर पुरुष लिंग (चिह्न, दो उड़द वृषण रूप उनके बीच में रखा

---

१. 'मत्स्यकोद्रं चोदकाञ्जलौ' इति श्रीजयदेवसम्मतः पाठः।
२. 'देहलीमुपधाय' इति पा०।

हुआ जौ लिंग—मूत्रेन्द्रिय रूप) बनाकर इनको दही के पानी में मिलाकर उस स्त्री को खिलायें या पिलायें। इस उदाहरण में धान्य का प्रतिनिधि 'जौ' है और 'माष' तो सर्वत्र निर्विवाद है ही।

कुड्यकीटक—कुड्य का अर्थ होता है—भित्ति या दीवाल (Wall), उसमें रहने वाला कीटक (छोटा कीड़ा), इस अर्थ से किसी क्रिमि विशेष का ग्रहण नहीं किया जा सकता। वैद्यकशब्दसिन्धु में इसका अर्थ **'गृहगोधिका'** दिया है और चक्रपाणि के अनुसार **'कवडिगणा'** (करडिकाणा वा) किंवा **'ज्येष्ठी कुड्यकीटः'** है। इसको पंजाब में **'घरेणा'** और विहार में **'घिनही'** कहते हैं, पुंसवनकर्म के कुशल विद्वान इस ओर ध्यान दें।

मत्स्यक—यहाँ पर जयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में **'मत्स्यकोद्र'** पाठ दिया है, किन्तु निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित चक्रपाणि की टीका युक्त सन् १९४१ के तृतीय संस्करण में **'मत्स्यकं'** पाठ दिया है और वैद्यकशब्दसिन्धु के अनुसार यह पाठ **'मत्स्यर्क'** है जिसका अर्थ है—शफरीमत्स्य। ऐसा स्वीकार करने पर उक्त पाठ **'मत्स्यर्क'** ही होना चाहिये।

अणुप्रमाणान् पिबेत्—सोना, चांदी या लोहे की अणुप्रमाण पुरुषमूर्तियों को पी जाय या निगल जाय। पुरुष के आकृति की मूर्तियों को बनाकर आग में तपाकर दूध, दही या पानी किसी एक में बुझाकर पूरा पी जाय। आचार्य गंगाधर के अनुसार मूर्तियों को भी निगल जाना चाहिये। यदि तन्त्रकार का भी यही अभिमत है, तब तो वे मूर्तियां अणुप्रमाण भी हों और पुरुषाकृति भी हों, ऐसा प्रयास करें। तदनन्तर उन मूर्तियों को अग्निवर्ण (तपाकर लाल) करके दूध आदि किसी एक में बुताकर निकाल लें तब उसे पूरा पी जायें।

देहल्यामुपनिधाय—आचार्य जतूकर्ण के अनुसार यह पाठ **'देहल्यामासीना'** है किन्तु इसके स्थान पर एक पाठ भेद **'देहलीमुपधाय'** यह भी है। अर्थात् दरवाजा की लकड़ी का तकिया लगाकर गर्दन को ऊँची करके नाक के दाहिने छिद्र में रुई के फाहा से रस डालें।

पुष्येण पिबेत्—ज्योतिषशास्त्र के अनुसार पुरुष लग्न तथा पुरुष नाम वाले नक्षत्रों में, उसमें भी विशेष करके पुष्यनक्षत्र में पुंसवन-संस्कार करना चाहिये, क्योंकि **'पुष्णाति कार्यम्'** इति पुष्यः। इस नक्षत्र की 'क्षिप्र' तथा 'लघु' संज्ञा है, इसलिये भी इसमें पुंसवन का विधान है।

सुश्रुतोक्त पुंसवन-संस्कार—गर्भाधान हो जाने पर गर्भ के स्त्री-पुरुष लक्षण उत्पन्न होने के पहले ही लक्ष्मणा, वट के अंकुर (प्ररोह), सहदेवा, विश्वेदेवा (गंगेरन) इनमें से किसी एक को दूध के साथ पीसकर पुत्र प्राप्ति की इच्छा करने वाली गर्भिणी के दाहिने नाक के छेद में तीन या चार बूंदे डाल दें, वह उनको थूके नहीं और न उनको छींके। सु० शा० अ० २।३२। इन ओषधियों में सर्वप्रथम **'लक्ष्मणा'** का उल्लेख किया है। इसका परिचय—'पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छिता सदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्' ॥ इसमें पुत्र-कामना वाली स्त्री के लिये लिखा है कि वह उक्त ओषधि के द्रव को नाक के दाहिने छेद में डाले, यदि उसे कन्या-प्राप्ति की इच्छा हो तब वह नाक के बांये छेद में डाले। इसका समर्थन आगे देखें।

वृद्धवाग्भट का मत—'लक्ष्मणावटशुङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेऽभिपुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दक्षिणे पुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना वामे तु दुहितृकामा। न चैतां निष्ठीवेत्'। अष्टांगसंग्रह शा० अ० १। अन्य विस्तृत विधियां इसी प्रसंग में देखें। यद्यपि अन्य तन्त्रकारों ने भी **'पुत्रकामा दक्षिणनासापुटे'** कहा है, इससे यह आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि कन्या की अभिलाषिणी स्त्री इसके विपरीत व्यवहार करे, क्योंकि 'निषिद्धलिङ्गं शेषार्थम्'। अमरकोष।

अत ऊर्ध्वं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्याम.——ऐन्द्री ब्राह्मी शतवीर्या सहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा शिवाऽरिष्टा वाट्यपुष्पी विष्वक्सेनकान्ता चेत्यासामोषधीनां शिरसा दक्षिणेन वा पाणिना धारणम्, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिषो वा पानम्, एताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नानं, सदा च ताः समालभेत। तथा सर्वासां जीवनीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तैरुपयोगविधिभिः। इति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ २० ॥

---

१. 'सदा चैताभिः' इति पा०।

गर्भस्थापक ओषधियाँ—पुंसवन-संस्कार का वर्णन करने के बाद अब गर्भस्थापक ओषधियों की व्याख्या की जायेगी—ऐन्द्री (बरमी), ब्राह्मी, शतवीर्या (शतमूली, द्राक्षा, महाशतावरी या श्वेतदूर्वा–वैद्यकशब्दसिन्धु) सहस्रवीर्या (नीलदूर्वा, महाशतावरी–राजनिघण्टु), अमोघा (पाटला या लक्ष्मणा), अव्यथा (गुरुच), शिवा (हरीतकी), अरिष्टा (कटुरोहिणी या नागबला), वाट्यपुष्पी (पीतबला, महाबला), विष्वक्सेनकान्ता (प्रियंगु या वाराहीकन्द), इन ओषधियों को सिर में अथवा दाहिनी बांह में धारण करे। इन्हीं ओषधियों से सिद्ध (इन ओषधियों का कल्क बनाकर उसमें पकाये हुए) दूध अथवा घी का पान करे। इन्हीं ओषधियों द्वारा पकाये गये जल से पुष्यनक्षत्र में स्नान करे। सदैव इन ओषधियों का गर्भकाल में सेवन (स्पर्श आदि) करे तथा जीवनीयगण में कही गयी (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा मुलहेठी) ओषधियों का उन-उन विधियों से उपयोग करते रहना चाहिये। इस प्रकार गर्भस्थापक ओषधियों का वर्णन किया जा चुका है, अर्थात् गर्भस्थापक औषधियों की व्याख्या हो गयी है।

वक्तव्य—जिन द्रव्यों को यहाँ गर्भस्थापन कहा गया है, इन्हीं को चरक सूत्रस्थान अध्याय ४।१८ में प्रजास्थापन की संज्ञा दी गयी है। उस प्रसंग में 'ऐन्द्री' द्रव्य का परिचय भी दिया गया है। जिस ऐन्द्री द्रव्य को महर्षि पुनर्वसु ने 'गर्भस्थापन' माना है, उसका पर्याय आचार्य चक्रपाणि ने 'गोरक्षकर्कटी'=इन्द्रायण (तीक्ष्ण विरेचक) दिया है। इस अर्थ से आतंकित होकर परवर्ती टीकाकार 'श्रीजयदेव विद्यालंकार' लिखते हैं—'पर इन्द्रायण के गर्भस्थापन करने में सन्देह है। वह तो गर्भ को गिरा सकती है। आस्थापन तो क्या करना है। वस्तुतः ऐन्द्री को दिव्य ओषधियों में से जानना चाहिये'। च० शा० अ० ८।२९ पृ० ४६५।

श्री जयदेव विद्यालंकार महोदय का उक्त विश्वास 'ऐन्द्री' (इन्द्रायण) के गुण-धर्मों को देखने के अनुसार सर्वथा समुचित है किन्तु आगे चलकर जो उन्होंने 'ऐन्द्री को दिव्य ओषधियों में से जानना चाहिये' यह गोल मार दिया है, यह भ्रमात्मक है।

पाठक ध्यान दें—जिन ओषधियों के दिव्य प्रभाव होते हैं, साथ ही उनकी संज्ञाएँ भी निर्धारित होती हैं, ऐसा नहीं कि 'दिवि भवा=दिव्या'। तब तो वैद्य तथा रोगी के सामने समस्या खड़ी हो जायगी कि कौन उसे लेने जाय। ऐन्द्री कोई ऐसी ओषधि नहीं है, जिसके लिये इतना चिन्तित होना पड़े। यह बल्य तथा प्रजास्थापन द्रव्य है। हिन्दी में इसको 'बरमी' कहते हैं और लैटिन में—बैकोपा मोनिएरी (Bacopa Monnieri (Linn) Pennell) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति पानी के समीपवर्ती भूमि में होती है।

कुछ टीकाकारों ने इस प्रकरण में ११ द्रव्यों की गणना की है, जब कि उक्त गद्य में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है और च० सू० अ० ४।१८ में तो 'दस' संख्या को शब्दतः स्वीकार किया है। अतः ये गर्भस्थापक ओषधियाँ 'दस' हैं नकि 'ग्यारह'।

उक्त गर्भस्थापक ओषधियों का प्रयोग चौथे दिन शुद्धस्नान के बाद से गर्भाधान होने तक इसलिये किया जाता है कि ये गर्भ को स्थापित करने में सहायक होती हैं। गर्भाधान हो जाने के बाद इनका प्रयोग गर्भ को शक्तिसम्पन्न बनाता है। यदि दुर्भाग्य से गर्भस्राव होने लगता है, तो उस स्थिति में ये द्रव्य (अकाल में भ्रूण के स्राव या पात को स्थापित करते अर्थात् रोकते हैं, अतः) प्रजास्थापन कहे जाते हैं।

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—[1]उत्कटविषमकठिनासनसेविन्या वातमूत्रपुरीषवेगानुपरुन्धत्या दारुणानुचितव्यायामसेविन्यास्तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याः प्रमिताशनसेविन्या गर्भो म्रियतेऽन्तःकुक्षेः, अकाले वा स्रंसते, शोषी वा भवति; तथाऽभिघातप्रपीडनैः श्वभ्रकूपप्रपातदेशावलोकनैर्वाऽभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले गर्भः, तथाऽतिमात्रसङ्क्षोभिभिर्यानैर्यानेन, अप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा। प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति, विवृतशायिनी नक्तंचारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपस्मारिणं पुनः कलिकलहशीला, व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा, [2]अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा, स्तेना त्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा, अमर्षिणी

१. 'उत्कटविषमस्थानकठिनासनसेविन्याः' इति पा०।
२. 'अभिध्यायिनी' इति पा०।

चण्डमौपधिकमसूयकं वा, स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा, मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, [1]गोधामांसप्राया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिणं वा, वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा, यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति। पितृजास्तु शुक्रदोषा मातृजैरपचारैर्व्याख्याताः। इति गर्भोपघातकरा भावा भवन्त्युक्ताः[2]।

तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्यामिति ॥ २१ ॥

गर्भविनाशक भाव—गर्भ का विनाश करने वाले ये (निम्नलिखित) भाव होते हैं, वे इस प्रकार हैं—उत्कट (उकड़ूं), विषम (ऊँचा-नीचा) और कठिन आसन पर देर तक बैठने वाली, वात (अपानवायु, उदानवायु), मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकने वाली, दारुण (कष्टदायक) अनुचित व्यायाम (मैथुन आदि शरीर को कष्ट देने वाले कार्य) करने वाली, तीक्ष्ण, उष्ण (स्वभाव एवं वीर्य वाले) पदार्थों का सेवन करने वाली तथा प्रमिताशन (थोड़ी मात्रा में भोजन) करने वाली स्त्री का गर्भ गर्भाशय के भीतर ही मर जाता है या असमय में (प्रसव काल के पहले) ही गर्भस्राव हो जाता है, या गर्भ सूख जाता है (यह लक्षण विशेष करके प्रमिताशन या शोक के कारण होता है) और चोट लगने या दब जाने (अथवा दबा देने), श्वभ्र (गड्ढा), कुआँ तथा प्रपात (प्रकर्षेण पतन्ति यस्मात्) इन देशों (स्थानों) को बार-बार देखने से गर्भिणी का गर्भ अकाल में ही गिर जाता है (कारण यह है कि गहरा गड्ढा, कुआँ तथा प्रपात ये आत्मघात के स्थल हैं, अतः इनको देखना ही नहीं चाहिये अपितु ऐसे प्रसंगों का गर्भकाल में स्मरण भी नहीं करना चाहिये। यहाँ प्रपात का अर्थ 'झरना' प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह मनोरंजक होता है। वास्तव में—'प्रपातस्त्वतटो भृगुः'। अमरकोषः।) शरीर को अत्यन्त झकझोर देने वाली सवारियों से यात्रा करने पर, अप्रिय समाचार, लड़ाई, झगड़ा, गाली आदि के सुनने से भी गर्भपात हो जाता है।

लगातार उत्तान (चित्त) होकर सोने वाली गर्भवती के गर्भ (भ्रूण) के कण्ठ को नाभि के आश्रय में रहने वाली नाड़ी बांध देती है (फलतः गर्भस्थ शिशु का गला बँधकर उसकी मृत्यु हो जाती है अथवा गर्भस्थ शिशु को श्वास-प्रश्वास लेने में कष्ट तो होता ही है।) विवृत (खुले) स्थान पर सोनेवाली तथा रात्रि में घूमने वाली गर्भवती उन्मत्त (पागल) सन्तान को जन्म देती है, (क्योंकि खुले स्थानों तथा रात्रि में भूत-प्रेत, निशाचरों का आक्रमण होना शास्त्रसिद्ध है।) कलि (वाणी से लड़ाई गाली-गलौज) करने वाली एवं कलह (शरीर से लड़ाई, मार-पीट, गाली-गलौज) करने वाली स्त्री अपस्मार (स्मृतिहीन अथवा अपस्मार नामक) रोग विशेष से युक्त सन्तान को पैदा करती है। जो स्त्री गर्भाधान होने के बाद भी सहवास करती है, वह भौंड़े शरीर वाली, निर्लज्ज तथा स्त्री-समाज से स्नेह करने वाली सन्तान को जन्म देती है। जो स्त्री गर्भावस्था में सदैव शोकाकुल रहती है, वह डरपोक, अपचित (कृश) या अल्पायु सन्तान को जन्म देती है। अभिध्यात्री (मन से दूसरों से द्रोह करने वाली) गर्भवती अर्थात् गर्भावस्था में जो स्त्री दूसरों से द्रोह करती हो उसकी सन्तान दूसरों को सताने वाली, ईर्ष्या करने वाली अथवा स्त्री समाज में रहनेवाली होती है। गर्भावस्था में चोरी करने वाली स्त्री अत्यन्त परिश्रमी, द्रोह करने वाली या अकर्मशील (निठल्ली) सन्तान को जन्म देती है। क्रोधी स्वभाव वाली गर्भिणी स्त्री क्रूर स्वभाव वाली, कपटी अथवा असूयागुण-प्रधान (दूसरे के सद्गुणों में दोष देखने वाली) सन्तान को जन्म देती है। गर्भावस्था में जो स्त्री हर समय सोयी रहती है, वह तन्द्रालु (Tired or Sleepy), मूर्ख या मन्दाग्नि रोग से पीड़ित सन्तान को जन्म देती है। प्रतिदिन शराब पीने वाली स्त्री, बार-बार प्यास लगने वाली, कम स्मरण-शक्ति वाली या अनवस्थित चित्त (चंचल मन) वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। गोधा (गोह) के मांस को

१. 'गोधामांसप्रिया' इति पा०।
२. 'व्याख्याताः' इति पा०।

खाने वाली गर्भिणी शर्करा (Urates=यूरेट्स) अश्मरी (पथरी) अथवा शनैर्मेह रोग से युक्त सन्तान को जन्म देती है। वराह (शूकर) के मांस को अधिकांश रूप में गर्भावस्था में जो स्त्री सेवन करती है वह लाल आँखों वाली, हिंसाशील या अत्यन्त खुरदरे बालों वाली सन्तान को पैदा करती है। जो गर्भिणी मछली के मांस का नित्य सेवन करती है वह देर में पलक गिराने वाली या स्तब्ध आँखों वाली सन्तान को पैदा करती है, मधुर पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करनेवाली गर्भिणी प्रमेह रोग से युक्त, मूक (गूंगी) या अत्यन्त स्थूल सन्तान को पैदा करती है। अम्ल (खट्टे) पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने वाली गर्भिणी रक्तपित्त के रोग से युक्त, त्वचा रोग से युक्त या आँख के रोग से युक्त सन्तान को पैदा करती है। नमकीन (नमक प्रधान) पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने वाली गर्भिणी शीघ्र ही बुढ़ापे के लक्षणों–वली (झुर्रियों) तथा पलित (बालों का अकाल में सफेद हो जाना) या खालित्य (शिर के बालों का झड़ जाना) रोग से युक्त सन्तान को पैदा करती है। कटुरस का प्रतिदिन सेवन करने वाली गर्भिणी दुर्बल, अल्पशुक्र या सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ (नपुंसक) सन्तान को पैदा करती है। तिक्तरस का प्रतिदिन सेवन करने वाली गर्भिणी शोष (क्षय) रोग युक्त, कमजोर या कृश सन्तान को पैदा करती है। कषाय रस का प्रतिदिन सेवन करने वाली गर्भिणी श्यामवर्ण वाली, आनाह (अफारा) रोग से युक्त या उदावर्त रोग से युक्त सन्तान को पैदा करती है। इनके अतिरिक्त जो-जो आहार-विहार जिस-जिस रोग का निदान (उत्पत्ति-कारण) कहा गया है, उन-उन का सेवन करने वाली गर्भिणी उन-उन रोगों के प्रधान लक्षणों से युक्त सन्तान को पैदा करती है। यहाँ माता द्वारा किये गये आहार-विहारों की विकृतियों के वर्णन द्वारा पितृज शुक्रदोषों का भी व्याख्यान कर दिया गया है। इस प्रकार गर्भ के उपघात (विनाश) या हानिकारक भावों का वर्णन कर दिया गया है।

इसलिये अच्छी सन्तान को प्राप्त करने की इच्छा वाली गर्भिणी का कर्त्तव्य है कि वह ऊपर कहे गये अहित आहार-विहारों को विशेष रूप से त्याग दे। सुन्दर आचरणों से युक्त होकर सभी प्रकार के हितकर आहार-विहारों द्वारा अपना उपचार करे।

वक्तव्य—यहां पूर्णरूप से माता द्वारा किये गये असद् आहार-विहार-व्यवहारों का प्रभाव उत्पन्न होने वाली सन्तान पर किस प्रकार पड़ता है, इसका वर्णन किया गया है। अन्त में सूत्ररूप में पितृज शुक्रदोषों के प्रभाव का भी संकेत कर दिया गया है। वास्तव में गर्भ की आधार-शिला स्त्री है, इसीलिये स्त्री को 'क्षेत्र' भी कहा गया है, फिर भी उपर्युक्त अनेक व्यवहार ऐसे हैं, जिनसे पिता का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु **'व्यवायनित्या'** एक ऐसा कारण है जिसमें दोनों का अपराध स्वीकार किया जाता है और जब जिसकी ओर से दुराग्रह हो वह विशेष रूप से अपराधी है। शेष पितृज शुक्रदोष गर्भाधान काल तक ही सीमित है। कुछ पितृज दोष और भी हो सकते हैं। यदि शोकनित्या, अभिध्यात्री, स्तेना आदि भाव पति की दुर्व्यवस्था से हो तो पति को चाहिये कि वह गर्भकाल में इन विकृतियों से स्त्री की रक्षा करे, जिससे गर्भिणी इनके सेवन के लिये विवश न हो। यदि गर्भिणी अभ्यासवश इस प्रकार के आहार-विहारों का सेवन करती है, तब वे पूर्ण रूप से मातृज दोष कहे जायेंगे।

सुश्रुत के अनुसार गर्भोपघातकर भाव—'तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कुटुकासनं चैकान्ततः, स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत।' सु० शा० अ० ३।१६।

व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्, न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालं च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद् व्याधेः। अष्टमं माससमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्। पूर्णमिव तैलपात्रमसङ्क्षोभयताऽन्तर्वत्नी[1] भवत्युपचर्या ॥ २२ ॥

गर्भिणी-परिचर्या—गर्भावस्था में यदि इसको कोई रोग हो जावे तो उन रोगों के मृदु, मधुर, शिशिर (शीतल), सुखकर तथा सुकुमार (जो किसी प्रकार कष्टदायक न हों) प्रायः इस प्रकार के औषधों तथा

१. 'असङ्क्षोभ्यान्तर्वत्नी' इति पा०।

आहार-विहारों से उसकी चिकित्सा करें। इसकी चिकित्सा में वमन, विरेचन एवं शिरविरेचनों (नस्य आदि) का भी प्रयोग न करें, न रक्तमोक्षण (जौंक लगाना या नस को काटकर उसमें से रक्त निकालना) करें। सामान्य स्थिति में जब कि सुकुमार उपायों से रोग शान्त हो सकता हो तो आस्थापन, अनुवासन बस्तियों का प्रयोग न करें, यदि कोई आत्ययिक (कष्टसाध्य) रोग हो जाय तो उक्त बस्तियों का प्रयोग (सावधानी से) किया जा सकता है।

गर्भिणी जब आठवें मास में पदार्पण कर जाती है तब वमन-विरेचन आदि द्वारा ही चिकित्सा करने योग्य आत्ययिक रोगों में मृदु (जो तीक्ष्ण न हों) वमन आदि से अथवा जो वमन-विरेचन आदि का कार्य कर सके, ऐसी (पाचन) चिकित्सा करें। जैसे–तेल से भरे हुए कटोरे को बिना हिलाये डुलाये ले जाया जाता है, ठीक वही स्थिति गर्भिणी के शरीर के उपचार (चिकित्सा) की है। ऐसा न करने पर गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है।

वक्तव्य—सामान्यरूप से गर्भिणी को वमन, विरेचन आदि का निषेध है, फिर भी अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर आत्ययिक व्याधियों में मृदु वमन, विरेचन कराया ही जाता है। जैसे—अलसक, विलम्बिका आदि विषविकारों तथा कफविकारों में वमन और पित्तज विकारों में विरेचन का प्रयोग शीघ्र लाभदायक होता है। इसी आशय से भगवान् धन्वन्तरि ने उपदेश दिया है—'अथ गर्भिण्यां व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः'। सु० शा० अ० १०।६७।

मृदुप्रायाः—प्रायः जो चिकित्सा मृदु (गर्भिणी तथा गर्भ को कष्ट न पहुँचाये, अर्थात् जो उग्र न) हो उसका प्रयोग करें। यथा–वमन के स्थान पर गण्डूषधारण, कवलग्रह या निष्ठीवन अथवा जिस क्रिया से अधिक लाभ प्रतीत हो, करें। विरेचन के स्थान पर गुदवर्ति (ग्लिसरीन की बत्ती का प्रयोग) या निरूहणबस्ति का प्रयोग करायें। इसी प्रकार अन्य उग्र चिकित्सा के मृदु विकल्पों का यथावसर चिकित्सक उपदेश दें।

सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्; अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः ॥ २३ ॥

दूसरे, तीसरे मास में पुष्पदर्शन—वह गर्भिणी अपनी आहार-विहार की गड़बड़ी से दूसरे या तीसरे मास में पुष्प (रजःस्राव, जिसके कारण सन्तान रूप 'फल' की प्राप्ति होती है) को देखे तो यह समझ ले कि इसका गर्भ नहीं टिकेगा (स्थिर नहीं रह पायेगा), क्योंकि उस समय (दूसरे-तीसरे मास में) गर्भ सारहीन हो जाता है।

वक्तव्य—दूसरे या तीसरे मास में यदि गर्भिणी को मासिक स्राव हो जाता है, तो वह गर्भाशय में हुआ रज-वीर्य का सम्मिश्रण अभी तक अजातसार (सारहीन) होता है, फलतः उसका स्राव (गर्भस्राव) होता है, नकि गर्भपात। Abortion का तात्पर्य है—Premature birth। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार आरम्भ से ४ मास तक गर्भस्राव, इसके आगे गर्भपात कहा जाता है। क्योंकि 'स्रवतीति स्रावः' और 'पततीति पातः'।

अनेक बार ऐसा भी देखा गया है कि गर्भिणी को प्रति मास मासिकस्राव होने पर भी सन्तान की उत्पत्ति हुई है और वह जीवित रही है। परन्तु ऐसी घटनाएँ कभी-कभी होती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शास्त्र की बात अप्रामाणिक है।

सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोधशोकासूयेर्ष्याभयत्रासव्यवायव्यायामसङ्क्षोभसन्धारणविषमाशनशयनस्थानक्षुत्पिपासातियोगात् कदाहाराद् वा पुष्पं पश्येत्, तस्या गर्भस्थापनविधिमुपदेक्ष्यामः। पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। ततो यष्टीमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत् तस्याः, तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधोनाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्, सर्वतश्च गव्येन चैनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा न्यग्रोधादिकषायेण वा परिषेचयेदधो नाभेः, उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्, क्षीरिणां कषायद्रुमाणां च स्वरसपरिपीतानि चेलानि[1] ग्राहयेत्, न्यग्रोधादिशुङ्गासिद्धयोर्वा क्षीरसर्पिषोः पिचुं ग्राह-

१. 'तैलानि' इति पा०।

येत्, अतश्चैवाक्षमात्रं प्राशयेत्, प्राशयेद् वा केवलं क्षीरसर्पिः, पद्मोत्पलकुमुदकिञ्जल्कांश्चास्यै समधुशर्करान् लेहार्थं दद्यात्, शृङ्गाटकपुष्करबीजकशेरुकान् भक्षणार्थं, गन्धप्रियङ्ग्वसितोत्पलशालूकोदुम्बरशलाटुन्यग्रोधशुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयसा, पयसा चैनां बलातिबलाशालिषष्टिकेक्षुमूलकाकोलीशृतेन समधुशर्करं रक्तशालीनामोदनं मृदुसुरभिशीतलं भोजयेत्, लावकपिञ्जलकुरङ्गशम्बरशशहरिणैणकालपुच्छकरसेन वा घृतसुसंस्कृतेन सुखशिशिरोपवातदेशस्थां भोजयेत्, क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामेभ्यश्चाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोनुकूलाभिरुपासीत; तथाऽस्या गर्भस्तिष्ठति ॥ २४ ॥

पुनः गर्भस्थापन-विधि—गर्भाधान हो जाने के बाद वह (गर्भिणी) क्रोध, शोक, असूया (गुणों में दोषदर्शन), ईर्ष्या, भय, त्रास, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम (किसी प्रकार का श्रम), संक्षोभ (शरीर में धक्का आदि का लगना), संधारण (अधारणीय मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना), विषम-अशन (कम-ज्यादा, समय-असमय पर भोजन करना), विषम स्थान पर शयन करना, विषम स्थान पर बैठना, भूख, प्यास के अतियोग से और कदाहार (अनुचित आहार) के कारण यदि पुष्प (रजःस्राव) को देखे, तो उसके गर्भस्थापन अर्थात् उस गर्भिणी के गिरते हुए गर्भ को पुनः स्थिर करने की विधि का हम उपदेश करेंगे।

रजःस्राव को देखने के समय से ही इस (गर्भिणी) से कहे—मृदु (मुलायम), सुखद, शीतल बिस्तरा बिछे हुए, थोड़ा-सा जिसका शिर का भाग झुका हो अर्थात् पैरों की तरफ से ऊपर को उठे हुए बिस्तर पर शयन करे। तदनन्तर मुलेठी के चूर्ण और घी को शीतल जल में रखकर उसमें रुई के फाहे को भिगोकर उसे योनि में रखने को कहे। शतधौत (सौ बार धोये हुए) और सहस्रधौत (हजार बार धोये हुए) घी से नाभि के निचले भाग में चारों ओर लेप करने को कहे और गाय के दूध से या अत्यन्त शीतल मुलेठी के क्वाथ से या न्यग्रोधादिगण द्वारा सिद्ध किये गये शीतल क्वाथ से इसको नाभि से निचले भाग को सींचे। अथवा शीतल जल से इसको अवगाहन करावें (टब में शीतल जल भरकर कटिपर्यन्त गर्भिणी को उसमें बैठा दें)। [illegible] जिन वृक्षों से दूध निकलता है, जैसे—बरगद, गूलर, पीपल, प्लक्ष = पिलखन, [illegible] इनके या कषाय रसवाले (जामुन, बेर, आंवला, महुआ, बेर आदि) पेड़ों की छाल के स्वरस में [illegible] के टुकड़ों को (योनि में रखने के लिये) [illegible] अथवा न्यग्रोधादिगण से [illegible] द्वारा पकाये गये दूध और घी में पिचु (रुई का फाहा) [illegible] योनि में रखने के लिये दें। [illegible] लेकर खिलायें, अथवा केवल दूध में घी मिलाकर पिलायें, अथवा [illegible] इनके केसरों को मधु और चीनी मिलाकर [illegible] गर्भिणी को चाटने के लिये दें। सिंघाड़ा, पुष्करबीज (कमलगट्टा), कसेरू [illegible] खाने को दें। गन्धप्रियंगु, नीलकमल, कमलकन्द, गूलर का कच्चा फल या बरगद के शुङ्ग [illegible] इसको पीने के लिये दें। [illegible] बलामूल, अतिबलामूल, शालिमूल, साठी की जड़, [illegible] काकोली, इनके क्वाथ द्वारा साधित [illegible] दूध के साथ लाल शालि चावलों के भात [illegible] सुगन्धित तथा शीतल करके गर्भिणी को खिलावें, या [illegible] कपिञ्जल [illegible] कुरङ्ग [illegible] शम्बर (बारहसिंगा), शश (खरगोश), हरिण, एण (काला हरिण), [illegible] इनके मांस रस के साथ घी का छौंक लगाकर शालि चावलों का भात, सुखद तथा शीतल हवा आती हो ऐसे स्थान में गर्भिणी को बैठाकर खिलायें और क्रोध, शोक, परिश्रम, व्यवाय (मैथुन), व्यायाम आदि से इसकी रक्षा करें। सौम्य (शरीर तथा मन को सुख देने वाली) एवं मन के अनुकूल कथा-वार्ता आदि सुनाते हुए इसके पास बैठें, ऐसा करने से इसका गिरता हुआ गर्भ पुनः स्थिर हो जाता है।

वक्तव्य—दूसरे तथा तीसरे मास में रजःस्राव होने पर क्या उपचार करना चाहिये इसका वर्णन श्लोक २३ में पहले किया जा चुका है। तदनन्तर इस श्लोक में चौथे या उससे अगले महीनों में जो उपचार [illegible] का निर्देश किया गया है।

स्वरसपरिपीतानि चैलकानि—औषधियों के स्वरस को जिन कपड़ों ने पी लिया है, अर्थात् इन वृक्षों के स्वरस में कपड़े के टुकड़ों को कई बार भिगो-भिगो कर सुखाकर रखे रहें। गर्भस्राव [illegible] होने पर इनका प्रयोग करावें।

क्षीरीवृक्ष—'अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसंज्ञिताः'। वा० उ० त० अ० १। इनके गुण—'क्षीरिवृक्षा हिमा वर्ण्या योनिरोगव्रणापहाः। रूक्षाः कषाया मेदोघ्नाः स्तन्या भग्नास्थियोजनाः'। रा० नि० व० ११।

न्यग्रोधादिगण—'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधूककपीतनककुभाम्रकोषाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधुकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीलोध्रसारवलोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्च'। इति न्यग्रोधादिगणः।

अवनतशिरस्कम्—जिसके सिरहाना वाला भाग चारपायी में नीचे की ओर झुका हो और पैताना की ओर उठा हो। ऐसा करने से स्राव रुका रहेगा।

गर्भस्तिष्ठति—'तिष्ठति' क्रिया 'स्था-गतिनिवृत्तौ' धातु का वर्तमानकालिक रूप है। अतः इस वाक्य का अर्थ होता है—गतिशील रजस् की पुनः निवृत्ति, अर्थात् गति होते ही उसका रुक जाना। प्रायः उक्त सभी द्रव्य मधुर एवम् शीतल हैं, इस प्रकार के द्रव्यों से बहता हुआ रक्त रुक जाता है।

सुखप्रसव, गर्भच्युति, गर्भस्राव (Abortion), गर्भपात (Miscarriage), पूर्वप्रसव (Pri-birth) इनके विस्तृत विवेचन के लिये सु० नि० अ० ८ श्लोक ७ से १० तक देखें।

यस्याः पुनरामान्वयात् पुष्पदर्शनं स्यात्, प्रायस्तस्यास्तद् गर्भोपघातकरं भवति, विरुद्धोपक्रमत्वात् तयोः ॥ २५ ॥

आमदोषज मासिकस्राव—जिस गर्भिणी को आमजनित विकार के कारण पुष्पदर्शन (मासिकस्राव) हो जाये, प्रायः यह आमदोष उसके गर्भ को हानि पहुँचाने वाला होता है, क्योंकि गर्भस्राव या पात को रोकने वाले उपायों से आमदोष की वृद्धि होती है और आमदोषनाशक चिकित्सा से गर्भस्राव या पात की रक्षा नहीं हो सकती, अतएव इनको परस्पर 'विरुद्धोपक्रम' वाला कहा गया है।

वक्तव्य—प्रथम तथा द्वितीय मास में होने वाले रजःस्राव की चर्चा ऊपर हो चुकी है। यहाँ चौथे तथा उससे अगले महीनों में होने वाले रजःस्राव के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। आमदोषनाशक तथा रजोरोधक चिकित्सा परस्परविरुद्ध होती है, क्योंकि आमनाशन के लिये उष्ण, तीक्ष्ण एवं लघुगुण-प्रधान औषधद्रव्यों की आवश्यकता होती है और गर्भस्थापन के लिये किये जाने वाले रजोरोध के लिये आवश्यक हैं—शीत तथा मृदु-गुण-प्रधान औषधद्रव्य। अतएव इनको परस्पर विरुद्धोपक्रम कहा गया है। अतः वाग्भट ने तीन मास के भीतर होने वाले आमातीसार युक्त रजोदर्शन में 'प्रत्याख्याय प्रसाधयेत्' कहा है, देखें—अ० हृ० शा० अ० २।६।

यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति सञ्जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिस्रावस्तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात्; स कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित् ।

उपविष्टकरोग-सम्प्राप्ति-लक्षण—जिस गर्भिणी के उष्ण तथा तीक्ष्णगुण-प्रधान आहार-विहार के सेवन से गर्भ के बड़े एवं पुष्ट हो जाने पर पुष्पदर्शन (रजःस्राव) होता हो या अन्य किसी आघात आदि के कारण से रजोदर्शन हो जाता है तो वह गर्भ वृद्धि को प्राप्त नहीं हो पाता, क्योंकि गर्भ के पोषक उस रक्त का स्राव हो जाता है। वह गर्भ बहुत समय तक गर्भाशय में ही रुका रह जाता है। अतः कुछ आचार्य इसको 'उपविष्टक' कहते हैं।

वक्तव्य—इसका संकेत चरक शारीरस्थान अ० २।१५ में भी किया है। परन्तु यहाँ इसका नामकरण नहीं किया गया है और गर्भोत्पत्ति की अवधि अनेक वर्षों के बाद की दी गयी है, जब कि वह क्षीणकाय गर्भ पुष्ट हो जाय या उसको पुष्ट करने के उपाय किये जायें। यह 'उपविष्टक' नाम सम्भवतः आत्रेय पुनर्वसु को अभीष्ट भी नहीं रहा, अतएव 'केचित्' शब्द का प्रयोग किया है।

सुश्रुत के अनुसार—'वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति, मन्दं स्पन्दते च तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्'। सु० शा० अ० १०।५७।

वाग्भट के अनुसार—'सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात्। वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः॥ उपविष्टकमाहुस्तं वर्धते तेन नोदरम्'। अ० हृ० शा० अ० २। १४। योनिपरिस्रव (रजःस्राव) के कारण उस गर्भ की वृद्धि नहीं होती, जीवित होने के कारण वह फड़कता रहता है। यह गर्भस्थ शिशु १०-१२ मास से लेकर वर्षों तक गर्भ में पड़ा रहता है।

उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्। स चापि ¹कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्; अस्पन्दनश्च भवति, तं तु नागोदरमित्याचक्षते ॥ २६ ॥

नागोदररोग-सम्प्राप्ति-लक्षण—उपवास (अनशन), धार्मिक कृत्यों के निमित्त व्रत आदि कर्म में लगी रहने वाली, कदाहार (कुत्सित—गला, सड़ा, दुर्गन्धित, बासी आहार) करने वाली, स्नेहद्वेषिणी (तेल, घी से बने पदार्थों को न खाने वाली) और वातदोष को प्रकुपित करने वाले आहार-विहारों का सेवन करने वाली स्त्री का गर्भ विकृत वायु द्वारा सूख जाने से वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह गर्भ भी बहुत समय तक गर्भाशय में पड़ा रह जाता है और वह फड़कने वाला नहीं होता है। उसको नागोदर कहते हैं।

वक्तव्य—उपवास तथा व्रत शब्द अन्यत्र एक दूसरे के संकेतक हैं, किन्तु यहाँ दोनों का ग्रहण तन्त्रकार ने किया है, अतः इनको निरर्थक ही समझना चाहिये।

उपवास—कृच्छ्रचान्द्रायण, प्राजापत्य, नक्त (रात्रि में एक बार) भोजन-विधियाँ उपवास की सीमा के अन्तर्गत हैं। अथवा 'गुरून् उपवसति शिष्यः, उपवसतीति उपवासः' [illegible] १।४।४८, इसके अनुसार अध्ययनादि की दृष्टि से गुरु आदि के समीप बैठना, यह भी गर्भिणी के लिये [illegible] हो सकता है।

व्रत—'क्रियते अनेन' अथवा 'व्रजति अनेन स्वर्गम्'। इस दृष्टि से सभी प्रकार के नियम व्रत के अन्तर्गत आते हैं।

कर्म—यदि उपवास तथा व्रत को कर्म मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि [illegible] कर्मों में श्रम, व्यायाम आदि का विशेष [illegible] है। यहाँ 'कर्म' शब्द [illegible] ही [illegible] है। कुल मिलाकर उपवास, व्रत, कर्म ये सभी विभिन्न प्रकार के 'श्रम' ही हैं।

नागोदर—[illegible] के अनुसार नागोदर [illegible]—सुश्रुतोऽपि [illegible] नागोदरम् [illegible]। सु० शा० अ० १०।५७। [illegible] में 'नागोदर' [illegible] है [illegible] 'प्रलम्बगर्भ' भी है। [illegible] इस पर वाग्भट के विचार देखें—[illegible] कृशः कुर्यात् गर्भो नागोदरं तु तम् ॥ [illegible] अ० हृ० शा० अ० २।१५।

तयोरुपविष्टकनागोदरयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः—भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषां पयसामामगर्भाणां चोपयोगो गर्भवृद्धिकरः; तथा सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभिक्षायाः,² अभीक्ष्णं यानवाहनापमार्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति ॥ २७ ॥

उपविष्टक-नागोदर की चिकित्सा—उक्त दोनों (उपविष्टक अथवा नागोदर) गर्भों से आक्रान्त स्त्रियों की विशेष चिकित्सा का उपदेश करेंगे या कर रहे हैं। भौतिक (भूताधिकार में निर्दिष्ट घृतों), जीवनीय, बृंहणीय, मधुर तथा वातहर द्रव्यों से सिद्ध घृतों, दूधों तथा आमगर्भों का सेवन कराने से गर्भ की वृद्धि होती है। अर्थात् गर्भाशय में रुकते हुए गर्भ को उक्त पदार्थों से पोषण मिलता है और सुभिक्षा (बुभुक्षा) अर्थात् अच्छी भूख लगने पर उपर्युक्त इन्हीं पदार्थों से सिद्ध किये (पकाये) हुए घी आदि के साथ भोजन भी करे। बार-बार यान (रेल, मोटर आदि), वाहन (हाथी, घोड़ा आदि), अपमार्जन (शौच, स्नान) तथा अवजृम्भण (जँभाई लेना) आदि द्वारा उसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—यहाँ 'तयोः अपि तयोः नार्योः' का तात्पर्य है कि उपविष्टक (उपवेशनशील) गर्भ वाली स्त्री एवं नागोदर-संज्ञक गर्भ से युक्त स्त्री की चिकित्साविशेष का उपदेश कर रहे हैं। चक्रपाणि के अनुसार यहाँ

१. 'कालमत्यन्तम्' इति पा०।
२. 'बुभुक्षायाम्' इति चक्रः।

'भौतिक' का अर्थ है—भूतों के विनाश के लिये हितकारक वचा, गुग्गुल आदि अथवा महापैशाचिक आदि घृतों का सेवन

जीवनीय, बृंहणीय गणों का परिचय चरक सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में देखें। **नागोदर में**—योनिव्यापत् प्रकरण में बतलाये गये गर्भ की वृद्धि करने वाले दूधों तथा आमगर्भ (अण्डा आदि) का प्रयोग कराना चाहिये।

सुभिक्षायाः—यद्यपि पाठभेद में 'बुभुक्षायाम्' पाठ दिया है, किन्तु चक्रपाणिसम्मत पाठ 'सुभिक्षायाः' ही है। अमरसिंह के अनुसार—'अग्निज्वालासुभिक्षे तु धातकी'। अमरकोष। 'सुभिक्षा' शब्द धातकी का पर्याय है, इसका समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त है। किन्तु आगे चलकर वाग्भट ने भी 'सुभिक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। अतः 'सुभिक्षा' शब्द के युक्ति-युक्ति होने में एक प्रकाश की किरण और सामने आ रही है, वह है—'भिक्षा सेवार्थना भृतिः'। अमरकोष। तथा—'भिक्षा भृतौ च याच्ञायां सेवा भिक्षितवस्तुनोः'। विश्वकोष। इस प्रकार भिक्षित = उपार्जित वस्तु (भोज्यसामग्री) का नाम हुआ भिक्षा और 'सुखदा च असौ भिक्षा = सुभिक्षा तस्याः, संभोजनम्'। ऐसा अर्थ करने पर सभी प्रकार की सम्पत्ति 'भिक्षा' कही जायेगी, जो यहाँ अभीष्ट नहीं है। चक्रपाणि ने 'सुभिक्षा' का जो 'बुभुक्षा' अर्थ स्वीकार किया है, वह 'सुभिक्षा' पद की शब्दशक्ति से परे की बात है।

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'—इस नियम के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्या 'उपविष्टक' गर्भ की चिकित्सा के लिये अच्छे प्रकार की भिक्षा को मांगकर उसका घृत आदि से संस्कार करके भोजन करना कोई परम्परा तो नहीं रही ? अन्यथा तन्त्रकार ऐसा प्रयोग क्यों करते, विद्वान् विचार करें।

धन्वन्तरि के अनुसार इनकी चिकित्सा—'तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्। माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्। कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुलूखलं मुसलेनाभिहन्याद् विषमे वा यानासने सेवेत'। सु० शा० अ० १०।५७। ऊपर 'तां मृदुना से लेकर सप्तरात्रम्' तक उपविष्टक नामक गर्भ को पुष्ट करने की विधि का वर्णन है। इसके आगे की विधि नागोदर संज्ञक गर्भ को उत्पन्न करने की है।

वाग्भट-सम्मत चिकित्सा—'तयोर्बृंहणवातघ्नमधुरद्रव्यसंस्कृतैः। घृतक्षीररसैस्तृप्तिरामगर्भाश्च खादयेत् ॥ तैरेव च सुभिक्षायाः क्षोभणं यानवाहनैः'। अ० हृ० शा० अ० २।१७। नागोदर की चिकित्सा के लिये **'क्षोभणं यानवाहनैः'** का निर्देश किया है। यहाँ ल्युट् प्रत्ययान्त क्षुभ सञ्चलने धातु का रूप ध्यान देने योग्य है।

यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तां श्येनमत्स्यगवयशिखिताम्रचूडतित्तिरीणामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतलं भोजयेत्। तैलाभ्यङ्गेन चास्या अभीक्ष्णमुदरबस्तिवङ्क्षणोरुकटीपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत् ॥ २८ ॥

लीनगर्भ-लक्षण और चिकित्सा—जिस स्त्री का गर्भ प्रसुप्त (सोये हुए की भांति) रहता है और स्पन्दन नहीं करता अर्थात् फड़कता नहीं है (इसका अनुभव माता को होता है), ऐसी उस गर्भिणी को श्येन (बाज), मछली, गवय (Species of ox–'गो सदृशो गवयः'। तर्कसंग्रह), मोर, मुर्गा, तीतरी (मादा तीतर) इनमें से किसी एक का मांसरस जिसमें घी डाला गया हो अथवा उड़द की दाल में पर्याप्त घी डालकर या लाल सालि चावलों का भात मूली के यूष के साथ घी मिलाकर मृदु, मधुर तथा शीतल हो जाने पर खाने के लिये दें और ईषद् उष्ण (गुनगुने) तेल से बार-बार उदर, बस्ति, वंक्षण, ऊरु, कटि, पार्श्व (पसलियाँ) पीठ पर मालिश करें।

वक्तव्य—लीन गर्भ का प्रमुख लक्षण है 'न स्पन्दते' अर्थात् न फड़कना। अतएव तन्त्रकार ने अतिशय फड़कने वाले अथवा चंचल पशु-पक्षियों के मांस रस के सेवन का आदेश दिया है। सभी मानव मांसभक्षण के पक्षपाती नहीं होते इसलिये उनके लिये माष (उड़द) यूष का विधान किया गया है। जरा ध्यान दें—मांस तथा माष के गुण-धर्मों की ओर, कुछ ऐसा लगता है कि शास्त्रकारों ने गुणों की अधिकांश समानता के कारण ही नाम निर्धारण में भी समान वर्णों का प्रयोग किया है। उड़द (माष) की बड़ी मांसबटक की ही नकल है। अस्तु।

मृदु मधुर-शीतलम्—शालिचावलों के भात को थोड़ा गीला बनाएँ, इससे वह 'मृदु' होगा। वैसे तो शालितण्डुल स्वभावतः मधुर होते हैं, फिर भी चीनी आदि द्वारा उसे मधुर बना लें। यद्यपि **'यद् यस्मै रोचते तत् तस्मै मधुरम्'**। अर्थात् जो जिसको अच्छा लगता है, वह उसके लिये मधुर होता है, किन्तु यहां शास्त्रकार ने विशेष रूप से मधुर बनाने का निर्देश दिया है। यहाँ **'शीतल'** का अर्थ है, जो आसानी से खाया जा सके, क्योंकि **'कदन्नता चोष्णतया विराजते'**। चाणक्य। अर्थात् कुअन्न के यदि भोज्यपदार्थ बने हों तो उनको गरम-गरम ही खा लेना चाहिये।

इसकी चिकित्सा के लिये देखें—सु० शा० अ० १०। ५७। अ० हृ० शा० अ० २। १८-२० तथा अ० सं० शा० अ० ४। लीनगर्भ की चिकित्सा में शत-प्रतिशत लाभ होता ही है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये। इस सम्बन्ध में वाग्भट की स्पष्ट उक्ति है—'पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्रात् जायेत, नैव वा'। अ० हृ० शा० अ० २।२०। अर्थात् इस चिकित्सा से यदि वह गर्भ पुष्ट हो गया तो कष्ट के साथ अनेक वर्षों में पैदा हो भी जाता है, या नहीं भी होता।

यस्याः पुनरुदावर्तविबन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासनसाध्यं मन्येत ततस्तस्यास्तद्विकार-प्रशमनमुपकल्पयेन्निरूहम्। उदावर्तो ह्युपेक्षितः सहसा [1]सगर्भां गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत्।

गर्भिणी का उदावर्त रोग—जिस गर्भिणी को आठवें महीने में उदावर्त रोग के कारण मलबन्ध हो गया हो और वह विबन्ध अनुवासनबस्ति देने से दूर नहीं हो पायेगा, वैद्य यदि ऐसा समझे, तब उसके उक्त विकार को शान्त करने के लिये निरूहणबस्ति का प्रयोग करना चाहिये. क्योंकि उपेक्षित अर्थात् समय पर उचित चिकित्सा न करने से उदावर्त रोग एकाएक गर्भ सहित गर्भिणी अथवा केवल गर्भ का विनाश कर देता है।

वक्तव्य—उदावर्त रोग (Disease of the bowells) का विशेष परिचय 'माधवनिदान' में देखें। इसके कारण वात (अपानवायु), मूत्र, पुरीष (मल) मुख मार्ग से निकलने लगते हैं। इसमें और भी अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। अतएव गर्भवती की यथाशीघ्र चिकित्सा करा लेनी चाहिये।

'अनुदिवसं दीयते, इति **अनुवासनम्**' 'निरूहणबस्ति' का दूसरा नाम है—'आस्थापनवस्ति', इससे दोष तथा धातुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थापित किया जाता है।

तत्र वीरणशालिषष्टिककुशकाशेक्षुबालिकावेतसपरिव्याधमूलानां भूतीकानन्ताकाश्मर्यपरूषकमधुक-मृद्वीकानां च पयसाऽर्धोदकेनोद्गमय्य रसं प्रियालबिभीतकमज्जतिलकल्कसम्प्रयुक्तमीषल्लवणमनत्युष्णं च निरूहं दद्यात्। व्यपगतविबन्धां चैनां सुखसलिलपरिषिक्ताङ्गीं स्थैर्यकरमविदाहिनमाहारं भुक्तवतीं सायं मधुरकसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्। न्युब्जां त्वेनामास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेत्॥ २९॥

उदावर्तनाशक निरूह-अनुवासन—वीरण (खश) शालि, साठी, कुश, काश, इक्षुबालिका (ईख का एक भेद), वेतस (बेत), परिव्याध (द्रुमोत्पल, जलवेतस, कर्णिकारवृक्ष अथवा आरग्वधवृक्ष—वैद्यकशब्दसिन्धु) इन सब के मूलों को भूतीक (यवानी—चक्रदत्त अ० चि०। धान्यपंचक—सु० चि० अ० ३७। कत्तृण—राजनि०।), अनन्तमूल, गम्भारी, परूषक (फालसा), मधुक (मुलेठी), मुनक्का इन द्रव्यों को लेकर आधा जल तथा आधा दूध मिलाकर क्वाथविधि द्वारा रस निकाले, उस रस में प्रियाल (चिरौंजी) बिभीतक (बहेड़ा) की मज्जा (मींगी) तिल की चटनी तथा थोड़ा नमक, इन सब को पीस कर मिला लें फिर इसको गुन-गुना गरम करके इससे निरूहणबस्ति दें।

जब यह मालूम हो जाये कि उदावर्त के कारण उत्पन्न विबन्ध (मलबन्ध) दूर हो गया है, तब इस गर्भिणी को गुन-गुने जल से स्नान कराकर गर्भ को स्थिरता प्रदान करने वाला तथा अविदाही (शान्तिप्रद) भोजन जिसने कर लिया हो, उसको सायंकाल के समय मुलेठी डालकर पकाये हुए तेल द्वारा अनुवासनबस्ति दें। नीचे की ओर मुख की हुई और घुटने समेट कर लेटी हुई इस गर्भिणी की चिकित्सा आस्थापन (निरूहण) तथा अनुवासनबस्ति द्वारा करे।

१. 'गर्भं सगर्भां गर्भिणीं वा निपातयेत्' इति पा०।

वक्तव्य—यद्यपि 'न्युब्ज' का अर्थ है—औंधा मुख करके लेटना (Lying on the face), किन्तु यहाँ गर्भिणी यदि इस प्रकार लेटती है, तो इससे उसका गर्भ दबेगा। अतः 'न्युब्जा' का अर्थ है—घुटने बटोर कर औंधा मुहँ कर के सोना, ऐसा करने से दोनों वस्ति-प्रयोग आसानी से हो जायेंगे।

यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद् वा तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेवनाद् वा वातमूत्रपुरीषवेगविधारणैर्वा विषमाश(स)नशयनस्थानसम्पीडनाभिघातैर्वा क्रोधशोकेर्ष्याभयत्रासादिभिर्वा साहसैर्वाऽपरैः कर्मभिरन्तः-कुक्षेर्गर्भो म्रियते, तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः, शूल-मधिकमुपजायते, न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवति, अक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः, ताम्यति, व्यथते; भ्रमते, श्वसिति, अरतिबहुला च भवति, न चास्या वेगप्रादुर्भावो यथावदुपलभ्यते, इत्येवंलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भेयमिति विद्यात्॥ ३०॥

गर्भ-मृत्यु के कारण तथा मृतगर्भा के लक्षण—जिस गर्भिणी के अधिक मात्रा में वातादि दोषों के संचय या वृद्धि हो जाने से या तीक्ष्ण, उष्ण गुण अथवा वीर्य प्रधान द्रव्यों के अधिक मात्रा में सेवन करने से या वात (डकार या अपानवायु), मूत्र, पुरीष (मल) के वेगों को रोकने से या विषम अशन (भोजन), विषम शयन, विषम स्थान, संपीडन (दबाना) अथवा चोट लगने से या क्रोध, शोक, ईर्ष्या, भय (डर), त्रास (घबड़ाहट) आदि से या साहस (शक्ति से अधिक कार्य करने, अर्थात् दुःसाहस) से या इसी प्रकार के अन्य कार्यों को करने से गर्भाशय के भीतर स्थित गर्भ मर जाता है।

तदनन्तर उस स्त्री का उदर स्तिमित (गीले कपड़े से ढका हुआ जैसा), जकड़ा हुआ, आतत (तना हुआ), शीतल (स्पर्शयुक्त), मानो उदर के भीतर पत्थर का टुकड़ा हो ऐसा हो जाता है, गर्भ किसी प्रकार हिलता-डुलता नहीं, पेट में अत्यन्त शूल उत्पन्न हो जाता है, और न आवियाँ (प्रसव-वेदनाएँ—Labour Pains) ही उत्पन्न होती हैं, योनि से किसी प्रकार का स्राव भी नहीं होता, इसकी दोनों आँखे शिथिल हो जाती हैं, उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, वह दुःखी हो जाती है, चक्कर आने लगते हैं, श्वास की गति तेज हो जाती है और उसको बहुत अधिक बेचैनी हो जाती है, अर्थात् जब तक मृत गर्भ निकल नहीं जाता तब तक उसको शान्ति नहीं मिलती और न इसके मल-मूत्र आदि के वेग ही समय पर हो पाते हैं, फलतः मल-मूत्र आदि के वेग की उत्पत्ति ठीक-ठीक नहीं हो पाती, इस प्रकार के लक्षणों से युक्त स्त्री को इसका गर्भ मर चुका है, ऐसा समझें।

वक्तव्य—चक्रपाणि की टीकायुक्त चरकसंहिता के उपर्युक्त गद्य में 'विषमाश(स)न' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। **अश भोजने** धातु में तालव्य 'श' का प्रयोग है किन्तु पुरुषोत्तमदेव द्वारा रचित 'वर्णदेशना' में **'अशन'** तथा **'असन'** दोनों रूप दिये गये हैं। इसलिये किसी एक (स या श) का प्रयोग शास्त्रसम्मत है।

न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति, न वेगप्रादुर्भावः—प्रसव-पीड़ा का नाम आवी है। ये प्रसवकाल में बार-बार उठती हैं। इन्हीं के कारण गर्भस्थ शिशु को बाहर निकलने में सहायता प्राप्त होती है। उसके बाद में प्रयुक्त 'वेगप्रादुर्भाव' शब्द मल-मूत्रादि के वेगों की सूचना देता है।

भ्रमते—भट्टोजिदीक्षित के अनुसार भ्वादिगण में पठित 'भ्रमु चलने' धातु परस्मैपदी है, इसके रूप भ्रमति या भ्रम्यति होते हैं और दिवादिगणीय 'भ्रमु अनवस्थाने' धातु भी परस्मैपदी है, इसका रूप भ्राम्यति ऐसा होता है, न कि **'भ्रमते'**, अतः यह अपाणिनीय है किन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने सभी धातुओं को उभयपदी माना है। इस दृष्टि से 'भ्रमते' रूप का साधुत्व स्वीकार करना होगा।

भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता। भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ॥ मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः। गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः'॥ सु० नि० अ० ८। १२-१३। मृतगर्भा के इन लक्षणों की चर्चा अन्य संहिताओं में भी द्रष्टव्य है।

तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके, मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके; परि-दृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके।

१. 'अन्तःकुक्षौ' इति पा०।

मृतगर्भा की चिकित्सा में विभिन्न मत—१. कुछ आचार्यों का मत है कि उस मृत गर्भशल्य का संशमन कर्म है, जरायु (The outer skin of the embryo) प्रपातन। २. दूसरे कुछ आचार्यों का कथन है कि अथर्ववेद में कहे गये मन्त्रों के प्रयोग से मृतगर्भशल्य को निकालें। ३. अन्य कुछ आचार्यों की सलाह है कि परिदृष्टकर्मा (जिसने मृतगर्भशल्य को निकालते देखा हो और स्वयं निकाला भी हो, ऐसे) शल्यहर्ता (शल्यशास्त्र-विशेषज्ञ) द्वारा उसको निकलवा दें।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने उन-उन अन्य आचार्यों के मृतगर्भशल्य को निकालने से सम्बन्धित मतों का उल्लेख किया है जो उनको भी अभिमत थे। यद्यपि गर्भपातन धार्मिक तथा कानून की दृष्टि से अपराध है, भले ही कानून ने इधर अपने विचारों में संशोधन कर लिया है, फिर भी मृतगर्भ को निकालना धर्म, कानून तथा गर्भिणी की प्राणों की दृष्टि से पुण्य कार्य है। आयुर्वेद में गर्भपातन के अनेक योग हैं, इनके प्रयोग से जरायुसहित गर्भ गिर जाता है। उनका यहाँ प्रयोग करना चाहिये। देखें—सु० शा० अ० १० अपरापातन प्रयोग।

अन्य आचार्यों के मतानुसार अथर्ववेदोक्त मन्त्रों का प्रयोग करें, इसी सन्दर्भ में कुछ गर्भच्यावन मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—'इहामृतं ते निवसन्तु ते' इस मन्त्र को गर्भवती के कान में कहना, इसको वह ध्यान से सुने। मन्त्र—'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि। उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते॥' इस मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित कर गर्भवती को पीने के लिये दें। 'इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि। तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्॥ मुक्ताः पाशा विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः। मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः'॥ सु० चि० अ० १५। ६-८।

गर्भपातन-यन्त्र—काँसे की थाली में हल्दी के घोल से चक्रव्यूह यन्त्र को लिखकर गर्भवती को दिखलाकर फिर उस यन्त्र को शुद्ध जल से धोकर गर्भिणी को पिला दें।

इसी प्रसंग में आगे मृतगर्भशल्य को निकालने की विधि के दो प्रकारों का वर्णन किया गया है—१. कुशल स्त्री-चिकित्सक योनि में हाथ डालकर उसे निकाले, २. अथवा शस्त्र द्वारा काटकर उसे निकाले। यह शस्त्रकर्म मूढगर्भ या मृतगर्भ में ही करना चाहिये, जीवित गर्भ में नहीं। देखें—अ० हृ० शा० अ० २। २४-२८।

मन और शरीर को पीडित करने वाले भावों को शल्य कहते हैं। मूढगर्भ को शल्य कहा गया है। 'मूढ' का अर्थ मृत तथा विकृत स्थिति में पड़ा हुआ, दोनों ही होता है। अतः वह जिस स्थिति में हो उसको निकाल देना ही श्रेयस्कर होता है। अतएव भगवान् धन्वन्तरि ने निर्देश दिया है—'नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः। स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा'॥ सु० चि० अ० १५। १५।

व्यपगतगर्भशल्यां तु स्त्रियमामगर्भां सुरासीध्वरिष्टमधुमदिरासवानामन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेद् गर्भकोष्ठशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थं च, अतः परं [1]सम्प्रीणनैर्बलानुरक्षिभिरस्नेहसम्प्रयुक्तैर्यवाग्वादिभिर्वा तत्काल्ययोगिभिराहारैरुपचरेद् दोषधातुक्लेदविशोषणमात्रं कालम्। अतः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारविधिभिश्च दीपनीयजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसमाख्यातैरुपचरेत्।

गर्भशल्य को निकालने के बाद चिकित्सा—आमगर्भा (जिसका गर्भ अभी स्वतः पूर्ण प्रसव योग्य नहीं हुआ है) स्त्री को गर्भशल्य (गर्भ में मृत शिशु) के निकल जाने अथवा निकाल देने के बाद पहले गर्भकोष्ठ (गर्भाशय) को शुद्ध करने के लिये, पीड़ा को भुलाने के लिये तथा उसको प्रसन्न (सुखी) करने के लिये सुरा, सीधु, अरिष्ट, मधु, मदिरा, आसव इनमें से किसी एक को गर्भिणी की शक्ति के अनुसार पिलाना चाहिये। इसके बाद जब तक दोष शान्त न हो जायें, धातु सम न हो जायें और गर्भाशय का क्लेद सूख न जाये तब तक भली-भाँति शरीर को तृप्त करने वाले, बल की रक्षा करने वाले स्नेहरहित यवागू, विलेपी आदि जो तत्काल गर्भिणी को दिये जाने योग्य आहार हों, उनसे इसकी चिकित्सा करें।

तदनन्तर दोष, धातु तथा क्लेद के सूख जाने पर (ऊपर जिन स्निग्धपदार्थों का निषेध किया है, उनका सेवन करना चाहिये) दीपनीय, जीवनीय, बृंहणीय, मधुर तथा वातहर नामक गणों में कहे गये द्रव्यों द्वारा सिद्ध घी अथवा तैल से स्नेहपान, स्नेहबस्ति द्वारा तथा आहार विधियों से उसका उपचार करायें।

१. 'बृंहणैः' इति पा०।

वक्तव्य—परिपक्व तथा निर्दोष गर्भ का प्रसव यथासमय हो जाता है। परिपक्व होने के पहले उसको आमगर्भ कहते हैं। ऐसा गर्भ जब गर्भाशय में मर जाता है, तो वह गर्भिणी के लिये कष्टप्रद हो जाता है।

सुरा, सीधु आदि जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, ये सब मद्य-भेद हैं। इनके बीच में पढ़ा गया मधु शब्द भी यहाँ मद्य का वाचक है, न कि अपने मूल अर्थ (शहद) का वाचक है। देखें—'मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्ये'। विश्वकोष। श्रम, पीड़ा, शोकनाशक द्रव्यों में 'सुरा' का प्रमुख स्थान है। देखें—**'सुरा श्रमहराणाम्'** च० सू० अ० २५।४०। दीपनीय, जीवनीय आदि गणों के परिचय का संकेत इसी अध्याय के २७ वें गद्य की टीका एवं वक्तव्य में कर दिया गया है।

परिपक्वगर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरेव स्नेहोपचारः स्यात्॥ ३१॥

स्नेहचिकित्सा-निर्देश—परिपक्व गर्भशल्य वाली (पूर्ण प्रसव के दिनों में गर्भ यदि गर्भाशय में मृत्यु को प्राप्त होकर शल्य का रूप धारण कर लेता है, तब उस) का गर्भशल्य जब निकाल दिया जाता है, तब उसी दिन से स्नेहोपचार (स्नेहपान तथा स्नेहबस्ति) का प्रारम्भ कर दें।

वक्तव्य—मृत आमगर्भ को निकालने के बाद दोषों की शान्ति होने पर ही स्नेहोपचार का आदेश दिया गया है किन्तु मृत परिपक्व गर्भ को निकालने के तत्काल बाद से ही स्नेहोपचार किया जाता है, क्योंकि परिपक्व गर्भ के मर जाने पर दोषों की उतनी बहुलता नहीं होती है।

विशेष अध्ययन के लिये सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० १५ श्लोक १९ से २७ तक देखें। यह सब मृतगर्भशल्य को निकालने के बाद का कर्म (पश्चात् कर्म) है।

परमतो निर्विकारमाप्याय्यमानस्य गर्भस्य मासे मासे कर्मोपदेक्ष्यामः। प्रथमे मासे शङ्किता चेद् गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले काले पिबेत्, सात्म्यमेव च भोजनं सायं प्रातश्च भुञ्जीत; द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धं; तृतीये मासे क्षीरं मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य; चतुर्थे मासे क्षीरनवनीतमक्षमात्रमश्नीयात्; पञ्चमे मासे क्षीरसर्पिः; षष्ठे मासे क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धं; तदेव सप्तमे मासे। तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुर्विदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भाषन्ते; तन्नेति भगवानात्रेयः, किन्तु गर्भोत्पीडनाद् वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदाहं जनयन्ति, ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला च किक्किसावाप्तिर्भवति।

मासानुसार गर्भिणी-उपचार (Monthly treatment of pregnant women)—इसके बाद किसी प्रकार के विकार से रहित पुष्ट होते हुए गर्भ के निमित्त जो-जो उपचार किये जाते हैं, उन उपचारों का प्रत्येक मास की दृष्टि से हम यहाँ वर्णन करेंगे।

प्रथम मास में—यदि गर्भिणी स्त्री को पहले मास में गर्भ की हानि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका हो जाय तो वह बिना किसी औषधद्रव्य को उनमें डाले हुए, मात्रा के अनुसार बिना पकाये ही शीतल दूध को पीये। प्रातःकाल और सायंकाल सात्म्य (अपनी प्रकृति तथा गर्भ के अनुकूल) भोज्य-पदार्थों का सेवन करे।

द्वितीय मास में—मधुरगण (काकोल्यादिगण) में कहे गये औषध द्रव्यों से साधित (पकाया गया) दूध ही पीयें और सात्म्य भोजन करें।

तृतीय मास में—दूध में मधु और घी (विषम मात्रा में) मिलाकर पीयें।

चतुर्थ मास में—अक्ष (२ तोला मात्र) नवनीत दूध में मिलाकर पीयें।

पञ्चम मास में—क्षीर-सर्पि (दूध में घी मिलाकर या दूध में से निकाले हुए घृत) का सेवन करें।

षष्ठ मास में—मधुरगण में कहे गये औषधद्रव्यों से पकाये गये क्षीरसर्पि का सेवन करें। अर्थात् छठे महीने में मधुरगण में निर्दिष्ट औषधद्रव्यों से पकाये गये दूध में घी मिलाकर पीयें अथवा मधुरगण की औषधियों से पकाये गये दूध में से निकाले गये घी का सेवन करें।

सप्तम मास में—छठे मास में बतलाये गये मधुरगण द्वारा सिद्ध दूध अथवा घी का सेवन करें। इस मास में गर्भस्थ शिशु में उत्पन्न होनेवाले केश माता के शरीर में विदाह (विशेष रूप में जलन) उत्पन्न कर देते हैं, ऐसा बहुप्रसूता स्त्रियाँ कहती हैं। भगवान् आत्रेय का कथन है कि ऐसा नहीं होता, अपितु गर्भ की वृद्धि होने से

जो उत्पीडन (अंगों में दबाव पड़ना) होता है, उससे वात, पित्त, कफ उरःस्थान में पहुँच कर विदाह पैदा कर देते हैं, तदनन्तर कण्डू (खुजली) उत्पन्न होती है। कण्डू के कारण ही किक्किस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ प्रतिमास किये जाने वाले जिन उपचारों (कर्मों) का उपदेश दिया जा रहा है, वे कर्म गर्भ तथा गर्भिणी को पुष्ट करने की दृष्टि से कहे गये हैं। क्योंकि ये कर्म निर्विकार पुष्ट होने वाले गर्भ के लिये ही निर्दिष्ट हैं। इसीलिये इसके साथ '**प्रक्रिया**' कहा है न कि 'अवस्था'।

सात्म्यं भुञ्जीत—प्रथम मास के कर्मों में प्रातःसायम् सात्म्य भोजन का जो निर्देश किया है, वह केवल पहले ही मास के लिये नहीं अपितु सभी महीनों के लिये है। क्योंकि '**अन्नं वै प्राणाः**'।

चौथे मास में '**क्षीरनवनीतम्**' देने का विधान है। इस समस्त पद का विग्रह होगा—'क्षीरोद्धृतं नवनीतम्' अर्थात् दूध से निकाला हुआ मक्खन, अथवा 'नवनीतमिश्रितं क्षीरम्' अर्थात् मक्खन मिला हुआ दूध। इसी प्रकार पाँचवें तथा छठे मास में 'क्षीरसर्पिः' सेवन का आदेश है। यहाँ भी 'क्षीरोद्धृतं सर्पिः' अथवा 'क्षीरमिश्रितं सर्पिः' विग्रह किये जा सकते हैं, दोनों प्रकार के अर्थ प्रकरणवश ग्राह्य भी हैं। छठे तथा सातवें मास में समान कर्मों का उपदेश किया है। इसमें गर्भ की स्थिति का समान होना ही कारण है, अन्य कुछ नहीं।

सातवें मास में गर्भ के शरीर में उत्पन्न होने वाले केशों से गर्भिणी को जलन उत्पन्न होती है, ऐसा स्त्रियों का मत है। इस अशास्त्रीय विचार का भगवान् आत्रेय ने प्रतिवाद करते हुए अपने मत की स्थापना की है।

किक्किस (Stria Gravidoram)—वैद्यकशब्दसिन्धु के अनुसार यह 'केशविकारविशेष' है। चक्रपाणि के मत से—'किक्किसश्चर्मविदरणम्'। अरुणदत्त के अनुसार किक्किस की परिभाषा यह है—'उरस्तनोदरे बलिविशेषा रेखाकारास्तत्काले प्रायो ये जायन्ते तेषां किक्किससंज्ञा'। अर्थ स्पष्ट है। अरुणदत्त का मत महर्षि आत्रेय को भी स्वीकार्य है। देखें अगले गद्य में—'**स्तनोदरं विमृद्नीयात्**'। ये रेखाएँ गर्भावस्था में नाभि के निचले भाग में टाँगों के जोड़ों में पड़ जाती हैं और जलोदर में भी ये देखी जाती हैं।

तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्यै पानार्थं दद्यात्, चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृद्नीयात्, शिरीषधातकीसर्षपमधुकचूर्णैर्वा, कुटजार्जकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा, निम्बकोलसुरसमञ्जिष्ठाकल्कैर्वा, पृषतहरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया वा; करवीरपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यङ्गः; परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा; जातकण्डूश्च कण्डूयनं वर्जयेत् त्वग्भेदवैरूप्यपरिहारार्थम्, असह्यायां तु कण्डवामुन्मर्दनोद्घर्षणाभ्यां परिहारः स्यात्; मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमल्पस्नेहलवणमल्पोदकानुपानं च भुञ्जीत।

किक्किसरोग-चिकित्सा—१. मधुरगण में निर्दिष्ट औषधद्रव्यों द्वारा सिद्ध किया (पकाया) हुआ नवनीत (ताजा मक्खन) पाणितलमात्र (१ तोला) बेर के क्वाथ के साथ समय-समय पर, अर्थात् बार-बार इस (किक्किस रोग से पीड़ित गर्भिणी) को पीने के लिये दें। २. चन्दन तथा मृणाल (कमलनाल) का कल्क (चटनी) बनाकर स्तनमण्डल और पेट पर मसलें। ३. अथवा सिरस (इसके पुष्प सुगन्धि तथा सुकुमारता के लिये कवि समाज में सुप्रसिद्ध हैं) की छाल, धाय के फूल, सर्षप (पीली सरसों), मुलेठी के चूर्णों से छाती तथा पेट को मसलें, यह रूक्ष उद्वर्तन है। ४. अथवा कुटज की छाल, अर्जक (वनतुलसी) के बीज, नागरमोथा की जड़ तथा हल्दी, इनके कल्कों द्वारा स्तन तथा उदर प्रदेश में मर्दन करे। ५. अथवा नीम की पत्ती, बेर की पत्ती, सुरस (तुलसी) की पत्ती, मंजिष्ठा (मजीठ) के कल्कों से मर्दन करे। ६. अथवा पृषत (The spotted antelope—वह मृग जिसके चमड़े के ऊपर बिन्दु जैसे पड़े हों, चित्तल मृग), हरिण, खरगोश के रक्त से युक्त त्रिफला के चूर्ण से मर्दन करें। ७. अथवा करवीर (कनेर) की पत्ती के कल्क से पकायें हुए तिल के तैल से मर्दन (मालिश) करें। ८. अथवा मालती नामक फूल की पत्तियाँ और मधुक (मुलेठी) का क्वाथ बनाकर उस पानी से परिषेक (स्नान) कराया जाय।

यदि उक्त स्थानों पर खुजली हो रही हो, अर्थात् खुजलाने का मन कर रहा हो तो खुजलाने का निषेध करे, क्योंकि खुजला देने से त्वचा के फटने और त्वचा के कुरूप हो जाने का भय बना रहता है। इसी को बचाने के लिये खुजलाने का निषेध किया गया है। जब खुजली असह्य हो जाय तो उपर्युक्त कल्क, चूर्ण, स्नेहद्रव्यों के मर्दन (मसलने) से, उद्घर्षण (घिसने) से खुजली शान्त हो जाती है।

इस रोग में मधुर तथा वातनाशक, थोड़ा स्नेह (घी या तेल), लवण का आहार में प्रयोग करें और पानी भी थोड़ा पीयें।

वक्तव्य—'पाणितल' शब्द आयुर्वेद में एक निश्चित मान (परिमाण) का संकेत करता है। यथा—'कोलद्वयं च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका। अक्षं पिचुः पाणितलम्'। देखें—शा० सं० मागधमान परिभाषा। इसके अनुसार 'पाणितल' का अर्थ होता है—१ कर्ष=१ तोला। यहाँ 'पाणितल' का तात्पर्य 'करतल' आदि से नहीं है।

स्तनोदरम्—ये दोनों शब्द 'प्राणियों के अंगों के वाचक' हैं। अतः यहाँ 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से द्वन्द्वसमास हुआ है। ऊपर आठ योग चिकित्सा के लिये दिये गये हैं और अन्त में पथ्य-आहार का निर्देश किया गया है। इनका सेवन करती हुई गर्भिणी किक्किस-रोगजनित कुरूपता से पीड़ित नहीं होती और न उसको खुजली ही सताती है।

अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत्; तन्नेति भद्रकाप्यः, पैङ्गल्याबाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति; अस्त्वत्र पैङ्गल्याबाध इत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः, न त्वेवैतन्न कार्यम्; एवं कुर्वती ह्यरोगाऽऽरोग्यबलवर्णस्वरसंहननसम्पदुपेतं ज्ञातीनामपि श्रेष्ठमपत्यं जनयति।

अष्टम मास में—दूध में यवागू (Rice-gruel) को पकाकर और उसमें घी मिलाकर उसको समय-समय पर पिलायें (सुपाच्य होने के कारण यह जल्दी पच जाती है, अतः उसका बार-बार देने की आज्ञा दी गयी है।) भद्रकाप्य इस कथन को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि घी युक्त क्षीर-यवागू का सेवन करने से गर्भ का वर्ण पिंगल (Reddish-brown or yellowish-brown) हो जाता है।

भगवान् पुनर्वसु ने भद्रकाप्य के इस आक्षेप को सुनकर कहा—भले ही उस गर्भ में पिंगलता आ जाय, परन्तु उसको घृतयुक्त क्षीर यवागू न दी जाय, यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उक्त यवागू सेवन के प्रभाव से वह गर्भिणी नीरोग, आरोग्य (स्वास्थ्यसम्पन्न), बल, वर्ण, स्वर, संहनन(शरीर-संगठन)शक्ति से पूर्ण अपने बन्धु-बान्धवों से भी श्रेष्ठ सन्तान को पैदा करती है।

वक्तव्य—भद्रकाप्य का अनुभव है कि घृतयुक्त क्षीर-यवागू के सेवन से गर्भस्थ शिशु का वर्ण या उसके नेत्र पिंगल वर्ण के हो जाते हैं। भगवान् पुनर्वसु ने भद्रकाप्य के मत का खण्डन-मण्डन न करते हुए यह कहा है कि एक दोष भले ही आ जाय किन्तु इसका सेवन करने वाली गर्भिणी की सन्तान अनेक सद्गुणों से युक्त हो जाती है, देखा जाता है अनेक गुणों में एक दोष छिप जाता है।

नवमे तु खल्वेनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्। अतश्चैवास्यास्तैलात् पिचुं योनौ प्रणयेद् गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम्।

नवम मास में—इस मास में गर्भिणी को मधुरवर्गोक्त औषधद्रव्यों से सिद्ध किये गये तिल-तैल से अनुवासनबस्ति दिलानी चाहिये तथा इसी तेल में रुई का फाहा भिगोकर गर्भस्थान (गर्भाशय) एवं गर्भमार्ग को स्निग्ध (चिकना) करने के लिये योनि के भीतर डालना (रखना) चाहिये।

वक्तव्य—गर्भधारण के बाद प्रत्येक मास में गर्भिणी की चिकित्सा का क्रम सु० शा० अ० १० गद्य ४ तथा श्लोक ५८ से ६५ तक का अवलोकन करें।

यदिदं कर्म प्रथमं मासं समुपादायोपदिष्टमानवमान्मासात्तेन गर्भिण्या गर्भसमये [१]गर्भधारिणीकुक्षिकटीपार्श्वपृष्ठं मृदूभवति; वातश्चानुलोमः सम्पद्यते, मूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गमनुपद्येते, चर्मनखानि च मार्दवमुपयान्ति, बलवर्णौ चोपचीयेते; पुत्रं चेष्टं सम्पदुपेतं सुखिनं सुखेनैषा काले प्रजायत इति॥ ३२॥

मासानुसार गर्भिणी के उपचार का फल—यह जो (इस प्रकरण में) पहले मास से लेकर नवें मास तक का कर्म (उपचार) बतलाया गया है, उससे गर्भिणी के गर्भ-समय (गर्भ के उत्पन्न होने के समय) में

---

१. 'गर्भधारणे' इति पा०।

गर्भ को धारण करने वाली कुक्षि (गर्भाशय), कमर, पसलियाँ तथा पृष्ठ भाग मृदु (कोमल) हो जाते हैं, अर्थात् प्रसवकाल में उक्त अवयवों में विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है। वायु का अनुलोमन हो जाता है (मूढ़गर्भ के भेदोपभेदों में वायु का प्रतिलोम हो जाना सर्वविदित है), मूत्र और पुरीष स्वाभाविक रूप में सुख से अपने-अपने मार्ग से निकलते हैं। त्वचा (Skin) और नाखून मुलायम हो जाते हैं, बल तथा वर्ण बढ़ते हैं। सभी प्रकार की स्वास्थ्य-संपत्ति से परिपूर्ण, मनोनुकूल, सुखी पुत्र को समय पर यह सुखपूर्वक जन्म देती है।

वक्तव्य—प्रथम मास से नवें मास तक गर्भिणी के लिये जिन उपचारों की चर्चा की गयी है ये सामान्यतः खान-पान, रहन-सहन की विधियाँ हैं। दसवें मास में भी जब तक प्रसव न हो जाय तब तक नवें मास के निर्देशों का पालन कराता रहे। सुखप्रसव या गर्भपात फलवृन्त (The foot-stalk of a fruit) के समान होता है। पकने पर फल अपने वृन्त से स्वयं अलग होकर जिस प्रकार नीचे आ जाता है, ऐसी ही स्थिति गर्भ के सुखप्रसव की है और गर्भपात कच्चे फल को तोड़ने के समान कष्टदायक होता है।

प्रसव-लक्षण—सुश्रुत सं० शा० अ० १०।६ के अनुसार प्रसव-लक्षणों को देखते ही आस्थापन (निरूहण) बस्ति तथा अनुवासनबस्तियों का प्रयोग कराकर कोष्ठशुद्धि अवश्य करा लेनी चाहिये। भगवान् धन्वन्तरि ने प्रसव की स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है—

'तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च'। सु० शा० अ० १०।७।

प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेदपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा बैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदकानां भाल्लातकानां वार(रु)णानां खादिराणां वा; यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदस्तेषां; वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पदुपेतं वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं च ॥ ३३ ॥

सूतिकागार की रचना

(Construction of Maternity Ward)

प्रसव के पूर्व का कर्म—नवें मास के प्रारम्भ होने के पहले ही ऐसे स्थान पर जहाँ से हड्डियाँ, कंकड़, (बालू), कपाल (घड़ा आदि के फूटे टुकड़े) निकाल लिये या निकलवा दिये गये हों, अर्थात् जहाँ का भूमिशोधन करा लिया गया हो, ऐसी भूमि पर जो अपने रूप, रस, गन्ध से सम्पन्न हो. पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर दरवाजा रखकर सूतिकागार (जिसमें रहकर गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसव करके सूतिका संज्ञा प्राप्त कर सके, ऐसा आगार = घर) बनवाएँ। इसमें बेल, तेंदू, इंगुदी (हिंगोट), भिलावा, वरुण अथवा खैर की सूखी लकड़ियों का प्रयोग करायें अथवा अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मण इनके अतिरिक्त जिन काष्ठों का निर्देश करें उनका भी उपयोग इसके लिये किया जा सकता है।

यह सूतिकागार स्वच्छ वस्त्रों, आलेपन (गोबर-मिट्टी से लिपा हुआ) से युक्त, आच्छादन (इसके ऊपर छत) पड़ी हो, अपिधान (दरवाजे, खिड़कियाँ, पर्दे) आदि संपत्ति से युक्त हो, अथवा आधुनिक दृष्टि से इसी प्रकार के अभिनव उपकरणों से सुसज्जित किया गया हो।

वास्तुविद्या-विशेषज्ञ विद्वान् के निर्देशानुसार इसके भीतर अग्निस्थान (जहाँ हर समय अग्नि सुरक्षित रक्खी जा सके), सलिलस्थान (जहाँ पानी रखने की व्यवस्था हो—घर के भीतर कुआं या पानी का नल लगा हो या घड़ों में पानी रखा गया हो), उदूखलस्थान (ओखली, मूसली या खरल-बट्टा रखने का स्थान जहाँ औषध द्रव्य कूटे जा सकें), वर्चःस्थान (Latrine-room), स्नानभूमि (Bath-room), महानस (रसोई घर = Kitchen-room) आदि दैनिक उपयोगी स्थानों की रचना करायें। यह सूतिकागार ऋतु सुखवाला हो, अर्थात् गर्मियों में ठंडा रह सके और जाड़ों में भीतर धूप आ सके और बरसात में भीतर पानी की बौछार न आ सके।

वक्तव्य—आज इस वैज्ञानिक युग में जो मेटरनिटी-वार्ड बनाये जाते हैं, ये उनकी नयी सूझ नहीं है, यह प्राचीनकाल की ही देन है।

अथर्ववेदविदः शंसेयुः—आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपांग है और यह सम्पूर्ण यन्त्र, तन्त्र, मन्त्रों का आकर है, अतः सूतिका की रक्षाविधि का संकेत भी इससे कर दिया गया है। अपिधान तथा पिधान शब्द परस्पर समानार्थक हैं, यह विकल्प आचार्य भागुरि की वष्टि (Wish) है। विशेष देखें—सु० शा० अ० १०।५।

तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविड्लवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्येलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिङ्गुसर्षपलशुनकतककणकणिकानीपातसी[1]बल्वजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः; तथाऽश्मानौ द्वौ, द्वे कु(च)ण्डमुसले, द्वे उदूखले, [2]खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठान्यग्निसन्धुक्षणानि, स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्योऽभिमताः, ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविदः; यच्चान्यदपि तत्र समर्थं मन्येत, यच्चान्यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धास्तत् कार्यम् ॥ ३४ ॥

प्रसव के पूर्व संग्रहणीय वस्तुएँ—उस (सूतिकागृह) में घी, तैल, मधु, सैन्धव (सैंधानमक); सोंचरनमक, कालानमक, विडलवण (नौसादर), वायविडंग, कूठ, किलिम (देवदारु—वैद्यकशब्दसिन्धु), नागर (सोंठ), पिप्पली, पिप्पलीमूल, मण्डूकपर्णी, एला (इलायची), लांगली (कलिहारी की जड़), बालवच चव्य, चीते की जड़, चित्रक, चिरबिल्व (करञ्ज), हींग, सरसों, लशुन, कतक (निर्मली का फल), कण (जीरा), कणिका (अरणी), नीप (कदम्ब), अतसी, (अलसी या तीसी), बल्वज (वल्लीज पाठभेद के अनुसार कालीमिर्च), भोजपत्र, कुलथी, मैरेय (धाय के फूल, गुड़, धान्याम्ल द्वारा सन्धान किये गये द्रव्य का नाम), सुरा, आसव, ये द्रव्य पास में रहने चाहिये।

और दो पत्थर, दो कुण्डमुसल (कुंडी सोटा या खल-बट्टा) अथवा दो मजबूत मुसल, दो ऊखल, गधा, बैल, दो तेज अग्रभाग वाली सुइयां और पिप्पलक सुई रखने के सोने-चांदी के पात्र, लोहे के तेज किये हुए शस्त्र, दो पलंग जो बेल की लकड़ी से बने हों, तेंदू तथा इंगुदी (हिंगोट) की लकड़ियाँ आग सुलगाने के लिये, जिनको अनेक बार प्रसव हो चुका हो (अथवा जो अनेक बार प्रसव करा चुकी हों), गर्भिणी से जिनका मित्रता का भाव हो, निरन्तर प्रेम करने वाली, आचार-व्यवहार में कुशल, प्रतिपत्ति-कुशल (सूझ-बूझ वाली, या संकेतमात्र से समझ जाने वाली), स्वभाव से ही शिशु के साथ स्नेह करने वाली, सदा प्रसन्नचित्त रहने वाली, कष्ट को सहने की शक्ति वाली, ऐसी अनेक स्त्रियाँ वहाँ रहें, यह तन्त्रकार को अभिमत अर्थात् अभीष्ट है और अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मणों का भी संग्रह करे। इनके अतिरिक्त और भी जो वस्तु वहाँ उपचार करने में समर्थ समझी जाय और जो ब्राह्मण (कुल-पुरोहित), स्त्रियां तथा वृद्ध (अनुभवी जन) कहें, उन सब वस्तुओं का यहाँ संग्रह करना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर जिन संग्रहणीय वस्तुओं की सूची दी गयी है, इनका समय पर संग्रह कर लें। बहुशः प्रसूता स्त्रियां गर्भिणी के मनोविनोद से लेकर उसकी सुरक्षा तक सभी प्रकार के उपयोग में आती हैं। अथर्ववेदविद ब्राह्मण मूढगर्भ आदि की स्थिति में विशिष्ट मन्त्रों के प्रयोग से गर्भिणी तथा गर्भ की सुरक्षा में सहायक होते हैं। ब्राह्मण (कुल-पुरोहित) स्वस्तिवाचनपूर्वक जातकर्म आदि संस्कार कराते हैं। यहाँ वृद्ध शब्द से अनुभवी चिकित्सक का ग्रहण करना युक्ति-युक्त है, क्योंकि उनसे विषम परिस्थितियों में उचित सलाह सरलता से प्राप्त हो सकती है।

ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं [3]हुत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभि-

---

१. 'वल्लीज' इति पा०।

२. 'खरो वृषभश्च' इति पा०।

३. 'कृत्वा' इति पा०।

[illegible] स्वस्ति वाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्तमाना[1] प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीक्षेत ॥ ३५ ॥

सूतिकागार में गर्भिणी का प्रवेश (Admission of Pregnant Woman in Maternity Ward)—तदनन्तर (उपर्युक्त वस्तुओं को जुटा लेने पर) नवें महीने के प्रारम्भ होने पर शुभ दिन, शुभ नक्षत्र के [illegible] शुभ राशि पर स्थित होने पर, [illegible] शुभ मुहूर्त में [illegible] हवन करवाकर, गाय, ब्राह्मण, अग्नि, [illegible] गायों को घास, जल, मधु मिलाये हुए लावा (खीलें) देकर, ब्राह्मणों को जल देकर, अर्थात् उनके हाथ-पैर धुलवाकर आसनों पर उन्हें बैठाकर, उनके लिये अक्षतों (बिना टूटे हुए चावलों), फूलों, नान्दीमुखफलों—पर्याप्त फलों द्वारा, आमलक आदि तथा अन्य शुभफलों को देकर, प्रणाम करके, तदनन्तर [illegible] (गर्भिणी का पति) स्वयं आचमन करके ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराये।

तदनन्तर पुण्याहं, पुण्याहं इस शब्द को सुनती हुई गाय और ब्राह्मण के पीछे पीछे चलती हुई गर्भिणी सूतिकागार में पहले दाहिना पैर रखकर प्रवेश करे। वहाँ रहती हुई वह प्रसवकाल की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करे।

वक्तव्य—सूतिकागार में प्रवेश के पूर्व जिन भारतीय परम्पराओं को ग्रन्थकार ने महत्त्व दिया है, वे सभी गर्भिणी तथा गर्भ के लिये हितकर हैं।

पुण्येऽह्नि—यहाँ से लेकर 'मैत्रे मुहूर्ते' तक ज्यौतिष का विषय है। अतः ज्यौतिष के अनुसार प्रसूतागार में प्रवेश के लिये प्रशस्त नक्षत्र ये हैं—अश्विनी, रोहिणी, मृगशिर, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, तीनों उत्तरा, धनिष्ठा, शतभिषा और रेवती। देखें—ज्योतिषसार।

मैत्रे मुहूर्ते—२ घड़ी = ४८ मिनट का एक मुहूर्त होता है। १५ मुहूर्त दिन के और १५ मुहूर्त रात्रि के होते हैं। देखें—मुहूर्तचिन्तामणि विवाहप्रकरण ६। यह मैत्र नामक मुहूर्त दिन के मुहूर्तों में तीसरा है। अतः गर्भिणी को दिन में सूतिकागार में प्रवेश कराना चाहिये।

नान्दीमुखानि—चक्रपाणि के अनुसार—१. 'नान्दीमुखश्राद्धाय हितानि फलानि', २. किंवा नान्दी = मुरजः तन्मुखाकृतानि फलानि खर्जूरादीनि'। यहाँ पर पहला विग्रह वाला अर्थ रुचिकर तथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इसी को श्रीजयदेव विद्यालंकार ने भी स्वीकार किया है। दूसरा अर्थ मृदंग के आकार के खर्जूर आदि फल, इस पर विद्वान् विचार करें। नान्दीश्राद्ध को ही वृद्धिश्राद्ध भी कहते हैं।

तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति; तद्यथा—क्लमो गात्राणां, ग्लानिराननस्य, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्धनत्वमिव[2] वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनम्, अधोगुरुत्वं, वंक्षणबस्तिकटीकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदः, योनेः प्रस्रवणम्, अनन्नाभिलाषश्चेति; ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य ॥ ३६ ॥

प्रसव की प्रारम्भिक स्थिति—(First Stage of Labour)—प्रजनन (प्रसव) काल के समीप आ जाने पर उस गर्भिणी में ये लक्षण होते हैं, वे इस प्रकार हैं—शरीर के अवयवों में बिना परिश्रम के सुस्ती का आ जाना, मुखमण्डल का मलिन हो जाना, आंखों में ढीलापन, मानो छाती के बन्धन खुल गये हों, कुक्षि (गर्भाशय) का नीचे को सरकना, निचले भाग का भारी होना, वंक्षण, बस्ति (मूत्राशय), कटी (कमर), कुक्षि (गर्भाशय), पार्श्व (पसलियां) तथा पीठ में सुई चुभने की-सी पीड़ा का अनुभव होना, योनि (अपत्यपथ) से स्राव का होना, अन्न के प्रति इच्छा का न होना। इसके बाद आवियों (प्रसव-पीड़ा सम्बन्धी वेगों) की उत्पत्ति होती है और गर्भोदक का स्राव होने लगता है।

वक्तव्य—सामान्य प्रसव के सुश्रुतोक्त लक्षणों को इसी अध्याय के ३२ वें गद्य के वक्तव्य में उद्धृत कर दिया गया है। प्रसवकाल में होने वाली आवियों (प्रसववेदना से सम्बन्धित वेगों) की सहायता से गर्भाशय-

१. 'अन्वावर्तमाना प्रविशेत्' इति पा०।
२. 'अक्ष्णोर्विमुक्तबन्धनत्वमिव' इति पा०।

स्थित गर्भोदक, गर्भ, अपरा तथा उसकी आवरण-कलाएँ गर्भाशय से बाहर निकल आती हैं। यह प्रसव तीन प्रकार का होता है।

१. स्वस्थ अथवा सुखप्रसव (Eutocia or Physiological Labour) जिसमें शिशु का सिर सुगमता से योनि-मार्ग से बाहर निकल आये, किसी प्रकार के उपद्रव न हों और ४-६ घण्टे से लेकर २४ घण्टे तक जो प्रसव हो जाता है, उसे सुखप्रसव कहते हैं। प्रायः बहुशःप्रसूता स्त्रियों में यह देखा जाता है। ईश्वर की विशेष कृपा के कारण एवं उचित देख-रेख के कारण प्रथम प्रसव भी कभी-कभी सुखप्रसव के रूप में देखा जाता है। भले ही इसको सुखप्रसव संज्ञा दी गयी है, किन्तु जब गर्भाशयग्रीवा का मुख खुलने लगता है, जिसको प्रसारणावस्था (Stage of dilatation) कहते हैं, अत्यन्त कष्टप्रद होती है। इसके नामकरण की एक ही सार्थकता समझ में आती है कि यह अन्य प्रसवों की भांति उपद्रवों से रहित होता है।

२. अस्वाभाविक अथवा विकृतप्रसव—(Dystocia or Pathological Labour) इसमें मूढ़गर्भ के भेद-उपभेदों का संग्रह किया जाता है। प्रसवकाल में होने वाली सभी विकृतियों का समावेश इस अस्वाभाविक प्रसव में हो जाता है। इसमें आवियों की उत्पत्ति होकर फिर बीच में वे रुक जाती हैं। गर्भ योनिप्रदेश में आकर रुक या अटक जाता है, यह स्थिति कष्टप्रद होती है। सामान्य स्थिति में भी शीर्षोदय तथा स्कन्धोदय कष्टप्रद होते हैं। इसे गर्भ-निर्गमावस्था (Stage of Expulsion) कहते हैं। प्रसव होने के बाद गर्भाशय स्वयं सिकुड़ जाता है।

३. विशल्यावस्था (Stage of Delivery)—शिशु के जन्म होने के बाद एक बार पुनः आवी का प्रादुर्भाव होता है। इस बार वेदना के साथ अपरा (Placenta = गर्भावरण झिल्ली) बाहर निकल आती है। कभी इसको गिराने के लिये मृत गर्भपातन वाले प्रयोग करने पड़ते हैं, तब कुछ समय के बाद अपरा निकलती है। तदनन्तर इसको स्वस्थ करने के उपायों का क्रम चलता है।

आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नम्। [1]तदध्यासीत सा। तां ततः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीयाभिः[2] सान्त्वनीयाभिश्च ॥ ३७ ॥

प्रसव की द्वितीय स्थिति (Second Stage of Labour)—आवियों की उत्पत्ति होने पर तत्काल भूमि पर मुलायम गद्दों से युक्त बिछौना बिछा दें। वह गर्भिणी उस पर आराम से बैठ जाये। तदनन्तर उसको घेर कर यथोक्त गुण वाली (इसी अध्याय के ३४ वें गद्य में वर्णित) स्त्रियाँ उसको आश्वस्त करती हुई, तत्-कालोचित उपदेश युक्त और सान्त्वना प्रदान करने वाली (सभी को प्रसव होता है, बच्चा होते ही कष्ट समाप्त हो जाता है, इस प्रकार की) बातों से उसकी सेवा करने में लग जायें।

वक्तव्य—उक्त गद्य में कहा गया है—'यथोक्तगुणाः स्त्रियः परिवार्य पर्युपासीरन्'। इसका परिस्थिति के अनुकूल यह भी अर्थ होता है कि विपरीत गुणवाली स्त्रियों को उस समय वहाँ न बैठने दें।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णशयने स्थितायामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयुरिति'॥ सु० शा० अ० १०।८।

नारी के लिये सुखप्रसव का होना पुनर्जन्म है। यदि वह बालक के साथ सुतिनी-सुखिनी हो जाती है तो उसमें नवयौवन का प्रादुर्भाव भी देखा जाता है और कष्ट की तो कोई सीमा नहीं, फिर भी समय-समय की बात है, अनेक सुकुमारियाँ तो इस पीड़ा से मूर्च्छित और कुछ मर भी जाती हैं परन्तु अधिकांश जीवित रहती हैं, जिनकी परिचर्या परिजन पर्याप्त रूप से किये रहते हैं। अतएव इस समय मांगलिक प्रयोगों को अधिक महत्त्व दिया गया है।

१. 'तदध्यासीनां तां ततः' इति पा०।
२. 'ग्राहणीयाभिरुपदिष्टवदर्थाभिधायिनीभिः' इति पा०।

आवी प्रादुर्भाव (Labour pain) होते ही मलाशय तथा मूत्राशय में दबाव पड़ता है, फलतः मल-मूत्र स्वभावतः निकल जाता है। मल-मूत्र के निकल जाने के बाद ही प्रसवोन्मुखी स्त्री को तकिया युक्त सुखप्रद बिस्तरा पर बैठायें, तदनन्तर उसको चित्त लेटा दें तथा प्रसवोपचार करायें।

सा चेदावीभिः सङ्क्लिश्यमाना न प्रजायेतायैनां ब्रूयात्–उत्तिष्ठ, मुसलमन्यतरं गृहीष्व, अनेनैत दुलूखलं धान्यपूर्णं मुहुर्मुहुरभिजहि मुहुर्मुहुरवजृम्भस्व चङ्क्रमस्व चान्तराऽन्तरेति; एवमुपदिशन्त्येके। तन्नेत्याह भगवानात्रेयः। दारुणव्यायामवर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते, विशेषतश्च प्रजननकाले प्रचलितसर्वधातुदोषायाः सुकुमार्या नार्या मुसलव्यायामसमीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात्, दुष्प्रतीकारतमा हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिणी; तस्मान्मुसलग्रहणं परिहार्यमृषयो मन्यन्ते, जृम्भणं चङ्क्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति। अथास्यै दद्यात् कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरबिल्वचव्य-चूर्णमुपघ्रातुं, सा तन्मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्, तथा भूर्जपत्रधूमं शिंशपासारधूमं वा। तस्याश्चान्तराऽन्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्। अनेन कर्मणा [1]गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥

गर्भाशय के जड़त्व में कर्त्तव्य (Management of Uterine Inertia)—वह यदि आवियों के उत्पन्न होने से कष्ट का अनुभव करती हुई भी शिशु को जन्म न दे सक रही हो तो उससे कहे—उठो! पहले से रखे हुए दो मुसलों में से एक मुसल ले लो और इससे धान से भरे हुए ऊखल पर बार-बार चोट मारो, अर्थात् धान कूटो, बार-बार जँभाई लो, अंगों को फैलाओ, सूतिकागार के भीतर ही भीतर घूमो, ऐसा कुछ आचार्य उपदेश देते हैं। भगवान् आत्रेय इसका विरोध करते हैं, क्योंकि गर्भिणी के लिये कठोर व्यायाम का सदैव निषेध किया गया है, विशेष करके प्रजनन (प्रसव) काल में तो कठोर व्यायाम (श्रम) नहीं ही करना चाहिये। प्रसव-काल में सुकुमारी स्त्री के सब रसादि धातु और वातादि दोष अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में मुसल व्यायाम (धान कूटने के कारण बार-बार मुसल को नीचे-ऊपर करने तथा उसके साथ शरीर का नीचे-ऊपर होने के कारण उत्पन्न परिश्रम) से प्रेरित अतएव बढ़ा हुआ वह वात दोष अवसर पाकर उसके प्राणों की हानि कर सकता है। विशेषकर उस समय गर्भिणी दुश्चिकित्स्य होती है। इसलिये ऋषिगण (कौमारभृत्यशास्त्र विशेषज्ञ विद्वान्) मुसल ग्रहण का निषेध मानते हैं। जँभाई लेना, इधर-उधर घूमना ये किये जा सकते हैं, क्योंकि ये मृदु व्यायाम हैं।

तदनन्तर शिशु को पैदा करने के लिये तत्पर इस स्त्री को कूठ, छोटी इलायची, कलिहारी, बालवच, चित्रकमूल, करंज का गूदा, चव्य, इनके चूर्णों को सूँघने के लिये दें और वह इनको बार-बार नजदीक से सूँघे और भोजपत्र के धूम को अथवा शीशम की लकड़ी के सारभाग के धूम को सूँघे। इसी बीच-बीच में उसकी कमर, पसलियों, पीठ, ऊरु स्थानों में गुनगुना तेल लगाकर हल्के हाथ से मालिश करें, इस कर्म से गर्भ नीचे की ओर को आ जाता है, अर्थात् शिशु का जन्म हो जाता है।

वक्तव्य—मुसल लेकर धान कूटने का जो भगवान् आत्रेय ने निषेध किया है, उसका कारण उन्होंने पर्याप्त दे रखा है। अन्य आचार्यों ने जो कहा है उनमें एक भगवान् धन्वन्तरि भी हैं। उन्होंने किस परिस्थिति में निर्देश दिया है, जरा ध्यान दें—'कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद् विषमे वा यानासने सेवेत'। सु० शा० अ० १०।५७।

स यदा जानीयाद् विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः, परिवर्ततेऽधो[3] गर्भ इति; अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रमेत। कर्णे चास्या मन्त्र-मिममनुकूला स्त्री जपेत्—

---

१. 'अनुसुखम्' इति पा०।
२. 'अवाग्गर्भः' इति पा०।
३. 'अवाग्गर्भः' इति पा०।

'क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः[1] प्रजापतिः। सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥
प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने ! । कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्' इति ॥ ३९ ॥

प्रसवकाल में मन्त्र-प्रयोग—जब यह मालूम पड़े कि हृदय को छोड़कर वह गर्भ इसके उदर प्रदेश की ओर प्रवेश कर रहा है, बस्ति शिर का ग्रहण कर रहा है और आवी प्रादुर्भाव जल्दी-जल्दी इसको निकलने के लिये प्रेरित कर रहा है, तब समझें कि गर्भ नीचे (अपत्यपथ) की ओर चल पड़ा है। ऐसी स्थिति में इसको पलंग पर बैठाकर प्रवाहण (Evacoation) करने के लिये प्रयत्न करायें और इसके कान में उपरिलिखित इस (३९–४० वें) मन्त्र को अनुकूल (इसके प्रति सद्भाव रखने वाली) स्त्री बार-बार जपे। (मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है)—

पृथिवी, जल, आकाश, तेज (अग्नि), वायु, विष्णु, प्रजापति, गर्भसहित तुम्हारी सदैव रक्षा करें और तुमको गर्भ रूपी शल्य के कष्ट से मुक्ति दें, अर्थात् तुम इनकी कृपा से सुखपूर्वक प्रसव कर सको। हे सुन्दर मुखवाली गर्भिणी, किसी प्रकार के कष्ट को पाये बिना तुम स्वामी कार्तिकेय द्वारा अभिरक्षित, कार्तिकेय के सदृश कान्ति वाले कष्टरहित पुत्र को पैदा करो।

वक्तव्य—प्रसव की तीन अवस्थाओं का सामान्य परिचय ३६ वें गद्य के वक्तव्य में दे दिया गया है। गर्भ-प्रजनन के समस्त उपायों का उपयोग द्वितीयावस्था में इसलिये किया जाता है कि गर्भोत्पत्ति में किसी प्रकार का अवरोध न हो, यदि हो जाय तो उसकी उचित प्रतिक्रिया कर लेनी चाहिये।

जब गर्भ प्रसव के समीप आता है तो वह अपने भार के कारण नीचे की ओर आकर अपना सम्पूर्ण भार बस्तिसिर (मूत्राशय) के ऊपर छोड़ देता है, अतएव गर्भिणी को बार-बार मूत्र-प्रवृत्ति होती है। इस समय गर्भ का हृदय पर दबाव न पड़ने के कारण गर्भिणी के श्वास-प्रश्वास की स्थिति सुधर जाती है, किन्तु आवीप्रादुर्भाव के कारण गर्भाशय सिकुड़ने लगता है, अतः गर्भिणी को वेदना अधिक होने लगती है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त मन्त्र को सुनाने से प्रसव में सहायता प्राप्त होती है।

प्रसवकाल में पठनीय मन्त्र—'एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ यजुर्वेद अ० ८।२८। अर्थात् दस महीने का यह गर्भ जरायु के साथ पवन के वेग के समान तथा समुद्र की लहरों के समान गर्भ से बाहर हो।

यद्यपि विकृत प्रसवों की चर्चा विस्तृत है, तथापि सुखप्रसव में प्रायः शिशु का सिर ही सबसे पहले योनि से बाहर निकलता है। इसमें भूमि का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भी समर्थक माना जाता है। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः। स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति' ॥ सु० शा० अ० ५।४५।

ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः—अनागतावीर्मा प्रवाहिष्ठाः; [2]या ह्यनागतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति, प्रजा चास्या विकृता विकृतिमापन्ना च, श्वासकासशोषप्लीहप्रसक्ता वा भवति। यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण [3]वाऽप्यवाप्नोति, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा; यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां सन्धारणमुपघातायोपपद्यते, तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणमिति। सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या स्यात्। तथा च कुर्वती शनैः पूर्वं प्रवाहेत, ततोऽनन्तरं बलवत्तरम्। तस्यां च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः—'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम्' इति। तथाऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः ॥ ४० ॥

गर्भिणी को निर्देश (Instructions to Pregnant Women)—ये यथोक्त गुणवाली स्त्रियाँ इस गर्भिणी को निम्नप्रकार के निर्देश दें (सिखायें)–जब आवियाँ उत्पन्न न हों तब तुम अपनी तरफ से प्रवाहण मत करो, क्योंकि जो स्त्री बिना आवी (प्रसव वेग) के उत्पन्न हुए ही गर्भ को निकालने के लिये प्रवाहण करती

---

१. 'इन्द्रः' इति पाठः।
२. 'यद्यनागतावीः' इति पा०।
३. 'वा लभते' इति पा०।

(शक्ति का प्रयोग करती) है, उसका वह कर्म (प्रयत्न) व्यर्थ ही जाता है। उस अनवसर पर शक्ति का दुरुपयोग करने से इसकी 'सन्तान विकृत (विकारयुक्त) हो जाती है, अर्थात् उसके शरीरावयव टेढ़े-मेढ़े आदि हो जाते हैं और वह विकृत सन्तान श्वास, कास, शोष (क्षय-भेद) तथा प्लीहा रोगों से पीड़ित हो जाती है।

जिस प्रकार क्षवथु (छींक), उद्गार (डकार), अपानवायु, मूत्र, पुरीष (मल) के वेगों के प्रवृत्त न होने पर भी जो उसके लिये प्रयत्न कराता है तो वे असमय में प्रयत्न करने पर नहीं हो पाते अथवा बड़े कष्ट के साथ हो पाते हैं। इसी प्रकार असमय में गर्भ के लिये प्रवाहण करना भी हानिकर ही होता है; और जैसे उपर्युक्त क्षवथु आदि के प्रवृत्त वेग को रोकना हानिकारक होता है, वैसे ही प्राप्तकाल में गर्भ का अप्रवाहण भी होता है, अर्थात् आवी प्रादुर्भाव (प्रसवपीड़ा के प्रवृत्त) होने पर यदि गर्भिणी भी अपने बल से गर्भ को निकालने में सहयोग (प्रवाहण) करती है, तो यह कार्य आसानी से यथासमय हो जाता है।

स्त्रियाँ उससे कहें—जैसा-जैसा हम निर्देश दें वैसा-वैसा तुम करो। वैसा करती हुई वह पहले धीरे से प्रवाहण करे, उसके बाद (जब शीर्षोदय हो जाय, तब) कुछ और शक्ति लगाकर (बालक के जन्म होने तक) प्रवाहण करती रहे। जब वह इस प्रकार शक्ति लगाकर शिशु को बाहर निकालने में प्रवृत्त हो, उस समय उसके उत्साह को बढ़ाने के उद्देश्य से स्त्रियाँ ऐसा कहें—पुत्र पैदा हो गया, धन्य हो, धन्य हो। ऐसा कहने से प्रसन्नता के कारण इसके प्राणशक्ति की वृद्धि हो जाती है और दुःख भूल जाता है।

वक्तव्य—बहुशःप्रसूता स्त्रियों से पूछने पर ज्ञात होता है कि प्रसवकाल में आवी प्रादुर्भाव होने पर वैसा कष्ट होता है, जैसा आमातिसार में पहले ऐंठन या मरोड़ होती है, तब आँव के साथ थोड़ा-सा मल निकलता है। यदि आमातिसार का रोगी यह समझे कि बार-बार शौच करने जाय, एक ही बार में जोर लगाकर सब आँवसहित मल निकाल दिया जाय। इस कार्य में जैसे आमातिसार का रोगी असफल होता है, वैसे ही बिना प्रसव-पीड़ा के प्रवाहण-क्रिया व्यर्थ होती है।

आवी-प्रादुर्भाव—गर्भ को बाहर निकालने के लिये आवीप्रादुर्भाव का होना प्रकृति की अपनी विशिष्ट देन तथा व्यवस्था है। निरन्तर आवियों का होना शीघ्र प्रसव का लक्षण है। आवीप्रादुर्भाव होकर बीच में अधिक समय तक रुक जाना कष्टकारक माना गया है। प्रवाहण-क्रिया आवीप्रादुर्भाव-काल में ही सार्थक होती है। यहाँ तक प्रसव की द्वितीय अवस्था का वर्णन किया गया है।

प्रवाहण—'प्र' उपसर्गपूर्वक वह प्रापणे धातु से करणार्थक ल्युट् प्रत्यय के प्रयोग से उक्त शब्द की सिद्धि होती है। इसका अर्थ है—प्रयत्नपूर्वक गर्भाशय के भीतर से गर्भ को बाहर तक पहुँचाना। इसका विशेष परिचय सुश्रुत शा० अ० १०। ९ में देखें।

यदा च प्रजाता स्यात् तदैवैनामवेक्षेत—काचिदस्या अपरा प्रपन्ना न वेति। तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद् बलवन्निपीड्य सव्येन पाणिना पृष्ठत उपसङ्गृह्य तां सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेत्। अस्याः स्फिचावुपसङ्गृह्य सुपीडितं पीडयेत्। अथास्या बालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत्। भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्। कुष्ठतालीसकल्कं [1]बल्वजयूषे मैरेयसुरामण्डे तीक्ष्णे कौलत्थे वा यूषे मण्डूकपर्णीपिप्पलीसम्पाके वा सम्प्लाव्य पाययेदेनाम्। तथा सूक्ष्मैलाकिलिमकुष्ठनागरविडङ्गपिप्पलीकालागुरुचव्यचित्रकोपकुञ्चिकाकल्कं [2]खरवृषभस्य वा जीवतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य दृषदि जर्जरीकृत्य [3]बल्वजक्वाथादीनामाप्लावनानामन्यतमे प्रक्षिप्याप्लाव्य मुहूर्तस्थितमुद्धृत्य तदाप्लावनं पाययेदेनाम्। शतपुष्पाकुष्ठमदनहिङ्गुसिद्धस्य चैनां तैलस्य पिचुं ग्राहयेत्। अतश्चैवानुवासयेत्। एतैरेव चाप्लावनैः फलजीमूतेक्ष्वाकुधामार्गव-

१. 'बल्वजक्वाथे' इति पा०।

२. 'खरस्य वृषस्य वा जरतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य' इति पा०।

३. 'बल्वजयूषादीनामन्यतमे' इति पा०।

कुटजकृतवेधनहस्तिपिप्पल्युपहितैरास्थापयेत्। तदास्थापनमस्याः सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां [1]वायोरेवाप्रतिलोमगत्वात्। अपरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि [2]चान्तर्बहिर्मार्गाणि सज्जन्ति॥ ४१॥

तृतीय अवस्था (Third Stage) अपरा पातन—जब गर्भवती शिशु को जन्म दे देती है, तभी इस प्रसूता को पास में बैठी अनुभवी स्त्रियों में से कोई एक यह देखे कि इसकी अपरा (Placenta) बाहर आ गयी है या नहीं। यदि उसकी अपरा गर्भाशय से बाहर न आयी हो तो तदनन्तर उनमें से कोई स्त्री उस सद्यःप्रसूता स्त्री को अपने दाहिने हाथ से उसकी नाभि के ऊपर से जोर से दबाकर बायें हाथ से पीठ को पकड़ कर अच्छी तरह झकझोरे (खूब जोर से हिला दे)। उसके बाद उस प्रसूता की कमर पर अपनी एड़ी रखकर जोर से दबाये या ठोकरें मारे। तदनन्तर इसके दोनों स्फिचों (Hips = नितम्बों) को पकड़कर जितना दबाया जा सके उतना दबाये। तत्पश्चात् इसके कण्ठ तथा तालु में केशसमूह को रगड़े, यह क्रिया अंगुलो में बालों को लपेट कर भी की जाती है। भोजपत्र, काचमणि (काँच), साँप की केंचुल इन द्रव्यों से उसकी योनि के पास धुआं लगाये। कूठ तथा तालीसपत्र के कल्क को बल्वज (उलुया या बवई नामक घास) के यूष में या मैरेय में या सुरामण्ड में अथवा कुलथी के तीक्ष्ण (गरमागरम) यूष में या मण्डूकपर्णी तथा पिप्पली के संपाक में मिलाकर इसको पिलाये।

और छोटी इलायची, देवदारु, कूठ, नागर (सोंठ), वायविडंग, पिप्पली, कालागुरु (अगर—सुगन्धित द्रव्य), चव्य, चित्रक, उपकुञ्चिका (कालाजीरा) इनके कल्क को, अथवा जीवित खरवृषभ (क्रोधी, झगड़ालू, मदमत्त सांड़) के दाहिने कान को काटकर पत्थर से पीसकर ऊपर कहे गये बल्वज आदि क्वाथों में से किसी एक क्वाथ में डालकर और उसे भली-भांति मिलाकर थोड़ी देर रख दें, थोड़ी देर बाद उस आप्लवन (निथरे हुए या ऊपर से तैरते हुए जल) को दूसरे पात्र में धीरे से लेकर इसको पिला दें। शतपुष्पा (सोया), कूठ, मदन तथा हींग द्वारा सिद्ध किये गये तेल का पिचु (तेल से भिगोया हुआ रूई का फाहा = Cotton) योनि में रखने के लिये उसे पकड़ा दे। इसी तैल से अनुवासनवस्ति दिला दे। इन्हीं (इसी गद्य में ऊपर कहे गये) आप्लावनद्रव्यों बल्वजयूष आदि में फल (मदनफल), जीमूत (देवदाली), इक्ष्वाकु (कड़ुई तुम्बी), धामार्गव (पीली तोरई), कुटज (कुरैया), अमलतास, गजपिप्पली, इन्हें (क्वाथ के रूप में) मिलाकर आस्थापनवस्ति दें। इस प्रसूता को दी गयी वह आस्थापनवस्ति अपानवायु, मूत्र, पुरीष (मल) के साथ गर्भाशय में रुकी हुई अपरा को भी निकाल लाती है, क्योंकि वायु को अनुलोम करने के लिये ही आस्थापनवस्ति का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में बाहर निकलने के लिये प्रवृत्त वात, मूत्र, पुरीष तथा अन्य (गर्भाशय में स्थित दुष्टरक्त आदि) जब वायु के विलोम होने के कारण नहीं निकल पाते अर्थात् भीतर ही रुके रहते हैं, तब वे अपरा को भी भीतर रोके रहते हैं। अतः आस्थापनवस्ति का प्रयोग वायु को अनुलोम करने के लिये ही किया जाता है।

वक्तव्य—प्रसव हो जाने के बाद अपरा पतन या पातन को भी प्रसव की ही एक अवस्था इसलिये कहा गया है कि प्रथमा अवस्था में तो शिशु का जन्म होता है, जो सबके लिये सुखद है और दूसरी अवस्था में अपरा का जन्म या पतन होता है। इस अपरा का जन्म यदि अपने से हो जाता है तो इसको 'पतन' कहेंगे। यदि इस (अपरा) को गिराने के प्रयत्न किये और उसके बाद यह गिरी तो इसको 'पातन' कहा जाता है। इसके पतन या पातन से प्रसूता प्रसवपीड़ा से पूर्णतः निवृत्त हो जाती है।

शिशु के जन्म लेने के बाद प्रकृति गर्भाशय को कुछ देर के लिये विश्राम देती है। अतः कुछ समय के लिये आवीप्रादुर्भाव रुक जाता है। इसके बाद ज्यों ही आवियों का वेग पुनः प्रारम्भ होता है, तो अपरा स्वयं गिर जाती है। अपरा के स्वाभाविक रूप में न गिरने पर ही उपर्युक्त उपायों की आवश्यकता पड़ती है।

काचमणि—उक्त गद्य में प्रयुक्त 'काचमणि' शब्द एक प्रतीत नहीं होता अपितु 'काच' और 'मणि' ये दो भिन्न शब्द हैं। यहाँ अनेक पद समस्त हैं। कोषकार 'काच' को 'मणि' का और 'मणि' को 'काच' का पर्याय मानते हैं। देखें—'**काचः शिक्ये मणौ**'। इति मेदिनी। अन्यत्र भी ये दो भिन्न शब्द के रूप में प्रयुक्त हैं। देखें—'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे, ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्'। सुभाषित। 'क्व काचः क्व मणिर्महान्'। भागवतमाहात्म्य १।१६। इसके विवेचन में चक्रपाणि सर्वथा मौन हैं।

१. 'वायोरनुलोमगमनात्' इति पा०।

२. 'चान्तर्बहिर्मुखानि' इति पा०, 'बहिर्गमनशीलानि' इति च पा०।

यूष, सम्पाक—ऊपर गद्य में दो स्थानों पर 'यूष' शब्द का प्रयोग हुआ है—१. '**बल्वजयूषे**' इसका पाठभेद है '**बल्वजक्वाथे**'। २. '**कौलत्थे वा यूषे**'। तीसरा शब्द है—'**पिप्पलीसम्पाके**'। यद्यपि चक्रपाणि ने 'यूष' तथा 'सम्पाक' दोनों का अर्थ क्वाथ ही किया है, जब कि आयुर्वेद में यूष, क्वाथ से भिन्न प्रक्रिया है। जिन पाँच निर्माण-भेदों को 'पञ्चकषाय' की संज्ञा दी गयी है, उनके नाम ये हैं—१. स्वरस, २. कल्क, ३. क्वाथ, ४. हिम और ५. फाण्ट। क्वाथ के पर्याय ये हैं—शृत, क्वाथ, कषाय, निर्यूह। यूष इन सब से भिन्न है। इनकी निर्माण-विधियों पर ध्यान दें।

गीले द्रव्यों से स्वरस निकालना सरल कार्य है, किन्तु सूखे द्रव्यों से रस निकालने की विधि है—पुटपाक। क्या ऊपर निर्दिष्ट '**सम्पाक**' शब्द पुटपाक के लिये तो प्रयुक्त नहीं है, विद्वान् विचार करें।

खरवृषभस्य—आचार्य चक्रपाणि के अनुसार 'खरः च असौ वृषभः' यहाँ कर्मधारयसमास करके खर शब्द को वृषभ का विशेषण मान लिया है। तदनुसार इसका अर्थ होता है, क्रोधी सांड। पाठभेदकर्त्ता ने 'खरस्य वृषभस्य' पाठ रचना का द्रविड प्राणायाम किया है। जब कि समाहारद्वन्द्व समास कर देने से 'खरस्य वृषभस्य' अर्थ उक्त पद से सरलता से प्राप्त हो सकता था। देखें—'खरः च वृषभः च तयोः समाहारः = खरवृषभं, तस्य।

तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति; तद्यथा—अश्मनोः सङ्घट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेनोष्णोदकेन वा [1]मुखपरिषेकः, तया स क्लेश-विहतान् प्राणान् पुनर्लभेत। कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुणीयुर्यद्यचेष्टः स्याद् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनम् ([2]तत्तत् सर्वमेव कार्यम्) ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणा-भ्यामुपपादयेत् ॥ ४२ ॥

सद्योजात शिशु-परिचर्या (Care of Child just after Delivery)—प्रसव होने के बाद उस प्रसूता स्त्री की अपरा को गिराने का कर्म करते हुए तत्काल उत्पन्न कुमार या कुमारी से सम्बन्धित ये (निम्नोक्त) कार्य करने होते हैं, वे इस प्रकार हैं—उस बालक के कानों के मूल (समीप) में पत्थर के टुकड़ों को आपस में ठोकना, पीटना या बजाना। शीतल या गुनगुना पानी से मुख धोना या मुख पर छींटे डालना। प्रसवकाल के कष्ट द्वारा उसे जो बेहोशी आ गयी थी, ऐसा करने से वह पुनः होश में आ जायगा अर्थात् अपने प्राणों को पुनः प्राप्त कर लेगा। यदि यह अचेष्ट (बेहोश) हो तो काले शरकण्डों से बनाये गये सूप से इसको तब तक हवा लगायें जब तक वह पुनः होश में न आ जाय, अर्थात् जब तक इसके प्राण पुनः न लौट आयें। (वह-वह सभी करना चाहिये), तदनन्तर जब यह देख लें कि इसके प्राण लौट आये हैं, अर्थात् शिशु होश में आ गया है और वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में है, ऐसा देखकर इसको स्नान कराये और इसके मलायनों को धो दें।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा यह संकेत किया गया है कि प्रसव हो जाने के पश्चात् अपरा पातन के रूप में प्रसूता की और अचेष्ट शिशु की सावधानीपूर्वक देख-रेख करनी चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि सबका ध्यान एक ही ओर आकृष्ट हो जाये।

प्रायः देखा जाता है कि गर्भ से बाहर आने तक शिशु को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं, उनके कारण वह मूर्च्छित (बेहोश) हो जाता है। इस बेहोशी के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—प्रसव के पूर्व अधिक रक्तस्राव का हो जाना, मूढगर्भ की स्थिति में अंगावयवों पर दबाव पड़ने से, नाभिनाल पर गाँठ पड़ जाने से, प्रसवकाल में सहसा गर्भ के बाहर निकलने पर शिर पर आघात लगने से, इस प्रकार के अन्य कष्टों के कारण शिशु का श्वासावरोध या अनॉक्सीश्वसन (Asphyxia) हो जाना है। इसके निम्नलिखित भेद आधुनिक विचारकों ने स्वीकार किये हैं—१. श्याव श्वासावरोध, २. अभिश्वसन श्वा०, ३. अन्तर्गर्भाशय०, ४. [illegible]०, ५. अभिघाती०, ६. श्वेत०, ७. श्यावनवजात०, ८. श्वेतनवजात०।

श्याव श्वासावरोध में बालक का चेहरा नीला पड़ जाता है, यह भेद अधिक दिखलायी देता है।

१. 'मुखेन परिषेकः' इति पा०।

२. अयं पाठः पाठभेदेषु न गण्यते।

श्वेतश्वासावरोध कम देखा जाता है। श्याव अथवा श्वेत भेद में नवजात शिशु की मुखाकृति या सम्पूर्ण त्वचा का वर्ण नीला या सफेद हो जाता है।

ऊपर बताये गये उपचार बालक को तत्काल होश में लानेवाले हैं। यदि इनसे वह चेतनता को प्राप्त नहीं करता तो कृत्रिमश्वसन (Artificial Respiration) प्रकारों का प्रयोग कराना चाहिये, जिनसे वह रोने लगे, साँसें लेने लगे तथा हृदय अपनी गति को पकड़ ले।

शीतोदकेनोष्णोदकेन—जाड़ों में गुन-गुना जल और गर्मी में शीतल जल का मुख के ऊपर परिषेक (छिड़काव) करें। अतएव 'वा' का प्रयोग किया गया है। ऐसा ही एक प्रकार होश में लाने का है—'**अश्मनोः सङ्घट्टनम्**' पत्थरों को बजाना; इसका ही परिमार्जित रूप है—गाना-बजाना, बन्दूक की आवाज करना या सलामी देना, आदि।

कृष्णकपालिकाशूर्पेण निष्पुणीयुः—इसकी टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'कृष्णकपा-लिका ईषिका नलमुञ्जवंशादिभवा', यद्यपि 'इषीका' या 'ईषिका' शब्द का अर्थ होता है—'काशतृण' अथवा 'शरकाण्ड', देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु। किन्तु चक्रपाणि को 'ईषिका' शब्द से वह पदार्थ अभीष्ट है, जिससे सूप बुना जा सके, चाहे वह नल (नरकट), मूंज या बांस की सींक ही क्यों न हो, इनको भी रंगने से ही काला किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। केवल 'कपाल' शब्दकोष में उपलब्ध है, जिसका अर्थ है—'शिरःकपाल' अथवा 'घटकर्पर' अर्थात् फूटे घड़े का सूप की आकृति बड़ा टुकड़ा। इन दोनों में से किसी को भी काले रंग से रंग दें तो उसको 'कृष्णकपालिकाशूर्प' कहा जा सकता है।

ध्यातव्य है, जिसे हम आज 'श्यावश्वासावरोध' की संज्ञा दे रहे हैं, क्या उसी के लिये तो महर्षि आत्रेय ने कृष्णकपालिकाशूर्प से हवा लगाने के लिये नहीं कहा है? इस अवसर पर धात्री उस बालक के मुख में संचित कफ को निकाल देती है, अन्य मलस्थानों को भी साफ कर देती है, यही उदकग्रहण (शौच) है। इसी विषय का वर्णन आगे किया जा रहा है।

अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधान-कार्पासपिचुमत्या। प्रथमं प्रमार्जितास्यस्य चास्य शिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिसञ्छादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छर्दनम् ॥ ४३ ॥

अन्य परिचर्या—जन्म के बाद शिशु की श्वास-प्रश्वास क्रिया के ठीक प्रकार से प्रारम्भ हो जाने पर इस बालक के तालु, ओष्ठ (होंठ), कंठ (गला), जीभ का, कटे हुए नखवाली अंगुली के ऊपर रुई के फाहे का आवरण चढ़ाकर (उक्त स्थानों का) संशोधन करे (यह धात्री-परिचर्या-प्रकरण है)। पहले मुख की सफाई करके इसके सिर के तालुप्रदेश को घी में भिगाये हुए रुई के फाहा से ढक दे। तदनन्तर (बालक के मुख के भीतरी अवयवों को भलीभांति साफ कर लेने तथा शिरस्तालु प्रदेश जो अभी अत्यन्त सुकुमार अवयव हैं, उस पर घी में भिगोया हुआ फाहा रखने के बाद) घी में सैंधानमक मिलाकर इसे चटाकर वमन कराएँ।

वक्तव्य—प्रसव के अनन्तर 'शिशु-परिचर्या' का समस्त दायित्व कुशल धात्री का होता है। जहाँ इसकी व्यवस्था नहीं होती वहां वह सब बहुशःप्रसूता स्त्रियाँ कर डालती हैं। '**उपधानकार्पासपिचुमत्या**' चक्रपाणि इसका अर्थ लिखते हैं—'उपधानम् आवरणं, तच्चेहाङ्गुल्या कार्पासपिचुनैव'। यदि ऐसा न किया जाय तो 'उपधान' शब्द जिसका अर्थ 'तकिया' होता है, व्यर्थ हो जायगा। **शिरस्तालु**—इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। बचपन में यह स्थान शिरःकपालास्थि की अपूर्णता के कारण सुकोमल रहता है, बाद में इसकी क्रमशः पूर्ति होती है। योगियों के प्राण प्रायः यहीं से निकलते हैं।

प्रच्छर्दनं कार्यम्—इसका समर्थन अन्य संहिताकारों ने भी किया है। क्योंकि इससे आमाशय में स्थित कफ दोष बाहर निकल आता है और बालक सुख का अनुभव करता है। देखें—'अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धव-सर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्'। सु० शा० अ० १०।१२, और—'ततः सैन्धवोपहितेन सर्पिषा गर्भो-दकानि वामयेत्। तथाऽस्योरःकण्ठविशुद्ध्यालाघवमभिलाषश्च जायते'। अ० सं० उ० अ० १।

ततः कल्पनं नाड्याः। अतस्तस्याः कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः—नाभिबन्धनात् प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभि-

ज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्ध[1]-धारेण छेदयेत्। तामग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठेऽस्य शिथिलमवसृजेत्। तस्य चेन्नाभिः पचेत, तां लोध्र-मधुकप्रियङ्गुसुरदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यञ्ज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्। इति नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक्॥ ४४॥

नाल-छेदन (Cutting of Umbilical Cord)—तदनन्तर नालछेदन करें। इसलिये उस (नाभि) के छेदन की विधि का हम यहाँ उपदेश करेंगे। जहाँ पर नाभि में गाँठ लगा दी है, वहाँ से आठ अंगुल पर निशान करके, जहाँ काटने का स्थान हो उसके दोनों ओर धीरे से पकड़कर तेज धार वाले सोने, चाँदी या लोहे के शस्त्र से अर्ध (तिरछी) धार द्वारा काटे। उस नाभिरज्जु या नाभिनाल के अगले भाग को धागे से बाँधकर बालक के गले में ढीला लटका दें। यदि उसकी नाभि पकने लगती है तो उस पर लोध, मुलेठी, फूलप्रियंगु, देवदारु, हल्दी के कल्क द्वारा सिद्ध किये हुए तैल को उसमें लगायें और इन्हीं (जिनसे तैल सिद्ध किया गया है) के औषधद्रव्यों के चूर्णों को उसमें छिड़कें, अर्थात् उस व्रण पर अवचूर्णन करें। इस प्रकार नाड़ी-कल्पन-विधि का उचित प्रकार से वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—नालछेदन एक सामान्य प्रक्रिया है। इसमें ध्यान देने योग्य बातें ये हैं—१. क्या जिस नाल का छेदन करना है, उसमें धमन हो रहा है, या नहीं। जब तक धमन की प्रक्रिया रुक न जाय, तब तक प्रतीक्षा करें। यह धमन प्रसव के कुछ ही क्षणों के बाद स्वयं रुक जाता है।

२. क्या गर्भ से नाल सम्पूर्ण बाहर निकल आयी है या अभी गर्भाशय में अटकी है? यदि अटकी हो तो ऐसी स्थिति में दोनों तरफ नाल को मजबूती से बाँध कर तब छेदन करे। उसके बाद भी यह ध्यान रखें कि उस कटी हुई नाल के किसी (बालक की अथवा गर्भाशय की) ओर से रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है? यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो उसके ऊपरी हिस्से में एक गांठ और लगा दें। ऐसा न करने से जिस ओर से रक्तस्राव हो रहा हो, उसकी प्राणहानि या शक्तिहानि हो सकती है।

३. क्या माता एक ही बालक को जन्म दे रही है, या अभी और एक या उससे अधिक बालकों का जन्म होना शेष है। यदि ऐसी स्थिति प्रतीत होती हो तो बालक के नाल को काट देने मात्र से निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये, अपितु गर्भनाल के मुख को भी सावधानी से भली प्रकार बांध दें।

अर्धधारेण छेदयेत्—चक्रपाणि के अनुसार—'अर्धधारः—तिर्यग्धारः शस्त्रविशेषः'। अर्धधार नामक एक शस्त्रविशेष है। अस्त्र, शस्त्र, यन्त्र के विशेषज्ञ भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रकरण में इस प्रकार के किसी शस्त्र विशेष का उल्लेख नहीं किया है, अतः हमारे विचार से यहाँ 'अर्धधार' का अर्थ तिरछीधार है। कैंची तिरछे ही धार से काटती है अन्य शस्त्रों का प्रयोग भी तिरछा ही प्रभावकारी होता है, नकि सीधा।

कण्ठेऽस्य शिथिलमवसृजेत्—नाल को धागा से बाँधकर गले में लटका दें। इस प्रकार उसे गले में लटका देने से झटका लगने, मल-मूत्र, मिट्टी तथा अन्य गन्दगी के स्पर्श से बची रहती है। अतः वह अपने समय पर सूख कर स्वयं गिर जाती है। नालछेदन काल में हुई असावधानियों का क्या परिणाम होता है, इसका उल्लेख आगे किया जारहा है।

इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का मत—'ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात्'। सु० शा० अ० १०।१२। चरक तथा सुश्रुत में आठ अंगुल की दूरी पर नालछेदन की चर्चा की है, इसके विपरीत वृद्धवाग्भट ने अ० सं० उ० अ० १ में चार अंगुल के आगे नाभिनाल-वर्धन की आज्ञा दी है। वृद्धवाग्भट का 'नाभिनालवर्धन' का यह प्रयोग बनियों की 'दूकान बढ़ाने' के समान ही है। जिस प्रकार हनुमान् जी ने अपनी पूँछ बढ़ा दी थी, वैसा अर्थ यहाँ प्रसंगोचित कथमपि नहीं होगा।

असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डिता-पिण्डलिका-विनामिका-विजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम्। तत्राविदाहिभिर्वातपित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरुलाघवम-भिसमीक्ष्य॥ ४५॥

१. 'ऊर्ध्वधारेण' इति पा०।

अविधि नालच्छेदन से होने वाले रोग तथा उनका उपचार—अनुचित विधि से, अर्थात् उपर्युक्त विधि के विपरीत अथवा मन-माने ढंग से नालछेदन करने पर आयाम (लम्बाई) अथवा व्यायाम (चौड़ाई) से उस नाभि में उत्तुण्डिता (ऊपर को उभारयुक्त), पिण्डलिका (पिंड के आकार वाली अर्थात् गोल तथा कठोर) विनामिका (झुकी हुई अथवा बीच में दबी हुई किनारों से उभारदार) अथवा विजृम्भिका (बढ़ने वाली) आदि उपद्रव (इनमें से किसी एक अथवा एक साथ कई) के होने का भय हो सकता है।

यदि उपर्युक्त रोग हो जायें तो उनमें रोग की गुरुता (कहाँ तक रोग बढ़ चुका है, या कितना बढ़ा है) और लघुता (अर्थात् अभी रोग प्रारम्भ ही हो रहा है) अथवा उत्तुण्डित आदि विकारों को उत्पन्न करने में जिस दोष की गुरुता (प्रधानता) हो या जिसकी लघुता (अप्रधानता) हो उसको भली-भांति देखकर अर्थात् विचार कर अविदाही (विदाह=जलन को उत्पन्न न करने वाले) अभ्यंग, उत्सादन तथा अभिषेचन और वात तथा पित्त दोष का शमन करने वाले घृतों (विविध औषधयोगों से सिद्ध किये हुए घृतों) द्वारा चिकित्सा करें।

वक्तव्य—अनुचित नालछेदन (Improper Section of U. Cord) से उत्तुण्डिता, पिण्डलिका विनामिका, विजृम्भिका रोगों के होने की चर्चा की गयी है। इनके अतिरिक्त नाभिपूतिता (Sepsis) और नाभिहार्निया (U. Hernia) रोगों के होने की भी सम्भावना होती है। अतः इनकी समय पर चिकित्सा करें।

अभ्यङ्ग—'मूर्ध्नि दत्तं यदा तैलं भवेत् सर्वाङ्गसङ्गतम्। स्रोतोभिस्तर्पयेद् बाहू अभ्यङ्गः स उदाहृतः'॥ चक्रदत्त ज्व० चि०। इसका प्रयोग सिर, कानों तथा पैरों में विशेष रूप से किया जाता है। अर्थात् माथा पर थपथपाये हुए, कानों में डाले हुए और पैरों के तलुओं पर मले हुए तैल की अभ्यंग संज्ञा होती है।

उत्सादन—उद्वर्तन शब्द इसका पर्याय है, इसी को 'उबटन' कहते हैं। देखें—'उत्सादनाद् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः'। सु० चि० अ० २४।

परिषेचन—स्नान आदि, सिर में जलधारा गिराना, मूर्धा में तैल डालने की विधिभेद में इस शब्द का प्रयोग होता है। देखें—भावप्रकाश, सु० चि० अ० १। च० सू० अ० १४। वाग्भट चि० अ० १। अ० सं० उ० तं० अ० २।

अतोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम्। तद्यथा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। [1]अथातः शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्भं मन्त्रोपमन्त्रितम्॥ ४६॥

जातकर्म-विधि—इस (नालछेदन-कर्म से ठीक प्रकार से निवृत्त हो जाने) के बाद कुमार का जातकर्म-संस्कार करना चाहिए। वह इस प्रकार है—सर्वप्रथम मधु तथा घी को मन्त्र से अभिमन्त्रित कर शास्त्र या कुलाचार के अनुसार बालक को खाने के लिये दें। इसके बाद इसी (मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उक्त) विधि से पहले दाहिना स्तन-पान करने के लिये बालक को दें। तदनन्तर मन्त्रों से अभिमन्त्रित जलपूर्ण कलश को बालक के सिर की ओर रखें।

वक्तव्य—'जातस्य (बालकस्य) कर्म' किंवा 'जातकालिकं कर्म' इन दोनों अर्थों का यहाँ सदुपयोग होता है। **यथाम्नायम्**—'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः'। अमरकोष। वेदोक्त कृत्य के अनुसार जो कर्म किया जाये वह 'यथाम्नाय' है। यहाँ पर महर्षि आत्रेय ने आयुर्वेदीय तथा वैदिक विधि का समादर किया है। अतः वैदिक विधि के अनुसार जातकर्म-संस्कार का भी यहाँ अनुसन्धान कर लेना चाहिये।

महर्षि आत्रेय ने जातकर्म के पश्चात् बालक को मधु-घृत-प्राशन की सलाह दी है, क्योंकि मधु में Glu-cose और घृत में Carbohydrate एवम् Fate तत्त्व पाये जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिये अत्यावश्यक हैं। सुश्रुतसंहिता में मधु, घृत तथा अनन्तचूर्ण का भी प्रयोग कराने के लिये लिखा है। पाठभेद के अनुसार उस मधु-घृत में ब्राह्मीरस तथा सुवर्णचूर्ण (भस्म) को भी मिलाकर अनामिका अंगुली से चटायें। तदनन्तर बलातैल को कानों में डालें, माथा में थपथपायें और पैरों में मलें, देखें—सु० शा० अ० १०।१३।

अत ऊर्ध्वं स्तनं पातुं प्रयच्छेत्—महर्षि आत्रेय का निर्देश है कि इसके बाद शिशु को स्तन पान

१. 'अथास्य' इति पा०।

करने के लिये दे। कुछ टीकाकारों ने लिख दिया है कि उसी दिन से उसको स्तन-पान कराना चाहिये, यह महर्षि आत्रेय की आज्ञा है। त्रिकालज्ञ ऋषियों के बारे में ऐसी भ्रान्त धारणा फैलाना उनके तथा शास्त्र के प्रति अन्याय करना है।

ध्यान दें! प्रसव के दिन ही माता के स्तनों में दूध नहीं उतर आता। यों तो माता के स्तनों में पयोदर्शन गर्भकाल में भी देखा जाता है, जो पीने योग्य नहीं होता। यही स्थिति गाय, भैंस आदि की भी होती है, बच्चा को जन्म देने के बाद तीन दिन तक जो दूध निकाला जाता है, वह पीने योग्य नहीं होता है, उसे कोलोस्ट्रम (Colostrum) पीयूष या खीस कहते हैं।

स्तन्य की उत्पत्ति—हृदय में स्थित धमनियों के खुलने के पीछे तीन या चार दिन के बाद स्त्रियों में दूध की प्रवृत्ति होती है। देखें—सु० शा० अ० १०।१४। यह गुरु (देर में पचने वाला) होता है, अतः इसको देने, पीने या पिलाने का निषेध किया गया है। कभी-कभी थोड़ा इसलिये दे भी दिया जाता है, क्योंकि यह मृदु विरेचक होता है। पीने योग्य दूध के मिलने तक बालक को मधु घृत, सुवर्णभस्म आदि को ही चटाकार तब तक समय बिताते हैं। प्रायः देखा गया है, जब माता के स्तनों में दूध उतरने लगता है, उससे ज्वर हो जाता है। जब ज्वर की शान्ति हो जाती है, तभी दूध पिलाया जाता है। इस प्रकार तीन दिन दूध उतरने में और दो दिन ज्वर उतरने में लग जाया करते हैं। यही कारण है कि 'छठी का दूध' यह मुहावरा बन बैठा है। यह अवधि सर्वत्र समान रूप से नहीं देखी जाती।

सुश्रुतसंहिता में—पहले दिन अर्थात् नालच्छेदन के पश्चात् घृत-मधु सुवर्णभस्म से अभिमन्त्रित करके तीन समय पिलायें। दूसरे तथा तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया हुआ घी दें, यह विशेष व्यवस्था दी है। महर्षि आत्रेय ने इतने स्पष्ट शब्दों में भले ही न कहा हो, किन्तु ऐसा भी नहीं स्वीकार किया है कि जातकर्म के दिन ही जैसा भी दूध माता के स्तनों से निकल रहा हो वैसा ही पिला दें, अतः उनकी शब्दावली पर विचार करें—'मन्त्रोपमन्त्रिते मधुसर्पिषी यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्'। अर्थात् सर्वप्रथम और '**यथाम्नाय**'=सम्प्रदाय के अनुसार मधु-घृत बालक को दें। अब ध्यान यह देना है कि सर्वप्रथम देना तो स्पष्ट है, सम्प्रदाय का स्वरूप प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न होता है। इस सम्प्रदाय के कर्णधार वृद्ध, वृद्धाएँ, चिकित्सक और ब्राह्मण होते हैं, वे जैसा निर्देश दें। इस दृष्टि से महर्षि आत्रेय का निर्देश अधिक समीचीन है। इस घृत-मधु को देने के बाद ही स्तन-पान का विधान है।

अनेनैव विधिना स्तनं पातुं प्रयच्छेत्—इसी विधि से, अर्थात् मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके स्तन-पान करने को दें। सुश्रुतोक्त मन्त्र—'चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः। भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥ पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा'॥ सु० शा० अ० १०।२६-२७।

मातृस्तन्य—माता यदि रुग्ण हो अथवा अन्य किन्हीं कारणों से दूध पिलाने में समर्थ न हो तो इस कार्य के लिये धात्री की नियुक्ति (सु० शा० अ० १०।२५ के अनुसार) करे। यदि माता स्तनों की सुन्दरता नष्ट होने के भय से स्तनपान न कराना चाहती हो तो वृद्धा स्त्रियाँ समझा-बुझाकर उसको तैयार करायें, क्योंकि—'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तद् परं देहवृद्धये'। वाग्भट। अर्थात् माता का दूध बालक के शरीर की पुष्टि के लिये अत्यन्त हितकारी होता है। बालक को स्तनपान कराने के पहले माता को चाहिये कि दूध की कुछ बूंदों को चुआ कर तब उसके मुख में दे। स्तनपान कराने से बालक पुष्ट होता है, स्त्री के मन में सहवास की इच्छा उत्पन्न नहीं होती! प्रायः तब तक मासिक-धर्म भी नहीं होता जब तक वह बालक को स्तन-पान कराती रहती है।

अथास्य रक्षां विदध्यात्—आदानीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेयुः। तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयकालं क्रियेतानामकर्मणः[२]। द्वारे च मुसलं देहलीमनु तिरश्चीनं न्यसेत्। वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानां चौषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्,

१. 'उभयतः कालम्' इति पा०।
२. 'प्राङ्नामकर्मणः' इति पा०।

तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः, स्थाल्युदककुम्भपर्यङ्केष्वपि, तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः। [१]कणककण्टकेन्धनवानग्निस्तिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं स्यात्। स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृयुर्दशाहं द्वादशाहं वा। अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रमन्नपानविशदमनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णं च तद्वेश्म कार्यम्। ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात् स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः। इत्येतद् रक्षाविधानमुक्तम्॥ ४७॥

बालक का रक्षा-विधान (Protection of the New-born)—तदनन्तर बालक की रक्षा का विधान करे। आदानी या आदाना (कडुआ नेनुआँ), खदिर (खैर), कर्कन्धु (बेर), पीलु, परूषक (फालसा), इनकी लताओं तथा शाखाओं से इसके घर (सूतिकागार) को चारों तरफ से घेर दें, और सूतिकागृह के चारों ओर सरसों, अतसी (तीसी या अलसी), तण्डुलकण (टूटे हुए चावल), इनके दानों को बिखेर दें और नामकर्म के पहले दिन तक लगातार दोनों समय तण्डुलबलि का होम करता रहे। देहली के पास दरवाजे पर मुसल को तिरछा करके रखे। बालवच, कूठ, क्षौमवस्त्र (अतसी के रेशों से बुना गया वस्त्र, कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'रेशमी वस्त्र' करते हैं। देखें—'अतसी स्यादुमा क्षुमा'। अमरकोष। 'क्षौमपट्टे दुकूले'। इति मेदिनी।), हींग, सरसों, अतसी (अलसी या तीसी), लशुनकण, चावल के कण तथा जो भूत प्रेतनाशक द्रव्य अन्यत्र कहे गये हैं (गुग्गुल आदि) उन ओषधियों की पोटलियाँ बाँधकर एक पोटली सूतिकागार (Maternity ward) की उत्तर ओर की देहली अर्थात् दरवाजा के ऊपर रख (लटका) दे, दूसरी पोटली सूतिका के गले में, तीसरी बच्चे के गले में और पोटलियाँ स्थाली (An earthen pot, A cooking pot, Caldron, कड़ाहा = Kettle), जलपूर्ण कलश और पलंग के सिरहाने में बांध दें, उसी प्रकार दोनों ओर के दरवाजों में भी बाँध दें। सूतिकागृह के भीतर कण (धान्य आदि के टुकड़े, धान आदि का भूसा), कंटक (काँटे या द्रुमांग=पेड़ की पतली शाखाएँ) इनसे सुलगायी हुई आग अथवा तेंदू की लकड़ी की आग सदैव रहनी चाहिये।

यथोक्त गुणों (प्रिय भाषण करने वाली, हितचिन्तक, आलस्यरहित, अनेक बार जो प्रसव करा चुकी हों या स्वयं बालक को जन्म दे चुकी हों, आदि गुणों) वाली स्त्रियाँ और मित्रजन इसकी देख-रेख, सुरक्षा के लिये दस दिनों या बारह दिनों तक रात्रि में जागरण करें, अर्थात् रात्रिभर सावधान रहें। उस सूतिकागृह को ऐसा बना दें, जिसमें निरन्तर दान, मंगलपाठ, आशीर्वाद, स्तोत्र-पाठ, गाना (सोहर, जच्चा-बच्चा आदि से सम्बन्धित), वादित्र (विविध प्रकार के मनोरञ्जक बाजे बजाये जायें नकि जो कर्णकटु हों), स्वच्छ, सात्विक अन्न-पान की सामग्री को खाने-खिलाने में तत्पर और प्रसन्नचित्त लोगों से भरपूर हो। अथर्ववेद का ज्ञाता ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों समय (प्रातःकाल तथा सायंकाल) सूतिका तथा बालक के कल्याण के लिये शान्तिपाठ करे और शान्तिकारक मन्त्रों द्वारा हवन करे। यहाँ तक रक्षाविधान का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—सूतिका तथा नवजात शिशु की रक्षा करना परिजनों का प्रमुख कार्य है। यह समय गृहिणी का पुनर्जन्म माना जाता है और शिशु का जन्म वंशवृद्धि का प्रतीक है, अतएव दोनों रक्षणीय हैं। इस स्थिति में भूतप्रेतादि के आवेश का भय भी होता है। अपवित्र स्पर्शजनित (Infection) व्याधियाँ भी अपना आक्रमण कर डालती हैं। अतः उक्त रक्षाविधान की तन्त्रकर्ता ने व्यवस्था दी है।

तण्डुलबलिहोमः—इसका अर्थ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है। हमारे विचार से इसका अर्थ होना चाहिये—तण्डुलबलि के साथ होम भी दोनों समय करना चाहिये। जो 'तण्डुलबलिनामक होम' की कल्पना की गयी है, यह विचारणीय है। गृह्यसूत्रों के अनुसार इस (नामकर्म के) दिन पञ्चगव्य का प्राशन कराकर उसी का होम किया जाता है, देखें—कात्यायनोक्त पारस्करगृह्यसूत्र। बलि शब्द बलिदान तथा ग्रास इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। तण्डुलबलि (ग्रास) देना गृहस्थ का प्रतिदिन का कर्त्तव्य है। इसी का उल्लेख जतूकर्णसंहिताकार ने भी किया है।

औषधीनां पोट्टलिकाम्—मीमांसाग्रन्थों में अनेक प्रकार के रक्षाविधाने दिये गये हैं। यथा—रक्षाबन्धन, व्यायुषकरण, घृतच्छाया, अभिषेक, दिग्बन्धन आदि। रक्षापोटलिकाएँ भी भिन्न-भिन्न कर्मों में पृथक्-पृथक् द्रव्यों की बनायी जाती हैं। यहाँ वचा, कुष्ठ से लेकर सभी प्रकार के रक्षोघ्न द्रव्यों द्वारा पोट्टली-निर्माण का निर्देश

१. 'सकणकुम्भकेन्धनाग्निः' इति गङ्गाधरः।

किया है, जो आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दृष्टियों से हितकर है। इसके विशेष अध्ययन के लिये काश्यप-संहिता का धूपकल्पाध्याय देखें।

'कणकटकेन्धन'—इसके स्थान पर अन्यत्र चरक का पाठ इस प्रकार उपलब्ध है—**'कणकाम्लेन्धन'** किन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के उत्तरतन्त्र में यह पाठ **'कणककण्डकतिन्दुकेन्धनाग्निं'** इस प्रकार है। ऐसे विभिन्न पाठों से असन्तुष्ट आचार्य गङ्गाधर ने प्रस्तुत पाठ की रचना की है—'सकणकुम्भकेन्धनाग्निः' इसका अर्थ स्पष्ट है—सूतिकागार के भीतर तण्डुलकण बिखरे हों, कुम्भ स्थापित हो और अग्नि प्रज्वलित हो। भगवान् धन्वन्तरि ने इस प्रपञ्च में न पड़कर केवल इतना निर्देश दिया है—**'अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्'**। सु० शा० अ० १०।२३। अर्थात् सूतिकास्थान में आग जलायें, जो बुते नहीं।

दशाहं द्वादशाहं वा—स्मृतिकारों ने नामकर्म का दिन वर्णव्यवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न बतलाया है। सामान्यरूप से 'एकादशे द्वादशे वा पिता नाम कुर्यात्'। यही नामकर्म की अवधि है। देशाचार, कुलाचार के नियम तो सभी के लिये मान्य होते हैं।

सूतिकां तु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेत् परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गबेरचूर्णसहितम्। स्नेहं पीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महताऽच्छेन वाससा; तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्। जीर्णे तु स्नेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुस्निग्धां द्रवां [1]मात्रशः पाययेत्। उभयतःकालं चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहयवागूपानाभ्याम्। एवं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं वाऽनुपाल्य क्रमेणाप्याययेत्। स्वस्थवृत्तमेतावत् सूतिकायाः॥ ४८॥

प्रसवोत्तरकाल के लिये व्यवस्था (Management of Puerperium.)—सूतिका को भूख लगी है, यह जानकर और उसको (निम्नोक्त स्नेहों में से) कौन-सा स्नेह सात्म्य (अनुकूल) होगा, इसका भली-भांति विचार कर पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़ तथा सोंठ का चूर्ण मिलाकर घी, तैल, वसा या मज्जा इन स्नेहों में से किसी एक स्नेह को जितना सूतिका पी सके उसकी शक्ति के अनुसार उसको पिलाये। जब वह स्नेहपान कर चुकी हो तब उसके शरीर पर घृत और तैल की विशेष कर उदर भाग में मालिश कराकर साफ और लम्बे-चौड़े वस्त्र से उसके पेट को कसकर लपेट दें, अर्थात् बांध दें, ऐसा कर देने से अवकाश (स्थान) न पाने के कारण वायु उसके उदर में किसी प्रकार के विकार को उत्पन्न नहीं कर पायेगा। जब उक्त स्नेह पच जाय, उसके बाद उपर्युक्त पिप्पली आदि के चूर्णों से मिला स्निग्ध पदार्थों से युक्त पतली यवागू (खिचड़ी) को थोड़ा-थोड़ा पिलाये, स्नेहपान और यवागू पान के पहले दोनों समय (प्रातः-सायं) गरम पानी से सूतिका को स्नान कराना चाहिये। इस प्रकार पांच या सात दिन तक उक्त क्रम का पालन करने के बाद क्रमशः सूतिका को आप्यायित (तृप्त) कराना चाहिये, जिससे उसके बल आदि की वृद्धि हो सके। मात्र इतना ही सूतिका का स्वस्थवृत्त (प्रसवोत्तरकालिक आहार-विहार) होता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने चार प्रकार के स्नेहों में से किसी एक का वातनाशक चूर्णों के साथ सेवन कराने का निर्देश दिया है। अन्य संहिताकारों ने भी इसी से मिलती जुलती व्यवस्थाओं का निर्देश दिया है। देखें— सु० शा० अ० १० तथा अ० सं० शा० अ० ३। भगवान् धन्वन्तरि ने देश-भेद से भी सूतिका के रहन-सहन, खान-पान के भेद पर संक्षिप्त विचार किया है—'धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत्, पिप्पल्यादिकषायानुपानां स्नेहनित्या च स्यात् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवती, अबलां यवागूं पाययेत् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत्'॥ सु० शा० अ० १०। १७। अर्थ स्पष्ट है।

महर्षि कश्यप ने 'वेष्टयेदुदरम्' का रहस्य बतलाते हुए लिखा है—'पीडयेद् दृढमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये। महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्॥ तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति'॥ का० सं० खिलस्थान अ० ११। पेट को बांधने से गर्भाशय का विकार बाहर निकल कर उदर पूर्ववत् अपने स्थान में स्थित हो जाता है।

---

१. 'मात्राम्' इति पा०।

धन्वभूमि को ही मरुभूमि कहते हैं। वहाँ की निवासिनी स्त्रियाँ अन्यदेशज स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होती हैं, अतः स्नेहपान का विधान विशेष करके उन्हीं के लिए किया गया है, क्योंकि वे बलवती होती हैं। अबला (दुर्बला) स्त्रियाँ जो अनूप देश की निवासिनी हैं, वे सब प्रकार से दुर्बल होती हैं, अतः उनकी पाचकाग्नि भी दुर्बल होती है। इसीलिये उनके लिये यवागू (पतली खिचड़ी या दलिया) में स्नेह मिलाकर दी जाती है, जिससे जल्दी पच सके। ऐसा पथ्य क्रम १०–११ दिनों तक रखे, तदनन्तर स्वाभाविक भोजन की व्यवस्था करा दे। स्त्री की यह प्रसूतासंज्ञा प्रसव के दिन से लेकर ४५ दिन तक रहती है।

महर्षि कश्यप ने प्रसूता के स्वस्थवृत्त के सम्बन्ध में देश-भेद के अनुसार जो विचार किया है, वह इस प्रकार है—'वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः। रक्तं मांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च॥ कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा। औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत् तथैवानुवर्तते॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च। देशं च जातिसाम्यं च सम्प्रधार्य प्रयोजयेत्'॥ काश्यप सं० खिलस्थान अ० ११।३४-३६। प्रसूता स्त्री को विदेशी (अभारतीय) लोग रक्त, मांसरस, कन्द, मूल, फल आदि देते हैं। अर्थात् जिसके कुल में जो वस्तु दी जाती है या जिसको जो सात्म्य होती है वह देते हैं। इसलिये निश्चयपूर्वक किसी आहार-विहार विशेष की व्यवस्था का निर्देश नहीं करना चाहिये।

तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा, गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च; तस्मात्तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत्; भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहनान्नपानविधिभिर्विशेषतश्चोपचरेत्; विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति॥ ४९॥

सूतिका-चिकित्सा-सूत्र—गर्भकाल में गर्भाशय के बढ़ (विस्तृत हो) जाने से, शरीर सम्बन्धी रसादि सभी धातुओं के क्षीण तथा शिथिल हो जाने से, प्रवाहण (काँखने) के कारण उत्पन्न कष्ट से, प्रसव वेदना से, क्लेद (गर्भवारि) एवम् रक्त के विशेषरूप से निकल जाने से सूतिका का शरीर विशेषरूप से शून्य (खाली) हो जाता है। इस अवसर पर जो व्याधि उत्पन्न हो जाती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य होती है। इसलिये उपर्युक्त नियमों के अनुसार ही विधिपूर्वक उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

विशेषरूप से भौतिक (प्राणियों से प्राप्त), जीवनीय, (जीवन प्रदान करने वाले) बृंहणीय (शरीर को बढ़ाने तथा पुष्ट करने वाले), मधुर (मुनक्का आदि), वातनाशक द्रव्यों से बनाये गये तैलों से अभ्यंग तथा उत्सादन करायें, इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ-जल से परिषेक (स्नान), अवगाहन (टब-बाथ) करायें, इन्हीं द्रव्यों से पकाये गये जल द्वारा अन्नों (भोजन पदार्थों) का निर्माण करे और पीने के लिये भी इसी जल का प्रयोग करें, क्योंकि प्रसव के बाद स्त्रियों का शरीर प्रायः निःसार हो जाता है।

वक्तव्य—सूत्ररूप में वर्णित विषय के लिये व्याख्या की आवश्यकता होती है, अतः इसकी विस्तृत चिकित्सा आगे कही जायगी। यहाँ जो निर्देश किया है, वह केवल रोगी तथा परिजनों को सावधान करने के लिये ही है। प्रायः सभी चिकित्सा-पद्धतियों में यह स्वीकार किया है कि प्रसवकाल के बाद ४५ दिन तक स्त्री की प्रसूतासंज्ञा होती है, इतने समय में सावधानी से देख-रेख तथा चिकित्सा करने पर प्रसूता सभी प्रकार की विकृतियों से मुक्त होकर स्वस्थ हो जाती है और इस अवधि के बीच में सूतिका के मिथ्या आहार-विहार, अपतर्पण आदि के कारण उसको जो रोग होता है, उस रोग को सूतिकारोग कहते हैं। इस अवधि में प्रायः वातविकार सूतिका को हो जाते हैं।

१. सूतिकारोग के लक्षण—'अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता। शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्'॥ **२. सूतिकारोगों की भयंकरता**—'मिथ्योपचारात् संक्लेशाद् विषमाजीर्णसेवनात्। सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणश्च ते'॥

महर्षि कश्यप के अनुसार सूतिका रोगों की संख्या ६४ है। यथा—१. योनिभ्रंश, २. योनिक्षत, ३. योनिभंग, ४. मूत्रसंग, ५. शोथ, ६. योनिस्राव, ७. योनिप्रसुप्तता, ८. योनिवेदना, ९. पार्श्वशूल, १०. पृष्ठशूल, ११. कटिशूल, १२. हृदयशूल, १३. विसूचिका, १४. प्लीहावृद्धि, १५. महोदर, १६. शाखा (हाथ-पैरों में) वात, १७. अंगमर्द, १८. भ्रूविक्षेप, १९. हनुस्तम्भ, २०. मन्यास्तम्भ, २१. अपतानक, २२. मक्कलशूल, २३. विद्रधि,

२४. व्रणशोफ, २५. प्रलाप, २६. सूतिकोन्माद, २७. कामला, २८. दुर्बलता, २९. भ्रम, ३०. कृशता, ३१. भक्तद्वेष, ३२. अविपाकता, ३३. ज्वर, ३४. अतिसार, ३५. विसर्प, ३६. छर्दि, ३७. तृष्णा, ३८. प्रवाहिका, ३९. हिक्का, ४०. श्वास, ४१. काम, ४२. पाण्डु, ४३. रक्तगुल्म, ४४. आनाह, ४५. आध्मान, ४६. मलबन्ध, ४७. मूत्रग्रह, ४८. मुखरोग, ४९. नेत्ररोग, ५०. प्रतिश्याय, ५१. गलग्रह, ५२. राजयक्ष्मा, ५३. अर्दित, ५४. कम्पन, ५५. कर्णस्राव, ५६. निद्रानाश, ५७. उष्णवात, ५८. ग्रहबाधा, ५९. स्तनरोग, ६०. रोहिणी, ६१. वाताष्ठीला, ६२. वातगुल्म, ६३. रक्तपित्त, ६४. विचर्चिका । देखें—काश्यपसंहिता खिलस्थान अ० ११ ।

दशमे त्व[1]हनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपलोध्रैश्च स्नाता लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय[2] पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती च संस्पृश्य मङ्गलान्युचितामर्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा [3]कुमारमहतानां च वाससां सञ्चये प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमतीत्युक्त्वा कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च । तत्राभिप्रायिकं घोषवदाद्यन्तस्थान्तमूष्मान्तं वाऽवृद्धं[4] त्रिपुरुषानूकमनवप्रतिष्ठितं, नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा ॥ ५० ॥

नामकरण-संस्कार (Proper Name Ceremony)—प्रसूता स्त्री दसवें दिन, नवजात शिशु के साथ सर्वगन्ध नामक औषध द्रव्यों से, पीलीसरसों और लोध द्वारा संस्कारित जल से स्नान करके, हलके, बिना फटे (नये), पवित्र वस्त्रों को पहनकर, पवित्र, इच्छा के अनुकूल, हलके, अनेक प्रकार के अलंकारों को उन उन शरीरावयवों में धारण करके, मंगलकारक द्रव्यों (दही, दूब, हल्दी, ब्राह्मण, गाय आदि) का स्पर्श करके, उचित (इष्ट) देवता अथवा लोकाचार, देशाचार के अनुसार जहाँ जिस देवता की पूजा उचित समझी जाती हो, उसकी पूजा कर, अथवा शिशु के जन्म-नक्षत्र के देवता (देखें—मुहूर्तचिन्तामणि-नक्षत्रप्रकरण) की पूजाकर, शिखा वाले, सफेद वस्त्रधारी, अव्यंग (जिनके शरीर के सभी अवयव ठीक हों, जो हीन या अधिक अंगों वाले न हों), ऐसे ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन करवा कर, बालक को नवीन (जो फटे न हों) वस्त्रों के समूह (गद्दी) में पूर्व की ओर या उत्तर की ओर शिर कराकर-बैठा (लेटा) कर, यह बालक देवताओं को तथा ब्राह्मणों को प्रणाम कर रहा है, ऐसा कहकर बालक का पिता उसके दो नाम रखे—१. नाक्षत्रिक (नक्षत्र से सम्बन्धित) और २. आभिप्रायिक (जैसा माता, पिता आदि का अभिप्राय हो) ।

नाक्षत्रिक नाम—नक्षत्र सम्बन्धी नाम रखने के लिये, जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उसके देवता के अनुसार या उसके चरणोक्त अक्षरों के अनुसार, उसमें भी इष्टकाल के अनुसार दो अक्षर या चार अक्षरों वाला नाम रखे ।

इच्छित नाम—आभिप्रायिक (मनचाही) नाम रखने के भी शास्त्रीय नियम ये हैं—नाम के आरम्भ का वर्ण घोषप्रयत्न वाला हो (जैसे—ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व, ह,) मध्यम (बीच का) वर्ण अन्तःस्थ हो (जैसे—य, व, र, ल,) और अन्त वाला वर्ण ऊष्म प्रयत्न वाला हो (जैसे—श, ष, स, ह,) इतना होने पर भी वह नाम वृद्धसंज्ञक स्वरों (आ, ऐ, औ) से युक्त न हो। अथवा त्रिपुरुषानूक (अपनी तीन पीढ़ी के कुल-शील के अनुसार) नाम रखे ।

वक्तव्य—'दशमे त्वहनि' इसके स्थान पर दूसरा पाठ इस प्रकार प्राप्त है—'दशम्यां निश्यतीतायाम्' । कात्यायनोक्त पारस्करगृह्यसूत्र का मत इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक होगा, उसका अवलोकन करें—'**दशम्यामुत्थाप्य**' अर्थात् 'दशम्यां रात्र्यामतीतायाम् एकादशेऽहनि' तत्र भाष्यः । इससे यह सिद्ध होता है कि बालक के जन्म दिन से ग्यारहवें दिन नामकर्म-संस्कार करना चाहिये । इसके विपरीत १० वें दिन भी नामकरण करने के निर्देश प्राप्त है । देखें—'नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणा-

१. 'दशम्यां निश्यतीतायाम्' इति पा० ।
२. 'लघ्वहतवस्त्रपरिहिता' इति पा० ।
३. 'कुमारमहतेन शुचिना वाससाऽऽच्छादयेत्' इति पा० ।
४. 'वृद्धत्रिपुरुषान्तरम्' इति पा० ।

न्विते' ॥ मनुस्मृति । इसके अनुसार नामकर्म १० वें या १२ वें दिन या शुभ तिथि, मुहूर्त, नक्षत्र जिस दिन मिले उस दिन अथवा १०, १२ दिन के बाद भी कर सकते हैं । भगवान् धन्वन्तरि ने भी दसवें दिन नामकर्म करने की अनुमति दी है, देखें—सु० शा० अ० १० ।

नामकरण—'द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् । अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्' । पारस्करगृह्यसूत्र । शास्त्रीय परम्परा के अनुसार पाँच प्रकार के नाम रखे जाते हैं—**१. कुलदेवता सम्बन्धी नाम**—जिसके जो कुलदेवता हों या जो इष्टदेव हों तदनुसार नाम रखे । **२. मासनाम**—जिस मास में जिसका जन्म हो । **३. नाक्षत्रनाम**—होडाचक्र के अनुसार जिस समय जिसका जन्म हुआ हो, उस इष्टकाल के अनुसार उस नक्षत्र का जो चरण पड़ रहा हो, तदनुसार नाम रखे । **४. तद्धितान्तनाम**—यह व्यावहारिक नाम होता है । **५. अभीष्टनाम**—जैसे-बबलू, डबलू, गुड्डू, पप्पू, पिण्टू, मिण्टू, लप्पू, पिंकी, फेकू, कतवारू आदि ।

इस प्रकार इन सभी नाम-भेदों का आदर आज भी विभिन्न प्रकार के परिवारों में देखा जाता है । मासनाम के साथ ही दिन, तिथि के अनुसार भी नाम देखे जाते हैं । संक्षेप में नाक्षत्रिक नाम सुशिक्षित परिवारों में और आभिप्रायिक नाम सभी परिवारों में रखा जाता है । नाक्षत्रिक नाम अभिचार आदि के प्रयोगभय से गुप्त रखा जाता है और आभिप्रायिक का प्रयोग बोलचाल में किया जाता है ।

[1]वृत्ते च नामकर्मणि कुमारं परीक्षितुमुपक्रमेतायुषः प्रमाणज्ञानहेतोः । तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति । तद्यथा—एकैकजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते, [2]स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्याऽतिसम्पन्नमीषत्[3]प्रमाणातिवृत्तमनुरूपमातपत्रोपमं शिरः, व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्टशङ्खसन्ध्यूर्ध्वव्यञ्जनसम्पन्नमुपचितं वलिभमर्धचन्द्राकृति ललाटं, बहलौ विपुलसमपीठौ समौ नीचैर्वृद्धौ पृष्ठतोऽवनतौ सुश्लिष्टकर्णपुत्रकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ, ईषत्प्रलम्बिन्यावसंगते समे संहते महत्यौ भ्रुवौ, समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे बलवती तेजसोपपन्ने स्वङ्गापाङ्गे चक्षुषी, ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसम्पन्नेषदवनताग्रा नासिका, महदृजुसुनिविष्टदन्तमास्यम्, आयामविस्तारोपपन्नाश्लक्ष्णा तन्वी [4]प्रकृतिवर्णयुक्ता जिह्वा, श्लक्ष्णं युक्तोपचयमूष्मोपपन्नं रक्तं तालु, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः, नातिस्थूलौ नातिकृशौ विस्तारोपपन्नावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ, महत्यौ हनू, वृत्ता नातिमहती ग्रीवा, व्यूढमुपचितमुरः, गूढं जत्रु पृष्ठवंशश्च, विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ, असम्पातिनी स्थिरे पार्श्वे, वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू सक्थिनी अङ्गुलयश्च, महदुपचितं पाणिपादं, स्थिरा वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः, प्रदक्षिणावर्ता सोत्सङ्गा च नाभिः, उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी, वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ, अनुपूर्वं वृत्तावुपचययुक्तावूरू; नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे प्रगूढसिरास्थिसन्धी जङ्घे, नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ, पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ, प्रकृतियुक्तानि वातमूत्र[5]पुरीषगुह्यानि तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तनग्रहणानि, यच्च किञ्चिदन्यदप्यनुक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतिसम्पन्नमिष्टं, विपरीतं पुनरनिष्टम् । इति दीर्घायुर्लक्षणानि ॥ ५१ ॥

बालक के दीर्घायु-लक्षण—नामकरण संस्कार कर लेने के बाद बालक की आयु के प्रमाण को जानने के लिये उसके शरीरावयवों की परीक्षा करना प्रारम्भ करें । जैसे—

केश—दीर्घायुष्य के योग्य केशों (बालों) का वर्णन—प्रत्येक रोमकूप में से एक-एक केश निकला हो, जिनकी जड़ सुदृढ़ हों बाल स्पर्श करने पर मुलायम लगते हों, अल्प (थोड़े) हों, स्निग्ध (रूक्षतारहित) हों,

१. 'कृते' इति पा० ।
२. 'स्थिरा बहला त्वक् प्रकृत्या, प्रकृतिसुसम्पन्न०' इति पा० ।
३. 'प्रमाणातिरिक्तम्' इति पा० ।
४. 'प्रकृतियुक्ता पाटलवर्णा' इति पा० ।
५. 'पुरीषाणि' इति पा० ।

(बाल उखड़कर गिर न रहे हों) तथा काले वर्ण वाले केश अच्छे होते हैं, अर्थात् दीर्घायुष्य की सूचना देते हैं।

त्वचा (Skin)—स्थिर (अपने-अपने अवयवों के ऊपर सुस्थिर) तथा मोटी त्वचा अच्छी होती है। पाठभेद के अनुसार स्वभाव से ही स्थिर तथा मोटी त्वचा उत्तम होती है।

सिर—अपनी स्वाभाविक आकृति से परिपूर्ण, अपने प्रमाण से कुछ बड़ा होने पर भी शरीर के अनुरूप (जो शरीर के अनुपात से बेडौल प्रतीत न हो) तथा आतपत्र (छाता) के सदृश (बीच में कुछ ऊँचा और चारों ओर से नीचे की ओर को झुका हुआ) सिर श्रेष्ठ होता है।

ललाट—व्यूढ (चौड़ा या विस्तृत), दृढ़, समतल, शंख-प्रदेश की सन्धियाँ जिसमें भली-भांति सटी (परस्पर मिली) हों, ऊपर की ओर जिस मस्तक पर रेखाएँ उभार युक्त हों, ललाट मांसल हो (उस पर केवल त्वचा का ही आवरण न हो), माथे पर बलियाँ दिखलायी देती हों तथा अर्धचन्द्रमा की आकृति वाला ललाट शुभ होता है।

कान—दोनों कान जिसके मांसल हों, बड़े, पीछे की ओर समतल भाग वाले, नीचे की ओर को समान रूप से बढ़े हुए, पीछे से आगे की ओर ऊपर से झुके हुए, कर्णपुत्रक (कर्णशष्कुली—The outer part of the ear) के वन्धन मजबूत हों तथा जिनकी कर्णगुहा के छिद्र बड़े (आवश्यकता के अनुसार पूर्ण) हों, ऐसे कान शुभ होते हैं।

भौहें—दोनों भौंहें थोड़ा-सा नीचे की ओर लटकी हों, नाक के ऊपरी भाग के पास भौंहें मिली न हों, दोनों समान तथा सुसंगठित, दूर तक फैली हुई अत एव दीर्घ आकार वाली शुभ होती हैं।

आँखें—दोनों की आकृति समान हो (एक बड़ी एक छोटी न हो, क्योंकि विकारयुक्त आँखों की अंशांश परिकल्पना से अनुसार अनेक भेद होते हैं), दृष्टिमण्डल नेत्रगोलकों के भीतर समान एवं सम्यक् रूप से व्यवस्थित हों, नेत्रों के अवयवों (कृष्णमंडल, श्वेतमंडल तथा दृष्टिमंडल) का विभाजन ठीक रूप से हुआ हो, आंखें बलवती (दर्शनशक्ति से संपन्न) हों, तेज (आलोचक पित्त) से युक्त हों, नेत्रशारीर के सभी अवयव तथा दोनों अपांग भाग सुरूप हों, ऐसी आंखें शुभ लक्षणों से युक्त होती हैं।

नासिका—सीधी, लम्बी सांस लेने में समर्थ (जिससे श्वास-प्रश्वास लेने में सरलता का अनुभव होता हो), नासावंश का अगला भाग कुछ झुका हुआ-सा शुभ होता है। ध्यान दें, नासिका की उपमा शुकनासिका से दी जाती है।

मुख—बड़े आकार का (यह भी शरीर के अनुपात के अनुरूप होना चाहिये), ऋजु (सीधा), जिसके भीतर दन्तपंक्ति भली-भांति व्यवस्थित हो, ऐसा मुख शुभलक्षण-सम्पन्न होता है। इस समय दन्तोत्पत्ति नहीं हुई होती किन्तु मुख के भीतर दन्ताधार (मसूड़ों) की परीक्षा की जा सकती है। मसूड़ों का आकार-प्रकार ठीक होने से भविष्य में होने वाली दन्तोत्पत्ति का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। दांतों के टेढ़े-मेढ़े उत्पन्न होने में परिचारक का दोष होता है।

जीभ—कफ, शोणित तथा मांस का सार रूप जीभ होती है। उचित प्रमाण में जो लम्बाई, चौड़ाई से युक्त हो, चिकनी अर्थात् जिसमें खुदरापन न हो, पतली, अपनी प्रकृति (संकोच-विस्तार-गुण) तथा अपने वर्ण से युक्त जीभ शुभ होती है।

तालु—श्लक्ष्ण (चिकना), समुचित रूप से उपचित (मांसल), ऊष्मा (स्वाभाविक गर्मी) से युक्त लाल वर्ण का तालु शुभ होता है।

स्वर—महान्, दीनतारहित, स्निग्ध (जिसका बोलना परिजनों को कर्णप्रिय लगता हो), अनुनादी (माता-पिता कुछ कहें तो उसके बाद स्पष्ट शब्द वाला) तथा गम्भीरता के साथ निकलने वाला स्वर शुभ होता है।

होंठ—दोनों होंठ न अधिक मोटे हों, न अधिक कृश (पतले) हों, मुख-गुहा को ढकने में समर्थ हों और ये लालिमा युक्त शुभ होते हैं।

हनु (Chin)—दोनों चिबुकों (चिबुकास्थियों) का समान रूप से बड़ा होना शुभ होता है।

ग्रीवा—गरदन का गोलाकार होना और अधिक लम्बी न होना शुभ होता है।

उर—चौड़ी तथा मांसपेशियों से ढकी हुई छाती शुभ होती है।

जत्रु (Collar-bone) तथा पृष्ठवंश—इन दोनों का मांसपेशियों से ढका रहना शुभलक्षण है।

स्तन—दोनों स्तनों के बीच में (स्वाभाविकरूप से) पर्याप्त दूरी का होना शुभ है।

पार्श्व—दोनों पार्श्व भाग जिसके मांसल हों, अंशप्रदेश की ओर जिनका झुकाव हो, अर्थात् क्रमशः पतले और स्थिर हों, वे शुभ होते हैं।

बाहु, टाँगें, अंगुलियाँ—जिसकी दोनों भुजाएँ, दोनों टाँगें और सभी अंगुलियां मांस से पुष्ट होने के कारण गोलाकार और अपने अनुपात से लम्बी हों, वे शुभ होती हैं।

हाथ, पैर—जिसके हाथ, पैर आकार (लम्बाई) में महान् (पूर्ण) हों और मांस से भरे-पुरे हों, अर्थात् पादतल और करतल का मांसल होना शुभ होता है।

नख—स्थिर (ठोस), आकार में गोल, चिकने, तांबे के सदृश लालवर्ण वाले, बीच में उठे हुए, कछुए की पीठ की हड्डी जैसे करज (हाथ के नख) शुभ होते हैं।

नाभि—दाहिनी ओर घुमावदार, बीच में गहरी, किनारे जिसके उठे हों, ऐसी नाभि शुभ होती है।

कटि—छाती की चौड़ाई से तीन हिस्सा पतली, समतल, समुचित मांसपेशियों से ढकी हुई, अर्थात् जो आवश्यकता से अधिक मोटी न हो, वह शुभ होती है।

स्फिच् (Hips)—दोनों का साधारण रूप से गोलाकार होना, स्थिर (ढीले-ढाले न) होना, मांस से परिपुष्ट होना, न अधिक उठे हुए और न अधिक धँसे हुए होना, ये लक्षण शुभ होते हैं।

ऊरू (Thigh)—चूतड़ और घुटने के बीच का भाग—दोनों ऊरुओं का क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर को गोलाकार तथा मांस से पुष्ट होना शुभ है।

जंघा (Leg from the ankle to the knee)—दोनों जांघें हरिणी के पैर जैसी, जो न अधिक मोटी हों और न अधिक पतली (मांसहीन) हों, ऐसी जांघें शुभ होती हैं।

गुल्फ (Ankle)—जो मांसपेशियों से न अधिक मोटे हों और न अधिक कृश, वे गुल्फ शुभ होते हैं।

चरण—ऊपर 'पाणिपादम्' द्वारा पाणितल, पादतल का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ 'पादौ' शब्द से दोनों पैरों के ऊपरी भाग का वर्णन प्रस्तुत है। पूर्वोक्त गुणों के साथ पैरों का ऊपरी भाग कछुए की पीठ के सदृश ऊँचा शुभ होता है।

इन अंगावयव विशेषों का वर्णन प्रस्तुत करने के बाद स्वाभाविक स्थिति में वात (अपानवायु और डकार), मूत्र, पुरीष (मल), सोना, जागना, परिश्रम, मन्द-मन्द हँसना, रोना, स्तनग्रहण (स्वाभाविक रूप से स्तनपान करना), इसके अतिरिक्त और भी जो यहाँ नहीं कहा गया है वह भी यदि स्वभाव के अनुकूल हो तो शुभ समझें तथा प्रकृति विपरीत जो भी लक्षण दिखलायी दें वे सब अनिष्टकारक होते हैं। यहाँ तक दीर्घायु के लक्षण कहे गये हैं।

वक्तव्य—यहाँ बालक के नख-शिख का संक्षिप्त वर्णन जो दीर्घायु या स्वल्पायु का निर्णय करने के लिये किया गया है, इसका विस्तृत वर्णन सामुद्रिकशास्त्र में द्रष्टव्य है। यहाँ जो वर्णन किया गया है, इस प्रकार के लक्षण प्रायः प्रत्येक महापुरुषों में देखे जाते हैं। इसके लिये प्राचीन शास्त्रों, पुराणों, महाकाव्यों का अवलोकन करें।

चरक विमानस्थान अध्याय ८ में प्रकार-भेद से पुरुष-परीक्षा का विवेचन किया गया है, उसका भी यहाँ विचार कर लेना चाहिये। जैसे—यहाँ **'उरस्त्रिभागहीना कटी'** कहा गया है। इस विषय को च० वि० अ० ८ के 'प्रमाणपरीक्षा' प्रकरण में देखें।

वातमूत्रपुरीषगुह्यानि—चक्रपाणि की टीका युक्त संस्करण में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध है। यहाँ पर 'गुह्यानि' शब्द यदि गोपनीय अंगों की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है, तब तो कुछ सोचा भी जा सकता है, अन्यथा 'वातमूत्रपुरीषाणि' पाठ जो अन्य संस्करणों में मिलता है, अपेक्षाकृत अधिक सुगम एवं स्पष्ट है।

जातकग्रन्थों में दीर्घायु, मध्यायु, अल्पायु का विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है। इन पर भी कारक तथा मारक ग्रहों का प्रभाव अधिक बलवान् माना जाता है। ज्योतिष में जैसे ग्रहों का परिवर्तन होता रहता है,

ठीक उसी प्रकार सामुद्रिकशास्त्र की दृष्टि से रेखाओं तथा लक्षणों का भी परिवर्तन होता है। यहाँ पर यह विचार जन्मकालिक है।

अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः। अथ ब्रूयात्—धात्रीमानय समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां[1] देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातां वत्सलामरोगां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामनुच्चारशायिनीमनन्त्यावसायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति ॥ ५२ ॥

धात्री-परीक्षा (Examination of the Wet Nurse)—बालक के दीर्घायुष्य के लक्षणों की परीक्षा करने के बाद हम यहाँ धात्री-परीक्षा का उपदेश करेंगे। चिकित्सक बालक के अभिभावक से कहे कि निम्नोक्त गुणों वाली धात्री को लाओ, जो बालक के सदृश वर्ण (यदि बालक गौरवर्ण का हो तो गौरवर्ण वाली, श्यामवर्ण हो तो श्यामवर्ण वाली और यदि बालक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्रवर्ण का हो तो तदनुरूप वर्ण) वाली, युवती, विश्वासपात्र, रोगरहित अतएव स्वस्थ, अव्यंगा (जो हीन अंगों अथवा अधिक अंगों वाली न हो), अव्यसना (किसी प्रकार की बुरी आदतों वाली न हो), अविरूपा (जो विकृत रूप वाली न हो, अर्थात् देखने में सुरूप) हो, निन्दित स्वभाव वाली न हो, अपने देश में उत्पन्न हो, अपनी जाति की हो (वर्ण एक होने पर भी यदि उसी जाति की हो तो और भी उत्तम है), क्षुद्र विचारों की न हो, क्षुद्र कार्य करने वाली न हो, अच्छे कुल में पैदा हुई हो, बच्चे के प्रति प्रेम करने वाली हो, किसी प्रकार के रोग से ग्रसित न हो, उसके अपने बच्चे जीवित हों, पुत्र सन्तान वाली हो, दूध देने वाली हो, सदा सावधान चित्तवाली हो, अनुच्चारशायिनी (बालक के साथ मल-मूत्र में ही सो जाने वाली न हो, अर्थात् बालक के मल-मूत्र करते ही उसको साफ स्वच्छ करके उसको भी सुलाने वाली और स्वयं भी सोने वाली) हो, अपने धर्म आदि से पतित न हो, बालक की सेवा-सुश्रूषा में चतुर हो, स्वयं साफ-सुथरी और अपवित्रता से द्वेष रखने वाली हो, पुष्ट स्तनों वाली तथा पर्याप्त दूधवाली हो—ये उत्तम धात्री के गुण कहे गये हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने धात्री-परिचय कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। यथा—'श्यामारोग्यबलवृद्धये बालस्य। तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्'। सु० शा० अ० १०।२५। इन्होंने धात्री के रूप में 'श्यामा' संज्ञक स्त्री के चयन की आज्ञा दी है।

श्यामा स्त्री का परिचय—'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते'॥ इसके आगे ऊर्ध्वस्तनी और लम्बस्तनी का जो निषेध किया है, उसका विवेचन महर्षि आत्रेय ने आगे 'स्तनसम्पत्' का निर्देश करते हुए किया है।

वास्तव में यह माता का कर्त्तव्य है कि वह स्तनपान कराकर बालक का पोषण करे। दुग्ध माता के स्नेह का मूर्तिमान् रूप है, जिसका पान करने से उसका माता के प्रति श्रद्धापूर्ण स्नेह चिर-स्थिर हो जाता है। यदि माता प्रमाद या लज्जावश दूध पिलाना पसन्द न करे तो वृद्धा स्त्रियाँ उसको समझायें, क्योंकि—

'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये'। जितने शरीरपोषक-तत्त्व एक साथ माता के दूध द्वारा बालक को प्राप्त हो जाते हैं, उतने अन्यत्र से नहीं प्राप्त हो पाते। इसके अभाव में ही धात्री की व्यवस्था बालक के लिये की जाती है। सुश्रुत में श्यामा धात्री की नियुक्ति में बल दिया है। उसके समर्थन में आचार्य डल्हण लिखते हैं—'श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति'। श्यामा स्त्रियाँ अधिक दूध देने वाली होती हैं। वह धात्री उत्तम होती है जो जीवद्वत्सा हो, अतएव उसका दूध बालक के दीर्घायुष्य के लिये श्रेष्ठ होगा। इन समस्त गुणों से युक्त धात्री माता के समान बालक का भरण-पोषण कर सकती है।

तत्रेयं स्तनसम्पत्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति (स्तनसम्पत्) ॥ ५३ ॥

उत्तम स्तन—वहाँ यह सर्वगुण सम्पन्न स्तनों का स्वरूप है—जो बहुत ऊपर की ओर उठे न हों, न

१. 'अविजुगुप्सामजुगुप्सिताम्' इति पा०।

अधिक लम्बे ही हों, जो बहुत कृश न हों, न अधिक मोटे ही हों, पिप्पलक (चूचुक) से युक्त हों और जिनको बालक सुखपूर्वक मुँह में लेकर चूस सके (यह सब स्तनों की गुण-सम्पत्ति है)।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने स्तनों की गुण-सम्पत्ति का वर्णन करके निर्देश दिया है कि ऐसे स्तन शिशु के लिये स्तनपान-काल में सुखद होते हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने ऊपर जिन निषिद्ध स्तनों का वर्णन किया है, उनका आशय भी ऐसे ही स्तनों की प्रशंसा करने का रहा है। केवल निषिद्ध स्तनपान करने से जो दोष बालक में आ जाते हैं, उनका सुश्रुत में विशेष वर्णन है, यथा—ऊँचे स्तनों को पीने से बालक के दांत आगे को लम्बे हो जाते हैं, आँखें उठी जैसी हो जाती हैं और अधिक लम्बे स्तनों को पीने से बालक के नाक के छिद्र ढँक जाते हैं, जिससे श्वास-प्रश्वास के रुक जाने से उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

युक्तपिप्पलकौ—यहाँ महर्षि ने पिप्पलक शब्द का प्रयोग स्तनाग्र (चूचुक) के लिये किया है। पके हुए पिप्पल फल की आकृति और चूचुक की आकृति की समानता पर ध्यान दें। यह है, नामकरण की सार्थकता।

स्तन्यसम्पत्तु प्रकृतिवर्णगन्धरसस्पर्शम्, उदपात्रे च दुह्यमानमुदकं व्येति प्रकृतिभूतत्वात्। तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति (स्तन्यसम्पत्) ॥ ५४ ॥

उत्तम दूध—स्तनसम्पत् का वर्णन करने के बाद अब स्तन्यसम्पत् का वर्णन किया जा रहा है—जिस दूध का वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श स्वाभाविक हो, जो दूध जल युक्त पात्र में दुहने पर पानी के साथ समान प्रकृति वाला होने के कारण मिल जाता हो, वह दूध पुष्टिकारक तथा स्वास्थ्यवर्धक होता है (यही उत्तम दूध का लक्षण है)।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने स्तन्य-परीक्षा-प्रसङ्ग में कुछ महत्वपूर्ण विषयों का निर्देश किया है। देखें—माता अथवा धात्री भूखी होने पर, शोकसंतप्त होने पर, थकी स्थिति में, दूषित धातु वाली, गर्भावस्था में, ज्वर से पीड़ित होने पर, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदग्ध भोजन, विरुद्ध भोजन करने पर या उपवास की स्थिति में स्तनपान न कराये। देखें—सु० शा० अ० १०।३१।

जिसका दूध बालक को पिलाना हो उस दूध की परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिये अन्यथा बालक के अस्वस्थ होने का भय रहता है। इसकी विशेष जानकारी के लिये सु० नि० अ० १० श्लोक २३ से २५ तक देखें।

भारतीय खान-पान से युक्त सामान्य स्त्री के दूध का रासायनिक विश्लेषण करने पर इन तत्वों की उपलब्धि होती है—प्रोटीन १·२%, वसा २·८%, शर्करा ५·९%, लवण २४% तथा जल ८९·८६%।

अतोऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयम्। तस्य विशेषाः—श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनालक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिलं लघ्वतृप्तिकरं कर्शनं वातविकाराणां कर्तृ वातोपसृष्टं [1]क्षीरमभिज्ञेयं; कृष्णनीलपीतताम्राभासं तिक्ताम्लकटुकानुरसं कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ च पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम्, अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीदच्छ्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ ५५ ॥

अशुद्ध दूध के लक्षण—ऊपर कहे गये शुद्ध दूध के लक्षणों से विपरीत दूध को व्यापन्न (विकारयुक्त अर्थात् अशुद्ध) समझना चाहिये। उसके निम्न भेद होते हैं—

१. वातदोष युक्त दूध के लक्षण—श्याव (Dark brown) तथा अरुण (ईंट के सदृश) वर्ण वाला, कषाय अनुरस (पी लेने के बाद कसैला स्वाद) वाला, देखने में विशद, किसी प्रकार की विकृत गन्ध की प्रतीति जिसमें न हो रही हो, रूक्षतायुक्त, द्रव, झागदार, लघु (हलका), अतृप्तिकारक, शरीर को कृश करने वाला तथा सभी प्रकार के वातविकारों को उत्पन्न करने वाला होता है।

२. पित्तदोष-युक्त दूध के लक्षण—काला, नीला, पीला तथा ताँबा के समान वर्ण की आभा वाला, पी लेने के बाद तीता, खट्टा, कड़ुआ स्वाद वाला, कुणप (मुर्दा की-सी गन्ध वाला, रक्त की-सी गन्ध वाला, अत्यन्त गरम और पित्तविकारों को उत्पन्न करने वाला होता है।

३. कफदोष-युक्त दूध के लक्षण—अत्यन्त सफेद वर्ण वाला, अधिक मधुरता से युक्त, पीने के बाद

१. 'क्षीरमिति ज्ञेयम्' इति पा०।

नमकीन लगने वाला, घी, तेल, वसा या मज्जा की सी गन्ध वाला, पिच्छिल (चिपचिपा = Slimy), तन्तुयुक्त, पानी के पात्र में डालने पर नीचे बैठ जाने वाला तथा कफविकारों को उत्पन्न करने वाला होता है।

तेषां तु त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय भवन्ति। पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्गहरेणुककुलत्थसुरासौवीरकमैरेयमेदकलशुनकरञ्जप्रायः स्यात्। क्षीरदोषविशेषांश्चावेक्ष्य तत्तद् विधानं कार्यं स्यात्। पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुकरोहिणीसारिवाकषायाणां च पानं प्रशस्यते, तथाऽन्येषां [1]तिक्तकषायकटुकमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः क्षीरविकारविशेषानभिसमीक्ष्य मात्रां कालं च। इति क्षीरविशोधनानि ॥ ५६ ॥

दुग्ध-विकार-चिकित्सा—ऊपर कहे गये तीन प्रकार के दूध सम्बन्धी वातादि दोषों के प्रत्येक भेद का भली-भांति विचार करके जिस दोष से दूध दुष्ट (दूषित) हुआ हो उस दोष के अनुसार वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, इनका विभाजन कर की गयी चिकित्सा दोषप्रशमनकारक होती है। जिस (माता या धात्री) का दूध दुष्ट हुआ हो उसकी आहार-विधि इस प्रकार है—जौ, गेहूँ, शालिधान्य, साठी के चावल, मूंग, हरेणु (मटर), कुलथी, सुरा, सौवीर, मैरेय, मेदक (सुरा से मेदक तक, ये सब मदिरा के भेद हैं), लशुन, करञ्ज, इनका विविध प्रकार से प्रयोग कराना चाहिये। दूषित हुए दूध में कौन-सा दोष विशेष रूप से प्रकुपित हुआ है, इसका विचार करके ही उपर्युक्त इस खान-पान के विधान का प्रयोग करना या कराना चाहिये।

पान-विधि—पाठा (पाढल), सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गुडूची, वत्सक (कुटज बीज=इन्द्रयव), चिरायता, कुटकी तथा सारिवा, इनका क्वाथ रोगिणी को पीने के लिये दें। तथा इनके अतिरिक्त और भी जो तिक्त, कषाय, कटुरस-प्रधान द्रव्य हों उनका प्रयोग दूध के विकार-भेदों को भली-प्रकार देखकर और स्त्री की अवस्था का, रोग की स्थिति को देखकर और काल (दिन भर में कितनी बार देना उचित होगा) का विचार कर तदनुसार मात्रा का निर्धारण करना चाहिये।

वक्तव्य—जिसका दूध दूषित हो गया है, ऐसी माता या धात्री के खान-पान विधि में जिन भोज्यपदार्थों तथा क्वाथ्यद्रव्यों का उपदेश दिया गया है उनमें से किसका प्रयोग करना किसलिये आवश्यक है, इसका निर्देश समय तथा परिस्थिति के अनुसार चिकित्सक को करना चाहिये। मात्रा और काल का निर्धारण भी चिकित्सक के अधिकार-क्षेत्र का विषय है। आचार्य शार्ङ्गधर ने औषध-सेवन के पाँच कालों की युक्ति-युक्त चर्चा की है। देखें—शा० सं० प्र० खं० अ० २ श्लो० १-१२।

क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि, ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि, द्रवमधुराम्ललवणभूयिष्ठाश्चाहाराः, क्षीरिण्यश्चौषधयः, क्षीरपानमनायासश्च, वीरणषष्टिकशालीक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानमिति (क्षीरजननानि) ॥ ५७ ॥

दुग्धोत्पादक खान-पान—सीधु नामक मदिरा-भेद को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के मद्य दूध को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ग्राम्य, आनूप तथा औदक (जल में उत्पन्न होने वाले), शाक, धान्य (अन्न) एवम् प्राणियों के मांस, द्रव (पतले), मधुर, अम्ल तथा लवणरस-प्रधान आहार, क्षीरिणी (दूधवाली) ओषधियाँ, दूध का पीना, परिश्रम न करना, वीरण (खस), साठी के चावल, शालिधान्य, इक्षुवालिका, दर्भ (कुशभेद), कुश, कास, गुन्द्रा (गोनरख, जलजदर्भ), इत्कट (हरद्वारी तृण), इन औषधद्रव्यों के जड़ का काढ़ा बनाकर पिलाना चाहिए (यह दूध को उत्पन्न करता है)।

वक्तव्य—कफनाशक तथा वात-पित्तवर्धक होने के कारण यहाँ सीधु का सेवन वर्जित किया गया है। इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि का मन्तव्य देखें—'स्तनक्षये स्तनयोर्म्लानता, स्तन्यासम्भवोऽल्पता वा, तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः'। सु० सू० अ० १५।१२। **क्षीरिण्यः**—जिनमें से दूध निकलता हो। जैसे—क्षीरविदारिका, दुग्धिका (दुद्धी), कलम्बिका आदि। **क्षीरपानम्**—'समः समं वर्धयति' तथा 'सामान्यं वृद्धिकारणम्' आदि कारणों से दुग्धक्षय में दुग्धपान कराना उचित ही है। **स्तन्य-स्वरूप**—'रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः।

१. 'तिक्तकषायकटुकप्रायाणाम्' इति पा०।

कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।३०। पुरुष-शरीर में शुक्र की उत्पत्ति का जो क्रम है, वही क्रम स्त्री-शरीर में स्तन्य की उत्पत्ति का है। अनुकूल स्त्री के दर्शन, स्पर्शन से जिस प्रकार वीर्य की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार बालक के दर्शन से माता या धात्री के स्तनों से दूध की प्रवृत्ति भी होती है।

महर्षि काश्यप ने भी मद्यों में सीधु का परित्याग, मांस, लशुन, पलाण्डु, सरसों के शाक को छोड़कर अन्य शाकों के सेवन का आदेश दिया है। क्रोध, भय, शोक, परिश्रम आदि का त्याग करने का आदेश दिया है। स्तन्यवृद्धिकारक योगों का वर्णन योगरत्नाकर आदि चिकित्सा-ग्रन्थों में भी देखें।

माता या धात्री जब दोनों से क्षीरपायी बालक को पोषण प्राप्त न हो रहा हो तो उसके लिये बकरी या गाय के दूध की व्यवस्था करें। देखें—'स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्'। अ० हृ० उ० अ० १।२०।

धात्री तु यदा स्वादुबहुलशुद्धदुग्धा स्यात् तदा स्नातानुलिप्ता शुक्लवस्त्रं परिधायैन्द्रीं ब्राह्मीं शतवीर्यां सहस्रवीर्याममोघामव्यथां शिवामरिष्टां वाट्यपुष्पीं [1]विष्वक्सेनकान्तां वा बिभ्रत्योषधिं कुमारं प्राङ्मुखं प्रथमं दक्षिणं स्तनं पाययेत्। इति धात्रीकर्म ॥ ५८ ॥

धात्री का कर्त्तव्य—जब धात्री अधिक स्वादु तथा शुद्ध दूध वाली हो जाय, तब वह पहले स्नान करे, उसके बाद सुगन्धित पदार्थों का अनुलेपन करके साफ सफेद वस्त्र धारण करके ऐन्द्री (बरमी, वल्य तथा प्रजास्थापनगणोक्त द्रव्य), ब्राह्मी, शतवीर्या, सहस्रवीर्या (ये दोनों दूर्वाभेद हैं), पाटला, गुडूची, हरीतकी, अरिष्ट (नागबला), वाट्यपुष्पी (महाबला) या विश्वक्सेनकान्ता (वाराहीकन्द) इनमें से किसी एक औषधद्रव्य को धारण कर पूरब की ओर बालक का मुख करके पहले दाहिना स्तनपान कराये। यह धात्री (उप-माता) का कर्म है।

वक्तव्य—धात्री को उप-माता की संज्ञा दी गयी है। अतः वह माता के समान हित व्यवहार करती हुई बालक का पालन-पोषण करे। भगवान् धन्वन्तरि का निर्देश कुछ और अधिक व्यावहारिक है। देखें—'दक्षिणं स्तनं धौतम् ईषत्परिस्रुतम् अभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्'। सु० शा० अ० १०। अन्य विवेचन प्रायः महर्षि आत्रेय के समान होते हुए भी इन्होंने इतना अधिक लिखा है—धाय का कर्त्तव्य है कि वह बालक को दूध पिलाने के पहले अपने स्तन को धो डाले, जिससे पसीना आदि गन्दगी दूर हो जाय, थोड़ा दूध अपने हाथ से निकाल कर गिरा दे, ऐसा करने से दूध को चूसने में बालक को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। इसी प्रसंग में आगे पौराणिक मन्त्र दिया है, उससे अभिमन्त्रित करके दूध पिलाये। यह दैवव्यपाश्रय उपाय है।

अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः—वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतङ्गं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसम्पन्नं कुर्यात्; तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णम्। इति कुमारागारविधिः ॥ ५९ ॥

कुमारागार (Pediatric Ward) विधि—धात्रीकर्म के वर्णन के पश्चात् अब हम कुमारागार-विधि (बालक के निवास योग्य गृह-निर्माण का प्रकार) का वर्णन करेंगे। वास्तुविद्या (ग्रह-निर्माण-कार्य में) कुशल (कारीगर) प्रशस्त (सुन्दर), रमणीय (जिसमें रहने वालों का मन घबड़ाये नहीं), अतमस्क (अन्धकार रहित, अर्थात् सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित), निवात (जिस कमरे में सीधी हवा प्रवेश न कर पाती हो), प्रवातैकदेश वाला, अर्थात् जिस कमरे में पर्याप्त हवा आती हो, दृढ़ (जिसकी दीवारें मजबूत हों), जिसमें श्वापद (कुत्ता के पैर की आकृति के हिंसक पशु—बिल्ली, शेर, बाघ, लकड़बग्घा, सियार, भेड़िया आदि) दंष्ट्री (साँप, बिच्छू, मच्छर), चूहा, पतिंगे आदि प्रवेश न कर सकें। जिसमें अलग-अलग जलाशय (Water Room), ऊखल-मुसल का स्थान, मूत्रालय, शौचालय, स्नानागार, रसोईघर बने हों, जो प्रत्येक ऋतु में सुखदायक हो, जाड़ा, गर्मी, बरसात सभी मौसमों के अनुसार जहाँ शयन, असन (भोजन), आस्तरण (बिस्तरा) आदि रखा हो, ऐसे घर का निर्माण करे। तदनन्तर उस घर को विधिपूर्वक रक्षाविधान—बलि, मंगल, होम, प्रायश्चित्त कराकर, पवित्र (मन एवं शरीर से), वृद्ध (सूझ-बूझ वाले व्यक्ति, न कि जिनको बालक की भांति संभालने की आवश्यकता हो), वैद्य (कौमारभृत्य का विशेषज्ञ) तथा बालक के प्रति अनुराग करने वाले व्यक्तियों से परिपूर्ण कराये। इस प्रकार कुमारागार-निर्माणविधि समाप्त हुई।

१. 'विष्वक्सेनकान्तामिति बिभ्रत्योषधीः' इति पा०।

वक्तव्य—वास्तुविद्याकुशल (Engineer) व्यक्ति सुदृढ़, सुविभक्त कुमारागार का निर्माण करेगा। उसे गृहपति शयन, असन, बिछौना आदि से संवारे, तत्पश्चात् रक्षाविधान आदि कराकर उसमें बालक सहित माता प्रवेश करे।

श्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतङ्गम्—श्वापद (Savage—जंगली, क्रूर लकड़बग्घा आदि)। **पशु**—'गवाद्याः पशुजातयः'। अमरकोष। **दंष्ट्रिन्**—Wildboar = जंगली सूअर, Snake = सांप, 'दंष्ट्रा अस्ति अस्य', 'आशीस्तालुगता दंष्ट्रा तया विद्धो न जीवति', इस विवेचन से सभी क्रूर प्राणी श्वापद तथा दंष्ट्रिन् शब्द के क्षेत्र में आ रहे हैं। अतः श्वापद शब्द से लकड़बग्घा, भेड़िया आदि का और दंष्ट्रिन् शब्द से सांप, बिच्छू, मच्छर आदि दंश करने वालों का ग्रहण समीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में बालक जिससे भयभीत तथा आहत हो, ऐसे सभी प्राणियों का प्रवेश कुमारागार में निषिद्ध है। इस प्रकार सूतिकागार के बाद शुभ दिन में बालक का प्रवेश कुमारागार में करायें। द्रष्टव्य—अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १।

शयनासनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः; स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः; असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः ॥ ६० ॥

बालक की शयन-व्यवस्था—कुमार (शिशु) का शयन (पलंग) जिसमें सुलाया जाता हो, आसन जिसपर बैठाया या लिटाया जाता हो, आस्तरण जो पलंग पर बिछाया जाता हो, प्रावरण जिसे ओढ़ाया जाता हो, ये सभी मृदु (मुलायम), लघु (हलके), पवित्र, सुगन्धित (नकि उनसे मल, मूत्र, पसीने की दुर्गन्ध आती रहे) हों। जिनमें पसीना, मल, मूत्र तथा जूँ पड़ी हों, ऐसे वस्त्रों का प्रयोग न करें, अर्थात् इनको हटा दें। यदि बदलने के लिये दूसरे न हों तो उन्हीं वस्त्रों तथा तकियों को भली-भांति धोकर, सुखाकर सुगन्धित धूपों से सुवासित करके साफ तथा सूखे वस्त्रों को उपयोग में लायें।

वक्तव्य—उक्त प्रकार से यदि बालक की सुरक्षा नहीं की जाती है, तो बालक को स्पर्श से फैलने वाले रोग (Contagious-Disease) होने की संभावना बनी रहती है। वस्त्रों की सफाई न रखने से अनेक प्रकार के चर्मरोग भी हो जाते हैं।

सुधूपितानि—आयुर्वेदशास्त्र में रक्षोघ्न (Antiseptic) द्रव्यों के धूपन का विधान अनेक स्थलों पर आया है, अतः उन-उन द्रव्यों से बालक के वस्त्रों को सुवासित करें। इन्हीं का उल्लेख आगे किया जा रहा है, द्रष्टव्य—अ० हृ० उ० अ० १।२५।

धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः ॥ ६१ ॥

धूपन-द्रव्य—शयन (पलंग), आस्तरण (बिछौना), प्रावरण (ओढ़ना) के प्रयोग में लाये जाने वाले तथा शरीर में पहनने योग्य सभी वस्त्रों का धूपन निम्नलिखित द्रव्यों में घी मिलाकर करें—जौ, सरसों, अतसी (तीसी या अलसी), हींग, गुग्गुलु, बालबच, चोरपुष्पी, वयःस्था (ब्राह्मी), गोलोमी (सफेद दूब), जटामांसी, पलंकषा (साधारण गुग्गुलु), अशोक, कुटकी, साँप की केंचुल।

वक्तव्य—ये द्रव्य लेकर कूटकर चूर्ण कर लिये जाते हैं। इनमें घी मिलाकर जलते हुए अंगारों में इस धूप को डालने से घर का वातावरण सुगन्धित होकर मच्छर भाग जाते हैं। इसी से वस्त्रों को भी सुगन्धित किया जाता है।

मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य खड्गरुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः; ऐन्द्र्याद्याश्चौषधयो जीवकर्षभकौ च, यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः प्रशंसेयुरथर्ववेदविदः ॥ ६२ ॥

धारणीय मणियाँ—बालक को विविध प्रकार की मणियों को धारण कराना चाहिये। खड्ग (गेंडा), रुरु (मृगविशेष), गवय (नीलगाय), इन प्राणियों के जीवित अवस्था में दाहिने सींग के अग्र भाग से थोड़ा सा अंश ले लेना चाहिये। ऐन्द्री आदि प्रजास्थापन वर्ग में कही गयीं ओषधियाँ और जीवक, ऋषभक भी ले लें, इनके अतिरिक्त जिन ओषधियों की प्रशंसा अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण करें, उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

वक्तव्य—वैदिककाल में कुश आदि को मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर मणियों का निर्माण किया जाता था, जिनको 'जंगिड' आदि नामों से जाना जाता है। आज नवग्रहों के अरिष्ट को दूर करने तथा शोभा के लिये जिन मणियों को धारण किया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—माणिक्य, मुक्ता, विद्रुम (मूंगा), गरुत्मत् पुष्पराज (पुखराज), भिदुर (हीरा), नीलम, गोमेद, वैदूर्य, ये क्रमशः नवग्रहों के रत्न हैं। द्रष्टव्य—अ० हृ० उ० अ० १।२६-२७।

क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरूणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चावित्रासनानि स्युः ॥ ६३ ॥

बालकों के लिये खिलौने (Playthings of Babies)—कुमार के लिये खिलौने अनेक और विविध आकार वाले, आवाज करने वाले, मन को आकर्षित करने वाले, हलके, जिनके आगे के भाग नुकीले या तेज (काटने वाले) न हों, और न मुख के भीतर घुस जाने लायक ही हों, जो किसी प्रकार भी प्राणनाशक न हों और न बालक को भयभीत कराने वाले ही हों।

वक्तव्य—बालकों के खिलौने वृद्धवाग्भट के अनुसार—'जातुषं घोषवच्चित्रमत्रासं रमणं बृहत्। अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमङ्गल्यमथवा फलम्' ॥ अ० सं० उ० अ० १। इसी प्रसंग में खेलने की भूमि कैसी हो और उसकी देख-रेख करने वाला (कुमाराधार) कैसा हो, इसका वर्णन भी द्रष्टव्य है।

न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात् तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥ ६४ ॥

बालक की देख-भाल—बालक को डराना उचित नहीं है। इसलिये बालक के रोने पर, भोजन न करने पर या और किसी बात को न मानने पर राक्षस (भूत, प्रेत), पिशाच, पूतना आदि नामों को पुकारते हुए उसे डराना नहीं चाहिये।

वक्तव्य—छोटी अवस्था से ही यदि भय के संस्कार बालक में पड़ जाते हैं तो उसका समुचित शारीरिक तथा मानसिक विकास नहीं हो पाता, अतः उसे डराना, धमकाना नहीं चाहिये। देखें—सु० शा० अ० १०।४६।

यदि त्वातुर्यं किञ्चित् कुमारमागच्छेत् तत् प्रकृतिनिमित्तपूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषधदेशकालाश्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुरमृदुलघुसुरभिशीतशङ्करं कर्म प्रवर्तयन्। एवंसात्म्या हि कुमारा भवन्ति। तथा ते शर्म लभन्ते चिराय। अरोगे त्वरोगवृत्तमातिष्ठेद् देशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत्। तथा बलवर्णशरीरायुषां सम्पदमवाप्नोतीति ॥ ६५ ॥

बालकों की चिकित्सा—इतनी सावधानी रखने के बाद भी यदि बालक किसी रोग से आक्रान्त हो जाता है, तो रोग की प्रकृति, रोग का कारण, पूर्वरूप, लिंग (लक्षण), उपशय आदि निदान-विधियों से रोग को भली-भांति समझकर और सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए रोगी, औषधद्रव्य, देश, काल, आश्रय इनका निरीक्षण करता हुआ इसकी मधुर, मृदु, लघु, सुगन्धित, शीतल और कल्याणकारक कर्म करता हुआ इसकी चिकित्सा करना प्रारम्भ कर दें, क्योंकि कुमारों के लिए ऐसी ही चिकित्सा सात्म्य (अनुकूल) होती है। उपर्युक्त प्रकार की चिकित्सा को करने से वे चिरकाल तक सुख प्राप्त करते हैं। जब बालक स्वस्थ (नीरोग) हो, ऐसी स्थिति में देश, काल तथा अपने शारीरिक गुणों से विपरीत गुणवाले आहार-विहार आदि का आचरण करता हुआ अरोगवृत्त = स्वस्थवृत्त का पालन करे। तदनन्तर क्रमशः असात्म्य के स्थान पर सात्म्य पदार्थों का सेवन करता हुआ अन्य सभी प्रकार के अहितकर आहार-विहारों का परित्याग कर दे। ऐसा करने पर वह बालक बल, वर्ण, शरीर, आयु की सम्पत्ति को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—चरक सूत्रस्थान अ० ६ में असात्म्य-त्याग तथा सात्म्य-सेवन के क्रम का विधिवत् विस्तृत विवेचन किया गया है, वहाँ देखें। शिशु अपनी वेदना को शब्दों द्वारा बतलाने में असमर्थ होता है, अतः उसके अंगों की चेष्टाओं को देखकर रोग का अनुमान करना चाहिये। महर्षि वाग्भट ने शिशु की वेदना-परीक्षा की विधि का इस प्रकार वर्णन किया है—'शिशोस्तीक्ष्णमभीक्ष्णं च रोदनाल्लक्षयेद् रुजम्। सोऽङ्गं स्पृशेद् भृशं देशं

यत्र चस्पर्शनाक्षमः ॥ तत्र विद्याद् रुजं मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् । हृदि जिह्वौष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडितैः ॥ कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः । आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ॥ बस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसङ्गत्रासदिगीक्षणैः ।' अ० हृ० उ० तं० अ० २।५-८ ॥

महर्षि कश्यप ने बोलने में असमर्थ बालकों की विविध प्रकार की वेदनाओं को जानने का सरल प्रकार विस्तार के साथ 'काश्यपसंहिता के वेदनाध्याय' में बतलाया है। ग्रहबाधा से पीड़ित बालकों के लक्षणों का भी वर्णन उक्त संहिता में उपलब्ध है। इसी विषय को सुश्रुतसंहिता उतरतन्त्र के २७ वें अध्याय से ३७ वें अध्याय तक में विस्तारपूर्वक देखें।

एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनाच्चानुपालयेत् ॥ ६६ ॥

युवावस्था तक पालनीय कर्म—उपर्युक्त प्रकार से इस कुमार को बचपन से लेकर जवानी प्राप्त हो जाने तक और जब तक धर्मोपार्जन तथा अर्थोपाजन में कुशलता न आये तब तक इन नियमों का पालन करायें।

वक्तव्य—वास्तव में यह काल देह, मन, बुद्धि के विकास का है और इस काल में बालक पूर्णरूप से अपने शुभचिन्तकों के संरक्षण में रहता है। अतः उस पर ऐसे संस्कार लादे जायें जिससे उसके भावी जीवन की नींव सुदृढ़ हो जाये।

इति पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातम् । तदाचरन् यथोक्तैर्विधिभिः पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयक इति ॥ ६७ ॥

नियम-पालन की फलश्रुति—यहाँ तक सन्तान के प्रति प्रयुक्त आशीर्वादों की समृद्धि को करने वाले कर्म का व्याख्यान कर दिया है। उन समृद्धिकारक कर्मों का यथाविधि आचरण करता हुआ अनसूयक (दूसरों के गुणों में दोषारोपण न करने वाला) बालक मनचाहे सम्मान को प्राप्त करता है।

तत्र श्लोकौ—

पुत्राशिषां कर्म समृद्धिकारकं यदुक्तमेतन्महदर्थसंहितम् ।
तदाचरन् ज्ञो विधिभिर्यथातथं पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः ॥ ६८ ॥

उपसंहार—उस विषय में दो श्लोक हैं—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ से युक्त पुत्र के प्रति प्रयुक्त आशीर्वाद के फलों की वृद्धि कराने वाला यह कर्म यहाँ कहा गया है। बुद्धिमान् पुरुष उचित विधि से उस कर्म का आचरण करता हुआ दूसरे के गुणों में दोषारोपण न करता हुआ पर्याप्त प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा । सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ ६९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने
जातिसूत्रीयं शारीरं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति शारीरस्थानं समाप्तम् ।

शारीरस्थान की परिभाषा—सभी उचित उपायों द्वारा दैवीसम्पत् तथा मानुषसम्पत् से प्राणिमात्र के शरीर की चिन्ता (विचार) करने के कारण ही इस स्थान का '**शारीरस्थान**' नाम रखा गया है।

वक्तव्य—यहाँ दैवीसम्पत् से आत्मा आदि का और मानुषीसम्पत् से मनुष्य के शरीर सम्बन्धी भावों का विचार किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
शारीरस्थान में जातिसूत्रीयशारीर नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

इस प्रकार शारीरस्थान समाप्त हुआ।

इन्द्रियस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

शारीरस्थान का वर्णन करने के बाद अब हम यहाँ से वर्णस्वरीय-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—सूत्ररूप में आयुर्वेद सम्बन्धी समस्त विषयों की सूचना देने के कारण **सूत्रस्थान** अपने अर्थ को चरितार्थ करता है। चिकित्सा में रोग-निदान की परम आवश्यकता होती है, अतः '**निदानस्थान**' का निरूपण किया गया। तदनन्तर चिकित्सा में रस आदि के मान की भी आवश्यकता होती है, तदर्थ **विमानस्थान** का उपदेश किया गया। चिकित्सा का क्षेत्र अथवा अधिष्ठान पुरुष तथा उसका शरीर है, इसलिये उसके बाद **शारीरस्थान** के विषयों का परिचय कराया गया। इसके आगे प्रस्तुत किये जाने वाले इस **इन्द्रियस्थान** के तात्विक रहस्य को उपस्थित किया जा रहा है।

'इन्द्रः आत्मा (प्राणाः) तस्य लिङ्गम्, इन्द्रम्, तस्य स्थानम्, इन्द्रियस्थानम्'। 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से 'ऋजेन्द्र०' २।२८ इत्यादि उणादि सूत्र से 'रन' प्रत्यय करके 'इन्द्र' शब्द की निष्पत्ति होती है। इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण इसका उक्त नामकरण किया है। अर्थात् जीवात्मा के लिंगज्ञापक भाव का नाम 'इन्द्रिय' है। इससे सम्बन्धित विषयों का वर्णन होने के कारण इसका नाम 'इन्द्रियस्थान' है। इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषय का ज्ञान मानव को तभी तक होता है, जब तक वे प्राणवान् होते हैं। आप स्वयं विचार करें—इन्द्रियां अपने विषयों का ग्रहण जिस प्रकार स्वस्थ स्थिति में कर पाती हैं, उस प्रकार अस्वस्थ या निष्प्राण स्थिति में नहीं कर सकतीं, कारण यह है कि स्वस्थ स्थिति में वे 'इन्द्रजुष्ट' अर्थात् प्राणशक्ति से सम्पन्न होती हैं। नहीं तो रुग्ण तथा मृत पुरुष में भी तो इन्द्रियों के अधिष्ठान आँख, कान, नाक आदि निश्चित अवस्था में रहते ही हैं।

शारीरस्थान के 'जातिसूत्रीयशारीर' अध्याय में बालक की दीर्घायु-परीक्षा का परिचय दिया है, उन-उन लक्षणों के अभाव में उसको मध्यायु या अल्पायु समझा जाता है। आयु को जानने का दूसरा प्रकार है, रिष्ट या अरिष्ट का ज्ञान। अतएव जातिसूत्रीय नामक अध्याय के बाद ही 'इन्द्रियस्थान' की प्रतिष्ठापना की गयी है। वास्तव में 'रिष हिंसायाम्' धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'रिष्ट' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है—मृत्यु-सूचक लक्षण। इसी अर्थ में 'अरिष्ट' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, जब कि 'न रिष्टम् = अरिष्टम्' इस शब्द की यह निरुक्ति है। कोषकारों ने 'अरिष्ट' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। यथा—'अरिष्टमशुभे तक्रे सूतिकागार आसवे। शुभे मरणचिह्ने च'। विशेषः। यद्यपि मरणसूचक लक्षण का नाम अरिष्ट है, किन्तु 'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति'। अतः सावधानी एवं कुशलतापूर्वक चिकित्सा करते रहना चाहिये, क्योंकि 'जब तक साँसा तब तक आशा'।

चिकित्सा का मुख्य लाभ है—धन, धर्म, यश आदि की प्राप्ति। अतएव सर्वप्रथम यह जान लेना चिकित्सक के लिये आवश्यक है कि यह रोगी किसी प्रकार के अरिष्ट लक्षणों से युक्त तो नहीं है, यदि है तो '**प्रत्याख्याय उपाचरेत्**' परिवार वालों को परिस्थिति से अवगत कराकर चिकित्सा करे, या कह दे कि इसको चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि—'नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्'। रोगी के शरीर में कुछ ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर हो जाते हैं, जिनको देखकर चिकित्सक यह बतला सकता है कि यह रोगी अब नहीं बचेगा, इतने दिन में मर जायगा। इस प्रकार के अनेक लक्षणों का विस्तृत विवेचन सम्पूर्ण इन्द्रियस्थान में किया गया है। इस अध्याय में विशेष करके वर्ण तथा स्वर का विवरण दिया जायेगा।

वर्ण—कोषकारों ने वर्ण शब्द का प्रयोग निम्न अर्थों मे किया है—'वर्णो द्विजादिशुक्लादियज्ञे गुणकथासु च। स्तुतौ ना न स्त्रियाँ भेदरूपाक्षरविलेपने'॥ मेदिनी। स्वाभाविक गौर या श्याम वर्ण में, गुणों में, कथा (वार्ता, वृत्तान्त आदि) में विकृति अथवा सहसा परिवर्तन हो जाना अरिष्ट का लक्षण होता है।

स्वर—'स्वृशब्दोपतापयोः' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर, अथवा 'स्वरन्ति शब्दायन्ते', किंवा 'स्वर्यन्ते शब्दा एभिः' इस अर्थ में 'घ' प्रत्यय करके उक्त रूप की सिद्धि होती है। 'स्वरो नासासमीरे स्यान्मध्यमादि-त्रिकस्वरे'। विश्व तथा मेदिनी कोष। अर्थात् नासिका से निकलने वाली हवा को मध्यम, धैवत आदि को तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित को स्वर कहते हैं। यहाँ मुख से तथा नासिका से निकलने वाले सभी स्वरों की विकृति का ज्ञान अपेक्षित है। साथ ही उन स्वरों में किसी प्रकार का उपताप (कष्ट) है, उसका परिज्ञान भी साध्य-असाध्य निर्णय में सहायक होता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले रोगी के अरिष्ट लक्षणों की पूरी परीक्षा का निर्देश सु० सू० अ० २८ श्लोक ३–७ में स्पष्ट रूप से दिया है, यथास्थान देखें। ज्योतिषशास्त्र में जन्मलग्न के अनुसार शुभाशुभ ग्रहों का निर्णय करके जन्मपत्री का निर्माण कराया जाता है। इसके अनुसार शुभग्रह अपने समय में और अशुभग्रह अपने समय में फल देते ही हैं। यथा—'होरायां नवमे सूर्यः सप्तमे वै शनैश्वरः। एकादशे गुरुः शुक्रो मासमेकं न जीवति'॥ जातक०। इस प्रकार के अन्य अनेक योग फलित-ग्रन्थों में सुलभ हैं। इसी प्रकार अरिष्ट-लक्षणों का पाक भी अपने समय के अनुसार ही होता है।

अरिष्ट या रिष्ट—'रोगिणो मरणं यस्मादवश्यं भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद् रिष्टमप्यभिधीयते'॥ भावप्रकाश। आचार्य भावमिश्र ने अरिष्ट या रिष्ट की यह समीचीन परिभाषा प्रस्तुत की है। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः। रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते'॥ सु० सू० अ० १८।५। वैद्यकशब्दसिन्धु में अरिष्टत्रय की चर्चा इस प्रकार है, यथा—१. स्वस्थारिष्टं, २. वेधारिष्टं, ३. कीटारिष्टञ्चेति, अश्वारिष्टत्रये। तत्र स्वस्थारिष्टं पञ्चविधं, तद्यथा—१. भोजनारिष्टं, २. छायाद्यरिष्टं, ३. दर्शनेन्द्रियाद्यरिष्टं, ४. श्रवणेन्द्रियारिष्टं, ५. रसनेन्द्रियारिष्टञ्चेति। जयदत्तः। अ० २३–२५। अन्यत्र 'अरिष्ट' शब्द का अर्थ 'सूतिकागृह' भी होता है, देखें—'अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा'। रघुवंश स० ३।१५। महर्षि आत्रेय ने अरिष्ट-लक्षणों की परीक्षा किये बिना चिकित्सा करने वाले चिकित्सक को मिलने वाले भावी दुष्परिणामों का इस प्रकार वर्णन किया है—'अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंशयम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्'॥ च० सू० अ० १०।८। वास्तव में इन्द्रियस्थान की उपयोगिता चिकित्सा में लक्षणों के प्राग्ज्ञान (Prognosis) के लिये ही होती है।

इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च घ्राणं च रसनं च स्पर्शनं च सत्त्वं च भक्तिश्च शौचं च शीलं चाचारश्च स्मृतिश्चाकृतिश्च प्रकृतिश्च विकृतिश्च बलं च ग्लानिश्च मेधा च हर्षश्च रौक्ष्यं च स्नेहश्च तन्द्रा चारम्भश्च गौरवं च लाघवं च गुणाश्चाहारश्च विहारश्चाहार-परिणामश्चोपायश्चापायश्च व्याधिश्च व्याधिपूर्वरूपं च वेदनाश्चोपद्रवाश्च च्छाया च प्रतिच्छाया च स्वप्नदर्शनं च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकं चातुरकुले भावावस्थान्तराणि च [1]भेषजसंवृत्तिश्च भेषज-विकारयुक्तिश्चेति परीक्ष्याणि प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः प्रमाणावशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा ॥ ३ ॥

इन्द्रियस्थानोक्त विषय-सूची—इस (इन्द्रिय) स्थान में वर्ण, स्वर, गन्ध, रस, स्पर्श—(इन्द्रियों के ५ विषय); चक्षु (आँख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसन (जीभ), स्पर्शन (त्वचा)—(५ ज्ञानेन्द्रियाँ); सत्व (मन), भक्ति (सेवन करने की इच्छा), शौच (पवित्रता), शील (स्वाभाविक व्यवहार), आचार (सदाचार या दुराचार), स्मृति (स्मरणशक्ति), आकृति, प्रकृति (सत्व, रज, तम या वात, पित्त कफ), विकृति (यह दो प्रकार की होती है—१. शारीरिक और २. मानसिक), बल (यह भी उक्त दो प्रकार का होता है), ग्लानि (हर्षक्षय), मेधा (धारणाशक्ति वाली बुद्धि), हर्ष (प्रसन्नता), शरीर सम्बन्धी रूक्षता, स्नेह (चिकनापन), तन्द्रा (निद्रा की दुर्बलता) आरम्भ (अरिष्ट उत्पत्ति का आरम्भ), गौरव (शरीर में भारीपन),

१. भेषजं च भेषजप्रवृत्तिश्च भेषजाधिकारे युक्तिश्च' इति पा०।

लाघव (शरीर का हलकापन), गुण (शीत, उष्ण, मृदु, तीक्ष्ण आदि), आहार (सभी प्रकार का भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य आदि भोजन), विहार (घूमना, फिरना, सोना, जागना आदि), आहार-परिणाम (भोजन का परिपाक), उपाय (रोगों की उत्पत्ति), अपाय (रोगों का नाश), व्याधि (रोग), व्याधिपूर्वरूप, वेदना (पीड़ा), उपद्रव (Unhappy accident) छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्नदर्शन, दूत का अधिकार, मार्ग में उत्पात सम्बन्धी वस्तुओं का दर्शन, रोगी के परिवार में शुभ अथवा अशुभसूचक लक्षणों का देखना, भेषजसंवृत्ति (औषध का रोगी के शरीर पर प्रभाव), भेषजविकार-युक्ति (औषध की रोगविशेष में प्रयोगविधि), आयु सम्बन्धी प्रमाण-विशेष को जानने की इच्छा वाले चिकित्सक को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपदेश (आप्तोपदेश) प्रमाणों द्वारा उपर्युक्त परीक्ष्यभावों की परीक्षा करनी चाहिये।

वक्तव्य—इस प्रथम अध्याय में उन सब विषयों का प्रस्तावना के रूप में परिगणन कर दिया है, जिनका वर्णन सम्पूर्ण इन्द्रियस्थान में क्रमशः किया जायगा। तन्त्रकार ने वर्ण से लेकर भेषजविकार-युक्ति तक जिन परीक्ष्यभावों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है, उनके अपने-अपने स्वतन्त्र अरिष्ट लक्षण देखे जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ण आदि के स्वतन्त्र रूप में दिखलायी देनेवाले अरिष्ट लक्षण भी मारक होते हैं। समुदाय रूप में ही, जब विकृति दिखलायी दे तभी वे मारक होते हैं, ऐसा नहीं।

यद्यपि यहाँ सर्वप्रथम इन्द्रियों का ही वर्णन करना चाहिये था, किन्तु वे अतीन्द्रिय (स्वयं इन्द्रियग्राह्य नहीं) होती हैं और उनके आश्रय में होने वाले अरिष्ट लक्षण भी अव्यक्त होते हैं। अतएव उनका पहले उल्लेख न करके पहले वर्ण, स्वर का उल्लेख कर, उन्हीं के नाम पर अध्याय का नामकरण किया गया है।

वर्ण—शुक्ल, कृष्ण आदि वर्णों (रूपों) का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय द्वारा किया जाता है या होता है। अतः इसके साहचर्य से ग्लानि (मलिनता), हर्ष, रूक्षता, स्निग्धता आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। देखें—'वर्ण-ग्रहणेन ग्लानिहर्षरौक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः'। च० इ० अ० १।११।

स्वर—कण्ठ से उच्चारण किये जाने वाली ध्वनि (शब्द) का नाम स्वर है (यह श्रोत्र का विषय है)। इसमें होने वाली विकृतियों का समावेश भी अरिष्ट लक्षणों में किया जाता है। स्वर के ग्रहण से स्वर के अभाव का भी ग्रहण किया जाता है। विशेष विवेचन इसी के पहले किया गया है।

गन्ध—घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। विकृत गन्ध की प्रतीति अथवा गन्ध की सर्वथा अप्रतीति (मालूम न होना) भी अरिष्ट-लक्षण है।

रस—यह रसनेन्द्रिय का विषय है। विकृत रस (स्वस्थ अवस्था में जो रस जैसा लगता था, अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न हो जाने पर उससे विपरीत लगना) की प्रतीति अथवा रस की सर्वथा अप्रतीति भी अरिष्ट-लक्षण है। जैसे—मीठे पदार्थ का फीका लगना विकृत रस है और किसी प्रकार के स्वाद का अनुभव न होना, उस रस का रसाभाव है। ऐसा ही विवेचन अन्य इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध में भी करें।

स्पर्श—यह त्वगिन्द्रिय का विषय है। इसी को यहाँ 'स्पर्शन' संज्ञा दी गयी है। यह स्निग्ध, मृदु, रूक्ष, कठिन द्रव्यों के अनुसार होता है। जो द्रव्य जैसा है, यदि उसके विपरीत अनुभव हो रहा हो तो उसका वह स्पर्श विकृत अर्थात् विकारयुक्त है या सर्वथा स्पर्श का अनुभव ही न होना, यह भी अरिष्ट-लक्षण है। इस
स्पर्श विकृत अर्थात् विकारयुक्त है या सर्वथा स्पर्श का अनुभव ही न होना, यह भी अरिष्ट-लक्षण है। इस
प्रकार पाँच इन्द्रियाँ और उनके पाँच विषयों से सम्बन्धित अरिष्टों का दिग्दर्शन यहाँ करा दिया गया है।

सत्व—यहाँ सत्व शब्द से मन का ग्रहण किया गया है। यद्यपि भक्ति, शील, शौच की गणना सत्त्व-विकारों में पहले की गयी है, यथा—'भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रो-रसाहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये, ते सत्वविकाराः'। च० शा० अ० ३।१३। तथापि इनका अपना-अपना स्वतन्त्र अरिष्ट-लक्षण होता है। सत्वज-विकृति का उदाहरण—'औत्सुक्यं भजते सत्वं चेतो भीराविशत्यपि'। च० इ० अ० १२। आचार, स्मृति, आकृति, प्रकृति, विकृति, बल, ग्लानि, मेधा, हर्ष, रौक्ष्य,
स्नेह—इनमें जब अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है, तब उस अस्वाभाविकता का शास्त्रीयदृष्टि से विचार कर अरिष्ट-लक्षण का निर्णय करना चाहिये।

तन्द्रा—निद्रा की दुर्बलता से तन्द्रा की उत्पत्ति होती है। चक्रपाणि के अनुसार यहाँ तन्द्रा शब्द से निद्रा का ग्रहण किया गया है। जैसे—'असुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा'॥ च० इं० अ० ११।२४। अर्थात् असुक्षय (आयु के क्षीण) हो जाने पर या तो क्षणिक निद्रा होती है, अथवा होती ही नहीं है।

आरम्भ—इसका तात्पर्य है—अरिष्टसूचिका व्याधि की उत्पत्ति का आरम्भ। जैसे—'श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं विसर्पति'। च० इं० अ० ६।१२ से १४ तक। इन श्लोकों में वर्णित व्याधियाँ अरिष्ट के आरम्भ की सूचना देती हैं।

गौरव—जो पदार्थ पहले (स्वस्थ अवस्था में) हलके होते थे, यदि उनमें गुरुता (भारीपन) आ जाती है तो उनकी गणना अरिष्ट-लक्षणों में की जाती है। यथा—'निष्ठ्यूतं च पुरीषं च रेतश्चाम्भसि मज्जति'। च० इं० अ० ९।१८।

लाघव—लघुता सम्बन्धी अरिष्ट का संकेत इस प्रकार किया गया है—'क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यसृगपि क्षयम्'। च० इं० अ० १२।५०। अर्थात् मांसल स्थानों में हलकापन आ जाना, रक्तक्षय हो जाना आदि।

गुण—गुणसम्बन्धी अरिष्ट—'गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः। विपर्यासेन लक्ष्यन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः' ॥ च० इं० अ० १२।५४। शरीरावयवों में स्वाभाविक रूप से रहने वाले शीत, उष्ण, मृदु, दारुण (कठोर) आदि गुणों में जब विपरीतता दृष्टिगोचर होती है, तो इसको भी अरिष्ट-लक्षण माना जाता है।

आहार—उचित भोजन करने पर, यदि रस आदि की यथोचित उपलब्धि नहीं होती तो अरिष्ट समझना चाहिये। देखें—'आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम्। यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्' ॥ च० इं० अ० १२।८।

विहार—जो विहार (स्नान, घूमना, शीतल पदार्थों अथवा उष्ण पदार्थों का सेवन) सामान्य स्थिति में गुणवर्धक होता था, यदि वही अहितकर प्रतीत हो रहा हो तो उसे विहार सम्बन्धी अरिष्ट समझें।

आहार-परिणाम—जिसको उचित आहार अपने परिणाम से रस, रक्त, मांस आदि धातुओं की शरीर में समुचित वृद्धि न कर पा रहा हो, उसे आहार-परिणाम संबन्धी अरिष्ट कहते हैं। जैसे—'दुर्बलो बहुभुक्त्वो यो प्रागभुक्तान्नमातुरः। अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः' ॥ च० इं० अ० ९।२२।

उपाय—'उप+आङ्+इण् गतौ+घञ्' से उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। अन्यत्र चार प्रकार के, कहीं सात प्रकार के कार्य-साधन के उपायों का वर्णन है। यहाँ मृत्युकारक उपायों का वर्णन है—'सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः। विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते' ॥ च० इं० अ० ८।२३।

अपाय—रोग से मुक्ति प्राप्ति का नाम ही अपाय है—'अपायो विश्लेषः'। यथा—'यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति। संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते' ॥ च० इं० अ० ९।१५।

व्याधि—कभी-कभी कोई व्याधि (रोग) भी अरिष्ट-लक्षण के रूप में प्रकट हो जाती है। यथा—'वाताष्ठीला सुसंवृत्ता तिष्ठन्ती दारुणा हृदि। तृष्णयाभिपरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्' ॥ च० इं० अ० १०।४।

व्याधि-पूर्वरूप—ज्वर तथा अन्य रोगों के अधिक पूर्वरूप जब अरिष्ट रूप से मानव के शरीर में प्रवेश करते हैं, तो वे भी मृत्युकारक होते हैं, यथा—'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरस्सरः ॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्' ॥ च० इं० अ० ५।४-५।

वेदना—जिस रोग में जिस प्रकार की वेदनाएँ स्वाभाविक रूप से होती हैं, उनका अनुभव न होना अरिष्ट-लक्षण है, यथा—'विजानाति न चेद् दुःखं न स रोगाद् विमुच्यते'। च० इं० अ० ८।१९।

उपद्रव (Supervenient Disease)—किसी भी रोग में अरिष्ट-लक्षणों की प्राप्ति उपद्रव के रूप में होती है। प्रत्येक रोग इन्हीं के कारण असाध्य हो जाता है।

छाया—भौतिकी छाया पाँच प्रकार की होती है। इसका विस्तृत वर्णन ७ वें अध्याय में देखें, यथा—'वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा'। च० इं० अ० ७।१३।

प्रतिच्छाया—'प्रतिच्छाया तु देहच्छाया, प्रतिच्छायया च नेत्रकुमारिकाऽपि प्रतिच्छाया रूपा गृहीतव्या'। यह छाया आदि का भेद 'पन्नरूपीय' नामक अध्याय में देखना चाहिये। यथा—'छिन्ना भिन्नाऽऽकुलाच्छाया हीना वाप्यधिकाऽपि वा। नष्टा तन्वी द्विधा च्छिन्ना विकृता विशिरा च या ॥ एताश्चान्याश्च याः काश्चित प्रतिच्छाया विगर्हिताः' ॥ च० इं० अ० ७।५-६।

स्वप्नदर्शन—रुग्णावस्था में देखे जाने वाले शुभ स्वप्नों से रोगी शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करता है। उसके विपरीत अशुभ स्वप्न मारक होते हैं। इनका वर्णन अन्य अनेक स्थानों पर भी देखा जाता है। महर्षि आत्रेय

के अनुसार—'यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते......कश्चिदेव प्रमुच्यते' ॥ च० इं० अ० ५ श्लोक २८ से ४० तक तथा काश्यपसं० इं० औषधभेषजेन्द्रियाध्याय श्लो० ८–३३ तक अशुभ-शुभ स्वप्नों का वर्णन है।

दूताधिकार—किस प्रकार के दूत अरिष्टसूचक होते हैं, इसका वर्णन शार्ङ्गधराचार्य ने अपनी संहिता में किया है। महर्षि आत्रेय के अनुसार चरकसंहिता इन्द्रियस्थान के १२ वें अध्याय में श्लोक ९ से २४ तक विस्तार से देखें।

पथि चौत्पातिकम्—रास्ता चलते यदि निम्नोक्त प्रकार के उत्पातों के दर्शन हों तो रोगी के स्वास्थ्य-लाभ की आशा न करें। इन लक्षणों का वर्णन च० इं० अ० १२ श्लोक २५ से ३१ तक देखें।

आतुरकुले भावावस्थान्तराणि—रोगी के घर तथा कुल में कुछ विशेष लक्षण दिखलायी देते हैं, जिनके अनुसार रोगी के मरण का निश्चय किया जाता है। यथा—'अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च। भिषङ्मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति' ॥ च० इं० अ० १२।३४।

भेषजसंवृत्ति—औषधद्रव्यों के प्रयोग में जब चिकित्सक अकस्मात् किं कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, तो यह भी अरिष्ट-लक्षण है। यथा—'यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संवर्तयितुमौषधम्। वर्तमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्' ॥ च० इं० अ० १२।६।

भेषजविचार-युक्ति—जो औषधयोग उस रोग में अनेक बार सफल सिद्ध हुए हैं और वे ही औषधयोग जिस रोगी के लिये असफल हो रहे हों, उसे अरिष्ट-लक्षण समझें। यथा—'विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम्। न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सतम्' ॥ च० इं० अ० १२।७।

इन सबका परिचय शास्त्रदृष्टि से तथा अनुभव की परम्परा से चिकित्सक को प्राप्त कर लेना चाहिये, जिससे वह चिकित्सा-क्षेत्र में सुयश प्राप्त कर सके।

तत्र तु खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित् पुरुषमनाश्रितानि, कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तान्युपदेशतो युक्तितश्च परीक्षेत, पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितो विकृतितश्च ॥ ४ ॥

प्रकृति-विकृति द्वारा परीक्षा—उपर्युक्त उन परीक्षा के योग्य भावों में कुछ ऐसे हैं, जिनका आश्रय पुरुष का शरीर नहीं है और कुछ ऐसे हैं जिनका आश्रय पुरुष का शरीर ही है। उनमें जो भाव पुरुष से सम्बन्धित नहीं हैं, उनकी शास्त्रोपदेश तथा युक्ति द्वारा परीक्षा करनी चाहिये और जो पुरुष से सम्बन्धित हैं, उनकी परीक्षा प्रकृति तथा विकृति द्वारा करनी चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ दो प्रकार से परीक्ष्यभावों की परीक्षा करने की चर्चा की गयी है—१. पुरुषमनाश्रितभाव (पुरुषों में जो भाव आश्रित नहीं होते) की परीक्षा उपदेश द्वारा करनी चाहिये। यथा—'आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ट्ररथवाहनम्। दूतं दृष्ट्वा भिषग् विद्यादातुरस्य पराभवम्' ॥ च० इं० अ० १२।१८। इस प्रसंग में ऐसे अनेक आप्तोपदेश दिये हैं। पुरुषमनाश्रितभाव में चक्रपाणि ने युक्ति का भी समावेश किया है। जो सर्वथा युक्ति-युक्त है। यथा—'अत्यर्थरसिकं कार्यं कालपक्वस्य मक्षिकाः। अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः' ॥' च० इं० अ० २।२२। यहाँ युक्ति शब्द से अनुमान नामक प्रमाण का ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त उत्पातदर्शन, अमांगलिक वस्तुओं का दर्शन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

२. **पुरुषसंश्रयभाव** (पुरुष में रहने वाला या वाले भाव) जैसे—वर्ण, स्वर, तन्द्रा, छाया, प्रतिच्छाया, आदि। इनकी परीक्षा प्रकृति तथा विकृति लक्षणों द्वारा करनी चाहिये।

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च, कुलप्रसक्ता च, [1]देशानुपातिनी च, कालानुपातिनी च, वयोऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता चेति। जातिकुलदेशकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥ ५ ॥

प्रकृति-भेद—यहाँ प्रकृति के इस प्रकार छः भेद किये हैं—१. जातिप्रसक्ता, २. कुलप्रसक्ता, ३. देशानुपातिनी, ४. कालानुपातिनी, ५. वयोऽनुपातिनी और ६. प्रत्यात्मनियता। उन-उन पुरुषों में वे-वे वर्ण, स्वर आदि भाव जाति, कुल, देश, काल, वय, प्रत्यात्मनियत (प्रत्येक पुरुष में रहने वाली तदनुरूप प्रकृति) से परस्पर भिन्न पाये जाते हैं।

---

१. 'दशानुपातिनी' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।

वक्तव्य—पञ्चमहाभूतों की समष्टि से बने हुए पुरुष में जो परस्पर प्रकृति-भेद देखा जाता है, उसमें जाति, कुल, देश आदि का ही प्रमुख प्रभाव रहता है। आप आचार्य की वर्णन शैली पर ध्यान दें—जाति (गोत्र या जिस योनि में जन्म हो, उसे जाति कहते हैं) और कुल (सजातीयों का समूह) इन दो शब्दों के साथ तो प्रसक्त (लगाव) शब्द का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त देश, काल आदि शब्दों के साथ अनुपातिनी शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि समान जाति तथा कुल में उत्पन्न व्यक्ति देश, काल, वय आदि के प्रभाव से प्रकृति-भेद को प्राप्त हो जाता है। प्रत्यात्मनियता का अर्थ है—व्यक्तिगत स्वभाव (Personal Habit)।

१. **जातिप्रसक्ता-प्रकृति**—भिन्न-भिन्न जाति में उत्पन्न पुरुष परस्पर समानप्रकृतिवाले होते हैं। २. **कुल-प्रसक्ता-प्रकृति**—इसके कारण उस कुल या वंश में उत्पन्न पुरुष समान होते हैं। ३. **देशानुपातिनी-प्रकृति**—जांगल, आनूप, साधारण भेद से देश तीन प्रकार के होते हैं। इनका प्रभाव भी पुरुष पर पड़ता है। अतः उन-उन देशों में रहने वाले, पुरुषों की प्रकृति में तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है। ४. **कालानुपातिनी-प्रकृति**—यहाँ काल शब्द से सांवत्सरिक तथा आवस्थिक दोनों का ग्रहण किया गया है। स्वस्थ अवस्था तथा अस्वस्थ अवस्था में होने वाली प्रकृति को भी उक्त संज्ञा दी जाती है। ५. **वयोऽनुपातिनी-प्रकृति**—बाल्य, यौवन, वार्धक्य-भेद से वय तीन प्रकार का होता है। इनमें पुरुष के शरीर एवं स्वभाव में जो विशेष परिवर्तन आते हैं, उन्हीं की यह संज्ञा है। ६. **प्रत्यात्मनियता-प्रकृति**—यह प्रत्येक पुरुष की निश्चित प्रकृति का ही नाम है।

वृद्धवाग्भट ने सात प्रकृतियाँ स्वीकार की हैं—'तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयबलप्रत्यात्मसंश्रयाः'। अ० सं० शा० अ० ८।

विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च, लक्ष्यनिमित्ता च, निमित्तानुरूपा च ॥ ६ ॥

विकृति-भेद—विकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१. लक्षणनिमित्ता, २. लक्ष्यनिमित्ता और ३. निमित्तानुरूपा। इनका परिचय क्रमशः आगे दिया जा रहा है।

तत्र लक्षणनिमित्ता नाम सा यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति दैवात्; लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि भवन्ति, यानि हि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्राधिष्ठानमासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति ॥ (१) ॥

१. **लक्षणनिमित्ता-विकृति**—उनमें लक्षणनिमित्त वाली विकृति वह है, जिसके शरीर में दैवात् (पूर्व जन्म कृत कर्मों के अनुसार) कारण के अनुरूप अरिष्टलक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ लक्षण शरीर से संबन्धित (जुड़े हुए) रहते या होते हैं। जो उस-उस समय में शरीर के उन-उन अवयवों में स्थान प्राप्त कर उस-उस विकृति (विकार=रोग) को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—शरीर में उत्पन्न लक्षणों के आधार पर होने वाली विकृति को लक्षणनिमित्ता की संज्ञा दी है। ये लक्षण न्यच्छ, व्यङ्ग, तिलकालक रूप से शरीरावयवों पर देखे जाते हैं। इनके अतिरिक्त हाथ के मध्य में, अंगुलियों के अग्रभाग में, नखों के ऊपर, मस्तक पर, पैरों के तलुओं में या शरीर के किसी अंग विशेष में शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले लक्षण देखे जाते हैं। यह सामुद्रिक शास्त्र का विषय है। इस प्रकार के लक्षणों का जन्म भाग्य या दुर्भाग्य से ही होता है।

अरिष्टनिमित्तक-लक्षण—'भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमन्तावर्तकान् बहून्। अपूर्वानकृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत्' ॥ च० इं० अ० ८।६।

लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं [1]यथोक्तं निदानेषु ॥ (२) ॥

२. **लक्ष्यनिमित्ता-विकृति**—लक्ष्यनिमित्ता-विकृति उसे कहते हैं, जिसका कारण (यह विकृति क्यों हुई) प्राप्त होता है। जैसा कि उन-उन रोगों के निदानों में कहा गया है।

वक्तव्य—प्रत्येक रोग की उत्पत्ति का कारण होता है। जब प्रकृतिस्थ मानव विकृति की ओर जाता है तो

१. 'यथोक्तेषु' इति पा०।

उसमें जो स्पष्ट रूप से प्रकृतिविघातक कारण होता है, उसे [illegible] वर्णन उन-उन रोगों के असाध्य लक्षणों के रूप में किया गया है।

निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थानुकारिणी या, [illegible] भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिङ्गानुरूपां, यामायुषोऽन्तर्गतस्य [illegible] चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः। [illegible]

३. **निमित्तानुरूपा-विकृति**—जो विकृति निमित्त ([illegible]) अनुकरण करने वाली होती है, उसे निमित्तानुरूपा कहते हैं। [illegible] (कारण) नहीं होती, परन्तु वह आयु के प्रमाण को जानने में निमित्त होती है, [illegible] फिर आयु के क्षय में कारणस्वरूप वह प्रेतलिंगों (मरणोन्मुख पुरुष के लक्षणों) की सूचक होती है। [illegible] विद्वान् लक्षण तथा लक्ष्य द्वारा न जाने जा सकने वाली, अथवा मृत्यु के मुख में [illegible] जानने के लिये जिनका उपदेश करते हैं और जिस विकृति का आश्रय लेकर मरने के लिये [illegible] में होने वाले लक्षणों का हम उपदेश करेंगे। यह उद्देश (A brief statement) है। [illegible] विकृतियाँ संक्षेप में उक्त नाम वाली होती हैं। उनको विस्तार से आगे कहेंगे।

वक्तव्य—निमित्तानुरूपा-विकृति वातज, पित्तज, कफज भेद से तीन प्रकार की देखी जाती है। [illegible] स्वस्थवृत्त के सदाचरण करने पर भी जब विकारों के दर्शन होने लगते हैं, तो इसका अन्तर्भाव भी उक्त विकृति में हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ चिकित्सा के चतुष्पाद (भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) अपने गुणों से सम्पन्न हों, फिर भी कोई लाभ दिखलायी न देता हो, अपितु रोग की वृद्धि होती जा रही हो तो उसी को 'निमित्तानुरूपा-विकृति' कहते हैं।

उद्देश—कोषकारों ने इसके विभिन्न अर्थ किये हैं, किन्तु यहाँ वस्तुसंकेत मात्र इसका अर्थ है। देखें—'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्, उद्देशः'। तर्कसंग्रह-पदकृत्य। 'समासवचनमुद्देशः, सु० उ० तं० अ० ६५।१२।

तत्रादित एव वर्णाधिकारः। तद्यथा—कृष्णः, [2]श्यामः, श्यामावदातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति; यांश्चापरानुपेक्षमाणो[3] विद्यादनूकतोऽन्यथा वाऽपि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः ॥ ८ ॥

वर्ण पर आधारित पूर्वानुमान (वर्णाधिकार)

(Prognosis based on Colour)

प्राकृतिकवर्ण—पूर्व प्रस्तावना के अनुसार यहाँ सर्वप्रथम वर्णाधिकार का ही वर्णन किया जा रहा है। [illegible] अर्थात् वर्ण (रोगी के रूप) को देखकर जिन अरिष्टलक्षणों की सूचना मिलती है या जिनका निर्णय किया जा सकता है, उनका यहाँ निर्देश किया जायगा। वह इस प्रकार है—कृष्ण (काला), श्याम (साँवला), श्यामावदात (साँवला-गोरा) तथा अवदात (गोरा), ये शरीर के प्राकृतिकवर्ण होते हैं। [illegible] जिन वर्णों को देखे या [illegible] वे सब प्रकृतिवर्ण होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कृष्ण से अवदातवर्ण तक [illegible] वर्णों (Clear Colours) [illegible] किया गया है। मूल रूप से यही प्रकृतिवर्ण [illegible] होगा, वे इन्हीं वर्णों के मिश्रण से [illegible]

उपेक्षमाणः—यद्यपि उपेक्षा शब्द का [illegible] यहाँ उपयुक्त नहीं है। यहाँ तो 'उपेत्य (पास आकर) ईक्षमाणः (देखता हुआ)' अर्थ ही अभीष्ट है।

१. 'अन्तर्गतस्य लक्षणलक्ष्याभ्यामविज्ञेयस्य' इति गङ्गाधरः। 'अन्तगतस्य' इति पा०।
२. 'कृष्णश्यामः' इति पा०।
३. 'अवेक्ष्यमाणानपि' इति पा०।

नीलश्यावताम्रहरितशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिका भवन्ति; यांश्चापरानुपेक्षमाणो[1] विद्यात् [2]प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान् इति; प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्त्युक्ताः शरीरस्य ॥ ९ ॥

वैकारिकवर्ण—नील (Blue), श्याव (Dark Brown), ताम्र (Coppery Red), हरित (Green) और शुक्ल (White), ये शरीर के वर्ण विकारयुक्त होते हैं। इन वर्णों के अतिरिक्त और जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है, अर्थात् उक्त विकृतवर्णों के संयोग से जिन वर्णों की उत्पत्ति होती है या हो सकती है, उनको भी वैकारिकवर्ण समझना चाहिये। **प्राग्विकृतान्**—जन्म से जो वर्ण हों और अरिष्ट-लक्षण के रूप में जो बाद में विकृत (विकारयुक्त) हो गये हों। **अभूत्वोत्पन्नान्**—अर्थात् जो वर्ण जन्म के समय नहीं थे, अरिष्ट-लक्षण के रूप में बाद में उत्पन्न हो गये हों, इन दोनों को वैकारिकवर्ण समझें। इस प्रकार शरीर के प्राकृत (स्वाभाविक) वर्ण और वैकारिक (विकारयुक्त) वर्ण कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—वैकारिकवर्णों के जो ये पाँच भेद ऊपर कहे गये हैं, इनके अतिरिक्त और भी अनेक भेद हो सकते या देखे जा सकते हैं। उन वर्णों (रूपों) को महर्षि आत्रेय ने 'प्राग्विकृतान्' और 'अभूत्वोत्पन्नान्' की सीमा में आबद्ध कर दिया है।

तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे विकृतिवर्णमर्धशरीरे, द्वावपि वर्णौ मर्यादाविभक्तौ दृष्ट्वा; यद्येवं सव्यदक्षिणविभागेन, यद्येवं पूर्वपश्चिमविभागेन, यद्युत्तराधरविभागेन, यद्यन्तर्बहिर्विभागेन, आतुरस्यारिष्टमिति विद्यात्; एवमेव वर्णभेदो [3]मुखेऽप्यन्यत्र वर्तमानो मरणाय भवति ॥ १० ॥

वर्ण-विचार—यदि ऊपर कहा गया प्रकृतिवर्ण आधे शरीर में और शेष शरीर में विकृति वर्ण हो, तो उसे रोगी के लिये अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न हो गया है, ऐसा समझना चाहिये। अब यहाँ अर्धशरीर (शरीर को किस रूप में आधा समझना चाहिये, इसके भेद, उपभेदों) का निर्देश किया जा रहा है। दोनों ही वर्णों को शरीर में सीमा के अनुसार बँटे हुए देखकर—यदि ये वर्ण दाहिने और बांये अंगों से बँटा हो, यदि पूर्व (आगे) और पश्चिम (पीछे) रूप से बटा हो, यदि ऊपर और नीचे (कमर से ऊपर और नीचे) के अंगों से बँटा हो, यदि भीतर (मुख आदि अंगों के भीतर का स्वाभाविक वर्ण बदल गया हो) और बाहर त्वचा का वर्ण इस रूप से परिवर्तित हुआ हो, तो इसको रोगी का अरिष्ट-लक्षण समझें। इसी प्रकार का वर्णभेद मुख भाग में और अन्यत्र (शरीर के किसी अवयव पर) दिखलायी देता है, तो वह मृत्यु के लिये होता है। अर्थात् इस प्रकार के लक्षण के उदय होने के बाद वह रोगी मर जाता है।

वक्तव्य—वर्णविशेष द्वारा जब शरीर की सीमा विभक्त हो जाती है, भले ही वह किसी रूप में हुई हो, तो उसे अरिष्ट-लक्षण समझना चाहिये।

वर्णभेदेन ग्लानिहर्षरौक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः ॥ ११ ॥

वर्णजनित-अरिष्ट—इस प्रकार वर्णभेद से ग्लानि (हर्षक्षय), हर्ष, रौक्ष्य (स्नेह-क्षय) और स्नेह की व्याख्या कर दी गयी है।

वक्तव्य—उक्त गद्य का तात्पर्य है कि यदि रोगी के शरीर के एक भाग में हर्षक्षय है, दूसरी ओर हर्ष के लक्षण, एक ओर रूक्षता, दूसरी ओर स्निग्धता, ऐसे परस्पर विपरीत लक्षण दिखलायी दे रहे तो, इनको भी अरिष्ट-लक्षण समझें।

तथा पिप्लुव्यङ्गतिलकालकपिडकानामन्यतमस्यानने जन्मातुरस्यैवमेवाप्रशस्तं विद्यात् ॥ १२ ॥

मुख के अरिष्ट—रोगी के चेहरे के ऊपर पिप्लु (Mole or Freckle—तिल या भूरा धब्बा या चित्ती), व्यङ्ग, तिलकालक या तिल, अथवा पिडकाओं में से किसी एक का चेहरे पर पैदा होना रोगी के लिये अप्रशस्त (अशुभ) समझना चाहिये, अर्थात् यह अरिष्ट-लक्षण होता है।

१. 'अवेक्ष्यमाणानपि' इति पा०।
२. 'प्राग्विकृतात्' इति पा०।
३. 'मुखस्यान्तर्गतः' इति पा०।

नखनयनवदनमूत्रपुरीषहस्तपादौष्ठादिष्वपि च वैकारिकोक्तानां वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीनबलवर्णेन्द्रियेषु लक्षणमायुषः क्षयस्य भवति ॥ १३ ॥

नखादि पर अरिष्ट-लक्षण—जिस रोगी का बल (शारीरिक बल), वर्ण (प्राकृतिक वर्ण), इन्द्रियों की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो गयी हो, ऐसे पुरुषों के नखों (हाथ पैर के नाखूनों), नेत्रों, मुख, मूत्र, पुरीष (मल), हाथों, पैरों और होठों में ऊपर कहे गये वैकारिक वर्णों में से किसी एक की उत्पत्ति का हो जाना आयु के क्षय (अरिष्ट) का लक्षण होता है।

वक्तव्य—नख आदि उपर्युक्त शरीरावयवों पर वैकारिक वर्ण की उत्पत्ति को तब तक अरिष्ट-लक्षण न समझना चाहिये और न कहना ही चाहिये, जब तक रोगी हीन बल, वर्ण तथा इन्द्रिय शक्तिवाला न हो जाय।

यच्चान्यदपि किञ्चिद्वर्णवैकृतमभूतपूर्वं सहसोत्पद्येतानिमित्तमेव हीयमानस्यातुरस्य शश्वत्, तदरिष्टमिति विद्यात्। इति वर्णाधिकारः ॥ १४ ॥

वर्णाधिकार की समाप्ति—ऊपर बतलाये हुए प्राकृतिक तथा वैकारिक वर्णों (रूपों) के अतिरिक्त जो कोई वर्ण इस (रोगी) के शरीर में पहले (स्वस्थ अवस्था) से न हो, यदि वह वर्ण, बल आदि (१३ वें गद्य में कथित) के साथ क्षीण होते हुए बिना किसी कारण के एकाएक उत्पन्न हो जाय तो उसे अरिष्ट समझना चाहिये। इस प्रकार वर्णाधिकार समाप्त हुआ।

वक्तव्य—सहसा किसी कार्य का करना या होना जिस प्रकार लोक-व्यवहार में अच्छा नहीं माना गया है, ठीक उसी प्रकार सहसा अभूतपूर्व वर्ण का रोगी के शरीर में प्रकट हो जाना भी अरिष्ट-लक्षण स्वीकार किया है।

स्वराधिकारस्तु—हंसक्रौञ्चनेमिदुन्दुभिकलविङ्ककाककपोतजर्जरानुकाराः प्रकृतिस्वरा भवन्ति; यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यादनूकतोऽन्यथा वाऽपि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः।

स्वर पर आधारित पूर्वानुमान (स्वराधिकार)

(Prognosis based on Voice)

प्राकृतिक-स्वर—हंस, क्रौञ्च (Curlew), नेमि (पहिये का बाहरी घेरा), दुन्दुभि (नगाड़ा), कलविंक (गौरेया), कौआ, कबूतर, जर्जर ('वाद्यभाण्डविशेषः' इति चक्रः), इनके स्वरों का अनुकरण करने वाले प्राकृतिक स्वर होते हैं। इनके अतिरिक्त वे स्वर जिनका यहाँ नामतः उल्लेख नहीं किया गया किन्तु यदि वे स्वर इन स्वरों के अनूक (सदृश=तुल्यशील) हैं तथा जिन स्वरों का स्वर-विशेषज्ञों द्वारा निर्देश किया जाता है तो उनको भी प्राकृतिक स्वर समझना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य में 'जर्जर' शब्द का ग्रहण चक्रपाणि के अनुसार किया गया है, वे लिखते हैं—'जर्जरः–वाद्यभाण्डविशेषः'। जब कि लोक में जर्जर शब्द जीर्ण-शीर्ण अर्थ का सूचक है। श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका वाले संस्करण में 'जर्जर' के स्थान पर 'झर्झर' शब्द का प्रयोग किया गया है। अमरकोष में भी वाद्य-भेद के रूप में 'झर्झर' शब्द का उल्लेख है। निर्णयसागर की प्रथम, द्वितीय, तृतीय, इन तीनों आवृत्तियों वाले संस्करणों में 'जर्जर' पाठ है किन्तु मूलमात्र तृतीयावृत्ति जो सन् १९३३ में प्रकाशित हुई है, उसमें 'झर्झर' पाठ है।

एडक[2]कलग्रस्ताव्यक्तगद्गदक्षामदीनानुकीर्णास्त्वातुराणां स्वरा वैकारिका भवन्ति; यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि[3] विद्यात् प्राग्विकृता[4]नभूत्वोत्पन्नान्। इति प्रकृतिविकृतिस्वरा व्याख्याता भवन्ति ॥ १५ ॥

वैकारिक-स्वर—एडक (भेड़), कल (मधुर तथा अस्फुट), ग्रस्त (जिसके वर्ण तथा पद लुप्त अर्थात्

१. 'अवेक्ष्यमाणान्' इति पा०।
२. 'शुककलग्रहग्रस्ताव्यक्त०' इति पा०।
३. 'अवेक्ष्यमाणानपि' इति पा०।
४. 'प्राग्विकृतात्' इति पा०।

स्पष्ट न हों। 'लुप्तवर्णपदग्रस्तम्'। अमर०) अव्यक्त (अस्पष्ट), गद्गद (रुके हुए कण्ठ से बोला गया), क्षाम (क्षीण), दीन (दुःखी पुरुष के वचनों के समान), अनुकीर्ण ('उपर्युपरि-उच्चार्यमाणः'! चक्रः) अर्थात् ऊपर ही ऊपर बोलते जाना, यदि ऐसे स्वरों का उच्चारण रोगी करता है, तो वे स्वर वैकारिक होते हैं। इनके अतिरिक्त वे अन्य स्वर जिनका विचार करने पर पूर्व (प्राकृतिक) स्वर से भिन्न और जो इसके पहले कभी न सुने गये हों, किन्तु अरिष्ट-लक्षण के रूप में जो सहसा उत्पन्न हुए हों, उन्हें विकृत स्वर समझें। इस प्रकार प्रकृति तथा विकृति स्वरों का व्याख्यान कर दिया गया है।

वक्तव्य—वर्णाधिकार में प्राकृतिक वर्णों के भेद कृष्ण, श्याम, अवदात नाम से दिये गये हैं, किन्तु स्वराधिकार में स्त्रियों तथा पुरुषों के स्वरों की विविधता तथा किसी विशेष प्रकार की संज्ञाहीनता होने के कारण हंस आदि के स्वरों जैसे स्वरों को स्वाभाविक स्वर कहा गया है। जैसे—हंस का मधुर स्वर, क्रौञ्च का क्रैंकार (कर्कश) स्वर, नेमिका का घर्घर स्वर, दुन्दुभि का गम्भीर स्वर, कलविंक (गौरैया) का चूं चूं स्वर, काक (कौए) का खर (कर्णकटु) स्वर, कपोत (कबूतर) का रोगी की भांति कहरने जैसा स्वर, जर्जर या झर्झर (झांझ) का अस्पष्ट स्वर। इस प्रकार के स्वरों को प्रत्येक मनुष्य के स्वरयन्त्र की विविधता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का कहा गया है। आप यदि प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री के स्वर को ध्यान से सुनें तो आपको निश्चित ही स्वरों की विविधता का अनुभव होगा। अनेक पुरुषों का स्वर स्त्रियों जैसा और अनेक स्त्रियों का स्वर पुरुष जैसा सुनायी पड़ता है। आर्य चारुदत्त रेभिलक का गाना सुनकर कहता है—**'अन्तर्हिता यदि भवेद् युवतीति मन्ये'**। मृच्छकटिक। अर्थात् यदि रेभिलक भीतर होता तो मैं समझता कि कोई स्त्री पर्दे के पीछे छिपकर गा रही है।

इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यशिक्षा, पाणिनीयशिक्षा तथा साहित्यिक क्षेत्र में भी पशु, पक्षियों के शब्दों एवं उनके अनुकरणों के वर्णन आते हैं। व्याकरणशास्त्र में तो भिन्न-भिन्न प्राणियों के स्वरों के लिये उतने प्रकार की क्रियाओं का निरूपण किया गया है। जैसे—सिद्धान्तकौमुदी के कृदन्त प्रकरण में उष्ट्रकोशी, ध्वाङ्क्षरावी तथा आत्मनेपद प्रकरण में—'सङ्क्रीडति चक्रम्' यह नेमिस्वर के लिये प्रयुक्त शब्द है। इसी प्रकार अन्यत्र कूजति, बुक्कति आदि का भी प्रयोग यथास्थान किया है। नारद के अनुसार स्वरपरिचायक प्राणियों के नाम—'षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्। अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्॥ पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः'॥ रावण-पुत्र इन्द्रजित् का स्वर विशेष होने के कारण ही इनका नाम 'मेघनाद' रखा गया।

वैकारिक स्वरों में भेड़ या भेड़ी का स्वर कफ प्रधान होता है अतः यह मुमूर्षु अवस्था का लक्षण है। यद्यपि अन्य टीकाकारों ने कल शब्द का अर्थ सूक्ष्म किया है। जिसका अर्थ सूक्ष्म होता है, वह शब्द है-कला और दूसरा शब्द है-काकली (ईषत् कलः=काकली या काकलिः।)। कल शब्द का अर्थ होता है—मधुर तथा अस्फुट ध्वनि। यहाँ इसका समन्वय इस प्रकार किया जायेगा—जिसका स्वर स्वस्थ अवस्था में दुन्दुभि के समान गम्भीर हो, ऐसे व्यक्ति का स्वर जब कल स्वर के रूप में बदल जायेगा तो निश्चित ही वह मृत्युकारक लक्षण माना जायगा। शेष स्वरों का भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

वाग्भट का मत—वैकारिक स्वरों का विचार करते समय इस पद्य का स्मरण अवश्य कर लें—'अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः। श्रोतारं चास्य शब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत्'॥ अ० हृ० शा० अ० ५।४०। अर्थात् जो अस्वाभाविक स्वर से अपने मरने की बात कह रहा हो अथवा अपने मरने की बात को सुन रहा हो, उसकी चिकित्सा न करे, क्योंकि वह शीघ्र मर जाता है।

तत्र प्रकृतिवैकारिकाणां स्वराणामाश्वभिनिर्वृत्तिः [1]स्वरानेकत्वमेकस्य चानेकत्वमप्रशस्तम्। इति स्वराधिकारः॥ १६॥

स्वराधिकार की समाप्ति—उन स्वरों में प्रकृति से विकृत अतएव वैकारिक (विकारयुक्त) स्वरों की शीघ्र ही उत्पत्ति होना, अथवा एक ही रोगी में प्राकृत तथा वैकृत स्वरों की एक साथ उत्पत्ति हो जाना, अथवा

१. 'स्वराणामेकत्वम्' इति पा०।

एक ही प्रकार के शब्द की अनेक रूपों (कभी प्राकृत स्वरों के रूप से और कभी वैकृत स्वरों के रूप) से प्रतीति होना अशस्त (अशुभ अरिष्ट-लक्षण) है। इस प्रकार स्वराधिकार समाप्त हुआ।

इति वर्णस्वराधिकारो यथावदुक्तो मुमूर्षतां लक्षणज्ञानार्थमिति॥ १७॥

उपसंहार—मरने की इच्छा वाले अर्थात् काल की इच्छा से मरने के लिये विवश मनुष्यों के लक्षणों के ज्ञान के लिये वर्णाधिकार तथा स्वराधिकार इन दोनों का वर्णन ठीक-ठीक प्रकार से कर दिया गया है।

भवन्ति चात्र—

यस्य वैकारिको वर्णः शरीर उपपद्यते। अर्धे वा यदि वा कृत्स्ने निमित्तं न च नास्ति सः॥१८॥

१. अरिष्ट-लक्षण—ऊपर कहे गये विषयों के सम्बन्ध में कुछ श्लोक दिये गये हैं—जिस रोगी के आधे शरीर में अथवा पूरे शरीर में विकारयुक्त वर्ण की उत्पत्ति बिना किसी कारण के ही हो जाती है, उसे मरा हुआ समझें, अर्थात् वह शीघ्र ही मर जाता है।

वक्तव्य—यह श्लोक इसी अध्याय में कहे गये १० वें गद्य का सारांश है।

नीलं वा यदि वा श्यावं ताम्रं वा यदि वाऽरुणम्। मुखार्धमन्यथा वर्णो मुखार्धेऽरिष्टमुच्यते॥१९॥

२. अरिष्ट-लक्षण—यदि मुख (चेहरे) का आधा भाग नीला, श्याव, ताँबा के रंग का या अरुण (ईंट) के वर्ण का दिखलायी दे और आधे भाग में दूसरा कोई वर्ण हो तो इस लक्षण को अरिष्ट कहते हैं।

वक्तव्य—इसके विस्तृत लक्षणों को इसी अध्याय के ९ वें गद्य में देखें।

स्नेहो मुखार्धे सुव्यक्तो [1]रौक्ष्यमर्धमुखे भृशम्। ग्लानिरर्धे तथा हर्षो मुखार्धे प्रेतलक्षणम्॥२०॥

३. अरिष्ट-लक्षण—यदि आधे मुख-भाग में स्निग्धता स्पष्ट दिखलायी दे रही हो और आधे मुख-भाग में अत्यन्त रूक्षता हो अथवा आधे मुख-भाग में ग्लानि (मलिनता या प्रसन्नता का अभाव) और आधे मुख-भाग में हर्ष (प्रसन्नता) प्रकट हो रहा हो तो उसे अरिष्ट-लक्षण कहते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार के लक्षणों का संकेत इसी अध्याय के ३२ गद्य में किया है।

तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गा राजयश्च पृथग्विधाः। आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान् मुमुक्षतः॥२१॥

४. अरिष्ट-लक्षण—तिलक, पिप्लु, व्यङ्ग तथा अनेक प्रकार की रेखाएँ उस रोगी के मुख प्रदेश पर शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती हैं, जो शीघ्र ही प्राणों को छोड़ना चाहता है, अर्थात् इन लक्षणों से युक्त रोगी शीघ्र मर जाता है।

वक्तव्य—जिस रोगी के चेहरे पर पहले से तिलक (तिल) आदि उक्त लक्षण न हों और रुग्णावस्था में ये सब या इनमें से कोई लक्षण उत्पन्न हो जाय तो उसे अरिष्ट-लक्षण कहते हैं। स्वस्थ अवस्था में उत्पन्न 'तिल' आदि अरिष्ट-लक्षण नहीं होते, क्योंकि ये लक्षण स्वस्थ पुरुषों में भी देखे जाते हैं। देखें—इसी अध्याय का १२ वाँ गद्य—'आतुरस्यैवमेवाप्रशस्तम्'।

पुष्पाणि नखदन्तेषु पङ्को वा दन्तसंश्रितः। चूर्णको वाऽपि दन्तेषु लक्षणं [2]मरणस्य तत्॥२२॥

५. अरिष्ट-लक्षण—जिस रोगी के नाखूनों एवं दांतों पर पुष्प (के आकार) का चिह्न दिखलायी दे अथवा दांतों पर कीचड़ या चूना जैसा पदार्थ जम जाय तो उसे मरण का लक्षण समझना चाहिये।

वक्तव्य—इस प्रकार के लक्षणों का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के १३ वें गद्य में देखें।

ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः। नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत् क्षीणबलेऽन्तकृत्॥२३॥

६. अरिष्ट-लक्षण—यदि रोगी के बल का क्षय होने पर होंठों, पैरों, हाथों, आँखों, मल, मूत्र तथा नाखूनों में भी विवर्णता (स्वाभाविक वर्ण का अभाव) आ जाती है, तो इनको मृत्युकारक लक्षण समझें।

१. 'रौक्ष्यमर्धे तथा भृशम्' इति पा०।
२. 'तद्गतायुषः' इति पा०।

वक्तव्य—इनका उल्लेख भी इसी अध्याय के १३ वें गद्य में किया जा चुका है।

यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजाम्बवसन्निभौ। मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरो धीरो गतायुषम् ॥२४॥

७. **अरिष्ट-लक्षण**—जिस रोगी के दोनों होंठ पके हुए जामुन के फल के सदृश नीले रंग के हो गये हों, ऐसे रोगी को धीर पुरुष (आयुर्वेदज्ञ) गतायु होने के कारण मरणोन्मुख समझें।

वक्तव्य—प्रायः निचला होंठ नीलवर्ण का होता देखा जाता है। ऐसी स्थिति श्वसित्रपात (Respiratory Failure) होने पर देखी जाती है। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः। उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम्' ॥ सु० सू० अ० ३१।

एको वा यदि वाऽनेको यस्य वैकारिकः स्वरः। सहसोत्पद्यते जन्तोर्हीयमानस्य नास्ति सः ॥२५॥

८. **अरिष्ट-लक्षण**—यदि क्षीण होते हुए पुरुष के मुख से सहसा एक अथवा अनेक वैकारिक स्वर उत्पन्न होने लगें तो प्राणों के रहते हुए भी उसको नहीं है, अर्थात् वह रोगी जीवित नहीं है या निकट भविष्य में मरने वाला है, समझें।

वक्तव्य—इसको विस्तारपूर्वक समझने के लिये इसी अध्याय के प्राकृतिक तथा वैकारिक स्वरों के परिचायक १५ वें गद्यखंड को देखें।

यच्चान्यदपि किञ्चित् स्याद् वैकृतं स्वरवर्णयोः। बलमांसविहीनस्य तत् सर्वं [1]मरणोदयम् ॥२६॥

९. **अरिष्ट-लक्षण**—जिस रोगी का मानसिक तथा शारीरिक बल और मांस क्षीण हो गया हो, साथ ही स्वर एवं वर्ण में भी विकृति आ गयी हो तो यह निश्चित रूप से समझ लें कि उसकी मृत्यु सामने आ गयी है, अर्थात् ये सब मरणसूचक लक्षण हैं।

वक्तव्य—सभी शास्त्रों का सम्बन्ध प्राणिमात्र से है, क्योंकि प्राणियों के जीवन-मरण सम्बन्धी विषयों का विचार सभी ने किया है, अतएव उन-उन का अवलोकन विशेष जानकारी के लिये करना चाहिये। दत्तात्रेयतन्त्र का 'कालज्ञान-कथन' प्रकरण विशेषरूप से इस प्रसंग में मननीय है।

तत्र श्लोकः—

इति वर्णस्वरावुक्तौ लक्षणार्थं मुमूर्षताम्। [2]यस्तौ सम्यग्विजानाति नायुर्ज्ञाने स मुह्यति ॥२७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयमिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—निकट भविष्य में मरने वाले पुरुषों के वर्ण तथा स्वर के लक्षण कह दिये हैं। इन दोनों के परिचय को जो भली-भांति जानता है, वह चिकित्सक आयु का निर्णय करने में कभी भी भ्रमित नहीं होता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित **चरक-चन्द्रिका** हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में वर्णस्वरीय-इन्द्रिय नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

१. 'मरणाय हि' इति पा०।
२. 'यस्तु' इति पा०।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातः पुष्पितकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वर्णस्वरीय-इन्द्रिय नामक अध्याय का वर्णन करने बाद अब हम यहाँ पुष्पितकमिन्द्रिय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इन्द्रियस्थान के प्रथम अध्याय में वर्ण तथा स्वर का विवेचन होने के कारण उसके नाम-निर्धारण की सार्थकता स्वयं सिद्ध है। तदनन्तर गन्ध का उल्लेख होने के कारण गन्ध सामान्य के आश्रयभूत पुष्प से सम्बन्धित पुष्पित अध्याय का यहाँ व्याख्यान किया जा रहा है। जिसकी प्रस्तावना प्रस्तुत पद्य द्वारा की जा रही है।

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः। तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥ ३ ॥

गन्ध पर आधारित पूर्वानुमान (गन्धाधिकार)
(Prognosis based on Flower-like Smell)

पुष्प तथा अरिष्ट में समानता—इस संसार में जिस प्रकार फल की उत्पत्ति का पूर्वरूप पुष्प (फूल) होता है, उसी प्रकार मरने वाले पुरुष का अरिष्ट-लक्षण ही पूर्वरूप होता है।

वक्तव्य—ऊपर उदाहरणस्वरूप पुष्प को फल की उत्पत्ति का पूर्वरूप बतलाकर मृत्यु के पूर्वरूप अरिष्ट को समझाया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान देना आवश्यक है कि जैसे अधिकांश पुष्प फल की उत्पत्ति में कारण होते हैं, किन्तु कुछ पुष्प ऐसे भी होते हैं, जो कुछ समय बाद सूखकर झड़ जाते हैं, उनमें फल नहीं लगते। ठीक इसी तरह कुछ अरिष्ट-लक्षण ऐसे भी होते हैं जो मृत्युदायक नहीं होते और ऐसे भी होते हैं, जिनके फूल नहीं दिखलायी देते किन्तु केवल फल ही दिखलायी देते हैं, ऐसे अरिष्ट-लक्षणों को 'गूढ़लिंग' समझें। इसी का वर्णन आगे किया जायेगा। ऐसे अवसरों पर चिकित्सकों का चिरकालिक अनुभव सहायक होता है।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'जिस प्रकार फूल फल के, धूम अग्नि के, मेघ वर्षा के भविष्य की सूचना दे देते हैं, उसी प्रकार अरिष्ट-लक्षण मृत्यु की सूचना दे देते हैं। सु० सू० अ० २८।३।

अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत्। फलं चापि भवेत् किञ्चिद् यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥४॥

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥५॥

अरिष्ट-मृत्यु का परस्पर सम्बन्ध—कोई-कोई फूल ऐसा भी होता है, जिसका सम्बन्ध फल के साथ नहीं होता अर्थात् जो बन्ध्य (निष्फल) होता है। (जैसे—बेंत का फूल)। कुछ फल भी ऐसे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति के पूर्व पुष्पदर्शन नहीं होता है (जैसे—पीपल, गूलर आदि)। परन्तु उत्पन्न अरिष्ट का विनाश मृत्यु के बिना नहीं होता और कोई मृत्यु भी ऐसी नहीं होती है, जिसमें अरिष्ट-लक्षण न होते हों।

वक्तव्य—ऊपर तीसरे पद्य में अरिष्ट को फूल की उपमा और मृत्यु को फल की उपमा इस दृष्टिकोण से दी गयी थी, कि जिस प्रकार फूल के बाद फल की उत्पत्ति निश्चित होती है, उसी प्रकार अरिष्ट लक्षण की उत्पत्ति के बाद निश्चित रूप से मृत्यु होती है। यह दृष्टान्त सर्वमान्य नहीं है, अतः उक्त ४थे तथा ५वें पद्य द्वारा कथित सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

द्विविध-अरिष्ट—अरिष्ट दो प्रकार का होता है, जिसका परिचय यहाँ दिया जा रहा है—**१. नियत-अरिष्ट**—'ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः। मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः' ॥ च० इं० अ० ७।२५। ये लक्षण मृत्यु के समय दृष्टिगोचर होते हैं, इसके बाद रोगी मर जाता है। **२. अनियत अरिष्ट**—'यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति। संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ च० इं० अ० ९।१५। इस प्रकार के लक्षण इस इन्द्रियस्थान में उपलब्ध हैं, देखें।

१. 'जायते' इति पा०।

'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' शरीरधारियों का प्राकृतिक धर्म है—मरना। इतना होने पर भी—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च बिभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥ मार्कण्डेयोऽप्यथाष्टमः।' ये मानव-शरीरधारी अरिष्टलक्षणों तथा मृत्यु से परे हैं, ऐसी सूचना पुराणों में उपलब्ध होती है। इसका समाधान हमको भगवान् धन्वन्तरि के सम्मुखांकित पद्य में मिलता है—'ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः। रसायन-तपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते'॥ सु० सू० अ० २८।५। इसी का समर्थन निम्न पद्यांश भी कर रहा है—'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति'। अर्थात् कभी-कभी अरिष्ट-लक्षणों के दिखलायी देने के बाद भी रोगी जीवित रह जाता है। ऐसी स्थिति में उस अरिष्ट को अनियत ही समझना चाहिये। क्योंकि नियतारिष्ट के उदय होने के बाद तो मृत्यु का होना निश्चित होता है। इसीलिये कहा गया है 'क्षणेन हि रिष्टानि प्रादुर्भवन्ति'। इसका तात्पर्य है कि अरिष्ट के उत्पन्न होते ही या कुछ क्षणों के बाद मृत्यु हो ही जाती है।

मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता। अरिष्टं वाऽप्यसम्बुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम्॥ ६॥

प्रज्ञापराधज-अरिष्ट—अरिष्ट के लक्षणों को भली-भांति न जानने वाला चिकित्सक वास्तव में जो अरिष्ट नहीं है, किन्तु अरिष्ट के लक्षणों जैसा दिखलायी दे रहा है, तो ऐसे अरिष्ट को मिथ्यादृष्ट कहते हैं। अथवा जिस अरिष्ट-लक्षण को वैद्य (रोगी के मरने तक) नहीं समझ सका, इन सभी स्थितियों में प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध का ही यह कारण समझना चाहिये।

वक्तव्य—'नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्'। अर्थात् जो मरण की निश्चित सूचना दे, उस लक्षण को 'अरिष्ट' कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिसको अनियत अरिष्ट कहा गया है, वह उक्त श्लोक के अनुसार मिथ्यादृष्ट अरिष्ट या अरिष्टाभ अथवा अरिष्टाभास है, जिसके मूल में चिकित्सक का प्रज्ञापराध कारण होता है। यह अरिष्टाभास कभी-कभी दोषों की अधिकता से भी प्रतीत होने लगता है। जैसे ही दोषों का शमन होने लगता है, वैसे ही ये लक्षण भी शान्त हो जाते हैं।

ज्ञानसम्बोधनार्थं तु लिङ्गैर्मरणपूर्वजैः। पुष्पितानुपदेक्ष्यामो नरान् [1]बहुविधैर्बहून्॥ ७॥

पुष्पित-अरिष्ट—मरण के पहले उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के लक्षणों से अरिष्ट सम्बन्धी ज्ञान को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये पुष्पितों (अरिष्टगन्ध से युक्त) पुरुषों के लक्षणों का हम यहाँ उपदेश (वर्णन) करेंगे।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'ज्ञानसंबोधनार्थं' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'जिससे मरण सम्बन्धी ज्ञान (रिष्ट) जाना जाय, उसको भली-भांति समझना' ज्ञान संबोधन है। पुष्पितान्-नरान्—गन्ध-युक्त पुरुषों को अर्थात् विवि प्रकार के मरणसूचक अरिष्ट-गन्धों से युक्त पुरुषों का उपदेश करेंगे। इन लक्षणों का उपदेश करने के बाद वैद्यों का प्रज्ञापराधज दोष दूर हो जायगा। **पुष्पित**—'पुष्पं सञ्जातमस्य' इति पुष्पितः। अर्थात् जिसमें फूल (मृत्यु रूप फल का संकेत) उत्पन्न हो गया है।

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य [2]भाति दिवानिशम्। पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः॥८॥
तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः। स [3]ना संवत्सराद् देहं जहातीति विनिश्चयः॥९॥

पुष्पित का पहला भेद—अनेक खिले हुए वृक्ष तथा लताओं से युक्त वन की भांति जिस पुरुष के शरीर में अनेक फूलों की गन्ध के समान गन्ध रात-दिन आती हो, मरण-लक्षणों से युक्त उस पुरुष को धीर (मृत्यु के लक्षणों को देखकर न घबड़ाने वाले उत्तम चिकित्सक) पुष्पित कहते हैं। अर्थात् उसमें मरण-लक्षण रूपी फूल इतने खिल गये हैं। जिनका मरणरूप फल निकटभविष्य में लगने ही वाला है, वह पुरुष निश्चित ही एक वर्ष के भीतर शरीर को छोड़ देता (मर जाता) है।

एवमेकैकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत्। इष्टैर्वा यदि वाऽनिष्टैः स च पुष्पित उच्यते॥१०॥

१. 'बहुविधान् बहून्' इति पा०।
२. 'जाति' इति पा०।
३. 'स वै' इति पा०।

पुष्पित का दूसरा भेद—इसी प्रकार एक-एक फूल के समान जिसके शरीर की गन्ध प्रतीत होती हो, भले ही वह गन्ध इष्ट (प्रिय) हो अथवा अनिष्ट (अप्रिय) हो, वह भी पुष्पित कहा जाता है।

वक्तव्य—ऊपर आठवें पद्य में एक साथ अनेक पुष्पों की गन्ध की प्रतीति का वर्णन किया है। इस दसवें पद्य में एक-एक करके फूलों की गन्ध की उत्पत्ति रोगी के शरीर से होने की चर्चा की गयी है। यह क्रम क्षण-क्षण में भी बदल सकता है अथवा प्रतिदिन भी बदल सकता है। मरणोन्मुख रोगी के शरीर में इसका कोई निश्चित क्रम नहीं है।

समासेनाशुभान् गन्धानेकत्वेनाथवा पुनः। आजिघ्रेद् यस्य गात्रेषु तं विद्यात् पुष्पितं भिषक्॥११॥

पुष्पित का तीसरा भेद—चिकित्सक जिस रोगी के शरीर में संक्षेप में अथवा मिल-जुले रूप में या पृथक्-पृथक् रूप में अशुभ गन्धों को सूंघे, उसको भी पुष्पितक समझें।

वक्तव्य—यहाँ भिषक् शब्द से वैद्य के अतिरिक्त परिचारक, परिजन आदि सभी का ग्रहण कर लेना चाहिये। प्रायः अरिष्ट-लक्षणजनित शुभ अथवा अशुभ इन गन्धों का ज्ञान रोगी को नहीं होता, आप भी ध्यान दें। यहाँ आचार्य ने दुर्गन्ध युक्त रोगी को भी पुष्पित संज्ञा दी है। इसका कारण है कि पुष्प सुगन्ध, दुर्गन्ध, निर्गन्ध तीनों प्रकार के होते हैं। यहाँ अशुभ गन्ध से साफ-सफाई न होने के कारण उत्पन्न दुर्गन्ध से अभिप्राय नहीं है। यह तो अरिष्ट-लक्षणजनित अशुभ गन्ध है।

आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते॥ १२॥

पुष्पित का चौथा भेद—जिस रोगी के शरीर पर गन्धद्रव्यों का लेप करने या न करने पर शुभ तथा अशुभ गन्धों का ज्ञान अकारण विपरीत रूप से हो तो उसे भी पुष्पित कहा जाता है।

वक्तव्य—'आप्लुते = स्नाते' अथवा 'अनाप्लुते = अस्नाते' अर्थात् नहाये या बिना नहाये शरीर में व्यत्यासेन (विपरीत क्रम से) और अकारण (यहाँ कारण तो होने वाली मृत्यु है, अतएव अकारण) जिसके शरीर से शुभ-अशुभ गन्धों की प्रतीति हो, उसे भी पुष्पित कहा जाता है। विशेष देखें—सु० सू० अ० ३०।१०।

तद्यथा चन्दनं कुष्ठं तगरागुरुणी मधु। माल्यं मूत्रपुरीषे च [1]मृतानि कुणपानि च॥१३॥
ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः। तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः॥१४॥

शुभ-अशुभ गन्ध द्रव्य—जैसे चन्दन, कूठ, तगर, अगरु, मधु, माला, ये शुभगन्ध वाले होते हैं। मूत्र, पुरीष (मल), मरे हुए प्राणी, कुणप (मुर्दा की गन्ध या दुर्गन्धि) ये अशुभ गन्ध वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त जो और अनेक प्रकार की योनियों से गन्ध उत्पन्न होती है, उनको भी इसी अनुमान से विकार को प्राप्त हुआ समझें।

वक्तव्य—शुभगन्ध वाले द्रव्य या द्रव्यों का अनुलेपन करने से यदि अशुभगन्ध और अशुभगन्ध वाले द्रव्य (मल-मूत्रादि) के स्पर्श से शुभगन्ध की प्रतीति होती है, तो वह अरिष्ट-लक्षण है। उक्त दो श्लोकों द्वारा संक्षेप में शुभ तथा अशुभगन्ध वाले द्रव्यों का परिगणन करने के बाद सामान्य रूप से अन्य गन्धयोनियों के ग्रहण का भी संकेत कर दिया गया है।

इदं चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गन्धसंश्रयम्। वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषङ्मरणमादिशेत्॥ १५॥

अरिष्ट सामान्य संकेत—यह गन्ध सम्बन्धी अरिष्ट-लक्षण अतिदेश के लिये कह रहा हूँ। जिसे समझ कर चिकित्सक अरिष्टजनित मृत्यु-समय का निर्देश कर सकेगा।

वक्तव्य—अनुक्त विषय के ज्ञान को 'अतिदेश' कहते हैं। अन्यत्र इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय-आदेशः'। मीमांसा।

१. 'धृतानि' इति पा०।

[1]वियोनिर्विदुरो गन्धो यस्य गात्रेषु जायते ।
इष्टो वा यदि वाऽनिष्टो न स जीवति तां समाम् ॥ १६ ॥
एतावद् गन्धविज्ञानम्—

गन्धविज्ञान की समाप्ति—जिस रोगी के शरीर में से वियोनि (अकारण) विदुर (चक्रपाणि के अनुसार स्थायी) शुभ अथवा अशुभ गन्ध की उत्पन्न हो रही हो, वह उस गन्ध की उत्पत्ति के बाद एक वर्ष के भीतर ही मर जाता है । यहाँ तक गन्ध से सम्बन्धित अरिष्टों का वर्णन कर दिया है ।

वक्तव्य—यद्यपि वैयाकरण-समाज में 'धातूनामनेकार्थत्वात्' ऐसी प्रसिद्धि है, तथापि अन्य स्थायी अर्थवाचक शब्दों के रहते हुए महर्षि आत्रेय ने इसी '**विदुर**' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? विदुर शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है—जानने वाला = ज्ञाता । विद ज्ञाने धातु से कुरच् प्रत्यय करने पर बने विदुर शब्द का अर्थ ज्ञानवान् होता है । इसके अतिरिक्त दिवादिगण में विदधातु सत्तार्थक है और चुरादिगण में उक्त धातु चेतना, आख्यान तथा निवास अर्थों में प्रयुक्त है । सत्ता अथवा निवास अर्थ वाला विद् धातु स्थायी अर्थ की व्यञ्जना के लिये सक्षम है । वियोनि गन्ध के लिये देखें—सु० सू० अ० ३० । ११ से १३ तक तथा 'दीपगन्धं न जिघ्रति' । वा० शा० अ० ५ ।

—रसज्ञानमतः परम् ।
आतुराणां शरीरेषु वक्ष्यते विधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

रस पर आधारित पूर्वानुमान (रसाधिकार)

(Prognosis baced on Taste of the Body)

रस सम्बन्धी अरिष्ट—गन्ध सम्बन्धी अरिष्ट-वर्णन के पश्चात् अब रसज्ञान का वर्णन किया जायेगा। रोगियों के शरीरों का रस सम्बन्धी अरिष्ट ज्ञान किस प्रकार किया जायेगा, इसको विधिपूर्वक इस प्रसंग में कहा जायगा ।

यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसम्भवः । स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम् ॥ १८ ॥

रसविकृति के भेद—प्रकृतिस्थ (सम दोष, सम अग्नि, सम धातु आदि गुणों से युक्त) पुरुषों के शरीरों में जो रस उत्पन्न होता है, वही रस इनके अन्तिम समय (मृत्युकाल) में दो प्रकार से विकार को प्राप्त होता है ।

कश्चिदेवास्यवैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते । स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥ १९ ॥

रसविकृति-परिचय—१. रसविकृति का प्रथम प्रकार—किसी पुरुष के शरीर में वह रस अत्यन्त विरसता को प्राप्त हो जाता है । २. रसविकृति का दूसरा प्रकार—किसी पुरुष के शरीर में वही रस अत्यन्त स्वादुता (मधुरता) को प्राप्त हो जाता है ।

तमनेनानुमानेन विद्याद् विकृतिमागतम् । मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात् ॥ २० ॥

अनुमान से रसारिष्ट का ज्ञान—एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के रस का ज्ञान कैसे कर सकता है । अतः उसको निम्नोक्त अनुमान द्वारा विकार को हो गया, समझना चाहिये ।

वक्तव्य—'रसनग्राह्यो गुणो रसः' । तर्कसंग्रह । कटु, कषाय आदि किसी भी रस का ज्ञान जीभ द्वारा ही किया जा सकता है, जो यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि रोगी या उसके किसी अवयव को जीभ से स्पर्श करना पहले तो यह घृणास्पद है, फिर रोग-संक्रमण आदि का भय भी है । इसका विशेष विवरण चरकसंहिता के विमानस्थान अध्याय ४।७ की व्याख्या में हम दे चुके हैं, वहाँ देखें ।

मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह । विरसादपसर्पन्ति, जन्तोः कायान्मुमूर्षतः ॥ २१ ॥

विरसता का अनुमान—मृत्यु के मुख में प्राप्त रोगी के नीरस शरीर से मक्खियाँ, जूएँ, दंस (डसने वाले प्राणी, जो रक्त चूसने के लोभ से डसते हैं) और मच्छर, ये सब स्वयं हट जाते हैं ।

१. 'बिल्वरो यस्य गन्धो गात्रेषु' इति पा० ।

अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः । अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः ॥ २२ ॥

सरसता का अनुमान—काल (मृत्यु) से जिसका शरीर पक चुका है, अर्थात् अब मर कर शरीर का गिरना ही शेष है, ऐसे पुरुष का शरीर जब अत्यन्त रसिक (स्वादु-मधुरता युक्त) हो जाता है, यदि उसको स्नान कराकर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य भी लगा दिये जाते हैं, तब भी मक्खियाँ आकर उसको चारों ओर से घेर लेती हैं ।

वक्तव्य—जिस सरसता तथा विरसता का ज्ञान हम जीभ से नहीं कर सकते, उसके लिये ऊपर दो सहज अनुमानगम्य उपाय बतलाये गये हैं ।

तत्र श्लोकः—

सामान्येन मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः । पुष्पितस्य नरस्यैतत् फलं मरणमादिशेत् ॥ २३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पुष्पितकमिन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—उस विषय पर श्लोक है—सामान्य रूप से मैंने जो पुष्पित-पुरुष के वर्ण, रस और गन्ध सम्बन्धी अरिष्ट-लक्षणों को कहा है, उन सबका फल समय से पूर्व मृत्यु का ज्ञान होना समझना चाहिये ।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में पुष्पितक-इन्द्रिय नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातः परिमर्शनीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पुष्पितक-इन्द्रिय अध्याय के वर्णन के बाद अब हम यहाँ परिमर्शनीय-इन्द्रिय अध्याय की व्याख्या करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ।

वक्तव्य—प्रथम अध्याय के तीसरे गद्य में प्रस्तावित वर्ण-स्वर का व्याख्यान प्रथम अध्याय में, गन्ध तथा रसविषयक व्याख्यान पुष्पितक नाम से दूसरे अध्याय में करने के बाद अब यहाँ परिमर्शनीय-इन्द्रिय अध्याय में स्पर्श सम्बन्धी अरिष्ट-चर्चा प्रस्तुत की जा रही है ।

वर्णे स्वरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक् । लिङ्गं मुमूर्षतां सम्यक् स्पर्शेष्वपि निबोधत ॥३॥

पूर्ववर्णित विषय—वर्ण, स्वर, गन्ध और रस से सम्बन्धित अथवा इनसे आश्रित अरिष्टों के अलग-अलग लक्षण कह दिये गये हैं । इनके बाद अब मरने के इच्छुक पुरुषों के स्पर्श सम्बन्धी लक्षणों को समझें ।

[1]स्पर्शप्राधान्येनैवातुरस्यायुषः [2]प्रमाणावशेषं जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना शरीरमस्य केवलं स्पृशेत्, परिमर्शयेद् वाऽन्येन । परिमृशता तु खल्वातुरशरीरमिमे भावास्तत्र तत्रावबोद्धव्या भवन्ति । तद्यथा—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनं, नित्योष्मणां शीतीभावः, मृदूनां दारुणत्वं, श्लक्ष्णानां

१. 'स्पर्शप्रामाण्येन' इति पा० ।
२. 'प्रमाणविशेषम्' इति पा० ।

खरत्वं, सतामसद्भावः[1], सन्धीनां स्रंसभ्रंशच्यवनानि; मांसशोणितयोर्वीतीभावः, दारुणत्वं, स्वेदानुबन्धः, स्तम्भो वा; यच्चान्यदपि किञ्चिदीदृशं स्पर्शानां लक्षणं भृशविकृतमनिमित्तं स्यात् । इति लक्षणं स्पृश्यानां भावानामुक्तं समासेन ॥ ४ ॥

स्पर्श द्वारा जानने योग्य अरिष्ट—स्पर्श की प्रधानता से ही रोगी की शेष आयुष्य के प्रमाण (अवधि) को जानने का इच्छुक (चिकित्सक) अपने प्रकृतिस्थ (स्पर्शज्ञान से पूर्ण) हाथ से इस (रोगी) के शरीर का स्पर्श करे, अथवा किसी दूसरे पुरुष द्वारा स्पर्श कराये । रोगी के शरीर का स्पर्श करते हुए वहाँ-वहाँ (जहाँ-जहाँ स्पर्श करे) निम्नलिखित भावों को विशेष रूप से जानना चाहिये जैसे-प्रति क्षण शरीर के जो अंग पहले (स्वस्थ स्थिति में) स्पन्दन किया करते थे उनका न फड़कना, सदैव गरम प्रतीत होने वाले शरीरावयवों का शीतलायुक्त प्रतीत होना, मृदु अवयवों का कठोर हो जाना, श्लक्ष्ण (चिकने) अवयवों का खरदरा हो जाना, जो विशेष लक्षण पहले दिखलायी देते थे उनका न दिखलायी देना, सन्धियों (जोड़ों) का सरक जाना, भ्रंश हो जाना तथा च्युत हो जाना, मांस और रक्त का ह्रास हो जाना, कठोरता आ जाना, पसीना का निरन्तर निकलना अथवा पसीना का न आना, जो और कोई ऐसा कुछ भी अत्यन्त विकृत (विकारयुक्त) तथा अकारण उत्पन्न लक्षण हो, वह सब मृत्युकारक होता है । यहाँ तक स्पर्श द्वारा जानने योग्य भावों का वर्णन संक्षेप से कर दिया गया है ।

वक्तव्य—जिस हाथ से स्पर्श परीक्षा करनी हो, वह हाथ प्रकृतिस्थ (नीरोग) होना चाहिये । अर्थात् वह हाथ किसी ऐसे रोग से युक्त न हो, जिससे ठीक-ठीक स्पर्शज्ञान न होता हो ।

परिमर्शयेद् वा अन्येन—यह महर्षि आत्रेय का शिष्टाचारयुक्त वचन है । कभी पुरुष-चिकित्सक स्त्री को देखने जाता है, तो उसके उन-उन अंगों का स्पर्श करना उचित नहीं होता, ऐसी परिस्थिति में दूसरे से स्पर्श कराकर प्रश्न द्वारा परिस्थिति को समझना चाहिये ।

सततं स्पन्दमानानाम्—निरन्तर स्पन्दनशील शरीरावयव—१. प्रगण्ड धमनी (Brachial Artery), २. कैरोटिड धमनी (Carotid Artery), ३. और्वी धमनी (Femoral Artery), ४. जानपृष्ठ धमनी (Popliteal Artery), ५. बहिःप्रकोष्ठिका धमनी (Radial Artery), इनमें स्पन्दन का न होना अथवा रुक-रुक कर होना, ये मृत्यु के लक्षण हैं ।

तद् व्यासतोऽनुव्याख्यास्यामः—तस्य चेत् परिमृश्यमानं पृथक्त्वेन पादजङ्घोरुस्फिगुदरपार्श्वपृष्ठपिकापाणिग्रीवाताल्वोष्ठललाटं स्विन्नं शीतं [2]स्तब्धं दारुणं वीतमांसशोणितं वा स्यात्, परासुरयं पुरुषो न चिरात् कालं [3]मरिष्यतीति विद्यात् । तस्य चेत् परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवङ्क्षणगुदवृषणमेढ्रनाभ्यंसस्तनमणिकपर्शुकाहनुनासिकाकर्णाक्षिभ्रूशङ्खादीनि स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि स्थानेभ्यः [4]स्कन्नानि वा स्युः, परासुरयं पुरुषोऽचिरात् कालं [5]मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५ ॥

अरिष्टों के उदाहरण--निरन्तर फड़कने वाले उन (संक्षेप में कहे गये) भावों की अब हम विस्तार से व्याख्या करेंगे—यदि उस रोगी के अलग अलग शरीर के अंगों—पैर, जांघ, ऊरु, स्फिक् (नितम्ब), उदर, पसलियाँ, पृष्ठवंश, हाथ, गर्दन, तालु, ओष्ठ (होंठ) तथा ललाट (माथा) का स्पर्श करने पर पसीने से युक्त, शीतल, स्तब्ध (अकड़ा हुआ), कठोर अथवा रक्त तथा मांस से क्षीण हो, तो इसके प्राण जाने वाले है, यह देर तक नहीं बचेगा, समझना चाहिये ।

यदि चिकित्सक रोगी पुरुष के अलग-अलग गुल्फ (घुटना), जानु, वंक्षण, गुद, अंडकोष, पुरुष-मूत्रेन्द्रिय, नाभि, अंस (बाहु और अक्षक की संधि), स्तन, मणिक (कर-बाहुसन्धि), पर्शुका (पसलियाँ), हनु, नासिका, कान, आंख, भ्रू (भौंह) तथा शंख आदि अवयवों का स्पर्श करने पर स्रस्त (शिथिल), व्यस्त (असमस्त

१. 'स्थूलानां वृषणादीनां सतामसद्भावः' इति पा० ।
२. 'प्रसुप्तम्' इति पा० ।
३. 'करिष्यति' इति पा० ।
४. 'स्कन्नानि' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते ।
५. 'करिष्यति' इति पा० ।

अर्थात् सन्धि मुक्त) अपने स्थान से अलग या स्कन्न हो तो ऐसे रोगी को, इसकी आयु समाप्त हो गयी है, यह शीघ्र ही मरेगा, समझना चाहिये ।

वक्तव्य—ऊपर 'स्रस्त, च्युत, स्कन्न' इन समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है । टिप्पणी द्वारा यह सूचना मिलती है कि हस्तलिखित पुस्तक में 'स्कन्नानि' का प्रयोग नहीं हुआ है । अतः अब स्रस्त तथा च्युत के अर्थ-भेद पर ध्यान देना है—अपने स्थान से कुछ ढीला होना अर्थ 'स्रंसु अवस्रंसने' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा बने शब्द का है और 'च्युङ् गतौ धातु' से 'क्त' प्रत्यय द्वारा बने च्युत शब्द का अर्थ है—स्थानभ्रष्ट । व्यस्त तो समस्त का विपरीत है ही, जो सर्वत्र निर्विवाद है ।

तथाऽस्योच्छ्वासमन्यादन्तपक्ष्मचक्षुःकेशलोमोदरनखाङ्गुलीरालक्षयेत् । तस्य चेदुच्छ्वासोऽति-
दीर्घोऽतिह्रस्वो वा स्यात्, परासुरिति विद्यात् । तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति
विद्यात् । तस्य चेद् दन्ताः परिकीर्णाः श्वेता जातशर्कराः स्युः, परासुरिति विद्यात् । तस्य चेत् पक्ष्माणि
जटाबद्धानि स्युः, परासुरिति विद्यात् । तस्य चेच्चक्षुषी प्रकृतिहीने, विकृतियुक्ते—अत्युत्पिण्डिते, अति-
प्रविष्टे, अतिजिह्मे, अतिविषमे, अतिमुक्तबन्धने, अतिप्रस्रुते, सततोन्मिषिते, सततनिमिषिते, निमिषोन्मे-
षातिप्रवृत्ते, विभ्रान्तदृष्टिके, विपरीतदृष्टिके, हीनदृष्टिके, व्यस्तदृष्टिके[1], नकुलान्धे, कपोतान्धे, अलातवर्णे,
कृष्णपीतनीलश्यावताम्रहरितहारिद्रशुक्लवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनातिप्लुते वा स्यातां, तदा परासु-
रिति विद्यात् । अथास्य केशलोमान्यायच्छेत्, तस्य चेत् केशलोमान्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन् न चेद्
वेदयेयुस्तं परासुरिति विद्यात् । तस्य चेदुदरे सिराः प्रकाशेरञ्श्यावताम्रनीलहारिद्रशुक्ला वा स्युः,
परासुरिति विद्यात् । तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णाः स्युः, परासुरिति विद्यात् ।
अथास्याङ्गुलीरायच्छेत्; तस्य चेदङ्गुलय आयम्यमाना न स्फुटेयुः, परासुरिति विद्यात् ॥ ६ ॥

अन्य अवयवों द्वारा अरिष्ट-ज्ञान—और रोगी का उच्छ्वास (बाहर निकलने वाला श्वास), मन्या
(गर्दन की पार्श्वगत दो शिराएँ), दाँत, पक्ष्म (पलकें), चक्षु, केश रोम या लोम, उदर, नख तथा अंगुलियों को
देखकर निम्नप्रकार से अरिष्ट-लक्षणों का निर्णय करें ।

उच्छ्वास सम्बन्धी अरिष्ट—उस (रोगी) का उच्छ्वास (जो साँस बाहर निकल रही हो) यदि
अधिक दीर्घ या अधिक छोटा हो तो उसके प्राण निकलने ही वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये । 'परासुः—परागताः
असवः यस्य सः' अर्थात् मरा हुआ ।

मन्या सम्बन्धी अरिष्ट—यदि उसकी दोनों मन्याओं को स्पर्श करने से यह मालूम हो कि उनमें
स्पन्दन नहीं हो रहा है तो उसको गतायु समझना चाहिये ।

दाँत सम्बन्धी अरिष्ट—यदि उसके मुख में परिकीर्ण (मुख के भीतर फैले हुए) सभी दाँत पहले की
अपेक्षा अधिक सफेद हो गये हों तथा उन पर शर्करा (बालू जैसी) जम गयी हो या उत्पन्न हो गयी हो तो
उसको गतायु समझना चाहिये ।

पक्ष्म सम्बन्धी अरिष्ट—यदि उसके पक्ष्मों (भौंहों) के केशों में जटा जैसी बंध जाय तो उसको गतायु
समझना चाहिये ।

नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—यदि रोगी की आंखें प्रकृतिहीन (स्वाभाविकगुण-सम्पन्न न) हों, विकारयुक्त हों, पिण्ड के आकार की होकर बाहर की ओर को निकाली हुई हों, अत्यधिक भीतर की ओर धँसी हों, अधिक टेढ़ी हो गयी हों, अधिक विषम हो गयी (एक छोटी, एक बड़ी दिखलायी दे रही) हों, नेत्रों के बन्धन अधिक खुल गये हों जिनके कारण आँखें खुली-सी रह गयीं हों, जिनमें से अधिक आँसू बह रहे हों, निरन्तर खुली रहती हों, सदा बन्द रहती हों, जिनमें जल्दी-जल्दी निमेष-उन्मेष हो रहा हो, आँखें चौंधिया गयी हों, विपरीत दर्शन (यथार्थ दर्शन का अभाव) हो रहा हो, न दिखायी दे रहा हो, आँखें व्यस्त (किसी एक ही वस्तु को देखने में स्थिर हो गयी) हों, नकुलान्धता आ गयी हो (ऐसा रोगी सभी वस्तुओं को दिन में सफेद देखता है),

१. 'व्यस्तदृष्टिके' इत्यनन्तरं 'विस्तृतदृष्टिमण्डले' इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते ।

कपोतान्धता आ गयी हो (ऐसा व्यक्ति सभी वस्तुओं को दिन में काला देखता है), नेत्र अलात (जले हुए अंगार) सदृश हो गये हों, काला, पीला, नीला, श्याव, ताम्र, हरित (हरा), हारिद्र (हल्दी के रंग का पीला) शुक्ल—इस प्रकार के विविध वैकारिक (विकारयुक्त) वर्णों में से किसी एक वर्ण से यदि नेत्र युक्त हों तो उसको गतायु समझें।

केश-लोम सम्बन्धी अरिष्ट—तदनन्तर इस रोगी के केशों (शिर, दाढ़ी-मूँछ) तथा लोमों या रोमों को खींच कर देखें। यदि उसके केश, लोम खींचने पर उखड़ जायें और उसको पता न लगे अर्थात् नोचने पर कष्ट का अनुभव न हो तो उसको गतायु समझें।

उदर सम्बन्धी अरिष्ट—यदि उसके पेट के ऊपर श्याव, ताम्र, नील, हारिद्रवर्ण (पीली) अथवा सफेद सिराएँ उभड़ी हुई दिखलायी दें तो उसे गतायु समझें।

नख सम्बन्धी अरिष्ट—यदि उसके नाखून रक्त, मांसरहित होकर पके हुए जामुन के वर्ण के (नीले) हो जायें, तो उसे गतायु समझें।

अंगुली सम्बन्धी अरिष्ट—तदनन्तर इसकी अंगुलियों को पकड़ कर खींचे, यदि इस प्रकार खींची जाने पर उसकी अंगुलियां शब्द न करें, तो उसे गतायु समझें।

वक्तव्य—उच्छ्वासों की दीर्घता या ह्रस्वता का ज्ञान नासिका के अगले भाग में हाथ रखने या उनके शब्द से भी किया जा सकता है।

परिकीर्णा—इसका अर्थ आचार्य चक्रपाणि ने 'मललिप्ताः' किया है, जब कि 'कॄ' धातु विक्षेप तथा हिंसा अर्थों में ही प्राप्त होता है। 'धातूनामनेकार्थत्वात्' तो अगतिक समाधान है। हमने इसका अन्वय इस प्रकार किया है—'परिकीर्णाः दन्ताः शुक्लाः जातशर्कराः स्युः'। दन्तशर्करा की परिभाषा देखें—'मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोणितः। शर्करेवखरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा'॥ अर्थ स्पष्ट है।

स्पर्श-परीक्षा-प्रकरण में दांतों के श्वेतादि का ज्ञान यद्यपि चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, तथापि दांतों की परीक्षा स्पर्श से भी की जा सकती है, अन्यथा शर्करा के वर्ण का ज्ञान तो हो सकेगा, किन्तु उसके खर-स्पर्श के ज्ञान से हम वंचित रह जायेंगे।

नकुलान्ध तथा कपोतान्ध का परिचय चक्रपाणि ने अपनी टीका में इस प्रकार दिया है—'नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्लानि पश्यति। कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यति'॥ अन्यत्र नकुलान्ध लक्षण—विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्। चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलाध्यसंज्ञः'॥

तत्र श्लोकः—

एतान् स्पृश्यान् बहून् भावान् यः स्पृशन्नवबुध्यते। आतुरे न स सम्मोहमायुर्ज्ञानस्य गच्छति॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने परिमर्शनीयमिन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

उपसंहार—इन बहुत से स्पर्श द्वारा जानने योग्य भावों को स्पर्श करते ही जो (चिकित्सक) रोगी के शरीरस्थित लक्षणों को समझ जाता है, वह रोगी की अभी कितनी आयु शेष है, इसको जानने में कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में परिमर्शनीय-इन्द्रिय नामक तीसरा अध्याय समाप्त॥ ३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथात इन्द्रियानीकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

परिमर्शनीय-इन्द्रिय अध्याय के वर्णन के बाद अब हम यहाँ इन्द्रियानीक-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'इन्द्रियाणाम् अनीकं = समूहः, तमधिकृत्य कृतम् इन्द्रियानीकम्'। इति चक्रपाणिः। कोषकार ने अनीक शब्द का अर्थ—सेना या युद्ध किया है। वास्तव में यहाँ इन्द्रियों की सेना या समूह का ही वर्णन किया जायगा। अन्यत्र इसको 'इन्द्रियग्राम' कहा गया है, देखें—'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'। यहाँ ग्राम का अर्थ समूह ही है।

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीक्षेत विशेषवित्। ज्ञातुमिच्छन् भिषङ्मानमायुषस्तन्निबोधत[1]॥३॥

इन्द्रिय-परीक्षा-निर्देश—आयुष्य के प्रमाण को जानने की इच्छावाले इन्द्रिय-विशेषज्ञ चिकित्सक को जिस प्रकार रोगी व्यक्ति के इन्द्रियों की परीक्षा करनी चाहिये, वह मुझसे सुनो, ऐसा महर्षि आत्रेय कह रहे हैं।

अनुमानात् परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः। अद्धा हि विदितं[2] ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम्॥४॥

अनुमान से इन्द्रिय-परीक्षा—नेत्र आदि (पाँचों इन्द्रियों) की परीक्षा तत्त्वतः (शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार) अनुमान द्वारा करनी चाहिये। क्योंकि इन्द्रियों का तात्त्विक ज्ञान तो अतीन्द्रिय (इन्द्रियों द्वारा ठीक-ठीक नहीं) होता है। विदित (इन्द्रियों द्वारा परिज्ञात) विषय को ही सत्य माना जाता है। अतः इनकी परीक्षा अनुमान द्वारा करने का तन्त्रकार का निर्देश है।

वक्तव्य—चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वयं अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियग्राह्य नहीं) होती हैं, अतः उनका प्रकृति-ज्ञान अथवा विकृतिज्ञान उन-उन इन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। अतएव प्रत्यक्ष (जो आँख से देखा जाय या किसी इन्द्रिय विशेष से जाना जाय) प्रमाण द्वारा ज्ञात न हो सकने के कारण उनकी परीक्षा अनुमान नामक दूसरे प्रमाण से की जाती है।

स्वस्थेभ्यो विकृतं यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंश्रयम्[3]। आलक्ष्येतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत्॥ ५॥

इन्द्रिय-ज्ञान से अरिष्ट-ज्ञान—जिस रोगी का इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान अकारण ही स्वस्थ इन्द्रिय वाले पुरुष के ज्ञान से विकारयुक्त दिखलायी दे, उसे मरण-लक्षण समझना चाहिये।

वक्तव्य—यह सभी इन्द्रियों के ज्ञान के लिये सामान्य वचन है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय होते हैं। इन्द्रियों के विकारयुक्त न होने पर भी उस-उस इन्द्रिय द्वारा गृहीत विषय का विपरीत ज्ञान (जैसा है वैसा प्रतीत न) होना, अरिष्ट-लक्षण होता है।

इत्युक्तं लक्षणं सम्यगिन्द्रियेष्वशुभोदयम्। तदेव तु पुनर्भूयो विस्तरेण निबोधत॥ ६॥

इस प्रकार इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले अशुभ(मृत्यु)सूचक लक्षण ठीक-ठीक रूप से कह दिये गये हैं। उन्हीं को पुनः विस्तारपूर्वक समझें।

घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव मेदिनीम्। विगीतमुभयं ह्येतत् पश्यन् मरणमृच्छति॥ ७॥

नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जो रोगी शून्य आकाश को घनीभूत (मूर्तिमान्) तथा पृथ्वी (मूर्तिमान्

१. 'आयुःप्रमाणं जिज्ञासुर्भिषक् तन्नो निबोधत' इति पा०।
२. 'वितथम्' इति पा०।
३. 'ज्ञानमिन्द्रियसम्भवम्' इति पा०।

पदार्थ) को आकाश की भांति (शून्य) देख रहा हूँ, ऐसा विगीत (विरुद्धं गीतं = कथितम्, अर्थात् यथार्थ से विपरीत) कहता है, इस प्रकार का व्यक्ति मर जाता है।

यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बरगोचरः । अग्निर्नायाति चादीप्तस्तस्यायुःक्षयमादिशेत् ॥ ८ ॥

१. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—आकाश में चलने वाली निराकार वायु को जो रोगी साकार रूप में देखता है और चारों ओर प्रकाशित अग्नि जिसको नहीं दिखलायी देती, उसकी आयु क्षीण हो गयी है, ऐसा कहना चाहिये।

वक्तव्य—यहाँ पर 'अग्निना याति वा दीप्तः' एक ऐसा पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ आचार्य गङ्गाधर ने इस प्रकार किया है—'अथवाऽग्निना वा दीप्तः सन् दर्शनमायाति, तस्यायुः क्षयमादिशेदिति'। श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा स्वीकृत पाठ इस प्रकार है—'अग्निर्नायाति वा दीप्तः' इसमें और निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करण के उक्त पाठ में जो भेद है, उससे अर्थ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता। विशेष अध्ययन के लिये देखें—सु० सू० अ० ३०।१८-२०।

जले सुविमले जालमजालावतते नरः । स्थिते गच्छति वा दृष्ट्वा जीवितात् परिमुच्यते ॥ ९ ॥

२. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी मनुष्य निर्मल तथा स्थिर जल में अथवा बहते हुए निर्मल जल में, जिसमें जाल नहीं फैलाया गया है, यदि जाल फैलाया हुआ जैसा देखता है, तो वह जीवन से मुक्त हो जाता है, अर्थात् मर जाता है।

जाग्रत् पश्यति यः प्रेतान् रक्षांसि विविधानि च । अन्यद् वाऽप्यद्भुतं [1]किञ्चिन्न स जीवितुमर्हति ॥

३. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी पुरुष जागृत अवस्था में अनेक प्रकार के प्रेत, राक्षस आदि को देखता है, इनके अतिरिक्त और कोई आश्चर्यजनक वस्तु का दर्शन करता है, वह फिर जीवित नहीं रह सकता, अर्थात् शीघ्र ही मर जाता है।

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् । कृष्णं वा यदि वा शुक्लं निशां व्रजति सप्तमीम् ॥

४. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी स्वाभाविक रूप वाली अग्नि को नीले रंग की, प्रभाहीन, काले वर्ण की अथवा सफेद वर्ण की देखता है, वह सातवीं रात्रि तक मर जाता है।

मरीचीनसतो मेघान्मेघान् वाऽप्यसतोऽम्बरे । विद्युतो वा विना मेघैः [2]पश्यन् मरणमृच्छति ।१२।

५. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी मेघ-मरीचि (मेघकान्ति) के न रहने पर भी उसको देखता है, आकाश में बादलों के न रहते हुए भी जो बादलों को देखता है, अथवा बादलों के न रहते हुए भी बिजली को देखता है, वह मर जाता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—'य आतुरोऽमेघान् मेघहीनान्, असतश्च मरीचीन् मेघज्योतिषः अम्बरे आकाशे पश्यति, स नश्यति, यो वातुरोऽम्बरे विना मेघान् असतः असत्यान् मेघान् पश्यति, स नश्यति। यो वाप्यातुरोऽम्बरे विना मेघान् विद्युतः पश्यति स नश्यतीति'। इन्होंने 'मरीचीनसतोऽमेघान्' यहाँ पर पूर्वरूपसन्धि मानकर ही यह अर्थ किया है। आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकार विचार नहीं किया है।

मृन्मयीमिव यः पात्रीं कृष्णाम्बरसमावृताम् । आदित्यमीक्षते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति ।।१३।।

६. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी शुद्ध (ग्रहण के परिवेश तथा बादलों से मुक्त) सूर्य अथवा चन्द्रमा को काले वस्त्र से लपेटी या ढकी हुई मिट्टी की थाली की भांति (प्रकाशहीन) देखता है, वह जीवित नहीं रहता है।

१. 'किञ्चिज्जीविताद् स विमुच्यते' इति पा०।
२. 'यः पश्यति स नश्यति' इति पा०।

अपर्वणि यदा पश्येत् सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहम् । अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जीवितम् ।।१४।।

७. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो बिना पर्वदिन (अमावास्या तथा पूर्णिमा को छोड़कर) के किसी अन्य तिथि के दिन सूर्य और चन्द्रमा में ग्रहण लगा-सा देखता है, वह व्यक्ति स्वस्थ हो अथवा रोगी, उसका जीवन उसी समय तक होता है।

वक्तव्य—सूर्यग्रहण अमावास्या और चन्द्रग्रहण पूर्णिमा के दिन होता है। इन्हीं तिथियों को इस प्रसंग में पर्वदिन कहते हैं, शेष दिनों को नहीं।

नक्तं सूर्यमहश्चन्द्रमनग्नौ धूममुत्थितम् । अग्निं वा निष्प्रभं रात्रौ दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १५ ॥

८. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी रात्रि में सूर्य को, दिन में चन्द्रमा को चमकते देखे और जहाँ आग न जली हो वहाँ धुँआ उठते हुए देखे, अथवा रात्रि में अग्नि को कान्तिहीन देखकर वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर 'अहश्चन्द्रं' के स्थान पर 'असच्चन्द्रं' पाठ स्वीकार करते हैं और उसका अर्थ करते हैं, अमावास्या की रात्रि में चन्द्रदर्शन यद्यपि अन्य अनेक असम्भव दर्शनों की श्रेणी में यह भी एक अरिष्ट माना जा सकता है, परन्तु 'नक्तं सूर्यमहश्चन्द्रमनग्नौ धूममुत्थितम्' पाठ में जो क्रमबद्धता प्रतीत होती है वह 'असच्चन्द्र' में नहीं है। विज्ञ विचार करें।

प्रभावतः प्रभाहीनान्निष्प्रभांश्च प्रभावतः । नरा विलिङ्गान् पश्यन्ति भावान् [1]भावाञ्जिहासवः ॥

९. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी प्रभावान् (प्रकाशयुक्त) पदार्थों को प्रभा(कान्ति)हीन और प्रभाहीन पदार्थों को प्रभावान् देखते हैं और जिन पदार्थों को उनके स्वाभाविक रूपों से विपरीत लक्षणों वाले देखते हैं, वे अपने प्राणों को छोड़ने वाले होते हैं, अर्थात् उनकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

व्याकृतीनि विवर्णानि विसङ्ख्योपगतानि च । विनिमित्तानि पश्यन्ति रूपाण्यायुःक्षये नराः ।१७।

१०. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जब रोगियों के आयु का क्षय हो जाता है तो वे विकृत आकृति वाले या विपरीत (जो जैसा नहीं है, वैसी) आकृति वाले, विकृत या विपरीत वर्ण (रूप) वाले, विपरीत (जो जितने नहीं है, उससे विरुद्ध) संख्या वाले, ऐसे रूपों को अकारण ही देखते हैं।

वक्तव्य—१. विपरीत आकृति—अंगहीन को सभी अंगों से युक्त जैसा, गधा को घोड़ा जैसा, स्त्री को पुरुष जैसा, हाथ को पैर जैसा, चाचा को मामा जैसा देखना। २. विपरीत वर्ण—काला को सफेद, सफेद को काला, आदि देखना। ३. विपरीत संख्या—एक को दो जैसा देखना।

यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै दृश्यान् यश्च न पश्यति । [3]तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम् ।।१८।।

११. **विरुद्धदर्शनजनित अरिष्ट**—जो रोगी अदृश्य दृश्यों (स्वाभाविक रूप से जो दृश्य दिखलायी नहीं देते, उन) को और जो दृश्य वस्तुओं को नहीं देखता, वे दोनों ही यमराज के घर का शीघ्र ही दर्शन करते हैं, अर्थात् मर जाते हैं।

वक्तव्य—अदृश्य वस्तु—वायु तथा आकाश। दृश्य वस्तु—पृथिवी, जल, तेज। विशेष देख—सुश्रुत सू० अ० ३०।१५ से २३ तक। यहाँ तक नेत्र के विषय-दर्शन से सम्बन्धित अरिष्टों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके आगे शब्द सम्बन्धी अरिष्ट की चर्चा की जायेगी।

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान् यश्च न बुध्यते । [2]द्वावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता ॥

१. **शब्द सम्बन्धी अरिष्ट**—जो रोगी अशब्द का श्रोता हो, अर्थात् जिस शब्द को दूसरे स्वस्थ व्यक्ति न सुन रहे हों, किन्तु रोगी सुन रहा हो और यथार्थ शब्दों को जो नहीं सुन रहा हो, इन दोनों को ही वैद्य प्रेत के समान समझें।

१. 'प्राणान्' इति पा०।
२. 'द्वावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता' इति पा०।
३. 'तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम्' इति पा०।

संवृत्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं य आतुरः । न शृणोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥

२. शब्द सम्बन्धी अरिष्ट—जो रोगी अपने कानों को अंगुलियों से ढँककर ज्वाला-शब्द के सदृश शब्द (धुक्-धुक्) को नहीं सुनता, उस गतायु पुरुष को चिकित्सक छोड़ दे, अर्थात् उसकी चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। अपशब्द या विकृत शब्द का सुनायी पड़ना अरिष्ट लक्षण होता है। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार अरिष्ट विवरण देखें—सु० सू० अ० ३०।४-६ तथा अष्टांगहृदय शा० अ० ५। इसमें ज्वाला शब्द के लिये धुक्-धुक् शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है—'निष्पीड्य कर्णौ शृणुयान्न यो धुकधुकास्वनम्'।

विपर्ययेण यो विद्याद् गन्धानां साध्वसाधुताम् । न वा [1]तान् सर्वशो विद्यात्तं विद्याद् विगतायुषम् ॥

गन्ध सम्बन्धी अरिष्ट—जो रोगी गन्धों की साधुता अथवा असाधुता को विपरीत रूप से समझता है, अर्थात् सुगन्ध को दुर्गन्ध के रूप में और दुर्गन्ध को सुगन्ध के रूप में जैसा अनुभव करता है अथवा उन (साधुगन्ध = सुगन्ध या असाधुगन्ध = दुर्गन्ध) को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाता, उसे गतायु समझना चाहिये।

वक्तव्य—इसके सम्बन्ध में अन्यत्र भी देखें—'सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम्। गृह्णीते वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः' ॥ यो वा गन्धं न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत्'। सु० सू० अ० ३०।१३। महर्षि वाग्भट के अनुसार—'तद्वद् गन्धरसस्पर्शान् मन्यते यो विपर्ययात्। सर्वशो वा न यो यश्च दीपगन्धं न जिघ्रति' ॥ अ० हृ० शा० अ० ५।३५। वास्तव में सरसों आदि के तेल का दीपक जब बुझता है, तो उसकी एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है। गतायु पुरुष को उस गन्ध का आभास नहीं होता है।

यो रसान्न विजानाति न वा जानाति तत्त्वतः । मुखपाकादृते पक्वं तमाहुः कुशला नरम् ॥२२॥

जीभ सम्बन्धी अरिष्ट—जो रोगी मुख-पाक के बिना ही मधुर, अम्ल आदि रसों का ठीक-ठीक (जो रस जैसा होता है, उसका तदनुरूप) स्वाद नहीं जानता, चिकित्सा-कुशल व्यक्ति उस पुरुष को पक्व (मरणोन्मुख) कहते हैं।

वक्तव्य—यहाँ गतायु पुरुष को पक्व की संज्ञा देना, अपने ढंग का एक नया वाक्य-प्रयोग है। जैसे—पक जाने के बाद फल स्वयं भूमि पर गिर जाता है, वैसे ही प्राणान्त हो जाने पर मनुष्य स्वयं धराशायी हो जाता है। और भी देखें—सु० सू० अ० ३०।११-१२।

उष्णाञ्छीतान् खराञ्छ्लक्ष्णान् मृदूनपि च दारुणान् ।
स्पृश्यान् स्पृष्ट्वा ततोऽन्यत्वं मुमूर्षुस्तेषु मन्यते ॥ २३ ॥

त्वचा सम्बन्धी अरिष्ट—जो रोगी उष्ण स्पर्श वाली वस्तुओं को छूकर शीतल मानता (अनुभव करता) है, अथवा शीतस्पर्श वाली वस्तुओं को छूकर उष्ण मानता है, खर स्पर्श को श्लक्ष्ण (चिकना) स्पर्श वाली मानता है या श्लक्ष्ण स्पर्श वाली वस्तुओं को खरस्पर्श वाली मानता है, या मृदुस्पर्श को दारुण (कठोर) अथवा दारुण स्पर्श को मृदु मानता है, उसे मुमूर्षु (मरने की इच्छा वाला) मानना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर पद्य में आया हुआ यह '**तेषु**' शब्द किससे सम्बद्ध है? क्योंकि इससे पूर्ववर्ती किसी टीकाकार ने इस पर विचार नहीं किया है। हमारी समझ से यहाँ तन्त्रकार का यह अन्तर्गूढ आशय रहा होगा—'इन्द्रियारिष्ट सम्बन्धिषु अयमपि अन्यतमः मन्यते'। अर्थात् 'उन इन्द्रिय सम्बन्धी अन्य अरिष्टों में यह भी एक (प्रधान) लक्षण माना जाता है'। विद्वान् विचार करें। विशेष द्रष्टव्य—सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ० ३० श्लोक ७-८।

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् । इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ २४ ॥

अतिशक्तिजनित इन्द्रिय-अरिष्ट—तीव्र (घोर) तपस्या अथवा विधिपूर्वक यौगिकक्रिया के बिना जो रोगी पुरुष पांचों इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति से अधिक उस-उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान प्राप्त करता है, वह पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो जाता है।

१. 'न चैतान्' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ 'पश्यन्' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है, अतः नेत्रों का देखना, कानों का सुनना, नासिका का सूँघना, जीभ का रसों का स्वाद लेना और त्वचा का स्पर्श-ज्ञान करना अर्थ होगा। तपोबल एवं योगबल में तपस्वी तथा योगी पुरुष अतीन्द्रियशक्ति को प्राप्त कर भूत, भविष्यत्, वर्तमान को करामलकवत् देखता है। उक्त विधि के बिना इस प्रकार की शक्ति का सहसा प्रादुर्भाव मुमूर्षु का लक्षण है।

[1]इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थानदोषजान् । नरः पश्यति यः कश्चिदिन्द्रियैर्न स जीवति ॥२५॥

प्रकारान्तर से इन्द्रियारिष्ट—वात आदि दोषों से जो उत्पन्न नहीं हुए हैं, ऐसे इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) को जो रोगीपुरुष इन्द्रियों की विशिष्ट ज्ञानशक्ति के बिना अपनी इन्द्रियों से देखता है, वह जीवित नहीं रहता, अर्थात् शीघ्र मर जाता है।

वक्तव्य—यहाँ नीचे टिप्पणी में जो पाठभेद दिया है, तदनुसार यह अर्थ होता है—इन्द्रियों में से दृष्टि (चक्षुरिन्द्रिय) के बिना त्वचा आदि चार इन्द्रियों से जो स्पर्श आदि का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर पाता, किन्तु विपरीत ज्ञान जो कर लेता है, उसे गतायु समझना चाहिये।

स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम् । पश्यन्ति [2]येऽसद् बहुशस्तेषां मरणमादिशेत् ॥ २६ ॥

स्वस्थ स्थिति का अरिष्ट—जो नीरोग पुरुष प्रज्ञाविपर्यास (प्रज्ञापराध) द्वारा इन्द्रियों के विषयों में अधिकांश असद् (विकृति) को देखते हैं, उनकी मृत्यु हो जायेगी, ऐसा कहें।

वक्तव्य—प्रज्ञाविपर्यास अर्थात् बुद्धि की विपरीतता से यदि मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में विकृति न होने पर भी विकृति का अनुभव करता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है, क्योंकि 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। गीता। यहाँ ध्यान यह देना है कि पुरुष भी स्वस्थ है, इन्द्रियाँ भी स्वस्थ (अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ) हैं, फिर भी प्रज्ञापराध उत्पन्न हो चुका है, तो उसकी मृत्यु अवश्य होगी।

तत्र श्लोकः—

एतदिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथातथम् । मरणं जीवितं चैव स भिषग् ज्ञातुमर्हति ॥२७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने इन्द्रियानीकमिन्द्रियं
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उपसंहार—उस सम्बन्ध में श्लोक है—जो इस इन्द्रियविज्ञान को ठीक-ठीक रूप से देखता है, अर्थात् देखना (रोगियों की स्थिति को देखकर अरिष्ट-लक्षणों का निर्णय करना) जानता है, वह चिकित्सक मरण (यह कब मरेगा) और जीवित (अभी कितने दिन तक बचेगा) इन दोनों को भली-भांति समझ सकता है।

वक्तव्य—इस अध्याय के एक श्लोक में 'निशां व्रजति सप्तमीम्' अर्थात् सातवें दिन मर जायेगा, इसके अतिरिक्त सभी पद्यों में मरण, गतायु, पक्व, पञ्चत्व आदि शब्दों द्वारा रोगी के मरने की ही सूचना दी है। अतएव अन्तिम २७ वें पद्य में जो 'जीवितम्' शब्द दिया है, उसका अर्थ दो प्रकार से लगाया जा सकता है—एक तो यह कि मरने के पहले जितने दिन वह बच सकता हो, अथवा दूसरा यह कि जो सर्वथा अरिष्ट लक्षणों से मुक्त हो उसके जीवन को चिकित्सक इस रूप में जान सकता है, कि यह नहीं मरेगा।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकसंहिता चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित
इन्द्रियस्थान में इन्द्रियानीक-इन्द्रिय नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

१. 'इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थान्न पश्यति । विपर्ययेण यो विद्यात् तं विद्याद्विगतायुषम्' इति पा०।
२. 'ये सुबहुशस्तेषाम्' इति पा०।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातः पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इन्द्रियानीक-इन्द्रिय अध्याय की व्याख्या करने के बाद अब हम पूर्वरूपीय-इन्द्रिय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य--इन्द्रियानीक के अन्तर्गत चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन का वर्णन करने के बाद यद्यपि सत्व, भक्ति, शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, प्रकृति, बल, ग्लानि, मेधा, हर्ष, रौक्ष्य, स्नेह, तन्द्रा (निद्रा), आरम्भ, गौरव, लाघव, गुण, आहार, विहार, आहार-परिणाम, उपाय, अपाय, व्याधि का वर्णन करना चाहिये था किन्तु इनमें सत्व आदि का विवेचन सूक्ष्म होने के कारण उनका वर्णन न कर के तदनन्तर पूर्वरूप से सम्बन्धित अरिष्टों को समझाने के लिये प्रस्तुत अध्याय की प्रस्तावना की गयी है।

पूर्वरूपाण्यसाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् । भिन्नाभिन्नानि वक्ष्यामो भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥३॥

पूर्वरूप पर आधारित पूर्वानुमान

(Prognosis based on Prodromal)

पूर्वरूप सम्बन्धी अरिष्ट—चिकित्सकों के ज्ञान को बढ़ाने के लिये अलग-अलग असाध्य विकारों (रोगों) के भिन्न तथा अभिन्न प्रकार के पूर्वरूपों को इस अध्याय में कहेंगे।

वक्तव्य—उपदेशों की चर्चा भी शास्त्रों में सामान्य-विशेष भेद से की जाती है। यहाँ रोग-प्रकरण में कहे गये असाध्य लक्षणों को भिन्न (साधारण) संज्ञा और रोग-प्रकरण में नहीं कहे गये असाध्य लक्षणों को अभिन्न (असाधारण) संज्ञा दी गयी है। तात्पर्य यह है कि निदानस्थान में प्रसंगवश कहे गये असाध्य लक्षणों से अतिरिक्त यहाँ उन पूर्वरूपों का निर्देश किया जायगा, जो अरिष्ट (मृत्युसूचक) लक्षणों से युक्त होंगे।

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ ४ ॥

ज्वरसम्बन्धी अरिष्ट—विभिन्न प्रकार के ज्वरभेदों के जितने पूर्वरूपों का वर्णन निदान-प्रकरण में किया गया है, वे पूर्वरूप जब अधिक से अधिक मात्रा में ज्वर के साथ जिस मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, उसका वह ज्वर मृत्युकारक होता है।

वक्तव्य—वास्तव में रोगविज्ञान के लिये जिस निदानपञ्चक (१. निदान, २. पूर्वरूप, ३. रूप, ४. उपशय और ५. सम्प्राप्ति) का वर्णन किया गया है, इनमें कुछ प्रमुख लक्षण ही उस रोग की संज्ञा को निर्धारण करने में सहायक होते हैं। इसके विपरीत जहाँ अधिकाधिक या सभी लक्षण दिखलायी देते हैं, वह भले ही ज्वर आदि कोई रोग हो, वह अरिष्ट सूचना के साथ ही मारक होता है।

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ ५ ॥

अन्यत्र अरिष्ट संकेत—ज्वर के अतिरिक्त यदि और किसी रोग के पूर्वरूप इसी प्रकार जिस मनुष्य में प्रवेश कर जाते हैं, उसकी भी मृत्यु निश्चित रूप से हो जाती है।

पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्यामोऽन्यान् सुदारुणान् । ये रोगाननुबध्नन्ति [1]मृत्युर्यैरनुबध्यते ॥ ६ ॥

पूर्वरूपैकदेशज अरिष्ट—इनके अतिरिक्त और दूसरे भयंकर पूर्वरूपों के एकदेश, अर्थात् पूर्वरूपों में से वह एकाध लक्षण जिसका हम यहाँ वर्णन करेंगे, जो मृत्युकारक रोगों के साथ अनुबन्ध (रोग के उत्पन्न होने के साथ पीछे लग जाते हैं) रखते हैं और मृत्यु उनके साथ बंधी रहती है। तात्पर्य यह है कि उन लक्षणों के दिखलायी देने के बाद मृत्यु अवश्य हो जाती है। ऐसे लक्षणों का भी आगे वर्णन किया जायेगा।

१. 'मृत्युर्यैरवबुध्यते' इति पा०।

बलं च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्धते । तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते ॥ ७ ॥

यक्ष्मा सम्बन्धी अरिष्ट—जिस शोष रोगी का बल निरन्तर क्षीण होता जा रहा है और प्रतिश्याय (जुकाम) बढ़ता जा रहा है, इसके बाद भी यदि वह नारी-प्रसक्त (स्त्री-सहवास में लगा रहता) है, तो उस रोगी की मृत्यु निश्चित हो जाती है।

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम् । स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥८॥

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना । सुघोरं ज्वरमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥९॥

स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जो यक्ष्मा का रोगी स्वप्न में कुत्ता के ऊपर, ऊँट के ऊपर अथवा गधा के ऊपर बैठकर दक्षिण दिशा की ओर जाता है तो वह मर जाता है। जो स्वप्न में प्रेतों के साथ मद्यपान करता है अथवा कुत्ते जिसको खींचकर ले जाते हैं, ऐसा यक्ष्मा का रोगी भयंकर ज्वर से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

लाक्षारक्ताम्बराभं यः पश्यत्यम्बरमन्तिकात् । स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते ॥ १० ॥

रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् । यः स्वप्ने [1]ह्रियते नार्या स रक्तं प्राप्य सीदति ॥ ११ ॥

रक्तपित्त सम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष अपने समीप से ही आकाश को लाक्षा (लाख) के रस के सदृश लाल वर्ण का देखता है, वह रक्तपित्त का रोगी होकर इसी रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है। अथवा—जो पुरुष स्वप्न में लाल वर्ण के फूलों की माला धारण किया हो, जिसका सम्पूर्ण शरीर लाल हो गया हो, लाल वस्त्र धारण किया हो, बार-बार हँस रहा हो, कोई स्त्री उसको ले जा रही हो, इनमें से कोई भी लक्षण दिखलायी दे तो वह पुरुष रक्तपित्त का रोगी होकर इसी रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है।

शूलाटोपान्त्रकूजाश्च दौर्बल्यं चातिमात्रया । नखादिषु च वैवर्ण्यं गुल्मेनान्तकरो ग्रहः[2] ॥ १२ ॥

गुल्म सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष के उदर में शूल, आटोप (अफारा), अन्त्रकूजन (पेट में या आँतों में गुड़ गुड़ाहट होती हो), मात्रा से अधिक दुर्बलता, नख आदि (नेत्र, मल, मूत्र) में विवर्णता, इन पूर्वरूपों के बाद यदि गुल्म रोग हो जाता है तो वह (गुल्म रोग) मृत्युकारक होता है।

लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते । स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ॥१३॥

गुल्म में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष के हृदय में स्वप्नावस्था में बड़े-बड़े तथा कठोर कांटो वाली लता उत्पन्न हो जाती है, उस व्यक्ति के शरीर में वह क्रूर (निर्मम) गुल्म रोग मारने के लिये प्रवेश करता है।

कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्यते । क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम् ॥ १४ ॥

कुष्ठ सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष के शरीर पर शस्त्र, तृण आदि के छू जाने मात्र से अत्यन्त फट (घाव हो) जाता है, तदनन्तर वे घाव उपयुक्त चिकित्सा करने पर भी जिनके नहीं भरते, इन लक्षणों के बाद जिसको कुष्ठरोग हो जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—कुष्ठ रोगी, मधुमेही और जिनके घाव के ऊपर फिर घाव लग जाता है, ऐसे पुरुषों के व्रण कष्टसाध्य होते हैं, ऐसा अन्यत्र भी वर्णन है, प्रयोग में भी देखा जाता है। किन्तु यहाँ उक्त लक्षणों का कुष्ठविषयक पूर्वरूपीय अरिष्ट के रूप में ग्रहण किया गया है, जो मारक होते हैं।

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् । पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥१५॥

कुष्ठ में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जो स्वप्न में नंगा होकर अपने शरीर पर घी चुपड़ कर ज्वाला रहित (बुझी हुई) अग्नि में हवन कर रहा हो और जिसकी छाती के ऊपर कमल उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी मृत्यु कुष्ठ रोग से होती है।

१. 'नीयते' इति पा०।
२. 'गृह्यतेऽनेनेति ग्रहो लिङ्गमित्यर्थः' चक्रः।

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः। स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते ॥१६॥

प्रमेह सम्बन्धी अरिष्ट—स्नान करने के बाद शरीर पर चन्दन लगा लेने पर भी जिसके शरीर के ऊपर मक्खियाँ भिन-भिनाती हों, वह प्रमेह रोगी होकर इसी रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है।

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सहः यः पिबेत्। बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥१७॥

प्रमेह में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जो मानव स्वप्न में अनेक प्रकार के स्नेहों को चाण्डालों के साथ पीता है, वह प्रमेह रोग से पीड़ित होकर इसी से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—'बहुविधस्नेह' से यहाँ घृत, तैल, वसा, मज्जा अर्थात् चार प्रकार के स्नेहों का ग्रहण किया जाता है।

ध्यानायासौ तथोद्वेगो मोहश्चास्थानसम्भवः। अरतिर्बलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः ॥ १८ ॥
आहारद्वेषिणं पश्यन् लुप्तचित्तमुदर्दितम्। विद्याद् धीरो मुमूर्षुं तमुन्मादेनातिपातिना ॥ १९ ॥
क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम्। मूर्च्छापिपासाबहुलं हन्त्युन्मादः शरीरिणम् ॥ २० ॥

उन्माद सम्बन्धी अरिष्ट—जो मनुष्य सदैव ध्यानमग्न (चिन्तित) रहता हो, बिना परिश्रम के थका हुआ-सा दिखलायी देता हो, उद्विग्न (घबड़ाया हुआ) रहता हो, अकारण या बे-मौके जिसको मोह हो जाता हो, अरति (बेचैनी) तथा बलहानि, इन पूर्वलक्षणों से युक्त उन्माद रोग वाला पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। आहार (भोज्य-पदार्थों) से द्वेष रखने वाला, लुप्तचित्त (जिसका मन धंसा जा रहा हो या जो हृदय थाम कर बैठ गया हो), उदर्द (Erysipelas) रोग से युक्त अथवा ऊर्ध्ववात से पीड़ित हो, उस पुरुष को अतिपाती (आगे चलकर होने वाले) उन्माद रोग से मुमूर्षु (मरने वाला) समझना चाहिये। शीघ्र क्रोध करने वाले, अत्यन्त डरने वाले, एकाध वार हँसने वाले, बार-बार मूर्च्छा (बेहोशी) तथा प्यास लगने वाले पुरुष को उन्माद रोग मार देता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने 'लुप्तचित्तमुदर्दितम्' का अर्थ इस प्रकार किया है—'मुदा हर्षभावेन अर्दितम्'। इति गङ्गाधरः। हमारी समझ से यह उतना समीचीन नहीं प्रतीत होता। विद्वान् ध्यान दें।

नृत्यन् रक्षोगणैः साकं यः स्वप्नेऽम्भसि सीदति[1]।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ॥ २१ ॥

उन्माद में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष स्वप्न में राक्षसगणों के साथ नाचता हुआ पानी में डूब जाता है, वह आगे चलकर उन्माद का रोगी होकर इस लोक से चल देता है, अर्थात् मर जाता है।

असत्तमः पश्यति यः शृणोत्यप्यसतः स्वनान्[2]।
बहून् बहुविधाञ्जाग्रत् सोऽपस्मारेण बध्यते ॥ २२ ॥

अपस्मार सम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष जागता हुआ भी अन्धकार के न रहने पर भी तमः (अन्धकार) को देखता है और शब्दों के न होते हुए भी बहुत से (अनेक प्रकार के) शब्दों को सुनता हो (पाठभेद के अनुसार निषाद, ऋषभ आदि स्वरों के अभाव में भी स्वरों को सुनता हो) तो वह अपस्मार रोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम्। स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २३ ॥

अपस्मार में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—स्वप्नावस्था में मत्त होकर नाचते हुए जिस पुरुष को नीचे की ओर शिर करके प्रेत ले जाता है, उसे अपस्मार रोग होकर उसके प्राणों का हरण मृत्यु करती है। अर्थात् ऐसा स्वप्न देखने वाला पुरुष अपस्मार रोग के कारण मृत्यु को प्राप्त होता है।

१. 'मज्जति' इति पा०।
२. 'स्वरान्' इति पा०।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'आविध्येति–अधःशिरसं कृत्वा' इस प्रकार अर्थ किया है। जिसका दायित्व उन पर ही है। आविध्य—आ उपसर्गपूर्वक व्यध ताड़ने धातु से ल्यप् प्रत्यय करके उक्त रूप की सिद्धि होती है। इसका अर्थ होता है—मार-पीट कर। दूसरी 'विध' धातु वेधन के अर्थ में है, उसका भी अर्थ चक्रपाणि के अनुसार नहीं होता। हमारे विचार से तो यहाँ 'आवध्य' पाठ होना चाहिये। इस रूप की सिद्धि 'बध बन्धने' धातु से की जा सकती है।

स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनू मन्ये तथाऽक्षिणी। यस्य तं बहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम् ॥ २४ ॥

बहिरायाम सम्बन्धी अरिष्ट—सोने के बाद जागने पर जिसके दोनों हनु, दोनों मन्याएँ तथा दोनों आँखें जकड़ जाती हों, उसको बहिरायाम रोग पकड़ कर मार देता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वा स्वप्ने खादति यो नरः। [1]स चेत्तादृक् छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥२५॥

बहिरायाम में स्वप्न सम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष स्वप्न में शष्कुली (पूड़ी) या अपूप (मालपुआ) खाता है और यदि जागने पर वह तदनुरूप वमन करता है, तो वह अन्तरायाम का रोगी उक्त अरिष्ट से मर जाता है।

वक्तव्य—शष्कुली या शस्कुली शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे—१. कर्णशष्कुली २. पिष्टक-विशेष, ३. तिलपिष्टक, ४. मत्स्यभेद, ५. तिलतण्डुलमाषकृतयवागूम्, ६. पूरिका (देखें—कैयदेवनि० कृतान्न-वर्ग तथा हारीतसंहिता १।२३।२८)।

एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते। स एषामनुबन्धं च फलं च ज्ञातुमर्हति ॥ २६ ॥

अरिष्टज्ञान का फल—जो चिकित्सक उपर्युक्त पूर्वरूपों को भली-भांति समझ लेता है, वह इन पूर्वरूपों के अनुबन्ध (बाद में होने वाले रोग) को और उनके मृत्युरूप फल को जानने के लिये योग्य होता है।

इमांश्चाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत्। व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥२७॥

अन्य स्वप्नों का निर्देश—रोगियों को अत्यन्त कष्ट देने के लिये तथा उनकी मृत्यु के लिये होने वाले इन (निम्न निर्दिष्ट) भयंकर स्वप्नों को भी समझ लेना चाहिये।

वक्तव्य—स्वप्न का फल स्वयं भी भोगना पड़ता है और कभी दूसरों के लिये भी वह सुख अथवा दुःख की सूचना देता है। इस पूर्वरूपीय इन्द्रियाध्याय में तन्त्रकार ने उन्हीं स्वप्नों का निर्देश किया है, जिनको देखने के बाद सम्बन्धित रोग होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। जिस प्रकार रोग के पूर्वरूपों के उत्पन्न होने के बाद रोग का रूप उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार इस अध्याय में वर्णित अरिष्टसूचक पूर्वरूपों की उत्पत्ति के बाद रोग उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु का कारण बन जाता है। किन्तु उक्त २७ वें पद्य पर ध्यान दें—'व्याधितानां विनाशाय' अर्थात् यदि इन अशुभ स्वप्नों को रोगी देखता है तो उसकी मृत्यु होती है और यदि स्वस्थ मनुष्य देखता है तो—'क्लेशाय महतेऽपि वा', उसे अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ता है। जहाँ शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के स्वप्नों के फलों का वर्णन किया है, वहाँ भी देखें—'रोगी स भूयात् उल्लाघः स्वस्थो धनमवाप्नुयात्'। शार्ङ्गधरसंहिता। अरिष्टसूचक स्वप्नों का वर्णन आगे देखें।

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः। वयांसि च विलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यमियाच्च यः ॥२८॥
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते। रक्षःप्रेतपिशाचस्त्रीचण्डालद्रविडान्ध्रकैः ॥२९॥
वंशवेत्रलतापाशतृणकण्टकसङ्कटे। [3]संसज्जति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥३०॥

१. 'स चेत् प्रच्छर्दयेत्तादृक्' इति पा०।
२. 'द्रवितान्धकैः' इति पा०।
३. 'प्रमुह्यति' इति पा०।

भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मान । श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः [1]प्रपतत्यपि ॥३१॥
कलुषेऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते । स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्रोतसा ह्रियते[2] च यः ॥३२॥
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः प्रच्छर्दनविरेचने । हिरण्यलाभः कलहः स्वप्ने बन्धपराजयौ ॥३३॥
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः । हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥३४॥
[3]दन्तचन्द्रार्कनक्षत्रदेवतादीपचक्षुषाम् । पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥३५॥
रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् । गुहान्धकारसम्बाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥३६॥
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् । दारुणामटवीं स्वप्ने कपियुक्तेन याति वा ॥३७॥
काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् । कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥
कृष्णा [4]पापा निराचारा दीर्घकेशनखस्तनी । विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥३९॥
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् । अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥४०॥

स्वप्न पर आधारित पूर्वानुमान

(Prognosis based on Dreams)

अरिष्टकारक स्वप्न-वर्णन—जो पुरुष स्वप्न में यह देखता है कि उसके सिर पर बांस, गुल्म, लता आदि उग गयी हैं, उन लता-गुल्मों में घोंसले बनाकर चिड़ियाँ छिपकर रहने लग गयी हैं, जिसका शिर मूड़ दिया हो, अर्थात् शिर के बाल काट दिये गये हों (देखें–'मुण्डित सिर खण्डित भुजबीसा' । तुलसीकृत रामायण) जिसे स्वप्न में गीध, उल्लू, कुत्ते, कौआ आदि ने घेर लिया हो और राक्षस, प्रेत, पिशाच, विधवा स्त्री, द्रविड तथा आन्ध्रदेशवासियों (पाठभेद के अनुसार—दौड़ते हुए अन्धे पुरुषों) ने घेर लिया हो, जो स्वप्न में बांस, बेंत, लता, पाश, तिनके तथा काँटों के बीच में फँस गया हो अथवा जो चलते-चलते गिर जाता हो, जो धूल युक्त भूमि पर, वल्मीक की मिट्टी के ऊपर या भस्म (राख) के ढेर पर या श्मशान-भूमि पर या गड्ढा में गिर जाता है, या गन्दे पानी में, कीचड़ में, कुएँ में, अन्धकारपूर्ण स्थान में डूब जाता है या नदी का बहाव जिसको बहा ले जाता है, जो स्वप्न में स्नेहपान करता है, या मालिश करता है, वमन, विरेचन करता है, अर्थात् जिसको उलटी या दस्त आरहे हों, सोना की प्राप्ति हुई हो, किसी से झगड़ा होना, बन्धन, पराजय, दोनों जूते चोरी चले जाना, पैरों के चमड़े का गिरना, स्वप्न में प्रसन्न होना, नाराज हुए पितरों द्वारा झिड़कना या तिरस्कार करना, दातों का, चन्द्रमा का, सूर्य का, नक्षत्रों (तारों) का, देवता का, दीप का गिरना या विनाश होना, स्वप्न में पर्वत का गिरना या फटना देखता है, जो लाल फूल, वन, भूमि, पाप-कर्म के घर (बध, बन्धन स्थान, वेश्यालय, मद्यशाला आदि), चिता और अन्धकारपूर्ण गुफा को देखता है या इन स्थानों में प्रवेश करता है, जो लाल पुष्पों की माला को स्वप्न में धारण करता है, जोर से हँसता हुआ, नंगा होकर दक्षिण दिशा की ओर जाता है, भयंकर वन में बन्दरों के साथ जाता है, स्वप्न में गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए (सन्यासियों), असौम्यों (भयंकर वेश तथा रूप वालों, नंगों, हाथ में दण्ड को धारण किये हुए लोगों) के दर्शनों को स्वप्न में अच्छा नहीं माना जाता है, स्वप्न में काली (अत्यन्त श्याम वर्ण वाली स्त्री), पापयुक्त आचरण वाली, निराचारा (आचरण-भ्रष्ट), लम्बे बालों, नाखूनों तथा स्तनों वाली, विराग (मलिन रंग युक्त) माला तथा वस्त्रों को धारण की हुई स्त्री का दिखलायी देना कालरात्रि के समान होता है। इस प्रकार ये (उपर्युक्त) भयंकर स्वप्न हैं, जिनको देख लेने पर रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, यदि इन स्वप्नों को अरोग (स्वस्थ) पुरुष देखता है तो उसका जीवन भी संशय को प्राप्त हो जाता है, अतः इनको देखने के बाद कोई ही बच पाता है।

मनोवहानां पूर्णत्वाद् दोषैरतिबलैस्त्रिभिः । स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥४१॥

१. 'प्रविशत्यपि' इति पा० ।
२. 'नीयते' इति पा० ।
३. 'चन्द्रतारार्कनक्षत्र०' इति पा० ।
४. 'पापाननाचारा' इति पा० ।

स्वप्नों का दोषों से सम्बन्ध—दारुणकाल (मृत्यु के समय) में वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों के अत्यन्त बलवान् हो जाने के कारण जब मनोवहस्रोत पूर्ण (आक्रान्त) हो जाते हैं, तब रोगी दारुण (भयंकर अर्थात् मृत्युकारक या मृत्युसूचक) स्वप्नों को देखता है।

वक्तव्य—ऊपर मनोवहस्रोतों की चर्चा की गयी है। स्रोतस् उनको कहते हैं, जिन मार्गों से देह-स्थित मल आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। देखें—'यैर्मार्गैर्देहस्य मलादयः सञ्चरन्ति तानि स्रोतांस्युच्यन्ते ।' भावप्रकाश। और भी—'मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतान्त्वभिवाहि यत् । स्रोतस्तदिति विज्ञेयं शिराधमनिवर्जितम्' ॥ सु० शा० अ० ९। मनोवाहीस्रोतों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) पर मन का एकच्छत्र राज्य है। यही कारण है कि मानव जाग्रत् अवस्था में जितने कार्य करता है, उन सभी कार्यों को वह मन के क्रियाशील होने के कारण स्वप्नावस्था में भी करता है। आप ध्यान दें—स्वप्नसम्बन्धी दोषों की शृंखला अत्यन्त विस्तृत है।

नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलांस्तथा । इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥४२॥

स्वप्न-दर्शन में मन की प्रधानता—जब मनुष्य पूर्ण (गाढ़) निद्रा की स्थिति में नहीं होता, तब वह इन्द्रियों के स्वामी मन की सहायता से अनेक प्रकार के सफल अथवा विफल स्वप्नों को देखता है।

वक्तव्य—स्वप्न-दर्शन अर्धनिद्रा में होता है। हृदय विशेष रूप से चेतना का स्थान है। हृदय जब तमस् से ढक जाता है तभी सब प्राणी सोते हैं। देखें—सु० शा० अ० ४।३१। इसके आगे ३२ वें श्लोक में देखें—'जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति'। चरक सू० अ० २१। इस में निद्रा के तमोभवा, श्लेष्मसमुद्भवा आदि भेद दिये हैं।

हम स्वप्न (निद्रा) के मूलतः दो भेद करते हैं—१. अर्धनिद्रा और २. गाढ़निद्रा। शुभ अथवा अशुभ
जितने प्रकार के स्वप्न देखे जाते हैं, वे सब अर्धनिद्रा की स्थिति में ही देखे जाते हैं। दूसरी गाढ़निद्रा 'मनः-
शरीरश्रमसम्भवा' होती है। यदि वह तमोगुण के कारण है, तब वह वैकारिकी कही जाती है। गाढ़निद्रा का ही
एक विकृत रूप है, जिसे 'अनवबोधिनी' कहते हैं। यह निद्रा मृत्युकाल में ही आती है, क्योंकि फिर वह प्राणी
कभी जागता नहीं है।

सफलानफलान्—अर्धनिद्रा की स्थिति में दिन भर में देखे, सुने, सोचे तथा विचारे हुए विषय जब स्वप्न
के रूप में देखे जाते हैं, तो ऐसे स्वप्न विफल या निष्फल (परिणामहीन) होते हैं। शेष सभी प्रकार के
स्वप्नों के शुभ-अशुभ फल देखे ही जाते हैं। द्वितीय प्रहर में देखे स्वप्नों का फल वर्ष भर के भीतर,
तृतीय प्रहर में देखे गये स्वप्नों का फल छः मास के भीतर तथा चतुर्थ प्रहर में देखे गये स्वप्नों का फल शीघ्र
ही प्राप्त होता है।

दिवास्वप्न—दिन में देखे गये स्वप्न निष्प्रभाव वाले होते हैं, अतएव व्यर्थ कल्पना या विचार को
मुहावरेदार भाषा में 'दिवास्वप्न' कहते हैं।

परिहार—शार्ङ्गधरसंहिता में कुछ शुभ-अशुभ स्वप्नों का उल्लेख किया है। उस प्रसंग के अन्त में
लिखा है—इस प्रकार के दुःस्वप्नों को देखकर तत्काल उठना नहीं चाहिये, कुछ देर फिर सो जाना चाहिये
और उन स्वप्नों को किसी को न सुनायें, शौचादि करके तत्काल स्नान करके ब्राह्मणों को तिल तथा सुवर्ण का
दान करे।

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा । भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥४३॥

स्वप्न के सात भेद (Seven types of Dreams)—१. दृष्ट, २. श्रुत, ३. अनुभूत ४. प्रार्थित,
५. कल्पित, ६. भाविक तथा ७. दोषज—ये सात प्रकार के स्वप्न होते हैं।

वक्तव्य—उक्त सात प्रकार के स्वप्नों का परिचय दिया जारहा है—१. **दृष्ट**—जिसे हमने जाग्रत
अवस्था में देखा हो। २. **श्रुत**—जिसे हमने स्वयं या परम्परा से सुना हो। ३. **अनुभूत**—ज्ञानेन्द्रियों के विषयों
का हमको अनुभव तब होता है, जब मन और भूतात्मा का सहयोग इन्द्रियों को प्राप्त होता है, जैसे—
दिन में जिस रस का रसना द्वारा कटु, तिक्त आदि रस का अनुभव किया हो, त्वगिन्द्रिय द्वारा मृदु या
खर पदार्थों का स्पर्श किया हो, वही स्वप्नावस्था में स्वप्न बन जाता है। इस अनुभूत में दृष्ट (नेत्रज) तथा
श्रुत (श्रोत्रज) अनुभवों को छोड़कर शेष सभी इन्द्रियों से होने वाले अनुभवों का ग्रहण करना चाहिये।

४. प्रार्थित—मन द्वारा जिन-जिन विषयों की आकांक्षा (इच्छा) की जाती है, वे सभी प्रार्थित स्वप्न के विषय होते हैं, जैसे—भूखे का प्रार्थित विषय भोजन आदि। ५. कल्पित—यह भी मन का ही क्षेत्र है। जिस प्रकार के वातावरण में जो मानव रहता है, वह उस प्रकार की कल्पना करता है, जैसे—रोगी पुरुष कल्पना करता है कि मैं शीघ्र अच्छा हो जाऊँ। ६. भाविक—भविष्य में शुभ अथवा फल देने वाले स्वप्न इस भेद के अन्तर्गत आते हैं। ७. दोषज— जो स्वप्न वात आदि दोषों के कारण देखे जाते हैं, जैसे—वातदोष से स्वप्न में अपने को आकाश में उड़ते देखना; पित्तदोष से—कनक, पलाश, कर्णिकार वृक्षों को तथा अग्नि, बिजली, उल्काओं को देखना; कफदोष से—कमल, हंस, चकवा एवम् मनोहर जलाशयों को देखना। विशेष विवरण के लिये देखें—सु० शा० अ० ४।

तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत्। दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं [1]च बुद्धिमान् ॥४४॥

स्वप्नफल-निर्देश—ऊपर सात प्रकार के स्वप्नों में से प्रथम पाँच (१. दृष्ट, २. श्रुत, ३. अनुभूत, ४. प्रार्थित, ५. कल्पित) प्रकार के स्वप्न निष्फल होते हैं, ऐसा वैद्य कहें। दिवास्वप्न (जो स्वप्न दिन में देखा गया हो, कुछ लोग बात-चीत करते-करते सो जाते हैं, बड़बड़ाने लगते हैं, इसी बीच में कुछ स्वप्न भी देख लेते हैं, इसी को दिवास्वप्न कहते हैं), अतिह्रस्व तथा अतिदीर्घ स्वप्न (जिसमें शुभ-अशुभ विभिन्न प्रकार के स्वप्नों का सम्मिश्रण हो) इस प्रकार के ये सभी स्वप्न निष्फल होते हैं।

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो[2] भवेत्। न स्वपेद् यं पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥

फल-प्राप्ति की अवधि—जो स्वप्न रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा गया हो, वह अल्प फल या अल्प बल वाला होता है। जिस स्वप्न को देखकर पुनः न सोया जाय, वह स्वप्न तत्काल पूर्ण फल को देने वाला होता है।

वक्तव्य—जिस स्वप्न को देखकर पुनः न सोने की बात जो ऊपर कही गयी है, वह प्रातःकाल का स्वप्न हो सकता है, क्योंकि अशुभ स्वप्न देखकर यदि घबड़ाहट के कारण नींद खुल भी जाये तो पुनः सोने का विधान है। वास्तव में शुभ स्वप्न जब भी देखा जाय, उसके बाद नहीं सोना चाहिये। यदि रात्रि शेष हो तो भगवद् भजन करके समय बिता दे और अशुभ स्वप्न यदि प्रातःकाल उठते समय भी देखा जाय तो थोड़ी देर सो जाना चाहिये। सद्यः—यद्यपि इसका अर्थ तत्काल = उसी समय होता है, किन्तु आचार्य गंगाधर ने इसकी अवधि तीन दिन मानी है, जो सर्वथा प्रसंगोचित है।

विशेष—शुभ-अशुभ स्वप्नों के परिचय के लिये अष्टाङ्गहृदय शारीरस्थान अ० ६ श्लोक १४ से ७० तक तथा सु० सू० अ० २९ का अवलोकन करें।

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैवः यः पुनः।
पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ ४६ ॥

स्वप्नों का पौर्वापर्य फल—अकल्याणकारक (अशुभ) स्वप्न को देखने के बाद यदि फिर सौम्य (सोमगुण-प्रधान) और शुभ आकार वाला स्वप्न दिखलायी दे तो उसका शुभ फल ही समझना चाहिये।

वक्तव्य—शास्त्र का अर्थ साहचर्य तथा विरोध से लगाया जाता है। तदनुसार यदि शुभ स्वप्न को देखने के बाद अशुभ स्वप्न दिखलायी दे तो उसका फल भी अशुभ ही होता है।

तत्र श्लोकः—

पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान् वेत्ति दारुणान्। न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ॥४७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पूर्वरूपीयमिन्द्रियं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. 'तथैव च' इति पा०।
२. 'अल्पबलः' इति पा०।

उपसंहार—उसमें श्लोक दिया है—जो चिकित्सक इन (पूर्वोक्त) मृत्युकारक पूर्वरूपों तथा भयंकर स्वप्नों को जानता है, वह मोह (अज्ञान) से असाध्य रोगियों की चिकित्सा को आरम्भ नहीं करता।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में पूर्वरूपीय-इन्द्रिय नामक पाँचवा अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः कतमानि शरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पूर्वरूपीय-इन्द्रिय अध्याय का व्याख्यान करने के बाद अब हम कतमानि शरीरीय-इन्द्रिय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इस अध्याय के प्रथम श्लोक का आरम्भ 'कतमानि शरीराणि' पद से प्रारम्भ हो रहा है, अतएव इस अध्याय का तदनुरूप नामकरण किया गया है। इस अध्याय द्वारा होने वाली व्याधि के आश्रयभूत अरिष्टों का वर्णन किया जायगा। यही अभिप्राय 'वेदनाश्च उपद्रवाश्च' (च० इं० अ० १।३) का भी है।

कतमानि शरीराणि व्याधिमन्ति महामुने!। यानि वैद्यः परिहरेद् येषु कर्म न सिद्ध्यति ॥३॥
इत्यात्रेयोऽग्निवेशेन प्रश्नं पृष्टः सुदुर्वचम्[1]। आचचक्षे यथा तस्मै भगवांस्तन्निबोधत ॥४॥

रोगयुक्त शरीर सम्बन्धी प्रश्न—हे महामुनि! रोग युक्त कौन शरीर इस प्रकार के होते हैं, जिनमें कर्म (चिकित्सा) सफल नहीं होता और किस प्रकार के रोगियों को छोड़ देना चाहिये, अर्थात् उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार अग्निवेश ने अत्यन्त कठिन प्रश्न महर्षि आत्रेय से पूछा। भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से जो कुछ कहा, उसे ध्यान से सुनो।

वक्तव्य—पाँचवें अध्याय में पूर्वरूप द्वारा अरिष्ट-लक्षणों का परिचय कराया गया है। इस अध्याय में रूप अर्थात् रोग के लक्षणों के रूप में जो अरिष्ट-लक्षण होंगे, उनको कहा जायगा। सुदुर्वचम्—अर्थात् अत्यन्त कठिन, यह शब्द 'प्रश्नम्' का विशेषण है। इस प्रकार के कठिन प्रश्न का उत्तर महर्षि आत्रेय जैसा आचार्य ही दे सकता है, दूसरा नहीं।

यस्य वै भाषमाणस्य रुजत्यूर्ध्वमुरो भृशम्। अन्नं च च्यवते भुक्तं स्थितं चापि न जीर्यति ॥५॥
बलं च हीयते शीघ्रं[2] तृष्णा चातिप्रवर्धते। जायते हृदि शूलं च तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥६॥

चिकित्सा के अयोग्य रोगी—जिस मनुष्य के बात-चीत करने पर छाती के ऊपरी भाग में अत्यन्त पीड़ा होती हो, खाया हुआ भोजन वमन के रूप में निकल जाता हो, यदि आमाशय में कुछ समय रुक भी जाता है, तो वह भली-भांति पच नहीं पाता, जिसके बल का शीघ्र ह्रास हो रहा हो, प्यास बढ़ती जा रही हो और हृदय में शूल उत्पन्न हो रहा हो, उस रोगी की चिकित्सा वैद्य को नहीं करनी चाहिये, अर्थात् उसको मुमूर्षु समझकर छोड़ दे।

हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितं चातिसार्यते। न तस्मै भेषजं दद्यात् स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥७॥

१. 'इत्यग्निवेशेन गुरुः प्रश्नं पृष्टः पुनर्वसुः' इति पा०।
२. 'यस्य' इति पा०।

अतिसार तथा हिक्का के अरिष्ट—जिस रोगी को गम्भीरजा-हिक्का उत्पन्न हो गयी हो और मल के साथ जिसको रक्त का स्राव हो रहा हो या जिसको रक्तातिसार हो रहा हो, ऐसे रोगी को महर्षि आत्रेय के आदेश का स्मरण करते हुए औषध न दे।

वक्तव्य—गम्भीरजा-हिक्का के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिये देखें—चरक चि० अ० १७ श्लोक २७-३०। अन्यत्र इसका परिचय इस प्रकार है—'नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी। अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता'॥

महर्षि आत्रेय ने असाध्य रोगों की चिकित्सा का स्पष्ट निषेध किया है। यदि परिस्थितिवश चिकित्सा करनी भी पड़े तो वरिष्ठ परिजनों को उसके असाध्य होने की सूचना दे दें। ऐसा न करने पर चिकित्सक के धन, विद्या, यश आदि की हानि होती है। अतः अरिष्ट-लक्षणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

आनाहश्चातिसारश्च यमेतौ दुर्बलं नरम्। व्याधितं विशतो रोगौ दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ ८॥
आनाहश्चातितृष्णा च यमेतौ दुर्बलं नरम्। विशतो विजहत्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम्॥ ९॥

आनाह आदि के अरिष्ट—यदि किसी रोग से पीड़ित होने के कारण जिस दुर्बल रोगी के शरीर में आनाह और अतिसार ये दोनों रोग प्रवेश कर जाते हैं, उस मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाता है। आनाह और अत्यन्त तृष्णा (प्यास) ये दोनों रोग जिस दुर्बल पुरुष के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, उस पुरुष को उसके प्राण शीघ्र ही छोड़ देते हैं, अर्थात् वह शीघ्र मर जाता है।

ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ १०॥

ज्वर-कास सम्बन्धी अरिष्ट—शारीरिक बल और मांस से रहित अर्थात् कृश जिस पुरुष को पूर्वाह्ण काल (सूर्योदय से लेकर चार घण्टे तक) में ज्वर आ जाता हो और भयंकर सूखी खाँसी भी आती हो तो वह पुरुष, जैसा प्रेत होता है, वैसा हो चुका है ऐसा समझें, अर्थात् अब वह जीवित नहीं रह सकता है।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में निम्नलिखित श्लोक अधिक दृष्टिगोचर होता है। आचार्य चक्रपाणि ने इसका समावेश मूल संहिता में नहीं किया है, अतः इसको श्लोक संख्या दिये बिना यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

[ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥]

कफज-कास सम्बन्धी अरिष्ट—बल तथा मांस से रहित जिस पुरुष को दोपहर बाद ज्वर आता हो और कफज-कास रोग हो, जैसा प्रेत (मृत व्यक्ति) होता है, वैसा ही वह भी है, अर्थात् उसको मरे हुए के समान ही समझे।

यस्य मूत्रं पुरीषं च ग्रथितं सम्प्रवर्तते। निरूष्मणो जठरिणः श्वसनो न स जीवति॥ ११॥

मूत्र-पुरीष सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी का मूत्र गाढ़ा, पुरीष (मल) गाँठदार होकर निकलता है, जिसके शरीर की उष्णता (तापांश) उचित परिमाण से कम हो गयी हो, जो उदर रोग से पीड़ित हो और जिसको श्वास रोग हो गया हो वह जीवित नहीं रहता, अर्थात् शीघ्र मर जाता है।

श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं विसर्पति। ज्ञातिसङ्घं स सङ्क्लेश्य तेन रोगेण हन्यते॥१२॥
श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके। सीदतश्चाप्युभे जङ्घे तं भिषक् परिवर्जयेत्॥१३॥
शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम्। हीनवर्णबलाहारमौषधैर्नोपपादयेत् ॥१४॥

शोथ सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी का शोथ पेट से प्रारम्भ होकर हाथ-पैर की ओर फैलता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों को दुःखी करके उस (शोथ) रोग से मारा जाता है। जिस रोगी के पैर में शोथ हो और पैरों की पिंडलियाँ ढीली पड़ गयी हों, दोनों जाँघें पीड़ायुक्त हो तो चिकित्सक को चाहिये कि वह ऐसे रोगी को (शीघ्र मरने वाला समझकर) छोड़ दे। जिस रोगी के हाथ, पैर, गुह्य-प्रदेश (लिंग, गुद या भग) तथा उदर

१. 'शङ्ख' इति पा०।

में सूजन हो गयी हो, जिसका बल, वर्ण और आहार क्षीण हो गया हो, चिकित्सक को चाहिये कि वह ऐसे रोगी की चिकित्सा न करे, अर्थात् ऐसे रोगी शीघ्र मर जाते हैं।

[1]उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः। सततं च्यवते यस्य दूरात् तं परिवर्जयेत्॥१५॥

श्लेष्मा सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी के उरःप्रदेश में आश्रित श्लेष्मा (Sputum = कफ, थूक) अधिक मात्रा में नीला, पीला तथा रक्त युक्त निरन्तर निकलता रहता है, उसे दूर से ही छोड़ दे, अर्थात् ऐसे रोगी की चिकित्सा प्रारम्भ ही न करे।

वक्तव्य—उपर्युक्त वर्णन में श्वसनीविस्फार (Bronchiectasis) के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इनके अन्य भेद आधुनिक दृष्टि से इस प्रकार प्राप्त होते हैं—१. बेलनाकार श्वसनीविस्फार, २. पुटीय श्वसनीविस्फार, ३. शुष्क श्वसनीविस्फार, ४. तर्कुरूप श्वसनीविस्फार, ५. शल्यकर्मोत्तर श्वसनीविस्फार, ६. लघुकोशी श्वसनीविस्फार।

हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शूनः कासज्वरार्दितः[2]। क्षीणमांसो नरो दूराद् वर्ज्यो वैद्येन जानता॥१६॥

कास-ज्वर सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी का मांस क्षीण हो गया हो, शरीर में रोमाञ्च हो रहा हो, मूत्र गाढ़ा होता हो, शरीर के अवयवों में सूजन हो, कास तथा ज्वर से पीड़ित हो (पाठभेद के अनुसार—सूखी खाँसी तथा ज्वर से पीड़ित हो, इस स्थिति में सूजन का वर्णन नहीं है।) अरिष्ट-लक्षणों का जानकार चिकित्सक ऐसे मनुष्य को चिकित्सा न करने की इच्छा से दूर से ही छोड़ दे।

त्रयः प्रकुपिता यस्य दोषाः [3]कष्टाभिलक्षिताः।
कृशस्य बलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम्॥ १७॥

चिकित्सा-निषेध—जिस कृश तथा बलरहित पुरुष के अत्यन्त परिश्रम के बाद देखे गये तीनों दोष प्रकुपित हो गये हों (पाठभेद के अनुसार—कोष्ठ में देखे गये) उसकी कोई चिकित्सा नहीं है, अर्थात् वह असाध्य है, उसकी चिकित्सा न करे।

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये। दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते॥ १८॥

ज्वर-अतिसार-शोथ सम्बन्धी अरिष्ट—जिस मनुष्य को शोफ (शोथ) रोग के अन्त में ज्वर तथा अतिसार हो जाय अथवा ज्वर-अतिसार के शान्त हो जाने पर शोथ हो जाय और यदि वह मनुष्य विशेष रूप से शरीर से दुर्बल हो तो उक्त रोग उसको मारने के लिये होते हैं।

वक्तव्य—ज्वर, अतिसार, शोथ ये सामान्य रोग हैं, ये पृथक्-पृथक् रूप में होते हैं। उचित चिकित्सा करने से दूर भी हो जाते हैं, किन्तु उपर्युक्त क्रम से जब ये विशेष रूप से दुर्बल पुरुष पर आक्रमण करते हैं तो वह बेचारा मर जाता है।

पाण्डुरश्च कृशोऽत्यर्थं तृष्णयाऽभिपरिप्लुतः।
डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजानता॥ १९॥

१. अन्य अचिकित्स्य रोगी—जो रोगी पाण्डु (पीले) वर्ण का हो या पाण्डुरोग की असाध्य स्थिति को प्राप्त हो गया हो, जो अत्यन्त कृश हो गया हो, जिसे बार-बार प्यास लग रही हो या जिसका मुख लगातार सूख रहा हो, स्तब्ध नेत्रों से देखने वाला, जिसका श्वास बाहर निकलते समय कष्ट दे रहा हो, अरिष्ट-लक्षणों को जानने वाला चिकित्सक इनकी चिकित्सा न करे, अर्थात् रोगी को जवाब दे दे।

हनुमन्याग्रहस्तृष्णा बलह्रासोऽतिमात्रया। प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत्॥ २०॥

२. अन्य अचिकित्स्य रोगी—जिसको हनुग्रह, मन्याग्रह रोग हो गया हो, अधिक मात्रा में बल की हानि हो गयी हो, जिसके प्राण (स्पन्दन) केवल हृदय-प्रदेश में ही हों, जानकार चिकित्सक ऐसे रोगी को छोड़ दे।

१. 'उरोमुक्तः' इति पा०।
२. 'शुष्ककासज्वरार्दितः' इति पा०।
३. 'कोष्ठेऽभिलक्षिताः' इति, 'कण्ठाभिलक्षिताः' इति च पा०।

[1]ताम्यत्यायच्छते शर्म न किञ्चिदपि विन्दति । क्षीणमांसबलाहारो मुमूर्षुरचिरान्नरः ॥२१॥

३. अन्य अचिकित्स्य रोगी—जिसकी आँखों के सामने अन्धकार छा गया हो, जो हाथ-पैरों को पटक रहा हो, किसी प्रकार जिसको कोई सुख न मिल रहा हो, जिसका मांस, बल और आहार क्षीण हो गया हो, वह पुरुष शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम् । [2]वर्धन्ते दारुणा रोगाः शीघ्रं शीघ्रं स हन्यते ॥२२॥

४. अन्य अचिकित्स्य रोगी—जिस पुरुष में विरुद्धयोनि तथा विरुद्धोपक्रम वाले भयंकर रोग अत्यन्त शीघ्र बढ़ जाते हैं, ऐसा पुरुष इन्हीं रोगों द्वारा शीघ्र मारा जाता है।

वक्तव्य—विरुद्ध (परस्पर गुण-धर्म के कारण विपरीत) योनि (उत्पत्ति) वाले रोग, जैसे—रोगी की उत्पत्ति दूषित वात आदि दोषों से होती है। यदि एक ही समय में वातज तथा पित्तज या पित्तज तथा कफज रोग हो जाते हैं तो इनको विरुद्धयोनिज रोग कहा गया है, देखें ९ वाँ और १० वाँ श्लोक। विरुद्धोपक्रम अर्थात् परस्पर विपरीत है उपक्रम = चिकित्सा जिनकी। इसके उदाहरणस्वरूप आप उभयमार्ग से प्रवृत्त होने वाले रक्त-पित्त रोग पर ध्यान दें।

बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी [3]मांसशोणितम् । एतानि यस्य [4]क्षीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते ॥२३॥

५. अन्य अचिकित्स्य रोगी—बल, विज्ञान (शास्त्र आदि का विशेष ज्ञान), आरोग्य (स्वास्थ्य-सम्पत्ति), ग्रहणी की कार्यशक्ति, मांस और रक्त, ये जिस पुरुष के जल्दी-जल्दी क्षीण हो रहे हों, वह इन्हीं के कारण शीघ्र मारा जाता है। वास्तव में इन सबके क्षीण होने के बाद पुरुष-शरीर में केवल अस्थि-चर्म ही शेष रह जाते हैं।

आरोग्यं हीयते यस्य[5] प्रकृतिः परिहीयते । सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥२४॥

६. अन्य अचिकित्स्य रोगी—जिस पुरुष की समुचित चिकित्सा करने पर भी सहसा आरोग्य (स्वास्थ्य) की हानि होती जाती है (पाठभेद के अनुसार—जिसके रोग बढ़ते जाते हैं) और प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक गुण जिसके सहसा घटते जाते हैं, मृत्यु उसके जीवन का सहसा हरण कर लेती है।

तत्र श्लोकः—

इत्येतानि शरीराणि व्याधिमन्ति विवर्जयेत् । न ह्येषु धीराः पश्यन्ति सिद्धिं काञ्चिदुपक्रमात् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने कतमानि
शरीरीयमिन्द्रियं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश के इस—'कौन रोगयुक्त शरीर ऐसे होते हैं, जिनकी चिकित्सा न करें'—प्रश्न का उत्तर इस सम्पूर्ण अध्याय में देते हुए कहा है—इन रोगों से युक्त शरीरों की चिकित्सा का परित्याग कर दे, क्योंकि चिकित्सा-क्षेत्र में कुशल विद्वान् चिकित्सक किसी भी चिकित्सा-विधि से इन रोगों में सफलता होते नहीं देखते हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रिय-
स्थान में कतमानि शरीरीय-इन्द्रिय नामक छठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

१. 'व्यायच्छते ताम्यति च शर्म किञ्चिन्न विन्दति' इति पा०।
२. 'विकारा यस्य वर्धन्ते' इति पा०।
३. 'मांससारिणी' इति पा०।
४. 'हीयन्ते' इति पा०।
५. 'विकारा यस्य वर्धन्ते' इति पा०।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातः पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कतमानि शरीरीय-इन्द्रिय अध्याय की व्याख्या करने के बाद अब हम पन्नरूपीय-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इन्द्रियस्थान के प्रथम अध्याय की प्रस्तावना के अनुसार अब छाया तथा प्रतिच्छाया रूपी अरिष्टों को जानने के लिये पन्नरूपीय अध्याय की प्रस्तावना की जारही है—'पन्नं (गतं=नष्टं) रूपं यस्याः सा पन्नरूपा, छाया, प्रतिच्छाया'। पद् गतौ धातु से 'क्त' प्रत्यय करने से 'पन्न' शब्द की निष्पत्ति होती है, अर्थात् मरने से पहले जिसका रूप नष्ट हो जाता है, उस विषय का इस अध्याय में वर्णन किया जायगा।

दृष्ट्यां यस्य विजानीयात् पन्नरूपां कुमारिकाम् । प्रतिच्छायामयीमक्ष्णोर्नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥

१. प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी के दृष्टिमण्डल में प्रतिच्छाया (Reflection) रूपी कुमारिका (पुतली पर सांसारिक पदार्थों की जो छाया = Shadow पड़ती है, उसे कुमारिका या कन्यका कहते हैं।) पन्नरूपा (नष्ट) हो गयी हो, ऐसा जानकर उसकी चिकित्सा करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

ज्योत्स्नायामातपे दीपे सलिलादर्शयोरपि । अङ्गेषु विकृता यस्य च्छाया प्रेतस्तथैव[1] सः ॥४॥

छाया सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष की छाया चन्द्रमा की चांदनी में, सूर्य के प्रकाश (धूप) में, दीपक के प्रकाश में, जल में तथा आदर्श (शीशा) में विकारयुक्त अंगों वाली अर्थात् किसी अंगविशेष में विकारयुक्त दिखलायी देती हो तो उसे प्रेत के सदृश समझें। तात्पर्य यह है कि उस जीवित को मरे हुए के समान ही समझें, वह बच नहीं सकता।

छिन्ना भिन्नाऽऽकुला च्छाया हीना वाऽप्यधिकाऽपि वा ।
नष्टा तन्वी द्विधा च्छिन्ना विकृता विशिरा च या ॥ ५ ॥
एताश्चान्याश्च याः काश्चित् प्रतिच्छाया विगर्हिताः ।
सर्वा मुमूर्षतां ज्ञेया न चेल्लक्ष्यनिमित्तजाः ॥ ६ ॥

छाया-प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट—उपर्युक्त चांदनी आदि के प्रकाश में छिन्न (कटी हुई), भिन्न (फटी हुई), आकुल (विभिन्न प्रकार के मिश्रितरूपों वाली), हीन (वास्तविक स्वरूप से कम) अथवा अधिक अर्थात् वास्तविक स्वरूप से ज्यादा, जैसे—स्वाभाविक रूप से एक सिर होता है, छाया में दो या तीन दिखलायी दें, इसी प्रकार अन्य अंग-प्रत्यंगों का भी विचार करें। नष्ट (जिसकी छाया ही न दिखलायी देती हो), तन्वी (पतली), द्विधा छिन्ना (दो भागों में बँटी हुई), विकृत स्वरूप वाली और जो विशिर (शिररहित) हो, ये (ऊपर कही गयी) या इनके अतिरिक्त जो कोई निन्दित प्रतिच्छायाएँ हैं, यदि लक्ष्यनिमित्तज न हों तो ये सभी मरणासन्न मनुष्यों में होती हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें पद्य में 'छिन्ना' तथा 'द्विधा च्छिन्ना' प्रायः समानार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि द्वैधीकरणार्थक 'छिदिर्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर बना हुआ 'छिन्न' शब्द दो भागों में विभक्त होने रूप अर्थ को बतलाने के लिये स्वयं समर्थ है, किन्तु वह द्वैधीकरण कितनी बार हुआ इसका निश्चय 'छिन्ना' शब्द से नहीं होता, अतः इसको हम अनियतार्थक स्वीकार करते हैं। ऐसा निर्णय लेने पर इसका अर्थ '**अनेकधा छिन्ना**' हो जायेगा, क्योंकि आगे '**द्विधा च्छिन्ना**' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है।

निष्कर्ष—अतः 'छिन्ना' का अर्थ होगा, जिस पुरुष की छाया अनेक टुकड़ों में विभक्त है और 'द्विधा च्छिन्ना' का अर्थ तो सुतरां स्पष्ट है।

१. 'प्रेतस्तथाविधः' इति पा०।

यद्यपि अरिष्टाधिकार में जिन अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन किया गया है, वे सभी अनिमित्त (अकारण) ही होते हैं, अर्थात् भविष्य में होने वाली मृत्यु की सूचना के अतिरिक्त उनका कोई कारण नहीं होता, तथापि यहाँ जो 'न चेल्लक्ष्यनिमित्तजाः' का उल्लेख किया है, यह केवल विषय को स्पष्ट करने के लिये ही किया गया है। उक्त ५ वें पद्य में 'छाया' तथा ६ ठे पद्य में 'प्रतिच्छाया' शब्द का उल्लेख हुआ है, निश्चित ही ये दोनों पद भिन्न-भिन्न अर्थों के सूचक है।

छाया (Shadow)—'छाया सूर्यप्रिया'। अमरकोष। कुछ व्याख्याकारों ने पूर्वाभास (Aora) को छाया का पर्याय माना है, वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, देखें—'बृहत् पारिभाषिकशब्दसंग्रह'। इसमें ग्यारह प्रकार के पूर्वाभासों की चर्चा इस प्रकार की गयी है—१. दमापूर्वाभास, २. अपस्मारपूर्वाभास, ३. स्वादपूर्वाभास, ४. प्रज्ञात्मकपूर्वाभास, ५. गतिपूर्वाभास, ६. गन्धपूर्वाभास, ७. पूर्वसूचकपूर्वाभास, ८. मनोविकारीपूर्वाभास, ९. संवेदीपूर्वाभास, १०. आशयिकपूर्वाभास और ११. दृष्टिपूर्वाभास। यदि हम इन पूर्वाभासों का अरिष्ट के क्षेत्र में परिगणन कर भी लेते हैं, तो इन्द्रिय-विषयक अरिष्टों की चर्चा इसी इन्द्रिय-स्थान के चौथे अध्याय में तथा रोग सम्बन्धी अरिष्टों की चर्चा पाँचवें अध्याय में की जा चुकी है, जो छाया से सर्वथा भिन्न हैं।

प्रतिच्छाया (Reflected Image)—'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं···प्रतिच्छाया'। अमरकोष। इनका विशेष परिचय आगे ९ वें तथा १० वें पद्य में दिया गया है।

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभया तथा। छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः ॥ ७ ॥

यदि रोगी अथवा स्वस्थ पुरुष की संस्थान (आकृति) से, शरीर के प्रमाण (लम्बाई, चौड़ाई) से, वर्ण (गौर या श्याम आदि) से तथा प्रभा (कान्ति) से छाया में किसी प्रकार का परिवर्तन आ जाता है, तो उसको जीवित रहने पर भी प्रेत ही समझना चाहिये।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में '**स्वस्थोऽपि**' शब्द ध्यान देने योग्य है, क्योंकि अरिष्टलक्षण रोगी अथवा स्वस्थ पुरुष में समानरूप से देखे जाते हैं।

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च सा। मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ॥८॥

संस्थान (Shape) **परिचय**—संस्थान को आकृति (स्वरूप) समझना चाहिये। वह आकृति सुषमा (अत्यन्त सुन्दर) और विषमा (असुन्दर) भेद से दो प्रकार की होती है। मनुष्यों के शरीर का प्रमाण तीन प्रकार का होता है—१. मध्य, २. अल्प और ३. महान्।

वक्तव्य—सुषमा शब्द का अर्थ है—परमशोभा (Beautiful or very pleasing)। प्रस्तुत प्रकरण में सुषमा शब्द को इस प्रकार समझना चाहिये—यदि असुन्दर पुरुष सहसा परम शोभायुक्त दिखलायी देने लगे तो इसे अरिष्ट समझें, अथवा सुरूप पुरुष की आकृति में विषमता अर्थात् असुन्दरता दृष्टिगोचर हो तो वह भी अरिष्ट-लक्षण होता है।

प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु। छाया या सा प्रतिच्छाया च्छाया वर्णप्रभाश्रया ॥९॥

छाया-प्रतिच्छाया-परिचय—प्रत्येक पुरुष के शरीर के प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाई) तथा आकृति के अनुसार जल, आदर्श (शीशा), घृत, तैल आदि में जो छाया दृष्टिगोचर होती है, उसे प्रतिच्छाया (परछाईं) कहा जाता है और छाया शरीर के वर्ण तथा प्रभा पर आश्रित होती है।

वक्तव्य—संक्षेप में प्रतिच्छाया शरीर से अन्यत्र दर्पण आदि में देखी जा सकती है और छाया केवल वर्ण (गौर, कृष्ण आदि के रूप में) तथा प्रभा (कान्ति) के रूप में सतत शरीर से सम्बद्ध रहती है।

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः। नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥१०॥

छाया के पाँच भेद—आकाश आदि पञ्चमहाभूतों की अपने-अपने लक्षणों वाली छाया पाँच प्रकार की होती है, जैसे—१. आकाश सम्बन्धी, २. वायु सम्बन्धी, ३. अग्नि सम्बन्धी, ४. जल सम्बन्धी और ५. पृथिवी सम्बन्धी। क्रमशः इनका परिचय—

१. नाभसी छाया—यह निर्मल (स्वच्छ) वर्णवाली, नीलवर्ण युक्त, स्निग्धता से युक्त (रूक्षता रहित) और प्रभायुक्त होती है। इसी को आकाश सम्बन्धी छाया कहते हैं।

रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा। विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥११॥

२. वायवी छाया– वायु सम्बन्धी छाया रूक्षतायुक्त, श्याव (Dark-brown) वर्ण वाली, अरुण (Reddish brown) वर्ण वाली तथा हतप्रभ (प्रभाहीन) होती है।

३. आग्नेयी छाया—अग्निसम्बन्धी छाया शुद्ध रक्त वर्ण वाली, प्रदीप्त आभा वाली तथा देखने में प्रिय अर्थात् आँखों को अच्छी लगती है।

शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा [1]स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ॥ १२ ॥

४. आम्भसी छाया—जल सम्बन्धी छाया शुद्ध वैदूर्यमणि (लहसुनिया) की भांति स्वच्छ तथा अत्यन्त स्निग्ध (चिकने) वर्ण वाली होती है। **५. पार्थिवी छाया**—पृथिवी सम्बन्धी छाया स्थिर स्निग्धतायुक्त, घनी (जिसमें विरलता का अभाव हो), श्लक्ष्णा (चिकनी), श्याम (हरिताभ) तथा श्वेताभ होती है।

वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः [2]सुखोदयाः। वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥१३॥

छायाओं की फलश्रुति—उपर्युक्त पाँच प्रकार की छायाओं में वायवी छाया निन्दित है। इसके अतिरिक्त शेष चार छायाएँ सुख का उदय करने वाली होती हैं। वायु सम्बन्धी छायाएँ या तो मृत्युकारक होती हैं, या किसी कारण यदि मृत्यु नहीं हुई तो अत्यन्त (मृत्यु के समान) कष्टकारक होती हैं।

वक्तव्य—ऊपर पार्थिवी छाया का एक लक्षण 'स्थिरा' दिया है, इसका तात्पर्य है—गर्मी अथवा जाड़े
के मौसम में न बदलने वाली छाया, उक्त पाँच प्रकार की छायाओं में वायवी छाया को निकृष्ट माना गया है।
वास्तव में इन पञ्चमहाभूतों की छायाओं का प्रभाव मानव में जन्म से ही होता है। वायु सम्बन्धी छाया वाले
पुरुष दुर्भग या फूहड़ देखे जाते हैं। अन्य चार छायाएँ वर्णन के अनुरूप फल देने वाली अतएव शुभ मानी
जाती हैं। अरिष्ट-लक्षणों के रूप में जन्मजात छायाओं में परिवर्तन भी देखा गया है, यह निश्चित मारक होती
है। इस स्थिति में शुभ छायाओं का भी विपरीत फल होता है।
साधारणतया वायवीय छाया वाले प्राणी रोगी, अल्पायु तथा आजीवन दुःखी रहने वाले होते हैं। इसके
अतिरिक्त आकाश आदि भूतों की छाया से युक्त प्राणी स्वस्थ एवं दीर्घायु होते हैं। वास्तव में जिसके शरीर में
जिस भूत (पृथिवी आदि) की विशेषता रहती है, उसी तत्व की छाया शरीर में दिखलायी देती है।

स्यात् तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥ १४ ॥
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः [3]सङ्क्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ १५ ॥

सभी प्रकार की प्रभा तेजो धातुमयी (पैत्तिक) होती
प्रभा की उत्पत्ति का कारण, भेद तथा फल—सभी प्रकार की प्रभा तेजो धातुमयी (पैत्तिक) होती है। रूपभेद से वह सात प्रकार की होती है—१. लाल, २. पीली, ३. सित (सफेद), ४. श्याव (Dark-brown), ५. हरित, ६. पाण्डुर (हलकी पीली) और ७. काली। उक्त प्रभाओं में जो विकासयुक्त, स्निग्ध (चिकनायी युक्त) तथा विपुल (विस्तृत) हों वे शुभ होती हैं। इनके अतिरिक्त, जो प्रभाएँ रूक्ष, मलिन तथा संक्षिप्त (विपुल के विपरीत) हों वे अनिष्टकारक होती हैं।

वर्णमाक्रामति च्छाया [4]भास्तु वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते च्छाया भाः प्रकृष्टा[5] प्रकाशते ॥ १६ ॥

---

१. 'स्निग्धाऽऽयता' इति पा०।
२. 'शुभोदयाः' इति पा०।
३. 'सङ्क्लिष्टाः' इति पा०।
४. 'प्रभा' इति पा०।
५. 'विकृष्टा भाः' इति पा०।

नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद् विशेषाश्चिह्नयन्ति तु । नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाप्रभाश्रयाः ॥

छाया तथा प्रभा में अन्तर—छाया वर्ण (गौर, कृष्ण आदि) को आक्रान्त कर देती है, अर्थात् वर्ण को ढक देती है, अथवा वर्ण के ऊपर छा जाती है और भा (प्रभा) वर्ण को प्रकाशित कर देने वाली होती है। छाया समीप से दिखलायी देती है और भा (प्रभा) दूर से ही प्रकाशित होती है। कोई पुरुष छाया तथा प्रभा से रहित नहीं होता। मनुष्यों को विशेषताओं को ये (छाया और प्रभा) ही विशेष रूप से चिह्नित (प्रकट) करती हैं। समय-समय पर मनुष्यों के शुभ लक्षणों अथवा अशुभ लक्षणों की उत्पत्ति छाया तथा प्रभा के आश्रित होती है।

वक्तव्य—सूर्य चन्द्र पर जो ग्रहण लगता है, यह छाया है। शेष दिनों जो इनका प्रकाश दिखलायी देता है, वह इनकी प्रभा है, देखें—'प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः'। गीता अ० ७।८। अथवा छाया कान्तिहीनता का नाम है और प्रभा कान्तिसम्पन्नता का नाम है। कान्तिमान् पुरुष सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न होता है, इसीलिये कहा गया है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'। सुभाषित। वास्तव में जो जितना प्रभावान् होता है, उसी अनुपात में वह श्रीमान् होता है। ठीक इसके विरुद्ध जो जितना छायावान् होगा, वह उतना ही अभागा होता है। मृत्युकाल में मानव कान्ति या प्रभाहीन हो जाता है, वर्ण मलिन हो जाता है, केवल छाया मात्र अवशिष्ट रह जाती है।

छाया तथा प्रभा में अन्तर

(Difference between Shadow and Lustre)

छाया (Shadow)	**प्रभा** (Lustre)
१. छाया वर्ण के ऊपर छा जाती है।	१. प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है।
२. छाया समीप से दिखलायी देती है।	२. प्रभा दूर से दिखलायी देती है।
३. छाया के पाँच भेद होते हैं।	३. प्रभा के सात भेद होते हैं।
४. छाया की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से होती है।	४. प्रभा की उत्पत्ति तैजस् तत्व से होती है।
५. छाया वर्ण तथा प्रभा पर आश्रित होती है।	५. प्रभा सर्वथा स्वतन्त्र है।

कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता । सन्त्रासश्चोष्णगात्रत्वं[1] यस्य तं परिवर्जयेत् ॥१८॥

अरिष्ट लक्षण—जिस पुरुष की दोनों आँखें कामला रोग से पीड़ित की भांति (पीली पड़ गयीं) हों, मुख-मंडल भरा हुआ हो, शंख-प्रदेश का मांस घट गया हो, जिसे भय लग रहा हो और जिसका शरीर हर समय गरम बना रहता हो, उसे छोड़ दें।

उत्थाप्यमानः शयनात् प्रमोहं याति यो नरः । मुहुर्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति विकत्थनः[2] ॥१९॥

सात दिन के भीतर मृत्यु के लक्षण—जो मनुष्य दूसरों द्वारा बिस्तर से उठाये जाने पर अथवा नींद से जगाये जाने पर बार-बार बेहोश हो जाता है, ऐसा पुरुष यदि विकत्थन (अपनी प्रशंसा या घमंड की बातें करता) हो तो वह सात दिन तक जीवित नहीं रहता अर्थात् सात दिन के भीतर मर जाता है।

संसृष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः । व्यापन्ना ग्रहणी प्रायः सोऽर्धमासं न जीवति ॥२०॥

पन्द्रह दिन के भीतर मृत्यु के लक्षण—जिस पुरुष के प्रतिलोम (प्रतिकूल) तथा अनुलोम (अनुकूल) मार्ग में गये हुए अनेक रोग आपस में मिल गये हों और जिसकी ग्रहणी विकृत हो गयी हो, प्रायः देखा जाता है कि ऐसा व्यक्ति पन्द्रह दिन तक मर जाता है।

वक्तव्य—प्रतिलोमग तथा अनुलोमग के उदाहरण के लिये देखें, रक्तपित्त-निदान—'ऊर्ध्वं साध्यमधो-याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्'। इसके साथ अन्य अनेक रोगों का उपद्रव के रूप में आक्रमण हो गया हो तो वह स्पष्ट अरिष्ट-लक्षण होता है।

१. 'संत्रासश्चोष्णता चाङ्गे' इति पा०।
२. 'कथञ्चन' इति पा०।

ग्रहणी—छठवीं अग्निवहाधमनी (कला) का नाम ग्रहणी है, देखें—'षष्ठी पित्तधरा, या चतुर्विध-मन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति'। सु० शा० अ० ४।१८। इसी को 'ग्रहणी कहते हैं। आचार्य गंगाधर ने 'विकत्थनः' का अर्थ इस प्रकार किया है—'विशेषेण श्लाघया वैद्यो वदेत्'। हमने 'विकत्थनः' को 'नरः' का विशेषण स्वीकार किया है, क्योंकि महर्षि चाणक्य ने आत्मप्रशंसा की इस प्रकार निन्दा की है—'इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः'। सम्मानित पुरुष के लिये निन्दा मृत्यु के समान ही होती है।

उपरुद्धस्य रोगेण कर्शितस्याल्पमश्नतः । बहु मूत्रपुरीषं स्याद् यस्य तं परिवर्जयेत् ॥२१॥

सामान्य अरिष्ट-लक्षण—चिरकालिक रोग के कारण जो रोगी कृश हो गया हो, जिसकी पाचकाग्नि मन्द पड़ गयी हो, अतएव जो थोड़ा भोजन कर रहा हो अर्थात् जिसका आहार पहले की अपेक्षा घट गया हो और जिसको मल-मूत्र अधिक मात्रा में हो रहा हो, उस रोगी को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिये, अर्थात् वह शीघ्र मर जाता है।

दुर्बलो बहु भुङ्क्ते यः प्राग्भुक्तादन्नमातुरः[1] । अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥२२॥

सामान्य अरिष्ट-लक्षण—जो रोगी मनुष्य तन तथा मन से दुर्बल होने पर भी पहले (स्वस्थ अवस्था में जितना भोजन करता था, उस) से भी अधिक भोजन करने लगा हो और जिसको मल-मूत्र कम मात्रा में हो रहा हो वह जीवित रहते हुए भी प्रेत (मरे हुए व्यक्ति) के समान है।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये श्लोक २१ तथा २२ परस्परविरुद्ध लक्षणों वाले हैं। इनमें अरिष्ट-लक्षण ये हैं—१. थोड़ा भोजन करने पर अधिक मल-मूत्र का होना और २. अधिक भोजन करने पर मल-मूत्र का थोड़ा होना।

इष्टं च [2]गुणसम्पन्नमन्नमश्नाति यो नरः । शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति ॥ २३ ॥

बल-वर्ण-हानिजनित अरिष्ट—इष्ट (मनोनुकूल) तथा गुण (रस, वीर्य आदि से) सम्पन्न अन्न (आहार) का निरन्तर प्रयोग करता हुआ भी जो पुरुष बल (शारीरिक तथा मानसिक) एवं वर्ण से हीन होता जारहा हो वह जीवित नहीं रहता, अर्थात् मर जाता है।

प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलं चातिसार्यते । बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥२४॥

दीर्घश्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट—जो बार-बार जोर जोर से कबूतर की भांति अव्यक्त शब्द करता है, जोर-जोर से सांस निकालता है, जिसका मल शिथिल (जो बँधा न) होकर बार-बार निकल रहा हो, बल-हीन, प्यास लगने से पीड़ित और जिसका मुख सूख रहा हो, ऐसा रोगी अधिक समय तक नहीं बचता, अर्थात् शीघ्र मर जाता है।

ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः । मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः ॥२५॥

क्षीणश्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी का श्वास लेना मन्द पड़ गया हो, जो कष्ट के कारण व्याविद्ध (टेढ़ा-मेढ़ा) होकर हिल-डुल रहा हो, महर्षि आत्रेय पुनर्वसु उस रोगी को मरा हुआ ही कहते हैं।

वक्तव्य—श्लोक २४ में महाश्वास, श्लोक २५ में छिन्नश्वास और अगले २६ वें श्लोक में ऊर्ध्वश्वास नामक असाध्य श्वासों के लक्षणों का संकेत है, जिनमें चिकित्सा सफल नहीं होती।

ऊर्ध्वं च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते । हीनवर्णबलाहारो यो नरो न स जीवति ॥२६॥

ऊर्ध्वश्वासादि सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी पुरुष को ऊर्ध्वश्वास हो गया हो, जिसका गला कफ से रुक रहा हो, वर्ण, बल तथा आहार जिसका क्षीण हो गया हो, वह मर जाता है।

ऊर्ध्वाग्रे नयने यस्य मन्ये चारतकम्पने[3] । बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २७ ॥

नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जिसके दोनों नेत्र ऊपर की ओर चढ़ गये हों अर्थात् दोनों आँखों की पुतलियाँ

१. 'प्राग्भुक्त्वाऽन्नमातुरः' इति पा०।
२. 'वर्धिष्णुगुणसम्पन्नम्' इति पा०।
३. 'यस्यानारतकम्पने' इति पा०।

ऊपर की ओर जाकर पलकों के नीचे छिप गयी हों, दोनों मन्याएँ निरन्तर काँप रहीं हों, बलहीन, प्यास से पीड़ित (पानी पिलाने से भी जिसकी प्यास शान्त न हो रही हो) तथा जिसका मुख बार-बार सूख रहा हो, ऐसा पुरुष शीघ्र मर जाता है।

यस्य गण्डावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ। शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन् कर्म न सिध्यति ॥२८॥

विविधविषयक अरिष्ट—जिस रोगी के गण्डस्थल (दोनों कपोल) मांस से भर गये हों, अर्थात् इसके पहले उक्त लक्षण न हों, ज्वर और कासरोग अपनी चरमसीमा में हों, पेट में शूल हो रहा हो और जिसको अन्न के प्रति द्वेष हो गया हो, अर्थात् जो कुछ न खा रहा हो, ऐसे रोगी पर किसी प्रकार की चिकित्सा सफल नहीं होती है।

[1]स्यावृत्तमूर्धजिह्वास्यो भ्रुवौ यस्य च विच्युते। कण्टकैश्चाचिता जिह्वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥२९॥

अन्य अरिष्ट—जिस रोगी का सिर, जीभ तथा मुख टेढ़ा हो गया हो, जिसकी भौंहें अपने स्थान से नीचे की ओर को लटक गयी हों और जिसकी जीभ के ऊपर काँटे जैसे अंकुर उत्पन्न हो गये हों, ऐसा रोगी प्रेत के समान अर्थात् जीवन्मृत होता है।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अर्थ करते समय न तो मूलपाठ पर ध्यान दिया और न पाठभेद पर। यही कारण है कि अपनी टीका में **'आस्य'** अथवा **'मुख'** शब्द का अर्थ नहीं दिया, पाठक ध्यान दें।

शेफश्चात्यर्थमुत्सिक्तं निःसृतौ वृषणौ भृशम्। अतश्चैव विपर्यासो विकृतया प्रेतलक्षणम् ॥ ३० ॥

लिंग-वृषण सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी का शेफस् (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) अत्यन्त भीतर चला गया हो और वृषण (अण्डकोष) अत्यधिक बाहर निकल आये हों, अथवा इनके विपरीत लक्षण वाले (लिंग बाहर निकल आया हो और अंडकोष भीतर घुस गये) हों तो ये सब प्रेत (मरे हुए पुरुष) के लक्षण होते हैं।

निचितं यस्य मांसं [2]स्यात् त्वगस्थिष्वेव दृश्यते। क्षीणस्यानऽनतस्तस्य मासमायुः परं भवेत् ॥३१॥

एक मास के भीतर मृत्यु के लक्षण—जिस रोगी का मांसधातु त्वचा और अस्थियों के ऊपर ही निचित (Covered) दिखलायी देता है, जो क्षीण हो चुका है और जिसने आहार लेना छोड़ दिया है, ऐसे व्यक्ति की आयु अधिक से अधिक एक मास की होती है।

वक्तव्य—'निचितम्' शब्द की व्याख्या चक्रपाणि के अनुसार इस प्रकार है—'निचितमिति क्षीणम्, निशब्दस्य प्रतिषेधार्थत्वात्'। 'किंवा निचितमुपचितं मांसं स्यात्'।

तत्र श्लोकः—

इदं लिङ्गमरिष्टाख्यमनेकमभिजज्ञिवान्। आयुर्वेदविदित्याख्यां लभते कुशलो जनः ॥ ३२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने

पन्नरूपीयमिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

उपसंहार—इस सम्बन्ध में एक श्लोक है। जो कुशल पुरुष (चिकित्सक) इस अरिष्ट नामक लिंग को भली-भाँति जान लेता है, वह 'आयुर्वेदवित्' इस संज्ञा (उपाधि) को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—यहाँ जिस कुशल पुरुष को 'आयुर्वेदवित्' कहा गया है, उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वह अरिष्ट-लक्षणों को जानने के कारण (यह रोगी इतने दिन में मर जायेगा—यही यहाँ आयु के विज्ञान की जानकारी है) अपयश का भागी नहीं बनेगा। वैसे तो यह सम्पूर्ण संहिता आयु का ही विज्ञान है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित ताराद‌त्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में पन्नरूपीय-इन्द्रिय नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

---

१. 'व्यावृत्तमुखजिह्वस्य' इति पा०।
२. 'तु त्वगस्थि चैव' इति पा०।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातोऽवाक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पन्नरूपीय-इन्द्रिय की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ अवाक्शिरसीय-इन्द्रिय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—सातवें अध्याय में छाया-प्रतिच्छाया आदि से सम्बद्ध अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन किया गया था। इस अध्याय में भी प्रायः तदनुरूप विषयों का वर्णन होने के कारण यहाँ इसका समावेश किया गया है। अध्याय का आरम्भ 'अवाक्शिरा' शब्द से हुआ है, अत एव प्रस्तुत अध्याय का नाम 'अवाक्शिरसीय' रखा गया है।

अवाक्शिरा वा जिह्मा वा यस्य वा विशिरा भवेत्।
जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ ३ ॥

शिर-प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट—जिस प्राणी के रूप (शरीर) के प्रतिच्छाया (परछांई) में शिर नीचे की ओर दिखलायी दे रहा हो, या जिसकी प्रतिच्छाया जिह्म (टेढ़ी-मेढ़ी) हो, अथवा शिररहित हो, तो ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करने की इच्छा न करे, क्योंकि ये सभी अरिष्ट-लक्षण हैं, ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मर जाता है।

जटीभूतानि पक्ष्माणि दृष्टिश्चापि [1]निगृह्यते। यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत् ॥ ४ ॥

१. नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष के दोनों नेत्र-पक्ष्मों के बाल अकारण जटा जैसे हो गये हों, नीचे तथा ऊपर के पलकों के बालों के सट जाने के कारण जिसकी दृष्टि-आँखें निगृहीत (बन्द) हो गयी हों, ऐसे प्राणी की बुद्धिमान् चिकित्सक चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ३१ वें अध्याय का भी अवलोकन उपर्युक्त विषयों की सम्पुष्टि की दृष्टि से करना आवश्यक है।

यस्य शूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः। चक्षुषी [2]चोपदिह्येते यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ५ ॥

२. नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—शोथ रोग से पीड़ित जिस पुरुष की शोथ (सूजन) युक्त दोनों पलकें आपस में न मिलती हों और दोनों आँखों में दाह हो रहा हो तो ऐसे पुरुष को प्रेत के समान ही समझना चाहिये, अर्थात् वह शीघ्र मर जायेगा।

भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमन्तावर्तकान् बहून्। अपूर्वानकृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥
त्र्यहमेतेन जीवन्ति लक्षणेनातुरा नराः। अरोगाणां पुनस्त्वेतत् षड्रात्रं [3]परमुच्यते ॥ ७ ॥

तीन या छः दिन में मृत्यु के लक्षण—भौंहों के ऊपर या शिर के ऊपर जिस पुरुष की रुग्णावस्था में सीमन्त (माँगें) या आवर्तक (भौंरियाँ) स्पष्ट दिखलायी दें तो वह व्यक्ति निश्चित मर जायगा, ऐसा कह दें। ध्यान रहे कि ये सीमन्त और आवर्तक अपूर्व (जो स्वस्थ अवस्था में न दिखलायी देते) हों तथा अकृतक (बनावटी न हों, जैसा कि आजकल हेयर-ड्रेसर बना दिया करते हैं) हों, तो इन लक्षणों के उत्पन्न हो जाने के बाद रोगी मनुष्य केवल तीन दिन तक जीवित रहते हैं और यदि ये मारक लक्षण नीरोग पुरुषों में दिखलायी देते हैं तो उनके जीवन की अवधि अधिक से अधिक छः रात्रिपर्यन्त होती है।

आयम्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते। अनातुरो वा रोगी वा षड्रात्रं नातिवर्तते ॥८॥

---

१. 'न गृह्यते' इति पा०।
२. 'चोपदह्येते' इति पा०।
३. 'नातिवर्तते' इति पा०।

यस्य केशा निरभ्यङ्गा दृश्यन्तेऽभ्यक्तसन्निभाः । उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥९॥

केश सम्बन्धी अरिष्ट—जो स्वस्थ या अस्वस्थ पुरुष यह नहीं जानता कि उसके बाल पकड़कर उखाड़ दिये गये हैं, अर्थात् बालों को उखाड़ने में जो स्वाभाविक कष्ट होता है उसको नहीं जानता, वह छः रात्रि से अधिक जीवित नहीं रह सकता। जिसके बालों पर तेल न लगाने पर भी तेल लगाये हुए के सदृश दिखलायी दे रहा हो, तो आयु की वृद्धि के रुके हुए क्रम को जानकर धीर पुरुष उसको छोड़ दे।

वक्तव्य—साहित्यशास्त्रों में मृत्यु आदि अप्रिय शब्दों का पर्याय परिवर्तन द्वारा प्रयोग करने को 'सौकुमार्य' नामक गुण कहा गया है। देखें—चन्द्रालोक, गुणनिरूपण-प्रकरण। अतः यहाँ महर्षि आत्रेय द्वारा प्रयुक्त 'उपरुद्धायुष' शब्द मृत्यु का ही पर्याय है।

[1]ग्लायते नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति । अशूनः शूनसङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥१०॥
अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता । जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥११॥

नासिका सम्बन्धी अरिष्ट—जिसका नासिकावंश (नासिकादण्ड) ग्लानि (हर्षक्षय) युक्त हो, पृथुता (स्थूलता) को प्राप्त हो गया हो और सूजन न होने पर भी सूजा हुआ जैसा प्रतीत होता हो तो अरिष्ट लक्षणों को जानने वाले चिकित्सक द्वारा उसका प्रत्याख्यान (उसको असाध्य घोषित) कर देना चाहिये। जिस रोगी की नासिका के छिद्र अत्यन्त खुल गये हों या अत्यन्त संकुचित हो गये हों या नासिका में टेढ़ापन दृष्टिगोचर हो रहा हो अथवा जिसकी नासिका सूख गयी हो, अर्थात् जिसमें केवल त्वचा और अस्थिमात्र शेष रह गया हो, वह पुरुष अधिक समय तक जीवित नहीं रहता।

[2]मुखं शब्दश्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ । विकृत्या यस्य वा नीलौ न स रोगाद् विमुच्यते॥१२॥

विविध-विषयक अरिष्ट—जिस रोगी का मुख, शब्दश्रव (कान) तथा होंठ, सफेद, काले एवम् अत्यन्त लाल हो गये हों अथवा जिसके होंठ विकृति के कारण नीले पड़ गये हों, वह रोग से मुक्त नहीं होता, अपितु प्राणों से मुक्त हो जाता है।

अस्थिश्वेता द्विजा यस्य पुष्पिताः पङ्कसंवृताः । विकृत्या न स रोगं तं विहायारोग्यमश्नुते ॥१३॥

दाँत सम्बन्धी अरिष्ट—विकृति के कारण जिस पुरुष के द्विज (दाँत) हड्डी की भांति सफेद हो गये हों, दाँतों पर पुष्प की आकृतियाँ दिखलायी देती हों, या उन पर मैल (कीचड़) चढ़ गयी हो, तो वह पुरुष उस रोग को छोड़कर आरोग्य-लाभ नहीं करता।

वक्तव्य—स्वस्थ पुरुष के दाँतों की आभा अत्यन्त उज्ज्वल एवं मनोरम होती है। यहाँ उनको अस्थिवत् श्वेत कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जीवित दाँतों को मरी हुई निष्प्रभ हड्डी के सदृश बतलाना। भगवान् धन्वन्तरि ने दन्तविषयक अरिष्ट का वर्णन इस प्रकार किया है—'आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा । खञ्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुषमादिशेत्' ॥ सु० सू० अ० ३१।६ । इस प्रकार की विभिन्नता शास्त्रों में उनके रचयिताओं के अनुभव-भेद से देखी जाती है।

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकोपचिता भृशम् ।
श्यावा शुष्काऽथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥ १४ ॥

जीभ सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी की जीभ स्तब्ध (स्थिर), निश्चेतन (रस-ग्रहण अथवा रसविशेष विवेचन से रहित), भारी (पहले की भांति जो इधर-उधर न हो पा रही हो), नुकीले अंकुरों से अत्यन्त व्याप्त, श्याववर्णयुक्त, सूखी, शोथ युक्त अथवा विसर्पिणी हो, उक्त प्रकारों में से यदि कोई भी लक्षण जीभ में दिखलायी देता है तो वह प्रेतजिह्वा (मरे हुए की जीभ) का लक्षण है।

वक्तव्य—'विसर्पिणी' शब्द का अर्थ इधर-उधर सरकने वाली करना अधिक उपयुक्त है और विशेष करके इधर-उधर सरकाने वाली अथवा 'विगतसर्पणशीला' ये दोनों अर्थ प्रसंगोचित हैं। साँपिन के सदृश जीभ को

1. 'ग्लायते नासिकावंशः' इति पा०।

बाहर-भीतर कर होंठों को चाटना, क्लिष्ट कल्पना है, विद्वान् विचार करें। जो आचार्य चक्रपाणि ने 'विसर्पिणी बहिर्निर्गता' अर्थ किया है, वह तब ठीक होता, जब यहाँ 'विसृप्ता' ऐसा पाठ होता, क्योंकि 'विसर्पिणी' शब्द में ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय हुआ है, इसका अर्थ है—'विसर्पणं शीलम् अस्या अस्तीति-विसर्पिणी'। फिर भी 'जीभ का बाहर निकलना' यह लक्षण अरिष्टसूचक तो है ही।

दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं नरो निःश्वस्य ताम्यति । उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥

श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी अरिष्ट—जो मनुष्य लम्बी साँस लेकर फिर हलकी साँस लेकर बेहोश हो जाता है, उसके जीवन की गति का अवरोध हो चुका है, ऐसा समझकर धीर पुरुष (वैद्य) को चाहिये कि उस रोगी की चिकित्सा करना छोड़ दे।

हस्तौ पादौ च मन्ये च तालु चैवातिशीतलम् । भवत्यायुःक्षये क्रूरमथवाऽपि भवेन्मृदु ॥ १६ ॥

आयुःक्षय के लक्षण—आयु के समाप्त हो जाने (मर जाने) पर शरीर-धारियों के दोनों हाथ, पैर, तथा मन्याएँ और तालु-प्रदेश अत्यन्त शीतल हो जाते हैं अथवा शरीर के अंग-प्रत्यंग क्रूर (कड़े) अथवा मृदु (मुलायम) हो जाते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त सभी लक्षण मृत पुरुष के हैं। आप भी किसी को मृत घोषित करने के पूर्व इन-उन अंगों का भली-भांति परीक्षण अवश्य कर लें। इस समय पित्त की ऊष्मा सर्वथा समाप्त हो जाती है, वायु की अधिकता होने पर अंग क्रूर हो जाते हैं और कफ की अधिकता से मृदु हो जाते हैं।

घट्टयञ्जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन् । योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १७ ॥

१. **अन्य अरिष्ट**—जो रोगी अपने घुटने से दूसरे घुटने पर बार-बार टक्कर मार रहा हो, दोनों पैरों को उठा-उठाकर पटक रहा हो, जो बार-बार मुख को टेढ़ा कर रहा हो या दूसरी ओर को फेर ले रहा हो, ऐसा रोगी जीवित नहीं रह सकता, अर्थात् मर जाता है।

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि नखैश्छिन्दञ्छिरोरुहान् । काष्ठेन भूमिं विलिखन्न रोगात् परिमुच्यते ।१८।

२. **अन्य अरिष्ट**—जो रोगी अपने दाँतों से अपने नाखूनों के अग्रभाग को काटता है और नाखूनों से पकड़कर शिर के बालों को काटता (उखाड़ता) है और लकड़ी से जमीन पर अकारण कुछ न कुछ लिखता रहता है, ऐसा व्यक्ति रोग से मुक्त नहीं होता, मर जाता है।

दन्तान् खादति यो जाग्रदसाम्ना विरुदन् हसन् । विजानाति न चेद् दुःखं न स रोगाद् विमुच्यते ॥

३. **अन्य अरिष्ट**—जो रोगी जाग्रत् अवस्था में दाँतों को कटकटाता रहता है, जो अशान्त चित्त होकर रोता हुआ या हँसता हुआ यदि किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता तो वह रोग से मुक्त नहीं हो पाता, मर जाता है।

मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन् शय्यां पादेन हन्ति यः । उच्चैश्छिद्राणि[1] विमृशन्नातुरो न स जीवति ॥

४. **अन्य अरिष्ट**—जो रोगी बार-बार हसता हुआ, बार-बार क्ष्वेडन् (चिल्लाता हुआ) पैर से शय्या को पीटता हो या शय्या पर पैरों को पटकता हो, अपने शरीर के ऊपरी भाग के छिद्रों (नाक, कान आदि) का स्पर्श करता हुआ दिखलायी देता है, वह जीता नहीं, अर्थात् मर जाता है।

वक्तव्य—अन्य टीकाकारों ने 'क्ष्वेडन्' शब्द का अर्थ 'रोता हुआ' किया है। वास्तव में 'क्ष्वेड' शब्द का प्रयोग कोष में इन अर्थों में हुआ है—'क्ष्वेडो ध्वनौ कर्णामये विषे'। मेदिनी। अतः हमने ध्वनि अर्थ को दृष्टि में रख कर ऊपर व्याख्यान किया है।

यैर्विन्दति पुरा भावैः समेतैः परमां रतिम् । तैरेवारममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत् ॥ २१ ॥

५. **अन्य अरिष्ट**—वर्तमान रोगी पहले जिन-जिन पदार्थों की प्राप्ति होने पर अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होता था, आज उन्हीं के साथ रमण करता हुआ अथवा उन्हीं का उपभोग करता हुआ यदि ग्लानि का अनुभव कर रहा हो, तो यह उसके मृत्यु का लक्षण है, ऐसा कहे।

1. 'मुहुश्छिद्राणि' इति पा०।

वक्तव्य—स्वस्थ अवस्था में मनुष्य जिन भक्ष्य-पदार्थों, दर्शनीय दृश्यों, स्पृहणीय परिजनों को प्राप्तकर परम आनन्द का अनुभव करता था, आज यदि उनसे सहसा द्वेष या विरक्ति हो गयी हो या उनको देखकर हर्ष-क्षय हो रहा हो, तो यह अरिष्ट लक्षण है।

न बिभर्ति शिरो ग्रीवा न पृष्ठं भारमात्मनः। न हनू पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २२ ॥

६. अन्य अरिष्ट—निकट भविष्य से मरने वाले पुरुष की गरदन शिर के भार को धारण नहीं कर पाती, न अपने शरीर के भार को पीठ ही धारण कर पाती है और न जबड़े मुख में रखे हुए ग्रास को ही धारण कर पाते हैं।

वक्तव्य—ऐसी स्थिति में अंग-प्रत्यंग अपनी-अपनी ग्रहण तथा धारणशक्ति से वंचित हो जाते हैं। पैरों पर खड़ा होने की, हाथों में पकड़ने आदि की सभी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, अतएव मुख में रखा हुआ ग्रास आदि भी बाहर निकल जाता है।

सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः। विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ २३ ॥

७. अन्य अरिष्ट—निकट भविष्य में मरने वाले पुरुष में एकाएक ज्वर के कारण अधिक सन्ताप (गर्मी), तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), बेहोशी का आना, शारीरिक तथा मानसिक बल की क्षीणता, सन्धियों का शिथिल पड़ जाना, ये लक्षण हो जाते हैं।

वक्तव्य—ये प्रायः सन्निपातज्वर में होने वाले असाध्य लक्षण हैं।

गोसर्गे वदनाद् यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्। लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ २४ ॥

८. अन्य अरिष्ट—जिस लेपज्वर से उपतप्त (संतप्त) रोगी के शरीर या मुखमण्डल से गोसर्ग (प्रातः) काल में अत्यन्त पसीना चूता हो या चू रहा हो, उसका जीवन दूभर हो जाता है, अर्थात् अब वह जी नहीं सकता।

वक्तव्य—चक्रपाणि के अनुसार—'लेपज्वरः स्वल्पशीतयुक्तः कफज्वरः' है और आचार्य गंगाधर ने 'लेपज्वर' का अर्थ 'प्रलेपकज्वर' स्वीकार किया है। निदानोक्त लक्षणों पर ध्यान दें। **गोसर्ग**—'व्युष्टं विभातं द्वे क्लीबं पुंसि गोसर्ग इष्यते', अमरकोष।

नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च। आयुष्यन्तं गते जन्तोर्बलं च परिहीयते ॥ २५ ॥

९. अन्य अरिष्ट—आयुष्य (जीवन-लीला) के समाप्त हो जाने पर खाया हुआ आहार गले से नीचे नहीं उतर पाता, जीभ गले के पास पहुँच जाती है अर्थात् जीभ का संकोच कण्ठ की ओर हो जाता है, चाहने पर भी बाहर की ओर नहीं आ पाती, देखने में भी पहले का अपेक्षा छोटी दिखलायी देती है और उस व्यक्ति के बल का भी ह्रास हो जाता है।

शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ। ललाटप्रस्रुतस्वेदो [1]मुमूर्षुश्च्युतबन्धनः ॥ २६ ॥

१०. अन्य अरिष्ट—जो पुरुष प्रपाणिका (Forepart of the hand—दोनों हाथों) के अग्रभाग (मुट्ठियों) को खोलकर शिर को इधर-उधर हिलाता है, जिसके ललाट-प्रदेश से अधिक पसीना निकलता रहता है और जिसके सन्धि-बन्धन टूट चुके हों, उसे निकट भविष्य में मरने वाला समझना चाहिये।

तत्र श्लोकः—

इमानि लिङ्गानि नरेषु बुद्धिमान् विभावयेतावहितो मुमूर्षुषु।
क्षणेन भूत्वा ह्युपयान्ति कानिचिन्न चाफलं लिङ्गमिहास्ति किञ्चन ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थानेऽवाक्शिरसीय-मिन्द्रियं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१. 'मुमूर्षुः श्लथबन्धनः' इति पा०।

उपसंहार—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह निकट भविष्य में मरने वाले पुरुषों में सावधानी से इन (उपर्युक्त) लक्षणों को जानने का प्रयत्न करे, क्योंकि इनमें कुछ लक्षण ऐसे हैं, जो थोड़ी देर में प्रकट होकर शीघ्र ही अदृश्य हो जाते हैं। इस प्रकरण में कहा गया कोई भी लक्षण ऐसा नहीं जो निष्फल होता हो, अर्थात् इन सभी का फल (मृत्यु) अवश्य होता है।

वक्तव्य—यद्यपि सभी आप्तवचन सिद्धान्ततः प्रामाणिक होते हैं, तथापि सामान्य-विशेष की चर्चा शास्त्रों में सर्वत्र देखी जाती है। अन्य अध्यायों में कथित अरिष्ट-लक्षण सामान्य हैं और इस अध्याय में कथित अरिष्ट-लक्षणों की विशेषता को स्वयं तन्त्रकार स्वीकार करते हैं। अर्थात् इस अध्याय में कहे गये अरिष्ट-लक्षण कभी असफल नहीं होते, यही इसकी विशेषता है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रिय-स्थान में अवाक्शिरसीय-इन्द्रिय नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

अथातो [1]यस्य श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अवाक्शिरसीय-इन्द्रिय की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ यस्य श्यावनिमित्तीय-इन्द्रिय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—प्रस्तुत अध्याय में कुछ पहले कहे गये तथा कुछ नये अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन किया जायेगा। अध्याय का नाम-निर्धारण यहाँ भी पूर्वपरम्परा के अनुसार ही हुआ है। जैसे—'यस्य श्यावरूपनिमित्तं रिष्टमधिकृत्य कृतोऽध्यायो—यस्य श्यावनिमित्तीयः' इति।

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरिते चापि दर्शने। आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञेयस्तस्य विजानता ॥३॥

नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी के दोनों नेत्र श्याव (Dark brown) वर्ण के हो गये हों, हरित-वर्ण के हो गये हों और अपने स्थान से इधर-उधर हो गये हों तो इन लक्षणों से युक्त जो भी रोग हुआ है, वह रोगी उस रोगी की मृत्यु का कारण होता है, ऐसा जानकार वैद्य को समझना चाहिये।

निःसंज्ञः परिशुष्कास्यः [2]समृद्धो व्याधिभिश्च यः। उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥४॥

१. अन्य अरिष्ट—जो रोगी बेहोश हो, जिसका मुख सूखा हो, विविध प्रकार के रोगों से जो समृद्ध (घिरा) हो, ऐसे रोगी को इसकी आयु समाप्त हो गयी है, यह समझकर विद्वान् चिकित्सक छोड़ दें, अर्थात् इस स्थिति में उसकी चिकित्सा न करे।

हरिताश्च[3] सिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः। सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ॥ ५ ॥

२. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी की सिराएँ हरे वर्ण की या हरिताभ हो गयी हों (मृत्युकाल के पहले हाथ, पैर, पेट आदि में जो हरी या नीली सिराएँ उभर आती हैं, यह उन्हीं का स्पष्ट निर्देश है।) जिसके रोम-

१. 'यस्य श्यावीयं' इति पा०।
२. 'संविद्धः' इति पा०।
३. 'हरिताभाः' इति पा०।

कूप (जिनसे पसीना निकलता है) बन्द हो गये हों और जिसे खट्टे पदार्थों को खाने की प्रबल इच्छा हो, वह पुरुष पित्तज रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है।

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरं चोपशुष्यति। बलं च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम् ॥६॥

१. राजयक्ष्मा सम्बन्धी अरिष्ट—जिस क्षय-रोगी के शरीरान्त (हाथ-पैर) स्वस्थ पुरुष की भांति शोभित होते हैं, अर्थात् रुग्ण प्रतीत नहीं होते, शरीर (मध्यकाय) सूखता जा रहा हो, और जिसका बल घटता जा रहा हो, उसे राजयक्ष्मा रोग मार देता है।

अंसाभितापो हिक्का च च्छर्दनं शोणितस्य च। आनाहः पार्श्वशूलं च भवत्यन्ताय शोषिणः ॥७॥

२. राजयक्ष्मा सम्बन्धी अरिष्ट—शोष रोग से पीड़ित पुरुष के कन्धों में चारों ओर यदि जलन हो रही हो, हिचकी आ रही हो, खून की उलटी (वमन) हो रहा हो, उदर में आनाह (अफारा) हो और पार्श्वशूल (पसलियों) में वेदना हो तो वह मर जाता है।

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी[1] तथोदरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥८॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति। [2]अन्येष्वपि विकारेषु तान् भिषक् परिवर्जयेत् ॥९॥

विविध रोग सम्बन्धी अरिष्ट--वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, शोफ (शोथ), उदररोग, गुल्म, मधुमेह और राजयक्ष्मा रोग से जो पुरुष पीड़ित हों, यदि इनके बल तथा मांस का क्षय हो जाता है, तो ये चिकित्सा के योग्य नहीं रह जाते। इनके अतिरिक्त यदि अन्य रोगों में भी बल तथा मांस का क्षय हो चुका हो तो उन रोगियों को भी छोड़ दें। पाठभेद के अनुसार उक्त महारोगों से पीड़ित रोगियों को थोड़ी भी विकृति से युक्त हो तो छोड़ दे, यह अर्थ होगा।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ० ३३ में आठ महारोगों के रूप में जिनका उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—१. वातव्याधि, २. प्रमेह, ३. कुष्ठ, ४. अर्श, ५. भगन्दर, ६. अश्मरी, ७. मूढगर्भ तथा ८. उदररोग। वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान अ० ११ में जिन महारोगों का निरूपण किया है, वे निम्नलिखित हैं'—वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी रक्त्युदरी क्षयी। गुल्मी मेही च तान् क्षीणान् विकारेऽल्पेऽपि वर्जयेत्' ॥ ऐसा लगता है कि इन्होंने पूर्णरूपेण महर्षि आत्रेय का ही अनुसरण किया है।

विरेचनहृतानाहो यस्तृष्णानुगतो नरः। विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ १० ॥

आनाह सम्बन्धी अरिष्ट—विरेचन कराने से जिस रोगी के आनाह को शान्त करा दिया गया हो, यदि प्यास लगने के कारण अर्थात् पिपासा की शान्ति के लिये किये गये जल-पान के कारण उस विरिक्त (विरेचन कराये) पुरुष को पुनः आध्मान (आनाह) हो जाता है, तो वह जैसा प्रेत (मरा हुआ) होता है, वैसा ही है, समझें।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता में भी देखें—'विरक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत्'। सु० सू० अ० ४४।

[3]पेयं पातुं न शक्नोति कण्ठस्य च मुखस्य च। उरसश्च विशुष्कत्वाद् यो नरो न स जीवति ॥

१. अन्य अरिष्ट—जो रोगी मुख, गला तथा छाती के सूख जाने के कारण पीने योग्य (तरल) पदार्थों को नहीं पी सकता, वह मनुष्य देर तक जीवित नहीं रह सकता है।

स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिं च बलवर्णयोः। रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ १२ ॥

२. अन्य अरिष्ट—स्वर का धीरे-धीरे घटते जाना, बल तथा वर्ण की उत्तरोत्तर हानि होना, अनुचित रूप से, अर्थात् एकाएक रोग का बढ़ जाना, इन लक्षणों को देखकर यह रोगी मर जायेगा, ऐसा कह दें।

ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम्। शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

१. 'रक्ती' इति पा०।
२. 'मन्देष्वपि' ग०। 'अल्पेष्वपि' इति पा०।
३. 'पेयं पातुं न शक्नोति शुष्कत्वादास्यकण्ठयोः। उरसश्च विबद्धत्वाद्यो नरो न स जीवति'। इति पा०।

३. अन्य अरिष्ट—ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित, शरीर का तापमान जिसका समाप्त हो गया हो, वंक्षण-प्रदेश में शूल होने के कारण जो दुःखी हो और जो किसी स्थिति में सुख का अनुभव न कर रहा हो, ऐसे रोगी को बुद्धिमान् चिकित्सक छोड़ दें।

अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः। श्रोतारं चाप्यशब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

४. अन्य अरिष्ट—जो रोगी अपस्वर (अपशब्द या अपशकुन) का उच्चारण कर रहा हो या अपनी मृत्यु से सम्बन्धित कुछ बातें कह रहा हो, जिन शब्दों का उच्चारण न हो रहा हो, फिर भी यदि उन शब्दों को वह सुन रहा हो, तो ऐसे रोगी को दूर से छोड़ दे।

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति। संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ १५ ॥

५. अन्य अरिष्ट—जिस दुर्बल पुरुष को कोई भी रोग एकाएक (किसी प्रकार के उपचार के बिना) छोड़ देता है, तो ऐसे रोगी का जीवन संदिग्ध हो जाता है, ऐसा महर्षि आत्रेय स्वीकार करते हैं। अथवा आत्रेय उसके जीवन को खतरे में पड़ा मानते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिये।

अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचेरन् प्रणिपाततः। रसेनाद्यादिति ब्रूयान्नास्मै दद्याद् विशोधनम् ॥ १६ ॥
मासेन चेन्न दृश्येत विशेषस्तस्य शोभनः। रसैश्चान्यैर्बहुविधैर्दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ १७ ॥

अरिष्ट में चिकित्सा-निर्देश—यदि रोगी के बन्धु-बान्धव या परिजन हाथ जोड़कर चिकित्सक से प्रार्थना करें कि इस रोगी की आप कुछ चिकित्सा करें, तब चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह उसको मांसरस के साथ रोटी, चावल आदि खाने को कहे और परिचारक को आदेश दे कि इस अवधि में इसको किसी प्रकार का विशोधन (वमन, विरेचन आदि) का प्रयोग न करायें, एक मास तक इस प्रकार उसको मांस रस का सेवन कराने पर तथा अन्य अनेक प्रकार के रसादि प्रयोगों से भी यदि उसको कोई अच्छा लाभ (स्वास्थ्यवृद्धि) न देखें तो समझ लेना चाहिये कि इस रोगी का जीवन दुर्लभ है, अर्थात् अब यह नहीं बच सकेगा।

वक्तव्य—ऐसा लगता है कि यहाँ राजयक्ष्मा रोग से क्षीण रोगी के असाध्य स्थिति की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। उक्त १६ वें पद्य का **'रसेन'** मांसरस है और १७ वें पद्य का **'रसैः'** पारद, गन्धक के योग से निर्मित विविध रसों का संकेत है। देखें—यक्ष्मा-चिकित्सा में रस-प्रयोग।

निष्ठ्यूतं च पुरीषं च रेतश्चाम्भसि मज्जति। यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १८ ॥
निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक्। तच्च सीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति[1] ॥१९॥

थूक, शुक्र, मल सम्बन्धी अरिष्ट—जिसका थूक, मल तथा शुक्र पानी में डालने पर डूब जाता है, उसकी आयु समाप्त हो गयी है, ऐसा विद्वान् चिकित्सक कहते हैं। जिसके थूक में अनेक प्रकार के वर्ण अलग-अलग दिखलायी देते हों और इस प्रकार का वह थूक यदि पानी में डूब जाता है तो वह रोगी जीवित नहीं रह सकता, अवश्य मर जाता है।

वक्तव्य—इनका परीक्षण आज विशेष रूप से पैथालोजी विभाग के अधीन कर दिया गया है। यद्यपि इनका डूबना अन्य रोगों से आक्रान्त स्थितियों में देखा जाता है। यहाँ पूर्व प्रसंगानुसार बल, वर्ण, मांस आदि से क्षीण पुरुष के साथ ही इन लक्षणों को भी जोड़ लें। थूक में अनेक वर्णों का दिखलायी देना 'रक्तपित्त' का सम्पर्क मानना चाहिये, क्योंकि इसमें 'सुरपतिधनुष' के सदृश वर्णों का स्पष्ट उल्लेख द्रष्टव्य है।

पित्तमूष्मानुगं यस्य शङ्खौ प्राप्य वि[2]मूर्च्छति। स रोगः शङ्खको नाम्ना त्रिरात्राद्धन्ति जीवितम् ॥

शंखक-रोग सम्बन्धी अरिष्ट—ऊष्मायुक्त पित्त जब दोनों शंख-प्रदेशों में जाकर विशेष रूप से मूर्च्छित हो (सूख) जाता है, वह रोग शंखक कहा जाता है। इसके उत्पन्न होने के तीन रात्रि के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

१. 'तच्च सीदेत् पयः प्राप्य दुर्लभं तस्य जीवितम्' इति पा०।
२. 'विशुष्यते' इति पा०।

वक्तव्य—शंखक-रोग-परिचय—'यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्खयोरवतिष्ठते। श्वयथुःशङ्खको नाम दारुणस्तस्य जायते'॥ च० सू० अ० १८। २६। इसकी मारकता का वर्णन इस प्रकार है—'त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः'। च० सि० अ० ९। ७२।

सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात् प्रसिच्यते। शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयस्तथाविधः॥ २१॥

अन्य अरिष्ट—जिस मनुष्य के मुख से झाग के साथ रक्त निकलता है और पेट में सुई चुभाने का-सा कष्ट हो रहा हो, उस प्रकार का रोगी प्रत्याख्येय (जवाब दे देने योग्य) होता है।

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः। यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान्न स जीवति॥ २२॥

पैंतालीस दिन का अरिष्ट—जिस रोगी के बल तथा मांस का उत्तरोत्तर क्षय (विनाश) हो रहा हो, शीघ्रता से रोग बढ़ रहा हो तथा सभी पदार्थों के प्रति जिसकी अरुचि हो गयी हो, ऐसा पुरुष तीन पक्ष (१५×३=४५ दिन) तक जीवित नहीं रह सकता, मर जाता है।

तत्र श्लोकौ—

विज्ञानानि मनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते। भवन्त्येतानि सम्पश्येदन्यान्येवंविधानि च॥ २३॥
तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते न तु सर्वाणि मानवम्।
विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद् बोध्यानि सर्वतः॥ २४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने यस्य श्याव-
निमित्तीयमिन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

उपसंहार—इस सम्बन्ध में दो श्लोक कहे गये हैं। मनुष्यों की मृत्यु के उपस्थित होने (सामने आने) पर ये विज्ञान (विशेष मृत्यु-संकेतक लक्षण) होते हैं। इसी प्रकार के जो अन्य लक्षण होते हैं, उनको भी देखें, अर्थात् उन पर भी विचार करें। ये सभी लक्षण देखे तो जाते हैं, परन्तु इनमें सभी सर्वदा मरने वाले मनुष्य के शरीर में पूर्णरूप से प्रवेश नहीं करते, फिर भी इन सभी का परिचयात्मक ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है।

वक्तव्य—'अन्यान्येवं विधानि च'—इस पद्यांश द्वारा तन्त्रकार ने संसार की निःसीमता तथा ज्ञानभण्डार की अनन्तपारता को स्वीकार किया है। अरिष्ट-लक्षणों का यद्यपि यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में वे सब लक्षण एक स्थान पर नहीं पाये जाते, यह निर्देश इसलिये कर दिया है कि कहीं चिकित्सक सभी अरिष्ट लक्षणों को एक साथ देखने की प्रतीक्षा में धोखा न खा जाय, क्योंकि इन लक्षणों की प्राप्ति कभी देशभेद से, कभी कालभेद से और कभी रोगभेद से भी देखी जाती है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रिय-
स्थान में यस्य श्यावनिमित्तीय-इन्द्रिय नामक नवाँ अध्याय समाप्त॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातः सद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

यस्य श्यावनिमित्तीय-इन्द्रिय की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ सद्योमरणीय-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—तीन दिन, सात दिन, पक्ष, मास आदि के व्यवधान युक्त अरिष्टों के लक्षणों का वर्णन करने के बाद प्रस्तुत अध्याय उनसे भी शीघ्र मरणसूचक अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन करने के उद्देश्य से लिखा गया है, अतएव तदनुरूप इसका नामकरण किया गया है। यहाँ 'सद्यः' शब्द से कुछ आचार्य तीन रात्रिपर्यन्त काल को और कुछ सात रात्रिपर्यन्त काल को स्वीकार करते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि ने जो सात दिन के भीतर की सीमा को स्वीकार किया है, वह विचारणीय है। देखें—'तत्र सद्यः प्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान् मारयन्ति'। सु० शा० अ० ६।२३। इसके विवेचन के लिये पूर्वोक्त गद्य का अनुसन्धान करना आवश्यक है। देखें—'तत्र सद्यः प्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति'। सु० शा० अ० ६।२२। इन दोनों गद्यों से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राणहर-मर्म के किस स्थानपर प्रहार हुआ और किससे प्रहार किया गया, इन बातों पर मृत्यु की अवधि का निर्धारण करना तीन या सात रात्रि से अधिक उचित है। संहिताकार ने भी सात रात्रि के भीतर कहकर निश्चित अवधि का निर्देश नहीं किया है, यही युक्ति-युक्त भी है।

हमारे विचार से 'सद्यः' शब्द की परिसीमा अधिक से अधिक तीन रात्रि निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि सात रात्रि तक के अरिष्टों का वर्णन तो इसके पहले किया ही जा चुका है। साहित्यिक क्षेत्र में 'सद्यः' का प्रयोग ('सद्यः सपदि तत्क्षणे'। अमरकोष।) तत्काल के अर्थ में होता है। अन्यत्र देखें—'गवादीनां पयोऽन्येद्युः सद्यो वा जायते दधि'। 'पापस्य हि फलं सद्यः'। सुभाषित। 'त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते'॥ पञ्चतन्त्र। इस प्रकार 'सद्यः' की सीमा हम अधिक से अधिक तीन दिन के समय को स्वीकार कर सकते हैं।

सद्यस्तितिक्षतः प्राणाँल्लक्षणानि पृथक् पृथक्। अग्निवेश! प्रवक्ष्यामि संस्पृष्टो यैर्न जीवति॥३॥

प्रस्तुत अध्याय की प्रस्तावना—अग्निवेश! अब मैं तत्काल प्राणों को छोड़ने वाले रोगियों के अलग-अलग उन लक्षणों को कहता हूँ, जिनसे छू जाने मात्र से प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

वाताष्ठीला सुसंवृद्धा तिष्ठन्ती दारुणा हृदि। तृष्णयाऽभिपरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥४॥

१. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी की अपने स्थान में उत्पन्न वाताष्ठीला अत्यन्त बढ़ जाने के कारण हृदय को आक्रान्त कर डालती है और स्पर्श में कठोर होती है तथा रोगी प्यास (जल-पान की इच्छा) से व्याकुल हो जाता है, तब वह रोग उक्त रोगी के प्राणों का शीघ्र ही अपहरण कर लेता है।

वक्तव्य—इस अध्याय में 'सद्यः' शब्द का अर्थ उपर्युक्त वक्तव्य के निर्णय के अनुसार सर्वत्र समझें। **वाताष्ठीला**—यह नाभि के निचले प्रदेश में पत्थर के ढेले के समान कठोर उत्पन्न होती है। यह जब बढ़ते-बढ़ते हृदय-प्रदेश तक पहुँच जाती है, तो उक्त अरिष्ट-लक्षण होता है, और जब यह नीचे की ओर को बढ़ने लगती है. तो इसी को प्रत्यष्ठीला कहते हैं। देखें—माधवनि०, वातव्याधि०।

पिण्डिके शिथिलीकृत्य जिह्मीकृत्य च नासिकाम्।
वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ ५॥

२. अन्य अरिष्ट—विविध कारणों से शरीर के भीतर संचरण करने वाला वायु दूषित होने के कारण पिंडलियों को ढीली कर और नासिकावंश को टेढ़ा कर रोगी के जीवन को शीघ्र ही चुरा लेता है, अर्थात् पिंडलियों का ढीला और नासिका का टेढ़ा होना सद्यः मृत्यु का लक्षण है।

भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः।
तस्य हिक्काकरो रोगः सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ ६॥

३. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी की भौंहें अपने स्थान से हटकर नीचे की ओर को लटक गयी हों और अन्तर्दाह (हृदय आदि भीतरी अवयवों में जलन) हो रहा हो, ऐसी स्थिति में उत्पन्न हिक्का (हिचकी) रोग सद्यः जीवन का अपहरण कर लेता है।

क्षीणशोणितमांसस्य वायुरूर्ध्वगतिश्चरन्। उभे मन्ये [1]समे यस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ ७॥

१. 'समायम्य' इति पा०।

४. अन्य अरिष्ट—जिस पुरुष के रक्त, मांस क्षीण हो चुके हैं, दोनों मन्याएँ विषम हो गयी हैं और जिसका प्राणवायु ऊर्ध्वगति हो कर चल रहा हो, ऐसा वायु उसके जीवन का शीघ्र अपहरण कर लेता है।

वक्तव्य—सन् १९४१ में प्रकाशित निर्णयसागरीय चरकसंहिता की तृतीयावृत्ति में **'उभे मन्ये समे यस्य'** पाठ अंकित है। इसके व्याख्यान के प्रति चक्रपाणि मौन हैं। सन् १९७५ में श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका वाली चरकसंहिता में **'उभे मन्ये समायम्य'** पाठ अंकित है। मन्या सम्बन्धी अरिष्ट का इसके पहले इस प्रकार उल्लेख हो चुका है—'तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्'। च० इं० अ० ३।६। किन्तु यदि यहाँ मन्याओं का सम होना अर्थ किया जाय तो युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। यदि हम **'मन्ये समे'** यहाँ पर पूर्वरूपसन्धि मानकर **'असमे'** की कल्पना कर लेते हैं तो कुछ समाधान निकल सकता है, क्योंकि विषमस्थिति ही रोग या अरिष्ट का कारण होती है। यदि हम दूसरा पाठ **'समायम्य'** स्वीकार करते हैं, तब तो अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। यही दूसरा पाठ वृद्धवाग्भट को भी रुचिकर लगा, देखें—'शैथिल्यं पिण्डिके वायुर्नीत्वा नासां च जिह्मताम्। क्षीणस्यायम्य मन्ये वा सद्यो मुष्णाति जीवितम्'॥ अष्टाङ्गसंग्रह शा० अ० ११।

[1]अन्तरेण गुदं गच्छन् नाभिं च सहसाऽनिलः।
कृशस्य वङ्क्षणौ गृह्णन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ८ ॥

५. अन्य अरिष्ट—गुद तथा नाभि के बीच से सहसा जाती हुई वायु दोनों वंक्षणों को पकड़कर अर्थात् जकड़कर कृश (रस, रक्त आदि के क्षीण होने के कारण क्षीण) पुरुष के जीवन को चुरा लेती है।

वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः।
स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ९ ॥

६. अन्य अरिष्ट—जिस पुरुष को ऐसा अनुभव हो रहा हो कि मेरा शरीर गीले वस्त्र से ढक दिया है और जिसकी आँखें बाहर को निकली जैसी हों, ऐसे व्यक्ति की पसलियों की अस्थियों को मानो फैला कर, छाती को जकड़कर, पीड़ित करता हुआ वायु उसके जीवन को चुरा लेता है।

वक्तव्य—इस अरिष्ट में सम्पूर्ण विकृतियाँ कफमिश्रित वायु के कारण ही हैं।

हृदयं च गुदं चोभे [2]गृहीत्वा मारुतो बली। दुर्बलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥१०॥

७. अन्य अरिष्ट—दुर्बल पुरुष के शरीर में बलवान् विकृत वायु उसके हृदय तथा गुद-प्रदेश को जकड़ कर शीघ्र ही प्राणों का अपहरण कर लेता है।

वङ्क्षणं च गुदं चोभे गृहीत्वा मारुतो बली। श्वासं सञ्जनयञ्जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥

८. अन्य अरिष्ट—विकृत बलवान् वायु वंक्षण-प्रदेश तथा गुद को जकड़कर श्वास (महाश्वास या ऊर्ध्व-श्वास) को उत्पन्न कर शीघ्र ही जीवन का अपहरण कर लेती है।

नाभिं मूत्रं [3]बस्तिशीर्षं पुरीषं चापि मारुतः। [4]प्रच्छिन्नं जनयञ्छूलं सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥१२॥

९. अन्य अरिष्ट—प्रकुपित वायु जिस रोगी के नाभि-प्रदेश, मूत्राशय, बस्ति के ऊपरी भाग तथा मलाशय में विबन्ध उत्पन्न करता हुआ काटने के सदृश कष्ट को उत्पन्न कर शूल पैदा करती है, वह वायु शीघ्र ही उसके जीवन का अपहरण कर लेती है।

भिद्येते वङ्क्षणौ यस्य वातशूलैः समन्ततः। भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणाञ्जहाति सः ॥१३॥

१०. अन्य अरिष्ट—वातजनित शूल के कारण जिस रोगी के वंक्षण-प्रदेश में चारों ओर से फटने की-सी पीड़ा होती हो, मलभेद (अतिसार) हो गया हो और जिसको प्यास लग रही हो, ऐसा वह रोगी शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है।

---

१. 'गुदं नाभिं चान्तरेण गृह्णाति' इति पा०।
२. 'गृह्णाति' इति पा०।
३. 'नाभिं बस्तिशिरो मूत्रम्' इति पा०।
४. 'विबध्य' इति पा०।

आप्लुतं मारुतेनेह शरीरं यस्य केवलम्। भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥१४॥

११. अन्य अरिष्ट—विकृत वायु के कारण जिसका सम्पूर्ण शरीर आक्रान्त हो गया हो, मलभेद (अतीसार) तथा प्यास से पीड़ित वह रोगी शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है।

शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः। भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥१५॥

१२. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी का शरीर वातज शोफ (शोथ) से सूज गया हो, मलभेद तथा तृष्णा से पीड़ित हो, वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है, अथवा प्राण उसको छोड़ देते हैं।

आमाशयसमुत्थाना यस्य स्यात् परिकर्तिका। भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणाञ्जहाति सः ॥१६॥

१३. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी के आमाशय प्रदेश में परिकर्तिका (कैंची से काटने के समान कष्ट) हो, मलभेद हो रहा हो और प्यास लग रही हो, वह शीघ्र प्राणों को छोड़ देता है।

वक्तव्य—श्री जयदेव विद्यालंकार ने 'भिन्नपुरीष' के स्थान पर 'गुदग्रह' पाठ स्वीकार किया है, किन्तु वृद्धवाग्भट को यहाँ 'शकृद्भेद' ही अभीष्ट है। देखें—'यस्यामाशयोत्था परिकर्तिकातितृष्णा शकृद्भेदश्च। यस्य पक्वाशयोत्था परिकर्तिकातितृष्णानिमात्रश्च गुदग्रहः'॥ अष्टाङ्गसंग्रह शा० अ० ११। ध्यान दें—आमाशयोत्था परिकर्तिका में 'शकृद्भेद' और पक्वाशयोत्था परिकर्तिका में 'गुदग्रह' को उद्धृत कर इन्होंने यहाँ सर्वथा महर्षि आत्रेय का अनुसरण किया है। योगीन्द्रनाथ सेन ने यहाँ आमाशय और पक्वाशय भेद से एक ही श्लोक को दो बार लिखा दिया है, अन्यत्र यह एक ही श्लोक है।

पक्वाशयसमुत्थाना यस्य स्यात् परिकर्तिका। तृष्णा गुदग्रहश्चोग्रः सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥

१४. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी के पक्वाशय प्रदेश में परिकर्तिका (Colic=उदरशूल) हो, प्यास की अधिकता तथा तीव्र मलबन्ध हो, तो वह शीघ्र ही मर जाता है।

[1]पक्वाशयमधिष्ठाय हृत्वा संज्ञां च मारुतः। कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥१८॥

१५. अन्य अरिष्ट—जब प्रकुपित वायु पक्वाशय का आश्रय लेकर रोगी को बेहोश कर देती है और कण्ठ में घुर-घुर शब्द को पैदा कर देती है तब वह उस प्राणी के प्राणों का हरण कर लेती है।

वक्तव्य—इस घुरघुराहट में वायु के साथ कफ का मिश्रण भी रहता है।

दन्ताः कर्दमदिग्धाभा मुखं चूर्णकसन्निभम्। सिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥

१६. अन्य अरिष्ट—जिस रोगी के दाँत कीचड़ से लिपे या पुते हुए से दिखलायी दें और सभी अंगावयव पसीने की बूंदों से युक्त हों, ये लक्षण तत्काल मरने वाले के होते हैं।

वक्तव्य—'सिप्रायन्ते' शब्द का अर्थ आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—'सिप्रा नदी, तद्वत् स्वेदातिप्रादुर्भावादाचरन्तीति, सिप्रायन्ते। किंवा सिप्रायन्त इति शिथिलीभवन्ति'।

तृष्णाश्वासशिरोरोगमोहदौर्बल्यकूजनैः। स्पृष्टः प्राणाञ्जहात्याशु शकृद्भेदेन चातुरः ॥ २० ॥

१७. अन्य अरिष्ट—तृष्णा (प्यास), श्वास (महा-ऊर्ध्व या छिन्नसंज्ञक श्वास, क्योंकि ये असाध्य होते हैं।), शिरोरोग, मोह (बेहोशी या संज्ञाशून्यता), दुर्बलता (शारीरिक तथा मानसिक), कूजन (कबूतर की तरह कहरना) और शकृद्भेद (अतिसार) से युक्त रोगी शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है।

तत्र श्लोकः—

एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते। स जीवितं च मर्त्यानां मरणं चावबुध्यते ॥ २१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने सद्योमरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

१. 'आमाशयमधिष्ठाय' इति पा०।

उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक है। इन (अध्यायोक्त) अरिष्ट-लक्षणों की चिकित्सा जो भली-भांति जानता है, वह मनुष्यों के जीवन-मरण की अवधि को ठीक-ठीक समझता है।

वक्तव्य—शिक्षित अथवा अशिक्षित समाज चिकित्सक की इस सत्य घोषणा युक्त योग्यता से कि यह रोगी किसी हालत में नहीं मर सकता, अथवा अब इस रोगी को धन्वन्तरि भी नहीं बचा सकता, यह तो इतने दिनों का मेहमान रह गया है' अत्यन्त प्रभावित हो जाता है। अतः अरिष्ट-लक्षणों के परिज्ञान की चिकित्सक को परम आवश्यकता होती है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रिय-स्थान में सद्योमरणीय-इन्द्रिय नामक दसवाँ अध्याय समाप्त॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथातोऽणुज्योतीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

सद्योमरणीय-इन्द्रिय की व्याख्या करने के बाद अब हम अणुज्योतीय-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—निश्चित काल का निर्देश करने वाले अरिष्टों का दसवें अध्याय में वर्णन करने के बाद काल-विशेष में नियत अरिष्ट को बतलाने वाले लक्षणों का प्रस्तुत अध्याय में उल्लेख किया जायगा। यहाँ प्रथम पद्य का आरम्भ 'अणुज्योति' शब्द से हुआ है, अत एव इस अध्याय का उक्त नाम रखा गया है।

अणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा। रतिं न लभते याति परलोकं समान्तरम्॥ ३॥

एक वर्ष के भीतर मृत्यु के लक्षण—जिस पुरुष की कायाग्नि अथवा जाठराग्नि अणु (परिमाण में पहले की अपेक्षा बहुत कम) हो गयी हो, जिसका मन एकाग्र (स्थिर) नहीं रहता हो, अर्थात् सदैव चंचल बना रहता हो, जिसकी छाया पहले के सदृश न रह गयी (विकृत हो गयी) हो, जिसका चित्त कभी प्रसन्न न रहता हो, जो किसी भी स्थिति में सुख का अनुभव न कर रहा हो, वह एक वर्ष के भीतर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

बलिं बलिभृतो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते। लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः॥ ४॥

बलि सम्बन्धी अरिष्ट—जिस मनुष्य के हाथ से दी हुई बलि (ग्रास) को बलिभृत् (प्रतिदिन के दिये हुए ग्रास से अपने शरीर का पोषण करने वाले कुत्ते, कौए आदि) विश्वासपूर्वक नहीं खाते, ऐसा पुरुष साल भर के भीतर परलोक जाकर अपनी सन्तान द्वारा श्राद्ध में दिये गये पिण्ड का भोजन करता है।

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम्। संवत्सरान्ते जन्तुः स सम्पश्यति महत्तमः॥ ५॥

अरुन्धती सम्बन्धी अरिष्ट—जो प्राणी सप्तर्षियों में वसिष्ठ के समीप स्थित अरुन्धती को नहीं देखता है, वह साल भर के भीतर महा अंधकार को देखता है, अर्थात् मर जाता है।

वक्तव्य—उत्तर दिशा में ध्रुव एक स्थिर तारा है। इसकी प्रदक्षिणा ये सप्तर्षि ('कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ) करते हैं। इनके साथ अरुन्धती नामक तारा होता है। यदि किसी प्रकार का नेत्र विकार न होने पर भी यह तारा नहीं दिखलायी देता, तो यह अरिष्ट-लक्षण होता है।

१. 'गन्ता' इति पा०।

महत्तमः सम्पश्यति—गरुडपुराण के प्रेतकल्प में अनेक नरकों के नाम दिये हैं, उनमें 'अन्धतमस्' नाम का भी एक नरक है। शब्दार्थ की दृष्टि से इसका अर्थ अत्यन्त अन्धकार होता है।

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभामुपचयं धनम्। प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं समान्तं तस्य जीवितम्॥६॥

एक वर्ष के भीतर मृत्यु का लक्षण—जो पुरुष विना किसी कारण शोभा से सम्पन्न, शरीर से सहसा परिपुष्ट तथा धन से समृद्ध हो जाता है, अथवा जो इसके विपरीत हो जाता है अर्थात् जो पहले शोभासम्पन्न था सहसा शोभाहीन हो गया हो, शरीर से पुष्ट व्यक्ति एकदम कृश हो गया हो और धन से समृद्ध पुरुष लक्ष्मीहीन हो गया तो, ये अरिष्ट लक्षण हैं। ऐसे या इनमें से किसी एक लक्षण से युक्त पुरुष का जीवन एक वर्ष के भीतर समाप्त हो जाता है।

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम्। षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः॥ ७॥

१. छः मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—छः मास में मरने वाले व्यक्ति के निम्नलिखित छः गुण अकारण ही समाप्त हो जाते हैं—१. भक्ति, २. शील, (स्वभाव), ३. स्मरणशक्ति, ४. त्याग (दानशीलता), ५. बुद्धि और ६. शारीरिक तथा मानसिक बल।

वक्तव्य—ऊपर जिन छः मानवीय गुणों का वर्णन किया है, यदि मनुष्य में ये गुण नहीं रहते और वह जीवित भी रहता है, तो उसे समाज में मरा हुआ ही समझा जाता है। यहाँ भक्ति का अर्थ पूज्यजनों के प्रति भक्ति भी है और जिन वस्तुओं का वह पहले सेवन करता था, उनसे विरक्त हो जाना भी है। शील से तात्पर्य है—सद्वृत्त या सदाचार। जिन सत्कर्मों को वह सदैव करता था, उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देना।

धमनीनामपूर्वाणां जालमत्यर्थशोभनम्। ललाटे दृश्यते यस्य षण्मासान्न स जीवति॥ ८॥

२. छः मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—जिस पुरुष के ललाट (Forehead) पर अपूर्व (जैसी पहले कभी नहीं थी, ऐसी) धमनियों का अत्यन्त सुन्दर (जो देखने में अच्छा लगे, अर्थात् चित्र विशेष की आकृति वाला) जाल दिखलायी दे, तो वह छः मास से अधिक जीवित नहीं रहता।

लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते। यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत्॥ ९॥

३. छः मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—जिस पुरुष का ललाट चन्द्रमा के सदृश टेढ़ी रेखाओं से भर गया हो, उसकी आयु का अन्त छः मास के भीतर हो जायगा, ऐसा निर्देश करें।

शरीरकम्पः सम्मोहो गतिर्वचनमेव च। मत्तस्येवोपलभ्यन्ते यस्य मासं न जीवति॥ १०॥

एक मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—जिस पुरुष का शरीर काँप रहा हो, बार-बार मूर्च्छा आ रही हो, गति तथा वचन (शब्दों का उच्चारण) ये सब मत्त (नशा में धुत) पुरुष के समान हो रहे हों, ऐसा पुरुष एक मास तक भी जीवित नहीं रह पाता।

रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चाम्भसि। स मासात् स्वजनद्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति॥११॥

शुक्र, मल, मूत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जिस पुरुष के शुक्र, मल तथा मूत्र पानी में डालने पर डूब जाते हों और जिसका आत्मीयजनों (जिनसे स्वस्थ स्थिति में प्रेम था, उन) से द्वेष हो गया हो, तो वह एक मास के भीतर मृत्यु रूपी जल में डूब जाता है, मर जाता है।

वक्तव्य—'मृत्युवारिणि मज्जति' यह तन्त्रकार का आलंकारिक प्रयोग है। परवर्ती कवियों ने भी मृत्यु को 'सरिता' की संज्ञा दी है, जिसमें नहाकर वह पुनः अपना नया कलेवर धारण कर लेता है। चरक इं० अ० ९ श्लोक १८ में भी 'थूक, पुरीष तथा शुक्र' के जल में डूब जाने को सामान्य अरिष्ट के रूप में बतलाया है, किन्तु यहाँ 'थूक' के स्थान में 'मूत्र तथा स्वजनद्वेष्टा' दो लक्षणविशेष देकर एक मास के भीतर मरने की सूचना दी है। इस प्रकार इन लक्षणों को कोई पुनरुक्तदोष से युक्त नहीं कह सकता।

मूत्र का जल में डूबना—इस अरिष्ट-लक्षणयुक्त मूत्र को जल में डालकर आप देखें, मूत्र का गाढ़ापन पात्र के निचले भाग में बैठा हुआ दिखलायी देगा।

हस्तपादं मुखं चोभे विशेषाद् यस्य शुष्यतः ।
शूयेते वा विना देहात् स च [1]मासं न जीवति ॥ १२ ॥

एक मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—जिस रोगी के हाथ-पैर तथा मुखमण्डल मध्यकाय के अतिरिक्त विशेष रूप से सूख गये हों अथवा उनमें शोथ हो गया हो, वह एक मास तक नहीं बचता है।

दूसरा अर्थ—जिस पुरुष के सूखते हुए हाथ-पैर और मुखप्रदेश मध्यदेह के बिना शोथयुक्त हो जाते हैं, वह एक मास तक नहीं बचता, अर्थात् उसके पहले ही मर जाता है।

वक्तव्य—ऊपर जो दो अर्थ दिये गये हैं, उनमें पहले अर्थ में 'हस्तपादं मुखं शुष्यतः' अन्वय है। यहाँ 'शुष्यतः' लट् लकार प्रथमपुरुष द्विवचन का रूप है और दूसरे अर्थ में 'शुष्यतः' शब्द 'यस्य' का विशेषण है, शेष समान।

ललाटे मूर्ध्नि बस्तौ वा नीला यस्य प्रकाशते । राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥१३॥

शीघ्रमारक अरिष्ट—जिस पुरुष के ललाट (माथे) पर तथा बस्ति के ऊपरी भाग में बालचन्द्रमा के सदृश टेढ़ी नीली रेखा प्रकाशित होती है, अर्थात् चमकती है, वह जीवित नहीं रह सकता, अर्थात् वह एक मास के भीतर मर जाता है।

प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः । उत्पद्याशु [2]विनश्यन्ति न चिरात् स विनश्यति ॥१४॥

मसूरिका सम्बन्धी अरिष्ट—जिस मनुष्य के शरीर के ऊपर प्रवाल (मूंगा) की गोली के सदृश कान्तिवाली मसूरिकाएँ (A kind of small-pox)—उत्पन्न होकर शीघ्र ही अदृश्य हो जाती हैं, वह अत्यन्त शीघ्र मर जाता है।

ग्रीवावमर्दो बलवाञ्जिह्वाश्वयथुरेव च । ब्रध्नास्यगलपाकश्च यस्य पक्वं तमादिशेत् ॥१५॥

१. अन्य अरिष्ट—जिस पुरुष की ग्रीवा में अत्यधिक अवमर्द (जोर से मसल देने की-सी पीड़ा) हो, जीभ में अधिक सूजन आ गयी हो, ब्रध्न नामक रोग विशेष हो गया हो, मुख तथा गले में जिसका अत्यधिक पाक हो गया हो, उसे पका हुआ कहे।

वक्तव्य—जैसे पूर्णरूप से पका हुआ फल पेड़ से स्वयं अलग हो जाता है, ठीक वैसे ही इन लक्षणों से युक्त पुरुष प्राणों से अलग हो जाता है।

सम्भ्रमोऽतिप्रलापोऽतिभेदोऽस्थ्नामतिदारुणः[3] । कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत् प्रवर्तते ॥ १६ ॥

२. अन्य अरिष्ट—जो मनुष्य कालापाश (यमराज के जाल) से घिर जाता है, उसमें ये तीन लक्षण प्रवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् दिखलायी देते हैं—१. अत्यन्त तेज चक्कर का आना, २. अत्यन्त प्रलाप (अंट-संट बकना), ३. हड्डियों में फटने की-सी अत्यन्त वेदना का होना।

प्रमुह्य लुञ्चयेत् केशान् [4]परिगृह्णात्यतीव च । नरः स्वस्थवदाहारमबलः[5] कालचोदितः ॥ १७ ॥

३. अन्य अरिष्ट—जो मनुष्य बेहोश होकर अपने केशों को स्वयं नोच डालता हो, जो बड़ी जोर से पकड़ लेता हो, जो रोगी स्वस्थ पुरुष के समान पूरा-पूरा आहार करता हो फिर भी बलहीन हो, ऐसे पुरुष को कालप्रेरित समझना चाहिये, ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मरता है।

समीपे चक्षुषोः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीकरम् । स्मयतेऽपि च कालान्ध [6]ऊर्ध्वगानिमिषेक्षणः ॥१८॥

१. 'मासाद्विनश्यति' इति पा०।
२. 'विलीयन्ते' इति पा०।
३. 'पर्वभेदश्च दारुणः' इति पा०।
४. 'परान् गृह्णात्यतीव च' इति पा०।
५. 'स्वस्थवदाहारवचनः' इति पा०।
६. 'ऊर्ध्वाक्षोऽनिमिषेक्षणः' इति पा०।

नेत्र सम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष आँखों के समीप लाकर अंगुलियों तथा हाथ को ढूँढ़ता है, मुस्कुराता भी रहता है और जिसकी पलकें तथा आँखें ऊपर की ओर टंग गयीं हों, उसे कालान्ध कहते हैं, अर्थात् मृत्यु (काल) ने उसे अन्धा कर दिया है।

शयनादासनादङ्गात् काष्ठात् कुड्यादथापि वा ।
असन्मृगयते किञ्चित् स मुह्यन् कालचोदितः ॥ १९ ॥

१. अन्य अरिष्ट—जो पुरुष बेहोश होता हुआ शयन (बिस्तरे) से, आसन से, अपने अंगावयवों से, काष्ठ या काष्ठनिर्मित आसन से तथा कुड्य (दीवाल) से, जो वस्तु नहीं थी उसे खोज रहा हो अथवा किसी वस्तु को खोज रहा हो तो उसे कालप्रेरित समझना चाहिये।

अहास्यहासी संमुह्यन् [1]प्रलेढि दशनच्छदौ । शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति ॥२०॥

२. अन्य अरिष्ट—जो बेहोश होकर हँसने का कोई कारण न होने पर भी हँसता रहता है, होंठो को बार-बार चाटता है, जिसके हाथ, पैर और श्वास शीतल हो गये हों, वह पुरुष बचता नहीं, शीघ्र ही मर जाता है।

वक्तव्य—इस अरिष्ट पर ध्यान दें—'अहास्यहासी' द्वारा रोगी को इस लोक की सुध-बुध से वंचित दिखाया गया है और 'शीतपादकरोच्छ्वासः' से क्रमशः नीचे से ऊपर को ठंडा होने (मरने) के लक्षणों का वर्णन है। हाथ पैरों की शीतलता बाहरी अवयवों की निष्प्राणता है तथा शीतलश्वास से भीतर के शून्य तापमान की सूचना दी गयी है।

आह्वयंस्तं समीपस्थं स्वजनं जनमेव वा । महामोहावृतमनाः पश्यन्नपि न पश्यति ॥२१॥

३. अन्य अरिष्ट—जो महामोह से घिरा हुआ मुमूर्षपुरुष अपने को बुलाते हुए समीप में बैठे हुए स्वजन (अपने घर के व्यक्ति) को अथवा सामान्य (सहानुभूति के कारण आये हुए) जन को देखते हुए भी नहीं देखता, उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—प्रायः मरणासन्न रोगी से परिजन पूछते हैं—मुझे पहचान रहे हो, या मुझे देख रहे हो किन्तु महामोह से जिसका मन घिर गया है वह चाहता हुआ भी न तो किसी की बातें सुन सकता है और न किसी को पहचान पाता है, इसी का वर्णन ऊपर किया है।

अयोगमतियोगं वा शरीरे मतिमान् भिषक् । खादीनां युगपद् दृष्ट्वा भेषजं नावचारयेत् ॥२२॥

पञ्चमहाभूत सम्बन्धी अरिष्ट—बुद्धिमान् (आयुर्वेदशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने वाला) चिकित्सक रोगी के शरीर में आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के अयोग और अतियोग के एक साथ हुए प्रभाव को देखकर चिकित्सा करना प्रारम्भ न करे।

वक्तव्य—आकाशादि कुछ महाभूतों के गुणों का एक ही समय में अयोग और उसी समय में अन्य कुछ महाभूतों के गुणों का अतियोग दिखलायी देना स्पष्ट रूप से अरिष्ट-लक्षण है। आकाशादि महाभूतों के गुणों का परिचय चरक शारीरस्थान अ० १। २७ से ३० तक में तथा सुश्रुत शारीरस्थान अ० १।१९ में देखें। ध्यान रहे, इस अयोग तथा अतियोग की कोई क्रमिक ह्रास-वृद्धि सर्वत्र एक रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती, यह चिकित्सकों के अपने-अपने अनुभव का विषय है।

अतिप्रवृद्धया रोगाणां मनसश्च बलक्षयात् । वासमुत्सृजति क्षिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम् ॥ २३ ॥

१. अन्य अरिष्ट—रोगों के अधिक बढ़ जाने के कारण और मनोबल के क्षीण हो जाने से शरीरी (आत्मा) देहसंज्ञक (देह है संज्ञा जिसकी, ऐसे) वास (घर) को शीघ्र ही छोड़ देता है, अर्थात् वह प्राणी मर जाता है।

वर्णस्वरावग्निबलं वागिन्द्रियमनोबलम् । हीयतेऽसुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा ॥ २४ ॥

२. अन्य अरिष्ट—असुक्षय (प्राण अथवा आयु के क्षीण) हो जाने पर मनुष्य का स्वाभाविक वर्ण, स्वर,

१. 'यो लेढि' इति पा०।

अग्निबल (पाचनशक्ति), वाणी, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) और मनोबल, ये सभी क्षीण हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में वह रोगी या तो हर समय सोया ही रहता है या उसको नींद ही नहीं आती है।

भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये। वशगाः सर्व एवैते बोद्धव्याः समवर्तिनः॥ २५॥

यम के वशीभूत रोगी—चिकित्सक, औषध, पेय-पदार्थ, अन्न (खाद्य-पदार्थ), गुरुजन (माता-पिता तथा अन्य पूज्यवर्ग), मित्र (सम्बन्धी तथा शुभचिन्तक) इनसे जो द्वेष करने लगते हैं, अर्थात् जो शुभचिन्तकों की आज्ञा को न मान रहे हों और औषध, अन्न, पान का त्याग कर चुके हों, ऐसे सभी रोगियों को यमराज के वशीभूत समझना चाहिये।

एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते। नैषामन्नानि भुञ्जीत न चोदकमपि स्पृशेत्॥ २६॥

त्याज्य रोगी— चिकित्सक आदि (जो ऊपर कहे गये हैं) से जो द्वेष करते हैं, इनमें रोग अपना आक्रमण करता है और इनके प्रति भेषजद्रव्य अपने-अपने गुणों से हीन हो जाते हैं। अतः इनके अन्नों का उपभोग नहीं करना चाहिये और न इनके दिये हुए जल का स्पर्श ही करे।

वक्तव्य—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'। अर्थात् जिसकी जिसके प्रति जैसी भावना होती है, वह उसके प्रति वैसा ही फलदायक होता है। यहाँ चिकित्सक आदि से द्वेष करना, यह लक्षण रोगी की मृत्यु का लक्षण है, अतएव **'एतेषु रोगः क्रमते'** लिखा है।

भेषजं प्रतिहन्यते—मरणासन्न रोगी के पास भूत, प्रेत, पिशाच आदि अनेक प्रकार के राक्षस आदि प्रति दिन मारने की की इच्छा से आते हैं। अतएव ये औषधद्रव्य की स्वाभाविक शक्ति का नाश कर देते हैं, अतः इन पर प्रयुक्त भेषजयोग असफल होते हैं। देखें—सु० सू० अ० ३१। ३१–३२। इसी का समर्थन इसके पहले इस प्रकार किया गया है—'स स्थिरत्वान्महत्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च। निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा' ॥ सु० सू० अ० २३। १६। अर्थात् वह बढ़ा हुआ रोग धातुओं का सहारा प्राप्त कर औषध के वीर्य को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे क्रूरग्रह का प्रकोप मन्त्रों के प्रभाव को।

पादाः समेताश्चत्वारः सम्पन्नाः साधकैर्गुणैः। व्यर्था गतायुषो द्रव्यं विना नास्ति गुणोदयः॥२७॥

चतुष्पाद सम्बन्धी अरिष्ट—जिस प्रकार द्रव्य के बिना उसमें रहने वाले गुण का उदय नहीं होता, ठीक उसी प्रकार गतायु (जिसकी आयु समाप्त हो चुकी है, ऐसे) पुरुष के ऊपर साधक गुणों से युक्त चिकित्सा के चारों पादों के रहने पर भी चिकित्सा सफल नहीं होती है।

वक्तव्य—जैसे द्रव्य के बिना गुण का उदय नहीं हो सकता, वैसे ही आयुष्य के क्षीण हो जाने पर चिकित्सा आदि उपाय भी निष्फल हो जाते हैं, यही तन्त्रकार का आशय है। आयुष्य की ही प्रधानता ज्योतिष शास्त्र में भी वर्णित है। यथा—'आयुष्ये कर्मणि क्षीणे लोकोऽयं दृयते यदा। नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः॥ त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम्'॥ ज्योतिस्तत्व।

परीक्ष्यमायुर्भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च। आयुर्ज्ञानफलं [1]कृत्स्नमायुर्ज्ञे ह्यनुवर्तते॥ २८॥

आयु-परीक्षा का महत्व—चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह सर्वप्रथम रोगी अथवा नीरोग पुरुष के आयु की परीक्षा करे। क्योंकि आयुष्य को जान लेने का सम्पूर्ण फल आयुर्वेदविद् को ही प्राप्त होता है।

वक्तव्य—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पहले अरिष्ट-लक्षणों की सहायता से रोगी की आयु का निर्णय कर लेना चाहिये, यदि आयु शेष हो तो चिकित्सा करने से लाभ होगा और यदि अरिष्ट-लक्षणों की उत्पत्ति हो गयी हो तो चिकित्सा न करे, यही उक्त श्लोक का निष्कर्ष है।

तत्र श्लोकः—

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः। चिह्नं कुर्वन्ति यद् दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते॥ २९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थानेऽणुज्योतीय-
मिन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

१. 'कृत्स्नमायुर्देह्यनुवर्तते'। इति पा०।

अरिष्टलक्षण-निरुक्ति—उस अरिष्ट के सम्बन्ध में एक श्लोक है। चिकित्सा मार्ग का अतिक्रमण कर अर्थात् रोगप्रतिघातिनी चिकित्सा को निष्फल या निष्प्रभाव बनाकर जो केवल (सम्पूर्ण) शरीर में फैलकर जो दोष अपने विशिष्ट प्रकार के लक्षणों को उत्पन्न कर देते हैं, उन लक्षणों को अरिष्ट कहा जाता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रिय-स्थान में अणुज्योतीय-इन्द्रिय नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातो गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

अणुज्योतीय-इन्द्रिय की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ गोमयचूर्णीय-इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।

वक्तव्य—यहाँ अध्याय का आरम्भ 'गोमयचूर्णाभ' शब्द से हो रहा है, अतएव इसका नामकरण इसी के अनुसार किया गया है।

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते। [1]सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम्॥ ३॥

एक मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—जिस पुरुष के सिर में से गोमय (गोबर) के चूर्ण के सदृश चूर्ण स्नेह के साथ गिरता है और स्वयं नष्ट हो जाता है, ऐसा व्यक्ति एक मास के भीतर मर जाता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर के अनुसार 'सस्नेहम्' के स्थान पर 'सस्नेहे' पाठ है। इस स्थिति में 'यस्य सस्नेहे मूर्धनि गोमयचूर्णाभं चूर्णं भ्रश्यते' ऐसी वाक्य-योजना करनी पड़ेगी, जो तन्त्रान्तर से भी विपरीत प्रतीत होती है। देखें—'गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे विलयनं वा'। सु० सू० अ० ३२। ४। अतः 'सस्नेहे' पाठ को स्वीकार करने के बारे में विद्वान् विचार करें।

एक रोग रूसी नाम का होता है, जिसमें सिर के चमड़े पर जमे हुए भूसी के समान अनेक छिलके निकलते हैं। ये तेल लगाने पर कुछ समय के लिये शान्त हो जाते हैं। यदि हम **'सस्नेहे'** पाठ करते हैं, तो ऐसा सामान्य अर्थ हो जायगा, जो किसी प्रकार अरिष्ट-लक्षणों में समाविष्ट नहीं हो सकेगा। अतः उपर्युक्त पाठ ही उचित है, क्योंकि यहाँ गोमयचूर्ण की उत्पत्ति और विलय ही अभीष्ट है।

[2]निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति। विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः॥ ४॥

गतिसम्बन्धी अरिष्ट—जो पुरुष विकृति के कारण पैरों को घिसते हुए की भांति और कन्धा लटकाये हुए इधर-उधर दौड़ता रहता है, वह चिरकाल तक इस संसार में नहीं रहता है, अर्थात् इस लोक से चल देता (मर जाता) है।

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम्। आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति॥ ५॥

आधे मास के भीतर मृत्यु का लक्षण—स्नान करने के बाद चन्दन आदि का अनुलेपन करने पर जिस पुरुष का अन्य अवयवों के गीले रहते हुए सब से पहले उरःप्रदेश सूख जाता है, वह पन्द्रह दिन भी जीवित नहीं रह पाता।

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः [3]संवर्तयितुमौषधम्। यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ ६॥

१. 'सस्नेहे' इति ग०।
२. 'निर्घर्षन्निव' इति पा०।
१. 'सम्पादयितुमौषधम्' इति पा०।

औषध-निर्माण सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी को लक्ष्य करके चिकित्सक विशेष प्रकार के औषधयोग का निर्माण करना चाहता है, परन्तु प्रयत्न करने पर भी पूरा नहीं कर पाता, ऐसे व्यक्ति का जीवन दुर्लभ होता है, अर्थात् वह शीघ्र मर जाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में सिद्ध औषधों की विभिन्न परम्पराएँ हैं। रोग की कष्टसाध्य स्थिति को देखकर चिकित्सक किसी रोगविशेष के लिये औषधविशेष का जब निर्माण करने के लिये प्रवृत्त होता है, उसमें जो विघ्न-बाधाएँ आती हैं, जिनके कारण औषध का निर्माण यथासमय नहीं हो पाता। यही उपर्युक्त श्लोक सम्बन्धी अरिष्ट का स्वरूप है।

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम्। न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥७॥

सिद्ध-औषध की असफलता सम्बन्धी अरिष्ट—विधिपूर्वक जिसका निर्माण किया गया हो और अनेक बार का समझा बूझा हुआ सिद्ध-औषधयोग जिसके लिये असफल हो जाता है, उसके लिये कोई चिकित्सा नहीं है, अर्थात् वह अवश्य मर जाता है।

[1]आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम्। यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥८॥

आहार सम्बन्धी अरिष्ट—पाकशास्त्र-विशेषज्ञ चिकित्सक द्वारा भली-भांति बनाये हुए आहार का सेवन करने वाला जो व्यक्ति उसका पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नहीं कर पाता उसका बचना दुर्लभ हो जाता है, अर्थात् वह शीघ्र मर जाता है।

वक्तव्य—चिकित्सक कब किस रोग के रोगी को कौन-सा भोजन किस मात्रा में देना चाहिये, क्या हितकर है और क्या अहितकर है, इन सब बातों को जानता है। इस प्रकार के जानकार व्यक्ति द्वारा बनाया या बनवाया हुआ भोजन सर्वथा हितकारक ही होता है। इस पर भी यदि उस पथ्य भोजन का रोगी पर कोई शुभ प्रभाव नहीं पड़ता है तो निश्चित ही वह गतायु हो चुका है, ऐसा समझना चाहिये।

दूत पर आधारित पूर्वानुमान (दूताधिकार)
(Prognosis based on Messenger)

दूताधिकारे वक्ष्यामो लक्षणानि मुमूर्षताम्। यानि दृष्ट्वा भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्यायादसंशयम् ॥९॥

दूताधिकार का निर्देश—हम शीघ्र ही प्राण त्यागने वालों के लक्षणों को दूताधिकार में कहेंगे। जिनको तथा रोगी के असंयम को देखकर विद्वान् चिकित्सक रोगी का प्रत्याख्यान कर दे।

वक्तव्य—प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में लक्षणों को जानने वाले पुरुष की जैसी प्रतिष्ठा होती है, उसी प्रकार चिकित्सा-क्षेत्र की भी व्यवस्था है। दूत सम्बन्धी विशेष विचार के लिये सु० सू० अ० २९ को देखें।

दूत-परीक्षा—'दूताः स्वजातयोऽव्यङ्ग्याः पटवो निर्मलाम्बराः। सुखिनोऽश्ववृषारूढाः शुभ्रपुष्पफलैर्युताः॥ सुजातयः सुचेष्टाश्च सजीवदिशि संश्रिताः। भिषजं समये प्राप्ता रोगिणः सुखहेतवे'॥ शा० सं० अ० ३।२७ से १९ तक।

दूत के शकुन—'वैद्याह्वानाय दूतस्य गच्छतो रोगिणः कृते। न शुभं सौम्यशकुनं प्रदीप्तं च शुभावहम्'॥ शा० सं० अ० ३।२०। अर्थ स्पष्ट है।

मुक्तकेशोऽथवा नग्ने रुदत्यप्रयतेऽथवा। भिषग्यभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ॥ १० ॥

१. वैद्य के अनुसार अरिष्ट-लक्षण—चिकित्सक जब अपने केशों को खोले हो या नग्न स्थिति में हो, या रोता हो या असावधान स्थिति में हो, उस समय आये हुए दूत को देखकर रोगी की मृत्यु अवश्य होगी, ऐसा कह देना चाहिये।

वक्तव्य—यद्यपि चिकित्सक के लिये 'नीचनखलोम्ना शुचिना' क्षौरकर्म करके सदैव पवित्र रहने का विधान है। उसके बाद यह 'मुक्तकेशवाली' स्थिति का वर्णन किसी जटाजूट युक्त चिकित्सक का है। नग्न रहना, रुदन करना, ये लक्षण पहले से ही अरिष्टसूचक हैं।

सुप्ते भिषजि ये दूताश्छिन्दत्यपि च भिन्दति। आगच्छन्ति भिषक् तेषां न भर्तारमनुव्रजेत् ॥११॥

१. 'आहारमपि भुञ्जानः' इति पा०।

२. वैद्य की अन्य स्थितियों का वर्णन—जो दूत वैद्य के सोये हुए, या कुछ काटते हुए, या चीरते हुए समय में आ जाते हैं, ऐसी स्थिति में चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह दूत के स्वामी (रोगी) के पास (उसकी चिकित्सा करने के लिये) न जाये।

जुह्वत्यग्निं तथा पिण्डान् पितृभ्यो निर्वपत्यपि। वैद्ये दूता य आयान्ति ते घ्नन्ति प्रजिघांसवः ॥१२॥

३. वैद्य की अन्य स्थितियों का वर्णन—जिस समय चिकित्सक हवन कर रहा हो, या पितरों के लिये पिण्डदान कर रहा हो, उस समय जो दूत अपने स्वामी की चिकित्सा के लिये चिकित्सक के पास पहुँच जाते हैं, वे रोगी के मारक होते हैं, अतः उसको मार डालते हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने इसका विस्तृत वर्णन किया है—'दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम्। ज्वलयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्मणि चोद्यतम्॥ नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम्। प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव वा॥ वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः। वैद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने'॥ सु० सू० अ० २९।१५-१७।

कथयत्यप्रशस्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः। वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ॥ १३ ॥

४. वैद्य की अन्य स्थितियों का वर्णन—जिस समय चिकित्सक किसी अशुभ बातों को कह रहा हो अथवा मन से अशुभ चिन्तन कर रहा हो, ऐसे समय जिनके दूत चिकित्सक के पास आते (पहुँचते) हैं, उनके स्वामी मुमूर्षु होते हैं।

मृतदग्धविनष्टानि भजति व्याहरत्यपि। अप्रशस्तानि चान्यानि वैद्ये दूता मुमूर्षताम् ॥ १४ ॥

५. वैद्य की अन्य स्थितियों का वर्णन—जिस समय मरे, जले तथा नष्ट हुए व्यक्तियों के सम्बन्ध में वैद्य सोच रहा हो या बातें कर रहा हो या इसी प्रकार की कुछ और अशुभ बातें कर रहा हो, उस समय जिनके दूत पहुँच जाते हैं, उनके रुग्ण-स्वामी मरने वाले होते हैं।

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक्। दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥ १५ ॥

दूत तथा रोगप्रकृति की समानता निषिद्ध—विकार (रोग) के समान गुण वाले, देश अथवा काल में आये हुए दूत को देखकर चिकित्सक उस रोगी की चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार देखें—सु० सू० अ० २९।२०-२१।

दीनभीतद्रुतत्रस्तमलिनामसतीं स्त्रियम्। त्रीन् व्याकृतींश्च षण्डांश्च दूतान् विद्यान्मुमूर्षताम् ॥१६॥

१. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—दीन, किसी प्रकार के भय से भयभीत, जल्दी-जल्दी आयी हुई, घबड़ायी हुई, या गन्दे वस्त्रों को धारण की हुई, असती (विधवा या दुश्चरित्र) स्त्री यदि दूत बनकर आती है तो अशुभ समझें। यदि तीन पुरुष एक साथ दूत बनकर आयें हों तो रोगी के अरिष्ट के सूचक होते हैं। विकृत आकृति वाले (काने, नकटे, कुबड़े, लंगड़े आदि) नपुंसक दूतों को रोगी की मरणासन्नता का सूचक समझें।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचार सु० सू० अ० २९। ५ से ८ तक में देखें।

अङ्गव्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं व्याधितं तथा। सम्प्रेक्ष्य चोग्रकर्माणं न वैद्यो गन्तुमर्हति ॥ १७ ॥

२. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—जिसके शरीर का कोई अवयव व्यसनी (किसी रोगविशेष से पीड़ित, जैसे—लंगड़ा, लूला, काना, ऐंचा-ताना, कुबड़ा आदि) हो, लिंगी (ब्रह्मचारी वेष धारण किये) हो, रोगी अथवा उग्रकर्मा (वध, बन्धन, ताड़न) करने वाले दूत को देखकर चिकित्सक को चाहिये कि वह चिकित्सा करने के लिये न जाये, क्योंकि ऐसा दूत रोगी के अरिष्ट-लक्षणों को सूचित करता है।

आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ट्ररथवाहनम्। दूतं दृष्ट्वा भिषग्विद्यादातुरस्य पराभवम् ॥ १८ ॥

३. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—यदि रोगी का दूत खर (गदहा) अथवा उष्ट्र (ऊँट) द्वारा संचालित रथ पर सवार होकर अथवा गदहा या ऊँट पर सवार होकर रोगी की चिकित्सा के लिये वैद्य को बुलाने के लिये पहुँचे, इस प्रकार आये हुए उस दूत को देखकर चिकित्सक को समझ लेना चाहिये कि रोगी का पराभव (मरण) होने वाला है।

पलालबुसमांसास्थिकेशलोमनखद्विजान्। [1]मार्जनीं मुसलं शूर्पमुपानच्चर्म विच्युतम् ॥ १९ ॥

१. 'मार्जनीसूर्पमुसलान्युपानद्वग्नविच्युते' इति पा०।

तृणकाष्ठतुषाङ्गारं स्पृशन्तो लोष्टमश्म च । तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुमूर्षताम् ॥ २० ॥

४. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—जिन व्यक्तियों को चिकित्सक पहली बार किसी रोगी के दूतरूप में निम्नलिखित वस्तुओं का स्पर्श करते हुए देखे तो उनकी ये चेष्टाएँ रोगी के मरणासन्नता की सूचना देती है—पलाल (धान का पुआल), बुस (भूसा), मांस, अस्थि (हड्डी), केश, लोम, नाखून, द्विज (दाँत), झाड़ू, मुसल, सूप, उपानह (जूता), गिरा हुआ चमड़ा, तृण, काष्ठ (सूखी लकड़ी), तुष, अंगार (जलता हुआ कोयला), मिट्टी का ढेला या अश्म (पाषाण), अर्थात् यदि वैद्य रोगी के दूत को उक्त वस्तुओं का स्पर्श करते देखे तो, उस रोगी की चिकित्सा न करे, वह असफल होती है।

वक्तव्य—निन्दित दूतों के सम्बन्ध में धन्वन्तरि के विचार देखें—सु० सू० अ० २९।७ से १४ तक।

यस्मिंश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् । पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद् भिषक् ॥ २१ ॥

५. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—जिस समय दूत वैद्य से रोगी का इतिवृत्त सुना रहा हो, यदि उस समय चिकित्सक को कोई अशुभ निमित्त दिखलायी दे तो उसको चाहिये कि वह उस रोगी की चिकित्सा करने के लिए दूत के साथ न जाये।

तथा व्यसनिनं प्रेतं प्रेतालङ्कारमेव वा । भिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद् वादीनि वचांसि वा ॥२२॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् । स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वाऽन्यदशुभं भवेत् २३॥
तत्पूर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः । दूतानां व्याहृत श्रुत्वा धीरो मरणमादिशेत् ॥२४॥

६. दूत सम्बन्धी अन्य अरिष्ट—उसी प्रकार जब चिकित्सक रोगी के दूत से बातें कर रहा हो, उसी समय या उसके आगे पीछे किसी व्यसनी (कष्ट युक्त) पुरुष को, प्रेत (मृत) व्यक्ति को, प्रेतयान को सजाने के लिये एकत्रित फूल, माला, रेशमी वस्त्र आदि या फूटी, जली अथवा नष्ट हुई कोई वस्तु सामने दिखलायी दे या फूटी, जली, विनष्ट (खोयी) हुई वस्तु के बारे में कोई बातें सुनायी दे, या कटुरस के दर्शन हों, या तीव्रगन्ध या सड़े हुए मुर्दे की-सी गन्ध नाक में आये, या किसी अत्यन्त क्रूर (हिंसक) प्राणी का स्पर्श हो जाय अथवा कोई और अशुभ घटना हो जाय तो इन सबको देख, सुनकर धीर (बुद्धिमान्) चिकित्सक रोगी की मृत्यु हो जायेगी, ऐसा कहे। कुल मिलाकर ये सब घटनाएँ रोगी के अरिष्ट की सूचना देती हैं। अतः वैद्य ऐसे लक्षणों को देखकर दूत के साथ चिकित्सा करने न जाये।

इति दूताधिकारोऽयमुक्तः कृत्स्नो मुमूर्षताम् । पथ्यातुरकुलानां च वक्ष्याम्यौत्पातिकं पुनः ॥२५॥

दूताधिकार का उपसंहार—इस प्रकार मरने की इच्छा वाले रोगियों के दूत सम्बन्धी लक्षणों से युक्त अधिकार (अध्याय) का वर्णन कर दिया गया है। इसके बाद मार्ग में (वैद्य जब रोगी की चिकित्सा करने घर से चल देता है और रोगी के पास पहुँचने के पूर्व) होने वाले तथा आतुरकुलों (रोगी के घर तथा उसके निकट के सम्बन्धियों के घर) में होने वाले उत्पातों (मरणसूचक अरिष्टों) के लक्षणों को कहूँगा।

अवक्षुतमथोत्क्रुष्टं स्खलनं पतनं तथा । आक्रोशः सम्प्रहारो वा प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥ २६ ॥
वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्गच्छत्रोपानद्युगाश्रयम् । व्यसनं दर्शनं चापि मृतव्यसनिनां तथा ॥ २७ ॥
चैत्यध्वजपताकानां पूर्णानां पतनानि च । हतानिष्टप्रवादांश्च दूषणं भस्मपांशुभिः ॥ २८ ॥
पथच्छेदो बिडालेन शुना सर्पेण वा पुनः । मृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दीप्तां दिशं प्रति ॥ २९ ॥
शयनासनयानानामुत्तानानां च दर्शनम् । इत्येतान्यप्रशस्तानि सर्वाण्याहुर्मनीषिणः ॥ ३० ॥
एतानि पथि वैद्येन पश्यताऽऽतुरवेश्मनि । शृण्वता च न गन्तव्यं तदागारं विपश्चिता ॥ ३१ ॥

मार्ग में घटित अमंगलकारी लक्षणों पर आधारित पूर्वानुमान

(Prognosis based on Inauspicious Marks Occuring in Way)

मार्ग में होने वाले अरिष्ट—रोगी द्वारा भेजे गये दूत के कहने पर विद्वान् चिकित्सक रोगी को देखने तथा उसकी चिकित्सा करने के लिये यदि चल पड़ा हो, मार्ग में निम्नलिखित प्रकार के अरिष्टसूचक लक्षण दिखलायी दें या अरिष्टसूचक शब्द सुनायी दें, तो उसके घर नहीं जाना चाहिये, अर्थात् उसे अपने घर लौट आना चाहिये।

अरिष्ट लक्षण—चलते समय किसी का छींक देना, रोने का शब्द सुनायी देना, पैर का फिसल जाना, गिर जाना, आक्रोश (दीनतापूर्ण रोने का शब्द), संप्रहार (चोट का लगना), प्रतिषेध (किसी द्वारा घर से निकलते ही टोक देना), विगर्हण (निन्दा करना), वस्त्र, उष्णीष (पगड़ी), उत्तरीय (दुपट्टा आदि) का कहीं रुक (फंस) जाना, छाता और जूतों का फट जाना या उलट जाना या पैरों से निकल जाना, किसी प्रकार का कष्ट आ जाना या मरे हुए अथवा अनेक प्रकार के रोगों से युक्त पुरुषों के दर्शन या काने, लूले, लँगड़े, बौने, कुबड़े आदि का दर्शन होना, जल आदि से पूर्ण घड़ा आदि पात्रों का गिरना, चैत्य (पूजा योग्य पीपल, बरगद आदि का महान् वृक्ष अथवा श्मशान भूमि पर उत्पन्न वृक्ष जिस पर भूत-प्रेत आदि के निवास की धारणा होती है का दर्शन होना) ध्वज, पताकाओं का गिर जाना, हत (जो किसी प्रकार मारे गये हों) तथा अनिष्ट (जो प्रिय न हों) ऐसे समाचारों का सुनना, भस्म या धूल से शरीर का व्याप्त हो जाना (यह स्थिति तब आती है जब जिस ओर हम जा रहे हों उसके विपरीत तेज हवा बह रही हो, यह यात्रा सम्बन्धी एक अपशकुन भी है। इसके विपरीत अनुकूल वायु का बहना शकुन होता है। देखें—'शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः'। अभि० शा० अं० ४), बिल्ली, कुत्ता अथवा साँप द्वारा रास्ता काटना, क्रूर मृग (वन्यपशु—'मृग्यन्ते मृगयालुभिः, इति मृगाः' अर्थात् शिकारी जिनको शिकार के लिये ढूँढते हैं, उन सभी को मृग कहते हैं, जैसे—शेर, बाघ, हाथी, हिरन आदि) तथा पक्षियों का दीप्त (दक्षिण दिशा या जिस ओर आग लगी हो, उस) दिशा की ओर चिल्लाना या चिंघाड़ना, शयन (बिस्तर, खटिया, पलंग आदि) आसन (चौकी), यान (सवारी) इनको उलटा हुआ देखना, इस प्रकार के ये सब अशुभ लक्षण कहे गये हैं।

इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगर्हितम् । इमामपि च बुध्येत गृहावस्थां मुमूर्षताम् ॥ ३२ ॥
प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम् । वृषब्राह्मणरत्नान्नदेवतानां च निर्गतिम् ॥ ३३ ॥
अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि [1]विशिखानि च । भिषङ् मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥

आतुरकुल में अमंगलकारी लक्षणों पर आधारित पूर्वानुमान

(Prognosis based on Inauspicious Marks in the Home of the Patient)

अरिष्टसूचक लक्षण—यहाँ तक वैद्यों द्वारा निन्दित मार्ग में होने वाले उत्पातों का वर्णन कर दिया गया है। अब निकट भविष्य में मरने वालों के घर की इस अवस्था को भी जान लेना चाहिये, जिसका आगे वर्णन किया जारहा है—चिकित्सक जब रोगी के घर में प्रवेश करे उस समय रोगी के घर से भरा हुआ घड़ा, अग्नि, मिट्टी, अन्नों के बीज, फल, घी, बैल, ब्राह्मण, रत्न, अन्न और देवमूर्तियों को निकलते देखें तो ये रोगी के अरिष्ट-चिह्न हैं। जो पात्र सदैव अग्निपूर्ण रहते हैं, वे पात्र यदि आज फूटे और विशिख (आग की ज्वालाओं) या लपटों से रहित अर्थात् बुते हुए, रोगी के घर में प्रवेश करते समय दिखलायी दें तो इन घरों में स्थित रोगियों को शीघ्र ही मरने वाला समझें।

वक्तव्य—ऊपर जिन वस्तुओं का घर में रहना मंगल समझा जाता है या मंगलमय समझकर जिन वस्तुओं या प्राणियों को घर में रखा जाता है, उनका घर से निकलना अशुभ होता है। प्राचीनकाल में ब्राह्मणों के घरों में अग्निहोत्र होता था। वह अग्नि सदैव प्रज्वलित रखी जाती थी, उसका बुत जाना अशुभ होता है। यहाँ 'अग्निपूर्णानि पात्राणि' से उसी का स्पष्ट संकेत है। यहाँ भिषक् शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि वह इन लक्षणों को समझकर चिकित्सा में प्रवृत्त न हों। वैसे तो सामान्य लोग भी इन लक्षणों को देखकर रोगी के आयुष्य के सम्बन्ध में समझ सकता है। अतः इन लक्षणों का ज्ञान सभी को रखना चाहिये।

छिन्नभिन्नानि दग्धानि भग्नानि मृदितानि च । दुर्बलानि च सेवन्ते मुमूर्षोर्वैश्मिका जनाः ॥३५॥

सामान्य अरिष्ट-लक्षण—मुमूर्षु (निकट भविष्य में मरने की इच्छा वाले) रोगी के परिवार के लोग कटे, फटे, जले, फूटे पात्रों तथा मृदित (मसले गये) वस्त्र, फल आदि का सेवन करते देखे जाते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त अशुचिता (गन्दगी) आदि का परिवार के लोगों में सहसा दिखलायी देना, केवल मृत्यु का ही प्रभाव समझना चाहिये। ध्यान रहे, जिन परिवारों में इस प्रकार के पात्रों, वस्त्रों तथा भोज्य वस्तुओं का सर्वदा प्रयोग होता है, वहाँ ये अरिष्टलक्षण नहीं हैं।

१. 'वशिकानि' इति पा०।

शयनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम् । श्रूयतेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ३६ ॥

शयन आदि सम्बन्धी अरिष्ट—जिसका बिछौना, वस्त्र, यान (सवारी), गमन (चलना) तथा भोजन, ये सब अशुभ-लक्षणयुक्त दिखलायी दें और जिसकी वाणी अमंगलकारिणी सुनायी दे तो उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती है।

वक्तव्य—इन विषयों पर चिकित्सकों के चिरन्तन अनुभव ही निर्णायक होते हैं।

शयनं वसनं यानमन्यं वाऽपि परिच्छदम् । प्रेतवद् यस्य कुर्वन्ति सुहृदः प्रेत एव सः ॥ ३७ ॥

मित्रों की उपेक्षारूपी अरिष्ट—आत्मीयजनों का व्यवहार जिस रोगी के शयन (बिस्तरा), वसन (वस्त्र), सवारी या और कोई परिच्छद (परिधान, आच्छादन, परिजन या सामग्री आदि) के प्रति मरे हुए पुरुष के समान होने लगे तो उसको मरा हुआ ही समझें।

वक्तव्य—'सुहृदः प्रेतवद् यस्य कुर्वन्ति'—जीवित रोगी के प्रति होनेवाला परिजनों का यह व्यवहार संकेत करता है कि रोगी शीघ्र मर जायेगा। प्रायः देखा जाता है कि मृत-पुरुष के पात्रों, बिस्तरा आदि को कोई छूता नहीं या छूना पसन्द नहीं करता है और यदि करता भी है तो घृणा के साथ, तो ये लक्षण अरिष्टसूचक होते हैं।

अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थं ज्योतिश्चैवोपशाम्यति । निवाते सेन्धनं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥

अन्नव्यापत्ति आदि अरिष्ट—जिस रोगी के लिये बनायी गयी खाद्य वस्तुएँ अत्यन्त विकृत हो जाती हों, निवात-स्थान (जहाँ हवा का प्रकोप न हो) में लकड़ी के रहने पर भी जलायी गयी आग अपने आप बुझ जाती हो, उसकी चिकित्सा नहीं है, अर्थात् वह अवश्य मरेगा।

आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा । अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ३९ ॥

पात्र सम्बन्धी अरिष्ट—जिस रोगी के घर में बार-बार पात्र (बर्तन) गिरते अथवा फूटते रहते हैं उसका जीवन दुर्लभ हो जाता है, अर्थात् चिकित्सा करने पर भी वह बच नहीं पाता।

वक्तव्य—इन सभी प्रकार के अरिष्टों का विशेष परिचय सु० सू० अ० २९ में देखें।

भवन्ति चात्र—

यद् द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकीर्तितम् । मुमूर्षतां मनुष्याणां लक्षणं जीवितान्तकृत् ॥ ४० ॥
तत् समासेन वक्ष्यामः पर्यायान्तरमाश्रितम् । पर्यायवचनं ह्यर्थविज्ञानायोपपद्यते ॥ ४१ ॥
अत्यर्थं पुनरेवेयं विवक्षा नो विधीयते । तस्मिन्नेवाधिकरणे यत् पूर्वमभिशब्दितम् ॥ ४२ ॥

संक्षेप में मुख्य अरिष्ट-लक्षण
(Resume of the Main Prognostic Points)

समस्त अरिष्ट-लक्षणों का उपसंहार—इन्द्रियस्थान के पूर्वोक्त बारह अध्यायों में मरने वाले मनुष्यों के प्राणनाशक जिन लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है, पर्यायान्तर (शब्दान्तर या प्रकारान्तर) द्वारा उसी विषय का संक्षेप से वर्णन यहाँ किया जा रहा है। क्योंकि उसी विषय को दूसरे शब्दों द्वारा समझा देना विशेष ज्ञान-प्रद होता है। अतएव प्रथम अध्याय से लेकर इस बारहवें अध्याय तक कहे गये लक्षणों को पुनः कहने की यह इच्छा की गयी है।

वक्तव्य—तन्त्रकार की यह एक अपनी स्वतन्त्र शैली है कि वे कभी प्रथम सूत्र में कहे गये विषयों का बाद में व्याख्यान करते हैं और कभी विस्तार में कहे गये विषय का स्वयं संक्षेपीकरण करते हैं। इसका कारण है—शास्त्र के उपदेश को त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्य बनाने की तन्त्रकार की प्रतिज्ञा का पालन। विद्वानों का लक्षण है—'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' और कभी—'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'। परन्तु सामान्य बुद्धि वाले के लिये तो सरल भाषा में विस्तृत उपदेश की परम आवश्यकता होती है। यहाँ पहले विस्तार में वर्णन करने के पश्चात् संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है, अतः इसको पुनरुक्त अथवा व्यर्थ न समझें।

वसतां चरमं कालं शरीरेषु शरीरिणाम् । अभ्युग्राणां विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सताम् ॥ ४३ ॥
इष्टांस्तितिक्षतां प्राणान् कान्तं वासं जिहासताम् । तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम् ॥
विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च । भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथोद्देशं यथागमम् ॥ ४५ ॥

शास्त्र तथा उद्देश के अनुसार विनाश के लक्षण—जीवन का अन्तिम समय उपस्थित हो जाने पर शरीर के भीतर निवास करने वाली, आत्मा के साथ सदैव युक्त रहने वाले भावों के विनाश के लिये इस देह को छोड़कर दूसरे देह में प्रवेश करने के लिये तत्पर, अपने प्रिय प्राणों को छोड़ने की इच्छुक, परम रमणीय शरीर रूपी घर को छोड़ने के लिये उत्सुक, तन्त्र (शरीर), शिरा, स्नायु आदि यन्त्र (जिनके बन्धन से शरीर की सन्धियाँ सुदृढ़ रहती हैं) के भिन्न (शिथिल) हो जाने पर, अन्तिम अन्धकाररूप मृत्यु में प्रवेश करने की इच्छा वाली आत्मा के विनाश के लिये जो-जो रूप (लक्षण) तथा अवस्थाभेद होते हैं, उद्देश तथा शास्त्र के अनुसार उन सबको मैं यहाँ कहूँगा।

प्राणाः [1]संमुपतप्यन्ते विज्ञानमुपरुध्यते । वमन्ति बलमङ्गानि चेष्टा व्युपरमन्ति च ॥ ४६ ॥

मुमूर्षु पुरुष के लक्षण—जब प्राण शरीररूपी घर का परित्याग करने लगते है, अर्थात् मृत्यु का समय सन्निकट आ जाता है, तब प्राणों को कष्ट होने लगता है, उसको जो विशेष जानकारियाँ थीं उनमें रुकावटें आ जाती हैं, शरीर के सभी अंगों का बल बाहर निकल जाता है, अर्थात् वे बलहीन हो जाते हैं तथा समस्त शरीरावयवों की अपनी-अपनी चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं।

वक्तव्य—यह प्राणान्त काल का वर्णन है। उस समय मनुष्य छटपटाने लगता है। समस्त ज्ञान विस्मृत हो जाता है। हाथ, पैर, आँख, कान आदि सभी अवयव निस्तेज तथा निष्क्रिय हो जाते हैं।

इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभवति [2]चेतना । औत्सुक्यं भजते सत्त्वं चेतो भीराविशत्यपि ॥४७॥

इन्द्रिय आदि का शक्ति-ह्रास—इस स्थिति में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ग्रहण एवं कर्म में असमर्थ हो जाती हैं, चेतनाशक्ति का ह्रास हो जाता है, मन में उत्सुकता और चित्त में भीरुता प्रवेश कर जाती है।

वक्तव्य—यहाँ 'सत्व' शब्द से 'मन' का तथा 'चित्त' शब्द से 'हृदय' का ग्रहण करना तन्त्रकार को अभीष्ट है, अन्यथा वे 'सत्व' का अर्थ भी मन और 'चित्त' का अर्थ भी मन, इस प्रकार की द्विरुक्ति कैसे करते।

स्मृतिस्त्यजति मेधा च ह्रीश्रियौ चापसर्पतः । उपप्लवन्ते पाप्मान [3]ओजस्तेजश्च नश्यति ॥४८॥

स्मृति आदि का क्षय—मृत्यु के समीप आते ही स्मरणशक्ति तथा मेधा (धारणा) शक्ति पुरुष को छोड़ देती है, लज्जा, लक्ष्मी (शरीर की शोभा) ये भी चली जाती हैं, पापजनित सभी रोग उसको घेर लेते हैं, साथ ही उसका ओजस् तथा तेजस् भी नष्ट हो जाता है।

शीलं व्यावर्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च परिवर्तते । विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्छायाश्च विकृतिं प्रति ॥४९॥

शील आदि में विकार की उत्पत्ति—ऐसे पुरुष का शील (स्वभाव) अत्यन्त विकृत हो जाता है, जिन वस्तुओं को वह पहले अत्यन्त प्रिय समझता था उनके प्रति उसको द्वेष हो जाता है, उसकी छाया तथा प्रतिच्छाया भी विकारयुक्त हो जाती है।

शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः । क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यसृगपि क्षयम् ॥५०॥

१. अन्य अरिष्ट—मृत्यु का समय समीप आ जाने पर अकारण शुक्र का स्राव होता है, वायु की गति अनुलोम न होकर विलोम हो जाती है, रक्त और मांस का भी क्षय हो जाता है।

वक्तव्य—रक्त तथा मांस के क्षीण होने पर निश्चित आयु (७० वर्ष) के बाद भी यदि शुक्रस्राव होता है तो इसको अरिष्ट-लक्षण समझें। यह लक्षण ८०-९० वर्ष की अवस्था में भी देखा जाता है। वैसे तो 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्' यह सूक्ति प्रसिद्ध ही है।

ऊष्माणः प्रलयं यान्ति विश्लेषं यान्ति सन्धयः । गन्धा विकृतिमायान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा ॥५१॥

२. अन्य अरिष्ट—अन्तिम समय आ जाने पर शरीर के अवयवों से गर्मी समाप्त हो जाती है, सन्धियों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, सभी प्रकार के गन्ध विकार को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् जैसे हैं, वैसे प्रतीत नहीं होते, वर्ण तथा स्वर पहले के जैसे नहीं रह जाते, विकृत हो जाते हैं।

---

१. 'समुपरुध्यन्ते' इति पा०।
२. 'वेदना' इति पा०।
३. 'क्रोधः' इति पा०।

वैवर्ण्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुष्यति । [1]धूमः सञ्जायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णकः ॥५२॥

३. अन्य अरिष्ट— मृत्युकाल आ जाने पर शरीर का वर्ण विकृत हो जाता है, शरीर में स्थित रोमकूप विशेष रूप से सूख जाते हैं, रोमकूपों के सूख जाने पर स्वाभाविक रूप से वाष्प का अवरोध हो जाने के कारण सिर में धुआँ जैसा प्रतीत होता है तथा दारुण नामक चूर्ण सिर में उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने अपनी टीका में 'सिर पर धूम्रवर्ण का दारुण नामक चूर्ण उत्पन्न हो जाता है' यह अर्थ किया है। आचार्य चक्रपाणि —'धूमः सञ्जायते मूर्ध्नि, इति प्रकृतं वाष्पनिर्गमं विना वह्नलो धूम इव भवति । दारुणाख्यश्च चूर्णक इति'। इस प्रकार दो विषयों को उपस्थापित करते हैं, यही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। **दारुणक परिचय**—'दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते । कफमारुतकोपेन विद्याद् दारुणकन्तु तम्' ॥ सु० नि० अ० १३ ।

सततस्पन्दना देशाः शरीरे येऽभिलक्षिताः । ते स्तम्भानुगताः सर्वे न चलन्ति कथञ्चन ॥५३॥

स्पन्दनशील अवयवों में जड़ता—शरीर के सभी स्पन्दनशील (फड़कने वाले) अवयव जो सदैव फड़कते, (हिलते-डुलते) रहते हैं, वे सभी मृत्युकाल आ जाने पर जड़ (अचेतन) हो जाते हैं। अतः उनका हिलना-डुलना बन्द हो जाता है।

गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः । विपर्यासेन वर्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः ॥ ५४ ॥

गुण-विपरीतता सम्बन्धी अरिष्ट—मुमूर्षु पुरुष के भिन्न-भिन्न शरीरावयवों के शीत, उष्ण, मृदु, दारुण आदि गुण सहसा विपरीत हो जाते हैं, अर्थात् उष्ण शीत हो जाते हैं और दारुण मृदु हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीर के अन्य स्थानों में भी जो इस प्रकार के गुण हैं, उनमें भी विपरीतता आ जाती है।

वक्तव्य—यह गुण-विपरीतता शरीर के अवयवों के अनुसार समझनी चाहिये। जैसे—स्थूल पुरुष कृश हो जाता है और कृश पुरुष स्थूल हो जाता है, नखों की शुक्लता कृष्णता में परिवर्तित हो जाती है, करतल (पाणितल) की मृदुता कठोरता में बदल जाती है, इसी प्रकार अन्य गुण-परिवर्तन का अनुमान भी स्वयं कर लें।

नखेषु जायते पुष्पं पङ्को दन्तेषु जायते । जटाः पक्ष्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्धनि ॥ ५५ ॥

अन्य अरिष्ट—मृत्यु के सर्वथा निकट आ जाने पर नखों या नख के ऊपर फूल जैसे उभर आते हैं, दाँतों को साफ करने पर भी कीचड़ जम जाता है, पलकों के बाल जटा के समान परस्पर सट जाते हैं और सिर पर बालों के बीच में सीमन्त (The parting line of the hair) माँग के सदृश रेखाएं बन जाती हैं।

भेषजानि न संवृत्ति प्राप्नुवन्ति यथारुचि । यानि चाप्युपपद्यन्ते तेषां [2]वीर्यं न सिद्ध्यति ॥५६॥

औषधयोगों की प्रभावहीनता—इच्छा के अनुकूल निर्माण करने पर भी जब औषधों का सम्यक् निर्माण नहीं हो रहा हो और जो औषधयोग प्रयोग किये जा रहे हों, उनका यथोचित प्रभाव न पड़ रहा हो तो रोगी अवश्य मर जाता है।

नानाप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः । क्षिप्रं समभिवर्तन्ते प्रतिहत्य बलौजसी ॥ ५७ ॥

१. **अन्य अरिष्ट**—मृत्युकाल में अनेक प्रकृति वाले अर्थात् कोई वातप्रकृति वाला है तो दूसरा कफप्रकृति वाला, तीसरा पित्तप्रकृति वाला तथा द्वन्द्वज, सन्निपातज साथ ही परस्पर विरुद्ध प्रकृति वाले क्रूर (कठिन-दुःसाध्य) विकार (रोग) उत्पन्न हो जाते हैं, उन पर विविध औषधों का प्रयोग करने पर भी वे बल और ओजस् को नष्ट कर जल्द बढ़ जाते हैं, तब ये रोग प्राणान्त होने पर ही साथ छोड़ते हैं।

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धश्चेष्टा [3]विचिन्तितम् । उत्पद्यन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु ॥५८॥

२. **अन्य अरिष्ट**—जब प्रतिकर्म में प्रवृत्त (चिकित्सा-कर्म में तत्पर) चिकित्सक के सामने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, रोगी की शारीरिक चेष्टाएँ तथा मानसिक विचार अशुभ (अमंगलकारक) उत्पन्न हों तो उसमें मुमूर्षु लक्षण समझें।

१. 'धूम्रः' इति पा०।
२. 'कर्म' इति पा०।
३. 'विचेष्टितम्' इति पा०।

दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना दौरात्म्यमुपजायते । प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ॥ ५९ ॥

३. **अन्य अरिष्ट**—जिस रोगी को भयावह स्वप्न (जैसे—स्वप्नविषयक स्वप्नों की चर्चा च० इं० अ० ५ श्लोक २७ से ४७ तक की गयी है) दिखलायी दे रहे हों, जिसके मन में बुरे विचार उत्पन्न हो रहे हों या जो अपने शील, आचार आदि से भ्रष्ट हो चुका हो तथा जिसके सेवक आज्ञापालन न कर रहे हों तो उस रोगी को मरा हुआ ही कहा जाता है।

प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्धते । कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमरि(नि)ष्टमुपलक्ष्यते ॥ ६० ॥

प्रकृति विकृति सम्बन्धी अरिष्ट—जिसकी मृत्यु समीप आ गयी हो, उसकी प्रकृति (स्वाभाविक गुण) अत्यन्त नष्ट हो जाती है और विकृति बढ़ जाती है तथा सम्पूर्ण उत्पातकारक, भयंकर अनिष्ट-लक्षण उसके शरीर पर दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—सज्जन की प्रकृति सज्जनता तथा दुर्जन की प्रकृति दुर्जनता, वह जिस-जिस क्षेत्र में जितने प्रकार की हो सकती है, वह सर्वथा नष्ट हो जाती है। उसके विपरीत गुण उसमें अकारण प्रकट हो जाते हैं, निश्चय ही यह महान् अरिष्ट-लक्षण है, जो प्राणनाशक होता है। औत्पातिक अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन इसके पूर्व किया जा चुका है, यथास्थान देखें।

इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनशिष्यताम् । लक्षणानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ॥६१॥

प्रमुख अरिष्ट लक्षणों का उपसंहार—यहाँ तक विनाश को प्राप्त होने वाले मनुष्यों के अरिष्ट-लक्षणों का उल्लेख उद्देश तथा आगम (शास्त्र) के अनुसार कर दिया है। यह तन्त्रकार का प्रतिज्ञापूर्त वचन है।

मरणायेह रूपाणि पश्यताऽपि भिषग्विदा । अपृष्टेन न वक्तव्यं मरणं प्रत्युपस्थितम् ॥६२॥

पृष्टेनापि न वक्तव्यं तत्र यत्रोपघातकम् । आतुरस्य भवेद् दुःखमथवाऽन्यस्य कस्यचित् ॥६३॥

अब्रुवन्मरणं तस्य नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् । यस्य पश्येद् विनाशाय लिङ्गानि कुशलो भिषक् ॥६४॥

रोगी की मृत्यु-सूचना कैसे देनी चाहिये—कुशल चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह रोगी के मृत्यु-सूचक लक्षणों को देखते हुए और मृत्यु के निश्चित होने की जानकारी हो जाने पर भी रोगी के परिजनों के बिना पूछे ही, यह रोगी नहीं बचेगा या मर जायेगा, ऐसा नहीं कहना चाहिये। वहाँ पूछने पर भी नहीं कहना (बतलाना) चाहिये, जहाँ यह देखे कि इस सूचना का सुनने वाले के ऊपर घातक प्रभाव पड़ेगा या इस सूचना को सुनने से रोगी को अथवा और किसी को दुःख होगा। फिर भी अर्थात् उसके मृत्यु की घोषणा न करते हुए भी, जिसके विनाशक लक्षणों को उत्पन्न हुआ देख ले उसकी चिकित्सा करने की इच्छा न करे।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में शिष्ट-व्यवहार सम्बन्धी नीति का संकेत किया है। इस नीति का व्यवहार चिकित्सक को यशस्वी बनाता है। मृत्युसूचक पूर्वानुमान का निर्णय चिरकालिक व्यवहार के बाद ही करना चाहिये। अन्यथा समाज चिकित्सक पर अविश्वास करने लगता है। सहसा रोगी की मृत्युसूचना देने से उस पर तथा उसके परिवार वालों पर मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ सकता है। अतः उपर्युक्त शास्त्रीय निर्देशों पर सदैव ध्यान दें।

लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो विपरीतानि पश्यता । लिङ्गान्यारोग्यमागन्तु वक्तव्यं भिषजा ध्रुवम् ॥६५॥

दूतैरौत्पातिकैर्भावैः पथ्यातुरकुलाश्रयैः । आतुराचारशीलेष्टद्रव्यसम्पत्तिलक्षणैः ६॥

लक्षणों के आधार पर स्वास्थ्य या मृत्यु-निर्णय—यदि पूर्वोक्त अरिष्ट-लक्षण मरे... [illegible] अर्थात् उसके विपरीत हों तो उनको देखकर चिकित्सक को कहना चाहिये कि रोगी को स्वास्थ्य-लाभ [illegible] और यदि दूतसम्बन्धी, मार्ग [illegible] लायी देने वाले, रोगी के कुल से सम्बन्धित, उत्पातों से सम्बन्धित भावों, रोगी के आचरण, स्वभाव, इष्टि [illegible] की प्राप्ति के लक्षणों की परीक्षा करके भी यह रोगी स्वास्थ्यलाभ करेगा या मृत्यु को प्राप्त होगा, इसकी [illegible] ना दे देनी चाहिये।

स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्यं शुक्लवाससम् । अमुण्डमजटं दूतं जातिवेशक्रियासमम् ॥ ६७ ॥

अनुष्ट्र-खर-यानस्थमसन्ध्यास्वग्रहेषु च । अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु [1]ध्रुवेषु च ॥ ६८ ॥

१. "त्रीण्युत्तराणि तेभ्यो रोहिण्यश्च ध्रुवाणि" इति (बृ० सं० अ० ९८)। उत्तराणि—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा च।

विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् । मध्याह्नमर्धरात्रं च भूकम्पं राहुदर्शनम् ॥ ६९ ॥
विना देशमशस्तं चाशस्तौत्पातिकलक्षणम् । दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ ७० ॥

शुभ दूत के लक्षण—जिसका आचार-व्यवहार अच्छा हो, जो प्रसन्नचित्त हो, जिसके सभी शरीरावयव समुचित हों, जो यशस्वी हो (जिस-जिस के लिये चिकित्सक को बुला लाया हो, वह-वह रोगी स्वस्थ हो गया हो) जो साफ-सुथरे वस्त्र धारण किया हो, जिसने सिर न मुड़ाया हो, जो जटाधारी न हो, जो दूत रोगी की जाति का हो, रोगी का जैसा वेश धारण करता हो, तदनुरूप कार्य करता हो, जो ऊँट तथा गधा की सवारी में बैठकर न आया हो, जो सायंकाल के समय न आया हो, जो सूर्य या चन्द्रग्रहण काल में न आया हो, जो क्रूरसंज्ञक, उग्रसंज्ञक तथा ध्रुवसंज्ञक नक्षत्रों में न आया हो, जो रिक्तासंज्ञक (चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी) तिथियों में न आया हो, जो मध्याह्न, (दोपहर), आधी रात, भूकम्प तथा राहुदर्शन के समय न आया हो, जो अशुभ देश (स्थान) में न आया हो, अशुभ औत्पातिक लक्षणों में न आया हो, जो घबड़ाया न हो, वह दूत शुभ होता है ।

वक्तव्य—ऊपर केवल प्रशस्त दूत का निर्णय किया गया है । किन-किन कारणों से उस दूत को शुभ कहा गया है । अन्यत्र अशुभ दूतों का परिचय भी उपस्थित किया है । **दारुण नक्षत्र**—मूल, ज्येष्ठा, आर्द्रा, आश्लेषा, इन्हीं की 'तीक्ष्ण' संज्ञा भी है । **उग्र नक्षत्र**—पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, भरणी, मघा, इन्हीं की 'क्रूर' संज्ञा भी है । **ध्रुव नक्षत्र**—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, रोहिणी, इन्हीं की 'स्थिर' संज्ञा भी है । **रिक्ता तिथियाँ**—चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी इनकी 'रिक्ता' संज्ञा है ।

शुभ दूत—सफेद वस्त्र धारण किये हुए, पवित्र, गौरवर्ण या श्यामवर्ण वाला, मनोहर दर्शन वाला, रोगी की जाति का, रोगी के गोत्र का दूत चिकित्सा के लिये शुभलक्षण वाला होता है । बैलगाड़ी पर बैठकर आया हुआ, प्रसन्नचित्त वाला, पैदल चलकर आया हो, उत्तम चेष्टाओं से युक्त, स्मृतिशक्तिसम्पन्न, विधि एवं काल को जानने वाला, स्वतन्त्र, उत्तम प्रतिभा से सम्पन्न, सजा-धजा हुआ, मांगलिक लक्षणों से युक्त भी शुभ होता है । स्वस्थ, पूर्वदिशा की ओर मुख करके बैठा हुआ, समतल तथा पवित्र भूमि पर स्थित, पवित्र अवस्था में जो दूत वैद्य के समीप आये, वह रोगी के लिये शुभ होता है । देखें—सु० सू० अ० २९।२३-२६ ।

अशुभ दूत—चिकित्सक जिस समय दक्षिण की ओर मुख करके बैठा हो, अपवित्र-स्थान में, आग को जलाते हुए, कुछ पकाते हुए, क्रूर-कर्म करने में तत्पर, नग्न अवस्था में जमीन पर शयन करते हुए, मूत्र-पुरीष त्याग करते हुए, अपवित्र स्थिति में, खुले हुए केशों की स्थिति में, तैल आदि मलते हुए, पसीना युक्त अवस्था में जो दूत वैद्य के समीप आते हैं, वे सब निन्दित होते हैं । और भी—वैद्य के पितृकार्य (श्राद्ध आदि) में लगे रहने पर, देवकार्य में लगे रहने पर, उत्पातदर्शन के अवसर पर, मध्याह्न में, आधी रात में, दोनों सन्ध्याकालों में, कृत्तिका नक्षत्र में, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल, तीनों पूर्वा में, भरणी नक्षत्र में, चतुर्थी, नवमी या षष्ठी तिथि को तथा सन्ध्याकाल में जो दूत आते हैं, वे निन्दित होते हैं । देखें—सु० सू० अ० २९।५-१९ ।

उत्पात-दर्शन—बिजली का गिरना, भूकम्प, ज्वालामुखी-विस्फोट, आंधी, तूफान, हैजा, मरक, जनमार या जनपदोद्ध्वंस आदि भयंकर एवं घातक रोगों की उत्पत्ति, केतु (पुच्छल तारा) का उदय या अस्त होना, ये सभी उत्पात की श्रेणी में आते हैं ।

दध्यक्षतद्विजातीनां वृषभाणां नृपस्य च ॥ ७१ ॥
रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च । सुरध्वजपताकानां फलानां यावकस्य[1] च ॥७२॥
[2]कन्यापुंवर्धमानानां बद्धस्यैकपशोस्तथा । पृथिव्या उद्धृतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च ॥७३॥
मोदकानां सुमनसां शुक्लानां चन्दनस्य च । मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ॥७४॥
नृभिर्धेन्वाः सवत्साया वडवायाः स्त्रियास्तथा । जीवञ्जीवकसिद्धार्थसारसप्रियवादिनाम् ॥७५॥
हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा । मत्स्याजद्विजशङ्खानां [3]प्रियङ्गूनां घृतस्य च ॥७६॥
रुचकादर्शसिद्धार्थरोचनानां च दर्शनम् । गन्धः सुरभिर्वर्णश्च सुशुक्लो मधुरो रसः ॥७७॥

१. 'पावकस्य' इति पा० ।
२. 'कन्यानां वर्द्धमानानाम्' इति ग. ।
३. 'मांसस्य च' इति पा० ।

मृगपक्षिमनुष्याणां प्रशस्ताश्च गिरः शुभाः । छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः ॥७८॥
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनाः । वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ॥७९॥
पथि वेश्मप्रवेशे तु विद्यादारोग्यलक्षणम् ।

मांगलिक द्रव्य—दही, अक्षत, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), वृषभों (बैलों या सांड़ों), राजा, रत्नों, जल से भरे हुए घड़ों, सफेद घोड़ा, सुरध्वज (देवमन्दिरों में फहरायी गयी ध्वजाएँ अथवा इन्द्रधनुष), पताकाओं, फलों, यावक (आलता या पाठभेद के अनुसार पावक=अग्नि), पुरुष द्वारा गोद में ली गयी कन्या या बालक, कसोरा, बंधा हुआ एक पशु (गाय या बछड़ा), जोती हुई भूमि, जलती हुई आग, लड्डुओं, सफेद फूलों, चन्दन, मन को प्रिय लगनेवाले अन्न पान (खाद्य तथा पेय पदार्थों), मनुष्यों से भरी हुई गाड़ी (रथ, मोटर, कार, तांगा, रिक्शा आदि), बछड़े के साथ गाय, घोड़ी तथा स्त्री अर्थात् अपने-अपने बछड़ों=बच्चों के साथ गाय, घोड़ी तथा स्त्री, जीवञ्जीवक (चकोर), सिद्धार्थ (खंजन), सारस, प्रियवादी (चातक=पपीहा), हंसों, शतपत्र (कठफोड़वा), चाष (नीलकण्ठ), शिखी (मयूर), मछली, बकरा, द्विज (दाँत या पूर्णचन्द्रमा), शंख, प्रियंगु, घी, रुचक (सौवर्चल लवण), आदर्श (Mirror), सिद्धार्थ (पीली सरसों), गोरोचन, इन वस्तुओं का देखना, सुगन्धित गन्धों का सूंघना, सफेद वस्तुओं के दर्शन, मधुर रसों का आस्वादन, मृग, पक्षी तथा मनुष्यों के सुन्दर वचनों को सुनना शुभ होता है । छत्र, ध्वजा, पताका, इनको खुला रखना या फहराना और ध्वजवन्दना, ये शुभ होते हैं । भेरी (नगाड़ा), मृदंग तथा शंख के शब्दों को सुनना, पुण्याहवाचन एवं वेदाध्ययन के शब्द, दक्षिण दिशा का सुखद वायु-स्पर्श, ये सभी शुभ होते हैं । यदि ये वस्तुएँ मार्ग में दिखायी पड़ें या घर में प्रवेश करते समय दिखायी दें, या सुनायी दें तो रोगी के लिये आरोग्यसूचक होती हैं ।

वक्तव्य—'फल' शब्द से आचार्य गंगाधर ने कच्चे फलों को शुभ माना है न कि सुपारी, अखरोट आदि सूखे फलों को, देखें—'फलानामित्यामानाम्, पक्वानामशस्तत्वेनोक्तत्वात्' । 'कन्यापुंवर्धमानानाम्' इस पद्यांश का अर्थ आचार्य चक्रपाणि ने 'अङ्कारोपिताः कुमार्यः कुमाराश्च' अन्ये तु 'वर्धमानाः शरावा इत्याहुः, ते चालेपादिना मण्डिता' इति बोद्धव्यम् किया है । इसके विपरीत आचार्य गंगाधर उक्त वाक्यांश की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'कन्यानां वर्द्धमानानाम्'—'कन्यानामनूढानामङ्कुरितयौवनानाम्' । इति । सिद्धार्थ शब्द का 'खंजन' पर्याय केवल 'मेदिनी' कोष में है, अन्यत्र नहीं ।

द्विजाति-द्विज—ऊपर के श्लोकों में ये समानार्थक शब्द दो बार आये हैं । पहले के 'द्विजाति' शब्द का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा दूसरे 'द्विज' का अर्थ केवल 'दाँत' किया गया है, जब कि द्विज शब्द के इसके अतिरिक्त अंडज प्राणी, पक्षी तथा चन्द्रमा ये अर्थ भी होते हैं । जिन्होंने 'हाथी दाँत' अर्थ किया है, वे सोचें, क्या वे अन्य दाँतों की भांति एक बार गिरकर पुनः उगते हैं ? यदि नहीं तो ऐसा अर्थ करना व्यर्थ होगा । यदि हाथीदाँत को ही स्वीकार करना अभीष्ट हो तो उसको द्विज, अर्थात् जिस प्रकार वर्णों में द्विज (ब्राह्मण) श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाँतों में हाथी के दाँत श्रेष्ठ होते हैं, ऐसा कहकर समर्थन किया जा सकता है । वास्तव में यहाँ द्विज शब्द का अर्थ दाँत करने में शंख शब्द का साहचर्य सहयोग कर रहा है, अन्यथा पूर्णचन्द्र अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है ।

मङ्गलाचारसम्पन्नः सातुरो वैश्मिको जनः ॥ ८० ॥
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसङ्ग्रहः । धनैश्वर्यसुखावाप्तिरिष्टलाभः सुखेन च ॥८१॥
द्रव्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च । गृहप्रासादशैलानां नागानामृषभस्य च ॥८२॥
हयानां पुरुषाणां च स्वप्ने समधिरोहणम् । सोमार्काग्निद्विजातीनां गवां नृणां पयस्विनाम् ॥८३॥
अर्णवानां प्रतरणं वृद्धिः सम्बाधनिःसृतिः । स्वप्ने देवैः सपितृभिः प्रसन्नैश्चाभिभाषणम् ॥८४॥
दर्शनं शुक्लवस्त्राणां ह्रदस्य विमलस्य च । मांसमत्स्यविषामेध्यच्छत्रादर्शपरिग्रहः ॥८५॥
स्वप्ने सुमनसां चैव शुक्लानां दर्शनं शुभम् ।
अश्वगोरथयानं च यानं पूर्वोत्तरेण च । रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ॥ ८६ ॥

अन्य शुभ लक्षण—रोगी तथा उसके साथ रहने वाले घर के सभी लोगों का मंगलकारक एवं सदाचार

से सम्पन्न होना, रोगी तथा वैद्य के प्रति श्रद्धावान् होना, अनुकूल होना, पर्याप्त द्रव्यों का संग्रह होना, धन, ऐश्वर्य तथा सुख की प्राप्ति होना, सुख से आवश्यक पदार्थों का मिल जाना, जो द्रव्य जिस कार्य के योग्य है उसी में उसका प्रयोग होना, योजना (कार्य) सिद्धि का लक्षण है। घर, राजमहल, पर्वत की चोटी, हाथी और बैल के ऊपर स्वप्नावस्था में चढ़ना या चढ़ते हुए देखना, स्वप्न में चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, मनुष्य, जलपूर्ण समुद्र आदि को तैरकर पार करना, वृद्धि, संकट से मुक्ति पाना, स्वप्न में प्रसन्न देवता एवं पितरों से वार्तालाप करना, सफेद वस्त्रों का दिखलायी पड़ना, निर्मल (स्वच्छ) तालाब का दर्शन, मांस, मछली, विषयुक्त प्राणी (सांप, विच्छू, बरें आदि), अमेध्य पदार्थ (मल, मूत्र, थूक आदि), छाता, आदर्श (शीशा) आदि की स्वप्न में प्राप्ति होना, स्वप्न में सफेद फूलों का दर्शन होना शुभ है। घोड़ा गाड़ी या बैलगाड़ी में बैठकर उत्तर से पूर्व की ओर यात्रा करना, रोना, गिरे हुए को उठाना, शत्रुओं को मसल डालना, इस प्रकार के स्वप्नों को रोगी या उसके परिवार के लोग देखें तो रोगी की शीघ्र ही स्वास्थ्य-वृद्धि होती है।

सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्ये द्विजातिषु। साध्यत्वं न च निर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥८७॥

सुख-साध्य रोगी—रोगी का सात्त्विक लक्षणों से युक्त होना, वैद्य, ब्राह्मण, पूज्यजनों में भक्ति का होना, रोग का साध्य होना (साध्य लक्षणों से युक्त रोग का होना), निर्वेद (शरीर की चिन्ता न करना और न रोग की ही चिन्ता करना), ये सब आरोग्य के लक्षण हैं।

आरोग्याद् बलमायुश्च सुखं च लभते महत्। इष्टांश्चाप्यपरान् भावान् पुरुषः शुभलक्षणः ॥ ८८ ॥

आरोग्य-लाभ का फल—शुभ लक्षणों से युक्त पुरुष आरोग्य (स्वास्थ्य) लाभ हो जाने पर शारीरिक तथा मानसिक बल से युक्त हो जाता है, आयुष्य तथा महान् सुख की प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त अन्य अभीष्ट वस्तुओं की भी वह प्राप्ति करता है।

तत्र श्लोकौ—

उक्तं गोमयचूर्णीये मरणारोग्यलक्षणम्। दूतस्वप्नातुरोत्पातयुक्तिसिद्धिव्यपाश्रयम् ॥ ८९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—यहाँ दो श्लोक भी कहे गये हैं। इस गोमयचूर्णीय नामक अध्याय में दूत, स्वप्न, रोगियों के सम्बन्ध में होने वाले उत्पात, युक्ति तथा सिद्धि के आश्रित मृत्यु और आरोग्य-लक्षणों का विस्तार एवं संक्षेप से निर्देश किया गया है।

इतीदमुक्तं प्रकृतं यथातथं तदन्ववेक्ष्यं सततं भिषग्विदा।
तथा हि सिद्धिं च यशश्च शाश्वतं स सिद्धकर्मा लभते धनानि च ॥ ९० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति इन्द्रियस्थानं सम्पूर्णम्।

इन्द्रियस्थान की फलश्रुति—संहितागत विषयों के इस क्रमानुसार इन्द्रियस्थान का वर्णन यथा योग्य कह दिया गया है। चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह इसका बार-बार तथा निरन्तर अनुशीलन करता रहे। ऐसा करने वाला सफल चिकित्सक चिकित्सा-क्षेत्र में सिद्धि तदनन्तर शाश्वत सुयश और सभी प्रकार के धनों को अर्जित करता है।

•इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता इन्द्रियस्थान में गोमयचूर्णीय-इन्द्रिय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥

इस प्रकार इन्द्रियस्थान समाप्त हुआ।

टीकाकार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जीवन परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** का जन्म १५ सितम्बर १९३२ ई० को उत्तर-प्रदेशस्थ नैनीताल जिला के श्रीब्रह्मकुटी, शिलौटी ग्राम में हुआ। आपके पूर्वज श्री **श्रीचन्द्र त्रिपाठी** अपने पुत्र **शुकदेव** को लेकर १३४२ शक तदनुसार १४२० ई० में गुजरात प्रदेश के अमलाबाद बड़नगर के अन्तर्गत तेवार कसना ग्राम से कूर्माचल की पवित्रनगरी अल्मोड़ा में आये। इनके प्रथम पुत्र **श्रीशुकदेव** को कालीकुमांऊ के बिंड ग्राम में तत्कालीन राजा ने जागीर दी। तब से इनके उत्तराधिकारी बिंड के त्रिपाठी कहे जाते हैं।

इधर **राजा उद्योतचन्द** ने परम तेजस्वी श्री श्रीचन्द्र त्रिपाठी को अपने राजपंडितों में सादर स्थान दिया। राजा की प्रार्थना पर आपने विशेष अनुष्ठान विधि द्वारा अल्मोड़ा जिला में स्थान स्थान पर जलाशय (नौले) उत्पन्न कर दिये। श्रीत्रिपाठी की इस अद्भुत दैवी शक्ति से प्रभावित होकर राजा ने आपको पर्याप्त भूमि प्रदान की। यहां आकर आपको तीन पुत्र हुए—१ देवानन्द, २. जगन्नाथ, ३. जयराम। तदनन्तर श्रीजगन्नाथ त्रिपाठी के तीन पुत्र हुए—१. मनी, २. महानन्द, ३. जयशर्मा। श्रीमहानन्द के वंशज नल्लाचौंसार, खरकोट और डुबकिया में रहने लगे। इसी वंशपरम्परा के श्रीमान् पंडित मुरलीधर त्रिपाठी सर्वप्रथम अल्मोड़ा से शिलौटी ग्राम में आये। इस कुल में मन्त्रशास्त्र, कर्मकाण्ड, वैद्यक और ज्यौतिष के ज्ञाता विद्वान् उत्पन्न हुए।

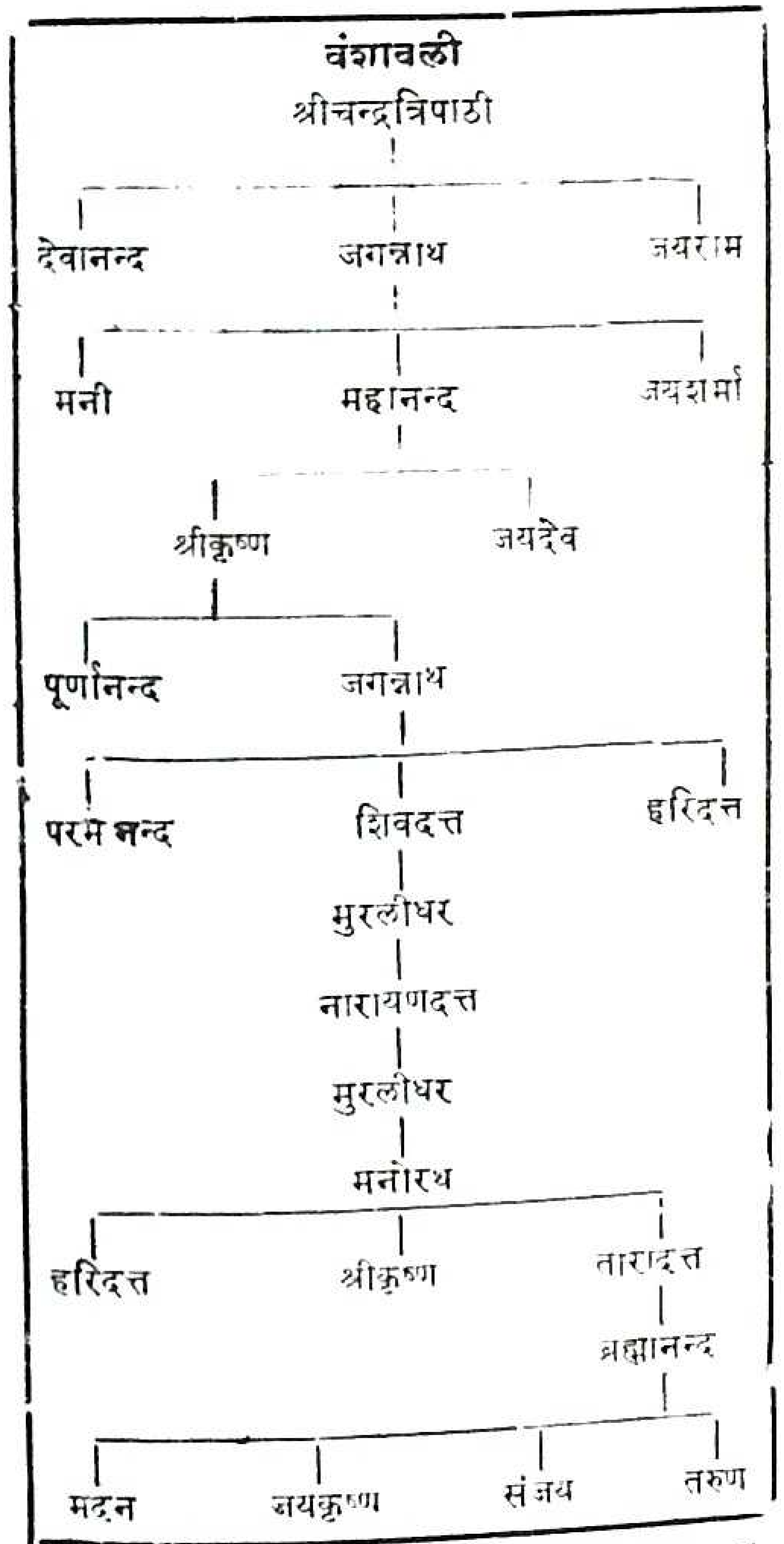

वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** कर्मकाण्ड, ज्यौतिष एवम् आयुर्वेद के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। आपकी दिनचर्या तपस्विजनोचित थी। आप शिव के अनन्य-भक्त थे। आप द्वारा स्थापित **'आयुर्वेदीय दातव्य-औषधालय'** से अनेक व्यक्ति प्रतिदिन निःशुल्क औषध प्राप्तकर लाभान्वित होते थे। आपने मादकपदार्थों के विरोध में **'चाय-तमाखू'** नामक लघु पुस्तिका की रचना कर **महात्मा गांधी जी** के विचारों को बल प्रदान किया और **'पहाड़ी गीतोपदेश'** का निर्माण कर पर्वतीय समाज को उद्बोधित किया। आप धार्मिक विषयों के मान्य लेखक तथा उपदेशक भी रहे हैं। आपके सुलेखों तथा चित्रों से प्रभावित होकर ब्रिटिश-शासन ने समय-समय पर विभिन्न पुरस्कार दिये।

अपने पितृचरणों से परम्परागत ज्ञान को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्तकर पूज्या माता जी के दिवंगत होने के बाद श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने वाराणसी आकर सन् १९५५ में आयुर्वेदाचार्य एवं ज्यौतिषाचार्य परीक्षा, सन् १९६१ में साहित्याचार्य परीक्षा, सन् १९६२ में विशिष्टशास्त्री (समकक्ष बी० ए०), सन् १९६५ में एम० ए० परीक्षा, सन् १९७३ में पी-एच० डी० तथा सन् १९७५ में आयुर्वेदबृहस्पति (डी० एस-सी०, ए०) की उपाधि ससम्मान प्राप्त की।

कार्यक्षेत्र	पद	अवधि
१. अर्जुन आयुर्वेद-महाविद्यालय, वाराणसी	चरक-प्राध्यापक	१९५५ से ७९ तक
२. अर्जुन आयुर्वेद चिकित्सालय, वाराणसी	प्रधान चिकित्सक	१९५५ से ७९ तक
३ डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी	संस्कृत-प्राध्यापक	१९५६ से
४. मेडिसिन प्लांट सर्वे यूनिट, रानीखेत (उ० प्र०)	वैद्य	१९६५ में २ मास
५ कविभारती, वाराणसी	उपमन्त्री	१९७० में एक वर्ष

कृतियाँ

संस्कृत साहित्य—व्यक्तिविवेकः (उ० प्र० शा० द्वारा पुरस्कृत), मेघदूतम्, किरातार्जुनीयम्, छन्दोमञ्जरी, शिशुपालवधम्, व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः, संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्कृत-निबन्धमञ्जूषा, प्रस्तावरत्नाकरः (साहित्य), प्रबन्धसङ्ग्रहः (व्याकरण), अनुवादचन्द्रिका, अमरकोषः, धातुपर्यायकोषः, चाणक्यनीतिः, नीतिशतकम्, रुद्राष्टाध्यायी, कठोपनिषद् , ऋक्सूक्तसङ्ग्रहः, सत्यनारायणकथा, शनैश्चरस्तोत्रम् ।

आयुर्वेद—माधवनिदानम्, वैद्यावतंसः, चमत्कारचिन्तामणिः, लोलिम्बराज और उनकी कृतियाँ : एक अध्ययन, लोलिम्बराज-ग्रन्थावली, अजीर्णमञ्जरी, चरक-संहिता ।

ज्यौतिष—बृहद्-वास्तुमाला, ग्रहलाघवम्, शीघ्रबोधः, शिशुबोधः, स्वस्थवृत्तम् व्यवहाररत्नम्, नाडिदत्त-पञ्चविंशतिका ।

विविध-विषयक-साहित्यिक निबन्ध

क्रम निबन्ध	पत्रिका	स्थान	सन्
१. ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना	शिक्षा	लखनऊ	१९६०
२ कला और आर्षशास्त्रीय ग्रन्थ	"	"	१९६२
३. गढ़वाल की कुछ जातियां और भाषा	ग्राम्या	"	१९६२
४. अल्मोड़ा जिला के दर्शनीय स्थान	"	"	१९६२
५. स्वस्तिक-परिचय	त्रिपथगा	"	१९६३
६. संस्कृत : एक अध्ययन	अजन्ता	हैदराबाद	१९५८
७. साहित्य और हमारा जीवन	"	"	१९५९
८. वेदों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन	भारती	बम्बई	१९६३
९. देवताओं के वाहन	"	"	१९६३
१०. साँप दिव्य और पार्थिव	"	"	१९६२
११. लक्ष्मी	धर्मयुग	"	१९६६
१२. महाराज जयनारायण घोषाल	वेंकटेश्वरसमाचार	"	१९:१
१३. संस्कृत व्याकरणों का आलोचनात्मक परिचय	सरस्वती	इलाहाबाद	१९५८
१४. वाराही देवी	"	"	१९७८
१५. चित्रकाव्य	सम्मेलनपत्रिका	"	१९६३
१६. पर्वतीयस्थानों की अमर देन	सप्तसिन्धु	पटियाला	१९६३
१७. महर्षि पाणिनि	कलश	कलकत्ता	१९६२
१८. चित्रकाव्यकौतुकम्	आज	वाराणसी	१९६८
१९. स्व० लालचन्द्र जी वैद्य	"	"	१९६८
२०. ब्रह्मवैवर्तपुराण और मेघदूत	"	"	१९७०
२१. भारतीय संस्कृति में दीपावली	किसलय	"	१९५९
२२. वैदिकसाहित्य में नाट्यतत्व	"	"	१९६६
२३. हनुमान क्षत्रिय हैं या वानर	"	"	१९६६
	"	"	

२४. पाश्चात्य कविता पर कालिदास का प्रभाव	किसलय	वाराणसी	१९६७
२५. संस्कृत पठन-पाठन की नवीन सरणि	अन्नदापुष्पाञ्जलि	"	१९७७
२६. सप्तशृङ्गी देवी	"	"	१९७७
२७. षट्शक्ति	"	"	१९७७
२८. चित्रचर्चा	चित्रम्	"	१९७६

शोधस्तरीय आयुर्वैदिक निबन्ध

				पंक्ति
१. नेहरू और आयुर्वेद	अनुभूतयोगमाला	इटावा	१९६४	२७
२. भस्म	"	"	१९६३	२७
३. मेरे अनुभव	"	"	१९६०	१०
४. यूनानी चिकित्सा : एक विहंगम दृष्टि	धन्वन्तरि	अलीगढ़	१९६४	३९
५. भूलोक का अमृत मठा	"	"	१९६४	११
६. बालपक्षाघात (पोलियो)	"	"	१९८३	२९
७. जलोदर	"	"	१९६३	८
८. मधुशब्द का साहित्यिक विवेचन	"	"	१९६३	२८
९. बालकों का रसक्षय	"	"	१९६२	३५
१०. धत्तूर पर अनुभव	"	"	१९६२	११
११. काम शब्द की निरुक्ति तथा परिचय	"	"	१९६२	५
१२. आहिण्डिका	"	"	१९६१	३५
१३. मद्य का आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रभाव	"	"	१९६१	४०
१४. वन्ध्यत्व दोष	"	"	१९६०	३७
१५. कतिपय अनुभूत प्रयोग	"	"	१९६०	१२
१६. वाजीकरणम्	"	"	१९६०	६
१७. कालिदास का आयुर्वेदीय ज्ञान	"	"	१९५९	२३
१८. दोहद और उसका प्रभाव	"	"	१९५९	१०
१९. वैदिककालीन अध्यापक और छात्र	"	"	१९५९	३८
२०. मधुमेह के सर्वप्रथम रोगी श्रीगणेश	"	"	१९५९	१९
२१. श्वासरोग	"	"	१९५९	३
२२. योषापस्मार	"	"	१९५८	८
२३. नपुंसकता	"	"	१९६६	१५
२४. ईख का आयुर्वेदीय विवेचन	"	"	१९६७	७
२५. कतिपय बालरोग	"	"	१९६७	३८
२६. सम्मति	"	"	१९६७	२०
२७. ग्रीष्मऋतु का आहार-विहार एवं स्वास्थ्यरक्षा	"	"	१९७१	९
२८. आम की उपयोगिता	"	"	१९७१	१३
२९. अभ्यंग से स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य वृद्धि	"	"	१९७१	३६
३०. वर्षाऋतुचर्या तथा स्वास्थ्य	"	"	१९७१	२२
३१ अर्श रोग	"	"	१९७४	३७
३२. विषमज्वर : सापेक्ष निदान एवं चिकित्सा	"	"	१९७८	२६
३३. महात्मागांधी और बकरी का दूध	"	"	१९७०	२
३४. धन्वन्तरि का जरारुजाशामक आँवला	"	"	१९६४	९
	आयुर्वेदविकास	कलकत्ता	१९६२	२१
		"		१६
३५. अंजरी	"			१६

३६. बालक : शास्त्रीय विवेचन तथा परिचर्या	आयुर्वेदविकास	कलकत्ता	१९६७
३७. दन्तवेष्ट-शीताद-उपकुश	,,	,,	१९७१
३८. रामवांस	,,	,,	१९७२
३९. वाग्भट और लोलिम्बराज	,,	,,	१९७३
४०. अग्निमान्द्य विवेचन एवं समाधान	,,	,,	१९७४
४१. च्यवन एवं च्यवनप्राश	,,	,,	१९७६
४२. कायाकल्प	,,	,,	१९७८
४३. आयुर्वेद में पञ्चकर्म	,,	,,	१९८३
४४. ग्रामीण चिकित्सा में आयुर्वेद का योगदान	,,	,,	१९८३
४५. आयुर्वेद अभी सांसें ले रहा है	आ. म. स. प.	दिल्ली	१९६९
४६. कुटकी परिचय तथा उपयोग	,,	,,	१९७०
४७. लोलिम्बराज तथा मेवाराममिश्र	,,	,,	१९७३
४८. लोलिम्बराज उनका चमत्कारचिन्तामणि	,,	,,	१९७३
४९. तमाखू का ऐतिहासिक स्वरूप	,,	,,	१९७३
५०. लुप्त-सुप्त साहित्य एवं योगों को प्रकाश में लायें	,,	,,	१९७५
५१. स्नान और स्वास्थ्य	आरोग्यसन्देश	नई दिल्ली	१९७५
५२. अविदुग्ध, फिटकिरी, गर्दभमूत्र	सुधानिधि	अलीगढ़	१९७८
५३. उरःक्षत	,,	,,	१९८२
५४. परिवारनियोजन : एक नया अध्याय	गांडीव	वाराणसी	१९६७
५५. टहलने का अभ्यास कीजिये	किसलय	,,	१९६७
५६. हम दीर्घजीवी कैसे हों ?	जनस्वास्थ्य	—	१९६७
५७. चर्मरोग और सौन्दर्य	स्वास्थ्यसरिता	—	१९६३
५८. आयुर्वेदज्ञों की दृष्टि में नींबू	मोहता आयुर्वेद पत्रिका	—	१९६४
५९. ऋतुचर्य्या	निरोग	इन्दौर	८०–८२

संस्कृत कविताएँ

१. विजयतां गीर्वाणभारती	गाण्डीवम्	वाराणसी	१९६४
२ होलिकाभ्यर्थनम्	,,	,,	१९६४
३. रागस्य लीलायितम्	,,	,,	१९७८
४. स्वर्गीयो जवाहरः	किसलय	,,	१९६४
५. लालबहादुरशास्त्रिणे श्रद्धाञ्जलयः	,,	,,	१९६७
६. राष्ट्रनायकम्प्रति, राष्ट्रकविम्प्रति	,,	,,	१९६४
७. श्रीकृष्णप्रसादाय श्रद्धाञ्जलयः	सूर्योदयः	,,	१९६७
८. होलिकाविनोदविन्दवः	,,	,,	१९७१
९. अरविन्दपदारविन्दवन्दनम्	,,	,,	१९७२
१०. परीक्षाः	,,	,,	१९७२
११. दयानन्दमहाविद्यालयः	प्रभा	,,	१९७६
१२. सुस्वागतं कुलपते तव कल्पयामः	,,	,,	१९७६
१३. धन्वन्तरि-वन्दना	अर्जुनवि० पत्रिका	,,	१९५९
१४. भिषजः सज्जा भवेयुः पुनः	,,	,,	१९७४
१५. नारी	भारतोदयः	हरिद्वार	१९७६
१६. दीपावली	,,	,,	१९७६

१७. भारतोदयाभ्युदयः	भारतोदयः	हरिद्वार	१९६८
१८. महर्षि महिमा	,,	,,	१९७६
१९. सम्भाव्यते, चेतना	,,	,,	१९७६
२०. राजतां भारतोदयः	,,	,,	१९७८
२१. सम्मतिः	सर्वगन्धा	लखनऊ	१९७७
२२. धन्वन्तरिर्विजयतेतराम्	अनुभूतयोगमाला	इटावा	१९६६
२३. ऊर्ध्वजत्रुरोगेषु अमोघानुभूतयः	,,	,,	१९६२
२४. शिशुरोगाङ्कविषये सम्मतिः	धन्वन्तरिः	अलीगढ़	१९६२
२५. स्व० देवीशरणगर्गम्प्रतिभावाञ्जलयः	सुधानिधिः	,,	१९७४
२६. प्रसीद देवेश ! जनेषु भूयः	आ. म. स. प.	दिल्ली	१९७२
२७. प्रणमनम्	,,	,,	१९७२
२८. स्तूयतां स्तूयतां वैद्यधन्वन्तरिः	,,	,,	१९७३
२९. पत्रिकाप्रशस्तिः	स्वास्थ्यम्	अजमेर	१९६४
३०. कवितासङ्ग्रहः	कविभारतीकुसुमाञ्जलिः	वाराणसी	६८से७३

संस्कृत-निबन्ध

१. संस्कृताध्ययनविमर्शः	दिव्यज्योतिः	शिमला	१९६२
२. ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः	,,	,,	१९६२
३. ऋतुराजः	सूर्योदयः	वाराणसी	१९५९
४. हेमन्तर्तुचर्या	,,	,,	१९६४
५. वर्षाकालिकी इतिकर्तव्यता	,,	,,	१९७०
६. आयुर्वेदे त्रिदोषसिद्धान्तः	,,	,,	१९७०
७. लोलिम्बराजीयं हरिविलासकाव्यम्	,,	,,	१९७०
८. चक्षूरोगेषु प्रत्यक्षानुभवः	,,	,,	१९७१
९. कृपणस्य महाभारतम्	,,	,,	१९७२
१०. संस्कृतसाहित्ये वेणीबन्धनम्	विश्वसंस्कृतम्	होशियारपुर	१९६८
११. कविराजः श्रीमल्लोलिम्बराजः	,,	,,	१९६८
१२. अर्थस्य सदुपयोगः	संस्कृतभवितव्यम्	नागपुर	१९७७
१३. महाकविः कालिदासः	,,	,,	१९७९
१४. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्	गाण्डीवम्	वाराणसी	१९७७
१५. भगवती सप्तशृङ्गी	,,	,,	१९७८
१६. उपमा कालिदासस्य	,,	,,	१९७९
१७. महाराष्ट्रियमनीषिवर्यः श्रीवसन्तत्र्यम्बकशेवडे	,,	,,	१९८२
१८. काशिको भट्टपरिवारः	,,	,,	१९८१
१९. आयुषो लक्षणम्	,,	,,	१९७९
२०. वर्षर्तुदिनचर्या	,,	,,	१९७९
२१. अल्मोडामण्डलस्य आकर्षणानि	भारतोदयः	हरिद्वार	१९७८
२२. सर्वशास्त्रमयं काव्यं कालिदासस्य विश्रुतम्	,,	,,	१९७७
२३. नमः ते चाटुकारिते	सर्वगन्धा	लखनऊ	१९७८
२४. आयुर्वेदस्य सर्वजनीनत्वम्	आ. सम्मेलन पत्रिका	दिल्ली	१९५९
२५. योषापस्मारः	,,	,,	१९५८

२६. अभिज्ञानशाकुन्तले भवितव्यतायाः प्रभावः प्रभा वाराणसी १९७९

२७. अभिज्ञानशाकुन्तले तत्र श्लोकचतुष्टयम् ,, ,, १९८०

विशिष्ट अधिवेशनों में योगदान

१. शालाक्य-सम्भाषा-परिषद्, वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी आयुर्वेदिक कालेज, दिनांक ७, ८, ९ नवम्बर १९६६ को नेत्र, मुख, कर्ण रोगों पर निबन्धपाठ।

२. सीलोन (श्रीलङ्का) देशादागतानां विदुषां सम्माने वाराणसेयाऽर्जुनमहाविद्यालये, पद्यात्मकं भाषणम्, सन् १९६७ (गाण्डीवपत्रे प्रकाशितम्)।

३. सेविन्थ साइण्टिफिक कान्फ्रेंस, पोस्ट-ग्रेजुएट इंस्टीच्यूट आफ इंडियन मेडिसिन साइंस, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, दिनांक १९, २०, २१, दिसम्बर १९७०। 'लोलिम्बराज का परिचय और उनकी सेवायें' निबन्धपाठ।

४. लोलिम्बराज और उनकी कृतियों की ऐतिहासिक उपलब्धियां, विषय पर व्याख्यान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में, दिनांक २६–११–७५ ई०।

५. संस्कृत अकादमी, उत्तरप्रदेश लखनऊ, द्वारा आयोजित संस्कृत दिवस पर 'कविसम्मेलन' सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी में कविता पाठ। दिनांक १८।८।७८ ई०।

६. राजस्थान आयुर्वेदविज्ञानपरिषद् का तृतीय विशिष्ट अधिवेशन, सीकर में सम्मिलित, दिनांक २७, २८ जनवरी १९७९।

७. आल इण्डिया कान्फ्रेन्स आन प्राब्लम आफ संस्कृत एजुकेशन इन नन हिन्दी स्टेट, हेल्ड ऐट नागपुर, आन ६, ७, ८, अगस्त १९८२, 'पारम्परिकविद्याध्ययनपद्धतौ वर्तमानाः समस्याः तासां निराकरण उपायाः'।

८. राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय वाराणसी, सम्भाषापरिषद्—ग्रामीण-स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं परिवार-कल्याण—में निबन्ध पाठ। 'आयुर्वेदिक दृष्टि से ग्रामीण चिकित्सा का प्रथम चरण' ५, ६, ७ फरवरी १९८३।

इस प्रकार डॉ० त्रिपाठी नित्य-नैमित्तिक विधियों के सम्पादन द्वारा ब्राह्मणोचित दिनचर्या का निर्वाह करने के अनन्तर पठन-पाठन, लेखन तथा अभिनव ग्रन्थ-रचना आदि में अपने सात्विक जीवन का सदुपयोग करने में तत्पर रहते हैं। ऐसे स्वावलम्बी एवं निर्मत्सर व्यक्ति के उज्ज्वल जीवन-परिचय को लिखते हुए मैं अपने जीवन के इन क्षणों को सफल समझ रहा हूँ।

प्रस्तुतकर्ता—

डॉ० जीवनचन्द्र पन्त

एम. एस-सी.

शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लोकं	लोको	१	११	शान्ति	शान्त	८८	२७
था	है	३	१२	अर्थ	क्षेत्र	९२	२७
मूत्रस्थान	सूत्रस्थानम् (सर्वत्र)	३	१	मतिक्षेसंक्षेपः	मतिसङ्क्षेपः	१०१	१०
भङ्गं	भगं	३	२८	अन्नन	अन्नेन	१०५	३९
वानप्रस्थान	वानप्रस्था	६	२७	तृप्यते	तृष्यते	१२७	११
भावाय	भ(भा)वाय	१३	२४	पृश्नीपर्णी	पृश्निपर्णी	१२८	२९
समानत्वाद्वि	समानत्वाद्धि	१४	३८	भशयेद्	भक्षयेद्	१३०	८
समूहाथ	समूहार्थ	१४	३९	लाभन्वित	लाभान्वित	१३१	२८
वात	वात	१७	१५	वभीपु	वमीपु	१३१	३५
वैमत्या	वैमल्या	१९	८	कुप्यन्यृतप	कुप्यन्त्यृतुपु	१५९	११
निवृत्ति	निवृत्ति	२२	११	था	है	१६३	५
तन्तुवाय	तन्तुवाय	२३	२६	श्रृणुः	श्रृणु	१६३	३५
निर्गुत्व	निर्गुणत्व	२३	३३	शास्त्रीय	शास्त्रीय	१६५	४०
ओर	और	२४	४१	विरोध	निरोध	१६६	३७
तियत	नियत	२७	७	विमृदनीयात्	विमृद्नीयात्	१७६	१२
कारण	करणा	२७	२४	व्यायामताः	व्यायामता	१७७	६
वात	वात	२८	११	गजधारी	गजघाती	१७७	२३
एकैश	एकैकशो	२९	१६	व्यायाम	व्यवाय	१७८	१०
स्यीकार्य	स्वीकार्य	२९	४३	वैशाखस्तस्व	वैशाखस्तस्य	१८३	३८
चपकोप	चयकोप	३०	३५	सहस्व	सहस्य	१८४	१९
शनुभव	अनुभव	३२	३५	आय	जाय	१८५	३
धीर्धैर्या	धीर्धैर्या	३२	३	भोजन	भोज्य	१८८	८
रुणवर्जो	रुणवर्णो	२२	४०	था	है	१८९	१५
कर्मापि	कर्माणि	३४	३४	आत्रेव	आत्रेय	१८९	७
उसको	उनको	३८	१८	अमीष्णं	अभीक्ष्णं	१९१	३८
विरेच	विरेचन	३९	२१	गीता	ब्रह्मबिन्दूपनिषत् १।२	१९२	२०
काकड़ासिंगा	काकड़ासिंगी	३९	३७	मखिनो	मखिलेनो	१९७	९
चैब	चैव	४०	१३	वलीना	बलीना	१९७	१३
ओपधियों को	ओषधियों के	४५	३०	चाटत्री	चाटवी	१९८	३६
कृमिशोध	कृमिशोथ	४५	१२	नेर्ष्युं	नेर्ष्युः	१९८	२२
ओगधियों	ओषधियों	४६	२४	भस्मति	भस्मनि	२०१	३७
वत्सनाम	वत्सनाभ	४७	२८	वृद्धान्	वृद्धान्	२०३	२६
परिभाषा	परिभाषा	४८	३६	कार्यरम्भ	कार्यारम्भ	२०५	२
अङ्ग	ग्रन्थ	५१	२	प्रवृति	प्रवृत्ति	२१३	९
अन्न	अन्त्र	५७	२२	था	है	२१५	२१
था	है	६८	५	चतुत्पाद	चतुष्पाद	२१५	२६
न्नराधान	न्तराधान	७०	१६	उप	उप	२१५	३६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
था	है	२२३	५
प्रत्यक्ष, उपमान	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान	२३०	९
अन्तः बहिः	अन्तः	२५०	१५
स्थित	स्थिति	२५१	२७
था	है	२५२	२३
स्थूलाणु	स्थूलाणु	२५५	२
सही	यही	२५५	१७
प्रभवश्रा	प्रभवश्चा	२५८	२०
अदित्वम्	अदितित्वम्	२५८	३१
बलवण	बलवर्ण	२५९	९
था	है	२६२	५
सङ्ख्यैः	साङ्ख्यैः	२६२	१२
ज्वरेषु	ज्वरेषु तु	२६४	२६
प्रणाम	प्रमाण	२८९	९
धृत	घृत	२९३	३२
सरा	सुरा	२९३	१५
अर्थव्याम	अर्धव्याम	२९६	३७
मर्जन	भर्जन	२९९	३६
था	है	३०५	२४
था	है	३२१	२१
चिकित्साप्रभृत	चिकित्साप्राभृत	३२१	३०
न चा	न वा	३२२	१६
युक्तिर्द्रष्टा	युक्तिर्दृष्टा	३३०	१५
था	है	३३२	२८
निस्तुद्यते	निस्तुद्येते	३३६	२१
विचारणाय	विदारणीय	३३७	२४
हल्लास	हृल्लास	३४८	७
पित्ते	पित्ते	३४८	१६
गसङ्ग्रहाः	गलग्रहाः	३६०	५
परिस्थियों	परिस्थितियों	३६२	४
था	है	३६६	५
सामान्यादित	सामान्यात्	३६९	२९
था	है	३८०	२७
उक्षणों	लक्षणों	३८६	१६
था	है	३८७	५
था	है	३९७	३३
क्षुदतिमात्र	क्षुदतिमात्रं	३९८	१९
कर्शणै	कर्शनै	४०२	२५
वैष्णां	वैष्णवी	४११	२१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
था	है	४१२	५
स्नेहविष्यन्दा	स्नेहविष्यन्द	४१२	२७
यथोद्दिष्ठा	यथोद्दिष्टा	४१६	४
यजस्त	यज्जस्त	४४२	१७
श्यावाऽरुणा	श्यावाऽरुणा	४३६	२६
था	है	४४१	११
वासानाम्	वसानाम्	४५१	३५
गूंग	मूंग	४५१	३८
असद्ग्रणं	असद्ग्रहणं	४५५	८
सुराषोवीर	सुरासौवीर	४६२	११
सभीक्ष्येति	समीक्ष्येति	४६३	२५
था	है	४६४	१८
इत्यायत्यनपकारी	इत्यायतावनपकारी	४६५	४०
रसाभाव	रसाभास	४६६	१३
वह्नेः	वह्नेः	४८०	३२
विद्धान्न	विरुद्धान्न	४९२	३२
था	है	५००	१८
स्निग्धोष्णां	स्निग्धोष्णं	५१०	१६
गुरुः	गुरु	५२९	२१
अथ	×	५३१	१९
था	है	५४४	३४
याग	योग	५४६	३०
विविधशित	विविधाशित	५५३	२३
था	है	५५३	२४
मगितः	मभितः	५५६	२६
प्राणभिसर	प्राणाभिसर	५५८	९
था	है	५५८	१८
नुसार	अनुसार	५६१	३१
तन्त्रण	तन्त्रेण	५६३	३२
विचर्यो	विचर्यो	५७१	६
शब्दमात्रण	शब्दमात्रेण	५७३	१९
था	है	५७७	६
चिह्नेषु	चिह्नेषु	५८२	२७
भक्षेभ्य	भक्षेभ्यः	५९३	२८
रोमहष	रोमहर्ष	५९३	२५
ज्तर	ज्वर	५९५	३५
था	है	५९७	५
सर्षप	सर्षप	५९७	११
था	है	६०४	५
आसात्म्य	असात्म्य	६०६	२८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अतिशार	अतिसार	६०७	१६
सात्म	सात्म्य	६०८	२६
गुरु	गुरू	६११	११
था	है	६१२	५
तनयो	तनवो	६१२	३३
था	है	६२३	१२
दोषदूष्यों	दूष्यों	६२३	२२
वस्था	वस्था	६२९	१०
परित्यस्य	परित्यज्य	६३३	१०
था	है	६३९	१९
था	है	६४७	५
राटोपा	राटोपो	६४८	९
दर्शिन	दर्शिनं	६४९	८
था	है	६५४	६
भुञ्जानस्पा	भुञ्जानस्या	६६७	१७
था	है	६६९	२४
विकाराभि	विकारानभि	६७१	१६
था	है	६७५	१५
सब्रह्म	सब्रह्म	६८१	१५
रश	रस	६८२	२
था	है	६९०	५
था	है	६९५	५
था	है	७०१	२७
था	है	७०९	२५
सशोधनं	संशोधनं	७१०	१४
था	है	७२२	३०
मर्थं	मर्थं	७३१	३१
भवान्	भव	७३४	२
महऽ	महा	७६७	५
सस्त	संस्त	७७०	३
वलं	बलं	७७२	१४
माग	मार्ग	७८४	१२
था	है	७८९	६
कारणा	कारण	८०४	२७
काष्टैश्च	काष्ठैश्च	८०४	३३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
तर्मि	तस्मिं	८३६	१६
था	है	८३७	२९
था	है	८५९	५
स्येव	स्त्वेव	८६०	२९
वस्ति	वस्ति	८६२	२३
था	है	८७४	३०
त्मक	त्मकं	८७९	७
द्वादश	दश	८८६	३४
नेव	मेव	८८७	२६
था	है	८९७	५
आदित्या	आदित्य	८९७	३२
था	है	९०४	१२
प्रत्यशं	प्रत्यक्षं	९१६	३१
था	है	९१९	५
त्वम्	त्वक्	९२३	२८
नस्ति	वस्ति	९२४	२२
था	है	९३०	५
नास्ते	वास्ते	९३४	४०
यवत्व	यवत्वं	९३९	१३
तरेव	तैरेव	९४८	२८
था	है	९८३	६
था	है	९९५	५
था	है	९९९	२२
प्रविष्ट	प्रविष्टे	१००१	१३
था	है	१००३	५
था	है	१००८	५
के	में	१०११	१४
था	है	१०१५	११
रागाः	रोगाः	१०१८	६
था	है	१०१९	५
था	है	१०२५	५
था	है	१०२९	१७
था	है	१०३२	३४
था	है	१०३६	१५
संयमम्	संशयम्	१०४२	२३

सतर्कबुद्ध्या बहुशो निरीक्षितास्तथापि जातास्त्रुटयः प्रमादतः ।
सुशोध्य सम्यग्विनिवेशिता मया विशेषतस्ताः पठनार्थिनाङ्कृते ॥

परिशिष्टम्

(१) तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः

(सूत्रस्थान, अध्याय ८)

	अंक
अग्निमुपचरेत्	१८
अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीरात्	२८
अमर्षघ्नः प्रशमगुणदर्शी	१८
आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेत्	२८
इन्द्रो मे वीर्यं शिवा मां प्रविशन्त्वापः	२८
उपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च	२८
औषधीः प्रशस्ताः धारयेत्	१८
कलिं नारभेत, नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत	१९
कुचेलास्थिकण्टका···भूमीनां परिहर्ता	१८
क्रुद्धानामनुनेता स्यात्	१८
चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि	२८
छत्री, दण्डी, मौली, सोपानत्कः	१८
ज्योतींष्यनिष्ट···च नाभिवीक्षेत	१९
तद्ध्यनुतिष्ठन्···विजयं चेति	१८
तस्मात्···सद्वृत्तमनुष्ठेयम्	१७
त्रिः पक्षस्य केश···नखान् संहारयेत्	१८
दक्षः क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः	१८
दीनानामभ्युपपत्ता स्यात्	१८
दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता स्यात्	१८
देवगोब्राह्मणगुरु···नर्चयेत्	१८
द्विः परिमृज्यौष्ठौ पादौ	२८
द्वौ कालावुपस्पृशेत्	१८
धूमयः पूर्वाभिभाषी, सुमुखः	१८
न कञ्चिदवजानीयात्	२५
न कार्यकालमतिपातयेत्	२७
न कुत्सयन्न कुत्सितम्	२०
न कुलच्छायामुपासीत	१९
न कृतमित्याश्वसेत्	२७
न केशाग्राण्यभिहन्यात्	१९
न क्रोधहर्षावनुविदध्यात्	२७
न क्षपास्वमर···घातनान्यासेवेत	१९
न क्षुद्रैर्न दुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत्	१९
न गवां दण्डमुद्यच्छेत्	२५
न गिरि विषममस्तकेष्वनुचरेत्	१९
न गुह्यमनुश्रावयेत्, नाधिकुर्यात्	२२
न गुह्यं विवृणुयात्	२५
न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्	२७
न चातिदीर्घसूत्री स्यात्	२७
न चैत्यध्वजगुरु···माक्रामेत्	१९
न चाति ब्रूयात्	२५
न छिन्द्यात्तृणम्	१९
न जनवति, नान्नकाले	२१
न जपहोमाध्ययन···क्रियासु	२१
न जलोग्रवेगमवगाहेत्	१९
न जिह्मं रोचयेत्	१९
न दन्तान् विघट्टयेत्	१९
न द्रुममारोहेत्	१९
न नक्तं दधि भुञ्जीत	२०
न नक्तं नादेशे चरेत्	२५
न नखान् वादयेत्	१९
न नष्टचन्द्रायां तिथौ	२४
न नासिकां कुष्णीयात्	१९
न नियमं भिन्द्यात्	२५
न नृपान् वाऽधिक्षिपेत्	२५
न पन्थानमवमूत्रयेत्	२१
न पर्युषितमन्यत्र मांस···भक्ष्येभ्यः	२०
न पात्रीष्वमेध्यासु	२०
न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान्भजेत	१९
न पापेऽपि पापी स्यात्	१९
न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेत्	१९
न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत	२०
न बान्धवानुरक्त···गुह्यज्ञान् बहिष्कुर्यात्	२५
न बालवृद्ध···क्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्	२५
न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्	२७
न ब्राह्मणान् परिवदेत्	२५
न भयमुत्पादयेत्	१९
न भुक्त्वा न बहून् न द्विः	२०
न भूमिं विलिखेत्	१९
न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात्	२५
न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं	२०
न महाग्रहोपगमने	२४
न महोत्सवे, नोल्कापाते	२४
न रजस्वलां, नातुरां, नामेध्यां	२२
न लोष्टं मृद्नीयात्	१९
न वाय्वग्निसलिलसोमार्क···सृजेत्	२१
न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत	१९
न विद्युत्स्वनार्तवीषु	२४
न विमना, नाभक्ता···परिचरो	२०
न विलम्बितं, नातिक्लीबं	२४
न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो	२२
न विषाणिनः उपसर्पेत्	१९
न वीर्यं जह्यात्, नापवादमनुस्मरेत्	२७
न वृद्धान् न गुरून्, न गणान्	२५
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्	२१
न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं	१९
न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणः	१९
न शोकमनुवसेत्	२७
न श्रमव्यायामोपवासक्लमाभिहतो	२२
न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि	२०
न सतो न गुरून् परिवदेत्	२३
न सन्ध्ययोर्नातिथिषु	२२
न सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं	२४
न सन्ध्यास्वभ्यव···सेवी स्यात्	२५
न सर्वकालविचारी स्यात्	२६
न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की	२६
न साहसातिस्वप्न···न्यासेवत	१९
न सिद्धावुत्सेकं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यं	२७
न स्त्रियमवजानीत	२२
न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गं	१९
न हुङ्कुर्याच्छवम्	१९
नाग्निसम्प्लवे, न भूमिकम्पे	२४
नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्	१९
नाजानुसमं कठिनमासनमध्यासीत	१९
नातिथिभ्यो, नोपाश्रितेभ्यो	२०
नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं	२४
नातिविश्रम्भयेत्	२२
नातिसमयं जह्यात्	२५
नात्युच्चैर्नातिनीचैः	२४
नादक्षां, नादक्षिणां, नाकामां	२२
नादक्षिणो नासूयकः	२५
नादत्वा गुरुभ्यो	२०
नादत्वाऽग्रमग्नये	२०
नादेशे, नाकाले, नाकीर्णे	२०
नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत	१९
नाधीरो, नात्युच्छ्रितसत्वः स्यात्	२६
नानवस्थितपदं नातिद्रुतं	२४
नानार्यमाश्रयेत्	१९
नानावृतमुखो जृम्भां, क्षवथुं	१९
नानास्तीर्णमनुपहित···शयनं प्रपद्येत	१९
नानिरूप्य पितृभ्यो	२०
नानुपस्थितप्रहर्षो	२२
नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत	२१
नानृतं ब्रूयात् नान्यस्वमाददीत	१९
नान्यकामां नान्यस्त्रियं, नान्ययोनिं	२२
नान्यदोषान् ब्रूयात्	१९
नान्यरहस्यमागमयेत्	१९
नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं	१९
नापरीक्षितमभिनिविशेत्	२७
नापुण्यन्धो, नामाली	२०
नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो	२०
नाप्रणीतसङ्कल्पो	२२
नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैः	२०
नाभुक्तवान्नात्यशितो	२२
नाभृतभृत्यः, नाविश्रब्धस्वजनः	२६
नाभ्युदितासु दिक्षु	२४
नायोनौ, न चैत्य···सुरालयेषु	२२
नारत्नपाणिर्नास्नातो	२०
नारहसि व्यवायं गच्छेत्	२२
नावरानुपासीत	१९
नाविगतक्लमो···उपस्पृशेत्	१९
नाशस्तां, नानिष्टरूपाचारोपचारां	२२
नाशुचिर्नाजग्धभेषजो	२२
नाशुचि···रग्नि जुहुयात्	२८
नाशुचिरभिचार···निर्वर्तयेत्	२३
नाशुद्धमुखो, नोदङ्मुखो	२०
नाशेषभुक्स्यादन्यत्र दधि···सर्पिभ्यः	२०
नास्थीन्यभिहन्यात्	१९
नास्पृष्ट्वा रत्नाज्य···निष्क्रामेत्	१९
नाहम्मानी स्यान्नादक्षो	२५
नाहुत्वा देवताभ्यो	२०
नित्यमनुपहतवासाः सुमना···स्यात्	१८
नेतराण्यनुदक्षिणम्	१९
नेन्द्रियवशगः स्यात्	२७
नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्	१९
नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारः	२६
नोदकान्तरितान्न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत्	२०
नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्	१९
नोच्छिष्टो नाधःकृत्वा प्रतापयेत्	१९
नोत्तमैर्विरुध्येत	१९
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्	१९
नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिः	१९
नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्	१९
नोपहतवासा नाजपित्वा	२०
परपरुषवचनसहिष्णुः	१८
पितृभ्यः पिण्डदः स्यात्	१८
पुरोवातातपावश्या···जह्यात्	१९
प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्	२७
प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी च	१८
फले नेर्ष्युः निश्चितः, निर्भीकः	१८
बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः	१८
ब्रह्मचर्यज्ञानदान···परश्च स्यात्	२९
भीतानामाश्वासयिता स्यात्	१८
मङ्गलाचारशीलः	१८
मलायनेष्वभीक्ष्णं···वैमल्यमादध्यात्	१८
मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः	१८
यष्टा, दाता चतुष्पथानां नमस्कर्ता	१८
युगमात्रदृग्विचरेत्	१८
रागद्वेषहेतूनां हन्ता च स्यात्	१८
वश्यात्मा, धर्मात्मा हेतावीर्ष्युः	१८
वायुर्मे प्राणानादधातु	२८
विनयबुद्धिविद्या···उपासिता	१८
विष्णुर्मे बलमादधातु	२८
श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्	२१
सत्यसन्धः, सामप्रधानः	१८
सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्	१८
साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः स्यात्	१८
स्वरैरध्ययनमभ्यस्येत्	२४
हास्यं वा प्रवर्तयेत्	१९
हितमितमधुरार्थवादी	१८
हेतुप्रभावविनिश्चितः स्याद्	२७
हेत्वारम्भनित्यश्च	२७
ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः	१८

(२) हिततमानामाहारविकाराणां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति

(सूत्रस्थान, अध्याय २५।३८)

अजमेदः शाखादमेदसाम्
आन्तरिक्षमुदकानाम्
ऐणेयं मृगमांसानाम्
कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्
गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्
गोक्षीरं क्षीराणाम्
गोधा बिलेशयानाम्
चुलुकीवसा मत्स्यवसानाम्
जीवन्तीशाकं शाकानाम्

तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानाम्
पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानाम्
मुद्गाः शमीधान्यानाम्
मृद्वीका फलानाम्
रोहितो मत्स्यानाम्
लावः पक्षिणाम्
लोहितशालयः शूकधान्यानाम्
वराहवसा आनूपमृगवसानाम्
शर्करेक्षुविकाराणाम्
शृङ्गवेरं कन्दानाम्
सैन्धवं लवणानाम्

(३) हिततमानुपदेक्ष्यामः

(सूत्रस्थान, अध्याय २५।३९)

अविक्षीरं क्षीराणाम्
आलुकं कन्दानाम्
आविकं सर्पिः सर्पिषाम्
ऊषरं लवणानाम्
काकमुद्गवसा जलचरविहङ्गवसानां
काणकपोतः पक्षिणाम्
कुम्भीरवसा मत्स्यवसानाम्
कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानाम्
गोमांसं मृगमांसानाम्
चटकवसा विष्किरशकुनिवसानाम्
चिलचिमो मत्स्यानाम्
निकुचं फलानाम्
फाणितमिक्षुविकाराणाम्
भेको बिलेशयानाम्
महिषवसा आनूपमृगवसानाम्
माषाः शमीधान्यानाम्
यवकाः शूकधान्यानाम्
वर्षा नादेयमुदकानाम्
सर्षपशाकं शाकानाम
हस्तिमेदः शाखादमेदसाम्

(४) अतो भूयः कर्मौषधानां च····द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः

(सूत्रस्थान, अध्याय २५।४०)

अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानाम्
अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यरक्तसाङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां
अजीर्णमुद्धार्याणाम्
अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम्
अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनाम्
अतिविषा दीपनीयपाचनीयसाङ्ग्राहिकसर्वदोषहराणाम्
अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणाम्
अध्यवसायः कालातिपत्तिहेतूनाम्
अनन्ता साङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्
अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्
अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्
अनिर्वेदो वार्तलक्षणानाम्
अनूपोऽहितदेशानाम्
अन्नं वृत्तिकराणाम्
अमृता साङ्ग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानां
अम्लं हृद्यानाम्
अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्
अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनाम्
अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानाम्
असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्
असमर्थता भयकराणाम्
आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्
आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्
आमलकं वयःस्थापनानाम्
आमो विषमचिकित्स्यानाम्
आयासः सर्वापथ्यानाम्
आयुर्वेदोऽमृतानाम्
आविकं सर्पिरहृद्यानाम्
इक्षुर्मूत्रजननानाम्
उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः साङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्
उदकमाश्वासकराणाम्
उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम्
उदीच्यं निर्वापणदीपनीयपाचनीयच्छर्द्यतीसारहराणाम्
एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्
एकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणाम्
एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम्
कट्वङ्गं साङ्ग्राहिकपाचनीयदीपनीयानाम्
कालभोजनमारोग्यकराणाम्
काश्मर्यफलं रक्तसाङ्ग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्
कुक्कुटो बल्यानाम्
कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसाङ्ग्राहिकोपशोषणानाम्
कुलत्था अम्लपित्तजननानाम्
कुष्ठं दीर्घरोगाणाम्
कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनाम्
क्रव्यान्मांसरसाभ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानाम्
क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्
क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्
क्षीरं जीवनीयानाम्
खदिरः कुष्ठघ्नानाम्
गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानाम्
गर्भशल्यमाहार्याणाम्
गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्
गवेधुकान्नं कर्शनीयानाम्
गुरुभोजनं दुर्विपाककराणाम्
गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्
चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्
चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानाम्
चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणाम्
जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्
जलं स्तम्भनीयानाम्
जाम्बवं वातजननानाम्
ज्वरो रोगाणाम्
तक्राभ्यासो ग्रहणीशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानाम्
तद्विद्यसम्भाषाबुद्धिवर्धनानाम्

तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणाम्
तृप्तिराहारगुणानाम्
तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणाम्
त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्
दुरालभा पित्तश्लेष्मप्रशमनानाम्
दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्
दौर्मनस्यमवृष्याणाम्
नक्ररेतो वृष्याणाम्
नास्तिको वर्ज्यानाम्
निर्देशकारित्वमातुरगुणानाम्
निवृत्तिः पुष्टिकराणाम्
परदाराभिगमनमनायुष्याणाम्
परावातनमत्राश्रद्धाजननानाम्
पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानाम्
पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्
पुष्टिः स्वप्नकराणाम्
पृश्निपर्णी साङ्ग्राहिकवातहरदीपनीयवृष्याणाम्
प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानाम्
प्रमिताशनं कर्शनीयानाम्
प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्
प्रशमः पथ्यानाम्
बला साङ्ग्राहिकबल्यवातहराणाम्
बालो मृदुभेषजीयानाम्
बिल्वं साङ्ग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्
ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्
भिषक् चिकित्साङ्गानाम्
मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्
मद्यं सौमनस्यजननानाम्
मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम्
मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीयरोपणीयानाम्
मधुश्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्
मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणाम्
मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्
महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्
माषाः श्लेष्मपित्तजननानाम्
मांसं बृंहणीयानाम्
मिथ्यायोगो व्याधिकराणाम्
मुस्तं साङ्ग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम्
मृद्भृष्टलोष्ठनिर्वापितमुदकं तृष्णाच्छर्द्यतियोगप्रशमनानाम्
यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम्
यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारौ सेव्यानाम्
यवाः पुरीषजननानाम्
यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानाम्
योगो वैद्यगुणानाम्
रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानाम्
रसस्तर्पणीयानाम्
राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम्
रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्
रास्ना वातहराणाम्
लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्
लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्
लौल्यं क्लेशकराणाम्
वमनं श्लेष्महराणाम्
वस्तिर्वातहराणाम्
वस्तिस्तन्त्राणाम्
वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम्
विज्ञानमौषधीनाम्
विडङ्गं क्रिमिघ्नानाम्
विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणाम्
विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणाम्
विरेचनं पित्तहराणाम्
विषमाशनमग्निवैषम्यकराणाम्
विषादो रोगवर्धनानाम्
वृद्धो याप्यानाम्
वेगसन्धारणमनारोग्यकराणाम्
वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्
व्यायामः स्थैर्यकराणाम्
शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानाम्
शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानाम्
शिरीषो विषघ्नानाम्
शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्यकराणाम्
शोकः शोषणानाम्
सङ्कल्पो वृष्याणाम्
सद्वचनमनुष्ठेयानाम्
सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्
समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणाम्
सम्प्रतिपत्तिः कालज्ञानप्रयोजनानाम्
सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्
सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्
सर्वसन्न्यासः सुखानाम्
सुरा श्रमहराणाम्
सोम ओषधीनाम्
सौमनस्यं गर्भधारणानाम्
स्नानं श्रमहराणाम्
स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणाम्
स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्
स्वेदो मार्दवकराणाम्
हरीतकी पथ्यानाम्
हर्षः प्रीणनानाम्
हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्
हिमवानौषधिभूमीनाम्

गद्य-पद्यानुक्रमणिका

सूत्रस्थानम्

	अ०	अंक
अ		
अकाले चातिपीतश्च	५	३९
अकाले चाहितश्चैव	१३	७९
अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च	२१	३७
अकृतं कृतयूषं च	२७	२६२
अक्षीवमरिचगण्डीरकेबुक	४	११(१५)
अगस्त्यो वामदेवश्च	१	९
अग्निवेशकृते तन्त्रे	३०	९०
अग्निवेशश्च भेलश्च	१	३१
अग्निसंरक्षणवता	६	३८
अग्रे तु तावद् द्रव्यभेद	२६	१०
अग्रयाणां शतमुद्दिष्टम्	२५	४१
अङ्गिरा जमदग्निश्च	१	८
अङ्गुष्ठसम्मितां कुर्याद्	५	२४
अचिन्तनाच्च कार्याणाम्	२१	३४
अच्छपेयस्तु यः स्नेहः	१३	२६
अजाजी चाजगन्धां च	२	४
अजातानामनुत्पत्तौ	२८	३४
अजीर्णे यदि तु स्नेहे	१३	७३
अञ्जनं धूमवर्तिश्च	५	१०६
अञ्जनान्यवपीडाश्च	२४	४६
अणुज्योतिरितिख्यात	३०	५५
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा	११	५८
अतः क्षीराणि वक्ष्यन्ते	१	१०७
अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते	१४	३
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि	२	१७
अत ऊर्ध्वं शरीरस्य	५	१४
अत एवानुमीयते–यत्	११	३१
अत एवौषधगणात्	२	१४
अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा	२६	३७
अतिक्रान्तरसं वाऽपि	२६	१०१
अतियोगानुबद्धानाम्	१६	२४
अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्व	८	४
अतीसारे ज्वरे दाहे	१	११२
अतोऽन्यथा हितं मांसम्	२७	३१२
अतो विपरीता रोगाणा	२९	८
अत्यादानं गुरुस्निग्ध	१७	३४
अत्यादानं तथा क्रोधम्	२४	९

	अ०	अंक
अत्युष्णे वा दिवा पीतो	१३	२०
अत्रोच्यते–तन्त्रमार्षं	३०	१७
अत्रोवाच कुशः साङ्कृ	१२	४
अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः	११	३४
अथ खल्वेकं प्राणवर्धनाना	३०	१५
अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं	१४	४६
अथ तत्संशयच्छेत्ता	१३	९
अथ तृतीयां परलोकैषणा	११	६
अथ त्रयोरोगमार्गा इति	११	४८
अथ द्वितीयां धनैषणा	११	५
अथ पुत्रांश्च दारांश्च	११	६०
अथ भिषगादित एव	३०	३०
अथ भेलादयश्चक्रुः	१	३३
अथ मैत्रीपरः पुण्यम्	१	३०
अथाग्निवेशप्रमुखान्	१	३९
अथात्रेयस्य भगवतो	२५	३०
अथानुपानकर्मगुणान्	२७	३२५
अथापरे त्रयो वृक्षाः	१	११५
अथासां विद्रधीनां साध्या	१७	१०१
अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदा	१५	१७
अथैनं सायाह्ने परे वाऽह्नि	१५	१६
अथैनमनुशिष्यात्–विवृ	१५	१२
अदिग्धविद्धमक्लिष्टम्	२२	२५
अधिमांसार्बुदं कीलम्	२८	१४
अधोभागोर्ध्वभागेषु	१	९२
अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थि	२८	१६
अनत्युत्सेधविस्तारां	१४	५२
अनादेश्चेतनाधातो	११	१३
अनुपानं हितं युक्तम्	२७	३२६
अनेन विधिना राजा	१५	१८
अनेनोपदेशेन नानौषधी	२६	१२
अन्तोन्नता मध्यनिम्ना	१७	८४
अन्तःकोटरपुष्पी च	१	८४
अन्तःशरीरे मांसासृग्	१७	९३
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो	१३	५५
अन्नपानैकदेशोऽय	२७	३२९
अपरिसङ्ख्येयत्वं पुनस्	२६	९
अपरिसङ्ख्येया रसा	२६	८

	अ०	अंक
अपामार्गस्य बीजानि	२	३
अभयामलकीयं च	३०	५६
अभिष्यण्णाननगुदा	१३	५४
अभिष्यन्दा महादोषा	२२	३०
अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्ध्नि	६	१४
अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानम्	२१	५२
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैः	१६	२३
अमनोरुचितं यच्च	२६	१००
अमृताऽभयाधात्रीमुक्ता	४	१८(५०)
अम्लं परूषकं द्राक्षा	२७	१३२
अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो	२६	५६
अम्लिकायाः फलं पक्वम्	२७	१५२
अम्लो रसो भक्तं रोचयति	२६	४३
अयं त्वत्र विशेषः–शांत	१८	७(१)
अरिष्टांश्चानुपानार्थं	२१	२७
अरुणाभं भवेद्दाता	२४	२०
अरुष्कस्फोटपिडिका	१३	३५
अर्थविधायशोहानि	१०	८
अर्धे दश महामूलाः	३०	३
अर्धे दशमहामूलाः	३०	८६
अर्धे दशमहामूले	३०	८८
अर्दितं शिरसः कम्पो	१७	१४
अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्ग	१४	२१
अर्धावभेदको वा स्यात्	१७	१३
अल्पाग्नीनामनिद्राणाम्	२७	३२४
अल्पादाने गुरूणां च	२७	३४०
अवगाढरुजाक्लेदा	१७	८९
अवगाढार्तिनिस्तोदा	१७	८५
अवदंशक्षमं हृद्यम्	२७	१४५
अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं	१६	१३
अविमूत्रमजामूत्रम्	१	९५
अव्यक्तीभावस्तु खलु	२६	९
अश्रद्धा चारुचिश्चास्य	२८	९
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष	२७	१६४
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः	१	५
अष्टाविंशतिरित्येता	२	३४
अष्टाविंशत्यौषधस्य	२४	५५
अष्टौ निन्दितसङ्ख्यात	३०	४१

	अ०	अंक
अष्टौ रसा इति बडिशो	२६	८
अष्टौ विमानान्युक्तानि	३०	५०
असत्पक्षाक्षणित्वार्ति	३०	८२
असाध्याश्चापरे सन्ति	१८	३९
अस्थिसन्धिसिरास्नायु	१३	४८
अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां	२८	२७
अहमर्थं नियुज्येऽय	१	१९
अहोरात्रमहः कृत्स्न	१३	२९
अहो साध्विति निर्घोषो	१	३७
आ		
आगन्तुरन्वेति निजं	१९	७
आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं	२०	७
आगन्तूनामनुत्पत्ता	७	५४
आजं कषायमधुरम्	१	१०२
आढकी कफपित्तघ्नी	२७	३३
आढकीनां च बीजानि	२१	२६
आतस्यं मधुराम्लं तु	२७	२९२
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ	९	१२
आत्मा मातुः पितुर्वा यः	११	९
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानाम्	११	२०
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानाम्	२५	४
आत्रेयो भद्रकाप्यश्च	२६	३
आदानं पुनराग्नेयं; तावेता	६	५
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते	११	१९
आप्तोपदेशप्रज्ञानम्	७	५५
आदानदुर्बले देहे	६	३३
आदावन्ते च दौर्बल्यम्	६	८
आनूपं स्थलजं चैव	१	८३
आनूपमत्स्यामिष	३	१९
आमाशयगते वाते	१४	९
आमे सोष्णा क्रिया कार्या	२७	२४८
आम्रातकं दन्तशठ	२७	१६१
आम्रामलकलेहाश्च	२७	२८२
आम्राम्रातकलिकुचकरमर्द	४	१०(१०)
आयुर्वेदागमो हेतु	१	१३७
आयुःप्रकर्षकामाश्च	१३	४२
आरग्वधः सैडगजः	३	३
आलस्यश्रमदौर्बल्यम्	१६	१४
आलिङ्ग्यागुरुदिग्धाङ्गीम्	६	१७
आलुकानि च सर्वाणि	२७	९९
आसवानां समुद्दिष्टा	२७	३२०
आसां तु खल्वेषणानां	११	४
आस्यासुखैः स्वप्नसुखै	१७	२४
आहारयोगिनां भक्ति	२७	३०८
आहारसम्भवं वस्तु	२८	४५

	अ०	अंक
आहारस्य विधावष्टौ	२८	४२
आहाराचारचेष्टासु	७	६०
आहिताग्निः सदा पथ्या	२७	३४६
इ		
इक्षवः शालयो माषा	२१	३१
इति निस्रः समुद्दिष्टा	१३	३०
इति त्रिविधविकल्पं त्रिविध	११	४१
इति पञ्चकषायशतान्यभि	४	१९
इति मेदस्विनो दोषा	२१	१०
इति वर्गस्तृतीयोऽयम्	२७	८८
इति वारिशयाः प्रोक्ता	२७	४१
इति षट् सर्वरोगाणाम्	२२	४२
इति सर्वं यथा प्रश्न	३०	७१
इति स्वलक्षणैर्युक्ता	२६	३५
इत्यध्यायाष्टकमिदम्	३०	४८
इत्यर्द्धरूपैर्विहिताः	३	६
इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः	११	४३
इत्यस्मिल्लङ्घनाध्याये	२२	४४
इत्युक्तं कारणं कार्यम्	१	५३
इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्	६	४९
इत्युक्ताः फलमूलिन्यः	१	१२०
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः	१४	५०
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य	१४	३०
इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्	२६	४४
इदं चेदं च नः प्रत्यक्षं	१०	६
इदमेवमुदारार्थं	३०	८५
इदानीं तावत्सम्भारान्	१५	६
इन्द्रियस्रोतसां लेपो	२३	७
इन्द्रियाणि मनोबुद्धि	१६	१८
इन्द्रियाणि समाश्रित्य	२८	२०
इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते	५	५६
इमांस्तु धारयेद् वेगान्	७	२६
इमांस्त्रीनपरान् वृक्षान्	१	११७
इष्टवर्णगन्धरसस्पर्श	२७	३
इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि	८	३
इह खलु पुरुषेणानुपहत	११	३
इह खलु राजानं राजमात्र	१५	३
इह खलु शरीरमधिकृत्या	२१	३
इह खलु षड्विरेचनशतानि	४	३
इह खलु संवत्सरं षडङ्ग	६	४
इह खल्वष्टावुदराणि	१९	३
इहात्रिजः सिद्धतमा	३	३०
इहौषधं पादगुणाः	१०	२३
ई		
ईतेः प्रशमनं बल्यं	५	१०१

	अ०	अंक
ईश्वराणां वसुमताम्	१५	२३
ईषत्कषायमधुरम्	२७	२०२
ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टम्	२४	२१
ईर्ष्याशोकभयक्रोध	७	५२
उ		
उक्तं सन्तर्पणोत्थानाम्	२३	२६
उक्तस्तस्याशितीये यो	१४	१५
उक्तानि लवणान्यूर्ध्वम्	१	९४
उचितादहिताद् धीमान्	७	३६
उचिते चाहिते वर्ज्ये	७	६४
उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्याम्	१७	१६
उत्क्रोशः पुण्डरीकाक्षो	२७	४३
उत्पलानि कषायाणि	२७	११५
उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास	१८	४९
उदरेष्वथ चार्शःसु	१	९८
उदीर्णपित्ता ग्रहणी	१३	७०
उदीर्णपित्ताऽल्पकफा	१३	६९
उपचारज्ञता दाक्ष्य	९	८
उपवासादभीघातात्	१७	१७
उपवासाध्वभाष्यस्त्री	२७	३२२
उपवासोऽसुखा शय्या	२१	५६
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते	२	८
उपस्पृष्टोदकं चैनं निवात	१५	१५
उपेक्षयाऽस्य जायन्ते	१७	८२
उपोदिकादधिभ्यां तु	२	३३
उभे शताह्वे मधुकम्	३	२१
उभे हरिद्रे कुटजस्य	३	१४
उष्णं तीक्ष्णमथोऽरूक्षम्	१	९६
उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धम्	२२	१६
उष्ट्रीणामथ नागीनाम्	१	१०८
उष्णतीक्ष्णकटुकक्षार	१८	७(२)
उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्ष	२६	११
उष्णाम्ललवणक्षार	१७	३२
उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः	२७	२६
उष्णोदकोपचारी स्याद्	१३	६२
ऋ		
ऋतावृतौ नृभिः सेव्य	६	५१
ऋषयश्च भरद्वाजा	१	२७
ए		
एक ऊरुस्तम्भ इति आम	१९	४(८)
एक एव रस इत्युवाच	२६	८
एकाङ्गसर्वाङ्गगतः	१४	६६
एकादशावशिष्टा याः	१	८१
एकाहोपरतस्तद्वद्	१३	८१

	अ०	अंक
एत एव च निर्यूहाः	१४	३४
एत एव च विज्ञेया	२१	५७
एत एवं यथोदिष्टा	२२	२२
एतन्निशम्य निपुणम्	२५	४४
एतानि यथोद्देशमभिनिर्दे	१९	४(१)
एतानि वमने चैव	१	८६
एतानेवंविधांश्चान्यान्	७	३५
एतान् धारयतो जातान्	७	५
एतावुपद्रवकरौ	२१	७
एते श्रुतवयोवृद्धा	२६	६
एभिश्चोद्वर्तनोद्घर्ष	२३	१४
एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे	११	३३
एवंवादिनं च भगवन्त	२५	३४
एवं वादिनं भगवन्तमात्रेय	४	२१
एवं वादिनं भगवन्तमात्रेय	१५	४
एवं वादिनं भगवन्तमात्रेय	२५	३२
एवं वादिनं भगवन्तमात्रेय	२८	६
एवं वादिनं भगवन्तमात्रेय	२९	६
एवं विशुद्धकोष्ठस्य	१६	१७
एवं व्यवस्यन्त्यतीतम्	११	२२
एवमुक्तवन्तं भगवन्त	२६	८०
एवमुक्तार्थमाचार्य	१६	२९
एवमेताश्चतुःषष्टिः	१३	२८
एषणाः समुपस्तम्भा	११	६४
एषां खल्वपरेषां च वैरो	२६	१०४
एषा परीक्षा नास्त्यन्या	११	२६
एषामासवानामासुतत्वा	२५	४९
ऐ		
ऐन्द्र्यृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्ता	४	१०(७)
ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्र	४	१८(४९)
ऐरण्डतैलं मधुरम्	२७	२८९
ऐरण्डसीसकासक्तम्	२६	९३
ओ		
ओदनश्च विलेपी च	१३	२३
ओषधीर्नामरूपाभ्याम्	१	१२१
औ		
औत्सुक्यारतिसम्मोह	१०	२०
औषधं ह्यनभिज्ञातम्	१	१२६
औषधस्वस्थनिर्देश	३०	४४
क		
कः स्यात्तेषां शमोपाय	१	१७
कङ्क-शारपदेन्द्राभ	२७	४९
कटुकः कटुकः पाके	२६	६८
कटुको रसो वक्त्रं	२६	४३

	अ०	अंक
कट्वकोष्णादिसात्म्यस्य	२६	९१
कटुतिक्तकषायाणाम्	२२	२९
कतुतिक्तकषायाणाम्	२६	५८
कटुतिक्तकषायाणि	६	२१
कटुतिक्तकषायास्तु	२६	६०
कटु पर्वतविस्तारे	२७	२००
कटूष्णं तैलमैरण्डम्	१३	१२
कटूष्णं सार्षपं तैलम्	२७	२९०
कट्वम्ललवणक्षार	१७	२२
कट्वम्ललवणाः पित्तं	१	६७
कट्वम्लस्वादुलवणा	२७	२८१
कट्वाद्यैरम्ललवणौ	२६	२०
कण्ठास्यशोषो बाधिर्यम्	७	२१
कण्डुं च शमयेत् पीतम्	१	१०३
कण्डूकोठारुचिव्यङ्ग	७	१४
कण्ड्वरुः कोठपिडका	२४	१६
कतमानि शरीरीयः	३०	५४
कति मात्राः कथं मानाः	१३	५
कथं शरीरे धातूनाम्	१६	३५
कपोतशुकसारङ्गा	२७	५२
कफपित्तहरं तिक्तम्	२७	९८
कफशोणितशुक्राणाम्	१७	७७
कफश्च तनुतां प्राप्तः	५	७२
कर्कोटकावल्गुजकौ	२७	९६
कर्णतैले तथाऽभ्यङ्गे	५	११०
कर्णाक्षिशूलं कासश्च	५	२८
कर्मजस्तु मतो जन्तुः	२५	१९
कर्मवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः	११	३९
कर्मोपवर्गे यच्चोक्तम्	२७	३५१
कलम्बनालिकासूर्यः	२७	१०१
कल्पना पञ्चकर्माख्या	३०	६५
कषायमद्यनित्यानाम्	१४	१६
कषायमधुरं टङ्कम्	२७	१३६
कषायमधुरं रूक्षम्	२७	२०६
कषायमधुरं शीतम्	२७	१४२
कषायमधुरप्रायम्	२७	१४०
कषायमधुराः शीता	२७	२५७
कषायमधुरो रूक्षः	२७	२३
कषायानुरसं स्वादु	२७	२८६
कषायाः स्तम्भनाः शीता	२७	१०६
कषायो रसः संशमनः	२६	४३
काकाण्डोमा(ला)त्मगुप्ता	२७	३४
काङ्कायनः कैकशेयो	१	१२
काङ्कायनस्तु नेत्याह	२५	२२

	अ०	अंक
काननानि च शीतानि	६	३२
काम्यं यशस्यमायुष्य	५	९५
कायस्य शिरसश्चैव	२१	५५
कारणं रससङ्ख्याया	२६	१०८
कारणं षोडशगुणम्	९	१०
कारवी कुञ्चिकाऽजाजी	२७	३०७
कार्श्य-दौर्बल्य-वैवर्ण्य	७	२०
कालजस्त्वेव पुरुषः	२५	२५
कालतोऽपि विरुद्धं यत्	२६	८९
कालबुद्धीन्द्रियार्थानाम्	१	५४
काले प्रवृत्तिरनतिमहती	१५	१३
किं योनयः कति स्नेहाः	१३	४
किञ्चिदम्लं हि सङ्ग्राहि	२६	५०
किञ्चिद् दोषप्रशमनम्	१	६८
किन्तु भोः पुरुषो यज्जस्	२५	६
कियन्तःशिरसि प्रोक्ता	१७	३
कियन्तःशिरसीयश्च	३०	४०
कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्	१७	१२१
किलासकुष्ठग्रहणी	२६	१०३
कुटजबिल्वचित्रकनागरा	४	११(१२)
कुटीमध्ये भिषक् शय्याम्	१४	५३
कुपितस्तु खलु शरीरे	१२	८
कुम्भीं वातहरक्वाथ	१४	५६
कुर्याच्छोणितरोगेषु	२४	१८
कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि	१	१२९
कुलत्थमाषानिष्पाव	२४	६
कुष्ठं गोमेदको हिङ्गु	२३	१५
कुष्ठं हरिद्रे सुरसम्	३	८
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नवम्	३	७
कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च	२३	६
कुष्ठामृतासङ्गकटङ्क	३	१०
कुष्ठैलवालुककट्फल	४	१२(२०)
कुसुम्भतैलमुष्णं च	२७	२९३
कूचिका चिलटो भेको	२७	३८
कूर्चिकांश्च किलाटांश्च	५	११
कूर्पं शयनविस्तारम्	१४	५९
कूपो होलाक इत्येते	१४	४०
कूर्मः कर्कटको मत्स्यः	२७	४०
कृताकृतातिवृत्तानाम्	२२	८
कृतातिकृतलिङ्गं यस्य	२२	३९
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठा	१३	४६
कृशानां सक्तमूत्राणाम्	२७	१७९
के मृदुक्रूरकोष्ठाः का	१३	७
केलूटं च कदम्बं च	२७	११४

	अ०	अंक
केवलश्चायमुद्देशो यथो	१९	४
केशलोमनखश्मश्रु	१७	६७
केषांश्चिद् गुणवैशेष्याद्	२७	६४
कोलं कुलत्थाः सुर	३	१८
क्रमेणापचिता दोषा	७	३८
क्रिमयो ग्रहणी दोषाः	२३	२४
क्रिमिकुष्ठकिलासघ्नो	२७	१७६
क्रिमिवातातपहतम्	२७	३१६
क्रोधशोकभयक्लान्ता	२१	४१
क्वचिदेको रसः कल्प्यः	२६	२५
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च	१७	११२
क्षयाः कति समाख्याताः	१७	४
क्षरणात्क्षारः, नासौ रसः	२६	९
क्षवथुश्चातितन्द्रा च	५	३१
क्षारचित्रकहिङ्ग्वम्ल	२	२९
क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा	२२	२६
क्षीणे शकृति चान्त्राणि	१७	७०
क्षीरिणी राजक्षवका	४	९(२)
क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्य	२७	२५०
क्षुत्पिपासातपसहः	२१	१९
क्षुत्पिपासापहः पथ्यः	२७	२५६
क्षुद्रो गुडश्चतुर्भाग	२७	२३९
ख		
खदिराभयामलकहरिद्रा	४	११(१३)
खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यम्	५	९०
खरमूत्रमपस्मारोन्माद	१	१०६
खर्जूरं तालशस्यं च	२७	११६
खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः	२७	१९७
खादीन्यात्मा मनः कालो	१	४८
खुड्डाकश्च चतुष्पादो	३०	३८
खुड्डिका महती चैव	३०	५१
ग		
गण्डीरो जलपिप्पल्यः	२७	१७१
गण्डूषः कर्णतैलं च	१३	२५
गतिः कालकृता चैषा	१७	११५
गन्धर्वपुरवन्नाशं	९	१४
गन्धादसात्म्यादाघाताद्	१७	९
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या	५	२७
गन्धैः सुरायाः किण्वेन	२४	३६
गम्भीरं बहुधातुस्थम्	१०	१८
गर्भिणी वृद्धबालानाम्	१०	१५
गव्यमांसरसैः साम्ला	२	३१
गीताध्ययनमद्यस्त्री	२१	३९
गुडमिक्षुरसं मस्तु	१३	६६

	अ०	अंक
गुडूचीभद्रमुस्तानाम्	२१	२२
गुणाः षड् द्विविधो हेतु	१२	१६
गुणा गुणाश्रया नोक्ता	२६	३६
गुदमेढ्रास्यपाकस्य	२८	१२
गुरु चातर्पणं चेष्टम्	२१	२०
गुरुमधुरशीतस्निग्धैरति	१८	७(३)
गुरु पिष्टमयं तस्मात्	५	९
गुरुभक्ष्याश्च ये सत्त्वाः	२७	३३३
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैः	२४	४०
गुरुलाघवचिन्तेयम्	२७	३४३
गुरु शीतं मृदुस्निग्धम्	२२	१३
गुरुशीतमृदुस्निग्ध	१	६१
गुरुस्निग्धाम्ललवणा	१७	७८
गुरूष्णं मधुरं रूक्षम्	२७	१६०
गुरूष्णवासा दिग्धाङ्गो	६	१६
गुरूष्णस्निग्धमधुरा	२७	५७
गुरूणां लाघवं विद्यात्	२७	३३९
गुरूणामल्पमादेयम्	२७	३४१
गुर्वभिष्यन्दि पानीयम्	२७	२०३
गुल्महृद्रोगसम्मोहाः	७	२४
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च	१३	३२
गुल्मोपकुशवीसर्प	२४	१२
गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रम्	१३	९६
गोखराश्वतरोष्ट्राश्च	२७	३५
गोखरोष्ट्रवराहाश्च	१४	२६
गोधूमशकलैश्चूर्णैः	१४	३५
गोरसानिक्षुविकृती	६	१३
गोरसैर्गौडिकैश्चान्नैः	२३	४
गौरवं मृदुतामग्ने	१७	५६
गौरवं लिङ्गसामान्ये	२७	३३८
गौरवे लाघवे चैव	२६	५७
गौरवे शिरसः शूले	२	६
ग्रन्थिश्च भौर्जो लशुनः	३	४
ग्रहणीपाण्डुरोगाणाम्	३०	६०
ग्राम्यानूपौदकं मांसं	१३	९१
ग्राम्यानूपौदकं मांसं	१४	२९
ग्राम्यानूपौदकपिशितानि	२६	८४
ग्राहि शस्तं विशेषेण	२७	९१
ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो	२७	१७४
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु	२१	४४
ग्रीष्मे त्वादानरूक्षाणाम्	२१	४३
घ		
घट्टते सहते शब्दम्	१७	६४
घृतं पित्तानिलहरम्	१३	१४

	अ०	अंक
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे	५	४७
च		
चक्षुष्यं स्पर्शनहितम्	५	१००
चक्षुस्तेजोमयं तस्य	५	१६
चटकानां च यानि स्यु	२७	८६
चणकाश्च मसूराश्च	२७	२८
चतुर्णां भिषगादीनाम्	९	५
चतुर्विधविकल्पाश्च	१०	२४
चतुर्विधस्य च स्नेहस्य	२९	७
चतुष्कद्वयमप्येत	३०	५८
चतुष्काणां महार्थानाम्	३०	४६
चतुष्पादं षोडशकलं	१०	३
चतुष्प्रकारा संशुद्धिः	२२	१८
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः	१३	९
चत्वारोऽपस्मारा इति	१९	४(५)
चत्वारो रसा इति	२६	८
चत्वारो रोगा भवन्ति	२०	३
चन्दनतुङ्गपद्मकोशीर	४	१०(८)
चन्दननलदकृतमाल	४	११(१४)
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो	६	२५
चयप्रकोपप्रशमाः	१७	११४
चरः शरीरावयवाः	२७	३३१
चरोऽनूपजलाकाश	२७	३३२
चर्मभिश्चोपनद्धव्यः	१४	३७
चारुष्को हरिणैणौ च	२७	४६
चिकित्साप्राभृतं तस्माद्	१६	१२
चिकित्साप्राभृतगुणो	१६	३९
चिकित्साप्राभृतो धीमान्	१६	३
चिकित्सिते त्रयः पादा	९	२५
चूर्णतैलघृतक्षौद्र	२३	२१
छ		
छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा	१८	१८
छागं कषायमधुरम्	२७	२२२
छेदनोपशमने द्वे कर्मणी	२६	९
ज		
जङ्घोरुसदनं तन्द्रा	१६	८
जठरं ग्रहणीदोषः	१३	७६
जनयन्ति भृशं शोथम्	१८	३५
जम्बुशल्लकीत्वक्कच्छुरा	४	१५(३२)
जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गा	४	१४(२८)
जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीत	४	१५(३३)
जरणीयो विबन्धघ्नः	२७	१८५
जरां कृच्छ्रेण लभते	१६	१९
जलकर्षण-बीजर्तु	११	२३

	अ०	अंक
जलजानूपबैलानाम्	२४	७
जलमुष्णं घृते पेयम्	१३	२२
जलमेकविधं सर्वम्	२७	१९६
जातीकटुकपूगानाम्	५	७७
जायते सौकुमार्यं च	५	९१
जायन्ते हेतुवैषम्याद्	१६	२७
जिह्वानिर्लेखनानि स्यु	५	७५
जीर्णार्शोग्रहणीदोष	२७	५९
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गेषु	५	६३
जीवकर्षभकाकोलीक्षीर	४	१२(१९)
जीवनं बृंहणं सात्म्यम्	२७	२२४
जीवन्तीं पृश्निपर्णीं च	५	६५
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा च	७	२३
जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्भ	१७	९७
ज्योतिष्मतीक्षवकमरिच	४	१३(२७)
ज्योतिष्मती च बिम्बी	१	७९
ज्वरकासप्रसक्तानाम्	२३	३४
ज्वराणां रक्तपित्तस्य	३०	४७
ज्वराणां रक्तपित्तस्य	३०	५९
ज्वरातीसारकासाश्च	१३	३९
ज्वरातीसारच्छर्द्यलसक	११	४९
ज्वरासृक्पित्तवीसर्प	७	६२
ज्ञानानि बुद्धिर्ब्राह्मी च	९	२८
त		
तं कटुकतिक्तकषाय	२०	१९
तं पुण्यं शुश्रुवुः शब्दं	१	३६
तं मधुरतिक्तकषायशीतैः	२०	१६
त्वं मधुराम्ललवणस्निग्धो	२०	१३
त एवापरिसङ्ख्येया	१८	४२
तक्रसिद्धा यवागूः स्याद्	२	३०
तक्राभयाप्रयोगैश्च	२३	१७
तक्रारिष्टप्रयोगश्च	१३	७८
तक्रेण दधिमण्डेन	२३	१६
तक्रेण युक्तं यवचूर्ण	३	२०
तगरागुरुधान्यकशृङ्गवेर	४	१७(४२)
तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत	५	१३
तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा	१६	३१
तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भग	१२	१३
तच्छ्रुत्वा मरीचिवचः	१२	१२
तच्छ्रुत्वा वडिशवचन	१२	८
तच्छ्रुत्वा वाक्यं काङ्कायनो	१२	६
तच्छ्रुत्वा वाक्यं कुमार	१२	५
तच्छ्रुत्वा वाक्यं वडिशो	१२	७
तच्छ्रुत्वा वार्योविदवचो	१२	९

	अ०	अंक
ततः शिरसि सङ्क्लेदात्	१७	२८
ततः शीलशौचाचारानु	१५	७
ततः शोणितजा रोगाः	२४	११
ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां	१५	८
ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदो	१५	९
ततो मत्स्यण्डिकाखण्ड	२७	२४०
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः	२७	२०४
तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थं	३०	८०
तत्परस्यौजसः स्थानम्	३०	७
तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयम्	१	६९
तत्फला बहुधा वा ताः	३०	१२
तत्र गण्डपिडकालज्य	११	४९
तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं	८	८
तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः	३०	२०
तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिन	२६	११
तत्र बुद्धिमता मानसव्याधि	११	४६
तत्र बुद्धिमात्रास्तिक्यबुद्धिं	११	७
तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णा	३०	२१
तत्र मधुरो रसः शरीर	२६	४३
तत्र यान्याहारमधिकृत्य	२६	८२
तत्र रविर्भाभिराददानो	६	६
तत्र वस्त्रान्तरितैरवम्बा	१४	४१
तत्र विकाराः सामान्यजाः	२०	१०
तत्र शालिषष्टिकमुद्ग	५	५
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते	२८	३२
तत्रागन्तवश्छेदनभेदन	१८	४
तत्राग्निमारुतात्मका रसाः	२६	४१
तत्रातियोगायोगनिमित्ता	१५	१३
तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय	२१	४
तत्रादौ वातविकाराननु	२०	११
तत्रानुमानगम्यानां पञ्च	८	१४
तत्रान्तःपरिमार्जनं	११	५५
तत्रान्नपानं मधुरम्	६	४२
तत्राप्तागमस्तावद् वेदः	११	२७
तत्राप्युल्लेखनं शस्तम्	१३	७७
तत्राभ्यङ्गोऽवगाहश्च	७	११
तत्रामून्ययोगयोगातियोग	१५	१३
तत्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो	३०	२४
तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः	३०	२३
तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्रस्थाना	३०	१६
तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या	३०	३१
तत्राहारप्रसादाख्यो रसः	२८	४
तत्रेन्द्रियाणां समनस्का	८	१७

	अ०	अंक
तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रि	११	३८
तत्रोद्र्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः	७	१७
तत् संयोज्योष्णवीर्येण	२६	९४
तथर्षीणां विवदताम्	२५	२६
तथा कर्पूरनिर्यासः	५	७८
तथा कल्पनमप्येषा	४	२५
तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति	१७	१०८
तथा ब्रुवाणं कुशिक	२५	१६
तथाऽऽम्राम्रातकनातुलुङ्ग	२६	८४
तथाविधं न कः शक्तो	११	६१
तथाविधा हि केवले शरीर	२९	७
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्	५	८६
तदनन्तरं काशिपति	२५	५
तदर्थातियोगायोगमिथ्या	८	१५
तदात्रेयवचः श्रुत्वा	१२	१५
तदात्रेयस्य भगवतो वचन	२५	४८
तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु	२८	४०
तदा भूतेष्वनुक्रोशं	१	७
तदा भेदश्च दाहश्च	१७	४६
तदेवं गुणमेवौजः	२७	२१८
तदेव निकुचं पक्वं न माष	२६	८४
तदेव युक्तं भैषज्यम्	१	१३५
तद्यथा–अप्रवृत्तिः कुतश्चित्	१५	१३
तद्यथा–आहारत्वमाहार	२५	३६
तद्यथा–जीवकर्षभकौ	४	९(१)
तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात्	२७	१२३
तद्वदजोऽप्रमध्यस्थः	३०	७६
तद्वन्माषतिलक्षीर	२७	२६०
तद्विशुद्धं हि रुधिरम्	२४	४
तनु रूक्षारुणं श्यावम्	१७	९९
तन्त्रानियतानामर्थदुर्गाणां	३०	१९
तन्त्रार्थः पुनः स्वलक्षणैः	३०	३२
तन्त्रस्याष्टौ स्थानानि	३०	३३
तन्द्रा क्लैब्यमबुद्धित्व	१६	१५
तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो	१३	७५
तन्निशम्यात्रेयवचनमनु	२६	८३
तन्नेति भिक्षुरात्रेयो	२५	२४
तन्महत् ता महामूला	३०	१३
तपःस्वाध्यायनिरता	२२	३
तपनीयेन्द्रगोपाभम्	२४	२२
तमुक्तवन्तमात्रेय	२२	५
तमुवाच भगवानात्रेयः	४	२२
तमुवाच भगवानात्रेयः	१५	५
तमुवाच भगवानात्रेयः	२५	३१

	अ०	अंक
तमुवाच भगवानात्रेयः	२५	३३
तमुवाच भगवानात्रेयः	२५	३५
तमुवाच भगवानात्रेयः	२५	४९(१)
तमुवाच भगवानात्रेयः	२६	८१
तमुवाच भगवानात्रेयः	२८	७
तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा	२१	५८
तर्पणं बृंहणं फल्गु	२७	१२८
तर्पणी ग्राहिणी लघ्वी	२७	२५१
तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने	९	१८
तस्मात् तान् पूर्वसञ्जल्पे	३०	७३
तस्मात्तुषारसमये	६	११
तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो	११	६३
तस्मात् स शीघ्रं जरयति	२१	६
तस्मात् साधारणः सर्वो	६	३५
तस्मात् स्नाव्यं निशायाम्	५	१८
तस्मात् स्वभावो निर्दिष्ट	२५	४७
तस्माद्धिताहितावबोध	२७	४
तस्माद्धेमान्तिकः सर्वः	६	२०
तस्माद् रसोपदेशेन	२६	५२
तस्माद् वसन्ते कर्माणि	६	२३
तस्माद् विकारप्रकृती	१८	४६
तस्मान्न भिषजा युक्तम्	१	१२८
तस्मान्मतिं विमुच्यैता	११	१६
तस्मै प्रोवाच भगवान्	१	२३
तस्य खलु ये ये विकारा	२५	३७
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः	१४	४९
तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ	३०	२८
तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो	१	४३
तस्याशितायादाहाराद्	६	३
तस्योपघातान्मूर्च्छायम्	३०	६
तानि चानुमतान्येषां	१	४०
तानीन्द्रियाणि विज्ञानम्	२९	४
तान् कालपाशसदृशान्	३०	८३
तान् दोषलिङ्गैरादिश्य	७	४४
तान्युपस्थितदोषाणाम्	२	१५
ता बुद्ध्वा मारुतादीनाम्	१७	११०
ताम्रचूडरसे सिद्धा	२	३२
तालशस्यानि सिद्धानि	२७	१३०
तासां हृन्नाभिबस्तिजाः परि	१७	१०३
तास्वेव द्रव्यसंयोगप्रकरण	२५	४९(२)
तिक्तस्य सर्पिषः पानम्	६	४४
तिक्तास्यतामास्यशोषम्	२७	१२६
तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णु	२६	४३
तित्तिरिः सञ्जयेच्छीघ्रम्	२७	६८

	अ०	अंक
तिन्दुकं कफपित्तघ्नम्	२७	१४७
तिन्दुकप्रियालबदरखदिर	४	१७(४३)
तिलः प्रियालाभिषुकौ	१३	१०
तिलक्षीरगुडाजीर्ण	१७	२७
तिलक्षीरगुडादीनि	१७	३७
तिलमाषकुलत्थाम्ल	१४	२५
तिलवेतसशाकं च	२७	१०९
तिल्वकस्य सुधायाश्च	३०	६४
तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च	२७	३०६
तुद्यमानं स हृदयम्	१७	३९
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा	२७	३५०
तृट्श्वाससमांससङ्कोच	१७	१११
तृष्णाघ्नं दीपनीयञ्च	१	१११
तृष्णातीसारशूलार्ताः	२१	४०
तृष्णातीसारशमनो	२७	२५४
तृष्णा-दाह-ज्वर-श्वास	२७	१२५
तृष्यतां क्षुधितानां च	१४	१८
तृष्यते मुह्यते जन्तू	५	५५
तेन तैलं कषायेण	५	६७
तेन मूलेन महता	३०	८
तेन मेदादयो यान्ति	२३	११
तेनायुरमितं लेभे	१	२६
ते पुनर्यथास्वं हेतुव्यञ्ज	१८	५
तेषां कट्वम्लसंयोगान्	२७	२८०
तेषां कर्मसु बाह्येषु	४	२५
तेषां चैव प्रशमनम्	२८	४७
तेषां तत्रोपविष्टानाम्	२६	७
तेषां तु मलप्रसादाख्यानां	२८	५
तेषां त्रयाणामपि दोषाणां	२०	८
तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्	४	७
तेषां रसोपदेशेन	२६	४६
तेषां षण्णां योनिरुदकम्	२६	९
तेषां षण्णां रसानां सोम	२६	४०
तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य	२६	४२
तेषामिदं विशेषविज्ञानं	२९	९
तेषां सन्तर्पणं तज्ज्ञैः	२३	३०
तेषामनातुराः पूर्वे	७	४०
तेषामिच्छन्ननुत्पत्तिम्	२८	२४
तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु	२६	९
तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद् व्यवा	२७	३०२
तैरावृतगतिर्वायु	१७	८०
तैलं सुराया मण्डेन	१३	८७
तैलप्रयोगादजरा	२७	२८८
तैलमज्जवसासर्पिः	१३	९५

	अ०	अंक
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि	३	११
तैस्तत्कपिष्टैः प्रथमम्	३	९
त्यक्तधर्मस्य पापस्य	१	१३१
त्यक्तव्यायामचिन्तानां	१७	७९
त्यागः प्रज्ञापराधानाम्	७	५३
त्यागाद् विषमहेतूनाम्	१६	३६
त्रय उपस्तम्भा इति	११	३५
त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं	४	४
त्रयः शोथा इति, वात	२९	४(६)
त्रयः शोथा भवन्ति	१८	३
त्रयोदशविधः स्वेदो	१४	७०
त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो	२६	८
त्रयो रोगा इति–निजागन्तु	११	४५
त्रिंशच्चिकित्सितान्युक्ता	३०	६२
त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टा	११	६५
त्रिदोषं मन्दकं जातम्	२७	२२८
त्रिफलायाः प्रयोगो वा	२४	५६
त्रिफलारग्वधं पाठाम्	२३	१०
त्रिरसानि यथासङ्ख्यम्	२६	१७
त्रिरात्रं परमं तस्य	१८	३६
त्रिविधं बलमिति–सहजं	११	३६
त्रिविधमौषधमिति	११	५४
त्रिविधा चापरा कोष्ठ	१७	११३
त्रिविधे रोगविज्ञाने	३०	४९
त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीम्	२	९
त्रिवृद् बिल्वपिप्पलीकुष्ठ	४	१३(२५)
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसङ्ख्येया	२६	२३
त्रीण्यायतनानीति अर्था	११	३७
त्र्यूषणं त्रिफला क्षौद्रम्	२३	१८
त्वग्दोषिणां प्रमीढानाम्	२२	२४
द		
दद्यात् सातिविषां पेयाम्	२	२२
दद्याद्देषोऽणुतैलस्य	५	६८
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रम्	२८	१३
दुद्रुविद्रधिगण्डेषु	१	११९
दधित्थबिल्वचाङ्गेरी	२	१९
दन्तहर्षान्मुखस्रावात्	२६	७५
दन्भिन्नो मुखरा ह्यज्ञाः	३०	७९
दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य	१५	१९
दर्शनं पक्तिरूष्मा च	१८	५०
दश द्वौ चापरौ वर्गौ	२७	७
दशप्राणायतनिक	३०	४३
दशप्राणायतनिके	२९	१४
दशमूलीशृता कास	२	२७

	अ०	अंक
दश यान्यवशिष्टानि	१	८७
दशाष्टौ च क्षयाः पञ्च	१७	७
दशैवायतनान्याहुः	२९	३
दहति त्वचमुत्थाने	१७	८८
दह्यते रुज्यते तेन	१७	२३
दार्ढ्यं बृहत्त्वमुत्साहम्	२७	८१
दाहज्वरापहं स्पर्शात्	२७	१९२
दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं	५	१७
दिवा शीतगृहे निद्राम्	६	३०
दिवा सूर्यांशुसन्तप्तम्	६	४६
दीपनं जरणीयं च	२७	१९१
दीपनत्वाल्लघुत्वाच्च	२७	२५३
दीपनीयं विषघ्नं च	१	९९
दीप्ताग्नयः क्लेशसहा	१३	५०
दीप्ताग्नयः खराहाराः	२७	३४४
दीप्ताग्नीनामनिद्राणाम्	२७	२३५
दीप्तैरधूमैरङ्गारैः	१४	५१
दीप्त्योजःस्मृतिमेधाग्नि	१३	४३
दीर्घंजीवितमन्विच्छन्	१	३
दीर्घंजीवोऽप्यपामार्ग	३०	३६
दुःखिताय शयानाय	१	१३०
दुर्गेऽम्भसि यथा मज्ज	२४	४५
दुर्बलः चेतसः स्थानम्	२४	२८
दुर्बलातिविशुष्काणाम्	१४	१९
दुष्टरक्तातिमात्रत्वात्	१७	९५
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च	५	८३
दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः	१७	६
दृष्टिर्निराकुला भाति	५	२०
देशकालवयोमान	२६	३१
देशानामामयानां च	६	५०
देहप्रवृत्तिर्या काचिद्	७	२९
देहवृत्तौ यथाऽऽहार	२१	५१
देहाग्निदोषभैषज्य	२३	३२
देहाग्निबलवर्णौजः	२३	२७
दोषप्रकृतिवैशेष्यं	१८	५३
दोषस्थानानि रोगाणाम्	२०	२४
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ	१०	१३
दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति	१६	२०
दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं	१७	६२
दोषाणां च द्रुमाणां च	१६	२१
दोषाणां बहुसंसर्गात्	२२	४३
दोषानुकर्षिणी मात्रा	१३	३४
दोषेषु मदमूर्च्छायाः	२४	४२
दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्राम्	५	९३

	अ०	अंक
दौर्गन्ध्यं भजते तेन	५	७६
दौर्बल्यं मुखशोषश्च	१७	६९
दौर्बल्यं लाघवं ग्लानि	१६	५
द्रवं तन्वसरं यावत्	२२	३२
द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धम्	२२	१५
द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदु	२६	११
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि	१३	६०
द्रव्यं गुणेन पाकेन	२६	७२
द्रव्यसंयोगसंस्कारं	२७	२७६
द्रव्याणि द्विरसादीनि	२६	२६
द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभ	४	१३(२४)
द्राक्षाखर्जूरकोलानाम्	२६	२७९
द्राक्षाखर्जूरप्रियालबदर	४	१६(४०)
द्राक्षाभयामलकपिप्पली	४	१६(३६)
द्राक्षामलकयूषाभ्याम्	१३	९३
द्राक्षारसं पीलुरसम्	१३	६७
द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः	२०	५
द्व्युल्बणकोल्बणः षट् स्युः	१७	४१
द्वात्रिंशदङ्गुलं स्नेहे	५	५०
द्विविधं शीतमुष्णं च	२७	१३४
द्विविधमेव खलु सर्वं	११	१७
द्विविधास्तु खलु भिषजो	२९	५
द्विव्रणीयं त्रिमर्मीय	३०	६१
द्वे अधः सप्त शिरसि	७	४२
द्वे त्रिंशके द्वादशकम्	३०	३४
द्वौ चान्त्यौ सङ्ग्रहाध्याया	३०	४५
द्वौ ज्वराविति, उष्णाभि	१९	४(७)
द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो	२६	८
ध		
धन्यं मङ्गल्यमायुष्यम्	५	९७
धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगत	११	२९
धर्मस्यार्थस्य कामस्य	१६	३८
धातक्याऽभिषुतो हृद्यो	२७	१८८
धातुसाम्यं तथा ह्येषाम्	२१	४२
धातूनां शोणितादीनाम्	२७	३३७
धानासञ्ज्ञास्तु ये भक्ष्याः	२७	२६६
धान्यकं चाजगन्धा च	२७	१७३
धामार्गवमथेक्ष्वाकु	१	८५
धारोष्णं स्नेहसंयुक्तम्	१३	८८
धीतीकां तु करीषाणाम्	१४	६१
धूमं न भुक्त्वा दध्ना च	५	४४
धूमवक्त्रकपानस्य	५	३३
धूमिका कुररश्चेति	२७	३७
धौतानां निर्मला शुद्धि	५	१९

	अ०	अंक
न		
न कर्णरोगा वातोत्था	५	८४
न खालित्यं न पालित्यं	५	८२
नगरी नगरस्येव	५	१०३
न च कालगुणस्तुल्यो	१०	१२
न च केशाः प्रमुच्यन्ते	५	५९
न च दन्ताः क्षयं यान्ति	५	८०
न च नापेक्षते द्रव्यं, द्रव्या	५	७
न च स्याद्गृध्रसीवातः	५	९२
न चानतिवृत्तसत्त्वदोषा	११	२८
न चाभिघाताभिहतम्	५	८८
न चालमतिसङ्क्षेपः	४	२७
न चास्य जायते गर्भः	२८	१९
न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघव	५	६
न जातुशाकं न निकुचं	२६	८४
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं	५	५८
न तु केवलं गुणप्रभावादेव	२६	१३
न तु श्रुतवतां वेषम्	१	१३३
नद्यः पाषाणविच्छिन्न	२७	२०९
नद्यः पाषाणसिकता	२७	२१०
न नक्तं दधि भुञ्जीत	७	६१
न नामज्ञानमात्रेण	१	१२२
न नाशकारणाभावाद्	१६	३२
न परीक्षा न परीक्ष्यम्	११	१४
न पौष्करं रोहिणीशाकं	२६	८४
न मूढो लभते सञ्ज्ञाम्	११	५९
न मूर्च्छाभ्रमतृष्णासु	५	४३
न मूलकलशुनकृष्णगन्धा	२६	८४
नरं निःश्रेयसे युक्तम्	२७	३४७
न रक्ती न विशेणार्त्तो	५	४२
न रागान्नाप्यविज्ञाना	२८	४१
नवान्नानि नवं मद्यम्	२१	३०
न वेगान्धारणेऽध्याये	२८	३०
न वेगान् धारयेद् धीमान्	७	३
न शङ्ककं न रोहिण्याम्	५	४५
न सर्पिः केवलं पित्ते	१३	७४
न स्नेह्या वर्तमानेषु	१३	५६
नस्यकर्मगुणा नस्तः	५	१०८
न हि विस्तरस्य प्रमाण	४	२०
न हि सर्वमनुष्याणाम्	१५	२०
न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्ति	३०	२७
नागरचव्यचित्रकविडङ्ग	४	११(११)
नागरधन्वयवासकमुस्त	४	१४(२९)
नाडी कलायं गोजिह्वा	२७	९७

	अ०	अंक
नातः कष्टतमं किञ्चि	२७	२४७
नातिबह्वाशिनश्चैव	१३	३६
नात्यर्थमुष्णं मरिच	२७	२९८
नात्युष्णं गुरु सम्पक्वम्	२७	१३३
नात्युष्णः कफवातघ्नो	२७	१२२
नात्युष्णशीतं लघु	२४	२३
नात्युष्णशीतवीर्या च	२७	९०
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च	२७	२४९
नानाद्रव्यैः समायुक्तः	२७	२७७
नान्दीमुखी मधूली च	२७	२२
नालं स्नेहसमृद्धस्य	१३	७२
नावनप्रीणिताश्चास्य	५	६१
नावनाञ्जननिद्रान्ते	५	३५
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा	११	१५
निःश्लेष्मपित्तमुदकम्	१६	१०
निजाः पुनः स्नेहस्वेद	१८	६
नित्यं सन्निहितामित्रम्	१७	११९
नित्याः प्राणभृतां देहे	१८	४८
निदानाकृतिसंसर्गा	१८	१५
निद्रां तन्द्रां प्रलापं च	१७	५२
निद्रायत्तं सुखं दुःखम्	२१	३६
निद्रालाभः सुखं च स्या	५	८४
निन्दिताः पुरुषास्तेषाम्	२१	६०
निमित्तपूर्वरूपाणाम्	१०	१४
निमिश्च राजा वैदेहो	२६	५
निरुक्तं तन्त्रणात् तन्त्रम्	३०	७०
निर्विकारः परस्त्वात्मा	१	५६
निवातोष्णसमाचारी	५	७०
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते	५	७३
निष्पावः कोविदारश्च	२७	१००
निस्तुद्येते भृशं शङ्खौ	१७	१९
नीलं वा यदि वा कृष्ण	२४	३५
नृलोकमापूरयते	८	३२
नेति भगवानात्रेयः सर्वा	२६	८४
नेति मैत्रेयः, किं कारणम्	१०	४
नेन्द्रियं बाधते धूमो	५	५२
नोद्गारस्य न जृम्भाया	७	४
नोर्ध्वाङ्गमारुताविष्टा	२७	३२७
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ	५	२२
प		
पक्तौ हि कारणं पक्तु	९	११
पक्वप्रभिन्नासूर्ध्वजासु	१७	१०२
पक्वाशयशिरःशूलम्	७	८
पक्षवधग्रहापतानकार्दित	११	४९

	अ०	अंक
पञ्चकषाययोनय इति	४	६
पञ्चगुल्मा इति वातपित्त	१९	४(४)
पञ्च चापि कषायाणाम्	४	२६
पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टम्	८	३०
पञ्चमहाभूतविकारास्त्वा	२६	९
पञ्चमो वत्सकस्योक्तः	३०	६३
पञ्चरसा इति कुमारशिरा	२६	८
पञ्चविधं कषायकल्पनं	४	६
पञ्चात्मकानां षट्त्वम्	२६	१०९
पञ्चाशन्महाकषाया इति	४	८
पञ्चेन्द्रियबुद्धयः–चक्षु	८	१२
पञ्चेन्द्रियाणि–खं वायु	८	९
पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि	८	१०
पञ्चेन्द्रियार्थाः–शब्दस्पर्श	८	११
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च	१	७५
पथ्यं पथोऽनपेतं	२५	४५
पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो	२६	८४
पद्मोत्पलनलिनकुमुद	४	१५(३४)
पयस्यर्धोदके च्छागे	२	२१
परं त्वतः प्रवक्ष्यामि	५	४१
परमतो वर्गसङ्ग्रहेणा	२७	५
परान् सुकृतिनो लोकान्	८	३३
परानपि खरान् भक्ष्याम्	५	८१
परापरत्वे युक्तिश्च	२६	२९
परापवादरतयश्	७	५७
परिणामं पुनर्मानम्	२६	३४
परिहारविरुद्धं तु	२६	९८
परिहारे सुखा चैषा	१३	४०
परिहारोपचाराभ्याम्	२६	८७
परिहार्याण्यपथ्यानि	२८	४३
परुषस्यातिमात्रस्य	७	२८
परुषा स्फुटिता म्लाना	१७	६५
परो भूतेष्वनुक्रोश	३०	८१
पर्णानि पिष्ट्वा चतुर	३	१७
पर्वण्याः पर्वपुष्प्याश्च	२७	१०८
पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च	२२	३६
पर्वास्थिसन्धिभेदश्च	२३	२९
पवित्रं वृष्यमायुष्यम्	५	९४
पलाशं कत्तृणं चैव	२	१३
पलाशनिर्दाहरसेन	३	१६
पशुः पशूनां दौर्बल्यात्	३०	७५
पश्चिमाभिमुखा याश्च	२७	२११
पाञ्चप्रसृतिकी पेया	१३	८९
पाटलाग्निमन्थश्योनाक	४	१६(३८)

	अ०	अंक
पाटलां चाग्निमन्थं च	२	११
पाठामहौषधसुरदारुमुस्त	४	१२(१८)
पाणिचाराद्यथाऽचक्षु	९	१६
पाण्डुता गौरवं जाड्यम्	१३	५९
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः	२८	१०
पादोरुजानुजङ्घार्ति	१४	२३
पापवृत्तवचः सत्त्वाः	७	५६
पारावतः पाण्ड(न)विक	२७	५३
पारियात्रभवा याश्च	२७	२१२
पारीक्षिस्तत् परीक्ष्याग्रे	२५	८
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षि	१४	२२
पाषाणान् वोष्मणा तेन	१४	५८
पिच्छिलं क्रिमिलं क्लिन्नं	२७	२१५
पिडका नातिमहती	१७	८७
पित्रकृत् सृष्टविण्मूत्रः	२६	६२
पित्तक्षाराग्निदग्धा मे	२२	३३
पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च	१४	१४
पित्तमेव कफश्चैवम्	२४	२९
पित्तविकारांश्चत्वारिंश	२०	१४
पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते	२७	२९
पित्तश्लेष्मक्षये वायु	१७	६१
पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च	२७	१६३
पित्तादेवोष्मणः पक्ति	१७	११६
पिप्पलीनां प्रयोगो वा	२४	५७
पिप्पली नागरं वृष्यम्	२६	५१
पिप्पलीपिप्पलीमूल	२	१८
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्य	४	९(६)
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्य	४	१७(४५)
पिबेच्छिद्रं पिधायैकम्	५	४९
पिबेत् क्षौद्रान्वितं चाल्पम्	६	३९
पिबेत् संशमनं स्नेह	१३	६१
पिबेयुरुत्तमां मात्राम्	१३	३३
पिबेयुरुदकं भुक्त्वा	२७	३२८
पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तं	१५	११
पीनसार्धावभेदौ च	५	६०
पीनसे चातिसारे च	२७	२२६
पीलून्यारग्वधं द्राक्षाम्	२	१०
पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो	२७	१७२
पुण्यशब्दो विपापत्वा	७	३०
पुरा प्रत्यक्षधर्माणम्	२५	३
पुराणमामं सङ्क्लिष्ट	२७	३१७
पुरीषं ग्रथितं रूक्षम्	१३	५८
पुरीषे ग्रथिते पथ्यं	१	११३

	अ०	अंक
पुरुषः पुरुषाद्गौर्गो	२५	१७
पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च	२७	१०५
पूतिर्घ्राणास्यगन्धश्च	५	२९
पूर्वं मूलफलज्ञान	२	३५
पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायं	३०	६९
पृथक्त्वेन च दोषाणाम्	२०	२५
पृथगम्लादियुक्तस्य	२६	१६
पृथग्दिष्टास्तु ये पञ्च	१७	१५
पृथुका गुरवो भृष्टान्	२७	२७३
पृषतः शरभोः रामः	२७	४५
पौष्करं तु भवेद् वीजम्	२७	११९
पौष्टिकं वृष्यमायुष्यम्	५	९९
प्रकुपितस्य खल्वस्य लोके	१२	८
प्रकृतिभिस्ताभिस्ताभिर्भि	१८	८
प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य	१२	८
प्रकृतिस्थं कफं वायुः	१७	४७
प्रकृतिस्थं यदा पित्तम्	१७	४५
प्रकृत्या मद्यमम्लोष्ण	२७	१७८
प्रक्षेपापचये ताभ्याम्	७	३७
प्रघर्षोद्वर्तनस्नान	६	४०
प्रज्ञापराधाद्ध्यहिता	२८	३९
प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्	१५	११
प्रतिलोमं गतो ह्याशु	५	४८
प्रतिश्याये च कासे च	१४	२०
प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च	७	२२
प्रतिष्ठार्थं हि भावाना	३०	५
प्रतिहन्ति निपाते यो	२६	७८
प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधम्	११	२१
प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते	११	३०
प्रथमं जायते ह्योजम्	१७	७५
प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णै	२४	५
प्रपौण्डरीकं सुरदारु	३	२४
प्रपौण्डरीकं सूक्ष्मैलाम्	५	६४
प्रबुद्धसञ्ज्ञं मतिमा	२४	५३
प्रभूतश्लेष्मपित्तास्र	२२	१९
प्रभूतस्नेहनित्या ये	१३	३१
प्रमाणमायुपरस्त्वर्थेन्द्रिय	३०	२५
प्रयुञ्जानो यथाकालम्	५	७१
प्रयोगज्ञानविज्ञान	११	५३
प्रयोगादस्य शाम्यन्ति	२३	२२
प्रयोगे, स्नैहिके त्वेकम्	५	३७
प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य	३०	२६
प्रलीयन् क्लेदविष्यन्द	२६	७६

	अ०	अंक
प्रवरावरमध्यत्वम्	२६	१११
प्रवृत्तिहेतुर्भावानाम्	१६	२८
प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्का	१३	४४
प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा	१७	५०
प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गेरी	२७	९३
प्रशातिका प्रियङ्गुश्च	२१	२५
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो	१	५८
प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रि	२४	२४
प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा	१७	११७
प्राचीनामलकं चैव	२७	१४६
प्राज्ञाज्ञयोर्विशेषश्च	२८	४८
प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने	११	५६
प्राणाः प्राणभृतां यत्र	१७	१२
प्राणाः प्राणभृतामन्न	२७	३४९
प्रायशोऽभिनवं मद्यम्	२७	१९३
प्रावृट्-शरद्-वसन्तेषु	५	५७
प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थि	४	१५(३१)
प्रियालतैलं मधुरम्	२७	२९१
प्रीणनं बृंहणं वृष्यम्	१	१०९
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो	२१	१४
प्लीहा पाण्ड्वामयः शोफो	२३	२३
फ		
फलमात्रा तथा सिद्धिः	३०	६७
फलमांसवसाशाक	२७	२६८
फलानां यानि चान्यानि	२७	२९४
फलैर्वनस्पतिः पुष्पै	१	७३
फाणितं शृङ्गवेरं च	१३	८६
फाणितं सक्तवः सर्पि	२३	३७
ब		
बदरं मधुरं स्निग्धम्	२७	१४१
बभ्रुर्गूढ इवोर्णाभि	३०	७७
बर्हा हिततमो बल्यो	२७	६५
बलं तनुत्वं लघुताम्	१३	४५
बलं पुष्ट्युपलम्भश्च	२२	३८
बलदोषप्रमाणाद् वा	२४	१९
बलमारोग्यमायुश्च	२७	३४२
बलशुक्ररसश्लेष्म	१३	१७
बलसाम्ये रसादीनाम्	२६	७३
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीम्	२	१२
बल्यं स्थैर्यकरं सर्व	२७	२२१
बल्याः परं वातहराः	२७	६७
बहुता तत्र योग्यत्व	९	७
बहुदोषस्य लिङ्गानि	१६	१६

	अ०	अंक
बहुदोषस्य लिङ्गानि	१६	४०
बालं दोषहरं वृद्धम्	२७	१६८
बालस्तु खलु मोहाद् वा	११	५७
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णम्	१७	७३
बिलेशयानां मांसानि	६	१२
बिल्वं तु दुर्जरं पक्वम्	२७	१३८
बिल्वादिपञ्चमूलस्य	२१	२४
बुद्धिः पश्यति या भावान्	११	२५
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते	११	११
बुद्धिविद्यावयःशील	७	५८
बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धि	१६	६
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासी	१	३२
बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्या	३०	१८
बुद्ध्वा संयोगसंस्कारम्	२७	२८३
बृंहणं बृंहणीयाश्च	२२	६
बृंहणाः शुक्रलाश्चोक्ता	२७	६६
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो	१	१४
ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्त	१	४
भ		
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्त	५	७२
भक्षयेन्निर्गदं साधु	६	२६
भगवानुवाच–य इमे	२९	७
भद्रकाप्यस्तु नेत्याह	२५	१८
भल्लातकास्थ्याग्निसमं	२७	१६५
भविष्यतामनुत्पत्तौ	७	६५
भवेन्नृणां दिवास्वप्न	२१	४९
भव्यादल्पान्तरगुणम्	२७	१३५
भारद्वाजस्तु नेत्याह	२५	२०
भावहेतुः स्वभावस्तु	२५	२१
भिषक्छद्मचराः सन्ति	११	५०
भिषक्छद्म प्रविश्यैवं	२९	१०
भिषग्जितं चतुष्पादम्	९	२७
भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता	९	३
भिषग्बुभूषुर्मतिमान्	१	१३४
भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवम्	१०	२१
भुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमो	७	१५
भूगृहेषु च जेन्ताके	१४	२८
भूतीकपञ्चमूलाभ्याम्	१४	३३
भूवाष्पान्मेघनिस्यन्दात्	६	३४
भूशया बिलवासित्वा	२७	५४
भृष्टतण्डुलमिच्छन्ति	२७	२५८
भेदश्चैषां त्रिषष्टिविध	२६	१४
भेषजक्षपिते पथ्य	१६	२२

	अ०	अंक
भेषजैर्विषमान् धातून्	१६	३०
भौममौषधमुद्दिष्टम्	१	७२
भ्रममुद्वेष्टनं तोदम्	१७	५८
भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो	१७	७५
म		
मज्जशुक्रसमुत्थाना	२८	२८
मज्जाप्रदोषात् शुक्रस्य	२८	१८
मणीनां धारणीयानाम्	२६	७०
मतिरासीन्महर्षीणाम्	२६	१०७
मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च	२७	८२
मध्यमन्थन(क)मन्थान	११	२४
मदनं मधुकं निम्बम्	२	७
मदनफलकषायमात्रा	१५	१०
मदमूर्च्छायसंन्यास	२४	६०
मदमूर्च्छायसंन्यासा	२४	२७
मदापस्मारमूर्च्छाय	२७	२३३
मद्यमल्पं न वा पेयं	६	२९
मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्य	४	९(५)
मधु चोष्णमुष्णार्तस्य च	२६	८४
मधुमधुककोविदार	४	१३(२३)
मधुमधुकरुधिरमोचरस	४	१८(४६)
मधुरं किञ्चिदम्लं च	२७	१५६
मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात्	२६	४८
मधुरं पित्तनुत्तेषाम्	२७	१५१
मधुरं बृंहणं बल्य	२७	१२९
मधुरं बृंहणं वृष्यम्	२७	१२७
मधुरं सकषायं च	२७	१४३
मधुरश्चाम्लपाकश्च	२७	१५
मधुराः शीतला गुर्व्यो	२७	३१
मधुराण्यविदाहीनि	२७	८७
मधुरा मधुराः पाके	२७	२७
मधुराम्लकषायं च	२७	१३१
मधुराम्लकषायत्वात्	२७	१३७
मधुरा लघवः शीताः	२७	२६४
मधुरो बृंहणो वृष्यो	२७	२९५
मधुरो मधुरः पाके	२७	९५
मधुरो लवणाम्लौ च	२६	५९
मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात्	२६	५५
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः	२६	५४
मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थ	८	७
मनःशरीराग्निबल	२५	५०
मनःशिलात्वक्कुटजात्	३	१५
मनःशिलाले मरिचानि	३	१२
मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्ण	२२	३७

	अ०	अंक
मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र	८	१६
मनसोऽनुगुणा गन्धाः	२१	५३
मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा	८	१३
मन्थः खर्जूरमृद्वीका	२३	३८
मन्दवातेषु शस्यन्ते	२७	६९
मन्दाग्निविषमाग्नीनाम्	२७	२५५
मन्दानां व्यवहाराय	४	२८
मन्यास्तम्भः शिरःशूलम्	७	१६
मयूरैर्जगतः स्नेहम्	६	२७
मरीचिरुवाच–अग्निरेव	१२	११
मर्मस्वंसे गुदे पाण्योः	१७	१०७
मलवृद्धिं गुरुतया	७	४३
मलानाश्रित्य कुपिता	२८	२२
मलापहं रोगहरम्	१५	२२
मलायनानि चान्यानि	१७	७२
मलिनाहारशीलस्य	२४	२६
महच्चाग्निबलं येषाम्	१३	४९
महर्षयस्ते ददृशुर्यथा	१	२८
महर्षीणां मतिर्या या	१२	१७
महास्नेहाश्च चत्वारः	१	७६
महिषीणां गुरुतरम्	२७	२१९
मांसजानां तु संशुद्धिः	२८	२६
मांस-शाक-वसा-तैल	२७	२५९
माक्षिकं तैलवर्णं स्याद्	२७	२४४
माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रम्	२७	२४३
मातरं पितरं चैके	११	६
मातुलुङ्गरसं तद्व	२४	४९
मात्राकालक्रियाभूमि	२५	४६
मात्राकालाश्रया युक्तिः	२	१६
मात्रातस्याशितीयो च	३०	३७
मात्रा द्रव्याणि मात्रां च	५	१०५
मात्रावद्ध्यशनमशितमनु	५	८
मात्राशी स्यात्। आहार	५	३
मात्रैषा मन्दविभ्रंशा	१३	३७
माधवप्रथमे मासि	७	४६
मानसं प्रति भैषज्यम्	११	४७
मारुतघ्नं न च श्लेष्म	१३	१५
मारुतस्तु कफे हीने	१७	५७
मुकुन्दो झिण्टिगर्मूटी	२७	१८
मुक्तावलीभिः शीताभिः	१४	१२
मुक्त्वैवं वादसङ्घट्ट	२५	२८
मुखप्रियं च रूक्षं च	२७	१११
मुखप्रियः सुखमदः	२७	१८३
मुखानि तु खल्वागन्तो	२०	४

	अ०	अंक
मुस्तकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रा	४	९(३)
मुस्तमारग्वधः पाठा	२३	१२
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च	१	१४०
मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रम्	१७	७१
मूलत्वक्सारनिर्यास	१	७४
मृतं कृशं चातिमेद्यम्	२७	३११
मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण	१३	६५
मृदुकोष्ठस्य गुरु च	२६	९५
मृदुतीक्ष्णगुरुस्निग्ध	२६	६४
मृदुपाकाश्च ये भक्ष्याः	२७	२६५
मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्द	२६	११
मृदूकरोति स्रोतांसि	२७	२५२
मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः	९	१३
मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदा	४	१३(२१)
मृद्वीकासारिवालाज	२	२४
मृद्व्यश्च कठिनाश्चान्याः	१७	१०९
मेघसङ्काशमाकाश	२४	३९
मेढ्रे वृषणयोः शूल	७	१०
मेदसाऽऽवृत्तमार्गत्वा	२१	५
मेदस्यतीव संवृद्धे	२१	८
मेदस्विनः स्नेहनित्याः	२१	४७
मेदोमांसातिवृद्धत्वा	२१	९
मेधास्मृतिकरः पथ्यः	२७	८४
मेध्यं पवित्रमायुष्य	५	९८
मैत्री कारुण्यमार्तेषु	९	२६
मैत्रेय ! मिथ्या चिन्त्यत	१०	५
य		
यं वैद्यमानी त्वबुधो	१६	४
यः कुमारशिरा नाम	२६	४
यः पिपासाज्वरार्तस्य	१८	११
यः पीतनेत्रवक्त्रत्वक्	१८	१२
यः स्याद्रसविकल्पज्ञः	२६	२७
य एवाश्मघनस्वेद	१४	५५
यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रम्	२६	९७
यच्चान्यदपि किञ्चित् स्यात्	८	३४
यच्चापि देशकालाग्नि	२६	८६
यज्जःपुरुषसङ्ख्यातो	३०	४२
यतो यावन्ति यैर्द्रव्यै	४	२३
यत् किञ्चिद् दोषमास्राव्य	२६	८५
यत्किञ्चिल्लाघवकरम्	२२	९
यत्तु रोगसमुत्थान	२८	४४
यत्राश्रिताः कर्मगुणाः	१	५१
यत् सारमादौ गर्भस्य	३०	१०
यथाक्रमं क्षीरगुणा	१	११४

	अ०	अंक
यथाक्रम यथायोग्य	७	४८
यथा चाक्लेद्य मृत्पिण्डम्	१३	९७
यथा नानौषधं किञ्चिद्	२७	३३०
यथा पयो यथा सर्पि	२६	४७
यथा प्रयोज्या मात्रा या	१५	२४
यथा विषं यथा शस्त्रम्	१	१२५
यथा वृद्धैस्तथा क्षीणै	१७	४३
यथा सुमनसां सूत्रम्	३०	८९
यथास्वकारणाकृतिर्संसर्गाद्	१८	७
यथेरितानां दोषाणाम्	५	३८
यदन्तरीक्षात् पततीन्द्र	२७	२०१
यदर्थं यानि चास्येन	५	१०९
यदसेव्यं विशुद्धेन	१५	२५
यदा तु मनसि क्लान्ते	२१	३५
यदा तु रक्तवाहीनि	२४	२५
यदाऽनिलं प्रकृतिगम्	१७	४८
यदाहारगुणैः पानम्	२७	३१९
यदृच्छया समापन्न	९	१७
यद्गुणं चाभीक्ष्णम्	८	६
यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनु	८	६
यद्यच्छक्यं मनुष्येण	१५	२१
यद्यदागच्छति क्षिप्रम्	२७	३१०
यवका हायनाः पांसु	२७	१२
यवकोलकुलत्थानाम्	१३	९४
यवानी चार्जकश्चैव	२७	१७०
यश्च मद्यकृतः प्रोक्तो	२४	३४
यश्चापि गुह्यप्रभवः	१८	१७
यश्चाप्युरुगवर्णाभः	१८	१०
यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः	१८	१६
यस्तु रोगमविज्ञाय	२०	२१
यस्तु रोगविशेषज्ञः	२०	२२
यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं	१६	२५
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे	९	२३
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति	३०	११
यस्य पित्तं प्रकुपितम्	१८	२३
यस्य पित्तं प्रकुपितम्	१८	२४
यस्य पित्तं प्रकुपितम्	१८	२६
यस्य पित्तं प्रकुपितम्	१८	२७
यस्य प्रकुपित्तं पित्तम्	१८	२५
यस्य वातः प्रकुपितो	१८	३२
यस्य वातः प्रकुपित	१८	३१
यस्य वायुः प्रकुपितो	१८	२९
यस्य वायु प्रकुपितः	१८	३०
यस्य शस्त्रकुशच्छिन्न	१८	१४

	अ०	अंक
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः	१८	२२
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः	१८	२०
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो	१८	१९
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो	१८	२१
या च युक्तिश्चिकित्सायां	१६	४१
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते	१६	३४
या या यथाप्रभावा च	२१	६२
यावकोलकुलत्थाश्च	१३	८४
यावद्ध्यस्याशनमशितमनु	५	४
या समानगुणाभ्यास	२६	९२
युक्तमास्थापने मूत्रम्	१	९७
युक्तिश्चैषा–षड्धातुसमु	११	३२
युज्येते तु कषायेण	२६	२१
ये तु वृद्धाश्च बालाश्च	१३	३८
ये तु शास्त्रविदो दक्षाः	२९	१३
येनौजसा वर्तयन्ति	३०	९
ये भूतविषवाय्वग्नि	७	५१
येभ्यो यदा हिता निद्रा	२१	६१
येभ्यो येभ्यो हितो यो यः	१३	५१
येषां मध्यबला रोगाः	२२	२०
येषामेव हि भावानाम्	२५	२९
योगमासां तु यो विद्याद्	१	१२४
योगवित्त्वप्यरूपज्ञ	१	१२३
योगादपि विषं तीक्ष्णम्	१	१२७
योगाधिक्येन तु फेनिल	१५	१३
योगेन तु खल्वेनं छर्दित	१५	१४
योनावजाविके मिश्र	२७	६३
योनिरष्टविधा त्वेषा	२७	५६
यो ह्येतत्त्रितयं ज्ञात्वा	१८	४७
र		
रक्तं हरितवर्णं वा	२४	३७
रक्तपित्तकफोत्क्लेदि	२७	२८४
रक्तपित्तकरं बाल	२७	१३९
रक्तशालिर्वरस्तेषाम्	२७	११
रक्तशालिर्महाशालिः	२७	८
रक्तावसेकाच्छास्त्राणाम्	२४	५८
रजस्तमोभ्यां तु मनः	२५	११
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता	११	१८
रसजानां विकाराणाम्	२८	२५
रसजानि तु भूतानि	२५	१३
रसनार्थो रसस्तस्य	१	६४
रसप्रदोषजा रोगा	२८	११
रसमेषां यथादोषम्	२३	१३
रसवीर्यविपाकानाम्	२६	६७

	अ०	अंक
रसाः सप्रत्ययद्रव्या	१	१३९
रसाञ्जनं सप्रपुनाड	३	१३
रसायनानां वृष्याणाम्	२१	३३
रसा लवणवर्ज्याश्च	४	२४
रसाला बृंहणी वृष्या	२७	२७८
रसैश्चोपहितः स्नेहः	१३	२७
रसो निपाते द्रव्याणाम्	२६	६६
राजभी राजमाषश्च	२७	२०८
राजमाषः सरो रुच्यः	२७	२५
रात्रिस्वभावप्रभवा	२१	५९
रात्रौ जागरणं रूक्षम्	२१	५०
रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेत्	१४	३८
रास्ना गुडूची मधुकम्	३	२२
रास्नासुरदारुबिल्वमदन	४	१३(२६)
रास्ना हरिद्रे नलदम्	३	२५
रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा	२८	१७
रूक्षं लघु खरं तीक्ष्ण	२२	१४
रूक्षं स्वादु कषायाम्लम्	२७	१४८
रूक्षः कषायानुरसो	२७	२०
रूक्षः शीतोऽगुरुः स्वादु	२७	१९
रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्म	१	५९
रूक्षस्योद्वर्तनं स्नान	२१	१२
रूक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भम्	२७	११०
रूक्षा वम्यतिसारघ्नी	२७	२४२
रूक्षोष्णं क्षारमुष्णा	२७	२२०
रोगमादौ परीक्षेत	२०	२०
रोगर्तुव्याधितापेक्षो	१४	६
रोगाञ्जयेन्मध्यबलान्	२२	२३
रोगाश्चोत्सेधसामान्या	१८	३३
रोगास्तथा न जायन्ते	७	४९
रोगास्तस्य तु पेयाः स्यु	५	३६
रोगास्तस्य प्रजायन्ते	५	४६
रोगास्तस्यापहर्तारः	१	१६
रोगास्तस्योपजायन्ते	२३	५
रोचनं दीपनं वृष्यम्	२७	२२५
रोचनं दीपनं वृष्यम्	२७	३००
रोचनं दीपनं वृष्य	२७	१६६
रोचनं दीपनं हृद्यम्	२७	१८९
रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः	२७	१६७
रोचनो दीपनो हृद्यः	२७	१५५
रोचनो दीपनो हृद्यः	२७	१८४
रोहिणी कामकाली च	२७	४४
रोहितो दीपनीयश्च	२७	८३
रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यम्	२२	१०

	अ०	अंक
रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणां	२६	५३
ल		
लक्षणं चाकृतानां स्यात्	२२	४१
लवकः शीतमधुराः	२७	६०
लघवो बद्धविण्मूत्राः	२७	७८
लघुशीतरूक्षखरविशद	२६	११
लघूष्णं वातलं रूक्षम्	२७	९२
लघूष्णतीक्ष्णविशदम्	२२	१२
लङ्घनं बृंहणं काले	२२	४
लट्वा लट्व(डू)षको बभ्रु	२७	५१
लवणं सैन्धवं नोष्ण	२६	४९
लवणोपहिताः स्नेहाः	१३	९८
लवणो रसः पाचनः क्लेद	२६	४३
लाघवं कर्मसामर्थ्यम्	७	३२
लाजाचन्दनकाश्मर्यफल	४	१७(४२)
लावतैत्तिरमायूर	१३	८३
लावाद्या विष्किरास्त्वेते	२७	४८
लावान् कपिञ्जलानेणान्	६	४३
लावो वर्तीरकश्चैव	२७	४७
लुञ्चनं केशलोम्नां च	२४	४७
लोणिका यवशाकं च	२७	१०२
लोपाको जम्बुकः श्येनो	२७	३६
लोभशोकभयक्रोध	७	२७
लौकिकं नाश्रयन्त्येते	२८	३८
व		
वचा हरेणुस्त्रिवृता	३	५
वध्येते स्वनतः श्रोत्रे	१७	२०
वमनेऽतिकृते लिङ्गा	१६	११
वमनेऽश्मन्तकं विद्यात्	१	११६
वरकोद्दालकौ चीन	२७	१४
वरमाशीविषविषम्	१	१३२
वराहपिशितं बल्यम्	२७	७९
वर्चोभेदीन्यलाबूनि	२७	११२
वर्जयेदन्नपानानि	६	१८
वर्णस्वरीयः पुष्पाख्य	३०	५३
वर्तिं मधुरकैः कृत्वा	५	२६
वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु	६	७
वर्षाशीतोचिताङ्गानाम्	६	४१
वल्लूरं शुष्कशाकानि	५	१०
वसन्ते निचितः श्लेष्मा	६	२२
वसा तैलमवश्याय	६	४५
वसुधाकीटसर्पाखु	२७	२१३
वस्तिनेत्रसमद्रव्यम्	५	५१
वस्तिमेहनयोः शूलम्	७	६
वाग्देहमनसां चेष्टा	२४	४३

	अ०	अंक
वातः प्लीहानमुद्धूय	१८	२८
वातकलाकलाज्ञानमधि	१२	३
वातघ्नं दीपनं चैव	२७	१६२
वातघ्नान्यन्नपानानि	२१	२१
वातघ्ना बृंहणा वृष्याः	२७	१५८
वातघ्नेषूत्तमं बल्यम्	२७	२८७
वातपित्तकफघ्नश्च	२७	७२
वातपित्तकफा यस्य	१८	३४
वातपित्तकफानां च	२५	४३
वातपित्तक्षये श्लेष्मा	१७	५९
वातपित्तप्रकृतयो	१३	४१
वातपित्तप्रशमनी	२७	७१
वातपित्तहरः स्वादु	२७	१२०
वातपित्ताधिको रात्रा	१३	१९
वातमूत्रपुरीषाणाम्	२२	३४
वातलं गुरु शीतं च	२७	२४५
वातश्लेष्मक्षये पित्तम्	१७	६०
वातश्लेष्मणि वाते वा	१४	८
वातश्लेष्मविबन्धघ्नम्	२७	२९९
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः	५	३४
वातश्लेष्मसमुत्थेषु	२७	१५४
वातहरोत्क्वाथक्षीरतैल	१४	४५
वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः	१७	२६
वातातपसहा ये च	१३	४७
वातादयः प्रकुप्यन्ति	१७	११
वातादीनां रसादीनाम्	१७	६३
वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्नि	१३	५७
वातामाभिषुकाक्षोट	२७	१५७
वातिकोत्तरवातिकानां	१४	४४
वाते पित्ते कफे चैव	१८	५२
वाते सरक्ते सघृतम्	३	२३
वादान् सप्रतिवादान् हि	२५	२७
वापीकूपतडागोत्स	२७	२१४
वायुः पित्तं कफश्चोक्तः	१	५७
वारुणामृतकैरण्ड	१४	३१
वार्योविद उवाच–भिषक्	१२	१०
वार्योविदस्तु नेत्याह	२५	१२
विंशकाश्चैककाश्चैव	१९	८
विंशतिः क्रिमिजातय इति	१९	४(९
विकारनामाकुशलो	१८	४४
विकारो धातुवैषम्यम्	९	४
विघ्नभूता यदा रोगाः	१	६
विचारणाः केषु योज्या	१३	८
विट्पित्तकफवातानां	१६	९

	अ०	अंक
विडङ्गं नागरं क्षारः	२१	२३
विडङ्गपिप्पलीमूल	२	२३
विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थि	१	७०
विदग्धभ्रष्टबध्नानाम्	१४	३७
विदारिकन्दो बल्यश्च	२७	१२१
विदारीगन्धापृश्निपर्णी	४	१७(४४)
विदाहश्चान्नपानस्य	२४	१४
विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां	११	१२
विद्यादेकपथं रोगम्	१०	१६
विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नम्	२७	८९
विद्याद् द्विदोषजं तद्वत्	१०	१९
विद्यान्मांसाश्रयान् मेदः	२८	१५
विद्या मतिः कर्मदृष्टिः	९	२२
विद्या वितर्को विज्ञानम्	९	२१
विद्धभग्नाहतभ्रष्ट	१३	१६
विद्रधिं द्विविधामाहु	१७	९०
विधिना दधि सेव्यं च	७	६६
विधिना शोणितं जातम्	२४	३
विधिभेदं विकाराणाम्	१८	५५
विधिरेष विकाराणाम्	७	५०
विना प्रमेहमप्येता	१७	१०४
विनामाक्षेपसङ्कोचाः	७	१९
विपरीतगुणस्तेषाम्	७	४१
विपरीतगुणैर्देश	१	६२
विपाकलक्षणस्याल्प	२६	६३
विपाके मधुराश्चैव	२७	७३
विपाचयेच्छतगुणे	५	६६
विबन्धगौरवोद्गार	२२	२१
विभागस्तु विभक्तिः स्याद्	२६	३३
विश्रान्तेषु तु कालेषु	२७	२०७
विरुद्धं देशतस्तावद्	२६	८८
विरुद्धं पाकतश्चापि	२६	९९
विरुद्धमनले तद्व	२६	९०
विरुद्धानामुपक्लिन्न	३४	८
विरुद्धाशनजान् रोगान्	२६	१०५
विरेचने प्रयोक्तव्यः	१	११८
विरेचने स्नेहने च	१	११४
विरेचयन्ति नैतानि	१३	९८
विरूढधानाः शष्कुल्यो	२७	२६७
विविधमशितं पीतं लीढं	२८	३
विविधादशितात् पीता	२८	२३
विशदः गुरवो रूक्षा	२७	२३६
विशुद्धं चाविशुद्धं च	२४	५९
विश्वामित्राश्वरथ्यौ च	१	१०

	अ०	अंक
विषं विषघ्नमुक्तं यत्	२६	६९
विषमन्वस्थवृत्तानां	७	४५
विष्किरा वर्तकाद्यास्तु	२७	६१
विसर्गे पुनर्वायवो नाति	६	५
विस्मापनैः स्मारणैश्च	२४	५१
विस्रं त्रिदोषं लवणं	२७	२१६
वीतमोहरजोदोष	१८	५६
वीरणशालिषष्टिकेक्षु	४	१२(१७)
वृक्षादन्यश्वदंष्ट्रावसुक	४	१५(३५)
वृत्तिहेतोर्भिषङ्मान	२९	१२
वृत्त्युपायान्निषेवेत	५	१०४
वृद्धिरेकस्य समता	१७	४४
वृद्ध्या विष्यन्दनात्	२८	३३
वृषणौ चर्म मेढ्रं च	२७	३३५
वृषणौ हृदयं दृष्टी	१४	१०
वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यम्	५	९६
वृष्यः परं वातहरः	२७	२४
वृष्यः शीतः सरः स्निग्धो	२७	२३७
वृष्या क्षीणक्षतहिता	२७	२४१
वृष्या स्निग्धा च शीता च	२७	९४
वेगनिग्रहजा रोगा	७	२५
वेगा वेगसमुत्थाश्च	७	६३
वेदं चोपदिश्यायुर्वाच्यं	३०	२२
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः	१७	३१
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च	२४	३६
वेशवारो गुरुः स्निग्धो	२७	२६९
वैद्यभाण्डौषधैः पूर्णैः	११	५१
वैद्यापवादो यत्रस्थाः	१	१४१
वैरोधिकनिमित्तानाम्	२६	११३
वैवर्ण्यमग्निसादश्च	२४	१३
वैशद्यस्तम्भजाड्यैर्यो	२६	७९
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैः	६	३१
व्यक्तः शुष्कस्य चादौ,	२६	२८
व्यक्ताम्ललवणस्नेहम्	६	३७
व्यधच्छेदभ्रमानाह	१७	९६
व्यधच्छेदरुजाकण्डू	१७	२९
व्यपोह्य सर्वानङ्गारान्	१४	४८
व्यवस्थाकरणं तेषाम्	१८	४३
व्याधयो हि समुत्पन्नाः	१	२२
व्याधौ शीते शरीरे च	१४	७
व्यापत्तिचिह्नं भैषज्यम्	५	१०७
व्यापन्नबहुमद्यत्वाद्	१७	९२
व्यायाम उष्णसदनम्	१४	६४
व्यायामनित्याः स्त्रीनित्या	२७	३१५

	अ०	अंक
व्यायामनित्यो जीर्णाशी	२३	२५
व्यायाममतिसौहित्यम्	२१	३१
व्यायाममुच्चैर्वचनं	१३	६३
व्यायामहास्य भाष्याध्व	७	३४
व्यायाममातपं चैव	६	३६
व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्या	२८	३१
व्यायामोद्वर्तनं धूमम्	६	२४
व्यायामोऽनशनं चिन्ता	१७	७६
व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि	२३	१९
श		
शङ्खिन्यथ विडङ्गानि	१	८२
शटीपुष्करमूलबदरबीज	४	१४(३०)
शटीपुष्करमूलाम्लवेतसै	४	१६(३७)
शणपुष्पी च बिम्बी	१	८०
शतपत्रो भृङ्गराजः	२७	५०
शब्दमात्रेण तन्त्रस्य	३०	७४
शयनस्य प्रमाणेन	१४	४७
शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु	२७	२२७
शरलोमा तु नेत्याह	२५	१०
शरारिः पुष्कराह्वश्च	२७	४२
शराविका कच्छपिका	१७	८३
शराविका कच्छपिका	१७	१०५
शरीरं सत्त्वसंज्ञं च	१	५५
शरीरचेष्टा या चेष्टा	७	३१
शरीरदोषप्रकोपे खलु	११	५५
शरीरधातुसामान्या	२७	६२
शरीररोगप्रकृतौ	१५	५१
शरीरसङ्ख्या सूत्रं च	३०	५२
शरीरावयवाः सक्थि	२७	३३४
शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म	१	४२
शर्करापिप्पलीतैल	२३	३५
शशः स्वादुः प्रशस्तश्च	२७	७७
शस्त्रमुल्लेखनं तत्र	२३	८
शस्यन्ते दन्तपवने	५	७४
शस्त्रं शास्त्राणि सलिलम्	९	२०
शस्त्रकर्माणि वर्त्यर्थम्	१	९३
शस्त्रास्त्रैर्भिद्यत इव	१७	९८
शाकं गुरु च रूक्षं च	२७	१०३
शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः	२	२८
शान्तिरिन्द्रियजानां तु	२८	२९
शारदानि च माल्यानि	६	४८
शालकटफलकदम्बपद्मक	४	१८(४७)
शालिपर्णीबलाबिल्वैः	२	२०
शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थम्	९	२४

	अ०	अंक
शिण्डाकी चासुतं चान्यत्	२७	२८५
शिम्बी रूक्षा कषाया च	२७	३२
शिरीषबीजं लशुनम्	२	५
शिरीषलामज्जकहेम	३	२९
शिरोगताः सिरा वृद्धो	१७	१८
शिरोऽभिघाताद् दुष्टामा	१७	१०
शिरो मन्दरुजं तेन	१७	२५
शिरोरुहकपालानाम्	५	३२
शिरोरोगाः सहृद्रोगा	१७	१२०
शिवो वायुर्ववौ सर्वा	१	३८
शीघ्रगत्वाद् यथा भूत	१६	३३
शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णम्	२२	१७
शीतं वीर्येण यद् द्रव्यम्	२६	४५
शीतं शुचि शिवं मृष्टम्	२७	१९८
शीतं सशर्करं मन्थम्	६	२८
शीतः सक्तगतिर्यस्तु	१८	१३
शीतः स्निग्धोऽगुरुः स्वादु	२७	१३
शीतकान्नविदाह्युष्ण	१७	९१
शीतशूलव्युपरमे	१४	१३
शीताः पीनसकर्त्र्यश्च	२७	१२४
शीताः सङ्ग्राहिणश्चैव	२७	७४
शीताः स्वादुकषायास्तु	२७	११८
शीता रसे विपाके च	२७	१०
शीते रात्रौ पिबन् स्नेहम्	१३	२१
शीते शीतानिलस्पर्श	६	९
शीतेषु संवृतं सेव्यम्	६	१५
शीतोष्णमिति वीर्यम्	२६	६५
शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुन	११	४२
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यै	२४	१७
शीर्यन्त इव चास्थीनि	१७	६८
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो	२६	६१
शुष्ककासश्रमात्यग्नि	२७	८०
शुष्कस्फिगुदरग्रीवो	२१	१५
शुष्काणि कफवातघ्ना	२७	१७७
शुष्काण्यपि हि काष्ठानि	१४	५
शुष्यतां व्याधिमुक्तानाम्	२७	३१३
शूकधान्यं शमीधान्यम्	२७	३०९
शूकधान्यशमीधान्य	२७	६
शूकशमीधान्यपुलाकानां	१४	४२
शूयन्ते यस्य गात्राणि	१८	९
शूलप्रवाहिकाटोप	२७	१८१
शूलेऽरुचौ विबन्धे च	२७	१५३
शृङ्गाटकाङ्कलोड्यं च	२७	११७
शेषत्वादायुषो याप्यम्	१०	१७

	अ०	अंक
शैत्यात् प्रसादान्माधुर्यात्	२७	२३८
शैलेयमेलागुरुणी	३	२८
शैवालपद्मोत्पलवेत्र	३	२६
शोकोपवासव्यायाम	१७	३०
शोधनार्थाश्च षड्वृक्षाः	१	७७
शोफारोचकहृल्लास	२१	४७
शोफार्शोग्रहणीदोष	२७	२२९
शोभाञ्जनकसैरेय	१४	३२
शोभाञ्जनकैरण्डार्क	४	१३(२२)
शोषकासक्षयहितम्	२७	७५
शोषार्शोग्रहणीदोष	२७	१८२
शोषार्शोग्रहणीदोषे	२२	२७
शौकरो वा रसः स्निग्धः	१३	९०
शौचे संहरणे लोम्नाम्	५	१११
शौनकः शाकुनेयश्च	१	१३
श्यावता स्तब्धगात्रत्व	२२	४०
श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा	७	३३
श्रमव्यवायव्यायाम	२६	९६
श्रमाभिघातसन्तापै	२४	१०
श्रीयशोज्ञानसिद्धानाम्	११	५२
श्रीवेष्टकं शल्लकी च	५	२३
श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यम्	२८	३७
श्रुतदृष्टक्रियाकाल	२९	११
श्रुतयश्चैता न कारणं युक्ति	११	८
श्रुते पर्यवदातत्वं	९	६
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानाम्	१	३४
श्रेयसी बिल्वपर्णी च	२७	१०७
श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः	२३	२८
श्लेष्मप्रसेकौ वैस्वर्यम्	५	३०
श्लेष्मलं मधुरं शीतम्	२७	१५९
श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा	२७	२९७
श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च	२७	१७५
श्लेष्मविकारांश्च विंशति	२०	१७
श्लेष्माणं शमयेतीतम्	१	१००
श्लेष्माणं हि समं पित्तं	१७	४९
श्लैष्मिकान् स्वेदयेत् पूर्वं	१४	२७
श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतम्	१७	१००
श्वेते कषायं भवति	२७	१९९
ष		
षट् चैवैकरसानि स्यु	२६	२२
षट्त्रिंशतं सहस्राणि	२७	३४८
षडङ्गमङ्गं विज्ञान	३०	४
षडतीसारा इति वातपित्त	१९	४(३)
षडेव रसा इत्युवाच भग	२६	९

	अ०	अंक
षड्धातुजस्तु पुरुषो	२५	१५
षड्रसा इति वार्योविदो	२६	८
षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि	२६	३८
षड्विरेचनाश्रया इति	४	५
षण्णां रसानां षट्त्वे	२६	११०
षण्णामास्वाद्यमानानाम्	२६	११२
षष्टिकाच्छालिमुद्गांश्च	५	१२
षाण्ढ्यान्ध्यवीसर्पदको	२६	१०२
ष्ठीवनं हृदयाशुद्धि	१६	७
स		
संयोगशरमूलीय	३०	५७
संयोगाः सप्तपञ्चाशत्	२६	२४
संयोगं च विभागं च	१	५२
संवेजयेद् यो रसनाम्	२६	७७
संशोधनाद्दते येषाम्	१३	५३
संसर्गे नव षट् तेभ्य	१७	४२
संस्काराल्लघवः सन्ति	२७	२७२
संस्कारोऽभ्यास इत्येते	२६	३०
स एवं गुणोऽप्येक एवा	२६	४३
स एव कुपितो दोषः	१८	४५
सकोरदूषः श्यामाकः	२७	१६
सक्तवस्तिलपिष्टं च	१३	२४
सक्तवो मदिरा क्षौद्रम्	२३	३६
सक्तवो वातला रूक्षा	२७	२६३
सक्तान्नल्पद्रुताभाषम्	२४	३०
सक्रोधपरुषाभाषम्	२४	३१
सक्षारं पक्वकूष्माण्डम्	२७	११३
सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः	२३	९
सगुडाः सतिलाश्चैव	२७	२७०
सगुणान्यनुपानानि	२७	३५२
सङ्क्लेदात् कृमयश्चास्य	१७	३८
सङ्करः प्रस्तरो नाडी	१४	३९
सङ्कोचायामशूलेषु	१४	२४
सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि	१८	५४
सङ्ख्या स्याद् गणितयोगः	२६	३२
सङ्ग्रहः प्रकृतिर्देशो	२०	२३
सङ्ग्रहेण चातियोगायोग	११	४०
सङ्ग्राहि दीपनं हृद्यम्	२७	२३०
सङ्गो विण्मूत्रवातानाम्	७	१२
स चाध्येतव्यो ब्राह्मण	३०	२९
स चिनोत्युपभुक्ते च	२५	९
स जग्ध्वा स्नेहमात्राम्	१३	७१
सततं व्याधितावेता	२१	१६
सतां च रूपाणामतिसन्नि	११	८

	अ०	अंक
सतिक्तकटु सक्षारम्	२७	३०३
सतिक्तं श्वासकासघ्नम्	१	१०५
सति पादत्रये ज्ञातौ	९	१५
सत्त्वमात्मा शरीरं च	१	४६
स त्वातारमनासाद्य	११	६२
सद्यः क्षीणो हि सद्यो वै	२३	३१
सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद्	३०	७८
स ना संन्याससंन्यस्तः	२४	४४
सन्तर्पणोत्था ये रोगा	२३	४०
सन्तर्पयति यः स्निग्धै	२३	३
सन्ति चाप्यपरे रोगाः	१८	४०
सन्ति पाल्यविकोपाताः	३०	७२
सन्ति ह्येवंविधा रोगाः	१८	२०
सन्धानकृद् वातहरो	२७	२१
सन्धारणाद्दिवास्वप्ना	१७	८
सन्धीनां स्फुटनं ग्लानि	१७	६६
सन्निपातप्रशमनाः	२७	७०
सन्निपातप्रशमनाः	२७	७६
सपिपासः ससन्तापो	२४	३८
स पुमांश्चेतनं तच्च	१	४७
सप्तकश्चाष्टकश्चैव	३०	८७
सप्तकुष्ठानीतिकपालो	१९	४(२)
सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः	२६	८
समग्रं दुःखमायत्त	३०	८४
समपित्तानिलकफाः	७	३९
सममांसप्रमाणस्तु	२१	१८
समवायं च तज्ज्ञात्वा	१	२९
समवायोऽपृथग्भावो	१	५०
समानकारिणो येऽर्था	२५	४२
स मारुतस्य पित्तस्य	१७	८१
समीरणे परिक्षीणे	१७	५१
समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्	१६	३७
सम्पूर्णं कारणं कार्यम्	१	१३८
सम्मूर्च्छितानि तीक्ष्णानि	२४	४८
सम्यक्प्रयोगं सर्वेषाम्	१	१३६
सम्यग्विपाकवीर्याणि	२६	७१
स यदा नेन्धनं युक्तम्	६	१०
सर्पिः शरदि पातव्यम्	१३	१८
सर्पिष्मती बहुतिला	२	२६
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा	१	८८
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा	१३	१३
सर्पिस्तैलवसामज्जा	१३	९०
सर्पींष्यजाविमहिषी	२७	२३४
सर्व एव निजा विकारा	१९	५
सर्व एवामितज्ञान	२५	७

	अ०	अंक
सर्व एवास्तुवंस्तांश्च	१	३५
सर्वदा सर्वभावानाम्	१	४४
सर्वरोगप्रशमनम्	२७	३१४
सर्वशरीरचरास्तु वात	२०	९
सर्वश्चेत् सञ्चरेन्मातुः	११	१०
सर्वस्नेहोत्तमं शीतम्	२७	२३२
सर्वाकृतिः सन्निपाता	२४	४१
सर्वाण्येतानि रूपाणि	२४	३३
सर्वा हि चेष्टा वातेन	१७	११८
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यम्	५	६२
सर्वेऽपि खल्वेतेऽभिप्रवृ	२०	६
सर्वेषां तैलजातानाम्	१३	१२
सर्वेषामेव भावानां भावा	११	४४
सर्वेष्वपि खल्वेतेषु	२०	१२
सर्वेष्वपि खल्वेतेषु	२०	१५
सर्वेष्वपि खल्वेतेषु	२०	१८
सर्षपी चालजी चैव	१७	१०६
स वक्ष्यति शमोपायं	१	१८
स शक्रभवनं गत्वा	१	२०
सस्नेहं दीपनं वृष्य	२७	२९६
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च	१	६०
सस्नेहाः स्नेहसिद्धाश्च	२७	२७१
सहत्वे चासहत्वे च	२८	४६
सहितौ स्वादुलवणौ	२६	१९
स हि भगवान् प्रमवक्षा	१२	८
साङ्कृत्यो वैजवापिश्च	१	११
साङ्ख्यैः सङ्ख्यात	१३	३
सात्त्विकैर्विधिवद् युक्त्या	२७	१९५
सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि	२६	१०६
साधनं न त्वसाध्यानाम्	१	६३
साध्यानां त्रिविधश्चाल्पम्	१०	१०
साध्याश्चाप्यपरे सन्ति	१८	३८
साध्याश्चैवाप्यसाध्याश्च	१८	४१
साध्यासाध्यविभागज्ञो	१०	७
साध्यासाध्यविभागज्ञो	१०	२२
सामान्यमेकत्वकरम्	१	४५
सामान्येन मयोक्तस्तु	१	१०१
सामुद्रकं समधुरम्	२७	३०४
सारिवाशर्करापाठा	४	१६(३९)
सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पली	४	१०(९)
सार्धा गुर्वादयो बुद्धिः	१	४९
सितालतावेतसपञ्च	३	२७
सिद्धा वराहनियूहे	२	२५
सिद्धिः शोधनयोश्चैव	३०	६६

	अ०	अंक
सुखसाध्यं मतं साध्यम्	१०	९
सुखार्थाः सर्वभूतानाम्	२८	३५
सुखोपविष्टास्ते तत्र	१	१५
सुगन्धको लोहवालः	२७	९
सुदग्धायां विधूमायाम्	१४	६२
सुमुखाः सर्वभूतानाम्	७	५९
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थ	२७	३२३
सुरा समण्डा रूक्षोष्णा	२७	१९०
सुरासवस्तीव्रमदो	२७	१८७
सुवर्णं समलाः पञ्च	१	७१
सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखी	४	९(४)
सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या	१४	११
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च	५	८९
सूप्यान्नविकृता भक्ष्या	२७	२७४
सृमरश्चमरः खड्गो	२७	३९
सृष्टभिन्नशकृद्वातो	२७	१८६
सेवा रूक्षान्नपानानाम्	२१	११
सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते	२१	३८
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्ध	१	२५
सोऽभिगम्य जयाशीर्भि	१	२१
सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो	३०	२७
सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च	२७	३०१
सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्ष	२६	३९
सौवर्चलं सैन्धवं च	१	९०
सौवीरमञ्जनं नित्यम्	५	१५
स्खलतः सम्प्रतिष्ठानम्	५	१०२
स्तब्धा सिराजालवती	१७	८६
स्तम्भगौरवशीतघ्नम्	२२	११
स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च	२२	७
स्तिमितो मस्तकश्चैव	५	५४
स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता	२७	५५
स्थापयेदासनं वाऽपि	१४	५७
स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं	२१	१७
स्नानमुत्सादनं स्वप्नो	२२	२८
स्नायौ सिराकण्डराभ्यो	२८	२१
स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्यः	१४	६७
स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानम्	२१	३२
स्निग्धस्विन्नशरीराणाम्	७	४७
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य	५	६९
स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णानि	१	९१
स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यम्	२७	१५०
स्निग्धोष्णं मारुते शस्तम्	२७	३२१
स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः	२७	३०
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहम्	१३	६४

	अ०	अंक
स्नेहद्विषः स्नेहनित्या	१३	८२
स्नेहनं बृंहणं वर्ण्यम्	२७	८५
स्नेहनप्रीणनाह्लादम्	२६	७४
स्नेहनस्वेदनाध्याया	३०	३९
स्नेहना जीवना बल्या	१	८९
स्नेहने स्वेदने शुद्धौ	१६	२६
स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन	१४	४
स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत	१३	९९
स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वम्	१३	८५
स्नेहस्वेदविधिस्तत्र	७	१३
स्नेहस्वेदोपपन्नानाम्	२४	५४
स्नेहाः स्नेहविधिः कृत्स्न	१३	१००
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां	५	२५
स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुः	१३	८०
स्नेहाभ्यङ्गाद् यथा कुम्भ	५	८५
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः	१३	११
स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च	२२	३१
स्नेह्याः के के न च स्निग्धा	१३	६
स्नेहैर्यथार्हं तान् सिद्धैः	१३	९२
स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च	१८	५१
स्नैहिकं धूमजे दोषे	५	४०
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः	५	८७
स्फुरत्यतिसिराजालम्	१७	२१
स्मृतिबुद्धिप्रमोहश्च	२१	४८
स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजः	२७	३३१
स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो	२	३६
स्मृतिर्निर्देशकारित्व	९	९
स्यात् परं च रसज्ञान	५	७९
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमै	२४	५२
स्रष्टा त्वमितसङ्कल्पो	२५	२३
स्वधातुवैषम्यनिमि	१९	६
स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या	२१	२९
स्वभावाल्लघवो मुद्गा	२७	३३६
स्वरभेदकफोत्क्लेद	२७	१४९
स्वल्पासम्बद्धवचनम्	२४	३२
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टम्	८	३१
स्वादुरम्लादिभिर्योगं	२६	१५
स्वादुरम्लो जलकृतः	२३	३९
स्वादुरम्लोऽथ लवणः	१	६५
स्वादु शीतं मृदु स्निग्धम्	२७	२१७
स्वादूनि सकषायाणि	२७	१४४
स्वाद्वम्ललवणा वायु	१	६६
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं	२६	१८
स्वाद्वस्वादुता भक्तिः	१६	९

	अ०	अंक
स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्प	८	५
स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म	२१	५४
स्विन्नं निष्पीडितरसम्	२७	१०४
स्विन्नभक्ष्यास्तु ये केचित्	२७	२६१
स्विन्नातिस्विन्नरूपाणि	१४	६९
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यम्	२४	१५
स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूल	१४	४३
स्वेदयन्ति दशैतानि	१४	६५
स्वेदाधिकारे यद्वाच्य	१४	७१
स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च	७	९
स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान्	७	७
स्वेदे जाते रुचौ चैव	२२	३५
स्वेदो यथा कार्यकरो	१४	६८
स्वेद्याः शोधयिताव्याश्च	१३	५२
स्वे स्वे स्थाने तथाऽध्याये	३०	६८
स्वे स्वे स्थाने यथास्वं च	३०	३५

ह

	अ०	अंक
हंसोदकमिति ख्यातम्	६	४७
हन्ति शोणितपित्तं च	१	११०
हन्याद् व्याधीन् यवापूपो	२७	२६५
हन्यान्मधूष्णमुष्णार्त	२७	२४६

	अ०	अंक
हरितानां यथाशाकम्	२७	३१८
हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहा	४	११(१६)
हर्षणं प्रीणनं मद्यम्	२७	१९४
हलीमकः शिरःशूलम्	२१	४६
हसन्तिकाभिरङ्गार	१४	५४
हस्तिदन्ती हैमवती	१	७८
हस्तिश्यामाकनीवार	२७	१७
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणाम्	१४	६०
हास्तिकं लवणं मूत्रम्	१	१०४
हिक्काकासविषश्वास	२७	१६९
हिक्काश्वासकरं तूष्णम्	२७	२२३
हिक्काश्वासप्रतिश्याय	२७	१८०
हिक्काश्वासोऽरुचिः कम्पो	७	१८
हिङ्गु केवुकमूलानि	२३	२०
हिङ्गुकैटर्यारिमेदा	४	१८(४८)
हिङ्गूषणसमायुक्तम्	२४	५०
हितमेवानुरुध्यन्ते	२८	३६
हिताभिर्जुहुयान्नित्य	२७	३४५
हिता मांसरसास्तस्मै	२३	३३
हिता व्यायामनित्येभ्यो	२७	५८
हिताहितं सुखं दुःख	१	४१

	अ०	अंक
हितैषिणः पुनर्भूतानां	३०	२४
हिरण्याक्षस्तु नेत्याह	२५	१४
हीनपित्तस्य तु श्लेष्मा	१७	५५
हीनवातस्य तु श्लेष्मा	१७	५३
हुताशवेशस्य वच	१७	५
हृत्पाण्डुग्रहणीरोग	२७	३०५
हृदयं कफहृद्रोगे	१७	३५
हृदये क्लोम्नि यकृति	१७	९४
हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं	१७	७४
हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे	१७	३३
हृद्यं यत् स्याद्यदौजस्य	३०	१४
हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतै	१७	४०
हृद्रोगः कष्टदः कष्ट	१७	३६
हृल्लासमास्यस्रवणम्	१७	५४
हेतवः पूर्वरूपाणि	१०	११
हेतुलक्षणसंसर्गात्	१७	३६
हेतुलिङ्गौषधज्ञानम्	१	२४
हेतौ लिङ्गे प्रशमने	९	१९
हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ	६	१९
हेमन्ते सलिलं स्निग्धं	२७	२०५
होलाकस्वेद इत्येष	१४	६३
ह्रीवेरं चन्दनं पत्रम्	५	२१

निदानस्थानम्

	अ०	अंक
अ		
अच्छं बहु सितं शीतम्	४	१३
अत ऊर्ध्वमेकादशरूपाणि	६	१४
अतस्त्रिविधा व्याधयः	१	४
अत्यर्थमधुरं शीत	४	१४
अत्यर्थमधुरं शीतम्	४	१९
अथ खल्वष्टाभ्यः कारणे	१	१७
अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धि	८	५
अपस्मारो हि वातेन	८	१२
अभिघाताभिषङ्गाभिचारा	१	३०
अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणेन	८	८(२)
अमर्षः क्रोधः संरम्भश्चा	७	७(२)
अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवाः	५	११
आ		
आत्मानमेव मन्येत	७	२२
आहारस्य परं धाम	६	९
इ		
इति चत्वारोऽपस्मारा	८	८
इत्यर्थसङ्ग्रहो निदान	१	१४
इत्युक्तं त्रिविधोदर्कम्	२	२१
इत्येतदखिलेनोक्तम्	८	१६
इत्येतान्येकैकशो ज्वर	१	३४
इत्येते चत्वारः प्रमेहा वात	४	४५
इत्येते दश प्रमेहाः श्लेष्म	४	२३
इत्येते षट् प्रमेहाः पित्त	४	३५
इमांश्चतुरः प्रमेहान् वातजा	४	३८
इह खलु चत्वारि शोषस्या	६	३
इह खलु चत्वारोऽपस्मारा	८	३
इह खलु ज्वर एवादौ	१	१६
इह खलु निदानदोषदूष्य	४	४
इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति	३	३
इह खलु पञ्चोन्मादा	७	३
इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं	१	३
इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपि	५	५
उ		
उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञा	७	५
उन्मादयिष्यतामपि खलु	७	१४
उन्मादान्दोषजान्साध्यान्	७	९
उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्या	२	७
उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां	४	४८
उपशयः पुनर्हेतुव्याधि	१	१०

	अ०	अंक
उष्णाम्ललवणक्षारकटुका	१	२२
उष्णाम्ललवणक्षारकटुका	४	२४
ए		
एका शान्तिरनेकस्य	८	३०
एको हेतुरनेकस्य	८	२४
एतैश्चतुर्भिः शोषस्य	६	१२
एवं कृच्छ्रतया नृणाम्	८	२२
एवं त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता	४	४६
एवंवादिनं भगवन्तमात्रेय	३	४
एवमेते पञ्चोन्मादा	७	१७
एवमेव विकारोऽपि	५	१५
एवमेवोपशमनम्	२	२०
एषां तु खलु पञ्चानां	३	१५
क		
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य	८	२१
कषायकटुतिक्तरूक्षलघु	४	३६
कषायमधुरं पाण्डुम्	४	४४
काकणन्तिकावर्णान्यादौ	५	८
कारणं नामनिर्वृत्तिम्	२	२८
क्षयः शोषस्यायतनमिति	६	८
ग		
गद्योक्तो यः पुनः श्लोकै	१	४१
गन्धवर्णरसस्पर्शैं	४	२९
गुल्मिनामनिलशान्ति	३	१७
गृध्नुमभ्यवहार्येषु	४	५०
च		
चाषपक्षनिभं मूत्रम्	४	३१
चिरादपस्मरन्तं, चिराच्च	८	८(३)
ज		
जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव	१	३७
ज्वरभ्रमप्रलपाद्या	८	२५
ज्वरमष्टविधं तस्य	१	४३
ज्वरस्तु खलु महेशकोप	१	३५
ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः	१	३२
ज्वरादीनां विकाराणा	८	४३
ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि	८	४०
त		
तं प्रकुपितं मारुत आमा	३	११
त एवंविधानां प्राणभृतां	८	४
तच्चायोगावहं तत्र	२	१७
ततश्चांशविशेषेण पूर्वं	६	६

	अ०	अंक
ततोऽनन्तरं कुष्ठान्यभि	५	८
ततोऽनन्तरमपस्मारा	८	७
ततोऽनन्तरमेवमुन्मादा	७	७(१)
तत् प्रकुपितं मारुत आमा	३	९
तत्र तथोक्तानां ज्वरलिङ्गानां	१	२९
तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तो	७	११
तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः	७	४
तत्र निदानं कारणमित्युक्त	१	७
तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ	१	३६
तत्र प्रकुपितं तयैवानुपूर्व्या	४	२४
तत्र प्रथमत एव तावदा	१	१५
तत्र यदसाध्यं तदसाध्यतां	५	९
तत्र यदूर्ध्वभागं तत् साध्यं	२	९
तत्र व्याधिरामयो गद	१	५
तत्र श्लोकाः पित्तप्रमेह	४	२८
तत्र श्लोका वातप्रमेह	४	४०
तत्र श्लोकाः श्लेष्मप्रमेह	४	१२
तत्र साध्यान् प्रमेहान्	४	४९
तत्र साहसं शोषस्यायतन	६	४
तत्रापरिक्षीणबलमांस	६	१५
तत्रायमुन्मादकराणां भूतानां	७	१२
तत्रासाध्यं परित्याज्यम्	२	२७
तत्रासाध्यत्वमेकं स्यात्	२	२३
तत्रेदं सर्वकुष्ठनिदानं	५	६
तत्रेदमपस्मारविशेष	८	८(१)
तत्रे मे त्रयो निदानादि	४	५
तथा लघ्वशनाद्याश्च	८	३२
तद्यथा ज्वरसन्तापाद्	८	१७
तद्यथा प्रकुपितमामाशया	१	२३
तन्तुबद्धमिवालालम्	४	२२
तमुवाच भगवानात्रेयः	३	५
तयोः साधनानि-मन्त्रौषधि	७	१६
तस्माद् व्याधीन् भिषग	१	१३
तस्मिन् हि दक्षाध्वरध्वंसे	८	११
तस्य निदानपूर्वरूपलिङ्गो	१	१८
तस्य योंऽशः शरीरसन्धीना	६	४
तस्याशुकारिणो दावाग्ने	२	११
तस्याः शूलकासातीसार	३	१४
तस्येमानि पूर्वरूपाणि	१	३३
तस्येमानि पूर्वरूपाणि	२	६
तस्येमानि पूर्वरूपाणि	६	१३

	अ०	अंक
तस्येमानि पूर्वरूपाणि	७	६
तस्येमानि पूर्वरूपाणि	८	६
तस्येमानि रूपाणि भवन्ति	७	१३
तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति	१	२१
तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति	१	२४
तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति	१	२७
तस्योपलब्धिर्निदानपूर्व	१	६
तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः	६	४
ताम्राणि ताम्रखररोमराजी	५	८
ते तु खलु निजागन्तु	७	१८
ते तु खल्विमे दश प्रमेहा	४	१०
ते दश प्रमेहाः साध्याः	४	११
ते पूर्वं केवला रोगाः	८	२०
ते षड्भिरेव क्षाराम्ललवण	४	२६
तेषां सान्निपातिकमसाध्यं	३	१६
तेषामपि तु खलु पित्तगुण	४	२५
तेषामपि पूर्ववद्गुणविशेषेण	४	३९
तेषामागन्तुरनुबन्धो भव	८	९
तेषामिमानि पूर्वरूपाणि	५	७
तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्या	३	८
तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्या	३	१०
त्रयस्तु खलु दोषाः प्रकुपिता	४	४७
त्रयाणामेषां निदानादि	४	८
त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः	४	३
त्रिदोषलिङ्गसन्निपाते	७	७
त्रिदोषहेतुलिङ्गसन्निपाते	३	१२
त्रिविधं तु खलून्मादकराणां	७	१५
त्रिविधं नामपर्यायै	१	४२
द		
दश श्लेष्मकृता यस्मात्	४	५४
दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमांस	६	१६
देवादीनामपचिति	७	२३
न		
न च किञ्चिदस्ति कुष्ठ	५	४
नहि संशोधनं किञ्चि	२	१९
नान्यः स्नेहस्तथा किञ्चित्	१	४०
नासाध्यः साध्यतां याति	८	३५
निदाने रक्तपित्तस्य	२	२९
नैव देवा न गन्धर्वा	७	१९
प		
परुषाण्यरुणवर्णानि	५	८
परुषारुणानि विशीर्ण	५	८
पारतन्त्र्यादवैशारद्यात्	३	१३
पित्तं यथाभूतं लोहितपित्त	२	३

	अ०	अंक
पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं	१	८
प्रज्ञापराधात् सम्भूते	७	२१
प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः	८	१९
प्रयोगः शमयेद् व्याधिं	८	२३
प्रयोगैः क्षपयेद् वा तान्	८	३९
प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्	१	९
प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तर	१	१२
प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः	८	३८
प्रेष्योपकरणाभावाद्	२	२२
प्लीहाभिवृद्धया जठरम्	८	१८
ब		
बलकालविशेषः पुनर्व्या	१	१२
बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः	४	६
बह्वबद्धं मेदोमांसं शरीर	४	७
भ		
भवेद् योगावहं तत्र	२	१४
भृशं पूत्यतिमात्रं च	२	२५
म		
मज्जानं सह मूत्रेण	४	४२
मञ्जिष्ठोदकसङ्काशम्	४	३३
मन्दं मन्दमवेगं तु	४	२१
मन्दोत्साहमतिस्थूल	४	५१
मसीवर्णमजस्रं यो	४	३०
मार्गौ पुनरस्य द्वौ–ऊर्ध्वं	२	८
मूर्तान्मूत्रगतान् दोषान्	४	२०
य		
यत् कृष्णमथवा नीलम्	२	२४
यथा प्रज्वलितं वेश्म	१	३८
यथा ह्यल्पेन यत्नेन	५	१४
यदा जन्तुर्यवकोद्दालक	२	४
यदा दोषनिमित्तस्य	८	१४
यदा पुरुषो वातलो विशेषेण	३	६
यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादति	६	८
यदा ह्येते त्रयो निदान	४	४
यस्तु दोषनिमित्तेभ्य	७	१०
यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो	५	१३
यस्त्वाहारं शरीरस्य	४	५२
यस्य पर्युषितं मूत्रम्	४	१५
यस्य संहन्यते मूत्रम्	४	१६
याति नाशेषतां व्याधि	८	३४
ये त्वेनमनुवर्तन्ते	७	२०
येन चोपहतो रक्तम्	२	२६
र		
रक्तं तु यदधोभागम्	२	१५

	अ०	अंक
रक्तपित्तं तु यन्मार्गौ	२	१८
रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु	२	१०
रूक्षलघुशीतवमनविरेचन	१	१९
ल		
लिङ्गं चैकमनेकस्य	८	२७
व		
वमनं हि न पित्तस्य	२	१६
वसामिश्रं वसाभं वा	४	४१
विकारः प्रकृतिश्चैव	८	४१
विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो	१	१२
विरेचनं तु पित्तस्य	२	१३
विशमाशनं शोषस्यायतन	६	१०
विषमारम्भमूलानाम्	८	२८
विषमारम्भमूलैश्च	८	२९
विषमाशनादनशनादन्न	१	२८
विस्रं लवणमुष्णं च	४	३२
वृद्धिस्थानक्षयावस्थाम्	८	३६
व्याजहार ज्वरस्याग्रे	१	४४
व्याध्यवस्थाविशेषान् हि	८	३७
श		
शरीरक्लेदस्तु श्लेष्ममेदो	४	९
शान्तिरामाशयोत्थानाम्	८	३१
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा	४	१८
शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रम्	४	१७
शुक्लरक्तावभासानि रक्त	५	८
शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया	३	१३
स		
संसर्गाल्लोहितप्रदूषणा	२	५
सङ्ख्या तावद्यथा–अष्टौ	१	१२
सङ्ख्या द्रव्याणि दोषाश्च	५	१६
सङ्ख्या निमित्तं प्राग्रूपम्	७	२४
सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि	३	१८
सन्धारणं शोषस्यायतन	६	६
सप्तद्रव्याणि कुष्ठानां	५	३
स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ	६	६
स प्रकुपितस्तथाविधे शरीरे	४	३७
स प्रकुपितो योनिमुखमनु	३	१४
स प्रकुपितो वायुर्महास्रोतो	३	७
समवेतलिङ्गमपस्मारं	८	८(४)
समवेतानां पुनर्दोषाणा	१	१२
समुत्थानं च लिङ्गं च	६	१७
स मुहुराध्मति, मुहुरल्प	३	७
सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्य	१	११

	अ०	अंक
स यदा प्रकुपितः प्रविश्या	१	२०
स यदा प्रकुपितः प्रविश्या	१	२६
सर्वं एव ते याप्याः, संसृष्ट	४	२७
सर्वमन्यत् परित्यज्य	६	७
सर्वरोगविशेषज्ञः	८	१५
सर्वेष्वपि खल्वेतेषु गुल्मेषु	३	१६
स सप्तविधाज्ज्वराद् विशिष्ट	१	३१
स सप्तविधोऽष्टादशविधो	५	४
साध्यं लोहितपित्तं तद्	२	१२
साध्यांस्तु भिषजः प्राज्ञाः	८	१३
साध्यानां तु त्रयाणां	७	८
साध्यानामपि ह्युपेक्ष्य	५	१०
साध्यासाध्यविशेषाश्च	४	५५
साध्योऽयमिति यः पूर्वम्	५	१२
सा सङ्ख्याप्राधान्यविधि	१	१२
साहसं वर्जयेत् कर्म	६	५
सुखसाध्यः सुखोपायः	८	३३
स्थानमेकदेशे, तूष्णीम्भावः	७	७(३)
स्निग्धगुरुमधुरपिच्छिल	१	२५
स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति	५	८
स्नेहाद् वातं शमयति	१	३९
ह		
हरिद्रोदकसङ्काशम्	४	३४
हस्ती मत्त इवाजस्रम्	४	४३
हितान्यपस्मारिभ्यस्तीक्ष्णा	८	१०
हिताशी स्यान्मिताशी	६	११
हेतवः पूर्वरूपाणि	८	४२
हेतुपर्यायनामानि	८	४४
हेतुभिर्बहुभिश्चैको	८	२६
हेतुर्व्याधिविशेषाणाम्	४	५३

विमानस्थानम्

	अ०	अंक
अ		
अकालयोनिगमना	५	१९
अग्निवेशकृते तन्त्रे	८	१५७
अग्निषु तु शारीरेषु चतु	६	१२
अजल्पन्नहसन् तन्मना	१	२५
अतः परमग्निवेश उवाच	३	३७
अतः परमनुवासनद्रव्याण्य	८	१५०
अतः परमिदं ब्रूयात्–देवता	८	१४
अत ऊर्ध्वमितरेण सह	८	१८
अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा	५	२४
अति बहुत्वात् खलु केचिद्	५	५
अतिमात्रं पुनः सर्वदोष	२	७
अतिमात्रस्य चाकाले	५	१२
अतो विपरीतास्त्वसाराः	८	११२
अथ निग्रहस्थानं–निग्रह	८	६५
अथ जिज्ञासा–जिज्ञासानाम	८	४६
अथ दृष्टान्तः–दृष्टान्तो नाम	८	३४
अथच्छलम्–छलं नाम	८	५६
अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि	१	१५
अथं परिहारः–परिहारो	८	६०
अथ प्रतिज्ञा–प्रतिज्ञा नाम	८	३०
अथ प्रतिज्ञाहानिः–प्रतिज्ञा	८	६१
अथ प्रतिष्ठापना–प्रतिष्ठा	८	३२
अथ प्रत्यक्षं–प्रत्यक्षं नाम	८	३९
अथ प्रत्यनुयोगः–प्रत्यनु	८	५३
अथ प्रयोजनं–प्रयोजनं	८	४४
अथ वाक्यदोषः–वाक्यदोषो	८	५४
अथ वाक्यप्रशंसा–वाक्य	८	५५
अथ व्यवसायः–व्यवसायो	८	४७
अथ शब्दः–शब्दो नाम	८	३८
अथ संशयः–संशयो नाम	८	४३
अथ सम्भवः–यो यतः	८	४९
अथ सव्यभिचारं–सव्यभि	८	४५
अथ सिद्धान्तः–सिद्धान्तो	८	३७
अथ स्थापना–स्थापना	८	३१
अथ हेतुः–हेतुर्नामोपलब्धि	८	३३
अथ हेत्वन्तरं–हेत्वन्तरं	८	६३
अथाग्निवेशः पप्रच्छ, किन्नु	३	३९
अथातीतकालम्–अतीत	८	५८
अथाध्यापनविधिः–अध्यापने	८	८
अथाननुयोज्यम्–अननु	८	५१
अथानुमानम्–अनुमानं	८	४०
अथानुयोगः–अनुयोगो नाम	८	५२
अथानुयोज्यम्–अनुयोज्यं	८	५०
अथाभ्यनुज्ञा–अभ्यनुज्ञा	८	६२
अथार्थप्राप्तिः–अर्थप्राप्तिर्नाम	८	४८
अथार्थान्तरम्–अर्थान्तरं	८	६४
अथाश्वशकृदाहृत्य महति	७	२२
अथास्मै प्रोवाच भगवाना	७	९
अथाहरेति ब्रूयात्–तिल्वको	७	२६
अथाहरेति ब्रूयात्–मूलक	७	१७
अथाहरेति ब्रूयात्–शारदा	७	२५
अथाहेतुः–अहेतुर्नाम	८	५७
अथैतिह्यम्–ऐतिह्यं नामा	८	४१
अथैनं क्रिमिकोष्ठमातुर	७	१६
अथैनं सम्यग्विरिक्तं विज्ञाया	७	१९
अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मण	८	१३
अथोत्तरम्–उत्तरं नाम	८	३६
अथोपालम्भः–उपालम्भो	८	५९
अथौपम्यम्–औपम्यं नाम	८	४२
अनन्तरं निदानोक्तानां	७	१५
अनुबन्धः खलु स यः	८	७४
अनुबन्धस्तु खल्वायुः तस्य	८	९१
अनुमानं खलु तर्को	४	४
अनुवासयेच्चैनमनुवासन	७	२४
अनेन कल्पेन मार्कवार्क	७	२१
अन्नवहानां स्रोतसामामाश	५	८
अपकर्षणमेवादौ	७	२८
अपतर्पणमपि च त्रिविधं	३	४३
अपि चैके स्रोतसामेव	५	४
अमात्रावत्वं पुनर्द्विविध	२	७
अयमेवविकाराणाम्	७	२९
अलसकमुपदेक्ष्यामः	२	१२
अल्पोदकद्रुमो यस्तु	३	४७
अव्यायामाद् दिवास्वप्ना	५	१६
अशितं खादितं पीतम्	२	१५
आ		
आतुरस्तु खलु कार्यदेशः	८	९४
आतुरावस्थास्वपि तु	८	१२८
आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत	१	२५
आप्तश्चोपदेशेन	४	९
अभिष्यन्दीनि भोज्यानि	५	१५
आमप्रदोषजानां पुनर्व	२	१३
आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले	२	१३
आमाशयगतः पाक	२	१८
आम्राम्रातकलकुचकरमर्द	८	१४०
आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः	८	१२४
आस्थापनेषु तु भूयिष्ठ	८	१३७
आहारविध्यायतनानि	२	१४
आहारशक्तितश्चेति, आहार	८	१२०
आहारश्च विहारश्च	५	२३
आहारायतनान्यष्टौ	१	२८
इ		
इति वादमार्गपदानि यथो	८	६६
इति व्याधितरूपाधिकारे	७	८
इति श्रुत्वा जनपदोध्वंसने	३	१९
इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां	८	११४
इत्यग्निवेशप्रमुखैः	२	१६
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तम्	३	१८
इत्येते षडास्थापनस्कन्धा	८	१४८
इमां मतिं बहुविध	८	१५६
इमानि खलु तावदिह	८	६८
इमानि तु खलु पदानि	८	२७
इमानेवं दोषयुक्तांश्चतुरो	३	७
इमे तु खल्वन्येऽप्येतमेव	४	८
इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं	१	२५
इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधित	७	३
इह खलु व्याधीनां निमित्त	१	३
इहाग्निवेश ! भूताना	३	२९
उ		
उक्तो व्याधितरूपीये	७	३२
उत्पेषादत्यभिष्यन्दात्	५	१८
उदकं तु खल्वत्यर्थविकृत	३	७(२)
उदकवहानां स्रोतसां	५	८
उपनयो निगमनं चोक्तं	८	३५
उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहार	१	२२
उपयोगसंस्था तूपयोग	१	२२(७)
उपायः पुनर्भिषगादीनां	८	१३०
उपायः पुनस्त्रयाणां कारणा	८	७८
उष्णं स्निग्धं मात्रावत्	१	२४
उष्णमश्नीयात्, उष्णं हि	१	२५
ए		
एतद् दशविधमग्रे परीक्ष्यं	८	७९

	अ०	अंक
एवं प्रकृत्यादीनां विकृति	८	१२३
एवं प्रवृत्ते वादे कुर्यात्	८	२४
एवंवादिनं भगवन्तमात्रेय	३	५
एवंविधमध्ययनार्थिनमुप	८	९
एवमितरेषामपि व्याधीनाम्	३	४२
एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः	८	१३१
एषां द्वयानां श्लेष्मपुरीष	७	२७
एषां विशेषाः शुभाशुभ	१	२३
औ		
औष्ण्यादामाद् भयात्	५	११
क		
कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव	८	११५
करणं पुनः स्वाभाविकानां	१	२२(२)
करणं पुनर्भेषजम् । भेषजं	८	८७
करणं पुनस्तद् यदुपकर	८	७०
कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौ	८	१०४
कर्म किञ्चित् क्वचित् काले	३	३५
कारणं भिषगित्युक्तमग्रे	८	८६
कार्यं तु तद् यस्याभिनि	८	७२
कार्यं धातुसाम्यम् , तस्य	८	८९
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः	४	११
कार्यफलं पुनस्तद् यत्	८	७३
कार्यफलं सुखावाप्तिः, तस्य	८	९०
कार्ययोनिर्धातुवैषम्यम्	८	८८
कार्ययोनिस्तु सा या	८	७१
कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद्	३	७(४)
कालः पुनः परिणामः	८	७६
कालः पुनः संवत्सरश्चातु	८	१२५
कालो हि नित्यगश्चावस्थि	१	२२(६)
केवलं विदितं यस्य	५	३१
क्षयात् सन्धारणाद् रौक्ष्याद्	५	१०
क्षारः पुनरौक्ष्ण्यतैक्ष्ण्य	१	१७
ग		
गुरुशीतमतिस्निग्ध	५	१३
च		
चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु	३	१२
चन्दननलदकृतमाल	८	१४३
चिकित्सितं तु खल्वेषां	७	१४
ज		
जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे	३	३
जीर्णेऽश्नीयात्, अजीर्णे	१	२५
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन	४	१२
त		
तं द्विविधमामप्रदोष	२	१०

	अ०	अंक
ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः	३	२४
ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत	८	४
तत्र कारणं नाम तद् यत्	८	६९
तत्र केचिदाहुः—न सम	६	१३
तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्ये	१	९
तत्र खल्विमान्यष्टावा	१	२१
तत्र खल्वेषां द्वयानामपि	६	६
तत्र चेद् भिषगभिषग्वा	८	८०
तत्र ज्ञानविज्ञानवचन	८	१७
तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवो	१	१४
तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते	८	१९
तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो	१	६
तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो	१	२२(१)
तत्र प्रकृत्यादीन् भावाननु	८	९५
तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि	८	२०
तत्र प्राणवहानां स्रोतसां	५	७
तत्र भूमिपरीक्षा आतुर	८	९३
तत्र मलो बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च	७	१०
तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं	२	६
तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां	३	४४
तत्र वातमेवंविधमनारोग्य	३	७(१)
तत्र वातलस्य वातप्रकोपणा	६	१६
तत्र वादोनाम स यत् परेण	८	२८
तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च	२	११
तत्र व्याधयोऽपरिसङ्ख्येया	६	५
तत्र शस्त्रप्रभवस्यापि	३	२१
तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा	८	१११
तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु	८	१२६
तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसी	२	१३
तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्न	८	१०३
तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतो	८	१२७
तत्रादौ रसद्रव्यदोषविकार	१	४
तत्रानुबन्ध्यानुबन्धकृतो	६	११
तत्रापकर्षणं—हस्तेना	७	१५
तत्राप्तोपदेशो नाम आप्त	४	४
तत्रायं तावदाहारराशि	२	५
तत्रायमध्ययनविधिः-कल्पः	८	७
तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं	८	२६
तत्रेदमाहारविधिविधान	१	२४
तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः	४	६
तत्रैष रसप्रभाव उपदिष्टो	१	१३
तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः	८	६
तदात्रेयोऽग्निवेशाय	३	५२
तदात्वे चानुबन्धे वा	३	४६

	अ०	अंक
तमनुतिष्ठता यथास्वं हेतु	७	२७
तमुपसृत्यारिराधयिषुरुप	८	५
तमुपस्थितमाज्ञाय समे	८	११
तथा भल्लातकास्थीन्याहृत्य	७	२३
तथाऽभिशापप्रभवस्या	३	२३
तथायुक्ते हि समुदये समु	१	११
तद्यथा—जीवकर्षभकौ	८	१३९
तमुवाच भगवानात्रेयः	३	३८
तमुवाच भगवानात्रेयः	३	२०
तमुवाच भगवानात्रेयः	३	४०
तमुवाच भगवानात्रेयः	३	६
तयोरुदारयोर्युक्ति	३	३२
तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः	१	१९
तस्मादातुरं परीक्षेत, प्रकृति	८	९४
तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्त	३	३६
तस्माद्रसप्रभावतश्च द्रव्य	१	१२
तस्य मात्रावतो लिङ्गम्	२	१९
तस्य यो यो विशेषो यथा	८	८५
तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः	१	२५
ते च विकाराः परस्पर	६	८
ते भेषजमयोगेन	७	६
तेभ्यो भिषग् बुद्धिमान्	८	१४९
तेषां तु खलु चतुर्विधानां	६	१४
तेषां तु खलु स्रोतसां	५	६
त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः	६	१५
त्रयोदशानां मूलानि	५	२९
त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेद	२	३
त्रिविधं खलु रोगविशेष	४	३
त्रिविधं खल्वनेन ज्ञान	४	५
त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये	४	५
द		
दशविधं तु परीक्ष्यं कारणा	८	८४
दृश्यन्ते हि खलु सौम्य	३	४
देशं पुनः प्रकृतिविकृतवर्ण	३	७(३)
देशः पुनः स्थानं, स	१	२२(५)
देशस्तु भूमिरातुरश्च	८	९२
देशस्त्वधिष्ठानम्	८	७५
दैवमात्मकृतं विद्यात्	३	३०
दैवेन चेतरत् कर्म	३	३४
दोषसङ्ख्या विकाराणा	६	२१
दोषहेतुः पृथक्त्वेन	५	३०
दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्त	१	५
दोषादीनां तु भावानाम्	८	१५७
दोषावसेचनमन्यद् वा	३	४५

	अ०	अंक
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष	८	२९
द्विविधा तु खलु तद्विद	८	१६
द्विविधा तु खलु परीक्षा	८	८३
द्वे रोगानीके भवतः	६	३
न		
न च केवलं मात्रावत्वादेवा	२	४
न च खलु केवलमतिमात्र	२	८
न च सङ्ख्येयाग्रेषु भेद	६	४
न चैव ह्यस्ति सुतरमायु	८	१४
नत्वेवं खलु सर्वत्र नहि	१	१०
नराणां वातलादीनाम्	६	२२
नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने	७	४
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य	८	२३
नातिद्रुतमश्नीयात्	१	२५
नातिविलम्बितमश्नीयात्	१	२५
नाभिस्तनान्तरं जन्तो	२	१७
नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तम	६	९
प		
परिषत्तु खलु द्विविधा	८	२०
परीक्षायास्तु खलु प्रयो	८	१३२
पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्नि	८	१०७
पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्र	८	९७
पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणा	६	१७
पिप्पली पिप्पलीमूलहस्ति	८	१४२
पिप्पल्यो हि कटुका सत्यो	१	१६
पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः	७	१३
पुरीषवहानां स्रोतसां	५	८
पूर्वरूपाणि सामान्या	३	४९
प्रकुपितास्तु खलु ते	६	७
प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटु	७	१५
प्रकृत्यन्तरभेदेन	६	२०
प्रचुरोदकवृक्षो यो	३	४८
प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत्	४	४
प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्वं	४	७
प्रत्यवरेण तु सह समाना	८	२१
प्रत्यागते च पश्चिमे वस्तौ	७	१८
प्रमाणतश्चेति शरीरप्रमाणं	८	११७
प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण	८	१३४
प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा	८	७७
प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमा	८	१२९
प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभो	३	२४
प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत	८	२५
प्राग्विकारसमुत्पत्ति	३	५०
प्राशास्तु सर्वमाशाय	७	७

	अ०	अंक
प्राणोदकान्नवाहानाम्	५	२६
प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठ	८	१४४
ब		
बलाबलविशेषोऽस्ति	३	३१
बहुविधमिदमुक्तम्	८	१५५
बुद्धिमानात्मनः कार्यगुरु	८	३
म		
मधु च श्लेष्माणं जयति	१	१४
मध्यमा मध्यमस्येष्टा	३	३३
मध्यानां मध्यैः सारविशेष	८	११३
मात्रयाऽप्यभ्यवहृतम्	२	९
मात्रावदश्नीयात्, मात्रा	१	२५
मूत्रवहानां स्रोतसां वस्ति	५	८
मूत्रविट्स्वेदवाहानाम्	५	२८
मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्री	५	२०
मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्ध	८	१०८
य		
यच्चान्यदपि किञ्चिद्	१	१४
यत्तु षड्विधमास्थापनमेक	८	१३८
यत्र तु खलु वमनादीनां	८	१३३
यथा चाकालमरणम्	३	५१
यदि पुनरस्यातिप्रवृद्धा	७	२०
यस्त्वभ्यवहार्यविधिः प्रकृति	७	२१
यानि तु खलु वमनादिषु	८	१३५
यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो	५	३
युगे युगे धर्मपादः	३	२५
ये यथा चानुमानेन	३	१४
येषां न मृत्युसामान्यम्	३	१३
येषां येषां प्रशान्त्यर्थम्	८	१४७
र		
रक्षोगणादिभिर्वा विविधै	३	२२
रसदोषसन्निपाते तु ये	१	७
रसवहानां स्रोतसां हृदयं	५	८
रसान् द्रव्याणि दोषांश्च	१	२६
रसायनानां विधिवच्चोप	३	१४
रसास्तावत् षट्—मधुराम्ल	१	४
राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ	१	२२(४)
ल		
लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यो	१	१८
लक्षणाचार्यशिष्याणाम्	८	१५२
व		
वयस्तश्चेति कालप्रमाण	८	१२२
वर्णस्वरनेत्रकेशलोम	८	१०६
वातस्तु रूक्षलघुचलबहु	८	९८

	अ०	अंक
वाताज्जलं जलाद्देशम्	३	१०
वादस्तु खलु भिषजां	८	६७
वाय्वादिषु यथोक्तानाम्	३	११
विकृतितश्चेति-विकृतिरुच्य	८	१०१
विगुणेष्वपि खल्वेतेषु	३	८
विगृह्य कथयेद् युक्त्या	८	२२
विदाहीन्यन्नपानानि	५	१४
विमानार्थो रसद्रव्य	१	२७
विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः	२	१३
विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशन	२	१२
विरेचनद्रव्याणि तु श्यामा	८	१३६
विविधाशितपीतीये	५	२७
विसूचिकायां तु लङ्घन	२	१३
वीर्यविरुद्धमश्नीयात्	१	२५
वैगुण्यमुपपन्नानाम्	३	९
व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाऽज्ञौ	७	३१
व्यायामशक्तितश्चेति	८	१२१
व्यायामादतिसङ्क्षोभाद्	५	१७
व्यायामादतिसन्तापा	५	२२
श		
शङ्खललाटकृकाटिका	८	१०५
(प्रायः) शारीरदोषाणामेका	६	१०
शिरोविरेचन द्रव्याणि पुन	८	१५१
शिष्यश्चैनमन्वालभेत,हुत्वा	८	१२
शीतेनोष्णकृतान् रोगा	३	४१
शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः	७	११
श्लेष्मजाः क्षीरगुणतिल	७	१२
श्लेष्मलस्यापि श्लेष्मप्रको	६	१८
श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्ण	८	९६
ष		
षड्भिरूनानि पञ्चाशद्	८	१५३
षड्वर्गाः परिसङ्ख्याता	८	१४५
स		
संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा	१	२२(३)
संवत्सरशते पूर्णे	३	२६
संशोधनं संशमनम्	७	३०
संसर्गविकल्पविस्तरो	१	८
संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः	८	९९
संहननतश्चेति-संहननं	८	११६
स एवं पृष्टो यदि मोहयितु	८	८१
सङ्कथा धर्मशास्त्राणाम्	३	१७
स तथा कुर्यात्	८	१०
सत्त्वतश्चेति-सत्त्वमुच्यते	८	११९

	अ०	अंक
सत्त्वादीनां विकल्पेन	७	५
सत्यं भूते दया दानम्	३	१५
सन्धारणादत्यशना	५	२१
सम्प्रश्नश्च परीक्षादे	८	१५४
सम्भाषाविधिमत ऊर्ध्वं	८	१५
स यदुत्तरं ब्रूयात्तत्	८	८२
सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं	१	१४
सर्वगुणसमुदितास्तु सम	८	१००
सर्वथा सर्वमालोच्य	४	१०
सर्वरोगविशेषज्ञः	६	१९
सर्वरोगविशेषाणाम्	४	१३
सर्वशो हि प्रणिहिताः	८	१४६
सात्म्यं नाम तद् यदा	१	२०
सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम	८	११८
सारतश्चेति साराण्यष्टौ	८	१०२
सैन्धवसौवर्चलकालविड्	८	१४१
सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीर	८	१०९
स्तिग्धमश्नीयात् स्निग्धं	१	२५
स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः	८	११०
स्रोतांसि, सिराः, धमन्यः	५	९
स्वधातुसमवर्णानि	५	२५
स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो	५	८
ह		
हितं जनपदानां च	३	१६

शारीरस्थानम्

	अ०	अंक
अ		
अकालादेशसञ्चारौ	१	१०६
अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलज	१	३४
अचेतनं क्रियावच्च	१	७५
अजन्मनि च यो हेतु	४	४३
अतः परं ब्रह्मभूतो	१	१५५
अत ऊर्ध्वं गर्भस्थापनानि	८	२०
अतिमृद्वतितीक्ष्णानाम्	१	१२५
अतीन्द्रियैस्तैरति	२	३७
अतुल्यगोत्रस्य रजः	२	३
अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्या	८	५२
अतोऽनन्तरं कुमारागार	८	५९
अतोऽनन्तरं जातकर्म	८	४६
अतोऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयम्	८	५५
अत्यादानमनादान	१	१२४
अत्युग्रशब्दश्रवणा	१	११८
अत्र कर्मफलं चात्र	१	३७
अथ चार्तस्य भगव	१	९१
अथाग्निवेश उवाच किं	५	९
अथाप्येतौ स्त्रीपुंसौ स्नेह	८	४
अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वा	८	४३
अथास्य रक्षां विदध्यात्	८	४७
अनादिः पुरुषो नित्यो	१	५९
अनिर्देश्यमतः परं तर्क्यं	७	१४
अनुपक्तकाममजस्रमाहार	४	३८(५)
अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही	१	११३
अमर्षिणमनुबन्धकोपं	४	३८(२)
अमूढो मोहमूलैश्च	७	२०
अयनं पुनराख्यात	१	१५१
अरसजश्चायं गर्भः। यदि	३	४(५)
अलसं केवलमभिनिविष्ट	४	३९(३)
अवाप्त्युपायान् गर्भस्य	४	४५
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः	१	६१
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति	१	६८
अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं	८	३२
अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो	४	२४
असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो	१	१२०
असम्यक्कल्पने हि नाड्या	८	४५
असात्म्यजश्चायं गर्भः	३	४(४)
असृङ्निरुद्धं पवनेन	२	८
अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं	३	१३
अहंकारः फलं कर्म	१	५२
आ		
आत्माज्ञः करणैर्योगा	१	५४
आत्मेन्द्रियमनोर्थानाम्	१	१३८
आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्र	१	८२
आपस्ताः पुनरागुर्मा	१	९०
आप्तोपदेशादद्भुतरूप	६	२७
आत्मजश्चायं गर्भः गर्भात्मा	३	८
आत्रेय उवाच–पुरस्ता	३	१६
आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शय	८	३७
आवेशश्चेतसो ज्ञान	१	१४०
आहारकाममतिदुःखशीला	४	३८(५)
आहारपरिणामकरास्त्विमे	६	१४
आहारमाप्नोति यदा	२	१५
इ		
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्	१	७२
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा	१	१३४
इज्याध्ययनव्रतहोम	४	३७(२)
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टम्	१	६५
इति पुत्राशिषां समृद्धिकरं	८	६७
इत्यग्निवेशस्य वचः	१	१५
इत्यपरिसङ्ख्येयभेदानां	४	४०
इत्यष्टविधमाख्यातम्	१	१४१
इत्यसात्म्यार्थसंयोग	१	१२७
इत्युक्त्वा संवसेयाताम्	८	८
इत्येवं खलु राजसस्य	४	३८
इत्येवं तामसस्य सत्त्वस्य	४	३९
इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य	४	३७
इन्द्रियाणि च सङ्क्षिप्य	३	२१
इन्द्रियाभिग्रह. कर्म	१	२१
इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि	१	२२
इहाग्निवेशस्य महा	२	४८
ई		
ईर्ष्यामानभयक्रोध	१	१०७
उ		
उदीरणं गतिमता	१	१०३
उपधा हि परो हेतु	१	९५
उपवासव्रतकर्मपरायाः	८	२६
उपादत्ते हि सा भावान्	१	१३५
ए		
एकैकाधिकयुक्तानि	१	२४
एतत् तत् सौम्य ! विज्ञा	५	२४
एतत्तदेकमयनम्	१	१५०
एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे	६	७
एतावद् दृश्यं शक्यमपि	७	१३
एते चान्ये च ये केचित्	१	११४
एतेन मातृजानां पितृजानां	४	३२
एतैरविमलं सत्त्वम्	५	१३
एभिः प्रसन्नवचनैं	१	८८
एवं यो वेद तत्त्वेन	१	३८
एवंवादिनं भगवन्तमात्रेय	५	६
एवंवादिनं भगवन्तमात्रेय	६	२०
एवमनयाऽऽनुपूर्व्याऽभिनि	४	२६
एवमयं नानाविधानामेषां	३	१४
एवमभिनिर्वर्तमानस्य	८	१८
एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः	४	१३
एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवा	४	१४
एवमेनं कुमारमायौवन	८	६६
एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे	४	३१
ऐ		
ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं	४	३७(३)
ओ		
ओजोशनानां रजनी	२	१०
क		
कतिधा पुरुषो धीमन्	१	३
कन्यां सुतं वा सहितौ	२	११
करणानि मनो बुद्धि	१	५६
करणान्यान्यता दृष्टा	१	४९
कर्मकालातिपातश्च	१	१०४
कर्मणामसमारम्भ	१	१४५
कर्मात्मकत्वाद् विभागांश	२	१६
कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां	२	२८
कस्माद् द्विरेताः पवने	२	१७
कारणं पुरुषः सर्वैः	१	४५
कारणं वेदनानां किम्	१	१३
कार्त्स्न्येन शरीरवृद्धिकरा	६	१२
कालस्थे परिणामेन	१	११५
कालाकालमृत्य्वोस्तु खलु	६	२८
किमज्ञो ज्ञः, स नित्यः किम्	१	४
कृतं मृद्दण्डचक्रैश्च	१	४३
केवलश्चायमुद्देशो यथो	४	४१
कोशकारो यथा ह्यंशू	१	९६

अ० अंक

क्रीडनकानि खलु कुमारस्य ८ ६३
क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्ण ४ ३८(४)
क्षीरजननानि तु मद्यानि ८ ५७

ख

खरद्रवचलोष्णत्वम् १ २९
खाद्यश्वेतनाषष्ठा १ १६
खादीनि बुद्धिरव्यक्त १ ६३

ग

गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म १ १५६
गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभि ६ २२
गर्भस्तु खल्वन्तरिक्ष ४ ६
गर्भस्य चत्वारि चतु २ २६
गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य २ २२
गर्भोपघातकरास्त्विमे ४ १८
गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा ८ २१
गुणाः शरीरे गुणिनाम् १ ३१
गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य ८ १९
ग्रहाम्बुदरजोधूम ५ १४

च

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्य ४ २०
चिकित्सति भिषक् सर्वा १ ८६
चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च १ २०
चेतनावान् यतश्चात्मा १ ७६

ज

जानन्नपि मृदोऽभावात् ३ २०
जायते बुद्धिरव्यक्ताद् १ ६६
जायते विषये तत्र १ २३
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धम् ५ १५
ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः १ ८३
ज्ञातानां स्वयमर्थाना १ १०५
ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वम् १ ९

त

ततः कल्पनं नाड्याः अतस् ८ ४४
ततः पुत्रकामा पश्चिमतो ८ ११
ततः पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्र ८ ५
ततः प्रवृत्ते नवमे मासे ८ ३५
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो १ ६७
तत ऋत्विक् प्रागुत्तरस्या ८ १०
तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य १ १०१
तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य ८ ३२
तत्र तु खल्वेषामूष्मादीना ६ १५
तत्र त्रयः शरीरदोषा वात ४ ३४
तत्र पूर्वं चेतनाधातुः ४ ८
तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत ८ ८

अ० अंक

तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि ५ १२
तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिर ७ १६
तत्र वीरणशालिषष्टिककुश ८ २९
तत्र शरीरं नाम चेतना ६ ४
तत्र शरीरं योनिविशेषां ४ ३५
तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धव ८ ३४
तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः ७ ५
तत्रास्य केचिदङ्गावयवा ४ १२
तत्रेमे शरीरधातुगुणाः ६ १०
तत्रेयं स्तनसम्पत्-नात्यूर्ध्वौ ८ ५३
तदग्निसूर्यश्रमशोक २ ९
तदेतच्छरीरं सङ्ख्यात ७ १८
तदेव तस्माद्भेषजं सम्य ६ ६
तदेव भावादग्राह्यम् १ ६०
तद्यथा—शुचि सत्याभिसन्धं ४ ३७(१)
तमर्तिकालमुद्दिश्य १ ८९
तमुवाच भगवानात्रेयः ५ ४
तमुवाच भगवानात्रेयः ७ ४
तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं ६ २१
तयोः कर्मणा वेदोक्तेन ८ १९
तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा ३ २५
तस्मादहितानाहारविहारान् ८ २१
तस्मादेतद् ब्रूमहे—अमातृज ३ ४
तस्मिंश्चरमसंन्यासे १ १५४
तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि ४ २५
तस्य गर्भशल्यस्य जरायु ८ ३१
तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्म ६ ३०
तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः ५ ५
तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि ४ १५
तस्य हेतुः, उत्पत्तिः, वृद्धिः ५ ८
तस्यापत्तेर्द्वैहृदय्यस्य ४ १६
तस्यास्तु खलु यो व्याधि ८ ४९
तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रप ८ ४२
तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गा ८ ३६
तस्याहारोपचारौ जाति ६ २५
ताभ्यामेव च विषमसेविता ६ २६
ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियो ८ ४०
तीव्रायां तु खलु प्रार्थनायां ४ १९
तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि ४ ११
तेषां तु त्रयाणामपि क्षीर ८ ५६
तेषां विशेषाद् बल २ २७
तेषां सर्वेषामेव वातपित्त ६ १८
तेषामन्यैः कृतस्यान्ये १ ४८
तेषामेकगुणः पूर्वो १ २८

अ० अंक

त्रिविधं खलु सत्त्वं—शुद्धं ४ ३६
त्रीणि सषष्टीनि शतान्य ७ ६

द

दश प्राणायतनानि, तद्यथा ७ ९
दशमे त्वहनि सपुत्रा स्त्री ८ ५०
देशकालात्मगुणविपरीतानां ६ ८
देशान्तरगतिः स्वप्ने १ ७१
देही सर्वगतोऽप्यात्मा १ ७९
दैवं पुरा यत् कृत २ ४४
द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते ४ १०
द्विष्टैरवर्बीभत्स १ १२३

ध

धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्त २ ४१
धातवः पुनः शारीराः ६ ९
धात्री तु यदा स्वादुबहुल ८ ५८
धारणं धर्मशास्त्राणाम् १ १४५
धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः १ ९८
धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः १ १०२
धूपनानि पुनर्वाससां ८ ६१

न

न कर्तुरिन्द्रियाभावात ३ १९
न खलु केवलमेतदेवकर्म ८ १५
न खलु गर्भस्य न च मातु ३ ९
न खल्वपि परलोकादेत्य ३ ४(६)
न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा ८ ६
न चात्माऽऽत्मानं जनयति ३ ४(३)
न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः ३ १८
न चेत् कारणमात्मा १ ४२
न ते तत्सदृशास्त्वन्ये १ ४६
न पश्यति विभुः कस्मा १ ८
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् १ ४१
नरो हिताहारविहार २ ४६
नवको निर्णयश्चास्य ६ ३४
नव महान्ति छिद्राणि सप्त ७ १२
नवमे तु खल्वेनां मासे ८ ३२
न समा यान्ति वैषम्यम् १ ९३
नहि कर्म महत् किञ्चित् १ ११७
नह्यस्य वित्रासनं साधु ८ ६४
न ह्येको वर्तते भावो १ ५८
नात्मनः करणाभावा ५ २२
नात्मज्ञानादृते चैकम् ३ २४
नात्मेन्द्रियं मनो बुद्धिम् १ १३२
नार्योस्तयोरुभयोरपि ८ २७
नाश्रयो न सुखं नार्ति १ ४०

अ० अंक

नित्यानुबन्धं मनसा १ ८१
निमित्तमात्मा प्रकृति ४ ४२
निमेषकालाद् भावानाम् १ ५०
निराकरिष्णुममेधसं ४ ३९(१)
निर्दिष्टं दैवशब्देन १ ११६
निर्दिष्टा कालसञ्ज्ञापि १ ११०
निर्विकारः परस्त्वात्मा ४ ३३
निवर्तते तदुभयम् १ १३९
निवृत्तिरपवर्गः, तत् परं ५ ११
निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टाः ३ २३
निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च १ ५
निष्क्रियस्य क्रिया तस्य १ ६
निष्ठीविका गौरवमङ्ग २ २३
नेति भगवानात्रेयः, सर्वेभ्यः ३ ५
नेति भरद्वाजः किं कारणं ३ ४(१)
नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः १ १३०
नैकः कदाचिद् भूतात्मा १ ८४
नैकः प्रवर्तते कर्तुम् १ ५७

प

पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि ७ १०
पञ्चमे मासि गर्भस्य ४ २१
पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि; तद्यथा ७ ७
परमतो निर्विकारमाख्याय्य ८ ३२
परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः ६ १६
परिणामकरा भावा ६ ३३
परिपक्वगर्भशल्यायाः पुन ८ ३१
पश्यतः सर्वभावान् हि ५ २१
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे १ ५५
पायूपस्थं विसर्गार्थम् १ २६
पारम्पर्यानुबन्धस्तु १ ९२
पितृजश्चायं गर्भः। नहि ३ ७
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्य २ २५
पुत्राशिषां कर्म समृद्धि ८ ६८
पुनश्च धातुभेदेन १ १७
पुनरतच्छिरसः शूलम् १ ८७
पुरुषस्यानुपहतरेतसः ३ ३
पुरुषोदभीषणाशस्ता १ ११९
पुरुषोऽयं लोकसंमितः ५ ३
पूतिभूतविषद्विष्टा १ १२६
पूर्वमध्यापराह्णाश्च १ ११२
पूर्वरूपं विकाराणाम् १ ९१
प्रज्ञापराधो विषमा २ ४०
प्रतिज्ञाप्रतिषेधश्च ३ २७
प्रभवो न ह्यनादित्वाद् १ ५३

अ० अंक

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य १ १५७
प्राक्चैवास्या नवमान्मासात् ८ ३३
प्राणापानौ निमेषाद्या १ ७०
प्रियनृत्यगीतवादित्रो ४ ३७(७)

ब

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा ६ १३
बीजात्मकर्माशय २ २९
बीजात् समांशादुपतप्त २ १८
बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थाना १ ३५
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव १ ६४
बुद्ध्या विषमविज्ञानम् १ १०९
ब्रह्माबृहस्पतिर्विष्णु ८ ८

भ

भगवानुवाच—मोहेच्छा ५ १०
भगवानुवाच—शृण्वग्निवेश ५ ७
भरद्वाज उवाच—यद्यमेषां ३ १५
भविष्यन्त्या असम्प्राप्ति १ १२
भावास्तेषां समुदयो १ ४७
भास्तमः सत्यमनृतम् १ ३९
भिनत्ति यावद् बहुधा २ १४
भीरुमबुधमाहारलुब्ध ४ ३९(२)
भूतानां चतुर्विधा योनि ३ १६
भूतानि चत्वारि तु कर्म २ ३५
भूतानि मातापितृ २ ३४
भूतैश्चतुर्भिः सहितः २ ३१
भेदात् कार्येन्द्रियार्थानाम् १ ३३

म

मणयश्च धारणीयाः ८ ६२
मतं तत्त्वविदामेतद् १ ५१
मतिर्वचः कर्म सुखा २ ४७
मनोबुद्धिसमाधान १ १४६
महाभूतानि खं वायु १ २७
महाशनं स्त्रैणं स्त्रीरहस्का ४ ३८(३)
मातुर्व्यवायप्रतिघेन २ २०
मातृजश्चायं गर्भः। नहि ३ ६
मातृतः पितृत आत्मतः ४ ४
मात्रादीनां खलु गर्भकराणां ४ २७
मात्रादीनामेव तु खलु गर्भ ४ २८
मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो १ १२८
मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च १ १११
मोक्षो रजस्तमोऽभावात् १ १४२

य

यच्चान्यदीदृशं कर्म १ १०८

अ० अंक

यच्चोक्तं—यदि च मनुष्यो ३ १७
यतश्च गर्भः सम्भवति ४ ३
यतस्तु कार्त्स्न्येनाविनश्यन् ४ ३०
यत्त्वञ्जलिसङ्ख्येयं तद् ७ १५
यत्र त्वेवं लक्षणेन ६ ११
यथा च प्रजाता स्यात् ८ ४१
यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानम् १ ७७
यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृत ८ १७
यदि त्वातुर्यं किञ्चित् ८ ६५
यदिदं कर्म प्रथमं मासं ८ ३२
यदि हि मातापितरौ गर्भे ३ ४(२)
यया चानुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते ४ ७
यया नोदेत्यहङ्कारम् ५ १८
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् १ ९७
यस्मात् समुपलभ्यन्ते १ ७३
यस्याः पुनरतिमात्रदोषोप ८ ३०
यस्याः पुनरामान्वयात्पुष्प ८ २५
यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोप ८ २६
यस्याः पुनरुदावर्तविबन्धः ८ २९
यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तः न ८ २८
याति ब्रह्म यया नित्य ५ १९
या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं ८ १२
यानि तु खल्वस्य गर्भस्या ३ १०
या यदिन्द्रियमाश्रित्य १ ३२
या या च यथाविधं पुत्र ८ १४
यावन्नोत्पद्यते सत्या १ १५३
युक्तिमेतां पुरस्कृत्य १ ९४
येषां द्वन्द्वे परा सक्ति १ ६९
ये ह्यस्य कुक्षौ वृद्धिहेतु ४ २९
योगे मोक्षे च सर्वासाम् १ १३७
योनिप्रदोषान्मनसो २ ७
यो भूतविषवाताना १ १२१
यो वदेत् स वदेद् देहम् १ ४४
यौगपद्येन तु विरोधिनां ६ ५

र

रक्तेन कन्यामधिकेन २ १२
रजस्तमोभ्यां युक्तस्य १ ३६
रजस्तमोभ्यां हि मनो २ ३८
रसजश्चायं गर्भः। न हि ३ १२
रसात्ममातापितृ २ ३३
रूपस्य सत्त्वस्य च २ ४२
रूपाणां भास्वतां दृष्टि १ १२२
रूपाद्धि रूपप्रभवः २ ३६
रोगाः कुतः संशमनम् २ ३९

अ० अंक

ल

लक्षणं मनसो ज्ञान १ १८
लक्षणं सर्वमेवैतत् १ ३०
लखास्थवृत्तं प्राप्तकारिण ४ ३७(४)
लोके विततमात्मानम् ५ २०

व

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ १ १४८
वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाण ६ २९
वर्षासु काष्ठाश्मघना २ ३०
वशी तत् कुरुते कर्म १ ७८
वशी यद्यसुखैः कस्माद् १ ७
वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ २ २१
विपापं विरजः शान्तम् ५ २३
विभुत्वमत एवास्य १ ८०
विषमाभिनिवेशो यो १ ९९
विषयप्रवणं सत्त्वम् १ १००
वृत्ते च नामकर्मणि कुमारं ८ ५१
वृद्धिह्रासौ यथा तेषाम् ६ ३२
वेदनानामधिष्ठानम् १ १३६
वेदनानामशान्ताना १ १२९
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानम् १ १९
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव १ ६२
व्यपगतगर्भशल्यां तु स्त्रिय ८ ३१
व्यपगतपिपासाबुभुक्षस्तु ६ २३
व्याधींश्चास्या मृदुमधुर ८ २२

श

शयनासनास्तरणप्रावरणा ८ ६०
शरीरं चिन्त्यते सर्वम् ८ ६९
शरीरं यद्यथा तच्च ६ ३१

अ० अंक

शरीरं सर्वथा सर्वम् ६ १९
शरीरं हि गते तस्मि १ ७४
शरीरगुणाः पुनर्द्विविधाः ६ १७
शरीरविचयः शरीरोप ६ ३
शरीरसङ्ख्यां यो वेद ७ १९
शरीरसङ्ख्यामवयवशः ७ ३
शरीरावयवास्तु परमाणु ७ १७
शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति २ ४
शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु ४ ५
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति २ १३
शुक्राशयद्वारविघट्ट २ १९
शुक्रासृगात्माशयकाल २ ६
शुद्धसत्त्वसमाधानम् ५ २६
शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा ५ १६
शुभाशुभसमाख्याता ४ ४४
शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्य ४ ३८(१)
शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषि ४ ३७(५
शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात् ८ १३

ष

षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि ७ ११
षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णो ४ २२

स

संयोगपुरुषस्येष्टो १ ८५
स चोपस्थितकाले जन्मनि ६ २४
सञ्जातहर्षौ मैथुने चानु ८ ७
सतामुपासनं सम्य १ १४३
सत्त्वानुबन्धादभ्यासा १ १४९
सत्याश्रये वा द्विविधे २ ४३
सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां ८ १६

अ० अंक

सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था १० १३१
सप्तमे मासि गर्भश्च मातृतो ४ २३
सप्रयोजनमुद्दिष्टम् ५ २५
सम्पूर्णदेहः समये २ ५
सर्वं कारणवद् दुःख १ १५२
स यदा जानीयाद् विमुच्य ८ ३९
सर्वत्रावहितज्ञानः ३ २२
सर्वभावस्वभावज्ञो ५ १७
सर्ववित् सर्वसंन्यासी १ १४
सव्याङ्गचेष्टा पुरुषा २ २४
स सर्वगः सर्वशरीर २ ३२
स सर्वगुणवान् गर्भत्व ४ ९
साक्षिभूतश्च कस्यायम् १ १०
सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु ८ २४
सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु ८ २३
सा चेदावीभिः सङ्क्लिश्य ८ ३८
सा चेदेवमाशासीत-बृहन्त ८ ९
सात्म्यजश्चायं गर्भः। नह्य ३ ११
सा यद्यदिच्छेत् तत् तदस्यै ४ १७
सूतिकां तु खलु बुभुक्षितां ८ ४८
स्तन्यसम्पत्तु प्रकृतिवर्ण ८ ५४
स्त्रीपुंसयोरव्यापन्नशुक्र ८ ३
स्थानमानोपभोगपरिवार ४ ३७(६)
स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः १ १३३
स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च १ १४७

ह

हस्तौ पादौ गुदोपस्थम् १ २५
हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् ७ ८
हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ ३ २६
हैमन्तिकं दोषचयं २ ४५

इन्द्रियस्थानम्

अ० अंक

अ

अंसाभितापो हिक्का च ९ ७
अकल्याणमपि स्वप्नम् ५ ४६
अग्निपूर्णानि पात्राणि १२ ३४
अङ्गव्यसनिनं दूतम् १२ १७
अचिकित्स्या भवन्त्येते ९ ९
अणुज्योतिरनेकाग्रो ११ ३
अतिप्रवृद्धया रोगाणाम् ११ २३
अत्यर्थं पुनरेवेयम् १२ ४२
अत्यर्थरसिकं कायम् २ २२
अत्यर्थविवृता यस्य ८ ११
अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य ९ १६
अनुमानात् परीक्षेत ४ ४
अनुष्ट्र-खर-यानस्थ १२ ६८
अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थम् १२ ३८
अन्तरेण गुदं गच्छन् १० ८
अन्तरेण तपस्तीव्रम् ४ २४
अन्यस्यापि च रोगस्य ५ ५
अपर्वणि यदा पश्येत् ४ १४
अपस्वरं भाषमाणम् ९ १४
अप्येवं तु भवेत् पुष्पम् २ ४
अप्लुतानप्लुते काये २ १२
अब्रुवन्मरणं तस्य १२ ६४
अयोगमतियोगं वा ११ २२
अर्णवानां प्रतरणम् १२ ८४
अवक्षुतमथोत्क्रुष्टम् १२ २६
अवाक्शिरा वा जिह्मा ८ ३
अशब्दस्य च यः श्रोता ४ १९
असत्तमः पश्यति यः ५ २२
अस्थिश्वेता द्विजा यस्य ८ १३
अहस्यहासी सम्मुह्यन् ११ २०

आ

आतुरस्य गृहे यस्य १२ ३९
आतुरार्थमनुप्राप्तम् १२ १८
आनाहश्चाति तीक्ष्णा च ६ ९
आनाहश्चातिसारश्च ६ ८
आप्लुतं मारुतेनेह १० १४
आमाशयसमुत्थाना १० १६
आयम्योत्पाटितान् केशान् ८ ८
आरोग्यं हीयते यस्य ६ २४
आरोग्याद् बलमायुश्च १२ ८८

अं० अंक

आहारद्वेषिणं पश्यन् ५ १९
आहारमुपयुञ्जानो १२ ८
आहूयंस्तं समीपस्थम् ११ २१

इ

इति दूताधिकारोऽयम् १२ २५
इति वर्णस्वराधिकारौ यथा १ १७
इति वर्णस्वरावुक्तौ १ २७
इतीदमुक्तं प्रकृतम् १२ ९०
इत्यात्रेयोऽग्निवेशेन ६ ४
इत्युक्तं लक्षणं सम्य ४ ६
इत्येतानि मनुष्याणां १२ ६१
इत्येतानि शरीराणि ६ २५
इत्येते दारुणाः स्वप्ना ५ ४०
इत्यौत्पातिकमाख्यातम् १२ ३२
इदं चाप्यतिदेशार्थम् २ १५
इदं लिङ्गमरिष्टाख्य ७ ३२
इन्द्रियाणामृते दृष्टे ४ २५
इन्द्रियाणि यथा जन्तोः ४ ३
इन्द्रियाणि विनश्यन्ति १२ ४७
इमांश्चाप्यपरान् स्वप्नान् ५ २७
इमानि लिङ्गानि नरेषु ८ २७
इष्टं च गुणसम्पन्न ७ २३
इष्टांस्तितिक्षतां प्राणान् १२ ४४
इह खलु वर्णश्च स्वरश्च १ ३

उ

उक्तं गोमयचूर्णीये १२ ८९
उत्थाप्यमानः शयनात् ७ १९
उपरुद्धस्य रोगेण ७ २१
उपानद्युगनाशश्च ५ ३४
उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा ६ १५
उष्णाञ्छीतान् खराञ्छ्ल ४ २३

ऊ

ऊर्ध्वं च यः प्रश्वसिति ७ २६
ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणम् ९ १३
ऊर्ध्वाग्रे नयने यस्य ७ २७
ऊष्माणं प्रलयं यान्ति १२ ५१

ए

एडकक्लग्रस्ताव्यक्तगद्गद १ १५
एको वा यदि वाऽनेको १ २५
एतदिन्द्रियविज्ञानम् ४ २७
एतानि खलु लिङ्गानि १० २१

अ० अंक

एतानि पथि वैद्येन १२ ३१
एतानि पूर्वरूपाणि ५ २६
एतान् स्पृशन् बहून् ३ ७
एतावद् गन्धविज्ञान २ १७
एताश्चान्याश्च याः काश्चित् ७ ६
एतेषु रोगः क्रमते ११ २६
एवमेकैकशः पुष्पे २ १०

ओ

ओष्ठयोः पादयोः पाण्योः १ २३

क

कतमानि शरीराणि ६ ३
कथयत्यप्रशस्तानि १२ १३
कन्यापुंवर्धमानानाम् १२ ७३
कलुषेऽम्भसि पङ्के वा ५ ३२
कश्चिदेवास्यवैरस्य २ १९
कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णम् ७ १८
कायेऽल्पमपि संस्पृष्टम् ५ १४
काषायिणामसौम्यानाम् ५ ३८
कृष्णा पापा निराचारा ५ ३९
क्रियापथमतिक्रान्ताः ११ २९
क्रोधनं त्रासबहुलम् ५ २०
क्षीणशोणितमांसस्य १० ७

ख

खादीनां पञ्च पञ्चानाम् ७ १०

ग

गुणाः शरीरदेशानाम् १२ ५४
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः ५ २९
गोसर्गे वदनाद् यस्य ८ २४
ग्रीवावमर्दो बलवा ११ १५
ग्लायते नाशिकावंशः ८ १०

घ

घट्टयञ्जानुना जानु ८ १७
घनीभूतमिवाकाश ४ ७

च

चैत्यध्वजपताकानाम् १२ २८

छ

छिन्नभिन्नानि दग्धानि १२ ३५
छिन्ना भिन्नाऽऽकुला च्छाया ७ ५

ज

जटीभूतानि पक्ष्माणि ८ ४
जले सुविमले जाल ४ ९

	अ०	अंक
जाग्रत् पश्यति यः प्रेतान्	४	१०
जुहत्यग्निं तथा पिण्डान्	१२	१२
ज्ञानसम्बोधनार्थं तु	२	७
ज्योत्स्नायामातपे दीपे	७	४
ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य	६	१०
ज्वरातिसारौ शोफान्ते	६	१८
ज्वरो यस्यापराह्णे तु	६	१०
त		
तत्पूर्वमभितो वाक्यम्	१२	२४
तत्र तु खल्वेषां परीक्ष्याणां	१	४
तत्र पञ्चविधं पूर्वं	५	४४
तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च	१	५
तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे	१	१०
तत्र प्रकृतिवैकारिकाणां	१	१६
तत्र स्वलक्षणनिमित्ता नाम	१	७
तत्रादित एव वर्णाधिकारः	१	८
तत् समासेन वक्ष्यामः	१२	४१
तथा पिप्लुव्यङ्गतिलकालक	१	१२
तथा व्यसनिनं प्रेतम्	१२	२२
तथाऽस्योच्छ्वासमन्यादन्त	३	६
तद्यथा चन्दनं कुष्ठम्	२	१३
तद् व्यासतोऽनुव्याख्या	३	५
तमनेनानुमानेन	२	२०
तमाहुः पुष्पितं धीरा	२	९
तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते	९	२४
ताम्यत्यायच्छते शर्म	६	२१
तासां याः स्युर्विकासिन्य	७	१५
तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गा	१	२१
तृणकाष्ठतुषाङ्गारम्	१२	२०
तृष्णाश्वासशिरोरोग	१०	२०
त्रयः प्रकुपिता यस्य	६	१७
त्र्यहमेतेन जीवन्ति	८	७
द		
दध्यक्षतद्विजातीनाम्	१२	७१
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र	५	३५
दन्ताः कर्दमदिग्धाभा	१०	१९
दन्तान् खादति यो जाग्रत्	८	१९
दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि	८	१८
दर्शनं शुक्लवस्त्राणाम्	१२	८५
दीनभीतद्रुतत्रस्त	१२	१६
दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं	८	१५
दुर्बलो बहु भुङ्क्ते न	७	२२
दूताधिकारे वक्ष्यामो	१२	९

	अ०	अंक
दूतैरौत्पातिकैर्भावैः	१२	६६
दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना	१२	५९
दृष्टं श्रुतानुभूतं च	५	४३
दृष्टः प्रथमरात्रे यः	५	४५
दृष्ट्या यस्य विजानीयात्	७	३
द्रव्याणां तत्र योग्यानाम्	१२	८२
ध		
धमनीनामपूर्वाणाम्	११	८
ध्यानायासौ तथोद्वेगो	५	१८
न		
नक्तं सूर्यमहश्चन्द्र	४	१५
नखनयनवदनमूत्रपुरीष	१	१३
नखेषु जायते पुष्पम्	१२	५५
नग्नस्याज्यावसिक्तस्य	५	१५
न त्वरिष्टस्य जातस्य	२	५
न बिभर्ति शिरो ग्रीवा	८	२२
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्	७	१७
नातिप्रसुप्तः पुरुषः	५	४२
नानापुष्पोपमो गन्धो	२	८
नानाप्रकृतयः क्रूरा	१२	५७
नाभिं मूत्रं वस्तिशीर्षम्	१०	१२
निःसञ्ज्ञः परिशुष्कास्यः	९	४
निकषन्निव यः पादौ	१२	४
निचितं यस्य मांसं स्यात्	७	३१
निमित्तानुरूपा तु निमित्ता	१	७
निष्ठ्यूतं च पुरीषं च	९	१८
निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते	९	१९
नीलं वा यदि वा श्यावम्	१	१९
नीलश्यावताम्रहरितशुक्ला	१	९
नृत्यन् रक्षोगणैः साकम्	५	२१
नृभिर्धेन्वाः सुवत्साया	१२	७५
नोपैति कण्ठमाहारो	८	२५
प		
पक्वाशयमधिष्ठाय	१०	१८
पक्वाशयसमुत्थानां	१०	१७
पथच्छेदो बिडालेन	१२	२९
पथि वेश्मप्रवेशे तु	१२	८०
परीक्ष्यमायुर्भिषजा	११	२८
पलालबुसमांसास्थि	१२	१९
पाण्डुरश्च कृशोऽत्यर्थम्	६	१९
पादाः समेताश्चत्वारः	११	२७
पिण्डिके शिथिलीकृत्य	१०	५
पित्तमूष्मानुगं यस्य	९	२०
पुष्पं यथा पूर्वरूपम्	२	३

	अ०	अंक
पुष्पाणि नखदन्तेषु	१	२२
पूर्वरूपाणि सर्वाणि	५	४
पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान्	५	४७
पूर्वरूपाण्यसाध्यानाम्	५	२
पूर्वरूपैकदेशांस्तु	५	६
पृष्टेनापि न वक्तव्यं	१२	६३
पेयं पातुं न शक्नोति	९	११
प्रकूजति प्रश्वसिति	७	२४
प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं	१२	६०
प्रतिप्रमाणसंस्थाना	७	९
प्रभावतः प्रभाहीना	४	१६
प्रमुह्य लुञ्चयेत् केशान्	११	१७
प्रवालगुटिकाभासा	११	१४
प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्नि	१२	३३
प्राणाः समुपतप्यन्ते	१२	४६
प्रेतैः सह पिबेन्मद्यम्	५	९
ब		
बलं च हीयते यस्य	५	७
बलं च हीयते शीघ्रम्	६	६
बलं विज्ञानमारोग्यम्	६	२३
बलमांसक्षयस्तस्य	९	२२
बलिं बलिभृतो यस्य	११	४
भ		
भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो	११	७
भिद्यते वङ्क्षणौ यस्य	१०	१३
भिषग्भेषजपानान्न	११	२५
भूमौ पांशूपधानायाम्	५	३१
भेरीमृदङ्गशङ्खानाम्	१२	७९
भेषजानि न संवृत्तिम्	१२	५६
भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि	८	६
भ्रुवौ यस्य च्युते स्थाना	१०	६
म		
मक्षिकाश्चैव यूकाश्च	२	२१
मत्तं नृत्यन्तमाविध्य	५	३३
मनोवहानां पूर्णत्वाद्	५	४१
मरणायेह रूपाणि	१२	६२
मरीचीनसतो मेघान्	४	१२
मासेन चेन्न दृश्येत	९	१७
मिथ्यादृष्टमरिष्टाभ	२	६
मुक्तकेशोऽथवा नग्ने	१२	१०
मुखं शब्दश्रवावोष्ठौ	८	१२
मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन्	८	२०
मृगपक्षिमनुष्याणाम्	१२	७८
मृतदग्धविनष्टानि	१२	१४

	अ०	अंक
मृन्मयीमिव यः पात्रीम्	४	१३
मोदकानां सुमनसाम्	१२	७४
य		
यं नरं सहसा रोगो	९	१५
यच्चान्यदपि किञ्चित्	१	२६
यच्चान्यदपि किञ्चिद् वर्ण	१	१४
यद् द्वादशभिरध्यायैः	१२	४०
यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः	१२	६
यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै	४	१८
यस्मिंश्च दते ब्रुवति	१२	२१
यस्य केशा निरभ्यक्ता	८	९
यस्य गण्डावुपचितौ	७	२८
यस्य गोमयचूर्णाभं	१२	३
यस्य दर्शनमायाति	४	८
यस्य नीलावुभावोष्ठौ	१	२४
यस्य मूत्रं पुरीषं च	६	११
यस्य वैकारिको वर्णः	१	१८
यस्य वै भाषमाणस्य	६	५
यस्य शूनानि वर्त्मानि	८	५
यस्य श्यावे परिध्वस्ते	९	३
यस्य स्नातानुलिप्तस्य	१२	५
यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते	५	२८
ये चान्ये विविधात्मानो	२	१४
यैर्विन्दति पुरा भावैः	८	२१
योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थम्	४	११
यो रसः प्रकृतिस्थानाम्	२	१८
यो रसान्न विजानाति	४	२२
र		
रत्नानां पूर्णकुम्भानाम्	१२	७२
रक्तपुष्पं वनं भूमिम्	५	३६
रक्तमाली हसन्नुच्चैः	५	३७
रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो	५	११
रसो वा कटुकस्तीव्रो	१२	२३
रुचकादर्शसिद्धार्थ	१२	७७
रूक्षा श्यावारुणा या तु	७	११
रेतोमूत्रपुरीषाणि	११	११
ल		
लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या	१	७
लता कण्टकिनी यस्य	५	१३
ललाटे मूर्ध्नि बस्तौ वा	११	१३
लाक्षारक्ताम्बराभं यः	५	१०
लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो	१२	६५
लेखाभिश्चन्द्रवक्राभि	११	९
व		
वंशवेत्रलतापाश	५	३०

	अ०	अंक
वङ्क्षणं च गुदं चोभे	१०	११
वर्णभेदेन ग्लानिहर्षरौक्ष्य	१	११
वर्णमाक्रमति च्छाया	७	१६
वर्णस्वराग्निबलम्	११	२४
वर्णे स्वरे च गन्धे च	३	३
वसतां चरमं कालम्	१२	४३
वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्गः	१२	२७
वातव्याधिरपस्मारी	९	८
वाताष्ठीला सुसंवृद्धा	१०	४
वायवी गर्हिता त्वासाम्	७	१३
विकारसामान्यगुणे	१२	१५
विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता	१	६
विकृत्या विनिमित्तं यः	११	६
विज्ञातं बहुशः सिद्धम्	१२	७
विज्ञानानि मनुष्याणाम्	९	२३
वितत्य पर्शुकाग्राणि	१०	९
विना चतुर्थी नवमीम्	१२	६९
विना देशमशस्तं च	१२	७०
विनाशायेह रूपाणि	१२	४५
विपर्ययेण यो विद्याद्	४	२१
वियोनिर्विदुरो गन्धो	२	१६
विरुद्धयोनयो यस्य	६	२२
विरेचनहृतानाहो	९	१०
वैवर्ण्यं भजते कायः	१२	५२
व्याकृतानि विवर्णानि	४	१७
व्यावृत्तमूर्धजिह्वास्यो	७	२९
श		
शब्दः स्पर्शो रसो रूपम्	१२	५८
शयनं वसनं यानम्	१२	३६
शयनं वसनं यान	१२	३७
शयनादासनादङ्गात्	११	१९
शयनाशनयानानाम्	१२	३०
शरीरं शोफितं यस्य	१०	१५
शरीरकम्पः सम्मोहो	११	१०
शरीरान्ताश्च शोभन्ते	९	६
शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान वा	५	२५
शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्	८	२६
शालं व्यावर्ततेऽत्यर्थम्	१२	४९
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाद्	१२	५०
शुद्धवैदूर्यविमला	७	१२
शूनहस्तं शूनपादम्	६	१४
शूलाटोपान्त्रकूजाश्च	५	१२
शेफश्चात्यर्थमुत्सिक्तम्	७	३०
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च	१२	८१

	अ०	अंक
श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि	५	८
श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो	६	१२
श्वयथुर्यस्य पादस्थ	६	१३
स		
संवृत्याङ्गुलिभिः कर्णौ	४	२०
संसृष्टा व्याधयो यस्य	७	२०
संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया	७	८
संस्थानेन प्रमाणेन	७	७
सततस्पन्दना देशाः	१२	५३
सत्त्वलक्षणसंयोगो	१२	८७
सद्यस्त्रिनिक्षतः प्राणान्	१०	३
सप्तर्षीणां समापन्नान्	११	५
सफेनं रुधिरं यस्य	९	२१
समासेनाशुभान् गन्धा	२	११
समीपे चक्षुषो कृत्वा	११	१८
सम्भ्रमोऽतिप्रलापोऽति	११	१६
सहसा ज्वरसन्ताप	८	२३
सामान्येन मयोक्तानि	२	२३
सुप्ते भिषजि ये दूताः	१२	११
स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी	८	१४
स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य	५	२४
स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि	५	१६
स्नेहं बहुविधं स्वप्ने	५	१७
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः	५	३३
स्नेहो मुखार्धे सुव्यक्तो	१	२०
स्पर्शप्राधान्येनैवातुरस्यायुष	३	४
स्मृतिस्त्यजति मेधा	१२	४८
स्यात् तैजसी प्रभा	७	१४
स्वप्ने सुमनसां चैव	१२	८६
स्वरस्य दुर्बलीभावम्	९	१२
स्वराधिकारस्तु-हंसक्रौञ्च	१	१५
स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्यासैः	४	२६
स्वस्थेभ्यो विकृतं यस्य	४	५
स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं	१२	६७
ह		
हंसानां शतपत्राणाम्	१२	७६
हनुमन्याग्रहस्तृष्णा	६	२०
हयानां पुरुषाणां च	१२	८३
हरिताश्च सिरा यस्य	९	५
हस्तपादं मुखं चोभे	११	१२
हस्तौ पादौ च मन्ये च	८	१६
हिक्का गम्भीरजा यस्य	६	७
हृदयं च गुदं चोभे	१०	१०
हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः	६	१६
ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति	७	२५